Digitized with financial assistance from

Hemendra Kothari

on 06 November, 2019

ॐ तत्

सत्यात् नास्ति परो धर्मः।

शब्दकल्पद्रुमः।

अर्थात्

एतद्देशस्थसमस्तकोषाशेषशास्त्रसङ्कलिताकारादिवर्णक्रमविन्यस्तशब्द-तल्लिङ्ग-नानार्थ-पर्य्याय-प्रमाण-प्रयोग-धातु-तदनुबन्धाभिधेय-
सहित-तत्तच्छब्दप्रसङ्गोत्थित-वेद-वेदाङ्ग-वेदान्त-न्याय-पुराणेतिहास-सङ्गीत-शिल्प-सूपकारशास्त्र-ज्योतिष-
तन्त्राख्यान-काव्यालङ्कार-च्छन्दःप्रभृति-नाम-लक्षणोदाहरण-द्रव्यगुण-रोगनिदानौषध-
स्मृत्युक्तव्यवस्थादिसंयुक्त-सर्व्वदर्शनमतानुसारि-संस्कृताभिधानग्रन्थः।

स्यार-राजा-राधाकान्तदेव-बाहादरेण

विरचितः।

पाणिनिमतानुसारि-प्रत्येकशब्दव्युत्पत्ति-मूलग्रन्थातिरिक्तबहुलशब्दार्थ-प्रमाण-प्रयोग-पर्य्याय-धातुपदोदाहरणादिभिः
नूतनसङ्कलितबहुलशब्द-तदर्थ-तत्प्रमाण-प्रयोगादिसहित-
सुप्रशस्तपरिशिष्टेन च सार्द्धम्

श्रीवरदाप्रसादवसुना तदनुजेन श्रीहरिचरणवसुना च

अशेषशास्त्रविशारदकोविदवृन्दसाहाय्येन संपरिवर्द्धितः। नागराक्षरैः प्रकाशितश्च।

पञ्चमः काण्डः।

प्रथम-द्वितीय-खण्डौ।

कलिकाता राजधान्यां

रामनारायण-यन्त्रे मुद्रितः। ७१ नं० पाथुरियाघाट-ष्ट्रीट-स्थितभवनात् प्रकाशितश्च। शकाब्दाः १८१३।

PRINTED BY K. P. BASU, RAMNARAYAN PRESS; AND CONSIDERABLY IMPROVED, CAREFULLY REVISED AND PUBLISHED BY BARADA PRASAD BASU, AND HARI CHARAN BASU. 71, PATHURIAGHATA STREET. CALCUTTA:

To be had at the Sabdakalpadruma Office, No. 71. Pathuriaghata Street, Calcutta: and at the Baptist Mission Press. No. 24. Lower Circular Road Calcutta: Price for Subscribers in India, Re. 1. and Countries out of India 3s. for each number.

গোপালতাপনী।

সম্প্রতি অথর্ব্ববেদীয় পিপ্পলাদশাখার অন্তর্গত গোপালতাপনী নামে এই উপনিষৎখানি দুইটী টীকার সহিত মুদ্রিত হইয়াছে। এই উভয় টীকার মধ্যে প্রথমটী বৈষ্ণবাগ্রণী শ্রীজীবগোস্বামীর ও দ্বিতীয়টী শ্রীবিশ্বেশ্বরপণ্ডিতের প্রণীত। পূজ্যপাদ গোস্বামীর ব্যাখ্যাটী সম্পূর্ণ ভক্তিরসের আধার স্বরূপ। যদিও ইতঃপূর্ব্বে এই গোপালতাপনী উপনিষৎখানি শেষোক্ত টীকার সহিত মুদ্রিত হইয়াছিল তথাপি তাহাতে ভক্তিজ্ঞান-লাভাকাঙ্ক্ষী পবিত্রাত্মা বৈষ্ণবদিগের অভাব মোচন হয় নাই, কেননা বৈষ্ণবগণ প্রায়ই চিত্তশুদ্ধির নিমিত্ত ভক্তিপ্রধান গ্রন্থেরই অনুশীলন করিয়া থাকেন; কিন্তু, বিশ্বেশ্বরপণ্ডিতের টীকাটীর ব্যাখ্যা প্রায় জ্ঞানপক্ষপাতিনী। ব্রহ্মবিদ্যা-স্বরূপিণী উপনিষৎ সকল যে, জ্ঞানপ্রধান গ্রন্থ ইহা অবশ্য স্বীকর্ত্তব্য; কিন্তু, গোপালতাপনী-গ্রন্থ পূর্ব্বোক্ত বিভাগানুসারে, ভক্তি ও জ্ঞান, এই উভয়াত্মক সুতরাং উভয়মত ব্যাখ্যারই প্রয়োজন। বিশেষত এই তাপনীগ্রন্থ ভক্তিজ্ঞান-পরায়ণ মহাত্মা বৈষ্ণবদিগেরই পরম আদরের বস্তু; অতএব ইহাতে শ্রীজীবগোস্বামীর টীকাটীই বিশেষ উপাদেয়, অথচ ঈদৃশ মহার্ঘ টীকা এ প্রদেশে কুত্রাপি মুদ্রিত হয় নাই; এই অভাব মোচনের জন্য বিশেষত নবপ্রধান মহাত্মা বৈষ্ণবগণ পরমাচার্য্য গোস্বামীর ভক্তিরসপূর্ণ টীকায় বিশেষ অনুরাগী জানিয়া এই উভয়বিধ টীকার সহিত এই গ্রন্থখানি মুদ্রিত করিয়াছি। ইহার মূল্য ৸০ আনা; কিন্তু শব্দকল্পদ্রুম ও দেবীভাগবতের গ্রাহকের পক্ষে ।০ মাত্র।

ইহার বঙ্গানুবাদ অতি সরল ভাষায় ও টীকানুযায়ী সরল টিপ্পনীতে ভূষিত হইয়াছে। ইহার মূল্য শব্দকল্পদ্রুম অথবা দেবীভাগবতের গ্রাহকের পক্ষে ॥০ আনা অপরের পক্ষে ৸০ আনা। যাঁহারা মূল ও অনুবাদ একত্রে লইবেন তাঁহাদের পক্ষে ১৲ এক টাকা।

শ্রীহরিচরণ বসু
সম্পাদক

শব্দকল্পদ্রুম-কার্য্যালয়
৭১ নং পাথুরিয়াঘাটা ষ্ট্রীট্—কলিকাতা।
শকাব্দ—১৮১৩। মাঘ।

शब्दकल्पद्रुमः।

पञ्चमकाण्डम्।

…वर्गीयप्रथमवर्णः।
…रणस्थानं तालु।
… च शिवायाम्।
…या श्रीष्ठजायुपू॥”)
…वर्णं शुचिस्मिते!।
…कली॥
…विग्रहम्।
… प्रिये!॥
…तं सदा।
…संयुतम्॥”
…तत्त्वम्॥ * ॥
…प्रकारो यथा,
… शोकतिलधः।
…करा:।
…य प्रचक्षते॥”
…रतत्त्वम्॥ * ॥
…पो महामतिः।
… वृषकेतनः॥
…स्फुलिङ्गिनी।
…कौलिनी॥
… खलः।
…कल्याण-
… वाचकः॥”
…र्गाभिधानम्॥
…कम्। यथा,
…ल्पद्रुमः।
…दिकः॥”
…स्यात्॥)
…शब्दरत्ना-
… १८।७।
… पर्व्वते॥”)

शं, [म्] य, कल्याणम्। (यथा, राजेन्द्रकर्णपुरे। ५१।

“यः कीर्त्तौ भवतो वतो वृषगुणैर्यैः शंतनुः

शन्तनुः॥”)

शुभम्। शास्त्रम्। इति शब्दरत्नावली॥

शः, पुं, शिवः। शस्त्रम्। इति शब्दरत्नावली॥

शंयुः, त्रि, (शं शुभमस्यास्तीति। शं+“कंशंभ्यां बभयुस्तितुतयसः।” ५।२।१३८। इति युस्।) शुभान्वितः। इति त्रिकाण्डशेषः॥ (यथा, भट्टिः। ४।१८।

“कुर्व्वाणा पद्मतः शंयून् सविग्नो सुहसानना॥”

पुं, बृहस्पतिपुत्त्रोऽग्निविशेषः। यथा, महाभारते। ३।२१८।२।

“आहुतिष्वेव यस्याग्निर्हविषाज्यं विधीयते।
सोऽग्निर्बृहस्पतेः पुत्त्रः शंयुर्नाम महाव्रतः॥”)

शंवः, पुं, सुवलाग्रस्थलौहमण्डलकः। वज्रम्। इति धरणिः॥

शंवः, त्रि, (शमस्यास्तीति। शं+“कंशंभ्यामिति।” ५।२।१३८। इति वः।) शुभान्वितः। इति त्रिकाण्डशेषः॥

शंवरं, क्ली, (शं वृणोतीति। वृ+अच्।) जलम्। इत्यमरः॥

शंस, उ हिंसास्तुत्योः। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट्। क्वावेट्।) तस्यादिः। उ, शंसित्वा शस्त्वा। यः शंसति सतामिति हलायुधः॥ अनेकार्थत्वात् कथनेऽप्ययम्। यथा रघौ। शशंस वाचा पुनरुक्तयेवेति। न मे ह्रिया शंसति किञ्चिदीप्सितमित्यादि च। इति दुर्गादासः॥

शंसा, स्त्री, (शंस+अः। स्त्रियां टाप्।) वाक्यम्। वाञ्छा। इति मेदिनी॥ प्रशंसा। इति शब्दरत्नावली॥

शंसितः, त्रि, (शंस+क्तः।) निश्चितः। इति हलायुधः॥ हिंसितः। स्तुतः। इति शन्सधातोः क्तप्रत्ययेन निष्पन्नमेतत्॥ (यथा, महाभारते। १।११८।२५।

“ब्राह्मणाश्च महात्मानः सोमपाः शंसितव्रताः॥”)

शंस्ता, [ऋ] पुं, (शंस+“तृन्तृचौ शंसिक्षदादिभ्यः संज्ञायां चानिटौ।” उणा० २।९४। इति तृन्। यद्वा, छन्दसि “ग्रसितस्कभितस्तभितेति।” ७।२।३४। इति निपातनात् साधुः।) स्तोता। होता। इति संक्षिप्तसारोणादिवृत्तिः॥ (प्रशास्ता। यथा, ऋग्वेदे। १।१६२।५।

“होताध्वर्य्युरावया अग्निमिन्धो
ग्रावग्राभ उत शंस्ता सुविप्रः॥”

“शंस्ता प्रशास्ता।” इति तद्भाष्ये सायणः॥)

शंस्थः, त्रि, (शं शुभे तिष्ठतीति। शम्+स्था+“स्थः कच।” ३।२।७७। इति कः।) शुभान्वितः। शंपूर्व्वस्थाधातोर्डप्रत्ययेन निष्पन्नमिदम्॥

शंस्थाः, त्रि, (शं+स्था+“स्थः कच।” ३।२।७७। इति क्विप्।) शुभान्वितः। शम्पूर्व्वष्ठाधातोः क्विप्प्रत्ययेन निष्पन्नमेतत्॥

शंस्यः, त्रि, (शंस+ण्यत्। “ईडवन्दवृशंसदुहां ण्यतः।” ६।१।२१४। इत्याद्युदात्तः।) हिंस्यः। स्तुत्यः। शन्सधातोः ध्यण्प्रत्ययेन निष्पन्नमेतत्॥

शक, इ ङ त्रासशङ्कयोः। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-आत्म०-त्रासे अक०-शङ्कायां सक०-सेट्।) त्रासो भयम्। शङ्का संशयारोपः। इ, शङ्क्यते याव्राज्ञनेन। ङ, शङ्कते पुरुषत्वं स्थाणौ। स्थाणुर्व्वा पुरुषो वा इति संशयमारोपयतीत्यर्थः। इति दुर्गादासः॥

शक, न इर् क शक्तौ। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-पर०-अक०-सक० च-वेट्।) न, शक्नोत्यशक्यमप्याजौ विजेतुं य इति हलायुधः। इर्, अशकत् अशकीत् अशाक्षीत्। ऌदित्त्वेनाप्यसिद्धे इरित्यन्ये। ऊ, शकिष्यति शक्ष्यति। पृथक्पाठादाद्यो न स्वादिः। द्वावेवानिमावित्यन्ये। षष्ठस्वरानुबन्धः केषाञ्चिदनुरोधात्। द्वावेव सकर्म्मकौ। तथा च। शक्योऽस्य मन्युर्भवता विनेतु-

मिति रघु:। रज:परिणामभेदो न शक्यते प्रत्याख्यातुमिति तत्त्वकौमुद्यां वाचस्पतिमिश्र:। शक्या मखेनापि सुदोऽमराणामिति नैषधम्। इति दुर्गादास: ॥

शक, य ञ शक्तौ। इति कविकल्पद्रुम: ॥ (दिवा०-उभ०-सक०-सेट्।) शक्तिर्दिवादिपक्षे क्षमा स्वादिपक्षे सामर्थ्यम्। य ञ, शक्यति शक्यते दु:खं दीन:। इति दुर्गादास:।

शक:, पुं, (शक + अच्।) जातिभेद:। नृपभेद:। इति मेदिनी ॥ स च नृप: शकादित्य: इति शालिवाहन इति च नाम्ना ख्यात:। तस्य मरणदिनावधि वत्सरगणनाङ्क: शकाब्देति नाम्ना पञ्जिकायां लिख्यते। स च म्लेच्छ-जातिविशेष:। सत्ययुगे सगरराजेनास्य मस्त-कार्द्धं मुण्डयित्वा वेदबाह्यत्वमकारि। यथा,—

"तत: शकान् सयवनान् काम्बोजान् पारदां-स्तथा।
पह्लवांश्चापि नि:शेषान् कर्त्तुं व्यवसितो नृप: ॥
ते हन्यमाना वीरेण सगरेण महौजसा।
वशिष्ठं शरणं जग्मु: सूर्य्यवंशपुरोहितम् ॥
वशिष्ठ: शरणापन्नान् समये स्थाप्य तानृषि:।
सगरं वारयामास तेभ्यो दत्त्वाभयं तदा ॥
सगरस्तां प्रतिज्ञान्तु निशम्य सुमहाबल:।
धर्म्मं जघान तेषाञ्च वेशानन्यांश्चकार ह ॥
अर्द्धं शिर: शकानान्तु मुण्डयामास भूपति:।
जवनानां शिर: सर्व्वं काम्बोजानामपि द्विज ॥
पारदान्मुक्तकेशांस्तु पह्लवान् श्मश्रुधारिण:।
नि:स्वाध्यायवषट्कारान् सर्व्वानेव चकार ह ॥"

इति पाद्मे स्वर्गखण्डे सगरोपाख्यानम् १५ अ: ॥ देशभेद:। इति विश्व: ॥ (यथा, मात्स्ये। १२०। ४५।

"तुषारान् वर्व्वरान् कारान् पह्लवान् पारदान् शकान्।
एतान् जनपदान् मङ्क्षु प्लावयित्वोदधिं गता ॥")

शकट:, पुं, क्ली, (शक्नोति भारं वोढुमिति। शक् + "शकादिभ्योऽटन्।" उणा०। ४। ८१। इति अटन्।) यानविशेष:। गाड़ी इति भाषा ॥ तत्पर्य्याय:। अन: २। इत्यमर: ॥ अक्ष: ३। इति शब्दरत्नावली ॥ विष्णुवध्यासुरविशेष:। द्विसहस्रपलपरिमाणम्। तत्पर्य्याय:। भार: २ आचित: ३ शाकटीन: ४ शलाट: ५। इति हेमचन्द्र: ॥ उक्तञ्च।

"शकट: शाकिनी गावो यानमस्कन्दनं वनम्।
अनूप: पर्व्वतो राजा दुर्भिक्षे नव वृत्तय: ॥"

इति भरत: ॥

तिनिसवृक्ष:। इति राजनिर्घण्ट: ॥ (व्यूह-विशेष:। यथा, मनु:। ७। १८७।

"दण्डव्यूहेन तन्मार्गं यायात् तु शकटेन वा ॥")

शकटाकृतित्वात् रोहिणीनक्षत्रम्। यथा, वृहत्संहितायाम्। २४। ३०।

"रोहिणीशकटमध्यसंस्थिते
चन्द्रमस्यशरणीकृता जना:।
क्वापि यान्ति शिशुयाचिताशना:
सूर्य्यतप्तपिठराम्बुपायिन: ॥")

शकटहा, [न्] पुं, (शकटं हन्तीति। हन् + क्विप्।) श्रीकृष्ण:। इति हेमचन्द्र: ॥ (एतद्वि-वरणं भागवते १० स्कन्धे ७ अध्याये तथा हरिवंशे ६१ अध्याये च द्रष्टव्यम् ॥) शकट-नाशके, त्रि ॥

शकटाह्वा, स्त्री, (शकटमिति आह्वा यस्या:।) रोहिणीनक्षत्रम्। तस्या: पञ्चतारामयशका-कृतित्वात् ॥

शकलं, क्ली, (शक्नोतीति। शक् + "शकिशम्यो-र्नित्।" उणा० १। ११२। इति कल:।) त्वक्। खण्डम्। (यथा, रघु:। २। ४६।

"अथान्धकारं गिरिगह्वराणां
दंष्ट्रामयूखै: शकलानि कुर्व्वन् ॥")

रागवस्तु। वल्कलम्। इति मेदिनी ॥ शल्कम्। आँश इति भाषा। इति शकलिन्शब्ददर्शनात् ॥

शकल:, पुं, क्ली, (शक् + कल:।) एकदेश:। (यथा, मनु:। ६। २८।

"प्रतिगृह्य पुटेनैव पाणिना शकलेन वा ॥")

खण्डम्। यथा,—

"भित्तं शकलखण्डे वा पुंस्यर्द्धोऽर्द्धं समेंऽशके ॥"

इत्यमर: ॥

(यथा, मनु:। १। १३।

"ताभ्यां स शकलाभ्याञ्च दिवं भूमिञ्च निर्म्ममे ॥")

शकली, [न्] पुं, (शकलमस्यास्तीति। इनि:।) मत्स्य:। इत्यमर: ॥

शकान्तक:, पुं, (शकस्य म्लेच्छजातिविशेषस्य अन्तक:।) विक्रमादित्यराज:। इति केचित् ॥

शकार:, पुं, राज्ञ: अनूढ़ाया: स्त्रिया भ्राता। यथा, साहित्यदर्पणे ३ परिच्छेदे ॥

"मदमूर्खताभिमानी दुष्कुलतैश्वर्य्यसंयुक्त:।
सोऽयमनूढ़ाभ्राता राज्ञ: श्याल: शकार इत्युक्त: ॥"

शकारि:, पुं, (शकस्य म्लेच्छजातिविशेषस्यारि: शत्रु:।) विक्रमादित्यराज:। स तु उज्जयनी-देशाधिपति:। यथा,—

"साहसाङ्क: शकारि: स्याद्विक्रमादित्य इत्यपि ॥"

इति जटाधर: ॥

शकुनं, क्ली, (शक्नोति शुभाशुभं विज्ञातुमनेनेति। शक् + "शकेरुनोन्तोन्युनय:।" उणा० ३। ४९। इति उन:।) शुभशंसिनिमित्तम्। इति मेदिनी ॥ सगुन् इति हिन्दीभाषा। फललक्षणम्। इत्य-जयपाल: ॥ * ॥ अथ शुभशकुनानि।

"कीर्त्तनात् श्रवणतो विलोकनात्
स्पर्शनात् समधिकं समोत्तरम्।
मङ्गलाय दधिचन्दनादिकं
स्यात् प्रवासभवनप्रवेशयो: ॥
दध्याज्यदूर्व्वाक्षतपूर्णकुम्भा:
सिद्धान्नसिद्धार्थकचन्दनानि।
आदर्शशङ्खामिषमीनवत्सा-
गोरोचनागोमयगोमधूलि: ॥

इति वसन्तराजशाकुने विचारिताः शुभावहाः॥
अथ नराङ्गितविचारः ।

"अथाभिधास्ये द्विपदेषु तावत्
प्रधानभावात् शकुनं नराणाम् ।
नैमित्तिकं यत् प्रतिभाव्य सर्व्वं
फलं शुभाशुभनयोर्ब्रवीति ॥
नरोऽभिरूपः सितवस्त्रमाली
वाचं प्रशस्तां मधुराञ्च जल्पन् ।
एवंविधा योषिदपि प्रयाणे
प्रवेशकाले च करोति सिद्धिम् ॥*॥
वमद्विरेकी हतमानगर्व्वः
क्लिन्नाङ्गनग्नान्यजतैलदिग्धाः ।
रजस्वला गर्भवती रुदन्ती
मलान्विताेन्मत्तजराधवाश्च ॥
दीनो द्विषत्क्षुत्क्षितमुक्तकेशाः
क्लेशकस्थाः खरसैरिभस्थाः ।
सन्न्यासिसांक्रन्दनपुंसकाद्या
दुःखावहाः सर्व्वसमीहितेषु ॥*॥
पृथ्वीपतिर्ब्राह्मणहर्षयुक्तो
वेश्या कुमारी सुहृदः सुकेशाः ।
नार्य्यो नराश्वाश्वरथाधिरूढाः
शुभाय दृष्टाः शकुनोद्यमेषु ॥*॥
कृष्णाम्बराः कृष्णविलेपनाढ्याः
कृष्णां स्रजं मूर्द्ध्नि विधारयन्ती ।
दृष्टा सकोपा यदि कृष्णवर्णा
नारी नरैस्तद्विपदो भवन्ति ॥*॥
श्वेताम्बरा श्वेतविलेपनाढ्या
मालां सितां मूर्द्ध्नि विधारयन्ती ।
दृष्टा प्रशस्ता यदि गौरवर्णा
नारी नरैः स्यात्तदभीष्टसिद्धिः ॥
धृतातपत्रः सुविशुद्धवासाः
पुष्पान्वितश्चन्दनचर्च्चिताङ्गः ।
शिष्यावयुक्तः कृतभोजनो वा
विप्रः पठन् यच्छति सर्व्वसिद्धिम् ॥
अभ्युपगच्छति यस्य हि याने
स्त्रीपुरुषोऽप्यथवा फलहस्तः ।
सर्व्वसमीहितसिद्धिरवश्यं
तस्य नरस्य भवत्यचिरेण ॥"

इति वसन्तराजशाकुने नराङ्गितेङ्गित-
संज्ञम् ॥ * ॥

"गच्छेति पृष्ठे पुरतस्तथैव
वागीदृशी केनचिदुच्यमाना ।
सर्व्वाशिषश्चातिशयेन तास्य-
श्चित्तस्य तुष्टिर्विजयाय पुंसाम् ॥
सिद्धेर विरावा जहि छिन्धि भिन्धि
चेत्यादयः शत्रुवधोद्यतानाम् ।
क यासि मा गच्छत चैवमाद्याः
प्रयोजनारम्भनिवारणार्थाः ॥
स्थैर्य्ये स्थिरार्थाद्गमनं तदर्था-
द्वाक्यान्निवृत्तिर्विनिवर्त्तितार्थात् ।
लाभं जयं भङ्गममङ्गलं वा
बुध्येत तत्तत्प्रतिपादनार्थात् ॥
उग्रं भवेद्रोदनमग्रभागे
भयं भवेद्दक्षिणभागभूते ।
नैरृत्यकोणे रणमार्गरोधो
वायव्यकोणे रुदितं सदर्थे ॥
मृत्युः सुतानां रुदितेन पृष्ठे
लाभो भवेत्तत्र निवर्त्तनेन ।
मृत्युस्तदाग्ने रुदितेन शत्रुः
सिद्धिं विधत्ते रुदितं रिपूणाम् ॥"

इति वसन्तराजशाकुने नराङ्गिते उपश्रुति-
प्रकरणम् ॥ * ॥ बकचक्रवाकटट्टिटिभकार-
ण्डवभासभारद्वाजमयूरकपिञ्जल-लावकशशो-
लूककपोतगोवत्सकुक्कुटकलविङ्कभारलीचास-
खञ्जनकाकपिङ्गलारूपाणि शकुनानि घोटक-
वृषमहिषखरगोमहिष्यजामेषैडकोष्ट्रकुक्कुन्द-
रीमूषिकमार्जारवानरम्रगवराहशृगालासनकु-
लवृश्चिकपिपीलिकापक्षी-कुक्कुरादिरूपशकुना-
नि च वसन्तराजशाकुने द्रष्टव्यानि । हस्ति-
शशकच्छमालमद्गुपदशरभसर्परूपाणि शकुनानि
तत्तच्छब्दे द्रष्टव्यानि ॥

शकुनः, पुं, (शक + उनः ।) पक्षिमात्रम् । (यथा, महाभारते । १ । ७२ । १० ।
"तं वने विजने गर्भं सिंहव्याघ्रसमाकुले ।
दृष्ट्वा शयानं शकुनाः समन्ततः पर्य्यवारयन् ॥")
पक्षिविशेषः । गृध्र इति ख्यातः ॥ इति मेदिनी ॥
कश्यपपत्नीताम्रायाः श्येनगृध्रादयः पुत्राः । इति
श्रीभागवतम् ॥ गृध्रस्याशुभफलं यथा,—
"वामेऽपसव्ये पुरतश्च पृष्ठे
युद्धं विभेदं मरणं क्षयञ्च ।
गृध्रः स्थितः सन् कुरुते क्रमेण
शब्दोऽपसव्योऽस्य विपत्तिहेतुः ॥"
इति वसन्तराजशाकुनम् ॥
विप्रभेदः । इत्युणादिकोषः । तद्विवरणं भाग-
वते उक्तम् । गीतविशेषः । तत्तु उत्सवादिषु
मङ्गलार्थं गेयम् । इत्यजयपालः ॥ शुभशंसी ।
इति शब्दरत्नावली ॥

शकुनज्ञा, स्त्री, (शकुनं जानातीति । ज्ञा + कः । स्त्रियामाप् ।) ज्येष्ठी । इति त्रिकाण्डशेषः ॥
शकुनज्ञातरि, त्रि ॥ (यथा, कथासरित्सागरे । ३१ । ५३ ।
"शाखिशाखाहि द्विजाधि स्वसख्या शकुनज्ञया ।
स्तत्कोऽभिषवारूढो युवतीनां मनोभवः ॥")

शकुनिः, पुं, (शक्नोति उन्नेतुमात्मानमिति । शक + "शकेरुनोन्त्युनयः ।" उणा० ३।४९। इति उनिः ।) पक्षी । इत्यमरः ॥ (यथा, मनुः । ५ । ११ ।
"क्रव्यादान् शकुनीन् सर्व्वांस्तथा ग्राम-
निवासिनः ।
अनिर्द्दिष्टांश्चैकशफांष्टिट्टिभञ्च विवर्ज्जयेत् ॥")
चिल्लपक्षी । इति हेमचन्द्रः ॥ सौबलः । स तु
कौरवमातुलः । (अयं हि दुर्य्योधनमन्त्री । द्यूते
पाण्डवान् जित्वा वनं प्रेरयामास । असौ हि
कौरवयुद्धे सहदेवेन निहतः । एतद्विवरणं महा-
भारते शल्यपर्व्वणि द्रष्टव्यम् ॥) ववाद्येकादश-
करणान्तर्गताष्टमकरणम् । इति मेदिनी ॥
तत्करणजातफलम् ।
"परजनधनहर्त्ता वञ्चकः क्रूरचेष्टः
करधृतकरवालो व्याहतस्वामिपक्षः ।
अतिशयपरदारासक्तचित्तः सरोषो
भवति शकुनिजन्मा मानवः शीघ्रकर्म्मा ॥"
इति कोष्ठीप्रदीपः ॥ * ॥
दुःसहपुत्रः । यथा,—
"दुःसहस्याभवत् भार्य्या निर्म्माष्टिर्नाम नामतः ।
जाता कलेस्तु या भार्य्या ऋतौ चण्डालदर्शनात् ॥
तयोरपत्यान्यभवन् जगद्व्यापीनि षोडश ।
अष्टौ कुमाराः कन्याश्च तथाष्टावतिभीषणाः ॥
दन्ताकृष्टिस्तथोक्तिश्च परिवर्त्तस्तथा परः ।
अङ्गधुक् शकुनिश्चैव गण्डप्रान्तरतिस्तथा ॥"
तस्य पञ्च पुत्रा यथा,—
"श्येनकाककपोतांश्च गृध्रोलूकौ च वै सुतान् ।
अजनयत् शकुनिः पञ्च जगृहुस्तान् सुरासुराः ॥
श्येनं जग्राह वै मृत्युः काकं कालो गृहीत-
वान् ।
उलूकं निर्ऋतिश्चापि जग्राहातिभयावहम् ॥
गृध्रं व्याधिस्तदीशोऽथ कपोतञ्च स्वयं यमः ।
एतेषामेव चैवोक्ताः कृताः पापोपपादने ॥
तस्मात् श्येनादयो यस्य निलीयन्ते शिरस्यथ ।
वैनायकस्य कार्य्यालं शान्तिः कार्य्या द्विजोत्तम ॥
गेहे प्रसूतिरेतेषां तद्वल्मीकनिवेशनम् ।
न शस्तं वर्जयेद्गेहं कपोताक्रान्तमस्तकम् ॥
श्येनः कपोतो गृध्रो वा कौशिको वा गृहे
द्विज ।
प्रविष्टः कथयन्त्यन्तं वसतां तत्र वेश्मनि ॥
ईदृक् परित्यजेद्गेहं शान्तिं कुर्य्याद्द्विजोत्तम ।
स्वप्नेऽपि हि कपोतस्य दर्शनं न प्रशस्यते ॥"
इति मार्कण्डेयपुराणे दुःसहवंशोत्पत्तिनामा-
ध्यायः ॥*॥ विकुक्षिपुत्रः । यथा,—
"वैवस्वतमनोरासीदिक्ष्वाकुः पृथिवीपतिः ।
तस्य पुत्रशतं चासीद्विकुक्षिर्ज्येष्ठ उच्यते ॥
सोऽयोध्याधिपतिर्वीरस्तस्य पञ्चदश स्मृताः ।
शकुनिप्रमुखाः पुत्रा रक्षिता रोमहर्षिताः ॥"
इति वह्निपुराणे सगरोपाख्याननामाध्यायः ॥

शकुनिप्रपा, स्त्री, (शकुनीनां पक्षिणां पानार्थं या प्रपा ।) पक्षिणः पानीयशाला । तत्पर्य्यायः । श्रीगर्त्तः २ । इति हारावली ॥

शकुनी, स्त्री, श्यामापक्षी । इति राजनिर्घण्टः ॥ चटकी । इति केचित् ॥ (पक्षिरूपधारिणी पूतना । यथा, महाभारते । ५ । १३० । ४५ ।
"अनेन हि हता बाल्ये पूतना शकुनी तथा ।"
तथा च हरिवंशे । ६२ । १—२ ।
"कस्यचित्त्वथ कालस्य शकुनीवेशधारिणी ।
धात्री कंसस्य भोजस्य पूतनेति परिश्रुता ॥
पूतना नाम शकुनी घोरा प्राणिभयङ्करी ।
आजगामार्द्धरात्रे तु पक्षौ क्रोधात् विधु-
न्वती ॥")

शकुनीश्वरः, पुं, (शकुनीनां पक्षिणामीश्वरः ।) गरुड़ः । इति धनञ्जयः ॥

शकुन्तः, पुं, (शक्नोति उत्पतितुमिति । शक + "शकेरुनोन्तोन्त्युनयः ।" उणा० ३।४९ । इति उन्तः ।) पक्षी । इत्यमरः ॥ (यथा, महाभारते । १ । ७२ । ११ ।
"नेमां हिंस्युर्वने बालां क्रव्यादा मांसगृद्धिनः ।
पर्य्यरक्षन्त तां तत्र शकुन्ता मेनकात्मजाम् ॥")
कीटभेदः । भासपक्षी । इति मेदिनी ॥

शकुन्तला, स्त्री, (शकुन्तैः पक्षिभिर्लाल्यते पाल्यते इति । ला + घञर्थे कः । स्त्रियामाप् ।) मेनकाप्सरःसु विश्वामित्रेण जनिता कन्या । सा कण्वमुनिना प्रतिपालिता । दुष्मन्तराजेन विवाहिता । अस्याः पुत्रो भरतः राजचक्रवर्त्ती । अस्या नामकारणं यथा,—
"निर्जने तु वने यस्मात् शकुन्तैः परिरक्षिता ।
शकुन्तलेति नामास्याः कृतञ्चापि ततो मया ॥"
इति महाभारते ।१।७२।१५॥
अस्या विवरणं कालिदासकृताभिज्ञानशकुन्तलनाटके द्रष्टव्यम् । पाद्मे स्वर्गखण्डे प्रथमादिपञ्चाध्यायेषु महाभारते आदिपर्व्वणि ६९ अध्यायमारभ्य च ज्ञातव्यम् ॥

शकुन्तलात्मजः, पुं, (शकुन्तलाया आत्मजः पुत्त्रः ।) भरतराजः । यथा,—
"दौष्मन्तिर्भरतः सर्व्वदमः शकुन्तलात्मजः ॥"
इति हेमचन्द्रः ॥

शकुन्तिः, पुं, (शक्नोति उत्पतितुमिति । शक + उन्तिः ।) पक्षिमात्रम् । इत्यमरः ॥ (यथा, ऋग्वेदे । २ । ४२ । ३ ।
"अवक्रन्द दक्षिणतो गृहाणां
सुमङ्गलो भद्रवादी शकुन्ते ! ॥")
भासपक्षी । इत्युणादिकोषः ॥

शकुलः, पुं, (शक्नोति गन्तुं वेगेनेति । शक + "मद्गुरादयश्च ।" उणा० १ । ४२ । इति उरच् । रस्य लः ।) मत्स्यविशेषः । इत्यमरः ॥ शउल इति भाषा ॥ (यथा, महाभारते । १२ । १३७ । ३ ।
"नातिगाधे जलाधारे सुहृदः शकुलास्त्रयः ।
प्रभूतमत्स्ये कौन्तेय ! बभूवुः सहचारिणः ॥")
अस्य गुणाः । मधुरत्वम् । हृद्यत्वम् । ग्राहित्वम् । पित्तामजित्त्वम् । गुरुत्वञ्च । इति राजवल्लभः ॥

शकुलगण्डः, पुं, (शकुलस्य गण्ड इव गण्डो यस्य ।) शालमत्स्यः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

शकुलादकः, पुं, श्वेतदूर्व्वा । इत्यमरः ॥

शकुलाक्षी, स्त्री, गण्डदूर्व्वा । इति राजनिर्घण्टः ॥

शकुलादनी, स्त्री, (शकुलानां अदनं यस्याः । ङीप् ।) चक्राङ्गी । इत्यमरः ॥ कट्की इति भाषा ॥ कच्छटशाकः । इति मेदिनी ॥ काँचड़ादाम इति भाषा ॥ मांसी । किञ्चुलिका । जलपिप्पली । कट्फलः । इति विश्वः ॥ गणोषधा । इति राजनिर्घण्टः ॥

शकुलार्भकः, पुं, (शकुलस्य अर्भक इव ।) गड़कमत्स्यः । इत्यमरः ॥ (गड़ुइमाछ इति भाषा ॥)

शकुली, स्त्री, (शकुल + ङीष् ।) मत्स्यविशेषः । ष्टगाल् इति भाषा । महाशकुल इति केचित् । अस्या आकारो गुणाश्च ।
"शकुली रोहिताकारा भूमौ शायचरत्यसौ ।
गुर्व्वी पाके च मधुरा भेदिका दीपकोपमा ॥"
इति राजवल्लभः ॥
पुस्तकान्तरे शकली इति च पाठः ॥ (नदीविशेषः । यथा, मार्कण्डेये । ५७ । २३ ।
"सुमेरुजा शुक्तिमती शकुली त्रिदिवा क्रमुः ।
स्कन्धपादप्रसूता वै तामान्या वेगवाहिनी ॥")

शकृत्, क्ली, (शक्नोति सर्त्तुमिति । शक् + "शकेः ऋतिन् ।" उणा० ४ । ५८ । इति ऋतिन् ।) विष्ठा । इत्यमरः ॥ (यथा, भागवते ।३।३०।१९।
"स दृष्ट्वा त्रस्तहृदयः शकृन्मूत्रं विमुञ्चति ॥")

शकृत्करिः, पुं स्त्री, (शकृत् करोतीति । शकृत् + कृ + "स्तम्बशकृतोरिन् ।"३।२।२४। इति इन् ।) वत्सः । इत्यमरः ॥ दन्त्यादिरिति विद्याविनोदः ॥

शकृत्कारः, त्रि, मलत्यागकारकः । शकृत् करोतीत्यर्थे शकृच्छब्दात् कृधातोः घञ् (अण्) प्रत्ययेन निष्पन्नः ॥

शकृद्द्वारं, क्ली, (शकृतो द्वारम् ।) मलद्वारम् । तत्पर्य्यायः । अपानम् २ पायुः ३ गुदम् ४ च्युतिः ५ अधोमर्म्म ६ त्रिवलीकः ७ वली ८ । इति हेमचन्द्रः ॥

शक्करः, पुं, वृषः । इति हेमचन्द्रः ॥

शक्करिः, पुं, वृषः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

शक्करी, स्त्री, छन्दोभेदः । नदीभेदः । मेखला । इति मेदिनी ॥ सा च समस्तषड्विंशतिच्छन्दोऽन्तर्गतचतुर्द्दशच्छन्दः । यथा,—
"उक्थात्युक्था तथा मध्या प्रतिष्ठान्या
सुपूर्व्विका ।
गायत्त्र्युष्णिगनुष्टुप् च बृहती पङ्क्तिरेव च ॥
त्रिष्टुप् च जगती चैव तथातिजगती मता ।
शक्करी सातिपूर्व्वा स्यादष्ट्यत्यष्टी तथा मता ॥
धृतिश्चातिधृतिश्चैव कृतिः प्रकृतिराकृतिः ।
विकृतिः संकृतिश्चापि तथा चैवातिसत्कृतिः ॥
इत्याख्याः समस्तानां छन्दसां क्रमशः कृताः ॥"
तत्र चतुर्द्दशाक्षरपादसप्तच्छन्दांसि सन्ति । तेषां नामानि लक्षणञ्च यथा ।
मो गो गो नौ मः शरनवभिरसंबाधा । १ ।
ज्ञेयं वसन्ततिलकं तभजा जगौ गः । २ ।
ननरसलघुगैः स्वरैरपराजिता । ३ ।
ननभनलगितिप्रहरणकलिका । ४ ।
मत्तो नो मो गौ यदि गदिता वासन्तीयम् ।५।
द्विः सप्त छिदि लोलाम्सौ म्भौ गौ चरणे चेत् ।६।
स्वरभिदि यदि नौ तौ च नान्दीमुखीयम् ।७।
इति छन्दोमञ्जरी ॥
एतेषामुदाहरणानि बाहुल्यभिया नोक्तानि ॥

शक्तः, त्रि, (शक + क्तः ।) शक्तिविशिष्टः । समर्थः । तत्पर्य्यायः । सहः २ क्षमः ३ प्रभुः ४ उष्णुः ५ । इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, मनुः । ९ । २०७ ।
"भ्रातॄणां यस्तु नेहेत धनं शक्तः स्वकर्म्मणा ।
स निर्भाज्यः स्वकादंशात् किञ्चिद्दत्त्वोपजीवनम् ॥")
प्रियंवदः । इति शक्तशब्दटीकायां स्वामी ॥

शक्तवः, पुं भूम्नि, भृष्टयवादिचूर्णम् । छातु इति भाषा । यथा,—
"धाना भृष्टयवे भूम्नि स्त्रियां पुंभूम्नि शक्तवः ।
केचित्तु शक्तुरस्त्रीति वन्धुरा भूमनि स्त्रियाम् ॥"
इति जटाधरः ॥
अस्य विवरणं शक्तुशब्दे द्रष्टव्यम् ॥

शक्तिः, स्त्री, (शक + क्तिन् ।) कार्य्यजननसामर्थ्यम् । यथा,—
"या देवी सर्व्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता ।"
इति देवीमाहात्म्यस्य टीकायां नागोजीभट्टः ॥
शक्यते जेतुमनया । सा प्रभावोत्साहमन्त्रजभेदात्त्रिविधा । तत्र प्रभुत्वे साधकत्वात् कोषदण्डौ प्रभुशक्तिः १ । विक्रमेण स्वशक्त्या विस्फुरणमुत्साहशक्तिः २ । सन्ध्यादीनां सामादीनाञ्च यथावस्थानं मन्त्रशक्तिः ३ ॥ सामर्थ्यमात्रम् । तत्पर्य्यायः । द्रविणम् २ तरः ३ सहः ४ बलम् ५ शौर्य्यम् ६ स्थाम ७ शुष्मम् ८ पराक्रमः ९ प्राणः १० । इत्यमरः ॥ शुष्म ११ सहम् १२ । इति शब्दरत्नावली ॥ ऊर्ज्जः १३ । इति जटाधरः ॥ कासूः । सा तु शर्व्वलानामास्त्रम् । इति नानार्थे अमरभरतौ ॥ गौरी । इति मेदिनी ॥ लक्ष्मीः । इति शब्दमाला ॥ * ॥
त्रिशक्तयो यथा,—
"एषा त्रिशक्तिरुद्दिष्टा नयसिद्धान्तगामिनी ।
एषा श्वेता परा सृष्टिः सात्त्विकी ब्रह्मसंस्थिता ।
एषैव रक्ता रजसि वैष्णवी परिकीर्त्तिता ।
एषैव कृष्णा तमसी रौद्री देवी प्रकीर्त्तिता ॥
परमात्मा यथा देवो एक एव त्रिधा स्थितः ।
प्रयोजनवशाच्छक्तिरेकैव त्रिविधाभवत् ॥"
इति वाराहे त्रिशक्तिमाहात्म्यनामाध्यायः ॥ * ॥
अपि च ।
"बिन्दुः शिवात्मकस्तत्र बीजं शक्त्यात्मकं
स्मृतम् ।
तयोर्योगे भवेन्नादस्तेभ्यो जातास्त्रिशक्तयः ॥"
इति क्रियासारः ॥
अन्यच्च ।
"इच्छा क्रिया तथा ज्ञानं गौरी ब्राह्मी तु वैष्णवी ।
त्रिधा शक्तिः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरो-
मिति ॥"
इति गोरक्षसंहिता ॥ * ॥
अष्ट शक्तयो यथा,—
"इन्द्राणी वैष्णवी शान्ता ब्रह्माणी ब्रह्मवादिनी ।
कौमारी नारसिंही च वाराही विकटाकृतिः ॥
माहेश्वरी महामाया भैरवी भीमरूपिणी ।
अष्टौ च शक्तयः सर्व्वा रथस्थाः प्रययुर्म्मुदा ॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे बाणयुद्धं नाम ११९ अध्यायः ॥ * ॥

नव शक्तयो यथा,—
“नव पद्मे चाष्टदले मध्ये च भक्तिपूर्व्वकम् ।
वैष्णवीञ्चैव ब्रह्माणीं रौद्रीं माहेश्वरीं तथा ॥
नारसिंहीञ्च वाराहीमिन्द्राणीं कार्त्तिकीं तथा ।
सर्व्वशक्तिस्वरूपाञ्च प्रधानां सर्व्वमङ्गलाम् ॥
नवशक्तीश्च संपूज्य घटे देवाञ्च पूजयेत् ॥”
इति ब्रह्मवैवर्त्ते प्रकृतिखण्डे ६१ अध्यायः ॥*॥
पञ्चाशद्विष्णुशक्तयो यथा,—
“कीर्त्तिः कान्तिस्तुष्टिपुष्टी धृतिः शान्तिः क्रिया दया ।
मेधा सहर्षा श्रद्धा स्याल्लज्जा लक्ष्मीः सरस्वती ॥
प्रीती रती रमा प्रोक्ताः क्रमेण स्वरशक्तयः ।
जया दुर्गा प्रभा सत्या चण्डा वाणी विलासिनी ॥
विरजा विजया विश्वा विनदा सुनदा स्मृतिः ।
ऋद्धिः समृद्धिः शुद्धिश्च भक्तिर्मुक्तिर्मतिः क्षमा ॥
रमोमा क्लेदिनी क्लिन्ना वसुदा वसुधा परा ।
परा परायणा सूक्ष्मा सन्ध्या प्रज्ञा प्रभा निशा ॥
अमोघा विद्युता चेति शक्तयः सर्व्वकामदाः ।
एताः प्रियतमाङ्केषु निषण्णाः सस्मिताननाः ॥
विद्युद्दामसमानाङ्ग्यः पङ्कजाभयबाहवः ॥”*॥
पञ्चाशद्रुद्रशक्तयो यथा,—
“गुणोदरी स्याद्विरजा शाल्मली तदनन्तरम् ।
लोलाक्षी वर्त्तुलाक्षी च दीर्घघोणा समीरिता ॥
सुदीर्घमुखीगोमुख्यौ दीर्घजिह्वा तथैव च ।
कुण्डोदर्य्यूर्द्ध्वकेश्यौ च तथा विकृतमुख्यपि ॥
ज्वालामुखी ततो ज्ञेया पश्चादुल्कामुखी ततः ।
सुश्रीमुखी चैव विद्यामुख्येताः स्वरशक्तयः ॥
महाकालीसरस्वत्यौ सर्व्वसिद्धिसमन्विते ।
गौरी त्रैलोक्यविद्या स्यान्मन्त्रसिद्धिस्ततः परम् ॥
आत्मशक्तिर्भूतमाता तथा लम्बोदरी स्मृता ।
द्राविणी नागरी भूयः खेचरी चापि मञ्जरी ॥
रूपिणी वीरिणी पश्चात् काकोदर्य्यपि पूतना ।
स्याद्भद्रकाली योगिन्यौ शङ्खिनी गर्ज्जिनी तथा ॥
कालरात्रिश्च कुब्जिन्या कपर्द्दिन्यपि वज्रया ।
जया च सुमुखेश्वर्य्या रेवती माधवी ततः ॥
वारुणी वायवी प्रोक्ता पश्चाद्रक्षोविदारिणी ।
ततश्च सहजा लक्ष्मीर्व्यापिनी माययान्विता ॥
एता रुद्राङ्कपीठस्थाः सिन्दूरारुणविग्रहाः ।
रक्तोत्पलकपालाभ्यामलङ्कृतकराम्बुजाः ॥”
इति प्रपञ्चसारः ॥*॥
कुलशक्तयो यथा,—
“शक्तयः परमेशानि ! विदग्धाः सर्व्वयोषितः ।
नटी कापालिकी वेश्या मालिनी कुङ्कुमालिनी ॥
चाण्डाली च कुलाली च रजकी नापिताङ्गना ।
गोपिनी योगिनी शुद्धा ब्राह्मणी राजकन्यका ॥
कोचाङ्गना च देवेशि ! तथैव शङ्खकारिणी ।
एता षड्विंशतिः कन्या देवानामपि दुर्लभा ॥
दैवज्ञा व्याधकन्या च तथा मांसापहारिणी ।
बौद्धा च जवनी देवि तथा रसपसारिणी ॥
वेश्या चतुर्व्विधा प्रोक्ता द्विविधा कुङ्कुमालिनी ।
धीवरी द्विविधा प्रोक्ता तथैव गणिकाङ्गना ॥
कुम्भकारी द्विधा प्रोक्ता तथैव गोपिनी स्मृता ।
चालवैद्याङ्गना देवि जवनी द्विविधा स्मृता ॥
बौद्धकन्या त्रिधा देवि तथा कोचाङ्गना प्रिया ।
पूर्व्वोक्ताभिः सहैकत्र चतुःषष्टिश्च शक्तयः ॥”
इति रेवतीतन्त्रे ३ पटलः ॥ * ॥
अपि च ।
“पञ्चाचारेण देवेशि ! कुलशक्तिं प्रपूजयेत् ।
नटी कापालिकी वेश्या रजकी नापिताङ्गना ॥
ब्राह्मणी शूद्रकन्या च तथा गोपालकन्यका ।
मालाकारस्य कन्या च नव कन्या प्रकीर्त्तिताः ॥
विशेषवैदग्ध्ययुताः सर्व्वा एव कुलाङ्गनाः ।
रूपयौवनसम्पन्ना शीलसौभाग्यशालिनी ।
पूजनीया प्रयत्नेन ततः सिद्धिर्भवेद् ध्रुवम् ॥”
इति गुप्तसाधनतन्त्रे १ पटलः ॥ * ॥
तस्याः प्रशंसा यथा ।
“शक्तिं विना महेशानि ! सदाहं शवरूपकः ।
शक्तियुक्तो यदा देवि ! शिवोऽहं सर्व्वकामदः ॥
शक्तियुक्तं जपेन्मन्त्रं न मन्त्रं केवलं जपेत् ।
सावित्रीसहितो ब्रह्मा सिद्धोऽभून्नगनन्दिनि ॥
द्वारवत्यां कृष्णदेवः सिद्धोऽभूत् सत्यया सह ।
तथा कोचवधूसङ्गान्मम सिद्धिर्व्वरानने ॥
ईश्वरोऽहं महादेवि ! केवलं शक्तियोगतः ।
शक्तियोगेन देवेशि यदि सिद्धिर्न जायते ॥
तदैव परमेशानि मम वाक्यं वृथा भवेत् ।
यद्दत्तं जलरूपं शक्तिवक्त्रे सुरेश्वरि ! ॥
सिन्धुरूपं महेशानि ! तज्जलं नात्र संशयः ।
स्वीयेष्टदेवीभावेन भोजयेत्ताञ्च यत्नतः ॥
शक्तिश्च कथ्यते देवि शृणुष्व सुरसुन्दरि ।
त्रयोदशाब्दादूर्द्ध्वं या पञ्चविंशतिवार्षिकी ॥
अप्रसूता विशेषेण पञ्चमेऽपि भवेत् प्रिये ।
सुन्दरी तु विशेषेण प्रसूता वाप्रसूतिका ॥
अवश्यं पञ्चमं कुर्य्यात् शक्तिमात्रे महेश्वरि ॥”
इति शक्तिकागमसर्व्वस्वम् ॥ * ॥
तस्या उत्पत्तिमाहात्म्यादिर्यथा,—
नारायण उवाच ।
“सह बुद्धा बुद्धिमन्तो न वक्तुमुचितं सुराः ।
सर्व्वे शक्त्याजया विश्वे शक्तिमन्तो हि जीविनः ॥
ब्रह्मादितृणपर्य्यन्तं सर्व्वं प्राकृतिकं जगत् ।
सत्यं नित्यं विना माञ्च मया शक्तिः प्रकाशिता ॥
आविर्भूता च सा मत्तः सृष्टौ देवी मदीच्छया ।
तिरोहिता च सा शेषे सृष्टिसंहरणे मयि ॥
सृष्टिकर्त्री च प्रकृतिः सर्व्वेषां जननी परा ।
मम तुल्या च मन्माया तेन नारायणी स्मृता ॥
सुचिरञ्च तपस्तप्तं शम्भुना ध्यायता च माम् ।
तेन तस्मै मया दत्ता तपसां फलरूपिणी ॥
व्रतञ्च लोकशिक्षार्थमस्या न स्वार्थमेव च ।
स्वयं व्रतानां तपसां फलदात्री जगत्त्रये ॥
मायया मोहिताः सर्व्वे किमस्या वास्तवं व्रतम् ।
साध्यमस्या व्रतफलं कल्पे कल्पे पुनः पुनः ॥
सुरेश्वरा यदंशाश्च ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
कलाः कलांशरूपाश्च जीविनश्च सुरादयः ॥
मृदा विना कुलालश्च घटं कर्त्तुं यथाक्षमः ।
विना स्वर्णं स्वर्णकारः कुण्डलं कर्त्तुमक्षमः ॥
विना शक्त्या तथाहञ्च स्वसृष्टिं कर्त्तुमक्षमः ।
शक्तिप्रधाना सृष्टिश्च सर्व्वदर्शनसम्मता ॥
अहमात्मा च निर्लिप्तोऽदृश्यः साक्षी च देहि-
नाम् ।
देहाः प्राकृतिकाः सर्व्वे नश्वराः पाञ्चभौतिकाः ॥
अहं नित्यशरीरी च भानुविग्रहविग्रहः ।
सर्व्वाधारा च प्रकृतिः सर्व्वात्माहं जगत्सु च ॥
अहमात्मा मनो ब्रह्मा ज्ञानरूपो महेश्वरः ।
पञ्च प्राणाः स्वयं विष्णुर्बुद्धिः प्रकृतिरीश्वरी ॥
शक्यो निद्रादयश्चैताः सर्व्वाश्च प्रकृतेः कलाः ।
सा च शैलेन्द्रकन्येयं इति वेदनिरूपितम् ॥”
इति ब्रह्मवैवर्त्ते गणेशखण्डे ७ अध्यायः ॥*॥
अपि च ।
“सा शक्तिः सृष्टिकाले च पञ्चधा चेश्वरेच्छया ।
राधा पद्मा च सावित्री दुर्गा देवी सरस्वती ॥
प्राणाधिष्ठातृदेवी या कृष्णस्य परमात्मनः ।
प्राणाधिकप्रियतमा सा राधा परिकीर्त्तिता ॥
ऐश्वर्य्याधिष्ठातृदेवी सर्व्वमङ्गलकारिणी ।
परमानन्दरूपा च सा लक्ष्मीः परिकीर्त्तिता ॥
विद्याधिष्ठातृदेवी या परमेशस्य दुर्लभा ।
वेदशास्त्रयोगमाता सा सावित्री प्रकीर्त्तिता ॥
बुद्ध्यधिष्ठातृदेवी या सर्व्वशक्तिस्वरूपिणी ।
सर्व्वज्ञानात्मिका सर्व्वा सा दुर्गा दुर्गनाशिनी ॥
रागाधिष्ठातृदेवी या शास्त्रज्ञानप्रदा सदा ।
कृष्णकण्ठोद्भवा या च सा च देवी सरस्वती ॥
पञ्चधादौ स्वयं देवी मूलप्रकृतिरीश्वरी ॥
ततः सृष्टिक्रमेणैव बहुधा कलया च सा ।
योषितः प्रकृतेरंशाः पुमांसः पुरुषस्य च ॥”
इति च ब्रह्मवैवर्त्ते गणेशखण्डे ४० अध्यायः ॥*॥
ब्रह्माणीशक्त्युत्पत्तिर्यथा ।
“ततो ब्रह्मादयो देवा भयं जग्मुः सवासवाः ।
यदि स्यान्निर्जितो देवः क्षयः सर्व्वदिवौकसाम् ॥
एतस्मिन्नन्तरे शक्र ! ब्रह्मा चिन्तयते क्रियाः ।
स्त्रीरूपधारिणी भूत्वा सहायत्वं महेश्वरे ॥
क्षिप्रं कुरु स्वकार्य्यं त्वं एवं विश्वेश्वरे रणे ।
ततो योजितवान् शम्भुः स्वशक्तिं किरणोज्ज्व-
लाम् ॥
ब्रह्मरूपधरां किन्तु कलनाकारविग्रहाम् ।
हंसस्यन्दनमारूढ़ा स्वकीयायुधधारिणी ॥
तर्ज्जयन्ती महौजेन दानवानां भयङ्करी ।
तस्य घोराणि कर्म्माणि दृष्ट्वा स विस्मयन् शिवः ॥
का पुनः स्रष्टुः सुश्रेष्ठा सदातिप्रतिपक्षजित् ।
तस्याः शक्तिं द्वितीयाञ्च सृजामि अपराजि-
ताम् ॥”
इति देवीपुराणे रुरुवधे ब्रह्माण्युत्पत्तिः ॥*॥
नन्दातीर्थे शक्तिमन्त्रविचारनिषेधो यथा ।
“योऽसावनादिमध्यान्तशिवशक्तिमयः परः ।
तस्यैव परमानन्दा सर्व्वकिल्बिषनाशिनी ॥
तत्प्रभावेण प्राप्नोति तपोयज्ञादिकं फलम् ।
मन्त्राणां देवशक्तीनां न विचारो वरानने ॥”
इति देवीपुराणे नन्दाकुण्डप्रवेशः प्रथमा-
ध्यायः ॥*॥

प्रकृतिः । यथा,—

"प्रधानं प्रकृतिः शक्तिर्नित्या चाविकृतिस्तथा ।
एतानि तस्या नामानि पुरुषं या समाश्रिता ॥"

तस्या गुणानाह ।

"सत्त्वं रजस्तमश्चेति विज्ञेयाः प्रकृतेर्गुणाः ।"

इति भावप्रकाशः ॥ * ॥

शक्तिविषयकपुष्पाणि यथा,—

"अथ पुष्पं प्रवक्ष्यामि कर्म्मयोगे महेश्वरि ।
शृणुष्व परया भक्त्या यथोक्तं ब्रह्मणा पुरा ॥
कमले करवीरे द्वे कुसुम्भे तुलसीद्वयम् ।
जात्यशोके केतकी द्वे कुमारीचम्पकोत्पलम् ॥
कुन्दमन्दारपुन्नागपाटलानागचम्पकम् ।
आरग्वधं कर्णिकारं यावन्ती नवमल्लिका ॥
सौगन्धिकं सकोरण्टं पलाशाशोकसर्ज्जकाः ।
सिन्धुवारो ह्यपामार्गबाणुलीकञ्च कामजम् ॥
आम्रचेलं दमनकं मरुवकं ततः परम् ।
लवङ्गं जलकर्पूरं तगरञ्च जवा तथा ॥
शिवपुष्पं द्रोणपुष्पं कामराजं सुकेतकम् ।
अन्यानि वनपुष्पाणि जलजस्थलजानि च ।
गिरिजानि देशजानि नानापुष्पाण्यतः परम् ॥"

इति प्रपञ्चसारः ॥

शक्तिग्रहः, पुं, (शक्तिं गृह्णातीति । शक्ति + ग्रह + "शक्तिलाङ्गलाङ्कुशेति ।" ३ । २ । ९ । इत्यस्य वार्त्तिकोक्त्या अच् ।) शिवः । कार्त्तिकेयः । शक्तिं गृह्णाति यः इत्यर्थे शक्तिशब्दपूर्व्वकग्रह-धातोरल्प्रत्ययेन निष्पन्न इति केचित् ॥ (शक्ते-र्ग्रहो ग्रहणम् ।) शब्दशक्तिज्ञानम् । यथा । "अस्मात् शब्दात् अयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरेच्छा शक्तिरिति तार्किकाः । तज्ज्ञानन्तु व्याकरणा-दिभ्यः । अतएव ।

'शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान-
कोषाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्व्वदन्ति
सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥'

इति प्राञ्चः ।" इति दुर्गादासः ॥

शक्तिग्राहकः, पुं, व्याकरणोपमानादिः । शक्ति-ग्रहीता च । शक्तिं ग्राहयति गृह्णाति च इत्यर्थे ण्यन्ताण्यन्तग्रहधातोर्ण्वक(ण्वुल्)प्रत्ययेन निष्पन्नमेतत् ॥

शक्तिधरः, पुं, (धरतीति । धृ + अच् । शक्तेर्धरः ।) कार्त्तिकेयः । इत्यमरः ॥ (यथा, हरिवंशे ।७३।९।

"बलेन वपुषा चैव बाल्येन चरितेन च ।
स्थाने शक्तिधरस्तुल्यो न तु कश्चन मानुषः ॥")

शक्तिधारके, त्रि ॥ (यथा, बृहत्संहितायाम् । ५८ । ४१ ।

"स्कन्दः कुमाररूपः शक्तिधरो बर्हिकेतुश्च ॥")

शक्तिपर्णः, पुं, सप्तपर्णवृक्षः । इति जटाधरः ॥

शक्तिपाणिः, पुं, (शक्तिरस्त्रविशेषः पाणौ यस्य ।) कार्त्तिकेयः । इति हलायुधः ॥

शक्तिभृत्, पुं, (शक्तिं बिभर्त्तीति । भृ + क्विप् । तुक् च ।) कार्त्तिकेयः । इति हेमचन्द्रः ॥ शक्त्यस्त्रधारके, त्रि ॥

शक्तिहेतिकः, त्रि, (शक्तिर्हेतिः प्रहरणास्त्रं यस्य ।) शक्त्यस्त्रधारियोद्धा । तत्पर्य्यायः । शाक्तीकः २ । इत्यमरः ॥ शक्त्यायुधधरः ३ । इति शब्दरत्नावली ॥

शक्तुः, पुं क्ली, (शक + बाहुलकात् तुन् ।) भर्ज्जित-यवादिचूर्णम् । छातु इति भाषा । यथा,—

"धाना भृष्टयवे भूम्नि स्त्रियां पुंभूम्नि शक्तवः ।
केचित्तु शक्तुरस्त्रीति बन्धुरा भूमनि स्त्रियाम् ॥"

इति जटाधरः ॥

अस्य गुणाः ।

"यवानां शक्तवो रूक्षा लेखना वह्निवर्द्धनाः ।
वातलाः कफरोगघ्ना वातवर्च्चोऽनुलोमनाः ॥
धानासंज्ञास्तु तेऽतीव दुर्जरा लेखनाः स्मृताः ।
गुर्व्वी पिण्डीकृतात्यर्थं लघ्वी सैव विपर्य्ययात् ।
शक्तूनामाशु जीर्य्येत मृदुत्वादवलेहिका ॥"

इति राजवल्लभः ॥

अथ शक्तवः ।

"धान्यानि भ्राष्ट्रभृष्टानि यन्त्रपिष्टानि शक्तवः ।"

तत्र यवशक्तवः ।

"यवजाः शक्तवः शीता दीपना लघवः सराः ।
कफपित्तहरा रूक्षा लेखनाश्च प्रकीर्त्तिताः ॥
ते पीता बलदा वृष्या वृंहणा भेदनास्तथा ।
तर्पणा मधुरा रुच्याः परिणामे बलावहाः ॥
कफपित्तश्रमक्षुत्तृड्व्रणनेत्रामयापहाः ।
प्रशस्ता घर्म्मदाहार्त्ता व्यायामार्त्तशरीरिणाम् ॥"

अथ चणकयवशक्तवः ।

"निस्तुषैश्चणकैर्भृष्टैस्तुर्य्यांशैश्च यवैः कृताः ।
शक्तवः शर्करासर्पिःशस्ता ग्रीष्मेऽतिपूजिताः ॥"

अथ शालिशक्तवः ।

"शक्तवः शालिसंभूता वह्निदा लघवो हिमाः ।
मधुरा ग्राहिणो रुच्याः पथ्याश्च बलशुक्रदाः ॥
न भुक्त्वा न रदैश्छित्त्वा न निशायां न वा बहून् ।
न जलान्तरितान् न द्विः शक्तूनद्यान्न केवलान् ॥
पृथक्पानं पुनर्द्दानं सामिषं पयसा निशि ।
दन्तच्छेदनमुष्णञ्च सप्त शक्तुषु वर्ज्जयेत् ॥"

इति भावप्रकाशः ॥

जन्मतिथौ तद्भक्षणफलम् । ज्योतिषे ।

"शक्तून् खादति यस्तु तस्य रिपवो नाशं प्रयान्ति ध्रुवं
भुङ्क्ते यस्तु निरामिषं स हि भवेत् जन्मान्तरे पण्डितः ।"

इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥

मेषसंक्रान्त्यां तद्दानविधिर्यथा । स्मृतिः ।

"मेषादौ शक्तवो देया वारिपूर्णा च गर्गरी ।"

महार्णवे ।

"यो ददाति हि मेषादौ शक्तूनम्बुघटान्वितान् ।
पितॄनुद्दिश्य विप्रेभ्यः सर्व्वपापैः प्रमुच्यते ।
विप्रेभ्यः पादुके छत्रं पितृभ्यो विषुवे शुभम् ॥"

इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥

चातुर्मास्यव्रते प्रातःस्नानस्य घृतशक्तवो दक्षिणा यथा । नारदीयम् ।

"नित्यस्नाने हविर्द्दानिःस्नेहे घृतशक्तवः ॥"

नित्यस्नाने प्रातःस्नाने । इति मलमासतत्त्वम् ॥

शक्तुकः, पुं, विषभेदः । तस्य लक्षणस्वरूपे यथा,

"यद्ग्रन्थिः शक्तुकेनेव पूर्णमध्यः स शक्तुकः ।"

इति भावप्रकाशः ॥

शक्तुफला, स्त्री, शमीवृक्षः । इत्यमरः ॥

शक्तुफली, स्त्री, शमीवृक्षः । इति शब्दरत्नावली ॥

शक्त्यर्द्धः, पुं, (शक्तेरर्द्धः ।) श्रमद्वारा कुक्षिललाट-ग्रीवास्वत्पन्नः घर्म्मः दीर्घनिश्वासश्च । यथा,—

"कुक्षौ ललाटे ग्रीवायां यदा घर्म्मः प्रवर्त्तते ।
शक्त्यर्द्धं तं विजानीयाद्दायतोच्छ्वासमेव च ॥"

इति राजवल्लभः ॥

शक्रिः, पुं, वशिष्ठमुनेर्ज्येष्ठपुत्रः । इति पुराणम् ॥ (यथा, महाभारते । १ । १७७ । ६ ।

"अपश्यदजितः संख्ये मुनिं प्रतिमुखागतम् ।
शक्रिं नाम महाभागं वशिष्ठकुलवर्द्धनम् ।
ज्येष्ठं पुत्रं पुत्रशतात् वशिष्ठस्य महात्मनः ॥"

अयं हि इक्ष्वाकुवंशीयं कल्माषपादनृपतिं अशपत् । स च नृपती राक्षसो भूत्वा एन-मभक्षयत् । एतद्वृत्तान्तस्तु महाभारते १।१७७ अध्याये द्रष्टव्यः ।)

शक्रः, त्रि, प्रियंवदः । इत्यमरटीकायां भरतः ।

शक्रुः, त्रि, प्रियंवदः । इत्यमरः ॥

शक्मा,[न्] पुं, (शक + "अशिशकिभ्यां छन्दसि ।" उणा० ४ । १४६ । इति मनिन् ।) शक्तिः । शकधातोरौणादिकमनिन्प्रत्ययेन निष्पन्नम् । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥ (इन्द्रः । इत्युज्ज्वलः । ४ । १४६ ॥ क्ली, शक्यतेऽनेनाभिमतं प्राप्तुं शक्नो-तीष्टं साधयितुं वा शक्यते कर्त्तुमिति वा । शक + मनिन् । कर्म्म । इति निघण्टुः । २ । १ । यथा, ऋग्वेदे । ६ । ३४ । ३ ।

"दुहन्ति शक्मना पयः ॥"

"शक्मना कर्म्मणा ।" इति तद्भाष्ये सायनः ।)

शक्यः, त्रि, (शक + "शकिसहोश्च ।" ३।१।९९ । इति यत् ।) समर्थनीयः । (यथा, रघुः । ८।४४ ।

"शक्योऽस्य मन्युर्भवता विनेतुं
गाः कोटिशः स्पर्शयता घटोध्नीः ॥")

शक्याश्रयः । (यदा भावे यत् स्यात् तदा क्लीवलिङ्गः स्यात् । यथा, गीतायाम् ।१८।११ ।

"नहि शक्यं देहभृता त्यक्तुं कर्म्माण्यशेषतः ॥"

तथाच रामायणे । २ । १३ । ५ ।

"तानि सर्व्वाणि संयन्तुं शक्यं राम जितेन्द्रियैः ॥")

पुं, वाच्योऽर्थः । यथा,—

"शक्योऽर्थोऽभिधया ज्ञेयः लक्ष्यो लक्षणया मतः ।
व्यङ्ग्यो व्यञ्जनया ज्ञेयस्तिस्रः शब्दस्य वृत्तयः ॥"

इत्यलङ्कारशास्त्रम् ॥

अन्यच्च ।

"शक्ये साहश्यबुद्धिस्तु भवेदुपमितौ गुणः ।"

इ[illegible]परिच्छेदः ॥

अपि च । "ईश्वरसङ्केतः शक्तिस्तया अर्थबोधकं पदं वाचकम् । यथा गोत्वादिविशिष्टबोधकं गवादिपदं तद्बोध्योऽर्थो गवादिर्वाच्यः स एव मुख्यार्थ इत्युच्यते ।" इति शक्तिवादः ॥

शक्यतावच्छेदकं, त्रि, (शक्यतायां अवच्छेदकम् ।) शक्यांशे भासमानधर्म्मः । यथा ।
"एवञ्च तादृशधर्म्मस्य शक्यतावच्छेदकत्वं दुर्व्वारमेव ।" इति शक्तिवादः ॥

शक्रः, पुं, (शक्नोति दैत्यान् नाशयितुम् । शक + "स्फायितञ्चीति ।" उणा० २।१३ । इति रक् ।) इन्द्रः । इत्यमरः । (यथा, रघुः । ३ । ३९ ।
"धनुर्भृतामग्रत एव रक्षिणां
जहार शक्रः किल गूढविग्रहः ॥")
कुटजवृक्षः । अर्ज्जुनवृक्षः । इति मेदिनी ॥
ज्येष्ठानक्षत्रम् । यथा,—
"शक्रो निर्ऋतिस्तोयं विश्वविरिञ्चौ हरिर्वसु-
र्वरुणः ।
अजपादोऽहिर्ब्रध्नः पूषा चेतीश्वरा भानाम् ॥"
इति ज्योतिस्तत्त्वम् ॥

चतुर्द्दशेन्द्रा यथा,—
"विश्वभुक् च विपश्चिच्च सुचित्तिः शिविरेव च ।
विभुर्मनोजवश्चैव तथौजस्वी बलिस्तथा ॥
अद्भुतश्च तथा शान्तिस्तथा देवपतिर्वृषः ।
ऋतधामा दिवःस्वामी शुचिः शक्राश्चतुर्द्दश ॥"*
ब्राह्मदिनमानान्तेषु इन्द्राणां नाशसंख्या यथा ।
"ब्राह्मे दिने वै नश्यन्ति चतुर्द्दश पुरन्दराः ।
शतानि मानि चत्वारि विंशत्या सहितानि च ।
अब्दे पञ्चसहस्राणि चत्वारिंशच्छतानि च ॥"
इत्याद्ये वह्निपुराणे गणभेदनामाध्यायः ॥*॥

इन्द्रत्वप्राप्तिकारणं यथा,—
इन्द्र उवाच ।
"रमाकान्त भवत्प्रीत्यै कृतं क्रतुशतं पुरा ।
तेन पुण्येन सम्प्राप्तं मया पौरन्दरं पदम् ॥
इदानीं नूतनः कोऽपि जातो दिवि पुरन्दरः ।
न तेन धर्म्मो विहितो न तेन क्रतवः कृताः ।
मम सिंहासनं दिव्यं कथमाक्रान्तमच्युत ॥
इत्येवं वदतस्तस्य श्रुत्वा वाक्यं रमापतिः ।
उन्मीलितस्मिताच्चोऽसावुवाच मधुरं वचः ॥
श्रीभगवानुवाच ।
देवादयो मनुष्यान्ता मम सेवापरायणाः ।
मद्यात्रानरता लोका मद्भक्तिस्तुतिपाठकाः ॥
मन्मूर्त्तिषु कृतध्याना मत्कथाश्रवणा इह ।
मत्पादोदकनैवेद्यभोजिनोऽन्वहमेव ये ॥
मन्नामकीर्त्तनपरा मम स्तुतिपरायणाः ।
मन्मन्त्रजापका नित्यमनन्याश्रयसम्पदः ॥
किं विधित्वं किमिन्द्रत्वं देवत्वमपरं किमु ।
तेषामलभ्यं यत्किञ्चित् दुर्लभं नास्ति संसृतौ ॥
किं दानैरल्पफलदैः किं तपोभिः किमध्वरैः ।
सेव्यमानैः क्षितितले स मम प्रीतिमान् सदा ॥
इन्द्र उवाच ।
भगवन् कर्म्मणा केन स त्वत्प्रीतिपरो भवेत् ।
तद्वदस्व महाभाग प्रपन्नभयभञ्जन ॥
श्रीभगवानुवाच ।
अनेकधा मदर्चनं मम प्रीतिकरं परम् ।
यद्भक्त्या तत् परं लेभे तत् शृणुष्व पुरन्दर ॥
अपत्यष्टादशाध्यायगीतानां श्लोकपञ्चकम् ।
तथा भक्त्या तु संप्राप्तं तव साम्राज्यमुत्त-
मम् ॥"
इति पाद्मोत्तरखण्डे ६६ अध्यायः ॥
(समर्थे, त्रि । यथा, ऋग्वेदे । ४ । १६ । ६ ।
"विश्वानि शक्रो नर्य्याणि विद्वा-
नपो रिरेच सखिभिर्निकामैः ॥"
"विद्वान् जानन् शक्रः समर्थ इन्द्रः ।" इति तद्भाष्ये सायणः ॥)

शक्रक्रीड़ाचलः, पुं, (शक्रस्य क्रीड़ाचलः क्रीड़ापर्व्वतः ।) सुमेरुपर्व्वतः । इति हलायुधः ॥

शक्रगोपः, पुं, इन्द्रगोपकीटः । इति जटाधरः ॥ (यथा, हरिवंशे । ६६ । ५ ।
"नववर्षावसिक्तानि शक्रगोपाकुलानि च ।
नष्टदावाग्निमार्गाणि वनानि प्रचकाशिरे ॥")

शक्रजः, पुं, (शक्राज्जायते इति । जन + डः ।) काकः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ इन्द्रजाते, त्रि ॥

शक्रजातः, पुं, (शक्राज्जातः ।) काकः । इति शब्दरत्नावली ॥ इन्द्रजाते, त्रि ॥

शक्रजित्, पुं, (शक्रं जितवानिति । जि + क्विप् ।) रावणपुत्त्रः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ (यथा, रघुः । १४ । ८३ ।
"अपि प्रभुः सानुशयोऽधुना स्यात्
किमुत्सुकः शक्रजितोऽपि हन्ता ॥")
इन्द्रजेतरि, त्रि ॥

शक्रद्रुमः, (शक्रस्य द्रुमः ।) देवदारुवृक्षः । इति भावप्रकाशः ॥

शक्रधनुः, [स्] क्ली, (शक्रस्य धनुः ।) इन्द्रधनुः । इत्यमरः ॥ राम्धी इति रामधनुक इति च भाषा ॥
"इन्द्रायुधं शक्रधनुः कौशिकायुधमित्यपि ।
ऐरावतं रोहितं स्यादवक्रं यदि तद्धनुः ॥"
इति शब्दरत्नावली ॥
(यथा, महाभारते । ५ । ५६ । १२ ।
"यथाकाशे शक्रधनुः प्रकाशते
न चैकवर्णं न च विद्म किन्नु तत् ॥")

शक्रध्वजः, (शक्रस्य ध्वजः ।) इन्द्रध्वजः । (यथा, आर्य्यासप्तशत्याम् । २६९ ।
"ते श्रेष्ठिनः क्व सम्प्रति शक्रध्वज ! यैः कृतस्तवोच्छ्रायः ।
ईषां वा मेढिं वाधुनातनास्त्वां विधित्सन्ति ॥")
तद्विवरणं यथा,—
नृपवाहन उवाच ।
"भगवन् श्रोतुमिच्छामि तस्य उत्थापनं यथा ।
क्रियते दिन ऋक्षे च नयमन्त्रविधिं वद ॥
अगस्त्य उवाच ।
ब्रह्मणा कथितं शक्र वृहस्पतिसमीपतः ।
यथा तथा प्रवक्ष्यामि विधिं केतोः समुच्छ्रये ॥
बृहस्पतिरुवाच ।
शुभाहे ऋक्षे करणे मुहूर्त्ते शुभमङ्गले ।
दैवज्ञः सूत्रधारश्च वनं गच्छेत् सहायवान् ॥
देवीप्रतिष्ठाविधिना यात्रायां या प्रचोदिता ।
गत्वा वृक्षं शुभं पुण्यं धवार्ज्जुनप्रियङ्करम् ॥
उडुम्बराजकर्णश्च पञ्चैते शोभना द्रुमाः ।
ध्वजार्थे वर्जयेद्वत्स देव उद्यानजान् द्रुमान् ॥
कन्या मध्ये तु या यष्टीः करमानेन कल्पयेत् ।
एकादशकरा वत्स नव पञ्च करापरा ॥
अरालतां क्रिमिचितां तथा पक्षिनिकेतनाम् ।
वल्मीकपिठवनजां सुशुष्ककोटरान्तराम् ॥
कुब्जाञ्च घटसिक्ताञ्च तथा स्त्रीनामगर्हिताम् ।
विद्युद्वज्रहताञ्चैव दग्धाञ्च परिवर्जयेत् ॥
अलाभे चन्दनं श्राद्धं शालशाकमयं तथा ।
कर्णेयं शक्रचिह्नार्थे न चान्यं दृष्टजं क्वचित् ॥
शुभभूमिभवं ग्राह्यं शुभतोयं शुभावहम् ।
ततः संपूजयेद्वृक्षं प्राङ्मुखोदङ्मुखोऽपि वा ॥
नमो वृक्षपते वृक्ष त्वामर्च्चयति पार्थिवः ।
ध्वजार्थं तत्त्वतो नाथ अन्यथा उपगम्यताम् ॥
रात्रौ देयो बलिस्तत्र युगदर्भे तथैव च ।
वासवानां महादर्भं कृत्वा चान्यत्र गम्यताम् ॥
ध्वजार्थे देवराजस्य न चास्तित्व अत्र च ।
पूजयित्वा ततो वृक्षं बलिं भूताय दापयेत् ॥
प्रभाते छेदयेद्वृक्षं शुभस्वप्नादिदर्शनैः ।
शुक्लाम्बरधरश्चैव समुद्रतरणं नदी ॥
दृष्ट्वाम्बरान् शुभान् चौरानारोहेत् देवता-
लयम् ।
देवो द्विजस्तथा साधुलिङ्गश्च हरेरपि ॥
प्रतिमा पूजिता स्वप्ने क्षिप्रं सिद्धिफलप्रदा ।
मत्स्यमांसदधिलाभं रुधिरं व्रतरोदनम् ॥
अगम्यागमनं दृष्ट्वा आशु सिद्धिफलप्रदम् ।
द्रुमास्तिलं घनं धान्यं शत्रुनाशं यथा शुभम् ॥
फलं पुष्पं सिता दूर्व्वा स्वप्ने लब्ध्वा जयावहाः ।
शङ्खगावस्तथा दन्तिलाभा राज्यप्रदायकाः ॥
गौः सवत्सा नवसूता दृष्टा पुत्रफलप्रदा ।
पङ्कस्योद्धरणं कूपे व्याधिमोचकरं चिरात् ॥
एवं स्वप्नान् शुभान् दृष्ट्वा वधा छिन्द्यात पाद-
पम् ।
उदङ्मुखः प्राङ्मुखो वा मधुवज्राक्तपर्शुना ॥
पूर्व्वोत्तरे च पतनं शस्तोऽशब्दोऽव्रणः शुभः ।
असम्पादये चान्ये अन्यथा तु परित्यजेत् ॥
अष्टाङ्गुलं त्यजेत् मूले अग्रे तत्तु जले क्षिपेत् ।
तथा तमानयेद्वत्स शकटेन वृषैरपि ॥
युवानैर्बलसम्पन्नैर्नेयं तत्पुरतः परम् ।
नीयमाना यदा यष्टी समा वा चतुरस्रका ॥
दृष्टा वा भङ्गमायाति राज्ञः पुत्रं पुरोहितम् ।
आरभङ्गे बलं भिन्द्याद्राज्यनाशं चयं तथा ॥
अर्थस्य अग्रभङ्गेन शान्तिमत्र तु कारयेत् ।
इन्द्रध्वजमन्त्रेण जातदेवसमापि वा ॥
तथा नीत्वा शुभे लग्ने पुरस्तादुपवेशयेत् ।
द्वारशोभां पथरथ्यां गृहे हट्टे च कारयेत् ॥
यदा पटहनादाश्च वेश्याशङ्खद्विजातयः ।
सङ्कुलैर्वेदशब्दैश्च ता नेया यत्र उच्छ्रयेत् ॥
तत्रस्थाश्चित्रकर्म्मविनिर्म्मितैस्ताम्तु वेष्टयेत् ।
वस्त्रैरक्तजरोमोत्थैः शुभैः शुक्लैर्यथाक्रम् ॥
नन्दोपनन्दसंज्ञाश्च कुमार्य्यः प्रथमांशगाः ।
देयो जयविजयाख्याः षोड़शांशव्यवस्थिताः ॥

अधिके शक्रजयिनी तथार्थञ्च दैवतैर्दत्ता: ।
ध्वजपरिमाणार्थं सपरिधि: प्रथमं पिटम् ॥
षोड़शांशविहीनानि कुर्य्याच्छेषाणि बुद्धिमान् ।
रसनां विचित्रवर्णां प्रथमां दद्यात् स्वयम्भू: ॥
सुरक्तां चतुरस्राञ्च विश्वकर्म्मा द्वितीयत: ।
अष्टास्रान्तु स्वयं शक्रो नीलरक्तां प्रदापयेत् ॥
कृष्णां यमेन वृत्तञ्च वरुणेन सहस्रिकम् ।
मञ्जिष्ठाजलदाकारं वासुदेवो मसूरकम् ॥
नीलवर्णञ्च तं दद्यात् स्कन्दो बहुविचित्रितम् ।
वृत्तन्तु दहनो दद्यात् सुवर्णाभं तथाष्टमम् ॥
वैदूर्य्यसदृशमिन्द्रो ग्रैवेयं दापयेद् बुध: ।
चक्राङ्काकृतिन्तु सूर्य्यो विश्वेदेवा: पद्मनिभम् ॥
ऋषयो नियमं दद्युर्नीलं नीलोत्पलाभासम् ।
गुरुणा शुक्रेण ततो विशालं मङ्गलो न्यस्तम् ॥
गृहैर्विचित्राणि बहुमातृभि: स्वानि रूपाणि ।
यद्येकेनैव दत्तन्तु केतोस्तस्य भूषणम् ॥
तदैव तं विजानीयाद्यन्त्रादिभिस्तमुच्छ्रयेत् ।
प्रथमं प्रविशमाना भूमिं यष्टिर्हन्ति राष्ट्रम् ॥
बालानां तालशब्देन देशविनाशं समाचष्टे ।
नृपवधकरा विशीर्णा शुभावहा सर्व्वसान्द्रा च ॥
शम्भुसूर्य्ययमशक्रसोमधनदवायवै: ।
वह्निशक्रऋषिमन्त्राश्च शीतया दधि चाचता: ॥
शुक्रस्कन्दगुरुरुद्रअधराणि प्रपाठयेत् ।
हुत्वा तु विधिवद्वह्निज्वालां लक्षेत बुद्धिमान् ॥
सुतेजा: सुमनो दीप्त: संहतो रुचिरप्रभ: ।
रक्ताशोकसमाकारो रथभेरीस्वन: शुभ: ॥
शङ्खदुन्दुभिमेघानां नादा: शस्तास्तु पावके ।
तत: सकदलीस्तुरङ्गान् पताकानि समुच्छ्रये ॥
अन्याश्च विविधा: शोभा: शक्रकेतुसमुच्छ्रये ।
प्रौष्ठपदे तु अष्टम्यां शुक्लायां शोभने ऋक्षे ॥
आश्विने वाथ शुक्लायां श्रवणेनाथ उच्छ्रयेत् ।
पौरजनलग्नहस्तै: पटभेरीनिनादितम् ॥
वितानध्वजशोभाढ्यं पताकाभि: समुज्ज्वलम् ।
विश्वेशशक्रमन्त्रेण सिंहरवाकृतेन च ॥
दृढ़मातृकरन्ध्रस्थं शुभतोरणमाकुलम् ।
अविलम्बितमुत्थानमभग्नपिटकं समम् ॥
न द्रुतं वा समुत्थाप्य केतुं वासवर्जं विभो ।
उच्छ्रितं रचयेत्प्राज्ञ: काकोलूककपोलयो: ॥
न समुत्थापनं दद्यादन्येषामपि पक्षिणाम् ।
यन्त्रोद्देशेन तं कुर्य्यात् सुखं केतोर्यथाविधि ॥
तथा सुसंस्थितं पूज्यं सुखयन्त्रसुयन्त्रितम् ।
रात्रौ जागरणं कुर्य्यादिन्द्रमन्त्रानुकीर्त्तनम् ॥
पुरोहित: सदैवज्ञ: शुभशान्तिरत: सदा ।
छत्रपातो नृपं हन्यात् पताका महिषीवधम् ॥
पिटके युवराजस्य सचिवमनुकम्पते ।
राष्ट्रं तोरणपातेन ध्वजो अन्नक्षयो भवेत् ॥
पतिते शक्रदण्डे तु नृपमन्यं समादिशेत् ।
क्रमिजालक उत्थाने शलभात्स्कराद्भयम् ।
सुसमे संस्थिते शान्तिर्नृपस्य नगरस्य च ।
यावच्छ्रितन्तु तिष्ठन्ति तावत् पौरा: सदा
हृष्टा: ।
केतोर्निरता यजने सुश्रीयाद्विप्रकन्याश्च ॥

पाते तु तथैव कुर्य्यादुत्थाने यादृशी पूजा ।
रात्रौ शुभकृत् पातनं नो दृष्टं काककपोतै: ॥
याति नृपं सहराष्ट्रं यश्चैव कारयेत् केतुम् ।
नगरे वा पुरे खेटे यद्येवं कुर्व्वते पौरा: ॥
पुरे नगरस्य द्वारे वृषसिंहखगोत्थितम् ।
केतु समस्तघोराणां नाशनं जयदं महत् ॥
एवं पूर्व्वं हरि: केतुं प्राप्तवान् वृषवाहनात् ।
तथा ब्रह्मसुतेनैव ब्रह्मण: शक्रमागत: ॥
तेन सोमस्य तद्दत्तं ततो दत्ते समागतम् ।
तदाप्रभृति कुर्व्वन्ति नृपा अद्यापि उच्छ्रयम् ॥
एवं य: कारयेद्राजा केतुं विजयकारकम् ।
तस्य पृथ्वी बलोपेता सद्वीपा वशगा भवेत् ॥”
इत्याद्ये देवीपुराणे इन्द्रध्वजलक्षणम् २१ अध्याय: ॥

शक्रनन्दन:, पुं, (शक्रस्य नन्दन: ।) अर्ज्जुन: । इति जटाधर: ॥ (इन्द्रपुत्रमात्रमपि ॥ शक्रं नन्दयतीति । नन्दि + ल्यु: ।) इन्द्रानन्दकारके, त्रि ॥

शक्रपर्य्याय:, पुं, (शक्रस्य पर्य्यायो नाम यस्य ।) कुटजवृक्ष: । इति रत्नमाला ॥ इन्द्रवाचकश्च ॥

शक्रपादप:, पुं, (शक्रस्य पादप: ।) देवदारुवृक्ष: । इत्यमर: ॥ कुटजवृक्ष: । इति राजनिर्घण्ट: ॥

शक्रपुष्पिका, स्त्री, (शक्रपुष्पी + स्वार्थे कन् । अत इत्वम् ।) अग्निशिखावृक्ष: । इति रत्नमाला ॥

शक्रपुष्पी, स्त्री, अग्निशिखावृक्ष: । इत्यमर: ॥

शक्रबीजं, क्ली, इन्द्रयव: । इति राजनिर्घण्ट: ॥

शक्रभवनं, क्ली, (शक्रस्य भवनम् ।) स्वर्ग: । इति त्रिकाण्डशेष: ॥

शक्रभित्, [द्] पुं. (शक्रं भिनत्तीति । भिद् + क्विप् ।) इन्द्रजित् । स च रावणपुत्र: । इति शब्दरत्नावली ॥

शक्रभूभवा, स्त्री, इन्द्रवारुणी । इति शब्दचन्द्रिका ॥

शक्रमाता, स्त्री, (शक्रस्य मातेव ।) भार्गी । इति राजनिर्घण्ट: ॥ इन्द्रजननी च ॥

शक्रमातृका, स्त्री, (शक्रस्य मातृकेव ।) शक्रध्वजाङ्गयष्टिविशेष: । यथा, कालिकापुराणम् ।
“कुमार्य्य: पञ्च कर्त्तव्या: शक्रस्य नृपसत्तम ।
शालमय्यस्तु ता: सर्व्वास्तपरा: शक्रमातृका: ॥
केतो: पादप्रमाणेन कार्य्या: शक्रकुमारिका: ।
मातृकार्द्धप्रमाणा तु यन्त्रं हस्तद्वयं तथा ॥
एवं कृत्वा कुमारीश्च मातृकां केतुमेव च ।
एकादश्यां सिते पक्षे यष्टीनामधिवासनम् ॥”
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥

शक्रमूर्द्धा, [न्] स्त्री, (शक्रस्येव मूर्द्धा यस्य ।) वल्मीक: । इति त्रिकाण्डशेष: ॥

शक्रवल्ली, स्त्री, (शक्रप्रिया वल्ली ।) इन्द्रवारुणी । इति राजनिर्घण्ट: ॥

शक्रवाहन:, पुं, (शक्रं वाहयतीति । वह + णिच् + ल्यु: ।) मेघ: । इति शब्दचन्द्रिका ॥

शक्रशरासनं, क्ली, (शक्रस्य शरासनम् ।) इन्द्रधनु: । इति हलायुध: ॥

शक्रशाखी, [न्] पुं, (शक्रनामक: शाखी ।) कुटजवृक्ष: । इति भावप्रकाश: ॥

शक्रशाला, स्त्री, प्रतिश्रय: । इति भूरिप्रयोग: ॥ पुस्तकान्तरे सत्रशाला इति पाठश्च ॥ (शक्रस्य शाला ।) इन्द्रगृहञ्च ॥

शक्रशिर:, [स्] क्ली, (शक्रस्य शिर इव ।) वल्मीक: । इति राजनिर्घण्ट: ॥ इन्द्रमस्तकञ्च ॥

शक्रसारथि:, पुं, (शक्रस्य सारथि: ।) मातलि: । इति हलायुध: ॥

शक्रसुत:, पुं, (शक्रस्य सुत: ।) वालिवानर: । इति हलायुध: ॥ इन्द्रपुत्रमात्रञ्च ॥

शक्रसुधा, स्त्री, (शक्रस्य सुधेव ।) पालङ्की । इति शब्दचन्द्रिका ॥ कुन्दुरुखोटी इति भाषा ॥

शक्रसृष्टा, स्त्री, (शक्रेण सृष्टा ।) हरीतकी । इति त्रिकाण्डशेष: ॥

शक्राख्य:, पुं, (शक्रस्य आख्या यस्य ।) पेचक: । इति त्रिकाण्डशेष: ॥ इन्द्रनामके, त्रि ॥

शक्राणी, स्त्री, (शक्रस्य पत्नी । ङीष् । आनुक् ।) शची । इति शब्दमाला ॥ (यथा, महाभारते । ५ । ११ । २२ ।
“बृहस्पतिरथोवाच शक्राणीं भयमोहिताम् ॥”)

शक्राशनं, क्ली, (शक्रेण अश्यते इति । अश + ल्युट् ।) भङ्गा । भाङ् इति भाषा । अस्य गुणा: ।
“शक्राशनन्तु तीक्ष्णोष्णं मोहकृत् कुष्ठनाशनम् ।
बलमेधाग्निकृत् श्लेष्मदोषहारि रसायनम् ॥”
इति राजवल्लभ: ॥
अन्यत् विजयाशब्दे द्रष्टव्यम् । इन्द्रभोजनञ्च ॥

शक्राशन:, पुं, (शक्र इति नाम अश्नुते व्याप्नोतीति । अश + ल्यु: ।) कुटजवृक्ष: । इति शब्दचन्द्रिका ॥

शक्राह्व:, पुं, (शक्रस्य आह्वा यस्य ।) इन्द्रयव: । इति राजनिर्घण्ट: ॥ इन्द्रनामके, त्रि ॥

शक्रि:, पुं, (शक + बाहुलकात् क्रिन् ।) मेघ: । वज्रम् । हस्ती । पर्व्वत: । इति संक्षिप्तसारोणादिवृत्ति: ॥

शक्रोत्थानं, क्ली, (शक्रस्य शक्रध्वजस्य उत्थानम् ।) शक्रध्वजोत्सव: । अस्य विधिर्लिख्यते ।
श्रीऔर्व्व उवाच ।
“अथात: शृणु राजेन्द्र शक्रोत्थानध्वजोत्सवम् ।
यत्कृत्वा नृपतिर्याति नो कदाचित् पराभवम् ॥
रवौ हरिस्थे द्वादश्यां श्रवणे सितपक्षके ।
आराधयेन्नृप: सम्यक् सर्व्वविघ्नोपशान्तये ॥
राजोपरिचरो नाम वसुनामापरस्तु य: ।
नृपस्तेनायमतुलो यज्ञ: प्रावर्त्तित: पुरा ॥
प्राविट्काले च नभसि द्वादश्यामसितेतरे ।
पुरोहितो बहुविधैर्वाद्यैस्तूर्य्यै: समन्वित: ॥
प्रथमं शक्रकेत्वर्थं वृक्षमामन्त्र्य वर्द्धयेत् ।
सांवत्सरो वार्द्धकिश्च कृतकौतुकमङ्गल: ॥
उद्याने देवतागारे श्मशाने मार्गमध्यत: ।
ये जातास्तरवस्तांस्तु वर्जयेद्वासवध्वजे ॥
बहुवल्लीयुतं शुष्कं बहुकण्टकसंयुतम् ।

कुब्जं इमशानदमीयुक्तं लताच्छन्नं तरुं त्यजेत् ॥
पक्षिवासमाकीर्णं कोटरैर्बहुभिर्युतम् ।
पवनानलविध्वस्तं तरुं यत्नेन वर्जयेत् ॥
नारीसंज्ञाश्च ये वृक्षा अतिह्रस्वा अतिकृशाः ।
तान् सदा वर्जयेद्धीरः सर्व्वदा शक्रपूजने ॥
अर्ज्जुनोऽप्यश्वकर्णश्च प्रियको धव एव च ।
औडुम्बरश्च पञ्चैते केत्वर्थे सत्तमाः स्मृताः ॥
अन्ये च देवदार्व्वाद्याः शालाद्यास्तरवस्तथा ।
प्रशस्तास्तु परिग्राह्या नाप्रशस्ताः कदाचन ।
तत्र वृक्षं ततो राजौ स्पृष्ट्वा मन्त्रमिमं पठेत् ॥
यानि वृक्षे तु भूतानि तेभ्यः स्वस्ति नमोऽस्तु वः ।
उपहारं गृहीत्वेमं क्रियतां वासवध्वजः ॥
पार्थिवस्त्वां वरयते स्वस्ति तेऽस्तु नगोत्तम ।
ध्वजार्थं देवराजस्य पूजेयं प्रतिगृह्यताम् ॥
ततोऽपरेऽह्नि तं छित्त्वा मूलमष्टाङ्गुलं पुनः ।
जले निपात्य तस्य छित्त्वैवं चतुरङ्गुलम् ॥
ततो नीत्वा पुरद्वारं केतुं निर्म्माय तत्र वै ।
शुक्लाष्टम्यां भाद्रपदे केतुं वेदीं प्रवेशयेत् ॥
द्वाविंशद्धस्तमानस्तु अधमः केतुरुच्यते ।
द्वात्रिंशत् ततो ज्यायान् द्विचत्वारिंशदेव च ।
ततोऽधिकः समाख्यातो द्विपञ्चाशत्तथोत्तमः ।
कुमार्य्यः पञ्च कर्त्तव्याः शक्रस्य नृपसत्तम ।
शालमय्यस्तु ताः सर्व्वास्तत्परा; शक्रमातृकाः ॥
केतोः पादप्रमाणेन कार्य्याः शक्रकुमारिकाः ॥
मातृकार्द्धप्रमाणात्तु यन्त्रं हस्तद्वयं तथा ।
एवं कृत्वा कुमारीश्च मातृकां केतुमेव च ॥
एकादश्यां सिते पक्षे यष्टिं तामधिवासयेत् ।
अधिवास्य ततो यष्टिं गन्धद्वारादिमन्त्रकैः ॥
द्वादश्यां मण्डलं कृत्वा वासवं विस्तृतात्मकम् ।
अच्युतं पूजयित्वा तु शक्रं पश्चात् प्रपूजयेत् ॥
शक्रस्य प्रतिमां कुर्य्यात् काञ्चनीं दारवीं तथा ।
अन्यतैजसभूतां वा सर्व्वाभावे तु मृण्मयीम् ॥
तां मण्डलस्य मध्ये तु पूजयित्वा विशेषतः ।
ततः शुभे मुहूर्त्ते तु केतुमुत्थापयेन्नृपः ॥
वज्रहस्त सुरारिघ्न बहुनेत्र पुरन्दर ।
क्षेमार्थं सर्व्वलोकानां पूजेयं प्रतिगृह्यताम् ॥

एह्येहि सर्व्वामरसिद्धसंघै-
रभिष्टुतो वज्रधरामरेश ।
समुत्थितस्त्वं श्रवणाद्यपादे
गृहाण पूजां भगवन् नमस्ते ॥

एवमुत्तरतन्त्रोक्तैर्द्रढनजवनादिभिः ।
इति मन्त्रेण तन्त्रेण नानानैवेद्यवेदनैः ॥
आपूपैः पायसैः पानैर्गुडैर्धानाभिरेव च ।
भक्ष्यैर्भोज्यैश्च विविधैः पूजयेत् श्रीविवृद्धये ॥
घटेषु दशदिक्पालान् ग्रहांश्च परिपूजयेत् ।
साध्यादीन् सकलान्देवान् मातॄः सर्व्वाननु-
क्रमात् ॥
ततः शुभे मुहूर्त्ते तु शान्तिवर्द्धकिसंयुतः ।
केतोरुत्थानभूमिन्तु यज्ञवेद्याश्च पश्चिमे ।
विप्रैः पुरोहितैः सार्द्धं गच्छेद्राजा सुमङ्गलैः ॥
रज्जुभिः पञ्चभिर्बद्धं यन्त्रश्लिष्टं समातृकम् ।
कुमारीभिश्च संयुक्तं दिक्पालानाञ्च पेटकैः ॥”

पेटकैः स्थाने पङ्क्तेरिति च पाठः ।
“छत्त्रैरतिकान्तैश्च नानाद्रव्यसुपूरितैः ।
यथावर्णैर्यथादेशयोजितैर्वस्त्रवेष्टितैः ॥
युक्तं तं किङ्किणीजालैर्दृढघण्टौघचामरैः ।
भूषितं बहुरत्नैश्च माल्यैर्बहुविधैस्तथा ॥
बहुपुष्पैः सुगन्धैश्च भूषितं रत्नमालया ।
चित्रमाल्याम्बरधरैश्चतुर्भिरपि तोरणैः ॥
उत्थापयेन्महाकेतुं राजामात्यैः शनैः शनैः ।
समुत्थाप्य महाकेतुं पूजितं मण्डलान्तरे ॥
प्रतिमां तां नयेन्मूलं केतोः शक्रं विचिन्तयन् ।
यजेत्तं पूर्व्ववत्तत्र शचीं मातलिमेव च ॥
जयन्तं तनयं तस्य वज्रमैरावतं तथा ।
ग्रहांश्चाप्यथ दिक्पालान् सर्व्वांश्च गणदेवताः ॥
अपूपाद्यैः पूजयेत्तु बलिभिः पायसादिभिः ।
पूजितानाञ्च देवानां शश्वद्धोमं समाचरेत् ॥
होमान्ते तु बलिं दद्यात् वासवाय महात्मने ॥
तिलं घृतं चाक्षतञ्च पुष्पं दूर्व्वां तथैव च ।
एतैस्तु जुहुयाद्देवान् स्वैः स्वैर्मन्त्रैर्नरोत्तमः ॥
ततो होमावसाने तु भोजयेदपि ब्राह्मणान् ।
एवं संपूजयेन्नित्यं सप्तरात्रं दिने दिने ॥
ब्राह्मणैः सहितो राजा वेदवेदाङ्गपारगैः ।
सर्व्वत्र शक्रपूजासु यज्ञेषु परिकीर्त्तितः ॥
त्रातारमिति मन्त्रोऽयं वासवस्य प्रियः सदा ।
एवं कृत्वा दिवाभागे शक्रोत्थापनमादितः ॥
श्रवणर्क्षयुतायान्तु द्वादश्यां पार्थिवः स्वयम् ।
अन्त्यपादे भरण्यास्तु निशि शक्रं विसर्जयेत् ॥
सुप्तेषु सर्व्वलोकेषु यथा राजा न पश्यति ।
पञ्चमासान्मृत्युमाप्नोति राजा दृष्ट्वा विसर्जनम् ॥
शक्रस्य नृपशार्दूल तस्मान्नेक्षेत तं नृपः ।
विसर्ज्जनस्य मन्त्रोऽयं पुराविद्भिरुदीरितः ॥
सार्द्धं सुरासुरगणैः पुरन्दर शतक्रतो ।
उपहारं गृहीत्वेमं महेन्द्रध्वज गम्यताम् ॥
सूतकेतुसमुत्पन्ने वारे भौमस्य वा शनेः ।
भूमिकम्पादिकोत्पाते वासवं न विसर्जयेत् ॥
उत्पाते सप्तरात्रन्तु तथोपप्लवदर्शने ।
अतीत्य शनिभौमौ च त्वन्यस्मिन्नपि विसर्ज्जयेत् ।
मृतके त्वथ संप्राप्ते अतीते सूतके पुनः ।
तस्मिंस्तस्मिन् दिने चैव सूतकान्ते विसर्ज्जयेत् ॥
तथा रक्षेन्नृपः केतुं पतन्ति शत्रुना यथा ।
न केतौ नृपशार्दूल यावन्नपि विसर्जनम् ॥
शनैः शनैः पातयेत्तु यथोत्थापनमादितः ।
कृतं तथान्यथा भग्ने केतौ मृत्युमवाप्नुयात् ॥
विसृष्टं शक्रकेतुं तं सालङ्कारं तथा निशि ।
क्षिपेदनेन मन्त्रेण त्वगाधे सलिले नृपः ॥
तिष्ठ केतो महाभाग यावत् संवत्सरं जले ।
भवाय सर्व्वलोकानामन्तरायविनाशक ॥
उत्थापयेत्त्वर्य्यरवैः सर्व्वलोकस्य वै पुरः ।
रहो विसर्जयेत् केतुं विशेषोऽयं प्रपूजने ॥
एवं यः कुरुते पूजां वासवस्य महात्मनः ।
स चिरं पृथिवीं भुक्त्वा वासवं लोकमाप्नुयात् ॥
न तस्य राज्ये दुर्भिक्षं नेतयो नाप्यधर्म्मकृत् ।
स्यास्यन्ति मृत्युर्नाकाले जनानां तत्र जायते ॥
तत्तुल्यः कोऽपि नान्योऽस्ति प्रियः शक्रस्य
पार्थिव ।
तस्य पूजा सर्व्वपूजा केशवाद्याश्च तत्रगाः ॥
सकलकलुषहारि व्याधिदुर्भिक्षनाशि
सकलभवनिवेशं सर्व्वसौभाग्यकारि ।
सुरपतिरुह्यगामीहार्चनं शक्रकेतोः
प्रतिशरदमनेकैः पूजयेत् श्रीविवृद्ध्यै ॥”
इति श्रीकालिकापुराणे ८८ अध्यायः ॥

शक्रोत्सवः, पुं, (शक्रस्योत्सवः ।) इन्द्रस्य उत्सवः । तत्पर्य्यायः । ध्वजोत्थानम् २ । इति त्रिकाण्ड-शेषः ॥ (यथा, महाभारते । १ । ६३ । २७ ।
“वरदानमहायज्ञैस्तथा शक्रोत्सवेन च ।
संपूजितो मघवता वसुश्चेदीश्वरो नृपः ॥”)
अस्य विवरणं शक्रोत्थानशब्दे द्रष्टव्यम् ॥

शक्वः, पुं, (शक+“सृवृभूशुषिमुषिभ्यः कक् ।” उणा० ४ । १०८ । इति क्वः ।) प्रियंवदः । इति शब्द-शब्दटीकायां भरतः ॥

शक्वरः, पुं, वृषः । इति सिद्धान्तकौमुद्यामुणादि-वृत्तिः ॥

शक्वरी, स्त्री, (शक्नोति कर्म्माणि कर्त्तुमिति । शक+“स्नामदिपद्यर्त्तिपॄशकिभ्यो वनिप् ।” उणा० ४ । ११२ । इति वनिप् । “वनो र च ।” ४ । १ । ७ । इति ङीप्रौ ।) अङ्गुली । इति सिद्धान्तकौमुद्या-मुणादिवृत्तिः ॥ नदीविशेषः । मेखला । छन्दो-भेदः । इति मेदिनी ॥ स तु चतुर्द्दशाक्षरपाद-वृत्तम् । तद्भेदा यथा । असंबाधा १ वसन्त-तिलकम् २ सिंहोद्धता ३ अपराजिता ४ प्रह-रणकलिका ५ वासन्ती ६ लोला ७ नान्दीमुखी ८ । इति छन्दोमञ्जरी ॥ (ऋक् । यथा, ऋग्-वेदे । १० । ७१ । ११ ।
“ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्
गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु ॥”* ॥
शक्नोति क्षीरादिप्रदानेन तद्वन्तं प्रीणयितुं धर्षणेन वा पापमपनेतुमिति । शक+वनिप् । ङीप्रौ च । गौः । इति निघण्टुः । २ । ११ ॥)

शक्वा, [न्] पुं, (शक्नोतीति । शक्+“स्नामदिप-द्यर्त्तीति ।” उणा० ४ । ११२ । इति वनिप् ।) हस्ती । इति सिद्धान्तकौमुद्यामुणादिवृत्तिः ॥

शङ्कः, पुं, शकटादिवाहकवृषभः । यथा,—
“स्कन्धवाहस्तु शङ्कश्च शृङ्गी गौरचधूर्त्तिकः ।”
इति हारावली ॥

शङ्करः, पुं, (शं कल्याणं करोतीति । शम्+ कृ+“शमि धातोः संज्ञायाम् ।” ३ । २ । १४ । इति अच् ।) शिवः । इत्यमरः ॥ अस्य व्यु-त्पत्तिर्यथा,—
“सदा ध्यानाच्च भक्तानां यच्चरं यन्निरामयम् ।
भूतनाथत्वमध्यक्षात्तेनाहं शङ्करः स्मृतः ॥”
इति स्कन्दपुराणम् ॥
अस्य भस्मास्थिधारणकारणं यथा,—
“विसृज्य तान् ब्रह्मविष्णुमयान् वृषभवाहनः ।
आदाय सगणान् सर्व्वान् कामरूपान्तरं ययौ ॥
उन्मत्ताद्यां ततो देवीं गणांश्च प्राह शङ्करः ।

उत्सारयन्तु सकलान् इमान् लोकान् गणा द्रुतम् ।
उग्रतारे महादेवि त्वञ्चाप्युत्सारय द्रुतम् ॥
ततो गणाः कामरूपाद्देवी चाप्यपराजिता ।
लोकानुत्सारयामासुः पीठं कर्त्तुं रहस्यकम् ॥
उत्सार्य्यमाणे लोके तु चतुर्व्वर्णैर्द्दिजातिभिः ।
सन्ध्याचलं गतो विप्रो वशिष्ठः कुपितो मुनिः ॥
सोऽप्युग्रतारया देव्या उत्सारयितुमीशया ।
गणैः सह धृतः प्राह शापं कुर्व्वन् सुदारुणम् ॥
यस्मादहं धृतो वामे त्वयोत्सारयितुं मुनिः ।
तस्मात्त्वं वाम्यभावेन पूज्या भव समन्तिका ॥
भवन्ति म्लेच्छवद्यस्मात्तस्मात्ते मन्द्रकुह्वयः ।
भवन्तु म्लेच्छास्तस्मादै भवन्तः कामरूपके ॥
महादेवोऽपि यस्मात्त्वां निःसारयितुमुद्यतः ।
तपोधनं मुनिं दान्तं म्लेच्छवद्वेदपारगम् ।
तस्मात् म्लेच्छप्रियो भूयात् शङ्करश्चास्थिभस्म-
धृक् ॥"

इति कालिकापुराणे ८३ अध्यायः ॥*॥

शङ्करगीता देवीपुराणे ७ अध्याये द्रष्टव्या ॥ शिवावतारविशेषः । यथा,—

"तद्भवान् लोकरक्षार्थमुत्साद्य निखिलान् खलान् ।
वर्त्म स्थापयतु श्रौतं जगद्धितेन सुखं भजेत् ॥
इत्युक्तोपरतान् देवानुवाच गिरिजाप्रियः ।
मनोरथं पूरयिष्ये मानुष्यमवलम्ब्य वः ॥
दुष्टाचारविनाशाय धर्म्मसंस्थापनाय च ।
भाष्यं कुर्व्वन् ब्रह्मसूत्रतात्पर्य्यार्थविनिर्णयम् ॥
मोहयन् प्रकृतिद्वैतध्वान्तमध्याह्नभानुभिः ।
चतुर्भिः सहितः शिष्यैश्चतुरैर्हरिबाहुजैः ॥
यतीन्द्रः शङ्करो नाम्ना भविष्यामि महीतले ।
मदुक्तया भवन्तोऽपि मानुषीं तनुमाश्रिताः ॥
तं मामनुसरिष्यन्ति सर्व्वे त्रिदिववासिनः ।
तदा मनोरथः पूर्णो भवतां स्यान्न संशयः ॥"

इति माधवीयसंक्षेपशङ्करजये १ सर्गः ॥*॥

(अयं हि द्वात्रिंशद्वर्षवयसि भौतिकशरीरं परित्यज्य परब्रह्मणि लीन आसीत् । यथा, तत्रैव ।

"एवंप्रकारैः किल कल्मषघ्नैः
शिवावतारस्य शुभैश्चरित्रैः ।
द्वात्रिंशदस्योज्ज्वलकीर्त्तिराशेः
समा यतीशुः किल शङ्करस्य ॥")

मङ्गलकारके, त्रि । यथा,—

"क्षेमङ्करोऽरिष्टतातिः स्याच्छिवङ्करशङ्करौ ॥"

इति त्रिकाण्डशेषः ॥

(यथा च महाभारते । ३ । २२८ । ६ ।

"हिरण्यगर्भ भद्रं ते लोकानां शङ्करो भव ॥")

शङ्करप्रियः, पुं, (शङ्करस्य प्रियः ।) तित्तिरिपक्षी । इति केचित् ॥ शिववल्लभे, त्रि । (यथा, कथासरित्सागरे । ६५ । ८८ ।

"एतद्गणेभ्यः श्रुत्वा सा शरण्या शङ्कर-
प्रिया ।
शान्तानङ्गाश्रयोऽप्येते जीवन्त्विति समादि-
शत् ॥")

शङ्कराचार्य्यः, पुं, (शङ्कर आचार्य्यश्च ।) स्वनामख्याताचार्य्यः । स तु अद्वैतवादी वेदान्तभाष्यकर्त्ता च । यथा,—

"श्रीशङ्कराचार्य्यनरावतारं
विश्वेश्वरं विश्वगुरुं प्रणम्य ।
वेदान्तशास्त्रश्रवणालसानां
बोधाय कुर्व्वे कमपि प्रयत्नम् ॥"

इति मधुसूदनसरस्वतीकृतसिद्धान्तबिन्दुप्रथमश्लोकः ॥

शङ्करावासः, पुं, (शङ्करस्य आवास इव शुक्लत्वात् ।) कर्पूरभेदः । इति राजनिर्घण्टः ॥ (शङ्करस्य महादेवस्य आवासः ।) कैलासश्च ॥

शङ्करी, स्त्री, मञ्जिष्ठा । इति शब्दचन्द्रिका ॥ शमी । इति राजनिर्घण्टः ॥ शङ्करभार्य्या । यथा ।

"शङ्करी शम्भुपत्नी च शिवा शतनिनादिनी ।
शुभा शुभप्रदा नित्या शरच्चन्द्रसमप्रभा ॥"

इति रुद्रयामले अन्नपूर्णासहस्रनामस्तोत्रम् ॥

शङ्का, स्त्री, (शङ्क + अः । स्त्रियां टाप् ।) त्रासः । (यथा, हितोपदेशे ।

"शङ्काभिः सर्व्वमाक्रान्तमन्नं पानञ्च भूतले ।
प्रवृत्तिः कुत्र कर्त्तव्या जीवितव्यं कथं नु वा ॥")

वितर्कः । इति मेदिनी ॥ (यथा, भागवते । ८ । २ । ६ ।

"यत्र संगीतसन्नादैर्नदद्गुहममर्षया ।
अभिगर्ज्जन्ति हरयः श्लाघिनः परशङ्कया ॥")

शङ्कितः, त्रि, (शङ्का जाता अस्य । शङ्का + इतच् ।) भीतः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ (यथा,

"अशङ्क्यमपि शङ्केत नित्यं शङ्केत शङ्कितान् ॥")

वितर्कितः । इति शङ्काशब्दार्थदर्शनात् ॥ चोरकनामगन्धद्रव्ये, पुं । इति राजनिर्घण्टः ॥

शङ्कितवर्णकः, पुं, (शङ्कितं यत्र कोऽप्यस्ति नास्तीत्यादिकं वा वर्णयति तर्कयतीति । वर्णि + ण्वुल् ।) चौरः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

शङ्कुः पुं, (शङ्कतेऽस्मादिति । शङ्क + "खरुशङ्कुपीयुनीलङ्गुलिगु ।" उणा० १ । ३७ । इति कुप्रत्ययेन निपातितः ।) स्थाणुः । मुड़ा गाछ इति भाषा । मत्स्यविशेषः । शाँकोच इति भाषा । शल्यास्त्रम् । शेल इति भाषा । इत्यमरभरतौ ॥ संख्याविशेषः । स तु लीलावतीमते दशलक्षकोटिः । कीलः । गोँज इति भाषा । (यथा, मनुः । ८ । २७१ ।

"निःक्षेप्योऽयोमयः शङ्कुर्ज्वलन्नास्ये दशाङ्गुलः ॥")

ईशः । कलुषः । इति मेदिनी ॥ पत्रशिराजालम् । मेढ्रः । इति हेमचन्द्रः ॥ राक्षसः । इति शब्दमाला ॥ नखीनामगन्धद्रव्यम् । इति जटाधरः ॥ दीपसूर्य्ययोश्छायापरिमाणार्थं काष्ठादिनिर्म्मितः क्रमेण सूक्ष्माग्रद्वादशाङ्गुलपरिमितः कीलकः । यथा ।

"अर्काङ्गुला तु सूक्ष्माग्रा काष्ठी द्वादशाङ्गुला ।
शङ्कुसंज्ञा भवेच्चैव तच्छायां परिकल्पयेत् ॥
मध्याह्नहीनैरादित्ययुक्तैश्छायाङ्गुलैर्हरेत् ।
षट्पूरितदिवादण्डं लब्धं दण्डादिकं भवेत् ॥
पूर्व्वाह्नच्छाययातीतं पराह्नच्छाययैष्यकम् ।
शून्यैकरामबाणेभदिशो रुद्राः । ० । १ । ३ ।
५ । ८ । १० । ११ । क्रमोत्क्रमैः ॥
आषाढ़ादिषु मासेषु च्छाया माध्याह्निकी मता ।
अयनांशजमासान्ते व्युत्क्रमेणादितो बुधैः ।
संख्योक्तान्यदिने भागहारे ह्रीतरे तथा ॥"

इति ज्योतिस्तत्त्वम् ॥

तस्य नामान्तरं नरः । यथा ।

अथ करणसूत्रम् ।

"शङ्कुः प्रदीपतलशङ्कुतलान्तरघ्न-
श्छाया भवेद्विनरदीपशिखौच्चभक्तः ।"

उदाहरणम् ।

"शङ्कुप्रदीपान्तरभूस्त्रिहस्ता
दीपोच्छितिः सार्द्धकरत्रया चेत् ।
शङ्कोस्तथार्काङ्गुलसंमितस्य
तस्य प्रभा स्यात् कियती वदाशु ॥"

न्यासः । शङ्कुः १२ भूः ३ दीपः ७ लब्धानि च्छायाङ्गुलानि १२ । इति लीलावत्यां छायाव्यवहारः द्वादशाङ्गुलपरिमाणम् । यथा । विष्णुधर्म्मोत्तरीयप्रथमकाण्डम् ।

"द्वादशाङ्गुलिकः शङ्कुस्तद्द्वयन्तु शयः स्मृतः ।
तच्चतुष्कं धनुः प्रोक्तं क्रोशो धनुःसहस्रकः ॥"

इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥

(जनमेजयस्य पुत्रः । यथा, महाभारते । १ । ६५ । ८६ ।

"भवतो वपुष्टमायां द्वौ पुत्रौ जज्ञाते शतानीकः शङ्कुश्च ॥" *॥ उग्रसेनस्य पुत्रविशेषः । यथा, भागवते । ६ । २४ । २४ ।

"कंसः सुनामा न्यग्रोधः कङ्कः शङ्कुः सुहूस्तथा ।
राष्ट्रपालोऽथ धृष्टिश्च तुष्टिमानौग्रसेनयः ॥")

शङ्कुकर्णः पुं, (शङ्कु इव कर्णौ यस्य ।) गर्द्दभः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ (दानवविशेषः । यथा, हरिवंशे । ३ । ८१ ।

"शङ्कुकर्णो विवादश्च गवेष्ठो दुन्दुभिस्तथा ।"

नागविशेषः । यथा, महाभारते । १ । ५७ । १५ ।

"शङ्कुकर्णः पिठरकः कुठारमुखसेचकौ ॥"

शङ्कुसदृशकर्णविशिष्टे, त्रि । यथा, भागवते । ७ । ६ । १५ ।

"आन्त्रस्रजः क्षतजकेशरशङ्कुकर्ण-
न्निर्ह्रादभीतदिगिभादरिभिन्नखाग्रात् ॥")

शङ्कुचिः, पुं, शङ्कुमत्स्यः । इति शब्दरत्नावली ॥

शङ्कुतरुः, पुं, (शङ्कुरिव तरुः ।) शालवृक्षः । इति शब्दरत्नावली ॥

शङ्कुरः त्रि, (शङ्कतेऽस्मादिति । शङ्क + बाहुलकात् उरच् ।) त्रासदायी । इति हेमचन्द्रः ॥

शङ्कुला, स्त्री, ("शङ्कुपूर्व्वात् लातेः 'आतोऽनुपसर्गे कः ।' ३ । २ । ३ । इति के शङ्कुला ।" इत्युणादिवृत्तौ उज्ज्वलः । १ । ३७ ॥ "शङ्कुपूर्व्वाल्लातेर्घञर्थे कविधानमिति वा कप्रत्ययः ।" इति काशिका । ६ । २ । २ ।) उत्पलपत्रिका । इति

संश्लिष्टशरीराद्दिक्रिमिः ॥ पूगकर्णी । जाँती इति भाषा । इति केचित् ॥

शङ्खद्रुमः, पुं, (शङ्खुरिव द्रुमः ।) शालद्रुमः । इति रत्नमाला ॥

शङ्कोचः, पुं, शङ्कुमत्स्यः । इति जटाधरः ॥

शङ्कोचिः, पुं, मत्स्यविशेषः । शाँकोच इति भाषा । यथा,—

"अथ शङ्कुः शङ्कुचिः स्यात् शङ्कोचिः शङ्कुचो-ऽपि ॥"

इति शब्दरत्नावली ॥

शङ्खः, पुं,क्ली, (शाम्यति अशुभमस्मादिति । शम + "शमेः खः ।" उणा० १ । १०४ । इति खः ।) समुद्रोद्भवजन्तुविशेषः । शाँख इति भाषा । तत्पर्य्यायः । कम्बुः २ । इत्यमरः ॥ कम्बोजः ३ अब्जः ४ जलजः ५ । इति शब्दरत्नावली ॥ अर्णोभवः ६ पावनध्वनिः ७ अन्तःकुटिलः ८ महानादः ९ श्वेतः १० पूतः ११ मुखरः १२ दीर्घनादः १३ बहुनादः १४ हरिप्रियः १५ । अस्य गुणाः । कटुरसत्वम् । शीतत्वम् । पुष्टिवीर्य्यबलप्रदत्वम् । गुल्मशूलकफश्वासविषदोषनाशित्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥ अपि च ।

"कम्बुशङ्खनखश्चापि शुक्तिशम्बूककर्कटाः ।
जीवा एवंविधाश्चान्ये कोषस्थाः परिकीर्त्तिताः ॥
कोषस्था मधुराः स्निग्धाः पित्तवातहरा हिमाः ।
बृंहणा बहुवर्च्चस्का वृष्याश्च बलवर्द्धनाः ॥"

इति भावप्रकाशः ॥

अन्यच्च ।

"शङ्खोदधिमलौ शीतौ कषायावतिलेखनौ ।"

इति राजवल्लभः ॥ * ॥

अस्योत्पत्त्यादिर्यथा ।

"अथ शम्भुर्हरेः शूलं जग्राह दानवं प्रति ।
ग्रीष्ममध्याह्नमार्त्तण्डशतकल्पसमुत्तमम् ॥
शूलञ्च भ्रमणं कृत्वा पपात दानवोपरि ।
चकार भस्मसात्तञ्च सरथञ्चावलीलया ॥
स शिवस्तेन शूलेन दानवस्यास्थिजालकम् ।
प्रेमृणा च प्रेरयामास लवणोदे च सादरम् ॥
अस्थिभिः शङ्खचूडस्य शङ्खजातिर्ब्बभूव ह ।
नानाप्रकाररूपा च शश्वत्पूता सुरार्च्चने ॥
प्रशस्तं शङ्खतोयञ्च देवानां प्रीतिदं परम् ।
तीर्थतोयस्वरूपञ्च पवित्रं शम्भुना विना ॥
शङ्खशब्दो भवेद्यत्र तत्र लक्ष्मीश्च सुस्थिरा ।
स स्नातः सर्व्वतीर्थेषु यः स्नातः शङ्खवारिणा ॥
शङ्खे हरेरधिष्ठानं यतः शङ्खस्ततो हरिः ।
तत्रैव सततं लक्ष्मीर्दूरीभूतममङ्गलम् ॥
स्त्रीणाञ्च शङ्खध्वनिभिः शूद्राणाञ्च विशेषतः ।
भीता रुष्टा याति लक्ष्मीः स्थलमन्यत् स्थला-न्ततः ॥"

इति ब्रह्मवैवर्त्ते प्रकृतिखण्डे १८ अध्यायः ॥ * ॥

अथ शङ्खमाहात्म्यम् ।

ब्रह्मोवाच ।

"शृणु शङ्खस्य माहात्म्यं सर्व्वपापहरं शुभम् ॥
कपिलाक्षीरमादाय शङ्खे कृत्वा जनार्द्दनम् ।
यश्चायुतसहस्रस्य स्नापयित्वा लभेत् फलम् ॥
पयस्विन्याः शुभं क्षीरं शङ्खे कृत्वा तु नारद ।
यः स्नापयति देवेशं स गच्छेद्ब्रह्मणः पदम् ॥
क्षिप्त्वा गङ्गोदकं शङ्खे यः स्नापयति माधवम् ।
नमो नारायणेत्युक्त्वा मुच्यते योनिसङ्कटात् ॥
शङ्खस्थन्तु यत्तोयं भ्रमितं केशवोपरि ।
निःक्षिपेन्मूर्द्ध्नि सततं गङ्गास्नानेन तस्य किम् ॥
कृत्वा पादोदकं शङ्खे वैष्णवाय प्रयच्छति ।
तिलमिश्रं तुलस्या च चान्द्रायणफलं लभेत् ॥
नदीतडागजं वारि वापीकूपह्रदोद्भवम् ।
गाङ्गेयं तद्भवेत् सर्व्वं कृतं शङ्खे हरिप्रिय ॥
गृहीत्वा विष्णुपादाम्बु शङ्खे कृत्वा च वैष्णवः ।
यो वहेत् शिरसा नित्यं स मुने तापसोत्तमः ॥
त्रैलोक्ये यानि तीर्थानि वासुदेवाज्ञया मुने ।
शङ्खं तान्यधितिष्ठन्ति तस्मात् शङ्खं सदार्च्चयेत् ॥
त्वं पुरा सागरोत्पन्नो विष्णुना विधृतः करे ।
नमितः सर्व्वदेवैश्च पाञ्चजन्य नमोऽस्तु ते ॥
पुरतो वासुदेवस्य सपुष्पफलचन्दनैः ।
शङ्खः समर्च्चितो येन तस्य लक्ष्मीर्न दुर्लभा ॥
दर्शनेनापि शङ्खस्य किमु तस्यार्च्चनेन च ।
विलयं यान्ति पापानि हिमः सूर्य्योदये यथा ॥
गर्भा देवारिनारीणां विनश्यन्ति सहस्रधा ।
तव नादेन पाताले पाञ्चजन्य नमोऽस्तु ते ॥
तीर्थोदकं हरेर्मूर्द्ध्नि भ्रामयेत् शङ्खसंस्थितम् ।
ददाति मुक्तिं देवेशः क्षीरसागरजाप्रियः ॥
यमदूताश्च कुष्माण्डपिशाचोरगराक्षसाः ।
दृष्ट्वा शङ्खोदकं मूर्द्ध्नि भीता यान्ति दिशो दश ॥
नित्ये नैमित्तिके काम्ये स्नानार्च्चनविलेपने ।
शङ्खं समर्च्चयति यः श्वेतद्वीपे वसेद्धि सः ॥"

इति पाद्मोत्तरखण्डे १२९ अध्यायः ॥ * ॥

अथ दक्षिणावर्त्तशङ्खमाहात्म्यम् ।

"दक्षिणावर्त्तशङ्खेन गत्वा प्राक्स्रोतसं नदीम् ।
कृत्वाभिषेकं विधिवत् ततः पापैः प्रमुच्यते ॥
दक्षिणावर्त्तशङ्खेन तिलमिश्रोदकेन तु ।
उदके नाभिमात्रे तु यः कुर्य्यादभिषेचनम् ॥
प्राक्स्रोतस्यां तु वै नद्यां नरस्तत्राब्जसम्भृतः ।
यावज्जीवकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति ॥
दक्षिणावर्त्तशङ्खेन पाञ्चशोधं धरे स्थितम् ।
उदकं यः प्रतीच्छेत शिरसा हृष्टमानसः ॥
तस्य जन्मकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति ।
न शङ्खेन पिबेत्तोयं न हन्यान्मत्स्यशूकरौ ॥"

इति वाराहे प्रबोधनीमाहात्म्याध्यायः ॥ * ॥

दक्षिणावर्त्तशङ्खतोयेन विष्णुपूजाफलं यथा । स्कान्दे ।

"दक्षिणावर्त्तशङ्खस्य तोयेन योऽर्च्चयेद्धरिम् ।
सप्तजन्मकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति ॥"

इत्याह्निकाचारतत्त्वम् ॥

स च शङ्खः रत्नविशेषः । तल्लक्षणादि यथा,—

"क्षीरोदकूलेऽपि सुराष्ट्रदेशे
तदन्यतोऽपि प्रभवन्ति शङ्खाः ।
अरुष्कवर्णाः शशिशुभ्रभासः
सुसूक्ष्मवक्त्रा गुरवो महान्तः ॥
ते वामदक्षिणावर्त्तभेदेन द्विविधा मताः ।
दक्षिणावर्त्तशङ्खस्तु कुर्य्यादायुर्यशो धनम् ॥
तेनैव शिरसा यस्तु श्रद्दधानः प्रतीच्छति ।
वारि हित्वा स पापानि पुण्यमाप्नोति मानवः ॥
वृत्तत्वं स्निग्धताच्छत्वं शङ्खस्येति गुणत्रयम् ।
आवर्त्तभङ्गदोषो हि हेमयोगाद्विनश्यति ॥
ब्रह्मादिजातिभेदेन स पुनस्तु चतुर्व्विधः ॥" * ॥

इति युक्तिकल्पतरुः ॥

श्रीकृष्णार्ज्जुनादिशङ्खनामानि यथा,—

"पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्म्मा वृकोदरः ॥
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्त्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥"

इति श्रीभगवद्गीतायाम् १ अध्यायः ॥

अयन्तु रणवाद्यविशेषः । यथा,—

"भक्ततूर्य्यं गन्धतूर्य्यं रणतूर्य्यं महास्वनः ।
संग्रामपटहः शङ्खस्तथा चाभयडिण्डिमः ॥
महाक्रन्दो वृथाभीरुभीरुः कोलाहलोऽपि च ।
युद्धवाद्यस्य पर्य्यायश्चान्ये भेदाः शलादयः ॥"

इति शब्दरत्नावली ॥

ललाटास्थि । (यथा, सुश्रुते । १ । ५ ।

"तत्र भ्रूगण्डशङ्खललाटाक्षिपुटौष्ठदन्तवेष्टकक्षाकुक्षिवङ्क्षणेषु तिर्य्यक्छेद उक्तः ॥") कुबेरस्य निधिविशेषः । (यथा, महाभारते । २ । १० । २६ ।

"निधिप्रवरमुख्यौ च शङ्खपद्मौ धनेश्वरौ ॥"

यथा च मार्कण्डेये । ६८ । ४२—४५ ।

"रजस्तमोमयश्चान्यः शङ्खसंज्ञो हि यो निधिः ।
तेनापि नीयते विप्र तद्गुणित्वं निधीश्वरः ॥
एकस्यैव भवत्येष नरं नान्यमुपैति च ।
यस्य शङ्खो निधिस्तस्य स्वरूपं क्रोष्टुके शृणु ॥
एक एवात्मना मृष्टमन्नं भुङ्क्ते तथाम्बरम् ।
कदन्नभुक् परिजनो न च शोभनवस्त्रधृक् ॥
न ददाति सुहृद्भार्य्याभ्रातृपुत्त्रस्नुषादिषु ।
स्वपोषणपरः शङ्खी नरो भवति सर्व्वदा ॥")

नखीनामगन्धद्रव्यम् । इत्यमरमेदिनीकारौ ॥ (यथा, सुश्रुते । ६ । १७ ।

"मनःशिला व्योषकशङ्खमाक्षिकैः
ससिन्धुकासीसरसाञ्जनैः क्रियाः ॥")

कर्णसमीपास्थि । इति राजनिर्घण्टः ॥ (यथा, याज्ञवल्क्ये । ३ । ८६ ।

"कर्णौ शङ्खौ भ्रुवौ दन्तवेष्टावोष्ठौ ककुन्दरे ॥") अष्टनागनायकान्तर्गतनागविशेषः । (यथा, मनसापूजापद्धतौ ।

"अनन्तो वासुकिः पद्मो महापद्मस्तु तक्षकः ।
कुलीरः कर्कटः शङ्खो ह्यष्टौ नागाः प्रकीर्त्तिताः ॥")

हस्तिदन्तमध्यम् । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ दशनिखर्व्वसंख्या । लक्षकोटिरिति यावत् । यथा,

"एकं दशशतञ्चैव सहस्रमयुतं तथा ।
लक्षञ्च नियुतं चैव कोटिरर्ब्बुदमेव च ॥
वृन्दः खर्व्वो निखर्व्वश्च शङ्खपद्मौ च सागरः ।

अन्त्यं मध्यं परार्द्धञ्च दशवृद्ध्या यथाक्रमम् ॥"
इति भरतधृतब्रह्माण्डपुराणवचनम् ॥*॥
धर्म्मशास्त्रप्रयोजकमुनिविशेषः । यथा,—
"मन्वत्रिविष्णुहारीतयाज्ञवल्क्योशनोऽङ्गिराः ।
यमापस्तम्बसम्वर्त्ताः कात्यायनबृहस्पती ॥
पराशरव्यासशङ्खलिखिता दक्षगौतमौ ।
शातातपो वशिष्ठश्च धर्म्मशास्त्रप्रयोजकाः ॥"
इति याज्ञवल्क्यवचनम् ॥

शङ्खकं, क्ली, वलयः । इति मेदिनी ॥

शङ्खकः, पुं क्ली, (शङ्ख + स्वार्थे कन् ।) कम्बुः । शिरोरोगे, पुं । इति मेदिनी ॥ तस्य लक्षणादि यथा,—
शङ्खकमाह ।
"पित्तरक्तानिला दुष्टाः शङ्खदेशे विमूर्च्छिताः ।
तीव्ररुग्दाहरागं हि शोथं कुर्व्वन्ति दारुणम् ॥
स शिरो विषवद्वेगान्निरुध्याशु गलं तथा ।
त्रिरात्राज्जीवितं हन्ति शङ्खको नाम नामतः ।
त्र्यहाज्जीवति भैषज्यं प्रत्याख्येयस्य कारयेत् ॥"
पित्तरक्तानिलाः अत्र कफोऽपि योज्यः । क्षतानुतापः कफपित्तरक्तैरिति सुश्रुतवचनात् । विमूर्च्छिताः प्रवृद्धाः । त्रिरात्रात् त्रिरात्रमध्ये मारयति । इति भावप्रकाशः ॥ अस्य चिकित्सा शिरोरोगशब्दे द्रष्टव्या ॥ (ललाटास्थि । यथा, याज्ञवल्क्यः । ३ । ९० ।
"द्वौ शङ्खकौ कपालानि चत्वारि शिरसस्तथा ।
उरः सप्तदशास्थीनि पुरुषस्यास्थिसंग्रहः ॥")

शङ्खकारः, पुं, (शङ्खं करोतीति । शङ्ख + कृ + अण् ।) वर्णसङ्करजातिविशेषः । शाँखारि इति भाषा । स तु शूद्रागर्भे विश्वकर्म्मौरसाज्जातः । इति ब्रह्मवैवर्त्तपुराणम् ॥ तत्पर्य्यायः । शाङ्खिकः २ काम्बविकः ३ । इति शब्दरत्नावली ॥ शाम्बविकः ४ । इति जटाधरः ॥

शङ्खचरी, स्त्री, (शङ्खे ललाटास्थ्नि चरतीति । चर + टः । स्त्रियां ङीप् ।) ललाटिका । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

शङ्खचर्च्ची, स्त्री, ललाटिका । इति शब्दरत्नावली ॥

शङ्खचूर्णं, क्ली, (शङ्खस्य चूर्णम् ।) शङ्खजातचूर्णम् । शाँखेर चूण इति भाषा । अस्य गुणाः ।
"शङ्खचूर्णं कटु क्षारलवणं क्रिमिहरं परम् ॥"
इति राजवल्लभः ॥

शङ्खजः, पुं, (शङ्खाज्जायते इति । जन + डः ।) कपोतडिम्बवद्वृहन्मुक्ता । इति केचित् ॥ शङ्खजातवस्तुनि, त्रि ॥

शङ्खद्रावकः, पुं, (शङ्खं द्रावयतीति । द्रु + णिच् + ण्वुल् ।) औषधविशेषः । यथा,—
"अर्कस्नुही तथा चिञ्चा तिलारग्वधचित्रकम् ।
अपामार्गभस्मसमं वस्त्रपूतं जलं हरेत् ॥
मृदग्निना पचेत्तत्तु यावत्क्षारतां गतम् ।
लवणेन समौ ग्राह्यौ द्वौ क्षारौ टङ्कणं तथा ।
समुद्रफेनगोदन्ताकाशीशं सोरका तथा ।
द्विगुणं पञ्चलवणं मातुलुङ्गरसेन च ॥
काचकुप्यान्तु सम्प्राप्य वालयेद्यन्त्रयोगतः ।
शङ्खचूर्णपलं दत्त्वा वारुणीयन्त्रमुद्धरेत् ॥
सर्व्वधातून् हरेच्छीघ्रं वराटीशङ्खकादिकान् ।
उदरादिसर्व्वरोगाणां सद्यो हि नाशकः परः ॥"
इति शङ्खद्रावकः ॥ * ॥
अपि च ।
"योगिनीभैरवाभ्याञ्च बलिमादौ प्रदापयेत् ।
पश्चाद्यन्त्रञ्च कर्त्तव्यमेवाह परमेश्वरी ॥
रसः शङ्खद्रवो नाम शम्भुदेवेन भाषितः ।
गुह्याद्गुह्यतमं गुह्यमिदानीं कथ्यते मया ॥
शङ्खचूर्णं यवक्षारं सर्ज्जिकाक्षारटङ्कणम् ।
समञ्च पञ्चलवणं स्फटिकारी नृशादरः ॥
काचकुप्यां ततः क्षिप्त्वा वारुणीयन्त्रमुद्धरेत् ।
थामार्द्धं द्रावयत्येव शङ्खशुक्तिवराटकान् ॥
अर्शांसि नाशयेत् षट् च मूत्रकृच्छ्राश्मरीं तथा ।
उदराष्टविधं हन्ति गुल्मप्लीहोदराणि च ॥
अजीर्णं नाशयेच्छीघ्रं ग्रहणीञ्च विसूचिकाम् ।
भुक्तशेषे च भोक्तव्यो माषमात्रो रसोत्तमः ॥
यामार्द्धाङ्गवेद्यस्य पुनर्भोजनमिच्छति ।
प्रत्यहं भोजनान्ते च संसेव्योऽयं रसोत्तमः ।
न रुजायां भयं क्वापि सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ।
न देयं यस्य कस्यापि सदा गोप्यञ्च कारयेत् ।
रसः शङ्खद्रवो नाम वैद्यानामुपकारकः ॥"
शङ्खद्रावको रसः । इति भैषज्यरत्नावली ॥

शङ्खद्रावी, [न्] पुं, (शङ्खं द्रावयतीति । द्रु + णिच् + णिनिः ।) अम्लवेतसः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शङ्खधरा, स्त्री, (धरतीति । धृ + अच् टाप् । शङ्खस्य धरा ।) हिलमोचिका । इति रत्नमाला ॥

शङ्खध्मः, पुं, (शङ्खं धमतीति । ध्मा + कः ।) शङ्खवादकः । तत्पर्य्यायः । शाङ्खिकः २ । इति जटाधरः ॥ (यथा, वाजसनेयसंहितायाम् ।३०।१९।
"क्रोशाय तूणवध्ममवरस्पराय शङ्खध्मम् ॥"

शङ्खध्माः, पुं, (शङ्खं धमतीति । ध्मा + क्विप् ।) शङ्खवादकः । इति मुग्धबोधव्याकरणम् ॥

शङ्खनखः, पुं, क्षुद्रशङ्खः । ओङ्गडा इति भाषा । इत्यमरभरतौ ॥ (यथा, महाभारते ।१३।५०।२०।
"नद्यैः शङ्खनखैर्गात्रैः क्रोडैश्चित्रैरिवार्पितम् ॥")
नखीनामगन्धद्रव्यम् । इति शब्दरत्नावली ॥ हट्टविलासिनी । यथा,—
"महांश्चवी शङ्खनखः शङ्खाख्यो गन्धसारकः ।"
इति रत्नमाला ॥

शङ्खनखा, स्त्री, शङ्खनखी । यथा,—
"द्विधा शङ्खनखाख्याता शुक्त्याख्या बदरी-च्छदः ।"
इति रत्नमाला ॥

शङ्खपुष्पी, स्त्री, (शङ्खवत् पुष्पं यस्याः । ङीष् ।) क्षुपविशेषः । शङ्खाहुली इति छ्यानकुली इति च भाषा । तत्पर्य्यायः । सुपुष्पी २ शङ्खाह्वा ३ कम्बुमालिनी ४ पीतपुष्पी ५ कम्बुपुष्पी ६ मेध्या ७ मलविनाशिनी ८ किरिटी ९ शङ्खकुसुमा १० भूलग्ना ११ शङ्खमालिनी १२ । अस्या गुणाः । हिमत्वम् । तिक्तत्वम् । मेधास्वरकारित्वम् । ग्रहभूतादिदोषनाशित्वम् । वशीकरणसिद्धिदातृत्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥ अपि च ।
"शङ्खपुष्पी तु तीक्ष्णोष्णा मेध्या क्रिमिविषापहा ॥"
इति राजवल्लभः ॥
अन्यच्च ।
"शङ्खपुष्पी तु शङ्खाह्वा मङ्गल्या कुसुमापि च ।
शङ्खपुष्पी सरा मेध्या वृष्या मानसरोगनुत् ॥
रसायनी कषायोष्णा स्मृतिकान्तिबलाग्निदा ।
दोषापस्मारभूतालक्ष्मीकुष्ठक्रिमिविषप्रणुत् ॥"
इति भावप्रकाशः ॥

शङ्खप्रस्थः, पुं, चन्द्रस्य चिह्नम् । यथा,—
"लिङ्गं लक्ष्म च चिह्नञ्च शङ्खप्रस्थो विधोरथ ।"
इति शब्दमाला ॥

शङ्खभृत्, पुं, (शङ्खं बिभर्त्तीति । भृ + क्विप् ।) विष्णुः । इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, महाभारते । १३ । १४९ । १२० ।
"शङ्खभृन्नन्दकी चक्री शार्ङ्गधन्वा गदाधरः ॥")

शङ्खमुखः, पुं, (शङ्खवत् मुखं यस्य ।) कुम्भीरः । इति हेमचन्द्रः ॥ (नागविशेषः । यथा, महाभारते । १ । ३५ । ११ ।
"नागः शङ्खमुखश्चैव तथा कुष्माण्डकः परः ॥")

शङ्खमूलं, क्ली, (शङ्खवत् शुक्लं क्रमसूक्ष्मं वा मूलं यस्य ।) मूलकम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

शङ्खाख्यः, पुं, (शङ्ख इति आख्या यस्य ।) हट्टविलासिनी । इति रत्नमाला ॥

शङ्खाह्वा, स्त्री, (शङ्ख इति आह्वा नाम यस्याः ।) शङ्खपुष्पी । इति राजनिर्घण्टः ॥

शङ्खिका, स्त्री, (शङ्खवत् पुष्पमस्त्यस्याः । शङ्ख + ठन् ।) क्षुपविशेषः । चोरहुली इति भाषा । यथा । शङ्खिन्यां शङ्खिका चोरा । इति शब्दचन्द्रिका ॥

शङ्खिनी, स्त्री, (शङ्खवत् पुष्पमस्त्यस्याः । शङ्ख + इनिः ।) चोरपुष्पी । इत्यमरः ॥ श्वेतपुनागः । इति विश्वः ॥ श्वेतवृन्दा । इति मेदिनी ॥ श्वेतगुञ्जा । इति शब्दरत्नावली ॥ शुक्तिभेदः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ यवतिक्ता । इति राजनिर्घण्टः ॥ चतुर्व्विधस्त्रीमध्ये स्त्रीविशेषः । तल्लक्षणं यथा,—
"दीर्घा सुदीर्घनयना वरसुन्दरी या
कामोपभोगरसिका गुणशीलयुक्ता ।
रेखात्रयेण च विभूषितकण्ठदेशा
सम्भोगकेलिरसिका किल शङ्खिनी सा ॥
शशकं पद्मिनी तुष्टा चित्रिणी रमते मृगम् ।
वृषभं शङ्खिनी तुष्टा हस्तिनी रमते हयम् ॥
पद्मिनी पद्मगन्धा च मीनगन्धा च चित्रिणी ।
शङ्खिनी क्षारगन्धा स्यात् मदगन्धा च हस्तिनी ॥"
इति रसमञ्जरी ॥

शक्रयुक्ता । यथा,—

"शक्तिनी चापिनी बाणभुशुण्डीपरिघायुधा ।"

इति देवीमाहात्म्यम् ॥

उपदेवताविशेषः । शङ्खिनीवासशब्दार्थदर्शनात् ॥

शङ्खिनीफलः, पुं, (शङ्खिन्याः फलमिव फलं यस्य ।) शिरीषवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शङ्खिनीवासः, पुं, (शङ्खिन्या वास आश्रयस्थानम् ।) शाखोटवृक्षः । इति शब्दचन्द्रिका ॥

शङ्खी, [न्] पुं, (शङ्खोऽस्यास्तीति । शङ्ख + इनिः ।) विष्णुः । समुद्रः । इति मेदिनी ॥ शाङ्खिकः । शङ्खविशिष्टे, त्रि । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, हरिवंशे भविष्यपर्व्वणि । ६ । १२ ।

"शङ्खिनं चक्रिणं विष्णुं खड्गिनं गदिनं विभुम् ॥"

शङ्खनिधिविशिष्टे च त्रि । यथा, मार्कण्डेये । ६८ । ४५ ।

"कृपोषणपरः शङ्खी नरो भवति सर्व्वदा ॥")

शच, इ ङ गत्याम् । इति कविकल्पद्रुमः । (भ्वा०-आत्म०-सक०-सेट् ।) इ, शञ्चते । इति दुर्गादासः ॥

शच, ङ वाचि । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-आत्म०-सक०-सेट् ।) ङ, शचते । इति दुर्गादासः ॥

शचिः, स्त्री, (शच वाचि + "सर्व्वधातुभ्य इन् ।" उणा० ४ । ११७ । इति इन् ।) इन्द्रपत्नी । इत्यमरटीकायां भरतः ॥

शची, स्त्री, (शचि + कृदिकारादिति ङीष् ।) इन्द्रपत्नी । तत्पर्य्यायः । पुलोमजा २ इन्द्राणी ३ । इत्यमरः ॥ शचिः ४ सची ५ सचिः ६ । इति भरतः ॥ पूतक्रतायी ७ पौलोमी ८ । इति जटाधरः ॥ माहेन्द्री ९ जयवाहिनी १० ऐन्द्री ११ शतावरी १२ । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, रघुः । ३ । २३ ।

"उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा
यथा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ ।
तथा नृपः सा च सुतेन मागधी
ननन्दतुस्तत्सदृशेन तत्समौ ॥")

शतमूली । स्त्रीकरणाभरणम् । तत्तु चिट्टिकरणमिति केचित् ॥ इति मेदिनी ॥ (कर्म्म । इति इति निघण्टुः ।२।१॥ यथा, ऋग्वेदे ।८।३२।१५।

"न किरस्य शचीनां नियन्ता सूनृतानाम् ॥"

प्रज्ञा । इति निघण्टुः । ३ । ९ ॥ वाक् । इति च निघण्टुः । १ । ११ ॥)

शचीपतिः, पुं, (शच्याः पतिः ।) इन्द्रः । इत्यमरः ॥ (यथा, मार्कण्डेये । १५ । ७० ।

"यदि जानासि धर्म्मं त्वं त्वं वा शक्र शचीपते ।
मम यावत् प्रमाणन्तु शुभं तद्वक्तुमर्हसि ॥"

कर्म्मपालके, त्रि । यथा ऋग्वेदे ।७।६७।५।

"शक्तं शचीपती शचीभिः ॥"

"हे शचीपती शचीति कर्म्मनाम कर्म्मणां पालकौ ।" इति तद्भाष्ये सायणः ॥)

शट, सादे । शौर्य्ये । गतौ । रुजि । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-अक०-गतौ सक०-सेट् ।) सादोऽवसादः । शीर्णिर्भेदः । शटति लोकः अवसीदति । विशीर्य्यति । गच्छति । रुजति वा इत्यर्थः । इति दुर्गादासः ॥

शट, क ङ श्लाघे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (चुरा०-आत्म०-सक०-सेट् ।) क ङ, शाटयते । इति दुर्गादासः ॥

शटः, त्रि, अम्लः । शटधातोरच्प्रत्ययेन निष्पन्नमेतत् । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥

शटा, स्त्री, (शट + अच् । टाप् ।) सटा । जटा । इत्यमरटीका ॥

शटिः, स्त्री, (शट + इन् ।) शटी । इति शब्दरत्नावली ॥

शटी, स्त्री, (शटि + वा ङीष् ।) स्वनामख्यातौषधिः । शेँट आदा इति भाषा । कचूर इति हिन्दी भाषा । तत्पर्य्यायः । गन्धमूली २ षड्ग्रन्थिका ३ कर्च्चूरः ४ पलाशः ५ । इत्यमरः ॥ सटी ६ षटी ७ गन्धशटी ८ कर्च्चूरः ९ कर्च्चूरः १० । इति भरतादयः ॥ सुगन्धा ११ सटिः १२ शटिः १३ गन्धमूला १४ गन्धोलिः १५ गन्धमूलकः १६ । इति शब्दरत्नावली ॥ गन्धसटा १७ वधूः १८ गन्धमूलम् १९ । इति जटाधरः ॥ जीमूतमूलम् २० कच्चोरम् २१ हिमजा २२ । इति रत्नमाला ॥ हैमी २३ षड्ग्रन्थिः २४ सुव्रता २५ गन्धाली २६ पलाशा २७ हिमा २८ । इति ग्रन्थान्तरम् ॥ षड्ग्रन्था २९ आम्रगिशा ३० सुगन्धमूला ३१ गन्धाली ३२ शटीका ३३ पलाशिका ३४ सुभद्रा ३५ द्रवी ३६ दूर्व्वा ३७ गन्धा ३८ पृथुपलाशिका ३९ सौम्या ४० हिमोद्भवा ४१ गन्धवधूः ४२ । अस्या गुणाः । तिक्तत्वम् । अम्लरसत्वम् । लघुत्वम् । उष्णत्वम् । रुचिकारित्वम् । ज्वरकफवातकण्डूश्वदोषरक्तामयध्वंसकारित्वम् । हृद्यत्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥ अपि च । अथ गन्धपलाशी सुगन्धद्रव्यं काश्मीरे प्रसिद्धम् ।

"शटी पलाशी षड्ग्रन्था सुव्रता गन्धमूलिका ।
गन्धारिका गन्धवधूर्वधूः पृथुपलाशिका ॥
भवेद्गन्धपलाशी तु कषाया ग्राहिणी लघुः ।
तिक्ता तीक्ष्णा च कटुकानुष्णास्यमलनाशिनी ।
शोथकासव्रणश्वासशूलाध्मानग्रहापहा ॥"

इति भावप्रकाशः ॥

शट्टकं, क्ली, घृतजलमिश्रितशालिचूर्णम् । मयदार शाटा इति भाषा । यथा,—

"शालिचूर्णं घृतं तोयं मिश्रितं शट्टकं वदेत् ॥"

इति भावप्रकाशः ॥

शठ, वधक्लेशकैतवे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट् ।) क्लेशो दुःखानुभवः । कैतवं मिथ्यावचनम् । शठति खलः साधुं वञ्चयतीत्यर्थः । इति दुर्गादासः ॥

शठ, क आलस्ये । गत्यसंस्कृतसंस्कृते । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (चुरा०-पर०-अक०-सेट् ।) क, शाठयति दुष्टः क्रियासु मन्दः स्यादित्यर्थः । इति दुर्गादासः ॥

शठ, क ङ श्लाघे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (चुरा०-आत्म०-अक०-सेट् ।) क ङ, शाठयते । इति दुर्गादासः ॥

शठ, त् क दुर्व्वाचि । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (अदन्तचुरा०-पर०-सक०-सेट् ।) शठयति नीचः कुत्सितं वदतीत्यर्थः । रमानाथस्तु सम्यग्भाषणे इति मत्वा शठयति सम्यग्वदतीत्यर्थं इत्याह । सम्यग्भाषणे इति जौमराः । समग्भाषे इत्यन्ये । इति दुर्गादासः ।

शठं, क्ली, (शठ + अच् ।) तगरम् । कुङ्कुमम् । लौहम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

शठः, पुं, मध्यस्थपुरुषः । धूर्त्तः । (यथा, मनुः । ४ । ३० ।

"पाषण्डिनो विकर्म्मस्थान् वैडालव्रतिकान् शठान् ।
हैतुकान् वकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्च्चयेत् ॥")

धुस्तूरः । इति मेदिनी ॥ शठस्य लक्षणम् । यथा,—

"प्रियं वक्ति पुरोऽन्यत्र विप्रियं कुरुते भृशम् ।
व्यक्तापराधचेष्टश्च शठोऽयं कथितो बुधैः ॥"

इति विष्णुपुराणे । ३।१८।२१ । श्लोकटीका ॥ चतुर्व्विधपञ्चान्तर्गतपतिविशेषः । तस्य लक्षणम् । कामिनीविषयकपटपटुः । यथा,—

"मौलौ दाम विधाय भालफलके यालिख्य पत्रावलीं
केयूरं भुजयोर्निधाय कुचयोर्व्विन्यस्य मुक्तासजम् ।
विन्यासं वसुपार्ज्जयन् नगदृशः काञ्चीनिवेशच्छला-
न्नीवीग्रन्थिमपाकरोति मृदुना हस्तेन वामभ्रुवः ॥"

इति रसमञ्जरी ॥

(दृष्णिवंशीयविशेषः । यथा, हरिवंशे । भविष्यपर्व्वणि । २ । ३ ।

"बलभद्रं शिनेः पुत्त्रं हार्द्दिक्यं शठसारणौ ॥")

शठता, स्त्री, (शठ + तल् ।) शठस्य भावः । तत्पर्य्यायः । माया २ शाठ्यम् ३ कुसृतिः ४ निकृतिः ५ । इति हेमचन्द्रः ॥ अन्यच्च ।

"अलिया कपटो व्याज उपधिर्दम्भ एव च ।
कूटं कल्कं छलं छद्म मिषकैरवकैतवम् ॥
अथ शाठ्यञ्च शठता कुसृतिर्निकृतिश्च या ।
हिंसापर्वे चतुष्कं स्यात् शाठ्यपर्य्याय ईरितः ॥
पूर्व्वः कपटपर्य्यायः फले वञ्चनमात्रके ।
उभयोरैक्यपर्य्याय इति केचित् प्रचक्षते ॥"

इति शब्दरत्नावली ॥

शठाम्ला, स्त्री, अम्बष्ठा । इति राजनिर्घण्टः ॥

शड, इ ङ संघरुजोः । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-आत्म०-सक०-सेट् ।) तालव्यादिः । इ,

शक्यते । ड, शण्डते । कारको वीरं बलवीत्यर्थः । इति दुर्गादासः ॥

शण, म दाने । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट् ।) म, शणयति । इति दुर्गादासः ॥

शणं, क्ली, (शण + अच् ।) क्षुपविशेषः । तत्पर्य्यायः । भङ्गा २ मातुलानी ३ । इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, महाभारते । १ । १४५ । ११ ।
"शणं तैलं घृतञ्चैव जतु दारूणि चैव हि ।
तस्मिन् वेश्मनि सर्व्वाणि निःक्षिपेथाः समन्ततः ॥")

शणः, पुं, (शण + पचाद्यच् ।) स्वनामख्यातक्षुपः । तत्पर्य्यायः । माल्यपुष्पः २ वमनः ३ कटुतिक्तकः ४ निशावनः ५ दीर्घशाखः ६ त्वक्सारः ७ दीर्घपल्लवः ८ । अस्य गुणाः । अम्लत्वम् । कषायत्वम् । मलगर्भास्रपातनत्वम् । वातकारित्वम् । पित्तकफतीव्राङ्गमर्द्दनाशित्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥

शणघण्टिका, स्त्री, (शणस्य घण्टेव तत्तुल्यशब्दकारिफलवत्त्वात् । इवार्थे कन् । टापि अत इत्वम् ।) शणपुष्पी । इति राजनिर्घण्टः ॥

शणपर्णी, स्त्री, (शणस्य पर्णमिव पर्णमस्याः । ङीष् ।) अश्मपर्णी । इति शब्दरत्नावली ॥

शणपुष्पिका, स्त्री, (शणपुष्पी + स्वार्थे कन् । अत इत्वम् ।) घण्टारवा । इत्यमरभरतौ ॥ झनझनिया इति वनशोण इति च भाषा ॥

शणपुष्पी, स्त्री, (शणस्य पुष्पमिव पुष्पमस्याः ।) क्षुपविशेषः । शणहुली इति शणाइ इति वनशणाइ इति च भाषा । तत्पर्य्यायः । बृहत्पुष्पी २ शणिका ३ शणघण्टिका ४ पीतपुष्पी ५ स्थूलफला ६ लोमशा ७ माल्यपुष्पिका ८ । अस्या गुणाः । अम्लतिक्तत्वम् । वमिकारित्वम् । रसनियामकत्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥

शणसूत्रं, क्ली, (शणस्य सूत्रम् ।) पवित्रकम् । इत्यमरः ॥ "द्वे शणसूत्रनाम्नी । शणस्य सूत्रं शणसूत्रम् । शणति ददाति सूत्रं शणः । शण अण दाने अच् । शणः तालव्यशादिर्द्दन्त्यणान्तः इति बहवः । सणो दन्त्यसादिर्द्दन्त्यणान्त इति केचित् । तन्मते षण इ नु दाने इत्यस्य रूपम् । सणो दन्त्यसादिर्मूर्द्धन्यणान्त इत्यपरे । सणक्रियमणिकाकणकोणकाणा इति मूर्द्धन्यणान्ते विद्याभरणम् ॥
'कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्द्धवृतं त्रिवृत् ।
शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम् ॥' इति मनुवचनात् पवित्रकमपि तदुच्यते । आनाय इत्यादि चतुष्कं जाले इत्येके । आनाय इत्यादि श्लोकार्द्धं क्वचिद्दृश्यते तत् स्वाम्यादुपेक्षितमपि अन्यैराहृतमिति विवृतम् ।" इति तट्टीकायां भरतः ॥

शणालुकः, पुं, (शणालुरेव । स्वार्थे कन् ।) आरेवतवृक्षः । इति शब्दरत्नावली ॥ शोणालु इति भाषा ॥

शणिका, स्त्री, (शण + स्त्रियां टाप् । कन् । अत इत्वम् ।) शणपुष्पी । इति राजनिर्घण्टः ॥

शणीरं, क्ली, शोणमध्यस्थपुलिनम् । दरीतटम् । इति मेदिनी ॥

शण्डं, क्ली, पद्मादिसमूहः । इति शब्दरत्नावली ॥

शण्डः, पुं, नपुंसकम् । गोपतिः । इति भरतद्विरूपकोषः ॥

शण्डता, स्त्री, (शण्डस्य भावः । तल् ।) षण्डत्वम् । शण्डशब्दात् भावे तप्रत्ययस्तदनन्तरं आप् प्रत्ययेन निष्पन्नमेतत् ॥

शण्डिलः, पुं, (शडि रुजायाम् + "सलिकल्यनिमहिभडिभण्डिशण्डीति ।" उणा० १।५५ । इति इलच् ।) मुनिविशेषः । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥

शण्ढः, पुं, (शाम्यति ग्राम्यधर्म्मात् । शम + "शमेर्ढः ।" उणा० १।१२१ । इति ढः ।) अन्तर्मेहलिकः । अन्तःपुरस्त्रीरक्षकोऽयम् । खोजा इति भाषा । तत्पर्य्यायः । वर्षवरः २ । तल्लक्षणम् यथा,—
"ये त्वनपत्याः प्रथमाः क्लीवाश्च स्त्रीस्वभाविनः ।
जात्या न दुष्टाः कार्य्येषु ते वै वर्षवराः स्मृताः ॥" इति ॥
नपुंसकम् । हिजड़े इति भाषा । इत्यमरभरतौ ॥ गोपतिः । षाँड़ इति भाषा । इति मेदिनी ॥ वन्ध्यपुरुषः । इति जटाधरः ॥ उन्मत्तः । इति धनञ्जयः ॥

शतं, क्ली, (दश दशतः परिमाणमस्येति । "पंक्तिविंशतित्रिंशदिति ।" ५ । १ । ५९ । इति तः । दशानां शभावश्च निपात्यते ।) दशगुणितदशसङ्ख्या । एकशत इति हिन्दीभाषा । (यथा, शान्तिशतके ।
"निःस्वो वष्टि शतं शती दशशतं लक्षं सहस्राधिपः ॥")
तत्पर्य्यायः । दशतिः २ । इति पुराणम् ॥ तद्वाचकानि । धार्त्तराष्ट्रः १ शतभिषातारा २ पुरुषायुः ३ रावणाङ्गुलिः ४ पद्मदलम् ५ इन्द्रयज्ञः ६ अक्षियोजनम् ७ । इति कविकल्पलता ॥ (बहु । इति निघण्टुः । ३ । १ ॥ यथा, ऋग्वेदे । ८।१।५ । "वज्रिवो न शताय शतामघ ।" "शताय बहुनामैतत् अपरिमिताय ।" इति तद्भाष्ये सायणः ॥)

शतकः, त्रि, (शतं परिमाणमस्य । शत + "संख्याया अतिशदन्तायाः कन् ।" ५।१।२२ । इति कन् ।) शतसंख्याविशिष्टः । यथा । शान्तिशतकामरुशतकादिः । शतशब्दात् कप्रत्ययेन निष्पन्नमेतत् । (यथा, मार्कण्डेये । ४६ । ३० ।
"सन्ध्यासन्ध्यांशकश्चैव शतकौ समुदाहृतौ ॥")
स्वार्थे के शतकञ्च ॥

शतकीर्त्तिः, पुं, भाव्यर्हद्विशेषः । इति हेमचन्द्रः ॥

शतकुन्दः, पुं, (शतं कुन्दा यस्य ।) करवीरः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शतकुम्भः, पुं, पर्व्वतविशेषः । इति शातकुम्भशब्दटीकायां भरतः ॥ (स्त्री, नदीतीर्थविशेषः । यथा, महाभारते । ३ । ८४ । १० ।
"सुगन्धां शतकुम्भाञ्च पञ्चयज्ञाञ्च भारत ।
अभिगम्य नरश्रेष्ठ स्वर्गलोके महीयते ॥")

शतकोटिः, पुं, (शतं कोटयोऽग्राः शिखा यस्य ।) वज्रम् । इत्यमरः ॥ वृन्दसंख्या लीलावतीमते अब्जसंख्या ॥

शतक्रतुः, पुं, (शतं क्रतवो यस्य ।) इन्द्रः । इति धनञ्जयकोषः ॥ (यथा, महाभारते ।३।४७।१२।
"आह मामरश्रेष्ठः पिता तव शतक्रतुः ॥"
बहुकर्म्मा । बहुप्रज्ञः । यथा, ऋग्वेदे ।१।१०।१।
"ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे ॥"
"हे शतक्रतो बहुकर्म्मन् बहुप्रज्ञ वा ।" इति तद्भाष्ये सायणः ॥)

शतखण्डं, क्ली, सुवर्णम् । यथा,—
"सौमेरुकं महाधातुः शतखण्डं मृदुत्तकम् ॥" इति शब्दचन्द्रिका ॥
शतभागश्च ॥

शतग्रन्थिः, स्त्री, (शतं ग्रन्थयो यस्याः ।) दूर्व्वा । इति राजनिर्घण्टः ॥

शतघ्नी, स्त्री, (शतं हन्तीति । हन + टक् । ङीप् ।) शस्त्रभेदः । अस्य लक्षणम् । यथा,—
"अयःकण्टकसंछन्ना शतघ्नी महती शिला ।" इति विजयरक्षितः ।
"दुर्गञ्च परिखोपेतं वप्राट्टालकसंयुतम् ।
शतघ्नीयन्त्रमुख्यैश्च शतशश्च समावृतम् ॥
गोपुरं सकवाटञ्च तत्र स्यात् सुमनोहरम् ।
सपताकं गजारूढो येन राजा विशेत् पुरम् ॥"
इति मात्स्ये राजधर्म्मे दुर्गसम्पत्तिर्नाम १९१ अध्यायः ॥ * ॥ (यथा, रघुः । १२ । ९५ ।
"अयःशङ्कुचितां रक्षः शतघ्नीमथ शत्रवे ।
हृतां वैवस्वतस्येव कूटशाल्मलिमक्षिपत् ॥"
"अथ रक्षो रावणः अयसः शङ्कुभिः कीलैश्चितां कीर्णां शतघ्नीं लौहकण्टककीलितयष्टिविशेषाम् । शतघ्नी तु चतुस्ताला लोहकण्टकसञ्चिता । यष्टिः——————॥ इति केशवः ।" इति तट्टीकायां मल्लिनाथः ॥) वृश्चिकाली । करञ्जकः । इति मेदिनी ॥ गलरोगविशेषः । अस्य निदानलक्षणचिकित्साः रोहिणीशब्दे द्रष्टव्याः ॥

शतच्छदः, पुं, (शतं छदा यस्य ।) काष्ठकुट्टपक्षी । काठ्ठोकरा इति भाषा । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ शतदलपद्मञ्च ॥

शततमः, त्रि, शतस्य पूरणः । शतशब्दात्तमट्प्रत्ययेन निष्पन्नमेतत् ॥

शततारा, स्त्री, (शतं तारा यस्याम् ।) शतभिषानक्षत्रम् । इति केचित् ॥

शतदन्तिका, स्त्री, नागदन्ती । इति राजनिर्घण्टः ॥

शतद्रुः, स्त्री, (शतधा द्रवतीति । शत + द्रु "शतेच ।" उणा० १ । ३६ । इति कुः ।) नदीविशेषः । शतलज् इति हिन्दी भाषा । सा हिमालया-

इतपम्रा विपाशायां मिलिता। (अस्या नाम-निरुक्तिर्यथा, महाभारते। १। १७८। ९।
"शतधा विद्रुता यस्माच्छतद्रुरिति विश्रुता॥")
तत्पर्य्यायः। शितद्रुः २। इत्यमरः॥ शुतुद्रिः ३ शतद्रुः ४। पुत्रशोकसन्तप्तो वशिष्ठः कण्ठे शिलां बद्ध्वा नद्यामस्यां प्रविष्टस्ततो भीत्या इयं शतधा द्रुता इति शतद्रुः। इति तट्टीकायां भरतः॥ (एतद्वृत्तान्तस्तु महाभारते।१।१७८ अध्याये द्रष्टव्यः॥) अस्या जलगुणाः।

"शतद्रोर्विपाशायुजः सिन्धुनद्याः
सुशीतं लघु स्वादु सर्व्वामयघ्नम्।
जलं निर्म्मलं दीपनं पाचनञ्च
प्रदत्ते बलं बुद्धिमेधायुषञ्च॥"

इति राजनिर्घण्टः॥

शतधा, स्त्री, दूर्व्वा। इति शब्दचन्द्रिका॥

शतधा, व्य, (शत + धाच्।) शतप्रकारम्। यथा,

"आस्तीकवचनं श्रुत्वा यः सर्पो न निवर्त्तते।
शतधा भिद्यते मूर्द्ध्नि शिरीषस्य फलं यथा॥"

इति महाभारतम्॥

शतधामा, [न्] पुं, (शतं धामानि वर्त्मानि यस्य।) विष्णुः। इति जटाधरः॥

शतधारं, क्ली, (शतं धाराः कोणा यस्य।) वज्रम्। इति त्रिकाण्डशेषः॥ शतधाराशुक्ते, त्रि। यथा,—

"वसोः पवित्रमसि शतधारं वसोः पवित्रमसि
सहस्रधारम्।
वसोः पवित्रेण शतधारेण सुप्वा कामधुक्षः॥"

इति पशुपतिपद्धतिः॥

शतधृतिः, पुं, इन्द्रः। (यथा, महिम्नः स्तोत्रे।
"रथः क्षौणी यन्ता शतधृतिरगेन्द्रो धनुरथो॥")
ब्रह्मा। इति मेदिनी॥ (यथा, भागवते।७।४।१।
"एवं वृतं शतधृतिर्हिरण्यकशिपोरथ॥")
स्वर्गः। इति विश्वः॥

शतपत्रं, क्ली, (शतं पत्राणि यस्य।) पद्मम्। इत्यमरः॥ (यथा, महाभारते।३।६८। २०।
"इमामसितकेशान्तां शतपत्रायतेक्षणाम्॥")

शतपत्रः, पुं, (शतं पत्राणि पक्षा यस्य।) मयूरः। सारसः। दार्व्वाघाटपक्षी। इति मेदिनी॥ राजकीरः। तुरी इति भाषा। इति हेमचन्द्रराजनिर्घण्टौ॥ (यथा, महाभारते। ३। १०८। ८।
"मयूरैः शतपत्रैश्च जीवञ्जीवककोकिलैः॥")

शतपत्रकः, पुं, (शतपत्र + स्वार्थे कन्।) दार्व्वाघाटपक्षी। इत्यमरः॥ काठ्ठोकरा इति भाषा॥

शतपत्रनिवासः, पुं, (शतपत्रे निवासो यस्य।) ब्रह्मा। इति कविकल्पलता॥ पद्मस्थे, त्रि॥

शतपत्री, स्त्री, (शतं पत्राणि यस्याः। ङीप्।) पुष्पविशेषः। सेउती इति भाषा। पाटलवर्णासौ गोलाव इति वदन्ति। तत्पर्य्यायः। सुमनाः २ सुशीता ३ शिववल्लभा ४ सौम्यगन्धी ५ शतदला ६ सुवृत्ता ७ शतपत्रिका ८। अस्या गुणाः। हिमत्वम्। तिक्तत्वम्। कषायत्वम्। कुष्ठमुखस्फोटपित्तदाहनाशित्वम्। कफत्वम्। सुरभित्वञ्च। इति राजनिर्घण्टः॥

शतपत्रिका, स्त्री, (शतपत्री + कन्। टाप्। अत इत्वम्।) शतपत्री। इति राजनिर्घण्टः॥

शतपथिकः, त्रि, (शतपथमधीते तद्वेद इति वा।)
"शतषष्टेः षिकन् पथो बहुलम्।"४।२।६०।
इत्यस्य वार्त्तिकोक्त्या शत-शब्दोत्तरपथिन्-शब्दात् षिकन्प्रत्ययेन निष्पन्नः।) नानामतावलम्बी। नानापथगामी। इति सिद्धान्तकौमुदी॥

शतपदचक्रं, क्ली, (शतं पदानि कोष्ठा यस्य तच्च तच्चक्रञ्चेति।) नाम्ना नक्षत्रज्ञानार्थं चक्रम्। यथा,—

"चक्रं शतपदं वक्ष्ये स्पष्टाशाजन्मभवम्।
नामादिवर्णतो ज्ञेया नक्षत्राद्यंशकास्तथा॥
तिर्य्यगूर्द्ध्वगता रेखा रुद्रसंख्या लिखेद्बुधः।
जायते कोष्ठकानाञ्च शतैकं १०० नात्र संशयः॥
अ-व-क-ह-डा ऐशान्यां म-ट प-र-ता हरिति
चाग्नेय्याम्।
न-य-भ-ज-खा नैरृत्यां ग-स-द-च-ला वायव्याम्॥
पञ्च पञ्च क्रमेणैव विंशवर्णान् प्रयोजयेत्।
पञ्चस्वरसमायोगे एकैकं पञ्चधा कुरु॥
अवर्णाद्याक्षयो ज्ञेयाः सत्यञ्चरयुतास्तथा।
सजातीयैक्यमास्थाय पञ्चस्वरविनिर्णयः॥
ऋद्गृलृवोरप्यकारेण शेन सस्य परिग्रहः।
कुर्य्यात् कु-घु-ङ-छुस्थाने चौणि षीण्यक्षराणि
च॥
कु-घ-ङ-छा भवेत् स्तम्भे रौद्रे त्वीशानगोचरे।
पु-ष-ण-ठा भवेत् स्तम्भे हस्ते चाग्नेयसंज्ञके॥
सु-ध-फ-ढा भवेत् स्तम्भे पूर्व्वाषाढ़े च नैरृते।
ड-थ-ञ-ढा भवेत् स्तम्भे वायव्ये भाद्र उत्तरे॥
एवं स्तम्भचतुष्कञ्च ज्ञातव्यं स्वरवेदिभिः॥
शिष्टानि कृत्तिकादीनि प्रत्येकं चतुरक्षरैः।
चाभिजिन्नवांशकास्तत्र प्रत्येकं द्वादशाधिकम्॥
यद्वर्णांशककोष्ठस्थः क्रूरः सौम्योऽपि वा ग्रहः।
तत्रस्थो वेधयेत् सम्यक् पुंसो नामादिमाक्षरम्॥
सौम्यैर्विद्धं शुभं ज्ञेयमशुभं पापखेचरैः।
मिश्रैर्मिश्रफलं तत्र निर्व्वेधेन शुभाशुभम्॥
यद्वाद्यं सर्व्वतोभद्रे ग्रहोपग्रहवेधतः।
शुभाशुभफलं सर्व्वं तदिहापि विचिन्तयेत्॥"

पञ्चस्वरा अ-इ-उ-ए-ओकारास्तैर्योगे शिष्टानि नक्षत्राणि। अत्र चतुर्भिर्व्वर्णैरेकनक्षत्रं यथा,—
अ इ उ ए ३। ओ व वि वु ४। वे वो क कि ५। कु घ ङ छ ६। कै को ह हि ७। हु है हो ड ८। डि डु डे डो ९। म मि मु मे १०। मो ट टि टु ११। टे टो प पि १२। पु ष ण ठ १३। पे पो र रि १४। रु रे रो त १५। ति तु ते तो १६। न नि नु ने १७। नो य यि यु १८। ये यो भ भि १९। भु ध फ ढ २०। भे भो ज जि २१। जु जे जो ख। ०। खि खु खे खो २२। ग गि गु गे २३। गो श शि शु २४। शे शो द दि २५। दु थ झ ञ २६। दे दो च चि २७। चु चे चो ल १। लि लु ले लो २। ऋलृयुक्तः अकारयुक्तेन ज्ञेयः। ह्रस्वेन दीर्घो ज्ञेयः। तालव्यशकारेण दन्त्यसकारो ज्ञेयः। इति शतपदचक्रम्। इति ज्योतिस्तत्त्वम्॥

शतपदी, स्त्री, (शतं पादा यस्याः। ङीप्।) बहुपदयुक्तकीटविशेषः। कानकिछा इति काणकोटारी इति च भाषा। तत्पर्य्यायः। कर्णजलौकाः २। इत्यमरः॥ कर्णकीटी ३ भीरुः ४ शतपादिका ५ कर्णजलुका ६। इति शब्दरत्नावली॥ शतपात् ७ शतपादी ८। इति जटाधरः॥ शतावरी। इति राजनिर्घण्टः॥

शतपद्मं, क्ली, श्वेतकमलम्। यथा,—

"शतपद्मं महापद्मं पुण्डरीकं सिताम्बुजम्॥"

इति रत्नमाला॥

शतपर्व्वा, [न्] पुं, (शतं पर्व्वाणि यस्य।) वंशः। इत्यमरः॥ इक्षुभेदः। यथा,—

"शतपर्व्वा भवेत् किञ्चित्कोशकारगुणान्वितः।
विशेषात् किञ्चिदुष्णश्च सक्षारः पवनापहः॥"

इति भावप्रकाशः॥

शतपर्व्वा, स्त्री, (शतं पर्व्वाणि यस्याः।) दूर्व्वा। वचा। भार्गवपत्नी। (यथा, महाभारते। ५। ११७। १३।
"इन्द्रस्येव शची सुत्रास्य शतपर्व्वया॥")
कोजागरपूर्णिमा। इति शब्दरत्नावली॥ कटुका। इति राजनिर्घण्टः॥

शतपर्व्विका, स्त्री, (शतपर्व्वा + कन्। टापि अत इत्वम्।) दूर्व्वा। वचा। इति मेदिनी॥ यवः। इति शब्दरत्नावली॥

शतपर्व्वेशः, पुं, (शतपर्व्वाया ईशः।) शुक्रग्रहः। इति त्रिकाण्डशेषः॥

शतपात्, } स्त्री, (शतं पादा यस्याः। पादस्य
शतपाद्, } पात्।) कर्णजलौकाः। इति जटाधरः॥

शतपादिका, स्त्री, (शतपाद + स्वार्थे कन् + टाप्। अत इत्वम्।) काकोली। इति जटाधरः॥ कर्णजलौकाः। इति शब्दरत्नावली॥

शतपुष्पः, पुं, भारविः। स तु किरातार्ज्जुनीयग्रन्थकर्त्ता। इति त्रिकाण्डशेषः॥

शतपुष्पा, स्त्री, (शतं पुष्पाणि यस्याः।) शाकविशेषः। इति भरतः॥ शलुफा इति ख्याता। (यथा, बृहत्संहितायाम्। ५१। १५।
"गन्धमांसीशतपुष्पया वदेत्॥")
तत्पर्य्यायः। सितच्छत्रा २ अतिच्छत्रा ३ मधुरा ४ मिसिः ५ अवाक्पुष्पी ६ कारवी ७। इत्यमरः॥ शताह्वा ८ शतपुष्पिका ९ मधुरिका १० शताङ्का ११ छत्रा १२ मिशिः १३ मिशी १५। इति शब्दरत्नावली॥ माधवी १५ घोषा १६। इति जटाधरः॥ अस्या गुणाः। मधुरत्वम्। वातपित्तहरत्वम्। गुरुत्वञ्च। इति राजवल्लभः॥ *॥ क्षुपविशेषः। मौरी इति भाषा। तत्पर्य्यायः। शताङ्का २ मिसिः ३ घोषा ४ पोतिका ५ अतिच्छत्रा ६ अवाक्-

पुष्पी ७ माधवी ८ कारवी ९ शिफा १० संघातपत्त्रिका ११ छत्रा १२ वज्रपुष्पा १३ सुपुष्पिका १४ शतप्रसूना १५ वहला १६ पुष्पाह्वा १७ शतपत्त्रिका १८ वनपुष्पा १९ भूरिपुष्पा २० सुगन्धा २१ सूक्ष्मपत्त्रिका २२ मधुरिका २३ अतिच्छत्रा २४। अस्या गुणाः। कटुत्वम्। तिक्तत्वम्। स्निग्धत्वम्। श्लेष्मातिसारज्वरनेत्रव्रणनाशित्वम्। वस्तिकर्म्मणि प्रशस्तत्वञ्च ॥ * ॥ तद्बीजगुणाः। उष्णत्वम्। मधुरत्वम्। गुल्मशूलवातनाशित्वम्। दीपनत्वम्। पथ्यत्वम्। पित्तहारित्वम्। रुचिदायकत्वञ्च। इति राजनिर्घण्टः ॥ * ॥ अपि च।

"शताह्वानिलदाहामशूलहृट्छर्द्दिनाशिनी।"

इति द्रव्यगुणः ॥

अन्यच्च।

"शतपुष्पा कटुः स्निग्धा तिक्तोष्णा कफवातजित्।
रुच्या वस्तिहिता नेत्र्या बद्धविट्कृमिशुक्रहृत्।
संग्राहिणी शीतला तिक्ता दाहहृत् वातला
लघुः ॥"

इति भावप्रकाशः।

अन्यन्मधुरिकाशब्दे द्रष्टव्यम् ॥

शतपुष्पिका, स्त्री, (शतपुष्पा + स्वार्थे कन्। टापि अत इत्वम्।) शतपुष्पा। इति शब्दरत्नावली ॥

शतप्रसूना, स्त्री, (शतं प्रसूनानि पुष्पाणि यस्याः।) शतपुष्पा। इति राजनिर्घण्टः ॥

शतप्रासः, पुं, (शतं प्रासा इव फलानि यस्य।) करवीरवृक्षः। इत्यमरः ॥

शतभिषक्, [ज्] स्त्री, (शतं भिषज इव तारा यत्र।) शतभिषानक्षत्रम्। इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, बृहत्संहितायाम्। ९। २४।

"शतभिषजि शौण्डिकाना-
मजैकपे द्यूतजीविनां पीड़ा ॥"

शतभिषजि जाते, त्रि। अत्र "वत्सशाला-भिजिदश्वयुक्छतभिषजो वा।" ४। ३। ३६। इति जातार्थप्रत्ययस्य लुक् ॥)

शतभिषा, स्त्री, अश्विन्यादिसप्तविंशतिनक्षत्रान्तर्गतचतुर्विंशनक्षत्रम्। तत्पर्य्यायः। शतभिषक् २। इति शब्दरत्नावली ॥ अस्या आकृतिर्मण्डलाकारशततारामयी। यथा,—

"मण्डलाभशततारकाकुले-
ऽध्यभाजि नभसः प्रचेतसि।
वाणशैलधरणीमिताः कलाः
शारदेन्दुसुखि तावुरेयुः ॥" इं२। पं५५।

इति कालिदासकृतराशिलग्नमाननिरूपणम् ॥ अस्या अधिष्ठातृदेवता वरुणः। यथा,—

"अश्वियमदहनकमलजशशिशूलभृददितिजीव-
फणिपितरः।
योन्यर्य्यमदिनकृत्त्वष्टृपवनशक्राग्निमित्राः ॥
शक्रो निर्ऋतिस्तोयं विश्वविरिञ्चौ हरिर्व्वसु-
र्वरुणः।
अजपादोऽहिर्व्रध्नः पूषा चेतीश्वरा भानाम् ॥"

वा तु अधोमुखी। यथा,—

"अश्लेषवह्नियमपित्र्यविशाखयुक्तं
पूर्व्वात्रयं शतभिषा च नवाप्युडूनि।
एतान्यधोमुखगणानि शिवानि नित्यं
विद्यार्थभूमिखननेषु च तूषितानि ॥"

इति ज्योतिस्तत्त्वम् ॥ * ॥

तत्र जातफलम्।

"शीतभीतिरतिसाहसी सदा
निष्ठुरो हि चतुरो नरो भवेत्।
वैरिणामतिशयेन दारुणो
वारुणोडु यदि यस्य सम्भवे ॥"

इति कोष्ठीप्रदीपः ॥ * ॥

तत्र जातस्य मिश्रगुणाः। यथा।

"शतानलादित्यविशाखमैत्र-
शक्रोद्भवा मिश्रगुणाः प्रदिष्टाः।
शिवाजहस्ताहिभवा जघन्याः
शेषोद्भवाः सत्पुरुषा भवन्ति ॥" * ॥

रविवारादौ शतभिषादियोगे ज्वरोत्पत्तिफलं यथा,—

"शिवशतभिषावातो याम्यसर्पश्रिपूर्व्वाः
शनिरविकुजवारे भूतगोष्ठीनवम्याम्।
इह हि मरणयोगे यो हि रोगोपयुक्तः
पशुपतिसमदेहः सोऽपि मृत्युं प्रयाति ॥
उत्तरे विंशतिर्ज्ञेया द्वौ मासौ अवधी तथा।
धनिष्ठायामर्द्धमासं वारुणेन दशाहकम् ॥"

इति ज्योतिःसारसूतकौशिकवचनम् ॥

शतभीरुः, स्त्री, मल्लिका। इत्यमरः ॥ शतं बहवो वियोगिनो भीरवोऽस्या इति शतभीरुः। शीतभीरुरिति च पाठः। तदा ग्रैष्मिकत्वेन शीताद्बिभेतीति शीतभीरुः। इति भरतः ॥

शतमखः, पुं, (शतं मखा यज्ञा यस्य।) इन्द्रः। इति हलायुधः ॥ (यथा, कुमारे। २। ६४।

"सहचरमधुहस्तन्यस्तचूताङ्कुरास्त्रः
शतमखमुपतस्थे प्राञ्जलिः पुष्पधन्वा ॥")

शतमन्युः, पुं, (शतं मन्यवः क्रतवो यस्य।) इन्द्रः। इत्यमरः ॥ (यथा, भागवते। १। ८। ६।

"याजयित्वाश्वमेधैस्तं त्रिभिरुत्तमकल्पकैः।
तद्यशः पावनं दिक्षु शतमन्योरिवातनोत् ॥"

शतयज्ञकारिणि, त्रि। यथा, बृहत्संहितायाम्। ४३। ५४।

"अमरपतिः सर्व्वहरः कृपालुः
सहस्रशीर्षा शतमन्युरीड्यः।"

बहुक्रोधे च त्रि। यथा, ऋग्वेदे। १०।१०३।७।

"वीरः शतमन्युरिन्द्रः।"

"शतमन्युः बहुयज्ञः बहुक्रोधो वा।" इति तद्भाष्ये सायणः।)

शतमानः, पुं, क्ली, रूप्यपलम्। आढ़कः। इत्यमरभरतौ ॥ (यथा, मनुः। ८। १३७।

"धरणानि दश ज्ञेयाः शतमानस्तु राजतः।
चतुः सौवर्णिको निष्को विज्ञेयस्तु प्रमाणतः ॥"

शतलोकपूर्ण्ये, त्रि। यथा, वाजसनेयसंहितायाम्। १९। ९३।

"इन्द्रस्य रूपं शतमानमायु-
श्चन्द्रेण ज्योतिरमृतं दधानः ॥"

"शतानामनेकेषां प्राणिनां मानं पूजा यस्मिन् तत् जगत्पूज्यमित्यर्थः।" इति तद्भाष्ये महीधरः ॥)

शतमार्जः, पुं, (शतं शतवारं मार्जयति शस्त्राणीति। मृज शुद्धौ + णिच् + अच्।) अस्त्रकारकः। इति केचित् ॥ (क्वचित् शस्त्रमार्ज इति पाठः ॥)

शतमूला, स्त्री, (शतं मूलानि यस्याः।) दूर्व्वा। वचा। इति राजनिर्घण्टः ॥

शतमूलिका, स्त्री, (शतं मूलानि यस्याः। ततः स्वार्थे कन्।) द्रवन्ती। इति राजनिर्घण्टः ॥

शतमूली, स्त्री, (शतं मूलानि यस्याः। "पाककर्णेति।" ४।१।६४। ङीष्।) स्वनामख्यातौषधविशेषः। तत्पर्य्यायः। बहुसुता २ अभीरुः ३ इन्दीवरी ४ वरी ५ ऋष्यप्रोक्ता ६ भीरुपत्री ७ नारायणी ८ शतावरी ९ अहेरुः १०। इत्यमरः ॥ रङ्गिणी ११ शटी १२ द्वीपिशत्रुः १३। इति जटाधरः ॥ ऋष्यगता १४। इति शब्दरत्नावली ॥ शतपदी १५ पीवरी १६ धीवरी १७ दृष्या १८ दिव्या १९ दीपिका २० दरकण्टिका २१ सूक्ष्मपत्त्रा २२ सुपत्त्रा २३ बहुमूला २४ शताह्वया २५ स्वादुरसा २६ शताह्वा २७ लघुपर्णिका २८ आत्मगुप्ता २९ जटा ३० मूला ३१ शतवीर्य्या ३२ महौषधी ३३ मधुरा ३४ शतमूला ३५ केशिका ३६ शतपत्त्रिका ३७ विश्वस्या ३८ वैष्णवी ३९ पार्व्वती ४० वासुदेवप्रियङ्करी ४१ दुर्म्मरा ४२ तैलवल्ली ४३। अस्या गुणाः। वृष्यत्वम्। मधुरत्वम्। हिमत्वम्। मेहकफवातपित्तनाशित्वम्। तिक्तत्वम्। श्रेष्ठत्वम्। रसायनत्वञ्च। इति राजनिर्घण्टः ॥ अपि च।

"शतावरी बहुसुता भीरुरिन्दीवरी वरी।
नारायणी शतपदी शतवीर्य्या च पीवरी ॥
महाशतावरी तन्या शतमूल्यूर्द्ध्वकण्टिका।
सहस्रवीर्य्या हेतुश्च ऋष्यप्रोक्ता महोदरी ॥
शतावरी गुरुः शीता तिक्ता स्वाद्वी रसायनी।
मेधाग्निपुष्टिदा स्निग्धा नेत्र्या गुल्मातिसार-
जित्।
शुक्रस्तन्यकरी बल्या वातपित्तास्रशोथजित् ॥"

इति भावप्रकाशः ॥ * ॥

अन्यच्च।

"शतावरी वातपित्तमेहकुष्ठहरा सरा।"

इति राजवल्लभः ॥

शतयष्टिकः, पुं, (शतं यष्टयो गुच्छा यस्य।) शतलतिकहारः। तत्पर्य्यायः। देवच्छन्दः २। इत्यमरः ॥

शतरु(द्रि)द्रीयं, त्रि, (शतं रुद्रा देवता अस्य। शतरुद्र + "शतरुद्राद्घश्च छश्च।" ४।२।२८। इत्यस्य वार्त्तिकोक्त्या घः पक्षे छश्च।) हविरादिकम्। इति सिद्धान्तकौमुदी ॥ (यथा, महाभारते। ७। ७९। १३।

"शृण्वन्तो वेदविद्वांसो तद्ब्रह्म शतरुद्रियम् ॥"
यजुर्व्वेदोक्तग्रन्थविशेषे, क्ली। यथा, महाभारते। ७। २००। १४६।
"पठन् वै शतरुद्रीयं श्रृण्वंश्च सततोत्थितः ॥")

शतरूपा, स्त्री, (शतं रूपाणि अस्याः।) ब्रह्मणः कन्या पत्नी च। यथा,—
"एवन्तत्त्वात्मकं कृत्वा जगद्वेधाजीजनत्।
सावित्रीं लोकसिद्ध्यर्थं हृदि कृत्वा समास्थितः॥
ततः संजपतस्तस्य भित्त्वा देहमकल्मषम्।
स्त्रीरूपमर्द्धमकरोदर्द्धं पुरुषरूपवत्॥
शतरूपा च सा ख्याता सावित्री च निगद्यते।
सरस्वत्यथ गायत्री ब्रह्माणी च परन्तप॥
दृष्ट्वा तां व्यथितस्तावत् कामवाणार्दितो विभुः।
उपयेमे स विश्वात्मा शतरूपामनिन्दिताम्॥
ततः कालेन महता ततः पुत्त्रोऽभवन्मनुः।
स्वायम्भुव इति ख्यातः स विराड़िति नः
श्रुतम्॥"
इति मात्स्ये ३ अध्यायः॥
(विष्णुपुराणमते इयं स्वायम्भुवमनोः पत्नी। यथा, तत्रैव। १। ७। १४—१६।
"ततो ब्रह्मात्मसम्भूतं पूर्व्वं स्वायम्भुवं प्रभुः।
आत्मानमेव कृतवान् प्रजापाल्ये मनुं द्विज॥
शतरूपां तु तां नारीं तपोनिर्धूतकल्मषाम्।
स्वायम्भुवो मनुर्द्देवः पत्नीत्वे जगृहे विभुः॥
तस्माच्च पुरुषात् देवी शतरूपा व्यजायत।
प्रियव्रतोत्तानपादौ प्रसूत्याकूतिसंज्ञितम्॥")

शतलुम्पः, } पुं, भारविः। इति त्रिकाण्ड-
शतलुम्पकः, } शेषभूरिप्रयोगौ॥

शतवीर्य्या, स्त्री, (शतं वीर्य्याणि यस्याः।) श्वेतदूर्व्वा। इत्यमरः॥ शतावरी। कपिलद्राक्षा। इति राजनिर्घण्टः॥

शतवेधी, [न्] पुं, (शतं विध्यतीति। विध+णिनिः।) अम्लवेतसः। इत्यमरः॥

शतसहस्रं, क्ली, (शतगुणितं सहस्रम्। मध्यपदलोपिकर्म्मधारयः।) शतगुणितसहस्रम्। लक्षमिति यावत्। यथा हारीतः। मणिवासोगवादीनां प्रतिग्रहे सावित्र्यष्टसहस्रं जपेत् पञ्च मध्यमे दशोत्तमे द्वादशरात्रं पयोव्रतं शतसहस्रमसत्प्रतिग्रहेष्विति। इति शुद्धितत्त्वम्॥ (यथा च हरिवंशे। १२१। १३।
"अष्टौ शतसहस्राणि देशजाश्चोत्तमा हयाः॥")

शतह्रदा, स्त्री, (शतं ह्रदा अर्च्चिषि यस्याः। यद्वा, शतं ह्रादाः शब्दाः यस्याः। निपातनात् ह्रस्वः।) विद्युत्। इत्यमरः॥ (यथा, हरिवंशे। १४६। ४८।
"समुद्रमेघः स रराज राजन्
शतह्रदास्त्रीप्रभयाभिरामः॥")
वज्रम्। इति मेदिनी॥ दक्षकन्याविशेषः। यथा,
"ददौ च बाहुपुत्त्राय द्वौ तड़िच्च शतह्रदा।
तयोः पुत्त्राश्च विद्वांसस्वतस्रो विद्युतः शुभाः॥"
इति वह्निपुराणे सर्गानुकीर्त्तने सतीदेहत्यागो नामाध्यायः॥

शताक्षी, स्त्री, रात्रिः। शतपुष्पा। इति शब्दरत्नावली॥ पार्व्वती। यथा,—
"भूयश्च शतवार्षिक्यामनावृष्ट्यामनम्भसि।
मुनिभिः संस्तुता भूमौ सम्भविष्याम्ययोनिजा॥
ततः शतेन नेत्राणां निरीक्षिष्यामि यन्मुनीन्।
कीर्त्तयिष्यन्ति मनुजाः शताक्षीमिति मां
ततः॥"
इति मार्कण्डेयपुराणे देवीमाहात्म्ये देव्याश्चरितस्तुतिनामाध्यायः॥

शताङ्गः, पुं, (शतं अङ्गानि अवयवा यस्य।) रथः। इत्यमरः॥ तिनिसवृक्षः। इति राजनिर्घण्टः॥ (दानवविशेषः। यथा, हरिवंशे। २३२। ६।
"करालो ज्वालजिह्वश्च शताङ्गः शतलोचनः॥"
शतावयवविशिष्टे, त्रि। यथा, महाभारते। १। १८६। २२।
"शताङ्गानि च तूर्य्याणि वादकाः समवादयन्॥")

शतानकं, क्ली, श्मशानम्। इति त्रिकाण्डशेषः॥

शतानन्दः, पुं, (शतं बहुलः आनन्दो यस्य।) मुनिभेदः। स तु जनकराजपुरोहितः। देवकीनन्दनः। इति मेदिनी॥ ब्रह्मा। गौतममुनिः। इति हेमचन्द्रः॥ विष्णुरथः। इति त्रिकाण्डशेषः॥ (विष्णुः। यथा, महाभारते। १३। १४६। ७६।
"स्वक्षः स्वङ्ग शतानन्दो नन्दिर्ज्योतिर्गणेश्वरः॥")

शतानीकः, पुं, (शतं अनीकानि यस्य।) वृद्धः। मुनिभेदः। स तु व्यासशिष्यः। राजभेदः। स च चतुर्थयुगे चन्द्रवंशीयद्वितीयराजः। तस्य पिता जनमेजयः पुत्त्रः सहस्रानीकः। इति मेदिनी॥ सुदासराजपुत्त्रः। इति श्रीभागवते ९ स्कन्धे २२ अध्यायः॥ (नकुलपुत्त्रः। यथा, महाभारते। १। २३४। १०।
"पुत्त्रन्ते प्रतिविन्ध्यञ्च सुतसोमन्तथा विभुः।
श्रुतकर्म्मार्ज्जुनिश्चैव शतानीकञ्च नाकुलिः॥
सहदेवाच्च यो जातः श्रुतसेनस्तवात्मजः।
सर्व्वे कुशलिनो वीराः कृतास्त्राश्च सुतास्तव॥")

शतारं, क्ली, (शतं आराणि अस्य।) वज्रम्। इति त्रिकाण्डशेषः॥

शतारुः, [स्] क्ली, } कुष्ठभेदः। इति शब्दरत्ना-
शतारुषी, स्त्री, } वली॥ तस्य रूपमाह।
"रक्तं श्यावं सदाहार्त्ति शतारुः स्याद्बहुव्रणम्।"
इति भावप्रकाशः॥

शतावरी, स्त्री, (शतं आवृणोतीति। आ+वृ+अच्। गौरादित्वात् ङीष्।) शतमूली। इत्यमरः॥ इन्द्रभार्य्या। इति शब्दरत्नावली॥ शची। इति मेदिनी॥

शतावर्त्तः, पुं, विष्णुः। इति हेमचन्द्रः॥ (यथा, महाभारते। १३। १४९। ५०।
"अनुकूलः शतावर्त्तः पद्मी पद्मनिभेक्षणः॥"
"धर्म्मत्राणाय शतमावर्त्तमानाः प्रादुर्भावा अस्येति शतावर्त्तः। नाड़ीशतेन प्राणरूपेण वर्त्तते इति वा शतावर्त्तः।" इति तत्र शाङ्करभाष्यम्॥ महादेवः। यथा, महाभारते। १२। २८४। ६।
"शतोदर शतावर्त्त शतजिह्व नमोऽस्तु ते॥")

शतावर्त्ती, [न्] पुं, विष्णुः। इति त्रिकाण्डशेषः॥

शताह्वा, स्त्री, (शतं आह्वा यस्याः।) शतपुष्पा। इति जटाधरः॥ शतावरी॥ इति राजनिर्घण्टः॥

शतिकः, त्रि, (शत+"शताच्च ठन् यतावशते।" ५। १। २१। इति ठन्।) शतेन क्रीतः। शतस्य विकारः। शतसम्बन्धी। इति सिद्धान्तकौमुदी॥

शतेरः, पुं, (शद शातने+"शदेस्त च।" उणा० १। ६१। इति एरक् तकारान्तादेशश्च।) शत्रुः। हिंसा। इत्युणादिकोषः॥

शत्यः, त्रि, (शत+"शताच्च ठन्यतावशते।" ५। १। २१। इति यत्।) शतस्य विकारः। शतेन क्रीतः। धनपतिर्संयोगः। शतमस्मै वृद्धिः आयः लाभः शुल्कमुपदा वा दीयते इत्यर्थे शत्यः शतिकः। शत्यं शतिकम्। इच्छिणादिसान्तम् शतस्य निमित्तमित्यर्थः। इति सिद्धान्तकौमुदी॥

शत्रिः, पुं, (शद्+"शदिभ्यां त्रिप्।" उणा० ४। ६७। इति त्रिप्।) हस्ती। इति सिद्धान्तकौमुद्यामुणादिवृत्तिः॥ (राजर्षिविशेषः। यथा, ऋग्वेदे। ५। ३४। ९।
"शत्रिमश्व उपमां केतुमर्य्यः॥"
"शत्रिं एतन्नामकं राजर्षिम्।" इति तद्भाष्ये सायणः॥)

शत्रुः, पुं, (शद शातने+"रुशादिभ्यां क्रुन्।" उणा० ४। १०३। इति क्रुन्।) स्वदेशादनन्तरोऽव्यवहितैकविषयाभिनिवेशिराजः। यथा,—
"विषयानन्तरो राजा शत्रुर्मित्रमतः परम्॥"
इति,
शातकः। निपातकारीत्यर्थः। तत्पर्य्यायः। रिपुः २ वैरिः ३ सपत्नः ४ अरिः ५ द्विषः ६ द्वेषणः ७ दुर्हृद् ८ द्विट् ९ विपक्षः १० अहितः ११ अमित्रः १२ दस्युः १३ शात्रवः १४ अभिघाती १५ परः १६ अरातिः १७ प्रत्यर्थी १८ परिपन्थी १९। इति चामरः॥ इषः २० प्रतिपक्षः २१। इति जटाधरः॥ द्विषन् २२ घातकः २३ द्वेषी २४ विद्विषः २५ हिंसकः २६ विद्विट् २७ अप्रियः २८ अभिघातिः २९ अहितः ३० दौर्हृदः ३१। इति शब्दरत्नावली॥ तस्य जयोपायो यथा,—
मत्स्य उवाच।
"सर्व्वेषामप्युपायानां दानं श्रेष्ठतमं मतम्।
सुदत्तेनेह भवति दानेनोभयलोकजित्॥
न सोऽस्ति राजन् दानेन वशगो यो न जायते।
दानेन वशगा देवा भवन्तीह सदा नृणाम्॥
दानमेवोपजीवन्ति प्रजाः सर्व्वा नृपोत्तम।
प्रियो हि दानवान् लोके सर्व्वस्यैवोपजायते॥
दानवानचिरेणैव तथा राजा परान् जयेत्।

दानवानेव शक्नोति संहतान् भेदितुं परान् ॥
यद्यप्यलुब्धा गम्भीराः पुरुषाः सागरोपमाः ।
न रज्यन्ति तथाप्येते जायन्ते पक्षपातिनः ॥
अन्यत्रापि कृतं दानं करोत्यन्यं तथा वशे ।
उपायेभ्यः प्रशंसन्ति दानं श्रेष्ठतमं जनाः ॥
दानं श्रेयस्करं श्रेष्ठं दानं श्रेष्ठकरं परम् ।
दानवानेव लोकेषु पुत्त्रत्वे ध्रियते सदा ॥

न केवलं दानपरा जयन्ति
भूर्लोकमेकं पुरुषाः सुवीराः ।
जयन्ति ते राजसुरेन्द्रलोकं
सुदुर्जयं यद्विबुधाधिवासम् ॥"

इति मात्स्ये २२४ अध्यायः ॥ * ॥

मत्स्य उवाच ।

"न शक्या ये वशे कर्त्तुमुपायत्रितयेन तु ।
दण्डेन तान् वशान् कुर्य्यात् दण्डो हि वश-
कृन्नृणाम् ॥
सम्यक् प्रणयनं तस्य तथा कार्य्यं महीक्षिता ।
धर्म्मशास्त्रानुसारेण सुसहायेन धीमता ॥
तस्य सम्यक्प्रणयनं तथा कार्य्यं महीक्षिता ।
वानप्रस्थांश्च धर्म्मज्ञान् निर्म्ममान् निष्परि-
ग्रहान् ।
स्वदेशे परदेशे च धर्म्मशास्त्रविशारदान् ।
समीक्ष्य प्रणयेद्दण्डं सर्व्वं दण्डे प्रतिष्ठितम् ॥
आश्रमी यदि वा वर्णी पूज्यो वाथ गुरुर्महान् ।
नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्म्मे न
तिष्ठति ॥
अदण्ड्यान् दण्डयेद्राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्ड-
यन् ।
इह राज्यपरिभ्रष्टो नरकं प्रतिपद्यते ॥
तस्माद्राजा विनीतेन धर्म्मशास्त्रानुसारतः ।
दण्डप्रणयनं कार्य्यं लोकानुग्रहकाम्यया ॥
यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा ।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत् साधु पश्यति ॥
बालवृद्धातुरयतिद्विजस्त्रीविधवाश्रमः ॥
सर्व्वे बलिष्ठा भक्षेरन् यदि दण्डं न पातयेत् ॥
देवदैत्योरगगणाः सिद्धभूतपतत्त्रिणः ।
उपक्रमेयुर्म्मर्य्यादां यदि दण्डं न पातयेत् ॥
एष ब्रह्माभिशापेषु सर्व्वप्रहरणेषु च ।
सर्व्वविक्रमकोपेषु व्यवसाये च तिष्ठति ॥
पूज्यन्ते दण्डिनो देवा न पूज्यन्ते त्वदण्डिनः ।
न ब्रह्माणं विधातारं न पूषार्य्यमणावपि ॥
य एते मानवाः केचित् प्रशान्ताः सर्व्वकर्म्मसु ।
रुद्रमग्निञ्च शक्रञ्च सूर्य्याचन्द्रमसौ तथा ।
विष्णुं देवगणांश्चान्यान् दण्डिनः पूजयन्ति च ॥
दण्डः शास्ति प्रजाः सर्व्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्त्ति दण्डं धर्म्मं विदुर्बुधाः ॥
राजदण्डभयादेके पापाः पापं न कुर्व्वते ।
यमदण्डभयादेके परस्परभयादपि ॥
एवं हि सात्त्विके लोके सर्व्वं दण्डे प्रतिष्ठितम् ।
अन्धे तमसि मज्जेयुर्यदि दण्डं न पातयेत् ॥
तस्मात् दण्डो दमयति अदण्ड्यान् दण्डयत्यपि ।
दमनाद्दण्डनाच्चैव तस्मात् दण्डं विदुर्बुधाः ॥

दण्डस्य भीतैस्त्रिदशैः समेतै-
र्भागो धृतः शूलधरस्य यज्ञे ।
भवस्य पुत्रं ध्वजिनीपतिञ्च
वरं शिशूनाञ्च भयात्तु दुस्थम् ॥"

इति मात्स्ये १६६ अध्यायः ॥

सामभेदौ तत्तच्छब्दे द्रष्टव्यौ ॥

शत्रुघ्नः, पुं, (शत्रून् हन्तीति । हन् + मूलविभु-
जादित्वात् कः । यद्वा, अमनुष्यकर्त्तृकेऽपि चेत्यपि
शब्दात् कृतघ्न शत्रुघ्नादयः सिद्धा इति दुर्ग-
सिंहः ।) श्रीरामस्य भ्राता । तत्पर्य्यायः ।
शत्रुमर्द्दनः २ । इति शब्दरत्नावली ॥ स तु
सुमित्रया हुतोच्छिष्टभोजनादसावि । यथा,—

"शिष्टां गते दिव्यमसभ्यतोये
विहित्रिमे कर्म्मणि राजयत्नात् ।
प्राशुर्हुतोच्छिष्टमुदारवंश्या-
स्तिस्रः प्रसोतुं चतुरः सुपुत्रान् ॥
कौशल्ययासावि सुखेन रामः
प्राक् केकयीतो भरतस्ततोऽभूत् ।
प्रासोष्ट शत्रुघ्नमुदारचेष्ट-
मेका सुमित्रा सह लक्ष्मणेन ॥"

इति भट्टिकाव्ये १ सर्गः ॥

(अयं हि मधुपुरनिवासिनो लवणाख्यराक्ष-
सस्य निहन्ता । एतद्विवरणं रामायणे उत्तर-
काण्डे ७३ अध्यायमारभ्य द्रष्टव्यम् ॥*॥ शत्रु-
हन्तरि, त्रि । यथा, रामायणे । २ । १ । १ ।
"गच्छता मातुलकुलं भरतेन तदानघः ।
शत्रुघ्नो नित्यशत्रुघ्नो नीतः प्रीतिपुरस्कृतः ॥")

शत्रुघ्नजननी, स्त्री, (शत्रुघ्नस्य जननी ।) सुमित्रा ।
इति शब्दरत्नावली ॥

शत्रुजित्, पुं, (शत्रून् जयतीति । जि + "सत्सूद्वि-
षेति ।" ३ । २ । ६१ । इति क्विप् । ततस्तुक् ।)
राजविशेषः । तस्य पुत्त्रः ऋतध्वजः । स एव
कुवलयाश्वः । इति मार्कण्डेयपुराणम् ॥

शत्रुञ्जयः, पुं, विमलाद्रिः । इति हेमचन्द्रः ॥
(नागविशेषः । यथा, रामायणे ।२।३२।१०।
"नागः शत्रुञ्जयो नाम मातुलोऽयं ददौ मम ।
तं ते निष्कसहस्रेण ददामि द्विजपुङ्गव ॥"
शत्रुं जयतीति । जि+"संज्ञायां भृतृवृ-
जीति ।" ३।२।४६ । इति खच् । ततो मुम् ।)
शत्रुजेतरि, त्रि ॥

शत्रुन्तपः, त्रि, (शत्रुं तपति तापयति वा । तप +
"संज्ञायां भृतृवृजीति ।" ३ । २ । ४६ । इति
खच् । ततो मुम् ।) वैरितापकृत् । इति
मुग्धबोधव्याकरणम् ॥ (यथा, महाभारते । ४ ।
५२ । ११ ।

"शत्रुन्तपः कोपममृष्यमाणः
समर्द्दयत् कुम्भनखेन पार्थम् ॥")

शत्रुमर्द्दनः, पुं, (शत्रुं मर्द्दयतीति । मृद् + ल्युः ।)
शत्रुघ्नः । इति शब्दरत्नावली ॥ (शत्रुहन्तरि,
त्रि । यथा, कथासरित्सागरे । ४२ । १२५ ।
"अथास्ते यमदंष्ट्राख्यः स्वामी नः शत्रुमर्द्दनः ॥")

शत्वरी, स्त्री, रात्रिः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

शद, ऌ ज औ शाते । इति कविकल्पद्रुमः ॥
(भ्वा०-पर०-अक०-सक० च-अनिट् ।) ऌ,
अशदत् । ज, शशाद शेदः । औ, शत्स्यति । शातः
पतनं पातनञ्च । शीयते पत्रं वृक्षात् वायुः ।
शदेरपि शित्विषये आत्मनेपदम् । केचि-
दिमं तुदादौ पठित्वा तत्सामर्थ्यात् आत्मने-
पदानित्यत्वे शीयती शीयन्तीत्युदाहरन्ति । इति
दुर्गादासः ॥

शद, औ गतौ । आङ्पूर्व्वोऽयमिति कविकल्प-
द्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-अनिट् ।) ताल-
व्यादिः । आशीयते । औ, आशात्सीत् ।
इति दुर्गादासः ॥

शदः, पुं, फलमूलादिः । शदधातोरच्प्रत्ययेन
निष्पन्नमेतत् । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥

शद्रिः, पुं, (शीयते इति । शद + "अदिशदिभूशु-
भिभ्यः क्रिन् ।" उणा० ४ । ६५ । इति क्रिन् ।)
मेघः । जिष्णुः । इति मेदिनी ॥ हस्ती । इत्यु-
णादिकोषः ॥

शद्रिः, स्त्री, (शद गतौ + "अदिशदीति क्रिन् ।)
विद्युत् । इति हेमचन्द्रः ॥ खण्डः । इति
सिद्धान्तकौमुद्यामुणादिवृत्तिः ॥

शद्रुः, त्रि, (शद शाते + "दाधेट्सिशदसदो रुः ।"
३ । २ । १५६ । इति रुः ।) पतनकर्त्ता ।
गन्ता । इति शदधातो रुप्रत्ययेन निष्पन्नमेतत् ।
इति व्याकरणम् ॥

शनकावलिः, स्त्री, गजपिप्पली । इति शब्द-
चन्द्रिका ॥

शनपर्णी, स्त्री, (शनस्येव पर्णान्यस्याः । ङीष् ।
पृषोदरादित्वात् णस्य नः ।) कटुकी । इति
शब्दचन्द्रिका ॥

शनिः, पुं, रव्यादिनवग्रहान्तर्गतसप्तमग्रहः । तत्प-
र्य्यायः । सौरिः २ शनैश्चरः ३ । इत्यमरः ॥
नीलवासाः ४ मन्दः ५ छायात्मजः ६ । इति
त्रिकाण्डशेषः ॥ पातङ्गिः ७ ग्रहनायकः ८
छायासुतः ९ भास्करिः १० नीलाम्बरः ११ ।
इति शब्दरत्नावली ॥ आरः १२ क्रोडः १३
वक्रः १४ कोलः १५ सप्तांशुः १६ पङ्गुः १७ ।
इति जटाधरः ॥ कालः १८ सूर्य्यपुत्त्रः १९
असितः २० । इति ज्योतिस्तत्त्वम् ॥ अस्य
वर्णः कृष्णः । पश्चिमदिङ्नपुंसकान्त्यजातितमो-
गुणकषायरसमकरकुम्भराशिनीलकान्तमणिसौ-
राष्ट्रदेशानामधिपतिरयम् । कश्यपमुनिसन्तानः ।
शूद्रवर्णः । सूर्य्यमुखः । चतुरङ्गुलपरिमाणः ।
कृष्णवर्णवस्त्रः । गृध्रवाहनः । सूर्य्यपुत्त्रः । चतु-
र्भुजः । भल्लवाणवरशूलधनुर्धारी । अस्याधि-
देवता यमः । प्रत्यधिदेवता प्रजापतिः । इति
ग्रहयागतत्त्वबृहज्जातकादयः ॥ अपि च ।

"शनिर्विहङ्गोऽनिलवन्यवन्ध्या
शूद्राङ्गना धातुसमः स्थिरश्च ।
क्रूरः प्रतीची तुवरोऽतिवृद्धो-
ऽकरश्चितीट दीर्घसुनीललौहम् ॥"

इति नीलकण्ठीयजातकम् ॥ * ॥

अस्योत्पत्तिर्यथा,—
"मरीचेः कश्यपो जज्ञे तस्माज्जज्ञे विभावसुः।
तस्य भार्य्याभवत् संज्ञा पुत्त्री त्वष्टुः प्रजापतेः॥
नातितेजोमयं रूपं सोढुं स्वामी विवस्वतः।
मायामयीं ततश्छायां सवर्णां निर्म्ममे सतः॥
संज्ञोवाच ततश्छायां सवर्णे शृणु मे वचः।
अहं यास्यामि सदनं पितुस्त्वं पुनरत्र मे।
भवने वस कल्याणि निश्शङ्कं ममाज्ञया॥
इति च्छायां गृहे स्थाप्य संज्ञागात् पितुरा-
लयम्।
मन्यमानोऽथ तां संज्ञां सवर्णायां तथा रविः॥
सावर्णिं जनयामास मनुश्रेष्ठं महीपतिम्।
शनैश्चरं द्वितीयञ्च सुतं भद्रां तृतीयिकाम्॥"
इति पाद्मे स्वर्गखण्डे ११ अध्यायः॥
तस्य क्रूरदृष्टेः कारणं यथा,—
"एतस्मिन्नन्तरे तत्र द्रष्टुं शङ्करनन्दनम्।
आजगाम महायोगी सूर्य्यपुत्त्रः शनैश्चरः॥
अत्यन्तानम्रवदन ईषन्मीलितलोचनः।
द्वारिणं शूलहस्तञ्च विशालाक्षमुवाच ह॥
शनैश्चर उवाच।
शिवाज्ञया शिशुं द्रष्टुं यामि शङ्करकिङ्कर।
विष्णुप्रमुखदेवानां मुनीनामनुरोधतः॥
विशालाक्ष उवाच।
आज्ञावहो न देवानां नाहं शङ्करकिङ्करः।
द्वारं दातुमशक्तोऽहं विना मन्मातुराज्ञया॥
ददौ वर्त्म ग्रहेशाय चक्षुःकोणाश्रया ततः।
शनिरभ्यन्तरं गत्वा ननामानम्रकन्धरः॥
रत्नसिंहासनस्थाञ्च पार्व्वतीं सस्मितां मुदा।
नतं सूर्य्यसुतं दृष्ट्वा दुर्गा संभाष्य यत्नतः।
शुभाशिषं ददौ तस्मै पृष्ट्वा तत्कुशलं शुभा॥
पार्व्वत्युवाच।
कथमानम्रवक्त्रस्त्वं श्रोतुमिच्छामि साम्प्रतम्।
कथं न पश्यसि मां साधो बालकञ्च ग्रहेश्वर॥
शनिरुवाच।
सर्व्वे स्वकर्म्मणः साध्वि भुञ्जते वाञ्छितं फलम्।
शुभाशुभं वा यत् कर्म्म कोटिकल्पैर्न लुप्यते॥
इतिहासं चातिगोप्यं शृणु शङ्करवल्लभे।
अकथ्यं जननीसाक्षाल्लज्जाजनककारणम्॥
आबालात् कृष्णभक्तोऽहं कृष्णध्यानैकमानसः।
तपस्यासु रतः शश्वद्विषये विरतः सदा॥
पिता ददौ विवाहेन कन्यां चित्ररथस्य च।
अतितेजस्विनी शश्वत्तपस्यासुरता सती॥
एकदा सा ऋतुस्नाता सुवेशं स्वं विधाय च।
रत्नालङ्कारसंयुक्ता मुनिमानसमोहिनी॥
हरिपादं ध्यायमानं सा मां पश्यन्त्युवाच ह।
मत्समीपं समागत्य सस्मिताननलोचना।
शशाप मामपश्यन्तमृतुनष्टा स्वकोपतः।
बाह्यज्ञानविहीनञ्च ध्यानैकतानमानसम्॥
न दृष्टाहं त्वया येन न कृतं ऋतुरक्षणम्।
त्वया दृष्टन्तु यद्यत्तु मूढ़ सर्व्वं विनश्यति॥
अहञ्च विरते ध्याने तामतोषं पुरा सतीम्।
शापं मोक्तुं न शक्ता सा पश्चात्तापं चकार ह॥
तेन मातर्न पश्यामि किञ्चिद्वस्तु स्वचक्षुषा।
ततः प्रभृति नम्रास्यः प्राणिहिंसाभयादहम्॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते गणपतिखण्डे ११ अध्यायः॥*॥
अस्य भोगकालो यथा,—
"रविर्म्मासं निशानाथः सपाददिवसद्वयम्।
पक्षत्रयं भूमिपुत्त्रो बुधोऽष्टादश वासरान्॥
वर्षमेकं सुराचार्य्यश्चाष्टाविंशद्दिनं भृगुः।
शनिः सार्द्धद्वयं वर्षं स्वर्भानुः सार्द्धवत्सरम्॥"
इति ज्योतिस्तत्त्वम्॥
तस्य जपमन्त्रो यथा,—
"प्रणवं वाग्भवं मायां श्रीमुद्धृत्य शनैश्चरम्।
चतुर्थ्यन्तं मनुं प्रोक्तं रविसूनोर्नवाक्षरम्॥"
ॐ ऐँ ह्रीँ श्रीँ शनैश्चराय। इति रुद्रयामलम्॥
ऊर्द्धपाणिस्त्वमन्त्रं जपेत्। यथा,—
"सूर्य्यारराहुमन्दानामूर्द्धपाणी जपेद्बुधः।
सोमकेत्वोरधः पाण्योरन्येषां शुक्लपाणिकः॥"
इति च रुद्रयामलम्॥
तस्य होममन्त्रो यथा। ॐ शन्नो देवीरभीष्टये
शन्नो भवन्तु पीतये शंयोरभिस्रवन्तु नः। यथा
शनैश्चरायेति पुनः शन्नो देवीति होमयेत्।
इत्युद्वाहतत्त्वधृतमत्स्यपुराणम्॥*॥ वारविशेषः।
तत्र वारवेला यथा,—
"शतसुनियमशरमङ्गल-
रामर्तुभास्कराद्दियामार्द्धे।
प्रभवति हि वारवेला
न शुभाशुभकार्य्यकरणाय॥"*॥
तत्र कालवेला यथा,—
"कालस्य वेला रविनः शराब्धि-
कालानलाशाम्बुधयो गजेन्दू।
दिने निशायामृतुवेदनेत्र-
नगेषु रामा विधुदन्तिनौ च॥"
तत्र कुलिकवेला यथा,—
"सप्ताष्टैकं दिनेशात् क्रमश इह दिने मन्त्रि-
चक्रेश्वरोक्तः
पूर्व्वे वारार्द्धयामः कुलिक इह परो मध्यमश्चेति
कालः।"
तद्दिने पूर्व्वदिग्गमननिषेधो यथा,—
"शुक्रादित्यदिने न वारुणदिशं न ज्ञे कुजे
चोत्तरां
मन्देन्दोश्च दिने न शक्रककुभं याम्यां गुरौ न
व्रजेत्॥"*॥
तत्र प्रथमरजोयोगे दोषो यथा,—
"आदित्ये विधवा नारी सोमे चैव पतिव्रता।
वेश्या मङ्गलवारे च बुधे सौभाग्यमेव च॥
बृहस्पतौ पतिः श्रीमान् शुक्रे चापत्यमेव च।
शनौ वन्ध्यां विजानीयात् प्रथमे स्त्री रजस्वला॥"
इति ज्योतिस्तत्त्वम्॥
अथ नवानां ग्रहाणां दानानि।
"सूर्य्ये धेनुश्च ताम्रञ्च गोधूमं रक्तचन्दनम्।
चन्द्रे चन्दनशङ्खौ च वस्त्रञ्च तिलतण्डुलान्॥
कुजे वृषः प्रदातव्यो रक्तवस्त्रं गुड़ौदनम्।
बुधे कर्पूरमुद्गञ्च हरिद्रञ्च हिरण्यकम्॥
पीतवस्त्रद्वयं जीवे हरिद्राकनकानि च।
अश्वः शुक्रे सितो देयः शुक्लधान्यानि यानि च॥
शनौ च सतिला देया कृष्णा गौर्लौहमुत्तमम्।
राहौ च महिषीच्छागौ माषाश्च तिलसर्षपाः॥
अजामेषौ च दातव्यौ केतौ चान्नञ्च मिश्रितम्।
स्वर्णगोविप्रपूजाभिः सर्व्वेषां शान्तिरुत्तमा॥"
इति ज्योतिस्तत्त्वम्॥
ग्रहाणां बलयो यथा,—
"गुड़ौदनं पायसञ्च हविष्यं क्षीरषष्टिकम्।
दध्योदनं हविश्चूर्णं मांसं चित्रान्नमेव च॥
दद्यात् ग्रहक्रमादेवं द्विजेभ्यो भोजनं बुधः।
शक्तितो वा यथालाभं सत्कृत्य विधिपूर्व्वकम्॥"
ग्रहाणां दक्षिणा यथा,—
"धेनुः शङ्खस्तथानड्वान् हेम वासो हयस्तथा।
कृष्णा गौरायसं छाग एता वै दक्षिणाः क्रमात्॥"
इति संस्कारतत्त्वम्॥

शनिचक्रं, क्ली, (शनेश्चक्रम्।) कृष्णं शुभाशुभ-
ज्ञानार्थशनिभोग्यनक्षत्रादिसप्तविंशतिनक्षत्रयुक्त-
नराकारचक्रम्। यथा,—
"शनिचक्रं नराकारं लिखित्वा सौरिभादितः।
नाम ऋक्षं भवेद्यत्र फलं तत्र शुभाशुभम्॥
एकं मुखे दक्षहस्ते चत्वारि षट् पदद्वये।
हृदि पञ्च करे वामे चत्वारि मस्तके त्रयम्॥
द्वयं नेत्रद्वये गुह्ये द्वयं तत्र न्यसेद्बुधः।
मुखे हानिर्जयो दक्षे भ्रमः पादे श्रियो हृदि।
वामे भीर्मस्तके राज्यं नेत्रे सौख्यं मृतिर्गुदे॥
तुर्य्याष्टद्वादशे ऋक्षे यदा विघ्नकरः शनिः।
तदा सौख्यं वपुःस्थन्तु हृच्छीर्षे नेत्रदक्षयोः॥
तृतीयैकादशे षष्ठे यदा सौख्यकरः शनिः।
तदा विघ्नः शरीरस्थो गुह्ये वक्त्रेऽङ्घ्रिवामयोः॥
यस्य पीड़ाकरः शौरिस्तस्य चक्रे फलान्वितम्।
लिखित्वा कृष्णदर्थेन तैलमध्ये क्षिपेत्ततः॥
निक्षिप्य भूमिमध्यस्थं कृष्णपुष्पैः प्रपूजयेत्।
तुष्टिं याति न सन्देहः पीड़ां त्यक्त्वा शनैश्चरः॥"
इति ज्योतिस्तत्त्वम्॥

शनिप्रसूः, स्त्री, (शनेः प्रसूर्जननी।) छाया।
सूर्य्यपत्नी। इति भूरिप्रयोगः॥

शनिप्रियं, क्ली, (शनेः प्रियम्।) नीलमणिः।
इति केचित्॥

शनिवारः, पुं, (शनिभोग्यः शनेर्वा वारः।) शनि-
भोग्यसावनदिनम्। तत्तु उदयादोदयकालः।
यथा,—
"सूतकादिपरिच्छेदो दिनमासाब्दपास्तथा।
मध्यमग्रहभुक्तिश्च सावनेन प्रकीर्त्तिताः॥"
दिनाधिपस्य रव्यादेर्भोग्यं दिनं वाररूपं
सावनगणनोक्तम्।
"उदयादोदयाद्भानोर्भौमसावनवासराः॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम्॥
शतभिषानक्षत्रयुक्तमधुकृष्णत्रयोदश्यां शनिवार-
योगे महावारुणी स्यात्। यथा। स्कन्दपुराणे।
"वारुणेन समायुक्ता मधौ कृष्णा त्रयोदशी।
गङ्गायां यदि लभ्येत सूर्य्यग्रहशतैः समा।

शनिवारसमायुक्ता सा महावारुणी स्मृता ॥”

इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥ * ॥

तत्र जातफलं यथा,—

“कृश: सुवेश: कुलकीर्त्तिहीनो
ज्वरायुतो मध्यधनोऽङ्गहीन: ।
तमोगुण: क्लेशकरो नराणां
मन्दस्य वारप्रभवोऽतिमन्द: ॥”

इति कोष्ठीप्रदीप: ॥ * ॥

तत्र यात्रानिषेधो यथा,—

“संत्यजेद्दिवसे यात्रां सूर्य्यारार्कीन्दुवक्रिणाम् ।”

इति ज्योतिस्तत्त्वम् ॥

वारवेलादि शनिशब्दे द्रष्टव्यम् ॥

शनै:, [स्] व्य, अद्रुतम् । इत्यमर: । यथा,—

“शनैर्विद्या शनै: कन्था शनै: पर्व्वतमारुहेत् ।
शनै: कामश्च धर्म्मश्च पञ्चैतानि शनै: शनै: ॥”

इति गारुडे १०९ अध्याय: ॥

शनैश्चर: । इति मेदिनी ॥

शनैश्चर:, पुं, (शनैर्मन्दं मन्दं चरतीति । चर-गतौ + पचाद्यच् ।) शनि: । इत्यमर: ॥ अस्य स्तोत्रं यथा,—

“नीलाञ्जनचयप्रख्यं रविसूनुं महाग्रहम् ।
छायाया गर्भसम्भूतं वन्दे भक्त्या शनैश्चरम् ॥
व्यासेनोक्तमिदं स्तोत्रं य: पठेत् प्रयतो नर: ।
दिवा वा यदि वा रात्रौ शान्तिस्तस्य न संशय: ॥”

इति व्यासभाषितस्तोत्रम् ॥

शप्, व्य, स्वीकार: । शप् करोति । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥

शप, य ञ औ } क्रोशे । इति कविकल्पद्रुम: ।
शप, औ ञ } (दिवा०-भ्वा०-च-उभ०-सक०-अनिट् ।) द्वौ तालव्यादी । य ञ, शप्यति शप्यते । औ, शप्ता । औ, अशाप्सीत् । ञ, शपति शपते । क्रोश उक्तिविशेष: । निर्भर्त्सनमिति चतुर्भुज: । सहस्रशोऽसौ शपथानपश्यत् । क्रोशो भ्वादिपक्षे गालिदानम् । शपते । विलेऽपि शपथाशीर्गत्यनुकारेति नियमात् शपथे आत्मनेपदं अन्यत्र परस्मैपदम् । कृष्णाय शपते गोपी । प्रणेति त्वां शशाप सा । इति रघौ । सत्य: शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि । इति वाचा शरीरस्पर्शनाभावादिति पाणिनीया: । केचित्तु शपथे नित्यमात्मनेपदं अन्यत्र विभाषया इत्याहु: । तेन प्रतिवाचमदत्त केशव: शपमानाय न चेदिभूभृते । इति माघ: । इति दुर्गादास: ॥

शप:, पुं, शपथ: । इति हेमचन्द्र: ॥ निर्भर्त्सनम् । गालिदानम् । इति शपधात्वर्थदर्शनात् ॥

शपथ:, पुं, (शप क्रोशे + “शीङ्शपिरुगमीति ।” उणा० ३ । ११३ । इति अथ: ।) अनृतं वदन् घोरं नरकं यास्यामि इत्येवं रूपं मिथ्यानिरसनम् । सत्यावधारणम् । इति सारार्थ: । वाचा शरीरस्पर्शनम् । इति गोयीचन्द्र: ॥ शपथो दिव्यम् । इति रमानाथ: । इति भरत: ॥ तत्पर्य्याय: । शपनम् २ । इत्यमर: ॥ शप: ३ । इति हेमचन्द्र: ॥ सत्यम् ४ समय: ५ शाप: ६ प्रत्यय: ७ अभिषङ्ग: ८ । इति जटाधर: ॥ * ॥ चतुष्पाद्व्यवहारस्य क्रियापादाङ्गम् । यथा । अथ शपथ: ।

“युक्तिष्वप्यवसन्नासु शपथैरेवमर्द्दयेत् ।
अर्थकालबलापेक्षमग्न्यम्बुसुकृतादिभि: ॥”

अर्थस्य विवादास्पदस्य बलं बहुत्वभाव: । कालस्य च बलं पुण्यापुण्यत्वम् । तदपेक्षं यथा स्यादित्यर्थ: । दूर्व्वाकरत्वस्य पुत्रादिस्पर्शस्य चाग्रे दर्शनीयत्वात् । अत्र मयैतत् कृतं न वा इति प्रतिज्ञामुच्चार्य्याग्नौ जले वा हस्तं प्रक्षिपेत् । एतन्मिथ्यात्वे मम सुकृतं नश्येदिति वा ब्रूयात् । न त्वग्निपरीक्षां जलपरीक्षां वा कुर्य्यात् इत्यभिप्रायवर्णनं युक्तम् । तस्या महाभियोगविषयत्वेन शपथसमभिव्याहारानर्हत्वात् । सुकृतादिभिरित्यादिना दूर्व्वास्त्वाभ्युपगम: । तथा च विष्णु: । सर्व्वेष्वेवार्थजातेषु मूल्यं कनकं प्रकल्पयेत् । तत्र कृष्णलोने शूद्रं दूर्व्वाकरं शापयेत् । द्विकृष्णलोने तिलकरम् । त्रिकृष्णलोने जलकरम् । चतु:कृष्णलोने स्वर्णकरम् । पञ्चकृष्णलोने सीतोद्धृतमहीकरम् । सुवर्णार्द्धोने कोषो देय: । शूद्रस्य यथासमये विहिता क्रिया तथा द्विगुणेऽर्थे राजन्यस्य त्रिगुणेऽर्थे वैश्यस्य चतुर्गुणेऽर्थे ब्राह्मणस्येति । कृष्णल: काञ्चनरत्तिका तन्मूल्यादूने कृष्णलोने एवमन्यत्र । मनु: ।

“सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधै: ।
गोवीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्व्वैस्तु पातकै: ।
पुत्त्रदारस्य वाप्येवं शिरांसि स्पर्शयेत् पृथक् ॥”

ब्राह्मणेन मयैतत् कृतं न कृतं वेति प्रतिज्ञामुच्चार्य्य सत्यमिति वक्तव्यम् । तथैव क्षत्रियेण वाहनायुधं स्प्रष्टव्यम् । तथैव वैश्येन गोवीजकाञ्चनानामन्यतमं स्प्रष्टव्यम् । शूद्रेण तु पूर्व्वोक्तं सर्व्वमेव स्प्रष्टव्यम् । तेषां वृथाकृतस्पर्शानां पातकहेतुत्वात् पातकशब्देन निर्द्देश: । हस्तशुद्धोऽप्येवम् । दैवक्रियाविषयमाह नारद: ।

“अरण्ये निर्ज्जने रात्रावन्तर्वेश्मनि साहसे ।
न्यासापहरणे चैव दिव्या सम्भवति क्रिया ॥”

बृहस्पति: ।

“देवब्राह्मणपादांश्च पुत्त्रदारशिरांसि च ।
एते तु शपथा: प्रोक्ता मनुना स्वल्पकारणे ।
साहसेष्वभिशापे च दिव्यानि तु विशोधनम् ॥”

अत्र शपथदिव्ययो: पृथक्त्वप्रतीते: शपथे न दिव्यधर्म्मा: । किन्तु वैधे कर्म्मणि तत्र शौचार्थं स्नानाचमनादि कार्य्यम् । दिव्यानि तु दिव्यतत्त्वे कथितानि नात्र लिखितानि । अत्राभियुक्तेन शपथ: कर्त्तव्य इत्युत्सर्ग: । उभयेच्छया अभियोक्तापि । इत्याह नारद: ।

“अभियोक्ता शिरोवर्त्ती सर्व्वत्रैव प्रकीर्त्तित: ।
इच्छयान्यतर: कुर्य्यादितरो वर्त्तयेच्छिर: ॥”

इतर: शपथकर्तृभिन्न: । तथा कात्यायन: ।

“आचतुर्द्दशकाद्रह्नो यस्य नो राजदैविकम् ।
व्यसनं जायते घोरं स ज्ञेय: शपथे शुचि: ॥”

व्यसनमापत् । घोरमतिपीड़ाकरम् । तथा च कोषाधिकारे यस्य पश्येदित्यनुवृत्तौ विष्णु: ।

“रोगोऽग्निर्ज्ञातिमरणं राजातङ्कमथापि वा ।
तमशुद्धं विजानीयात्तथा शुद्धं विपर्य्ययात् ॥”

कात्यायन: ।

“तस्यैकस्य न सर्व्वस्य जनस्य यदि सम्भवेत् ।
रोगोऽग्निर्ज्ञातिमरणन्दण्डं दद्यात् दमञ्च स: ॥
ज्वरातिसारविस्फोटगूढ़ास्थिपरिपीड़नम् ।
नेत्रग्लगलरोगश्च तथोन्माद: प्रजायते ॥
शिरोरुग्भुजभङ्गश्च दैविका व्याधयो नृणाम् ॥”

तस्यैकस्येति न तु देशव्यापकमरणादि: । मनु: ।

“न वृथा शपथं कुर्य्यात् स्वल्पेऽप्यर्थे नरो बुध: ।
वृथा हि शपथं कुर्व्वन् प्रेत्य चेह च नश्यति ॥
कामिनीषु विवाहेषु गवां भक्ष्ये तथेन्धने ।
ब्राह्मणाभ्युपपत्तौ च शपथे नास्ति पातकम् ॥”

कामिनीष्विति रहसि कामिनीसन्तोषार्थं वृथा शपथ: । एवं विवाहसिद्ध्यर्थं गोग्रासार्थं आवश्यकहोमेन्धनार्थं ब्राह्मणरक्षार्थमङ्गीकृतधनादौ । यम: ।

“वृथा तु शपथं कृत्वा कीटस्य वधसंयुतम् ।
अनृतेन च युज्येत वधेन च तथा नर: ।
तस्मान्न शपथं कुर्य्यान्नरो मिथ्यावधेप्सितम् ॥”

कीटस्येति प्राणिमात्रोपलक्षणम् । तद्वधपापेन वृथाशपथकर्त्ता युज्यत इत्यर्थ: । इति व्यवहारतत्त्वम् ॥

शपनं, क्ली, (शप क्रोशे + ल्युट् ।) शपथ: । इत्यमर: ॥ गालि: । इति त्रिकाण्डशेष: ॥

शप्त:, पुं, (शप + क्त: ।) तृणविशेष: । इति शब्दचन्द्रिका ॥ उलु इति भाषा ॥ अभिशापग्रस्ते, त्रि ॥ (यथा, भागवते । १ । १८ । ४१ ।

“निशम्य शप्तमतदर्हं नरेन्द्रं
स ब्राह्मणो नात्मजमभ्यनन्दत् ॥”)

शफं, क्ली, गवादीनां खुर: । (यथा, याज्ञवल्क्ये । १ । २०४ ।

“हेमशृङ्गा शफै रौप्यै: सुशीला वस्त्रसंयुता ।
सकांस्यपात्रा दातव्या क्षीरिणी गौ: सदक्षिणा ॥”)

वृक्षमूलम् । इति मेदिनी ॥

शफर:, पुं, स्त्री, मत्स्यविशेष: । इत्यमर: ॥ पुँटी इति भाषा ॥ (यथा,—

“कैवर्त्तकर्कशकरात् शफरश्च्युतोऽपि
जाले पुनर्निपतित: शफरो विपाक: ॥”

यथा च ।

“अगाधजलसञ्चारी विकारी न च रोहित: ।
गण्डूषजलमात्रेण शफरी फर्फरायते ॥”

इत्युद्भट: ॥)

शफराधिप:, पुं, (शफराणां मत्स्यानां अधिप: ।) इल्लीशमत्स्य: । इति त्रिकाण्डशेष: ॥ तत्पर्य्याय: । इल्लिश: २ वारिकपूर: ३ गाङ्गेय: ४ जमताल: ५ । इति त्रिकाण्डशेष: ।

शब्द, क शब्दक्रतौ। इति कविकल्पद्रुमः॥ (चुरा०-पर०-अक०-सेट्।) क, शब्दयति। सोपसर्गस्त्वाविष्कृतौ मतः। प्रशब्दयति गभीरमत्यर्थं शिष्यः स्फुटीकरोतीत्यर्थः। इति दुर्गादासः॥

शब्दः, पुं, (शब्द+भावे घञ्। यद्वा, शप आक्रोशे +"शाशपिभ्यां ददनौ।"उणा० ४।९७। इति दन्। पकारस्य बकारः।) श्रोत्रग्राह्यगुणपदार्थविशेषः। तत्पर्य्यायः। निनादः २ निनदः ३ ध्वनिः ४ ध्वानः ५ रवः ६ स्वनः ७ स्वानः ८ निर्घोषः ९ निर्ह्रादः १० नादः ११ निःस्वानः १२ निःस्वनः १३ आरवः १४ आरावः १५ संरावः १६ विरावः १७। इत्यमरः॥ संरवः १८ रावः १९। इति शब्दचन्द्रिका॥ घोषः २०। इति जटाधरः॥ स च ध्वन्यात्मको वर्णात्मकश्च। यथा,

"कण्ठसंयोगादिजन्या वर्णास्ते कादयो मताः।
सर्व्वः शब्दो नभोवृत्तिः श्रोत्रोत्पन्नस्तु गृह्यते॥
वीचीतरङ्गन्यायेन तदुत्पत्तिस्तु कीर्त्तिता।
कदम्बगोलकन्यायादुत्पत्तिः कस्यचिन्मते॥
उत्पन्नः को विनष्टः क इति बुद्धेरनित्यता।
सोऽयं क इति बुद्धिस्तु साजात्यमवलम्बते।
तदेवौषधमित्यादौ सजातीयेऽपि दर्शनात्॥"
इति भाषापरिच्छेदः॥

शब्दं निरूपयति।
"शब्दो ध्वनिश्च वर्णश्च मृदङ्गादिभवो ध्वनिः।
सर्व्वः शब्दो नभोवृत्तिः श्रोत्रोत्पन्नस्तु गृह्यते॥"
इति॥

नभोवृत्तिराकाशसमवेतः। दूरस्थशब्दस्याग्रहणादाह श्रोत्रोत्पन्न इति कण्ठसंयोगादिजन्या वर्णास्ते कादयो मता इति। ननु मृदङ्गाद्यवच्छेदेनोत्पन्ने शब्दे श्रोत्रे कथमुत्पत्तिरत आह वीचीतरङ्गन्यायेन तदुत्पत्तिस्तु कीर्त्तिता इति। आद्यशब्दस्य बहिर्दशदिगवच्छिन्नोऽन्यः शब्दस्तेनैव शब्देन जन्यते तेन चापरस्तद्व्यापक एवं क्रमेण श्रोत्रोत्पन्नो गृह्यते इति। कदम्बगोलकन्यायादुत्पत्तिः कस्यचिन्मते इति। आद्यशब्दात् दशदिक्षु दश शब्दा उत्पद्यन्ते। ततश्चान्ये दश शब्दा उत्पद्यन्ते इति भावः। अस्मिन् कल्पे गौरवादुक्तं कस्यचिन्मते इति। ननु शब्दस्य नित्यत्वादुत्पत्तिः कथमत आह। उत्पन्नः को विनष्टः क इति बुद्धेरनित्यता इति। शब्दानामुत्पादविनाशप्रत्ययशालित्वादनित्यत्वमित्यर्थः। ननु स एवायं ककार इत्यादि प्रत्यभिज्ञानाच्छब्दानां नित्यत्वम्। इत्यत्रोत्पादविनाशबुद्धिर्भ्रमरूपा चेदत आह सोऽयं क इति बुद्धिस्तु साजात्यमवलम्बते। तदेवौषधमित्यादौ सजातीयेऽपि दर्शनात् इति॥ तत्र प्रत्यभिज्ञानस्य तत्सजातीयत्वं विषयः। ननु तद्व्यक्त्यभेदो विषयः उक्तप्रतीतिविरोधात्। इत्यत्र द्वयोरपि बुद्ध्योर्न भ्रमत्वमिति। ननु सजातीयत्वं सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञायां भासते इति कुत्र दृष्टमित्यत आह तदेवेति। यदौषधं मया ज्ञातं तदेवान्येनापि ज्ञातमित्यादि दर्शनादिति भावः। इति सिद्धान्तमुक्तावली॥ * ॥ दशविधशब्दा यथा,—

"षड्जर्षभगान्धारमध्यमः पञ्चमस्तथा।
अतः परन्तु विज्ञेयो निषादो धैवतस्तथा।
इष्टश्चानिष्टशब्दश्च संहतः प्रविभागवान्॥"
इत्याश्वमेधिकपर्व्व॥

शब्दविशेषाणां नामविशेषा यथा,—
"शब्दो गुणानुरागोत्थः प्रणादः शीत्कृतं नृणाम्।
पर्द्दनं गुदजे शब्दे कर्द्दनं कुक्षिसम्भवे॥
क्ष्वेडा तु सिंहनादोऽथ क्रन्दनं सुभटध्वनिः।
कोलाहलः कलकलस्तुमुलो व्याकुलो रवः॥
मर्म्मरो वस्त्रपर्णादिर्भूषणानान्तु शिञ्जितम्।
हेषा ह्रेषा तुरङ्गाणां गजानां गर्ज्जबृंहिते॥
विस्फारो धनुषां हम्भारम्भे गोर्व्वत्सस्य च।
स्तनितं गर्ज्जितं गर्ज्जिः स्वनितं रसितादि च॥
कूजितं स्याद्विहङ्गानां तिरश्चां वाशितं वृते।
वृकस्य रेषणं रेषा बुक्कनं भषणं शुनः॥
पीड़ितानान्तु कणितं मणितं रतकूजितम्।
प्रक्वाणः प्रक्वणस्तन्त्र्या मर्द्दलस्य तु गुन्दलः॥
चीजनन्तु कीचकानां भेर्य्या नादस्तु टङ्कुरः।
तारोऽत्युच्चैर्ध्वनिर्मन्द्रो गम्भीरो मधुरः कलः॥
काकली तु कलः सूक्ष्म एकतालो लयानुगः।
काकुर्ध्वनिविकारः स्यात् प्रतिश्रुत्तु प्रतिध्वनिः॥"
इति हेमचन्द्रः॥

अथैकार्थानुलोमविलोमसमशब्दाः। नयन १ नर्त्तन २ कनक ३ कटक ४ महिम ५ कलङ्क ६ कालिका ७ सरस ८ सहास ९ मध्यम १० सदस्य ११ नवेन १२ तावता १३ तारता १४ विभवि १५ करक १६ कम्बुक १७ काचिका १८ नन्दन १९ दलद २० दम्भद २१ योग्ययोः २२ लगुल २३ तुलतु २४ हावहा २५ पतदातप २६ वरभैरव २७ कलपुलक २८ वरकैरव २९ वरपौरव ३० तरुणीरुत ३१ रदमोदर ३२ नदभेदन ३३ दम्पतीपदम् ३४ लङ्काकङ्काल ३५ माधववल्लववधमा ३६ नन्दनन्दन ३७ तद्धित ३८ समास ३९ कारिका ४० पादपाः ४१ जलज ४२ नाना ४३ मम ४४ ॥*॥ अथान्यार्थकानुलोमविलोमशब्दाः। वन्दे १ देवे २ लेख ३ खले ४ भागो ५ हंसा ६ जीवा ७ यामा ८ विभु ९ नद १० रम ११ यम १२ कम्प १३ राधा १४ राधया १५ स्वनामा १६ नन्दक १७ मालिका १८ कालिनी १९ राजती २० भारती २१ हाधिका २२ गगन २३ करका २४ भार्गव २५ कटकम् २६ दीनरचा २७ महोरगा २८ वालापिना २९ पिनाकिना ३० सदालिका ३१ यमराज ३२ हरिदेवे ३३ सद्यायामा ३४ भोविकर्त्तन ३५ नन्दनवन ३६ नलकूवर ३७ सहसासुत ३८ रसविभवेन ३९ साहमहमिक ४० नवतमसंमद ४१ मार ४२ वत ४३ युवा ४४ सदा ४५ वशि ४६ मया ४७ लता ४८ नुत ४९ तव ५० विभा ५१ ॥ * ॥ अथ संस्कृतप्राकृतसमपुंलिङ्गशब्दाः। आहार १ हार २ विहार ३ सार ४ समर ५ सम्भोग ६ रोम ७ असुर ८ संहार ९ अमर १० वार ११ वारण १२ गज १३ टङ्कार १४ भार १५ आकार १६ लोल १७ उल्लोल १८ विलास १९ वायस २० हर २१ अहङ्कार २२ हीर २३ अङ्कुर २४ नीहार २५ उरग २६ राग २७ भाल २८ तरल २९ गोविन्द ३० कन्द ३१ उदर ३२ तरण ३३ सरणि ३४ हास ३५ मोह ३६ सन्दोह ३७ मास ३८ खुर ३९ खर ४० तर ४१ मल ४२ सङ्गर ४३ आरम्भ ४४ हास ४५ कर ४६ करि ४७ किरि ४८ कीर ४९ कोल ५० कल्लोल ५१ धीर ५२ मल ५३ मलय ५४ करीर ५५ वामदेव ५६ असि ५७ वीर ५८ नर ५९ नरक ६० करङ्क ६१ दण्ड ६२ चण्डाल ६३ रङ्ग ६४ दर ६५ सरल ६६ कलङ्क ६७ कमल ६८ आकार ६९ पह ७० खल ७१ वकुल ७२ कुरङ्ग ७३ देह ७४ सन्देह ७५ सङ्ग ७६ पर ७७ कुहर ७८ तरङ्ग ७९ चार ८० सञ्चार ८१ भङ्ग ८२ अरि ८३ हरि ८४ परिवाह ८५ कण्ठ ८६ कुण्ठ ८७ अहि ८८ दाह ८९ परिसर ९० रवि ९१ हाहा ९२ मञ्जु ९३ मञ्जीर ९४ वाह ९५ अचल ९६ कुल ९७ कुमार ९८ कुम्भ ९९ कुम्भीर १०० सार १०१ विरल १०२ चपल १०३ जार १०४ कन्दर १०५ उदार १०६ पार १०७ गम्भीर १०८ केशरि १०९ वराह ११० मुरारि १११ काल ११२ काकोल ११३ कुन्तल ११४ चमूरु ११५ विराम ११६ वाल ११७ आलोल ११८ वाहु ११९ रव १२० सङ्गर १२१ चोल १२२ भार १२३ संसार १२४ केरल १२५ समीरण १२६ टङ्क १२७ ताल १२८ आसार १२९ चामर १३० कुटीर १३१ तुरङ्ग १३२ सूर १३३ कङ्काल १३४ कन्दल १३५ कराल १३६ विकास १३७ पूर १३८ हेरम्ब १३९ कम्बु १४० बिन्दु १४१ सिन्धु १४२ बुध १४३ अनुबन्ध १४४ कुन्द १४५ इन्दु १४६ मन्दर १४७ समीर १४८ समूह १४९ गन्ध १५० भीम १५१ अङ्क १५२ शङ्कर १५३ किरीट १५४ तमाल १५५ गुञ्जा १५६ हिन्ताल १५७ तोमर १५८ महीरुह १५९ बिम्ब १६० पुञ्ज १६१ हिल्लोर १६२ पिण्ड १६३ वर १६४ संवर १६५ कोष १६६ काश १६७ संरम्भ १६८ सोम १६९ परिरम्भ १७० विकार १७१ वाण १७२ वसन्त १७३ आसव १७४ वैसन्त १७५ वास १७६ वासव १७७ वासर १७८ कासार १७९ सार १८० सरस १८१ किरण १८२ अरुण १८३ तारण १८४ ॥ * ॥ अथ संस्कृतप्राकृतसमस्त्रीलिङ्गशब्दाः। हेला १ खेला २ कला ३ माला ४ रसाला ५ काहला ६ अचला ७ कीला ८ लीला ९ चला १० बाला ११ चोला १२ दोला १३ अबला १४

मती १५ धरणी १६ धारणी १७ गौणी १८ रोहिणी १९ रमणी २० मणी २१ वीणा २२ वाणी २३ वसा २४ वेणी २५ रीढ़ा २६ गङ्गा २७ तरङ्गिणी २८ कन्दली २९ लहरी ३० नारी ३१ रामा ३२ भेरी ३३ वसुन्धरा ३४ काली ३५ कराली ३६ चामुण्डा ३७ चण्डा ३८ रण्डा ३९ तुला ४० मही ४१ ॥ * ॥ अथ संस्कृतप्राकृतक्लीवलिङ्गसमशब्दाः। जल १ फल २ मल ३ मूल ४ वारि ५ कीलाल ६ कूल ७ बल ८ मलल ९ दुकूल १० लिङ्ग ११ गम्भीर १२ कुल १३ सलिल १४ कमल १५ चीर १६ तुच्छ १७ राजीव १८ नीर १९ हल २० रजत २१ कुटीर २२ दारु २३ लाल २४ पटीर २५ कारण २६ रोहण २७ चेल २८ कुहर २९ अम्बर ३० मन्दिर ३१ कुट्मल ३२ मण्डल ३३ तामरस ३४ कुण्डल ३५ अङ्गद ३६ पुर ३७ अरविन्द ३८ लोह ३९ अङ्ग ४० तड़ाग ४१ करण ४२ कुल ४३ तोरण ४४ मरण ४५ तुङ्ग ४६ अलम् ४७ आगार ४८ भासुर ४९ ॥ * ॥ अथ संस्कृतप्राकृतसमक्रियापदानि। भण १ देहि २ गच्छ ३ संहर ४ कुरु ५ चोरय ६ मारय ७ अवगच्छ ८ अवलोकय ९ अवचिन्तय १० खाद ११ ॥*॥ अथ निरोष्ठ्यपुंलिङ्गशब्दाः। नीहार १ हार २ हरिण ३ अङ्क ४ हर ५ अट्टहास ६ कैलास ७ काश ८ रद ९ नारद १० सिंह ११ शङ्क १२ शेष १३ अहि १४ हंस १५ घनसार १६ हलि १७ इन्द्र १८ नाग १९ हिण्डीर २० निर्झर २१ शरहन २२ चन्द्रकान्त २३ शृङ्गार २४ सागर २५ तड़ाग २६ जलाशय २७ अग २८ हर्म्य्य २९ तक्षक ३० नख ३१ घत ३२ दीधित ३३ अघ ३४ नाराच ३५ काच ३६ कच ३७ कीचक ३८ चञ्चरीक ३९ चाणक्य ४० चारण ४१ गण ४२ घन ४३ काण ४४ शोण ४५ संहार ४६ सारस ४७ रस ४८ अरि ४९ रसाल ५० साल ५१ कङ्काल ५२ काल ५३ कलि ५४ शैल ५५ खल ५६ अनल ५७ अर्क ५८ किञ्जल्क ५९ कल्क ६० कर ६१ शङ्कर ६२ कीर ६३ हीर ६४ लङ्केश ६५ केश ६६ नर ६७ केशव ६८ देश ६९ लेश ७० आनन्द ७१ नन्दन ७२ धनञ्जय ७३ खञ्जरीट ७४ कीट ७५ अग्नि ७६ कण्टक ७७ कटाह ७८ कटाक्ष ७९ यक्ष ८० दक्ष ८१ अङ्ग ८२ यज्ञ ८३ जनक ८४ अञ्जलि ८५ यन्त्र ८६ यत्न ८७ रत्नाकर ८८ अन्धक ८९ धराधर ९० धीर ९१ शीर ९२ नासीर ९३ नारायण ९४ कृष्ण ९५ हृषीकेश ९६ ॥ * ॥ अथ निरोष्ठ्यस्त्रीलिङ्गशब्दाः। गङ्गा १ गीता २ सती ३ सीता ४ सिद्धि ५ सन्ध्या ६ गदा ७ गया ८ आशीः ९ काशी १० निशा ११ नासा १२ कान्ति १३ शान्ति १४ दया १५ रसा १६ आर्द्रा १७ निद्रा १८ हरिद्रा १९ दृक् २० द्राक्षा २१ लाक्षा २२ धृति २३ श्रुति २४ छाया २५ जाया २६ कथा २७ कान्ता २८ धात्री २९ रात्रि ३० रति ३१ गति ३२ कन्धरा ३३ धारणा ३४ धारा ३५ तारा ३६ कारा ३७ जरा ३८ धरा ३९ आजि ४० राजि ४१ रजनी ४२ अर्त्ति ४३ कीर्त्ति ४४ कन्या ४५ तटी ४६ नटी ४७ नारी ४८ सारी ४९ दरी ५० दासी ५१ घटिका ५२ खटिका ५३ जटा ५४ कथा ५५ रथ्या ५६ शिखा ५७ संख्या ५८ कालिन्दी ५९ कलिका ६० कला ६१ काली ६२ कराली ६३ दुर्गा ६४ ॥ * ॥ अथ निरोष्ठ्यक्लीवलिङ्गशब्दाः। चरण १ करण २ चक्र ३ चन्द्र ४ नन्दन ५ तक्र ६ रजत ७ शत ८ शरीर ९ चीर १० नीर ११ अक्षि १२ सीर १३ धन १४ कनक १५ निधान १६ ध्यान १७ सन्धान १८ दान १९ नलिन २० नगर २१ गात्र २२ छत्र २३ नेत्र २४ अस्थि २५ दाक्ष २६ आलिङ्गन २७ स्थान २८ शिरः २९ चरित्र ३० जल ३१ स्थल ३२ स्थाल ३३ कलत्र ३४ चित्र ३५ कीलाल ३६ जाल ३७ अलक ३८ नाल ३९ दैन्य ४० लिङ्ग ४१ अङ्ग ४२ लावण्य ४३ हिरण्य ४४ सैन्य ४५ अक्ष ४६ अजिन ४७ यान ४८ अहन् ४९ काञ्चन ५० आनन ५१ कानन ५२ हाटक ५३ नाटक ५४ नाट्य ५५ तैल ५६ चेल ५७ रसातल ५८ अदन ५९ सदन ६० शान ६१ निदान ६२ दधि ६३ चन्दन ६४ अच्चर ६५ लक्षण ६६ लक्ष ६७ शस्त्र ६८ शास्त्र ६९ दल ७१ हल ७१ ॥ * ॥ अथ निरोष्ठ्यक्रियापदानि। आशास्ते १ अस्ति २ चकास्ति ३ निन्दति ४ हसति ५ आशंसति ६ क्रीड़ति ७ ध्यायति ८ अर्चति ९ याचते १० दाति ११ वहति १२ आराधति १३ नह्यति १४ शेते १५ गच्छति १६ यच्छति १७ इच्छति १८ नयति १९ आयाति २० हन्ति २१ ईहते २२ अश्नाति २३ स्नाति २४ दधाति २५ याति २६ जयति २७ हसति २८ करोति २९। इति कविकल्पलतायां १ स्तवके २ कुसुमम् ॥

शब्दकारः, त्रि, (शब्दं करोतीति। कृ + अण्। "न शब्दश्लोककलहगाथेति।" ३।२।२४। इति टप्रतिषेधः।) शब्दं करोति यः। यथा,

"सतामरुस्करं पक्षी वैरकारं नराशनम्।
हन्तुं कलहकारोऽसौ शब्दकारः पपात खम्॥"
इति भट्टौ ५ सर्गः॥

शब्दग्रहः, पुं. (शब्दं गृह्णात्यनेनेति। ग्रह + "ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च।" ३।३।५८। इति अप्।) कर्णः। इत्यमरः॥ शब्दस्य ज्ञानञ्च॥

शब्दनः, त्रि, (शब्दं कर्त्तुं शीलमस्य। शब्द + "चलनशब्दार्थादकर्मकाद्युच्।" ३।२।१४९। इति तच्छीले युच्।) शब्दकर्त्ता। तत्पर्य्यायः। रवणः २। इत्यमरः॥ (शब्द + भावे ल्युट्।) शब्दमात्रे, क्ली॥

शब्दभेदी, [न्] पुं, (शब्दमनुसृत्य भेत्तुं शीलमस्य। भिद् + णिनिः।) अर्ज्जुनः। इति त्रिकाण्डशेषः॥ पाण्डुः। इति केचित्॥ वाणविशेषः। इति रामायणम्॥

शब्दवेधी, [न्] पुं, (शब्दमनुसृत्य वेद्धुं शीलमस्य। विध + णिनिः।) अर्ज्जुनः। इति धनञ्जयः॥ दशरथराजः। यथा,—

"लब्धशब्देन कौशल्ये कुमारेण धनुष्मता।
कुमारः शब्दवेधीति मया पापमिदं कृतम्॥"
इति वाल्मीकीये रामायणे ६३ अध्यायः॥

शब्दवेधी इत्येवं लब्धकीर्त्तिनेति यावत्। इति तट्टीका॥

शब्दाधिष्ठानं, क्ली, (शब्दस्य अधिष्ठानं आश्रयस्थानम्।) कर्णः। इति हेमचन्द्रः॥

शम, उ भ य इर् शमे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (दिवा०-पर०-अक०-सेट्। क्त्वावेट्।) उ, शमित्वा शान्त्वा। भ य, शाम्यति। इर्, अशमत् अशमीत्। पुषादित्वान्नित्यं ङ इत्यन्ये। शमः शान्तीभावः। शशाम वृष्ट्यापि विना दवाग्निरिति रघुः। शम इति पदस्य शान्तस्यापि सम्भवे शान्तीकरणेऽप्ययमिति धातुप्रदीपः।

'वरेण शमितुं लोकानलं दग्धुं हि तत्तपः॥'
इति कुमारसम्भवम्॥

'वचो निशम्याधिपतिर्दिवौकसाम्।'

इत्यादावनेकार्थत्वात् श्रुत्वेत्यर्थः॥ वा शम यम इत्यत्र वाशब्दस्य व्यवस्थावाचित्वादस्य णौ नित्यं ह्रस्वः शमयति। इति दुर्गादासः॥

शम, ङ क ञ आलोचे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (चुरा०-आत्म०-उभ०-इति केचित्-सक०-सेट्।) आलोचः प्रणिधानम्। वा शम यम इत्यत्र वाशब्दस्य व्यवस्थावाचित्वात् अस्य स्वार्थे णौ ह्रस्वाभावः। ङ क, शामयते कार्य्यं सुधीः। ञ, शामयति शामयते।

'निशामय तदुत्पत्तिं विस्तराद्गदतो मम॥'

अयमात्मनेपदीत्यन्ये। इति दुर्गादासः॥

शमः, पुं, (शम्यत इति। शम + हलश्चेति घञ् नोदात्तोपदेशेति वृद्ध्यभावः।) शान्तिः। इत्यमरः॥ (यथा, राजतरङ्गिण्याम्। ४। ३८१।

"विरागशैलमथितात् तस्य चित्तमहोदधेः।
प्रकोपकालकूटस्य पश्चात् शमसुधोदयात्॥")

मोक्षः। इति त्रिकाण्डशेषः॥ पाणिः। इति शमशब्दटीकायां रामाश्रमः॥ उपचारः। इति राजनिर्घण्टः॥ अन्तरिन्द्रियनिग्रहः। इति वेदान्तसारः॥ अन्तःकरणसंयमः। इति भगवद्गीतादशमाध्यायस्य ४ श्लोकटीकायाम् श्रीधरस्वामी॥ (यथा, गीतायाम्। १०।४।

"बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः॥")

विक्षेपककर्म्मोपरमः। इति च तस्यैव ६ अध्यायस्य ३ श्लोकटीकायां श्रीधरस्वामी॥ (वाह्येन्द्रियनिग्रहः। यथा, भागवते। ३।३२।३३।

"सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिर्ह्रीः श्रीर्यशःक्षमा।
शमो दमो भगश्चेति यत्सङ्गाद्याति संक्षयम्॥"

सर्व्वकर्म्मनिवृत्तिः । यथा, गीतायाम् । ६ । ३ ।
"योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥"
"शमः उपरमः सर्व्वकर्म्मभ्यो निवृत्तिः ।" इति शङ्करभाष्यम् ॥ शान्तरसस्य स्थायिभावः । यथा, साहित्यदर्पणे । ३ । २३८ ।
"शान्तः शमः स्थायिभाव उत्तमः प्रकृतिर्मतः ॥"
निवृत्तिः । यथा, राजतरङ्गिण्याम् । २ । ५६ ।
"अभवन्निर्म्मलं व्योम दैवीक्षलैः सह क्रमात् ।
साकं भूपालशोकेन दुर्भिक्षस्य शमं ययौ ॥")

शमकः, त्रि, (शामयतीति । शम + णिच् + ण्वुल् । "नोदात्तोपदेशस्येति ।" ७ । ३ । ३४ । इति न दीर्घः ।) शान्तिकारकः । अमन्तशमधातोर्ण्वकप्रत्ययेन निष्पन्नमेतत् ॥

शमथः, पुं, (शम + "शमिदमिभ्यश्च ।" इति अथः । इत्युज्ज्वलदत्तः । ३ । ११४ ।) शान्तिः । इत्यमरः ॥ मन्त्री । इति मेदिनी ॥

शमनं, क्ली, (शम + ल्युट् ।) यज्ञार्थपशुहननम् । इत्यमरः ॥ शान्तिः । इति मेदिनी ॥ (यथा, पाणिनौ । ५ । १ । ३८ । "वातस्य शमनं कोपनं वा ।" इति काशिका ॥) चर्व्वणम् । इति धरणिः ॥ हिंसा । इति हेमचन्द्रः ॥ (प्रतिसंहारः । यथा, मार्कण्डेये । ७८ । १३ ।
"निमेषकाष्ठादिमयः कालरूपः क्षयात्मकः ।
प्रसीद स्वेच्छया रूपं स्वतेजःशमनं कुरु ॥"
निवारकः । यथा, तत्रैव देवीमाहात्म्ये ।
"दुर्वृत्तवृत्तशमनं तव देवि ! शीलम् ॥")

शमनः, पुं, (शमयति पापिनां कर्म्म आलोच्यतीति । कर्त्तरि ल्युः ।) यमः । इत्यमरः ॥ मृगभेदः । इति शब्दचन्द्रिका ॥ कलायः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शमनस्वसा, [ऋ] स्त्री, (शमनस्य यमस्य स्वसा ।) यमुना । इत्यमरः ॥

शमनी, स्त्री, (शमयति वृथा व्यापारान् । शम + ल्युः । स्त्रियां ङीप् ।) रात्रिः । इति शमनीषदशब्ददर्शनात् ॥ (शाम्यते अनेन इत्यर्थे करणे ल्युटि शान्तिकारके, त्रि । यथा, भागवते । ३ । २४ । ३६ ।
"मात्रे चाध्यात्मिकीं विद्यां शमनीं सर्व्वकर्म्मणाम् ॥")

शमनीषद्, पुं, (शमन्यां सीदन्तीति । सद् + क्विप् ।) निशाचरः । राक्षसः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

शमलं, क्ली, (शम + "शकशम्योर्नित् ।" उणा० १ । १११ । इति कलः ।) विष्ठा । इत्यमरः ॥ पापम् । इति संक्षिप्तसारोणादिवृत्तिः ॥ (यथा, भागवते । २ । ७ । ३ ।
"ऊचे ययात्मशमलं गुणसङ्गपङ्कम् ॥")

शमान्तकः, पुं, (शमस्य शान्तेरन्तकः ।) कामदेवः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

शमिः, स्त्री, शिम्बा । इति हेमचन्द्रः ॥

शमितः, त्रि, (शम + क्तः ।) शान्तः । इत्यमरः ॥

शमिरः, पुं, शमीवृक्षः । इति शब्दरत्नावली ॥

शमिरोहः, पुं, शिवः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

शमी, स्त्री, वृक्षविशेषः । शाँइ इति भाषा । (यथा, शाकुन्तले । ३ ।
"अवेहि तनयां ब्रह्मन्नग्निगर्भां शमीमिव ॥")
तत्पर्य्यायः । सक्तुफला २ शिवा ३ । इत्यमरः ॥ सक्तुफली ४ । इति शब्दरत्नावली ॥ शान्ता ५ तुङ्गा ६ कचरिपुफला ७ केशमथनी ८ ईशानी ९ लक्ष्मी १० तपनतनया ११ हव्या १२ शुभकरी १३ हविर्गन्धा १४ मेध्या १५ दुरितदमनी १६ शङ्कुफलिका १७ सुभद्रा १८ मङ्गल्या १९ सुरभिः २० पापशमनी २१ भद्रा २२ शङ्करी २३ केशहन्त्री २४ शिवाफला २५ सुपत्रा २६ सुखदा २७ । अस्या गुणाः । रूक्षत्वम् । कषायत्वम् । रक्तपित्तातिसारनाशित्वञ्च । तत्फलगुणाः । गुरुत्वम् । स्वादुत्वम् । रूक्षत्वम् । उष्णत्वम् । केशनाशित्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥ अपि च ।
"शमी शक्तुफला तुङ्गा केशहन्त्री शिवाफला ।
मङ्गल्या च तथा लक्ष्मीः शमीरः स्वल्पिका स्मृता ॥
शमी तिक्ता कटुः शीता कषाया रेचनी लघुः ।
कफकासश्वासकुष्ठार्शःकृमिजित् स्मृता ॥"
इति भावप्रकाशः ॥*॥
शिम्बा । छिमडा इति भाषा । इत्यमरः ॥ वागुजिः । इति मेदिनी ॥ (कर्म्म । यथा, ऋग्वेदे । ६ । २ । २ ।
"ईळे यज्ञेभिः शशमे शमीभिः ।"
"शमीभिः कर्म्मभिः अन्तःस्वाध्यायादिभिः ॥" इति तद्भाष्ये सायणः ॥)

शमी, [न्] त्रि, शान्तः । शमो विद्यतेऽस्य इत्यर्थे इनुप्रत्ययेन निष्पन्नमिदम् ॥

शमीकः, पुं, मुनिविशेषः । यथा,—
"जलाशयमचक्षाणः प्रविवेश तमाश्रमम् ।
ददर्श मुनिमासीनं शान्तं मीलितलोचनम् ॥"
इति श्रीभागवते । १ । १८ ॥
अस्यार्थः । अचक्षाणः अपश्यन् । तं प्रसिद्धमाश्रमं तस्मिन् मुनिं शमीकम् । इति श्रीधरस्वामी ॥

शमीगर्भः, पुं, (शम्या गर्भः ।) ब्राह्मणः । अग्निः । इति हेमचन्द्रः ॥

शमीधान्यं, क्ली, (शमी यज्ञादिकर्म्म तदर्थं धान्यम् ।) माषादिः । इत्यमरः ॥ तत्पर्य्यायगुणाः ।
"शमीजाः शिम्बिजाः शिम्बासराः स्युर्याश्च वैदलाः ।
वैदला मधुरा रूक्षाः कषायाः कटुपाकिनः ॥
वातलाः कफपित्तघ्ना बद्धमूत्रमला हिमाः ।
ऋते मुद्गमसूराभ्यामन्ये त्वाध्मानकारकाः ॥"
मुद्गमसूरयोराध्मानकारित्वमन्यवैदलापेक्षया । न तु सर्व्वथा । एतयोरपि किञ्चिदाध्मानकारित्वदर्शनात् । इति भावप्रकाशः ॥*॥ अपि च ।
"शूकधान्यं शमीधान्यं समातीतं प्रशस्यते ।
परतो वातकृद्रूक्षं प्रायेणाभिनवं गुरु ॥
यवगोधूममाषाश्च तिलाश्चाभिनवा हिताः ।
पुराणा विरसा रूक्षा न तथार्थकरा मताः ॥"
इति राजवल्लभः ॥

शमीपत्रा, स्त्री, (शम्याः पत्राणीव पत्राणि यस्याः ।) लज्जालुवृक्षः । इति जटाधरः ॥

शमीरः, पुं, (ह्रस्वा शमी । "कुटीशमीशुण्डाभ्यो रः ।" ५ । ३ । ८८ । इति रः ।) अल्पा शमी । इत्यमरः ॥

शम्पा, स्त्री, विद्युत् । इत्यमरः ॥

शम्पाकः, पुं, आरग्वधः । इत्यमरः ॥ विपाकः । याचकः । इति हेमचन्द्रः ॥ (हस्तिनापुरवासी कश्चिद्ब्राह्मणः । यथा, महाभारते । १२ । १७६ । २३ ।
"इत्येतद्धास्तिनपुरे ब्राह्मणेनोपवर्णितम् ।
शम्पाकेन पुरा मह्यं तस्मात्त्यागः परो मतः ॥")

शम्पातः, पुं, आरग्वधः । इति शब्दरत्नावली ॥

शम्ब, गतौ । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट् ।) शम्बति । इति दुर्गादासः ॥

शम्बः, पुं, (शम् + "शमेर्व्वन् ।" उणा० ४ । ९४ । इति वन् । यद्वा, शमस्यास्तीति । शं + "कंशंभ्यां बभयुस्तितुतयसः ।" ५ । २ । १३८ । इति वः ।) वज्रम् । (यथा, ऋग्वेदे । १० । ४२ । ७ ।
"उग्रो यः शम्बः पुरुहूत तेन ।"
"शम्ब इति वज्रनाम ।" इति तद्भाष्ये सायणः ॥) मुषलाग्रस्थलौहमण्डलकम् । इति मेदिनी ॥ लौहकाञ्ची । इति हेमचन्द्रः ॥ अनुलोमकर्षणम् । इति शब्दाकृतशब्दटीकायां भरतः ॥ दरिद्रः । इति संक्षिप्तसारोणादिवृत्तिः ॥ भाग्यवति, त्रि । इति रामाश्रमः ॥

शम्बरं, क्ली, सलिलम् । व्रतम् । वित्तम् । इति नानार्थरत्नमाला ॥ चित्रम् । बौद्धव्रतविशेषः । इति शिखिहेमचन्द्रौ ॥ (मेघः । यथा, ऋग्वेदे । २ । २४ । २ । "अवर्दहन्मन्युना शम्बराणि ॥"
"शम्बराणि मेघनामैतत् मेघान् अवदृंहत् वर्षणार्थं विदारितवान् ॥" इति तद्भाष्ये सायणः ॥)

शम्बरः, पुं, मत्स्यविशेषः । दैत्यविशेषः । इति मेदिनी ॥ (यथा, ऋग्वेदे । १ । ५१ । ६ ।
"अरन्धयो तिथिग्वाय शम्बरम् ।"
"शम्बरं एतन्नामानमसुरम् ।" इति तद्भाष्ये सायणः ॥ यथा च महाभारते । १ । ६५ । २२ ।
"शम्बरो नमुचिश्चैव पुलोमा चेति विश्रुतः ।
असिलोमा च केशी च दुर्ज्जयश्चैव दानवः ॥")
मत्स्यविशेषः । शैवविशेषः । जिनभेदः । इति विश्वः ॥ युद्धम् । श्रेष्ठः । इति धरणिः ॥ चित्रकवृक्षः । लोध्रः । अर्ज्जुनवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥ शम्बरासुरस्य वधोपाख्यानं श्रीभागवते १० स्कन्धे ५५ अध्याये द्रष्टव्यम् ॥

शम्बरकन्दः, पुं, (शम्बरनामकः कन्दः ।) वाराहीकन्दः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शम्बरचन्दनं, क्ली, (शम्बरनामकं चन्दनम् ।) चन्दनविशेषः । तत्पर्य्यायः । कैरातम् २ बहल-गन्धम् ३ बल्यम् ४ गन्धकाष्ठम् ५ कैरातकम् ६ शैलगन्धम् ७ । अस्य गुणाः । शीतलत्वम् । तिक्तत्वम् । उष्णत्वम् । श्लेष्मानिलश्रमपित्त-विस्फोटपामादिकुष्ठव्रणातापविमोहनाशित्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥

शम्बरसूदनः, पुं, (शम्बरं सूदयतीति । सूद + ल्युः ।) कामदेवः । इति हलायुधः ॥

शम्बरारिः, पुं, (शम्बरस्यारिः ।) कामदेवः । इत्यमरः ॥

शम्बरी, स्त्री, आखुपर्णी । इति मेदिनी ॥ माया । इति शब्दरत्नावली ॥

शम्बलः, पुं,क्ली, कूलम् । पाथेयम् । मत्सरः । इति मेदिनी ॥

शम्बाकृतं, त्रि, (शम्ब + "कृञो द्वितीयतृतीयशम्ब-बीजात् कृषौ ।" ५।४।५८ इति डाच् ।) द्विवार-कृष्टक्षेत्रम् । तत्पर्य्यायः । द्विगुणाकृतम् २ द्वितीया-कृतम् ३ द्विहल्यम् ४ द्विसीत्यम् ५ । इत्यमरः ॥

शम्बुः, पुं, शम्बुकः । यथा,—
"शम्बुकः शम्बुको ज्ञेयः पूर्व्वः कान्तस्तु सर्व्वदा ।
ककारेण विना शेषो दृश्यते यत्रविस्तरे ॥"
इति चतुर्भुजः । इत्यमरटीकायां भरतः ॥

शम्बुकः, पुं, (शम्बु + स्वार्थे कन् ।) शम्बुकः । यथा,
"शम्बुकः शम्बुको ज्ञेयः पूर्व्वः कान्तस्तु सर्व्वदा ।
ककारेण विना शेषो दृश्यते यत्रविस्तरे ॥"
इति चतुर्भुजः । इत्यमरटीकायां भरतः ॥

शम्बूकः, पुं, शम्बूकः । इति शब्दरत्नावली ॥

शम्बूकः, पुं स्त्री, (शम् + "उलूकादयश्चेति" उणा० ४ । ४१ । इति ऊकः दुगागमश्च निपात्यते ।) जलजन्तुविशेषः । शामुक इति भाषा । तत्-पर्य्यायः । जलशुक्तिः २ । इत्यमरः ॥ शम्बुका ३ शम्बुकः ४ शम्बुकः ५ शाम्बुकः ६ शम्बुः ७ शाम्बुकः ८ । इति शब्दरत्नावली ॥ जल-डिम्बः ९ दुश्चरः १० पङ्कमण्डूकः ११ । इति हारावली ॥ पुं, गजकुम्भान्तर्भागः । घोङ्गः । शूद्रतापसः । (यथा, उत्तरचरिते । २ ।
"हत्वाभये त्वयि यमादपि दण्डधारे
सञ्जीवितः शिशुरयं मम चेयमृद्धिः ।
शम्बूक एष शिरसा चरणौ नतस्ते
सत्सङ्गजानि निधनान्यपि तारयन्ति ॥")
इति मेदिनी ॥ दैत्यविशेषः । शङ्खः । इति हेमचन्द्रः ॥ क्षुद्रशङ्खः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शम्बूका, स्त्री, (शम्बूक + टाप् ।) जलशुक्तिः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शम्भलः, पुं, ग्रामविशेषः । अधुना सम्भल-मोरदा-वाद इति नाम्ना ख्यातः । तत्र षष्टितीर्थानि सन्ति कल्की चाविर्भूय सहस्रं समाः स्थास्यति । यथा,—
"शम्भले वसतस्तस्य सहस्रं परिवत्सराः ।
अतीता भ्रातृपुत्रस्वज्ञातिसम्बन्धिभिः सह ॥
शम्भले शुशुभे श्रेणीसभापणकचत्वरैः ।
पताकाध्वजचित्राढ्यैर्यथेन्द्रस्यामरावती ॥
यत्रास्ते षष्टितीर्थानां सम्भवः शम्भलेऽभवत् ।
म्रियतौ मोक्षः क्षितौ कल्केरकल्कस्य यथाश्रयः ॥
वनोपवनसन्तानानानाकुसुमसङ्कुलैः ।
शोभितं शम्भलग्रामं मन्ये मोक्षोपमं भुवि ॥
सङ्गीमाश्रास्य भगवान् निजकल्कमलोत्तमः ।
शम्भलग्रामविप्रर्षिमाविवेश परात्मकः ॥
सुमत्यां विष्णुयशसा गर्भमाधत्त वैष्णवम् ।
द्वादश्यां शुक्लपक्षस्य माधवे मासि माधवः ॥
जातो ददृशतुः पुत्रं पितरौ हृष्टमानसौ ।
धात्रीमाता महाषष्ठी नाभीच्छेत्री तदाम्बिका ॥
गङ्गोदकक्लेदमोक्षा सावित्री मार्ज्जनोद्यता ।
तस्य विष्णोरनन्तस्य मातृकादात् पयःसुधाम् ॥
सुमतिस्तं सुतं लब्ध्वा विष्णुं जिष्णुं जगत्प्रभुम् ।
पूर्णकामा विप्रमुख्यानाहूयादात् गवां शतम् ॥
तं बालकं वराकारं विष्णुं मत्वा सुरेश्वराः ।
कल्किं कल्कविनाशार्थमाविर्भूतं विदुर्बुधाः ।
नामाकुर्व्वंस्ततस्तस्य कल्किरित्यभिविश्रुतम् ॥"
इति कल्किपुराणे १ अध्यायः ॥

शम्भली, स्त्री, (शम्भं कल्याणयुक्तं नायकादिकं लाति गृह्णातीति । ला + कः । गौरादित्वात् ङीष् ।) कुट्टनी । इत्यमरः ॥

शम्भुः, पुं, (शं मङ्गलं भवत्यस्मादिति । शम् + "मितद्र्वादिभ्य उपसंख्यानम् ।" ३ । २ ।१८० । इत्यस्य वार्त्तिकोक्त्या डुः ।) शिवः । इत्यमरः ॥ (यथा, भागवते । ४ । ७ । ५७ ।
"एतद्भगवतः शम्भोः कर्म्मदक्षाध्वरद्रुहः ।
श्रुतं भागवतात् शिष्यादुद्धवाद्वै बृहस्पतेः ॥"
एकादशरुद्राणामन्यतमः । यथा, विष्णुपुराणे । १ । ५ । १२३—१२४ ।
"हरश्च बहुरूपश्च त्र्यम्बकश्चापराजितः ।
वृषाकपिश्च शम्भुश्च कपर्द्दी रैवतस्तथा ॥
मृगव्याधश्च शर्व्वश्च कपाली च महामुने ।
एकादशैते प्रथिता रुद्रास्त्रिभुवनेश्वराः ॥")
ब्रह्मा । (यथा, महाभारते । १ । ६४ । ४५ ।
"तामुवाच महाराज भूमिं भूमिपतिः प्रभुः ।
प्रभवः सर्व्वभूतानामीशः शम्भुः प्रजापतिः ॥")
बुद्धः । इति मेदिनी ॥ विष्णुः । इति हलायुधः ॥ (यथा, महाभारते । १२ । ३३ । ७ ।
"जिष्णुः शम्भुरेकार्णवे विशदामोदरोऽपि च ॥")
सिद्धः । इति शब्दरत्नावली ॥ श्वेतार्कः । इति चन्द्रिका ॥ (अग्निः । यथा, महाभारते । ३ । २२० । ५ ।
"शम्भुमग्निमथ प्राहुर्ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
आवसथ्यं द्विजाः प्राहुर्दीप्तमग्निं महाप्रभम् ॥"
सुखस्य भावयितारि, त्रि । यथा, ऋग्वेदे । १ । ४६ । १३ ।
"मयुष्वच्छम्भू आगतम् ॥"
"हे शम्भू सुखस्य भावयितारौ ।" इति तद्भाष्ये सायणः ॥)

शम्भुतनयः, पुं, (शम्भोस्तनयः ।) कार्त्तिकेयः । इति शब्दरत्नावली ॥ गणेशश्च ॥

शम्भुनन्दनः, पुं, (शम्भोर्नन्दनः ।) गणेशः । इति शब्दरत्नावली ॥ कार्त्तिकेयश्च ॥

शम्भुप्रिया, स्त्री, (शम्भोः प्रिया ।) आमलकी । इति शब्दचन्द्रिका ॥ दुर्गा च ॥

शम्भुवल्लभं, क्ली, (शम्भोर्वल्लभम् ।) श्वेतकमलम् । इति राजनिर्घण्टः ॥ शिवप्रिये, त्रि ॥

शम्या, स्त्री, (शम्यतेऽनयेति । शम + यत् । टाप् ।) युगकीलकः । इत्यमरः ॥ (यथा, ऋग्वेदे । ३ । ३३ । १३ ।
"उद्व ऊर्म्मिः शम्याः हन्त्वापो योक्त्राणि
मुञ्चत ॥")
दक्षिणहस्तस्य शब्दजनकतालविशेषः । इति सङ्गीत-शास्त्रम् ॥ (दण्डयष्टिः । इति मेधातिथिः ॥ यथा, मनुः । ८ । २३७ ।
"शम्यापातास्त्रयो वापि त्रिगुणो नगरस्य तु ॥")

शम्याक्षेपः, पुं, (शम्यायाः क्षेपो यत्र ।) अमित-क्षिप्तयष्टिप्राप्तयावद्भूप्रदेशः । यथा,—
"भ्रामयित्वा बहुगुणं यष्टिः क्षिप्ता समाप्नुयात् ।
भुवः प्रदेशं यावन्तं शम्याक्षेपः स उच्यते ॥"
इति मार्कण्डेयपुराणे विविंशचरितं नामा-ध्यायः ॥ (यज्ञविशेषः । यथा, महाभारते । ३ । ९० । ५ ।
"पुण्यस्त्वाख्यायते दिव्यं शिवमग्निशिरोऽनघ ।
सहदेवोऽयजत् यत्र शम्याक्षेपेण भारत ! ॥"
"बलवता क्षिप्ता शम्या लगुडविशेषो यावद्दूरं पतेत् तावान् यज्ञमण्डपो यस्मिन् यज्ञे स शम्या-क्षेपस्तेन ।" इति तट्टीकायां नीलकण्ठः ॥)

शयः, पुं, (शेते सर्व्वमस्मिन्निति प्रायो वस्तुनः करा-धीनत्वात् । शी + पुंसीति घः ।) हस्तः । इत्य-मरः ॥ शय्या । सर्पः । इति मेदिनी ॥ निद्रा । पणः । इति विश्वः ॥

शयण्डः, त्रि, (शेते इति । शी + अण्डन् । इत्यु-ज्ज्वलः । १ । १२८ ।) निद्राशीलः । इत्युणा-दिकोषः ॥ (पुं, विषयः । देशः । इत्युणादि-टीका । १ । १२८ ॥)

शयतः, पुं, निद्रालुः । इति संक्षिप्तसारोणादि-वृत्तिः ॥

शयथः, पुं, (शेते इति । शीङ् + "शीङ्शपिरुगमि-वञ्चिजीविप्राणिभ्योऽथः ।" उणा० ३ । ११३ । इति अथः ।) अजगरः । मृत्युः । निद्रालुः । इति हेमचन्द्रः ॥ वराहः । मत्स्यः । इति संक्षिप्त-सारोणादिवृत्तिः ॥ (मरणम् । यथा, ऋग्वेदे । ६ । १७ । ९ ।
"विश्वायुः शयथे जघान ॥"
"शयथे शयननिमित्ते मरणायेत्यर्थः ।" इति तद्भाष्ये सायणः ॥)

शयनं, क्ली, (शी + ल्युट् ।) निद्रा । शय्या । इत्यमरः ॥ (यथा, महाभारते ।१।१४५।१४।
"आसनानि च दिव्यानि यानानि शयनानि च ।
विधातव्यानि पाण्डूनां यथा तुष्येत वै पिता ॥")
मैथुनम् । इति मेदिनी ॥ अथ सर्व्वदेवशयन-कालः ।

पुलस्त्य उवाच ।
"यदाषाढी समायाति व्रजते चोत्तरायणम् ।
तदा स्वपिति देवेशो भोगिभोगे श्रियः पतिः ॥
प्रतिसुप्ते विभौ तस्मिन् देवगन्धर्व्वगुह्यकाः ।
देवानां मातरश्चापि प्रसुप्ताश्चाप्यनुक्रमात् ॥
नारद उवाच ।
कथयस्व सुरादीनां शयने विधिमुत्तमम् ।
सर्व्वस्यानुक्रमेणैव पुरस्कृत्य जनार्द्दनम् ॥
पुलस्त्य उवाच ।
मिथुनाभिगते सूर्य्ये शुक्लपक्षे तपोधन ।
एकादश्यां जगत्स्वामिशयनं परिकल्पयेत् ॥
शेषाहिभोगपर्य्यङ्कं कृत्वा संपूज्य केशवम् ।
कृत्वोपवीतकञ्चैव सम्यक् संपूज्य च द्विजान् ॥
अनुज्ञां ब्राह्मणेभ्यश्च द्वादश्यां प्रयतः शुचिः ।
लब्ध्वा पीताम्बरधरं स्वस्तिनिद्रां समानयेत् ॥
त्रयोदश्यां ततः कामः स्वपते शयने शुभे ।
कदम्बानां सुगन्धानां कुसुमैः परिकल्पिते ॥
चतुर्द्दश्यां ततो यक्षाः स्वपन्ति सुखशीतले ।
सुवर्णपङ्कजकृते सुखास्तीर्णोपधानके ॥
पौर्णमास्यामुमानाथः स्वपते चर्म्मसंस्तरे ।
वैयाघ्रे च जटाभारं समुद्ग्रथ्यान्यचर्म्मणा ॥
ततो दिवाकरो राशिं संप्रयाति च कर्कटम् ।
ततोऽमराणां रजनी भवते दक्षिणायनम् ॥
ब्रह्मा प्रतिपदि तथा नीलोत्पलदलेऽनघ ।
तल्पे स्वपिति देवानां दर्शयन् मार्गमुत्तमम् ॥
विश्वकर्म्मा द्वितीयायां तृतीयायां गिरेः सुता ।
विनायकश्चतुर्थ्यान्तु पञ्चम्यामपि धर्म्मराट् ॥
षष्ठ्यां स्कन्दश्च स्वपिति सप्तम्यां भगवान् रविः ।
कात्यायनी तथाष्टम्यां नवम्यां कमलालया ॥
दशम्यां भुजगेन्द्राश्च स्वपन्ति वायुभोजनाः ।
एकादश्यान्तु कृष्णायां साध्या ब्रह्मन् स्वपन्ति हि ॥
एष क्रमस्ते गदितो निशायां शयने मुने ।
स्वपत्सु तेषु देवेषु प्रावृट्कालः समाययौ ॥
कङ्काः समं बलाकाभिरारोहन्ति नगोत्तमान् ।
वायसाश्चापि कुर्व्वन्ति नीडानि मुनिपुङ्गव ।
वायस्यश्च स्वपन्त्येता ऋतौ गर्भभरालसाः ॥
यस्यां तिथ्यां प्रस्वपिति विश्वकर्म्मा प्रजापतिः ।
द्वितीया सा शुभा पुण्या सुपुण्या शयनोदिता ॥
तस्यां तिथावर्च्च्य हरिं श्रीवत्साङ्कं चतुर्भुजम् ।
पर्य्यङ्कस्थं समं लक्ष्म्या गन्धपुष्पादिभिर्मुने ॥
ततो देवाय शय्यायां फलानि प्रक्षिपेत् क्रमात् ।
सुरभीणि निवेद्येत्थं विज्ञाप्यो मधुसूदनः ॥

> यथा हि लक्ष्म्या न वियुज्यसे त्वं
> त्रिविक्रमानन्त जगन्निवास ।
> तथास्त्वशून्यं शयनं सदैव
> त्वस्माकमेवेह तव प्रसादात् ॥
> तदा त्वशून्यं तव देव तल्पं
> स्वयं हि लक्ष्म्या शयने सुरेश ।
> सत्येन तेनामितवीर्य्य विष्णो
> गार्हस्थ्यनाशो मम चास्तु देव ॥

इत्युच्चार्य्य प्रणम्येशं प्रसाद्य च पुनः पुनः ।
नक्तं भुञ्जीत देवर्षे तैलक्षारविवर्जितम् ॥
द्वितीयेऽह्नि द्विजाग्र्याय फलं दद्याद्विचक्षणः ।
लक्ष्मीधर प्रीयतां मे इत्युच्चार्य्य निवेदयेत् ॥
अनेन तु विधानेन चातुर्मास्यव्रतं चरेत् ।
यावद्वृश्चिकराशिस्थः प्रतिभाति दिवाकरः ।
ततो विबुध्यन्ति सुराः क्रमशः क्रमशो मुने ॥
नभस्ये मासि च तथा या स्यात् कृष्णाष्टमी शुभा ।
युक्ता म्रगशिरेणैव सा तु कामाष्टमी स्मृता ॥
तस्यां सर्व्वेषु लिङ्गेषु तिथौ स्वपिति शङ्करः ।
वसते सन्निधाने तु तत्र पूजाक्षया स्मृता ॥"
इति वामने १६ अध्यायः ॥ *॥

अथ हरिशयनादिव्यवस्था । भविष्यनारदीययोः ।

> "मैत्राद्यपादे स्वपितीह विष्णु-
> र्व्वैष्णव्यमध्ये परिवर्त्तते च ।
> पौष्णावसाने च सुरारिहन्ता
> प्रबुध्यते मासचतुष्टयेन ॥"

मैत्रमनुराधा । वैष्णवं श्रवणा । पौष्णं रेवती ।
भविष्ये ।
"निशि स्वापो दिवोत्थानं सन्ध्यायां परिवर्त्तनम् ।
अन्यत्र पादयोगे तु द्वादश्यामेव कारयेत् ॥"
इत्यत्र नक्षत्रयोगप्राप्तौ फलातिशयः । एतद्विधानं वामनपुराणे ।
"एकादश्यां जगत्स्वामिशयनं परिकल्पयेत् ।
शेषाहिभोगपर्य्यङ्कं कृत्वा संपूज्य केशवम् ॥
अनुज्ञां ब्राह्मणेभ्यश्च द्वादश्यां प्रयतः शुचिः ।
लब्ध्वा पीताम्बरधरं देवं निद्रां समानयेत् ॥"
अनुज्ञां लब्ध्वा इत्यन्वयः । एकादशीसमये दिवाशयनीयकल्पनं रात्रौ द्वादशीक्षणे निद्रेति ।
विष्णुधर्म्मोत्तरे ।
"स्वास्तीर्णशयनं कृत्वा शेषभोगशायिनम् ।
आषाढशुक्लद्वादश्यां विष्णुलोके महीयते ॥"
स्वास्तीर्णशयनं शोभनास्तरणयुक्तं खट्वादि ।
वराहपुराणे श्रीभगवानुवाच ।
"अन्यत्तु संप्रवक्ष्यामि कर्म्म संसारमोक्षणम् ।
कदम्बकुटजश्चैव धवकोऽर्ज्जुनकस्तथा ॥
एभिरभ्यर्च्चनं कुर्य्याद्विधिदृष्टेन कर्म्मणा ।
ततः संस्थापनं कृत्वा मम मन्त्रविधिः स्मृतः ।
नमो नारायणायोक्त्वा इमं मन्त्रमुदीरयेत् ॥

> पश्यन्तु मेघानपि मेघश्यामं
> कृपागतं सिच्यमानं महीमिमाम् ।
> निद्रां भगवान् गृह्णातु लोकनाथ
> वर्षास्विमं पश्यतु मेघवृन्दम् ॥
> ज्ञात्वैव पश्यैव च लोकनाथ मासा-
> श्चत्वारि वैकुण्ठस्य च पश्य नाथ ।

आषाढशुक्लद्वादश्यां सर्व्वशान्तिकरम् शिवम् ॥
य एतेन विधानेन भूमि ! मे कर्म्म कारयेत् ।
स पुमान् न प्रणश्येत्तु संसारेषु युगे युगे ॥
शयने कुटजविधानात् विष्णुधर्म्मोत्तरीयनिषेधोऽत्र । धवकः कपित्थः । संस्थापनं समापनम् । भूमि इति पृथिव्याः सम्बोधनम् ।
"एवमुक्तेन मन्त्रेण कृष्णं सुष्वापयेत्ततः ।
सुप्ते त्वयि जगन्नाथ जगत् सुप्तं भवेदिदम् ।
विबुद्धे त्वयि बुध्येत जगत् सर्व्वं चराचरम् ॥"
इति मन्त्रेण पूजयेत् ॥ * ॥
"प्राप्ते भाद्रपदे मासि एकादश्यां सितेऽहनि ।
कटदानं भवेद्विष्णोर्महापूजा प्रवर्त्तते ॥"
कटदानं पार्श्वपरिवर्त्तः । कामरूपीयनिबन्धे ।
"एवं संपूज्य विधिवत् भाद्रस्य द्वादशीदिने ।
मन्त्रेणानेन देवेशं पार्श्वेन परिवर्त्तयेत् ॥
वासुदेव जगन्नाथ प्राप्तेयं द्वादशी तव ।
पार्श्वेन परिवर्त्तस्व सुखं स्वपिहि माधव ॥
त्वयि सुप्ते जगन्नाथ जगत् सर्व्वं चराचरम् ॥"
ब्रह्मपुराणे ।
"एकादश्यान्तु शुक्लायां कार्त्तिके मासि केशवम् ।
प्रसुप्तं बोधयेद्रात्रौ श्रद्धाभक्तिसमन्वितः ॥"
रात्रौ प्रसुप्तमित्यन्वयः । बोधनन्तु दिवैव ॥
"कृत्वा वै मम कर्म्माणि द्वादश्यां मत्परो नरः ।
ममैव बोधनार्थाय इमं मन्त्रमुदीरयेत् ॥

> महेन्द्ररुद्रैरभिनूयमानो
> भवानृषिर्व्वन्दितवन्दनीयः ।
> प्राप्ता तवेयं किल कौमुदाख्या
> जागृष्व जागृष्व च लोकनाथ ॥
> मेघा गता निर्म्मलपूर्णचन्द्रः
> शारद्यपुष्पाणि च लोकनाथ ।
> अहं ददानीति च पुण्यहेतो-
> र्जागृष्व जागृष्व च लोकनाथ ॥

एवं कर्म्माणि कुर्व्वीरन् द्वादश्यां ये यशस्विनि ।
मम भक्ता नरश्रेष्ठास्ते यान्ति परमां गतिम् ॥"
अत्र मन्त्रद्वयपाठानन्तरम् ।
"उत्तिष्ठोत्तिष्ठ गोविन्द त्यज निद्रां जगत्पते ।
त्वया चोत्थीयमानेन उत्थितं भुवनत्रयम् ॥"
इति सम्प्रदायागतस्तृतीयः श्लोक इति वाचस्पतिमिश्राः ॥ शयनोत्थानमन्त्रास्तु कल्पतरुप्रभृतिग्रन्थसंवादाल्लिखिताः । तदेवं द्वादश्यां एकादश्यां वा रेवत्यन्तपादयोगवशाद्दिवोत्थानं नक्षत्रयोगाभावे तु द्वादश्यामेव कारयेदिति गुरुचरणाः । जीमूतवाहनस्तु भविष्ये ।
"आ-भा-का-सितपक्षेषु मैत्रश्रवणरेवती ।
आदिमध्यावसानेषु प्रस्वापावर्त्तबोधनम् ॥"
आ-भा-का-सितपक्षेषु आषाढभाद्रकार्त्तिकशुक्लपक्षेषु । एषाञ्च द्वादश्यां प्राप्तौ मुख्यकल्पः । भविष्यपुराणम् ।
"निशि स्वापो दिवोत्थानं सन्ध्यायां परिवर्त्तनम् ।
अन्यत्र पादयोगे तु द्वादश्यामेव कारयेत् ॥"
विष्णुधर्म्मोत्तरे ।
"विष्णुर्दिवा न स्वपिति न रात्रौ प्रतिबुध्यते ।
द्वादश्यामृक्षसंयोगे पादयोगो न कारणम् ॥
अप्राप्ते द्वादशीमृक्षे उत्थानशयने हरेः ।
पादयोगेन कर्त्तव्येनाहोरात्रं विचिन्तयेत् ॥"
वचनान्तरम् ।
"रेवत्यन्तो यदा रात्रौ द्वादश्या च समन्वितः ।
तदा विबुध्यते विष्णुर्दिनान्ते प्राप्य रेवतीम् ॥

दिनान्ते त्रिधा विभक्तदिनतृतीयभागे दिवोत्थान-मित्यनुरोधात्। अतएव।

"रात्रौ विबोधो विनिहन्ति पौरान्
स्वापो दिवा राष्ट्रकुलं शुभर्त्तुः।
सन्ध्याद्वये स्वल्पफला धरित्री
भवेन्नराणामपि रोगदुःखम्॥"

इति श्रुतिः॥ वराहपुराणे।
"द्वादश्यां सन्धिसमये नक्षत्राणामसम्भवे।
आ-भा-का-सितपक्षेषु शयनावर्त्तनादिकम्॥"
तदेवं शयनादौ कालचतुष्टयम्। द्वादश्यां निशादौ नक्षत्रयोगः। तदभावेऽपि निशाद्य-न्तादरेण तिथ्यन्तरे पादयोगः। तस्याप्यभावेऽपि सन्ध्यायां नक्षत्रमात्रयोगः। तस्याप्यभावे द्वादश्यां सन्ध्यायामिति। विष्णुधर्म्मोत्तरे।
"किं तस्यैकादशीपाटेन दशम्यंशेन यो दिवा।
पौर्णमास्येव किं तेन प्रतिपद्यथ यो निशि॥"
इति दशमीप्रतिपदोर्निषेधात् एकादश्यादिपौर्ण-मास्यन्तानां तिथीनामभ्यनुज्ञानम्॥ *॥
पद्मपुराणे सर्व्वदेवशयनादिकमुक्तं यथा,—
"प्रतिपद्धनदस्योक्ता पवित्रारोहणे तिथिः।
श्रिया देव्या द्वितीया तु तिथीनामुत्तमा स्मृता॥
तृतीया तु भवान्याश्च चतुर्थी तत्सुतस्य च।
पञ्चमी सोमराजस्य षष्ठी प्रोक्ता गुहस्य च॥
सप्तमी भास्करस्योक्ता दुर्गायाश्चाष्टमी स्मृता।
मातृणां नवमी प्रोक्ता दशमी वासुकेस्तथा॥
एकादशी ऋषीणान्तु द्वादशी चक्रपाणिनः।"
चक्रपाणिन इति षष्ठ्यन्तपाठ आर्षत्वात्।
"त्रयोदशी त्वनङ्गस्य शिवस्योक्ता चतुर्द्दशी।
मम चैव मुनिश्रेष्ठ पौर्णमासी तिथिः स्मृता॥
यस्य यस्य तु देवस्य यन्नक्षत्रं तिथिश्च या।
तस्य देवस्य तस्मिंश्च शयनावर्त्तनादिकम्॥"
अत्र हरिशयनाद्याषाढ़ादिविधानात् तस्मात्र-चर्य्यान्येषामपि तथा। ज्योतिषेऽपि।

"व्रजति यदा मिथुनं विहाय
कर्कं राजविवर्ज्जितां तिथिं सूर्य्यः।
भवति सदा नियतं हिराषाढ़ः
सुरशयनादिविधिर्द्वितीये मासि॥"

राज्ञा चन्द्रेण विवर्ज्जितां अमावास्याम्। पूर्व्व-कृष्णपक्षे मिथुने संक्रान्ते इति शेषः। हरि-नाथोपाध्यायास्तु। यमः।
"क्षीराब्धौ शेषपर्य्यङ्के आषाढ्यां संविशेद्धरिः।
निद्रां त्यजति कार्त्तिक्यां तयोस्तं पूजयेत् सदा॥
ब्रह्महत्यासमं पापं क्षिप्रमेव व्यपोहति।
हिंसात्मकैश्च किं तस्य यज्ञैः कार्य्यं महात्मनः।
प्रस्वापे च प्रबोधे च पूजितो येन केशवः॥"
आषाढ़शुक्लैकादशीमारभ्य पौर्णमासीपर्य्यन्तं विष्णोर्निद्राग्रहणरूपशयनसमयः। अतएव एकादश्यां शयनमभिधाय तदादिदिनपञ्चके कर्म्मकथनं ब्रह्मपुराणे। वराहपुराणीये तु। एकादशीकालीनमन्त्रे निद्राग्रहणाभिधानम्। यमस्मृतौ पौर्णमास्यां शयनाभिधानम्। आषाढ़ीपदस्याशुपाधिस्तत्रैव प्रवृत्तिः। एवञ्च ब्रह्मपुराणे यद्यप्येकादश्यां प्रबोधसमयः। तेन वराहपुराणे द्वादश्यां प्रबोधाभिधानम्। यम-स्मृतौ कार्त्तिक्यां प्रबोधाभिधानम् सर्व्वसमञ्जस-मिति। एवमेव श्रीदत्तोपाध्यायाः। कल्पतरुस्तु एकादश्यामेव शयनं प्रबोधञ्च। यमस्मृतावा-षाढ़ी कार्त्तिकस्येयमिति व्युत्पत्त्या न तत्प्रत्य-याशुपपत्तिः। अपवादविषयके कश्चिदुत्सर्ग-प्रवृत्तिरित्याह। श्रीभगवद्वाक्यम्।
"मच्छयने मदुत्थाने मत्पार्श्वपरिवर्त्तने।
फलमूलजलाहारी हृदि शल्यं ममार्पयेत्॥"
फलाहारपदमनशनपरम्। तेन सर्व्वथा अन-शनपरत्वम्। इत्येकादशीतत्त्वम्॥ *॥
मर्त्त्यानां शयनविधिनिषेधौ यथा,—

सूत उवाच।

"उपास्य पश्चिमां सन्ध्यां हुत्वाग्नींस्तानुपास्य च।
भृत्यैः परिवृतो भुक्त्वा नातितृप्तोऽथ संविशेत्॥
शुचिं देशं विविक्तन्तु गोमयेन तु लेपयेत्।
प्रागुदक्प्रवणे चैव संस्वपेत सदा बुधः॥
प्राक्शिराश्च स्वपेन्नित्यं तथा वै दक्षिणाशिराः।
स्वपेदुदक्शिरा नैव तथा प्रत्यक्शिरा न च।
न चान्तर्ज्ञानहीने तु न तिर्य्यक् च कदाचन॥
शून्यालये श्मशाने तु एकवृक्षे चतुष्पथे।
महादेवगृहे चापि मातृवेश्मनि न स्वपेत्॥
न यक्षनागायतने स्कन्दस्यायतने तथा।
गर्भेषु च विना दीप्तां न स्वपेच्च कथञ्चन॥
धान्यगेहे च विप्राणां गुरूणाञ्च तथोपरि।
नाशुचौ पर्णकीर्णे तु नाशुचिर्नाशिरास्तथा॥
दिने सन्धौ न नग्नश्च नोत्तरापरमस्तकः।
आकाशे पर्व्वते शून्ये न च चैत्यद्रुमे तथा॥
न तु द्वारेऽभसाकीर्णे नार्द्रपादस्तथावितः।
पालाशे शयने नैव बहुद्वारकृते न च॥
न दग्धे विद्युता चैव वह्निदुष्टे जले तथा।
न स्वपेत् सन्ध्ययोर्नित्यं न शिरस्त्रासने कटे॥
एवं स्वपन् नरो नित्यं सुखस्येह परत्रभाक्।
व्यत्यये च भवेद्दुःखी मृतो नरकमश्नुते॥"
इति वह्निपुराणे आह्निकतपोनामाध्यायः॥ *॥
अपि च। सति सूर्य्ये शय्या च न पातनीया सूर्य्योदयात् पूर्व्वमुत्तोलनीया। तथा च स्मृतिः।
"भास्करादृष्टशय्यानि नित्याग्निसलिलानि च।
सूर्य्यावलोकदीपानि लक्ष्मी वेश्मानि भाज-नम्॥
आसनं वसनं शय्या जायापत्यं कमण्डलुः।
आत्मनः शुचिरेतानि न परेषां कदाचन॥"
न कदाचन इत्यनुमतिं विना अन्यथातिथ्यानु-पपत्तेः। व्यासः।
"शुचौ देशे विविक्ते तु गोमयेनोपलिप्तके।
प्रागुदक्प्रवणे चैव संविशेत्तु सदा बुधः॥
माङ्गल्यं पूर्णकुम्भञ्च शिरःस्थाने निधापयेत्।
वैदिकैर्गारुड़ैर्मन्त्रै रक्षां कृत्वा स्वपेत्ततः॥"
गर्गः।
"स्वगेहे प्राक्शिराः शेते आयुष्ये दक्षिणा-शिराः।
प्रत्यक्शिराः प्रवासे तु न कदाचिदुदक्शिराः॥"
मार्कण्डेयपुराणे।
"प्राक्शिराः शयने विद्यात् धनमायुश्च दक्षिणे।
पश्चिमे प्रबलां चिन्तां हानिं मृत्युं तथोत्तरे॥"
तथा।
"नमस्कृत्याव्ययं विष्णुं समाधिस्थः स्वपेन्निशि।"
मार्कण्डेयः।
"शून्यागारे श्मशाने च एकवृक्षे चतुष्पथे।
महादेवगृहे चापि शर्करालोष्टपांशुषु॥
धान्यगोविप्रदेवानां गुरूणाञ्च तथोपरि।
न चापि भग्नशयने नाशुचौ नाशुचिः स्वयम्॥
नार्द्रवासा न नग्नश्च नोत्तरापरमस्तकः।
नाकाशे सर्व्वशून्ये च न च चैत्यद्रुमे तथा॥"
न स्वपेदित्यर्थः। इत्याह्निकाचारतत्त्वम्॥ *॥
अन्यच्च।
"भुक्त्वा च विधिवन्मन्त्रैर्द्विजो भुक्तावशिष्टकम्।
ससुहृद्बान्धवजनः स्वपेत् शुष्कपदो निशि॥
नोत्तराभिमुखः स्वप्यात् पश्चिमाभिमुखो न च।
न चाकाशे न नग्नो वा नाशुचिर्नासने क्वचित्॥
न शीर्णायान्तु खट्वायां शून्यागारे न चैव हि।
नापि वंशे च पालाशे शयने वा कदाचन॥"
इति कौर्म्मे उपविभागे १८ अध्यायः॥ *॥
अपि च।
"क्षालपादादिशौचश्च भुक्त्वा सायं ततो गृही।
गच्छेत् शय्यां समन्ताच्च अथवा दारुनिर्म्मिताम्॥
शाल्मलस्य कदम्बस्य नीपमन्दारकस्य च।
किंशुकस्य वटस्याथ तथा कुशमयस्य च॥
आरोहणात् भवेत् पापं तस्मात्तेषु न च स्वपेत्।
परोहशय्यां सूत्रे वा अपर्णे परमेश्वरि!॥
न शुक्रे नापविन्ने च न तृणे न च भूतले।
तूलिकायां तथा वस्त्रे शय्याभावे स्वपेद्गृही।
स्वपेन्न पट्टवस्त्रे च कलङ्की कम्बलेषु च॥"
इति मत्स्यसूक्ते ४४ पटलः॥ *॥
अपि च।
"सूर्य्येणाभ्युदितो यस्तु त्यक्तः सूर्य्येण यः स्वपन्।
अन्यत्रातुरभावाच्च प्रायश्चित्तीयते नरः॥"
इति विष्णुपुराणे ३ अंशे ११ अध्यायः॥
यस्मिन् सुप्ते सूर्य्य उदेति स सूर्य्येणाभ्युदितः। यस्मिन् सुप्ते अस्तं याति स सूर्य्येण त्यक्तः। सूर्य्योदयास्तसमययोः स्वपन् प्रायश्चित्तीयते पातकी भवेदित्यर्थः। इति तस्य टीका च॥
किञ्च।
"श्वासानष्टौ समुत्तानस्तान् द्वि १६ पार्श्वे च दक्षिणे।
ततस्तद्द्विगुणान् ३२ वामे पश्चात् स्वप्यात् यथासुखम्॥
वामदिशायामनलो नाभेरूर्द्ध्वेऽस्ति जन्तू-नाम्।
तस्मात्तु वामपार्श्वे शयीत भुक्तप्रपाकार्थम्॥"
इति भावप्रकाशः॥

शयनीयं, क्ली, (शेतेऽस्मामिति। शी + अधिकरणे अनीयर्।) शय्या। इत्यमरः॥ (यथा, माघे। ११। ५।
"रतिपरिचयनश्यन्नैद्रतन्द्रः कथञ्चित्
गमयति शयनीये शर्व्वरीं किं करोतु॥"॥)
शयनयोग्ये, त्रि॥ (यथा, रामायणे। २। ७२। ११।
"शून्योऽयं शयनीयस्ते पर्य्यङ्को हेमभूषितः।
न चायमिक्ष्वाकुजनः प्रहृष्टः प्रतिभाति मे॥")

शयनीयकं, क्ली, (शयनीयमेव। स्वार्थे कन्।) शय्या। इति शब्दरत्नावली॥ (यथा, कथासरित्सागरे। ३३। १७७।
"गत्वा कलिङ्गसेनायाः सुप्तायाः शयनीयके।
सुप्तं मदनवेगं तं स्वरूपे स्थितमैक्षत॥")

शयनैकादशी, स्त्री, (शयनाय शयनस्य वा एकादशी।) श्रीहरेः शयनसम्बन्धितिथिः। सा चाषाढ़शुक्लैकादशी। तद्विवरणं शयनशब्दे हरिशयनशब्दे च द्रष्टव्यम्॥

शयानकः, पुं, (शी + शानच्। ततः कन्। यद्वा, "आनकः शीङ्भियः।" इति आनक्।) सर्पः। इत्युणादिकोषः॥ कृकलासः। इति हेमचन्द्रः॥

शयालुः, त्रि, (शयनशीलः। शी + "शीङो वक्तव्यं कर्त्तव्यम्।" ३। २। १५८। इत्यस्य वार्त्तिकोक्त्या आलुच्।) निद्रालुः। इत्यमरः॥ (यथा, माघे। २। ८०।
"उपायमास्थितस्यापि नश्यन्त्यर्थाः प्रमाद्यतः।
हन्ति नोपशयस्थोऽपि शयालुर्मृगयुर्मृगान्॥")

शयालुः, पुं, (शी + आलुच्।) अजगरः। कुक्कुरः। इति हारावली॥

शयितः, त्रि, (शी + क्तः।) निद्रालुः। इत्यमरः॥ (कृतशयनः। यथा, कथासरित्सागरे। ५६। १८७।
"तयोः स्वपितयोः स्वामि सुप्ते भोजितयो-
स्तयोः।
शये शयितयोस्तेन स्नानमीदृग्विधं मम॥")
वसन्तकुसुमे, पुं। यथा,—
"वसन्तकुसुमः शेलुः शयितो द्विजकुत्सितः॥"
इति शब्दमाला॥
शयने, क्ली॥

शयितवान्, त्रि, निद्रालुः। शीङ्धातोः क्तवतुप्रत्ययेन निष्पन्नमेतत्॥

शयुः, पुं, (शेते इति। शी + उः।) अजगरः। इत्यमरः॥ (ऋषिविशेषः। यथा, ऋग्वेदे। १। ११२। १६।
"याभिर्नरा शयवे याभिरत्रये॥"
"हे नरा नेतारावश्विनौ पुरा पूर्व्वस्मिन् काले शयवे एतत् संज्ञकाय ऋषये।" इति तद्भाष्यम्॥ शयाने, त्रि। यथा, ऋग्वेदे। ४। १८। १२।
"कस्ते मातरं विधवामचक्रत्
शयुं कस्त्वामजिघांसच्चरन्तम्॥"
"कस्त्वत्तोऽन्यः शयुं शयानं चरन्तं जाग्रतं वा त्वां अजिघांसत्।" इति तद्भाष्यम्॥)

शयुनः, पुं, अजगरः। इत्युणादिकोषः॥

शय्या, स्त्री, (शी शयने + "संज्ञायां समजेति।" ३। ३। ९९। इति क्यप्।) गुम्फनम्। इति मेदिनी॥ शीयते यत्र सा। तत्पर्य्यायः। शयनीयम् २ शयनम् ३। इत्यमरः॥ तल्पम् ४। इति जटाधरः॥ शयनीयकम् ५। इति शब्दरत्नावली॥ तस्या गुणाः।
"सुखशय्यासनं सेव्यं निद्रापुष्टिधृतिप्रदम्।
श्रमानिलहरं शस्तं विपरीतमतोऽन्यथा॥
भूशय्यानिलपित्तघ्नी बृंहणी शुक्रवर्द्धिनी।
खट्टा तु वातला प्रोक्ता पट्टो रूक्षोऽतिवा-
तलः॥"
इति राजवल्लभः॥॥
अपि च।
"त्रिदोषशमनी खट्टा तूली वातकफापहा।
भूशय्या बृंहणी वृष्या काष्ठपट्टी तु वातला॥"
अन्यत् पुनराह।
"भूशय्या वातलातीव रूक्षा पित्तासनाशिनी।
सुशय्याशयनं हृद्यं पुष्टिनिद्राधृतिप्रदम्।
श्रमानिलहरं वृष्यं विपरीतमतोऽन्यथा॥"
इति भावप्रकाशः॥॥
तद्गमनविधानं यथा,—
"कृतपादादिशौचश्च भुक्त्वा सायं ततो गृही।
गच्छेत् शय्यामस्फुटितामेव दारुमयीं नृप॥
नाविशालां न वै भग्नां नासमां मलिनां न च।
न च जन्तुमयीं शय्यामधिगच्छेदनास्तृताम्॥"
इति विष्णुपुराणे ३ अंशे ११ अध्यायः॥॥
तद्दानफलं यथा। याज्ञवल्क्यः।
"गृहधान्याभयोपानच्छत्रमाल्यानुलेपनम्।
यानं वृक्षं प्रियं शय्यां दत्त्वात्यन्तं सुखी भवेत्॥"
प्रियं यद्यस्य हर्म्यादि। प्रतिग्रहसमर्थेन शय्या न प्रत्याख्येया। यथा याज्ञवल्क्यः।
"कुशाः शाकं पयो मत्स्या गन्धाः पुष्पं दधि
क्षितिः।
मांसशय्यासनं धानाः प्रत्याख्येयं न वारि च॥"
न्यतोद्दिष्टकदत्तशय्याग्रहणे दोषो यथा। ब्रह्मपुराणम्।
"शय्यालङ्कारवस्त्रादि प्रतिगृह्य न्यतस्य च।
नरकान्न निवर्त्तन्ते शेषं तिलमयीं तथा॥"॥
सा च औत्तानाङ्गिरोदेवताका। यथा,—
"छत्रं कृष्णाजिनं शय्यां रथमासनमेव च।
उपानहौ तथा यानं तथा यत् प्राणवर्ज्जितम्।
औत्तानाङ्गिरसन्त्वेतत् प्रतिगृह्णीत मानवः॥"
इति शुद्धितत्त्वम्॥॥
पुष्याभिषेके शय्यापट्टकं यथा,—
"सर्व्वरत्नमलङ्कारं पट्टं कार्य्यं द्विहस्तकम्।
हस्तविस्तार उच्छ्राये दशाङ्गुल्यः सुशोभनम्॥
स्नानाख्यं सार्द्धहस्तन्तु पट्टं हंसासनान्वितम्।
शय्याख्यं द्विगुणा दैर्घ्याद्वसुमानं सपीठकम्॥"
इति देवीपुराणे त्रैलोक्याभ्युदयपादे पुष्याभिषेकनामाध्यायः॥

शरं, क्ली, (शॄ + अप्।) जलम्। इति मेदिनी॥

शरः, पुं, (शृणात्यनेनेति। शॄ हिंसे + "ऋदोरप्।" ३। ३। ५७। इति अप्।) वाणः। इत्यमरः॥ (यथा, रघुः। १। ६१।
"तव मन्त्रकृतो मन्त्रैर्दूरात् प्रशमितारिभिः।
प्रत्यादिश्यन्त इव मे दृष्टलक्ष्यभिदः शराः॥")
दध्यग्रभागः। इति मेदिनी॥ दुग्धशरस्य नामान्तरम्। सन्तानिकः। दधिशरस्य नामान्तरम्। दधिसारः। दधिस्नेहः। कट्वरञ्च। इति रत्नमालादयः॥ तृणविशेषः। काँड़ा इति हिन्दी भाषा। (यथा, महाभारते। १। १३८। १५।
"आचार्य्यः कलसाज्जातो द्रोणः शस्त्रभृतां-
वरः।
गौतमस्यान्ववाये च शरस्तम्बाच्च गौतमः॥")
तत्पर्य्यायः। इषुः २ काण्डः ३ वाणः ४ मुञ्जः ५ तेजनः ६ गुन्द्रकः ७। इति रत्नमाला॥ उत्कटः ८ शायकः ९ क्षुरः १० इक्षुरः ११ क्षुरिकापत्रः १२ विशिखः १३। अस्य गुणाः। मधुरत्वम्। सतिक्तत्वम्। कोष्णत्वम्। कफशान्तिमदापहत्वम्। बलवीर्य्यकारित्वम्। नित्यं निषेवितश्चेत् किञ्चिद्दाहकारित्वञ्च। इति राजनिर्घण्टः॥ अपि च।
"भद्रमुञ्जः शरो वाणस्तेजनश्चक्षुवेष्टनः।
मुञ्जो मुञ्जातको वाणः स्थूलदर्भः सुमेधसः॥
मुञ्जद्वयन्तु मधुरं तुवरं शिशिरं तथा।
दाहतृष्णाविसर्पास्रमूत्रवस्त्यक्षिरोगजित्।
दोषत्रयहरं वृष्यं मेखलासूपयुज्यते॥"
इति भावप्रकाशः॥
उशीरः। महापिण्डीतरुः। इति च राजनिर्घण्टः॥ हिंसा। इति शृधात्वर्थदर्शनात्॥ (ज्योतिषोक्तपञ्चमाङ्कः। यथा, साहित्यदर्पणे। ४। २६४।
"वेदखाग्निशराः शुद्धैरिषुवाणाग्निसायकाः॥")

शरजं, क्ली, (शरात् जायते यत् तत्। जन् + डः।) हैयङ्गवीनम्। इति हेमचन्द्रः॥ नवनीतम्। इति केचित्॥

शरजन्मा, [न्] पुं, (शरे शरवणे जन्म यस्य।) कार्त्तिकेयः। इत्यमरः॥ (यथा, रघुः। ३। २३।
"उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा
यथा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ।
तथा नृपः सा च सुतेन मागधी
ननन्दतुस्तत्सदृशेन तत्समौ॥")

शरटः, पुं, (शॄ + शकादित्वात् अटन्।) कुसुम्भशाकः। इति रत्नमाला॥ कृकलासः। इत्यमरटीका॥ (यथा,—
"भट्टस्य कन्थां शरटः प्रविष्टः॥"
इति हास्यार्णवे॥)

शरणं, क्ली, (शृणाति दुःखमनेनेति। शॄ + ल्युट्।) गृहम्। (यथा, महाभारते। १। १०६। ४।
"ततोऽम्बिकायां प्रथमं नियुक्तः सत्यवागृषिः।
दीप्यमानेषु दीपेषु शरणं प्रविवेश ह॥")
रक्षिता। इत्यमरः॥ (यथा, वैराग्यशतके। ६१।

"त्यज संसारमसारं भज शरणं पार्व्वतीरमणम्।
विश्वविहि श्रुतिशिखरं विश्वमिदं तव निदेश-
कम्॥")
रक्षणम्। वधः। इति मेदिनी॥ घातकः।
इति शब्दरत्नावली॥
शरणा, स्त्री, प्रसारणी। इति शब्दरत्नावली॥
शरणागतः, त्रि, (शरणमागतः प्राप्तः।) शरणा-
पन्नः। तत्पर्य्यायः। शरणार्पकः २ अभिपन्नः ३
शरणार्थी ४। इति त्रिकाण्डशेषः॥ तद्रक्षणा-
रक्षणयोः गुणदोषौ यथा,—
"शस्त्रहीनञ्च भीतञ्च दीनञ्च शरणागतम्।
यो न रक्षत्यधर्म्मिष्ठः कुम्भीपाके वसेद्युगम्॥
राजसूयशतानाञ्च रक्षिता लभते फलम्।
परमैश्वर्य्ययुक्तश्च धर्म्मेण स भवेदिह॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते प्रकृतिखण्डे ५५ अध्यायः॥*॥
अपि च।
"शरणागतरक्षां यः प्राणैरपि धनैरपि।
कुरुते मानवो ज्ञानी तस्य पुण्यं निशामय॥
सर्व्वपापविनिर्म्मुक्तो ब्रह्महत्यासुखैरपि।
आयुषोऽन्ते व्रजेन्मोक्षं योगिनामपि दुर्लभम्॥"
इति पाद्मे क्रियायोगसारे गङ्गामाहात्म्यं नाम
८ अध्यायः॥ अन्यच्च।
"लोभाद्द्वेषाद्भयाद्वापि यस्त्यजेत् शरणागतम्।
ब्रह्महत्यासमं तस्य पापमाहुर्म्मनीषिणः॥
शास्त्रेषु निष्कृतिर्दृष्टा महापातकिनामपि।
शरणागतहन्तुस्तु न दृष्टा निष्कृतिः क्वचित्॥"
इति वह्निपुराणे दानावस्थानिर्णयनामाध्यायः॥
शरणार्थी, [न्] त्रि, (शरणं अर्थयते इति।
अर्थ+णिनिः।) शरणागतः। इति हेम-
चन्द्रः॥ (यथा, महाभारते। १।१६१।१०।
"आगतस्य गृहे त्यागस्तथैव शरणार्थिनः।
याचमानस्य च वधो नृशंसो गर्हितो बुधैः॥")
शरणार्पकः, त्रि, (शरणार्थमर्पयति आत्मान-
मिति। अर्प+ण्वुल्।) शरणापन्नः। इति
त्रिकाण्डशेषः॥
शरणिः, स्त्री, पन्थाः। इत्यमरः॥ वरणभवेति
सरणिः नान्येति अनिः इत्यस्मात् पक्षे ईपि
सरणी च।
"सरणिः श्रोणिवर्त्मनोरिति रत्नादौ रभसः।"
शॄ स्तृ गि हिंसने इत्यस्मात् पूर्व्ववदनौ शरणि-
तालव्यादिश्च। शुभं शुभि प्रदीप्ते च शरणिः
पथि पावनाविति तालव्यादावजयः। इति
तट्टीकायां भरतः॥ पृथ्वी। इत्यजयः॥ (हिंसा।
यथा, ऋग्वेदे। १।३१।१६।
"इमामग्ने शरणिं मीमृषो नः।"
"हे अग्ने नो ऽस्मत्सम्बन्धिनीं इमामिदानीं
सम्पादितां शरणिं हिंसां व्रतलोपरूपां मीमृषः
क्षमस्व * * * शरणिं शॄ हिंसायामित्यस्मादौ-
णादिकः अनिः प्रत्ययः।" इति तद्भाष्ये सायणः॥)
शरणी, स्त्री, (शरणि+वा ङीष्।) पन्थाः।
प्रसारणी। इति शब्दरत्नावली॥ जयन्ती।
इति शब्दचन्द्रिका॥

शरक्षः, पुं, पक्षी। कामुकः। इति शब्दरत्नावली॥
धूर्त्तः। शरटः। भूषणभेदः। इति मेदिनी॥
चतुष्पात्। इति संक्षिप्तसारोणादिवृत्तिः॥
शरण्यः, त्रि, (शृणाति भयमिति। शॄ हिंसा-
याम्+"शृरम्योश्च।" उणा० ३।१०१। इति
अन्यः। यद्वा, शरणमिव। शरण+"शाखा-
दिभ्यो यः।" ५।३।१०३। इति यः।) रक्षा-
कर्त्ता। यथा,—
"ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं
तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम्।
भृत्यार्त्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥"
इति श्रीभागवतम्॥
शरण्या, स्त्री, (शरण्य+टाप्।) दुर्गा। यथा,—
"विपन्निभयघोरेषु शरणं स्मरणाद्यतः।
शरण्या तेन सा देवी पुराणे परिपठ्यते॥"
इति देवीपुराणे देवीनिरुक्ताध्यायः॥
शरण्युः, पुं, वारिदः। वातः। इति विश्वः॥
भरण्युः। इति शब्दमाला॥
शरत्, [द्] स्त्री, (शॄ हिंसायाम्+"शॄदृभ-
सोऽदिः।" उणा० १।१२९। इति अदिः।)
वत्सरः। (यथा, रघुः। १०।१।
"पृथिवीं शासतस्तस्य पाकशासनतेजसः।
किञ्चिदूनमनूनर्द्धेः शरदामयुतं ययौ॥")
ऋतुविशेषः। स चाश्विनकार्त्तिकमासद्वया-
त्मकः। इत्यमरः॥ तत्पर्य्यायः। शारदा २
कालप्रभातः ३। इति शब्दरत्नावली॥ काल-
प्रभातम् ४। इति त्रिकाण्डशेषः॥ वर्षाव-
सानः ५ मेघान्तः ६ प्रावृडत्ययः ७। (यथा,
रघुः। ४।२४।
"सरितः कुर्व्वती गाधाः पथश्चाश्यानकर्द्दमान्।
यात्रायै चोदयामास तं शक्तेः प्रथमं शरत्॥")
तत्र जलगुणाः।
"वर्षासु नाभसं वारि सेवतोद्भिदमेव वा।
सर्व्वं शरदि हेमन्ते तडागं सारसन्तु वा॥"*॥
तत्र वायुर्यथा,—
"वसन्ते दक्षिणो वातो भवेत् वर्षासु पश्चिमः।
उत्तरः शारदे काले पूर्व्वो हेमन्तशिशिरे॥"
इति राजनिर्घण्टः॥*॥
अपि च।
"शारदं नाभसं नन्दि लघु तत्परिकीर्त्तितम्।
हैमन्तिकं जलं स्निग्धं बल्यं वृष्यं हितं गुरु॥"
इति राजवल्लभः॥*॥
वैद्यकमते भाद्राश्विनमासात्मकः। केचित्तु।
"ऋतुषट्कं समाख्यातं रवे राशिषु संक्र-
मात्॥
ग्रीष्मो मेषवृषौ प्रोक्तः प्रावृट् मिथुनकर्कटौ।
सिंहकन्ये स्मृता वर्षा तुलावृश्चिकयोः शरत्।
धनुर्ग्राहौ च हेमन्तो वसन्तः कुम्भमीनकौ॥"
अन्ये तु।
"शिशिरः पुष्पसमयो ग्रीष्मो वर्षा शरद्धिमः।
माघादिमासयुग्मैः स्युर्ऋतवः षट् क्रमादमी॥"

तस्य गुणाः।
"शरदुष्णा पित्तकर्त्री नृणां मध्यबलावहा।"
इति भावप्रकाशः॥*॥
तत्र जातफलम्।
"नरः शरत्संप्रकलब्धजन्मा
भवेत् सुकर्म्मा मनुजस्तरस्वी।
शुचिः सुशीलो गुणवान् सुमानी
धनान्वितो राजकुलप्रपन्नः॥"
इति कोष्ठीप्रदीपः॥*॥
तत्र वर्णनीयानि यथा। चन्द्रपटुता। रवि-
पटुता। जलशुष्कता। अगस्त्यः। हंसः। वृषः।
सर्पः। सप्तच्छदः। पद्मम्। श्वेतमेघः। धान्यम्।
शिखिपक्षपातः। इति कविकल्पलता॥
शरत्कामी, [न्] पुं, (शरदि शरत्काले कामयते
कुक्कुरीमिति। कम+णिङ्+णिनिः।) कुक्कुरः।
इति शब्दरत्नावली॥
शरत्पद्मं, क्ली, (शरदः पद्मम्।) सिताम्भोजम्।
इति राजनिर्घण्टः॥
शरत्पर्व्व, [न्] क्ली, (शरदः पर्व्व।) कोजागर-
पूर्णिमा। यथा,—
"कोजागरः शरत्पर्व्व शारदी द्यूतपूर्णिमा।"
इति जटाधरः॥
शरत्पुष्पं, क्ली, (शरदः पुष्पम्।) आहुल्यम्।
इति राजनिर्घण्टः॥ शरदुद्भवकुसुमञ्च॥
शरद्, स्त्री, (शॄ+अदिः।) शरत्। इत्यमरः॥
शरदन्तः, पुं, (शरदः तदाख्यऋतोरन्तो यस्मात्।)
हेमन्तः। इति राजनिर्घण्टः॥
शरदा, स्त्री, वत्सरः। शरदृतुः। इति शब्द-
रत्नावली॥
शरदिजं, त्रि, (शरदि जायते यत्। जन+डः।
"प्रावृट्शरत्कालदिवां जे।" ६।३।१५। इति
सप्तम्या अलुक्।) शरत्कालजातम्। यथा,
"नद्यः प्रावृषिजास्तु पीनसकफश्वासार्त्तिकाश-
प्रदाः
पथ्या वातकफापहाः शरदिजा हैमन्तजा
बुद्धिदाः।
सन्तापं शमयन्ति संविदधते शैशिर्य्यवासन्तजा-
स्तृष्णादाहवमिश्रमार्त्तिशमदा ग्रीष्मे यथास्वं
गुणाः॥"
इति राजनिर्घण्टः॥
शरदुदाशयं, क्ली, शरत्कालीनसरोवरम्। यथा,—
"शरदुदाशये साधुजातसत्-
सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा।
सुरतनाथ तेऽशुल्कदासिका
वरद निघ्नतो नेह किं वधः॥"
इति श्रीभागवते। १०।३१।२॥
शरदुदाशये शरत्कालीनसरसि। इति श्रीधर-
स्वामी॥
शरधिः, पुं, (शरा धीयन्तेऽस्मिन्निति। शर+
धा+"कर्म्मण्यधिकरणे च।" ३।३।९३।
इति किः।) तूणः। इति हेमचन्द्रः॥ (यथा,
राजेन्द्रकर्णपूरे। ३३।

"दत्त्वाङ्गे कवचं निबध्य शरधिं ज्ञात्वा पुरो माधवं
कामः कौरवपाण्डवोदयधिया धुन्वन् धनुर्धावति ॥")

शरपुङ्खा, स्त्री पुं, (शरस्य पुङ्ख इव आकृतिर्यस्याः ।) नीलीसदृशाकृतिक्षुपविशेषः । शरफोंका इति हिन्दीभाषा । तत्पर्य्यायः । काण्डपुङ्खा २ बाणपुङ्खा ३ इषुपुङ्खिका ४ शायकपुङ्खा ५ इषुपुङ्खा ६ । तस्या गुणाः । कटुत्वम् । उष्णत्वम् । क्रिमिवातरुजापहत्वम् । श्वेताया गुणाढ्यत्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥ अपि च ।

"शरपुङ्खो यकृत्प्लीहगुल्मव्रणविषापहः ।
तिक्तः कषायः कासास्रश्वासज्वरहरो लघुः ॥"
इति भावप्रकाशः ॥

बाणस्य पश्चे, पुं ॥ (क्ली, यन्त्रविशेषः । यथा, सुश्रुते । १ । ७ । "तेषां गरुडपदशरपुङ्खसर्पफणवड़िशमुखे द्वे द्वे एषण्यूहनचालनाहरणार्थमुपदिश्येते ॥")

शर(ल)भः, पुं, (शृणाति हिनस्तीति । शॄ हिंसायाम् + "कॄशॄशलिकलिगर्दिभ्योऽभच् ।" उणा० ३ । १२२ । इति अभच् ।) मृगेन्द्रविशेषः । इत्यमरः ॥ तत्पर्य्यायः । महाङ्गः २ महास्कन्धी ३ महामनाः ४ अष्टपादः ५ महासिंहः ६ मनस्वी ७ पर्व्वताश्रयः ८ । इति राजनिर्घण्टः ॥ अस्य लक्षणं यथा,—

"अष्टपादूर्द्ध्वनयन ऊर्द्ध्वपादचतुष्टयः ।
तं सिंहं हन्तुमागच्छन्मुनेस्तस्य निवेशनम् ॥"
इति महाभारतम् । १२ । ११७ । १२ ॥

करभः । (यथा, ऋतुसंहारे । १ । २३ ।

"भ्रमति गवययूथः सर्व्वतस्तोयमिच्छन्
शरभकुलमजिह्मं प्रोद्धरत्यम्बु कूपात् ॥")

वानरविशेषः । इति मेदिनी ॥ उष्ट्रः । इति जटाधरः ॥ (विष्णुः । यथा, महाभारते । १३ । १४९ । ५२ ।

"अतुलः शरभो भीमः समयज्ञो हविर्हरिः ॥"

दनुपुत्त्रविशेषः । यथा, तत्रैव । १ । ६५ । २६ ।

"शरभः शलभश्चैव सूर्य्याचन्द्रमसौ तथा ।
एते ख्याता दनोर्व्वंशे दानवाः परिकीर्त्तिताः ॥"

नागविशेषः । यथा, तत्रैव । १ । ५७ । ११ ।

"विहङ्गः शरभो मेदः प्रमोदः संहतापनः ॥")

शरभूः, पुं, (शरे शरवणे भूरुत्पत्तिर्यस्य ।) कार्त्तिकेयः । इति हेमचन्द्रः ॥

शरमयं, त्रि, (शरस्य विकारोऽवयवो वा । शर + "नित्यं वृद्धशरादिभ्यः ।" ४ । ३ । १४४ । इति मयट् ।) शरनिर्म्मितम् । यथा,—

"शरमयबर्हिषा कुशमयबर्हिर्व्वाधवत् ।" इति स्मृतिः ॥

शरमल्लः, पुं, (शरे शरवणे मल्ल इव ।) पक्षिविशेषः । इति शब्दचन्द्रिका ॥ गोशालिक इति भाषा । (शरे बाणनिक्षेपादौ मल्लः ।) बाणयोद्धा च ॥

शरयुः, शरयूः, } स्त्री, नदीविशेषः । इति द्विरूपकोषः ॥ दन्त्यसादिरयं शब्दः । इति बहुसम्मतः ॥

शरलः, त्रि, विनीतः । स्वच्छहृदयः । वृक्षविशेषे, पुं । इति सारस्वताभिधानम् ॥ दन्त्यसादिरप्ययमिति बहुसम्मतः ॥

शरलकं, क्ली, जलम् । इति शब्दचन्द्रिका ॥

शरवणोद्भवः, पुं, (शरवणे उद्भवो यस्य ।) कार्त्तिकेयः । इति केचित् ॥ (यथा, महाभारते । ३ । २३१ । ८ ।

"खचारी ब्रह्मचारी च शूरः शरवणोद्भवः ॥")

शरवाणिः, पुं, शरमुखम् । पदातिः । शरजीवी । इति हेमचन्द्रः ॥

शरव्यं, क्ली, (शरवे हिंसायै बाणक्षेपाय वा साधु । शरु + "उगवादिभ्यो यत् ।" ५।१।२ । इति यत् । यद्वा, शरान् व्ययति । व्ये + डः ।) लक्ष्यम् । इत्यमरः ॥ (यथा, माघे, ।७।२४।

"विदधाति जनतामनःशरव्य-
व्यधपटुमन्मथचापनादशङ्काम् ॥")

शराघातः, पुं, (शरस्याघातः ।) बाणाघातः । तत्पर्य्यायः । प्रचलाकः २ । इति जटाधरः ॥

शराटिः, स्त्री, (शरं जलं अटति प्राप्नोतीति । अट् + इन् ।) शरालिपक्षी । इति शब्दरत्नावली ॥

शराड़िः, स्त्री, शरालिपक्षी । इति शब्दरत्नावली ॥

शरातिः, स्त्री, (शरं जलमततीति । अत + इन् ।) शरालिपक्षी । इत्यमरटीकायां रामाश्रमः ॥

शराभ्यासः, पुं, (शराणामभ्यासः ।) बाणशिक्षा । तत्पर्य्यायः । उपासनम् २ । इत्यमरः ॥ विकर्षणम् ३ खुरली ४ शस्त्राभ्यासः ५ । इति शब्दरत्नावली ॥

शरारिः, पुं, (शरं जलं ऋच्छतीति । ऋगतौ + "अच इः ।" इति इः ।) शरालिपक्षी । तत्पर्य्यायः । आटिः २ आड़िः ३ । इत्यमरः ॥ आड़ी ४ शराड़ी ५ आड़िका ६ शराली ७ शरालिः ८ शराटिः ९ शरालिका १० । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, ऋतुसंहारे । ४ । ९ ।

"प्रफुल्लनीलोत्पलशोभितानि
शरारिकादम्बविघट्टितानि ।
प्रसन्नतोयानि सुशीतलानि
सरांसि चेतांसि हरन्ति यूनाम् ॥")

अस्य गुणाः । पवनापहत्वम् । स्निग्धत्वम् । हृदमलत्वम् । उष्णत्वम् । वातरक्तहरत्वम् । हिमत्वञ्च । इति राजवल्लभः ॥ अपि च ।

"हंससारसकाचाक्षवकक्रौञ्चशरारिकाः ।
नन्दीमुखीसकादम्बाः बलाकाद्याः प्लवाः स्मृताः ॥
प्लवाः पित्तहराः स्निग्धा मधुरा गुरवो हिमाः ।
वातश्लेष्मप्रदाश्चापि बलशुक्रकराः सराः ॥"
इति भावप्रकाशः ॥

शरारुः, त्रि, (शृणातीति । शॄ + "शॄवन्द्योरारुः ।" ३।२।१७३ । इति आरुः ।) हिंस्रः । इत्यमरः ॥

शरारोपः, पुं, (शरस्यारोपो यस्मिन् ।) धनुः । इति जटाधरः ॥

शरालिः, स्त्री, शरारिपक्षी । इति शब्दरत्नावली ॥

शरालिका, स्त्री, शरारिपक्षी । इति शब्दरत्नावली ॥

शराली, स्त्री, शरारिपक्षी । इति शब्दरत्नावली ॥

शरावः, पुं क्ली, (शरं जलं अवति रक्षतीति । अव रक्षणे + अच् ।) मृत्पात्रविशेषः । शरा इति भाषा । तत्पर्य्यायः । वर्द्धमानकः २ । इत्यमरः ॥ मार्त्तिकः ३ सरावः ४ शालाजिरम् ५ पार्थिवम् ६ मृत्कांस्यम् ७ । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, आर्य्यासप्तशत्याम् । १२६ ।

"उदितेऽपि सुहृन्नयने गगनप्रान्ते न दीप्यते तपनः ।
कठिनघृतपूरपूर्णे शरावशिरसि प्रदीप इव ॥")

कुड़वद्वयपरिमाणम् । तत्तु चतुःषष्टितोलकात्मकम् । सेर इति भाषा । तत्पर्य्यायः । मानिका २ । इति शब्दमाला वैद्यकपरिभाषा च ॥

शरावती, स्त्री, (शराः तृणविशेषाः सन्त्यस्यामिति । शर + मतुप् । "शरादीनाञ्च ।" ६ । ३ । १२० । इति दीर्घः ।) नदीविशेषः । इत्यमरः ॥ (यथा, महाभारते । ६ । ९ । २० ।

"शरावतीं पयोष्णीञ्च वेणां भीमरथीमपि ॥"

लवस्य राजधानी । यथा, रघुः । १५ । ९७ ।

"स निवेश्य कुशावत्यां रिपुनागाङ्कुशं कुशम् ।
शरावत्यां सतां सूक्तैः जनिताश्रुलवं लवम् ॥")

शरावार्द्धं, क्ली, (शरावस्य अर्द्धम् ।) कुड़वपरिमाणम् । तत्तु द्वात्रिंशत्तोलकात्मकम् । आधसेर इति भाषा । इति वैद्यकपरिभाषा ॥

शराश्रयः, पुं, (शराणामाश्रयः ।) तूणः । इति हेमचन्द्रः ॥

शरासनं, क्ली, (शरा अस्यन्ते क्षिप्यन्तेऽनेनेति । अस + करणे ल्युट् ।) धनुः । इत्यमरः ॥ (यथा, रघुः । ३ । ५२ ।

"स एवमुक्त्वा मघवन्तमुन्मुखः
करिष्यमाणः सशरं शरासनम् ॥"

पुं, धृतराष्ट्रपुत्त्राणामन्यतमः । यथा, महाभारते । १ । ११७ । ४ ।

"चित्रोपचित्रौ चित्राक्षश्चारुचित्रः शरासनः ॥")

शरास्यं, क्ली, (शरा अस्यन्तेऽनेनेति । असु + ण्यत् ।) धनुः । यथा,—

"चिच्छेद तस्य तान् बाणान् शरास्यञ्च महामुने ।
युयुधातेऽतिसंरब्धौ परस्परवधैषिणौ ॥"

इति मार्कण्डेयपुराणे जैमिनिखण्डं पुराणं परिपूर्णम् ॥

शरिमा, [न्] पुं, (शृणाति यौवनमिति । शॄ + "हृभृधृसृस्तृशॄभ्य इमनिच् ।" उणा० ४।१४७। इति इमनिच् ।) प्रसवः । इति सिद्धान्तकौमुद्यामुणादिवृत्तिः ॥

शरी, स्त्री, एरकातृणम् । इति भावप्रकाशः ॥

शरीरं, क्ली, (शॄ + "कॄशॄपॄकटिपटिशौटिभ्य ईरन् ।" उणा० ४।३०। इति ईरन् ।) शीर्य्यते रोगादिना यत् । तत्पर्य्यायः । कलेवरम् २ गात्रम् ३ वपुः ४ संहननम् ५ वर्ष्म ६ विग्रहः ७ कायः ८ देहः ९ मूर्त्तिः १० तनुः ११ तनूः १२ । इत्यमरः ॥ क्षेत्रम् १३ पुरम् १४ घनः १५ अङ्गम् १६ पिण्डम् १७ । इति राजनिर्घण्टः ॥ भूतात्मा १८ स्वर्गलोकेशः १९ स्कन्धः २० पञ्जरः २१ कुलम् २२ बलम् २३ आत्मा २४ । इति जटाधरः ॥ स्कन्धम् २५ । इति शब्दरत्नावली ॥ इन्द्रियायतनम् २६ भूः २७ मूर्त्तिमत् २८ करणम् २९ बेरम् ३० सञ्चरः ३१ बन्धः ३२ पुद्गलम् ३३ । इति हेमचन्द्रः ॥ * ॥ शरीरधर्म्मा यथा,—

"शरीरे भस्मसाद्भूते प्रतिबिम्बः स चात्मनः ।
जीवस्तत्रान्तरीक्षस्थ उवाच विनयं विभुम् ॥
जीव उवाच ।
सदुक्तिर्व्वा कदुक्तिर्व्वा कोपः सन्तोष एव च ।
लोभो मोहश्च कामश्च क्षुत्पिपासादिकञ्च यत् ॥
स्थौल्यं कार्श्यञ्च नाशश्च दृश्यादृश्यं समुद्भवम् ।
सर्व्वं शरीरधर्म्मश्च न जीवस्य न चात्मनः ॥
सत्त्वं रजस्तम इति शरीरं त्रिगुणात्मकम् ।
तच्च नानाप्रकारञ्च प्रबोध कथयामि ते ॥
किञ्चित् सत्त्वातिरिक्तञ्च किञ्चिदेव रजोऽधिकम् ।
तमोऽतिरिक्तं किञ्चिच्च न समं कुत्रचिन्मुने ॥
सत्त्वाद्दया च सत्तीक्षा कर्म्मेच्छा च रजोगुणात् ।
तमोगुणाज्जीवहिंसा कोपोऽहङ्कार एव च ॥
कोपात् कदुक्तिर्नियतं कदुक्त्या शत्रुता भवेत् ।
तथा चाप्रियता सद्यः शत्रुः कः कस्य भूतले ॥
को वा प्रियोऽप्रियो वा कः किं मित्रं को रिपुर्भुवि ।
इन्द्रियाणि च जीवानि सर्व्वत्र शत्रुमित्रयोः ॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे २४ अः ॥ * ॥

अथ स्त्रीपुंसयोः सर्व्वाङ्गानि पादाग्रादिशिरःपर्य्यन्तानि । प्रपदम् १ अङ्घ्रिः २ गुल्फः ३ पार्ष्णिः ४ जङ्घा ५ जानु ६ ऊरुः ७ वङ्क्षणः ८ कटिः ९ त्रिकम् १० नितम्बः ११ स्फिक् १२ वस्तिः १३ उपस्थः १४ ककुन्दरम् १५ जघनम् १६ जठरम् १७ नाभिः १८ वलिः १९ स्तनः २० चूचकम् २१ क्रोडम् २२ रोम २३ कक्षः २४ अंसः २५ वक्षः २६ दोः २७ पार्श्वः २८ प्रगण्डः २९ कूर्परः ३० हस्तः ३१ प्रकोष्ठः ३२ मणिबन्धः ३३ अङ्गुलिः ३४ अङ्गुष्ठः ३५ करभः ३६ नखः ३७ पर्व्व ३८ चपेटकः ३९ कण्ठः ४० शिरोधिः ४१ श्मश्रु ४२ मुखम् ४३ ओष्ठः ४४ चिबुकम् ४५ हनुः ४६ सृक्कम् ४७ तालु ४८ रदः ४९ जिह्वा ५० नासा ५१ भ्रूः ५२ गण्डः ५३ लोचनम् ५४ अपाङ्गः ५५ तारा ५६ कर्णः ५७ भालः ५८ मस्तकम् ५९ केशः ६० । इति कविकल्पलता ॥ * ॥

परमेश्वरशरीरतो देवानामुत्पत्तिर्यथा,—

"सर्व्वे देवाः सपितरो ब्रह्माद्या ब्रह्माण्डमध्यगाः ।
विष्णोः सकाशादुत्पन्ना इतीयं वैदिकी श्रुतिः ॥
अग्निस्तथाश्विनौ गौरी गजवक्त्रो भुजङ्गमः ।
कार्त्तिकेयस्तथादित्यो मातरो दुर्गया सह ॥
दिशो धनपतिर्व्विष्णुर्धर्म्मो रुद्रः शशी तथा ।
पितरश्चेति संभूताः प्राधान्येन जगत्पतेः ॥
हिरण्यगर्भस्य तनौ सर्व्व एव समुद्भवाः ।
पृथक् पृथक् ततो गर्व्वं वहमानाः समन्ततः ॥
अहं योग्यस्त्वहं याष्य इति तेषां स्वनो महान् ।
श्रूयते देवसमितौ क्षुब्धसागरसन्निभः ॥
तेषां विवदमानानां वह्निरुत्थाय पार्थिव ।
उवाच मां यजस्वेति ध्यायध्वं मामिति ब्रुवन् ॥
प्राजापत्यमिदं नूनं शरीरं मद्विना कृतम् ।
विनाशमुपपद्येत यतो नाहं महानहम् ॥
एवमुक्त्वा शरीरन्तु त्यक्त्वा वह्निर्व्विनिर्ययौ ।
निर्गतेऽपि ततस्तस्मिंस्तच्छरीरं न शीर्य्यते ॥
ततोऽश्विनौ मूर्त्तिमन्तौ प्राणापानशरीरगौ ।
आवां प्रधानाविर्त्येवमूचतुर्यौव्यवस्तरौ ॥
एवमुक्त्वा शरीरं तौ विहाय क्वचिदास्थितौ ।
तयोरपि क्षयं ज्ञात्वा वाणं तत्पुरमास्थितः ॥
ततश्चैवाब्रवीद्गौरी प्राधान्यमपि संस्थितम् ।
साप्येवमुक्त्वा क्षेत्रात्तु निश्चक्राम बहिः शुभा ॥
तया विनापि तत् क्षेत्रं वागूनं अवतिष्ठते ।
ततो गणपतिर्व्वाक्यमाकाशाख्योऽब्रवीत्तदा ॥
न मया रहितं किञ्चिच्छरीरस्थोऽपि दूरतः ।
कालान्तरेत्येवमुक्त्वा सोऽपि निष्क्रम्य देहतः ॥
पृथग्भूतस्तथाप्येतच्छरीरं नाप्यनीनशत् ।
विना सौख्यश्च सत्त्वेन तथापि न विशीर्य्यते ॥
शुषिरैस्तु विहीनन्तु दृष्ट्वा क्षेत्रं व्यवस्थितम् ।
शरीरधातवः सर्व्वे ते शुशुर्व्वाक्यमेव हि ॥
अस्माभिर्व्यतिरिक्तस्य न शरीरस्य धारणम् ।
भवतीत्येवमुक्त्वा ते जहुः सर्व्वे शरीरिणः ॥
तैर्व्वियुतमपि क्षेत्रं पुरुषेण प्रपाल्यते ।
तद्दृष्ट्वा त्वब्रवीत् स्कन्दः सोऽहङ्कारः प्रकीर्त्तितः ॥
मया विना शरीरस्य सम्भूतिरपि नेष्यते ।
एवमुक्त्वा शरीरात्तु सोऽपेतः पृथक् स्थितः ॥
तेनापेतेन तत् क्षेत्रं विना मुक्तवदास्थितम् ।
तद्दृष्ट्वा कुपितो भानुः स आदित्यः प्रकीर्त्तितः ॥
मया विना कथं क्षेत्रमिमं क्षणमपीष्यते ।
एवमुक्त्वाथ यातः स तच्छरीरं न शीर्य्यते ॥
ततः कामादिरुत्थाय गणो मातृकसंज्ञितः ।
न मया व्यतिरिक्तस्य शरीरस्य व्यवस्थितिः ॥
एवमुक्त्वा च यातस्तु शरीरं तन्न शीर्य्यते ।
ततो मायाब्रवीत् कोपात् सा च दुर्गा प्रकीर्त्तिता ॥
न मयास्य विना भूतिरित्युक्त्वान्तर्दधे पुनः ।
ततो दिशः समुत्तस्थुरूचुश्चैव वचो महत् ॥
नास्माभी रहितं कार्यं भवतीति न संशयः ।
चतस्र आगताः काष्ठा अपयाताः क्षणात्तदा ॥
ततो धनपतिर्व्वायुर्मध्ये तत्पक्षसम्भवः ।
शरीरस्येति सोऽप्येवमुक्त्वा मूर्द्धानगोऽभवत् ॥
ततो विष्णोर्मनो ब्रूयात् नायं देहो मया विना ।
क्षणमप्युत्सहे स्थातुमित्युक्त्वान्तर्दधे पुनः ॥
ततो धर्म्मोऽब्रवीत् सर्व्वमिदं पालितवाहनम् ।
इदानीं मय्युपगते कथमेतद्भविष्यति ।
एवमुक्त्वा गते धर्म्मे तच्छरीरं न शीर्य्यते ॥
ततोऽब्रवीन्महादेवश्चाव्यक्तो भूतनायकः ।
महत्संज्ञो मया हीनं शरीरं नो भवेद्यथा ॥
एवमुक्त्वा गतः शम्भुस्तच्छरीरं न शीर्य्यते ।
तद्दृष्ट्वा पितरश्चोचुस्तन्मात्रा यावदस्मभिः ॥
प्राणान्तरेभिरेतच्च शरीरं शीर्य्यते ध्रुवम् ।
एवमुक्त्वा तु तं देहं त्यक्त्वान्तर्द्धानमागताः ॥
अग्निः प्राणः अपानश्च आकाशश्चैव धातवः ।
श्रोत्रं तद्वत्त्वहंकारो भानुः कामादयो मया ॥
काष्ठा वायुर्व्विष्णुधर्म्मौ शम्भुश्चैवेन्द्रियार्थकाः ।
एतैर्मुक्तन्तु तत् क्षेत्रं सुप्ताविव सुसंस्थितम् ॥
सोमेन पाल्यमानन्तु पुरुषेणेन्दुरूपिणा ।
एवं व्यवस्थिते सोमे षोड़शात्मन्यथान्तरे ॥
प्राग्वत्तच्च गुणोपेतं क्षेत्रमुत्थाय यद्भवेत् ।
प्रागवस्थं शरीरन्तु दृष्ट्वा सर्व्वत्रपालितम् ॥
ताः क्षेत्रदेवताः सर्व्वा वैलक्ष्यं भावमाश्रिताः
तमेवं तुष्टुवुः सर्व्वास्तं देवं परमेश्वरम् ॥"
इति वाराहे महातपोपाख्याननामाध्यायः ॥ *

शरीराङ्ग यथा,—

"शरीरमापः सोमश्च विविधं चान्नमुच्यते ।
प्राणो ह्यग्निस्तथादित्यश्चिभोक्ता एक एव तु ॥"
इति गारुड़े २१५ अध्यायः ॥ * ॥

मानसकायिकक्लेशसाध्यव्रतं यथा,—

धरण्युवाच ।
"कथमाराध्यसे देव भक्तिमद्भिर्नरैर्विभो ।
स्त्रीभिर्व्वा सर्व्वमेतन्मे शंस त्वं भूतभावन ॥
वाराह उवाच ।
भावसाध्यस्त्वहं देवि न वित्तैर्न जपैरहम् ।
साध्यस्तथापि भूतानां कायक्लेशं वदामि ते ॥
कर्म्मणा मनसा वाचा मच्चित्तो यो नरो भवेत् ।
तस्य व्रतानि वक्ष्येऽहं विविधानि निबोध मे ॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्य्यमकल्कता ।
एतानि मानसान्याहुर्व्रतानि तु धराधरे ॥
एकभक्तं तथा नक्तमुपवासादिकञ्च यत् ।
तत् सर्व्वं कायिकं पुंसां व्रतं भवति नान्यथा ॥"
इति वाराहे सत्यतपोपाख्याननामाध्यायः ॥

शरीरजः, पुं, (शरीरात् जायते इति । जन + डः ।) रोगः । कामदेवः । (यथा, महाभारते । १ । १०० । ५६ ।

"नाकामयत तं दातुं वरं दाशाय शान्तनुः।
शरीरजेन तीव्रेण दह्यमानोऽपि भारत॥")
पुत्रः। इति धरणिः। (यथा, महाभारते। १३। २४। ४।
"इति पृष्टो मया राजन् पराशरशरीरजः।
अब्रवीन्निपुणो धर्म्मे निःसंशयमनुत्तमम्॥")
देहजाते, त्रि। यथा,—
"शरीरजैः कर्म्मदोषैर्य्याति स्थावरतां नरः।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम्॥"
इति प्रायश्चित्ततत्त्वम्॥

शरीरसंस्कारः, पुं, (शरीरस्य संस्कारः।) देहसंस्कारकर्म्म। शरीरस्य शोभनं मार्जनञ्च॥

शरीरावरणं क्ली, (शरीरस्य आवरणम्।) चर्म्म। इति राजनिर्घण्टः॥ कायवेष्टनञ्च॥ (वर्म्म। यथा, महाभारते। ७। १८५। ४२।
"विचित्रैर्विविधाकारैः शरीरावरणैरपि।
विचित्रैश्च रथैर्भग्नैर्हतैश्च गजवाजिभिः॥")

शरीरी [न्] पुं, (शरीरमस्यास्तीति। शरीर+इनिः।) शरीरविशिष्टः। तत्पर्य्यायः।
"भवोद्भवौ च प्राणी तु शरीरिजन्तुजन्मवः।
प्राणभृच्चेतनो जन्मी चित्तन्तु हृदयं मनः॥"
इति जटाधरः॥

शरीरिलक्षणं यथा,—
"गर्भाशयगतं शुक्रमार्त्तवं जीवसंज्ञकः।
प्रकृतिः सविकारा च तत् सर्व्वं गर्भसंज्ञकम्॥
कालेन वर्द्धितो गर्भो यदाङ्गोपाङ्गसंयुतः।
भवेत्तदा स मुनिभिः शरीरीति निगद्यते॥"
अङ्गोपाङ्गसंयुतः यत्ताङ्गोपाङ्गः।
"तस्य त्वङ्गान्युपाङ्गानि ज्ञात्वा सुश्रुतशास्त्रतः।
मस्तकादभिधीयन्ते शिष्याः शृणुत यत्नतः॥
आद्यमङ्गं शिरः प्रोक्तं तदुपाङ्गानि कुन्तलाः।
तस्यान्तर्मस्तुलुङ्गञ्च ललाटभ्रूयुगं तथा॥
नेत्रद्वयं तयोरन्तर्व्वर्त्तते द्वे कनीनिके।
दृष्टिद्वयं कृष्णगोलौ श्वेतभागौ च वर्त्मनि॥
पक्ष्माण्यपाङ्गौ शङ्खौ च कर्णौ तच्छष्कुलीद्वयम्।
पालिद्वयं कपोलौ च नासिका च प्रकीर्त्तिता॥
ओष्ठाधरौ च सृक्कण्यौ मुखं तालु हनुद्वयम्।
दन्तास्च दन्तवेष्टाश्च रसना चिबुकं गलः॥
द्वितीयमङ्गं ग्रीवा तु यया मूर्द्धा विधार्य्यते।
तृतीयं बाहुयुगलं तदुपाङ्गान्यथो ब्रुवे॥
तस्योपरि मतौ स्कन्धौ प्रगण्डौ भवतस्तथः।
कफोणियुग्मं तदधः प्रकोष्ठयुगलं तथा॥
मणिबन्धौ तले हस्तौ तयोश्चाङ्गुलयो दश।
नखाश्च दश ते ख्याप्या दश च्छेद्याः प्रकीर्त्तिताः॥
चतुर्थमङ्गं वक्षस्तु तदुपाङ्गान्यथ ब्रुवे।
स्तनौ पुंसस्तथा नार्य्या विशेष उभयोरयम्॥
यौवनागमने नार्य्याः पीवरौ भवतः स्तनौ।
गर्भवत्याः प्रसूतायास्तावेतौ क्षीरपूरितौ॥
हृदयं पुण्डरीकेण सदृशं स्यादधोमुखम्।
जाग्रतस्तद्विकसति स्वपतस्तु निमीलति॥
आशयस्तत्तु जीवस्य चेतनास्थानमुत्तमम्।
अतस्तस्मिंस्तमोव्याप्ते प्राणिनः प्रस्वपन्ति हि॥"
चेतनास्थानमुत्तममिति अयमभिप्रायः।
"चेतनानामधिष्ठानं मनो देहश्च सेन्द्रियः।
केशलोमनखाग्रान्तमलं द्रवगुणैर्विना॥"
इत्युक्तवता चरकेण सकलं शरीरं चेतनास्थानमुक्तं तदपेक्षया हृदयं विशेषतश्चेतनास्थानमिति।
"कक्षयोर्व्वक्षसोः सन्धी जत्रुणी समुदाहृते।
कक्षे उभे समाख्याते तयोः स्यातां च वंक्षणौ॥
उदरं पञ्चमं भागं षष्ठं पार्श्वद्वयं मतम्।
सपृष्ठवंशं पृष्ठन्तु समस्तं सप्तमं स्मृतम्॥*॥
उपाङ्गानि च कथ्यन्ते तानि जानीहि यत्नतः॥
शोणिताज्जायते प्लीहा वामतो हृदयादधः।
रक्तवाहिशिराणां स मूलं ख्यातो महर्षिभिः॥
हृदयाद्वामतोऽधश्च फुप्फुसो रक्तफेनजः।
अधो दक्षिणतश्चापि हृदयाद्यकृतः स्थितिः॥
तत्तु रञ्जकपित्तस्य स्थानं शोणितजं मतम्।
अधस्तु दक्षिणे भागे हृदयात् क्लोम तिष्ठति।
जलवाहिशिरामूलं तृष्णाच्छादनकृन्मतम्॥"
क्लोम तिलकं एतत्तु वातरक्तजम्। अत्राह च वृद्धवाग्भटः।
"रक्तादनिलसंयुक्तात् कालीयक समुद्भवः।"
इति।
"मेदःशोणितयोः साराद्वृक्कयोर्युगलं भवेत्।
तौ तु पुष्टिकरौ प्रोक्तौ जठरस्थस्य मेदसः॥
उक्ताः सार्द्धास्त्रयो यामाः पुंसामन्त्राणि सूरिभिः।
अर्द्धयामेन हीनानि योषितोऽन्त्राणि निर्द्दिशेत्॥
उण्डुकश्च कटी चापि त्रिकं वस्तिश्च वंक्षणौ।
कण्डराणां प्ररोहः स्यान्मेढ्राणां वीर्य्यमूत्रयोः।
स एव गर्भस्याधानं कुर्य्याद्गर्भाशये स्त्रियाः॥
शङ्खनाभ्याकृतिर्योनिस्त्र्यावर्त्ता सा च कीर्त्तिता।
तस्यास्तृतीये त्वावर्त्ते गर्भशय्या प्रतिष्ठिता॥
वृषणौ भवतः सारात् कफासृङ्मांसमेदसाम्।
वीर्य्यवाहिशिराधारौ तौ मतौ पौरुषावहौ॥
गुदस्य मानं सर्व्वस्य सर्व्वं स्याच्चतुरङ्गुलम्।
तत्र स्युर्व्वलयस्तिस्रः शङ्खावर्त्तनिभास्तु ताः॥
प्रवाहिणी भवेत् पूर्व्वा सार्द्धाङ्गुलमिता मता।
उत्सर्ज्जिनी तु तदधः सा सार्द्धाङ्गुलसम्मिता॥
तस्या अधःशम्बरणी स्यादेकाङ्गुलसम्मिता।
अर्द्धाङ्गुलप्रमाणन्तु बुधैर्गुदमुखं मतम्॥
मलोत्सर्गस्य मार्गोऽयं पायुर्देहे विनिर्मितः।
पुंसः प्रोथौ स्मृतौ यौ तु तौ नितम्बौ च योषितः॥
तयोः कुकुन्दरे स्यातां सक्थिनी त्वङ्गमष्टमम्।
तदुपाङ्गानि च ब्रूमो जानुनी पिण्डिकाद्वयम्॥
जङ्घे द्वे घुटिके पार्ष्णी तले च प्रपदे तथा।
पादावङ्गुलयस्तत्र दश तासां नखा दश॥"
इति भावप्रकाशः॥
(क्षेत्रज्ञो जीवात्मा। यथा, मनुः। १। ५३।
"तस्मिन् स्वपिति तु स्वस्थे कर्म्मात्मानः शरीरिणः।
स्वकर्म्मभ्यो निवर्त्तन्ते मनश्च ग्लानिमृच्छति॥")

शरुः, पुं, (शॄ हिंसायाम्+"शॄस्वृस्निहित्रप्यसीति।" उणा० १। ११। इति उः।) क्रोधः। वज्रम्। इति मेदिनी॥ बाणः। इति हेमचन्द्रः॥ आयुधम्। इति सिद्धान्तकौमुद्यामुणादिवृत्तिः॥ (हिंसा। यथा, ऋग्वेदे। ६। २७। ६।
"वृचीवन्तः शरवे पत्यमानाः।"
"शरवे हिंसायै।" इति तद्भाष्ये सायणः॥ गन्धर्व्वविशेषः। यथा, महाभारते। १। १२३। ५५।
"विश्वावसुर्भुमन्युश्च सुचन्द्रश्च शरुस्तथा॥"
हिंसके, त्रि। यथा, तत्रैव। ७। ७१। १।
"दिवा नक्तं शरुमस्मद्युयोतम्॥"
"शरुं हिंसकम्।" इति तद्भाष्ये सायणः॥)

शरेष्टः, पुं, आम्रः। इति जटाधरः॥

शर्करकः, पुं, (शर्कर+"कुल्कण्कठेति।" ४। २। ८०। इत्यनेन कः।) मधुरजम्बीरः। इति राजनिर्घण्टः॥

शर्करजा, स्त्री, (शर्कराज्जायते इति। जन+डः। स्त्रियां टाप्।) सिताखण्डः। इति राजनिर्घण्टः॥

शर्करा, स्त्री, खण्डविकृतिः। चिनी इति भाषा। तत्पर्य्यायः। सिता २ इत्यमरः॥ शुक्लोपला ३ शुक्ला ४ सितोपला ५। इति रत्नमाला॥ मीनाण्डी ६ श्वेता ७ मत्स्यण्डिका ८ अहिच्छत्रा ९ सुसिकता १० गुडोद्भवा ११। अस्या गुणाः। मधुरत्वम्। शीतत्वम्। पित्तदाहश्रमरक्तदोषभ्रान्तिक्रमिकोपनाशित्वञ्च। इति साधारणशर्करागुणाः॥*॥

अथ शर्कराविशेषगुणाः।
"स्निग्धा पुण्ड्रकशर्करा हितकरी क्षीणे क्षयेऽरोचके
चक्षुष्या बलवर्द्धनी सुमधुरा हृद्या च वंशेक्षुजा।
वृष्या दृष्टिबलप्रदा श्रमहरा श्यामेक्षुजा शीतला
स्निग्धा कान्तिकरी रसालजनिता रक्तेक्षुजा पित्तजित्॥"
इति पञ्चेक्षुशर्करागुणाः॥*॥
"यावनाली हिमोत्पन्ना हिमाली हिमशर्करा।
क्षुद्रशर्करिका क्षुद्रा गुडजा जलविन्दुजा॥
हिमजा शर्करा गौल्या सोक्ता तिक्तातिपिच्छिला।
वातघ्नी सारिका रुच्या दाहपित्तास्रदायिनी॥"
इति यावनालशर्करागुणाः॥*॥
"शीतजान्या कर्करजा माधवी मधुशर्करा।
माक्षिका शर्करा प्रोक्ता सिताखण्डश्च खण्डकः॥
सिताखण्डोऽतिमधुरश्चक्षुष्यश्छर्द्दिनाशनः।
कुष्ठव्रणकफश्वासहिक्कापित्तास्रदोषनुत्॥
यवासशर्करा त्वन्या सुधामोदकमोदकः।
तवराजः खण्डसारः खण्डजा खण्डमोदकः॥"
इति राजनिर्घण्टः॥"*॥

अपि च ।
"मत्स्यण्डिका: खण्डसिता गुणश्रेष्ठा यथोत्तरम् ।
विमला: शीतला: स्निग्धा गुर्व्व्य: स्वादुतरा: सरा: ॥
तृष्णास्तृषाच्चतक्षीणरक्तपित्तानिलापहा: ।
मत्स्यण्डी ग्राहिणी वृष्या कषाया वातजिद्गुरु: ॥
खण्डं गुरु सरं रुच्यं वातघ्नं बलपुष्टिदम् ।
सितोपला सरा गुर्व्वी वातघ्नी न कफप्रदा ॥"
इति पथ्यापथ्यविवेक: ॥*॥

अन्यच्च ।
"शर्करा ज्वरपित्तातृड्मूर्च्छाछर्द्दिहृत्पापहा ।
तृष्णाघ्नस्तवराजस्तु ज्वरदाहास्रपित्तनुत् ॥
लसिकाफाणितगुडखण्डमत्स्यण्डिकासिता: ।
निर्म्मला लघवो ज्ञेया: शीतवीर्य्या यथोत्तरम् ।
यथा यथैषां वैमल्यं भवेच्छैत्यं तथा तथा ॥"
इति राजवल्लभ: ॥*॥

किञ्च ।
"खण्डन्तु सिकतारूपं सुश्वेतं शर्करा सिता ।
सिता सुमधुरा रुच्या वातपित्तास्रदाहजित् ।
मूर्च्छाछर्द्दिज्वरान् हन्ति सुशीता शुक्रकारिणी ॥*॥
भवेन्मधुसिता शीता रक्तपित्तहरी लघु: ।
सितोपला सरा लघ्वी वातपित्तहरी हिमा ॥*॥
मधुजा शर्करा रूक्षा कफपित्तहरी गुरु: ।
छर्द्यतीसारतृड्दाहरक्तहृत्तुवरा हिमा ॥
यथा यथैषां नैर्म्मल्यं मधुरत्वं तथा तथा ।
स्नेहलाघवशैत्यानि रसत्वञ्च तथा तथा ॥"
इति भावप्रकाश: ॥*॥
उपला । कर्परांश: । (यथा, महाभारते । ३ । ५५ । २ ।
"ततो वायुर्म्महान् शीघ्रो नीचै: शर्करवर्षण: ॥")
शर्करान्वितदेश: । रोगभेद: । शकलम् । इति मेदिनी ॥ शर्करारोगस्य निदानचिकित्सादिर्म् अश्मरीशब्दे द्रष्टव्य: ॥ (कूर्म्मचक्रस्य पुच्छदेशस्थितदेशविशेष: । यथा, मार्कण्डेये । ५८।३५ ।
"तारक्षुरा ह्यङ्गतका: शर्करा: शाल्मवेश्मका: ॥")

शर्कराचल:, पुं, (शर्करामयोऽचल: ।) दानार्थकृत्रिमशर्करामयाचलविशेष: । अस्य विवरणं पर्व्वतशब्दे द्रष्टव्यम् ॥

शर्कराधेनु:, स्त्री, (शर्कराभिर्न्निर्म्मिता धेनु: ।) दानार्थशर्करानिर्म्मितधेनु: । तद्विधिर्यथा,—
श्रीहोतोवाच ।
"तद्वत् शर्कराधेनुं शृणु राजन् यथार्थत: ।
अनुलिप्ते महीपृष्ठे कृष्णाजिनकुशोत्तरे ॥
धेनुं शर्करया राजन् कृत्वा भारचतुष्टयम् ।
उत्तमा कथ्यते सद्भिश्चतुर्थांशेन वत्सकम् ॥
तदर्द्धं मध्यमा प्रोक्ता कनिष्ठा भारकेण तु ।
तद्वत् वत्सं प्रकुर्व्वीत चतुर्थांशेन तत्त्वत: ॥
अथ कुर्य्याद्दशशतैरर्द्धं नृपतिसत्तम ।
स्वशक्त्या कारयेद्धेनुं यथात्मानं न पीडयेत् ॥
सर्व्वबीजानि संस्थाप्य चतुर्दिक्षु समन्तत: ।
सौवर्णसुखशृङ्गाणि मौक्तिकानयने तथा ॥
गुडेन तु सुखं कार्य्यं जिह्वा पिष्टमयी तथा ।
कम्बलं पट्टसूत्रेण कण्ठाभरणभूषितम् ॥
इक्षुपादां रौप्यखुरां नवनीतमयस्तनीम् ।
प्रशस्तपत्रश्रवणां सितचामरभूषिताम् ॥
पञ्चरत्नसमायुक्तां वस्त्रैराच्छादितां तथा ।
गन्धपुष्पैरलंकृत्य ब्राह्मणाय कुटुम्बिने ॥
श्रोत्रियाय दरिद्राय साधुवृत्ताय धीमते ।
वेदवेदाङ्गविदुषे आहिताग्नेर्विशेषत: ।
अदुष्टाय प्रदातव्या न तु मत्सरिणे नृप ॥
अयने विषुवे पुण्ये व्यतीपाते शशिक्षये ।
एषु पुण्येषु कालेषु यदृच्छा वा सदार्पयेत् ॥
सत्पात्रन्तु द्विजं दृष्ट्वा आगतं श्रोत्रियं गृहे ।
तादृशाय प्रदातव्या पुच्छदेशे विशद्य च ॥
पूर्व्वाभिमुखमास्थाय अथवा स उदङ्मुख: ।
गां पूर्व्वाभिमुखीं कृत्वा वत्समुत्तरतो न्यसेत् ॥
दानकाले तु ये मन्त्रास्तान् पठित्वा समर्पयेत् ।
संपूज्य विधिवद्विप्रं मुद्रिकाकर्णभूषणा: ॥
स्वशक्त्या दक्षिणां दत्त्वा वित्तशाठ्यविवर्जित: ।
हस्ते तु दक्षिणां दत्त्वा गन्धपुष्पसचन्दनाम् ॥
धेनुं समर्पयेत्तस्य सुखञ्च न विलोकयेत् ।
एकाहं शर्कराहारी ब्राह्मणस्त्रिदिनं वसेत् ॥
सर्व्वपापहरा धेनु: सर्व्वकामप्रदायिनी ।
सर्व्वकामफलस्तु जायते नात्र संशय: ।
दीयमानां प्रशंसन्ति ते यान्ति परमां गतिम् ॥
य इदं शृणुयाद्भक्त्या पठते वापि मानव: ।
मुच्यते सर्व्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति ॥"
इति वाराहे शर्कराधेनुमाहात्म्यनामाध्याय: ॥

शर्कराप्रभा, स्त्री, (शर्करेव प्रभा यस्या: ।) जिनानां नरकविशेष: । यथा,—
"रत्नशर्करावालुकापङ्कधूमतमप्रभा ।
महातमप्रभा चेत्यधोऽधो नरकभूमय: ॥"
इति हेमचन्द्र: ॥

शर्कराव्वुर्द:, पुं क्ली, (शर्करावदर्व्वुद: ।) क्षुद्ररोगविशेष: । तल्लक्षणं यथा,—
"प्राप्य मांसं शिरा: स्नायु मेद: श्लेष्मा तथानिल: ।
ग्रन्थिं करोत्यसौ भिन्नो मधुसर्पिर्व्वसानिभम् ॥
स्रवत्यास्रावमत्यर्थं तत्र वृद्धिं गतोऽनिल: ।
मांसं विशोष्य ग्रथितां शर्करां जनयत्यत: ॥
दुर्गन्धक्लिन्नमत्यर्थं नानावर्णं तत: शिरा: ।
स्रवन्ति सहसा रक्तं तं विन्द्याच्छर्कराव्वुर्दम् ॥"
शर्करा वालुकातुल्या । तच्चिकित्सा यथा,—
"मेदोऽर्व्वुदविधानेन साधयेच्छर्कराव्वुर्दम् ॥"
इति भावप्रकाश: ॥

शर्करावान्, [त्] त्रि, (शर्करा विद्यतेऽस्मिन् । "देशे लुबिलचौ च ।" ५ । २ । १०५ । इति मतुप् ।) कर्परांशबहुलदेश: । तत्पर्य्याय: । शर्करा २ शर्करिल: ३ शार्कर: ४ । इत्यमर: ॥

शर्करासप्तमी, स्त्री, (शर्कराया दानविधायिका सप्तमी ।) वैशाखीशुक्ला सप्तमी । तत्र व्रतविधिर्यथा,—
ईश्वर उवाच ।
"शर्करासप्तमीं वक्ष्ये तद्वत् कल्मषनाशिनीम् ।
आयुरारोग्यमैश्वर्य्यं ययानन्तं प्रजायते ॥
माधवस्य सिते पक्षे सप्तम्यां शुक्लपक्षत: ॥
प्रात: स्नात्वा तिलै: शुक्लै: शुक्लमाल्यानुलेपनै: ॥
स्थण्डिले पद्ममालिख्य कुङ्कुमेन सकर्णिकम् ।
तस्मै नम: सवित्रे तु गन्धपुष्पं निवेदयेत् ॥
स्थापयेदुदकुम्भञ्च शर्करापात्रसंयुतम् ।
शुक्लवस्त्रैरलंकृत्य शुक्लमाल्यानुलेपनै: ।
सुवर्णाश्वसमायुक्तं मन्त्रेणानेन पूजयेत् ॥
विश्ववेदमयो यस्मात् वेदवादीति पठ्यते ।
त्वमेवामृतसर्व्वस्वमत: शान्तिं प्रयच्छ मे ॥
पञ्चगव्यं तत: पीत्वा स्वपेत्तत् पार्श्वत: क्षितौ ।
सौरसूक्तं स्मरन्नास्ते पुराणश्रवणेन च ॥
अहोरात्रे गते पश्चात् अष्टम्यां कृतनैत्यिक: ।
तत् सर्व्वं वेदविदुषे ब्राह्मणाय निवेदयेत् ॥
भोजयेच्छक्तितो विप्रान् शर्कराघृतपायसै: ।
भुञ्जीतातैललवणं स्वयमप्यथ वाग्यत: ।
अनेन विधिना सर्व्वं मासि मासि समाचरेत् ॥
संवत्सरान्ते शयनं शर्कराकलसान्वितम् ।
सर्व्वोपस्करसंयुक्तं तथैकां गां पयस्विनीम् ॥
गृहञ्च शक्तितो दद्यात् समस्तोपस्करान्वितम् ।
सहस्रेणाथ निष्काणां कृत्वा दद्यात् शतेन वा ।
दशभिर्व्वाथ निष्काणां तदर्द्धेनाथ शक्तित: ।
सुवर्णाश्व: प्रदातव्य: पूर्व्ववन्मन्त्रवाचनम् ॥
वित्तशाठ्यं न कुर्व्वीत कुर्व्वन् दोषं समश्नुते ।
अमृतं पिबतो वक्त्रात् सूर्य्यस्यामृतबिन्दव: ॥
निपेतुर्ये तदुत्थानी शालिमुद्गेक्षव: स्मृता: ।
शर्करापरमस्तस्मादिक्षुसारोऽमृतात्मक: ॥
इष्टा रवेरत: पुण्या शर्करा हव्यकव्ययो: ।
शर्करासप्तमी चैषा वाजपेयफलप्रदा ॥
सर्व्वदु:खोपशमनीं पुत्रसन्ततिवर्द्धनीम् ।
य: कुर्य्यात् परया भक्त्या स परं ब्रह्म गच्छति ।
कल्पमेकं वसेत् स्वर्गे ततो याति महत् पदम् ॥
इदमनघं शृणोति य: स्मरेद्वा
परिपठतीह दिवाकरस्य लोके ।
मतिमपि च ददाति सोऽपि
देवैरमरवधूजनमालया च पूज्य: ॥"
इति मात्स्ये ७२ अध्याय: ॥

शर्करिक:, त्रि, (शर्करा विद्यते अस्मिन् । "कुमुदनडवेतसेभ्यो…"
"कुञ्जाशकटजिलेति ।" ४।२।८० । इति कुमुदादित्वात् ठक् ।) शर्करावान् । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥

शर्करिल:, त्रि, (शर्करा विद्यते अस्मिन् । "देशे लुबिलचौ च ।" ५ । २ । १०५ । इति इलच् ।) शर्करावान् । इत्यमर: ॥

शर्करी, स्त्री, छन्दोविशेष: । नदी । मेखला । इति हस्तलिखितमेदिनी ॥ लेखनी । इति धरणि: ॥ मुद्राङ्कितमेदिनीहेमचन्द्रयो: रेफशून्यद्विककारमध्यपाठ: । अस्या विवरणं शक्करीशब्दे द्रष्टव्यम् ॥

शर्करोदकं, क्ली, (शर्करायुक्तमुदकम् ।) शर्करायुक्तजलम् । चिनिरपाना इति शरवत् इति च भाषा । यथा,—
"जलेन शीतलेनैव घोलिता शुभ्रशर्करा ।
एलालवङ्गकर्पूरमरिचैश्च समन्विता ॥
शर्करोदकनाम्नैतत् प्रसिद्धं विदुषां कुले ।
शर्करोदकमाख्यातं शुक्रलं शिशिरं परम् ॥
बल्यं रुच्यं लघु स्वादु वातपित्तास्रनाशनम् ।
मूर्च्छाच्छर्द्दितृषादाहज्वरशान्तिकरं परम् ॥"
इति भावप्रकाशः ॥

शर्द्धः, पुं, (शृधु शब्दकुत्सायाञ्च + घञ् ।) अपानोत्सर्गः । शृधधातोर्घञ्प्रत्ययेन निष्पन्नमेतत् ॥ (तेजः । यथा, ऋग्वेदे । ४ । १ । १२ ।
"प्र शर्द्ध आर्त्त प्रथमं विपन्या ॥"
"शर्द्धस्तेजः ।" इति तद्भाष्ये सायनः ॥
समूहः । यथा, तत्रैव । १ । ६४ । १ ।
"वृष्णे शर्द्धाय सुमखाय वेधसे ।"
"शर्द्धाय समूहाय ।" इति तद्भाष्ये सायनः ॥
प्रसहनशीले, त्रि । यथा, तत्रैव ।१।३७।४।
"प्र वः शर्द्धाय घृष्वये त्वेष द्युम्नाय शुष्मिणे ।"
"शर्द्धाय प्रसहनशीलाय।" इति तद्भाष्ये सायनः॥)

शर्द्धञ्जहः, पुं, (शर्द्धं जहातीति । हा + "एजेः खश् ।" ३ । २ । । २८ । इत्यत्र । "वातशुनीतिलशर्द्धेष्विति ।" खश् । "अरुर्द्विषदजन्तस्येति ।" ६ । ३ । ६७ । इति मुम् ।) माषः । यथा । शर्द्धं आर्द्दत्वं जहाति इति शर्द्धञ्जहो माषः । इति मुग्धबोधव्याकरणटीकायां दुर्गादासः ॥

शर्द्धनं, क्ली, (शर्द्ध + ल्युट् ।) अधोवायुः । इति मनुटीकायां कल्लूक-भट्टः ॥ वातकर्म्म इति भाषा ॥

शर्व्व, हिंसे । गतौ । इति कविकल्पद्रुमः ॥ शर्व्वति । इति दुर्गादासः ॥

शर्म्म, [न्] क्ली, (शॄ + "सर्व्वधातुभ्यो मनिन् ।" उणा० ४ । १४४ । इति मनिन् ।) सुखम् । इत्यमरः ॥ (यथा, ऋग्वेदे । ४ । २५ । ४ ।
"तस्मा अग्निर्भारतः शर्म्म यं सत् ।"
"शर्म्म सुखम् ।" इति तद्भाष्ये सायनः ॥ यथाच कथासरित्सागरे । ७८ । ४६ ।
"स्वामिभक्तस्तदेतस्य शर्म्मोपायमिमं शृणु ॥")
तद्वति, त्रि ॥ गृहम् । इति निघण्टुः । ३ । ४ ॥
यथाच ऋग्वेदे । ३ । १३ । ४ ।
"स नः शर्म्माणि वीतयेऽग्निर्यच्छतु शन्तमा ।"
"शर्म्माणि शर्म्मशब्दो गृहवाची छाया शर्म्मेति तन्नामसु पाठात् ।" इति तद्भाष्ये सायनः ॥)

शर्म्मा, [न्] पुं, (शृणात्यशुभमिति । शॄ + "सर्व्वधातुभ्यो मनिन् ।" उणा० ४ । १४४ । इति मनिन् ।) ब्राह्मणस्योपाधिविशेषः । यथा,—
"शर्म्मेन्नर्घ्यादिके कार्य्ये शर्म्मा तर्पणकर्म्मणि ।
शर्म्मणोऽन्यकाले च पितॄणां दत्तमक्षयम् ॥"
शर्म्मन्नित्यनेन गोत्रसम्बन्धनामानि पितॄणां परिकल्पयन्निति वाक्यतया शर्म्मान्तं नाम प्रतीयते । तथा च विष्णुपुराणम् ।
"ततश्च नाम कुर्व्वीत पितैव दशमेऽहनि ।
देवपूर्व्वं नराख्यं हि शर्म्मवर्म्मादिसंयुतम् ॥"
देवात् पूर्व्वं नराख्यं नरनाम तच्च विशिष्टं शर्म्मयुतम् । एतच्च विप्रपरम् ।
"शर्म्मा देवश्च विप्रस्य वर्म्म त्राता च भूभुजः ।
भूतिर्द्दत्तश्च वैश्यस्य दासः शूद्रस्य कारयेत् ॥"
इति यमवचनात् ॥
अत्र चकारेण देवशर्म्मणोः समुच्चयः । अथापि शर्म्मादिनामाह शातातपः ॥
"शर्म्मान्तं ब्राह्मणस्य स्याद्वर्म्मान्तं क्षत्त्रियस्य च ।
धनान्तमेव वैश्यस्य दासान्तं चान्त्यजन्मनः ॥"
इति आह्निकतत्त्वम् ॥
(तथा च विष्णुपुराणे । ३ । १० । ८—९ ।
"ततश्च नाम कुर्व्वीत पितैव दशमेऽहनि ।
देवपूर्व्वं नराख्यं हि शर्म्मवर्म्मादिसंयुतम् ॥
शर्म्मेति ब्राह्मणस्योक्तं वर्म्मेति क्षत्त्रसंश्रयम् ।
गुप्तदासात्मकं नाम प्रशस्तं वैश्यशूद्रयोः ॥"
"दशमेऽहनि अतीते इति शेषः । तत्राशौचान्तोपलक्षणम् । अतएव कालान्तरमप्याह । यथा,—
'नामधेयं दशम्याञ्च केचिदिच्छन्ति पार्थिव ।
द्वादश्यामथवा रात्र्यां मासे पूर्णे तथापरे ॥'
इति ॥
देवपूर्व्वं कुलदेवतानामपूर्व्वकं कुलदेवतासम्बन्धं नाम कुर्य्यात् इति शङ्खोक्तेः । नराख्यं पुरुषवाचकम् । तच्च प्रान्ते शर्म्मवर्म्मादिसंयुतम् । यथा, सोमशर्म्मा इन्द्रवर्म्मा चन्द्रवर्म्मा चन्द्रगुप्तः शिवदासः इत्यादि ।" इति तट्टीकायां स्वामी ॥
"तत्रादौ नाम निर्णयः ।
'शर्म्मेति ब्राह्मणस्योक्तं वर्म्मेति क्षत्त्रसंश्रयम् ।
गुप्तदासात्मकं नाम प्रशस्तं वैश्यशूद्रयोः ॥"
इत्यत्रेति पदस्वरसेन यद्यपि शर्म्मपदात्मकमेव नामावगम्यते तथापि तावन्मात्रं न नाम किन्तु तद्युक्तमिति निर्णीयते द्व्यक्षरं चतुरक्षरं इत्यादि शास्त्रदर्शनात् । एवञ्च हरिशर्म्मा नारायणशर्म्मेत्यादि सिध्यति शर्म्मपदमात्रात्मकत्वात् तन्नाम्नश्चतुरक्षरता न स्यादेव । तथाच नारायणादिपदशर्म्मपदाभ्यां निर्णीतमेव नाम दानादिकन्तु शर्म्मपूर्व्वप्रतीकमात्रमेव अतएव दानादौ नामोच्चारणे चैत्रशर्म्मणे इत्येव श्रूयते । गोभिलः ।
'शर्म्मन्नर्घ्यादिके कार्य्ये शर्म्मा तर्पणकर्म्मणि ।
शर्म्मणोऽन्यकाले स्यादेवं कुर्व्वन्न मुह्यति ॥'
इदमप्युत्तरप्रतीकमात्रपरमुक्तग्रन्थेन सहैकवाक्यत्वात् । एतेन शर्म्म सुखनीयमिति कर्कदर्शनात् । शर्म्मपदमर्थपरं तेन शुभङ्करेत्याद्येव नामेत्यपास्तं गोभिलविरोधात् । कर्कन्तु पूर्व्वप्रतीकमात्रपरम् । तेन शुभङ्करशर्म्मा भीमशर्म्मेत्यादि सिध्यति एवञ्च इयकर्णे चैतादृशमेव नाम तेषां प्रयोज्यम् । अपवादकाभावादिति । अत्रैव मनुः ।
'मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात् क्षत्त्रियस्य बलान्वितम् ।
वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् ॥
शर्म्मवद्ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम् ।
स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम् ।
मङ्गल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्व्वादाभिधानवत् ॥'
शर्म्मवर्म्मप्रभृतीनि उत्तरपदानि कार्य्याणीति मनुटीकापि । स्त्रीनाम तु यशोदादेवीत्यादि स्त्रीणां दासमित्यपि पूर्व्वप्रतीकमात्रपरम् । वैश्यस्य गुप्तान्तमिति तु पराशरः । एवञ्च दानादौ चैत्रशर्म्मणे ब्राह्मणायेत्यादि स्वरूपं वाक्यम् ॥" इति द्वैतनिर्णयः ॥ * ॥)

शर्म्मरः, पुं, वस्त्रभेदः । इति धरणिः ॥

शर्म्मरा, स्त्री, दारुहरिद्रा । इति धरणिः ॥

शर्य्या, स्त्री, रात्रिः । यथा,—
"त्रियामा शर्व्वरी शर्य्या क्षयिणी क्षणदा क्षपा ।"
इति भरतधृतवाचस्पतिः ॥
(इषुः । यथा, ऋग्वेदे । १ । १४ । ४ ।
"शर्य्यामधना मधुवन् ।" "शर्य्या इषवः शरमय्यः । इति यास्कः ॥" इति तद्भाष्ये सायनः ॥
अङ्गुलिः । यथा, तत्रैव । ९ । ११० । ५ ।
"शर्य्याभिर्न्न भरमाणो गभस्त्योः ।"
"शर्य्याभिरङ्गुलीभिः ।" इति तद्भाष्ये सायनः ॥)

शर्य्यातिः, पुं, वैवस्वतमनुपुत्त्रः । तस्य पुत्त्र आनर्त्तः । यथा,—
"आनर्त्तो नाम शर्य्यातेः सुकन्या नाम दारिका ।
आनर्त्तस्याभवत् पुत्त्रो रोचमानः प्रतापवान् ।
आनर्त्तो नाम देशोऽभून्नगरी च कुशस्थली ॥"
इति मात्स्ये १२ अध्यायः ॥
(अस्य विशेषविवरणं भागवते । ८ । १३ । एवं ९ । १ । अध्याये च द्रष्टव्यम् ॥)

शर्व्व, हिंसे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट् ।) शर्व्वति । इति दुर्गादासः ॥

शर्व्वः, पुं, (शृणाति सर्व्वाः प्रजाः संहरति प्रलये संहारयति वा भक्तानां पापानि । शॄ + "कॄगॄशॄदॄभ्यो वः ।" उणा० १।१५५। इति वः ।) शिवः । इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, रघुवंशे । ११ । ९३ ।
"कतिचिदवनिपालाः शर्व्वरीः शर्व्वकल्पः ॥")
दन्त्यसादिरप्ययम् । विष्णुः । यथा,—
"शर्व्वः सर्व्वः शिवः स्थाणुर्भूतादिर्निधिरव्ययः ।"
इति तस्य सहस्रनामस्तोत्रम् ॥

शर्व्वरं, क्ली, तमः । कन्दर्पः । इति संक्षिप्तसारोणादिवृत्तिः ॥

शर्व्वरी, स्त्री, (शृणाति चेष्टामिति । शॄ + "कॄगॄशॄपॄचतिभ्यः ष्वरच् ।" उणा० २ । १२१ । इति ष्वरच् । षित्वात् ङीष् ।) रात्रिः । इत्यमरः ॥ (यथा, ऋग्वेदे । ५ । ५२ । ३ ।
"अतिस्कन्दन्ति शर्व्वरीः ॥")
योषित् । इति मेदिनी ॥ हरिद्रा । इति विश्वः ॥ सन्ध्या । इति संक्षिप्तसारोणादिवृत्तिः ॥

शर्व्वला, स्त्री, तोमरास्त्रम् । इत्यमरटीकायां रायमुकुटः ॥ दन्त्यसादिरप्ययम् ॥

शर्व्वाणी, स्त्री, (शर्व्वस्य भार्य्या । "इन्द्रवरुणभवेति ।" ४।१।४९ । इति ङीष् ।) पार्व्वती ।

इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, कथासरित्सागरे । १ । ५८ ।
"निपत्य पादयोस्ताभ्यां जयया सह बोधिता । शापान्तं प्रति शर्व्वाणी शनैर्व्वचनमब्रवीत् ॥")
दन्त्यसादिरप्ययं शब्दः ॥

शर्शरीकः, पुं, (शॄ + "शॄपॄवृञां द्वित्वक् चाभ्यासस्य ।" उणा० ४।१६। इति ईकन् द्वित्वमभ्यासस्य उक् च ।) हिंस्रः । खलः । इत्युणादिकोषः ॥ अश्वः । मङ्गलाभरणम् । अग्निः । इति संक्षिप्तसारोणादिवृत्तिः ॥

शल, वेगे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट् ।) शलति । इति दुर्गादासः ॥

शल, क ङ श्लाघे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (चुरा०-आत्म०-सक०-सेट् ।) क ङ, शालयते पण्डितं धीरः । इति दुर्गादासः ॥

शल, ङ चलने । स्मृतौ । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-आत्म०-अक०-सक० च-सेट् ।) ङ, शलते । चलनं कम्पः । स्मृतिरिह संवरणम् । इति दुर्गादासः ॥

शल, ज गतौ । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट् ।) ज, शालः शलः । इति दुर्गादासः ॥

शलं, क्ली, (शल + "ज्वलितिकसन्तेभ्यो णः ।" ३ । १ । १४० । इति णः ।) शल्लकीलोम । सजारु-काँटा इति भाषा । तत्पर्य्यायः । शलली २ शललम् ३ । इत्यमरः ॥

शलः, पुं, शललम् । भृङ्गी । चेलभेदः । ब्रह्मा । इति मेदिनीशब्दरत्नावल्यौ ॥ कुन्ताख्यम् । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ उष्ट्रः । इति हेमचन्द्रः ॥ (वासुकिवंशीयसर्पविशेषः । यथा, महाभारते । १ । ५७ । ५ ।
"कोटिशो मानसः पूर्णः शलः पालो हलीमकः ॥"
शन्तनुराजपुत्रः । यथा, भागवते । ६ । २२ । १८ ।
"शलश्च शन्तनोरासीत् गङ्गायां भीष्म आत्मवान् ।"
शल्यराजः । यथा, भागवते । १ । १५ । १६ ।
"नमुचिगर्भशलसैन्धववाह्लिकाद्यैः ॥"
कंसामात्यः । यथा, तत्रैव । १० । ३६ । २१ ।
"ततो मुष्टिकचाणूरशलतोशलकादिकान् ॥")

शलकः, पुं, मर्कटः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ माकड़सा इति भाषा ॥

शलङ्गः, पुं, लोकपालः । लवणविशेषः । इत्युणादिकोषः ॥

शलभः, पुं, (शल + "कृशृशलिकलिगर्दिभ्योऽभच् ।" उणा० ३ । १२२ । इति अभच् ।) कीटविशेषः । फड़िं इति पङ्गपाल इति च भाषा । तत्पर्य्यायः । पतङ्गः २ । इत्यमरः ॥ पत्राङ्गः ३ पत्राङ्कः ४ । इति शब्दरत्नावली ॥ स तु ईतिविशेषः । यथा,—
"अतिवृष्टिरनावृष्टिः शलभा मूषिकाः खगाः । प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेते ईतयः स्मृताः ॥"
इति ज्योतिस्तत्त्वम् ॥

(असुरविशेषः । यथा, हरिवंशे । ३ । ८८ ।
"शरभः शलभश्चैव विप्रचित्तिश्च वीर्य्यवान् ॥")

शललं, क्ली, (शल चलनसंवरणयोः + वृषादित्वात् कलः ।) शलम् । इत्यमरः ॥

शलली, स्त्री, (शलल + गौरादित्वाज्जातित्वाद्वा ङीष् ।) शलम् । इत्यमरः ॥ शली । इति राजनिर्घण्टः ॥

शलाका, स्त्री, (शल + "बलाकादयश्च ।" उणा० ४।१४ । इति आकः । स्त्रियां टाप् ।) शल्यम् । मदनवृक्षः । शारिका । शल्लकी । छत्रादिकाष्ठी । (यथा, गुरुगीतायाम् ।
"अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया । चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥")
शरः । इति मेदिनी ॥ आलेख्यकूर्च्चिका । इति हेमचन्द्रः ॥ अस्थि । इति शब्दचन्द्रिका ॥

शलाकापरि, व, शलाकाक्रीड़ायां पराजयः । यथा । "अक्षशलाकासंख्याः परिणा ।" २।१।१० । द्यूतव्यवहारे पराजये एवायं समासः । अक्षे विपरीतं वृत्तम् । अक्षपरि । एवं शलाकापरि । एकपरि । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥ अपि च । नन्वेकस्याक्षस्य शलाकाया वा दूरतोऽन्यथापातनमित्यर्थे अक्षपरि शलाकापरि इत्यव्ययीभावेऽव्यापिन्नयोरव्ययगर्भत्वेऽपि अव्ययपूर्व्वत्वाभावात् । इति शब्दशक्तिप्रकाशिका ॥

शलाकापुरुषाः, पुं, बौद्धानां त्रिषष्टिदेवपुरुषाः । तत्र द्वादश चक्रवर्त्तिनः । चतुर्व्विंशतिजिनाः । नव वासुदेवाः । नव बलदेवाः । नव प्रतिवासुदेवाश्च । यथा,—
"यः सर्व्वमङ्गलश्रेष्ठो राजसूयश्च योऽयजत् । चक्रवर्त्ती सार्व्वभौमस्ते तु द्वादश भारते ॥ आर्षभिर्भरतस्तत्र सगरस्तु सुमित्रभूः । मघवा वैजयिरथाश्वसेननृपनन्दनः ॥ सनत्कुमारोऽथ शान्तिकुन्थ्वररोजिना अपि । सुभूमस्तु कार्त्तवीर्य्यः पद्मः पद्मोत्तरात्मजः ॥ हरिषेणो हरिसुतो जयो विजयनन्दनः । ब्रह्मसुतो ब्रह्मदत्तः सर्व्वे चेक्ष्वाकुवंशजाः ॥ प्राजापत्यस्त्रिपृष्ठोऽथ द्विपृष्ठो ब्रह्मसम्भवः । स्वयम्भू रुद्रतनयः सोमभूः पुरुषोत्तमः ॥ शैविः पुरुषसिंहोऽथ महाशीरः समुद्भवः । स्यात् पुरुषपुण्डरीकौ दत्तोऽग्निः सिंहनन्दनः ॥ नारायणो दाशरथिः कृष्णस्तु वसुदेवभूः । वासुदेवा अमी कृष्णा नव शुक्ला बलास्त्वमी ॥ अचलो विजयो भद्रः सुप्रभश्च सुदर्शनः । आनन्दो नन्दनः पद्मो रामो विष्णुद्विषस्त्वमी ॥ अश्वग्रीवस्तारकश्च मेरको मधुरेव च । निशुम्भबलिप्रह्लादलङ्केशमगधेश्वराः । जिनः सह त्रिषष्टिः स्युः शलाकापुरुषा अमी ॥"
इति हेमचन्द्रः ॥

शलाटः, पुं, शकटपरिमाणम् । यथा,—
"तुलापलशतं तासां विंशत्या भार आचितः । शकटः शाकटीनश्च शलाटस्ते दशाचितः ॥"
इति हेमचन्द्रः ॥

शलाटुः, त्रि, अपक्वफलम् । इत्यमरः । २।४।१५ ॥ (यथा, सुश्रुते । १ । ४३ ।
"मदनशलाटु चूर्णान्येवं वा वकुलरम्यकोपयुक्तानि मधुलवणयुक्तानीति ॥")

शलाटुः, पुं, मूलविशेषः । इत्युणादिकोषः ॥ बिल्वः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शलाभोलिः, पुं, उष्ट्रः । इति हेमचन्द्रः ॥

शलालु, स्त्री, सुगन्धिद्रव्यविशेषः । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥

शलालुकः, त्रि, शलालुना क्रीतं वस्तु । यथा । "शलालुनोऽन्यतरस्याम् ।" ४ । ४ । ५४ । इति पक्षे ठक् । शलालुकः । शलालुकी । शालालुकः । शालालुकी । शलालु सुगन्धिद्रव्यविशेषः । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥

शली, स्त्री, (शलं शल्लकीलोम अस्त्यस्या इति । शल + अच् । ङीष् ।) स्वल्पशल्यकः । तत्पर्य्यायः । शलली २ श्वावित् ३ । अस्य मांसगुणाः । गुरुत्वम् । स्निग्धत्वम् । शीतलत्वम् । कफपित्तनाशित्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥

शल्कं, क्ली, (शल चलने स्मृतौ + "शुकभीकापाशल्यतिमर्च्चिभ्यः कन् ।" उणा० ३ । ४३ । इति कन् ।) खण्डम् । वल्कलम् । इत्यमरः ॥ मत्स्यत्वक् । आँइस इति भाषा । यथा,—
"शल्कं स्यात् वल्कले खण्डे शल्कन्तु मत्स्यवल्कले ॥"
इति भरतधृतकोषः ॥ (यथा, महाभारते । १२ । ३६ । २३ ।
"अभक्ष्या ब्राह्मणैर्मत्स्याः शल्कैर्ये वै विवर्जिताः ॥")

शल्कलं, क्ली, मत्स्यवल्कलम् । वृक्षत्वक् । शलधातोः कलच्प्रत्ययेन निष्पन्नमेतत् । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥

शल्कली, [न्] पुं, (शल्कलमस्यास्तीति । शल्कल + इनिः ।) मत्स्यः । इति शब्दरत्नावली ॥

शल्की, [न्] पुं, (शल्कमस्यास्तीति । शल्क + इनिः ।) मत्स्यः । इति हेमचन्द्रः ॥

शल्यदा,
शल्यपर्णिका, } स्त्री, मेदा । इति राजनिर्घण्टः ॥

शल्भ, ङ कत्थने । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-आत्म०-सक०-सेट् ।) ङ, शल्भते । कत्थनं प्रशंसा । इति दुर्गादासः ॥

शल्मलिः, पुं, शाल्मलीवृक्षः । (यथा, वाजसनेयसंहितायाम् । २३ । १३ । "शाल्मलिर्वृद्ध्या ।" "शाल्मलिर्वृक्षविशेषो वृद्ध्या स्वामवतु शल्मलिर्वनस्पतीनां वर्षिष्ठं वर्द्धते इति श्रुतेः ।" इति तद्भाष्यम् ॥)

शल्मली, स्त्री, शाल्मलिवृक्षः । यथा,—
"शल्मलिः स्यात् शाल्मलिश्च शाल्मली शल्मली तथा ॥"
इति भरतद्विरूपकोषः ॥

शल्यं, क्ली, (शलति चलतीति । शल + "सानसिवर्णसिपर्णसीति ।" उणा० ४ । १०७ । इति

य: ।) श्वाविट्‌ । इषु: । (यथा, रघु: । ६ । ७५ ।
"शल्यप्रोतं प्रेक्ष्य सकुम्भं मुनिपुत्रं
तापादन्तःशल्य इवासीत् क्षितिपोऽपि ॥")
तोमरम् । इति मेदिनी ॥ वंशशलाका । इति विश्व: ॥ दु:सहम् । दुर्व्वाक्यम् । इति शब्दरत्नावली ॥ पापम् । इति त्रिकाण्डशेष: ॥ अस्थि । यथा । अथ शल्योद्धारविधि: ।
"सुनिश्चितां मन्दिरभूमिमादौ
निखाय तोयावधि यत्नतस्ताम् ।
कुर्य्याद्विशल्यामथवा इमानं
ज्ञात्वाथवा प्रश्नवशाद्विधिज्ञ: ॥
दूर्व्वाप्रवालाक्षतपुष्पपाणि:
शुचि: शुचिं दैवविदं समेत्य ।
पृच्छेद्विनीतो मधुरस्वरेण
शल्यस्य तत्त्वं भवने तदीश: ॥
तत: प्रश्नादिमो वर्ण: सन्धार्य्यो यत्नतोऽथवा ।
क्रमात् पुष्पापगादेव फलानां आख्ययादित: ॥
प्रणवो धरणी धारिणी करौ च तदनन्तरम् ।
न भूत्वे नम इत्येष मन्त्रो वह्निप्रियान्तक: ॥"
वह्निप्रिया स्वाहा ।
"मन्त्रेणानेन कठिनीमभिमन्त्र्य विभाजयेत् ।
नवधा सदनक्षेत्रं तया पश्चाद्विलेखयेत् ॥
व-क-च-त-ए-हा: श-प-या नव चेत् प्रश्नाक्षराणि जायन्ते ।
प्रागादिकोष्ठे नवके वर्णास्ते शल्यमाख्यान्ति ॥
प्रश्ने वकार: पुरतो नरास्थि
ब्रवीति शल्यं मरकप्रदायि ।
चौर्य्याग्निदण्डोरगहेतुस्त्वग्नेः
प्रदं ककार: खरशल्यमग्नौ ॥
याम्यां चकार: श्वनरास्थि वेश्म
प्रभोर्विनाशं प्रकरोति शल्यम् ।
रक्षोदिशि श्वास्थिगृहस्थितानां
महद्भयं वक्ति सुनिश्चितं त: ॥
ए: पाश्चिदिश्यस्थि शिशोर्ब्रवीति
स्त्वनुं प्रवासादृगृहमेव शल्यम् ।
हो वायुकोणे नरकूपमस्थि
दारिद्र्यमित्रक्षयकृद्विधत्ते ॥"
धनपदिशि शकार: प्राह विप्रास्थि वित्तक्षयकृदथ यकारो वक्ति कच्चास्थि शम्भौ ।
तदिह कुलविनाशं गोधनानाञ्च हानिं वितरति गृहनाथस्यापि शुभस्य देवै: ॥
षो मध्यभागे भसितं कपालं
कालायसं चाह कुलक्षयाय ।
यत्नादपास्यान्यधना प्रमाणं
सर्व्वत्र तथ्यं कथयामि शल्ये ॥
इन्द्रचोजलेशाने शल्यं साङ्ककरे कटौ ।
वह्न्यन्तकाकुबेरेषु पुरुषे मध्यवातयो: ॥"
देवीपुराणम् ।
"पुरुषाध:स्थितं शल्यं न गृहे दोषदं भवेत् ।
प्रासादे दोषदं शल्यं भवेद्यावज्जलान्तकम् ॥
गृहारम्भेऽतिकण्डूति: स्वाम्यङ्गे यदि जायते ।
शल्यं त्वपनयेत्तत्र प्रासादे भवनेऽपि वा ॥"
इति ज्योतिस्तत्त्वम् ॥ * ॥
सप्त शल्यानि यथा,—
"नृपो न हरिसेवको व्ययधनो न सद्व्यापृत:
कविर्न सुरजित् कवि: श्रुतगुणर्न सद्भावन: ।
गुणी न भगवत्परो रचितधीर्न सद्ध्याश्रय:
स न व्रजजनाशुगो जगति सप्त शल्यानि च ॥"
इति पाद्मोत्तरखण्डे १०० अध्याय: ॥
शल्य:, पुं, (शल गतौ + य: ।) मदनवृक्ष: । श्वावित् । इत्यमर: ॥ (यथा, भागवते ।८।२।२२।
"वृका वराहा महिषर्क्षशल्या
गोपुच्छशालावृकमर्कटाश्च ॥")
नृपभेद: । स तु युधिष्ठिरमातुल: । (अयं हि दुर्य्योधनेन कापट्यात् वशीकृत: कुरुपाण्डवयुद्धे दुर्य्योधनपक्षं समाश्रयत् । यथा, महाभारते । १ । २ । २१६ ।
"मद्रराजश्च राजानमायान्तं पाण्डवान् प्रति ।
उपहारैर्वञ्चयित्वा वर्त्मन्येव सुयोधन: ॥
वरदं तं वरं वव्रे साहाय्यं क्रियतां मम ।
शल्यस्तस्मै प्रतिश्रुत्य जगामोद्दिश्य पाण्डवान् ॥"
कर्णार्ज्जुनयोर्द्वैरथयुद्धे शल्यस्य कर्णतेजो भङ्गकरणे प्रतिज्ञा । यथा, तत्रैव । ५ । ८।३७-४५।
युधिष्ठिर उवाच ।
"सुकृतं ते कृतं राजन् ! प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।
दुर्य्योधनस्य यद्वीर त्वया वाचा प्रतिश्रुतम् ॥
एकं त्विच्छामि भद्रन्ते क्रियमाणं महीपते ।
राजन्नकर्त्तव्यमपि कर्त्तुमर्हसि मातुल ॥
मम त्ववेक्षया वीर शृणु विज्ञापयामि ते ।
भवानिह महाराज वासुदेवसमो युधि ॥
कर्णार्ज्जुनाभ्यां संप्राप्ते द्वैरथे राजसत्तम ।
कर्णस्य भवता कार्य्यं सारथ्यं नात्र संशय: ॥
तत्र पाल्योऽर्ज्जुनो राजन् यदि मत्प्रियमिच्छसि ।
तेजोवधश्च ते कार्य्य: सौतेरस्मज्जयावह: ।
अकर्त्तव्यमपि ह्येतत् कर्त्तुमर्हसि मातुल ॥
शल्य उवाच ।
शृणु पाण्डव भद्रं ते यद्‌ब्रवीषि दुरात्मन: ।
तेजोवधनिमित्तं मां सूतपुत्रस्य संयुगे ॥
अहं तस्य भविष्यामि संग्रामे सारथिर्ध्रुवम् ।
वासुदेवेन हि समं नित्यं मां स हि मन्यते ॥
तस्याहं कुरुशार्दूल प्रतीपमहितं वच: ।
ध्रुवं सङ्कथयिष्यामि योद्धुकामस्य संयुगे ॥
यथा च हृतदर्पश्च हृततेजाश्च पाण्डव ।
भविष्यति सुखं हन्तुं सत्यमेतद्‌ब्रवीमि ते ॥"
युधिष्ठिरस्तु एनं हतवान् । एतद्‌वृत्तान्तस्तु महाभारते शल्यपर्व्वणि १७ अध्याये द्रष्टव्य: ॥)
सीमा । शलाका । इति हेमचन्द्र: ॥ विल्ववृक्ष: । मत्स्यभेद: । इति राजनिर्घण्ट: ॥ * ॥
शल्यनि:सरणौषधं यथा,—
"रुद्र लाङ्गलिकामूलं हिज्जलस्य तथैव च ।
तेन व्रणमुखं लिप्तं शल्यो नि:सरति व्रणात् ।
चिरकालप्रविष्टोऽपि तेन मार्गेण शङ्कर ॥"
इति गारुडे १६३ अध्याय: ॥

शल्य:, पुं, क्ली, शस्त्रविशेष: । शेल इति भाषा । तत्पर्य्याय: । शङ्कु: २ । इत्यमर: ॥ दीर्घायुध: ३ शल: ४ कुन्त: ५ विषाङ्कुर: ६ । इति त्रिकाण्डशेष: ॥
शल्यक:, पुं, (शल्य इव । शल्य + इवार्थे कन् ।) मदनवृक्ष: । इति शब्दरत्नावली ॥ शल्लकीजन्तु: । इति राजनिर्घण्ट: ॥ (यथा, मनु: । ५ । १८ ।
"श्वाविधं शल्यकं गोधां खड्‌गकूर्म्मशशांस्तथा ।
भक्ष्यान् पञ्चनखेष्वाहुरनुष्ट्रांश्चैकतोदत: ॥")
शल्यकण्ठ:, पुं, (शल्यं तद्रोम कण्ठेऽपि यस्य ।) शल्लकी । इति शब्दचन्द्रिका ॥
शल्यलोम, [न्] क्ली, (शल्यवत् लोम ।) शल्ली । इति राजनिर्घण्ट: ॥
शल्यारि:, पुं, (शल्यस्य अरित्वनाशकत्वात् ।) युधिष्ठिरराज: । इति हेमचन्द्र: ॥
शल्ल, गत्याम् । इति कविकल्पद्रुम: ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट् ।) शल्लति । इति दुर्गादास: ॥ सौत्रधातुरयम् ॥
शल्लं, क्ली, त्वक् । इति शब्दरत्नावली ॥
शल्ल:, पुं, भेक: । इति शब्दरत्नावली ॥
शल्लकं, क्ली, (शल्लमेव । स्वार्थे कन् ।) त्वक् । इति शब्दरत्नावली ॥
शल्लक:, पुं, शोणवृक्ष: । इति जटाधर: ॥ (शल्लकीजन्तु: । यथा, याज्ञवल्क्ये । १ । १७७ ।
"भक्ष्या: पञ्चनखा: सेधा गोधाकच्छपशल्लका: ।
शशाश्च मत्स्येष्वपि हि सिंहतुण्डकरोहिता: ॥")
शल्लकी, स्त्री, पशुविशेष: । शजारु इति वङ्गभाषा । साहिल इति हिन्दीभाषा ॥ तत्पर्य्याय: । श्वावित् २ शलका ३ शल्य: ४ । इति जटाधर: ॥ क्रकचपाद: ५ छेदार: ६ । इति शब्दरत्नावली ॥ शल्यक: ७ शल्यन्दम: ८ वज्रशल्य: ९ विलेशय: १० । अस्या मांसगुणा: ।
"शल्यमांसं गुरु स्निग्धं शीतलं कफपित्तजित् ॥"
इति राजनिर्घण्ट: ॥
भावप्रकाशोक्तगुणा: विलेशयशब्दे द्रष्टव्या: ॥ वृक्षविशेष: । (यथा, रामायणे । २ । ५५ । ६ ।
"क्रोशमात्रं ततो गत्वा नीलं प्रेक्ष्य च काननम् ।
शल्लकीवदरीमिश्रं राम वन्यैश्च यामुनै: ।
स पन्थाश्चित्रकूटस्य गतस्य बहुशो मया ॥")
तत्पर्य्याय: । गजभक्ष्या २ सुवहा ३ सुरभि: ४ रसा ५ महेरणा ६ कुन्दुरुकी ७ ह्लादिनी ८ । इत्यमर: ॥ गजभक्षा ९ सुरभी १० महेरुणा ११ महारणा १२ ह्रादिनी १३ सिल्लकी १४ सल्लकी १५ । इति भरत: ॥ सुरभीरसा १६ शिल्लकी १७ । इति टीकान्तरम् ॥ सिल्हकी १८ सिल्हभूमिका १९ । इति शब्दरत्नावली ॥ अश्वस्रवी २० कुन्ती २१ । इति जटाधर: ॥
शल्लकीद्रव:, पुं, सिल्हक: । इति जटाधर: ॥
शल्व:, पुं, शाल्वदेश: । इत्युणादिकोष: ॥

शव, विकारे। गतौ। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट्।) शवति चित्तं कामः। इति दुर्गादासः॥

शवं, क्ली, (शवति गच्छतीति। शव+अच्।) जलम्। इति मेदिनी॥

शवः, पुं, क्ली, (शवति दर्शनेन चित्तं विकरोतीति। शव विकारे+अच्।) मृतशरीरम्। तत्पर्य्यायः। कुणपः २। इत्यमरः॥ चितिवर्द्धनः ३। इति शब्दरत्नावली॥ मृतकम् ४। इति वराहपुराणम्॥*॥ तद्दाहविधिर्यथा,—

"नष्टसंज्ञं समुद्दिश्य ज्ञात्वा मृत्युवशं गतम्।
महावनस्पतिं गत्वा गन्धांश्च विविधानपि॥
घृततैलसमायुक्तं कृत्वा वै देहशोधनम्।
तेनो यपकरं चास्य तत् सर्व्वं परिकल्प्य च॥
दक्षिणायां शिरः कृत्वा सलिले तं निधाय च।
तीर्थाद्यावाहनं कृत्वा स्नापनं तस्य कारयेत्॥
गयादीनि च तीर्थानि ये च पुण्याः शिलोच्चयाः।
कुरुक्षेत्रञ्च गङ्गा च यमुना च सरिद्वरा॥
कौशिकी च पयोष्णी च सर्व्वपापप्रणाशिनी।
गण्डकी भद्रनामा च सरयूर्बलदा तथा॥
वनानि नव वाराहं तीर्थं पिण्डारकं तथा।
पृथिव्यां यानि तीर्थानि चत्वारः सागरास्तथा॥
सर्व्वाणि मनसा ध्यात्वा स्नानमेवन्तु कारयेत्।
प्राणान्तन्तु तं ज्ञात्वा चितां कृत्वा विधानतः॥
तस्या उपरि तं स्थाप्य दक्षिणाग्रं शिरस्तथा।
देवानभिमुखान् ध्यात्वा गृह्य वह्निं हुताशनम्॥
प्रज्वाल्य विधिवत्तञ्च मन्त्रमेतदुदीरयेत्।
कृत्वा सुदुष्करं कर्म्म जानता वाप्यजानता॥
मृत्युकालवशं प्राप्य नरः पञ्चत्वमागतः।
धर्म्माधर्म्मसमायुक्तो लोभमोहसमावृतः॥
दह एतस्य गात्राणि देवलोकाय गच्छतु।
एवमुक्त्वा ततः शीघ्रं कृत्वा चैव प्रदक्षिणम्॥
ज्वलमानं तदा वह्निं शिरःस्थाने प्रदापयेत्।
चातुर्व्वर्ण्येषु संस्कारमेवं भवति पुत्रक।
गात्राणि वाससी चैव प्रक्षाल्य विनिवर्त्तयेत्॥
मृतनाम समुद्दिश्य दद्यात् पिण्डं महीतले।
तदाप्रभृति चाशौचं देवकर्म्म न कारयेत्॥"

इति वाराहे श्राद्धोत्पत्तिनामाध्यायः॥ अन्यत् दाहशब्दे द्रष्टव्यम्॥*॥ तस्य स्पर्शे दोषो यथा,—

वाराह उवाच।
"स्पृष्ट्वा तु मृतकं भद्रे नरं पञ्चत्वमागतम्।
मम शास्त्रं बहिः कृत्वा यः श्मशानं प्रपद्यते॥
पितरस्तस्य सुश्रोणि आत्मानञ्च पितामहाः।
श्मशाने जम्बुका भूत्वा भक्षयन्तः शवांस्तथा॥
ततो हरेर्व्वचः श्रुत्वा कर्म्मकामा वसुन्धरा।
उवाच मधुरं वाक्यं सर्व्वलोकहिताय वै॥

धरण्युवाच।
तव नाथ प्रपन्नानां क पापं विद्यते प्रभो।
प्रायश्चित्तञ्च मे ब्रूहि येन मुच्यति किल्बिषात्॥

वाराह उवाच।
शृणु सुन्दरि! तत्त्वेन यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
कथयिष्यामि ते ह्येतं शोभनं पापनाशनम्॥
एकाहारं दिनान् सप्त त्रिदिनं चाप्युपोषितः।
पञ्चगव्यं ततः पीत्वा शीघ्रं मुच्यति किल्बिषात्॥
शवे स्पृष्टेऽपराधस्य एष ते कथितो विधिः।
सर्व्वथा वर्जनीयो वै सर्व्वभागवतेन तु॥
य एतेन विधानेन प्रायश्चित्तं समाचरेत्।
विमुक्तः सर्व्वपापेभ्यः अपराधो न विद्यते॥"

अपि च।

वराह उवाच।
"स्पृष्ट्वा तु मृतकं देवि! यो मत्कर्म्मसु तिष्ठति।
शतं वर्षसहस्राणि गर्भेषु परिवर्त्तते॥
दश वर्षसहस्राणि चण्डालश्चैव जायते।
अन्धः सप्तसहस्राणि मण्डूकश्च शतं समाः॥
मक्षिका त्रीणि वर्षाणि टिट्टिभैकादशं समाः।
दश वै सप्त चान्यानि शकलासो भवेत् समाः॥
हस्ती वर्षशतञ्चैव खरो द्वात्रिंशको भवेत्।
मार्ज्जारो नव वर्षाणि वानरो दश पञ्च च॥
एवं स चापराधेन मम कर्म्मपरायणः।
प्राप्नोति सुमहद्दुःखं देवि! एवं न संशयः॥
ततो हरेर्व्वचः श्रुत्वा दुःखेन परिपृच्छति।
सर्व्वसंसारमोक्षाय प्रत्युवाच वसुन्धरा॥
किमिदं भाषसे देव मानुषाणां दुरासदम्।
वाक्यं भीषणकञ्चैव मम कर्म्मप्रतोदकम्॥
आचाराच्च परिभ्रष्टस्तव कर्म्मपरायणः।
तरन्ति येन दुर्गाणि प्रायश्चित्तं तथा वद॥
श्रुत्वा पृथ्व्यास्ततो वाक्यं लोकनाथो जनार्द्दनः।
धर्म्मसंरक्षणार्थाय प्रत्युवाच वसुन्धराम्॥

वराह उवाच।
स्पृष्ट्वा तु मृतकं भूमे मम कर्म्मपरायणः।
एकाहारं ततस्तिष्ठेत् दिनानि दश पञ्च च॥
तत एवं विधिं कृत्वा पञ्चगव्यं तु प्राशयेत्।
शुद्धभावं विशुद्धात्मा कर्म्मणा च न लिप्यते॥
एतत्ते कथितं देवि स्पृष्ट्वा मृतकमेव च।
दोषञ्चैव विबुध्याथ यत्त्वया पूर्व्वपृच्छितम्॥
य एतेन विधानेन प्रायश्चित्तं समाचरेत्।
अपराधविनिर्म्मुक्तो मम लोकं स गच्छति॥"

इति वाराहे मृतस्पर्शनस्पर्शनप्रायश्चित्तनामाध्यायः॥*॥ शवानुगमनाशौचं यथा। कूर्म्मपुराणम्।

"प्रेतीभूतं द्विजं विप्रो योऽनुगच्छति कामतः।
स्नात्वा सचैलं स्पृष्ट्वाग्निं घृतं प्राश्य विशुध्यति॥
एकाहात् क्षत्त्रिये शुद्धिर्वैश्ये च स्यात् द्व्यहेन तु।
शूद्रे दिनत्रयं प्रोक्तं प्राणायामशतं पुनः॥"

एतच्च घृतप्राशनं शुद्धिहेतुत्वान्नियमपरम्। न तु प्रायश्चित्तवद्दोषनाशपरम्। तत्र तपस्यास्तथा। अनुः सहार्थः। यत्तु याज्ञवल्क्यवचनम्।

"ब्राह्मणेनानुगन्तव्यो न तु शूद्रः कथञ्चन।
अनुगम्याम्भसि स्नात्वा स्पृष्ट्वाग्निं घृतभुक् शुचिः॥"

तत्प्रमादादनुगमने कथञ्चनेत्यभिधानात्। अम्भसि न तूद्धृतोदके॥*॥ शूद्रस्य ब्राह्मणशववहने दोषो यथा,—

"मृतब्राह्मणदेहाञ्च देवात् शूद्रा वहन्ति चेत्।
पदप्रमाणवर्षञ्च तेषाञ्च नरके स्थितिः॥
ततस्तेषाञ्च साहाय्यं करोति हरिरूपिणी।
ददाति मुक्तिं तेभ्योऽपि क्रमेण च कृपामयी॥
अन्न पुण्यवतां गेहे कारयित्वा च भारते।
स्थानं ददाति वैकुण्ठे निश्चितं जन्मभिस्त्रिभिः॥"

इति ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे ४४ अध्यायः॥ शवदूषितगृहजलाशयादीनां शुद्धिर्यथा,—

ब्रह्मपुराणम्।
"येषामभक्ष्यं मांसञ्च तच्छरीरैर्युतञ्च यत्।
वापीकूपतडागेषु जलं सर्व्वञ्च दुष्यति॥"

तच्छरीरैर्म्मृतशरीरैः। उत्तरवचने कुणपग्रहणात्। यथा,—

"सकुणपं सकर्द्दमं तेभ्यस्तोयमपास्य तत्।
प्रक्षिपेत् पञ्चगव्यञ्च समन्त्रं सर्व्वशुद्धिकृत्॥
अपास्य कुणपं तेभ्यो बहुतोयेभ्य एव वा।
शतं षष्ट्यथवा त्रिंशत् तोयकुम्भान् समुद्धरेत्॥"

वापी ससोपाना। निःसोपानः कूपः। तडागः पद्माकरः। शतादिजलाल्पत्वाद्यपेक्षया अल्पस्य सर्व्वोद्धारणाभिधानात्। एवं मरणसमये गृहान्निःसार्य्यते अन्यथा गृहस्य दुष्टता स्यात्॥ यथा, वृहन्मनुः।

"स्वभूस्पपतितास्वान्त्या मृताश्चेद्विजमन्दिरे।
शौचं तत्र प्रवक्ष्यामि मनुना भाषितं यथा॥
दशरात्राच्छुनि शते मासाच्छूद्रे भवेच्छुचिः।
द्वाभ्यान्तु पतिते गेहे अन्त्ये मासचतुष्टयात्।
अत्यन्त्ये वर्ज्जयेद्गेहमित्येवं मनुरब्रवीत्॥"

द्वाभ्यां मासाभ्यां माससम्बन्धपाठात्। अन्त्यो म्लेच्छः। अत्यन्त्यः श्वपाकः। इति वाचस्पतिमिश्राः॥ यमः।

"द्विजस्य मरणे वेश्म विशुध्यति दिनत्रयात्।
दिनैकेन बहिर्भूमिरग्निप्रोक्षणलेपनैः॥"*॥

यथोक्तकालानन्तरकर्त्तव्यमाह सम्वर्त्तः।

"गृहशुद्धिं प्रवक्ष्यामि अन्तस्थशवदूषिते।
प्रोत्सृज्य मृण्मयं पात्रं सिद्धमन्नं तथैव च॥
गृहादपास्य तत् सर्व्वं गोमयेनोपलेपयेत्।
गोमयेनोपलिप्याथ छागेनाघ्रापयेद्बुधः॥
ब्राह्मणैर्म्मन्त्रपूतैश्च हिरण्यकुशवारिभिः।
सर्व्वमभ्युक्षयेद्वेश्म ततः शुध्यत्यसंशयः॥"

अत्र मन्त्रानादेशे गायत्त्री। देवलः।

"पञ्चधा वा चतुर्धा वा भूरमेध्या विशुध्यति।
दुष्टा द्विधा त्रिधा वापि शुध्यते मलिनैकधा॥
दहनं खननं भूमेरुपलेपनवापने।
पर्ज्जन्यवर्षणञ्चापि शौचं पञ्चविधं स्मृतम्॥
प्रसूते गर्भिणी यत्र म्रियते यत्र मानुषः।
चाण्डालैरुषितं यत्र यत्र विन्यस्यते शवः॥
विण्मूत्रोपहतं यच्च कुणपो यत्र दृश्यते।

८

एवं कफलभूयिष्ठा भूरमेध्यापि कथ्यते ।
कृमिकीटपदक्षेपैर्दूषिता यत्र मेदिनी ।
एतया कर्षणैः क्षिप्रा गाम्लेर्व्वा द्रुततां व्रजेत् ।
नखदन्ततनूजत्वक्तुषपांशुरजोमलैः ।
भस्मपङ्कतृणैर्व्वापि प्रच्छन्ना मलिना भवेत् ॥”
चापनं द्रव्यान्तरेण पूरणम् । क्षपितं वासः । एषा घनीभूतश्लेष्मादि । चतुर्द्दशी पञ्चानां मध्ये यथासम्भवं ग्रहणम् । अङ्गिराः ।
“शौचं सहस्ररोमाणां वाय्वग्न्यर्केन्दुरश्मिभिः ।
रेतस्पृष्टं शवस्पृष्टमाविकं नैव दुष्यति ॥”
सहस्ररोमाणां कम्बलानाम् । इति शुद्धितत्त्वम् ।

शवकाम्यः, पुं, (शवः काम्यो यस्य ।) कुक्कुरः । इति शब्दरत्नावली ॥

शवयानं, क्ली, (शवस्य यानम् ।) शववहनार्थखट्वा । मड़ार खाट इति भाषा । तत्पर्य्यायः । काष्ठमञ्चः २ । इति हारावली ॥ खोटः ३ खाटी ४ खाटिका ५ शवरथः ६ । इति शब्दरत्नावली ॥

शवरः, पुं, (शव+बाहुलकादरः । यद्वा, शवं राति गृह्णातीति । रा+कः ।) म्लेच्छजातिविशेषः । इत्यमरः ॥ मयूरपुच्छपरिधानो म्लेच्छः किरातः । पत्रपरिधानः शवरः । इति तट्टीकायां भरतः ॥ पानीयम् । शिवः । इति मेदिनी ॥ शास्त्रविशेषः । हस्तः । इत्युणादिकोषः ॥

शवरथः, पुं, (शवस्य रथः ।) शवयानम् । इति शब्दरत्नावली ॥

शवरलोध्रः, पुं, श्वेतलोध्रः । इति रत्नमाला ॥

शवरालयः, पुं, (शवरस्यालयः ।) शवरगृहम् । तत्पर्य्यायः । पक्कणः २ । इत्यमरः ॥ पक्कणः ३ । इति शब्दरत्नावली ॥ शवरावासः ४ । इति हेमचन्द्रः ॥

शवरावासः, पुं, (शवरस्यावासः ।) शवरालयः । इति हेमचन्द्रः ॥

श(ब)वलः, पुं, (शप आक्रोशे + “शपेर्व्वश्च ।” उणा० १ । १०७ । इति कलः वश्चान्तादेशः ।) कर्व्वुरवर्णः । तद्वति, त्रि । इत्यमरः ॥ (यथा, भागवते । ३ । २३ । २४ ।
“अङ्गञ्च मलपङ्केन संछन्नं शवलस्तनम् ॥”)

शवला, स्त्री, (शवल+स्त्रियां टाप् ।) शवलवर्णा गौः । इत्यमरभरतौ ॥

शवली, स्त्री, (शवलयोगादन्यतो ङीष् ।) शवलवर्णा गौः । इत्यमरभरतौ ॥

शवसानः, पुं, पथिकः । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥ वैदिकपदोऽयम् । शवधातोरौणादिकसानच्प्रत्ययेन निष्पन्नमेतत् ॥

शश, प्लवने । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-अक०-सेट् ।) शशौ शशिशुशीः शशशिति किरातयमकात् । शशति भेकः प्लवेन गच्छतीत्यर्थः । ट फल भज इत्यत्र वर्ज्जनमस्यैव । इत्यान्योऽयमपीत्येके । इति दुर्गादासः ॥

शशः, पुं, (शशति प्लवेन गच्छतीति । शश+अच् ।) मृगविशेषः । इत्यमरः ॥ शशारु इति खरगोश इति च भाषा ॥ (यथा, मनौ ।२।२७०।
“शशकूर्म्मयोस्तु मांसेन मासानेकादशैव तु ॥”)
अस्य मांसगुणाः । स्वादुत्वम् । कषायत्वम् । मलबद्धकारित्वम् । शीतत्वम् । लघुत्वम् । शोषातीसारपित्तरक्तनाशित्वम् । रूक्षत्वञ्च । इति राजवल्लभः । अपि च ।
“शशमांसं त्रिदोषघ्नं दीपनं श्वासकासनुत् ॥”
इति राजनिर्घण्टः ॥
अन्यच्च ।
“शशः शूली लोमकर्णो विलेशयः प्रकीर्त्तितः ।
शशः शीतो लघुर्ग्राही रूक्षः स्वादुः सदा हितः ॥
वह्निकृत् कफपित्तघ्नो वातसाधारकः स्मृतः ।
ज्वरातीसारशोषास्रश्वासामयहरश्च सः ॥”
इति भावप्रकाशः ॥
श्राद्धेऽस्य मांसस्य दानफलं यथा,—
“हविष्यान्नेन वै मासं पायसेन च वत्सरम् ।
मात्स्यहारिणकौरभ्रशाकुनच्छागपार्षतैः ॥
ऐणरौरववाराहशाशैर्मांसैर्यथाक्रमम् ।
मासवृद्ध्याभितृप्यन्ति दत्तेनेह पितामहाः ॥”
इति श्राद्धतत्त्वम् ॥
विष्णवे एतन्मांसस्य देयत्वं यथा,—
“मार्गं मांसं तथा च्छागं शाशं समनुशुष्यते ।
एतानि हि प्रियाणि स्युः प्रयोज्यानि वसुन्धरे ॥”
इत्येकादशीतत्त्वम् ॥
चन्द्रलाञ्छनः । इति धरणिः ॥ बोलः । लोध्रः । मनुष्यविशेषः । इति मेदिनी ॥ स तु चतुर्व्विधपुरुषान्तर्गतपुरुषविशेषः । तस्य लक्षणं यथा,—
“मृदुवचनसुशीलः कोमलाङ्गः सुकेशः
सकलगुणनिधानः सत्यवादी शशोऽयम् ॥”
इति रतिमञ्जरी ॥

शशकः, पुं, (शश+स्वार्थे कन् ।) शशः । यथा,
“शशकः शल्लकी गोधा खड्गी कूर्म्मश्च पञ्चमः ।
भक्ष्याः पञ्चनखेष्वेते न भक्ष्याश्चान्यजातयः ॥”
इति स्मृतिः ॥

शशधरः, पुं, (शशस्य धरः ।) चन्द्रः । (यथा, साहित्यदर्पणे । १० ।
“इदं वक्त्रं साक्षाद्विरहितकलङ्कः शशधरः ॥”)
कर्पूरः । इत्यमरः ॥

शशप्लुतकं, क्ली, नखाघातः । इति शब्दमाला ॥

शशबिन्दुः, पुं, विष्णुः । राजविशेषः । इति मेदिनी ॥ (यथा, महाभारते । १ । १ । २२५ ।
“रामं दाशरथिञ्चैव शशबिन्दुं भगीरथम् ॥”)
स तु चित्ररथपुत्त्रः । इति पुराणम् ॥

शशभृत्, पुं, (शशं बिभर्त्तीति । भृ+क्विप् ।) चन्द्रः । इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, कथासरित्सागरे । ७३ । २५६ ।
“गृहीतो राजशशभृत् वैदासाध्येन यक्ष्मणा ॥”)

शशभृद्भृत्, पुं, (शशभृतं चन्द्रं बिभर्त्तीति । भृ+क्विप् ।) शिवः । यथा,—
“आत्मानं योगनिद्राञ्च चिन्तयित्वा मनस्विनी ।
दध्यौ स्वशरीरस्य भागार्द्धं शशभृद्भृतः ॥”
इति कालिकापुराणे ४४ अध्यायः ॥

शशलोम, [न्] क्ली, (शशस्य लोम ।) शशकस्य रोम । तत्पर्य्यायः । शशोर्णम् २ । इत्यमरः ॥ (पुं, तन्नामकराजः । यथा, महाभारते । १५ । २० । १४ ।
“शशलोमा स राजासीत् राजन् परमधार्म्मिकः ॥”)

शशशिम्बिका, स्त्री, जीवन्ती । इति राजनिर्घण्टः ॥

शशस्थली, स्त्री, अन्तर्व्वेदी । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ सा च गङ्गायमुनयोर्मध्यदेशः । अधुना दोयाब इति नाम्ना ख्यातः ॥

शशाङ्कः, पुं, (शशोऽङ्कं चिह्नं अङ्के क्रोड़े वा यस्य ।) चन्द्रः । इति हलायुधः ॥ (यथा, कथासरित्सागरे । १८ । ३६५ ॥
“स जगेहृदृशे तत्र शिखरे ज्वलितौषधौ ।
शशाङ्क इव पूर्व्वाद्रिहृदयस्थो विदूषकः ॥”)
कर्पूरः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शशाण्डुलिः, स्त्री, कर्कटीभेदः । तत्पर्य्यायः । बहुफला २ तण्डुली ३ चैत्रसम्भवा ४ क्षुद्राण्डा ५ लोमशफला ६ धूम्रा ७ वृत्तफला ८ । अस्या गुणाः ।
“शशाण्डुलि स्तिक्तकटुश्च कोमला
कटुत्वयुक्ता मधुरा कषायहा ।
पाके तु साम्ला मधुरा विदाहकृत्
कफे तु शुष्का रुचिकृच्च दीपनी ॥”
इति राजनिर्घण्टः ॥

शशादः, पुं, (शशमत्तीति । अद+अच् ।) श्येनपक्षी । इति राजनिर्घण्टः ॥ (इक्ष्वाकुपुत्त्रः । यथा, महाभारते । ३ । २०१ । १ ।
“इक्ष्वाकौ संस्थिते राजन् शशादः पृथिवीमिमाम् ।
प्राप्तः परमधर्म्मात्मा सोऽयोध्यायां नृपोऽभवत् ॥”
अस्य विकुक्षिरिति नाम आसीत् । अयं हि पित्रनुज्ञातः आहारार्थं मांसमानेतुं वनं गतः मृगान् व्यापादयामास । ततोऽतिश्रान्तः क्षुत्परीत एकं शशमभक्षत् अतोऽस्य शशाद इति नाम अजायत । एतद्विवरणं भागवते । ९ । ६ अध्याये तथा विष्णुपुराणे ४ । २ अध्याये च द्रष्टव्यम् ॥)

शशादनः, पुं, (शशमत्तीति । अद+ल्युः ।) श्येनपक्षी । इत्यमरः ॥

शशिकला, स्त्री, पञ्चदशाक्षरपादच्छन्दोविशेषः । यथा,—
“गुरुनिधनमनु लघुरिह शशिकला ।
मलयजतिलकसुदितशशिकला
व्रजयुवतिलसदलिकगगनगता ।
सरसिजनयनहृदयसलिलनिधिं
व्यतनुत विततरभसपरितरलम् ॥”
इति छन्दोमञ्जरी ॥

(शशिनः कला । चन्द्रकला । यथा,—
"कमलिनी मलिनी दिवसात्यये
शशिकला विकला चयदात्यये ।
इति विधिर्व्विदधे प्रमदासुखम्
भवति विश्वतमः क्रमशो जनः ॥"
इत्युद्भटः ॥)

शशिकान्तं, क्ली, (शशी कान्तो यस्य ।) कुमुदम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

शशिकान्तः, पुं, (शशी कान्तो यस्य ।) चन्द्रकान्तमणिः । इति राजनिर्घण्टः ॥ यथा, बृहत्संहितायाम् । ८० । ४ ।
"वैदूर्य्यविपुलकविमलक-
राजमणिस्फटिकशशिकान्ताः ॥")

शशिध्वजः, पुं, (शशी ध्वजे यस्य ।) भल्लाटपुरराजः । यथा,—
"ततः शशिध्वजो राजा युद्धादाहूय पुत्रकान् ।
सुशान्ताया मतिं बुद्ध्वा रमां प्रादात् स कल्कये ॥
विशाखयूपभूपाच्च रुचिराश्वश्च संयुगम् ।
शय्याकर्णं कृपेशापि भल्लाटं पुरमाययुः ॥"
इति कल्किपुराणे २५ अध्यायः ॥

शशिप्रभं, क्ली, (शशिनः प्रभेव प्रभा यस्य ।) कुमुदम् । इति शब्दमाला ॥ मुक्ता । इति राजनिर्घण्टः ॥ चन्द्रप्रभायुक्ते, त्रि ॥ (चन्द्रप्रभासदृशे च, त्रि । यथा महाभारते ।१।६६।४।
"तस्या वासः समुद्धूतं मारुतेन शशिप्रभम् ॥")

शशिप्रभा, स्त्री, (शशिनः प्रभा ।) ज्योत्स्ना । इति जटाधरः ॥

शशिभूषणः, पुं, (शशी भूषणं यस्य ।) शिवः । इति शशिशेखरशब्ददर्शनात् ॥

शशिलेखा, स्त्री, चन्द्रकला । गुडूची । छन्दोभेदः । इति मेदिनी ॥ तद्वृत्तस्य लक्षणादि यथा,—
"म्नौ मो यौ चेत् भवेतां सप्ताष्टकैश्चन्द्रलेखा ।
विच्छेदे ते मुरारे पाण्डुप्रकाशा शशाङ्की
म्लानच्छायं दुकूलं न भजते बिभ्रती या ।
राधाम्भोदस्य मध्ये लीला यथा चन्द्रलेखा
क्षिप्राणां त्वां स्मरन्ती धत्ते भुवं जीवयोगम् ॥"
इति छन्दोमञ्जरी ॥

शशिवाटिका, स्त्री, पुनर्नवा । इति राजनिर्घण्टः ॥

शशिशेखरः, पुं, (शशी शेखरे यस्य ।) शिवः । इति हलायुधः ॥ (यथा, कथासरित्सागरे । १ । २२ ।
"तस्याः स्तुतिवचो हृष्टस्तामङ्कमधिरोप्य सः ।
किन्ते प्रियं करोमीति बभाषे शशिशेखरः ॥")
बुद्धभेदः । तत्पर्य्यायः । हेरम्बः २ हेरुकः ३ चक्रसम्बरः ४ देवः ५ वज्रकपाली ६ निशुम्भी ७ वज्रटीकः ८ । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

शशी, [न्] पुं, (शशोऽस्यास्तीति । शश + इनिः ।) चन्द्रः । यथा,—
'हिमांशुश्चन्द्रमाश्चन्द्रः शशी चन्द्रो हिमद्युतिः ॥'
भरतधृतशब्दार्णवः ॥
(यथा च हितोपदेशे ।
"शशिनस्तुल्यवंशोऽपि निर्द्धनः परिभूयते ॥")
अर्हद्वणाविशेषः । इति हेमचन्द्रः ॥

शशोर्णं, क्ली, (शशस्य ऊर्णा । अभिधानात् क्लीवत्वम् ।) शशस्य लोम । इत्यमरः ॥

शश्वत्, व्य, (शश + बाहुलकात् वत् ।) पुनःपुनः । इत्यमरः ॥ (यथा, गीतायाम् । ९ । ३१ ।
"क्षिप्रं भवति धर्म्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ॥")

शष, वधे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट् ।) शषति । इति दुर्गादासः ॥

शष्कुलः, पुं, छिन्तिः । इति शब्दचन्द्रिका ॥ डरकरमृचा इति भाषा ॥

शष्कुली, स्त्री, (शष्कुल + गौरादित्वात् ङीष् ।) तिलतण्डुलमाषमिश्रितयवागुः । इति शब्दचन्द्रिका ॥ कर्णरन्ध्रम् । इति शब्दरत्नावली ॥ मत्स्यभेदः । सौरी । इति हिन्दी भाषा । अस्या गुणाः ।
"शष्कुली ग्राहिणी रूक्षा मधुरा तुवरा स्मृता ।"
इति भावप्रकाशः ॥
(पिष्टकविशेषः । यथा, महाभारते । १२ । २२८ । ६२ ।
"पायसं कृसरं मांसमपूपानथ शष्कुलीः ॥")

शष्पं, क्ली, (शष हिंसायाम् + "खष्पशिल्पशष्पवाष्परूपपर्पतल्पाः ।" उणा० ३ । २८ । इति पत्वं निपात्यते ।) बालतृणम् । इत्यमरः ॥ (यथा, रघुवंशे । २ । २६ ।
"गङ्गाप्रपातान्तविरूढशष्पं
गौरीगुरोर्गह्वरमाविवेश ॥")

शस, उ वधे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक० सेट् । क्त्वावेट् ।) उ, शसित्वा शस्त्वा । इति दुर्गादासः ॥

शस, इ ङ आशिषि । आङ्पूर्व्वकोऽयम् । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-आत्म०-सक०-सेट् ।) इ, आशंस्यते । ङ, आशंसते । आशीरिष्टार्थशंसनम् । इच्छायामित्यन्ये । इति दुर्गादासः ॥

शसनं, क्ली, (शस + ल्युट् ।) यज्ञार्थपशुहननम् । इति शसनशब्दटीकायां रामाश्रमः ॥ (शस्यते हन्यतेऽत्र इत्यधिकरणे ल्युटि हत्यास्थानम् । यथा, ऋग्वेदे । १० । ८९ । १४ ।
"मित्रक्रुवो यच्छसने न गावः ।"
"शसने विशसनस्थाने ।"इति तद्भाष्ये सायणः ॥)

शस्कुली, स्त्री, पिष्टकविशेषः । पुली पिठा इति भाषा । (यथा, महाभारते । ७ । ६२ । ७ ।
"मोदकान् पूरिकापूपान् धानाधमक्ष-
शस्कुलीः ॥")
अस्या गुणाः ।
"पर्पटा लघवो रूक्षाः शस्कुल्यः कफपित्तलाः ॥"
काञ्जिकयुक्ततिलशस्कुली त्याज्या यथा,—
"मांसैरिक्षुविकारांश्च काञ्जिकैस्तिलशस्कुलीम् ।
मूलकं माषसूपेन मधुना च न भक्षयेत् ॥"
इति राजवल्लभः ॥*॥
वृथा तद्भक्षणप्रायश्चित्तं यथा । वृथा पायसपूपशस्कुलीकृशरसंयावशिग्रुलोहितवृश्चनिर्य्यासामेध्यप्रभवाणां भक्षणे कामतस्त्र्यहोपवासः । अकामतस्तदर्द्धम् । क्षत्त्रियादीनां पादपादहानिः । इति प्रायश्चित्तविवेकः ॥

शस्त, इ र लु स्वप्ने । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-अक०-सेट् ।) इ, शंस्त्यते । नमध्यपाठेऽपि नस्य उपधात्वाभावात् लोपाभावे इदनुबन्धो वेदेशूच्चारणभेदार्थः । लु, शंस्ति । र, वैदिकः । इति दुर्गादासः ॥

शस्तं, क्ली, (शस् + क्तः ।) कल्याणम् । इत्यमरः ॥ (यथा, महाभारते । १३ । १० । ४२ ।
"तच्चयित्वा पुरोधास्तु बहुशस्तं नराधिपम् ॥")
शरीरम् । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

शस्तः, त्रि, कल्याणयुक्तः । स्तुतः । इत्यमरः ॥ प्रशस्तः । इति मेदिनी ॥ (यथा, भागवते । ३ । २९ । १५ ।
"क्रियायोगेन शस्तेन नातिहिंस्रेण नित्यशः ॥"
निहतः । यथा, महाभारते । ३ । ४० । ३ ।
"शक्राभिषिक्ते सुमहद्युद्धोत्सवनिस्वनम् ।
प्रगृह्य दानवाः शस्तास्त्वया कृष्णेन च प्रभो ॥")

शस्तकं, क्ली, अङ्गुलित्राणम् । यथा,—
"अङ्गुलित्रं शस्तकञ्च तथा चाङ्गुष्ठरक्षकम् ॥"
इति शब्दरत्नावली ॥

शस्तकेशकः, त्रि, (शस्ताः केशा यस्य कप् ।) प्रशस्तकेशयुक्तः । इति शब्दरत्नावली ॥

शस्त्रं, क्ली, (शस्यते हिंस्यते अनेन । "अमिचिमिदिशसिभ्यः क्त्रः ।" उणा० ४ । १६३ । इति क्त्रः । यद्वा, "दाम्नीशसयुयुजेति ।" ३।२।१८२ । इति ष्ट्रन् ।) लौहम् । अस्त्रम् । इत्यमरः ॥ शस्त्रास्त्रैर्बहुधा मुक्तैरित्यादिदर्शनात् शस्त्रास्त्रयोः कश्चिद्भेदमाह । येन करस्थेन हन्यते तत् शस्त्रं खड्गादि । येन क्षिप्तेन हन्यते तदस्त्रं काण्डादि । इति तट्टीकायां भरतः ॥ तत्पर्य्यायः ।
"अस्त्रे शस्त्रं प्रहरणमुद्घातो हेतिरायुधः ।"
इति शब्दरत्नावली ॥
"एकैकमस्त्रं शस्त्रञ्च देवैर्मुक्तं सहस्रधा ।
चिच्छेद लीलयैवेशो जगतां मधुसूदनः ॥"
इति विष्णुपुराणे ५ अंशे ३० अध्यायः ॥
अस्त्रं मन्त्राभिमन्त्रितम् । शस्त्रं तदितरत् । इति तट्टीका ॥*॥ राज्ञां अस्त्राचार्य्यो यथा,—
"यन्त्रमुक्ते पाणिमुक्ते अमुक्ते मुक्तधारिते ।
अस्त्राचार्य्यो निरुद्वेगः कुशलश्च विशिष्यते ॥"
तदगारनियुक्तस्य लक्षणं यथा,—
"स्थापनाजातितत्त्वज्ञः सततं प्रतिजागृता ।
राज्ञः स्यादायुधागारे दक्षः कर्म्मसु चोद्यतः ॥"
इति मात्स्ये १८९ अध्यायः ॥
अस्त्रचिकित्सा यथा । अथातोऽग्रोपहरणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । त्रिविधं कर्म्म । पूर्व्वकर्म्म प्रधानकर्म्म पश्चात्कर्म्मेति । तद्व्याधिं प्रत्युपदेक्ष्यामः । अस्मिन् शास्त्रे शस्त्रकर्म्म-

प्राधान्यात् शस्त्रकर्म्मैव तावत् पूर्व्वमुपदेक्ष्यामस्तत्सम्भारांश्च । तच्च शस्त्रकर्म्माष्टविधम् । तद्यथा । छेद्यं भेद्यं लेख्यं वेध्यमेष्यमाहार्य्यं विस्राव्यं सीव्यमिति ॥ * ॥ अतोऽन्यतमं कर्म्म चिकीर्षता वैद्येन पूर्व्वमेवोपकल्पयितव्यानि । तद्यथा । यन्त्रशस्त्रक्षाराग्निशलाकाशृङ्गजलौकालाबूजाम्बवौष्ठपिचुप्रोत-सूत्रपत्रपट्टमधुघृतवसापयस्तैलतर्पणकाषायालेपनकल्कव्यजनशीतोष्णोदककटाहादीनि परिकर्म्मिणश्च स्निग्धाः स्थिरा बलवन्तः । ततः प्रशस्तेषु तिथिकरणमुहूर्त्तनक्षत्रेषु दध्यक्षतान्नपानरत्नैरग्निं विप्रान् भिषजश्चार्च्चयित्वा कृतबलिमङ्गलस्वस्तिवाचनं लघु भुक्तवन्तं प्राङ्मुखमातुरमुपवेश्य यन्त्रयित्वा प्रत्यङ्मुखो वैद्यो मर्म्मशिरास्नायुसन्ध्यस्थिधमनीः परिहरन्ननुलोमं शस्त्रं निदध्यादापूयदर्शनात् सकृदेवापहरेच्छस्त्रमाशु च । महत्स्वपि च पाकेषु द्व्यङ्गुलं त्र्यङ्गुलं वा शस्त्रपदमुक्तम् । तत्रायतो विशालः समः सुविभक्त इति व्रणगुणाः । भवतश्चात्र ।

"आयतश्च विशालश्च सुविभक्तो निराश्रयः ।
प्राप्तकालकृतश्चापि व्रणः कर्म्मणि शस्यते ॥
शौर्य्यमाशु क्रिया शस्त्रतैक्ष्ण्यमस्वेदवेपथू ।
असंमोहश्च वैद्यस्य शस्त्रकर्म्मणि शस्यते ॥"

एकेन वा व्रणेनाशुध्यमानेनान्तरालमवेक्ष्य अपरान् व्रणान् कुर्य्यात् । भवन्ति चात्र ।

"यतो यतो गतिं विद्यादुत्सङ्गो यत्र यत्र च ।
तत्र तत्र व्रणं कुर्य्याद्यथा दोषो न तिष्ठति ॥"

तत्र भ्रूगण्डशङ्खललाटाक्षिपुटौष्ठदन्तवेष्टककक्षाकुक्षिवङ्क्षणेषु तिर्य्यक्छेद उक्तः ॥

"चन्द्रमण्डलवच्छेदान् पाणिपादेषु कारयेत् ।
अर्द्धचन्द्राकृतींश्चापि गुदे मेढ्रे च बुद्धिमान् ॥"

अन्यथा तु शिरास्नायुच्छेदनादतिमात्रं वेदना चिराद्व्रणसंरोहो मांसकन्दी प्रादुर्भावश्चेति । मूढगर्भोदराशोंऽश्मरीभगन्दरमुखरोगेष्वभुक्तवतः कर्म्म कुर्व्वीत । ततः शस्त्रमवचार्य्य शीताभिरद्भिरातुरमाश्वास्य समन्तात् परिपीड्याङ्गुल्या व्रणमभिमृज्य प्रक्षाल्य कषायेण शीतेनोदकमादाय तिलकल्कमधुसर्पिःप्रगाढामौषधयुक्तां वर्त्तिं प्रणिदध्यात् । ततः कल्केनाच्छाद्य नातिस्निग्धां नातिरूक्षां नातिघनां कवलिकां दत्त्वा वस्त्रपट्टेन बध्नीयाद्वेदनारक्षोघ्नैर्धूपैर्धूपयेद्रक्षोघ्नैश्च मन्त्रै रक्षां कुर्व्वीत । ततो गुग्गुल्वगुरुसर्ज्जरसवचागौरसर्षपचूर्णैर्लवणनिम्बपत्रमिश्रैराज्ययुक्तैर्धूपैर्धूपयेत् । आज्यशेषेण चास्य प्राणान् समालभेत । उदकुम्भाच्चापो गृहीत्वा प्रोक्षयन् रक्षाकर्म्म कुर्य्यात्तद्वक्ष्यामः ॥ * ॥

"कृत्यानां प्रतिघातार्थं तथा रक्षोभयस्य च ।
रक्षाकर्म्म करिष्यामि ब्रह्मा तदनुमन्यताम् ॥
नागाः पिशाचा गन्धर्व्वाः पितरो यक्षराक्षसाः ।
अभिद्रवन्ति ये ये त्वां ब्रह्माद्या घ्नन्तु तान् सदा ॥
पृथिव्यामन्तरीक्षे च ये चरन्ति निशाचराः ।
दिक्षु वास्तुनिवासाश्च पान्तु त्वां ते नमस्कृताः ।
पान्तु त्वां मुनयो ब्राह्म्या दिव्या राजर्षयस्तथा ।
पर्व्वताश्चैव नद्यश्च सर्व्वाः सर्व्वेऽपि सागराः ॥
अग्नी रक्षतु ते जिह्वां प्राणान् वायुस्तथैव च ।
सोमो व्यानमपानं ते पर्जन्यः परिरक्षतु ॥
उदानं विद्युतः पान्तु समानं स्तनयित्नवः ।
बलमिन्द्रो बलपतिर्मनुर्मन्ये मतिं तथा ॥
कामांस्ते पान्तु गन्धर्व्वाः सत्त्वमिन्द्रोऽभिरक्षतु ।
प्रज्ञां ते वरुणो राजा समुद्रो नाभिमण्डलम् ॥
चक्षुः सूर्य्यो दिशः श्रोत्रे चन्द्रमाः पातु ते मनः ।
नक्षत्राणि सदा रूपं छायां पान्तु निशास्तव ॥
रेतस्त्वाप्याययन्त्वापो रोमाण्योषधयस्तथा ।
आकाशं खानि ते पातु देहं तव वसुन्धरा ॥
वैश्वानरः शिरः पातु विष्णुस्तव पराक्रमम् ।
पौरुषं पुरुषश्रेष्ठो ब्रह्मात्मानं ध्रुवो भ्रुवौ ॥
एता देहे विशेषेण तव नित्या हि देवताः ।
एतास्त्वां सततं पान्तु दीर्घमायुरवाप्नुहि ॥
स्वस्ति ते भगवान् ब्रह्मा स्वस्ति देवाश्च कुर्व्वताम् ।
स्वस्ति ते चन्द्रसूर्य्यौ च स्वस्ति नारदपर्व्वतौ ॥
स्वस्त्यग्निश्चैव वायुश्च स्वस्ति देवाः सहेन्द्रगाः ।
पितामहकृता रक्षा स्वस्त्यायुर्व्वर्द्धतां तव ।
ईतयस्ते प्रशाम्यन्तु सदा भव गतव्यथः ॥"

इति स्वाहा ॥

"एतैर्व्वेदात्मकैर्मन्त्रैः कृत्वा चाधिविनाशनैः ।
मयैवं कृतरक्षस्त्वं दीर्घमायुरवाप्नुहि ॥" * ॥

ततः कृतरक्षमातुरमागारं प्रवेश्याचारिकमादिशेत् । ततस्तृतीयेऽहनि विमुच्यैवं बध्नीयाद्वस्त्रपट्टेन । न चैनं त्वरमाणोऽपरेद्युर्मोचयेत् । द्वितीयदिवसे परिमोक्षणाद्विग्रथितो व्रणश्चिरादुपसंरोहति तीव्ररुजश्च भवति । अत ऊर्द्ध्वं दोषकालबलादीनवेक्ष्य कषायालेपनबन्धाहाराचारान् विदध्यात् । न चैनं त्वरमाणः सान्तर्दोषं रोपयेत् स ह्यल्पेनाप्यपचारेणाभ्यन्तरमुत्सङ्गं कृत्वा भूयोऽपि विकरोति । भवन्ति चात्र ।

"तस्मादन्तर्व्बहिश्चैव सुशुद्धं रोपयेद्व्रणम् ।
रूढेऽप्यजीर्णव्यायामव्यवायादीन् विवर्ज्जयेत् ॥
हर्षं क्रोधं भयञ्चापि यावदास्थैर्य्यसम्भवात् ।
मासान् षट् सप्त वा नूनं विधिरेषः प्रशस्यते ॥
हेमन्ते शिशिरे चैव वसन्ते चापि मोचयेत् ।
त्र्यहात् द्व्यहाच्छरद्ग्रीष्मवर्षास्वपि च बुद्धिमान् ॥
अतिपातिषु रोगेषु नेच्छेद्विधिमिमं भिषक् ।
प्रदीप्तागारवच्छीघ्रं तत्र कुर्य्यात् प्रतिक्रियाम् ॥
या वेदना शस्त्रनिपातजाता
तीव्रा शरीरं प्रदुनोति जन्तोः ।
घृतेन सा शान्तिमुपैति सिक्ता
कोष्णेन यष्टीमधुकान्वितेन ॥"

इति सुश्रुते ५ अध्यायः ॥

शस्त्रः, पुं, (शस्यतेऽनेनेति । शस वधे + "असिचिमिदिशसिभ्यः क्तः ।" उणा० ४।१६३। इति क्तः । यद्वा, दाम्नीशसयुयुजेति ।" ३ । २ । १८२ । इति ष्ट्रन् ।) खड्गः । यथा,—

"रिष्टिः खड्गस्तरवारिः शस्त्रो भद्रात्मजश्च सः ॥"

इति त्रिकाण्डशेषः ॥

शस्त्रकं, क्ली, (शस्त्रमेव । स्वार्थे कन् ।) लोहम् । इत्यमरः ॥

शस्त्रकोशतरुः, पुं, (शस्त्रस्य खड्गस्य कोश इव तरुः ।) महापिण्डीतरुः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शस्त्रजीवी, [न्] (शस्त्रेण जीवतीति । जीव + णिनिः ।) शस्त्राजीवः । इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, बृहत्संहितायाम् । १७ । २४ ।

"रश्मिजेन सिते विजिते
गणमुख्याः शस्त्रजीविनः क्षत्रम् ॥")

शस्त्रधारणजीवकः, त्रि, (शस्त्रधारणेन जीवतीति । जीव + ण्वुल् ।) शस्त्राजीवः । इति शब्दरत्नावली ॥

शस्त्रपाणिः, त्रि, (शस्त्रं पाणौ यस्य ।) शस्त्रहस्तः । यथा,—

"उल्काहस्तोऽग्निदो ज्ञेयः शस्त्रपाणिश्च घातकः ।
केशाकेशिग्रहीतश्च युगपत् पारदारिकः ॥"

इति व्यवहारतत्त्वम् ॥

अपि च ।

"अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
क्षेत्रदारापहारी च षडेते आततायिनः ॥"

इति प्रायश्चित्तविवेकः ॥

शस्त्रभृत्, त्रि, शस्त्रधारी । शस्त्रं बिभर्त्तीति । भृधातोः क्विप्प्रत्ययेन निष्पन्नमेतत् ॥ (यथा, रघुः । २ । ४० ।

"शस्त्रेण रक्ष्यं यदशक्यरक्षं
न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति ॥")

शस्त्रमार्जः, पुं, (शस्त्राणि मार्ष्टीति । मृज + अण् ।) शस्त्रमार्जनकर्त्ता । सिकलगर इति भाषा । तत्पर्य्यायः । असिधावकः २ । इत्यमरः ॥ अस्त्रमार्जः ३ असिधावः ४ । इति शब्दरत्नावली ॥ शाणाजीवः ५ भ्रमासक्तः ६ । इति हेमचन्द्रः ॥

शस्त्रहतः, त्रि, (शस्त्रेण हतः ।) शस्त्राघातेन मृतः । तस्याशौचादि यथा । आह ।

"क्षतेन म्रियते यस्तु तस्याशौचं भवेद्द्विधा ।
आसप्ताहात् त्रिरात्रं स्यात् दशरात्रमतःपरम् ॥
शस्त्राघाते त्र्यहादूर्द्ध्वं यदि कश्चित् प्रमीयते ।
अशौचं शास्त्रतं तत्र सर्व्ववर्णेषु नित्यशः ॥"

अत्र शस्त्रघातपदं क्षतेतरशस्त्रघातपरं पारिभाषिकशस्त्रघातपरमपि । यथा, देवीपुराणे ।

"पक्षिमत्स्यमृगैर्यैस्तु दंष्ट्रिशृङ्गिनखैर्हताः ।
पतनानशनप्रायैर्व्वज्राग्निविषबन्धनैः ।
मृता जलप्रवेशेन ते वै शस्त्रहताः स्मृताः ॥"

अन्यथा क्षतं विना पतनादिभिर्व्विलम्बमृतानां दिनत्रयमध्ये अनध्यवसायः स्यात् । न च शास्त्रीयव्यवहारेऽन्तरङ्गत्वेन पारिभाषिकस्यैव मुख्यत्वमिति वाच्यं श्राद्धे पारिभाषिकापारिभाषिक-

शस्त्रघातग्रहणवदत्रापि तथायुक्तत्वात् पारिभाषिकत्वादेव न प्रकरणनियमः ॥ * ॥

"क्रोधात् प्रायं विषं वह्निं शस्त्रमुद्बन्धनं जलम् ।
गिरिवृक्षप्रपातञ्च ये कुर्व्वन्ति नराधमाः ॥
महापातकिनो ये च पतितास्ते प्रकीर्त्तिताः ।
पतितानां न दाहः स्यान्नान्त्येष्टिर्नास्थिसञ्चयः ॥
न चाश्रुपातः पिण्डो वा कार्य्यं श्राद्धादिकं क्वचित् ।
एतानि पतितानाञ्च यः करोति विमोहितः ।
तप्तकृच्छ्रद्वयेनैव तस्य शुद्धिर्न चान्यथा ॥" * ॥

तदितरत्र मरीचिः ।

"विषशस्त्रश्वापदाहितिर्य्यग्ब्राह्मणघातिनाम् ।
चतुर्द्दश्यां क्रिया कार्य्या अन्येषान्तु विगर्हिता ॥"

इति शुद्धितत्त्वम् ॥

शस्त्रहतचतुर्द्दशी, स्त्री, (शस्त्रहतानां चतुर्द्दशी । युद्धादिहतानां श्राद्धादिकर्म्मणि प्रशस्ततयाख्यातत्वात् ।) गौणाश्विनकृष्णचतुर्द्दशी । गौणकार्त्तिककृष्णचतुर्द्दशी च । यथा, लिङ्गपुराणम् ।

"दीपमालां तथा कृष्णचतुर्द्दश्यां शिवाग्रतः ।
चतुष्पथे च नद्याञ्च चत्वरेषु गृहेषु च ।
एकविंशकुलोपेतो वसेच्छिवपुरे नरः ॥"

अत्र शस्त्रहतानामुल्कादानं अन्येषान्तु दर्शे । इति संवत्सरकौमुदी ॥ * ॥ अन्यच्च । अथ शस्त्रहतचतुर्द्दशी तत्र विष्णुः । युद्धहतानां श्राद्धकर्म्मणि चतुर्द्दशी प्रशस्ता । युद्धहतानामेवेति न नियमार्थमिदम् । ब्रह्मपुराणे ।

"प्रायोऽनशनशस्त्राग्निविषाद्युद्बन्धिनास्तथा ।
चतुर्द्दश्यान्तु कर्त्तव्यं तृप्त्यर्थमिति निश्चयः ॥"

प्रायो महापथगमनम् । वायुपुराणे ।

"युवानस्तु गृहे यस्य म्टतास्तेषान्तु दापयेत् ।
शस्त्रेण तु हता ये वै तेषां दद्याच्चतुर्द्दशीम् ॥"

युवान एव पित्रादयो म्टता इत्यर्थः । मरीचिः ।

"विषशस्त्रश्वापदाहितिर्य्यग्ब्राह्मणघातिनाम् ।
चतुर्द्दश्यां क्रिया कार्य्या अन्येषान्तु विगर्हिता ॥"

ब्राह्मणकर्तृकघातोऽस्यास्तीति ब्राह्मणघाती ये च वै ब्राह्मणैर्हता इति ब्रह्मपुराणवचनात् । न तु कृतब्राह्मणघातः तस्य पतितत्वात् अन्येषामशस्त्रादिहतानाम् । एतच्च शस्त्रहतश्राद्धं विष्ण्वादिभिः सामान्यप्रकरणलिखनात् सकलकृष्णपक्षसाधारणं पित्रादीनामेव पार्व्वणविधिप्रकरणात् पार्व्वणविधिना कार्य्यम् ।

"सपिण्डीकरणादूर्द्ध्वं यत्र यत्र प्रदीयते ।
तत्र तत्र त्रयं कुर्य्याद्वर्ज्जयित्वा म्टताहनि ॥"

इति शङ्खवचनाच्च ॥ * ॥

ननु अन्येषान्तु विगर्हिता इति श्रवणात् । कथं त्रैपुरुषिकपार्व्वणविधिः । न यस्य पुरुषास्त्रय एव शस्त्रहतास्तस्य त्रैपुरुषिकविधिरुपपद्यते । एवं यस्य द्वौ शस्त्रहतावेको वा तेनापि द्वैपुरुषिकैकपुरुषिकं पार्व्वणं कर्त्तव्यम् । यथा, मनुः ।

"पिता यस्य तु वृत्तः स्यात् जीवेच्चापि पितामहः ।
पितुः सनाम सङ्कीर्त्त्य कीर्त्तयेत् प्रपितामहम् ॥"

तथा हारीतः ।

"पितामहेऽपि जीवे वै पितर्य्येव समापयेत् ॥"

नन्वेकोद्दिष्टमेव श्रूयते । यथा शङ्खः ।

"सपिण्डीकरणादूर्द्ध्वं प्रेते कृष्णचतुर्द्दशीम् ।
प्रतिसंवत्सरादन्यदेकोद्दिष्टं न कारयेत् ॥"

यमः ।

"सपिण्डीकरणादूर्द्ध्वं यत् पितृभ्यः प्रदीयते ।
एकोद्दिष्टविधानेन तत् कार्य्यं शस्त्रघातिने ॥"

भविष्यपुराणे ।

"समत्वमागतस्यापि पितुः शस्त्रहतस्य च ।
चतुर्द्दश्यान्तु कर्त्तव्यमेकोद्दिष्टं न पार्व्वणम् ॥
चतुर्द्दश्यान्तु यच्छ्राद्धं सपिण्डीकरणे कृते ।
एकोद्दिष्टविधानेन तत्कार्य्यं शस्त्रघातिने ॥" * ॥

उच्यते । एषां वचनानाममूलकत्वात् समूलत्वेऽपि पार्व्वणाप्रसक्तविषयत्वेनैतानि विष्ण्वादिवचनेषु पार्व्वणावगतेः । भ्रात्रादीनान्तु शस्त्रहतानामेकोद्दिष्टविधिना कार्य्यम् ।

"अपुत्त्रा ये म्टताः केचित् स्त्रियो वा पुरुषाश्च ये ।
तेषामपि च देयं स्यादेकोद्दिष्टं न पार्व्वणम् ॥"

इत्यापस्तम्बवचनेन पार्व्वणनिषेधात् । तच्च न सकलकृष्णपक्षसाधारणं विष्ण्वादिवचनेषु श्राद्धशब्दस्य पार्व्वणपरत्वोक्तेः । किन्त्वाश्विनमासीयकृष्णपक्षविषयम् । ब्रह्मपुराणे प्रायोऽनशनेत्यादिना सकलकृष्णपक्षसाधारणं श्राद्धमभिधाय आश्विने । तर्पणीयाश्चतुर्द्दश्यां लुप्तपिण्डोदकक्रिया । इति यत् पुनरभिधानं तच्छस्त्रहतश्राद्धादिविषयं अतएव तत्रैवामावास्यायां पितरः पूज्या नान्दीमुखा अपीति वृद्धप्रपितामहादीनामपि श्राद्धं दर्शितम् । इयञ्च चतुर्द्दश्यामशस्त्रहतश्राद्धनिन्दा आश्विनमासीयपक्षश्राद्धादिकव्यतिरिक्तसामान्यकृष्णपक्षविहितश्राद्धकाम्यश्राद्धविषया प्रकरणभेदेन श्राद्धकर्म्मभेदात् सामान्यविशेषन्यायात् इतरथा चतुर्द्दश्यां संक्रान्तिश्राद्धेऽशस्त्रहतनिन्दा स्यात् । अतएव कृष्णपक्षे दशम्यादौ वर्ज्जयित्वा चतुर्द्दशीमिति मनुवचनेऽपि चतुर्द्दशीवर्ज्जनं पक्षश्राद्धादिव्यतिरिक्तश्राद्धविषयम् ॥ * ॥ ननु शस्त्रादिहतानां श्राद्धनिषेधः श्रूयते । तथा छागलेयः ।

"शस्त्रविप्रहतानाञ्च शृङ्गिदंष्ट्रिसरीसृपैः ।
आत्मनस्त्यागिनाञ्चैव श्राद्धमेषां न कारयेत् ॥"

सत्यं बुद्धिपूर्व्वहतानामेव । प्रमादम्टतानान्तु श्राद्धादिकमाहाङ्गिराः ।

"अथ कश्चित् प्रमादेन म्रियतेऽग्न्युदकादिभिः ।
अशौचं तस्य कर्त्तव्यं कर्त्तव्या चोदकक्रिया ॥"

अबुद्धिपूर्व्वमपि शृङ्ग्यादिभिः क्रीडां कुर्व्वतां म्टतानां न कर्त्तव्यम् । यथा, ब्रह्मपुराणम् ।

"शृङ्गिदंष्ट्रिनखिव्यालविषवह्निस्त्रिया जलैः ।
आदरात् परिहर्त्तव्यः कुर्व्वन् क्रीडां म्टतस्तु यः ॥"

परिहर्त्तव्यः श्राद्धादौ शास्त्रानुमत्या बुद्धिपूर्व्वम्टतानामपि कर्त्तव्यम् । यथाह वृद्धगार्ग्यः ।

"वृद्धः शौचस्मृतेर्लुप्तः प्रत्याख्यातभिषक्क्रियः ।
आत्मानं घातयेद्यस्तु भृग्वग्न्यनशनादिभिः ॥
तस्य त्रिरात्रमशौचं द्वितीये त्वस्थिसञ्चयः ।
तृतीये तूदकं कृत्वा चतुर्थे श्राद्धमिष्यते ॥"

एवं क्रीडाव्यतिरेकेणाबुद्धिपूर्व्वं म्टताः शास्त्रानुमत्या बुद्धिपूर्व्वकम्टता अपि श्राद्धार्हाः कथं लुप्तपिण्डोदकत्वमिति चेत् गौणमिति ब्रूमः । बुद्धिपूर्व्वे पिण्डोदकक्रियालोपादिति । इति श्राद्धविवेकः ॥

शस्त्रहस्तः, पुं, शस्त्रं हस्ते यस्य सः । इति शस्त्रपाणिशब्ददर्शनात् ॥

शस्त्राजीवः, त्रि, (शस्त्रेण आजीवतीति । आ + जीव + अच् ।) असिजीवी । तत्पर्य्यायः । काण्डपृष्ठः २ आयुधीयः ३ आयुधिकः ४ । इत्यमरः ॥ काण्डस्पृष्टः ५ । इति तट्टीका ॥ काण्डपृष्ठः ६ शस्त्रधारणजीवकः ७ । इति शब्दरत्नावली ॥

शस्त्राभ्यासः, पुं, (शस्त्राणां अभ्यासः ।) अस्त्रशिक्षा । तत्पर्य्यायः । खुरली २ । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

शस्त्रायसं, क्ली, (शस्त्रार्थं यदायसम् ।) लोहम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

शस्त्री, स्त्री, (शस् + ष्ट्रन् । स्त्रियां ङीप् ।) छुरिका । इति मेदिनी ॥ (यथा, माघे । ४ । ४४ ।

"शस्त्रीश्यामैरंशुभिराशुद्रुतमम्भ-
श्छायामिच्छति नीली सलिलस्य ॥")

शस्त्री, [न्] त्रि, शस्त्रविशिष्टः । अस्त्रधारी । शस्त्रशब्दादिन्प्रत्ययेन निष्पन्नमेतत् ॥ (यथा, कामन्दकीयनीतिसारे । ७ । ३७ ।

"आमशस्त्रानुगतः प्रविशेच्च
सङ्कटेषु गहनेषु न तिष्ठेत् ॥")

शस्पं, क्ली, बालतृणम् । इत्यमरटीकायां भरतः ॥ प्रतिभाहानिः । इति जटाधरः ॥

शस्यं, क्ली, (शस + "तकिशसिचतियतीति ।" ३।१।९७। इत्यस्य वार्त्तिकोक्त्या यत् ।) वृक्षादिनिष्पन्नम् । तत्पर्य्यायः । फलम् २ । इत्यमरः ॥ वृक्षाणां लतादीनाञ्च फलं निष्पन्नत्वमागतं आम्रादिकं शस्यं सस्यपदवाच्यं इत्यन्वयः । फलति निष्पद्यते फलं फलनिष्पत्तौ पचादित्वादच् । सस्ति स्वपिति सस्यं सस षु र स्वप्ने कृत्योरिति यः सस्यं द्विदन्त्यम् । ग्राम्यकविकथानुबन्ध इव नीरसस्यमनोहरो देश इति नलदमयन्तीश्लेषात् ।

"अंशनं सीसकं सस्यं गस्तं सान्त्वा च साध्वसम् ॥"

इत्यूष्मविवेकाच्च ॥ तालव्यादिदन्त्यान्तश्च तथा हि शसु हिंसास्तुत्योरित्यस्मात् कृ वृष म्टजेति अपि यत् शस्यं तत् क्रियावाच्येऽपि फलेऽपि दृश्यते । तालव्या अपि दन्त्याश्च शस्यसूकरपांशव इत्यूष्मभेदः । इति तट्टीकायां भरतः ॥ * ॥ क्षेत्रस्थधान्यादि । यथा,—

"शस्यं क्षेत्रगतं प्राहुः सतुषं धान्यमुच्यते ।

आमं विदुरमित्युक्तं छिन्नमन्नसुदाहृतम् ॥”
इति स्मृतिः ॥

ग्राम्यशस्यानि यथा,—
“व्रीहयश्च यवाश्चैव गोधूमाश्चाणवस्तिलाः ।
प्रियङ्गवो ह्युदाराश्च कोरदूषाः सचीनकाः ॥”
उदाराः दीर्घशालयः ।
“माषा मुद्गा मसूराश्च निष्पावाः सकुलत्थकाः ।
आढ्क्यश्चणकाश्चैव शणाः सप्तदश स्मृताः ॥
इत्येता ओषधीनान्तु ग्राम्याणां जातयो मुने ।”
ग्राम्यारण्यशस्यानि यथा,—
“ओषध्यो यज्ञियाश्चैव ग्राम्यारण्याश्चतुर्द्दश ।
व्रीहयश्च यवा माषा गोधूमाश्चाणवस्तिलाः ॥
प्रियङ्गुसप्तमा ह्येते अष्टमास्तु कुलत्थकाः ।
श्यामाकास्त्वथ नीवारा जर्त्तिलाः सगवेधुकाः ॥
तथा वेणुयवाः प्रोक्तास्तथा मर्कटका मुने ।
ग्राम्यारण्याः स्मृता ह्येता ओषध्यस्तु चतुर्द्दश ॥”
इति विष्णुपुराणे १ अंशे ६ अध्यायः ॥*॥
नवशस्यसम्भोगनक्षत्राणि यथा,—
“अनुराधा मृगशिरो रेवती चोत्तरात्रयम् ।
हस्ता चित्रा मघा पुष्या श्रवणा च पुनर्व्वसुः ॥
रोहिणी नवशस्यादिनवन्नप्राशनादिषु ।
प्रशस्तं नवपीठादिसम्भोगं गृहविद्वदेत् ॥”*॥
नवशस्यश्राद्धादिकालो यथा,—
“शरद्वसन्तयोः केचिन्नवयज्ञं प्रचक्षते ।
धान्यपाकवशादन्ये श्यामाको वनिनः स्मृतः ॥”
इत्यनेन शरद्वसन्तविहितनवशस्येष्टेः ।
“श्यामाकैर्व्रीहिभिश्चैव यवैरन्योन्यकालतः ।
प्रागयणं युज्यतेऽवश्यं न त्वत्राग्रयणात्ययः ॥”
इति कालान्तरदर्शनात् श्राद्धेऽपि तथा ।
आग्रयणं नवशस्येष्टिः ।
“वृश्चिके शुक्लपक्षे तु नवान्नं शस्यते बुधैः ।
अपरे क्रियमाणं हि धनुष्येव कृतं भवेत् ॥
धनुषि यत् कृतं श्राद्धं मृगमेत्रासु राशिषु ।
पितरस्तन्न गृह्णन्ति नवान्नामिषकाङ्क्षिणः ॥”
अपरे कृष्णपक्षे ।
“पौषे चैत्रे कृष्णपक्षे नवान्नं नाचरेद्बुधः ।
भवेत् जन्मान्तरे रोगी पितॄणां नोपतिष्ठते ॥
यद्यपि व्रीहिपाके च यवपाके च पार्थिव ।
न तावाद्यौ महाराज विना श्राद्धं कथञ्चन ॥”
इति विष्णुधर्म्मोत्तरवचने श्राद्धं प्रति व्रीहियवपाकयोर्निमित्तत्वं प्रतीयते । तथापि नवोदके नवान्ने च इति शातातपवचने पूर्व्वोक्तबहुवचनेषु च नवान्नस्य श्रुतेर्नवान्नत्वेनैवोभयसाधारणं निमित्तं लाघवात् । अभिलापवाक्ये नवान्नागमनिमित्तमिति नियोज्यम् । न तु यवान्नागमादि । वृश्चिके शुक्लपक्षे च इति तु धनुरादिपर्य्युदस्तेतरगौणकालमध्ये वृश्चिकस्य प्राशस्त्यमात्रार्थं न तु श्राद्धान्तरार्थमिति । इति मलमासतत्त्वम् ॥ अन्यत् नवान्नशब्दे द्रष्टव्यम् ॥

शस्यध्वंसी, [न्] पुं, (शस्यानि ध्वंसयतीति । ध्वंस + णिनिः ।) तुम्बरुः । इति शब्दचन्द्रिका ॥

शस्यनाशके, त्रि ॥

शस्यमञ्जरी, स्त्री, (शस्यस्य मञ्जरी ।) अभिनवनिर्गतधान्यादिशीर्षकम् । शीष इति भाषा ॥ तत्पर्य्यायः । कणिशम् २ । इत्यमरः ॥ कणिशः ३ कणिषः ४ । इति तट्टीका ॥

शस्यशूकं, क्ली, (शस्यस्य शूकम् ।) शस्यस्य तीक्ष्णाग्रम् । शुङा इति भाषा । तत्पर्य्यायः । किंशारुः २ । इत्यमरः ॥

शस्यसम्बरः, पुं, सालवृक्षः । इत्यमरः ॥

शस्याद्, त्रि, शस्यभक्षकः । शस्यं अत्ति इत्यर्थे अद्धातोः कर्त्तरि क्विप्प्रत्ययेन निष्पन्नमेतत् । इति मुग्धबोधव्याकरणम् ॥

शस्यारुः, पुं, चुक्रशमीवृक्षः । इति शब्दरत्नावली ॥

शांशपः, पुं, शिंशपाया विकारश्चमसः । शिंशपाशब्दादण्प्रत्यये इकारस्य आकारादेशेन निष्पन्नमेतत् । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥

शांशपायनः, पुं, मुनिविशेषः । इति पुराणम् ॥ (यथा, विष्णुपुराणे । ३ । ६ । १६ ।
“काश्यपः संहिताकर्त्ता सावर्णिः शांशपायनः ॥”)

शाकं, क्ली, पुं, (शक्यते भोक्तुमिति । शक + घञ् ।) पत्रपुष्पादि । साग इति हिन्दीभाषा । तत्पर्य्यायः । हरितकम् २ शिग्रुः ३ । इत्यमरः ॥ सिग्रुः ४ । इति तट्टीका ॥ हारितकम् ५ । इति शब्दरत्नावली ॥ अथ शाकवर्गः । तत्र शाकनिरूपणम् ।
“पत्रं पुष्पं फलं नालं कन्दं संस्वेदजं तथा ।
शाकं षड्विधमुद्दिष्टं गुरु विद्यात् यथोत्तरम् ॥”
अथ शाकानां गुणाः ।
“प्रायः शाकानि सर्व्वाणि विष्टम्भीनि गुरूणि च ।
रूक्षाणि बहुवर्च्चांसि सृष्टविण्मारुतानि च ॥
शाकं भिनत्ति वपुरस्थि निहन्ति नेत्रं
वर्णं विनाशयति रक्तमथापि शुक्रम् ।
प्रज्ञाक्षयञ्च कुरुते पलितञ्च नूनं
हन्ति स्मृतिं गतिमिति प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥
शाकेषु सर्व्वे निवसन्ति रोगाः
स हेतवो देहविनाशनाय ।
तस्माद्बुधः शाकविवर्ज्जनञ्च
कुर्य्यात्तथाम्लेषु स एव दोषः ॥”
इति भावप्रकाशः ॥
अपि च ।
“सर्व्वशाकमचाक्षुष्यमलक्ष्म्यममैथुनम् ।
ऋते पटोलवास्तूककाकमाचीपुनर्नवाः ॥”
इति राजवल्लभः ॥

शाकः, पुं, वृक्षविशेषः । सेगुन् इति भाषा । तत्पर्य्यायः । शाकवृक्षः २ शाकाख्यः ३ खरपत्रः ४ अर्ज्जुनोपमः ५ । इति रत्नमाला ॥ क्रकचपत्रः ६ शरपत्रः ७ अतिपत्रः ८ अक्षीरुहः ९ श्रेष्ठकाष्ठः १० स्थिरसारः ११ गृहद्रुमः १२ । अस्य गुणाः । सारकत्वम् । पित्तदाहश्रमापहत्वञ्च । अस्य वल्कलगुणाः । कफनाशित्वम् । मधुरत्वम् । रूक्षत्वम् । कषायत्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥ * ॥ शक्तिः । इति मेदिनी ॥ शिरीषवृक्षः । इति शब्दरत्नावली ॥ नृपभेदः । इति विश्वः ॥ द्वीपविशेषः । तस्य विवरणं यथा,—
सूत उवाच ।
“शाकद्वीपस्य वक्ष्यामि यथावदिह निश्चयम् ।
कथ्यमानं निबोधध्वं शाकद्वीपं द्विजोत्तमाः ॥
जम्बुद्वीपस्य विस्ताराद्द्विगुणस्तस्य विस्तरः ।
विस्ताराद्द्विगुणश्चापि परिणाहः समन्ततः ॥
तेनावृतः समुद्रोऽयं द्वीपेन लवणोदधिः ।
तत्र पुण्या जनपदाश्चिराच्च म्रियते जनः ॥
कुत एव च दुर्भिक्षं क्षमातेजोयुतेष्विह ।
तत्रापि पर्व्वताः शुभ्राः सप्तैव मणिभूषिताः ॥
शाकद्वीपादिद्वीपेषु सप्त सप्त नगास्त्रिषु ।
ऋज्वायताः प्रतिदिशं निविष्टा वर्षपर्व्वताः ॥
रत्नाकराद्रिनामानः शोभावन्तो महाचिताः ।
समाचिताः प्रतिदिशं द्वीपविस्तरमानतः ॥
उभयत्रावगाढाश्च लवणक्षीरसागरौ ।
शाकद्वीपे तु वक्ष्यामि सप्त दिव्यान् महाचलान् ॥
देवर्षिगन्धर्व्वयुतः प्रथमो मेरुरुच्यते ।
प्रागायतः स सौवर्ण उदयो नाम पर्व्वतः ॥
तत्र मेघास्तु वृष्ट्यर्थं प्रभवन्ति च यान्ति च ।
तस्यापरेण सुमहान् जलधारो महागिरिः ॥
स वै चन्द्रः समाख्यातः सर्व्वौषधिसमन्वितः ।
तस्मान्नित्यमुपादत्ते वासवः परमं जलम् ॥
नारदो नाम चैवोक्तो दुर्गशैलो महाचितः ।
तत्राचले समुत्पन्नौ पूर्व्वं नारदपर्व्वतौ ॥
तस्यापरेण सुमहान् श्यामो नाम महागिरिः
यत्र श्यामत्वमापन्नाः प्रजाः पूर्व्वमिमाः किल ॥
स एव दुन्दुभिर्नाम श्यामः पर्व्वतसत्तमः ।
शब्दमृत्युः पुरा तस्मिन् दुन्दुभिस्ताड़ितः सुरैः ॥
रत्नमालान्तरमयः शाल्मलश्चान्तरालकृत् ।
तस्यापरेण रजतो महानस्तो गिरिः स्मृतः ॥
स वै सोमक इत्युक्तो देवैर्यत्राहृतं पुरा ।
सम्भृतञ्च हृतञ्चैव मातुरर्थे गरुत्मता ॥
तस्यापरे चाम्बिकेयः सुमनाश्चैव स स्मृतः ।
हिरण्याक्षो वराहेण तस्मिन् शैले निसूदितः ॥
आम्बिकेयात् परो रम्यः सर्व्वौषधिसमन्वितः ।
विभ्राजस्तु समाख्यातः स्फाटिकः स महागिरिः ॥
यस्माद्विभ्राजते नित्यं विभ्राजस्तेन स स्मृतः ।
सैवेह केशवेत्युक्तो यतो वायुः प्रवायति ॥
तेषां वर्षाणि वक्ष्यामि पर्व्वतानां द्विजोत्तमाः ।
शृणुध्वं नामतस्तानि यथावदनुपूर्व्वशः ,
द्विनामान्येव वर्षाणि यथैव गिरयस्तथा ।
उदयस्योदयं वर्षं जलधारेति विश्रुतम् ॥
नाम्ना शान्तभयन्नाम वर्षं तत् प्रथमं स्मृतम् ॥
द्वितीयं जलधारस्य सुकुमारमिति स्मृतम् ।
तदेव शैशिरं नाम वर्षं संपरिकीर्त्तितम् ॥
रैवतस्य तु कौमारं तथैव च सुखोदयम् ।
श्यामपर्व्वतवर्षन्तु मणीचकमिति स्मृतम् ॥
आनन्दकमिति प्रोक्तं तदेव मुनिभिः शुभम् ।

सोमकस्य शुभं वर्षं विज्ञेयं कुसुमोत्तरम् ॥
तदेव शिवमित्युक्तं वर्षं सोमकसंज्ञितम् ।
आम्बिकेयस्य मेदाकिं चेमकश्चैव तत् स्मृतम् ॥
सेतुपर्व्वतकस्यापि महाद्रुममिति स्मृतम् ।
तदेव ध्रुवमित्युक्तं वर्षं विभ्राजसंज्ञितम् ॥
द्वीपस्य परिणाहश्च ह्रस्वदीर्घत्वमेव च ।
जम्बुद्वीपेन संख्यातस्तस्य मध्ये वनस्पतिः ॥
शाको नाम महावृक्षस्तस्य प्रजा महानुगाः ।
एतेषु देवगन्धर्व्वाः सिद्धाश्च सह चारणैः ॥
विहरन्ति रमन्ते च दृश्यमानाश्च तैः सह ।
तत्र पुण्या जनपदाश्चातुर्व्वर्ण्यसमन्विताः ॥
तेषु नद्यस्तु वै सप्त प्रतिवर्षं समुद्रगाः ।
द्विनाम्नश्चैव ताः सर्व्वा गङ्गाः सप्तविधाः स्मृताः ॥
प्रथमा सुकुमारीति गङ्गा शिवजला शुभा ।
अनुतप्ता च नाम्नैषा नदी संपरिकीर्त्तिता ॥
सुकुमारी तपःसिद्धा द्वितीया नामतः सती ।
नन्दा च पावनी चैव तृतीया परिकीर्त्तिता ॥
शिवलोका चतुर्थी स्यात् त्रिविधा च पुनः स्मृता ।
इक्षुश्च पञ्चमी ज्ञेया तथैव च पुनः कुहू ॥
धेनुका च स्मृता चैव षष्ठी संपरिकीर्त्तिता ।
सुकृता च गभस्ती च सप्तमी परिकीर्त्तिता ॥
एताः सप्त महाभागा प्रतिवर्षं शिवोदकाः ।
पावयन्ति जनं सर्व्वं शाकद्वीपनिवासिनम् ॥
अभिगच्छन्ति ताश्चान्या नदीनद्यः सरांसि च ।
बहूदकपरिस्रावा यतो वर्षति वासवः ॥
आसान्तु नामधेयानि परिमाणं तथैव च ।
न शक्यं परिसंख्यातुं पुण्यास्ताः सरिदुत्तमाः ॥
ताः पिबन्ति महाहृष्टा नदीर्जनपदास्तु ते ।
ये ते शान्तभया प्रोक्ताः प्रमोदाश्चेति वै शिवाः ॥
आनन्दाश्च सुखाश्चैव क्षेमकैश्च ध्रुवैः सह ।
वर्णाश्रमाचारयुक्ता देशास्ते सप्त विश्रुताः ॥
आरोगा बलिनश्चैव सर्व्वे मरणवर्ज्जिताः ।
अवसर्पिणी न तेष्वस्ति तथैवोत्सर्पिणी पुनः ॥
न तत्रास्ति युगावस्था चतुर्युगकृता क्वचित् ।
त्रेतायुगसमः कालस्तथा तत्र प्रवर्त्तते ॥
शाकद्वीपादिषु ज्ञेयं पञ्चस्वेतेषु सर्व्वशः ।
देशस्य तु विचारेण कालः स्वाभाविकः स्मृतः ॥
न तेषु सङ्करः कश्चिद्वर्णाश्रमकृतः क्वचित् ।
धर्म्मस्याव्यभिचारेण एकान्तसुखिताः प्रजाः ॥
न तेषु माया लोभो वा ईर्ष्यासूया भयं तथा ।
विपर्य्ययो न तेष्वस्ति तद्वै स्वाभाविकं स्मृतम् ॥
कालो न चैव तेष्वस्ति न दण्डो न च दाण्डिकः ।
स्वधर्म्मेण च धर्म्मज्ञास्ते रक्षन्ति परस्परम् ॥"

इति मात्स्ये १०२ अध्यायः ॥ * ॥

अपि च । एवं परस्तात् क्षीरोदात् परित उपवेशितः शाकद्वीपो,द्वात्रिंशल्लक्षयोजनायामः समानेन दधिमण्डोदेन परीतः । यस्मिन् हि शाको नाम महीरुहः स्वक्षेत्रव्यपदेशकः । यस्य हि महासुरभिगन्धस्तद्द्वीपमनुवासयति । तस्यापि प्रैयव्रत एवाधिपतिर्नाम्ना मेधातिथिः । सोऽपि विभज्य सप्त वर्षाणि पुत्त्रनामानि तेषु स्वात्मजान् पुरोजवमनोजववेपमानधूम्रानीकचित्ररेफबहुरूपविश्वाधारसंज्ञान् निधायाधिपतीन् स्वयं भगवत्यनन्त आवेशितमतिस्तपोवनं प्रविवेश । एतेषां वर्षमर्य्यादागिरयो नद्यश्च सप्त सप्तैव । ईशान उरुशृङ्गो बलभद्रः शतकेशरः सहस्रस्रोतो देवपालो महानस इति । अनघा आयुर्दा उभयस्पृष्टिरपराजिता पञ्चपदी सहस्रस्रुतिर्निजधृतिरिति । तद्वर्षपुरुषा ऋतव्रतसत्यव्रतदानव्रतानुव्रतनामानो भगवन्तं वाय्वात्मकं प्राणायामविधूतरजस्तमसः परमसमाधिना यजन्ते । इति श्रीभागवते ५ स्कन्धे २० अध्यायः ॥ * ॥ युधिष्ठिरविक्रमादित्यशालिवाहनादिशकनरपतीनामतीताब्दः । तस्य प्रमाणं दिनपञ्जिकायां द्रष्टव्यम् ॥ (शक्तिः । कर्म्म । यथा, ऋग्वेदे । ६ । २४ । ४ ।

"शचीवतस्ते पुरुशाक शाका
गवामिव स्रुतयः सञ्चरणीः ॥"

"हे पुरुशाक बहुकर्म्मन्निन्द्र शचीवतः प्रज्ञावतस्ते त्वदीयाः शाकाः शक्तयः कर्म्माणि वा ।" इति तद्भाष्ये सायणः ॥ * ॥ समर्थे, त्रि । यथा, ऋग्वेदे । ५ । ३० । १० ।

"सम्मा इन्द्रो अत्रह्नदस्य शाकैर्यदीं सोमासः सुषुता अमन्दन् ॥"

"शाकैः शक्तैर्म्मरुद्भिः सह ।" इति तद्भाष्ये सायणः ॥)

शाकचुक्रिका, स्त्री, चिञ्चा । इति राजनिर्घण्टः ॥

शाकटं, त्रि, (शकट + अण् ।) शकटस्येदम् । शकटवोढ़ा । इति मेदिनी ॥

शाकटः, पुं, श्लेष्मान्तकवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥ (शकटं वहतीति । शकट + "शकटादण् ।" ४ । ४ । ८० । इत्यण् ।) युगादिवोढ़ा । तत्पर्य्यायः । युग्यः २ प्रासङ्ग्यः ३ । इत्यमरः ॥

शाकटाख्यः, पुं, (शाकट इति आख्या यस्य ।) धववृक्षः । इति रत्नमाला ॥

शाकटायनः, पुं, (शकटस्यापत्यं पुमान् । शकट + "नडादिभ्यः फक् ।" ४।१।९९। इति फक् ।) अष्टशाब्दिकान्तर्गतशाब्दिकविशेषः । यथा,—

"इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्ना पिशली शाकटायनः ।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः ॥"

इति कविकल्पद्रुमः ॥

(अयन्तु नाममात्रं धातुनिष्पन्नमाह । यथा, कातन्त्रे सतृषु उणादयो भूतेऽपि इत्यत्र त्रिलोचनः ।

"नाम च धातुजमाह निरुक्ते
व्याकरणे शकटस्य च तोकः ।
यन्न पदार्थविशेषसमुत्थं
प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम् ॥")

शाकटिकः, त्रि, शकटगामी । शकटेन गच्छतीत्यर्थे ठक्प्रत्ययेन निष्पन्नमेतत् । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥ (यथा, हृहत्संहितायाम् । १० । ४ ।

"रोहिण्यां कोशलमद्रकाशिपाञ्चालशाकटिकाः ॥")

शाकटीनः, पुं, विंशतितुलापरिमाणम् । तत्पर्य्यायः । भारः २ आचितः ३ शाकटः ४ शलाटः ५ । इति हेमचन्द्रः ॥

शाकतरुः, पुं, (शाकाख्यस्तरुः ।) शाकवृक्षः । इति शब्दमाला ॥ सागौन इति हिन्दी भाषा ॥

शाकपत्रः, पुं, शिग्रुः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शाकवालेयः, पुं, ब्रह्मयष्टिः । इति शब्दरत्नावली ॥

शाकम्भरी, स्त्री, (शाकेन बिभर्त्ति । भृ + खश् । ङीष् ।) दुर्गा । यथा,—

"ततोऽहमखिलं लोकमात्मदेहसमुद्भवैः ।
भरिष्यामि सुराः शाकैरावृष्टेः प्राणधारकैः ॥
शाकम्भरीति विख्यातिं तदा यास्याम्यहं भुवि ।
तत्रैव च वधिष्यामि दुर्गमाख्यं महासुरम् ॥"

इति मार्कण्डेयपुराणे नारायणीस्तुतिः ॥

अपि च ।

"भूयः सुरास्तिष्ययुगे निराशना-
न्निरीक्ष्य मारीचगृहे समाश्रिता ।
लोकान् भरिष्यामि तनूजशाकै-
स्तदा भविष्यामि शाकम्भरीति ॥"

इति वामने ५३ अध्यायः ॥

नगरविशेषः । शाम्भरीतिख्यातः । इति केचित् ॥

शाकम्भरीयं, क्ली, आजमेराख्यदेशान्तर्गतशाम्भरनगरीयजलाशयविशेषोद्भवलवणम् । शाम्भरि इति ख्यातम् । तत्पर्य्यायगुणा यथा,—

"शाकम्भरीयं कथितं गड़ाख्यं रोमकं तथा ।
गड़ाख्यं लघु वातघ्नमत्युष्णं भेदि पित्तलम् ।
तीक्ष्णं व्यवायि सूक्ष्मञ्चाभिष्यन्दि कटुपाकि च ॥"

इति भावप्रकाशः ॥

शाकयोग्यः, पुं, (शाकस्य योग्यः ।) धान्यकम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

शाकराजः, पुं, (शाकानां राजा निर्दोषत्वात् । "राजाहःसखिभ्यष्टच् ।" ५।४।९१। इति टच् ।) वास्तूकम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

शाकलः, } **शाकलकः**, } पुं, शकलेन प्रोक्तमधीयते शाकलास्तेषां सङ्घोऽङ्को घोषो वा । "शाकलाद्वा ।" ४ । ३ । १२८ । इति अण् । परम्परासम्बन्धोऽङ्कः । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥ (द्वीपविशेषः । यथा, महाभारते । २।२६।६ ।

"शाकलद्वीपवासाश्च सप्तद्वीपेषु ये नृपाः ।
अर्ज्जुनस्य च सैन्यैस्तैर्विग्रहस्तुमुलोऽभवत् ॥")

शाकलिकः, त्रि, शाकलसम्बन्धी । "शाकलकर्द्दमाभ्यामुपसंख्यानम् ।" ४ । २ । २ । इत्यस्य वार्त्तिकोक्त्या शाकलिकः कार्द्दमिकः । आभ्यामणपीति वृत्तिकारः । शाकलः । कार्द्दमः । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥

शाकविल्वः, पुं, (शाके विल्व इव ।) वार्त्ताकुः । इति जटाधरः ॥

शाकविल्वकः, पुं, (शाकविल्व + स्वार्थे कन् ।) वार्त्ताकुः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

शाकवीरः, पुं, (शाकेषु वीरः ।) वास्तूकशाकः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ जीवशाकः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शाकवृक्षः, पुं, (शाकाख्यो वृक्षः ।) तरुविशेषः । इति रत्नमाला ॥ सेगोन इति भाषा । अस्य पर्य्यायगुणौ शाकशब्दे द्रष्टव्यौ ॥

शाकशाकटं, क्ली, (शाकानां भवनं क्षेत्रम् । शाक + "भवने क्षेत्रे शाकटशाकिनौ ।" इति शाकटः ।) शाकक्षेत्रम् । इति हेमचन्द्रः ॥

शाकशाकिनं, क्ली, (शाकानां भवनं क्षेत्रम् । शाक + शाकिनः ।) शाकक्षेत्रम् । इति हेमचन्द्रः ॥

शाकश्रेष्ठः, पुं, (शाकेषु श्रेष्ठः ।) वास्तूकशाकम् । इति शब्दरत्नावली ॥

शाकश्रेष्ठा, स्त्री, (शाकेषु श्रेष्ठा ।) जीवन्ती । डोड़ीक्षुपः । वार्त्ताकुः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शाका, स्त्री, हरीतकी । इति केचित् ॥

शाकाख्यं, क्ली, (शाक इति आख्या यस्य ।) पत्रपुष्पादि । इत्यमरः ॥
"व्यञ्जनयोग्यं पत्रपुष्पादि शाकपदवाच्यम् ।
आदिना फलमूलादिग्रहः । यदुक्तम् ।
'मूलपत्रकरीराग्रफलकाण्डाधिरूढ़कम् ।
त्वक् पुष्पं कवकञ्चैव शाकं दशविधं स्मृतम् ॥'
तत्र मूलं मूलकादेः । पत्रं पटोलादेः । करीरं वंशाङ्कुरादि । अग्रं वेत्रादेः । फलं कुष्माण्डादेः । काण्डं उत्पलादिनाड़ी । अधिरूढ़ं तालास्थिमज्जा । अधिरूढ़ोऽङ्कुर इति केचित् । त्वक् मातुलुङ्गादेः । पुष्पं कोविदारादेः । कवकं छत्रिका । शक्यते भोक्तुमनेनेति शाकम् । शक्ति सामर्थ्यं तनूकरोति शो तनूकरणे बाहुल्यात् कः शाकमित्यन्ये ।" इति तट्टीकायां भरतः ॥

शाकाख्यः, पुं, (शाक इति आख्या यस्य ।) शाकवृक्षः । इति रत्नमाला ॥ अस्य पर्य्यायगुणौ शाकशब्दे द्रष्टव्यौ ॥

शाकाङ्गं, क्ली, (शाकस्य अङ्गमिव ।) मरिचम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

शाकाम्लं, क्ली, (शाके अम्लो यस्य ।) वृक्षाम्लम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

शाकाम्लभेदनं, क्ली, (शाकाम्लं भेदनञ्च ।) चुक्रम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

शाकालाबुः, स्त्री, राजालाबुः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शाकाष्टका, स्त्री, (शाका अष्टौ प्रदेया यत्र ।) शाकोपकरणकश्राद्धाहाष्टमी । सा च गौणफाल्गुनकृष्णाष्टमी । तद्विवरणं मांसाष्टकाशब्दे द्रष्टव्यम् ॥

शाकिनी, स्त्री, (शाकोऽस्यत्रेति । शाक + इनिः ।) शाकयुक्ता भूमिः । यथा,—
"शकटः शाकिनी गावो जालमस्यन्दनं वनम् ।
अनूपं पर्व्वतो राजा दुर्भिक्षे नव वृत्तयः ॥"
शकटो धान्यादिवहनद्वारेणोपजीव्यः ।
"पत्रं पुष्पं फलं कन्दं नालं संस्वेदजं तथा ।
शाकं षड्विधमुद्दिष्टं गुरु विद्यात् यथोत्तरम् ॥"
इति वैद्योक्तशाकयोगात् शाकिनी गृहवाटिकाशाकाद्याहरणेन । गावो दुग्धादिना । जालं मत्स्याद्याहरणेन । अस्यन्दनं स्वस्थानादत्यागः कृष्यादिलाभेन । अथाधिक्यनिवृत्त्या च । वनं फलपुष्पाद्याहरणेन । अनूपं बहूदकदेशः सस्यालशालूकाद्याहरणेन । पर्व्वतो गैरिकन्दाद्याहरणेन । राजा भैक्षादिना । इत्याह्निकतत्त्वम् ॥ * ॥ दुर्गाया अनुचरीविशेषः । यथा,—
"डाकिनी योगिनी चैव खेचरी शाकिनी तथा ।
दिक्षु पूज्या इमा देव्यः सुसिद्धाः फलदायिकाः ॥"
इति कात्यायनीकल्पः ॥
"ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः ।
ततः परशिवो देवि षट्शिवाः परिकीर्त्तिताः ॥
मूलाधारे तु ब्रह्माणं डाकिनीसहितं न्यसेत् ॥
सर्व्वत्र चाचरीयुक्ता वादिसान्तं सबिन्दुकम् ॥
स्वाधिष्ठानाख्यचक्रे तु सविष्णुं राकिणीं तथा ।
वादिलान्तं प्रविन्यस्य नाभौ तु मणिपूरके ॥
डादिफान्तार्णसहितं रुद्रञ्च लाकिनीं तथा ।
अनाहते कादिठान्तं ईश्वरं काकिनीं तथा ॥
विशुद्धाख्ये महाचक्रे षोड़शस्वरसंयुतम् ।
सदाशिवं शाकिनीञ्च विन्यसेत् पूर्व्ववत्ततः ॥
आज्ञाचक्रे तु देवेशि ह-क्ष-वर्णसमन्वितम् ।
परं शिवं ब्रह्मरूपं हाकिनीसहितं न्यसेत् ॥"
इति ताराख्यासभेदः । इति तन्त्रसारः ॥

शाकुनः, त्रि, परोतापी । इति शब्दमाला ॥

शाकुनः, पुं, (शकुनमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः । शकुन + अण् ।) पशुपक्ष्यादिरूपशकुनद्वारा मनुष्यशुभाशुभनिश्चायकग्रन्थः । तस्येमौ श्लोकौ ।
"शुभाशुभज्ञानविनिर्णयाय
हेतुर्नृणां यः शकुनः स उक्तः ।
गतिः स्वरालोकनभावचेष्टा
संकीर्त्तयामो द्विपदादिकानाम् ॥
लोकोऽमुना शाकुनसंज्ञकेन
ज्ञानेन विज्ञातसमस्तकार्य्यः ।
नापायकूपे पतति प्रसर्पन्
शास्त्रं हि दिव्या इगतीन्द्रियेषु ॥"
इति वसन्तराजशाकुने १ सर्गः ॥
(शकुनस्यायमिति । शकुन + "तस्येदम् ।" ४ । ३ । १२० । इति अण् । पक्षिसम्बन्धी । यथा, मनुः । ३ । २६८ ।
"द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन्मासान् हारिणेन तु ।
औरभ्रेणाथ चतुरः शाकुनेनाथ पञ्च वै ॥")

शाकुनिकः, पुं, (शाकुनान् हन्तीति । शकुन + "पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति ।" ४ । ४ । ३५ । इति ठक् ।) पक्षिहन्ता । पाखिमारा इति चिड़िमार इति च भाषा । तत्पर्य्यायः । जीवान्तकः २ । इत्यमरः ॥ (यथा, मनुः । ८ । २६० ।
"व्याधान् शाकुनिकान् गोपान् कैवर्त्तान्
मूलखानकान् ॥")

शाकुनेयः, पुं, (शकुनेरपत्यम् । शकुनि + "शुभ्रादिभ्यश्च ।" ४ । १ । १२३ । इति ढक् ।) क्षुद्रुलूकपक्षी । इति राजनिर्घण्टः ॥ (शकुनिपुत्रो वृकासुरः । यथा, भागवते । १० । ८८ । २६ ।
"शाकुनेय भवान् व्यक्तं श्रान्तः किं दूरमागतः ।
क्षणं विश्राम्यतां पुंस आत्मायं सर्व्वकामधुक् ॥")
शकुनसम्बन्धिनि, त्रि ॥

शाकुन्तलेयः, पुं, (शकुन्तलाया अपत्यमिति । शकुन्तला + "स्त्रीभ्यो ढक् ।" ४ । १ । १२० । इति ढक् ।) भरतराजः । इति जटाधरः ॥ शकुन्तलासम्बन्धिनि, त्रि ॥

शाकुलिकः, त्रि, शकुलान् हन्ति यः । शकुलशब्दात् "पक्षिमांसमृगान् हन्ति ।" ४ । ४ । ३५ । इति ठक्प्रत्ययेन निष्पन्नमेतत् । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥

शाक्करः, पुं, (शक्कर एव । स्वार्थे अण् ।) अनड्वान् । इति हेमचन्द्रः ॥

शाक्तः, त्रि, शक्तिर्देवता अस्य । (शक्ति + "सास्य देवता ।" ४।२।२४ । इत्यण् ।) शक्त्युपासकः । अस्य प्रशंसा यथा,—
"स्वर्गे मर्त्त्ये च पाताले नास्ति शाक्तात् परः प्रियः ।
सौराणां गाणपत्यानां वैष्णवानां तथैव च ॥
तदन्ते चैव शाक्ताः स्युः क्रमशः क्रमशः प्रिये ।
शृणु देवि वरारोहे नास्ति शाक्तात् परो जनः ॥
शाक्तोऽपि शङ्करः साक्षात् परं ब्रह्मस्वरूपभाक् ।
आराधिता येन काली तारा त्रिभुवनेश्वरी ॥
षोड़शी चैव मातङ्गी छिन्ना च गलवामुखी ।
आराधिता महेशानि स शिवो नात्र संशयः ॥
अतिगोप्यं महेशानि शाक्तानां परमं पदम् ।
यो जानाति महीमध्ये स शिवो नात्र संशयः ॥
ब्रह्माद्यर्च्चितपादाब्जं यो भजेत् सततं मुदा ।
स यात्यचिरकालेन मुक्तिमन्दिरमेव हि ।
पार्व्वतीचरणद्वन्द्वभजनाकिङ्करो भवेत् ।
स्वर्गभोगश्च मोक्षश्च शाक्तानां न भवेत् किमु ॥
शाक्तानाञ्चैव निन्दां ये कुर्व्वन्ति हि नराधमाः ।
तेषां लोहितपानं वै कुर्व्वन्ति भैरवीगणाः ॥
भैरवाश्चैव भैरव्यः सदा हिंसन्ति पामरान् ।
शाक्तान् हिंसन्ति गर्जन्ति निन्दन्ति बहुजल्पकाः ॥
छिनत्ति तेषां देवेशि शिरांसि हरवल्लभा ।
शाक्तेभ्य उत्तमो नास्ति स्वर्गे मर्त्त्ये रसातले ॥
शाक्तस्तु शङ्करो ज्ञेयस्त्रिनेत्रश्चन्द्रशेखरः ।
स्वयं गङ्गाधरो भूत्वा विहरेत् क्षितिमण्डले ॥"
देवीं प्रति शिववाक्यम् ।
"अहं शाक्तश्च वै भूतास्ते शैवा नात्र संशयः ।
त्वञ्चैव शाक्ताश्च सत्यं वै गिरिनन्दिनि ।
बहुवर्षसहस्रान्ते शैवाः शक्तिपरायणाः ।
शाक्ता वै शङ्करा देवि यस्य कस्य कुलोद्भवाः ॥
चाण्डाला ब्राह्मणाः शूद्राः क्षत्रिया वैश्यसम्भवाः ।

एते शाक्ता जगद्वाचि न मनुष्याः कदाचन ॥
पश्यन्ति मानुषान् लोके केवलं कर्म्मचक्षुषा ।
ब्राह्मणैः क्षत्त्रियैर्व्वैश्यैः शूद्रैरेव च जातिभिः ॥
वाममार्गप्रभावेण कर्त्तव्यं जपपूजनम् ।
ये शाक्ता ब्राह्मणा देवि क्षत्त्रिया ब्राह्मणाः
स्मृताः ॥
वैश्याश्च ब्राह्मणा देवि सर्व्वे शूद्राश्च ब्राह्मणाः ।
ब्राह्मणाः शङ्कराश्चाहि चिनेत्राश्चन्द्रशेखराः ॥”
इति मुण्डमालातन्त्रे २।३।४।७ पटलाः ॥ * ॥
“शाक्ता एव द्विजाः सर्व्वे न शैवा न च
वैष्णवाः ।
उपासन्ते यतो देवीं गायत्त्रीं परमाक्षरीम् ॥”
इति निर्व्वाणतन्त्रे ३ पटलः ॥
शक्त्युपासनानन्तरमन्योपासननिषेधो यथा,—
“अस्याश्चाराधनं कृत्वा नान्यस्याराधनं चरेत् ।
अन्यस्य स्मरणाद्देवि योगिनीशापमालभेत् ॥”
इति गन्धर्व्वतन्त्रे २ पटलः ॥ * ॥
तस्य आभ्यन्तरस्नानं यथा,—
“शाक्तमाभ्यन्तरस्नानमुक्तं श्रीपञ्चमीमते ।
स्नानप्रकारो द्विविधो बाह्याभ्यन्तरभेदतः ॥
आन्तरं स्नानमत्यन्तं रहस्यमपि सादरात् ।
कथयामि भयध्वस्यै चतुर्व्वर्गफलाप्तये ॥
सन्वित्त्रयमनुस्मृत्य चरणद्वयमध्यतः ।
स्रवन्तं सच्चिदानन्दप्रभावं भावगोचरम् ॥
विमुक्तिसाधनं पुंसां स्मरणादेव योगिनाम् ।
तेन प्लावितमात्मानं भावयेत् भयशान्तये ॥”
इति विश्वसारतन्त्रे २ पटलः ॥ * ॥
तस्य कुशविशेषो यथा,—
“तर्ज्जन्या रजतं धार्य्यं स्वर्णं धार्य्यमनामया ।
एष एव कुशः शाक्ते न दर्भो वनसम्भवः ॥”
इति श्यामारहस्यम् ॥
(शक्तिमान् । यथा, ऋग्वेदे । ७ । १०३ । ५ ।
“वाचं शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः ॥”
“शिक्षमाणः शिक्ष्यमाणः शिष्यः शाक्तस्येव शक्तिमतः शिक्षकस्य वाचं यथा अनुवदति तद्वत् ।” इति तद्भाष्ये सायणः ॥)

शाक्तीकः, पुं, (शक्तिः प्रहरणमस्य । शक्ति + “शक्तियष्ट्योरीकक् ।” ४।४।५९। इति ईकक् ।) शक्तिधारकः । तत्पर्य्यायः । शक्तिहेतिकः २ । इत्यमरः ॥

शाक्यः, त्रि, शक्त्युपासकः । इति शक्तिशब्दात् ष्यप्रत्ययेन निष्पन्नमेतत् ॥

शाक्यः, पुं, (शकोऽभिधानमस्येति । शक + “शण्डिकादिभ्यो ञ्यः ।”४।३।९२ । इति ञ्यः ।) बुद्धः । इति हलायुधः ॥

शाक्यमुनिः, पुं, शाक्यवंशावतीर्णबुद्धमुनिविशेषः । इत्यमरः ॥ अस्य सप्त पर्य्याया गौतमशब्दे द्रष्टव्याः । पर्य्यायान्तरं यथा । सर्व्वजित् २ श्वेतकेतुः ३ धर्म्मकेतुः ४ महामुनिः ५ पञ्चज्ञानः ६ सर्व्वदर्शी ७ महाबोधिः ८ महाबलः ९ बहुक्षमः १० त्रिमूर्त्तिः ११ सिद्धार्थः १२ शकः १३ । इति शब्दरत्नावली ॥ शाक्यवंशत्वात् शाक्यः शाक्यश्चासौ मुनिश्चेति शाक्यमुनिः । तथा हि शाको वृक्षविशेषः तत्र भवा विद्यमानाः शाक्याः । पितुः शापेन केचिदिक्ष्वाकुवंश्या गौतमवंशजकपिलमुनेराश्रमे शाकवृक्षे कृतवासाश्च शाक्या उच्यन्ते । तदुक्तम् ।
“शाकवृक्षप्रतिच्छन्नं वासं यस्मात् प्रचक्रिरे ।
तस्मादिक्ष्वाकुवंश्यास्ते भुवि शाक्या इतिस्मृताः ॥”
इत्यमरटीकायां भरतः ॥

शाक्यसिंहः, पुं, (शाक्यः सिंह इव ।) शाक्यमुनिः । इत्यमरः ॥

शाक्री, स्त्री, दुर्गा । यथा,—
“इन्द्राणी इन्द्रजननी शाक्री शक्रपराक्रमा ।
वज्राङ्कुशकरा देवी वज्रा तेनोपगीयते ॥”
इति देवीपुराणे देवीनिरुक्ताध्यायः ॥
शक्रपत्नी च ॥

शाख, ऋ व्याप्तौ । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट् ।) ऋ, अशशाखत् । इति दुर्गादासः ॥

शाखः, पुं, कृत्तिकापुत्त्रः । यथा,—
“अवाप चानिलात् पुत्त्रमग्नितुल्यगुणं पुनः ।
अग्निपुत्त्रः कुमारस्तु शरस्तम्बे अजायत ॥
तस्य शाखो विशाखश्च नैगमेयश्च पृष्ठजः ।
अपत्यं कृत्तिकानाञ्च कार्त्तिकेयस्ततः स्मृतः ॥”
इति मात्स्ये ५ अध्यायः ॥
क्षितिः । इति शब्दचन्द्रिका ॥

शाखा, स्त्री, (शाखति गगनं व्याप्नोतीति । शाख + अच् । टाप् ।) वृक्षाङ्गविशेषः । डाल इति भाषा । (यथा, दुर्गापूजापद्धतौ ।
“शाखाच्छेदोद्भवं दुःखं न च कार्य्यं त्वया
प्रभो ! ॥”)
तत्पर्य्यायः । लता २ । इत्यमरः ॥ सङ्का ३ । इति जटाधरः । शिखा ४ । इति भरतधृतमेदिनी ॥ पक्षान्तरम् । बाहुः । वेदभागः । इति मेदिनी ॥ (यथा, मनौ । ३ । १४५ ।
“यत्नेन भोजयेच्छ्राद्धे बह्वृचं वेदपारगम् ।
शाखान्तगमथाध्वर्य्युं छन्दोगन्तु समाप्तिकम् ॥”)
ग्रन्थभेदः । इति धरणिः ॥ अन्तिकः । इति विश्वः ॥ (प्रकारः । यथा, गीतायाम् ।२।४१।
“बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥”)

शाखाकण्टः, पुं, (शाखायां कण्टो यस्य ।) स्नुहीवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शाखानगरं, क्ली, (शाखेव नगरम् ।) मूलनगरादन्यत् पुरम् । इत्यमरः ॥ (यथा, महाभारते । १२ । ८७ । ८ ।
“शाखानगरमर्हस्तु सहस्रपतिरुत्तमः ॥”)
मूलनगरेऽसम्मितस्य जनौघस्य स्थानाय मूलनगरस्य समीपेऽन्ते वा यदन्यत् पुरं नगरान्तरं क्रियते तत् शाखानगरं मूलनगरस्य तत्स्थानीयस्य शाखेव । अभिष्यन्दि रमणमप्यत्र । स्यादभिष्यन्दि रमणं शाखानगरमित्यपि । इति त्रिकाण्डशेषः । इति तट्टीकायां भरतः ॥ अपि च । यथा, शब्दरत्नावल्याम् ।
“आरभ्य मूलनगरादपरं नगरं हि यत् ।
तदभिष्यन्दि रमणं शाखानगरमित्यपि ॥”

शाखापित्तः, पुं, पाणिपादांशमूलदाहः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शाखापुरं, क्ली, (पुरस्य शाखा अभिधानात् पूर्व्वनिपातः । शाखेव पुरमिति वा ।) शाखानगरम् । तत्पर्य्यायः । उपपुरम् २ । इति हेमचन्द्रः ॥

शाखाम्ला, स्त्री, (शाखायामम्लो यस्याः ।) वृक्षाम्ला । इति राजनिर्घण्टः ॥

शाखामृगः, पुं, (शाखाया मृगः ।) वानरः । इत्यमरः ॥ (यथा,—
“मुक्ताफलाय करिणं हरिणं पलाय
सिंहं निहन्ति भुजविक्रमसूचनाय ।
का नीतिरीतिरियती रघुवंशवीर !
शाखामृगे जरति यत्तव बाणमोक्षः ॥”
इत्युद्भटः ॥

शाखारण्डः, पुं, स्वशाखां परित्यज्य शाखान्तराध्ययनकर्त्ता । तत्पर्य्यायः । अन्यशाखकः २ । इति हेमचन्द्रः ॥

शाखारथ्या, स्त्री, पोड़शहस्तप्रस्थपथः । यथा,—
“धनूंषि चैव चत्वारि शाखारथ्यास्तु निर्म्मिताः ।
त्रिकराश्चोपरथ्यास्तु द्विकराप्युपरथ्यकाः ॥”
इति देवीपुराणे गोपुरद्वारलक्षणनामाध्यायः ॥

शाखालः, पुं, (शाखां लाति आश्रयतीति । ला + कः ।) वानीरवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शाखाशिफा, स्त्री, (शाखायाः शिफा ।) वटादीनां शाखासम्बन्धिशिफा । नामूना इति ख्याता । तरोर्मूलादारभ्य अग्रं यावत् गता लतागुड्यादिः । इति भरतः ॥ तत्पर्य्यायः । अवरोहः २ । इत्यमरः ॥

शाखी, [न्] पुं, (शाखास्त्यस्येति । शाखा + इनिः ।) वृक्षः । इत्यमरः ॥ (यथा,—
“सीतायाः हृदि यच्छिरीषकुसुमप्राये पफालोच्चकैः
पौलस्त्यस्य नितान्तकुण्ठकुलिशे वक्षाधिके
वक्षसि ।
आपुङ्खं निममज्ज मज्जयशरस्तन्नैव जानीमहे
कः शाखी सखि ! यस्य पुष्पमभवत् पुष्पायुधस्यायुधम् ॥”
इत्युद्भटः ।)
वेदः । तुरुष्काख्यजनः । इति मेदिनी ॥ राजभेदः । इति हेमचन्द्रः ॥

शाखोटः, पुं, वृक्षविशेषः । श्याओड़ा इति भाषा ॥ तत्पर्य्यायः । पिशाचद्रुः २ पीतफलः ३ कर्कशच्छदः ४ । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ भूतवृक्षः ५ सकटः ६ अक्षधरः ७ । इति भूरिप्रयोगः ॥ गवाक्षी ८ धूकावासः ९ रूक्षपत्त्रः १० पीतः ११ केशिकोजः १२ चौरनाशनः १३ । अस्य गुणाः । तिक्तत्वम् । उष्णत्वम् । पित्तकारित्वम् । वातहारित्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥ अपि च ।
“शाखोटः पीतफलको भूतावासः खरच्छदः ।

शाखोटो रक्तपित्तार्शोवातश्लेष्मातिसारजित् ॥”
इति भावप्रकाशः ॥

शाख्यः, त्रि, शाखासम्बन्धी । शाखाशब्दात् ष्यञ्प्रत्ययेन निष्पन्नमेतत् ॥

शाङ्करं, क्ली, (शङ्कर + अण् ।) छन्दोभेदः । इति मेदिनी ॥ अस्य रूपान्तरं शाक्करं शाक्वरञ्च ॥ (शङ्करो देवतास्य इत्यर्थे अणि आर्द्रानक्षत्रम् । यथा, बृहत्संहितायाम् । ७१ । ७ ।
“रुगे तु मृगकाङ्क्ष्यं वसुत्वमेव शाङ्करे ।”)

शाङ्करः, पुं, (शङ्करस्यायं वाहनत्वात् । शङ्कर + अण् ।) बलीवर्द्दः । इति मेदिनी ॥ (शङ्कर-सम्बन्धिनि, त्रि । यथा, कथासरित्सागरे । ४६ । २०१ ।
“तत्रैषां तद्गुहाद्वारप्राप्तानां शाङ्करा गणाः ।”)

शाङ्करिः, पुं, (शङ्करस्यापत्यं पुमान् । शङ्कर + इञ् ।) कार्त्तिकेयः । गणेशः । इति मेदिनी ॥

शाङ्कुची, स्त्री, शङ्कोचनमत्स्यः । इति शब्द-रत्नावली ॥

शाङ्खः, त्रि, शङ्खसम्बन्धि । शङ्खशब्दात् अण्प्रत्ययेन निष्पन्नमेतत् ॥

शाङ्खिकः, पुं, (शङ्खकरणं शिल्पमस्य इति । शङ्ख + ठक् ।) जातिविशेषः । शाँखारि इति भाषा । तत्पर्य्यायः । काम्बविकः २ । इत्यमरः ॥ शङ्खकारः ३ काम्बुकः ४ । इति शब्दरत्नावली ॥ शङ्खवादकः । तत्पर्य्यायः । शङ्खध्मः २ । इति जटाधरः ॥

शाङ्गुष्ठा, स्त्री, गुञ्जा । इति रत्नमाला ॥

शाटः, पुं, वस्त्रभेदः । इत्यमरभरतौ ॥ यथा,—
“दूरतः शोभते मूर्खो लम्बशाटपटावृतः ।
तावच्च शोभते मूर्खो यावत् किञ्चिन्न भाषते ॥”
इति चाणक्यशतकम् ॥

शाटकः, पुं क्ली, (शाट + स्वार्थे कन् ।) पटः । (यथा, कथासरित्सागरे । ५३ । ३८ ।
“स राजवन्दिनामा तद्दत्त्वा शाटकमग्रहीत् ॥”)
नाटकभेदः । इत्यमरभरतौ ॥

शाटिका, स्त्री, शाटी । इत्यमरटीकायां भरतः ॥

शाटी, पुं स्त्री, वस्त्रभेदः । शाड़ी इति भाषा । इत्यमरः ॥ अस्या निर्माल्यत्वं निर्माल्यशब्दे द्रष्टव्यम् ॥

शाट्यायनं, क्ली, प्रकृतकर्म्मवैगुण्यप्रशमनार्थहोमः । यथा । यत्तु प्रकृतकर्म्मवैगुण्यप्रशमनाय शाट्यायनहोमाभिधानं भवदेवभट्टसम्मतं तन्न प्रामाणिकं तस्मादपि महाप्रामाणिकैर्भट्टनारायण-चरणैर्गोभिलभाष्ये तदप्रमाणीकृतत्वात् । छन्दोगपरिशिष्टेऽपि प्रायश्चित्तार्थं प्रकारत्रय-मात्रमुक्तम् । यथा,—
“यत्र व्याहृतिभिर्होमः प्रायश्चित्तात्मको भवेत् ।
चतस्रस्तत्र विज्ञेया स्त्रीपाणिग्रहणे यथा ॥
अपि वाज्ञातमित्येषा प्राजापत्यापि वाहुतिः ।
होतव्या त्रिविकल्पोऽयं प्रायश्चित्तविधिः स्मृतः ॥”
त्रिविकल्प इत्यनेन कल्पान्तरनिषेधात् गोभिलीयकर्म्मणि शाट्यायनहोमो न युक्तः । किन्तु व्यस्तसमस्तमहाव्याहृतिभिश्चतसृभिः प्रायश्चित्तहोमो युक्तः । विशारदप्रभृतयोऽप्येवम् । शाट्यायनहोमस्य समूलत्वेऽपि शाखान्तरीयत्वम् । इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥

शाट्यायनः, पुं, मुनिविशेषः । इति पुराणम् ॥

शाठ्यं, क्ली, (शठस्य भावः । शठ + ष्यञ् ।) शठता । (यथा । “शठे शाठ्यं समाचरेत् ॥”) तत्पर्य्यायः । कपटः २ व्याजः ३ दम्भः ४ उपधिः ५ छद्म ६ कैतवम् ७ कुसृतिः ८ निकृतिः ९ । इत्यमरः ॥ नव अयथार्थ-व्यवहारे । शठ वधे श्लेषकैतवे तालव्यादिः अत् तस्य कर्म्म शाठ्यं ष्यञ् । कपटादि-षट्कं छद्मनि कुसृत्यादित्रयं चित्तकौटिल्ये इत्येके । कपटादिषट्कं वञ्चनमात्रफलम् । कुसृत्यादित्रिकन्तु हिंसाफलमिति भेदः । इति सर्व्वानन्दो मधुश्च । नवैकार्था इति बहवः । इति भरतः ॥ अपि च ।
“अक्रिया कपटो व्याज उपधिर्दम्भ एव च ।
कूटं कल्कं छलं छद्म मिषकैतवकैतवम् ॥
अथ शाठ्यञ्च शठता कुसृतिर्निकृतिश्च सा ।
हिंसाफले चतुष्कं स्यात् शाठ्यपर्य्याय ईरितः ॥
पूर्व्वः कपटपर्य्यायः फले वञ्चनमात्रके ।
उभयोरेकपर्य्याय इति केचित् प्रचक्षते ॥”
इति शब्दरत्नावली ॥

शाड, ऋ ङ श्लाघे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-आत्म०-सक०-सेट् ।) ऋ, अशशाडत् । ङ, शाडते गुणिनं गुणी । अन्तःस्थतृतीय-युक्तादिरयमिति कस्यचिद्भ्रमः । इति दुर्गा-दासः ॥

शाड्वलः, पुं, शाद्वलः । इति केचित् ॥

शाणं, क्ली, (शणेन निर्म्मितमिति । शण + अण् ।) शणनिर्म्मितवस्त्रम् । यथा । क्षौमं शाणं वा ब्राह्मणस्य कार्पासं क्षत्त्रियस्य आविकं वैश्यस्य । क्षुमा अतसी तस्या इदं क्षौमं तसरादि । शाणं शणतन्तुभवं तदुभयं ब्राह्मणस्य । इति संस्कारतत्त्वम् ॥

शाणः, पुं, (शाणयति श्यायते गुणादिरनेनेति । शण + णिच् + घञ् ।) कषपट्टिका । कष्टिपातर इति भाषा । तत्पर्य्यायः । निकषः २ कषः ३ । इत्य-मरः ॥ शानः ४ निकसः ५ कसः ६ । इति भरतः ॥ आकषः ७ । इति शब्दरत्नावली ॥ माषचतुष्टयम् । चारि माषा इति भाषा । तत्पर्य्यायः । निष्कः २ टङ्कः ३ । इति वैद्यक-परिभाषा ॥ यथा,—
“माषैश्चतुर्भिः शाणः स्यात् धरणः स निगद्यते ।
टङ्कः स एव कथितस्तद्द्वयं कोल उच्यते ॥”
इति भावप्रकाशः ॥
लौहादीनां निकषः । शानपातर इति भाषा । इति मेदिनी ॥ करपत्रम् । करात् इति भाषा । इति विश्वः ॥

शाणाजीवः, पुं, (शाणेन आजीवतीति । आ + जीव + अच् ।) अस्त्रमार्जकः । यथा,—
“शाणाजीवः शस्त्रमार्जो भ्रमासक्तोऽसिधा-वकः ॥”
इति हेमचन्द्रः ॥

शाणिः, पुं, पट्टस्यः । यथा,—
“पट्टे राजश्रयः शाणिश्चिभिः ककुखटपत्रकः ॥”
इति शब्दमाला ॥

शाणितः, त्रि, तीक्ष्णीकृतः । निशितः । कृतशाणः । शाणशब्दादितप्रत्ययेन निष्पन्नमेतत् ॥

शाणी, स्त्री, (शणस्य विकारः । शण + अण् । टिड्ढेति ङीप् ।) शणसूत्रमयी पट्टिका । यथा,—
“शाणीप्रायाणि वस्त्राणि शमीप्राया मही-रुहाः ।
शूद्रप्रायास्तथा वर्णा भविष्यन्ति कलौ युगे ॥”
इति विष्णुपुराणे ६ अंशे १ अध्यायः ॥
शाणी शणसूत्रमयी पट्टिका तत्तुल्यानि वस्त्राणि । इति तट्टीका ॥ (यथा, महाभारते । ३ । १६४ । १६ ।
“वस्त्राणां प्रवरा शाणी धान्यानां कोर-दूषकः ॥”)
शावरणान्तरम् । ताम्बु इति भाषा । इति मेदिनी ॥ छिन्नवस्त्रम् । यथा । शाणी गोणी छिद्रवस्त्रे । इति हेमचन्द्रः ॥ हस्तकटाच्छादि-स्वपचा । इशारा इति पारस्यभाषा । इति शब्दरत्नावली ॥

शाणीरं, क्ली, शोणनदमध्यस्थतटः । दर्दरीनदी-तटः । इति विश्वः ॥

शाण्डिल्यः, पुं, विल्वदृक्षः । इत्यमरः ॥ (यथा, महागणपतिस्तोत्रे । ९ ।
“हेरम्बं प्रणमामि यस्य पुरतः शाण्डिल्यमूले श्रिया
बिभ्रत्याम्बुरुहे समं मधुरिपुस्ते शङ्खचक्रे वहन् ॥”)
वह्निभेदः । (शण्डिलस्य मुनेर्गोत्रापत्यमिति । शण्डिल + “गर्गादिभ्यो यञ् ।” ४ । १ । १०५ । इति यञ् ।) मुनिविशेषः । इति मेदिनी ॥ स तु गोत्रकारः भक्तिसूत्रकारश्च । तत्सूत्र-भाष्याद्यश्लोको यथा,—
“प्रपद्य परमं देवं श्रीसर्व्वेश्वरसूरिणा ।
शाण्डिल्यशतसूत्रीयं भाष्यमाभाष्यतेऽधुना ॥”

शातं, क्ली, (शो + क्तः । “शाच्छोरन्यतरस्याम् ।” ७ । ४ । ४१ । इति पक्षे इत्वाभावः ।) सुखम् । तद्वति, त्रि । इत्यमरः ॥ (विनाशः । यथा, सुश्रुते । ४ । १ ।
“पाणिशातं पाणिदाहं नखशातं करोति च ॥”)

शातः, त्रि, (शो + क्तः ।) दुर्ब्बलः । निशितः । इति मेदिनी ॥ धुस्तूरः । इत्यमरः ॥

शातकुम्भं, क्ली, (शतकुम्भे पर्व्वते भवम् । शत-कुम्भ + अण् ।) काञ्चनम् । (यथा, माघे । ९ । ९ ।

"द्रुतशातकुम्भनिभमंशुमतो
वपुरर्द्धमग्नवपुषः पयसि ॥")

धुस्तूरः । इत्यमरः ॥

शातकुम्भः, पुं, करवीरवृक्षः । इति मेदिनी ॥

शातकौम्भं, क्ली, स्वर्णम् । इति भरतद्विरूपकोषः ॥ (सुवर्णनिर्म्मिते, त्रि । यथा, रामायणे । २ । ३ । ११ ।

"शतञ्च शातकौम्भानां कुम्भानामग्निवर्च्चसाम् ॥")

शातनं, क्ली, कार्श्यम् । विनाशनम् । यथा,—

"वसन्ते सर्व्वशस्यानां जायते पत्रशातनम् ।
मोदमानाश्च तिष्ठन्ति यवाः कणिशशालिनः ॥"
इति सारमञ्जरी ॥

(छेदके, त्रि । यथा, रघुः । ३ । ४२ ।

"स पूर्व्वतः पर्व्वतपक्षशातनं
ददर्श देवं नरदेवसम्भवः ॥")

शातपत्रकः, पुं, (शातपत्रं पद्ममिव । कन् ।) चन्द्रप्रकाशः । यथा,—

"चन्द्रिका कौमुदी ज्योत्स्ना प्रकाशो द्योत आतपः ।
अकल्का चन्द्रिकायाञ्च प्रकाशे शातपत्रकः ॥"
इति शब्दचन्द्रिका ॥

शातभीरुः, पुं, मदनमाली । मल्लिकाभेदः । यथा,—

"शातभीरुर्भद्रवल्ली भूमिमल्लोऽष्टपादिका ॥"
इति रत्नमाला ॥

शातमानं, त्रि, (शतमान + "शतमानविंशतिकेति ।" ५ । १ । २७ । इति अण् ।) शतमानेन क्रीतम् । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥

शातला, स्त्री, (शातं छेदं लातीति । ला + कः ।) सातला । चर्म्मकषा इति ख्याता । इत्यमरटीकायां भरतः ॥

शात्रवं, क्ली, (शत्रोर्भावः समूहो वा । शत्रु + अण् ।) शत्रुभावः । शत्रुसंहतिः । इति मेदिनी ॥ (शत्रुसम्बन्धिनि, त्रि । यथा, रघुः । ४ । ४२ ।

"ताम्बूलीनां दलैस्तत्र रचितापानभूमयः ।
नारिकेलासवं योधाः शात्रवञ्च पपुर्यशः ॥")

शात्रवः, पुं, (शत्रुरेव । स्वार्थे अण् ।) शत्रुः । इत्यमरः ॥ (यथा, माघे । १४ । ४४ ।

"तत्र नाभवदसौ महाहवे
शात्रवादिव पराङ्मुखोऽर्थिनः ॥")

शादः, पुं, (शो तनूकरणे + "शाशपिभ्यां ददनौ ।" उणा० ४ । ९७ । इति दः ।) कर्द्दमः । शष्पम् । इत्यमरः ॥

शादहरितः, त्रि, (शादैः शष्पैः हरितः ।) शाड्वलः । इत्यमरः ॥

शाद्वलः, त्रि, (शाद + "नडशादात् ड्वलच् ।" ४ । २ । ८८ । इति ड्वलच् ।) नवतृणबहुलदेशः । इत्यमरः ॥ शादो नवतृणं विद्यतेऽत्र शाड्वलः । शष्पवाचिन एव शादशब्दाद्वलः स्यात् न तु पङ्कवाचिनोऽनभिधानात् । इति तट्टीकायां भरतः ॥ (यथा, रामायणे । २ । ३० । १४ ।

"शाड्वलेषु यदा शिश्ये वनान्ते वनगोचरा ।
कुथास्तरणयुक्तेषु किं स्यात् सुखतरं ततः ॥")

शान, ञ तेजे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-उभ०-सक०-सेट् ।) शानक्तिष्णीकरणम् । ञ, शीशांसति शीशांसते खड्गं कर्म्मकारः । इति दुर्गादासः ॥

शानः, पुं, शाणः । इत्यमरटीकायां भरतः ॥

शा(क्रा)नपादः, पुं, पारियात्रपर्व्वतः । (अस्य विवरणं हरिवंशे १३१ अध्याये द्रष्टव्यम् ॥) चन्दनचर्च्चणपाषाणः । इति महाभारते हरिवंशः ॥ चन्दनपिढ़ि इति भाषा ॥

शानी, स्त्री, इन्द्रवारुणी । इति शब्दचन्द्रिका ॥

शान्तः, त्रि, (शम + क्तः । "वा दान्तशान्तेति ।" ७ । २ । २७ । इति निपातितः ।) उपशमं प्रापितः । प्राप्तोपशमः । इति भरतः ॥ तत्पर्य्यायः । शमितः २ । इत्यमरः ॥ श्रान्तः ३ जितेन्द्रियः ४ । इति हेमचन्द्रः ॥ शमान्वितः ५ । इति मेदिनी ॥

शान्तः, पुं, अभियुक्तः । रसभेदः । इति मेदिनी ॥ शान्तरसस्य लक्षणादि यथा,—

"शान्तः शमः स्थायिभाव उत्तमप्रकृतिर्मतः ।
कुन्देन्दुसुन्दरच्छायः श्रीनारायणदैवतः ॥
अनित्यत्वादिनाशेषवस्तुनिःसारता तु या ।
परमार्थस्वरूपं वा तस्यालम्बनमिष्यते ॥
पुण्याश्रमहरिक्षेत्रतीर्थरम्यवनादयः ।
महापुरुषसङ्गाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः ॥
रोमाञ्चाद्याश्चानुभावास्तथा स्युर्व्यभिचारिणः ।
निर्व्वेदहर्षस्मरणमतिभूतदयादयः ॥"

यथा,—

"रथ्यान्तश्चरतस्तथा धृतजरत्कन्था लवस्याध्वगैः
सत्रासञ्च सकौतुकञ्च सदयं दृष्टस्य तैर्नागरैः ।
निर्व्याजीकृतचित्सुधारससुदा निद्रायमाणस्य मे
निःशङ्कं करटः कदा करपुटी भिक्षां विलुण्ठिष्यति ॥"

पुष्टिस्तु महाभारतादौ द्रष्टव्या ।

"निरहङ्काररूपत्वात् दयावीरादिरेष नो ।"

दयावीरादौ हि जीमूतवाहनादौ अन्तरा मलयवत्याद्यनुरागादेरन्ते च विद्याधरचक्रवर्त्तित्वाद्याप्तेर्दृष्टेर्नाहङ्कारोपशमो न दृश्यते । शान्तस्तु सर्व्वप्रकारेणाहङ्कारप्रशमैकरूपत्वान्न तत्रान्तर्भावमर्हति । अतश्च नागानन्दे शान्तरसप्रधानत्वमपास्तम् । ननु ।

"न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता
न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा ।
रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः
सर्व्वेषु भावेषु समप्रमाणः ॥"

इत्येवंरूपस्य शान्तस्य मोक्षावस्थायामेवात्मस्वरूपापत्तिलक्षणायां प्रादुर्भावात् । तत्र सञ्चार्य्यादीनामभावात् कथं रसत्वमित्युच्यते युक्तवियुक्तदशायामवस्थितो यः शमः स एव यतः रसतामेति तदस्मिन् सञ्चार्य्यादेः स्थितिश्च न विरुद्धा । यश्चास्मिन् सुखाभावोऽप्युक्तस्तस्य वैषयिकसुखपरत्वान्न विरोधः । उक्तं हि ।

"यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महासुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोड़शीं कलाम् ॥
सर्व्वाकारमहङ्काररहितत्वं व्रजन्ति चेत् ।
अत्रान्तर्भावमर्हन्ति दयावीरादयस्तदा ॥"

आदिशब्दात् धर्म्मवीरदानवीरदेवताविषयरतिप्रभृतयः । तत्र देवताविषया रतिर्यथा,—

"कदा वाराणस्यामिह सुरधुनीरोधसि वसन्
वसानः कौपीनं शिरसि निदधानोऽञ्जलिपुटम् ।
अये गौरीनाथ त्रिपुरहर शम्भो त्रिनयन
प्रसीदेति क्रोशन्निमिषमिव नेष्यामि दिवसान् ॥"
इति साहित्यदर्पणे ३ परिच्छेदः ॥

शान्तं, [म्] अ, वारणम् । इति मेदिनी ॥

शान्तनवः, पुं, (शान्तनोरपत्यं पुमान् । शान्तनु + अण् ।) शान्तनुराजपुत्त्रः । भीष्मः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ (यथा, महाभारते । १ । ३६ । ६० ।

"तथा भीष्मः शान्तनवो गङ्गायाममितद्युतिः ।
वसुवीर्य्यात् समभवत् महावीर्य्यो महायशाः ॥")

शान्तनुः, पुं, द्वापरयुगस्य चन्द्रवंशीयैकविंशराजः । स तु गङ्गायां भीष्मं जनयामास । तस्य पिता प्रतीपः । यथा,—

"जयसेनस्तत्तनयो राधिकोऽतोऽयुतायुभूत् ।
ततश्चाक्रोधनस्तस्मात् देवातिथिरमुष्य च ॥
ऋक्षस्तस्य दिलीपोऽभूत् प्रतीपस्तस्य चात्मजः ।
देवापिः शान्तनुस्तस्य वाह्लीक इति चात्मजाः ॥
यं यं कराभ्यां स्पृशति जीर्णं यौवनमेष्यति ।
शान्तिमाप्नोति चैवाग्र्यां कर्म्मणा तेन शान्तनुः ॥
वाह्लीकात् सोमदत्तोऽभूत् भूरिर्भूरिश्रवास्ततः ।
शलश्च शान्तनोरासीत् गङ्गायां भीष्म आत्मवान् ॥"
इति श्रीभागवते ९ स्कन्धे २२ अध्यायः ॥

तत्पर्य्यायः । महाभीष्मः २ । इति जटाधरः ॥ शातीपः ३ । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ प्रतीपः ४ प्रतिपः ५ । इति शब्दरत्नावली ॥ (शन्तनुरिति पाठस्तु बहुभिरादृतः ॥) कर्कटी । इति रत्नमाला ॥

शान्ता, स्त्री, दशरथराजकन्या । दशरथेन कन्यार्थे लोमपादाय राज्ञे प्रदत्ता । सा च ऋष्यशृङ्गभार्य्या । इति रामायणम् ॥ (यथा, उत्तरचरिते १ अङ्के ।

"कन्यां दशरथो राजा शान्तां नाम व्यजीजनत् ।
अपत्यकृतिकां राज्ञे लोमपादाय यां ददौ ॥")

शमीभेदः । तत्पर्य्यायः । शुभा २ भद्रा ३ अपराजिता ४ जया ५ विजया ६ । अस्या गुणाः शमीवत् । इति राजनिर्घण्टः ॥

शान्तिः, स्त्री, (शम + क्तिन् ।) कामक्रोधादिप्रशमः । चित्तोपशमः । इति भरतः ॥ विषयेभ्य

इन्द्रियोपरमः। इति चण्डीटीकायां नागोजी-भट्टः ॥ तत्पर्य्यायः। शमथः २ शमः ३। दुःख-मरः ॥ प्रशमः ४ उपशमः ५ प्रशान्तिः ६। इति शब्दरत्नावली ॥ तृष्णाक्षयः ७। इति हेमचन्द्रः। तल्लक्षणं यथा,—

"यत्किञ्चिद्वस्तु संप्राप्य स्वल्पं वा यदि वा बहु।
या तुष्टिर्जायते चित्ते शान्तिः सा गद्यते बुधैः॥"

इति पद्मपुराणे क्रियायोगसारे १५ अध्यायः॥ भद्रम्। इति हेमचन्द्रः॥ गोपीविशेषः। यथा,

राधिकोवाच।

"शान्त्या गोप्या युतश्च त्वं हरोऽहं रासमण्डले।
वसन्तपुष्पशय्यायां माल्यवान् चन्दनोक्षितः॥
रत्नप्रदीपैर्युक्तश्च रत्ननिर्म्माणमन्दिरे।
रत्नभूषितभूषाढ्यो रत्नभूषितया सह॥
तया दत्तञ्च ताम्बूलं भुक्तवांश्च पुरा विभो।
सद्यो मच्छब्दमात्रेण तिरोधानं कृतं तया॥
शान्तिर्देहं परित्यज्य भयाद्दीना त्वयि प्रभो।
ततस्तस्याः शरीरञ्च गुणश्रेष्ठं बभूव ह॥
संविभज्य त्वया दत्तं प्रेम्णा प्रदत्ता पुरा।
विश्वे विषयिणे किञ्चित् सत्त्वरूपाय विष्णवे॥
शुद्धसत्त्वस्वरूपायै महालक्ष्म्यै पुरा विभो।
त्वन्मन्त्रोपासकेभ्यश्च वैष्णवेभ्यश्च किञ्चन।
तपस्विभ्यश्च धर्म्माय धर्म्मिष्ठेभ्यश्च किञ्चन॥"

इति ब्रह्मवैवर्त्ते प्रकृतिखण्डे ६ अध्यायः॥*॥ दुर्गा। यथा,—

"उत्पत्तिस्थितिनाशेषु रजआदित्रिगुणा मता।
सर्व्वेशा सर्व्ववेतृत्वाच्छान्तित्वाच्छान्तिरुच्यते॥"

इति देवीपुराणे देवीनिरुक्ताध्यायः॥ * ॥ धर्म्मद्वारा ग्रहदौःस्थ्यदुःस्वप्नादिसूचितैहिकानिष्टहेतुदुरितनिवृत्तिः। यथा,—

"यथा शस्त्रप्रहाराणां कवचं विनिवारकम्।
तथा दैवोपघातानां शान्तिर्भवति वारणम्॥"

चालग्रहभूतग्रहनराधिपप्रबलतरशत्रुदुःसह-रोगाभिभवाद्भुतदुःस्वप्नग्रहदौःस्थ्यादिनिमित्तकं शान्तिकर्म्मापि मलमासे कर्त्तव्यम्। शुद्धकाल-प्रतीक्षायामसहत्वेनानन्यगतिकत्वात्। अत-एवात्मानं सततं गोपायीत इति श्रुतौ सतत-मित्युक्तम्। इति मलमासतत्त्वम्॥ * ॥ उप-सर्गशान्तिगाथा यथा,—

"एषामिन्द्रो महावीर्य्यस्त्रैलोक्यस्येश्वरोऽभवत्।
शतं क्रतूनामाहृत्य सुशान्तिर्नाम नामतः॥
तस्योपसर्गनाशाय नामाक्षरविभूषिता।
अद्यापि मानवैर्गाथा गीयतेऽत्र महीतले॥
सुशान्तिर्देवराट् शान्तः सुशान्तिं न प्रयच्छति।
सहितः शिवसत्याद्यैस्तथैव वशवर्त्तिभिः॥"

इति मार्कण्डेयपुराणे उत्तममन्वन्तरसमाप्ताध्यायः॥ * ॥

अथाद्भुतशान्तिः। तत्राद्भुतनिरूपणम्। अद्भुतसागरे आथर्व्वणाद्भुतवचनम्। प्रकृति-विरुद्धमद्भुतमापदः प्राक्प्रबोधाय देवाः सृज-न्तीति। तेनापज्ज्ञानाय भूम्यादीनां पूर्व्वस्वभावप्रच्युतो देवकर्त्तृकोऽद्भुत इति। एवञ्च बुधोदयपर्व्वणि ग्रहादीनां गणितागणितत्वेन प्रकृतानामपि यदुत्पातत्वं तद्भाक्तम्। तत्कार-णञ्च गर्गसंहितावार्हस्पत्ययोः।

"अतिलोभादसत्याद्वा नास्तिक्याद्वाप्यधर्म्मतः।
नरापचारान्नियतमुपसर्गः प्रवर्त्तते॥
ततोऽपचारान्नियतमपवर्ज्जन्ति देवताः।
ताः सृजन्त्यद्भुतांस्तांस्तु दिव्यनाभसभूमिजान्॥
त एव त्रिविधा लोके उत्पाता देवनिर्म्मिताः।
विचरन्ति विनाशाय रूपैः सम्बोधयन्ति च॥"

तांश्च परं न दर्शयेदित्याह विष्णुः। नोत्पातं दर्शयेदिति। तत्र वेलानक्षत्रमण्डलनिरूपणम्। यथा, दीपिकायाम्।

"प्राग्दिक्त्रिचतुर्भागैर्द्युनिशोरङ्कितेषु सर्व्वेषु।
अभिजादिशक्रवरुणा मण्डलपतयः शुभा-शुभेषु॥"

वेलामण्डलः।

"अर्य्यमृणादिचतुष्कचन्द्रतुरगादिकेषु वायु-र्भवेत्
दैवेज्याजविशाखयाम्ययुगले पित्राद्वये चानलः।
विष्वादित्रयशाक्रमैत्रयुगलेष्विन्द्रो भवेन्मण्डलः
सर्पोपान्त्यशतान्त्यमूलयुगलेष्वानेव्यपामीश्वरः॥
पवनदहनौ नेष्टौ योगस्तयोरतिदोषदः।
सुरपतिवरुणौ शस्तौ योगस्तयोरतिशोभनः॥
सवरुणमरुत्त्विन्द्रः शक्रस्तथाग्निसमायुतः।
फलविरहितः सेन्द्रो वायुस्तथाग्नियुतोऽम्बुपः॥
यन्मण्डलेऽद्भुतं जातं शान्तिकृद्दैवताश्रया।
तथा शान्तिद्वयं कार्य्यं मण्डलद्वयजाद्भुते॥"*॥

विष्णुधर्म्मोत्तरे।

"ग्रहर्क्षवैकृतं दिव्यं आन्तरीक्षं निबोध मे।
उल्कापातो दिशां दाहः परिवेशस्तथैव च॥
गन्धर्व्वनगरञ्चैव वृष्टिश्च विकृता तथा।
एवमादीनि लोकेऽस्मिन् नाभसानि विनिर्द्दि-शेत्॥
चरस्थिरभवं भौमं भूकम्पमपि भूमिजम्।
जलाशयानां वैकृत्यं भौमं तदपि कीर्त्तितम्॥
भौमं चाल्पफलं ज्ञेयं चिरेण परिपच्यते।
नाभसं मध्यफलदं मध्यकालफलप्रदम्।
दिव्यं तीव्रफलं ज्ञेयं शीघ्रकारी तथैव च॥*॥
शीतोष्णानाविपर्य्यासः ऋतूनां रिपुजं भयम्।
पुष्पे फले च विकृते राज्ञो मृत्युं तथा दिशेत्॥
अकालप्रभवा नार्य्यः कालातीताः प्रजास्तथा।
विकृताः प्रसवाश्चैव युग्मप्रसवनं तथा॥
हीनाङ्गा अधिकाङ्गाश्च जायन्ते यदि वा नयः।
पशवः पक्षिणश्चैव तथैव च सरीसृपाः॥
विनाशं तस्य देशस्य कुलस्य च विनिर्द्दिशेत्॥
प्रदोषे कुक्कुटारावो हेमन्ते चापि कोकिलाः।
अर्कोदयेऽर्काभिमुखः श्वारावो हृभयं दिशेत्॥
उलूको वसते यत्र निपतेद्वा तथा गृहे।
क्षेयो गृहपतेर्म्मृत्युर्धननाशस्तथैव च॥
गृध्रः कङ्कः कपोतश्च उलूकः श्येन एव च।
चिल्लश्च चर्म्मचिल्लश्च भासः पाण्डर एव च॥
गृहे यस्य पतन्त्येते गेहं तस्य विपद्यते।
षण्मासात्तथा वर्षान्मृत्युः स्याद्गृहमेधिनः।
पत्न्याः पुत्त्रस्य वा मृत्युर्द्धनञ्चापि विनश्यति॥
ब्राह्मणाय गृहं दत्त्वा दत्त्वा तन्मूल्यमेव वा।
गृह्णीयाद्यदि रोचेत शान्तिञ्चेमां प्रयोजयेत्॥"

इमां वक्ष्यमाणाम्॥ * ॥

"मांसास्थीनि समादाय श्मशानाद्गृध्रवायसाः।
श्वा शृगालोऽथवा मध्ये पुरस्य प्रविशन्ति चेत्॥
विकिरन्ति गृहादौ च श्मशानं सा मही भवेत्।
चौरेण हन्यते लोकः परचक्रसमागमः॥
संग्रामश्च महाघोरो दुर्भिक्षं मरकं तथा।
अद्भुतानि प्रदृश्यन्ते तत्र देशस्य विद्रवः॥
अकाले फलपुष्पाणि देशविद्रवकारणम्॥"

मत्स्यपुराणे।

"अतिवृष्टिरनावृष्टिर्दुर्भिक्षादिभयं मतम्।
अनृतौ तु दिनादूर्द्ध्वं वृष्टिर्ज्ञेया भयाय च॥
निरभ्रे वाथ रात्रौ वा श्वेतं याम्योत्तरेण तु।
इन्द्रायुधं ततो दृष्ट्वा उल्कापातं तथैव च॥
दिग्दाहपरिवेशौ च गन्धर्व्वनगरं तथा।
परचक्रभयं विद्याद्देशोपद्रवमेव च॥"

भासो वनकुक्कुटः॥ * ॥ कंसनिधनसूचने हरि-वंशः।

"वक्रमङ्गारकश्चक्रे चित्रायां घोरदर्शनः।
चलत्पर्व्वणि मही गिरीणां शिखराणि च॥"

वाणोत्पाते स एव।

"दक्षिणां दिशमास्थाय धूमकेतुः स्थितोऽभवत्।
वक्रमङ्गारकश्चक्रे कृत्तिकासु भयङ्करः॥" * ॥

कृत्यचिन्तामणौ।

"त्यक्ताशौचविवेकतत्त्वसुधा लोकाः क्षुधा-पीडिताः
विप्रा वेदहतास्तथा प्रचलिता वर्णाश्रमी दुःखिताः।
चौर्य्यामन्दफला नृपाश्च विकलाः संग्रामघोरा मही
प्रेताघातदुरन्तपीडिततरा देवेज्यराज्ञोर्युतौ॥
रक्ते शक्रोद्गयोगे मांसास्थिवशादिभिर्मरकः।
धान्यहिरण्यत्वक्फलकुसुमाद्ये वर्षिते भयं विद्यात्।
अङ्गारपांशुवर्षे विनाशमुपयाति तन्नगरम्॥
उपलं विना जलधरैर्विकृता वा यदा प्राणिनो दृष्टा।
छिद्रं वाप्यतिवृष्टिं शस्यानामीतिसंजननम्॥"

वृद्धगौशिकसंवादे।

"ललाटः प्रपाते च फलं शरटस्य प्ररोहणे।
शीर्षे राजश्रियोऽवाप्तिर्भाले चैश्वर्य्यमेव च॥
कर्णयोर्भूषणावाप्तिर्नेत्रयोर्बन्धुदर्शनम्।
नासिकायाश्च सौगन्ध्यं वक्त्रे मिष्टान्नभोजनम्॥
कण्ठे चैव श्रियोऽवाप्तिर्भुजयोर्विभवो भवेत्।
धनलाभो बाहुमूले करयोर्धननष्टच्छिदः॥
स्तनयोश्च सौभाग्यं हृदि सौख्यविवर्द्धनम्।
पृष्ठे नित्यं महीलाभः पार्श्वयोर्बन्धुदर्शनम्॥
कटिद्वये वस्त्रलाभो गुह्ये मृत्युसमागमः।

अङ्के चार्थक्षयो नित्यं गुह्ये रोगभयं भवेत् ॥
ऊर्व्वोस्तु वाहनावाप्तिर्ज्जानुजङ्घेऽर्थसंक्षयः ।
वामदक्षिणयोः पादे भ्रमणं नियतं भवेत् ॥
वल्ल्याः प्ररोहणे चैव पतने शरटस्य च ।
व्यत्यासाच्च फलञ्चैव तद्वदेव प्रजायते ॥
वल्ल्याः प्ररोहणं रात्रौ शरटस्य प्रपातनम् ।
निधनार्थाय भवति व्याधिपीड़ा विपर्य्यये ॥
पतनानन्तरं चैवारोहणं यदि जायते ।
पतने फलमुत्सृष्टं रोहणेऽन्यत् फलं भवेत् ॥
आरोहणाच्चोर्द्धवक्त्रे अधोवक्त्रे च पातनम् ॥
भवेदिष्टफलं तस्य तत्काले जायते ध्रुवम् ॥*॥
स्पृष्टमात्रे तयोः सद्यः सचैलं जलमाविशेत् ।
पञ्चगव्यप्राशनञ्च कुर्य्यादर्कावलोकनम् ॥
वल्लीरूपं सुवर्णस्य रक्तवस्त्रेण वेष्टयेत् ।
पूजयेद्गन्धपुष्पाद्यैस्तदग्रे पूर्णकुम्भके ॥
पञ्चगव्यं पञ्चरत्नं पञ्चाम्रतं सपल्लवम् ।
पञ्चत्वक्कषायञ्च निक्षिप्यावाहयेत्ततः ॥
पूजयेद्गन्धपुष्पाद्यैर्लोकपालांस्तथा ग्रहान् ।
म्रत्युञ्जयेन मन्त्रेण समिद्भिः खदिरैः शुभैः ।
तिलैर्व्वाहुतिभिर्होममष्टोत्तरसहस्रकम् ॥”
वल्ली गृहगोधिका । म्रत्युञ्जयमन्त्रस्त्र्यम्बकमन्त्रः इति विद्याकरः ॥*॥ गर्गसंहितावार्हस्पत्ययोः ।
“ये तेषु शान्तिं कुर्व्वन्ति न ते यान्ति पराभवम् ।
ये तु न प्रतिकुर्व्वन्ति क्रियया श्रद्धयान्विताः ।
दाम्भिक्याद्वा विमोहाद्वा विनश्यन्त्येव तेऽचिरात् ॥”*॥
अत्र निमित्तनिश्चयवतोऽधिकारोऽन्यथा दोष इत्याह मत्स्यपुराणम् ।
“भिन्नमङ्गलवेलायां ये भवन्त्यद्भुताः क्वचित् ।
तत्र शान्तिद्वयं कार्य्यं निमित्ते सति नान्यथा ।
निर्निमित्तकृता शान्तिर्निमित्तमुपपादयेत् ॥”
एतच्च तत्तद्विशेषविहितशान्तिविषयम् ।
अन्यथा वेलामङ्गलसन्देहे शान्तिर्न स्यात् ॥*॥
अतएवोक्तं योगियाज्ञवल्क्येन ।
“यत्र यत्र च संकीर्णमात्मानं मन्यते द्विजः ।
तत्र तत्र तिलैर्होमो गायत्र्या समुदाहृतः ॥
गायत्र्या प्रयतः शुद्धः सर्व्वपापैः प्रमुच्यते ।
शान्तिकामश्च जुहुयात् गायत्रीमयुतैः शुचिः ॥
हन्तुकामश्च मृपतेर्द्विगुणेन जुहुयात् शुचिः ।
सावित्र्या शान्तिहोमांश्च कुर्य्यात् पर्व्वसु नित्यशः ॥
प्रणवव्याहृतिभ्याञ्च स्वाहान्तो होमकर्म्मणि ।
प्रतिलोमा प्रयोक्तव्या फट्कारान्ताभिचारिके ॥
मार्कण्डेयपुराणम् ।
“दिग्देशजनसामान्यं नृपसामान्यमात्मनि ।
नक्षत्रग्रहसामान्यं नरो भुङ्क्ते शुभाशुभम् ।
परस्पराभिरक्षा च ग्रहदोषेषु जायते ॥”
तथा ।
“तस्माच्छान्तिपरः प्राज्ञो लोकवादरतस्तथा ।
लोकवादांश्च शान्तीश्च ग्रहपीड़ासु कारयेत् ॥
भूद्रोहानुपवासांश्च शस्तं चैत्यादिवन्दनम् ।
कुर्य्यात् होमं तथा दानं श्राद्धं क्रोधविवर्ज्जनम् ॥
अद्रोहं सर्व्वभूतेषु मैत्रीं कुर्व्वन्ति पण्डिताः ।
वर्ज्जयेदुषतीं वाचमतिवादांस्तथैव च ॥
ग्रहपूजाञ्च कुर्व्वीत सर्व्वपीड़ासु मानवः ।
एवं शाम्यन्त्यशेषाणि घोराणि द्विजसत्तम ।
प्रयतानां मनुष्याणां ग्रहजोत्यान्यनेकशः ॥”*॥
लोकवादाश्च तत्रैवोक्ता यथा,—
“आकाशदेवतानाञ्च देव्यादीनाञ्च गौरवात् ।
पृथिव्यां प्रतिलोकेषु च लोकवादा इति स्मृताः ॥”
ते च सर्व्वभूतडाकिन्याद्यभिभवशान्त्यर्थं लौकिकौषधमन्त्रादयः । विषहरीमङ्गलचण्डिकागीतादयः । चैत्यद्रुमादौ क्षेत्रपालकुलदेवतापूजा च ॥*॥ तथा चापस्तम्बः । स्त्रीभ्योऽवरवर्णेभ्यो धर्म्मशेषान् प्रतीयादित्येक इति । धर्म्मशेषान् श्रुतिस्मृतिसदाचारेष्वप्रसिद्धान् इति नारायणोपाध्यायाः ॥ भूद्रोहश्च पात्रं विना भूमौ गोस्तनं निष्पीड्य दुग्धोत्सर्गः । चैत्यः पूज्यत्वेन ख्यातो ग्रामप्रधानवृक्षः । तथा च वाणोत्पाते हरिवंशः ।
“अनेकशाखश्चैत्यश्च निपपात महीतले ।
अर्च्चितः सर्व्वकन्याभिर्दानवानां महात्मनाम् ॥”
उषतीं अकल्याणीम् । अतिवादश्च पूज्यमतिक्रम्य भाषणम् ॥*॥ मत्स्यपुराणम् ।
“काकस्यैकरवश्रावः प्रभाते दुःखदायकः ।
काको मैथुनकासक्तः श्वेतो वा यदि दृश्यते ॥
उलूको वसते यत्र निपतेत् वा तथा गृहे ।
क्षयो गृहपतेर्म्रत्युर्धननाशस्तथैव च ॥”*॥
वराहसंहितायाम् ।

“क्रीड़ासुरक्तो रतिमांसलुब्धो
भीतो बुभुक्षुः पतितो विहङ्गः ।
नाशौ गृहस्थस्य विनाशहेतु-
र्दोषः समुत्पाद्यत आहुराद्याः ॥

गृहे पक्षिविकारेषु कुर्य्याच्चामरसर्पणम् ।
देवाः कपोता इति वा जप्यं सप्तभिर्द्विजैः ॥

गावश्च देया विविधा द्विजानां
सकाञ्चना वस्त्रयुगोत्तरीयाः ।
एवं कृते पापमुपैति शान्तिं
म्रगैर्द्विजैर्व्वापि निवेदितं तत् ॥”

द्विजैः पक्षिभिः । अपिना अन्यैरपि ॥ * ॥
भुजबलभीमे ।
“एको वृषस्त्रयो गावः सप्ताश्वा नव दन्तिनः ।
सिंहप्रस्तूतिकाश्चैव कथिनाः स्वामिघातिकाः ॥”
सिंहप्रस्तूतिका गावः ॥*॥ मत्स्यपुराणे ।
“अङ्गे दक्षिणभागे तु शस्तं विस्फुरणं भवेत् ।
अप्रशस्तं तथा वामे पृष्ठस्य हृदयस्य च ॥
लाञ्छनं पिटकञ्चैव ज्ञेयं विस्फुरितं तथा ।
विपर्य्ययेण विहितं सर्व्वं स्त्रीणां फलं तथा ॥”
“अनिष्टचिह्नोपगमे द्विजानां कार्य्यं सुवर्णेन च तर्पणं स्यात् ।”शस्तः । दुःस्वप्नानिष्टदर्शनादौ घृतं हिरण्यञ्च दद्यादिति ॥*॥ मात्स्ये ।
“नमस्ते सर्व्वलोकेश नमस्ते भृगुनन्दन ।
कवे सर्व्वार्थसिद्ध्यर्थं गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते ॥
एवं शुक्रोदये कुर्व्वन् यात्रादिषु च भारत ।
सर्व्वान् कामानवाप्नोति विष्णुलोके महीयते ॥
नमस्तेऽङ्गिरसां नाथ वाक्पतेऽथ बृहस्पते ।
क्रूरग्रहैः पीड़ितानाममृताय नमो नमः ॥
संक्रान्तावपि कौन्तेय यात्रास्वभ्युदयेषु च ।
कुर्व्वन् बृहस्पतेः पूजां सर्व्वान् कामान् समश्नुते ॥ * ।”
वैष्णवामृते व्यासः ।
“ग्रहयज्ञैः शान्तिकैश्च किं क्लिश्यन्ति नरा द्विज ।
महाशान्तिकरः श्रीमान् तुलस्या पूजितो हरिः ।
उत्पातान् दारुणान् पुंसां दुर्निमित्ताननेकशः ।
तुलस्या पूजितो भक्त्या महाशान्तिकरो हरिः ॥”
अत्र ब्रह्मपुराणीयो मन्त्रः ।
“नमस्ते बहुरूपाय विष्णवे परमात्मने स्वाहेति ॥ * ।”
छन्दोगपरिशिष्टम् । अथातो रजस्वलाभिगमने गोऽन्यभार्य्यासु गमने यमलजनने विजातीयजनने वा काककङ्कगृध्रवकश्येनभासचिल्लकपोतानां गृहप्रवेशे मानुषस्योपरिविश्रामणे एषामेव क्रियमाणे गृहद्वारारोहणे अन्येषु चाद्भुतेषु कल्पदृष्टेन विधिनाग्निमुपसमाधाय प्रायश्चित्ताज्याहुतीर्ज्जुहोति अद्भुताय अग्नये स्वाहा सोमाय विष्णवे रुद्राय वायवे सूर्य्याय म्रत्यवे विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहेति स्थालीपाकान्ततान्त्रदिति ॥ * ॥ कपोतं विशेषयति शौनकः ।
“रक्तपादः कपोताक्षो अरण्यौकाः शुकच्छविः ।
स चेच्छालां विशेच्छालासमीपञ्च व्रजेद्यदि ।
अन्येषु गृहमध्ये वा वल्मीकस्योद्गमादिषु ।”
कल्पदृष्टेन विधिना गृह्योक्तेन प्रायश्चित्ताज्याहुतीः अद्भुतदोषप्रशमनार्थाः सप्ताज्याहुतीः अद्भुतायाग्नये स्वाहा इत्यादिमन्त्रैः ततुस्थालीपाकेति कर्त्तव्यतया पायसचरुभिरेतेभ्यो देवेभ्यो जुहुयात् । छन्दोगपरिशिष्टम् । पश्चात् घृतपायसेन ब्राह्मणान् भोजयित्वा गोवरं दत्त्वा शान्तिर्भवतीति । गोवरं गोश्रेष्ठम् । दक्षिणां तां गां कृत्वा दोषशान्तिर्भवतीति । तथ चोक्तम् ।
“गौर्विशिष्टतमा लोके वेदेष्वपि निगद्यते ।
न ततोऽन्यद्वरं यस्मात् तस्माद्गौर्वरमुच्यते ॥”
छन्दोगपरिशिष्टम् । यत्त्वेषामन्यतममापन्नः प्रायश्चित्तं न कुर्य्यात्तस्य गृहपतेर्मरणं सर्व्वस्वनाशं वा भवति तस्मात् प्रायश्चित्तं कर्त्तव्यं कर्म्मापवर्गे वामदेव्यगानं शान्तिः शान्तिरिति । अपवर्गे समाप्तौ । वामदेव्यगानं शान्तिः कार्य्याऽऽवृत्तिः प्रकरणसमाप्त्यर्था । वाचस्पत्ये ।
“शमयन्त्याशु पापानि कन्यादिकृतं निमित्तमात्रमेव ।
अतिवर्ण्योपवासव्रतदीक्षाजप्यहवनानि ॥*॥”

वराहः।
"ये च न दोषं जनयन्त्युत्पातास्तानृतुस्वभावकृतान्।
ऋषिपुत्रकृतैः श्लोकैर्विद्यादेभिः समासोक्तैः॥"
तथा च मत्स्यपुराणम्।
"वज्राशनिमहीकम्पसन्ध्यानिर्घातनिस्वनाः।
परिवेशरजोधूमरक्ताकास्तमयोदयाः॥
द्रुमेभ्योऽथ रसस्नेहमधुपुष्पफलोद्गमाः।
गोपक्षिमदवृद्धिश्च शिवाय मधुमाधवे॥ * ॥
तारोल्कापातकलुषं कपिलार्केन्दुमण्डलम्।
अनग्निज्वलनं स्फोटं धूमरेणुनिराकुलम्॥
रक्तपद्मारुणा सन्ध्या नभः क्षुब्धार्णवोपमम्।
सरितां चाम्बुसंशोषं दृष्ट्वा ग्रीष्मे शुभं वदेत्॥ * ॥
शक्रायुधपरीवेशौ विद्युच्छुष्कविरोहणम्।
कम्पोद्वर्त्तनवैकृत्यं रसनं दरणं क्षितेः॥
नद्युदपानसरसां वृद्ध्युद्धृता भवनप्लवाः।
पतनञ्चाद्रिगेहानां वर्षासु न भयावहम्॥"
हरिवंशे वर्षावर्णनायाम्।
"क्वचित् कन्दरदावाढ्यं शिलीन्ध्राभरणं क्वचित्।"
इति दर्शनात् वर्षासु शिलीन्ध्रोद्गमो न भयावहः॥
"दिव्यस्त्रीभूतगन्धर्व्वविमानाद्भुतदर्शनम्।
ग्रहनक्षत्रताराणां दर्शनञ्च दिवाम्बरे॥
गीतवादित्रनिर्घोषो वनपर्व्वतसानुषु।
शस्यवृद्धी रसोत्पत्तिरपापाः शरदि स्मृताः॥ * ॥
शीतानिलतुषारत्वं नर्द्दनं मृगपक्षिणाम्।
रक्षोयक्षादिसत्त्वानां दर्शनं वागमानुषी॥
दिशो धूमान्धकाराश्च शलभा वनपर्व्वताः।
उच्चैः सूर्य्योदयास्तत्वं हेमन्ते शोभना मताः॥ * ॥
हिमपातानिलोत्पातविरूपाद्भुतदर्शनम्।
कृष्णाञ्जनाभमाकाशं तारोल्कापातपिञ्जरम्॥
चित्रा गर्भोद्भवाः स्त्रीषु गोऽजाश्वमृगपक्षिणाम्।
पत्राङ्कुरलतानाञ्च विकाराः शिशिरे शुभाः॥ *
ऋतुस्वभावजा ह्येते दृष्टाः स्वर्त्तौ शुभावहाः।
ऋतावन्यत्र चोत्पाता दृष्टास्ते भृशदारुणाः॥ *
उन्मत्तानाञ्च या गाथा शिशूनां चेष्टितञ्च यत्।
स्त्रियो यच्च प्रभाषन्ते तत्र नास्ति व्यतिक्रमः॥
पूर्व्वं चरति देवेषु पश्चाद्गच्छति मानुषान्।
नाचोदिता वाग्वदति सत्या ह्येषा सरस्वती॥"
बृहस्पतिः।
"ज्योतिर्ज्ञानं तथोत्पातमविदित्वा तु ये नृणाम्।
श्रावयन्त्यर्थलोभेन विनेयास्तेऽपि यत्नतः॥"
विनेया दण्डनीयाः। इति ज्योतिस्तत्त्वम्॥ * ॥ भौमदिव्यान्तरीक्षोत्पातशान्तिर्मात्स्ये २०२ अध्यायावधि २१२ अध्यायपर्य्यन्तं द्रष्टव्या। तथा देवीपुराणे महाभ्युदयपादे सर्व्वदैवकीसर्व्वोत्पातशान्तिसमासाध्याये चण्डीशब्दे च द्रष्टव्या। तन्त्रोक्ता शान्तिः षट्कर्म्मशब्दे द्रष्टव्या॥ * ॥ अथ शान्तिकपौष्टिककर्म्मदिनम्। तत्र वारा रविसोमबुधबृहस्पतिशुक्राणां तत्र नक्षत्राणि उत्तराषाढ़ा उत्तरफल्गुणी उत्तरभाद्रपत् रोहिणी चित्रा अनुराधा मृगशिरः रेवती पुष्या अश्विनी हस्ता। तत्र चन्द्रः शोभनः। लग्नं शोभनम्। इति ज्योतिषतत्त्वम्॥

शान्तिः, पुं, वृत्तार्हद्विशेषः। जिनचक्रवर्त्तिविशेषः। इति हेमचन्द्रः॥ दशममन्वन्तरीयेन्द्रः। यथा,—
"धर्म्मपुत्रस्य पुत्रास्तु दशमस्य मनोः शृणु।
सुक्षेत्रश्चोत्तमौजाश्च भूमिश्रेयश्च वीर्य्यवान्॥
शतानीको निरमित्रो वृषसेनो जयद्रथः।
भूरिद्युम्नः सुवर्च्चाश्च शान्तिरिन्द्रः प्रतापवान्॥
आपो मूर्त्तिर्हविष्मांश्च सुकृतिश्चाव्ययस्तथा।
नाभागोऽप्रतिमश्चैव सौरभा ऋषयस्तथा॥
प्राणाख्याः शतसंख्याश्च देवतानां गणास्तथा।
बलिशत्रुस्तं हरिश्च गदया घातयिष्यति॥"
इति गारुडे ८७ अध्यायः॥

शान्तिकामः, त्रि, (शान्तिं कामयते इति। कम्+णिङ्+अण्।) शान्त्यभिलाषी। यथा,
"श्रीकामः शान्तिकामो वा ग्रहयज्ञं समाचरेत्।
वृष्ट्यायुःपुष्टिकामो वा तथैवाभिचरन्नपि॥"
इति संस्कारतत्त्वम्॥

शान्तिगृहं, क्ली, (शान्तेर्गृहम्।) शान्त्यालयः। यत्रान्ते शान्तिकुम्भजलेन स्नानस्य गृहम्। तत्पर्य्यायः। आथर्व्वणम् २। इति हेमचन्द्रः॥ (यथा, बृहत्संहितायाम्। ४४। ५।
"कण्ठेषु निबध्नीयात् पुष्ट्यर्थं शान्तिगृहगानाम्॥")

शान्त्वं, क्ली, सान्त्वम्। इत्यमरटीकासारसुन्दरी॥

शान्त्वतिः, स्त्री, आश्वासयष्टिका। इति शब्दचन्द्रिका॥ पुस्तकान्तरे श्वासतिरिति च पाठः॥

शापः, पुं, (शपनमिति। शप+घञ्।) आक्रोशः। (यथा, रघुः। ५। ५६।
"संमोचितः सत्त्ववता त्वयाहं
शापाच्चिरप्रार्थितदर्शनेन॥")
दिव्यम्। इति मेदिनी॥ आक्रोशस्य पर्य्यायः। अकरणिः २। इत्यमरः॥ अजीवनिः ३ अजननिः ४ अवग्रहः ५ निग्रहः ६। इति भरतः॥ अभिसम्पातः ७। इति ग्रन्थान्तरम्॥ शपथस्य पर्य्यायः। शपनम् २ शपथः ३। इत्यमरः॥ मिथ्याभिशसनम् ४। इति शब्दरत्नावली॥ (उपद्रवः। यथा, रामायणे। १।२६।३५।
"उवास रजनीं तत्र ताड़काया वने सुखम्।
मुक्तशापं वनं तच्च तस्मिन्नेव तदाहनि।
रमणीयं विबभ्राज यथा चैत्ररथं वनम्॥"
"मुक्तशापं अपगतोपद्रवम्।" इति तट्टीका॥ जलम्। यथा, ऋग्वेदे। १०। २८। ४।
"प्रतीपं शापं नद्यो वहन्ति।"
"नद्यो गङ्गाद्याः सरितः प्रतीपं प्रतिकूलं शापं उदकं वहन्ति।" इति तद्भाष्ये सायणः॥)

शापटिकः, पुं, मयूरः। इति केचित्॥

शापास्त्रः, पुं, (शाप एव अस्त्रं यस्य।) मुनिः। इति त्रिकाण्डशेषः॥

शाफरिकः, पुं, (शफरान् हन्तीति। शफर+ "पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति।" ४। ४। ३५। इति ठक्।) मत्स्यधारकः। इति केचित्॥

शाब्दः, त्रि, (शब्दस्यायमिति। शब्द+अण्।) शब्दसम्बन्धी। यथा। एकः शाब्दोऽपरश्चार्थः। इति दायभागः॥ (शब्दमयः। यथा, भागवते। २। २। २।
"शाब्दस्य हि ब्रह्मण एष पन्था
यन्नामभिर्ध्यायति धीर पार्थैः॥")
सरस्वत्यां स्त्री, शाब्दी। इति केचित्॥

शाब्दबोधः, पुं, (शाब्दः शब्दसम्बन्धी बोधः।) शब्दार्थज्ञानम्। न्यायमते पदार्थज्ञानजन्यज्ञानम्। तस्य करणं पदज्ञानम्। तस्य कारणं पदशक्तिज्ञानम्। कदाचित् लक्षणाज्ञानम्। एवं आकाङ्क्षायोग्यतासत्तितात्पर्य्यज्ञानञ्च। यथा,—
"पदज्ञानन्तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः।
शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी॥"
इति भाषापरिच्छेदः॥ * ॥
शाब्दबोधप्रकारं दर्शयति पदज्ञानन्त्विति। न तु ज्ञायमानं पदं करणं पदाभावेऽपि मौनिश्लोकादौ शाब्दबोधात्। पदार्थधीरिति पदजन्यपदार्थस्मरणं व्यापारः। अन्यथा पदज्ञानवतः प्रत्यक्षादिना पदार्थोपस्थितावपि शाब्दबोधापत्तेः। तत्रापि वृत्त्या पदजन्यत्वं बोध्यं अन्यथा घटादिपदात् समवायसम्बन्धेन आकाशस्मरणे जाते आकाशस्यापि शाब्दबोधापत्तेः। वृत्तिः शक्तिलक्षणान्यतरसम्बन्धः। अत्रैव शक्तिज्ञानस्य उपयोगः। पूर्व्वं शक्तिग्रहाभावे पदज्ञानेऽपि तत्सम्बन्धेन स्मरणानुपपत्तेः। पदज्ञानस्य हि सम्बन्धिज्ञानविधयार्थस्मारकत्वम्। * । शक्तिश्च पदेन सह पदार्थस्य सम्बन्धः। अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरेच्छारूपा आधुनिके नास्ति शक्तिरस्त्येव एकादशेऽहनि पिता नाम कुर्य्यादितीश्वरेच्छायाः सत्त्वात् आधुनिके तु सङ्केते न शक्तिरिति सम्प्रदायः। नव्यास्तु ईश्वरेच्छा न शक्तिः किन्त्विच्छैव तेनाधुनिकसङ्केतेऽपि शक्तिरस्तीति वदन्ति। * । शक्तिग्रहश्च व्याकरणादितः। तथा हि।
"शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान-
कोषाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति
सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥"
धातुप्रकृतिप्रत्ययादीनां शक्तिग्रहो व्याकरणाद्भवति क्वचित्तु सति बाधके त्यज्यतेऽपि। यथा, वैयाकरणैराख्यातस्य कर्त्तरि शक्तिरुच्यते। चैत्रः पचतीत्यादौ कर्त्रा सह चैत्रस्याभेदान्वयः। तत्र गौरवान्न त्यज्यते किन्तु कृतौ शक्तिग्रहो लाघवात्। कृतिश्चैत्रादौ प्रकारीभूय भासते। न च कर्त्तुरनभिधानाच्चैत्रादिपदानन्तरं तृतीया स्यादिति वाच्यं कर्त्तृसंख्यानभिधानस्य तत्र तन्त्रत्वात्। संख्याभिधानयोग्यश्च कर्म्मत्वाद्यनवरुद्धः। प्रथमान्तपदोपस्थाप्यकर्म्मत्वादीत्यस्य विशेष्यत्वतात्पर्य्याविषयत्वमर्थः तेन चैत्र इव

गच्छतीत्यादौ न चैत्रे संख्यान्वयः। यत्र कर्म्मादौ न विशेषणत्वतात्पर्य्यं तद्वारणाय प्रथमान्तेति। यद्वा धात्वर्थातिरिक्तविशेषणत्वं प्रथमदलार्थः तेन चैत्र इव गच्छतीत्यत्र चैत्रादेर्व्वारणं स्तोकं पचतीत्यादौ स्तोकादेर्व्वारणाय च द्वितीयदलम्। तत्र द्वितीयान्तोपस्थाप्यत्वाहारणम्। एवं व्यापारेऽपि न शक्तिर्गौरवात्। रथो गच्छति इत्यादौ तु व्यापारे आश्रयत्वे वा लक्षणा। जानाति इत्यादौ तु आश्रयत्वे नश्यतीत्यादौ प्रतियोगित्वे निरूढ़लक्षणा। उपमानादप्यथा शक्तिग्रहस्तथोक्तम् ॥ * ॥ एवं कोषादपि शक्तिग्रहः सति बाधके क्वचित्त्यज्यते यथा नीलादिपदानां नीलरूपादौ नीलादिविशिष्टे च शक्तिः कोषे व्युत्पादिता तथापि लाघवात् नीलादौ शक्तिः नीलादिविशिष्टे लक्षणेति ॥ * ॥ एवमाप्तवाक्यादपि। यथा, कोकिलः पिकपदवाच्यः इत्यादिशब्दात् पिकादिशक्तिग्रहः ॥*॥ एवं व्यवहारादपि। यथा, प्रयोजकवृद्धेन घटमानयेत्युक्तं तत् श्रुत्वा प्रयोज्यवृद्धेन घट आनीतस्तदवधार्य्य पार्श्वस्थो बालो घटानयनरूपं कार्य्यम्। घटमानय इति शब्दप्रयोज्यं अवधारयति ततश्च घटमपसारय गामानय इत्यादौ आवापोद्वापाभ्यां घटादिपदानां कार्य्यान्वितघटादौ शक्तिं गृह्णाति ॥ * ॥ एवं वाक्यशेषादपि शक्तिग्रहः। यथा यवमयश्चरुर्भवतीत्यत्र यवपदस्य दीर्घशूकविशिष्टे आर्य्याणां प्रयोगः कङ्गौ च म्लेच्छानाम्। तत्र हि यथान्या ओषधयो म्लायन्ते तथैते मोदमाना इवोत्तिष्ठन्ति ॥ "वसन्ते सर्व्वशस्यानां जायते पत्रशातनम्। मोदमानाश्च तिष्ठन्ति यवाः कणिशशालिनः ॥" इति वाक्यशेषात् दीर्घशूके शक्तिर्निर्णीयते कङ्गौ तु शक्तिभ्रमात् प्रयोगः। नानाशक्तिकल्पने गौरवात्। हरिपदादौ तु विनिगमकाभावान्नानाशक्तिकल्पनम् ॥ * ॥ एवं विवरणादपि शक्तिग्रहः। विवरणन्तु तत्समानार्थपदान्तरेण तदर्थकथनम्। यथा घटोऽस्ति इत्यस्य कलसोऽस्तीत्यनेन विवरणाद्घटपदस्य कलसे शक्तिग्रहः। एवं पचति इत्यस्य पाकं करोति इत्यनेन विवरणादाख्यातस्य यत्नार्थकत्वं कल्प्यते ॥ * ॥ एवं प्रसिद्धपदसान्निध्यादपि शक्तिग्रहः। यथा। इह सहकारतरौ मधुरं पिको रौति इत्यादौ पिकपदस्य शक्तिग्रह इति। तत्र जातावेव शक्तिर्न तु व्यक्तौ व्यभिचारादानन्त्याच्च ॥ * ॥ शक्तं पदन्तु क्वचिद्यौगिकं क्वचिद्रूढं क्वचिद्योगरूढं क्वचिद्यौगिकरूढम्। यत्रावयवार्थ एव बुध्यते तद्यौगिकं यथा पाचकादिपदम्। यत्रावयवशक्तिनैरपेक्ष्येण समुदायशक्तिमात्रेण बुध्यते तद्रूढं यथा गोमण्डपादि पदम्। यत्र तु अवयवशक्तिविषये समुदायशक्तिरप्यस्ति तद्योगरूढं यथा पङ्कजादिपदम्। तथा हि पङ्कजपदमवयवशक्त्या पङ्कजनिकर्त्तृरूपमर्थं बोधयति समुदायशक्त्या च पद्मत्वेन रूपेण पद्मं बोधयति। यत्र अवयवार्थरूढ्यर्थयोः स्वातन्त्र्येण बोधस्तद्यौगिकरूढं यथोद्भिदादिपदम्। तत्र हि ऊर्द्ध्वभेदनकर्त्ता तरुगुल्मादिरपि बुध्यते। इति सिद्धान्तमुक्तावली ॥

शाब्दिकः, पुं, (शब्दं करोतीति। शब्द + "शब्ददर्दुरं करोति।" ४। ४। ३४। इति ठक्।) शब्दशास्त्रवेत्ता। वैयाकरणः। आदिशाब्दिका यथा,—
"इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्ना पिशली शाकटायनः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः ॥"
इति कविकल्पद्रुमः ॥
नव्यशाब्दिका यथा। क्रमदीश्वरः। सर्व्ववर्म्मा। पद्मनाभमिश्रः। वोपदेवः। सुपद्मसर्व्वानन्दः। भरतमल्लिकप्रभृतयः ॥ शब्दसम्बन्धिनि, त्रि ॥

शाम, [न्] क्ली, साम। इत्यमरटीकायां सारसुन्दरी ॥

शामनं, क्ली, (शमनमेव। स्वार्थे अण्।) मारणम्। शान्तिः। इति केचित् ॥

शामनः, पुं, (शमन एव। प्रज्ञाद्यण्।) शमनः। इति पुराणम् ॥

शामनी, स्त्री, (शमनस्य यमस्येयमिति। शमन + अण्। ङीप्।) दक्षिणा दिक्। इति राजनिर्घण्टः ॥

शामित्रं, क्ली, यज्ञम्। पशुबन्धनम्। यज्ञपात्रम्। इति केचित् ॥ (शमितुरिदम्। शमितृ + अण्। पशुहिंसनम्। यथा, भागवते। १। १६। ८।
"इहोपहूतो भगवान् मृत्युः शामित्रकर्म्मणि।
न कश्चिन्म्रियते तावद् यावदास्ते इहान्तकः ॥")

शामीलं, क्ली, (शम्याः विकारः। "शम्याष्ट्लञ्।" ४। ३। १४२। इति ट्लञ्।) भस्म। इति सिद्धान्तकौमुदी ॥

शामीली, स्त्री, स्रुक्। इति सिद्धान्तकौमुदी ॥

शाम्बरी, स्त्री, शम्बरदैत्यनिर्म्मितमाया। इन्द्रजालादिमाया। इत्यमरभरतौ ॥

शाम्बविकः, पुं, शाङ्खिकः। इति जटाधरः ॥

शाम्बुकः, पुं, शम्बूकः। इति शब्दरत्नावली ॥ शामुक इति भाषा ॥

शाम्बूकः, पुं, शम्बुकः। इत्यमरटीकायां भरतः ॥

शाम्भवं, क्ली, (शम्भोरुपवेशाय इदम्। अण्।) देवदारु। इति राजनिर्घण्टः ॥

शाम्भवः, पुं, कर्पूरः। शिवमल्ली। गुग्गुलुः। इति राजनिर्घण्टः ॥ विषभेदः। इति शब्दचन्द्रिका ॥ शम्भुपुत्त्रः। शम्भुपूजकः। शम्भुसम्बन्धिनि, त्रि ॥ (यथा, कथासरित्सागरे। १२। १६७।
"तत्र च प्रविशन्त्यग्रे बहवः शाम्भवा गणाः ॥")

शाम्भवी, स्त्री, नीलदूर्व्वा। इति राजनिर्घण्टः ॥ दुर्गा। यथा,—
"शाम्भवी देवमाता च चिन्ता रत्नप्रिया
सदा ॥"
इति तन्त्रसारे दुर्गाशतस्तोत्रम् ॥

शायकः, पुं, (शाययति शत्रून्। शी + णिच् + ण्वुल्। यद्वा, शेते तूणीरे इति। शी + ण्वुल्।) वाणः। इति जटाधरः ॥ (यथा, नैषधचरिते। ४। १०१।
"प्रियसखीनिवहेन सहाथ सा
व्यरचयद्गिरमर्द्धसमस्यया।
हृदयमर्म्मणि मन्मथशायकैः
क्षततमा बहु भाषितुमक्षमा ॥")
खड्गः। इत्यमरटीकायां स्वामी ॥

शार, त् क दौर्ब्बल्ये। इति कविकल्पद्रुमः। (अदन्तचुरा०-पर०-अक०-सेट्।) अशशारत्। इति दुर्गादासः ॥

शारं, त्रि, (शॄ + घञ्।) कर्व्वुरवर्णः। इत्यमरः ॥

शारः, पुं, (शीर्य्यतेऽनेन शृणाति वा। शॄ + "शॄ वायुवर्णनिवृत्तेषु।" ३। ३। २१। इत्यस्य वार्त्तिकोक्त्या घञ्।) वायुः। इत्यमरः ॥ अक्षोपकरणम्। इति मेदिनी ॥ हिंसनम्। कर्व्वुरवर्णः। कुशी, स्त्री। इति केचित् ॥

शारङ्गः, पुं, (शीर्य्यते आतपैः। शॄ + "तरत्यादिभ्यश्च।" उणा० १। ११८। इति अङ्गच्।) चातकः। (यथा,—
"अष्टौ मासान् जलधर तवापेक्षया शुष्ककण्ठः
शारङ्गोऽहं निरवधिवनव्यानिनायाति कृत्स्नात्।
आस्तां तावत् सलिलकणिकालाभसम्भावनापि
वर्षारम्भप्रथमसमये दारुणो वज्रपातः ॥"
इत्युद्भटः ॥)
हरिणः। (यथा, शाकुन्तले। १।
"एष राजेव दुष्मन्तः शारङ्गेनातिरंहसा ॥")
हस्ती। भृङ्गः। मयूरः। कर्व्वुरवर्णविशिष्टे, त्रि। इत्यमरटीकायां मुकुटादयः ॥

शारङ्गी, स्त्री, (शारङ्ग + ङीष्।) वाद्ययन्त्रविशेषः। इति शब्दरत्नावली ॥

शारदं, क्ली, (शरदि भवम्। शरद् + "सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्।" ४। ३। १६। इति अण्।) श्वेतकमलम्। इति राजनिर्घण्टः ॥ (यथा, महाभारते। २। ६१। ३४।
"शारदोत्पलपत्राक्ष्या शारदोत्पलगन्धया।
शारदोत्पलसेविन्या रूपेण श्रीसमानया ॥")
शस्यम्। इति मेदिनीशब्दरत्नावल्यौ ॥

शारदः, पुं, (शरद् + अण्।) कासः। वकुलः। हरिन्मुद्गः। इति राजनिर्घण्टः ॥ वत्सरः। इति मेदिनी ॥ पीतमुद्गः। इति हेमचन्द्रः ॥ रोगः। इति सिद्धान्तकौमुदी ॥

शारदः, त्रि, (शरदि भवः। शरद् + अण्।) शरज्जातः। (यथा, मनौ। ६। ११।
"वासन्तशारदैर्मेध्यैर्मुन्यन्नैः स्वयमाहृतैः ॥")
नूतनः। अप्रतिभः। इति मेदिनी ॥ शालीनः। इति विश्वः ॥

शारदा, स्त्री, सरस्वती। इति त्रिकाण्डशेषः ॥ (यथा, महिम्नस्तोत्रे।
"लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्व्वकालम् ॥")
दुर्गा। (यथा, भागवते। १०। २। १२ ॥

"माया नारायणीशानी शारदेत्यम्बिकेति च ॥")

अस्या व्युत्पत्तिर्यथा,—

"शरत्काले पुरा यस्मात् नवम्यां बोधिता सुरैः ।
शारदा सा समाख्याता पीठे लोके च नामतः ॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥

वीणाविशेषः । इति शब्दरत्नावली ॥ ब्राह्मी । सारिवा । इति राजनिर्घण्टः ॥

शारदिकं, क्ली, (शरद् + "श्राद्धे शरदः ।" ४।३।१२ । इति ठञ् ।) श्राद्धम् । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥

शारदिकः, पुं, (शरद् + "विभाषा रोगातपयोः ।" ४ । ३ । १३ । इति ठञ् ।) रोगः । आतपः । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥

शारदी, स्त्री, (शारद + ङीप् ।) तोयपिप्पली । सप्तपर्णः । इति मेदिनी ॥ कोजागरपूर्णिमा । इति शब्दरत्नावली ॥ शरत्कालीने, त्रि । यथा, स्कान्दभविष्ययोः ।

"शारदीचण्डिकापूजा त्रिविधा परिगीयते ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥
सात्त्विकी जपयज्ञाद्यैर्नैवेद्यैश्च निरामिषैः ।
माहात्म्यं भगवत्याश्च पुराणादिषु कीर्त्तितम् ॥
पाठस्तस्य जपः प्रोक्तः पठेद्देवीमनाः प्रिये ।
राजसी वलिदानेन नैवेद्यैः सामिषैस्तथा ॥
सुरामांसाद्युपहारैर्जपयज्ञैर्विना तु या ।
विना मन्त्रैस्तामसी स्यात् किरातानाञ्च सम्मता ॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥

(संवत्सरसम्बन्धिनी । यथा, ऋग्वेदे ।१।१३१।४।
"यदिन्द्रशारदीरवातिरः सासहानो अवातिरः ॥")

शारदीयमहापूजा, स्त्री, (शारदीया महापूजा ।) शरत्कालीनदुर्गामहापूजा । यथा,—

"शारदीया महापूजा चतुःकर्म्ममयी शुभा ।
तां तिथित्रयमासाद्य कुर्य्यात् भक्त्या विधानतः ॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥

अपि च ।

"हते घोरे महावीरे सुरासुरभयङ्करे ।
देवीमुपासका देवाः प्रभुता राघवास्तथा ॥
समेताः सर्व्वदेवास्ते देवीं भक्त्या तुतोषिरे ।
वलिञ्च दद्युर्भूतानां महिषाजामिषैश्च च ॥
एवं तस्मिन् दिने वत्स प्रेतभूतसमाकुलम् ।
कृतवान् सर्व्वदेवश्च पूजाञ्च शाश्वतीमिहान् ॥
चलदाद्येऽश्विने मासि महिषारिनिवर्हिणीम् ।
देवीं संपूजयित्वा तु अष्टम्यर्द्धरात्रिषु ॥
ये घातयन्ति सदा भक्त्या ते भवन्ति महावलाः ।
वलिञ्च ये प्रयच्छन्ति सर्व्वभूतविनाशनम् ॥
तेषान्तु तुष्यते देवी यावत् कल्पन्तु शाङ्करम् ।
क्रीड़ते विविधैर्भोगैर्देवलोके सुदुर्लभे ॥
यावद्भूर्व्वायुराकाशं जलं वह्निशशिग्रहाः ।
तावच्च चण्डिकापूजा भविष्यति सदा भुवि ॥
प्रावृट्काले विशेषेण आश्विने त्वष्टमीषु च ।
महाशब्दो नवम्याश्च लोके ख्यातिं गमिष्यति ॥
इन्द्र उवाच ।
आश्विने चातिते घोरे नवमी प्रतिवत्सरम् ।
श्रोतुमिच्छाम्यहं तात उपवासव्रतादिकम् ॥
महाव्रतं महापुण्यं शङ्कराद्यैरनुष्ठितम् ।
कर्त्तव्यं देवराजेन्द्र देवीभक्तिसमन्वितैः ॥
कन्यासंस्थे रवौ शक्र शुक्लामारभ्य नन्दिकाम् ।
अयाची त्वथ चैकाशी नक्ताशी वाथ वायुदः ॥
प्रातःस्नायी जितद्वन्द्वः त्रिकालं शिवपूजकः ।
जपहोमसमायुक्तः कन्यकां भोजयेत् सदा ॥
अष्टम्यां नवगेहानि दारजानि शुभानि च ।
एवं वा वित्तभावेन कारयेत् सुरसत्तम ॥
तस्मिन् देवी प्रकर्त्तव्या हैमी वा राजती च वा ।
व्हदार्च्चीं लवणोपेता खड़्गे शूलेऽथ पूजयेत् ॥
सर्व्वोपहारसम्पन्नो वस्त्ररत्नफलादिभिः ।
कारयेद्रथदोलादीन् पूजाञ्च वलिदैवकीम् ॥
पुष्पादिश्रीफलविल्वाम्रजातीपुन्नागचम्पकैः ।
विचित्रां कारयेत् पूजां अष्टम्यामुपवासयेत् ॥
दुर्गाग्रतो जपेन्मन्त्रमेकचित्तः सुभावितः ।
तदर्द्धयामिनीशेषे विजयार्थे नृपोत्तमैः ॥
पश्चाद्दं लग्नोपेतं गन्धधूपसमर्च्चितम् ।
विधिवत् कालि कालीति जप्त्वा खड़्गेन घातयेत् ॥
तस्योत्थं रुधिरं मांसं गृहीत्वा पूतनादिषु ।
नैरृताय प्रदातव्या महाकौशिकमन्त्रितम् ॥
तस्याग्रतो नृपः स्नायाच्छत्रं कृत्वा तु पिष्टजम् ।
खड़्गेन घातयित्वा तु दद्यात् स्कन्दविशाखयोः ॥"
ततो देवीं स्नापयेत् प्राज्ञः क्षीरसर्पिर्जलादिभिः ।
कुङ्कुमागुरुकर्पूरचन्दनैश्चारुधूपकैः ॥
हेमानि पुष्परत्नानि वासांसि स्वाहृतानि च ।
निवेद्यं सुप्रभूतन्तु देयं देव्याः सुभावितैः ॥
अश्वमेधमवाप्नोति भक्तिमान् सुरसत्तम ।
महानवम्यां पूजेयं सर्व्वकामप्रदायिका ॥
सर्व्वेषु सर्व्ववर्णेषु तव भक्त्या प्रकीर्त्तिता ।
कृत्वाप्नोति यशो राज्यं पुत्रायुर्धनसम्पदः ॥"
इति देवीपुराणे २८।३० अध्यायात् सङ्कलितं न तु सक्रमकम् ॥

शारिः, पुं, (शॄ हिंसायाम् + इण् ।) अक्षोपकरणम् । पाशकादेर्बलम् । गुटिका । इति मेदिनी ॥ तत्पर्य्यायः । शारः २ खेलनी ३ । इति हेमचन्द्रः ॥

शारिः, स्त्री, (शॄ + "अः शकुनौ ।" उणा० ४ । १२७ । इति इण् ।) शकुनिकाभेदः । युद्धार्थगजपर्य्याणम् । व्यवहारान्तरम् । इति मेदिनी ॥ कपटः । इति धरणिः ॥

शारिका, स्त्री, (शारिरेव । स्वार्थे कन् ।) पक्षिविशेषः । मयना इति भाषा । तत्पर्य्यायः । पीतपादा २ गोराटी ३ गोकिराटिका ४ । इति हेमचन्द्रः ॥ सारिका ५ शारी ६ चित्रलोचना ७ शारिः ८ । इति शब्दरत्नावली ॥ मदनशारिका ९ शलाका १० । इति जटाधरः ॥ वीणादिवादनम् । तत्पर्य्यायः । कोणः २ । इति हेमचन्द्रः ॥

शारिफलं, क्ली पुं, (शारीणां खेलनीनां फलम् ।) शारिपट्टः । शारिखेलनाधारः । छक् इति भाषा । तत्पर्य्यायः । अष्टापदम् २ । इत्यमरः ॥ फलकः ३ । इति शब्दरत्नावली ॥ आकर्षः ४ शारिफलकः ५ विन्दुतन्त्रः ६ अक्षपीठी ७ । इति जटाधरः ॥

शारिफलकः, पुं क्ली, (शारीणां फलकः ।) शारिफलम् । इति जटाधरः ॥

शारिवा, स्त्री, श्यामलता । तत्पर्य्यायः । गोपी २ श्यामा ३ अनन्ता ४ उत्पलशारिवा ५ । इत्यमरः ॥ "पञ्च श्यामलतायाम् । नागजिह्वायामिति केचित् । गोप्यादित्रयं श्यामलतायां अनन्तादिद्वयं अनन्तमूले इति केचित् । शूपूरत्वाणि शौनादित्वाद्ङीप् गोपा च ।

'गोपीश्यामा गोपपत्नी गोपा गोपालिकापि च ।'
इति वाचस्पतिः ।
'एकं वा शारिवामूलं सर्व्वव्रणविशोधनम् ।'
इति वैद्यकम् ।" इति भरतः ॥

अस्या गुणाः । वायुपित्तरक्तष्ठीवाच्छर्दिज्वरनाशित्वम् । इति राजवल्लभः ॥

शारिशृङ्खला, स्त्री, (शारीणां शृङ्खला यत्र ।) पाशकविशेषः । यथा,—

"चुञ्चुरी तिन्तिड़ी द्यूतं पञ्चमी शारिशृङ्खला ।
नयपीठी चाष्टकाष्ठो नयः स्यान्नयपुत्रकः ।
एते पाशकभेदाः स्युर्जयकोलाहलोऽपि च ॥"
इति शब्दरत्नावली ॥

शारी, स्त्री, (शॄ + इण् । वा ङीष् ।) कुशा । इति केचित् ॥ (शकुनिकाभेदः । यथा, आर्य्यासप्तशत्याम् । ६२३ ।

"सा विरहदहनदूना ध्वत्वा ध्वत्वापि जीवति वराकी ।
शारीव कितव भवतानुकूलिता पातिताप्येव ॥")

शारीरं, क्ली, त्रयः । (शरीरे भवः । शरीर + अण् ।) शरीरजाते, त्रि । इति मेदिनी ॥ * ॥

शारीरदण्डो यथा,—

"दिग्दण्डं प्रथमं कुर्य्यात् वाग्दण्डं तदनन्तरम् ।
तृतीयं धनदण्डञ्च वधदण्डमतः परमिति ॥"

वधदण्डोऽपि शारीरो ब्राह्मणव्यतिरिक्तानाम् । इति मिताक्षरायां व्यवहारकाण्डम् ॥ * ॥

शारीरदुःखं यथा,—

"आध्यात्मिको वै द्विविधः शारीरो मानसस्तथा ।
शारीरो बहुभिर्भेदैर्भिद्यते श्रूयताञ्च सः ॥
शिरोरोगप्रतिश्यायज्वरशूलभगन्दरैः ।
गुल्मार्शःश्वयथुश्वासच्छर्द्यादिभिरनेकधा ॥
तथाक्षिरोगातीसारकुष्ठाङ्गामयसंज्ञकैः ।
भिद्यते देहजस्तापो मानसं श्रोतुमर्हसि ॥
कामक्रोधभयद्वेषलोभमोहविषादजः ।

शोकाद्यर्थापमानेर्ष्यामात्सर्य्यादिभयस्तथा ॥
मानसोऽपि द्विजश्रेष्ठ तापो भवति नैकधा ।
इत्येवमादिभिर्भेदैस्तापो ह्याध्यात्मिकः स्मृतः ॥
दुःखं सहस्रशो भेदैर्भिद्यते मुनिसत्तम ।
सुकुमारतनुर्गर्भे जन्तुर्बहुमलावृते ॥
उल्वसंवेष्टितो भुग्नपृष्ठग्रीवास्थिसंहतिः ।
अत्यम्लकटुतीक्ष्णोष्णलवणैर्मातृभोजनैः ॥
अतितापिभिरत्यर्थं वर्द्धमानातिवेदनः ।
प्रसारणाकुञ्चनादौ नाङ्गानां प्रभुरात्मनः ॥
शकृन्मूत्रमहापङ्कशायी सर्व्वत्र पीड़ितः ।
निरुच्छ्वासः सचैतन्यः स्मरन् जन्मशतान्यथ ॥
आस्ते गर्भेऽतिदुःखेन निजकर्म्मनिबन्धनः ।
जायमानः पुरीषासृङ्मूत्रशुक्राविलाननः ॥
प्राजापत्येन वातेन पीड्यमानास्थिबन्धनः ।
अधोमुखो वै क्रियते प्रबलैः सूतिमारुतैः ॥
क्लेशैर्निष्क्रान्तिमाप्नोति जठरान्मातुरातुरः ।
मूर्च्छामवाप्य महतीं संस्पृष्टो बाह्यवायुना ॥
विज्ञानं भ्रंशमाप्नोति जातश्च मुनिसत्तम ।
कण्टकैरिव तुन्नाङ्गः क्रकचैरिव दारितः ॥
पूतिव्रणान्निपतितो धरण्यां क्रिमिको यथा ।
कण्डूयनेऽपि चाशक्तः परिवर्त्तेऽप्यनीश्वरः ॥
स्नानपानादिकाहारमप्याप्नोति परेच्छया ।
अशुचिः स्रस्तरे सुप्तः कीटदंशादिभिस्तथा ॥
भक्ष्यमाणोऽपि नैवेषां समर्थो विनिवारणे ।
जन्मदुःखान्यनेकानि जन्मनोऽनन्तराणि च ॥
बालभावे यदाप्नोति आधिभौतादिकानि च ।
अज्ञानतमसाच्छन्नो मूढ़ान्तःकरणो नरः ॥
न जानाति कुतः कोऽहं क्व वा गन्ता किमात्मकः ॥”

इति विष्णुपुराणे ६ अंशे ५ अध्यायः ॥*॥ अथातः शरीरसंख्याव्याकरणं शारीरं व्याख्यास्यामः । शुक्रशोणितं गर्भाशयस्थमात्मप्रकृतिविकारसंमूर्च्छितं गर्भ इत्युच्यते । तच्च चेतनावस्थितं वायुर्व्विभजति । तेज एनं पचति । आपः क्लेदयन्ति । पृथिवी संहन्ति । आकाशं विवर्द्धयति । एवं विवर्द्धितः स यदा हस्तपादजिह्वाघ्राणकर्णनितम्बादिभिरङ्गैरुपेतस्तदा शरीरमिति संज्ञां लभते । तच्च षड़ङ्गं शाखाश्चतस्रो मध्यं पञ्चमं षष्ठं शिर इति ॥*॥ अतः परं प्रत्यङ्गानि कथ्यन्ते । मस्तकोदरपृष्ठनाभिललाटनासाचिबुकवस्तिग्रीवा इत्येता एकैकाः । कर्णनेत्रनासाभ्रूशङ्खांसगण्डकक्षस्तनवृषणपार्श्वस्फिक्जानुबाहूरुप्रभृतयो द्वे द्वे । विंशतिरङ्गुलयः । स्रोतांसि च वक्ष्यमाणानि । एष प्रत्यङ्गविभाग उक्तः ॥*॥ तस्य पुनः संख्यानम् । त्वचः कला धातवो मला दोषा यकृत्प्लीहानौ फुप्फुस उण्डुको हृदयमाशया अन्त्राणि वृक्कौ स्रोतांसि कण्डरा जालानि कूर्च्चा रज्जवः सेवन्यः संघाताः सीमन्ता अस्थीनि सन्धयः स्नायवः पेश्यो मर्म्माणि सिरा धमन्यो योगवहानि स्रोतांसि च ॥ * ॥ त्वचः सप्त । कलाः सप्त । आशयाः सप्त । धातवः सप्त । सप्त शिराशतानि । पञ्च पेशीशतानि । नव स्नायुशतानि । त्रीण्यस्थिशतानि । द्वे दशोत्तरे सन्धिशते । सप्तोत्तरं मर्म्मशतम् । चतुर्विंशतिर्धमन्यः । त्रयो दोषास्त्रयो मलाः । नव स्रोतांसि इति समासः ॥*॥ विस्तारोऽत ऊर्द्धम् । त्वचोऽभिहिताः कला धातवो मला दोषा यकृत्प्लीहानौ फुप्फुस उण्डुको हृदयं वृक्कौ च ॥ * ॥ आशयास्तु वाताशयः पित्ताशयः श्लेष्माशयो रक्ताशय आमाशयः पक्वाशयो मूत्राशयः स्त्रीणां गर्भाशयोऽष्टम इति ॥*॥ सार्द्धत्रिव्यामान्यन्त्राणि पुंसां स्त्रीणामर्द्धव्यामहीनानि । श्रवणनयनवदनघ्राणगुदमेढ्राणि नव स्रोतांसि नराणां बहिर्मुखान्येतान्येव स्त्रीणामपराणि च त्रीणि द्वे स्तनयोरधस्ताद्रक्तवहञ्च ॥*॥ षोड़श कण्डराः । तासाञ्चतस्रः पादयोस्तावत्यो हस्तग्रीवापृष्ठेषु । तत्र हस्तपादगतानां कण्डराणां नखाः प्ररोहाः । ग्रीवाहृदयनिबन्धिनीनां अधोभागगतानां मेढ्रं श्रोणिपृष्ठनिबन्धिनीनां अधोभागगतानां बिम्बः । मूर्द्धोरुवक्षोऽक्षपिण्डादीनाञ्च मांससिरास्नाय्वस्थिजालानि प्रत्येकं चत्वारि चत्वारि । तानि मणिबन्धगुल्फसंश्रितानि परस्परनिबद्धानि परस्परसंश्लिष्टानि परस्परगवाक्षितानि चेति । यैर्गवाक्षितमिदं शरीरम् ॥ * ॥ षट् कूर्च्चास्ते हस्तपादग्रीवामेढ्रेषु । हस्तयोर्द्वौ पादयोर्द्वौ ग्रीवामेढ्रयोरेकैकः । महत्यो मांसरज्जवश्चतस्रः पृष्ठवंशमुभयतः पेशीनिबन्धनार्थं द्वे बाह्ये आभ्यन्तरे च द्वे ॥ * ॥ सप्त सेवन्यः । शिरसि विभक्ताः पञ्च जिह्वाशेफसोरेकैका ताः परिहर्त्तव्याः शस्त्रेण ॥*॥ चतुर्द्दशास्थ्नां संघाताः । तेषां त्रयो गुल्फजानुवङ्क्षणेषु । एतेनेतरसक्थिबाहू च व्याख्यातौ । त्रिकशिरसोरेकैकः ॥ * ॥ चतुर्द्दशैव सीमन्ताः । ते चास्थिसंघातवद्गणनीया यतस्तैर्युक्ता अस्थिसंघाताः । ये ह्युक्ताः संघातास्तु खल्वष्टादशैकेषाम् ॥ * ॥ त्रीणि स षष्टान्यस्थिशतानि वेदवादिनो भाषन्ते । शल्यतन्त्रे तु त्रीण्येव शतानि । तेषां सविंशमस्थिशतं शाखासु । सप्तदशोत्तरं शतं श्रोणिपार्श्वपृष्ठोदरोरःसु । ग्रीवां प्रत्यूर्द्ध्वं त्रिषष्टिः । एवमस्थ्नां त्रीणि शतानि पूर्य्यन्ते । एकैकस्यान्तु पादाङ्गुल्यां त्रीणि त्रीणि तानि पञ्चदश । तलकूर्च्चगुल्फसंश्रितानि दश । पार्ष्ण्यामेकम् । जङ्घायां द्वे । जानुन्येकम् । एकमूराविति । त्रिंशदेवमेकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति । एतेनेतरसक्थिबाहू च व्याख्यातौ । श्रोण्यां पञ्च तेषां गुदभगनितम्बेषु चत्वारि । त्रिकसंश्रितमेकम् । पार्श्वे षट्त्रिंशदेवमेकस्मिन् द्वितीयेऽप्येवम् । पृष्ठे त्रिंशत् । अष्टावुरसि । द्वे अक्षकसंज्ञे । ग्रीवायां नवकम् । कण्ठनाड्यां चत्वारि । द्वे हन्वोः । दन्ता द्वात्रिंशत् । नासायां त्रीणि । एकं तालुनि । गण्डकर्णशङ्खेष्वेकैकम् । षट् शिरसि । एतानि पञ्चविधानि भवन्ति । तद्यथा । कपालरुचकतरुणवलयनलकसंज्ञानि । तेषां जानुनितम्बांसगण्डतालुशङ्खशिरःसु कपालानि । दशनास्तु रुचकानि । घ्राणकर्णग्रीवाक्षिकोषेषु तरुणानि । पाणिपादपार्श्वपृष्ठोदरोरःसु वलयानि । शेषाणि नलकसंज्ञानि ॥ * ॥ भवन्ति चात्र ।

“अभ्यन्तरगतैः सारैर्यथा तिष्ठन्ति भूरुहाः ।
अस्थिसारैस्तथा देहा ध्रियन्ते देहिनां ध्रुवम् ॥
तस्माच्चिरविनष्टेषु त्वङ्मांसेषु शरीरिणाम् ।
अस्थीनि न विनश्यन्ति साराण्येतानि देहिनाम् ॥
मांसान्यत्र निबद्धानि शिराभिः स्नायुभिस्तथा ।
अस्थीन्यालम्बनं कृत्वा न शीर्य्यन्ते पतन्ति वा ॥”

सन्धयस्तु द्विविधाश्चेष्टावन्तः स्थिराश्च ।

“शाखासु हन्वोः कट्याञ्च चेष्टावन्तस्तु सन्धयः ।
शेषास्तु सन्धयः सर्व्वे विज्ञेया हि स्थिरा बुधैः ॥”

संख्यातस्तु दशोत्तरे द्वे शते । तेषां शाखास्वष्टषष्टिरेकोनषष्टिः कोष्ठे । ग्रीवां प्रत्यूर्द्ध्वं त्र्यशीतिः । एकैकस्यां पादाङ्गुल्यां त्रयस्त्रयो द्वावङ्गुष्ठे ते चतुर्द्दश । जानुगुल्फवङ्क्षणेष्वेकैकः । एवं सप्तदशैकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति । एतेनेतरसक्थिबाहू च व्याख्यातौ । त्रयः कटीकपालेषु । चतुर्व्विंशतिः पृष्ठवंशे । तावन्त एव पार्श्वयोः । उरस्यष्टौ । तावन्त एव ग्रीवायाम् । त्रयः कण्ठे । नाड़ीषु हृदयक्लोमनिबद्धास्वष्टादश । दन्तपरिमाणा दन्तमूलेषु । एकः काकलके नासायाञ्च । द्वौ वर्त्ममण्डलजौ नेत्राश्रयौ । गण्डकर्णशङ्खेष्वेकैकः । द्वौ हनुसन्धी । द्वावुपरिष्टाद्भ्रुवोः शङ्खयोश्च । पञ्च शिरःकपालेषु । एको मूर्द्ध्नि ॥ * ॥ त एते सन्धयोऽष्टविधाः । कोरोदूखलसामुद्गप्रतरतुन्नसेवनीवायसतुण्डमण्डलशङ्खावर्त्ताः । तेषामङ्गुलिमणिबन्धगुल्फजानुकूर्परेषु कोराः सन्धयः । कक्षावङ्क्षणदशनेषूदूखलाः । अंसपीठगुदभगनितम्बेषु सामुद्गाः । ग्रीवापृष्ठवंशयोः प्रतराः । शिरःकटीकपालेषु तुन्नसेवनी । हन्वोरुभयतस्तु वायसतुण्डाः । कण्ठहृदयनेत्रक्लोमनाड़ीषु मण्डलाः । श्रोत्रशृङ्गाटकेषु शङ्खावर्त्ताः ।

“तेषां नामभिरेवाकृतयः प्रायेण व्याख्याताः ।
अस्थ्नान्तु सन्धयो ह्येते केवलाः परिकीर्त्तिताः ।
पेशीस्नायुशिराणान्तु सन्धिसंख्या न विद्यते ॥”

नवस्नायुशतानि । तासां शाखासु षट् शतानि । द्वे शते त्रिंशच्च कोष्ठे । ग्रीवां प्रत्यूर्द्ध्वं सप्ततिः । एकैकस्यान्तु पादाङ्गुल्यां षट् निचितास्तास्त्रिंशत् । तावत्य एव तलकूर्च्चगुल्फेषु । तावत्य एव जंघायाम् । दश जानुनि । चत्वारिंशदूरौ । दश वङ्क्षणे । शतमध्यर्द्धमेवमेकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति । एतेनेतरसक्थिबाहू च व्याख्यातौ । षष्टिः कट्याम् । अशीतिःपृष्ठे । पार्श्वयोः षष्टिः । उरसि त्रिंशत् । षट्त्रिंशत् ग्रीवायाम् । मूर्द्ध्नि चतुस्त्रिंशत् । एवं नवस्नायुशतानि व्याख्यातानि ॥*॥ भवन्ति चात्र ।

“स्नायुश्चतुर्विधा विद्यात्तास्तु सर्व्वा निबोध मे ।

प्रतानवत्यो वृत्ताश्च पृथ्व्यश्च शुषिरास्तथा ॥
प्रतानवत्यः शाखासु सर्व्वसन्धिषु चाप्यथ ।
वृत्तास्तु कण्डराः सर्व्वा विज्ञेयाः कौशलैरिह ॥
आमपक्वाशयान्तेषु वस्तौ च शुषिराः खलु ।
पार्श्वोरसि तथा पृष्ठे पृथुलाश्च शिरस्यथ ॥
नौर्यथा फलकास्तीर्णा बन्धनैर्ब्बहुभिर्युता ।
भारक्षमा भवेदप्सु नृयुक्ता सुसमाहिता ॥
एवमेव शरीरेऽस्मिन् यावन्तः सन्धयः स्मृताः ।
स्नायुभिर्ब्बहुभिर्बद्धास्तेन भारसहा नराः ॥
न ह्यस्थीनि न वा पेश्यो न शिरा न च सन्धयः ।
व्यापादितास्तथा हन्युर्यथा स्नायुः शरीरिणम् ॥
यः स्नायूः प्रविजानाति बाह्याश्चाभ्यन्तरास्तथा ।
स गूढं शल्यमाहर्त्तुं देहाच्छक्नोति देहिनाम् ॥" * ॥

पञ्च पेशीशतानि भवन्ति । तासां चत्वारि शतानि शाखासु । कोष्ठे षट्षष्टिः । ग्रीवां प्रत्यूर्द्धं चतुस्त्रिंशत् । एकैकस्यान्तु पादाङ्गुल्यां तिस्रस्तिस्रस्ताः पञ्चदश । दश प्रपदे । पादोपरि कूर्च्चसन्निविष्टास्तावत्य एव । दश गुल्फतलयोः । गुल्फजान्वन्तरे विंशतिः । पञ्च जानुनि । विंशतिरूर्वौ । दश वङ्क्षणे । शतमेवमेकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति । एतेन नेतरसक्थिबाहू च व्याख्यातौ । तिस्रः पायौ । एका मेढ्रे । सेवन्यां चापरा । द्वे वृषणयोः । स्फिचोः पञ्च पञ्च । द्वे वस्तिशिरसि । पञ्चोदरे । नाभ्यामेका । पृष्ठोर्द्धसन्निविष्टाः पञ्च पञ्च दीर्घाः । षट् पार्श्वयोः । दश वक्षसि । अक्षकांसौ प्रति समन्तात् सप्त । द्वे हृदयामाशययोः । षट् यकृत्प्लीहोण्डुकेषु । ग्रीवायाञ्चतस्रः । अष्टौ हन्वोः । एकैका काकलकगलयोः । द्वे तालुनि । एका जिह्वायाम् । ओष्ठयोर्द्वे । घोणायां द्वे । द्वे नेत्रयोः । गण्डयोश्चतस्रः । कर्णयोर्द्वे । चतस्रो ललाटे । एका शिरसि । इत्येवमेतानि पञ्च पेशीशतानि ॥ * ॥

"शिरास्नाय्वस्थिपर्व्वाणि सन्धयश्च शरीरिणाम् ।
पेशीभिः संवृतान्यत्र बलवन्ति भवन्त्यतः ॥"

स्त्रीणान्तु विंशतिरधिका । दश तासां स्तनयोरेकैकस्मिन् । पञ्च पञ्च यौवने तासां परिवृद्धिः । अपत्यपथे चतस्रस्तासां प्रसृतेऽभ्यन्तरतो द्वे मुखाश्रिते बाह्ये च प्रवृत्ते द्वे । गर्भच्छिद्रसंश्रितास्तिस्रः । शुक्रार्त्तवप्रवेशिन्यस्तिस्र एव । पित्तपक्वाशयमध्ये गर्भाशयो यत्र गर्भस्तिष्ठति । तासां बहलपेलवस्थूलाणुपृथुवृत्तह्रस्वदीर्घस्थिरमृदुश्लक्ष्णकर्कशभावाः सन्ध्यस्थिशिरास्नायुप्रच्छादका यथादेशं स्वभावत एव भवन्ति ॥*॥

भवति चात्र ।

"पुंसां पेश्यः पुरस्ताद्याः प्रोक्ता लक्षणमुष्कजाः ।
स्त्रीणामावृत्य तिष्ठन्ति फलमन्तर्गतं हि ताः ॥"

मर्म्मसिराधमनीस्रोतसामन्यत्र प्रविभागः ॥*॥

"शङ्खनाभ्याकृतिर्योनिः त्र्यावर्त्ता सा प्रकीर्त्तिता ।
तस्यास्तृतीये त्वावर्त्ते गर्भशय्या प्रतिष्ठिता ॥
यथा रोहितमत्स्यस्य मुखं भवति रूपतः ।
तत्संस्थानां तथारूपां गर्भशय्यां विदुर्ब्बुधाः ॥
आभुग्नोऽभिमुखः शेते गर्भो गर्भाशये स्त्रियाः ।
स योनिं शिरसा याति स्वभावात् प्रसवं प्रति ॥
त्वक्पर्य्यन्तस्य देहस्य योऽयमङ्गविनिश्चयः ।
शल्यज्ञानादृते नैष वर्ण्यतेऽङ्गेषु केषुचित् ॥
तस्मान्निःसंशयं ज्ञानं हर्त्रा शल्यस्य वाञ्छता ।
शोधयित्वा मृतं सम्यक् द्रष्टव्योऽङ्गविनिश्चयः ॥
प्रत्यक्षतो हि यद्दृष्टं शास्त्रदृष्टञ्च यद्भवेत् ।
समासतस्तदुभयं भूयो ज्ञानविवर्द्धनम् ॥

तस्मात् समस्तगात्रमविषोपहतं अदीर्घव्याधिपीडितमवर्षशतिकं निःसृष्टान्त्रपुरीषं पुरुषमवहन्त्यामापगायां निबद्धं पञ्जरस्थं मुञ्जवल्कलकुशशणादीनामन्यतमेनावेष्टिताङ्गं अप्रकाशे देशे कोथयेत् । सम्यक्प्रकुथितञ्चोद्धृत्य ततो देहं सप्तरात्रादुशीरवालवेणुवल्कलकूर्च्चानामन्यतमेन शनैः शनैरवघर्षयंस्त्वगादीन् सर्व्वानेव बाह्याभ्यन्तराङ्गप्रत्यङ्गविशेषान् यथोक्तान् लक्षयेच्चक्षुषा । श्लोकौ चात्र भवतः ।

"न शक्यश्चक्षुषा द्रष्टुं देहे सूक्ष्मतमो विभुः ।
दृश्यते ज्ञानचक्षुर्भिस्तपश्चक्षुर्भिरेव च ॥
शरीरे चैव शास्त्रे च दृष्टार्थः स्याद्विशारदः ।
दृष्टश्रुताभ्यां सन्देहमवापोह्याचरेत् क्रियाः ॥"

षष्ठोऽध्यायः ।

अथातः प्रत्येकमर्म्मनिर्देशं शारीरं व्याख्यास्यामः । सप्तोत्तरं मर्म्मशतम् । तानि मर्म्माणि पञ्चात्मकानि । तद्यथा । मांसमर्म्माणि । शिरामर्म्माणि स्नायुमर्म्माणि । अस्थिमर्म्माणि । सन्धिमर्म्माणि चेति । न खलु मांसशिरास्नाय्वस्थिसन्धिव्यतिरेकेणान्यानि मर्म्माणि भवन्ति यस्मान्नोपलभ्यन्ते । तत्रैकादश मांसमर्म्माणि । एकचत्वारिंशत् शिरामर्म्माणि । सप्तविंशतिः स्नायुमर्म्माणि । अष्टावस्थिमर्म्माणि । विंशतिः सन्धिमर्म्माणि । तदेतत् सप्तोत्तरं मर्म्मशतम् ॥ * ॥ तेषामेकादशैकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति । एतेनेतरसक्थिबाहू च व्याख्यातौ । उदरोरसोर्द्वादश । चतुर्द्दश पृष्ठे । ग्रीवां प्रत्यूर्द्धं सप्तत्रिंशत् । तत्र सक्थिमर्म्माणि क्षिप्रतलहृदयकूर्च्चकूर्च्चशिरोगुल्फेन्द्रवस्तिजान्वाण्युर्व्वीलोहिताक्षाणि विटपञ्चेति । एतेनेतरसक्थि व्याख्यातम् ॥ * ॥ उदरोरसोस्तु । गुदवस्तिनाभिहृदयस्तनमूलस्तनरोहितापलापाख्यपस्तम्भौ चेति । पृष्ठमर्म्माणि तु कटीकतरुणकुकुन्दर-नितम्बपार्श्वसन्धिबृहत्यंसफलकान्यंसौ चेति । बाहुमर्म्माणि तु क्षिप्रतलहृदयकूर्च्चकूर्च्चशिरोमणिबन्धेन्द्रवस्तिकूर्परास्याण्युर्व्वीलोहिताक्षाणि कक्षधरश्चेति । एतेनेतरो बाहुर्व्याख्यातः । जत्रूर्द्धं मर्म्माणि । चतस्रो धमन्योऽष्टौ मातृकाः । द्वे कृकाटिके । द्वे विधुरे । द्वौ फणौ । द्वावपाङ्गौ । द्वावावर्त्तौ । द्वावुत्क्षेपौ । द्वौ शङ्खौ । एका स्थपनी । पञ्च सीमन्ताः । चत्वारि शृङ्गाटकान्येकोऽधिपतिरिति । तत्र तलहृदयेन्द्रवस्तिगुदस्तनरोहितानि मांसमर्म्माणि ॥ नीलधमनी-मातृकाशृङ्गाटकापाङ्गस्थपनीफणस्तनमूलापलापापस्तम्भहृदयनाभिपार्श्वसन्धिबृहतीलोहिताक्षोर्व्व्यः शिरामर्म्माणि । आणिविटपकक्षधरकूर्च्चकूर्च्चशिरोवस्तिक्षिप्रांसविधुरोत्क्षेपाः स्नायुमर्म्माणि । कटीकतरुणनितम्बांसफलकशङ्खास्त्वस्थिमर्म्माणि । जानुकूर्परसीमन्ताधिपतिगुल्फमणिबन्धकुकुन्दरावर्त्तकृकाटिकाश्चेति सन्धिमर्म्माणि । तान्येतानि पञ्च विकल्पानि मर्म्माणि भवन्ति । तद्यथा । सद्यःप्राणहराणि । कालान्तरप्राणहराणि । विशल्यघ्नानि । वैकल्यकराणि । रुजाकराणीति । तत्र सद्यःप्राणहराण्येकोनविंशतिः । कालान्तरप्राणहराणि त्रयस्त्रिंशत् । त्रीणि विशल्यघ्नानि । चतुश्चत्वारिंशद्वैकल्यकराणि । अष्टौ रुजाकराणीति ॥ * ॥ भवन्ति चात्र ।

"शृङ्गाटकान्यधिपतिः शङ्खौ कण्ठशिरोगुदम् ।
हृदयं वस्तिनाभी च घ्नन्ति सद्यो हतानि तु ॥
वक्षोमर्म्माणि सीमन्ततलक्षिप्रेन्द्रवस्तयः ।
कटीकतरुणे सन्धी पार्श्वजौ बृहती च या ॥
नितम्बाविति चैतानि कालान्तरहराणि तु ।
उत्क्षेपौ स्थपनी चैव विशल्यघ्नानि निर्द्दिशेत् ॥
लोहिताक्षाणि जान्वूर्व्वी कूर्च्चा विटपकूर्पराः ।
कुकुन्दरे कक्षधरे विधुरे सकृकाटिके ॥
अंसांसफलकापाङ्गा नीले मन्ये फणौ तथा ।
वैकल्यकरणान्याहुरावर्त्तौ द्वौ तथैव च ॥
गुल्फौ द्वौ मणिबन्धौ द्वौ द्वे द्वे कूर्च्चशिरांसि च ।
रुजाकराणि जानीयादष्टावेतानि बुद्धिमान् ।
क्षिप्राणि विद्धमात्राणि घ्नन्ति कालान्तरेण च ॥"

मर्म्माणि नाम मांसशिरास्नाय्वस्थिसन्धिसन्निपातास्तेषु स्वभावत एव विशेषेण प्राणास्तिष्ठन्ति । तस्मान्मर्म्मस्वभिहतास्तांस्तान् भावानापद्यन्ते । तत्र सद्यःप्राणहराण्याग्नेयान्यग्निगुणेष्वाशु क्षीणेषु घ्नन्ति । कालान्तरप्राणहराणि सौम्याग्नेयान्यग्निगुणेष्वाशु क्षीणेषु क्रमेण च सोमगुणेषु कालान्तरेण घ्नन्ति । विशल्यप्राणहराणि वायव्यानि शल्यमुखनिरुद्धो यावदन्तर्व्वायुस्तिष्ठति तावज्जीवत्युद्धृतमात्रे तु शल्ये मर्म्मस्थानाश्रितो वायुर्निष्क्रामति तस्मात् सशल्यो जीवत्युद्धृतशल्यो म्रियते । वैकल्यकराणि सौम्यानि सोमो हि स्थिरत्वाच्छैत्याच्च प्राणावलम्बनं करोति । रुजाकराण्यग्निवायुगुणभूयिष्ठानि विशेषतश्च तौ रुजाकरौ । पाञ्चभौतिकीञ्च रुजामाहुरेके । केचिदाहुर्म्मांसादीनां पञ्चानामपि समस्तानां विरुद्धानाञ्च समवायात् सद्यःप्राणहराणि । एकहीनानामल्पानां वा कालान्तरप्राणहराणि । द्विहीनानां विशल्यप्राणहराणि । त्रिहीनानां वैकल्यकराणि । एकस्मिन्नेव रुजाकराणीति । यतश्चैव मतोऽस्थिमर्म्मस्वप्यभिहतेषु शोणितागमनं भवति ॥ * ॥

"चतुर्व्विधा यास्तु शिराः शरीरे
प्रायेण ता मर्म्मसु सन्निविष्टाः ।
स्नाय्वस्थिमांसानि तथैव सन्धीन्
सन्तर्प्य देहं प्रतिपालयन्ति ॥
ततः क्षते मर्म्मणि ताः प्रवृद्धः
समन्ततो वायुरभिस्तृणोति ।
विवर्द्धमानस्तु स मातरिश्वा
रुजः सुतीव्राः प्रतनोति काये ॥
रुजाभिभूतन्तु पुनः शरीरं
प्रलीयते नश्यति चास्य संज्ञा ।
अतो हि शल्यं विनिहर्त्तुमिच्छन्
मर्म्माणि यत्नेन परीक्ष्य कर्षेत् ॥"

एतेन शेषं व्याख्यातम् । तत्र सद्यःप्राणहरमन्ते विद्धं कालान्तरेण मारयति । कालान्तरप्राणहरमन्ते विद्धं वैकल्यमापादयति । विशल्यप्राणहरमन्ते विद्धं कालान्तरेण क्लेशयति रुजाञ्च करोति । रुजाकरमतीव्रवेदनं भवति । तत्र सद्यःप्राणहराणि सप्तरात्राभ्यन्तरान्मारयन्ति । कालान्तरप्राणहराणि पक्षान्मासाद्वा । तेष्वपि तु क्षिप्राणि कदाचिदाशु मारयन्ति । विशल्यप्राणहराणि वैकल्यकराणि च कदाचिदत्यभिहतानि मारयन्ति ॥ * ॥ अत ऊर्द्ध्वं प्रत्येकशो मर्म्मस्थानान्यनुव्याख्यास्यामः । तत्र पादाङ्गुष्ठाङ्गुल्योर्म्मध्ये क्षिप्रं नाम मर्म्म तत्र विद्धस्याक्षेपकेण मरणम् । मध्यमाङ्गुलीमनुपूर्व्वेण मध्ये पादतलस्य तलहृदयं नाम तत्रापि रुजाभिर्मरणम् । क्षिप्रस्योपरिष्टादुभयतः कूर्च्चो नाम यत्र पादस्य भ्रमणवेपने भवतः । गुल्फसन्धेरध उभयतः कूर्च्चशिरो नाम तत्र रुजाशोफौ । पादजङ्घयोः सन्धाने गुल्फो नाम तत्र रुजस्तब्धपादता खञ्जता वा । पार्ष्णिं प्रति जङ्घामध्ये इन्द्रवस्तिर्नाम तत्र शोणितक्षये मरणम् । जङ्घोर्व्वोः सन्धाने जानु नाम तत्र खञ्जता जानुन ऊर्द्ध्वमुभयतस्त्र्यङ्गुलमाणिर्नाम तत्र शोफाभिवृद्धिः स्तब्धसक्थिता च । ऊरुमध्ये ऊर्व्वी नाम तत्र शोणितक्षयात् सक्थिशोषः । ऊर्व्या ऊर्द्ध्वमधोवङ्क्षणसन्धेरूरुमूले लोहिताक्षं नाम तत्र लोहितक्षयेण पक्षाघातः । वङ्क्षणवृषणयोरन्तरे विटपं नाम तत्र षाण्ढ्यमल्पशुक्रता वा भवति । एवमेतान्येकादश सक्थिमर्म्माणि व्याख्यातानि । एतेनेतरसक्थिबाहू च व्याख्यातौ । विशेषतस्तु यानि सक्थ्नि गुल्फजानुविटपानि तानि बाहौ मणिबन्धकूर्परकक्षधराणि । यथा वङ्क्षणवृषणयोरन्तरे विटपमेवं वक्षःकक्षयोर्म्मध्ये कक्षधरं तस्मिन् विद्धे त एवोपद्रवाः । विशेषतस्तु मणिबन्धे कुण्ठता । कूर्पराख्ये कुणिः । कक्षधरे पक्षाघातः । एवमेतानि चतुश्चत्वारिंशच्छाखासु मर्म्माणि व्याख्यातानि ॥ * ॥ अत ऊर्द्ध्वमुदरोरसोर्मर्म्मस्थानान्यनुव्याख्यास्यामः । तत्र वातवर्च्चोनिरसनं स्थूलान्त्रप्रतिबद्धं गुदं नाम मर्म्म तत्र सद्योमरणम् । अल्पमांसशोणितोऽभ्यन्तरतः कट्यां मूत्राशयो वस्तिर्नाम तत्रापि सद्योमरणमश्मरीव्रणादृते । तत्राप्युभयतो भिन्ने न जीवत्येकतो भिन्ने मूत्रस्रावी व्रणो भवति । स तु यत्नेनोपक्रान्तो रोहति । पक्वामाशययोर्म्मध्ये शिराप्रभवा नाभिर्नाम तत्रापि सद्य एव मरणम् । स्तनयोर्म्मध्यमधिष्ठायोरस्यामाशयद्वारं सत्त्वरजस्तमसामधिष्ठानं हृदयं नाम तत्र सद्य एव मरणम् । स्तनयोरधस्तात् द्व्यङ्गुलमुभयतः स्तनमूले नाम मर्म्मणी तत्र कफपूर्णकोष्ठतया कासश्वासाभ्यां म्रियते । स्तनचूचुकयोरूर्द्ध्वं द्व्यङ्गुलमुभयतः स्तनरोहितौ नाम तत्र लोहितपूर्णकोष्ठतया कासश्वासाभ्याञ्च म्रियते । अंशकूटयोरधस्तात् पार्श्वोपरिभागयोरपलापौ नाम तत्र रक्तेन पूयभावं गतेन मरणम् । उभयत्रोरसो नाड्यौ वातवहे अपस्तम्भौ नाम तत्र वातपूर्णकोष्ठतया कासश्वासाभ्याञ्च मरणम् । एवमेतान्युदरोरसोर्द्वादश मर्म्माणि व्याख्यातानि ॥ * ॥ अत ऊर्द्ध्वं पृष्ठमर्म्माण्यनुव्याख्यास्यामः । तत्र पृष्ठवंशमुभयतः प्रतिश्रोणिकाण्डमस्थिनी कटीकतरुणे नाम मर्म्मणी तत्र शोणितक्षयात् पाण्डुविवर्णो हीनरूपश्च म्रियते । पार्श्वजघनवहिर्भागे पृष्ठवंशमुभयतो नातिनिम्ने कुकुन्दरे नाम मर्म्मणी तत्र स्पर्शाज्ञानमधःकाये चेष्टोपघातश्च । श्रोणीकाण्डयोरुपर्य्याशयाच्छादनौ पार्श्वान्तरप्रतिबद्धौ नितम्बौ नाम तत्राधःकायशोषो दौर्ब्बल्याच्च मरणम् । अधःपार्श्वान्तरप्रतिबद्धौ जघनपार्श्वमध्ययोस्तिर्य्यगूर्द्ध्वञ्च जघनात् पार्श्वसन्धी नाम तत्र लोहितपूर्णकोष्ठतया म्रियते । स्तनमूलादुभयतः पृष्ठवंशस्य बृहती नाम तत्र शोणितातिप्रवृत्तिनिमित्तैरुपद्रवैर्म्रियते । पृष्ठोपरि पृष्ठवंशमुभयतस्त्रिकसम्बद्धे अंसफलके नाम तत्र बाह्वोः स्वापः शोषो वा । बाहुमूर्द्धग्रीवामध्येऽंसपीठस्कन्धनिबन्धनावंसौ नाम तत्र स्तब्धबाहुता । एवमेतानि चतुर्द्दश पृष्ठमर्म्माणि व्याख्यातानि ॥ * ॥ अत ऊर्द्ध्वं जत्रुगतानि व्याख्यास्यामः । तत्र कण्ठनाडीमुभयतश्चतस्रो धमन्यो द्वे नीले द्वे च मन्ये व्यत्यासेन तत्र मूकता स्वरवैकृतमरसग्राहिता च । ग्रीवायामुभयतश्चतस्रः शिरामातृकास्तत्र सद्योमरणम् । शिरोग्रीवयोः सन्धाने कृकाटिके नाम तत्र चलमूर्द्धता । कर्णपृष्ठतोऽधःसंश्रिते विधुरे नाम तत्र वाधिर्य्यम् । घ्राणमार्गमुभयतः स्रोतोमार्गप्रतिबद्धे अभ्यन्तरतः फणे नाम तत्र गन्धाज्ञानम् । भ्रूपुच्छान्तयोरधोऽक्ष्णोर्व्वाह्यतोऽपाङ्गौ नाम तत्रान्ध्यं दृष्ट्युपघातो वा । भ्रुवोरुपरि निम्नयोरावर्त्तौ नाम तत्रान्ध्यं दृष्ट्युपघातश्च । भ्रुवोः पुच्छान्तयोरुपरि कर्णललाटयोर्म्मध्ये शङ्खौ नाम तत्र सद्योमरणम् । शङ्खयोरुपरि केशान्त उत्क्षेपौ नाम तत्र सशल्यो जीवति पाकात् पतितशल्यो वा नोद्धृतशल्यः । भ्रुवोर्म्मध्ये स्थपनी नाम तत्रोत्क्षेपवत् । पञ्च सन्धयः शिरसि विभक्ताः सीमन्ता नाम तत्रोन्मादभयचित्तनाशैर्मरणम् । घ्राणश्रोत्राक्षिजिह्वासन्तर्पणीनां शिराणां मध्ये शिरासन्निपातः शृङ्गाटकानि तानि चत्वारि मर्म्माणि तत्रापि सद्योमरणम् । मस्तकाभ्यन्तरोपरिष्टात् शिरासन्धिसन्निपातो रोमावर्त्तः अधिपतिस्तत्रापि सद्योमरणम् । एवमेतानि सप्तत्रिंशदूर्द्ध्वजत्रुगतानि मर्म्माणि व्याख्यातानि ॥ * ॥ भवन्ति चात्र ।

"ऊर्व्वाः शिरांसि विटपे च सकक्षपार्श्वे
एकैकमङ्गुलमिता स्तनपूर्व्वमूलम् ।
विद्ध्यङ्गुलद्वयमितं मणिबन्धगुल्फं
त्रीण्येव जानु सपरं सह कूर्पराभ्याम् ॥
हृद्वस्तिकूर्च्चगुदनाभि वदन्ति मूर्द्ध्नि
चत्वारि पञ्च च गले दश यानि च द्वे ।
तानि स्वपाणितलकुञ्चितसंमितानि
शेषाण्यवेहि परिविस्तरतोऽङ्गुलार्द्धम् ॥
एतत् प्रमाणमभिवीक्ष्य वदन्ति तज्ज्ञाः
शस्त्रेण कर्म्मकरणं परिहृत्य मर्म्म ।
पार्श्वाभिघातितमपीह निहन्ति मर्म्म
तस्माद्धि मर्म्मसदनं परिवर्ज्जनीयम् ॥
छिन्नेषु पाणिचरणेषु शिरा नराणां
सङ्कोचमीयुरसृगल्पमतो निरेति ।
प्राप्यामितव्यसनमुग्रमतो मनुष्याः
संछिन्नशाखतरुवन्निधनं न यान्ति ॥
क्षिप्रेषु तत्र सतलेषु हतेषु रक्तं
गच्छत्यतीव पवनश्च रुजं करोति ।
एवं विनाशमुपयान्ति हि तत्र विद्धा
वृक्षा इवायुधविघातनिकृत्तमूलाः ॥
तस्मात्तयोरभिहतस्य तु पाणिपादं
छेत्तव्यमाशु मणिबन्धनगुल्फदेशे ।
मर्म्माणि शल्यविषयार्द्धमुदाहरन्ति
यस्माच्च मर्म्मसु हता न भवन्ति सद्यः ॥
जीवन्ति तत्र यदि वैद्यगुणेन केचित्
ते प्राप्नुवन्ति विकलत्वमसंशयं हि ।
सम्भिन्नजर्ज्जरितकोष्ठशिरःकपाला
जीवन्ति शस्त्रनिहतैश्च शरीरदेशैः ।
छिन्नैश्च सक्थिभुजपादकरैरशेषैर्येषां न मर्म्मपतिता विविधाः प्रहाराः ॥
सोममारुततेजांसि रजःसत्त्वतमांसि च ।
मर्म्मसु प्रायशः पुंसां भूतात्मा चावतिष्ठते ॥
मर्म्मस्वभिहतास्तस्मान्न जीवन्ति शरीरिणः ।
इन्द्रियार्थेष्वसंप्राप्तिर्मनोबुद्धिविपर्य्ययः ॥
रुजश्च विविधास्तीव्रा भवन्त्याशुहरे हते ।
हते कालान्तरघ्ने तु ध्रुवो धातुक्षयो नृणाम् ॥
ततो धातुक्षयाज्जन्तुर्व्वेदनाभिश्च नश्यति ।
हते वैकल्यजनने केवलं वैद्यनैपुणात् ॥
शरीरं क्रियया युक्तं विकलत्वमवाप्नुयात् ।
विशल्यघ्नेषु विज्ञेयं पूर्व्वोक्तं यच्च कारणम् ॥
रुजाकराणि मर्म्माणि क्षतानि विविधा रुजः ।
कुर्व्वन्त्यन्ते च वैकल्यं कुवैद्यवशगो यदि ॥
छेदभेदाभिघातेभ्यो दहनाद्दारणादपि ।
उपघातं विजानीयान्मर्म्मणान्तुल्यलक्षणम् ॥

मर्म्माभिघातस्तु न कश्चिदस्ति
योऽल्पात्ययो वापि निरत्ययो वा ।
प्रायेण मर्म्मस्वभिताड़ितास्तु
वैकल्यमृच्छन्त्यथवा म्रियन्ते ॥
मर्म्माण्यधिष्ठाय हि ये विकारा
मूर्च्छन्ति काये विविधा नराणाम् ।
प्रायेण ते कृच्छ्रतमा भवन्ति
नरस्य यत्नैरपि साध्यमाना: ॥”*॥

सप्तमोऽध्याय: ।

अथात: सिरावर्णनविभक्तिनाम शारीरं व्याख्यास्याम: । सप्त सिराशतानि भवन्ति । याभिरिदं शरीरमाराम इव जलहारिणीभि: कैदार इव च कुल्याभिरुपस्निह्यते अनुगृह्यते चाकुञ्चनप्रसारणादिभिर्विशेषै: । द्रुमपत्रसेवनीनामिव च तासां प्रतानास्तासां नाभिर्मूलं ततश्च प्रसरन्त्यूर्द्ध्वमधस्तिर्य्यक् च ॥*॥ भवतश्चात्र ।

“यावत्यस्तु सिरा: काये सम्भवन्ति शरीरिणाम् ।
नाभ्यां सर्व्वा निबद्धास्ता प्रतन्वन्ति समन्तत: ॥
नाभिस्था: प्राणिनां प्राणा प्राणान्नाभिर्व्युपाश्रिता ।
सिराभिरावृता नाभिश्चक्रनाभिरिवारकै: ॥”

तासां मूलसिराश्चत्वारिंशत् । तासां वातवाहिन्यो दश । पित्तवाहिन्यो दश । कफवाहिन्यो दश । दश रक्तवाहिन्य: । तासान्तु वातवाहिनीनां वातस्थानगतानां पञ्चसप्ततिशतं भवति । तावत्य एव पित्तवाहिन्य: । पित्तस्थाने कफवाहिन्यश्च । कफस्थाने रक्तवाहिन्यश्च । यक्तृत्प्लीह्नोरेवमेतानि सप्तसिराशतानि । तत्र वातवाहिन्य: सिरा एकस्मिन् सक्थ्नि पञ्चविंशति: । एतेनेतरसक्थिबाहू च व्याख्यातौ । विशेषतस्तु कोष्ठे चतुस्त्रिंशत्तासां गुदमेढ्राश्रिता: । श्रोण्यामष्टौ । द्वे द्वे पार्श्वयो: । षट् पृष्ठे । तावत्य एव चोदरे । दश वक्षसि । एकचत्वारिंशज्जत्रुण ऊर्द्ध्वम् । तासां चतुर्दश ग्रीवायाम् । कर्णयोश्चतस्र: । नव जिह्वायाम् । षट् नासिकायाम् । अष्टौ नेत्रयो: । एवमेतत् पञ्चसप्तत्यधिकशतं वातवहानां सिराणां व्याख्यातम् । एष एव विभाग: शेषाणामपि । विशेषतस्तु पित्तवाहिन्यो नेत्रयोर्दश । कर्णयोर्द्वे । एवं रक्तवहा कफवहाश्च । एवमेतानि सप्त सिराशतानि सविभागानि व्याख्यातानि ॥*॥ भवन्ति चात्र ।

“क्रियाणामप्रतीघातममोहं बुद्धिकर्म्मणाम् ।
करोत्यन्यान् गुणांश्चापि स्वा: सिरा: पवनश्चरन् ॥
यदा तु कुपितो वायु: स्वा: सिरा: प्रतिपद्यते ।
तदास्य विविधा रोगा जायन्ते वातसम्भवा: ॥
भ्राजिष्णुतामन्नरुचिमग्निदीप्तिमरोगताम् ।
संसर्पत् स्वा: सिरा: पित्तं कुर्य्याच्चान्यान् गुणानपि ॥
यदा प्रकुपितं पित्तं सेवते स्ववहा: सिरा: ।
तदास्य विविधा रोगा जायन्ते पित्तसम्भवा: ॥
स्नेहमङ्गेषु सन्धीनां स्थैर्य्यं बलमुदीर्णताम् ।
करोत्यन्यान् गुणांश्चापि बलास: स्वा: शिराश्चरन् ॥
यदा तु कुपित: श्लेष्मा स्वा: सिरा: प्रतिपद्यते ।
तदास्य विविधा रोगा जायन्ते श्लेष्मसम्भवा: ॥
धातूनां पूरणं वर्णं स्पर्शज्ञानमसंशयम् ।
स्वा: सिरा: सञ्चरद्रक्तं कुर्य्याच्चान्यान् गुणानपि ॥
यदा तु कुपितं रक्तं सेवते स्ववहा: सिरा: ।
तदास्य विविधा रोगा जायन्ते रक्तसम्भवा: ॥
न हि वातं सिरा: काश्चिन्न पित्तं केवलं तथा ।
श्लेष्माणं वा वहन्त्येता अत: सर्व्ववहा: स्मृता: ॥
प्रदुष्टानां हि दोषाणामुच्छ्रितानां प्रधावताम् ।
ध्रुवमुन्मार्गगमनमत: सर्व्ववहा: स्मृता: ॥
तत्रारुणा वातवहा: पूर्य्यन्ते वायुना सिरा: ।
पित्तादुष्णाश्च नीलाश्च शीता गौर्य्य: स्थिरा: कफात् ।
असृग्वहास्तु रोहिण्य: सिरा नात्युष्णशीतला: ॥
अत ऊर्द्ध्वं प्रवक्ष्यामि न विध्येद्या: सिरा भिषक् ।
वैकल्यं मरणञ्चापि व्यधात्तासां ध्रुवं भवेत् ॥
सिराशतानि चत्वारि विद्याच्छाखासु बुद्धिमान् ।
षट्त्रिंशच्च शतं कोष्ठे चतु:षष्टिञ्च मूर्द्धनि ॥
शाखासु षोड़श सिरा: कोष्ठे द्वात्रिंशदेव तु ।
पञ्चाशज्जत्रुणश्चोर्द्ध्वमवेध्या: परिकीर्त्तिता: ॥”

तत्र सिराशतमेकैकस्मिन् सक्थ्नि भवति तासां जालधरा त्वेका तिस्रश्चाभ्यन्तरा: । तत्रोर्व्वीसंज्ञे द्वे लोहिताक्षसंज्ञा चैकैतास्त्ववेध्या: । एतेनेतरसक्थिबाहू च व्याख्यातावेवमशस्त्रकृत्या: षोड़श शाखासु । द्वात्रिंशत् श्रोण्यां तासामष्टावशस्त्रकृत्या: । द्वे द्वे विटपयो: कटीकतरुणयोश्च । अष्टावष्टावेकैकस्मिन् पार्श्वे तासामेकैकामूर्द्ध्वगां परिहरेत् । पार्श्वसन्धिगते च द्वे । चतस्रो विंशतिश्च पृष्ठवंशमुभयतस्तासामूर्द्ध्वगामिन्यौ द्वे द्वे परिहरेद्बृहती सिरे । तावत्य एवोदरे तासां मेढ्रोपरि रोमराजीमुभयतो द्वे द्वे परिहरेत् । चत्वारिंशद्वक्षसि तासां चतुर्दशाशस्त्रकृत्या । हृदये द्वे द्वे । द्वे स्तनमूले । स्तनरोहितापलापस्तम्भेषूभयतोऽष्टौ । एवं द्वात्रिंशदशस्त्रकृत्या: पृष्ठोदरोर:सु भवन्ति । चतु:षष्टिशिराशतं जत्रुण ऊर्द्ध्वं भवति तत्र षट्पञ्चाशच्छिरोधरायां तासामष्टौ चतस्रश्च मर्म्मसंज्ञा: परिहरेत् । द्वे कृकाटिकयो: । द्वे विधुरयो: । एवं ग्रीवायां षोड़शावेध्या: । हन्वोरुभयतोऽष्टावष्टौ तासान्तु सन्धिधमन्यौ द्वे द्वे परिहरेत् । षट्त्रिंशज्जिह्वायां तासामध: षोड़शाशस्त्रकृत्या: रसवहे द्वे वाग्वहे च द्वे । द्विर्दश नासायां तासामौपनासिक्यश्चतस्र: परिहरेत् । तासामेव च तालुन्येकां मृदावुद्देशे । अष्टात्रिंशदुभयोर्नेत्रयोस्तासामेकैकामपाङ्गयो: परिहरेत् । कर्णयोर्दश तासां शब्दवाहिनीनामेकैकां परिहरेत् । नासानेत्रगतास्तु ललाटे षष्टिस्तासां केशान्तानुगताश्चतस्र: । आवर्त्तयोरेकैका स्थपन्याञ्चैका परिहर्त्तव्या । शङ्खयोर्दश तासां शङ्खसन्धिगतामेकैकां परिहरेत् । द्वादश मूर्द्ध्नि तासामुत्क्षेपयोर्द्वे परिहरेत् । सीमन्तेष्वेकैकामधिपतावेकामिति । एवमशस्त्रकृत्या: पञ्चाशज्जत्रुण ऊर्द्ध्वमिति । भवति चात्र ।

“व्याप्नुवन्त्यभितो देहं नाभित: प्रसृता: सिरा: ।
प्रताना: पद्मिनीकन्दाद्बिसादीनां यथा जलम् ॥”

अष्टमोऽध्याय: ।

अथात: सिराव्यधविधिशारीरं व्याख्यास्याम: । बालस्थविररूक्षक्षतक्षीणभीरुपरिश्रान्तक्षीममद्याध्वकर्षितमत्तवान्तविरिक्तास्थापितानुवासितजागरितक्लीवकृशगर्भिणीनां कासश्वासशोषप्रवृद्धज्वराक्षेपकपक्षाघातोपवासपिपासामूर्च्छाप्रपीड़ितानाञ्च सिरां न विध्येत् । याश्चाव्यध्या व्यध्याश्चादृष्टा दृष्टाश्चायन्त्रिता यन्त्रिताश्चानुत्थिता इति । शोणितावसेकसाध्याश्च विकारा: प्रागभिहितास्तेषु चापक्वेष्वन्येषु चानुक्तेषु यथाभ्यासं यथान्यायञ्च सिरां विध्येत् । प्रतिषिद्धानामपि च विषोपसर्गे आत्ययिकेषु सिराव्यधनमप्रतिषिद्धम् । तत्र स्निग्धस्विन्नमातुरं यथादोषप्रत्यनीकद्रवप्रायमन्नं भुक्तवन्तं यवागूं पीतवन्तं वा यथाकालमुपस्थाप्यासीनं स्थितं वा प्राणानबाधमानो वस्त्रपट्टचर्म्मान्तर्व्वल्कललतानामन्यतमेन यन्त्रयित्वा नातिगाढ़ं नातिशिथिलं शरीरप्रदेशमासाद्य यथोक्तं शस्त्रं गृहीत्वा सिरां विध्येत् ॥ * ॥

“नैवातिशीते नात्युष्णे न प्रवाते न चाभ्रिते ।
सिराणां व्यधनं कार्य्यमरोगे वा कदाचन ॥”

तत्र व्यध्यसिरं पुरुषं प्रत्यादित्यमुखमरत्निमात्रोच्छ्रिते उपवेश्यासने सक्थ्नोराकुञ्चितयोर्निवेश्य कूर्परसन्धिद्वयस्योपरि हस्तावन्तर्मूढ़ाङ्गुष्ठकृतमुष्टी मन्ययो: स्थापयित्वा यन्त्रशाटकं ग्रीवामुष्ट्योरुपरि परिक्षिप्यान्येन पुरुषेण पश्चात् स्थितेन वामहस्तेनोत्तानेन शाटकान्तद्वयं ग्राहयित्वा ततो वैद्यो ब्रूयाद्दक्षिणहस्तेन सिरोत्थापनार्थं नात्यायतशिथिलं यन्त्रमावेष्टयत्वदकुत्सावधार्थं यन्त्रं पृष्ठमध्ये च पीड़येदिति कर्म्म पुरुषञ्च वायुपूर्णमुखं स्थापयेदेष उत्तमाङ्गगतानामन्तर्म्मुखवर्ज्यानां सिराणां व्यधे यन्त्रणविधि: । तत्र पादव्यध्यसिरस्य पादं समे स्थाने सुस्थिरं स्थापयित्वान्यं पादमीषत्सङ्कुचितमुच्चै: कृत्वा व्यध्यपादं जानुसन्धेरध: शाटकेनावेष्ट्य हस्ताभ्यां प्रपीड्य गुल्फं व्यध्यप्रदेशस्योपरि चतुरङ्गुलं प्लोतादीनामन्यतमेन बद्ध्वा पादसिरां विध्येत् । अथोपरिष्टाद्धस्तौ गूढ़ाङ्गुष्ठकृतमुष्टी सम्यगासने स्थापयित्वा सुखोपविष्टस्य पूर्व्ववद्यन्त्रं बद्ध्वा हस्तसिरां विध्येत् । गृध्रसीविश्वाच्यो: सङ्कुचितजानुकूर्पर: स्यात् । श्रोणीपृष्ठस्कन्धेषून्नामितपृष्ठस्यावाक्शिरस्कस्य उपविष्टस्य विस्फूर्जितपृष्ठस्य विध्येत् । उदरोरसो: प्रसारितोरस्कस्योन्नमितशिरस्कस्य

विस्फूर्जितदेहस्य बाहुभ्यामवलम्ब्यमानदेहस्य पार्श्वयोः। अवनामितमेढ्रस्य मेढ्रे। उन्नामितविदष्टजिह्वाग्रस्याधोजिह्वायाम्। अतिव्यात्ताननस्य तालुनि दन्तमूलेषु च। एवं यन्त्रोपायानन्यांश्च सिरोत्थापनहेतून् बुद्ध्यावेक्ष्य शरीरवशेन व्याधिवशेन च विदध्यात्। मांसलेष्ववकाशेषु यवमात्रं शस्त्रं निदध्यात्ततोऽन्येष्वर्द्धयवमात्रं व्रीहिमात्रं वा व्रीहिमुखेन। अस्थ्नामुपरि कुठारिकया विध्येदर्द्धयवमात्रम्॥ भवन्ति चात्र।

“अनभ्रे वर्षासु विध्येत ग्रीष्मकाले तु शीतले।
हेमन्तकाले मध्याह्ने शस्त्रकालास्त्रयः स्मृताः॥
सम्यक्शस्त्रनिपातेन धारया या स्रवेदसृक्।
मुहूर्त्तं रुद्धा तिष्ठेच्च सुविद्धां तां विनिर्द्दिशेत्॥
यथा कुसुम्भपुष्पेभ्यः पूर्व्वं स्रवति पीतिका।
तथा सिरासु विद्धासु दुष्टमग्रे प्रवर्त्तते॥
मूर्च्छितस्यातिभीतस्य श्रान्तस्य तृषितस्य च।
न वहन्ति सिरा विद्धास्तथानुत्थितयन्त्रिताः॥
क्षीणस्य बहुदोषस्य मूर्च्छया विहृतस्य च।
भूयोऽपराह्ने विस्राव्या सापरेद्युस्त्र्यहेऽपि वा॥
रक्तं सशेषदोषन्तु कुर्य्यादपि विचक्षणः।
न चातिप्रस्रुतं कुर्य्याच्छेषं संशमनैर्जयेत्॥
बलिनो बहुदोषस्य वयःस्थस्य शरीरिणः।
परं प्रमाणमिच्छन्ति प्रस्थं शोणितमोक्षणे॥”

तत्र पाददाहपादहर्षाववाहुकचिप्पविसर्पवातशोणितवातकण्टकविचर्च्चिकापाददारीप्रभृतिषु क्षिप्रमर्म्मण उपरिष्टात् द्व्यङ्गुले व्रीहिमुखेन सिरां विध्येत्। श्लीपदे तच्चिकित्सिते यथा वक्ष्यते। क्रोष्टुकशिरःखञ्जपङ्गुलवातवेदनासु जङ्घायां गुल्फस्योपरि चतुरङ्गुले। अपच्यामिन्द्रवस्तेरधस्ताद्द्व्यङ्गुले। जानुसन्धेरुपर्य्यधो वा चतुरङ्गुले गृध्रस्याम्। ऊरुमूलसंश्रिताङ्गलगण्डे। एतेनेतरसक्थिबाहू च व्याख्यातौ॥ विशेषतस्तु वामबाहौ कूर्परसन्धेरभ्यन्तरतो बाहुमध्ये प्लीह्नि कनिष्ठिकानामिकयोर्मध्ये वा। एवं दक्षिणबाहौ यकृद्दाल्ये कफोदरे चैतामेव च कासश्वासयोरप्यादिशन्ति। गृध्रस्यामिव विश्वाच्याम्। श्रोणिप्रति समन्तात् द्व्यङ्गुले प्रवाहिकायां शूलिन्यां परिकर्त्तिकोपदंशशूकदोषशुक्रव्यापत्सु मेढ्रमध्ये। वृषणयोः पार्श्वे मूत्रवृद्ध्याम्। नाभेरधश्चतुरङ्गुले सेवन्या वामपार्श्वे दकोदरे। वामपार्श्वे कक्षास्तनयोरन्तरेऽन्तर्विद्रधौ पार्श्वशूले च। बाहुशोषाववाहुकयोरप्येके वदन्त्यंसयोरन्तरे। त्रिकसन्धिमध्यगतां तृतीयके अधःस्कन्धसन्धिगतामन्यतरपार्श्वसंस्थितां चतुर्थके। हनुसन्धिमध्यगतामपस्मारे। शङ्खकेशान्तसन्धिगतामुरोऽपाङ्गललाटेषु चोन्मादेऽपस्मारे च। जिह्वारोगेष्वधोजिह्वायां दन्तव्याधिषु च तालुनि तालव्येषु। कर्णयोरुपरि समन्तात् कर्णशूले तद्रोगेषु च। गन्धाग्रहणे नासारोगेषु च नासाग्रे तिमिराक्षिपाकप्रभृतिष्वामयेषूपनासिके। ललाट्यामपाङ्ग्याञ्चैता एव शिरोरोगाधिमन्थप्रभृतिषु रोगेष्विति॥*॥ अत ऊर्द्ध्वं दुष्टव्यधं व्याख्यास्यामः। तत्र दुर्व्विद्धातिविद्धा कुञ्चिता पिच्चिता कुट्टिता अप्रस्रुता अत्युदीर्णा अन्तेऽभिहता परिशुष्का कूणिता वेपिता अनुत्थितविद्धा शस्त्रहता तिर्य्यग्विद्धा अपविद्धा अव्याध्या विद्रुता धेनुका पुनः पुनर्विद्धा शिरास्नाय्वस्थिसन्धिमर्म्मसु चेति विंशतिर्दुष्टव्यधाः। तत्र या सूक्ष्मशस्त्रविद्धा न व्यक्तमसृक् स्रवति रुजा शोफवती च सा दुर्व्विद्धा। प्रमाणातिरिक्तविद्धायामन्तः प्रविशति शोणितं शोणितातिप्रवृत्तिर्व्वा सातिविद्धा। कुञ्चितायामप्येवम्। कुण्ठशस्त्रप्रमथिता पृथुलीभावमापन्ना पिच्चिता। अनासादिता पुनःपुनरन्तयोश्च बहुशः शस्त्राभिहता कुट्टिता। शीतभयमूर्च्छाभिरप्रवृत्तशोणिता अप्रस्रुता। तीक्ष्णमहामुखशस्त्रविद्धा अत्युदीर्णा। अल्परक्तस्राविण्यन्ते विद्धा अन्तेऽभिहता। क्षीणशोणितस्यानिलपूर्णा परिशुष्का। चतुर्भागावसादिता किञ्चित्प्रवृत्तशोणिता कूणिता। दुःस्थानबन्धनाद्वेपमानाया शोणितसम्मोहो भवति सा वेपिता। अनुत्थितविद्धायामप्येवम्। छिन्नातिप्रवृत्तशोणिता क्रियासङ्गकरी शस्त्रहता। तिर्य्यक् प्रणिहितशस्त्रा किञ्चिच्छेषा तिर्य्यग्विद्धा। बहुशः क्षता हीनशस्त्रप्रणिधानेनापविद्धा। अशस्त्रकृत्या अव्याध्या। अनवस्थितविद्धा विद्रुता। प्रदेशस्य बहुशोऽवघट्टनादारोहवत्या मुहुर्मुहुःशोणितस्रवा धेनुका। सूक्ष्मशस्त्रव्यधनाद्बहुशो विच्छिन्ना पुनःपुनर्विद्धा। स्नाय्वस्थिशिरासन्धिमर्म्मसु विद्धा वा रुजां शोषं वैकल्यं मरणं वापादयति॥*॥ भवन्ति चात्र।

“सिरासु शिक्षितो नास्ति चला ह्येताः स्वभावतः।
मत्स्यवत् परिवर्त्तन्ते तस्माद्यत्नेन ताडयेत्॥
अजानता गृहीते तु शस्त्रे कायनिपातिते।
भवन्ति व्यापदश्चैता बहवश्चाप्युपद्रवाः॥
स्नेहादिभिः क्रियायोगैर्न तथा लेपनैरपि।
यान्त्याशु व्याधयः शान्तिं यथा सम्यक् सिराव्यधात्॥
सिराव्यधश्चिकित्सार्द्धं शल्यतन्त्रे प्रकीर्त्तितः।
यथा प्रणिहितः सम्यग्वस्तिः कायचिकित्सिते॥”

तत्र स्निग्धस्विन्नवान्तविरिक्तास्थापितानुवासितसिराविद्धैः परिहर्त्तव्यानि। क्रोधायासमैथुनदिवास्वप्नवाग्व्यायामयानोत्थानासनचङ्क्रमणशीतवातातपविरुद्धासात्म्याजीर्णान्याबललाभात् मासमेके मन्यन्ते॥*॥ एतेषां विस्तरमुपरिष्टाद्वक्ष्यामः। भवतश्चात्र।

“सिराविषाणतुम्बैस्तु जलौकाभिः पदैस्तथा।
अवगाढं यथापूर्व्वं निर्हरेद्दुष्टशोणितम्॥
अवगाढे जलौका स्यात् प्रच्छानं पिण्डिते हितम्।
सिराङ्गव्यापके रक्ते शृङ्गालाबू त्वचि स्थिते॥”*॥

नवमोऽध्यायः।

अथातो धमनीव्याकरणं शारीरं व्याख्यास्यामः। चतुर्व्विंशतिर्धमन्यो नाभिप्रभवा अभिहिताः। तत्र केचिदाहुः सिराधमनीस्रोतसामविभागः सिराविकारा एव धमन्यः स्रोतांसि चेति। तत्तु न सम्यक्। अन्या एव हि धमन्यः स्रोतांसि च सिराभ्यः कस्माद्व्यञ्जनान्यत्वान्मूलसन्नियमात् कर्म्मवैशेष्यादागमाच्च केवलन्तु परस्परसन्निकर्षात् सदृशागमकर्म्मत्वात् सौक्ष्म्याच्च विभक्तकर्म्मणामप्यविभाग इव कर्म्मसु भवति। तासान्तु नाभिप्रभवाणां धमनीनामूर्द्ध्वगा दश दश चाधोगामिन्यश्चतस्रस्तिर्य्यग्गाः। ऊर्द्ध्वगाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धप्रश्वासोच्छ्वासजृम्भितक्षुद्धसितकथितरुदितादीन्विशेषानभिवहन्त्यः शरीरं धारयन्ति। तास्तु हृदयमभिप्रपन्नास्त्रिधा जायन्ते तास्त्रिंशत्। तासान्तु वातपित्तकफशोणितरसान् द्वे द्वे वहतस्ता दश शब्दरूपरसगन्धानष्टाभिर्गृह्णीते। द्वाभ्यां भाषते च द्वाभ्यां घोषं करोति द्वाभ्यां स्वपिति द्वाभ्यां प्रतिबुध्यते। द्वे चाश्रुवाहिन्यौ। द्वे स्तन्यं स्त्रिया वहतः स्तनसंश्रिते ते एव शुक्रं नरस्य स्तनाभ्यामभिवहतः। तास्त्वेतास्त्रिंशत् सविभागा व्याख्याताः। एताभिरूर्द्ध्वं नाभेरुदरपार्श्वपृष्ठोरःस्कन्धग्रीवाबाहवो धार्य्यन्ते याप्यन्ते च॥*॥ भवति चात्र।

“ऊर्द्ध्वं गतास्तु कुर्व्वन्ति कर्म्माण्येतानि सर्व्वशः।
अधोगमास्तु वक्ष्यामि कर्म्म तासां यथायथम्॥”

अधोगमास्तु वातमूत्रपुरीषशुक्रार्त्तवादीन्यधो वहन्ति। तास्तु पित्ताशयमभिप्रतिपन्नास्तत्रस्थमेवान्नपानरसं विपक्वमौष्ण्याद्विरेचयन्त्योऽभिवहन्त्यः शरीरं तर्पयन्त्यर्पयन्ति चोर्द्ध्वगतानां तिर्य्यग्गतानां रसस्थानञ्चाभिपूरयन्ति मूत्रपुरीषस्वेदांश्च विरेचयन्त्यामपक्वाशयान्तरे च त्रिधा जायन्ते तास्त्रिंशत्। तासान्तु वातपित्तकफशोणितरसान् द्वे द्वे वहतः ता दश द्वे अन्नवाहिन्यावन्त्राश्रिते तोयवहे द्वे मूत्रवस्तिमभिप्रपन्ने मूत्रवहे द्वे शुक्रवहे द्वे शुक्रप्रादुर्भावाय द्वे विसर्गाय ते एव रक्तमभिवहतो नारीणामार्त्तवसंज्ञम्। द्वे वर्च्चोनिरसन्यौ स्थूलान्त्रप्रतिबद्धे। अष्टावन्यास्तिर्य्यग्गानां धमनीनां स्वेदमर्पयन्ति। तास्त्वेतास्त्रिंशत् सविभागा व्याख्याताः। एताभिरधोनाभेः पक्वाशयकटीमूत्रपुरीषगुदवस्तिमेढ्रसक्थीनि धार्य्यन्ते याप्यन्ते च॥*॥ भवति चात्र।

“अधोगमास्तु कुर्व्वन्ति कर्म्माण्येतानि सर्व्वशः।
तिर्य्यग्गाः संप्रवक्ष्यामि कर्म्म तासां यथायथम्॥”

तिर्य्यग्गाणान्तु चतसृणां धमनीनामेकैका शतधा सहस्रधा चोत्तरोत्तरं विभज्यन्ते तास्त्वसंख्येयास्ताभिरिदं शरीरं गवाक्षितं विबद्धमाततञ्च। तासां मुखानि रोमकूपप्रतिबद्धानि यैः स्वेदमभिवहन्ति रसञ्चापि सन्तर्पयन्त्यन्तर्बहिश्च

तैरेव चाभ्यङ्गपरिषेकावगाहालेपनवीर्य्याण्यन्तःशरीरमभिपद्यन्ते त्वचि विपक्वानि। तैरेव स्पर्शसुखमसुखं वा गृह्णाति। तास्त्वेतास्त्रयो धमन्यः सर्व्वाङ्गगताः सविभागा व्याख्याताः। भवतश्चात्र।

"यथा स्वभावतः खानि मृणालेषु बिसेषु च।
धमनीनां तथा खानि रसो यैरुपचीयते॥
पञ्चाभिभूतास्त्वथ पञ्चकृत्वः
पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयन्ति।
पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयित्वा
पञ्चत्वमायान्ति विनाशकाले॥"॥

अत ऊर्द्ध्वं स्रोतसां मूलविद्धलक्षणमुपदेक्ष्यामः। तानि तु प्राणान्नोदकरसरक्तमांसमेदोमूत्रपुरीषशुक्रार्त्तववहानि येष्वधिकार एकेषां बहूनि। एतेषां विशेषा बहवः। तत्र प्राणवहे द्वे तयोर्म्मूलं हृदयं रसवाहिन्यश्च धमन्यः। तत्र विद्धस्य क्रोशनविनमनमोहनभ्रमणवेपनानि मरणं वा भवति। अन्नवहे द्वे तयोर्म्मूलमामाशयोऽन्नवाहिन्यश्च धमन्यस्तत्र विद्धस्याध्मानं शूलान्नद्वेषौ छर्द्दिः पिपासान्ध्यं मरणं वा। उदकवहे द्वे तयोर्म्मूलं तालुक्लोम च। तत्र विद्धस्य पिपासा सद्योमरणञ्च। रसवहे द्वे तयोर्म्मूलं हृदयं रसवाहिन्यश्च धमन्यस्तत्र विद्धस्य शोषः प्राणवहविद्धवच्च मरणं तल्लिङ्गानि च। रक्तवहे द्वे तयोर्म्मूलं यकृत्प्लीहानौ रक्तवाहिन्यश्च धमन्यस्तत्र विद्धस्य श्यावाङ्गता ज्वरो दाहः पाण्डुता शोणितातिगमनं रक्तनेत्रता चेति। मांसवहे द्वे तयोर्म्मूलं स्नायुत्वचं रक्तवहाश्च धमन्यस्तत्र विद्धस्य श्वयथुर्म्मांसशोषः सिराग्रन्थयो मरणम्। मेदोवहे द्वे तयोर्म्मूलं कटीवृक्कौ च तत्र विद्धस्य स्वेदागमनं स्निग्धाङ्गता तालुशोषः स्थूलशोफता पिपासा च। मूत्रवहे द्वे तयोर्म्मूलं वस्तिर्मेढ्रञ्च तत्र विद्धस्यानद्धवस्तिता मूत्रनिरोधः स्तब्धमेढ्रता च। पुरीषवहे द्वे तयोर्म्मूलं पक्वाशयो गुदञ्च तत्र विद्धस्यानाहो दुर्गन्धता ग्रथितान्त्रता च। शुक्रवहे द्वे तयोर्म्मूलं स्तनौ वृषणौ च तत्र विद्धस्य क्लीवता चिरात् प्रसेको रक्तशुक्रता च। आर्त्तववहे द्वे तयोर्म्मूलं गर्भाशयः आर्त्तववाहिन्यश्च धमन्यस्तत्र विद्धायां वन्ध्यात्वं मैथुनासहिष्णुत्वमार्त्तवनाशश्च। सेवनीच्छेदाद्रुजाप्रादुर्भावः। वस्तिगुदविद्धलक्षणं प्रागुक्तमिति। स्रोतोविद्धन्तु प्रत्याख्यायोपचरेदुद्धृतशल्यन्तु क्षतविधानेनोपचरेत्।

"मूलात् खादन्तरं देहे प्रसृतन्त्वभिवाहि यत्।
स्रोतस्तदिति विज्ञेयं सिराधमनिवर्ज्जितम्॥"॥

दशमोऽध्यायः।

अथातो गर्भिणीव्याकरणं शारीरं व्याख्यास्यामः। गर्भिणी प्रथमदिवसात् प्रभृति नित्यं प्रहृष्टा शुच्यलङ्कृता शुक्लवसना शान्तिमङ्गलदेवताब्राह्मणगुरुपरा च भवेन्मलिनविकृतहीनगात्राणि न स्पृशेद्दुर्गन्धदुर्द्दर्शनानि परिहरेदुद्वेजनीयाश्च कथाः शुष्कं पर्य्युषितं कुथितं क्लिन्नं चान्नं नोपभुञ्जीत। बहिर्निष्क्रमणं शून्यागारचैत्यश्मशानवृक्षाश्रयान् क्रोधभयसङ्कटांश्च भारासुखैर्भाष्यादिकं परिहरेद्यानि च गर्भं व्यापादयन्ति। न चाभीक्ष्णं तैलाभ्यङ्गोत्सादनादीनि निषेवेत। न चायासयेच्छरीरं पूर्व्वोक्तानि च परिहरेत्। शयनासनं मृद्वास्तरणं नात्युच्चमपाश्रयोपेतमसम्बाधं विदध्यात्। हृद्यं द्रवं मधुरप्रायं स्निग्धं दीपनीयसंस्कृतञ्च भोजनं भोजयेत् सामान्यमेतदाप्रसवात्॥॥ विशेषतस्तु गर्भिणी प्रथमद्वितीयतृतीयमासेषु मधुरशीतद्रवप्रायमाहारमुपसेवेत। विशेषतस्तु तृतीये षष्टिकौदनं पयसा भोजयेच्चतुर्थे दध्ना पञ्चमे पयसा षष्ठे सर्पिषा चेत्येके। चतुर्थे पयोनवनीतसंसृष्टमाहारयेज्जाङ्गलमांससहितं हृद्यमन्नं भोजयेत्। पञ्चमे क्षीरसर्पिःसंसृष्टम्। षष्ठे श्वदंष्ट्रासिद्धस्य सर्पिषो मात्रां पाययेद्यवागूं वा। सप्तमे सर्पिः पृथक्पर्ण्यादिसिद्धमेवमाप्याय्यते गर्भः। अष्टमे बदरोदकेन बलातिबलाशतपुष्पपललपयोदधिमस्तुतैललवणमदनफलमधुघृतमिश्रेणास्थापयेत्। पुराणपुरीषशुद्ध्यर्थमनुलोमनार्थञ्च वायोः। ततः पयोमधुरकषायसिद्धेन तैलेनानुवासयेदनुलोमे हि वायौ सुखं प्रसूयते निरुपद्रवा च भवति। अत ऊर्द्ध्वं स्निग्धाभिर्यवागूभिर्जाङ्गलरसैश्चोपक्रमेदाप्रसवकालादेवमुपक्रान्ता स्निग्धा बलवती सुखमनुपद्रवा प्रसूयते। नवमे मासि सूतिकागारमेनां प्रवेशयेत् प्रशस्ततिथ्यादौ। तत्रारिष्टं ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां श्वेतरक्तपीतकृष्णेषु भूमिप्रदेशेषु बिल्वन्यग्रोधतिन्दुकभल्लातकनिर्म्मितं सर्व्वागारं यथासंख्यं तन्मयपर्य्यङ्कमुपलिप्तभित्तिं सुविभक्तपरिच्छदं प्राग्द्वारमुदग्द्वारं दक्षिणद्वारं वाष्टहस्तायतचतुर्हस्तविस्तृतं रक्षामङ्गलसम्पन्नं विधेयम्॥॥

"जाते हि शिथिले कुक्षौ मुक्ते हृदयबन्धने।
सशूले जघने नारी ज्ञेया सा तु प्रजायिनी॥"

तत्रोपस्थितप्रसवायाः कटीपृष्ठं प्रति समन्ताद्वेदना भवत्यभीक्ष्णं पुरीषप्रवृत्तिर्म्मूत्रं प्रसिच्यते योनिमुखात् श्लेष्मा च। प्रजनयिष्यमाणां कृतमङ्गलस्वस्तिवाचनां कुमारपरिवृतां पुन्नामफलहस्तां स्वभ्यक्तामुष्णोदकपरिषिक्तामथैनां सम्भृतां यवागूमाकण्ठात् पाययेत्। ततः कृतोपधाने मृदुविस्तीर्णे शयने स्थितामाभुग्नसक्थीमुत्तानामशङ्कनीयाश्चतस्रः स्त्रियः परिणतवयसः प्रजननकुशलाः कर्त्तितनखाः परिचरेयुरिति॥॥ अथास्या विशिखान्तरमनुलोममनुसुखमभ्यज्यात् ब्रूयाच्चैनामेका सुभगे प्रवाहस्वेति न चाप्राप्तावी प्रवाहस्व विशिखान्तरमपत्यमार्गम्। ततो विमुक्ते गर्भनाडीप्रबन्धे सशूलेषु श्रोणिवङ्क्षणवस्तिशिरःसु प्रवाहेथाः शनैः शनैः। ततो गर्भनिर्गमे प्रगाढं ततो गर्भे योनिमुखं प्रपन्ने गाढतरमाविशल्यभावात्॥॥ अकालप्रवाहणात् बधिरं मूकं व्यस्तहनुं मूर्द्धाभिघातिनं कासश्वासशोषोपद्रुतं कुब्जं विकटं वा जनयति। तत्र प्रतिलोममनुलोमयेत्। गर्भसङ्गे तु योनिं धूपयेत् कृष्णसर्पनिर्म्मोकेण पिण्डीतकेन वा। बध्नीयाद्धिरण्यपुष्पीमूलं हस्तपादयोर्द्धारयेत् सुवर्च्चलां विशल्यां वा॥॥ अथ जातस्योल्वं मुखञ्च सैन्धवसर्पिषा विशोध्य घृताक्तं मूर्द्ध्नि पिचुं दद्यात् ततो नाभिनाडीमष्टाङ्गुलमायम्य सूत्रेण बद्ध्वा छेदयेत् तत्सूत्रैकदेशञ्च कुमारस्य ग्रीवायां सम्यग्बध्नीयात्॥॥ अथ कुमारं शीताभिरद्भिराश्वास्य जातकर्म्मणि कृते मधुसर्पिरनन्ताब्राह्मीरसेन सुवर्णचूर्णमङ्गुल्यानामिकया लेहयेत्ततो बलातैलेनाभ्यज्य क्षीरवृक्षकषायेण सर्व्वगन्धोदकेन वा रूप्यहेमप्रतप्तेन वा वारिणा स्नापयेदेनं कपित्थपत्रकषायेण वा कोष्णेन यथाकालं यथादेशं यथाविभवं च।

"धमनीनां हृदिस्थानां विवृतत्वादनन्तरम्।
चतूरात्रात्त्रिरात्राद्वा स्त्रीणां स्तन्यं प्रवर्त्तते॥"

तस्मात् प्रथमेऽह्नि मधुसर्पिरनन्तामिश्रं मन्त्रपूतं त्रिकालं पाययेद्द्वितीये लक्ष्मणासिद्धं सर्पिस्तृतीये च। ततः प्राङ्निवारितस्तन्यं मधुसर्पिः स्वपाणितलसम्मितं द्विकालं पाययेत्॥॥ अथ सूतिकां बलातैलाभ्यक्तां वातहरौषधनिःक्वाथेनोपचरेत् सशेषदोषान्तु तदहः पिप्पलीपिप्पलीमूलहस्तिपिप्पलीचित्रकशृङ्गवेरचूर्णं गुडोदकेनोष्णेन पाययेत्। एवं द्विरात्रं त्रिरात्रं वा कुर्य्यादादुष्टशोणितात्। विशुद्धे ततो विदारिगन्धादिसिद्धां स्नेहयवागूं क्षीरयवागूं वा पाययेत् त्रिरात्रम्। ततो यवकोलकुलत्थसिद्धेन जाङ्गलरसेन शाल्योदनं भोजयेद्बलमग्निबलञ्चावेक्ष्य। अनेन विधिना अध्यर्द्धमासमुपसंस्कृता विमुक्ताहाराचारा विगतसूतिकाभिधाना स्यात्। पुनरार्त्तवदर्शनादित्येके। धन्वभूमिजातां सूतिकां घृततैलयोरन्यतरस्य मात्रां पाययेत्। पिप्पल्यादिकषायानुपाना स्नेहनित्या च स्यात् त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा बलवती। अबलां यवागूं पाययेत् त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा। अत ऊर्द्ध्वं स्निग्धेनान्नसंसर्गेणोपचरेत्। प्रायशश्चैनां प्रभूतेनोष्णोदकेन परिषिञ्चेत्। क्रोधायासमैथुनादीन् परिहरेत्॥॥ भवतश्चात्र।

"मिथ्याचारात् सूतिकाया यो व्याधिरुपजायते।
स कृच्छ्रसाध्योऽसाध्यो वा भवेदत्यपतर्पणात्॥
तस्मात्तां देशकालौ च व्याधिसात्म्येन कर्म्मणा।
परीक्ष्योपचरेदेवं नैवमत्ययमाप्नुयात्॥"॥

अथापरापतन्त्यानाहाध्मानौ कुरुते तस्मात् कण्ठमस्याः केशवेष्टितयाङ्गुल्या प्रमृजेत्। कटुकालाबुकृतवेधनसर्षपसर्पनिर्म्मोकैर्वा कटुतैलविमिश्रैर्योनिमुखं धूपयेत्। लाङ्गलीमूलकल्केन वास्याः पाणिपादतलमालिम्पेत्। मूर्द्ध्नि वास्या

शारीरं

महादृक्षक्षीरमनुपाययेत् । कुष्ठलाङ्गलीमूलकल्कं वा मद्यमूत्रयोरन्यतरेण पाययेत् । शालिमूलकल्कं वा पिप्पल्यादिं वा मद्येन सिद्धार्थककुष्ठलाङ्गलीमहावृक्षक्षीरमिश्रेण सुरामण्डेन वा स्थापयेत् । एतैरेव सिद्धेन सिद्धार्थकतैलेनोत्तरवस्तिं दद्यात् । स्निग्धेन वा कृत्तनखेन हस्तेनापहरेत् । प्रजातायाश्च नार्य्या रूक्षशरीरायास्तीक्ष्णैरविशोधितं रक्तं वायुना तद्देशगेनातिसंरुद्धं नाभेरधःपार्श्वयोर्वस्तौ वा वस्तिशिरसि वा ग्रन्थिं करोति । ततश्च नाभिवस्त्युदरपृष्ठशूलानि भवन्ति । सूचीभिरिव निस्तुद्यते भिद्यते दीर्य्यत इव च पक्वाशयः । समन्तादाध्मानमुदरे मूत्रसङ्गश्च भवतीति मक्कल्लक्षणम् । तत्र वीरतर्व्वादिसिद्धं जलमूषकादिप्रतीवापं पाययेत् । यवक्षारचूर्णं वा सर्पिषा सुखोदकेन वा लवणचूर्णं वा पिप्पल्यादिक्वाथेन पिप्पल्यादिचूर्णं वा सुरामण्डेन वरुणादिक्वाथं वा पञ्चकोलैलाप्रतीवापं पृथक् पर्ण्यादिक्वाथं वा भद्रदारुमरिचसंसृष्टं पुराणगुडं वा त्रिकटुकचतुर्जातककुस्तुम्बुरुमिश्रं खादेदच्छं वा पिबेदरिष्टमिति ॥*॥ अथ बालं क्षौमपरिवृतं क्षौमवस्त्रास्तृतायां शय्यायां शाययेत् । पीलुबदरीनिम्बपरूषकशाखाभिश्चैनं वीजयेत् । मूर्द्ध्नि चास्याहरहस्तैलपिचुमवचारयेत् । धूपयेच्चैनं रक्षोघ्नैर्धूपैः । रक्षोघ्नानि चास्य पाणिपादशिरोग्रीवास्ववसृजेत् । तिलातसीसर्षपकणांश्चात्र प्रकिरेत् । अधिष्ठाने चाग्निं प्रज्वालयेत् । व्रणितोपासनीयञ्चावेक्षेत । ततो दशमेऽहनि मातापितरौ कृतमङ्गलकौतुकौ स्वस्तिवाचनं कृत्वा नाम कुर्य्यातां यदभिप्रेतं नक्षत्रनाम वा ॥*॥ ततो यथावर्णं धात्रीमुपेयान्मध्यमप्रमाणां मध्यमवयसामरोगां शीलवतीमचपलामलोलुपामकृशामस्थूलां प्रसन्नक्षीरामलम्बौष्ठीमलम्बोर्द्ध्वस्तनीमव्यङ्गामव्यसनिनीं जीवद्वत्सां दोग्ध्रीं वत्सलामक्षुद्रकर्म्मिणीं कुले जातामतो भूयिष्ठैश्च गुणैरन्वितां श्यामामारोग्यबलवृद्धये बालस्य । तत्रोर्द्ध्वस्तनी करालं कुर्य्यात् । लम्बस्तनी नासिकामुखं छादयित्वा मरणमापादयेत् । ततः प्रशस्तायां तिथौ शिरःस्नातामहतवाससमुदङ्मुखं शिशुमुपवेश्य धात्रीं प्राङ्मुखीमुपवेश्य दक्षिणं स्तनं धौतमीषत्परिस्रुतमभिमन्त्र्य मन्त्रेणानेन पाययेत् ॥*॥

"चत्वारः सागरास्तुभ्यं स्तनयोः क्षीरवाहिणः ।
भवन्तु सुभगे नित्यं बालस्य बलवृद्धये ॥
पयोऽमृतरसं पीत्वा कुमारस्ते शुभानने ।
दीर्घमायुरवाप्नोतु देवाः प्राश्यामृतं यथा ॥"

अतोऽन्यथा नानास्तन्योपयोगस्यासात्म्याद्व्याधिजन्म भवति । अपरिस्रुतेऽप्यतिस्तब्धस्तन्यपूर्णस्तनपानादुत्क्षुभितस्रोतसः शिशोः कासश्वासवमीप्रादुर्भावः । तस्मादेवं विधानं स्तन्यं न पाययेत् । क्रोधशोकावात्सल्यादिभिश्च स्त्रियाः स्तन्यनाशो भवति ॥*॥ अथास्याः क्षीरजननार्थं सौमनस्यमुत्पाद्य यवगोधूमशालिषष्टिकमांसरससुरासौवीरकपिण्याकलशुनमत्स्य-कसेरुकशृङ्गाटक-विसविदारिकन्द-मधुक-शतावरी-नालिका-लाबूकालशाकप्रभृतीनि विदध्यात् ॥*॥ अथास्याः स्तन्यमप्सु परीक्षेत । तच्चेच्छीतलममलं तनु शङ्खावभासमप्सु न्यस्तमेकीभावं गच्छत्यफेनिलमतन्तुमन्नोत्प्लवते न सीदति वा तच्छुद्धमिति विद्यात्तेन कुमारस्यारोग्यं शरीरोपचयो बलवृद्धिश्च भवति । न च क्षुधितशोकार्त्त-श्रान्तप्रदुष्टधातुगर्भिणीज्वरितातिक्षीणातिस्थूल-विदग्ध-भक्तविरुद्धाहार-तर्पितायाः स्तन्यं पाययेन्नाजीर्णौषधञ्च बालं दोषौषधमलानां तीव्रवेगोत्पत्तिभयात् ॥*॥ भवन्ति चात्र ।

"धात्र्यास्तु गुरुभिर्भोज्यैर्विषमैर्दोषलैस्तथा ।
दोषा देहे प्रकुप्यन्ति ततः स्तन्यं प्रदुष्यति ॥
मिथ्याहारविहारिण्या दुष्टा वातादयः स्त्रियाः ।
दूषयन्ति पयस्तेन शारीरा व्याधयः शिशोः ॥
भवन्ति कुशलस्तांश्च भिषक् सम्यग् विभावयेत् ।
अङ्गप्रत्यङ्गदेशे तु रुजा यत्रास्य जायते ॥
मुहुर्मुहुः स्पृशति तं स्पृश्यमाने च रोदिति ।
निमीलिताक्षो मूर्द्धस्थे शिरोरोगे न धारयेत् ॥
वस्तिस्थे मूत्रसङ्गार्त्तो रुजा तृष्यति मूर्च्छति ।
विण्मूत्रसङ्गवैवर्ण्यच्छर्द्याध्मानान्त्रकूजनैः ।
कोष्ठे दोषान् विजानीयात् सर्व्वत्रस्थांश्च
रोदनैः ॥"

तेषु च यथाभिहितं मृदुच्छेदनीयमौषधं मात्रया क्षीरपस्य क्षीरसर्पिषा धात्र्याश्च केवलमेव विदध्यात् । क्षीरान्नादस्यात्मनि धात्र्याश्चान्नादस्य कषायादीनात्मन्येव न धात्र्याः । तत्र मासादूर्द्ध्वं क्षीरपायाङ्गुलिपर्वद्वयग्रहणसम्मितामौषधमात्रां विदध्यात् कोलास्थिसम्मितां कल्कमात्रां क्षीरान्नादाय कोलसम्मितामन्नादायेति ॥*॥

"येषां गदानां ये योगाः प्रवक्ष्यन्तेऽगदङ्कराः ।
तेषु तत्कल्कसंलिप्तौ पाययेत शिशुं स्तनौ ॥
एकं द्वे त्रीणि चाहानि वातपित्तकफज्वरे ।
स्तन्यपायाहितं सर्पिरितराभ्यां यथार्थतः ॥
न च तृष्णाभयाद्दन्नं पाययेत शिशुं स्तनौ ।
विरेकवस्तिवमनान्यृते कुर्य्याच्च नात्ययात् ॥
मस्तुलुङ्गक्षयाद्यस्य वायुस्तात्वस्थि नामयेत् ।
तस्य तद्वेश्मयुक्तस्य सर्पिर्मधुरकैः शृतम् ॥
पानाभ्यञ्जनयोर्योज्यं शीताम्बुदेजनं तथा ।
वातेनाध्मापितां नाभिं सरुजां तुण्डिसंज्ञिताम् ॥
मारुतघ्नैः प्रशमयेत् स्नेहस्वेदोपनाहनैः ।
गुदपाके तु बालानां पित्तघ्नीं कारयेत् क्रियाम् ।
रसाञ्जनं विशेषेण पानालेपनयोर्हितम् ॥"

क्षीराहाराय सर्पिः पाययेत् सिद्धार्थकवचामांसी-पयस्यापामार्गशतावरीशारिवाब्राह्मीपिप्पलीहरिद्राकुष्ठसैन्धवसिद्धम् । क्षीरान्नादाय मधुकवचापिप्पलीचित्रकत्रिफलासिद्धम् । अन्नादाय द्विपञ्चमूलीक्षीरतगरभद्रदारुमरिचमधुविडङ्गद्राक्षाद्विब्राह्मीसिद्धम् । तेनारोग्यबलमेधायूंषि शिशोर्भवन्ति ॥*॥ बालं पुनर्गात्रसुखं गृह्णीयान्न चैनं तर्जयेत् सहसा न प्रतिबोधयेद्वित्रासभयात् । सहसा नापहरेदुत्क्षिपेद्वा वातादिविघातभयात् । नोपवेशयेत् कौब्जभयान्नित्यं चैनमनुवर्त्तेत प्रियशतैरजिघांसुः । एवमनभिहतमनास्त्वभिवर्द्धते नित्यमुदग्रसत्त्वसम्पन्नो नीरोगः सुप्रसन्नमनाश्च भवति । वातातपविद्युत्प्रभापादपलतादर्शनदीपावलोकनशून्यागारनिम्नस्थानगृहच्छायादिभ्यो दुर्ग्रहोपसर्गतश्च बालं रक्षेत् ॥*॥

"नाशुचौ विसृजेद्बालं नाकाशे विषमे न च ।
नोष्ममारुतवर्षेषु रजोधूमोदकेषु च ॥
क्षीरसात्म्यतया क्षीरमाजं गव्यमथापि वा ।
दद्यादास्तन्यपर्य्याप्तेर्बालानां वीक्ष्य मात्रया ॥"

षण्मासञ्चैनमन्नं प्राशयेल्लघु हितञ्च । नित्यमवरोधरतश्च स्यात् कृतरक्ष उपसर्गभयात् । प्रयत्नतश्च ग्रहोपसर्गेभ्यो रक्ष्या बाला भवन्ति । अथ कुमार उद्विजते त्रस्यति रोदिति नष्टसंज्ञो भवति नखदशनैर्धात्रीमात्मानञ्च परितुदति दन्तान् खादति कूजति जृम्भते भ्रुवौ विक्षिपत्यूर्द्ध्वं निरीक्षते फेनमुद्वमति सन्दष्टौष्ठः क्रूरो भिन्नामवर्च्चा दीनार्त्तस्वरो निशि जागर्त्ति दुर्ब्बलो म्लानाङ्गो मत्स्यच्छुच्छुन्दरीमत्कुणगन्धो यथा पुरा धात्र्याः स्तन्यमभिलषति तथा नाभिलषतीति सामान्येन ग्रहोपसृष्टलक्षणमुक्तं विस्तरेणोत्तरे वक्ष्यामः ॥*॥ शक्तिमन्तञ्चैनं ज्ञात्वा यथावर्णं विद्यां ग्राहयेत् । अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षाय द्वादशवर्षां पत्नीमावहेत् पित्र्यधर्म्मार्थकामप्रजाः प्राप्स्यतीति ॥*॥

"ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम् ।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते ॥
जातो वा न चिरं जीवेत् जीवेद्वा दुर्ब्बलेन्द्रियः ।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् ॥"

अतिवृद्धायां दीर्घरोगिण्यामन्येन वा विकारेणोपसृष्टायां गर्भाधानं नैव कुर्व्वीत । पुरुषस्याप्येवंविधस्य त एव दोषाः संभवन्ति । तत्र पूर्व्वोक्तैः कारणैः पतिष्यति गर्भे गर्भाशयकटीवङ्क्षणवस्तिशूलानि रक्तदर्शनञ्च । तत्र शीतैः परिषेकावगाह-प्रदेहादिभि-रुपचरेज्जीवनीयशृतशीतक्षीरपानैश्च । गर्भस्फुरणे मुहुर्मुहुस्तत्सन्धारणार्थं क्षीरमुत्पलादिसिद्धं पाययेत् । प्रस्रंसमाने सदाहपार्श्वपृष्ठशूलासृग्दरानाहमूत्रसङ्गाः । स्थानात् स्थानञ्चोपक्रामति गर्भे कोष्ठे संरम्भस्तत्र स्निग्धाः शीताः क्रियाः वेदनायां - महासहाक्षुद्रसहामधुकश्वदंष्ट्राकण्टकारिकासिद्धं पयः शर्कराक्षौद्रमिश्रं पाययेत् । मूत्रसङ्गे दर्भादिसिद्धम् । आनाहे हिङ्गुसौवर्च्चललशुनवचासिद्धम् । अत्यर्थं स्रवति रक्ते कोष्ठागारिकागारमृत्तिकासमङ्गाधातकीकुसुमनवमालिकागैरिकसर्ज्जरसरसाञ्जनचूर्णं मधुना-

बलित्वात्। यथालाभं न्यग्रोधादित्वक्प्रवालकल्कं वा पयसा पाययेदुत्पलादिकल्कं वा कशेरुशृङ्गाटकशालूककल्कं वा शृतेन पयसोदुम्बरफलीदककन्दक्वाथेन वा शर्करामधुमधुरेण शालिपिष्टं न्यग्रोधादिस्वरसपरिपीतं वा क्षौमावयवं योन्यां धारयेत्॥*॥ अथाहृतशोणितवेदनायां मधुकदेवदारुपयस्यासिद्धं पयः पाययेत् सदेवाश्मन्तकशतावरीपयस्यासिद्धं विदारिगन्धादिसिद्धं वा बृहतीद्वयोत्पलशतावरीसारिवापयस्यामधुकसिद्धं पयस्यार्कपुष्पीसिद्धं वा पयः पाययेदिति। एवं क्षिप्रसुपक्रान्ताया उपावर्त्तन्ते रुजो गर्भश्चाप्यायते। अवस्थिते च गर्भे गवेरोदुम्बरशलाटुसिद्धेन पयसा भोजयेत्। अतीते लवणस्नेहवर्ज्याभिर्यवागूभिरुद्दालकादीनां पाचनीयोपसंस्कृताभिरुपक्रमेत यावन्तो मासा गर्भस्य तावन्त्यहानि। वस्तुदरसूतेषु पुराणगुडं दीपनीयसंयुक्तं पाययेदरिष्टं वा वातोपद्रवगृहीतत्वात्। स्रोतसां लीयते गर्भः सोऽतिकालमवतिष्ठमानो व्यापद्यते तं स्नुना क्षेत्रादिक्रमेणोपचरेत्। उल्कोशरसः संसिद्धामनल्पस्नेहां यवागूं पाययेत्। माषतिलबिल्वशलाटुसिद्धां वा कुल्माषान् भक्षयेन्मधुमाध्वीकं चानुपिबेत् सप्तरात्रम्। कालातीतस्थायिनि गर्भे विशेषतः सधान्यमुदूखलं मुषलेनाभिहन्यात् विषमे वा यानासने सेवेत। वाताभिपन्न एव शुष्यति गर्भः। स मातुः कुक्षिं न पूरयति मन्दं स्पन्दते च तं बृंहणीयैः पयोभिर्मांसरसैश्चोपचरेत्। शुक्रशोणितं वायुनाभिप्रपन्नमवक्रान्तजीवमाध्मापयत्युदरम्। तत् कदाचित् यदृच्छयोपशान्तं नैगमेयापहृतमिति भाषन्ते। तमेव कदाचित् प्रलीयमानं नागोदरमित्याहुस्तत्रापि लीनवत् प्रतीकारः॥*॥ अत ऊर्द्ध्वं मासानुमासिकं वक्ष्यामः।

"मधुकं शाकबीजञ्च पयस्या सुरदारु च।
अश्मन्तकस्तिलाः कृष्णास्ताम्रवल्ली शतावरी॥
वृक्षादनी पयस्या च लता चोत्पलसारिवा।
अनन्ता सारिवा रास्ना पद्मा मधुकमेव च॥
बृहत्यौ काश्मरी चापि क्षीरिशुङ्गास्त्वचो घृतम्।
पृश्निपर्णी बला शिग्रु श्वदंष्ट्रा मधुपर्णिका॥
शृङ्गाटकं बिसं द्राक्षा कशेरु मधुकं सिताः।
वत्सैते सप्त योगाः स्युरर्द्धश्लोकसमापनाः॥
यथासंख्यं प्रयोक्तव्या गर्भस्रावे पयोयुताः।
कपित्थबृहतीबिल्वपटोलेक्षुनिदिग्धिकाः॥
मूलानि क्षीरसिद्धानि पाययेद्भिषगष्टमे।
नवमे मधुकानन्तापयस्यासारिवाः पिबेत्॥
क्षीरं शुण्ठीपयस्याभ्यां सिद्धं स्याद्दशमे हितम्।
सक्षीरा वा हिता शुण्ठी मधुकं सुरदारु च।
एवमाप्याय्यते गर्भस्तीव्रा रुक् चोपशाम्यति॥"

निवृत्तप्रसवायास्तु पुनः षड्भ्यो वर्षेभ्य ऊर्द्ध्वं प्रसवमानाया नार्य्याः कुमारोऽल्पायुर्भवति॥*॥ अथ गर्भिणीं व्याध्युत्पत्तावत्यये हृद्यैर्मधुराम्लैरन्नैरुपहितैरनुलोमयेत् संशमनीयञ्च मृदु विदध्यादन्नपानयोरशीयाश्च मृदुवीर्य्यं मधुरप्रायं गर्भाविरुद्धञ्च गर्भाविरुद्धाश्च क्रिया यथायोगं विदधीत मृदुप्रायाः॥*॥ भवन्ति चात्र।

"सौवर्णं सुकृतं चूर्णं कुष्ठं मधु घृतञ्च वा।
मत्स्याक्षकः शङ्खपुष्पी मधु सर्पिः सकाञ्चनम्॥
अर्कपुष्पी मधु घृतं चूर्णितं कनकं वचा।
हेमचूर्णानि कैटर्य्यः श्वेता दूर्व्वा घृतं मधु॥
चत्वारोऽभिहिताः प्राशाः श्लोकार्द्धेषु चतुर्ष्वपि।
कुमाराणां वपुर्मेधाबलबुद्धिविवर्द्धनाः॥"

इति सुश्रुत आयुर्व्वेदशास्त्रे तृतीयं शारीरस्थानं समाप्तम्॥ इङ्गरेजीभाषायां एनाटोमीत्युक्तमेतत्॥*॥ शारीरं तपो यथा,—

"देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्ज्जवम्।
ब्रह्मचर्य्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥"

इति भगवद्गीतायाम् १७ अध्यायः॥

शारीरकं, क्ली, (शरीरमेव शारीरं कुत्सितत्वात् तन्निवासी शारीरको जीवस्तमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः। शारीरक+अण्।) वेदव्यासकृतवेदान्तमीमांसासूत्रम्। यथा। तथा च वयमस्यां शारीरकमीमांसायां प्रदर्शयिष्यामः। वेदान्तमीमांसाशास्त्रस्य व्याचिख्यासितस्येदमादिमं सूत्रम्। अथातो ब्रह्मजिज्ञासेति। इति शङ्करभाष्यम्॥ (शरीरमेव शरीरकं तत्र भवम्। शरीरक+अण्। शरीरभवे, त्रि। यथा, भागवते। ३। ३१। १६।

"पञ्चत्वयं धियगाथा नशु सप्तवध्रिः
शारीरके दमशरीर्य्यपरः स्वदेहे॥")

शारीरिकः, त्रि, (शरीर+ठक्।) शरीरसम्बन्धि। तत्पर्य्यायः। काडेवरिकः २ मात्रिकः ३ वापुषिकः ४ सांहननिकः ५ वार्ष्मिकः ६ वैग्रहिकः ७ कायिकः ८ दैहिकः ९ मौर्त्तिकः १० तानविकः ११। इति अमरोक्तशरीरपर्य्यायशब्दात् ष्णिकप्रत्ययेन निष्पन्नमिदम्॥

शारुकः, त्रि, (शृणातीति। शॄ+"लषपतपदस्थेति।" ३। २। १५४। इति उकञ्।) हिंसकः। शृस्थाभूकम गमेत्यादिना उकप्रत्ययेन निष्पन्नमिदम्। इति मुग्धबोधव्याकरणम्॥ (यथा, मुग्धबोधे कारकप्रकरणे।

"दृष्ट्वा दधि शारुकमेतदर्भकान्
उन्नीतवन्तं यतिभिः सुदर्शनम्॥")

शार्कः, पुं, शर्करा। इति शब्दरत्नावली॥

शार्ककः, पुं, दुग्धफेनः। शर्करापिण्डम्। इति मेदिनी॥

शार्करः, पुं, दुग्धफेनः। (शर्कराऽस्त्यत्रेति। शर्करा+"देशे लुबिलचौ च।" ५। २। १०५। इति अण्।) शर्करान्वितदेशः। इति मेदिनी॥ शर्करासम्बन्धिनि, त्रि॥ (शर्करैव। "शर्करादिभ्योऽण्।" ५। ३। १०७। इत्यण्। शर्करासदृशम्॥ इति काशिका॥*॥ "सिकताशर्कराभ्यां च।" ५।२।१०४। इति अणि शर्कराविशिष्टश्च॥ यथा, शार्करं मधु।" इति च काशिका॥)

शार्करकः, } त्रि, शर्कराबहुलदेशः। शर्करा-
शार्करिकः, } शब्दात् कण्प्रत्ययेन ष्णिकप्रत्ययेन च निष्पन्नः॥

शार्करीयः, त्रि, शर्करायुक्तदेशः। शर्कराशब्दात् छीयप्रत्ययेन निष्पन्नमिदम्॥

शार्ङ्गं, क्ली, आर्द्रकम्। इति राजनिर्घण्टः॥ (शृङ्गस्य विकारः। शृङ्ग+अण्।) विष्णुधनुः। धनुर्मात्रम्। इति मेदिनी। गे, २६॥ (यथा, रघुः। ४। ६२।

"शार्ङ्गकूजितविज्ञेयप्रतियोधे रजस्यभूत्॥")

शृङ्गसम्बन्धिनि, त्रि॥

शार्ङ्गष्ठा, स्त्री, महाकरञ्जः। इति राजनिर्घण्टः॥ पुस्तकान्तरे शार्ङ्गेष्टा इति च पाठः॥

शार्ङ्गी, [न्] पुं, (शार्ङ्गमस्यास्तीति। शार्ङ्ग+इनिः।) विष्णुः। इत्यमरः॥ (यथा, रघुः। १२। ७०।

"स सेतुं बन्धयामास प्लवगैर्लवणाम्भसि।
रसातलादिवोन्मग्नं शेषं स्वप्नाय शार्ङ्गिणः॥")

धन्विमात्रम्। इति शार्ङ्गशब्दार्थदर्शनात्॥

शार्द्दूलः, पुं, (शॄ हिंसायाम्+"खर्ज्जिपिञ्जादिभ्य ऊरोलचौ।" उणा० ४। ९०। इति ऊलच् प्रत्ययेन साधुः।) व्याघ्रः। उत्तरपदे श्रेष्ठार्थवाचकः। इत्यमरः॥ राक्षसः। पशुभेदः। स तु शरभः। इति मेदिनी॥ पक्षिविशेषः। इति धरणिः॥ चित्रकः। इति राजनिर्घण्टः॥

शार्द्दूलललितं, क्ली, धृतिवृत्तौ अष्टादशाक्षरपादच्छन्दोविशेषः। यथा,—

"मः सो जःस-त-सा दिनेश ऋतुभिः शार्द्दूलललितम्।
कृत्वा कंसवधे पराक्रमविधिं शार्द्दूलललितं
यश्चक्रे क्षितिभारकारिषु सुराराातिष्वतिद्रवम्।
सन्तोषं परमत्र देवनिवहे त्रैलोक्यशरणं
श्रेयो वः स तनोत्वपारमहिमा लक्ष्मीप्रियतमः॥"

इति छन्दोमञ्जरी २ स्तवकः॥

शार्द्दूलवाहनः, पुं, पञ्चविंशतिपूर्व्वजिनान्तर्गतजिनविशेषः। इति त्रिकाण्डशेषः॥

शार्द्दूलविक्रीडितं, क्ली, अतिधृतिवृत्तौ ऊनविंशतिपादच्छन्दोविशेषः। यथा,—

"सूर्य्याश्वैर्म-स-ज-स्त-ताः सगुरवः शार्द्दूलविक्रीडितम्।
गोविन्दं प्रणमोत्तमाङ्ग रसने त्वं घोषयाहर्निशं
पाणी पूजयतं मनः स्मर पदे तस्यालयं गच्छतम्।
एवञ्चेत् कुरुताखिलं मम हितं शीर्षादयस्तद्ध्रुवं
न प्रेक्षे भवतां कृते भवमहाशार्द्दूलविक्रीडितम्॥"

इति छन्दोमञ्जरी २ स्तवकः॥

शार्व्वरं, क्ली, अन्धतमसम्। घातुके, त्रि। इति मेदिनी॥ (शर्व्वर्य्या इदम्। शर्व्वरी + अण्।) शर्व्वरीसम्बन्धिनि, त्रि॥

शार्व्वरी, स्त्री, रात्रिः। इत्यमरटीकायां भरतधृतवाचस्पतिः॥

शाल, ङ श्ल कत्थने। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-आत्म०-सक०-सेट्।) कत्थने प्रशंसायाम्। ङ, शालते गुणिनं गुणी। श्ल, अशशालत्। इति दुर्गादासः॥

शालः, पुं, (शाल्यते प्रशंस्यते इति। शाल + घञ्।) मत्स्यभेदः। गजाड़ इति ख्यातः। प्राकारः। वृक्षविशेषः। तत्पर्य्यायः। सर्जः २ कार्श्यः ३ अश्वकर्णकः ४ शस्यसम्बरः ५। इत्यमरः॥ शकुवृक्षः ६। इति रत्नमाला॥ नद्भेदः। इति शब्दरत्नावली॥ शालनृपः। स तु शालिवाहनराजः। इति विश्वः॥ वृक्षमात्रम्। इति राजनिर्घण्टः॥*॥ शालो झसे धीवर एव दाश इत्युभेदात्तालव्यादिः। दन्त्यादिश्च। कैवर्त्त इव बहुराजीवोत्पलसालो वसन्तकाल आजगाम। इति वासवदत्तश्लेषात्। कैवर्त्तपक्षे सालो मत्स्यविशेषः। वसन्तपक्षे सालस्य पुष्पं सालम्। इति भरतः॥

शालग्रामः, पुं, विष्णुमूर्त्तिविशेषः। स च गण्डक्युद्भववज्रकीटकृतचक्रयुक्तशिला द्वारकोद्भवताहशशिला च। तस्य माहात्म्यलक्षणादि यथा,—

"प्रसङ्गात् कथयिष्यामि शालग्रामशिलार्च्चनम्।
निष्कामो मुक्तिमाप्नोति मूर्त्तिं ध्यायन् स्तुवन् जपन्॥
शङ्खचक्रगदापद्मं केशवाख्यो गदाधरः।
साब्जकौमोदकीचक्रशङ्खी नारायणो विभुः॥
स च शङ्खाब्जपद्मो माधवः श्रीगदाधरः।
गदाब्जशङ्खचक्री वा गोविन्दाख्यो गदाधरः॥
पद्मशङ्खादिगदिने विष्णुशङ्खाय वै नमः।
सशङ्खाब्जगदाचक्रमधुसूदनमूर्त्तये॥
नमो गदासिचक्राब्जयुक्तत्रैविक्रमाय च।
सासिकौमोदकीपद्मशङ्खवामनमूर्त्तये॥
शङ्खाब्जचक्रगदिने नमः श्रीधरमूर्त्तये।
हृषीकेश सासिगदाशङ्खपद्मिन्नमोऽस्तु ते॥
साब्जशङ्खगदाचक्रपद्मनाभस्वरूपिणे।
दामोदर शङ्खगदाचक्रपद्मिन्नमोऽस्तु ते॥
सासिशङ्खगदाब्जाय वासुदेव नमो नमः।
शङ्खाब्जचक्रगदिने हमः सङ्कर्षणाय च॥
शङ्खचक्रगदाब्जाय धृतप्रद्युम्नमूर्त्तये।
नमोऽनिरुद्धाय गदाशङ्खाब्जवरधारिणे॥
साब्जशङ्खगदाचक्रपुरुषोत्तममूर्त्तये।
नमोऽधोक्षजरूपाय गदाशङ्खविधारिणे॥
नृसिंहमूर्त्तये पद्मगदाशङ्खविधारिणे।
पद्मासिशङ्खगदिने नमोऽस्त्वच्युतमूर्त्तये॥
सशङ्खचक्राब्जगदं जनार्द्दनमिहो नमः।
उपेन्द्रं गदिनं सासिपद्मशङ्ख नमोऽस्तु ते॥
सचक्राब्जगदाशङ्खयुक्ताय हरिमूर्त्तये।
सगदाब्जासिशङ्खाय नमः श्रीकृष्णमूर्त्तये॥
शालग्रामशिलाद्वारगतलग्नद्विचक्रधृक्।
शुक्लाभाख्यश्च योऽव्याद्वः सदैव श्रीगदाधरः॥
लग्नद्विचक्रो चक्राभः पूर्व्वभागस्तु पुष्कलः।
सङ्कर्षणोऽथ प्रद्युम्नः सूक्ष्मचक्रस्तु पीतकः॥
स दीर्घः स शिरश्छिद्रो योऽनिरुद्धस्तु वर्त्तुलः।
नानाद्वारङ्किरेखश्च अथ नारायणोऽसितः॥
मध्ये गदाकृता रेखा नाभिपद्ममहोन्नतः।
पृथुचक्रो नृसिंहो वः कपिलोऽव्यात्त्रिबिन्दुकः॥
अथवा पञ्चबिन्दुस्तत्पूजनं ब्रह्मचारिणः।
वराहशक्तिलिङ्गोऽव्याद्विषमद्वयचक्रकः॥
नीलस्त्रिरेखः स्थूलोऽथ कूर्म्ममूर्त्तिः सबिन्दुमान्।
कृष्णः सवर्त्तुलावर्त्तः पातुनोन्नतपृष्ठकः॥
श्रीधरः पञ्चरेखोऽव्याद्वनमालागदाङ्कितः।
वामनो वर्त्तुलो नाम वामचक्रः सुरेश्वरः॥
नानावर्णोऽनेकमूर्त्तिर्नागभोगी त्वनन्तकः।
स्थूलो दामोदरो नीलो मध्ये चक्रः सुनीलकः॥
संकीर्णद्वारको योऽव्यादथ ब्रह्मा सुमोहितः।
सदीर्घरेखा शुषिर एकचक्राम्बुजः पृथुः॥
प्रथुच्छिद्रः स्थूलचक्रः कृष्णोऽबिन्दुश्च बिन्दुमत्।
हयग्रीवोऽङ्कुशाकारः पञ्चरेखः समन्ततः॥
वैकुण्ठोऽमलवद्भाति एकचक्राम्बकोऽसितः।
मत्स्यो दीर्घाम्बुजाकारो द्वाररेखस्तु पाकरः॥
वामचक्रो दक्षरेखः श्यामो योऽव्यात्त्रिविक्रमः।
शालग्रामे द्वारकायां स्थिताय गदिने नमः॥
एकेन लक्षितो योऽव्याद्गदाधारी सुदर्शनः।
लक्ष्मीनारायणो द्वाभ्यां त्रिभिस्तु त्रिविक्रमः॥
चतुर्भिश्च चतुर्व्यूहो वासुदेवश्च पञ्चभिः।
प्रद्युम्नः षड्भिरेवाथात् सङ्कर्षण इतः स्तुनः॥
पुरुषोत्तमोऽष्टभिः स्यान्न नवव्यूहो नवाङ्कितः।
दशावतारो दशभिरनिरुद्धोऽवताद्दय।
द्वादशात्मा द्वादशभिरत ऊर्द्ध्वं त्वनन्तकः॥"

इति पाद्मे पातालखण्डे १० अध्यायः॥

अपि च।

ईश्वर उवाच।

"शालग्रामे मणौ यन्त्रे मण्डले प्रतिमासु च।
नित्यन्तु श्रीहरेः पूजा केवलेन जलेन तु॥
गण्डक्यामेकदेशे तु शालग्रामस्थलं महत्।
पाषाणान्तर्भवं यत्तत् शालग्राममिति स्मृतम्॥
शालग्रामशिलास्पर्शात् कोटिजन्माघनाशनम्।
किं पुनर्ज्जननं तत्र हरेः सान्निध्यकारणम्॥
शालग्रामैकयजनात् शतलिङ्गफलं लभेत्।
बहुभिर्जन्मभिः पुण्यैर्यदि कृष्णशिलां लभेत्॥
गोष्पदेन च चिह्नेन तेन वै जायते नरः।
आदौ शिलां परीक्षेत स्निग्धां श्रेष्ठां च मेचकाम्॥
अकृष्णा मध्यमा प्रोक्ता मिश्रा मिश्रफलप्रदा।
सर्व्वकामप्रदा सौम्या कराला भयदुःखदा॥
स्निग्धा च श्रीकरी नित्यं रूक्षा दारिद्र्यदायिका।
सूक्ष्मा सूक्ष्मफला प्रोक्ता स्थूला स्थूलफलप्रदा॥
यदा काष्ठे स्थितो वह्निर्मन्थने च प्रकाशते।
यथा तथा हरिर्व्यापी शालग्रामे प्रकाशते॥
प्रत्यहं द्वादश शिलाः शालग्रामस्य योऽर्च्चयेत्।
द्वारवत्याः शिलायुक्ताः स वैकुण्ठे महीयते॥
शालग्रामशिलायान्तु शङ्करं लभते नरः।
पितरस्तस्य तिष्ठन्ति तृप्ताः कल्पान्तरं दिवि॥
शालग्रामशिला यत्र यत्र द्वारवतीशिला।
मृते विष्णुपुरं याति कृतार्थं योजनत्रयम्॥
जपपूजा च होमश्च सर्व्वं कोटिगुणं भवेत्।
मनस्कामः सदाभीष्टं क्रोशमात्रं समन्ततः॥
कीकटेऽपि मृतो याति वैकुण्ठभवनं नरः।
शालग्रामशिलायां यो मूल्यमुत्पादयेन्नरः॥
विक्रेता चानुमन्ता च यः परीक्षानुमोदकः।
सर्व्वे ते नरकं यान्ति यावदाभूतसंप्लवम्।
अतस्त्वं वर्ज्जयेद्देवि! हरिविक्रयणक्रयम्।
शालग्रामोद्भवो देवो यो देवो द्वारकोद्भवः।
उभयोः सङ्गमो यत्र मुक्तिस्तत्र न संशयः॥
द्वारकोद्भवः शुक्लश्च बहुचक्रेण चिह्नितः।
चक्रमासीत् शिवाकारचित्स्वरूपनिरञ्जनम्॥
नमोऽस्त्वोङ्काररूपाय सदानन्दस्वरूपिणे।
शालग्रामे महाभाग भक्तस्यानुग्रहं कुरु।
तथा श्रुतस्य धर्म्मस्य रूपणस्तस्य मे प्रभो॥"

इति तत्रैव ११ अध्यायः॥

अपरञ्च।

ब्राह्मण उवाच।

"गण्डकीयं नदी राजन्! सुरासुरनिषेविता।
पुण्योदकपरीवाहैर्हृतपातकसञ्चया॥
दर्शनान्मानसं पापं स्पर्शनात् कर्म्मजं दहेत्।
वाचिकं स्वीयतोयस्य पानतः पापसञ्चयम्॥
पुरा दृष्टाः प्रजानाथः प्रजाः सर्व्वा विपाप्मनः।
स्वगण्डाङ्किपुषोऽनेकपापघ्नीं सृष्टवानिमाम्॥
एतां नदीं ये पुण्योदां स्पृशन्ति सुतरङ्गिणीम्।
ते गर्भभाजो नैव स्युरपि पापकृतो नराः॥
तस्यां भवा ये चाश्मानश्चक्रचिह्नैरलङ्कृताः।
ते साक्षाद्भगवन्तो हि स्वस्वरूपधराः पराः॥
शिलाः संपूजयेद्यस्तु नित्यं चक्रयुताः सदा।
न जातुचिज्जनन्या वै जठरं समुपाविशेत्॥
पूजयेद् यो नरो धीमान् शालग्रामशिलां वराम्।
तेनाचारवता भाव्यं दम्भमोहवियोगिना॥
परदारपरद्रव्यविमुखेन नरेण च।
पूजनीयः प्रयत्नेन शालग्रामः सचक्रकः॥
द्वारवत्या भवं चक्रं शिला वै गण्डकीभवा।
पुंसां क्षणाद्धरन्त्येव पापं जन्मशतार्ज्जितम्॥
अपि पापसहस्राणां कर्त्ता तावन्नरो भवेत्।
शालग्रामशिला आपः पीत्वा पूयेत तत्क्षणात्॥
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वेदपथे स्थितः।
शालग्रामं पूजयित्वा गृहस्थो मोक्षमाप्नुयात्॥
न कदाचित् स्त्रिया कार्य्यं शालग्रामस्य पूजनम्।
भर्त्तृहीनाथ सुभगा सर्व्वलोकहितैषया॥
मोहात् स्पृशेत महिला जन्मशीलगुणान्विता।
हित्वा पुण्यसमूहन्तु सत्वरं नरकं व्रजेत्॥
स्त्रीपाणिमुक्तपुष्पाणि शालग्रामशिलोपरि।

परैरधिकपापानि वदन्ति ब्राह्मणोत्तमाः ॥
चन्दनं विषपङ्काभं कुङ्कुमं वज्रसन्निभम् ।
नैवेद्यं कालकूटाभं भवेद्भगवतः क्षतम् ॥
तस्मात् सर्व्वात्मना त्याज्यः स्त्रियाः स्पर्शः शिलोपरि ।
कुर्व्वती याति नरकं यावदिन्द्राश्चतुर्दश ॥ * ॥
अपि पापसमाचारो ब्रह्महत्यायुतोऽपि वा ।
शालग्रामशिलातोयं पीत्वा याति परां गतिम् ॥
तुलसी चन्दनं चक्रं शङ्खो घण्टाथ चक्रकम् ।
शिला ताम्रस्य पात्रन्तु विष्णोर्नाम पदाम्बुतम् ॥
पदाम्बुतन्तु नवभिः पापराशिप्रदाहकम् ।
वदन्ति मुनयः शान्ताः सर्व्वशास्त्रार्थकोविदाः ॥
सर्व्वतीर्थपरिस्नानात् सर्व्वक्रतुसमर्च्चनात् ।
पुण्यं भवति यद्राजन् विन्दौ विन्दौ तदद्भुतम् ॥
शालग्रामशिला यत्र पूज्यते पुरुषोत्तमैः ।
तत्र योजनमात्रन्तु तीर्थकोटिसमन्वितम् ॥ * ॥
शालग्रामाः समाः पूज्याः समेषु द्वितयं न हि ।
विषमा एव पूज्या वै विषमेषु त्रयं न हि ॥
द्वारवतीभवं चक्रं तथा वै गण्डकीभवम् ।
उभयोः सङ्गमो यत्र तत्र गङ्गा समुद्रगा ॥
रूक्षाः कुर्व्वन्ति पुरुषान् आयुःश्रीभिर्विवर्ज्जितान् ।
तस्मात् स्निग्धा मनोहारिरूपेण ददति श्रियम् ॥
आयुष्कामो नरो यस्तु धनकामोऽपि यः पुमान् ।
पूजयन् सर्व्वमाप्नोति पापं लौकिकमैहिकम् ॥
प्राणान्तकाले तु यस्य भवेद्भाग्यवलान्नृप ।
वाचि नाम हरेः पुण्यं शिलाक्षतिस्तदन्तिके ॥
गच्छतस्तु प्राणमार्गेषु यस्य विश्रम्भतोऽपि चेत् ।
शालग्रामशिलामूर्त्तिस्तदा मुक्तिर्न संशयः ॥
पुरा भगवता प्रोक्तमम्बरीषाय धीमते ।
ब्राह्मणो न्यासिनो भक्ताः शालग्रामशिला मम ॥
स्वरूपत्रितयं मह्यमेतद्धि क्षितिमण्डले ।
पापिनां पापनिर्व्वारं कर्त्तुं धृतमुदञ्चताम् ॥
निन्दन्ति पापिनो ये वा शालग्रामशिलां सकृत् ।
कुम्भीपाके पचन्त्याशु यावदाभूतसंप्लवम् ॥
पूजां समुद्यतं कर्त्तुं यो वारयति मूढधीः ।
तस्य माता पिता बन्धुः सर्व्वे नरकगामिनः ॥
यो वै कथयति श्रेष्ठं शालग्रामार्च्चनं कुरु ।
स कृतार्थो नयत्याशु वैकुण्ठं स्वन्तु पूर्व्वजैः ॥”
इति च तत्रैव २० अध्यायः ॥ * ॥

अन्यच्च ।

श्रीईश्वर उवाच ।

“शालग्रामशिलायान्तु त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
सदा वसति तेनात्र विष्णुस्तिष्ठति सर्व्वदा ॥
शालग्रामशिलापूजां प्रकुरुष्व षडानन ।
गङ्गामिव महापुण्यां चतुर्व्वर्गफलप्रदाम् ॥
हृष्टेन मनसा येन स्थापिता पूजिता तथा ।
यज्ञकोटिसमं पुण्यं आशु तस्मै प्रयच्छति ॥
छिन्नस्तेन महासेन गर्भवासः सुदारुणः ।
पीतं येन सदा विष्णोः शालग्रामशिलाजलम् ॥
कामासक्तोऽपि यो नित्यं भक्तिभावविवर्ज्जितः ।
शालग्रामशिलां पश्येत् तस्य पापक्षयो भवेत् ॥
शालग्रामशिला विप्र हत्याकोटिविनाशिनी ।
स्तुता संकीर्त्तिता ध्याता पूजिता च नमस्कृता ॥
शालग्रामशिलां दृष्ट्वा यान्ति पापानि देहिनाम् ।
सिंहं दृष्ट्वा यथा यान्ति वने मृगगणा भयात् ॥
नमस्कृत्वा तु यः कुर्य्यात् शालग्रामशिलार्च्चनम् ।
भक्त्या वा यदि वाभक्त्या स मुक्तिं समवाप्नुयात् ॥
यः सेवां कुरुते नित्यं शालग्रामशिलाग्रतः ।
वैवस्वताद्भयं तस्य न स्यान्मरणजन्मनी ॥
शालग्रामशिलाचक्रं पयोदधिघृतादिकैः ।
यः स्नापयति नूनं स कल्पकोटिं वसेद्दिवि ॥
शालग्रामे नमस्कारो भावेनापि च यैः कृतः ।
मानवाः किं करिष्यन्ति मद्भक्त्या ते महीतले ॥
मद्भक्तिरवदर्पिष्ठा मत्प्रभुं न नमन्ति ये ।
वैष्णवास्ते न विज्ञेया मद्भक्ताः पापमोहिताः ।
शालग्रामशिला यत्र तत्र पुत्र वसाम्यहम् ॥
पूजितोऽहं न तैर्मर्त्यैः स्थापितश्च न तैर्नरैः ।
न कृतं मर्त्यलोके यैः शालग्रामशिलार्च्चनम् ॥
किमर्च्चितैर्लिङ्गशतैर्विष्णुभक्तिबहिष्कृतैः ।
शालग्रामशिलाचक्रं नार्च्चितं यदि पुत्रक ॥
जन्मकोटिसहस्रेण पूजिते मयि यत् फलम् ।
तत् फलं समवाप्नोति शालग्रामशिलार्च्चनात् ॥
अनर्हं मम नैवेद्यं पत्रं पुष्पं फलं जलम् ।
शालग्रामशिलास्पृष्टं सर्व्वं याति पवित्रताम् ॥
नैवेद्यं मे न भोक्तव्यं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ।
भुक्त्वा केशवनैवेद्यं कोटिभक्तिफलं लभेत् ॥
सकृदभ्यर्च्चितो विष्णुः शालग्रामशिलास्थितः ।
ददाति विपुलां मुक्तिं सर्व्वसङ्गविवर्ज्जिताम् ॥
मल्लिङ्गकोटिभिर्दृष्टैर्यत् फलं पूजितैः स्तुतैः ।
तत्फलं समवाप्नोति शालग्रामैकपूजनात् ॥
शालग्रामशिलाचक्रं यो विद्वान् पश्यति ध्रुवम् ।
अर्च्चयेद्वापो नित्यं तस्य पुण्यं निबोध मे ॥
कोटिलिङ्गसहस्रैर्यत् पूजितैर्जाह्नवीतटे ।
काशीवासाद्युगान्यष्टौ दिनेनैकेन तद्भवेत् ॥
तस्माद्भक्त्यैव मद्भक्तैः प्रीत्यर्थं मम पुत्रक ।
कर्त्तव्यं सर्व्वदा मर्त्यैः शालग्रामशिलार्च्चनम् ॥
शालग्रामशिलारूपी यत्र तिष्ठति केशवः ।
तत्र देवाः सुरा यक्षा भुवनानि चतुर्द्दश ॥
शालग्रामशिलाग्रे यैः सकृच्छ्राद्धं कृतं भवेत् ।
वसन्ति पितरस्तेषां विष्णुलोके न संशयः ॥
ये पिबन्ति नरा नित्यं शालग्रामशिलाजलम् ।
पञ्चगव्यसहस्रैस्तु प्राशितैः किं प्रयोजनम् ॥
प्रायश्चित्ते समुत्पन्ने किं दानैः किमुपोषणैः ।
चान्द्रायणैः किं हि ताद्दक् पीत्वा पादोदकं शुचिः ॥”

इति पाद्मे उत्तरखण्डे १२७ अध्यायः ॥ * ॥

कलेर्दशसहस्रवर्षानन्तरं स च भारतं त्यक्त्वा यास्यति । यथा,—

“शालग्रामो हरेर्म्मूर्त्तिर्जगन्नाथश्च भारतम् ।
कलेर्दशसहस्रान्ते ययौ त्यक्त्वा हरेः पदम् ॥”
इति ब्रह्मवैवर्त्ते प्रकृतिखण्डे ६ अध्यायः ॥ * ॥

तस्योत्पत्तिलक्षणादि यथा,—

“शालग्रामसमुत्पत्तिं शृण्वन्तु परमाद्भुताम् ।
गण्डक्या प्राक् तपस्तप्तं भवन्तु मम देवताः ॥
सर्व्वाः पुत्राः सुखं दातुं जनानामिति ते सुराः ।
तस्यास्तु तपसा तुष्टा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ॥
वरं दातुं समुद्युक्ता वव्रे सा स्वस्य पुत्रताम् ।
अशक्तास्तं वरं दातुं तदा शशापत्या क्रुधा ॥
प्रतार्य्य मम सुराः कृतं यस्मात् पुनः पुनः ।
कीटयोनिं प्रपद्येथाः क्रुद्धास्ते ह्यशपंश्च ताम् ॥
अविचार्य्य वयं शप्तास्त्वया यत्तपसोद्धताः ।
तेन कर्म्मविपाकेन जड़ा त्वया नदी भव ॥
अन्योन्यशापं श्रुत्वेत्थं महान् कोलाहलोऽभवत् ।
प्रकम्पिताः सुराः सा च ब्रह्माद्यन्ते व्यजिज्ञपत् ॥
ब्रह्मन् त्राहि महाशापादन्योन्यपतितात् क्रुधा ।
इति देववचः श्रुत्वा ब्रह्मा शङ्करमब्रवीत् ॥
शिवः प्रोवाच धातारमहं संहारकारकः ।
त्वं सृष्टिकर्त्ता विष्णुस्तु पालको बुद्धिमत्तरः ॥
स प्रष्टव्यो यथासत्त्वमुभयोः सम्भवेदिति ।
इति माहेश्वरं श्रुत्वा वचनं विष्णुरब्रवीत् ॥
शृणु ब्रह्मन् महादेव शृणु देव गजानन ।
मद्वचौ ब्राह्मणौ याहमातङ्गौ शापतोऽत्र तु ॥
भविष्यतस्तयोर्म्मोक्षं भविष्यामि कलेवरम् ।
शीर्णं भविष्यति यदा तस्मिन्दोमण्डसम्भवाः ॥
पाषाणान्तर्गता कीटा वज्रास्या प्रभविष्यथ ।
अत्रैव गण्डकी पुण्या गङ्गातुल्या महानदी ॥
गण्डक्यां गिरिराजस्य दक्षिणे दशयोजनम् ।
विस्तीर्णं तन्मधु चत्रं पुण्यक्षेत्रं महीतले ।
चक्रतीर्थमिति ख्यातं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥
शालग्रामगता देवा देवोद्धारावतीगतः ।
उभयोः सङ्गमो यत्र मुक्तिस्तत्र न संशयः ॥
सर्व्वदेवप्रीतिकरा भुक्तिमुक्तिप्रदायिनी ।
भवन्तस्तास्तु पाषाणा ये तदन्तर्गता सुराः ॥
प्रार्थितं स्वं विना सर्व्वे वज्रकीटा भवन्त्विति ।
अनेनैव तु गण्डक्याः पुत्रत्वं भवतामपि ॥
भविष्यति तदन्तश्च चिह्नं तद्दैवतोद्भवम् ।
विज्ञाय येऽर्च्चयिष्यन्ति सा प्रीता तस्य देवता ॥
न यन्त्रस्य न मूर्त्तेश्च न द्रव्यस्यापि पूजनात् ।
सन्तोषो जायते तेषां गण्डक्यां मार्च्चनाद्यथा ॥
इति विष्णुवचः श्रुत्वा ब्रह्मा वचनमब्रवीत् ॥ * ॥
कीदृक् पूज्या शिला विष्णोः किञ्चिह्ना कस्य वल्लभा ।
किं फलं चाधिकारी च केन मार्गेण तद्वद ॥
इति ब्रह्मवचः श्रुत्वा विष्णुर्व्वचनमब्रवीत् ।
स्नीग्धवर्णा शिला पूज्या ब्राह्मणाद्यैः सुखाप्तये ॥
स्निग्धा शिला मन्त्रसिद्धिं रूक्षा सिद्धिं करोति च ।
मेचका कीर्त्तिता शीताङ्गारवत् सा यशोहरा ॥
पाण्डु रूपार्थशमनी मलिना पापधीकरा ।
पीता पुत्रफलं दद्यादारवर्णा सुतान् हरेत् ॥
नीला संदिशते लक्ष्मीं धूमाभा हरते मतिम् ।
रोगप्रदा रक्तवर्णा सिन्दूराभा महाकलिम् ॥
दारिद्रकारिणी वक्रा समा सर्व्वार्थसाधिका ।

स्थूला निहन्ति चैवायुः सूक्ष्मा स्वल्पमतिं हरेत् ।
पूजाफलं लाञ्छितया निष्फलं लाञ्छनं विना ।
कपिला चित्तवैकल्यं नेत्ररोगञ्च कर्व्वुरा ॥
भग्ना भङ्गकरी ज्ञेया बहुचक्रापमानताम् ।
लग्नाग्रान्तरहीना च देवचक्रा वियोगताम् ॥
बृहन्मुखी कलहग्नी बृहच्चक्रा सुतान् हरेत् ।
संलग्नचक्रा त्वसुखं बद्धचक्रा महाभयम् ॥
भग्नचक्रा तु दारिद्र्यं सर्व्वनाशं त्वधोमुखी ।
कुष्ठादिकं व्यालमुखी विषमा विविधापदम् ॥
विकृतावर्त्तनाभिश्च विकारान् कुरुते बहून् ।
वंशच्छेदो गृहस्थानां नारसिंही प्रजायते ॥
रेखाश्री दुःखदात्री च यथा सूक्ष्मा तथा सुखम् ।
यथा स्निग्धास्तथा लक्ष्मीस्तद्विभेदाहतः शृणु ॥
लक्ष्मीहरिः स विज्ञेयो यत्र पद्मं सचक्रकम् ।
केवला वनमाला वा गृहस्थानामभीष्टदः ॥१॥
वासुदेवः स विज्ञेयो यद्द्वारं चक्रयुग्मकम् ।
निरन्तरं समं चापि स श्वेतः पापनाशनः ॥२॥
सङ्कर्षणः स विज्ञेयः प्राक् पश्चाच्चक्रयुग्मकम् ।
संलग्नपूर्व्वभागस्थं महद्रक्तः सुशोभनः ॥ ३ ॥
प्रद्युम्नः सूक्ष्मचक्रः स्याच्छिद्रं दीर्घं विचित्रितम् ।
सुस्थिरान्तर्व्वहिश्छिद्रं पीत इष्टप्रदायकः ॥४॥
अनिरुद्धस्तु नीलाभो वर्त्तुलश्चातिशोभनः ।
रेखाद्वयन्तु तद्द्वारि पृष्ठं पद्मेन लाञ्छितम् ॥५॥
केशवः स तु विज्ञेयस्त्वेकं वा द्वयमेव वा ।
प्राग्वा पश्चाच्च चक्रं स्यात् चतुष्कोणः स भाग्यकृत् ॥ ६ ॥
नारायणः श्यामवर्णः नाभौ चक्रं तथोन्नतम् ।
दीर्घरेखासमायुक्तं दक्षिणे शुषिरं पृथु ॥७॥
हरिरूपा शिला सा स्याद्यस्या ऊर्द्धं मुखं भवेत् ।
हरिवद्दृश्यते द्वारं भुक्तिमुक्तिप्रदा तु सा ॥८॥
परमेष्ठी स विज्ञेयः पद्मचक्रान्वितस्तु यः ।
बिल्वाकृतिश्च शुक्लाभः पृष्ठे च शुषिरं महत् ॥९॥
विष्णुस्तु कृष्णवर्णः स्यात् स्थूलचक्रे सुशोभने ।
द्वारोपरि तथा रेखा दृश्यते मध्यदेशतः ॥१०॥
नारसिंहस्तु कपिलः पृथुचक्रो बृहन्मुखः ।
त्रयो वा पञ्च वा तत्र बिन्दवो गृहिणां न सत् ॥ ११ ॥
कपिलो नरसिंहस्तु गुड़लाक्षानिभो भवेत् ।
स्थूलचक्रद्वयं मध्ये द्वारे रेखा सुशोभना ॥१२॥
महानृसिंहो विज्ञेयः पूर्व्वोक्तैर्लक्षणैर्युतः ।
रेखाश्च केशराकारा मुखं दीर्घं भयानकम् ॥१३
लक्ष्मीनृसिंहो विज्ञेयश्चतुश्चक्रः सविन्दुकः ।
पूर्व्वोक्तलक्षणैर्युक्तो वनमालाविराजितः ॥१४॥
वराहोऽसौ शक्तिलिङ्गे चक्रे च विषमे तथा ।
इन्द्रनीलनिभः स्थूलस्त्रिरेखालाञ्छितो भवेत्॥१५
पृथ्वीवाराहनाम्नी सा या वराहाकृतिः शिला ।
कामुका चैव रेखैका नतराज्यप्रदायिका ॥१६॥
मत्स्याख्या सा शिला ज्ञेया बिन्दुत्रयविभूषिता ।
कांस्याकारा स्वर्णनिभा दीर्घा सा भुक्तिमुक्तिदा ॥१७॥
कूर्म्माख्या तु शिला पृष्ठे वर्त्तुला चोन्नता भवेत् ।
हरितं वर्णमाधत्ते कौस्तुभेन च चिह्निता ॥
शिलाकूर्म्मः स विज्ञेयः कूर्म्माकारस्तु यो भवेत् ।
चक्राङ्किता तथा वृत्ता पूजिता सा पदप्रदा ॥१८
हयग्रीवोऽङ्कुशाकारा रेखा चक्रा समीपगा ।
बहुविन्दुसमायुक्तं पृष्ठं नीरदनीलकम् ॥ १९ ॥
ज्ञेयः सौम्यहयग्रीवो हयग्रीवासमा शिला ।
दीर्घया लेखया युक्ता रेखा वा ताडशी भवेत् ॥ २० ॥
हयग्रीवः स विज्ञेयो मुखं यस्य हयाकृति ।
पद्माकृति भवेद्वापि साक्षमालं शिरस्तथा ॥२१
वैकुण्ठस्तिलवर्णाभश्चक्रमेकं तथा ध्वजम् ।
द्वारोपरि तथा रेखा पुष्पाकारा सुशोभना ॥२२
श्रीधरस्तु तथा देवश्चिह्नितो वनमालया ।
कदम्बकुसुमाकाररेखापञ्चकभूषितः ॥ २३ ॥
वामनः स तु विज्ञेयो योऽतिह्रस्वश्च वर्त्तुलः ।
अतसीकुसुमप्रख्यो बिन्दुना परिशोभितः ॥२४॥
दधिवामननामा तु ऊर्द्धाधश्चक्रसंयुतः ।
महाद्युतिरतिह्रस्वः सुभिन्नः क्षेमदायकः ॥२५॥
सुदर्शनस्तथा देवः श्यामवर्णो महाद्युतिः ।
वामपार्श्वे तथा चक्रं रेखैकैव तु दक्षिणे ॥२६॥
सहस्रार्ज्जुननामासौ नानारेखामयो भवेत् ।
चक्राकारा यन्त्रपङ्क्तिः स नष्टधनदायकः॥२७॥
स्थूलो दामोदरो यस्य मध्ये चक्रं प्रतिष्ठितम् ।
दूर्व्वाभं द्वारसङ्कीर्णः पीतरेखा धनप्रदः ॥२८॥
राधादामोदरो ज्ञेय ऊर्द्धाधश्चक्रवर्त्तुलम् ।
नातिदीर्घमुखं मध्ये लम्बरेखा स भोगदः ॥२९॥
दामोदरः स विज्ञेयो यश्चक्रद्वयलाञ्छितः ।
सूक्ष्मं भवेच्च विवरं पूजितः सुखदः सदा ॥३०॥
अनन्तो बहुवर्णः स्यान्नागभोगेन चिह्नितः ।
अनेकचक्रसंभिन्नः सर्व्वकामफलप्रदः ॥ ३१ ॥
पुरुषोत्तमनामासौ यस्य दिक्षु विदिक्षु च ।
ऊर्द्धान्याख्यानि दृश्यन्ते पुरुषार्थफलप्रदः ॥३२॥
योगेश्वरः स विज्ञेयो लिङ्गं यस्य शिरोगतम् ।
ब्रह्महत्यादिपापानां नाशको योगसिद्धिदः ॥३३
पद्मनाभस्तथा रक्तः पङ्कजच्छत्रसंयुतः ।
तुलस्या पूजितो नित्यं दरिद्रस्त्वीश्वरो भवेत् ॥३४
रश्मिज्वालो हिरण्याभश्चन्द्राभः स्फटिकोपमः ।
अथवा आयते नानास्वर्णरेखाभिरन्वितः ॥३५॥
गरुड़ः स तु विज्ञेयो मध्ये पञ्चद्वयान्विते ।
सुदीर्घा दृश्यते रेखा स सर्पविषनाशकः ॥३६॥
जनार्द्दनः स विज्ञेयः केवलानि स्फुटानि च ।
यस्योदरे तु चक्राणि चत्वारि पिष्टपिष्टकत् ॥३७
लक्ष्मीनारायणो ज्ञेयो वनमालाङ्कितोदरः ।
सूक्ष्मद्वारश्चतुश्चक्री भुक्तिमुक्तिप्रदायकः ॥३८॥
हृषीकेशः स विज्ञेयो योऽर्द्धचन्द्राकृतिर्भवेत् ।
तमभ्यर्च्य लभेत् स्वर्गं विषयांश्च समीहितान् ॥ ३९ ॥
लक्ष्मीनरहरिर्ज्ञेयः कृष्णवर्णः सविन्दुकः ।
वामपार्श्वे समे चक्रे गृहस्थाभीष्टदायकः ॥४०॥
त्रिविक्रमस्तु विज्ञेयः श्यामवर्णो महाद्युतिः ।
वामपार्श्वे चक्रयुग्ममेकरेखा तु दक्षिणे ॥४१॥
कृष्णो ज्ञेयः शिला कृष्णा सचक्रा वा विचक्रिका ।
प्रदक्षिणावर्त्तकृतवनमालाविभूषिता ॥ ४२ ॥
चतुर्म्मुखः स विज्ञेयो द्वे चक्रे मध्यदेशतः ।
चलस्थः पार्श्वगा रेखा वेदशास्त्रागमप्रदः ॥४३॥
विष्णोर्भेदा इमे प्रोक्ता अत्रैवावाहयेद्धरिम् ।
विसर्ज्जयेच्च पूजान्ते प्रतिष्ठां नात्र कारयेत् ॥*॥
शालग्रामाः समाः पूज्या समेषु द्वितयं न हि ।
असमा नैव पूज्यन्ते एकः पूज्यतमो मतः ॥
शिला द्वादश यो नित्यं भक्त्या संपूजयेन्नरः ।
दिने दिने धर्म्मवृद्धिः पापनाशश्च जायते ॥
शालग्रामशिलां यस्तु भक्त्या संपूजयेन्नरः ।
शतं दिनानि यत्तेन कृतः कामः स सिध्यति ॥*
शालग्रामा मत्स्वरूपाः शृणु तेषान्तु लक्षणम् ।
यत्सेवनाद्भवेदिष्टमिह लोके परत्र च ॥
शिवनाभः स विज्ञेयः सलिङ्गाकारताङ्कितः ।
स्वयम्भुलिङ्गाकृतिमान् मन्त्रसिद्धिविधायकः ॥१॥
त्र्यम्बकः स तु विज्ञेयो यो बिन्दुत्रयभूषितः ।
शूलाकारा तथा रेखा शतपुत्त्रप्रदायकः ॥२॥
धूर्ज्जटिः स तु विज्ञेयो यत्र रेखा जटासमा ।
तिस्रो यत्र प्रदृश्यन्ते सोऽर्च्चितो ज्ञानदायकः ॥३
शम्भुस्तु पाण्डरो ज्ञेयो बिन्दुत्रयास्तु मस्तके ।
बिल्वप्रमाणस्तेजस्वी पूजितः क्लीवशङ्करः ॥४॥
ईश्वरः स तु विज्ञेयो रक्तो बिन्दुस्तु मस्तके ।
एकचक्रो द्विचक्रो वाभ्यन्तरेऽधश्च गोपदम् ॥५॥
मृत्युञ्जयः स विज्ञेयः स्वल्पमृत्युविनाशकः ।
अधश्चक्रं तदूर्द्धं च श्वेता रेखा त्रिशूलवान् ॥६॥
चन्द्रशेखरनामासावर्द्धचन्द्राकृतिस्तु के ।
मध्ये चक्रद्वयं तस्य सेवनाद्रोगनाशनम् ॥ ७ ॥
रुद्रः स एव विज्ञेयः कपिलो मूर्द्ध्नि रञ्जितः ।
चक्रमध्ये भवेद्रेखा मारयेद्रिपुसन्ततिम् ॥८॥*॥
शालग्रामाणथो वक्ष्ये शक्तिकीटसमुद्भवान् ।
येषां पूजनतो देवी भवानी सुप्रसीदति ॥
श्रीविद्या सा तत्र चक्रान्तर्द्धं कृत्तं प्रदृश्यते ।
वाह्ये घण्टाङ्कितो मूर्द्धा स्निग्धा श्यामाखिलेष्टदा ॥ १ ॥
महाकाली तु सा ज्ञेया योनिचिह्नसमन्विता ॥२
छिन्नच्छिद्राद्या सर्व्वशिला त्रिकोणेनाङ्किता च या ।
यदायुधाकृतिश्चोर्द्धं तां देवीं तत्र निर्द्दिशेत् ॥
देवीशिला सचक्रा या दक्षमार्गेण तां यजेत् ।
साच्चिता वाममार्गेण लोकद्वयसुखावहा ॥
या चक्ररहिता देवी शिला तां वामतोऽर्च्चयेत् ।
स्वर्णकार्य्येण विप्राणां नगभां चोभकृद्भवेत् ॥*॥
सौरीशिला दुर्लभैव प्रायः कलियुगे सुराः ।
स्फटिकाभा भवेत् सा तु धर्म्मसक्ता विमुञ्चति ॥
तुलस्योर्द्धं स्थिते वह्निं साभिषिक्ता प्रवर्षणम् ।
कुरुते शपथे मिथ्या कृते स्यात्कुष्ठकारिका ॥*
गणेशः स तु विज्ञेयः स्वल्पशुण्डाङ्कितो भवेत् ।
शुण्डाकारा शिला वापि गजाननसमापि वा ॥*
यस्या मध्ये महच्चक्रं सूक्ष्मचक्रञ्च यद्दिशि ।

या शिला तस्य दिक्चक्र सेया सद्विभि
राज्यदा ॥*॥
अर्द्धचन्द्राकृतिर्यत्र दृश्यते शकलद्वयम् ।
सा तु चन्द्रशिला ख्यातयुक्ता भौमशिला
मता ॥ * ॥
वाणाकारेण चिह्नेन ज्ञेया बुधशिला सुरा: ।
दीर्घेण चतुरस्रेण युक्ता गुरुशिला मता ॥*॥
पञ्चकोणा तु शुक्रस्य चापाकारा शनेर्म्मता ।
सर्पाकारा तु राहो: स्यात् केतोस्तु ध्वज-
रूपिणी ॥ * ॥
प्राप्ते कलियुगे घोरे वामाचारविमिश्रिते ।
भक्ष्याभक्ष्यविचारादिरहिते म्लेच्छसङ्कुले ॥
कामक्रोधादिभिर्व्याप्ते जने स्त्रीभिर्विनिर्ज्जिते ।
क्व शिष्य: क्व गुरुर्म्मन्त्र: क्व जप: क्व च सिद्धय: ॥
अयुताब्दे कलेर्याते त्यजेद्विष्णुशिला महीम् ।
तदर्द्धाज्जाह्नवीतोयं तदर्द्धाद्देवताशिला ॥
जप एव कलौ श्रेयान् शालग्रामार्च्चनं यथा ॥”
इति मेरुतन्त्रे ५ पटल: ॥
अपि च ।
तुलस्युवाच ।
“हे नाथ ते दया नास्ति पाषाणसदृशस्य च ।
छलेन धर्म्मभङ्गेन मम स्वामी त्वया हत: ॥
पाषाणहृदयस्त्वञ्च दयाहीनो यत: प्रभो ।
तस्मात् पाषाणरूपस्त्वं भवेह हरेऽधुना ॥
श्रीभगवानुवाच ।
अहञ्च शैलरूपी च गण्डकीतीरसन्निधौ ।
अधिष्ठानं करिष्यामि भारते तव शापत: ॥
वज्रकीटाश्च क्रमयो वज्रदंष्ट्राश्च तत्र वै ।
तच्छिलाकुहरे चक्रं करिष्यन्ति मदीयकम् ॥
एकद्वारे चतुश्चक्रं वनमालाविभूषितम् ।
नवीननीरदाकारं लक्ष्मीनारायणाभिधम् ॥
एकद्वारे चतुश्चक्रं नवीननीरदोपमम् ।
लक्ष्मीजनार्द्दनं ज्ञेयं रहितं वनमालया ॥
द्वारद्वये चतुश्चक्रं गोष्पदेन समन्वितम् ।
रघुनाथाभिधं ज्ञेयं वेष्टितं वनमालया ॥
अतिक्षुद्रं द्विचक्रन्तु नवीननीरदप्रभम् ।
दधिवामनं विज्ञेयं गृहिणाञ्च सुखप्रदम् ॥
अतिक्षुद्रं द्विचक्रञ्च वनमालाविभूषितम् ।
श्रीधरं देवि विज्ञेयं श्रीपदं गृहिणां सदा ॥
स्थूलञ्च वर्त्तुलाकारं रहितं वनमालया ।
द्विचक्रं स्फुटमत्यन्तं ज्ञेयं दामोदराभिधम् ॥
मध्यमं वर्त्तुलाकारं द्विचक्रं वाणविक्षतम् ।
रणरामाभिधं ज्ञेयं शरतूणसमन्वितम् ॥
चतुर्द्दशचक्रं स्थूलञ्च नवीनजलदप्रभम् ।
अनन्ताख्यञ्च विज्ञेयं चतुर्व्वर्गफलप्रदम् ॥
मध्यमं सप्तचक्रञ्च छत्रतूणसमन्वितम् ।
राजराजेश्वरं ज्ञेयं राजसम्पत्करं नृणाम् ॥
चक्राकारं द्विचक्रञ्च सश्रीकं जलदप्रभम् ।
सगोष्पदं मध्यमञ्च विज्ञेयं मधुसूदनम् ॥
सुदर्शनञ्चैकचक्रं गुप्तचक्रं गदाधरम् ।
द्विचक्रं हयवक्त्राभं हयग्रीवं प्रकीर्त्तितम् ॥
अतीवविस्तृतास्यञ्च द्विचक्रं विकटं सति ।
नरसिंहाभिधं ज्ञेयं सद्यो वैराग्यदं नृणाम् ॥
द्विचक्रं विस्तृतास्यञ्च वनमालासमन्वितम् ।
लक्ष्मीनृसिंहं विज्ञेयं गृहिणां सुखदं सदा ॥
द्वारदेशे द्विचक्रञ्च सश्रीकञ्च समं स्फुटम् ।
वासुदेवञ्च विज्ञेयं सर्व्वकामफलप्रदम् ॥
प्रद्युम्नं सूक्ष्मचक्रञ्च नवीननीरदप्रभम् ।
सुषिरे छिद्रबहुलं गृहिणाञ्च सुखप्रदम् ॥
द्वे चक्रे चैकलग्ने तु पृष्ठे यत्र तु पुष्कलम् ।
सङ्कर्षणन्तु विज्ञेयं सुखदं गृहिणां सदा ॥
अनिरुद्धञ्च पीताभं वर्त्तुलञ्चातिशोभनम् ।
सुखप्रदं गृहस्थानां प्रवदन्ति मनीषिण: ॥*॥
शालग्रामशिला यत्र तत्र सन्निहितो हरि: ।
तत्रैव लक्ष्मीर्व्वसति सर्व्वतीर्थसमन्विता ॥
यानि कानि च पापानि ब्रह्महत्यादिकानि च ।
तानि सर्व्वाणि नश्यन्ति शालग्रामशिलार्च्चनात् ॥
छत्राकारे भवेद्राज्यं वर्त्तुले च भवेत् श्रिय: ।
दु:खञ्च शकटाकारे शूलाग्रे मरणं ध्रुवम् ॥
विकृतास्ये च दारिद्र्यं पिङ्गले हानिरेव च ।
लग्नचक्रे भवेद्व्याधिर्व्विदीर्णे मरणं ध्रुवम् ॥
व्रतं दानं प्रतिष्ठा च श्राद्धञ्च देवपूजनम् ।
शालग्रामशिलायाश्चैवाधिष्ठानात् प्रशस्तकम् ॥
स स्नात: सर्व्वतीर्थेषु सर्व्वयज्ञेषु दीक्षित: ।
सर्व्वदाने च यत् पुण्यं प्रादक्षिण्ये भुवस्तथा ॥
सर्व्वयज्ञेषु तीर्थेषु व्रतेष्वनशनेषु च ।
पाठे चतुर्णां वेदानां तपसां करणे सति ।
तत् पुण्यं लभते नूनं शालग्रामशिलार्च्चनात् ॥
शालग्रामशिलातोयं नित्यं भुङ्क्ते च यो नर: ।
सुरेप्सितं प्रसादञ्च जन्ममृत्युजराहरम् ॥
तस्य स्पर्शञ्च वाञ्छन्ति तीर्थानि निखिलानि च ।
जीवन्मुक्तो महापूतोऽप्यन्ते याति हरे: पदम् ॥
तत्रैव हरिणा सार्द्धमसंख्यं प्राकृतं लयम् ।
पश्यत्येव हि दास्येव नियुक्तो दास्यकर्म्मणि ॥
यानि कानि च पापानि ब्रह्महत्यादिकानि च ।
तं दृष्ट्वा च भिया यान्ति वैनतेयमिवोरगा: ॥
तत्पादपद्मरजसा सद्य: पूता वसुन्धरा ।
पुंसां लक्षं तत्पितॄणां निस्तरेत्तस्य जन्मनि ॥
शालग्रामशिलातोयं मृत्युकाले च यो लभेत् ।
सर्व्वपापविनिर्म्मुक्तो विष्णुलोकं स गच्छति ॥
निर्व्वाणमुक्तिं लभते कर्म्मभोगाद्विमुच्यते ।
विष्णुपादप्रलीनश्च भविष्यति न संशय: ॥
शालग्रामशिलां धृत्वा मिथ्यावाक्यं वदेत्तु य: ।
स याति कूर्म्मदंष्ट्रञ्च यावद्वै ब्रह्मणो वय: ॥
शालग्रामशिलां धृत्वा स्वीकारं यो न पालयेत् ।
स प्रयात्यसिपत्रञ्च लक्षमन्वन्तरावधि ॥
तुलसीपत्रविच्छेदं शालग्रामं करोति य: ।
तस्य जन्मान्तरे कान्ते स्त्रीविच्छेदो भविष्यति ॥
तुलसीपत्रविच्छेदं शङ्खं यो हि करोति च ।
भार्य्याहीनो भवेत् सोऽपि रोगी च सप्तजन्मसु ॥
शालग्रामञ्च तुलसीं शङ्खञ्चैकत्र एव च ।
यो रक्षति महाज्ञानी स भवेत् श्रीहरिप्रिय: ॥”
इति ब्रह्मवैवर्त्ते प्रकृतिखण्डे १६ अध्याय: ॥*॥
शूद्राणां तत्पूजनेऽनधिकारो यथा,—
“विप्रक्षत्रियवैश्यानां शालग्रामशिलार्च्चने ।
अधिकारो न शूद्राणां हरेरर्च्चार्च्चने तथा ॥”
इति तत्रैव जन्मखण्डे २१ अध्याय: ॥*॥
शालग्रामे सदा विष्णो: स्थितिस्तत्पूजने विशेषश्च
यथा,—
भूमिरुवाच ।
“उक्ता या: प्रतिमा: सर्व्वा: सुवर्णादिविनि-
र्म्मिता: ।
तासु तिष्ठसि सर्व्वासु शालग्रामे च सर्व्वदा ॥
कति पूज्या गृहादौ च अविशेषस्तु पूजने ।
विशेषो वा भवेत्तन्मे रहस्यं वद माधव ॥
वराह उवाच ।
गृहे लिङ्गद्वयं नार्च्यं शालग्रामद्वयं तथा ।
द्वे चक्रे द्वारकायास्तु नार्च्ये सूर्य्यद्वयं तथा ॥
शालग्रामशिला भग्ना पूजनीया सचक्रका ।
खण्डिता स्फुटिता वापि शालग्रामशिला शुभा ॥
शिला द्वादश वै देवि शालग्रामसमुद्भवा: ।
विधिवत् पूजिता येन तस्य पुण्यं वदामि ते ॥
कोटिद्वादशलिङ्गैस्तु पूजितै: स्वर्णपङ्कजै: ।
यत् स्यात् द्वादशकल्पेषु दिनेनैकेन तद्भवेत् ॥
य: पुन: पूजयेद्भक्त्या शालग्रामशिलाशतम् ।
तत्फलं नैव शक्तोऽहं वक्तुं वर्षशतैरपि ॥
शालग्रामो न स्प्रष्टव्यो हीनवर्णैर्व्वसुन्धरे ।
स्त्रीशूद्रकरसंस्पर्शो वज्रस्पर्शाधिको मत: ॥
मोहाद्य: संस्पृशेत् शूद्रो योषिद्वापि कदाचन ।
स पतेन्नरके घोरे यावदाभूतसंप्लवम् ॥
यदि भक्तिर्भवेत्तस्य स्त्रीणां वापि वसुन्धरे ।
दूरादेवास्पृशन् पूजां कारयेत् सुसमाहित: ॥
चरणाम्बुतपानेन सर्व्वपापक्षयो भवेत् ॥
अभक्ष्यं शिवनिर्म्माल्यं पत्रं पुष्पं फलं जलम् ।
शालग्रामशिलायोगात् पावनं तद्भवेत् सदा ॥
दद्याद्भक्ताय यो देवि शालग्रामशिलां नर: ।
सुवर्णसहितां तेन सपर्व्वतवनाकरा ।
ससमुद्रा भवेद्दत्ता सत्पात्राय वसुन्धरा ॥
शालग्रामशिलायास्तु मौल्यमुद्घाटयेत् क्वचित् ।
विक्रेता क्रयकर्त्ता वा नरके वै पतेत् ध्रुवम् ॥
पूजाफलं न शक्येत वक्तुं वर्षशतैरपि ।
एतत्ते कथितं गुह्यं प्रतिमास्थापनं प्रति ॥
शालग्रामे विशेषश्च लिङ्गादीनाञ्च यो भवेत् ।
पूजनादौ विधिश्चापि किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि ॥”
इत्यादि वाराहे रौप्यसौवर्णार्च्चास्थापननामा-
ध्याय: ॥ * ॥ अथ शालग्रामशिलामूर्त्तिनिरू-
पणम् ।
“चतुर्व्विंशतिमूर्त्ति: स शालग्रामशिलास्थित: ।
द्वारकादिशिलासंस्थो ध्येय: पूज्योऽपि वा हरि: ॥
मनसोऽभीप्सितं प्राप्य देवो वैमानिको भवेत् ।
निष्कामो मुक्तिमाप्नोति मूर्त्तीर्ध्यायन् स्तुवन्
जपन् ॥”
इत्यादि गारुडे मूर्त्तिमूर्त्तिध्यानं ४४ अध्याय: ॥
अपि च ।
“शङ्खचक्रगदापद्मी केशवाख्यो गदाधर: ।
शार्ङ्गकौमोदकीचक्रशङ्खी नारायणो विभु: ॥

सचक्रशङ्खाब्जगदो माधवः श्रीगदाधरः ।
गदाब्जशङ्खचक्री वा गोविन्दोऽर्च्यो गदाधरः ॥
पद्मशङ्खासिगदिने विष्णुरूपाय वै नमः ।
शङ्खाब्जचक्रगदिने नमः सङ्कर्षणाय च ॥
सुशङ्खसुगदाब्जाविष्टते प्रद्युम्नमूर्त्तये ।
नमोऽनिरुद्धाय गदाशङ्खाब्जारिविधारिणे ॥
नमो गदासिशङ्खाब्जयुक्तत्रैविक्रमाय च ।
सासिकौमोदकीपद्मगदिने वामनमूर्त्तये ॥
चक्राब्जशङ्खगदिने नमः श्रीधरमूर्त्तये ।
हृषीकेश सासिगदाशङ्खपद्मिन्नमो नमः ॥
साब्जशङ्खगदाचक्रपद्मनाभस्वरूपिणे ।
दामोदर शङ्खगदाचक्रपद्मिन्नमो नमः ॥
सासिशङ्खगदाब्जाय वासुदेवाय वै नमः ।
शङ्खाब्जचक्रगदिने नमः सङ्कर्षणाय च ॥
साब्जशङ्खगदाचक्रपुरुषोत्तममूर्त्तये ।
नमोऽधोक्षजरूपाय गदाशङ्खासिपद्मिने ॥
नृसिंहमूर्त्तये पद्मगदाशङ्खाब्जधारिणे ।
पद्माब्जशङ्खगदिने नमोऽच्युतमूर्त्तये ॥
सशङ्खचक्राब्जगदं जनार्द्दनमिहानमे ।
उपेन्द्रं सगदं सारिं पद्मशङ्खिन्नमो नमः ॥
सुचक्राब्जगदाशङ्खयुक्ताय हरिमूर्त्तये ।
सगदाब्जारिशङ्खाय नमः श्रीकृष्णमूर्त्तये ॥
शालग्रामशिलाद्वारगतलग्नद्विचक्रधृक् ।
शुक्लाभो वासुदेवाख्यः सोऽव्याद्वः श्रीगदाधरः ॥
लग्नद्विचक्रो रक्ताभः पूर्व्वभागे तु पुष्कलः ।
सङ्कर्षणोऽथ प्रद्युम्नः सूक्ष्मचक्रस्तु पीतकः ॥
सदीर्घशुषिरच्छिद्रो योऽनिरुद्धस्तु वर्त्तुलः ।
नीलो द्वारि त्रिरेखश्च अथ नारायणोऽसितः ॥
मध्ये गदाकृती रेखा नाभिचक्रमहोन्नतः ।
पृथुचक्रो नृसिंहोऽथ कपिलोऽव्यात् त्रिबि-
न्दुकः ॥
अथवा पञ्चबिन्दुस्तत्पूजनं ब्रह्मचारिणः ।
वराहः शक्तिलिङ्गोऽव्याद्विषमद्वयचक्रकः ॥
नीलस्त्रिरेखः स्थूलोऽथ कूर्म्ममूर्त्तिः स बिन्दु-
मान् ।
कृष्णः सवर्त्तुलावर्त्तः पातु वोन्नतपृष्ठकः ॥
श्रीधरः पञ्चरेखोऽव्याद्वनमाली गदान्वितः ।
वामनो वर्त्तुलो ह्रस्वो वामचक्रः सुरेश्वरः ॥
नानावर्णोऽनेकमूर्त्तिर्नागभोगी त्वनन्तकः ।
स्थूलो दामोदरो नीलो मध्ये चक्रः सनीलकः ॥
संकीर्णद्वारको वोऽव्यादथ ब्रह्मा सुलोहितः ।
सदीर्घरेखः सुषिर एकचक्राम्बुजः पृथुः ॥
पृथुच्छिद्रस्थूलचक्रः कृष्णो विष्णुश्च बिन्दुवत् ।
हयग्रीवोऽङ्कुशाकारः पञ्चरेखः सकौस्तुभः ॥
वैकुण्ठो मणिरत्नाभ एकचक्राम्बुजोऽसितः ।
मत्स्यो दीर्घोम्बुजाकारो द्वाररेखश्च पातु वः ॥
रामचक्रो दक्षरेखः श्यामो वोऽव्यात्त्रिविक्रमः ।
शालग्रामे द्वारकायां स्थिताय गदिने नमः ॥
एकेन लक्षितो योऽव्याद्गदाधारी सुदर्शनः ।
एकद्वारे चतुश्चक्रं वनमालाविभूषितम् ॥
स्वर्णरेखासमायुक्तं गोष्पदेन विराजितम् ।
कदम्बकुसुमाकारं लक्ष्मीनारायणं विदुः ॥

लक्ष्मीनारायणो द्वाभ्यां त्रिभिर्म्मूर्त्तिस्त्रिविक्रमः ।
चतुर्भुजश्चतुर्व्व्यूहो वासुदेवश्च पञ्चभिः ॥
प्रद्युम्नः षड्भिरेव स्यात् सङ्कर्षणश्च इतस्ततः ।
पुरुषोत्तमोऽष्टभिः स्यान्नवव्यूहो नवोन्नतः ॥
दशावतारो दशभिरनिरुद्धोऽवतादथ ।
द्वादशात्मा द्वादशभिरत ऊर्द्ध्वमनन्तकः ॥
विष्णोर्म्मूर्त्तिमयं स्तोत्रं यः पठेत् स दिवं
व्रजेत् ॥”
इति गारुडे ४५ अध्यायः ॥*॥

अपरञ्च ।

हरिरुवाच ।
“निर्व्वणा शुभा स्याच्च चक्राङ्कितशिला-
र्च्चनात् ।
आदौ सुदर्शनो मूर्त्तिर्लक्ष्मीनारायणोऽपरः ॥
त्रिचक्रोऽथाच्युतः स्यात् चतुश्चक्रश्चतुर्भुजः ।
वासुदेवश्च प्रद्युम्नस्ततः सङ्कर्षणः स्मृतः ॥
पुरुषोत्तमो ह्यष्टमः स्यान्नवव्यूहो दशात्मकः ।
एकादशोऽनिरुद्धः स्याद्द्वादशो द्वादशात्मकः ॥
अत ऊर्द्ध्वमनन्तः स्याच्चक्रैरेकादिकैः क्रमः ।
सुदर्शनाद्या लक्षितास्तु पूजिताः सर्व्वकामदाः ॥
शालग्रामशिला यत्र देवी द्वारवतीभवः ।
उभयोः सङ्गमो यत्र तत्र मुक्तिर्न संशयः ॥”
इति गारुडे ६५ अध्यायः ॥*॥

क्षेत्रविशेषः । यथा,—

धरण्युवाच ।
“भगवन् देवदेवेश शालङ्कायनको मुनिः ।
किं चकार तपः कुर्व्वन् तव क्षेत्रे विमुक्तिदे ॥

वाराह उवाच ।
अथ दीर्घेण कालेन स ऋषिः संशितव्रतः ।
तप्यमानो यथान्यायं पश्यते शालमुत्तमम् ॥
विश्रामं कुरुते तत्र द्रष्टुकामोऽथ मां मुनिः ।
मायया मम मूढात्मा शक्तो द्रष्टुं न मामभूत् ॥
ततः पूर्व्वेण पार्श्वेन तस्य शालस्य सुन्दरि ।
वैशाखमासद्वादश्यां मद्दर्शनमुपागतः ॥
दृष्ट्वा मां तत्र स मुनिस्तपस्वी शंसितव्रतः ।
तुष्टाव वैदिकैः सूक्तैः प्रणम्य च पुनः पुनः ॥
ततोऽहं स्तूयमानो वै ऋषिमुख्येन सुन्दरि ।
प्राप्तोऽस्मि परमां प्रीतिं तमवोचं ततः ऋषिम् ॥
तत्राश्रमे महाभाग स्थित्वा त्वं तपसां निधे ।
पुत्रेण परमप्रीतो मत्क्षेत्रे मत्समो भव ॥
अन्यच्च गुह्यं वक्ष्यामि शालङ्कायन तच्छृणु ।
तव प्रीत्या प्रवक्ष्यामि येनैतत् क्षेत्रमुत्तमम् ॥
शालग्राममिति ख्यातं तन्निबोध मुने शुभम् ।
योऽयं दृष्टस्त्वया वृक्षः सोऽहमेव न संशयः ॥
एतत् कोऽपि न जानाति विना देवं महेश्वरम् ।
एवं तस्मै वरं दत्त्वा शालङ्कायनकाय वै ॥
पश्यतस्तस्य वसुधे तत्रैवान्तर्हितोऽभवत् ।
इत्थं दक्षिणतः कृत्वा जगाम स्वाश्रमं मुनिः ॥
मम तत्रोच्चते स्थानं गिरिकूटशिलोच्चये ।
शालग्राम इति ख्यातं भक्तसंसारमोक्षणम् ॥”
इति वाराहे शालग्रामक्षेत्रमाहात्म्यवर्णन-
नामाध्यायः ॥

शालग्रामगिरिः, पुं, (शालग्रामस्य गिरिः ।)
शालग्रामोत्पादकपर्व्वतः । यथा,—

वाराह उवाच ।
“कथयिष्यामि ते गुह्यं शालग्राममिति श्रुतम् ।
तस्मिन् क्षेत्रे हरो देवो मत्स्वरूपेण संयुतः ॥
शालग्रामे गिरौ तस्मिन् शिलारूपेण तिष्ठति ।
अहं तिष्ठामि तत्रैव गिरिरूपेण नित्यदा ॥
तस्मिन् शिलाः समस्तास्तु मत्स्वरूपा न संशयः ।
पूजनीयाः प्रयत्नेन किं पुनश्चक्रलाञ्छिताः ॥
लिङ्गरूपेण तु हरस्तत्र देवालये गिरौ ।
शिवनाभाः शिलास्तत्र चक्रनाभास्तथा शिलाः ॥
सोमेश्वराधिष्ठितस्तु शिवरूपो गिरिः स्मृतः ।
शालग्रामगिरिर्विष्णुरहं सोमेश्वराधिपः ॥
तयोः पर्व्वतयोर्या वै शिला विष्णुशिलाभिधाः ।
रेवया च कृतं पूर्व्वं तपः शिवसुतुष्टिदम् ॥
मम त्वत्सदृशः पुत्रो भूयादभिहितो तया ॥
अहं कस्यापि न सुतः किं करिष्यामि चिन्त-
यन् ।
रेवायास्तु वरो देयस्त्ववश्यं मृगलाञ्छन ।
निश्चित्यैवं तदा प्रोक्तं प्रसन्नेनान्तरात्मना ॥
लिङ्गरूपेण ते देवि गजाननपुरस्कृतः ।
गर्भे तव वसिष्यामि पुत्रो भूत्वा शिवप्रिये ॥
मम त्वमपरा मूर्त्तिः ख्याता जलमयी शिवा ।
शिवशक्तिविभेदेन आवामेकत्र संस्थितौ ॥
एवं दत्तवरा रेवा मत्सान्निध्यमिहागता ।
रेवाखण्डमिति ख्यातं ततः प्रभृति गोपते ॥*॥
गण्डक्यापि पुरा तप्तं वर्षाणामयुतं विधे ।
शीर्णपर्णाशनं कृत्वा वायुभक्ष्याप्यनन्तरम् ॥
दिव्यं वर्षशतं तेपे विष्णुं चिन्तयती तदा ।
ततः साक्षाज्जगन्नाथो हरिर्भक्तजनप्रियः ।
उवाच मधुरं वाक्यं प्रीतः प्रणतवत्सलः ।
गण्डकि ! त्वां प्रसन्नोऽस्मि तपसा विस्मितेऽनघे ॥
अनवच्छिन्नया शक्त्या वरं वरय सुव्रते ।
किं देयं तद्वदस्वाशु प्रीतोऽस्मि वरवर्णिनि ॥
गण्डक्यपि पुरो दृष्ट्वा शङ्खचक्रगदाधरम् ।
दण्डवत् प्रणता भूत्वा ततः स्तोत्रं प्रचक्रमे ॥
अहो देव मया दृष्टो दुर्दर्शो योगिनामपि ।
त्वया सर्व्वमिदं सृष्टं जगत् स्थावरजङ्गमम् ॥
ततो हिमांशे सा देवी गण्डकी लोकतारिणी ।
प्राञ्जलिः प्रणता भूत्वा मधुरं वाक्यमब्रवीत् ॥
यदि देव प्रसन्नोऽसि देयो मे वाञ्छितो वरः ।
मम गर्भगतो भूत्वा विष्णो मत्पुत्रतां व्रज ॥
ततः प्रसन्नो भगवान् चिन्तयामास गोपते ।
किं याचितं निम्नगया नित्यं मत्सङ्गलुब्धया ॥
दास्यामि याचितं येन लोकानां भवमोचनम् ।
इत्येवं कृपया देवो निश्चित्य मनसा स्वयम् ॥
गण्डकीं कथयामास शृणु देवि वचो मम ।
शालग्रामशिलारूपी तव गर्भगतः सदा ॥
तिष्ठामि तव पुत्रत्वे भक्तानुग्रहकारणात् ।
मत्सान्निध्यान्नदीनां त्वमतिश्रेष्ठा भविष्यसि ॥
दर्शनात् स्पर्शनात् स्नानात् पानाच्चैवावगा-
हनात् ।

हरिष्यसि महापापं वाङ्मनःकायसम्भवम् ॥”
इति वाराहे सोमेश्वरादिलिङ्गमहिमावमुक्तिक्षेत्रनिवेश्यादिमहिमानामाध्यायः ॥

शालङ्कटङ्कटः, पुं, सुकेशीराक्षसः । स विद्युत्केशिभार्य्याशालङ्कटङ्कटायाः पुत्त्रः । इति वामनपुराणम् ॥

शालङ्कायनः, पुं, (शलङ्कस्यापत्यम् । “नडादिभ्यः फक् ।” ४ । १ । ९९ । इति फक् ।) मुनिविशेषः । नन्दी । इति मेदिनी ॥

शालङ्कायनजीवसूः, स्त्री, व्यासमाता । यथा,—
“व्यासस्याम्बा सत्यवती वासवी गन्धकालिका ।
योजनगन्धा दासेयी शालङ्कायनजीवसूः ॥”
इति हेमचन्द्रः ॥

शालङ्किः, पुं, मुनिभेदः । यथा,—
“वशिष्ठोऽरुन्धतीनाथो मैत्रावरुणिरित्यपि ।
शालातुरीयः शालङ्किर्दाक्षीपुत्त्रस्तु पाणिनिः ॥”
इति जटाधरः ॥

शालजः, पुं, (शालाज्जायते इति । जन् + डः ।) शालमत्स्यः । यथा । शालः शालजगर्ज्जकौ । इति शब्दरत्नावली ॥

शालनिर्यासः, पुं, (शालस्य निर्यासः ।) सर्ज्जरसः । धूना इति भाषा । तत्पर्य्यायः । शालजः २ सर्ज्जः ३ सर्ज्जरसः ४ । इति रत्नमाला ॥ धूनकः ५ वह्निवल्लभः ६ सर्ज्जमणिः ७ । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

शालपर्णी, स्त्री, (शालस्य पर्णवत् पर्णमस्याः । ङीष् ।) वृक्षविशेषः । शालपाणी इति भाषा । तत्पर्य्यायः । सुदला२ सुपत्नी३ स्थिरा४ सौम्या५ कुमुदा६ गुहा७ ध्रुवा८ विदारिगन्धा ९ अंशुमती १० सुपर्णिका ११ दीर्घमूला १२ दीर्घपत्रिका १३ वातघ्नी १४ पीतिनी १५ तन्वी १६ सुधा १७ सर्व्वानुकारिणी १८ शोफघ्नी १९ सुभगा २० देवी २१ निश्चला २२ ब्रीहिपर्णिका २३ सुमूला २४ सुरूपा २५ शुभपत्रिका २६ सुपर्णी २७ शालिपर्णी २८ शालिदला २९ । इति राजनिर्घण्टः । विदारी ३० सालपर्णी ३१ । इत्यमरटीकायां भरतः ॥ अस्या गुणाः । ग्राहित्वम् । कफपित्तनाशित्वञ्च । इति राजवल्लभः ॥ तिक्तत्वम् । गुरुत्वम् । उष्णत्वम् । वातदोषविषमज्वरमेहार्शःशोफसन्तापनाशित्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥ अपि च ।
“शालपर्णी स्थिरा सौम्या त्रिपर्णी पीवरा गुहा ।
विदारिगन्धा दीर्घाङ्घ्रिर्दीर्घपत्रांशुमत्यपि ॥
शालपर्णी गरच्छर्द्दिज्वरश्वासातिसारजित् ।
शोषदोषत्रयहरी बृंहण्युक्ता रसायनी ।
तिक्ता विषहरी स्वादुः क्षतकासक्रिमिप्रणुत् ॥”
इति भावप्रकाशः ॥

शालभञ्जिका, स्त्री, (शालेन भज्यते निर्म्मीयते इति । भन्ज + “कुन् शिल्पिसंज्ञयोरपूर्व्वस्यापि ।” उणा० २।३२। इति कुन् । टापि अत इत्वम् ।) काष्ठादिनिर्म्मितपुत्त्रिका । (यथा, राजतरङ्गिण्याम् । २ । ६६ ।
“अलोलकीर्त्तिकल्लोलदुकूलवसनोज्ज्वलाम् ।
बभार यद्भुजस्तम्भो जयश्रीशालभञ्जिकाम् ॥”)
वेश्या । इति जटाधरः ॥

शालभञ्जी, स्त्री, काष्ठादिनिर्म्मितपुत्त्रिका । इति हेमचन्द्रः ॥

शालवः, पुं, लोध्रः । इति शब्दरत्नावली ॥

शालवेष्टः, पुं, (शालस्य वेष्टो निर्यासः ।) शालनिर्यासः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

शालसारः, पुं, (शालस्य सारः ।) द्रुमः । हिङ्गुः । इति विश्वः ॥

शाला, स्त्री, (शो + “बाहुलकात् श्यतेरपि कालन् ।” इत्युज्ज्वलदत्तोक्त्या कालन् ।१।११७।) गृहम् । इत्यमरः ॥ (यथा, भागवते ।८।६।१६।
“धूपामोदितशालायां जुष्टायां माल्यदीपकैः ॥”)
वृक्षस्य स्कन्धशाखा । गृहैकदेशः । इति मेदिनी ॥

शालाकी, [न्] पुं, अक्षवेद्यः । नापितः । शेलधारी । इति केचित् ॥

शालाङ्की, स्त्री, पुत्तलिका । इति शब्दरत्नावली ॥

शालाजिरः, पुं, क्ली, शरावः । इति हेमचन्द्रः शब्दरत्नावली च ॥

शालाञ्चिः, स्त्री, शाकभेदः । इति शब्दरत्नावली ॥

शालानी, स्त्री, विदारी । इति शब्दरत्नावली ॥

शालामृगः, पुं, (शालाया मृगः ।) शृगालः । इति हारावली ॥

शालारं, क्ली, (शालां गच्छतीति । ऋ + अण् ।) हस्तिनखः । सोपानम् । पक्षिपञ्जरः । इति मेदिनी ॥

शालावृकः, पुं, (शालायां गृहे शाखायां वा वृक इव ।) वानरः । कुक्कुरः । शृगालः । इत्यमरः ॥ मृगः । इति शब्दरत्नावली । विडालः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शालिः, पुं, (शवालीति । शड् + बाहुलकात् इण् । डस्य लत्वम् ।) गन्धमार्ज्जारः । इति मेदिनी ॥ कलमादिधान्यम् । षष्टिकादिधान्यम् । इत्यमरः ॥ तत्पर्य्यायः । मधुरः २ वृष्यः ३ ब्रीहिश्रेष्ठः ४ नृपप्रियः ५ धान्योत्तमः ६ केदारः ७ सुकुमारकः ८ । पुस्तकान्तरे मधुरस्थाने कलम इति पाठः । स तु दशविधः । यथा,—
“राजान्नषष्टिकशितेतररक्तमहा-
स्थूलाढ्यगन्धतिरियादिकशालिसंज्ञाः ।
ब्रीहिस्तथेति दशधा भुवि शालयः स्यु-
स्तेषां क्रमेण गुणनामगणं ब्रवीमि ॥”
इति राजनिर्घण्टः ॥

अस्य गुणाः ।
“शालयो मधुराः शीता लघुपाका बलावहाः ।
पित्तघ्नाश्चानिलकफाः स्निग्धा बद्धाल्पवर्च्चसः ॥”
इति राजवल्लभः ॥*॥
अथ शालिधान्यलक्षणम् ।
“कण्डनेन विना शुक्ला हैमन्ताः शालयः स्मृताः ॥”

शालीनां नामानि यथा,—
“रक्तशालिः सकलमः पाण्डुकः शकुनाहृतः ।
सुगन्धकः कर्द्दमको महाशालिश्च दूषकः ॥
पुष्पाण्डकः पुण्डरीकस्तथा महिषमस्तकः ।
दीर्घशूकः काञ्चनको हायनो लोध्रपुष्पकः ।
इत्याद्याः शालयः सन्ति बहवो बहुदेशजाः ॥”
अथ तेषां गुणाः ।
“शालयो मधुराः स्निग्धा बल्या बद्धाल्पवर्च्चसः ।
कषाया लघवो रुच्याः स्वर्य्या वृष्याश्च बृंहणाः ॥
अल्पानिलकफाः शीताः पित्तघ्ना मूत्रलास्तथा ।
शालयो दग्धभूजाताः कषाया लघुपाकिनः ॥
सृष्टमूत्रपुरीषाश्च रूक्षाः श्लेष्मापकर्षणाः ।
कैदाराः वातपित्तघ्ना गुरवः कफशुक्रलाः ॥
कषाया अल्पवर्च्चस्का मधुराश्च बलावहाः ॥”
कैदाराः क्षेत्रजा उप्ताः ।
“स्थलजाः स्वादवः पित्तकफघ्ना वातवह्निदाः ।
किञ्चित्तिक्ताः कषायाश्च विपाके कटुका अपि ॥”
स्थलजा अक्षेत्रभूमिजाः स्वयंजाताः ।
“वापिता मधुरा वृष्या बल्याः पित्तप्रणाशनाः ॥
श्लेष्मलाश्चाल्पवर्च्चस्काः कषाया गुरवो हिमाः ॥”
वापिताः क्षेत्रे अक्षेत्रे च ।
“वापिकेभ्यो गुणैः किञ्चिद्धीनाः प्रोक्ता अवापिताः ॥”
क्षेत्रे अक्षेत्रे च ।
“रोपितास्तु नवाः वृष्याः पुराणा लघवः स्मृताः ।
रोपितारोपिता भूयः शीघ्रपाका गुणाधिकाः ॥
छिन्नरूढ़ा हिमा रूक्षा बल्याः पित्तकफापहाः ।
बद्धविट्काः कषायाश्च लघवश्चाल्पतिक्तकाः ॥”
अथ रक्तशालेर्गुणाः ॥
“रक्तशालिर्वरस्तेषु बल्यो वर्ण्यस्त्रिदोषजित् ।
चक्षुष्यो मूत्रलः स्वर्य्यः शुक्रलस्तृड्ज्वरापहः ।
विषव्रणश्वासकासदाहनुद्वह्निपुष्टिदः ।
तस्मादल्पान्तरगुणाः शालयो महदादयः ॥”
रक्तशालिः दाउदखानी इति मगधदेशे प्रसिद्धः । इति भावप्रकाशः ॥ (पक्षी । इत्युणादिवृत्तौ उज्ज्वलः । ४ । १२७ ॥)

शालिका, स्त्री, (शालिरेव । स्वार्थे कन् । विदारिका । इति शब्दरत्नावली ॥

शालिञ्चः, पुं, शाकविशेषः । शाञ्चा इति भाषा । तत्पर्य्यायः । शालञ्चः २ शितसारः ३ पत्रकेदः ४ लोहसारकः ५ । अस्य गुणाः । दीपनत्वम् । तिक्तत्वम् । शीहार्शःकफवातनाशित्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥

शालिञ्ची, स्त्री, (शालिञ्च + स्त्रियां ङीष् ।) शाकभेदः । शाञ्चे इति भाषा । अस्य प्रमाणं शौलफशब्दे द्रष्टव्यम् ॥

शालिनीकरणं, क्ली, वशभावनम् । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ तिरस्कार इति यावत् ॥

शालिपर्णी, स्त्री, (शालेरिव पर्णानि यस्याः । ङीष् ।) माषपर्णी । इति राजनिर्घण्टः ॥

शालिपिष्टं, क्ली (शालेः पिष्टमिव शुभ्रत्वात्।) स्फटिकम्। इति त्रिकाण्डशेषः॥

शालिवाहनः, पुं, राजविशेषः। स तु शककर्त्ता विक्रमादित्यशत्रुश्च॥

शालिहोत्रः, पुं, घोटकः। इति त्रिकाण्डशेषः॥

शाली, [न्] त्रि, (शालास्यास्तीति। इनिः।) शालाविशिष्टः। पदान्ते युक्तवाचकः। यथा,—
"चन्दनचर्च्चितनीलकलेवरपीतवसनवनमाली।
केलिचलन्मणिकुण्डलमण्डितगण्डयुगस्मित-
शाली॥"
इति जयदेवः॥

(श्लाघ्यः। यथा, भागवते। ३। २४। १।
"दायाद्यः शालिनीमाह शुक्राभिर्यादृतं
स्मरन्॥")

शाली, स्त्री, कृष्णजीरकः। इति राजनिर्घण्टः॥

शालीनः, त्रि, (शालाप्रवेशनमर्हतीति। शाला+ "शालीनकौपीने अधृष्टाकार्य्ययोः।" ५।२।२०। इति खञ्प्रत्ययेन निपातनात् सिद्धम्।) अधृष्टः। इत्यमरः॥ (यथा, मार्कण्डेये। ४१।६।
"अथ नित्यं गृहस्थेषु शालीनेषु चरेद्यतिः॥")
शालासम्बन्धी च॥

शालीना, स्त्री, (शालिन+टाप्।) मिश्रेया। इति राजनिर्घण्टः॥

शालु, क्ली, (शृणाति शीतागमे। शॄ+बाहुलकात् ञुण् रेफस्य लत्वञ्च। इत्युज्ज्वलः। १। ५।) शालूकम्। इति शब्दरत्नावली॥

शालुः, पुं, (शॄ+ञुण् रेफस्य लत्वञ्च।) कषायद्रव्यम्। चोरकाख्यौषधिः। इति मेदिनी॥ भेकः। इति हेमचन्द्रः॥

शालुकं, क्ली, कुमुदादिमूलम्। तत्पर्य्यायः। पङ्कशूरणम् २ शालूकः ३ शालु ४। इति शब्दरत्नावली॥

शालूकं, क्ली, (शल+"शलिमण्डिभ्यामूकण्।" उणा० ४। ४२। इति ऊकण्।) कुमुदादिमूलम्। इत्यमरः॥ जातीफलम्। इति राजनिर्घण्टः॥

शालूकः, पुं, (शल+"शलिमण्डिभ्यामूकण्।" उणा० ४। ४२। इत्यूकण्।) कुमुदादिमूलम्। इति त्रिकाण्डशेषः॥ (यथा, सुश्रुतसंहितायाम्। ४१। ३।
"मिथुनेपि धान्यशारदवल्लीशालूककार्पासाः॥")
मण्डूकः। इति राजनिर्घण्टः॥

शालूरः, पुं, (शलते प्लवेन गच्छतीति। शल+ "खर्ज्जिपिञ्जादिभ्यः ऊरोलचौ।" उणा० ४।९०। इति ऊरः।) भेकः। इत्यमरः॥

शालेयं, त्रि, (शालीनां क्षेत्रम्। शालि+"व्रीहिशाल्योर्ढक्।" ५।२।२। इति ढक्।) शाल्युद्भवक्षेत्रम्। इत्यमरः॥ शालासम्बन्धि शालसम्बन्धि च॥

शालेयः, पुं, मधुरिका। इत्यमरः॥

शालेया, स्त्री, (शालेय+टाप्।) मिश्रेया। इति राजनिर्घण्टः॥

शालोत्तरीयः, पुं, (शालोत्तरे ग्रामे भवः। शालोत्तर+छः।) पाणिनिमुनिः। इति त्रिकाण्डशेषः॥

शाल्मलः, पुं, शाल्मलीवृक्षः। इति शब्दरत्नावली॥ (यथा, महाभारते। ३। ६४। ३।
"कर्णिकारिष्टसञ्छन्नं स्यन्दनैश्च सशाल्मलैः॥")
द्वीपविशेषः। इति शब्दमाला॥ तद्विवरणं यथा,—
"अत ऊर्द्ध्वं प्रवक्ष्यामि शाल्मलस्य निबोधत।
शाल्मलो द्विगुणो द्वीपः क्रौञ्चद्वीपस्य विस्तरात्॥
परिवार्य्य समुद्रन्तु दधिमण्डोदकं स्थितः।
तत्र पुण्या जनपदाश्चिराच्च म्रियते जनः॥
कुत एव सुदुर्भिक्षं क्षमातेजोयुता हि ते।
प्रथमः सूर्य्यसङ्काशः सुमना नाम पर्व्वतः॥
पीतस्तु मध्यमस्तत्र शातकौम्भमयो गिरिः।
नाम्ना सर्व्वसुखो नाम दिव्यौषधिसमन्वितः॥
तृतीयश्चैव सौवर्णो भृङ्गपत्रनिभो गिरिः।
स नाम्ना रोहितो नाम दिव्यो गिरिवरो
महान्॥
सुमनाः कुशलो देशः सुखोदर्कः सुखोदयः।
रोहितस्तु तृतीयस्तु रोहिणो नाम विश्रुतः॥
तत्र रत्नान्यनेकानि स्वयं रक्षति वासवः।
प्रजापतिमुपादाय प्रजाभ्यो विधिवत् स्वयम्॥
न तत्र मणयो वर्षं वा शीतोष्णञ्चैव तद्विधम्।
वर्णाश्रमाणां वार्त्ता वा त्रिषु द्वीपेषु विद्यते॥
न ग्रहं न च दण्डोऽस्ति ईर्ष्यासूया भयं तथा।
उद्भिदान्युदकान्यत्र गिरिप्रस्रवणानि च॥
भोजनं षड्रसं तत्र तेषां स्वयमुपस्थितम्।
अधमोत्तमो न तेष्वस्ति न लोभो न परिग्रहः॥
अरोगा बलवन्तश्च एकान्तसुखिता प्रजाः।
त्रिंशद्वर्षसहस्राणि मानसीं सिद्धिमास्थिताः॥
सुखमायुः स्वरूपञ्च धर्म्मैश्वर्य्यं तथैव च।
शाल्मलाद्येषु विज्ञेयं द्वीपेषु त्रिषु सर्व्वशः॥
व्याख्यातः शाल्मलाद्यानां द्वीपानान्तु विधिः
शुभः।
परिमण्डलस्तु स द्वीपश्चक्रवत् परिवेष्टितः।
सुरोदेन समुद्रेण द्विगुणेन समन्वितः॥"
इति मत्स्यपुराणे भुवनकोषे सप्तद्वीपनिवेशनं नाम १०० अध्यायः॥ * ॥ अपि च।
"प्लक्षद्वीपप्रमाणात्तु द्विगुणेन समन्ततः।
संवेष्ट्येक्षुरसाम्भोधिं शाल्मलिः संव्यवस्थितः॥
सप्त वर्षाणि तत्रैव तत्रैव कुलपर्व्वताः।
अत्यायताः सुपर्व्वाणः सप्त नद्यश्च सुव्रताः॥
कुमुदश्चोन्नतश्चैव तृतीयश्च बलाहकः।
द्रोणः कर्णस्तु महिषः ककुद्मान् सप्त पर्व्वताः॥
योनितोया वितृष्णा च चन्द्रा शुक्ला विमोचनी।
निवृत्तिश्चेति ता नद्यः स्मृताः पापहराः
शिवाः॥
न तेषु विद्यते लोभः क्रोधो वा द्विजसत्तमाः।
न चैवास्ति युगावस्था जना जीवन्त्यनामयाः॥
यजन्ति सततं तत्र वर्णा वायुं सनातनम्।
तेषां तस्याथ सायुज्यं सारूप्यञ्च सलोकताम्॥
कपिला ब्राह्मणाः प्रोक्ता राजानश्चारुणास्तथा।
पीता वैश्यास्तथा कृष्णा द्वीपेऽस्मिन् वृषला
द्विजाः॥"
इति कौर्म्मे भुवनविन्यासे ४६ अध्यायः॥ * ॥
मोचरसः। इति रत्नमाला॥

शाल्मलिः, पुं स्त्री, वृक्षविशेषः। शिमुल इति भाषा॥ (यथा मनौ। ८। ४६।
"शाल्मलीन् शालतालांश्च क्षीरिणश्चैव पादपान्॥")
तत्पर्य्यायः। पिच्छिला २ पूरणी ३ मोचा ४ स्थिरायुः ५। इत्यमरः॥ दुरारोहा ६ शाल्मलिनी ७ शाल्मलः ८। इति शब्दरत्नावली॥ तुलिनी ९ कुक्कुटी १० रक्तपुष्पा ११ कण्टकारी १२ मोचनी १३। इति जटाधरः॥ चिरजीवी १४ पिच्छिलः १५ रक्तपुष्पकः १६ तूलवृक्षः १७ मोचाख्यः १८ कण्टकद्रुमः १९ रक्तोत्पलः २० रम्यपुष्पः २१ बहुवीर्य्यः २२ यमद्रुमः २३ दीर्घद्रुमः २४ स्थूलफलः २५ दीर्घायुः २६। इति राजनिर्घण्टः॥ कण्टकाष्ठः २७। इति भावप्रकाशः॥ अस्य गुणाः। पिच्छिलत्वम्। वृष्यत्वम्। बल्यत्वम्। मधुरत्वम्। शीतलत्वम्। कषायत्वम्। लघुत्वम्। स्निग्धत्वम्। शुक्रश्लेष्मवर्द्धनत्वञ्च। तद्रसगुणाः। ग्राहित्वम्। कषायत्वम्। कफनाशित्वञ्च॥ तत्पुष्पं फलञ्च तद्विधम्। इति राजनिर्घण्टः।
"शाल्मली शीतला स्वाद्वी रसे पाके रसायनी।
श्लेष्मला स्निग्धबीजा च वृंहणी रक्तपित्तजित्॥
शाल्मलीपुष्पशाकन्तु घृतसैन्धवसाधितम्।
प्रदरं नाशयत्येव दुःसाध्यञ्च न संशयः॥
रसे पाके च मधुरं कषायं शीतलं गुरु।
कफपित्तास्रजिद्ग्राहि वातलञ्च प्रकीर्त्तितम्॥"
इति भावप्रकाशः॥ * ॥
नरकविशेषः। तत्र शाल्मलिकण्टकैः पीड्यन्ते॥

शाल्मलिकः, पुं, (शाल्मली+"वुञ्छण्कठजिति।" ४। २। ८०। इति कुमुदादित्वात् ठक्।) रोहितकवृक्षः। इति राजनिर्घण्टः॥

शाल्मलिनी, स्त्री, शाल्मलिवृक्षः। इति शब्दरत्नावली॥

शाल्मलिपत्रकः, पुं, (शाल्मलिपत्रमिव पत्रं यस्य।) सप्तच्छदवृक्षः। इति राजनिर्घण्टः॥

शाल्मलिस्थः, पुं, (शाल्मलौ वृक्षे तिष्ठतीति। स्था+कः।) गरुडः। इति राजनिर्घण्टः॥

शाल्मली, स्त्री, (शाल्मलि+कृदिकारादिति वा ङीष्।) शाल्मलिवृक्षः। इत्यमरः॥ शलति दैर्घ्यात् दूरं गच्छति शाल्मलिः। शल ज गतौ नाम्नीति मलिण् वृद्धिः। इयोरित्युक्ते स्त्रीपदे चाच्छोणादीति ईपि शल्मली च शाल्मलिश्चेति केचित् तन्मते विभाषया वृद्धिः। शल्मली रक्तपुष्पा च कुक्कुटी चिरजीविका इति कोषान्तरमिति मुकुटः। इत्यमरटीकायां भरतः॥

शाल्मली, [न्] पुं, (शाल्मलः आश्रयत्वेनास्त्यस्येति। इनिः।) गरुडः। इति त्रिकाण्डशेषः॥

शाल्मलीकन्दः, पुं, (शाल्मल्याः कन्दः ।) शाल्मलिवृक्षमूलम् । तत्पर्य्यायः । विजुलः २ वनवासकः ३ वनवासी ४ मलघ्नः ५ मलहन्ता ६ । अस्य गुणाः । मधुरत्वम् । मलसंग्रहरोधजयकारित्वम् । शिशिरत्वम् । पित्तदाहार्त्तिशोफसन्तापनाशित्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥

शाल्मलीफलः, पुं, (शाल्मल्याः फलमिव फलं यस्य ।) तेजःफलवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शाल्मलीवेष्टः, पुं, (शाल्मल्या वेष्टः ।) शाल्मलिनिर्य्यासः । शिमुल आठा इति भाषा ॥ तत्पर्य्यायः । पिच्छा २ । इत्यमरः ॥ मोचरसः ३ शाल्मलः ४ शाल्मलीवेष्टकः ५ । इति रत्नमाला ॥ मोचस्रावः ६ मोचनिर्य्यासः ७ । अस्य गुणाः ।

"मोचस्रावो हिमो ग्राही स्निग्धो वृष्यः कषायकः ।
प्रवाहिकातिसारामकफपित्तास्रदाहनुत् ॥"

इति भावप्रकाशः ॥

शाल्मलीवेष्टकः, पुं, (शाल्मलीवेष्ट + स्वार्थे कन् ।) शाल्मलीवेष्टः । इति रत्नमाला ॥

शाल्वः, पुं, देशविशेषः । यथा,—

"शाल्वास्तु कारकुक्षीया मरवस्तु वर्ष्वरकाः ।"

इति हेमचन्द्रः ॥

राजविशेषः । इति महाभारतम् ॥ (भीष्मेण सहास्य युद्धवृत्तान्तो महाभारते आदिपर्व्वणि १०२ अध्याये तथा कृष्णेन सहास्य युद्धवृत्तान्तस्तत्रैव वनपर्व्वणि १५ अध्यायमारभ्य द्रष्टव्यः ॥)

शाल्वणः, पुं, वातघ्नौषधगणविशेषः । यथा,—

"काकोल्यादिः स वातघ्नः सर्व्वाम्लद्रव्यसंयुतः ।
सानूपौदकमांसस्तु सर्व्वस्नेहसमन्वितः ॥
सुखोष्णः सलवणः शाल्वणः परिकीर्त्तितः ।
तेनोपनाहं कुर्व्वीत सर्व्वदा वातरोगिणाम् ॥"

इति सुश्रुते चिकित्सितस्थाने ५ अध्यायः ॥

शावः, पुं, (शवते प्राप्यते इति । शव गतौ + घञ् ।) शिशुः । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, रघुवंशे । ६ । ३ ।

"शिलाविभङ्गैर्मृगराजशावः
तुङ्गं नगोत्सङ्गमिवारुरोह ॥"

शवस्यायम् । शव + अण् ।) शवसम्बन्धिनि, त्रि ॥ यथा,—

"गृहणी शावमाशौचं विसृज्य सौतिकं स्नुतम् ।
तयोः सम्पत्तिमात्रेण उपस्पृश्य क्रियाक्रमः ॥"

इति तिथ्यादितत्त्वे ब्रह्माण्डपुराणम् ॥

शावकः, पुं, (शाव एव । स्वार्थे कन् ।) शिशुः । इत्यमरः ॥ (यथा, वृहत्संहितायाम् । ४८ । १३ ।

"दत्ताभयस्वगन्धगशावकेषु तेष्वाश्रमेष्वथवा ॥")

शावरः, पुं, (शवराणामयम् । शवर + अण् ।) पापम् । अपराधः । लोध्रवृक्षः । इति मेदिनी ॥ शवरस्वामिकृतभाष्यविशेषः । शिवकृततन्त्रविशेषश्च । शवरसम्बन्धिनि, त्रि । यथा,—

"संपूज्य प्रेषणं कुर्य्यात् दशम्यां शावरोत्सवैः ॥"

इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥

शावरभेदाख्यं, क्ली, ताम्रम् । इति हेमचन्द्रः ॥

शावरी, स्त्री, शूकशिम्बी । इति मेदिनी ॥

शावरोत्सवः, पुं, (शावराणामुत्सवः ।) म्लेच्छजातोत्सवः । यथा,—

"पूजयित्वा महाष्टम्यां नवम्यां बलिभिस्तथा ।
विसर्ज्जयेत् दशम्यां तु श्रवणे शावरोत्सवैः ॥
अन्तःपादो दिवाभागे श्रवणस्य यदा भवेत् ।
तदा संप्रेषणं देव्या दशम्यां शावरोत्सवैः ॥
रागिणीभिः कुमारीभिर्व्वेश्याभिर्नर्त्तकैस्तथा ।
शङ्खतूर्य्यनिनादैश्च मृदङ्गैः पटहैस्तथा ॥
ध्वजैर्वस्त्रैर्बहुविधैर्लाजपुष्पप्रकीर्णकैः ।
धूलीकर्द्दमविक्षेपैः क्रीड़ाकौतुकमङ्गलैः ॥
भगलिङ्गविधानैश्च भगलिङ्गप्रगीतकैः ।
भगलिङ्गादिशब्दैश्च क्रीड़येयुरलं जनाः ॥
परैर्नैक्षिप्यते यस्तु यः परं नाक्षिपत्यपि ।
क्रुद्धा भगवती तस्य शापं दद्यात् सुदारुणम् ॥"

इति कालिकापुराणे उत्तरतन्त्रे ६० अध्यायः ॥

शाश्वतं, त्रि, (शश्वद्भवम् । शश्वत् + अण् ।) नित्यम् । इत्यमरः ॥ (यथा, रामायणे । १ । २ । १५ ।

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥")

पारिभाषिकशाश्वतं यथा,—

"शाश्वतं देवपूजादि विप्रदानञ्च शाश्वतम् ।
शाश्वतं सगुणा विद्याः सुहृन्मित्रञ्च शाश्वतम् ॥"

इति गारुड़े नीतिसारे १०६ अध्यायः ॥

शाश्वतः, पुं, वेदव्यासः । इति शब्दरत्नावली ॥ (शिवः । यथा महाभारते । १३ । १७ । ३२ ।

"प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च नियतः शाश्वतो ध्रुवः ॥")

शाष्कुलः, त्रि, मांसाशी । इति हेमचन्द्रः ॥

शाष्कुलिकं, क्ली, (शष्कुल + समूहार्थे ठक् ।) शष्कुलिसमूहः । इत्यमरः ॥

शास, उ च लु शासने । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (अदा०-पर०-सक०-सेट् । क्त्वावेट् ।) उ, शासित्वा शिष्ट्वा । च, शास्ति । लु, शास्ति । शास्ति यथाशया राज्ञः स सम्राड़िन्द्रभरः । इति दुर्गादासः ॥

शास ङ उ } आशिषि । इति कविकल्पद्रुमः ॥
शास ल ङ } (भ्वा०-अदा० च-आत्म०-सक०-सेट् ।) आङ्पूर्व्वो इति केवलानामन्यपूर्व्वाणाञ्च प्रयोगनिरासार्थम् । किन्तु इदं गुरुभ्यः पूर्व्वेभ्यो नमो वाकं प्रशास्महे । इत्युत्तरचरिते प्रपूर्व्वोऽपि दृश्यते । ङ, आशासते । उ, आशासित्वा आशास्त्वा । पञ्चमस्वरानुबन्धसामर्थ्यात् क्त्वाप्रत्ययस्य न यप् समासाभावादिति गोविन्दभट्टः । किन्तु अस्य उदनुबन्धफलं छन्दस्येवेति धातुप्रदीपः । ल ङ, आशास्ते शासु ङिङ्स ङे इत्यत्र चक्रादीयशास्तेरेव ग्रहणादस्योपधाया इकारो न स्यात् । आशीरिष्टार्थाशंसनम् । इच्छायामित्यन्ये । इति दुर्गादासः ॥

शासनं, क्ली, (शास + ल्युट् ।) आज्ञा । (यथा, मनौ । ९ । २६२ ।

"कुर्व्वीत शासनं राजा सम्यक् सारापराधतः ॥")

तत्पर्य्यायः । अववादः २ निर्द्देशः ३ निदेशः ४ शिष्टिः ५ । इत्यमरः ॥ शास्तिः ६ । इति भरतः ॥ आदेशः ७ आदेशनम् ८ । इति शब्दरत्नावली ॥ शास्त्रम् ९ । इति जटाधरः ॥ राजदत्तभूमिः । लेखा । शास्त्रम् । शास्तिः । इति मेदिनी ॥ (दानलिखितताम्रफलकादिः । यथा, कथासरित्सागरे । १२४ । ६२-६३ ।

"शासनं लेखयित्वा च तस्मैवं स समादिशत् ।
ओँकारपीठमार्गेण भद्र गच्छोत्तरां दिशम् ॥
तत्रामुना शासनेन ग्रामं भुङ्क्ष्व मदर्पितम् ।
नाम्ना तं खण्डवटकं पृच्छन् गच्छन्नवाप्स्यसि ॥"

यथा च मार्कण्डेये । ३६ । ८ ।

"याच्यं ते शासनं पट्टे मुद्राचारनिवेशितम् ॥"

स्त्रियां धर्म्मोपदेशकर्त्री । यथा, ऋग्वेदे । १ । ३१ । ११ ।

"इळामकृण्वन्मनुषस्य शासनीम् ॥")

शासनहरः, पुं, (हरतीति । हृ + अच् । शासनस्य हरः ।) राजदूतः । आज्ञावाहकः । इति केचित् ॥

शासितः, त्रि, (शास + क्तः ।) कृतशासनः । यथा,

"सुजीर्णमन्नं सुविचक्षणः सुतः
सुशासिता स्त्री नृपतिः सुसेवितः ।
सुचिन्त्य चोक्तं सुविचार्य्य यत् कृतं
सुदीर्घकालेऽपि न याति विक्रियाम् ॥"

इति पञ्चतन्त्रम् ॥

शासिता, [ऋ] त्रि, (शासु + तृच् ।) शास्ता । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ (यथा, मनौ । ७ । १७ ।

"स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः ॥"

व्याख्याता । यथा, तत्रैव । २ । १५० ।

"ब्राह्मस्य जन्मनः कर्त्ता स्वधर्म्मस्य च शासिता ॥")

शास्ता, [ऋ] त्रि, (शासु + "तृन्तृचौ शंसीति ।" उणा० २ । ९४ । इति असंज्ञायामपि तृन् । स च अनिट् ।) शासनकर्त्ता । तत्पर्य्यायः । देशकः २ शासिता ३ । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ यथा,—

"द्वौ धाता च विधाता च पौराणौ जगतः पती ।
द्वौ शास्तारौ त्रिलोकेऽस्मिन् धर्म्माधर्म्मौ प्रकीर्त्तितौ ॥"

इति वह्निपुराणे गणभेदनामाध्यायः ॥

(यथा च भागवते । १ । १२ । २६ ।

"राजर्षीणां जनयिता शास्ता चोत्पथगामिनाम् ॥")

शास्ता, [ऋ] पुं, (शासु + "तृन्तृचौ शंसिक्षदादिभ्यः संज्ञायां चानिटौ ।" उणा० २ । ९४ । इति तृन् । स च अनिट् ।) बुद्धः । इत्यमरः ॥ उपाध्यायः । राजा । पिता । इति संक्षिप्तसारोणादिवृत्तिः ॥

शास्तिः, स्त्री, (शास+बाहुलकात् तिः । इत्यु-ज्ज्वलदत्तः । ४ । १७६ ।) शासनम् । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, मार्कण्डेये । १३२।२० ।
"प्राप्नोचेरस्त्वमेतन्मे दुष्टशास्तिसमुद्यतम् ॥")

शास्त्रं, क्ली, (शिष्यते अनेन । शास+"सर्व्व-धातुभ्यष्ट्रन् ।" उणा० ४।१५८ । इति ष्ट्रन् ।) निर्देशः । ग्रन्थः । इत्यमरः ॥ स च ग्रन्थः अष्टादशविधः । तस्य विवरणं विद्याशब्दे द्रष्टव्यम् ॥ * ॥ शास्त्रोत्पत्तिर्यथा,—

मत्स्य उवाच ।

"तपश्चचार प्रथमममराणां पितामहः ।
आविर्भूतास्ततो वेदाः साङ्गोपाङ्गपदक्रमाः ॥
पुराणं सर्व्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम् ।
नित्यशब्दमयं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम् ॥
अनन्तरञ्च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः ।
मीमांसान्यायविद्याश्च प्रमाणं तर्कसंयुताः ॥
वेदाभ्यासरतस्यास्य प्रजाकामस्य मानसाः ।
मनसः पूर्व्वसृष्टा वै जाता ये तेन मानसाः ॥"

इति मात्स्ये ३ अध्यायः ॥ * ॥

शास्त्रोक्तकर्म्म कर्त्तव्यं न तु शास्त्रविरुद्धम् । यथा,—
"श्रुतिस्मृतिसदाचारविहितं कर्म्म केवलम् ।
सेवितव्यं चतुर्व्वर्णैर्भजद्भिः केशवं सदा ॥
अन्यथा निरयं यान्ति कुमार्गागमसेवनात् ।
अतो वेदविरुद्धार्थं शास्त्रोक्तं कर्म्म संत्यजेत् ॥
स्वबुद्धिरचितैः शास्त्रैः प्रतार्य्येह च बालिशान् ।
विघ्नन्ति श्रेयसो मार्गं लोकनाशाय केवलम् ॥
निन्दन्ति देवता वेदांस्तपो निन्दन्ति वह्निजान् ।
तेन ते निरयं यान्ति स्वस्वच्छाननिषेवणात् ॥
श्रुतिस्मृतिसदाचारविहितं कर्म्म शाश्वतम् ।
स्वं स्वं धर्म्मं प्रयत्नेन श्रेयोऽर्थीह समाचरेत् ॥
स्वबुद्धिरचितैः शास्त्रैर्मोहयित्वा जनं नराः ।
तेन ते निरयं यान्ति युगानां सप्तविंशतिः ॥"

इति पाद्मे उत्तरखण्डे १७ अध्यायः ॥ * ॥

अध्यात्मशास्त्रातिरिक्तशास्त्रनिन्दा यथा,—
"पुराणं भारतं वेदधर्म्मशास्त्राणि यानि च ।
आयुषः क्षपणायैव धर्म्मतत्त्वेन चाचरेत् ॥
पुत्त्रदारादिसंभारः पुंसां संमूढचेतसाम् ।
विदुषां शास्त्रसंभारः सद्योगाभ्यासविघ्नकृत् ॥
इदं ज्ञेयमिदं ज्ञेयं यः सर्व्वं ज्ञातुमिच्छति ।
अपि वर्षशतेनापि शास्त्रान्तं नाधिगच्छति ॥
विज्ञायाचरतन्मात्रं जीवितञ्चापि चञ्चलम् ।
विहाय शास्त्रजालानि पारलौकिकमाचरेत् ॥
पण्डितोऽपि हि मूर्खोऽसौ शक्तियुक्तोऽप्य-
शक्तिकः ।
यः संसारान्न चात्मानं समुत्तारयितुं क्षमः ॥"
इति वह्निपुराणे सुनामद्वादशीनामाध्यायः ॥ * ॥

वेदविरुद्धशास्त्राणि यथा,—
"अन्यानि चैव शास्त्राणि लोकेऽस्मिन्मोहनानि च ।
वेदवादविरुद्धानि मयैव कथितानि तु ॥
वामं पाशुपतं योगं नाकुलं चैव भैरवम् ।
असेव्यमेतत् कथितं वेदबाह्यं तथेतरत् ॥
वेदमूर्त्तिरहं विप्रा नान्यशास्त्रार्थवादिभिः ।
ज्ञायते मत्स्वरूपन्तु ऋते वेदं सनातनम् ॥"

इति कौर्म्मे उपविभागे १६ अध्यायः ॥ * ॥

अपि च । कूर्म्मपुराणे हिमालयं प्रति देवी-वाक्यम् ।
"यानि शास्त्राणि दृश्यन्ते लोकेऽस्मिन् विवि-
धानि च ।
श्रुतिस्मृतिविरुद्धानि निष्ठा तेषां हि तामसी ॥
करालभैरवञ्चापि यामलं वाममार्श्रितम् ।
एवंविधानि चान्यानि मोहनार्थानि तानि तु ।
मया सृष्टानि चान्यानि मोहायैषां भवार्णवे ॥"
तस्मात् सद्भिः श्रुतिस्मृतिविरुद्धे वर्त्मनि न कदा-चित् पदं न्यस्तव्यम् । इति मलमासतत्त्वम् ॥ * ॥

पृथिव्यां तन्त्रशास्त्रावतरणं यथा,—

शिव उवाच ।

"लम्बोदर महाभाग शृणु मे परमं वचः ।
इदं महासुसन्दर्भं मम वक्त्राद्विनिर्गतम् ॥
निर्गतं पार्व्वतीवक्त्रात्तन्त्रं परमदुर्लभम् ।
विलिख्य बहुयत्नेन गच्छ सिद्धाश्रमं सुत ॥
यत्र तिष्ठन्ति मुनयो वेदवेदाङ्गपारगाः ।
अणिमादिगुणैर्युक्ताः शीघ्रं त्वं भव मे सुत ॥
इत्युक्तः शङ्करेणासौ चारुबाहुरभूत्ततः ।
चतुर्भिर्हस्तैः संलिख्य शिवाय विनिवेदयेत् ॥

शिव उवाच ।

गच्छ पुत्त्र महाबाहो तन्त्रमादाय सत्वरम् ।
सिद्धाश्रमं वनं रम्यं यथेन्द्रस्य च नन्दनम् ।
प्रणम्य प्रययौ शीघ्रं तन्त्रमादाय तद्वनम् ॥"
इत्युपक्रम्य ।
"मुनेर्व्वाक्यं ततः श्रुत्वा तत्तन्त्रं मुनये ददौ ।
एवं तन्त्राणि सर्व्वाणि विलिख्य विनिवेदयेत् ॥"

इति गायत्त्रीतन्त्रे दशमश्लोकपटलः ॥ * ॥

शैवपाशुपतादिशास्त्रोत्पत्तिर्यथा,—
"प्रथमं हि मया प्रोक्तं शैवं पाशुपतादिकम् ।
मच्छक्त्यावेशितैर्विप्रैः संप्रोक्तानि ततः परम् ॥
कणादेन च संप्रोक्तं शास्त्रं वैशेषिकं महत् ।
गौतमेन तथा न्यायं सांख्यन्तु कपिलेन तु ॥
धिषणेन तथा प्रोक्तं चार्व्वाकमतिगर्हितम् ॥
दैत्यानां नाशनार्थाय विष्णुना बुद्धरूपिणा ।
बौद्धशास्त्रं तथा प्रोक्तं नग्ननीलपटादिकम् ॥
आपाततः श्रुतिवाक्यानां दर्शयन् लोकगर्हितम् ।
कर्म्मस्वरूपत्याज्यत्वमत्र वै प्रतिपद्यते ।
सर्व्वकर्म्मपरिभ्रष्टं कल्मषन्तु तदुच्यते ॥
गौतमप्रोक्तशास्त्रार्थनिरताः सर्व्व एव हि ।
शार्गाली योनिमापन्नाः सन्दिग्धाः सर्व्व-
कर्म्मसु ॥"

इति गान्धर्व्वतन्त्रे प्रथमपटलः ॥

शास्त्रकृत्, पुं, (शास्त्रं करोतीति । कृ+क्विप् ।) ऋषिः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ शास्त्रकर्त्तरि, त्रि ॥ (यथा, भागवते । १ । १० । २२ ।
"विधित्समानोऽसृजत् शास्त्रकृत् ॥")

शास्त्रगण्डः, त्रि, प्रघटावित् । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ हारावल्यां छात्रगण्ड इति पाठः ॥

शास्त्रचक्षुः, [स्] क्ली, (शास्त्रेषु चक्षुरिव ।) व्याकरणम् । इति केचित् ॥

शास्त्रचारणः, त्रि, (शास्त्रं चारयति प्रचारय-तीति । चर+णिच्+ल्युः ।) शास्त्रदर्शी । इति शब्दरत्नावली ॥

शास्त्रज्ञः, त्रि (शास्त्रं जानातीति । ज्ञा+कः ।) शास्त्रवेत्ता । यथा,—
"अनियुक्तो नियुक्तो वा शास्त्रज्ञो वक्तुमर्हति ।
दैवीं वाचं स वदति यः शास्त्रमुपजीवति ॥"

इति व्यवहारतत्त्वधृतनारदवचनम् ॥

शास्त्रतत्त्वज्ञः, पुं, (शास्त्रस्य तत्त्वं जानातीति । ज्ञा+कः ।) गणकः । यथा, शब्दरत्नावल्याम् ।
"दैवज्ञो गणको ज्ञानी मौहूर्त्तो दैवलेखकः ।
वार्त्तान्तिको ज्यौतिषिको मौहूर्त्तिकप्रसूचकौ ॥
सांवत्सरो वर्षकोषो रेखाजीवी गणाङ्कभुक् ।
तान्त्रिको ज्ञातसिद्धान्तः शास्त्रतत्त्वज्ञ ईरितः ॥"

शास्त्रदर्शी, [न्] त्रि, (शास्त्रं द्रष्टुं शीलमस्य । णिनिः ।) शास्त्रज्ञः । तत्पर्य्यायः । अन्तर्व्वाणिः २ शास्त्रवित् ३ शास्त्रचारणः ४ । इति शब्द-रत्नावली ॥

शास्त्रविद्,[द्] त्रि, (शास्त्रं वेत्तीति । विद्+सत्-सूद्विषेति क्विप् ।) शास्त्रदर्शी । इत्यमरः ॥

शास्त्रविप्रतिषिद्धः, त्रि, (शास्त्रेण विप्रतिषिद्धः ।) शास्त्रनिषिद्धः । शास्त्रशब्दपूर्व्वकविपूर्व्वकषिध-धातोः कर्म्मणि क्तप्रत्ययेन निष्पन्नो वा ॥

शास्त्रशिल्पी, [न्] पुं, (शास्त्रं शिल्पमस्यास्तीति । इनिः ।) काश्मीरदेशः । तद्देशस्थे, पुं भूम्नि । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

शास्त्री, [न्] त्रि, शास्त्रज्ञः । शास्त्रं वेत्तीत्यर्थे णिनिप्रत्ययेन निष्पन्नः ॥

शास्यः, त्रि, (शास्+ण्यत् ।) शासनीयः । शासितव्यः । (यथा, मनौ । ८ । १६२ ।
"यो निक्षेपं नार्पयति यश्चानिक्षिप्य याचते ।
तावुभौ चौरवच्छास्यौ दाप्यौ वा तत्समं दमम् ॥"
शिक्षणीयः । यथा, ऋग्वेदे । १ । १८६ । ७ ।
"अभिपित्वे मनवे शास्यो भूः ।"
"शास्यो भूः शिक्षणीयो भव इदं कुरु इदं कुरु इति विधेयो भव ।" इति तद्भाष्ये सायणः ।)

शि, ञ ञ निशाने । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (स्वा०-उभ०-सक०-अनिट् ।) निशानमिति शते रूपम् । शान च तेजे इत्यस्य नित्यसनन्तत्वात् । अनेकार्थत्वात् निशानमिह तीक्ष्णीकरणम् । ञ च, शिनोति शिनुते खड्गं कर्म्मकारः । इति दुर्गादासः ॥

शिंशपा, स्त्री, वृक्षविशेषः । शिशु इति भाषा । तत्पर्य्यायः । पिच्छिला २ अगुरुः ३ कपिला ४ भस्मगर्भा ५ । इत्यमरः ॥ अगुरुशिंशपा ६ । इति भरतः ॥ कृष्णसारा ७ । इति जटाधरः ॥ पिङ्गला ८ पिच्छला ९ वीरा १० । इति रत्न-माला ॥ * ॥ यथा,—
"शिंशपा गुरुसारा च पिच्छिला गुरुशिंशपा ।
सा चेत् कपिलवर्णा स्याद्भस्मगर्भा निगद्यते ॥

क्वचित्तु कपिला भस्मगर्भा चागुरुशिंशपा ।
पिच्छिला शिंशपा शुम्भपत्रिकागुरु चेत्यपि ॥”
इति शब्दरत्नावली ॥
अस्या गुणाः । “शिंशपा वातनाशिनी ।” इति राजवल्लभः ॥ अपि च ।
“शिंशपा कटुका तिक्ता कषाया शोषकारिणी ।
उष्णवीर्य्या हरेन्मेदः कुष्ठश्वित्रवमिक्रिमीन् ।
वस्तिवङ्क्षणदाहास्रबलासगर्भपातिनी ॥”
इति भावप्रकाशः ॥
(तत्काष्ठनिर्म्मितरथस्तु दृढो भवति । यथा, ऋग्वेदे । ३ । ५३ । १९ ।
“अभिव्ययस्व खदिरस्य सार-
मोजो धेहि स्पन्दने शिंशपायाम् ।”
“स्पन्दने रथस्य गमने सति शिंशपायां शिंशपाख्यदारुनिर्म्मिते रथस्य फलके ओजो धेहि दार्ढ्यं कुरु ।” इति तद्भाष्ये सायणः ॥)

शिक्, [च्] स्त्री, शिक्यम् । इति शब्दरत्नावली ॥

शक्रुः, त्रि, अव्यवसायी । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

शिक्थं, क्ली, मधुजातद्रव्यविशेषः । मोम् इति भाषा । तत्पर्य्यायः । शिक्थकम् २ मधुजम् ३ विघसम् ४ मधुसम्भवम् ५ मोदनम् ६ काचम् ७ उच्छिष्टमोदनम् ८ मक्षिकामलम् ९ क्षौद्रेयम् १० पीतरागम् ११ स्निग्धम् १२ माक्षिकजम् १३ क्षौद्रजम् १४ मधुशेषम् १५ द्रावकम् १६ माक्षिकाश्रयम् १७ मधूत्थितम् १८ मधूत्थम् १९ । अस्य गुणाः । पिच्छिलत्वम् । स्वादुत्वम् । कुष्ठवातास्रनाशित्वम् । मृदुत्वम् । कटुत्वम् । स्निग्धत्वम् । लेपेन स्फुटिताङ्गविलोपनत्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥

शिक्थकं, क्ली, (शिक्थ+स्वार्थे कन् ।) शिक्थम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

शिक्यं, क्ली, (संव+“संवेः शि कुट् किच्च ।” उणा० ५ । १६ । इति यत् । स च कित् । कुडागमः शिरादेशश्च ।) द्रव्यरक्षार्थरज्जुमयाधारविशेषः । शिका इति भाषा । तत्पर्य्यायः । काचः २ शिक्या ३ शिक् ४ । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, भागवते । १० । ८ । ३० ।
“हस्ताग्राह्ये रचयति विधिं पीठकोलूखलाद्यै-
श्छिद्रं ह्यन्तर्निहितवयुनः शिक्यभाण्डेषु तद्वित् ॥”)

शिक्या, स्त्री, (शिक्य+स्त्रियां टाप् ।) शिक्यम् । इति शब्दरत्नावली ॥

शिक्यितः, त्रि, (शिक्ये स्थापितमित्यर्थे प्रातिपदिकात् धात्वर्थे इति णिच् ततः क्तः ।) शिक्यस्थापितवस्तु । तत्पर्य्यायः । काचितः २ । इत्यमरः ॥

शिक्ष, ङ शिक्षणे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-आत्म०-सक०-सेट् ।) ह्रस्वी । ङ, शिक्षते । शिक्षणं विद्याग्रहणम् । अशिक्षतास्त्रं पितुरेव मन्त्रविदिति रघुः । इति दुर्गादासः ॥

शिक्षणं, क्ली, (शिक्ष+ल्युट् ।) विद्योपादानम् । इति शिक्षाशब्दटीकायां भरतः ॥

शिक्षा, स्त्री, (शिक्ष+“गुरोश्च हलः ।” ३।३।१०३। इत्यः । ततष्टाप् ।) शिक्षणम् । अभ्यासकरणम् । इति शब्दमाला ॥ वेदाङ्गशास्त्रविशेषः । इत्यमरः ॥ यथा,—
“शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्योतिषां गणः ।
छन्दोविचितिरित्येतैः षडङ्गो वेद उच्यते ॥”
इति ।
तत्र अकारादिवर्णानां स्थलकरणप्रयत्नबोधिका अ-कु-ह-विसर्ज्जनीयाः कण्ठ्या इत्यादिका शिक्षा । इति तट्टीकायां भरतः ॥ * ॥ * ॥
अथ शिक्षाशास्त्रं लिख्यते ।
“अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयमतं यथा ।
शास्त्रानुपूर्व्वं तद्विद्याद्यथोक्तं लोकवेदयोः ॥
प्रसिद्धमपि शब्दार्थमविज्ञातमबुद्धिभिः ।
पुनर्व्यक्तीकरिष्यामि वाच उच्चारणे विधिम् ॥
त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः ।
प्राकृते संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ताः स्वयम्भुवा ॥
स्वरा विंशतिरेकश्च स्पर्शानां पञ्चविंशतिः ।
यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमाः स्मृताः ॥
अनुस्वारो विसर्गश्च ×क≍पौ चापि पराश्रितौ ।
दुःस्पृष्टश्चेति विज्ञेयः ऌकारः प्लुत एव च ॥
आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्मनो युङ्क्ते विवक्षया ।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥
मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं जनयति स्वरम् ।
प्रातःसवनयोगन्तं छन्दो गायत्रमाश्रितम् ॥
कण्ठे माध्यन्दिनयुतं मध्यमं त्रैष्टुभानुगम् ।
तारं तार्त्तीयसवनं शीर्षण्यं जागतानुगम् ॥
सोदीर्णो मूर्द्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः ।
वर्णाञ्जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः ॥
स्वरतः कालतः स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानतः ।
इति वर्णविदः प्राहुर्निपुणं तं निबोधत ॥
उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च स्वरास्त्रयः ।
ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति कालतो नियमा अचि ॥
उदात्ते निषादगान्धारावनुदात्ते ऋषभधैवतौ ।
स्वरितप्रभवा ह्येते षड्जमध्यमपञ्चमाः ॥
अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा ।
जिह्वामूलञ्च दन्ताश्च नासिकौष्ठौ च तालु च ॥
ओभावश्च विवृत्तिश्च श-ष-सा रेफ एव च ।
जिह्वामूलमुपध्मा च गतिरष्टविधोष्मणः ॥
यद्योभावप्रसन्धानमुकारादिपरं पदम् ।
स्वरान्तं तादृशं विद्याद्यदन्यद्व्यक्तमूष्मणः ॥
हकारं पञ्चमैर्युक्तमन्तःस्थाभिश्च संयुतम् ।
औरस्यं तं विजानीयात् कण्ठ्यमाहुरसंयुतम् ॥
कण्ठ्यावहा वि-चु-य-शास्तालव्या ओष्ठजावुपू ।
स्युर्मूर्द्धन्या ऋ-टु-र-षा दन्त्या ऌ-तु-ल-साः स्मृताः ॥
जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तो दन्त्योष्ठ्यो वः स्मृतो बुधैः ।
ए ऐ तु कण्ठतालव्या ओ औ कण्ठोष्ठजौ स्मृतौ ॥
अर्द्धमात्रा तु कण्ठ्या स्यादेकारैकारयोर्भवेत् ।
ओकारौकारयोर्मात्रा तयोर्विवृतसंवृतम् ॥
संवृतं मात्रिकं ज्ञेयं विवृतन्तु द्विमात्रिकम् ।
घोषा वा संवृताः सर्व्वे अघोषा विवृताः स्मृताः ॥
स्वराणामूष्मणाञ्चैव विवृतं करणं स्मृतम् ।
तेभ्योऽपि विवृतावेङौ ताभ्यामैचौ तथैव च ॥
अनुस्वारयमानाञ्च नासिकास्थानमुच्यते ।
अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः ॥
अलाबुवीणानिर्घोषो दन्त्यमूल्यस्वराननु ।
अनुस्वारस्तु कर्त्तव्यो नित्यं ह्रोः श-ष-सेषु च ॥
अनुस्वारे विवृत्त्यान्तु विरामे चाक्षरद्वये ।
द्विरोष्ठ्यौ तु विगृह्णीयाद्यत्रौकारवकारयोः ॥
व्याघ्री यथा हरेत् पुत्रान् दंष्ट्राभ्यां न च पीडयेत् ।
भीता पतनभेदाभ्यां तद्वद्वर्णान् प्रयोजयेत् ॥
यथा सौराष्ट्रिका नारी तक्रँ इत्यभिभाषते ।
एवं रङ्गाः प्रयोक्तव्याः खेऽ-राँ इव खेदया ॥
रङ्गवर्णं प्रयुञ्जीरन् नो ग्रसेत् पूर्व्वमक्षरम् ।
दीर्घस्वरं प्रयुञ्जीयात् पश्चान्नासिक्यमाचरेत् ॥
हृदये चैकमात्रः स्यादर्द्धमात्रस्तु मूर्द्धनि ।
नासिकायां तथार्द्धञ्च रङ्गस्यैवं द्विमात्रता ॥
हृदयादुत्करे तिष्ठन् कांस्येन समनुस्वरम् ।
मार्दवञ्च द्विमात्रञ्च जघन्वाँ इति निदर्शनम् ॥
मध्ये तु कम्पयेत् कम्पमुभौ पार्श्वौ समौ तथा ।
स रङ्गं कम्पयेत् कम्पं रथीवेति निदर्शनम् ॥
एवं वर्णाः प्रयोक्तव्या नाव्यक्ता न च पीडयेत् ।
सम्यग्वर्णप्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते ॥
गीती शीघ्री शिरःकम्पी तथा लिखितपाठकः ।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः ॥
माधुर्य्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः ।
धैर्य्यं लयसमर्थञ्च षडेते पाठका गुणाः ॥
शङ्कितं भीतमुद्घुष्टमव्यक्तमनुनासिकम् ।
काकस्वरं शिरसि गतं तथा स्थानविवर्ज्जितम् ॥
उपांशुदष्टं त्वरितं निरस्तं
विलम्बितं गद्गदितं प्रगीतम् ।
निष्पीडितं ग्रस्तपदाक्षरञ्च
वदेन्न दीनं न तु सानुनास्यम् ॥
प्रातः पठेन्नित्यमुरःस्थितेन
स्वरेण शार्द्दूलरुतोपमेन ।
मध्यं दिने कण्ठगतेन चैव
चक्राह्वसंकूजितसन्निभेन ॥
तारन्तु विद्यात् सवनं तृतीयं
शिरोगतं तच्च सदा प्रयोज्यम् ।
मयूरहंसान्यभृतस्वराणां
तुल्येन नादेन शिरःस्थितेन ॥
अचोऽस्पृष्टा यणस्त्वीषन्नेमस्पृष्टाः श-रस्तथा ।
शेषाः स्पृष्टा हलः प्रोक्ता निबोधानुप्रदानतः ॥
यमोऽनुनासिका न ह्रौ नादिनो ह-झषः स्मृताः ।
ईषन्नादा यणो जश्च श्वासिनश्च खफादयः ॥
ईषच्छ्वासांश्चरो विद्यात् गोर्द्धामैतत् प्रचक्षते ।
दाक्षीपुत्रः पाणिनिना येनेदं व्यापितं भुवि ॥
छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ।

ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ॥
शिक्षा घ्राणन्तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ॥
उदात्तमाख्याति वृषोऽङ्गुलीनां
प्रदेशिनीमूलनिविष्टमूर्द्धा ।
उपान्तमध्ये स्वरितं धृतञ्च
कनिष्ठिकायामनुदात्तमेव ॥
उदात्तं प्रदेशिनीं विद्यात्प्रचयं मध्यतोऽङ्गुलिम् ।
निहतन्तु कनिष्ठिक्यां स्वरितोपकनिष्ठिकाम् ॥
अन्तोदात्तमाद्युदात्तमुदात्त-
मनुदात्तं नीचस्वरितम् ।
मध्योदात्तं स्वरितं द्व्युदात्तं
त्र्युदात्तमिति नव पदशय्या ॥
अग्निः सोमः प्र वो वीर्य्यं हविषां
स्वर्बृहस्पतिरिन्द्राबृहस्पती ।
अग्निरित्यन्तोदात्तं सोम इत्याद्युदात्तं प्र इत्यु-
दात्तं व इत्यनुदात्तं वीर्य्यं नीचस्वरितम् ॥
हविषां मध्योदात्तं स्वरिति स्वरितम् । बृहस्पति-
रिति द्व्युदात्तमिन्द्राबृहस्पती इति त्र्युदात्तम् ॥
अनुदात्तो हृदि ज्ञेयो मूर्द्ध्न्युदात्त उदाहृतः ।
स्वरितः कर्णमूले तु सर्व्वास्ये प्रचयः स्मृतः ॥
चाषस्तु वदते मात्रां द्विमात्रन्त्वेव वायसः ।
शिखी रौति त्रिमात्रन्तु नकुलस्त्वर्द्धमात्रकम् ॥
कुतीर्थादागतं दग्धमपवर्णञ्च भक्षितम् ।
न तस्य पाठे मोक्षोऽस्ति पापाहेरिव किल्वि-
षात् ॥
सुतीर्थादागतं व्यक्तं साम्नाय्यं सुव्यवस्थितम् ।
सुस्वरेण सुवक्त्रेण प्रयुक्तं ब्रह्म राजते ॥
मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥
अनक्षरं हतायुष्यं विस्वरं व्याधिपीडितम् ।
अक्षता शस्त्ररूपेण वज्रं पतति मस्तके ॥
हस्तहीनन्तु योऽधीते स्वरवर्णविवर्ज्जितम् ।
ऋग्यजुःसामभिर्दग्धो वियोनिमधिगच्छति ॥
हस्तेन वेदं योऽधीते स्वरवर्णार्थसंयुतम् ।
ऋग्यजुःसामभिः पूतो ब्रह्मलोके महीयते ॥
शङ्करः शाङ्करीं प्रादाद्दाक्षीपुत्राय धीमते ।
वाङ्मयेभ्यः समाहृत्य देवीं वाचमिति स्थितिः ॥
येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात् ।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः ॥
येन धौता गिरः पुंसां विमलैः शब्दवारिभिः ।
तमश्चाज्ञानजं भिन्नं तस्मै पाणिनये नमः ॥
अज्ञानान्धस्य लोकस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै पाणिनये नमः ॥
त्रिनयनमुखनिःसृतामिमां य
इह पठेत् प्रयतश्च सदा द्विजः ।
स भवति धनधान्यपशुपुत्त्रकीर्त्तिमा-
नतुलञ्च सुखं समश्नुते दिवीति दिवीति ॥
अथ शिक्षामात्मोदात्तश्च हकारं स्वराणां
यथा सौराष्ट्रिका । गौव्यचोऽस्पृष्टोदात्तं चाषस्तु
शङ्कर एकादश ॥” इति वेदशिक्षासमाप्तिम-
गमत् ॥ * ॥ अपि च ।
अग्निरुवाच ।
“वक्ष्ये शिक्षां त्रिषष्टिः स्युर्व्वर्णा वा चतुरा-
धिकाः ।
स्वरा विंशतिरेकश्च स्पर्शानां पञ्चविंशतिः ॥
यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमाः स्मृताः ।
अनुस्वारो विसर्गश्च ×कꣳपौ चापि परा-
श्रितौ ॥
दुःस्पृष्टश्चेति विज्ञेयः ऌकारः प्लुत एव च ।
रङ्गश्च खे अराँ इव हकारः पञ्चमैर्युतः ॥
अन्तःस्थाभिः समायुक्तः औरस्यः कण्ठ्य
एव सः ।
आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थं मनो युङ्क्ते विवक्षया ॥
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ।
मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं जनयति स्वरम् ॥
प्रातःसवनयोगन्तं छन्दो गायत्त्रमाश्रितम् ।
कण्ठे माध्यन्दिनयुतं मध्यमं त्रैष्टुभानुगम् ॥
तारं तार्त्तीयसवनं शीर्षण्यं जगतानुगम् ।
सोदीर्णो मूर्द्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः ॥
वर्णान् जनयते तेषां विभागाः पञ्चधा स्मृताः ।
स्वरः कालतः स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानतः ॥
अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा ।
जिह्वामूलञ्च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ॥
ओ-भावश्च विवृत्तिश्च श-ष-सा रेफ एव च ।
जिह्वामूलमुपध्मा च गतिरष्टविधोष्मणः ॥
यद्योभावप्रसन्धानमुकारादिपरं पदम् ।
स्वरान्तं तादृशं विद्यात् यदन्यद्व्यक्तमूष्मणः ॥
कुतीर्थादागतं दग्धमपवर्णञ्च भक्षितम् ।
एवमुच्चारणं पापमेवमुच्चारणं शुभम् ॥
सुतीर्थादागतं द्रव्यं स्थानार्थं सुव्यवस्थितम् ।
सुस्वरेण सुवक्त्रेण प्रयुक्तं ब्रह्म राजते ॥
न करालो न लम्बोष्ठो नाव्यक्तो नानुनासिकः ।
गद्गदोबद्धजिह्वश्च न वर्णान् वक्तुमर्हति ॥
उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च स्वरास्त्रयः ।
ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति कालतो नियमा अचि ॥
कण्ठ्यावहा वि-चु-य-शास्तालव्या ओष्ठजावुपू ।
स्युर्मूर्द्धन्या ऋ-टु-र-षा दन्त्या ऌ-तु-ल-साः
स्मृताः ॥
जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तो दन्त्योष्ठ्यो वः स्मृतो
बुधैः ।
एऐ तु कण्ठ्यतालव्यौ ओ औ कण्ठ्योष्ठजौ
स्मृतौ ॥
अर्द्धमात्रा तु कण्ठ्या स्यात् एकारैकारयोर्भवेत् ।
अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः ॥
अचोऽस्पृष्टा यणस्त्वीषन्नेमस्पृष्टाः शरः स्मृताः ।
शेषाः स्पृष्टा हलः प्रोक्ता निबोधानुप्रदानतः ॥
यमोऽनुनासिका न ह्रो नादिनो ह झषः स्मृताः ।
ईषन्नादा यणो जश्च श्वासिनश्च खफादयः ।
ईषच्छ्वासांश्चरो विद्याद्गोर्धामैतत् प्रचक्षते ॥”
इत्याग्नेये महापुराणे शिक्षानिरूपणं नाम
३३६ अध्यायः ॥

शिक्षाकरः, पुं, (करोतीति । कृ + अच् । शिक्षाया
करः ।) व्यासः । इति शब्दमाला ॥ शिक्षा-
कर्त्तरि, त्रि ॥
शिक्षागुरुः, पुं, (शिक्षाया गुरुः ।) विद्यादाता
गुरुः । मन्त्राद्युपदेशकर्त्ता दीक्षागुरुः । यथा ।
इयं हि रसभावविशेषदीक्षागुरोर्विक्रमादित्य-
स्याभिरूपभूयिष्ठा परिषत् । इत्यभिज्ञान-
शकुन्तलायाम् १ अङ्कः ॥
शिक्षितः, त्रि, (शिक्ष + क्तः ।) विज्ञः । इत्य-
मरः ॥ शिक्षायुक्तः । यथा,—
“आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञा-
नम् ।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः ॥”
इत्यभिज्ञानशकुन्तलायाम् १ अङ्कः ॥
शिक्षिताक्षरः, पुं, (शिक्षितानि अक्षराणि येन ।)
शिक्षाकारी । छात्रः । यथा,—
“स्यादक्षरमुखः कालाक्षरिकः शिक्षिताक्षरः ।”
इति त्रिकाण्डशेषः ॥
(शिक्षिते, त्रि । यथा, राजतरङ्गिण्याम् ।५।८३।
“स सुय्यनामा मतिमान् प्रबुद्धः शिक्षिता-
क्षरः ।
कस्याप्यासीद्गृहपतेरर्भकाध्यापको गृहे ॥”)
शिखकः, पुं, लेखकः । इति संक्षिप्तसारोणादि-
वृत्तिः ॥
शिखण्डः, पुं, मयूरपुच्छः । इत्यमरः ॥ यथा,—
“शिखण्डोऽस्त्री पिच्छबर्हे शिखिपुच्छशिख-
ण्डके ।”
इति शब्दरत्नावली ॥
(यथा, महाभारते । १२ । २८१ । ५८ ।
“वृत्रस्य रुधिराच्चैव शिखण्डाः पार्थ जज्ञिरे ।
द्विजातिभिरभक्ष्यास्ते दीक्षितैश्च तपोधनैः ॥”)
चूडा । इति मेदिनी ॥
शिखण्डकः, पुं, (शिखण्ड इव । कन् ।) काक-
पक्षः । इत्यमरः । जुल्पी इति भाषा । “द्वे
क्षत्त्रियकुमाराणां शिखाचये । उक्तञ्च ।
‘बालानाञ्च शिरः कार्य्यं त्रिशिखं मुण्डमेव
चेति ।’
शिखापञ्चके इत्यन्ये । सामान्येन चूडाया-
मित्यन्ये । काकपक्षाकारत्वात् काकपक्षः ।
शिरसि खण्डते शिखण्डकः मनीषादिः ताल-
व्यादिः । शिखण्डे तु शिखावर्हे इति तालव्यादौ
रभसः । शिखाण्डकश्च । शिखण्डकशिखाण्डका-
विति वाचस्पतिः ।” इति तट्टीकायां भरतः ॥
(यथा, रघुः । ११ । ५ ।
“तौ पितुर्नयनजेन वारिणा
किञ्चिदुक्षितशिखण्डकावुभौ ।
धन्विनौ तमृषिमन्वगच्छतां
पौरदृष्टिकृतमार्गतोरणौ ॥”)
मयूरपुच्छे, क्ली च ॥ इति शब्दरत्नावली ॥
शिखण्डिकः, पुं, (शिखण्डीव कायति शब्दायते
इति । कै + कः । यद्वा, शिखण्डोऽस्यास्तीति ।
शिखण्ड + ठन् ।) कुक्कुटः । इति हेमचन्द्रः ॥

शिखण्डिका, स्त्री, शिखा । यथा,—
"चूडा केशी केशपाशी शिखा शिखण्डिका
समाः ॥"
इति हेमचन्द्रः ॥

शिखण्डिनी, स्त्री, (शिखण्डश्चूडा अस्त्यस्या इति । इनि । ङीप् ।) यूथिका । गुञ्जा । इति मेदिनी ॥ द्रुपदराजकन्या । (यथा, महाभारते ।५।१८९।२।
"कन्या शिखण्डिनी जाता पुरुषो वै निवे-
दितः ॥")
सा यक्षस्य पुंस्त्वग्रहणेन पुरुषो भूत्वा शिखण्डीति नाम्ना ख्यातः । एतद्विवरणं महाभारते । ५ । १९० अध्यायमारभ्य विशेषतो द्रष्टव्यम् ॥ मयूरी । शिखण्डिन्-शब्दात् स्त्रियां ईप्प्रत्ययेन निष्पन्ना ॥ (विजिताश्वराजस्त्री । यथा, भागवते । ४ । २४ । ३ ।
"अपत्यत्रयमाधत्त शिखण्डिन्यां सुसम्मतम् ॥"
शिखण्डविशिष्टा । यथा, महाभारते । ४ । ३५ । १ ।
"सा प्राद्रवत् काञ्चनमाल्यधारिणी
ज्येष्ठेन भ्रात्रा प्रहिता यशस्विनी ।
सुदक्षिणा वेदिविलग्नमध्या
सा पद्मपत्राभनिभा शिखण्डिनी ॥")

शिखण्डी, [न्] पुं, मयूरपुच्छः । गाङ्गेयारिः । स तु द्रुपदराजपुत्त्रः । (अस्य जन्मादिविवरणं महाभारते । ५ । १९० अध्याये द्रष्टव्यम् ॥) मयूरः । इति मेदिनी ॥ (यथा, रघुः ।१।३९।
"षड्जसंवादिनीः केका द्विधाभिन्नाः शिख-
ण्डिभिः ॥")
कुक्कुटः । वाणः । इति हेमचन्द्रः ॥ गुञ्जा । स्वर्णयूथिका । इति राजनिर्घण्टः ॥ विष्णुः । यथा । शिखण्डी नहुषो वृषेति तस्य सहस्रनामस्तोत्रम् ॥ (शिवः । यथा, महाभारते । १३ । १७ । ३१ ।
"जटी चर्म्मी शिखण्डी च सर्व्वाङ्गः सर्व्व-
भावनः ॥")

शिखरं, क्ली, (शिखास्यास्तीति । "वुञ्छण्कठजिति ।" ४ । २ । ८० । अश्मादित्वात् रः ह्रस्वश्च ।) पर्व्वताग्रम् । तत्पर्य्यायः । कूटम् २ शृङ्गम् ३ । इत्यमरः ॥ शैलाग्रदेशकम् ४ । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, महाभारते । १ । १९ । २८ ।
"विदारयन् गिरिशिखराणि पत्त्रिभिः ॥")

शिखरः, पुं क्ली, (शिखास्त्यस्येति । शिखा + रः । ह्रस्वश्च ।) वृक्षाग्रम् । तत्पर्य्यायः । शिरः २ अग्रम् ३ । इत्यमरः ॥ शिरम् ४ । इति शब्दरत्नावली ॥ प्राग्रम् ५ । इति राजनिर्घण्टः ॥ पर्व्वतशृङ्गम् । पुलकः । कक्षः । पक्वदाडिमबीजाभमाणिक्यम् । सकलाग्रम् । इति मेदिनी ॥ कोटिः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

शिखरवासिनी, स्त्री, (शिखरे वसतीति । वस + णिनिः । ङीप् ।) दुर्गा । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

शिखरा, स्त्री, मूर्व्वा । इति शब्दचन्द्रिका ॥

शिखरिणी, स्त्री, रसाला । वृत्तभेदः । नारीरत्नम् । मल्लिका । रोमावली । इति मेदिनी ॥ वृत्तभेदो यथा,—
"रसै रुद्रैश्छिन्ना य-म-न-स भला गः शिख-
रिणी ।
कराद्यस्य भ्रष्टे ननु शिखरिणी दृश्यति शिशो-
र्विलीनाः स्मः सत्यं नियतमवधेयं तदखिलैः ।
इति त्रस्यद्गोपाशुचितनिभृतालापजनितं
स्मितं बिभ्रत् देवो जगदवतु गोवर्द्धनधरः ॥"
इति छन्दोमञ्जर्य्याम् २ स्तवकः ॥
नवमालिका । द्राक्षाविशेषः । इति राजनिर्घण्टः ॥ मूर्व्वा । इति शब्दचन्द्रिका ॥

शिखरी, [न्] पुं, (शिखरोऽस्यास्तीति । शिखर + इनिः ।) पर्व्वतः । (यथा, गीतायाम् । १० । २३ ।
"वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणाम-
हम् ॥")
वृक्षः । अपामार्गः । इति मेदिनी ॥ कोङ्कः । कोयष्टिः । इति हेमचन्द्रः । वन्दाकः । कर्कटशृङ्गी । कुन्दुरुकः । यावनालः । इति राजनिर्घण्टः ॥ (कोटिविशिष्टे, त्रि । यथा, महाभारते । १ । ७४ । ४ ।
"दन्तैः शुक्लैः शिखरिभिः सिंहसंहननो-
महान् ॥")

शिखलोहितः, पुं, वृक्षविशेषः । इति शब्दचन्द्रिका ॥ कुकुरसुड़ा इति भाषा ॥

शिखा, स्त्री, (शी + "शीङो ह्रस्वश्च ।" उणा० ५ । २४ । इति खः ह्रस्वो गुणाभावश्च । स्त्रियां टाप् ।) अग्निज्वाला । तत्पर्य्यायः । ज्वालः २ कीलः ३ अर्च्चिः ४ हेतिः ५ शिखा ६ । इत्यमरः ॥ (यथा, माघे, । १ । २० ।
"विदिद्युते वाड़वजातवेदसः
शिखाभिराश्लिष्ट इवाम्भसां निधिः ॥")
पिङ्गलशिखाग्नेः शुभसूचकत्वं यथा, वायुपुराणे ।
"अर्च्चिष्मान् पिङ्गलशिखः सर्पिःकाञ्चनसन्निभः ।
स्निग्धः प्रदक्षिणश्चैव वह्निः स्यात् कार्य्य-
सिद्धये ॥"*॥
अग्नेरशुभलक्षणं यथा । ब्रह्मपुराणे ।
"अल्पे रूक्षे सस्फुलिङ्गे वामावर्त्ते भयानके ।
आर्द्रकाष्ठेश्च सम्पन्ने फुत्कारवति पावके ॥
कृष्णार्च्चिषि सुदुर्गन्धे तथा लिहति मेदिनीम् ।
आहुतीर्जुहुयात् यस्तु तस्य नाशो भवेत्
ध्रुवम् ॥"
इति तिथितत्त्वम् ॥*॥
शिरोमध्यस्थकेशः । तत्पर्य्यायः । चूड़ा २ केशपाशी ३ । इत्यमरः ॥ जुटिका ४ जूटिका ५ । इति शब्दरत्नावली ॥ केशी ६ शिखण्डिका ७ । इति हेमचन्द्रः ॥ * ॥ गायत्त्र्या शिखाबन्धनं यथा,—
"गायत्त्र्या तु शिखां बद्ध्वा नैरृत्यां ब्रह्मरन्ध्रतः ।
जुटिकाञ्च ततो बद्ध्वा ततः कर्म्म समारभेत् ॥"*
शूद्रस्य शिखाबन्धे मन्त्रो यथा,—
"ब्रह्मवाणीसहस्राणि शिववाणी शतानि च ।
विष्णोर्नामसहस्रेण शिखाबन्धं करोम्यहम् ॥"*
शिखामोचनमन्त्रो यथा,—
"गच्छन्तु सकला देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
तिष्ठत्वत्राचला लक्ष्मीः शिखामुक्तं करोम्य-
हम् ॥"*॥
शिखाबन्धनानन्तरमाचमनं यथा,—
"निबद्धशिख आसीनो द्विज आचमनं चरेत् ।
कृत्वोपवीतं सव्येऽंशे वाङ्मनःकायसंयतः ॥"*॥
मुक्तशिखस्याचमने दोषो यथा,—
"शिरः प्रावृत्य कण्ठं वा मुक्तकच्छशिखोऽपि वा ।
अकृत्वा पादयोः शौचं आचान्तोऽप्यशुचि-
र्भवेत् ॥"
इति आह्निकतत्त्वम् ॥*॥
शाखा । बर्हिचूड़ा । (यथा, महाभारते । १२ । २८२ । ५३ ।
"रथागतमथाश्वानां शिखोद्भेदश्च बर्हिणाम् ॥")
लाङ्गलिकी । अग्रमात्रम् । (यथा, भागवते । ३ । १३ । ४४ ।
"सटाशिखोद्धूतशिवाम्बुबिन्दुभिः ॥")
चूड़ामात्रम् । प्रपदम् । इति मेदिनी ॥ प्रधानम् । शिफा । छविः । इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, कथासरित्सागरे । २१ । ८५ ।
"स्फुरद्रत्नशिखाजालं धाम्ना मोहतमोप-
हम् ॥")
स्मरज्वरः । इति शब्दरत्नावली ॥

शिखाकन्दं, क्ली, (शिखायुक्तः कन्दो यस्य ।) गृञ्जनम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

शिखाण्डकः, पुं, काकपक्षः । इति हेमचन्द्रः ॥

शिखातरुः, पुं, (शिखाया: दीपशिखायास्तरुरिव ।) दीपवृक्षः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ पिलसुज इति भाषा ॥

शिखाधरः, पुं, (शिखाया धरः ।) मयूरः । इति शब्दमाला ॥ मञ्जुघोषः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

शिखाधारः, पुं, (शिखां धरतीति । धृ + अण् ।) मयूरः । इति शब्दरत्नावली ॥

शिखामूलं, क्ली, (शिखायुक्तं मूलं यस्य ।) गृञ्जनम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

शिखालुः, पुं, मयूरशिखा । इति राजनिर्घण्टः ॥

शिखावती, स्त्री, (शिखा विद्यतेऽस्याः । शिखा + मतुप् । मस्य वः । स्त्रियां ङीप् ।) मूर्व्वा । इति शब्दचन्द्रिका ॥

शिखावरः, पुं, (शिखा विद्यते अस्य । शिखा + "दन्तशिखात् संज्ञायाम् ।" ५ । २ । ११३ । इति वलच् । रस्य लत्वम् ।) पनसवृक्षः । इति शब्दमाला ॥

शिखावलः, पुं, (शिखा विद्यतेऽस्य । शिखा + "दन्तशिखात् संज्ञायाम् ।" ५ । २ । ११३ । इति वलच् ।) मयूरः । इत्यमरः ॥ (शिखावलनगरम् । शिखावला स्थूणा । इति काशिका ॥)

शिखावला, स्त्री, (शिखा+वलच्। टाप्।) मयूरशिखा। इति राजनिर्घण्टः॥

शिखावान्, [त्] पुं, (शिखा विद्यतेऽस्य। शिखा +मतुप्। मस्य वः।) अग्निः। चित्रकवृक्षः। इत्यमरः॥ केतुग्रहः। इति शब्दरत्नावली॥ शिखायुक्ते, त्रि॥ (यथा, मनौ।१। ३८ श्लोके। "केतवः शिखावन्ति ज्योतींषि।" इति मेधातिथिकुल्लूकौ॥)

शिखावृक्षः, पुं, (शिखाया वृक्षः इव।) दीपवृक्षः। इति शिखातरुशब्ददर्शनात्॥

शिखावृद्धिः, स्त्री, (शिखेव वृद्धिर्यस्याः।) कायिका वृद्धिः। प्रात्यहिकदेयलाभः। इति स्मृतिः॥

शिखिकण्ठं, क्ली, (शिखिनो मयूरस्य कण्ठ इव आकृतिर्यस्य।) तुत्थम्। इति रत्नमाला॥

शिखिग्रीवं, क्ली, (शिखिनः ग्रीवेव आकृतिर्यस्य।) तुत्थम्। इत्यमरः॥

शिखिध्वजः, पुं, (शिखिनो वह्नेर्ध्वज इव।) धूमः। इति त्रिकाण्डशेषः॥ (शिखी मयूरो ध्वजो यस्य।) कार्त्तिकेयः। इति शब्दरत्नावली॥

शिखिनी, स्त्री, (शिखा विद्यतेऽस्याः। इनिः। स्त्रियां ङीप्।) मयूरशिखा। इति राजनिर्घण्टः॥

शिखिपुच्छं, क्ली, (शिखिनः पुच्छम्।) मयूरपिच्छम्। यथा,—
"शिखण्डोऽस्त्री पिच्छबर्हे शिखिपुच्छशिखण्डके॥"
इति शब्दरत्नावली॥

शिखिप्रियः, पुं, (शिखिनः प्रियः।) लघुबदरः। इति राजनिर्घण्टः॥

शिखिमण्डलः, पुं, वरुणवृक्षः। इति शब्दरत्नावली॥

शिखिमोदा, स्त्री, (शिखिनं मोदयतीति। मुद्+ णिच्+अच्। टाप्।) अजमोदा। इति राजनिर्घण्टः॥

शिखियूपः, पुं, श्रीकारी मृगः। इति राजनिर्घण्टः॥

शिखिवर्द्धकः, पुं, (शिखिनं जठराग्निं वर्द्धयतीति। वृध+ण्वुल्।) कुष्माण्डः। इति शब्दरत्नावली॥

शिखिवाहनः, पुं, (शिखी वाहनं यस्य।) कार्त्तिकेयः। इत्यमरः॥

शिखिव्रतं, क्ली, (शिखिनो व्रतम्।) व्रतविशेषः। यथा,—
ब्रह्मोवाच।
"वक्ष्ये प्रतिपदादीनि व्रतानि व्यास शूयताम्।
प्रतिपद्येकभक्ताशी समाप्ते कपिलाप्रदः।
वैश्वानरपदं याति शिखिव्रतमिदं स्मृतम्॥"
इति गारुडे १२८ अध्यायः॥

शिखी, [न्] पुं, (शिखास्यास्तीति। शिखा+ "ब्रीह्यादिभ्यश्च।"५।२।११६। इति इनिः।) मयूरः। (यथा, बृहत्संहितायाम्। ३। २८। "शिखिपत्रनिभः सलिलं न करोति द्वादशाब्दानि॥") अग्निः। (यथा, महाभारते। ४। ५१। ८।
"खड्गी च धन्वी च विभाति पार्थः
शिखी वृतः स्रुग्भिरिवाज्यसिक्तः॥")
चित्रकवृक्षः। इत्यमरः। बलीवर्दः। शरः। केतुग्रहः। द्रुमः। कुक्कुटः। इति मेदिनी॥ घोटकः। इति हेमचन्द्रः॥ अजलोमा। इति रत्नमाला॥ सितावरः। मेथिका। इति राजनिर्घण्टः॥ पर्व्वतः। ब्राह्मणः। दीपः। इति केचित्॥ शिखायुक्ते, त्रि। इति मेदिनी॥

शिग्रुः, पुं, (शेते स्वल्पेपि वायौ। शी+"जत्रादयश्च।"उणा० ४।१०२। इति रुः। ह्रस्वो गुणागमश्च।) शाकम्। इत्यमरः॥ वृक्षविशेषः। शजिना इति भाषा। तत्पर्य्यायः। हरितशाकः २ शाकपत्रः ३ सुपत्रकः ४ उपदंशः ५ बमादंशः ६ कोमलपत्रकः ७ बहुमूलः ८ दंशमूलः ९ तीक्ष्णमूलः १०। अस्य गुणाः। कटुत्वम्। तिक्तत्वम्। उष्णत्वम्। तीक्ष्णत्वम्। वातकफमुखजाड्यव्रणदोषहरत्वम्। दीपनत्वम्। रुच्यत्वञ्च। तस्य पत्रशाकगुणाः। रुच्यत्वम्। वातकफकृमिनाशित्वम्। कटुत्वम्। उष्णत्वम्। दीपनत्वम्। पथ्यत्वम्। पाचनत्वञ्च॥ *॥ अपि च।
"शोभाञ्जनो नीलशिग्रुस्तीक्ष्णगन्धो जनप्रियः।
मुखमोदः श्यामशिग्रुश्चक्षुष्यो रुचिराञ्जनः॥
शोभाञ्जनस्तीक्ष्णकटुः स्वादूष्णः पिच्छिलस्तथा।
जन्तुवातार्त्तिशूलघ्नश्चक्षुष्यो रोचनः परः॥*॥
श्वेतशिग्रुः सुतीक्ष्णः स्यान्मुखभङ्गः सिताह्वयः।
सन्दलः श्वेतमरिचो रोचनो मधुशिग्रुकः॥
श्वेतशिग्रुः कटुस्तीक्ष्णः शोफानिलनिबर्हणः।
अङ्गव्यथाहरो रुच्यो दीपनो मुखजाड्यनुत्॥*॥
रक्तको रक्तशिग्रुः स्यान्मधुरो बहुलच्छदः।
सुगन्धिः केशरो सिंही मृगारिश्च प्रकीर्त्तितः॥
रक्तशिग्रुर्महावीर्य्यो मधुरश्च रसायनः।
शोफाध्मानसमीरार्त्तिपित्तश्लेष्मापसारकः॥"
इति राजनिर्घण्टः॥
(वानप्रस्थाश्रमिणां तद्भक्षणनिषेधो यथा मनौ। ६। १४।
"वर्ज्जयेन्मधुमांसञ्च भौमानि कवकानि च।
भूस्तृणं शिग्रुकञ्चैव श्लेष्मातकफलानि च॥"
"शिग्रुकं वाहीकेषु प्रसिद्धं शाकम्।" इति मेधातिथिकुल्लूकौ॥)

शिग्रुजं, क्ली, (शिग्रोर्ज्जायते इति। जन+डः।) शोभाञ्जनवीजम्। तत्पर्य्यायः। श्वेतमरिचम् २। इत्यमरः॥ शिग्रुभवे, त्रि॥

शिग्रुवीजं, क्ली, (शिग्रोर्व्वीजम्।) शोभाञ्जनवीजम्। इति शब्दचन्द्रिका॥

शिघ,- इ आघ्राणे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा० पर०-सक०-सेट्।) इ, शिङ्घति। इति दुर्गादासः॥

शिङ्घाणं, क्ली, (शिङ्घ+आणकः। पृषोदरादित्वात् कलोपः। इत्युणादिवृत्तौ उज्ज्वलदत्तः।३।८३।) काचपात्रम्। लोहमलम्। नासिकामलम्। इति मेदिनी॥ शिकनि इति भाषा॥

शिङ्घाणकः, पुं, (शिङ्घति इति। शिघ+"आणको लूधूशिङ्घिधाञ्भ्यः।" उणा० ३। ८३। इति आणकः।) श्लेष्मा। इत्युणादिकोषः॥

शिङ्घाणकः, पुं क्ली, (शिङ्घ+आणकः।) नासिकामलम्। इत्युणादिकोषः॥

शिङ्घितं, त्रि, (शिङ्घ+क्तः।) घ्रातम्। इति शब्दरत्नावली॥

शिज, इ ल कि ङ अस्फुटध्वनौ। इति कविकल्पद्रुमः॥ (चुरा०-पक्षे भ्वा०-अदा० च-आत्म०-अक०-सेट्।) अस्फुटध्वनिरिह भूषणकर्तृक एव। भूषणानान्तु शिञ्जितमित्यमरात्। इ, शिञ्जते। ल ङ, शिङ्क्ते। कि ङ, शिञ्जयते शिञ्जते मञ्जीरम्। तालैः शिञ्जद्वलयसुभगैर्नर्त्तितः कान्तयाने इत्यत्र शिञ्जदिति शत्रन्ततानित्यत्वादिति रमानाथः। वस्तुतस्तु शिङ्क्ते शिञ्जः पचादित्वादन् ततः शिञ्ज इवाचरतीति क्वौ शत्रन्तम्। इति दुर्गादासः॥

शिञ्जा, स्त्री, (शिजि अव्यक्तशब्दे+"गुरोश्च हलः।" ३।३।१०३। इत्यः। टाप्।) भूषणशब्दः। इति शब्दरत्नावली॥ धनुर्गुणः। इति हेमचन्द्रः॥

शिञ्जितं, क्ली, (शिञ्ज+क्तः।) भूषणध्वनिः। इत्यमरः॥ (यथा,—
"नखानि विधुशङ्कया विरहिणी करेणावृणोत्
ततः किशलयभ्रमात् स्वयमथाक्षिपद्दूरतः।
ततो वलयशिञ्जितं भ्रमरगुञ्जिताशङ्कया
उहूरिति कुहूरवध्वनिधिया ततो मूर्च्छिता॥"
इत्युद्भटः॥)

शिञ्जिनी, स्त्री, (शिञ्जति आकृष्टसती शब्दायते इति। शिञ्ज+णिनिः। स्त्रियां ङीप्।) धनुर्गुणः। इत्यमरः॥ नूपुरः। इति हेमचन्द्रः॥

शिञ्जी, [न्] त्रि, भूषणशब्दविशिष्टः। शिञ्जा विद्यतेऽस्य इत्यर्थे इनप्रत्ययेन निष्पन्नः॥

शिट, अनादरे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट्।) शेटति खलं लोकः। इति दुर्गादासः॥

शिण्डाकी, स्त्री, खाद्यद्रव्यविशेषः। यथा,—
"शिण्डाकी राजिकायुक्तैः स्यान्मूलकदलद्रवैः।
सर्षपस्वरसैर्व्वापि शालिपिष्टकसंयुतैः।
शिण्डाकी रोचनी गुर्व्वी पित्तश्लेष्मकरी स्मृता॥"
इति राजनिर्घण्टः॥

शितं, त्रि, (शो तनूकरणे+क्तः। "शाच्छोरन्यतरस्याम्।"७। ४। ४१। इति इकारादेशः।) दुर्ब्बलः। निशितः। इति मेदिनी॥ (यथा, रघौ। ६। ४२।
"धारां शितां रामपरश्वधस्य
सम्भावयत्युत्पलपत्रसाराम्॥")
कृशः। इति विश्वः॥ (पुं, विश्वामित्रगोत्रीय ऋषिः। यथा, महाभारते। १३। ४। ५३।

"आह्निको नैकटिक् चैव शितायूपः शितः
शुचिः ॥")

शितद्रुः, स्त्री, शतद्रुनदी । इत्यमरः ॥ शतलज् इति ख्याता ॥ चीरमोरटः । इति रत्नमाला ॥

शितशूकः, पुं, (शितं निशितं शूकं यस्य ।) यवः । इत्यमरः ॥ इत्यादिरित्यके इति भरतः ॥ गोधूमः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

शितिः, त्रि, (शतिः सौत्रो धातुः+"क्रमितमिशतिस्तम्भामत इच ।" उणा० ४ । १२१ । इति इन् । स च कित् । अत इकारश्च ।) शुक्लः । कृष्णः । (यथा, माघे । १५ । ४८ ।
"शितितारकानुमिततान्त्र-
नयनमहनीकृतं क्षुधा ॥")
भूर्जवृक्षे, पुं । इति मेदिनी ॥ यथा च ।
"शितिस्त्रिषु सिते कृष्णे भूर्जे सारेऽपि च द्वयोः ।"
इति शब्दरत्नावली ॥

शितिकण्ठः, पुं, (शितिः कण्ठो यस्य ।) शिवः । इत्यमरः ॥ (यथा, भागवते । ४ । ३ । १२ ।
"पश्यां व्रजन्तिः शितिकण्ठ ! मण्डितं
नभो विमानैः कलहंसपाण्डुभिः ॥")
दात्यूहपक्षी । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ (यथा, महाभारते । १ । ६० । ६ ।
"यदातु तान् वितुदन्ति वयांसि
तथा गृध्राः शितिकण्ठाः पतङ्गाः ॥")

शितिवारः, पुं, शाकविशेषः । यथा,—
"शितिवारः स्वतपुष्पो वितन्नं सुनिषण्णकम् ॥"
इति जटाधरः ॥

शितिच्छदः, पुं, (शिती छदौ यस्य ।) हंसः । इति शब्दरत्नावली ॥

शितिपक्षः, पुं, (शिती शुक्लौ पक्षौ यस्य ।) हंसः । इति शब्दरत्नावली ॥

शितिसारकः, पुं, (शितिः सारो यस्य ।) तिन्दुवृक्षः । इत्यमरः ॥

शिथिलं, त्रि, (श्रथ+"अजिरशिशिरशिथिलेति ।" उणा० १ । ५४ । इति किरच्-प्रत्ययेन साधुः ।) श्लथः । इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, भागवते । ४ । २८ । १५ ।
"शिथिलावयवो यर्हि गन्धर्व्वैर्हृतपौरुषः ॥")

शिथिलं, क्ली, (श्रथ+किरच् ।) मन्दबन्धनम् । मन्थरत्वम् । इति संक्षिप्तसारोणादिवृत्तिः ॥ संयोगविशेषः । यथा,—
"प्रचयः शिथिलाख्यो यः संयोगस्तेन जन्यते ।"
इति भाषापरिच्छेदः ॥
"प्रचय इति मूले शिथिलाख्य इति किञ्चिदवयवावच्छेदेनावयवान्तरसंयोगिनि महत्त्ववति अवयवे वर्त्तमानः संयोगः प्रचय इत्यर्थः । अत्र महत्त्वपदं न देयं परमाणुसंयोगस्य प्रचयत्वेऽपि न क्षतिरित्यन्ये । भूयोऽवयवावच्छेदेनावयवान्तरसंयोगिन्यवयवे वर्त्तमानः संयोगः प्रचयः तेन परमाणुसंयोगो द्व्यणुकसंयोगो वा न प्रचय इत्यपरे ।" इति सिद्धान्तमुक्तावली-टीकादिनकरी ॥

शिनिः, पुं, क्षत्रियभेदः । इत्युणादिकोषः ॥ (यथा, महाभारते । २ । ४ । ३० ।
"अक्रूरः कृतवर्म्मा च सत्यकश्च शिनेः सुतः ॥")

शिनेर्नप्ता, [ऋ] पुं, सात्यकिः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

शिपविष्टः, पुं, शिपिविष्टः । इत्यमरटीकायां रमानाथः ॥

शिपिः, पुं, रश्मिः । यथा,—
"शैत्यात् शयनयोगाच्च शिपिवारि प्रचक्षते ।
तत्पानाद्रक्षणाच्चैव शिपयो रश्मयो मताः ।
तेषु प्रवेशात् विश्वेशः शिपिविष्ट इहोच्यते ॥"
इति व्यासवचनम् ॥

शिपिविष्टः, पुं, खलतिः । दुश्चर्म्मा । महेश्वरः । इत्यमरः ॥ कुष्ठी । इत्यमरटीकायां रायमुकुटः ॥ अस्य रूपान्तरम् । शिपविष्टः । शिविपिष्टः । इत्यमरटीका ॥ विष्णुः । यथा,—
"नैकरूपो बृहद्रूपः शिपिविष्टः प्रकाशनः ॥"
इति तस्य सहस्रनामस्तोत्रं रमानाथश्च ॥
(पशुप्रविष्टे, त्रि । यथा, भागवते । ४ । १३ । ३५ ।
"पुरोडाशं निरवपन् शिपिविष्टाय विष्णवे ॥"
"शिपिषु पशुषु यज्ञरूपेण प्रविष्टाय । तथाच श्रुतिः यज्ञो वै विष्णुः पशवः शिपिः यज्ञ एव पशुषु प्रतितिष्ठतीति ।" इति श्रीधरस्वामी ॥)

शिप्रः, पुं, सरोवरविशेषः । यथा,—
"एवं विवाह्य विधिवत् सौवर्णे मानसाचले ।
अरुन्धतीं वशिष्ठस्तु मोदमाप तया सह ॥
तत्र यत् पतितं तोयं मानसाचलकन्दरे ।
विवाहावभृतार्थाय शान्त्यर्थं वसुधातलम् ॥
ब्रह्मविष्णुमहादेवपाणिभिः समुदीरितम् ।
तत्तोयं सप्तधा भूत्वा पतितं मानसाचलात् ॥
हेमाद्रेः कन्दरे सानौ सरस्याश्च पृथक् पृथक् ।
तत्तोयं पतितं शिप्रे देवभोग्ये सरोवरे ।
तेन शिप्रा नदी जाता विष्णुना प्रेरिता
क्षितिम् ॥"
इति कालिकापुराणे २३ अध्यायः ॥

शिप्रा, स्त्री, नदीविशेषः । यथा,—
"ततो हिमवतः प्रस्थे प्रतीच्यां तत्पुरस्य च ।
शिप्रं नाम सरः पूर्णं ददृशुर्द्दिवौकसः ॥
तद्रहस्थानमासाद्य ब्रह्मशक्रादयः सुराः ।
उपविष्टा यथान्यायं पुरस्कृत्य महेश्वरम् ॥
तं शिप्रसंज्ञकासारं मनोज्ञं सर्व्वदेहिनाम् ।
शीतामलजलं सर्व्वैर्गुणैर्मानससम्मितम् ॥
दृष्ट्वा चर्व्वा हरस्तस्मिन् सौत्सुक्योऽभूद्वृषध्वजः ।
शिप्रां नाम नदीं तस्मान्निःसृतां दक्षिणोदधिम् ।
गच्छन्तीञ्च ददर्शासौ पावयन्तीं जगज्जनान् ॥"
इति कालिकापुराणे १६ अध्यायः ॥
(हनुः । यथा, ऋग्वेदे । ८ । ६५ । १० ।
"उत्तिष्ठन्नोजसा सह पीत्वी शिप्रे अवेपयः ।"
"शिप्रे हनू ।" इति तद्भाष्ये सायणः ॥)

शिफः, पुं, शिफा । इत्यमरटीकायां विद्याविनोदः ॥

शिफा, स्त्री, वृक्षाणां जटाकारमूलम् । शिकड् इति ख्यातम् । तत्पर्य्यायः । जटा २ । इत्यमरः ॥ मूलम् ३ । इति जटाधरः ॥ नदी (यथा, ऋग्वेदे । १ । १०४ । ३ ।
"हते ते स्यातां प्रवणे शिफायाः ।"
"शिफायाः शिफा नाम नदी तस्याः ।" इति तद्भाष्ये सायणः ॥) मांसिका । माता । इति मेदिनी ॥ शतपुष्पा । हरिद्रा । इति राजनिर्घण्टः ॥ पद्मकन्दः । इति मुकुटधृतस्वामी ॥ (लता । इति मेधातिथिः ॥ यथा, मानौ । ६ । २३० ।
"शिफाविदलरज्ज्वाद्यैर्विदध्यान्नृपतिर्द्दमम् ॥")

शिफाकः, पुं, (शिफा इव । कन् ।) पद्ममूलम् । इति शब्दरत्नावली ॥

शिफाकन्दः, पुं, (शिफायुक्तः कन्दो यस्य ।) पद्ममूलम् । तत्पर्य्यायः । करहाटः २ । इत्यमरः ॥ शिफाकः ३ । इति शब्दरत्नावली ॥ पद्मकन्दः ४ कर्कटः ५ । इति जटाधरः ॥ शिफा ६ कन्दः ७ । इति मुकुटधृतस्वामी ॥

शिफाधरः, पुं, (शिफाया धरः ।) शाखा । इति शब्दचन्द्रिका ॥

शिफारुहः, पुं, (शिफाया रोहतीति । रुह+कः ।) वटवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शिम्ब्डी, स्त्री, क्षुपविशेषः । चाङ्गेरि इति हिन्दीभाषा । तत्पर्य्यायः । मतिदा २ वल्या ३ पङ्गुग्रहारिणी ४ ब्रवत्पत्री ५ वातघ्नी ६ गुच्छपुष्पी ७ । अस्या गुणाः । कटुत्वम् । उष्णत्वम् । वातपृष्ठशूलनाशित्वम् । रसायने युक्ता चेत् देहदार्ढ्यकारित्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥

शिम्बः, पुं, चक्रमर्द्दकः । इति शब्दचन्द्रिका ॥

शिम्बा, स्त्री, (शिम्ब+टाप् ।) कलायादित्वक् । सुँटी इति छिमुड़ा इति च भाषा । तत्पर्य्यायः । शमी २ । इत्यमरः ॥ सिम्बा ३ सिम्बी ४ शिम्बी ५ शिम्बिका ६ शमी ७ सिम्बिका ८ शिम्बिः ९ । इति शब्दरत्नावली ॥ शमिः १० । इति हेमचन्द्रः ॥

शिम्बिः, स्त्री, शिम्बा । इति हेमचन्द्रः ॥ एरका । इति भावप्रकाशः ॥

शिम्बिकः, पुं, कृष्णमुद्गः । यथा,—
"कृष्णे प्रवरवासन्तहरिमन्थजशिम्बिकाः ॥"
इति हेमचन्द्रः ॥

शिम्बिका, स्त्री, (शिम्बि+कन् । टाप् ।) शिम्बा । इति शब्दरत्नावली ॥

शिम्बिपर्णिका, स्त्री, (शिम्बिपर्णी+स्वार्थे कन् ।) मुद्गपर्णी । इति रत्नमाला ॥

शिम्बिपर्णी, स्त्री, (शिम्बेः पर्णमिव पर्णमस्याः । ङीष् ।) मुद्गपर्णी । इति शब्दचन्द्रिका ॥

शिम्बी, स्त्री, (शिम्बि+पक्षे ङीष् ।) शिम्बा । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, राजतरङ्गिण्याम् । १ । १११ ।
"भुञ्जाने कच्छगुच्छानां शिम्बीरम्बुजलोचने ।")
मुद्गपर्णी । कपिकच्छुः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शिरः, पुं, पिप्पलीमूलम् । इति मेदिनी ॥ मस्तकम् । इति जटाधरः ॥ (यथा,—

"पिण्डं दद्यात् गयाशिरे।" इति वायुपुराणम्॥
"शिरो वाटी शिरोऽरत्नी रजोवाटी रजस्तथा।"
इति कोषान्तरम्॥") शय्या। अजगरः। इति संक्षिप्तसारोणादिवृत्तिः॥

शिरः, [स्] क्ली, (श्रि+"श्रयतेः स्वाङ्गे शिरः किच्च।" उणा० ४। १९३। असुन्। सच कित्। धातोः शिरादेशश्च।) शिखरम्। (यथा, महाभारते। ४। २३। २।
"यथा वज्रेण वै दीर्णं पर्व्वतस्य महच्छिरः॥")
मस्तकम्। इत्यमरः॥ (यथा, लक्ष्मीचरित्रे।
"शिरः सपुष्पं चरणौ सुपूजितौ॥")
तच्च मासमात्रेण भवति। इति सुखबोधः॥
तद्रोगनाशकौषधम्। यथा,—
"शिरोरोगहरं लेपात् गुञ्जामूलं सकाञ्जिकम्।"
इति गारुड़े १८८ अध्यायः॥
प्रधानम्। (यथा, भागवते। ५। १४। ४५।
"योगाय सांख्यशिरसे प्रकृतीश्वराय॥")
सेनाग्रम्। इति मेदिनी॥

शिरःकपाली, [न्] पुं, (शिरःकपालोऽस्यास्तीति। इनिः।) नरमस्तककपालधारी सन्न्यासी। इति केचित्॥

शिरःफलः, पुं, (शिरस्युच्चं फलं यस्य।) नारिकेलः। इति त्रिकाण्डशेषः॥

शिरःशूलं, क्ली, (शिरसः शूलम्।) मस्तकवेदनारोगः। (यथा, कथासरित्सागरे। १३। २५५।
"प्रातः सोऽपि शिरःशूलव्यपदेशेन वेष्टनम्।
कृत्वा प्रच्छादयामास ललाटतटमङ्कितम्॥")
तस्यौषधं यथा,—
"श्वेतापराजितामूलं पिप्पलीशुण्ठिसंयुतम्।
परिपिष्टं शिरोलेपात् शिरःशूलविनाशनम्॥"
इति गारुड़े १८८ अध्यायः॥

शिरजः, पुं, (शिरसो जायते इति। जन+डः।) केशः। इति शब्दरत्नावली॥

शिरसिजः, पुं, (शिरसि जायते इति। जन+डः।) केशः। इति जटाधरः॥ (यथा, माघे। ७। ६२।
"अथशिरसिजपाशपातभारा-
दिव नितरां नतिमङ्गिरंसभागैः॥")

शिरसिरुहः, पुं, (शिरसि रोहतीति। रुह+कः।) केशः। इति शब्दरत्नावली॥

शिरस्कं, क्ली, शिरस्त्राणम्। इति हेमचन्द्रः॥
शिरःसम्बन्धिनि, त्रि॥

शिरस्त्रं, क्ली, (शिरस्त्रायते इति। त्रै+कः।) शिरोरक्षणसन्नाहः। टोप् इति ख्यातः। इत्यमरभरतौ॥ (यथा, राजतरङ्गिण्याम्।५।४७।
"वल्गन् मध्येऽश्ववाराणां कृत्यवैवाग्रवाजिना।
वल्गाकृष्टोद्धतश्रवं शिरस्त्रं वामपाणिना॥")

शिरस्त्राणं, क्ली, (शिरस्त्रायते अनेन। त्रै+ल्युट्।) शिरोरक्षणसन्नाहः। खोपड़ा इति टोप् इति च भाषा। तत्पर्य्यायः। शीर्षण्यम् २ शीर्षकम् ३ शिरस्कम् ४। इति हेमचन्द्रः॥
शिरस्त्रम् ५। इत्यमरः॥ (यथा, रघौ। ४। ६४।
"अपनीतशिरस्त्राणाः शेषास्तं शरणं ययुः॥")

शिरस्यः, पुं, (शिरस्+"शाखादिभ्यो यत्।" ५। ३। १०३। इति यत्।) विशदकचः। तत्पर्य्यायः। शीर्षण्यः २। इत्यमरः॥ द्वे स्नातः स्नानादिना वा निर्म्मले अन्योन्यासंपृक्ते केशे। इति भरतः॥

शिरा, स्त्री, धमनिः। इति मेदिनी॥ शिर इति भाषा। अस्याः पर्य्यायादिकं नाड़ीशब्दे द्रष्टव्यम्॥

शिरापत्त्रः, पुं, (शिरायुक्तं पत्त्रं यस्य।) हिन्तालवृक्षः। इति राजनिर्घण्टः॥ कपित्थः। इति शब्दचन्द्रिका॥

शिरालं, क्ली, (शिराः सन्ति अस्य। "पामादिलक्ष्मादिलो शिल्पदेहादिभ्यश्च।"...)

शिरालं, क्ली, (शिराः सन्ति अस्य। "प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम्।" ५। २। ९६। इति लच्।) कर्म्मरङ्गम्। इति शब्दचन्द्रिका॥ (शिरायुक्ते, त्रि। यथा, भट्टौ। २१। ३०।
"आपिङ्गरूक्षोर्द्ध्वशिरस्यवालैः
शिरालजङ्घैर्गिरिकूटदघ्नैः॥")

शिरालकः, पुं, (शिराल इव। कन्।) अस्थिभङ्गवृक्षः। इति शब्दचन्द्रिका॥ हाड़भाङ्गा इति भाषा॥

शिरावृत्तं, क्ली, सीसकम्। इति राजनिर्घण्टः॥

शिरिः, पुं, (शृणात्यनेन+"कृगॄशॄपृकुटिभिदिच्छिदिभ्यश्च।" उणा० ४। १४२। इति इः। स च कित्।) खड्गः। शरः। हिंस्रः। इत्युणादिकोषः॥ शलभः। इति सिद्धान्तकौमुद्यामुणादिवृत्तिः॥

शिरीषः, पुं, (शृणाति झटिति म्लायतीति। शॄ+"शॄपॄभ्यां किच्च।" उणा० ४। २७। इति ईषन् स च कित्।) स्वनामख्यातवृक्षः। (यथा, कुमारे। ५। ४।
"पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवं
शिरीषपुष्पं न पुनः पतत्रिणः॥")
तत्पर्य्यायः। कपीतनः २ भण्डिलः ३। इत्यमरः॥ भण्डिरः ४ भण्डीरः ५ भण्डीलः ६। इति तट्टीका॥ मृदुपुष्पः ७ शुकतरुः ८ विषनाशनः ९। इति रत्नमाला॥ शीतपुष्पः १० भण्डिकः ११ स्वर्णपुष्पकः १२ शुकेष्टः १३ बर्हपुष्पः १४ विषहन्ता १५ सुपुष्पकः १६ उद्दानकः १७ शुकतरुः १८ लोमशपुष्पकः १९ कपीतकः २० कलिङ्गः २१ श्यामलः २२ शङ्खिनीफलः २३ मधुपुष्पः २४ हस्तपुष्पः २५। पुस्तकान्तरे शिखिनीफलः २६ भण्डी २७ प्लवगः २८ शुकपुष्पः २९। अस्य गुणाः। कटुत्वम्। शीतलत्वम्। विषवातपामासकुष्ठकण्डूतित्वग्दोषनाशित्वञ्च। इति राजनिर्घण्टः॥ अपि च।
"शिरीषो भण्डिलो भण्डी भण्डीरश्च कपीतनः।
शुकपुष्पः शुकतरुर्मृदुपुष्पः शुकप्रियः॥
शिरीषो मधुरोऽनुष्णस्तिक्तश्च तुवरो लघुः।
दोषशोथविसर्पघ्नः कासव्रणविषापहः॥"
इति भावप्रकाशः॥ * ॥
कण्टकशिरीषस्य पर्य्यायः।
"कटभी किणिही श्वेता महाश्वेता च रोहिणी।"
इति रत्नमाला॥ * ॥
अस्य गुणाः।
"शिरीषो विषवीसर्पस्वेदत्वग्दोषशोथजित्।"
इति राजवल्लभः॥

शिरीषपत्त्रिका, स्त्री, (शिरीषस्य पत्त्रमिव पत्त्रमस्याः। ततः स्वार्थे कन्। टापि अत इत्वम्।) श्वेतकिणिही। इति राजनिर्घण्टः॥

शिरोगृहं, क्ली, (शिरसो गृहम्।) अट्टालिकोपरिगृहम्। तत्पर्य्यायः। चन्द्रशाला २। इति हेमचन्द्रः॥

शिरोग्रीवं, क्ली, शिरश्च ग्रीवा च द्वयोः समाहारः। यथा। द्वन्द्वैकत्वं अव्ययीभावश्च क्लीबे स्यात् द्वन्द्वस्य समासस्य एकत्वं समाहारत्व इत्यर्थः। यथा, वाक्त्वचं शीस्रजं पाणिपादं शिरोग्रीवम्। इति क्लीवलिङ्गसंग्रहटीकायां भरतः॥

शिरोधरा, स्त्री, (शिरसो धरा।) ग्रीवा। इति हेमचन्द्रः॥ (यथा, भागवते। ३। १७। १०।
"सङ्गीतवद्रोदनवदुन्नमय्य शिरोधराम्।
व्यमुञ्चन् विविधा वाचो ग्रामसिंहास्ततस्ततः॥"
क्लीवलिङ्गेऽपि दृश्यते। यथा, तत्रैव। ३। १३। ३७।
"दंष्ट्राग्रकोटया भगवंस्त्वया धृता ...")

"दीर्घाङ्गुलश्रीयसदः शिरोधरम्॥")

शिरोधिः, स्त्री, (शिरो धीयते अनया। धा+"कर्म्मण्यधिकरणे च।" ३।३।९३। इति किः।) ग्रीवा। इत्यमरः॥

शिरोमणिः, पुं स्त्री, (शिरसो मणिः।) मस्तकधार्य्यरत्नम्। तत्पर्य्यायः। चूड़ामणिः २ शिरोरत्नम् ३। इति शब्दरत्नावली॥ पण्डितस्य उपाधिविशेषश्च॥ (द्वयोरुदाहरणम्। यथा,—
"यस्य सांसारिकी चिन्ता चिन्ता चिन्तामणेः कुतः।
तथैव हि शिरः कम्पः क्व शिरोमणिधारणम्॥"
इत्युद्भटः॥)

शिरोमर्म्मा, [न्] पुं, (शिर एव मर्म्म जीवाधारं यस्य।) शूकरः। इति हेमचन्द्रः॥

शिरोरत्नं, क्ली, (शिरसो रत्नम्।) शिरोमणिः। इत्यमरः॥

शिरोरुजा, स्त्री, (शिरसि रुजतीति। रुज+कः। टाप्।) सप्तपर्णवृक्षः। इति त्रिकाण्डशेषः॥ मस्तकरोगश्च॥

शिरोरुट्, [ह्] पुं, (शिरसि रोहतीति। रुह+क्विप्।) केशः। इति शब्दरत्नावली॥

शिरोरुहः, पुं, (शिरसि रोहतीति। रुह+कः।) केशः। इत्यमरः॥ (यथा, भागवते। ४। २८। ४४।
"चीरवासा व्रतक्षामा वेणीभूतशिरोरुहा॥")

शिरोरोगः, पुं, (शिरसो रोगः ।) मस्तकपीड़ा । यथा,—
अथ शिरोरोगाधिकारः । अत्र शिरोरोगस्य निदानं संख्याचाह ।
"शिरोरोगास्तु जायन्ते वातपित्तकफैस्त्रिभिः ।
सन्निपातेन रक्तेन क्षयेण क्रिमिभिस्तथा ॥
सूर्य्यावर्त्तानन्तवातशंखकार्द्धावभेदकाः ।
एकादशविधस्यास्य लक्षणानि प्रवक्ष्यते ॥"
शिरोरोगा अत्र शिरोरोगः शूलरूपा रुगभिधीयते । वातपित्तकफैस्त्रिभिः । ननु वातपित्तकफैरित्युक्ते तस्त्रित्वबोधात् । किमर्थं त्रिभिरिति पदम् । वातपित्तकफानां पृथक्कारणत्वबोधनार्थम् । तर्हि सर्व्व एव शिरोरोगाः सन्निपातसमुद्भवा इति कथम् । तदा वातादय उत्कटतया पृथक्कारणानि बोद्धव्यानि । क्षयेण रसादिक्षयेण ॥ * ॥ वातिकस्य लक्षणमाह ।
"यस्यानिमित्तं शिरसो रुजश्च
भवन्ति तीव्रा निशि चातिमात्रम्
बन्धोपतापैः प्रशमश्च यत्र
शिरोऽभितापः स समीरणेन ॥"
भवेदिति विशेषः । अनिमित्तं अतर्कितविप्रकृष्टनिमित्तम् । निशि चातिमात्रं रात्रौ शैत्येन रोगाधिक्यात् । प्रतापः स्वेदनम् । शिरोऽभितापः शिरःपीड़ा ॥ * ॥ पैत्तिकमाह ।
"यस्योष्णमङ्गारचितं यथैव
भवेच्छिरो दह्यति चाक्षिनासम् ।
शीतेन रात्रौ च भवेच्छमश्च
शिरोऽभितापः स तु पित्तकोपात् ॥"
दह्यतीत्यार्षत्वात् ॥ * ॥ श्लैष्मिकमाह ।
"शिरो भवेद्यस्य कफोपदिग्धं
गुरु प्रतिष्टब्धमथो हिमञ्च ।
शूनाक्षिनासावदनञ्च यस्य
शिरोऽभितापः स कफप्रकोपात् ॥"
कफोपदिग्धं अन्तःकफलिप्तम् । प्रतिष्टब्धं स्तब्धशिरम् ॥ * ॥ सान्निपातिकमाह ।
"शिरोऽभितापे त्रितयप्रवृत्ते
सर्व्वाणि लिङ्गानि समुद्भवन्ति ।" * ।
रक्तजमाह ।
"रक्तात्मकः पित्तसमानलिङ्ग-
स्पर्शासहत्वं शिरसो भवेच्च ॥"
पैत्तिकाद्भेदकलिङ्गमाह । शिरःस्पर्शासहत्वमिति ॥ * ॥ क्षयजमाह ।
"वसाबलासक्षतसम्भवानां
शिरोगतानामतिसंक्षयेण
क्षयप्रवृत्तः शिरसोऽभितापः
कष्टो भवेदुग्ररुजोऽतिमात्रम् ॥"
क्षतसम्भवं रुधिरम् । कष्टः कृच्छ्रसाध्यः ।
"भ्रमो भ्रमति तुद्येत शिरो विभ्रान्तनेत्रता ।
मूर्च्छा गात्रावसादश्च शिरोरोगे क्षयात्मके ॥"
क्रिमिजमाह ।
"निस्तुद्यते यस्य शिरोऽतिमात्रं
संभक्ष्यमाणं स्फुरतीव चान्तः ।
घ्राणाच्च गच्छेद्रुधिरं सपूयं
शिरोऽभितापः क्रिमिभिः सघोरः ॥"
संभक्ष्यमाणं क्रिमिभिरिति शेषः । घ्राणाच्चेति चकारेण क्रिमिनिर्गमोऽपि बोध्यते ॥ * ॥ सूर्य्यावर्त्तमाह ।
"सूर्य्योदयं या प्रतिमन्दमन्द-
मक्षिभ्रुवं रुक् समुपैति गाढम् ।
विवर्द्धते चांशुमता सहैव
सूर्य्यापवृत्तौ विनिवर्त्तते च ॥
शीतेन शान्तिं लभते च किञ्चि-
दुष्णेन जन्तुः सुखमाप्नुयाद्वा ।
सर्व्वात्मकं कष्टतमं विकारं
सूर्य्यावर्त्तं तमुदाहरन्ति ॥"
सूर्य्योदयमिति तमीकृत्य आरभ्येति यावत् । सूर्य्यस्यापवृत्तौ सूर्य्यस्याधोगतौ ॥ * ॥ अनन्तवातमाह ।
"दोषास्तु दुष्टाः त्रय एव मन्यां
संपीड्य घाटां सरुजां सुतीव्राम् ।
कुर्व्वन्ति सोऽक्षिभ्रुवि शङ्खदेशे
स्थितिं करोत्याशु विशेषतस्तु ॥
गण्डस्य पार्श्वे तु करोति कम्पं
हनुग्रहं लोचनजान् विकारान् ।
अनन्तवातं तमुदाहरन्ति
दोषत्रयोत्थं शिरसो विकारम् ॥"
एवशब्दोऽप्यर्थः । अव्ययानामनेकार्थत्वात् । सरुजां स्वस्य रुजा यथादाहगौरवादिरूपा दोषाः कुर्व्वन्ति । अयमनन्तवातः । स अनन्तवातः अक्ष्यादिषु स्थितिं करोति । विशेषतः गण्डपार्श्वे स्थितिं करोति । पीड़या स्थितिं कृत्वा कम्पादींश्च करोति ॥ * ॥ शङ्खकमाह ।
"पित्तरक्तानिला दुष्टाः शङ्खदेशे विमूर्च्छिताः ।
तीव्ररुग्दाहरागं हि शोथं कुर्व्वन्ति दारुणम् ॥
स शिरोविषवद्वेगात् निरुध्याशु गलं तथा ।
त्रिरात्राज्जीवितं हन्ति शङ्खको नाम नामतः ।
त्र्यहाज्जीवति भैषज्यं प्रत्याख्येयस्य कारयेत् ॥"
पित्तरक्तानिलाः अत्र कफोऽपि योज्यः । कृतानुतापः कफपित्तरक्तैरिति सुश्रुतवचनात् । विमूर्च्छिताः मत्ताः । स शोथः । त्रिरात्रात् त्रिरात्रमध्ये मारयति ॥ * ॥ अर्द्धावभेदकमाह ।
"रूक्षाशनात्यध्यशनाप्राग्वातमैथुनैः ।
वेगसंधारणायासव्यायामैः कुपितोऽनिलः ॥
केवलः सकफो वार्द्धं गृहीत्वा शिरसो बली ।
मन्याभ्रूशङ्खकर्णाक्षिललाटार्द्धेषु वेदनाम् ॥
शस्त्राशनिनिभां कुर्य्यात्तीव्रां सोऽर्द्धावभेदकः ।
नयनं वाथवा श्रोत्रमभिवृद्धो विनाशयेत् ॥"
अवश्या अवश्यायः । आयासः अतिवेगेन भारोद्वहनादिभिः । व्यायामः स्वल्पश्रमः । शस्त्राशनिनिभां शस्त्रपातेनेव वज्रपातेनेव वेदनाम् ॥ * ॥ अथ शिरोरोगाणां चिकित्सा ।
"वातजाते शिरोरोगे स्नेहस्वेदं विमर्द्दनम् ।
पानाहारोपनाहांश्च कुर्य्याद्वातामयापहान् ॥
कुष्ठमेरण्डमूले च नागरे तत्र पेषितम् ।
कट्वम्लं शिरसः पीड़ां भाले लेपनतो हरेत् ॥
रसः श्वासकुठारोत्यस्तस्य नस्यं विशेषतः ।
शिरःशूलं हरत्येव विधेयो नात्र संशयः ॥" * ॥
अथ शिरोवस्तिविधिः ।
"आशिरोव्यापि तच्चर्म षोड़शाङ्गुलमुच्छ्रितम् ।
तेनावेष्ट्य शिरोऽधस्तान्माषकल्केन लेपयेत् ॥
निश्चलस्योपविष्टस्य तैलैः कोष्णैः प्रपूरयेत् ।
धारयेदारुजः शान्त्यै यामं यामार्द्धमेव च ॥
शिरोवस्तिर्हरत्येष शिरोरोगं मरुद्भवम् ।
हनुमन्याक्षिकर्णार्त्तिमर्द्दितं मूर्द्धकम्पनम् ।
विना भोजनमेवैष शिरोवस्त्याः प्रयुज्यते ॥
दिनानि पञ्च वा सप्त रुजि तत्परतोऽपि वा ।
ततोऽपनीतस्नेहस्तु मोचयेद्वस्तिबन्धनम् ॥
शिरोललाटवदनग्रीवादीनि विमर्द्दयेत् ।
सुखोष्णेनाम्भसा स्नात्वा भुञ्जीयाच्छालि यद्धितम् ॥
आमिषं जाङ्गलं पथ्यं तत्र शाल्यादयोऽपि च ।
मुद्गान् माषान् कुलत्थांश्च खादेद्वा निशि
केवलान् ॥
कटुकोष्णान् ससर्पिष्कानुष्णं क्षीरं पिबेत्तथा ।
पित्तात्मके शिरोरोगे शीतानां चन्दनाम्भसाम् ।
कुमुदोत्पलपद्मानां स्पर्शाः सेव्याश्च मारुताः ।
सर्पिषः शतधौतस्य शिरसा धारणं हितम् ॥
रसः श्वासकुठारोत्थः कर्पूरं कुङ्कुमं नवम् ।
शीतं छागीपयः सर्व्वं वदनेनानुवर्षयेत् ॥
तस्य नस्यं भिषग्दद्यात् पित्तजायां शिरोरुजि ।
किन्तु मस्तकशूलेषु सर्व्वेष्वेवं हितं मतम् ॥
गुड़नागरकल्कस्य नस्यं मस्तकशूलनुत् । * ।
रक्तजे पित्तवत् सर्व्वं भोजनालेपसेवनम् ॥
शीतोष्णयोश्च विन्यासो विशेषो रक्तमोक्षणम् ।
कफजे लङ्घनं स्वेदो रूक्षोष्णैः पाचनात्मकैः ॥ *
सन्निपातभवे कार्य्या सन्निपातहरी क्रिया ।
पुराणसर्पिषः पानं विशेषेण दिशन्ति हि ॥
एरण्डमूलं तगरं शताह्वा
जीवन्तिका सैन्धवरास्निके च ।
भृङ्गं विड़ङ्गं मधुयष्टिका च
विश्वौषधं कृष्णतिलस्य तैलम् ॥
अजापयस्तैलविमिश्रितञ्च
चतुर्गुणं भृङ्गरसे विपक्वम् ।
षड्बिन्दवो नासिकयोः प्रदेयाः
सर्व्वाणि हन्युः शिरसो विकारान् ॥
च्युतांश्च केशान् पलितांश्च दन्तान्
निर्बध्य मूलान् प्रकटीकरोति ।
सुपर्णगृध्रप्रतिमञ्च चक्षुः
कुर्व्वन्ति बाह्वोरधिकं बलञ्च ॥"
जीवन्तिका अत्र हरीतकी शाकविशेषश्च ।
इति षड्बिन्दुतैलम् ॥ * ॥
"क्षयजे क्षयनाशाय कर्त्तव्यो बृंहणो विधिः ।
पाने नस्ये च सर्पिः स्याद्वातघ्नैर्मधुरैः शृतम् ॥ *
क्रिमिजे व्योषनक्ताह्वशिग्रुबीजैश्च नावनम् ।
अजामूत्रयुतं नस्यं कर्त्तव्यं क्रिमिनुत् परम् ॥
सूर्य्यावर्त्ते विधातव्यं नस्य कर्म्मादिभेषजम् ।
भोजयेत् सगुड़ं सर्पिर्घृतपूपांश्च भक्षयेत् ॥

लावणं क्षीरसर्पिर्भ्यां पानञ्च क्षीरसर्पिषोः ।
क्षीरपिष्टैस्तिलैः स्वेदो जीवनीयैश्च शस्यते ॥
भृङ्गराजरसच्छागक्षीरतुल्यार्कतापितः ॥
सूर्य्यावर्त्तं निहन्त्याशु नस्येनैव प्रयोगराट् ।*।
अर्द्धावभेदके पूर्व्वं स्नेहस्वेदौ हि भेषजम् ॥
विरेकः कायशुद्धिश्च धूपश्चिम्भोष्णभोजनम् ।
विडङ्गानि तिलान् कृष्णान् समान् पिष्ट्वा
विलेपयेत् ॥
नस्यं वाप्याचरेत्तस्मादर्द्धभेदं व्यपोहति ।
पिबेत् सशर्करं क्षीरं नीरं वा नारिकेलजम् ॥
सुशीतं वापि पानीयं सर्पिर्व्वा नस्ततस्तयोः ॥”
नस्ततः नासिकया पिबेदित्यन्वयः । तयोः
सूर्य्यावर्त्तार्द्धभेदयोः ॥ * ॥
“अनन्तवाते कर्त्तव्यः सूर्य्यावर्त्तहितो विधिः ।
शिराव्यधश्च कर्त्तव्योऽनन्तवातप्रशान्तये ॥
आहारश्च प्रदातव्यो वातपित्तविनाशनः ।
मधुमस्तकसंयावघृतपूरैर्व्विशेषतः ॥”
संयावः पक्वान्नविशेषः । गरकिया इति लोके ।
स च मधुमस्तकः मधुनोपलिप्तः । घृतपूरोऽपूपः ।

“पथ्याक्षधात्री रजनी गुडूची
भूनिम्बनिम्बैः सगुडः कषायः ।
भ्रूशङ्खकर्णाक्षिशिरोऽर्द्धशूलं
निहन्ति नासानिहितः क्षणेन ॥”
इति पथ्यादिक्वाथः ॥ * ॥

“दार्व्वी हरिद्रा मञ्जिष्ठा सनिम्बोशीरपद्मकम् ।
एतत्प्रलेपनं कुर्य्याच्छङ्खकस्य विनाशयेत् ॥
शीततोयाभिषिकञ्च शीतलक्षीरसेवनम् ।
कल्कैश्च क्षीरदुग्धानां शङ्खके लेपनं हितम् ॥”
सर्व्वेषु ।
“यष्टीमधुकमाषः स्यात् तुर्य्यांशन्तु विषम्भवेत् ।
तयोश्चूर्णन्तु सूक्ष्मं स्यात्तच्चूर्णं सर्पिषोक्षितम् ॥
नासिकाभ्यन्तरे न्यस्तं सर्व्वां शीर्षव्यथां हरेत् ।
दृष्टप्रयोगो योगोऽयमशुभाविभिराहृतः ॥
आर्द्रं यच्छ्रिकाचूर्णं चूर्णितं नवसादरम् ।
उभयं योजितं गन्धात्तस्य नश्यति शीर्षरुक् ॥”
इति भावप्रकाशे शिरोरोगाधिकारः ॥

शिरोऽर्त्तिः, स्त्री, (शिरसोऽर्त्तिः ।) शिरःपीड़ा । इति लोके प्रसिद्धिः ॥ (यथा, कथासरित्सागरे । १३ । १५२ ।
“जागरेणातिपानेन शिरोऽर्त्तिं व्यपदिश्य च ।
प्रातः स तस्थौ वस्त्रेण वेष्टयित्वाखिलं शिरः ॥”)

शिरोवल्ली, स्त्री, (शिरसो वल्लीव ।) बर्हिचूड़ा । इति शब्दचन्द्रिका ॥

शिरोवृत्तं, क्ली, (शिर इव वृत्तम् ।) मरिचम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

शिरोवृत्तफलः, पुं, (शिरसि वृत्तं फलं यस्य ।) रक्तापामार्गः । इति भावप्रकाशः ॥

शिरोवेष्टः, पुं, (शिरो वेष्टयतीति । वेष्ट + अच् ।) उष्णीषः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

शिरोवेष्टनं, क्ली, (शिरो वेष्टयतीति । वेष्ट + ल्युः ।) शिरःप्रावरणम् । पागड़ी इति भाषा । तत्पर्य्यायः । उष्णीषः २ वेष्टनम् ३ वेष्टकम् ४ । इति शब्दरत्नावली ॥ शिरोवेष्टः ५ चैलोष्डुकः ६ । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

शिरोऽस्थि, क्ली, (शिरसोऽस्थि ।) मस्तकास्थि । माथार खुलि इति भाषा । तत्पर्य्यायः । करोटिः २ शिरस्त्राणम् ३ शीर्षकम् ४ । इति राजनिर्घण्टः ॥

शिल, श उञ्छे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (तुदा०-पर०-सक०-सेट् ।) उञ्छ उद्धृतशस्यशेषाहरणम् । श, शिलति धान्यं दीनः । शेलिता । इति दुर्गादासः ॥

शिलः, पुं, क्ली, (शिल + कः ।) उञ्छः । इति मेदिनी ॥ (यथा, भागवते । ११ । १७ । ४१ ।
“अन्याभ्यामेव जीवेत शिलैर्व्वा दोषदृक्
तयोः ॥”)
जीवनोपायविशेषः । यथा,—
“ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा ।
सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन ॥
ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम् ।
मृतन्तु याचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ॥”
इति मानवे ४ अध्यायः ॥
“अबाधितस्थानेषु पथि वा क्षेत्रेषु वा अप्रतिहतावकाशेषु यत्र यत्रौषधयो विद्यन्ते तत्र तत्राङ्गुलीभ्यां एकैकं कणं सम्मुच्चयित्वा इति बौधायनदर्शनात् । एकैकधान्यादिगुड़कोच्चयमुञ्छः । मञ्जर्य्यात्मकानेकधान्योच्चयनं शिलः । उञ्छश्च शिलश्च इत्येकवद्भावः । तत् सत्यसमानफलत्वादृतमित्युच्यते ।” इति तट्टीकायां कुल्लूकभट्टः ॥ (रघुवंशीयपारियात्रनृपपुत्त्रः । यथा, रघुवंशे । १८ । १७ ।
“तस्याभवत् सूनुरुदारशीलः
शिलः शिलापट्टविशालवक्षाः ॥”)

शिलगर्भजः, पुं, पाषाणभेदनः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शिला, स्त्री, पाषाणः । (यथा, मनौ । २ । २०४ ।
“गोऽश्वोष्ट्रयानप्रासादसस्तरेषु कटेषु च ।
आसीत गुरुणा सार्द्धं शिलाफलकनौषु च ॥”)
द्वाराधःस्थितदारु । इत्यमरः ॥ स्तम्भशीर्षम् । मनःशिला । इति मेदिनी ॥ कर्पूरः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शिलाकर्णी, स्त्री, (शिलेव कर्णः कोणो यस्याः । ङीष् ।) शल्लकीवृक्षः । इति शब्दचन्द्रिका ॥

शिलाकुट्टकः, पुं, (शिलां कुट्टयति दारयतीति । कुट्ट + ण्वुल् ।) टङ्कः । इति शब्दरत्नावली ॥

शिलाजं, क्ली, (शिलाया जायते इति । जन + डः ।) शैलेयम् । इति शब्दचन्द्रिका ॥ लोहम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

शिलाजतु, क्ली, (शिलाया जतु ।) पर्व्वतजातोपधातुविशेषः । शिलाजित् इति हिन्दीभाषा । तत्पर्य्यायः । गैरेयम् २ अर्थ्यम् ३ गिरिजम् ४ अश्मजम् ५ । इत्यमरः ॥ शिलाजम् ६ अगजम् ७ शैलम् ८ अद्रिजम् ९ । इति रत्नमाला ॥ शैलेयम् १० शीतपुष्पकम् ११ । इति शब्दचन्द्रिका ॥ शिलाव्याधिः १२ । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ अश्मोत्थम् १३ अश्मलाक्षा १४ अश्मजतुकम् १५ जत्वश्मकम् १६ । अस्य गुणाः । तिक्तत्वम् । कटुत्वम् । उष्णत्वम् । रसायनत्वम् । मेहोन्मादाश्मरीशोफकुष्ठापस्मारनाशित्वं च । इति राजनिर्घण्टः ॥ अपि च । शर्करासर्व्वरोगहरत्वम् । योगवाहित्वम् । अत्युष्णशीतकत्वञ्च । इति राजवल्लभः ॥ अस्योत्पत्तिनामलक्षणगुणाः ।
“निदाघे घर्म्मसन्तप्ता धातुसारं धराधराः ।
निर्य्यासवत् प्रमुञ्चन्ति तच्छिलाजतु कीर्त्तितम् ॥
सौवर्णं राजतं ताम्रं आयसं तच्चतुर्व्विधम् ।
शिलाजत्वद्रिजतु च शैलनिर्य्यास इत्यपि ॥
गैरेयमश्मजञ्चापि गिरिजं शैलधातुजम् ।
शिलाजं कटुतिक्तोष्णं कटुपाकं रसायनम् ॥
छेदि योगवहं हन्ति कफमेदाश्मशर्कराः ।
मूत्रकृच्छ्रं क्षयं श्वासं वाताशार्शांसि
पाण्डुताम् ॥
अपस्मारं तथोन्मादं शोथकुष्ठोदरक्रिमीन् ।
सौवर्णन्तु जवापुष्पवर्णं भवति तद्रसात् ॥
मधुरं कटुतिक्तन्तु शीतलं कटुपाकि च ।
राजतं पाण्डुरं शीतं कटुकं स्वादुपाकि च ॥
ताम्रं मयूरकण्ठाभं तत्तिक्तं लवणं भवेत् ।
विपाके कटुकं शीतं सर्व्वश्रेष्ठमुदाहृतम् ॥”
इति भावप्रकाशः ॥

शिलाञ्जनी, स्त्री, (शिलामञ्जयतीति । अञ्ज + ल्युः । स्त्रियां ङीप् ।) कालाञ्जनीवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शिलाटकः, पुं, (शिलामटतीति । अट + ण्वुल् ।) अट्टः । बिलम् । इति मेदिनी ॥

शिलात्मजं, क्ली, (शिलाया आत्मजमिव ।) लोहम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

शिलात्मिका, स्त्री, मूषा । इति शब्दचन्द्रिका ॥

शिलाद्रुः, पुं, (शिलाया द्रुरिव ।) शैलेयम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

शिलाधातुः, पुं, (शिलानां धातुः ।) सितोपलः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ खड़ी इति भाषा ॥ गैरिकभेदः । स तु पीतवर्णः । इति राजनिर्घण्टः ॥
“सितोपलः शिलाधातुर्व्वर्णरेखा च मङ्गलम् ।
शिलाधातुविशेषस्तु विज्ञेयो लोकशास्त्रतः ॥”
इति शब्दरत्नावली ॥

शिलापट्टः, पुं, (शिलायाः पट्टः ।) पेषणार्थशिला । शिल् इति भाषा । इति केचित् ॥

शिलापुत्त्रः, पुं, (शिलायाः पुत्त्र इव ।) पेषणयोग्यशिला । लोड़ा इति भाषा । तत्पर्य्यायः । घर्षणालः २ शिलापुत्त्रकः ३ । इति शब्दरत्नावली ॥

शिलापुष्पं, क्ली, (शिलायाः पुष्पमिव ।) शैलेयम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

शिलाभवं, क्ली, (शिलाया भवः उत्पत्तिर्यस्य ।) शैलेयम् । इति जटाधरः ॥

शिलाभेदः, पुं, (शिलां भिनत्तीति । भिद् + अण् ।) पाषाणभेदी वृक्षः । इति रत्नमाला ॥ प्रस्तरभेदकास्त्रे, क्ली ॥

शिलारम्भा, स्त्री, (शिलेव दृढ़ा रम्भा ।) काष्ठकदली । इति राजनिर्घण्टः ॥

शिलावल्का, स्त्री, (शिलेव कठिनो वल्को यस्याः ।) औषधद्रव्यविशेषः । शिलावाक् इति हिन्दी भाषा । तत्पर्य्यायः । शिलजा २ शैलवल्कला ३ वल्कला ४ शैलगर्भाङ्का ५ शिलात्वक् ६ श्वेता ७ । अस्या गुणाः । हिमत्वम् । स्वादुत्वम् । कृच्छ्रमेहमूत्ररोगाश्मरीशूलज्वरपित्तनाशित्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥

शिलाव्याधिः, पुं, (शिलाया व्याधिरिव ।) शिलाजतु । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

शिलासनं, क्ली, (शिला आसनं यस्य ।) शैलेयम् । इति शब्दरत्नावली ॥ प्रस्तरनिर्म्मितासनञ्च ॥

शिलासारं, क्ली, (शिलावत् सारो यत्र ।) लौहम् । इति हेमचन्द्रः ॥

शिलाह्वं, क्ली, (शिला इत्याह्वा यस्य ।) शिलाजतु । इति भावप्रकाशः ॥

शिलिः, पुं, भूर्जपत्रवृक्षः । इति शब्दमाला ॥

शिलिः, स्त्री, द्वाराधःस्थितकाष्ठम् । इति शब्दरत्नावली ॥ गोवराट् इति भाषा ॥

शिलिन्दः, पुं, मत्स्यविशेषः । यथा,—

"शिलिन्दः श्लेष्मलो बल्यो विपाके मधुरो गुरुः ।
आमवातकरो हृद्यो वातपित्तहरो मतः ॥"
इति राजवल्लभः ॥

शिली, स्त्री, (शिलि + कृदिकारादिति ङीष् ।) द्वाराधःस्थितकाष्ठम् ।) इति शब्दरत्नावली ॥ गण्डूपदी । स्तम्भशीर्षम् । इति मेदिनी ॥

शिलीन्ध्रं, क्ली, कदलीपुष्पम् । (यथा, माघे । ६ । ३२ ।

"नवकदम्बरजोऽरुणिताम्बरै-
रधिपुरन्ध्रि शिलीन्ध्रसुगन्धिभिः ॥")

करका । इति मेदिनी ॥ त्रिपुटा । इति विश्वः ॥

शिलीन्ध्रः, पुं, वृक्षविशेषः । इति मेदिनी ॥ मत्स्यविशेषः । स तु चित्रफलकमत्स्यः । इति जटाधरः ॥

शिलीन्ध्रकं, क्ली, गोमयच्छत्रिका । यथा,—

"गोमयच्छत्रिकामाहुर्दिलीरञ्च शिलीन्ध्रकम् ।"
इति हारावली ॥

शिलीन्ध्री, स्त्री, विहगीभेदः । गण्डूपदी । मृत्तिका । इति मेदिनी ॥

शिलीपदः, पुं, (शिलीव स्थूलं पदमस्मात् ।) पादरोगविशेषः । गोद इति भाषा । तत्पर्य्यायः । पदगण्डीरः २ श्लीपदः ३ । इति शब्दरत्नावली ॥ पादवल्मीकः ४ । इति हेमचन्द्रः ॥ श्लीपदस्य विप्रकृष्टं निदानमाह ।

"पुराणोदकभूयिष्ठाः सर्व्वर्त्तुषु च शीतलाः ।
ये देशास्तेषु जायन्ते श्लीपदानि विशेषतः ॥"

विशेषत इति वचनेनान्यत्रापि श्लीपदानि भवन्ति इति बोध्यते ॥*॥ सामान्यं लक्षणमाह ।

"यः सज्वरो वंक्षणजो भृशार्त्तिः
शोथो नृणां पादगतः क्रमेण ।
तत् श्लीपदं स्यात् करकर्णनेत्र-
शिश्नौष्ठनासास्वपि केचिदाहुः ॥"

तत्त्रिविधम् । वातिकं पैत्तिकं श्लैष्मिकञ्चेति । तेषां लक्षणमाह ।

"वातजं कृष्णरूक्षं हि स्फुटितं तीव्रवेदनम् ।
अनिमित्तरुजञ्चास्य बहुशो ज्वर एव च ॥*॥
पित्तजं पीतसङ्काशं दाहज्वरयुतं भृशम् ॥*॥
श्लैष्मिकन्तु भवेत् स्निग्धं तथा पाण्डु गुरु स्थिरम् ॥
त्रीण्यप्येतानि जानीयात् श्लीपदानि कफो-
च्छ्रयात् ।
गुरुत्वञ्च महत्त्वञ्च यस्मान्नास्ति विना कफात् ॥"

असाध्यमाह ।

"वल्मीकमिव संजातं कण्टकैरुपचीयते ।
वर्षात्मकं महच्चैव वर्जनीयं विशेषतः ॥
यत् श्लेष्मलाहारविहारजाते-
र्जातं तथा भूरिकफस्य पुंसः ।
सास्रावमत्युन्नतसर्व्वलिङ्गं
सकण्टकं वापि विवर्ज्जनीयम् ॥"

अस्य चिकित्सा ।

"लङ्घनालेपनस्वेदरेचनै रक्तमोक्षणैः ।
प्रायः श्लेष्महरैरुष्णैः श्लीपदं समुपाचरेत् ॥
सिद्धार्थशोभाञ्जनदेवदारु-
विश्वौषधैर्म्मूत्रयुतैः प्रलिम्पेत् ।
पुनर्नवा नागरसर्षपाणां
कल्केन वा काञ्जिकमिश्रितेन ॥"

श्लीपदमिति शेषः ।

"धत्तूरैरण्डनिर्गुण्डीवर्षाभूशिग्रुसर्षपैः ।
प्रलेपः श्लीपदं हन्ति चिरोत्थमपि दारुणम् ॥
असाध्यमपि यात्यन्तं श्लीपदं चिरकालजम् ।
मूलेन सहचरायाः तालमिश्रेण लेपनात् ॥"

तालस्य फलरसो ग्राह्यः ।

"सप्तलास्नूलपत्राणां कल्कं तप्तेन वारिणा ।
संहृष्टं लवणोपेतं सेवितं श्लीपदं हरेत् ॥
शाखोटवल्कलक्काथं गोमूत्रेण युतं पिबेत् ।
श्लीपदानां विनाशाय मेदोदोषनिवृत्तये ॥
रजनीं गुड़संयुक्तां गोमूत्रेण पिबेन्नरः ।
वर्षोत्थं श्लीपदं हन्ति दद्रुकुष्ठं विशेषतः ॥
वर्षाभूत्रिफलाचूर्णं पिप्पल्या सह योजितम् ।
सक्षौद्रं श्लीपदं लिह्याच्चिरोत्थं श्लीपदं जयेत् ॥
गन्धर्व्वतैलभृष्टां हरीतकीं गोऽम्बुना पिबति ।
श्लीपदविबन्धमुक्तो भवत्यसौ सप्तरात्रेण ॥"

गन्धर्व्वतैलं एरण्डतैलम् । गोऽम्बुना गोमूत्रेण । इति भावप्रकाशः ॥

शिलीमुखः, पुं, (शिलीव मुखं यस्य ।) भ्रमरः । (यथा, रघुः । ४ । ५७ ।

"कटेषु करिणां पेतुः पुन्नागेभ्यः शिली-
मुखाः ॥")

बाणः । इत्यमरः ॥ (यथा, महाभारते । ४ । ४० । ११ ।

"कस्यायं शायको दीर्घः शिलीपृष्ठः शिली-
मुखः ॥")

युद्धम् । जड़ीभूतः । इति शब्दरत्नावली ॥

शिलेयं, क्ली, (शिलायां भवम् । शिला + ढः ।) शैलजम् । इति शब्दरत्नावली ॥ शिलासम्बन्धिनि, त्रि ॥ (शिलेव + "शिलाया ढः ।" ५ । ३ । १०२ । इति ढः । शिलासदृशे च त्रि ॥ यथा, शिलेयं दधि । इति काशिका ॥)

शिलोच्चयः, पुं, (शिलाया उच्चयो यत्र ।) पर्व्वतः । इत्यमरः ॥ (यथा, रघुवंशे । २ । २७ ।

"न पादपोन्मूलनशक्तिरंहः
शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य ॥")

शिलोञ्छः, पुं, उञ्छशिलम् । उपात्तशस्यात् क्षेत्रात् शेषावचयनम् । उञ्छेन परित्यक्तादानवद्ग्रहणेन शिष्यते सञ्चीयते उञ्छशिलम् । उछि शुञ्छे शिल शुञ्छे इत्योरिगुपधात् कृ इ त्रृति इगुपधात् कः उञ्छशिलं संघातविगृहीतं विपर्य्यस्तम् ।

"शक्यं न चेदुञ्छशिलेन वृत्तिः
फलेन मूलेन च वारिणा च ।"

इति समाहारद्वन्द्वे । उञ्छं शिलञ्च ।

"उञ्छमेषञ्च यच्चान्यत् तत् परिग्रहणं स्मृतम् ।"

इति निगमाभिधाने क्लीवं पुमानुञ्छः स्मृतं शिलं इति वोपालिते पुंस्युञ्छः ।

"रघुकाराहृतसारे
परिणतवाक् कल्पकेदारे ।
भवभूतिकृतशिलोञ्छे
तत्तत्पतितं वयं चिनुमः ॥"

इति गोवर्द्धनः । केचिदुञ्छशिलयोर्भेदमाहुः । प्रतिग्रहात् शिलं श्रेयस्ततोऽप्युञ्छः प्रशस्यते इति । तत्र शाल्यादेर्निपातितपरित्यक्तमञ्जरीणां आदानं शिलम् । शिलं धान्यमञ्जरीसंग्रह इति स्वामी च । एकैकशः कपोतवद्धान्यकणोद्ग्रहणमुञ्छः । तदुक्तं उञ्छो धान्यकणोच्चयः इति । शिलं तालव्यादि दन्त्यादि च । इत्यमरटीकायां भरतः ॥ (यथा, मनौ । ७ । ३३ ।

"एवं वृत्तस्य नृपतेः शिलोञ्छेनापि जीवतः ।
विस्तीर्य्यते यशो लोके तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥")

शिलोत्थं, क्ली, (शिलाया उत्तिष्ठतीति । उत् + स्था + कः ।) शैलेयम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

शिलोद्भवं, क्ली, (शिलाया उद्भवो यस्य ।) शैलेयम् । इति राजनिर्घण्टः ॥ चन्दनविशेषः । यथा,—

"सुशीतलं चन्दनं यत् तैलपर्णिकमुच्यते ।
उभौ च तस्य पर्य्यायौ सौमयोनि शिलोद्भवम् ॥"
इति शब्दचन्द्रिका ॥

शिलौकाः, [स्] पुं, (शिला पर्व्वतः ओको वासस्थानं यस्य ।) गरुड़ः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

शिल्पं, क्ली, (शील समाधौ + "खष्पशिल्पशष्पवाष्परूपपर्पतल्पाः ।" उणा० । ३ । २८ । इति

पः इत्यस्य।) कलादिकं कर्म्म। इत्यमरः॥ हुनर इति पारसीकभाषा। कारिगरी इति हिन्दीभाषा॥ वात्स्यायनोक्तनृत्यगीतवाद्यादि-चतुःषष्टिः वाह्यक्रियाः तथा आलिङ्गनचुम्ब-नादिचतुःषष्टिः अभ्यन्तरक्रियाः कलाः। आदिना स्वर्णकारादिकारुकर्म्मग्रहः। एतत् सर्व्वं शिल्पं कथ्यते। इति तट्टीकायां भरतः॥ (यथा, कथासरित्सागरे। २५। १७५।
"ते तन्निरूप्य जगदुर्नैषशो देव शक्यते।
अपरः कर्त्तुमेतद्धि दिव्यं शिल्पं न मानुषम्॥")
स्रुवः। इति मेदिनी॥

शिल्पकारः, पुं, (शिल्पं करोतीति। कृ + अण्।) शिल्पी। शिल्पविद्याव्यवसायी। कारिकर इति भाषा। शिल्पं करोति इत्यर्थे अण्प्रत्ययेन निष्पन्नः॥

शिल्पकारी, [न्] त्रि, (शिल्पं कर्त्तुं शीलमस्य। णिनिः।) शिल्पकर्म्मकर्त्ता। तस्योत्पत्त्यादि यथा,—
"विश्वकर्म्मा च शूद्रायां वीर्य्याधानं चकार सः।
ततो बभूवुः पुत्त्राश्च नवैते शिल्पकारिणः॥
मालाकारः कर्म्मकारः शङ्खकारः कुविन्दकः।
कुम्भकारः कंसकारः षडेते शिल्पिनो वराः॥
सूत्रधारश्चित्रकारः स्वर्णकारस्तथैव च।
पतितास्ते ब्रह्मशापादयाज्या वर्णसङ्कराः॥
स्वर्णकारः स्वर्णचौर्य्यात् ब्राह्मणानां द्विजोत्तम।
बभूव सद्यः पतितो ब्रह्मशापेन कर्म्मणा॥
सूत्रधारी द्विजातीनां शापेन पतितो भुवि।
शीघ्रञ्च यज्ञकाष्ठञ्च न ददौ तेन हेतुना॥
व्यतिक्रमेण चित्राणां सद्यश्चित्रकरस्तथा।
पतितो ब्रह्मशापेन ब्राह्मणानाञ्च कोपतः॥
कश्चिद्वणिग्विशेषश्च संसर्गात् स्वर्णकारिणः।
स्वर्णचौर्य्यादिदोषेण पतितो ब्रह्मशापतः॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते ब्रह्मखण्डे १० अध्यायः॥

शिल्पशाला, स्त्री क्ली, (शिल्पानां शाला।) स्वर्णकारादीनां कर्म्मगृहम्। कारखाना इति पारसीकभाषा। तत्पर्य्यायः। आवेशनम् २। इत्यमरः॥ शिल्पिशाला ३ शिल्पशालम् ४ शिल्पिशालम् ५। इति तट्टीका॥

शिल्पशास्त्रं, क्ली, (शिल्पस्य शास्त्रम्।) शिल्प-कर्म्मग्रन्थः। तच्छास्त्राणि बहूनि सन्ति तन्मध्ये वास्तुशास्त्रैकं लिख्यते। यथा,—
"स्त्रीपुत्त्रादिकभोगसौख्यजनकं धर्म्मार्थकाम-प्रदं
जन्तूनां लयनं सुखास्पदमिदं शीताम्बु घर्म्मा-पहम्।
वापीदेवगृहादिपुण्यमखिलं गेहात् समुत्पद्यते
गेहं पूर्व्वमुशन्ति तेन विबुधाः श्रीविश्वकर्म्मा-दयः॥
सिंहे गृहारम्भमुशन्ति वृद्धा
यथोदिते मासि वलक्षपक्षे।
शशाङ्कवीर्य्ये सुदिने निमित्ते
शुभं रवौ सौम्यगते प्रवेशम्॥
चैत्रे शोककरं गृहादि रचितं स्यान्माधवेऽर्थ-प्रदं
ज्यैष्ठे मृत्युकरं शुचौ पशुहरं तद्वृद्धिदं श्रावणे।
शून्यं भाद्रपदेऽश्विने कलिकरं भृत्यक्षयं कार्त्तिके
धान्यं मार्गसहस्ययोर्दहनभीर्माघे श्रियः फाल्गुने॥
आदित्ये हरिकर्कनक्रघटगे पूर्व्वापरास्यं गृहं
कर्त्तव्यं तुलमेषवृश्चिकवृषे याम्योत्तरास्यं तथा।
द्वारं भिन्नतया करोति कुमती रोगार्थनाश-स्तदा
कन्यामीनधनुर्गते मिथुनगे चास्मिन्न कार्य्यं गृहम्॥
कन्यादित्रिषु पूर्व्वतो यमदिशि त्वाप्यञ्च चापा-दितो
द्वारं पश्चिमतश्च के जलचरात् सौम्ये रवौ युग्मतः।
यस्माद्वत्समुखं दिशासु भवनं द्वारादिकं हानिकृत्
सिंहं वापि वृषञ्च वृश्चिकघटं वाते हितं सर्व्वतः॥
प्राची मेषतुलारवावुदयति स्यादीश्वरे वह्निभे
चित्रास्वातिभमध्यगा निगदिता प्राची बुधैः पञ्चधा।
प्रासादो भवनं करोति नगरं दिङ्मूढमर्थक्षयं
हर्म्ये देवगृहे पुरे च नितरामायुर्धनं दिङ्मुखे॥
तारे मार्कटिके भुवस्य समतां नीते वले वैनते
दीपाग्रेण तदेक्यतश्च कथिता सूत्रेण सौम्या दिशा।
शङ्कोर्नवगुणेन ३६ मङ्गलवरे छाया तयो-र्मत्स्ययो-
र्जाता पञ्चयुतिस्तु शङ्कुतलतो याम्योत्तरे स्तत्-पुटे॥
राशीनामलिमीनसिंहभवनं पूर्व्वामुखं शोभनं
कन्याकर्कटनक्रराशिषु हितं याम्याननं मन्दिरम्।
राशिर्धन्वितुलायुगस्य सदनं शस्तं प्रतीचीमुखं
पुंसां कुम्भवृषाजराशिभजतां सौम्याननं स्याद्गृहम्॥" *॥

अथ भूपरिग्रहः।
"श्वेता ब्राह्मणभूमिका च घृतवद्गन्धा शुभ-स्वादिनी
रक्ता शोणितगन्धिनी नृपतिभूः स्वादे कषाया च सा।
स्वादेऽम्ला तिलतैलगन्धिरुदिता पीता च वैश्या मही
कृष्णा मत्स्यसगन्धिनी च कटुका शूद्रेति भूलक्षणम्॥
स्वादे भवेद्या मधुरा सिताभा
चतुर्षु वर्णेषु मही प्रशस्ता।
स्नेहान्विता बभ्रुभुजङ्गयोर्या
सौहार्दवत्याखुविड़ालयोर्वा॥ *॥
परीक्षितायां भुवि विघ्नराजं
समर्च्चयेत् चण्डिकया समेतम्।
क्षेत्राधिपं चाष्टदिशाधिनाथान्
सुपुष्पधूपैर्ब्बलिभिः सुखाय॥
खातं भूमिपरीक्षणे करमितं तत् पूरयेत्तन्-मृदा
हीने हीनफलं समे समफलं लाभो रजोवर्द्धिते।
तत् कृत्वा जलपूर्णमाशतपदं गत्वा परीक्ष्यं पुनः
पादोनेऽर्द्धविहीनकेऽथ निभृते मध्याधमेष्टाम्बुनि॥
भूमेः प्राक् प्रवणञ्च शङ्करककुप्सौम्याश्रितं सौख्यदं
वह्नौ वह्निभयं यमे च मरणं चौराद्भयं रक्षसि।
वायव्ये प्रवणञ्च धान्यहरणं स्याच्छोकदं वारुणं
विप्रादेरनुवर्णतश्च सुखदं सृष्टिक्रमात् सौम्यतः॥
अग्नौ राक्षसवायुशङ्करदिशि स्थाप्याः क्रमात् कीलकाः
अश्वत्थात् खदिरात् शिरीषककुभात् वृक्षात् क्रमेण द्विजाः।
वर्णानां कुशमुञ्जकाशशणजं सूत्रं क्रमात् सूत्रणे
निम्ना भूः स्फुटितोषरा विलवती शल्यैर्युता नाशुभा॥"
ककुभादित्यत्र वकुलादिति च पाठः॥ *॥
"प्रश्नत्रयं वापि गृहाधिपेन
देवस्य वृक्षस्य फलस्य वापि।
वाच्यं हि कोष्ठाक्षरसंयुतेन
सत्यं विलोक्यं भवनेषु दृष्ट्वा॥
वा का चा टा ता ए ह सा पापवर्णाः
प्राच्यादिस्थे कोष्ठके शल्यमुक्तम्।
केशाङ्गाराः काष्ठलोहास्थिकाद्यं
तस्मात् कार्य्यं शोधनं भूमिकायाः॥
शल्यं गवां भूपभयं हयानां
रुजं शुनोऽन्त्योः कलहप्रणाशौ।
खरोष्ट्रयोर्हानिमपत्यनाशं
स्त्रीणामजस्याग्निभयं तनोति॥ *॥
कन्यादौ रवितस्त्रये फणिमुखं पूर्व्वादिसृष्टिक्रमं
खातं वास्तुवपुर्दिशात्रयगतं लाङ्गूलपृष्ठं शिरः।
द्वारं तस्य मुखे गृहादि भयदं कुक्षिद्वये सौख्यदं
दुःखं प्राक्खनने शिरोऽङ्घ्रिवपुषः कुक्षौ सुखं दक्षिणे॥
प्राच्यां नागमुखं बुधैर्निगदितं भाद्राश्विने कार्त्तिके।
मार्गात् फाल्गुनशुक्रतः क्रमतया याम्ये जले चोत्तरे।
क्षेत्रे चाष्टविभाजिते दिनकराद्दाराल्लिखेत् कोष्ठगान्
शन्यङ्गारकयोश्च तत्र फणिनः शारीरकं नो खनेत्॥ *॥
शीर्षे मातृपितृक्षयः प्रथमतो खाते रुजा पुच्छके
पृष्ठे हानिभये च कुक्षिखनने स्यात् पुत्त्रधान्या-दिकम्।

पूर्व्वास्येऽनिलखातनं यमसुखे खातं शिवे कारयेत्
शीर्षे पश्चिमगे च वह्निखननं सौम्ये खनेन्नैर्ऋते॥
दक्षिणकोणे पूर्व्वविभागे पूजनपूर्व्वं शिला समर्घ्या।
स्थाप्या शेषशिला दक्षिणत: स्तम्भा: समर्घ्या विधानेन॥"*॥

ब्रह्मशम्भुर्यथा।
"खातं भित्तिशिलान्यासं स्तम्भस्यारोपणं तथा।
पूर्व्वदक्षिणयोर्मध्ये कुर्य्यादित्याह काश्यप:॥"

नारद:।
"नभस्यादिषु मासेषु त्रिषु त्रिषु यथाक्रमम्।
पूर्व्वादिदिक्शिरोवामपार्श्वशायी प्रदक्षिणम्॥"

वास्तुशास्त्रेऽप्युक्तम्।
"वास्तो: शिरसि पुच्छे च वामकुक्षौ च पृष्ठत:।
आयु:काम: खनेन्नैव दक्षकुक्षौ खनि: शुभा॥

भित्तेर्म्मूलं स्थापनीयं जलान्ते
पाषाणे वा हेमरत्नै: सगर्भम्।
शीर्षे गुर्व्वी लेपहीनाधिका वा
सन्धिश्लेषि: पादहीनार्घहान्यै:॥

भवनपुरसुराणां खननं पूर्व्वमुक्त:
कथित इह पृथिव्या: शोधनेऽपि द्वितीय:।
तदनु सुखनिवेशे स्तम्भसंरोपणे स्याद्भवनवसनकाले पञ्चधा वास्तुयज्ञ:॥*॥

वृक्षा दुग्धसकण्टकाश्च फलिनस्त्याज्या गृहाद् दूरत:
शस्ते चम्पकपाटले च कदली जाती तथा केतकी।
यामादूर्द्धमशेषदग्धसुरजा च्छाया न शस्ता गृहे
पार्श्वे कस्य हरेरपीशपुरतो जैनाशुभच्छाया: क्वचित्॥

स दुग्धवृक्षा द्रविणस्य नाशं
कुर्व्वन्ति ते कण्टकिनोऽरिभीतिम्।
प्रजाविनाशं फलिन: समीपे
गृहस्य वर्ज्या: कलधौतपुष्पा:॥

दुष्टो भूतसमाश्रितोऽपि विटपो नोच्छिद्यते शक्तित:
तद्बिल्वोऽथ शमीमशोकवकुलौ पुन्नागसच्चम्पकौ।
द्राक्षापुष्पकमण्डपश्च तिलकान् कुर्य्यां वपेद्दाडिमीं
सौम्यादे: शुभदौ कपीतनवटावौदुम्बराश्वत्थकौ॥

उत्सङ्गनामाभिमुख: प्रवेश:
स्यात् पृष्ठभङ्गो भवनस्य पृष्ठात्।
विनाशहेतु: कथितोऽपसव्य:
स्वस्त्या प्रशस्तो भवनेऽखिलेऽसौ॥

प्रावेश: प्रतिकायको वरुणदिग्वक्त्रो भवेत् स्वस्तितो
वामावर्त्त उदाहृतो यमसुखेऽसौ हीनबाहुर्बुधै:।

उत्सङ्गो नरवाहनाभिवदन: स्वस्त्या यथा निर्म्मित:
प्राक्वक्त्रोऽपि च पूर्णबाहुरुदितो गेहे चतुर्द्धा पुरे॥*॥

हस्त: पर्व्वाष्टयुक्तो मुनिवररचित: पर्व्व चैकं त्रिमात्रं
मात्रा षस्रां यवानामुदरमिलिता निस्तुषा-सुत्तमानाम्।
पुष्पैश्चत्वारि पूर्व्वं तदनु च विभजेदङ्गुलै: पर्व्वपुष्पैर्निग्रन्थौ रक्तकाष्ठो मधुमय उदित: खादिरो वंशशाल्वो:॥

ज्येष्ठोऽष्टाभिर्यवोदरैस्तु मुनिभिर्म्मध्यस्तु षट् कन्यसो
माप्य' चोत्तमकेन ग्रामनगरं क्रोशादिकं योजनम्।
प्रासादप्रतिमे नृपस्य भवनं मध्येन हर्म्यादिकं
यानं षड्यवसम्भवेन शयनं छत्रासनाद्यादिकम्॥ *॥

रुद्रो वायुर्व्विश्वकर्म्मा हुताशो
ब्रह्मा कालस्तोयप: सोमविष्णु:।
पुष्पे देवा मूलतोऽस्मिंश्च मध्यात्
पञ्चाष्टान्त्यं शायिवेदैर्व्विभज्यम्॥

ईशो मारुतविश्ववह्निविधय: सूर्य्यश्च रुद्रो यमो
वैरूपो वसवोऽष्ट दन्तिवरुणौ षड्वक्त्र इच्छा क्रिया।
श्यामं वित्तपतिर्निशाकरजयौ श्रीवासुदेवो हली
कामो विष्णुरिति क्रमेण मरुतो हस्ते त्रयोविंशति:॥*॥

उच्चाटनं रोगभयञ्च दु:खं
वह्नेर्भयं पीड़नकं प्रजाया:।
मृत्युर्व्विनाशोऽपि धनक्षय: स्यान्-
मोक्ष: क्रमाद्दैवतपीड़नेन॥ *॥

हस्तो यत्नात् पुष्पयोरन्तराले
त्वष्ट्रा धार्य्यो मन्दिरादौ निवेशे।
हस्ताद्भूमौ पात्यकस्मात्तदासौ
कार्य्ये विघ्नं दु:खमाविष्करोति॥

तालो द्वादशमात्रिकापरिमितस्तालद्वयं स्यात् कर:
पादोनद्विकरोऽपि किष्कुरुदितश्चापश्चतुर्भि: करै:।
क्रोशो दण्डसहस्रयुग्ममुदितो द्वाभ्याञ्च गव्यूतिका-
ताभ्यां योजनमेव भूमिरखिला कोटीशतं योजनै:॥

सूत्राष्टकं दृष्टिनृहस्तमौञ्जं
कार्पासजं स्यादवलम्बसंज्ञम्।
काष्ठञ्च सृष्टाख्यमतोऽपि लेख्य-
मित्यष्ट सूत्राणि वदन्ति सन्त:॥"

इति वास्तुशास्त्रे राजवल्लभमण्डने मिश्रका लक्षणवर्णनं नाम १ अध्याय:॥ *॥

"संग्रामेऽन्धकरुद्रयोस्तु पतित: स्वेदो महेशात् क्षितौ

तस्माद्भूतमभूच्च भीतिजननं द्यावापृथिव्यां महत्।
तद्दैवै रभसा विगृह्य निहितं भूमावधोवक्त्रकं
देवानां रसनाच्च वास्तुपुरुषस्तेनैव पूज्यो बुधै:॥
प्रासादे भवने तड़ागखनने कूपे च वापीवने
जीर्णोद्धारपुरे च यागभवने प्रारम्भनिर्व्वर्त्तने।
वास्तो: पूजनकं सुखाय कथितं पूजां विना हानये
पादौ रक्षसि कं शिवेऽङ्घ्रिकरयो: सन्धौ च कोणद्वये॥

चैत्राकृतिर्व्वास्तुरिहार्चनीय-
स्त्वेकांशतोभागशतैस्सुयुक्त:।
साधारणोऽष्टाष्टपदोऽपि तेषु
चैकाधिकाशीतिपदस्तथैव॥ *॥

ग्रामे भूपतिमन्दिरे च नगरे पूज्यश्चतु:षष्टिकैरेकाशीतिपदै: समस्तभवने जीर्णे नवाब्धंशकै:।
प्रासादेऽथ शतांशकैस्तु सकले पूज्यस्तथा मण्डपे
कूपे षस्नवचन्द्रभागसहिते १६६ वापीतड़ागे वने॥

ईशो मूर्द्धि समाश्रित: श्रवणयो: पर्जन्यनामादितिरापस्तस्य गले तदंशयुगले प्रोक्तो जयश्चादिति:।
उक्तावर्य्यमभूधरौ स्तनयुगे स्यादापवत्सो हृदि
पञ्चेन्द्रादिसुराश्च दक्षिणभुजे वामे च नागादय:॥

सावित्र: सविता च दक्षिणकरे वामे द्वयं रुद्रतो
मृत्युर्मैत्रगणस्तथोरुविषये स्यान्नाभिपृष्ठे विधि:
मेढ्रे शक्रजयौ च जानुयुगले तौ वह्निरोगौ स्मृतौ
पूष्णो नन्दिगणाश्च सप्त विबुधा: कल्प्या: पदो। पैत्रक:॥ *॥

ईशस्तु पर्ज्जन्यजयेन्द्रसूर्य्या:
सत्यो भृशाकाशक एव पूर्व्वे।
वह्निश्च पूषा वितथाभिधानो
गृहक्षत: प्रेतपति: क्रमेण॥
गन्धर्व्वभृङ्गौ मृगपितृसंज्ञौ
द्वारस्थसुग्रीवकपुष्पदन्ता:।
जलाधिनाथोऽप्यसुरश्च शेष:
स पापयक्ष्मापि च रोगनागौ॥
मुख्यश्च भल्लाटकुबेरशैला-
स्तथैव बाह्ये दितिनोऽदितिश्च।
द्वात्रिंशदेवं क्रमतोऽर्चनीया-
स्त्रयोदशैव त्रिदशाश्च मध्ये॥
प्रागर्य्यमा दक्षिणतो विवस्वान्
मैत्रोऽपरे सौम्यदिशाविभागे।
पृथ्वीधरोऽसावथ मध्यतोऽपि
ब्रह्मार्चनीय: सकलेषु मध्ये॥
आपापवत्सौ शिवकोणमध्ये
सावित्रकोऽग्नौ सविता तथैव।
कोणे महेन्द्रेन्द्रजयौ तृतीये
रुद्रोऽनिलेऽन्योऽपि च रुद्रदास:॥

ईशानवाह्ये चरकी द्वितीये
विदारिका पूतनिका तृतीये ।
पापाभिधा मारुतकोणके तु
पूज्याः सुरा उक्तविधानतस्तु ॥ * ॥

ब्रह्मा वेदपदस्तु तेन समका देवार्य्यमाद्यास्त्वमी
कोणेऽष्टौ द्विपदास्तथाष्टमरुतः कोणेऽर्द्धभागाद्वहिः ।

शेषा एकपदाः सुरास्तु कथिता वेदर्त्तुके-६४ ऽथो नव
ब्रह्मा षट्पदिनोऽर्य्यमादिविबुधा ईशादयश्चैकशः ॥

ब्रह्मा कलांशो वसुतोऽर्य्यमाद्याः
कोणेऽष्ट वाह्येऽपि च सार्द्धभागाः ।
विधात्रकोणे द्विपदास्तथाष्टौ
शेषाः सुरा एकपदाः शतांशे ॥*॥

ब्रह्माजिनांश२४ उदितः शिवतोऽर्य्यमाद्याः
कोणेषु सार्द्धपदतोऽपि तथैव चाष्टौ ।
शेषा द्विभागसमका रविभागकोऽयं
पूज्यो रथाश्वगजवाहनकेऽश्वयन्त्रे ॥
यन्त्रे त्रयोदशपदैरपि पूजनीय-
स्तत् पञ्चविंशतिरजो दशतोऽर्य्यमाद्याः ।
कोणेऽश्वयोऽमरगणा वहिके कलांशा
भद्रेऽब्धिकं रविविभागपरे द्विभागाः ॥*॥

द्वात्रिंशत् कमलासनोऽर्य्यमसुखाः स्युः सूर्य्यभागा क्रमात्
कोणेऽन्येऽष्टसुरा द्विभागसहिता वाह्येषु सार्द्धांशकाः ।
अष्टौ रामपदाः पुनर्द्विपदकाः षड्भागिनोऽष्टौ सुराः
क्षेत्रे षसवचन्द्रभागसहिते १९६ स्याद्देवतानां क्रमः ॥ * ॥

वेदांशो विधिरर्य्यमप्रभृतयस्त्र्यंशा नवस्वष्टके
कोणेऽन्येऽष्टपदार्द्धगाः परसुराः षड्भागहीने पदे ।
वास्तोर्नन्दयुगांश ४९ एवमधुनाष्टांशैश्चतुःषष्टिके
सर्व्वैः सूत्रमितान् सुधीः परिहरेद्भित्तीस्तुलाः स्तम्भकान् ॥ * ॥

रेखाद्वयं कोणगतं विधेय-
मंशान्तरेणैव तु कर्णसूत्रात् ।
यदष्टसूत्रैः कथितं तु पद्मं
तत्पीड़नात् स्वामिधनप्रणाशः ॥
प्रोक्तं चतुर्व्विंशतिलाङ्गुलं यत्
पादार्द्धगं हानिकरं प्रजायाः ।
षड्भिस्तु सूत्रैर्मरणाय वज्रं
कोणे त्रिशूलञ्च रिपोर्भयाय ॥
परीक्ष्य भूमीमवशेषयेत्तां
सुपञ्चगव्येन ततो विलेख्या ।
रेखा सुवर्णेन मणिप्रवालैः
पिष्टाक्षतैर्व्वापि पुनस्तदूर्द्धे ॥
द्वात्रिंशदंशाः पृथुले च दैर्घ्ये
कोणेषु वर्ज्या जिनसंख्य२४भागाः ।

एतत्पदानां कथितं सहस्रं
क्षेत्रञ्च सर्व्वोत्तममेव वास्तोः ॥ * ॥
मध्ये ब्रह्मा पूजनीयः शतांशै-
श्चत्वारिंशद्भिः पदैर्व्वाह्यवीथी ।
प्रोक्ता देवा अर्य्यमाद्या अशीत्या
मध्ये कोणेऽष्टौ शतं चाष्टषष्ट्या ॥
कोणेऽश्वयो नन्दपदैः सुराश्च
शेषाश्च वाह्ये वसुभागिनश्च ।
वीथी च वाह्ये रविभागयुक्तं
शतं पदानां कथितं मुनीन्द्रैः ॥
दुर्गप्रतिष्ठाविषये निवेशे
तथा महार्चासु च कोटिहोमे ।
मेरौ च राष्ट्रेष्वपि ज्येष्ठलिङ्गे
वास्तुः सहस्रेण पदैः प्रपूज्यः ॥*॥
त्रिमेखलं शङ्करदिग्विभागे
कुण्डं प्रकुर्य्यात् करतो गुणास्रम् ।
होमं सुराणां शतमष्टयुक्तं
प्रत्येकमष्टाधिकविंशतिं वा ॥
मध्वाज्यदुग्धैर्दधिशर्कराभ्यां
अर्घ्यैस्तिलैर्व्रीहियवैर्नवान्नैः ।
पलाशदूर्व्वाङ्कुरदुग्धवृक्षै-
र्होमं तदन्ते सुरपूजनञ्च ॥
ईशे घृतान्नमपरे सघृतोदनञ्च
दद्याज्जयाय हरिताम्बरमेव कूर्म्मम् ।
रत्नानि पिष्टकमयं कुलिशं सुरेन्द्रे
धूम्रं वितानमुदितञ्च दिवाकरस्य ॥
गोधूमयुक्तं घृतमेव सत्ये
मत्स्यान् भृशे शष्कुलिमन्तरीक्षे ।
वह्नौ सुचं पूष्णि तथैव लाजा
दद्याद्यमे चणकौदनञ्च ॥

मध्वन्नञ्च गृहक्षताय यमतो मांसौदनं दापयेत्
गन्धर्व्वे शतपत्रमोदनयुतं भृङ्गेऽजजिह्वां तथा ।
प्रोक्ता नीलजवा मृगाय पितृतो देयाश्च सम्मोदकाः
पेटं क्षायवलिं तथैव विधिवद्दद्याच्च दौवारिके ॥
सुग्रीवाय च पूपका गणवरे श्वेतप्रसूनं पयः
पद्मं वारुणके सुराप्यसुरके तैलं तिलाः शोषके ।
पापाख्येऽपि च मत्स्यमांससुदितं रोगाय सर्व्वौषधीः
गोक्षीरं फणिने च मुख्यविबुधे श्रीखण्डभक्ते तथा ॥
भल्लाटाय सुवर्णकं धनपतौ मण्डाज्यदुग्धं तथा
शक्तून् पर्व्वतकेऽदितेस्तु लपिकां दद्याद्दितौ पूरिकाम् ।
सक्षीरं दधिकं क्रमेण विहितं त्वापापवत्से तथा-
प्यर्य्यम्णेऽरुणचन्दनञ्च पयसा युक्ता तथा शर्करा ॥
साविन्द्रेऽपि च लड्डुकाश्च सवितुः पूपा गुड़ा सद्घृता
देयं वाथ विवस्वते घृतयुतं दुग्धं तथा मोदकाः ।
इन्द्राख्ये कुसुमस्रगिन्द्रजयके देयं तथा चम्पकं
मैत्रे दुग्धघृतञ्च गुग्गुलुयुतो गन्धस्तथा रुद्रके ॥

तत्पिष्टमन्नन्त्वपि रुद्रदासे
सद्रत्नमालां पृथिवीधराय ।
पयस्तलां शामन्दतं घटञ्च
दद्यादिधौ स्वर्णमतोऽखिलेभ्यः ॥
सुरास्थि मांसं विहितं चरक्यै
तथैव पीतौदनको विदार्य्यै ।
रक्तौदनैः पूतनिकार्चनीया
मत्स्यासवेनापि तथैव पापाः ॥
मांसं पक्वं पिलिपिञ्जाय तज्जृम्भायै विहितं सदाः ।
स्कन्दाय तन्मदिरायुक्तं चार्य्यमृणे दिशि पूर्व्वादौ ।

यः पूजयेद्वास्तुमनन्ययुक्ता
न तस्य दुःखं भवतीह किञ्चित् ।
जीवत्यसौ वर्षशतं सुखेन
स्वर्गे नरस्तिष्ठति कल्पमेकम् ॥"

इति श्रीसूत्रधारमण्डनविरचिते वास्तुशास्त्रे राजवल्लभे वास्तुलक्षणम् २यअध्यायः ॥ * ॥

"आयर्क्षव्ययतारकांशकविधुं राशिं गृहाद्यं तथा
धान्यं सौख्ययशोऽभिवृद्धिरधिका यस्मादतः कथ्यते ।
आयास्तु ध्वजधूमसिंहशुनका गोरासभेभाः क्रमात्
ध्वाङ्क्षस्त्वष्टम आयमेषु विषमाः श्रेष्ठाः सुराणां गृहे ।
मानं देवगृहादिभूपसदने शास्त्रोक्तहस्तेन तत्
गेहे कर्म्मकरस्य नाथकरतः शास्त्रेण देयं गृहे ।
अथो दण्डकराङ्गुलादिमपि ते हस्ताङ्गुलैरंशतः
क्षेत्रस्याप्यनुमानतोऽपि नगरे दण्डेन मानं पुरे ।
आयः कल्प्यो हस्तमेयैः करैश्च
क्षेत्रे मात्रानिर्म्मिते मात्रकाभिः ।
मध्ये पर्य्यङ्कासने मन्दिरे च
देवागारे मण्डपे भित्तिवाह्ये ॥
कूपे देवगृहे द्विजस्य भवने स्याद्वेदिकायां जवे
विस्तारोच्छ्रयवस्त्रभूषणमठागारेषु शस्तो ध्वजः ।
धूमो वह्न्युपजीविनामपि गृहे कुण्डे च होमोद्भवे
सिंहद्वारनृपालयेऽस्त्रनिचये सिंहश्च सिंहासने ।
चण्डाले शुनको विशान्तु वृषभो हर्म्ये हयानां हितो
वाणिज्ये गृहभोजनस्य भवनेऽथो वाह्यगेहे खरः ।
वादित्रे खरजीविनामपि गृहे शौद्रे गजो योजितो
याने स्त्रीगृहवाहने च शयने शस्तो गृहे हस्तिनाम् ॥
ध्वाङ्क्षः शिल्पितपस्विनां हितकरस्तेषां सुखं नामवत्
ध्वाङ्क्षः काकमुखो विड़ालवदनो धूमो ध्वजो मानुषः ।

सर्व्वे पश्चिमदा हरेरिव मतो हस्तौ नरस्येव तु
प्राच्याः स्थिमताः क्रमेण पतयो ह्यष्टौ च ते सम्मुखाः ॥*॥
देयाः सिंहगजध्वजादि वृषभे सिंहध्वजौ कुञ्जरे
सिंहो वै ध्वज इष्यते न वृषभोऽन्यत्रापि देयो बुधैः ।
सिंहो हस्तिवृषालये ध्वतिकरस्थायस्य वक्रं गृहं
तस्मिन्नेव च वामदक्षिणदिशाद्वारे स आयः शुभः ॥
व्यासे दैर्घ्यगुणेऽष्टभिर्विभजिते शेषो ध्वजाद्यायको-
ऽष्टघ्ने तद्गुणिते च धिष्ण्यभजिते स्यादृक्षमश्वादिकम् ।
नक्षत्रे वसुभिर्ययोऽपि भजिते हीनस्तु तस्मिन् प्रद-
स्तुल्यायश्च पिशाचको ध्वजन्तते संवर्द्धितो राक्षसः ॥
तस्मिन् व्ययहर्म्यानामसहिते भक्ते त्रिभिस्त्वंशकः
स्यादिन्द्रोयमभूपतिक्रमवशाद्देवे सुरेन्द्रो हितः ।
वेश्यामेव यमस्तु पुण्यभवने नागे तथा भैरवे
राजांशो गजवाजियाननगरे राजालये मन्दिरे ॥*॥

यावद्गृहर्क्षं गणयेत् स्वधिष्ण्या-
त्ताराविभक्तं नवभिश्च शेषाः ।
बुधैस्तृतीया सकले विवर्ज्या
या पञ्चमी सप्तमिका न शस्ता ॥

धिष्ण्यानीह च सप्त सप्त क्रमतया वह्न्यादितस्तु पूर्व्वादितः
स्थाप्या तानि भवन्ति यत्र गृहभं तत्रैव चन्द्रो भवेत् ।
हानिं पृष्ठगतः करोति पुरतस्त्वायुःक्षयं चन्द्रमाः
पार्श्वे दक्षिणवामके शुभकरोऽग्रे देवभूपालये ॥
प्रीतिः स्यात् समसप्तमौ च दशमी चैकादशी शोभना
दारिद्र्यं युगला करोति मरणं षष्ठी कलिः पञ्चमी ।
मेषोऽश्विचित्तये हरिस्तु पितृभाचापस्तथे मूलतः
शेषेः स्युर्नव राशयः परमते नन्दांशकैस्ते पृथक् ॥
भौमो वृश्चिकमेषयोर्दृ्षतुले शुक्रस्य राशिद्वयं
कन्या युग्मबुधस्य कर्कसदनं चन्द्रस्य सिंहो रवेः ।
जीवो मीनधनुःपतिर्मृगघटौ मन्दस्य गेहं स्मृतं
मित्राण्यर्ककुजेन्दुदेवगुरवोऽन्ये चारयस्ते मिथः ॥
देवर्क्षं श्रुतिपुष्यभेऽश्विभन्तं मैत्रानिलं पौष्णभं
हस्तादित्यमथोऽनुरन्तकविधौ पूर्व्वोत्तरा रुद्रभम् ।
रक्षोमूलविशाखिकाग्निपितृभं चित्रा धनिष्ठाद्वयं
ज्येष्ठाश्लेषमपीह दैत्यमनुजे मृत्युस्तु देवे कलिः ॥
वैरं चोत्तरफल्गुनीयुगलयोः स्वातीभरण्योर्द्वयो
रोहिण्युत्तरषाढ़योः श्रुतिपुनर्व्वस्वोर्विरोधं तथा ।
चित्राहस्तभयोश्च पुष्यफणिनोर्ज्येष्ठाविशाखाख्ययोः
प्रासादे भवनासने च शयने नक्षत्रवैरं त्यजेत् ॥
विप्राः कर्कझषालिनो निगदिताः सिंहाजचापा नृपा
विट्कन्या मकरो वृषोऽथ वृषला युग्मश्च कुम्भस्तुला ।
वर्णेनोत्तमकामिनी च भवनं वर्ज्यं बुधैर्यत्नतः
श्रेष्ठा द्वादश नन्दराजगुणतो विप्र क्रमाद्राशयः ॥
अश्वोऽश्विनीशतभयोर्यमपूषि हस्ती
छागोऽग्निपुष्य उरगोऽपि विधात्रसौम्ये ।
मूलार्द्रयोः शुनक ओतुरहावदित्ये
पूर्व्वा मघासु मत उन्दुरएव योनिः ॥
गौर्भद्रोत्तरफल्गुनीत उदिता स्वातौ करे माहिषी
व्याघ्रास्त्वाष्ट्रविशाखयोश्च हरिणो ज्येष्ठानुराधाभयोः ।
पूषाढ़श्रवणे कपिर्निगदितो वैश्वाभिजिन्नाकुलं
पूभायां वसुभे मृगेन्द्र उदितो वैरं त्यजेत्लोकतः ॥

आयर्क्षतारा व्ययमंशकश्च
द्योकश्च ज्ञात्वा विभजेत् क्रमेण ।
तिथ्या च वारेण तथैव लग्नैः
शेषैस्तु भाग्यैव भवेयुरङ्कैः ॥
दैर्घ्यं पृथुत्वेन च ताडनीयं
तयोर्यदैक्यं पुनरष्टयेण ।
शेषेऽधिमाथो वसुभाजितेऽस्मिन्
समः प्रशस्तो विषमस्तु नैव ॥ * ॥

वर्गाष्टकस्य पतयो गरुड़ो विड़ाल:
सिंहस्तथैव शुनकोरगमूषकैणाः ।
मेढ़ाककारच-ट-ताः प-य-शाश्च वर्गा
यः पञ्चमः स रिपुरेव बुधैर्निवर्ज्यः ॥
अश्विन्यादिकभत्रयं फणिनिभं चक्रं त्रिनाड्युद्भवं
द्योकस्था वरकन्ययोश्च यदि भं तन्मृत्युदं चांशतः ।
नाड़ीसेवकमित्रगेहपुरतस्त्वेका शुभा सर्व्वथा
आयादित्रिकपञ्चसप्तनवभिस्त्वङ्कैर्गृहं सौख्यदम् ।

गुणगणं लघुदोषसमन्वितं
भवनदेवगृहादिकमिष्यते ।
जलतयेन शिखी बहुतापवा-
न्न शममेति गुणैरधिको यतः ॥”

इति श्रीसूत्रधारमण्डनविरचिते वास्तुशास्त्रे राजवल्लभे आयादिलक्षणं ३ अध्यायः ॥
“वापीकूपतड़ागदेवभवनान्यारामयागादिकं
तीर्थानामवगाहनञ्च विधिवत् कन्याप्रदानादिकम् ।
सर्व्वं पुण्यमिदं नृपः स लभते यः कारयेत् पर्व्वते
दुर्गं सर्व्वजनाय शर्म्मजननं विश्राममेकं परम् ॥
सिंहो वैरिपराभवं प्रकुरुते तिष्ठन् गिरौ गह्वरे
दुर्गस्थो नृपतिः प्रभूतकटकं शत्रुं जयेत् सङ्गरे
कैलासे नगरं शिवेन रचितं गौर्य्यादिसंरक्षणे
दुर्गं पश्चिमसागरे च हरिणाप्येषां किमुच्यते ॥
भूदुर्गं जलदुर्गमद्रिविषये दुर्गं भवेद्गह्वरे
तेषामुत्तममद्रिमूर्द्ध्नि रचितं तद्वैरिणां दुर्गमम्
अन्नाद्यैर्घृततोयतैलयवसैः काष्ठैस्तृणाद्यैस्तथा
यन्त्रोपस्करबाणशस्त्रसुभटैः संपूरयेद्भूमिपः ॥
माहेन्द्रं चतुरस्रमायतपुरं तत् सर्व्वतोभद्रकं
वृत्तं सिंहविलोकनं सुदृतनायत्तं तथा वारुणम् ।
नन्दाख्यञ्च विमुक्तकोणमथ नन्दावर्त्तिस्वस्त्याकृति
प्रोक्तं तद्यववज्रयन्त्रमपि तद्द्विधं गिरेर्मस्तके ॥
पुण्यं चाष्टदलोपमञ्च पुरुषाकारं पुरं पौरुषं
खेटं कुक्षिषु भूधरस्य कथितं दण्डाभिधं दैर्घ्यकम् ।
शान्तं प्राक् सरिता परत्र कमलं याम्ये नदी धार्म्मिकं
द्वाभ्यां चैव महाजयञ्च धनदाशायां नदी सौम्यकम् ॥
दुर्गैकेन युतं श्रियाख्यनगरं द्वाभ्यां रिपुघ्नं पुरं
त्वष्टास्रं कथयन्ति स्वस्तिकमिति प्रोक्ता गुणा विंशतिः ।
भूपानां सुखदा यशोऽर्थफलदाः कीर्त्तिप्रतापोद्भवा
लोकानाञ्च निवासतो विरचिताः प्राक्शम्भुना ते गुणाः ॥”

इति पुराणां विंशतिगुणाः ॥*॥

“वह्निभीतिकरं त्रिकोणनगरं षट्कोणकं कोशदं
वक्रे वज्रभयञ्च शाकटपुरे रोगस्त्रिशूले कलिः ।
प्रोक्तं तस्करभीतये द्विशकटं कर्णाधिकेऽर्थक्षयो
दोषाः सप्त भयावहाः प्रकटिता ये विश्वकर्म्मोदिताः ॥”

इति पुराणां सप्त दोषाः ॥ * ॥

“वर्ण्येऽथो विविधं पुरं सुनिमतं मध्योत्तमं कन्यसं
तेषां हस्तसहस्रमन्तिमपुरं मध्यं ततः साद्धकम् ।
ज्येष्ठं युग्मसहस्रमेव चरमं भागाष्टकेनाचितं
मध्यं द्वादशभागतः शशिकलं ज्येष्ठं विदध्यात् सुधीः ॥
मार्गाः सप्तदशैव चादिमपुरे हीनं चतुर्भिः पुरं
प्रोक्तं कन्यसमेव मार्गनवभिर्दैर्घ्यं तथा विस्तरे ।
ग्रामश्चैव पुरार्द्धतो हि तदनु ग्रामार्द्धतः खेटकं
खेटार्द्धेन तु कूटमेव विबुधैः प्रोक्तं ततः खर्व्वटम् ॥
हस्तानाञ्च युगाष्टषोड़शसहस्रं भूपतीनां पुरं
तन्मध्ये दशधा वदन्ति मुनयो हस्ता सहस्रेण तत् ।

आयामे वसुपादसार्द्धवसुतो भागः प्रशस्तोऽधिक-
स्त्वेकैकश्च चतुर्विधं निगदितं कार्य्यं समं कर्णयोः ॥

षट्त्रिंशतः षट् क्रमतो विवृद्ध्या
देवे पुरे चत्वरके क्रमेण ।
यदृच्छया मानमुशन्ति केचित्
प्राकारकोष्ठस्य च भित्तिकायाः ॥*॥
पूर्व्वापरास्याः पुरसम्मुखाश्च
देवाः शुभा नोत्तरदक्षिणाश्च ।
भङ्गं पुरस्यापि पराङ्मुखास्ते
कुर्व्वन्ति धान्यजनार्द्दनेशाः ॥

ब्रह्मा विष्णुशिवेन्द्रभास्करगुहाः पूर्व्वापरास्याः शुभाः
प्रोक्तौ सर्व्वदिशामुखौ शिवजिनौ विष्णुर्विधाता तथा ।
चामुण्डा ग्रहमातरो धनपतिर्देवीमातुरो भैरवो
देवा दक्षिणदिङ्मुखाः कपिवरो नैर्ऋत्यवक्त्रो भवेत् ॥
मार्गाः सप्तदशाङ्कपञ्चशिखिनो युग्मं पुरात् खर्व्वटं
मार्गाः षोडश सूर्य्यविंशतिकराः कार्य्यास्त्रिधा विस्तरे ।
प्राकारोदयविंशहस्तमभितो द्वाभ्यां विहीनोऽधिको
व्यासार्द्धेन तदूर्द्धतश्च कपिशीर्षाण्यष्टमात्रान्तरम् ॥
प्राकारेऽपि च कोष्ठका दशकराः सूर्य्यैकहस्तास्तथा
प्रोक्तास्तेन समैव कोणसहिता विद्याधरी मध्यमा ।
तस्या वाथ सुरङ्गके च विविधं गुह्यायनं कारयेत्
प्राकारोदयतो विधाय परिखाविस्तार उक्तो बुधैः ॥

विद्याधरीकोष्ठकयोश्च मध्ये
बाहुप्रमाणं शररामहस्तम् ।
पञ्चाधिकं पञ्चकरेण हीन-
मिति त्रिधा वास्तुमतो हितञ्च ॥*॥
दुर्गोदयं मन्दकरप्रमाणं
तिथ्या समं सप्तदशैव केचित् ।
एकोनविंशं पृथुलं त्रयाणां
दिक्कालसूर्य्याष्टकरा वदन्ति ॥

ताम्बूलं फलदन्तगन्धकुसुमं मुक्तादिकं यद्भवेत्
राजद्वारसुराग्रतो हि सुधिया कार्य्यं पुरे सर्व्वतः ।
प्राग्विप्राश्च नृपा हि दक्षिणदिशि स्युः सौम्यतः शूद्रकाः
कर्त्तव्याः पुरमध्यतोऽपि वणिजो वैश्या विचित्रैर्गृहैः ॥
ईशे रङ्गकराः कुविन्दरजका वस्त्रौ च तन्त्रोविनः
प्रोक्ता अन्त्यजचर्म्मकारवरटाः स्युः शौण्डिका राक्षसे ।
पण्यस्त्रीनिर्ऋतौ च मारुतयुते कोणे न्यसेल्लुब्धकान्
वापीकूपतडागकुण्डमखिलं तोयं तथा वारुणे ॥
सिंहद्वारचतुष्टयञ्च खटकीद्वाराणि चाष्टौ तथा
कर्त्तव्यानि दृढार्गलानि रचिरैः कापाटकैः सुदृढैः ।
कीर्त्तिस्तम्भनृपालयामरगृहैर्हट्टैः सुधानिर्म्मितै-
र्हर्म्यैरप्युपवनैर्जलाश्रययुतैः कार्य्यं पुरं शोभनम् ॥”

इति नगरप्रमाणम् ॥ * ॥

“यन्त्राः पुराणामथ रक्षणाय
संग्रामवज्राम्बुसमीरणाख्याः ।
विनिर्म्मितास्ते जयदा नृपाणां
भवन्ति पूज्याः सुरया च मांसैः ॥

हस्ता अष्ट च भैरवो नरकरश्चाम्रो दशाद्यो भवे-
द्दुग्धो भीमगजोऽपि भास्करकरैर्युग्मन्तु विश्वैः शिखी ।
प्रोक्तोऽसौ यमदण्ड एव मुनिभिस्तिथ्या महाभैरवो
ह्यष्टौ शङ्करनिर्म्मिताश्च समरे देवासुरे भैरवे ॥
यन्त्रे चाष्टकरेऽष्टहस्तफणिनीसूर्य्याङ्गुला विस्तरे
स्तम्भा मर्कटिका च पञ्जरमतः षट्त्रिंशहस्ता क्रमात् ।
यष्ट्या पृष्ठविभागतोऽपि रदनैस्तुल्योऽष्टमात्राङ्गुलैः
प्रोक्ता कुण्डलवज्जवी च वहितो मध्याद्दशोत्थकुलैः ॥

यष्ट्या दृढा मर्कटिका विदध्या-
ल्लोहस्य कीलेन च चर्म्मणापि ।
यन्त्रं प्रकुर्य्याद्दृढकाष्ठकञ्च
तन्मानया ज्योतिकया समेतम् ॥
कराङ्गुलैः पञ्जरकस्य दैर्घ्यं
केषां मते हस्तमिते च यन्त्रे ।
याष्टौ कुलौ वह्निजलानिलाख्या-
स्ते लक्षणैः परिकल्पनीयाः ॥”

इति यन्त्रादिकप्रमाणानि ॥ * ॥

“नीराश्रयं पुण्यवतां विधेयं
मध्ये पुरस्यापि तथैव बाह्ये ।
वाप्यश्चतस्रोऽपि तथैव कूपा-
श्चत्वारि कुण्डानि च षट् तडागाः ॥*॥

कूपाः श्रीमुखवैजयौ च तदनु प्रान्तस्तथा दुन्दुभि-
स्तस्मादेव मनोहरश्च परतः प्रोक्तस्तु चूडामणिः ।
दिग्भद्रो जयनन्दशङ्करमतो वेदादिहस्तैर्मिता
विस्तारैः क्रमवर्द्धितैश्च कथिता वेदादयः कूपिका ॥*॥

वापी च नन्देकमुखा त्रिकूटा
षट्कूटिका युग्ममुखा च भद्रा ।
जया चिवक्त्रा नवकूटयुक्ता-
स्त्वर्कैस्तु कूटैर्विजया मता सा ॥*॥

सरोऽर्द्धचन्द्रञ्च महासरश्च
वृत्तं चतुष्कोणकमेव भद्रम् ।
भद्रैः सुभद्रं परिघैकयुग्मं
वकस्थलैकद्वयमेव यस्मिन् ॥
ज्येष्ठं मितं दण्डसहस्रकैस्तु
मध्यं तदर्द्धेन ततः कनिष्ठम् ।
ज्येष्ठं करैः पञ्चशतानि दैर्घ्यै-
स्तदर्द्धमध्यं तु ततः कनिष्ठम् ॥*॥
भद्राख्यकुण्डं चतुरस्रकञ्च
सुभद्रकं भद्रयुतं द्वितीयम् ।
नन्दाख्यकं स्यात् प्रतिभद्रयुक्तं
मध्ये सुभद्रं परिघं चतुर्थम् ॥
कराष्टतो हस्तशतं प्रमाणं
द्वारैश्चतुर्भिः सहितानि कुर्य्यात्
मध्ये गवाक्षश्च दिशो विभागे
कोणे चतुष्कास्त्वपि पट्टशालाः ॥*॥

गङ्गाद्या रवयो हरेश्च दशकं रुद्रा दशैकाधिका
दुर्गा भैरवमातृका गणपतिर्वह्निस्त्रिकं चण्डिका ।
दुर्व्वासा मुनिनारदस्तु सकला द्वारावती लौलिका
लोकाः पञ्च पितामहादिविबुधाः स्युर्मध्यभित्तौ सदा ॥

तस्योद्भवः श्रीधरमाडकस्य
संदर्शनात् पूर्व्वफलञ्च काश्याः ।
स्नानाच्च गङ्गाप्लवनस्य पुण्यं
कृतं भवेच्चेद्विधिवद्विधिज्ञैः ॥
विधारितं जीवनमेव येन
तल्लोपदेकेन समं पृथिव्याम् ।
स षष्टिसंख्यं च सहस्रवर्षं
स्वर्लोकसौख्यान्यखिलानि भुङ्क्ते ॥

ग्रामे वाथ पुरे नरेन्द्रभवने तत्षोडशांशं भवेत्
मध्यात् पश्चिमदिक्समाश्रितमिदं दुर्गं भवेद्भूभृतात् ।
द्वारं दक्षिणवामतश्च पुरतः कार्य्यास्त्रयश्चत्वराः
सर्व्वं वास्तुगृहादिवासरचना भूपेच्छया कारयेत् ॥”

इति सूत्रधारमण्डनविरचिते वास्तुशास्त्रे राजवल्लभे प्राकारयन्त्रवापीकूपतडागलक्षणम् ४ अध्यायः ॥ * ॥

“अथो नृपाणां भवनानि वक्ष्ये
त्रैकातपत्रावनिपालकस्य ।
शतञ्च हस्ताष्टसमन्वितञ्च
व्यासे गृहं चोत्तममेव तस्य ॥
ये द्वापरे भूमिभुजो बभूवु-
स्तेषां गृहं हस्तशतं द्विहीनम् ।
तत्त्रा प्रभूमीश्वरको नृनाथ-
स्तष्टाधिकाशीतिकरं गृहं स्यात् ॥
ग्रामैकलक्षद्वयमस्ति यस्य
प्रोक्तो महामण्डलिको नरेशः ।

अशीतिहस्तं द्विकरेण हीनं
कुर्य्याद्गृहं शोभनमेव तस्य ॥
पञ्चायुतेशो नृपमण्डलीको
भवेद्गृहं तस्य कराष्टषष्टि: ।
सामन्तमुख्यो ह्ययुताधिपोऽसौ
तद्गेहमष्टेषु करप्रमाणम् ॥
तदेकम पञ्चाशदपि द्विहीनं
सामन्तसंज्ञोऽयुतनाथ एव ।
तथा तृतीयोऽपि ततो द्विहीनं
चिंशत्कराद्याधिकमेव गेहम् ॥
प्रोक्त: प्रवीणैश्चतुराशिकोऽसौ
ग्रामा हि यस्यैव सहस्रमेकम् ।
अष्टाधिकं विंशतिहस्तहर्म्यं
सिद्धैः समस्तानि यथोदितानि ॥
ग्रामाधिपा ये तु शताधिपाश्च
ते खण्डराड्ढा अपि सैनिकाश्च ।
तेषां गृहा अष्टदशाधिकैश्च
करैः समाना मुनिभिर्म्मताश्च ॥
भूपालकार्द्धेन च मन्त्रिगेहं
यथाधिकारेण भवन्ति हीनम् ।
आसाद्दशांशाधिकमेव दैर्घ्यं
कुर्य्याद्यथो पञ्चमभागमिष्टम् ॥
गृहं चतुर्हस्तमितं करादि-
वृद्ध्या द्विरामान्तमिति प्रमाणम् ।
तत: परं भूपतिमन्दिराणि
यावच्छतं चाष्टकरादियुक्तम् ॥
स्याद्भूमिरेका वसुहस्तगेहे
दशाभिवृद्ध्या द्वितया पुनश्च ।
प्रासाद एवामरभूपयोश्च
हर्म्म्याणि लोके मुनिनोदितानि॥
शालाया नवधा च पञ्चकरतो मानञ्च विस्ता-
रकं
भित्तेरेव चतुर्दशाङ्गुलमितिर्यावत् सपादं करम् ।
आगारस्य तु षोड़शांशरचितोऽप्यर्द्धेन हीनो-
ऽथवा
भित्तेर्मानमिदं त्रिधा विरचितं कल्प्यं यथा-
योगत: ॥
दैर्घ्ये चन्द्रकलाङ्गुलोत्तमशिला मध्याङ्गुलो
नान्तिमा
व्यासे दिङ्नवभूष्टदुच्छ्रितिरपि त्रिंशेन विस्ता-
रत: ।
हस्तादेस्त्रिकरोदयं नवविधं पीठं गृहे सर्व्वतो
विप्रादे रसभूतवेदगुणका: स्यु:पीठके मेखला:॥
षंट्या वाथ शतार्द्धसप्ततियुतैर्व्यासस्य हस्ता-
ङ्गुलै-
र्द्वारस्योदयको भवेच भवने मध्य: कनिष्ठोत्तमै: ।
दैर्घ्यार्द्धेन तु विस्तर: शशिकलाभागोऽधिक:
सप्तते-
र्दैर्घ्यं त्र्यंशविहीनमर्द्धरहितं मध्यं कनिष्ठं
क्रमात् ॥
ज्येष्ठा प्रतोली तिथिहस्तसंख्या
प्रोक्तोदये विश्वकरा च मध्या ।
कनिष्ठिका रुद्रकरा क्रमेण
व्यासेऽष्ट सप्तैव च रागसंख्या ॥
वेश्मव्यासकलांशकैर्युगगुणैर्हस्तैस्त्रिसार्द्धैर्युतै-
र्हर्म्मेऽस्य त्रिविधोदय: क्षितितलाद्यावच पट्टो-
र्द्धकम् ।
एकैकोऽपि पुनस्त्रिधा निगदित: सर्व्वे त एका-
दश
चैषा: घसवतो नखा: शशिकला अष्टादशान्य-
स्त्रिधा ॥
त्रिस्थाने युगपर्व्वताप्ठ४स्तितियुता धिष्ण्यक-
विंशान्विता
मध्योऽयं त्रिकरैस्तदंशसहितै: प्रोक्त: कनिष्ठ-
स्त्रिधा । * ।
दृष्टं दुग्धविशुष्ककण्टकयुतं नीड़ैस्तु चैत्यद्रुमं
चीरं मारुतपातितञ्च भवने चिचाविभीतं
त्यजेत् ॥
शाक: शालमधूकसर्ज्जखदिरा रक्तासना:
शोभना ।
एकोऽथो सरलोऽर्ज्जुनश्च पनस: श्रीपर्णिनी
शिंशपा ।
हारिद्र: पिचुमर्द्दचन्दनतरु: पद्माख्यकस्तिन्दुकी
नैतेऽन्येन युता भवन्ति फलदा: शाकादय:
शोभना: ॥*॥
गेहोदयन्तु नवधा विभजेत् षड़ंशं
स्तम्भोर्द्धभागसमकं भरणं शिरश्च ।
कुम्भी त्वुदम्बरसमैकविभागतुल्या
पट्टश्च तस्त्रिकयुतोऽशसमान एव ॥
शालालीन्द उदाहृतो हि विबुधैर्बाणेषु युग्मां-
शक:
सप्तांशेषु गुणैश्च नन्दपदतो वेदांशतुल्यास्तथा ।
कापाटं गृहदक्षिणे निगदितं वामे भवेदर्गला
वृद्ध्या निष्क्रमणं कृतं मुनिवरैर्द्वारेषु सर्व्वेषु यत् ॥
शालाजिनांशैर्मुरैव मध्ये
जयो हयाग्नि द्वयमस्य पार्श्वे ।
द्वारोत्तमाङ्गेन समानकर्णा:
शस्ता न शस्ता भवनाभिवक्रा: ॥*॥
दीपालयो दक्षिणदिग्विभागे
सदा विधेयोऽर्गलया समान: ।
वामे च मध्ये न शुभाय गेहे
सुरालये वामदिशीष्टसिद्ध्यै ॥
द्वाराग्रे खटकीमुखे च तदधो द्वा: षोड़शां-
शाधिकं
सर्व्वं वा शुभमिच्छता च सततं कार्य्यन्तु
पट्टादध: ।
तन्मूनं न शुभन्तुलातलगतं कुम्भी तथा पृष्ठगं
काष्ठं पञ्चक एव नीतरहितं यन्मूलपूर्व्वोत्तरम्॥
द्वारोर्द्धं यद्द्वारमस्य प्रमाणं
संकीर्णं वा शोभनं नाधिकं तत् ।
ह्रस्वद्वाराण्येव यानि पृथूनि
तेषां शोषाण्येकसूत्राणि कुर्य्यात् ॥
सर्व्वं द्वारं नीचमानं रुजायै
यद्वा ह्रस्वं तत् करोत्यर्थनाशम् ।
गेहाद्यं यत् पूर्व्ववास्तुस्वरूपं
तेषां भङ्गान्नैव सौख्यं कदाचित् ॥
द्वारव्यासदशांशतोऽधिकमिदं कार्य्यं गृहं दक्षिणे
तुल्यं हस्तिगृहञ्च वाजिभवनं तेनाधिकं
वामत: ।
अष्टांशेऽथ नवांशके च वितथे तोये जयेन्द्रे
हितं
द्वारं सौम्यगृहक्षते च कुसुमे भल्लाटके शस्यते ॥
प्राग्द्वाराष्टकमध्यतोऽपि न शुभं सूर्य्यश-
पर्जन्यतो
याम्यायाञ्च यमाग्निपौष्णमपरे शेषासुरं
पापकम् ।
सौम्यायामथ रोगनागगिरिजं त्वाद्यं तथान्य-
च्छुभं
केचिद्द्वारवशात्सौम्यकं न हि हितं प्रोक्तञ्च
वातायने ॥
द्वारं विद्धमशोभनञ्च तरुणाकोणभ्रमस्तम्भकै:
कूपेनापि च मार्गदेवभवनैर्विद्धं तथा कीलकै: ।
उच्छ्रायाद्द्विगुणां विहाय पृथिवीं वेधो न
भित्त्यन्तरे
प्राकारान्तरराजमार्गपरतो वेधो न कोणद्वये ॥
दैर्घ्ये सार्द्धशताङ्गुलञ्च दशभिर्हीनम् १४०।१३०।
१२०।१०० चतुर्द्धा विधि:
प्रोक्तं वाथ शतं खशीतिसहितं १८० युग्मं २००
नवत्या शतम् १९० ।
तद्वत् षोड़शभि: शतञ्च ११६ नवभिर्युतं तथा-
शीतिकम् ८६
द्वारं मत्स्यमतानुसारि दशकं योग्यं विधेयं
बुधै: ॥*॥
स्वयमपि च कपाटोद्घाटनं वा पिधानं
भयदमधिकहीनं शाखयोर्व्वा विचाले ।
पुरुषयुवतिनाशस्तम्भशाखाविहीनं
भयदमखिलकाष्ठाग्रं यदाध:स्थितं स्यात् ॥
देवालयं वा भवनं मठञ्च
भानो: करैर्व्वायुभिरच भिन्नम् ।
तन्मूलभूमौ परिवर्जनीया
छाया गता यस्य गृहस्य कल्पे ॥
नैको लघुर्व्वामदिशाविभागे
मध्ये द्विषट् दारुणवर्णगेहे ।
स्तम्भासमं हीनमपि क्षयाय
यदाधिकं रोगकरं तदा स्यात् ॥
स्तम्भोऽष्टास्रसुवृत्तभद्रसहितो रूपेण चालङ्कृतो
युक्त: पल्लवकैस्तथाभरणकं यत् पल्लवेनावृतम् ।
कुम्भी भद्रयुता कुमारसहितं शीर्षं तथा
किन्नरा:
पञ्चेति गृहे न शोभनमिदं प्रासादके शस्यते ॥
स्तम्भो द्वयोर्मध्यगतो न शस्तो
शुभंकरौ पट्टयुगांशतो द्वौ ।
गृहे प्रशस्ताश्चतुरस्रकास्ते
स्तम्भा न कन्देन विना प्रशस्ता: ॥
हानिस्तुलामध्यगता खनस्य
स्तम्भेभदन्तालयभित्तिमूलम् ।

संलग्नचत्वार्य्यपि द्वारके स्युः
स्तम्भासनं स्तम्भशिरश्च शीर्षम् ॥
उत्सेधार्द्धविनिर्गतं शरयुगांशेनाधिकं शस्यते
छाद्यं पट्टसमानकं सुखकरं नाशाय निम्नोन्नतम्।
तत् काकस्य च पक्षवच्च कुमुदाभं स्यर्यकाला-
यकं
शालम्बश्च करालकश्च विबुधैः प्रोक्तश्च तत्
षड्विधम् ॥
भूम्यारोहणमूर्द्धतस्तदुपरि प्राग्दक्षिणं शस्यते
द्वारं तूर्द्धभवश्च भूमिरपरा हस्तार्कभागैः
क्रमात्।
प्रासादे च मठे नरेन्द्रभवने शैलः शुभो नो
गृहे
तस्मिन् भित्तिषु वाद्यकास्तु शुभदाः प्राग्भूमि-
कुम्भाः तथा ॥*॥
पृष्ठे चयानन्तरमेव वास्यात्
गृहप्रवेशो न शुभङ्करोऽसौ।
गृहस्य पृष्ठे यदि राजमार्ग-
स्तदादिभूमेर्न हि पृष्ठभीत्यम् ॥
जीर्णं गेहं भित्तिमग्नं विशीर्णं
तत् पातव्यं स्वर्णनागस्य दन्तैः।
गोशृङ्गैर्वा शिल्पिना निश्चयेन
पूजां कृत्वा वास्तुदोषो न तस्य ॥
हर्म्म्यस्यापि समन्ततो गृहपतिर्द्धिं यदा-
पीहते
सर्व्वाशासु विवर्द्धितश्च फलदं दुष्टं तदेकत्र च।
प्राक्शुभैरपि वैरमुत्तरदिशाभागे मनस्तापकृत्
पश्चादर्थविनाशदक्षिणदिशि शत्रोर्भयं वर्द्धते ॥
वामाङ्गे धनवक्रदेवभवनं धातुः श्रियो वाजिनो
नार्य्यस्त्वौषधिभोजनस्य भवनं स्याद्वाटिका
वामतः।
वह्नेर्गोजलदन्तिशस्त्रसदनं कोशा तथा दक्षिणे
स्थानं माहिषमाजमौर्णिकमिदं याम्याग्निमध्ये
शुभम् ॥
सुग्रीवे वरुणेऽसुरे गणवरे स्याद्घोटकानां गृहं
दौःस्थे युद्धगृहञ्च नृत्यरमणं गान्धर्व्ववेदाश्रितम्।
रात्रौ माल्यगृहं गजेन्द्रजयके रुद्रे महिष्या
गृहं
सत्ये धर्म्मगृहं रवौ व्ययगृहं प्रोक्तं जये
श्रीगृहम् ॥
ईशप्राच्योरन्तरे गर्भभाना-
मुद्राणां वा स्थानमेवात्र कार्य्यम्।
धान्यागारं स्यात्तथा प्राणकोणे
भाण्डेऽप्येवं शम्भुकोणे शिवार्चा ॥
प्राक्पश्चिमे मारुतवह्निकोणे
प्रोक्ता प्रवीणैरपि नृत्यशाला।
वर्चोगृहं रात्रिचरस्य कोणे
स्यात् पश्चिमे भोजनशालिका च ॥*॥
प्राक् शोभा नृपमन्दिरे च पुरतः स्थानं तथा
पुस्तकं
वामाङ्गे नृपतेस्तथायुधधराः छत्रातपत्राणि
च।

छत्रं चामरतापसाः स्वगुरवस्ताम्बूलपृग्दक्षिणे
गेहाधीशयदृच्छया च शयनं सर्व्वासु भूमीषु
च ॥
विवस्वदाख्ये शयनं प्रशस्तं
वादित्रगेहं सवितुर्व्विधेयम्।
पूषाश्रितं भोजनमन्दिरञ्च
महानसं वह्निदिशाविभागे ॥
माहेन्द्राख्ये गोपुरं द्वित्रिभूमिं
भागैः संख्या तस्य मध्ये विधेया।
उक्तागुक्तं मन्दिरादौ निवेशे
त्वष्टा कार्य्यं चाज्ञया भूपतीनाम् ॥
दिक्शालाभं स्वेकशालादिभेदं
ज्येष्ठा मध्या कन्यसा दक्षिणाङ्गात्।
शाला कार्य्या लोकगेहे युगाम्भात्
चित्रिकाः स्युर्भूमयश्चैषु नूनम् ॥"
इति श्रीसूत्रधारमण्डनविरचिते वास्तुशास्त्रे
राजवल्लभे राजगृहनिवेशादिलक्षणं ५ अः ॥*॥
"अथैकशालं द्विगुणात्रिशालं
प्रस्तारतो लक्षणमेव तेषाम्।
यथोदितं वास्तुमते तथैव
ब्रवीमि शास्त्रामथ मानवानाम् ॥
चत्वारो गुरवस्तु पूर्व्वगुरुतोऽधो हस्वतोऽन्ये
समाः
भूयः पश्चिमपूरितश्च गुरुभिर्यावल्लघुत्वं भवेत्।
उद्दिष्टे द्विगुणाङ्ककैर्लघुभवैः संख्यैकमिश्रीकृते
नष्टे स्तो विषमे समे गुरुलघू रूपे तदर्द्धीकृतः ॥
स्थाने लघोः सद्मसुखादलिन्दं
प्रदक्षिणं तं क्रमतो विदध्यात्।
प्रस्तारतः षोडशकं गृहाणां
प्रोक्तं तथाख्यां कथयामि तेषाम् ॥*॥
ध्रुवञ्च धान्यं जयनन्दसंज्ञे
खराख्यकान्तञ्च मनोरमाख्यम्।
सुवक्त्रमस्मात् किल दुर्मुखाख्यं
क्रूरं विपक्षं धनदं च यच्च ॥
आक्रन्दकं वैपुलवैजयञ्च
फलानि नाम्ना सदृशानि तेषाम्।
इति ध्रुवादिषोडशगृहाणि ॥ * ॥
धान्यादितोऽष्टौ विजयान्तकं हि
त्वलिन्दयुग्मं मुखतो विदध्यात् ॥
रम्यं श्रीधरमोदिते च परतस्तद्वर्द्धमानं गृहं
कारालञ्च सुनाभमेव तदनु धाङ्क्षं सन्दकं तथा।
इति रम्याष्टकम् ॥ * ॥
सर्व्वाणि ध्रुववद्भवन्ति नियतं षड्दारुकैः सुन्दरं
प्रोक्तं तदरञ्च भद्रकुमुदेऽथो वैसुखाख्यं शिवम् ॥
तत्सर्व्वलाभञ्च विशालसंज्ञं
तथा विलक्षं त्वशुभं ध्वजञ्च।
उद्योतमेवं त्वथ भीषणञ्च
सौम्याजिते स्तः कुलनन्दनञ्च ॥"
इति सुन्दरादिषोडशगृहाणि ॥ * ॥
"पूर्व्वालिन्दसमस्तकेषु युगलं पट्टस्य शालान्तरे
हंसञ्चैव सुलक्षणञ्च परतः सौम्यं ह्ययं भावुकम्।
तस्माद्दृतमरीचिरे च सततं क्षेमं तथा क्षेपकं

चोदृत्तं वृषसुस्थितञ्च ययमानन्दं सुनन्दं
क्रमात् ॥"
इति हंसादिषोडशगृहाणि ॥ * ॥
"मध्येऽपवर्गं ध्रुवरूपकाणा-
मलङ्कृताङ्कं प्रथमञ्च तत्र।
तथाप्यलङ्कारमिति क्रमेण
ख्यातं तदन्यं रमकञ्च पूर्व्वम् ॥
तत्रेश्वरं तदनु पुण्यमतः सुगर्भं
प्रोक्तं गृहं कलसदुर्गतमेव रिक्तम्।
स्यादीप्सितं तदनु भद्रकवर्द्धिते च
हीनं गृहं विभवकामदमेव संख्या ॥"
इत्यलङ्कृतादिषोडशगृहाणि ॥ * ।
"षड्दारु सर्व्वेष्वपवर्गकेषु
प्रभावसंज्ञं त्वथ भावितञ्च।
रुक्मं तथान्यत्तिलकञ्च तत्र
सत् क्रीड़नं सौख्यमतो यशोदम् ॥
कुमुदमपि च कालं भासुरं भूषणञ्च
वसुधरमथ गेहं धान्यनाशं तदन्यत्।
कुपितमपि च वित्तं सुहृदं प्रोक्तमेत-
त्तदनु कुलसन्दष्टं षोडशं प्रोक्तमाद्यैः ॥"
इति प्रभवादिषोडशगृहाणि ॥*॥
"सर्व्वे सुखालिन्दसमन्विताश्च
दारुद्विषट्कं ह्यपवर्गमध्ये।
ततश्च चूड़ामणिकं प्रभद्रं
क्षेमं तथा शेषसमुच्छ्रितञ्च ॥
विशालसंज्ञं त्वथ भूतिदञ्च
दुष्टं विरोधं कथितं क्रमेण।
तत्कालपाशं हि निरामयन्तु
सुशालरौद्रं मुनिसम्मताश्च ॥
वेद्यं गृहं चैव मनोरमञ्च
सुभद्रसंज्ञं कथिता च संख्या।
इत्येकशालानि गृहाणि विद्या-
च्छतञ्च चत्वार्य्यधिकं ध्रुवादि ॥
अपवरकं यत् कथितं तन्नामे धीमता गृहे
कार्य्यम्।
यत् षड्दारुकमुदितं शेया सा पट्टजा श्रेणी।"
इति चूड़ामण्यादिषोडशगृहाणि। इति चतु-
रुत्तरं शतमेकशालगृहाणि ॥ * ॥
"अथ द्विशालालयलक्षणानि
पदैस्त्रिभिः कोष्ठकरन्ध्रसंख्या।
तन्मध्यकोष्ठं परिहृत्य युग्मं
शालास्ततस्तो हि भवन्ति दिक्षु ॥
याम्याग्निगा च करिणी धनदाभिवक्त्रा
पूर्व्वानना च महिषी पितृवारुणस्था।
गावी यमाभिवदनापि च रोगसौम्ये
च्छागी महेन्द्रशिवयोर्व्वरुणाभिवक्त्रा ॥
हस्तिन्या महिषी द्विशालभवनं सिद्धार्थकं
तच्छुभं
गावी माहिषसंज्ञकं स्वतिकरं तद्यामसूर्य्यं
भवेत्।
दण्डं छागगवान्वितं धनहरं हस्तिन्यजाभ्यां
तथा

काचं गोकरिणीयुतं न हि शुभं चुल्ली च पूर्व्वापरम् ॥

नामान्यतः सम्प्रतशान्तिदच्च
स्याद्वर्द्धमानं त्वथ कुक्कुटाख्यम् ।
इत्यादितो नाम चतुष्टयञ्च
हर्म्म्यं द्विशालं प्रथमं तथैव ॥
यत् स्वस्तिकं तद्रसदारुमध्ये-
ऽलिन्दस्तथाग्रे कथितं द्विशालम् ।
हंसाख्यकं स्यादथ वर्द्धमानं
कीर्त्तिविनाशं भवनं चतुर्थम् ॥
अलिन्दयुग्मं पुरतो विदध्यात्
षड्दारु मध्येऽपि च शान्तसंज्ञम् ।
तस्मादृहे हर्षणवैपुले च
तथा चतुर्थं कथितं करालम् ॥
तस्मिन् गृहे दक्षिणतो ह्यलिन्दे
वित्तञ्च चित्तं धनकालदण्डे ।
वामे पुनर्बन्धुदपुत्रदं स्यात्
सर्व्वन्तु तस्मिन्नपि कालचक्रम् ॥
लघुश्च पश्चात् पुरतोऽपि युग्मं
स्याद्दक्षिणैको रसदारुमध्ये ।
तत्रैपुरं सुन्दरमेव नीलं
स्यात् कौटिलञ्चैव यथा क्रमेण ॥
प्रदक्षिणैकः पुरतोऽपि युग्मं
षट्कं गृहान्तः किल शास्त्रदाख्यम् ।
ततो द्वितीयं खलु शाश्वदं स्या-
च्छीलं तथा कोटरमेव संज्ञम् ॥
सौम्यं गृहं मण्डपसंयुतञ्च
तत्तुल्यरूपं विबुधैर्व्विधेयम् ।
सुभद्रमस्मादपि वर्द्धमानं
क्रूरञ्च सर्व्वेष्वशुभं चतुर्थम् ॥
मुखे चयं दक्षिणपश्चिमेकः
षड्दारुकं श्रीधरनामधेयम् ।
प्रोक्ते गृहे कामदपुष्टिदे च
चतुर्थकं कीर्त्तिविनाशमेव ॥
वामे तथा दक्षिणपश्चिमैको
युग्मं मुखे मण्डपमग्रतश्च ।
श्रीभूषणं श्रीवसनं ततश्च
श्रीशोभकीर्त्तिक्षयमेव तद्वत् ॥
एकोऽपरे दक्षिणवामतश्च
मध्यगं श्रीधरयुग्मपूर्व्वम् ।
सर्व्वार्थदं स्यान्मुखतश्चयश्चेत्
लक्ष्मीनिवासं कुपितश्च नाम्ना ॥
युग्मं मुखे मण्डपमेव चाग्रे
युग्मं तथा दक्षिणतोऽन्तभित्तिः ।
पृष्ठे तु उद्योतकवाहुतेजः
सुतेज एवं कलहावहं स्यात् ॥
उद्योतके पश्चिमभागतो द्वौ
कुर्य्यात् द्विशालञ्च वहिर्निवासम् ।
मत् पुष्टिदं कोपसमानमन्य-
मनुक्तषट्कं क्रमतो विधेयम् ॥
लघुत्रिकं पूर्व्वदिशाविभागे
एको भवेद्दक्षिणवामपश्चात् ।

महान्तमेतन्महितञ्च दत्तं
कुलक्षयं मण्डपसंयुतं स्यात् ॥
भ्रमद्वयं दिक्त्रितये विभागे
मुखे त्रिकं मण्डपमग्रतश्च ।
प्रतापवर्द्धन्यमिदञ्च दिव्यं
सुखाधिकं सौख्यहरं चतुर्थम् ॥
तस्यैव रूपं रसदारुयुग्मं
पुनश्चलिन्दोऽग्रजन्ततश्च ।
स्यात् सिंहनादं त्वथ हस्तियानं
श्रेयं तथा कण्टकमेतदन्त्यम् ॥
शान्तादिगेहानि च षोड़शैव
द्विशालकानीह यथाक्रमेण ।
नामानि चत्वार्य्यपि रूपमेकं
इत्यादिभेदैः क्रमतो विधेयम् ॥”
इति सूत्रधारमण्डनविरचिते वास्तुशास्त्रे राजवल्लभे एकद्विशालगृहलक्षणं ६ अध्यायः ॥*॥
“द्विशालगेहानि तु षोड़शैव
वास्तूदधेः सारतरं पुनश्च ।
वक्ष्याम्यलिन्दोऽपि मतो लघुश्च
द्वौ तिन्दुकाख्यौ कथितावलिन्दौ ॥
खर्व्वं द्विशालं लघुरस्य वामे
मुखे त्रिकं दक्षिणतस्तथैकः ।
मुखे तथा वासवमेव गेहं
वामेऽपसव्ये लघुरेक एव ॥
प्रासादसंज्ञं मुखतस्त्रयश्चेत्
प्रदक्षिणं तिन्दुकवेष्टितं स्यात् ।
अलिन्दयुक्तं विमलं द्विशालं
तद्दीर्घवक्त्रं सह मण्डपेन ॥
अथ द्विशालेषु समस्तकेषु
मध्ये विदध्याद्रसदारु चैकम् ।
तदा भवेद्भासुरमग्रयुग्म-
मेको लघुर्दक्षिणदिग्विभागे ॥
एको लघुर्दक्षिणपूर्व्वगः स्यात्
तद्दुन्दुभाख्यं मुखमण्डपेन ।
द्वौ पूर्व्वतो दक्षिणतस्तथैको
युग्मं भवेन्मण्डपगं सुतेजः ॥
मुखे युगा दक्षिणतस्तथैको
द्वौ मण्डपेऽस्मिन् ह्यजभिधानम् ।
महान्तगेहं मुखजे त्रिके तु
युग्मान्वितं मण्डपमेतदेव ॥
मुखे तथा मण्डपके च युग्मं
वामेऽपसव्ये युगलं तथोच्च ।
लोकत्रयाड़म्बरमस्य नाम
षड़स्रं शम्भुगणीशयोश्च ॥
युग्मं मुखे मण्डपगं द्वयं स्या-
त्तथा द्वयं दक्षिणवामतश्च ।
एको हि पश्चादरदाभिधानं
श्रीविश्वकर्म्मोक्तमतद्विशालम् ॥
मालीनसंज्ञं मुखगैश्चतुर्भि-
र्युग्मं भवेद्दक्षिणवामभागे ।
युग्मं तथा पश्चिमदिग्विभागे
तस्याग्रतो मण्डप एक एव ॥

शाशामा लघवो विलासभवने वामे लघुर्दक्षिणे
तत्रैकमण्डलसंयुतञ्च कमलं स्याद्द्वृद्धिदं सौख्यदम् ।
वेदाख्यूदरके मुखे च सततं वामेषयो दक्षिणे
तस्याग्रे मुखमण्डपस्य फलदानेवं गृहान् षोड़श ॥”
इति खर्व्वादिषोड़शगृहाणि ॥*॥
“अथ त्रिशालं त्रिदशैश्चयैकं
स्यान्नैदशावासमरूपसंज्ञम् ।
तथा चतुर्थं कुमुदाभिधानं
इत्यादिभेदैः क्रमतो विधेयम् ॥
छन्नं ह्यलिन्दञ्च तथैव पुत्रं
हरञ्च कामन्त्वथ रूक्षभद्रम् ।
षट्कञ्च मध्ये स्वधनं कुवेरं
प्रत्यं तथा कामदमेतदेव ॥
अलिन्दयुग्मं त्वथ भद्रयुक्तं
मध्ये कपाटं जलजाभिधानम् ।
स्यान्नैषधं चैव गजं क्रमाच्च
षड्दारु मध्ये सकले यथातः ॥
स्याद्वैजयं मण्डपरूक्षभद्रं
जयं निनादं त्वथ कीर्त्तिजञ्च ।
भद्रोनरूक्षाधिकशाकलाङ्कं
निर्लोभकं वासदकौशले च ॥
श्रेष्ठं क्रमादीश्वरवारदाख्यं
भीमञ्च कौशल्यमतः क्रमेण ।
तदेव वृद्धखनं तृतीयं
स्यात् कौशलं नीलमिदं चतुर्थम् ॥
मुखयुगलघुवामे दक्षिणे चैक एत-
दरदशरदमुक्तं दण्डकं काकपक्षम् ।
इदमिह हि निनादं मण्डपेनाधिकं स्या-
त्तदनु च गजनादं वाहुलं कीर्त्तिनाशम् ॥
स्वस्त्यादिरूपसुखमण्डपमेव त्रिंशं
श्रेये गृहे ह्यगजे अपि कोशसंज्ञम् ।
वामेऽधिकञ्च लघुना कथितं सुभद्रं
स्यान्माणिभद्रमपि रत्नककाञ्चनाख्ये ॥
युगसुखमपरैको भैरवं दक्षिणे च
भरत नरजमेतत् स्याच्चतुर्थं कुवेरम् ।
पुनरपि लघु वामे हस्तियानं वियानं
हयजक्रमजगेहं तच्चतुर्थं क्रमेण ॥
वर्णानां शुभदञ्च चामरगृहं प्रत्येव कृत्वा मुखे
प्रोक्तं चौरदरन्नदाक्षयमिदं कोलाहलञ्चापरम् ।
षड्दारुद्वयभद्रवप्रजयवस्त्रिर्य्यक् युतं शास्त्रया
गात्रर्व्वं क्षितिभूषणञ्च कथितं सर्व्वन्नकं दर्पकम् ॥
धान्यं वृद्धिकरं त्रिशालमुदितं शाला विना शावनी
प्राक्शाला रहितं शुभं निगदितं सुक्षेमार्थप्रदम् ।
चुल्लीसंज्ञमिदं करोति मरणं हीनं तथा याम्यया
पश्चान्नं मक्षिणौल्ले च भवनं तत्पुत्रबन्धुक्षयम् ॥”
इति त्रिदशादिषोड़शगृहाणि ॥*॥

"नैशालानि च षोडश प्रथमतः सोमश्च षड्दारकं
तच्चैकेन पुरोऽपि शङ्करमिदं मध्ये क्रमात् पूर्ववत्।
रुद्रे द्वौ मुखतोऽपि दक्षिणलघुस्त्वेकाधिकं सागरं
चत्वारो नृपशोभितश्च पुरतः प्राग्दक्षिणैको लघुः॥
पश्चाग्रे सकलं भ्रमश्च लघुना सर्व्वस्य तत् सौख्यदं
रागाख्यं भ्रमसंयुतश्च भवनं तत् सर्व्वशालं भवेत्।
शाम्बाणकुलनन्दनं क्रमलया त्वेकद्वयेनान्वितं
तस्मिन्दक्षिणसंयुते च लघुके कल्याणसंज्ञं तथा॥
सर्व्वाशासु लघुत्रयं शरमुखं तत् पङ्क्तियुग्मं क्रमात्
तत्सौभाग्यविवर्द्धनश्च भवनं राज्ञां सदा निर्म्मितम्।
आनन्दं मुखराजिदक्षिणलघुर्वामे च पृष्ठे द्वयं
रागाख्यं जनशोभनं गुणगणैकेनान्वितं स्थितः॥
स्याद्गोवर्द्धनमग्रतो रसयुतं युग्माग्निनेत्रैः क्रमात्
सप्ताग्रे निगुणं त्रिकञ्च लघवो लोकत्रिकं सुन्दरम्।
गेहं श्रीतिलकं च भद्रसहितं द्वन्द्वेन हीनं मुखे
तद्युक्तं लघुना च भद्रसहितं विष्णुप्रियं भूपतेः॥"

इति सोमादिषोडशगृहाणि॥*॥

"षड्दारकं श्रीविदशं त्रिशालं
तत् श्रीनिवासं मुखकक्षयुक्तम्।
श्रीवत्सतः श्रीधरमेव दृष्ट्वा
श्रीभूषणं वेदमुखञ्च गेहम्॥
बाणैः श्रीजयमग्रतोऽपि ऋतुभिः श्रीतैलिकं मन्दिरं
रागाग्रं रसदारयुग्मसहितं तत् श्रीविलासं भवेत्।
श्रीतेजोजयमग्रतश्च मुनिभिः षड्दार युग्मान्वितं
सोमादित्रिदशादिभूपतिगृहाः पञ्चाधिका विंशतिः॥"

इति त्रिदशादिनवगृहाणि॥*॥

"भवननवकमुक्तं यच्चतुःशालमध्यात्
नयनलघुमुखं स्याद्दक्षिणैकेन चन्द्रम्।
भवति सदनमध्ये सर्व्वतो दारषट्कं
द्वितयमपि च तेषामन्तिमं युग्मयुक्तम्॥
मलयमथ च गेहं वामहस्ताधिकं स्यात्
भवति च गुणहस्तं शोभनं पूर्व्वतोऽपि।
त्रिभिरपि च मुकर्णा पृष्ठयाम्ये तथैक-
स्तदधिकमपि वामे वेश्म नागेन्द्रसंज्ञम्॥
चक्रं चतुष्टयमुखं सकलेषु शस्तं
शाम्योत्तरे हि लघुनापि जयावहं स्यात्।
भद्राश्रयश्च मकराश्रयमेव तस्मिन्
पृष्ठाग्रहस्तमपि कामदमग्रभद्रम्॥"

इति विजयादिनवचतुःशालगृहाणि॥*॥

"शुद्धादयो मुनिमतेऽष्टविधा च शाला-
स्तासां षडेव कथिता भवनप्रसङ्गे।
शालालिमध्यरचितोऽपि लघुः सुखाय
यद्वा तदग्ररचिताः पृथगेव शालाः॥"

इति सूत्रधारमण्डनविरचिते वास्तुशास्त्रे राजवल्लभे द्विशालत्रिशालचतुःशालगृहलक्षणवर्णनं सप्तमोऽध्यायः॥*॥

"शयनमथ नृपाणां सत्कुलानां शतैकं
नवतिरपि सुतानां मन्त्रिणः षड्विहीनम्।
बलपतिगुणहस्तं शाङ्गुलोनं गुरोश्च
तदनु युगलहीनं शास्त्रगादैः प्रशस्तम्॥
व्यासोर्द्धभागे भवदैर्घ्यतश्च
कलांसमाचोऽधिक एव शस्तः।
अंशेन पादेन समुच्छ्रयः स्यात्
द्विसप्ताङ्गुलानामधिको न कार्यः॥
श्रीपर्णी धनदासनोऽपि सदृशा वित्तप्रदा तिन्दुकी
वृद्धिः शिंशपयाथ शाकशयने शर्म्मापि शालैः क्षतौ।
आयुः पद्मकजे च चन्दनमये शत्रुक्षयः स्यात् सुखं
श्रेष्ठं चैकमसं शिरीषजनितं पर्य्यङ्कयानासनम्॥"

इति शयनम्॥*॥

"सिंहासनं चोत्तममङ्गुलानां
षष्ट्या दशोनञ्च परं तथैव।
दशांशवस्वंशमतो विहीनं
व्यासे च दैर्घ्यार्द्धसमुच्छ्रयः स्यात्॥
मुनिभिरथ शिवैर्वा भद्रभागत्रयं स्या-
दुदय इति विभागैर्भाजिते पीठमष्टौ।
कनकमपि दशांशं सप्तधा ग्रासपङ्क्ती
शिवनवमुनिरन्ध्रैर्दन्तिवाहौ निवेद्यौ॥
छाद्यं स्यान्नवभागमेव तिथितो भागेन कक्षासनं
युक्तं स्तम्भयुगेन तोरणयुतं रत्नैः शुभे राजितम्।
कार्य्यं नृपवल्लभं मतिमता श्रेष्ठञ्च सिंहासनं
शातश्च यशोऽभिवर्द्धनमिभैः सिंहैर्नृपस्यासनम्॥
नरेषु वेदी पुनरेव छाद्यं
सुखासनं तोरणसंयुतं स्यात्।
पीठञ्च कुम्भः कलसं विटङ्क-
मुत्तङ्गसंज्ञं सह छाद्यकेन॥
पीठे गोष्ठरिवेदिके च सुपशाखाद्येन सिंहासनं
दन्ती माल्यकवेदिकासनयुतं तद्दीपचित्रं भवेत्।
छत्रं ज्येष्ठमशीतिवेदसहितं द्वासप्ततिर्मध्यमं
षष्ट्या कन्यसमङ्गुलैर्नरपतेर्दैर्घ्यं शलाकं शुभम्॥"

इति सिंहासनच्छत्रलक्षणानि॥*॥

"वातायनो सुम्भिकया विहीनो
बुधैरुदीर्णस्त्रिपताक एव।
द्विस्तम्भिकस्तोभयसंज्ञकश्च
यः स्वस्तिकोऽसौ युगस्तम्भियुक्तः॥
स्याद्दाणैः प्रियवक्त्र एव सुमुखः षड्भिः पुनश्चेति च

छाद्येकेन युतः सुवक्त्र उदितो द्वाभ्यां प्रियङ्गो भवेत्।
एकोनः परिपद्मनाभ उदितस्तद्वी पवित्रो युगे-
र्वैचित्र्यः शरपङ्क्तिभिस्तु विविधाकारैर्युतः प्रश्च च॥
सिंहो दैर्घ्यविवर्द्धितो हि पृथुले हंसो गवाक्षो भवेत्
कुम्भोऽसौ मतिदोऽपि भद्रसहितो ज्येष्ठस्तु मुक्तार्णवः।
द्वारेणैव युगासनेन गरुडः पञ्चद्वये जालकं
प्रोक्ताः पञ्चदशैव रूपमदशा वेद्यादिकञ्चासनैः॥"

इति पञ्चदश गवाक्षाः॥*॥

"सभा च नन्दा परतोऽथ भद्रा
जया च पूर्णा क्रमतोऽपि दिव्या।
पद्मी सुरम्भोद्भविकोत्पलाख्यौ
बुधैर्विधेयावनिपालगेहे॥
चैकं चतुष्कपदैरपि षोडशांशं
मध्ये तुरीयपदमेकपदो लघुश्च।
नन्देति भद्रसहिता च पदेन भद्रा
तद्वेदतश्च जयदा लघुना च पूर्णा॥
दिव्या सभा केवलनन्दभागा
भद्रैश्चतुर्भिः सहिता च पद्मी।
रसोद्भवा स्याद्युगतोऽपि तुल्ये-
स्तथोत्पलाख्या प्रतिभद्रतश्च॥
स्तम्भैस्तोरणराजितैश्च मदला निर्यूहवेतानकैः
रूपच्छाद्यैर्गजसिंहराजविविधैर्नृत्यान्वितैः शोभितम्।
रत्नस्फाटिकरङ्गभूमिनृपतेः क्रीडास्पदं मण्डपं
कुर्य्याद्दक्षिणभद्रके च रुचिरां यन्मध्यतो वेदिकाम्॥"

इति सभाष्टकम्॥*॥

"वेदी कोणचतुष्टयेन सकले पाणिग्रहे स्वस्तिका
कल्याणं रविकोणकैश्च नृपतेः सा भद्रिका सर्व्वदा।
कोणैः श्रीधरिका च विंशतिमितैस्त्रिसोऽमरार्णां गृहे
कोणैरष्टभिरन्विता च शुभदा चण्डार्चने पद्मिनी॥
विप्रे सप्तकराश्च भूपभवने षट्पञ्च वैश्ये तथा
कुर्य्याद्धस्तचतुष्टयाश्च वृषले त्रिद्व्यङ्कतो हीनके।
तस्योर्द्धे च नरेश्वरासनमतो माण्डं चतुस्तम्भकं
हेम्ना मौक्तिकपट्टकूलमणिभिः सौम्याननं राजितम्॥"

इति वेदिकाचतुष्टयम्॥*॥

"दीपस्तम्भं त्रिकरमुदये षड्भिरूनं क्रमेण
हस्तान्तं तं विहितमपि तैः पीठकुम्भान्वितञ्च
दीपस्योर्द्धे कनककलसं शोभितं कङ्कणाद्यैः
कुर्य्याद्द्वारतोरथ तरुमतो नागवज्रं विवर्ज्यैः॥"

इति श्रीसूत्रधारमण्डनविरचिते वास्तुशास्त्रे राजवल्लभे शयनसिंहासनच्छत्रगवाक्षसभाष्टकवेदिकाचतुष्टयदीपस्तम्भलक्षणं ८ अध्यायः

"गृहा वास्तुशास्त्रोदधौ राजयोग्या
अनन्ता हि सन्त्यत्र तेभ्यः कियन्तः।
मयोक्ताश्च योग्या नृपाणां सन्ददृद्धै
सुशोभान्विताश्चैव कल्याणदाश्च ॥
त्रिशालं गृहं दिक्त्रये स्तम्भयुग्मं
मुखे वीथिकाग्रे च षड्दारुमध्यम्।
शुभालिन्दचातुर्दिशं चैकवक्त्रं
गवाक्षाश्च कोणे च भद्रे विधेयम् ॥
मुखे भद्रके श्रीधरं मात्तयुक्तं
तथा भूमिका पञ्चसप्तैकभूम्याम्।
विनाच्छादनं मण्डपं वेदवक्त्रं
रिपुघ्नं गृहं राज्यवर्द्ध्यमेतत् ॥
मध्ये निम्नस्तम्भाग्रं तथोच्चैः
शस्तं देवं पुत्रनाशाय गेहम्।
स्तम्भश्रेणी मध्यमानेन कार्य्या
न्यूनाधिक्ये नैव पूज्या न च श्रीः ॥
हीनस्तम्भे शालयोर्व्वाथपङ्क्ते-
र्नो वेधः स्यादन्यतो वेध एव।
भूमेर्द्दैर्घ्यं वह्निसंख्याप्रमाणं
तुल्या नेष्टा वर्द्धमाना शुभाः स्युः ॥
सार्द्धत्रयेण विभजेत् करतत्त्वसंख्य-
मध्ये नवांशमुदितश्च कराद्धभित्तिः।
स्तम्भाश्च षोड़शशतेऽपि च भद्रकेषु
दन्तैर्मिताश्च सकलासु चतुर्मुखं स्यात् ॥
भद्रे च भूमिद्वयमूर्द्ध्वमात्तं
सार्द्धत्रिभूमं कथितश्च गेहम्।
प्रतापवर्द्धनमिदं नृपाणां
लक्ष्मीविलासश्च वदामि तस्मात् ॥
स्तम्भा दश दश भद्रचैकं
षोड़शमध्ये तलमरूपम्।
मदनशरावनिमात्तसमेतं
लक्ष्मीः कर्म्म करोति च नित्यम् ॥
भागाः पञ्चगुणाश्च पञ्च भवनं षड्विंशता स्तम्भकैः
कुर्य्याच्चार्द्धपदे च मन्दपदकैर्भद्रं चतुर्द्वारकैः।
भद्रे वै गुणभद्रकाणि सकलेऽष्टाशीतिका स्तम्भका
मात्तं भूत्रितये च सार्द्धशरभूः स्याच्छ्रीनिवासं गृहम् ॥
मध्ये स्तम्भशतश्च भागसमके भित्तिश्चतुर्द्वारकं
सप्तांशाद्विशरांशरामवर्द्धितं भद्रं चतुस्त्रिंशता।
षट्त्रिंशत् द्विशती च ते तु सकलाः स्तम्भाः क्षितौ पूर्व्वतो
नाम्ना तत् कमलोद्भवश्च कथितं भूम्यर्द्धसप्तान्वितम् ॥
हर्म्यस्योदयकं विभज्य नवधा कुम्भी भवेद्भागतः
पादोनं भरणं शिरश्च कथितं पट्टः सपादो भवेत्।
स्तम्भः पञ्चपदोनभाग उदितः कोणाष्टदन्तस्तथा
भागार्द्धेन जयन्तिका निगदिता सा तल्लकस्योपरि ॥
गृहस्योदयं दिग्विभागैर्विभाज्यं
द्विभागेन कक्षासनं वेदिका स्यात्।
त्रिभागेन तल्लकतो निम्नमेवं
गृहस्योदयार्द्धेन पीठं नृपाणाम् ॥
उत्तानपट्टो नृपमन्दिरेऽसौ
हस्ते च हस्ते द्वियवोन्नतः स्यात्।
माषाद्यतः सौख्यकरो नृपाणां
धनक्षयं सोऽपि करोति गेहे ॥
सुधेष्टके शर्करया वियुक्ते
सकर्करैस्तैः सुदृढ़ा गृहे भूः।
शस्ता न शस्तं भवनेषु चित्रं
कपोतगर्भाः कपिकाकरौद्रम् ॥
शुद्धोऽलिन्दविशेषतश्च सकला भूम्यौच्चरक्षान्विता
छाद्येनाप्यथ मत्तवारणयुतं मात्तं तथाद्धोदयम्।
मौड़ो भद्रचतुष्किकाभिरुदितो मात्तेन युक्तस्तथा
भद्रैस्तुल्यचपादकैस्तु सुकुलो वा शीर्षकैः शेखरः ॥
राज्ञो गृहं छन्दचतुष्टयं स्यात्
तथैव घण्टाकलसेन युक्तम्।
तुङ्गारसंज्ञश्च सिंहकर्णः
प्रासादके तेऽपि षड़ेव शस्ताः ॥
षड्जातिगेहं छगपर्णपङ्क्ते-
र्नैशैः काष्ठैर्व्वापि दृढा शिलाभिः।
छन्दं प्रकारैः कथितश्च षड्भि-
र्लोकप्रसिद्धा च परीक्षणीयम् ॥"
इति राजगृहादि ॥*॥
"वामे भागे दक्षिणे वा नृपाणां
मेधा कार्य्या वाटिका क्रीड़नार्थम्।
एकद्वित्रिद्वन्द्वसंख्या शतं स्यान्-
मध्ये धारामण्डपं तोययन्त्रैः ॥
चैवं सप्तविभागभाजितमतो भद्रश्च भागत्रयं
तन्मध्ये जलवापिकाजिनपदैरेकाशतो वेदिका।
स्तम्भैर्द्वादशभिश्च मध्यरचितः कोणेषु कूपान्वितः
कर्त्तव्यो जलयन्त्र एष विधिवत् भोगाय भूमीभुजाम् ॥
तस्यां चम्पककुन्दजातिसुमनोवल्लाः सुनिर्व्वालुका
जातीहेमसमानकेतकिरपि श्वेता तथा शाटला।
नारङ्गः करुणा वसन्तलतिका चारक्तपुष्पादिकं
जम्बीरी बदरी च पूगमधुका जम्बूश्च चूतद्रुमाः ॥
मालूरः कदली च चन्दनवटावश्वत्थपथ्याशिवा-
चिञ्चाशोककदम्बनिम्बतरवः खर्ज्जूरिका दाड़िमी।
कर्पूरागुरुकिंशुका हयरिपुः पुन्नागको निम्बुकौ
प्रोक्ता नागलता च बीजनिभृता स्यात् तिन्दुकी लाङ्गली ॥
द्राक्षेला शतपत्रिका च बकुला धत्तूरकांकोलकौ
शालस्तालतमालकौ सुनिवरौ मन्दारपारिद्रुमौ।
अन्ये भोग्यविचित्रखाद्यसुफलास्ते रोपणीया बुधैः
यद्याप्नोति न भूतले शुभतरूंस्तच्चान्यकान् वापयेत्।
आस्थानं प्रतिवीक्षणाय च घटीयन्त्रस्तुषारोद्भवे
दोला स्त्रीजनखेलनाय रुचिरे वर्षावसन्तोत्सवे।
बालाप्रौढ़वधूसुमध्यवनितागानैर्मनोहारिभि-
र्ग्रीष्मे शारदकेऽथ शीतलजलक्रीड़ा शुभे मण्डपे ॥
इति वाटिका ॥*॥
"तुरङ्गमाणां गृहवामभागे
शाला चतुःषष्टिकरा विधेया।
शतार्द्धतो मध्यमिका च दैर्घ्ये
कनीयसी तैर्दशभिर्विहीना ॥
व्यासे च ज्येष्ठा तिथिहस्तमाना
त्रयोदशैकादशकैः क्रमेण।
तद्बाह्यभित्तिश्च करप्रमाणा
पञ्चार्द्धपञ्चाब्धिकरोदया स्यात् ॥
तेजोहानिमपोहया विदधते पूर्व्वापरास्या नृणां
ते याम्योत्तरतो सुखादि सततं कीर्त्तिर्यशो धान्यकम्।
कर्त्तव्यो धिषणं प्रतीह कलसस्थानं द्विहस्तोदयं
तस्यास्तोरणमुच्छ्रितश्च मुनिभिर्हस्तैः सुशोभान्वितम् ॥
षट्या साधुहयाङ्गुलैर्निगदितो वेदाङ्गुलेनाधिकः
श्रीवत्सस्वस्तिकाव एव च मनोहारी द्विसप्ताङ्गुलः।
रामाद्यङ्गुलकैस्तु वाजिविजयोऽशीत्या तथा भैरवः
शान्ताख्यस्तु युगाष्टमात्र उदये मानं हरेः सप्तधा ॥"
इत्यश्वशाला ॥*॥
"सिंहद्वारं पूर्व्वमानेन कार्य्यं
चित्रका वा मालिका स्तम्भशीर्षे।
स्यातां मध्ये ताड़कौ रक्षणार्थं
तुल्यौ भागेनाधिकौ वापि सार्द्धौ ॥
भागे दक्षिणवामके च करिणां शाला हरेर्द्वारतः
कर्त्तव्या सुदृढ़ोन्नता च कलसैर्घण्टादिभिर्भूषिता।
संकीर्णो रसनो नगैर्निगदितो मन्द्रा मृगाख्यास्ततः
सर्व्वेभ्यस्तमभद्रजातिरुदितो नन्दैः करैरुच्छ्रितः ॥"
इति गजशाला ॥*॥
"अष्टोत्तरहस्तशतं पृथुत्वे
नृपालयं चोत्तममेव तस्मात्।
अष्टाभिरष्टाभिरतो विहीनं
पञ्चैव भागाधिकतोऽपि दैर्घ्ये ॥
अशीतितो रामकरैस्तु हीनाः
पञ्चालया भूपसुतप्रियाश्च।

त्रिभागदैर्घ्येऽधिकतो विधेया
गृहाः क्रमेणैव यथोदिताश्च ॥
प्रोक्तं चतुःषष्टिकरं पृथुत्वे
क्रमेण षड्भिश्च करैर्विहीनम् ।
षड्भागतो दैर्घ्यमतोऽधिकं स्या-
द्बलाशिपस्यैव च पञ्चहर्म्यैः ॥
षष्ट्या हस्तैर्मन्त्रिगेहं पृथुत्वे
हीनं हीनं पञ्चकं वेदवेदैः ।
कुर्य्याद्धस्तैरष्टमांशोऽधिकोऽसौ
आयामे वर्द्धितो दैर्घ्य एव ॥
सामन्तादिकभूपतेश्च भवनं विंशच्छिहस्तैः समं
हस्तैर्व्वेदविहीनकैः क्रमतया भागाधिकं
दैर्घ्यतः ।
दैवज्ञस्य सभासदस्य गुरुतः पौरोधसं भेषजं
विंशत्यष्टकरं दिहस्तरहितं दैर्घ्ये त्रिधा तद्-
भवेत् ॥
वेश्याकञ्चुकिशिल्पिनामपि गृहे वेदाधिका
विंशति-
र्मानं हस्तचतुष्टयैर्विरहितं दैर्घ्येऽधिका
व्यासतः ।
हर्म्यं दूतकरान्तिकस्य रचितो हस्तैः समं
विस्तरे
हीनं त्वर्द्धकरेण पञ्चकमिदं तुर्य्यांशदैर्घ्याधि-
कम् ॥
द्वात्रिंशता मानमिदं द्विजादे-
र्हीनं चतुर्भिः क्रमतो विधेयम् ।
दिगष्टरामाब्धिविभागतश्च
क्रमेण तद्दैर्घ्यचतुष्टयेऽपि ॥
कर्णाधिकं विस्तरतोऽधिकञ्च
शीघ्रं विनाशं समुपैति गेहम् ।
द्वारं नतं मूर्द्ध्नि यदायतञ्च
तत् सन्ततेर्हानिकरं प्रदिष्टम् ॥
व्यासे सप्ततिहस्तवियुक्ते
शालामानमिदं मनुभक्ते ।
पञ्चत्रिंशत् पुनरपि तस्मिन्
मानमुशन्ति लघोरिव हृद्याः ॥
एकं द्वारं प्राङ्मुखं शोभनं स्यात्
चातुर्व्वर्ण्यं धात्रभूपेशजेने ।
युग्मं प्राच्यां पश्चिमे स्याच्छिकेषु
मूलं द्वारं दक्षिणे वर्ज्जनीयम् ॥”
इति वास्तुशास्त्रे राजवल्लभमण्डने राजगृहादि-
लक्षणं नाम नवमोऽध्यायः ॥ * ॥

शिल्पिका, स्त्री, तृणविशेषः । लहानसिपी इति हिन्दीभाषा । तत्पर्य्यायः । शिल्पिनी २ शीता ३ वेणजा ४ मृदुच्छदा ५ । अस्या गुणाः । मूत्ररोधाश्मरीशूलज्वरपित्तापहारकत्वम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

शिल्पिनी, स्त्री, कोलदलौषधिः । इति मेदिनी ॥

शिल्पिशाला, स्त्री, क्ली, (शिल्पिनां शाला ।) शिल्पशाला । इत्यमरटीकायां स्वामी ॥

शिल्पी, [न्] त्रि, (शिल्पं क्रियाकौशलमस्यास्तीति । इनिः ।) शिल्पकर्त्ता । (यथा, मनौ । ७ । ७५ ।
“आयुधैः शिल्पिभिर्यन्त्रैर्यवसेनोदकेन च ॥”)
तत्पर्य्यायः । कारुः २ । इत्यमरः ॥ अस्य विवरणं शिल्पकारशब्दे द्रष्टव्यम् । शिल्पसम्बन्धी च ॥

शिवं, क्ली, (शी + “सर्व्वनिघृष्वरिष्वलष्वशिव-पद्वप्रह्वेष्वा अतन्त्रे ।” उणा० १ । १५३ । वन् प्रत्ययेन साधु ।) मङ्गलम् । इत्यमरः ॥ (यथा, रघुः । १ ६० ।
“उपपन्नं ननु शिवं सप्तस्वङ्गेषु यस्य मे ।
दैवीनां मानुषीणाञ्च प्रतिहर्त्ता त्वमापदाम् ॥”)
सुखम् । जलम् । इत्युणादिकोषः ॥ सैन्धवम् । समुद्रलवणम् । श्वेतटङ्कणम् । इति राजनिर्घण्टः ॥ (मङ्गलवति, त्रि ॥ यथा, महाभारते । १ । २०८ । ३६ ।
“तत्र रम्ये शिवे देशे कौरवस्य निवेशनम् ॥”)

शिवः, पुं, (शी + “सर्व्वनिघृष्वेति ।” उणा० १।५३। इति वन्प्रत्ययेन साधुः ।) ब्रह्मणः संज्ञाविशेषः । तस्य व्युत्पत्तिर्यथा । शिवं कल्याणं विद्यतेऽस्य शिवः । श्यति अशुभमिति वा । शेरतेऽवतिष्ठन्ते अणिमाद्योऽष्टौ गुणा अस्मिन् इति वा शिवः । इत्यमरटीकायां भरतः ॥ तत्पर्य्यायः । शम्भुः २ ईशः ३ पशुपतिः ४ शूली ५ महेश्वरः ६ ईश्वरः ७ सर्व्वः ८ ईशानः ९ शङ्करः १० चन्द्रशेखरः ११ भूतेशः १२ खण्डपरशुः १३ गिरीशः १४ गिरिशः १५ मृडः १६ मृत्युञ्जयः १७ कृत्तिवासाः १८ पिनाकी १९ प्रमथाधिपः २० उग्रः २१ कपर्द्दी २२ श्रीकण्ठः २३ शितिकण्ठः २४ कपालभृत् २५ वामदेवः २६ महादेवः २७ विरूपाक्षः २८ त्रिलोचनः २९ कृशानुरेताः ३० सर्व्वज्ञः ३१ धूर्ज्जटिः ३२ नीललोहितः ३३ हरः ३४ स्मरहरः ३५ भर्गः ३६ त्र्यम्बकः ३७ त्रिपुरान्तकः ३८ गङ्गाधरः ३९ अन्धकरिपुः ४० क्रतुध्वंसी ४१ वृषध्वजः ४२ व्योमकेशः ४३ भवः ४४ भीमः ४५ स्थाणुः ४६ रुद्रः ४७ उमापतिः ४८ । इत्यमरः ॥ वृषपर्व्वा ४९ रेरिहाणः ५० भगाली ५१ पांशुचन्दनः ५२ दिगम्बरः ५३ अट्टहासः ५४ कालञ्जरः ५५ पुरहिट् ५६ वृषाकपिः ५७ महाकालः ५८ वराकः ५९ नन्दिवर्द्धनः ६० हीरः ६१ वीरः ६२ खरुः ६३ भूरिः ६४ कटप्रूः ६५ भैरवः ६६ ध्रुवः ६७ शिविपिष्टः ६८ गुडाकेशः ६९ देवदेवः ७० महानटः ७१ । इति जटाधरः ॥ तीव्रः ७२ खण्डपर्शुः ७३ पञ्चाननः ७४ कण्ठेकालः ७५ भगः ७६ भीरुः ७७ भीषणः ७८ कङ्कालमाली ७९ जटाधरः ८० व्योमदेवः ८१ सिद्धदेवः ८२ धरणीश्वरः ८३ विश्वेशः ८४ जयन्तः ८५ हररूपः ८६ सन्ध्यानाटी ८७ सुप्रसादः ८८ चन्द्रापीडः ८९ शूलधरः ९० वृषाङ्कः ९१ वृषभध्वजः ९२ भूतनाथः ९३ शिपिविष्टः ९४ वरेश्वरः ९५ विश्वेश्वरः ९६ विश्वनाथः ९७ काशीनाथः ९८ कुलेश्वरः ९९ अस्थिमाली १०० विशालाक्षः १०१ हिण्डी १०२ प्रियतमः १०३ विषमाक्षः १०४ भद्रः १०५ ऊर्द्धरेताः १०६ यमान्तकः १०७ नन्दीश्वरः १०८ अष्टमूर्त्तिः १०९ अर्घीशः ११० खेचरः १११ भृङ्गीशः ११२ अर्द्धनारीशः ११३ रसनायकः ११४ । इति शब्दरत्नावली ॥ उः ११५ पिनाकपाणिः ११६ पञ्चधरधरः ११७ कैलासनिकेतनः ११८ हिमाद्रितनयापतिः ११९ । इति कविकल्पलता ॥ तस्य सहस्रनामानि श्रीमहाभारते अनुशासनपर्व्वणि १७ अध्याये द्रष्टव्यानि ॥*॥ अस्य कपालिनामकारणं यथा,—

ईश्वर उवाच ।

“आसीत्तत्र वरारोहे ब्रह्मणस्तु शिरोऽपरम् ।
पञ्चमं प्रवशु शुश्रोणि जातं काञ्चनसुप्रभम् ॥
ज्वलन्तं परमं शीर्षं जातं तस्य महात्मनः ।
स एवमब्रवीद्देवि ! जन्म जानामि ते ह्यहम् ॥
अतः क्रोधपरीतेन संरक्तनयनेन च ।
वामाङ्गुष्ठनखाग्रेण छिन्नं तस्य शिरो मया ॥

ब्रह्मोवाच ।

यस्मादनपराधेन शिरश्छिन्नं त्वया मम ।
तस्माच्छापसमायुक्तः कपाली त्वं भविष्यसि ॥”

इति मात्स्ये १५८ अध्यायः ॥ * ॥

अथ शिवमन्त्राः । तत्र एकाक्षरमन्त्रो यथा,—
“सान्तमौकारसंयुक्तं बिन्दुभूषितमस्तकम् ।
प्रासादाख्यो मनुः प्रोक्तो भजतां कामदो
मणिः ॥” हौं ॥ * ॥

अस्य पूजा । प्रातःकृत्यादिमातृकान्यासं प्राणायामञ्च विधाय श्रीकण्ठादिन्यासं मातृकास्थानेषु कुर्य्यात् । ततः सामान्यपूजापद्धत्युक्तपीठन्यासं कृत्वा पीठशक्तीर्न्यसेत् । ततः ऋष्यादिन्यासः । ततः कराङ्गन्यासौ । ततः ईशानाद्याः पञ्चमूर्त्तीर्न्यसेत् । शूद्रस्तु एतत्पर्य्यन्तं न्यासं कृत्वा ध्यायेत् । अन्यत्रानधिकारात् । तत ऊर्द्ध्वप्राग्दक्षिणोत्तरपश्चिमेषु मुखेषु ईशानस्य पञ्चकलाः पञ्च ब्रह्म ऋचः पदादिकाः प्रणवाद्या नमोऽन्ता न्यसेत् । ततः पूर्व्वपश्चिमदक्षिणोत्तरेषु तत्पुरुषस्य चतस्रः कला विन्यसेत् । ततो हृदये ग्रीवायां अंशद्वये नाभौ कुक्षौ पृष्ठे वक्षसि अघोरस्याष्टौ कलाः न्यसेत् । ततो गुह्ये अण्डकोषे ऊरुद्वये जानुद्वये जङ्घाद्वये स्फिग्द्वये कट्यां पार्श्वयोः वामदेवस्य त्रयोदशकलाः विन्यसेत् । ततः पार्श्वयोः स्तनयोर्नासिकायां मूर्द्ध्नि बाहुयुग्मे सद्योजातस्याष्टौ कलाः न्यसेत् । ततः पञ्चाङ्गुलीषु ईशानाद्याः पञ्च ऋचो न्यसेत् । एवं मूर्द्धास्य हृदयगुह्यपादेष्वेता ऋचो न्यसेत् । ततोऽङ्गन्यासान्तरं कुर्य्यात् । एवं विन्यस्य ध्यायेत् ।
“मुक्तापीतपयोदमौक्तिकजवावर्णैर्मुखैः पञ्चभि-
स्त्र्यक्षैरञ्चितमीशमिन्दुमुकुटं पूर्णेन्दुकोटि-
प्रभम् ।
शूलं टङ्कृपाणवज्रदहनान्नागेन्द्रघण्टाङ्कुशान्
पाशं भीतिहरं दधानममिताकल्पोज्ज्वलाङ्गं
भजे ॥”

एवं ध्यात्वा मानसैः संपूज्य अर्घ्यस्थापनं कृत्वा शैवोक्तपीठपूजां विधाय पुनर्ध्यात्वा आवाहनादिपञ्चपुष्पाञ्जलिदानपर्य्यन्तं कृत्वा आवरणपूजां विधाय धूपादिविसर्ज्जनान्तं कर्म्म समापयेत्। अस्य पुरश्चरणं पञ्चलक्षजपः ॥ १ ॥ * ॥ अस्याष्टाक्षरमन्त्रो यथा,—

"षडक्षरः शक्तिरुद्रः कथितोऽष्टाक्षरो मनुः ॥"

ह्रीँ ॐ नमः शिवाय ह्रीँ। अस्य पूजा। प्रातःकृत्यादिशैवोक्तं पीठमन्वन्तं न्यासं विधाय ऋष्यादिन्यासकराङ्गन्यासान् प्राणायामञ्च कृत्वा ध्यायेत्।

"बन्धूकाभं त्रिनेत्रं शशिशकलधरं स्मेरवक्त्रं वहन्तं
हस्तैः शूलं कपालं वरदमभयदं चारुहासं
भजामि।
वामोरुस्तम्भभाजा करतलविलसच्चारुरक्तोत्पलाया
हस्तेनाश्लिष्टदेहं मणिमयविलसद्भूषणाया:
प्रियाया: ॥"

एवं ध्यात्वा मानसैः संपूज्यार्घ्यस्थापनं कृत्वा शैवोक्तपीठपूजां विधाय पुनर्ध्यात्वावाह्य पञ्चपुष्पाञ्जलिदानपर्य्यन्तं विधायावरणपूजां कृत्वा धूपदानादिविसर्ज्जनान्तं कर्म्म समापयेत्। अस्य पुरश्चरणं चतुर्द्दशलक्षजपः ॥ २ ॥ * ॥ तस्याष्टाक्षरमन्त्रान्तरं यथा,—

"तारो माया वियद्विन्दुमनुस्वारविभूषितम्।
पञ्चाक्षरसमायुक्तो वसुवर्णो मनुर्मतः ॥"

ॐ ह्रीँ ह्रौँ नमः शिवाय। अस्य पूजा। प्रातःकृत्यादिशैवोक्तपीठन्यासान्तं विधाय पूर्व्ववदृष्यादिन्यासं कराङ्गन्यासौ च कृत्वा ध्यायेत्।

"वन्दे सिन्दूरवर्णं मणिमुकुटलसच्चारुचन्द्रावतंसं
भालोद्यन्नेत्रमीशं स्मितमुखकमलं दिव्यभूषाङ्ग-
रागम्।
वामोरुन्यस्तपाणिरक्तकुवलयं संदधत्या:
प्रियाया-
श्चञ्चत्तुङ्गस्तनाग्रे निहितकरतटं वेदटङ्केष्ट-
हस्तम् ॥"

एवं ध्यात्वा मानसैः संपूज्यार्घ्यस्थापनं कृत्वा पीठपूजां विधाय पुनर्ध्यात्वावाहनादिपञ्चपुष्पाञ्जलिदानपर्य्यन्तं विधाय आवरणपूजां कृत्वा धूपादिविसर्ज्जनान्तं कर्म्म समापयेत्। अस्य पुरश्चरणमष्टलक्षजपः ॥ ३ ॥ * ॥ अथास्य मृत्युञ्जयाख्यमन्त्रः।

"तारं स्थिरा सकर्णेन्दुर्भृगुः सर्गसमन्वितः।
त्र्यक्षरात्मा निगदितो मन्त्रो मृत्युञ्जयात्मकः ॥"

ॐ जुँ सः। अस्य पूजा। प्रातःकृत्यादिशैवोक्तपीठन्यासान्तं विधाय ऋष्यादिन्यासं कराङ्गन्यासौ च कृत्वा ध्यायेत्।

"चन्द्रार्काग्निविलोचनं स्मितमुखं पद्मद्वयान्तः-
स्थितं
मुद्रापाशमृगाक्षसूत्रविलसत्पाणिं हिमांशु-
प्रभम्।
कोटीरेन्दुगलत्सुधाप्लुततनुं हारादिभूषोज्ज्वलं
कान्त्या विश्वविमोहनं पशुपतिं मृत्युञ्जयं
भावये ॥"

एवं ध्यात्वा मानसैः सम्पूज्यार्घ्यस्थापनं कृत्वा पीठमन्वन्तां पीठपूजां विधाय पुनर्ध्यात्वावाहनादिपञ्चपुष्पाञ्जलिदानपर्य्यन्तं कृत्वा आवरणपूजां विधाय धूपादिविसर्ज्जनान्तं कर्म्म समापयेत्। अस्य पुरश्चरणं लक्षत्रयजपः ॥ ४ ॥ * ॥ अथास्यापरद्वादशाक्षरमृत्युञ्जयमन्त्रः।

"मृत्युञ्जयं समुच्चार्य्य पालय द्वितयं वदेत्।
मृत्युञ्जयं समुच्चार्य्य पुनरेव विलोमतः ॥"
द्वादशाक्षरोऽयं मन्त्रः स्यात् मृत्युञ्जयाभिधो-
ऽपरः।"

ॐ जुँ सः पालय पालय ॐ जुँ सः। अस्य ध्यानपूजादिकं सर्व्वं पूर्व्ववत् ॥ ५ ॥ * ॥ अस्य द्वाविंशत्यक्षरमन्त्रः।

"प्रणवो हृदयं पश्चात् ततो भगवते पदम्।
ङेऽन्तञ्च दक्षिणामूर्त्तिं मह्यं मेधामुदीरयेत्।
प्रयच्छ ठद्वयान्तोऽयं द्वाविंशत्यक्षरो मनुः ॥"

ॐ नमो भगवते दक्षिणामूर्त्तये मह्यं मेधां प्रयच्छ स्वाहा। अस्य पूजा। प्रातःकृत्यादिशैवोक्तपीठमन्वन्तं विन्यस्य ऋष्यादिन्यासं कराङ्गन्यासौ च कृत्वा ध्यायेत्।

"वटस्थं महोच्छ्रायं पद्मरागफलोज्ज्वलम्।
नानारत्नमयैः पत्रैर्विचित्रैरुपशोभितम् ॥
नवरत्नमहाकल्पैर्लम्बमानैरलङ्कृतम्।
विचिन्त्य वटमूलस्थं चिन्तयेल्लोकनायकम् ॥
स्फटिकरजतवर्णं मौक्तिकीमक्षमाला-
ममृतकलशविद्याज्ञानमुद्राः कराब्जैः।
दधतमुरगकक्ष्यं चन्द्रचूडं त्रिनेत्रं
विधृतविविधभूषं दक्षिणामूर्त्तिमीडे ॥"

एवं ध्यात्वा मानसैः सम्पूज्य अर्घ्यस्थापनादिशैवोक्तपीठपूजां विधाय पुनर्ध्यात्वावाहनादिपञ्चपुष्पाञ्जलिदानपर्य्यन्तं विधायावरणपूजां कृत्वा धूपादिविसर्ज्जनान्तं कर्म्म समापयेत्। अस्य पुरश्चरणं लक्षजपः ॥ ६ ॥ * ॥ अथास्य मन्त्रान्तरम्।

"अग्निसम्वर्त्तकादित्यरानिलौ षष्ठबिन्दुमत्।
चिन्तामणिरिति ख्यातं बीजं सर्व्वसमृद्धिदम् ॥"

र-क्ष म-र य-औ ऊँ। प्रपञ्चसारे।

"अनलक-ष-मरेफ-प्राणसत्यान्तवाम-
श्रुतिहिमरुचिखण्डैर्म्मिश्रितो मन्त्रराजः।"

अस्य पूजा। प्रातःकृत्यादिशैवोक्तपीठमन्वन्तं विन्यस्य ऋष्यादिन्यासं कराङ्गन्यासौ च कृत्वा ध्यायेत्।

"नीलप्रवालरुचिरं विलसत्त्रिनेत्रं
पाशारुणोत्पलकपालकशूलहस्तम्।
अर्द्धाम्बिकेशमनिशं प्रविभक्तभूषं
बालेन्दुबद्धमुकुटं प्रणमामि रूपम् ॥"

एवं ध्यात्वा मानसैः संपूज्यार्घ्यं संस्थाप्य शैवोक्तपीठपूजां विधाय पुनर्ध्यात्वावाहनादिपञ्चपुष्पाञ्जलिदानपर्य्यन्तं कृत्वा आवरणपूजां विधाय धूपादिविसर्ज्जनान्तं कर्म्म समापयेत्। अस्य पुरश्चरणं लक्षजपः। अयं अर्द्धनारीश्वरः ॥ ७ ॥ * ॥

"प्रान्तौ वह्निसमारूढस्तारवामाद्यमीरितम्।
धान्तो वह्निसमारूढश्चूर्ध्वस्वरसमन्वितः ॥
बिन्द्वमांस्तु द्वितीयः स्यात् टान्तः सर्गी तृतीयकः।
नीलकण्ठात्मको मन्त्रो विषद्वयहरः परः ॥"

प्रमाणान्तरम्।

"लोहितोऽग्न्यासनः सद्यो बिन्दुमान् प्रथमं
पुनः।
द्वितीया वह्निबीजस्था दीर्घा शान्तीन्दुभूषिता ॥
तृतीया साङ्गली सर्गी मन्त्रो बीजत्रयात्मकः।
नीलकण्ठात्मको मन्त्रो विषद्वयहरः परः ॥"

प्रौँ ग्रीँ ठः इति मन्त्रः। अस्य पूजा। प्रातःकृत्यादिशैवोक्तपीठन्यासान्तं कृत्वा ऋष्यादिन्यासं कराङ्गन्यासौ च विधाय ध्यानं कुर्य्यात्।

"बालार्कायुततैजसं धृतजटाजूटेन्दुखण्डोज्ज्वलं
नागेन्द्रैः कृतशेखरं जपवटीं शूलं कपालं
करैः।
खट्वाङ्गं विधृतं त्रिनेत्रविलसत्पञ्चाननं सुन्दरं
व्याघ्रत्वक्परिधानमब्जनिलयं श्रीनीलकण्ठं
भजे ॥"

एवं ध्यात्वा मानसैः संपूज्य अर्घ्यस्थापनादिशैवोक्तपीठपूजां विधाय पुनर्ध्यात्वा आवाहनादिपञ्चपुष्पाञ्जलिदानपर्य्यन्तं कृत्वा आवरणपूजां विधाय धूपादिविसर्ज्जनान्तं कर्म्म समापयेत्। अस्य पुरश्चरणं त्रिलक्षजपः। अयं नीलकण्ठः ॥ ८ ॥ * ॥ अस्याष्टाक्षरमन्त्रो यथा,—

"तारो हृन्नीलकण्ठाय मन्त्रश्चाष्टाक्षरः परम्।

ॐ नमो नीलकण्ठाय। अस्य पूजादिकं सर्व्वं पूर्व्ववत् ॥ ९ ॥ * ॥ अस्य पञ्चाक्षरमन्त्रः षडक्षरमन्त्रश्च यथा,—

"हृदयं वपरं चाचिन् वान्तोऽनन्तान्वितो
मरुत्।
पञ्चाक्षरो मनुः प्रोक्तस्ताराद्योऽयं षडक्षरः ॥"

नमः शिवाय। ॐ नमः शिवाय। अस्य पूजा। प्रातःकृत्यादिशैवोक्तपीठमन्वन्तं न्यासं विधाय ऋष्यादिन्यासं कुर्य्यात्। ततो मूर्त्तिन्यासः। ततः कराङ्गन्यासौ। ततो गोलकन्यासः। ततो व्यापकन्यासं प्राणायामञ्च कृत्वा ध्यायेत्।

"ध्यायेन्नित्यं महेशं रजतगिरिनिभं चारुचन्द्राव-
तंसं
रत्नाकल्पोज्ज्वलाङ्गं परशुमृगवराभीतिहस्तं
प्रसन्नम्।
पद्मासीनं समन्तात् स्तुतममरगणैर्व्याघ्रकृत्तिं
वसानं
विश्वाद्यं विश्ववीजं निखिलभयहरं पञ्चवक्त्रं त्रि-
नेत्रम् ॥"

एवं ध्यात्वा मानसैः सम्पूज्यार्घ्यस्थापनं कृत्वा शैवोक्तपीठपूजां विधाय पुनर्ध्यात्वावाहनादिपञ्चपुष्पाञ्जलिदानपर्य्यन्तं विधायावरणपूजां कृत्वा धूपादिविसर्ज्जनान्तं कर्म्म समापयेत्

अस्य पुरश्चरणं षट्त्रिंशल्लक्षजपः ॥ १० ॥ * ॥
अथास्य त्र्यक्षरमन्त्रः ।
"अर्घीशो वह्निशिखरो लान्तस्थो दान्त ईरीतः ।
षडन्तखण्डमन्त्रोऽयं त्रिवर्णात्मा समीरितः ॥"
ऊर्द्धं फट् इति मन्त्रः । अस्य पूजा । प्रातः-
कृत्यादिशैवोक्तपीठन्यासान्तं विधाय ऋष्यादि-
न्यासं कराङ्गन्यासौ च कृत्वा ध्यायेत् ।

"चण्डेश्वरं रक्ततनुं त्रिनेत्रं
रक्तांशुकाढ्यं हृदि भावयामि ।
टङ्कं त्रिशूलं स्फटिकाक्षमालां
कमण्डलुं बिभ्रतमिन्दुचूडम् ॥"

एवं ध्यात्वा मानसैः संपूज्यार्घ्यस्थापनादिशैवोक्त-पीठपूजान्तं विधाय ठमिति बीजेन मूर्त्तिं सं-कल्प्य पुनर्ध्यात्वावाहनादिपञ्चपुष्पाञ्जलिदान-पर्य्यन्तं विधायावरणपूजां कृत्वा धूपादिविसर्ज्ज-नान्तं कर्म्म समापयेत् । अस्य पुरश्चरणं त्रिलक्षजपः । अयं चण्डेश्वरः ॥ ११ ॥ इति तन्त्रसारे शिवमन्त्राः ॥ * ॥ * ॥ विष्णुशिवयोर-भेदो यथा,—

वराह उवाच ।

"शिवो मे दक्षिणं स्थानं तिष्ठते विगतज्वरः ।
लोकानां प्रवरः श्रेष्ठः सर्व्वलोकवरो हरः ॥
तं ये विन्दन्ति ते देवि ! नूनं मामेव विन्दति ।
ये मां विन्दन्ति देवेशि ! ते विन्दन्ति शिवं परम् ॥
अहं यत्र शिवस्तत्र शिवो यत्र वसुन्धरे ।
अहं तत्रापि तिष्ठामि आवयोर्नान्तरं क्वचित् ॥
शिवं यो वन्दते भूमे ! स हि मामेव वन्दते ।
लभते पुष्कलां सिद्धिमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ॥"

इति वाराहे शालग्रामक्षेत्रमाहात्म्यवर्णननामा-ध्यायः ॥ * ॥ देवीविष्णुशिवानामभेदो यथा,—

"अयं नारायणो गौरी जगन्माता सनातनः ।
विभज्य संस्थितो देवः स्वात्मानं बहुधेश्वरः ॥
न मे विदुः परं तत्त्वं देवाद्या न महर्षयः ।
एकोऽयं देवदेवात्मा भवानी विष्णुरेव च ॥
अहं हि निष्क्रियः शान्तः केवलो निष्परिग्रहः ।
मामेव केशवं देवमाहुर्देवीमथाम्बिकाम् ॥"

इति कौर्म्मे १४ अध्यायः ॥ * ।

शिवनिन्दानिषेधो यथा,—

"परात् परतरं यान्ति नारायणपरा जनाः ।
न ते तत्र गमिष्यन्ति ये द्विषन्ति महेश्वरम् ॥
ध्यानं होमस्तपस्तप्तं ज्ञानं यज्ञादिको विधिः ।
तेषां विनश्यति क्षिप्रं ये निन्दन्ति पिनाकिनम् ॥
यो मां समाश्रयेन्नित्यं एकान्तं भावमाश्रितः ।
विनिन्द्य देवमीशानं स याति नरकायुतम् ॥
तस्मात् सा परिहर्त्तव्या निन्दा पशुपतेर्द्विज ।
कर्म्मणा मनसा वाचा तद्भक्तेष्वपि यत्नतः ॥"

इति कौर्म्मे २५ अध्यायः ॥ * ॥

तस्य प्रलयकारकत्वं यथा,—

"गते परार्द्धद्वितये काले लोकप्रकालकः ।
कालाग्निर्भस्मसात् कर्त्तुं करोति निखिलं मतिम् ॥
आत्मन्यात्मानमावेश्य भूत्वा देवो महेश्वरः ।
दहेदशेषं ब्रह्माण्डं सदेवासुरमानुषम् ॥
समाविश्य महादेवो भगवान्नीललोहितः ।
करोति लोकसंहारं भीषणं लोकमाश्रितः ॥
प्रविश्य मण्डलं घोरं कृत्वासौ बहुधा पुनः ।
निर्द्दहत्यखिलं लोकं सप्तमूर्त्तिस्वरूपधृक् ॥
स दग्ध्वा सकलं सत्त्वमस्त्रं ब्रह्मशिरो महत् ।
देवतानां शरीरेषु क्षिपत्यखिलदाहकः ॥
दग्धेष्वशेषदेवेषु देवी गिरिवरात्मजा ।
एषा सा साक्षिणः शम्भोस्तिष्ठते वैदिकी श्रुतिः ॥
शिवः कपालैर्द्देवानां कृतस्रग्वरभूषणः ।
आदित्यचन्द्रादिगणैः पूरयन् व्योममण्डलम् ॥
सहस्रनयनो देवः सहस्राकृतिरीश्वरः ।
सहस्रहस्तचरणः सहस्रार्च्चिर्म्महाभुजः ॥
दंष्ट्राकरालवदनः प्रदीप्तानललोचनः ।
त्रिशूलं कृत्तिवसनो योगमैश्वरमास्थितः ॥
पीत्वा तत् परमानन्दं प्रभूतममृतं स्वकम् ।
करोति ताण्डवं देवमालोक्य परमेश्वरः ॥
पीत्वा नृत्यामृतं देवी भर्त्तुः परममङ्गला ।
योगमास्थाय देवस्य देहमायाति शूलिनः ॥
स भुक्त्वा ताण्डवरसं स्वेच्छयैव पिनाकधृक् ।
याति स्वभावं भगवान् दग्ध्वा ब्रह्माण्डमण्डलम् ॥
संस्थितेष्वथ देवेषु ब्रह्मविष्णुपिनाकिषु ।
गुणैरशेषैः पृथिवी विलयं याति वारिषु ॥
सवारितत्त्वं सगुणं ग्रसते हव्यवाहनः ।
तेजः सगुणसंयुक्तं वायौ संयाति संक्षयम् ॥
आकाशे सगुणो वायुः प्रलयं याति संक्षयम् ।
भूतादौ च तथाकाशं लीयते गुणसंयुतम् ॥
इन्द्रियाणि च सर्व्वाणि तैजसे यान्ति संक्षयम् ।
वैकारिके देवगणाः प्रलयं यान्ति सत्तमाः ॥
वैकारिकास्तैजसश्च भूतादिश्चेति सत्तमाः ।
त्रिविधोऽयमहङ्कारो महति प्रलयं व्रजेत् ॥
महान्तमेभिः सहितं ब्रह्माणममितौजसम् ।
अव्यक्तं जगतो योनिः संहरेदेकमव्ययः ॥
एवं संहृत्य भूतानि तत्त्वानि च महेश्वरः ।
वियोजयत्यथान्योन्यं प्रधानं पुरुषं परम् ॥
प्रधानपुंसोरजयोरेष संहार ईरितः ।
महेश्वरेच्छाजनितो न स्वयं विद्यते लयः ॥
गुणसाम्यं तदव्यक्तं प्रकृतिः परिगीयते ।
प्रधानं जगतो योनिरायतत्त्वमचेतनम् ॥
कूटस्थश्चिन्मयो ह्यात्मा केवलः पञ्चविंशकः ।
गीयते मुनिभिः साक्षी महानेकः पितामहः ॥
एवं संहारकरणी शक्तिर्माहेश्वरी ध्रुवा ।
प्रधानाद्यं विशेषान्तं दहेद्रुद्र इति श्रुतिः ॥
योगिनामथ सर्व्वेषां ज्ञानविन्यस्तचेतसाम् ।
आत्यन्तिकञ्चैव लयं विदधातीह शङ्करः ॥"

इति कौर्म्मे उपविभागे ४३ अध्यायः ॥ * ॥

ब्रह्मविष्णुशिवानामभेदो यथा,—

श्रीभगवानुवाच ।

"न ब्रह्मा भवतो भिन्नो न शम्भुर्ब्रह्मणस्तथा ।
न चाहं युवयोर्भिन्नो ह्यभिन्नत्वं सनातनम् ॥
प्रधानस्याप्रधानस्य भागाभागस्य रूपिणः ।
ज्योतिर्म्मयस्य भागो मेऽनेकोऽनेकोऽहमंशकः ॥
कस्त्वं कोऽहञ्च को ब्रह्मा ममैव परमात्मनः ।
अंशत्रयमिदं भिन्नं सृष्टिस्थित्यन्तकारणम् ॥
चिन्तयन् स्वात्मनात्मानं सम्भवं कुरु चात्मनि ।
एकत्वं ब्रह्मवैकुण्ठशम्भूनां कृतं कुरु ॥
शिरोग्रीवादिभेदेन यथैवैकस्य धर्म्मिणः ।
अङ्गानि मे तथैकस्य भागत्रयमिदं हर ॥

यज्ज्योतिरग्र्यं स्वपरप्रकाशं
कूटस्थमव्यक्तमनन्तरूपम् ।
नित्यञ्च दीर्घादिविशेषणाद्यै-
र्हीनं परं तत्र वयं न भिन्नाः ॥"

इति कालिकापुराणे ११ अध्यायः ॥

अपि च ।

"ततो ब्रह्मा च शारीरं त्रिधा चक्रे महेश्वर ।
प्रधानेच्छावशाच्छम्भो त्रिगुणं त्रिगुणोत्कटम् ॥
तदूर्द्धभागः संजातश्चतुर्व्वक्त्रश्चतुर्भुजः ।
पद्मकेशरगौराङ्गकायो ब्रह्मा महेश्वर ॥
तन्मध्यभागो नीलाङ्ग एकवक्त्रश्चतुर्भुजः ।
शङ्खचक्रगदापद्मपाणिः कायः स वैष्णवः ॥
अभवत्तदधोभागः पञ्चवक्त्रश्चतुर्भुजः ।
स्फटिकाभ्रसमः कायः शुक्लः स चन्द्रशेखरः ॥
ईशस्ततो ब्रह्मकाये सृष्टिशक्तिं न्ययोजयत् ।
स्वयमेवाभवत् स्रष्टा ब्रह्मरूपेण लोकभृत् ॥
स्थितिशक्तिं निजां मायां प्रकृत्याख्यां न्ययो-जयत् ।
महेशो वैष्णवे काये ज्ञानशक्तिं निजां तथा ॥
स्थितिकर्त्ता भवेद्विष्णुरहमेव महेश्वरः ।
सर्व्वशक्तिनियोगेन सदा तद्रूपता मम ॥
अन्तशक्तिं तथा काये शाम्भवे संन्ययोजयत् ।
अन्तकर्त्ता भवेच्छम्भुः स एव परमेश्वरः ॥
ततस्त्रिषु शरीरेषु स्वयमेव प्रकाशते ।
ज्ञानरूपं परं ज्योतिरनादिर्भगवान् प्रभुः ॥
सृष्टिस्थित्यन्तकरणादेक एव महेश्वरः ।
ब्रह्मा विष्णुः शिवश्चेति संज्ञामाप पृथक् पृथक् ॥
अतस्त्वञ्च विधाता च तथाहमपि न पृथक् ।
एवं शरीरं रूपञ्च ज्ञानमस्माकमन्तरम् ॥"

इति तत्रैव १२ अध्यायः ॥ * ॥

मार्कण्डेय उवाच ।

"ततो ब्रह्माण्डसंस्थानं दर्शयामास शम्भवे ।
वहथे तोयराशिस्थं ब्रह्माण्डञ्च यथा पुरा ॥
तन्मध्ये पद्मगर्भाभं ब्रह्माणं जगतः पतिम् ।
ज्योतीरूपं प्रकाशार्थं दृष्टार्थञ्च पृथग्गतम् ॥
शरीरिणं स ददृशे ब्रह्माण्डान्तर्गतं मुहुः ।
चतुर्भुजं प्रकाशन्तं ज्योतिभिः कमलासनम् ॥
तत्रैव च त्रिधाभूतं वपुर्ब्राह्मं ददर्श स ।
ऊर्द्धमध्यान्तभागैस्तु ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम् ॥
अधोर्द्धभागो वपुषो ब्रह्मत्वमगमत्तथा ।
मध्यस्तदा विष्णुभूतो ददर्शान्तस्य शम्भुताम् ॥
एकमेव शरीरन्तु त्रिधाभूतं मुहुर्म्मुहुः ।
हरो ददर्श स्वे गर्भे तथा सर्व्वमिदं जगत् ॥
कदाचित् वैष्णवं कायं ब्राह्मे काये लयं व्रजेत् ।
ब्राह्मं तथा वैष्णवे च शाम्भवं वैष्णवे तथा ॥

शाम्भवं वैष्णवे काये शाक्तिं चाप्यथ शाम्भवम् ।
गच्छन्तं लीनतां शम्भुरेकताञ्च मुहुर्म्मुहुः ॥
ददर्श वामदेवोऽपि भिन्नञ्चाप्यपृथग्गतम् ।
परमात्मनि गच्छन्तं लीनतां तद्वपुश्च यत् ॥”

इति कालिकापुराणे १३ अध्यायः ॥ * ॥

अस्य शरभरूपधारणकारणं यथा,—
“इति तेषां निगदतां श्रुत्वा वाक्यं जनार्द्दनः ।
उवाच शङ्करं देवं ब्रह्माणञ्च विशेषतः ॥
यन्नृते देवताः सर्व्वाः प्रजाश्च सकला इमाः ।
प्राप्नुवन्ति महद्दुःखं शीर्य्यते सकलं जगत् ॥
वाराहं सकलं कायं त्यक्तुमिच्छामि शङ्कर ।
त्वं त्याजयस्व तत् कायं यत्नात्मा शङ्कराधुना ॥
त्वमाप्यायस्व तेजोभिर्ब्रह्मन् मारहरं मुहुः ।
आप्यायन्तु तदा देवाः शङ्करो हन्तु पोत्रिणम् ॥
वासुदेवोऽपि तान् सर्व्वान् विसृज्य त्रिदशां-
स्तदा ।
वाराहं तेजसा हन्तुं स्वयं ध्यानपरोऽभवत् ॥
शनैः शनैर्यदा तेज आहरत्येष माधवः ।
तदा देहस्तु वाराहं सत्वहीनं व्यजायत ॥
तेजोहीनं यदा देहं ज्ञातं सर्व्वैरथामरैः ।
आससाद महादेवो यज्ञवाराहमद्भुतम् ॥
ब्रह्माद्यास्त्रिदशाः सर्व्वे महादेवमुमापतिम् ।
अनुजग्मुस्तदा तेज आधातुं शरणाशने ॥
ततः सर्व्वैर्द्देवगणैः स्वं स्वं तेजो वृषध्वजे ।
आहिते तेन बलवान् सोऽतीव समजायत ॥
ततः शरभरूपी स तत्क्षणाद्गिरिशोऽभवत् ।
ऊर्द्ध्वाधोभागतश्चाष्टपादयुक्तः सुभैरवः ।
द्विलक्षयोजनोच्छ्रायः सार्द्धलक्षैकविस्तृतः ॥”

इति कालिकापुराणे २८ अध्यायः ॥

अस्य विवाहो यथा,—

ईश्वर उवाच ।

“हिताय सर्व्वजगतां सम्भोगायात्मनस्तथा ।
दारान् ग्रहीतुमिच्छामि तथा सन्तानवृद्धये ॥
साहाय्यं तत्र कुर्व्वन्तु भवन्तो मम सांप्रतम् ।
मदर्थे तनयां कालीं याचन्तान्तु हिमाचलम् ॥

मार्कण्डेय उवाच ।

हरं सम्बोध्य मुनयो ह्यगच्छन् गिरिराड्गृहम् ।
तेन संपूजितास्ते तु प्रोचुस्ते मुनयो गिरिम् ॥
यश्चन्द्रशेखरो देवो देवदेवश्च यो मतः ।
शापानुग्रहयोः शक्तो य एको जगतां पतिः ॥
यः संहरति सर्व्वाणि जगन्ति प्रलयोद्भवे ।
यो विभूतिप्रदो भक्ते नानारूपो मनोहरः ॥
स ते दुहितरं कालीं भार्य्यामादातुमिच्छति ।
यदि पश्यति त्वद्योग्यं वरं त्वं दुहितुः समम् ।
तदा प्रयच्छ तनयां कालीं शशिभृते गिरे ! ॥

मार्कण्डेय उवाच ।

इत्युक्तस्तैर्गिरिपतिर्व्वरं यद्धृदयस्थितम् ।
दुहितुश्च प्रियं ज्ञात्वाप्राप्यं मुदमगात्तदा ॥
दास्यामि शम्भवे पुत्रीं युष्माभिः प्रार्थित-
स्त्वहम् ।
पूर्व्वमेव तपस्तप्ता तयेशः पतिरीहितः ॥
धातुर्न्नियोजनमिदं कोऽन्यथा कर्त्तुमुत्सहेत् ।
कोऽन्यः प्रार्थयितुं शक्तः सुतां मम विना
हरात् ॥
हरेणानुगृहीता या तामन्यः कः समुत्सहेत् ।
हरं गृहीत्वा मनसा नान्यं सापीह वाञ्छति ॥
इत्युक्ता मेनया सार्द्धं सुतां दातुञ्च शम्भवे ।
अङ्गीकृत्य विसृष्टास्ते मुनयोऽगुर्म्महेश्वरम् ॥
ते गत्वा मुनयः सर्व्वे मरीचिप्रमुखा द्विजाः ।
शैलराजो यदाचष्ट तद्वचुर्म्मदनारये ॥
हिमवांस्तनयां दातुं तुभ्यमुत्सहते हर ।
यदिदानीं त्वया कर्त्तुं युज्यते क्रियतान्तु तत् ॥
अस्मांश्चाप्यनुजानीहि हर गन्तुं निजालयम् ।
सिद्धं ज्ञात्वा हरः सार्द्धं मुदितस्तान् विसृष्ट-
वान् ।
यथायोग्यं समाभाष्य क्रमादेकैकशो मुनीन् ॥
कालीविवाहदिवसे यूयमायात मां प्रति ।
इति चापि हरेणोक्तं प्रतिश्रुत्यर्षयो ययुः ॥
अथान्योन्यप्रियतया कृत्वा कृत्वा गतागतम् ।
समयं कारयामास विवाहाय हरो गिरिम् ॥
माधवे मासि पञ्चम्यां सितपक्षे गुरोर्द्दिने ।
चन्द्रे चोत्तरफल्गुन्यां भरण्यादौ स्थिते रवौ ॥
आगता मुनयस्तत्र मरीचिप्रमुखा मुहुः ।
हरेण चिन्तिताः सर्व्वे तथा ब्रह्मादयः सुराः ॥
तथा च सर्व्वे दिक्पाला मुनयो ये तपोधनाः ।
शच्या सह तदा शक्रो ब्रह्माण्याद्यास्तु मातरः ॥
नारदश्च गतस्तत्र देवर्षिर्ब्रह्मणः सुतः ।
एतैः परिकरैः सार्द्धं गणैराप्यायितः स्वकैः ।
कन्याविवाहविधिना गिरिपुत्त्रीं हरोऽग्रहीत् ॥
विवाहे गिरिजा शम्भोः सर्पा येऽष्टौ तनौ
स्थिताः ।
ते जाम्बूनदसन्नद्धा अलङ्कारास्तदाभवन् ॥
द्विभुजोऽभून्महादेवो जटाः केशत्वमागताः ।
शिरःस्थितश्चन्द्रखण्डः शोचिषा ज्वलितोऽभवत् ॥
ललाटनेत्रमभवत्तदा रत्नं महार्घ्यकम् ।
विचित्रवसनं व्याघ्रकृत्तिरासीत्तदा द्विजाः ॥
विभूतिलेपोऽभूत्तस्य सुगन्धिमलयोद्भवः ।
चारुरूपो हरस्तत्र बभूवाद्भुतदर्शनः ॥
ततो देवाः सगन्धर्व्वाः सिद्धा विद्याधरोरगाः ।
विस्मयं परमं प्रापुर्हरं दृष्ट्वा तथाविधम् ।
हिमवान् मुदितश्चाभूत् सहपुत्रैश्च मेनया ।
ज्ञातयश्चास्य सुहृदो हरं दृष्ट्वा तथाविधम् ॥
इदं ब्रह्मा तत्र जगौ हरं दृष्ट्वा मनोहरम् ॥
सर्व्वं शिवकरं यस्माद्रूपमस्याभवत् सुराः ।
तस्मात् शिवोऽयं लोकेषु नाम्नादन्योऽधिकः
शिवः ॥
महेश्वरसमायुक्तमीदृशं यः स्मरेद्धृदा ।
सततं तस्य कल्याणं वाञ्छितञ्च भविष्यति ॥
एवं काली महामाया योगनिद्रा जगत्प्रसूः ।
पूर्व्वं दाक्षायणी भूत्वा पश्चात् गिरिसुताभवत् ॥
स्वयं समर्थापि सती काली सम्मोहितुं हरम् ।
तथाप्युग्रं तपस्तेपे हिताय जगतां शिवा ।
एवं सम्मोहयामास कालिका चन्द्रशेखरम् ॥
इत्येतत् कथितं सर्व्वं त्यक्तदेहा सती यथा ।
हिमवत्तनया भूत्वा पुनः प्राप महेश्वरम् ॥”

इति कालिकापुराणे ४३ अध्यायः ॥ * ॥

अस्य गणा यथा,—

पुलस्त्य उवाच ।

“हरोऽपि शम्बरे याते समाहूयाशु नन्दिनम् ।
प्राहामन्त्रय शैलादौ ये स्थितास्तव शासने ॥
ततो महेशवचनान्नन्दी सर्व्वगणाधिपः ।
उपस्पृश्य जलं धीमान् सस्मार गणनायकान् ॥
नन्दिना संस्मृताः सर्व्वे गणनाथाः सहस्रशः ।
समुत्पत्य त्वरायुक्ताः प्रणतास्त्रिदशेश्वरम् ॥
आगतांश्च गणान्नन्दी कृताञ्जलिपुटोऽव्ययः ।
सर्व्वान्निवेदयामास शङ्कराय महात्मने ॥

नन्द्युवाच ।

यानेतान् पश्यसि शम्भो त्रिनेत्रान् जटिलान्
शुचीन् ।
एते रुद्रा इति ख्याताः कोट्य एकादशैव च ॥
वानरास्यान् पश्यसि यान् शार्दूलसमविक्र-
मान् ।
एते वै द्वारपालास्ते मन्नामानो यशोधनाः ॥
षण्मुखान् पश्यसि यांश्च शक्तिपाणीन् शिखि-
ध्वजान् ।
षट् च षष्टिस्तथा कोट्यः स्कन्दनाम्नः कुमार-
कान् ॥
एतावत्यस्तथा कोट्यः शाखा नाम षडाननाः ।
विशाखास्तावदेवोक्ता नैगमेयाश्च शङ्कर ! ॥
सप्तकोटिशता शम्भो अमी वै प्रथमोत्तमाः ।
एकैकं प्रति देवेश तावत्यो ह्यपि मातरः ॥
भस्मारुणितदेहाश्च त्रिनेत्राः शूलपाणयः ।
एते शैवा इति प्रोक्तास्तव भक्ता गणेश्वराः ॥
तथा पाशुपताश्चान्ये भस्मप्रहरणा विभो ।
एते गणास्त्वसंख्याताः साहाय्यार्थं समागताः ॥
पिनाकधारिणो रौद्रा गणाः कालमुखाः परे ।
तव भक्ताः समायाता जटामण्डलिनोऽद्भुताः ॥
खट्वाङ्गयोधिनो वीरा रक्तचर्म्मसमावृताः ।
इमे प्राप्ता गणा योद्धुं महाव्रतिन उत्तमाः ॥
दिग्वाससो मौनिनश्च घण्टाप्रहरणास्तथा ।
निरामया नाम गणाः समायाता जगद्गुरो ॥
सार्द्धद्विनेत्राः पद्माक्षाः श्रीवत्साङ्कितवक्षसः ।
समायाताः खगारूढा वृषभध्वजिनोऽव्ययाः ॥
महापाशुपता नाम चक्रशूलधरास्तथा ।
भैरवो विष्णुना सार्द्धमभेदेनार्च्चितो हि यैः ॥
इमे मृगेन्द्रवदनाः शूलबाणधनुर्द्धराः ।
गणास्त्वद्रोमसम्भूता वीरभद्रपुरोगमाः ॥
एते चान्ये च बहवः शतशोऽथ सहस्रशः ।
साहाय्यार्थं तवायाता यथाप्रीत्यादिशस्व तान् ।
ततोऽभ्येत्य गणाः सर्व्वे प्रणेमुर्वृषकेतनम् ॥”

इति वामनपुराणे ६४ अध्यायः ॥

अस्य लिङ्गपूजादि शिवलिङ्गशब्दे द्रष्टव्यम् ॥
अस्मात् कोचविहारदेशीयराजवंशोत्पत्तिर्यथा,

श्रीदेव्युवाच ।

“देवेश परमेशान सर्व्वज्ञ सर्व्वपूजित ।
क गच्छसि मुहुर्नाथ कृपया वद शङ्कर ॥

ईश्वर उवाच ।
कोचाख्याने च देशे च योनिगर्त्तसमीपतः ।
साध्वी सती वाल्मिका हि रेवती जगविश्रुता ॥
म्लेच्छदेशोद्भवा या तु योगिनी सुन्दरी मता ।
तत्कुचौ कठिनौ दृष्ट्वौ योनेस्तस्याश्च पीनता ॥
भिक्षाचारप्रसङ्गेन गच्छामि च दिवानिशम् ।
तत्सन्निधौ महेशानि तया मे रमणं महत् ॥
देव्युवाच ।
कुत्रासीत् किं तपस्तप्तं कथं प्राप्तं महीतलम् ।
त्वया सार्द्धं रतिर्येन स्यात् नाल्पस्य तपसः
फलम् ॥
तत्रापि च तपो तस्याः लक्ष्यते महती मया ।
इदानीं किमभूत् सा हि तपसा परया वद ॥
ईश्वर उवाच ।
नगेन्द्रतनये बाले शृणु मत्प्राणवल्लभे ।
शावरीचरितं किञ्चित् कथयामि शुचिस्मिते ॥
रसक्रीडाचकाराद्यमेकाम्रकानने मुदा ।
वेदाङ्गसम्भवा साध्वी योगिनी सा सुरी मता ॥
नाभूत्तस्याः सुहृच्छिम्मे मत्क्रियायां नगात्मजे ।
मामाप्तुसुत्कटं तप्तं हृये मे चेत्रकामदे ॥
एकाम्रगहने देवि पर्व्वते तीर्थसङ्कुले ।
तत्रैको ब्राह्मणो जातो भिक्षार्थं तामुवाच ह ॥
न ददात्युत्तरं तस्मै भिक्षा तिष्ठतु दूरतः ।
ततः शशाप विप्रस्तां म्लेच्छतां याहि दुर्म्मदे ।
इत्युक्त्वा स ययौ विप्रो म्लेच्छत्वमाप योगिनी ।
यतोऽर्थिनः समर्थश्चेत् याचितं न ददाति च ॥
स दुर्गतिमवाप्नोत्यसमर्थो विनयश्चरेत् ।
तस्यास्तु तपसा देवि क्रीतोऽहमभवं सदा ॥*॥
अतस्तया रतिर्जाता मम कामिनि सर्व्वदा ।
तस्याः पुत्रो विशुसिंहो मदौरससमुद्भवः ॥
एकेन जितवान् कामान् सौमारान् गौडपञ्च-
मान् ।
विनिर्ज्जित्य नृपान् सर्व्वान् एकः श्रीमान् महा-
मतिः ॥
तस्यापि बहवः पुत्राः पृथिवीपरिपालकाः ।
कुवाचा धार्म्मिकाः सर्व्वे राजानो युद्धदुर्म्मदाः ॥
ततोऽपि स विशुसिंहो योगमाश्रित्य विह्वले ।
तिष्ठत्यथ तत्स्वरूपेण पर्ङ्के आकल्पमम्बिके ॥
कामात् सा माधवी देवी महेह लीनतां गता ।
यथा जाया नन्दिमाता तथेयं योगिनी मता ॥
यथा पुत्रो भृङ्गरीटिस्तथा विशुर्म्ममात्मजः ।
विशुसिंहोऽपि कल्पान्ते परां सिद्धिमवाप्स्यति ॥
तद्वंशजास्तु राजानः सर्व्वे कैलासवासिनः ।
भविष्यन्ति महाभागे गणेशाः सर्व्वशालिनः ॥
रूपयौवनसम्पन्नैर्देवकन्यागणैः सह ।
विहरन्ति सदा देवि क्रीडन्ति भैरवा यथा ॥*॥
यदा यदा ब्रह्मशापः कामाख्यायां भवेत् पुनः ।
तदा तदावतीर्य्याहं विश्वकामस्य पालकः ॥
तथा तद्वंशजाः सर्व्वे भवेयुः कामपालकाः ।
कल्पान्तमेवं देवेशि यावत् शापो विमुच्यते ॥
तावदेव महामाये मद्वीर्य्यात् क्रीडते भुवम् ।
कल्पमेवं महेशानि कलौ वर्षशतत्रयम् ॥

यावत्तु परमेशानि भुङ्क्ते शापं परात्मिके ।
कामाख्या हि महामाये तदन्ते सफला भवेत् ॥
एवं ते कथितं देवि ब्रह्मशापविमोचनम् ।
कामाख्याया महेशानि साकल्येन मया ध्रुवम् ॥"
इति श्रीयोगिनीतन्त्रे देवीश्वरसंवादे चतुर्विंशति-
साहस्रे १३ पटलः ॥ मोचः । कीलकग्रहः ।
वालुकम् । गुग्गुलुः । वेदः । पुण्डरीकद्रुमः ।
इति मेदिनी ॥ कृष्णधुस्तूरः । पारदः । इति
राजनिर्घण्टः ॥ देवः । इति शब्दरत्नावली ॥
लिङ्गः । इत्युणादिकोषः ॥ विष्कम्भादिसप्त-
विंशतियोगान्तर्गतविंशतितमयोगः । तत्र जात-
फलम् ।
"महेशभक्तः श्रुतिपारदृश्वा
जितेन्द्रियश्चापतशुर्म्महात्मा ।
शिवाभिधानः खलु योगराजः
प्रसूतिकाले यदि मानवानाम् ॥"
इति कोष्ठीप्रदीपः ॥
शिवकः, पुं, कीलकः । इत्यमरः ॥ हि खोँटा इति
ख्याते । गवां गात्रकण्डूयनार्थं गोष्ठे निखात-
स्तम्भे इति सुभूतिः । कण्डूयनार्थकाष्ठे इति
केचित् । बन्धनखड्गे इति केचित् । यत्र बद्धा
गौर्दुह्यते इति केचित् । शेते गात्रकण्डू शिवः
शी तनूकरणे नाम्नीति किवः स्वार्थे कः
शिवकस्तालव्यादिः । कील्यते वध्यतेऽस्मिन् कीलः
कील बन्धे घञ् स्वार्थे कः कीलकः । इति
भरतः ॥
शिवकरः, पुं, (शिवस्य करः ।) चतुर्विंशति-
भूतार्हदन्तर्गतजिनविशेषः । इति हेमचन्द्रः ॥
मङ्गलकारके, त्रि ॥
शिवकाञ्ची, स्त्री, पुरीविशेषः । यथा,—
"शिवकाञ्ची विष्णुकाञ्ची काञ्चीयुग्मञ्च सम्मतम् ।
एतास्तु पृथिवीमध्ये न गण्यन्ते कदाचन ॥
काशी शिवत्रिशूलस्था काञ्ची हरिहरात्मिका ।
वामदक्षिणहस्ताभ्यां दधार द्विजपुङ्गवाः ॥"
इति भूतशुद्धितन्त्रम् ॥
शिवकीर्त्तनः, पुं, (शिवं सुखकरं कीर्त्तनं यस्य ।)
भृङ्गरीटः । विष्णुः । इति मेदिनी ॥ शैवः ।
इति शब्दरत्नावली ॥
शिवगतिः, पुं, भूतार्हद्विशेषः । इति हेमचन्द्रः ॥
शिवघर्म्मजः, पुं, (शिवघर्म्माज्जातः । जन् + डः ।)
मङ्गलग्रहः । अस्य प्रमाणं मङ्गलशब्दे द्रष्ट-
व्यम् ॥
शिवङ्करः, त्रि, मङ्गलकर्त्ता । तत्पर्य्यायः । क्षेम-
ङ्करः २ अरिष्टतातिः ३ शिवतातिः ४ । इति
हेमचन्द्रः ॥ (पुं, वालग्रहविशेषः । यथा, हरि-
वंशे । १६६ । ७५ ।
"संचहनः संक्रमणः कालभूतः शिवङ्करः ॥")
शिवचतुर्द्दशी, स्त्री, (शिवप्रिया चतुर्द्दशी ।)
चतुर्द्दशीकर्त्तव्यशिवव्रतविशेषः । यथा,—
नन्दिकेश्वर उवाच ।
"शृणुष्वावहितो ब्रह्मन् वक्ष्ये माहेश्वरं व्रतम् ।
त्रिषु लोकेषु विख्याता नाम्ना शिवचतुर्द्दशी ॥

मार्गशीर्षे त्रयोदश्यां सितायामेकभक्तकम् ।
प्रार्थयेद्देवदेवेशं त्वामहं शरणं गतः ॥
चतुर्द्दश्यां निराहारः समभ्यर्च्य च शङ्करम् ।
सुवर्णवृषभं दत्त्वा भोक्ष्यामीति परेऽहनि ॥
एवं नियमकृत् सुप्त्वा प्रातरुत्थाय मानवः ।
कृतस्नानजपः पश्चादुमया सह शङ्करम् ॥
पूजयेत् कमलैः शुक्लैर्गन्धधूपानुलेपनैः ।
पादौ नमः शिवायेति शिरः सर्व्वात्मने नमः ॥
ललाटं वामदेवाय नेत्राणि हरये नमः ।
मुखमिन्दुमुखायेति श्रीकण्ठायेति कन्धरम् ॥
सद्योजाताय कर्णौ तु वामदेवाय वै भुजौ ।
अघोरहृदयायेति हृदयञ्चापि पूजयेत् ॥
स्तनौ तत्पुरुषायेति तथेशायेति चोदरम् ।
पार्श्वे चानन्तधर्म्माय ज्ञानभूताय वै कटिम् ॥
ऊरू चानन्तवैराग्यसिंहायेति च पूजयेत् ।
अनन्तैश्वर्य्यनाथाय जानुनी चार्च्चयेद्बुधः ॥
प्रधानाय नमो जङ्घे गुल्फौ व्योमात्मने नमः ।
व्योमकेशात्मरूपाय पृष्ठमभ्यर्च्चयेन्नरः ॥
नमः पुष्ट्यै नमस्तुष्ट्यै पार्व्वतीञ्चापि पूजयेत् ।
ततस्तु वृषभं हैमसुदकुम्भसमन्वितम् ॥
शुक्लमाल्याम्बरयुतं पञ्चरत्नपरिष्कृतम् ।
भक्ष्यैर्नानाविधैर्युक्तं ब्राह्मणाय निवेदयेत् ॥
प्रीयतां देवदेवोऽत्र सद्योजातः पिनाकधृक् ।
ततस्तु विप्रानन्नेन तर्पयेच्छक्तितः शुभान् ॥
पृषदाज्यञ्च संप्राश्य स्वपेद्भूमावुदङ्मुखः ।
पञ्चदश्यां ततः पूज्य विप्रान् भुञ्जीत वाग्यतः ॥
तद्वत् कृष्णचतुर्द्दश्यामेतत् सर्व्वं समाचरेत् ।
चतुर्द्दशीषु सर्व्वासु कुर्य्यात् पूर्व्ववदर्च्चनम् ॥
ये तु मासविशेषाः स्युस्तान्निबोध क्रमादिह ।
मार्गशीर्षादिमासेषु क्रमेतदुदीरयेत् ॥
शङ्कराय नमस्तुभ्यं नमस्ते करवीरकम् ।
त्र्यम्बकाय नमस्तेऽस्तु महेश्वर नमः परम् ॥
नमस्तेऽस्तु महादेव स्थाणवे च ततः परम् ।
नमः पशुपते नाथ नमस्ते शम्भवे पुनः ॥
नमस्ते परमानन्द नमः सोमार्द्धधारिणे ।
नमो भीमाय इत्येवं त्वामहं शरणं गतः ॥
गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् ।
पञ्चगव्यं तथा विल्वं यवान् गोशृङ्गवारि च ॥
तिलांश्च कृष्णान् विधिवत् प्राशनं क्रमशः
स्मृतम् ।
प्रतिमासं चतुर्द्दश्योरेकैकं प्राशनं स्मृतम् ॥
मन्दारैर्म्मालतीभिश्च तथा धुस्तूरकैरपि ।
सिन्धुवारैरशोकैश्च मल्लिकाभिश्च पाटलैः ॥
अर्कपुष्पकदम्बैश्च शतपत्रैस्तथोत्पलैः ।
एकैकेन चतुर्द्दश्यामर्च्चयेत् पार्व्वतीपतिम् ॥
पुनश्च कार्त्तिके मासि संप्राप्ते तर्पयेत् द्विजान् ।
अन्नैर्नानाविधैर्भक्ष्यैर्वस्त्रमाल्यविभूषणैः ॥
कृत्वा नीलवृषोत्सर्गं श्रुत्युक्तविधिना नरः ।
उमामहेश्वरं हैमं वृषभञ्च गवा सह ॥
मुक्ताफलाष्टकयुतं सितनेत्रपटावृतम् ।
सर्व्वोपस्करयुक्तायां शय्यायामुदकुम्भयोः ॥
ताम्रपात्रोपरि पुनः शालितण्डुलसंयुतम् ।

स्याप्य विप्राय शान्ताय वेदव्रतपराय च ॥
ज्येष्ठसामविदे देयं न वकव्रतिने क्वचित् ।
गुणाढ्ये श्रोत्रिये दद्यादाचार्य्ये तत्त्ववेदिनि ॥
अव्यङ्गाङ्गाय सौम्याय सदाकल्याणकारिणि ।
सपत्नीकाय संपूज्य माल्यवस्त्रविभूषणैः ॥
गुरौ सति गुरोर्देयं तदभावे द्विजातये ।
न वित्तशाठ्यं कुर्व्वीत कुर्व्वन् मोहात् पतत्यधः ॥
अनेन विधिना यस्तु कुर्य्यात् शिवचतुर्द्दशीम् ।
सोऽश्वमेधसहस्रस्य फलमाप्नोति मानवः ॥
ब्रह्महत्यादिकं किञ्चिद्यदत्रामुत्र वा कृतम् ।
पितृभिर्भ्रातृभिश्चैव तत् सर्व्वं नाशमाप्नुयात् ॥
दीर्घायुरारोग्यकुलाभिवृद्धि-
रत्राक्षयामुत्र चतुर्भुजत्वम् ।
गणाधिपत्यं दिवि कल्पकोटि-
शतं वसित्वा पदमेति शम्भोः ॥
न दुष्कृतिरप्यनन्तमस्याः
फलमिन्द्रो न पितामहोऽपि वक्तुम् ।
न च सिद्धगणोऽप्यलं न चाहं
यदि जिह्वायुतकोटयोऽपि वक्रे ॥
भवत्यमरवल्लभः पठति यः स्मरेद्वा सदा
शृणोति च विमत्सरः सकलपापविध्वंसिनीम् ।
इमां शिवचतुर्द्दशीममरकामिनीकोटयः
स्तुवन्ति तमनिन्दितं किमु समाचरेद्यः सदा ॥
या चाथ नारी कुरुते च भक्त्या
भर्त्तारमापृच्छ्य सुतं गुरुं वा ।
सापि प्रसादात् परमेश्वरस्य
परं पदं याति पिनाकपाणेः ॥”
इति मात्स्ये शिवचतुर्द्दशीव्रतं ८० अध्यायः ॥*॥
फाल्गुनी कृष्णा चतुर्द्दशी । तत्र शिवव्रतं कर्त्तव्यम् । तस्य विवरणं शिवरात्रिशब्दे द्रष्टव्यम् ॥

शिवज्ञा, स्त्री, (शिवं जानातीति । ज्ञा + कः ।) शिवोपासिका । मङ्गलज्ञात्री । शिवं जानाति या इत्यर्थे कप्रत्ययः ॥

शिवज्ञानं, क्ली, (शिवस्य ज्ञानमस्मात् ।) शुभाशुभकालबोधकशास्त्रम् । यदा यात्रादिक्रिया अवश्यकर्त्तव्या ज्योतिःशास्त्रोक्तशुभक्षणप्राप्तिश्च न भवति तदा शिवज्ञानोक्तशुभसमये कर्म्म कर्त्तुमुचितं भवति । एतच्छिवज्ञानोक्तमाहेन्द्रयोगे कृतयात्रादिर्जयं अमृतयोगे कार्य्यसिद्धिं वक्रे कार्य्यनाशं शून्ये मृत्युं अपमानं वा प्राप्नोति । दिवारात्रौ माघ-फाल्गुन-चैत्र-वैशाखश्रावणभाद्रेषु एते योगा एकरूपाः आश्विनकार्त्तिकाग्रहायणपौषेषु एकप्रकाराः ज्यैष्ठाषाढ़योश्च एकरूपा भवन्ति ॥ यथा,—

माघ-फाल्गुन-चैत्र-वैशाख-श्रावण-भाद्रेषु
दिवादण्डा यथा ।

रविवारे	मा २	अ ८	शू ८	मा २	व १० ।				
सोमवारे	अ ४	व ८	अ ६	व ६	मा ४	शू २ ।			
मङ्गलवारे	व ४	शू २	अ ६	व ४	शू २	अ ४	शू २	अ ४	शू २ ।
बुधवारे	अ ४	व ६	अ ४	शू २	व ४	मा ४	अ ४	शू २ ।	
गुरुवारे	मा ४	शू २	व ६	मा ६	शू ४	व ४	शू ४ ।		
शुक्रवारे	अ २	व २	अ ६	व ६	अ ६	शू ४	अ ४ ।		
शनिवारे	शू ४	व ४	शू २	अ ८	शू ४	व ४	शू ४ ।		

तेषु रात्रिदण्डा यथा ।

रविवारे	शू २	मा २	अ ४	व ८	मा ८	शू ६ ।			
सोमवारे	व २	अ ६	व ६	अ ८	शू ८ ।				
मङ्गलवारे	अ २	व ४	शू २	अ ६	व ६	अ ४	व ४	शू २ ।	
बुधवारे	शू २	अ ६	मा ४	व ४	शू ४	अ १० ।			
गुरुवारे	व १४	शू ४	व ४	अ २	शू ६ ।				
शुक्रवारे	व ४	अ ४	शू ४	मा २	व ६	शू ४	अ २	मा २	शू २ ।
शनिवारे	शू २	व ४	अ ६	व ४	अ ४	व २	अ ४	शू ४ ।	

आश्विन-कार्त्तिकाग्रहायणपौषेषु
दिवादण्डा यथा ।

रविवारे	शू २	अ ६	व ८	अ ८	शू २	मा २	शू २ ।	
सोमवारे	अ ४	शू ४	अ ६	व १६ ।				
मङ्गलवारे	अ २	व २	अ १०	व ६	शू ६	व ४ ।		
बुधवारे	अ २	मा २	अ २	व ६	अ ६	शू २	मा ६	व ४ ।
गुरुवारे	अ ४	व ४	शू ४	व ६	शू २	अ ४	व ६ ।	
शुक्रवारे	अ २	व २	अ ६	व ६	अ ८	शू २	अ ४ ।	
शनिवारे	अ २	व २	अ ६	व ६	अ ८	शू २	अ ४ ।	

तेषु रात्रिदण्डा यथा ।

रविवारे	शू २	व ४	अ ४	व ६	अ ४	शू २	अ ८ ।	
सोमवारे	व ६	अ ८	व ८	अ २	व ६ ।			
मङ्गलवारे	मा ६	अ २	शू २	अ ६	व ४	मा ४	शू २	अ ४ ।
बुधवारे	व २	अ २	व ४	अ १६	व २	शू ४ ।		
गुरुवारे	शू २	अ ८	व ६	अ ८	शू २	अ ४ ।		
शुक्रवारे	व २	अ ८	व ६	अ ८	शू २	अ ४ ।		
शनिवारे	व १४	शू ४	व ४	अ २	शू ६ ।			

ज्येष्ठाषाढयोर्द्दिवादण्डा यथा।

रविवारे	शू ४	अ ६	व ६	अ ६	व ४	मा २	शू २।	
सोमवारे	व ८	अ ४	शू ६	व ८	शू ४।			
मङ्गलवारे	अ ६	शू ४	अ ६	व ६	मा २	अ २	मा २	शू २।
बुधवारे	शू २	व ४	अ ८	व ६	अ ८	शू ४।		
गुरुवारे	मा २	शू २	व ६	मा ४	शू ४	व ६	अ ६।	
शुक्रवारे	शू २	मा २	व ६	मा २	शू ४	अ ६	व ४	शू ४।
शनिवारे	मा २	शू २	व ६	मा ६	शू ४	व ४	अ ६।	

तत्र रात्रिदण्डा यथा।

रविवारे	अ ४	शू ४	व ४	अ ६	व ८	शू ४।		
सोमवारे	व ८	अ ८	शू ४	अ ४	शू २	मा २	शू २।	
मङ्गलवारे	अ २	व ४	मा ४	शू ४	व २	अ ६	शू २	व ६।
बुधवारे	अ १०	शू २	व ४	अ ४	शू १०।			
गुरुवारे	शू २	अ ६	शू २	व ४	शू २	अ ६	शू ४	अ ४।
शुक्रवारे	अ ६	शू २	व ४	शू ६	अ ६	शू २	अ ४।	
शनिवारे	शू २	अ २	व ८	शू २	अ ६	शू ४	अ ६।	

मतान्तरे अस्य प्रमाणं यथा,—
"माहेन्द्रे विजयो नित्यं अमृते कार्य्यशोभनम्।
वक्रे कार्य्यविलम्बः स्याच्छून्ये च मरणं ध्रुवम्॥
वैशाखादिश्रावणान्तं एकभावेन संवदेत्।
अमृतादि दिवारात्रौ चतुर्मासं यथाक्रमम्॥
याममानं दिवामाने ज्ञेयं सर्व्वत्र मासके।
तत्प्रमाणेन ज्ञातव्यं दण्डमानं विचक्षणैः।
रात्रिमानप्रमाणेन ज्ञेयो दण्डप्रमाणकः॥
न वारतिथिनक्षत्रं न योगकरणं तथा।
शिवज्ञानं समासाद्य सर्व्वं सुविविचारयेत्॥"
तथा।
"भाद्रादिमार्गपर्य्यन्तं सप्तवारे समादिशेत्।
शून्यवक्रादियोगं हि पौषादिचैत्रतस्तथा॥"
इति ज्योतिषे शिवज्ञानम्॥*॥
अनेकप्रकारं शिवज्ञानं शिवाज्ञा शिवालिखितं अमृतघटी च दृष्टं किन्तु परस्परमनैक्यं जातम्॥

शिवतातिः, स्त्री, कल्याणकारिणी। इति हेमचन्द्रः॥ अस्य पर्य्यायः शिवङ्करशब्दे द्रष्टव्यः॥

शिवदत्तं, क्ली, (शिवेन दत्तम्।) विष्णुचक्रम्। इति केचित्॥ शिवेन शिवाय वा दत्तं द्रव्यमात्रञ्च॥

शिवदारु, क्ली, (शिवस्य दारु।) देवदारुवृक्षः। इति राजनिर्घण्टः॥

शिवदूतिका, स्त्री, (शिवदूती + स्वार्थे कन्।) मातृकाविशेषः। इति शब्दरत्नावली॥

शिवदूती, स्त्री, (शिवेन दूतयति सन्देशं प्रापयतीत्यर्थे दूत + णिच् + पचाद्यच्। यद्वा, शिवो दूतो यस्याः। गौरादेराकृतिगणत्वात् ङीष्।) दुर्गा। इति त्रिकाण्डशेषः॥ योगिनीविशेषः। यथा,
"ब्रह्माणी प्रथमा प्रोक्ता ततो माहेश्वरी परा।
कौमारी वैष्णवी चैव वाराही पञ्चमी तथा॥
नारसिंही तथैवैन्द्री शिवदूती तथाष्टमी।
एताः पूज्या महाभागा योगिनीः कामदायिनीः॥"

तस्या उत्पत्तिमन्त्रध्यानादि यथा,—
"कौशिक्या हृदयाद्देवी निःसृता ध्यानतो हरेः।
शिवदूतीति विख्याता शिवाशतसुसंवृता॥
मन्त्रमस्याः प्रवक्ष्यामि धर्म्मकामार्थदायकम्।
यत् श्रुत्वा साधको याति दुर्लभं शिवमन्दिरम्॥
येनाराध्य महादेवीं शिवदूतीं शिवात्मिकाम्।
न चिराल्लभते कामान्नरः सर्व्वजयी भवेत्॥
अन्तःसमाश्रिसहितो बिन्दिन्दुभ्यां सशावरा।
स्वरेण पान्तदन्त्येन संहृष्टोऽन्तेन पूर्व्वशः॥
स एव बिन्दुयुगलपूर्व्वस्योपान्त्यपावकः।
षष्ठस्वरकलाशून्यैः संश्लिष्टः प्रथमस्थितः॥
मन्त्रोऽयं शिवदूत्यास्तु शिवदूतीजयप्रदः।
रूपमस्याः प्रवक्ष्यामि शृणु वत्सक संमतम्॥
चतुर्भुजं महाकायं सिन्दूरसदृशद्युतिम्।
रक्तदन्तं सुण्डमालाजटाजूटार्द्धचन्द्रधृक्॥
नागकुण्डलहाराभ्यां शोभितं नखरोज्ज्वलम्।
व्याघ्रचर्म्मपरीधानं दक्षिणे शूलचक्रधृक्॥
वामे पाशं तथा चर्म्म बिभ्रदूर्द्ध्वं परिक्रमात्।
स्थूलवक्त्रञ्च पीनोष्ठं तुङ्गमूर्त्तिं भयङ्करम्॥
निक्षिप्य दक्षिणं पादं सन्तिष्ठेत् कुणपोपरि।
वामपादं शृगालस्य पृष्ठे फेरुशतैर्वृतम्॥
ईदृशं शिवदूत्यास्तु मूर्त्तिं ध्यायेद्विभूतये।
ध्यानमात्रादयेतस्या नरः कल्याणमाप्नुयात्॥
पूजनाच्चिरादेवी सर्व्वान् कामान् ददाति च॥
यः शिवाविरुतं श्रुत्वा शिवदूतीं शिवप्रदाम्।
प्रणमेत् साधको भक्त्या तस्य कामाः करे स्थिताः॥
यदा वधाय जगतां रक्तबीजं हिताय वै।
महादेवी महामाया तदास्याः कायतः सृता॥
दूतं प्रस्थापयामास शिवं शुम्भाय साम्बिका।
तेन सा शिवदूतीति देवैः सर्व्वैः प्रगीयते॥
क्षेमङ्करी च शान्ता च वेदमाता महोदरी।
कराला कामदा देवी भगास्या भगमालिनी॥
भगोदरी भगाहारा भगजिह्वा भगा तथा।
एता द्वादश योगिन्यः पूजने परिकीर्त्तिताः॥
एता द्वादश योगिन्यः शिवदूत्याः सदैव हि।
विचरन्ति स्वयं देवी यत्र यत्रैव गच्छति॥"
इति कालिकापुराणे उत्तरतन्त्रे ५० अध्यायः॥
प्रमाणान्तरं वामने ५३ अध्याये मार्कण्डेयपुराणे देवीमाहात्म्ये रक्तबीजवधाध्याये च द्रष्टव्यम्॥

शिवद्रुमः, पुं, (शिवप्रियो द्रुमः।) विल्ववृक्षः। इति राजनिर्घण्टः॥

शिवद्विष्टा, स्त्री, (शिवेन द्विष्टा तत्पूजनानर्हत्वात्।) केतकी। इति राजनिर्घण्टः॥

शिवधातुः, पुं, (शिवस्य धातुः।) पारदम्। पारदं शिववीर्य्यं स्यादिति दर्शनात्। गोदन्तमणिः। इति केचित्॥

शिवनाभिः, पुं, (शिवस्य नाभिरिव।) शिवलिङ्गविशेषः। यथा,—
"उत्तमं मध्यमधमं त्रिविधं लिङ्गमीरितम्।
चतुरङ्गुलमुत्सेधे रम्यवेदिकमुत्तमम्॥
उत्तमं लिङ्गमाख्यातं मुनिभिः शास्त्रकोविदैः।
तदर्द्धं मध्यमं प्रोक्तं तदर्द्धमधमं स्मृतम्॥
शिवनाभिमयं लिङ्गं प्रतिपूज्य महर्षिभिः।
श्रेष्ठञ्च सर्व्वलिङ्गेभ्यस्तस्मात् पूज्यं विधानतः॥"
इति वीरमित्रोदयः॥

शिवपुरी, स्त्री, (शिवस्य पुरी।) काशी। इति हेमचन्द्रः॥

शिवप्रियं, क्ली, (शिवस्य प्रियम्।) रुद्राक्षम्। इति राजनिर्घण्टः॥ शिवस्य प्रियद्रव्ये, त्रि॥

शिवप्रियः, पुं, (शिवस्य प्रियः।) वकवृक्षः। इति जटाधरः॥ स्फटिकः। धुस्तूरः। इति राजनिर्घण्टः॥

शिवप्रिया, स्त्री, (शिवस्य प्रिया।) दुर्गा। इति शब्दमाला॥

शिवमल्लकः, पुं, अर्ज्जुनवृक्षः। इति राजनिर्घण्टः ॥

शिवमल्लिका, स्त्री, (शिवप्रिया मल्लिका।) वकवृक्षः। इति राजनिर्घण्टः ॥

शिवमल्ली, स्त्री, (शिवप्रिया मल्ली।) वकवृक्षः। इत्यमरः ॥

शिवरसः, पुं, त्र्यहात् पर्य्युषितरसः। तत्पर्य्यायः। अशोदकजः २। अस्य गुणाः। दीपनत्वम्। मधुरत्वम्। अम्लत्वम्। अत्युग्रदाहदत्वम्। लघुतर्पणत्वञ्च। इति राजनिर्घण्टः ॥

शिवरात्रिः, स्त्री, (शिवप्रिया रात्रिः।) शिवचतुर्द्दशी। यथा, कालमाधवीये स्कान्दे नागरखण्डम्।
"माघमासस्य शेषे या प्रथमे फाल्गुनस्य च।
कृष्णा चतुर्द्दशी सा तु शिवरात्रिः प्रकीर्त्तिता ॥"
अमेकस्याक्तिथेर्म्माघीयत्वफाल्गुनीयत्वे मुख्यगौणवृत्तिभ्यां अविरुद्धे। ततस्तु माघकृष्णा चतुर्द्दशी शिवरात्रिः तस्यामुपवासः प्रधानम्।
"न स्नानेन न वस्त्रेण न धूपेन न चार्च्चया।
तुष्यामि न तथा पुष्पैर्यथा तत्रोपवासतः ॥",
इति शङ्करोक्तेः ॥ * ॥
स्कान्दे।
"ततो रात्रौ प्रकर्त्तव्यं शिवप्रीणनतत्परैः।
प्रहरे प्रहरे स्नानं पूजाञ्चैव विशेषतः ॥"
अत्र वीप्सया प्रहरचतुष्टयसाध्यं व्रतं प्रतीयते।
नरसिंहात्मार्थधृतेश्वरसंहितायाम्।
"शैवो वा वैष्णवो वापि यो वा स्यादन्यपूजकः।
सर्व्वं पूजाफलं हन्ति शिवरात्रिवहिर्म्मुखः ॥" *
संवत्सरप्रदीपे।
"दुग्धेन प्रथमं स्नानं दध्ना चैव द्वितीयके।
तृतीये च तथाज्येन चतुर्थे मधुना तथा ॥"
ईशानसंहितायाम्।
"माघे कृष्णचतुर्द्दश्यां रविवारो यदा भवेत्।
भौमो वापि भवेद्देवि कर्त्तव्यं व्रतमुत्तमम् ॥
शिवयोगस्य योगेन तद्भवेदुत्तमोत्तमम्।
शिवरात्रिव्रतं नाम सर्व्वपापप्रणाशनम्।
आचाण्डालमनुष्याणां भुक्तिमुक्तिप्रदायकम् ॥"
नागरखण्डे।
"उपवासप्रभावेण बलादपि च जागरात्।
शिवरात्रेस्तथा तस्य लिङ्गस्यापि प्रपूजया।
अक्षयान् लभते लोकान् शिवसायुज्यमाप्नुयात् ॥"
पाद्मे।
"वर्षे वर्षे महादेवि नरो नारी पतिव्रता।
शिवरात्रौ महादेवं कामं भक्त्या प्रपूजयेत् ॥"
ईशानसंहितायाम्।
"एवमेव व्रतं कुर्य्यात् प्रति संवत्सरं व्रती।
द्वादशाब्दिकमेतद्धि चतुर्व्विंशाब्दिकं तथा।
सर्व्वान् कामानवाप्नोति प्रेत्य चेह च मानवः ॥"
हेमाद्रिधृता स्मृतिः।
"प्रदोषव्यापिनी ग्राह्या शिवरात्रिचतुर्द्दशी ॥"
प्रदोषमाह वत्सः।
"प्रदोषोऽस्तमयादूर्द्ध्वं घटिकाद्वयमिष्यते ॥"
ऊर्द्ध्वमनन्तरम्। वायुपुराणे।
"त्रयोदश्यस्तगे सूर्य्ये चतसृष्वपि नाडिषु।
भूतविद्धा तु या तत्र शिवरात्रिव्रतञ्चरेत् ॥"
ईशानसंहितायाम्।
"माघे कृष्णचतुर्द्दश्यामादिदेवो महानिशि।
शिवलिङ्गतयोद्भूतः कोटिसूर्य्यसमप्रभः ॥
तत्कालव्यापिनी ग्राह्या शिवरात्रिव्रते तिथिः।
अर्द्धरात्रादधश्चोर्द्ध्वं युक्ता यत्र चतुर्द्दशी ॥
व्याप्ता सा दृश्यते यस्यां तस्यां कुर्य्याद्व्रतं नरः ॥"
अत्र।
"महानिशा द्वे घटिके रात्रेर्मध्यमयामयोः ॥"
इति देवलोक्तो महानिशा ग्राह्या ॥ घटिका एकदण्डः। एवञ्च यद्दिने प्रदोषनिशीथोभयव्यापिनी चतुर्द्दशी तद्दिने व्रतं उभयव्याप्त्यनुरोधात्। कालमाधवीयेऽप्येवम्। एतेन परदिने उभयव्यापित्वेऽपि पूर्व्वदिवसीयरात्रिद्वितीययामप्रभृतिचतुर्द्दशीसत्त्वे बहुप्रहरव्यापित्वेन पूर्व्वदिन एव व्रतमिति निरस्तम्। यदा तु पूर्व्वेद्युर्निशीथमात्रव्याप्तिः परेद्युः प्रदोषमात्रव्याप्तिस्तदा पूर्व्वेद्युर्व्रतम्। प्रधानकालव्याप्त्यनुरोधात्।
"पूर्व्वेद्युरपरेद्युर्व्वा महानिशि चतुर्द्दशी।
व्याप्ता सा दृश्यते यस्यां तस्यां कुर्य्याद्व्रतं नरः ॥"
इतीशानसंहितावचनाच्च ॥
एतद्विषय एव भविष्यपुराणम्।
"अर्द्धरात्रात् पुरस्तात्तु जयायोगो भवेद्यदि।
पूर्व्वविद्धैव कर्त्तव्या शिवरात्रिः शिवप्रियैः ॥"
विष्णुधर्म्मोत्तरे।
"जयन्ती शिवरात्रिश्च कार्य्ये भद्रजयान्विते।
कृत्वोपवासं तिथ्यन्ते तदा कुर्य्याच्च पारणम् ॥"
तिथ्यन्ते पारणं जयन्तीमात्रपरं अत्र चतुर्द्दश्यामेव तत्।
"ब्रह्माण्डोदरमध्ये तु यानि तीर्थानि सन्ति वै।
पूजितानि भवन्तीह भूतायां पारणे कृते ॥"
इति स्कान्दात् ॥
"दिनमानप्रमाणेन या तु रात्रौ चतुर्द्दशी।
शिवरात्रिस्तु सा ज्ञेया चतुर्द्दश्यान्तु पारणम् ॥"
इति गौतमीयाच्च ॥
यदा तु पूर्व्वदिने न निशीथव्याप्तिः परदिने प्रदोषमात्रव्यापिनी तदा परा ग्राह्या। प्रदोषव्यापिनीति प्रागुक्तत्वात् तिथेस्त्रिसन्ध्यव्यापित्वाच्च। एतद्विषय एव लिङ्गपुराणम्।
"शिवरात्रिव्रते भूतां कामविद्धां विवर्जयेत्।
एकेनैवोपवासेन ब्रह्महत्यां व्यपोहति ॥"
अत्रामावास्यायामेव पारणम्।
"शिवा घोरा तथा प्रेता सावित्री च चतुर्द्दशी।
कुहूयुक्तैव कर्त्तव्या कुह्वामेव हि पारणम् ॥"
इति वचनात् ॥ * ॥
तदयं संक्षेपः। यद्दिने प्रदोषनिशीथोभयव्यापिनी चतुर्द्दशी तद्दिने व्रतम्। यदा तु पूर्व्वेद्युर्निशीथव्यापिनी परेद्युः प्रदोषमात्रव्यापिनी तदा पूर्व्वेद्युर्व्रतम्। यदा तु न पूर्व्वेद्युर्निशीथव्याप्तिः परेद्युः प्रदोषव्यापिनी तदा परदिने। पारणन्तु परदिने चतुर्द्दशीलाभे चतुर्द्दश्यां तदलाभे अमावस्यायाम्। तत्र प्रयोगः ॥ * ॥ प्रातरुदङ्मुखः तत् सवितुर्वार्य्य सूर्य्यः सोम इति पठित्वा जलादीन्यादाय सङ्कल्पयेत्।
"मन्त्रेणानेन गृह्णीयान्नियमं भक्तिमान्नरः।
शिवरात्रिव्रतं ह्येतत् करिष्येऽहं महाफलम्।
निर्व्विघ्नमस्तु मे चात्र त्वत्प्रसादाज्जगत्पते ॥"
इति शिवरहस्यात् शिवरात्रि इत्यादिना नियम्य।
"चतुर्द्दश्यां निराहारो भूत्वा शम्भो परेऽहनि।
भोक्ष्येऽहं भुक्तिमुक्त्यर्थं शरणं मे भवेश्वर ॥"
इति गरुड़पुराणीयं पठेत्।
रात्रौ प्रथमप्रहरे प्रतिष्ठिते लिङ्गे अप्रतिष्ठिते वा प्रतिष्ठां विधाय पूजां कुर्य्यात्। ह्रौँ अस्त्राय फडिति पादघातत्रयेण विघ्नान्निःसार्य्य तेनैव तालत्रयेण करच्छोटिकया च दशदिग्बन्धनं कृत्वा भूतशुद्धिं विधाय ह्रां हृदयाय नम इत्यादिना षड़ङ्गानि न्यस्य ह्रौँ इति मन्त्रेण प्राणायामं विधाय पूजयेत्। पार्थिवलिङ्गे चेत्तदा वक्ष्यमाणपूजाविधिना पूजयेत्। तत्रायं विशेषः। ह्रौँ ईशानाय नम इति प्रथमप्रहरे दुग्धेन स्नापयित्वा पुनर्जलेन स्नापयित्वा।
"शिवरात्रिव्रतं देव पूजाजपपरायणः।
करोमि विधिवद्दत्तं गृहाणार्घ्यं महेश्वर ॥"
इत्यनेनार्घ्यं दत्त्वा गन्धादिभिः संपूज्य मूलमन्त्रं जपित्वा प्रणम्य गीतनृत्यादिभिस्तं प्रहरं नयेत्।
तद्ध्यानं तज्जपः स्नानं तत्कथाश्रवणादिकम्।
उपवासकृतो ह्येते गुणाः प्रोक्ता मनीषिभिः ॥"
इति देवीपुराणे सामान्यतः श्रवणात् अत्रापि तथा ॥ * ॥ द्वितीयप्रहरे तु विशेषः। ह्रौँ अघोराय नम इति दध्ना स्नानम्। अर्घ्यमन्त्रस्तु।
"नमः शिवाय शान्ताय सर्व्वपापहराय च।
शिवरात्रौ ददाम्यर्घ्यं प्रसीद उमया सह ॥" * ॥
तृतीयप्रहरे तु। ह्रौँ वामदेवाय नम इति घृतेन स्नानम्। अर्घ्यमन्त्रस्तु।
"दुःखदारिद्र्यशोकेन दग्धोऽहं पार्व्वतीश्वर।
शिवरात्रौ ददाम्यर्घ्यमुमाकान्त गृहाण मे ॥" * ॥
चतुर्थप्रहरे तु। ह्रौँ सद्योजाताय नम इति मधुना स्नानम्। अर्घ्यमन्त्रस्तु।
"मया कृतान्यनेकानि पापानि हर शङ्कर।
शिवरात्रौ ददाम्यर्घ्यं उमाकान्त गृहाण मे ॥"
ततो नमः शिवाय इति मूलमन्त्रं जपित्वा प्रभातेऽविघ्नेन इत्यादिवक्ष्यमाणमन्त्रान् पठेत्।
तथा च गरुड़पुराणम्।
"मूलमन्त्रं ततो जप्त्वा प्रभाते तत् समापयेत्।
अविघ्नेन व्रतं देव त्वत्प्रसादात् समर्पितम् ॥
क्षमस्व जगतां नाथ त्रैलोक्याधिपते हर।
यन्मयाद्य कृतं पुण्यं तद्रुद्रस्य निवेदितम् ॥

त्वत्प्रसादान्मया देव व्रतमद्य समर्पितम् ।
प्रसन्नो भव मे श्रीमन् मद्भूतिं प्रतिपद्यताम् ।
त्वदालोकनमात्रेण पवित्रोऽस्मि न संशयः ॥”
परदिने ब्राह्मणान् भोजयित्वा चतुर्द्दशीलाभे तत्र तदलाभे अमावस्यायां पारणं कुर्य्यात् । तत्र मन्त्रः ।
“संसारक्लेशदग्धस्य व्रतेनानेन शङ्कर ।
प्रसीद सुमुखो नाथ ज्ञानदृष्टिप्रदो भव ॥”*॥
तत्र पार्थिवशिवलिङ्गपूजाविधिः । तत्र शिववाक्यं स्कान्दे ।
“विप्रस्य तु सदैवाहं शुचेरप्यशुचेरपि ।
शृण्वन् वलिं प्रहृष्यामि विप्राणामिव दर्शनात् ॥”
वलिं पूजाम् । तथा,
“शूद्रः कर्म्माणि यो नित्यं स्वीयानि कुरुते प्रिये ।
तस्याहमर्च्चां गृह्णामि चन्द्रखण्डविभूषिते ॥”
तथा,
“नमोऽन्तेन शिवेनैव स्त्रीणां पूजा विधीयते ॥”
एवकारेण प्रणवनिवृत्तिः । एवं शूद्रस्यापि । तथा नृसिंहतापनीये । “सावित्रीं प्रणवं यजुर्लक्ष्मीं स्त्रीशूद्रयोर्नेच्छन्ति । सावित्रीं प्रणवं यजुर्लक्ष्मीं स्त्री शूद्रो यदि जानीयात् स म्रतोऽधो गच्छति इति ।” नेच्छन्ति पर्य्यन्तं पराशरभाष्येऽपि लिखितम् । गोविन्दभट्टधृतम् ।
“स्वाहाप्रणवसंयुक्तं शूद्रे मन्त्रं ददद्द्विजः ।
शूद्रो निरयमाप्नोति ब्राह्मणः शूद्रतामियात् ॥”
गौतमः ।
“रात्रावुदङ्मुखः कुर्य्यात् देवकार्य्यं सदैव हि ।
शिवार्च्चनं सदाप्येवं शुचिः कुर्य्यादुदङ्मुखः ॥”
सदा दिवारात्रौ । अत्र हेतुमाह रुद्रयामले ।
“न प्राचीमग्रतः शम्भोर्नोदीचीं शक्तिसंस्थिताम् ।
न प्रतीचीं यतः पृष्ठमतो दक्षं समाश्रयेत् ॥”
यजमानः शम्भोः प्राचीमवस्थितये न समाश्रयेत् शम्भोर्जगत्संहारकस्याग्रतः संमुखात् ।
पञ्चवक्त्रपक्षे प्रधानं वक्त्रं प्राच्यवस्थितम् ॥
एकवक्त्रपक्षे सुतरां तथा । तद्रूपमाह भविष्यपुराणम् ।
“सौम्यं मौलीन्दुभृत् चाद्यं एकवक्त्रं चतुर्भुजम् ।
शिवरूपं गृहे कुर्य्यात् प्रासादे वाप्यनिन्दितम् ॥”
अत्राग्रे पूजानिषेधात् देवाग्रे स्वस्य चाप्यग्रे प्राची प्रोक्ता गुरुक्रमैः । इत्यस्य न विषयः । किन्त्वभिधानादिप्रसिद्धा प्राची ग्राह्या । एतदनुसाराद्दक्षिणापूर्व्वाद्याग्नेय्यन्तपूजा । अतएव तन्त्रान्तरम् ।

“यत्रैव भानुस्तु वियत्युदेति
प्राचीति तां वेदविदो वदन्ति ।
तथा पुरः पूजकपूज्ययोश्च
सदागमज्ञाः प्रवदन्ति तान्तु ॥”

एवञ्च देवतान्तरपूजा पूर्व्वाह्णे प्राङ्मुखेन सायं पश्चिमाभिमुखेन रात्रावुदङ्मुखेन कार्य्या ।
“प्राक्पश्चिमोदगास्यस्तु प्रातः सायं निशासु च ॥”
इति वचनात् ॥
इति वाचस्पतिमिश्राः । नैवं पूजा रत्नाकरोक्तभविष्यपुराणीयसप्ताक्षरसूर्य्यमन्त्रप्रस्ताव एव प्रागादिदिङ्नियमाभिधानात् । व्यवहारोऽपि अत्र न तथेति ॥ * ॥ लिङ्गपुराणे ।
“विना भस्मत्रिपुण्ड्रेण विना रुद्राक्षमालया ।
पूजितोऽपि महादेवो न स्यात्तस्य फलप्रदः ।
तस्मान्मृदापि कर्त्तव्यं ललाटेऽपि त्रिपुण्ड्रकम् ॥”
नन्दिपुराणे ।
“आयुष्मान् बलवान् श्रीमान् पुत्त्रवान् धनवान् सुखी ।
वरमिष्टं लभेल्लिङ्गं पार्थिवं यः समार्च्चयेत् ।
तस्मात्तु पार्थिवं लिङ्गं ज्ञेयं सर्व्वार्थसाधकम् ॥”
भविष्ये ।
“स्वर्णरूप्यगोशकृत्पिष्टं ताम्रकांस्यमयं तथा ।
कृत्वा लिङ्गं सकृत् पूज्य वसेत् कल्पायुतं दिवि ॥*
वार्क्षं वित्तप्रदं लिङ्गं स्फाटिकं सर्व्वकामदम् ।
नर्म्मदागिरिजं श्रेष्ठमन्यदपि हि लिङ्गवत् ॥”
लिङ्गवत् लिङ्गाकारम् । कालकौमुद्याम् ।
“अङ्गुष्ठादल्पपरीमाणं न लिङ्गं कुत्रचिन्नरः ।
कुर्व्वीताङ्गुष्ठतो ह्रस्वं न कदाचित् समाचरेत् ॥”
अत्रोऽशीतिरत्निका । अङ्गुष्ठतः ह्स्वतपर्व्वग्रन्थितः ।
“अङ्गुष्ठाङ्गुलिमानन्तु यत्र यत्रोपदिश्यते ।
तत्र तत्र बृहत्पर्व्वग्रन्थिभिर्मिनुयात् सदा ॥”
इति छन्दोगपरिशिष्टात् ॥
शिवधर्म्मे ।
“सहस्रमर्च्चयेल्लिङ्गं निरयं स न गच्छति ।
रुद्रलोकमवाप्नोति भुक्त्वा भोगाननुत्तमान् ॥”
तथा ।
“वालुकानि च लिङ्गानि सहस्राणि च कारयेत् ।
सहस्रमर्च्चनात् सोऽपि लभते वाञ्छितं फलम् ॥”
ततश्चानुकतिथावारम्भानुकलाभकामः सहस्रमितपार्थिवशिवलिङ्गपूजनमिति यथास्थाने वाक्ये देयम् ॥ * ॥ ब्रह्मपुराणे ।
“यावन्न दीयते चार्घ्यं भास्कराय निवेदितम् ।
तावन्न पूजयेद्विष्णुं शङ्करं वा महेश्वरीम् ॥”
राघवभट्टधृतम् ।
“सर्व्वत्रैव प्रशस्तोऽजः शिवसूर्य्यार्च्चनं विना ॥”
अजः शङ्खः । अग्निपुराणे ।
“तल्लिङ्गैः पूजयेन्मन्त्रैः सर्व्वदेवान् पृथक् पृथक् ।
ध्यात्वा प्रणवपूर्व्वन्तु तन्नाम्ना सुसमाहितः ।
नमस्कारेण मन्त्रेण पुष्पाणि विन्यसेत् पृथक् ॥”*
देवीपुराणे ।
“हराहरणसंघट्टप्रतिष्ठाह्वानमेव च ।
स्नपनं पूजनञ्चैव विसर्ज्जनमतः परम् ॥
हरो महेश्वरश्चैव शूलपाणिः पिनाकधृक् ।
पशुपतिः शिवश्चैव महादेव इति क्रमात् ॥”
अत्र पूर्व्वोक्तसप्तकर्म्माणि परवचनोक्तसप्तनामभिः क्रियानुरूपविभक्तिमद्भिर्यथायथं कार्य्याणि । अदृष्टार्थयोरर्थक्रमासम्भवेन पाठक्रमादेव आवाहनात् प्राक् प्रतिष्ठा श्राद्धे कुशासनदानवत् ॥ * ॥ तत्रानुष्ठानम् । हराय नम इति हराहरणम् । महेश्वराय नम इति संघट्टनम् । शूलपाणे इह सुप्रतिष्ठितो भव इति प्रतिष्ठा । ध्यायेन्नित्यमित्यादिना ध्यात्वा पिनाकधृक् इहागच्छ इत्याद्यावाहनम् । पशुपतये नम इति स्नपनम् । एतत् पाद्यं नमः शिवाय नम एवमर्घ्यादिना पूजयेत् । विसर्ज्जनात् पूर्व्वं भविष्यपुराणोक्तं स्वभावसिद्धप्राच्येशान्यादिदिक्षु वामावर्त्तेन पूजनम् । यथा । सर्व्वाय क्षितिमूर्त्तये नमः । भवाय जलमूर्त्तये नमः । रुद्राय अग्निमूर्त्तये नमः । उग्राय वायुमूर्त्तये नमः । भीमाय आकाशमूर्त्तये नमः । पशुपतये यजमानमूर्त्तये नमः । महादेवाय सोममूर्त्तये नमः । ईशानाय सूर्य्यमूर्त्तये नमः ।
“मूर्त्तयोऽष्टौ शिवस्यैताः पूर्व्वादिक्रमयोगतः ।
आग्नेय्यन्ताः प्रपूज्यास्ता वेद्यां लिङ्गे शिवं यजेत् ॥”
ततो महादेव क्षमस्व इति संहारमुद्रया विसर्ज्जयेत् ॥ * ॥ नन्दिपुराणे ।
“गोभूतिलहिरण्यादिवलिपुष्पनिवेदने ।
ज्ञेयो नमः शिवायेति मन्त्रः सर्व्वार्थसाधकः ॥
सर्व्वमन्त्राधिकश्चायमोङ्काराद्यः षडक्षरः ।
तन्मन्त्रजापी तत्कर्म्मरतस्तद्गतमानसः ।
निष्कामः पुरुषो राजन् स रुद्रपदमश्नुते ।”
भविष्ये पञ्चाक्षरमुपक्रम्य ।
“अपवित्रः पवित्रो वा सर्व्वावस्थां गतोऽपि वा ।
महापातकयुक्तो वा मन्त्रस्यास्य जपे यथा ।
अधिकारी भवेत् सर्व्व इति देवोऽब्रवीच्छिवः ॥”
इति तथेत्यर्थः ॥ पूर्व्वोक्तयथापदानुरोधात् । तेन यथाधिकारी भवेत्तथाब्रवीदित्यर्थः । तथा,
“सर्व्वेषामेव पात्राणां परं पात्रं महेश्वरः ।
पतन्तं त्रायते यस्मादतीव नरकार्णवात् ॥
शिवमुद्दिश्य यद्दत्तं सर्व्वकारणकारणम् ।
तदनन्तफलं दातुर्भवतीह किमद्भुतम् ॥
दत्त्वा नैवेद्यवस्त्रादि नाददीत कदाचन ।
त्यक्तव्यं शिवमुद्दिश्य तदादाने न तत्फलम् ॥”
आदाने ग्रहणे । शिवधर्म्मे ।
“तस्मात् पुष्पैः फलैः पत्रैस्तोयैरपि च यत् फलम्
तदनन्तफलं ज्ञेयं भक्तिरेवात्र कारणम् ॥”
भविष्ये ।
“लिङ्गानुलेपनं कार्य्यं दिव्यगन्धैः सुगन्धिभिः ।
वर्षकोटिशतं दिव्यं शिवलोके महीयते ॥”
शिवधर्म्मे ।
“तस्मात् पुष्पप्रदानेन लिङ्गेषु प्रतिमासु च ।
अशीतिवर्षकोटीनां दुर्गतिं न नरो व्रजेत् ॥”
स्कान्दे ।
“शुष्काण्यपि च पत्राणि श्रीवृक्षस्य सदैव हि ॥”
दातव्यानीति शेषः । भविष्ये ।
“धुस्तूरकैश्च यो लिङ्गं सकृत् पूजयते नरः ।
स गोलक्षफलं प्राप्य शिवलोके महीयते ॥

विल्वपत्रैरखण्डैश्च यो लिङ्गं पूजयेत् सकृत्।
सर्व्वपापैर्विनिर्मुक्तः शिवलोके महीयते ॥"
तथा।
"सर्व्वकामप्रदं विल्वं दारिद्र्यस्य प्रणाशनम्।
विल्वपत्रात् परं नास्ति येन तुष्यति शङ्करः ॥"
तथा।
"केशकीटापविद्धानि निशि पर्य्युषितानि च।
स्वयंपतितपुष्पाणि त्यजेदुपहृतानि च ॥"
तथा।
"देवदारुसमेतञ्च सर्ज्जश्रीवासकुन्दुरम्।
श्रीफलं चाज्यमिश्रन्तु दत्वाप्नोति परां गतिम् ॥"
सर्ज्जः शालरसः। श्रीवासः सरलद्रवः। कुन्दुरः शैलेयम्।
"दद्यः सौगन्धिकं धूपं षट्सहस्रगुणोत्तरम्।
अगुरुं शतसाहस्रं द्विगुणञ्चासितागुरुम्।
गुग्गुलुं घृतसंयुक्तं साक्षात् गृह्णाति शङ्करः ॥"
तथा।
"तैलेनापि हि यो दद्यात् घृताभावेन मानवः।
तेन दीपप्रदानेन शिववन्नाजते भुवि ॥"
नन्दिकेश्वरे।
"अथ भक्त्या शिवं पूज्य नैवेद्यमुपकल्पयेत्।
यद्यदेवात्मनः श्रेयस्तत्तदीशाय कल्पयेत् ॥
शालितण्डुलप्रस्थस्य कुर्य्यादन्नं सुसंस्कृतम्।
शिवाय तं चरुं दद्यात् चतुर्द्दश्यां विशेषतः ॥"
प्रस्थमानं प्रागुक्तम्। शिवसर्व्वस्वे स्कान्दम्।
"एकमाम्रफलं पक्वं यः शम्भोर्विनिवेदयेत्।
वर्षाणामयुतं भोगैः क्रीडते स शिवे पुरे ॥
एकं मोचाफलं पक्वं यः शिवाय निवेदयेत्।
वर्षलक्षं तथा भोगैः शिवलोके महीयते ॥"
शिवपुराणे।
"नैवेद्यं घृतसंयुक्तं मधुपर्कं निवेदयेत्।
अग्निष्टोमस्य यज्ञस्य फलमाप्नोति मानवः ॥"
शिवसर्व्वस्वे स्कान्दम्।
"परिपक्वं सुसंमृष्टमाज्यसिक्तं सुसंस्कृतम्।
शिवाय मांसं दत्वा तु ब्रह्म यत् फलमाप्नुयात् ॥
अशेषफलदानेन यत् फलं परिकीर्त्तितम्।
तत् फलं प्राप्नुयान्नित्यं सर्व्वं मांसनिवेदनात् ॥"
शिवधर्म्मे।
"लिङ्गवेदी भवेद्देवी लिङ्गं साक्षात् महेश्वरः।
तयोः संपूजनात् स्यातां देवी देवश्च पूजितौ ॥"
देवीपुराणे।
"सव्यं व्रजेत्ततोऽसव्यं प्रणालं नैव लङ्घयेत्।
एकीभूतमना रुद्रे यः कुर्य्यात् त्रिः प्रदक्षिणम् ॥
छिन्नस्तेन भवग्रन्थिर्न तस्य पुनरुद्भवः ॥"
भविष्ये।
"जानुभ्यां चैव पाणिभ्यां शिरसा च विचक्षणः।
कृत्वा प्रणामं देवेशे सर्व्वान् कामानवाप्नुयात् ॥"
लिङ्गपुराणे।
"गन्धपुष्पनमस्कारैर्मुखवाद्यैश्च सर्व्वशः।
यो मामर्चयते तत्र तदा तुष्याम्यहं सदा ॥"
महाभारते।
"सर्व्वलक्षणहीनोऽपि युक्तो वा सर्व्वपातकैः।
सर्व्वं तरति तत् पापं भावयन् शिवमात्मना ॥"
राघवभट्टधृतम्।
"अधोमुखे वामहस्ते ऊर्द्धास्यं दक्षहस्तकम्।
क्षिप्त्वाङ्गुलीरङ्गुलीभिः संगृह्य परिवर्त्तयेत्।
प्रोक्ता संहारमुद्रेयमर्पणे तु प्रशस्यते ॥"
अर्पणे आत्मनीति शेषः। स्कान्दे।
"निर्म्माल्यं यो हि मद्भक्त्या शिरसा धारयिष्यति।
अशुचिर्भिन्नमर्य्यादो नरः पापसमन्वितः ॥
नरके पच्यते घोरे तिर्य्यग्योनौ च जायते।
ब्रह्महापि शुचिर्भूत्वा निर्म्माल्यं यस्तु धारयेत्।
तस्य पापं महच्छीघ्रं नाशयिष्ये महाव्रते ॥"
शुचिः स्नानादिनेति शेषः। एवञ्च।
"स्पृष्ट्वा रुद्रस्य निर्म्माल्यं सवासा आप्लुतः शुचिः ॥"
इति कालिकापुराणीयमशुचिविषयम् ॥
अनुपनीतविषयमिति श्रीदत्तः। वङ्गचरणपरिशिष्टम्।
"अग्राह्यं शिवनैवेद्यं पत्रं पुष्पं फलं जलम्।
शालग्रामशिलास्पर्शात् सर्व्वं याति पवित्रताम् ॥
कालिकापुराणे।
"यो यद्देवार्च्चनरतः स तन्नैवेद्यभक्षकः।
केवलं सौरशैवे तु वैष्णवो नैव भक्षयेत् ॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥ * ॥
अपिच।
ब्रह्मोवाच।
"शिवरात्रिव्रतं वक्ष्ये कथाञ्च सर्व्वकामदाम्।
यथा च गौरी भूतेशं पृच्छति स्म परं व्रतम् ॥
श्रीमहादेव उवाच।
माघफाल्गुनयोर्म्मध्ये या च कृष्णा चतुर्द्दशी।
तस्यां जागरणाद्रुद्रः पूजितो भुक्तिमुक्तिदः ॥
कामयुक्तो हरः पूज्यो द्वादश्यामेव केशवः।
उपोषितैः पूजितः सन्नरकात्तारयेत्तथा ॥
निषादश्चार्व्वुदे राजा पापी सुन्दरसेनकः।
स कुक्कुरैकसंयुक्तो मृगान् हन्तुं वनं गतः ॥
मृगादिकमसंप्राप्य क्षुत्पिपासार्हितो गिरौ।
रात्रौ तड़ागतीरे स निकुञ्जे जाग्रदास्थितः ॥
तत्रास्ति लिङ्गं स्वं रक्षञ्छरीरं चाक्षिपत्ततः।
पर्णानि चापसम्भृङ्गि लिङ्गस्यैव न जानतः ॥
तेन धूलिनिरोधाय क्षिप्तं नीरञ्च लिङ्गके।
शरः प्रमादेनैकस्तु प्रच्युतः करपल्लवात् ॥
जानुभ्यामवनीं गत्वा लिङ्गं स्पृष्ट्वा गृहीतवान्।
एवं स्नानं स्पर्शनञ्च पूजनं जागरोऽभवत् ॥
प्रातर्गृहागतो भार्य्यादत्तान्नं भुक्तवान् स च।
काले मृतो यमभटैः पाशैर्बद्धा तु नीयते ॥
तदा मम गणैर्युद्धे जित्वा मुक्तीकृतः स च।
कुक्कुरेण सहैवाभूद्गणो मत्पार्श्वगोऽमलः ॥
एवमज्ञानतः पुण्यं ज्ञानात् पुण्यमथाक्षयम्।
त्रयोदश्यां शिवं पूज्य कुर्य्यात्तन्नियमं व्रती ॥
प्रातर्देव चतुर्द्दश्यां जागरिष्याम्यहं निशि।
पूजां दानं जपं होमं करिष्याम्यात्मशक्तितः ॥
चतुर्द्दश्यां निराहारो भूत्वा शम्भो परेऽहनि।
भोक्ष्येऽहं भुक्तिमुक्त्यर्थं शरणं मे भवेश्वर ॥
पञ्चगव्याम्बुतैः स्नात्वा अन्तकाले गुरुं श्रितः।
ॐ नमो नमः शिवाय गन्धाद्यैः पूजयेद्धरम् ॥
तिलतण्डुलव्रीहींश्च जुहुयात् स्वश्रृतं चरुम्।
हुत्वा पूर्णाहुतिं दद्यात् शृणुयाद्गीतसत्कथाम् ॥
अर्द्धरात्रे त्रियामे च चतुर्थे च पुनर्यजेत्।
मूलमन्त्रं तथा जप्त्वा प्रभाते चं क्षमापयेत् ॥
अविघ्नेन व्रतं देव त्वत्प्रसादात् समर्पितम्।
क्षमस्व जगतां नाथ त्रैलोक्याधिपते शिव ॥
यन्मयाद्य कृतं पुण्यं तच्छिवस्य निवेदितम्।
त्वत्प्रसादान्मया देव व्रतमद्य समर्पितम् ॥
प्रसन्नो भव मे श्रीमन् मद्गृहं प्रतिगम्यताम्।
त्वदालोकनमात्रेण पवित्रोऽस्मि न संशयः।
भोजयेद्ध्यानविष्ठांश्च वस्त्रच्छत्रादिकं ददेत् ॥
देवादिदेव भूतेश लोकानुग्रहकारक।
यन्मया श्रद्धया दत्तं प्रीयतां तेन मे प्रभुः ॥
इति क्षमाप्य च यतीन् कुर्य्यात् द्वादशवार्षिकम्।
कीर्त्तिश्रीपुत्त्रराज्यादि प्राप्य शैवं पुरं व्रजेत् ॥
द्वादशस्वपि मासेषु प्रकुर्य्यादिह जागरम्।
यतीन् द्वादश संपूज्य दीपदः स्वर्गमाप्नुयात् ॥"
इति गारुड़े शिवरात्रिव्रतकथा १२४ अध्यायः ॥

शिवलिङ्गं, क्ली, (शिवस्य लिङ्गम्।) महादेवस्य शेफः। तस्योत्पत्तिर्यथा,—
"तत्रापि गत्वा मदनो ददर्श वृषकेतनम्।
दृष्ट्वा प्रहर्त्तुकामोऽस्य ततः स प्राद्रवद्धरः ॥
ततो दारुवनं घोरं मदनाभिद्रुतो हरः।
विवेश ऋषयो यत्र सपत्नीका व्यवस्थिताः ॥
ते चापि ऋषयः सर्व्वे दृष्ट्वा मूर्द्ध्ना नताभवन्।
ततस्तान् प्राह भगवान् भिक्षां मे प्रतिदीयताम् ॥
ततस्ते मौनिनस्तस्थुः सर्व्व एव महर्षयः।
तदाश्रमाणि पुण्यानि परिचक्राम नारद! ॥
तं प्रविष्टं तदा दृष्ट्वा भार्गवात्रेययोषितः।
प्रक्षोभमगमन् सर्व्वा हीनसत्त्वाः समन्ततः ॥
ऋते त्वरुन्धतीमेनामनसूयाञ्च भाविनीम्।
एताभ्यां भर्तृपूजासु कृतं वै सुस्थिरं मनः ॥
ततः संक्षुभिताः सर्व्वा यत्र याति महेश्वरः।
तत्र प्रयान्ति कामार्त्ता मदविह्वलितेन्द्रियाः ॥
त्यक्त्वाश्रमाणि शून्यानि स्वानि ता मुनियोषितः।
अनुजग्मुर्यथा मत्तं करिण्य इव कुञ्जरम् ॥
ततस्तु ऋषयो दृष्ट्वा भार्गवाङ्गिरसो मुने।
क्रोधान्विताब्रुवन् सर्व्वे लिङ्गोऽस्य पततां भुवि ॥
ततः पपात देवस्य लिङ्गं पृथ्वीं विदारयत्।
अन्तर्द्धानं जगामाथ त्रिशूली नीललोहितः ॥
ततस्तत्पतितं लिङ्गं विभिद्य वसुधातलम्।
रसातलं विवेशाशु ब्रह्माण्डं चोर्द्धतोऽभिनत् ॥
ततश्चचाल पृथिवी गिरयः सरितो नगाः।
पातालभुवनाः सर्व्वे जङ्गमाजङ्गमाः स्थिताः ॥
संक्षुब्धान् भुवनान् दृष्ट्वा भूर्लोकादीन् पितामहः।
जगाम माधवं द्रष्टुं क्षीरोदं नाम सागरम् ॥
तत्र दृष्ट्वा हृषीकेशं प्रणिपत्य च भक्तितः।
उवाच देव भुवनाः किमर्थं क्षुभिता विभो ॥

अथोवाच हरिर्ब्रह्मन् शार्व्वं लिङ्गं महर्षिभिः।
पातितन्तस्य भारार्त्ता चचाल वसुन्धरा ॥
ततस्तदद्भुततमं श्रुत्वा देवः पितामहः।
तत्र गच्छामि देवेश स्वयमाह पुनः पुनः ॥
ततः पितामहो देवः केशवश्च जगत्पतिः।
आजगाम तमुद्देशं यत्र लिङ्गं भवस्य तत् ॥
ततोऽनन्तं हरिर्लिङ्गं दृष्ट्वारुह्य खगेश्वरम्।
पातालं प्रविवेशाथ विस्मयात्त्वरितो विभुः ॥
ब्रह्मा पद्मविमानेन ऊर्द्ध्वमाक्रम्य सर्व्वगः।
नैवान्तमलभद्ब्रह्मा विस्मितः पुनरागतः ॥
विष्णुर्गत्वाथ पातालं सप्तलोकपरायणः।
चक्रपाणिर्व्विनिष्क्रान्तो लेभेऽन्तं न महामुने ॥
विष्णुः पितामहश्चाहु हरिर्ब्रह्मागमाद्ध च।
नमोऽस्तु ते शूलपाणे नमोऽस्तु वृषभध्वज।
जीमूतवाहन कवे सर्व्व त्र्यम्बक शङ्कर ॥
महेश्वर हरेशान सुवर्णाक्ष वृषाकपे।
दक्षयज्ञक्षयकर काल रुद्र नमोऽस्तु ते ॥
त्वमादिरस्य जगतस्त्वं मध्यं परमेश्वरः।
भवानन्तश्च भगवान् सर्व्वगस्त्वं नमोऽस्तु ते ॥

पुलस्त्य उवाच।

एवं संस्तूयमानस्तु तस्मिन् दारुवने हरः।
स्वरूपी ताविदं वाक्यमुवाच वदतां वरः ॥

हर उवाच।

किमर्थं देवतानाथौ परिभूतक्रमन्त्विह।
मां स्तुवाते भृशास्वस्थं कामतापितविग्रहम् ॥

देवावूचतुः।

भवाङ्गपातितं लिङ्गं यदेतद्भुवि शङ्कर।
एतत् प्रगृह्यतां भूयस्ततो देव वदावहे ॥

हर उवाच।

यद्यर्च्चयन्ति त्रिदशा मम लिङ्गं सुरोत्तमौ।
तदेतत् प्रतिगृह्णीयात् नान्यथेति कथञ्चन ॥
ततः प्रोवाच भगवानेवमस्त्विति केशवः ॥
ब्रह्मा स्वयञ्च जग्राह लिङ्गं कनकपिङ्गलम्।
ततश्चकार भगवांश्चातुर्व्वर्ण्यं हरार्च्चने ॥
शास्त्राणि चैषां मुख्यानि नानोक्तिविदि-
तानि च।
आद्यं शैवं परिख्यातमन्यत् पाशुपतं मुने ॥
तृतीयं कालवदनं चतुर्थञ्च कपालिनम्।
शैव आसीत् स्वयं शक्तिर्व्वशिष्ठस्य प्रियः सुतः ॥
तस्य शिष्यो बभूवाथ गोपायन इति श्रुतः।
महापाशुपतश्चासीद्भारद्वाजस्तपोधनः ॥
तस्य शिष्योऽप्यभूद्राजा ऋषभः सोमकेश्वरः।
कालास्यो भगवानासीदापस्तम्बस्तपोधनः ॥
तस्य शिष्यो वक्रो वैश्यो नाम्ना क्राथेश्वरो
मुने।
महाव्रती च धनदस्तस्य शिष्यश्च वीर्य्यवान् ॥
कुन्दोदर इति ख्यातो जात्या शूद्रो महातपाः।
एवं स भगवान् ब्रह्मा पूजनाय शिवस्य च ॥
कृत्वा तु चातुराश्रम्यं स्वमेव भवनं गतः।
गते ब्रह्मणि सर्व्वोऽपि तपः संहृत्य तं तदा ॥
लिङ्गं चित्रवने सूक्ष्मं प्रतिष्ठाप्य चचार ह ॥”

इति वामनपुराणे ६ अध्यायः ॥ * ॥

अपि च।
“ततः स्तुतिं चिन्तयतो ब्रह्मणो मोहितस्य च।
वालिखिल्याः समुत्पन्नास्तपश्चक्रुः समारभन् ॥
दिव्यं वर्षसहस्रं वै तेपुस्ते दुश्चरं तपः।
ततः कालेन महता पार्व्वती च पतिव्रता ॥
तेषां तपः समालोक्य चाति देवी सुदुःखिता।
प्रसाद्य देवदेवेशं शङ्करं प्राह सुव्रता ॥
क्लिश्यन्ति वालिखिल्याश्च प्रसादार्थं तव प्रभो।
एतेभ्योऽपि प्रियं देव विधिवत् कुरु सेवया ॥
तच्छ्रुत्वा वचनं देव्याः पिनाकी परचित्तकः।
प्रोवाच कान्ते कालश्च वचनं प्रियया सह ॥
न वेत्सि देवि तत्त्वेन धर्म्मस्य गहना गतिः।
नैते धर्म्मं विजानन्ति यथार्थं धर्म्मचारिणः ॥
न दास्यामि वरं तेभ्यो यस्मात्ते मूढबुद्धयः।
एतत् श्रुत्वाब्रवीत् देवी मा मैवं शंसितव्रताः ॥
ततो रुद्र उवाचेदं देवीं देवः स्मिताननः।
तिष्ठ त्वमत्र यास्यामि यत्रैते मुनिसत्तमाः ॥
इत्युक्त्वा तु ततो देवी शङ्करेण महात्मना।
गच्छस्वेत्याह मुदिता भर्त्तारं भुवनेश्वरी ॥
यत्र ते मुनयः सर्व्वे काष्ठलोष्टसमाश्रिताः।
तान् विलोक्य ततो देवो नग्नः सर्व्वाङ्गसुन्दरः ॥
वनमालाकृतापीडो युवा भिक्षाकपालभृत्।
आश्रमे पर्य्यटन् भिक्षां मुनीनां नियतात्मनाम् ॥
देहि भिक्षां ततश्चोक्त्वा स भ्रमन्नाश्रमं ययौ।
तं विलोक्याश्रमगतं योषितो ब्रह्मवादिनाम् ॥
सकौतुकस्वभावेन तस्य रूपेण मोहिताः।
प्रोचुः परस्परं कार्य्यमास्त पश्याम भिक्षुकम् ॥
परस्परमितीवोक्त्वा गृह्य मूलफलं बहु।
गृहाण भिक्षामूचुस्तास्तं देवं मुनियोषितः ॥
तस्मै ददत्वेव तां भिक्षां पप्रच्छुस्ताः स्मरातुराः ॥

नार्य्य ऊचुः।

कोऽसौ नाम व्रतविधिस्त्वया तापस सेव्यते।
यत्र नग्नेन लिङ्गेन वनमालाविभूषितः ॥
भवान् वै तापसो हृद्यो हृद्याः स्मो यदि
मन्यसे।
इत्युक्तस्तापसस्ताभिः प्रोवाच हसिताननः ॥
इदं मम व्रतं किञ्चिन्न रहस्यं प्रकाश्यते।
शृण्वन्ति बहवो यत्र तत्र तन्न विद्यते ॥
तस्य व्रतस्य सुभगा इति मत्वा गमिष्यथ।
एवमुक्तास्तदा तेन ताः प्रत्यूचुस्तदा मुनिम् ॥
ततोऽभ्येत्य गमिष्यामो मुने नः कौतुकं महत्।
इत्युक्त्वा तास्तदातीव जगृहुः पाणिपल्लवैः ॥
काचिच्चकर्ष बाहुभ्यां काचित् कामपरा तथा।
जानुभ्यामपरा नाभ्यां कचेषु ललनापरा ॥
अपरा तु कटीबन्धे चापरा पादयोरपि।
क्षोभं विलोक्य मुनय आश्रमेषु स्वयोषिताम् ॥
हन्यतामिति संभाष्य काष्ठपाषाणपाणयः।
पातयन्ति च देवस्य लिङ्गमुद्बुध्य भीषणम् ॥
पातिते तु ततो लिङ्गे गतोऽन्तर्द्धानमीश्वरः।
देव्या स भगवान् रुद्रः कैलासं नगमाश्रितः ॥
पतिते देवदेवस्य लिङ्गे नष्टे चराचरे।
क्षोभो बभूव सुमहानृषीणां भावितात्मनाम् ॥
उवाचैको मुनिवरस्तत्र बुद्धिमतां वरः।
विरिञ्चिं शरणं यामः स हि ज्ञास्यति चेष्टि-
तम् ॥
एवमुक्ता सर्व्व एव ऋषयो लज्जिता भृशम्।
ब्रह्मणः सदनं जग्मुर्देवैः सह निषेवितम् ॥

ऋषय ऊचुः।

अज्ञानाच्च कृतं ब्रह्मन्नस्माभिर्ज्ञानदुर्ब्बलैः।
तस्योपशमने यत्नं कुरु सर्व्वोपकारक ॥

ब्रह्मोवाच।

गच्छामः शरणं देवं शूलपाणिं त्रिलोचनम्।
प्रसादाद्देवदेवस्य भविष्यथ यथा पुरा ॥
इत्युक्त्वा ब्रह्मणा सार्द्धं कैलासं गिरिसत्तमम्।
ददृशुस्ते समासीनमुमया सहितं हरम् ॥
ततः स्तोतुं समारब्धो ब्रह्मा लोकपितामहः।
अनन्ताय नमस्तुभ्यं वरदाय पिनाकिने ॥
एवं स्तुतो महादेवो ब्रह्मणा ऋषिभिस्तथा।
उवाच मां मा व्रजतु लिङ्गं भोः पुरतः पुनः ॥
क्रियतां मद्वचः शीघ्रं येन मे प्रीतिरुत्तमा।
भविष्यति प्रकृष्टा वा लिङ्गस्यात्र न संशयः ॥
ये लिङ्गं पूजयिष्यन्ति मम भक्तिसमाश्रिताः।
न तेषां दुर्लभं किञ्चित् भविष्यति हितं
फलम् ॥”

इति वामने ४२ अध्यायः ॥ * ॥

कुरुक्षेत्रस्थितानि लिङ्गानि यथा,—

सनत्कुमार उवाच।

“वटस्य दक्षिणे भागे चक्रतीर्थं प्रकीर्त्तितम्।
स्थाणोर्व्वटस्य पूर्व्वेण मम तीर्थं प्रकीर्त्तितम् ॥
स्थाणोर्व्वटस्योत्तरतस्तीर्थं शाणेश्वरं मतम्।
स्थाणोर्व्वटस्य पश्चिमतः स्कन्दतीर्थं प्रकीर्त्तितम् ॥
इमानि पुण्यतीर्थानि मध्ये रुद्रवटः स्थितः।
महादेवं समभ्यर्च्य प्राप्नोति परमं पदम् ॥
वटस्य चोत्तरे पार्श्वे तक्षकेण महात्मना।
प्रतिष्ठितं महालिङ्गं सर्व्वकामप्रदायकम् ॥
वटस्य पूर्व्वदिग्भागे विश्वकर्म्मकृतं महत्।
लिङ्गं प्रत्यङ्मुखं दृष्ट्वा सिद्धिमाप्नोति मानवः ॥
तत्रैव लिङ्गरूपेण संस्थिता या सरस्वती।
तां प्रणम्य प्रयत्नेन बुद्धिं मेधाञ्च विन्दति ॥
वटपार्श्वस्थितं लिङ्गं ब्रह्मणा तत् प्रतिष्ठितम्।
दृष्ट्वा वटेश्वरं देवं प्रयाति परमं पदम् ॥
ततः स्थाणुवटं दृष्ट्वा कृत्वा चापि प्रदक्षिणम्।
प्रदक्षिणीकृता तेन सप्तद्वीपा वसुन्धरा ॥
स्थाणोः पश्चिमदिग्भागे नकुलीशो गणः
स्मृतः।
तमभ्यर्च्य प्रयत्नेन सर्व्वपापैः प्रमुच्यते ॥
तस्य दक्षिणदिग्भागे तीर्थं रुद्राकरं स्मृतम्।
तस्मिन् स्नातः सर्व्वतीर्थस्नातो भवति मानवः ॥
तस्य चोत्तरदिग्भागे रावणेन महात्मना
प्रतिष्ठितं महालिङ्गं गोकर्णं नाम नामतः ॥
आषाढमासे या कृष्णा भविष्यति चतुर्द्दशी।
तस्यां पश्यति गोकर्णं तस्य पुण्यफलं शृणु ॥
कामतोऽकामतो वापि यत् पापं तेन सञ्चि-
तम्।

तस्माद्विमुच्यते पापात् पूजयित्वा हरं शुचिः ॥
कौमारब्रह्मचर्य्येण यत् पुण्यं प्राप्यते नरैः ।
तत् पुण्यं सकलं तेषामष्टम्यां योऽर्च्चयेच्छिवम् ॥
यदीच्छेत् परमं रूपं सौभाग्यं धनसम्पदम् ।
कुमारेश्वरमाहात्म्यात् सिध्यते नात्र संशयः ॥
तस्य चोत्तरदिग्भागे लिङ्गपूजां विभीषणः ।
अजरत्वामरत्वेव कल्पयित्वा बभूव ह ॥
आषाढ़स्य तु मासस्य शुक्ला या चाष्टमी भवेत् ।
तस्यामभ्यर्च्च सोपवासस्त्वन्तत्वमवाप्नुयात् ॥
पूर्व्वेण पूजितं लिङ्गं तस्मिन् स्थाने द्विजोत्तम ।
पूजयित्वा प्रयत्नेन सर्व्वकाममवाप्नुयात् ॥
दूषणस्त्रिशिराश्चैव तत्र पूज्य महेश्वरम् ।
यथाभिलषितान् कामानवापतुर्मुदान्वितौ ॥
चैत्रे मासि सिते पक्षे यो नरस्तञ्च पूजयेत् ।
तस्य तौ वरदौ देवौ प्रयच्छेतां हि वाञ्छितम् ॥
स्थाणोर्व्वटस्य पूर्व्वेण हस्तिपादेश्वरः स्थितः ।
तं दृष्ट्वा मुच्यते पापैरन्यजन्मसमुद्भवैः ॥
तस्य दक्षिणतो लिङ्गं हारीतस्य ऋषेः स्थितम् ।
यं प्रणम्य प्रयत्नेन सिद्धिमाप्नोति मानवः ॥
तस्य दक्षिणपार्श्वे तु हारीतस्य महात्मनः ।
लिङ्गं त्रैलोक्यविख्यातं सर्व्वपापहरं शिवम् ॥
कङ्कालरूपिणा चापि रुद्रेणाथ महात्मना ।
प्रतिष्ठितं महालिङ्गं सर्व्वपापविनाशनम् ॥
भुक्तिमुक्तिप्रदं प्रोक्तं सर्व्वकिल्बिषनाशनम् ।
तल्लिङ्गस्पर्शनादेव अग्निष्टोमफलं लभेत् ॥
तस्य पश्चिमदिग्भागे लिङ्गं सिद्धप्रतिष्ठितम् ।
सिद्धेश्वरं भुवि ख्यातं सर्व्वसिद्धिप्रदायकम् ।
तद्दर्शनात् पूजनाच्च सर्व्वसिद्धिं हि विन्दति ॥
तस्य दक्षिणदिग्भागे मृकण्डेन महात्मना ।
प्रतिष्ठितं यत्तु लिङ्गं दर्शनात् सिद्धिदायकम् ॥
तस्य पूर्व्वे च दिग्भागे आदित्येन महात्मना ।
प्रतिष्ठितं लिङ्गवरं सर्व्वकिल्बिषनाशनम् ॥
चित्राङ्गदस्तु गन्धर्व्वो रम्भा चाप्सरसां वरा ।
परस्परं सानुरागौ स्थाणुदर्शनकाङ्क्षिणौ ॥
दृष्ट्वा स्थाणुं पूजयित्वा सानुरागौ परस्परम् ।
आगम्य वरदं देवं प्रतिष्ठाप्य महेश्वरम् ॥
चित्राङ्गदेश्वरं दृष्ट्वा तथा रम्भेश्वरं द्विज ।
सुभगो दर्शनीयश्च कुले जन्म समाप्नुयात् ॥
तस्य दक्षिणतो लिङ्गं शक्रिणा स्थापितं पुरा ।
तस्य प्रसादात् सम्प्राप्तं मनसा चिन्तितं फलम् ॥
पराशरेण मुनिना तथैवाराध्य शङ्करम् ।
प्राप्तं कवित्वं परमं दर्शनाच्छङ्करस्य च ॥
वेदव्यासेन मुनिना चाराध्य परमेश्वरम् ।
सर्व्वज्ञत्वं ब्रह्मज्ञानं प्राप्तं देवप्रसादतः ॥
स्थाणोः पश्चिमदिग्भागे वायुना जगदायुना ।
प्रतिष्ठितं महालिङ्गं दर्शनात् पापनाशनम् ॥
तस्यापि दक्षिणे भागे लिङ्गं हिमवतेश्वरम् ।
प्रतिष्ठितं पुण्यकृता दर्शनात् सिद्धिदायकम् ॥
तस्यापि पश्चिमे भागे कार्त्तवीर्य्येण स्थापितम् ॥
लिङ्गं पापहरं सद्यो दर्शनात् पुण्यमाप्नुयात् ॥
तस्याप्युत्तरदिग्भागे हनूमता स्थापितं पुनः ।
आराध्य हनूमांश्चाप सिद्धिं देवप्रसादतः ॥
तस्यैव पूर्व्वदिग्भागे विष्णुना प्रभविष्णुना ।
आराध्य वरदं देवं चक्रं लब्धं सुदर्शनम् ॥
तस्यापि पूर्व्वदिग्भागे इन्द्रेण वरुणेन च ।
प्रतिष्ठितौ लिङ्गवरौ सर्व्वकामप्रदायकौ ॥
एतानि मुनिभिः साध्यैरादित्यैर्व्वसुभिस्तथा ।
सेवितानि प्रयत्नेन सर्व्वपापहराणि वै ॥
स्थाणुलिङ्गस्य परितः ऋषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।
प्रतिष्ठितानि लिङ्गानि येषां संख्या न विद्यते ॥
तथा ह्युत्तरतश्चैव यावदोघवती नदी ।
सहस्रमेकं लिङ्गानां देवपश्चिमतः स्थितम् ॥
तस्यापि पूर्व्वदिग्भागे वालिखिल्यैर्महर्षिभिः ।
प्रतिष्ठिता रुद्रकोटिर्यत्र सन्निहितं सरः ॥
दक्षिणेन तु देवस्य गन्धर्व्वैर्यक्षकिन्नरैः ।
प्रतिष्ठितानि लिङ्गानि तेषां संख्या न विद्यते ॥
तिस्रः कोट्यर्द्धकोटी च लिङ्गानां वायुरब्रवीत् ।
असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा स्थाणुमाश्रिताः ॥
एतज्ज्ञात्वा श्रद्दधानः स्थाणुलिङ्गं समाश्रयेत् ।
यस्य प्रसादात् प्राप्नोति मनसा चिन्तितं फलम् ॥
अकामो वा सकामो वा प्रविश्य स्थाणुमन्दिरम् ।
विमुक्तः पातकैर्घोरैः प्राप्नोति परमं पदम् ॥
चैत्रमासे त्रयोदश्यां दिने पुण्यतमे शुभे ।
प्रतिष्ठितं स्थाणुलिङ्गं ब्रह्मणा लोकधारिणा ॥
ऋषिभिर्देवसंघैश्च पूजितं शाश्वतीः समाः ।
तस्मिन् काले निराहारा मानवाः श्रद्धयान्विताः ।
पूजयन्ति शिवं ये वै ते यान्ति परमं पदम् ॥
स्थाणुतीर्थमिदं ज्ञात्वा ये कुर्व्वन्ति प्रदक्षिणम् ।
प्रदक्षिणीकृता तैस्तु सप्तद्वीपा वसुन्धरा ॥”

इति वामनपुराणे ४३ अध्यायः ॥*॥

एकगृहे लिङ्गद्वयार्च्चननिषेधो यथा,—

“गेहे लिङ्गद्वयं नार्च्च्यं शालग्रामद्वयं तथा ।
द्वे चक्रे द्वारकायास्तु नार्च्च्यं सूर्य्यद्वयं तथा ॥”

तन्निर्माल्यभक्षणविधिनिषेधौ यथा,—

“अभक्ष्यं शिवनिर्म्माल्यं पत्रं पुष्पं फलं जलम् ।
शालग्रामशिलायोगात् पावनं तद्भवेत् सदा ॥”

इति वाराहे रौप्यसौवर्णार्च्चास्थापननामाध्यायः ॥*॥ लिङ्गपूजां विनान्यपूजाकरणनिषेधो यथा,—

“लिङ्गपूजां विना देवि ! अन्यपूजां करोति यः ।
विफला तस्य पूजा स्यादन्ते नरकमाप्नुयात् ।
तस्माल्लिङ्गं महेशानि प्रथमं परिपूजयेत् ॥”*॥

तत्पूजनप्रशंसा यथा,—

“यद्राष्ट्रं लिङ्गपूजायां रहितं सततं प्रिये ।
तद्राष्ट्रं पतितं मन्ये विष्ठाभूमिसमं स्मृतम् ॥
ब्राह्मणः क्षत्रियविट् देवि यदि लिङ्गं न पूजयेत् ।
तत्क्षणात् परमेशानि चण्डालत्वं भवेत् ॥
शूद्रश्च परमेशानि सदा शूकरवत् प्रिये ।
पूजयेत् परमेशानि चत्वारो ब्राह्मणादयः ॥
शिवार्च्चनन्तु पूजासु यद्गृहे वर्ज्जितं सदा ।
विष्ठागर्त्तसमं देवि तद्गृहं विद्धि पार्व्वति ॥
शाक्तो वा वैष्णवो वापि शैवो वा परमेश्वरि ।
आदौ लिङ्गं समभ्यर्च्च्य विल्वपत्रैर्व्वरानने ।
पश्चादन्यं महेशानि शिवं प्रार्थ्य प्रपूजयेत् ॥
शिवपूजां विना देवि ! अन्यपूजां करोति यः ।
स एव रसनाहीनः कुम्भीरो जायते प्रिये ॥
निर्म्माय पार्थिवं लिङ्गं रुद्रसंहाररूपिणम् ।
आशुतोषं महादेवं शङ्करं वृषभध्वजम् ।
निर्म्माय पार्थिवं लिङ्गं विधिवत् पूजयेत् शिवम् ॥
शिवपूजा महेशानि यद्गृहे सततं प्रिये ।
काशीपुरं महेशानि तद्गृहं वरवर्णिनि ।
शिवलिङ्गं प्रपूज्याथ सर्व्वपूजाफलं लभेत् ॥”*॥

चतुर्विधलिङ्गं यथा,—

“चतुर्द्धा पार्थिवं लिङ्गं वर्णभेदेन पार्व्वति ।
शुक्लं रक्तं तथा पीतं कृष्णञ्च परमेश्वरि ॥
शुक्लन्तु ब्राह्मणे शस्तं क्षत्रिये रक्तमिष्यते ।
हरितं वैश्यजातौ तु कृष्णं शूद्रे प्रकीर्त्तितम् ।
चन्दनञ्च महेशानि सर्व्वजातिषु शस्यते ॥”

इति लिङ्गार्च्चनतन्त्रे १।२।३ पटलाः ॥*॥

अस्य पञ्चवक्त्राणि यथा,—

“तत् सर्व्वं शृणु चार्व्वङ्गि पार्थिवस्य मुखं प्रिये ।
विभाव्य मुखपद्मं हि शिवस्य वरवर्णिनि ॥
सद्योजातं वामदेवमघोरञ्च ततः परम् ।
तत्पुरुषं तथेशानं पञ्चवक्त्रं प्रकीर्त्तितम् ॥
सद्योजातञ्च वै शुक्लं शुद्धस्फटिकसन्निभम् ।
पीतवर्णं तथा सौम्यं वामदेवं मनोहरम् ॥
कृष्णवर्णमघोरञ्च सम्यं भीमविवर्द्धनम् ।
रक्तं तत्पुरुषं देवं दिव्यमूर्त्तिमनोहरम् ॥
श्यामलञ्च तथेशानं सर्व्वदेवशिवात्मकम् ।
चिन्तयेत् पश्चिमे चाद्यं द्वितीयन्तु तथोत्तरे ॥
अघोरं दक्षिणे देवं पूर्व्वे तत्पुरुषं तथा ।
ईशानं मध्यतो ध्येयं चिन्तयेत् भक्तितत्परः ॥”

इति तत्रैव ६ पटलः ॥*॥

अस्य पूजायां मुखवाद्यकरणावश्यकत्वं यथा,

“संपूज्य पार्थिवं लिङ्गं परं ब्रह्म स्वयं प्रिये ।
ततस्तु लिङ्गकवचं पठित्वा कमलानने ॥
मुखवाद्यं सकृत्यं हि कृत्वा तु परमेश्वरि ।
मातृकामन्त्रसहितं मुखवाद्यं सुदुर्लभम् ॥
अकारादिक्षकारान्तं अनुलोमविलोमतः ।
उच्चार्य्य परमेशानि मुखवाद्यं सुचिस्मिते ॥
सबिन्दुवर्णमुच्चार्य्य पश्चाद्वन्मातृकां प्रिये ।
अनुलोमविलोमेन सर्व्वेण च वरानने ॥
अनेनैव विधानेन मुखवाद्यं करोति यः ।
स सिद्धः सगणः सोऽपि स शिवो नात्र संशयः ॥
मृत्युञ्जयोऽहं देवेशि मुखवाद्यप्रसादतः ॥
यस्मिन् काले महेशानि असुरो बलवद्भवेत् ।
तस्मिन् काले महेशानि मुखवाद्यं करोम्यहम् ॥
तत् श्रुत्वा परमेशानि असुरा राक्षसाश्च ये ।
पलायन्ते महेशानि तत् श्रुत्वा परमेश्वरि ॥
ये नरा भुवि तिष्ठन्ति मुखवाद्यं विना प्रिये ।

स सर्व्वयातनाभोगी अन्ते कुम्भीरतां व्रजेत् ॥”
इति च तत्रैव ८ पटलः ॥ * ॥
अस्य निर्म्माल्यभोजनदोषकारणं यथा,—
देव्युवाच ।
“दुर्लभं तव निर्म्माल्यं ब्रह्मादीनां कृपानिधे ।
तत्कथं परमेशान निर्म्माल्यं तव दूषितम् ॥
ईश्वर उवाच ।
मध्यस्थानस्थितं यत्तु तन्मुखं परमेश्वरि ।
श्यामलं तत्तु ईशानं सदा ऊर्द्ध्वं शुचिस्मिते ॥
कालाग्निरूपिणं तत्तु सर्व्वशक्तिमयं सदा ।
तेजोमयं महेशानि सुखमूर्द्ध्वं वरानने ॥
क्षीरोदमथने देवि उत्थितं गरलं महत् ।
ततः करतलीकृत्य तद्विषं परमेश्वरि ॥
निपीतं तद्विषं रम्यं तीक्ष्णं ब्रह्माण्डनाशनम् ।
तद्विषं कण्ठदेशे तु स्थितं हि सर्व्वदा मम ॥
ततः प्रभृति देवेशि मुखं ज्वालायते सदा ।
पत्रं वा यदि वा पुष्पं फलं वा वरवर्णिनि ॥
अन्यं हि परमेशानि उपचारं मनोहरम् ।
यो दद्यात् परमेशानि मन्मुखोपरि पार्व्वति ॥
अग्राह्यं तत्तु निर्म्माल्यं साक्षाद्‌ब्रह्ममयं यतः ।
एतत्तु परमेशानि निर्म्माल्यं यस्तु धारयेत् ।
स भ्रष्टो जायते देवि निष्कृतिर्नास्ति तस्य वै ।
अग्राह्यं मम निर्म्माल्यं अतएव वरानने ॥
यद्दत्तं सम्मुखे देवि पुष्पं वा पत्रमुत्तमम् ।
तन्निर्म्माल्यं महेशानि गृह्णीयात् शिरसा सदा ॥
प्रथमं विष्णवे दत्त्वा विष्णुमन्त्रेण पार्व्वति ।
निर्म्माल्यं मम देवेशि विष्णोर्ग्राह्यं वरानने ॥
देवासुरमनुष्याश्च गन्धर्व्वा किन्नरादयः ।
ते सर्व्वे परमेशानि वराकाः क्षुद्रबुद्धयः ।
निर्म्माल्येषु च देवेशि अधिकारी कथं भवेत् ॥”
इति च तत्रैव १३।१४ पटलौ ॥ * ॥
“चतुर्द्दश्यां महेशानि शुक्लायां वरवर्णिनि ।
कृष्णायां वा महेशानि अमावास्यां विशेषतः ॥
निर्म्माय च चतुर्द्दश्यां लिङ्गं भक्त्या च पूजयेत् ।
एकहस्ते महेशानि निर्म्माय पार्थिवं शिवम् ॥
दक्षिणे वामहस्ते वा निर्म्माय ये च पार्थिवम् ।
तत्फलं परमेशानि लक्षलिङ्गसमं भवेत् ॥”
इति लिङ्गार्च्चनतन्त्रम् ॥ * ॥
बाणलिङ्गलक्षणादिकं बाणलिङ्गशब्दे द्रष्टव्यम् ॥ * ॥
अथ रौद्रलिङ्गलक्षणम् । वीरमित्रोदयधृतम् ।
“नदीसमुद्भवं रौद्रमन्योन्यस्य विमर्द्दनात् ।
नदीवेगात् समं स्निग्धं संजातं रौद्रमुच्यते ॥”
समुच्चयेऽपि ।
“सरित्प्रवाहसंस्थानं बाणलिङ्गसमाकृति ।
तदन्यदपि बोद्धव्यं रौद्रलिङ्गं सुखावहम् ॥
नदीसारनर्म्मदायां बाणलिङ्गसमाकृति ।
तदन्यदपि बोद्धव्यं लिङ्गं रौद्रं भविष्यति ॥
रौद्रलिङ्गं तथाख्यातं बाणलिङ्गसमाकृति ।
श्वेतं रक्तं तथा पीतं कृष्णं विप्रादिपूजितम् ॥
स्वभावात् कृष्णवर्णं वा सर्व्वजातिषु सिद्धिदम् ।
नर्म्मदासम्भवं रौद्रं बाणलिङ्गवदीरितम् ॥”
इति रौद्रलिङ्गलक्षणम् ॥

शिवनाभिलक्षणं तच्छब्दे द्रष्टव्यम् ॥ * ॥ अथ दैवलिङ्गलक्षणम् । दैवलिङ्गमधिकृत्य सिद्धान्तशेखरे ।
“करसंपुटसंस्पर्शं स्फुलटङ्केन्दुभूषितम् ।
रेखाकोटरसंयुक्तं निम्नोन्नतसमन्वितम् ।
दीर्घाकारश्च यल्लिङ्गं ब्रह्मभागादिवर्ज्जितम् ॥”
अथ गोललिङ्गलक्षणम् ।
“लिङ्गं गोलमिति प्रोक्तं गोलकं प्रोच्यतेऽधुना ।
कुष्माण्डस्य फलाकारं नागरङ्गफलोपमम् ।
काकडिम्बफलाकारं गोललिङ्गमितीरितम् ॥”
इति गोललिङ्गलक्षणम् ॥ * ॥
अथार्षलिङ्गलक्षणम् । तत्रैव ।
“नानाकोलफलाकारं ब्रह्मसूत्रविवर्ज्जितम् ।
मूले स्थूलञ्च यल्लिङ्गं कपित्थफलसन्निभम् ।
नालस्य वा फलाकारं मध्ये स्थूलञ्च यद्भवेत् ।
मध्ये स्थलं वरं लिङ्गमृषिपूजासुदीरितम् ॥”
इत्यार्षलिङ्गलक्षणम् ॥ * ॥
लिङ्गं हि द्विविधमकृत्रिमं कृत्रिमञ्च । अकृत्रिमं स्वयम्भूतं स्वयम्भु बाणलिङ्गादि । कृत्रिमं निर्म्मितं धातुलिङ्गादि । सिद्धान्तशेखरे ।
“तल्लिङ्गं द्विविधं ज्ञेयमचलञ्च चलं तथा ।
प्रत्येकं त्रिविधं ज्ञेयं लिङ्गं तदुभयात्मकम् ॥
प्रासादे स्थापितं लिङ्गमचलं तच्छिलादिजम् ।
स्थापितं अचलं गेहे स्थिरं लिङ्गमयोनिजे ॥
पञ्चधा तत् स्थितं लिङ्गं स्वयम्भु दैवपालकम् ।
आर्षञ्च मानसं लिङ्गं तेषां लक्षणमुच्यते ॥”
सिद्धान्तशेखरे ।
“नानाचिह्नसुसंयुक्तं नानावर्णसमन्वितम् ।
अदृष्टमूलं यल्लिङ्गं कर्कशं भुवि दृश्यते ॥
तत् लिङ्गन्तु स्वयम्भूतमपरं लक्षणच्युतम् ।
स्वयम्भु लिङ्गमित्युक्तं तच्च नानाविधं मतम् ॥
शङ्खाभमस्तकं लिङ्गं वैष्णवं तदुदाहृतम् ।
पद्माभमस्तकं ब्राह्मं छत्राभं शाक्रमुच्यते ॥
शिरोयुग्मं तथाग्नेयं त्रिपदं याम्यमीरितम् ।
खड्गाभं नैर्ऋतं लिङ्गं वारुणं कलसाकृति ॥
वायव्यं ध्वजवल्लिङ्गं कौबेरन्तु गदान्वितम् ।
ईशानस्य त्रिशूलाभं लोकपालादिभिःस्तुतम् ।
स्वयम्भु लिङ्गमाख्यातं सर्व्वशास्त्रविशारदैः ॥”
इति स्वयम्भु लिङ्गलक्षणम् ॥ * ॥
मत्स्यसूक्ते ।
“दृष्ट्वा लिङ्गं महेशस्य स्वयम्भूतस्य पार्व्वति ।
सर्व्वपापविनिर्म्मुक्तः परे ब्रह्मणि लीयते ॥” * ॥
एतेषां पूजाफलन्तु तत्रैव ।
“विशेषाच्छैलजं मुक्त्यै भुक्तये चाशुचङ्गतः ।
पार्थिवं भुक्तये शस्तं मुक्तये चाशुचङ्गतः ॥
एवं वै दारुजं ज्ञेयं चित्रलिङ्गं तथा पुनः ।
स्थिरलक्ष्मीप्रदं ज्ञेयं हैमं राज्यप्रदञ्च तत् ।
पुत्त्रवृद्धिकरं ताम्रं राङ्गमायुःप्रवर्द्धनम् ॥”
पद्मपुराणम् ।
“पारदञ्च महाभूत्यै सौभाग्याय च मौक्तिकम् ।
पञ्चतापं मृत्युजित् स्याद्धाटकं सर्व्वकामदम् ॥”

वीरमित्रोदयधृतकल्पोत्तरेऽपि ।
“सर्व्वा फलप्रदा भूमिर्न्नर्म्मदा यस्तदद्देव हि ।
अनन्ताद्याः स्मृता ह्यष्टौ मणयो विद्रुमोज्ज्वलाः ॥
रत्नौ प्रकाशकाः सर्व्वे विषाद्याघातकारिणः ।
नानावर्णास्तु विज्ञेया रसैर्गन्धैश्च रूपतः ॥
वज्राद्याः स्फाटिकाद्याश्च गुडान्नादिविनिर्म्मितम् ।
सर्व्वकामप्रदं पुंसां लिङ्गं तात्कालिकं मतम् ॥”
लक्षणसमुच्चये ।
“गान्धं सौभाग्यदं लिङ्गं पैष्टं मुक्तिप्रदायकम् ।”
तथा ।
“नानागुणोद्भवं लिङ्गं नानाकामप्रदायकम् ।
सैकतं गुणदं लिङ्गं सौभाग्याय च लावणम् ॥
उच्चाटने तु पाषाणं मौलं शत्रुक्षयावहम् ।
तात्कालिकं दरिद्रश्च कृत्वा भक्त्या समर्च्चयेत् ॥”
तथा ।
“कस्तूरिकाया द्वौ भागौ चत्वारश्चन्दनस्य च ।
कुङ्कुमस्य त्रयश्चैव शशिना च चतुःसमम् ॥
एतद्वै गन्धलिङ्गन्तु कृत्वा संपूज्य भक्तितः ।
शिवसायुज्यमाप्नोति बन्धुभिः सहितो नरः ॥
कार्य्यं पुष्पमयं लिङ्गं ह्ययगन्धसमन्वितम् ।
नवखण्डां धरां भुक्त्वा गणेशोऽधिपतिर्भवेत् ॥
रजोभिर्न्निर्म्मितं लिङ्गं यः पूजयति भक्तितः ।
विद्याधरपदं प्राप्य पश्चात् शिवसमो भवेत् ॥
श्रीकामो गोशकृल्लिङ्गं कृत्वा भक्त्या प्रपूजयेत् ।
स्वच्छेन कापिलेनैव गोमयेन प्रकल्पयेत् ॥
कार्य्यं यष्टिक्रमं लिङ्गं यवगोधूमशालिजम् ।
श्रीकामः पुष्टिकामश्च पुत्त्रकामस्तदर्च्चयेत् ॥
सिताखण्डमयं लिङ्गं कार्य्यमारोग्यवर्द्धनम् ।
वश्ये लवणजं लिङ्गं तालत्रिकटुकान्वितम् ॥
गव्यदुग्धमयं लिङ्गं संपूज्य बुद्धिवर्द्धनम् ।
लवणेन च सौभाग्यं पार्थिवं सर्व्वकामदम् ॥
कामदं तिलपिष्टोत्थं तुषोत्थं मारणे स्मृतम् ।
भस्मोत्थं सर्व्वफलदं गुडोत्थं प्रीतिवर्द्धनम् ॥
गन्धोत्थं गुणदं भूरि शर्करोत्थं सुखप्रदम् ।
वंशाङ्कुरोत्थं वंशकरं गोमयं सर्व्वरोगदम् ॥
केशास्थिसम्भवं लिङ्गं सर्व्वशत्रुविनाशनम् ।
क्षोभणे मारणे पिष्टसम्भवं लिङ्गमुत्तमम् ॥
दारिद्र्यदं द्रुमोद्भूतं पिष्टं सारस्वतप्रदम् ॥
दधिदुग्धोद्भवं लिङ्गं कीर्त्तिलक्ष्मीसुखप्रदम् ।
धान्यदं धान्यजं लिङ्गं फलोत्थं फलदं भवेत् ॥
पुष्पोत्थं दिव्यभोगायुर्म्मत्ये धात्रीफलोद्भवम् ।
नवनीतोद्भवं लिङ्गं कीर्त्तिसौभाग्यवर्द्धनम् ॥
दूर्व्वाकाण्डसमुद्भूतमपमृत्युविनाशनम् ।
कर्पूरसम्भवं लिङ्गं चला वै भुक्तिमुक्तिदा ।
अयस्कान्तं चतुर्थी तु ज्ञेयं सामान्यसिद्धिषु ॥”
इति गरुड़पुराणम् ॥
“सर्व्वं मणिभवं श्रेष्ठं तत्र वज्रमरिच्छिदि ।
यमलिङ्गं महाभूत्यै सौभाग्याय च मौक्तिकम् ॥
पुष्टिमूलं महानीलं ज्योतिस्तीरसमुद्भवम् ।
सार्थकं कुलसम्बद्धे तैजसं सूर्य्यकान्तजम् ॥

चन्द्रापीड़ं मृत्युजितं स्फाटिकं सर्व्वकामदम् ।
शूणाख्यमणिजं शत्रुक्षयार्थं मौक्तिकं तथा ॥
आयत्यं हीरकं श्रेयं रोगहृन्मौक्तिकोद्भवम् ।
शुभकृत् पुष्पकं तीर्थं वैदूर्य्यं शत्रुदर्पहृत् ।
नीलं लक्ष्मीप्रदं श्रेयं स्फाटिकं सर्व्वकामदम् ॥"
इति सारसंग्रहः ॥
"महाभुक्तिप्रदं हैमं राजतं भूतिवर्द्धनम् ।
आरकूटं तथा कांस्यं प्रवग्गु सामान्यमुक्तिदम् ॥
त्रपुसीसायसं लिङ्गं शत्रूणां नाशने स्थितम् ।
कीर्त्तिदं कांस्यजं लिङ्गं राजतं पुत्त्रवर्द्धनम् ॥
पैत्तलं भुक्तिमुक्त्यर्थं मिश्रजं सर्व्वसिद्धिदम् ॥"
इति कालोत्तरतन्त्रम् ॥
तत्रैव शिवनारदसंवादे ।
"पितॄणां मुक्तये लिङ्गं पूज्यं रजतसम्भवम् ।
हैमजं सत्यलोकस्य प्राप्तये पूजयेत् पुमान् ।
पूजयेत्ताम्रजं लिङ्गं पुष्टिकामो हि मानवः ॥"
मत्स्यसूक्ते ।
"ताम्रलिङ्गं कलौ नार्च्चेत् रैत्यस्य सीसकस्य च ।
रक्तचन्दनलिङ्गञ्च शङ्खकांस्यायसं तथा ॥" * ॥
मातृकाभेदतन्त्रे १२ पटले ।
"पार्थिवे शिवपूजायां सर्व्वसिद्धियुतो भवेत् ।
पाषाणे शिवपूजायां द्विगुणं फलमीरितम् ॥
स्वर्णलिङ्गे च पूजायां शत्रूणां नाशनं मतम् ।
सर्व्वसिद्धीश्वरो रौप्ये फलं तस्माच्चतुर्गुणम् ॥
ताम्रे पुष्टिं विजानीयात् कांस्ये च धनसंक्षयः ।
गङ्गायाश्च लक्षगुणं लाक्षायां रोगवान् भवेत् ॥
स्फाटिके सर्व्वसिद्धिः स्यात्तथा मरकते प्रिये ।
लौहलिङ्गे रिपोर्नाशं कामदं भस्मलिङ्गकम् ॥
वालुकायां काम्यसिद्धिर्गोमये रिपुहिंसनम् ।
सर्व्वलिङ्गस्य माहात्म्यं धर्म्मकामार्थमोक्षदम् ।
संस्कारेण विना देवि पाषाणादौ न पूजयेत् ॥"
तत्संस्कारस्तत्रैव यथा,—
"रौप्यञ्च स्वर्णलिङ्गञ्च स्वर्णपात्रे निधाय च ।
तस्मादुत्तोल्य तल्लिङ्गं दुग्धमध्ये दिनत्रयम् ॥
शर्करेण स्नापयित्वा कालरुद्रं प्रपूजयेत् ।
षोड़शेनोपचारेण वेद्यान्तु पार्व्वतीं यजेत् ॥
तस्मादुत्तोल्य तल्लिङ्गं गङ्गातोये दिनत्रयम् ।
ततो वेदोक्तविधिना संस्कारमाचरेत् सुधीः ॥"
लक्षणहीनलिङ्गपूजने दोषो यथा,—
"लिङ्गं सुलक्षणं कुर्य्यात् त्यजेल्लिङ्गमलक्षणम् ।
दैर्घ्यहीने भवेद्व्याधिरधिके शत्रुवर्द्धनम् ॥
मानहीने विनाशः स्यादधिके च शिशुक्षयः ।
विस्तारे चाधिके हीने राष्ट्रनाशो भवेत् ध्रुवम् ॥
पीठहीने तु दारिद्र्यं शिरोहीने कुलक्षयः ।
ब्रह्मसूत्रविहीने च राज्ञां राष्ट्रञ्च नश्यति ।
तस्मात् सर्व्वप्रयत्नेन लिङ्गं कुर्य्यात् सुलक्षणम् ॥"
अथ लिङ्गप्रमाणम् ।
देव्युवाच ।
"लिङ्गप्रमाणं देवेश कथयस्व मयि प्रभो ।
पार्थिवे च शिलादौ च विशेषो यत्र यद्भवेत् ॥
श्रीशिव उवाच ।
मृत्तिकातोलकं ग्राह्यमथवा तोलकद्वयम् ।
एतदन्यन्न कुर्व्वीत कदाचिदपि पार्व्वति ! ॥"
इति मातृकाभेदतन्त्रे ७ पटलः ॥
अपि च ।
"मृत्तिकातोलकं ग्राह्यमथवा तोलकद्वयम् ।
त्रिसूत्रस्य प्रमाणेन घटनं कारयेद्बुधः ।
अङ्गुष्ठपर्व्वमानन्तु कृत्वा लिङ्गं प्रपूजयेत् ॥"
इति षट्कर्म्मदीपिकाधृतविश्वसारतन्त्रम् ॥ * ॥
त्रिसूत्रीकरणमुक्तं कालोत्तरे ।
"लिङ्गे वेद्यां तथा पीठे समसूत्रनिपातनात् ।
समञ्चैव विजानीयात् त्रिसूत्रीकरणन्त्विदम् ॥"
मृत्तिकाभेदेन ब्राह्मणादीनां पूजाफलस्य प्रश-
स्तत्वमुक्तं तत्रैव ।
"शुक्लां हि पार्थिवं लिङ्गं निर्म्माय यस्तु पूजयेत् ।
स एव परमेशानि त्रिवर्गफलभाग्भवेत् ॥
क्षत्त्रियस्तु वरारोहे रक्तं निर्म्माय पार्थिवम् ।
पूजयेत् सततं यस्तु त्रिवर्गफलभाग्भवेत् ॥
हरितं पार्थिवं देवि निर्म्माय यस्तु पूजयेत् ।
स च वैश्यो महेशानि त्रिवर्गफलभाग्भवेत् ॥
कृष्णां हि पार्थिवं लिङ्गं निर्म्माय यस्तु पूजयेत् ।
स शूद्रः परमेशानि त्रिवर्गफलभाग्भवेत् ॥
शिलादौ च महेशानि स्थूलञ्च फलदायकम् ।
अङ्गुष्ठमानं देवेशि यद्वा हेमाद्रिमानकम् ॥
क्रमेण देवदेवेशि फलं बहुविधं लभेत् ।
स्थूलात् स्थूलतरं लिङ्गं कदाचं परमेश्वरि ।
पूजनाङ्गारणाद्देवि फलं बहुविधं स्मृतम् ॥"
स्थूलात् स्थूलतरमिति पार्थिवलिङ्गेतरपरम् ।
मृत्तिकातोलकं ग्राह्यमित्यादिवचनात् ॥ * ॥
शिलास्फाटिकमरकतादीनां पञ्चसूत्रीकरण-
मुक्तम् । यथा,—
"शिवलिङ्गस्य यन्मानं तन्मानं दक्षसव्ययोः ।
योन्यग्रमपि यन्मानं तदधोऽपि तथा भवेत् ॥"
इति लैङ्गम् ॥
"लिङ्गस्य यादृग्विस्तारः परिणाहोऽपि तादृशः ।
लिङ्गस्य द्विगुणा वेदी योनिस्तदर्द्धसम्मिता ॥
कुर्व्वीताङ्गुष्ठतो ह्रस्वं न कदाचिदपि क्वचित् ।
रत्नादिशिवनिर्म्माणे मानमिच्छावशाद्भवेत् ॥"
इति तन्त्रान्तरम् ॥
लिङ्गशब्दव्युत्पत्तिर्यथा,—
"आकाशं लिङ्गमित्याहुः पृथिवी तस्य
पीठिका ।
आलयः सर्व्वदेवानां लयनाल्लिङ्गमुच्यते ॥"
इति स्कन्दपुराणम् ॥ * ॥
लिङ्गमहिमा यथा,—
शिव उवाच ।
"न तुष्याम्यर्च्चितोऽन्येषां पुष्पधूपनिवेदनैः ।
लिङ्गेऽर्च्चिते तथात्यर्थं परं तुष्यामि पार्व्वति ॥
एष देवि पुरा क्षय्ये जीनोऽहं सर्व्वदैवतैः ।
लिङ्गत्वाल्लिङ्गमित्युक्तं सदेवासुरकिन्नरैः ॥
प्रयच्छामि दिवं देवि यो मल्लिङ्गार्च्चने रतः ।
त्यक्ता सर्व्वाणि पापानि निर्गतो दग्धकल्मषः ।
मन्मना मन्नमस्कारो मामेव प्रतिपद्यते ॥"
इति वीरमित्रोदयधृतस्कन्दपुराणम् ॥ * ॥
द्रव्यविशेषेण पूजादिफलमपि तत्रैव ।
"वस्त्रपूतजलैर्लिङ्गं स्नपित्वा मम मानवाः ।
लक्षाणाञ्चाश्वमेधानां फलमाप्नोति सत्तमः ॥
सुगन्धिचन्दनरसैर्लिङ्गमालिप्य भक्तितः ।
आलिप्यते सुरस्त्रीभिः सुगन्धैर्यक्षकर्द्दमैः ॥" * ॥
लिङ्गपूजनाकरणे दोषस्तत्पूजाफलञ्च तत्रैव
शिवनारदसंवादे ।
"विना लिङ्गार्च्चनं यस्य कालो गच्छति नित्यशः ।
महाहानिर्भवेत्तस्य दुर्गतस्य दुरात्मनः ॥
एकतः सर्व्वदानानि व्रतानि विविधानि च ।
तीर्थानि नियमा यज्ञा लिङ्गाराधनमेकतः ॥
न लिङ्गाराधनादन्यत् पुरा वेदे चतुर्ष्वपि ।
विद्यते सर्व्वशास्त्राणामेष एव सुनिश्चितः ॥
भुक्तिमुक्तिप्रदं लिङ्गं विविधापन्निवारणम् ।
पूजयित्वा नरो नित्यं शिवसायुज्यमाप्नुयात् ॥
सर्व्वमन्यत् परित्यज्य क्रियाजालमशेषतः ।
भक्त्या परमया विद्वान् लिङ्गमेकं प्रपूजयेत् ॥"
इति स्कन्दपुराणम् ॥ * ॥
"अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च ।
महेशार्च्चनपुण्यस्य कलां नार्हन्ति षोड़शीम् ॥"
इति मत्स्यसूक्ते १६ पटलः ॥ * ॥
"स्वयं नारायणः प्रोक्तो यदि शम्भुं प्रपूजयेत् ।
स्वर्गे मर्त्ये च पाताले ये देवाः संस्थिताः सदा ।
तेषां पूजा भवेद्देवि शम्भुनाथस्य पूजनात् ॥"
इति मातृकाभेदतन्त्रम् ॥ * ॥
षट्कर्म्मदीपिकायाम् ।
"असारे खलु संसारे सारमेतच्चतुष्टयम् ।
काश्यां वासः सतां सङ्गो गङ्गाम्भः शम्भु-
सेवनम् ॥" * ॥
अथ पारदशिवलिङ्गमाहात्म्यम् ।
"ज्योतिर्म्मयं महालिङ्गं कैलासनगरे प्रिये ।
तस्यैव षोड़शांशेकः काश्यां विश्वेश्वरः स्थितः ॥
पूर्णलिङ्गं महेशानि शिवबीजं न चान्यथा ।
शिलामध्ये यथा चक्रं लक्ष्मीनारायणः परम् ।
पारदस्य शतांशैको लक्ष्मीनारायणो न हि ॥
पकारं विष्णुरूपञ्च आकारं कालिका स्वयम् ।
रेफं शिवं दकारञ्च ब्रह्मरूपं न चान्यथा ॥
पारदं परमेशानि ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम् ।
यो यजेत् पारदं लिङ्गं स एव शम्भुरव्ययः ॥"
इति मातृकाभेदतन्त्रे ८ पटलः ॥
तस्य निर्म्माणविधानं पारदशब्दे द्रष्टव्यम् ॥ * ॥
प्रकारान्तरशिवलिङ्गोत्पत्तिर्यथा,—
"ततो विवाहं निर्व्वर्त्य कृतकृत्या यथागताः ।
गताः सर्व्वे महेशोऽपि सत्या सह तदा गृहम् ।
जगाम रेमे सत्या च चिरं निर्भरमानसः ॥
अथ काले कदाचित्तु सत्या सह महेश्वरः ।
रेमे न शेके तं सोढुं सती श्रान्ताभवत्तदा ।
उवाच दीनया वाचा देवदेवं जगद्गुरुम् ॥
भगवन्न हि शक्नोमि तव भारं सुदुःसहम् ।
क्षमस्व मां महादेव कृपां कुरु जगत्पते ॥
निशम्य वचनं तस्या भगवान् वृषभध्वजः ।
निर्भरं रमणं चक्रे गाढ़ं निर्द्दयमानसः ॥

कृत्वा संपूर्णरमणं सती च त्यक्तमैथुना ।
उत्थानाय मनश्चक्रे उभयोस्तेज उत्तमम् ।
पपात धरणीपृष्ठे तेनाप्तमखिलं जगत् ॥
पाताले भूतले स्वर्गे शिवलिङ्गास्तदाभवन् ।
तेन भूता भविष्याश्च शिवलिङ्गाः सयोनयः ॥
यत्र लिङ्गं तत्र योनिर्यत्र योनिस्ततः शिवः ।
उभयोश्चैव तेजोभिः शिवलिङ्गं व्यजायत ॥”
इति नारदपञ्चरात्रे ३ रात्रम् ॥ * ॥
कामनाभेदे पार्थिवशिवलिङ्गसंख्या यथा,—
“संख्या पार्थिवलिङ्गस्य यथाकामं निगद्यते ।
मृल्लिङ्गं पार्थिवं नाम भुक्तिमुक्तिकरं परम् ॥
देशकालादिकं ज्ञात्वा कुर्य्यात् लिङ्गं फलप्रदम् ।
न करोति यदा ज्ञात्वा न कार्य्यं तस्य सिध्यति ॥
विद्यार्थी शतसाहस्रं धनार्थी च तदर्द्धकम् ।
पुत्त्रार्थी सार्द्धसाहस्रं कन्यार्थी च शतत्रयम् ॥
विद्वान् लिङ्गायुतं कुर्य्यात् सर्व्वपापहरं परम् ।
राज्यार्थी शतसाहस्रं कान्तार्थी शतपञ्चकम् ॥
मोक्षार्थी कोटिगुणितं भूतिकामः सहस्रकम् ।
रूपार्थी त्रिसहस्रन्तु तीर्थार्थी द्विसहस्रकम् ।
सुहृत्कामः सहस्रन्तु वश्यार्थं शतमष्टकम् ॥
मारणार्थं सप्तशतं मोहनार्थं शताष्टकम् ॥
उच्चाटनपरश्चैव सहस्रन्तु यथोक्ततः ।
स्तम्भने च सहस्रन्तु दारणे च तदर्द्धकम् ॥
महाराजभये पञ्चशतञ्चापदि सङ्कटे ।
सहस्रमयुतं सर्व्वकामदं परिकीर्त्तितम् ॥
एकं पापहरं प्रोक्तं द्विलिङ्गञ्चार्थसिद्धिदम् ।
त्रिलिङ्गं सर्व्वकामानां कारणं परमीरितम् ॥”
तथा ।
“लिङ्गानामयुतं कृत्वा पूजा राजभयं हरेत् ।
सहस्राणि च लिङ्गानां निगड़ान्मोचयेद्ध्रुवम् ॥
कारागृहविमुक्त्यर्थमयुतं कारयेद्बुधः ।
डाकिन्यादिभये पञ्चसहस्रं कारयेत्तथा ।
सहस्राणाञ्च पञ्चाशद्दुर्भिक्षे हि प्रकारयेत् ॥”
इति वीरमित्रोदयधृतम् ॥
“अनेन च क्रमाद्देवि सर्व्वं यस्तु प्रपूजयेत् ।
सर्व्वाभीष्टफलं देवि लभते नात्र संशयः ॥” * ॥
एकीकृत्य लिङ्गपूजाविधिनिषेधौ यथा,—
“एकीकृत्य महेशानि युगलं न तु पूजयेत् ।
एकीकृत्य महेशानि दश पञ्च शतानि च ॥
प्रत्येकेनाथवा देवि विल्वपत्रैः प्रपूजयेत् ।
एकैकं पूजयेल्लिङ्गं युगलं न तु पूजयेत् ।
दरिद्रो जायते देवि युगलस्य च पूजनात् ॥”
इति लिङ्गार्च्चनतन्त्रम् ॥ * ॥
शिवलिङ्गमृत्तिकादिनिरूपणं यथा,—
“तीर्थमृत्तिकां समाहृत्य निर्म्माय लिङ्गमद्भुतम् ।
तीर्थाभावे महेशानि शुद्धस्य मृत्तिकां प्रिये ॥
पर्व्वतप्रभवा देवि नदीनाम्नैवदाहृतम् ।
एतद्भिन्ना महेशानि नदी क्षुद्रा इति प्रिये ॥
निर्झरस्य च देवेशि नदी सम्पत्प्रदायिनी ।
सर्व्वाभावे महेशानि गोष्पदस्थाञ्च मृत्तिकाम् ।
अथवा परमेशानि यत्र चित्तं प्रसीदति ॥
सुपीनं सुन्दरं रम्यं शर्कराराहितं सदा ।
निर्म्माय पार्थिवं लिङ्गं कुण्डलीसहितं प्रिये ॥
यो लिङ्गं परमेशानि स रुद्रः परमेश्वरः ।
कुण्डली वेष्टनी तस्य सा देवी परमेश्वरी ॥
शिवस्य पूजनात् देवि देवीदेवौ च पूजितौ ॥”
इति मत्स्यसूक्तम् ॥ * ॥
बाणलिङ्गनिर्म्माल्यग्रहणे प्रतिप्रसवो यथा,—
“बाणलिङ्गे न चाशौचं न च निर्म्माल्यकल्पना ।
सर्व्वं बाणार्पितं ग्राह्यं भक्त्या भक्तैश्च नान्यथा ॥
ग्राह्याग्राह्यविचारोऽयं बाणलिङ्गे न विद्यते ।
तदर्पितं जलं पत्रं ग्राह्यं प्रसादसंज्ञया ॥
बाणलिङ्गे स्वयम्भूते चन्द्रकान्तेन्द्रसंस्थिते ।
चान्द्रायणसमं शुद्धं शम्भोर्नैवेद्यभक्षणे ॥”
इति शिवनारदसंवादः ॥
शिवलोकः, पुं, (शिवस्य लोकः ।) कैलासः । यथा,
“विल्वपत्रैरखण्डैश्च यो लिङ्गं पूजयेत् सकृत् ।
सर्व्वपापैर्व्विनिर्म्मुक्तः शिवलोके महीयते ॥”
इति तिथ्यादितत्त्वधृतभविष्यपुराणम् ॥
शिवस्य भुवनं जगच्च ॥
शिववल्लभा, स्त्री, (शिवस्य वल्लभा ।) शतपत्री ।
इति राजनिर्घण्टः ॥ शिवप्रिये. त्रि ॥
शिववल्लिका, स्त्री, (शिवस्य वल्लिका ।) लिङ्गिनी ।
इति राजनिर्घण्टः ॥
शिववल्ली, स्त्री, (शिवस्य वल्ली ।) लिङ्गिनी ।
श्रीवल्ली । इति राजनिर्घण्टः ॥
शिववाहनः, पुं, (शिवस्य वाहनः ।) अनड्वान् ।
इति राजनिर्घण्टः ॥
शिववीजं, क्ली, (शिवस्य वीजम् ।) पारदः ।
इति राजनिर्घण्टः ॥
शिवशेखरः, पुं, (शिवः सुखकरः शिवप्रियो वा
शेखरोऽग्रो यस्य ।) वकवृक्षः । इति जटा-
धरः ॥ धुस्तूरः । इति राजनिर्घण्टः ॥ शिवस्य
मस्तकञ्च ॥
शिवसायुज्यं, क्ली, (शिवस्य सायुज्यम् ।) मोक्ष-
विशेषः । स च शिवेन सह योगः । यथा ।
नागरखण्डे ।
“उपवासप्रभावेण बलादपि च जागरात् ।
शिवरात्रेस्तथा तस्य लिङ्गस्यापि प्रपूजया ।
अक्षयान् लभते लोकान् शिवसायुज्यमाप्नु-
यात् ॥”
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥
शिवसुन्दरी, स्त्री, (शिवस्य सुन्दरी ।) दुर्गा ।
इति तन्त्रशास्त्रम् ॥
शिवा, स्त्री, (शिव + टाप् ।) दुर्गा । मुक्तिः ।
यथा,—
“शिवा मुक्तिः समाख्याता योगिनां मोक्ष-
गामिनी ।
शिवाय यां जपेद्देवीं शिवा लोके ततः स्मृता ॥”
इति देवीपुराणे ४५ अध्यायः ॥
अपि च ।
“शिवा कल्याणरूपा च शिवदा च शिवप्रिया ।
शिवे दातरि चाशब्दः शिवा तेन प्रकीर्त्तिता ॥”
इति ब्रह्मवैवर्त्ते प्रकृतिखण्डे ५४ अध्यायः ॥
अपरञ्च ।
“शश्च कल्याणवचन इश्चोत्कृष्टवाचकः ।
समूहवाचकश्चैव वाकारो दातृवाचकः ॥
श्रेयःसंघोत्कृष्टदात्री शिवा तेन प्रकीर्त्तिता ।
शिवराशिर्मूर्त्तिमती शिवा तेन प्रकीर्त्तिता ॥
शिवो हि मोक्षवचनश्चाकारो दातृवाचकः ।
स्वयं निर्व्वाणदात्री या सा शिवा परिकीर्त्तिता ॥”
इति ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे २७ अध्यायः ॥
शमीवृक्षः । हरीतकी । शृगालः । ताम-
लकी । इत्यमरः ॥ आमलकी । इति मेदिनी ॥
बुद्धशक्तिविशेषः । स तु द्वाविंशजिनमाता ।
इति त्रिकाण्डशेषः ॥ हरिद्रा । दूर्व्वा । गोरो-
चना । इति राजनिर्घण्टः ॥ * ॥ शृगालस्य
ध्वनेः शुभाशुभं यथा,—
“शोभनं शुभफलाभिसूचकं
कथ्यतेऽवितथं शिवारुतम् ।
शान्तदीप्तककुभां विशेषतो
ज्ञानमत्र च सदोपयुज्यते ॥
दग्धा दिगुक्ता दिननाथयुक्ता
विवस्वदाप्ता भवति प्रदीप्ता ।
सा धूमिता यां सविता प्रयातः
शेषा दिगन्ताः किल पञ्च शान्ताः ॥
दग्धा दिगैशी ज्वलिता दिगैन्द्री
प्रधूमिता चानलदिक्क्रमेण ।
प्रत्येकमेकं प्रहराष्टकेन
भुङ्क्ते दिशोऽष्टौ सविता क्रमेण ॥
आद्ये दिनस्य प्रहरे प्रवृत्ते
महेशदेवेशहुताशदिक्षु ।
शिवा रटन्ती कुरुते नराणां
संत्रासकायव्ययबन्धनानि ॥
अह्नो द्वितीये प्रहरस्य भागे
सहस्रनेत्रानलकालदिक्षु ।
शिवा रटन्ती कुरुते नराणां
संत्रासकायव्ययबन्धनानि ॥
प्राप्ते तृतीये प्रहरे दिनस्य
हुताशवैवस्वतयातुदिक्षु ।
शिवा रटन्ती कुरुते नराणां
संत्रासकायव्ययबन्धनानि ॥
समागतेऽह्नः प्रहरे तुरीये
प्रेतेशरक्षःपतिपाशिदिक्षु ।
शिवा रटन्ती कुरुते नराणां
संत्रासकायव्ययबन्धनानि ॥
आद्ये निशायाः प्रहरे प्रवृत्ते
रक्षोऽधिपादःपतिवातदिक्षु ।
शिवा रटन्ती कुरुते नराणां
संत्रासकायव्ययबन्धनानि ॥
ततो द्वितीयप्रहरे रजन्या-
स्तोयोऽधिनाथानिलसोमदिक्षु ।
शिवा रटन्ती कुरुते नराणां
संत्रासकायव्ययबन्धनानि ॥
यामे तृतीयेऽपि च यामवत्याः
समीरदोषाकरशम्भुदिक्षु ।

शिवा रटन्ती कुरुते नराणां
संत्रासकार्यव्ययबन्धनानि ॥
समागते रात्रितुरीययामे
निशाकरेशानसुरेशदिक्षु ।
शिवा रटन्ती कुरुते नराणां
संत्रासकार्यव्ययबन्धनानि ॥"

इति शिवारुते दग्धदीप्तधूमितदिक्चययामप्रकरणं प्रथमम् ॥ * ॥

"इतीरितं दिक्चययामयोगात्
फलं विरुद्धं विरुतैः शिवायाः ।
ब्रूमोऽथ दिक्पञ्चकयामयोगात्
फलानि पुंसां क्रमतः शुभानि ॥
क्षतान्तरक्षोवरुणानिलेन्दु-
दिक्ष्वाद्ययामे रटितैः शृगाल्याः ।
स्यादिष्टवार्ताश्रुतिरिष्टसिद्धि-
लाभः सुभिक्षं प्रियलोकसङ्गः ॥
रक्षःप्रचेतोऽनिलसोमशम्भु-
दिक्षु द्वितीये प्रहरे रुतेन ।
स्यादिष्टवार्ताश्रुतिरिष्टसिद्धि-
लाभः सुभिक्षं प्रियलोकसङ्गः ॥
जलेशवातेन्दुशिवामरेश-
दिक्ष्वारवेण प्रहरे तृतीये ।
स्यादिष्टवार्ताश्रुतिरिष्टसिद्धि-
लाभः सुभिक्षं प्रियलोकसङ्गः ॥
समीरसोमेशसुरेशवह्नि-
दिक्षु स्वरेण प्रहरे चतुर्थे ।
स्यादिष्टवार्ताश्रुतिरिष्टसिद्धि-
लाभः सुभिक्षं प्रियलोकसङ्गः ॥
शशाङ्करुद्रेन्द्रहुताशकाल-
दिक्ष्वारवैः पञ्चमयामभागे ।
स्यादिष्टवार्ताश्रुतिरिष्टसिद्धि-
लाभः सुभिक्षं प्रियलोकसङ्गः ॥
ईशानशक्राग्निकृतान्तरक्षो-
दिक्षु स्वरेण प्रहरे च षष्ठे
स्यादिष्टवार्ताश्रुतिरिष्टसिद्धि-
लाभः सुभिक्षं प्रियलोकसङ्गः ॥
इन्द्राग्निकालासृपपाशपाणि-
दिक्ष्वारवैः सप्तमयामकाले ।
स्यादिष्टवार्ताश्रुतिरिष्टसिद्धि-
लाभः सुभिक्षं प्रियलोकसङ्गः ॥
अत्यन्तरुद्रैर्ऋतपाशिवात-
दिक्ष्वष्टमे च प्रहरे रवेण ।
स्यादिष्टवार्ताश्रुतिरिष्टसिद्धि-
लाभः सुभिक्षं प्रियलोकसङ्गः ॥"

इति श्रीवसन्तराजे शिवारुते दिग्यामप्रकरणं द्वितीयम् ॥ * ॥

"एकादिकानां निधनाष्टमानां
शिवारुतानामधुना यदर्थम् ।
प्राच्यादिकास्वष्टसु दिक्षु शेषं
यद्यत् फलं तत्तदुदीरयामः ॥
धनान्यभीष्टाप्तिमभीष्टलाभं
ध्रुवं ततोऽर्थस्य फलं शुभञ्च ।
भयं प्रलापं सकलञ्च सौख्य-
मेकादिशब्दैः कुरुते प्रशान्ते ॥
भयान्यनिष्टश्रुतिरर्थहानि-
रिष्टैर्वियोगो महती च भीतिः ।
स्याद्विग्रहाग्निर्मरणञ्च दीप्ते
स्त्वेकादीना चेत् क्रमसप्तकेन ॥
ऐन्द्र्यां निनादे प्रथमेऽर्थलाभो
भवेद्द्वितीये निधिदर्शनञ्च ।
कन्यां तृतीये लभते चतुर्थे
अध्वागमं पञ्चमकेऽथ सिद्धिम् ॥
षष्ठे रवे क्रुध्यति भूमिनाथो
भीः सप्तमे स्याद्विफलोऽष्टमेषु ॥
वाचोऽग्निभागे प्रथमे द्वितीये
नराधिपः क्रुध्यति भीस्तृतीये ॥
घातश्चतुर्थे नगरस्य शब्दे
शिवाकृते पञ्चमके च युद्धम् ।
वदन्ति तज्ज्ञाः कलहञ्च षष्ठे
भीः सप्तमे स्याद्विफलोऽष्टमस्तु ॥
आद्ये शुभं स्यादशुभं द्वितीये
याम्ये महाव्याधिभयं तृतीये ।
स्वरे चतुर्थे स्वजनागमः स्यात्
पुत्रो भवेत् पञ्चसु फेत्कृतेषु ॥
जायेत कन्या रटिते च षष्ठे
भीः सप्तमे स्याद्विफलोऽष्टमस्तु ।
ग्रामस्य घातो दिशि राक्षसाना-
माद्ये द्वितीयेऽपि च गोकुलस्य ॥
मृत्युस्तृतीये द्विचतुष्पदानां
हानिश्चतुर्थेऽपि च पञ्चमेऽश्व ।
चौराद्भयं राजभयञ्च षष्ठे
भीः सप्तमे स्याद्विफलोऽष्टमस्तु ॥
शब्दे शिवाया वरुणस्य भागे
आद्ये भयं हानिरथ द्वितीये ।
स्याद्राजदूतागमनं तृतीये
दाहश्चतुर्थे खलु चौरभीतिः ॥
स्यात् पञ्चमे राजभयञ्च षष्ठे
भीः सप्तमे स्याद्विफलोऽष्टमस्तु ।
वायव्यभागे भयमेकशब्दे
भयातिरेको भवति द्वितीये ॥
वृष्टिस्तृतीये महती चतुर्थे
मेघागमो वर्षति पञ्चमे च ।
क्रोधं विधत्ते नृपतिश्च षष्ठे
भीः सप्तमे स्याद्विफलोऽष्टमस्तु ॥
दिश्युत्तरस्यां विहिते विरावे
म्रियेत कश्चित् प्रथमे द्वितीये ।
महाभयं विप्रवधस्तृतीये
क्षत्रं चतुर्थे खलु हन्यते च ॥
विट् पञ्चमे षष्ठरवे च शूद्रो
भीः सप्तमे स्याद्विफलोऽष्टमस्तु ।
राहोस्तथा दर्शनमाद्यशब्दे
केतोर्द्वितीये च तथोत्तरेण ॥
उल्काप्रपातस्त्रिषु दुर्दिनञ्च
चतुर्षु भद्रं खलु पञ्चमे च ।
सङ्गो भवेद्वैरिजनैश्च षष्ठे
भीः सप्तमे स्याद्विफलोऽष्टमस्तु ॥
आद्ये भवेद्दुर्दिनमीशदेशे
वृष्टिर्द्वितीये च रवे शिवायाः ।
वातस्तृतीये त्वशनिश्चतुर्थे
म्रियेत कश्चित् खलु पञ्चमे च ॥
लभेत पृथ्वीं निनदे च षष्ठे
भीः सप्तमे स्याद्विफलोऽष्टमस्तु ॥"

इति श्रीवसन्तराजे शिवारुते स्वराष्टकप्रकरणं तृतीयम् ॥ * ॥

"क्षेमलाभपुनरागमनानां
निश्चयं यमधिगम्य विशङ्कः ।
येन याति पथिकः परदेशं
तं शिवारुतमथ प्रथयामः ॥
यं यं देशं गन्तुमभ्युद्यतानां
पुंसां शब्दाशुचरन्ती शृगाली ।
शान्तायां वा सिद्धये वाञ्छितानां
दीप्तायान्तु स्यादभीष्टक्षयाय ॥
प्राचीं दिशं सम्मुखभानुबिम्बं
प्रतिष्ठमानस्य नरस्य यस्य ।
शब्दं शृगाली पुरतः करोति
बन्धं वधं वा प्रकरोति तस्य ॥
प्राचीदिगीशाभिमुखस्य पुंसः
प्रस्थानकामस्य शिवा सशब्दा ।
भियेऽर्थनाशाय च दक्षिणास्या-
ञ्चामा पुनर्वाञ्छितकार्यसिद्ध्यै ॥
प्रत्यर्कमाशां चलितस्य पूर्वां
शिवा विरावं पुरुषस्य यस्य ।
करोति पृष्ठे प्रकरोति तस्य
सर्वप्रकाराभिलाषसिद्धिम् ॥
प्रस्थायिनो यस्य च दक्षिणाशां
शिवा रवं मुञ्चति दक्षिणेन ।
आदित्यमुक्ता यदि नो तदानीं
ध्रुवं भवेत्तस्य महीपतित्वम् ॥
वैवस्वताशां चलितस्य यस्य
दिवाकरस्तिष्ठति दक्षिणेन ।
शिवा च वामा कुरुते विरावं
सम्पद्यते तस्य समस्तमिष्टम् ॥
पुमान् यदा याम्यककुप्प्रवासी
करोति शब्दं पुरतः शृगाली ।
आस्ते विवस्वानपि सम्मुखश्चेत्
भवेत् तदानीमचिरेण मृत्युः ॥
नरस्य याम्यां ककुभं यियासोः
शृगालभार्या यदि पृष्ठभागे ।
शीत्कारमामुञ्चति मानवस्य
मृत्युश्च पुत्रेण भवत्यवश्यम् ॥
दिशं प्रतीचीं व्रजतः शृगाली
नरस्य यस्याभिमुखी विरौति ।
शान्ता शिवा शान्तफलप्रदात्री
दीप्ता तु दीप्तं फलमातनोति ॥
प्राचेतसीं सञ्चलितस्य काष्ठां
शृगालिका जल्पति दक्षिणेन ।

यदा तदार्त्तीं सुबहूननर्थान्
करोति पार्थानपि हन्ति पुंसः ॥
दिशं प्रचेतःपरिपाल्यमानां
नरस्य यस्य व्रजतः शृगाली ।
वामा विरावं प्रकरोति शान्ता
भवन्त्यभिप्रेतफलानि तस्य ॥
यो वारुणीं याति दिशं मनुष्यः
शृण्वन् शिवाया रटितानि पृष्ठे ।
गतस्य तस्याशु हुताशभीति-
रसंशयं स्यात् द्रविणक्षयश्च ॥
यस्योत्तरस्यां चलितस्य पुंसः
प्राच्यां शिवा मुञ्चति फेत्कृतानि ।
भानुःप्रतीच्यां विहितस्थितिश्चे-
दपेक्षितं सिध्यति तत्क्षणेन ॥
सुचत्युदीचीं चलितस्य पृष्ठे
शिवा विरावं पुरुषस्य यस्य ।
आस्ते च मध्ये नभसो विवस्वा-
नस्यार्थहानिर्मरणं प्रदिष्टम् ॥
कुबेरकाष्ठां प्रति यः प्रयाति
ज्वालामुखी चाभिमुखी विरौति ।
तस्याध्वगस्याभिमतार्थसिद्धि-
र्भवेच्च सम्यक् पुनरागमश्च ॥
तिष्ठति तीव्रकरो दिशि यस्यां
फेत् कुरुते यदि तत्र शृगाली ।
तद्व्रजतः पथिकस्य भवेतां
निश्चयतो धनजीवितनाशौ ॥
दक्षिणतः प्रथमं यदि पश्चात्
वामगता पथिकस्य शृगाली ।
फेत् कुरुते कुरुते तदवश्यं
क्षेमधनाप्तिगृहागमनानि ॥
अध्यास्य शान्तां ककुभं नरस्य
वामा शृगाली यदि सा रटन्ती ॥
तदार्थलाभं वितरत्यवश्य-
मथेप्सितं दक्षिणतो रटन्ती ॥
वामा प्रदीप्ते ककुभः प्रदेशे-
ऽलाभं तथानर्थमुपादिशन्ति ।
शिवा रटन्ती पथि दक्षिणा तु
क्षिपत्यनर्थानथ सङ्कटेषु ॥
शान्ते दिगन्ते यदि वा प्रदीप्ते
पृष्ठे प्रयाणे प्रतिषेधयित्री ।
शब्दायमाना तु शिवा पुरस्तात्
निमज्जयत्यापदगाधसिन्धौ ॥
वामेऽपसव्ये पुरतोऽथ पृष्ठे
पुंसः शिवा जल्पति यत्र तत्र ।
आयान्ति चौराः प्रथमे विरावे
द्वयोर्भवेत्तस्करदर्शनञ्च ॥
नृपादरोऽर्थागमनं तृतीये
तुर्य्ये धृतिः पञ्चमकेऽर्थलाभः ।
वाणिज्यसेवादिफलाय षष्ठे
भीः सप्तमे स्याद्विफलोऽष्टमस्तु ॥
हाहारवं मुञ्चति दुष्टभावा
हास्यं तु तस्मात्तदुदाहरन्ति ।

अग्रेसरा वा पथि या यियासोः
सा द्विप्रकारापि मनोरथाप्त्यै ॥
नृपस्य यात्रासमये पुरस्तात्
प्रयाति चेद्वर्त्म निवेदयन्ती ।
कुर्य्याच्छिवा वैरिपराभवं त-
ज्जयश्रियश्चाभिमतं विदध्यात् ॥
कार्य्यान्तरेष्वप्यनुगम्यमाना
श्रेयःप्रदा शान्तदिशि प्रदिष्टा ।
शिवा प्रदीप्ते तु दिशि प्रदेशे
समारटन्ती महते भयाय ॥
भयोद्गमे दीप्तदिशि प्रदीप्ते-
र्नादैर्नृणां हन्ति भयानि देवी ।
महान्ति सर्व्वाण्यपि शान्तनादाः
शान्तस्थिता सर्व्वभयप्रदात्री ॥
यदा च नद्युत्तरमा नराणां
शब्दं शृगाली कुरुते कदाचित् ।
तटद्वये तत् परिरक्षणीयं
महद्भयं भावि जलेचरेभ्यः ॥”
इति श्रीवसन्तराजे शिवारुते यात्राप्रकरणं चतुर्थम् ॥ * ॥
“स्थानस्थितानामपि योगभाजां
नैमित्तिकानामुपदिश्यते तु ।
शिवाविरावैरशिवं शिवञ्च
सुनिश्चितार्थं मुनिसम्मतेन ॥
करोति फे फे इति सर्व्वदिक्षु
यदा तदा स्थानविघातयुद्धे ।
शिवा विधत्ते क्षुधिता त्वसंख्यान्
रौद्रान् स्वरान् मुञ्चति फेदुपेताम् ॥
निरन्तरं रौति विदिक्षु दिक्षु
समन्दकारुण्यरवातुरा चेत् ।
अपत्यमोहेन यदा शृगाली
त्वन्यस्पृहा वा कथितेह तज्ज्ञैः ॥
स्थित्वा प्रदीप्ते ककुभो विभागे
ज्वालामुखी फेत् कुरुतेऽतिरौद्रम् ।
ग्रामस्य तस्य प्रकरोति नाशं
तस्याथवा तिष्ठति यस्य मध्ये ॥
ग्रामस्य मध्यं समवाप्य यस्य
ज्वालामुखी मुञ्चति फेत्कृतानि ।
स शून्यतां गच्छति निश्चयेन
लोकस्य वा स्यादसुखं प्रभूतम् ॥
ग्रामान्तिके सप्त दिनानि यावत्
महाभयोत्पादितफेत्कृतानि ।
विरौति चेत्तत् कुरुते शृगाली
नष्टाखिलोकस्य भयं प्रभूतम् ॥
मध्यं दिने यावदहानि पञ्च
शिवा समीपे नगरस्य यस्य ।
विरौति घातं विदधाति तस्य
भयञ्च वह्निप्रभवं प्रभूतम् ॥
पश्चार्द्धरात्रावपि कथञ्चिदेषा
क्रूरारवा व्याहरते शृगाली ।
यस्यान्तिके तं बहवो हठेन
मुष्णन्ति चौरा जनसन्निवेशम् ॥

स्थानस्य यस्योपगता समीपं
दिनानि पञ्चोच्चरति प्रभाते ।
स्वरेण रौद्रेण शृगालभार्य्या
स्यात्तत्र हानिर्महती नराणाम् ॥
सुरक्षितस्यापि मनुष्यलक्षै-
र्ग्रामस्य शीघ्रं ग्रहणं विधत्ते ।
त्रयं दिनानां दिवसावसाने
शिवा रटन्ती परुषस्वरेण ॥
दिवारटन्ती सकलासु रौद्रं
भ्रमत्यखिन्ना परितः पुरश्चेत् ।
शृगालभार्य्या खलु तद्ब्रवीति
युद्धं महत्तत्र महाभिघातम् ॥
ज्वालां विमुञ्चत्यतिरौद्रनादा
समाकुला धावति या समन्तात् ।
कौमारकं या जनयत्यकस्मात्
कुर्य्याच्छिवा सा युवराजघातम् ॥
रोमोद्गमं या जनयत्यकस्मात्
फे इत्यतिक्रूररवा नराणाम् ।
मूत्रं पुरीषन्तु तुरङ्गमाणां
सा सर्व्वदा स्यादशिवा शिवेह ॥
तरङ्गिणीरोधसि सौम्यरूपा-
स्त्रीन् पञ्च वा मुञ्चति या निनादान् ।
शिवां शिवां तां नृपतिस्तदानीं
वन्देत देवीमभिवन्दनीयाम् ॥
श्मशानभूमौ दिनमध्यभागे
मध्ये रजन्याः स्वगृहप्रदेशे ।
या रौति तस्यै बलिमर्घ्ययुक्तं
भक्त्या प्रदद्याद्यदि भद्रमिच्छेत् ॥
सर्व्वेषु कार्य्येषु समुद्यतेषु
बलिः शिवाया विनिवेदनीयः ।
गृह्णाति यस्मिन् विषयेऽभ्युपेत्य
देवी बलिं जल्पति तत्र सिद्धिम् ॥”
इति श्रीवसन्तराजे शिवारुते स्थानस्थितप्रकरणं पञ्चमम् ॥ * ॥
“कथ्यते बलिविधानमिदानीं
शास्त्रागममतेन शिवायाः ।
दिव्यमन्त्रबलिबाधितदोषं
साधिताखिलसमुद्यतकार्य्यम् ॥
शून्यालयं रुद्रगृहं श्मशानं
चतुष्पथं मातृगृहं जलान्तम् ।
वन्यावनिश्चत्वरमेवमाद्या
बलिप्रदानाय मताः प्रदेशाः ॥
तेषाञ्च मध्यादुचितप्रदेशे
विशोधितं मण्डलिकं विदध्यात् ।
पौराणिकश्लोकपरीक्षितायाः
संगृह्य गोर्गोमयमन्तरीक्षात् ॥
अव्यक्तजीर्णदेहाया वन्ध्यायाश्च विशेषतः ।
रोगार्त्तनवसूतायाः न गोर्गोमयमाहरेत् ॥
तस्मिन् विचित्रं विततं विदध्यात्
पिष्टातकेनाष्टदलं सरोजम् ।
संपूजयेत्तत्र सुराधिपादीन्
क्रमेण सर्व्वानपि लोकपालान् ॥

मध्ये सुतैः पञ्चभिरभ्युपेता
शिवान्विता पिष्टमयी प्रसन्ना ।
पूज्या शिवा तुष्यति भक्तियोगात्
प्रभूतपुष्पाक्षतधूपदीपैः ॥
साज्यगुडौदनमाषकुलत्थै-
र्यावकपूपलिकामिषमद्यैः ।
संस्कृतिरत्र नरासनमात्रं
बुद्धिमता बलिकर्म्मणि कार्य्या ॥
प्राप्याष्टमीं वाथ चतुर्द्दशीं वा
संमन्त्र्य मन्त्रेण च सप्रकृत्य ।
बलिं शिवाया निशि निश्चयेन
दद्यान्मनुष्यो यदि भद्रमिच्छेत् ॥

अत्र मन्त्रः । ॐ शिवे ज्वालामुखि बलिं गृहाण गृहाण हुँ फट् स्वाहा । ॐ शिवे शिवदूति भगवति चण्डे इदमर्घ्यं बलिलीला-समुचितं गृहाण गृहाण आगच्छ आगच्छ वायुवेगेन शुभं कुरु कुरु स्वाहा । इत्यर्घ्य-मन्त्रः । बलिदानाय मन्त्रान्तरम् । ॐ नमो भगवति एनं एनं बलिं गृह्ण गृह्ण गन्धपुष्प-धूपदीपादिकं दह दह पच पच घोररूपिणि भो भगवति पिबत पिबत स्वाहा ।

एतस्य मन्त्रद्वितयस्य मध्या-
देकेन केनाप्यभिमन्त्रणीयः ।
बलिः शिवायाः सुमहाप्रभावं
पृथक् पृथक् मन्त्रयुगं यदेतत् ॥
ताम्बूलवस्त्रासनदक्षिणाभि-
र्नैमित्तिकं शाकुनशास्त्रदक्षम् ।
प्रपूजयेत्तत्र भवत्यभीष्ट-
माचार्य्यवर्य्ये परितोषिते हि ॥
अश्लेषिकावह्निकृतान्तरुद्र-
धिष्ण्यानि पूर्व्वाचितयेन सार्द्धम् ।
ज्येष्ठाच सत्यञ्च विरौति येह
श्रेयस्करी जम्बुकगेहिनी सा ॥
हितैषिणी सर्व्वसमीहितेषु
देवी भवानी भुवि भैरवा च ।
कृताधिवासा कृपया सदैव
शिवारुते तेन यतेत विद्वान् ॥”

इति श्रीवसन्तराजशाकुने सदागमार्थशोभने समस्तसत्त्वकौतुके विरचितं शिवारुतं षष्ठम् ॥ * ॥

अथ तान्त्रिकशिवाबलिः । तदुक्तं कुलचूड़ामणौ ।
“विल्वमूले प्रान्तरे वा श्मशाने वाथ साधकः ।
मांसप्रधानं नैवेद्यं सन्ध्याकाले निवेदयेत् ॥
कालि कालीति वक्तव्यं ततः सा शिवरूपिणी ।
पशुरूपा समायाति परिवारगणैः सह ॥
भुक्त्वा रौति यद्देशान्यां सुखसुप्तोत्थ सुस्वरम् ।
तदैव मङ्गलं तस्य नान्यथा कुलभूषण ॥
अवश्यमन्नदानेन नियतं तोषयेच्छिवाम् ।
नित्यश्राद्धं तथा सन्ध्यावन्दनं पितृतर्पणम् ।
तथैव कुलसेवानां नित्यता कुलपूजने ॥
पशुरूपां शिवां देवीं यो नार्च्चयति निर्जने ।
शिवारावेण तस्याशु सर्व्वं नश्यति निश्चितम् ॥
जपपूजाविधानानि यत्किञ्चित् सुकृतानि च ।
गृहीत्वा शापं दत्त्वा च शिवा रोदिति निर्जने ॥
एकया भुज्यते यत्र शिवया देव भैरव ।
तत्रैव सर्व्वशक्तीनां प्रीतिः परमदुर्लभा ॥
पशुशक्तिः पक्षिशक्तिर्नरशक्तिर्यथाक्रमात् ।
पूजनात् द्विगुणं कर्म्म मङ्गलं साधयेत्ततः ॥
तेन सर्व्वप्रयत्नेन कर्त्तव्यं पूजनं महत् ।
राजादिभयमापन्ने देशान्तरभयादिके ॥
शुभाशुभानि कर्म्माणि विचिन्त्य बलिमाहरेत् ।
गृह्ण देवि महाभागे शिवे कालाग्निरूपिणि ॥
शुभाशुभफलं व्यक्तं ब्रूहि गृह्ण बलिं तव ।
एवमुच्चार्य्य दातव्यो बलिः कुलजनप्रियः ॥
यदि नो भुज्यते वत्स तदा नैव शुभं भवेत् ।
शुभं यदि भवेत्तत्र भुज्यते तद्दशेषतः ।
एवं ज्ञात्वा महादेव शान्तिस्वस्त्ययनं चरेत् ॥”
इति तन्त्रसारः ॥

शिवाक्षं, क्ली, (शिवस्याक्षि कारणत्वेनास्त्यस्येति । अच् ।) रुद्राक्षम् । इति राजनिर्घण्टः ॥ (अस्य विवरणं रुद्राक्षशब्दे द्रष्टव्यम् ॥)

शिवाटिका, स्त्री, वंशपत्री । इति भावप्रकाशः ॥

शिवात्मकं, क्ली, (शिवः सुखकरः आत्मा स्वरूपो यस्य ।) सैन्धवम् । इति राजनिर्घण्टः ॥ शिवमये, त्रि ॥

शिवानी, स्त्री, (शिवस्य भार्य्या । यद्वा, शिवं मङ्गलमानयतीति । आ + नी + डः । गौरादित्वात् ङीष् ।) दुर्गा । इति लोकप्रसिद्धिः ॥ जयन्तीवृक्षः । इति शब्दचन्द्रिका ॥

शिवाप्रियः, पुं, (शिवायाः प्रियः ।) छागः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ शिवस्य शिवाया अप्रियवस्तुनि शिवाया वल्लभे च त्रि ॥

शिवापीड़ः, पुं, (शिवस्यापीड़ इव ।) वकवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥ शिवाशिवयोः शेखरश्च ॥

शिवाफला, स्त्री, (शिवाया इव फलमस्याः ।) शमीवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शिवारातिः, पुं, (शिवायाः शृगालस्यारातिः ।) कुक्कुरः । इति शब्दमाला ॥ शिवाशिवयोः शत्रुश्च ॥

शिवालयं, क्ली, (शिवा आलीयतेऽत्रेति । आ + ली + अच् ।) श्मशानम् । इति हारावली ॥ (यथा, कथासरित्सागरे । ३ । ३३ ।
“वत्सार्थं युद्धमार्गौ च पुण्ये शून्ये शिवालये ॥”)

शिवालयः, पुं, (शिवायाः शिवस्य वा आलयः ।) रक्ततुलसी । इति शब्दचन्द्रिका ॥ शिवस्य गृहम् । यथा, रामार्च्चनचन्द्रिकायाम् ।
“चन्द्रसूर्य्यग्रहे तीर्थे सिद्धक्षेत्रे शिवालये ।
मन्त्रमात्रप्रकथनमुपदेशः स उच्यते ॥”
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥

शिवालुः, पुं, शृगालः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शिवा(व)बलिः, पुं, (शिवाभ्यो दीयमानो बलिः ।) रात्रौ शिवादेयमांसप्रधाननैवेद्यम् । यथा ।
अथ शिवाबलिः । कुलचूड़ामणौ ।
“विल्वमूले प्रान्तरे वा श्मशाने वापि साधकः ।
मांसप्रधाननैवेद्यं सन्ध्याकाले निवेदयेत् ॥
कालि कालीति वक्तव्ये तत्रोमा शिवरूपिणी ।
पशुरूपधरायाति परिवारगणैः सह ॥
भुक्त्वा रौति यद्देशान्यां सुखसुप्तोत्थ सुस्वरम् ।
तदैव मङ्गलं तस्य नान्यथा कुलभूषण ॥
अवश्यमन्नदानेन नियतं तोषयेच्छिवाम् ।
नित्यश्राद्धं तथा सन्ध्यावन्दनं पितृतर्पणम् ॥
तथैव कुलसेवानां नित्यता कुलपूजने ।
पशुरूपां शिवां देवीं यो नार्च्चयति निर्ज्जने ॥
शिवारावेण तस्याशु सर्व्वं नश्यति निश्चितम् ।
जपपूजाविधानानि यत्किञ्चित् सुकृतानि च ॥
गृहीत्वा शापं दत्त्वा च शिवा रोदिति निर्जने ।
एकया भुज्यते यत्र शिवया देव भैरव ॥
तत्रैव सर्व्वशक्तीनां प्रीतिः परमदुर्लभा ।
पशुशक्तिः पक्षिशक्तिर्नरशक्तिर्यथाक्रमात् ॥
पूजनात् द्विगुणं कर्म्म मङ्गलं साधयेत्ततः ।
तेन सर्व्वप्रयत्नेन कर्त्तव्यं पूजनं महत् ॥ * ॥
राजादिभयमापन्ने देशान्तरभयादिके ।
शुभाशुभानि कर्म्माणि विचिन्त्य बलिमाहरेत् ॥
गृह्ण देवि महाभागे शिवे कालाग्निरूपिणि ।
शुभाशुभफलं व्यक्तं ब्रूहि गृह्ण बलिं तव ॥
एवमुच्चार्य्य दातव्यो बलिः कुलजनप्रियः ।
यदि न भुज्यते वत्स तदा नैव शुभं भवेत् ॥
शुभं यदि भवेत्तत्र भुज्यते तद्दशेषतः ।
एवं ज्ञात्वा महादेव शान्तिस्वस्त्ययनं चरेत् ॥
नैवेद्योपरि मूलमन्त्रमष्टोत्तरशतं जप्त्वा बलिं दद्यादिति शेषः ।” इति तन्त्रसारः ॥

शिवाह्वतिः, स्त्री, जयन्तीवृक्षः । इति शब्दचन्द्रिका ॥

शिवाह्लादः, पुं, (शिवस्याह्लादो यस्मात् ।) वकवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥ शिवस्यानन्दश्च ॥

शिवाह्वा, स्त्री, (शिवेन आह्वा यस्याः ।) रुद्रजटा । इति राजनिर्घण्टः ॥ शिवनामके, त्रि ॥

शिविः, पुं, हिंस्रपशुः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ भूर्ज्जवृक्षः । राजविशेषः । स च उशीनरराज-पुत्रः । इति मेदिनी ॥ तस्य चरित्रं यथा,—
मैत्रेय उवाच ।
“शृणु राजन् ! प्रवक्ष्यामि समासं शिविना यथा ।
सर्व्वाशं दत्तवान् सत्त्वं पुरा ह्यौशीनरो युवा ॥
सत्यदानरतं ज्ञात्वा शिविमिन्द्राग्निसुपर्णौ ।
जिज्ञासार्थं समेयातां वर्त्तमाने महाध्वरे ॥
वह्निर्भूत्वा कपोतस्तु हरिश्श्येनपुरःसरः ।
शरणार्थी महीपालं निलिल्ये भयविक्लवः ॥
त्राहि मां पृथिवीपालेत्यवदत् श्येनजाद्भयात् ।
स तमाश्वासयामास कपोतं शरणागतम् ॥
राजानमुपगम्याथ श्येनः प्रोवाच संसदि ।
वचनं शृणु मे राजन् ! क्षुधार्त्तस्य कुटुम्बिनः ॥
धर्म्मात्मानं त्वमाहुर्व्वै पृथिव्यां सर्व्वपार्थिवाः ।
तद्विरुद्धं कथं कर्म्म कर्त्तुमिच्छसि पार्थिव ॥
सर्व्वस्य सम्पदः स्वार्थाः स्वपरार्थास्तु कस्यचित् ।
परार्था भवतो नित्यं सफलस्य तरोरिव ॥
नोपकारपरेऽप्येवमुपकारपरो जनः ।
अपकारपरेऽपि त्वमुपकारपरः सदा ॥
ममैव विहितो धात्रा भक्ष्योऽयं त्वं समुत्सृज ।

स श्येनमाह संप्राप्तस्त्वाणार्थी सन्निधौ मम ॥
तस्मात्तवाहं न समर्पयिष्ये
कपोतकं श्येन यदत्र युक्तम् ।
त्वं मन्यसे तत् करवाणि सर्व्व-
न्दते कपोतात् खलु सत्यमत्र ॥
तुभ्यं हि सुमहद्राज्यं प्रयच्छामि विहङ्गम ।
यथा कामयसे चान्यद्वर्ज्जयित्वा कपोतकम् ॥
श्येनः प्राह किमेतत्ते प्रीतिरासीत् खगे दृढा ।
कथञ्चिदस्य तुल्यानि स्वमांसानि प्रयच्छ मे ॥
राजा तमब्रवीद्धृष्टो यच्चे मांसानि याचसे ।
एतद्दयच्छामि ते सद्यः स्वमांसं तुलया धृतम् ॥
एवमुक्त्वा स्वमांसानि कपोतेन समं नृपः ।
उत्कृत्य तोलयामास प्रहृष्टो मनसा ततः ॥
तुलया ध्रियमाणस्तु कपोतो व्यतिरिच्यते ।
पुनश्चोत्कृत्य मांसानि ततः प्रादात् स पार्थिवः ।
न विद्यते यदा मांसं कपोतेन समं क्वचित् ।
ततः प्रक्षीणमांसोऽपि साधुः सुखयते परम् ॥
यदा तेन न तुल्यं तत् स तुलामारुहत् स्वयम् ।
अन्तःपुरवरस्त्रीषु न राज्ये न च जीविते ॥
करुणासक्तचित्तेन तेनापेक्षा कृता क्वचित् ।
परदुःखातुरा नित्यं स्वसुखानि महान्त्यपि ॥
नापेक्षन्ते महात्मानः सर्व्वभूतहिते रताः ।
परार्थमुद्यताः सन्तः सन्तः किं किं न कुर्व्वते ॥
तादृगप्यम्बुधेर्व्वारि जलदैस्तत् प्रपीयते ।
एक एव सतां मार्गो यदङ्गीकृतपालनम् ॥
दहन्तमकरोत् क्रोड़े पावकं यदपांपतिः ।
आत्मानं पीड़यित्वापि साधुः सुखयते परम् ॥
क्रोदयन् तापितान् वृक्षो दुःखञ्च सहते स्वयम् ।
अथ तस्मिन् समारूढ़े पुष्पवर्षं पपात च ॥
देवदुन्दुभयो नेदुस्तुलामौशीनरे नृपे ।
ततस्तस्य तदा ज्ञात्वा वाक्यं चैतदभाषत ॥
शक्रः स्वरूपमास्थाय धर्म्मं राज्ञः परिस्थितिम् ।
इन्द्रोऽहमस्मि भद्रं ते कपोतो हव्यवाहनः ॥
जिज्ञासमानौ त्वां राजन्निमं यज्ञमुपागतौ ।
महाकारुणिकेनेह यत् कृतं तत् सुदुष्करम् ॥
नैव पूर्व्वे नृपाश्चक्रुर्न करिष्यन्ति चापरे ।
यत्ते मांसानि गात्रेभ्यः समुत्कृत्तानि पार्थिव ॥
एषा ते शाश्वती कीर्त्तिर्लोकाननुभविष्यति ।
दिव्यरूपधरश्चैव पालयित्वा महीं चिरम् ॥
सर्व्वान् लोकानतिक्रम्य ब्रह्मलोकं गमिष्यति ।
एवमुक्त्वा तमिन्द्राग्नी जग्मतुस्त्रिदशालयम् ।
राजा तु क्रतुमिष्ट्वा तं मुमुदे देवता तदा ॥"
इति वह्निपुराणे शिवेरुपाख्याननामाध्यायः ॥

शिविका, स्त्री, (शिवं करोतीति । शिव + णिच् । ततो ण्वुल् । टापि अत इत्वम् ।) यानविशेषः । झाँपान् इति ख्यातः । इति भरतः ॥ डुली इति पाल्की इति च भाषा । तत्पर्य्यायः । याप्य-यानम् २ । इत्यमरः ॥ शिवीरथः ३ । इति हारावली ॥ तद्दानविधिर्यथा,—

वह्निरुवाच ।
"शृणु तावन्महीपाल महादानमनुत्तमम् ।
येन वै दत्तमात्रेण मुच्यते नरकार्णवात् ॥
मार्गशीर्षे शुभे पक्षे समुपोष्य हरेर्द्दिने ।
माघफाल्गुनयोश्चापि वैशाखस्य शरत्सु च ॥
द्वादश्यां हरिमभ्यर्च्य कलसोपरिसंस्थितम् ।
शिविकां चक्रवंशोत्थां रक्तचन्दनमयीं तथा ॥
आनीय सन्निधिं विष्णोः शुभ्रच्छत्रसमन्विताम् ।
संभूष्य च सगेरूकां जागरं तत्र कारयेत् ॥
विद्याभिजनसम्पन्नविदग्धं शास्त्रवित्तमम् ।
आम्नासारं शुचिं दक्षं कलत्रापत्यभूषितम् ॥
प्रातः सभार्य्यमभ्यर्च्य वासोभिः स्वर्णभूषणैः ।
उपानच्छूरिकां खड्गां पङ्कचुकवेणुकाम् ॥
आदर्शस्थगिकां पानीयपात्रं कांस्यभाजनम् ।
चत्वारो वृषभा देया धेनवः शुभलक्षणाः ॥
शिविकावाहकानान्तु तथा छत्रस्य धारके ।
वृत्तिर्देया तथान्नञ्च यावत् ब्राह्मणस्य तु ॥
वर्षे वर्षे पुनर्देयं ब्राह्मणस्य तदैव तु ।
वृत्तिरेव त्वसम्पत्तौ वर्षे वर्षेऽपि वार्षिकी ॥
इहामुत्रातपत्राणं कुरु केशव मे प्रभो ।
त्वत्प्रीणनाय मे दत्तं शास्त्रविद्ब्राह्मणाय वै ॥
यत् प्रभो शिविकां देव प्रीतो भव जनार्द्दन ।
दत्तवान् ज्ञानविदुषे सपत्नीकाय पुत्रिणे ॥
सुरापस्तेयकृत्तल्पी ब्रह्महा गुरुतल्पगः ।
शिविकादानमाहात्म्यात् मुच्यते नात्र संशयः ॥
पितृपक्षान्मातृपक्षान् पत्नीपक्षांस्तथैव च ।
आत्मानं बन्धुपक्षांश्च तारयेन्नरकार्णवात् ॥
भुक्त्वा स विपुलान् भोगान् इहामुत्र सुखप्रदान् ।
सपत्नीकः सपितृको विष्णुसायुज्यमश्नुते ॥"
इति वह्निपुराणे शिविकादानाध्यायः ॥

शिविपिष्टः, पुं, महादेवः । इति शब्दरत्नावली ॥ शिपिविष्टशब्दार्थोऽप्यत्र ॥

शिविरं, क्ली, (शेरते राजबलान्यत्र । शीङ् स्वप्ने + बाहुलकात् किरच्प्रत्ययेन साधु । इत्युणादि-वृत्तौ उज्ज्वलदत्तः । १ । ५४ ।) निवेशः । इत्य-मरः ॥ हे आगन्तुकसैन्यवासे । कटके इत्यन्ये । नृपस्य मूलस्थाने इत्येके । इति भरतः ॥
"शिविरन्तु निवेशे च क्लीवन्तु युद्धवेश्मनि ॥"
इत्युणादिकोषः ॥ * ॥
अथ शिविरलक्षणम् ।
श्रीभगवानुवाच ।
"शिविरं परिखायुक्तमुच्चैःप्राकारवेष्टितम् ।
युक्तद्वादशद्वारञ्च सिंहद्वारपुरस्कृतम् ॥
युक्तं चित्रैर्व्विचित्रैश्च कृत्रिमैश्च कपाटकैः ।
निषिद्धवृक्षरहितं प्रसिद्धैश्च पुरस्कृतम् ।
सुलक्षणं चन्द्रवेधं प्राङ्गणञ्च तथैव च ॥"
तत्र विहितनिषिद्धकाष्ठे तथा,—
विश्वकारुरुवाच ।
"कस्य कस्य तरोः काष्ठं प्रशस्तं शिविरे प्रभो ।
अमङ्गलञ्च केषां वा सर्व्वं मां वक्तुमर्हसि ॥
श्रीभगवानुवाच ।
आश्रमे नारिकेलश्च गृहिणाञ्च धनप्रदः ।
शिविरस्य यदीशाने पूर्व्वे पुत्रप्रदस्तरुः ॥
सर्व्वत्र मङ्गलार्हश्च तरुराजो मनोहरः ।
रसालवृक्षः पूर्व्वस्मिन् नृणां सम्पत्प्रदस्तथा ॥
शुभप्रदश्च सर्व्वत्र सुरकारी निशामय ।
विल्वश्च पनसश्चैव जम्बीरो वदरी तथा ॥
प्रजाप्रदश्च पूर्व्वस्मिन् दक्षिणे धनदस्तथा ।
सम्पत्प्रदश्च सर्व्वत्र यतो हि वर्द्धते गृही ॥
जम्बुवृक्षश्च दाड़िम्बः कदल्याम्रातकस्तथा ।
बन्धुप्रदश्च पूर्व्वस्मिन् दक्षिणे मित्रदस्तथा ॥
सर्व्वत्र शुभदश्चैव धनपुत्रशुभप्रदः ।
हर्षप्रदो गुवाकश्च दक्षिणे पश्चिमे तथा ॥
ईशाने सुखदश्चैव सर्व्वत्रैव निशामय ।
सर्व्वत्र चम्पकः शुद्धो भुवि भद्रप्रदस्तथा ॥
अलाबुश्चापि कुष्माण्डं मायाम्बुश्च मुकामुकः ।
खर्ज्जूरी कर्कटी चापि शिविरे मङ्गलप्रदाः ॥
वास्तूकः कारवेल्लश्च वार्त्ताकुश्च शुभप्रदाः ।
लताफलञ्च शुभदं सर्व्वं सर्व्वत्र निश्चितम् ॥ * ॥
प्रशस्तं कथितं काष्ठं निषिद्धञ्च निशामय ।
वन्यवृक्षो निषिद्धश्च शिविरे नगरेऽपि च ॥
वटो निषिद्धः शिविरे नित्यं चौरभयं ततः ।
नगरेषु प्रसिद्धश्च दर्शनात् पुण्यदस्तथा ॥
हे काष्ठ तिन्तिड़ीवृक्षो यत्नात्तं परिवर्ज्जय ।
शरैश्च धनहानिः स्यात् प्रजाहानिर्भवेत् ध्रुवम् ॥
शिविरेऽतिनिषिद्धश्च नगरे किञ्चिदेव च ।
न निषिद्धः प्रसिद्धश्च नगरेषु तथा पुरे ॥
वाञ्छामतिनिषिद्धश्च शाल्मल्लं परिवर्ज्जयेत् ।
खर्ज्जूरश्च डहुश्चैव निषिद्धः शिविरे तथा ॥
न निषिद्धः प्रसिद्धश्च ग्रामेषु नगरेषु च ।
वृक्षश्च चणकादीनां धान्यञ्च मङ्गलप्रदम् ॥
ग्रामेषु नगरे चापि शिविरे च तथैव च ।
इक्षुवृक्षश्च शुभदः सन्ततं शुभदस्तथा ॥
अशोकश्च शिरीषश्च कदम्बश्च शुभप्रदः ।
कच्ची हरिद्रा शुभदा शुभदश्चार्द्रकस्तथा ॥
हरीतकी च शुभदा ग्रामेषु नगरेषु च ॥
न वाप्यां भद्रदा नित्यं तथा चामलकी ध्रुवम् ॥
मञ्जानामस्थि शुभदमश्वानाञ्च तथैव च ।
कल्याणसूचैःश्रवसां वास्तौ स्थापनकारिणाम् ॥
न शुभप्रदमन्येषामुच्छन्नकारणं परम् ।
वानराणां नराणाञ्च गर्द्दभानां गवामपि ॥
कुक्कुराणां शृगालानां मार्ज्जाराणामभद्रकम् ।
मेटकानां शूकराणां सर्व्वेषाञ्चाशुभप्रदम् ॥
ईशाने चापि पूर्व्वस्मिन् पश्चिमे च तथोत्तरे ।
शिविरस्य जलं भद्रमन्यत्राशुभमेव च ॥ * ॥
दीर्घे प्रस्थे समानञ्च न कुर्य्यान्मन्दिरं बुधः ।
चतुरस्रे गृहे काष्ठे गृहिणां धननाशनम् ॥
दीर्घप्रस्थः परिमितो नेत्राङ्केनापि संहृतम् ।
शून्येन रहितं भद्रं शून्यं शून्यप्रदं नृणाम् ॥
प्रस्थे हस्तद्वयात् पूर्व्वं दीर्घे हस्तत्रयं तथा ।
गृहिणां शुभदं द्वारं प्राकारस्य गृहस्य च ।
न मध्यदेशे कर्त्तव्यं किञ्चिन्न्यूनाधिके शुभम् ॥
चतुरस्रं चन्द्रवेधं शिविरं मङ्गलप्रदम् ।
अभद्रं सूर्य्यवेधञ्च शिविरं मङ्गलाप्रदम् ।
अभद्रदं सूर्य्यवेधं प्राङ्गणञ्च तथैव च ॥
शिविराभ्यन्तरे भद्रा स्थापिता तुलसी नृणाम् ।
धनपुत्रप्रदात्री च पुण्यदा हरिभक्तिदा ॥

प्रभाते तुलसीं दृष्ट्वा स्वर्णदानफलं लभेत् ।
मालती यूथिका कुन्दमाधवी केतकी तथा ॥
नागेश्वरं मल्लिका च काञ्चनं वकुलं शुभम् ।
अपराजिता च शुभदा तेषामुद्यानमीप्सितम् ॥
पूर्व्वे च दक्षिणे चैव शुभदं नात्र संशयः ।
ऊर्द्ध्वं षोड़शहस्तेभ्यो नैवं कुर्य्याद्गृहं गृही ॥
ऊर्द्ध्वं विंशतिहस्तेभ्यः प्राकारं न शुभप्रदम् ।
सूत्रधारं तैलकारं स्वर्णकारञ्च हीरकम् ॥
वाटीमूले ग्राममध्ये न कुर्य्यात् स्थापनं बुधः ।
ब्राह्मणं क्षत्त्रियं वैश्यं सच्छूद्रं गणकं शुभम् ॥
भट्टं वैद्यं पुष्पकारं स्थापयेत् शिविराग्निके ।*
प्रस्थे च परिखामानं शतहस्तं प्रशस्तकम् ।
चरितः शिविरायाश्च गम्भीरं दशहस्तकम् ॥
सङ्केतपूर्व्वकञ्चैव परिखाद्वारमीप्सितम् ।
शत्रोरगम्यं मित्रस्य गम्यमेव सुखेन च ॥
शाल्मलीनां तिन्तिड़ीनां हिन्तालानां तथैव
च ।
निम्बानां सिन्धुवाराणां उडुम्बराणामभद्रकम् ॥
धुस्तूराणां वटानाञ्चाप्येरण्डानामवाञ्छितम् ।
एतेषामतिरिक्तानां शिविरे काष्ठमीप्सितम् ॥
दृष्टञ्च वज्रहतकं दूरतो वर्ज्जयेद्बुधः ।
पुत्त्रदारधनं हन्यादित्याह कमलोद्भवः ॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे १०२अध्यायः ॥
शिवीरथः, पुं, याप्ययानम् । इति हारावली ॥
शिवेष्टः, पुं, (शिवस्य इष्टः ।) वकवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥ शिवप्रिये, त्रि ॥
शिवेष्टा, स्त्री, (शिवस्य इष्टा प्रिया ।) दूर्व्वा । इति राजनिर्घण्टः ॥
शिशिरः, पुं, (शशति इतस्ततो गच्छतीति । शश + किरच् प्रत्ययेन साधुः ।) हिमः । इति मेदिनी ॥ (विष्णुः । यथा, महाभारते । १३ । १४६ । ११० ।
"शब्दातिगः शब्दसहः शिशिरः शर्व्वरीकरः ॥")
शिशिरः, पुं, क्ली, (शशति गच्छति वृक्षादिशोभा यस्मात् । शश + "अजिरशिशिरशिथिलेति ।" उणा० १ । ५४ । इति किरच्प्रत्ययेन साधुः ।) ऋतुविशेषः । इत्यमरः ॥ स तु माघफाल्गुनमासद्वयात्मकः । तत्पर्य्यायः । कम्पनः २ शीतः ३ हिमकूटः ४ कोटनः ५ । क्वचित् पुस्तके कोटनस्थाने कोड़व इति पाठः । इति राजनिर्घण्टः ॥ तत्कालीनजलगुणा जलशब्दे द्रष्टव्याः ॥ * ॥ तत्र जातफलम् ।
"मिष्टान्नभोगी मधुरप्रवादी
कलत्रपुत्त्रादियुतः क्षुधार्त्तः ।
क्रोधी सुधीश्चारुकलेवरश्च
यस्य प्रसूतिः शिशिराभिधाने ॥"
इति कोष्ठीप्रदीपः ॥*॥
तत्र वर्णनीयानि । करीषधूमः कुन्दः पद्मनाशः शिशिरोत्कर्षश्च । इति कविकल्पलता ॥ * ॥
अस्य गुणाः ।
"शिशिरं शीतलं रूक्षं शीतं वातप्रकोपणम् ।"
इति राजवल्लभः ॥

अपि च ।
"शिशिरः शीतलोऽतीवरूक्षो वाताग्निवर्द्धनः ।"
इति भावप्रकाशः ॥
शिशिरः, त्रि, (शश प्लुतगतौ + किरच्प्रत्ययेन साधुः ।) शीतगुणयुक्तः । यथाह अमरः ।
"शीतं गुणे तद्वदर्थाः सुषीमः शिशिरो जड़ः ।
तुषारः शीतलः शीतो हिमः सप्तान्यलिङ्गकाः ॥"
(यथा, रघुः । १४ । ३ ।
"आनन्दजः शोकजमश्रु बाष्पस्तयोरशीतं शिशिरो बिभेद ॥")
शिशुः, पुं, (श्यतीति । शो + "शः कित् सन्वच्च ।" उणा० १ । २१ । इति उः ।) बालकः । तत्पर्य्यायः । पोतः २ पाकः ३ अर्भकः ४ डिम्भः ५ पृथुकः ६ शावकः ७ । इत्यमरः ॥ शावः ८ अर्भः ९ शिशुकः १० पोतकः ११ भिदकः १२ । इति शब्दरत्नावली ॥ गर्भः १३ । इति जटाधरः ॥ तस्य लक्षणादि यथा । वृद्धशातातपः ।
"शिशोरभ्युक्षणं प्रोक्तं बालस्याचमनं स्मृतम् ।
रजस्वलादि संस्पृश्य स्नातव्यन्तु कुमारकैः ॥
प्राक् चूड़ाकरणाद्बालः प्रागन्नप्राशनाच्छिशुः ।
कुमारस्तु स विज्ञेयो यावन्मौञ्जी न बन्धनम् ॥"
इति गोपालन्यायपञ्चाननकृतस्मृतिनिर्णयः ॥
अपि च ।
"चतुर्थाद्वत्सराटूर्द्ध्वं यावदष्टौ समा वयः ।
शिशोर्व्रतं प्रकुर्व्वन्ति गुरुसम्बन्धिबान्धवाः ॥"
इति ब्रह्मपुराणवचनम् ॥
"जातमात्रः शिशुस्तावत् यावदष्टौ समा वयः ।
स हि गर्भसमो ज्ञेयो व्यक्तिमात्रप्रदर्शकः ॥
भक्ष्याभक्ष्ये तथा पेये वाच्यावाच्ये तथानृते ।
तस्मिन् काले न दोषः स्यात् स यावन्नोपनीयते ॥"
इति मनुवचनम् ॥ * ॥
तस्याध्यापनक्रमो यथा,—
"प्राङ्मुखो गुरुरासीनो वरुणाभिमुखं शिशुम् ।
अध्यापयेच्च प्रथमं द्विजाशीभिः सुपूजितम् ॥"
इति मलमासतत्त्वे बृहस्पतिवचनम् ॥*॥
शिशुपुत्त्रं त्यक्त्वा प्रव्रज्याश्रमनिषेधो यथा,—
"मातरं पितरं वृद्धं भार्य्याञ्चैव पतिव्रताम् ।
शिशुञ्च तनयं हित्वा नावधूताश्रमं व्रजेत् ॥"
इति महानिर्व्वाणतन्त्रम् ॥
अन्यद्बालशब्दे द्रष्टव्यम् ॥*॥ (कुमारः । कार्त्तिकेयः । यथा, महाभारते । ३ । २३१ । ४ ।
"शिशुः शीघ्रः शुचिश्चण्डो दीप्तवर्णः शुभाननः ॥")
शिशुकः, पुं, (शिशोरिव प्रतिकृतिः । शिशु + इवार्थे कन् ।) जलजन्तुविशेषः । शुशुक् इति भाषा । तत्पर्य्यायः । उलूपी २ । इत्यमरः ॥ द्वे उपल इति ख्याते अतिचञ्चले मत्स्ये । शिशुमाराकृतिर्म्मत्स्यभेदः उलूपी । इति कलिङ्गादयः । शोशु इति ख्यातो मत्स्यविशेषः उलूपी त्यन्ये । भाँगाल इति ख्याते इत्येके । शिशुमार एव उच्यते इति सर्व्वस्वम् । तथा च रत्नकोषादौ 'चुलुपी शिशुमारः स्यादुलूपी शिशुकस्तथा ।' ऊर्द्ध्वं लुम्पति भ्राम्यति उलूपी लुप्लृ छेदे उत्पूर्व्वः ग्रहादित्वाणिन् मनीषादित्वात् तलोपः लोर्दीर्घश्च हिस्वोकारोऽपि । 'शिशुकस्तुलुपी बालः प्रोष्ठी तु सफरी द्वयोः ।' इति वाचस्पतिः । चुलुपीति चवर्गादिपाठ इति केचित् । शिशुरिव शिशुकः ।
'शिशुकः शिशुमारेऽपि बालकोलुपिनोरपि ॥'
इति रुद्रः ॥"
इति भरतः ॥ अपि च ।
"उलुपी स्यादुलूपीव चुलुम्पी चुलकी तथा ।
शिशुकश्चेति पर्य्यायः शिशुमाराकृतौ झषे ।
केचिदुत्पलमत्स्ये तु पर्य्यायोऽयं निगद्यते ॥"
इति शब्दरत्नावली ॥
"शिशुकः शिशुमारश्च स च ग्राहो वराहकः ॥"
इति राजनिर्घण्टः ॥ * ॥
शिशुमारः । (यथा, महाभारते ।१२।२६।२७।
"कूर्म्मान् कर्कटकान् नक्रान् मकरान् शिशुकानपि ॥")
बालकः । इति मेदिनी ॥ (यथा, कथासरित्सागरे । २१ । ३६ ।
"शिशुकद्वयसंयुक्ता ब्राह्मणी कापि दुर्गता ।
द्वारि स्थिता महाराज देवदर्शनकाङ्क्षिणी ॥")
वृक्षविशेषः । इति हेमचन्द्रः ॥
शिशुगन्धा, स्त्री, (शिशोर्गन्धो यत्र ।) मल्लिकाविशेषः । यथा,—
"सप्तशीपतिर्लवङ्गं स्यात् नोमाली नवमालिका ।
शिशुगन्धा मधुमल्ली तथा करणमल्लाथ ॥"
इति शब्दमाला ॥
शिंशुचान्द्रायणं, क्ली, (शिशुरिव चान्द्रायणम् । स्वल्पचान्द्रायणमित्यर्थः ।) व्रतविशेषः । यथा,
"चतुरः प्रातरश्नीयात् पिण्डान् विप्रः समाहितः ।
चतुरोऽस्तमिते सूर्य्ये शिशुचान्द्रायणं स्मृतम् ॥"
इति मनुः ॥
शिशुता, स्त्री, (शिशोर्भावः । शिशु + तल् ।) शिशुत्वम् । शिशोरवस्था । इति जटाधरः ॥
शिशुत्वं, क्ली, (शिशोर्भावः । शिशु + त्व ।) शैशवम् । इत्यमरः ॥ तत्पर्य्यायः बाल्यशब्दे द्रष्टव्यः ॥
शिशुपालः, पुं, चेदिदेशीयराजः । स तु कृष्णेन हतः । शिशुपालवधकाव्यं माघेन कृतम् । तत्पर्य्यायः । दमघोषसुतः २ चैद्यः ३ चेदिराड् ४ । इति जटाधरः ॥ शिशुपालकः ५ । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ (यथा, भागवते । ७ । १० । ३८ ।
"ताविहाथ पुनर्जातौ शिशुपालकरूषजौ ।
हरौ वैरानुबन्धेन पश्यतस्ते समीयतुः ॥")
शिशुपालकः, पुं, (शिशुपाल + स्वार्थे कन् ।) दमघोषसुतः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ केलिकदम्बवृक्षः । इति शब्दचन्द्रिका ॥ (शिशु

पालयतीति । पालि+ण्वुल् ।) बालकपालके, त्रि ॥

शिशुपालहा, [न्] पुं, (शिशुपालं हतवानिति । हन्+क्विप् ।) श्रीकृष्णः । इति हेमचन्द्रः ॥

शिशुभावः, पुं, (शिशोर्भावः ।) शिशुत्वम् । तान्त्रिकभावविशेषः । यथा,—

"उक्तानुक्तञ्च यत्किञ्चित् क्रियते सर्व्वदा प्रिये ।
शिशुभाव इति ख्यातः सर्व्वतन्त्रेषु गोपितः ॥"
इति तन्त्रम् ॥

शिशुमारः, पुं, (शिशून् मारयतीति । मृ+णिच्+अण् ।) जलजन्तुभेदः । शोँष इति शुशुक् इति च ख्यातः । इत्यमरभरतौ ॥ (यथा, वाजसनेयसंहितायाम् । २४ । ३० ।

"नीलङ्गोः क्रमिः समुद्राय शिशुमारो हिमवते हस्ती ॥" * ॥) अस्य पर्य्यायः शिशुकशब्दे द्रष्टव्यः । अस्य गणना गुणाश्च पादिशब्दे द्रष्टव्याः ॥ ताराात्मकाच्युतः । इति मेदिनी ॥ तद्विवरणं यथा,—

"शिशुमारस्तु यः प्रोक्तः स ध्रुवो यत्र तिष्ठति ।
सन्निवेशञ्च तस्यापि शृणुष्व मुनिसत्तम ॥
यदह्ना कुरुते पापं दृष्ट्वा तन्निशि मुच्यते ।
तावत्यश्चैव तारास्ताः शिशुमाराश्रिता दिवि ॥
तावन्त्येव तु वर्षाणि जीवत्यभ्यधिकानि तु ।
उत्तानपादस्तस्याथ विज्ञेयोऽप्युत्तरो हनुः ॥
यज्ञोऽधरश्च विज्ञेयो धर्म्मो मूर्द्धानमाश्रितः ।
हृदि नारायणश्चास्ते अश्विनौ पूर्व्वपादयोः ॥
वरुणश्चार्य्यमा चैव पश्चिमे तस्य सक्थिनी ।
शिश्नं संवत्सरस्तस्य मित्रोऽपानं समाश्रितः ॥
पुच्छेऽग्निश्च महेन्द्रश्च कश्यपोऽथ ततो ध्रुवः ।
तारका शिशुमारस्य नास्तमेति चतुष्टयम् ॥
इत्येष सन्निवेशोऽयं पृथिव्या ज्योतिषां तथा ।
द्वीपानामुदधीनाञ्च पर्व्वतानाञ्च कीर्त्तितः ॥
वर्षाणाञ्च नदीनाञ्च ये च तेषु वसन्ति वै ।
तेषां स्वरूपमाख्यातं संक्षेपः श्रूयतां पुनः ॥
यदम्बु वैष्णवः कायस्ततो विप्र वसुन्धरा ।
पद्माकारा समुद्भूता पर्व्वताब्ध्यादिसंयुता ॥
ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णु-
र्वनानि विष्णुर्गिरयो दिशश्च ।
नद्यः समुद्राश्च स एव सर्व्वं
यदस्ति यन्नास्ति च विप्रवर्य्य ॥
ज्ञानस्वरूपो भगवान् यतोऽसा-
वशेषमूर्त्तिर्न तु वस्तुभूतः ।
ततो हि शैलाब्धिधरादिभेदान्
जानीहि विज्ञानविजृम्भितानि ॥
यदा हि शुद्धं निजरूपसर्व्वं
कर्म्मक्षये ज्ञानमपास्तदोषम् ।
तदा हि सङ्कल्पतरोः फलानि
भवन्ति नो वस्तुषु वस्तुभेदाः ॥
महीघटत्वं घटतः कपालिका
कपालिकाचूर्णरजस्ततोऽप्यणुः ।
जनैः स्वकर्म्मस्तिमितात्मनिश्चयै-
रालक्ष्यते ब्रूहि किमत्र वस्तु ॥"

इति विष्णुपुराणे २ अंशे १२ अध्यायः ॥ * ॥ अपि च । "केचिदेतज्ज्योतिरनीकं शिशुमारसंस्थानेन भगवतो वासुदेवस्य योगधारणायामनुवर्णयन्ति । यस्य पुच्छाग्रेऽवाक्शिरसः कुण्डलीभूतदेहस्य ध्रुव उपकल्पितः । तस्य लाङ्गूले प्रजापतिः अग्निरिन्द्रो धर्म्म इति पुच्छमूले धाता विधाता च कट्यां सप्तर्षयः । तस्य दक्षिणावर्त्तकुण्डलीभूतशरीरस्य यान्युदगयनानि दक्षिणपार्श्वे नक्षत्राणि उपकल्पयन्ति । दक्षिणायनानि तु सव्ये यथा शिशुमारस्य कुण्डलाभोगसन्निवेशस्य पार्श्वयोरुभयोरप्यवयवाः समसंख्या भवन्ति । पृष्ठे त्वजवीथी आकाशगङ्गा चोदरतः । पुनर्व्वसुपुष्यौ दक्षिणवामयोः श्रोण्योरार्द्राश्लेषा च दक्षिणवामयोः पादयोरभिजिदुत्तराषाढे दक्षिणवामयोर्नासिकयोर्यथासंख्यं श्रवणपूर्व्वाषाढे दक्षिणवामयोर्लोचनयोर्धनिष्ठामूलञ्च दक्षिणवामयोः कर्णयोर्मघादीन्यष्टनक्षत्राणि दक्षिणायनानि वामपार्श्ववङ्क्रिषु युञ्जीत । वङ्क्रिषु अस्थिषु । तथैव मृगशीर्षादीन्युदगयनानि दक्षिणपार्श्वेषु प्रातिलोम्येन युञ्जीत । शतभिषा ज्येष्ठे स्कन्धयोर्दक्षिणवामयोर्न्यसेत् । उत्तराहनावगस्त्यः अधराहनौ यमः मुखे चाङ्गारकः शनैश्चर उपस्थे बृहस्पतिः ककुदि वक्षस्यादित्यो हृदये नारायणो मनसि चन्द्रो नाभ्यामुशनास्तनयोरश्विनौ बुधः प्राणापानयो राहुर्गले केतवः सर्व्वाङ्गेषु रोमसु सर्व्वे तारागणाः । एतदु हैव भगवतो विष्णोः सर्व्वदेवतामयं रूपमहरहः सन्ध्यायां प्रयतो वाग्यतो निरीक्षमाण उपतिष्ठेत नमो नमो ज्योतिर्लोकाय कालायनायानिमिषां पतये महापुरुषायाभिधीमहीति ।

ग्रहर्क्षताराममयमाधिदैविकं
पापापहं मन्त्रकृतां त्रिकालम् ।
नमस्यतः स्मरतो वा त्रिकालं
नश्येत तत्कालजमाशु पापम् ॥"

इति श्रीभागवते ५ स्कन्धे शिशुमारसंस्थानम् २३ अध्यायः ॥

शिशुवाहकः, पुं, (शिशुं वहतीति । वह+ण्वुल् ।) वनच्छागलः । इति हेमचन्द्रः ॥ बालकवोढरि, त्रि ॥

शिशुवाह्यकः, पुं, (शिशुर्वाह्यो यस्य । ततः कन् ।) वनच्छागः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

शिश्नः, पुं, (शश्नातीति । शश+बाहुलकात् नक्प्रत्ययेन साधु ।) मेढ्रः । इत्यमरः ॥ (यथा, भागवते । २ । ६ । ८ ।

"पुंसः शिश्न उपस्थस्तु प्रजात्यानन्दनिर्वृतेः ॥")

अस्य पर्य्यायः लिङ्गशब्दे द्रष्टव्यः ॥

शिश्विदानः, त्रि, (श्वेतितुमिच्छतीति । श्वित+सन्+"श्वितेर्दश्च ।" उणा० २।८३ । इति आनच् । सनो लुक् तकारस्य च दकारः ।) पापकर्म्मा । तत्पर्य्यायः । कृष्णकर्म्मा २ । इत्यमरः ॥ ह्रे पापाचारे । शश्वन्निन्द्यतेऽसौ शिश्विदानो मनीषादिः हिताक्षयः । कृष्णं पापाचारत्वात् मलिनं कर्म्मास्य कृष्णकर्म्मा । केचित्तु अकृष्णकर्म्मा इति पठन्ति । ह्रे निष्पापे । श्विदि शौक्ल्ये इत्यस्य शाने शिश्विदानः । अकृष्णं निष्पापत्वात् शुक्लं कर्म्मास्य अकृष्णकर्म्मा शुक्लकर्म्मा इत्यर्थः । इति वाचस्पतिं च । इति भरतः ॥ * ॥

"शिश्विदानः कृष्णकर्म्मा शुक्लकर्म्मेति कस्यचित् ॥"
इति जटाधरः ॥

(यथा, प्रद्युम्नविजये । ७ अङ्के ।

"खाड्गिक ! छिद्यतां छिद्यतां एष क्षुद्रः शिश्विदानः ॥")

शिष, वधे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट् ।) शेषति । इति दुर्गादासः ॥

शिष, ऌ ध ओ विशेषे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (रुधा०-पर०-सक०-अनिट् ।) विशेष उपरञ्जनम् । ऌ, अशिषत् । ध, विशिनष्टि स्वरं मूर्त्ता यः । इति हलायुधः । मूर्त्तिविशिष्टं करोति इत्यर्थः । ओ, शेष्टा । इति दुर्गादासः ॥

शिष, कि असर्व्वोपयोगे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (चुरा० पक्षे-भ्वा०-सक० सेट् ।) असर्व्वोपयोगः परिशेषीकरणम् । कि, शेषयति शेषति यशोराशिं लोकः अवशिष्टं करोति इत्यर्थः । वैरतिशायने शिष किरनुवर्त्तते । कि, विशेषयति विशेषति सम्पत्ता भूपं विधिः । इति दुर्गादासः ॥

शिष्टः, त्रि, (शास+क्तः । "शास इदङ्हलोः ।" ६ । ४ । ३४ । इति उपधाया इकारः । "शासिवसिघसीनाञ्च ।" ८ । ३ । ६० इति सस्य षः ।) शान्तः । सुबुद्धिः । धीरः । तस्य लक्षणं यथा,—

"न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलो मुनिः ।
न च वागङ्गचपल इति शिष्टस्य लक्षणम् ॥"
इति महाभारते अश्वमेधपर्व्व ॥

अपि च ।

"धर्म्मो नाभिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः ।
ते शिष्टा ब्राह्मणाः प्रोक्ता नित्यमात्मगुणान्विताः ॥"
इति कौर्म्मे उपविभागे २४ अध्यायः ॥ * ॥

अन्यच्च ।

"विशेषशब्दनिष्ठस्तु शेषः शिष्टः प्रचक्षते ।
मन्वन्तरेषु ये शिष्टा इह तिष्ठन्ति धार्म्मिकाः ॥
मनुः सप्तर्षयश्चैव लोकसन्तानकारणात् ।
तिष्ठन्तीह च धर्म्मार्थं तान् शिष्टान् परिचक्षते ।
तैः शिष्टैः पालितो धर्म्मः स्थाप्यते वै युगे युगे ॥"
इति मात्स्ये १२० अध्यायः ॥

(अवशिष्टः । यथा, गीतायाम् । ४ । ३० ।

"यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्मसनातनम् ॥")

शिष्टाचारः, पुं, (शिष्ट आचारः । शिष्टानामाचारो वा ।) साधुव्यवहारः । यथा,—

"ततः स्मार्त्तः स्मृतो धर्म्मो वर्णाश्रमविभागशः ।
एवं वै द्विविधो धर्म्मः शिष्टाचारः स उच्यते ॥

त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिः प्रजा वर्णाश्रमेण्यया ।
शिष्टैराचर्य्यते यस्मात् शिष्टाचारः स शाश्वतः ॥
दानं सत्यं तपोऽलोभो विद्येज्या पूजनं दमः ।
अष्टौ तानि चरित्राणि शिष्टाचारस्य लक्षणम् ॥
शिष्टा यस्माच्चरन्त्येनं मनुः सप्तर्षयश्च ये ।
मन्वन्तरेषु सर्व्वेषु शिष्टाचारस्ततः स्मृतः ॥
श्रुतिस्मृतिभ्यां विहितो धर्म्मो वर्णाश्रमात्मकः ।
शिष्टाचारविरुद्धस्तु धर्म्मः स साधुसम्मतः ॥"
इति मात्स्ये १२० अध्यायः ॥

शिष्टिः, स्त्री, (शास + क्तिन् । "शास इदङ्हलोः ।" ६ । ४ । ३४ । इति उपधाया इः ।) आज्ञा । शासनम् । इत्यमरः ॥ (यथा, मनुः ।४।१६४।
"अन्यत्र पुत्त्रात् शिष्याद्वा शिष्टार्थं ताडयेत्तु तौ ॥")

शिष्यः, त्रि, (शिष्यतेऽसाविति । शास + "एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप् ।" ३ । १ । १०९ । इति क्यप् । "शास इदङ्हलोः ।" ६।४।३४ । इति इः । "शासिवसीति ।" ८।३।६०। इति षः ।) उपदेश्यः । तत्पर्य्यायः । छात्रः २ अन्तेवासी ३ । इत्यमरः ॥ अन्तेसत् ४ । अन्तेषदः ५ । यथा,—
"छात्रान्तेवासिशिष्यान्तेषद एकार्थता इमे ॥"
इति जटाधरः ॥
तस्य लक्षणं यथा,—
"वाङ्मनःकायवसुभिर्गुरुशुश्रूषणे रतः ।
एतादृशगुणोपेतः शिष्यो भवति नारद ॥
देवताचार्य्यशुश्रूषां मनोवाक्कायकर्म्मभिः ।
शुद्धभावो महोत्साहो बोद्धा शिष्य इति स्मृतः ॥"
इति दीक्षातत्त्वम् ॥
अपि च ।
"शान्तो विनीतः शुद्धात्मा श्रद्धावान् धारणक्षमः ।
समर्थश्च कुलीनश्च प्राज्ञः सच्चरितो व्रती ।
एवमादिगुणैर्युक्तः शिष्यो भवति नान्यथा ॥" * ॥
निषिद्धशिष्यलक्षणमाह ।
"पापिने क्रूरचेष्टाय शठाय कृपणाय च ।
हीनायाचारशून्याय मन्त्रद्वेषपराय च ॥
निन्दकाय च मूर्खाय तीर्थद्वेषपराय च ।
भक्तिहीनाय देवेशि न देया मलिनाय च ॥
गुरुता शिष्यता वापि तयोर्व्वत्सरवासतः ॥"
तथा चोक्तं सारसंग्रहे ।
"सद्गुरुः स्वाश्रितं शिष्यं वर्षमेकं परीक्षयेत् ।
वर्षैकेन भवेद्योग्यो विप्रो गुणसमन्वितः ॥
वर्षद्वयेन राजन्यो वैश्यस्तु वत्सरैस्त्रिभिः ।
चतुर्भिर्वत्सरैः शूद्रः कथिता शिष्ययोग्यता ॥"
इति तन्त्रसारः ॥ * ॥
अन्यच्च ।
"आचारे शासयेद्यस्तु स आचार्य्य उदाहृतः ।
यस्त्वाचार्य्यपराधीनस्तद्वाक्यं शास्यते हृदि ।
शासने स्थिरवृत्तिश्च शिष्यः सद्भिरुदाहृतः ॥
एवं लक्षणसंयुक्तं शिष्यं सर्व्वगुणान्वितम् ।
अध्यापयेद्विधानेन मन्त्ररत्नमनुत्तमम् ॥"
इति पाद्मोत्तरखण्डे २५ अध्यायः ॥ * ॥
पुत्त्रशिष्ययोस्तुल्यत्वं यथा,—
"यथा पुत्त्रस्तथा शिष्यो न भेदः पुत्त्रशिष्ययोः ।
तर्पणे पिण्डदाने च पालने परिपोषणे ॥
यथाभिदाता पुत्त्रश्च तथा शिष्यश्च निश्चितम् ।
इतीदं काण्वशाखायामुवाच कमलोद्भवः ॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे ६१ अध्यायः ॥
पुत्त्रशिष्याभ्यां विशेषो यथा,—
सनत्कुमार उवाच ।
"पुत्त्र एवास्ति देवेश यतः शिष्योऽस्त्यहं विभो ।
न विशेषोऽस्ति पुत्त्रस्य शिष्यस्य च पितामह ॥
ब्रह्मोवाच ।
विशेषः शिष्यपुत्त्राभ्यां विद्यते धर्म्मनन्दन ।
धर्म्मकर्म्मसमायोगे तथापि गदतः शृणु ॥
पुन्नाम्नो नरकात्त्राति पुत्त्रस्तेनेह गीयते ।
शेषपापहरः शिष्य इतीयं वैदिकी श्रुतिः ॥
सनत्कुमार उवाच ।
कोऽयं पुन्नामको देव नरकात्त्राति पुत्त्रकः ।
कस्माच्छेषं ततः पापं हरेच्छिष्यश्च तद्वद ॥"
इति वामने ५७ अध्यायः ॥
ब्रह्मोवाच ।
"अतः परं प्रवक्ष्यामि शेषपापस्य लक्षणम् ।
ऋणं देवर्षिभूतानां मनुष्याणां विशेषतः ॥
पितॄणाञ्च द्विजश्रेष्ठ सर्व्ववर्णेषु चैकतः ।
ॐकारादिविमुक्तिश्च पापकार्य्यकृतिश्च या ॥
हत्यादिकं महापापं त्वगम्यागमनं तथा ।
घृतादिविक्रयं घोरं चण्डालादिप्रतिग्रहम् ॥
स्वदोषगोपनं पापं परदोषप्रकाशनम् ।
ईर्ष्याविष्टं वाक्यदुष्टं निष्ठुरत्वं सडम्बरम् ॥
ढाकित्वं तालवादित्वं नाम्ना वाचाप्यधर्म्मजम् ।
मारणत्वमधार्म्मिक्यं नरकावहमुच्यते ॥
एतैः पापैश्च संयुक्तः पात्यते यदि शङ्करम् ।
ज्ञानाभिकमशेषेण शेषात् पापात् जयेत्ततः ॥
शारीरं वाचिकं यत्तु मानसं त्रिविधं तथा ।
पितृमातृकृतं यच्च ज्ञातं यच्चाश्रितैर्नरैः ॥
ज्ञातिभिर्बान्धवैश्चापि तस्मिन् जन्मनि धर्म्मज ।
तत्सर्व्वं विलयं याति कर्म्मणा सुतशिष्ययोः ॥
तस्मात् पुत्त्रश्च शिष्यश्च विधातव्यो विपश्चिता ।
सुतमर्थमभिध्याय शिष्यात् श्रेष्ठतरः सुतः ॥
शेषात्तारयते शिष्यः सर्व्वस्मेव हि पुत्त्रकः ॥"
इति वामने ५८ अध्यायः ॥

शिह्लः, पुं, शिह्लकः । इति शब्दचन्द्रिका ॥

शिह्लकः, पुं, (शिह्ल एव । स्वार्थे कन् ।) गन्धद्रव्यविशेषः । शिलारसः । शिह्ला इति लोकाः इति च भाषा । तत्पर्य्यायः । कपिनामा २ कपिः ३ तैलम् ४ कृत्रिमम् ५ कपिलः ६ चला ७ तुरुष्कः ८ सुक्तिसुतः ९ पिच्छालः १० वरः ११ । इति रत्नमाला ॥ पिण्डकः १२ सिह्नः १३ यावनः १४ । इत्यमरः ॥ अस्यानुलेपनगुणाः ।
"शिह्लकः परमा मांसी देवदारु सुरा नखम् ।
सर्व्वेऽमी परमा लक्ष्मी रक्षोघ्ना ज्वरनाशनाः ॥"
दौष्यघ्ना इति वा पाठः । इति राजवल्लभः ॥ अन्यत् तुरुष्कशब्दे द्रष्टव्यम् ॥

शी, ङ ल ञि स्वप्ने । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (अदा०-आत्म०-अक०-सेट् ।) ङ ल, शेते । ञि, शयितोऽस्ति । मल्लपे शयामीति गणकृतानित्यत्वात् परस्मैपदे शपोऽलुगभावे चेति रमानाथः । वस्तुतस्तु शेते शयः पश्चात् शय इवाचरतीति क्वौ साध्यम् । इति दुर्गादासः ॥

शीः, स्त्री, (शी + क्विप् ।) शान्तिः । शयनम् । इति शब्दरत्नावली ॥

शीक, ऋ ङ सेके । सर्पे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-आत्म०-सक०-सेट् ।) ऋ, अशिशीकत् । ङ, शीकते । इति दुर्गादासः ॥

शीक, कि आमर्षे । सेके । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (चुरा०-पक्षे भ्वा०-सक०-सेट् ।) कि, शीकयति शीकति । आमर्षः स्पर्शः । तथा च ।
"चन्द्रावतीतरङ्गार्द्रा शीकयन्ति च वायवः ।"
इति हलायुधः ॥
वायवः स्पृशन्ति इत्यर्थः । भट्टमल्लस्तु आमर्षण इति मूर्द्धन्यषमध्यं पठित्वा क्षमार्थमाह । इति दुर्गादासः ॥

शीकरं, क्ली, (शीक्यतेऽनेनेति । शीक + बाहुलकात् अरः ।) शरलद्रवः । इति मेदिनी ॥

शीकरः, पुं, (शीक्यतेऽनेनेति । शीक + बाहुलकात् अरः । इत्युज्ज्वलदत्तः ।३।१३१।) वातादिप्रेरितजलकणा । इत्यमरः ॥ (यथा, कुमारे । १।१५ ।
"भागीरथीनिर्झरशीकराणां
वोढा मुहुः कम्पितदेवदारुः ॥")
वायुः । इति मेदिनी ॥

शीघ्रं, क्ली, (शिङ्घति व्याप्नोतीति । शिघ व्याप्तौ + रक्प्रत्ययेन साधु ।) विलम्बाभावः । तत्पर्य्यायः । त्वरितम् २ लघु ३ क्षिप्रम् ४ अरम् ५ द्रुतम् ६ सत्वरम् ७ चपलम् ८ तूर्णम् ९ अविलम्बितम् १० आशु ११ । अव्ययाः शीघ्रवाचकाः यथा । स्राक् १२ झटिति १३ अञ्जसा १४ अह्नाय १५ सपदि १६ द्राक् १७ मंक्षु १८ । इत्यमरः ॥ तद्वैदिकपर्य्यायः । नु १ मक्षु २ द्रवत् ३ ओषम् ४ जीराः ५ जूर्णिः ६ शूर्णाः ७ शूघनासः ८ शीभम् ९ तृषु १० तूयम् ११ तूर्णिः १२ अजिरम् १३ भुरण्युः १४ शु १५ आशुः १६ प्राशुः १७ तूतुजिः १८ तूतुजानः १९ तुज्यमानासः २० अज्राः २१ साचिवित् २२ द्युगत् २३ ताजत् २४ तरणिः २५ वातरंहाः २६ । इति षड्विंशतिः क्षिप्रनामानि इति वेदनिघण्टौ । २ । १५ ॥ लामज्जकम् । इति राजनिर्घण्टः ॥ (पुं, कुशवंशीयाग्निवर्णस्य पुत्त्रः । यथा, भागवते । ९ । १२ । ५ ।
"सुदर्शनोऽथाग्निवर्णः शीघ्रस्तस्य मरुः सुतः ॥")
शीघ्रविशिष्टे, त्रि । इत्यमरः ॥ (यथा, महाभारते । ३ । ६७ । ६ ।
"स त्वमातिष्ठ योगं तं येन शीघ्रा हया मम ।
भवेयुरश्वाध्यक्षोऽसि वेतनं ते शतं शताः ॥")

शीघ्रगः, त्रि, (शीघ्रं गच्छतीति । गम् + डः ।) द्रुतगामी । यथा,—

"हरिते रोगोऽनुतापः शस्यानामीतिभिश्च
विध्वंसः ।
कपिले शीघ्रगसत्वन्निच्छध्वंसोऽथ दुर्भिक्षम् ॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥

वायौ, पुं । इत्यमरे आशुगशब्ददर्शनात् ॥ (यथा, महाभारते । ३ । ३ । २५ ।

"मनः सुपर्णो भूतादिः शीघ्रगः प्राण-
धारणः ॥")

शीघ्रगामी, [न्] त्रि, आशुगमनशीलः । शीघ्रं गच्छतीत्यर्थे शीघ्रशब्दपूर्ब्बकगमधातोर्णिनिप्रत्ययेन निष्पन्नः ॥

शीघ्रचेतनः, पुं, (शीघ्रं चेततीति । चित + ल्युः ।) कुक्कुरः । इति शब्दमाला ॥ द्रुतचेतनायुक्ते, त्रि ॥

शीघ्रजन्मा, [न्] पुं, (शीघ्रं जन्म यस्य ।) करञ्जविशेषः । काँटाकरञ्ज इति भाषा । यथा,—

"पूतीकः पांशुलः पोक्ता शीघ्रजन्मा कुटत्ति-
कृत् ।"
इति शब्दचन्द्रिका ॥

शीघ्रपुष्पः, पुं, (शीघ्रं पुष्पं यस्य ।) अगस्त्यवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शीघ्रवेधी, [न्] पुं, (शीघ्रं विध्यतीति । विध छिद्रीकरणे + णिनिः ।) क्षिप्रशरवेधकर्त्ता । तत्पर्य्यायः । लघुहस्तः २ । इति हेमचन्द्रः ॥

शीघ्रा, स्त्री, दन्तीवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शीघ्रीयं, त्रि, द्रुतसम्बन्धि । शीघ्रभवम् । शीघ्रशब्दात् छीयप्रत्ययेन निष्पन्नम् ॥

शीतं, क्ली, (श्यै ङ गतौ + क्तः । "द्रवमूर्त्तिस्पर्शयोः श्यः ।" ६ । १ । २४ । इति सम्प्रसारणम् । "हलः ।" ६ । ४ । २ । इति दीर्घः ।) हिमगुणः । इत्यमरः ॥ (यथा, मनुः ।११।११४।

"उष्णे वर्षति शीते वा मारुते वाति वा भृशम् ।
न कुर्व्वीतात्मनस्त्राणं गोरकृत्वा तु शक्तितः ॥")

जलम् । इति शब्दमाला ॥ त्वचम् । इति राजनिर्घण्टः ॥ शीतं तुषारवानीरबहुवारहिमेषु च । इति भरतधृताजयः ॥

शीतः, पुं, (श्यै + क्तः ।) वेतसवृक्षः । बहुवारकवृक्षः । इत्यमरः ॥ अशनपर्णी । इति शब्दरत्नावली ॥ पर्पटः । निम्बः । कर्पूरः । इति राजनिर्घण्टः ॥ हिम ऋतुः । अस्य विवरणं हेमन्तशब्दे द्रष्टव्यम् ॥

शीतः, त्रि, (श्यै + क्तः ।) शीतलः । इत्यमरः ॥ (यथा, महाभारते । ३ । १६८ । ५० ।

"शीतश्च सुखो वायुः सुगन्धो जीवनः शुचिः ।
सर्व्वरत्नविचित्रा च भूमिः पुष्पविभूषिता ॥")

अलसः । इति मेदिनी ॥ क्वथितः । इति शब्दचन्द्रिका ॥ शीतलद्रव्यगुणाः । पित्तनाशित्वम् । बलकफवायुकारित्वम् । गुरुत्वञ्च । इति राजवल्लभः ॥

शीतकः, पुं, (शीत + स्वार्थे कन् ।) शीतकालः । सुस्थितः । दीर्घसूत्री । इति मेदिनी ॥ अशनपर्णी । इति शब्दरत्नावली ॥ वृश्चिकः । इति शब्दमाला ॥ (देशविशेषः । यथा, बृहत्संहितायाम् । १४ । २७ ।

"माण्डहलचूणकोहलशीतकमाण्डव्यभूत-
पुराः ॥")

शीतकरः, पुं, (शीतः शीतलः करो यस्य ।) चन्द्रः । इति हिमकरशब्ददर्शनात् ॥ (यथा, बृहत्संहितायाम् । ४ । २६ ।

"भस्मनिभः परुषोऽरुणमूर्त्तिः
शीतकरः किरणैः परिहीणः ॥")

शीतलपाणियुक्ते शीतकारिणि च त्रि ॥

शीतकषायः, पुं, (शीतस्य कषायः ।) हिमकषायः । यथा,—

"क्षुण्णं द्रव्यपलं सम्यक् षड्भिर्जलपलैः प्लुतम् ।
शर्व्वरीमुषितः स स्याद्धिमशीतकषायकः ॥")
इति वैद्यकम् ॥

शीतकालः, पुं, (शीतस्य कालः ।) हिम ऋतुः । स तु अग्रहायणपौषमासद्वयकालात्मकः । तत्पर्य्यायः । शीतकः २ । इति मेदिनी ॥ हेमन्तः ३ । इत्यमरः ॥ सहाः ४ । इति जटाधरः ॥ हैमनः ५ । इति शब्दरत्नावली ॥ यथा,—

"कूपोदकं वटच्छाया श्यामा स्त्री इष्टकागृहम् ।
शीतकाले भवेदुष्णं उष्णकाले च शीतलम् ॥"
इति चाणक्यम् ॥

शीतकिरणः, पुं, (शीतं शीतलं किरणं यस्य ।) चन्द्रः । यथा,—

"कान्ते कोऽयमुदेति शीतकिरणो जातः
कुतो वारिधौ
कस्ते सुन्दरि सोदरः करग्रहो दत्ते मदीये
स्तने ।
धन्या त्वं युवती सती कुलवती भ्रातापि धन्य-
स्तव
इत्थं श्रीपरिहासकेलिकलया मुग्धो हरिः पातु
वः ॥"
इत्युद्भटः ॥

शीतकुम्भः, पुं, करवीरः । इति रत्नमाला ॥

शीतकुम्भी, स्त्री, जलजवृक्षविशेषः । शीउलीछोप् इति भाषा । यथा,—

"शीतली शीतकुम्भी च शुक्रपुष्पा जलोद्भवा ।"
इति रत्नमाला ॥

शीतकृच्छ्रः, पुं, व्रतविशेषः । यथा । "यदा तु शीतं क्षीरादि पीयते तदा शीतकृच्छ्रः ।

'त्र्यहं शीतं पिबेत्तोयं त्र्यहं शीतं पयः पिबेत् ।
त्र्यहं शीतं घृतं पीत्वा वायुभक्षः परं त्र्यहम् ॥'
इति यमस्मरणात् ।" इति मिताक्षरा ॥

शीतक्षारं, क्ली, (शीतः क्षारो यस्य ।) श्वेतटङ्कणम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

शीतगन्धं, क्ली, (शीतो गन्धो यस्य ।) श्वेतचन्दनम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

शीतगुः, पुं, (शीता गौः किरणो यस्य ।) चन्द्रः । इति वोपदेवः ॥ (यथा, साहित्यदर्पणे । १० ।

"भुजङ्गकुण्डली व्यक्तशशिशुभ्रांशुशीतगुः ॥")

शीतचम्पकः, पुं, दर्पणम् । प्रदीपः । इति मेदिनी-शब्दरत्नावल्यौ ॥

शीतपर्णी, स्त्री, (शीतं पर्णं यस्याः । ङीष् ।) अर्कपुष्पिका । इति रत्नमाला ॥ अर्कहुली इति भाषा ॥

शीतपल्लवा, स्त्री, (शीतं पल्लवं यस्याः ।) भूमिजम्बूः । इति रत्नमाला ॥

शीतपाकिनी, स्त्री, (शीते पाकोऽस्या अस्तीति । इनिः ।) काकोली । इति शब्दमाला ॥ महासमङ्गा । इति राजनिर्घण्टः ॥

शीतपाकी, स्त्री, (शीते पाको यस्याः । ङीष् ।) वाट्यालकः । इति शब्दरत्नावली ॥ काकोली । इति रत्नमाला ॥ गुञ्जा । इति राजनिर्घण्टः ॥

शीतपुष्पं, क्ली, (शीतं पुष्पं यस्य ।) परिपेलम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

शीतपुष्पः, पुं, (शीतं पुष्पं यस्य ।) शिरीषवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शीतपुष्पकं, क्ली, (शीतं पुष्पमिव । कन् ।) शैलेयम् । इति शब्दचन्द्रिका ॥

शीतपुष्पकः, पुं, (शीतं पुष्पं यस्य । बहुव्रीहौ कन् ।) अर्कवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शीतपुष्पा, स्त्री, (शीतं पुष्पं यस्याः ।) अतिबला । इति राजनिर्घण्टः ॥

शीतप्रभः, पुं, (शीता प्रभा यस्य ।) कर्पूरः । इति राजनिर्घण्टः ॥ शीतलप्रभायुक्ते, त्रि ॥

शीतप्रियः, पुं, (शीतः प्रियो यस्य ।) पर्पटः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शीतफलः, पुं, (शीतं फलं यस्य ।) उडुम्बरः । पीलुः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शीतबला, स्त्री, महासमङ्गा । इति राजनिर्घण्टः ॥

शीतभानुः, पुं, (शीतो भानुर्यस्य ।) चन्द्रः । इति शब्दरत्नावली ॥

शीतभीरुः, स्त्री, (शीताद्भीरुः ।) मल्लिका । इत्यमरः ॥ शीतभीते, त्रि ॥

शीतमञ्जरी, स्त्री, (शीता मञ्जरी यस्याः ।) शेफाली । इति राजनिर्घण्टः ॥

शीतमयूखः, पुं, (शीतो मयूखो यस्य ।) चन्द्रः । कर्पूरः । इति मेदिनी ॥

शीतमरीचिः, पुं, (शीता मरीचिर्यस्य ।) चन्द्रः । कर्पूरः । इति शब्दरत्नावली ॥

शीतमूलकं, क्ली, (शीतं मूलं यस्य । बहुव्रीहौ कन् ।) उशीरम् । इति राजनिर्घण्टः ॥ शीतलमूलयुक्ते, त्रि ॥

शीतरम्यः, पुं, (शीते रम्यः ।) प्रदीपः । इति जटाधरः ॥ शीतरमणीये, त्रि ॥

शीतरश्मिः, पुं, (शीतो रश्मिर्यस्य ।) चन्द्रः । यथा,

"हेलिः सूर्य्यश्चन्द्रमाः शीतरश्मिः ।"
इति ज्योतिस्तत्त्वम् ॥

कर्पूरश्च ॥ चन्द्रसंज्ञक इति दर्शनात् ॥

शीतलं, क्ली, (शीतं लातीति । ला + कः ।) पुष्पकासीसम् । शैलजम् । मलयोद्भवम् । तत्तु चन्दनम् । इति मेदिनी ॥ पद्मकम् । मौक्तिकम् ।

इति राजनिर्घण्टः ॥ शैत्यम् । इति शब्दरत्नावली ॥ वीरणमूलम् । इति शब्दचन्द्रिका ॥

शीतलः, पुं, अश्मनपर्णी । इत्यमरः ॥ अर्हद्विशेषः । स तु चतुर्विंशतितीर्थङ्करमध्ये दशमतीर्थङ्करः । इति हेमचन्द्रः ॥ व्रतविशेषः । स तु मेषसंक्रान्त्यां कर्त्तव्यः । चन्द्रः । इति शब्दचन्द्रिका ॥ चम्पकः । कर्पूरभेदः । रालः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शीतलः, त्रि, (शीतोऽस्यास्तीति । शीत + "सिध्मादिभ्यश्च ।" ५ । २ । ९७ । इति लच् ।) शीतगुणविशिष्टः । तत्पर्य्यायः । सुषीमः २ शिशिरः ३ जड़ः ४ तुषारः ५ शीतः ६ हिमः ७ । इत्यमरः ॥

शीतलकं, क्ली, सितोत्पलम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

शीतलकः, पुं, मरुवकः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शीतलच्छदः, पुं, (शीतलश्छदो यस्य ।) चम्पकः । इति राजनिर्घण्टः ॥ शीतलपत्रश्च ॥

शीतलजलं, क्ली, (शीतलं जलं यस्य ।) उत्पलम् । इति राजनिर्घण्टः ॥ हिमवारि च ॥

शीतलता, स्त्री, (शीतलस्य भावः । तल् ।) शीतलत्वम् । शीतलस्य भाव इत्यर्थे तद्भावे तात्वमिति संक्षिप्तसारसूत्रेण ताप्रत्ययनिष्पन्ना ॥

शीतलत्वं, क्ली, (शीतलस्य भावः । त्व ।) जड़ता । इति राजनिर्घण्टः ॥ शीतलता च ॥

शीतलप्रदः, पुं, (शीतलं प्रददाति । प्र + दा + कः ।) चन्दनम् । इति केचित् ॥ हिमदातरि, त्रि ॥

शीतलवातकः, पुं, (शीतलो वातो यस्य । कन् ।) अश्मनपर्णी । इति शब्दरत्नावली ॥ शीतलवायुयुक्ते, त्रि ॥

शीतला, स्त्री, (शीतल + स्त्रियां टाप् ।) शीतलीवृक्षः । यथा,—

"शीतला शीतली शीतकुम्भी पाण्डरपुष्पिका ।"

इति शब्दचन्द्रिका ॥

देवीविशेषः । सा च वसन्तविस्फोटकादेरधिष्ठात्री देवता । यथा,—

स्कन्द उवाच ।

"भगवन् देवदेवेश शीतलायाः स्तवं शुभम् ।
वक्तुमर्हस्यशेषेण विस्फोटकभयापहम् ॥

ईश्वर उवाच ।

नमामि शीतलां देवीं रासभस्थां दिगम्बरीम् ।
मार्ज्जनीकलसोपेतां शूर्पालङ्कृतमस्तकाम् ॥"

इति स्कन्दपुराणम् ॥

अस्या विवरणं मसूरिकाशब्दे द्रष्टव्यम् ॥ कुट्टिम्बिनी । आरामशीतला । वालुका । इति राजनिर्घण्टः ॥

शीतलाषष्ठी, स्त्री, (शीतला षष्ठी ।) माघशुक्लाषष्ठी । यथा,—

"प्रसूत्या द्वादशे मासि पुत्त्रापत्यविवृद्धये ।
सुते जाते तथा षष्ठ्यां षष्ठी द्वादशरूपिणी ॥
वैशाखे चान्दनी षष्ठी ज्यैष्ठे चारण्यसंज्ञिता ।
आषाढ़े कार्द्दमी ज्ञेया श्रावणे लुण्ठनी तथा ॥
भाद्रे चपेटी विख्याता दुर्गाख्याश्वयुजे तथा ।
नाड्याख्या कार्त्तिके मासि मार्गे मूलकरूपिणी ॥
पौषे मासान्नरूपा च शीतला तपसि स्मृता ।
गोरूपिणी फाल्गुने च चैत्रेऽशोका प्रकीर्त्तिता ॥"

इति स्कन्दपुराणम् ॥

शीतली, स्त्री, जलजवृक्षविशेषः । शिउलीझोप् इति भाषा । तत्पर्य्यायः । शीतकुम्भी २ शुक्लपुष्पा ३ जलोद्भवा ४ कालानुसारिवा ५ । इति रत्नमाला ॥

शीतवल्कः, पुं, (शीतलो वल्को यस्य ।) उडुम्बरः । इति राजनिर्घण्टः ॥ शीतलवल्कले, त्रि ॥

शीतवीर्य्यकः, पुं, (शीतं वीर्य्यं यस्य । कन् ।) प्लक्षवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥ शीतलवीर्य्ययुक्ते, त्रि ॥

शीतशिवं, क्ली, (शीते शीतकाले शिवं मङ्गलप्रदम् ।) सैन्धवलवणम् । शैलेयनामगन्धद्रव्यम् । इत्यमरः ॥

शीतशिवः, पुं, (शीते शीतकाले शिवः शुभप्रदः ।) मधुरिका । इत्यमरः ॥ शक्तुफलावृक्षः । इति मेदिनी ॥

शीतशिवा, स्त्री, (शीते शिवा मङ्गलप्रदा ।) मिश्रेया । इति राजनिर्घण्टः ॥ शमीवृक्षः । इति रत्नमाला ॥

शीतशूकः, पुं, (शीते शूको यस्य ।) यवः । इति केचित् ॥ शीतलशूकयुक्ते, त्रि ॥

शीतसहः, पुं, (शीतं सहते इति । सह + अच् ।) पीलुवृक्षः । इति जटाधरः ॥ शीतसहनीये, त्रि ॥

शीतसहा, स्त्री, (शीतसह + टाप् ।) नीलसिन्धुवारः । वासन्ती । इति राजनिर्घण्टः ॥

शीता, स्त्री, रामपत्नी । इति शब्दरत्नावली ॥ लाङ्गलपद्धतिः । इत्यमरटीकायां भरतः ॥ यथा,—

"शीता नभःसरिदिति लाङ्गलपद्धतौ च
शीता दशाननरिपोः सहधर्म्मिणी च ।
शीतं स्मृतं हिमगुणे च तदन्विते च
शीतोऽलसे च बहुवारतरौ च दृष्टः ॥"

इति तालव्यादौ धरणिः ॥

अतिबला । कुटुम्बिनी । दूर्व्वा । शिल्पिकाख्यम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

शीतांशुः, पुं, (शीताः अंशवो यस्य ।) कर्पूरः । इति राजनिर्घण्टः ॥ चन्द्रः । यथा,—

"शीतांशुरिष्टमन्नं जनयति सततं जन्मराशौ नराणाम् ।"

इति ज्योतिस्तत्त्वम् ॥

शीतांशुतैलं, क्ली, (शीतांशोः कर्पूरस्य तैलम् ।) कर्पूरतैलम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

शीताङ्गी, स्त्री, (शीतं अङ्गमस्याः । ङीष् ।) हंसपदीवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥ शीतलाङ्गे, त्रि ॥ (यथा, सुश्रुते । २ । ८ ।

"प्रविध्यति शिरो यातु शीताङ्गी निरपत्रपा ।
नीलोद्धतशिरा हन्ति सा गर्भं स च तां तथा ॥")

शीतादः, पुं, (शीतमादत्ते इति । आ + दा + कः ।) दन्तरोगविशेषः । तस्य निदानं दन्तशब्दे द्रष्टव्यम् । तदौषधं यथा,—

"शीतादे हृतरक्ते तु तोयनागरसर्षपान् ।
निष्क्वाथ्य त्रिफलाञ्चापि कुर्य्याद्गण्डूषधारणम् ॥
कासीसलोध्रकृष्णा मनःशिला सप्रियङ्गुतेजोह्वा ।
एतच्चूर्णं मधुयुक् शीतादे पूतिमांसहरम् ॥"
तेजोह्वा तेजवला ।
"तैलं घृतं वा वासन्नं शीतादे संप्रशस्यते ।"

इति भावप्रकाशः ॥

शीताद्रिः, पुं, (शीतजनकोऽद्रिः । शीतप्रधानोऽद्रिरिति वा ।) हिमालयपर्व्वतः । इति केचित् ॥

शीतावला, स्त्री, महासमङ्गा । इति राजनिर्घण्टः ॥

शीतार्त्तः, त्रि, (शीतेन ऋतः पीड़ितः ।) शीतेन पीड़ितः । तत्पर्य्यायः । शीतालुः २ । इति जटाधरः ॥ (यथा, शिवरात्रिव्रतकथायाम् ।

"शीतार्त्तश्च क्षुधार्त्तश्च कम्पान्वितकलेवरः ।
जजागार तदा रात्रौ शुनो नीहारवारिणा ॥")

शीतालुः, त्रि, (शीतं न सहते इति । शीत + "शीतोष्णतृप्रेभ्यस्तन्न सहते ।" ५ । २ । १२२ । इत्यस्य वार्त्तिकोक्त्या आलुच् ।) शीतार्त्तः । इति जटाधरः ॥

शीताश्मा, [न्] पुं, (शीतः शीतलोऽश्मा ।) चन्द्रकान्तमणिः । इति राजनिर्घण्टः ॥ शीतलप्रस्तरश्च ॥

शीतीभावः, पुं, (शीत + भू + घञ् । अभूततद्भावे च्विः ।) मोक्षः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ शीतलत्वञ्च ॥

शीतोत्तमं, क्ली, (शीतेषु वस्तुषु मध्ये उत्तमम् ।) जलम् । इति शब्दचन्द्रिका ॥

शीत्यं, त्रि, सीत्यम् । कृष्टम् । इत्यमरटीकायां रमानाथः ॥ शीतयोग्यञ्च ॥

शीत्कारः, पुं, (शीदिति शब्दस्य कारः करणम् ।) वरस्त्रीणां रतिकालध्वनिः । यथा,—

"शीत्कारो रतनारीणां सुरते वरयोषिताम् ।"

इति जटाधरः ॥

(शीत्कृतिमात्रे । यथा, कथासरित्सागरे । १ । २ ।

"सन्ध्यानृत्योत्सवे तारा करेणोद्धूय विघ्नजित् ।
शीत्कारशीकरैरन्याः कल्पयन्निव पातु वः ॥")

शीत्कृतं, क्ली, (शीदिति शब्दस्य कृतं करणम् ।) शीत्कारः । इति धरणिः ॥

शीधुः, पुं, क्ली, (शेतेऽनेनेति । शी + "शीङो धुग्लग्वलग्वालनः ।" उणा० ४ । ३८ । इति धुक् ।) पक्वेक्षुरसकृतमद्यम् । इत्यमरभरतौ ॥

शीधुपः, त्रि, (शीधु पातीति । पा + कः ।) शीधुपानकर्त्ता । इति शाब्दिकाः ॥

शीधुगन्धः, पुं, (शीधोर्मद्यविशेषस्य गन्धो यत्र ।) वकुलवृक्षः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ मद्यगन्धश्च ॥

शीनं, त्रि, (श्यैङ गतौ + क्तः । "द्रवमूर्त्तिस्पर्शयोः श्यः ।" ६ । १ । २४ । इति सम्प्रसारणम् । "श्योऽस्पर्शे ।" ८ । २ । ४७ । इति नः ।) घनीभूतघृतादि । इति मुग्धबोधव्याकरणम् ॥

शीनः, पुं, (श्यै+क्तः ।) मूर्खः । अजगरः । इति मेदिनी ॥

शीफालिका, स्त्री, शेफालिका । इत्यमरटीकायां भरतः ॥

शीभ, ऋ ङ कत्थने । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-आत्म०-सक०-सेट् ।) ऋ, अशिशीभत् । ङ, शीभते । कत्थनं प्रशंसा । इति दुर्गादासः ॥

शीभवः, पुं, शीकरः । इति शब्दरत्नावली ॥

शीभ्यः, पुं, (शीभ्यते प्रशंस्यते इति । शीभ+ण्यत् ।) शिवः । वृषः । इति केचित् ॥ (त्रि, आत्मश्लाघिभवः । जलप्रवाहभवः । क्षिप्रभवः । यथा, वाजसनेयसंहितायाम् । १६ । ३१ ।
"शीभ्याय च नम ऊर्म्याय ।"
"शीभृ कत्थने शीभते कत्थते इति । शीभ आत्मश्लाघी पचाद्यच् । तत्र भवः शीभ्यः । शीभो जलप्रवाहो वा शीभः क्षिप्रो वा तत्र भवाय नमः ।" इति तट्टीकायां महीधरः ।)

शीरः, पुं, (शेते इति । शी+"स्फायितञ्चीति ।" उणा० २ । १३ । इति रक् ।) अजगरसर्पः । इति शब्दरत्नावली ॥

शीरी, [न्] पुं, हरिदर्भः । इति राजनिर्घण्टः ॥ हरिद्दर्भ इति वा पाठः ॥

शीर्णं, क्ली, (शॄ+क्तः ।) स्थौणेयकम् । इति भावप्रकाशः ॥

शीर्णं, त्रि, (शॄ+क्तः ।) कृशः । विशीर्णः । इति मेदिनी ॥ (यथा, आर्य्यासप्तशत्याम् । ५६७ ।
"शीर्णप्रासादोपरि जिगीषुरिव कलरवः क्वणति ॥")

शीर्णमाला, स्त्री, पृश्निपर्णी । इति शब्दचन्द्रिका ॥ विशीर्णमाल्यश्च ॥

शीर्णपत्रः, पुं, (शीर्णं पत्रमस्य ।) कर्णिकारवृक्षः । इति शब्दचन्द्रिका ॥ पट्टिकालोध्रः । निम्बः । इति राजनिर्घण्टः ॥ विशीर्णपत्रे, त्रि ॥

शीर्णपर्णः, पुं, (शीर्णं पर्णमस्य ।) निम्बवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥ विशीर्णपर्णे, त्रि ॥

शीर्णपादः, पुं, (शीर्णौ पादौ यस्य । विमाटृशापादेवास्य तथात्वम् ।) यमः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ शनैश्चरश्च ॥

शीर्णपुष्पिका, स्त्री, (शीर्णं पुष्पं यस्याः । शीर्णपुष्पी । ततः स्वार्थे कन् ।) अवाक्पुष्पी । इति शब्दचन्द्रिका ॥

शीर्णवृन्तं, क्ली, (शीर्णं वृन्तं यस्य ।) हरिद्रोलम् । इति शब्दचन्द्रिका ॥ तरमुज् इति भाषा । तत्पर्य्यायः । सुखवासः २ । इति रत्नमाला ॥ सुखाशः ३ । इति केचित् ॥ अस्य गुणाः । कफमेदोऽनिलपित्तशुक्रकारित्वम् । क्षारत्वम् । मधुरत्वम् । आनाहश्लेष्मनाशित्वम् । लघुपाकित्वञ्च । इति राजवल्लभः ॥

शीर्णाङ्घ्रिः, पुं, (शीर्णौ अङ्घ्री यस्य । विमाटृशापादेवास्य तथात्वम् ।) यमः । इति हेमचन्द्रः । शम्पादे, त्रि ॥

शीर्व्विः, त्रि, (शृणातीति । शॄ+"जॄशॄस्तॄजागृभ्यः क्विन् ।" उणा० ४ । ५४ । इति क्विन् ।) अपकारकः । हिंसकः । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥

शीर्षं, क्ली, मस्तकम् । इत्यमरः ॥ (यथा, हरिवंशे । १७८ । ६ ।
"शीर्षाणां वै सहस्रन्तु विहितं शार्ङ्गधन्वना ।
सहस्रञ्चैव कायानां वहन् सङ्कर्षणस्तदा ॥")
कृष्णागुरुः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शीर्षकं, क्ली, (शीर्षे कं सुखमस्मात् ।) शिरोरक्षासन्नाहः । टोप् इति भाषा । तत्पर्य्यायः । शीर्षण्यम् २ शिरस्त्रम् ३ । इत्यमरः ॥ शिरोऽस्थि । इति राजनिर्घण्टः ॥ जयपराजयपत्रम् । यथा, याज्ञवल्क्यः ।
"तुलाग्न्यापो विषं कोषो दिव्यानीह विशुद्धये ।
महाभियोगेष्वेतानि शीर्षकस्थेऽभियोक्तरि ॥"
विशुद्धये सन्दिग्धार्थस्य सन्देहनिवृत्तये । महाभियोगेषु महापातकादिगुरुतराभियोगेषु । शीर्षकस्थे शीर्षकं प्रधानं शिरो व्यवहारस्य चतुष्पादः जयपराजयलक्षणः । तेन दण्डो लक्ष्यते तत्र तिष्ठतीति शीर्षकस्थः तत्प्रयुक्तदण्डभागीत्यर्थः । इति दिव्यतत्त्वम् ॥

शीर्षकः, पुं, (शीर्षमिव । इवार्थे कन् ।) राहुग्रहः । इति शब्दरत्नावली ॥ मस्तके, क्ली ॥

शीर्षघाती, [न्] त्रि, (शीर्षं हन्तीति । हन+"कुमारशीर्षयोर्णिनिः ।" ३ । २ । ५१ । इति णिनिः ।) मस्तकच्छेदकः । शीर्षशब्दपूर्व्वकहनधातोः कर्म्मभ्यां कुमारशीर्षाभ्यां हन इति संज्ञिप्रसारसूत्रेण णिन्प्रत्ययेन निष्पन्नः ॥

शीर्षच्छेदिकः, त्रि, (शीर्षच्छेदमर्हतीति । शीर्षच्छेद+ठक् ।) वधार्हः । यथा,—
"स शीर्षच्छेदिकः शीर्षच्छेद्यो यो वधमर्हति ॥"
इति हेमचन्द्रः ॥

शीर्षच्छेद्यः, त्रि, (शीर्षच्छेदं नित्यमर्हतीति । "शीर्षच्छेदात् यच्च ।" ५।१।६५ । इति यत् ।) मस्तकच्छेदनोपयुक्तः । वध्यः । इत्यमरः ॥ (यथा, उत्तरचरिते २ अङ्के ।
"शम्बूको नाम वृषलः पृथिव्यां तप्यते तपः ।
शीर्षच्छेद्यः स ते राम तं हत्वा जीवय द्विजम् ॥")

शीर्षण्यं, क्ली, (शिरसे हितम् । शिरस्+"शरीरावयवात् यत् ।" ५ । १ । ६ । इति यत् । "ये च तद्धिते ।" ६ । १ । ६१ । इति शिरसः शीर्षन्नादेशः ।) शीर्षकम् । शिरस्त्रम् । इत्यमरः ॥ त्रीणि शिरोरक्षसन्नाहे टोप् इति ख्याते । शीर्षे कं सुखमस्मात् शीर्षकम् । शीर्षमारोहति शीर्षण्यं ढये कादिति यः । शिरस्त्रायते शिरस्त्रं डः । इति भरतः ॥

शीर्षण्यः, पुं, (शिरसि भवः । शिरस्+"शरीरावयवाच्च ।" ४ । ३ । ५५ । इति यत् । "वा केशेषु ।" ६ । १ । ६१ । इत्यस्य वार्त्तिकोक्त्या शीर्षन्नादेशः ।) विशदकचः । तत्पर्य्यायः । शिरस्यः २ । इत्यमरः ॥ द्वे स्नातः स्नानादिना वा निर्म्मले अन्योन्यासंपृक्ते केशे । शीर्षे भवं शीर्षण्यं ढये कादिति यः । पादहस्त्यादिना शीर्षस्य शीर्षन्नादेशः । इति भरतः ॥ (शिरसि-निबद्धे, त्रि । यथा, ऋग्वेदे । १ । १६२ । ८ ।
"शीर्षण्या रसना रज्जुरस्य ।"
"शीर्षण्या शिरसि बद्धा रसना मेखला इव ।"
इति तद्भाष्ये सायणः ॥ * ॥ श्रेष्ठे च त्रि । यथा, भागवते । ५ । ४ । १५ ।
"यद्यच्छीर्षण्याचरितं तत्तदनुवर्त्तते लोकः ॥"
"शीर्षण्यः श्रेष्ठस्तेनाचरितम् ।" इति तट्टीका ॥)

शीर्षरक्षं, क्ली, (शीर्षं मस्तकं रक्षतीति । रक्ष+अण् ।) शिरस्त्राणम् । यथा,—
"शिरस्त्रं शीर्षरक्षञ्च शीर्षण्यं शीर्षकञ्च तत् ।"
इति हारावली । ७३ ॥

शीर्षोदयः, पुं, (शीर्षे शीर्षदेशे उदयो यस्य ।) मिथुन-सिंह-कन्या-तुला-वृश्चिककुम्भमीनलग्नरूपः । यथा,—
"अजगोपतियुग्मञ्च कर्किधन्विमृगास्तथा ।
निशासंज्ञाः स्मृतास्त्वेते शेषाश्चान्ये दिनात्मकाः ॥
निशासंज्ञा विमिथुनाः स्मृताः पृष्ठोदयास्तथा ।
शेषाः शीर्षोदया ह्येते मीनश्चोभयसंज्ञकः ॥"
इति ज्योतिस्तत्त्वम् ॥

शील, ञि समाधौ । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट् ।) ञि, शीलितोऽस्ति । समाधिः सेवानुभावनं प्रवृत्तिर्व्वा । यः शीलति सदा धर्म्ममिति हलायुधः । इति दुर्गादासः ॥

शील, तु क अभ्यासे । अतिशायने । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (अदन्त चुरा०-पर०-सक०-सेट् ।) अतिशायनं अतिशयकरणम् । तालव्यादिः । अशिशीलत् । उपधारणे इत्यन्ये । शीलय नीलनिचोलमिति जयदेवः । इति दुर्गादासः ॥

शीलं, क्ली, (शीलयतीति । शीलत् क अतिशायने+अच् । यद्वा, शीङ् स्वप्ने+"शीङो धुक् लक् वलञ् वालनः ।" उणा० ४ । ३८ । इति लक् । अर्द्धर्चादित्वात् पुंलिङ्गमपि ।) स्वभावः । सद्वृत्तम् । इत्यमरमेदिन्यौ ॥ (यथा, रामायणे । २ । ३६ । २४ ।
"साध्वीनान्तु स्थितानान्तु शीले सत्ये श्रुते स्थिते ।
स्त्रीणां पवित्रं परमं पतिरेको विशिष्यते ॥")
ब्रह्मण्यतादित्रयोदशविधधर्म्ममूलम् । रागद्वेषवर्ज्जनम् । यथा,—
"वेदोऽखिलो धर्म्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥"
इति मानवे २ अध्यायः ॥ * ॥
शीलं ब्रह्मण्यतादिरूपम् । तदाह हारीतः । ब्रह्मण्यता देवपितृभक्तता सौम्यता अपरोपतापिता अनसूयता मृदुता अपारुष्यं मैत्रता प्रियवादित्वं कृतज्ञता शरण्यता कारुण्यं प्रशान्तिश्चेति त्रयोदशविधं शीलम् । गोविन्दराजस्तु । शीलं रागद्वेषपरित्याग इत्याह । इति तट्टीकायां कुल्लूकभट्टः ॥

शील:, पुं, (शील अतिशायने+अच् ।) अजगरसर्प: । इति शब्दरत्नावली ॥ चरित्रम् । इत्यमरटीकायां नयनानन्द: ॥

शीलनं, क्ली, (शील+ल्युट् ।) अभ्यासनम् । (यथा, महाभारते । १२ । ३२१ । ४३ ।
"पुरा हृका भयङ्करा मनुष्यदेहगोचरा: ।
अभिद्रवन्ति सर्व्वतो यतस्व पुण्यशीलने ॥")
अतिशायनम् । उपधारणम् । सेवानुभावनम् । प्रवर्त्तनम् । इति शीलधातोरनट्प्रत्ययेन निष्पन्नम् ॥ पाठनिश्चय: । यथा,—
"भविनी गुणनी शीलनं स्तनम् ।"
इति ब्रह्मगर्गे त्रिकाण्डशेष: ॥

शीलवान्, [त्] त्रि, (शीलमस्यास्तीति । शील+मतुप् । मस्य व: ।) शीलविशिष्ट: । सत्स्वभाव: । यथा,—
"पथ्याशिनां शीलवतां नराणां
सद्वृत्तभाजां विजितेन्द्रियाणाम् ।
एवंविधानामिहमायुरत्र
चिन्त्यं सदा वृद्धमुनिप्रवाद: ॥"
इति मलमासतत्त्वम् ॥
सद्वृत्त: । इति शीलशब्दार्थदर्शनात् ॥

शीला, स्त्री, (शीलमस्या अस्तीति । शील+अच् । टाप् ।) कौण्डिन्यमुनिपत्नी । यथा,—
"मध्याह्ने भोज्यवेलायां समुत्तीर्य्य सरित्तटे ।
ददर्श शीला सा स्त्रीणां समूहं रक्तवाससाम् ॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥

शीलितं, क्ली, (शील+क्त: ।) चीर्णम् । इति त्रिकाण्डशेष: ॥ अभ्यस्ते, त्रि ॥

शीवलं, क्ली, (शी+बाहुलकात् वल: गुणाभावश्च ।) शैलेयम् । शैवालम् । इति मेदिनी ॥

शीवा, [न्] पुं, (शेते इति । शी+"शीङ्क्रुशिरुहीति ।" उणा० ४ । ११३ । इति क्वनिप् ।) अजगरसर्प: । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥

शुक, सर्पे । इति कविकल्पद्रुम: ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट् ।) शोकति । सर्पो गमनम् । इति दुर्गादास: ॥

शुक्, [च्] स्त्री, (शुच शोके+क्विप् ।) शोक: । इत्यमर: ॥ (यथा, रघु: । १२ । ७५ ।
"कामं जीवति मे नाथ: इति सा विजहौ शुचम् ।
प्राङ्मत्वा सत्यमस्यान्तं जीविताऽस्मीति लज्जिता ॥")

शुकं, क्ली, (शोभते इति । शुभ दीप्तौ+"शुकवल्कोल्का: ।" उणा० ३ । ४२ । इति कप्रत्ययेन निपातनात् साधु: ।) ग्रन्थिपर्णम् । इत्यमर: ॥ वस्त्रम् । वस्त्राञ्चलम् । शिरस्त्राणम् । इति हेमचन्द्र: ॥ शोणकवृक्ष: । इति विश्व: ॥

शुक:, पुं, (शुभ दीप्तौ+कप्रत्ययेन साधु: । उणा० ३ । ४२ ।) पक्षिविशेष: । शुया इति वङ्गभाषा । शुगा इति हिन्दी भाषा । तत्पर्य्याय: । कीर: २ । इत्यमर: ॥ वक्रतुण्ड: ३ मेधावी ४ दाड़िमप्रिय: ५ रक्ततुण्ड: ६ वक्रचञ्चु: ७ चिमि: ८ चिमिक: ९ । इति शब्दरत्नावली ॥ सूक: १० प्रियदर्शन: ११ । इति जटाधर: ॥ मञ्जुपाठक: १२ । (यथा, आर्य्यासप्तशत्याम् ।३८१ ।
"प्रकटयति रागमधिकं लपनमिदं वक्रिमाणमावहति ।
शीणयति च प्रतिपदं दूति शुकस्येव दयितस्य ॥")
अस्य मांसगुणा: । परमवृष्यत्वम् । विपाके गुरुत्वम् । शीतलत्वम् । कासश्वासक्षयहरत्वम् । संग्राहित्वम् । लघुत्वम् । दीपनत्वञ्च । इति राजनिर्घण्ट: ॥ * ॥ तस्य शुभसूचकत्वं यथा,
"वाम: पठन् राजशुक: प्रयाणे
शुभं भवेद्दक्षिणत: प्रवेशे ।
वनेचरा: काष्ठशुका: प्रयातु:
स्यु: खिङ्गिरा: संमुखमापतन्त: ॥"
इति वसन्तराजशाकुने ८ वर्ग: ॥*॥
व्यासपुत्त्र: । स च परीक्षिताय श्रीमद्भागवतं श्रावयामास । तस्योत्पत्त्यादिर्यथा । हरिवंशे वायवीये च ।
"पराशरकुलोत्पन्न: शुको नाम महायशा: ।
व्यासादरण्यां सम्भूतो विधूमोऽग्निरिव ज्वलन् ॥
स तस्यां पितृकन्यायां पीवर्य्यां जनयिष्यति ।
कृष्णं गौरं प्रभुं शम्भुं तथा भूरिश्रुतं जयम् ॥
कन्यां कीर्त्तिमतीं षष्ठीं योगिनीं योगमातरम् ।
ब्रह्मदत्तस्य जननीं महिषीमनुहस्य च ॥"
इति विष्णुपुराणे ४ अंशे १९ अध्यायटीकायां श्रीधरस्वामी ॥ वह्निपुराणे प्रजापतिसर्गनामाध्यायेऽप्येवम् ॥ * ॥ अपि च ।
"द्वैपायनाच्छुको जज्ञे भगवानेव शङ्कर: ।
अंशेनैवावतीर्य्योर्व्व्यां संप्राप परमं पदम् ॥
शुकस्याप्यभवन् पुत्त्रा: पञ्चात्यन्ततपस्विन: ।
भूरिश्रवा: प्रभु: शम्भु: कृष्णो गौरश्च पञ्चम: ।
कन्या कीर्त्तिमती चैव योगमाता धृतव्रता ॥"
इति कौर्म्मे १७ अध्याय: ॥ * ॥
(अस्यान्यविधोत्पत्तिविवरणं यथा, देवीभागवते । १ । १४ । १—२६ ।
श्रीसूत उवाच ।
"दृष्ट्वा तामसितापाङ्गीं व्यासश्चिन्तापरोऽभवत् ।
किं करोमि न मे योग्या देवकन्येयमप्सरा: ॥
एवं चिन्तयमानन्तु दृष्ट्वा व्यासं तदाप्सरा: ।
भयभीता हि सञ्जाता शापं मां विसृजेदयम् ॥
सा कृत्वाथ शुकीरूपं निर्गता भयविह्वला ।
कृष्णस्तु विस्मयं प्राप्तो विहङ्गीं तां विलोकयन् ॥
कामस्तु देहे व्यासस्य दर्शनादेव सङ्गत: ।
मनोऽतिविस्मितं जातं सर्व्वगात्रेषु विस्मित: ॥
स तु धैर्य्येण महता निगृह्णन् मानसं मुनि: ।
न शशाक नियन्तुञ्च स व्यास: प्रसृतं मन: ॥
बहुशो गृह्यमाणञ्च घृताच्या मोहितं मन: ।
भावित्वान्नैव विधृतं व्यासस्यामिततेजस: ॥
मन्थनं कुर्व्वतस्तस्य मुनेरग्निचिकीर्षया ।
अरण्यामेव सहसा तस्य शुक्रमथापतत् ॥
सोऽविचिन्त्य तथा पातं ममन्थारणिमेव च ।
तस्माच्छुक: समुद्भूतो व्यासाकृतिमनोहर: ॥
विस्मयं जनयन् बाल: संजातस्तदरणिज: ।
यथाध्वरे समिद्धोऽग्निर्भाति हव्येन दीप्तिमान् ॥
व्यासस्तु सुतमालोक्य विस्मयं परमङ्गत: ।
किमेतदिति सञ्चिन्त्य वरदानाच्छिवस्य वै ॥
तेजोरूपी शुको जातोऽप्यरणीगर्भसम्भव: ।
द्वितीयोऽग्निरिवात्यर्थं दीप्यमान: स्वतेजसा ॥
विलोकयामास तदा व्यासस्तु मुदितं सुतम् ।
दिव्येन तेजसा युक्तं गार्हपत्यमिवापरम् ॥
गङ्गान्त: स्नापयामास समागत्य गिरेस्तदा ।
पुष्पवृष्टिस्तु खाज्जाता शिशोरुपरि तापसा: ! ॥
जातकर्म्मादिकं चक्रे व्यासस्तस्य महात्मन: ।
देवदुन्दुभयो नेदुर्ननृतुश्चाप्सरोगणा: ॥
जगुर्गन्धर्व्वपतयो मुदितास्ते दिदृक्षव: ।
विश्वावसुर्नारदश्च तुम्बुरु: शुकसम्भवे ॥
तुष्टुवुर्मुदिता: सर्व्वे देवा विद्याधरास्तथा ।
दृष्ट्वा व्याससुतं दिव्यमरणीगर्भसम्भवम् ॥
अन्तरीक्षात् पपातोर्व्व्यां दण्ड: कृष्णाजिनं शुभम् ।
कमण्डलुस्तथा दिव्य: शुकस्यार्थे द्विजोत्तमा: ॥
सद्य: स ववृधे बालो जातमात्रोऽतिदीप्तिमान् ।
तस्योपनयनं चक्रे व्यासो विद्याविधानवित् ॥
उत्पन्नमात्रं तं वेदा: सरहस्या: ससंग्रहा: ।
उपतस्थुर्महात्मानं यथास्य पितरन्तथा ॥
यतो दृष्टं शुकीरूपं घृताच्या सम्भवे तदा ।
शुकेति नाम पुत्त्रस्य चकार मुनिसत्तमा: ! ॥
बृहस्पतिमुपाध्यायं कृत्वा व्याससुतस्तदा ।
व्रतानि ब्रह्मचर्य्यस्य चकार विधिपूर्व्वकम् ॥
सोऽधीत्य निखिलान् वेदान् सरहस्यान् ससंग्रहान् ।
धर्म्मशास्त्राणि सर्व्वाणि कृत्वा गुरुकुले शुक: ॥
गुरवे दक्षिणां दत्त्वा समावृत्तो मुनिस्तदा ।
आजगाम पितु: पार्श्वं कृष्णद्वैपायनस्य च ॥"
अस्य दारपरिग्रहादिवृत्तान्तस्तु तत्रैव विशेषतो द्रष्टव्य: ॥ * ॥) स च श्रीकृष्णस्य क्रीडार्थं वृन्दावने उपनन्दस्य कन्या अभूत् । इति पाद्मे पातालखण्डम् ॥ * ॥ रावणमन्त्री । शिरीषवृक्ष: । इति मेदिनी ॥ वृक्षविशेष: । इति रत्नमाला ॥ शेयालकाँटा इति भाषा ॥

शुकच्छदं, क्ली, (शुकवत् छदो यस्य ।) ग्रन्थिपर्णम् । इति जटाधर: ॥

शुकजिह्वा, स्त्री, (शुकस्य जिह्वेव फलं यस्या: ।) वृक्षविशेष: । सुयाठोँटी इति भाषा । यथा,
"शुकाख्या शुकनामा च शुकजिह्वा शुकानना ॥"
इति रत्नमाला ॥

शुकतरु:, पुं, (शुकवत् तरु: । शुकवर्णपर्णविशिष्टत्वादस्य तथात्वम् । शुकप्रियस्तरुर्वा ।) शिरीषवृक्ष: । इति रत्नमाला ॥

शुकद्रुम:, पुं, (शुकवत् द्रुम: । तद्वर्णपर्णविशिष्टत्वात् तथात्वम् । यद्वा, शुकप्रियो द्रुम: ।) शिरीषवृक्ष: । इति शब्दमाला ॥

शुकनामा, स्त्री, (शुकस्य नाम नाम यस्या: ।) शुकजिह्वा । इति रत्नमाला ॥ शुकसंज्ञके, त्रि ॥

शुकनाशनः, पुं, (शुकं नाशयतीति । नश + णिच् + ल्युः ।) द्रुमः । इति राजनिर्घण्टः ॥ शुकनाशके, त्रि ॥

शुकनासः, पुं, (शुकस्य नासेव फलं यस्य ।) श्योनाकवृक्षः । इत्यमरः ॥ शुकवन्नासायुक्ते, त्रि ॥

शुकपिच्छिः, स्त्री, शूकशिम्बी । इति शब्दरत्नावली ॥

शुकपुच्छः, पुं, (शुकस्य पुच्छ इव ।) गन्धकः । इति हेमचन्द्रः ॥ शुकस्य लाङ्गूलञ्च ॥

शुकपुच्छकं, क्ली, (शुकस्य पुच्छ इव । कन् ।) स्थौणेयम् । इति राजनिर्घण्टः ॥ शुकवत्पुच्छयुक्ते, त्रि ॥

शुकपुष्पं, क्ली, (शुकप्रियं पुष्पमस्य ।) स्थौणेयम् । इति भावप्रकाशः ॥

शुकपुष्पः, पुं, (शुकप्रियं पुष्पमस्य ।) शिरीषवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शुकप्रियः, पुं, (शुकस्य प्रियः ।) शिरीषवृक्षः । इति भावप्रकाशः ॥ शुकवल्लभे, त्रि ॥

शुकप्रिया, स्त्री, (शुकस्य प्रिया ।) जम्बूः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शुकफलः, पुं, (शुक इव फलमस्य । तद्वर्णफलवत्त्वात् तथात्वम् ।) अर्कवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शुकबर्हं, क्ली, (शुकस्य बर्हमिव ।) गन्धद्रव्यविशेषः । इति शब्दरत्नावली ॥ गँठियाला इति भाषा ॥

शुकम्, अ, शीघ्रम् । इति केचित् ॥

शुकवल्लभः, पुं, (शुकस्य वल्लभः प्रियः ।) दाडिमः । इति राजनिर्घण्टः ॥ शुकप्रिये, त्रि ॥

शुकवाहः, पुं, (शुको वाहो वाहनं यस्य ।) कामदेवः । इति केचित् ॥ शुकपक्षिवाहके, त्रि ॥

शुकशिम्बा, स्त्री, कपिकच्छुः । इति शब्दरत्नावली ॥

शुकशिम्बिः, स्त्री, कपिकच्छुः । इति शब्दरत्नावली ॥

शुकाख्या, स्त्री, (शुकस्य आख्या आख्या यस्याः ।) वृक्षविशेषः । सुयाठोँटी इति भाषा । तत्पर्य्यायः । शुकनामा २ शुकजिह्वा ३ शुकानना ४ । इति रत्नमाला ॥

शुकादनः, पुं, (शुकेन अद्यतेऽसौ इति । अद् + कर्म्मणि ल्युट् ।) दाडिमः । इति शब्दचन्द्रिका ॥ शुकस्यादनीयद्रव्यमात्रे, त्रि ॥

शुकानना, स्त्री, (शुकस्याननमिव फलं यस्याः ।) शुकाख्यवृक्षः । इति रत्नमाला ॥ शुकतुल्यमुखे, त्रि ॥

शुकी, स्त्री, (शुक + ङीष् ।) कश्यपपत्नी । यथा,
"शुकी श्येनी च भासी च सुग्रीवा शुचि-
गृध्रिका ॥"
अत्र शुचिभासिका इत्यपि पाठः ।
"शुकी शुकानजनयदुलूकी प्रत्युलूककान् ॥"
इति गारुडे ६ अध्यायः ॥
शुकपक्षिणी च ॥

शुकोदरं, क्ली, (शुकस्योदरमिव ।) तालीशपत्रम् । इति राजनिर्घण्टः ॥ कीरजठरञ्च ॥

शुक्तं, क्ली, (शुच क्लेदे + क्तः ।) मांसम् । इति शब्दचन्द्रिका ॥ काञ्जिकम् । इति हारावली ॥ द्रवद्रव्यविशेषः । यथा,—
"कन्दमूलफलादीनि सस्नेहलवणानि च ।
यत्तद्द्रवेऽभिषूयन्ते तच्छुक्तमभिधीयते ॥"
अस्य गुणाः ।
"शुक्तं तीक्ष्णोष्णलवणं पित्तकृत् कटुकं लघु ।
रुच्यं क्षुद्रागाहशोथार्शोविषकुष्ठहृत् ॥"
इति राजनिर्घण्टः ॥ * ॥
शुक्तं यन्मधुरं कालवशादम्लतां गतम् । इति प्रायश्चित्तविवेकः ॥ तस्य भक्षणनिषेधो यथा । यमः ।
"अपूपाश्च करम्भाश्च धाना वटकशक्तवः ।
शाकं मांसमपूपञ्च सूपं कृशरमेव च ॥
यवागूं पायसञ्चैव यच्चान्यत् स्नेहसम्भवम् ।
सर्व्वं पर्य्युषितं भक्ष्यं शुक्तञ्च परिवर्ज्जयेत् ॥"
तत्प्रतिप्रसवो यथा । मनुः ।
"दधिभक्ष्यञ्च शुक्तेषु सर्व्वञ्च दधिसम्भवम् ॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥
(यथा च मनुः । २ । १७७ ।
"वर्ज्जयेन्मधुमांसञ्च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः ।
शुक्तानि यानि सर्व्वाणि प्राणिनाञ्चैव हिंसनम् ॥"
"यानि स्वभावतो मधुरादिरसानि कालवशेन उदकवासादिना चाम्लवन्ति तानि शुक्तानि ।"
इति तट्टीकायां कुल्लूकभट्टः ॥)

शुक्तं, त्रि, (शुच् + क्तः ।) निष्ठुरम् । इति मेदिनी ॥ पूतम् । अम्लम् । इति विश्वः ॥ श्लिष्टम् । निर्ज्जनम् । इति शब्दरत्नावली ॥

शुक्ता, स्त्री, (शुक्त + स्त्रियां टाप् ।) चुक्रिका । इति शब्दरत्नावली ॥

शुक्तिः, स्त्री, (शुच् + क्तिन् ।) जलजन्तुविशेषः । झिनुक् इति भाषा । तत्पर्य्यायः । मुक्तास्फोटः २ । इत्यमरः ॥ शुक्तिका ३ । इति जटाधरः ॥ मुक्तिप्रसूः ४ महाशुक्तिः ५ मौक्तिकः ६ मौक्तिकप्रसवा ७ मौक्तिकशुक्तिः ८ मुक्तामाता ९ । अस्या गुणाः । कटुत्वम् । स्निग्धत्वम् । श्वासहृद्रोगहारित्वम् । शूलप्रशमनत्वम् । रुच्यत्वम् । मधुरत्वम् । दीपनत्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥ कपालखण्डम् । शङ्खः । शङ्खनखः । नखी । अश्वावर्त्तः । अर्शोरोगः । इति मेदिनी ॥ चक्षूरोगविशेषः । इति हेमचन्द्रः ॥ तद्विवरणं यथा,—
"प्रस्तारिशुक्लक्षतजोऽधिमांस-
स्नाय्वर्म्मसंज्ञाः खलु पञ्च रोगाः ।
स्याच्छुक्तिका सार्ज्जुनपिष्टकाख्या
जालं शिराणां पिडकाश्च तासाम् ॥
रोगा बलासग्रथितेन सार्द्ध-
मेकादशोक्ताः खलु शुक्लभागे ॥"
शुक्तिमाह ।
"श्यावाः स्युः पिशितनिभाश्च बिन्दवोऽयं
मुक्ताभाः शितनिचिताः स शुक्तिसंज्ञः ।"
श्यावा इत्यादि वर्णचयविकल्पो बोद्धव्यः ॥ * ॥
अथास्याश्चिकित्सा ।
"सेक आश्चोतनं पिण्डीबिडालस्तर्पणं तथा ।
पुटपाकोऽञ्जनं चैभिः कल्पैर्नेत्रमुपाचरेत् ॥"
इति कल्पविधिः ॥
तत्र सेकविधिर्यथा,—
"सेकस्तु दिवसे कार्य्यो रात्रौ चात्यन्तिके गदे ।
सेकस्तु सूक्ष्मधाराभिः सर्व्वस्मिन्नयने हितः ॥
मीलिताक्षस्य मर्त्त्यस्य प्रदेयश्चतुरङ्गुलम् ।
एरण्डपल्लवमूलत्वक्सिद्धमाजं पयो हितम् ।
सुखोष्णं नेत्रयोः सिक्तं वाताभिष्यन्दनाशनम् ॥ १ ॥
यष्टीगैरिकसिन्धूत्थदार्व्वीतार्क्ष्यैः समांशकैः ।
जलपिष्टैर्बहिर्लेपः सर्व्वनेत्रामयापहः ॥" २ ॥
इति भावप्रकाशः ॥ * ॥
कर्षद्वयपरिमाणम् । इति शब्दमाला ॥ चतुस्तोलकपरिमाणम् । तत्पर्य्यायः । अष्टमिका २ । इति वैद्यकपरिभाषा ॥

शुक्तिका, स्त्री, (शुक्तिरेव । स्वार्थे कन् ।) मुक्तास्फोटः । इति जटाधरः ॥ चुक्रिका । इति शब्दरत्नावली ॥

शुक्तिजं, क्ली, (शुक्तेर्जायते यदिति । शुक्ति + जन् + डः ।) मुक्ता । इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, बृहत्संहितायाम् । १२ । ४ ।
"प्रचलत्तिमिशुक्तिजशङ्खचितः
सलिलेऽपहृतेऽपि पतिः सरिताम् ॥")

शुक्तिबीजं, क्ली, (शुक्तेर्बीजमिव ।) मुक्ता । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

शुक्तिमान्, [त्] पुं, पर्व्वतविशेषः । यथा,—
"महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमान् गन्धमादनः ।
विन्ध्यश्च पारिपात्रश्च सप्तैते च कुलाचलाः ॥"
इति त्रिकाण्डशेषः ॥

शुक्रं, क्ली, (शुच क्लेदे + "ऋज्रेन्द्राग्रवज्रेति ।" उणा० २ । २८ । इति रन्प्रत्ययेन साधुः ।) मज्जजातधातुः । तत्पर्य्यायः । पुंस्त्वम् २ रेतः ३ बीजम् ४ वीर्य्यम् ५ पौरुषम् ६ तेजः ७ इन्द्रियम् ८ अन्नविकारः ९ मज्जारसः १० रोहणम् ११ बलम् १२ । इति राजनिर्घण्टः ॥ तस्योत्पत्तिर्यथा,—
"रसाद्रक्तं ततो मांसो मांसान्मेदः प्रजायते ।
मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्जात् शुक्रस्य सम्भवः ॥"
तस्य स्वरूपं यथा,—
"शुक्रं सौम्यं सितं स्निग्धं बलपुष्टिकरं स्मृतम् ।
गर्भबीजं वपुःसारो जीवस्याश्रय उत्तमः ॥"
जीवस्याश्रय उत्तम इति । यत आह ।
"जीवो वसति सर्व्वस्मिन् देहे तत्र विशेषतः ।
वीर्य्ये रक्ते मले यस्मिन् क्षीणे याति क्षयं
क्षणात् ॥" * ॥
गर्भसंजननशुक्रस्य लक्षणं यथा,—
"स्फटिकाभं द्रवं स्निग्धं मधुरं मधुगन्धि च ।
शुक्रमिच्छन्ति केचित्तु तैलक्षौद्रनिभञ्च तत् ॥"
तस्य स्थानमाह ।

"यथा पयसि सर्पिस्तु गूढ़श्चेक्षौ रसो यथा।
एवं हि सकले काये शुक्रं तिष्ठति देहिनाम्॥"
अत्र सर्पिर्दृष्टान्तो बहुशुक्रेऽल्पमथनेन सर्पिः-शुक्रयोर्लाभात्। इक्षुरसदृष्टान्तस्तु स्वल्पशुक्रे पुंसि अतिपीड़नेनेक्षुरसशुक्रयोर्लाभात्॥ *॥
तस्य चरणमार्गो यथा,—
"द्व्यङ्गुले दक्षिणे पार्श्वे वस्तिद्वारस्य चाप्यधः।
मूत्रस्रोतःपथे शुक्रं पुरुषस्य प्रवर्त्तते॥" *॥
अथ शुक्रस्य चरणकारणमाह।
"कृत्स्नदेहस्थितं शुक्रं प्रसन्नमनसस्तथा।
स्त्रीषु व्यायच्छतश्चापि हर्षात्तत् संप्रवर्त्तते॥"
स्त्रीषु व्यायच्छतः सुरतरूपं व्यायामं कुर्व्वतः।
अन्यच्च।
"शुक्रं कामेन कामिन्या दर्शनात् स्पर्शनादपि।
शब्दसंश्रवणात् ध्यानात् संभोगाच्च प्रवर्त्तते॥"
इति भावप्रकाशः॥ *॥
शुक्रचयकरद्रव्याणि यथा। छागपतैलम् २ राज-माषः २ तिलः ३ पटोलवास्तूककाकमाचीपुन-र्नवाशाकभिन्नसर्व्वशाकम् ४ तावदम्लद्रव्यम् ५ कारवेल्लकफलम् ६ कर्कोटकफलम् ७ वार्त्ता-कम् ८ लिकुचम् ९ शुष्कमरिचम् १० गुड़-त्वक् ११ पिप्पलीशुण्ठीभिन्नकटुरसः १२। इति राजवल्लभात् संगृहीतम्॥ *॥ अपि च।
"बीजचयकरं नित्यं भक्ष्यं भोज्यञ्च पानकम्।
वर्जयेत् क्षारशाकाद्यानम्लञ्च बहुतिक्तकम्॥
कांस्यराजतरङ्गस्थं तोयं पानेऽप्यवर्द्धनम्।
मूत्रान्ते मूत्रवद्बीजक्षयकारि विवर्ज्जयेत्॥"
शुक्रवृद्धिकरजलं यथा,—
"ताम्रायःस्वर्णसीसानां पात्रस्थं पवचर्म्मणोः।
शुक्रवृद्धिकरं तोयं तत्तु पेयं प्रयत्नतः॥"
इति कालिकापुराणे ८९ अध्यायः॥ *॥
शुक्रवर्द्धकद्रव्याणि यथा। पानीयम् १ विशेषतः हैमन्तिकजलम् २ ताम्राम्बु ३ चन्दनादिद्रव्यानु-लेपनम् ४ रक्तशालिधान्यम् ५ हैमन्तिकषष्टि-कधान्यम् ६ गोधूमः ७ माषः ८ सामान्यशुष्क-नारीचपत्रशाकम् ९ सामान्यक्लिन्नशुष्कनारीच-पत्रशाकजलम् १० कलम्बीशाकम् ११ काक-माचीशाकम् १२ गोक्षुरशाकम् १३ मुञ्जा-तकः १४ वार्त्ताकुः १५ विदारी १६ हस्त्या-लुकम् १७ मध्वालुकम् १८ पक्वान्नम् १९ दुग्धान्नम् २० नागरङ्गम् २१ बहुवारफलम् २२ पक्वकण्टाफलम् २३ कण्टाफलास्थि २४ पक्व-तालम् २५ पक्वकदलम् २६ चम्पककदलम् २७ द्राक्षा २८ खर्ज्जूरम् २९ धात्री ३० कूश्माण्ड-मज्जा ३१ तावन्मत्स्याः ३२ हृद्यमत्स्यः ३३ समुद्रमत्स्यः ३४ रोहितमत्स्यः ३५ भाकुट-मत्स्यः ३६ पाठीनमत्स्यः ३७ भेकालिमत्स्यः ३८ चित्रफलमत्स्यः ३९ वाउशमत्स्यः ४० मद्गुर-मत्स्यः ४१ वर्म्मिमत्स्यः ४२ फलीमत्स्यः ४३ चिङ्गटमत्स्यः ४४ पर्व्वतमत्स्यः ४५ एलङ्गमत्स्यः ४६ शकलीमत्स्यः ४७ चम्पकुन्दमत्स्यः ४८ शोष्ठी-मत्स्यः ४९ दग्धमत्स्यः ५० सामान्यमांसम् ५१ प्रसहमांसम् ५२ भूशयमांसम् ५३ अनूप-मांसम् ५४ जलजमांसम् ५५ जलेचरमांसम् ५६ छागमांसम् ५७ वाराहमांसम् ५८ कूर्म्म-मांसम् ५९ तित्तिरि-६० कुलिङ्ग-६१ चट-कानां मांसम् ६२ हंसमांसम् ६३ हंसबीजम् ६४ शुकपक्षिमांसम् ६५ मयूर-६६ शरारि-६७ मद्गु-६८ कादम्ब-६९ बलाका-७० बक-मांसम् ७१ जीर्णमद्यम् ७२ समस्तक्षीरम् ७३ गोदुग्धम् ७४ हस्तिनीदुग्धम् ७५ तावत्क्षीर-सन्तानिका ७६ माहिषदधि ७७ दधिसरः ७८ दधिमस्तु ७९ नवनीतम् ८० तावद्घृतम् ८१ तावदिक्षुः ८२ विशेषतः पौण्ड्रकेक्षुः ८३ दन्त-निष्पीड़ितेक्षुरसः ८४ यन्त्रनिष्पीड़ितेक्षुरसः ८५ अग्निपक्वेक्षुरसः ८६ इक्षुफाणितम् ८७ इक्षु-गुड़ः ८८ इक्षुखण्डम् ८९ मधुरी ९० शुष्क-पिप्पली ९१ शुण्ठी ९२ आर्द्रकम् ९३ लशु-नम् ९४ पलाण्डुः ९५ सैन्धवम् ९६ अन्नम् ९७ सतैललवणान्वितदग्धमत्स्यः ९८ तैललवणयुक्त-पलाशवेष्टितकर्द्दमलेपिताङ्गारदग्धलवणवेशवा-रपुरस्कृतसार्द्रककटुतैलसन्तालितमत्स्यः ९९ शाकमत्स्याद्यव्यञ्जनम् १०० मांसरसः १०१ परिशुष्काख्यमांसम् १०२ घृतपूरः १०३ मधु-मस्तकम् १०४ दुग्धफेनकः १०५ भूशय्या १०६ एरण्डमूलम् १०७ गोक्षुरः १०८ सामान्य-बला १०९ विशेषतः पीतबला ११० अश्वगन्धा १११ प्रसारणी ११२ माषपर्णी ११३ वदन्ती-ष्ठचः ११४ राजवृक्षफलम् ११५ शिलाजतुः ११६। इति राजवल्लभात् संगृहीतम्॥ *॥ नेत्ररोगविशेषः। इति मेदिनी॥ अस्य विवरणं शुक्लशब्दे द्रष्टव्यम्॥

शुक्रः, पुं, (शुच + रन्।) ग्रहविशेषः। तत्पर्य्यायः। दैत्यगुरुः २ काव्यः ३ उशनाः ४ भार्गवः ५ कविः ६। इत्यमरः॥ सितः ७ आस्फुजित् ८ शतपर्व्वेशः ९ भृगुसुतः १० भृगुः ११ षोड़-शार्च्चिः १२ मघाभूः १३ श्वेतः १४ श्वेतरथः १५। इति शब्दरत्नावली॥ षोड़शांशुः १७। इति जटाधरः॥ *॥ तस्य शुक्रेति नामकारणं यथा,—
"निकुम्भादिषु दैत्येषु भूय एवोत्थितेष्वथ।
युद्धायाभ्यागतेष्वेव नन्दी शङ्करमब्रवीत्॥
महादेववचोऽसह्यं शृणु त्वं परमाद्भुतम्।
अविचिन्त्यमसह्यञ्च मृतानां जीवनं पुनः॥
ये हताः प्रमथैर्दैत्या यथाशक्त्या रणाजिरे।
ते सर्व्वे जीविता भूयो भार्गवेणाथ विद्यया॥
तदिदं वै महादेव महत् कर्म्म कृतं रणे।
संजातमफलं देव शुक्रविद्याबलाश्रयात्॥
इत्येवमुक्ते वचने नन्दिना कुलनन्दिना।
प्रत्युवाच प्रभुः प्रीत्या स्वार्थसाधनमुत्तमम्।
गच्छ शुक्रं गणपते ममान्तिकमुपानय॥
अहं तं संयतिष्यामि यथायोगं समेत्यतः॥
इत्येवमुक्तो रुद्रेण नन्दी गणपतिस्ततः॥
तमनन्तमुपागम्य नन्दी संपूज्य वेगवान्॥
रथाङ्गार्णवमासिन्धे सिंहः क्षुद्रमृगं यथा।
समादाय हराभ्यासमाजगाम विनायकः॥
निपात्य रक्षिणः सर्व्वानथ शुक्रं न्यवेदयत्।
समानीतं कविं शर्व्वः प्राक्षिपद्वदने प्रभुः॥
स शम्भुना कविश्रेष्ठो ग्रस्तो जठरमास्थितः।
तुष्टाव भगवन्तं तं वाग्मी वाग्भिरथादरात्॥

शुक्र उवाच।

नमोऽस्तु ते शङ्कर शर्व्व शम्भो
सहस्रनेत्राङ्घ्रिशिरो नमस्ते।
दृष्ट्वेव सर्व्वं भुवनं तवोदरे
श्रान्तो भवन्तं शरणं प्रपन्नः॥
इत्येवमुक्ते वचने महात्मा
शम्भुर्व्वचः प्राह ततो विहस्य।
निर्गच्छ पुत्रोऽसि ममाधुना त्वं
शिश्नेन भो भार्गववंशचन्द्रः॥
नाम्ना तु शुक्रेति चराचरस्त्वां
लोकेष्वपि नैवाद्य विचरयास्ति।
इत्येवमुक्त्वा भगवान् मुमोच
शिश्नेन शुक्रः स च निर्जगाम॥
विनिर्गतो भार्गववंशचन्द्रः
शुक्रत्वमापद्य महानुभावः॥"
इति वामने ६६ अध्यायः॥ *॥

अयं श्यामवर्णाग्निकोणस्त्रीशाख्यजातियजु-र्वेदरजोगुणाम्बरसहवराशिहीरकरत्नभोजकट देशानामधिपतिः। भृगुमुनिसन्तानः। नवा-ङ्गुलशरीरः। पद्मस्थः। ऊर्द्ध्वमुखः। श्वेतवर्णः। चतुर्भुजः। सदाजपमालावरकमण्डलुदण्ड-धारी। शुक्लवस्त्रः। इन्द्रादिदेवताकः। शची-प्रत्यधिदेवताकः। शुभग्रहः। अपराह्णकाले प्रबलः। जलचारी। कफप्रकृतिः। रूप्यद्रव्य-धान्यादिस्वामी। मध्यवयः। रतीश्वरः। जल-भूमिचारी। स्निग्धरुचिः। द्विपदमनुष्याणां स्वामी च। इति बृहज्जातकग्रहयागतत्त्वा-दयः॥ *॥ तस्य भोग्यं दिनं शुक्रवारः। तत्र जातफलम्।

"प्रसन्नचित्तो मतिमान् गुणाढ्यः
सुकेशवेशः सितवस्त्रमाल्यः।
बन्धुप्रियो भार्गववारजातः
शीघ्रप्रवादः कुशलो नरः स्यात्॥"

तस्य चैत्रजातफलम्।

"शुक्रालये काव्यकलाविदग्धो
दातातिथेयः श्रुतशास्त्रदक्षः।
कलिप्रियो वातकफान्वितः स्या-
न्मेधान्वितो हास्यपटुर्मदाढ्यः॥"

तस्य द्रेक्काणजातफलम्।

"द्रेक्काणे भृगुनन्दनस्य सुतनुः पार्श्वं धरित्री-पतेः
सर्व्वज्ञः स्वजनानुरागकुशलो दाता सतां वल्लभः
संपूर्णश्च वराङ्गनात्मजधनैः स्फीतः कृपालुः शुचिः
शान्तः सत्यरतोऽभियुक्तहृदयो धर्म्मानुरक्तो नरः॥"

तस्य नवांशजातफलम् ।

"नारीरक्तो ललितनयनो मञ्जुकेशः कृशाङ्गः
कम्बुग्रीवो भवति कनकश्यामवर्णः सुकेशः ।
क्रूरः क्लैब्यः कविरतिधनो दानशीलो गुणज्ञो
यानभ्रान्तो विमलयशसा मानवो भार्गवांशे ॥"

तस्य द्वादशांशजातफलम् ।

"शूरो बहुधनो भोगी नृत्यगीतप्रियः सदा ।
शुचिर्दाता क्षमी भोक्ता द्वादशांशे भृगोर्नरः ॥"

तस्य त्रिंशांशजातफलम् ।

"बहुगुणपरिपूर्णः सुन्दरश्चारुदृष्टि-
र्युवतिजनविनोदी लब्धसौख्यार्थभोगः ।
द्विजसुरगुरुभक्तो दानशीलः कृपालु-
रसुरपतिगुरोः स्यात्मानवस्त्रिंशकांशे ॥"

इति कोष्ठीप्रदीपः ॥

विष्कम्भादि-सप्तविंशति-योगान्तर्गत-चतुर्विंश-योगः । तत्र जातफलम् ।

"हास्यो विवादे विजयी सभायां
सद्गन्धमाल्याम्बररत्नयुक्तः ।
जितेन्द्रियः स्यात्मनुजो महौजाः
शुक्राभिधाने जननं हि यस्य ॥"

इति कोष्ठीप्रदीपः ॥ * ॥

अग्निः । चित्रकवृक्षः । ज्येष्ठमासः । इत्यमरः ॥

शुक्रकरः, पुं, (करोतीति । कृ + पचाद्यच् । शुक्रस्य करः ।) मज्जा । इति हेमचन्द्रः ॥ वीर्य्यकारके, त्रि ॥

शुक्रभुक्, [ज्] पुं, (शुक्रं भुङ्क्ते इति । भुज + क्विप् ।) मयूरः । इति शब्दचन्द्रिका ॥ रेतोभोजके, त्रि ॥

शुक्रभूः, पुं, (शुक्रात् भूरुत्पत्तिर्यस्य ।) मज्जा । इति शब्दचन्द्रिका ॥ वीर्य्यजातमात्रे, त्रि ॥

शुक्रला, स्त्री, (शुक्रं लाति ददातीति । ला + कः ।) उच्चटा । इति चक्रलाशब्दटीकायां भरतः ॥ वीर्य्यदातरि, त्रि ॥

शुक्रवारः, पुं, (शुक्रस्य वारः ।) शुक्रग्रहभोग्यदिनम् । यथा । तीर्थतत्त्वे प्रतिप्रसवमाह । स्मृतिः ।

"अयने विषुवे चैव संक्रान्त्यां ग्रहणेषु च ।
उपाकर्म्मणि चोत्सर्गे युगादौ मृतवासरे ।
सूर्य्यशुक्रादिवारेऽपि न दोषस्तिलतर्पणे ॥"

इति प्रायश्चित्ततत्त्वम् ॥

शुक्रशिष्यः, पुं, (शुक्रस्य शिष्यः ।) असुरः । इत्यमरः ॥

शुक्राङ्गः, पुं, मयूरः । इति जटाधरः ॥

शुक्रियः, त्रि, शुक्रसम्बन्धी । शुक्रशब्दात् इयप्रत्ययनिष्पन्नः ॥ (शुक्रो देवता अस्येति । शुक्र + "शुक्रात् घन् ।" ४ । २ । २६ । इति घन् । शुक्रदेवताको हविरादिः । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥ यथा, याज्ञवल्क्ये । ३ । ३०८ ।

"शुक्रियारण्यकजपो गायत्र्याश्च विशेषतः ॥")

शुक्लं, क्ली, (शुच शौचे + "ऋज्रेन्द्रेति ।" उणा० २ । २८ । इति रन् प्रत्ययेन साधु ।) रजतम् । इति मेदिनी ॥ नवनीतम् । इति शब्दचन्द्रिका ॥ अक्षिरोगविशेषः । इति जटाधरः ॥ स तु चक्षुःशुक्लभागजरोगः । तद्विवरणं यथा,—

"प्रस्तारिशुक्लक्षतजाधिमांस-
स्नायर्म्मसंज्ञाः खलु पञ्च रोगाः ॥"

तत्र शुक्लमाह ।

"सुश्वेतं मृदु शुक्लाख्यं शुक्लं तद्वर्द्धते चिरात् ॥"

अस्य चिकित्सा ।

"भुक्त्वा पाणितलं घृष्ट्वा चक्षुषोर्यदि दीयते ।
अचिरेणैव तद्वारि तिमिराणि व्यपोहति ॥
स्नानं कृष्णतिलैर्वापि चक्षुष्यमनिलापहम् ।
आमलैः सततं स्नानं परं दृष्टिबलापहम् ॥
शुण्ठीनिम्बदलैः पिण्डीसुखोष्णास्वल्पसैन्धवा ।
धार्य्या नेत्रेऽनिलश्लेष्मशोथकण्डूव्यथापहरी ।
त्रिफला पिण्डिका नेत्रे वातपित्तकफापहा ॥"*

अन्यदौषधं शुक्तिशुक्रशब्दयोर्द्रष्टव्यम् ॥ काञ्जिकादि । यथा,—

"कार्त्तिके वर्जयेत्तैलं कार्त्तिके वर्जयेन्मधु ।
कार्त्तिके वर्जयेत् कांस्यं कार्त्तिके शुक्लसन्धितम् ॥"

इति श्रीगोपालभट्टविलिखिते भगवद्भक्तिविलासे १६ विलासः ॥ शुक्लं काञ्जिकादिपर्य्युषितान्नद्रव्यं सन्धितञ्च वर्जयेत् । इति श्रीजीवगोस्वामिकृततट्टीका दिग्दर्शनी ॥

शुक्लः, पुं, (शुच + रन् । रस्य लः ।) वर्णविशेषः । सादा इति भाषा । तत्पर्य्यायः । शुभ्रः २ शुचिः ३ श्वेतः ४ विशदः ५ श्येतः ६ पाण्डरः ७ अवदातः ८ सितः ९ गौरः १० वलक्षः ११ धवलः १२ अर्ज्जुनः १३ । इत्यमरः ॥ श्वेता १४ श्येता १५ श्येनी १६ विषदः १७ सिता १८ अवलक्षः १९ । इति तट्टीका ॥ शितिः २० पाण्डुः २१ । इति शब्दरत्नावली ॥ रामः २२ खरः २३ । इति जटाधरः ॥ शुक्रयोगः । इति मेदिनी ॥ श्वेतैरण्डः । इति राजनिर्घण्टः ॥ शुक्लपक्षः । यथा षट्त्रिंशन्मतम् ।

"तत्र पक्षावुभौ मासे शुक्लकृष्णौ क्रमेण हि ।
चन्द्रवृद्धिकरः शुक्लः कृष्णश्चन्द्रक्षयात्मकः ॥"

इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥

शुक्लगुणयुक्ते, त्रि ॥ * ॥ शुक्लवस्तूनि यथा,—

"सुधांशूच्चैःश्रवाः शम्भुकीर्त्त्योतुत्साशर-
द्घनाः ।
प्रासादसौधशरमन्दारद्रुहिमाद्रयः ॥
सूर्य्येन्दुकान्तकर्पूरकरम्भा रजतं हली ।
निर्मोकभस्मखटिकाक्षीरचन्दनं करका हिमम् ॥
हारोर्णनाभतन्त्वस्थि खराङ्गभरदाभ्रकम् ।
शेषाहिः शर्करा दुग्धं दधि गङ्गा सुधा जलम् ॥
मृणालसिकताहंसबककैरवचामरम् ।
रम्भागर्भं पुण्डरीककेतकीशङ्खनिर्झराः ॥
लोध्रसिंहध्वजच्छत्रचूर्णशुक्तिकपर्दकाः ।
मुक्ताकुसुमनक्षत्रदन्तपुण्योशनोगुणाः ॥
कैलासकाशकार्पासहासवासवकुञ्जराः ।
नारदः पारदः कुन्दखटिकास्फटिकादयः ॥"

इति श्वेतानि ॥ * ॥

शुक्लकृष्णवाचकानि वस्तूनि यथा,—

"सितकृष्णौ विधुहरी शितितारा अभ्रकनागराज-
घनसाराः ।
रामपयोराश्यर्ज्जुनसिंहीजानन्तचन्द्र-
हासाद्याः ॥"

विधुश्चन्द्रो विष्णुश्च । हरिः कृष्णः सिंहश्च । शिती धवलमेचकौ । तारा नक्षत्रं अक्ष्णः कनीनिका च । अभ्रकं गिरिजं मेघश्च । नागराजः शेषो गजश्च । घनसारः कर्पूरं मेघश्रेष्ठश्च । रामो बलभद्रो दाशरथिश्च । पयोराशिर्दुग्धसमूहः समुद्रश्च । अर्ज्जुनः शुभ्रः पार्थश्च । सिंहीजः सिंहो राहुश्च । अनन्तो बलभद्रः कृष्णश्च । चन्द्रहासः चन्द्रहास्यं खड्गश्च ।

"शङ्खकरतारकेशसदाकाशव्योमकेशतालाङ्काः ।
नीलांशुकाधिकेशारिष्टसदासिचयकलकण्ठाः ॥"

शङ्खकरः कम्बुकान्तिः कृष्णश्च । तारकेशश्चन्द्रः उज्ज्वलवालश्च । सदाकाशः सर्व्वदाकाशः सद्गगनञ्च । व्योमकेशः शिवो नभोवालौ च । तालाङ्को बलभद्रस्तालकलङ्कौ च । नीलांशुको बलभद्रः कृष्णकान्तिश्च । अधिकेशो अधिकशिवो अधिकवालश्च । अरिष्टस्तक्रं काकश्च । सदासिचयः सिचयो वस्त्रं असिचयः खड्गसमूहश्च । कलकण्ठो हंसः पिकश्च ।

"कलकण्ठः पिके पारावते हंसे कलध्वनौ ॥
हरिजिष्णुघनाब्धिभ्यो गजाः सिन्धुर्मुरारितः ।
अद्रिभ्यो वाहोऽजानि कृष्णाद्यमुना कुम्भितो
द्विषः ॥"

शुक्लश्यामाभिधायका भवन्तीति स सम्बन्धः हरिगज ऐरावतः । एवं जिष्णुगजः । अब्धिगजः । घनगजः । पक्षे हरिर्विष्णुर्गजो हस्ती । एवं सर्व्वत्र । गजा इति बहुवचननिर्देशात् गजपर्य्यायो गृह्यते । सुरारिसिन्धुर्गङ्गा कृष्णसमुद्रौ च । अम्बुवाहः उच्चैःश्रवाः मेघश्च । कृष्णाब्जं नाभीपुण्डरीकं नीलाब्जञ्च । यमुनारिर्बलभद्रो यमुनाद्वेषी च ।

"कृष्णार्थ्याशाटिनीवाचकशब्दात् परो वरो
योज्यः ।
नीरदघनोपलसितसदाहिमकर-सिन्धुवेणि-
पृथुलाजाभाः ॥"

सितश्यामवाचका इति पूर्व्ववत् । कृष्णार्थ्याशाटिनीवाचकशब्दाद्वरो यथा । कृष्णनदीवरकान्तिः गङ्गाश्रेष्ठकान्तिः । पक्षे कृष्णनदीवरस्य समुद्रस्येव कान्तिः । नीरदो निश्चितो दन्तो मेघश्च । घनोपलसितः घनोपलः करका तद्वत् सितः घनो मेघः तद्वदुपलसितः कान्तः । सदाहिमकरः चन्द्रः सर्पमकरौ च । सिन्धुवेणिर्नदीप्रवाहः समुद्रकेशविन्यासौ च । पृथुलाजाभः महती भ्रष्टधान्यस्येवाभा यस्य कृष्णस्येव च । तथा च ।

"बहलकलभवच्छायमन्धकारातिदीधितिः ।
सदाधिकेशवच्छायो मेकपीयसमच्छविः ॥

वपुर्महोदधिच्छायं बिभ्रत् सैन्धवकान्तिमान्।
स्फाटिकी च लसल्लक्ष्मीः चन्द्रांशुककटिं वहन्॥
धौताम्बरश्रियं धत्ते स्फटिकान्तश्रियान्वितः।
अर्ज्जुनद्युतिविद्योतीत्येवमादि समुन्नयेत्॥"*॥
रक्तश्वेतवाचकानि वस्तूनि यथा,—
"रक्तश्वेतौ हरिशुचिपुष्करशतपत्रसूर्य्य-
कान्ताब्जाः।
नवहंसमहापद्मार्कस्फोदराः कमलकीलाले॥"
हरिश्चन्द्रसूर्य्ययोः। शुचिः श्वेतवैश्वानरयोः।
पुष्करं जलपद्मयोः। शतपत्रं हंसपद्मयोः।
सूर्य्यकान्तः स्फटिके सूर्य्यकान्ते च। अब्जः
शङ्खाम्बुजयोः। नवहंसः नवहंसे प्रत्यग्रसूर्य्ये च।
महापद्मः श्वेतनागे पद्मे च। अर्कः स्फटिक-
सूर्य्ययोः। कमलं जलाम्बुजयोः। कीलालं
जलरक्तयोः।
"सुहृद्रत्नादिभिर्भानो रत्नेनाग्ने रदांशुकैः।
जलेभ्यो जलशोभाभिः सरोजकुमुदारिभिः॥"
भानोः परस्मात् सुहृद्रत्नादिभिः सितरक्तौ
यथा। रविमित्रं चन्द्रः रवितुल्यश्च। भानुरत्नं
सूर्य्यकान्तो रविपद्मरागौ च। अग्निरत्नं सूर्य्य-
कान्तो अग्निपद्मरागौ च। रदांशुकं दन्तवस्त्रं
अधरश्च। जलजशोभा जलजा चासौ शोभा
चेति पक्षे पद्मकान्तिः। एवं सरोजारिशोभा
सरोजसदृशशोभा पक्षे सरोजारिश्चन्द्रः। कुमु-
दारिशोभा कुमुदसदृशशोभा। पक्षे कुमुदारि-
रादित्यः॥*॥ पीतश्वेतवाचकानि वस्तूनि
यथा,—
"पीतश्वेतौ गौरद्विजराजकपर्द्दशम्भुहरि-
तार्क्ष्याः।
हेमक्षौमाष्टापदमहारजतचन्द्रकलधौताः॥"
गौरः श्वेतपीतयोः। द्विजराजो गुरुचन्द्रयोः।
कपर्द्दः शम्भुजटाजूटवराटयोः। शम्भुर्ब्रह्म-
त्रिलोचनयोः। हरिः पिङ्गलसिंहयोः। तार्क्ष्यो
गरुडः पक्षे उच्चैःश्रवाः। हेमक्षौमः हेम्नोऽयं
हेमः। पक्षे हिमस्यायम्। अष्टापदं सुवर्ण-
शरभयोः। महारजतं सुवर्णरूप्ययोः। चन्द्रः
स्वर्णशशाङ्कयोः। कलधौतं हेमरूप्ययोः।
"सुशोभितारकूटश्रीःस्वर्णक्षौमसमद्युतिः।
दृष्टगोपलसत्कान्तिर्गाङ्गेयच्छविपेशलः॥"
तारकूटो रूप्यसमूहः। पक्षे आरकूटो रीतिः।
सुशोभनमर्णः कनकञ्च॥*॥ अथ श्लोकोत्पी-
र्णानि। गोपतितार्क्ष्यकान्तिः रविमकरन्दच्छविः।
पक्षे गोपतिरिन्द्रस्तस्य तार्क्ष्यस्तुरङ्गः। वाम-
देवगिरिर्मेरोर्मेरुः कैलासश्च। इति कवि-
कल्पलतायाम् २ स्तबके उद्दिष्टवर्णने १ कुसुमम्॥

शुक्लकः, पुं, (शुक्ल + स्वार्थे कन्।) शुक्लपक्षः।
यथा,—
"पञ्चम्याद्यास्तु तिथयः क्रमात् पञ्चदश
स्मृताः।
दर्शान्ताः कृष्णपक्षे ताः पूर्णिमान्ताश्च शुक्लके॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम्॥
श्वेतवर्णश्च॥

शुक्लकण्ठकः, पुं, (शुक्लः कण्ठो यस्य। कन्।)
दात्यूहपक्षी। इति शब्दमाला॥ श्वेतगलयुक्ते,
त्रि॥

शुक्लकन्दः, पुं, (शुक्लः कन्दो यस्य।) महिषकन्दः।
इति राजनिर्घण्टः॥ श्वेतमूलश्च॥

शुक्लकन्दा, स्त्री, (शुक्लः कन्दो यस्याः।) अति-
विषा। इति राजनिर्घण्टः॥

शुक्लकर्म्मा, [न्] त्रि, (शुक्लं पूतं कर्म्म यस्य।)
अकल्पाककर्म्मा। सुकर्म्मशीलः। इति जटाधरः॥

शुक्लकुष्ठं, क्ली, (शुक्लं कुष्ठम्।) श्वेतवर्णकुष्ठ-
रोगः। तस्यौषधं यथा,—
"सोमराजस्य बीजानि नवनीतयुतानि च।
मधुना खादितानि स्युः शुक्लकुष्ठहराणि वै॥"
इति गारुडे १९५ अध्यायः॥

शुक्लक्षीरा, स्त्री, (शुक्लं क्षीरं यस्याः।) काकोली।
इति राजनिर्घण्टः॥ श्वेतदुग्धयुक्ते, त्रि॥

शुक्लत्वं, क्ली, (शुक्लस्य भावः। शुक्ल + त्व।)
शुक्लस्य भाव इत्यर्थे त्वप्रत्ययेन निष्पन्नम्॥

शुक्लदुग्धः, पुं, (शुक्लं दुग्धं निर्य्यासो यस्य।)
शृङ्गाटकः। इति शब्दचन्द्रिका॥ श्वेतदुग्ध-
युक्ते, त्रि॥

शुक्लधातुः, पुं, (शुक्लः शुक्लवर्णो धातुः।) कठिनी।
इति हेमचन्द्रः॥ श्वेतवर्णधातुद्रव्यञ्च॥

शुक्लपक्षः, पुं, (शुक्लः पक्षः।) सितपक्षः। चन्द्र-
सम्बन्धि-वृद्ध्यनुकूल-पञ्चदशकलाक्रिया-प्रचयः।
तत्पर्य्यायः।
"सितस्त्वापूर्य्यमाणः स्यात् शुक्लश्च विशदः शुचिः।
शुक्लपक्षः कृष्णपक्षो बहुलो वदि च स्मृतः॥"
इति राजनिर्घण्टः॥
स तु शुक्लप्रतिपदादिपौर्णमास्यन्तपञ्चदश-
तिथ्यात्मकः। यथा,—
"तत्र पक्षावुभौ मासि शुक्लकृष्णौ क्रमेण हि।
चन्द्रवृद्धिकरः शुक्लः कृष्णश्चन्द्रक्षयात्मकः॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम्॥*॥
कर्म्मविशेषे तत्रोदयगामितिथेर्ग्राह्यत्वं यथा,—
"शुक्लपक्षे तिथिर्ग्राह्या यस्यामभ्युदितो रविः।
कृष्णपक्षे तिथिर्ग्राह्या यस्यामस्तमितो रविः॥"
इति विष्णुधर्म्मोत्तरम्॥
संस्कारकर्म्मणः शुक्लपक्षकर्त्तव्यता यथा।
आश्वलायनः। उदगयने आपूर्य्यमाणे पक्षे
कल्याणे नक्षत्रे चौडकर्म्मोपनयनगोदान-
विवाहाः विवाहः सार्व्वकालिक इत्येके॥*॥
विद्यारम्भस्य शुक्लपक्षकर्त्तव्यता यथा। मदन-
पारिजाते।
"रवेर्गुरोर्भृगोर्व्वापि तत्स्वेऽर्केऽपीन्दुरन्वितः।
गुर्व्वर्केन्दुशुद्धौ च विद्यारम्भः प्रशस्यते॥"*॥
पुष्करिण्यारम्भस्य शुक्लपक्षकर्त्तव्यता यथा।
मत्स्यपुराणे।
"प्राप्य पक्षं शुभं शुक्लमतीते चोत्तरायणे।"
इत्यादि॥
देवप्रतिष्ठायाः शुक्लपक्षकर्त्तव्यता यथा। व्यव-
हारसमुच्चये।
"प्रतिष्ठा सर्व्वदेवानां केशवस्य विशेषतः।
उत्तरायण आपन्ने शुक्लपक्षे शुभे दिने॥"
गृहारम्भगृहप्रवेशयोः शुक्लपक्षकर्त्तव्यता यथा।
मत्स्यपुराणे।
"शुक्लपक्षे भवेत् सौख्यं कृष्णे तस्करतो भयम्॥"
इति ज्योतिस्तत्त्वम्॥
नवान्नश्राद्धस्य शुक्लपक्षकर्त्तव्यता यथा।
आश्विनाधिकारे।
"शुक्लपक्षे नवं धान्यं पक्वं ज्ञात्वा सुशोभनम्।
गच्छेत् क्षेत्रे विधानेन गीतवाद्यपुरःसरम्।
तेन देवान् पितॄंश्चैव तर्पयेदर्च्चयेत्तथा॥"
अपि च।
"वृश्चिके शुक्लपक्षे तु नवान्नं शस्यते बुधैः॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम्॥

शुक्लपुष्पः, पुं, (शुक्लं पुष्पमस्य।) छत्रकवृक्षः।
कुन्दपुष्पवृक्षः। मरुवकः। इति रत्नमाला॥
श्वेतकुसुमयुक्ते, त्रि॥

शुक्लपुष्पा, स्त्री, (शुक्लं पुष्पमस्याः।) नागदन्ती।
शीतकुम्भी। इति रत्नमाला॥

शुक्लपुष्पी, स्त्री, (शुक्लं पुष्पमस्याः। ङीष्।)
नागदन्ती। इति राजनिर्घण्टः॥

शुक्लपृष्ठकः पुं. (शुक्लं पृष्ठं यस्य। कन्।) सिन्धुक-
वृक्षः। इति शब्दचन्द्रिका॥ श्वेतवर्णपृष्ठयुक्ते,
त्रि॥

शुक्लबलः, पुं, जिनविशेषः। यथा,—
"वासुदेवा अमी कृष्णा नव शुक्ला बलास्त्वमी।
अचलो विजलो भद्रः सुप्रभश्च सुदर्शनः।
आनन्दो नन्दनः पद्मो रामो विष्णुद्विषस्त्वमी॥"
इति हेमचन्द्रः॥

शुक्लमण्डलं, क्ली, (शुक्लं मण्डलम्।) चक्षुःश्वेत-
भागम्। इति केचित्॥ श्वेतवर्णगोलवस्तु च॥

शुक्लरोहितः, पुं, (शुक्लः श्वेतवर्णो रोहितः।)
श्वेतरोहितवृक्षः। इति राजनिर्घण्टः॥ शुभ्र-
रोहितमत्स्यश्च॥

शुक्लला, स्त्री, (शुक्लं लातीति। ला + कः।)
उच्चटा। इति रत्नमाला॥ श्वेतदातरि,
त्रि॥

शुक्लवर्गः, पुं, (शुक्लानां वर्गः समूहः।) श्वेतवर्ण-
सजातीयद्रव्यम्। यथा। शङ्खशुक्तिकपर्द्दकादि।
इति राजनिर्घण्टः॥

शुक्लवायसः, पुं, (शुक्लो वायस इव।) वकः।
इति त्रिकाण्डशेषः॥ श्वेतकाकश्च॥

शुक्लशालः, पुं, (शुक्लः शाल इव।) गिरिनिम्बः।
इति राजनिर्घण्टः॥ श्वेतशालवृक्षश्च॥

शुक्ला, स्त्री, (शुक्लो वर्णोऽस्त्यस्या इति। अच्।
टाप्।) सरस्वती। इति त्रिकाण्डशेषः॥
शर्करा। इति शब्दचन्द्रिका॥ काकोली।
विदारी। स्नुही। इति राजनिर्घण्टः॥ श्वेत-
वर्णा च॥

शुक्लाङ्गी, स्त्री, (शुक्लं अङ्गं यस्याः। ङीष्।)
शेफालिका। इति राजनिर्घण्टः॥ श्वेतावयव-
युक्ते, त्रि॥

शुक्लापाङ्गः, पुं, (शुक्लौ अपाङ्गौ यस्य ।) मयूरः । इति हेमचन्द्रः ॥ श्वेतवर्णनेत्रान्ते, त्रि ॥ (यथा, मेघदूते । २३ ।
"शुक्लापाङ्गैः सजलनयनैः स्वागतीकृत्य केकाः
प्रत्युद्यातः कथमपि भवान् गन्तुमाशु व्यवस्येत् ॥")

शुक्लाम्लं, क्ली, (शुक्लं अम्लम् ।) अम्लशाकः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शुक्लार्म्म, [न्] क्ली, नेत्ररोगभेदः । यथा । अथ शुक्लभागजा रोगाः । तेषां नामानि संख्या-श्वाह ।
"प्रस्तारिशुक्लक्षतजाधिमांस-
स्नाय्वर्म्मसंज्ञाः खलु पञ्च रोगाः ।
स्याच्छुक्तिका सार्ज्जुनपिष्टकाख्या
जालं शिरायां पिड़िकाश्च तासाम् ॥
रोगा बलासग्रथितेन सार्द्ध-
मेकादशोक्ताः खलु शुक्लभागे ॥"
तेषु प्रस्तार्य्यर्म्मणो लक्षणमाह ।
"प्रस्तार्य्यर्म्म तनुस्तीर्णं श्यावरक्तनिभं सितम् ।"
तनुः पुस्तली । स्तीर्णं विस्तीर्णम् । श्यावरक्त-मित्यत्र विकल्पो बोद्धव्यः ॥ * ॥ शुक्लार्म्माह ।
"सश्वेतं मृदु शुक्लार्म्म शुक्लं तद्वर्द्धते चिरात् ॥"
रक्तार्म्माह ।
"पद्माभं मृदु रक्तार्म्म यन्मांसं चीयते सिते ।"
पद्माभं वर्णेन रक्तमित्यर्थः । चीयते उपचीयते ॥ अधिमांसार्म्माह ।
"पृथु मृद्वधिमांसार्म्म बहुलञ्च यकृन्निभम् ।"
पृथु विस्तीर्णम् । बहुलं पुष्टम् । यकृन्निभं ईषत् कृष्णलोहितम् ॥ * ॥ स्नाय्वर्म्माह ।
"स्थिरं प्रस्तारि मांसाढ्यं शुष्कं स्नाय्वर्म्म पञ्च-मम् ।"
स्थिरं कठिनम् । शुष्कं स्नावरहितम् ॥ * ॥ शुक्तिमाह ।
"श्यावाः स्युः पिशितनिभाश्च बिन्दवो यं शुक्लाभाः सितनिचिताः स शुक्तिसंज्ञः ।"
श्यावा इत्यादिवर्णत्रये विकल्पो बोध्यः ॥ * ॥ अर्ज्जुनमाह ।
"एको यः शशरुधिरप्रभस्तु बिन्दुः
शुक्लस्थो भवति तमर्ज्जुनं वदन्ति ॥"
पिष्टकमाह ।
"श्लेष्ममारुतकोपेन शुक्ले मांसं समुन्नतम् ।
पिष्टवत् पिष्टकं विद्धि मलाक्तादर्शसन्निभम् ॥"
पिष्टवत् श्वेतम् ॥ * ॥ शिराजालमाह ।
"जालाभः कठिनः शिरोऽरुणः शिरायां सन्तानो भवति शिरादिजालसंज्ञः ॥"
शिरादिजालसंज्ञः शिराजालसंज्ञः ॥ * ॥ शिरापिड़िकामाह ।
"शुक्लस्थाः सितपिड़िकाः शिरावृता या-स्ता विद्यादसितसमीपजाः शिराजाः ।"
बलासग्रथितमाह ।
"कांस्याभोऽमृदुरथ वारिबिन्दुकल्पो
विज्ञेयो नयनसिते बलाससंज्ञः ।"
कांस्याभः श्वेत इत्यर्थः । अमृदुः कठिनः । वारिबिन्दुकल्पः एतेन मनागुन्नतत्वं बोध्यते । बलाससंज्ञः बलासग्रथितसंज्ञः । क्वचिदेकदेशे-नापि समुदायावगमात् । यथा भीमो भीमसेन इति । अतएव सुश्रुते । नामसंग्रहे बलास-ग्रथितपदं निर्द्दिष्टम् । इति भावप्रकाशः ॥

शुक्लिमा, [न्] पुं. (शुक्लस्य भावः । शुक्ल+"वर्ण-दृढ़ादिभ्यः ष्यञ् च ।"५।१।१२३ । इमनिच् ।) शुक्लता । शुक्लशब्दादिमन्प्रत्ययेन निष्पन्नः ॥

शुक्लोपला, स्त्री, (शुक्ला उपल इव आकृतिर्यस्याः ।) शर्करा । इति रत्नमाला ॥ श्वेतप्रस्तरे, पुं ॥

शुचिः, पुं, (शुच्यत्यनेनेति । शुच+"मुचिकुचि-शुचिभ्यः किः ।" उणा० ३।१५५। इति किः ।) वायुः । तेजः । चित्रम् । इति संक्षिप्तसारो-णादिवृत्तिः ॥

शुङ्गः, पुं, वटवृक्षः । आम्रातकवृक्षः । इति मेदिनी ॥ शूकः । शुँया इति भाषा । इति शूकशब्दार्थे मेदिन्यादिकोषौ ॥

शुङ्गा, स्त्री, (शुङ्गोऽस्त्यस्या इति । अच् । टाप् ।) पर्क्कटीवृक्षः । इति मेदिनी ॥ नव-पल्लवकोषी । इति हेमचन्द्रः ॥ धान्यादिशूकश्च । शुँया यस्य प्रसिद्धिः ॥ (यथा, सुश्रुते ।४।२६।
"अश्वत्थफलमूलत्वक्शुङ्गासिद्धं पयो नरः ।
पीत्वा सशर्करा क्षौद्रं कुलिङ्ग इव हृष्यति ॥")

शुङ्गाकर्म्म, [न्] क्ली, पुंसवनसंस्कारविशेषः । यथा,
"अग्निस्तु मारुतो नाम गर्भाधाने विधीयते ।
पुंसवने चन्द्रनामा शुङ्गाकर्म्मणि शोभनः ॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥
तत्कर्म्मानुष्ठानं यथा । शोभननामानमग्निं संस्थाप्य विरूपाक्षजपान्तां कुशण्डिकां समाप्य वटवृक्षस्य पूर्ब्बोत्तरशाखायां फलयुगलशालिनीं कृमिभिरनुपहतां वटशुङ्गां यवानां माषाणां वा त्रिभिस्त्रिभिर्गुड़कैः सप्तवारान् सप्तभिर्मन्त्रैः क्रीणीयात् । सप्तानां मन्त्राणान्ऋष्यादयः साधा-रणाः । प्रजापतिऋषिः सोमवरुणवसुरुद्रा-दित्यमरुद्विश्वेदेवा देवता न्यग्रोधशुङ्गापरिक्रयणे विनियोगः । ॐ यद्यसि सौमी सोमाय त्वा राज्ञे परिक्रीणामि । इति गुड़कत्रयेण एकं परिक्रयणम् ॥ यद्यसि वारुणी वरुणाय त्वा राज्ञे परिक्रीणामि । इति गुड़कत्रयेण द्वितीयं परिक्रयणम् ॥ यद्यसि वसुभ्यो वसुभ्यस्त्वा राज्ञे परिक्रीणामि । इति गुड़कत्रयेण तृतीयं परि-क्रयणम् ॥ तद्यसि रुद्रेभ्यो रुद्रेभ्यस्त्वा राज्ञे परिक्रीणामि । इति गुड़कत्रयेण चतुर्थं परि-क्रयणम् ॥ यद्यसि आदित्येभ्यः आदित्येभ्यस्त्वा राज्ञे परिक्रीणामि । इति गुड़कत्रयेण पञ्चमं परिक्रयणम् ॥ यद्यसि मरुद्भ्यो मरुद्भ्यस्त्वा राज्ञे परिक्रीणामि । इति गुड़कत्रयेण षष्ठं परि-क्रयणम् ॥ यद्यसि विश्वेभ्यो देवेभ्यो विश्वेभ्यो देवेभ्यस्त्वा राज्ञे परिक्रीणामि । इति गुड़क-त्रयेण सप्तमं परिक्रयणम् ॥ ततः क्रीतां वट-शुङ्गां अनेन मन्त्रेण दृष्ट्वादानयेत् । प्रजापति-ऋषिरोषध्यो देवता न्यग्रोधशुङ्गाच्छेदने विनि-योगः । ओषधयः सुमनसो भूत्वा अस्या वीर्य्यं समाधत्त इयं कर्म्म करिष्यति । ततस्तां वट-शुङ्गां तृणेन वेष्टितामन्तरीक्षेणानीय अन्तरीक्षे स्थापयेत् । ततः कृतशोभननाम्नो अग्नेरुत्तरतः प्रक्षालितशिलायां ब्रह्मचारी कुमारी भगवती वा श्रुतस्वाध्यायशीलो वा ब्राह्मणः आचारतो नीहारजलेनानावृतलोष्ट्रेण पुनः पुनः पेषयेत् । ततोऽग्नेः पश्चिमतः उत्तराग्रेषु कुशेषु पश्चि-माभिमुखीं वधूं पूर्ब्बदिगानतमस्तकां कृत्वा पृष्ठदेशे स्थितः पतिर्दक्षिणपाणेरङ्गुष्ठानामि-काभ्यां वस्त्रबद्धां पेषितवटशुङ्गां गृहीत्वा गर्भ-वत्या दक्षिणनासाविवरे शुङ्गारसं निक्षिपति अनेन मन्त्रेण । प्रजापतिऋषिरनुष्टुप् छन्दो-ऽग्नीन्द्रबृहस्पतयो देवता न्यग्रोधशुङ्गारसस्य दाने विनियोगः ।
पुमानग्निः पुमानिन्द्रः पुमान् देवो बृहस्पतिः ।
पुमांसं पुत्रं विन्दस्व तं पुमाननुजायताम् ॥
ततो महाव्याहृतिहोमं कृत्वा प्रादेशप्रमाणां घृताक्तां समिधं तूष्णीमग्नौ हुत्वा प्रकृतं कर्म्म-समाप्य उदीच्यं शाट्यायनहोमादिवामदेव्य-गानान्तं कर्म्म समाप्य कर्म्मकारयितृब्राह्मणाय दक्षिणां दद्यात् । इति भवदेवः ॥

शुङ्गी, [न्] पुं, (शुङ्गा अस्त्यस्येति । शुङ्गा+इनिः ।) प्लक्षवृक्षः । वटवृक्षः । इति जटा-धरः ॥ शुङ्गाविशिष्टे, त्रि ॥

शुच, शोके । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट् ।) तालव्यादिः । शोचति । शोकः पुत्रादेरदर्शनाद्दुःखानुभवः । किं शोचते-हाभ्युदये वतास्मानिति भट्टिः । प्रियतमा मां शोचते शोचते । इति महानाटकम् । गण-कृतानित्यत्वादात्मनेपदम् । इति दुर्गादासः ॥

शुच, इर् य ञ ई शौचे । विशरणे । क्लेदे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (दिवा०-उभ० क्लेदे शौचे च अक०-अन्यत्र सक०-सेट् । निष्ठायां अनिट् ।) शौचं शुद्धिः । विशरणं विभेदः । क्लेदः आर्द्री-भावः । इर् अशुचत् अशोचीत् । य ञ, शुच्यते लोकः स्नानात् । शुच्यति गात्रं साधुः । शुच्यति वस्त्रमम्भसा । ई, शुक्तः । शुचि र पूतीभावे इति प्राञ्चः । रमानाथस्तु एतदनुरोधादेता-नर्थान् व्याख्याति । इति दुर्गादासः ॥

शुचा, स्त्री, (शुच शोके+क्विप् । पक्षे टाप् ।) शोकः । इति शब्दरत्नावली ॥

शुचिः, पुं, (शुच्यति अनेनेति । शुच+"इगुप-धात् कित् ।" उणा० ४।११९ । इति इन् । स च कित् ।) अग्निः । (यथा, भागवते । ४।२४।४ ।
"पावकः पवमानश्च शुचिरित्यग्नयः पुरा ।
वशिष्ठशापादुत्पन्नाः पुनर्योगगतिं गताः ॥")
चित्रकवृक्षः । आषाढ़मासः । शुक्लवर्णः । शृङ्गाररसः । इत्यमरः ॥ ग्रीष्मः । शुद्धमन्त्री । ज्येष्ठमासः । इति मेदिनी ॥ सौराग्निः । यथा,
"पावकः पवमानश्च शुचिरग्निश्च ते त्रयः ।
निर्म्मथ्यः पवमानः स्यात् वैद्युतः पावकः स्मृतः ॥

यश्चासौ तपते सूर्य्यः शुचिरग्निस्त्वसौ स्मृतः।
तेषान्तु सन्ततावन्ये चत्वारिंशत्तु पञ्च च॥
पावकः पवमानश्च शुचिस्तेषां पिता च यः।
एते चैकोनपञ्चाशद्वह्नयः परिकीर्त्तिताः॥”
इति कौर्म्मे १२ अध्यायः॥
सूर्य्यः। यथा,—
“तपनस्तापनश्चैव शुचिः सप्ताश्ववाहनः॥”
इति शाम्बपुराणम्॥
चन्द्रः। शुक्रः। ब्राह्मणः। इति केचित्॥
(अन्धकस्य पुत्त्रविशेषः। यथा, भागवते। ९। २४। १९।
“कुकुरो भजमानश्च शुचिः कम्बलबर्हिषः॥”
कार्त्तिकेयः। इति महाभारतम्। ३।२३१।४॥)
शुचिः, स्त्री, (शुच+इन्।) कश्यपपत्न्यास्ताम्रायाः सुता। यथा,—
“षट् सुताश्च महासत्त्वास्ताम्रायाः परिकीर्त्तिताः।
शुकी श्येनी च भासी च सुग्रीवी शुचिगृध्रिका॥”
इति गारुडे ६ अध्यायः॥
शुचिः, त्रि, (शुच+इन्।) शुक्लगुणविशिष्टः। इत्यमरः॥ शुद्धः। (यथा, महाभारते। १। १२८। ४६।
“क्रीडावसाने ते सर्व्वे शुचिवस्त्राः स्वलङ्कृताः॥”)
अनुपहतः। इति मेदिनी॥ *॥ परस्वर्णस्पर्शे हस्तप्रक्षालनात् शुचिर्यथा,—
“दैवात् परस्त्रियं दृष्ट्वा विरमेद् यो हरिं स्मरन्।
स्पृष्ट्वा परसुवर्णञ्च हस्तप्रक्षालनात् शुचिः॥”
इति ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे ३५ अध्यायः॥
(निरपराधी। यथा, महाभारते।१।१४९।१४।
“अहो धिक् धृतराष्ट्रस्य बुद्धिर्नास्ति समञ्जसी।
यः शुचीन् पाण्डुदायादान् दाहयामास शत्रुवत्॥”
शुद्धान्तःकरणः। यथा, मनुः। ७। ३८।
“वृद्धांश्च नित्यं सेवेत विप्रान् वेदविदः शुचीन्।
वृद्धसेवी हि सततं रक्षोभिरपि पूज्यते॥”)
शुचिता, स्त्री, (शुचेर्भावः। शुचि+तल्।) शुचित्वम्। यथा,—
“शैत्यं नाम गुणस्तवैव सहजः स्वाभाविकी स्वच्छता
किं ब्रूमः शुचितां भवन्ति शुचयः स्पर्शेन यस्यापरे।
किञ्चान्यत् कथयामि ते स्तुतिपदं त्वं जीविनां जीवनं
त्वञ्चेन्नीचपथेन यास्यसि पयः कस्त्वां निषेद्धुं क्षमः॥”
इति लक्ष्मणसेनः॥
शुचिद्रुमः, पुं, (शुचिः पवित्रो द्रुमः।) अश्वत्थवृक्षः। इति राजनिर्घण्टः॥ शुद्धवृक्षश्च॥
शुचिप्रणीः, पुं, (शुचिं प्रणयतीति। प्र+नी+क्विप्।) आचमनम्। यथा,—
“आचामः स्यादाचमनमुपस्पर्शः शुचिप्रणीः।”
इति शब्दरत्नावली॥
शुचिमल्लिका, स्त्री, (शुचिर्मल्लिका।) नवमालिका। इति राजनिर्घण्टः॥
शुचिरोचिः, [स्] पुं, (शुचिः शुक्लं रोचिः किरणो यस्य।) चन्द्रः। इति केचित्॥ शुक्लकिरणे, त्रि॥
शुच्य, ई अभिषवे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-पर०-अक०-सक० च-सेट्। निष्ठायामनिट्।) तालव्यादिः। पञ्चमस्वरी। तालव्यवर्गाद्योपधः। ई, शुक्तः। यदा, यान्तोऽयमित्येके। अभिषवः स्नानं मन्थनं पीडनं सन्धानञ्च। इति दुर्गादासः॥
शुटीरता, स्त्री, वीर्य्यम्। इति त्रिकाण्डशेषः॥
शुटीर्य्यं, क्ली, वीर्य्यम्। इति शब्दरत्नावली॥
शुठ, खोटने। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-पर०-अक०-सेट्।) खोटनमिह गत्याघातः। शोठति पयः सेतुना। इति दुर्गादासः॥
शुठ, इ खोटने। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-पर०-अक०-सेट्।) खोटनमिह गत्याघातः। इ, शुण्ठ्यते। इति दुर्गादासः॥
शुठ, इ कि शोषणे। इति कविकल्पद्रुमः। (चुरा०पक्षे भ्वा०-अक०-सेट्।) इ, शुण्ठ्यते। कि, शुण्ठयति शुण्ठति पङ्कमातपात्। रमानाथस्तु भ्वादिपक्षे शुष्कीभावे। चुरादिपक्षे शुष्कीकरणेऽयमिति मत्वा भ्वादौ शुण्ठति पङ्कं चुरादौ शुण्ठयति काष्ठमातप इत्युदाहृतवान्। वस्तुतस्तु उभयत्र शुष्कीभावः अन्यथा भौवादिकस्यैव प्रेरणत्वाच्चित्वाच्चुरादिपाठोऽनर्थकः स्यात्। इति दुर्गादासः॥
शुठ, क आलस्ये। इति कविकल्पद्रुमः॥ (चुरा०-पर०-अक०-सेट्।) क, शोठयति दृढः क्रियासु मन्दः स्यादित्यर्थः। इति दुर्गादासः॥
शुण्ठिः, स्त्री, (शुठि शोषणे+इन्।) शुण्ठी। इत्यमरटीका॥ (यथा, आर्य्यासप्तशत्याम्।२७१।
“तस्मिन् गताङ्गभावे वीतरसे शुण्ठिशकल इव शुरवे।
अपि भूतिभाजि मलिने नागरशब्दो विडम्बाय॥”)
शुण्ठी, स्त्री, (शुण्ठि+वा ङीष्।) शुष्कार्द्रकम्। शुँट् इति भाषा॥ तत्पर्य्यायः। महौषधम् २ विश्वम् ३ नागरम् ४ विश्वभेषजम् ५। इत्यमरः॥ शुण्ठिः ६ विश्वा ७ महौषधी ८। इति तट्टीका॥ ऊषणभेषजम् ९ भेषजम् १०। इति शब्दरत्नावली॥ विश्वौषधम् ११ कटुग्रन्थिः १२ कटुभद्रम् १३ कटूषणम् १४ सौपर्णम् १५ शृङ्गवेरम् १६ कफारिः १७ चान्द्रकम् १८ शोषणम् १९ नागराह्वम् २०। अस्या गुणाः। कटुत्वम्। उष्णत्वम्। स्निग्धत्वम्। कफशोषानिलशूलबन्धोदराध्मानश्वासश्लीपदनाशित्वञ्च। इति राजनिर्घण्टः॥ *॥ अपि च।
“शुण्ठी रुच्यामवातघ्नी पाचनी कटुका लघुः।
स्निग्धोष्णा मधुरा पाके कफवातविबन्धनुत्॥
वृष्या स्वर्य्या च निःश्वासशूलकासहृदामयान्।
हन्ति श्लीपदशोथार्शआनाहोदरमारुतान्॥
आग्नेयगुणभूयिष्ठं तोयांशं परिशोषयेत्।
संगृह्णन्ति मलं तत्तु ग्राहि शुण्ठ्यादयो यथा॥
विबन्धभेदिनी या तु सा कथं ग्राहिणी भवेत्।
शक्तिर्विबन्धभेदे स्याद्यतो न मलपातने॥”
इति भावप्रकाशः॥
अन्यच्च।
“शुण्ठी तु कफवातघ्नी सस्नेहा लघुदीपनी।
विपाके मधुरा वृष्या हृद्योष्णा कटुरोचनी॥”
इति राजवल्लभः॥
शुण्ठ्यं, क्ली, शुण्ठी। इति शब्दचन्द्रिका॥
शुण्डः, पुं, (शुन गतौ+बाहुलकात् डः।) मदनिर्झरः। इति हेमचन्द्रः॥ करिकरश्च॥ (यथा, महाभारते। ७। ३५। ३५।
“घण्टाशुण्डान् विषाणाग्रान् क्षुरमालापदानुगान्।
शरैर्निशितधाराग्रैः शात्रवाणामशातयत्॥”)
शुण्डकः, पुं, शौण्डिकः। इति शब्दरत्नावली। युद्धवेणुः। इति शब्दमाला॥
शुण्डरोहः, पुं, (शुण्डवत् रोहतीति। रुह+अच्।) भूतृणम्। इति राजनिर्घण्टः॥ पुस्तकान्तरे शृङ्गरोह इति पाठः॥
शुण्डा, स्त्री, (शुन्+ड। टाप्।) मद्यपानगृहम्। अम्बुहस्तिनी। वेश्या। सुरा। हस्तिहस्तः। इति मेदिनी॥ शुँड् इति भाषा॥ नलिनी॥ इति विश्वः॥ कुट्टनी। इति शब्दमाला॥
शुण्डापानं, क्ली, (शुण्डाया आपानम्।) मद्यपानगृहम्। तत्पर्य्यायः। मदस्थानम्। इत्यमरः॥ मदस्थलम्। इति शब्दरत्नावली॥
शुण्डारः, पुं, (शुण्डां रातीति। रा+कः।) शौण्डिकः। इति शब्दरत्नावली॥ (हस्ता शुण्डा। “कुटीशमीशुण्डाभ्यो रः।” ५। ३। ८८। इति रः। स्वल्पशुण्डा। इति सिद्धान्तकौमुदी॥)
शुण्डालः, पुं, (शुण्डेन अलतीति। अल पर्य्याप्तौ+अच्।) हस्ती। इति धनञ्जयः॥
शुण्डिका, स्त्री, अलिजिह्वा। इति केचित्॥ शुण्डाशब्दार्थेषा॥
शुण्डिमूषिका, स्त्री, (शुण्डिनी शुण्डविशिष्टा मूषिका।) छुच्छुन्दरी। इति राजनिर्घण्टः॥
शुण्डी, [न्] पुं, (शुण्डा अस्यस्येति। शुण्डा+इनिः।) शौण्डिकः। इति शब्दरत्नावली॥ हस्ती च॥
शुण्डी, स्त्री, हस्तिशुण्डीवृक्षः। इति राजनिर्घण्टः॥
शुतुद्रिः, स्त्री, शतद्रुनदी। इत्यमरटीकायां भरतः॥
शुतुद्रुः, स्त्री, शतद्रुनदी। इति भरतद्विरूपकोषः॥
शुद्धं, क्ली, (शुध+क्तः।) सैन्धवम्। मरिचम्। इति राजनिर्घण्टः॥ मरिचपर्य्याये स्वयं यल्लिखितं तद्युक्तम्॥

शुद्धः, त्रि, (शुध + क्तः ।) केवलम् । (यथा, मनुः । ९ । २७९ ।
"तड़ागभेदकं हन्यादप्सु शुद्धवधेन वा ।
तद्वापि प्रतिसंकुर्य्यात् दाप्यस्तूत्तमसाहसम् ॥")
निर्द्दोषः । (यथा, वृहत्संहितायाम् ।४९।४।
"सर्व्वे च शुद्धकाञ्चनविनिर्म्मिताः श्रेयसो
वृद्ध्यै ॥")
पवित्रः । इति मेदिनी ॥ (उज्ज्वलः । यथा, रघुः । १ । ४६ ।
"काप्यभिख्या तयोरासीत् व्रजतोः शुद्ध-
वेशयोः ॥")
शुक्लः । इति धरणिः ॥ रागान्तरामिश्रितरागः । इति संगीतशास्त्रम् ॥ * ॥ शरीराशुद्धताकारणं यथा,—

श्रीनारद उवाच ।
"मानवानां द्विजादीनां शरीरस्यापवित्रता ।
भवेत् केन प्रकारेण कथ्यतां तत् सदाशिव ॥
सर्व्ववेदपुराणादिशास्त्रज्ञानां द्विजन्मनाम् ।
जितेन्द्रियस्तुतिविदां तनोः कथय पूतताम् ॥

सदाशिव उवाच ।
यथा देहापवित्रत्वं विप्रादीनां यतो भवेत् ।
देवर्षे शृणु तत् सर्व्वं नराणामानुपूर्व्विकम् ॥
जातके मृतकेऽस्नाते जलौकोभिः क्षते तथा ।
अपवित्रो द्विजादीनां देहः सन्ध्यादिकर्म्मसु ॥
अपूतस्तूत्सर्गे नरो मूत्रपुरीषयोः ।
अस्पृश्यस्पर्शने नैव ब्रह्मयज्ञजपादिषु ॥
रक्तपाते नखश्मश्रुदन्तखड्गादिभिः क्षते ।
विप्रादेरशुचिः कायः शस्त्राद्यैः कण्टकादिभिः ॥
भुक्त्वा हस्तानघोच्छिष्टेऽपवित्रः क्षतमैथुने ।
शयने ब्राह्मणादीनां शरीरं क्षुरकर्म्मणि ॥
ज्वरादिभिश्चतुःषष्टिरोगैर्युक्तद्विजन्मनाम् ।
वपुरप्रयतं पूजादानहोमजपादिषु ॥
धूमोद्गारे वमौ श्राद्धपतितान्नादिभोजने ।
तथा च रेतःस्खलने मर्त्त्यदेहापवित्रता ॥
अपवित्रं द्विजादीनां वपुः स्याद्राहुदर्शने ।
गर्हितदानग्रहणे पतितं पातकादिभिः ॥
अशौचान्तेन शुद्धिः स्यात् जातके मृतकेपि च ।
सर्व्ववर्णाश्रमादीनां तनोः सन्ध्यादिकर्म्मसु ॥"
इति पाद्मे उत्तरखण्डे १९ अध्यायः ॥

शुद्धजङ्घः, पुं, (शुद्धा जङ्घा यस्य ।) गर्द्दभः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ पवित्रजङ्घायुक्ते, त्रि ॥

शुद्धदत्, त्रि, शुद्धा दन्ता यस्य सः । ("अग्रान्तशुद्धशुभ्रवृषवराहेभ्यश्च ।" ५ । ४ । १४५ । इति दन्तस्य दत्रादेशः ।) शुक्लदन्तयुक्तः । यथा,—
"मते तस्मिन् जलशुचिः शुद्धदन्नावणः शिखी ।
कंजपूकोऽन्नमालावान् धारयो मृदलाश्रुनः ॥"
इति भट्टौ । ५ । ६१ ॥

शुद्धमतिः, पुं, (शुद्धा मतिर्यस्य ।) चतुर्व्विंशतिभूतार्हद्वन्तर्गतजिनविशेषः । इति हेमचन्द्रः ॥ (शुद्धा मतिः ।) पवित्रबुद्धौ, स्त्री । तद्वति, त्रि ॥ (यथा, हितोपदेशे । १ । ८० ।
"उपकारिणि विश्रब्धे शुद्धमतौ यः समाचरति
पापम् ।
तं जनमसत्यसन्धं भगवति वसुधे कथं वहसि ॥")

शुद्धमांसं, क्ली, (शुद्धं मांसं यत्र ।) मांसव्यञ्जनविशेषः । यथा,—
"पाकपात्रे घृतं दद्यात्तैलं वा तदभावतः ।
तत्र हिङ्गुहरिद्राच भर्ज्जयेत्तदनन्तरम् ॥
छागादेरस्थिरहितं मांसं तत् खण्डखण्डितम् ।
धौतनिर्गालितं तस्मिन् घृते तद्भर्ज्जयेच्छनैः ॥
सिद्धयोग्यं जलं दत्त्वा लवणञ्च पचेत् ततः ।
सिद्धे जलेन संपिष्य वेसवारं परिक्षिपेत् ॥
द्रव्याणि वेसवारस्य नानाबल्लीदलानि हि ।
लशुनाश्च लवङ्गानि मरिचानि समासतः ।
अनेन विधिना सिद्धं शुद्धमांसमिति स्मृतम् ॥
शुद्धमांसं परं हृद्यं बल्यं रुच्यञ्च वृंहणम् ।
त्रिदोषशमनं श्रेष्ठं दीपनं धातुवर्द्धनम् ॥"
इति भावप्रकाशः ॥

शुद्धवल्लिका, स्त्री, (शुद्धा वल्लिका लता ।) गुडूची । इति शब्दचन्द्रिका ॥ पवित्रलता च ॥

शुद्धान्तः, पुं, (शुद्धः अन्तो यस्य । शुद्धा रक्षकाः अन्ते यस्य इति वा ।) अन्तःपुरम् । (यथा, कुमारे । ६ । ५२ ।
"विधिप्रयुक्तसत्कारैः स्वयं मार्गस्य दर्शकः ।
स तैराक्रमयामास शुद्धान्तं शुद्धकर्म्मभिः ॥")
नृपस्यासर्व्वगोचरकक्षान्तरम् । इत्यमरमेदिन्यौ ॥ राजयोषित् । इत्यजयः ॥ (यथा, नैषधे ।३।८३।
"शुद्धान्तसंभोगनितान्ततुष्टे
न नैषधे कार्य्यमिदं निगाद्यम् ।
अपां हि तृप्ताय न वारिधारा
स्वादुः सुगन्धिः स्वदते तुषारा ॥")
अशौचान्तः । इति धरणिः ।

शुद्धान्तपालकः, पुं, (शुद्धान्तं पालयतीति । पालि + ण्वुल् ।) अन्तःपुररक्षकः । तत्पर्य्यायः । गृहदौवारिकः २ कञ्चुकरक्षकः ३ रात्रिहिण्डकः ४ । इति शब्दमाला ॥ तस्य लक्षणं यथा,—
"वृद्धः कुलोद्गतः शक्तः पितृपैतामहः शुचिः ।
राज्ञामन्तःपुराध्यक्षो विनीतश्च तथेष्यते ॥"
इति मात्स्ये १८९ अध्यायः ॥

शुद्धान्ता, स्त्री, (शुद्धान्तः आश्रयत्वेनास्त्यस्या इति । अच् । टाप् ।) राज्ञी । यथा,—
"शुद्धान्तश्च विशुद्धान्ते शुद्धान्ता राजयोषितः ॥"
इति धरणिः ॥

शुद्धापह्नुतिः, स्त्री, (शुद्धा अपह्नुतिः ।) अलङ्कारविशेषः । यथा,—
"शुद्धापह्नुतिरन्यस्यारोपार्थो धर्म्मनिह्नवः ।
नायं सुधांशुः किं तर्हि व्योमगङ्गासरोरुहम् ॥"
इति चन्द्रालोकः ॥

शुद्धिः, स्त्री, (शुध + क्तिन् ।) दुर्गा । यथा,—
"स्मरणाच्चिन्तनाद्वापि शोध्यते न हि पातकात् ।
तेन शुद्धिः समाख्याता देवी रुद्रतनौ स्थिता ॥"
इति देवीपुराणे देवीनिरुक्ताध्यायः ४५ ॥

मार्ज्जना । इति जटाधरः ॥ वैदिककर्म्मार्हत्वप्रयोजकसंस्कारविशेषः । यथा । शुद्ध्यशुद्ध्योः संस्काररूपत्वेन एकपुरुषस्यैकदोभयस्थितिर्घटते । अशुद्धेर्भावरूपत्वे शुद्धेस्तदभावरूपत्वे नैतत् विरोधात् । अतएव शङ्खः ।
"ततः श्राद्धमशुद्धौ तु कुर्य्यादेकादशे तथा ।
कर्त्तुस्तात्कालिकी शुद्धिरशुद्धः पुनरेव सः ॥"
अशुद्धौ चतुर्थाहादौ । कथमशुद्धौ श्राद्धं कालाशौचस्याधिकारिविशेषणत्वादत आह कर्त्तुस्तात्कालिकीति । श्राद्धविधानाक्षेपात्तन्मात्रनिष्ठा शुद्धिः कल्प्यते । स पुनरशुद्ध एव कर्म्मान्तर एव । इति श्राद्धविवेकः ॥ एवं शुद्धेर्भावरूपत्वे अशौचस्य तदभावरूपत्वे विरोधः । तथात्वे अशौचसङ्करोऽपि न स्यात् । एकस्मिन् शुद्ध्यभावरूपे अशौचे सत्यपरस्य तद्रूपस्य तदानीं तत्पुरुषीयशुद्धिरूपप्रतियोग्यन्तराभावादनुत्पत्तेः । तस्मात् शुद्ध्यशुद्ध्योर्भावरूपत्वम् । इति शुद्धितत्त्वम् ॥ * ॥ अथाशौचिशुद्धिः ।
"अघवृद्धिमदाशौचमूर्द्धं चेत्तेन शुध्यति ।
अथ चेत् पञ्चमीं रात्रिमतीत्य परतो भवेत् ।
अघवृद्धिमदाशौचं तदा पूर्व्वेण शुध्यति ॥"
अघवृद्धिमत्त्वन्तु । सपिण्डजननाशौचापेक्षया स्वपुत्त्रजननाशौचस्य सपिण्डमरणाशौचापेक्षया पितृमातृभर्तृमरणाशौचस्य । * ।
"जाते पुत्त्रे पितुः स्नानं सचेलन्तु विधीयते ।
माता शुध्येद्दशाहेन स्नानात्तु स्पर्शनं पितुः ॥"
शुध्येत् स्पर्शमात्रे उत्तरवाक्ये तथा दर्शनात् । * । जननाशौचमध्ये तु यद्यपरं जननं स्यात् तदा पूर्व्वाशौचव्यपगमे शुद्धिः रात्रिशेषे दिनद्वयेन प्रभाते दिनत्रयेण मरणाशौचमध्ये ज्ञातिमरणेऽप्येवमिति ॥ * ॥
"यस्य यस्य तु वर्णस्य यद्यत् स्यात् पश्चिमं
त्वहः ।
स तत्र वस्त्रशुद्धिञ्च गृहशुद्धिं करोत्यपि ॥
समाप्य दशमं पिण्डं यथाशास्त्रमुदाहृतम् ।
ग्रामाद्बहिस्ततो गत्वा प्रेतस्पृष्टे च वाससी ॥
अन्त्यानामाश्रितानाञ्च त्यक्त्वा स्नानं करोत्यपि ।
श्मश्रुलोमनखानाञ्च यत्त्याज्यं तत्त्यजत्यपि ॥
गौरसर्षपकल्केन तिलतैलेन संयुतः ।
शिरःस्नानं ततः कृत्वा तोयेनाचम्य वाग्यतः ॥
वासोयुगं नवं शुभ्रमव्रणं शुद्धमेव च ।
गृहीत्वा गां सुवर्णञ्च मङ्गलानि शुभानि च ।
स्पृष्ट्वा संकीर्त्तयित्वा तु पश्चात् शुद्धो भवेन्नरः ॥"
गृहशुद्धिः प्राक्तनपाकभाण्डपरित्याग उपलेपादिना । त्याज्यं त्यागार्हम् ।
"अथाहःसु निवृत्तेषु सुस्नाताः कृतमङ्गलाः ।
आशुच्याद्विप्रमुच्येत ब्राह्मणान् स्वस्तिवाच्य च ॥
स्वल्पाशौचस्य मध्ये तु दीर्घाशौचं भवेद्यदि ।
न तु पूर्व्वेण शुद्धिः स्यात् स्वकालेनैव शुध्यति ॥
समानं लघु चाशौचं पूर्व्वेणैव विशुध्यति ॥
यदि स्यात् सूतके सूतिर्मृतके च मृतिर्भवेत् ।
शेषेणैव भवेच्छुद्धिरहःशेषे द्विरात्रकम् ।

मरणोत्पत्तियोगे तु मरणाच्छुद्धिरिष्यते ॥*॥
अर्व्वाक् षण्मासतः स्त्रीणां यदि स्यात् गर्भसंस्रवः ।
तदा माससमैस्तासां दिवसैः शुद्धिरिष्यते ॥
गर्भस्रुत्यां यथामासमचिरे तूत्तमे त्र्यहः ।
राजन्ये तु चतूरात्रं वैश्ये पञ्चाहमेव च ॥
अष्टाहेन तु शूद्रस्य शुद्धिरेषा प्रकीर्त्तिता ।
रात्रिभिर्मासतुल्याभिर्गर्भस्रावे विशुध्यति ॥
रजस्युपरते साध्वी स्नानेन स्त्री रजस्वला ।
शुद्धा भर्त्तुश्चतुर्थेऽह्नि अशुद्धा दैवपैत्रयोः ।
दैवे कर्म्मणि पैत्रे च पञ्चमेऽहनि शुध्यति ॥*॥
दत्ता नारी पितुर्गेहे सूयते म्रियतेऽथवा ।
स्वमशौचं चरेत् सम्यक् पृथक्स्थानव्यवस्थिता ॥
तद्बन्धुवर्गस्त्वेकेन शुध्येत्तु जनकस्त्रिभिः ।
यस्तैः सहासनं कुर्य्यात् शयनादीनि चैव हि ।
बान्धवो वा परो वापि स दशाहेन शुध्यति ॥
स्त्रीणामसंस्कृतानान्तु त्र्यहात् शुध्यन्ति बान्धवाः ।
यथोक्तेनैव कल्पेन शुध्यन्ति हि सनाभयः ॥*॥
षण्मासाभ्यन्तरे शूद्रे मृते बाले त्र्यहं विदुः ।
अनतीते द्विवर्षे वै मृते शुध्येत्तु पञ्चभिः ॥
बालस्त्वन्तर्दशाहे तु प्रेतत्वं यदि गच्छति ।
सद्य एव विशुद्धिः स्यान्नाशौचं नैव सूतकम् ॥
कृष्णामकृतचूडानामशुद्धिर्नैशिकी स्मृता ।
निर्वृत्तचूड़कानान्तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥*॥
दशाहेन सपिण्डास्तु शुध्यन्ति प्रेतसूतके ।
त्रिरात्रेण सकुल्यास्तु स्नात्वा शुध्यन्ति गोत्रजाः ॥
शुध्येद्विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः ।
वैश्यः पञ्चदशाहेन शूद्रो मासेन शुध्यति ॥
दशमेऽहनि शूद्रस्य कार्य्यं संस्पर्शनं बुधैः ।
मासेनैव विशुद्धिः स्यात् सूतके मृतकेऽपि वा ॥
संस्थिते पक्षिणीं रात्रिं दौहित्रे भगिनीसुते ।
संस्कृते तु त्रिरात्रं स्यादिति धर्म्मो व्यवस्थितः ॥
पित्रोरुपरमे स्त्रीणामूढ़ानान्तु कथं भवेत् ।
त्रिरात्रेणैव शुद्धिः स्यादित्याह भगवान् शिवः ॥
यदा भोजनकाले तु अशुचिर्भवति द्विजः ।
भूमौ निःक्षिप्य तद्ग्रासं स्नात्वा चैव विशुध्यति ॥*॥
चिकित्सको यत् कुरुते तदन्येन न शक्यते ।
तस्मात् चिकित्सकस्पर्शे शुद्धो भवति नित्यशः ॥
गर्भिणी सूतिका नक्तं कुमारी च रजस्वला ।
यदाशुद्धा तदान्येन कारयेत् क्रियते सदा ॥*॥
प्रेतीभूतं द्विजं विप्रो योऽनुगच्छति कामतः ।
स्नात्वा सचेलं स्पृष्ट्वाग्निं घृतं प्राश्य विशुध्यति ।
एकाहात् क्षत्त्रिये शुद्धिर्वैश्ये च स्याद्द्व्यहेन तु ।
शूद्रे दिनत्रयं प्रोक्तं प्राणायामशतं पुनः ॥*॥
नारं स्पृष्ट्वास्थि सस्नेहं स्नात्वा विप्रो विशुध्यति ।
आचम्यैव तु निःस्नेहं गामालभ्यार्कमीक्ष्य वा ॥
असपिण्डं द्विजं प्रेतं विप्रो निर्हृत्य बन्धुवत् ।
विशुध्यति त्रिरात्रेण मातुराप्तांश्च बान्धवान् ॥
यद्यन्नमत्ति तेषान्तु स दशाहेन शुध्यति ।
अनदन्नन्नमह्नैव न चेत्तस्मिन् गृहे वसेत् ॥*॥
अस्थिसञ्चयनादर्व्वाक् यदि विप्रोऽश्रु पातयेत् ।
मृते शूद्रे गृहं गत्वा त्रिरात्रेण विशुध्यति ॥
अस्थिसञ्चयनादूर्द्ध्वं यावन्मासं द्विजातयः ।
दिवसेनैव शुद्धिः स्याद्वाससां क्षालनेन च ॥*॥
स्वजातिर्दिवसेनैव त्र्यहात् क्षत्त्रियवैश्ययोः ।
स्पर्शे विनानुगमने शूद्रो नक्तेन शुध्यति ॥*॥
अजा गावो महिष्यश्च ब्राह्मणी च प्रसूतिका ।
दशरात्रेण शुध्यन्ति भूमिष्ठञ्च नवोदकम् ॥*॥
उदक्या सूतिका वापि अन्त्यजं संस्पृशेद्यदि ।
त्रिरात्रेणैव शुद्धिः स्यादिति शातातपोऽब्रवीत् ॥*॥
नवस्रातजलं गावो महिष्यश्छागयोनयः ।
शुध्यन्ति दिवसैरेव दशभिर्नात्र संशयः ॥
काले नवोदकं शुद्धं न पातव्यन्तु तत्त्र्यहम् ॥”*
अथ द्रव्यशुद्धिः । ब्राह्मे ।
“सुवर्णरूप्यशङ्खाश्मशुक्तिरत्नमयानि च ।
कांस्यायसताम्ररैत्याणि त्रपुसीसमयानि च ॥
निर्लेपानि विशुध्यन्ति केवलेन जलेन तु ।
शूद्रोच्छिष्टानि शुध्यन्ति त्रिधाक्षाराम्लवारिभिः ॥
सूतिकाशवविण्मूत्ररजस्वलाहतानि च ।
प्रक्षेप्याणि तान्यग्नौ यच्च यावत् सहेदपि ॥”
रैत्यं पित्तलम् । त्रपु रङ्गम् । यत् पात्रं यावत् कालमग्निं सहेत तत् पात्रं प्रक्षालनानन्तरं तावत्तापनीयमित्यर्थः ॥*॥ बृहस्पतिः ।
“अम्भसा हेमरत्नायःकांस्यं शुध्येत भस्मना ।
अम्लैस्ताम्रञ्च रैत्यञ्च पुनःपाकेन मृण्मयम् ॥”
राजधर्म्मे ।
“पञ्चलोच्छिष्टकांस्यं यत् गवाघ्रातमथापि वा ।
गण्डूषोच्छिष्टमपि च विशुध्येद्दशभिस्तु तत् ॥”
दशभिर्दिनैरिति शेषः । तथा च ।
“कांस्ये न धावयेत् पादौ यच्च स्यादपि भोजनमिति ।”
यच्च पात्रान्तरे भोजनं तत्र स्रुतस्यैव तस्य साहचर्य्यात् कांस्यवच्छुद्धिः ॥ * ॥ बौधायनः ।
“भिन्नकांस्ये तु योऽश्नीयात् नद्यां स्नात्वा जपेद्द्विजः ।
गायत्र्यष्टसहस्रन्तु एकभक्तस्ततः शुचिः ॥”
देवलः । ताम्ररजतसुवर्णाश्मस्फटिकानां भिन्नमभिन्नम् । इति भिन्नत्वेऽपि न दोष इत्यर्थः ॥*॥ विष्णुः । शारीरैर्मलैः सुराभिर्मद्यैर्वा यदुपहतं तदत्यन्तोपहतं सर्व्वं लौहभाण्डमग्नौ प्रतप्तं शुध्येत । मणिमयमश्ममयमब्जमयञ्च सप्तरात्रं महीखननेन शृङ्गदन्तास्थिमयञ्च तक्षणेन दारुमयं मृण्मयं जह्यादिति । लौहपदं सुवर्णाद्युष्टकपरम् ॥*॥ मनुः ।
“त्रीणि देवाः पवित्राणि ब्राह्मणानामकल्पयन् ।
अदृष्टमद्भिर्निर्णिक्तं यच्च वाचा प्रशस्यते ॥”
अदृष्टमुपघातशङ्कादिभिरज्ञातम् । अज्ञातञ्च सदा शुचि इति याज्ञवल्क्योक्तवाक्यत्वात् । वाचेति उपघातशङ्कायां पवित्रं भवत्विति ब्राह्मणैर्यद्वाचा प्रशस्यते इति शूलपाणिमहामहोपाध्यायकुल्लूकभट्टौ ॥ * ॥ शातातपः ।
“गोकुले कन्दुशालायां तैलयन्त्रेक्षुयन्त्रयोः ।
अमीमांस्यानि शौचानि स्त्रीषु बालातुरेषु च ॥”
मनुः ।
“मक्षिका विप्रुषश्छाया गौरश्वः सूर्य्यरश्मयः ।
रजो भूर्व्वायुरग्निश्च स्पर्शे मेध्यानि निर्द्दिशेत् ॥”
बौधायनः ।
“अदुष्टाः सन्ततधारा वातोद्धूताश्च रेणवः ।
आकराः शुचयः सर्व्वे वर्जयित्वा सुराकरम् ॥”
शङ्खलिखितौ । आकरद्रव्याणि शोधितानि शुचीनि ॥ * ॥ यमः ।
“आममांसं घृतं क्षौद्रं स्नेहाश्च फलसम्भवाः ।
म्लेच्छभाण्डस्थिता दुष्टा निष्क्रान्ताः शुचयः स्मृताः ॥”
विष्णुधर्म्मोत्तरे ।
“मुखवर्ज्जञ्च गौः शुद्धा मार्ज्जारश्चंक्रमे शुचिः ।
पुष्पाणाञ्च फलानाञ्च प्रोक्षणात् शुद्धिरिष्यते ॥”
अत्रिः ।
“मक्षिकाः सन्ततधारा भूमिस्तोयं हुताशनः ।
मार्ज्जारश्चापि दर्व्वी च मारुतश्च सदा शुचिः ॥”
बौधायनः । अनेकोदाहृते दारुशिले भूमिसमे इष्टकाश्च सङ्कीर्णीभूताः इति । सङ्कीर्णीभूताः परस्परसम्बद्धाः ॥ * ॥ विष्णुः । प्रोक्षणेन पुस्तकं इति ॥ * ॥ शातातपः ।
“तापनं घृततैलानां प्लावनं गोरसस्य च ।
तन्मात्रमुद्धृतं शुध्येत् कठिनन्तु पयो दधि ।
अविलीनं तथा सर्पिर्व्विलीनं श्रपणेन तु ॥”
अविलीनं कठिनम् ॥ * ॥ मनुः ।
“द्रवाणाञ्चैव सर्व्वेषां शुद्धिरुत्प्लवनं स्मृतम् ।
प्रोक्षणं संहतानाञ्च दारवाणाञ्च तक्षणम् ॥”
इदमनुच्छिष्टाद्यल्पदोषे । उत्प्लवनं वस्त्रान्तरनिर्व्वापणेन कीटाद्यपनयनम् ॥*॥ शातातपः ।
“काकाभिशप्रपतितैः सूतिकोदक्यनास्तिकैः ।
दृष्टं वा स्यात् यदन्नन्तु तस्य निष्कृतिरुच्यते ॥
अभ्युक्ष्य किञ्चिदुद्धृत्य भुञ्जीताप्यविशङ्कितः ॥”*॥
देवलः ।
“चाण्डालेन शुना वापि दृष्टं हविरयज्ञियम् ।
विड़ालादिभिरुच्छिष्टं दुष्टमन्नं विवर्जयेत् ॥”
अन्यत्र हिरण्योदकस्पर्शादिति ॥ * ॥ मनुः ।
“अद्भिस्तु प्रोक्षणं शौचं बहूनां धान्यवाससाम् ।
प्रक्षालनेन त्वल्पानामद्भिः शौचं विधीयते ॥”
शुद्धिरित्यनुवृत्तौ विष्णुः । गुड़ानामिक्षुविकाराणां प्रभूतानां वायुमिदानेन सर्व्वलवणानाञ्चेति ॥ * ॥ अङ्गिराः ।
“यथा यतस्ततो ह्यापः शुद्धिं यान्ति नदीगताः ।
शूद्राद्विप्रगृहेष्वन्नं प्रविष्टन्तु सदा शुचि ॥”
प्रविष्टं स्वत्वापादकप्रतिग्रहादिनेति शेषः ॥
“सकुशाग्रं सकर्द्दमं तेभ्यस्तोयमपास्य तत् ।
प्रक्षिपेत् पञ्चगव्यञ्च समन्त्रं सर्व्वशुद्धिकृत् ॥
अपास्य कूपं तेभ्यो बहुतोयेभ्य एव वा ।

शतं षष्टाथवा त्रिंशत् तोयकुम्भान् समुद्धरेत् ॥
पञ्चगव्यं ततस्तेषु प्रक्षिपेन्मन्त्रपूर्व्वकम् ॥”
शतादि अल्पत्वाद्यपेक्षया अल्पस्य सर्व्वो-
द्धारणाभिधानात् ॥ * ॥ बृहन्मनुः ।
“शूद्रपतिताश्चान्त्या मृताश्चेद्द्विजमन्दिरे ।
शौचं तत्र प्रवक्ष्यामि मनुना भाषितं यथा ॥
दशरात्राच्छुनि प्रेते मासात् शूद्रे भवेच्छुचिः ।
द्वाभ्यान्तु पतिते गेहे अन्त्ये मासचतुष्टयात् ।
अत्यन्ते वर्जयेद्गेहमित्येवं मनुरब्रवीत् ॥”
यमः ।
“द्विजस्य मरणे वेश्म विशुध्यति दिनत्रयात् ।
दिनैकेन बहिर्भूमिरग्निक्षेपणलेपनैः ॥”*॥
यथोक्तकालानन्तरं कर्त्तव्यमाह संवर्त्तः ।
“गृहशुद्धिं प्रवक्ष्यामि अन्तःस्थशवदूषिते ।
प्रोत्सृज्य मृण्मयं पात्रं सिद्धमन्नं तथैव च ॥
गृहादपास्य तत् सर्व्वं गोमयेनानुलेपयेत् ।
गोमयेनानुलिप्याथ छागेनाघ्रापयेद्बुधः ॥
ब्राह्मणैर्म्मन्त्रपूतैश्च हिरण्यकुशवारिभिः ।
सर्व्वमभ्युक्षयेद्वेश्म ततः शुध्यत्यसंशयः ॥”
मन्त्रनादेशे गायत्री ॥ * ॥ देवलः ।
“पञ्चधा वा चतुर्धा वा भूरमेध्या विशुध्यति ।
दुष्टा द्विधा त्रिधा वापि शुध्यते मलिनैकधा ॥
दहनं खननं भूमेरुपलेपनवापने ।
पर्जन्यवर्षणञ्चापि शौचं पञ्चविधं स्मृतम् ॥
प्रसूते गर्भिणी यत्र म्रियते यत्र मानुषः ।
चाण्डालैरुषितं यत्र यत्र विन्यस्यते शवः ॥
विण्मूत्रोपहतं यच्च कुणपो यत्र दृश्यते ।
एवं कश्मलभूयिष्ठा भूरमेध्यातिकथ्यते ॥
कृमिकीटपदक्षेपैर्दूषिता यत्र मेदिनी ।
त्रमया कर्षणैः क्षिप्ता वान्तैर्व्वा दुष्टतां व्रजेत् ॥
नखदन्ततनूजत्वक्तुषपांशुरजोमलैः ।
भस्मपङ्कतृणैर्व्वापि प्रच्छन्ना मलिना भवेत् ॥”
वापनं मृदन्तरेण पूरणम् । त्रपा घनीभूत-
श्लेष्मादि । इति शुद्धितत्त्वम् ॥ * ॥ अपि च ।
याज्ञवल्क्य उवाच ।
“द्रव्यशुद्धिं प्रवक्ष्यामि तान्निबोधत सत्तमाः ।
सौवर्णराजताब्जानां शाकरज्ज्वादिचर्म्मणाम् ॥
पात्राणां चमसानाञ्च वारिणा शुद्धिरिष्यते ।
उष्णवाभिः स्रुक्स्रुवयोर्धान्यादेः प्रोक्षणेन च ॥
तक्षणात् दारुशृङ्गादेर्यज्ञपात्रस्य मार्जनात् ।
सोष्णैरुदकगोमूत्रैः शुध्यत्याविककौशिकम् ॥
भैक्षं योषिन्मुखं पुण्यं पुनः पाकान्महीमयम् ।
गोघ्राते च तथा केशमक्षिकाकीटदूषिते ।
भस्मक्षेपाद्विशुद्धिः स्याद्विशुद्धिर्मार्जनादिना ॥
त्रपुसीसकताम्राणां क्षाराम्लोदकवारिभिः ।
भस्माद्भिर्लोहकांस्यानामज्ञातञ्च सदा शुचि ॥
अमेध्याक्तस्य मृत्तोयैर्गन्धलेपापकर्षणात् ।
शुचि गोतृप्तिदं तोयं प्रकृतिस्थं महीगतम् ॥
तथा मांसं श्वचाण्डालक्रव्यादादिनिपातितम् ।
रश्मिरग्नी रजश्छाया गौरश्वो वसुधानिलः ॥
अश्वाजविप्रुषो मेध्यास्तथा चामलबिन्दवः ।
स्नात्वा पीत्वा क्षुते सुप्ते भुक्त्वा रथ्योपसर्पणे ॥
आचान्तः पुनराचामेत् वासो विपरिधाय च ।
क्षुते निष्ठीविते स्वापे परिधानेऽश्रुपातने ॥
पञ्चस्वेतेषु नाचामेत् दक्षिणं श्रवणं स्पृशेत् ।
तिष्ठन्त्यग्न्यादयो देवा विप्रकर्णे तु दक्षिणे ॥”
इति गारुडे ९७ अध्यायः ॥

अन्यच्च ।
“मणिवज्रप्रवालानां तद्वन्मुक्ताफलस्य च ।
शैलदारुमयानाञ्च तृणगुल्मौषधस्य च ॥
शाकधान्याजिनानाञ्च संहतानाञ्च वाससाम् ।
वल्कलानामशेषाणामम्बुना शुद्धिरिष्यते ॥
सस्नेहानामथोष्णेन तिलकल्केन शोधनम् ।
कार्पासिकानां वस्त्राणां शुद्धिः स्यात् सह भस्मना ॥
नागदन्तास्थिशृङ्गाणां तक्षणाच्छुद्धिरिष्यते ।
पुनःपाकेन भाण्डानां मृण्मयानाञ्च शुद्धता ॥
शुद्धं भक्ष्यं कारुहस्तः पण्यं योषिन्मुखं तथा ।
रथ्यागतमविज्ञातं दासवर्गेण यत् कृतम् ॥
वाक्यशस्तं चिरातीतमनेकान्तरितं लघु ।
चेष्टितं बालवृद्धानां बालस्य तु मुखं शुचि ॥
म्लेच्छानामपि गोशालास्तनन्धयसुताः स्त्रियः ।
वाग्विप्रुषो द्विजेन्द्राणां पाठे वागम्बुबिन्दवः ॥
भूमिर्विशुध्यते खातदाहगोक्रमसेचनैः ।
लेपादुल्लेखनात् सेकात् वेश्मसम्मार्ज्जनाज्जलात् ॥
केशकीटावपन्नेऽन्ने गोघ्राते मक्षिकान्विते ।
मृद्वारिभस्मक्षाराणि प्रक्षेप्याणि शुद्धये ॥
उडुम्बराणाञ्चाम्लेन क्षारेण त्रपुसीसयोः ।
कांस्यानां भस्मना शुद्धिस्तोयाच्छुद्धिर्द्रवस्य च ॥
अमेध्याक्तस्य मृत्तोयैर्गन्धापहरणेन च ।
अन्येषामपि तद्द्रव्यैः शुद्धिर्गन्धापहारतः ॥
मातुः प्रस्रवणे वत्सः शकुनिः फलपातने ।
गर्द्दभो भारहारित्वे श्वा मृगग्रहणे शुचिः ॥
रथ्याकर्द्दमतोयानि नावः पथि तृणानि च ।
मारुतेनैव शुध्यन्ति पक्वेष्टकचितानि च ॥
घृतं द्रोणाढकस्यान्नममेध्याभिप्लुतं भवेत् ।
अग्रमुद्धृत्य सन्त्याज्यं शेषस्य प्रोक्षणं स्मृतम् ॥
उपवासं त्रिरात्रं वा दूषितान्नस्य भोजने ।
अज्ञाते ज्ञातपूर्व्वे च नैव शुद्धिर्व्विधीयते ॥
उदक्याश्वाननग्नांश्च सूतिकान्त्यावसायिनः ।
स्पृष्ट्वा स्नायीत शौचार्थं तथैव मृतहारिणः ॥
सस्नेहमस्थि संस्पृश्य सवासाः स्नानमाचरेत् ।
आचम्यैव तु निःस्नेहं गामालभ्यार्कमीक्ष्य च ॥”
इति वामनपुराणे १४ अध्यायः ॥
अन्यत् मार्कण्डेयपुराणे सदाचाराध्याये द्रष्टव्यम् ॥
जलशुद्धिर्यथा,—
“गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति ।
नर्म्मदे सिन्धुकावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु ॥”
भूतशुद्धिस्तु तच्छब्दे द्रष्टव्या ॥ * ॥ आसन-
शुद्धिर्यथा । “एते गन्धपुष्पे आधारशक्तिकमला-
सनाय नमः । आसनमन्त्रस्य मेरुपृष्ठ ऋषिः
सुतलं छन्दः कूर्म्मो देवता आसनपरिग्रहे
विनियोगः ।
पृथ्वि त्वया धृता लोका देवि त्वं विष्णुना धृता ।
त्वञ्च धारय मां नित्यं पवित्रं कुरु चासनम् ॥”*
मण्डपशुद्धिर्यथा,—
“पञ्चगव्येन मूलेन मण्डपं परिशोधयेत् ॥”
गौतमीये ।
“पञ्चगव्येन तद्गेहं मण्डलञ्च विशोधयेत् ॥”
पञ्चगव्यप्रमाणन्तु तत्रैव ।
“पलमात्रं दुग्धभागं गोमूत्रं तावदिष्यते ।
घृतञ्च पलमात्रं स्यात् गोमयं तोलकद्वयम् ॥
दधि प्रसृतिमात्रं स्यात् पञ्चगव्यमिदं स्मृतम् ।
अथवा पञ्चगव्यानां समानो भाग इष्यते ॥
मूलमन्त्रेण संमन्त्र्य तेनैव परिशोधयेत् ।
तेन सर्व्वविशुद्धिः स्यात् सर्व्वपापनिकृन्तनम् ॥”
इति तन्त्रसारः ॥ * ॥

गृहशुद्धिर्गोचरशब्दे द्रष्टव्या ॥

शुद्धोदनसुतः, पुं, (शुद्धोदनस्य सुतः ।) बुद्धभेदः । इति हेमचन्द्रः ॥

शुध, ऌ य औ शौचे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (दिवा०-पर०-अक०-अनिट् ।) ऌ, अशुधत् । य, शुध्यति लोकः स्नानात् । औ, शोद्धा । रजसा शुध्यते नारीत्यत्र शुध्यतीति क्विपि शुधं करोतीति णौ कर्म्मणि यकि रूपम् । इति दुर्गादासः ॥

शुन, श गत्याम् । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (तुदा०-पर०-सक०-सेट् ।) श, शुनति । शोनिता । इति दुर्गादासः ॥

शुनः, पुं, (शुनति सदा इतस्ततो गच्छतीति । शुन + कः ।) कुक्कुरः । यथा,—
“कुक्कुरस्तु शुनिः श्वानः कपिलो मण्डलः
शुनः ॥”
इत्यमरटीकायां भरतधृतवाचस्पतिः ॥
(शुनति क्षिप्रं गच्छतीति । कः । वायुः । इति निघण्टुटीकायां देवराजयज्वा ॥ ५ । ३ । ३४ ॥ क्ली, सुखम् । इति ऋग्वेदभाष्ये सायणः । ४ । ५७ । ८ ॥)

शुनःशेफः, पुं, मुनिविशेषः । स तु ऋचीकमुनिपुत्त्रः । अम्बरीषेण यज्ञार्थं क्रीतः विश्वामित्रेण रक्षितश्च । इति रामायणे वाल्मीकीये बालकाण्डे ६१ सर्गः ॥ (वरुणशापात् जलोदररोगपीड़ितो हरिश्चन्द्रः अजीगर्त्तपुत्त्रं शुनःशेफं पशुं विधाय वरुणतुष्ट्यर्थं यज्ञमारब्धवान् । करुणार्द्रचित्तो विश्वामित्रस्तु तमतीवव्याकुलमवलोक्य मोचयामास । ततः प्रभृति शुनःशेफोऽयं विश्वामित्रस्य पुत्त्र इति प्रसिद्धोऽभूत् । एतद्वृत्तान्तस्तु देवीभागवते ७ स्कन्धे १६ अध्यायमारभ्य द्रष्टव्यः ॥) कुक्कुरशिश्ने, क्ली ॥

शुनकः, पुं, (शुनति इतस्ततो गच्छतीति । शुन गतौ + “क्वुन् शिल्पिसंज्ञयोरपूर्व्वस्यापि ।” उणा० २ । ३२ । इति क्वुन् ।) कुक्कुरः । इति राजनिर्घण्टः ॥ (यथा, महाभारते । १३ । १२७ । १६ ।
“भिन्नभाण्डञ्च खट्वाञ्च कुक्कुटं शुनकं तथा ।
अप्रशस्तानि सर्व्वाणि यश्च वृक्षो गृहेरुहः ॥”
ऋषिविशेषः । यथा, महाभारते । २ ।४।१०।

"असितो देवलः सत्यः शर्पमाली महाशिराः।
अर्कावसुः सुमित्रश्च मैत्रेयः शुनको बलिः॥")

शुनकचञ्चुका, स्त्री, (शुनकस्य चञ्चुरिव। इवार्थे कन्।) क्षुद्रचञ्चुक्षुपः। इति राजनिर्घण्टः॥

शुनकचिल्ली, स्त्री, (शुनकप्रिया चिल्ली।) शाकविशेषः। तत्पर्य्यायः। श्वचिल्ली २ श्वानचिल्लिका ३। अस्या गुणाः। कटुत्वम्। तीक्ष्णत्वम्। कण्डूव्रणनाशित्वञ्च। इति राजनिर्घण्टः॥

शुनाशीरः, पुं, (शुनाशीरौ वायुसूर्य्यौ अस्य स्त इति। अर्श-आदित्वादच्।) इन्द्रः। इति भरतद्विरूपकोषः॥

शुनासीरः, पुं, (शुनासीरौ वायुसूर्य्यौ अस्य स्त इति। शुनासीर + अर्शआद्यच्।) इन्द्रः। यथा,—

"शुनाशीरो हितालश्च शुनासीरो द्विदन्त्यकः।
तालव्यादिर्दन्त्यमध्यः शुनासीरश्च दृश्यते॥"
इत्यमरटीकायां भरतः॥

(यथा, तैत्तिरीयसंहितायाम्। १।८।७।१।
"इन्द्राय शुनासीराय पुरोडाशमिति॥" *॥ वायुसूर्य्यौ। इति निघण्टुः।५।३॥ "शु-शब्दार्थविशिष्टात् शुन गतौ इत्यस्मात् इगुपधलक्षणः कः। क्षिप्रं गच्छत्यन्तरिक्षमिति शुनो वायुः। यद्वा, शु-शब्दोपपदाच्छ्यतेर्गतिकर्म्मणः अन्येष्वपि दृश्यते इति डः। भाष्ये तु शु-एतदर्थतो निर्वचनं प्रायेण। सर्त्तेः 'फिक्कीरवानीरगभीरगम्भीर-कुम्भीरभीरकाश्मीरजम्बीरकीरतीरादयः' इति ईरन्-प्रत्ययष्टिलोपश्च निपात्यते। सदा सरणात् सीर आदित्यः। शुनश्च सीरश्च देवताद्वन्द्वे च इत्यङ्।' इति तट्टीकायां देवराजयज्वा॥*॥ इन्द्रवायू। यथा, ऋग्वेदे। ४। ५७। ८।

"शुनासीरा शुनमस्मासु धत्तम्॥"
"हे शुनासीरा इन्द्रवायू वाय्वादित्यौ वा।" इति तद्भाष्ये सायणः॥)

शुनिः, पुं, (शुनति क्षिप्रं गच्छतीति। शुन गतौ + "इगुपधात् कित्।" उणा० ४।११८। इति इन्। स च कित्।) कुक्कुरः। इति हेमचन्द्रः॥

शुनी, स्त्री, (श्वन् + गौरादित्वात् ङीष्।) कुक्कुरी। इत्यमरः॥ (यथा, भागवते। ६। १८। ११।
"अहो निरीक्ष्यतामस्या दास्याः कर्म्म
ह्यसाम्प्रतम्।
असद्भार्य्यं धृतवती शुनीव हविरद्गरे॥")
कुष्माण्डी। इति राजनिर्घण्टः॥

शुनीरः, पुं, कुक्कुरीसमूहः। इति त्रिकाण्डशेषः॥

शुन्ध, क शुद्धौ। इति कविकल्पद्रुमः॥ (चुरा०-पर०-अक०-सेट्।) क, शुन्धयति। अयमात्मनेपदीत्येके। इति दुर्गादासः॥

शुन्ध, ञ शुद्धौ। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-उभ०-अक०-सक० च-सेट्।) शुद्धिरिह शुद्धीभावः शुद्धीकरणञ्च। ञ, शुन्धति शुन्धते जलेन लोकः। यो गां शुन्धति सन्धिनेति हलायुधः। गां वाचम्। इति दुर्गादासः॥

शुन्ध्युः, पुं, (शुन्ध शुद्धौ + "यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच्।" उणा० ३। २०। इति युच्।) अग्निः। इत्युणादिकोषः॥ (आदित्यः। पक्षिविशेषः। यथा, ऋग्वेदे। १। १२४। ४।
"उपो अदर्शि शुन्ध्युवो न वक्षः॥"
"शुन्ध्युरादित्यः सर्व्वेषां शोधकत्वात्***यद्वा, शुन्ध्युरिति जलचरः श्वेतवर्णः पक्षिविशेषः।" इति तद्भाष्ये सायणः॥)

शुनृभ, श दीप्तिहिंसनयोः। इति कविकल्पद्रुमः॥ (तुदा०-पर०-अक०-हिंसने सक०-सेट्।) श, शुभति शुम्भति। शुशोभ शुशुम्भ। इति दुर्गादासः॥

शुन्यं, क्ली, शुनीसमूहः। इति त्रिकाण्डशेषः॥ रिक्ते, त्रि। इति जटाधरः॥ (यथा, साहित्यदर्पणे ३ परिच्छेदे।
"शुन्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चित्
शने-
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्॥"
शुने हितम्। श्वन् + "उगवादिभ्यो यत्।" ५।१।२। इति यत्। "शुनः सम्प्रसारणं वा च दीर्घत्वम्।" इत्युक्त्या सम्प्रसारणम्॥)

शुभ, च श दीप्तिहिंसनयोः। इति कविकल्पद्रुमः॥ (तुदा०-पर०-अक०-हिंसने सक०-सेट्।) च श, शुम्भति शुशोभ। प्राञ्चस्तु ऋादौ च शुभ शुनृभ भासनहिंसनयोरिति पठन्ति। इति दुर्गादासः॥

शुभ, ऌ ङ दीप्तौ। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-आत्म०-अक०-सेट्।) ऌ, अशुभत्। ङ, शोभते। न शोभति सभामध्ये इति गणकृतानित्यत्वादिति रमानाथः। वस्तुतस्तु शोभते शोभः पचादित्वादच्। ततः शोभ इवाचरतीति क्वौ साध्यम्। इति दुर्गादासः॥

शुभं, क्ली, (शोभते इति। शुभ दीप्तौ + कः।) मङ्गलम्। इत्यमरः॥ (यथा, कथासरित्सागरे। १२४। ११२।
"अहो मूर्खोऽयमशुभं शुभमित्यभिनन्दति॥")
पद्मकाष्ठम्। इति राजनिर्घण्टः॥ (उदकम्। इति निघण्टुः।१।१२॥ शुभपर्य्याये शुभमित्यव्ययमप्यस्ति। इति काशिका।५।२।१४०॥)

शुभः, पुं, (शोभते इति। शुभ + कः।) विष्कम्भादिसप्तविंशतियोगान्तर्गतत्रयोविंशयोगः। तत्र जातफलम्। यथा, कोष्ठीप्रदीपे।
"शुभप्रसूतः शुभकृन्नराणां
शुभोदयेष्टो विदुषां समाजे।
करोति नित्यं शुभकर्म्म धीमान्
शोभाधिकः शोभनवेशधारी॥"

शुभः, त्रि, (शुभमस्यास्तीति। अर्शआद्यच्।) क्षेमशाली। (यथा, मनुः। ८। २८७।
"पश्चाच्छ्रमत्तु भवेद्दक्षः शुभेषु मृगपक्षिषु॥")
खसच्चारिपुरम्। इति मेदिनी। भे, ८॥

शुभंयुः, त्रि, (शुभमस्यास्तीति। शुभम् + "अहंशुभमोर्युस्।" ५। २। १४०। इति युस्।) मङ्गलान्वितः। इत्यमरः॥ (यथा, रघुः।८।६।
"अधिकं शुशुभे शुभंयुना
द्वितयेन द्वयमेव सङ्गतम्॥")

शुभगन्धकं, क्ली, (शुभो गन्धो यस्य।) बोलम्। इति राजनिर्घण्टः॥ मङ्गलगन्धयुक्ते, त्रि॥

शुभग्रहः, पुं, (शुभः ग्रहः।) सौम्यग्रहः। स तु गुरुः शुक्रः पापायुतबुधः अर्द्धाधिकचन्द्रश्च। यथा,—
"अर्द्धो नेन्दुः कुजो राहुः शनिस्त्वैयुत इन्दुजः।
रविः पापा भवन्त्येते शुभास्त्वन्ये प्रकीर्त्तिताः॥"
इति सारसंग्रहः॥

तद्वारे शुभकर्म्मकरणं यथा,—
"शुभग्रहार्कवारे च मृदुक्षिप्रध्रुवेषु च।
शुभराशिविलग्ने च शुभं शान्तिकपौष्टिकम्॥"
इति संस्कारतत्त्वम्॥

शुभङ्करः, त्रि, (शुभं करोतीति। शुभ + कृ + खच्।) मङ्गलकारकः। यथा, भूरिप्रयोगे।
"क्षेमङ्करः क्षेमकारो मद्रङ्करशुभङ्करौ॥"
स्वनामख्यातात्कृशाल्वकारके, पुं॥

शुभङ्करी, स्त्री, (शुभं करोति या। कृ + खच्। ङीप्।) पार्व्वती। इति शब्दरत्नावली॥

शुभदः, पुं, (शुभं ददातीति। दा + कः।) अश्वत्थवृक्षः। इति राजनिर्घण्टः॥ शुभदातरि, त्रि॥ (यथा, बृहत्संहितायाम्। ६। २२।
"अपरस्यां स्वात्याद्यं
ज्येष्ठाद्यं चापि मण्डलं शुभदम्॥")

शुभदन्ती, स्त्री, (शुभौ दन्तौ यस्याः। ङीष्।) पुष्पदन्तभयोषित्। सुदती। इति मेदिनी॥

शुभपत्रिका, स्त्री, (शुभानि पत्राणि यस्याः। स्वार्थे कन्। टापि अत इत्वम्।) शालपर्णी। इति राजनिर्घण्टः॥ मङ्गलपत्रिका च॥

शुभवासनः, पुं, (शुभं शोभनं यथा तथा वासयति सुखमिति। शुभ + वस + णिच् + ल्युः।) सुखवासकरगन्धः। यथा,—
"सुखवासकरो गन्ध आमोदी सुखवासनः।
सुखवासन इत्येके शुभवासन इत्यपि॥"
इति शब्दरत्नावली॥

शुभसूचनी, स्त्री, (शुभं सूचयतीति। सूच + णिच् + ल्युः। स्त्रियां ङीप्।) देवीविशेषः। सुवचनीति ख्याता। सा च स्त्रिया पूज्या। तस्याः ध्यानं यथा,—
"रक्ता पद्मचतुर्म्मुखी त्रिनयनी चामीकरालङ्कृता
पीनोत्तुङ्गकुचा दुकूलवसना हंसाधिरूढा परा।
ब्रह्मानन्दमयी कमण्डलुकराक्षाभीतिहस्ता
शिवा
ध्येया सा शुभसूचनी त्रिजगतामम्बापदुद्धारिणी॥"
इत्याचारमार्त्तण्डः॥

शुभस्थली, स्त्री, (शुभा स्थली।) यज्ञभूमिः। इति केचित्॥ मङ्गलभूमिश्च॥

शुभा, स्त्री, शोभा। कान्तिः। इच्छा। इति मेदिनी॥ वंशरोचना। गोरोचना। शमी। प्रियङ्गुः। श्वेतदूर्व्वा। इति राजनिर्घण्टः॥ देवसभा। इति शब्दरत्नावली॥ उमासखी-विशेषः। इति शब्दमाला॥ मङ्गलजनिका च॥

शुभाङ्गी, स्त्री, (शुभानि अङ्गानि यस्याः। ङीष्।) कुवेरपत्नी। कामदेवपत्नी। इति केचित्॥ (कुरुराजपत्नी। यथा, महाभारते।१।९५।३९। "कुरुः खलु दशार्हीमुपयेमे शुभाङ्गीं नाम तस्यामस्य जज्ञे विदूरथः॥") मङ्गलावयव-युक्ते, त्रि॥

शुभाचारा, स्त्री, (शुभः आचारो यस्याः।) उमासखी। इति शब्दमाला॥ शोभनाचार-वति, त्रि॥

शुभाञ्जनः, पुं, शोभाञ्जनवृक्षः। इति शब्दरत्ना-वली॥

शुभान्वितः, त्रि, (शुभेन अन्वितः।) मङ्गलयुक्तः। तत्पर्य्यायः। शुभंयुः २। इत्यमरः॥

शुभ्रं, क्ली, (शोभते इति। शुभ दीप्तौ+"स्फायि-तञ्चिवञ्चीति।" उणा० २। १३। इति रक्।) अभ्रकम्। इति मेदिनी॥ गडलवणम्। रौप्यम्। कासीसम्। इति राजनिर्घण्टः॥

शुभ्रः, पुं, (शुभ दीप्तौ+रक्।) शुक्लवर्णः। इत्य-मरः॥ चन्दनम्। इति शब्दचन्द्रिका॥

शुभ्रः, त्रि, (शुभ+रक्।) उद्दीप्तः। शुक्लगुण-युक्तः। इत्यमरः॥ (यथा, रघुः। २। ६९।

"प्रपौ वशिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः
शुभ्रं यशो मूर्त्तमिवातितृष्णः॥")

शुभ्रदन्ती, स्त्री, (शुभ्रौ दन्तौ यस्याः।) सुभ-दन्ती। सा तु पुष्पदन्तनामदिग्गजकरिणी। इत्यमरटीका॥

शुभ्ररश्मिः, पुं, (शुभ्रा रश्मयो यस्य।) चन्द्रः। इति केचित्॥ श्वेतकिरणश्च॥

शुभ्रांशुः, पुं, (शुभ्रा अंशवो यस्य।) चन्द्रः। इत्यमरः॥ कर्पूरः। इति राजनिर्घण्टः॥

शुभ्रालुः, पुं, (शुभ्रः शुक्ल आलुः।) महिष-कन्दः। इति राजनिर्घण्टः॥ श्वेतालुश्च॥

शुभ्रिः, पुं, (शोभते इति। शुभ+"अदिशदिभू-शुभिभ्यः क्रिन्।" ४। ६५। इति क्रिन्।) ब्रह्मा। इति सिद्धान्तकौमुद्यामुणादिवृत्तिः॥

शुम्भः, पुं, दानवविशेषः। स तु गवेष्ठीपुत्त्रः प्रह्लादपौत्त्रः अम्बिकया हतश्च। यथा,—

"विरोचनस्तु प्राह्लादिः पञ्च तस्यात्मजाः स्मृताः।
गवेष्ठी कालनेमिश्च जम्भो वास्कल एव च॥
शम्भुः श्रेष्ठोऽनुजस्तेषां पुत्त्रानेषामतः शृणु।
शुम्भश्चैव निशुम्भश्च विष्वक्सेनो महौजसः।
गवेष्ठिनः सुता ह्येते जम्भस्य शतदुन्दुभिः॥"

इत्यादौ वह्निपुराणे कश्यपीयप्रजासर्गाध्यायः॥ अन्यच्च।

पुलस्त्य उवाच।

"कश्यपस्य दनुर्नाम भार्य्यासीत् द्विजसत्तम।
तस्यास्तु द्वौ सुतावास्तां सहस्राक्षाद्बलाधिकौ॥
ज्येष्ठः शुम्भ इति ख्यातो निशुम्भश्चापरोऽसुरः॥"

इति वामनपुराणे ५२ अध्यायः॥

अपरञ्च।

ऋषिरुवाच।

"निशुम्भं निहतं दृष्ट्वा भ्रातरं प्राणसम्मितम्।
हन्यमानं बलञ्चैव शुम्भः क्रुद्धोऽब्रवीद्वचः॥
बलावलेपदुष्टे त्वं मा दुर्गे गर्व्वमावह।"

इत्यादि॥

"स क्षिप्तो धरणीं प्राप्य मुष्टिमुद्यम्य वेगितः।
अभ्यधावत दुष्टात्मा चण्डिकानिधनेच्छया॥
समायान्तं ततो देवी सर्व्वदैत्यजनेश्वरम्।
जगत्यां पातयामास भित्त्वा शूलेन वक्षसि।
स गतासुः पपातोर्व्व्यां देवीशूलाग्रविक्षतः॥"

इति मार्कण्डेयपुराणे देवीमाहात्म्ये शुम्भवधः १० अध्यायः॥

शुम्भघातिनी, स्त्री, (शुम्भं हन्तीति। हन्+णिनिः। ङीप्।) दुर्गा। इति शब्दरत्नावली॥

शुम्भपुरं, क्ली, (शुम्भस्य पुरम्।) शुम्भदैत्यस्य पुरी। तत्पर्य्यायः। एकचक्रम् २ हरिगृहम् ३। इति भूरिप्रयोगः॥ अधुना शम्भलपुर इति ख्यातम्॥

शुम्भपुरी, स्त्री, (शुम्भस्य पुरी।) शुम्भपुरम्। इति त्रिकाण्डशेषः॥

शुम्भमर्द्दिनी, स्त्री, (शुम्भं मर्द्दतीति। मर्द्द+णिनिः।) दुर्गा। इति हेमचन्द्रः॥

शुल्क, क भाषे। सर्ज्जने। वर्ज्जने। इति कवि-कल्पद्रुमः॥ (चुरा०-पर०-सक०-सेट्।) क, शुल्कयति। शुल्क शोल इत्येतयोरेतावर्थौ केश्चिन्न मन्यते। भाषः कथनम्। इति दुर्गा-दासः॥

शुल्कः, पुं क्ली, (शुल्क+घञ्।) घट्टादिदेयम्। मासुल इति भाषा। इत्यमरः॥ घट्टः पन्थाः तत्र आदिना क्रयविक्रयस्थानादौ च यद्देयं दीयते स शुल्को जगात् इति घटी इति राज इति च ख्यातः। शलति प्रतिबन्धोऽनेनेति शुल्कः। शल ज गतौ तालव्यादिः नान्तीति कः निपा-तनादत उत्वम्। घट्ट चाले घट्टातेऽच इति पचि घट्टः। घट्टो वर्त्मेति माधवी। घट्टो राजग्राह्य-ग्रहणस्थानादिरिति मुकुटः। घट्टो घाट इति ख्याते इति रमानाथः। इति तट्टीकायां भरतः॥ (यथा, मनुः। ८। ३०७।

"योऽरक्षन् बलिमादत्ते करं शुल्कञ्च पार्थिवः।
प्रतिभागञ्च दण्डञ्च स सद्यो नरकं व्रजेत्॥")

वराद्यर्थग्रहणम्। इति मेदिनी॥ (यथा, मनुः। ३। ५१।

"न कन्यायाः पिता विद्वान् गृह्णीयात् शुल्क-मण्वपि।
गृह्णन् शुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी॥"

पणः। यथा, महाभारते। १। १९१। ४।

"इत्युक्तो धृतराष्ट्रश्च शुल्कावाप्तं महावलः।
भ्राता भीमेन सहितस्तस्थौ गिरिरिवाचलः॥")

शुल्लं, क्ली, रज्जुः। ताम्रम्। इत्यमरटीका॥

शुल्व, क माने। सर्गे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (चुरा०-पर०-सक०-सेट्।) पञ्चमस्वरयुक्त-स्तालव्यादिरन्तःस्थतृतीयोपधः। सर्गः सृष्टिः। क, शुल्वयति वेधाः पृथिवीं परिमाति सृजति वा इत्यर्थः। इति दुर्गादासः॥

शुल्वं, क्ली, (शुल्व्यत्यनेनेति। शुल्व माने+घञ्। यद्वा, शुच शोके+"उल्वादयश्च।" उणा० ४। ९५। इति वन्प्रत्ययेन निपातनात् साधु।) ताम्रम्। रज्जुः। इत्यमरः॥ (यथा, भागवते। २। ७। ३०।

"गृह्णीत यद्यदुपबन्धममुष्य माता
शुल्वं सुतस्य न तु तत्तदमुष्य माति॥")

ताम्रपात्रपक्वान्नभोजनदोषो यथा,—

"ताम्रे पक्वा पञ्चदशीर्निर्मेषीं भवति वै चयम्।"

इति मत्स्यसूक्ते ४२ पटलः॥

यज्ञकर्म्म। आचारः। जलसन्निधिः। इति मेदिनी॥

शुल्वारिः, पुं, (शुल्वस्य अरिः।) गन्धकः। इति हेमचन्द्रः॥

शुशुमा, स्त्री, शुक्रपत्नी। इति केचित्॥

शुश्रुवान्, [स्] त्रि, श्रुतवान्। श्रुधातोः क्वसु-प्रत्ययेन निष्पन्नः। इति सिद्धान्तकौमुदी॥ (यथा, भट्टिः। १। २०।

"स शुश्रुवान् तद्वचनं मुमोह
राजासहिष्णुः सुतविप्रयोगम्॥")

शुश्रूः, स्त्री, माता। यथा। "शिशोः शुश्रूषणात् शुश्रूः।" इति महाभारते। १२। २६५। ३२॥

शुश्रूषणं, क्ली, (श्रु+सन्+ल्युट्।) सेवा। यथा,

"शुश्रूषणोपासनञ्च सेवोपास्तिरुपासना।"

इति शब्दरत्नावली॥

(यथा, भागवते। १०। ७८। ३९।

"तं पापं जहि दाशार्ह तन्नः शुश्रूषणं परम्॥")

शुश्रूषा, स्त्री, (श्रु+सन्। "अ प्रत्ययात्।" ३। ३। १०२। इति अः।) उपासनम्। (यथा, मनुः। २। ११२।

"धर्म्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वापि तद्विधा।
तत्र विद्या न वप्तव्या शुभं बीजमिवोषरे॥")

कथनम्। श्रोतुमिच्छा। इति मेदिनी॥ (यथा, कामन्दकीये। ४। २२।

"शुश्रूषा श्रवणञ्चैव ग्रहणं धारणन्तथा।
ऊहोऽपोहोऽर्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानञ्च
धीगुणाः॥")

शुष, य औ ऌ शोषे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (दिवा०-पर०-अक०-अनिट्।) शोषः स्नेह-रहितीभावः। य, शुष्यति धान्यमातपेन। औ, शोष्टा। ऌ, अशुषत्। इति दुर्गादासः॥

शुषः, पुं, (शुष+कः।) शोषणम्। गर्त्तः। इत्य-जयपालः॥

शुषिः, स्त्री, (शुष+इन्। स च कित्।) शोषः। विलम्। इति मेदिनी॥

शुषिरं, क्ली, (शुष शोषणे+"इषिमदिमुदीति।" उणा० १। ५२। इति किरच्। यद्वा, शुषि-

च्छिद्रमस्यास्तीति । शुषि+“ऊषशुषिमुष्क-मधो रः ।” ५।२।१०७ । इति रः ।) विवरम् । वंशादिवाद्यम् । सरन्ध्रे, त्रि । इत्यमरः ॥ (आकाशः । इत्युज्ज्वलदत्तः । १ । ५२ ॥)

शुषिरः, पुं, (सुषिर्विलमस्यास्तीति । शुषि+रः ।) मूषिकः । इति मेदिनी ॥ अग्निः । इति विश्वः ॥

सुषिरा, स्त्री, (शुषिर+टाप् ।) नदी । इति धरणिः ॥ नलीनामगन्धद्रव्यम् । इत्यमरः ॥

सुषिलः, पुं, (सुष+“गुपादिभ्यः कित् ।” उणा० १ । ५७ । इति इलच् । स च कित् ।) वायुः । इत्युणादिकोषः ॥

शुष्कः, त्रि, (शुष शोषे+क्तः । यद्वा, “दृढभूशुषिमुषिभ्यः कक् ।” उणा० ३।४१। इति कक् ।) निःस्नेहः । सुकना इति भाषा । यथा,—
“शुष्कं पर्य्युषितं वापि नीतं वा दूरदेशतः ।
कुक्कुरस्य मुखाद्भ्रष्टं तदन्नं पावनं महत् ॥”
इति स्कान्दे उत्कलखण्डम् ॥
(निष्प्रयोजनम् । यथा, मनुः । ४ । १३९ ।
“शुष्कवैरं विवादञ्च न कुर्य्यात् केनचित् सह ॥”)

शुष्कपत्रं, क्ली, (शुष्कं पत्रम् ।) स्नेहरहितदलम् । आतपादिशोषितपत्रशाकम् । नालिता इति सुक्ता इति च भाषा । तस्य गुणाः ।
“शुष्कपत्रं पयोमिश्रं पित्तश्लेष्मज्वरापहम् ॥
तत् शुष्कपत्रं जलदोषनाशनं
विशेषतः पित्तकफज्वरापहम् ।
जलञ्च तस्यापि च पित्तहारकं
सुदीपनं व्यञ्जनयोगकारकम् ॥”
इति राजवल्लभः ॥

शुष्कमत्स्यः, पुं, (शुष्को मत्स्यः ।) आतपादिना निःस्नेहीकृतमीनः । सुकटी माछ इति भाषा । तस्य गुणा मत्स्यशब्दे द्रष्टव्याः ॥

शुष्कमांसं, क्ली, (शुष्कं मांसम् ।) आतपादिना निःस्नेहीकृतमांसम् । तत्पर्य्यायः । उत्तप्तम् २ वल्लूरम् ३ । इत्यमरः ॥ वल्लूरा ४ शुष्कली ५ । इति तट्टीका ॥ अस्य गुणाः ।
“वृद्धानां रोगिणां मांसं बालानां बलदं लघु ।
त्रिदोषघ्नं दुर्ज्जरं शुष्कं मूलकरं गुरु ॥”
इति भावप्रकाशः ॥

शुष्करेवती, स्त्री, मातृकाविशेषः । यथा,—
“अश्विभ्यश्च तथा काली दृष्टा पूर्व्वं महात्मना ।
तथा तद्रुधिरं पीतमन्धकानां महात्मनाम् ।
या चास्मिन् कथिता लोके नामतः शुष्क-
रेवती ॥
इति मत्स्यपुराणे १५४ अध्यायः ॥

शुष्कलः, त्रि, आमिषम् । इत्युणादिकोषः ॥ आमिषाशी ॥ इत्यमरटीकायां भरतः ॥

शुष्कली, स्त्री, शुष्कमांसम् । मांसमात्रम् । यथा,
“शुष्कली शुष्कमांसे स्यान्मांसमात्रेऽपि
दृश्यते ।”
इति शौष्कलशब्दटीकायां भरतः ॥

शुष्कवृक्षः, पुं, (शुष्को वृक्षः इव ।) धववृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शुष्कव्रणः, पुं, (शुष्को व्रणः ।) किणः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

शुष्काङ्गः, पुं, (शुष्कं अङ्गं यस्य ।) धववृक्षः । इति वैद्यकम् ॥ स्नेहशून्यावयवे, त्रि ॥

शुष्काङ्गी, स्त्री, (शुष्काणीव अङ्गानि यस्याः ।) गोधिका । इति शब्दचन्द्रिका ॥

शुष्कार्द्रं, क्ली, (शुष्कं आर्द्रम् ।) सुण्ठी । इति शब्दचन्द्रिका ॥

सुष्णः, पुं, (सुष्यत्यनेनेति । सुष+“तृषिशुषिरसिभ्यः कित् ।” उणा० ३ । १२ । इति नः । स च कित् ।) सूर्य्यः । इत्युणादिकोषः ॥ अग्निः । इति संक्षिप्तसारोणादिवृत्तिः ॥ (बले, क्ली । इति निघण्टुः । २ । ९ ॥)

सुष्मं, क्ली, (सुष्यत्यनेनेति । सुष शोषे+“अविसिविसिशुषिभ्यः कित् ।” उणा० १ । १४३ । इति मन् । स च कित् ।) तेजः । इति मेदिनी ॥ पराक्रमः । इति हेमचन्द्रः ॥

शुष्मः, पुं, (शुष्यत्यनेनेति । शुष+मन् ।) सूर्य्यः । इति मेदिनी ॥ अग्निः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ वायुः । पक्षी । इति संक्षिप्तसारोणादिवृत्तिः ॥ अर्च्चिः । यथा । शुष्मोऽर्च्चिषि हुताशने । इति शुभाङ्कः । इत्यमरटीकायां भरतः ॥

शुष्म, [न्] क्ली, (शुष+मनिन् । संज्ञापूर्व्वकत्वात् न गुणः ।) तेजः । इति जटाधरः ॥ सौर्य्यम् । इति हेमचन्द्रः ॥

शुष्मा, [न्] पुं, (शुष्यत्यनेनेति । शुष शोषे+मनिन् ।) अग्निः । चित्रकवृक्षः । इत्यमरः ॥ अदन्तोऽपि शुष्मेति सर्व्वस्वम् । इति भरतः ॥

शूकः, पुं क्ली, (शो तनूकरणे+“उलूकादयश्च ।” इति ऊकप्रत्ययेन साधुः ।) सूक्ष्मातीक्ष्णाग्रम् । शुँया इति भाषा । तत्पर्य्यायः । किंशारुः २ । इत्यमरः ॥ शुङ्गा ३ कोशी ४ । इति हेमचन्द्रः ॥ दया । इति मेदिनी ॥ सविषाल्पकुम्भादिजलमलोद्भवजन्तुः । शूकप्रधानलिङ्गवृद्धिकरयोगः । तद्विवरणं यथा । अथ शूकदोषाधिकारः । तत्र शूकदोषस्य निदानमाह ।
“अक्रमाच्छेफसो वृद्धिं योऽभिवाञ्छति मूढधीः ।
व्याधयस्तस्य जायन्ते दश चाष्टौ च शूकजाः ॥”
अक्रमात् अनुचितवृद्धिक्रमात् । अनुचिता च वृद्धिः भूरिविकारजनकस्य शूकस्य योगेन । शूकजाः । शूको जलशूकः सविषो जलजन्तुविशेषः । स तु जलमलोद्भवः । अल्पकुम्भ इत्यादिकः । तथा शूकप्रधानो लिङ्गवृद्धिकरो वात्स्यायनाद्युक्तो योगः शूक उच्यते । यथा,
“भल्लातकास्थिजलशूकमथाब्जपत्र-
मन्तर्विदह्य मतिमान् सह सैन्धवेन ।
एतद्विरूढबृहतीफलतोयपिष्ट-
मालेपितं महिषविड्विमलीकृतेऽङ्गे ॥
स्थूलं महद्भवतुरङ्गमलिङ्गतुल्यं
शेफः करोत्यभिमतं न हि संशयोऽस्ति ।”
इत्यादि । यत्तु जलशूकरहितमश्वगन्धादितैलं तदुचितमेव लिङ्गवर्द्धनम् ।
“अश्वगन्धा वरी कुष्ठं मांसी सिंहीफलान्वितम् ।
चतुर्गुणेन दुग्धेन तिलतैलं विपाचयेत् ।
तत्तैलं मेढ्रवक्षोजकर्णपालिविवर्द्धनम् ॥”
ते च शूकदोषा दश चाष्टौ च भवन्ति ॥ * ॥
तेष्वादौ सर्षपिकामाह ।
“गौरसर्षपसंस्थाना शूकदुर्भग्नहेतुका ।
पिड़िका श्लेष्मवाताभ्यां ज्ञेया सर्षपिका तु सा ॥”
शूकदुर्भग्नहेतुका शूकनिमित्ता दुष्टयोनिनिमित्ता च ॥ * ॥ अष्ठीलिकामाह ।
“कठिना विषमैर्भुग्नैर्वायुनाष्ठीलिका भवेत् ।”
अष्ठीला लोककारस्य भाण्डविशेषः । निहाइ इति लोके । तद्वत् कठिना इत्यष्ठीलिका । विषमैर्भुग्नैरिति वक्ष्यमाणशूकविशेषणम् । विषमैः खरैर्दीर्घैः । भुग्नैः वक्रैः ॥*॥ ग्रथितमाह ।
“शूकैर्यत्तु पूरितं शश्वत् ग्रथितं नाम तत् कफात् ।”
यल्लिङ्गं सदा शूकैः पूरितं तद्ग्रथितत्वाद्ग्रथितम् ॥*॥ कुम्भिकामाह ॥
“कुम्भिका रक्तपित्तोत्था जम्बुकास्थिनिभा
सिता ।”
कुम्भिका कुम्भतुल्यफलत्वात् ॥*॥ अलजीमाह ।
“अलजी स्यात्तथा याद्दक् प्रमेहपिड़िकालजी ।
सा च रक्ता सिता स्फोटदारुणा कथिता च
सा ॥”
एषा रक्तपित्तनिमित्ता ज्ञेया ॥ * ॥ मृदितामाह ।
“मृदितं पीड़ितं यत्तु संरब्धं वातकोपतः ।
पाणिभ्यां भृशसंमूढ़े संमूढ़पिड़िका भवेत् ॥”
शूकदोषे जाते पाणिभ्यां भृशसंमूढ़े पिच्चिते लिङ्गे अत्रापि वातकोपत इत्यनुवर्त्तते ॥ * ॥ अवमन्थमाह ।
“दीर्घा बह्व्यश्च पिड़िका दीर्य्यते मध्यमस्तु याम् ।
सोऽवमन्थः कफासृग्भ्यां वेदना लोमहर्षकृत् ॥”
दीर्घा दीर्घाङ्कुराः ॥ * ॥ पुष्करिकामाह ।
“पिड़िका पिड़िकाव्याप्ता पित्तशोणितसम्भवा ।
पद्मकर्णिकसंस्थाना ज्ञेया पुष्करिकेति सा ॥”
पिड़िकाव्याप्ता क्षुद्रपिड़िकाव्याप्ता । अतएव पद्मकर्णिकसंस्थाना ॥ * ॥ स्पर्शहानिमाह ।
“स्पर्शहानिञ्च जनयेच्छोणितं शूकदूषितम् ।”
अत्र स्पर्शासहत्वमेव लक्षणम् ॥ * ॥ उत्तमामाह ।
“मुद्गमाषोपमा रक्ता रक्तपित्तोद्भवा च सा ।
एषोत्तमाख्या पिड़िका शूके जीर्णसमुद्भवा ॥”*
शतपोनकमाह ।
“छिद्रैरणुमुखैर्लिङ्गं चितं यस्य समन्ततः ।
वातशोणितजो व्याधिर्विज्ञेयः शतपोनकः ॥”
शतपोनकं चालनी तत्तुल्यत्वाच्छतपोनकः ॥”*
त्वक्पाकमाह ।
“वातपित्तकृते ज्ञेयस्त्वक्पाको ज्वरदाहकृत् ।”
एतस्य लिङ्गं त्वक्पाकलक्षणम् ॥*॥ शोणितार्व्वुदमाह ।
“कृष्णैः स्फोटैः सरक्ताभिः पिड़काभिः प्रपी-
ड़ितम् ।

लिङ्गं वासरुजश्चोषा ज्ञेयं तत् शोणितार्ब्बुदम् ॥"
वासरुजः स्फोटकादिस्थाने वेदना ॥ * ॥ मांसा-
र्ब्बुदमाह ।
"मांसदुष्ट्या विजानीयादर्ब्बुदं मांससम्भवम् ।"
मांसपाकमाह ।
"शीर्य्यन्ते यस्य मांसानि यस्य सर्व्वाश्च वेदनाः ।
विद्यात्तं मांसपाकन्तु सर्व्वदोषकृतं भिषक् ॥"
शीर्य्यन्ते गलन्ति । सर्व्ववेदनाः वातपित्तकफजाः ॥
विद्रधिमाह ।
"विद्रधिं सन्निपातेन यथोक्तमभिनिर्द्दिशेत् ।
उक्तं सान्निपातिकविद्रधितुल्यं कथयेत् ॥ * ॥
तिलकालकमाह ।
"कृष्णानि चित्राण्यथवा शूकानि सविषाणि तु ।
पतितानि पचन्त्याशु मेढ्रं निरवशेषतः ॥
कालानि भूत्वा मांसानि शीर्य्यन्ते यस्य देहिनः ।
सन्निपातसमुत्थांश्च विद्यात्तां तिलकालकान् ॥"
चित्राणि नानावर्णानि । शूकानि शूकव्रणानि ।
मञ्चाः क्रोशन्तीतिवत् । सविषाणि सविष-
शूकाख्यजन्तुविशेषकृतानि । शीर्य्यन्ते गलन्ति ।
कृष्णतिलतुल्यत्वात् तिलकालकाः ॥ * ॥ असाध्य-
माह ।
"तत्र मांसार्ब्बुदं यच्च मांसपाकश्च यः स्मृतः ।
विद्रधिश्च न सिध्यन्ति ये च स्युस्तिलकालकाः ॥"
अथ शूकदोषस्य चिकित्सा ।
"शूकदोषेषु सर्व्वेषु विषघ्नीं कारयेत् क्रियाम् ।
जलौकाभिर्हरेद्रक्तं रेचयेल्लघु भोजयेत् ॥
गुग्गुलुं पाययेच्चापि त्रिफलाक्वाथसंयुताम् ।
क्षीरेण लेपसेकांश्च शीतानेव हि कारयेत् ॥
दार्व्वीसुरसयष्ट्याह्वैश्चधूमनिशायुतैः ।
सम्यक् तैलमभ्यङ्गान्मेढ्ररोगं विनाशयेत् ॥"
सुरसं तुलसी । दार्व्वीतैलम् ।

"रसाञ्जनं चाक्रयमेकमेव
प्रलेपमात्रेण नयेत् प्रशान्तिम् ।
सपूतिपूयव्रणशोथकण्डू-
शूलान्वितं सर्व्वमनङ्गरोगम् ॥"

चाक्रयमित्यनङ्गरोगस्य विशेषणम् । अनङ्ग-
रोगस्य नामापि दूरीकरोति । इति शूक-
दोषाधिकारः । इति भावप्रकाशः ॥

शूककः, पुं, (शूकेन कायतीति । कै+कः ।)
प्रावटः । रसः । इति मेदिनी ॥

शूककीटः, पुं, (शूकविशिष्टः कीटः ।) शूकयुक्त-
कीटविशेषः । शुँयापोका इति भाषा । तत्प-
र्य्यायः । वृश्चिकः २ । इत्यमरः ॥ शूककीटकः ३ ।
इति शब्दरत्नावली ॥

शूककीटकः, पुं, (शूककीट+स्वार्थे कन् ।) शूक-
कीटः । इति शब्दरत्नावली ॥

शूकतृणं, क्ली, (शूकप्रधानं तृणम् ।) तृणविशेषः ।
शूकड़ी इति हिन्दी भाषा । तत्पर्य्यायः । शूकम्
२ शूकाढ्यम् ३ कणिशकम् ४ । अस्य गुणः ।
"दुर्म्मरन्तु पशूनाञ्च शूकाभावे हितञ्च तत् ।"
इति राजनिर्घण्टः ॥
दुर्म्मरन्तुस्थाने दर्जरतुन् इति च पाठः ॥

शूकधान्यं, क्ली, (शूकविशिष्टं धान्यम् ।) शुङ्गा-
शुक्तशस्यमात्रम् । स तु धान्ययवादिः । यथा,—

"व्रीह्यादिकं यदिह शूकसमन्वितं स्यात्
तत् शूकधान्यमथ मुद्गमकुष्ठकादि ।
शिम्बीनिगूढमिति तत् प्रवदन्ति शिम्बी-
धान्यं तृणोद्भवमथो तृणधान्यमन्यत् ॥"

अस्य गुणाः ।

"तत्र त्रिदोषशमनं लघु शूकधान्यं
तेजोबलातिशयवीर्य्यविवृद्धिदायि ।
देशे देशे शूकधान्येषु संख्या
ज्ञातुं शक्या नैव तैर्द्दैवतैर्व्वा ॥"

इति राजनिर्घण्टः ॥

अपि च ।
"शूकधान्यं शमीधान्यं समातीतं प्रशस्यते ।
परतो वातकृद्रूक्षं प्रायेणाभिनवं गुरु ॥"
इति राजवल्लभः ॥

अन्यच्च ।
"यवस्तु सितशूकः स्यात् निःशूकोऽतियवः स्मृतः ।
तोक्मस्तद्वत् स हरितस्ततः स्वल्पश्च कीर्त्तितः ॥
यवः कषायो मधुरः शीतलो लेखनो मृदुः ।
व्रणेषु तिलवत् पथ्यो रूक्षो मेधाग्निवर्द्धनः ।
कटुपाकोऽनभिष्यन्दी स्वर्य्यो बलकरो गुरुः ॥
बहुवातमलो वर्णस्थैर्य्यकारी च पिच्छिलः ।
कण्ठत्वगामयश्लेष्मपित्तमेदप्रणाशनः ॥
पीनसश्वासकासोरुस्तम्भलोहिततृट्प्रणुत् ।
अस्मादतियवो न्यूनस्तोक्मो न्यूनतरस्ततः ॥"
इति भावप्रकाशः ॥

शूकपिण्डिः, स्त्री, (शूकैः पिण्ड्यते इति । पिडि
संहतौ + इन् ।) शूकशिम्बिः । इति शब्दमाला-
शब्दरत्नावल्यौ ॥

शूकपिण्डी, स्त्री, (शूकपिण्डि + वा ङीष् ।) शूक-
शिम्बिः । इति शब्दमालाशब्दरत्नावल्यौ ॥

शूकरः, पुं, (शूकं तद्वल्लोम रातीति । रा+कः ।)
पशुविशेषः । शुओर इति भाषा । तत्पर्य्यायः ।
वराहः २ स्तब्धरोमा ३ रोमशः ४ किरिः ५
चक्रदंष्ट्रः ६ किटिः ७ दंष्ट्री ८ क्रोड़ः ९ दन्ता-
युधः १० बली ११ पृथुस्कन्धः १२ पोत्री १३
घोणी १४ भेदनः १५ कोलः १६ पोत्रायुधः १७
सूरः १८ वक्रपत्यः १९ रदायुधः २० । वन्यस्य
तस्य मांसगुणाः । गुरुत्वम् । वातहारित्वम् ।
वृष्यत्वम् । बलस्वेदकरत्वञ्च ॥ ग्राम्यस्य तस्य
मांसगुणाः । वन्यवराहमांसाद्गुरुत्वम् । मेदो-
बलवीर्य्यवृद्धिकारित्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥

अपि च ।
"कुलापगण्डवाराहचमरीवारणादयः ।
एते कूलेचराः प्रोक्ता यतः कूले चरन्त्यमी ॥
कूलेचरा मरुत्पित्तहरा वृष्यबलावहाः ।
मधुराः शीतलाः स्निग्धा मूत्रलाः श्लेष्म-
वर्द्धनाः ॥"
इति भावप्रकाशः ॥

शूकरकन्दः, पुं, (शूकरप्रियः कन्दः ।) वाराही-
कन्दः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शूकरदंष्ट्रः, पुं, क्षुद्ररोगविशेषः । तल्लक्षणमाह ।
"सदाहो रक्तपर्य्यन्तस्त्वक्पाकी तीव्रवेदनः ।
कण्डूमान् ज्वरकारी च स स्याच्छूकरदंष्ट्रकः ॥"
स गुदभ्रंशः ॥ * ॥ तच्चिकित्सा यथा,—
"भृङ्गराजकमूलस्य रजन्या सहितस्य च ।
चूर्णन्तु सहसा लेपाद्वाराहद्विजनाशनम् ॥
राजीवमूलकल्कस्तु पीतो गव्येन सर्पिषा प्रातः ।
शमयति शूकरदंष्ट्रं दंष्ट्रोद्भूतज्वरं घोरम् ॥
रजनीमार्कवमूलं पिष्टं शीतेन वारिणा ।
तल्लेपाद्धन्ति वीसर्पं वाराहदशनाह्वयम् ॥"
इति भावप्रकाशः ॥

शूकरपादिका, स्त्री, (शूकरस्य पादा इव मूला-
न्यस्याः । कप् । टाप् । अत इत्वम् ।) कोल-
शिम्बी । इति राजनिर्घण्टः ॥

शूकराक्रान्ता, स्त्री, (शूकरेणाक्रम्यते स्मेति । आ
+क्रम+क्तः ।) वराहक्रान्ता । इति शब्द-
चन्द्रिका ॥

शूकरी, स्त्री, (शूकर+ङीष् ।) वराहक्रान्ता ।
इति शब्दरत्नावली ॥ शूकरपत्नी च ॥

शूकरेष्टः, पुं, (शूकराणामिष्टः ।) कसेरुः । इति
राजनिर्घण्टः ॥ शूकरप्रियदर्शे, त्रि ॥

शूकलः, पुं, (शूकवत् क्लेशं लाति ददातीति । ला
+कः ।) दुर्व्विनीताश्वः । इति हेमचन्द्रः ॥

शूकवती, स्त्री, (शूकाः सन्त्यस्याः । शूक+मतुप् ।)
कपिकच्छुः । इति शब्दचन्द्रिका ॥ शूकयुक्ते,
त्रि ॥

शूकशिम्बा, स्त्री, (शूकविशिष्टा शिम्बा यस्याः ।)
कपिकच्छुः । इति शब्दचन्द्रिका ॥

शूकशिम्बिः, स्त्री, (शूकविशिष्टा शिम्बिर्यस्याः ।)
कपिकच्छुः । इत्यमरः ॥

शूकशिम्बिका, स्त्री, (शूकयुक्ता शिम्बिका यस्याः ।)
कपिकच्छुः । इत्यमरटीका ॥

शूकशिम्बी, स्त्री, (शूकयुक्ता शिम्बी यस्याः ।)
कपिकच्छुः । इत्यमरटीका ॥

शूका, स्त्री, (शूकाः सन्त्यस्याः इति । अर्श आदि-
त्वादच् ।) कपिकच्छुः । इति शब्दचन्द्रिका ।

शूकापुष्टः, पुं, तृणमणिः । इति हारावली ॥
कापुरदाना इति काहरोवा इति च पारस्य-
भाषा ॥

शूक्ष्मं, त्रि, अल्पम् । इत्युणादिकोषः ॥ अस्थूलम् ।
सरु इति मिही इति च भाषा । यथा,—
"बहुतन्तुसमायुक्तं पट्टसूत्रादिनिर्म्मितम् ।
वासो देवि सुशूक्ष्मञ्च गृहाण परमेश्वरि ॥"
इति कालिकापुराणम् ॥

शूक्ष्मः, पुं, कतकः । अध्यात्मा । इत्युणादिकोषः ॥

शूतिपर्णः, पुं, आरग्वधः । इति शब्दरत्नावली ॥

शूद्रः, पुं, (शोचतीति । शुच शोके + "शुचेर्द्दश्च ।"
उणा० २ । १९ । इति रक् दश्चान्तादेशो धातो-
र्दीर्घश्च ।) चतुर्व्वर्णान्तर्गतचतुर्थवर्णः । तत्-
पर्य्यायः । अवरवर्णः २ वृषलः ३ जघन्यजः ४ ।
इत्यमरः ॥ दासः ५ पादजः ६ अन्त्यजन्मा ७
जघन्यः ८ द्विजसेवकः ९ । इति शब्दरत्नावली ॥

पद्यः १०। इति जटाधरः॥ अन्त्यवर्णः ११ पज्जः १२। इति हेमचन्द्रः॥ चतुर्थः १३ द्विजदासः १४ उपासकः १५। इति राजनिर्घण्टः॥ प्लक्षद्वीपे तस्य संज्ञा सत्याङ्गः। शाल्मलद्वीपे इन्धरः। कुशद्वीपे कुलकः। क्रौञ्चद्वीपे सेवकः। शाकद्वीपे अनुव्रतः। पुष्करद्वीपे सर्व्वे एकवर्णाः। अस्योत्पत्तिर्ब्रह्मणः पादात्। अस्य शास्त्रनिरूपितो धर्म्मः जीविका च ब्राह्मणक्षत्त्रियवैश्यशुश्रूषा। अस्यैकाश्रमो गार्हस्थ्यः। इति श्रीभागवतम्॥ *॥ अथ शूद्रधर्म्मादि।
"विप्राणामर्च्चनं नित्यं शूद्रधर्म्मो विधीयते।
तद्द्वेषी तद्धनग्राही शूद्रश्चाण्डालतां व्रजेत्॥
गृध्रः कोटिसहस्राणि शतजन्मानि शूकरः।
श्वापदः शतजन्मानि शूद्रो विप्रधनापहा॥
यः शूद्रो ब्राह्मणीगामी मातृगामी स पातकी।
कुम्भीपाके पच्यते स यावद्वै ब्रह्मणः शतम्॥
कुम्भीपाके तप्ततैले भुक्तः सर्पैश्चनिशम्।
शब्दञ्च विकृताकारं कुरुते यमताडनात्॥
तदा चाण्डालयोनिः स्यात् सप्तजन्मसु पातकी।
सप्तजन्मसु सर्पश्च जलौका सप्तजन्मसु॥
जन्मकोटिसहस्रञ्च विष्ठायां जायते कृमिः।
योनिक्रिमिः पुंश्चलीनां स भवेत् सप्तजन्मसु॥
गवां व्रणकृमिः स्याच्च पातकी सप्तजन्मसु।
योनौ योनौ भ्रमत्येवं न पुनर्जायते नरः॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे ८३ अध्यायः॥
अपि च।
"द्विजानां पादशुश्रूषा शूद्रैः कार्य्या सदा त्विह।
पादप्रक्षालनं भक्त्या भोज्यमुच्छिष्टमाचकम्॥
ते तु चक्रुस्तदा चैव तेभ्यो भूयः पितामहः।
शुश्रूषार्थं मया यूयं तुरीये तु पदे कृताः॥
द्विजानां क्षत्रवर्णानां वैश्यानाञ्च भवद्विधाः।
त्रिभ्यः शुश्रूषणा कार्य्या इत्यवादीद्वचस्तदा॥"
इति पाद्मे सृष्टिखण्डे १६ अध्यायः॥
किञ्च।
"शुश्रूषैव द्विजातीनां शूद्राणां धर्म्मसाधनम्।
कारुकर्म्म तथाजीवः पाकयज्ञोऽपि धर्म्मतः॥"
इति गारुडे ४६ अध्यायः॥
शूद्रराज्ये वासनिषेधो यथा,—
"धार्म्मिकैर्नावृते ग्रामे न व्याधिबहुले भृशम्।
न शूद्रराज्ये निवसेत् न पाषण्डजनैर्वृते॥"
शूद्राय मतिदाननिषेधो यथा,—
"न शूद्राय मतिं दद्यात् कृशरं पायसं दधि।
नोच्छिष्टं वा मधु घृतं न च कृष्णाजिनं हविः।
न चैवास्मै व्रतं ब्रूयात् न च धर्म्मान् वदेद्बुधः॥"
इति कौर्म्मे उपविभागे १५ अध्यायः॥*॥
शूद्राणां वेदाधिकारनिषेधो यथा,—
"त्रयो वर्णा महाभाग यज्ञसामान्यभागिनः।
शूद्रा वेदपवित्रेभ्यो ब्राह्मणैस्तु बहिष्कृताः॥"
इति वाराहे संसारचक्रनामाध्यायः॥*॥
कलौ ते धन्याः। यथा,—
"कलिः साध्विति यत् प्रोक्तं शूद्रः साध्विति योषितः।
यदाह भगवान् साधुर्धन्याश्चेति पुनः पुनः॥"
इति विष्णुपुराणे ६। २। १२॥
तस्य मद्यपानादौ दोषो यथा,—
"तथा मद्यस्य पानेन ब्राह्मणीगमनेन च।
वेदाक्षरविचारेण शूद्रश्चाण्डालतां व्रजेत्॥"
इति शूद्रकमलाकरधृतपराशरवचनम्॥
ब्राह्मणस्य तदन्नभोजननिषेधो यथा,—
"शूद्रान्नं ब्राह्मणोऽश्नन् वै मासं मासार्द्धमेव वा।
तद्योनावभिजायेत सत्यमेतद्विदुर्बुधाः॥
अयोदरस्थशूद्रान्नो मृतः श्वानोऽपि जायते।
द्वादश दश चाष्टौ च गृध्रशूकरपुष्कराः॥
उदरस्थितशूद्रान्नो ह्यधीयानोऽपि नित्यशः।
जुह्वन् वापि जपन् वापि गतिमूर्द्ध्वं न विन्दति॥
अमृतं ब्राह्मणस्यान्नं क्षत्त्रियान्नं पयः स्मृतम्।
वैश्यस्य चान्नमेवान्नं शूद्रान्नं रुधिरं स्मृतम्॥
तस्मात् शूद्रं न भिक्षेत यज्ञार्थं सद्विजातयः।
श्मशानमिव सच्छूद्रस्तस्मात्तं परिवर्ज्जयेत्॥
कणानामथवा भिक्षां कुर्य्याच्चातिविकर्षितः।
सच्छूद्राणां गृहे कुर्व्वन् तत्पापेन न लिप्यते॥
विशुद्धान्वयसंजातो निवृत्तो मद्यमांसतः।
द्विजभक्तो वणिग्वृत्तिः शूद्रः स परिकीर्त्तितः॥"
इति वृहत्पराशरसंहितायाम् ४ अध्यायः॥*॥
अपि च। हारीतः।
"शूद्रान्नेन तु भुक्तेन उदरस्थेन यो मृतः।
स वै खरत्वमुष्ट्रत्वं शूद्रत्वञ्चाधिगच्छति॥"
शूद्रान्नं शूद्रस्वामिकान्नं तद्दत्तमपि भोजनकाले तद्गृहावस्थितं यत्तदपि शूद्रान्नम्। तदाहाङ्गिराः।
"शूद्रवेश्मनि विप्रेण क्षीरं वा यदि वा दधि।
निवृत्तेन न भोक्तव्यं शूद्रान्नं तदपि स्मृतम्॥"
अपिशब्दात् साक्षात्तद्दत्तघृतखण्डादि। न तु तद्दत्तकपर्द्दकादिना क्रीतमपि। स्वगृहागते पुनरङ्गिराः।
"यथा यतस्ततो ह्यापः शुद्धिं यान्ति नदीं गताः।
शूद्रादिप्रगृहेष्वन्नं प्रविष्टन्तु सदा शुचि॥"
प्रविष्टं स्वत्वापादकप्रतिग्रहादिनेति शेषः। अत एव पराशरः।
"तावद्भवति शूद्रान्नं यावन्न स्पृशति द्विजः।
द्विजातिकरसंस्पृष्टं सर्व्वं तद्धविरुच्यते॥"
स्पृशति प्रतिगृह्णातीति कल्पतरुः॥ तच्च संप्रोक्ष्य ग्राह्यमाह विष्णुपुराणम्।
"संप्रोक्षयित्वा गृह्णीयाच्छूद्रान्नं गृहमागतम्॥"
तच्च पात्रान्तरे ग्राह्यमाहाङ्गिराः।
"स्वपात्रे यत्तु विन्यस्तं शूद्रो यच्छति नित्यशः।
पात्रान्तरगतं ग्राह्यं दुग्धं स्वगृहमागतम्॥"
एतेन स्वगृहमागतस्यैव शुद्धत्वं तद्गृहगतस्य शूद्रान्नदोषभागित्वं प्रतीयते। ततश्चैतादृगपि मुमुक्षुणा सर्व्वथा शूद्रान्नं न भोक्तव्यम्। इति शुद्धितत्त्वम्॥ *॥ कलौ शूद्रविशेषान्नभोजननिषेधो यथा,—
"शूद्रेषु दासगोपालकुलमित्रार्द्धशीरिणाम्।
भोज्यान्नता गृहस्थस्य तीर्थसेवातिदूरतः॥
एतानि लोकगुप्त्यर्थं कलेरादौ महात्मभिः।
निवर्त्तितानि कर्म्माणि व्यवस्थापूर्व्वकं बुधैः॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम्॥
अपरञ्च।
व्यास उवाच।
"नाद्यात् शूद्रस्य विप्रोऽन्नं मोहाद्वा यदि वान्यतः।
स शूद्रयोनिं व्रजति यस्तु भुङ्क्ते ह्यनापदि॥
षण्मासान् यो द्विजो भुङ्क्ते शूद्रस्यान्नं विगर्हितम्।
जीवन्नेव भवेत् शूद्रो मृतः श्वा चाभिजायते॥
ब्राह्मणक्षत्त्रियविशां शूद्रस्य च मुनीश्वराः।
यस्यान्नेनोदरस्थेन मृतस्तद्योनिमाप्नुयात्॥"
कलौतरत्र शूद्रविशेषान्नभोजनविधिर्यथा,—
"आर्त्तिजः कुलमित्रञ्च गोपालो दासनापितौ।
एते शूद्रेषु भोज्यान्ना यश्चात्मानं निवेदयेत्॥
कुशीलवः कुम्भकारः क्षेत्रकर्म्मक एव च।
एते शूद्रेषु भोज्यान्ना दत्त्वा स्वल्पं पणं बुधैः॥
पायसं स्निग्धपक्वञ्च यावकञ्चैव शक्तवः।
पिण्याकञ्चैव तैलञ्च शूद्राद्ग्राह्यं द्विजातिभिः॥"
इति कौर्म्मे उपविभागे १६ अध्यायः॥
अपि च।
"कन्दुपक्वानि तैलेन पायसं दधिशक्तवः।
द्विजैरेतानि भोज्यानि शूद्रगेहकृतान्यपि॥"*॥
अन्यच्च।
"शूद्रास्तु ये दानपरा भवन्ति
व्रतान्विता विप्रपरायणास्तु।
अन्नं हि तेषां सततं सुभोज्यं
भवेद्द्विजेन्द्रैरिदं पुरातनैः॥
तस्माद्दानं प्रकर्त्तव्यं व्रतस्थेन प्रयत्नतः।
सर्व्वपापविनाशाय महत्सुखविवृद्धये॥"
इति वह्निपुराणे वृषदानाध्यायः॥ *॥
वैदिकेतरमन्त्रपाठे शूद्रादेरप्यधिकारः। वेदमन्त्रवर्ज्जं शूद्रस्येति छन्दोगाह्निकाचारचिन्तामणिधृतस्मृतौ वेदेति विशेषणात्। एवञ्च पुराणमधिकृत्य।
"अध्येतव्यं न चान्येन ब्राह्मणं क्षत्त्रियं विना।
श्रोतव्यमिह शूद्रेण नाध्येतव्यं कदाचन॥"
इति भविष्यपुराणवचनं पुराणमन्त्रेतरपरम्॥ पञ्चयज्ञस्नानश्राद्धेषु पौराणिकमन्त्रोऽपि निषिद्धः। शूद्रमधिकृत्य।
"नमस्कारेण मन्त्रेण पञ्चयज्ञान्न हापयेत्॥"
इति याज्ञवल्क्येन॥
"ब्रह्मक्षत्त्रविशामेव मन्त्रवत् स्नानमिष्यते।
तूष्णीमेव हि शूद्रस्य सनमस्कारकं मतम्॥"
इति योगियाज्ञवल्क्येन॥
श्राद्धमधिकृत्य।
"अयमेव विधिः प्रोक्तः शूद्राणां मन्त्रवर्ज्जितः।
अमन्त्रस्य तु शूद्रस्य विप्रो मन्त्रेण गृह्यते॥"
इति वराहपुराणेन च॥

नमस्कारेणेति तूष्णीमिति मन्त्रवर्ज्जितमिति चाभिधानादेतत्परं वैदिकपरञ्च शूद्राधिकारे गौतमवचनम्। अनुमतोऽस्य नमस्कारो मन्त्र इति। सावित्रीं प्रणवं यजुर्लक्ष्मीं स्त्रीशूद्रयोर्नेच्छन्ति। सावित्रीं प्रणवं यजुर्लक्ष्मीं स्त्री शूद्रो यदि जानीयात् स म्रुतोऽधो गच्छतीति। इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥*॥*॥ प्रसङ्गादत्र कायस्थोत्पत्तिर्लिख्यते। पाद्मे सृष्टिखण्डे।

"सृष्ट्यादौ सदसत्कर्म्मज्ञप्तये प्राणिनां विधिः।
क्षणं ध्याने स्थितस्तस्य सर्व्वकायाद्विनिर्गतः ॥
दिव्यरूपः पुमान् हस्ते मसीपात्रञ्च लेखनीम्।
चित्रगुप्त इति ख्यातो धर्म्मराजसमीपतः ॥
प्राणिनां सदसत्कर्म्मलेख्याय स निरूपितः।
ब्रह्मणातीन्द्रियज्ञानी देवाग्न्योर्यज्ञभुक् स वै।
भोजनाच्च सदा तस्मादाहुतिर्दीयते द्विजैः ॥
ब्रह्मकायोद्भवो यस्मात् कायस्थो जातिरुच्यते।
नानागोत्राश्च तद्वंश्याः कायस्था भुवि सन्ति वै ॥"*॥

प्रकारान्तरम् यथा, स्कान्दे रेणुकामाहात्म्ये।

"एवं हत्वार्ज्जुनं रामः सन्धाय निशितान् शरान्।
एक एव ययौ हन्तुं सर्व्वानेवासुरान् नृपान् ॥
केचिद्वनमाश्रित्य केचित् पातालमाविशन्।
सगर्भा चन्द्रसेनस्य भार्य्या दाल्भ्याश्रमं ययौ ॥
ततो रामः समायातो दाल्भ्याश्रममनुत्तमम्।
पूजितो मुनिना सद्योऽन्वर्घ्यपाद्यासनादिभिः ॥
ददौ मध्याह्नसमये तस्मै भोजनमादरात्।
रामस्तु भावयामास हृदिस्थं स्वमनोरथम्।
याचयामास रामाच्च कामं दाल्भ्यो महामुनिः ॥
ततो द्वौ परमप्रीतौ भोजनं चक्रतुर्मुदा।
भोजनानन्तरं दाल्भ्यः पप्रच्छ भार्गवं प्रति।
यत्त्वया प्रार्थितं देव तत्त्वं प्रष्टुमर्हसि ॥

राम उवाच।

तवाश्रमे महाभाग सगर्भा स्त्री समागता।
चन्द्रसेनस्य राजर्षेः क्षत्रियस्य महात्मनः ॥
तन्मे त्वं प्रार्थितं देहि हिंसेयं तां महामुने।
ततो दाल्भ्यः प्रत्युवाच ददामि तव वाञ्छितम् ॥

दाल्भ्य उवाच।

स्त्रियं गर्भमस्तु बालं तन्मे त्वं दातुमर्हसि।
ततो रामोऽब्रवीद्दाल्भ्यं यदर्थमहमागतः ॥
क्षत्रियान्तकरश्चाहं तत्त्वं याचितवानसि।
प्रार्थितश्च त्वया विप्र कायस्थो गर्भ उत्तमः ॥
तस्मात् कायस्थ इत्याख्या भविष्यति शिशोः शुभा।
एवं रामो महाबाहुर्हित्वान्तर्गर्भमुत्तमम् ॥
निर्जगामाश्रमात्तस्मात् क्षत्रियान्तकरः प्रभुः।
कायस्थ एष उत्पन्नः क्षत्रिण्यां क्षत्रियात्ततः ॥
रामाज्ञया स दाल्भ्येन क्षत्रधर्म्माद्बहिष्कृतः।
कायस्थधर्म्मोऽस्मै दत्तश्चित्रगुप्तस्य यः स्मृतः ॥
तद्गोत्रजाश्च कायस्था दाल्भ्यगोत्रास्ततोऽभवन्।
दाल्भ्योपदेशतस्ते वै धर्म्मिष्ठाः सत्यवादिनः ॥
सदाचारपरा नित्यं रता हरिहरार्च्चने।
देवविप्रपितॄणाञ्च अतिथीनाञ्च पूजकाः ॥"*॥

प्रकारान्तरम्।

"माहिष्यवनितासूनुर्वैदेहात् यः प्रसूयते।
स कायस्थ इति प्रोक्तस्तस्य धर्म्मो विधीयते ॥
चन्द्रादेशायां माहिष्या वैश्यादिप्राज्ञो वेदेहः।
लिपीनां देशजातानां लेखनं स समाचरेत् ॥
गणकत्वं विचित्रञ्च बीजपाटी प्रभेदतः।
अधमः शूद्रजातिभ्यः पञ्चसंस्कारवानसौ ॥
चातुर्वर्ण्यस्य सेवां हि लिपिलेखनसाधनाम्।
व्यवसायः शिल्पकर्म्म तज्जीवनमुदाहृतम् ॥
शिखां यज्ञोपवीतञ्च वस्त्रमारक्तमम्भसा।
स्पर्शनं देवतानाञ्च कायस्थाद्यो विवर्ज्जयेत् ॥"

इति कमलाकरभट्टकृतशूद्रधर्म्मतत्त्वम् ॥

शूद्रकृत्यं, क्ली, (शूद्रस्य कृत्यम्।) शूद्रकर्त्तव्यकर्म्म। यथा,—

"प्रणम्य सच्चिदानन्दं शूद्राणां न्यायवर्त्तिनाम्।
श्राद्धाह्निककृत्ययोस्तत्त्वं वक्ति श्रीरघुनन्दनः ॥"

तत्र मत्स्यपुराणम्।

"एवं शूद्रोऽपि सामान्यं वृद्धिश्राद्धञ्च सर्व्वदा।
नमस्कारेण मन्त्रेण कुर्य्यादामान्नवद्बुधः ॥
दानप्रधानः शूद्रः स्यादित्याह भगवान् प्रभुः।
दानेन सर्व्वकामाप्तिरस्य संजायते यतः ॥"

ततो दानमेवापेक्षितं न तु भोजनमपि। सामान्यं सर्व्वजनकर्त्तव्यत्वेन प्रतिमासकृष्णपक्षादिविहितश्राद्धं आभ्युदयिकश्राद्धञ्च एवं द्विजातिवत् शूद्रोऽपि कुर्य्यादित्यन्वयः। नमस्कारेण मन्त्रेण नतु स्वयं पठितमन्त्रेण। आमान्नवदित्यनेन जलसेकसिद्धान्नव्यावृत्तिः। सिद्धमन्नमुदाहृतम्। इति वशिष्ठेन सिद्धस्यैवान्नत्वाभिधानात्। कन्दुपक्वस्य भृष्टत्वं न तु सिद्धत्वम्। हारीतेन स्वेदनभर्ज्जनयोः पृथक्त्वमुक्तम्। यथा। आदीपनतापनस्वेदनभर्ज्जनपचनादिभिः पञ्चमीति। अस्यार्थः। आदीपनं काष्ठानाम्। तापनं तोयादेः। स्वेदनं धान्यादेः। भर्ज्जनं यवादेः। पचनं तण्डुलादेः। इति पञ्चमी सूना इति कल्पतरुः। अतएव सिद्धधान्येन व्यवह्रियते।

"कन्दुपक्वानि तैलेन पायसं दधि शक्तवः।
द्विजैरेतानि भोज्यानि शूद्रगेहकृतान्यपि ॥"

इति कूर्म्मपुराणवचनेन शूद्रकर्त्तृककन्दुपक्वादेर्ब्राह्मणस्य भक्ष्यत्वेन श्राद्धे देयत्वं युक्तम्। कन्दुपक्वं जलोपसेकं विना केवलपात्रेण यद्वह्निना पक्वम्। पायसं पाकेन काठिन्यविकारापन्नं दुग्धम्। परमान्नपरत्वे पुंलिङ्गनिर्द्देशापत्तेः ॥ तथा चामरः। परमान्नन्तु पायसः इति।

"दिने त्रयोदशे प्राप्ते पाकेन भोजयेद्द्विजान्।
अयं विधिः प्रयोक्तव्यः शूद्राणां मन्त्रवर्ज्जितः ॥"

इति श्राद्धचिन्तामणिधृतवराहपुराणवचनमपि कन्दुपक्वपरम्। एवन्तु एतद्वचनं स्वच्छन्दपरं मैथिलोक्तं हेयम्। एवं आममांसस्यापि श्राद्धे देयत्वं सामान्यश्राद्धतत्त्वेऽनुसन्धेयम्। तत्र ब्रह्मदेवताप्रकाशार्थं ब्राह्मणेन मन्त्राः पाठ्याः।

"अयमेव विधिः प्रोक्तः शूद्राणां मन्त्रवर्ज्जितः।
अमन्त्रस्य तु शूद्रस्य विप्रो मन्त्रेण गृह्यते ॥"

इति वराहपुराणात् ॥

अयं श्राद्धेतिकर्त्तव्यताको विधिः शूद्रकर्त्तृकमन्त्रपाठरहितः। शूद्रस्य मन्त्रपाठानधिकारसिद्धौ यदमन्त्रस्येति पुनर्व्वचनं तत् क्रियया ग्रहणार्थं परिभाषार्थञ्च। ततश्च तत्कर्म्मसम्बन्धिमन्त्रेण विप्रस्तदीयकर्म्मकारयितृब्राह्मणो गृह्यते। तेन ब्राह्मणेन तत्र मन्त्रः पठनीय इति तात्पर्य्यम्। तत्र यजुर्व्वेदिको मन्त्रः। तथा च स्मृतिः।

"आर्षक्रमेण सर्व्वत्र शूद्रा वाजसनेयिनः।
तस्माच्छूद्रः स्वयं कर्म्म यजुर्व्वेदीव कारयेत् ॥"

आर्षक्रमेण मुन्युक्तक्रमेण यजुर्व्वेदिसम्बन्धिगृह्यादिना।

"चतुर्णामपि वर्णानां यानि प्रोक्तानि वेधसा।
धर्म्मशास्त्राणि राजेन्द्र शृणु तानि नृपोत्तम ॥
विशेषतस्तु शूद्राणां पावनानि मनीषिभिः।
अष्टादश पुराणानि चरितं राघवस्य च ॥
रामस्य कुरुशार्दूल धर्म्मकामार्थसिद्धये।
तथोक्तं भारतं वीर पाराशर्य्येण धीमता।
वेदार्थं सकलं योज्य धर्म्मशास्त्राणि च प्रभो ॥"

इति भविष्यपुराणवचनात्तेषां पौराणिकादिविधिर्योज्यो योजयित्वा। अत्र च श्राद्धे वेदमन्त्रवर्ज्जं शूद्रस्येतिवचने वेदेत्युपादानात् श्राद्धे पुराणमन्त्रः शूद्रेण पठनीय इति मैथिलोक्तम्। तन्न वराहपुराणे शूद्राणां मन्त्रवर्ज्जित इत्यनेन मन्त्रमात्रनिषेधात् मत्स्यपुराणेन नमस्कारेण मन्त्रेण इत्युपादानाच्च। पौराणिकस्यापि श्राद्धे निषेधः प्रतीयते। एवं स्नानेऽपि।

"ब्रह्मक्षत्रविशामेव मन्त्रवत् स्नानमिष्यते।
तूष्णीमेव हि शूद्रस्य सनमस्कारकं मतम् ॥"

इत्यनेन नमस्कारविधानात्। पञ्चयज्ञेऽपि।

"शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा तया जीवनवान् भवेत्।
शिल्पैर्व्वा विविधैर्जीवेत् द्विजातिहितमाचरन् ॥
भार्य्यारतिः शुचिर्भृत्यभर्त्ता श्राद्धक्रियारतः।
नमस्कारेण मन्त्रेण पञ्चयज्ञान्न हापयेत् ॥"

इति नमस्कारमात्रविधानात् श्राद्धादिषु पौराणिकमन्त्रनिषेधः। ततश्च स्नानश्राद्धपञ्चयज्ञेतरत्र शूद्रस्य पौराणिकमन्त्रपाठः प्रतीयते। अत्र।

"षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मङ्गलं कुले ॥"

इति मनुवचनात्। चूडा कार्य्या यथाकुलं इति याज्ञवल्क्यवचनाच्च संस्कारमात्रे कुलधर्म्मानुरोधेन कालान्तरस्य नामविशेषोच्चारणस्याभिधानाच्च शूद्रादीनां नामकरणे वसुघोषादिकपद्धतियुक्तनामकरणस्य च प्रतीतेर्व्वैदिककर्म्मणि शूद्राणां पद्धतियुक्तनामाभिधानं क्रियते इति ॥ शूद्रस्याचमने देवतीर्थेन ओष्ठे जलं सकृत् क्षिपेत् न पिबेत्। तथा च याज्ञवल्क्यः।

"हृत्कण्ठतालुगाभिस्तु यथासंख्यं द्विजातयः।
शुद्ध्येरन् स्त्री च शूद्रश्च सकृत् स्पृष्टाभिरन्ततः ॥"

अन्ततो हृदयादिसमीपेन ओष्ठेन उत्तरोत्तर-

मपकर्षात्। अतएव सृष्टाभिरित्युक्तं न तु भक्षिताभिरिति।
"स्त्री शूद्रः शुध्यते नित्यं क्षालनाच्च करोष्ठयोः॥"
इति ब्रह्मपुराणवचनञ्च। याज्ञवल्क्यः।
"प्राक्ता ब्राह्मेण तीर्थेन द्विजो नित्यमुप-
स्पृशेत्।"
अत्र द्विजस्यैव आचमने ब्राह्मतीर्थोपादानात् स्त्रीशूद्रयोर्न तेनाचमनम्। एवमेव मिताक्षरायां व्यक्तमुक्तं मरीचिना।
"स्त्रियाश्चेद्दक्षिणं तीर्थं शूद्रजातिस्तथैव च।
सकृदाचमनाच्छुद्धिरेतयोरेव चोभयोः॥" इति।
एतदनन्तरं इन्द्रियादिस्पर्शनन्तु ब्राह्मणवदेव। प्रमाणान्तरन्तु वाजसनेयिसामगब्राह्मणाह्निकतत्त्वयोरनुसन्धेयम्। इति वन्द्यघटीयश्रीहरिहरभट्टाचार्य्यात्मज-श्रीरघुनन्दनभट्टाचार्य्यविरचितं शूद्राह्निकाचारतत्त्वं समाप्तम्॥

शूद्रधर्म्मः, पुं, (शूद्रस्य धर्म्मः।) शूद्रस्य शास्त्रविहिताचारः। तस्य विवरणं शूद्रशब्दे द्रष्टव्यम्॥

शूद्रप्रियः, पुं, (शूद्राणां प्रियः।) पलाण्डुः। इति राजनिर्घण्टः॥ शूद्रस्य प्रियद्रव्ये, त्रि॥

शूद्रप्रेष्यः, पुं, (शूद्रस्य प्रेष्यः।) शूद्रस्य परिचारकब्राह्मणादिः। इति केचित्॥

शूद्रशासनं, क्ली, (शूद्रस्य शासनम्।) शूद्रस्याधिकारो लेख्यपत्रादिर्व्वा। यथा,—
"स्यादभिव्यञ्जितरमणं शाखानगरमित्यपि।
शासनं धर्म्मकील: स्यात्प्रकृति: शूद्रशासनम्॥"
इति पुरवर्गे त्रिकाण्डशेषः॥

शूद्रा, स्त्री, (शूद्रस्य जातिः। शूद्र+"शूद्रा चामहत्पूर्व्वा जातिः।" इति टाप्।) शूद्रजातिस्त्री। इत्यमरः॥ (यथा, मनुः। ३।१३।
"शूद्रैव भार्य्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः
स्मृते॥")

शूद्रान्नं, क्ली, (शूद्रस्य अन्नम्।) शूद्रस्वामिकान्नम्। यथा,—
"शूद्रान्ने तु भुक्तेन उदरस्थेन यो मृतः।
स वै खरत्वमुष्ट्रत्वं शूद्रत्वञ्चाधिगच्छति॥"
शूद्रान्नं शूद्रस्वामिकान्नम्। इति शुद्धितत्त्वम्॥ अन्यत् शूद्रशब्दे द्रष्टव्यम्॥

शूद्राभार्य्यः, पुं, शूद्रा भार्य्या यस्य सः। शूद्रास्वामी। इति व्याकरणम्॥

शूद्रार्त्ता, स्त्री, (शूद्रेव आर्त्ता।) प्रियङ्गुवृक्षः। इति शब्दचन्द्रिका॥

शूद्रावेदी, [न्] पुं, (शूद्रां विन्दतीति। विद्+णिनिः।) शूद्राविवाहकर्त्ता। यथा,—
"शूद्रावेदी पतत्यत्रेरुतथ्यतनयस्य च।
शौनकस्य सुतोत्पत्त्या तदपत्यतया भृगोः॥"
इति दायभागः॥

शूद्री, स्त्री, (शूद्रस्य स्त्री। "पुंयोगादाख्यायाम्।" ४।१।४८। इति ङीष्।) शूद्रस्य भार्य्या। इत्यमरः॥ (यथा, याज्ञवल्क्ये। १।९१।
"विप्रात् मूर्द्धाभिषिक्तो हि क्षत्रियायां विशः
स्त्रियाम्।
अम्बष्ठः शूद्र्यां निषादो जातः पारशवोऽपि
वा॥")

शूनः, त्रि, (टु ओ श्वि गतिवृद्ध्योः+क्तः। "ओदितश्च।" ८।२।४५। इति निष्ठातस्य नः। "वचिस्वपियजादीनां किति।" ६।१।१५। इति संप्रसारणम्।) "हलः।" ६।४।२। इति दीर्घः। "श्वीदितो निष्ठायाम्।" ७।२।१४। इति इडागमस्य न।) वर्द्धितः। इति व्याकरणम्॥ (यथा, सुश्रुते। ५।२।
"दुर्व्वर्णौ हरिते शूने जायते चास्य लोचने॥"
शून्ये, त्रि। यथा, ऋग्वेदे। ७।१।११।
"मा शूने अग्ने निषदाम नृणाम्॥"
"हे अग्ने! शूने शून्ये पुत्रादिरहिते गृहे मा निषदाम न निवसाम।" इति तद्भाष्ये सायणः॥)

शूनवान्, [त्] त्रि, (टु ओ श्वि गतिवृद्ध्योः+क्तवतु।) वर्द्धितः। इति व्याकरणम्॥

शूना, स्त्री, (श्वयन्ति मृत्युं गच्छन्ति कीटादयो यत्र। श्वि+क्तः। टाप्।) प्राणिवधस्थानम्। इति हलायुधः॥ पञ्चविधा शूना यथा,—
"पञ्च शूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश्च वध्यते यास्तु वाहयन्॥"
पञ्चशूनापापनाशो यथा, मनुः।
"अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥
पञ्चैतान् यो महायज्ञान् न हापयति शक्तितः।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं शूनादोषैर्न लिप्यते॥"
इति प्रायश्चित्ततत्त्वम्॥
अधोजिह्विका। इति हारावली॥

शूनावान्, [त्] पुं, (शूना+मतुप्। मस्य वः।) शूना विद्यते यस्य सः। कसाइ इति भाषा। इति केचित्॥

शून्यं, क्ली, आकाशम्। इति शब्दचन्द्रिका॥ (यथा, भागवते। ६।१३।२०।
"स वै त्वाष्ट्रवधो भूयानपि पापचयो नृप।
नीतस्तेनैव शून्याय नीहार इव भानुना॥")
बिन्दुः। इति हेमचन्द्रः॥

शून्यः, त्रि, अतिशयेन ऊनः। अभावविशिष्टः। असम्पूर्णः। खालि इति पारस्यभाषा। तत्पर्य्यायः। वशिकः २ तुच्छः ३ रिक्तकः ४। इत्यमरः॥ शुन्यम् ५। इति तट्टीकायां भरतः॥
"अविद्यजीवनं शून्यं दिक् शून्या चेदबान्धवा।
पुत्त्रहीनं गृहं शून्यं सर्व्वशून्या दरिद्रता॥"
इति चाणक्यम्॥
(शूनायै प्राणिहिंसायै हितः रहस्यस्थानत्वात्। शूना+यत्। यद्वा, शुने हितम्। श्वन्+"शुनः सम्प्रसारणं वा च दीर्घत्वम्।" ५।१।२। इत्यस्य वार्त्तिकोक्त्या यत् सम्प्रसारणं दीर्घत्वञ्च।) निर्ज्जनः। इति मेदिनी॥ (यथा, भट्टिः। १८।२९।
"केन संविद्रते नान्यस्ततो बान्धववत्सलः।
विरौमि शून्यं प्रोर्णोमि कथं मन्युसमुद्भवम्॥")

शून्यमध्यः, पुं, (शून्यं मध्यं यस्य।) नलः। इति राजनिर्घण्टः॥ शून्यगर्भवस्तुनि, त्रि॥

शून्यवादी, [न्] पुं, (शून्यं वदतीति। वद्+णिनिः।) सौगतः। इति जटाधरः॥ नास्तिकश्च॥

शून्या, स्त्री, नली। इति विश्वमेदिन्यौ॥ महाकण्टकिनी। इति शब्दचन्द्रिका॥ फणीमनसा इति ख्याता। वन्ध्या। इति राजनिर्घण्टः॥

शून्यालयः, पुं, (शून्य आलयः।) निर्ज्जनगृहम्। अत्र शयननिषेधो यथा। "मार्कण्डेयः।
'शून्यालये श्मशाने च एकवृक्षे चतुष्पथे।
महादेवगृहे चापि शर्करालोष्टपांशुषु॥
धान्यगोविप्रदेवानां गुरूणाञ्च तथोपरि।
न चापि भग्नशयने नाशुचौ नाशुचिः स्वयम्॥
नार्द्रवासा न नग्नश्च नोत्तरापरमस्तकः।
नाकाशे सर्व्वशून्ये च न च चैत्यद्रुमे तथा॥'
न स्वपेदित्यर्थः।" इत्याह्निकतत्त्वम्॥

शूपकारः, पुं, (शूपं करोतीति। कृ+अण्।) शूद्राणां पाचकः। यथा,—
"शूद्रपाकोपजीवी यः शूपकार इति स्मृतः।"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते प्रकृतिखण्डे २७ अध्यायः॥
अन्यत् दन्त्यसकारादौ द्रष्टव्यम्॥

शूर, ङ य ई स्तम्भे। हिंसे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (दिवा०-आत्म०-स्तम्भे अक०-हिंसे सक०-सेट्। निष्ठायामनिट्।) ङ य, शूर्य्यते। ई, शूर्णः। स्तम्भो जडीभावः। इति दुर्गादासः॥

शूर, त् क ङ विक्रमे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (अदन्तचुरा०-आत्म०-अक०-सेट्।) ङ, अशुशूरत्। विक्रमः उद्यमः। इति दुर्गादासः॥

शूरः, पुं, (शूरयति विक्रामतीति। शूर+अच्। यद्वा, शवति वीर्य्यं प्राप्नोतीति। शु+"शुसिचिमीनां दीर्घश्च।" उणा० २।२५। इति क्रन् दीर्घश्च।) वीरः। इत्यमरः॥ (यथा, महाभारते। १।१०९।४।
"शूराश्च कृतविद्याश्च सन्तश्च सुखिनोऽभवन्॥")
यादवः। स तु श्रीकृष्णस्य पितामहः। इति मेदिनी॥ (यथा, भागवते। ९।२४।२६।
"शूरो विदूरथादासीत् भजमानस्तु तत्सुतः॥")
सूर्य्यः। इति त्रिकाण्डशेषः॥ सिंहः। शूकरः। चित्रकः। सालः। लकुचः। मसूरः। इति राजनिर्घण्टः॥

शूरणः, पुं, (शूर्य्यते इति। शूर हिंसे+ल्युः।) कन्दविशेषः। ओल इति भाषा। तत्पर्य्यायः। अर्शोघ्नः २ कन्दः ३। इत्यमरः॥ सूरणः ४। इति तट्टीका॥ ओलः ५। इति जटाधरः॥ ओल्लः ६। इति मेदिनी॥ कण्डूलः ७ कन्दी ८ सुकन्दी ९ स्थूलकन्दकः १० दुर्नामारिः ११ सुवृत्तः १२ वातारिः १३ कन्दशूरणः १४ तीव्रकन्दः १५ कन्दार्हः १६ कन्दवर्द्धनः १७ बहुकन्दः १८ रुच्यकन्दः १९ शूरणकन्दः २०। अस्य गुणाः। कटुत्वम्। रुच्यत्वम्। दीपनत्वम्। पाचनत्वम्। कृमिकफानिलश्वासकासवमनार्शः-

शूलगुल्मनाशित्वम्। अस्रदोषकारित्वञ्च। इति राजनिर्घण्टः॥ अपि च।

"शूरणो दीपनो रूक्षः कषायः कण्डुकृत् कटुः।
विष्टम्भी विशदो रुच्यः कफार्शःकृन्तनो लघुः॥
विशेषादर्शसे पथ्यः प्लीहगुल्मविनाशनः।
सर्व्वेषां कन्दशाकानां शूरणः श्रेष्ठ उच्यते॥
दद्रूणां रक्तपित्तानां कुष्ठानां न हितो हि सः।
सन्धानयोगसंप्राप्तः शूरणो गुणवत्तमः॥"
इति भावप्रकाशः॥

अन्यच्च।

"शूरणो दीपनो रुच्यः कफघ्नो विशदो लघुः।
विशेषादर्शसां पथ्यो माण्यकन्दस्तु दोषलः॥"
इति राजवल्लभः॥

शोणकवृक्षः। इति शब्दमाला॥

शूरणोद्भुजः, पुं, हरिद्राङ्गपक्षी। इति शब्दचन्द्रिका॥

शूरदेवः, पुं, चतुर्व्विंशतिभाव्यर्हदन्तर्गतार्हद्विशेषः। इति हेमचन्द्रः॥

शूरसेनः, पुं, (शूराः सेना यस्य।) राजविशेषः। देशविशेषः। यथा,—

"शूरसेनो यदुपतिर्मथुरामावसन् पुरीम्।
माथुरान् शूरसेनांश्च विषयान् बुभुजे पुरा॥"
इति श्रीभागवते १० स्कन्धे १ अध्यायः॥

शूर्प, क माने। इति कविकल्पद्रुमः॥ (चुरा०-पर०-सक०-सेट्।) पञ्चस्वरी। क, शूर्पयति धान्यं शस्त्री। इति दुर्गादासः॥

शूर्पः, पुं स्त्री, (शूर्पयति धान्यादीनिति। शूर्प+अच्। यद्वा, शॄ हिंसायाम्+"शुष्भ्यां निच।" उणा० ३। २६। इति पः। चकारात् स च कित्।) तण्डुलादिस्फोटनार्थं वंशादिनिर्म्मितपात्रविशेषः। कुला इति भाषा। तत्पर्य्यायः। प्रस्फोटनम् २। इत्यमरः॥ सूर्पः ३ कुल्यः ४ प्रस्फोटनी ५। इति शब्दरत्नावली॥ (यथा,

"विहृत्य सूर्पवत् दोषान् गुणान् गृह्णन्ति साधवः॥")

द्रोणद्वयपरिमाणम्। इति शब्दमाला॥

शूर्पकः, पुं, (शूर्प इव प्रतिकृतिरस्य। "इवे प्रतिकृतौ।" इति कन्।) असुरविशेषः। स च कामदेवस्य शत्रुः। इति हेमचन्द्रः॥

शूर्पकर्णः, पुं, (शूर्पाविव कर्णौ यस्य।) हस्ती। इति त्रिकाण्डशेषः॥ कुल्यतुल्यश्रुतियुक्ते, त्रि॥ (यथा, कथासरित्सागरे। ५५। १६५।

"घटोदरः शूर्पकर्णो गणाध्यक्षो महोत्कटः॥")

शूर्पकारातिः, पुं, (शूर्पकनामासुरः अरातिर्यस्य।) कामदेवः। इति हलायुधः॥

शूर्पकारिः, पुं, (शूर्पकः अरिर्यस्य।) कामदेवः। इति हलायुधः॥

शूर्पणखा, स्त्री, (शूर्पा इव नखा यस्याः। "पूर्व्वपदात् संज्ञायामगः।" ८। ४। ३। इति णत्वम्। "नखमुखात् संज्ञायाम्।" ४। १। ५८। इति न ङीष्।) रावणभगिनी। इति शब्दमालाशब्दरत्नावल्यौ॥ (यथा, रघुः। १२। ३८।

"रूपं शूर्पणखानाम्नः सदृशं प्रत्यपद्यत॥")

शूर्पणखी, स्त्री, (शूर्पाकाराणि नखानि यस्याः। केवलयौगिकत्वे ङीष्।) रावणभगिनी। इति शब्दमालाशब्दरत्नावल्यौ॥

शूर्पपर्णी, स्त्री, (शूर्पा इव पर्णानि यस्याः। ङीष्।) शिम्बीविशेषः। इति शब्दचन्द्रिका॥

शूर्पवातः, पुं, (शूर्पस्य वातः।) शूर्पस्य वायुः। कुलार वाताष इति भाषा। तत्पर्य्यायः। फुक्कपाल: २। इति त्रिकाण्डशेषः॥

शूर्पश्रुतिः, पुं, (शूर्पौ इव श्रुती यस्य।) हस्ती। इति हारावली॥

शूर्पी, स्त्री, (शूर्प+गौरादित्वात् ङीष्।) क्षुद्रशूर्पः। इत्युणादिकोषः॥ शूर्पणखा। इति शब्दमाला॥

शूर्म्मः, पुं, लौहप्रतिमा। इत्यमरटीकायां रायमुकुटः॥

शूर्म्मिः, स्त्री, लौहप्रतिमा। इति भरतद्विरूपकोषः॥

शूर्म्मिका, } स्त्री, लौहप्रतिमा। इति शब्दरत्नावली॥
शूर्म्मी, }

शूल, रुजायाम्। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट्।) दीर्घी। शूलति लोकं रोगः। इति दुर्गादासः॥

शूलः, पुं स्त्री, (शूलति लोकानिति। शूल रोगे+अच्।) रोगविशेषः। अस्त्रविशेषः। वर्शा इति भाला इति च भाषा। इत्यमरः॥ मृत्युः। केतनः। विष्कम्भादिसप्तविंशतियोगान्तर्गतनवमयोगः। इति मेदिनी॥ तद्योगजातफलम्। यथा,—

"भीतो दरिद्रो दयिताप्रियश्च
शूलोद्भवः शूल इव स्वबन्धोः।
विद्यासमर्थो रहितोऽथ शूली
करोति लोके न हितं कदाचित्॥"
इति कोष्ठीप्रदीपः॥

सुतीक्ष्णः। अयःकीलः। इति धरणिः॥ (यथा, महाभारते। १। १०७। १२।

"ततस्ते शूल आरोप्य तं मुनिं रक्षिणस्तदा।
प्रतिजग्मुर्महीपालं धनान्यादाय तान्यथ॥")

व्यथा। इति केचित्॥ विक्रेतव्यम्। यथा,—

"अट्टशूला जनपदाः शिवशूलाश्चतुष्पथाः।
प्रमदाः केशशूलिन्यो भविष्यन्ति कलौ युगे॥"
इति महाभारते आदिपर्व्व॥ *॥

अथ शूलाधिकारः। तत्र शूलस्य सन्निकृष्टं निदानमाह।

"दोषैः पृथक् समस्तामद्वन्द्वैः शूलोऽष्टधा भवेत्।
सर्व्वेष्वेतेषु शूलेषु प्रायेण पवनः प्रभुः॥"

प्रभुः कर्त्ता॥ *॥ वातिकस्य विप्रकृष्टनिदानसंप्राप्तिलक्षणमाह।

"व्यायामयानादतिमैथुनाच्च
प्रजागराच्छीतजलादिपानात्।
कलायमुद्गाढकिकोरदूषात्
अत्यर्थरूक्षाध्यशनाभिघातात्॥
कषायतिक्तातिविरूढजान्न-
विरुद्धवल्लूरकशुष्कशाकैः।
विट्शुक्रमूत्रानिलसन्निरोधात्
शोकोपवासादतिहास्यभाषात्॥
वायुः प्रवृद्धो जनयेद्धि शूलं
हृत्पृष्ठपार्श्वत्रिकवस्तिदेशे।
जीर्णे प्रदोषे च घनागमे च
शीते च कोपं समुपैति गाढम्॥
मुहुर्मुहुश्चोपशमप्रकोपौ
विण्मूत्रसंस्तम्भनतोदभेदैः।
संस्वेदनाभ्यञ्जनमर्द्दनाद्यैः
स्निग्धोष्णभोज्यैश्च शमं प्रयाति॥"

व्यायामो मल्लयुद्धादिः। यानं गजमरथादि। मैथुनं स्त्रीसेवा। प्रजागरं रात्रौ। एषामतियोगात्। कलायस्त्रिपुटः। आढकी तुवरी। कोरदूषकः कोद्रवः। अत्यर्थरूक्षद्रव्यसेवा। अध्यशनं भुक्तस्योपरि भोजनम्। अभिघातो लोष्टादिभिः। कषायतिक्तरससेवा। विरूढजान्नं विरूढमङ्कुरितमन्नकलायशाकादि तज्जमन्नं भक्ष्यम्। वल्लूरं शुष्कमांसम्। तस्य शूलस्य देशमाह। हृदयादिषु॥ *॥ तस्य हृच्छूलस्य पृथगपि लक्षणं पठति।

"कफपित्तावरुद्धस्तु मारुतो रसवर्द्धितः।
हृदिस्थः कुरुते शूलमुच्छ्वासस्यावरोधकम्।
स हृच्छूल इति ख्यातो रसमारुतकोपजः॥"

पार्श्वशूलस्यापि लक्षणमाह।

"कफं निगृह्य पवनः शूचीभिरिव निस्तुदन्।
पार्श्वस्थः पार्श्वयोः शूलं कुर्य्यादाध्मानसंयुतम्।
तेनोच्छ्वसिति वक्त्रेण नरोऽन्नञ्च न काङ्क्षति।
निद्राञ्च नाप्नुयादेष पार्श्वशूलः प्रकीर्त्तितः॥"

वस्तिशूलस्यापि लक्षणमाह।

"संरोधात् कुपितो वायुरस्थि संश्रित्य तिष्ठति।
वस्तिवङ्क्षणनाभीषु ततः शूलस्तु जायते॥
विण्मूत्रवातसंरोधी वस्तिशूलः स उच्यते॥"

प्रकृतमनुसरति। जीर्णे भुक्ते। प्रदोषे रात्र्यागमे रात्रिभवशीतेन वातप्रकोपात्। घनागमे वर्षासु मेघोदये च॥ *॥ तथैव पैत्तिकमाह।

"क्षारातितीक्ष्णोष्णविदाहितैल-
निष्पावपिण्याककुलत्थयूषैः।
कट्वम्लसौवीरसुराविकारैः
क्रोधानलायासरविप्रतापैः॥
ग्राम्यातियोगादशनैर्व्विदग्धैः
पित्तं प्रकुप्याशु करोति शूलम्।
तृष्णामोहदाहार्त्तिकरं हि नाभ्यां
संस्वेदमूर्च्छाभ्रमशोषयुक्तम्॥
मध्यं दिने कुप्यति चार्द्धरात्रे
निदाघकाले जलदात्यये च।
शीतेऽतिशीतैः समुपैति शान्तिं
सुस्वादुशीतैरपि भोजनैश्च॥"

निष्पावो राजमाषः। सौवीरं सन्धानभेदः। सुराविकारैः। परिपक्वान्नसन्धानसमुत्पन्ना सुरा मता। तस्या विकारैः। रविप्रतापः आतपः। ग्राम्यातियोगो मैथुनाधिक्यम्। विदाहीत्यु-क्तापि अन्नैर्विदग्धैरिति बोधयति। अवि-दाहिवस्तुनोऽपि पित्तवशाद्विदाहित्वं भवति। जलदात्यये शरदि। शीते शीतकाले। शीतैर्व्वातादिभिः ॥ * ॥ श्लैष्मिकमाह।

"आनूपवारिजकिलाटपयोविकारै-
र्मांसेक्षुपिष्टकृशरातिलशष्कुलीभिः।
अन्यैर्बलासजनकैरपि हेतुभिश्च
श्लेष्मा प्रकोपमुपगम्य करोति शूलम् ॥
हृल्लासकासमदनारुचिसंप्रसेकै-
रामाशये स्तिमितकोष्ठशिरोगुरुत्वैः।
भुक्तैः सदैव हि रुजं कुरुतेऽतिमात्रं
सूर्य्योदयेऽथ शिशिरे कुसुमागमे च ॥"

आनूपं बहुजलदेशजं भक्ष्यम्। वारिजं शालूकादि। किलाटः।

"पक्वं दध्ना समं क्षीरं विज्ञेया दधिकूर्च्चिका।
तक्रेण तक्रकूर्चौ स्यात्तयोः पिण्डः किला-
टकः ॥"

पयोविकारः पायसादिः। पिष्टं माषादिः। अन्यैः गुर्व्वादिभिः स्तिमितमार्द्रचर्म्मावगुण्ठित-मिव यत् कोष्ठं शिरश्च तयोर्गुरुत्वैः सह। सूर्य्योदय इति त्रिधाविभक्तदिवसप्रथमभाग-स्योपलक्षणम्। शिशिरे तत्र कफस्यातिसञ्च-यात्। कुसुमागमे वसन्ते ॥ * ॥ द्वन्द्वजमाह।

"द्विदोषलक्षणैरेतैर्विद्याच्छूलं द्विदोषजम् ॥"

त्रिदोषजमाह।

"सर्व्वेषु देशेषु समस्तलिङ्गं
विद्याद्भिषक् सर्व्वभवं हि शूलम्।
सुकष्टमेनं विषवज्रतुल्यं
विवर्ज्जनीयञ्च वदन्ति तज्ज्ञाः ॥"

सर्व्वेषु देशेषु हृत्पृष्ठपार्श्वत्रिकवस्तिनाभ्यामाशयेषु। सर्व्वभवं त्रिदोषजं शूलं विन्द्यात्। सुकष्टसाध्यं विषवज्रतुल्यं मारणात्मकत्वात् ॥ * ॥ आमजमाह।

"आटोपहृल्लासवमीगुरुत्व-
स्तैमित्यमानाहकफप्रसेकैः।
कफस्य लिङ्गेन समानलिङ्ग-
मामोद्भवं शूलमुदाहरन्ति ॥"

कफस्य कफशूलस्य। आमोद्भवं आमादुद्भवो यस्य तं शूलम्। अत्रामाच्छूले जाते पश्चाद्दोषसम्बन्धः। अतएव शूलस्याष्टत्वमुक्तम्। स च प्रथममामाशये भवति पश्चात् सम्बन्धिदोषैर्व्वस्तिनाभिहृत्पार्श्वकुक्षिषु भवति यथा दोषसम्बन्धः ॥ * ॥ आमशूलस्य दोषविशेषेण देशविशेषमाह।

"वातात्मकं वस्तिगतं वदन्ति
पित्तात्मकं चापि वदन्ति नाभ्याम्।
हृत्पार्श्वकुक्षौ कफसन्निविष्टं
सर्व्वेषु देशेषु च सन्निपातात् ॥"

हृत्पार्श्वकुक्षौ हृत्पार्श्वाभ्यां सहिते कुक्षौ। कफसन्निविष्टं कफेनाविष्टम् ॥ * ॥ तन्त्रान्तरोक्तमामशूलमाह।

"अतिमात्रं यदा भुक्तं पावके मृदुतां गते।
स्थिरीभूतन्तु तत् कोष्ठे वायुनावृत्य तिष्ठति ॥
यदान्नं न गतं पाकं तच्छूलं कुरुते भृशम्।
मूर्च्छाध्मानविदाहांश्च हृत्क्लेशं सविलम्बिकम् ॥
कम्पवातमतीसारं प्रमोहं जनयेदपि।
अविपाकोद्भवं शूलमेतमाहुर्म्मनीषिणः ॥"

अविपाकोद्भवं आमोद्भवमित्यर्थः ॥ * ॥ शूलस्योपद्रवानाह।

"वेदनातितृषा मूर्च्छा आनाहो गौरवं ज्वरः।
भ्रमोऽरुचिः कृशत्वञ्च बलहानिस्तथैव च।
उपद्रवा दशैवैते यस्य शूलस्य नास्ति सः ॥"

शूलस्यैव भेदं परिणाममाह।

"स्वैर्निदानैः प्रकुपितो वायुः सन्निहितो यदा।
कफपित्ते समावृत्य शूलकारी भवेद्बली ॥
भुक्ते जीर्य्यति यच्छूलं तदेव परिणामजम् ॥"

स्वैर्निदानैरित्यादिना निदानपूर्व्विका संप्राप्तिरुक्ता। भुक्ते जीर्य्यतीत्यादिना लक्षणमुक्तम्। समावृत्य व्याप्य ॥ * ॥ अथान्नद्रवनामानं शूलविशेषमाह।

"जीर्णे जीर्य्यत्यजीर्णे वा यच्छूलमुपजायते।
पथ्यापथ्यप्रयोगेण भोजनाभोजनेन वा।
न शमं याति नियमात् सोऽन्नद्रव उदाहृतः ॥"

नेदं शूलमसाध्यं चिकित्साभिधानात् ॥ * ॥ अथ शूलस्य चिकित्सा।

"वमनं लङ्घनं स्वेदं पाचनं फलवर्त्तयः।
क्षारचूर्णानि गुटिकाः शस्यन्ते शूलशान्तये ॥
विज्ञाय वातशूलन्तु स्नेहस्वेदैरुपाचरेत्।
शूलशल्याकुलस्य स्यात् स्वेद एव सुखावहः ॥
मृत्तिकां सजलां पाकाद्घनीभूतां पटे क्षिपेत्।
कृत्वा तत्पोटलीं शूली तया स्वेदं विधापयेत् ॥"

इति मृत्तिकास्वेदः ॥

"कार्पासास्थिकुलत्थिकातिलयवैरेरण्डमूला-
तसी-
वर्षाभूशणबीजकाञ्जिकयुतैरेकीकृतैर्व्वा पृथक्।
स्वेदः स्यादथ कूर्परोदरशिरःस्फिग्जानुपादा-
ङ्गुली-
गुल्फस्कन्धकटीरुजो विजयते निःशेषवाता-
त्मिका ॥"

इति कार्पासास्थ्यादिस्वेदः ॥

"तिलेन गुटिकां कृत्वा भ्रामयेज्जठरोपरि।
शूलं सुदुस्तरं तेन शान्तिं गच्छति सत्वरम् ॥
नाभिलेपाज्जयेच्छूलं मदनं काञ्जिकान्वितम् ॥"

मदनं मयनफलम् ॥ * ॥

"बिल्वमेरण्डमूलन्तु क्वाथं कृत्वा घृतं पिबेत्।
हिङ्गुसौवर्च्चलोपेतं सद्यः शूलनिवारणम् ॥ * ॥
गुडशालियवाः क्षीरं सर्पिःपानं विरेचनम्।
जाङ्गलानि च मांसानि भेषजं पित्तशूलिनाम् ॥ *
सक्षीरजलताम्राणां भाजनानि गुरूणि च।
तोयेन परिपूर्णानि शूलस्योपरि धारयेत् ॥ * ॥
विरेचनं पित्तहरं प्रशस्तं
रसाश्च शस्ताः शशलावकानाम् ॥ * ॥
सगुडां घृतसंयुक्तां भक्षयेद्वा हरीतकीम्।
प्रलिह्याच्छूलशान्त्यर्थं धात्रीचूर्णं समाक्षिकम् ॥
शाल्यन्नं जाङ्गलं मांसमरिष्टं कटुकं रसम्।
मधूनि जीर्णगोधूमं कफशूले प्रयोजयेत् ॥"

अरिष्टं भेषजक्वाथसिद्धं मद्यम् ॥ * ॥

"लवणत्रयसंयुक्तं पञ्चकोलं सरामठम्।
सुखोष्णेनाम्बुना पीतं कफशूलं प्रणाशयेत् ॥ * ॥
आमशूले क्रिया कार्य्या कफशूलप्रणाशिनी।
सैथमामहरं सर्व्वं मद्यमग्निविवर्द्धनम् ॥ * ॥
तीक्ष्णायश्चूर्णसंयुक्तं त्रिफलाचूर्णमुत्तमम्।
प्रयोज्यं मधुसर्पिर्भ्यां सर्व्वशूलनिवारणम् ॥"

तीक्ष्णा राजिका ॥ * ॥

"दारुहैमवतीकुष्ठशताह्वाहिङ्गुसैन्धवैः।
अम्लपिष्टैः सुखोष्णैश्च लिम्पेच्छूलयुतोदरम् ॥ * ॥
मूलं वैल्वं तथैरण्डं चित्रकं विश्वभेषजम्।
हिङ्गुसैन्धवसंयुक्तं सद्यः शूलनिवारणम् ॥"

वातरोगान्तर्गताध्मानचिकित्सायां लिखितो नाराचनामा रसोऽप्यत्र विरेचनं शूले हितम् ॥

"कुष्माण्डं तनु कृत्वा तु छित्वा घर्म्मे विशोषयेत्।
स्थाल्यां निक्षिप्य तत् सर्व्वं पिधानेन विधाप्य
च।
चुल्ल्यां निवेश्य वह्निञ्च ज्वालयेत् कुशलो जनः ॥
यथा तत्र भवेद्भस्म किन्त्वङ्गारो दृढ़ो भवेत्।
तदा निर्व्वापयेच्छीतं चूर्णितं चूर्णयेत्तु तम् ॥
माषद्वयमितं तावच्छुण्ठीचूर्णञ्च मिश्रितम्।
जलेन भक्षयेन्नित्यं महाशूलाकुलो नरः ॥
असाध्यमपि यच्छूलं तदप्येतेन शाम्यति ॥"

इति कुष्माण्डक्षारः ॥ * ॥

अथ परिणामशूलस्य चिकित्सा।

"लङ्घनं प्रथमं कुर्य्याद्वमनं सविरेचनम्।
पक्तिशूलोपशान्त्यर्थं तत्र वाक्यैर्व्विधिर्यथा ॥
पीत्वा तु क्षीरमाकण्ठमदनक्वाथसंयुतम्।
काश्मारकस्य पौण्ड्रस्य कोशकारस्य वा रसम् ॥
कषायं वाथ निम्बस्य कटुतुम्बीरसं पचाम्।
यथाविधि वमेद्धीमान् पक्तिशूलार्द्दितो जनः ॥
त्रिवृता च तथा दन्त्यास्तैलेनैरण्डजेन वा।
दत्तं विरेचनं सद्यः पक्तिशूलं निवारयेत् ॥
विडङ्गं तण्डुलं व्योषं त्रिवृद्दन्तिसचित्रकम्।
सर्व्वाण्येतानि संहृत्य सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् ॥
गुड़ेन मोदकान् कृत्वा खादेदुष्णेन वारिणा।
जयेत्त्रिदोषजं शूलं परिणामसमुद्भवम् ॥"

इति विडङ्गादिमोदकः ॥ * ॥

"शामरतिलगुड़कल्कं पयसा संपिष्य यः पुमान्
लिह्यात्।
उग्रं परिणतिशूलं नश्यैत्तस्य त्रिरात्रेण ॥
पीतं शम्बूकजं भस्म जलेनोष्णेन तत्क्षणात्।
पक्तिजं नाशयत्येव शूलं विष्णुरिवासुरान् ॥
लौहपथ्याकणाशुण्ठीचूर्णं समधुसर्पिषा।
विलिहन् विनिहन्त्येव शूलं हि परिणामजम् ॥"

इति पथ्यादिलौहम् ॥ * ॥

"नारिकेलं सतोयञ्च लवणेन सुपूरितम् ।
मृदाववेष्टितं शुष्कं पक्वं गोमयवह्निना ॥
पिप्पल्या भक्षितं हन्ति शूलं हि परिणा-
मजम् ।
वातिकं पैत्तिकञ्चापि श्लैष्मिकं सान्निपातिकम् ॥"
इति नारिकेलक्षारः ॥*॥
अथान्नद्रवस्य चिकित्सा ।
"अन्नद्रवाख्ये शूले तु न तावत् स्वास्थ्यमश्नुते ।
यावत् कटुकपीताम्लमन्नं न च्छर्द्दयेद्द्रवम् ॥
जातमात्रे जरत्पित्ते शूलमाशु विनाशयेत् ।
पित्तार्त्ते वमनं शस्त्वा कफार्त्तेच विरेचनम् ॥
अन्नद्रवे च तत् कार्य्यं जरत्पित्ते यदीरितम् ।
जरत्पित्तेऽपि तत पथ्यं प्रोक्तमन्नद्रवे तु यत् ॥
आमपक्वाशये शुद्धे गच्छेदन्नद्रवः शमम् ।
माषेण्डरीं सलवणां सुस्विन्नां तैलपाचिताम् ॥
तादृशीं सर्पिषा खादेदन्नद्रवनिपीड़ितः ।
धात्रीफलभवं चूर्णमथचूर्णसमन्वितम् ।
यष्टीचूर्णेन वा युक्तं लिह्यात् क्षौद्रेण तद्गदे ।
श्यामकतण्डुलैः सिद्धं सिद्धं कोद्रवतण्डुलैः ॥
प्रियङ्गुतण्डुलैः सिद्धं पायसं सखितं हितम् ॥"
प्रियङ्गुः कङ्गुविशेषः ।
"गौड़िकं शौरणं कन्दं कुष्माण्डमपि भक्षयेत् ।
कलाययवशक्तून् वा शक्तून् वा लाजसंयुतान् ॥"
गौड़िकं गुड़ेन संस्कृतं पक्वान्नम् ॥ * ॥
"कुलत्थशक्तूनथवा दध्नाद्यादधिकं तथा ।
चणकानामथो शक्तून् कोद्रवस्यौदनं तथा ॥"
दधिकं दध्ना संस्कृतं भक्तम् । मट्ठेरि इति
लोके ॥ * ॥
"गोधूममण्डकं तत्र सर्पिषा गुड़संयुतम् ।
सखितं शीतदुग्धेन म्रदितं क्वथितं हितम् ॥
अन्नद्रवो दुश्चिकित्स्यो दुर्व्विज्ञेयो महागदः ।
तस्मात्तस्य प्रशमने परं यत्नं समाचरेत् ॥
अन्नद्रवे जरत्पित्ते वह्निर्मन्दो भवेद्यतः ।
तस्माद्भक्षपानानि मात्राहीनानि कारयेत् ॥*
कलाययवगोधूमाः श्यामाकाः कोरदूषकाः ।
राजमाषाश्च माषाश्च कुलत्थाः कङ्गुशालयः ॥
दधिशुभ्ररसं क्षीरं सर्पिर्गव्यं समाहिषम् ।
वास्तुकं कारवल्ली च कर्कोटकफलानि च ॥
वर्हिणो हरिणा मत्स्या रोहिताद्याः कपि-
ञ्जलाः ।
एतस्मिन्नामये शस्ता मता मुनिचिकित्सकैः ॥"
दधिशुभ्ररसं दध्ना शुभ्रः श्वेतो रसो यस्य तत्
क्षीरं दधियुक्तं क्षीरमित्यर्थः ॥ * ॥
"गुड़ामलकपथ्यानां चूर्णं प्रत्येकशः पलम् ।
त्रिपलं लौहकिट्टस्य तत् सर्व्वं मधुसर्पिषा ॥
समालोड्य समश्नीयादक्षमात्रं प्रमाणतः ।
आदिमध्यावसानेषु भोजनस्य निहन्ति तत् ॥
अन्नद्रवं जरत्पित्तमम्लपित्तं सुदारुणम् ।
परिणामसमुत्थञ्च शूलं संवत्सरोत्थितम् ॥"
इति गुड़मण्डूरम् ॥ * ॥
"व्यायामं मैथुनं मद्यं लवणं कटुकं रसम् ।
वेगरोधं शुचं क्रोधं विदलं शूलवान् त्यजेत् ॥"
इति शूलामपरिणामशूलान्नद्रवजरत्पित्ताधि-
कारः । इति भावप्रकाशः ॥ * ॥ अपि च ।
"अर्कपत्रं गृहीत्वा तु मन्दाग्नौ तापयेच्छनैः ।
निष्पीड्य पूरयेत् कर्णौ कर्णशूलं विनश्यति ॥ *॥
साञ्जनञ्च घृतं क्षौद्रं लवणं ताम्रभाजने ।
घृष्टं पयःसमायुक्तं चक्षुःशूलहरं परम् ॥"
साञ्जनञ्च इत्यत्र ताम्बूलञ्च इति वा पाठः ॥
"चूर्णमामलकस्यैव पीतं शूलहरं परम् ॥"
इति गारुड़े १८३।१९५।१९४ अध्यायाः ॥
किञ्च ।
"सामुद्रं सैन्धवं क्षारो राजिका लवणं विड़म् ।
कटु लौहरजः किट्टं त्रिवृत् शूरणकं समम् ॥
दधिगोमूत्रपयसा मन्दपावकपाचितम् ।
एतच्चाग्निवलं चूर्णं पिबेदुष्णेन वारिणा ॥
जीर्णे जीर्णे च भुञ्जीत माषादिष्टतभोजनम् ।
नाभिशूलं मूत्रशूलं गुल्मप्लीहभवञ्च यत् ॥
सर्व्वं शूलहरं चूर्णं जठरानलदीपनम् ।
परिणामसमुत्थस्य शूलस्य च हितं परम् ॥"
इति गारुड़े १९९ अध्यायः ॥
तस्य उपपापजत्वं यथा,—
"जलोदरयकृत्प्लीहशूलरोगव्रणानि च ।
श्वासाजीर्णज्वरच्छर्द्दिभ्रममोहगलग्रहाः ।
रक्तार्व्वुदविसर्पाद्या उपपापोद्भवा गदाः ॥"
इति शातातपीयकर्म्मविपाकः ॥
शूलकः, पुं, (शूल इव दुर्व्विनीतत्वात् । कन् ।)
दुर्व्वृत्तघोटकः । इति हलायुधः ॥ अत्र शूकल
इत्यपि पाठो दृश्यते । यथा,—
"विनीतस्तु साधुवाही दुर्व्विनीतस्तु शूलकः ।"
इति हेमचन्द्रः ॥
शूलग्रन्थिः, स्त्री, मालादूर्व्वा । इति राजनिर्घण्टः ॥
शूलघातनं, क्ली, (शूलं तद्रोगं घातयतीति ।
हन + णिच् + ल्युः ।) मण्डूरम् । इति शब्द-
चन्द्रिका ॥
शूलघ्नः, पुं, (शूलं हन्तीति । हन + टक् ।) तुम्बुरु-
वृक्षः । इति रत्नमाला ॥ शूलघातके, त्रि ॥
(यथा, सुश्रुते । १ । ४५ ।
"सर्पिर्मण्डस्तु मधुरः सरो योनिश्रोत्राक्षि-
शिरसां शूलघ्नः इति ॥")
शूलद्विट्, [ष्] पुं, (शूलस्य द्विट् शत्रुः ।) हिङ्गुः ।
इति रत्नमाला ॥
शूलधन्वा, [न्] पुं, (शूलो धनुर्यस्य ।) शिवः ।
इति शब्दरत्नावली ॥
शूलधरः, पुं, (शूलस्य धरः ।) शिवः । इति शब्द-
रत्नावली ॥
शूलधरा, स्त्री, (शूलस्य धरा ।) दुर्गा । इति
शब्दरत्नावली ॥
शूलधारिणी, स्त्री, (शूलं धरति या । धृ + णिनिः ।)
दुर्गा । यथा,—
"सती साध्वी भवप्रीता भवानी भवमोचनी ।
आर्य्या दुर्गा जया आद्या त्रिनेत्रा शूल-
धारिणी ॥"
इति तन्त्रसारधृतशतनामस्तोत्रम् ॥
शूलभृत्, [ज्] स्त्री, (शूलं धर्त्तीति । भृज् +
क्विप् ।) दुर्गा । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ महादेवे,
पुं ॥ (शूलभृत्-इत्येव क्वचित् पाठः ॥)
शूलनाशनं, क्ली, (शूलं नाशयतीति । नश + णिच्
+ ल्युः ।) सौवर्च्चललवणम् । इति हेमचन्द्रः ॥
शूलपत्री, स्त्री, (शूलवत् पत्रमस्याः । ङीष् ।)
शूलीतृणम् । इति राजनिर्घण्टः ॥
शूलशत्रुः, पुं, (शूलस्य शत्रुः ।) एरण्डवृक्षः । इति
शब्दचन्द्रिका ॥
शूलहन्त्री, स्त्री, (शूलं हन्तीति । हन + तृच् ।
ङीप् ।) यवानी । इति राजनिर्घण्टः ॥
शूलहृत्, पुं, (शूलं हरतीति । हृ + क्विप् ।)
हिङ्गुः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥
शूला, स्त्री, दुष्टवधार्थकीलकः । वेश्या । इति
विश्वः ॥
शूलाकृतं, त्रि, (शूलेन कृतम् । "शूलात् पाके ।"
५ । ४ । ६५ । इति डाच् ।) लौहादिशलाकया
विद्धं पक्वमांसम् । कावाव् इति पारस्यभाषा ।
तत्पर्य्यायः । भटित्रम् २ शूल्यम् ३ । इत्यमरः ॥
वासितारम् ४ । इति जटाधरः ॥ शूलिकम् ५ ।
इति शब्दचन्द्रिका ॥ अस्य गुणाः शूल्यशब्दे
द्रष्टव्याः ॥
शूलिकं, क्ली, (शूलः निमित्तत्वेनास्त्यस्येति । शूल
+ ठन् ।) शूलाकृतम् । इति शब्दचन्द्रिका ॥
शूलिकः, पुं, शशकः । इति हेमचन्द्रः ॥ (शूलः
अस्यास्तीति । ठन् ।) शूलयुक्ते, त्रि ॥
शूलिनः, पुं, भाण्डीरवृक्षः । इति शब्दमाला ॥
शूलिनी, स्त्री, (शूलं अस्या अस्तीति । शूल +
इनि । ङीप् ।) दुर्गा । यथा,—
"खड्गिनी शूलिनी घोरा गदिनी चक्रिणी
तथा ।
शङ्खिनी चापिनी बाणभुशुण्डीपरिघायुधा ॥"
इति देवीमाहात्म्यम् ॥
शूली, [न्] पुं, (शूलमस्यास्तीति । शूल + इनिः ।)
शिवः । इत्यमरः ॥ (यथा, महाभारते । ३ ।
८४ । ८४ ।
"ततो वटवटं गच्छेत् स्थानं देवस्य शूलिनः ॥")
शशः । इति भावप्रकाशः ॥ शूलास्त्रधारके
शूलरोगयुक्ते च त्रि । यथा,—
"वर्जयेद्विदलं शूली कुष्ठी मांसं क्षयी स्त्रियम् ।"
इति वैद्यकम् ॥
तस्य कारणं प्रायश्चित्तञ्च यथा,—
"शूली परोपतापेन जायते तत्प्रमार्ज्जकः ।
सोऽन्नदानं प्रकुर्व्वीत तथा रुद्रं जपेन्नरः ॥"
इति शातातपीयकर्म्मविपाकः ॥
शूली, स्त्री, तृणभेदः । तत्पर्य्यायः । शूलपत्री २
चशाखा ३ धूम्रमूलिका ४ जलाश्रया ५ मधु-
लता ६ पिच्छिला ७ महिषीप्रिया ८ । अस्या
गुणाः । पिच्छिलत्वम् । कोमलत्वम् । गुरुत्वम् ।
गौल्यत्वम् । बलप्रदत्वम् । पित्तदाहहरत्वम् ।
रुच्यत्वम् । दुग्धवृद्धिकारित्वञ्च । इति राज-
निर्घण्टः ॥

शूलोखा, स्त्री, सोमराजी। इति शब्दचन्द्रिका॥
शूल्यं, त्रि, (शूलेन संस्कृतम्। शूल+"शूलोखात् यत्।" ४।२।१७। इति यत्) शूलाकृतम्। इत्यमरः॥ काबाब् इति पारस्यभाषा। तत्पाकप्रकारो यथा,—'

"कालखण्डादिमांसानि ग्रथितानि शलाकया।
घृतं सलवणं दत्त्वा निर्धूमे दहने पचेत्।
तत्तु शूल्यमिति प्रोक्तं पाककर्म्मविचक्षणैः॥"

अस्य गुणाः।

"शूल्यं बल्यं सुधातुल्यं रुच्यं वह्निकरं लघु।
कफवातहरं हृद्यं किञ्चित् पित्तहरं हि तत्॥"
इति भावप्रकाशः॥

अस्य पर्य्यायः शूलाकृतशब्दे द्रष्टव्यः॥

शूल्यपाकः, पुं, (शूल्येन पाको यस्य।) शूलविद्धाङ्गारपक्वमांसादि। इति पाकराजेश्वरः॥ काबाब् इति पारस्यभाषा॥

शूष, प्रसवे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट्।) शूषति। इति दुर्गादासः॥

शृकालः, पुं, शृगालः। इति शब्दचन्द्रिका॥

शृगालः, पुं, (असृजति मायामिति। सृज+कालन्। पृषोदरादित्वात् साधुः।) पशुविशेषः। शेयाल् इति भाषा। तत्पर्य्यायः। शिवा २ भूरिमायः ३ गोमायुः ४ मृगधूर्त्तकः ५ वञ्चकः ६ क्रोष्टुः ७ फेरुः ८ फेरवः ९ जम्बुकः १०। इत्यमरः॥ सृगालः ११ जम्बूकः १२ मूत्रमत्तः १३ क्रुरवः १४ घोररासनः १५ वनश्वा १६ फेरः १७ मृगधूर्त्तः १८। इति शब्दरत्नावली॥ प्रालाद्गकः १९ गोमी २० कटखादकः २१। इति जटाधरः॥ शिवालुः २२ फेरण्डः २३ व्याघ्रनायकः २४। इति राजनिर्घण्टः॥ दैत्यभेदः। इति मेदिनी॥ वासुदेवः। निष्ठुरः। खलः। इति धरणिभिधानम्॥ भीरुः। इत्यनेकार्थकोषः॥ *॥

शृगालशब्दादीनां शुभाशुभसूचकत्वं यथा,—

"अनर्थहेतुर्गतिशब्दहीनः
सदा शृगालः खलु दृश्यमानः।
शस्ता हि वामा गतिरस्य शस्तो
वामो निनादो निशि यो बहूनाम्॥
हुवा हुवेति प्रथमं ततस्तु
टटेति दीर्घः सुतरां रवो यः।
स्याज्जम्बुकानां स नतः प्रशस्तस्तदन्यरूपः कथितः प्रदीप्तः॥
शृगालशब्दो भवने निशाया-
मुच्चाटनार्थं दिशि पश्चिमायाम्।
प्राच्यां भयायोत्तरतः शिवाय
भवत्यवाच्यां भयनाशनाय॥"
इति वसन्तराजशाकुनम्॥

शृगालकण्टकः, पुं, (शृगालरोधकः कण्टको यस्य।) क्षुपविशेषः। इति शब्दचन्द्रिका॥ शेयालकाटा इति भाषा॥

शृगालकोलिः, पुं, (शृगालप्रियः कोलिर्यस्य।) क्षुद्रकोलिवृक्षः। शेयाकुल् इति भाषा। तत्पर्य्यायः। कर्कन्धुः २। इति रत्नमाला॥ अपि च।

"अथ घोण्टा ३ गोपघोण्टा ४ वदरं ५ वादिरश्च ६ तत्।
वदरीसदृशे सूक्ष्मफले वृक्षे चतुष्टयम्॥"
इति शब्दरत्नावली॥

शृगालघण्टी, स्त्री, कोकिलाक्षः। इति राजनिर्घण्टः॥

शृगालजम्बुः, स्त्री, (शृगालस्य जम्बुरिव।) गोडुम्बः। घोण्टाफलम्। इति मेदिनी॥

शृगालविन्ना, स्त्री, (शृगालैर्विन्ना।) पृश्निपर्णी। इति राजनिर्घण्टः॥

शृगालिका, स्त्री, शृगालपत्नी। भासात् पलायनम्। इति मेदिनी॥ भूमिकुष्माण्डः। इति जटाधरः॥ क्षुद्रशृगालः। खेँकशेयाली। इति भाषा। तत्पर्य्यायः। लोमालिका २ दीप्तजिह्वा ३ किखिः ४ उल्कामुखी ५। इति त्रिकाण्डशेषः॥

शृगाली, स्त्री, विद्रवः। पलायनमिति यावत्। इति त्रिकाण्डशेषः॥ कोकिलाक्षः। विदारी। इति राजनिर्घण्टः॥ शृगालिका च॥

शृङ्खलः, त्रि, पुंसां कट्याभरणम्। गोट् इति भाषा॥ हस्त्यादीनां लौहमयपादबन्धोपकरणम्। आँडु इति हाँडुका इति च भाषा। तत्पर्य्यायः। अन्दुकः २ निगडः ३। इत्यमरः॥ शृङ्खला ४। इति तट्टीकायां भरतः॥ (यथा, रघुः।५।७२।

"शय्यां जहात्युभयपक्षविनीतनिद्राः
स्तम्बेरमा मुखरशृङ्खलकर्षिणस्ते॥")

लौहरज्जुः। शिकल वेड़ि इत्यादि भाषा॥ बन्धनम्। इति हेमचन्द्रः॥

शृङ्खलकः, पुं, (शृङ्खलं बन्धनमस्य। "शृङ्खलमस्य बन्धनं करभे।" ५।२।७९। इति कन्।) उष्ट्रः। इति राजनिर्घण्टः॥ (यथा, माघे। १२।७।

"लोलोत्थितास्तावदसह्यरंहसो
विशृङ्खलं शृङ्खलकाः प्रतस्थिरे॥")

पलायननिषेधाय पादेषु दारुमयपाशलाञ्छितकरभः। इत्यमरभरतौ॥ (स्वार्थे कन्।) शृङ्खलञ्च॥

शृङ्खला, स्त्री, निगडः। पुंस्कटीवस्त्रबन्धः। इति मेदिनी॥ अन्यत् शृङ्खलशब्दे द्रष्टव्यम्॥

शृङ्खलितः, त्रि, (शृङ्खलो जातोऽस्येति। इतच्।) शृङ्खलायुक्तः। निगडितः। इति धनञ्जयः॥

शृङ्खली, स्त्री, कोकिलाक्षः। इति राजनिर्घण्टः॥

शृङ्गं, क्ली, (शॄ हिंसे+"शृणातेर्ह्रस्वश्च।" उणा० १।१२५। इति गन्। धातोर्ह्रस्वत्वं किच्च नुट् च प्रत्ययस्य।) पर्व्वतोपरिभागः। तत्पर्य्यायः। कूटम् २ कूटः ३ शिखरम् ४। इत्यमरः॥ दन्तः ५ प्राग्भारः ६। इति जटाधरः॥ शैलाग्रम् ७। इति त्रिकाण्डशेषः॥ (यथा, रघुः। १३। २६।

"एतद्गिरेर्माल्यवतः पुरस्ता-
दाविर्भवत्यम्बरलेखि शृङ्गम्॥")

सानुः। इति नानार्थे अमरः॥ प्रभुत्वम्। चिह्नम्। क्रीडाजलयन्त्रम्। (यथा, रघुः।१६।७०।

"वर्णोदकैः काञ्चनशृङ्गमुक्तै-
स्तमायताक्ष्यः प्रणयादसिञ्चन्॥")

विषाणम्। (यथा, रघुः। १६। १३।

"वन्यैरिदानीं महिषैस्तदम्भः
शृङ्गाहतं क्रोशति दीर्घिकाणाम्॥")

उत्कर्षः। इति मेदिनी॥ (यथा, रघुः।९।६२।

"शृङ्गं स दृप्तविनयाधिकृतः परेषा-
मत्युच्छ्रितं न ममृषे न तु दीर्घमायुः॥")

ऊर्द्ध्वम्। (यथा, कुमारे। ७। ४०।

"विमानशृङ्गाण्यवगाहमानः
शशंस सेवावसरं सुरेभ्यः॥")

तीक्ष्णम्। पङ्कजम्। इति शब्दरत्नावली॥ (कोटिः। यथा, कुमारे। २। ६४।

"अथ सललितयोषित् भ्रूलताचारुशृङ्गं
रतिवलयपदाङ्के चापमासज्य कण्ठे॥"

स्तनम्। यथा, भागवते। ५। २। ११।

"किं सम्भृतं रुचिरयोर्द्विज शृङ्गयोस्ते
मध्ये कृशो वहसि यत्र दृशिः श्रिता मे॥"

"स्तनावालक्ष्याह। शृङ्गयोः स्तनयोः किं सम्भृतं किं पूर्णमस्ति मनोहरं किञ्चिदस्ति इत्येतावत् जानामि।" इति तट्टीकायां स्वामी॥*॥) महिषादिशृङ्गनिर्म्मितवाद्यविशेषः। शिङ्गा इति भाषा। यथा,—

"क्वचिद्वनाशाय मनो दधद्व्रजात्
प्रातः समुत्थाय वयस्यवत्सपान्।
प्रबोधयन् शृङ्गरवेण चारुणा
विनिर्गतो वत्सपुरःसरो हरिः॥"
इति श्रीभागवते १० स्कन्धे १२ अध्यायः॥

कामोद्रेकः। यथा, साहित्यदर्पणे। ३। २१०।

"शृङ्गं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः।
उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः शृङ्गार इष्यते॥"*॥

गोशृङ्गभङ्गप्रायश्चित्तं यथा। भवदेवभट्टधृतं यमवचनम्।

"अस्थिभङ्गं गवां कृत्वा लाङ्गूलच्छेदनं तथा।
पाटने कर्णशृङ्गाणां मासार्द्धन्तु यवान् पिबेत्॥"

अङ्गिराः।

"शृङ्गभङ्गेऽस्थिभङ्गे च चर्म्मनिर्म्मोचनेऽपि वा।
दशरात्रं चरेत् कृच्छ्रं सुस्था सा यदि गौर्भवेत्॥"

भवदेवभट्टहरिनाथोपाध्यायधृतं संवर्त्तवचनम्।

"शृङ्गभङ्गेऽस्थिभङ्गे च कटिभङ्गे तथैव च।
यदि जीवति षण्मासान् प्रायश्चित्तं न विद्यते॥"

अत्र षण्मासोत्तरमरणे तद्दोषशमनाय प्रायश्चित्तं नास्ति तदभ्यन्तरमरणे वधप्रायश्चित्तं भवति। एवञ्च शृङ्गभङ्गादिनिमित्तकपापे पृथक् प्रायश्चित्तं न कर्त्तव्यम्। वधप्रायश्चित्तेनैव गुरुणा प्रसङ्गात्तदपगमसिद्धेः। षण्मासोत्तरन्तु शृङ्गभङ्गादिनिमित्तकपूर्व्वोक्तसार्द्धयावकपानं प्राजापत्यं वा कर्त्तव्यम्। इति प्रायश्चित्ततत्त्वम्॥

शृङ्गः, पुं, (शॄ+गन्। उणा० १।१२५।) कूर्च्चशीर्षकवृक्षः। इति मेदिनी॥ मुनिभेदः। इति शब्दरत्नावली॥

शृङ्गकः, पुं, (शृङ्ग इव । कन् ।) जीवकवृक्षः । इति जटाधरः ॥

शृङ्गकन्दः, पुं, (शृङ्गवत् कन्दो यस्य ।) शृङ्गाटकः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शृङ्गजं, क्ली, (शृङ्गात् जायते इति । जन + डः ।) अगुरुः । इति रत्नमाला ॥ शरे, पुं । यथा । शृङ्गाच्छरो जायते । इति संक्षिप्तसारकारकपादः ॥ शृङ्गजाते, त्रि ॥

शृङ्गवेरं, क्ली, (शृङ्गस्येव वेरं शरीरं यस्य ।) आर्द्रकम् । इत्यमरः ॥ शुण्ठी । इति राजनिर्घण्टः ॥ (यथा, सुश्रुते । १ । ३८ ।
"पिप्पलीमरीचशृङ्गवेराणि त्रिकटुकम् ॥")
गुहचण्डालपुरम् । यथा,—
"मारुते गच्छ शीघ्रं त्वमयोध्यां भरतं प्रति ।
जानीहि कुशली कच्चित् जनो नृपतिमन्दिरे ॥
शृङ्गवेरपुरं गत्वा ब्रूहि मित्रं गुहं मम ।
जानकीलक्ष्मणोपेतमागतं मां निवेद्य ॥"
इत्यध्यात्मरामायणे लङ्काकाण्डे १४ अध्यायः ॥

शृङ्गवेरकं, क्ली, (शृङ्गवेरमेव । स्वार्थे कन् ।) आर्द्रकम् । इति हेमचन्द्रः ॥

शृङ्गवेराभमूलकः, पुं, (शृङ्गवेराभं मूलं यस्य । कन् ।) एरका । इति भावप्रकाशः ॥

शृङ्गमूलः, पुं, (शृङ्गवत् मूलं यस्य ।) शृङ्गाटकः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शृङ्गमोही, [न्] पुं, (शृङ्गाय मन्मथोद्रेकाय मोहयतीति । मुह + णिच् + णिनिः ।) चम्पकः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शृङ्गला, क्ली, (शृङ्गवत् लातीति । ला + कः ।) अजशृङ्गी । इति शब्दचन्द्रिका ॥

शृङ्गवान्, [त्] पुं, (शृङ्गाणि सन्ति अस्येति । शृङ्ग + मतुप् । मस्य वः ।) कुरुवर्षीयसीमापर्व्वतः । स तु दैर्घ्ये ८०००० अशीतिसहस्रयोजनानि । प्रस्थे २००० द्विसहस्रयोजनानि । विस्तारे तथैव । यथा,—
"हिमवद्धेमकूटश्च निषधश्चास्य दक्षिणे ।
नीलः श्वेतश्च शृङ्गी च उत्तरे वर्षपर्व्वताः ॥
लक्षप्रमाणौ द्वौ मध्यौ दशहीनास्तथा परे ।
सहस्रद्वितयोच्छ्रायास्तावद्विस्तारिणश्च ते ॥"
इति विष्णुपुराणे २ अंशे २ अध्यायः ॥
लक्षप्रमाणौ द्वौ प्राक्पश्चिमतो दैर्घ्येण निषधनीलौ । यद्यपि जम्बुद्वीपमण्डलाकारस्य लक्षयोजनप्रमाणत्वान्मध्यरेखायामेव मुख्यं लक्षप्रमाणत्वम् । निषधनीलौ तु तन्मध्यरेखातो दक्षिणतश्चोत्तरतश्च सप्तदशयोजनसहस्रान्तरितत्वात्तीषन्न्यूनौ । तथापि स्थूलदृष्ट्या लक्षप्रमाणावित्युक्तम् । अपरे तु हेमकूटादयो दशहीना दशदशन्यूनाः हेमकूटश्वेतौ नवतियोजनसहस्रप्रमाणौ हिमवच्छृङ्गिणावशीतियोजनप्रमाणौ । तदुक्तं वाराहे ।
"द्वीपस्य मण्डलीभावात् ह्रासवृद्धी प्रकीर्त्तिते ॥"
इति तट्टीकायां श्रीधरस्वामी ॥
भागवतमते दैर्घ्ये १०००० दशसहस्रयोजनानि प्रस्थे २००० द्विसहस्रयोजनानि । यथा । उत्तरोत्तरेणेलावृतं नीलः श्वेतः शृङ्गवान् इति त्रयो रम्यकहिरण्मयकुरूणां वर्षाणां मर्य्यादागिरयः प्रागायता उभयतः क्षारोदावधयो द्विसहस्रयोजनपृथव एकैकशः पूर्व्वस्मात् पूर्व्वस्मादुत्तरोत्तरो दशांशाधिकांशेन दैर्घ्य एव ह्रसन्ति । एवं दक्षिणेनेलावृतं निषधो हेमकूटो हिमालय इति प्रागायता यथा नीलादयः । अयुतयोजनोत्सेधा हरिवर्षकिंपुरुषभारतानां यथासंख्यम् ॥ इति श्रीभागवते ५ स्कन्धे १६ अध्यायः ॥

शृङ्गाटं, क्ली, (शृङ्गमुत्कर्षं अटतीति । अट् + अच् ।) चतुष्पथम् । इति हेमचन्द्रः धरणिश्च ॥

शृङ्गाटः, पुं, (शृङ्गवत् कण्टकं अटतीति । अट् + अच् ।) जलकण्टकः । इति भूरिप्रयोगत्रिकाण्डशेषौ ॥ स्वादुकण्टकः । इति शब्दरत्नावली ॥ कामाख्यादेशस्थपर्व्वतः । यथा,—
"दीपवत्याः पूर्व्वतस्तु शृङ्गाटो नाम पर्व्वतः ।
तत्र भर्गस्य देवस्य लिङ्गमेकं प्रतिष्ठितम् ॥
सरित्तु सिद्धा त्रिस्रोता दक्षिणोदधिगामिनी ।
शृङ्गाटकस्य सततं स्रवन्ती शाविपादतः ।
दक्षिणं सागरं याति भर्गस्य प्रियकारिणी ॥
सलिले यो नरः स्नाति त्रिस्रोतायां नरोत्तमः ।
शृङ्गाटकं समारुह्य पूजयेल्लिङ्गशङ्करम् ॥
स दीप्तकायः शुद्धात्मा प्राप्य कामानिहातुलान् ।
अन्ते भर्गगृहं याति ततो मोक्षमवाप्नुयात् ॥"
इति कालिकापुराणे ८२ अध्यायः ॥

शृङ्गाटकं, क्ली, (शृङ्गाटमेव । स्वार्थे कन् ।) चतुष्पथम् । इत्यमरः ॥ (यथा, रामायणे । २ । ७१ । ४५ ।
"तां शून्यशृङ्गाटकवेश्मरथ्यां
रजोऽरुणद्वारकपाटयन्त्राम् ॥")
जलज-लताफलविशेषः । पानिफल इति शिङ्गाड़ा इति च भाषा । तत्पर्य्यायः । जलसूचिः २ संघाटिका ३ वारिकण्टकः ४ । इति जटाधरः ॥ शृङ्गाटः ५ वारिकुब्जकः ६ । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ क्षीरशुक्लः ७ जलकण्टकः ८ । इति शब्दमाला ॥ शृङ्गाटकः ९ शृङ्गरुहः १० जलवल्ली ११ जलाशयः १२ शृङ्गकन्दः १३ शृङ्गमूलः १४ विषाणी १५ । अस्य गुणाः । शोणितपित्तहरत्वम् । कषुत्वम् । सरत्वम् । हृष्यतमत्वम् । विशेषात् त्रिदोषवातश्रमशोफनाशित्वम् । रुचिप्रदत्वम् । मेहनदार्ढ्यहेतुत्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥ अपि च । गुरुत्वम् । विष्टम्भित्वम् । शीतलत्वञ्च । इति राजवल्लभः ॥ खाद्यविशेषः । समूसा इति हिन्दी भाषा ॥ यथा, भावप्रकाशे ।
"शुष्कमांसं तनूकृत्य कर्त्तितं खण्डितं जले ।
लवङ्गं हिङ्गुसहितं लवणार्द्रकसंयुतम् ॥
एलाजीरकधन्याकनिम्बूरससमन्वितम् ॥
घृते सगन्धे तद्भृष्टं पूरणं प्रोच्यते बुधैः ॥
शृङ्गाटकं समितया कृतं पूरणपूरितम् ।
पुनः सर्पिषि संभृष्टं मांसं शृङ्गाटकं वदेत् ॥
मांसं शृङ्गाटकं रुच्यं बृंहणं बलकृत् गुरु ।
वातपित्तहरं वृष्यं कफघ्नं वीर्य्यवर्द्धनम् ॥"

शृङ्गाटकः, पुं, (शृङ्गाट एव । स्वार्थे कन् ।) जलकण्टकः । इति राजवल्लभः ॥

शृङ्गारं, क्ली, (शृङ्गं प्राधान्यं ऋच्छतीति । ऋ + अण् ।) लवङ्गम् । सिन्दूरम् । चूर्णम् । इति मेदिनी ॥ आर्द्रकम् । इति शब्दचन्द्रिका । कालागुरुः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शृङ्गारः, पुं, (शृङ्गं कामोद्रेकम् ऋच्छतीति । ऋ गतौ + "कर्म्मण्यण् ।" ३।२।१ । इत्यण् । यद्वा, शॄ हिंसायाम् + "भृङ्गारशृङ्गारौ ।" उणा० ३ । १३६ । इति आरन्प्रत्ययेन साधुः ।) सुरतः । नाट्यरसः । गजभूषणम् । इति मेदिनी ॥ * ॥ नाट्यरसस्य लक्षणं यथा,—
"पुंसः स्त्रियां स्त्रियाः पुंसि संयोगं प्रति या
स्पृहा ।
स शृङ्गार इति ख्यातो रतिक्रीड़ादिकारणम् ॥"
इत्यमरटीकायां भरतः ।
अपि च ।
"शृङ्गं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः ।
उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः शृङ्गार इष्यते ॥
परोढां वर्जयित्वात्र वेश्याञ्चाननुरागिणीम् ।
आलम्बनं नायिकाः स्युर्दक्षिणाद्याश्च नायकाः ॥
चन्द्रचन्दनरोलम्बरुताद्युद्दीपनं मतम् ।
भ्रूविक्षेपकटाक्षादिरनुभावः प्रकीर्त्तितः ॥
त्यक्त्वौग्र्यमरणालस्यजुगुप्साव्यभिचारिणः ।
स्थायी भावो रतिः श्यामवर्णोऽयं विष्णुदैवतः ॥"
स च द्विधा । विप्रलम्भः संभोगश्च । इति साहित्यदर्पणम् ॥ अन्यत् मैथुनशब्दे द्रष्टव्यम् ॥ * ॥ शृङ्गारादिभङ्गे नरको यथा,—
"शृङ्गाराहारनिद्राणां यश्च भङ्गं करोति च ।
स व्रजेत् कालसूत्रञ्च स्वामिनश्च विशेषतः ॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते प्रकृतिखण्डे ४२ अध्यायः ॥

शृङ्गारकं, क्ली, (शृङ्गारमेव । स्वार्थे कन् ।) सिन्दूरम् । इति राजनिर्घण्टः ॥ शृङ्गविशिष्टे, त्रि । शृङ्गशब्दात् "शृङ्गवृन्दाभ्यामारकन् वक्तव्यः ।" ५ । २ । १२२ । इत्यस्य वार्त्तिकोक्त्या आरकन्प्रत्ययेन निष्पन्नः । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥ स्वार्थे के शृङ्गारस्य तत्र पुं ॥

शृङ्गारभूषणं, क्ली, (शृङ्गारस्य भूषणम् ।) सिन्दूरम् । इति हेमचन्द्रः ॥

शृङ्गारयोनिः, पुं, (शृङ्गारे योनिरुत्पत्तिर्यस्य ।) कामदेवः । इति हलायुधहेमचन्द्रौ ॥

शृङ्गारी, [न्] पुं, (शृङ्गारोऽस्यास्तीति । इनिः ।) पूगः । गजः । सशृङ्गारः । सुवेशः । इति मेदिनी ॥ माणिक्यम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

शृङ्गिः, स्त्री, मत्स्यविशेषः । शिङ्गी माछ इति भाषा । यथा,—
"मद्गुरस्य प्रिया शृङ्गी शृङ्गिरित्यपि कुत्रचित् ।
स्यादप्रिया मद्गुरसीति च नामद्वयम् क्वचित् ॥"
इति शब्दरत्नावली ॥

शृङ्गिकं, क्ली, विषभेदः । इति हलायुधः ॥

शृङ्गिका, स्त्री, प्रतिविषा इति शब्दरत्नावली ॥

शृङ्गिणः, पुं, (शृङ्गे स्तः अस्येति । शृङ्ग + "ज्योत्स्नातमिस्रेति ।" ५ । २ । ११४ । इति इनच् ।) मेषः । इति हेमचन्द्रः ॥

शृङ्गिणी, स्त्री, (शृङ्गे स्तः अस्या इति । शृङ्ग + इनिः । ङीष् ।) गौः । इत्यमरः ॥ शिम्बी-वृक्षः । मल्लिकावृक्षः । ज्योतिष्मतीवृक्षः । इति मेदिनी ॥

शृङ्गी, [न्] पुं, (शृङ्ग + इनिः ।) हस्ती । वृक्षः । पर्व्वतः । (यथा, रघुः । १२ । ८० ।
"रुरोध रामं शृङ्गीव टङ्कच्छिन्नमनःशिलः ॥"
ऋषिविशेषः । स तु शमीकपुत्रः । अभिमन्युजः परिक्षित् अनेनाभिशप्तः ।) शृङ्गयुक्ते, त्रि । इति मेदिनी ॥ (यथा, रामायणे ।२।२५।२०।
"महिषाः शृङ्गिणो रौद्रा न ते द्रुह्यन्तु पुत्रक ॥")

शृङ्गी, स्त्री, (शृङ्गि + वा ङीष् ।) मत्स्यविशेषः । शिङ्गी इति शियल इति च भाषा । तत्पर्य्यायः । मद्गुरप्रिया २ । इत्यमरः मधुश्च ॥ मद्गुरी ३ । इति कलिङ्गः ॥ मद्गुरसी ४ अप्रिया ५ शृङ्गिः ६ । इति केचिदिति भरतः ॥ अस्या गुणाः । स्वादुरसत्वम् । स्निग्धत्वम् । बृंहणत्वम् । कफकोपनत्वम् । शोथपाण्डुमरुत्पित्त-नाशित्वञ्च । इति राजवल्लभः ॥ अतिविषा । ऋषभौषधम् । इत्यमरः ॥ कर्कटशृङ्गी । वृक्षः । वटः । विषम् । इति राजनिर्घण्टः ॥ अलङ्कार-सुवर्णम् । यथा । स्त्री शृङ्गी मल्लनखयोः । इति भरतधृतरत्नकोषः ॥

शृङ्गीकनकं, क्ली, (शृङ्गी मल्लनखयोः । तदेव कनकम् ।) अलङ्कारसुवर्णम् । इत्यमरः ॥ अलङ्कारस्य कुण्डलादेर्यत् सुवर्णं तत् शृङ्गी-कनकमुच्यते शृङ्गी अलङ्कारः तदर्थं कनकं शृङ्गीकनकं अलङ्कारसुवर्णस्य शृङ्गीति च नाम । स्त्री शृङ्गी मल्लनखयोः इति रत्नकोषः ॥ शृङ्गी कुसान्ता च शृङ्गति कर्णादीन् शृङ्गिः अगि रगि गते नाम्नीति इः निपातनात् निः प्राच्ची-न्यादीति ईपि शृङ्गी । इति भरतः ॥

शृणिः, स्त्री, अङ्कुशः । इत्यमरः ॥ "शृणाति मर्म्म-स्थानं शृणिः । शॄ स्वॄ णि हिंसने कॄगॄत्याम्ना-श्वाभ्वादेर्निरिति स्वादित्वात् स्वोर्निः निपातनादिह ह्रस्वः । नाम्नीति डृणिर्व्वा ।
'शृणिरङ्कुशवाची च काशश्च दर्व्यावाचकः ।'
इति शभेदात् तालव्यादिः । सरति मर्म्मस्थानं गच्छति सृणिर्हंस्यादिरित्यन्ये । क्रियाभिस्वच द्वयोरिति पाठः । इति मेदिनी ॥ आवचमम्ब-मवमत्य शृणिं शितामिति माघः । क्रिया-मिति प्रायिकत्वादुक्तमिति सुकूटः ।" इति भरतः ॥

शृतं, त्रि, (श्रा पाके + क्तः । "शृतं पाके ।" ६ । १ । २७ । इति शृभावः ।) पक्वक्षीराज्य-पयांसि । इत्यमरः ॥ शृतमन्नं विवर्ज्जयेदिति स्मार्त्तम् । इति भरतः ॥ क्वथितम् । इति शब्द-चन्द्रिका रत्नमाला च ॥*॥ अथ क्वाथविधिः ।
"पानीयं षोड़शगुणं क्षुण्णे द्रव्यपले क्षिपेत् ।
मृत्पात्रे क्वाथयेत् ग्राह्यमष्टमांशावशेषितम् ॥
कर्षादौ तु पलं यावत् दद्यात् षोड़शिकं जलम् ।
तज्जलं पाययेद्धीमान् कोष्णं मृद्वग्निसाधितम् ॥
शृतः क्वाथः कषायश्च निर्यूहः स निगद्यते ॥"
क्वाथपानमात्रामाह ।
"मात्रोत्तमा पलेन स्यात्त्रिभिरक्षैस्तु मध्यमा ।
जघन्या च पलार्द्धेन स्नेहक्वाथौषधेन च ॥"
तन्त्रान्तरे ।
"क्वाथद्रव्यपले वारि द्विरष्टगुणमिष्यते ।
चतुर्भागावशिष्टन्तु पेयं पलचतुष्टयम् ॥
दीप्तानलं महाकायं पाययेत् द्वाञ्जलिं जलम् ।
अन्ये त्वर्द्धं परित्यज्य प्रवृत्तास्तु चिकित्सकाः ॥
क्वाथस्यागमनिर्द्दिष्टमष्टभागावशेषितम् ।
पारम्पर्य्योपदेशेन द्रष्टव्याः पलद्वयम् ॥"
अष्टभागावशेषितस्य चतुर्भागावशिष्टापेक्षया गुरुत्वाद्दीप्तानलं महाकायं पलद्वयं पायये-न्मध्यमाग्निमल्पकायं पलमात्रं पाययेत् । मात्रो-त्तमा पलेन स्यादित्यादिवचनात् ।
"क्वाथे क्षिपेत् सितामंशैश्चतुर्थाष्टमषोड़शैः ।
वातपित्तकफातङ्के विपरीतं मधु स्मृतम् ॥
जीरकं गुग्गुलुं क्षारं लवणञ्च शिलाजतु ।
हिङ्गु त्रिकटुकञ्चैव क्वाथे शाणोन्मितं क्षिपेत् ॥
क्षीरं घृतं गुड़ं तैलं मूत्रं चान्यत् द्रवं तथा ।
कल्कं चूर्णादिकं क्वाथे निक्षिपेत् कर्षसम्मितम् ॥
तत्रोपविश्य विश्रान्तः प्रसन्नवदनेक्षणः ।
औषधं हेम रजतं मृद्भाजनपरिस्थितम् ॥
पिबेत् प्रसन्नहृदयः पीत्वा पात्रमधोमुखम् ।
विधायाचम्य सलिलं ताम्बूलाद्युपयोजयेत् ॥"
इति भावप्रकाशः ॥
अन्यच्च ।
"द्रव्यादापोत्थितात्तोये वह्निना परितापितात् ।
निःसृतो यो रसः पूतः स शृतः समुदाहृतः ॥"
इति वैद्यकम् ॥

शृध, व ऌ ङ ञ पर्द्दे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-आत्म०-अक०-सेट् । क्त्वावेट् ।) व, शर्त्-स्यति शिशृत्सति । ऌ, अशृधत् । ङ, शर्धते । ञ, शर्धित्वा शृद्धा । पर्द्दोऽपानोत्सर्गः । शृधु प्रहसने इति चुरादिपरस्मैपदीधातुरन्येन मन्यते । प्रहसनं विद्रवः । इति गोविन्दभट्टः । शर्द्धयति हृष्टं कुत्सितशब्दैर्वातः । इति रमा-नाथः । इति दुर्गादासः ॥

शृध, उ ञ क्लेदने । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-उभ०-अक०-सेट् । क्त्वावेट् ।) उ, शर्धित्वा शृद्धा । ञ, शर्धति शर्धते । क्लेदनमार्द्रभावः । इति दुर्गादासः ॥

शृधुः, पुं, (शृध + बाहुलकात् कुः ।) बुद्धिः । गुदम् । इति विश्वः ॥

शृधूः, पुं, (शृध + "कृतिशृध्योः कूः ।" उणा० १ । ६२ । इति कूः ।) कुत्सितः । अपानम् । इति संक्षिप्तसारोणादिवृत्तिः ॥

शॄ, णि हिंसने । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (क्र्या०-पर०-सक०-सेट् ।) णि, शृणाति । शीर्णः शीर्णिः । इति दुर्गादासः ॥

शेखरं, क्ली, लवङ्गम् । इति राजनिर्घण्टः ॥ शिग्रु-मूलम् । इति शब्दचन्द्रिका ॥

शेखरः, पुं, (शिखि गतौ + बाहुलकात् अरप्रत्य-येन साधुः ।) शिखावस्थितमाल्यम् । इत्य-मरः ॥ यथा,—
"शिखाविन्यस्तमालायामापीड़ः शेखरोऽपि च ॥"
इति शब्दरत्नावली ॥
(यथा, माघे । ११ । ४६ ।
"नवकरनिकरेण स्पष्टबन्धूकसून-
स्तवकरचितमेते शेखरं बिभ्रतीव ॥"
शिरोभूषणमात्रम् । यथा, कुमारे । ७ । ३२ ।
"बभूव भस्मैव सिताङ्गरागः
कपालमेवामलशेखरश्रीः ॥")
गीतस्य ध्रुवविशेषः । तल्लक्षणं यथा,—
"द्वादशाक्षरपादः स्यात् स चाख्यशुभकृत्
प्रभोः ।
हंसके च रसे वीरे गीयते शेखरो ध्रुवः ॥"
इति सङ्गीतदामोदरः ॥
लघुशेखरो यथा,—
"लघुर्गुरुर्भवेद्यत्र स भवेल्लघुशेखरः ॥"
इति तत्रैव ॥
(शृङ्गम् । यथा, कथासरित्सागरे ।२८।१८६।
"ततोऽस्तगिरिशेखरं व्रजति वासरेशे शनैः
सखीं पुनरुपागमप्रणयिनीं समापृच्छ्य ताम् ।
चिरं जनितविस्मया गगनमार्गमुत्पत्य सा
जगाम वसतिं निजां प्रसवमेव सोमप्रभा ॥")

शेखरी, स्त्री, वन्दा । इति शब्दरत्नावली ॥

शेपः, पुं, (शी + बाहुलकात् पः ।) शेफः । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, वाजसनेयसंहितायाम् । १९ । ८८ ।
"वस्तिर्न शेपो हरसा तरस्वी ॥")

शेपालः, पुं, (शी + वालन् । बाहुलकात् वकारस्य पकारः । इत्युणादिवृत्तौ उज्ज्वलदत्तः ।४।३८।) शैवालः । इति शब्दरत्नावली ॥

शेफः, पुं, शिश्नः । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, महाभारते । १० । ७ । ३८ ।
"विकटाः कालकण्ठास्ता बृहच्छेफाक्ष-
पिण्डकाः ॥")

शेफः, [स्] क्ली, (शेते रेतःपातानन्तरमिति । शी + "वृङ्शीङ्भ्यां रूपस्वाङ्गयोः पुट् च ।" उणा० ४ । २०० । इति असुन् । अत्र केचित् फ चेति पठन्ति इत्यतो फः ।) शिश्नः । इत्य-मरः ॥ शुक्रपाते सति शेते पतति इति शेफः । शीङ्धातोर्नाम्नीति फसुप्रत्ययः । शेफसशेपसौ शेफशेपौ शेवश्चेति पञ्च रूपाणि भवन्तीत्या-चार्य्याः । इति भरतः ॥ (यथा, बृहत्संहि-तायाम् । ६८ । ८ ।
"ऋज्वुरुतशेफसो लघुशिरालशिश्नाश्च
धनवन्तः ॥")

शेफालिः, स्त्री, (शेरते इति शेफाः शयनशालिन-स्ताद्दशा अलयो भृङ्गा यत्र ।) शेफालिका । इति शब्दरत्नावली ॥

शेफालिका, स्त्री, (शेफालि+स्वार्थे कन् ।) पुष्प-वृक्षविशेषः । शिउली इति भाषा ॥ (यथा,—
"शेफालिकां विदलितामवलोक्य तन्वी
प्राणान् कथञ्चिदपि धारयितुं प्रभुः सा ।
आकर्ण्य सम्प्रति रुतं चरणायुधानां
किं वा भविष्यति न वेद्मि तपस्विनी सा ॥"
इत्युद्भटः ॥)
तत्पर्य्यायः । सुवहा २ निर्गुण्डी ३ नीलिका ४ । इत्यमरः ॥ चत्वारि शेफालिकानाम्नि । श्वेतसुरसा नीलपुष्पायां शेफालिकामिति केचित् । शेफालिकादिद्वयं शेफालिकानाम्नि निर्गुण्ड्यादिद्वयं नीलपुष्पशेफालिकायामिति केचित् । इति तट्टीकायां भरतः ॥ शेफाली ५ मल्लिका ६ रजनीहासा ७ निशिपुष्पिका ८ । सा शुक्ला चेत् श्वेतसुरसा ९ भूतवेशी १० । इति शब्दरत्नावली ॥ शुक्लाङ्गी ११ शीतमञ्जरी १२ विजया १३ वातारिः १४ भूतकेशी १५ । अस्या गुणाः । कटुत्वम् । तिक्तत्वम् । उष्णत्वम् । रूक्षत्वम् । वातकफाङ्ग-सन्धिवातगुदवातादिदोषनाशित्वञ्च । इति राज-निर्घण्टः ॥

शेफाली, स्त्री, (शेफालि+कृदिकारादिति वा ङीष् ।) शेफालिका । इति शब्दरत्नावली ॥ नीलसिन्धुवारः । इति भावप्रकाशः ॥

शेमुषी, स्त्री, (शेते इति शेः मोहः । शी+विच् । तं मुष्णातीति । मुष स्तेये+मूलविभुजादित्वात् कः । गौरादित्वात् ङीष् । इत्यमरटीका ।) बुद्धिः । इत्यमरः । १ । ५ । १ ॥ (यथा, राज-तरङ्गिण्याम् । ३ । २०६ ।
"खिन्नस्य हि विपर्य्येति तन्वस्यापि शेमुषी ॥")

शेल, ऋ चालगत्योः । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट् ।) ऋ, अशिशेलत् । इति दुर्गा-दासः ॥

शेलुः, पुं, (शेलतीति । शेल गतौ+उः ।) बहु-वारकवृक्षः । इत्यमरः ॥ (यथा, सुश्रुते ।४।३८।
"विदार्य्यैरावतीशेलुशाल्मलीधवलाङ्कुराः ॥"
तत्फलमपि । यथा, मनुः । ५ । ६ ।
"शेलुं गव्यञ्च पेयूषं प्रयत्नेन विवर्ज्जयेत् ॥")

शेवः, पुं, (शेते रेतःपातानन्तरमिति । शी+"इण् शीङ्भ्यां वन् ।" उणा० १ । १५२ । इति वन् ।) मेढ्रः । अहिः । उन्नते, त्रि । इत्युणादिकोषः ॥ (क्ली, सुखम् । इति निघण्टुः । ३ । ६ ॥ त्रि, सुखकरम् । यथा, ऋग्वेदे । १ । ५८ । ६ ।
"मित्रं न शेवं दिव्याय जन्मने ॥"
"मित्रं न शेवं यथा सखा सुखकरो भवति तद्वत् सुखकरमित्यर्थः ।" इति तद्भाष्ये सायणः ॥)

शेवधिः, पुं, (शेवं सुखं धीयतेऽस्मिन्निति । धा+कः ।) निधिः । इत्यमरः ॥ (यथा, मनुः । २ । ११४ ।
"विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम् ।
असूयकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्य्यवत्तमा ॥")

शेवलं, क्ली, शैवालम् । इति शब्दरत्नावली ॥ (मनुष्यनाम । इति पाणिनिः । ५ । ३ । ८४ ॥)

शेवलिनी, स्त्री, (शेवलं शैवालमस्या अस्तीति । इनिः ।) नदी । इति राजनिर्घण्टः ॥

शेवालं, क्ली, (शेते जले इति । शी+"शीङो धुक्लक्वलञ्वालनः ।" उणा० ४ । ३८ । इति वालन् ।) शैवालम् । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, राजेन्द्रकर्णपूरे । २५ ।
"शङ्के पङ्के पतति यतते बालशेवालमूले
कूले लोलः किमपि कुरुते कर्म्म वैकुण्ठकूर्म्मः ॥")

शेवाली, स्त्री, आकाशमांसी । इति राजनिर्घण्टः ॥

शेषं, क्ली, (शिष्यते यदिति । शिष्+घञ् ।) प्रसादः । इति मेदिनी । षे, २८ ॥

शेषः, पुं, (शेषति सङ्कर्षतीति । शिष हिंसायाम् +अच् ।) सङ्कर्षणः । स तु बलदेवः । (यथा, माघे । २ । ६८ ।
"निशम्य ताः शेषगवीरभिधातुमधोक्षजः ।
शिष्याय बृहतां पत्युः प्रस्तावमादिशत् दृशा ॥"
शिष वधे+भावे घञ् ।) वधः । अनन्तः । स च सर्पराजः । इति मेदिनी ॥ (यथा, कुमारे । ३ । ३ ।
"आदिश्यते भूधरतामवेक्ष्य
कृष्णेन देहोद्वहनाय शेषः ॥")
तस्य ध्यानं यथा,—
"पञ्चाशद्वक्त्रसंयुक्तं चतुर्बाहुं किरीटिनम् ।
नवाम्रपल्लवाकारं पिङ्गलश्मश्रुलोचनम् ॥
पीताम्बरधरं देवं शङ्खचक्रगदाधरम् ।
कराग्रे दक्षिणे पद्मं गदां तस्याप्यधःकरे ।
दधानं सर्व्वलोकेशं सर्व्वाभरणभूषितम् ।
क्षीराब्धिमध्ये श्रीमन्तमनन्तं पूजयेत्ततः ॥"
इति भविष्यपुराणम् ॥
भक्तः । नागः । उक्तेतरवस्तु । इत्यजयपालः ॥ भगवतो द्वितीया मूर्त्तिः । यथा,—
"एका भगवतो मूर्त्तिर्ज्ञानरूपा शिवामला ।
वासुदेवाभिधाना सा गुणातीता सुनिष्कला ॥
द्वितीया कालसंज्ञान्या तामसी शेषसंज्ञिता ।
निहन्ति सकलांश्चान्ते वैष्णवी परमा तनुः ॥"
इति कौर्म्मे ४८ अध्यायः ॥
शेषशयनप्रकारो यथा,—
"अनन्तस्तत्र गत्वा तु यत्र क्षीरोदसागरः ।
तत्र स्वयं श्रिया युक्तं सुषुप्तं जनार्द्दनम् ॥
तस्योपधानमकरोदनन्तो दक्षिणां फणाम् ।
उत्तरां पादयोश्चक्रे उपधानं महाबलः ।
तावद्वृन्तं तदा चक्रे स शेषः पश्चिमां फणाम् ॥
स्वयन्तु वीजयामास शेषरूपी जनार्द्दनम् ॥
शङ्खं चक्रं नन्दकासिमिषुधी द्वे महाबलः ।
ऐशान्याञ्च फणया स दध्रे गरुडं तदा ॥
गदां पद्मञ्च शार्ङ्गञ्च तथैव विविधायुधम् ।
यानि चान्यानि तस्याग्नेय्या फणया दधौ ॥
एवं कृत्वा स्वकं कार्य्यं शयनीयं तदा हरेः ।
भूतभव्यजगन्नाथं परापरपतिं हरिम् ॥
दधार शिरसानन्तः स्वयमेव स्वकां तनुम् ।
एवं ब्रह्मदिनस्यैव प्रमाणेन निशां हरिः ।
सन्ध्याञ्च समधिप्राप्य शेते नारायणोऽव्ययः ॥"
इति कालिकापुराणे २७ अध्यायः ॥

शेषः, पुं, क्ली, (शिष्यते इति । शिष+घञ् ।) उपयुक्तेतरवस्तु । इति मेदिनी ॥ शेषोऽवशिष्ट-मवशिष्टता च शेषः शेषस्त्वित्यादि । अनन्ते तु शेषः पुंलिङ्ग एव शिष्टप्रयोगात् । उक्तादन्यः शेषः । यथा । शङ्खपद्मौ निधिवाचकौ पुंलिङ्गौ जलजे तूभयलिङ्गौ । इति सर्व्वानन्दः । इत्यमर-टीकायां भरतः ॥ * ॥ ऋणादिशेषरक्षणनिषेधो यथा,—
"ऋणशेषं चाग्निशेषं शत्रुशेषं तथैव च ।
पुनः पुनः प्रवर्द्धन्ते तस्मात् शेषं न कारयेत् ॥"
इति गारुडे ११६ अध्यायः ॥
(अवशिष्टे, त्रि । यथा, रघुः । ४ । ६४ ।
"अपनीतशिरस्त्राणाः शेषास्तं शरणं ययुः ॥"
तथाच रामायणे । २ । २६ । ३२ ।
"वन्दितव्यास्तथा नित्यं याः शेषा मम मातरः ॥")

शेषत्वं, क्ली, (शेषस्य भावः । शेष+त्व ।) उप-कारित्वम् । पारार्थ्यम् । परोद्देश्यप्रवृत्तिकत्वम् । यथा,—
"शेषत्वमुपकारित्वं द्रव्यादावाह वादरिः ।
पारार्थ्यं शेषता तच्च सर्व्वस्यास्तीति जैमिनिः ॥"
इत्यधिकरणमालायां माधवाचार्य्यः ॥
शेषस्य भावः । इति व्याकरणम् ॥

शेषरात्रिः, स्त्री, (शेषा अवशिष्टा रात्रिः ।) रात्रिशेषः । तत्पर्य्यायः । उषन्तः २ अपरात्रः ३ । इति शब्दरत्नावली ॥

शेषा, स्त्री, (शिष्यतेऽसौ । शिष्+घञ् । टाप् ।) स्वनिर्म्माल्यार्पणम् । इति मेदिनी ॥ (यथा, कुमारे । ३ । २२ ।
"तथेति शेषामिव भर्त्तुराज्ञा-
मादाय मूर्द्ध्ना मदनः प्रतस्थे ॥")

शैक्षः, पुं, (शिक्षामधीते इति । शिक्षा+अण् ।) प्राथमकल्पिकः । इत्यमरः ॥ द्वे प्रथमारब्ध-वेदाध्ययने । शिक्षणं शिक्षा । सेमन्तात् सरी-दिति अः । शिक्षा प्रथमोपदेशः तत्साहचर्य्यात् ग्रन्थोऽपि शिक्षा तामधीयते शैक्षाः । ढवे कादिति णः प्रथमं शिक्षणीयं कल्पं शास्त्रं अधीयते प्राथमकल्पिकाः । इति भरतः ॥ (शिक्षा शीलमस्येति । "छत्रादिभ्यो णः ।" ४ । ४ । ६२ । इति णः । शिक्षाशीले, त्रि ॥)

शैक्षिकः, त्रि, शिक्षाशास्त्रवेत्ता । शिक्षां वेत्ति अधीते वा इत्यर्थे ष्णिकप्रत्ययेन निष्पन्नः ॥

शैखरिकः, पुं, (शिखरे प्रायेण भवतीति । शिखर+ठञ् ।) अपामार्गः । इत्यमरः ॥

शैखरेयः, पुं, (शिखरे भवः । शिखर+ढञ् ।) अपामार्गः । इति भरतधृतरत्नकोषः ॥

शैत्यं, क्ली, (शीतस्य भावः । शीत+"वर्णदृढा-दिभ्यः ष्यञ् च ।" ५ । १ । १२३ । इति ष्यञ् ।)

शीतलत्वम् । यथा,—
"शैत्यं नाम गुणस्तवैव सहजः स्वाभाविकी स्वच्छता
किं ब्रूमः शुचितां भवन्ति शुचयः स्पर्शेन यस्यापरे ।
किं वान्यत् कथयामि ते स्तुतिपदं त्वं जीविनां जीवनं
त्वञ्चेन्नीचपथेन गच्छसि पयः कस्त्वां निषेद्धुं क्षमः ॥"
इति लक्ष्मणसेनः ॥

शैथिल्यं, क्ली, (शिथिल+भावे ष्यञ् ।) शिथिलत्वम् । शिथिलस्य भाव इत्यर्थे ष्यञ्प्रत्ययेन निष्पन्नम् ॥ (यथा, मार्कण्डेये । १०६ । २२ ।
"भवन्तु केशाः पलिताः वलयः सन्तु मे शुभे ।
शैथिल्यमेतु मे कायः क्षतक्षत्योऽस्मि मानिनि ॥")

शैनेयः, पुं, (शिनेर्गोत्रापत्यमिति । शिनि+"इतश्चानिञः ।"४।१।१२२। इति ढक् ।) सात्यकिः । स तु श्रीकृष्णसारथिः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ (यथा, भागवते । १ । ८ । ७ ।
"आमन्त्र्य पाण्डुपुत्त्रांश्च शैनेयोद्धवसंयुतः ।
द्वैपायनादिभिर्विप्रैः पूजितैः प्रतिपूजितः ॥")

शैरीयकः, पुं, नीलझिण्टी ॥ इति रत्नमाला ॥ शैरेयकोऽपि पाठः । इत्यमरादिश्च ॥

शैलं, क्ली, (शिलाया भवम् । शिला+अण् ।) शैलेयम् । तार्क्ष्यशैलम् । इति मेदिनी ॥ शिलाजतु । इति राजनिर्घण्टः ॥

शैलः, पुं, (शिलाः सन्त्यत्रेति । शिला+ज्योत्स्नादित्वादण् ।) पर्व्वतः । इत्यमरः ॥ (यथा, रघुः । ४ । ७१ ।
"ततो गौरीगुरुं शैलमारुरोहाश्वसाधनः ।
वर्द्धयन्निव तत्कूटानुद्धूतैर्धातुरेणुभिः ॥"
शिलासम्बन्धिनि, त्रि । यथा, भागवते । ११ । २७ । १२ ।
"शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती ।
मनोमयी दारुमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता ॥")

शैलकं, क्ली, (शैलमेव । स्वार्थे कन् ।) शैलजम् । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, वृहत्संहितायाम् । ७७ । १० ।
"हरीतकीशङ्खघनद्रवाम्बुभि-
र्गुडोत्पलैः शैलकमुस्तकान्वितैः ।
नवान्तपादादिविवर्द्धितैः क्रमात्
भवन्ति धूपा बहवो मनोहराः ॥")

शैलगन्धं, क्ली, (शैलस्य गन्धो यत्र ।) शावरचन्दनम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

शैलगर्भाह्वा, स्त्री, शिलावल्का । इति राजनिर्घण्टः ॥

शैलजं, क्ली, (शैले पर्व्वते जायते इति । जन+डः ।) सुगन्धिद्रव्यविशेषः । तत्पर्य्यायः । शीतशिवम् २ शैलेयम् ३ शिलासनम् ४ शिलेयम् ५ शीतलम् ६ शैलम् ७ कालानुसार्य्यम् ८ शैलकम् ९ वृद्धम् १० कालानुसारि ११ अश्मपुष्पम् १२ शैलाख्यम् १३ शिलापुष्पम् १४ वृद्धम् १५ । इति रत्नमाला ॥ अस्य गुणाः शैलेयशब्दे द्रष्टव्याः ॥ पर्व्वतजाते, त्रि ॥

शैलजा, स्त्री, (शैले जायतेऽसौ इति । जन+डः । टाप् ।) सैंहली । गजपिप्पली । इति राजनिर्घण्टः ॥ दुर्गा । हिमशैलजत्वात् । यथा,
"तत् श्रुत्वा भगवद्वाक्यं विस्मिता हिमशैलजा ।"
इति शिवरात्रिव्रतकथा ॥

शैलधन्वा, [न्] (पुं, (शैलवत् दृढं धनुरस्य । धनुषो धन्वनादेशः ।) महादेवः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

शैलधरः, पुं, (शैलस्य गोवर्द्धनस्य धरः ।) श्रीकृष्णः । इति धनञ्जयः ॥

शैलनिर्य्यासं, क्ली, (शैलस्य निर्य्यास इव रसो यत्र ।) शैलेयम् । इति केचित् ॥

शैलपत्त्रः, पुं, (शैलवत् सुगन्धि पत्त्रमस्य ।) विल्ववृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शैलबीजः, पुं, (शैलवत् कठिनं बीजमस्य ।) भल्लातकवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शैलभित्तिः, स्त्री, (शैलानां भित्तिर्भेदो यस्याः ।) टङ्कः । इति जटाधरः ॥

शैलराजः, पुं, (शैलानां राजा । "राजाहःसखिभ्यष्टच् ।"५।४।९१। इति टच् ।) हिमालयपर्व्वतः । (यथा, कुमारे । ७ । ६८ ।
"मूर्द्धानमालि क्षितिधारणोच्च-
मुच्चैस्तरं वक्ष्यति शैलराजः ॥")

शैलराजसुता, स्त्री, (शैलराजस्य सुता ।) दुर्गा । यथा,—
"अरूपा परभावत्वाद्बहुरूपा क्रियात्मिका ।
जाता शैलेन्द्रगेहे सा शैलराजसुता ततः ॥"
इति देवीपुराणे ४५ अध्यायः ॥
(गङ्गा । यथा, महाभारते । ३ । १०९ । ४ ।
"प्रयाचस्व महाबाहो शैलराजसुतां नदीम् ।
पतमानां सरिच्छ्रेष्ठां धारयिष्ये त्रिपिष्टपात् ॥")

शैलवल्कला, पुं, (शैलं शिला वल्कलं यस्याः ।) शिलावल्कला । इति राजनिर्घण्टः ॥

शैलशिविरं, क्ली, (शैलानां शिविरमिव । समुद्रगर्भे बहुपर्व्वतावस्थानत्वात्तथात्वम् ।) समुद्रः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

शैलसुता, स्त्री, (शैलस्य सुता ।) पार्व्वती । यथा,—
"मातः शैलसुतासपत्नि वसुधाशृङ्गारहारावलि
स्वर्गारोहणवैजयन्ति भवतीं भागीरथीं प्रार्थये ॥"
इति वाल्मिकीयगङ्गाष्टकम् ॥
ज्योतिष्मती । इति राजनिर्घण्टः ॥

शैलाख्यं, क्ली, (शैलमिति आख्या यस्य ।) इति रत्नमाला ॥

शैलाग्रं, क्ली, (शैलस्य अग्रम् ।) शिखरम् । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

शैलाजं, क्ली, (शैलादाजायते इति । आ+जन्+डः ।) शैलेयम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

शैलाटः, पुं, (शैले अटतीति । अट्+अच् ।) देवलः । सिंहः । शुक्लकाचः । किरातः । इति मेदिनी ॥

शैलादिः, पुं, नन्दी । यथा,—
"निमित्तानीदृशान् दृष्ट्वा भूतभव्यभवो विभुः ।
शैलादिं प्राह वचनं सस्मितं शशिशेखरः ॥
हर उवाच ।
नन्दिन् जयोऽद्य भावी नो न कथञ्चित् पराजयः ।
निमित्तानीह दृश्यन्ते शुभदानि गणेश्वर ॥
तच्छम्भुवचनं श्रुत्वा शैलादिः प्राह शङ्करम् ।
कः सन्देहो महादेव यत् त्वं जयसि शाश्वतान् ॥")
इति वामने ६५ अध्यायः ॥

शैलाली, [न्] पुं, (शिलालिना प्रोक्तं नटसूत्रमधीते इति । शिलालि+"पाराशर्य्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः ।"४ । ३ । ११० । इति णिनिः ।) नटः । इत्यमरः ॥

शैलिक्यः, पुं, सर्व्वलिङ्गी । इति जटाधरः ॥

शैली, स्त्री, (शीलस्येयमिति । शील+अण् । ङीष् ।) सङ्केतः । यथा,—
"प्रश्नशिः परिभाषा शैली सङ्केतसमयकाराश्च ।"
इति त्रिकाण्डशेषः ॥
"आचार्य्याणामियं शैली यत् सामान्येनाभिधाय विशेषेण विवृणोति ।" इति मुग्धबोधटीकायां दुर्गादासः ॥ (शिलाप्रतिमा । यथा, रामायणे । १ । ६४ । १२ ।
"यस्मात् लोभयसे रम्भे कामक्रोधजयैषिणम् ।
दशवर्षसहस्राणि शैली स्थास्यसि दुर्भगे ॥")

शैलूषः, पुं, (शिलूषस्यापत्यमिति । शिलूष+अण् ।) नटः । (यथा, माघे । १ । ६९ ।
"अथोपपत्तिं छलनापरोऽपरा-
मवाप्य शैलूष इवैष भूमिकाम् ॥")
विल्ववृक्षः । इत्यमरः ॥ धूर्त्तः । तालधारकः । इति शब्दरत्नावली ॥

शैलूषिकः, पुं, नटवृत्त्यन्वेषी । यथा,—
"वृत्त्यन्वेषी नटानान्तु स तु शैलूषिकः स्मृतः ॥"
इति ब्रह्मपुराणोक्तम् ॥
इति प्रायश्चित्तविवेकः ॥

शैलूषिकी, स्त्री, शैलूषिकजातिस्त्री । तद्गमनप्रायश्चित्तं यथा । संवर्त्तः ।
"नटीं शैलूषिकीं चैव रजकीं वेणुजीविनीम् ।
कामतस्तु यदा गच्छेच्चरेच्चान्द्रायणद्वयम् ॥"
ततश्चाज्ञानतश्चान्द्रायणम् । चान्द्रायणे धेनुष्टकम् । इति प्रायश्चित्ततत्त्वम् ॥

शैलेन्द्रः, पुं, (शैलानामिन्द्रः ।) हिमालयः । यथा,—
"दृदृशुस्ते ततो देवीमीषद्धासां व्यवस्थिताम् ।
सिंहस्योपरि शैलेन्द्रशृङ्गे महति काञ्चने ॥"
इति देवीमाहात्म्यम् ॥

शैलेन्द्रस्थः, पुं, (शैलेन्द्रे तिष्ठतीति । स्था+कः ।) भूर्जवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शैलेयं, क्ली, (शिलायां भवम् । शिला+ढक् ।) शैलजाख्यगन्धद्रव्यम् । शैलेयक इति रन्दू च इति छरिला इति च ख्यातम् । तत्पर्य्यायो यथा,—
"शैलेयं शैलजं शुद्धं शिलापुष्पं शिलोद्भवम् ।
स्थविरं पलितं जीर्णं तथा कालानुसार्य्यकम् ॥
शिलोत्थञ्च शिलादद्रुः शैलाजं गिरिपुष्पकम् ।
शिलाप्रसूनं सुभगं शैलकं षोडशाह्वयम् ॥"
अस्य गुणाः ।
"शैलेयं शिशिरं तिक्तं सुगन्धि कफपित्तजित् ।
दाहतृष्णावमिश्वासव्रणदोषविनाशनम् ॥"
इति राजनिर्घण्टः ॥
अपि च ।
"शैलेयन्तु शिलापुष्पं शुद्धं कालानुसार्य्यकम् ।
शैलेयं शीतलं हृद्यं कफपित्तहरं लघु ।
कण्डूकुष्ठाश्मरीदाहविषहृद्गुदरक्तहृत् ॥"
इति भावप्रकाशः ॥ * ॥
तालपर्णी । सैन्धवम् । इति मेदिनी ॥

शैलेयं, त्रि, (शैले भवम् । शैल+ढक् ।) शैलसम्भवम् । इति हेमचन्द्रः ॥ शिलातुल्यम् । इति शब्दरत्नावली ॥ (शिलेव । शिला+"शिलाया ढः ।" ५ । ३ । १०२ । इति योगविभागेन ढञ् ॥)

शैलेयः, पुं, (शैले भवः । शैल+ढक् ।) सिंहः । भ्रमरः । इति शब्दरत्नावली ॥

शैलेयी, स्त्री, (शैले भवा । शैल+ढक् । ङीष् ।) पार्व्वती । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

शैलोद्भवा, स्त्री, (शैलात् उद्भवो यस्याः ।) क्षुद्रपाषाणभेदी । इति राजनिर्घण्टः ॥

शैल्यं, त्रि, (शिला+ष्यञ् ।) शिलासम्बन्धि । शिलाया इदं इत्यर्थे ष्यञ्प्रत्ययेन निष्पन्नम् ॥

शैवं, क्ली, शैवालः । इति शब्दचन्द्रिका ॥ (शिवमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः । शिव+अण् ।) शिवपुराणम् । यथा,—
"अष्टादश पुराणानि पुराणज्ञाः प्रचक्षते ।
ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवञ्च शैवं भागवतं तथा ॥"
इति मलमासतत्त्वे विष्णुपुराणम् ॥
(शिवस्येदमिति । शिव+अण् ।) शिवसम्बन्धिनि, त्रि ॥ (यथा, कथासरित्सागरे ।४०।८६।
"प्रापदायतनं शैवं नद्यास्तस्यास्तटस्थितम् ॥")

शैवः, पुं, (शिव+अण् ।) वसुकः । धुस्तूरः । इति राजनिर्घण्टः ॥ आचारविशेषः । यथा,—
"अष्टाङ्गयोगसंयुक्तो यजेद्देवीं विधानतः ।
यावद्ध्यानं समाधिञ्च तावत् शैवः प्रचक्षते ॥"
इत्याचारभेदतन्त्रम् ॥ * ॥
शिवोपासकः । तत्पर्य्यायः । और्द्ध्वशौलिकः २ । इति त्रिकाण्डशेषः । एतद्भेदा यथा,—
"ततश्चकार भगवान् चातुर्व्वर्ण्यं हराश्रमे ।
शास्त्राणि चैषां मुख्यानि नानोक्तिविदितानि च ॥
आद्यं शैवं परिख्यातमन्यत् पाशुपतं मुने ! ।
तृतीयं कालवदनं चतुर्थञ्च कापालिनम् ॥
शैव आसीत् स्वयं शक्तिर्वशिष्ठस्य प्रियः सुतः ।
तस्य शिष्यो बभूवाथ गोपायन इति श्रुतः ॥
महापाशुपतश्चासीद्भारद्वाजस्तपोधनः ।
तस्य शिष्योऽप्यभूद्राजा ऋषभः सोमकेश्वरः ॥
कालास्यो भगवानासीदापस्तम्बस्तपोधनः ।
तस्य शिष्यो वक्रो वैश्यो नाम्ना क्राथेश्वरो मुने ॥
महाव्रती च धनदस्तस्य शिष्यश्च वीर्य्यवान् ।
कर्णोदर इति ख्यातो जात्या शूद्रो महातपाः ॥
एवं स भगवान् ब्रह्मा पूजनाय शिवस्य च ।
कृत्वा तु चातुराश्रम्यं स्वमेव भवनं गतः ॥"
इति वामने ६ अध्यायः ॥ * ॥
तस्य स्वरूपं यथा । आयान्तं शैवमालोक्याह ।
"श्रीमानसावेति जटालमौलि-
र्व्याघ्रत्वगालम्बितमध्यभागः ।
विभूतिसंभूषितभास्वदङ्गो
रुद्राक्षमालाकलितोर्द्ध्वदेहः ॥"
इति विद्वन्मोदतरङ्गिण्यां २ तरङ्गः ॥

शैवलं, क्ली, (शेते इति । शी+"शीङो धुक्लक्वलञ्वालनः ।"उणा० ४ । ३८ । इति वलञ् ।) पद्मकाष्ठम् । शैवाले, पुं । इति मेदिनी ॥ (यथा, कुमारे । ५ । ९ ।
"न षट्पदश्रेणिभिरेव पङ्कजं
सशैवलासङ्गमपि प्रकाशते ॥"
विन्ध्यसमीपदक्षिणभागवर्त्तिगिरिविशेषः । यथा, रामायणे । ७ । ८८ । १३ ।
"शैवलस्योत्तरे पार्श्वे ददर्श सुमहत् सरः ॥")

शैवलिनी, स्त्री, (शैवलमस्या अस्तीति । इनिः ।) नदी । इत्यमरः ॥

शैवालं,, क्ली, (शी+बाहुलकात् वालञ् ।) जलजद्रव्यविशेषः । शेयाला इति भाषा । (यथा, महाभारते । ४ । ६० । १७ ।
"प्रावर्त्तयन्नदीं घोरां शोणितोदां तरङ्गिणीम् ।
केशशैवालशाद्वलां युगान्ते कालनिर्म्मिताम् ॥")
तत्पर्य्यायः । जलनीली २ शैवलः ३ । इत्यमरः ॥ शैपालम् ४ शैवलम् ५ शीवलम् ६ शैपालः ७ जलनीलिका ८ । इति वाचस्पतिः ॥ जलनीलः ९ । इति मुकुटादयः । इति भरतः ॥ सेवालम् १० शैवालम् ११ वारिचामरः १२ शैवलम् १३ सलिलकुन्तलम् १४ छटपर्णी १५ अम्बुतालम् १६ । इति शब्दरत्नावली ॥ अरकः १७ जलकेशः १८ कावारम् १९ । इति हारावली ॥ जलजम् २० । अस्य गुणाः । शीतलत्वम् । स्निग्धत्वम् । सन्तापव्रणनाशित्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥

शैव्यः, पुं, श्रीकृष्णस्य घोटकविशेषः । यथा,—
"तुरगाः शैव्यसुग्रीवमेघपुष्पबलाहकाः ।"
इति त्रिकाण्डशेषः ॥
(यथा च महाभारते । १ । २२१ । ३ ।
"रथेन काञ्चनाङ्गेन कल्पितेन यथाविधि ।
शैव्यसुग्रीवयुक्तेन किङ्किणीजालमालिना ॥")
पाण्डवसेनापतिविशेषः । यथा,—
"धृष्टकेतुश्चेकितानः काशीराजश्च वीर्य्यवान् ।
पुरुजित् कुन्तिभोजश्च शैव्यश्च नरपुङ्गवः ॥"
इति श्रीभगवद्गीतायाम् । १ । ५ ।
(स्त्री, प्रतीपस्य राज्ञः पत्नी । इति महाभारतम् । १ । ९५ ।४४॥ सगरस्य राज्ञः पत्नी । सा तु असमञ्जसो जननी । यथा, महाभारते । ३ । १०७ । ३९ ।
"असमञ्जा इति ख्यातः सगरस्य सुतोऽभवत् ।
यं शैव्या जनयामास पौराणां स हि दारकान् ।
गलेषु क्रोशतो गृह्य नद्यां चिक्षेप दुर्ब्बलान् ॥")
शिवसम्बन्धिनि, त्रि ॥

शैशवं, क्ली, शिशोर्भावः । (शिशु+"इगन्ताच्च लघुपूर्व्वात् ।" ५ । १ । १३१ । इति अण् ।) बाल्यम् । इत्यमरः ॥ यथा,
"शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥"
इति रघुवंशे १ सर्गः ॥

शैशिरः, पुं, (शिशिरे ऋतौ भवः । शिशिर+अण् ।) श्यामचटकः । इति राजनिर्घण्टः ॥ शिशिरसम्बन्धिनि, त्रि । यथा । श्रुतिः । तपस्तपस्यौ शैशिरावृतुः । इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥

शैष्योपाध्यायिका, स्त्री, (शिष्योपाध्यायानां भावः कर्म्म वा । शिष्योपाध्याय+"द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च ।"५ । १ । १३३ । इति वुञ् ।) शिष्याध्यापना । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥

शो, य निशाने । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (दिवा०-पर०-सक०-अनिट् ।) निशानमिहाणूकरणम् । य, श्यति शस्त्रं शूरः । इति दुर्गादासः ॥

शोकः, पुं, (शुच+घञ् ।) चित्तविकलता । इष्टवियोगानुचिन्तनम् । इति नागोजीभट्टः ॥ बन्धादिवियोगजनिता मनःपीड़ा । इति भावप्रकाशः ॥ तत्पर्य्यायः । मन्युः २ शुक् ३ । इत्यमरः ॥ शुचा ४ निःसमः ५ । इति शब्दरत्नावली ॥ शोचनम् ६ खेदः ७ । इति हेमचन्द्रः ॥
तन्निवारणहेतुर्यथा,—
"भरतं पतितं दीनं शोचन्तं सुभृशं तदा ।
शोचमानं वशिष्ठस्तु वारयामास हेतुभिः ॥
शोचमानास्तु सस्नेहा बान्धवाः सुहृदस्तथा ।
पातयन्ति गतं स्वर्गादश्रुपातेन राघव ॥
भूरिद्युम्नो गतः स्वर्गं पुण्येन पतितः पुनः ।
शोचितो बन्धुवर्गैश्च ततस्नेहं परित्यज ॥"
इति वह्निपुराणम् ॥
अपि च । अथ शोकापनोदनम् । याज्ञवल्क्यः ।
"कृतोदकान् समुत्तीर्णान् मृदुशाद्वलसंस्थि-
तान् ।
स्नातानपवदेयुस्तानितिहासैः पुरातनैः ॥
मानुष्ये कदलीस्तम्भे निःसारे सारमार्गणम् ।
यः करोति स संमूढ़ो जलबुद्बुदसन्निभे ॥
पञ्चधा संभृतः कायो यदि पञ्चत्वमागतः ।
कर्म्मभिः स्वशरीरोत्थैस्तत्र का परिवेदना ॥
गन्त्री वसुमती नाशमुदधिर्दैवतानि च ।
फेनप्रख्यः कथं नाशं मर्त्यलोको न यास्यति ॥
श्लेष्माश्रु बान्धवैर्मुक्तं प्रेतो भुङ्क्ते यतोऽवशः ।
अतो न रोदितव्यं हि क्रिया कार्य्या विधानतः ॥"
इति शुद्धितत्त्वम् ॥

अन्यच्च ।

श्रीभगवानुवाच ।

"अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्य्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥
अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्य्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥
देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्व्वस्य भारत ।
तस्मात् सर्व्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥"

इति श्रीभगवद्गीतायाम् २ अध्यायः ॥

शोकनाशः, पुं, (शोकस्य नाशो यस्मात् ।) अशोकवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शोकहारी, स्त्री, (शोकं हरतीति । हृ + अण् । ङीप् ।) वनवर्व्वरिका । इति राजनिर्घण्टः ॥

शोकारिः, पुं, (शोकस्य अरिः ।) कदम्बवृक्षः । इति शब्दचन्द्रिका ॥

शोचनं, क्ली, (शुच् + ल्युट् ।) शोकः । इति हेमचन्द्रः ॥ (शोचतीति । शुच शोके + "जुच-ङ्क्रम्यदन्द्रम्यसृगृधीति ।" ३ । २ । १५० । इति युच् । शोकशीले, त्रि ॥)

शोचना, स्त्री, शोकोत्पादना । शोचि णिङन्तात् ङनप्रत्ययान्तादातुप्रत्ययनिष्पन्ना । इति संक्षिप्तसारव्याकरणम् ॥

शोचिः, [स्] क्ली, (शुच्यत्यनेनेति । शुच + "अर्च्चिशुचिहुसृपीति ।" उणा० २।१०६। इति इसिः ।) प्रभा । इत्यमरः ॥ (यथा, भागवते ।३।१५।२६।
"तद्विश्वगुर्व्वधिकृतं भुवनैकवन्द्यं
दिव्यं विचित्रविबुधाग्र्यविमानशोचिः ॥")

शोचिष्केशः, पुं, (शोचींषि केशा इव यस्य । नियतं समासेऽनुत्तरपदस्थस्येति षत्वम् ।) अग्निः । चित्रकवृक्षः । इत्यमरः ॥ (क्वचित् वाच्यलिङ्गोऽपि । यथा, ऋग्वेदे । १ । ४५ । ६ ।
"शोचिष्केशं पुरुप्रियाग्ने हव्याय वोढवे ।"
"शोचिष्केशं दीप्तरूपकेशोपेतम् ।" इति तद्भाष्ये सायणः ॥)

शोच्यकः, त्रि, अवरः । क्षुद्रः । इति शब्दमाला ॥

शोटीर्य्यं, क्ली, वीर्य्यम् । इति शब्दरत्नावली ॥

शोठः, त्रि, मूर्खः । अलसः । इति मेदिनी ॥ धूर्त्तः । नीचः । पापरतः । इति शब्दरत्नावली ॥

शोण, ऋ गतौ । वर्णे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-वर्णे अक०-सेट् ।) वर्णश्चेह रक्तीभावः । शोणति सूर्य्यः सन्ध्यायाम् । इति दुर्गादासः ॥

शोणं, क्ली, (शोणतीति । शोण वर्णे + पचाद्यच् ।) सिन्दूरम् । रुधिरम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

शोणः, पुं, (शोण वर्णे + अच् ।) रक्तोत्पलतुल्यवर्णः । तत्पर्य्यायः । कोकनदच्छविः २ । इत्यमरः ॥ रक्तोत्पलनिभः ३ । इति शब्दरत्नावली ॥ रक्तोत्पलाभः ४ । इति जटाधरः ॥ (यथा, भागवते । १ । ११ । २ ।
"स उच्चकाशे धवलोदरोदरो-
ऽप्युरुक्रमस्याधरशोणशोणिमा ॥")
नदविशेषः । तत्पर्य्यायः । हिरण्यवाहुः । इत्यमरः ॥ हिरण्यवाहः ३ । इति भरतः ॥ स तु अमरकण्टकदेशात् पाटलिपुत्रे गङ्गायां मिलितः । तज्जलगुणाः । रुचिदत्वम् । सन्तापशोषापहत्वम् । पथ्यत्वम् । वह्निकरत्वम् । बलक्षीणाङ्गवृद्धिप्रदत्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥ अग्निः । श्योनाकः । लोहिताश्वः । कोकनदच्छाये, त्रि । इति मेदिनी ॥ समुद्रविशेषः । इति धरणिः ॥ रक्तेक्षुः । श्योनाकप्रभेदः । इति राजनिर्घण्टः ॥ (रक्तवर्णे, त्रि । यथा, कुमारे । १ । ७ ।
"व्यस्ताम्बरा धातुरसेन यत्र
भूर्ज्जत्वचः कुञ्जरबिन्दुशोणाः ॥")

शोणकः, पुं, (शोण एव । स्वार्थे कन् ।) श्योनाकवृक्षः । इत्यमरः ॥

शोणझिण्टिका, स्त्री, (शोणा रक्तवर्णा झिण्टिका ।) रक्तसैरेयः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शोणझिण्टी, स्त्री, (शोणा रक्तवर्णा झिण्टी ।) कुरुवकः । कण्टकिनी । इति राजनिर्घण्टः ॥

शोणपत्रः, पुं, (शोणवत् रक्तानि पत्राणि यस्य ।) रक्तपुनर्नवा । इति राजनिर्घण्टः ॥

शोणपद्मकं, क्ली, (शोणं रक्तवर्णं पद्मकम् ।) रक्तकमलम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

शोणपुष्पकः, पुं, (शोणं पुष्पं यस्य । कन् ।) कोविदारः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शोणपुष्पी, स्त्री, (शोणवत् पुष्पमस्याः । ङीष् ।) सिन्दूरपुष्पी । इति राजनिर्घण्टः ॥

शोणरत्नं, क्ली, (शोणं रक्तवर्णं रत्नम् ।) पद्मरागमणिः । इत्यमरः ॥

शोणा, स्त्री, (शोणो रक्तवर्णोऽस्त्यस्या इति । अच् । टाप् ।) शोणवर्णयुक्ता । इति जटाधरः ॥

शोणाकः, पुं, वृक्षविशेषः । शोणा इति ख्यातः । तत्पर्य्यायः । शोनाकः २ शुकनासः ३ ऋक्षः ४ दीर्घवृन्तः ५ कुटन्नटः ६ अरलुः ७ स्वर्णवल्कलः ८ भ्रान्तशात्रवः ९ । इति शब्दमाला ॥ मण्डूकपर्णः १० पत्रोर्णः ११ नटः १२ कट्वङ्गः १३ टुण्टुकः १४ शोणकः १५ अरलः १६ । इत्यमरः ॥ श्योनाकः १७ अरटुः १८ । इति तट्टीका ॥

शोणितं, क्ली, (शोण वर्णे + क्तः ।) शोण + जातार्थे इतच् वा ।) रक्तम् । इत्यमरः ॥ (यथा, मनुः । ११ । २०८ ।
"शोणितं यावतः पांशून् संगृह्णाति महीतले ।
तावन्त्यब्दसहस्राणि तत्कर्त्ता नरके वसेत् ॥")
तस्योत्पत्तिर्गर्भस्थस्य पञ्चमे मासि भवति । इति सुखबोधः ॥ कुङ्कुमम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

शोणितचन्दनं, क्ली, (शोणितवत् चन्दनम् ।) रक्तचन्दनम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

शोणितपुरं, क्ली, (शोणिताख्यं पुरम् ।) बाणपुरम् । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

शोणिताह्वयं, क्ली, (शोणितं आह्वयो यस्य ।) कुङ्कुमम् । इति रत्नमाला ॥

शोणितोत्पलं, क्ली (शोणितवत् रक्तमुत्पलम् ।) रक्तोत्पलम् । इति केचित् ॥

शोणी, स्त्री, (शोण + "शोणात् प्राचाम् ।" ४ । १ । ४३ । इति ङीष् ।) रक्तोत्पलतुल्यवर्णा स्त्री । इति व्याकरणं जटाधरश्च ॥ (वड़वा । इति काशिका ॥)

शोणोपलः, पुं, (शोणो रक्तवर्ण उपलः ।) माणिक्यम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

शोथः, पुं, (शवतीति । शु गतौ + बाहुलकात् थन् । इत्युणादिवृत्तौ उज्ज्वलः । २ । ४ ।) रोगविशेषः । तत्पर्य्यायः । शोफः २ श्वयथुः ३ । इत्यमरः ॥ शोथकः ४ । इति शब्दरत्नावली ॥ अथ शोथाधिकारः । तत्र शोथस्य विप्रकृष्टं निदानमाह ।
"शुद्ध्यामयाभक्तकृशाबलानां
क्षाराम्लतीक्ष्णोष्णगुरूपसेवा ।
दध्याममृच्छाकविरोधिदुष्ट-
गरोपसृष्टान्ननिषेवणञ्च ॥
अर्शांस्यचेष्टा वपुषो ह्यशुद्धि-
र्मर्म्मोपघातो विषमा प्रसूतिः ।
मिथ्योपचारः प्रतिकर्म्मणाञ्च
निजस्य हेतुः श्वयथोः प्रदिष्टः ॥"

शुद्धिर्व्वमनविरेकादि । आमयाः पाण्डुरोगादयः । अभक्तं अभोजनम् । आमः अपक्वो भुक्तस्य रसः । दुष्टगरोपसृष्टान्नं दुष्टो यो गरः संयोगजं विषं तेन उपसृष्टमन्नम् । वपुषो ह्यशुद्धिः शोधनार्हस्य वपुषोऽशोधनम् । मर्म्मोपघातः दोषकृत एव ज्ञेयः । बाह्यहेतुकृतस्तु मर्म्मोपघातः आगन्तुजशोथहेतुरेव । विषमा प्रसूतिः आमगर्भपतनादिना । प्रतिकर्म्मणां वमनादीनां पञ्चकर्म्मणाम् । मिथ्योपचारः असम्यक्करणम् । श्वयथोः शोथस्य । निजस्य आत्मीयस्य । सन्निकृष्टस्य हेतोर्व्वातादेः । हेतुः रूक्षोष्णमधुरादि ॥ * ॥ सन्निकृष्टनिदानमाह ।
"दोषैः पृथक् द्वयैः सर्व्वैरभिघाताद्विषादपि ।
सर्व्वो हेतुविशेषैस्तु रूपभेदो नवात्मकः ॥" * ॥
संप्राप्तिपूर्व्वकं सामान्यं लक्षणमाह ।
"रक्तपित्तकफान् वायुर्दुष्टो दुष्टान् बहिःशिराः ।
नीत्वा रुद्धगतिस्तैर्हि कुर्य्यात् त्वङ्मांससंश्रयम् ।
उत्सेधं संहतं शोथं तमाहुर्निचयादतः ॥
सगौरवं स्यादनवस्थितत्वं
सोत्सेधमुष्माथ शिरातनुत्वम् ।
सलोमहर्षश्च विवर्णता च
सामान्यलिङ्गं श्वयथोः प्रदिष्टम् ॥"

उत्सेधः उन्नतत्वं किं विशिष्टमुत्सेधं अतः पूर्व्वोक्तान्निचयात् रक्तपित्तकफवातानां समुदायात् । संहतं घनम् । तमुत्सेधं शोथमाहुरित्यन्वयः ॥ * ॥ तस्य शोथस्य किं स्यादित्या-

काङ्क्षायामाह । अनवस्थितत्वं स्यादनियता स्थितिः स्यादित्यर्थः । चिकित्साव्यतिरेकेणापि निवृत्तिः । तथानवस्थितत्वं सगौरवं स्यात् । गौरवमप्यनवस्थितं स्यात् । अथ च सोत्सेधं स्यात् । उन्नतत्वमप्यनवस्थितं स्यादित्यर्थः ॥ * ॥ वातिकं शोथमाह ।

"चरस्तनुत्वक्परुषोऽरुणोऽसितः
प्रसुप्तिहर्षार्त्तियुतो निमित्ततः ।
प्रशाम्यति प्रोन्नमेति पीडितो
दिवा बली स्यात् श्वयथुः समीरणात् ॥"

चरः सञ्चारी । प्रसुप्तिः स्पर्शाज्ञता । हर्षोऽत्र झिनिझिनी रोमाञ्चो वा । अर्त्तिः पीडा । एतद्युतः । दिवावलीविकृतिविषमसमवाया-रम्भात् । अतएवोक्तं चरकेण ।

"स्नेहोष्णमर्द्दनाद्यैः प्रशाम्येत् स च वातिकः । यश्चाप्यरुणवर्णः स्यात् शोथो नक्तं प्रशाम्यति ॥" * ॥

पैत्तिकमाह ।

"मृदुः सगन्धोऽसितपीतरागवान्
भ्रमज्वरस्वेदतृषामदान्वितः ।
य उष्यते स्पर्शरुगक्षिरागकृत्
स पित्तशोथो भृशदाहपाकवान् ॥"

उष्यते सन्तप्यते । भृशदाहपाकवान् भृश-दाहो यः पाकस्तद्युक्तः ॥ * ॥ श्लैष्मिकमाह ।

"गुरुः स्थिरः पाण्डुररोचकान्वितः
प्रसेकनिद्रा वमिवह्निमान्द्यकृत् ।
स कृच्छ्रजन्मप्रशमो निपीडितो
न चोन्नमेद्रात्रिबलीकफात्मकः ॥" * ॥

द्वन्द्वजमाह ।

"निदानाकृतिसंसर्गात् ज्ञेयः शोथो द्विदोषजः ॥"

सान्निपातिकमाह ।

"सर्व्वाकृतिः सन्निपाताच्छोथो व्यामिश्रलक्षणः ।"

व्यामिश्रलक्षण इत्युक्ते सर्व्वाकृतिरिति उक्त-वातजादिशोथसकललक्षणनियमार्थम् ॥ * ॥ अभिघातजमाह ।

"अभिघातेन शस्त्रादिच्छेदभेदक्षतादिभिः ।
हिमानिलोदध्यनिलैर्भल्लातकपिकच्छुजैः ॥
रसैः शूकैश्च संस्पर्शात् श्वयथुः स्याद्विसर्पवान् ।
भृशोष्मा लोहिताभासः प्रायशः पित्तलक्षणः ॥"

छेदः खड्गादिना भेदः पाषाणादिना क्षतं शरादिना नाडीव्रणादि च । आदिशब्देन लगुडप्रहारादि गृह्यते । भल्लातजैः रसैः । कपि-कच्छुजैः शूकैः । विसर्पवान् प्रसरणशीलः । पित्तलक्षणः पैत्तिकशोथलक्षणः ॥ * ॥ विषज-माह ।

"विषजः सविषप्राणिपरिसर्पणमूत्रणात् ।
दंष्ट्रादन्तनखाघातादविषप्राणिनामपि ॥
विण्मूत्रशुक्रोपहतमलवद्वस्त्रसंकटात् ।
विषवृक्षानिलस्पर्शात् गरयोगावचूर्णनात् ॥
मृदुश्चलोऽवलम्बी च शीघ्रो बहुरुजाकरः ।"

परिसर्पणं शरीरोपरि सञ्चरणम् । दंष्ट्राविशुची-कृता दन्तावली । चोँह इति लोके । दन्ता अग्रे भवाः । अविषप्राणिनामपीत्यनेन दंष्ट्रा दन्तनखानां स्वभावादेव सविषत्वमुक्तम् । किन्तु सर्पादिविषं मारकं भवति । अविषप्राणिनां दंष्ट्रादिविषं शोथव्यथादिकरं भवतीति विशेषः । विण्मूत्रेत्यादिविड़ाद्युपहतं मलिनञ्च यद्वस्त्रम् । तथा सङ्करः संमार्ज्जनीनिःक्षिप्तो धूल्यादिः तेषां सम्पर्कात् । गरयोगावचूर्णनात् गरः संयोगजं विषं तस्य योगो यस्य तेन वस्तुनावधूननात् । अवलम्बी लम्बमानः । अयमप्यागन्तुजस्तथापि सामान्यागन्तुजशोथचिकित्सातोऽस्य विशिष्ट-चिकित्साभिधानात् पृथक् पठितः ॥ * ॥ यत्र स्थिता दोषा यत्र शोथं कुर्व्वन्ति तदाह ।

"दोषाः श्वयथुमूर्द्ध्वं हि कुर्व्वन्त्यामाशये स्थिताः ।
पित्ताशयस्था मध्ये तु वर्च्चःस्थानगतास्त्वधः ॥
कृत्स्नं देहमनुप्राप्ताः कुर्य्युः सर्व्वसरं तथा ।"

ऊर्द्ध्वं उरःप्रभृत्यूर्द्ध्वम् । मध्ये पक्वाशयमध्ये । अधः पक्वाशयादधः ॥ * ॥ उपद्रवानाह ।

"श्वासं पिपासा छर्द्दिश्च दौर्ब्बल्यं ज्वर एव च ।
यस्य चान्ने रुचिर्नास्ति शोथिनं तं विवर्जयेत् ॥"

कष्टसाध्यत्वादिकमाह ।

"यो मध्यदेशे श्वयथुः स कष्टः सर्व्वगश्च यः ।
अर्द्धाङ्गेऽरिष्टभूतश्च यश्चोर्द्ध्वं परिसर्पति ॥"

मध्यदेशे उरःपक्वाशयमध्ये । सर्व्वगः सकल-शरीरभवः । सर्व्वज इति पाठे सान्निपातिकः । अर्द्धाङ्गे अर्द्धनारीश्वराकारे । यश्चोर्द्ध्वं परिसर्प-तीति पुरुषविषयम् । तथा च ।

"ऊर्द्ध्वगामी नरं पन्नगामधोगामी मुखात्
स्त्रियम् ।
उभयं वस्तिसंजातः शोथो हन्ति न संशयः ॥"

ऊर्द्ध्वगामी मुखगामी । तथा च तन्त्रान्तरे ।

"पादप्रवृत्तः श्वयथुर्नृणां यः प्राप्नुयान्मुखम् ।"

इति ॥ स न सिध्यतीति शेषः । अधोगामी पादगामी । तथा च तन्त्रान्तरे ।

"स्त्रीणां वक्त्रात् पदं याति वस्तिजश्च न सिध्यति ।"
इति ॥

उभयं नरं नारीञ्च । अपरञ्च ।

"अनन्योपद्रवकृतः शोथः पादसमुत्थितः ।
पुरुषं हन्ति वा नारीं मुखजो वस्तिजो द्वयम् ॥"

अयमर्थः । पादसमुत्थितः पादाभ्यामुत्थितो मुखगामीति यावत् शोथः पुरुषं हन्ति स किं विशिष्टः अनन्योपद्रवकृतः । शोथादन्ये व्याधयो-ऽतीसारग्रहणीपाण्डुप्रभृतयः तेषामुपद्रवैः कृतः । तदुपद्रवेण जात इत्यर्थः । न अन्योपद्रवकृतः । अनन्योपद्रवकृतः । अर्थात् स्वहेतुभिरेव जातः । शोथव्याधिरेव तु पुनर्मुखजः मुखाज्जातः पद-गामीति यावत् नारीं हन्ति । सोऽप्यनन्योप-द्रवकृत एव । वस्तिजः द्वयं पुरुषं नारीञ्च हन्ति सोऽप्यनन्योपद्रवकृत एव ॥ * ॥ अथ शोथस्य चिकित्सा ।

"शुण्ठीपुनर्नवैरण्डपञ्चमूलीशृतं जलम् ।
वातिके श्वयथौ शस्तं पानाहारपरिग्रहे ॥ * ॥
पटोलत्रिफलारिष्टदार्व्वीक्वाथः सगुग्गुलुः ।
हन्ति पित्तकृतं शोथं तृष्णाज्वरसमन्वितम् ॥ * ॥
स्नुक्क्षीरभाविताः कृष्णा पथ्या मूत्रेण वा युताः ।
योजिताः शमयन्त्याशु शोथं श्लेष्मसमुत्थितम् ॥
मिश्रे मिश्रक्रियां कुर्य्यात् सर्व्वजे सर्व्वमेव हि ।
बिल्वपत्ररसं पूतं शोषणं त्रिभवे पिबेत् ॥ * ॥
शोथे त्वागन्तुजे कुर्य्यात् सेकलेपादिशीतलम् ।
भल्लातकवा हरेच्छोथं सतिला कृष्णमृत्तिका ।
महिष्या नवनीतञ्च लेपाद्दुग्धतिलान्वितम् ॥"

अत्र दुग्धं महिष्या एव । यत आह ।

"महिषीक्षीरसंपिष्टैर्नवनीतसमन्वितैः ।
तिलैर्लिप्तः समं याति शोथो भल्लातकोत्थितः ॥
यष्टिदुग्धतिलैर्लेपो नवनीतेन संयुतः ।
शोथमारुष्करं हन्ति चूर्णैः शालदलस्य च ।"

विषजशोथचिकित्सा तु विषचिकित्सायां द्रष्टव्या ॥ अथ सामान्यचिकित्सा ।

"पथ्या निशा भार्ग्यमृताग्निदार्व्वी-
पुनर्नवा दारु महौषधञ्च ।
क्वाथं प्रपीयोदरपाणिपाद-
मुखागतं हन्त्यचिरेण शोथम् ॥"
इति पथ्यादिक्वाथः ॥ * ॥

"फलत्रिकोद्भवं क्वाथं गोमूत्रेणैव साधयेत् ।
वातश्लेष्मभवं शोथं हन्याद्वृषणसम्भवम् ॥ * ॥
वृश्चीवदेवद्रुमनागरेण
दन्ती त्रिवृच्चूर्णकपूर्णकेर्व्वा ।
दुग्धं सुसिद्धं विधिना निपीतं
शीतं परं शोथहरं भिषग्भिः ॥"

वृश्चीवः वर्षाभूः ॥ * ॥

"केशस्तथार्कवर्षाभूनिम्बक्वाथेन शोथहृत् ।
गोमूत्रेणापि कुर्व्वीत सुखोष्णेनावसेचनम् ॥ * ॥
पुनर्नवा दारु शुण्ठी शिग्रुः सिद्धार्थकस्तथा ।
अम्लपिष्टः सुखोष्णोऽयं प्रलेपः सर्व्वशोथहृत् ॥
गुडार्द्रकं वा गुडनागरं वा
गुडाभयां वा गुडपिप्पलीं वा ।
कर्षाभिवृद्ध्या त्रिपलप्रमाणं
खादेन्नरः पक्षमथापि मासम् ॥
शोथप्रतिश्यायगलास्यरोगान्
सश्वासकासारुचिपीनसादीन् ।
जीर्णज्वरार्शोग्रहणीविकारान्
हन्यात् तथान्यान् कफवातरोगान् ॥ * ॥
विश्वं गुडेन तुल्यं वृश्चीवरसानुपानमभ्यस्तम् ।
विनिहन्ति सर्व्वशोथं घनवृन्दं चण्डवायुरिव ॥ * ॥
कणानागरजं चूर्णं सगुडं शोथनाशनम् ।
आमाजीर्णप्रशमनं शूलघ्नं वस्तिशोधनम् ॥ * ॥
गुडात् पलत्रयं ग्राह्यं शृङ्गवेरं पलत्रयम् ।
शृङ्गवेरसमा कृष्णा लोहविट्तिलयोः पलम् ॥
चूर्णमेतत् समुद्दिष्टं सर्व्वश्वयथुनाशनम् ॥"
इति गुडादिवटिका ॥

"मानकक्वाथकल्काभ्यां घृतप्रस्थं विपाचयेत् ।
एकजं द्वन्द्वजं शोथं त्रिदोषञ्च व्यपोहति ॥"
इति मानकघृतम् ॥

"शुष्कमूलकवर्षाभूदारुरास्नामहौषधैः ।
पक्वमभ्यञ्जनात्तैलं समूलं श्वयथुं हरेत् ॥"

शुष्कमूलकतैलम् । इति शोथाधिकारः । इति भावप्रकाशः ॥

शोथकः, पुं, (शोथ एव । स्वार्थे कन् ।) शोथः । इति शब्दरत्नावली ॥

शोथघ्नी, स्त्री, (शोथं हन्तीति । हन् + "अमनुष्यकर्त्तृके च ।" ३।२।५३ । इति टक् ।) पुनर्नवा । इत्यमरः । शालपर्णी । इति राजनिर्घण्टः ॥ शोथनाशके, त्रि ॥

शोथजित्, पुं, (शोथं जयतीति । जि + क्विप् ।) भल्लातकः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

शोथजिह्मः, पुं, (शोथे जिह्मः कुटिल इव । तन्नाशकत्वात् ।) पुनर्नवा । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

शोथहृत्, पुं, (शोथं हरति नाशयतीति । हृ + क्विप् ।) भल्लातकः । इति रत्नमाला ॥ शोथहारके, त्रि ॥

शोधनं, क्ली, (शोधयतीति । शुध + णिच् + ल्युः ।) कङ्कुष्ठम् । इति राजनिर्घण्टः ॥ (शुध + भावे ल्युट् ।) शौचम् । इति शुधधात्वर्थदर्शनात् ॥ (प्रायश्चित्तम् । यथा, मनुः । ११ । १६१ ।
"अभोज्यमन्नं नात्तव्यमात्मनः शुद्धिमिच्छता ।
अज्ञानभुक्तन्तूत्तार्य्यं शोध्यं वाप्याशु शोधनैः ॥")
विष्ठा । इति शब्दचन्द्रिका ॥ कासीसम् । इति राजनिर्घण्टः ॥ विहिताविहितमासादिविचारणम् । यथा,—
"सूर्य्यग्रहणकालेन समानो नास्ति कश्चन ।
तत्र यद्यत् कृतं सर्व्वमनन्तफलदं भवेत् ।
न मासतिथिवारादिशोधनं सूर्य्यपर्व्वणि ॥"
इति मलमासतत्त्वम् ॥ * ॥
धातुनिर्द्दोषीकरणम् । यथा,—
"पत्तलीकृतपत्राणि हेम्नो वह्नौ प्रतापयेत् ।
निषिञ्चेत्तप्ततप्तानि तैलतक्रे च काञ्जिके ॥
गोमूत्रे च कुलत्थानां कषाये तु त्रिधा त्रिधा ।
एवं हेम्नः परेषाञ्च धातूनां शोधनं भवेत् ॥" * ॥
व्रणादिपरिष्करणम् । यथा,—
"व्रणस्य त्वविशुद्धस्य क्वाथः शुद्धिकरः परः ।
पटोलनिम्बपत्रस्य सर्व्वत्रैव प्रयुज्यते ॥
वातिके दशमूलानां क्षीरिणां पैत्तिके व्रणे ।
आरग्वधादेः कफजे कषायः शोधनं हितम् ॥"
अपि च ।
"अष्टमेनांशशेषेण चतुर्थेनार्द्धकेन वा ।
अथवा क्वाथनेनैव सिद्धमुष्णोदकं वदेत् ।
श्लेष्मामवातमेदोघ्नं वस्तिशोधनदीपनम् ॥"
इति च भावप्रकाशः ॥ * ॥
लिखितपत्रादेः प्रमाणीकरणम् । यथा । लेख्यशोधनमाह कात्यायनः ।
"स्वहस्तलेख्यसन्देहे जीवतो वा मृतस्य च ।
तत् स्वहस्तकृतैरन्यैः पत्रैस्तल्लेख्यनिर्णयः ॥" * ॥
विरुद्धलिखितस्य शुद्धीकरणम् । यथा । तच्छोधनमाह बृहस्पतिः ।
"न्यूनाधिकं पूर्व्वपक्षं तावद्वादी विशोधयेत् ।
न दद्यादुत्तरं यावत् प्रत्यर्थी सभ्यसन्निधौ ॥"
कात्यायनः ।
"शोधयेत् पूर्व्वपक्षन्तु यावन्नोत्तरदर्शनम् ।
उत्तरेणावरुद्धस्य निवृत्तं शोधनं भवेत् ॥"
इति व्यवहारतत्त्वम् ॥ * ॥
अङ्कस्य हरणम् । यथा,—
"भाज्याद्धरः शुध्यति यद्गुणः स्यादन्त्यात् फलं तत् खलु भागहारे ।
समेन केनाप्यपवर्त्त्य हारभाज्यौ भजेद्वा सति सम्भवे तु ॥"
इति लीलावती ॥
अन्यत् शुद्धिशब्दे द्रष्टव्यम् ॥

शोधनः, पुं, (शोधयतीति । शुध + णिच् + ल्युः ।) निम्बूकः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शोधनः, त्रि, (शोधयतीति । शुध + णिच् + ल्युः ।) शुद्धिकारकः । यथा,—
"महासान्तपनः शुद्ध्यै तप्तकृच्छ्रस्तु पावनः ।
जलोपवासकृच्छ्रस्तु ब्रह्मकूर्चस्तु शोधनः ॥"
इति प्रायश्चित्ततत्त्वधृतविश्वामित्रवचनम् ॥
यथा च ।
"तैलसैन्धवयष्ट्याह्वनिम्बपत्रनिशायुगैः ।
त्रिवृद्घनयुतैः पिष्टैः प्रलेपो व्रणशोधनः ॥"
इति भावप्रकाशः ॥

शोधनी, स्त्री, (शोध्यतेऽनयेति । शुध शौचे + णिच् + करणे ल्युट् । ङीप् ।) संमार्ज्जनी । इत्यमरः ॥ ताम्रवल्ली । नीली । इति राजनिर्घण्टः ॥

शोधनीबीजं, क्ली, (शोधन्या बीजमिव बीजं यस्य ।) जयपालः । इति राजनिर्घण्टः ॥

शोधनीयः, त्रि, शोधितव्यः । शोध्यः । शुधधातोरनीयप्रत्ययेन निष्पन्नः ॥ (यथा, कथासरित्सागरे । ५३ । १४१ ।
"भुक्तं मया तदन्नं यत् शोधनीयं मयापि तत् ॥")

शोधितं, त्रि, (शोध्यते स्मेति । शुध + णिच् + क्तः ।) मक्षिकाद्यपनयनेन कृतशोधनव्यञ्जनादि । तत्पर्य्यायः । संमृष्टम् २ । इत्यमरभरतौ ॥ अपि च ।
"व्यञ्जने केशकीटादिशुद्धे संमृष्टशोधिते ॥"
इति शब्दरत्नावली ॥
अपनीतमलम् । तत्पर्य्यायः । निर्णिक्तम् २ मृष्टम् ३ निःशोध्यम् ४ अनवस्करम् ५ । इत्यमरभरतौ ॥

शोफः, पुं, (शु गतौ । बाहुलकात् फः ।) शोथः । इत्यमरः ॥ (यथा, सुश्रुते । १ । १४ ।
"तद्दुष्टं शोणितमनिर्ह्रियमाणं कण्डूशोफरागदाहपाकवेदना जनयेत् ॥")

शोफघ्नी, स्त्री, (शोफं हन्तीति । हन + टक् । ङीप् ।) शालपर्णी । रक्तपुनर्नवा । इति राजनिर्घण्टः ॥

शोफनाशनः, पुं, (शोफं नाशयतीति । नश + णिच् + ल्युः ।) नीलवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥ शोथनाशके, त्रि ॥

शोफहृत्, पुं, (शोफं हरतीति । हृ + क्विप् ।) भल्लातकः । इति भावप्रकाशः ॥ शोथहारके, त्रि ॥

शोभनं, क्ली, (शोभते इति । शुभ + ल्युः ।) पद्मम् । इति शब्दचन्द्रिका ॥ (शुभ + भावे ल्युट् । शुभम् । यथा, भागवते ।५।१६।२१।
"अहो वतैषां किमकारि शोभनं
प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः ॥")

शोभनः, पुं, (शुभ + ल्युः ।) ग्रहः । इति धरणिः ॥ विष्कम्भादिसप्तविंशतियोगान्तर्गतपञ्चमयोगः । इति मेदिनी ॥ तत्र जातफलम् ।
"स्याच्छोभनः शोभनयोगजन्मा
दक्षो विपक्षप्रतिलब्धवित्तः ।
सदुत्तरश्चारुवपुः सुधीरः
संमानयुक्तो मनुजः प्रवीणः ॥"
इति कोष्ठीप्रदीपः ॥

शोभनः, त्रि, (शोभते इति । शुभ + ल्युः ।) सुन्दरः । इति मेदिनी ॥ अस्य पर्य्यायो मनोज्ञशब्दे द्रष्टव्यः ॥

शोभनकः, पुं, (शोभते इति । शुभ + ल्युः । ततः कन् ।) शोभाञ्जनवृक्षः । इति शब्दचन्द्रिका ॥ शोभनशब्दकारके, त्रि ॥

शोभना, स्त्री, (शोभन + टाप् ।) हरिद्रा । गोरोचना । इति राजनिर्घण्टः ॥

शोभा, स्त्री, शोभन्तेऽनया । (शुभ + करणे घञ् । टाप् ।) दीप्तिः । तत्पर्य्यायः । कान्तिः २ द्युतिः ३ छविः ४ । इत्यमरः ॥ द्युती ५ छवी ६ । इति तट्टीका ॥ अभिख्या ७ । इति जटाधरः ॥ शुभा ८ भाः ९ श्रीः १० भासा ११ भा १२ । इति शब्दरत्नावली ॥ सुषमा १३ छाया १४ विभा १५ इक्प्रिया १६ भानम् १७ भातिः १८ कमा १९ रमा २० । इति राजनिर्घण्टः ॥ तस्या लक्षणम् ।
"सा शोभा रूपभोगाद्यैर्यत् स्यादङ्गविभूषणम् ।
शोभैव कान्तिराख्याता मन्मथाप्यायनोज्ज्वला ॥"
इत्युज्ज्वलनीलमणिः ॥ * ॥
गोपीविशेषः । यथा,—
"इष्टत्वं शोभया गोप्या युक्तश्चन्दनकानने ।
सद्यो मत्कन्दमात्रेण तिरोधानं कृतं त्वया ॥
शोभा देहं परित्यज्य जगाम चन्द्रमण्डलम् ।
ततस्तस्याः शरीरञ्च स्निग्धं तेजो बभूव ह ॥
संविभज्य त्वया दत्तं हृदयेन विदूयता ।
रत्नाय किञ्चित् स्वर्णाय किञ्चिन्मणिवराय च ॥
किञ्चित् स्त्रीणां मुखाब्जेभ्यः किञ्चिद्राजाय किञ्चन ।
किञ्चित् किशलयेभ्यश्च पुष्पेभ्यश्चापि किञ्चन ॥
किञ्चिच्चन्दनपङ्केभ्यस्तोयेभ्यश्चापि किञ्चन ।
किञ्चित् फलेभ्यः शस्येभ्यः सुपक्वेभ्यश्च किञ्चन ।
किञ्चिन्नूतनवस्त्रेभ्यो दुग्धेभ्यश्चापि किञ्चन ॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते प्रकृतिखण्डे ९ अध्यायः ॥ * ॥
हरिद्रा । गोरोचना । इति राजनिर्घण्टः ॥

शोभाञ्जनः, पुं, (शोभं रुचिरं अञ्जनं यस्मात् ।) वृक्षविशेषः । शजिना इति भाषा । तत्पर्य्यायः । शिग्रुः २ तीक्ष्णगन्धकः ३ अक्षीवः ४ मोचकः ५ । इत्यमरः ॥ तीक्ष्णगन्धः ६ सुतीक्ष्णः ७ घन-

पल्लवः ८ श्वेतमरिचः ९ । इति जटाधरः ॥ तीक्ष्णः १० गन्धः ११ गन्धकः १२ काचीवकः १३ आचीवः १४ शुभाञ्जनः १५ स्त्रीचित्तहारी १६ द्रविणनाशनः १७ । इति शब्दरत्नावली ॥ कृष्णगन्धा १८ मूलकपर्णी १९ । इति रत्नमाला ॥ नीलशिग्रुः २० जनप्रियः २१ सुखमोदः २२ कृष्णशिग्रुः २३ चक्षुष्यः २४ रुचिराञ्जनः २५ । अस्य गुणाः । तीक्ष्णत्वम् । कटुत्वम् । स्वादुत्वम् । उष्णत्वम् । पिच्छिलत्वम् । अनुवातार्त्ति-शूलनाशित्वम् । चक्षुर्हितत्वम् । दीपनत्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥ अपि च ।

"शोभाञ्जनः कटुस्तिक्तः शोथविद्रधिगुल्मनुत् ।"

इति राजवल्लभः ॥

अन्यच्च । अथ शोभाञ्जनः श्यामः श्वेतः रक्तश्च ।

"शोभाञ्जनशिग्रुतीक्ष्णगन्धकाचीवमोचकाः ।
तद्बीजं श्वेतमरिचं मधुशिग्रुः सलोहितः ॥
शिग्रुः कटुः कटुः पाके तीक्ष्णोष्णो मधुरो लघुः ।
दीपनो रोचनो रूक्षः क्षारस्तिक्तो विदाहकृत् ॥
संग्राही शुक्रलो हृद्यः पित्तरक्तप्रकोपकः ।
चक्षुष्यः कफवातघ्नो विद्रधिश्वयथुक्रिमीन् ॥
मेदोऽपचीविषप्लीहगुल्मगण्डव्रणान् हरेत् ।
श्वेतः प्रोक्तगुणो ज्ञेयो विशेषाद्दाहकृद्भवेत् ॥
प्लीहानं विद्रधिं हन्ति व्रणघ्नः पित्तरक्तहृत् ।
मधुशिग्रुः प्रोक्तगुणो विशेषाद्दीपनः सरः ।
शिग्रुवल्कलपत्राणां स्वरसः परमार्त्तिहृत् ॥
चक्षुष्यं शिग्रुजं बीजं तीक्ष्णोष्णं विषनाशनम् ।
अवृष्यं कफवातघ्नं तन्नस्येन शिरोऽर्त्तिनुत् ॥
शिग्रुशाकं हिमं स्वादु चक्षुष्यं वातपित्तहृत् ।
बृंहणं शुक्रकृत् स्निग्धं रुच्यं मदकृदभिप्रदृत् ॥"

अस्य पुष्पगुणाः ।

"शिग्रोः पुष्पन्तु कटुकं तीक्ष्णोष्णं स्नायुशोथनुत् ।
क्रिमिहृत् कफवातघ्नं विद्रधिप्लीहगुल्मजित् ॥"

अस्य फलगुणाः ।

"शोभाञ्जनफलं स्वादु कषायं कफपित्तनुत् ।
शूलकुष्ठक्षयश्वासगुल्महृत् दीपनं परम् ॥"

इति भावप्रकाशः ॥

अथ रक्तशोभाञ्जनपर्य्यायः ।

"सुरङ्गी स्वादुगन्धा च मधुलघ्नः शुभाञ्जनः ॥"

इति रत्नमाला ॥

अन्यच्च ।

"रक्तशोभाञ्जने तुल्यौ मधुशिग्रुमधुद्रवौ ।"

इति शब्दरत्नावली ॥

अस्य पुष्पगुणाः ।

"मधुशिग्रोस्त्वक्षिहितं रक्तपित्तप्रसादनम् ॥"

इति भावप्रकाशः ॥

अन्यत् रक्तशिग्रुशब्दे द्रष्टव्यम् ॥

शोषी, स्त्री, वनहरिद्रा । इति राजनिर्घण्टः ॥

शोषः, पुं, (शुष् + भावे घञ् ।) शोषणम् । इति मेदिनी ॥ (शुष्यत्यनेनेति । शुष् + करणे घञ् ।) यक्ष्मरोगः । इत्यमरः ॥ तद्रोगस्यौषधं यथा,—

"वचा त्रिकटुकञ्चैव करञ्जं देवदारु च ।
मञ्जिष्ठा त्रिफला श्वेता शिरीषो रजनीद्वयम् ॥
प्रियङ्गुनिम्बत्रिकटु गोमूत्रेणावघर्षितम् ।
नस्यमालेपनञ्चैव स्नानमुद्वर्त्तनं तथा ॥
अपस्मारविषोन्मादशोषालक्ष्मीज्वरापहम् ।
भूतेभ्यश्च भयं हन्ति राजद्वारे च शासनम् ॥"

इति गारुडे १९९ अध्यायः ॥

शोषणं, क्ली, (शुष् + ल्युट् ।) रसाकर्षणम् । चोषण इति भाषा । तत्पर्य्यायः । रसादनम् २ । इति हेमचन्द्रः ॥ क्लेदरहितीकरणम् । यथा,—

"शोषणेन शरीरस्य तपसाध्ययनेन च ।
पापकृन्मुच्यते पापाद्दानेन च दमेन च ॥"

इति प्रायश्चित्ततत्त्वम् ॥

शुण्ठी । इति राजनिर्घण्टः ॥

शोषणः, पुं, (शोषयतीति । शुष + णिच् + ल्युः ।) कामदेवस्य बाणविशेषः । यथा,—

"उन्मादनः शोषणश्च तापनः स्तम्भनस्तथा ।"

इति जटाधरः ॥

श्योनाकवृक्षः । इति भावप्रकाशः ॥ (शोषण-कारके, त्रि ॥)

शोषसम्भवं, क्ली, (शोषाय रसाकर्षणाय सम्भवो यस्य ।) पिप्पलीमूलम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

शोषापहा, स्त्री, (शोषं अपहन्तीति । हन + डः । टाप् ।) शीतलकम् । इति राजनिर्घण्टः ॥ शोषनाशके, त्रि ॥

शोषितः, त्रि, (शुष + णिच् + क्तः ।) कृतशोषणः । यथा,—

"आतापिर्भक्षितो येन वातापिश्च महासुरः ।
समुद्रः शोषितो येन स मेऽगस्त्यः प्रसीदतु ॥"

इति मलमासतत्त्वम् ॥

शौकं, क्ली, (शुकानां समूहः । शुक + "खण्डि-कादिभ्यश्च ।" ४ । २ । ४५ । इत्यञ् ।) शुक-गणः । इत्यमरः ॥ स्त्रीणां करणम् । इति मेदिनी ॥

शौकरं, } शौकरवं, } क्ली, (शूकरस्येदमिति । शूकर + अण् ।) तीर्थविशेषः । यथा,—

वराह उवाच ।

"शृणु मे परमं गुह्यं यत्त्वया परिपृच्छितम् ।
मम क्षेत्रं परञ्चैव शुद्धं भागवतप्रियम् ॥
परं कोकामुखं स्थानं तथा कुब्जाम्रकं परम् ।
परं शौकरवं स्थानं सर्व्वसंसारमोक्षणम् ॥
यत्र संस्था च मे देवि उद्धृतासि रसातलात् ।
यत्र भागीरथी गङ्गा मम शौकरवे स्थिता ॥

धरण्युवाच ।

केषु लोकेषु यान्तीश शौकरे ये मृताः प्रभो ! ।
किं वा पुण्यं भवेत्तत्र स्नातस्य पिबतस्तथा ॥
कति तीर्थानि विशालाक्ष ! क्षेत्रे शौकरवे तव ।
धर्म्मसंस्थापनार्थाय तद्विष्णो ! वक्तुमर्हसि ॥

वराह उवाच ।

शृणु तत्त्वेन मे देवि ! यत्त्वं मां परिपृच्छसि ।
कां गतिं ते प्रपद्यन्ते नराः शौकरवे मृताः ॥
तेषां स्नानस्य वै पुण्यं गतस्यैव मृतस्य वा ।
तत्र यानि च तीर्थानि मम संस्थानसंस्थिताः ॥
शृणु पुण्यं महाभागे मम क्षेत्रेषु सुन्दरि ।
प्राप्नुवन्ति महाभागे गत्वा शौकरवं प्रति ॥
दश पूर्व्वापरांश्चापि अपरान् सप्त पञ्च च ।
स्वर्गं गच्छन्ति ते तत्र ये मृतास्तेषु जन्तवः ॥
गमनादेव सुश्रोणि ! सुखस्य मम दर्शनात् ।
सप्तजन्मान्तरे भद्रे जायते विपुले कुले ॥
धनधान्यसमृद्धेषु रूपवान् गुणवान् शुचिः ।
मद्भक्तश्चैव जायेत मम कर्म्मपरायणः ॥
एवं वै मानुषो भूत्वा अपराधविवर्ज्जितः ।
गमनं तस्य क्षेत्रस्य मरणं तत्र कारणम् ॥
ये मृतास्तत्र सुश्रोणि क्षेत्रे शौकरवे मम ।
शङ्खचक्रगदापद्मचतुर्हस्ताश्चतुर्भुजाः ।
त्यक्त्वा कलेवरं तूर्णं मम लोकाय गच्छति ॥"

इति वाराहे शौकरतीर्थमाहात्म्ये आदित्यवर-प्रदानगृध्रजम्बुकोपाख्याननामाध्यायः ॥

शौक्तिकेयं, क्ली, (शुक्तिकायां भवमिति । शुक्तिका + ढक् ।) मुक्ता । इति राजनिर्घण्टः ॥

शौक्तेयं, क्ली, (शुक्तौ भवमिति । शुक्ति + ढक् ।) मुक्ता । इति राजनिर्घण्टः ॥ शुक्तिसम्बन्धिनि, त्रि ॥

शौक्ल्यं, क्ली, (शुक्लस्य भावः । शुक्ल + "वर्णदृढा-दिभ्यः ष्यञ् च ।" ५ । १ । १२३ । इति ष्यञ् ।) शुक्लता । यथा,—

"पलितं जरसा शौक्ल्यं केशादौ विस्रसा जरा ।"

इत्यमरः ॥

(यथा, बृहत्संहितायाम् । ४ । ३ ।

"त्यजतोऽर्कतलं शशिनः
पश्चादवलम्बते यथा शौक्ल्यम् ॥")

शौचं, क्ली, (शुचेर्भावः । शुचि + "इगन्ताच्च लघु-पूर्व्वात् ।" ५ । १ । १३१ । इत्यण् ।) शुचिता । शुचित्वम् । शुद्धिः । तस्य लक्षणादि यथा,—

"अभक्ष्यपरिहारस्तु संसर्गश्चाप्यनिन्दितैः ।
स्वधर्म्मे च व्यवस्थानं शौचमेतत् प्रकीर्त्तितम् ॥"

इत्येकादशीतत्त्वे बृहस्पतिवचनम् ॥

अन्यच्च ।

"सर्व्वेषामेव शौचानामर्थशौचं विशिष्यते ।
योऽर्थैरशुचिः शौचान्न मृदा वारिणा शुचिः ॥
सत्यशौचं मनःशौचं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
सर्व्वभूतदयाशौचं जलशौचन्तु पञ्चमम् ॥
यस्य सत्यञ्च शौचञ्च तस्य स्वर्गो न दुर्लभः ॥"

इति गारुडे ११० अध्यायः ॥

अपि च ।

"यावता शुद्धिं मन्येत तावच्छौचं समाचरेत् ।
प्रमाणं शौचसंख्याया न शिष्टैरुपदिश्यते ॥
शौचन्तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा ।
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिरथान्त-रम् ॥"

इति गारुडे २१५ अध्यायः ॥

पादादिशौचगुणा यथा,—

"मेध्यं पवित्रमायुष्यमलक्ष्मीकलिनाशनम् ।
पादयोर्मलमार्गाणां शौचाधानमभीक्ष्णशः ॥"

इति राजवल्लभः ॥

अपि च ।
"उद्धृताभिर्मृत्तिकाभिरित्थं नारद यत्नतः ।
शस्त्रोत्सर्गं ततः कुर्य्यात् शौचं मूत्रपुरीषयोः ॥"
इति पाद्मोत्तरखण्डे १०६ अध्यायः ॥
प्रसङ्गादशौचञ्चात्र लिख्यते ।
व्यास उवाच ।
"दशाहं प्राहुरशौचं सपिण्डेषु विपश्चितः ।
मृतेषु वाथ जातेषु ब्राह्मणानां द्विजोत्तमाः ॥
नित्यानि चैव कर्म्माणि काम्यानि च विशेषतः ।
न कुर्य्याद्विहितं किञ्चित् स्वाध्यायं मनसापि च ॥
शुचीनक्रोधनान्भव्यान् शालाग्नौ भावयेद्द्विजान् ।
शुष्कान्नेन फलैर्व्वापि वैतानाञ्जुहुयात्ततः ॥*॥
न स्पृशेयुरिमानन्ये न च तेभ्यः समाहरेत् ।
चतुर्थे पञ्चमे वाह्नि संस्पर्शः कथितो बुधैः ॥
सूतके तु सपिण्डानां संस्पर्शो न प्रदुष्यति ।
सूतकं सूतिकाञ्चैव वर्ज्जयित्वा नृणां पुनः ॥
दशाहं निर्गुणे प्रोक्तमशौचं चातिनिर्गुणे ।
एकद्वित्रिगुणैर्युक्तं चतुस्त्र्येकदिनैः शुचिः ॥
दशाहात्तु परं सम्यगधीयीत जुहोति च ।
चतुर्थे तस्य संस्पर्शं मनुः प्राह प्रजापतिः ॥*॥
क्रियाहीनस्य मूर्खस्य महारोगिण एव च ।
यथेष्टाचरणस्याहुर्म्मरणान्तमशौचकम् ॥*॥
त्रिरात्रं दशरात्रं वा ब्राह्मणानान्तु शावकम् ।
प्राक् संस्कारात् त्रिरात्रं स्यात्तस्मादूर्द्ध्वं दशा-
हकम् ॥
ऊनद्विवार्षिके प्रेते मातापित्रोस्तदिष्यते ।
त्रिरात्रेण शुचिस्त्वन्यो यदि ह्यत्यन्तनिर्गुणः ॥
अदन्तजातमरणे पित्रोरेकाहमिष्यते ।
जातदन्ते त्रिरात्रं स्याद्यदि स्यातान्तु
निर्गुणौ ॥
आदन्तजननात् सद्य आचूड़ादेकरात्रकम् ।
त्रिरात्रमौपनयनात् सपिण्डानामुदाहृतम् ॥
जातमात्रस्य बालस्य यदि स्यान्मरणं पितुः ।
सद्यःशौचं सपिण्डानां कर्त्तव्यं सोदरस्य च ॥
ऊर्द्ध्वं दशाहादेकाहं सोदरो यदि निर्गुणः ।
अथोर्द्ध्वं दन्तजननात् सपिण्डानामशौचकम् ॥
एकाहं निर्गुणानान्तु चूड़ादूर्द्ध्वं त्रिरात्रिकम् ।
अदन्तजातमरणं सम्भवेद्यदि सत्तमाः ॥
एकरात्रं सपिण्डानां यदि तेऽत्यन्तनिर्गुणाः ।
व्रतादेशात् सपिण्डानामर्व्वाक् स्नानं विधीयते ।
सर्व्वेषामेव गुणिनामूर्द्ध्वन्तु विषमं पुनः ॥*॥
अर्व्वाक् षण्मासतः स्त्रीणां यदि स्याद्गर्भसंस्रवः ।
तदा माससमैस्तासामशौचं दिवसैः स्मृतम् ॥
अत ऊर्द्ध्वन्तु पतने स्त्रीणां स्याद्दशरात्रकम् ।
सद्यःशौचं सपिण्डानां गर्भस्रावाच्च वा ततः ॥
गर्भच्युतावहोरात्रं सपिण्डेऽत्यन्तनिर्गुणे ।
यथेष्टाचरणे ज्ञातौ त्रिरात्रमिति निश्चयः ॥*॥
यदि स्यात् सूतके सूतिर्म्मरणे वा मृतिर्भवेत् ।
शेषेणैव भवेच्छुद्धिरहःशेषे त्रिरात्रकम् ।
मरणोत्पत्तियोगे तु मरणाच्छुद्धिरिष्यते ॥
अघवृद्धिमदाशौचमूर्द्ध्वञ्चेत्तेन शुध्यति ।
अथ चेत् पञ्चमीं रात्रिमतीत्य परतो भवेत् ।
अघवृद्धिमदाशौचं तदा पूर्व्वेण शुध्यति ॥*॥
देशान्तरगतं श्रुत्वा सूतकं शावमेव तु ।
तावदप्रयतो मर्त्यो यावच्छेषः समाप्यते ॥*॥
अतीते सूतके प्रोक्तं सपिण्डानां त्रिरात्रकम् ।
तथैव मरणे स्नानमूर्द्ध्वं संवत्सराद्यदि ॥
वेदार्थविदधीयानो योऽग्निमान् वृत्तिकर्षितः ।
सद्यःशौचं भवेत्तस्य सर्व्वावस्थासु सर्व्वदा ॥
स्त्रीणामसंस्कृतानान्तु प्रदानात् परतः सदा ।
सपिण्डानां त्रिरात्रं स्यात् संस्काराद्भर्त्तुरेव च ॥
अहस्त्वदत्तकन्यानामशौचं मरणे स्मृतम् ।
ऊनद्विवर्षान्मरणे सद्यःशौचमुदाहृतम् ॥
आदन्तात् सोदरे सद्य आचौड़ादेकरात्रकम् ।
आप्रदानात् त्रिरात्रं स्याद्दशरात्रमतः परम् ॥
मातामहानां मरणे त्रिरात्रं स्यादशौचकम् ।
एकोदकानां मरणे सूतके चैतदेव हि ।
पक्षिणी योनिसम्बन्धे बान्धवेषु तथैव च ॥
एकरात्रं समुद्दिष्टं गुरौ सब्रह्मचारिणाम् ।
प्रेते राजनि सज्योतिर्यस्य स्याद्विषये स्थितिः ॥
गृहे मृतासु दत्तासु कन्यकासु त्र्यहं पितुः ।
परपूर्व्वासु भार्य्यासु पुत्रेषु कृतकेषु च ॥
त्रिरात्रं स्यात्तथाचार्य्ये स्वभार्य्यास्वन्यगासु च ।
आचार्य्यपुत्रे पत्न्याञ्च अहोरात्रमुदाहृतम् ॥
एकाहं स्यादुपाध्याये स्वग्रामे श्रोत्रियेऽपि च ।
त्रिरात्रमसपिण्डेषु स्वगृहे संस्थितेषु च ॥
एकाहं वा श्वश्र्व्यां स्यादेकरात्रञ्च शिष्यके ।
त्रिरात्रं श्वश्रूमरणे श्वशुरे चैतदेव हि ॥
सद्यःशौचं समुद्दिष्टं सगोत्रे संस्थिते सति ॥*॥
शुध्येद्विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः ।
वैश्यः पञ्चदशाहेन शूद्रो मासेन शुध्यति ॥*॥
क्षत्रविट्शूद्रदायादा ये स्युर्विप्रस्य बान्धवाः ।
तेषामशौचे विप्रस्य दशाहाच्छुद्धिरिष्यते ॥
राजन्यवैश्यावप्येवं हीनवर्णासु योनिषु ।
स्वमेव शौचं कुर्य्यातां विशुद्ध्यर्थं न संशयः ॥
सर्व्वे तूत्तमवर्णानां शौचं कुर्य्युरतन्द्रिताः ।
तद्वर्णविधिदृष्टेन स्वन्तु शौचं स्वयोनिषु ॥
षड्रात्रं वा त्रिरात्रं स्यादेकरात्रं क्रमेण तु ।
वैश्यक्षत्त्रियविप्राणां शूद्रेष्वाशौचमेव तु ॥
अर्द्धमासोऽथ षड्रात्रं त्रिरात्रं द्विजपुङ्गवाः ।
शूद्रक्षत्त्रियविप्राणां वैश्येष्वाशौचमिष्यते ॥
षड्रात्रं द्वादशाहञ्च विप्राणां वैश्यशूद्रयोः ।
अशौचं क्षत्त्रिये प्रोक्तं क्रमेण द्विजपुङ्गव ॥
शूद्रविट्क्षत्त्रियाणान्तु ब्राह्मणे संस्थिते सति ।
दशरात्रेण शुद्धिः स्यादित्याह कमलोद्भवः ॥*॥
असपिण्डं द्विजं प्रेतं विप्रो निर्हृत्य बन्धुवत् ।
अशित्वा च सहोषित्वा दशरात्रेण शुध्यति ॥
यद्यन्नमत्ति तेषान्तु त्रिरात्रेण ततः शुचिः ।
अनदन्नन्नमह्नैव न च तस्मिन् गृहे वसन् ॥
सोदरेष्वेतदेव स्यान्मातुराप्तेषु बन्धुषु ।
दशाहेन शवस्पर्शी सपिण्डश्चैव शुध्यति ॥
षड्रात्रेणाथवा सर्व्वे त्रिरात्रेणाथवा पुनः ।
अनाथञ्चैव निर्हृत्य ब्राह्मणं धनवर्ज्जितम् ॥
स्नात्वा संप्राश्य तु घृतं शुध्यन्ति ब्राह्मणादयः ।
अवरश्चेद्वरं वर्णमवरं वा वरो यदि ॥
अशौचे संस्पृशेत् स्नेहात्तदाशौचेन शुध्यति ॥*॥
प्रेतीभूतं द्विजं विप्रो योऽनुगच्छति कामतः ।
स्नात्वा सचैलं स्पृष्टाग्निं घृतं प्राश्य विशुध्यति ॥
एकाहात् क्षत्त्रिये शुद्धिर्वैश्यानां स्यात् द्व्यहेन
तु ।
शूद्रे दिनत्रयं प्रोक्तं प्राणायामशतं पुनः ॥*॥
अनस्थिसञ्चिते शूद्रे रौति चेद्ब्राह्मणः स्वकः ।
त्रिरात्रं स्यात्तथाशौचमेकाहं त्वन्यथा स्मृतम् ॥
अस्थिसञ्चयनादर्व्वागेकाहं वैश्यशूद्रयोः ।
अन्यथा चैव सज्योतिर्ब्राह्मणे स्नानमेव तु ॥
अनस्थिसञ्चिते विप्रे ब्राह्मणो रौति चेत्तदा ।
स्नानेनैतद्भवेच्छुद्धिः सचैलेन न संशयः ॥*॥
यस्तैः सहाशनं कुर्य्याच्छयनादीनि चैव हि ।
बान्धवो वा परो वापि स दशाहेन शुध्यति ॥*॥
यस्तेषामन्नमश्नाति सकृदेवापि कामतः ।
तदाशौचे निवृत्तेऽसौ स्नानं कृत्वा विशुध्यति ॥
यावत्तदन्नमश्नाति दुर्भिक्षोपहतो नरः ।
तावन्त्यहान्यशौचं स्यात् प्रायश्चित्तं ततश्चरेत् ॥
दाहाद्यशौचं कर्त्तव्यं द्विजानामग्निहोत्रिणाम् ।
सपिण्डानान्तु मरणे मरणादितरेषु च ॥*॥
सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्त्तते ।
समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नोरवेदने ॥
पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः ।
लेपभाजश्चतुर्थाद्याः सापिण्ड्यं साप्तपौरुषम् ॥
अनूढ़ानां तथा स्त्रीणां सापिण्ड्यं साप्तपौरुषम् ।
जायानां भर्त्तृसापिण्ड्यं प्राह देवः पितामहः ॥
ये चैकजाता बहवो भिन्नयोनय एव च ।
भिन्नवर्णास्तु सापिण्ड्यं भवेत्तेषां त्रिपौरुषम् ॥*॥
कारवः शिल्पिनो वैद्या दासी दासस्तथैव च ।
दातारो नियमी चैव ब्रह्मविद्ब्रह्मचारिणौ ॥
सत्रिणो व्रतिनस्तावत् सद्यःशौचा उदाहृताः ।
राजा चैवाभिषिक्तश्च विप्राः सत्रिण एव च ॥
यज्ञे विवाहकाले च देवयागे तथैव च ।
सद्यःशौचं समाख्यातं दुर्भिक्षे वाप्युपद्रवे ॥
डिम्बाहवहतानाञ्च विद्युता पार्थिवैर्द्विजैः ।
सद्यःशौचं समाख्यातमज्ञातिमरणे तथा ॥
अग्नौ मरुप्रपतने वीराध्वन्यप्यनाशके ।
ब्राह्मणार्थे च संन्यस्ते सद्यःशौचं विधीयते ॥*॥
नैष्ठिकानां वनस्थानां यतीनां ब्रह्मचारिणाम् ।
नाशौचं कीर्त्त्यते सद्भिः पतिते च तथा मृते ॥
पतितानां न दाहः स्यान्नान्त्येष्टिर्नास्थिसञ्चयः ।
न चाश्रुपातः पिण्डो वा कार्य्यं श्राद्धादिकं
क्वचित् ॥
व्यापादयेत्तथात्मानं स्वयं योऽग्निविषादिभिः ।
विहितं तस्य नाशौचं नाग्निर्नाप्युदकादिकम् ॥*
अथ कश्चित् प्रमादेन म्रियतेऽग्निविषादिभिः ।
तस्याशौचं विधातव्यं कार्य्यञ्चैवोदकादिकम् ॥*॥
जाते कुमारे तदहः कामं कुर्य्यात् प्रतिग्रहम् ।
हिरण्यधान्यगोवासस्तिलान्नगुड़सर्पिषान् ॥
फलानि पुष्पं शाकञ्च लवणं काष्ठमेव च ।
तोयं दधि घृतं क्षीरमौषधं तैलमेव च ।

अशौचिनां गृहाद्‌ग्राह्यं शुष्कान्नमेव नित्यशः॥"
इति कौर्म्मे उपविभागे २२ अध्यायः॥
अन्यत् पाद्मोत्तरखण्डे १०८ अध्याये द्रष्टव्यम्॥

शौचाचारः, पुं, (शौचः आचारः।) शुद्धिकर्म्म। यथा,—
"शौचाचारविहीनस्य समस्ता निष्फलाः
क्रियाः॥"
इत्याह्निकाचारतत्त्वे ब्रह्मपुराणम्॥
अन्यच्च।
"उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्व्वकम्।
वेदमध्यापयेदेनं शौचाचारांश्च शिक्षयेत्॥"
इति याज्ञवल्क्यः॥

शौचिकः, पुं, (शौचं गृहादेः शुचिता कार्य्यत्वेनास्त्यस्येति। शौच+ठन्।) वर्णसङ्करविशेषः। यथा,—
"कैवर्त्तस्य च कन्यायां शौण्डिकादेव शौचिकः॥"
इति पराशरपद्धतिः॥

शौचेयः, पुं, (शौचेन वस्त्रादिशुचित्वेन व्यवहरतीति। शौच+ढक्।) रजकः। इति शब्दरत्नावली॥

शौट, ऋ गर्व्वे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-पर०-अक०-सेट्।) चतुर्दशस्वरी। ऋ, अशुशौटत्। शौटति वीरः। इति दुर्गादासः॥

शौटीरः, पुं, (शौटतीति। शौट गर्व्वे+"कृशॄपॄकटिपटिशौटिभ्यः ईरन्।" उणा० ४। ३०। इति ईरन्।) त्यागी। वीरः। इत्युणादिकोषः॥ गर्व्वान्विते, त्रि। इति सिद्धान्तकौमुद्यामुणादिवृत्तिः॥ (यथा, महाभारते। १२। ८३। ४३।
"सन्तुष्टः सम्मतः सत्यः शौटीरो द्वेष्यपापकः।
मन्त्रवित् कालवित् शूरः स मन्त्रं श्रोतुमर्हति॥")

शौटीर्य्यं, क्ली, (शौटीरस्य भावः कर्म्म वा। शौटीर+"गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्म्मणि च।" ५।१।१२४। इति ष्यञ्।) वीर्य्यम्। इति शब्दरत्नावली॥ गर्व्वः। शौटीरशब्दात् भावे ष्यप्रत्ययेन निष्पन्नम्॥

शौड, ऋ गर्व्वे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-पर०-अक०-सेट्।) चतुर्दशस्वरी। ऋ, अशुशौडत्। इति दुर्गादासः॥

शौण्डः, त्रि, (शुण्डायां मद्ये रतः। शुण्डा+अण्।) मत्तः। इत्यमरः॥ (यथा, महाभारते। ३। २३३। ११।
"चण्डाश्च शौण्डाश्च महाशनाश्च
चौराश्च दुष्टाश्च चलाश्च वर्ज्याः॥")

शौण्डिकः, पुं, (शुण्डा पण्यमस्य। शुण्डा+"तदस्य पण्यम्।"४।४।५१। इति ठक्।) जातिविशेषः। शुँड़ी इति भाषा। तत्पर्य्यायः। मण्डहारकः २। इत्यमरः॥ शुण्डारः ३ शौण्डी ४ शुण्डकः ५। इति शब्दरत्नावली॥ ध्वजः ६ पानः ७ पणः ८। इति जटाधरः॥ कल्यपालः ९ सुराजीवी १० वारिवासः ११ पानवणिक् १२, ध्वजी १३ आसुतीवलः १४। इति हेमचन्द्रः॥ तस्योत्पत्तिर्यथा,—
"ततो गान्धिककन्यायां कैवर्त्तादेव शौण्डिकः।
कैवर्त्तस्य च कन्यायां शौण्डिकादेव शौचिकः॥"
इति पराशरपद्धतिः॥
(अस्य गृहे भोजननिषेधो यथा, मनुः। ४। २१६।
"श्ववतां शौण्डिकानाञ्च चैलनिर्णेजकस्य च।
रञ्जकस्य नृशंसस्य यस्य चोपपतिर्गृहे॥"
एषां गेहे नाद्यात् इत्यर्थः॥ * ॥ शुण्डिकागते, त्रि। अत्र "शुण्डिकादिभ्योऽण्।" ४। ३। ७६। इत्यण्॥)

शौण्डी, [न्] पुं, (शुण्डा सुरा एव शौण्डं मद्यम्। स्वार्थे अण्। तत् पण्यत्वेनास्त्यस्येति। शौण्ड+इन्।) शौण्डिकः। इति शब्दरत्नावली॥

शौण्डी, स्त्री, (शुण्डायां मद्यपानगृहे भवा। मत्तानां रुचिप्रदत्वात्। शुण्डा+अण्। ङीप्।) पिप्पली। चव्यम्। इति विश्वः॥

शौण्डीरः, त्रि, (शौटतीति। शौट+ईरन्। पृषोदरादित्वात् साधुः।) अहङ्कारी। यथा,—
"शौण्डीरो गर्व्वितस्तब्धो मानी चाहङ्कृदुद्धतः।
उदग्रोव उद्धरोऽकृष्णो नीचश्च पिशुनोऽधमः॥"
इति धनञ्जयकोषः॥

शौद्धोदनिः, पुं, (शुद्धोदनस्यापत्यं पुमानिति। शुद्धोदन+"अत इञ्।" ४। १। ९५। इति इञ्।) शाक्यवंशावतीर्णबुद्धमुनिविशेषः। इत्यमरः॥ "शुद्धमोदनमस्य इति मनीषादिः। शुद्धोदनो नाम राजा। तथाहि।
'शुद्धोदनो यतो भुङ्क्ते ध्यायवत् शुद्धमोदनम्।'
इत्यार्याभिधानम्॥
शुद्धोदनस्यापत्यं शौद्धोदनिः। बाह्वादित्व इति णिः।" इति भरतः॥

शौद्रः, पुं, (शूद्रायां भवः। शूद्रा+अण्।) द्वादशविधपुत्रान्तर्गतपुत्रविशेषः। स तु ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यान्यतमात् शूद्रायां जातः। यथा,—
"औरसः क्षेत्रजो दत्तो गूढोत्पन्नश्च कृत्रिमः।
क्रीतापविद्धकानीनशौद्रपौनर्भवा अपि॥
स्वयं दत्तः सहोढोऽपि द्वादशस्यौरसौ समौ॥"
इति जटाधरः॥
(यथा, मनुः। ९। १६०।
"कानीनश्च सहोढश्च क्रीतः पौनर्भवस्तथा।
स्वयंदत्तश्च शौद्रश्च षड़दायादबान्धवाः॥"*॥
शूद्रस्येदमिति। अण्।) शूद्रसम्बन्धिनि, त्रि॥ (यथा, महाभारते। १२। ६२। ४।
"चात्त्राणि वैश्यानि च सेवमानः
शौद्राणि कर्म्माणि च ब्राह्मणः सन्।
अस्मिल्लोके निन्दितो मन्दचेताः
परे च लोके निरयं प्रयाति॥")

शौधिका, स्त्री, रक्तकङ्कुः। इति हेमचन्द्रः॥

शौनकः, पुं, (शुनकस्यापत्यमिति। शुनक+"अनृष्यानन्तर्ये विदादिभ्योऽञ्।" ४। १। १०४। इति अञ्।) मुनिविशेषः। यथा,—
"सपिण्डीकरणादूर्द्ध्वं न दद्यात् प्रतिमासिकम्।
एकोद्दिष्टविधानेन दद्यादित्याह शौनकः॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम्॥

शौनिकः, पुं, (शूना प्राणिवधस्थानं प्रयोजनमस्य। शूना+ठक्।) मांसविक्रयकर्त्ता। यथा,—
"वैतंसिकः कौटिकश्च मांसिकः शौनिकः समाः।"
इति जटाधरः हेमचन्द्रश्च॥
मृगया। इति शब्दमाला॥

शौभं, क्ली, (शोभायै हितम्। शोभा+अण्।) हरिश्चन्द्रपुरम्। इति त्रिकाण्डशेषः॥ तत्पर्य्यायः। व्योमचारिपुरम् २। इति भूरिप्रयोगः॥ (पुरमेतत् शाल्वस्य नृपतेरासीत्। कृष्णेनेदं विनाशितम्। एतद्वृत्तान्तस्तु भागवते १० स्कन्धे ७७ अध्याये द्रष्टव्यः॥)

शौभः, पुं, (शुभाय हितः। शुभ+अण्।) देवता। इति त्रिकाण्डशेषः॥ गुवाकः। इति शब्दमाला॥

शौभनेयः, त्रि, शोभनसम्बन्धी। शोभनशब्दात् ष्णेयप्रत्ययेन निष्पन्नः॥

शौभाञ्जनः, पुं, (शोभाञ्जन एव। स्वार्थे अण्।) शोभाञ्जनवृक्षः। इति भरतद्विरूपकोषः॥

शौभिकः, पुं, (शौभं व्योमचारिपुरं उपलक्षणेन तद्वदाश्चर्य्यकरं वस्तु साधनत्वेनास्त्यस्येति। शौभ+ठन्।) इन्द्रजालिकः। इति शब्दमाला॥

शौभ्रेयः, त्रि, (शुभ्रा+"शुभ्रादिभ्यश्च।" ४। १। १२३। इति ढक्।) शुभ्राया अपत्यम्। इति मुग्धबोधव्याकरणम्॥ शुभ्रसम्बन्धिनि च॥

शौरिः, पुं, (शूरस्यापत्यमिति। शूर+इञ्।) विष्णुः। (यथा, आनन्दलहर्य्याम्। २।
"तनीयांसं पांशुं तव चरणपङ्केरुहभवं
विरिञ्चिः सञ्चिन्वन् विरचयति लोकानविकलम्।
वहत्येनं शौरिः कथमपि सहस्रेण शिरसां
हरः संक्षुद्यैनं भजति भसितोद्धूलनविधिम्॥")
शनैश्चरग्रहः। इत्यमरभरतौ॥ (शूरवंशीयमात्रे। वसुदेवः। यथा, भागवते। ३। १। २६।
"कच्चित् कुरूणां परमः सुहृन्नो
भामः स आस्ते सुखमङ्ग शौरिः॥"
बलदेवः। यथा, महाभारते। ५। ७। २५।
"ततोऽभ्ययाद्भीमबलो रौहिणेयं महाबलम्।
सर्व्वञ्चागमने हेतुं स तस्मै संन्यवेदयत्।
प्रत्युवाच ततः शौरिर्धार्त्तराष्ट्रमिदं वचः॥"
कृष्णः। यथा, भागवते। १। १०। ३३।
"अथ दूरगतान् शौरिः कौरवान् विरहातुरान्।
संनिवर्त्त्य दृढं स्निग्धान् प्रायात् स्वनगरीं
प्रियैः॥")

शौर्पः, } त्रि, (शूर्प+"शूर्पादन्यतरस्याम्।"
शौर्पिकः, } ५। १। २६। इति अञ् पक्षे ठञ्।) शूर्पपरिमितम्। शूर्पशब्दात् ष्णप्रत्ययेन ष्णिकप्रत्ययेन च निष्पन्नौ॥

शौर्य्यं, क्ली, (शूरस्य भावः कर्म्म वा। शूर+ष्यञ्।) शक्तिः। (यथा, रामायणे। ६। १५। ३।

"सत्त्वेन वीर्य्येण पराक्रमेण
धैर्य्येण शौर्य्येण च तेजसा च ॥")
आरभटी । इति मेदिनी ॥

शौल्कं, त्रि, शुल्कसम्बन्धि । शुल्कशब्दात् ष्णप्रत्ययेन निष्पन्नम् ॥

शौल्किकः, पुं, (शुल्के अधिकृतः । शुल्क+ठञ् ।) शुल्काध्यक्षः । इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, याज्ञवल्क्ये । २ । १७६ ।
"शौल्किकैः स्थानपालैर्वा नष्टापहृतमाहृतम् ।
अर्व्वाक् संवत्सरात् स्वामी हरेत परतो नृपः ॥")

शौल्किकेयः, पुं, विषभेदः । इत्यमरः ॥ शुल्किको देशभेदस्तत्र भवः शौल्किकेयः । ढञ् । तालव्यादिः । इति भरतः ॥

शौलफं, क्ली, शाकविशेषः । शुलफा इति भाषा । भूतचतुर्द्दश्यां चतुर्द्दशशाकमध्ये तद्भक्षणीयम् । यथा, निर्णयामृते ।
"ओलं केमुकवास्तूकं सर्षपं कालञ्च निम्बं जयां
शालिञ्चीं हिलमोचिकाञ्च पटुकं शौलफं गुडूचीन्तथा
भण्टाकीं सुनिषण्णकं शिवदिने खादन्ति ये मानवाः
प्रेतत्वं न च यान्ति कार्त्तिकदिने कृष्णे च भूते तिथौ ॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥
अस्य पर्य्यायगुणाः शतपुष्पाशब्दे द्रष्टव्याः ॥

शौल्विकः, पुं, कंसकारः । काँसारि इति भाषा । तत्पर्य्यायः । ताम्रकुट्टकः २ । इत्यमरः ॥ कामन्दमी ३ कांस्यकारः ४ । इति जटाधरः ॥ ताम्रिकः ५ ताम्रकारकः ६ । इति शब्दरत्नावली ॥

शौवं, क्ली, (श्वन्+"शुनः सङ्कोच उपसंख्यानम् ।" ६ । ४ । १४४ । इत्यस्य वार्त्तिकोक्त्या अणि साधु ।) शुनः सङ्कोचः । शुनो रन्ध्रम् । श्वोभवम् । इति संक्षिप्तसारव्याकरणम् ॥

शौवनं, क्ली, (श्वन्+अण् ।) शुनो भावः । शुनोऽपत्यम् । इति संक्षिप्तसारव्याकरणम् ॥ (शुनः समूहः । श्वन्+"खण्डिकादिभ्यश्च ।" ४।२।४५। इत्यञ् । कुक्कुरसमूहः । इति व्याकरणम् ॥ शुनो मांसम् । इति काशिका ।६। ४ । १२२ ॥)

शौवस्तिकं, त्रि, (श्वो भवम् । श्वस्+"श्वसस्तुट् च ।" ४ । ३ । १५ । इति ठञ् तुडागमश्च ।) भाविदिनस्थायिवस्तु । यथा,—
"आत्मम्भरिस्त्वं पिशितैर्नराणां
फलेग्रहीन् हंसि वनस्पतीनाम् ।
शौवस्तिकत्वं विभवा न येषां
व्रजन्ति तेषां दयसे न कस्मात् ॥"
इति भट्टौ २ सर्गः ॥
"येषां विभवाः सम्पदः शौवस्तिकत्वं भाविदिनस्थितत्वं न व्रजन्ति तेषां कस्मान्न दयसे । श्वोभवः शौवस्तिकः श्वसो भवार्थे कणविधानात् कणि मनीषादित्वात् त्यागमः द्वारस्वरेति उम् श्वित्वे श्रिरिति श्रिः क्तौ भावे इति क्तम् ।" इति तट्टीका ॥

शौवापदं, त्रि, (श्वापदस्येदमिति । श्वापद+अण् । "पादान्तस्यान्यतरस्याम् ।" ७।३।९। इति पक्षे ऐच् ।) श्वापदसम्बन्धि । श्वापदशब्दात् ष्णप्रत्ययेन निष्पन्नम् । इति मुग्धबोधव्याकरणम् ॥ (यथा, अनर्घराघवे । १ । २५ ।
"कच्चित् कान्तारभाजां भवति परिभवः
कोऽपि शौवापदो वा
प्रत्यूहेन क्रतूनां न खलु मखभुजो भुञ्जते
वा हवींषि ॥")

शौष्कलः, पुं, (शुष्कलं पण्यमस्येति । अण् ।) शुष्कमांसस्य पणकः । इति मेदिनी ॥

शौष्कलः त्रि, (शुष्कलीमत्तीति । शुष्कली+अण् ।) आमिषाशी । इत्यमरः ॥ मत्स्यमांसभोजनशीलः । आमिषं अश्नाति आमिषाशी ग्रहादित्वाणिन् । शुष्कली शुष्कमांसे स्यात् मांसमात्रेऽपि दृश्यते । तामत्ति शौष्कलः णः । तालव्यादिमूर्द्धन्यमध्यः । शुष्कं मांसं लाति इति शुष्कलः प्रज्ञादित्वात् अणि शौष्कलः । इति विद्याविनोदः । शाष्कलः इति पाठः । इति स्वामी । इति भरतः ॥

श्चुत } इर् क्षरणे । इति कविकल्पद्रुमः ॥
श्चुत } (भ्वा०-पर०-अक०-सेट् ।) द्वौ तालव्यवर्गाद्ययुक्ततालव्यादी । शेषोऽन्तःस्थादियुक्तश्च । नकारजावनुस्वारपञ्चमावित्यादिनियमेऽप्यनयोस्तालव्यादित्वं तदपवादस्य अभिचारसूचनार्थं तेन चुश्चुत्य लोपे इत्यादीनामोष्ठ्यवर्गशेषोपधत्वं सङ्गच्छते । तेन क्विपि संयोगान्तलोपे चुश्चुम् इत्यादि सिद्धम् । किन्तु द्वौ दन्त्यादी इति धातुप्रदीपक्रमदीश्वरौ । तेन घृतं श्चोतति इति घृतश्चुत् तमाचष्टे इति णौ णौमंश्चेति त्वित्वाङ्कलोपे घृतश्चयति पुनः क्विपि णेर्लोपे घृतश्च इति स्थिते संयोगादेः सस्य लोपे घृतक् इति केचित् ॥ इर्, अश्चुतत् अश्चोतीत् । अश्चुशत् अश्चोतीत् । क्षर इति आसेचनं क्षरणञ्च । रक्तमाश्चोतति श्चुर इति । इदं कवचमश्चोतीदिति । निश्चोतन्ति सुतशुकवरी बिन्दवो यावदेते । इति मालत्यां गणकृतानित्यत्वम् । इति दुर्गादासः ॥

श्चोतः, पुं, (श्चोतनमिति । श्चुत+घञ् ।) प्राचारः । इत्यमरः ॥

श्म, [न्] क्ली, मुखम् । इति श्मश्रुशब्दटीकायां भरतः ॥ (शरीरम् । इति निरुक्तिः । ३ । ५ ॥ शवः । इति पुराणम् । अस्य प्रमाणं श्मशानशब्दे द्रष्टव्यम् ॥)

श्मशानं, क्ली, (श्मनां शवानां शानं शयनं यत्र । यद्वा, शवानां शयनमिति । "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टानि ।" ६ । ३ । १०९ । इति शवशब्दस्य श्मादेशः शयनशब्दस्यापि शानशब्द आदेशः ।) शवदाहस्थानम् । तत्पर्य्यायः । पितृवनम् २ । इत्यमरः ॥ शतानकम् ३ रुद्राक्रीड़ः ४ दाहसरः ५ । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ अन्तशय्या ६ पितृकाननम् ९ । इति जटाधरः ॥ * ॥ तस्य व्युत्पत्तिर्यथा,—
"श्मशब्देन शवः प्रोक्तः शानं शयनमुच्यते ।
निर्व्वचन्ति श्मशानार्थं मुने शब्दार्थकोविदाः ॥
महान्त्यपि च भूतानि प्रलये समुपस्थिते ।
शेरतेऽत्र शवा भूत्वा श्मशानन्तु ततो भवेत् ॥"
महाश्मशानं यथा,—
"वाराणसीति विख्याता रुद्रावास इति द्विजाः ।
महाश्मशानमित्येवं प्रोक्तमानन्दकाननम् ॥"
इति श्रीस्कान्दे काशीखण्डे ३० अध्यायः ॥*॥
"उत्सवे व्यसने चैव दुर्भिक्षे शत्रुविग्रहे ।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः ॥"
इति चाणक्यम् । १७ ॥*॥
श्मशाने गत्वा विष्णुस्पर्शे दोषो यथा,—
वराह उवाच ।
"श्मशानं यो नरो गत्वा अस्नात्वैव तु मां स्पृशेत् ।
मम दोषापराधस्य शृणु तत्त्वेन यत् फलम् ॥
जम्बुको जायते भूमे वर्षाणां नव पञ्च च ।
गृध्रस्तु सप्तवर्षाणि जायते खचरेश्वरः ॥
चरन्तौ मानुषं मांसं उभौ तौ गृध्रजम्बुकौ ।
पिशाचो जायते तत्र वर्षाणि नव पञ्च च ॥
ततस्तु कुणपोच्छिष्टं त्रिंशद्वर्षाणि खादति ।
ततो नारायणाच्छ्रुत्वा धरणी वाक्यमब्रवीत् ॥
एतन्मे परमं गुह्यं लोकनाथ जनार्दन ।
परं कौतूहलं देव निखिलं वक्तुमर्हसि ॥
श्मशानं पुण्डरीकाक्ष ईश्वरेण प्रशंसितम् ।
तत्र किं विगुणं देव पावित्रे शिवभाषिते ॥
स तत्र रमते नित्यं भगवांस्तु महाद्युतिः ।
कपालं गृह्य देवोऽत्र दीप्तिमन्तं महौजसम् ॥
प्रशंसितञ्च रुद्रेण भवता किं विनिन्दितम् ।
श्मशाणं पद्मपत्राक्ष रुद्रस्य च नित्यं प्रियम् ॥
वराह उवाच ।
शृणु तत्त्वेन मे देवि इदमाख्यानमुत्तमम् ।
अद्यापि ते न जानन्ति अनघे शंसितव्रताः ॥
कृत्वा सुदुष्करं कर्म्म सर्व्वभूतपतिर्हरः ।
हत्वा च बालवृद्धानि त्रिपुरे रूपिणीः स्त्रियः ।
तेन पापेन संबद्धो न शक्नोति विचेष्टितुम् ॥
तत ईशो मया प्रोक्तो वाक्यमेव सुखावहम् ।
किमिदं तिष्ठसे रुद्र कश्मलेन समावृतः ।
तव चैव प्रियार्थाय येनाहमिदमागतः ॥
ततो मम वचः श्रुत्वा लब्धसंज्ञो महेश्वरः ।
उवाच मधुरं वाक्यं पापसन्तप्तलोचनः ॥
तव विष्णो प्रसादेन मया तत्त्रिपुरं हतम् ।
निहता दानवास्तत्र गर्भिण्यश्च निपातिताः ॥
बालवृद्धा हतास्तत्र विस्फुरन्तो दिशो दश ।
तस्य पापस्य दोषेण न शक्नोमि विचेष्टितुम् ॥
प्रनष्टयोगमायश्च नष्टैश्वर्य्यश्च माधव ।
किं मया विप्रकर्त्तव्यमेनोऽनस्येन माधव ॥
विष्णो तत्त्वेन मे ब्रूहि शोधनं पापनाशनम् ।
येन वै कृतमात्रेण शीघ्रं मुच्येत किल्बिषात् ॥

एवं चिन्तात्मनस्तत्र मया रुद्रस्य भाषितम् ।
कपालमालां संगृह्य समलं गच्छ शङ्कर ॥
ममैवं वचनं श्रुत्वा भगवान् परमेश्वरः ।
उवाच मां पुनर्व्यक्तं मां बोधय जगत्पते ॥
कीदृशः समलो विप्रो यत्र गच्छामहे वयम् ॥
ततस्तस्य वचः श्रुत्वा शङ्करस्य यशस्विनि ।
तत्पापशोधनार्थाय मयावाग्भाषितम् ॥
श्मशानं समलो रुद्र पूतिको व्रणगन्धिकः ।
स्वयं तिष्ठति वै तत्र मनुजा विगतस्पृहाः ॥
तत्र गृह्य कपालानि रम तत्रैव शङ्कर ।
तत्र वर्षसहस्राणि दिव्यान्येव दृढव्रतः ॥
ततो भक्षय मांसानि पापक्षयचिकीर्षुकः ।
हिंस्यमानानि भोज्यानि ये च भोज्यास्तव
प्रियाः ॥
एवं सर्व्वैर्गणैः सार्द्धं रम तत्र सुनिश्चितः ।
पूर्णे वर्षसहस्रे तु स्थित्वा त्वं समले पुनः ॥
एष्यसि स्वाश्रमं पुण्यं गौतमस्य महामुनेः ।
तत्र शास्यसि चात्मानं आश्रमे विधिसंस्थिते ॥
प्रसादात् गौतमस्याथ भविता गतकिल्बिषः ।
एवं तस्य वरं दत्त्वा तत्रैवान्तरधीयत ॥
रुद्रोऽपि भ्रमते तत्र श्मशाने पापसंहृते ।
एवं न रोचते भूमे श्मशानं मे कदाचन ।
यत्र रुद्रकृतं पापं स्थितं किल भयावहम् ॥
एतत्ते कथितं भद्रे श्मशानं मे जुगुप्सितम् ।
विष्ठापि कृतसंस्कारो मम कर्म्मपराधवान् ॥
प्रायश्चित्तं प्रवक्ष्यामि येन शुध्यति किल्बिषात् ।
कृत्वा चतुर्थभक्तन्तु दिनानि दश पञ्च च ॥
आकाशशयनं कुर्य्यात् एकभक्तः कुशास्तरे ।
प्रभाते पञ्चगव्यन्तु पातव्यं कर्म्मशोधनम् ।
प्रमुक्तः सर्व्वपापेभ्यो मम लोकाय गच्छति ॥”
इति वाराहे श्मशानप्रवेशापराधप्रायश्चित्त-
नामाध्यायः ॥

श्मशानकाली, स्त्री, (श्मशानस्य काली ।)
कालिकाविशेषः । अथ श्मशानकाली । तदुक्तं
कालीतन्त्रे ।
“वाणीं मायां ततो लक्ष्मीं कामबीजमतः परम् ।
कालिके संपुटत्वेन चतुष्कं बीजमालिखेत् ॥
एकादशार्णा देवेशि चतुर्व्वर्गप्रदायिनी ॥” * ॥
अस्या यन्त्रम् ।
“पद्ममष्टदलं वृत्तं तद्बाह्ये धरणीतलम् ।
चतुर्द्वारसमायुक्तं मध्ये मूलं समालिखेत् ॥
दलेष्वष्टसु विलिखेत् कवर्गाद्यष्टवर्गकम् ।
धरण्यां विलिखेदाद्यं चतुष्कञ्च चतुष्कके ।
पूर्व्वादि उत्तरान्तञ्च मध्ये देवीं प्रपूजयेत् ॥” * ॥
अस्याः पूजाक्रमः । प्रातःकृत्यादिप्राणायामान्तं
कर्म्म कृत्वा ऋष्यादिन्यासं कुर्य्यात् यथा ।
शिरसि भृगुऋषये नमः । हृदि श्मशानकालि-
कायै देवतायै नमः । गुह्ये वाग्बीजाय नमः ।
पादयोर्मायाशक्तये नमः । सर्व्वाङ्गे कामबीज-
कीलकाय नमः । ततः कराङ्गन्यासौ । ऐँ अङ्गु-
ष्ठाभ्यां नमः । ह्रीँ तर्ज्जनीभ्यां स्वाहा । श्रीँ
मध्यमाभ्यां वषट् । क्लीँ अनामिकाभ्यां हुँ ।
कालिके कनिष्ठाभ्यां वौषट् । क्लीमादिवाग्-
भवान्तं करतलपृष्ठाभ्यां फट् । एवं हृदया-
दिषु ॥ * ॥ ततो ध्यानम् ।
“अञ्जनाद्रिनिभां देवीं श्मशानालयवासिनीम् ।
रक्तनेत्रां मुक्तकेशीं शुष्कमांसातिभैरवाम् ॥
पिङ्गाक्षीं वामहस्तेन मद्यपूर्णं समांसकम् ।
सद्यःकृत्तशिरो दक्षहस्तेन दधतीं शिवाम् ॥
स्मितवक्त्रां सदा चाममांसचर्व्वणतत्पराम् ।
नानालङ्कारभूषाङ्गीं नग्नां मत्तां सदासवैः ॥
एवं ध्यात्वा जपेद्देवीं श्मशाने तु विशेषतः ।
गृहे वापि गृहस्थोऽपि मत्स्यमांसैः सुभोजनैः ।
नग्नो भूत्वा महापूजां कुर्य्याद्रात्रौ विशेषतः ॥” *
पूजनन्तु ध्यात्वा मानसैः संपूज्यार्घ्यस्थापनं
कुर्य्यात् । पुनर्ध्यात्वा यथोपचारैः संपूज्य पत्रेषु
ब्राह्म्यादिकं पूजयेत् । तद्बहिरसिताङ्गादिकं
पूजयेत् । अस्याः पुरश्चरणं एकादशलक्षजपः ।
तथा च ।
“वर्णलक्षं जपेन्मन्त्रं तद्दशांशेन होमयेत् ।”
मन्त्रान्तरम् । तत्रैव ।
“कामबीजं समालिख्य कालिकायै समालिखेत् ।
नमोऽन्तेन च देवेशि सप्तार्णो मनुरुत्तमः ।
सर्व्वाङ्गे कालिका देवी अन्यत् सर्व्वन्तु पूर्व्ववत् ॥”
इति तन्त्रसारः ॥

श्मशानवासी, [न्] पुं, (श्मशाने वसतीति ।
वस + णिनिः ।) शिवः । यथा,—
“क्षेत्रपः क्षेत्रपालश्च क्षेत्रज्ञः क्षत्रियो विराट् ।
श्मशानवासी मांसाशी खर्पराशी मखान्तकृत् ॥”
इति वटुकभैरवस्तोत्रम् ॥ * ॥
श्मशाने वासकर्त्तरि, त्रि । यथा । शवसम्बन्धि
वस्त्रादिकं श्मशानवासिचण्डालादिभ्यो दद्यात् ।
इति शुद्धितत्त्वम् ॥

श्मशानवेश्मा, [न्] पुं, (श्मशानं वेश्म यस्य ।)
महादेवः । इति हेमचन्द्रः ॥

श्मशानवासिनी, स्त्री, (श्मशाने वसति या ।
वस + णिनिः । ङीप् ।) काली । यथा,—
“श्मशानवासिनी सौम्या शिवानी शिववल्लभा ।”
इति कालिकाशतनामस्तोत्रम् ॥

श्मशानालयवासिनी, स्त्री, (श्मशानालये श्मशान-
गृहे वसतीति । वस + णिनिः । ङीप् ।) काली ।
यथा,—
“घोररावां महारौद्रीं श्मशानालयवासिनीम् ।”
इति तन्त्रसारे दक्षिणकालिकाध्यानम् ॥

श्मश्रु, क्ली, (श्म मुखं श्रयति आश्रयतीति ।
श्म + श्रि + “श्मनि श्रयतेर्डुन् ।” उणा० ५ ।
२८ । डुन् ।) पुंमुखे वर्द्धितलोम । इत्यमरः ॥
दाड़ी इति भाषा ॥ पुंमुखे पुरुषास्ये तेषां वृद्धौ
सत्यां तल्लोम श्मश्रु उच्यते । श्मन्निति मुख-
नामेति स्मृतिः श्मनि मुखे श्रूयते उपलभ्यते
श्मश्रु नान्तमित्यन्ये । इति भरतः ॥ * ॥ तस्य शुभा-
शुभलक्षणं यथा,—
“निम्नं वक्त्रमपुत्त्राणां कृपणानाञ्च ह्रस्वकम् ।
संपूर्णं भोगिनां कान्तं श्मश्रु स्निग्धं शुभं मृदु ॥
संहतं चास्फुटिताग्रं रक्तश्मश्रुश्च चौरकः ।
रक्ताल्पपरुषश्मश्रुकर्णाः स्युः पापमृत्यवः ॥”
इति गारुडे ६६ अध्यायः ॥ * ॥
क्रोधार्त्तस्यावर्त्तनं यथा,—
मार्कण्डेय उवाच ।
“इति प्रतिज्ञाय तदा नरिष्यन्तसुतो दमः ।
कोपामर्षविवृत्ताक्षः श्मश्रुमावर्त्त्य पाणिना ॥
हा हतोऽस्मीति पितरं ध्यात्वा दैवं विनिन्द्य च ।
प्रोवाच मन्त्रिणः सर्व्वानानिनाय पुरोहितम् ॥”
इति मार्कण्डेयपुराणे शेषाध्यायः ॥ * ॥
अस्य धारणफलं यथा । दानधर्म्मे ।
“केशश्मश्रु धारयतामग्र्या भवति सन्ततिः ॥” *
तस्य क्षौरकर्म्म यथा । वराहपुराणम् ।
“श्मश्रुकर्म्म कारयित्वा नखच्छेदमनन्तरम् ।”
गोभिलः ।
“केशश्मश्रुलोमनखानि वापयीत शिखावर्जम् ।”
इति शुद्धितत्त्वम् ॥

श्मश्रुमुखी, स्त्री, (श्मश्रु मुखे यस्याः । ङीष् ।)
श्मश्रुयुक्ता नारी । तत्पर्य्यायः । पालिः २ पाली
३ । इति शब्दरत्नावली ॥ पोटा ४ । इति
जटाधरः ॥

श्मील, निमेषणे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-
अक०-सेट् ।) ओष्ठ्यवर्गशेषयुक्तः । श्मीलति
चक्षुः पक्ष्मभिरावृतं स्यादित्यर्थः । इति दुर्गा-
दासः ॥

श्यानः, त्रि, गतः । श्यैधातोः क्तप्रत्ययेन निष्पन्नः ॥

श्यामं, क्ली, (श्यैङ गतौ + “इषियुधीन्धीति ।”
उणा० १ । १४४ । इति मक् ।) मरिचम् ।
सिन्धुलवणम् । इति मेदिनी ॥

श्यामः, त्रि, (श्यायते मनो यस्मात् । श्यै + मक् ।)
कृष्णगुणविशिष्टः । (यथा, मनुः । ७ । २५ ।
“यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा ।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत् साधु पश्यति ॥”)
हरिद्गुणविशिष्टः । इत्यमरः ॥

श्यामः, पुं, (श्यै + मक् ।) प्रयागस्य वटः । (यथा,
रघुः । १३ । ५३ ।
“त्वया पुरस्तादुपयाचितो यः
सोऽयं वटः श्याम इति प्रतीतः ।
राशिर्मणीनामिव गारुड़ानां
सपद्मरागः फलितो विभाति ॥”)
मेघः । वृद्धदारकः । कोकिलः । कृष्णवर्णः ।
हरिद्वर्णः । इति मेदिनी ॥ धुस्तूरः । पीलु-
वृक्षः । श्यामाकः । इति राजनिर्घण्टः ॥ दम-
नकवृक्षः । गन्धतृणम् । इति विश्वः ॥ * ॥
श्यामवस्तूनि यथा,—
“कृष्णानि केशवः सौरिश्चौरं चन्द्राङ्कराहवः ।
विन्ध्याञ्जनाद्रिदैत्याहिवनभैरवराक्षसाः ॥
शिवकण्ठघनद्वैपायनरामधनञ्जयाः ।
शनिद्रुपदजा काली कलिकोलयमासुराः ॥
केशकज्जलकस्तूरीराजपट्टविदूरजम् ।

विषकोषकुहूश्मश्रुगुरुपापतमोनिशाः ॥
मसीपङ्कमहाम्भोधियमुनाधूमकोकिलाः ।
गोलाङ्गुलाग्रगुञ्जास्ये कण्ठः खञ्जनकेकिनोः ॥
श्रवणं नालतापिञ्छतिलेन्दीवरवल्लयः ।
रसविश्रुतशृङ्गारौ कटाक्षोऽलिः कनीनिका ॥
नीली जम्बूफलं मुस्ता काकतुल्या कुवीर्ययः ।
भिन्नच्छाया गजाङ्गारखलान्तःकरणादयः ॥"

इति कविकल्पलतायां २ श्लेषस्तवके ४ कुसुमम् ॥

श्यामकं, क्ली, (श्याम + संज्ञायां कन् ।) रोहिषतृणम् । इति राजनिर्घण्टः ॥ (कृष्णवर्णे, त्रि । यथा, बृहत्संहितायाम् । ६१ । ८ ।
"श्यामकपुष्पचिताङ्गी
भस्मारुणसन्निभो विडालाक्षः ॥")

श्यामकः, पुं, (श्यामं तद्वर्णं अकतीति । अक गतौ + अण् । शकन्ध्वादित्वात् साधु ।) श्यामाकः । इति हेमचन्द्रः ॥ (शूरस्य पुत्रविशेषः । सतु वसुदेवस्य भ्राता । इति भागवतम् ।९।२४।२९॥)

श्यामकण्ठः, पुं, (श्यामः कण्ठो यस्य ।) मयूरः । इति हलायुधः ॥ शिवः । पक्षिविशेषः । इति नीलकण्ठशब्ददर्शनात् ॥

श्यामकन्दा, स्त्री, (श्यामः कन्दो यस्याः ।) अतिविषा । इति राजनिर्घण्टः ॥

श्यामकाण्डा, स्त्री, (श्यामः काण्डो यस्याः ।) गण्डदूर्व्वा । इति राजनिर्घण्टः ॥

श्यामग्रन्थिः, स्त्री, (श्यामो ग्रन्थिर्यस्य ।) गण्डदूर्व्वा । इति राजनिर्घण्टः ॥

श्यामपत्त्रः, पुं, (श्यामानि पत्त्राणि यस्य ।) तमालवृक्षः । इति शब्दचन्द्रिका ॥

श्यामलः, पुं, (श्यामो वर्णः अस्त्यस्येति । श्याम + "सिध्मादिभ्यश्च ।"५।२।९७। इति लच् ।) कृष्णवर्णः । पिप्पलः । इति मेदिनी ॥ कृष्णगुणवति, त्रि । इत्यमरः ॥ (यथा, मुकुन्दमालायाम् ।२।
"जयतु जयतु मेघश्यामलः कोमलाङ्गो
जयतु जयतु पृथ्वीभारनाशो मुकुन्दः ॥")

श्यामलचूडा, स्त्री, (श्यामला चूडा यस्याः ।) गुञ्जा । इति राजनिर्घण्टः ॥

श्यामलता, स्त्री, (श्यामा लता ।) स्वनामख्यातलता । तत्पर्य्यायः । यथा, शब्दरत्नावल्याम् ।
"गोपी गोपा गोपवल्ली सारिवोत्पलसारिवा ।
अनन्ता शारिवा श्यामा त्वष्टौ श्यामलताह्वये ॥"
अपि च ।
"कालपेषी महाश्यामा सुभद्रोत्पलसारिवा ।
दीर्घमूला च पालिन्दी मसूरविदला च सा ॥"

इति रत्नमाला ॥

राजनिर्घण्टोक्तपर्य्यायगुणौ सारिवाशब्दे द्रष्टव्यौ ॥

श्यामला, स्त्री, पार्व्वती । श्यामं श्रीकृष्णं लाति ददातीति व्युत्पत्तिसिद्धा । इति केचित् ॥ अश्वगन्धा । कटभी । जम्बूः । कस्तूरी । इति राजनिर्घण्टः ॥

श्यामलिका, स्त्री, नीली । इति राजनिर्घण्टः ॥

श्यामलेक्षुः, पुं, (श्यामलः कृष्णवर्णः इक्षुः ।) कृष्णेक्षुः । इति राजनिर्घण्टः ॥

श्यामसुन्दरः, पुं, (श्यामः सुन्दरश्च ।) श्रीकृष्णः । यथा,—
"यावन्ति च शरीराणि भोगार्हाणि महामुने ।
प्राकृतानि च सर्व्वाणि श्रीकृष्णविग्रहं विना ॥
ध्यायन्ते योगिनस्तञ्च शुद्धं ज्योतिःस्वरूपिणम् ।
हस्तपादादिरहितं निर्गुणं प्रकृतेः परम् ॥
वैष्णवास्तं न मन्यन्ते तद्भक्ताः सूक्ष्मदर्शिनः ।
कुतो बभूव तज्ज्योतिरहो तेजस्विनं विना ।
ज्योतिरभ्यन्तरे नित्यं शरीरं श्यामसुन्दरम् ॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते गणपतिखण्डे ४१ अध्यायः ॥ *॥
अन्यच्च ।
"श्यामसुन्दर ते दास्यः करवाम तवोदितम् ।
देहि वासांसि धर्म्मज्ञ नो चेद्राज्ञे ब्रुवामहे ॥"
इति श्रीभागवते दशमस्कन्धे २२ अध्यायः ॥ *॥
अपि च ।
"ददर्श श्रीहरिं ब्रह्मा शङ्करश्च सुरैः सह ।
वसन्तं तन्मध्यदेशे यथेन्दुं तारकावृतम् ॥
अमूल्यरत्ननिर्म्माणसर्व्वभूषणभूषितम् ।
किरीटिनं कुण्डलिनं वनमालाविभूषितम् ॥
शङ्खचक्रगदापद्मधारिणञ्च चतुर्भुजम् ।
नवीननीरदश्यामसुन्दरं सुमनोहरम् ॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते प्रकृतिखण्डे १४ अध्यायः ॥

श्यामा, स्त्री, (श्यामो वर्णोऽस्त्यस्या इति । अच् । टाप् ।) शारिवौषधी । अप्रसूताङ्गना । प्रियङ्गुः । वागुजिः । यमुना । रात्रिः । कृष्णत्रिवृतिका । नीलिका । इति मेदिनी ॥ गुग्गुलुः । सोमलता । गुन्द्रा । कृष्णा । अम्बिका । इति विश्वः ॥ गुडूची । कस्तूरी । वटपत्त्री । वन्दा । नीलपुनर्नवा । पिप्पली । हरिद्रा । नीलदूर्व्वा । तुलसी । पद्मवीजम् । गौः । स्त्री । छाया । कृष्णसारिवा । शिंशपा । इति राजनिर्घण्टः ॥ (नारीविशेषः । यथा, भट्टिः । ५ । १८ ।
"योषिद्वृन्दारिका तस्य दयिता हंसनादिनी ।
दूर्व्वाकाण्डमिव श्यामा न्यग्रोधपरिमण्डला ॥"
तल्लक्षणं यथा, तट्टीकायाम् ।
"शीते सुखोष्णसर्व्वाङ्गी ग्रीष्मे च सुखशीतला ।
तप्तकाञ्चनवर्णाभा सा स्त्री श्यामेति कथ्यते ॥")
पक्षिविशेषः । श्यामा इति भाषा । तत्पर्य्यायः । वराही २ शकुनी ३ कुमारी ४ दुर्गा ५ देवी ६ चटका ७ कृष्णा ८ पोतकी ९ पाण्डविका १० वामा ११ कालिका १२ शितिसिम्बिनी १३ । इति राजनिर्घण्टः ॥ *॥ श्यामाया उत्पत्तिर्यथा,
"ततः सा कालिका देवी योगनिद्रा जगन्मयी ।
पूर्व्वत्यक्तसतीरूपा जन्मार्थं मेनकां ययौ ॥
समयस्यानुरूपेण मेनकाजठरे शिवा ।
सम्भूय च समुत्पन्ना सा लक्ष्मीरिव सागरात् ॥
वसन्तसमये देवी नवम्यां मृगयोगतः ।
अर्द्धरात्रौ समुत्पन्ना गङ्गेव शशिमण्डलात् ॥
ततस्तस्यान्तु जातायां प्रसन्नाश्चाभवन् दिशः ।
सानुकूलो ववौ वायुर्गम्भीरो गन्धिलः शुभः ॥
बभूव पुष्पवृष्टिश्च तोयवृष्टिः परा तथा ।
जज्वलुश्चाग्नयः शान्ता जगर्ज्जुश्च घना घनम् ॥
तस्यान्तु जायमानायां सर्व्वं स्वास्थ्यमपद्यत ।
तान्तु दृष्ट्वा यथाजातां नीलोत्पलदलानुगाम् ॥
श्यामां सा मेनका देवी मुदमापातिहर्षिता ।
देवाश्च हर्षमतुलं प्रापुस्तत्र मुहुर्मुहुः ॥
तुष्टुवुस्तामन्तरीक्षे गन्धर्व्वाश्चाप्सरोगणाः ।
तान्तु नीलोत्पलदलश्यामां हिमवतः सुताम् ॥
कालीति नाम्ना हिमवानाजुहाव कृते दिने ।
बान्धवास्तु स्वसन्तानां नाम्ना तां पार्व्वतीति च ।
कालीति च तथा नाम्ना कीर्त्तिता गिरिनन्दिनी ॥"

इति कालिकापुराणे ४० अध्यायः ॥ *॥

अथ श्यामामन्त्राः । क्रीँ क्रीँ क्रीँ हूँ हूँ ह्रीँ ह्रीँ दक्षिणे कालिके क्रीँ क्रीँ क्रीँ हूँ हूँ ह्रीँ ह्रीँ स्वाहा । यथा, कालीतन्त्रे ।
"कामत्रयं वह्निसंस्थं रतिबिन्दुसमन्वितम् ।
कूर्च्चयुग्मं तथा लज्जायुगलं तदनन्तरम् ॥
दक्षिणे कालिके चेति पूर्व्वबीजानि चोच्चरेत् ।
अन्ते वह्निवधूं दद्यात् विद्या राज्ञी प्रकीर्त्तिता ॥"
मन्त्रार्थमाह यामले ।
"ककारोज्ज्वलरूपत्वात् केवलं मोक्षदायिनी ।
ज्वलनार्णसमायोगात् सर्व्वतेजोमयी शुभा ।
मायात्रयेण देवेशि सृष्टिस्थित्यकारिणी ॥
बिन्दूनां निष्फलत्वाच्च कैवल्यफलदायिनी ।
बीजत्रया शाम्भवी सा केवलं ज्ञानचित्कला ॥
शब्दबीजद्वयेनैव शब्दराशिप्रबोधिनी ।
लज्जाबीजद्वयेनैव सृष्टिस्थित्यन्तकारिणी ॥
सम्बोधनपदेनैव सदा सन्निधिकारिणी ।
स्वाहया जगतां माता सर्व्वपापप्रणाशिनी ॥"
अस्याः पूजाप्रयोगः । प्रातःकृत्यादिकं कृत्वा मन्त्राचमनं कुर्य्यात् । यथा,—
"कालिकाभिः त्रिभिः पीत्वा काल्यादिभिरुपस्पृशेत् ।
द्वाभ्यामोष्ठौ द्विरुन्मृज्य चकेन क्षालयेत् करम् ॥
मुखघ्राणचक्षुःश्रोत्रनाभ्युरस्कं भुजौ क्रमात् ।
आचम्यैवं भवेत् काली वत्सरात्तां प्रपश्यति ॥"
कं शिरः । तद्यथा । क्रीमिति त्रिराचामेत् । ॐ काल्यै नमः कपालिन्यै नमः इति ओष्ठौ द्विरुन्मृजेत् । ॐ कुल्लायै नमः इति करं क्षालयेत् । ॐ कुरुकुल्लायै नमः इति मुखे । ॐ विरोधिन्यै नमः इति दक्षिणनासायाम् । ॐ विप्रचित्तायै नमः इति वामनासायाम् । ॐ उग्रायै नमः ॐ उग्रप्रभायै नमः इति नेत्रयोः । ॐ दीप्तायै नमः ॐ नीलायै नमः इति श्रोत्रयोः । ॐ घनायै नमः इति नाभौ । ॐ बलाकायै नमः इति वक्षसि । ॐ मात्रायै नमः इति शिरसि । ॐ मुद्रायै नमः ॐ मितायै नमः इत्यंसयोः । इति मन्त्राचमनम् । * । ततो भूतशुद्ध्यन्तं विधाय मायाबीजेन यथाविधि

प्राणायामत्रयं कुर्य्यात् ॥ * ॥ ऋष्यादिन्यासः। यथा। अस्य मन्त्रस्य भैरव ऋषिरुष्णिक् छन्दो दक्षिणकालिका देवता ह्रीँ बीजं हूँ शक्तिः क्रीँ कीलकं पुरुषार्थचतुष्टयसिद्ध्यर्थे विनियोगः। तथा च कालीक्रमे।
"कीलकं चाद्यबीजं स्यात् चतुर्व्वर्गफलप्रदम्।"
शिरसि भैरवाय ऋषये नमः। मुखे उष्णिकछन्दसे नमः। हृदि दक्षिणकालिकायै देवतायै नमः। गुह्ये ह्रीँ बीजाय नमः। पादयोः हूँ शक्तये नमः। सर्व्वाङ्गे क्रीँ कीलकाय नमः ॥*
ततः कराङ्गन्यासौ। तदुक्तं कालीतन्त्रे।
"अङ्गन्यासकरन्यासौ यथावदभिधीयते।
भैरवोऽस्य ऋषिः प्रोक्तः उष्णिक् छन्द उदाहृतम् ॥
देवता कालिका प्रोक्ता लज्जाबीजन्तु बीजकम्।
कीलकं चाद्यबीजं स्याच्चतुर्व्वर्गफलप्रदम् ॥
शक्तिश्च कूर्च्चबीजं स्यादनिरुद्धा सरस्वती।
कवित्वार्थे नियोगः स्यादित्यादि तेन मायया ॥"
षड़ङ्गन्यासः।
"षड़्दीर्घभाजा बीजेन प्रणवाद्येन कल्पयेत्।"
वीरतन्त्रेऽपि।
"दीर्घषट्कयुताद्येन प्रणवाद्येन कल्पयेत्।"
इति वा। तद्यथा। ॐ क्रां अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। ॐ क्रीँ तर्ज्जनीभ्यां स्वाहा। ॐ क्रूँ मध्यमाभ्यां वषट्। ॐ क्रैँ अनामिकाभ्यां हुँ। ॐ क्रौँ कनिष्ठाभ्यां वौषट्। ॐ क्रः करतलपृष्ठाभ्यां फट्। एवं हृदयादिषु। ॐ क्राँ हृदयाय नमः इत्यादि। एवं ॐ ह्राँ अङ्गुष्ठाभ्यां नमः इत्यादि वा ॥ * ॥ ततो वर्णन्यासः। अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं लृं ॡं नमः इति हृदये। एं ऐं ओँ औँ अं अः कं खं गं घं नमः इति दक्षिणबाहौ। ङं चं छं जं झं ञं टं ठं डं ढं नमः इति वामबाहौ। णं तं थं दं धं नं पं फं बं भं नमः इति दक्षिणपादे। मं यं रं लं वं शं षं सं हं ळं क्षं नमः इति वामपादे। विकल्पपक्षमते सबिन्दुरयं न्यासः। यथा वीरतन्त्रे। अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं लृं ॡं वै हृदये न्यसेदित्यादि। पुनर्निर्बिन्दुर्यथा। अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ॡ वै हृदयं स्पृशेदित्यादि। किन्तु सबिन्दून् वा न्यसेदेतान् निर्व्विन्दून् वाथ वर्णकान् इत्याचार्य्यपरिगृहीतभैरवीयवाक्यात् उभयमेव युक्तम् ॥ * ॥ अथ षोढ़ान्यासः। तदुक्तं वीरतन्त्रे।
"केवलां मातृकां कृत्वा मातृकां तारसंपुटाम्।
मातृकापुटितं तारं न्यसेत् साधकसत्तमः ॥
श्रीबीजपुटितां तान्तु मातृकापुटितन्तु तत्।
कामेन पुटितां देवीं तत्पुटं काममेव च ॥
शक्त्या च पुटितां देवीं शक्तिञ्च तत्पुटां न्यसेत्।
क्रीं दन्दच पुनर्न्यस्वा ऋ-ॠ लृ-ॡ-च पूर्व्ववत्।
मूलेन पुटितां देवीं तत्पुटं मन्त्रमेव च ॥
अनुलोमविलोमेन न्यस्त्वा मन्त्रं यथाविधि।
मूलेनाष्टशतं कुर्य्याद्व्यापकं तदनन्तरम् ॥"

यथा ॐ अं ॐ एवं मातृकापुटिततारम्। एवं श्रीबीजपुटितां ताम्। तत्पुटितं श्रीबीजम्। एवं कामेन पुटितां मातृकाम्। मातृकापुटितं कामम्। एवं शक्त्या पुटितां मातृकां मातृकापुटितां शक्तिं न्यसेत्। तथा क्रीं दन्दच ऋ-ॠ-लृ-ॡ-च पूर्व्ववत्। तत्पुटितां मातृकां न्यसेत्। मातृकापुटितञ्च तत्। मन्त्रपुटितां मातृकां तत्पुटितं मनुम्। पुनरनुलोमविलोमेन केवलं मातृकास्थाने न्यस्य मूलेनाष्टशतेन व्यापकं कुर्य्यात् अयं न्यासस्तारायां अपि कार्य्यः।
"इति गुप्तेन दुर्गाया अङ्गषोढ़ाः प्रकीर्त्तिताः।
तारायाः कालिकायाश्च उन्मुख्याश्च तथापरे ॥
एतस्मिन् न्यासवर्य्ये च सर्व्वं पापं प्रणश्यति ॥"
ततस्तत्त्वन्यासः। यथामूलं त्रिखण्डं विधाय प्रथमखण्डान्ते ॐ आत्मतत्त्वाय स्वाहेति पादादिनाभिपर्य्यन्तम्। द्वितीयखण्डान्ते ॐ विद्यातत्त्वाय स्वाहा इति नाभ्यादिहृदयान्तम्। तृतीयखण्डान्ते ॐ शिवतत्त्वाय स्वाहा इति हृदयादिशिरःपर्य्यन्तं न्यसेत्। तदुक्तं स्वतन्त्रे।
"मूलविद्यात्रिखण्डान्तं प्रणवाद्यैर्यथाविधि।
आत्मविद्या शिवैस्तत्त्वैस्तत्त्वन्यासं समाचरेत् ॥"
अथ बीजन्यासः। तदुक्तं कुमारीकल्पे।
"ब्रह्मरन्ध्रे भ्रुवोर्म्मध्ये ललाटे नाभिदेशके।
गुह्ये वक्त्रे च सर्व्वाङ्गे सप्तबीजं क्रमान्न्यसेत् ॥"
यथा आद्यबीजं ब्रह्मरन्ध्रे द्वितीयबीजं भ्रूमध्ये तृतीयबीजं ललाटे चतुर्थबीजं नाभौ पञ्चमबीजं गुह्ये षष्ठबीजं वक्त्रे सप्तमबीजं सर्व्वाङ्गे। एतन्न्यासत्रयं काम्यम् ॥*॥ ततो मूलेन सप्तधा व्यापकन्यासं कृत्वा यथाविधि मुद्रां प्रदर्श्य ध्यायेत्। यथा कालीतन्त्रे।
"करालवदनां घोरां मुक्तकेशीं चतुर्भुजाम्।
कालिकां दक्षिणां दिव्यां मुण्डमालाविभूषिताम् ॥
सद्यश्छिन्नशिरःखड्गवामाधोर्द्धकराम्बुजाम्।
अभयं वरदञ्चैव दक्षिणोर्द्धाधःपाणिकाम् ॥
महामेघप्रभां श्यामां तथा चैव दिगम्बरीम्।
कण्ठावसक्तमुण्डालीगलद्रुधिरचर्च्चिताम् ॥
कर्णावतंसतानीतशवयुग्मभयानकाम्।
घोरदंष्ट्रां करालास्यां पीनोन्नतपयोधराम् ॥
शवानां करसंघातैः कृतकाञ्चीं हसन्मुखीम्।
सृक्कद्वयगलद्रक्तधाराविस्फुरिताननाम् ॥
घोररावां महारौद्रीं श्मशानालयवासिनीम्।
बालार्कमण्डलाकारलोचनत्रितयान्विताम् ॥
दन्तुरां दक्षिणव्यापिमुक्तालम्बिकचोच्चयाम्।
शवरूपमहादेवहृदयोपरिसंस्थिताम् ॥
शिवाभिर्घोररावाभिश्चतुर्दिक्षु समन्विताम्।
महाकालेन च समं विपरीतरतातुराम् ॥
सुखप्रसन्नवदनां स्मेराननसरोरुहाम्।
एवं सञ्चिन्तयेत् कालीं सर्व्वकामार्थसिद्धिदाम् ॥"*॥
शवयुग्मेति घोरवाणावतंसेति प्रेतकर्णावतंसेति च। शकुन्तपञ्चसंयुक्तवाणकर्णविभूषितामिति। विगतासुकिशोराभ्यां कृतकर्णावतंसिनीमिति च दर्शनादुभयमेव पाठः ॥*॥ ध्यानान्तरं स्वतन्त्रे
"अञ्जनाद्रिनिभां देवीं करालवदनां शिवाम्।
मुण्डमालावलीकीर्णां मुक्तकेशीं स्मिताननाम् ॥
महाकालहृदम्भोजस्थितां पीनपयोधराम्।
विपरीतरतासक्तां घोरदंष्ट्रां शिवैः सह ॥
नागयज्ञोपवीताढ्यां चन्द्रार्द्धकृतशेखराम्।
सर्व्वालङ्कारयुक्ताञ्च मुण्डमालाविभूषिताम् ॥
मृतहस्तसहस्रैस्तु बद्धकाञ्चीं दिगंशुकाम्।
शिवाकोटिसहस्रैस्तु योगिनीभिर्व्विराजिताम् ॥
रक्तपूर्णमुखाम्भोजां मद्यपानप्रमत्तिकाम्।
वह्न्यर्कशशिनेत्राञ्च रक्तविस्फुरिताननाम् ॥
विगतासुकिशोराभ्यां कृतकर्णावतंसिनीम्।
कण्ठावसक्तमुण्डालीगलद्रुधिरचर्च्चिताम् ॥
श्मशानवह्निमध्यस्थां ब्रह्मकेशववन्दिताम्।
सद्यःकृत्तशिरःखड्गवराभीतिकराम्बुजाम् ॥"
ध्यानान्तरं रहस्ये। यथा,—
"शवारूढ़ां महाभीमां घोरदंष्ट्रां हसन्मुखीम्।
चतुर्भुजां खड्गमुण्डवराभयकरां पराम् ॥
मुण्डमालाधरां देवीं ललज्जिह्वां दिगम्बरीम्
एवं सञ्चिन्तयेत् कालीं श्मशानालयवासिनीम् ॥"
एवं ध्यात्वा मानसैः संपूज्य शङ्खस्थापनं कुर्य्यात्। यथा। स्ववामे भूमौ हूं कारगर्भं त्रिकोणं विलिख्य अर्घ्यपात्रं संस्थाप्य मूलेन शुद्धजलादिना शङ्खादिपात्रमापूर्य्य गन्धादिकं दत्त्वा ॐ गङ्गे चेत्यादिना तीर्थमावाह्य मं वह्निमण्डलाय दशकलात्मने नमः इत्याधारम्। अं सूर्य्यमण्डलाय द्वादशकलात्मने नमः इति शङ्खम्। उं सोममण्डलाय षोड़शकलात्मने नमः इति जलं संपूज्य। ॐ ह्रां हृदयाय नमः। ॐ ह्रीं शिरसे स्वाहा। ॐ ह्रूँ शिखायै वषट्। ॐ ह्रैँ कवचाय हूँ इत्यग्नीशासुरवायुषु। अग्रे ॐ ह्रौँ नेत्रत्रयाय वौषट्। चतुर्दिक्षु ॐ ह्रः अस्त्राय फट्। इत्यभ्यर्च्य तदुपरि मत्स्यमुद्रयाच्छाद्य मूलं दशधा जप्त्वा धेनुमुद्रया अमृतीकृत्य अस्त्रेण संरक्ष्य भूतिनीयोनिमुद्रे प्रदर्श्य तज्जलं किञ्चित् प्रोक्षणीपात्रे निःक्षिप्य मूलेन तेनोदकेनात्मानं पूजोपकरणञ्चाभ्युक्ष्य पीठपूजामारभेत् ॥ * ॥ अस्याः पूजायन्त्रम्। आदौ बिन्दुं स्वबीजं भुवनेशीञ्च विलिख्य ततस्त्रिकोणं तद्बाह्ये त्रिकोणचतुष्टयं वृत्तमष्टदलं पद्मं पुनर्वृत्तं चतुर्द्वारात्मकं भूगृहं लिखेत्। तदुक्तं कालीतन्त्रे।
"आदौ त्रिकोणमालिख्य त्रिकोणं तद्बहिर्लिखेत्।
ततो वै विलिखेन्मन्त्री त्रिकोणत्रयमुत्तमम् ॥
ततो वृत्तं समालिख्य लिखेदष्टदलं ततः।
वृत्तं विलिख्य विधिवल्लिखेद्भूपुरमेककम् ॥"
कुमारीकल्पे।
"मध्ये तु बैन्दवं चक्रं बीजमायाविभूषितम् ॥"
इति ॥ * ॥
अथ विशेषाधारो मुण्डमालायाम्।
"ताम्रपात्रे कपाले वा श्मशानकाष्ठनिर्म्मिते।
शनिभौमदिने वापि शरीरे मृतसम्भवे ॥
स्वर्णे रौप्येऽथ लौहे वा चक्रं कार्य्यं विधानतः ॥"

यन्त्रान्तरमाह तन्त्रे ।
"शक्तिभिश्चाथ षट्कोणं शक्तिभिश्च नवात्मकम् ।
पद्मं वसुदलं भूमिपूरचतुर्द्वारसंयुतेति ॥*॥
पीठपूजां ततः कुर्य्यादाधारशक्तिपूर्व्वकम् ।
प्रकृतिं कमठञ्चैव शेषं पृथ्वीं तथैव च ॥
सुधाम्बुधिं मणिद्वीपं चिन्तामणिगृहं तथा ।
श्मशानं पारिजातञ्च तन्मूले रत्नवेदिकाम् ॥
तस्योपरि मणेः पीठं न्यसेत् साधकसत्तमः ।
चतुर्द्दिक्षु मुनीन् देवान् शिवाश्च शवमुण्ड-
कान् ॥"
धर्म्माद्यधर्म्मादींश्चेत्यादि ह्रीँ ज्ञानात्मने नमः
इत्यन्तं संपूज्य केशरेषु पूर्व्वादिक्रमेण पूजयेत् ।
"इच्छा ज्ञाना क्रिया चैव कामिनी काम-
दायिनी ॥
रती रतिप्रिया नन्दा मध्ये चैव मनोन्मनी ॥"
सर्व्वत्र प्रणवादिनमोऽन्तेन पूजयेत् । तदुपरि
ह्सौः सदाशिवमहाप्रेतपद्मासनाय नमः ॥ * ॥
ततः पुनर्ध्यात्वा पुष्पाञ्जलावानीय मूलमन्त्र-
कल्पितमूर्त्तावावाहयेत् ।
"ॐ देवेशि भक्तिसुलभे परिवारसमन्विते ।
यावत्त्वां पूजयिष्यामि तावत् त्वं सुस्थिरा भव ॥"
ततो मूलमुच्चार्य्य अमुकीदेवि इहावह इह
तिष्ठ इह सन्निधेहि इह सन्निरुध्यस्व इह सन्नि-
हिता भव । ततः हूमित्यवगुण्ठ्य अङ्गमन्त्रैः
सकलीकृत्य धेनुमुद्रया अमृतीकृत्य परमी-
करणमुद्रया परमीकृत्य भूतिन्याकर्षिणीयोनि-
मुद्राः प्रदर्श्य प्राणप्रतिष्ठां विधाय मूलेन पाद्या-
दिभिः पूजयेत् । ततो मूलमुच्चार्य्य एतत् पाद्य-
ममुकदेवतायै नमः । एवमर्घ्यं स्वाहा । आच-
मनीयं स्वधा । स्नानीयं निवेदयामि । पुनरा-
चमनीयं स्वधा । एष गन्धो नमः । एतानि
पुष्पाणि वौषट् । ततो मूलेन पञ्च पुष्पाञ्जलीन्
दत्त्वा धूपदीपौ दद्यात् । वनस्पतीत्यादि पठन्
मूलमुच्चार्य्य एष धूपो नमः । दीपमन्त्रस्तु ।
"सुप्रकाशो महादीपः सर्व्वतस्तिमिरापहः ।
सबाह्याभ्यन्तरं ज्योतिर्दीपोऽयं प्रतिगृह्यताम् ॥"
मूलमुच्चार्य्य एष दीपो नमः । ततः ॐ जय-
ध्वनिमन्त्रमातः स्वाहा इति घण्टां संपूज्य वाम-
हस्तेन तां वादयन् गोघृतधूपं दत्त्वा दृष्टिपर्य्यन्तं
दीपं दद्यात् । ततो मूलेन पुष्पाञ्जलित्रयं दत्त्वा
यथोपपन्नं नैवेद्यं दत्त्वा आवरणपूजां कुर्य्यात् ॥
श्रीअमुकीदेवि आवरणं ते पूजयामि इत्याज्ञां
गृहीत्वा केशरेष्वग्न्यादिकोणेषु ॐ ह्रां हृद-
याय नमः । ॐ ह्रीँ शिरसे स्वाहा । ॐ ह्रूँ
शिखायै वषट् । ॐ ह्रैँ कवचाय हूँ । ॐ ह्रौँ
नेत्रत्रयाय वौषट् । चतुर्द्दिक्षु ॐ ह्रः अस्त्राय
फट् । बहिःषट्कोणे ॐ काल्यै नमः । सर्व्वत्र
प्रणवादिनमोऽन्तेन कपालिन्यै कुल्लायै कुरु-
कुल्लायै विरोधिन्यै विप्रचित्तायै उग्रायै उग्र-
प्रभायै दीप्तायै इत्यन्तत्र्यस्रे । ॐ नीलायै नमः ।
एवं घनायै बलाकायै इति द्वितीयत्र्यस्रे । एवं
मात्रायै मुद्रायै मितायै इति तृतीयत्र्यस्रे ।

"सर्व्वाः श्यामा असिकरा मुण्डमालाविभूषिताः ।
तर्ज्जनीं वामहस्तेन धारयन्त्यः शुचिस्मिताः ॥
दिगम्बर्य्यो हसन्मुख्यः स्वस्ववाहनभूषिताः ॥"
एवं ध्यात्वार्चयेत् ॥ * ॥ ततोऽष्टपत्रेषु पूर्व्वादि-
क्रमेण ॐ ब्राह्म्यै नमः । एवं नारायण्यै माहे-
श्वर्य्यै चामुण्डायै कौमार्य्यै अपराजितायै वाराह्यै
नारसिंह्यै एता गन्धादिभिः पूजयेत् । पत्राग्रे
असिताङ्गादिभैरवान् पूजयेत् । ततो मूलेन
पुष्पाञ्जलित्रयं दत्त्वा पाद्यादिना महाकालं
पूजयेत् ॥ * ॥ तस्य ध्यानम् ।
"महाकालं यजेद्देव्या दक्षिणे धूम्रवर्णकम् ।
बिभ्रतं दण्डखट्वाङ्गौ दंष्ट्राभीममुखं शिशुम् ॥
व्याघ्रचर्म्मावृतकटिं तुन्दिलं रक्तवाससम् ।
त्रिनेत्रं मुक्तकेशञ्च मुण्डमालाविभूषितम् ॥
जटाभारलसच्चन्द्रखण्डमुग्रं ज्वलन्निभम् ॥"
तथा च कुमारीकल्पे ।
"देव्यास्तु दक्षिणे भागे महाकालं प्रपूजयेत् ।"
हूँ स्फ्रौँ यां रां लां वां क्रां क्रौं महाकाल-
भैरव सर्व्वविघ्नान्नाशय नाशय ह्रीँ श्रीँ फट्
स्वाहा इत्यनेन पाद्यादिभिराराध्य त्रिस्तर्पयित्वा
मूलेन देवीं पञ्चोपचारैः पूजयेत् । तथा च
कालीतन्त्रे ।
"महाकालं यजेद्यत्नात् पश्चाद्देवीं प्रपूजयेत् ।"
कालीकल्पे ।
"कवचं स्फ्रौँ समुद्धृत्य यां रां लां वां क्रां च
क्रोन्ततः ।
महाकालभैरवेति सर्व्वविघ्नान्नाशयेति च ॥
नाशयेति पुनः प्रोच्य मायां लक्ष्मीं समुद्धरेत् ।
फट् स्वाहया समायुक्तो मन्त्रः सर्व्वार्थसाधकः ॥"
ततो देवीं ध्यात्वा यथाशक्ति जप्त्वा गुह्येत्यादिना
वामहस्ते जपं समर्प्य आत्मसमर्पणं कुर्य्यात् ।
ततः स्तुत्वा प्रदक्षिणीकृत्य अष्टाङ्गप्रणामं कृत्वा
श्रीजगन्मङ्गलं नाम कवचं पठेत् ॥ * ॥ ततो
आवरणदेवता देव्यङ्गे विलोप्य संहारमुद्रया
अमुकीदेवि क्षमस्वेति विसृज्य तत्तेजःपुष्पेण
समं स्वहृदारोपयेत् ।
"उत्तरे शिखरे देवि भूम्यां पर्व्वतवासिनि ।
ब्रह्मयोनिसमुत्पन्ने गच्छ देवि ममान्तरम् ॥"
इति मन्त्रेण ॥*॥
ततस्तन्नैवेद्यं किञ्चिदुच्छिष्टचाण्डालिन्यै नमः
इत्यैशान्यां दिशि दत्त्वा शेषमिष्टेभ्यो दत्त्वा
किञ्चित् स्वीकृत्य पादोदकं पीत्वा निर्म्माल्यं
शिरसि विधृत्य यथेच्छं विहरेत् ॥ * ॥ ततो
यन्त्रलेपं वामहस्ते कृत्वा सव्यहस्तकनिष्ठया
मायाबीजं विलिख्य तया तिलकं कुर्य्यात् ।
तथा च ।
"वामे कृत्वा यन्त्रलेपं मायां सव्यकनिष्ठया ।
विलिख्य तिलकं कुर्य्यात् मन्त्रज्ञानेन साधकः ॥
ॐ यं यं स्पृशामि पादेन यो मां पश्यति
चक्षुषा ।
स एव दासतां यातु राजानो दुष्टदस्यवः ॥"
जपकाले तु कर्पूरयुक्ता जिह्वा कार्य्या ।

"कर्पूराढ्या सदा जिह्वा कर्त्तव्या जपकर्म्मणि ।"
इति विश्वसारवाक्यात् इयं काम्यजप इति
तत्त्वम् । ततो मूलेनाष्टोत्तरशताभिमन्त्रितं पुष्पं
चन्दनञ्च धृत्वा त्रैलोक्यं वशमानयेत् ।
"सर्व्वसिद्धियुतो भूत्वा भैरवो वत्सराद्भवेत् ।"
अस्य पुरश्चरणं लक्षद्वयजपः । तथा च काली-
तन्त्रे ।
"लक्षमेकं जपेन्मन्त्रं हविष्याशी दिवा शुचिः ।
रात्रौ ताम्बूलपूरास्यः शय्यायां लक्षमानतः ॥"
व्यवस्थामाह स्वतन्त्रे ।
"दिवा लक्षं शुचिर्भूत्वा हविष्याशी जपेन्नरः ।
ततस्तु तद्दशांशेन होमयेत् हविषा प्रिये ॥"
अत्राङ्गस्य कालान्तरमाह नीलसारस्वते ।
"लक्षमेकं जपेन्मन्त्रं हविष्याशी दिवा शुचिः ।
अशुचिश्च तथा रात्रौ लक्षमेकं तथैव च ॥"
"दशांशं होमयेन्मन्त्री तर्पयेदभिषेचयेत् ।" इति
साम्प्रदायिकाः । वस्तुतस्तु कुमारीकल्पे ।
"लक्षमेकं जपेद्विद्यां हविष्याशी दिवा शुचिः ।
रात्रौ ताम्बूलपूरास्यः शय्यायां लक्षमानतः ॥"
रात्रिजपे तु कालो मुण्डमालायाम् ।
"गते तु प्रथमे यामे तृतीयप्रहरावधि ।
निशायान्तु प्रजप्तव्यं रात्रिशेषे जपेन्न तु ॥
एवं लक्षद्वयं जप्त्वा तद्दशांशेन मन्त्रवित् ।
अयुतं होमयेद्देवि दिवारात्रिविभेदतः ॥"
तेन दिवा लक्षं जप्त्वा तद्दशांशं होमं कुर्य्यात् ।
रात्रौ लक्षं जप्त्वा तद्दशांशं होमं कुर्य्यादिति
रहस्यार्थः ।
"द्विजातीनाञ्च सर्व्वेषां दिवा विधिरिहोच्यते ।
शूद्राणाञ्च तथा प्रोक्तं रात्राविष्टं महाफलम् ॥"
अन्यत्र च ।
"दिवैव प्रजपेन्मन्त्रं न तु रात्रौ कदाचन ॥"*॥
अथ मन्त्रभेदाः ।
क्रीँ । १ । क्रीँ क्रीँ क्रीँ । ३ । अनयोः पूजा-
प्रयोगः सर्व्वं पूर्व्ववत् । ध्यानं सिद्धेश्वरतन्त्रे ।
"शवारूढ़ां महाभीमां घोरदंष्ट्रां वरप्रदाम् ।
हास्ययुक्तां त्रिनेत्राञ्च कपालकर्त्तृकाकराम् ॥
मुक्तकेशीं ललज्जिह्वां पिबन्तीं रुधिरं मुहुः ।
चतुर्ब्बाहुयुतां देवीं वराभयकरां स्मरेत् ॥"
अनयोः पुरश्चरणं लक्षजपः ॥ * ॥ ॐ ह्रीँ ह्रीँ
हूँ हूँ क्रीँ क्रीँ क्रीँ दक्षिणे कालिके क्रीँ क्रीँ
क्रीँ हूँ हूँ ह्रीँ ह्रीँ । २१ । अस्याः पूजादिकं
दक्षिणावत् कार्य्यम् । पुरश्चरणं लक्षजपः ॥*॥
ॐ ह्रीँ ह्रीँ हूँ हूँ क्रीँ क्रीँ क्रीँ दक्षिणे
कालिके क्रीँ क्रीँ क्रीँ हूँ हूँ ह्रीँ ह्रीँ
स्वाहा । २३ ॥ * ॥ ह्रीँ ह्रीँ हूँ हूँ क्रीँ क्रीँ
क्रीँ दक्षिणे कालिके क्रीँ क्रीँ क्रीँ हूँ हूँ ह्रीँ
ह्रीँ स्वाहा । २२ ॥ * ॥ ह्रीँ ह्रीँ हूँ हूँ क्रीँ
क्रीँ क्रीँ दक्षिणे कालिके क्रीँ क्रीँ क्रीँ हूँ हूँ
ह्रीँ ह्रीँ ।२०। ध्यानपूजादिकं दक्षिणावत् ॥*॥
क्रीँ क्रीँ क्रूँ ।३। * । ॐ ह्रीँ क्रीँ मे स्वाहा ।६।
अस्याः पूजाप्रयोगः । अस्य भैरव ऋषिर्व्विराट्
छन्दः सिद्धकाली ब्रह्मरूपा भुवनेश्वरी देवता

निजबीजं बीजं लज्जाबीजं शक्तिः। वर्ण-न्यासादि दक्षिणावत्। ध्यानन्तु।
"खड्गाङ्ग्निन्दुखण्डस्वदन्ततरसाम्नाविताङ्गी त्रिनेत्रा
सव्ये पाणौ कपालोद्गलदसृजमथो मुक्तकेशी पिबन्ती।
दिग्वस्त्रावद्धकाञ्चीमणिमयमुकुटाद्यैर्युता दीप्त-जिह्वा
पायान्नीलोत्पलाभा रविशशिविलसत्कुण्डला-लीढ़पादा॥"
एवं ध्यात्वा दक्षिणावत् सर्व्वं कार्य्यम्। पुरश्चर-णन्तु एकविंशतिसहस्रजपः॥*॥ क्रीँ ह्रीँ ह्रीँ। ३॥*॥ क्रीँ क्रीँ क्रीँ स्वाहा। ५॥*॥ क्रीँ क्रीँ क्रीँ फट् स्वाहा। ६॥*॥ क्रीँ क्रीँ क्रीँ क्रीँ क्रीँ क्रीँ स्वाहा। ८॥*॥ ऐँ नमः। क्रीँ ऐँ नमः। क्रीँ कालिकायै स्वाहा। १४॥*॥ एतस्याः पूजाप्रयोगः। अस्य दक्षिणा मूर्त्ति-ऋषिः पंक्तिश्छन्दः कालिका देवता। ध्यानन्तु।
"चतुर्भुजा कृष्णवर्णा मुण्डमालाविभूषिता।
खड्गञ्च दक्षिणे पाणौ बिभ्रतीन्दीवरद्वयम्॥
कर्त्तृञ्च खर्परञ्चैव क्रमाद्वामेन बिभ्रती।
द्यां लिखन्तीं जटामेकां बिभ्रती शिरसाद्वयी॥
मुण्डमालाधरा शीर्षे ग्रीवायामथ चापराम्।
वक्षसा नागहारञ्च बिभ्रती रक्तलोचना॥
कृष्णवस्त्रधरा कट्यां व्याघ्राजिनसमन्विता।
वामपादं शववक्षसि संस्थाप्य दक्षिणं पदम्॥
विलाप्य सिंहपृष्ठे तु लेलिहाना शवं स्वयम्।
साट्टहासा महाघोररावयुक्ता सुभीषणा॥"
ध्यानमेवं अन्यत् सर्व्वं दक्षिणावत्। पुरश्चरणं लक्षद्वयजपः। अन्यासां मन्त्रवर्णसंख्यलक्ष-जपः॥*॥ क्रीँ ह्रीँ ह्रीँ दक्षिणे कालिके स्वाहा।११॥*॥ क्रीँ हूँ ह्रीँ दक्षिणे कालिके फट्। १०॥*॥ क्रीँ क्रीँ हूँ हूँ ह्रीँ ह्रीँ दक्षिणे कालिके क्रीँ क्रीँ हूँ हूँ ह्रीँ ह्रीँ स्वाहा।२०। एतासां दक्षिणा मूर्त्तिऋषिः पंक्तिश्छन्दो दक्षिण-कालिका देवता। अन्यत् सर्व्वं दक्षिणावत्॥*॥ क्रीँ स्वाहा। ३। भैरवोऽस्य ऋषिः॥*॥ क्रीँ क्रीँ हूँ हूँ ह्रीँ ह्रीँ स्वाहा। ८॥*॥ क्रीँ हूँ ह्रीँ स्वाहा।५। अस्य पञ्चवक्त्र ऋषिः॥*॥ क्रीँ क्रीँ क्रीँ हूँ हूँ ह्रीँ ह्रीँ स्वाहा।६॥*॥ क्रीँ दक्षिणे कालिके स्वाहा। ६॥*॥ क्रीँ हूँ ह्रीँ क्रीँ हूँ ह्रीँ स्वाहा। ८॥*॥ क्रीँ क्रीँ क्रीँ ह्रीँ ह्रीँ हूँ हूँ क्रीँ क्रीँ क्रीँ ह्रीँ ह्रीँ हूँ हूँ स्वाहा। १६॥*॥ नमः ऐँ क्रीँ क्रीँ कालिकायै स्वाहा। ११॥*॥ नमः आँ आँ क्रीँ क्रीँ फट् स्वाहा कालि कालि हूँ। १४॥*॥ एतासां ऋष्यादिकं पूजादिकञ्च दक्षिणावत्। पुरश्चरणं लक्षजपः॥*॥ अथ गुह्यकालिकामन्त्राः। क्रीँ क्रीँ क्रीँ हूँ हूँ ह्रीँ ह्रीँ गुह्ये कालिके क्रीँ क्रीँ क्रीँ हूँ हूँ ह्रीँ ह्रीँ स्वाहा। २१॥*॥ क्रीँ हूँ ह्रीँ गुह्ये कालिके क्रीँ क्रीँ हूँ हूँ ह्रीँ ह्रीँ स्वाहा। १६॥*॥ क्रीँ क्रीँ क्रीँ हूँ हूँ ह्रीँ ह्रीँ गुह्ये कालिके स्वाहा। १४॥*॥ क्रीँ हूँ ह्रीँ गुह्ये कालिके हूँ हूँ ह्रीँ ह्रीँ स्वाहा। १४॥*॥ क्रीँ हूँ ह्रीँ दक्षिणे कालिके हूँ हूँ ह्रीँ ह्रीँ स्वाहा। १५॥*॥ हूँ ह्रीँ गुह्ये कालिके क्रीँ क्रीँ हूँ हूँ ह्रीँ ह्रीँ स्वाहा। १५॥*॥ क्रीँ गुह्ये कालिके क्रीँ स्वाहा। ६॥*॥ क्रीँ दक्षिणे कालिके क्रीँ स्वाहा। १०॥*॥ एतासां सर्व्वं पूर्व्ववत्। बलिमन्त्रस्तु। एह्येहि जगन्मातर्ज्जगतां जननि गृह्ण गृह्ण मम बलिं सिद्धिं देहि देहि शत्रुक्षयं कुरु कुरु क्रूँ क्रूँ ह्रीँ ह्रीँ फट् फट् ॐ कालि-कायै नमः फट् स्वाहा॥*॥ यद्वा गुह्यकाल्या अयं मन्त्रः। एह्येहि गुह्यकालि मम बलिं गृह्ण गृह्ण मम शत्रून् नाशय नाशय खादय खादय स्फुर स्फुर छिन्धि छिन्धि सिद्धिं देहि देहि क्रूँ फट् स्वाहा॥*॥ अथ भद्रकाल्यादिमन्त्राः। क्रीँ क्रीँ क्रीँ हूँ हूँ ह्रीँ ह्रीँ भद्रकाली क्रीँ क्रीँ क्रीँ हूँ हूँ ह्रीँ ह्रीँ स्वाहा।२०॥*॥ क्रीँ क्रीँ क्रीँ हूँ हूँ ह्रीँ ह्रीँ श्मशानकालि क्रीँ क्रीँ क्रीँ हूँ हूँ ह्रीँ ह्रीँ स्वाहा। २१॥*॥ क्रीँ क्रीँ क्रीँ हूँ हूँ ह्रीँ ह्रीँ महाकालि क्रीँ क्रीँ क्रीँ हूँ हूँ ह्रीँ ह्रीँ स्वाहा।२०॥*॥ एतासां पूजादिकं दक्षिणावत्। ध्यानन्तु।
"महामेघप्रभां देवीं कृष्णवस्त्रपिधायिनीम्।
ललज्जिह्वां घोरदंष्ट्रां कोटराक्षीं हसन्मुखीम्॥
नागहारलतोपेतां चन्द्रार्द्धकृतशेखराम्।
द्यां लिखन्तीं जटामेकां लेलिहानां शवं स्वयम्॥
नागयज्ञोपवीताङ्गीं नागशय्यानिषेदुषीम्।
पञ्चाशन्मुण्डसंयुक्तवनमालां महोदरीम्॥
सहस्रफणसंयुक्तमनन्तं शिरसोपरि।
चतुर्दिक्षु नागफणावेष्टितां गुह्यकालिकाम्॥
तक्षकसर्पराजेन वामकङ्कणभूषिताम्।
अनन्तनागराजेन कृतदक्षिणकङ्कणाम्॥
नागेन रसनाहारकल्पितां रत्ननूपुराम्।
वामे शिवस्वरूपन्तं कल्पितं वत्सरूपकम्॥
द्विभुजां चिन्तयेद्देवीं नागयज्ञोपवीतिनीम्।
नरदेहसमाबद्धकुण्डलश्रुतिमण्डिताम्॥
प्रसन्नवदनां सौम्यां नवरत्नविभूषिताम्।
नारदाद्यैर्मुनिगणैः सेवितां शिवमोहिनीम्।
साट्टहासां महाभीमां साधकाभीष्टदायिनीम्॥"
गुह्यकाली इत्युपलक्षणम्॥*॥ भद्रकालीमन्त्रा-न्तरम्।
"प्रासादबीजमुद्धृत्य कालीति पदमुद्धरेत्।
महाकालीपदं चोक्त्वा किलियुग्मं ततः परम्॥
अस्त्रमग्निप्रियान्तोऽयं भद्रकाल्या महामनुः॥"
ॐ कालि महाकालि किलि किलि फट् स्वाहा॥*॥ ध्यानं यथा,—
"क्षुत्क्षामा कोटराक्षी मसिमलिनमुखी मुक्तकेशी रुदन्ती
नाहं तृप्ता वदन्ती जगदखिलमिदं ग्रासमेकं करोमि।
हस्ताभ्यां धारयन्ती ज्वलदनलशिखासन्निभं पाशयुग्मं
दन्तैर्जम्बूफलाभैः परिहरतु भयं पातु मां भद्रकाली॥"
अस्याः पुरश्चरणादिकं दक्षिणकालीतन्त्रवत्। इति केचित्॥ वस्तुतस्तु पुरश्चरणमष्टोत्तर-सहस्रजपः। इति कृष्णानन्दकृततन्त्रसारः॥*॥ श्मशानकालीमन्त्रादिकं तच्छब्दे द्रष्टव्यम्॥*॥ अथ दीपान्विताश्यामापूजा। यामले।
"कार्त्तिके मासि कृष्णायां पञ्चदश्यां महानिशि।
पूजयेत् योऽतियत्नेन काली विद्या प्रसीदति॥
न्यस्मयीं प्रतिमां कृत्वा महाकालीं प्रपूजयेत्॥"
योमकेशसंहितायाम्।
"तुलार्के यत्त्वमावास्या निशार्द्धे घोरदक्षिणाम्।
पूजयेद्विधिवद्भक्त्या सर्व्वसिद्धीश्वरो भवेत्॥" इति॥
एवञ्च अर्द्धरात्रं पूजाया मुख्यकालः। स च कालो यद्युभयदिने तदा पूर्व्वदिने पूजा। यथा, तत्रैव।
"तत्रोभयदिने प्रस्तकाले भूतयुता यदि।
उमा माहेश्वरी सा च तिथिः सिद्धिप्रदा सताम्॥
बलिदानं बलितिथावात्मनाशकरं परम्।
ततस्तत्र न कर्त्तव्ये बलिदानविसर्ज्जने॥
मन्त्रसिद्धिकरं तत्र परेऽह्नि जपसाधनम्।
रात्रौ पूजा प्रकर्त्तव्या रात्रावेव विसर्ज्जनम्।
प्रकाशे सिद्धिहानिः स्यात्कोपने सिद्धिरुत्तमा॥"
तथा कालीकल्पे।
"तुलार्के बहुले पक्षे पञ्चदश्यां महेश्वरीम्।
यथोपचारैः संपूज्य महानिशि नृपो भवेत्॥
शनिभौमदिने चेत् स्यात्ततः शतगुणं फलम्।
तत्रोभयदिने भूतयुक्तकृष्णा महानिशि॥
इमां यात्रां कारयित्वा चक्रवर्त्ती भवेन्नृपः॥" इति॥
महेश्वरीं दक्षिणकालीं तत्प्रकरणोक्तत्वात्॥*॥ कार्त्तिकामावास्यायां कालीपूजाहेतुमाह विश्व-सारे।
"कार्त्तिके कृष्णपक्षे तु पञ्चदश्यां महानिशि।
आविर्भूता महाकाली योगिनीकोटिभिः सह॥
अतोऽत्र पूजनीया सा तस्मिन्नहनि मानवैः।
बलिपूजादिकं सर्व्वं निशायां क्रियते तु यत्।
तत्तदक्षयतां याति काली विद्या प्रसीदति॥"
महानिशि अर्द्धरात्रे। तथा च उत्तरकामाख्या-तन्त्रे।
"शरत्काले च देवेशि दीपयात्रादिनेऽपि च।
अमावास्यां समासाद्य मध्यरात्रौ विचक्षणः॥
न्यस्मयीं पुत्तलीं कृत्वा दीपादिभिरलङ्कृताम्।
बलिं नानाविधं दद्यात् वाद्यभाण्डसमन्वितम्॥
नृत्यगीतं कौतुकञ्च यावत् सूर्य्योदयं भवेत्।
प्रातःकाले शुद्धतोये स्थापयेदरिनाशिनीम्॥" इति॥
एतेनास्या दीपयात्राप्यर्द्धरात्रे बोध्या। आवि-

भूतेत्यनेनार्द्धरात्रे जन्मश्रवणात् तत्रैव पूजा मुख्येति। तथा बृहद्धर्म्मपुराणे।

"रात्रौ निशीथव्याप्तायाममावास्यामिहैव तु।
पृथ्वीतलं समायाता काली दिव्यशताम्बिका॥
अतस्तामत्र वै भक्त्या देवदेवीं द्विजातयः।
पूजयेदात्मनो भक्त्या पशुपुष्पाद्यसम्पदा॥" इति॥

तथा गुप्तसाधनतन्त्रे।

"निशा तु परमेशानि सूर्य्ये चास्तमुपागते।
प्रहरे च गते रात्रौ घटिके द्वे परे च ये॥
महानिशा समाख्याता तत्कालातिमहानिशा।
अर्द्धरात्रे गते देवि पशुभावो न पूजयेत्॥"

अर्द्धरात्रे गते अर्द्धरात्रात् परम्। तथा।

"दशदण्डे तु या पूजा तत् सर्व्वमक्षयं भवेत्।
षष्ठक्रोशे महेशानि तत् सर्व्वममृतोपमम्॥
सप्तमक्रोशके देवि सर्व्वं क्षीरोपमं भवेत्।
अष्टमक्रोशके देवि! रक्ततुल्यं न संशयः॥
अतः परं महेशानि विषतुल्यं न संशयः।
एतत् सर्व्वं महेशानि पशुभावे मयोदितम्॥"

अर्द्धरात्रस्य गौणत्वश्रवणात् पशूनां यत्र पूर्व्वदिने अर्द्धरात्रव्यापिन्यमावास्या न तु तत्पूर्व्वं प्राप्तिः परदिने च रात्रेः पञ्चमसुहूर्त्तव्यापिनी तदा परेद्युः पूजेति चेन्न गुप्तसाधनतन्त्रोक्तवचनस्य नित्यपूजादिपरम्। कार्त्तिकामावास्याया-मर्द्धरात्रे जन्मनिमित्तकपूजाया विशेषेणाभिधानात्। पशुभिरपि एवंभूतस्थले पूर्व्वदिने अर्द्धरात्र एव पूजा कार्य्या। यथा श्रीकृष्णपूजायाः सामान्यतो निशायामकर्त्तव्यत्वेऽपि जन्माष्टम्यामर्द्धरात्रकर्त्तव्यता मुख्यतमेति। परन्तु यत्र पूर्व्वदिने अर्द्धरात्रात् परममावास्या परदिने अर्द्धरात्रात् पूर्व्वमेव तत्र पशुभाविनः परदिने वीरदिव्ययोश्च पूर्व्वदिने पूजा कार्य्या इति। प्रमाणं गोप्यगोपनलीलागमीयषष्ठपटले। एवं यत्र पूर्व्वदिने अर्द्धरात्रव्यापिन्यमावास्या परदिने तथा भूतापि कुजवारादियुक्ता तत्रापि पूर्व्वदिने पूजा गुणफलकुजवारादिकमपेक्ष्य चतुर्द्दशीयोगस्य मुख्यत्वात्। तथोक्तं व्योमकेशतन्त्रे।

"कुजवारे लक्षगुणं पूर्व्वविद्धा ततोऽधिकेति।"

कुजवार इति शनिवारोपलक्षणम्।

"शनिभौमदिने चेत् स्यात्ततः शतगुणं फलम्।"

इति श्रवणात्॥

कार्त्तिकामावास्यायां कालीपूजाया नित्यतामाह मायातन्त्रे।

"वर्षे वर्षे च कर्त्तव्यं कालिकाया महोत्सवम्।
कार्त्तिके तु विशेषेण अमावास्यां निशार्द्धके॥"

इति॥

देव्यागमे च।

"प्रतिसंवत्सरं कुर्य्यात् कालिकाया महोत्सवम्।
कार्त्तिके तु विशेषेण अमावास्यां निशार्द्धके।
तत्र संपूजयेद्देवीं भोगमोक्षप्रदायिनीम्॥"

इति।

एवञ्चात्र कार्त्तिकपदं गौणचान्द्रकार्त्तिकपरं जन्मतिथिकृत्यत्वात्। न तु नानावचने तुलार्कश्रवणात् सौरकार्त्तिकपरम्। तथा सति यस्मिन् वर्षे तुलार्के रात्रौ नामावास्याप्राप्तिस्तद्वर्षे कृत्यलोपः स्यात्। एवं यत्र वर्षे तुलार्के दर्शद्वयं तत्रानध्यवसायापत्तेः। स्पष्टमुक्तं विद्योत्पत्तितन्त्रे।

"कार्त्तिकस्याप्यमावास्या गौणचान्द्रप्रमाणतः।
निशीथव्यापिनी या तु तस्यां पूजां समाचरेत्॥"

निशीथमर्द्धरात्रम्। एवं यत्र पूर्व्वदिने निशीथव्यापिन्यमावास्या कन्यार्के परदिने च तुलार्केऽर्द्धरात्रात् परं मुहूर्त्तादिव्यापिनी तत्रापि पूर्व्वदिने निशीथस्य मुख्यकालत्वानुरोधात् भूततिथियोगानुरोधाच्च तुलार्कस्य दिनभेदनियामकत्वेनाश्रुतत्वात्। परन्तु तुलार्कपदं नानावचने यदस्ति तत्प्रायिकाभिप्रायेण गुणफलाभिप्रायेण वा बोध्यम्। अतएव तिथितत्त्वधृतमादिपुराणम्।

"कन्यराशिविशेषेण यत् कर्म्म विहितं नरैः।
दैवं वाप्यथवा पैत्रं तदन्यत्रापि दृश्यते॥"

इति।

अगस्त्यसंहितायाम्।

"मेषं पूषणि संप्राप्ते लग्ने कर्कटकाह्वये।
आविरासीत् सकलया कौशल्यायां परः पुमान्॥"

इति॥

अत्र मेषार्के जन्मश्रवणं मीनार्केऽपि कदाचित् उपवासः। यत्तु तन्त्रीयमिति कृत्वा पठन्ति।

"तुलार्के त्वर्द्धरात्रे या दीपयात्रातिथिर्भवेत्।
तत्र संपूजयेत् कालीं सर्व्वकामार्थसिद्धये॥
निशार्द्धे सा तिथिर्नास्ति तदन्यः कालसंयुता।
तत्रापि पूजयेत् कालीं तुलार्कं नैव लङ्घयेत्॥"

इति तदमूलम्। समूलकत्वेऽपि तुलार्के इत्यत्र तुशब्दः कन्यार्कग्राहकः। तेन तुलार्के कन्यार्के वा इत्यर्थः। तुलार्कमात्रपरत्वे प्रतिसंवत्सर इत्यस्य वाधापत्तेरुक्तत्वात्। तुलार्कं नैव लङ्घयेदित्यस्य तुलार्कविहितपूजां न त्यजेत् इत्यर्थः। तुलार्कविहितपूजाया गौणकार्त्तिकत्वेन कर्त्तव्यतायां विधेस्तात्पर्य्यस्योक्तत्वात्। यद्वा सर्व्वत्र तुलार्कघटितवचनेषु तुलार्कस्यामावास्यायामुपलक्षणतयान्वयः। न तु विशेषणतया। न वा पूजायामपि तदन्वयः। तेन तुलार्कोपलक्षितामावास्यायां निशीथे कालीं पूजयेत् इति विधिस्तेन गौणचान्द्रकार्त्तिकामावास्यालाभः। तस्यामेव तुलार्कसम्बन्धनियमात्। अन्यथा तुलास्थरव्यारब्धत्वाभावेन कदाचित् तत्परप्रतिपदादिदर्शान्तस्य मुख्यकार्त्तिकत्वानुपपत्तिः। मुख्यकार्त्तिकामावास्यायाः कदाचित् वृश्चिके सत्त्वात् न तु तुलार्के नियमः। तथा च तुलार्कनियतामावास्यायां निशीथे कालीं पूजयेदिति पर्य्यवसितम्। तुलार्कं नैव लङ्घयेदित्यत्र तुलार्कपदस्य तुलार्कोपलक्षितामावास्यापूजापरम्। संकल्पवाक्ये तु कार्त्तिके मासीत्युल्लेखं न तु राश्युल्लेखोऽपि गौणचान्द्रेण विधानात्। केचित्तु उपलक्षणतया अमावास्यायां अन्वयतात्पर्य्येण तुलाराशिस्थे भास्करे इत्युल्लेखं इति भास्करपदोत्तरसप्तम्या उपलक्षणतया तत्कालसम्बन्धबोधनसामर्थ्यात् इति वदन्ति॥ *॥ तन्त्रान्तरे।

"तुलाराशिं गते भानौ दीपयात्रानिशासु च।
पूजयेत् कालिकां देवीं धर्म्मकामार्थसिद्धये॥"

तन्त्रे।

"अर्द्धरात्रात् पुरस्तात्तु यावद्द्वे घटिकाद्वयम्।
सा महारात्रिरुद्दिष्टा यद्दत्तमक्षयं भवेत्॥
महानिशात्र विज्ञेया अर्द्धरात्रात् परं शिवे।
नाड़ीचतुष्टयं शस्तं तत्र पूजा महाफला॥"

विद्योत्पत्तितन्त्रे।

"दीपोत्सवचतुर्द्दश्याममाया योग एव च।
कालरात्रिर्म्महेशानि काली तारा प्रियङ्करी॥"

श्यामार्णवे।

"महारात्रावमावास्यां दक्षिणायाः प्रपूजनम्।
कार्त्तिके मासि सुश्रोणि कालीप्रीतिकरं परम्॥
तत्रापि च निशीथे तन्महासिद्धिप्रदं शृणाम्।
निशीथात् परतो देवि यत्तु नाड़ीचतुष्टयम्॥
सा महारात्रिरुत्तमा तत्र पूजा महाफला।
तारतम्येन देवेशि पूजायाः फलकल्पनम्॥"

कुलार्णवेऽपि।

"भूतयुक्ता महेशानि महारात्रौ तु या कुहूः।
सा कालरात्रिरुद्दिष्टा काली तारा प्रियङ्करी॥
तत्र पूजा तयोः कार्य्या नानापशुविहिंसनम्।
बलिदानं बलिविधावात्मनाशकरं शिवे!॥"

कुलचूड़ामणौ।

"तिथिभ्यः शतगुणं पर्व्व दर्शः कोटिगुणोत्तरः।
फलोपचारबहुलैर्व्यैष्ठे सूर्य्येन्दुसङ्गमे।
पूजयित्वा महाकालीं नरो निर्व्वाणमृच्छति॥
चतुर्वर्गप्रदं दर्शे कार्त्तिके कालिकार्च्चनम्।
अनन्तफलदं तत्र पर्व्वयुक्ते च पर्व्वणि॥
निशार्द्धे पूजयेद्देवीं नृमुण्डां मुण्डमालिनीम्।
पश्चाज्जिह्वीरवे घोरे सर्व्वप्राणिभयङ्करे॥"

कालीकुलसद्भावे।

"दीपोत्सर्गचतुर्द्दश्या संमिश्रा या भवेत् कुहूः।
तस्यां या तामसी रात्रिः सोच्यते कालरात्रिका॥
तस्यां पूजा प्रकर्त्तव्या काली तारा प्रियङ्करी॥
तुलामकरमेषेषु कन्यायां मिथुने तथा।
भूतविद्धाप्यमावास्या पूज्या भवति यत्नतः॥"

इति जीमूतवाहनकृतधर्म्मरत्ने कालविवेकधृतहारीतवचनम्॥ *॥ शिवरात्रिप्रकरणे देवलोक्तमहानिशा यथा,—

"महानिशे द्वे घटिके रात्रेर्म्मध्यमयामयोः।"

इति गङ्गामाहात्म्यप्रकरणे गृहस्थरत्नाकरधृता तु।

"महानिशा तु विज्ञेया मध्यमं प्रहरद्वयम्।
तत्र स्नानं न कुर्व्वीत नित्यनैमित्तिकादृते॥"

ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे।

"षण्मुहूर्त्ते व्यतीते तु रात्रावेव महानिशा।"

कृत्यतत्त्वार्णवे बौधायनः।

"महानिशा तु विज्ञेया मध्यं मध्यमयामयोः।"

देव्यागमे ।
"अमावास्यामर्द्धरात्रे दक्षिणां पूजयेत् पराम् ।"
कुलकृत्ये च यः कुर्य्यात् स गच्छेच्छिवसन्नि-
धिम् ॥
तुलायां भौमवारे च अमावास्या यदा भवेत् ।
तिथिः सापि महापुण्या शिवेन परिकीर्त्तिता ॥
वर्षैश्चतुर्भिर्यत् पुण्यं विधिवत् पूज्य चण्डिकाम् ।
तत्फलं लभते वीर अमावास्यां निशार्द्धके ॥"
कालीकुलतन्त्रे ।
"निशार्द्धे पूजयेद्देवीं श्मशानालयवासिनीम् ॥"
इति ॥
मालिनीतन्त्रे ।
"एतत्सन्ध्याश्रयेणैव अर्द्धरात्रौ तु वन्दना ।
महारात्रावपि तथा कार्य्या देशिकसत्तमैः ॥"*
स्वापकालो यथा,—
श्रीदेव्युवाच ।
"देवदेव महादेव संसारार्णवतारक ।
देवतायाः स्वापकालं कथयस्व दयानिधे ॥
श्रीशिव उवाच ।
चतुर्द्दशात् परं देवि रात्रेः प्रथमयामकः ।
स्वापकालस्तु कथितः पूजानर्थफलप्रदा ।
पूजा होमस्तोत्रगती आयत्काले प्रशस्यते ॥"
इति कालीकुलान्ततन्त्रे ॥*॥
*समुद्रमथने देवि देवासुरगणाः पुरा ।
नाराध्य त्वां प्रमथ्नीशुरतस्त्वं विषरूपिणी ॥
आविर्भूता महाकाली ब्रह्माण्डनाशनाशिनी ।
तद्दृष्ट्वा देवा दैत्याश्च भीता मां शरणं गताः ॥
तेषामपि भयं दृष्ट्वा भीतोऽहं विश्वसन्निधौ ।
गत्वा ध्यानपरो भूत्वा विषं पातुं समारभे ॥
पूर्व्वोक्ता या महाविद्या आविर्भूता च मे
हृदि ।
तुलां कृत्वा निशार्द्धे च देवदानवनिद्रिते ॥
मनुष्यपशुपक्ष्यादौ निद्रिते चान्यजन्तुषु ।
तस्मिन् काले मया पूज्या इन्द्रेणाप्यसुरेण तु ॥
देव्युवाच ।
कुत्र काले त्वया पूज्या इन्द्रेणाप्यसुरेण च ॥
महादेव उवाच ।
अर्द्धरात्रान्मुहूर्त्ते च मया चेन्द्रेण पूजिता ।
ततो मुहूर्त्ते संपूज्या वीरेणाप्यसुरेण च ॥
अत आद्यः शाम्भवः स्यात् वैरः शैवः प्रकी-
र्त्तितः ।
स्वायम्भुवेन मनुना मर्त्ये तेन प्रपूजिता ॥"
इति गोप्यगोपनलीलागमे ६ पटलः ॥*॥
कालीकुलसर्व्वस्वे ।
"निशार्द्धे सा तिथिर्नास्ति तदूर्द्ध्वं भूतसंयुता ।
तत्रापि पूजयेद्देवीं भूतयुक्तां न लङ्घयेदिति ॥"
अथ रक्षाकालीपूजाप्रमाणम् । उत्तरकामाख्या
तन्त्रे ।
"मारीभये समायाते दुर्भिक्षभयपीड़िते ।
पूजयेत् परया भक्त्या कालीं कालविनाशिनीम् ॥
रक्षणात् सर्व्वभूतानां रक्षाकालीति सा
स्मृता ॥"

श्मशानार्णवे ।
"सर्व्वविघ्नोपशान्त्यर्थं रक्षाकालीं प्रपूजयेत् ।
शनिमङ्गलवारे च प्रदोषे पूजयेत् शिवाम् ॥
चतुर्द्दश्याममायां वा नवम्यामष्टमीतिथौ ।
पूजनात् वरदा काली यथेप्सितफलप्रदा ॥"
कालीकुलसर्व्वस्वे ।
"निशामुखे महेशानी काली रक्षार्थमादरात् ।
पूजनीया नृभिः सर्व्वैरुपचारसमन्वितैः ।
वित्तशाठ्यं न कर्त्तव्यं यथाविभवविस्तरैः ॥"
निरुत्तरतन्त्रे ।
"बलिदानन्तु विधिवत् मधुभिः पायसेन च ।
पूपैर्म्मोदकसंघैश्च पृथुकैः श्रीफलैरपि ॥
नानाफलैः शाकसूपैः पञ्चतत्त्वैर्म्महेश्वरीम् ।
पूजयेच्छिवशान्त्यर्थं कालीं रक्षाविधायिनीम् ॥
प्रदोषसमये पूजा कर्त्तव्या भूतिमिच्छता ।
रात्रौ विसर्ज्जनं कार्य्यं क्रीड़ाकौतुकमङ्गलैः ॥"
भैरवतन्त्रे ।
"अथ वक्ष्ये महेशानि घोरे मारीभये तथा ।
औत्पातिके च दुर्भिक्षे युद्धे राष्ट्रभयागते ।
पूजां कुर्य्यात् महाकाल्या रक्षार्थं पञ्चपर्व्वसु ॥
प्रदोषकाले संपूज्य निशायान्तु विसर्ज्जयेत् ।
मुहूर्त्तद्वितयं कालः प्रदोषोऽस्तमयात्ततः ॥"
तन्त्रान्तरे ।
"निशामुखे महाकालीं महामारीभये शिवाम् ।
कालीं त्रैलोक्यरक्षार्थं पूजयेत् रक्षणात्मि-
काम् ॥"*॥
अथ फलहारीपूजाप्रमाणम् ।
"मधुमासे सिताष्टम्यां वैशाखस्तितयेऽहनि ।
पौर्णमास्यां तथा ज्यैष्ठे अमायाञ्च महेश्वरि ॥"
इत्यादि ।
"आमायां कार्त्तिके चैव नवम्यां शुक्लपक्षके ।"
इति कात्यायनीतन्त्रे ७८ पटलः ॥
"ज्यैष्ठे मासि तथामायां सफलं कालिकार्च्च-
नम् ।"
इत्युत्तरकामाख्यातन्त्रे ११ पटलः ॥
"ज्यैष्ठे मासि अमायां वै मध्यरात्रे महेश्वरि ।
पूजयेत् कालिकां देवीं नानाद्रव्योपहारकैः ॥
तत्रैव सितपक्षे तु पञ्चदश्यां निशार्द्धके ।
पूजयेच्च फलौघैः शक्तितो वापि कालिकाम् ॥"
इति मायातन्त्रे २७ पटलः ॥
अथ रटन्तीपूजाप्रमाणम् ।
"माघे मास्यसिते पक्षे रटन्त्याख्या चतुर्द्दशी ।
तस्यां निशार्द्धसमये पूजयेन्मुण्डमालिनीम् ॥"
इति मायातन्त्रे १७ पटलः ॥
"मकरस्थे रवौ कृष्णचतुर्द्दश्यां निशार्द्धके ।
पूजयेद्दक्षिणां कालीं धर्म्मकामार्थसिद्धये ॥"
इत्युत्तरकामाख्यातन्त्रे ६ पटलः ॥

श्यामाकः, पुं, (श्यामं श्यामवर्णमकतीति । अक गतौ + अच् ।) तृणधान्यभेदः । शामा इति भाषा । तत्पर्य्यायः । श्यामकः २ श्यामः ३ त्रिबीजः ४ अविप्रियः ५ सुकुमारः ६ राजधान्यम् ७ तृणबीजोत्तमः ८ । अस्य गुणाः । मधुरत्वम् । तिक्तत्वम् । कषायत्वम् । लघुत्वम् । शीतलत्वम् । वातकारित्वम् । कफपित्तश्रमदोषनाशित्वम् । सुग्राहित्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥ अपि च ।
"श्यामाकः शोषणो रूक्षो वातलः कफपित्त-
हृत् ॥"
इति भावप्रकाशः ॥

श्यामाङ्गः, पुं, (श्यामानि अङ्गानि यस्य ।) बुधग्रहः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ कृष्णकलेवरे, त्रि । यथा,—
"श्यामाङ्गीं शशिशेखरां निजकरैर्दानञ्च रक्तो-
त्पलं
रत्नाढ्यं चषकं परं भयहरं संविभ्रतीं शाश्व-
तीम् ।
मुक्ताहारलसत्पयोधरनतां नेत्रत्रयोल्लासिनीं
वन्देऽहं सुरपूजितां हरवधूं रक्तारविन्द-
स्थिताम् ॥"
इति तन्त्रसारे भुवनेश्वरीध्यानम् ॥

श्यामाम्ली, स्त्री, (श्यामा चासौ अम्ली चेति कर्म्मधारयः ।) नीलाम्ली । इति राजनिर्घण्टः ॥

श्यालः, पुं, (श्यायते गर्म्भार्थं प्राप्यतेऽसौ इति । श्यै + बाहुलकात् कालन् ।) पत्नीभ्राता । इत्यमरः ॥ शाला इति भाषा ॥ (यथा, गीतायाम् । १ । ३४ ।
"मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिन-
स्तथा ।
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ॥")
तत्पर्य्यायः । वाक्कीरः २ श्यालिकः ३ । इति शब्दरत्नावली ॥ श्वशुर्य्यः ४ आत्मवीरः । इति जटाधरः ॥ तन्मरणे एकरात्राशौचं यथा । आचार्य्यपत्नीपुत्त्रोपाध्यायमातुलश्वशुरश्वशुर्य्यसहाध्यायिशिष्येष्वेकरात्रेणेति । इति शुद्धितत्त्वम् ॥ इत्यसादिश्च । (भगिनीपतिः । यथा, ब्रह्मवैवर्त्ते । १ । १० । १५१ ।
"भग्नीपुत्त्रो भागिनेयो भ्रातृपुत्त्रश्च भ्रातृजः ।
श्यालस्तु भगिनीकान्तो भगिनीपतिरेव च ॥")

श्यालकः, पुं, (श्याल एव । स्वार्थे कन् ।) श्यालः । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, ब्रह्मवैवर्त्ते । १ । १० । १४६ ।
"पत्नीभ्राता श्यालकश्च पत्नीभग्नी च
श्यालिका ॥")

श्यालिका, स्त्री, पत्न्या भगिनी । शाली इति भाषा । तत्पर्य्यायः । श्याली२ केलिकुञ्चिका३ । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, ब्रह्मवैवर्त्ते । १ । १० । १४६ ।
"पत्नीभ्राता श्यालकश्च पत्नीभग्नी च
श्यालिका ॥")

श्यावः, पुं, (श्यै + बाहुलकात् वः ।) कपिशः । इत्यमरः ॥ स तु कृष्णपीतमिश्रवर्णः । इति भरतः ॥ तद्युक्ते, त्रि ॥ (यथा, बृहत्संहितायाम् । ४ । २६ ।

"श्यावतनुः स्फुटितः स्फुरणो वा
स्तुत्यमरामयचौरभयाय ॥")

श्यावदत्, [त्] त्रि, (श्यावा दन्ता यस्य । "विभाषा श्यावारोकाभ्याम् ।" ५ । ४ । १४४ । इति दत्रादेशः ।) कृष्णपीतमिश्रितवर्णदन्तयुक्तः । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥

श्यावदन्तः, श्यावदन्तकः, त्रि, (श्यावा दन्ता यस्य । "विभाषा श्यावारोकाभ्याम् ।" ५ । ४ । १४४ । इति विभाषया दत्रादेशो न । स्वार्थे कन् च ।) स्वाभाविककृष्णवर्णदशनयुक्तः । प्रधानदन्तद्वयमध्यस्थक्षुद्रदन्तविशिष्टः । प्रधानदन्तोपरिदन्तान्तरयुक्तः । यथा विष्णुः । अथ नरकानुभूतदुःखानां तिर्य्यक्त्वमुत्तीर्णानां मानुष्ये लक्षणानि भवन्ति । कुष्ठातिपातकी । ब्रह्महा यक्ष्मी । सुरापः श्यावदन्तकः । सुवर्णहारी कुनखी । गुरुतल्पगो दुश्चर्म्मा इत्यादि । श्यावदन्तकः स्वभावकृष्णदन्तः । प्रधानदन्तद्वयमध्यवर्त्तिक्षुद्रदन्तः । प्रधानदन्तोपरि दन्तान्तरमिति केचित् ॥ कुनखी सङ्कुचितनखः । दुश्चर्म्मा स्वभावतः अनावृतमेढ्रः । अतएव महारोगिणो यावज्जीवमशौचमाह कूर्म्मपुराणम् ।

"क्रियाहीनस्य मूर्खस्य महारोगिण एव च ।
यथेष्टाचरणस्याहुर्म्मरणान्तमशौचकम् ॥"

क्रियाहीनस्य नित्यनैमित्तिकक्रियाननुष्ठायिनः । मूर्खस्य गायत्त्रीरहितस्य । सार्थगायत्त्रीरहितस्येति रुद्रधरः ॥ महारोगिणः पापरोगाष्टकान्यतमरोगवतः । ते च उन्मादत्वग्दोषो राजयक्ष्मा श्वासो मधुमेहो भगन्दर उदरोऽश्मरी इत्यष्टौ पापरोगा नारदोक्ताः । यथेष्टाचरणस्य द्यूतवेश्याद्यासक्तस्य । एवञ्च भविष्यपुराणोक्तं यतिचान्द्रायणप्रायश्चित्तं अकृतप्रायश्चित्तानां कुष्ठादीनां दाहे बोद्धव्यम् । अन्यथैषां प्रायश्चित्तोपदेशो विफलः स्यात् । यथा विष्णुः । कुनखी श्यावदन्तश्च द्वादशरात्रं कृच्छ्रं चरित्वोद्धरेयातां तद्दन्तनखौ इति । अत्र द्वादशरात्रं पराकरूपं तत्र पञ्च धेनवः । न तु प्राजापत्यम् । दद्रादिकर्तृयतिचान्द्रायणेन विषमशिष्टत्वात् । अत्र बहूनामेकधर्म्मिणामिति वचनात् आकाङ्क्षितत्वात् कुष्ठादीनामपि प्रायश्चित्तम् । अतएव प्रायश्चित्तविवेकेऽप्युक्तं एवं दुश्चर्म्मादिष्वप्यूह्यमिति । महापातकादतिपातकस्य गुरुत्वात् तच्छेषेऽपि प्रायश्चित्तं द्विगुणम् । इति शुद्धितत्त्वम् ॥

श्येतः, पुं, (श्यैङ गतौ + "हृश्याभ्यामितन् ।" उणा० ३ । ९३ । इति इतन् ।) शुक्लवर्णः । तद्वति, त्रि । इत्यमरः ॥

श्येतकोलकः, पुं, (श्येतः कोलः क्रोडदेशो यस्य । कन् ।) मत्स्यविशेषः । पुँटी इति भाषा । यथा । सफरः श्येतकोलकः । इति हारावली ॥

श्येनः, पुं, (श्यै ङ गतौ + "श्यास्त्याहृञविभ्य इनच् ।" उणा० २ । ४६ । इति इनच् ।) पाण्डुरवर्णः । इति मेदिनी ॥ पक्षिविशेषः । सचान इति बाज इति च भाषा । तत्पर्य्यायः । शशादनः २ पत्त्री ३ । इत्यमरः ॥ कपोतारिः ४ पतङ्गीशः ५ । इति शब्दरत्नावली । घातिपक्षी ६ ग्राहकः ७ मारकः ८ । इति जटाधरः ॥ शशादः ९ क्रव्यादः १० क्रूरः ११ वेगी १२ खगान्तकः १३ करगः १४ नीलपिच्छः १५ लम्बकर्णः १६ रणप्रियः १७ रणपक्षी १८ पिच्छबाणः १९ स्थूलनीलः २० भयङ्करः २१ । इति राजनिर्घण्टः ॥ शशघातकः २२ । इति भावप्रकाशः ॥ अस्य मांसगुणाः प्रसहशब्दे द्रष्टव्याः ॥*॥ तस्य शुभाशुभसूचकत्वं यथा,—

"प्रदक्षिणीकृत्य नरं व्रजन्तो
यात्रासु वामेन गताः प्रवेशे ।
श्येनाः प्रशस्ताः प्रकृतस्वरास्ते
शान्ताः प्रदीप्ता विकृतस्वरास्ते ।
श्येनो नृणां दक्षिणवामपृष्ठ-
भागेषु भाग्यैः स्थितिमादधाति ।
तिष्ठन् पुरस्तान्मृतये करोति
युद्धे जयं छत्त्ररथध्वजस्थः ॥"

इति वसन्तराजशाकुने अष्टमवर्गः ॥

श्येनघण्टा, स्त्री, दन्तीवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

श्येनचित्, पुं, (श्येनेन चयति अन्यपक्षिण इति । चि + क्विप् ।) श्येनपक्षिरक्षकः । इति केचित् ॥ (श्येन इव चीयते इति । "कर्म्मण्यग्न्याख्यायाम् ।" ३ । २ । ९२ । इति क्विप् । अग्न्यर्थ इष्टकाचयः । इति काशिका ॥)

श्येनी, स्त्री, श्वेतवर्णा । इति जटाधरः ॥ श्येनपत्नी च । (सा तु कश्यपात् दक्षकन्यायां ताम्रायां समुत्पन्ना । यथा, मार्कण्डेये । १०४ । ८ ।
"ताम्रा च सुषुवे श्येनीप्रमुखाः कन्यका द्विज ।
यासां प्रसूताः खगमाः श्येनभासशुकादयः ॥")

श्यै, ङ गतौ । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-आत्म०-सक०-अनिट् ।) तालव्यादिरन्तस्थोपधः । ङ, श्यायते । इति दुर्गादासः ॥

श्येनम्पाता, स्त्री, (श्येनपातोऽस्यां वर्त्तते इति । "घञः सास्यां क्रियेति ञः ।" ४ । २ । ५८ । इति ञः । "श्येनतिलस्य पाते ञे ।" ६ । ३ । ७१ । इति मुमागमः ।) मृगया । इत्यमरः ॥ (यथा, नैषधे । १९ । १२ ।
"नभसि महसां ध्वान्तध्वाङ्क्षप्रमापणपण्डितामिह विहरणैः श्येनम्पातां रवेरवधारयन् ॥")

श्यो(श्या)नाकः, पुं, (श्यायते इति । श्यै ङ गतौ + पिनाकादयश्चेति निपातनात् साधु ।) वृक्षविशेषः । शोनागाछ इति भाषा । तत्पर्य्यायः । मण्डूकपर्णः २ पत्त्रोर्णः ३ नटः ४ कट्वङ्गः ५ टुण्टुकः ६ शुकनासः ७ ऋक्षः ८ दीर्घवृन्तः ९ कुटन्नटः १० शोणकः ११ अरलुः १२ । इत्यमरः ॥ स्योनाकः १३ । इति भरतः ॥ शोषः १४ अवटुः १५ दीर्घवृन्तकः १६ । इति शब्दरत्नावली ॥ पृथुशिम्बिः १७ शुकः १८ । इति जटाधरः ॥ कटम्भरः १९ मयूरजङ्घः २० अरलुकः २१ प्रियजीवः २२ । तद्भेदा यथा,—

"श्योनाकः पृथुशिम्बोऽन्यो भल्लूको दीर्घवृन्तकः ।
टेण्टुकः पीतवृक्षश्च भूतसारो सुनिद्रुमः ॥
निःसारः फलहन्ताकः पूतिपत्रो वसन्तकः ।
मण्डूकवर्णः पीताङ्गो जम्बुकः पीतपादकः ॥
वातारिः पीतकः शोषः कुलटश्च विरोचनः ।
भ्रमरेष्टो वह्निजङ्घो नेत्रनेत्रमिताभिधः ॥"

पुस्तकान्तरे टेण्टुकस्थाने टुण्टुकः फलहन्ताकस्थाने फलगुहन्ताकः पीतपादकस्थाने पीतपादपः कुलटस्थाने कुनटः वह्निजङ्घस्थाने वर्हिजङ्घ इति च पाठः ॥ तयोर्गुणाः ।

"श्योनाकयुगलं तिक्तं शीतलञ्च त्रिदोषजित् ।
पित्तश्लेष्मातिसारघ्नं सन्निपातज्वरापहम् ॥"

इति राजनिर्घण्टः ॥*॥

अपि च ।

"श्योनाकः शोषणश्च स्यान्नटकट्वङ्गटुण्टुकाः ।
मण्डूकपर्णपत्त्रोर्णशुकनासकुटन्नटाः ॥
दीर्घवृन्तोऽरलुश्चापि पृथुशिम्बः कटम्भरः ।
श्योनाको दीपनः पाके कटुकस्तुवरो हिमः ॥
ग्राही तिक्तोऽनिलश्लेष्मपित्तकासप्रणाशनः ।
कटुकस्य फलं बालं रूक्षं वातकफापहम् ॥
हृद्यं कषायं मधुरं रोचनं लघु दीपनम् ।
गुल्मार्शःकृमिहृत् प्रोक्तं गुरु वातप्रकोपणम् ॥"

इति भावप्रकाशः ॥

श्रक, इ ङ सर्पे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-आत्म०-सक०-सेट् ।) रेफयुक्ताद्यः । इ, श्रङ्क्यते । ङ, श्रङ्कते । सर्पो गतिः । इति दुर्गादासः ॥

श्रग, इ व्रजे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-स्रुतौ अक०-सेट् ।) रेफान्ततालव्यादिः । अयं स्रुतगताविति भट्टमल्लः । इ, श्रङ्ग्यति । इति दुर्गादासः ॥

श्रण, क दाने । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (चुरा०-पर०-सक०-सेट् ।) क, श्राणयति । श्रणते अस्य ञाडि ह्रस्वविकल्पनेऽप्यष्टमस्वरानुबन्धाभावोऽन्येषामनुरोधात् । इति दुर्गादासः ॥

श्रण, म दाने । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा० पर०-सक०-सेट् ।) तालव्यादी रेफयुक्तः । म, श्रणयति । इति दुर्गादासः ॥

श्रत्, अ, श्रद्धा । इति मुग्धबोधटीकायां दुर्गादासः ॥ (सत्यम् । इति निघण्टुः । ३ । १० ॥)

श्रथ, इ ङ शैथिल्ये । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-आत्म०-अक०-सक० च-सेट् ।) शैथिल्यमिह शिथिलीभावस्तत्करणञ्च । इ, श्रन्थ्यते । ङ, श्रन्थते वस्त्रं शिथिलं स्यादित्यर्थः । श्रन्थते वस्त्रं लोकः शिथिलं करोति इत्यर्थः । इति दुर्गादासः ॥

श्रथ, क यत्ने । प्रतिहर्षे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (चुरा०-पर०-यत्ने अक०-प्रतिहर्षे सक०-सेट् ।) क, श्राथयति पटितुं शिष्यः । श्राथयति शिशुं लोकः पुनःपुनर्हर्षयति इत्यर्थः । इति दुर्गादासः ॥

श्रथ कि यत्ने। मोक्षे। वधे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (चुरा०-पक्षे भ्वा०-सक०-सेट्।) कि, श्राथयति श्रथयति। श्लाघ्यं श्राथयति स्फुटार्थमधुरं गद्यञ्च पद्यं सदा भावालङ्कृतिपेशलं श्रथयति स्पष्टाक्षरं नाटकम्। श्रथ्नाति प्रथितावदातचरितः श्लाघ्यं विपिनञ्च य इति हलायुधोक्तं श्रथयतीति श्रथ तृ क दौर्ब्बल्ये इत्यदन्तस्य रूपम्। अनेकार्थत्वात् बध्नातीत्यर्थः। इति दुर्गादासः॥

श्रथ, तृ क दौर्ब्बल्ये। इति कविकल्पद्रुमः॥ (अदन्त चुरा०-पर०-अक०-सेट्।) श्रथयति। इति दुर्गादासः॥

श्रथ, म वधे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट्।) म, श्रथयति। इति दुर्गादासः॥

श्रथनं, क्ली, (श्रथ+ल्युट्।) वधः। यत्नः। पुनः-पुनर्हर्षणम्। बन्धनम्। मोचनम्। शिथिलीकरणम्। इति श्रथधातोरनट्प्रत्ययेन निष्पन्नम्॥

श्रद्धानः, त्रि, (श्रद्धत्ते इति। श्रत्+धा+शानच्।) श्रद्धायुक्तः। यथा,—
"तच्छ्रद्दधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया।
पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतगृहीतया॥"
इति श्रीभागवते १ स्कन्धे २ अध्यायः॥

श्रद्धा, स्त्री, (श्रद्धानमिति। श्रत्+धा+"षिद्भिदादिभ्योऽङ्।" ३।३।१०४। इत्यङ्। टाप्।) संप्रत्ययः। स्पृहा। इत्यमरः॥ (यथा, रामायणे। २।३८।२।
"धिक्त्वेद जीविते श्रद्धा धर्म्मे यस्यास्ति चात्मनः॥")
आदरः। शुद्धिः। इति शब्दरत्नावली॥ श्लाघार्थे ढप्रत्ययः। यथा,—
"प्रत्ययो धर्म्मकार्य्येषु तथा श्रद्धेत्युदाहृता।
नास्ति ह्यश्रद्दधानस्य धर्म्मकृत्ये प्रयोजनम्॥"
इति स्मृतिः॥
(यथा, रघुः। २।१६।
"बभौ च सा तेन सतां मतेन
श्रद्धेव साक्षात् विधिनोपपन्ना॥")
चेतसः प्रसादः। इति पातञ्जलभाष्ये वेदव्यासः॥ सा त्रिविधा। यथा,—
श्रीभगवानुवाच।
"त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥
सत्त्वानुरूपा सर्व्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥
यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥"
इति श्रीभगवद्गीतायां १७ अध्यायः॥*॥
तस्याः प्रशंसा यथा,—
ब्रह्मोवाच।
"श्रद्धापूर्व्वा इमे धर्म्माः श्रद्धा मध्यान्तसंस्थिताः।
श्रद्धा नित्या प्रतिष्ठाश्च धर्म्माः श्रद्धैव कीर्त्तिताः॥
श्रुतिमात्ररसाः सूक्ष्माः प्रधानपुरुषेश्वराः।
श्रद्धामात्रेण गृह्यन्ते न करेण न चक्षुषा॥
कायक्लेशैर्न बहुभिस्तथैवार्थस्य राशिभिः।
धर्म्मः संप्राप्यते सूक्ष्मः श्रद्धाहीनैः सुरैरपि॥
श्रद्धा धर्म्मः परः सूक्ष्मः श्रद्धा ज्ञानं हुतं तपः।
श्रद्धा स्वर्गश्च मोक्षश्च श्रद्धा सर्व्वमिदं जगत्॥
सर्व्वस्वं जीवितं वापि दद्यादश्रद्धया यदि।
नाप्नुयात्तत्फलं किञ्चित् श्रद्धादानं ततो भवेत्॥
एवं श्रद्धान्वयाः सर्व्वे सर्व्वधर्म्माः प्रकीर्त्तिताः।
केशवः श्रद्धया गम्यो ध्येयः पूज्यश्च सर्व्वदा॥"
इति वह्निपुराणे धेनुदानमाहात्म्याध्यायः॥
देवलः।
"अर्थानामुदिते पात्रे श्रद्धया प्रतिपादनम्।
दानमित्यभिनिर्द्दिष्टं व्याख्यानन्तस्य वक्ष्यते॥"
उदिते शास्त्रकथिते। श्रद्धा देवलोक्ता यथा,
"सत्कृतिश्चानसूया च सदा श्रद्धेति कीर्त्तिता॥"
अतएव भगवद्गीतासु।
"अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतञ्च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत् प्रेत्य नेह च॥"
हरिवंशे बलिं प्रति भगवद्वाक्यम्।
"अश्रोत्रियं श्राद्धमधीतमव्रतं
त्वदक्षिणं यज्ञमनृत्विजा हुतम्।
अश्रद्धया दत्तमसंस्कृतं हवि-
र्भागाः षडेते तव दैत्यपुङ्गव॥"
इति शुद्धितत्त्वम्॥
याज्ञवल्क्यः।
"श्रद्धाविधिसमायुक्तं कर्म्म यत् क्रियते नृभिः।
सुविशुद्धेन भावेन तदानन्त्याय कल्पते॥"
योगियाज्ञवल्क्यः।
"विधिहीनं भवेद्दुष्टं कृतमश्रद्धया च यत्।
तद्धरन्त्यसुरास्तस्य मूढस्य दुष्कृतात्मनः॥"
इति प्रायश्चित्ततत्त्वम्॥

श्रद्धालुः, स्त्री, (श्रद्दधातीति। श्रत्+धा+"स्पृहिगृहिपतिदयिनिद्रेति।" ३।२।१५८। इति आलुच्।) दोहदवती। श्रद्धायुक्ते, त्रि। इत्यमरः॥ (यथा, भागवते। ३।८।१०।
"सोऽहं तवैतत् कथयामि वत्स
श्रद्धालवे नित्यमनुव्रताय॥")

श्रद्धावान्, [त्] त्रि, (श्रद्धा विद्यतेऽस्येति। श्रद्धा+मतुप्। मस्य वः।) श्रद्धायुक्तः। यथा,—
"श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥"
इति भगवद्गीतायां ४ अध्यायः॥

श्रन्थ, कि दर्भे। वधे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (चुरा०-पक्षे भ्वा०-सक०-सेट्।) कि, श्रन्थयति श्रन्थति। दर्भो ग्रन्थनम्। इति दुर्गादासः॥

श्रन्थ, श मोक्षे। प्रतिहर्षे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (क्र्या०-पर०-सक०-सेट्।) श, श्रथ्नाति वत्सं लोकः मोचयतीत्यर्थः। श्रथ्नाति शिशुं लोकः पुनः पुनर्हर्षयति इत्यर्थः। शश्रन्थ। इति दुर्गादासः॥

श्रन्थः, पुं, (श्रथ्नाति मोचयति भक्तान् संसारादिति। श्रन्थ+अच्।) विष्णुः। इति त्रिकाण्डशेषः॥ (श्रन्थ+भावे घञ्।) श्रन्थधात्वर्थोऽप्यत्र॥

श्रन्थनं, क्ली, (श्रन्थ+भावे ल्युट्।) ग्रन्थनम्। यथा,—
"सन्दर्भो रचना गुम्फः श्रन्थनं ग्रन्थनं समाः।"
इति हेमचन्द्रः॥

श्रन्थितः, त्रि, ग्रन्थितः। बद्धः। हतवधः। मुक्तः। हर्षितः। इति श्रन्थधातोः क्तप्रत्ययेन निष्पन्नः॥

श्रपितं, त्रि, (श्रप+क्तः।) घृतदुग्धजलभिन्नपक्वद्रव्यम्। यथा,—
"निष्पक्वं क्वथिते पक्वान्यं क्षीरं पयः शृतम्।
अन्यत्तु श्रपितं श्राणं समुदक्तोद्धृते समे॥"
इति जटाधरः॥

श्रपिता, स्त्री, (श्रप+क्तः। टाप्।) काञ्जिकम्। इति केचित्॥

श्रम, उ भ य त्रि इर् तपःखेदयोः। इति कविकल्पद्रुमः॥ (दिवा०-पर०-अक०-सेट्। क्त्वावेट्।) उ, श्रमित्वा श्रान्त्वा। भ य, श्राम्यति लोकः तपः करोति खिद्यति चेत्यर्थः। त्रि, श्रान्तोऽस्ति। इर्, अश्रमत् अश्रमीत्। अस्मात् पुषादित्वान्नित्यं ङ इत्यन्ये। धूर्त्तान् विश्रामयेति स इति रत्नौ श्राम तृ क मन्त्रे इत्यदन्तस्य रूपम्। इति दुर्गादासः॥

श्रमः, पुं, (श्रम+घञ्। नोदात्तोपदेशस्येति वृद्ध्यभावः।) तपः। खेदः। इति श्रमधात्वर्थदर्शनात्॥ श्रान्तिः। तत्पर्य्यायः। क्लमः २ क्लेशः ३ परिश्रमः ४ प्रयासः ५ आयासः ६ व्यायामः ७। इति हेमचन्द्रः॥ क्लमथः ८। इत्यमरः॥ (यथा, भागवते। ५। १९। १४।
"यथेह कामुष्मिककामलम्पटः
सुतेषु दारेषु धनेषु चिन्तयन्।
शङ्केत विद्वान् कुकलेवरात्ययात्
यस्तस्य यत्नः श्रम एव केवलम्॥")
शस्त्राभ्यासः। तत्पर्य्यायः। खुरली २ योग्यः ३ अभ्यासः ४। इति च हेमचन्द्रः॥

श्रमणः, पुं, (श्राम्यति तपस्यतीति। श्रम+ल्युः।) यतिविशेषः। इति मेदिनी॥ (स तु बौद्धसन्न्यासी।) तत्पर्य्यायः।
"मुक्तिर्मोक्षोऽपवर्गोऽथ मुमुक्षुः श्रमणो यतिः।
वाचंयमो व्रती साधुरनगार ऋषिर्मुनिः॥
निर्ग्रन्थो भिक्षुरस्य स्वं तपोयोगशमादयः।"
इति हेमचन्द्रः॥
(यथा, रामायणे। १।१४।१२।
"तापसा भुञ्जते चापि श्रमणाश्चैव भुञ्जते॥")
निन्द्यजीविनि, त्रि। इति मेदिनी॥

श्रमणा, स्त्री, सुदर्शना। मांसी। मुण्डीरी। शबरीभेदः। इति मेदिनी॥

श्रमी, [न्] त्रि, श्रमविशिष्टः। श्रमशब्दादस्त्यर्थे इन्प्रत्ययेन निष्पन्नः॥ (यद्वा, श्राम्यतीति।

श्रम तपःखेदयोः + "श्रमित्वराभ्यो चितुक्।" ३।२।१४१। इति चितुक्॥)

श्रयः, पुं, (श्रि + "एरच्।" ३।३।५६। इति अच्।) आश्रयः। श्रिधातोरच्प्रत्ययेन निष्पन्नः॥

श्रयणं, क्ली, (श्रि + ल्युट्।) आश्रयः। तत्पर्य्यायः। आयः २। इत्यमरः॥ (यथा, भागवते। ८।६।२८।

"तवामृतं सुरगणाः फलमञ्जसापु-
र्यत्पादपङ्कजरजःश्रयणान्न दैत्याः॥")

श्रवः, पुं, (श्रूयतेऽनेनेति। श्रु + "ऋदोरप्।" ३।३।५७। इत्यप्।) कर्णः। (यथा, कथासरित्सागरे। १०३।१५८।

"तुमुलप्रोत्थसच्छब्दपिहिताम्बरदिक्श्रवः।
चचाल स बलाम्भोधिस्तयोर्गम्भीरभीषणः॥"

श्रु + भावे अप्।) श्रवणम्। इत्यमरटीकायां भरतः॥ (यथा, रघुः। ११।७१।

"सुप्तसर्प इव दण्डघट्टनात्
रोषितोऽस्मि तव विक्रमश्रवात्॥"

श्रूयते इति। कर्म्मणि अप्। शब्दः। यथा, वाजसनेयसंहितायाम्। १६।३४।

"नमो वन्याय च कक्ष्याय च नमः श्रवाय च प्रतिश्रवाय च॥")

श्रवः, [स्] क्ली, (श्रूयतेऽनेनेति। श्रु + "सर्व्वधातुभ्योऽसुन्।" इत्यसुन्।) कर्णः। इत्यमरः॥ (अन्नम्। इति निघण्टुः। २।७॥ यथा, ऋग्वेदे। ३।१९।५।

"अधिश्रवांसि धेहि नस्तनूषु॥"

धनम्। इति निघण्टुः। २।१०॥ यशः। यथा, भागवते। ४।१७।६।

"श्रवः सुश्रवसः पुण्यं सर्व्वदेहकथाश्रयम्॥"

शब्दः। यथा, तत्रैव। ५।११।८।

"गन्धाकृति स्पर्शरसश्रवांसि
विसर्गरत्यर्त्त्यभिजल्पशिल्पाः॥")

श्रवणं, क्ली, (श्रूयतेऽनेनेति। श्रु + करणे ल्युट्।) कर्णः। इत्यमरः॥ न स्त्रियां श्रवणः कर्णः। इति हेममाला। इति तट्टीकायां भरतः॥ शब्दसाधाभ्यन्तरे श्रवणयोश्छिद्रं भवति। इति सुखबोधः॥ श्रुतिः। सा तु कर्णेन्द्रियज्ञानम्। इति मेदिनी॥ शोना इति भाषा॥ (यथा, मनुः। ८।७४।

"समक्षदर्शनात् साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिध्यति॥"

तत्तु नीतिशास्त्रोक्तधीगुणानामन्यतमम्। यथा, कामन्दकीये। ४।२२।

"शुश्रूषा श्रवणञ्चैव ग्रहणं धारणं तथा।
ऊहोऽपोहोऽर्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानञ्च धीगुणाः॥")

षड्विधलिङ्गैरशेषवेदान्तानामद्वितीये वस्तुनि तात्पर्य्यावधारणम्। लिङ्गानि तु उपक्रमोपसंहाराभ्यासापूर्व्वता फलार्थवादोपपत्त्याख्यानि। इति वेदान्तसारः॥

श्रवणः, पुं क्ली, श्रवणानक्षत्रम्। इति मेदिनी॥ (यथा च स्मृतिः।

"अमार्कपाते श्रवणं यदि स्यादिति॥")

श्रवणद्वादशी, स्त्री, (श्रवणयुक्ता द्वादशी।) श्रवणानक्षत्रयुक्तभाद्रशुक्लद्वादशी। यथा,—

पितामह उवाच।

"श्रवणद्वादशीं वक्ष्ये भुक्तिमुक्तिप्रदायिनीम्।
एकादशी द्वादशी च श्रवणेन च संयुता॥
विजया सा तिथिः प्रोक्ता हरिपूजादि चाक्षयम्।
एकभक्तेन नक्तेन तथैवायाचितेन च।
उपवासेन भक्ष्येण नैवाद्वादशिको भवेत्।
कांस्यं माषं तथा क्षौद्रं लोभं वितथभाषणम्॥
व्यायामञ्च व्यवायञ्च दिवास्वप्नमथाञ्जनम्।
शिलापिष्टं मसूरञ्च द्वादश्यां वर्ज्जयेन्नरः॥
मासि भाद्रपदे शुक्ले द्वादशी श्रवणान्विता।
महती द्वादशी ज्ञेया उपवासे महाफला॥
सङ्गमे सरितः स्नानं बुधयुक्ता महाफला।
कुम्भे सरत्ने सजले यजेत् स्वर्णन्तु वामनम्॥
सितवस्त्रयुगच्छन्नं छत्रोपानद्युगान्वितम्।
ॐ नमो वासुदेवाय शिरः संपूजयेत्ततः॥
श्रीधराय मुखं तद्वत् कण्ठं कृष्णाय वै नमः।
नमः श्रीपतये वक्षो भुजौ सर्व्वास्त्रधारिणे॥
व्यापकाय नमः कुक्षौ केशवायोदरं बुधः।
त्रैलोक्यपतये मेढ्रं जङ्घां सर्व्वभृते नमः॥
सर्व्वात्मने नमः पादौ नैवेद्यं घृतपायसम्।
कुम्भांश्च मोदकान् दद्यात् जागरं कारयेन्निशि॥
स्नात्वा प्रातोऽर्च्चयित्वा तु कृतपुष्पाञ्जलिर्व्वदेत्।
नमो नमस्ते गोविन्द बुध श्रवणसंज्ञक॥
अघौघसंक्षयं कृत्वा सर्व्वसौख्यप्रदो भव।
प्रीयतां देवदेवेशो विप्रेभ्यः कलसान् ददेत्।
नद्यास्तीरेऽथवा कुर्य्यात् सर्व्वान् कामानवा-
प्नुयात्॥"

इति गारुडे १४१ अध्यायः॥

अन्यत् द्वादशीशब्दे द्रष्टव्यम्॥

श्रवणशीर्षिका, स्त्री, श्रावणीवृक्षः। इति राजनिर्घण्टः॥

श्रवणा, स्त्री पुं, नक्षत्रविशेषः। इति मेदिनी॥ सा तु अश्विन्याद्यन्तर्गतद्वाविंशनक्षत्रम्। तस्याः स्वरूपं शराकारताराश्रयात्मकम्। तस्याधिदेवो हरिः। यथा,—

"तारकात्रयमिति शराकृतौ
केशवे गगनमध्यवर्त्तिनि।
मत्तवारजगतेऽजलप्सतो
निर्ययुर्गजमहीशशिल्पिकाः॥" दं १। पं १८

इति कालिदासकृतरात्रिलग्ननिरूपणम्॥ *॥

तत्र जातफलम्।

"शास्त्रानुरक्तो बहुपुत्रमित्रः
सत्पुत्रभक्तिर्व्विजितारिवर्गः।
चेज्जन्मकाले श्रवणा हि यस्य
प्रेमा पुराणश्रवणे प्रवीणः॥"

इति कोष्ठीप्रदीपः॥ *॥

तत्र गृहारम्भार्थतृणकाष्ठादिच्छेदनसंग्रहदक्षिणादिक्गमननिषेधा यथा,—

"छेदनं संग्रहञ्चैव काष्ठादीनां न कारयेत्।
श्रवणादौ बुधः षट्के न गच्छेद्दक्षिणां दिशम्॥
अग्निपीडा भयं शोको राजपीडा धनक्षयः।
संग्रहे तृणकाष्ठानां कृते वस्वादिपञ्चके॥"

इति ज्योतिस्तत्त्वम्॥

श्रवणा, स्त्री, मुण्डरिकावृक्षः। इति रत्नमाला॥

श्रवाय्यः, पुं, (श्रु श्रवणे + "श्रुदक्षिस्पृहिगृहिभ्य आय्यः।" उणा० ३।९६। इति आय्यः।) बलियोग्यपशुः। यज्ञियपशुः। इति सिद्धान्तकौमुदी॥ (श्रवणीये, त्रि। यथा, ऋग्वेदे। १।२७।८।

"वाजो अस्ति श्रवाय्यः॥"

"श्रवाय्यः श्रवणीयो वाजोऽस्ति बलविशेषोऽस्ति।" इति तद्भाष्यम्॥)

श्रविष्ठा, स्त्री, (श्रवणमिति श्रवः। सोऽस्या अस्तीति। मतुप्। अतिशयेन श्रववती। अतिशयने तमबिष्ठनौ इति इष्ठन्। विन्मतुोर्लुगिति मतुपो लुक्।) धनिष्ठानक्षत्रम्। इत्यमरः॥ (यथा, वामनपुराणे १७ अध्याये।

"श्रविष्ठायां तथा पृष्ठं शालिभक्तञ्च दोहदे।
पुच्छे सुखं पूजयेत दोहदे घृतपायसम्॥")

श्रविष्ठाजः, पुं, (श्रविष्ठायां जायते इति। जन् + डः।) बुधग्रहः। इति त्रिकाण्डशेषः॥ तत्र जाते, त्रि॥

श्रव्यः, त्रि, श्रोतव्यः। श्रवणार्हवाक्यादिः। श्रुधातोर्यप्रत्ययेन निष्पन्नः॥ (यथा, रामायणे।६।३।

"यत् श्रुत्वा परमेशानि अन्यमन्यन्न रोचते॥")

श्रा, ल स्वेदे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (अदा०-पर०-अक०-अनिट्।) रेफयुक्तकालवादिः। ल, श्राति। इति दुर्गादासः॥

श्रा, ल म पाके। इति कविकल्पद्रुमः॥ (अदा०-पर०-सक०-अनिट्।) रेफयुक्तकालवादिः। ल, श्राति। म, श्रपयति। इति दुर्गादासः॥

श्राणं, त्रि, (श्रा + क्तः।) पक्वम्। इति मेदिनी॥ घृतदुग्धजलभिन्नपक्वद्रव्यम्। इति जटाधरः॥

श्राणा, स्त्री, (श्रायते स्मेति। श्रा + क्तः।) यवागूः। इत्यमरः॥

श्राद्धं, क्ली, (श्रद्धा प्रयोजनमस्य। श्रद्धा + "चूडादिभ्य उपसंख्यानम्।" ५।१।११०। इत्यस्य वार्त्तिकोक्त्या अण्।) शास्त्रोक्तविधानेन पितृकर्म्म। इत्यमरः॥ पितृदेश्यकश्रद्धयान्नादिदानम्। तस्य लक्षणम्। यथा,—

"संस्कृतव्यञ्जनाढ्यञ्च पयोदधिघृतान्वितम्।
श्रद्धया दीयते यस्मात् श्राद्धं तेन निगद्यते॥"

इति पुलस्त्यवचनात् श्रद्धया अन्नादेर्दानं श्राद्धं इति वैदिकप्रयोगाधीनयौगिकम्। इति श्राद्धतत्त्वम्॥ अपि च। सम्बोधनपदोपनीतान् पित्रादीन् चतुर्थ्यन्तपदेनोद्दिश्य हविस्त्यागः श्राद्धम्। तत्तु द्वादशविधं यथा। विश्वामित्रः।

"नित्यं नैमित्तिकं काम्यं वृद्धिश्राद्धं सपिण्डनम्।
पार्व्वणञ्चेति विज्ञेयं गोष्ठ्यां शुद्ध्यर्थमष्टमम्॥
कर्म्माङ्गं नवमं प्रोक्तं दैविकं दशमं स्मृतम्।
यात्रार्थैकादशं प्रोक्तं पुष्ट्यर्थं द्वादशं स्मृतम्॥"

एतद्भविष्यपुराणे विवृतम्। यथा, भविष्ये।
"अहन्यहनि यच्छ्राद्धं तन्नित्यमभिधीयते।
वैश्वदेवविहीनं तदशक्तावुदकेन तु॥
एकोद्दिष्टन्तु यच्छ्राद्धं तन्नैमित्तिकमुच्यते।
तदप्यदैवं कर्त्तव्यमयुग्मानाशयेद्द्विजान्॥
काम्याय तु हितं काम्यमभिप्रेतार्थसिद्धये।
पार्व्वणेन विधानेन तदप्युक्तं खगाधिप॥
वृद्धौ यत् क्रियते श्राद्धं वृद्धिश्राद्धं तदुच्यते।
सर्व्वं प्रदक्षिणं कार्य्यं पूर्व्वाह्णे तूपवीतिना॥
गन्धोदकतिलैर्युक्तं कुर्य्यात् पात्रचतुष्टयम्।
अर्घ्यार्थं पितृपात्रेषु प्रेतपात्रं प्रसेचयेत्॥
ये समाना इति द्वाभ्यामेतज्ज्ञेयं सपिण्डनम्।
नित्येन तुल्यं शेषं स्यादेकोद्दिष्टं स्त्रिया अपि॥
अमावास्यां यत् क्रियते तत् पार्व्वणमुदाहृतम्।
क्रियते वा पर्व्वणि यत् तत् पार्व्वणमिति स्थितिः॥
गोष्ठ्यां यत् क्रियते श्राद्धं गोष्ठीश्राद्धं तदुच्यते।
बहूनां विदुषां सम्पत्सुखार्थं पितृतृप्तये॥
क्रियते शुद्धये यत्तु ब्राह्मणानान्तु भोजनम्।
शुद्ध्यर्थमिति तत् प्रोक्तं वैनतेय मनीषिभिः॥
निषेककाले सोमे च सीमन्तोन्नयने तथा।
ज्ञेयं पुंसवने चैव श्राद्धं कर्म्माङ्गमेव च॥
देवानुद्दिश्य यच्छ्राद्धं तद्दैविकमिहोच्यते।
हविष्येण विशिष्टेन सप्तम्यादिषु यत्नतः॥
गच्छन् देशान्तरं यत्तु श्राद्धं कुर्य्याच्च सर्पिषा।
यात्रार्थमिति तत् प्रोक्तं प्रवेशे च न संशयः॥
शरीरोपचये श्राद्धमर्थोपचय एव च।
पुष्ट्यर्थमेतद्विज्ञेयमौपचायिकमुच्यते॥"॥
तस्य पञ्चविधत्वं यथा। बृहस्पतिः।
"नित्यं नैमित्तिकं काम्यं वृद्धिश्राद्धं तथैव च।
पार्व्वणञ्चेति मनुना श्राद्धं पञ्चविधं स्मृतम्॥"
कूर्म्मपुराणे।
"अहन्यहनि नित्यं स्यात् काम्यं नैमित्तिकं पुनः।
एकोद्दिष्टन्तु विज्ञेयं वृद्धिश्राद्धञ्च पार्व्वणम्॥
एतत् पञ्चविधं श्राद्धं मनुना परिकीर्त्तितम्॥"
मत्स्यपुराणे त्रैविध्यमुक्तं यथा,—
"नित्यं नैमित्तिकं काम्यं त्रिविधं श्राद्धमुच्यते॥"
तस्य द्वैविध्यम्। विष्णुना नित्यकाम्यरूपतया द्वैविध्यं वक्ष्यते। तत्र नित्यपदमावश्यकरूपतया पार्व्वणैकोद्दिष्टयोरपि परिग्रहार्थम्। काम्यपदमनावश्यकत्वार्थम्। इति श्राद्धविवेकः॥॥
आदावात्रेयमुनिपुत्त्रेण निमिना तत्पुत्त्रस्य श्राद्धं कृतम्। यथा,—

धरण्युवाच।

"को गुणः पितृयज्ञस्य कथमेव प्रपूज्यते।
केन चोत्पादितं श्राद्धं कस्मिन्नर्थे किमात्मकम्॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण वदस्व मे॥

वाराह उवाच।

मनोस्तु वंशसम्भूत आत्रेय इति विश्रुतः।
आत्रेयस्यात्मजो विप्रो निमिनामा तपोधनः॥
निमिपुत्त्रस्तु धर्म्मात्मा त्रिषु लोकेषु विश्रुतः।
वर्षाणाञ्च सहस्राणि तपस्तप्त्वा वसुन्धरे।
मृत्युकालमनुप्राप्तस्ततः पञ्चत्वमागतः॥
गतञ्च तं सुतं दृष्ट्वा निमेः शोक उपाविशत्।
पुत्त्रशोकाभिसंयुक्तो दिवा रात्रौ च चिन्तयन्॥
निमिः कृत्वा ततः शोकं विधिना तत्र माधवि।
तमेव गतसङ्कल्पस्त्रिरात्रे प्रत्यपद्यत॥
तस्य प्रतिविशुद्धस्य माघमासे तु द्वादशीम्।
मनः संहृत्य विषयं बुद्धिर्विस्तारगामिनी॥
स निमिश्चिन्तयामास श्राद्धकल्पं समाहितः।
यानि तस्यैव भोज्यानि मूलानि च फलानि च॥
यानि कानि च भक्ष्याणि नवञ्च रससम्भवम्।
यानि तस्यैव चेष्टानि सर्व्वमेतदुदाहरत्॥
आमन्त्र्य ब्राह्मणं पूर्व्वं शुचिर्भूत्वा समाहितः।
दक्षिणावर्त्ततः सर्व्वं ऋषिः स्वयमकुर्व्वत।
सप्त कृत्वा ततस्तत्र युगपत् समुपाविशत्॥
दत्त्वा तु मांसशाकानि मूलानि च फलानि च।
पूजयित्वा तु विप्रान् स सप्तकृत्वस्तु सुन्दरि॥
कृत्वा तु दक्षिणाग्रांश्च कुशांश्च प्रयतः शुचिः।
प्रददौ श्रीमते पिण्डं नामगोत्रमुदाहरन्॥
एतस्मिन्नन्तरे देवि नारदो द्विजसत्तमः।
जगाम तापसारण्यं ऋष्याश्रमविभूषितम्॥
तं दृष्ट्वा पूजयामास स्वागतेनाथ माधवि।
भीतो गद्गदया वाचा निश्वसंश्च मुहुर्मुहुः॥
सव्रीड़ो भाषते विप्रः कारुण्येन समन्वितः।
कृतः स्नेहश्च पुत्त्रार्थे मया संकल्प्य यत् कृतम्॥
तर्पयित्वा द्विजान् सप्त अन्नाद्येन फलेन च।
पश्चाद्विसर्ज्जितं पिण्डं दर्भानास्तीर्य्य भूतले॥
उदकानयनञ्चैव त्वपसव्येन पायितम्।
शोकस्नेहप्रभावेण एतत् कर्म्म मया कृतम्॥
न च श्रुतं मया पूर्व्वं न देवैर्ऋषिभिः कृतम्।
भयं तीव्रं प्रपश्यामि मुनिशापात् सुदारुणात्॥

नारद उवाच।

न भेतव्यं द्विजश्रेष्ठ पितरं शरणं व्रज।
अधर्म्मं न च पश्यामि धर्म्मोऽयं नात्र संशयः॥
नारदेनैवमुक्तस्तु निमिर्ध्यानमुपाविशत्।
कर्म्मणा मनसा वाचा पितरं शरणं गतः॥
ततोऽतिचिन्तयामास वंशकर्त्तारमात्मनः।
ध्यायमानस्ततोऽप्याशु आजगाम तपोधनः॥
पुत्त्रशोकेन सन्तप्तं पुत्त्रं दृष्ट्वा तपोधनः।
पुत्त्रमाश्वासयामास वाग्भिरिष्टाभिरव्ययैः॥
निमे सङ्कल्पितश्चायं पितृयज्ञस्तपोधन।
पितृयज्ञेति निर्द्दिष्टो धर्म्मोऽयं ब्रह्मणा स्वयम्॥
ततो व्रतिवरो धर्म्मः क्रतुरेकः प्रतिष्ठितः।
कृतः स्वयम्भुवा पूर्व्वं श्राद्धे यो विधिरुत्तमः॥"
इति वाराहे श्राद्धोत्पत्तिनामाध्यायः॥॥
अपि च।
"अपसव्येन दातव्यं मासि मासि तिलोदकम्।
प्रणम्य शिरसा देवीर्निर्व्वापस्य च धारिणीः।
वैष्णवी काश्यपी चेति अजया चेति नामतः॥
एवं दत्तेन प्रीयन्ते पितरश्च न संशयः।
परमात्मा शरीरस्थो देवतानां मया कृतः॥
त्रयस्तत्र वरारोहे देवगणाद्विनिःसृताः।
पितृदेवा भविष्यन्ति भोक्तारः पितृपिण्डकान्॥
दैवतासुरगन्धर्व्वा यक्षराक्षसपन्नगाः।
पिण्डं श्राद्धस्य पश्यन्ति वायुभूता न संशयः॥
पितृयज्ञं विशालाक्षि ये कुर्व्वन्ति दिवो जनाः।
आयुः कीर्त्तिर्बलं तेजो धनं पुत्त्रपशुस्त्रियः॥
ददन्ति पितरस्तस्य आरोग्यं नात्र संशयः।
आत्मकर्म्मवशाल्लोकान् प्राप्नुवन्तीह शोभनान्।
तिर्य्यक्षु च विमुच्यन्ते प्रेतभावाच्च मानवाः।
नरके पच्यमानानां त्राता भवति मानवः॥
पूजकः पितृदेवानां सर्व्वकालं गृहाश्रमे।
द्विजातींस्तर्पयित्वा तु पूर्व्वेण विधिना नरः॥
अक्षयं तस्य मन्यन्ते पितरः श्राद्धतर्पिताः।
नरा ये पितृभक्तास्ते प्राप्नुवन्ति परां गतिम्॥॥
पक्वान्नं तत्र वै कार्य्यं सुविस्तरञ्च शुद्धितः।
दत्ते तु तत्र मध्याह्ने श्राद्धारम्भन्तु कारयेत्॥
स्वागतञ्च तथा कृत्वा पाद्यार्थं मण्डलं शुचिः।
पाद्यं दत्त्वा तु विप्राय गृहस्याभ्यन्तरं नयेत्॥
आसनं कल्पयित्वा तु आवाह्य तदनन्तरम्।
अर्घ्यं दद्याद्विधानेन गन्धमाल्यैः प्रपूज्य च॥
धूपं दीपं तथा वस्त्रं तिलोदकमथापि वा।
पात्रञ्च भोजनस्यार्थं विप्राग्रे धारयेत्तथा॥
भस्मना मण्डलं कार्य्यं पंक्तिदोषनिवारकम्।
अग्निकार्य्यं ततः कृत्वा अन्नञ्च परिवेशयेत्॥
तत्र कार्य्यस्तु सङ्कल्पः पितॄनुद्दिश्य सुन्दरि।
यथासुखेन भोक्तव्यमिति ब्रूयाद्द्विजं प्रति॥
रक्षोघ्नमन्त्रपाठांश्च आचमेत विचक्षणः।
तृप्तांस्तु ब्राह्मणान् ज्ञात्वा दद्याद्वै विकिरं
ततः॥
उत्तरापोशनं दत्त्वा पिण्डपश्नन्तु कारयेत्।
दक्षिणाभिमुखो भूत्वा दर्भानास्तीर्य्य भूतले॥
पिण्डदानं प्रकुर्व्वीत पित्रादित्रितये तथा।
पिण्डानां पूजनं कार्य्यं तन्मुद्रैर्यथाविधि॥
ब्राह्मणस्य च हस्ते तु दद्यादक्षय्यमात्मवान्।
पिण्डाक्षयस्तु वसुधे यावत्तिष्ठन्ति भूतले॥
आप्यायमानाः पितरस्तावत्तिष्ठन्ति वै गृहे।
उपस्पृश्य शुचिर्भूत्वा दद्यात् शान्त्युदकानि च॥
प्रणम्य शिरसा भूमौ निर्वापस्य च धारिणीः।
वैष्णवी काश्यपी चेति अक्षय्या चेति नामतः॥
भक्षयेत् प्रथमं पिण्डं पत्नी देयञ्च मध्यमम्।
तृतीयमुदके दद्यात् श्राद्धे एवं विधिः स्मृतः।
पितृदेवं विसृज्याथ भक्त्या तु प्रणमेत्तु तान्।
एव दत्तेन तुष्यन्ति पितृदेवा न संशयः॥
दीर्घायुष्यं प्रयच्छन्ति पुत्त्रपौत्त्रधनानि च।
तेनोत्तमेषु विप्रेषु दद्यात् श्राद्धं विधानतः॥
अन्यथा तत्तु वै श्राद्धं निष्फलं नास्ति संशयः।
मन्त्रहीनं क्रियाहीनं यत् श्राद्धं कुरुते द्विजः।
मङ्गलस्यासुरेन्द्रस्य फलं भवति भागतः॥"
इति वाराहे पितृयज्ञनिर्णयनामाध्यायः॥॥
तस्याधिकारिक्रमो यथा,—
"पुत्त्रः पौत्त्रः प्रपौत्त्रो वा भ्राता वा भ्रातृ-
सन्ततिः।
सपिण्डसन्ततिर्व्वापि क्रियार्हो नृप जायते॥
तेषामभावे सर्व्वेषां समानोदकसन्ततिः।
मातृपक्षस्य पिण्डेन संबद्धा ये जलेन वा॥

कुलद्वयेऽपि चोत्सन्ने स्त्रीभिः कार्य्या क्रिया नृप।
संघातान्तर्गतैर्व्वापि कार्य्याः प्रेतस्य याः क्रियाः ॥
उत्सन्नबन्धुरिक्थाद्वा कारयेदवनीपतिः।
पूर्व्वाः क्रिया मध्यमाश्च तथा चैवोत्तराः क्रियाः ॥
त्रिप्रकाराः क्रियास्त्वेतास्तासां भेदं शृणुष्व मे।
आदाहवार्य्यायुधादिस्पर्शाद्यन्तास्तु याः क्रियाः ॥
ताः पूर्व्वा मध्यमा मासि मास्येकोद्दिष्टसंज्ञिताः।
प्रेते पितृत्वमापन्ने सपिण्डीकरणादनु ॥
क्रियन्ते याः क्रियाः पित्र्याः प्रोच्यन्ते ता नृपोत्तराः।
पितृमातृसपिण्डैस्तु समानसलिलैस्तथा ॥
संघातान्तर्गतैश्चैव राज्ञा वा धनहारिणा।
पूर्व्वाः क्रियास्तु कर्त्तव्याः पुत्राद्यैरेव चोत्तराः।
दौहित्रैर्व्वा नरश्रेष्ठ कार्य्यास्तत्तनयैस्तथा।
मृताहनि च कर्त्तव्याः स्त्रीणामप्युत्तराः क्रियाः ॥
प्रतिसंवत्सरं राजन्नेकोद्दिष्टं विधानतः ॥"
इति विष्णुपुराणे ३ अंशे १३ अध्यायः ॥*॥
याज्ञवल्क्य उवाच।
"अथ श्राद्धविधिं वक्ष्ये सर्व्वपापप्रणाशनम्।
अमावास्याष्टकावृद्धिः कृष्णपक्षोऽयनद्वयम् ॥
द्रव्यं ब्राह्मणसम्पत्तिर्विषुवत् सूर्य्यसंक्रमः।
व्यतीपातो गजच्छाया ग्रहणं चन्द्रसूर्य्ययोः ॥
श्राद्धं प्रति रुचिश्चैव श्राद्धकालाः प्रकीर्त्तिताः ॥*
अग्र्यः सर्व्ववेदेषु श्रोत्रियो वेदविद्युवा।
वेदार्थवित्र्योष्ठसामा त्रिमधुस्त्रिसुपर्णिकः ॥
स्वस्रीयऋत्विग्जामातृयाज्यश्वशुरमातुलाः।
त्रिणाचिकेतदौहित्रशिष्यसम्बन्धिबान्धवाः ॥
कर्म्मनिष्ठास्तपोनिष्ठाः पञ्चाग्निर्ब्रह्मचारिणः।
पितृमातृपराश्चैव ब्राह्मणाः श्राद्धदेवताः ॥*॥
रोगी हीनातिरिक्ताङ्गः काणः पौनर्भवस्तथा ॥
अवकीर्ण्यादयो ये च ये चाचारविवर्ज्जिताः।
अवेक्षणाश्च ये सर्व्वे न श्राद्धार्हाः कदाचन ॥*॥
निमन्त्रयेच्च पूर्व्वेद्युर्द्विजैर्भाव्यञ्च संयतैः।
आचान्तांश्चैव पूर्व्वाह्णे ह्यासने ह्युपवेशयेत् ॥
युग्मान्दैवे तथा पित्र्ये सुप्रदेशे स्वशक्तितः।
द्वौ दैवे प्रागुदक् पित्र्ये चैकैकं चोभयोः पृथक् ॥
मातामहानामप्येवं तन्त्रं वा वैश्वदेविकम्।
हस्तप्रक्षालनं दत्त्वा विष्टरार्थं कुशानपि ॥
आवाह्य तदनुज्ञातो विश्वेदेवास इत्यृचा।
यवैरन्ववकीर्य्याथ भाजने सपवित्रके ॥
शन्नो देव्या पयः क्षिप्त्वा यवोऽसीति यवांस्तथा।
या दिव्या इति मन्त्रेण हस्तेष्वेव विनिःक्षिपेत् ॥
गन्धोदकं तथा धूपमाल्यदानप्रदीपकम्।
अपसव्यं ततः कृत्वा पितॄणामप्रदक्षिणम् ॥
द्विगुणांस्तु कुशान् दत्त्वा उशन्तस्त्वेत्यृचा पितॄन्।
आवाह्य तदनुज्ञातो जपेदायान्तु नस्ततः ॥
यवार्थस्तु तिलैः कार्य्यः कुर्य्यादर्घ्यादि पूर्व्ववत्।
दत्त्वा तु संस्रवांस्तेषां पात्रे कृत्वा विधानतः ॥
पितृभ्यः स्थानमसीति न्युब्जं पात्रं करोत्यधः।
अग्नौ करिष्येत्यादाय पृच्छत्यन्नं घृतप्लुतम् ॥
कुरुष्वेति तथोक्तोऽग्नौ हुत्वासौ पितृयज्ञवत्।
हुतशेषं प्रदद्याच्च भाजनेषु समाहितः ॥
यथालाभोपपन्नेषु रौप्येषु च विशेषतः।
दत्त्वान्नं पृथिवी ते पात्रमिति पात्राभिमन्त्रणम् ॥
कृत्वेदं विष्णुरित्यन्ने निजाङ्गुष्ठं निवेशयेत्।
सव्याहृतिकां गायत्रीं मधुवातेत्यृचं तथा ॥
जप्त्वा यथासुखं वाच्यं भुञ्जीरंस्तेऽपि वाग्यताः।
अन्नमिष्टं हविष्यञ्च दद्यादक्रोधनोऽत्वरः ॥
आतृप्तेश्च पवित्राणि जप्त्वा पूर्व्वजपन्तथा।
अन्नमादाय तृप्ताः स्थ शेषञ्चैवानुमन्य च ॥
तदन्नं प्रकिरेद्भूमौ दद्याच्चापः सकृत् सकृत्।
सर्व्वमन्नमुपादाय सतिलं दक्षिणामुखः ॥
उच्छिष्टसन्निधौ पिण्डान् प्रदद्यात् पितृयज्ञवत्।
मातामहानामप्येवं दद्याच्चाचमनं ततः ॥
स्वस्ति प्रोच्यतामिति चाहैवं विश्वेदेवान् जलं ददत्।
स्वस्तिवाच्य ततो दद्यादक्षय्योदकमेव च ॥
दत्त्वा तु दक्षिणां शक्त्या स्वधाकारमुदीरयेत्।
वाच्यतामित्यनुज्ञातः पितृभ्यश्च स्वधोच्यताम् ॥
विप्रैरस्तु स्वधेत्युक्तो भूमौ सिञ्चेत्ततो जलम्।
दातारो नोऽभिवर्द्धन्तां वेदाः सन्ततिरेव च ॥
श्रद्धा च नो मा व्यगमत् बहु देयञ्च नोऽस्त्विति।
इत्युक्त्वापि प्रियं वाच्यं प्रणिपत्य विसर्ज्जयेत् ॥
वाजे वाजे इति प्रीत्या पितृपूर्व्वं विसर्ज्जनम्।
यस्मिंस्ते संस्रवाः पूर्व्वमर्घ्यपात्रे निपातिताः ॥
पितृपात्रं तदुत्तानं कृत्वा विप्रान् विसर्ज्जयेत्।
प्रदक्षिणमनुव्रज्य भुञ्जीत पितृसेवितम् ॥
ब्रह्मचारी भवेत्तान्तु रजनीं भार्य्यया सह।
एवं प्रदक्षिणं कृत्वा वृद्धौ नान्दीमुखानपि ॥
यजेत दधिकर्कन्धुमिश्राः पिण्डा यवैः स्मृताः।
एकोद्दिष्टं दैवहीनमेकार्घ्यैकपवित्रकम् ॥
आवाहनाग्नौ करणरहितं ह्यपसव्यवत्।
उपतिष्ठतामित्यक्षय्यस्थाने विप्रान् विसर्ज्जयेत् ॥
अभिरम्यतां प्रब्रूयात् ब्रूयुस्तेऽभिरताः स्म ह।
गन्धोदकतिलैर्मिश्रं कुर्य्यात् पात्रचतुष्टयम् ॥
अर्घ्यार्थं पितृपात्रेषु प्रेतपात्रं प्रसेचयेत्।
ये समाना इति द्वाभ्यां शेषं पूर्व्ववदाचरेत् ॥
एतत् सपिण्डीकरणमेकोद्दिष्टं स्त्रिया अपि।
अर्व्वाक् सपिण्डीकरणं यस्य संवत्सराद्भवेत् ॥
तस्याप्यन्नं सोदकुम्भं दद्यात् संवत्सरं द्विज।
पिण्डांस्तु गोऽजविप्रेभ्यो दद्यादग्नौ जलेऽपि वा ॥
हविष्यान्नेन वै मासं पायसेन तु वत्सरम्।
मात्स्यहारिणकौरभ्रशाकुनच्छागपार्षतैः ॥
ऐणरौरववाराहशाशैर्मांसैर्यथाक्रमम्।
मासवृद्ध्यापि तुष्यन्ति दत्तैरिह पितामहाः ॥
दद्याद्वर्षा त्रयोदश्यां मघासु च न संशयः।
प्रतिपत्प्रभृतिष्वेवं कन्यादीन् श्राद्धदो भवेत् ॥
शस्त्रेण निहतानान्तु चतुर्द्दश्यां प्रदीयते ॥*॥
स्वर्गं ह्यपत्यमोजश्च शौर्य्यं क्षेत्रं बलं तथा ॥
पुत्त्रश्रेष्ठान् ससौभाग्यानपत्यं मुख्यतां शुभम्।
प्रवृत्तचक्रतां पुत्त्रान् वाणिज्यप्रभृतींस्तथा ॥
अरोगित्वं यशो वीतशोकतां परमां गतिम्।
धनं विद्यां भिषक्सिद्धिं कुप्यं गोऽजाविकं तथा ॥
अश्वानायुश्च विधिवद्यः श्राद्धं संप्रयच्छति।
कृत्तिकादिभरण्यन्तं सकामानाप्नुयादिमान् ॥
वस्वादयः प्रीणयन्त्येव नरं श्राद्धं कृतं द्विजाः।
आयुःप्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च ॥
प्रयच्छति तथा राज्यं प्रीतो नित्यं पितामहः ॥"
इति गारुडे ९९ अध्यायः ॥ * ॥
अपि च।
"श्राद्धश्राद्धमहं वक्ष्ये भुक्तिमुक्तिप्रदं नृणाम्।
पूर्व्वं निमन्त्रयेद्विप्रान् निशि स्युर्ब्रह्मचारिणः ॥
प्रदक्षिणोपवीतेन देवान् वामोपवीतिना।
पितॄन्निमन्त्रयेत् पादौ क्षालयेदास्यमन्ततः ॥
ओँ स्वागतं भवद्भिरिति प्रश्नः। ओँ सुस्वागतमिति तदुक्ते ओँ विश्वेभ्यो देवेभ्य एतत् पादोदकमर्घ्यं स्वाहा पितृभ्यः स्वधा इति देवब्राह्मणपादयोर्दैवतीर्थेनाशुभकुशजलकुसुमदानम्। ततो दक्षिणामुखस्य वामोपवीतेन अमुकगोत्रेभ्यः अस्मत्पितृपितामहप्रपितामहेभ्यो यथानामशर्म्मभ्यः सपत्नीकेभ्य एतत् पादोदकमर्घ्यं स्वधा इति पित्रादिब्राह्मणपादयोः पितृतीर्थेन शुभकुशतिलकुसुमजलदानम्। एवं मातामहादिषु। एतद आचमनीयं स्वाहा स्वधेति ब्राह्मणहस्ते। एष वो अर्घ्यः इति ब्राह्मणहस्तेऽर्घ्यदानम्। एतद्वः पुष्पं इति ब्राह्मणहस्ते पुष्पदानम्। ओँ सिद्धमिदमासनं इहास्यमित्यभिधाय ओँ भूः ओँ भुवः ओँ स्वः ओँ महः ओँ जनः ओँ तपः ओँ सत्यं सप्तव्याहृतिभिः पूर्व्वमुखदेवब्राह्मणोपवेशनम्। उत्तराभिमुखाः पितरः ओँ देवताभ्यः पितृभ्यश्च महायोगिभ्य एव च। नमः स्वधायै स्वाहायै नित्यमेव नमो नमः ॥ इति त्रिर्ज्जपेत्। ओँ अद्यास्मिन्देशे अमुकमासे अमुकराशिगते सवितरि अमुकस्यां तिथौ अमुकगोत्राणामस्मत्पितृपितामहप्रपितामहानां यथानामशर्म्मणां विश्वेदेवपूर्व्वकं श्राद्धमहं करिष्ये ओँ विश्वेभ्यो देवेभ्य इदमासनं स्वाहा। ओँ विश्वान् देवानावाहयिष्ये ओँ आवाहय इत्युक्ते ओँ विश्वेदेवास आगत शृणुताम इमं हवं एदं बर्हिर्निषीदत। ओँ विश्वेदेवाः शृणुतेमं हवं ये मे अन्तरीक्षे य उपद्यविष्ठ येऽग्निजिह्वा उत वा यजत्रा आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वम्। ओँ ओषधयः समवदन्त सोमेन सह राज्ञा यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं राजन् पारयामसि।
ओँ आगच्छन्तु महाभागा विश्वेदेवा महाबलाः ये यत्र विहिताः श्राद्धे सावधाना भवन्तु ते ॥
ओँ अपहतासुरा रक्षांसि वेदिषदः। इति त्रिभिर्यवविकिरणम्। ओँ पवित्रमहं करिष्ये ओँ कुरुष्वेति तेनोक्ते साग्रकुशपत्रद्वयं प्रादेशप्रमाणं कृत्वा ओँ पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ अनेन कुशान्तरेण छित्त्वा ओँ विष्णोर्म्मनसा पूते स्थः

इत्यभ्युक्ष्य कुशान्तरेण च्छिन्नं कृत्वा पात्रे पवित्रनिक्षेपणम्। शन्नो देवीरभीष्टये आपो भवन्तु पीतये शंयोरभिस्रवन्तु नः। इति पात्रे जलदानम्। ॐ यवोऽसि यवयास्मद्द्वेषो यवयारातौ इति यवदानम्।

ॐ गन्धद्वारां दुराधर्षां नित्यपुष्टां करीषिणीम्।
ईश्वरीं सर्व्वभूतानां त्वामिहोपह्वये श्रियम्॥
इति गन्धदानम्॥

ॐश्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ इति पुष्पदानम्। ॐ या दिव्या आपः पयसा सम्बभूवुर्या अन्तरीक्षा उतपार्थिवीर्या हिरण्यवर्णा यज्ञियास्ता न आपः शिवाः संस्योनाः सुहवा भवन्तु ॐ धुरिलोचनसंज्ञकेभ्यो विश्वेभ्यो देवेभ्य एषोऽर्घ्यो नमः। इति हस्तेऽर्घ्यं दत्त्वा अनेनैव पात्रेण संस्रवपवित्रग्रहणं प्रथमपात्रेण संस्रवं पवित्रञ्च गृहीत्वा ब्राह्मणदक्षिणपार्श्वे कुशोपरि ऊर्द्ध्वमुखपात्रे स्थापनं तदुपरि कुशदानम्। ततः ॐ धुरिलोचनसंज्ञकेभ्यो विश्वेभ्यो देवेभ्य एतानि गन्धपुष्पधूपदीपवासोयुगसोत्तरीययज्ञोपवीतानि नमः। गन्धादिदानमच्छिद्रमस्तु संकल्पसिद्धिरस्तु। ब्राह्मणवाचनम्। ततः पितृपितामह-प्रपितामह-मातामह-प्रमातामह-वृद्धप्रमातामहानां सपत्नीकानां श्राद्धमहं करिष्ये। अनुज्ञापनम्। ॐ कुरुष्वेति ब्राह्मणैरुक्ते। ॐ देवताभ्यः पितृभ्यश्च महायोगिभ्य एव च। इति त्रिर्जपेत्। तत ॐ अमुकसगोत्राणां अस्मत्पितृपितामहप्रपितामहानां यथानामशर्म्मणां सपत्नीकानां श्राद्धं शुश्राखहं करिष्ये। ॐ कुरुष्व श्राद्धकरणानुज्ञानम्। ॐ अमुकसगोत्रेभ्यः अस्मत्पितृपितामहप्रपितामहेभ्यो यथानामशर्म्मभ्यः सपत्नीकेभ्य इदमासनं स्वधा। ब्राह्मणवामपार्श्वे आसनम्। ॐ पितॄनावाहयिष्ये ॐ आवाहयेत्युक्ते ॐउशन्तस्त्वा निधीमह्युशन्तः समिधीमहि। उशन्नुशत आवह पितॄन् हविषे अत्तवे। ॐ आयान्तु नः पितरः सोम्यासो अग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः। अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्। इत्यावाहनम्। ॐ अपहता असुरा रक्षांसि वेदिषदः। त्रिस्तिलविकिरणम्। ॐ तिलोऽपि सोमदेवत्यो गोसवो देवनिर्म्मितः। प्रत्नमद्भिः पृक्तः स्वधया पितॄन् लोकान् प्रीणाहि नः स्वाहा। तिलदानम्। गन्धपुष्पं हस्ताभ्यां दत्त्वा पितृपात्रमुत्थाप्य या दिव्येति पठित्वा अमुकगोत्र अस्मत्पितः अमुकशर्म्मन् सपत्नीक एष ते अर्घ्यः स्वधा। एवं पितामहादौ। सपवित्रं पात्रं गृहीत्वा ब्राह्मणवामपार्श्वे दक्षिणाग्रकुशोपरि ॐ पितृभ्यः स्थानमसीति अधोमुखपात्रस्थापनम्। ॐ शुन्धन्तां लोकाः पितृषदनाः पितृसदनमसि। अधोमुखपात्रस्पर्शनम्। ततः अमुकसगोत्रेभ्यः अस्मत्पितृपितामहप्रपितामहेभ्यः सपत्नीकेभ्यः एतानि गन्धपुष्पधूपदीपवासोयुगसोत्तरीययज्ञोपवीतानि स्वधा। पितृतीर्थेन गन्धादिदानम्। गन्धादिदानमच्छिद्रमस्तु सङ्कल्पसिद्धिरस्तु। ब्राह्मणवाचनम्। एवं मातामहादीनामनुज्ञापनादि कर्म्म। ॐ या दिव्येति भूमिसम्मार्ज्जनम्। ततो घृताक्तमन्नं गृहीत्वा दक्षिणोपवीतं पितृब्राह्मणाम्। ॐअग्नौ करणमहं करिष्ये ॐ कुरुष्वेति तैरुक्ते ॐ अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा। ॐ सोमाय पितृमते स्वाहा। आहुतिद्वयं देवब्राह्मणहस्ते दत्त्वा अवशिष्टार्द्धं पिण्डार्थं स्थापयित्वा अपरमर्द्धं पित्रादिपात्रे मातामहादिपात्रे च निःक्षिपेत्। पात्रे अन्नादि निधाय कुशं दत्त्वा अधोमुखाभ्यां पाणिभ्यां पात्रं गृहीत्वा। ॐ पृथिवी ते पात्रं द्यौः पिधानं ब्राह्मणस्य मुखे अमृते अमृतं जुहोमि स्वाहा। पात्राभिमन्त्रणम्। इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढमस्य पांशुले विष्णो हव्यं रक्षस्व। इत्यन्नोपर्य्यधोमुखदक्षिणाङ्गुष्ठनिवेशनम्। ॐअपहतेति त्रिर्यवविकिरणम्।

ॐ निहन्मि सर्व्वं यदमेध्यवद्भवेत्
हताश्च सर्व्वेऽसुरदानवा मया।
रक्षांसि यक्षाः सपिशाचसंघा
हता मया यातुधानाश्च सर्व्वे॥
इति सिद्धार्थविकिरणम्॥

ततः ॐ धुरिलोचनसंज्ञकेभ्यो विश्वेभ्यो देवेभ्य एतदन्नं सघृतं सपानीयं सव्यञ्जनं स्वाहा इति वारिकुशाद्यैरन्नसङ्कल्पनम्। ॐ श्राद्धमिदमच्छिद्रमस्तु सङ्कल्पसिद्धिरस्तु। ततो वामोपवीतेन सव्यञ्जनं सघृतमन्नं पित्रादिपात्रे निधाय तदुपरि भूमिसंलग्नकुशं दत्त्वा ॐ पृथिवी ते पात्रं अभिमन्त्रणम्। उत्तानाभ्यां पाणिभ्यां पात्रं गृहीत्वा ॐ इदं विष्णुरित्यन्नोपरि उत्तानाङ्गुष्ठं निवेशयेत् ॐ अपहता इति तिलविकिरणम्। भूमिपातितवामजानुः। अमुकगोत्रेभ्यः अस्मत्पितृपितामहप्रपितामहेभ्य अमुकामुकशर्म्मभ्यः सपत्नीकेभ्य एतदन्नं सघृतं सपानीयं सव्यञ्जनं प्रतिषिद्धवर्ज्जितं स्वधा। अन्नसङ्कल्पः। ॐ ऊर्ज्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतं स्वधास्थ तर्पयत मे पितॄन्। दक्षिणामुखवारिधारात्यागः। ॐ अन्नमिदमच्छिद्रमस्तु सङ्कल्पसिद्धिरस्तु। ततः सव्याहृतिकया गायत्र्या विसर्ज्जयित्वा मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः। मधु नक्तमुतोषसो मधुमत् पार्थिवं रजः मधु द्यौरस्तु नः पिता। मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमानस्तु सूर्य्यो माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥ मधु मधु मधु इति जपः। यथासुखं वाग्यता जुषध्वमिति ब्रूयात्। भुक्तवत्सु सप्तव्याधादिकं पितृस्तोत्रं जपेत्।

ॐ सप्तव्याधा दशार्णेषु मृगाः कालञ्जरे गिरौ।
चक्रवाकाः सरद्वीपे हंसाः सरसि मानसे॥
तेऽपि जाताः कुरुक्षेत्रे ब्राह्मणा वेदपारगाः।
प्रस्थिता दूरमध्वानं यूयं तेभ्योऽवसीदत॥

ततस्तृप्तेषु। दक्षिणामुखो वामोपवीती। उच्छिष्टाग्रतः।

ॐ अग्निदग्धाश्च ये जीवा येऽप्यदग्धा कुले मम।
भूमौ दत्तेन तृप्यन्तु तृप्ता यान्तु परां गतिम्॥

इति भूमौ कुशोपरि सघृतमन्नं जलप्लुतं विकिरेत्। ततो देवब्राह्मणक्रमेण जलगण्डूषं दत्त्वा पूर्ब्ववत् पुनः सव्याहृतिकां सावित्रीं मधुवातेति तृचं मधु मध्विति च जप्त्वा ॐ रुचितं भवद्भिरिति देवब्राह्मणप्रश्नः। सुरुचितमिति तैरुक्ते ॐ शेषमन्नमप्यस्तीति प्रश्नः। इष्टैः सह भुङ्क्ष्विति तैरुक्ते पित्रादिब्राह्मणे वामोपवीतेन ॐ तृप्ताः स्थ इति प्रश्नः। ॐ तृप्ताः स्म इत्युक्ते शेषमन्नेति प्रश्नः। ॐ इष्टैः सह भुङ्क्ष्विति तैरुक्ते मातामहादिब्राह्मणे तथैव प्रश्नः। ततः पित्रादिब्राह्मणे पिण्डदानमहं पातयिष्ये पातयेत्युक्ते। तदुच्छिष्टाग्रतोऽभ्युक्षणं मण्डलञ्च चतुष्कोणं तिलविकिरणं ॐ अमुकगोत्र अस्मत्पितः अमुकशर्म्मन् सपत्नीक एतत्ते पिण्डासनं स्वधा इत्थं रेखामध्ये पितामहाय प्रपितामहाय च। सव्याहृतिकां गायत्रीं मधुवातेति त्रिर्जपन् अन्नं साज्यं पिण्डं कृत्वा कुशोपरि अमुकगोत्रास्मत्पितः अमुकशर्म्मन् सपत्नीक एष ते पिण्डः ये चात्र त्वामनु यांश्च त्वमनु तस्मै ते स्वधा। एवं पितामहप्रपितामहमातामहप्रमातामहवृद्धप्रमातामहेभ्यः। पिण्डशेषविकिरणं पिण्डान्तिके। ॐ लेपभुजः प्रीयन्तां इति स्तरणकुशेषु हस्तमार्ज्जनम्। प्रक्षालितेन पिण्डपात्रोदकेन अमुकगोत्र अस्मत्पितः अमुकशर्म्मन् सपत्नीक एतत्ते जलमवनेनिक्ष्व ॐ ये चात्र त्वामनु यांश्च त्वमनु तस्मै ते स्वधेति पितृपिण्डसेचनम्। पिण्डपात्रमधोमुखं कृत्वा बद्धाञ्जलि ॐ अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वमिति जपः। अपः स्पृष्ट्वा वामेन परावृत्य उदङ्मुखश्च प्राणान् संयम्य।

ॐ वसन्ताय नमस्तुभ्यं ग्रीष्माय च नमो नमः।
वर्षाभ्यश्च शरत्संज्ञऋतवे च नमः सदा॥
हेमन्ताय नमस्तुभ्यं नमस्ते शिशिराय च।
माससंवत्सरेभ्यश्च दिवसेभ्यो नमो नमः॥

ॐ षड्भ्य ऋतुभ्यो नमः पितृभ्यो नमः। इति जपः। वामेनैव परावृत्य दक्षिणामुखः अमीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषत। इति जपः। वासः शिथिलीकृत्याञ्जलिं कृत्वा ॐ नमो वः पितरः पितरो नमो वः। इति जपः। गृहान्नः पितरो दत्त। इति गृहवीक्षणम्। ॐ सदो वः पितरो देष्म। इति पिण्डवीक्षणम्। ॐ एतद्वः पितरो वासः इत्युच्चार्य्य अमुकगोत्र इत्यादिना एतत्ते वासः ॐ ये चात्र त्वामनु यांश्च त्वमनु तस्मै ते स्वधा। दशाभवसूत्रदानम्। वामेन पाणिना उदकपात्रं गृहीत्वा ॐ ऊर्ज्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः

कीलालं इत्यादिना पिण्डोपरि वारिधारा-
त्यागः। पूर्व्वस्थापितपात्रशेषोदकैः प्रत्येकं पिण्ड-
सेचनम्। पिण्डवाह्येन गन्धादिदानम्। पिण्डो-
परि कुशं हस्तञ्च दत्त्वा ॐ अक्षन्नमी मदन्त
ह्यवप्रिया अधूषत अस्तोषत स्वभानवो विप्रा न
विष्ठया मती योजान्विन्द्र ते हरीति जपः।
इत्थं मातामहादिब्राह्मणानामाचमनं सुप्रो-
क्षितमस्त्विति भूम्यभ्युक्षणं कृत्वा।

अपां मध्ये स्थिता देवा सर्व्वमप्सु प्रतिष्ठितम्।
ब्राह्मणस्य करे न्यस्ताः शिवा आपो भवन्तु
नः॥

शिवा आपः सन्त्विति हस्ते ब्राह्मणस्य जल-
दानम्।

लक्ष्मीर्वसति पुष्पेषु लक्ष्मीर्वसति पुष्करे।
लक्ष्मीर्वसते सदा गोष्ठे सौमनस्यं सदास्तु मे॥

सौमनस्यमस्तु पुष्पदानम्।

ॐ अक्षतञ्चास्तु मे पुण्यं शान्तिः पुष्टिर्धृतिश्च
मे।
यद्यत् श्रेयस्करं लोके तत्तदस्तु सदा मम॥

ॐ अक्षतञ्चारिष्टञ्चास्तु यवतण्डुलदानम्। अमुक-
गोत्राणामस्मत्-पितृ-पितामह-प्रपितामहानां
सपत्नीकानां दत्तमिदमन्नपानादिकमक्षय्यमस्तु
इति पित्रादिब्राह्मणहस्ते सतिलजलदानम्।
यजमानस्य प्रश्ने अस्त्विति ब्राह्मणो वदेत्।
एवं मातामहादीनामक्षय्यम्। आशिषः।

ॐ अघोराः पितरः सन्तु गोत्रं नो वर्द्धताम्।
दातारो नोऽभिवर्द्धन्तां वेदाः सन्ततिरेव च।
श्रद्धा च नो मा व्यगमद्बहु देयञ्च नोऽस्त्विति॥
अन्नञ्च नो बहु भवेदतिथींश्च लभेमहि।
याचितारश्च नः सन्तु मा च याचिष्म कञ्चन॥

एता एवाशिषः सन्तु सौमनस्यमस्तु सुखं
चास्तु इत्युक्ते पिण्डपात्रे अर्घ्यसम्बन्धान् कुशान्
पवित्राणि चास्तीर्य पित्रादिब्राह्मणं स्पृष्ट्वा
स्वधां वाचयिष्ये ॐ वाच्यतां ॐ पितृपितामह-
प्रपितामह-मातामह-प्रमातामह-वृद्धप्रमाता-
महेभ्यो यथानामशर्म्मभ्यः सपत्नीकेभ्यः स्वधो-
च्यतां अस्तु स्वधा इत्युक्ते ऊर्ज्जं वहन्तीरमृतं
घृतं इति पिण्डानामुपरि वारिधारां दद्यात्।
तत ॐ विश्वेदेवा अस्मिन् यज्ञे प्रीयन्तां देव-
ब्राह्मणहस्ते यवोदकदानं ॐ प्रीयन्तामिति
तेनोक्ते ॐ देवताभ्य इति त्रिर्ज्जपेत्। अधो-
मुखपिण्डपात्राणि चालयित्वा आचम्य दक्षिणो-
पवीती पूर्व्वाभिमुखः ॐ अमुकसगोत्राय
अमुकशर्म्मणे ब्राह्मणाय सपत्नीकाय श्राद्ध-
प्रतिष्ठार्थं दक्षिणामिदं रजतं तुभ्यमहं ददे
इति दक्षिणां दद्यात् एवं मातामहादौ ततो
देवब्राह्मणाय दक्षिणादानम्। ततः पितृ-
ब्राह्मणे। पिण्डपात्रमुत्तानं कृत्वा ॐ पिण्डाः
सम्पन्नाः ॐ सुसम्पन्ना इति पिण्डे क्षीरधारां
दत्त्वा पिण्डचालनम्।

ॐ वाजे वाजे वत वाजिनो नो
धनेषु विप्रा अमृता ऋतज्ञाः।
अस्य मध्वः पिबत मादयध्वं
तृप्ता यात पथिभिर्देवयानैः॥
इति पित्रादिविसर्ज्जनम्॥

ॐ आ मा वाजस्य प्रसवो जगम्या-
देमे द्यावा पृथिवी विश्वरूपे।
आ मा गन्तां पितरा मातरा युव-
मा मा सोमोऽमृतत्वाय गम्यात्॥
इति देवविसर्ज्जनम्॥

ॐ अभिरम्यतामित्युक्ते अभिरताः स्म इति
ब्राह्मणैरनुज्ञातस्य निवर्त्तनम्। गवादिषु पिण्ड-
प्रतिपादनमिति।

एष श्राद्धविधिः प्रोक्तः पठतां पापनाशनः।
अनेन विधिना श्राद्धं कृतं वै यत्र कुत्रचित्॥
अक्षय्यं स्यात् पितॄणाञ्च स्वर्गप्राप्तिर्भुवा तथा।
इत्युक्तं पार्व्वणश्राद्धं पितॄणां ब्रह्मलोकदम्॥”
इत्याद्ये गारुडे पार्व्वणश्राद्धम् २२२ अध्यायः॥

ब्रह्मोवाच।

“नित्यश्राद्धं प्रवक्ष्यामि पूर्व्ववत्तद्विशेषयेत्॥

ॐ अमुकसगोत्राणामस्मत्पितृपितामहप्रपिता-
महानाममुकशर्म्मणां सपत्नीकानां श्राद्धं सिद्धा-
न्नेन युष्माभ्यमहं करिष्ये।

आसनादिकमत्र स्याद्विश्वेदेवविवर्ज्जितम्।
वृद्धिश्राद्धं प्रवक्ष्यामि पूर्व्ववत्तद्विशेषकम्॥

जातपुत्रमुखदर्शनादौ वृद्धिश्राद्धं पूर्व्वाभिमुखेषु
दक्षिणोपवीतिषु मधुयवबदरमिश्राः पिण्डाः देव-
तीर्थेन नमस्कारान्तेन दक्षिणोपचारेण कर्त्तव्यम्।
दक्षिणजानु गृहीत्वा ॐ अद्यास्मदीयामुकवृद्धौ
अमुक-गोत्राणामस्मत्पितृ-पितामह-प्रपिता-
मह-मातामह-प्रमातामह-वृद्धप्रमातामहानां
अमुकशर्म्मणां सपत्नीकानां नान्दीमुखानां
श्राद्धे कर्त्तव्ये वसुसत्यसंज्ञकानां विश्वेषां देवानां
श्राद्धं सिद्धान्नेन युष्मासु मया कर्त्तव्यम्। इति
देवब्राह्मणामन्त्रणं ॐ करिष्यसीति तेनोक्ते
इत्यमेव मातृपितामहीप्रपितामहीनां देवब्राह्म-
णामन्त्रणम्। तत ॐ अमुकगोत्राया मत्-
प्रपितामह्या अमुकी देव्या नान्दीमुख्याः श्राद्धं
सिद्धान्नेन युष्मासु मया कर्त्तव्यमिति प्रपिता-
महीब्राह्मणामन्त्रणम्। करिष्यसीति तेनोक्ते
इत्यमेव पितामहीब्राह्मणामन्त्रणं मातृब्राह्मणा-
मन्त्रणञ्च। तत ॐ अद्यामुकवृद्धौ अमुक-
गोत्राणामस्मत्-प्रपितामह-पितामह-पितॄणां
नान्दीमुखानां श्राद्धं सिद्धान्नेन युष्मासु मया
कर्त्तव्यमिति ब्राह्मणामन्त्रणं ॐ करिष्यसीति
तेनोक्ते इत्यमेव वृद्धप्रमातामहादि ब्राह्मणा-
मन्त्रणम्। देवपितृसर्व्वदेवब्राह्मणश्राद्धकरणानु-
ज्ञापनम्। आसने ॐ विश्वेदेवास आगत शृणु-
ताम इमं हवं एदं बर्हिर्निषीदत ॐ विश्वे-
देवाः शृणुतेमं हवं ये मेऽन्तरीक्षे य उपद्यविष्ठ
ये अग्निजिह्वा उतवा यजत्रा आसद्यास्मिन्
बर्हिषि मादयध्वम्। ॐ आगच्छन्तु महाभागा
विश्वेदेवा इति विश्वेदेवावाहनम्। गन्धादि-
दानञ्च। अच्छिद्रावधारणवाचनम्। ततः प्रपि-
तामहीप्रभृतीनामनुज्ञापनं आसनं गन्धादि-
दानं अच्छिद्रावधारणम्। इत्थं प्रपितामहा-
दीनां अनुज्ञापनम्। आसनं आवाहनं
गन्धादिदानम्। एवं वृद्धप्रमातामहादीनां
अनुज्ञापनादिकरणम्। ॐ वसुसत्यसंज्ञकेभ्यो
विश्वेभ्यो देवेभ्य एतदन्नं सघृतं सपानीयं सव्य-
ञ्जनं सवदरं सदधि प्रतिषिद्धवर्ज्जितं नमः।
इति अन्नसङ्कल्पनम्। ॐ अमुकगोत्रे मत्-
प्रपितामहि अमुकीदेवि नान्दीमुखि एतदन्नं
सवदरं सदधि नमः। इत्थं पितामहीमातृ-
ब्राह्मणे। ततः प्रपितामहादिब्राह्मणपात्रे ॐ
अमुकगोत्रेभ्यो मत्प्रपितामहपितामहपितृभ्य
एतदन्नं सवदरं सदधि सव्यञ्जनं सपानीयं नमः।
एवं वृद्धप्रमातामहादिभ्यः॥ * ॥

एकोद्दिष्टं पुरावक्ष्यं तद्विशेषं वदे शृणु॥

प्रथमं निमन्त्रणं पादप्रक्षालनं आसनम्। अद्य
अमुकगोत्रस्य मत्पितुरमुकदेवशर्म्मणः प्रति-
सांवत्सरिकमेकोद्दिष्टं श्राद्धं सिद्धान्नेन युष्मासु
अहं करिष्ये। श्राद्धकरणानुज्ञापनम्। आसनं
अर्घ्यः। गन्धादिदानं पितृस्थापनम्। अन्न-
सङ्कल्पनं जप्यं निवीती उत्तराभिमुखीभूया-
तिथिश्राद्धं कुर्य्यात्। ततस्तृप्तिं ज्ञात्वा दक्षि-
णाभिमुखो वामोपवीती उच्छिष्टसमीपे ये
अग्निदग्धा इति अन्नविकिरणम्। ॐ अमुक-
गोत्र पितरमुकदेवशर्म्मन् एतत्ते जलमवने-
निक्ष्व ये चात्र त्वामनु यांश्च त्वमनु तस्मै ते
स्वधा इति रेखोपरि दक्षिणामुखवारिधारा-
दानम्।” इति गारुडे २२३ अध्यायः॥ * ॥

ब्रह्मोवाच।

“सपिण्डीकरणं वक्ष्ये पूर्णेऽब्दे तत्प्रयाहनि।
कृत्वा कृतपकाले तु प्रेतादेः पितृलोकदम्।
सपिण्डीकरणं कुर्य्यात् अपराह्णे तु पूर्व्ववत्॥

पितामहादिब्राह्मणनिमन्त्रणम्। ॐ पुरोरवो
माद्रवःसंज्ञकेभ्यो देवेभ्य एतदासनं नमः।
वामपार्श्वे चासनदानम्। ततः पितामह-
प्रपितामहवृद्धप्रपितामहानां सपत्नीकानां
श्राद्धमहं करिष्ये। इत्यनुज्ञाग्रहणम्। पात्र-
त्रयकरणं पात्रोपरि कुशं दत्त्वा पात्रान्तरेण
पिधाय अच्छिद्रावधारणान्तं परिसमाप्य तथैव
पितुरपि सपत्नीकस्य प्रेतान्तनाम्ना श्राद्धकर-
णानुज्ञापनम्। देवपात्राच्छिद्रावधारणम्। तं
परिसमाप्य पितामहप्रपितामहवृद्धप्रपितामह-
पितृक्रमेण पात्राणां मनाक् चालनं उद्घाटनं
कृत्वा ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये।
तेषां लोकः स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पताम्।
ये समानाः समनसो जीवा जीवेषु मामकाः।
तेषां श्रीर्मयि कल्पतां अस्मिन् लोके शतं
समाः॥

एतन्मन्त्रद्वयेन पितृपात्रोदकं पितामहप्रपिता-
महवृद्धप्रपितामहपात्रे दत्त्वा वृद्धप्रपितामह-
पात्रं परित्यज्य पितामहप्रपितामहयोरुदकं
पवित्रञ्च पितृपात्रे निक्षिपेत्। ततः पितृ-

ब्राह्मणहस्ते पवित्रदानम्। पात्रपुष्पेण शिरसः करपादार्च्चनं हस्तेऽन्यजलदानं हस्ताभ्यां पात्रमुत्थाप्य ॐ या दिव्येति च पठित्वा अमुकगोत्र मत्पितरमुक प्रेत एष ते अर्घ्यो ये चात्र त्वामनु यांश्च त्वमनु तस्मै ते स्वधा इति पितृब्राह्मणहस्ते स्तोकमर्घ्योदकं. पितृतीर्थेन दत्त्वा पितामहब्राह्मणहस्ते पवित्रदानं पात्रपुष्पेण शिरःकरपादार्च्चनं हस्तेऽन्यजलदानम्। हस्ताभ्यां पात्रमुत्थाप्य या दिव्येति पठित्वा अमुकगोत्र मत्पितामह अमुकदेवशर्म्मन् सपत्नीक एष तेऽर्घ्यः स्वधा। पितृपात्रेणैव पितामहब्राह्मणहस्ते स्तोकमर्घ्योदकं दत्त्वा शेषमुदकं पिण्डसेचनार्थं पात्रान्तरे निधाय तेनैव पात्रेण पितामहब्राह्मणानां हस्तस्थं उदकं पवित्रञ्च गृहीत्वा पितृब्राह्मणवामपार्श्वे दक्षिणाग्रकुशोपरि पितृभ्यः स्थानमसीति अधोमुखपात्रस्थापनम्। पितामहादीनां गन्धादिदानं अग्नौकरणम्। देवानां अवशिष्टान्नं पितामहादिपात्रे क्षिपेत्। पितामहादिपात्राभिमन्त्रणादिवाचनपर्य्यन्तं क्रमेण समाप्य पितृब्राह्मणपात्राभिमन्त्रणं अङ्गुष्ठनिवेशनं तिलविकिरणम्। सिद्धान्नविकिरणं कृत्वा अमुकगोत्र मत्पितरमुक प्रेत एतत्ते अन्नं सघृतं सपानीयं सव्यञ्जनं प्रतिषिद्धवर्जितं ये चात्र त्वामनु यांश्च त्वमनु तस्मै ते स्वधा। ततो देवप्रभृति आपोशानं दद्यात्। अतिथौ प्राप्ते अतिथिश्राद्धं कुर्य्यात् अस्मिन्नवसरे। ततो विकिरणम्। पितामहादौ प्रश्नं कृत्वा पितृब्राह्मणे ॐ स्वदितं भवद्भिरिति प्रश्नः अमुकगोत्र मत्पितामह अमुकशर्म्मन् सपत्नीक एष ते पिण्डो ये चात्र त्वामनु यांश्च त्वमनु तस्मै ते स्वधा। एवमन्ययोः। पिण्डदानमच्छिन्नमस्तु। सङ्कल्पसिद्धिरस्तु इति वाचनं कृत्वा ततः पितृप्रेतपिण्डपातनं ॐ संकल्पसिद्धिरस्त्विति वाचनम्। तं समाप्य पिण्डं त्रिधा कृत्वा ये समानाः समनसः इति मन्त्रद्वयं पठित्वा पितामहप्रपितामहवृद्धप्रपितामहपिण्डेषु क्षिपेत्। पिण्डेषु गन्धादिकं पिण्डचालनम्। अतिथिब्राह्मणे स्वदितमित्यादि प्रश्नः। ब्राह्मणानामाचमनं भुक्तक्रमेण ताम्बूलदानं सुसम्प्रोक्षितमस्तु शिवा आपः सन्तु वृद्धप्रपितामहादिक्रमेण ब्राह्मणानां हस्ते जलदानम्। गोत्रस्याक्षय्यमस्तु पितृब्राह्मणहस्ते ॐ उपतिष्ठतामिति सतिलजलदानं नामगोत्रेण उपतिष्ठतामिति तेनोक्ते अघोराः पितरः सन्तु सन्त्विति उक्ते स्वधां वाचयिष्ये इति पितामहादिब्राह्मणानुज्ञापनम् ॐ वाच्यतामित्युक्ते पितामहादिभ्यः स्वधोच्यताम् अस्तु स्वधा इत्युक्ते पितृब्राह्मणे पितृभ्यः स्वधोच्यतां इति अस्तु स्वधा इत्युक्ते ॐ ऊर्ज्जं वहन्तीरमृतं इति दक्षिणाभिमुखवारिधारात्यागः। ॐ विश्वेदेवा अस्मिन् यज्ञे प्रीयन्तामिति देवब्राह्मणहस्ते यवोदकदानम्। ॐ देवताभ्य इति त्रिर्ज्जपः। पिण्डान् पात्रे तोलयित्वा आचम्य पितामहादिभ्यो दक्षिणां दत्त्वा ततः पितृब्राह्मणाय ततो अतिथिब्राह्मणाय च। आशिषो मे दीयन्तामित्याशीःप्रार्थनं आशिषः प्रतिगृह्यन्तां इत्युक्ते दातारो नोऽभिवर्द्धन्तामिति पात्रमुत्तानं कृत्वा वाजे वाजे इति विसर्ज्जनम्। अभिरम्यतामिति पितृब्राह्मणविसर्जनम्।

सपिण्डीकरणश्राद्धं व्यासप्रोक्तं मया तव।
श्राद्धं विष्णुः श्राद्धकर्त्ता फलं श्राद्धादिकं हरिः॥”

इति गारुडे २२४ अध्यायः॥ *॥

तिथ्यादिविशेषे श्राद्धकरणफलं यथा,—

व्यास उवाच।

“अथ श्राद्धममावास्यां प्राप्य कार्य्यं द्विजोत्तमैः।
पिण्डान्वाहार्य्यकं भक्तभुक्तिमुक्तिफलप्रदम्॥
पिण्डान्वाहार्य्यकं श्राद्धं क्षीणे राजनि शस्यते।
अपराह्णे द्विजातीनां प्रशस्तेनामिषेण तु॥
प्रतिपत्प्रभृति ह्येतास्तिथयः कृष्णपक्षके।
चतुर्द्दशीं वर्ज्जयित्वा प्रशस्ता ह्युत्तरोत्तराः॥
अमावास्याष्टकास्तिस्रः पौषमाघादिषु त्रिषु।
तिस्रश्चान्वष्टकाः पुण्या माघस्य दशमी तथा॥
त्रयोदशी मघायुक्ता वर्षासु तु विशेषतः।
शस्यपाकश्राद्धकाला नित्यं प्रोक्ता दिने दिने॥
नैमित्तिकं हि कर्त्तव्यं ग्रहणे चन्द्रसूर्य्ययोः।
बान्धवानाञ्च मरणे नारकी स्यादथान्यथा॥
काम्यानि चैव श्राद्धानि शस्यन्ते ग्रहणादिषु।
अयने विषुवे चैव व्यतीपातेऽप्यनन्तकम्॥
संक्रान्त्यामक्षयं श्राद्धं तथा जन्मदिनेष्वपि।
नक्षत्रेषु च सर्व्वेषु तथा कार्य्ये विशेषतः॥
स्वर्गन्तु लभते कृत्वा कृत्तिकासु द्विजोत्तमः।
अपत्यमथ रोहिण्यां सौम्ये तु ब्रह्मवर्च्चसम्॥
रौद्राणां कर्म्मणां सिद्धिमार्द्रायां शौर्य्यमेव च।
पुनर्व्वसौ तथा भूमिं श्रियं पुष्ये तथैव च॥
सर्व्वान् कामांस्तथा सार्पे पैत्रे सौभाग्यमेव च।
अर्य्यम्णे तु धनं विद्यात् फाल्गुन्यां पापनाशनम्॥
ज्ञातिश्रेष्ठं तथा हस्ते चित्रायां सुबहून् सुतान्।
वाणिज्यसिद्धिं स्वातौ च विशाखायां सुवर्णकम्॥
मैत्रे बहूनि मित्राणि राज्यं शाक्रे तथैव च।
मूले कृषिं लभेद्‌ज्ञानं सिद्धिमाप्ये तथैव च॥
सर्व्वान् कामान् वैश्वदेवे श्रेष्ठन्तु श्रवणे पुनः।
श्रविष्ठायां तथा कामान् वारुणे च परं बलम्॥
अजैकपादके कुर्य्याद्‌द्विजश्रेष्ठे गृहे शुभम्।
रेवत्यां बहवो गावो ह्यश्विन्यां तुरगास्तथा॥
याम्ये चाजीवनं तस्मात् यदि श्राद्धं प्रयच्छति॥
आदित्यवारे चारोग्यं चान्द्रे सौभाग्यमेव च।
कौजे सर्व्वत्र विजयं सर्व्वान् कामान् बुधस्य च॥
विद्यामभीष्टं जीवे तु धनं वै भार्गवे पुनः।
शनैश्चरे लभेदायुः प्रतिपत्सु शुभान् सुतान्॥
कन्यका वै द्वितीयायां तृतीयायां भुवन्तथा।
पशून् क्षुद्रांश्चतुर्थ्यान्तु पञ्चम्यां शोभनान् सुतान्॥
षष्ठ्यां द्युतिं कृषिञ्चापि सप्तम्यां लभते नरः।
अष्टम्यामपि वाणिज्यं लभते श्राद्धदः सदा॥
स्यान्नवम्यामेकखुरं दशम्यां द्विखुरं बहु।
एकादश्यान्तथा रूप्यं ब्रह्मवर्च्चस्विनः सुतान्॥
द्वादश्यां जातरूपन्तु रजतं रौप्यमेव च।
ज्ञातिश्रैष्ठ्यं त्रयोदश्यां चतुर्द्दश्यान्तु क्रुप्रजाः॥
पञ्चदश्यां सर्व्वकाममाप्नोति श्राद्धदः सदा।
तस्माच्छ्राद्धं न कर्त्तव्यं चतुर्द्दश्यां द्विजातिभिः॥
शस्त्रेण तु हतानां वै तत्र श्राद्धं प्रकल्पयेत्।
द्रव्यब्राह्मणसम्पत्तौ न कालनियमः कृतः॥
तस्माद्भोगापवर्गार्थं श्राद्धं कुर्य्यात् द्विजातिभिः।
कर्म्मारम्भेषु सर्व्वेषु कुर्य्यादाभ्युदयं पुनः॥
पुत्त्रजन्मादिषु श्राद्धं पार्व्वणं पर्व्वणि स्मृतम्।
अहन्यहनि नित्यं स्यात् काम्यं नैमित्तिकं तथा॥
एकोद्दिष्टन्तु विज्ञेयं वृद्धिश्राद्धञ्च पार्व्वणम्।
एतत् पञ्चविधं श्राद्धं मनुना परिकीर्त्तितम्॥
यात्रायां षष्ठमाख्यातं तत् प्रयत्नेन पालयेत्।
शुद्धये सप्तमं श्राद्धं ब्रह्मणा परिकीर्त्तितम्॥
दैविकं चाष्टमं श्राद्धं यत् कृत्वा मुच्यते भयात्।
सन्ध्यारात्र्योर्न कर्त्तव्यं राहोरन्यत्र दर्शनात्॥
देशानाञ्च विशेषेण भवेत् पुण्यमनुत्तमम्।
गयायामक्षयं श्राद्धं प्रयागेऽमरकण्टके॥
गायन्ति पितरो गाथां कीर्त्तयन्ति मनीषिणः।
एष्टव्या बहवः पुत्त्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत्॥
यजेत वाश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत्।
एष्टव्या बहवः पुत्त्राः शीलवन्तो गुणान्विताः॥
तेषान्तु समवेतानां यद्येकोऽपि गयां व्रजेत्।
गयां प्राप्यानुषङ्गेण यः श्राद्धं सम्यगाचरेत्॥
तारिताः पितरस्तेन स याति परमां गतिम्।
वराहपर्व्वते चैव गङ्गायाञ्च विशेषतः॥
वाराणस्यां विशेषेण यत्र देवः स्वयं हरः।
गङ्गाद्वारे प्रभासे च बिल्वके नीलपर्व्वते॥
कुरुक्षेत्रे च कुब्जाम्रे भृगुतुङ्गे महालये।
केदारे फल्गुतीर्थे च नैमिषारण्य एव च॥
सरस्वत्यां विशेषेण पुष्करे च विशेषतः।
नर्म्मदायां कुशावर्त्ते श्रीशैले भद्रकर्णके॥
वेत्रवत्यां विपाशायां गोदावर्य्यां विशेषतः।
एवमादिष्वथान्येषु तीर्थेषु पुलिनेषु च॥
नदीनाञ्चैव तीरेषु तुष्यन्ति पितरः सदा॥ *॥
व्रीहिभिश्च यवैर्म्माषैरद्भिर्म्मूलफलेन च।
श्यामाकैश्च तथा शाकैर्नीवारैश्च प्रियङ्गुभिः।
गोधूमैश्च तिलैर्म्मुद्गैर्म्मासं प्रीणयते पितॄन्।
आम्रानाम्रातकानिक्षून् मृद्वीकांश्च सदाडिमान्॥
विदारीश्च भरुण्डांश्च श्राद्धकाले प्रदापयेत्।
लाजान्मधुयुतान्दद्यात् शक्तून् शर्करया सह।
दद्याच्छ्राद्धे प्रयत्नेन शृङ्गाटककशेरुकान्॥
द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन्मासान् हारिणेन तु।
औरभ्रेणाथ चतुरः शाकुनेन तु पञ्च च॥
षण्मासान् छागमांसेन पार्षतेनाथ सप्त वै।
अष्टावेणस्य मांसेन रौरवेण नवैव तु॥
दश मासांस्तु तृप्यन्ति वराहमहिषामिषैः।

शशकूर्म्मयोस्तु मांसेन मासानेकादशैव तु ॥
संवत्सरन्तु गव्येन पयसा पायसेन वा ।
वाध्रीणसस्य मांसेन तृप्तिर्द्वादशवार्षिकी ॥
कालशाकं महाशल्कं खड्गिनोऽप्यामिषं मधु ।
आनन्त्यायैव कल्पन्ते मुन्यन्नानि च सर्व्वशः ॥
क्रीत्वा लब्ध्वा स्वयंवाथ मृतानाहृत्य वै द्विजः ।
दद्यात् श्राद्धे प्रयत्नेन तदस्याक्षयमुच्यते ॥*॥
पिप्पलिं क्रमुकञ्चैव तथा चैव मसूरकम् ॥
कुष्माण्डालाबुवार्त्ताकान् भूस्तृणं सुरसं तथा ।
कुसुम्भं पिण्डमूलं वै तण्डुलीयकमेव च ॥
राजमाषांस्तथा क्षीरं माहिषञ्च विवर्जयेत् ।
कोद्रवान् कोविदारांश्च पालक्यं मरिचं तथा ।
वर्जयेत् सर्व्वयत्नेन श्राद्धस्थाने द्विजोत्तमः ॥”
इति कौर्म्मे उपविभागे १९ अध्यायः ॥
व्यास उवाच ।
“स्नात्वा यथोक्तं संतर्प्य पितॄन् चन्द्रक्षये द्विजः ।
पिण्डान्वाहार्य्यकं श्राद्धं कुर्य्यात् सौम्यमनाः शुचिः ॥
पूर्व्वमेव परीक्षेत ब्राह्मणं वेदपारगम् ।
तीर्थं तद्धव्यकव्यानां प्रदाने चातिथिः स्मृतः ॥
ये सोमपा विरजसो धर्म्मज्ञाः शान्तचेतसः ।
व्रतिनो नियमस्थाश्च ऋतुकालाभिगामिनः ॥
पञ्चाग्निरप्यधीयानो यजुर्व्वेदविदेव च ।
बह्वृक् च त्रिसुपर्णस्त्रिमधुर्व्वाथ यो भवेत् ॥
त्रिणाचिकेतश्छन्दोगो ज्येष्ठसामग एव च ।
अथर्व्वशिरसोऽध्येता रुद्राध्यायी विशेषतः ॥
अग्निहोत्रपरो विद्वान् न्यायविच्च षडङ्गवित् ।
मन्त्रब्राह्मणविच्चैव यश्च स्याद्धर्म्मपाठकः ।
ऋषिव्रती ऋषिकश्च तथा द्वादशवार्षिकः ॥
ब्रह्मदेयार्थसन्तानो गर्भशुद्धः सहस्रदः ।
चान्द्रायणव्रतचरः सत्यवादी पुराणवित् ।
गुरुदेवाग्निपूजासु प्रसक्तो ज्ञानतत्परः ॥
विमुक्तः सर्व्वतो धीरो ब्रह्मभूतो द्विजोत्तमः ।
महादेवार्च्चनरतो वैष्णवः पंक्तिपावनः ॥
अहिंसानिरतो नित्यमप्रतिग्राहकस्तथा ।
सत्रिणो दाननिरता विज्ञेयाः पंक्तिपावनाः ॥
मातापित्रोर्हिते युक्तः प्रातःस्नायी च वा द्विजः ।
अध्यात्मविन्मुनिर्द्दान्तो विज्ञेयः पंक्तिपावनः ॥
ज्ञाननिष्ठो महायोगी वेदान्तार्थविचिन्तकः ।
श्रद्धालुः श्राद्धनिरतो ब्राह्मणः पंक्तिपावनः ॥
वेदविद्याव्रतस्नातो ब्रह्मचर्य्यपरः सदा ।
आथर्व्वणो मुमुक्षुश्च ब्राह्मणः पंक्तिपावनः ॥
असमानप्रवरको ह्यसगोत्रस्तथैव च ।
असम्बन्धी च विज्ञेयाः ब्राह्मणाः पंक्तिपावनाः ॥
भोजयेद्योगिनं पूर्व्वं तत्त्वज्ञानरतिं यतिम् ।
अलाभे नैष्ठिकं दान्तमुपकुर्व्वाणकं तथा ॥
तदलाभे गृहस्थं वा मुमुक्षुं सङ्गवर्ज्जितम् ।
सर्व्वालाभे साधकं वा गृहस्थमपि भोजयेत् ॥
प्रकृतेर्गुणतत्त्वज्ञो यस्याश्नाति यतिर्हविः ।
फलं वेदविदां तस्य सहस्रादतिरिच्यते ॥
तस्मात् यत्नेन योगीन्द्रमीश्वरज्ञानतत्परम् ।
भोजयेद्धव्यकव्येषु त्वलाभे त्वितरान् द्विजान् ॥

एष वै प्रथमः कल्पः प्रदाने हव्यकव्ययोः ।
अनुकल्पस्त्वयं ज्ञेयः सदा सद्भिरनुष्ठितः ॥*॥
मातामहं मातुलञ्च स्वस्रीयं श्वशुरं गुरुम् ।
दौहित्रं विट्पतिं बन्धुमृत्विग्याज्यौ च भोजयेत् ॥*॥
न श्राद्धे भोजयेन्मित्रं धनैः कार्य्योऽस्य संग्रहः ।
पैशाची दक्षिणा सा हि नैवामुत्र फलप्रदा ॥
कामं श्राद्धेऽर्च्चयेन्मित्रं नाभिरूपमपि त्वरिम् ।
द्विषता हि हविर्भुक्तं भवति प्रेत्य निष्फलम् ॥
ब्राह्मणस्त्वनधीयानस्तृणाग्निरिव शाम्यति ।
तस्मै हव्यं न दातव्यं न च भस्मनि हूयते ॥
यथोषरे बीजमुप्त्वा न वप्ता लभते फलम् ।
तथानृचे हविर्द्दत्त्वा न दाता लभते फलम् ॥
यावतो ग्रसते पिण्डान् हव्यकव्येष्वमन्त्रवित् ।
तावतो ग्रसते प्रेत्य दीप्तान् शूलर्ष्ट्ययोगुडान् ॥
अपि विद्याकुलैर्युक्ता हीनवृत्ता नराधमाः ।
यत्रैते भुञ्जते हव्यं तद्भवेदासुरं द्विजाः ॥
यस्य वेदश्च वेदी च विच्छिद्येते त्रिपूरुषम् ।
एष त्वब्राह्मणो नार्हः श्राद्धादिषु कदाचन ॥
शूद्रप्रेष्यो भृतो राज्ञा वृषलग्रामयाजकः ।
वधबन्धोपजीवी च षडेते ब्रह्मबन्धवः ॥
दत्तानुयोगो वृत्त्यर्थं पतितान्मनुरब्रवीत् ।
वेदविक्रयिणो ह्येते श्राद्धादिषु विगर्हिताः ॥
श्रुतिविक्रयिणो ये तु परपूर्व्वासमुद्भवाः ।
असमान् ये याजयन्ति पतितास्ते प्रकीर्त्तिताः ॥
असंस्कृताध्यापका ये भृत्यर्थेऽध्यापयन्ति ये ।
अधीयते तथा वेदान् पतितास्ते प्रकीर्त्तिताः ॥
वृद्धश्रावकनिर्ग्रन्थाः पञ्चरात्रविदो जनाः ।
कापालिकाः पाशुपताः पाषण्डा ये च तद्विधाः ॥
यस्याश्नन्ति हवींष्येते दुरात्मानस्तु तामसाः ।
न तस्य तद्भवेच्छ्राद्धं प्रेत्य चेह फलप्रदम् ॥
अनाश्रमी यो द्विजः स्यादाश्रमी वा निरर्थकः ।
मिथ्याश्रमी च ये विप्रा विज्ञेयाः पंक्तिदूषकाः ॥
दुश्चर्म्मा कुनखी कुष्ठी श्वित्री च श्यावदन्तकः ।
विद्धप्रजननश्चैव स्तेनः क्लीबोऽथ नास्तिकः ॥
मद्यपो वृषलीसक्तो वीरहा दिधिषूपतिः ।
आगारदाही कुण्डाशी सोमविक्रयिणो द्विजाः ॥
परिवेत्ता तथा हिंस्रः परिवित्तिर्निराकृतिः ।
पौनर्भवः कुशीदी च तथा नक्षत्रदर्शकः ॥
गीतवादित्रनिरतो व्याधितः काण एव च ।
हीनाङ्गश्चातिरिक्ताङ्गो ह्यवकीर्णी तथैव च ॥
कन्यादूषी कुण्डगोलौ ह्यभिशस्तोऽथ देवलः ।
मित्रध्रुक् पिशुनश्चैव नित्यं भार्य्यानुवर्त्तकः ॥
मातापित्रोर्गुरोस्त्यागी दारत्यागी तथैव च ।
गोत्रभिद्भ्रष्टशौचश्च काण्डपृष्ठस्तथैव च ॥
अनपत्यः कूटसाक्षी याचको रङ्गजीवनः ।
समुद्रयायी कृतहा तथा समयभेदकः ॥
वेदनिन्दापरश्चैव परदाररतास्तथा ।
द्विजनिन्दारताश्चैव वर्ज्याः श्राद्धादिकर्म्मसु ॥
कृतघ्नः पिशुनः क्रूरो नास्तिको वेदनिन्दकः ।
मित्रध्रुक् कुहकश्चैव विशेषात् पंक्तिदूषकाः ॥
सर्व्वे पुनरभोज्यान्नास्त्वदानार्हा हि कर्म्मसु ।

ब्रह्मभावान्निरस्ताश्च वर्ज्जनीयाः प्रयत्नतः ॥
शूद्रान्नरसपुष्टाङ्गः सन्ध्योपासनवर्ज्जितः ।
महायज्ञविहीनश्च ब्राह्मणः पंक्तिदूषकः ॥
अधीतनाशनश्चैव स्नानहोमविवर्ज्जितः ।
तामसो राजसश्चैव ब्राह्मणः पंक्तिदूषकः ॥
बहुनात्र किमुक्तेन विहितान् ये न कुर्व्वते ।
निन्दितानाचरन्त्येव वर्ज्जनीयाः प्रयत्नतः ॥”
इति कौर्म्मे उपविभागे २० अध्यायः ॥ * ॥
“गोमयेनोदकैर्भूमिं शोधयित्वा समाहितः ।
सन्निपात्य द्विजान् सर्व्वान् साधुभिः सन्निमन्त्रयेत् ॥
श्वो भविष्यति मे श्राद्धं पूर्व्वेद्युरभिपूज्य च ।
असम्भवे परेद्युर्व्वा यथोक्तैर्लक्षणैर्युतान् ॥
तस्य ते पितरः श्रुत्वा श्राद्धकालमुपस्थितम् ।
अन्योन्यमनसा ध्यात्वा सम्पतन्ति मनोजवाः ॥
ब्राह्मणैस्ते सहाश्नन्ति पितरो ह्यन्तरीक्षगाः ।
वायुभूताश्च तिष्ठन्ति भुक्त्वा यान्ति परां गतिम् ॥
आमन्त्रिताश्च ते विप्राः श्राद्धकाल उपस्थिते ।
वसेयुर्नियताः सर्व्वे ब्रह्मचर्य्यपरायणाः ॥
अक्रोधनोऽत्वरोऽमत्तः सत्यवादी समाहितः ।
भारं मैथुनमध्वानं श्राद्धकृद्वर्ज्जयेज्जपम् ॥
आमन्त्रितो ब्राह्मणो यः अन्यं वै कुरुते क्षणम् ।
स याति रौरवं घोरं शूकरत्वं प्रयाति च ॥
आमन्त्रयित्वा यो मोहादपरं मन्त्रयेत् द्विजम् ।
स तस्मादधिकः पापी विष्ठाकीटोऽभिजायते ॥
श्राद्धे निमन्त्रितो विप्रो मैथुनं योऽधिगच्छति ।
ब्रह्महत्यामवाप्नोति तिर्य्यग्योनौ स गच्छति ॥
श्राद्धं कृत्वा तु भुक्त्वा च योऽध्वानं प्रतिपद्यते ।
भवन्ति पितरस्तस्य तन्मासं पांशुभोजनाः ॥
निमन्त्रितस्तु यः श्राद्धे प्रकुर्य्यात् कलहं द्विजः ।
भवन्ति तस्य तन्मासं पितरो मलभोजनाः ॥
तस्मान्निमन्त्रितः श्राद्धे नियतात्मा भवेत् द्विजः ।
अक्रोधनः शौचपरः कर्त्ता चैव जितेन्द्रियः ॥
श्वोभूते दक्षिणां गत्वा दिशं दर्भान् समाहितः ।
समूलानाहरेद्वापि दक्षिणाग्रान् सुनिर्म्मलान् ॥
दक्षिणाप्रवणं स्निग्धं विविक्तं शुभलक्षणम् ।
शुचिं देशं विविक्तञ्च गोमयेनोपलेपयेत् ॥
नदीतीरेषु तीर्थेषु स्वभूमौ चैव सानुषु ।
विविक्तेषु च तुष्यन्ति दत्ते च पितरः सदा ॥
पारक्ये भूमिभागे तु पितॄणां नैव निर्व्वपेत् ।
स्वामिभिस्तद्विहन्येत मोहात् यत् क्रियते नरैः ॥
अटव्यः पर्व्वताः पुण्यास्तीर्थान्यायतनानि च ।
सर्व्वाण्यस्वामिकान्याहुर्न हि तेषु परिग्रहः ॥
तिलान् प्रविकिरेत्तत्र सर्व्वतो बन्धयेदजान् ।
असुरोपहतं सर्व्वं तिलैः शुध्यत्यजेन वा ॥
ततोऽन्नं बहुसंस्कारं नैकव्यञ्जनमच्युतम् ।
चोष्यपेयसमृद्धञ्च यथाशक्त्या प्रकल्पयेत् ॥
ततो निवृत्ते मध्याह्ने लुप्तलोमनखान् द्विजान् ।
अभिगम्य यथामार्गं प्रयच्छेद्दन्तधावनम् ॥
तैलमभ्यञ्जनं स्नानं स्नानीयञ्च पृथग्विधम् ।
पात्रैरौदुम्बरैः कुर्य्यात् वैश्वदेवत्यपूर्व्वकम् ॥
ततः स्नात्वा निवृत्तेभ्यः प्रत्युत्थाय कृताञ्जलिः ।

पात्रमाचमनीयञ्च संप्रयच्छेद्यथाक्रमम् ॥”
पुस्तकान्तरे विश्वेभ्यः स्थाने निमित्तेभ्य इति निवृत्तेभ्य इति च पाठः ॥
“ये चात्र विश्वदेवानां द्विजाः पूर्व्वं निमन्त्रिताः ।
प्राङ्मुखान्यासनान्येषां द्विदर्भोपहितानि च ॥
दक्षिणामुखयुक्तानि पितॄणामासनानि च ।
दक्षिणाग्रेकदर्भाणि प्रोक्षितानि तिलोदकैः ॥
तेषूपवेशयेदेतानासनं संस्पृशन् द्विजः ।
आसध्वमिति संजल्पन्नासीरंस्ते पृथक् पृथक् ॥
द्वौ दैवे प्राङ्मुखौ पित्र्ये त्रयश्चोदङ्मुखास्तथा ।
एकैकं वा भवेत्तत्र देवमातामहेष्वपि ॥
सत्क्रियां देशकालौ च शौचं ब्राह्मणसम्पदम् ।
पञ्चैतान् विस्तरो हन्ति तस्मान्नेहेत विस्तरम् ॥
अपि वा भोजयेदेकं ब्राह्मणं वेदपारगम् ।
श्रुतशीलादिसम्पन्नमलक्षणविवर्ज्जितम् ॥
उद्धृत्य पात्रे चान्नं तत् सर्व्वस्मात् प्रकृतात् पुनः ।
देवतायतने तस्मै निवेद्यान्नं प्रवर्त्तयेत् ॥
प्रास्येदग्नौ तदन्नन्तु दद्याद्वा ब्रह्मचारिणे ।
तस्मादेकमपि श्रेष्ठं विद्वांसं भोजयेत् द्विजम् ॥
भिक्षुको ब्रह्मचारी वा भोजनार्थमुपस्थितः ।
उपविष्टेषु यः श्राद्धे कामं तमपि भोजयेत् ॥
अतिथिर्यस्य नाश्नाति न तत् श्राद्धं प्रशस्यते ।
तस्मात् प्रयत्नात् श्राद्धेषु पूज्या ह्यतिथयो द्विजैः ॥
आतिथ्यरहितश्राद्धे भुञ्जते ये द्विजातयः ।
काकयोनिं व्रजन्त्येते दाता चैव न संशयः ॥
हीनाङ्गः पतितः कुष्ठी व्रणी पुक्कसनास्तिकौ ।
कुक्कुटाः शूकराः श्वानो वर्ज्याः श्राद्धेषु दूरतः ॥
वीभत्समशुचिं नग्नं मत्तं धूर्त्तं रजस्वलाम् ।
नीलकाषायवसनं पाषण्डांश्च विवर्ज्जयेत् ॥
यत्तत्र क्रियते कर्म्म पैतृकं ब्राह्मणान् प्रति ।
तत् सर्व्वमेव कर्त्तव्यं वैश्वदैवकपूर्व्वकम् ॥
यथोपविष्टान् सर्व्वांस्तानलं कुर्य्याद्विभूषणैः ।
स्रग्दामभिः शिरोवेष्टैर्धूपवासोऽनुलेपनैः ॥
ततस्त्वावाहयेद्देवान् ब्राह्मणानामनुज्ञया ।
उदङ्मुखो यथान्यायं विश्वेदेवास इत्यृचा ॥
द्वे पवित्रे गृहीत्वा च भाजने क्षालिते पुनः ।
शन्नो देव्या जलं क्षिप्त्वा यवोऽसीति यवांस्तथा ॥
या दिव्या इति मन्त्रेण हस्ते त्वर्घ्यं निवेदयेत् ।
प्रदद्याद्गन्धमाल्यानि धूपादीनि च शक्तितः ॥
अपसव्यं ततः कृत्वा पितॄणां दक्षिणामुखः ।
आवाहनं ततः कुर्य्यात् उशन्तस्त्वेत्यृचा बुधः ॥
आवाह्य तदनुज्ञातो जपेदायान्तु नस्ततः ।
शन्नो देव्योदकं पात्रे तिलोऽसीति तिलांस्तथा ॥
क्षिप्त्वा चार्घ्यं यथापूर्व्वं दत्त्वा हस्तेषु वै पुनः ।
संस्रवांश्च ततः सर्व्वान् पात्रे कुर्य्यात् समाहितः ॥
पितृभ्यः स्थानमेतेन न्युब्जं पात्रं निधाय तु ।
अग्नौ करिष्येत्यादाय पृच्छत्यन्नं घृतप्लुतम् ॥
कुरुष्वेति ह्यनुज्ञातो जुहुयादुपवीतवत् ।
यज्ञोपवीतिना होमः कर्त्तव्यः कुशपाणिना ।
प्राचीनावीतिना पित्र्यं वैश्वदेवन्तु होमयेत् ।
दक्षिणं पातयेज्जानु देवान् परिचरन् सदा ॥
पितॄणां परिचर्य्यासु पातयेदितरं तथा ।
सोमाय वै पितृमते स्वधा नम इति ब्रुवन् ॥
अग्नये कव्यवाहनाय स्वधेति जुहुयात्ततः ॥
अग्न्यभावे तु विप्रस्य पाणावेवोपपादयेत् ॥
महादेवान्तिके वाथ गोष्ठे वा सुसमाहितः ।
ततस्तैरभ्यनुज्ञातो गत्वा वै दक्षिणां दिशम् ॥
गोमयेनोपलिप्योर्व्वीं स्थानं कृत्वा तु सैकतम् ॥
मण्डलं चतुरस्रं वा दक्षिणावनतं शुभम् ।
त्रिरुल्लिखेत्तस्य मध्यं दर्भेणैकेन चैव हि ॥
ततः संस्तीर्य्य तत्स्थाने दर्भान् वै दक्षिणाग्रकान् ।
त्रीन् पिण्डान् निर्व्वपेत्तत्र हविःशेषान् समाहितः ॥
न्युप्य पिण्डांस्तु तद्धस्तं निर्म्मृज्याल्लेपभागिनाम् ।
तेषु दर्भेष्वथाचम्य त्रिराचम्य शनैरसून् ।
षडृतूंश्च नमस्कुर्य्यात् पितॄनेव च मन्त्रवत् ।
उदकं निनयेच्छेषं शनैः पिण्डान्तिके पुनः ॥
अवजिघ्रेत तान् पिण्डान् यथान्युप्तान् समाहितः ।
अथ पिण्डावशिष्टान्नं विधिना भोजयेद्द्विजान् ॥
मांसान् पूपांश्च विविधान् दद्यात् कृशरपायसम् ।
सूपशाकफलानीक्षून् पयो दधि घृतं मधु ॥
अन्नञ्चैव यथाकामं विविधं भक्ष्यपेयकम् ।
यद्यदिष्टं द्विजेन्द्राणां तत्तत्सर्व्वं निवेदयेत् ॥
धान्यांस्तिलांश्च विविधान् शर्करा विविधास्तथा ।
उष्णमन्नं द्विजातिभ्यो दातव्यं श्रेय इच्छता ॥
अन्यत्र फलमूलेभ्यः पानकेभ्यस्तथैव च ।
नाश्रूणि पातयेज्जातु न कुप्येन्नानृतं वदेत् ॥
न पादेन स्पृशेदन्नं न चैतदवधूनयेत् ।
क्रोधेन चैव यद्दत्तं यद्भुक्तं त्वरया पुनः ॥
यातुधाना विलुम्पन्ति जल्पता चोपपादितम् ।
स्विन्नगात्रो न तिष्ठेत सन्निधौ च द्विजन्मनाम् ॥
न चात्र श्येनकाकादीन् पक्षिणः प्रतिषेधयेत् ।
न दद्यात्तत्र हस्तेन प्रत्यक्षलवणं तथा ॥
न चायसेन पात्रेण न चैवाश्रद्धया पुनः ।
काञ्चनेन तु पात्रेण राजतौदुम्बरेण च ॥
दत्तमक्षयतां याति खड्गेन च विशेषतः ।
पात्रे तु मृन्मये यो वै श्राद्धे भोजयते पितॄन् ।
स याति नरकं घोरं भोक्ता चैव पुरोधसा ॥
न पंक्त्या विषमं दद्यात् न याचेन्न च दापयेत् ।
याचिता दापिता दाता नरकान् यान्ति दारुणान् ।
भुञ्जीत वाग्यताः मृष्टा न ब्रूयुः प्राकृतान् गुणान् ॥
तावद्धि पितरोऽश्नन्ति यावन्नोक्ता हविर्गुणाः ।
नाग्रासनोपविष्टस्तु भुञ्जीत प्रथमं द्विजः ॥
बहूनां पश्यतां सोऽज्ञः पंक्त्या हरति किल्बिषम् ।
न किञ्चिद्वर्ज्जयेच्छ्राद्धे नियुक्तस्तु द्विजोत्तमः ॥
न मांसं प्रतिषेधेत नचान्यस्यान्नमीक्षयेत् ।
यो नाश्नाति द्विजो मांसं नियुक्तः पितृकर्म्मणि ।
स प्रेत्य पशुतां याति सम्भवानेकविंशतिम् ॥
स्वाध्यायं श्रावयेदेषां धर्म्मशास्त्राणि चैव हि ।
इतिहासपुराणानि श्राद्धकल्पांश्च शोभनान् ॥
ततोऽन्नमुत्सृजेद्भुक्तेष्वग्रतो विकिरन् भुवि ।
सृष्ट्वा स्वदितमित्येवं तृप्तानाचामयेत्ततः ॥
आचान्ताननुजानीयादभितो रम्यतामिति ।
स्वधास्त्विति च तं ब्रूयुर्ब्राह्मणास्तदनन्तरम् ॥
ततो भुक्तवतां तेषामन्नशेषं निवेदयेत् ।
यथा ब्रूयुस्तथा कुर्य्यादनुज्ञातो द्विजोत्तमैः ॥
पित्र्ये स्वदितमित्येवं वाच्यं गोष्ठेषु सुश्रुतम् ।
सम्पन्नमित्यभ्युदये दैवे रुचितमित्यपि ॥
विसृज्य ब्राह्मणांस्तान् वै पितृपूर्व्वन्तु वाग्यतः ।
दक्षिणां दिशमाकाङ्क्षन् याचेतेमान् वरान् पितॄन् ॥
दातारो नोऽभिवर्द्धन्तां वेदाः सन्ततिरेव च ।
श्रद्धा च नो मा व्यगमद्बहु देयञ्च नोऽस्त्विति ॥
पिण्डांस्तु गोऽजविप्रेभ्यो दद्यादग्नौ जलेऽपि वा ।
मध्यमन्तु ततः पिण्डमद्यात् पत्नी सुतार्थिनी ॥
प्रक्षाल्य हस्तावाचम्य ज्ञातीन् शेषेण भोजयेत् ।
ज्ञातिष्वपि च भुक्तेषु स्वान् भृत्यान् भोजयेत्ततः ॥
पश्चात् स्वयञ्च पत्नीभिः शेषमन्नं समाहरेत् ।
नोद्वासयेत्तदुच्छिष्टं यावन्नास्तं गतो रविः ॥
ब्रह्मचारी भवेतान्तु दम्पती रजनीन्तु ताम् ।
दत्त्वा श्राद्धं तथा भुक्त्वा सेवते यस्तु मैथुनम् ॥
महारौरवमासाद्य कीटयोनिं व्रजेत् पुनः ।
शुचिरक्रोधनः शान्तः सत्यवादी समाहितः ॥
स्वाध्यायञ्च तथाध्वानं कर्त्ता भोक्ता च वर्जयेत् ॥
श्राद्धं कृत्वा परश्राद्धे भुञ्जते ये द्विजातयः ।
महापातकिभिस्तुल्या यान्ति ते नरकान् बहून् ॥
एष वोऽभिहितः सम्यक् श्राद्धकल्पः सनातनः ।
अनेन वर्त्तयेन्नित्यमुदासीनोऽथ तत्त्ववित् ॥
अनग्निरध्वगो वापि तथैव व्यसनान्वितः ।
आमश्राद्धं द्विजः कुर्य्यात् वृषलस्तु सदैव हि ॥
आमश्राद्धं यदा कुर्य्यात् विधिज्ञः श्रद्धयान्वितः ।
तेनाग्नौकरणं कुर्य्यात् पिण्डांस्तेनैव निर्व्वपेत् ॥
योऽनेन विधिना श्राद्धं कुर्य्यात् संयतमानसः ।
व्यपेतकल्मषो नित्यं यतीनां वर्त्तते पदम् ॥
तस्मात् सर्व्वप्रयत्नेन श्राद्धं कुर्य्यात् द्विजोत्तमः ।
आराधितो भवेदीशस्तेन सम्यक् सनातनः ।
अपि मूलफलैर्व्वापि प्रकुर्व्वन्निर्धनो द्विजः ॥
तिलोदकैस्तर्पयेद्वा पितॄन् स्नात्वा समाहितः ।
न जीवत्पितृको दद्याद्धोमान्तं वा विधीयते ॥
येषां वापि पिता दद्यात्तेषाञ्चैके प्रचक्षते ।
पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः ॥
यो यस्य म्रियते तस्मै देयं नान्यस्य तेन तु ।
भोजयेद्वापि जीवन्तं यथाकामन्तु भक्तितः ॥
न जीवन्तमतिक्रम्य ददाति श्रूयते श्रुतिः ।
द्व्यामुष्यायणिको दद्याद्बीजिक्षेत्रिकयोः समम् ॥
अधिकारी भवेत् सोऽपि नियोगोत्पादितो यदि ।
अनियुक्तात् सुतो यस्तु शुल्कतो जायते द्विजः ॥
प्रदद्याद्बीजिने पिण्डं क्षेत्रिणे तु ततोऽन्यथा ।

द्वौ पिण्डौ निर्व्वपेत्ताभ्यां क्षेत्रिणे वीजिने तथा ॥
कीर्त्तयेदथ चैकस्मिन् वीजिनं क्षेत्रिणं ततः ।
मृताहनि तु कर्त्तव्यमेकोद्दिष्टं विधानतः ॥
अशौचे स्वे परिक्षीणे काम्यं वै कामतस्ततः ।
पूर्व्वाह्णे चैव कर्त्तव्यं श्राद्धमभ्युदयार्थिना ॥
देववत् सर्व्वमेव स्यान्न वै कार्य्या तिलक्रिया ।
दर्भाश्च ऋजवः कार्य्या युग्मान् वै भोजयेत्
द्विजान् ॥
नान्दीमुखास्ते पितरः प्रीयन्तामिति वाचयेत् ।
मातृश्राद्धन्तु पूर्व्वं स्यात् पितॄणां स्यादनन्तरम् ॥
ततो मातामहानाञ्च वृद्धौ श्राद्धत्रयं स्मृतम् ।
दैवपूर्व्वन्तु दद्याद्वै न कुर्य्यादप्रदक्षिणम् ॥
प्राङ्मुखो निर्व्वपेत् पिण्डानुपवीती समाहितः ।
पूर्व्वं वै मातरः पूज्या भक्त्या चैव गणेश्वरः ॥
स्थण्डिलेषु पवित्रेषु प्रतिमासु द्विजातिषु ।
पुष्पैर्धूपैश्च नैवेद्यैर्गन्धाद्यैर्भूषणैरपि ॥
पूजयित्वा मातृगणान् कुर्य्यात् श्राद्धत्रयं बुधः ।
अकृत्वा मातृयागन्तु यः श्राद्धं परिवेषयेत् ।
तस्य क्रोधसमाविष्टा हिंसामिच्छन्ति मातरः ॥”
इति कौर्म्मे उपविभागे २१ अध्यायः ॥
मात्स्ये १६ । १७ । १८ अध्यायेषु चान्यत् द्रष्टव्यम् ॥ * ॥ श्राद्धे कदलीपत्रं निषिद्धं भोजनपात्रतया । इति हेमाद्रिधृतश्राद्धखण्डे ॥
न जातीकुसुमानि दद्यात् न कदलीपत्रम् ।
इति क्रतुवचनम् ॥ * ॥ श्राद्धोत्तरनिषिद्धानि यथा,—
“यात्रा युद्धं नदीपारं मिथ्यालापो द्विभोजनम् ।
द्यूतक्रीड़ा दिवानिद्रा श्राद्धे सप्त विवर्जयेत् ॥”
इति कर्म्मलोचनम् ॥
स्मृतिः ।
“द्यूतञ्च कलहञ्चैव सायंसन्ध्यां दिवाशयम् ।
श्राद्धकर्त्ता च भोक्ता च पुनर्भुक्तञ्च वर्जयेत् ॥”
अपि च । विष्णुपुराणम् ।
“वर्ज्यानि कुर्व्वता श्राद्धं कोपोऽध्वगमनं त्वरा ।
भोक्तुरप्यत्र राजेन्द्र त्रयमेतन्न शस्यते ॥”
राजमार्त्तण्डे ।
“पुनर्भोजनमध्वानं द्यूताध्ययनमैथुनम् ।
दानं प्रतिग्रहं सन्ध्यां श्राद्धं कृत्वाष्ट वर्जयेत् ॥”
नव्यवर्द्धमानधृता स्मृतिः ।
“पुनर्भोजनमध्वानं भाराध्ययनमैथुनम् ।
दानं सन्ध्यां पुनः स्नानं श्राद्धं कृत्वाष्ट वर्जयेत् ॥”
इति श्राद्धतत्त्वम् ॥

अथ वैष्णवश्राद्धविधिः ।
“प्राप्ते श्राद्धदिनेऽपि प्रागन्नं भगवतेऽर्पयेत् ।
तच्छेषेणैव कुर्व्वीत श्राद्धं भागवतो नरः ॥”
यच्च स्मृतौ ।
“गृहाग्निशिशुदेवानां यतीनां ब्रह्मचारिणाम् ।
पितृपाको न दातव्यो यावत् पिण्डान्न निर्व्वपेत् ॥”
इति ॥
“ईदृक् सामान्यवचनं विशेषवचनव्रजैः ।
श्रुतिस्मृतिपुराणादिवर्त्तिभिर्व्बाध्यते ध्रुवम् ॥”
तथा च पाद्मे ।
“विष्णोर्निवेदितान्नेन यष्टव्यं देवतान्तरम् ।
पितृभ्यश्चापि तद्देयं तदानन्त्याय कल्पते ॥”
मोक्षधर्म्मे नारदोक्तौ ।
“सात्वतं विधिमास्थाय प्राक् सूर्य्यमुखनिःसृतम् ।
पूजयामास देवेशं तच्छेषेण पितामहान् ॥”
ब्रह्माण्डपुराणे ।
“यः श्राद्धकाले हरिभुक्तशेषं
ददाति भक्त्या पितृदेवतानाम् ।
तेनैव पिण्डांस्तुलसीविमिश्रा-
नाकल्पकोटिं पितरः सुतृप्ताः ॥”
स्कान्दे श्रीशिवोक्तौ ।
“देवान् पितॄन् समुद्दिश्य यद्विष्णोर्व्विनिवेदितम् ।
तानुद्दिश्य ततः कुर्य्यात् प्रदानं तस्य चैव हि ॥
प्रयान्ति तृप्तिमतुलां सोदकेन तु तेन वै ।
सुकुन्दगात्रलग्नेन ब्राह्मणानां विलेपनम् ॥
चन्दनेन तु पिण्डानां कर्त्तव्यं पितृतृप्तये ।
देवानाञ्च पितॄणाञ्च जायते तृप्तिरक्षया ॥
एवं कृते महीपाल मा भवेत् संशयः क्वचित् ॥”
तत्रैव श्रीपुरुषोत्तमखण्डे ।
“अन्नाद्यं श्राद्धकाले तु पतिताद्यैर्निरीक्षितम् ।
तुलसीदलमिश्रेण सलिलेनाभिषिञ्चयेत् ॥
तदन्नं शुद्धतामेति विष्णोर्नैवेद्यमिश्रितम् ।
विष्णोर्नैवेद्यशेषन्तु तस्माद्देयं द्विजन्मना ।
पिण्डे चैव विशेषेण पितॄणां तृप्तिमिच्छता ॥”
तत्रैव श्रीब्रह्मनारदसंवादे ।
“पितॄनुद्दिश्य यैः पूजा केशवस्य कृता नरैः ।
त्यक्त्वा ते नारकीं पीड़ां मुक्तिं यान्ति महामुने ॥
धन्यास्ते मानवा लोके कलिकाले विशेषतः ।
ये कुर्व्वन्ति हरेर्नित्यं पित्रर्थं पूजनं मुने ॥
किं दत्तैर्व्बहुभिः पिण्डैर्गयाश्राद्धादिभिर्म्मुने ।
यैरर्च्चितो हरिर्भक्त्या पित्रर्थञ्च दिने दिने ॥
यमुद्दिश्य हरेः पूजा क्रियते मुनिपुङ्गव ।
उद्धृत्य नरकावासात्तं नयेत् परमं पदम् ॥
यो ददाति हरेः स्थानं पितॄनुद्दिश्य नारद ।
कर्त्तव्यं हि पितॄणां यत्तत् कृतं तेन भो द्विज ॥” * ॥
श्रुतौ च । एक एव नारायण आसीत् न ब्रह्मा नेमे द्यावापृथिव्यौ सर्व्वे देवाः सर्व्वे पितरः सर्व्वे मनुष्याः विष्णुना अशितमश्नति विष्णुना घ्रातं जिघ्रन्ति विष्णुना पीतं पिबन्ति तस्माद्विद्वांसो विष्णूपहृतं भक्षयेयुरिति । अतएवोक्तं श्रीभगवता विष्णुधर्म्मे ।
“प्राणेभ्यो जुहुयादन्नं मन्निवेदितमुत्तमम् ।
तृप्यन्ति सर्व्वदा प्राणा मन्निवेदितभक्षणात् ॥
तस्मात् सर्व्वप्रयत्नेन प्रदेयं मन्निवेदितम् ।
ममापि हृदयस्थस्य पितॄणाञ्च विशेषतः ॥”
किञ्च तत्रैवान्यत्र ।
“भक्ष्यं भोज्यञ्च यत्किञ्चिदनिवेद्याग्रभोक्तरि ।
न देयं पितृदेवेभ्यः प्रायश्चित्ती यतो भवेत् ॥
सर्गादौ कथितो देवैरग्रभुक् भगवान् हरिः ।
यज्ञभागभुजो देवा ततस्तेन प्रकल्पिताः ॥”
इति श्रीहरिभक्तिविलासे ६ विलासः ॥ * ॥
अथोपवासदिने श्राद्धनिषेधः । पाद्मे पुष्करखण्डम् ।
“एकादश्यां यदा राम श्राद्धं नैमित्तिकं भवेत् ।
तद्दिने तु परित्यज्य द्वादश्यां श्राद्धमाचरेत् ॥”
तत्रैवोत्तरखण्डे ।
“एकादश्यान्तु प्राप्तायां मातापित्रोर्मृतेऽहनि ।
द्वादश्यां तत् प्रदातव्यं नोपवासदिने क्वचित् ॥
गर्हितान्नं न चाश्नन्ति पितरश्च दिवौकसः ॥”
स्कान्दे ।
“एकादशी यदा नित्या श्राद्धं नैमित्तिकं भवेत् ।
उपवासं तदा कुर्य्यात् द्वादश्यां श्राद्धमाचरेत् ॥”
ब्रह्मवैवर्त्ते ।
“ये कुर्व्वन्ति महीपाल श्राद्धं चैकादशीदिने ।
त्रयस्ते नरकं यान्ति दाता भोक्ता परेतकः ॥”
इति श्रीहरिभक्तिविलासे १२ विलासः ॥

श्राद्धं, त्रि, (श्रद्धा अस्यस्तीति । श्रद्धा + “प्रज्ञाश्रद्धार्च्चावृत्तिभ्यो णः ।” ५।२।१०१ । इति णः ।) श्रद्धासमन्वितम् । इति हेमचन्द्रः ॥

श्राद्धकर्त्ता, [ऋ] त्रि, (करोतीति । कृ + तृच् । श्राद्धस्य कर्त्ता ।) श्राद्धकारकः । यथा,—
“श्राद्धकर्त्ता च भोक्ता च पुनर्भुक्तञ्च वर्ज्जयेत् ॥”
इति श्राद्धतत्त्वम् ।

श्राद्धदेवः, पुं, (श्राद्धस्य देवः ।) यमः । इत्यमरः ॥ (यथा, मार्कण्डेये । ८ । १५६ ।
“श्राद्धदेवेन कथितं विश्वामित्रस्य चेष्टितम् ॥”) स तु विवस्वतः संज्ञायां पत्न्यां जातः ॥ मनुभेदः । इति पुराणम् ॥ (यथा, मार्कण्डेय । १०६ । ४ ।
“मनुर्वैवस्वतो ज्येष्ठः श्राद्धदेवः प्रजापतिः ।
ततो यमो यमी चैव यमलौ सम्बभूवतुः ॥”)

श्राद्धशाकं, क्ली, (श्राद्धे देयं शाकम् ।) कालशाकम् । इति भावप्रकाशः ॥

श्राद्धिकः, त्रि, (श्राद्धमनेन भुक्तमिति । श्राद्ध + “श्राद्धमनेन भुक्तमिनिठनौ ।” ५ । २ । ८५ । इति ठन् ।) श्राद्धभोक्ता । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥ श्राद्धसम्बन्धिद्रव्यादि । यथा, याज्ञवल्क्यः ।
“सन्ध्यागर्ज्जितनिर्घाते भूकम्पोल्कानिपातने ।
समाप्य वेदं द्युनिशमारण्यकमधीत्य च ॥
पञ्चदश्यां चतुर्द्दश्यामष्टम्यां राहुसूतके ।
ऋतुसन्धिषु भुक्त्वा वा श्राद्धिकं प्रतिगृह्य च ॥”
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥

श्राद्धी, [न्] त्रि, श्राद्धभोक्ता । श्राद्ध + “श्राद्धमनेन भुक्तमिनिठनौ ।” ५ । २ । ८५ । इति सूत्रेण इनिः । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥

श्रान्तः, पुं, (श्रम + क्तः ।) शान्तः । जितेन्द्रियः । इति हेमचन्द्रः ॥ श्रमयुक्ते, त्रि । श्रम तपःखेदयोः इत्यस्मात् क्तप्रत्ययेन निष्पन्नः । यथा,—
“सखि मत्प्राणनाथस्तु साधयन्ती निरन्तरम् ।
अतिश्रान्तासि सद्भावखेदयोरियमौचिती ॥”
इति काव्यचन्द्रिका ॥

श्रान्तसंवाहनं, क्ली, (श्रान्तस्य संवाहनम्।) श्रमान्वितस्य अशनादिप्रदानद्वारा श्रमोपशमनम्। इति केचित्॥

श्राम, त क मन्त्रे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (अदन्तचुरा०-पर०-सक०-सेट्।) अशश्रामत्। मन्त्रोऽभिमुखीकरणम्। शुभोक्तिरित्येके। इति दुर्गादासः॥

श्रामः, पुं, (श्रामयतीति। श्राम + अच्।) मासः। मण्डपः। कालः। इति मेदिनी॥

श्रामणेरः, पुं, जिनभिक्षुशिष्यः। तत्पर्य्यायः। चेलुकः २ प्रव्रजितः ३ महापाचकः ४ गोमी ५। इति त्रिकाण्डशेषः॥

श्रायः, पुं, (श्रि अये + "श्रिणीभुवोऽनुपसर्गे।" ३। ३। २४। इति घञ्।) अयनम्। आश्रयः। इत्यमरः॥ (यथा, भट्टिः। ७। ३६।
"यात यूयं यमश्रायं दिशं नायेन दक्षिणाम्॥")
श्रीसम्बन्धिनि, त्रि। यथा। श्रीर्देवता अस्य श्रायं हविः। इति श्रीशब्दादण्प्रत्ययेन निष्पन्नमिति सिद्धान्तकौमुदी॥

श्रायसः, त्रि, (श्रेयस् + अण्। "देविकाशिंशपेति।" ७। ३। १। इति आदेरचः आत्।) श्रेयसि भवः। इति सिद्धान्तकौमुदी॥

श्रावः, पुं, श्रवणम्। श्रुधातोर्घञ्प्रत्ययेन निष्पन्नः॥ (इक्ष्वाकुवंशीयनृपतिविशेषः। यथा, महाभारते। ३। २०१। ३।
"आर्द्रात्तु युवनाश्वस्तु श्रावस्तस्यात्मकोऽभवत्॥")

श्रावकः, पुं, (शृणोतीति। श्रु + ण्वुल्।) शाक्यमुनिशिष्यविशेषः। काकः। इति त्रिकाण्डशेषः॥ (श्रावयतीति। श्रु + णिच् + ण्वुल्। दूरध्वनिः। यथा, माघे। ११। १।
"प्रणिजगदुरकाकुश्रावकस्निग्धकण्ठाः
परिणतिमिति रात्रेर्मागधा माधवाय॥")
श्रोतरि, त्रि। (यथा, पुराणम्।
"ऋग्वेदश्रावकं पैलं जग्राह विधिवद्द्विजम्।
यजुर्वेदप्रवक्तारं वैशम्पायनमेव च॥")

श्रावणः, पुं, (श्रवणमाचरति न तु कार्य्यमेवेति। श्रवण + अण्।) पाषण्डः। इति मेदिनी॥ (श्रवणेन गृह्यते इति। श्रवण + "शेषे।" ४। २। ९२। इत्यण्। शब्दः। इति काशिका॥) वैशाखादि-द्वादशमासान्तर्गत-चतुर्थ-मासः। श्रवणानक्षत्रयुक्ता पौर्णमासी श्रावणी सा यत्र मासे सः। (श्रवणा + अण्।) तत्पर्य्यायः। नभाः २ श्रावणिकः ३। इत्यमरः॥ नभः ४। इति शब्दरत्नावली। स च द्विविधः सौरश्चान्द्रश्च। कर्कटस्थरविको मासः सौरश्रावणः। कर्कटस्थरविप्रारब्धशुक्लप्रतिपदादिदर्शान्तो मासश्चान्द्रश्रावणः। चान्द्रोऽपि द्विविधो मुख्यो गौणश्च। तत्र मुख्यचान्द्रश्रावणीयकृष्णप्रतिपदादिपौर्णमास्यन्तो मासो गौणचान्द्रः श्रावणः। मुख्यलक्षणं प्रागेवोक्तम्। इति मलमासतत्त्वम्॥ * ॥ तत्र जातफलम्।

"लोकप्रसिद्धो धनवान् वदान्यः
सुहृत्कलत्रात्मजदासयुक्तः।
आज्ञाकरा यस्य जनस्य सर्व्वे
स श्रावणाख्ये सुतरां प्रसूतः॥"

अथ श्रावणकृत्यम्। तत्र देवीपुराणम्।
"सुप्ते जनार्द्दने कृष्णे पञ्चम्यां भवनाङ्गने।
पूजयेन्मनसादेवीं स्नुहीविटपसंस्थिताम्॥"
स्नुही सिजवृक्षः।
"देवीं संपूज्य नत्वा च न सर्पभयमाप्नुयात्।
पञ्चम्यां पूजयेन्नागाननन्ताद्यान् महोरगान्।
क्षीरं सर्पिश्च नैवेद्यं देयं सर्पविषापहम्॥"
गारुडे।
"अनन्तं वासुकिं शङ्खं पद्मं कम्बलमेव च।
तथा कर्कोटकं नागं धृतराष्ट्रञ्च शङ्खकम्॥
कालीयं तक्षकञ्चापि पिङ्गलं मणिभद्रकम्।
यजेत्तानसितान्नागान् दष्टमुक्तो दिवं व्रजेत्॥"
पुराणान्तरेऽपि।
"अनन्तो वासुकिः पद्मो महापद्मोऽथ तक्षकः।
कुलीरः कर्कटः शङ्खो ह्यष्टौ नागाः प्रकीर्त्तिताः॥"
पाद्मे।
"शेषः पद्मो महापद्मः कुलीरः शङ्खपालकः।
वासुकिस्तक्षकश्चैव कालीयो मणिभद्रकः।
ऐरावतो धृतराष्ट्रः कर्कोटकधनञ्जयौ॥"
रत्नाकरे।
"पिचुमर्द्दस्य पत्राणि स्थापयेद्भवनोदरे।
स्वयञ्चापि तदश्नीयात् ब्राह्मणानपि भोजयेत्॥"
पिचुमर्द्दस्य निम्बस्य॥ * ॥ तत्र प्रयोगः। हरिशयनानन्तरं गौणचान्द्रीय श्रावणकृष्णपञ्चम्यां कृतस्नानादिरुदङ्मुखः। अद्य श्रावणे मासि कृष्णे पक्षे पञ्चम्यां तिथौ अमुकगोत्रः श्रीअमुकदेवशर्म्मा सर्पभयाभावकामो मनसादेवीपूजामहं करिष्ये। इति सङ्कल्प्य स्नुहीवृक्षे पूजयेत्। तदभावे घटे जले वा शाखादिकं कृत्वा देवीमत्रेति ध्यात्वा मनसादेवि इहागच्छ इहावाह्य एतत् पाद्यं ॐ मनसादेव्यै नमः। इत्यनेन यथाशक्ति गन्धपुष्पधूपदीपनैवेद्यानि दद्यात्। ततोऽनन्तादीन् नागान् पूजयेत् तत्र क्षीरसर्पिर्नैवेद्यं प्रधानम्। अनन्तादिकं पाद्यादिभिः संपूज्य।
"ॐ योऽसावनन्तरूपेण ब्रह्माण्डं सचराचरम्।
पुष्पवद्धारयेन्मूर्द्ध्नि तस्मै नित्यं नमो नमः॥"
इत्यनेन त्रिः पूजयेत्। एवं प्रणवादिनमोऽन्तेन स्वस्वनाम्ना पूजयेत्। ॐ वासुकये नमः। ॐ शङ्खाय नमः। ॐ कम्बलाय नमः। ॐ कर्कोटकाय नमः। ॐ शङ्खकाय नमः। ॐ कालीयाय नमः। ॐ तक्षकाय नमः। ॐ पिङ्गलाय नमः। ॐ महापद्माय नमः। ॐ कुलिकाय नमः। ॐ मणिभद्राय नमः। ॐ धनञ्जयाय नमः। ॐ शेषाय नमः। ॐ ऐरावताय नमः। अशक्तौ गन्धपुष्पाभ्यां पूजयेत्। निम्बपत्राणि गृहे स्थापयेत् ब्राह्मणेभ्यो दद्यात् स्वयं भक्षयेच्च। उभयदिने पूर्व्वोक्तमुहूर्त्तान्यूनपञ्चमीलाभे पूर्व्वदिने पूजा युग्मात्। श्रावण्यां पौर्णमास्यां श्राद्धमावश्यकम्। इति कृत्यतत्त्वम्॥ श्रवणानक्षत्रसम्बन्धिनि, त्रि॥

श्रावणा, स्त्री, दण्डालीक्षुपः। इति मेदिनी॥

श्रावणिकः, पुं, (श्रवणा पौर्णमास्यस्मिन्नस्तीति। श्रवणा + "विभाषा फाल्गुनीश्रवणाकार्त्तिकीचैत्रीभ्यः।" ४।२।२३। इति ठक्।) श्रावणमासः। इत्यमरः॥

श्रावणी, स्त्री, (श्रवणेन नक्षत्रेण युक्ता पौर्णमासी। श्रवण + "नक्षत्रेण युक्तः कालः।" ४। २। ३। इत्यण्। ङीप्।) श्रावणमासीयपूर्णिमा। यथा,
"पौर्णमासी तथा माघी श्रावणी च नरोत्तम।
एतांस्तु श्राद्धकालान् वै नित्यानाह प्रजापतिः॥"
इति श्राद्धतत्त्वम्॥
क्षुपविशेषः। मुण्डी इति गोलकुड़िया इति च हिन्दीभाषा। तत्पर्य्यायः। मुण्डितिका २ भिक्षुः ३ श्रवणशीर्षिका ४ श्रवणा ५ प्रव्रजिता ६ परिव्राजी ७ तपोधना ८। अस्या गुणाः। कषायत्वम्। कटुत्वम्। उष्णत्वम्। कफवातामातिसारकासविषच्छर्द्दिनाशित्वञ्च। इति राजनिर्घण्टः॥ अपि च।
"मुण्डी भिक्षुरपि प्रोक्ता श्रावणी च तपोधना।
श्रवणाह्वा मुण्डितिका तथा श्रवणशीर्षिका॥
महाश्रावणिकान्या तु सा स्मृता भूकदम्बिका।
कदम्बपुष्पिका च स्यादव्यथा तु तपस्विनी॥
मुण्डितिका कटुः पाके वीर्य्योष्णा मधुरा लघुः।
मेध्या गण्डापची कृच्छ्रकृमियोन्यर्त्तिपाण्डुनुत्।
श्लीपदारुच्यपस्मारप्लीहमेदोगुदार्त्तिहृत्।
महामुण्डी च तत्तुल्या गुणैरुक्ता महर्षिभिः॥"
इति भावप्रकाशः।
अन्यत् मुण्डितिकाशब्दे द्रष्टव्यम्॥

श्रावन्ती, स्त्री, धर्म्मपत्तनाख्यदेशः। इति त्रिकाण्डशेषः॥

श्राविष्ठीयः, त्रि, (श्रविष्ठासु जातः। श्रविष्ठा + "श्रविष्ठाफल्गुन्यनुराधेति।" ४।३।३४। इति छण्।) श्रवणानक्षत्रजातः। इति सिद्धान्तकौमुदी॥

श्रि, ञ सेवने। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-उभ०-सक०-सेट्।) ञ, श्रयति श्रयते। इति दुर्गादासः॥

श्रितः, त्रि, (श्रि + क्तः। "श्र्युकः किति।" ७।२।११। इति इडागमो न।) सेवितः। आश्रितः। इति सिद्धान्तकौमुदी॥ (यथा, रघुः। ११। ६१।
"भास्करश्च दिशमध्युवास यां
तां श्रिताः प्रतिभयं ववाशिरे॥" *॥
पक्वः। यथा, रामायणे। २। ५६। २८।
"लक्ष्मणः पुरुषव्याघ्रमथ राघवमब्रवीत्।
अयं सर्व्वः समस्ताङ्गः श्रितः कृष्णमृगो मया।
देवता देवसङ्काश यजस्व कुशलो ह्यसि॥")

श्रितवान्, [त्] त्रि, (श्रि + क्तवतु। "श्र्युकः किति।" ७। २। ११। इति इडागमो न।) सेवाकारकः। इति सिद्धान्तकौमुदी॥

श्रियंमन्या, स्त्री, आत्मानं श्रियं मन्यते या । इति मुग्धबोधव्याकरणम् ॥ (यथा, भट्टिः ।५।७१।
"मिथ्यैव श्रीः श्रियंमन्या श्रीमन्मन्यो ह्यधा-
हरिः ॥")

श्रिष, उ दाहे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट् ।) क्त्वावेट् ।) उ, श्रेषित्वा श्रिष्ट्वा । इति दुर्गादासः ॥

श्री, ञ श पाके । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (क्र्या०-उभ०-सक०-सेट् ।) ञ श, श्रीणाति श्रीणीते । इति दुर्गादासः ॥

श्रीः, स्त्री,(श्रयतीति । श्रि + "क्विप्वचिप्रच्छीति ।" उणा० २ । ५७ । इति क्विप् दीर्घश्च ।) लक्ष्मीः । (यथा, विष्णुपुराणे । १ । ८ । १३ ।
"श्रीश्च देवदेवस्य पत्नी नारायणस्य या ॥")
लवङ्गम् । इत्यमरः ॥ वेशरचना । शोभा । (यथा, रामायणे । २ । ६४ । १० ।
"एवमादिभिराकीर्णः श्रियं पुष्यत्ययं गिरिः ॥")
सरस्वती । सरलद्रुमः । त्रिवर्गः । सम्पत्तिः । (यथा,—
" न दातुं नोपभोक्तुं वा शक्नोति कृपणः
श्रियम् ॥")
विधा । उपकरणम् । विभूतिः । मतिः । इति मेदिनी ॥ अधिकारः । प्रभा । कीर्त्तिः । इति धरणिः ॥ वृद्धिः । सिद्धिः । इति शब्दरत्नावली ॥ वृत्तार्हन्माता । इति हेमचन्द्रः ॥ कमलम् । विल्ववृक्षः । वृद्धिनामौषधम् । इति राजनिर्घण्टः ॥ * ॥ देवादिनाम्नः पूर्व्वं श्रीशब्द-प्रयोगः कर्त्तव्यः । यथा,—
"देवं गुरुं गुरुस्थानं क्षेत्रं क्षेत्राधिदेवताम् ।
सिद्धं सिद्धाधिकारांश्च श्रीपूर्व्वं समुदीरयेत् ॥"
इति राघवभट्टधृतप्रयोगसारदर्शनात् स्वर्गगामित्वादिना सिद्धोऽधिकारो येषां नराणां इत्यनेन जीवतां श्रीशब्दादित्वं नाम्नः । न तु मृतानां तथेति शिष्टाचारः । इति संस्कारतत्त्वम् ॥ * ॥ पत्रपृष्ठे श्रीशब्ददानप्रमाणं पत्रशब्दे द्रष्टव्यम् ॥ (एकाक्षरच्छन्दोविशेषः । यथा, छन्दोमञ्जर्य्याम् । "ग् श्रीः ।" उदाहरणम् । "श्रीस्ते । सास्तात् ॥")

श्रीः, पुं, (श्रि + क्विप् दीर्घश्च ।) रागविशेषः । स तु हनुमन्मते षड्रागान्तर्गतपञ्चमरागः । पृथिव्या नाभितो निर्गतः । अस्य जातिः सम्पूर्णा । तस्य स्वरावलिः । ष ऋ ग म प ध नि । अस्य ग्रहं षड्जस्वरः । हेमन्तर्त्तौ अपराह्णे गानसमयः । रागमालायां अस्याकारः । सुन्दरपुरुषः । शुक्लवस्त्रपरीधानः । मतान्तरे रक्तवस्त्रपरीधानः । स्फाटिकपद्मरागमणिमालागलः । पद्मपुष्पहस्तः । विचित्रसिंहासनारूढ़ः । अस्य संमुखे गायन्ति गायकाः ॥ हनुमन्मते अस्य भार्य्याः पञ्च । यथा । प्रथमा मालश्रीः । तस्याः सम्पूर्णजातिः । अस्याः स्वरावलिः । ष ऋ ग म प ध नि । अस्या ग्रहं षड्जस्वरः । हेमन्तर्त्तौ द्वितीयप्रहरदिवसे गानसमयः । रागमालायां तस्याः स्वरूपम् । रक्तवर्णा स्त्री । कोमलाङ्गी । पीतवस्त्रपरीधाना । कौतुकाद्भ्रमन्ती सती नायकादभिन्ना सखीगणेन सह हास्ययुक्ताम्रतरुतलोपविष्टा ॥ १ ॥ द्वितीया मारवा अथवा मालवा । अस्याः षाड़वजातिः । अस्याः स्वरावलिः । ष प ग म ध नि । अस्या ग्रहं षड्जस्वरः । हिमर्त्तौ शेषवेलायां गानसमयः । रागमालायां तस्याः स्वरूपं यथा । स्वर्णवस्त्रपरीधाना । पुष्पमाल्यधरा । नायकमेलनार्थमेकाकिनीसङ्केतस्थानोपविष्टा ॥ २ ॥ तृतीया धनाश्रीः । अस्याः षाड़वजातिः । अस्याः स्वरावलिः । ष प ध नि ऋ ग । ग्रहं षड्जस्वरः । हिमर्त्तौ द्वितीयप्रहरदिवसे शेषवेलायां वा गानसमयः । रागमालायां तस्याः स्वरूपम् । वियोगिनी नारी । रक्तवस्त्रपरीधाना । वियोगजसन्तापेन दुःखितातिकृशा । एकाकिनी रोरुद्यमाना वकुलतरुतलोपविष्टा ॥ ३ ॥ चतुर्थी वसन्तरागिणी । अस्याः सम्पूर्णा जातिः । अस्याः स्वरावलिः । ष ऋ ग म प ध नि । अस्या ग्रहं षड्जस्वरः । हिमर्त्तौ मध्याह्ने वसन्तर्त्तौ दिवामात्रे च गानसमयः । रागमालायां तस्याः स्वरूपम् । सुन्दरपुरुषाकृतिः । कस्यचिन्मते श्यामवर्णा । रक्तवसना । मयूरपुच्छशिखा । आम्रमुकुलहस्ता । यौवनमदनमदमत्ता । पुष्पमाल्यगलदेशा । पुष्पोद्याने सह नर्त्तकीसुस्वरगायनीभिः सुखेन रागरङ्गयुता । वामहस्तधृतताम्बूलवीटिका । स्त्रीगणसहितहास्यकौतुकक्रीड़ानृत्यगीतवाद्यासक्ता । रागमालान्तरे उक्तगुणयुक्ता श्रीकृष्णमूर्त्तिसदृशमूर्त्तिर्लिखिता ॥ ४ ॥ पञ्चमी आशावरी । अस्या औड़वजातिः । अस्याः स्वरावलिः । ध नि ष म प । अस्याः ग्रहं धैवतस्वरः । हिमर्त्तौ द्वितीयप्रहरदिवसे गानसमयः । रागमालायां अस्याः स्वरूपम् । श्यामवर्णा स्त्री । कोमलाङ्गी । श्वेतशाटीपरिधाना । कर्पूरानुलेपना । हस्तपदयोर्हस्तसर्पवेष्टिता केशैर्बद्धचूड़ा । जलमध्यस्थपर्व्वतगुहायामुपविष्टा । रागमालान्तरे उक्तगुणयुक्ता कृष्णपत्रवद्धकटिदेशा नग्ना लिखिता ॥ ५ ॥ * ॥ अस्य पुत्त्रा अष्टौ । यथा । सिन्धुः १ मालवः २ गौँड़ः अथवा गोण्डः ३ अस्य स्थाने केचित् कल्याणः इति केचिच्च हामीर इति पठन्ति । गुणसागरः ४ कुम्भः ५ गम्भीरः ६ शङ्करः अथवा आगड़ः ७ विहागरः ८ ॥ * ॥ कल्लिनाथमते श्रीरागः प्रथमरागः अस्य भार्य्या षट् । यथा । गौरी १ गौलाहली २ धवली ३ रुद्राणी ४ मालकौश अर्थात् कौशिकी ५ देवगान्धारी ६ । तन्मते पुत्त्रा अष्टौ हनुमन्मततुल्याः । किन्तु गौँड़शङ्करविहागरस्थाने कल्याण आगड़ा विगड़ा लिखिताः ॥ * ॥ सोमेश्वरमतेऽपि प्रथमरागोऽयम् । अस्य रागिण्यः षट् । यथा । मालवी अथवा मरवा १ त्रिवेणी अथवा तिरवनी २ गौरी ३ केदारा ४ मधुमाधवी ५ पाहाड़िका अथवा पाहाड़ी ६ । अस्य पुत्त्राः पूर्व्वोक्तमतद्वयतुल्याः । तन्मते अस्य रागस्य रागिणीसहितस्य शिशिरर्त्तौ गानसमयः ॥ * ॥ भरतमते पञ्चमरागोऽयम् । अस्य रागिण्यः पञ्च । यथा । सिन्धुवी १ काफी २ ठुमरी ३ पूर्व्वदेशे विस्तार इति ख्याता । विचित्रा ४ शिरहटी अथवा सोरठी ५ । तन्मते अस्याष्ट पुत्त्राः यथा । श्रीरमणः १ कोलाहलः २ सामन्तः ३ शङ्करणः ४ राकेश्वरः ५ खटरागः ६ वड़हंसः ७ देशाकारः ८ । तेषां भार्य्या यथा । विद्या १ धाय्या २ कुम्भा ३ सुहणी ४ शरदा ५ क्षेमा ६ शशरेखा ७ सुरसती ८ । इति नानासङ्गीतशास्त्रतः संगृहीतम् ॥

श्रीकण्ठः, पुं, (श्रीः शोभा कण्ठे यस्य ।) शिवः । इत्यमरः ॥ कुरुजाङ्गलदेशः । स तु हस्तिनापुरस्य उत्तरपश्चिमे वर्त्तते । इति हेमचन्द्रः ॥ (पक्षिविशेषः । यथा, वृहत्संहितायाम् । ८६ । ३८ ।
"स्त्रीसंज्ञा भासभषककपिश्रीकर्णच्छिक्कराः ।
शिखिश्रीकण्ठपिप्पीकरुरुश्येनाश्च दृष्टिवाः ॥")

श्रीकण्ठपदलाञ्छनः, पुं, (श्रीकण्ठ इति पदं लाञ्छनं यस्य ।) भवभूतिः । स तु मालतीमाधवादिनाटककर्त्ता । इति शब्दमाला ॥ (यथा, उत्तरचरिते प्रस्तावनायाम् ।
"अस्ति खलु तत्रभवान् काश्यपः श्रीकण्ठपदलाञ्छनो भवभूतिर्नाम ॥")

श्रीकण्ठसखः, पुं, (श्रीकण्ठस्य महादेवस्य सखा । समासे टच् ।) कुबेरः । इति हलायुधः ॥

श्रीकन्दा, स्त्री, (श्रीः शोभा तद्युक्तः कन्दो यस्याः ।) वन्ध्याकर्कोटकी । इति राजनिर्घण्टः ॥

श्रीकरं, क्ली, रक्तोत्पलम् । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

श्रीकरः, पुं, विष्णुः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ स्मृतिग्रन्थकारविशेषः । यथा । श्रीकराचार्य्यादिग्रन्थादरपराहतविवेकानाम् । इति दायभागाद्यश्रीकटीकायां श्रीकृष्णतर्कालङ्कारः ॥ (श्रियः शोभायाः करः ।) श्रीकारके, त्रि ॥

श्रीकरणं, क्ली, (श्रीः क्रियतेऽनेनेति । कृ + करणे ल्युट् ।) लेखनी । इति शब्दरत्नावली ॥

श्रीकान्तः, पुं, (श्रियाः कान्तः ।) विष्णुः । इति शब्दरत्नावली ॥

श्रीकारी, [न्] पुं, (श्रियं शोभां करोतीति । कृ + णिनिः ।) मृगविशेषः । तत्पर्य्यायः । शिखिरूपः २ कुरङ्गः ३ महायवः ४ यवनः ५ वेमिहरिणः ६ अङ्गालः ७ आह्निकाक्षयः ८ । अस्य मांसगुणाः । लघुत्वम् । हृद्यत्वम् । बलप्रदत्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥

श्रीखण्डः, पुं क्ली, (श्रियः शोभायाः खण्ड इव यत्र ।) चन्दनम् । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ (यथा, गीतगोविन्दे । ६ । १० ।

"तद्युक्तं विपरीतकारिणि तव श्रीखण्डचर्चा-
विषं
शीतांशुस्तपनो हिमं हुतवहः क्रीडामुदो
यातनाः ॥")

श्रीगर्भः, पुं, (श्रीर्गर्भेऽस्य ।) विष्णुः । इति त्रिकाण्ड-
शेषः ॥ खड्गः । यथा,—
"असिर्विंशसनः खड्गस्तीक्ष्णधारो दुरासदः ।
श्रीगर्भो विजयश्चैव धर्म्मपाल नमोऽस्तु ते ॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥

श्रीग्रहः, पुं, (श्रियः ग्रहो यत्र ।) पक्षिणः पानीय-
शाला । तत्पर्य्यायः । शकुनिप्रपा २ । इति
हारावली ॥

श्रीघनं, क्ली, (श्रिया घनम् ।) दधि । इति जटा-
धरः ॥

श्रीघनः, पुं, (श्रिया बुद्ध्या घनः ।) बुद्धः । इत्य-
मरः ॥

श्रीचक्रं, क्ली, (श्रियाश्चक्रम् ।) त्रिपुरसुन्दर्य्याः
पूजायन्त्रविशेषः । यथा,—
"श्रीचक्रस्योद्धृतिं वक्ष्ये तत्र पूजाप्रसिद्धये ।
बिन्दुगर्भं त्रिकोणन्तु कृत्वा चाष्टारमुद्धरेत् ॥
दशारद्वयमन्वस्राष्टारषोडशकोणकम् ।
त्रिरेखात्मकभूगेहवेष्टितं यन्त्रमालिखेत् ॥"
इति मन्त्रमहोदधौ ११ तरङ्गः ॥
अपि च । अथ श्रीचक्रम् । यथा बिन्दुमत् त्र्यस्रं
अष्टकोणं एतत्त्रयं संहारचक्रम् । द्विदशारं
चतुर्द्दशारं स्थितिचक्रमेतत्त्रयम् । अष्टपत्रं
षोडशदलं वृत्तत्रयम् । भूसदनत्रयं चतुर्द्वार-
समायुक्तमेतत् सृष्ट्यात्मकम् । तदुक्तं वामके ।
"बिन्दुत्रिकोणवसुकोणदशारयुग्म-
मन्वस्रनागदलसङ्गतषोडशारम् ।
वृत्तत्रयञ्च धरणीसदनत्रयञ्च
श्रीचक्रराजमुदितं परदेवतायाः ॥"
चक्रराजं सिन्दूरकुङ्कुमादिना लिखितं सुवर्ण-
रजतपञ्चरत्नस्फटिकताम्रादुत्कीर्णं कुर्य्यात् ।
तथा भूतभैरवतन्त्रे ।
"अकृत्वा सुषमां रेखां नालिख्य सुषमं सुखम् ।
योऽत्र यन्त्रं प्रवर्त्तेत तस्य सर्व्वं हरत्यहम् ॥
यस्या यत्र स्थितिर्देवि तत्र तां नार्च्चयेद्यदि ।
तन्मांसरुधिरेणैव पारणा तस्य जायते ॥
पश्चिरालोकनं न स्यात्तथा कुरुत यत्नतः ।
यदि दैवात् पश्चिरग्रे लिखितं विद्यते क्वचित् ।
ममाज्ञयैतिरेवात्र क्रियते पापबुद्धिना ॥"
तथा भूतभैरवे ।
"योऽस्मिन् यन्त्रे महेशानि केशरादि प्रकल्पयेत् ।
योगिनीसहितास्तस्य हिंसां कुर्व्वन्ति भैरवाः ॥"
इति वचनान्नात्र केशरादि ।
"न रात्रावङ्कयेत् यन्त्रं साधकस्तु कदाचन ।
प्रमादादङ्कितं यन्त्रं शापो भवति तत्क्षणात् ॥
तथापराजितापुष्पे करवीरे जवासु च ।
तत्र देवी वसेन्नित्यं तद्यन्त्रे पूजनं मम ॥"
तथा स्वच्छन्दभैरवे ।
"कुर्य्याच्च स्थण्डिले यन्त्रं हस्तमात्रं सुसुन्दरम् ।
रत्नादिषु च निर्म्माणे मानमिच्छावशाद्भवेत् ॥
एकतोलं द्वितोलं वा त्रितोलं वेदतोलकम् ।
इतोऽधिकं नरः कृत्वा प्रायश्चित्ती भवेत् ध्रुवम् ॥
रक्तेन रजसापूर्य्य श्रीचक्रं भुवि पूजयेत् ।
नश्यन्ति सर्व्वविघ्नानि प्राप्यते च यथेप्सितम् ॥
दशभागं सुवर्णस्य ताम्रस्य द्वादशं तथा ।
षड्दशं रजतस्याथ चैतल्लौहत्रयं भवेत् ॥
चक्रेऽस्मिन् पूजयेद्यो हि स सौभाग्यमवाप्नुयात् ।
अणिमाद्यष्टसिद्धीनामधिपो जायतेऽचिरात् ॥
विद्रुमे रचिते यन्त्रे पद्मरागेऽथवा प्रिये ।
इन्द्रनीलेऽथ वैदूर्य्ये स्फाटिके मरकतेऽपि वा ॥
धनं पुत्त्रं तथा दारान् यशांसि लभते ध्रुवम् ।
ताम्रन्तु कान्तिदं प्रोक्तं सुवर्णं शत्रुनाशनम् ॥
राजतं चैमदश्चैव स्फाटिकं सर्व्वसिद्धिदम् ॥"
एतद्यन्त्रमात्रे ज्ञेयम् ॥ * ॥ अथ श्रीचक्रनाशे
प्रायश्चित्तम् ।
"दग्धं च स्फुटितं यन्त्रं हृतं चौरेण वा प्रिये ।
उपवासं प्रकुर्व्वीत दिनमेकमतन्द्रितः ॥
लक्षमात्रं जपेद्विद्यां होमतर्पणपूर्व्वकम् ।
सङ्कल्प्य च गुरुं तोष्य ब्राह्मणानपि भोज-
येत् ॥"
लक्षं जप्त्वा दशांशहोमः तद्दशांशेन तर्पणम् ।
लक्षमयुतमित्येके ।
"कदाचिच्छुभचिह्नं वा स्फुटितादि विदूषणम् ॥
भग्नं करोति यो मर्त्त्यो मृत्युस्तस्य ध्रुवं भवेत् ।
तस्माच्च तीर्थराजे वा गङ्गादिसरितांवरे ॥
समुद्रे वा क्षिपेद्देवि चान्यथा दुःखमाप्नुयात् ॥"
इदन्तु यन्त्रमात्रविषयम् ॥ * ॥ अथ श्रीचक्र-
पादोदकमाहात्म्यम् ।
"गङ्गापुष्करनर्म्मदासु यमुनागोदावरीगोमती-
गङ्गाद्वारगयाप्रयागबदरीवाराणसीसिन्धुषु ।
रेवासेतुसरस्वतीप्रभृतिषु ब्रह्माण्डभाण्डोदरे
तीर्थस्नानसहस्रकोटिफलदं श्रीचक्रपादोदकम् ॥"
अथ दर्शनफलम् ।
"सम्यक् शतक्रतून् कृत्वा यत् फलं समवाप्नुयात् ।
तत् फलं लभते भक्त्या कृत्वा श्रीचक्रदर्शनम् ॥
षोडशं वा महादानं कृत्वा यल्लभते फलम् ।
तत् फलं समवाप्नोति कृत्वा श्रीचक्रदर्शनम् ॥
सार्द्धत्रिकोटितीर्थेषु स्नात्वा यत् फलमश्नुते ।
तत् फलं लभते भक्त्या कृत्वा श्रीचक्रदर्शनम् ॥"
इति तन्त्रसारः ॥

श्रीजः, पुं, (श्रियः जायते इति । जन्+डः ।)
कामदेवः । श्रिया जातत्वात् । शाम्बः । इति
केचित् ॥

श्रीतालः, पुं, (श्रीयुक्तस्तालः ।) तालदृशवृक्ष-
वृक्षविशेषः । तत्पर्य्यायः । मृदुतालः २ लक्ष्मी-
तालः ३ मृदुच्छदः ४ विशालपत्रः ५ लेखार्हः ६
मसीलेख्यदलः ७ शिरालपत्रकः ८ पाश्चोद्-
भूतः । अस्य गुणाः । मधुरत्वम् । शीतत्वम् ।
ईषत् कषायत्वम् । पित्तनाशित्वम् । कफकारि-
त्वम् । ईषद्वातप्रकोपणत्वञ्च । इति राज-
निर्घण्टः ॥

श्रीदः, पुं, (श्रियं ददातीति । दा+कः ।) कुवेरः ।
इत्यमरः ॥ शोभादातरि, त्रि ॥

श्रीधरः, पुं, (धरतीति । धृ+अच् । श्रिया धरः ।)
विष्णुः । (यथा, मुकुन्दमालायाम् । ६ ।
"मा भैर्मन्दमनो विचिन्त्य बहुधा यामीश्चिरं
यातना
नामी नः प्रभवन्ति पापरिपवः स्वामी ननु
श्रीधरः ।
आलस्यं व्यपनीय भक्तिसुलभं ध्यायस्व नारायणं
लोकस्य व्यसनापनोदनकरो दासस्य किं न
क्षमः ॥")
भूतार्हद्भेदः । इति हेमचन्द्रः ॥ शालग्राम-
चक्रे, क्ली । यथा,—
"अतिसूक्ष्मं द्विचक्रन्तु वनमालाविभूषितम् ।
श्रीधरं देवि विज्ञेयं श्रीप्रदं गृहिणां सदा ॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते प्रकृतिखण्डे २१ अध्यायः ॥

श्रीनन्दनः, पुं, (श्रियाः नन्दनः ।) कामदेवः ।
इति हेमचन्द्रः ॥ लक्ष्मीपुत्त्रश्च ॥

श्रीनिकेतनः, पुं, (श्रियं निकेतयति वासयतीति ।
नि+कित+णिच्+ल्युः ।) विष्णुः । इति
शब्दरत्नावली ॥ (यथा, भागवते ।६।१८।१३।
"भगवानपि विश्वात्मा पावनः श्रीनिकेतनः ॥"
श्रियः आश्रयस्थाने, त्रि । यथा, भागवते ।३।
३ । २० ।
"स्निग्धस्मितावलोकेन वाचा पीयूषकल्पया ।
चरित्रेणानवद्येन श्रीनिकेतेन चात्मना ॥")

श्रीनिवासः, पुं, (श्रियो निवास आश्रयस्थानम् ।)
विष्णुः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

श्रीपं, त्रि, (श्री+पा+कः ।) श्रियं पाति यत् ।
इति मुग्धबोधव्याकरणम् ॥

श्रीपञ्चमी, स्त्री, (श्रियः सरस्वत्याः पञ्चमी ।)
माघशुक्लपञ्चमी । यथा,—
"चतुर्थी वरदा शुक्ला तत्र गौरी सुपूजिता ।
सौभाग्यमतुलं कुर्य्यात् पञ्चम्यां श्रीरपि श्रियम् ॥"
सरस्वतीपूजानध्यायश्चात्र गौडाचारः । अत्र
श्रीपञ्चम्यामारभ्य प्रतिमासं षडब्दसमाप्यं
श्रीपञ्चमीव्रतं कुर्व्वन्ति पठन्ति च । इति संवत्-
सरकौमुदीधृतब्रह्मपुराणवचनम् ॥

श्रीपतिः पुं, (श्रियः पतिः ।) विष्णुः । इत्यमरः ॥
(यथा, मुकुन्दमालायाम् । १६ ।
"सेव्यः श्रीपतिरेव सर्व्वजगतामेकान्ततः
साक्षिणः
प्रह्लादश्च विभीषणश्च करिराट् पाञ्चाल्य-
हल्या ध्रुवः ॥")
पृथिवीनाथः । इति मेदिनी ॥

श्रीपथः, पुं, (श्रियः पन्थाः । "ऋक्पूरब्धूःपथा-
मानक्षे ।" ५ । ४ । ७४ । इति अः ।) राज-
पथः । इति हेमचन्द्रः ॥

श्रीपर्णं, क्ली, (श्रीविशिष्टानि पर्णानि यस्य ।)
पद्मम् । अग्निमन्थवृक्षः । इति मेदिनी ॥

श्रीपर्णिका, स्त्री, (श्रीपर्णी एव । स्वार्थे कन् ।)
कट्फलवृक्षः । इत्यमरः ॥

श्रीपर्णी, स्त्री, (श्रीयुक्तानि पर्णानि यस्याः । ङीष् ।) गम्भारीवृक्षः । इत्यमरः ॥ कट्फलवृक्षः । इति मेदिनी ॥ शाल्मलीवृक्षः । हठवृक्षः । इति हेमचन्द्रः । अग्निमन्थवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

श्रीपिष्टः, पुं, (श्रियः सरलद्रुमस्य पिष्टः ।) सरलद्रवरसः । इत्यमरटीकायां रामाश्रमः ॥

श्रीपुत्रः, पुं, अश्वः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ (श्रियः पुत्रः ।) कामदेवश्च ॥

श्रीपुष्पं, क्ली, (श्रीयुक्तं पुष्पमस्य ।) लवङ्गम् । इति राजनिर्घण्टः ॥ पद्मकाष्ठम् । इति रत्नमाला ॥

श्रीफलः, पुं, (श्रीयुक्तं फलमस्य ।) विल्ववृक्षः । इत्यमरः । राजादनी । इति राजनिर्घण्टः ॥

श्रीफला, स्त्री, (श्रीविशिष्टं फलमस्याः ।) नीली । क्षुद्रकारवेल्ली । इति राजनिर्घण्टः ॥

श्रीफलिका, स्त्री, (श्रीफला + स्वार्थे कन् । टापि अत इत्वम् ।) क्षुद्रकारवेल्ली । महानीलीवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

श्रीफली, स्त्री, (श्रीयुक्तं फलमस्याः । ङीष् ।) आमलकी । नीली । इति मेदिनी ॥

श्रीभद्रा, स्त्री, भद्रमुस्तकः । इति शब्दरत्नावली ॥

श्रीभागवतं, क्ली, (श्रीमत् भागवतमिति मध्यपदलोपिसमासः ।) अष्टादशमहापुराणान्तर्गताष्टादशसहस्रश्लोकयुक्तपुराणविशेषः । (तत्तु मतभेदेन विष्णुभागवतदेवीभागवतभेदात् द्विविधम् ।) यथा,—

"अष्टादशं भागवतं सारमाकृष्य सर्व्वतः ।
कृतवान् भगवान् व्यासः शुकञ्चाध्यापयत् सुतम् ॥
स्कन्धैर्द्वादशभिर्युक्तं ब्रह्मविद्यासमन्वितम् ।
वेदवेदान्तसारं तत् पुराणानाञ्च सत्तम ॥
यत्र संकीर्त्तितः कृष्णो भगवान् वै पदे पदे ।
श्रीभागवतमित्येव ये स्मरन्ति नराः क्वचित् ।
मुच्यन्ते सर्व्वपापेभ्यो यथा नाम्ना गदाभृतः ॥
महीभृतां यथा मेरुर्देवानां केशवो यथा ।
सुरभिः कामधेनूनामप्सरस्सु यथोर्व्वशी ॥
काशीनां पार्व्वतीनाथो राज्ञां दाशरथिर्यथा ।
सप्तीनाञ्चैव गन्धर्व्वी नदीनां जाह्नवी यथा ।
पुराणानां तथा राजन् श्रीभागवतमुत्तमम् ॥

अम्बरीष उवाच ।

पुराणं तं भागवतं पठ मे पुरतो हरेः ।
चरितं दैत्यराजस्य प्रह्लादस्य च भूपते ॥

गौतम उवाच ।

अम्बरीष शुकप्रोक्तं नित्यं भागवतं शृणु ।
पठस्व स्वमुखेनापि यदीच्छसि भवक्षयम् ॥
स्कन्धे स्कन्धेऽश्वमेधस्य फलमाप्नोति मानवः ।
प्रत्यध्यायं राजसूयफलेन परियुज्यते ॥
प्रतिश्लोकं वाजपेयफलं तस्योपजायते ।
पदे पदे महाराज तीर्थस्नानफलं लभेत् ॥
एतद्भागवतं देवि पुराणं मुक्तिसाधकम् ।
तत्रापि दशमस्कन्धः सर्व्वभक्तमनोहरः ।
तत्रापि रासलीलाढ्या पञ्चाध्यायी महाफला ॥

श्रीपार्व्वत्युवाच ।

सर्व्वैव हरिलीलाढ्यं श्रीमद्भागवतं यदि ।
स्कन्धस्य दशमस्यायं महिमा केन हेतुना ॥
रासलीलेति तत्रापि कथ्यते सर्व्वतोऽधिका ।
तत्र मे कारणं श्रोतुमुत्कण्ठा वर्द्धते भृशम् ॥

श्रीसदाशिव उवाच ।

स्वयं भगवतो जन्म तस्य लीला च वर्ण्यते ।
श्रुतीनाञ्च स्तुतिर्यत्र सर्व्ववेदार्थसम्मिता ॥
स्वयं भगवतो लीला सर्व्वशक्तिश्च दर्शिता ।
दशमस्कन्धमाहात्म्यं एतद्वै कारणं मतम् ॥
तत्रापि रासलीलाया यन्माहात्म्यमुदीरितम् ।
तत्रापि कारणं वच्मि शृणु पर्व्वतनन्दिनि ॥
यः स्वयं भगवान् कृष्णः पूर्णैश्वर्य्य इतीर्य्यते ।
स सर्व्वशक्तिसम्पूर्णः सर्व्वलीलाप्रकाशकः ॥
तस्यैव शक्तयो गोप्यः प्रोक्ताः सर्व्वोत्तमा यतः ।
शक्तीनाञ्च शक्तिमती लीला यत्रैकतः स्थिता ।
सा लीला सर्व्वतः श्रेष्ठा कीर्त्तिता परमर्षिभिः ॥"

इति पाद्मे पातालखण्डे ७१ अध्यायः ॥

(तथाच शिवपुराणे ।

"भगवत्याश्च दुर्गायाश्चरितं यत्र विद्यते ।
तत्तु भागवतं प्रोक्तं ननु देवीपुराणकम् ॥"

अस्य विशेषविवृतिस्तु पुराणशब्द-भागवतशब्दयोर्द्रष्टव्यम् ॥)

श्रीभ्राता, पुं, (श्रियः भ्राता समुद्रजातत्वात् ।) अश्वः । इति राजनिर्घण्टः ॥ चन्द्रः । समुद्रोत्पन्नत्वात् ॥

श्रीमतिः, स्त्री, राधा । यथा,—

"श्रीराधा श्रीमतिः श्रेष्ठा श्रेष्ठरूपा श्रुतिप्रिया ॥"

इति नारदपञ्चरात्रे तस्याः सहस्रनामस्तोत्रम् ।

श्रीमती, स्त्री, (श्रीर्विद्यतेऽस्या इति । मतुप् । ङीप् ।) श्रीयुक्ता । योषिन्नाम्नः पूर्व्वं एतच्छब्दो योज्यः । इति शिष्टाचारः ॥

श्रीमस्तकः, पुं, (श्रीयुक्तं मस्तकमस्य ।) रसोनः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ (श्रियो मस्तकः ।) लक्ष्मीशिरश्च ॥

श्रीमान्, [त्] पुं, (श्रीर्विद्यतेऽस्येति । मतुप् ।) तिलकवृक्षः । इत्यमरः ॥ अश्वत्थवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥ विष्णुः । इति शब्दरत्नावली ॥ शिवः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ कुबेरः । इति शब्दमाला ॥

श्रीमान्, [त्] त्रि, (श्री + मतुप् ।) मनोज्ञः । (यथा, माघे । १ । १ ।

"श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगत्
जगन्निवासो वसुदेवसद्मनि ।
वसन् ददर्शावतरन्तमम्बरात्
हिरण्यगर्भाङ्गभुवं मुनिं हरिः ॥")

धनी । इति मेदिनी ॥ तत्पर्य्यायः । लक्ष्मीवान् २ लक्ष्मणः ३ श्रीलः ४ । इत्यमरः ॥ (यथा,—

"श्रीमन्नाथ भवद्यशोविटपिनः खे तारकाः कोरकास्तेषामेकतमः पुरा विकशितो यः पूर्णिमाचन्द्रमाः ।
तेनेदं शरदिन्दुसुन्दरसुधास्यन्देर्जगत् मण्डितं शेषेष्वेषु विकस्वरेषु भविता कीदृक् न जानीमहे ॥"

इति कालिदासः ॥)

श्रीमलापहा, स्त्री, धूम्रपत्रा । इति राजनिर्घण्टः ॥

श्रीमुखः पुं, कालचक्रस्य सप्तमवत्सरः । इति केचित् ॥ पत्रपृष्ठे श्रीशब्दलिखनम् । इति लोकप्रसिद्धिः ॥ शोभायुक्तानने, क्ली ॥

श्रीमूर्त्तिः, स्त्री, (श्रीयुक्ता मूर्त्तिः ।) देवविग्रहः । विष्णुप्रतिमा । यथा । अथ श्रीमूर्त्तयः । एकादशस्कन्धे ।

"शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती ।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा मता ॥
चलाचलेति द्विविधा प्रतिष्ठा जीवमन्दिरम् ।
उद्वासावाहने न स्तः स्थिरायामुद्धवार्च्चने ॥
अस्थिरायां विकल्पः स्यात् स्थण्डिले तु भवेत् द्वयम् ।
स्नपनं त्वविलेप्यायामन्यत्र परिमार्ज्जनम् ॥
शोपाजमन्योहिद्दत्वात् सञ्चीन्मूर्त्तिरपेक्षिता ।
तथापि वैष्णवप्रोक्ते लेख्याः श्रीमूर्त्तयोऽखिलाः ॥"

अथ श्रीमूर्त्तिलक्षणानि । हयशीर्षपञ्चरात्रे । भगवच्छ्रीहयशीर्षब्रह्मसंवादे ।

"आदिमूर्त्तिर्व्वासुदेवः सङ्कर्षणमथासृजत् ।
चतुर्म्मूर्त्तिः परं प्रोक्तं एकैको भिद्यते त्रिधा ॥
केशवादिप्रभेदेन मूर्त्तिर्द्वादशकं स्मृतम् ।
पङ्कजं दक्षिणे दद्यात् पाञ्चजन्यं तथोपरि ॥
वामोपरि गदा यस्य चक्रं चाधोव्यवस्थितम् ।
आदिमूर्त्तेस्तु भेदोऽयं केशवेति प्रकीर्त्त्यते ॥१॥
अधरोत्तरभावेन कृतमेतत्तु यत्र वै ।
नारायणाख्या सा मूर्त्तिः स्थापिता भुक्तिमुक्तिदा ॥ २ ॥
तथाधः पङ्कजं यस्य पाञ्चजन्यं तथोपरि ।
दक्षिणोर्द्ध्वे गदा यस्य चक्रं चाधोव्यवस्थितम् ॥
आदिमूर्त्तेस्तु भेदोऽयं माधवेति प्रकीर्त्त्यते ।३।
दक्षिणाधःस्थितं चक्रं गदा यस्योपरिस्थिता ॥
वामोर्द्ध्वसंस्थितं पद्मं शङ्खं चाधोव्यवस्थितम् ।
सङ्कर्षणस्य भेदोऽयं गोविन्देति प्रकीर्त्त्यते ॥४॥
दक्षिणोपरि पद्मं तु गदा चाधोव्यवस्थिता ।
सङ्कर्षणस्य भेदोऽयं विष्णुरित्यभिशब्द्यते ॥५॥
दक्षिणोपरि शङ्खञ्च चक्रं चाधः प्रदृश्यते ।
वामोपरि तथा पद्मं गदा चाधः प्रदृश्यते ।
मधुसूदननामायं भेदः सङ्कर्षणस्य च ॥६॥
त्रिविक्रममूर्त्तिमाह ।
दक्षिणोर्द्ध्वे गदा यस्य पङ्कजं चाप्यधः स्थितम् ।
वामोर्द्ध्वे संस्थितं चक्रमधः शङ्खं प्रदृश्यते ।
ब्रह्माण्डगं वामपादं दक्षिणं शेषपृष्ठगम् ।७।
श्रीवामनमूर्त्तिमाह ।
बलिवन्धनसंयुक्तं वामनं चाप्यधःस्थितम् ।
वामोर्द्ध्वे कौमोदी यस्य पुण्डरीकमधःस्थितम् ॥

दक्षिणोर्द्ध्वे सहस्रारं पाञ्चजन्यमधःस्थितम् ।
सप्ततालप्रमाणेन वामनं कारयेत् सदा ॥८॥
ऊर्द्ध्वे दक्षिणतश्चक्रमधः पद्मं व्यवस्थितम् ।
वामोर्द्ध्वे कौमोदी यस्य पाञ्चजन्यमधःस्थितम् ॥
पद्मा पद्मकरा वामे पार्श्वे यस्य व्यवस्थिता ।
स्थितो वाप्युपविष्टो वा सानुरागविलासवान् ॥
प्रद्युम्नस्य हि भेदोऽयं श्रीधरेति प्रकीर्त्त्यते ।९।
दक्षिणोर्द्ध्वे महाचक्रं कौमोदी तदधःस्थिता ॥
वामोर्द्ध्वे नलिनं यस्य अधः शङ्खं विराजते ।
हृषीकेशेति विज्ञेयः स्थापितः सर्व्वकामदः ॥१०
दक्षिणोर्द्ध्वे पुण्डरीकं पाञ्चजन्यमधस्तथा ।
वामोर्द्ध्वे संस्थितं चक्रं कौमोदी तदधःस्थिता ॥
पद्मनाभेतिसामूर्त्तिः स्थापिता मोक्षदायिनी ।११
दक्षिणोर्द्ध्वे पाञ्चजन्यमधस्तात्तु कुशेशयम् ॥
सव्योर्द्ध्वे कौमोदी देवी ह्येतिराजमधःस्थितम् ।
अनिरुद्धस्य भेदोऽयं दामोदर इति स्थितः ॥१२
एतेषान्तु स्त्रियौ कार्य्ये पद्मवीणाधरे शुभे ।
इति क्रमेण मार्गादिमासाधिपाः केशवादयो द्वादश ॥ * ॥ अथ सिद्धार्थसंहितायां चतुर्व्विंशतिमूर्त्तयः ।
"वासुदेवो गदाशङ्खचक्रपद्मधरो मतः ।१।
पद्मं शङ्खं तथा चक्रं गदां वहति केशवः ॥२॥
शङ्खं पद्मं गदां चक्रं धत्ते नारायणः सदा ।३।
गदां चक्रं तथा शङ्खं पद्मं वहति माधवः ॥४॥
चक्रं पद्मं तथा शङ्खं गदाञ्च पुरुषोत्तमः ।५।
पद्मं कौमोदकीं शङ्खं चक्रं धत्तेऽप्यधोक्षजः ॥६
सङ्कर्षणो गदाशङ्खपद्मचक्रधरः स्मृतः ।७।
चक्रं गदां पद्मशङ्खौ गोविन्दो धरते भुजे ॥८॥
गदां पद्मं तथा शङ्खं चक्रं विष्णुर्ब्बिभर्त्ति यः ।९
चक्रं शङ्खं तथा पद्मं गदाञ्च मधुसूदनः ॥१०॥
गदां सरोजं चक्रञ्च शङ्खं धत्तेऽच्युतः सदा ।११।
शङ्खं कौमोदकीं चक्रमुपेन्द्रः पद्ममुद्वहेत् ॥१२॥
शङ्खचक्रगदापद्मधरः प्रद्युम्न उच्यते ।१३।
पद्मं कौमोदकीं चक्रं शङ्खं धत्ते त्रिविक्रमः ॥१४
शङ्खं चक्रं गदां पद्मं वामनो वहते सदा ।१५।
पद्मं चक्रं गदां शङ्खं श्रीधरो वहते भुजे ॥१६॥
चक्रं पद्मं गदां शङ्खं नरसिंहो बिभर्त्ति यः ।१७
पद्मं सुदर्शनं शङ्खं गदां धत्ते जनार्द्दनः ॥१८॥
अनिरुद्धश्चक्रगदाशङ्खपद्मलसद्भुजः ।१९।
हृषीकेशो गदां चक्रं पद्मं शङ्खञ्च धारयेत् ॥२०
पद्मनाभो वहेत् शङ्खं पद्मं चक्रं गदां तथा ।२१
पद्मं चक्रं गदां शङ्खं धत्ते दामोदरः सदा ॥२२
शङ्खं चक्रं सरोजञ्च गदां वहति यो हरिः ।२३
शङ्खं कौमोदकीं पद्मं चक्रं कृष्णो बिभर्त्ति यः ॥२४॥
एताश्च मूर्त्तयो ज्ञेया दक्षिणाधःकरक्रमात् ॥"
मत्स्यपुराणे च ।
"एतदुद्देशतः प्रोक्तं प्रतिमालक्षणं तथा ।
विस्तरेण न शक्नोति वृहस्पतिरपि द्विजाः ॥"
इति ।
सेवानिष्ठा हरेः श्रीमद्भागवताः पाञ्चरात्रिकाः ।
शालग्रामादिखिलाङ्गानां श्रीमूर्त्तिं बहु मन्यते ॥
सेवा निजनिजैरेव मन्त्रैः स्वस्वेष्टमूर्त्तयः ।
शालग्रामात्मके रूपे नियमो नैव विद्यते ॥
द्विभुजा जलदश्यामा त्रिभङ्गी मधुराकृतिः ।
सेवा ध्यानानुरूपैव श्रीमूर्त्तिः कृष्णदैवतैः ॥
अन्याश्च विविधाः श्रीमदवतारादिमूर्त्तयः ।
प्रादुर्भावविधानाग्रे लेख्यास्तत्तद्विशेषतः ॥
नित्यकर्म्मप्रसङ्गेऽत्र मूर्त्तिजन्मप्रतिष्ठयोः ।
विधिर्न्न लेखितुं योग्यः स तु लेखिष्यतेऽग्रतः ॥"
इति श्रीहरिभक्तिविलासे १८१ विलासः ॥
श्रीयुक्तः, त्रि, (श्रिया युक्तः ।) लक्ष्मीविशिष्टः । श्रीमान् । जीवत्पुरुषनाम्नः पूर्व्वं देयश्चोऽयम् ॥
श्रीयुतः, त्रि, (श्रिया युतः ।) लक्ष्मीविशिष्टः । श्रीमान् । जीवत्पुरुषनाम्नः पूर्व्वं देयश्चोऽयम् ॥
श्रीरसः, पुं, (श्रियः रसो निर्य्यासः ।) श्रीवेष्टः । इति राजनिर्घण्टः ॥
श्रीरङ्गपत्तनं, क्ली, देशविशेषः । सारंपटन् इति भाषा । इति माद्राजाख्यदेशे प्रसिद्धम् ॥
श्रीरागः, पुं, षड्रागाणां मध्ये तृतीयरागः । इति हलायुधः । अस्य रागिण्यो यथा,—
"गान्धारी देवगान्धारी मालवश्रीश्च सारवी ।
रामकीर्य्यपि रागिण्यः श्रीरागस्य प्रिया इमाः ॥"
इति सङ्गीतदामोदरः ॥
विस्तारस्तु श्रीशब्दे द्रष्टव्यः ॥
श्रीरामः, पुं, (श्रीयुतो रामः ।) रामचन्द्रः । इति शब्दरत्नावली ॥
श्रीरामनवमी, स्त्री, (श्रीरामस्य नवमी तज्जन्मदिनत्वात् ।) चैत्रशुक्लनवमी । सा च श्रीरामस्य जन्मतिथिः । तद्व्रतकथा यथा,—
"पुरैकदा सुखासीनं ब्रह्माणं जगतां पतिम् ।
उवाच वचसाग्र्य सनकः संजितेन्द्रियः ॥
सनक उवाच ।
राज्ञा दशरथेनैव राज्ञा कौशल्ययापि वा ।
कस्मात् कर्म्मवशाल्लब्धः पुत्रोऽसौ जगतीपतिः ।
दूर्व्वादलश्यामरामो विस्तार्य कथयस्व मे ॥
ब्रह्मोवाच ।
साधु पृष्टं त्वया वत्स जगतां हितकारकम् ।
पुरा राजा दशरथः कौशल्या च समाहितौ ॥
जजाप मन्त्रं दुर्गायाः शिवस्य च विशेषतः ।
तयोर्जपेन तुष्टः सन् शिवः प्रत्यक्षतां गतः ॥
दशरथ उवाच ।
अद्य मे सफलं जन्म अद्य मे सफलं तपः ।
अद्य मे सफलं चक्षुर्यत्त्वमवलोकितः ॥
श्रीशिव उवाच ।
किन्ते काम्यं महाराज कथयस्व ददामि तत् ॥
दशरथ उवाच ।
देवदेवाप्यपुत्रोऽहमिति दुःखेन दुःखितः ।
चिरं विचार्य्य मनसा शिवाराधनतत्परः ॥
इति श्रुत्वा महादेवस्तमुवाच दयापरः ।
कुरु राजन् वंशयज्ञं ततस्ते जगतीपतिः ॥
श्रीरामनामा पुत्रोऽसौ कौशल्यायां भविष्यति ।
इत्युक्त्वा तं महादेवस्तयोरन्तर्हितोऽभवत् ॥ * ॥
इति वक्त्रमुखात् श्रुत्वा राजा दशरथः सुखी ।
ततश्चक्रे वंशयज्ञं स देव्या सह तत्परः ॥
ततः काले महाराज्ञी गर्भं धत्ते मनोहरम् ।
चैत्रे मासि सिते पक्षे नवम्यां शोभने दिने ।
अतिपुण्ये सुसंलग्ने जातो रामः स्वयं हरिः ॥
पुनर्व्वसूक्षसंयुक्ता सा तिथिः सर्व्वकामदा ।
श्रीरामनवमी प्रोक्ता कोटिसूर्य्यग्रहाधिका ॥
अस्मिन् दिने महापुण्ये राममुद्दिश्य भक्तितः ।
यत्किञ्चित् क्रियते कर्म्म तदक्षयकरं स्मृतम् ॥
उपोषणं जागरणं पितृनुद्दिश्य तर्पणम् ।
तस्मिन् दिने तु कर्त्तव्यं ब्रह्मप्राप्तिमभीप्सुभिः ॥
तस्मिन् दिने महापुण्ये राममुद्दिश्य भक्तितः ।
जपेदेकान्त आसीनो यावत् स्याद्दशमीदिनम् ।
तेनैव स्यात् पुरश्चर्य्या दशम्यां भोजयेद्द्विजान् ।
भक्ष्यभोज्यैर्बहुविधैर्भक्त्या दद्याच्च दक्षिणाम् ।
कृतकृत्यो भवेत्तेन सद्यो रामः प्रसीदति ॥
यस्तु रामनवम्यान्तु भुङ्क्ते मर्त्त्यो विमूढधीः ।
कुम्भीपाकेषु घोरेषु पच्यते नात्र संशयः ॥
कुर्य्याद्रामनवम्यां य उपोषणमतन्द्रितः ।
न शेते मातृजठरे स्वयं रामो भवेत्तु सः ॥
श्रीरामनवमी नाम पुण्यात् पुण्यतमव्रतम् ।
इति श्रुत्वा सुसंतुष्टः सनकः पुनरब्रवीत् ।
विधिना केन कर्त्तव्यं वद मे कमलोद्भव ॥ * ॥
ब्रह्मोवाच ।
व्रतपूर्व्वदिने स्नात्वा सकृद्भुक्त्वा निरामिषम् ।
स्मृत्वा च योषित्सङ्गमनं शयीत स्वस्थिते कुशे ॥
ब्राह्मे मुहूर्त्ते चोत्थाय कृत्वा प्रातःक्रियां ततः ।
प्रातः स्नात्वा शुचिर्भूत्वा सङ्कल्पं विधिनाचरेत् ॥
प्रतिमायां घटे वापि पटे वा यन्त्रतोऽपि वा ।
शालग्रामशिलायान्तु तुलसीदलकल्पिता ॥
पूजा श्रीरामचन्द्रस्य कोटिकोटिगुणाधिका ।
कौशल्या पूजनीयादौ राजा चैव ततः परम् ॥
षडङ्गं पूजयेत्तत्र लक्ष्मणादीन् विशेषतः ।
पूजयेत् परया भक्त्या परिवारं ततः परम् ॥
ततो ग्रहांश्च दिक्पालांस्तदस्त्राणि च पूजयेत् ।
उच्चस्थे ग्रहपञ्चके सुरगुरौ सेन्दौ नवम्यां तिथौ लग्ने कर्कटके पुनर्व्वसुदिने मेषं गते पूषणि ।
निर्द्दग्धुं निखिलाः पलाशसमिधो मध्यादयोध्यारण्ये-
राविर्भूतमभूदपूर्व्वविभवं यत्किञ्चिदेकं महः ॥
ततो वाद्यादिकं कृत्वा दद्यादर्घ्यं विशेषतः ।
मूलमन्त्रेण दद्याद्वै भक्त्या पुष्पाञ्जलित्रयम् ॥
एवमष्टसु यामेषु श्रद्धया च जपेद्व्रती ।
इतिहासकथां श्रुत्वा गीतनृत्यैर्निशां नयेत् ॥
ततः परदिने प्रातः स्नानं कृत्वा विधानतः ।
रामं दूर्व्वादलश्यामं भक्त्या भक्त्या प्रपूजयेत् ॥
दक्षिणां विधिवद्दत्त्वा ततोऽच्छिद्रावधारयेत् ।
भोजयित्वा ततो विप्रान् स्वयं पारणमाचरेत् ॥
य इदं शृणुयान्नित्यं पुण्याहे च विशेषतः ।
बहुपुत्रो धनाढ्यश्च अन्ते ब्रह्मत्वमाप्नुयात् ॥
संग्रामे वैरिणां हन्ता सर्व्वत्र विजयी भवेत् ।
राजद्वारे महाघोरे संग्रामे शत्रुसङ्कुले ॥

दूर्व्वादलश्यामरामस्तस्य रक्षाकरो भवेत् ॥
भक्त्या यः शृणुयाद्रोगी उल्लाघः स भवेत् सदा।
बन्ध्या पुत्त्रवती सा च पतिचित्तानुवर्त्तिनी।
सपत्नीदर्पदलनी सा भवेन्नात्र संशयः ॥
दरिद्रो लभते वित्तं भीतो भवति निर्भयः।
यज्ञदानतपांस्यस्य तीर्थस्नानादिकाः क्रियाः ॥
*न रामनवमी-नाम-व्रतस्यैककला-समाः।
यस्मै कस्मै न दातव्यं न प्रकाश्यं कदाचन ॥
शिष्याय भक्तियुक्ताय पुत्त्रयेऽपि प्रदापयेत्।
शठाय परतन्त्राय विकल्पनरताय च ॥
प्रमादपि न वक्तव्यं यदीच्छेदात्मनो हितम्।
मयैतत् कथितं वत्स तव स्नेहाद्दुतोत्तमम् ॥
य इदं कुरुते भक्त्या श्रीरामनवमीव्रतम्।
सर्व्वपापप्रमुक्तश्च अन्ते ब्रह्मत्वमाप्नुयात् ॥"
इति श्रीरामभक्तितरङ्गिण्यां ब्रह्मसनकसंवादे श्रीरामनवमीव्रतकथा समाप्ता ॥

श्रीलः, त्रि, (श्रीर्विद्यतेऽस्येति। श्री+सिध्मादित्वात् लच्।) लक्ष्मीवान्। इत्यमरः ॥ शोभायुक्तश्च ॥

श्रीलता, स्त्री, (श्रीविशिष्टा लता।) महाज्योतिष्मती। इति राजनिर्घण्टः ॥

श्रीवत्सः, पुं, (श्रीयुक्तं वत्सं वक्षो यस्य।) विष्णुः। विष्णुचिह्नविशेषः। स तु वक्षस्थशुक्लवर्णदक्षिणावर्त्तलोमावली। (यथा, रघुः।१०।१०।
"प्रभानुलिप्तश्रीवत्सं लक्ष्मीविभ्रमदर्पणम्।
कौस्तुभाख्यमपांसारं बिभ्राणं बृहतोरसा॥")
अर्हतां ध्वजः। इति हेमचन्द्रः ॥ सुरङ्गाभेदः। इति त्रिकाण्डशेषः ॥

श्रीवत्सकी, [न्] पुं, (श्रीवत्सकः श्रीवत्सवत् चिह्नमस्यस्येति। श्रीवत्सक+इनिः।) ह्रदकावर्त्तहयः। इति हेमचन्द्रः ॥

श्रीवत्सभृत्, पुं, (श्रीवत्सं बिभर्त्तीति। भृ+क्विप्।) विष्णुः। इति हेमचन्द्रः ॥

श्रीवत्सलाञ्छनः, पुं, विष्णुः। इत्यमरः।१।१।२२॥
"श्रीवत्सो लाञ्छनं चिह्नं यस्य श्रीवत्सलाञ्छनः। वक्षस्यनन्यमहापुरुषलक्षणं श्वेतरोमावर्त्तविशेषः श्रीवत्स इति सर्व्वस्वे। श्रीवत्सो हृत्सङ्गतमणिविशेषः कौस्तुभवदिति कृष्णदासः।"
इत्यमरटीकायां भरतः ॥

श्रीवत्साङ्कः, पुं, (श्रीवत्सः अङ्कश्चिह्नं यस्य।) विष्णुः। इति हलायुधः ॥ (यथा, बृहत्संहितायाम्। ४३। ३।
"लब्धवराः क्षीरोदं गत्वा ते तुष्टुवुः सुराः सेन्द्राः।
श्रीवत्साङ्कं कौस्तुभमणिकिरणोद्भासितोरस्कम् ॥")

श्रीवराहः, पुं, (श्रिया युक्तो वराहः।) विष्णुः। इति त्रिकाण्डशेषः ॥

श्रीवल्ली, स्त्री, (श्रीयुता वल्ली।) कण्टकवृक्षभेदः। तत्पर्य्यायः। शिववल्ली २ कण्टवल्ली ३ शीवली ४ अम्ला ५ कटुफला ६ दुरारोहा ७। अस्या गुणाः। कटुत्वम्। अम्लत्वम्। वातशोफकफापहत्वञ्च। तत्फलं तैललेपनमत्यन्तं रुचिकृत् परम्। इति राजनिर्घण्टः ॥

श्रीवाटी, स्त्री, नागवल्लीभेदः। इति राजनिर्घण्टः ॥

श्रीवारकः, पुं, (श्रियं वारयति कामयते इति। वृ+णिच्+ण्वुल्।) सितावरशाकः। इति राजनिर्घण्टः ॥

श्रीवासः, पुं, (श्रियं सरलवृक्षं वासयतीति। वस+णिच्+अण्।) सरलवृक्षरसः। टारपिन् इति भाषा। तत्पर्य्यायः। पायसः २ वृकधूपः ३ श्रीवेष्टः ४ सरलद्रवः ५। इत्यमरः ॥ तैलपर्णी ६ श्रीपिष्टः ७। इति जटाधरः ॥ श्रीवेशः ८। इति शब्दरत्नावली ॥ अस्य गुणाः।
"श्रीवासः सरलं पूतिः कुन्दुरुर्ग्रन्थिपर्णकम्।
सिल्हकः परमा मांसी देवदारु सुरा नखम्।
सर्व्वेऽमी परमा लक्ष्मी रक्षोघ्ना ज्वरनाशनाः ॥"
इति राजवल्लभः ॥
अन्यत् श्रीवेष्टशब्दे द्रष्टव्यम् ॥ (श्रियो लक्ष्म्या वासः आश्रयस्थानम्।) पद्मम्। (यथा, राजेन्द्रकर्णपूरे। ४२।
"श्रीवासो यश्शां पदं सुमनसामप्यासदं सम्पदां यत्नागच्छति गोचरं नयनयोः काश्मीरमीनध्वजः ॥")
विष्णुः। इति मेदिनी ॥ शिवः। इति शब्दरत्नावली ॥

श्रीवासाः, [स्] पुं, (श्रियं सरलवृक्षं वासयतीति। वस+णिच्+असुन्।) सरलद्रवः। इत्यमरटीका ॥

श्रीविद्या, स्त्री, (श्रिया विद्या।) महाविद्याविशेषः। सा तु त्रिपुरसुन्दरी। तस्याः षट्त्रिंशद्भेदाः ग्रन्थबाहुल्यभिया न लिखिताः। अथ श्रीविद्या। तत्र मेरुः। ज्ञानार्णवे।
"भृगुसिन्धुः शिवो माया शक्तिः शक्राध्वमादनौ।
अर्द्धचन्द्रश्च बिन्दुश्च नवार्णो मेरुरुच्यते ॥
महात्रिपुरसुन्दर्य्या मन्त्रा मेरुसमुद्भवाः।
सकला भुवनेशानी कामेशी बीजमुद्धृतम्।
अनेन सकला विद्याः कथयामि वरानने ॥
शक्रमस्तूर्य्यवर्णोऽयं कलमध्ये सुलोचने।
वाग्भवं पञ्चवर्णाढ्यं कामराजमथोच्यते ॥
मादनं शिवचन्द्राढ्यं शिवान्तं मीनलोचने।
कामराजमिदं भद्रे षड्वर्णं सर्व्वमोहनम् ॥
शक्तिबीजं वरारोहे चन्द्राद्यं सर्व्वमोहनम्।
एतामुपास्य देवेशि कामः सर्व्वाङ्गसुन्दरः।
कामराजो भवेद्देवि विद्येयं ब्रह्मरूपिणी ॥"
अस्यार्थः। शक्तिरेकारः तूर्य्य ईकारः तेन ककार एकार ईकारलकारमहामाया वाग्भवकूटम्। शिवो हकारः चन्द्रः सकारः तेन हकारसकारलकारमहामाया इति कामराजकूटम्। चन्द्रः सकारः तेन सकारककारलकारमहामाया इति शक्तिकूटम्। तेन त्रिभिः कूटैः कामराजविद्येयम् ॥*॥ अस्याः ध्यानं यथा,—
"बालार्कमण्डलाभासां चतुर्ब्बाहुं त्रिलोचनाम्।
पाशाङ्कुशशरांश्चापं धारयन्तीं शिवां श्रये ॥"
एवं ध्यात्वा मानसपूजादिकं कुर्य्यात्। इति तन्त्रसारः ॥

श्रीवृक्षः, पुं, (श्रीप्रदः श्रीप्रियो वा वृक्षः। शाकपार्थिवादिवत् समासः।) अश्वत्थवृक्षः। इति हेमचन्द्रः ॥ बिल्ववृक्षः। यथा,—
"इषे मास्यसिते पक्षे नवम्यामार्द्रयोगतः।
श्रीवृक्षे बोधयामि त्वां यावत् पूजां करोम्यहम् ॥"
इति तिथ्यादितत्त्वधृतश्रीदुर्गाबोधनमन्त्रः ॥
(विष्णोर्वक्षस्थलस्थशुभावर्त्तविशेषः। यथा, विष्णुपादादिकेशान्तवर्णनस्तोत्रे। २८।
"वक्षः श्रीवृक्ष-कान्तं मधुकरनिकरश्यामलं शार्ङ्गपाणेः
संसाराध्वश्रमार्त्तैरुपवनमिव यत् सेवितं तत् प्रपद्ये ॥"
अश्वस्य हृदावर्त्तः। इति माघटीकायां मल्लिनाथः। ५। ५६ ॥)

श्रीवृक्षकः, पुं, (श्रीवृक्ष एव। स्वार्थे कन्।) अश्वस्य हृदावर्त्तः। इति त्रिकाण्डशेषः ॥ (अस्य प्रमाणं माघे। ५। ५६। इत्यस्य टीकायां द्रष्टव्यम् ॥*॥)

श्रीवेष्टः, पुं, (श्रियः सरलवृक्षस्य वेष्टः निर्य्यासः।) सरलवृक्षस्य निर्यासः। तत्पर्य्यायः।
"श्रीवेष्टो वृक्षधूपश्च चिताग्न्धो रसायकः।
श्रीवासः श्रीरसो वेष्टो लक्ष्मीवेष्टस्तु वेष्टकः ॥
वेष्टसारो रसावेष्टः क्षीरशीर्षः सुधूपकः।
धूपाङ्गस्तिलपर्णश्च सरलाङ्गोऽपि षोड़श ॥"
तद्गुणाः।
"श्रीवेष्टः कटुतिक्तश्च कषायः श्लेष्मपित्तजित्।
योनिदोषरुजाजीर्णव्रणशाध्मानदोषनुत् ॥"
इति राजनिर्घण्टः ॥ * ॥
अपि च।
"श्रीवासः सरलः श्राव: श्रीवेष्टो वृक्षधूपकः।
श्रीवासो मधुरस्तिक्तः स्निग्धोष्णस्तुवरः सरः ॥
पित्तलावातमूर्द्धाक्षिस्वररोगकफापहः।
रक्षोऽश्रीस्वेददौर्गन्ध्ययूकाकण्डूव्रणप्रणुत् ॥"
इति भावप्रकाशः ॥

श्रीशः, पुं, (श्रिया ईशः।) विष्णुः। (यथा, मुग्धबोधे।
"श्रीशोऽधिशेतेऽहिमधिष्ठितोऽब्धिमध्यास्य घोषं मथुरामनूष्य।
यो द्वारकामध्युषितो विकुण्ठमुपावसच्चावसतात् स कृष्णः ॥")
श्रीरामः। इति शब्दरत्नावली ॥

श्रीसंज्ञं, क्ली, (श्रियः संज्ञा संज्ञा यस्य।) लवङ्गम्। इत्यमरः ॥

श्रीसहोदरः, पुं, (श्रियाः सहोदरः समुद्रजातत्वात्।) चन्द्रः। इति केचित् ॥

श्रीहस्तिनी, स्त्री, (श्रीयुक्ता हस्तिनीव।) वृक्षविशेषः। हातिशुँड़ा इति भाषा।

भूरुण्डी २। इत्यमरः॥ नागदन्ती ३। इति जटाधरः॥

श्रु, गतौ। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-पर०-सक०-अनिट्।) श्रवति। रेफरहितोऽप्ययमिति केचित्। शवति। इति दुर्गादासः॥

श्रु, न गतौ। श्रुतौ। इति कविकल्पद्रुमः॥ (स्वा०-पर०-सक०-अनिट्।) न, शृणोति। रथांसीति पुरापि संशृणुमहे। इति मुरारौ थलोपाभावादात्मनेपदम्। संशृणुष्व मयाख्यातम्। इति गणकृतानित्यत्वात्। आख्यातशब्दस्य क्रियाविशेषणतयाकर्म्मकत्वे समो गम्यृच्छीत्यादिना न वा। इति दुर्गादासः॥

श्रुवारः, पुं, विकङ्कतवृक्षः। इति रत्नमाला॥

श्रुस्निका, स्त्री, सर्ज्जिकाक्षारः। इति रत्नमाला॥

श्रुतं, क्ली, (श्रूयते स्म यदिति। श्रु + क्तः।) शास्त्रम्। इत्यमरः॥ (यथा, रघुः। ३। २१।
"श्रुतस्य यायादयमन्तमर्भक-
स्तथा परेषां युधि चेति पार्थिवः।
अवेक्ष्य धातोर्गमनार्थमर्थवित्
चकार नाम्ना रघुमात्मसम्भवम्॥")
श्रवणगोचरः। इति शब्दरत्नावली॥ (यथा, माण्डूक्योपनिषदि। ३। २। ३।
"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुधा श्रुतेन॥"
पुं, कालिन्दीगर्भजातः कृष्णस्य पुत्त्रविशेषः। यथा, भागवते। १०। ६१। १४।
"श्रुतः कविर्वृषो वीरः सुबाहुर्भद्र एकलः।
शान्तिर्दर्शः पूर्णमासः कालिन्द्याः सोमकोऽवरः॥")

श्रुतः, त्रि, (श्रु + क्तः।) अवधृतः। इत्यमरः॥ आकर्णितः। इति मेदिनी॥ (यथा, रघुः। १। ७८।
"स शापो न त्वया राजन् न च सारथिना श्रुतः॥")

श्रुतकीर्त्तिः, स्त्री, (श्रुता कीर्त्तिर्यस्याः।) जनकभ्रातृकुशध्वजराजकन्या। सा शत्रुघ्नपत्नी। यथा,
"शत्रुघ्नस्यापि धर्म्मात्मा अब्रवीन्मिथिलेश्वरः।
श्रुतकीर्त्तेर्महाबाहो पाणिं गृह्णीष्व पाणिना॥"
इति वाल्मीकीये रामायणे बालकाण्डे ७३ सर्गः॥
अपि च।
"एवं भवतु भद्रं ते कुशध्वजसुते इमे।
पत्न्यौ भजेतां सहितौ शत्रुघ्नभरतावुभौ॥"
इति तत्रैव ७२ सर्गः॥
देवर्षौ, पुं। (द्रौपदीगर्भजाते अर्ज्जुनस्य पुत्त्रे च पुं। यथा, महाभारते। १। ६३। १२०।
"अर्ज्जुनात् श्रुतकीर्त्तिश्च शतानीकश्च नाकुलिः॥")
कीर्त्तियुक्ते, त्रि। इति केचित्॥

श्रुतदेवी, स्त्री, (श्रुतस्य शास्त्रस्य देवी।) सरस्वती। इति हेमचन्द्रः॥

श्रुतबोधः, पुं, (श्रुतस्य बोधो यस्मात्। श्रुतमात्रं बोधयतीति वा। बुध + णिच् + अच्।) कालिदासकृतच्छन्दोग्रन्थविशेषः। यथा,—
"छन्दसां लक्षणं येन श्रुतमात्रेण बुध्यते।
तदहं कथयिष्यामि श्रुतबोधमविस्तरम्॥"
इति तद्ग्रन्थस्याद्यश्लोकः॥

श्रुतर्षिः, पुं, (श्रुतप्रधान ऋषिः।) ऋषिविशेषः। स तु सुश्रुतादिः। इति त्रिकाण्डशेषः। यथा,—
"संहिता ऋग्यजुःसाम्नां संहितास्तैः श्रुतर्षिभिः।
सामान्याद्वै श्रुताश्चैव दृश्यन्ते द्वापरे त्विह॥"
इति मात्स्ये १२० अध्यायः॥

श्रुतश्रवोऽनुजः, पुं, (श्रुतश्रवसोऽनुजः।) शनैश्चरग्रहः। इति हारावली॥

श्रुतश्रेणी, स्त्री, द्रवन्ती। इति भावप्रकाशः॥

श्रुतादानं, क्ली, (श्रुतस्यादानम्।) ब्रह्मवादः। इति हारावली॥

श्रुताध्ययनसम्पन्नः, त्रि, (श्रुतस्य शास्त्रस्य अध्ययने सम्पन्नः युक्तः।) धर्म्मशास्त्रज्ञः। यथा, याज्ञवल्क्यः।
"श्रुताध्ययनसम्पन्नाः कुलीनाः सत्यवादिनः।
राज्ञा सभासदः कार्य्याः शत्रौ मित्रे च ये समाः॥"
इति व्यवहारतत्त्वम्॥

श्रुतान्वितः, त्रि, (श्रुतेन शास्त्रेण अन्वितः।) शास्त्रज्ञः। यथा,—
"अभून्नृपो विबुधसखः परन्तपः
श्रुतान्वितो दशरथ इत्युदाहृतः।
गुणैर्वरं भुवनहितच्छलेन यं
सनातनः पितरमुपागमत् स्वयम्॥"
इति भट्टिः। १। १॥

श्रुतार्थः, पुं, (श्रुतोऽर्थः।) शब्दबोधविषयीभूतार्थः। श्रवणमात्रबोध्योऽर्थः। यथा,—
"श्रुतार्थस्य परित्यागादश्रुतार्थस्य कल्पनात्।
प्राप्तस्य बाधादित्येवं परिसंख्या त्रिदोषिका॥"
इति प्रायश्चित्ततत्त्वम्॥
(त्रि, श्रुतोऽर्थो येन सः। यथा, हरिवंशे। ११५। २७।
"श्रुतार्थो देव गुह्यस्य भवान् यत्र वयं स्थिताः॥")

श्रुतायुः, पुं, सूर्य्यवंशीयराजविशेषः। स तु कुशस्य चतुर्द्दशपुरुषः। यथा,—
"नाभागस्याम्बरीषोऽभूत् सिन्धुद्वीपस्ततोऽभवत्।
ततः श्रुतायुः पुत्त्रोऽभूत् ऋतुपर्णस्ततोऽभवत्॥"
इति मात्स्ये १२ अध्यायः॥

श्रुतिः, स्त्री, (श्रूयतेऽनयेति। श्रु + "श्रुयजिस्तुभ्यः करणे।" ३। ३। ९४। इत्यस्य वार्त्तिकोक्त्या करणे क्तिन्।) वेदः। (यथा, मनुः। २। १०।
"श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्म्मशास्त्रन्तु वै स्मृतिः॥")
कर्णः। इत्यमरः॥ (यथा, भागवते। ६। ४। १८।
"करौ हरेर्मन्दिरमार्ज्जनादिषु
श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये॥")
गर्भस्थस्य पञ्चमासैः श्रुतिर्भवति। इति सुखबोधः॥ श्रुतीन्द्रियग्राह्यः शब्दः शब्दत्वादिः। यथा,—
"घ्राणस्य गोचरो गन्धो गन्धत्वादिरपि स्मृतः।
तथा रसो रसज्ञायास्तथा शब्दोऽपि च श्रुतेः॥"
इति भाषापरिच्छेदः॥
कर्णस्य शुभाशुभलक्षणमाह।
"रक्ताल्पतनुशश्वत्कर्णाः स्युः पापकृत्यदाः।
निर्म्मांसैश्चिपिटैर्भोगाः कृपणा ह्रस्वकर्णकाः॥
शङ्कुकर्णाश्च राजानो रोमकर्णाः शतायुषः।
दृढकर्णाश्च राजानो धनिनः परिकीर्त्तिताः॥"
इति गारुडे ६६ अध्यायः॥
(श्रु + भावे क्तिन्।) श्रोत्रकर्म्म। (यथा, भागवते। ६। ५। १६।
"यन्नामश्रुतिमात्रेण पुमान् भवति निर्म्मलः।
तस्य तीर्थपदः किं वा दासानामवशिष्यते॥")
वार्त्ता। इति मेदिनी॥ (यथा, रघुः। १। २७।
"आदृता यत्नपरकेभ्यः श्रुतौ तस्करता स्थिता॥")
श्रवणानक्षत्रम्। इति शब्दरत्नावली॥ षड्जाद्यारम्भिका। इति हेमचन्द्रः॥ शोरत् इति भाषा। (यथा, शिशुपालवधे। १। १०।
"रणद्भिराघट्टनया नभस्वतः
पृथग्विभिन्नश्रुतिमण्डलैः स्वरैः॥")
सा च द्वाविंशतिप्रकारा यथा,—
"नान्दी चालनिका रसा च सुमुखी चित्रा विचित्रा घना
मातङ्गी सरसामृता मधुकरी मैत्री शिवा माधवी।
बाला शार्ङ्गरवी कला कलरवा माला विशाला जया
मात्रेति श्रुतयः पुराणकविभिर्द्वाविंशतिः कीर्त्तिताः॥
नान्दी-विशाला-सुमुखी-विचित्रासम्भवः सदा।
षड्जो मतो मुनीन्द्रेण भरतेन शिवेन च॥
चित्रा घना चालनिका निवेशात्
संजायतेऽसौ ऋषभस्तथैव।
स्वरोऽपि माला सरसानिवेशात्
गान्धारनामा प्रथितः पृथिव्याम्॥
मातङ्गी माधवी मैत्री शिवाजातस्तु मध्यमः।
कला कलरवा बाला शार्ङ्गर्य्यास्तु पञ्चमः॥
जायामृतारसानान्तु संयोगाद्धैवतस्वरः।
मात्रा मधुकरी योगात् निषादः संप्रजायते॥
श्रुतिस्थाने स्वरान् वक्तुं नालं ब्रह्मापि तत्त्वतः।
जले च सुतरां मार्गो मीनानां नोपलक्ष्यते॥
गगने पक्षिणां यद्वत् तद्वत् स्वरगता श्रुतिः।
श्रुतिर्नादवशा प्रोक्ता तथाद्या च कला मता॥
यथा तैलगतं सर्पिर्यथा काष्ठगतोऽनलः।
ज्ञायतेऽनोपदेशेन यथा स्वरगता श्रुतिः॥
वीणादेस्तु श्रुतिज्ञानं स्वरज्ञानन्तु वंशजम्।
अश्विनौ वसवो रुद्राः सहैवाङ्गेन शुश्रुवुः॥
प्रशशंसुर्हरेर्नादमतो द्वाविंशतिः श्रुतिः॥"
इति सङ्गीतदामोदरः॥

अन्यच्च ।

"तीव्राकुमुद्वतीमन्दाछन्दोवत्यस्तु षड्जगाः ।
दयावती रञ्जनी च रतिका ऋषभे स्थिताः ॥
रौद्री क्रोधा च गान्धारे वज्रिकाथ प्रसा-
रिणी ।
प्रीतिश्च मार्ज्जनीत्येताः श्रुतयो मध्यमाश्रिताः ॥
क्षिती रक्ता च सन्दीपन्यालापिन्यपि पञ्चमे ।
मदन्ती रोहिणी रम्येत्येला धैवतसंश्रयाः ।
उग्रा च क्षोभिणीति द्वे निषादे वसतः श्रुती ॥"

इति सङ्गीतरत्नाकरः ॥

श्रुतिकटः, पुं, (श्रुतिं कटतीति । कट् + अच् ।) प्रायश्चित्तः । अहिः । पापशोधनम् । इति मेदिनी ॥

श्रुतिकटुः, पुं, (श्रुतौ कटुः ।) कठोरशब्दः । अलङ्कारस्य दोषविशेषः । यथा,—
"श्रुतिकटुच्युतसंस्कृतिरश्लीलमनुचिता कवि-
जुष्टविसन्धिकाः ।" उदाहरणम् ।
"वाचा मधुरया तन्वि स्मितापाङ्गतरङ्गया ।
मनाग्वदनसन्तोष्य कार्तार्थ्यं कुरु मादृशाम् ॥"

इति काव्यचन्द्रिका ॥

श्रुतिकथितः, त्रि, (श्रुतौ कथितः ।) श्रुत्युक्तः । वेदोक्तः । इति लोकप्रसिद्धिः ॥

श्रुतिजीविका, स्त्री, (श्रुतिरेव जीविका यस्याः ।) धर्म्मशास्त्रम् । यथा,—
"स्मृतिर्धर्म्मसंहिता च संहिता श्रुतिजीविका ।"

इति शब्दरत्नावली ॥

वेदजीवनोपायश्च ॥

श्रुतितत्परः, त्रि, (श्रुतौ तत्परः ।) सकर्णः । इति जटाधरः ॥ वेदाभ्यासरतश्च ॥

श्रुतिधरः, त्रि, (श्रुत्या श्रवणमात्रेण धरतीति । धृ + अच् ।) श्रुतिमात्रधारकः । श्रवणमात्रेणाभ्यासकर्त्ता । (यथा, गीतगोविन्दे । १ । ४ ।
"शब्दौ कोऽपि न विश्रुतः श्रुतिधरो धोयी कविः
क्ष्मापतिः ॥")

तदौषधं यथा,—

हरिरुवाच ।
"हस्तिकर्णस्य वै मूलं गृहीत्वा चूर्णयेद्धर ।
सर्व्वरोगविनिर्मुक्तं चूर्णं पलशतं शिव ॥
सक्षीरं भक्षितं कुर्य्यात् सप्ताहेन वृषध्वज ।
नरं श्रुतिधरं शूरं मृगेन्द्रगतिविक्रमम् ॥
पद्मगौरप्रतीकाशं युक्तं दशशतायुषा ।
षोड़शाब्दाकृतिं विप्र सततं दुग्धभोजितम् ॥
मधुसर्पिःसमायुक्तं जग्धमायुष्करं भवेत् ।
तज्जग्धं मधुना सार्द्धं दशवर्षसहस्रिणम् ।
कुर्य्यान्नरं श्रुतिधरं प्रमदाजनवल्लभम् ॥"

इति गारुड़े १९१ अध्यायः ॥

श्रुतिवर्ज्जितः, त्रि, (श्रुत्या वर्जितः ।) वधिरः । इति जटाधरः ॥ वेदरहितश्च ॥

श्रुतिवेधः, पुं, (श्रुतेः कर्णस्य वेधो यत्र ।) कर्णवेधः । तस्य विहितकालो यथा दीपिकायाम् ।
"नो जन्मेन्दुभमासदुर्य्यरविजक्ष्माजाहसुप्ताच्युते
शस्तेऽर्के लवयुग्मविष्णुदुभे स्वात्युत्तरादित्यभे ।
सौम्येज्यायत्रिकोणकण्टकगतैः पापैस्त्रिलाभा-
रिगै-
रीजोऽब्दे श्रुतिवेध इष्यतिभे लग्ने तु काले
शुभे ॥"

इति ज्योतिस्तत्त्वम् ॥

अन्यच्च । तत्र तिथयः रिक्ताभिन्नाः प्रशस्ताः । वाराः वृहस्पतिबुधशुक्राणां प्रशस्ताः । नक्षत्राणि अश्विनी रेवती हस्ता चित्रा पुनर्व्वसुधनिष्ठा मृगशिरः पुष्यः श्रवणानुराधा उत्तरफल्गुनी उत्तराषाढ़ा उत्तरभाद्रपत्स्वाती । लग्नानि वृषतुलाधनुर्मीनसंज्ञकानि । अयुग्मवर्षे । जन्ममासचैत्रपौषाग्रहायणभिन्नमासाः प्रशस्ताः । शुक्लपक्षे चन्द्रताराविशुद्धौ हरिशयनभिन्नकाले कालशुद्धौ श्रुतिवेधः कार्य्यः । इति ज्योतिषम् ॥

श्रुतिस्फोटा, स्त्री, (श्रुतिं स्फोटयतीति । स्फुट् + अच् । टाप् ।) कर्णस्फोटा लता । इति राजनिर्घण्टः ॥

श्रुवः, पुं, (श्रु + कः ।) यागः । इति जटाधरः ॥ स्रुवे, स्त्री । इति केचित् ॥

श्रुवा, स्त्री, मूर्व्वा । इति राजनिर्घण्टः ॥

श्रुवावृक्षः, पुं, विकङ्कतवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

श्रेढ़ी, स्त्री, अङ्कविशेषः । भिन्नं भिन्नं यत्किञ्चिद्द्रव्यादिकमेकीक्रियते तद्गणनायाः श्रेढ्या मिश्रप्रायत्वात्तद्गणनानन्तरमारब्धः श्रेढ़ीव्यवहारः । इति मुनीश्वरगणककृतलीलावतीटीका ॥ अस्याद्यसूत्रं यथा । अथ श्रेढ़ीव्यवहारे करणसूत्रम् ।

"सैकपदघ्नपदार्द्धमथैका-
द्यङ्कयुतिः किल संकलिताख्या ।
सा द्वियुतेन पदेन विनिघ्नी
स्यात् त्रिहृता किल संकलितैक्यम् ॥"

उदाहरणम् ।
"एकादीनां नवान्तानां पृथक् संकलितानि मे ।
तेषां संकलितैक्यञ्च प्रचक्ष्व गणक द्रुतम् ॥"
न्यासः । १ । २ । ३ । ४ । ५ । ६ । ७ । ८ । ९ । लब्धानि तेषां संकलितानि । १ । ३ । ६ । १० । १५ । २१ । २८ । ३६ । ४५ । अथ तेषां संकलितैक्यानि । १ । ४ । १० । २० । ३५ । ५६ । ८४ । १२० । १६५ ॥ तस्य शेषसूत्रं यथा । करणसूत्रं सार्द्धमार्य्या ।
"पादाक्षरमिते गच्छे गुणवर्गफलञ्चये द्विगुणे ।
समवृत्तानां संख्या तद्वर्गो वर्गवर्गश्च । स्वस्वपदोनौ स्यातां अर्द्धसमानाञ्च विषमाणाम् ॥"
उदाहरणम् ।
"समानामर्द्धतुल्यानां विषमाणां पृथक् पृथक् ।
वृत्तानां वद मे संख्यामनुष्टुप्छन्दसां द्रुतम् ॥"
न्यासः उत्तरो द्विःगुणः गच्छः ८ लब्धा समवृत्तानां संख्या २५६ । तथार्द्धसमानाञ्च ६५२८० विषमाणाञ्च ४२९४९०१७६० । इति लीलावती ॥

श्रेणिः, पुं, स्त्री, (श्रयति श्रीयते वा । श्रि + "वह्निश्रिश्रुयुद्रुति ।" उणा० ४ । ५१ । इति णिः ।) निश्छिद्रपंक्तिः । तत्पर्य्यायः । पंक्तिः २ श्रेणी ३ विश्रोली ४ वीथी ५ आलिः ६ पालिः ७ आवलिः ८ आली ९ पाली १० आवली ११ वीथिः १२ वीथिका १३ राजी १४ राजिः १५ रेखा १६ लेखा १७ । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, कुमारे । ५ । ९ ।

"न षट्पदश्रेणिभिरेव पङ्कजं
सशैवलासङ्गमपि प्रकाशते ॥")

समानशिल्पिसंहतिः । इति मेदिनी ॥ कोम्पानि इति इङ्गरेजीयभाषा ॥ सेकपात्रम् । इति विश्वः ॥

श्रेणिकः, पुं, मगधदेशीयराजविशेषः । इति हेमचन्द्रः ॥

श्रेणी, स्त्री, (श्रेणि + कृदिकारादिति ङीष् ।) श्रेणिः । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, रघुः । १ । ४१ ।
"श्रेणीबन्धात् वितन्वद्भिरस्तम्भां तोरणस्रजम् ।
सारसैः कलनिर्ह्रादैः क्वचिदुन्नमिताननौ ॥")

श्रेयः, [स्] क्ली, (इदमनयोरतिशयेन प्रशस्यम् । प्रशस्य + ईयसुन् । "प्रशस्यस्य श्रः ।" ५ । ३ । ६० । इति श्रः ।) धर्म्मम् । मुक्तिः । इत्यमरः ॥ (चतुर्व्वर्ग एव श्रेयः । यथा, मनुः । २।२२४ ।
"धर्म्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म्म एव च ।
अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः ॥"
"धर्म्मार्थकामात्मकः परस्पराविरुद्धस्त्रिवर्ग एव पुरुषार्थतया श्रेय इति विनिश्चयः । एवञ्च बुभुक्षून् प्रत्युपदेशो न मुमुक्षून् । मुमुक्षूणान्तु मोक्ष एव श्रेयः इति षष्ठे वक्ष्यते ।" इति तट्टीकायां कुल्लूकः ॥) शुभम् । इति मेदिनी ॥ (यथा, रघुः । १ । ७९ ।
"प्रतिवध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः ॥")

श्रेयसी, स्त्री, (इयमनयोरतिशयेन प्रशस्या । प्रशस्य + इयसुन् । प्रशस्यस्य श्रः । उगित्वात् ङीप् ।) हरीतकी । पाठा । करिपिप्पली । इत्यमरः ॥ रास्ना । इति विश्वः ॥ शुभयुक्ता च ॥

श्रेयांशः, पुं, वृत्तार्हद्विशेषः । इति हेमचन्द्रः ॥

श्रेयान्, [स्] त्रि, (अयमनयोरतिशयेन प्रपशः । प्रशस्य + इयसुन् । "प्रशस्यस्य श्रः ।" ५।३।६० । इति श्रः ।) श्रेष्ठः । इत्यमरः ॥ (यथा, मनुः । १० । ११२ ।
"प्रतिग्रहाच्छिलः श्रेयांस्ततोऽप्युञ्छः प्रशस्यते ॥")
शुभयुक्तश्च ॥

श्रेष्ठं, क्ली, (अयमेषामतिशयेन प्रशस्यः । प्रशस्य + इष्ठन् । "प्रशस्यस्य श्रः ।" ५।३।६० । इति श्रः ।) गोदुग्धम् । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

श्रेष्ठः, पुं, (प्रशस्य + इष्ठन् ।) कुवेरः । नृपः । द्विजः । इति शब्दरत्नावली ॥ विष्णुः । इति तस्य सहस्रनामस्तोत्रम् ॥ (महादेवः । यथा, महाभारते तस्य सहस्रनामस्तोत्रे ।१३।१७।४० ।
"विश्वरूपः स्वयं श्रेष्ठो बलवीरो बलो गणः ॥")

श्रेष्ठः, त्रि, (प्रशस्य + इष्ठन् ।) प्रशस्तः । वरः । (यथा, रामायणे । २ । १ । २० ।

"इक्ष्वाकौ च पितुः श्रेष्ठो बभूव भरताग्रजः ॥")
तत्पर्य्यायः । श्रेयान् २ पुष्कलः ३ सत्तमः ४ अतिशोभनः ५ । इत्यमरः ॥ मुख्यः ६ वरेण्यः ७ प्रमुखः ८ अग्र्यः ९ अग्रहरः १० उत्तमः ११ प्रग्रहः १२ अनुत्तमः १३ अग्रीयः १४ प्रवेकः १५ अग्रः १६ अग्रियः १७ । इति शब्दरत्नावली ॥ अनवरः १८ अग्रिमः १९ प्राग्रः २ प्राग्रहरः २१ प्रवर्हः २२ । इति जटाधरः ॥ वृद्धः । ज्येष्ठः । इति शब्दरत्नावली ॥

श्रेष्ठकाष्ठः, पुं, (श्रेष्ठं काष्ठमस्य ।) शाकवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

श्रेष्ठा, स्त्री, (इयमासामतिशयेन प्रशस्या । इष्ठन् । टाप् ।) स्थलपद्मिनी । इति राजनिर्घण्टः ॥ मेदा । इति केचित् ॥ उत्तमा नारी च ॥

श्रेष्ठाम्लं, क्ली, (श्रेष्ठं अम्लम् ।) वृक्षाम्लम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

श्रेष्ठाश्रमः, पुं, (श्रेष्ठ आश्रमः ।) गृहस्थाश्रमः । आश्रमत्रयाणां पालकत्वात् ॥

श्रेष्ठी, [न्] पुं, (श्रेष्ठं धनादिकमस्यास्तीति । इनिः ।) कुलोत्तमशिल्पी । यथा,—
"कुलिकस्तु कुली श्रेष्ठी कुलश्रेष्ठिनि शिल्पिनाम् ॥"
इति जटाधरः ॥
(यथा, बृहत्संहितायाम् । २९ । १० ।
"श्रेष्ठी सुवर्णपुष्पैः पद्मैर्विप्राः पुरोहिताः कुमुदैः ॥")

श्रै, स्वेदे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-अक०-अनिट् ।) श्रायति रौद्रात् लोकः । इति दुर्गादासः ॥

श्रै, म पचने । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-अनिट् ।) म, श्रपयति । इति दुर्गादासः ॥

श्रोण, ऋ संघाते । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट् ।) ऋ, अशुश्रोणत् । संघातो राशीकरणम् । इति दुर्गादासः ॥

श्रोणः, पुं, (श्रोणतीति । श्रोण संघाते + अच् । यद्वा, शृणोतीति । श्रु श्रवणे बाहुलकात् नः । इत्युणादिटीकायां उज्ज्वलदत्तः । ३ । ६ ।) पङ्गुः । इत्यमरः ॥

श्रोणा, स्त्री, (श्रोण संघाते + अच् ।) श्रवणानक्षत्रम् । (यथा, भागवते । ८ । १८ । ५ ।
"श्रोणायां श्रवणद्वादश्यां मुहूर्त्तेऽभिजिति प्रभुः ।
सर्व्वे नक्षत्रताराद्याश्चक्रुस्तज्जन्मदक्षिणम् ॥")
काञ्जिकम् । पक्वे, त्रि । इति केचित् ॥

श्रोणिः, स्त्री, (श्रोण संघाते + इन् । यद्वा, श्रु श्रवणे + "वहिश्रिश्रुयुद्रु" इति ।" उणा० ४ । ५१ । इति निः ।) कटिः । इत्यमरः ॥ (यथा, बृहत्संहितायाम् । ५६ । ७ ।
"फुल्लतीरद्रुमोत्तंसाः सङ्गमश्रोणिमण्डलाः ।
पुलिनाभ्युन्नतोरस्या हंसहासाश्च निम्नगाः ॥")
सा तु गर्भस्थस्य मासद्वयेन भवति । इति सुखबोधः ॥ पन्थाः । इति शब्दरत्नावली ॥

श्रोणिफलं, क्ली, (श्रोणिः फलं फलकमिव ।) कटिः । इति राजनिर्घण्टः ॥

श्रोणिफलकं, क्ली, (श्रोणिफल + स्वार्थे कन् ।) कटिपार्श्वः । तत्पर्य्यायः । कटः २ । इत्यमरः ॥ फलकं चर्म्म तदाकारत्वात् श्रोणिः फलकमिव श्रोणिफलकम् । कच्यते आश्रियते कटः कटे वर्षावरणयोः अल् । कटिः । इति केचित् । इति भरतः ।

श्रोणिबिम्बं, क्ली, कटिसूत्रम् । इति धनञ्जयः ॥

श्रोणिसूत्रं, क्ली, (श्रोणिस्थितं सूत्रम् ।) खड्गबन्धनसूत्रम् । परतला इति हिन्दीभाषा ॥ कटिबन्धनसूत्रम् । इति केचित् ॥ घुनशी इति भाषा ॥

श्रोणी, स्त्री, (श्रोणि + वा ङीष् ।) कटिः । पन्थाः । इति भरतद्विरूपकोषः ॥

श्रोतः, [स्] क्ली, (श्रु + असुन् । तुट् च ।) कर्णः । नदीवेगः । इति जटाधरः ॥ इन्द्रियम् । यथा,
"हृषीकमक्षं करणं श्रोतः खं विषयीन्द्रियम् ॥"
इति हेमचन्द्रः ॥

श्रोतव्यं, त्रि, (श्रु + तव्य ।) श्रवणीयम् । यथा,—
"अध्येतव्यं न चान्येन ब्राह्मणं क्षत्रियं विना ।
श्रोतव्यमिह शूद्रेण नाध्येतव्यं कदाचन ॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥

श्रोता, [ऋ] त्रि, (शृणोतीति । श्रु + तृच् ।) श्रवणकर्त्ता । यथा,—
"अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥"
इति हितोपदेशः ॥
पुराणश्रोतृत्वे प्रमाणमाह ।
"पठेदर्थं बुध्यमानः श्रावयेद्वै नरोत्तमे ।
श्रोता तु प्राङ्मुखो भूत्वा शृणुयात् भक्तितत्परः ॥"
इति पाद्मे पातालखण्डे ७१ अध्यायः ॥

श्रोत्रं, क्ली, (श्रूयतेऽनेनेति । श्रु + "हुयामाश्रुभसिभ्यस्त्रन् ।" उणा० ४ । १६७ । इति त्रन् ।) कर्णम् । इत्यमरः ॥ (यथा, रघुः । ७ । १६ ।
"इत्युद्गताः पौरवधूमुखेभ्यः
शृण्वन् कथाः श्रोत्रसुखाः कुमारः ॥")
श्रोत्रियता । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

श्रोत्रियः, पुं, (छन्दोऽधीते इति । छन्दस् + "श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते ।" ५ । २ । ८४ । इति घन्प्रत्ययेन साधुः ।) वेदाध्येतृब्राह्मणः । तत्पर्य्यायः । छान्दसः २ । इत्यमरः ॥ श्रूयते धर्म्माधर्म्मावनेन इति श्रोत्रो वेदः त्रासुसिति त्रः श्रोत्रं वेत्ति अधीते वा श्रोत्रियः टघे कादिति इयः । छन्दोऽधीते इत्यर्थे इये छन्दःशब्दस्य श्रोत्रादेशः । इति परे । छन्दो वेत्ति अधीते वा छान्दसः । इति पूर्व्वेण णः । इति भरतः ॥*॥ तस्य लक्षणं यथा,—
"जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते ।
विद्याभ्यासी भवेद्विप्रः श्रोत्रियस्त्रिभिरेव हि ॥"
इति पाद्मे उत्तरखण्डे ११६ अध्यायः ॥
मानवे मार्कण्डेयपुराणे चाप्येवम् ॥*॥ अपि च ।
"एकां शाखां सकल्पां वा षड्भिरङ्गैरधीत्य च ।
षट्कर्म्मनिरतो विप्रः श्रोत्रियो नाम धर्म्मवित् ॥"
इति दानकमलाकरः ॥

श्रोत्रियता, स्त्री, (श्रोत्रियस्य भावः । श्रोत्रिय + तल् ।) श्रोत्रियधर्म्मः । तत्पर्य्यायः । श्रोत्रम् २ । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

श्रौतं, क्ली, (श्रुतौ भवम् । श्रुति + अण् ।) गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्नयः । यथा,—
"त्रयो ये गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्नयः ।
इदमग्नित्रिकं श्रौतं त्रेताग्निहोत्रमित्यपि ॥"
इति जटाधरः ।

श्रौतः, त्रि, (श्रुतौ भवः । श्रुति + अण् ।) श्रुतिविहितधर्म्मादिः । यथा,—
"धर्म्मज्ञैर्विहितो धर्म्मः श्रौतः स्मार्त्तो द्विधा द्विजैः ।
दानाग्निहोत्रसम्बन्धमिज्या श्रौतस्य लक्षणम् ।
स्मार्त्तो वर्णाश्रमाचारो यमैश्च नियमैर्युतः ।
पूर्व्वेभ्यो वेदयित्वेह श्रौतं सप्तर्षयोऽब्रुवन् ॥
ऋचो यजूंषि सामानि ब्रह्मणोऽङ्गानि सा श्रुतिः ।
मन्वन्तरस्यातीतस्य स्मृत्वा तन्मनुरब्रवीत् ॥
ततः स्मार्त्तः स्मृतो धर्म्मो वर्णाश्रमविभागशः ।
एवं वै द्विविधो धर्म्मः शिष्टाचारः स उच्यते ॥
इज्यावेदात्मकः श्रौतः स्मार्त्तो वर्णाश्रमात्मकः ॥"
इति मात्स्ये १२० अध्यायः ॥
अपि च । अधिकरणमालात्मकमाधवाचार्य्यधृतपराशरभाष्ये शातातपः ।
"श्रौतं कर्म्म स्वयं कुर्य्यादन्योऽपि स्मार्त्तमाचरेत् ।
अशक्तौ श्रौतमप्यन्यः कुर्य्यादाचारमन्ततः ॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥

श्रौत्रं, क्ली, (श्रोत्रमेव । प्रज्ञादित्वादण् ।) कर्णः । (श्रोत्रियस्य भावः कर्म्म वा । "हायनान्तयुवादिभ्योऽण् ।" ५ । १ । १३० । इत्यण् । "श्रोत्रियस्य यलोपश्च वाच्यः ।" इति यलोपः ।) श्रोत्रियकर्म्म । तत्पर्य्यायः । श्रौत्रियता २ । इति शब्दरत्नावली ॥ (श्रोत्रस्य भावः कर्म्म वा । अण् ।) श्रोत्रकर्म्म च ॥ (श्रोत्राणां समूहः । "भिक्षादिभ्योऽण् ।" ४ । २ । ३८ । इति अण् ।)

श्रौषट्, व्य, देवहविर्दानम् । इत्यमरः ॥ देवहविर्दानं इत्यनेनार्थं मन्त्रः सूचितः । इति भरतमतम् ॥

श्राङ्कं, क्ली, (श्रिय आङ्का आङ्का यस्य ।) पद्मम् । इति केचित् ॥

श्लक, इ ङ सर्पे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-आत्म०-सक०-सेट् ।) अन्तःस्थतृतीयवर्णयुक्तादिः । इ, श्लङ्कते । ङ, श्लङ्कते । सर्पो गतिः । इति दुर्गादासः ॥

श्लक्ष्णं, त्रि, (श्लिष आलिङ्गने + "श्लिषेरच्चोपधायाः ।" उणा० ३ । १९ । इति क्स्नः अकारश्चोपधायाः ।) अल्पम् । इत्यमरः ॥ मनोहरम् । इत्युणादिकोषः ॥ (यथा, मनुः । २ । १५९ ।
"अहिंसयैव भूतानां कार्य्यं श्रेयोऽनुशासनम् ।
वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्म्ममिच्छता ॥")

श्लक्ष्णकं, क्ली, पूगफलम्। इति राजनिर्घण्टः॥ (त्रि, श्लक्ष्णमेव। स्वार्थे कन्।) मनोहरश्च॥

श्लक्ष्णत्वक्, [च्] पुं, (श्लक्ष्णा मनोहरा त्वक् यस्य।) अश्मन्तकवृक्षः। इति राजनिर्घण्टः॥ सुन्दरवल्कलश्च॥

श्लग, इ व्रजे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट्।)। अन्तःस्थतृतीयवर्णयुक्ततालव्यादिः। इ, श्लङ्गते। इति दुर्गादासः॥

श्लथ, त् क दौर्ब्बल्ये। इति कविकल्पद्रुमः॥ (अदन्तचुरा०-पर०-अक०-सेट्।) अन्तःस्थतृतीययुक्तादिः। क, श्लथयति। इति दुर्गादासः॥

श्लथः, त्रि, (श्लथयतीति। श्लथ+अच्।) शिथिलः। यथा। "शिथिलः प्रश्लथः श्लथः।" इति जटाधरः॥ (यथा, माघे। ७। ६२।
"श्लथशिरसिजपातभारा-
दिव नितरां नतिमङ्गिरंसभागैः॥")
दुर्ब्बलः। इति श्लथधात्वर्थदर्शनात्॥

श्लाख, ऋ व्याप्तौ। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट्।) अन्तःस्थतृतीययुक्तः। ऋ, अशश्लाखत्। इति दुर्गादासः॥

श्लाघ, ऋ ङ कत्थने। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-आत्म०-सक०-सेट्।) अन्तःस्थतृतीययुक्त-तालव्यादिः। कत्थनं प्रशंसा। ऋ, अशश्लाघत्। ङ, श्लाघते गुणिनं गुणी। इति दुर्गादासः॥

श्लाघा, स्त्री, (श्लाघ कत्थने+अः। टाप्।) प्रशंसा। (यथा, रघुः। १। २२।
"ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघाविपर्य्ययः।
गुणा गुणानुबन्धित्वात् तस्य सप्रसवा इव॥")
परिचर्य्या। अभिलाषः। इति मेदिनी॥

श्लाघ्यः, त्रि, (श्लाघ+ण्यत्।) श्लाघनीयः। प्रशस्यः। यथा,—
"गौरविताश्चार्य्यमिश्राः श्लाघ्यास्तत्रभवन्मुखाः॥"
इति त्रिकाण्डशेषः॥
(यथा, रघुः। ११। ८६।
"आहितो जयविपर्य्ययोऽपि मे
श्लाघ्य एव परमेष्ठिना त्वया॥")

श्लिकु, क्ली, (श्लिष्यति ग्रहादीनिति। श्लिष+"श्लिषेः कच्च।" उणा० १। ३३। इति कुः। कश्चान्तादेशः।) ज्योतिःशास्त्रम्। इत्युणादिकोषः॥

श्लिकुः, पुं, (श्लिष आलिङ्गने+कुः।) भृत्यः। इति सिद्धान्तकौमुद्यामुणादिवृत्तिः॥ षिड्गः। इत्युणादिकोषः॥

श्लिष, उ दाहे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-पर० सक०-सेट्। क्वावेट्।) अन्तःस्थतृतीययुक्तः। उ, श्लेषित्वा श्लिष्ट्वा। इति दुर्गादासः॥

श्लिष, औ य ऌ ञि श्लेषे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (दिवा०-पर०-सक०-अनिट्।) अन्तःस्थतृतीययुक्तादिः। औ, श्लेष्टा। य, श्लिष्यति। ऌ, अश्लिषत्। आलिङ्गने तु अश्लिक्षत्। ञि, श्लिष्टोऽस्ति। श्लेष आलिङ्गनम्। तच्च बाहुभ्यामेव रूढ़म्। श्लिष्यति कामपीति जयदेवः। प्राप्त्यावप्ययम्। श्लिष्यति वृन्तं लता। इति दुर्गादासः॥

श्लिष, क श्लेषे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (चुरा०-पर०-सक०-सेट्।) अन्तःस्थतृतीययुक्तः। क, श्लेषयति। इति दुर्गादासः॥

श्लिषा, स्त्री, आलिङ्गनम्। इति त्रिकाण्डशेषः॥

श्लिष्टः, त्रि, (श्लिष+क्तः।) श्लेषयुक्तशब्दादिः। भिन्नार्थैकरूपान्वितवाक्यम्। तस्य लक्षणं यथा,—
"श्लिष्टमिष्टमविस्पष्टमेकरूपान्वितं वचः।"
इति सरस्वतीकण्ठाभरणम्॥

श्लीपदं, क्ली, (श्रीयुक्तं इस्तिमत् पदमस्येति। पृषोदरादित्वात् साधु।) स्फीतपादादि। गोद इति भाषा। तत्पर्य्यायः। पादवल्मीकम् २। इति हेमचन्द्रः॥ (यथा, आर्य्यासप्तशत्याम्। ४८५।
"यन्नोपकारकं यन्न भूषणं यत् प्रकोपमातनुते।
गुरुणापि तेन कार्य्यं पदेन किं श्लीपदेनेव॥")
अथ श्लीपदाधिकारः। तत्र श्लीपदस्य विप्रकृष्टं निदानमाह।
"पुराणोदकभूयिष्ठाः सर्व्वर्तुषु च शीतलाः।
ये देशास्तेषु जायन्ते श्लीपदानि विशेषतः॥"
विशेषत इति वचनेनान्यत्रापि श्लीपदं भवति इति बोध्यते॥ *॥ सामान्यं लक्षणमाह।
"यः सज्वरो वंक्षणजो भृशार्त्तिः
शोथो नृणां पादगतः क्रमेण।
तत् श्लीपदं स्यात् करनेत्रकर्ण-
शिश्नोष्ठनासास्वपि केचिदाहुः॥"
तत् त्रिविधम्। वातिकं पैत्तिकं श्लैष्मिकञ्चेति। तेषां लक्षणमाह।
"वातजं कृष्णरूक्षं हि स्फुटितं तीव्रवेदनम्।
अनिमित्तरुजं चास्य बहुशो ज्वर एव च॥
पित्तजं पीतसङ्काशं दाहज्वरयुतं भृशम्।
श्लैष्मिकन्तु भवेत् स्निग्धं तथा पाण्डु गुरु स्थिरम्॥
श्रीण्यप्येतानि जानीयात् श्लीपदानि कफोच्छ्रयात्।
गुरुत्वञ्च महत्त्वञ्च यस्मान्नास्ति विना कफात्॥"
असाध्यमाह।
"वल्मीकमिव संजातं कण्टकैरुपचीयते।
सर्व्वात्मकं महत्तत्तु वर्ज्जनीयं विशेषतः॥
यत् श्लेष्मलाहारविहारजातं
जातं तथा भूरिकफस्य पुंसः।
सास्रावमप्यत्र तु सर्व्वलिङ्गं
सकण्डुकं वापि विवर्ज्जनीयम्॥"*॥
श्लीपदस्य चिकित्सा।
"लङ्घनालेपनस्वेदरेचनै रक्तमोक्षणैः।
प्रायः श्लेष्महरैरुष्णैः श्लीपदं समुपाचरेत्॥१॥
सिद्धार्थशोभाञ्जनदेवदारु-
विश्वौषधैर्मूत्रयुतैः प्रलिम्पेत्।
पुनर्नवानागरसर्षपाणां
कल्केन वा काञ्जिकमिश्रितेन॥
श्लीपदमिति शेषः॥२॥
"धत्तूरैरण्डनिर्गुण्डीवर्षाभूशिग्रुसर्षपैः।
प्रलेपः श्लीपदं हन्ति चिरोत्थमपि दारुणम्॥३॥
असाध्यमपि यात्यन्तं श्लीपदं चिरकालजम्।
मूलेन सहचरायास्तालमिश्रेण लेपनात्॥
तालस्य फलरसो ग्राह्यः॥४॥
सप्तलाक्षूलपत्राणां कल्कं तप्तेन वारिणा।
संसृष्टं लवणोपेतं सेवितं श्लीपदं हरेत्॥५॥
शाखोटवल्कलक्वाथं गोमूत्रेण युतं पिबेत्।
श्लीपदानां विनाशाय मेदोदोषनिवृत्तये॥६॥
रजनीं गुड़संयुक्तां गोमूत्रेण पिबेन्नरः।
वर्षोत्थं श्लीपदं हन्ति दद्रुकुष्ठं विशेषतः॥७॥
वर्षाभूत्रिफलाचूर्णं पिप्पल्या सह योजितम्।
सक्षौद्रं श्लीपदं लिह्यात् चिरोत्थं श्लीपदं जयेत्॥८
गन्धर्व्वतैलसिद्धां हरीतकीं गोऽम्बुना पिबति।
श्लीपदविबन्धमुक्तो भवत्यसौ सप्तरात्रेण॥"
गन्धर्व्वतैलं एरण्डतैलम्। गोऽम्बुना गोमूत्रेण॥९
इति श्लीपदाधिकारः। इति भावप्रकाशः॥*॥
तस्य कर्म्मविपाको यथा। गौतमोऽपि क्वचिद्विशेषमाह। अनृतवाक्शुक्लदाः सङ्कुर्मुहुः संलग्नवाक् जलोदरी दारत्यागी कूटसाक्षी श्लीपदी॥ इति मिताक्षरायां प्रायश्चित्ताध्यायः॥ कूटसाक्ष्यस्य सुरापानसमत्वेनानुपातकत्वात् तत्कर्म्मजन्यश्लीपदरोगयुक्तेन पराकव्रतं कर्त्तव्यम्। इति मन्वादिमतम्॥

श्लीपदप्रभवः, पुं, (श्लीपदवत् प्रभवतीति। प्र+भू+अच्।) आम्रवृक्षः। इति शब्दमाला॥

श्लीपदापहः, पुं, (श्लीपदं अपहन्तीति। हन+डः।) पुत्रजीववृक्षः। इति त्रिकाण्डशेषः॥

श्लीलः, त्रि, (श्रीर्विद्यतेऽस्येति। श्री+लच्। रस्य लः।) लक्ष्मीवान्। इति श्लीलशब्दटीकायां स्वामी॥

श्लेषः, पुं, (श्लिष+घञ्।) संयोगः। तत्पर्य्यायः। सन्धिः २। इत्यमरः॥ दाहः। आलिङ्गनम्। इति श्लिषधात्वर्थदर्शनात्॥*॥ (यथा आर्य्यासप्तशत्याम्। ३८८।
"पुलकितकठोरपीवरकुचकलशश्लेषवेदनाभिज्ञः।
शम्भोरुपवीतफणी वाञ्छति मानग्रहं देव्याः॥"*॥
श्लिष्यतीति। श्लिष+"श्याद्व्यधास्रुसंस्रुति।" ३। १। १४१। इति णः।) शब्दालङ्कारविशेषः। तस्य लक्षणादिर्यथा,—
"वाच्यभेदेन भिन्ना यद्युगपद्भाषणस्पृशः।
श्लिष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा॥"
अर्थभेदेन शब्दभेद इति दर्शने काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते इति च न ये वाच्यभेदेन भिन्ना अपि शब्दा यद्युगपदुच्चारणेन श्लिष्यन्ति भिन्नं स्वरूपमपह्नुवते स श्लेषः॥ *॥ स च वर्णपदलिङ्गभाषाप्रकृतिप्रत्ययविभक्तिवचनानां भेदादष्टधा। क्रमेणोदाहरणम्।

"अलङ्कारः शङ्काकरनरकपालं परिजनो
विशीर्णाङ्गो भृङ्गी वसु च वृष एको बहुवयाः ।
अवस्थेयं स्थाणोरपि भवति सर्व्वामरगुरो-
र्विधौ वक्रे मूर्द्ध्नि स्थितवति वयं के पुनरमी ॥
पृथुकार्त्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव ।
विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति सममावयोः सदनम् ॥
भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी नीलोत्पलस्पर्द्धिनी
ध्यानालम्बनतां समाधिनिरतैर्नीते हितप्राप्तये ।
लावण्यैकमहानिधी रसिकतां लक्ष्मीदृशो-
स्तन्वती
युष्माकं कुरुतां भवार्त्तिशमनं नेत्रे तनुर्व्वा
हरेः ॥"

एष एव वचनश्लेषोऽपि ।
"महदे सुर सन्धं मे तमव समासं गमागमा
हरणे ।
हर वहु सरणं तं चित्तमोहमवसर उमे
सहसा ॥
अयं सर्व्वाणि शास्त्राणि हृदि ज्ञेषु च वक्ष्यति ।
सामर्थ्यकृदमित्राणां मित्राणाञ्च नृपात्मजः ॥
रजनिरमणमौलेः पादपद्मावलोक-
क्षणसमयपराप्ता पूर्व्वसम्पत्सहस्रम् ।
प्रथमनिवहमध्ये जातु चित्तप्रसादा-
दहसुचिततपिः स्वामन्दिता सा तथा मे ॥
सर्व्वस्वं हर सर्व्वस्य त्वं भवच्छेदतत्परः ।
नयोपकारसाम्मुख्यमायासि तनुवर्त्तनम् ॥
भेदाभावात् प्रकृत्यादेर्भेदोऽपि नवमो भवेत् ॥"
नवमोऽपीत्यपिर्भिन्नक्रमः । उदाहरणम् ।
"योऽसकृत् परगोत्राणां पक्षच्छेदक्षणक्षमः ।
शतकोटिदतां बिभ्रद्विबुधेन्द्रः स राजते ॥"
अत्र प्रकरणादिनियमाभावात् द्वावप्यर्थौ वाच्यौ ।
ननु स्वरितादिगुणभेदात् भिन्नप्रयत्नोच्चार्य्याणां
तदभेदादभिन्नप्रयत्नोच्चार्य्याणाञ्च शब्दानां बन्धे-
ऽनियमेनालङ्कारान्तरप्रतिभोत्पत्तिहेतुः । शब्द-
श्लेषोऽर्थश्लेषश्चेति द्विविधोऽप्ययमर्थालङ्कारमध्ये
गणितोऽन्यैरिति कथमयं शब्दालङ्कारः ।
उच्यते । इह दोषगुणालङ्काराणां शब्दार्थगत-
त्वेन यो विभागः सोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव
व्यवतिष्ठते । तथा हि कष्टत्वादिगाढत्वानुप्रासा-
दयो व्यर्थत्वादिप्रौढ़त्वाद्युपमादयः तद्भावतद-
भावानुविधायित्वादेव शब्दार्थगतत्वेन व्यवस्था-
प्यन्ते । तथा हि ।
"स्वयञ्च पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता ।"
इत्यभङ्गश्लेषः ॥ प्रभातसन्ध्ये वा स्वापफललुब्धे-
हितप्रदेति सभङ्गशब्दश्लेषश्चेति द्वावपि शब्दै-
कसमाश्रयाविति द्वयोरपि शब्दश्लेषत्वमुपपन्नम् ।
न त्वाद्यस्यार्थश्लेषत्वम् । अर्थश्लेषस्य तु स विषयः
यत्र शब्दपरिवर्त्तनेऽपि न श्लेषत्वखण्डना ।
यथा,—
"स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम् ।
अहो सुसदृशी वृत्तिस्तुलाकोटेः खलस्य च ॥"
न चायमुपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषः । अपि
तु श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतुरुपमा । तथा हि ।
यथा कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत् कचतितरा-
मित्यादौ गुणसाम्ये क्रियासाम्ये उभयसाम्ये वा
उपमा तथा सकलकलं पुरमेतज्जातं संप्रति
च सितांशुबिम्बमिवेत्यादौ शब्दमात्रसाम्येऽपि
सा युक्तैव तथा ह्युक्तं रुद्रटेन । स्फुटं
अर्थालङ्कारावेतौ उपमासमुच्चयौ किन्तु ।
आश्रित्य शब्दमात्रं सामान्यमिहापि सम्भवत
इति । न च कमलमिव मुखमित्यादि साधा-
रणधर्म्मप्रयोगशून्य उपमाविषय इति वक्तुं
युक्तं पूर्णोपमाया निर्विषयत्वापत्तेः । देवत्वमेव
पातालमाशानां त्वं निबन्धनम् । त्वञ्चामरमरुद्-
भूमिरेको लोकत्रयात्मकः । इत्यादिश्लेषस्य
चोपमाद्यलङ्कारविविक्तोऽस्ति विषयः । इति
द्वयोर्योगे सङ्कर एव उपपत्तिपर्य्यालोचने तु
उपमाया एवायं युक्तो विषयः अन्यथा विष-
यापहार एव पूर्णोपमायाः स्यात् । न च
अविन्दुसुन्दरी नित्यं गलल्लावण्यबिन्दुकेत्यादौ
विरोधप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषः । अपि तु श्लेष-
प्रतिभोत्पत्तिहेतुर्विरोधः । न ह्यत्रार्थद्वयप्रति-
पादकः शब्दः श्लेषः द्वितीयार्थस्य प्रतिभात-
मात्रस्य प्ररोहाभावात् । न च विरोधाभास
इव विरोधः । श्लेषाभास इव श्लेषस्तस्मादेव-
मादिषु वाक्येषु श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतुरलङ्कारा-
न्तरमेव साधीयः । तथा च सहंप्रसुक्ता मणि-
र्नान्यः कविरिव स्वल्पश्लोको देव महान् भवान् ।
"अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरःसरः ।
अहो दैवगतिश्चित्रा न तथापि समागमः ॥
आदाय चापमचलं कृत्वा हीनं गुणं विषम-
दृष्टिः ।
यश्चित्रमच्युतशरो लक्ष्यमभाङ्क्षीन्नमस्तस्मै ॥"
इत्यादावेकदेशविवर्त्तिरूपकश्लेषव्यतिरेकसमासो-
क्तिविरोधत्वमुचितं न तु श्लेषत्वं शब्दश्लेष इति
चोच्यते । अर्थालङ्कारमध्ये च लपत इति
कोऽयं नयः किन्तु वैचित्र्यमलङ्कारः इति यत्रैव
कविप्रतिभासंरम्भगोचरस्तत्रैव विचित्रतेति
सैवालङ्कारभूमिः । अर्थमुखमपेक्षित्वमेतेषां
शब्दानामिति चेत् अनुप्रासादीनामपि तथैवेति
तेऽप्यर्थालङ्काराः किं नोच्यन्ते रसादिव्यञ्जक-
स्वरूपवाच्यविशेषसापेक्षत्वेऽप्यनुप्रासादीनामलङ्का-
रताशब्दगुणदोषाणामप्यर्थापेक्षयैव गुणदो-
षता । अर्थगुणदोषालङ्काराणां शब्दापेक्षयैव
व्यवस्थितिरिति तेऽपि शब्दगतत्वेनोच्यन्ताम् ।
विधौ वक्रे मूर्द्ध्नि स्थितवतीत्यादौ च वर्णादि-
श्लेषे एकप्रयत्नोच्चार्य्यत्वेऽर्थश्लेषत्वं शब्दभेदेऽपि
प्रसज्यतामित्येवमादि स्वयं विचार्य्यम् । इति
काव्यप्रकाशे शब्दालङ्कारनिर्णयो नाम ९
उल्लासः ॥

श्लेष्मकः, पुं, (श्लेष्मा एव । स्वार्थे कन् ।) कफः ।
इति शब्दचन्द्रिका ॥

श्लेष्मघ्ना, स्त्री, (श्लेष्माणं हन्तीति । हन+टक् ।
अभिधानात् टाप् ।) मल्लिका । केतकी । इति
विश्वमेदिन्यौ ॥ श्लेष्मनाशके, त्रि ॥

श्लेष्मघ्नी, स्त्री, (श्लेष्माणं हन्तीति । हन+टक् ।
टित्वात् ङीप् ।) ज्योतिष्मती । इति जटा-
धरः ॥ मल्लिका । इति मेदिनी ॥ त्रिकटु ।
इति शब्दरत्नावली ॥

श्लेष्मणः, त्रि, (श्लेष्मा अस्त्यस्येति । श्लेष्मन्+
"लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः ।" ५ ।
२ । १०० । इति नः ।) कफी । इत्यमरः ॥

श्लेष्मणा, स्त्री, (श्लेष्मन्+पामादित्वात् नः । टाप् ।)
वृक्षविशेषः । यथा,—
"गुरुस्कन्धस्तपर्णी च श्लेष्मणा च वृषापि च ।"
इति शब्दमाला ॥

श्लेष्मलः, त्रि, (श्लेष्मास्यास्तीति । श्लेष्मन्+"सिध्मा-
दिभ्यश्च ।" ५ । २ । ९७ । इति लच् ।) श्लेष्म-
युक्तः । इत्यमरः ॥

श्लेष्मलः, पुं, (श्लेष्मन्+लच् ।) वृक्षविशेषः । बहु-
वार इति ख्यातः । इति शब्दचन्द्रिका ॥

श्लेष्महः, पुं, (श्लेष्माणं हन्तीति । हन+डः ।)
कट्फलवृक्षः । इति शब्दचन्द्रिका । कफ-
नाशके, त्रि ॥

श्लेष्मा, [न्] पुं, (श्लिष+"सर्व्वधातुभ्यो मनिन् ।"
उणा० ४ । १४४ । इति मनिन् ।) कफः ।
इत्यमरः ॥ तस्य प्रकोपहेतुर्यथा,—
"गुरुमधुररसातिस्निग्धदुग्धेक्षुभक्ष्य-
द्रवदधिदिननिद्रापूपसर्पिःप्रपूरैः ।
तुहिनपतनकाले श्लेष्मणः संप्रकोपः
प्रभवति दिवसादौ भुक्तमात्रे वसन्ते ॥"*॥
तस्य लक्षणं यथा,—
"स्तैमित्यं मधुरास्यता शिशिरता शौक्ल्यं
प्रसेको मल-
प्राचुर्य्यं स्थिरता रसश्च लवणः कण्डूरतिस्वल्पता ।
आलस्यं चिरकारिता कठिनता शोथारुचिः
स्निग्धता
तन्द्रा श्लेष्मापदेहकासगुरुता एताः कफोत्था
रुजः ॥"*॥
अस्य प्रशमताकारणं यथा,—
"गुरुशीतमृदुस्निग्धमधुरस्थिरपिच्छिलाः ।
श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीतगुणैर्गुणाः ॥
रूक्षक्षारकषायतिक्तकटुकव्यायामनिष्ठीवन-
स्त्रीसेवाध्वनियुद्धजागररतिक्रीड़ापदाघातनम् ।
धूमात्युष्णशिरोविरेकवमनस्वेदोपनाहादिकं
पानाहारविहारभेषजमिदं श्लेष्माणमुग्रं
जयेत् ॥"*॥
स च पञ्चविधो यथा,—
"अवलम्बक इत्येकः क्लेदकः श्लेष्मकोऽपरः ।
बोधकस्तर्पकश्चेति श्लेष्मा पञ्चविधः स्मृतः ॥"*॥
एतेषां लक्षणानि यथा,—
"कफधाम्नान्तु शेषाणां यत् करोत्यवलम्बनम् ।
ततोऽवलम्बकाख्यातिं श्लेष्मा प्राप्नोत्युरःस्थितः ॥ १
आमाशयाश्रितः सोऽन्नक्लेदनात् क्लेदकः स्मृतः ।
२ ।
श्लेष्मकः श्लेषणात् सन्धेः स च सन्धौ व्यव-
स्थितः ॥ ३

रसनावस्थितश्चैव बोधको रसबोधनात् ।४।
शिरसि प्रस्थितश्चासौ तर्पको नेत्रतर्पणात् ॥”५॥
अस्य स्थानानि ।
“उरःकण्ठशिरःक्लोमपर्व्वाण्यामाशयो रसः ।
मेदो घ्राणञ्च जिह्वा च कफस्थानमुरः परम् ॥”
तत्प्रकृतिकलक्षणम् । यथा,—
“गम्भीरबुद्धिः स्थूलाङ्गः स्निग्धकेशो महाबलः ।
स्वप्ने जलाशयालोकी श्लेष्मप्रकृतिको नरः ॥*॥
स्नेहो बन्धः स्थिरत्वञ्च गौरवं वृष्यता बलम् ।
क्षमा धृतिरलोभश्च कफकर्म्माविकारजम् ॥”
इति सुखबोधः ॥*॥

श्लेष्मकरद्रव्याणि यथा,—
“भोजनानन्तरं स्नानं जलपानं विना तृषा ।
तिलतैलं स्निग्धतैलं स्निग्धमामलकीद्रवम् ॥
पर्य्युषितान्नं तक्रञ्च पक्वरम्भाफलं दधि ।
मायाम्बुशर्करातोयं सुस्निग्धस्थलसेवनम् ॥
नारिकेलोदकं रूक्षस्नानं पर्य्युषितं जलम् ।
तरसुस्वापक्वफलं सुपक्वकर्कटीफलम् ॥
स्नातस्नानञ्च वर्षासु मूलकं श्लेष्मकारणम् ।
तज्जलं प्रक्षरन्धं च महद्वीर्य्यविनाशनम् ॥”*॥
इति ब्रह्मवैवर्त्ते ब्रह्मखण्डे १६ अध्यायः ॥

अपि च । एरण्डतैलम् १ अनूपदेशवारि २ वार्षिकपानीयम् ३ पल्वलजलम् ४ सामान्यशालिधान्यम् ५ माषः ६ अतसी ७ नूतनधान्यम् ८ मधुरनारीचशाकम् ९ कच्चटशाकम् १० कलम्बीशाकम् ११ उत्पादिकाशाकम् १२ मध्यमकुष्माण्डफलम् १३ अलाबुफलम् १४ शीर्षवृन्तफलम् १५ चेलानम् १६ दीर्घपटोलिका १७ अलाबुनाडिका १८ पिण्डालुकम् १९ करीषपलालाग्नितिवेशभ्यो जातं छत्रिकाशाकम् २० विशेषतः पलालजातसंस्वेदजशाकम् २१ मधुकर्कटिका २२ वहुवारफलम् २३ वालाम्लिकाफलम् २४ चीचकम् २५ पक्वकण्टाफलम् २६ कण्टाफलास्थि २७ पक्वकदलम् २८ तावन्मत्स्यः २९ पाण्डरमत्स्यः ३० क्वथितमत्स्यः ३१ लवणभावितमत्स्यः ३२ भाकूटमत्स्यः ३३ पाठीनमत्स्यः ३४ शिलिन्दमत्स्यः ३५ भेकलिमत्स्यः ३६ गरमत्स्यः ३७ कर्णफलमत्स्यः ३८ इल्लिशमत्स्यः ३९ मद्गुरमत्स्यः ४० चिङ्गटमत्स्यः ४१ वाचमत्स्यः ४२ चिङ्गटीमत्स्यः ४३ गवाचीमत्स्यः अर्थात् पाँकालमत्स्यः ४४ कुलिङ्गपक्षिमांसम् ४५ तावत्क्षीरम् ४६ आमदुग्धम् ४७ आविकदधि ४८ माहिषदधि ४९ स्वादुदधि ५० अत्यम्लदधि ५१ तावद्घृतम् ५२ माहिषघृतम् ५३ तावदिक्षुः ५४ विशेषतो भीरुनामकेक्षुः ५५ कान्तारेक्षुः ५६ इक्षुफाणितम् ५७ इक्षुखण्डः ५८ नवान्नम् ५९ चिपिटः ६० घृतपूरः ६१ पायसः ६२ शष्कुली ६३ सरसगुवाकफलम् ६४ मधुररसः ६५ अतिशयान्नभोजनम् ६६ लवणरसः ६७ शीतवीर्य्यद्रव्यम् ६८ कुन्दकपुष्पम् ६९ यूथिकापुष्पम् ७० बन्धूकपुष्पम् ७१ तावज्जन्तुरसः ७२ तावज्जन्तुमज्जा ७३ । इति द्रव्यगुणात् संगृहीतम् ॥

श्लेष्मनाशकद्रव्याणि यथा,—
“वह्निस्वेदं भ्रष्टभङ्गं पक्वतैलं विशोषकम् ।
भ्रमणं शुष्कभक्ष्यञ्च शुष्कपक्वहरीतकी ॥
पिष्टकारकमपक्वञ्च रम्भाफलमपक्वकम् ।
वेशवारसिन्धुवारमनाहारमपानकम् ॥
सघृतं रोचनाचूर्णं सघृतं शुष्कशर्करम् ।
मरीचं पिप्पलीं शुष्कमार्द्रकं जीरकं मधु ।
द्रव्याण्येतानि मध्वर्व्वि ! सद्यःश्लेष्महराणि च ॥”
इति ब्रह्मवैवर्त्ते ब्रह्मखण्डे १६ अध्यायः ॥*॥

अपि च । सार्षपतैलम् १ तैलाभ्यङ्गः २ उद्वर्त्तनम् ३ शिशिरजलम् ४ वाप्यजलम् ५ कौपजलम् ६ नैर्झरजलम् ७ नादेयजलम् ८ सामान्योष्णोदकम् ९ विशेषतः पादशेषोष्णोदकम् १० पेषितवचामुस्तकसंयुक्तजलस्नानम् ११ अगुरु १२ कुङ्कुमम् १३ पद्मकम् १४ कक्कोलम् १५ शटी १६ दग्धभूमिजातशालिधान्यम् १७ अतिरोप्यधान्यम् १८ यवः १९ श्यामाकधान्यम् २० कोद्रवधान्यम् २१ कङ्गुधान्यम् २२ हस्तिश्यामाकधान्यम् २३ चीनकधान्यम् २४ मुद्गः २५ मकुष्टम् २६ राजमाषः २७ मसूरः २८ चणकः २९ कुलत्थः ३० तुवरी ३१ नागाशिम्बा ३२ जलर्दयोगिसामान्यशुष्कनारीचपत्रशाकम् ३३ ह्लिलमोचीशाकम् ३४ शालञ्चीशाकम् ३५ ग्रीष्मसुन्दरशाकम् ३६ पुनर्नवाशाकम् ३७ कलायशाकम् ३८ ब्राह्मीशाकम् ३९ चाङ्गेरीशाकम् ४० एक्काशाकम् ४१ पालङ्कीशाकम् ४२ चणकपत्रशाकम् ४३ कौसुम्भशाकम् ४४ ओषधीशाकम् ४५ महाराष्ट्रीशाकम् ४६ कदलीमोचकम् ४७ क्षुद्रवार्त्ताकुफलम् ४८ अङ्गारपक्ववार्त्ताकुः ४९ पाण्डुरङ्गफलम् ५० कारवेल्लफलम् ५१ कर्कोटकफलम् ५२ पटोलनाडी ५३ कुष्माण्डनाडिका ५४ वेत्राग्रम् ५५ सूरणः ५६ किंशुकमूलम् ५७ घृततैलाभ्यां सिद्धं मूलम् ५८ मूलकपुष्पम् ५९ खण्डकर्णः ६० मूलकफलम् ६१ वाराहीकन्दमूलम् ६२ आम्रपेषी ६३ अम्लरसदाडिमम् ६४ मातुलुङ्गत्वक् ६५ लिम्पाकम् ६६ जम्बीरम् ६७ कर्कन्धुः ६८ शुष्कसमस्तकोलफलम् ६९ अक्षोरम् ७० अवनालम् ७१ लवलीफलम् ७२ जाम्बवम् ७३ पक्वाम्लिकाफलम् ७४ पक्वातन्दुकम् ७५ अम्लवेतसम् ७६ महार्द्रम् ७७ करुणम् ७८ कोषाम्रफलम् ७९ तालास्थिमज्जा ८० वालविल्वम् ८१ विल्वपेषिका ८२ धात्री ८३ विभीतकम् ८४ विभीतमज्जा ८५ धात्रीमज्जा ८६ नन्द्यावर्त्तमत्स्यः ८७ कवयीमत्स्यः ८८ एलङ्गमत्स्यः ८९ दण्डिकमत्स्यः ९० चिकाटमत्स्यः ९१ प्रोष्ठीमत्स्यः ९२ मत्स्याण्डम् ९३ कूर्म्माण्डम् ९४ खगाण्डम् ९५ एणमांसम् ९६ खड्गिमांसम् ९७ कूर्म्मपादः ९८ कपिञ्जलमांसम् ९९ वर्त्तिकापक्षिमांसम् १०० प्रसन्नामद्यम् १०१ अरिष्टमद्यम् १०२ अर्घ्यमधु १०३ पुराणमधु १०४ नूतनमधु १०५ मेषीक्षीरम् १०६ उष्ट्रीक्षीरम् १०७ घृतोष्णदुग्धम् १०८ छागदधि १०९ हास्तिनदधि ११० दधिमस्तुः १११ दधिसरः ११२ मथिततक्रम् ११३ आविकघृतम् ११४ औष्ट्रकघृतम् ११५ गन्धेक्षुरसः ११६ हिङ्गु ११७ जीरकम् ११८ वासिका ११९ शुष्कवृन्ताकम् १२० कासुन्दीवटिका १२१ हरिद्रा १२२ यमानी १२३ शुष्कपिप्पली १२४ आर्द्रपिप्पली १२५ शुण्ठी १२६ आर्द्रकम् १२७ सर्षपः १२८ सिद्धार्थः १२९ पलाण्डुः १३० गुडत्वक् १३१ पत्रम् १३२ यवक्षारः १३३ सर्ज्जिकाक्षारः १३४ टङ्कणक्षारः १३५ मण्डः १३६ भृष्टतण्डुलः १३७ लाजाः १३८ लाजमण्डः १३९ अपक्वयवशक्तुः १४० वाट्यमण्डः स तु भृष्टयवमण्डः १४१ मुद्गयूषः १४२ रागयूषः स च दाडिमद्राक्षायुक्तमुद्गयूषः १४३ मसूरयूषः १४४ कुलत्थयूषः १४५ खड्यूषः १४६ काम्बलिकयूषः स तु लवणघृतादितिलमाषमिश्रितपक्वदधि १४७ पलालवेष्टित-कर्द्दम-लेपिताङ्गार-दग्धलवणवेशवारपुरस्कृतसार्द्रककटुतैलसम्मोलितमत्स्यः १४८ प्रदिग्धम् १४९ शालिपिष्टकम् १५० ताम्बूलम् १५१ चूर्णम् १५२ खदिरः १५३ एला १५४ जातीफलम् १५५ कर्पूरम् १५६ कटुरसः १५७ तिक्तरसः १५८ कषायरसः १५९ उष्णस्वभावद्रव्यम् १६० मालतीपुष्पम् १६१ मल्लिकापुष्पम् १६२ पद्मपुष्पम् १६३ वकुलपुष्पम् १६४ पुन्नागपुष्पम् १६५ कह्लारपुष्पम् १६६ उत्पलपुष्पम् १६७ पाटलपुष्पम् १६८ चम्पकपुष्पम् १६९ रात्रिजागरणम् १७० विल्वमूलम् १७१ पाटला १७२ शालपर्णी १७३ पृश्निपर्णी १७४ एरण्डमूलम् १७५ कण्टकारिका १७६ विशाला १७७ लोध्रः १७८ भृङ्गराजः १७९ केशराजः १८० द्रोणपुष्पी १८१ झिण्टी १८२ वचा १८३ शक्राशनम् १८४ हरिद्रा १८५ दार्व्वी १८६ अवल्गुजः १८७ एडगजः १८८ रेणुका १८९ भूर्जः १९० आसनः १९१ निम्बपत्रम् १९२ भूनिम्बः १९३ कुटजः १९४ यासः १९५ दुरालभा १९६ कटुकी १९७ त्रायन्ती १९८ शृङ्गी १९९ कट्फलम् २०० कुष्ठम् २०१ पारिभद्रः २०२ वासकः २०३ मधुयुक्तगुडूची २०४ पिप्पलीमूलम् २०५ चविका २०६ गजपिप्पली २०७ अर्कः २०८ धुस्तूरः २०९ सामान्यगुग्गुलुः २१० नूतनपुरातनगुग्गुलुः २११ अरुणा त्रिवृता २१२ सिता त्रिवृता २१३ सिन्धुवारः २१४ मनोह्वा २१५ सौराष्ट्री २१६ ताम्रम् २१७ कांस्यम् २१८ ॥ इति द्रव्यगुणात् संगृहीतम् ॥*॥

श्लेष्मातः, पुं, (श्लेष्माणमतीति । अत + अच् ।) श्लेष्मातकवृक्षः । इति शब्दरत्नावली ॥

श्लेष्मातकः, पुं, (श्लेष्मात एव । स्वार्थे कन् ।) बहुवारकवृक्षः । इत्यमरः ॥ (यथा, मनुः ।६।१४

"वर्जयेत् मधुमांसञ्च भौमानि कवकानि च ।
भूस्तृणं शिग्रुकञ्चैव श्लेष्मातकफलानि च ॥")

श्लेष्मान्तकः, पुं, (श्लेष्माणं स्वसेवनजनितकफेन अन्तयति नाशयतीति । अन्त + णिच् + ण्वुल् ।) वृक्षविशेषः । वहुयार इति वङ्गभाषा । लसोड़ा इति हिन्दी भाषा । तत्पर्य्यायः । बहुवारः २ पिच्छिलः ३ द्विजकुत्सितः ४ शेलुः ५ शीतफलः ६ शीतः ७ शाकटः ८ कर्व्वुदारकः ९ भूतद्रुमः १० गन्धपुष्पः ११ । अस्य गुणाः । कटुत्वम् । हिमत्वम् । मधुरत्वम् । कषायत्वम् । स्वादुत्वम् । पाचनत्वम् क्रमिशूलहरत्वम् । आमास्रदोषमलरोधवहुव्रणार्त्तिविस्फोटशान्तिकरत्वम् । कफकारकत्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥ अस्यामफलगुणाः । विष्टम्भित्वम् । रूक्षत्वम् । पित्तकफास्रनाशित्वञ्च । तत्पक्वफलगुणाः । मधुरत्वम् । स्निग्धत्वम् । श्लेष्मलत्वम् । शीतलत्वम् । गुरुत्वञ्च । इति भावप्रकाशः ॥

श्लैष्मिकं, त्रि, (श्लेष्मणः शमनं कोपनं वा । श्लेष्मन् + "वातपित्तश्लेष्मभ्यः शमनकोपनयोः ।" ५ । १ । ३८ । इत्यस्य वार्त्तिकोक्त्या ठञ् । कफशमनम् । कफकोपनम् । इति व्याकरणम् ॥) श्लेष्मोद्भवम् । श्लेष्मसम्बन्धीयम् । इति श्लेष्मशब्दात् ष्णिकप्रत्ययेन निष्पन्नम् ॥ (यथा, सुश्रुते । १ । ३ ।
"चिकित्साप्रविभागीये वाताभिष्यन्दवारणः ।
पैत्तिकस्य श्लैष्मिकस्य रौधिरस्य तथैव च ॥")

श्लोक, ऋ ङ संघाते । वर्ण्णने । सर्ज्जने । इति कविकल्पद्रुमः ॥(भ्वा०-आत्म०-अक०सक०-च-सेट्।) संघात इह छन्दोविशिष्टवाक्यरचनम् । ऋ, अशुश्लोकत् । ङ, श्लोकते कविः । इति दुर्गादासः ॥

श्लोकः, पुं, (श्लोक्यते इति । श्लोक संघाते + घञ् ।) पद्यम् । यशः । इत्यमरः ॥ * ॥ (वाक् । इति निघण्टुः । १ । ११ ॥ "श्रु श्रवणे 'इण् भीकापाशल्यतिमर्चिभ्यः कन्' इति कन्प्रत्ययो वाहुलकाद्भवति गुणः कपिलकादित्वाल्लत्वम् । श्रूयते इति श्लोकः । यद्वा श्लोक संघाते 'पुंसि संज्ञायां घः ।' श्लोक्यते पद्यते रूपेण संहन्यते कविभिः श्लोकः ।" इति तट्टीका ॥) श्लोकनामकारणम् । यथा,—
"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥
तस्येत्थं ब्रुवतश्चिन्ता बभूव हृदि वीक्षतः ।
शोकार्त्तेनास्य शकुनेः किमिदं व्याहृतं मया ॥
चिन्तयन् स महाप्राज्ञश्चकार मतिमान् मतिम् ।
शिष्यञ्चैवाब्रवीद्वाक्यमिदं स मुनिपुङ्गवः ॥
पादबद्धोऽक्षरसमस्तन्त्रीलयसमन्वितः ।
शोकार्त्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा ॥"
इति रामायणे वाल्मीकीये बालकाण्डे २ सर्गः ॥

श्लोण, ऋ संहाते । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट् ।) ऋ, अशुश्लोणत् । संहातो राशीकरणम् । इति दुर्गादासः ॥

श्वः, [स्] व्य, अनागताहः । इत्यमरः ॥ काल्हि इति भाषा ॥ (यथा, रामायणे । २ । ६४ । ३६ ।
"श्वो मया सह गन्तासि जनन्या च समेधितः ॥")

श्वःश्रेयसं, क्ली, (श्वः आगामिकाले श्रेयो यत्र । "श्वसो वसीयःश्रेयसः ।" ५ । ४ । ८० । इति अच् ।) कल्याणम् । इत्यमरः ॥ (यथा, भट्टिः । ४ । ३८ ।
"श्वःश्रेयसमवाप्नोषि भ्रातृभ्यां प्रत्यभाषि सा ॥")
परमात्मा । शर्म्म । इति मेदिनी ॥ कल्याणयुक्ते, त्रि ॥

श्वक, इ ङ सर्पे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-आत्म०-सक०-सेट् ।) वकारयुक्ताद्यः । इ, श्वङ्क्यते । ङ, श्वङ्कते । सर्पो गतिः । इति दुर्गादासः ॥

श्वगणः, पुं, (शुनां गणः ।) कुक्कुरसमूहः । यथा ।
द्वारादेर्यवयोरिमुमौ स्यातां ञिणाद्विते परे ।
श्वादेरन्यकोस्तु वा । न तु श्वगणप्रभृतीनाम् ।
इति मुग्धबोधव्याकरणटीकायां दुर्गादासः ॥
(यथा, हरिवंशे भविष्यपर्व्वणि । ८ । १४ ।
"श्वगणा गाव दृश्यन्ते पिशाचा मांसभोजनाः ॥")

श्वच, ङ } गत्याम् । इति कविकल्पद्रुमः ॥
श्वचि, इ ङ } (भ्वा०-आत्म०-सक०-सेट् ।) द्वौ वकारयुक्तादी । पुनःपाठादाद्यो नेदनुबन्धः । ङितौ तु द्वौ । एक एवेत्पाठबलाद्वाध्य इति नियमात् । ङ, श्वचते । इ, श्वञ्चते । ङ, श्वचते । इति दुर्गादासः ॥

श्वठ, क } गतौ । असंस्कृते । संस्कृते । इति
श्वठि, इ क } कविकल्पद्रुमः ॥ (चुरा०-पर०-सक०-सेट् ।) द्वौ वकारयुक्तौ पुनःपाठादाद्यो नेदनुबन्धः । त्रयः अर्थाः । क, श्वाठयति । इ क, श्वण्ठयति जनः । गच्छति किमपि संस्करोति वा इत्यर्थः । संस्कारगत्योरिति केचित् । इति दुर्गादासः ॥

श्वठ, त् क दुर्व्वाचि । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (अदन्तचुरा०-पर०-सक०-सेट् ।) वकारयुक्तः । श्वठयति नीचः । कुत्सितं वदतीत्यर्थः । रमानाथस्तु सम्यग्भाषणे इति मत्वा श्वठयति सम्यग्वदतीत्यर्थं इत्याह । सम्यग्भाष इत्यपि के । इति दुर्गादासः ॥

श्वदंष्ट्रकः, पुं, (शुनो दंष्ट्रेव कण्टकोऽस्य ।) गोक्षुरः । इति राजनिर्घण्टः ॥

श्वदंष्ट्रा, स्त्री, (शुनो दंष्ट्रेव कण्टकाढ्यत्वात् ।) गोक्षुरकः । इत्यमरः ॥ (यथा, सुश्रुते ।१।४६।
"पिप्पल्यादीनां श्वदंष्ट्रासुकासवः कुष्माण्डादीनां दार्व्वीकरासवः ॥")

श्वधूर्त्तः, पुं, (शुनि धूर्त्तस्तद्वञ्चकत्वात् ।) शृगालः । इति शब्दरत्नावली ॥

श्वनिशं, क्ली, } (शुनां निशा । "सुरासेना-
श्वनिशा, स्त्री, } च्छायाशालानिशा स्त्रियाञ्च ।" इति लिङ्गानुशासनसूत्रेण विभाषया क्लीवत्वम् ।) शुनां निशा । इत्यमरभरतौ ॥ मत्तकुक्कुरनिशा । यथा,—
"यस्यां मत्ता निशि श्वानः श्वनिशं श्वनिशा च सा ॥"
इति जटाधरः ॥

श्वपक्, [च्] पुं, (श्वानं पचतीति । पच् + क्विप् ।) चण्डालः । यथा । निषादः श्वपचः श्वपक् । इति भरतधृतवोपालितः ॥ (यथा, मनुः ।३।९२।
"शुनाञ्च पतितानाञ्च श्वपचां पापरोगिणाम् ।
वायसानां क्रमीणाञ्च शनकैर्निर्व्वपेत् भुवि ॥")

श्वपचः, पुं, (श्वानं पचतीति । पच् + अच् ।) चण्डालः । इत्यमरः ॥ तस्य संज्ञा अन्त्यावसायी । तस्य धर्म्मो यथा,—
"चण्डालश्वपचानान्तु वहिर्ग्रामात् प्रतिश्रयः ।
अपपात्राश्च कर्त्तव्या धनं येषां श्वगर्द्दभम् ॥
वासांसि मृतचेलानि भिन्नभाण्डेषु भोजनम् ।
कार्ष्णायसमलङ्कारः परिव्रज्या च नित्यशः ॥
न तैः समयमन्विच्छेत् पुरुषो धर्म्ममाचरन् ।
व्यवहारो मिथस्तेषां विवाहः सदृशैः सह ॥
अन्नं येषां पराधीनं देयं स्याद्भिन्नभाजने ।
रात्रौ न विचरेयुस्ते ग्रामेषु नगरेषु च ॥
दिवा चरेयुः कार्य्यार्थं चिह्निता राजशासनैः ।
अबान्धवं शवञ्चैव निर्हरेयुरिति स्थितिः ॥
वध्यांश्च हन्युः सततं यथाशास्त्रं नृपाज्ञया ।
वध्यवासांसि गृह्णीयुः शय्याश्चाभरणानि च ॥*॥
चाण्डालः श्वपचः क्षत्ता सूतो वैदेहकस्तथा ।
मागधायोगवौ चैव सप्तैतेऽन्त्यावसायिनः ॥"
तस्यान्नभक्षणे प्रायश्चित्तं यथा,—
"अन्त्यावसायिनामन्नमश्नीयाद्यस्तु कामतः ।
स तु चान्द्रायणं कुर्य्यात् तप्तकृच्छ्रमथापि वा ॥"
इति प्रायश्चित्ततत्त्वधृताङ्गिरोवचनम् ॥

श्वपाकः, पुं, (शुनां पाकः कार्य्यत्वेन यस्य ।) चण्डालः । इत्यमरः ॥ तस्योत्पत्तिर्यथा,—
"क्षत्तुर्जातस्तथोग्रायां श्वपाक इति कीर्त्त्यते ॥"
इति मानवे १० अध्यायः ॥ * ॥
रजस्वलायास्तस्य स्पर्शने प्रायश्चित्तं यथा,—
"चाण्डालेन श्वपाकेन संस्पृष्टा चेत् रजस्वला ।
अतिक्रम्य तान्यहानि प्रायश्चित्तं समाचरेत् ॥
त्रिरात्रमुपवासः स्यात् पञ्चगव्येन शुध्यति ।
तां निशान्तु व्यतिक्रम्य स्नानाद्यन्तु कारयेत् ॥"
इति वचनान्तरदर्शनात् एतत् कामतः । अज्ञाने वृहस्पतिः ।
"पतितान्त्यश्वपाकैस्तु संस्पृष्टा स्त्री रजस्वला ।
तान्यहानि व्यतिक्रम्य प्रायश्चित्तं समाचरेत् ॥
प्रथमेऽह्नि त्रिरात्रन्तु द्वितीये द्व्यहमाचरेत् ।
अहोरात्रं तृतीयेऽह्नि चतुर्थे नक्तमाचरेत् ॥"
चतुर्थेऽह्नीति शुद्धिस्नानात् पूर्व्वम् । इति प्रायश्चित्ततत्त्वम् ॥

श्वफलः, पुं, (श्वप्रियं फलमस्य ।) बीजपूरः । इति रत्नमाला ॥

श्वफल्कः, पुं, वृष्णिपुत्त्रः । स च अक्रूरपिता । यथा । अनमित्रस्यान्वयेऽन्यो वृष्णिः । तस्मात् श्वफल्कः । तत्प्रभावः कथित एव । श्वफल्कस्याश्च

कनीयान् चित्रको नाम भ्राता। श्वफल्कादक्रूरो गान्दिन्यामभवत्। इति विष्णुपुराणे ४ अंशे १४ अध्यायः॥

श्वभीरुः, पुं, (शुनः कुक्कुरात् भीरुर्भयशीलः।) शृगालः। इति शब्दमाला॥

श्वभ्र, क विले। गतौ। तङ्के। इति कविकल्पद्रुमः॥ (चुरा०-पर०-सक०-तङ्के अक०-सेट्।) विलं रन्ध्रकरणम्। क, श्वभ्रयति भार्क्षं बालकः। तङ्क इति तकि दीःस्थ्ये इत्यस्य रूपम्। श्वभ्रयति दीनः दुःखेन जीवतीत्यर्थः। तङ्कस्थाने तन्त्र इत्यपपाठः। इति दुर्गादासः॥

श्वभ्रं, क्ली, (श्वभ्राति यदिति। श्वभ्र विले+कर्म्मणि घञ्।) छिद्रम्। इत्यमरः॥ (यथा, मार्कण्डेये। ४३। २६।

"पततो यस्य वै गर्त्ते स्वप्ने द्वारं पिधीयते।
न चोत्तिष्ठति यः श्वभ्रात् तदन्तं तस्य जीवितम्॥")

श्वयथुः, पुं, (टु ओ श्वि गतिवृद्ध्योः+"द्वितोऽथुच्।" ३। ३। ८६। अथुच्।) शोथः। इत्यमरः॥ (यथा, वृहत्संहितायाम्। ३२। १०।

"श्वयथुश्वासोन्मादज्वरकासभवा वणिक्पीडा॥")

श्वयीची, स्त्री, (श्वयतीति। श्वि गतिवृद्ध्योः+"श्वयतेश्चित्।"उणा० ४। ७१। इति ईचिः। वा ङीष्।) पीडा। इति सिद्धान्तकौमुदी॥

श्वल, वेगे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-पर०-अक०-सेट्।) वकारयुक्तादिः। श्वलति। वेगः शीघ्रगतिः। इति दुर्गादासः॥

श्वल्क, क भाषे। इति कविकल्पद्रुमः। (चुरा०-पर०-सक०-सेट्।) वकारयुक्तलकारयादिरन्तःस्थतृतीयोपधः। क, श्वल्कयति। भाषः कथनम्। इति दुर्गादासः॥

श्वल्ल, वेगे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-पर०-अक०-सेट्।) वकारयुक्तादिः लद्वयान्तः। श्वल्लति। वेगः शीघ्रगतिः। इति दुर्गादासः॥

श्ववृत्तिः, स्त्री, (शुनः कुक्कुरस्येव पराधीना वृत्तिः।) सेवा। इत्यमरः॥ चाकरी इति भाषा। शुन इव वृत्तिः परपिण्डोपजीवनात्। इति भरतः॥ अपि च।

"सत्यानृतन्तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते।
सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत्॥"
इति मानवे ४ अध्याये ६ श्लोकः॥

"सेवा तु दीनदृष्टिसन्दर्शनस्वामितर्ज्जननीचक्रियादिधर्म्मयोगात् शुन इव वृत्तिरतः श्ववृत्तिरुक्ता तस्मात्तां प्रकृतो ब्राह्मणस्त्यजेत्।" इति कुल्लूकभट्टः॥

श्वव्याघ्रः, पुं, (शुनो व्याघ्रः।) हिंस्रपशुः। यथा,

"शार्दूलः पुण्डरीकश्च द्वीपी चाथ मृगादनः।
श्वव्याघ्रश्च तरक्षुश्च याडश्च श्वापदः समौ॥"
इति जटाधरः॥

श्वशुरः, पुं, (शु आशु अश्यते व्याप्यते इति। अश+"शावशेराप्तौ।"उणा० १। ४५। इति उरन्। "शुशब्दोऽत्राशुशब्दाभिधायी। आशु व्यापकः श्वशुर इति धातुपारायणम्।" इति तट्टीकायां उज्ज्वलदत्तः॥) पतिपत्न्योः पिता। इत्यमरः॥ (यथा,—

"असारे खलु संसारे सारः श्वशुरमन्दिरम्।
हिमालये हरः शेते हरिः शेते महोदधौ॥"
इत्युद्भटः॥)

पूज्यः। इति मेदिनी॥

श्वशुरौ, पुं, (श्वश्रूश्च श्वशुरश्च तौ। "श्वशुरः श्वश्र्वा।" १। २। ७१। इति पाणिनि एकशेषः।) श्वश्रूश्वशुरौ। द्विवचनान्तोऽयम्। इत्यमरः॥ श्वशुर शाशुड़ी इति भाषा॥

श्वशुर्य्यः, पुं, (श्वशुरस्यापत्यमिति। श्वशुर+"राजश्वशुरात् यत्।" ४। १। १३७। इति यत्।) देवरः। श्यालः। इत्यमरः॥ (यथा, कथासरित्सागरे। १६। ५७।

"ददौ वैदेहदेशे च राज्यं गोपालकाय सः।
सत्कारहेतोर्नृपतिः श्वशुर्य्यायाशुगच्छते॥")

श्वश्रूः, स्त्री, (श्वशुरस्य स्त्री। श्वशुर+"श्वशुरस्योकारलोपश्च।"४। १। ६८। इत्यस्य वार्त्तिकोक्त्या ऊङ् उकारलोपश्च।) पतिपत्न्योः प्रसूः। इत्यमरः॥ शाशुड़ी इति भाषा॥ * ॥ तस्याः स्नुषाभिः सहाविश्वासकारणं यथा,—

धर्म्मव्याध उवाच।

"मया ते दुहिता दत्ता पुत्त्रार्थे वरवर्णिनी।
सा च त्वद्भार्य्यया प्रोक्ता दुहिता जन्तुघातिनः॥
अतोऽर्थमागतोऽहं ते गृहं प्रति समीक्षितुम्।
आचारं देवपूजाञ्च अतिथीनाञ्च तर्पणम्॥
एतेषामेकमप्यत्र कुर्व्वन्नपि न दृश्यते।
तद्गृहं गन्तुमिच्छामि पितुर्मां आहुकान्यथा॥
स्वगृहे नैव भुञ्जामि पितॄणां कार्य्यमित्युत।
अहं व्याधो जीवघाती न तु तल्लोकहिंसकः॥
मत्सुता जीवघातस्य यदूढ़ा त्वत्सुतेन च।
त्वमहत्वञ्च संप्राप्तं प्रायश्चित्तं तपोधन॥
एवमुक्त्वा स चोत्थाय शुभा नारीं तदा गृहे।
मा स्नुषाभिः समं श्वश्र्वा विश्वासो भवतु क्वचित्॥
मा च स्नुषा कदाचित् स्यात् या श्वश्रूं जीवतीमिषेत्।
एवमुक्त्वा गतो व्याधः स्वगृहं प्रति भामिनि॥"
इति वाराहे आदिकृतवृत्तान्तनामाध्यायः॥

श्वश्रूश्वशुरौ, पुं, (श्वश्रूश्च श्वशुरश्च तौ।) श्वश्रूश्वशुरयोः सहोक्तिः। तत्पर्य्यायः। श्वशुरौ २। इत्यमरः॥

श्वस, ष लु प्राणने। इति कविकल्पद्रुमः॥ (अदा०-पर०-अक०-सेट्।) "वकारयुक्तादिः। ष लु, श्वसिति लोकः जीवतीत्यर्थः। आश्वसेयुर्निशाचरान्। इति भट्टौ। न विश्वसेत् पूर्व्वविरोधितस्येति। पञ्चतन्त्रे।

'न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत्।'

इत्यादौ च गणकृतमनित्यमिति न्यायात् शपः स्थितौ साध्यम्। अथवा क्वादेराकृतिगणत्वात् तत्र द्रष्टव्यम्। वस्तुतस्तु पचादित्वादपि श्वस इवाचरतीति क्वौ साध्यम्।" इति दुर्गादासः॥

श्वस, लु र स्वप्ने। इति कविकल्पद्रुमः॥ (अदा०-पर०-अक०-सेट्।) लु, श्वस्ति। र, वैदिकः। इति दुर्गादासः॥

श्वसनं, क्ली, (श्वस+ल्युट्।) श्वसितम्। निश्वासः। इति मेदिनी॥ (यथा, किराते। १०। ३४।

"श्वसनचलितपल्लवाधरोष्ठे
नवनिहितेर्ष्यमिवावधूनयन्ती॥" * ॥

स्पर्शनम्। इति श्रीधरस्वामी॥ यथा, भागवते। २। २। २६।

"घ्राणेन गन्धं रसनेन वै रसं
रूपञ्च दृष्ट्या श्वसनं त्वचैव॥")

श्वसनः, पुं, (श्वसितीति। श्वस+ल्युः।) वायुः। (यथा, वृहत्संहितायाम्। ३४। २।

"इन्द्रयमवरुणनिर्ऋति-
श्वसनेशपितामहाग्निहुताः॥")

मदनवृक्षः। इत्यमरः॥

श्वसनाशनः, पुं, (श्वसनो वायुरशनं भक्ष्यं यस्य।) सर्पः। इति हारावली॥ (यथा, राजतरङ्गिण्याम्। १। २२५।

"अगाद तं द्विजश्रान्तं निश्वस्य श्वसनाशनः॥")

श्वसनेश्वरः, पुं, (श्वसन ईश्वरो यस्य।) अर्ज्जुनवृक्षः। इति शब्दचन्द्रिका॥

श्वसनोत्सुकः, पुं, (श्वसनाय उत्सुकः।) सर्पः। इति शब्दरत्नावली॥

श्वसितं, क्ली, (श्वस+क्तः।) श्वासः। यथा,—

"श्वासस्तु श्वसितं सोऽन्तर्मुखे उच्छ्वास आहरः।
आनो बहिर्मुखस्तु स्यान्निःश्वासः पान एतनः॥"
इति हेमचन्द्रः॥

श्वसुनः, पुं, (श्वस+बाहुलकात् उनन्।) चतस्रवृक्षः। इति शब्दचन्द्रिका॥ कुक्करशोङ्गा इति भाषा॥

श्वस्तनं, त्रि, (श्वो भवम्। श्वस्+"ऐषमोह्यःश्वसोऽन्यतरस्याम्।"४। २। १०५। इति त्यब्भावे ट्युट्युलौ तुट् च।) भविष्यद्वस्तु। इति शब्दमाला॥ (यथा, भागवते। ११। ८। १२।

"सायन्तनं श्वस्तनं वा न संगृह्णीत भिक्षुकः।
मक्षिका इव संगृह्णन् सह तेन विनश्यति॥")

भविष्यत्काले, क्ली। इति राजनिर्घण्टः॥

श्वस्त्यं, त्रि, (श्वो भवमिति। श्वस्+"ऐषमोह्यःश्वसोऽन्यतरस्याम्।"४।२। १०५। इति त्यप्।) श्वोभववस्तु। इति शब्दमाला॥

श्वा, [न्] पुं, (श्वयति गच्छतीति। श्वि गतौ+"श्वन् उक्षन् पूषन्निति।" उणा० १। १५८। इति कनिन्प्रत्ययेन साधु।) कुक्कुरः। तत्पर्य्यायः।

"कुक्कुरः श्वा च भषकः शुनको मृगदंशकः।
कौलेयको रात्रिदेवः सारमेयो रतव्रणः॥
कुक्कुरो दीर्घसुरतः श्वानो ग्रामसृगोऽपि च।
वक्रपुच्छः शयालुः स्यात् शरत्कान्यरतत्रपः॥
औषधादियोगितः श्वा स्यादलर्कोऽप्यलर्ककः।

मृगयाकुशलः श्वा तु विश्वकद्रुः शुभाननम् ॥"
इति शब्दरत्नावली ॥

श्वागणिकः, त्रि, श्वगणेन चरति यः । "श्वगणात् ठञ् च ।" ४।४।११ । इति ठञ् । श्वगणेन चरति श्वागणिकः श्वागणिकी श्वगणिकः श्वगणिकी । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥

श्वादन्तः, पुं, (शुनो दन्त इव दन्तो यस्य । "शुनो दन्तदंष्ट्रेति ।" ६ । ४ । १२७ । इत्यस्य वार्त्तिकोक्त्या दीर्घः ।) कुक्कुरदशनः । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥

श्वानः, पुं, (श्वा एव । श्वन् + स्वार्थे अण् ।) कुक्कुरः । इति शब्दरत्नावली ॥ (शुनां समूहः । खण्डिकादित्वात् अञ् । कुक्कुरसमूहे, क्ली ॥)

श्वानचिल्लिका, स्त्री, (श्वानप्रिया चिल्लिका ।) शुनकचिल्ली । इति राजनिर्घण्टः ॥

श्वानी, स्त्री, (श्वान + स्त्रियां ङीप् ।) कुक्कुरी । इति शब्दरत्नावली ॥

श्वापदः, पुं, (शुन इव पदं यस्य । "शुनो दन्तदंष्ट्राकर्णकुन्दवराहपुच्छपदेषु ।" ६ । ४ ।१३७। इत्यस्य वार्त्तिकोक्त्या दीर्घः ।) हिंस्रपशुः । इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, विष्णुपुराणे ।१।५।५१।
"श्वापदो द्विखुरो हस्ती वानरः पक्षिपञ्चमः ।
औदकाः पशवः षष्ठाः सप्तमास्तु सरीसृपाः ॥")
व्याघ्रः । इति शब्दरत्नावली ॥

श्वावित्, [ध्] पुं, (श्वानं विध्यतीति । व्यध + क्विप् । "नहि वृतीति ।" ६ । ३ । ११६ । इति दीर्घः ।) शल्यः । इत्यमरः ॥ सजारु इति भाषा ॥ (यथा, मनुः । ५ । १८ ।
"श्वाविधं शल्यकं गोधां खड्गकूर्म्मशशांस्तथा ।
भक्ष्यान् पञ्चनखेष्वाहुरनुष्ट्रांश्चैकतो दतः ॥")

श्वाविद्, [ध्] पुं, (श्वानं विध्यतीति । व्यध + क्विप् । "नहिवृतीति ।" ६ । ३ । ११६ । इति दीर्घः ।) शल्यः । इत्यमरः ॥ सजारु इति भाषा ॥

श्वाश्वः, पुं, (श्वा कुक्कुरः अश्व इव वाहनं यस्य ।) भैरवः । कुक्कुरवाहनत्वात् । इति केचित् ॥

श्वासः, पुं, (श्वसित्यनेनेति । श्वस + करणे घञ् । यद्वा, श्वसितीति । श्वस + "श्याद्व्यधेति ।" ३ । १ । १४१ । इति णः ।) श्वसितम् । वायुः । इति हेमचन्द्रः ॥ तत्पर्य्यायः । प्राणः २ । इति राजनिर्घण्टः ॥ (यथा, साहित्यदर्पणे ।३।१४७।
"श्वासान् मुञ्चति भूतले विलुठति त्वन्मार्ग-
मालोकते
दीर्घं रोदिति विक्षिपत्यत इतः क्षामां भुजा-
वल्लरीम् ॥")
रोगविशेषः । स तु बलवान् महापातकजः । यथा,—
"उन्मादश्च त्वचां दोषो राजयक्ष्माश्मरी तथा ।
श्वासश्च मधुमेहौ द्वावुदरी पापसंज्ञकाः ॥
इति नारदोक्तम् ॥"
इति शुद्धितत्त्वम् ॥ स च हीनबल उपपातकजः । यथा,—
"जलोदरयकृत्प्लीहशूलरोगव्रणानि च ।
श्वासाजीर्णज्वरच्छर्द्दिभ्रममोहगलग्रहाः ।
रक्तार्ब्बुदविसर्पाद्या उपपापोद्भवा गदाः ॥"
इति मलमासतत्त्वम् ॥ * ॥
अथ श्वासाधिकारः । तत्र निदानमाह ।
"यैरेव कारणैर्हिक्का देहिनां संप्रवर्त्तते ।
तैरेव बहुभिः श्वासो व्याधिर्घोरः प्रजायते ॥"
श्वासस्य भेदानाह ।
"महोर्द्ध्वच्छिन्नतमकक्षुद्रभेदैस्तु पञ्चधा ।
भिद्यते स महाव्याधिः श्वास एको विशेषतः ॥" * ॥
पूर्ब्बरूपमाह ।
"प्राग्रूपं तस्य हृत्पीडा शूलमाध्मानमेव च ।
आनाहो वक्त्रवैरस्यं शङ्खनिस्तोद एव च ॥" * ॥
संप्राप्तिमाह ।
"यदा स्रोतांसि संरुध्य मारुतः कफपूर्ब्बकः ।
विष्वग्व्रजति संरुद्धस्तदा श्वासं करोति सः ॥"
स्रोतांसि प्राणोदकान्नवहानि । कफपूर्ब्बकः कफः पूर्ब्बः प्रधानं यस्य सः । विष्वग्व्रजति सर्व्वतो विमार्गान् याति । संरुद्धः कफेन रुद्धमार्गः ॥ * ॥ महाश्वासस्य लक्षणमाह ।
"उद्धूयमानवातो यः शब्दवत् दुःखितो नरः ।
उच्चैः श्वसिति संरुद्धो मत्तर्षभ इवानिशम् ॥
प्रनष्टज्ञानविज्ञानस्तथा विभ्रान्तलोचनः ।
विकृताक्ष्याननो बद्धमूत्रवर्च्चा विशीर्णवाक् ॥
दीनः प्रश्वसितं चास्य दूरात् विज्ञायते भृशम् ।
महाश्वासोपसृष्टस्तु क्षिप्रमेव विपद्यते ॥"
उद्धूयमानवातः ऊर्द्ध्वं नीयमानो वातो यस्य सः । शब्दवत् शब्दं यथा स्यात् । कीदृक् स शब्दस्तद्बोधयितुमाह । मत्तर्षभ इव उच्चैः श्वसितीत्यन्वयः । संरुद्धः आनद्धः आनाहयुक्त इति यावत् । ज्ञानं शास्त्रम् । विज्ञानं तदर्थविनिश्चयः । विशीर्णवाक् स्खलितवचनः । दीनः म्लानः । मारकश्चायं महाश्वासः ॥ * ॥ ऊर्द्ध्वश्वासमाह ।
"ऊर्द्ध्वं श्वसिति योऽत्यर्थं न च प्रत्याहरत्यधः ।
श्लेष्मावृतमुखस्रोतः क्रुद्धगन्धवहार्द्दितः ॥
ऊर्द्ध्वदृष्टिर्विपश्यंस्तु विभ्रान्ताक्ष इतस्ततः ।
प्रमुह्यन् वेदनार्त्तश्च शुष्कास्यो रतिपीडितः ॥
ऊर्द्ध्वश्वासे प्रकुपिते ह्यधःश्वासो निरुध्यते ।
मुह्यतस्ताम्यतश्चोर्द्ध्वं श्वासस्तस्यैव हन्त्यसून् ॥"
सर्व्वेषु श्वासेषूर्द्ध्वं श्वसिति । अत्र अत्यर्थमिति विशेषः । न च प्रत्याहरत्यधः न श्वासमधः करोति । श्लेष्मावृतेत्यादि । श्लेष्मणा आवृतं यन्मुखं स्रोतांसि च तैः क्रुद्धो यो गन्धवहस्तेनार्द्दितः । विपश्यन् इतस्ततो विकृतं यथा स्यादेवं पश्यन् । अधःश्वासो निरुध्यते श्वासो नाधः प्रवर्त्तत इत्यर्थः ॥ * ॥ ऊर्द्ध्वश्वासस्यारिष्टस्य लक्षणमाह । मुह्यतो मोहं प्राप्नुवतः ताम्यतो ग्लानिं प्राप्नुवतश्च ऊर्द्ध्वश्वासः असून् प्राणान् हन्ति । तस्यैवेति न तु मोहग्लानिरहितस्य ॥ * ॥ छिन्नश्वासमाह ।
"यस्तु श्वसिति विच्छिन्नं सर्व्वप्राणेन पीडितः ।
न चाश्वसिति दुःखार्त्तो मर्म्मच्छेदरुजार्द्दितः ॥
आनाहस्वेदमूर्च्छार्त्तो दह्यमानेन वस्तिना ।
विप्लुताक्षः परिक्षीणः श्वसन् रक्तैकलोचनः ॥
विचेताः परिशुष्कास्यो विवर्णः प्रलपन्नरः ।
छिन्नश्वासेन विच्छिन्नः स शीघ्रं विजहात्यसून् ॥"
विच्छिन्नं सविच्छेदम् । सर्व्वप्राणेन यावद्बलेन । मर्म्मच्छेदरुजार्द्दितः हृदयशिरश्छेदवेदनयेव पीडितः । दह्यमानेन वस्तिना उपलक्षितः । विप्लुताक्षः अश्रुपूर्णनेत्रः । विचेता उद्विग्नचित्तः । छिन्नश्वासेन विच्छिन्नः सः । यस्तु श्वसिति विच्छिन्नमित्यादिलक्षणयुक्तो यः स नरश्छिन्नश्वासेन विच्छिन्नः पीडितो बोद्धव्य इत्यर्थः । मारकश्चायं विच्छिन्नश्वासः ॥ * ॥
तमकश्वासमाह ।
"प्रतिलोमं यदा वायुः स्रोतांसि प्रतिपद्यते ।
ग्रीवां शिरश्च संगृह्य श्लेष्माणं समुदीर्य्य च ॥
करोति पीनसन्तेन कण्ठे घुर्घुरकं तथा ।
अतीव तीव्रवेगञ्च श्वासं प्राणप्रपीडकम् ॥
प्रताम्यति स वेगेन त्रस्यते संनिरुध्यते ।
प्रमोहं कासमानश्च स गच्छति मुहुर्म्मुहुः ॥
श्लेष्मण्यमुच्यमाने तु भृशं भवति दुःखितः ।
तस्यैव च विमोक्षान्ते मुहूर्त्तं लभते सुखम् ॥
तथास्योद्ध्वंसते कण्ठः कृच्छ्राच्छक्नोति भाषितुम् ।
न चापि निद्रां लभते शयानः श्वासपीडितः ॥
पार्श्वे तस्यावगृह्णाति शयानस्य समीरणः ।
आसीनो लभते सौख्यमुष्णञ्चैवाभिनन्दति ॥
उच्छ्रिताक्षो ललाटेन स्विद्यता भृशमार्त्तिमान् ।
विशुष्कास्यो मुहुः श्वासो मुहुश्चैवावधम्यते ॥
मेघाम्बुशीतप्राग्वातैः श्लेष्मलैश्च विवर्द्धते ।
स याप्यस्तमकः श्वासः साध्यो वा स्यान्नवो-
त्थितः ॥"
संगृह्य व्यथया समुदीर्य्य वर्द्धयित्वा । पीनसं नासास्रावम् । तेन श्लेष्मणा घुर्घुरकं घुर्घुरशब्दम् । प्राणप्रपीडकं प्राणाधिष्ठानहृदयप्रपीडकम् । प्रताम्यति तमसि प्रविशतीव । वेगेन श्वासवेगेन । संनिरुध्यते निश्चेष्टो भवतीति चक्रः । संनिरुध्यते श्वास इति जेज्जटः । श्लेष्मणा अमुच्यमानेन । सुखं सुखमिव । उद्ध्वंसते व्यथितो भवति । शयानः शय्यानिहिताङ्गः । अवगृह्णाति पीडयति । उष्णञ्चैवाभिनन्दति इत्यनेन तमको वातकफारब्ध इति बोद्धव्यम् । उच्छ्रिताक्षः ऊर्द्ध्वाक्षः । ललाटेन स्विद्यता उपलक्षितः । अवधम्यते गजारूढस्येव सर्व्वगात्रं चाल्यते ॥ * ॥ तमकस्यैव पित्तानुबन्धजनितज्वरादियोगेन प्रतमकसंज्ञामाह ।
"ज्वरमूर्च्छापरीतस्य विद्यात् प्रतमकं तु तत् ।
उदावर्त्तरजोऽजीर्णक्लिन्नकायनिरोधतः ॥
तमसा वर्द्धतेऽत्यर्थं शीतैश्चाशु प्रशाम्यति ।
मज्जतस्तमसीवास्य विद्यात् प्रतमकं तु तत् ॥"
क्षुद्रश्वासमाह ।
"रूक्षायासोद्भवः कोष्ठे क्षुद्रो वात उदीरयन् ।
क्षुद्रश्वासेन सोऽत्यर्थं दुःखेनाङ्गप्रबाधकः ॥
हिनस्ति न च गात्राणि न च दुःखो यथेतरे ।

न च भोजनपानानां निरुणद्ध्युचितां गतिम् ॥
नेन्द्रियाणां यथाचापि काञ्चिदुत्पादयेद्रुजम् ।
स साध्य उक्तो बलिनः सर्व्वे वा व्यक्तलक्षणाः ॥”
क्षुद्रः अल्पनिदानलिङ्गः । उदीरयन् ऊर्द्ध्वं-
गच्छन् । दुःखः दुःखप्रदः । सर्व्वे महाश्वासा-
दयोऽपि ॥ * ॥ श्वासानां साध्यत्वादिकमाह ।
“क्षुद्रः साध्यतमस्तेषां तमकः कृच्छ्र उच्यते ।
त्रयः श्वासा न सिध्यन्ति तमको दुर्ब्बलस्य च ॥
कामं प्राणहरा रोगा बहवो न ज्वरादयः ।
तथा यथा श्वासहिक्के हरतो जीवमाशु तै ॥”
अथ श्वासस्य चिकित्सा ।
“श्वासहिक्कातुरं प्रायः स्निग्धैः स्वेदैरुपाचरेत् ।
युक्तैर्लवणतैलाभ्यां तैरस्य ग्रथितः कफः ॥
श्वासो विलयमायाति मारुतश्चोपशाम्यति ।
स्निग्धं ज्ञात्वा ततश्चैनं भोजयेच्च रसौदनम् ॥
स्वरसं शृङ्गवेरस्य माक्षिकेण समन्वितम् ।
पाययेत् श्वासकासघ्नं प्रतिश्यायकफापहम् ॥”
शृङ्गवेरमार्द्रकम् ।
“प्रस्थं विभीतकानां अस्थि विना साधयेदजा-
म्भे ।
अयमवलेहो लीढो मधुसहितः श्वासकासघ्नः ॥
दशमूली शटी रास्ना पिप्पली विश्वपौष्करी ॥
शृङ्गतामलकीभार्गीगुडूचीनागरामिभिः ॥
यवागूं विधिना सिद्धां कषायं वा पिबेन्नरः ।
श्वासहृद्ग्रहपार्श्वार्त्तिहिक्काकासप्रशान्तये ॥”
तामलकी भूम्यामलकी ।
“दशमूलस्य वा क्वाथः पौष्करेणावचूर्णितः ।
श्वासकासप्रशमनः पार्श्वशूलविनाशनः ॥
रम्भाकुन्दशिरीषाणां कुसुमं पिप्पलीयुतम् ।
पिष्ट्वा तण्डुलतोयेन पीत्वा श्वासमपोहति ॥
शृङ्गीमहौषधकणाघनपुष्कराणां
चूर्णं शटीमरिचयोश्च सिताविमिश्रम् ।
क्वाथेन पीतमन्हता वृषपञ्चमूल्या
श्वासं भरेण विनिहन्ति हि घोररूपम् ॥
पञ्चमूली तु सामान्यात् पित्ते योज्या कनीयसी ।
महती मारुते देया सैव देया कफेऽधिके ॥
कुष्माण्डकशिफाचूर्णं पीतं कोष्णेन वारिणा ।
शीघ्रं शमयति श्वासं कासञ्चापि सुदारुणम् ॥
हरिद्रां मरिचं द्राक्षां कणां रास्नां शटीं
गुडम् ।
कटुतैलं लिहन् हन्यात् श्वासान् प्राणहरानपि ॥
शतं संगृह्य भार्ग्यास्तु दशमूल्यास्तथापरम् ।
शतं हरीतकीनाञ्च पचेत्तोये चतुर्गुणे ॥
पादावशेषे तस्मिंस्तु रसे वस्त्रनिपीड़िते ।
आलोड्य च तुलां पूतां गुड़स्य त्वभयां ततः ॥
पुनः पचेत्तु मृद्वग्नौ यावल्लेहत्वमेति तत् ।
शीते च मधुनस्तत्र षट् पलानि विनिक्षिपेत् ॥
त्रिकटु त्रिसुगन्धञ्च पलमात्रं पृथक् पृथक् ।
यवक्षारं कर्षयुग्मं संचूर्ण्य प्रक्षिपेत्ततः ॥
भक्षयेदभयामेकां लेहस्यार्द्धं पलं तथा ।
श्वासं सुदारुणं हन्ति कासं पञ्चविधं तथा ॥
अर्शांस्यरोचकं गुल्मं शकृद्भेदं क्षयं तथा ।
स्वरवर्णप्रदो ह्येष जठराग्नेश्च दीपनः ।
नाम्ना भार्गीगुड़ख्यातो भिषग्भिः सकलैर्मतः ॥”
इति भार्गीगुड़ः ॥
“रसो गन्धो विषञ्चापि टङ्कणञ्च मनःशिला ।
एतानि कर्षमात्राणि मरिचं चाष्टकर्षकम् ॥
कटुत्रयं कर्षयुग्मं पृथगत्र विनिःक्षिपेत् ।
रसः श्वासकुठारोऽयं सर्व्वश्वासनिवारणः ॥”
श्वासकुठारो रसः । इति श्वासाधिकारः । इति
भावप्रकाशः ॥ * ॥ अन्यच्च ।
“विभीतकस्य वै चूर्णं समधु श्वासनाशनम् ।
पिप्पलीत्रिफलाचूर्णं मधुसैन्धवसंयुतम् ।
सर्व्वरोगज्वरश्वासशोषपीनसहृद्भवेत् ॥”
इति गारुड़े १८६ अध्यायः ॥ * ॥
तस्य पुराणोक्तनिदानं यथा,—
धन्वन्तरिरुवाच ।
“अथातः श्वासरोगस्य निदानं प्रवदाम्यहम् ।
कासवृद्ध्या भवेच्छ्वासः पूर्व्वैर्वा दोषकोपनैः ॥
आमातिसारवमथुविषपाण्डुज्वरैरपि ।
रजोधूमानिलैर्म्मर्म्मघातादपि हिमाम्बुना ॥
क्षुद्रकस्तमकश्छिन्नो महानूर्द्ध्वश्च पञ्चमः ।
कफोपरुद्धगमनः पवनो विष्वगास्थितः ॥
प्राणोदकान्नवाहीनि दुष्टस्रोतांसि दूषयन् ।
उरःस्थः कुरुते श्वासमामाशयसमुद्भवम् ॥*॥
प्राग्रूपं तस्य हृत्पार्श्वशूलं प्राणविलोमता ।
आनाहः शङ्खभेदश्च तत्रापासीत भोजनैः ॥
प्रेरितः प्रेरयन् क्षुद्रं स्वयं संसमलं मरुत् ।
प्रतिलोमं शिरा गच्छेत् उदीर्य्य पवनः कफम् ॥
परिगृह्य शिरोग्रीवमुरःपार्श्वे च पीड़यन् ।
कासं घुर्घुरकं मोहमरुचिं पीनसं भृशम् ॥
करोति तीव्रवेगञ्च श्वासं प्राणोपतापनम् ।
प्रशाम्येत्तस्य वेगेन निष्ठूतान्ते क्षणं सुखी ॥
कृच्छ्राच्छयानः श्वसिति निषण्णः स्वास्थ्य-
मिच्छति ।
उच्छ्रिताक्षो ललाटेन स्विद्यता भृशमार्त्तिमान् ॥
विशुष्कास्यो मुहुःश्वासः कांक्षत्युष्णं सवेपथुम् ।
मेघाम्बुशीतप्राग्वातैः श्लेष्मलैश्च विवर्द्धते ॥
स याप्यस्तमकः साध्यो नरस्य बलिनो भवेत् ।
ज्वरमूर्च्छायुतः शीतैः शाम्येत् प्रतमकस्तु सः ॥
कासश्वसितविच्छिन्नमर्म्मच्छेदरुजार्द्दितः ।
सस्वेदमूर्च्छः सानाहो वस्तिदाहनिरोधवान् ॥
अधोदृष्टिः श्रुताक्षस्तु सुव्यग्रक्तकलोचनः ।
शुष्कास्यः प्रलपन् दीनो नष्टच्छायो विचेतनः ॥
महतामहता दीनो नादेन श्वसिति क्रथन् ।
उद्धूयमानः संरब्धो मत्तर्षभ इवानिशम् ॥
प्रनष्टज्ञानविज्ञानो विभ्रान्तनयनाननः ।
अक्षं समाक्षिपन्बद्धमूत्रवर्चा विशीर्णवाक् ॥
शुष्ककण्ठो मुहुर्म्मुहुः कर्णशङ्खशिरोऽभिरुक् ।
यो दीर्घमुच्छ्वसित्यूर्द्ध्वं न च प्रत्याहरत्यधः ॥
श्लेष्मावृतमुखस्रोताः क्रुद्धगन्धवहार्द्दितः ।
ऊर्द्ध्वदृग्वीक्षते भ्रान्तमक्षिणी परितः क्षिपन् ॥
मर्म्मसु च्छिद्यमानेषु परिदेवी निरुद्धवाक् ।
एते सिद्ध्युरयत्नात्ता व्यक्ताः प्राणहरा ध्रुवम् ॥”
इति गारुड़े श्वासरोगनिदानं १५४ अध्यायः ॥
अथ श्वासरोगस्य कर्म्मविपाकः ।
“श्वासरोगो महाशुग्रो देहिदेहावघातकः ।
कर्म्मणा येन भवति तन्मे निगदतः शृणु ।
महोर्द्ध्वच्छिन्नतमकक्षुद्राभेदोऽस्य पञ्चधा ॥
श्वासः संजायते नृणां पृथक् कर्म्मानुसारतः ॥
यस्तु यज्ञं समासाद्य पशुश्वासं निरुध्य च ।
हन्ति खादन्ति वा तस्य महाश्वासेन गृह्यते ॥१॥
पौराणिककथामध्ये यस्तु वाचान्यथा वदेत् ।
स ऊर्द्ध्वश्वासमासाद्य दुर्नोत्यहरहर्निशम् ॥२॥
निषिद्धदानग्रहणात् छिन्नश्वासेन गृह्यते ।३।
मर्त्यः शास्त्रार्थनिर्णीतवाक्यं यो दूषयत्यपि ॥
पीड्यते तमकश्वासैः क्षुद्रैः पाकस्य विघ्नतः ।४।५
परत्र कर्म्मतो देही नरकेषु विपच्यते ॥
नरकान्ते पुनर्याति योनिं शूकरवायसीम् ।
पृथक्कर्म्मवशाद्योनिं गत्वा संप्राप्य तप्यते ॥
मानुषत्वमनुप्राप्य पूर्व्वोक्तेनोपगृह्यते ।
श्रुत्वा नृपस्तु वदनं श्वासरोगसमुद्भवम् ।
प्रणम्य भरतः श्रीमान् भृगुं वाचमुवाच ह ॥
राजोवाच ।
श्वासकर्म्मक्षयं येन दानेन नियमेन च ।
क्षणेन मुक्तो भवति तन्मे वद प्रसादतः ॥
भृगुरुवाच ।
हाटकीं कारयेन्मूर्त्तिं भक्त्या वरुणवाक्ययोः ।
ताम्रपात्रोपरि स्थाप्य तत्पात्रं कलसोपरि ॥
राजतं कारयेत् पाशं ध्वजञ्चैव पलद्वयम् ।
वामदक्षिणतो मूर्त्तिं सपाशां गन्धदीपकैः ॥
वायोर्ध्वजसमायुक्तां गन्धमाल्यपरिष्कृताम् ।
वरुणस्यापसव्ये तु कुर्य्याद्वायोः प्रपूजनम् ॥
न च श्वासं विना कासस्तच्छ्वासः कासतोऽपि वा ।
तस्मात् पूज्याविमौ सम्यक् वायुर्वरुण एव च ॥
वारुणं कारयेद्धोमं वरुणस्येति मन्त्रतः ।
घृतक्षौद्रतिलयवैः सहस्रं वा स्वशक्तितः ॥
वायोस्तिलयवैः काय मनोवातेति मन्त्रतः ।
सादरं ब्राह्मणं पूज्य वस्त्रमाल्यानुलेपनादिभिः ॥
कर्म्मोपशमवाक्येन ब्राह्मणाय निवेदयेत् ।
सदक्षिणाञ्च तन्मूर्त्तिं दत्त्वा गाथां पठेन्नरः ॥
ॐ नमः पाशभृते तुभ्यं ध्वजाधिपतये नमः ।
जलाधिपतये तुभ्यं वायो सर्व्वजनप्रिय ॥
शुभाय दीयते दानं ध्वजपाशौ नु राजतौ ।
श्वासकासौ हरेयातां प्रीतौ सर्व्वजनप्रियौ ॥
पूर्व्वजन्मविपाकोत्थौ श्वासकासौ च दारुणम् ।
सहिरण्यं प्रयच्छामि मुक्तोऽहं त्वत्प्रसादतः ॥
सादरं माधवं नत्वा दिग्देवान् भास्करं शिवम् ।
वस्त्रान्तरं क्षतं विप्रं पुनर्भानुमुदीरयेत् ॥
अतः परं प्रकुर्व्वीत यदा सोऽक्षतदुर्व्वहौ ।
श्वासकासौ ज्वरव्याधौ दानं तस्योपशान्तये ॥
पशुघातोद्भवे श्वासे कुर्य्यादग्नेस्तु तर्पणम् ।
ॐ अग्निर्मूर्द्धेति मन्त्रेण छागं दद्यात् सदक्षिणम् ॥
कथाविनाशोद्भवे रोगे कुर्य्यात् सारस्वतं नृप ।
दधिपात्रं सरजतं सरस्वत्यै निवेदयेत् ॥
निषिद्धदानग्रहणे गोदानन्तु समाचरेत् ।

इच्छाहारेण सन्तर्प्य द्विजञ्चापि प्रजापतिम् ॥
होमेनानेन दानेन मुक्तो भवति कर्म्मतः ।
सादरं माधवं नत्वा सन्तर्प्य द्विजपुङ्गवान् ॥
स्नात्वा कलसतोयेन मुक्तो भवति मानुषः ॥"
इति भृगुभरतोक्तश्वासकासकर्म्मविपाकः ॥
अपि च ।
"पिशुनो नरकस्यान्ते जायते श्वासकासवान् ।
घृतं तेन प्रदातव्यं सहस्रपलसम्मितम् ॥"
इति शातातपीयकर्म्मविपाकः ॥

श्वासकासः, पुं, (श्वासयुक्तः कासः ।) श्वासयुक्त-कासरोगः । श्वासजनककासः । यथा,—
"कासवृद्ध्या भवेच्छ्वासः पूर्व्वो वा दोषकोपनैः ।"
इति गारुडे १५४ अध्यायः ॥
अन्यत् श्वासशब्दे द्रष्टव्यम् ॥

श्वासकुठारः, पुं, (श्वासस्य कुठार इव तन्नाशक-त्वात् ।) श्वासरोगस्य औषधविशेषः । यथा,—
"रसो गन्धो विषञ्चापि टङ्कणञ्च मनःशिला ।
एतानि कर्षमात्राणि मरिचञ्चाष्टकर्षकम् ॥
कटुत्रयं कर्षयुग्मं पृथगत्र विनिःक्षिपेत् ।
रसः श्वासकुठारोऽयं सर्व्वश्वासनिवारणः ॥"
इति भावप्रकाशः ॥

श्वासप्रश्वासधारणं, क्ली, (श्वासप्रश्वासयोर्धारणं यत्र ।) प्राणायामः । इति हेमचन्द्रः ॥

श्वासहेतिः, स्त्री, (श्वासस्य हेतिरिव ।) निद्रा । इति हेमचन्द्रः ॥

श्वासारिः, पुं, (श्वासस्य अरिः ।) पुष्करमूलम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

श्वासी, [न्] पुं, (श्वासयतीति । श्वस + णिच् + णिनिः ।) वायुः । इति शब्दरत्नावली ॥ (श्वासोऽस्यास्तीति । इनिः ।) श्वासयुक्ते, त्रि ॥ (यथा, सुश्रुते । १ । २९ ।
"वामाचारा रुदन्तश्च श्वासिनो विक्षतेक्षणाः ।
याम्यां दिशं प्राञ्जलयो विषमैकपदे स्थिताः ।
वैद्यं य उपसर्पन्ति दूतास्ते चापि गर्हिताः ॥"
श्वासरोगयुक्ते च त्रि । यथा, तत्रैव । ६ । ५१ ।
"स्नेहवस्तिं विना केचिदूर्द्ध्वाधश्च शोधनम् ।
मृदुप्रायबलं श्रेष्ठं श्वासिनामादिशन्ति हि ॥")

श्वि, टु ए ओ इर् गतिवृद्ध्योः । इति कविकल्प-द्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट् ।) तालव्यादिः । टु, श्वयथुः । ए, श्वयात् । ओ, शूनः । इर्, अश्वत् अश्वयीत् । इति दुर्गादासः ॥

श्वित, ञ आ ङ शौक्ल्ये । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-आत्म०-अक०-सेट् ।) वकारयुक्तः । ञ, अश्वितत् । आ, श्वितितं श्वित्तम् । ङ, श्वेतते प्रासादः । इति दुर्गादासः ॥

श्वित्रं, क्ली, (श्वेतते इति । श्वित शौक्ल्ये + "स्फायितञ्चिवञ्चीति ।" उणा० २ । १३ । इति रक् ।) श्वेतकुष्ठम् । तत्पर्य्यायः । कुष्ठम् २ । इत्यमरः ॥ श्वेतम् ३ श्वैत्रम् । इति तट्टीका ॥ (यथा, भागवते । ७ । १ । १८ ।
"शपतोरसकृद्विष्णुं यद्ब्रह्म परमव्ययम् ।
श्वित्रं न जातं जिह्वायां नान्धं विविशतुस्तमः ॥")

अथ तत्सादृश्यात् कुष्ठभेदत्वाच्चात्रैव श्वित्र-माह ।
"कुष्ठैकसम्भवं श्वित्रं किलासञ्चारुणं भवेत् ।
निर्द्दिष्टमपरिस्रावि त्रिधातूद्भवसंश्रयम् ॥"
कुष्ठैकसम्भवं कुष्ठेन सह एकतुल्यः सम्भवो निदानं यस्य तत् । श्वित्रस्य भेदानाह । किलासं चारुणं भवेत् । श्वित्रमेव रक्तमांसा-श्रयात् किलासमरुणं भवेत् इत्यन्वयः । ननु कुष्ठस्य श्वित्रस्य को भेदः इत्यत आह । निर्द्दिष्ट-मपरिस्रावीति । श्वित्रमपरिस्रावि भवति कुष्ठन्तु स्रावि अथच त्रिधातूद्भवसंश्रयमिति त्रयो धातवो वातपित्तकफास्तेभ्यः पृथग्भूतेभ्य उद्-भवो यस्य तत् । अथच त्रयो धातवो रक्त-मांसमेदांसि संश्रयोऽधिष्ठानं यस्य तत् । कुष्ठं सान्निपातिकं सर्व्वधातुगतञ्च भवति इति भेदः ॥ दोषभेदेन लक्षणभेदमाह ।
"वाताद्रूक्षारुणं पित्तात्ताम्रं कमलपत्रवत् ।
सदाहं रोमविध्वंसि कफाच्छ्वेतं घनं गुरु ॥
सकण्डूकं क्रमात् रक्तं मांसमेदःसु चादिशेत् ।
वर्णेनैवेदृगुभयं कष्टं तच्चोत्तरोत्तरम् ॥"
अरुणमीषल्लोहितम् । कमलपत्रवत् इत्यनेन मध्ये श्वेतमन्ते लोहितं बोधयति ।
"घनं पुष्टं क्रमाद्रक्तं मांसमेदःसु चादिशेत् ।"
तथा च चरकः ।
"अरुणं रक्तगे वाते ताम्रं पित्ते चलङ्गते ।
श्वेतं स्थे शायि मेदःस्थे श्वित्रं कुष्ठं परं परम् ॥"
इति ॥
उभयं द्विविधमपि श्वित्रं वर्णेन ईदृगेव । अरुणं ताम्रं श्वेतञ्च दोषभेदात् । द्विविधं दोषजं व्रणजञ्च । तथा च भोजः ।
"श्वित्रञ्च द्विविधं विद्याद्दोषजं व्रणजं तथेति ॥"
श्वित्रं साध्यमसाध्यमाह ।
"अशुक्लरोमाबहलमसंसृष्टं मिथो नवम् ।
अनग्निदग्धजं साध्यं श्वित्रं वर्ज्यमतोऽन्यथा ॥"
अबहलं तनु । अन्यच्च ।
"गुह्यपाणितलौष्ठेषु जातमप्यचिरन्तनम् ।
वर्ज्जनीयं विशेषेण किलासं सिद्धिमिच्छता ॥"
गुह्यं मेहनं भगञ्च । तलमत्र पादतलम् । सुश्रुतेनास्ति जातमिति सामान्यतो निर्द्दिष्ट-त्वात् ॥ * ॥ अथ श्वित्रस्य चिकित्सा ।
"विभीतकत्वङ्मलपूजटानां
क्वाथेन कृत्वा गुडसंयुतेन ।
अवल्गुजं बीजमपाकरोति
श्वित्राणि कष्टान्यपि पुण्डरीकम् ॥"
मलपूः कटुम्बरी । अवल्गुजः वाकुची ॥ १ ॥
"कुडवावल्गुजबीजं हरितालं तच्चतुर्थांशम् ।
मनःशिला ताक्ष्यकाद्या गुञ्जाफलमग्निमूलञ्च ॥
मूत्रेण गवां पिष्टं सवर्णताकारकं श्वित्रस्य ।" २ ।
"श्वित्रकुष्ठं व्रणयन्तं पत्राङ्गेनाधिकेन वा ।
गिरिकर्ण्याः सितायाश्च मूलेन परिलेपितम् ॥"
गिरिकर्णी नीलापराजिता । अन्वन्तरीति लोके ॥ ३ ॥

"क्वाथः सवाकुचीचूर्णं धात्रीखदिरसारयोः
शङ्खेन्दुकुन्दधवलं श्वित्रं संसेवितो हन्ति ॥ ४ ॥
मथितेन पिबेच्चूर्णं काकोदुम्बरवल्गुजम् ।
तैलाक्तं घर्म्मसेवी स्यात्तक्राशी श्वित्रहृद्भवेत् ॥"
मथितं निर्जलं विलोडितं दधि । तक्रं चतुर्थांश-जलयुक्तं वस्त्रपूतं दधि ॥ ५ ॥
"खदिरस्य पलान्यष्टौ सोमराज्याः पलद्वयम् ।
त्रिफला पिचुमर्दश्च दारुदार्व्वीच पर्पटः ॥
पृथक् पलान् समुत्कृत्य सिंहिकायाः पलद्वयम् ।
जलाढकद्वये साध्यं यावत् पादावशेषितम् ॥
क्वाथ्यमानश्च हन्त्यौ घृतप्रस्थं विपाचयेत् ।
चतुःपलं सोमराज्याः खदिरस्य पलं तथा ॥
पटोलमूलत्रिफलात्रायमाणा दुरालभा ।
कर्षार्द्धं कटुकञ्चापि कार्षिकान् सूक्ष्मपेषितान् ॥
पलद्वयं कौषिकस्य शुद्धस्याच प्रदापयेत् ।
सिद्धं सर्पिरिदं श्वित्रं हन्यादभ्र इवानलम् ॥
अष्टादशानां कुष्ठानां परमं वै तदौषधम् ।
सोमराजीघृतं नाम निर्म्मितं ब्रह्मणा पुरा ॥
लोकानामुपकाराय श्वित्रकुष्ठादिरोगिणाम् ॥"
इति सोमराजीघृतम् ॥ ६ ॥
"महौषधं महामेदा निम्बपत्राणि सर्षपाः ।
मनःशिला च सिन्दूरं पद्मचारिण्यवल्गुजम् ॥
हरिद्रे हरितालञ्च त्रिफला पीतगन्धकान् ।
एतानि समभागानि विषार्द्धांशानि योजयेत् ॥
सर्पिषश्च पलान्यष्टौ देवदारुरसं शुभम् ।
द्विगुणं त्रिगुणं क्षीरं गोमूत्रञ्च चतुर्गुणम् ॥
ताम्रपात्रे तु संस्थाप्य शनैर्मृद्वग्निना पचेत् ।
चतुर्भागावशेषन्तु सकल्कमवतारयेत् ॥
अस्मौ श्विपन्तु निःशब्दं जलसुक्तं विचक्षणः ।
अभ्यङ्गपानयोगात्तदाशु सर्व्वान् गदान् जयेत् ॥
अष्टादशानां कुष्ठानां दद्रूणां श्वित्रिणां तथा ।
दुष्टनाडीषु मर्त्यानां स्राविणां कोटिनां तथा ॥
अहङ्कारपरीता ये ये च त्यक्तभिषक्क्रियाः ।
सर्व्वग्रहवियुक्तानां शीर्णाङ्गानां विशेषतः ॥
सर्व्वधातुगते कुष्ठे पतितभ्रूशिरोरुहम् ।
घर्घराव्यक्तघोषाणां तथा सर्व्वाङ्गवातिनाम् ॥
पानेऽभ्यङ्गे तथा नस्ये वस्तिकर्म्मणि नित्यशः ।
सप्तरात्रप्रयोगेण सर्व्वकुष्ठानि नाशयेत् ॥
द्विसप्ताहप्रयोगेण पूर्णचन्द्रनिभाननः ।
जातकेशनखश्मश्रुर्भाति षोडशवर्षवत् ॥
अनङ्गसहितं साक्षात् सर्व्वामयविनाशनः ।
एतद्घृतं महाश्रेष्ठं भार्गवेणावतारितम् ॥
मनुष्याणां हितार्थाय सर्व्वव्याधिहरं परम् ।
महामार्त्तण्डकमिदं घृतं सर्व्वामरार्च्चितम् ॥ ७ ॥
इति भावप्रकाशः ॥
अपि च ।
"धात्रीखदिरयोः क्वाथं पीत्वा च जम्बुसंयुतम् ।
शशेन्दुधवलश्वित्रं हन्ति तूर्णं न संशयः ॥"
इति गारुडे १७५ अध्यायः ॥

श्वित्रघ्नी, स्त्री, (श्वित्रं हन्तीति । हन + टक् । ङीष् ।) पीतपर्णी । इति शब्दचन्द्रिका ॥ विछुटी इति भाषा ॥

श्वित्री, [न्] त्रि, (श्वित्रमस्त्यस्येति । श्वित्र + इनिः ।) श्वित्ररोगयुक्तः । यथा,—

"श्वित्री वक्तं श्वा रसन्तु चौरी लवणहारकः ॥"

इति याज्ञवल्क्यः । ३ । २१५ ॥

श्विद, इ ङ शौक्ल्ये । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-आत्म०-अक०-सेट् ।) वकारयुक्तः । इ, श्विन्द्यते । ङ, श्विन्दते पुण्डरीकम् । इति दुर्गादासः ॥

श्वेतं, क्ली, (श्वेतते इति । श्वित + अच् ।) रूप्यम् । इत्यमरः ॥

श्वेतः, पुं, (श्वेतते इति । श्वित शौक्ल्ये + पचाद्यच् ।) शुक्लवर्णः । द्वीपविशेषः । (यथा, महाभारते । १२ । ३३५ । ८ ।

"क्षीरोदधेरुत्तरतो हि द्वीपः
श्वेतः स नाम्ना प्रथितो विशालः ॥")

पर्व्वतभेदः । इति मेदिनी ॥ (स तु जम्बूद्वीप-पर्व्वतानामन्यतमः । यथा, मार्कण्डेये ।५४।६।

"हिमवान् हेमकूटश्च ऋषभो मेरुरेव च ।
नीलः श्वेतस्तथा शृङ्गी सप्तास्मिन् वर्षपर्व्वताः ॥")

श्वेतपर्व्वतस्य परिमाणादि यथा । "उत्तरोत्तरेणेलावृतं नीलः श्वेतः शृङ्गवानिति त्रयो रम्यकहिरण्मयकुरूणां मर्य्यादागिरयः प्रागायताः उभयतः क्षारोदावधयो द्विसहस्रयोजनपृथव एकैकशः पूर्व्वस्मात् पूर्व्वस्मादुत्तरोत्तरो दशांशाधिकांशेन दैर्घ्य एव ह्रसन्ति । एवं दक्षिणेनेलावृतं निषधो हेमकूटो हिमालय इति प्रागायता यथा नीलादयः । अयुतयोजनोत्सेधा हरिवर्षकिंपुरुषभारतानां यथासंख्यम् ।" इति श्रीभागवते ५ स्कन्धे १६ अध्यायः ॥ * ॥ कपर्द्दकः । इति हेमचन्द्रः ॥ शुक्रग्रहः । श्वेताभ्रः । इति शब्दरत्नावली ॥ शङ्खः । इति राजनिर्घण्टः ॥ जीवकः । इति जटाधरः ॥ शिवावतारविशेषः । यथा,—

"वेदव्यासावताराणि द्वापरे कथितानि तु ।
महादेवावताराणि कलौ शृणुत सुव्रताः ॥
आद्यौ कलियुगे श्वेतो देवदेवो महाद्युतिः ।
नाम्ना हिताय विप्राणामभूद्वैवस्वतेऽन्तरे ॥
हिमवच्छिखरे रम्ये छगले पर्व्वतोत्तमे ।
तस्य शिष्याः शिखायुक्ता बभूवुरमितप्रभाः ॥
श्वेतः श्वेतशिखश्चैव श्वेतास्यः श्वेतलोहितः ।
चत्वारस्ते महात्मानो ब्राह्मणा वेदपारगाः ॥
सुतारो दमनश्चाथ सुहोत्रः कङ्कणस्तथा ।
लोकाक्षिरथ योगीन्द्रो जैगीषव्यस्तु सप्तमे ॥
अष्टमे दधिवाहुः स्यान्नवमे ऋषभप्रभुः ।
भृगुस्तु दशमे प्रोक्तस्तस्मादुग्रः परः स्मृतः ॥
द्वादशेऽत्रिः समाख्यातो बाली चाथ त्रयो-
दशे ।
चतुर्द्दशे गौतमस्तु वेदशीर्षा ततः परम् ॥
गोकर्णश्चाभवत्तस्मात् गुहावासः शिखण्ड्यथ ।
जटामाल्यट्टहासश्च दारुको लाङ्गली क्रमात् ॥
श्वेतस्तथापरः शूली तिण्डी मुण्डी च वै क्रमात्॥
सहिष्णुः सोमशर्म्मा च नकुलीशोऽन्तिमे प्रभुः ॥
वैवस्वतेऽन्तरे शम्भोरवताराश्त्रिशूलिनः ।
अष्टाविंशतिराख्याता ह्यन्ते कलियुगे प्रभोः ॥"

इति कौर्म्मे ५० अध्यायः ॥ * ॥

राजविशेषः । यथा,—

ब्रह्मोवाच ।

"श्वेताभिजनसम्पन्नः सत्यवागनसूयकः ।
त्वयाधीतं हुतं दत्तं गुरवः परितोषिताः ॥
न ते दत्तं द्विजेभ्योऽन्नं कदाचिद्धि बुभुक्षिते ।
तस्मात्तवेह संजाता क्षुधा ते नृपसत्तम ॥
अन्नदानादृते पुंसां न स्यात्तृप्तिर्महीतले ।
स्वर्गे वापि तथा नात्र अन्नदानं ततोऽधिकम् ॥"

इति वह्निपुराणे अन्नदाननामाध्यायः ॥

(नागविशेषः । यथा, भागवते । ५ । २४ । ३१ ।

"ततोऽधस्तात् पाताले नागलोकपतयो वासुकिप्रमुखाः शङ्खकुलिकमहाशङ्खश्वेतधनञ्जयधृतराष्ट्रशङ्खचूड़कम्बलाश्वतरदेवदत्तादयो महाभोगिनो महामर्षा निवसन्ति ॥")

श्वेतः, त्रि, (श्वेतो वर्णोऽस्यास्तीति । श्वेत + अर्श-आद्यच् ।) शुक्लवर्णयुक्तः । इत्यमरः ॥ * ॥ (यथा, रघुः । १ । ८३ ।

"ललाटोदयमाभुग्नं पल्लवस्निग्धपाटला ।
बिभ्रती श्वेतरोमाङ्कं सन्ध्येव शशिनं नवम् ॥")

श्वेतवस्तूनि यथा । अथ श्वेतानि ।

"सुधांशुचैःश्रवःशम्भुकीर्त्तिज्योत्स्नाशरद्धनाः ।
प्रासादसौधनगरमन्दारद्रुहिमाद्रयः ॥
सूर्य्येन्दुकान्तकर्पूरकरम्भारजतं हली ।
हिम्मोकभस्म हिण्डीरचन्दनं करका हिमम् ॥
हारोर्णनाभतन्त्वस्थि स्वर्गङ्गभरदाभ्रकम् ।
शेषाहिः शर्करा दुग्धं दधि गङ्गा सुधाजलम् ॥
स्फटिकसिकता हंसबककैरवचामरम् ।
रम्भागर्भपुण्डरीककेतकीशङ्खनिर्झराः ॥
लोध्रसिंहध्वजच्छत्रचूर्णशुक्तिकपर्द्दकाः ।
मुक्ताकुसुमदन्तपुण्यशोणगुणाः ॥
कैलासकाशकार्पासहासरावणकुञ्जराः ।
नारदः पारदः कुन्दखटिका स्फाटिकादयः ॥"

इति कविकल्पलतायां द्वितीये स्तवके वर्णो नाम द्वितीयं कुसुमम् ॥

श्वेतकं, क्ली, (श्वेतमेव । स्वार्थे कन् ।) रूप्यम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

श्वेतकः, पुं, (श्वेत एव । स्वार्थे कन् ।) वराटकः । इति भूरिप्रयोगः ॥ (श्वेतशब्दार्थोऽप्यत्र ॥ श्वेतगुणविशिष्टे, त्रि । यथा, बृहत्संहितायाम् । ८१ । १६ ।

"श्यामश्वेतकपीतकताम्राणामीषदपि च
विषमाणाम् ॥")

श्वेतकण्टकारी, स्त्री, (श्वेता कण्टकारी ।) शुक्ल-कण्टकारिका । श्वेत रेङ्गनी इति हिन्दी भाषा । तत्पर्य्यायः । सितकण्टकारिका २ श्वेता ३ क्षेत्रदूती ४ लक्ष्मणा ५ सितसिंही ६ सितक्षुद्रा ७ क्षुद्रवार्त्ताकिनी ८ सिता ९ सिक्ता १० कटुवार्त्ताकी ११ चैत्रजा १२ कण्टेश्वरी १३ निःस्नेहफला १४ वामा १५ सितकण्ठा १६ महौषधी १७ गर्द्दभी १८ चन्द्रिका १९ चान्द्री २० चन्द्रपुष्पा २१ प्रियङ्करी २२ नाकुली २३ दुर्लभा २४ राज्ञा २५ । अस्या गुणाः । रुच्यत्वम् । कटुत्वम् । उष्णत्वम् । कफवातनाशित्वम् । चक्षुष्यत्वम् । दीपनत्वम् । रसनियामकत्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥ * ॥ अन्यच्च ।

"श्वेता क्षुद्रा चन्द्रहासा लक्ष्मणा क्षेत्रदूतिका ।
गर्द्दभा चन्द्रभा चान्द्री चन्द्रपुष्पा प्रियङ्करी ॥
कण्टकारी सरा तिक्ता कटुका दीपनी लघुः ।
रूक्षोष्णा पाचनी कासश्वासज्वरकफानिलान् ॥
निहन्ति पीनसं पार्श्वपीड़ाकृमिहृदामयान् ।
तयोः फलं कटुरसं पाके च कटुकं भवेत् ॥
शुक्रस्य रेचनं भेदि तिक्ता पित्ताग्निकृल्लघु ।
हन्यात् कफमरुत्कण्डूकासमेदःकृमिज्वरान् ॥
तद्वत् प्रोक्ता सिता क्षुद्रा विशेषाद्गर्भकारिणी ॥"

इति भावप्रकाशः ॥

श्वेतकन्दा, स्त्री, (श्वेता कन्दा ।) अतिविषा । इति राजनिर्घण्टः ॥

श्वेतकिणिही, स्त्री, (श्वेता किणिही ।) वृक्ष-विशेषः । तत्पर्य्यायः । सिताभिकटभी २ गिरि-कर्णिका ३ शिरीषपत्री ४ कालिन्दी ५ शत-पत्रा ६ विषघ्निका ७ महाश्वेता ८ महा-शौण्डी ९ महादिकटभी १० । अस्या गुणाः । कटुत्वम् । उष्णत्वम् । गुल्मविशाणानमूलदोष-नाशित्वम् । वातकफजीर्णरोगशमनत्वञ्च । श्वेता च तत्र गुणयुक्ता । इति राजनिर्घण्टः ॥ पुस्तकान्तरे सिताभिकटभीस्थाने सितालि-कटभी । महादिकटभीस्थाने महालिकटभीति च पाठः ॥

श्वेतकुञ्जरः, पुं, (श्वेतः कुञ्जरः ।) ऐरावतहस्ती । इति शब्दरत्नावली ॥ शुक्लगजश्च ॥

श्वेतकुशः, पुं, (श्वेतः कुशः ।) तृणविशेषः । तत्पर्य्यायः । सितदर्भः २ ह्रस्वकुशः ३ पूतः ४ यज्ञीयपत्रकः ५ बर्हः ६ ब्रह्मपवित्रः ७ तीक्ष्णः ८ यज्ञभूषणः ९ सूचीमुखः १० पुण्यतृणः ११ बर्हिः १२ पूततृणः १३ । अस्य मूलगुणाः । हिमत्वम् । रुच्यत्वम् । मधुरत्वम् । पित्तरक्त-ज्वरतृषाश्वासकामलादोषनाशित्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥

श्वेतकेतुः, पुं, (श्वेतः केतुर्यस्य ।) बुद्धः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ केतुग्रहविशेषः । यथा,—

"केतवो ह्यत्र दृश्यन्ते वासवाख्यय एव ते ।
ऊर्म्मिकेतुः श्वेतकेतुर्धूमकेतुस्तृतीयकः ॥
श्वेतकेतुर्यदा दृश्येत् श्वेतास्थि कुरुते महीम् ।
तदा मानुषमांसानि भक्षयन्तीह मानुषाः ॥
क्षुद्भयार्त्तं जगत् सर्व्वं चक्रवद्भ्रमते सदा ॥"

अपि च ।

"श्वेतः शस्याकुलं कुर्य्यात् लोहितस्त्वमितं भयम् ।
क्षुद्भयं पीतकः कुर्य्यात् कृष्णो रोगमथोल्बणम् ॥"

अन्यच्च ।

"अवन्तीं पुष्करारण्यं यावद्गत्यात्तथापराम् ।
देशान् क्वचित् क्वचिद्रोगदुर्भिक्षैः परिपीड़ितान् ॥

श्वेताख्यस्तु जटाकारी श्यामो यो मत्त्रिभा-
गगः ।
निवर्त्ततेऽपसव्येन त्रिभागीकुरुते प्रजाः ॥”
इति समयामृतम् ॥

(मुनिविशेषः । यथा, महाभारते ।१।५३।७।
“उद्दालकः प्रमतकः श्वेतकेतुश्च पिङ्गलः ॥”
स तु उद्दालकमुनेः पुत्रः । पुरा किल नार्य्यः प्रायशः पूर्व्वपतिं परित्यज्य पत्यन्तरं अगच्छन् । अनेन तु तद्दोषमपाकृत्य समाजमर्य्यादा स्थापिता । यथा, महाभारते ।१।१२२।९—२०।
“बभूवोद्दालको नाम महर्षिरिति नः श्रुतम् ।
श्वेतकेतुरिति ख्यातः पुत्त्रस्तस्याभवन्मुनिः ॥
मर्य्यादेयं कृता तेन धर्म्या वै श्वेतकेतुना ।
कोपात् कमलपत्राक्षि ! यदर्थं तं निबोध मे ॥
श्वेतकेतोः किल पुरा समक्षं मातरं पितुः ।
जग्राह ब्राह्मणः पाणौ गच्छाव इति चाब्रवीत् ॥
ऋषिपुत्त्रस्ततः कोपं चकारामर्षचोदितः ।
मातरं तां तथा दृष्ट्वा नीयमानां बलादिव ॥
क्रुद्धं तन्तु पिता दृष्ट्वा श्वेतकेतुमुवाच ह ।
मा तात कोपं कार्षीस्त्वमेष धर्म्मः सनातनः ॥
अनावृता हि सर्व्वेषां वर्णानामङ्गना भुवि ।
यथा गावः स्थितास्तात स्वे स्वे वर्णे तथा
प्रजाः ॥
ऋषिपुत्त्रोऽथ तं धर्म्मं श्वेतकेतुर्न चक्षमे ।
चकार चैव मर्य्यादामिमां स्त्रीपुंसयोर्भुवि ॥
मानुषेषु महाभागे न त्वेवान्येषु जन्तुषु ।
तदाप्रभृति मर्य्यादा स्थितेयमिति नः श्रुतम् ॥
व्युच्चरन्त्याः पतिं नार्य्या अद्यप्रभृति पातकम् ।
भ्रूणहत्यासमं घोरं भविष्यत्यसुखावहम् ॥
भार्य्यां तथा व्युच्चरतः कौमारब्रह्मचारिणीम् ।
पतिव्रतामेतदेव भविता पातकं भुवि ॥
पत्या नियुक्ता या चैव पत्नी पुत्त्रार्थमेव च ।
न करिष्यति तस्याश्च भविष्यति तदेव हि ॥
इति तेन कृता भीरु मर्य्यादा स्थापिता बलात् ।
उद्दालकस्य पुत्त्रेण धर्म्या वै श्वेतकेतुना ॥”)

श्वेतकेशः, पुं, (श्वेताः केशा यस्मात् ।) रक्तशिग्रुः । इति जटाधरः ॥ (श्वेतः केशः ।) शुक्लकचश्च ॥

श्वेतकोलः, पुं, (श्वेतः कोलः क्रोडदेशो यस्य ।) शफरमत्स्यः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

श्वेतखदिरः, पुं, (श्वेतः खदिरः ।) शुक्लखदिरः । तत्पर्य्यायः । कदरः २ श्वेतसारः ३ कार्म्मुकः ४ कुजकण्टकः ५ सोमसारः ६ सोमवृक्षः ७ सोमवल्कः ८ पथिद्रुमः ९ । अस्य गुणाः । तिक्तत्वम् । कषायत्वम् । कटुत्वम् । उष्णत्वम् । कण्डूतिभूतकुष्ठकफवातव्रणनाशित्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥ पुस्तकान्तरे कार्म्मुकस्थाने कामुकः कुजकण्टकस्थाने कुष्ठकण्टकः इति च पाठः ॥ * ॥ अन्यच्च ।
“खदिरः श्वेतसारोऽन्यः कदरः सोमवल्कलः ।
कदरो विशदोऽवर्ण्यो मुखरोगकफास्रजित् ॥”
इति भावप्रकाशः ॥

श्वेतगजः पुं, (श्वेतः शुक्लो गजः ।) इन्द्रहस्ती । इति हेमचन्द्रः ॥ शुक्लवर्णहस्ती च ॥

श्वेतगरुत्, पुं, (श्वेतः गरुत् पक्षो यस्य ।) हंसः । इत्यमरः । २ । ५ । २३ ॥

श्वेतगुञ्जा, स्त्री, (श्वेता गुञ्जा ।) शुक्लगुञ्जा । सादा कुँच इति भाषा । तत्पर्य्यायः । श्वेतकाम्बोजी २ भिण्टिका ३ काकादनी ४ काकपीलुः ५ चक्रशल्या ६ चूडाला ७ । अस्या गुणाः । तीक्ष्णत्वम् । उष्णत्वम् । तस्या बीजं वान्तिकरम् । तस्याः शिफा शूलविषनाशिनी । तस्याः पत्रं वश्ये शस्तम् । इति राजनिर्घण्टः ॥ अपि च ।
“श्वेता रक्तोच्चटा प्रोक्ता कृष्णला चापि सा स्मृता ।
रक्ता सा काकचिञ्ची स्यात् काकणन्ती च रक्तिका ॥
काकादनी काकपीलुः सा स्मृताङ्गारवल्लरी ।
गुञ्जाद्वयन्तु केश्यं स्यात् वातपित्तज्वरापहम् ॥
मुखशोषभ्रमश्वासतृष्णामदविनाशनम् ।
नेत्रामयहरं वृष्यं बल्यं कण्डूं व्रणं हरेत् ।
कृमीन्द्रलुप्तकुष्ठानि रक्ता च धवलापि च ॥”
इति भावप्रकाशः ॥
अन्यच्च ।
“गुञ्जा शिखण्डिका ताम्रा रक्तिका काकशाम्बिका ।
श्वेतान्या चक्रिका चूडा दुमाषा काकपीलुका ॥
गुञ्जा केश्या बलकरा वृष्या पित्तकफापहा ।
नेत्रामयहरा वृष्या हन्ति कण्डूग्रहव्रणान् ।
कृमीन्द्रलुप्तकुष्ठानि तद्वच्छ्वेतापि शस्यते ॥”
इति मदनपालनिर्घण्टः ॥

श्वेतचन्दनं, क्ली, (श्वेतं चन्दनम् ।) शुक्लचन्दनम् । इति राजनिर्घण्टः ॥ अस्य पर्य्यायगुणौ चन्दनशब्दे द्रष्टव्यौ ॥

श्वेतचिल्ली, स्त्री, (श्वेता चिल्ली ।) शाकभेदः । तत्पर्य्यायः । वास्तुकी २ सुपथ्या ३ श्वेतचिल्लिका ४ सितचिल्ली ५ उपचिल्ली ६ ज्वरघ्नी ७ क्षुद्रवास्तुकी ८ । अस्या गुणाः ।
“श्वेतचिल्ली सुमधुरा क्षारा च शिशिरा च सा ।
त्रिदोषशमनी पथ्या ज्वरदोषविनाशिनी ॥”
इति राजनिर्घण्टः ॥

श्वेतच्छदः, पुं, (श्वेतः छदो यस्य ।) हंसः । इति हलायुधः ॥ गन्धपत्रः । इति शब्दचन्द्रिका ॥ साबुइ तुलसी इति भाषा ॥

श्वेतजीरकः, पुं, (श्वेतो जीरकः ।) गौरजीरकः । इति राजनिर्घण्टः ॥

श्वेतटङ्ककं, क्ली, (श्वेतं टङ्ककम् ।) श्वेतटङ्कणम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

श्वेतटङ्कणं, क्ली, (श्वेतं टङ्कणम् ।) क्षारविशेषः । सादा सोहागा इति भाषा । तत्पर्य्यायः । श्वेतटङ्ककम् २ लोहि ३ सिन्धुकरम् ४ सिन्धु ५ मालतीतीरसम्भवम् ६ शिवम् ७ द्रावकरम् ८ शीतक्षारम् ९ टङ्कणम् १० । अस्य गुणाः । स्निग्धत्वम् । कटुत्वम् । उष्णत्वम् । कफवातामक्षयश्वासविश्वकासमलनाशित्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥

श्वेतदूर्व्वा, स्त्री, (श्वेता दूर्व्वा ।) शुक्लदूर्व्वा । तत्पर्य्यायः । गोलोमी २ सिताख्या ३ चण्डा ४ भद्रा ५ भार्गवी ६ दुर्म्मरा ७ गौरी ८ विघ्नशानकान्ता ९ अनन्ता १० श्वेता ११ दिव्या १२ श्वेतकाण्डा १३ प्रचण्डा १४ सहस्रवीर्य्या १५ सहस्रकाण्डा १६ सहस्रपर्व्वा १७ सुरवल्लभा १८ शुभा १९ सुपर्व्वा २० सितच्छदा २१ स्वच्छा २२ कच्छान्तरुहा २३ । अस्या गुणाः । अतिशिशिरत्वम् । मधुरत्वम् । वान्तिपित्तामातिसारकासदाहतृषानाशित्वम् । रुच्यत्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥

श्वेतद्विपः, पुं, (श्वेतः शुक्लो द्विपः ।) इन्द्रहस्ती । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ शुक्लगजश्च ॥

श्वेतद्वीपः, पुं क्ली, (श्वेतो द्वीपः ।) चन्द्रद्वीपः । स च वैकुण्ठाख्यविष्णुधाम । यथा,—
“श्वेतद्वीपं गतवति त्वयि द्रष्टुं तदीश्वरम् ।
तत्र ह्ययमभूत् प्रश्नस्त्वं मां यमनुपृच्छसि ॥”
इति श्रीभागवते १० स्कन्धे ८७ अध्यायः ॥
अपि च ।
“एकदा ब्रह्मणो लोकाद्यायान्तं नारदं मुनिम् ।
पर्य्यटन् रावणो लोकान् दृष्ट्वा नत्वाब्रवीद्वचः ॥
भगवन् ! ब्रूहि मे युद्धं कुत्र सन्ति महाबलाः ।
योद्धुमिच्छामि बलिभिस्त्वं जानासि जगत्त्रयम् ॥
मुनिर्ध्यात्वा तु सुचिरं श्वेतद्वीपनिवासिनः ।
महाबला महाकायास्तत्र याहि महामते ॥
विष्णुपूजारता ये वै विष्णुना निहताश्च ये ।
त एव तत्र संजाता अजेयाश्च सुरासुरैः ॥
श्रुत्वा तद्रावणो वेगान्मन्त्रिभिः पुष्पकेण ताम् ।
योद्धुकामः समागत्य च तद्द्वीपसमीपतः ॥
तत्प्रभाहततेजस्कं पुष्पकं नाचलत्ततः ।
त्यक्त्वा विमानं प्रययौ मन्त्रिणश्च दशाननः ॥
प्रविशन्नेव तद्द्वीपं धृतो हस्तेन योषिता ।
पृष्टश्च त्वं कुतः कोऽसि प्रेषितः केन वा वद ॥
इत्युक्तो लीलया स्त्रीभिर्हसन्तीभिः पुनः पुनः ।
हस्ताद्धस्ताद्विनिर्म्मुक्तस्तासां क्रीडां दशाननः ॥
आश्चर्य्यमतुलं लब्ध्वा चिन्तयामास दुर्म्मतिः ।
विष्णुना निहतो यामि वैकुण्ठमिति निश्चितः ॥
मयि विष्णुर्यथा कुप्येत्तथा कार्य्यं करोम्यहम् ॥
इति निश्चित्य वैदेहीं जहार विपिनेऽसुरः ।
ज्ञात्वैव परमात्मानं स जहारावनीसुताम् ॥”
इति श्रीब्रह्माण्डपुराणे श्रीमदध्यात्मरामायणे उत्तरकाण्डे ४ अध्यायः ॥ अन्यच्च ।
“श्वेतां गङ्गां नरः स्नात्वा यः पश्येत् श्वेतमाधवम् ।
मत्स्याख्यं माधवञ्चैव श्वेतद्वीपं स गच्छति ॥”
इति तीर्थचिन्तामणिः ॥

श्वेतधातुः, पुं, (श्वेतो धातुः ।) खटिका । इति राजनिर्घण्टः ॥ शुक्लवर्णधातुद्रव्यञ्च ॥

श्वेतधामा, [न्] पुं, (श्वेतं धाम किरणं यस्य।) चन्द्रः। कर्पूरः। समुद्रफेनः। इति मेदिनी॥

श्वेतनीलः, पुं, (श्वेतो नीलश्च। वर्णो वर्णेनेति समासः।) मेघः। इति शब्दरत्नावली॥ शुक्ल-नीलवर्णश्च॥

श्वेतपक्षः, पुं, (श्वेतं पक्षं पक्षो यस्य।) हंसः। इति श्वेतपत्ररथशब्दार्थदर्शनात्। शुक्लपर्णी, स्त्री॥

श्वेतपत्ररथः, पुं, श्वेतपत्रो हंसो रथो वाहनं यस्य। ब्रह्मा। इति शब्दमाला॥

श्वेतपद्मं, क्ली, (श्वेतं शुक्लं पद्मम्।) सिताम्भोजम्। तत्पर्य्यायः। सिताब्जम् २ पुण्डरीकम् ३ श्वेत-वारिजम् ४ हरिनेत्रम् ५ शरत्पद्मम् ६ शार-दम् ७ शम्भुवल्लभम् ८। अस्य गुणाः। हिम-त्वम्। तिक्तत्वम्। मधुरत्वम्। पित्तदाहास्रभ्रम-दोषपिपासानाशित्वञ्च। इति राजनिर्घण्टः॥

श्वेतपर्णा, स्त्री, (श्वेतानि पर्णानि यस्याः।) वारिपर्णी। इति रत्नमाला॥ पाना इति भाषा॥ (भद्राश्ववर्षस्य पर्व्वतविशेषे, पुं। यथा, मार्कण्डेये। ५९। ४।
"पूर्व्वेण यत् स्थितं वर्षं भद्राश्वं तन्निबोध मे।
श्वेतपर्णश्च नीलश्च शैवालश्चाचलोत्तमः।
कौरञ्जः पर्णशालाग्रः पञ्चैते तु कुलाचलाः॥")

श्वेतपर्णासः, पुं, (श्वेतः पर्णासः।) श्वेततुलसी। यथा,—
"अर्ज्जकः श्वेतपर्णासो गन्धपत्रः कुठेरकः॥"
इति रत्नमाला॥

श्वेतपाटला, स्त्री, (श्वेता पाटला।) शुक्लपाटला-वृक्षः। इति जटाधरः॥

श्वेतपिङ्गः, पुं, (देहेन श्वेतः जटया पिङ्गश्च। वर्णो वर्णेनेति समासः।) सिंहः। इति हेम-चन्द्रः॥

श्वेतपिङ्गलः, पुं, (श्वेतो पिङ्गलश्च।) सिंहः। इति त्रिकाण्डशेषः॥ शुक्लकपिलवर्णयुक्ते, त्रि॥ (महादेवः। यथा, महाभारते। १३। १७। १३६।
"महाप्रसादो दमनः शत्रुहा श्वेतपिङ्गलः॥")

श्वेतपिङ्गलकः, पुं, (श्वेतपिङ्गल + स्वार्थे कन्।) सिंहः। इति शब्दमाला॥

श्वेतपिण्डीतकः, पुं, (श्वेतः शुक्लः पिण्डीतकः।) महापिण्डीतरुः। इति राजनिर्घण्टः॥

श्वेतपुष्पः, पुं, (श्वेतानि पुष्पाणि यस्य।) सिन्धु-वारवृक्षः। इति जटाधरः राजनिर्घण्टश्च॥ (श्वेतं पुष्पम्।) शुक्लकुसुमे, क्ली। (यथा, सुश्रुते। १। ११।
"श्वेतपुष्प-रक्तपुष्प-सहस्रं जुहुयात्॥")

श्वेतपुष्पकः, पुं, (श्वेतानि पुष्पाणि यस्य। कप्।) करवीरवृक्षः। इति राजनिर्घण्टः॥ शुक्लपुष्प-युक्ते, त्रि॥

श्वेतपुष्पा, स्त्री, (श्वेतं पुष्पं यस्याः।) घोषातकी। श्वेतघोषा इति भाषा। इति रत्नमाला॥ नागदन्ती। मृगेर्व्वारुः। इति राजनिर्घण्टः॥

श्वेतपुष्पिका, स्त्री, (श्वेतं पुष्पं यस्याः। ततः स्वार्थे कन्। टापि अत इत्वम्।) पुत्रदात्री। महाशणपुष्पिका। इति राजनिर्घण्टः॥

श्वेतप्रसूनकः, पुं, (श्वेतानि प्रसूनानि यस्य। कप्।) वृक्षविशेषः। यथा,—
"तिक्तः शाकतरुः सेतुवृक्षः श्वेतप्रसूनकः।"
इति शब्दमाला॥
शुक्लपुष्पयुक्ते, त्रि॥

श्वेतबृहती, स्त्री, (श्वेता बृहती।) शुक्लक्षुद्र-वार्त्ताकी। तत्पर्य्यायः। श्वेता २ श्वेतकण्टा-रिका ३ श्वेतसिंही ४ श्वेतफला ५ श्वेतवार्त्ता-किनी ६। अस्या गुणाः।
"विज्ञेया श्वेतबृहती वातश्लेष्मविनाशिनी।
रुच्या चक्षुष्ययोगेन नानानेत्रामयापहा॥"
इति राजनिर्घण्टः॥

श्वेतभण्डा, स्त्री, (श्वेता भण्डा।) श्वेतापरा-जिता। इति रत्नमाला॥

श्वेतमन्दारकः, पुं, (श्वेतो मन्दारकः।) वृक्ष-विशेषः। श्वेत आक इति हिन्दी भाषा॥ तत्पर्य्यायः। पृथ्वीकुरुवकः २ दीर्घायुष्यः ३ सितालर्कः ४ दीर्घालर्कः ५ सिताह्वयः ६। इति राजनिर्घण्टः॥

श्वेतमरिचं, क्ली, (श्वेतं मरिचमिव।) शोभा-ञ्जनबीजम्। इत्यमरः॥ शुक्लमरिचञ्च॥

श्वेतमालः, पुं, (श्वेता शुक्लवर्णा माला यस्य।) मेघः। धूमः। इति विश्वः॥ मेदिनीशब्द-रत्नावल्योः स्रुतमाल इति पाठः॥

श्वेतरक्तः, पुं, (श्वेतो रक्तश्च।) पाटलवर्णः। इत्यमरः॥ गोलापी रङ् इति भाषा॥

श्वेतरञ्जनं, क्ली, (श्वेतं सिताभं रञ्जयतीति। रञ्ज + ल्युः।) सीसकम्। इति केचित्॥

श्वेतरथः, पुं, (श्वेतो रथो यस्य।) शुक्रग्रहः। इति शब्दरत्नावली॥ शुक्लवर्णस्यन्दनश्च॥

श्वेतराजी, स्त्री, (श्वेतेन वर्णेन राजते इति। राज + अच्। गौरादित्वात् ङीष्।) चर्पेटा। इति राजनिर्घण्टः॥

श्वेतरोचिः, [स्] पुं, (श्वेतं रोचिर्यस्य।) चन्द्रः। इति हलायुधः॥

श्वेतरोहितः, पुं, (पुष्पेण श्वेतः फलेन लोहितः। लस्य रः।) वृक्षविशेषः। श्वेत रोहिड़ इति हिन्दी भाषा। तत्पर्य्यायः। सितपुष्पः २ सिताह्वयः ३ सिताङ्गः ४ शुक्लरोहितः ५ लक्ष्मीवान् ६ जनवल्लभः ७। अस्य गुणाः। कटुत्वम्। स्निग्धत्वम्। कषायत्वम्। सुशी-तलत्वम्। कृमिदोषव्रणप्लीहरक्तनेत्रामयनाशि-त्वञ्च। इति राजनिर्घण्टः॥

श्वेतलोध्रः, पुं, (श्वेतो लोध्रः।) पट्टिकालोध्रः। इति राजनिर्घण्टः॥

श्वेतवचा, स्त्री, (श्वेता वचा।) अतिविषा। शुक्लवचा। सादा वच् इति भाषा। तत्पर्य्यायः। मेध्या २ षड्ग्रन्था ३ दीर्घपत्रिका ४ तीक्ष्ण-गन्धा ५ हैमवती ६ मङ्गल्या ७। अस्या गुणाः। अतिगुणाढ्यत्वम्। मतिमेधायुःसम्वृद्धिदत्वम्। कफनाशित्वञ्च। इति राजनिर्घण्टः॥ अन्यच्च।
"पारसीकवचा शुक्ला प्रोक्ता हैमवतीति सा।
हैमवत्युदिता तद्वच्छूलं हन्ति विशेषतः॥"
तद्वत् वचावत्। इति भावप्रकाशः॥

श्वेतवल्कलः, पुं, (श्वेतं वल्कलं यस्य।) उडुम्बर-वृक्षः। इति जटाधरः॥ शुक्लत्वक् च॥

श्वेतवाजी, [न्] पुं, (श्वेतो वाजी घोटको यस्य।) चन्द्रः। इति हेमचन्द्रः॥ अर्ज्जुनः। इति जटाधरः॥ शुक्लघोटकश्च॥

श्वेतवासाः, [स्] पुं, (श्वेतं वासो यस्य।) शुक्ल-वस्त्रधारिसन्न्यासी। इति हलायुधः॥ परिहित-शुक्लवसने, त्रि॥

श्वेतवाः, [ह्] पुं, (श्वेतेन वाहनेन उह्यते इति। वह + ण्विः।) इन्द्रः। इति मुग्धबोधव्याक-रणम्॥

श्वेतवाहः, पुं, (श्वेतः शुक्लो वाहो घोटको यस्य।) अर्ज्जुनः। इन्द्रः। इति केचित्॥

श्वेतवाहनः, पुं, (श्वेतं वाहनं यस्य।) चन्द्रः। अर्ज्जुनः। इति मेदिनी॥ (यथा, महाभारते। ४। ४४। १५।
"श्वेताः काञ्चनसन्नाहा रथे युज्यन्ति मे हयाः।
संग्रामे युध्यमानस्य तेनाहं श्वेतवाहनः॥")
मकरः। इति शब्दरत्नावली॥ (राजाधि-देवस्य पुत्त्रः। स तु विदूरथस्य पौत्त्रः। यथा, हरिवंशे। ३८। २।
"राजाधिदेवः शूरश्च विदूरथसुतोऽभवत्।
राजाधिदेवपुत्त्रास्तु जज्ञिरे वीर्य्यवत्तराः।
दत्तातिदत्तौ बलिनौ शोणाश्वः श्वेतवाहनः॥")

श्वेतवाही, [न्] पुं, (श्वेतवाहः श्वेतघोटकोऽस्या-स्तीति। इनिः।) अर्ज्जुनः। इति शब्दरत्नावली॥

श्वेतवुह्ना, स्त्री, (श्वेता वुह्ना।) वनतिक्ता। यथा,—
"श्वेतवुह्ना कपोतस्तु वनतिक्ता विसर्पिणी।
शङ्खिनी चाकचिक्या च गिरिजा धूसरच्छदा॥"
इति रत्नमाला॥

श्वेतवृक्षः, पुं, (श्वेतो वृक्षः।) वरुणवृक्षः। इति राजनिर्घण्टः॥ शुक्लतरुश्च॥

श्वेतशरपुङ्खा, स्त्री, (श्वेता शरपुङ्खा।) क्षुप-विशेषः। श्वेत शरफोँका इति हिन्दी भाषा। तत्पर्य्यायः। सितशायका २ सितपुङ्खा ३ श्वेत-पुङ्खा ४ शुभ्रपुङ्खा ५। अस्या गुणाः। कटुत्वम्। उष्णत्वम्। कृमिवातरुजापहत्वम्। गुणाढ्य-त्वञ्च। इति राजनिर्घण्टः॥

श्वेतशिग्रुः, पुं, (श्वेतः शुक्लः शिग्रुः।) शुक्ल-शोभाञ्जनः। सादा शजिना इति भाषा। तत्पर्य्यायः। सुतीक्ष्णः २ सुखभङ्गः ३ सिता-ह्वयः ४ सुमूलः ५ श्वेतमरिचः ६ रोचनः ७ मधुशिग्रुकः ८। अस्य गुणाः। कटुत्वम्। तीक्ष्णत्वम्। शोफानिलाङ्गव्यथामुखजाड्यनाशि-त्वम्। रुच्यत्वम्। दीपनत्वञ्च। इति राज-निर्घण्टः॥

"शिग्रुवल्कलपत्राणां सुरसः परमार्त्तिहृत्।
चक्षुष्यं शिग्रुजं बीजं तीक्ष्णोष्णं विषनाशनम्।
अवृष्यं कफवातघ्नं तन्नस्येन शिरोऽर्त्तिनुत्॥"
इति भावप्रकाशः॥

श्वेतशिंशपा, स्त्री, (श्वेता शिंशपा।) शुक्लशिंशपावृक्षः। तत्पर्य्यायः। श्वेतपत्रा २ श्वेतचिल्लिका ३। अस्या गुणाः। तिक्तत्वम्। शिशिरत्वम्। पित्तदाहनाशित्वञ्च। इति राजनिर्घण्टः॥

श्वेतशृङ्गः, पुं, (श्वेता शृङ्गा यस्य।) यवः। इति जटाधरः॥ शुक्लशृङ्गायुक्ते, त्रि॥

श्वेतशूरणः, पुं, (श्वेतः शूरणः।) वनशूरणः। इति राजनिर्घण्टः॥

श्वेतसर्पः, पुं, वरुणवृक्षः। इति जटाधरः॥ (श्वेतः सर्पः।) शुक्लवर्णाहिश्च॥

श्वेतसारः, पुं, (श्वेतः सारो यस्य।) खदिरः। इति जटाधरः॥

श्वेतसुरसा, स्त्री, (श्वेता सुरसा।) शुक्लशेफालिका। इत्यमरः॥

श्वेतस्यन्दा, स्त्री, अपराजिता। इति राजनिर्घण्टः॥

श्वेतहयः, पुं, (श्वेतो हयः।) इन्द्राश्वः। इति त्रिकाण्डशेषः॥ (श्वेतो हयो यस्य।) अर्ज्जुनः। इति हेमचन्द्रः॥ (यथा, महाभारते।७।२७।१।
"ततः श्वेतहयः कृष्णमब्रवीदजितञ्जयः।
एष मां भ्रातृभिः सार्द्धं सुशर्म्माह्वयतेऽच्युत!॥")
इन्द्रः। शुक्लवर्णघोटकश्च॥

श्वेतहस्ती, [न्] पुं, (श्वेतो हस्ती।) ऐरावतः। इति भूरिप्रयोगः॥ शुक्लगजश्च॥

श्वेता, स्त्री, वराटिका। काष्ठपाटला। शङ्खिनी। इति मेदिनी॥ अतिविषा। इति रत्नमाला॥ अपराजिता। श्वेतवृहती। श्वेतकण्टकारी। पाषाणभेदी। शिलावल्कला। श्वेतदूर्व्वा। वंशरोचना। स्फटी। शर्करा। वृक्षभेदः। केना इति कर्न्ने इति च हिन्दी भाषा। तत्पर्य्यायः। क्षुरिकापत्री २ पर्व्वमूला ३ अतिप्रिया ४। अस्या गुणाः। अतिमधुरत्वम्। शीतलत्वम्। स्तन्यदातृत्वम्। रुचिकारित्वञ्च। इति राजनिर्घण्टः॥

श्वेताचित्रत्, स्त्री, शुक्लत्रिवृता। सादा तेउड़ी इति भाषा। तत्पर्य्यायः। त्रिभण्डी २ त्रिवृता ३ त्रिपुटा ४ सर्व्वानुभूती ५ सरला ६ निशोत्तरा ७ रेचनी ८। अस्या गुणाः। रेचनत्वम्। स्वादुत्वम्। उष्णत्वम्। समीरपित्तज्वरश्लेष्मपित्तशोथोदरनाशित्वम्। रूक्षत्वञ्च। इति भावप्रकाशः॥

श्वेताम्लिः, स्त्री, क्षुपविशेषः। तत्पर्य्यायः। अम्लिका २ पिष्टोड़ी ३ पिण्डिका ४। अस्या गुणाः। मधुरत्वम्। रुच्यत्वम्। पित्तनाशित्वम्। बलदातृत्वञ्च। इति राजनिर्घण्टः॥

श्वेतार्कः, पुं, (श्वेतः शुक्लवर्णः अर्कः।) शुक्लार्कवृक्षः। सादा आकन्द इति भाषा। तत्पर्य्यायः। तपनः २ श्वेतः ३ प्रतापः ४ सितार्कः ५ शर्करापुष्पः ६ वृत्तमल्लिका ७। अस्य गुणाः। कटुत्वम्। तिक्तत्वम्। उष्णत्वम्। मलशोधनकारकत्वम्। मूत्रकृच्छ्रासशोफार्शोव्रणदोषविनाशनत्वञ्च। इति राजनिर्घण्टः॥

श्वेतावरः, पुं, (श्वेतं शुक्लवर्णमावृणोतीति। आ + वृ + अच्।) सितावरशाकः। इति राजनिर्घण्टः॥

श्वेताक्षा, स्त्री, (श्वेता आक्षा यस्याः।) सितपाटला। इति राजनिर्घण्टः॥

श्वेतेक्षुः, पुं, (श्वेत इक्षुः।) शुक्लवर्णेक्षुः। सादा आक इति भाषा। तत्पर्य्यायः। सितेक्षुः २ कोष्ठेक्षुः ३ वंशपत्रकः ४ सुवेशः ५ पाकुरेक्षुः ६। अस्य गुणाः। कठिनत्वम्। रुच्यत्वम्। गुरुत्वम्। कफमूत्रकारित्वम्। दीपनत्वम्। पित्तदाहनाशित्वम्। विपाके कोष्णत्वञ्च। इति राजनिर्घण्टः॥

श्वेतोदरः, पुं, (श्वेतं उदरं यस्य।) कुबेरः। इति त्रिकाण्डशेषः॥ (दर्व्वीकरसर्पाणामन्यतमः। यथा, सुश्रुते कल्पस्थाने ४ अध्याये।
"श्वेतोदरो महाशिरा अलगर्द्दो आशीविष इति॥") शुक्लवर्णजठरश्च॥

श्वैत्यं, क्ली, श्वित्रम्। इत्यमरटीका।

श्वैतौही, स्त्री, (श्वेतवाह + ङीष्।) इन्द्राणी। इति मुग्धबोधव्याकरणम्॥

श्वोवसीयसं, क्ली, (वसुशब्दः प्रशस्तवाची तत ईयसुनि वसीयः। श्वः शब्द उत्तरपदार्थप्रशंसामाशीर्विषयतामाह। मयूरव्यंसकादित्वात् समासः।"श्वसो वसीयःश्रेयसः।"५।४।८०। इति अच्।) कल्याणम्। यथा,—
"श्वःश्रेयसं शुभशिवे कल्याणं श्वोवसीयसं
श्रेयः।
क्षेमं भावुकभविकंकुशलमङ्गलभद्रमद्रशस्तानि॥"
इति हेमचन्द्रः॥
तद्वति, त्रि॥

ष

ष, मूर्द्धन्यषकारः। स तु एकपञ्चाशद्वर्णान्तर्गतसप्तचत्वारिंशद्वर्णः। चतुस्त्रिंशद्व्यञ्जनान्तर्गतैकत्रिंशत्तमव्यञ्जनञ्च। अस्योच्चारणस्थानं मूर्द्धा। इति व्याकरणम्॥ (यथा, शिक्षायाम्।१७।
"स्युर्मूर्द्धन्या ऋटुरषा दन्त्या लृतुलसाः
स्मृताः॥")
तत्पर्य्यायः।
"षः श्वेतो १ वासुदेवश्च २
पीता ३ प्राज्ञा ४ विनायकः ५।
परमेष्ठी ६ वामबाहुः ७
श्रेष्ठो ८ गर्भविमोचनः ९॥
लम्बोदरो १० धर्मोत्तेशः ११
कामधुक् १२ कामधूमकः १३।
सुश्रीः १४ उष्मा १५ वृषो १६ लज्जा १७
मरुद्भक्षः १८ प्रियः १९ शिवः २०॥
सूर्य्यात्मा २१ जठरः २२ कोपी २३
मत्ता २४ वक्षो २५ विदारिणी २६।
कलकण्ठी २७ मध्यभिन्ना २८
शुद्धात्मा २९ मलपूः ३० शिरः ३१॥"
इति तन्त्रम्॥ * ॥
अपि च।
"षकारः श्वेत आख्यातो मूर्द्धन्यो वृषसंज्ञकः।
पित्तं शक्तिश्च माया च महायोनिः सबिन्दु-
मत्॥"
इति मन्त्राभिधानम्॥
अस्य स्वरूपं यथा,—
"षकारं शृणु चार्व्वङ्गि! अरुणोणमयं सदा।
रक्तचन्द्रप्रतीकाशं स्वयं परमकुण्डली॥
चतुर्व्वर्गमयं वर्णं सुधानिर्म्मितविग्रहम्।
पञ्चदेवमयं वर्णं पञ्चप्राणमयं सदा॥
रजःसत्त्वतमोयुक्तं त्रिशक्तिसहितं सदा।
त्रिबिन्दुसहितं वर्णं आत्मादितत्त्वसंयुतम्॥
सर्व्वदेवमयं वर्णं हृदि भावय पार्व्वति॥"
इति कामधेनुतन्त्रम्॥
अस्य लेखनप्रकारो यथा,—
"चतुष्कोणात्मिका रेखा वामदक्षिणतः क्रमात्।
वह्नीन्द्रविष्णवस्तासु तिष्ठन्ति क्रमतः सदा॥
ऊर्द्ध्वमात्रा शक्तिरूपा महालक्ष्मीसमा स्मृता।
मात्रा मध्यगता या तु वाग्देवी सा परा
स्मृता॥"
अस्य ध्यानं यथा,—
"चतुर्भुजां चकोराक्षीं चारुचन्दनचर्च्चिताम्।
शुक्लवर्णां त्रिनयनां वरदाञ्च शुचिस्मिताम्॥
रत्नालङ्कारभूषाढ्यां श्वेतमाल्योपशोभिताम्।
देववृन्दैरभिवन्द्यां सेवितां मोक्षकाङ्क्षिभिः॥
एवं ध्यात्वा षकारन्तु तन्मन्त्रं दशधा जपेत्॥"
इति च वर्णोद्धारतन्त्रम्॥
(धात्वनुबन्धविशेषः। यथा, कविकल्पद्रुमे।
"शिः कुटादिः षः क्षदङ्वान् ञो जवादी र
वैदिकः॥"
"आख्यातिकस्याङोऽप्राप्तयर्थं ङदिति विशेषणम्। स्वमते तूभयत्र ङ एव। डु ञौ ष पच पाके। भीषिचिन्तीति पचा।" इति तट्टीका॥)

षः, पुं, कचः। इति मेदिनी॥ मानवः। सर्व्वः। श्रेष्ठः। गर्भविमोचनः। इति कश्चिदेकाक्षरकोषः॥

षः, त्रि, विज्ञः। श्रेष्ठः। इति मेदिनी॥

षग, म ए संवृतौ। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट्।) म, षिषगयिषति। ए, असगीत्। इति दुर्गादासः॥

षघ, न हिंसे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (स्वा०-पर०-सक०-सेट्।) न, षघ्नोति। असीषघत्। इति दुर्गादासः॥

षच, समवाये । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट् ।) सचति । इति दुर्गादासः ॥

षच, ङ सेचने । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-आत्म०-सक०-सेट् ।) ङ, सचते जलं मेघः । इति दुर्गादासः ॥

षट, अंशके । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-अक०-सेट् ।) अंशके अवयवे । सटति पटः अवयवी स्यादित्यर्थः । इति दुर्गादासः ॥

षट्, [ष्] त्रि, संख्याविशेषः । छय इति भाषा । तद्वाचकानि यथा । वज्रकोणः १ त्रिशिरोनेत्रम् २ तर्कः ३ अङ्गम् ४ दर्शनम् ५ चक्रवर्त्ती ६ कार्त्तिकेयमुखम् ७ गुणः ८ रसः ९ ऋतुः १० ज्वरबाहुः ११ रूपम् १२ । इति कविकल्पलता ॥

षट्कर्म्म, [न्] क्ली, (षट्प्रकारं कर्म्म ।) षट्प्रकारशान्त्यादिकर्म्म । यथा, शारदायाम् ।

"अथाभिधास्ये तन्त्रेऽस्मिन् सम्यक् षट्कर्म्मलक्षणम् ।
सर्व्वतन्त्रानुसारेण प्रयोगः फलसिद्धिदः ॥
शान्तिवश्यस्तम्भनानि विद्वेषोच्चाटने ततः ।
मारणान्तानि शंसन्ति षट्कर्म्माणि मनीषिणः ॥
रोगकृत्या ग्रहादीनां निरासः शान्तिरीरिता ।
वश्यं जनानां सर्व्वेषां विधेयत्वमुदीरितम् ॥
प्रवृत्तिरोधः सर्व्वेषां स्तम्भनं तदुदाहृतम् ।
स्निग्धानां क्लेशजननं मिथोविद्वेषणं मतम् ॥
उच्चाटनं स्वदेशादेर्भ्रंशनं परिकीर्त्तितम् ।
प्राणिनां प्राणहरणं मारणं तदुदाहृतम् ।
स्वदेवतादिक्कालादीन् ज्ञात्वा कर्म्माणि साधयेत् ॥
रतिर्वाणी रमा ज्येष्ठा दुर्गा काली यथाक्रमम् ।
षट्कर्म्मदेवताः प्रोक्ताः कर्म्मादौ ताः प्रपूजयेत् ॥
ईशचन्द्रेन्द्रनिरृतिवायग्नीनां दिशो मताः ।
सूर्य्योदयं समारभ्य घटिकादशकं क्रमात् ॥
ऋतवः स्युर्व्वसन्ताद्याः अहोरात्रं दिने दिने ।
वसन्तग्रीष्मवर्षाख्यशरद्धेमन्तशिशिराः ॥"

यद्वा,—

"अर्द्धरात्रं शरत्कालो हेमन्तश्च प्रभातकः ।
पूर्व्वाह्णश्च वसन्तः स्यात् मध्याह्नो ग्रीष्म एव च ॥
प्रावृड्रूपोऽपराह्णः स्यात् प्रदोषः शिशिरः स्मृतः ॥"

अथवा,—

"ऊषोयोगे च हेमन्तः प्रभाते शिशिरागमः ।
प्रहरार्द्धे वसन्तः स्यात् ग्रीष्मो मध्यन्दिनागमे ।
तुर्य्ययामे च वर्षाख्यः शरदस्तं गते रवौ ॥"*॥

अथ कालनियमः ।

"हेमन्तः शान्तिके प्रोक्तो वसन्तो वश्यकर्म्मणि ।
शिशिरं स्तम्भने प्रोक्तो विद्वेषे ग्रीष्म एव च ।
प्रावृडुच्चाटने ज्ञेया शरन्मारणकर्म्मणि ॥"*॥

अथ तिथिनियमः ।

"पञ्चमी च द्वितीया च तृतीया सप्तमी तथा ।
बुधेज्यवारसंयुक्ता विज्ञेया द्वेषकर्म्मणि ॥
कृष्णा चतुर्द्दशी तद्वदष्टमी मन्दवारका ।
उच्चाटने तिथिः शस्ता प्रदोषे च विशेषतः ॥
चतुर्द्दश्यष्टमी कृष्णा अमावास्या तथैव च ।
मन्दभौमदिनोपेता शस्ता मारणकर्म्मणि ॥
बुधचन्द्रदिनोपेता पञ्चमी दशमी तथा ।
पौर्णमासी तु विज्ञेया तिथिः स्तम्भनकर्म्मणि ॥
शुभग्रहोदये कुर्य्यात् शुभानि च शुभोदये ।
रौद्रकर्म्माणि रिक्तार्कें मृत्युयोगे च मारणम् ॥*॥
जपेत् पूर्व्वमुखो वश्ये दक्षिणस्याभिचारके ।
पश्चिमे स्तम्भनं विद्यात् उत्तरे शान्तिकं भवेत् ॥
आकर्षणमथाग्नेये नैरृते मारणं तथा ।
उच्चाटनन्तु वायव्ये ऐशान्यां मोक्षदायकम् ॥*॥
अथाभिचारे कार्य्या च दक्षिणाप्रवणा मही ।
वसनं लोहितं प्रोक्तं उष्णीषं लोहितं स्मृतम् ॥
भूषणं लौहद्रव्येण वामेन पूजनादिकम् ।
नरस्नायुविशेषेण मारणे रज्जुरीरिता ॥
मृतस्य युद्धमृत्यस्य दन्तस्य गर्द्दभस्य वा ।
कृत्वाक्षमालां जप्तव्यं शत्रूणां वधमिच्छता ॥
भग्निभदन्तमणिभिर्जपेदाकर्षकर्म्मणि ।
साध्यकेशस्तूचप्रोतैस्तुरङ्गदशनोद्भवैः ।
अक्षमालां समालोक्य विद्वेषोच्चाटने जपेत् ॥*॥
पद्मासनं स्वस्तिकं भूयो विकटं कुक्कुटं पुनः ।
वज्रं भद्रकमित्याहुरासनानि मनीषिणः ॥
पद्मासनन्तु संयोज्य जान्वोरन्तरे करौ ।
निवेश्य भूमौ संस्थाप्य व्योमस्थं कुक्कुटासनम् ॥"
अन्यानि वक्तव्यानि ॥ * ॥
"षण्मुद्राः क्रमतो ज्ञेयाः पद्मपाशगदाह्वयाः ।
मुषलाशनिखड्गाख्याः शान्तिकादिषु कर्म्मसु ॥
जलं शान्तिविधौ शस्तं वश्ये वह्निरुदीरितः ।
स्तम्भने पृथिवी शस्ता विद्वेषे व्योम कीर्त्तितम् ॥
उच्चाटने स्मृतो वायुर्भूयोऽग्निर्म्मारणे स्मृतः ।
तत्तद्भूतोदये सम्यक् तत्तन्मण्डलसंयुतम् ।
तत्तत् कर्म्म विधातव्यं मन्त्रिणा निश्चितात्मना ॥*॥
शीतांशुसलिलक्षौणीव्योमवायुहविर्भुजाम् ।
वर्णाः स्युर्म्मन्त्रबीजानि षट्कर्म्मसु यथाक्रमम् ॥
ग्रन्थनञ्च विदर्भश्च संपुटो रोधनं तथा ।
योगः पल्लव इत्येते विन्यासाः षट्सु कर्म्मसु ॥
मन्त्रार्णान्तरितान् कुर्य्यात् साध्यवर्णान् यथाविधि ।
ग्रन्थनं तद्विजानीयात् प्रशस्तं शान्तिकर्म्मणि ॥
मन्त्रार्णद्वयमध्यस्थं साध्यनामाक्षरं लिखेत् ।
विदर्भ एष विज्ञेयो मन्त्रिभिर्व्वश्यकर्म्मणि ॥
आदावन्ते च मन्त्रः स्यान्नामासौ संपुटः स्मृतः ।
एष स्यात् स्तम्भने शस्त इत्युक्तो मन्त्रवेदिभिः ॥
नाम्न आद्यन्तमध्येषु मन्त्रः स्याद्रोधनं मतम् ।
विद्वेषणविधानेषु प्रशस्तमिदमीरितम् ॥
मन्त्रस्यान्ते भवेन्नामयोगः शोच्चाटने मतः ।
अन्ते नाम्नो भवेन्मन्त्रः पल्लवो मारणे मतः ॥
सितरक्तपीतमिश्रकृष्णधूम्राः प्रकीर्त्तिताः ।
वर्णतो मन्त्रसंप्रोक्ता देवताः षट्सु कर्म्मसु ॥*॥
मन्त्राणां लिखनद्रव्यं चन्दनं रोचनं निशा ।
गृहधूमचिताङ्गारौ मारणेऽष्ट विषाणि च ॥
शशेनाशिलोलपित्तानि धुस्तूरकरसस्तथा ।
गृहधूमश्चिकटुकं विषाष्टकमितीरितम् ॥
देवताकालमुद्रादीन् सम्यक् ज्ञात्वा विचक्षणः ।
षट्कर्म्माणि प्रयुञ्जीत यथोक्तफलसिद्धये ॥ * ॥
उच्चाटने वषट् प्रोक्तं हूँ फडन्तञ्च मारणे ।
स्तम्भने च नमः प्रोक्तं स्वाहा शान्तिकपौष्टिके ॥
होमतर्पणयोः स्वाहा न्यासपूजनयोर्न्नमः ।
मन्त्रान्ते योजयेन्मन्त्री जपकाले यथास्थिति ॥"

अस्यार्थः एतानि तत्तत्कर्म्मणि जपकाले मन्त्रान्ते योजयित्वा मन्त्रं जपेत् । होमादिषु नायं नियमः । होम इति कश्चित् तन्त्र ।

"अग्निकार्य्ये जपेत् स्वाहा नमः सर्व्वत्र चार्च्चने ।
शान्तिपुष्टिवशद्वेषाकर्षोच्चाटनमारणे ॥
स्वाहा-स्वधा-वषट्-हूञ्च वौषट् फट् योजयेत् क्रमात् ।
वश्याकर्षणसन्तापज्वरे स्वाहा प्रकीर्त्तिता ॥
क्रोधोपशमने शान्तौ प्रीतौ योज्यं नमो बुधैः ।
वौषट् सम्मोहनोद्दीपपुष्टिमृत्युञ्जयेषु च ॥
हूङ्कारं प्रीतिनाशे च मारणे च्छेदने तथा ।
उच्चाटने च विद्वेषे वषट् पञ्चकतो वषट् ।
मन्त्रोद्दीपनकार्य्येषु लाभालाभे वषट् स्मृतः ॥"

इति विशेषवचनाद्धोमे नायं विधिः ॥ * ॥ शान्तिकादौ मन्त्रलिखनपत्रादिनियमस्तत्र एव ।

"शान्तिके राजतं ताम्रं भूर्ज्जपत्रञ्च वश्यके ।
सर्व्वकार्य्येषु सौवर्णं क्रूरे स्यात् प्रेतकर्पटम् ॥
त्रिगन्धं शान्तिके प्रोक्तं पञ्चगन्धन्तु वश्यके ।
सर्व्वकार्य्येऽष्टगन्धः स्यात् क्रूरे चाष्टविषाणि च ॥
शान्तिके लेखनी दूर्व्वा वश्यादौ शिखिपुच्छिका ।
हेमा सर्व्वाणि कार्य्याणि क्रूरे स्यात् काकपुच्छिका ॥
गृहेषु शान्तिकर्म्म स्यात् वश्यञ्च चण्डिकागृहे ।
देवालये च सर्व्वाणि श्मशाने क्रूरकर्म्म च ॥"*॥

अथ भूतानामुदयः ।

"दण्डाकारा गतिर्भूमेः पुटयोरुभयोरपि ।
तोयस्य पावकस्योर्द्ध्वं गतिस्तिर्य्यक् नभस्वतः ॥
गतिर्योगो भवेन्मध्ये भूतानामुदयः स्मृतः ।
धरणीरुदये कुर्य्यात् स्तम्भनं वश्यमात्मवित् ॥
शान्तिकं पौष्टिकं कर्म्म तोयस्य समये वशी ।
मारणादीनि मरुतो विषच्चोच्चाटनादिके ।
चूडादिनाशने शस्तमुदये च विहायसः ॥"*॥

अथ भूतानां मण्डलानि ।

"वृत्तं दिवस्तत् षड्बिन्दुलाञ्छितं मातरिश्वनः ।
त्रिकोणं स्वस्तिकोपेतं वह्नेरर्द्धेन्दुसंयुतम् ॥
अम्भोजमम्भसो भूमेश्चतुरस्रं सवज्रकम् ।
तत्तद्भूतसमाभानि मण्डलानि विदुर्बुधाः ॥
वर्णैः स्वे रञ्जितान्याहुः स्वस्वनामावृतान्यपि ।
स्वयं वियत् मरुत् कृष्णो रक्तोऽग्निर्व्विशदं पयः ॥"

पीड़ाभूतादिप्रयोगानन्तरं कुलार्णवे ।

"एकलक्षं जपेन्मन्त्रं ध्यानन्यासमन्वितम् ।
प्रयोगदोषशान्त्यर्थमात्मरक्षार्थकारणम् ।
न चेत् फलञ्च नाप्नोति देवताशापमाप्नुयात् ॥"

यत्तु ।

"न शस्तं मारणं कर्म्म कुर्य्याच्चेदयुतं जपेत् ।"

तत् प्रायश्चित्तपरम्। इति तन्त्रसारः ॥ * ॥
योगाङ्गषट्प्रकारक्रिया। तद्यथा,—
"धौतिर्वस्तिस्तथा नेतिर्नौलिकी त्राटकस्तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्म्माणि समाचरेत् ॥
अन्तर्धौतिर्दन्तधौतिर्हृद्धौतिर्म्मूलशोधनम्।
धौत्यश्चतुर्व्विधाः प्रोक्ता घटं कुर्व्वन्ति निर्म्म-
लम् ॥
वातसारं वारिसारं वह्निसारं बहिष्कृतम्।
घटस्य निर्म्मलार्थाय अन्तर्धौतिश्चतुर्व्विधा ॥"*
प्रयोगः।
"काकचञ्चुवदास्येन पिबेद्वायुं शनैः शनैः।
चालयेदुदरं पश्चाद्वर्त्मना रेचयेत् शनैः ॥
वातसारं परं गोप्यं देहनिर्म्मलकारकम्।
सर्व्वरोगक्षयकरं देहानलविवर्द्धकम् ॥ १ ॥
आकण्ठं पूरयेद्वारि वक्त्रेण च पिबेत् शनैः।
चालयेदुदरेणैव चोदराद्रेचयेदधः ॥
वारिसारं परं धौतं देहनिर्म्मलकारकम्।
साधयेद्यः प्रयत्नेन देवदेहं प्रपद्यते ॥ २ ॥
नाभिग्रन्थिं मेरुपृष्ठं शतवारञ्च कारयेत्।
उदरामयजां त्यक्त्वा जठराग्निं विवर्द्धयेत्।
वह्निसारमिदं धौतं योगिनां योगसिद्धिदम् ॥३॥
काकीमुद्रां साधयित्वा पूरयेदुदरं मरुत्।
धारयेदर्द्धयामन्तु चालयेदधवर्त्मना ॥
इदं धौतं परं गोप्यं न प्रकाश्यं कदाचन।
नाभिमग्नजले स्थित्वा शक्तिनाडीं विसर्ज्जयेत् ॥
कराभ्यां क्षालयेन्नाडीं यावन्मलविसर्ज्जनम्।
तावत् प्रक्षाल्य नाडीञ्च उदरे वेशयेत् पुनः ॥
इदं प्रक्षालनं गोप्यं देवानामपि दुर्लभम्।
केवलं धौतिमात्रेण देवदेहो भवेत् ध्रुवम् ॥
यामार्द्धधारणात् शक्तिं यावन्न साधयेन्नरः।
बहिष्कृतमहद्धौतिस्तावन्नैव न जायते ॥ ४ ॥
दन्तमूलं जिह्वामूलं रन्ध्रे च कर्णयुग्मयोः।
कपालरन्ध्रं पञ्चैते दन्तधौतिर्व्विधीयते ॥"*॥
प्रयोगः।
"खादिरेण रसेनाथ मृत्तिकाभिश्च शुद्धिभिः।
मार्ज्जयेद्दन्तमूलञ्च यावत् किल्बिषमाहरेत् ॥
दन्तमूलं परं धौतिर्योगिनां योगसाधने।
नित्यं कुर्य्यात् प्रभाते च दन्तरक्षाय योगवित्।
दन्तमूलं धारणादिकार्य्येषु योगिनां मतः। १।
अथातः संप्रवक्ष्यामि जिह्वाशोधनकारणम् ॥
जरामरणरोगादि नाशयेत् दीर्घलम्बिका।
तर्ज्जनी मध्यमानामा अङ्गुलित्रययोगतः ॥
वेशयेद्गलमध्ये तु मार्ज्जयेल्लम्बिकामलम्।
शनैः शनैर्म्मार्ज्जयित्वा कफदोषं निवारयेत् ॥
मार्ज्जयेन्नवनीतेन दोहयेच्च पुनः पुनः।
तदग्रं लौहयन्त्रेण कर्षयित्वा पुनः पुनः ॥
नित्यं कुर्य्यात् प्रयत्नेन रवेरुदयकेऽस्तके।
एवं कृते तु नित्ये च लम्बिका दीर्घतां गता ॥२
तर्ज्जन्यङ्गुल्यकाग्रेण मार्ज्जयेत् कर्णरन्ध्रयोः।
नित्यमभ्यासयोगेन नादान्तरप्रकाशनम् ॥३॥४॥
वृद्धाङ्गुष्ठेन दक्षेण मार्ज्जयेद्भालरन्ध्रकम्
एवमभ्यासयोगेन कफदोषं निवारयेत् ॥
नाड़ी निर्म्मलतां याति दिव्यदृष्टिः प्रजायते।
निद्रान्ते भोजनान्ते च दिवान्ते च दिने दिने ॥५
हृद्धौतिं त्रिविधां कुर्य्यात् दण्डवमनवाससा।
रम्भादण्डं हरिद्दण्डं वेत्रदण्डन्तथैव च ॥
हृन्मध्ये चालयित्वा तु पुनः प्रत्याहरेत् शनैः।
कफपित्तं तथा क्लेदं रेचयेदूर्द्ध्ववर्त्मना।
दण्डधौतिविधानेन हृद्रोगं नाशयेत् ध्रुवम् ॥"
हरिद्दण्डं वटभुरि ॥ १ ॥
"भोजनान्ते पिबेद्वारि आकण्ठं पूरितं सुधीः।
ऊर्द्ध्वदृष्टिं क्षणं कृत्वा तज्जलं वमयेत् पुनः।
नित्यमभ्यासयोगोऽयं कफपित्तं निवारयेत् ॥२॥
चतुरङ्गुलविस्तारं सूक्ष्मवस्त्रं शनैर्ग्रसेत्।
पुनः प्रत्याहरेदेतत् प्रोच्यते धौतकर्म्मकम् ॥
गुल्मज्वरप्लीहकुष्ठं कफपित्तं विनश्यति।
आरोग्यं बलपुष्टिश्च भवेत्तस्य दिने दिने ॥ ३ ॥
अपानक्रूरता तावद्यावन्न शोधयेत्।
तस्मात् सर्व्वप्रयत्नेन मलशोधनमाचरेत् ॥
पीतमूलस्य दण्डेन मध्यमाङ्गुलिनापि वा।
यत्नेन क्षालयेद्गुह्यं वारिणा च पुनः पुनः ॥
वारयेत् कोष्ठकाठिन्यमामाजीर्णं निवारयेत्।
कारणं कान्तिपुष्ट्योश्च दीपनं वह्निमण्डलम् ॥*॥
जलवस्तिः शुष्कवस्तिर्वस्ती च द्विविधौ स्मृतौ।
जलवस्तिं जले कुर्य्यात् शुष्कवस्तिं क्षितौ सदा ॥
नाभिमग्नजले पायुं न्यस्तनालोत्कटासनम्।
आकुञ्चनं प्रकाशञ्च जलवस्तिं समाचरेत् ॥
प्रमेहञ्च गुदावर्त्तं क्रूरवायुं निवारयेत्।
भवेत् स्वच्छन्ददेहश्च कामदेवसमो भवेत् ॥"
न्यस्तनालोत्कटासनं जलहृदये हस्तं दत्त्वा
शारङ्गवदुदरं कुर्य्यादित्यर्थः। १।
"वस्तिं पश्चिमतानेन चालयित्वा शनैः शनैः।
अश्विनीमुद्रया पायुं आकुञ्चयेत् प्रकाशयेत् ॥
एवमभ्यासयोगेन कोष्ठदोषो न विद्यते।
विवर्द्धयेत् जाठराग्निं आमवातं विनाशयेत् ॥२
वितस्तिमानं सूक्ष्मसूत्रं नासानाले प्रवेशयेत्।
मुखान्निर्गमयेत् पश्चात् प्रोच्यते नेतिकर्म्मकम् ॥
साधनान्नेतिकर्म्मापि खेचरीसिद्धिमाप्नुयात्।
कफदोषा विनश्यन्ति दिव्यदृष्टिश्च जायते ॥*॥
अमन्दवेगे तुन्दञ्च भ्रामयेदुभपार्श्वयोः।
सर्व्वरोगान्निहन्तीह देहानलविवर्द्धनम् ॥"
इति नौलिकी ॥*॥
"निमेषोन्मेषकं त्यक्त्वा सूक्ष्मलक्ष्यं निरीक्षयेत्।
यावदश्रु निपतति त्राटकं प्रोच्यते बुधैः ॥
एवमभ्यासयोगेन शाम्भवी जायते ध्रुवम्।
न जायते नेत्ररोगो दिव्यदृष्टिप्रदायकम् ॥*॥
सीत्कृत्य पीत्वा वक्त्रेण नासानालैर्विरेचयेत्।
व्युत्क्रमेण व्युत्क्रमेण सीत्क्रमेण विशेषतः ॥
भालभातिं त्रिधा कुर्य्यात् कफदोषं निवारयेत् ॥
इड़या पूरयेद्वायुं रेचयेत् पिङ्गलया पुनः।
पिङ्गलया पूरयित्वा पुनश्चन्द्रेण रेचयेत् ॥
पूरकं रेचकं कृत्वा वेगेन न तु धारयेत्।
एवमभ्यासयोगेन कफदोषं निवारयेत् ॥*॥
नासाभ्यां जलमाकृष्य वक्त्रेण रेचयेत् पुनः।
पायं पायं प्रकुर्व्वीत श्लेष्मदोषं निवारयेत् ॥
न जायते वार्द्धकञ्च ज्वरो नैव प्रजायते ॥"
इति घेरण्डसंहितायां षट्कर्म्मशोधनं प्रथमो-
ऽध्यायः ॥

षट्कर्म्मा, [न्] पुं, (षट् कर्म्माणि यजनादीनि
यस्य।) यागादिभिर्युक्तो ब्राह्मणः। इत्यमरः ॥
तथा च।
"इज्याध्ययनदानानि याजनाध्यापने तथा।
प्रतिग्रहश्च तैर्युक्तः षट्कर्म्मा विप्र उच्यते ॥"
षट् कर्म्माण्यस्य इति बहुव्रीहिः। इति भरतः ॥

षट्कूटा, स्त्री, भैरवीविशेषः। यथा,—
अथ षट्कूटा भैरवी।
"डाकिनी राकिणी बीजे लाकिनी काकिनी-
युगम्।
साकिनी हाकिनी बीजे आहृत्य सुरसुन्दरि ॥
आद्यमैकारसंयुक्तमन्यदौकारमण्डितम्।
शक्रस्वरान्वितं देवि तार्त्तीयं बीजमालिखेत्।
बिन्दुनादकलाक्रान्तं त्रितयं शैलसम्भवे ॥"
तृतीयबीजं सविसर्गं इत्यपि केचित्। तन्त्रा-
न्तरे।
"डरौ व्योमासनं जीवं शिवमत्र त्रिधा लिखेत्।
अर्कैश्च मायाशक्राभ्यां क्रमात्तं मण्डितं कुरु ॥
बिन्दुनादान्वितं चाद्यद्वयमन्त्यं विसर्गवत्।
ध्यानमस्याः प्रवक्ष्यामि सर्व्वभूतनिकृन्तनम् ॥
कालसूर्य्यप्रभां देवीं जवाकुसुमसन्निभाम्।
मुण्डमालावलीरम्यां कालसूर्य्यसमांशुकाम् ॥
सुवर्णकलसाकारपीनोन्नतपयोधराम्।
पाशाङ्कुशौ पुस्तकञ्च तथा च जपमालिकाम् ॥"
दधतीमिति शेषः।
"द्विरावृत्त्या षड़ङ्गानि विधाय परमेश्वरि।
यन्त्रमस्या वरारोहे त्रिकोणं तत्पुटं लिखेत् ॥
बहिरष्टदलं पद्मं रविपत्रं ततो लिखेत्।
चतुरस्रं चतुर्द्वारमेवं मण्डलमालिखेत् ॥
षड़ङ्गावरणं देवि! पूजयेत् पूर्व्ववच्छिवे।
रत्यादि त्रितयं देवि त्रिकोणे परिपूजयेत् ॥
डाकिन्याद्याश्च षट्कोणे वसुपत्रे ततः परम्।
ब्राह्म्यादि युगलं पश्चाद्रविपत्रे ततः परम् ॥
बालायाः पीठशक्तीस्तु वामाद्याः पूजयेत्
क्रमात्।
चतुरस्रे लोकपालान् सायुधान् परमेश्वरि।
अनेनैव विधानेन नित्याख्यां भैरवीं यजेत् ॥"
इति तन्त्रसारः ॥

षट्कोणं, क्ली, लग्नात् षष्ठगृहम्। तत्तु रिपु-
स्थानम्। यथा,—
"मातालं हिबुकं चैव सुहृद्भञ्चतुर्थकम्।
त्रित्रिकोणञ्च नवमं दुश्चिक्यं स्यात् तृतीयकम् ॥
धीस्थानं पञ्चमं ज्ञेयं यामित्रं सप्तमं स्मृतम्।
द्युनं द्यूनं तथास्ताख्यं षट्कोणं रिपुमन्दिरम् ॥"
इति ज्योतिस्तत्त्वम् ॥*॥
(षट् कोणा यस्य।) वज्रम्। इति राज-
निर्घण्टः ॥ षड़स्रतन्त्रोक्तो यन्त्रभेदः। यथा,
गणेशयन्त्रम्।

"बीजं षट्कोणमध्ये स्फुरदनलपुरे तारगं दिक्षु लक्ष्मीः
माया कन्दर्पभूमिस्तदनु रसपुटेष्वालिखेद्बीजषट्कम् ।"

इति तन्त्रसारः ॥

षट्चक्रं, क्ली, (षणां चक्राणां समाहारः ।) शरीरस्थपद्माकारषट्प्रकारचक्रम् । यथा,—

"सप्त पद्मानि तत्रैव सन्ति लोका इव प्रभो ।
गुदे पृथ्वीसमं चक्रं हरिद्वर्णं चतुर्द्दलम् ॥
लिङ्गे तु षड्दलं चक्रं स्वाधिष्ठानमिति स्मृतम् ।
त्रिलोकवह्निनिलयं तप्तचामीकरप्रभम् ॥
नाभौ दशदलं चक्रं कुण्डलिन्या समन्वितम् ।
नीलाञ्जननिभं ब्रह्मस्थानं पूर्व्वकमन्दिरम् ॥
मणिपूराभिधं स्वच्छं जलस्थानं प्रकीर्त्तितम् ।
उद्यदादित्यसंकाशं हृदि चक्रमनाहतम् ॥
कुम्भकाख्यं द्वादशारं वैष्णवं वायुमन्दिरम् ।
कण्ठे विशुद्धशरणं षोड़शारं पुरोदयम् ॥
शाम्भवीदरचक्राख्यं चन्द्रबिन्दुविभूषितम् ।
ब्रह्माशालयं चक्रं द्विदलं श्वेतमुत्तमम् ॥
राधाचक्रमिति ख्यातं मनःस्थानं प्रकीर्त्तितम् ।
सहस्रदलमेकार्णं परमात्मप्रकाशकम् ॥
नित्यज्ञानमयं सत्यं सहस्रादित्यसन्निभम् ।
षट् चक्राणीह मेद्यानि मेतद्भेद्यं कथञ्चन ॥"

इति पाद्मे स्वर्गखण्डे २७ अध्यायः ॥*॥

अन्यच्च ।

"तत्त्वस्वरूपमेकं तत् षट् चक्रं प्रतिलक्षयेत् ।
षट् चक्रेऽपि महामायां चलां ध्यात्वा प्रयत्नतः ॥
लक्षयेन्मूलमध्येषु आदिषोड़शचक्रकम् ।
आदिषोड़शचक्रस्थां साधकानन्दकारिणीम् ॥
चिन्तयन् साधको देवीं जपकर्म्म समारभेत् ।
भ्रुवोरुपरि नाड़ीनां त्रयाणां प्राप्त उच्यते ।
तत्प्रान्तं त्रिपथस्थानं षट् कोणं चतुरङ्गुलम् ॥
रक्तवर्णन्तु योगज्ञैराज्ञाचक्रमितीरितम् ॥
कण्ठे त्रयाणां नाड़ीनां वेष्टनं विद्यते शुभाम् ।
सुषुम्णेड़ापिङ्गलानां षट् कोणं तत् षड़ङ्गुलम् ॥
तत् षट् चक्रमिति प्रोक्तं शुक्लं कण्ठस्य मध्यगम् ।
त्रयाणामथ नाड़ीनां हृदये चैकता भवेत् ॥
तत्स्थानं षोड़शारं स्यात् सप्ताङ्गुलप्रमाणतः ।
तत् पीतमुक्तं योगज्ञैरादिषोड़शचक्रकम् ॥
ध्यानानामथ मन्त्राणां चिन्तनस्य जपस्य च ।
यस्मादाद्यञ्च हृदयं तस्मादादीति गद्यते ॥"

इति कालिकापुराणे ५४ अध्यायः ॥*॥

अपरञ्च ।

"मूलाधारे त्रिकोणाख्ये इच्छाज्ञानक्रियात्मके ।
मध्ये स्वयम्भुलिङ्गन्तु कोटिसूर्य्यसमप्रभम् ॥
तदूर्द्ध्वे कामबीजन्तु क-ल-शान्तीन्दुनादकम् ।
तदूर्द्ध्वे तु शिखाकारा कुण्डली ब्रह्मविग्रहा ॥
तद्बाह्ये हेमवर्णाभं व-स-वर्णचतुर्द्दलम् ।
द्रुतहेमसमप्रख्यं पद्मं तत्र विभावयेत् ॥
तदूर्द्ध्वेऽग्निसमप्रख्यं षड़्दलं हीरकप्रभम् ।
वादिलान्तषड़्वर्णेन युक्ताधिष्ठानसंज्ञकम् ॥
मूलमाधारषट्कानां मूलाधारं ततो विदुः ।
स्वशब्देन परं लिङ्गं स्वाधिष्ठानं ततो विदुः ॥
तदूर्द्ध्वे नाभिदेशे तु मणिपूरं महत्प्रभम् ।
मेघाभं विद्युदाभञ्च बहुतेजोमयं ततः ।
मणिवद्भिन्नं तत् पद्मं मणिपूरं तथोच्यते ॥
दशभिश्च दलैर्युक्तं डादिफान्ताक्षरान्वितम् ।
शिवेनाधिष्ठितं पद्मं विश्वलोकैककारणम् ॥
तदूर्द्ध्वेऽनाहतं पद्ममुद्यदादित्यसन्निभम् ।
कादिठान्ताक्षरैरर्कपत्रैश्च समधिष्ठितम् ॥
तन्मध्ये बाणलिङ्गन्तु सूर्य्यायुतसमप्रभम् ।
शब्दब्रह्ममयं शब्दोऽनाहतस्तत्र दृश्यते ॥
तेनाहताख्यं पद्मं तत् मुनिभिः परिकीर्त्त्यते ।
आनन्दसदनं तत्तु पुरुषाधिष्ठितं परम् ॥
तदूर्द्ध्वन्तु विशुद्धाख्यं दलषोड़शपङ्कजम् ।
स्वरैः षोड़शकैर्युक्तं धूम्रवर्णं महत्प्रभम् ॥
विशुद्धिं तनुते यस्मात् जीवस्य हंसलोकनात् ।
विशुद्धं पद्ममाख्यातं आकाशाख्यं महत् परम् ॥
आज्ञाचक्रं तदूर्द्ध्वे तु आत्मनाधिष्ठितं परम् ।
आज्ञासंक्रमणं तत्र गुरोराज्ञेति कीर्त्तितम् ॥
कैलासाख्यं तदूर्द्ध्वे तु बोधनीन्तु तदूर्द्ध्वतः ।
एवञ्च शिवचक्राणि प्रोक्तानि तव सुव्रत ॥
सहस्राराम्बुजं बिन्दुस्थानं तदूर्द्ध्वमीरितम् ।
इत्येतत् कथितं सर्व्वं योगमार्गमनुत्तमम् ॥"

इति तन्त्रसारः ॥

षट्चरणः, पुं, (षट् चरणा यस्य ।) भ्रमरः । इति हलायुधः ॥ (यथा, आर्य्यासप्तशत्याम् । ५८७ ।

"षट्चरणकीटजुष्टं परागधुणपूर्णमायुधं व्यक्तम् ।
त्वां मुष्टिमेयमध्यामधुना शक्तिं स्मरो वहति ॥")

यूका । इति राजनिर्घण्टः ॥ षट्पादश्च ॥

षट्ट, क निकेतने । हिंसे । दाने । बले । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (चुरा०-पर०-वासे बले च अक०-हिंसे दाने च सक०-सेट् ।) मूर्द्धन्यादिः दन्त्यान्तः । क, षट्टयति लोकः । निवसति हन्ति बली स्यात् ददाति वा इत्यर्थः । इति दुर्गादासः ॥

षट्तिली, [न्] त्रि, (उद्वर्त्तनादिभेदेन षट्प्रकारास्तिलाः सन्त्यस्येति । षट्तिल + इनिः ।) जन्मतिथ्यादौ तिलकरणकषट्कर्म्मकारी । यथा,—

"तिलोद्वर्त्ती तिलस्नायी तिलहोमी तिलप्रदः ।
तिलभुक् तिलवापी च षट्तिली नावसीदति ॥"

इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥

षट्त्रिंशत्, स्त्री, (षड़धिका त्रिंशत् । मध्यपदलोपि समासः ।) संख्याविशेषः । छत्रिश इति भाषा । यथा, आह्निकचिन्तामणौ ।

"आसनाभ्यञ्जने तद्वदुद्वर्त्तनविरूक्षणे ।
सम्मार्जनं सर्पिरादिस्नपनावाहने तथा ॥
पाद्यार्घ्याचमनीयञ्च स्नानीयमधुपर्क्ककौ ।
पुनराचमनीयञ्च वस्त्रयज्ञोपवीतके ॥
अलङ्कारो गन्धपुष्पधूपदीपौ तथैव च ।
ताम्बूलादिकनैवेद्यं पुष्पमालां तथैव च ॥
अनुलेपश्च शय्या च चामरव्यजनं तथा ।
आदर्शदर्शनञ्चैव नमस्कारोऽथ नर्त्तनम् ॥
गीतवाद्ये च दानानि स्तुतिहोमप्रदक्षिणम् ।
दन्तकाष्ठप्रदानञ्च ततो देवविसर्ज्जनम् ॥
उपचारा इमे ज्ञेयाः षट्त्रिंशत् सुरपूजने ॥"

इत्येकादशीतत्त्वम् ॥

षट्त्रिंशन्मतं, क्ली, (षट्त्रिंशत्तत्संख्यकधर्म्मशास्त्रकारिणां मुनीनां मतम् ।) षड़धिकत्रिंशत्संख्यकधर्म्मशास्त्रप्रयोजकमुनीनामभिप्रायः । यथा । तथा च षट्त्रिंशन्मतम् । इति तिथिस्वरूपकथने तिथ्यादितत्त्वम् । तेषां नामानि यथा,—

"मनुर्विष्णुर्यमो दक्षः अङ्गिरोऽत्रिबृहस्पती ।
आपस्तम्बश्चोशना च कात्यायनपराशरौ ॥
वशिष्ठव्याससंवर्त्ता हारीतगौतमावपि ।
प्रचेताः शङ्खलिखितौ याज्ञवल्क्यश्च काश्यपः ॥
शातातपो लोमशश्च जमदग्निः प्रजापतिः ।
विश्वामित्रपैठीनसी बौधायनपितामहौ ॥
छागलेयश्च जाबालो मरीचिश्च्यवनो भृगुः ।
ऋष्यशृङ्गो नारदश्च षट्त्रिंशत् स्मृतिकारकाः ॥
एतेषान्तु मतं यत्तु षट्त्रिंशन्मतमुच्यते ॥"

इति शङ्खलिखितौ ॥

षट्पदः, पुं, (षट् पदानि यस्य ।) भ्रमरः । इत्यमरः ॥ (यथा, रघुः । ६ । ६९ ।

"न हि प्रफुल्लं सहकारमेत्य
वृक्षान्तरं काङ्क्षति षट्पदाली ॥")

तच्छकुनानि यथा,—

"ये षट्पदाद्याः शकुनानि तेषामाश्चर्य्यरूपाणि निरूपयामः ।
श्रयेत वामो यदि मञ्जु गुञ्जन्
पश्येत वा वामदिशं प्रसर्पन् ।
आस्वादयेद्वा कुसुमं प्रशस्तं
भृङ्गस्तदा स्यात् सुमहान् प्रमोदः ।
अत्रापरे सन्ति च षट्पदा ये
यात्रासु ते वामगताः प्रशस्ताः ॥"

इति वसन्तराजशाकुने षट्पदादयः १५ वर्गः ॥*॥

यूका । इति राजनिर्घण्टः ॥ षट्चरणे, त्रि ॥ (षट्पदविशिष्टे च त्रि । यथा, महाभारते । १४ । ५ । १६ ।

"पुरञ्च ते सुगुप्तं स्यात् दृढ़प्राकारतोरणम् ।
अट्टाट्टालकसंबाधं षट्पदं सर्व्वतोदिशम् ॥")

षट्पदप्रियः, पुं, (षट्पदानां भ्रमराणां प्रियः ।) नागकेशरवृक्षः । इति शब्दमाला ॥

षट्पदातिथिः, पुं, (षट्पदः अतिथिरिव यत्र ।) आम्रवृक्षः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

षट्पदानन्दवर्द्धनः, पुं, (षट्पदानामानन्दं वर्द्धयतीति । वृध + ल्युः ।) किंकिरातवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

षट्पदी, स्त्री, (षट् पदानि यस्याः । ङीष् ।) यूका । इति हेमचन्द्रः ॥ भ्रमरपत्नी च ॥

षट्प्रश्नः, पुं, (षट्सु रसेषु प्रश्ना यस्य ।) कामुकः । यथा,—
"षिड्गो ग्रलीकः षट्प्रश्नः कामकेलिर्व्विदूषकः ।
पीठकेलिः पीठमर्द्दो भविलम्बिद्धुरो विटः ॥"
इति त्रिकाण्डशेषः ॥
(षट्सु धर्म्मादिषु प्रश्ना यस्य ।) धर्म्मादि-शास्त्रविज्ञः । यथा,—
"धर्म्मार्थकाममोक्षेषु लोकतत्त्वार्थयोरपि ।
षट्सु प्रश्नास्ति यस्योच्चैः स षट्प्रश्न इति स्मृतः ॥"
इति च त्रिकाण्डशेषः ॥

षड्चीणः, पुं, (षट्सु रसेषु अचीणः ।) मत्स्यः । इति केचित् ॥

षडङ्गं, क्ली, (षसां अङ्गानां समाहारः ।) शरीरस्य षडवयवम् । यथा,—
"जङ्घे बाहू शिरो मध्यं षडङ्गमिदमुच्यते ॥"
इति शब्दचन्द्रिका ॥ * ॥
वेदाङ्गषट्शास्त्राणि । यथा,—
"शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्योतिषं तथा ।
छन्दश्चेति षडङ्गानि वेदानां वैदिका विदुः ॥"
इति शब्दरत्नावली ॥ * ॥
अपि च । अङ्गान्याह शिक्षापद्मम् ।
"छन्दःपादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ कथ्यते ।
ज्योतिषामयनं नेत्रं निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ॥
शिक्षा घ्राणन्तु वेदस्य दुखं व्याकरणं स्मृतम् ।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥ * ॥
आद्यश्राद्धीयदानाङ्गपीठादिकम् । इति लोकप्रसिद्धम् ॥ * ॥ षट्प्रकारगव्यविशेषः । यथा,—
"गोमूत्रं गोमयं क्षीरं सर्पिर्दधि च रोचना ।
षडङ्गमेतन्माङ्गल्यं पवित्रं सर्व्वदा गवाम् ॥"
इति स्मृतिः ॥ * ॥
हृदयादिषडवयवम् । तत्प्रमाणं न्यासशब्दे द्रष्टव्यम् ॥

षडङ्गः, पुं, (षट् अङ्गानि यस्य ।) क्षुद्रगोक्षुरकः । इति राजनिर्घण्टः ॥ (वेदः । यथा,—
"शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दसाञ्चयः ।
ज्योतिषामयनञ्चैव षडङ्गो वेद उच्यते ॥")

षडङ्गजित्, पुं, (षडङ्गं जितवानिति । जि + क्विप् ।) विष्णुः । इति शब्दमाला ॥ षडङ्गजेतरि, त्रि ॥

षडभिज्ञः, पुं, (षट्सु धर्म्मार्थकाममोक्षलोकतत्त्वार्थेषु अभिज्ञा यस्य ।) बुद्धः । इत्यमरः ॥

षडशीतिः, स्त्री, रविसंक्रान्तिविशेषः । सा तु मिथुनकन्याधनुर्म्मीनराशिषु भवति । यथा, भविष्यमात्स्यज्योतिषेषु ।
"मृगकर्कटसंक्रान्ती द्वे तूदग्दक्षिणायने ।
विषुवती तुलामेषे गोलमध्ये तथापराः ॥
धनुर्म्मिथुनकन्यासु मीने च षडशीतयः ।
वृषवृश्चिककुम्भेषु सिंहे विष्णुपदी स्मृता ॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥
अस्याः पुण्यकालः संक्रान्तिशब्दे द्रष्टव्यः ॥ * ॥ षडधिकाशीतिसंख्या । इत्यङ्कशास्त्रम् ॥ छियाशी — इति भाषा ॥

षडशीतिचक्रं, क्ली, (षडशीतेश्चक्रम् ।) मिथुनकन्याधनुर्म्मीनराशिस्थरवेः शुभाशुभफलज्ञानार्थं नक्षत्राङ्गनराकारचक्रम् । यथा,—
"मुखे चैकं करे वेदाः पादयुग्मे द्वयं द्वयम् ।
क्रोडे बाणास्तथा वेदाः करे सव्येतरेऽपि च ॥
द्वयं द्वयं तथा नेत्रे मस्तके त्रितयं तथा ।
द्वयञ्चैव तथा गुह्ये षडशीत्यां रवे स्थिते ॥
मुखे दुःखं करे लाभः पादयोर्भ्रमणं हृदि ।
कान्ता स्याद्बन्धनं वामे हस्ते स्यात् स्रीयमे गृणाम् ॥
सम्मानं नेत्रयोश्चैव अपमानश्च मस्तके ।
गुह्ये चैव भवेन्मृत्युः षडशीतिफलश्रुतिः ॥"
इति ज्योतिस्तत्त्वम् ॥

षडष्टकं, क्ली, योगविशेषः । स तु वरकन्ययोः स्वस्वराश्यपेक्षया परस्परषष्ठाष्टमराशिसम्बन्धः । स च मित्रारिभेदेन द्विविधः । तत्र मित्रषडष्टकं यथा । श्रीपतिरत्नमालायाम् ।
"मकरसमेतं मिथुनं कन्याकलसौ मृगेन्द्रमीनौ च ।
वृषभतुले अलिमेषौ कर्कटधनुषी च मित्रविधौ ॥"
षडष्टकाविति शेषः ॥ * ॥ अरिषडष्टकमाह ।
"मकरः करिकुलरिपुणा
कन्या मेषेण सह भवस्तुलया ।
कर्किघटौ वृषधनुषी
वृश्चिकमिथुने चारिविधौ ॥
यदि कन्याष्टमे भर्त्ता भर्त्तुः षष्ठे च कन्यका ।
षडष्टकं विजानीयात् वर्ज्जितं त्रिदशैरपि ॥" * ॥
षडष्टकादौ ताराणियममाह । भीमपराक्रमः ।
"सौहृदे ह्युभयोर्द्वयोरपि तयोरेकाधिपत्येऽपि वा
ताराषट् च सुमित्रमित्रजननक्षेमार्थसम्पद्यदि ।
षट्काष्टे नव पञ्चके व्ययधने योगेष पुंयोषितोः
प्रीत्यायुःसुखवृद्धिपुष्टिजनकः कार्य्यो विवाहस्तदा ॥"
गर्गः ।
"मरणं तारविरोधे ग्रहरिपुभावे चिरेण ।
रोगादि नरनार्य्योः षट्काष्टे वैरं भवेदाशु ॥"
व्यासः ।
"मैत्रादियोगेऽपि षडष्टकादौ
तारा विपत्प्रत्यरिनैधनाख्याः ।
वर्ज्या विवाहे पुरुषोडुतो हि
प्रीतिः परा जन्मसु तारकासु ॥"
इति ज्योतिस्तत्त्वम् ॥ * ॥
मतान्तरं यथा,—
"सिंहेन मकरः श्रेष्ठो कन्यया मेष उत्तमः ।
तुलया सह मीनस्तु कुम्भेन सह कर्कटः ॥
धनुषा वृषभः श्रेष्ठो मिथुनेन च वृश्चिकः ।
एतत् षडष्टकं प्रीत्यै भवत्येव न संशयः ॥"
इति गारुडे ६१ अध्यायः ॥

षडाननः, पुं, (कृत्तिकादीनां षसां स्तनपानार्थं षट् आननानि यस्य ।) कार्त्तिकेयः । इत्यमरः ॥ (यथा, महाभारते । ३ । २३१ । २० ।
"स्तोष्यामि देवैर्ऋषिभिश्च जुष्टं
भक्त्या गुहं नामभिरप्रमेयम् ।
षडाननं शक्तिधरं सुवीरं
निबोध चैतानि कुरुप्रवीर ! ॥")
तस्य कार्त्तिकेयनामकारणं यथा,—
"अग्निपुत्त्रः कुमारस्तु शरस्तम्बे व्यजायत ।
तस्य शाखो विशाखश्च नैगमेयश्च पृष्ठजः ॥
अपत्यं कृत्तिकानाञ्च कार्त्तिकेयस्ततः स्मृतः ॥"
इति मात्स्ये ५ अध्यायः ।
(षट्सु वदनेषु, क्ली । यथा, रघुः ।१४।२२।
"सर्व्वासु मातृष्वपि वत्सलत्वात्
स निर्विशेषप्रतिपत्तिरासीत् ।
षडाननापीतपयोधरासु
नेता चमूनामिव कृत्तिकासु ॥")

षडाम्नायाः, पुं, (षट् आम्नायाः ।) शिवस्य षड्वक्त्रविनिर्गतषट्प्रकारतन्त्रशास्त्रम् । यथा,—
श्रीशिव उवाच ।
"अथेदानीं प्रवक्ष्यामि आम्नायकथनं पृथक् ।
पूर्व्वाम्नायो यदा मन्त्रस्तदा प्राचीदिशि स्थितः ॥
सदाशिवोऽहं भगवानाचारः परिकीर्त्तितः ।
एवं वै दक्षिणाम्नायो दक्षिणस्यां दिशि स्थितः ॥
एवं हि पश्चिमाम्नायः पश्चिमायां दिशि स्थितः ।
एवमेवोत्तराम्नाय उत्तरस्यां दिशि स्थितः ॥
सुखमूर्द्ध कृतं देवि ! यत् प्रोक्तं तव सन्निधौ ।
ऊर्द्ध्वाम्नायश्च कथितो देवानामपि दुर्लभः ॥
यदा चाधोमुखं देवि यत् प्रोक्तं गिरिजे प्रिये ।
अध आम्नाय इत्युक्तः सत्यं सत्यं शुभध्यमे ।
षडाम्नायाश्च कथिताश्चोत्पत्तिक्रमनामतः ॥ * ॥
यस्मिन् यस्मिंश्च ये देवाः कथिताश्च वरानने ।
तान्देवांश्च प्रवक्ष्यामि साधकानां हिताय वै ॥
श्रीविद्याभेदसहिता तारा च त्रिपुरा तथा ।
भुवनेशी चान्नपूर्णा पूर्व्वाम्नाये प्रकीर्त्तिताः ॥
बगलामुखी च वशिनी त्वरिता धनदा तथा ।
वशिनी बालभैरवीत्यर्थः ।
महिषघ्नी महालक्ष्मीर्द्दक्षिणाम्नायकीर्त्तिताः ॥
महासरस्वती विद्या तथा वाग्वादिनी परा ।
प्रत्यङ्गिरा भवानी च पश्चिमाम्नायकीर्त्तिताः ॥
कालिकाभेदसहिता ताराभेदैश्च संयुता ।
मातङ्गी भैरवी छिन्ना तथा धूमावती परा ।
उत्तराम्नायकथिताः कलौ शीघ्रफलप्रदाः ॥
समस्तभेदसहिताः कालिकायाः प्रकीर्त्तिताः ।
द्वाविंशत्यक्षरी तासां दक्षिणाम्नायकीर्त्तिता ॥
एकजटा षडाम्नाये महामोक्षप्रदायिनी ।
तत्परा परमा विद्या न विद्यान्तरगोपिता ॥
परप्रसादमन्त्रश्च ऊर्द्ध्वाम्नाये प्रकीर्त्तितः ।
वागीश्वराद्यो देवा अध आम्नायकीर्त्तिताः ॥
ऊर्द्ध्वाम्नायो अधश्चैव केवलं मोक्षदो भवेत् ।
धर्म्मार्थकाममोक्षार्थं आम्नायान्य प्रकीर्त्तिताः ॥
यथोक्तविधिना भद्रे कृत्वा फलमवाप्नुयात् ॥ * ॥
पूर्व्वाम्नायादिसर्व्वेषां विधानं शृणु सुन्दरि ।
कृत्वा येनाशु लभते फलं यदुत्तमोत्तमम् ॥
षट्कर्म्मफलदा नृणां षडाम्नायाः प्रकीर्त्तिताः ।

उत्तराम्नायो देवेशि तेषामाशु फलप्रदः ॥"
इति समयाचारतन्त्रे २ पटलः ॥ * ॥
तत्र आम्नायभेदेनाचारभेद उक्तः । यथा,—
"पूर्व्वाम्नायोदितं कर्म्म पाशवं कथितं प्रिये ।
यदुक्तं दक्षिणाम्नाये तदेव पाशवं स्मृतम् ॥
पश्चिमाम्नायजं कर्म्म पशुवीरसमाश्रितम् ।
उत्तराम्नायजं कर्म्म दिव्यवीराश्रितं प्रिये ॥
दिव्योऽपि वीरभावेन साधयेत् पिठकानने ।
वीरासनं विना दिव्यः पूजयेत् पिठकानने ।
ऊर्द्ध्वाम्नायोदितं कर्म्म दिव्यभावाश्रितं प्रिये ॥"
इति निरुत्तरतन्त्रे १ पटलः ॥

षड्षणं, क्ली, (षषाम्षणानां समाहारः ।) मिश्रितषट्कटुद्रव्यम् । यथा,—
"पिप्पली मरिचं शुण्ठी चयमेतद्धिमिश्रितम् ।
त्रिकटु त्र्यूषणं व्योषं कटुत्रिकमथोच्यते ।
ग्रन्थिकानलचव्यैस्तु चतुः पञ्च षड्षणम् ॥"
इति शब्दचन्द्रिका ॥
अपि च ।
"पञ्चकोलं समरिचं षड्षणमुदाहृतम् ।
पञ्चकोलगुणं तत्तु रूक्षमुष्णं विषापहम् ॥"
इति भावप्रकाशः ॥

षड्गया, स्त्री, षड्विधगया । यथा,—
"गयागजो गयादित्यो गायत्त्री च गदाधरः ।
गया गयासुरश्चैव षड्गया मुक्तिदायिका ॥"
इति वायुपुराणे गयापद्धतिः ॥

षड्गवं, त्रि, (षट् गावो यत्र । समासे अच् ।) गोषट्कयुक्तहलादि । यथा,—
"अष्टागवं धर्म्महलं षड्गवं जीविकार्थिनाम् ।
चतुर्गवं नृशंसानां द्विगवं ब्रह्मघातिनाम् ॥"
इत्याह्निकाचारतत्त्वम् ॥ * ॥
प्रत्ययविशेषः । (मतु । "षष्ठ्यर्थस्य षट्त्वे षड्गवच् ।" ५ । २ । २९ । इत्यस्य वार्त्तिकोक्त्या भवति ॥) यथा,—
"पशुभ्यो गोयुगं युग्मे परं षट्त्वे तु षड्गवम् ॥"
इति हेमचन्द्रः ॥
(यथा च महाभारते । ८ । ३८ । ६ ।
"अन्यं तस्मै वरं दद्यां सौवर्णं हस्तिषड्गवम् ॥") षसां गवां समाहारः । इति द्विगुसमासनिष्पन्नम् । तत्र, क्ली ॥

षड्ग्रन्था, (षट् ग्रन्था यस्याः सा ।) वचा । इति भावप्रकाशः ॥ श्वेतवचा । शटी । महाकरञ्जः । इति राजनिर्घण्टः ॥

षड्ग्रन्थि, क्ली, (षट् ग्रन्थयो यस्य) पिप्पलीमूलम् । इति वैद्यकम् ॥ षट्पर्व्वणि, पुं भूम्नि ॥

षड्ग्रन्थिका, स्त्री, (षड्ग्रन्था एव । स्वार्थे कन् । टापि अत इत्वम् ।) शटी । इत्यमरः ॥

षड्ग्रन्थी, स्त्री, (षट् ग्रन्था यस्याः । ङीष् ।) वचा । इति शब्दरत्नावली ॥

षड्जः, पुं, (षड्भ्यः स्थानेभ्यः जायते इति । जन + डः ।) तन्त्रीकण्ठोत्थितस्वरविशेषः । इत्यमरः ॥ अस्य व्युत्पत्तिर्यथा,—
"नासां कण्ठमुरस्तालु जिह्वां दन्तांश्च संश्रितः ।
षड्भ्यः संजायते यस्मात् तस्मात् षड्ज इति स्मृतः ॥"
स च मयूरस्वरतुल्यस्वरः । यथा,—
"षड्जं रौति मयूरो हि गावो नर्द्दन्ति चर्षभम् ।
अजा विरौति गान्धारं क्रौञ्चो नदति मध्यमम् ॥"
इति भरतः ॥
(अस्मिन् चतस्रः श्रुतयो वसन्ति । यथा, सङ्गीतदर्पणे । ५३ ।
"तीव्रा कुमुद्वती मन्दा छन्दोवत्यस्तु षड्जगाः ॥")
तानसेनमते सप्तस्वराणां मध्ये प्रथमस्वरोऽयम् । खरज इति लोके ख्यातः । अस्योच्चारणस्थानं कण्ठः । अयं विप्रवर्णः । अस्यार्चिकं नाम । अर्थात् एकस्वरमिलितः । सर्व्वस्वरापेक्षया क्षुद्रस्वरोऽयम् । अस्य ताल एकः । अस्याष्टौ भेदा भवन्ति । इति सङ्गीतशास्त्रम् ॥

षड्दुर्गं, क्ली, (षट्प्रकारं दुर्गम् ।) षट्प्रकारकोट्टम् । तद्यथा । धन्वदुर्गम् १ महीदुर्गम् २ गिरिदुर्गम् ३ मनुष्यदुर्गम् ४ मृद्दुर्गम् ५ वनदुर्गञ्च ६ । इति महाभारते राजधर्म्मः ॥

षड्धा, व्य, (षष् + धाच् ।) षट्प्रकारम् । इति व्याकरणम् ॥

षड्बिन्दुः, पुं, विष्णुः । इति त्रिकाण्डशेषः । कीटभेदः । इति मेदिनी । शिरोरोगस्य पक्वतैलविशेषः । यथा,—
"एरण्डमूलं तगरं शताह्वा
जीवन्तिका सैन्धवरास्निके च ।
भृङ्गं विडङ्गं मधुयष्टिका च
विश्वौषधं कृष्णतिलस्य तैलम् ॥
अजापयस्तैलविमिश्रितञ्च
चतुर्गुणे भृङ्गरसे विपक्वम् ।
षड्बिन्दवो नासिकयोः प्रदेयाः
सर्व्वान्निहन्युः शिरसो विकारान् ॥
च्युतांश्च केशान् पलितांश्च दन्तान्
निर्बध्य मूलान् सुदृढीकरोति ।
सुपर्णगृध्रप्रतिमञ्च चक्षुः
कुर्व्वन्ति बाह्वोरधिकं बलञ्च ॥"
जीवन्तिकात्र हरीतकीशाकविशेषः । इति भावप्रकाशः ॥

षड्भुजः, त्रि, (षट् भुजा यस्य ।) षड्हस्तयुक्तः । यथा,—
"भीमस्त्रिपादस्त्रिशिराः षड्भुजो नवलोचनः ।
भयप्रहरणो रौद्रः कालान्तकयमोपमः ॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्तपुराणे माहेश्वरज्वररूपम् ॥
(यथा च महानिर्व्वाणतन्त्रे । ४ । १७ ।
"चतुर्भुजा त्वं द्विभुजा षड्भुजाष्टभुजा तथा ।
त्वमेव विश्वरक्षार्थं नानाशस्त्रास्त्रधारिणी ॥")
चैतन्यदेवे, पुं । स तु पुरुषोत्तमक्षेत्रे षड्भुजो भूत्वा श्रीजगन्नाथदेवशरीरे लीनोऽभूत् । इति लोकप्रसिद्धिः ॥

षड्भुजा, स्त्री, (षट् भुजा इव रेखा यस्याम् ।) फललताविशेषः । खरबुजा इति भाषा । (अस्मिन्नर्थे क्लीवलिङ्गेऽपि दृश्यते ॥) तत्पर्य्यायः । मधुफला २ षड्रेखा ३ वृत्तकर्कटी ४ तिक्ता ५ तिक्तफला ६ मधुपाका ७ वृत्तेर्व्वारुः ८ षण्मुखा ९ । अस्याः फलगुणाः ।
"तिक्तं बाल्ये तदनु मधुरं किञ्चिदम्लञ्च पाके
निष्पक्वञ्चेत् तदमृतसमं तर्पणं पुष्टिदायि ।
हृद्यं दाहश्रमविशमनं मूत्रशुद्धं विधत्ते
पित्तोन्मादापहरकफदं षड्भुजं वीर्य्यकारि ॥"
इति राजनिर्घण्टः ॥ * ॥
चण्डिका । यथा । पूर्व्वदले चण्डिकां पीनवक्षःस्थलरुहां अग्निप्रभां षड्भुजां दक्षिणे गदाभयवज्रधरां वामे शक्तिशूलपरशुधरां देवीमिति ॥*॥ रुद्रचण्डा । यथा । दक्षिणदले रुद्रचण्डां कृष्णवर्णां दिव्याभरणभूषितां प्रसन्नवदनां षड्भुजां दक्षिणे वज्रशूलपरशुधरां वामे पाशाङ्कुशकेशधरां देवीमिति ॥*॥ चण्डवती । यथा । वायुदले चण्डवतीं धूम्रवर्णां प्रसन्नवदनां सर्व्वालङ्कारभूषितां षड्भुजां दक्षिणे अङ्कुशपाशाक्षसूत्रधरां वामे दण्डशूलडमरुधरां देवीमिति ॥ इति वृहन्नन्दिकेश्वरपुराणोक्तदुर्गापूजापद्धतिः ॥

षड्रसः, पुं, (षट्प्रकारो रसः ।) मधुरादिषट्प्रकाररसः । यथा,—
"मधुरो लवणस्तिक्तः कषायोऽम्लः कटुस्तथा ।
सन्तीति रसनीयत्वादन्नाद्ये षड्मी रसाः ॥"
एषां नामलक्षणे ।
"मधुरं गौल्यमित्याहुरिक्ष्वादौ स च लक्ष्यते ।
लवणस्तु पटुः प्रोक्तः सैन्धवादौ स दृश्यते ॥
तिक्तस्तु पिचुमर्द्दादौ यस्तमासाद्यते रसः ।
कषायस्तुवरस्तूक्तः स च पूगीफलादिषु ।
कटुस्तु क्षारसंज्ञः स्यान्मरीचादौ स चेष्यते ॥"
इति राजनिर्घण्टः ॥
एषां गुणास्तत्तच्छब्दे द्रष्टव्याः ॥

षड्रात्रं, क्ली, (षसां रात्रीणां समाहारः ।) षडहः । यथा,—
"सद्यःशौचं भवेद्विप्र तथा चोक्तं चतुर्व्विधम् ।
गर्भस्रावे च वेदोक्तं पूर्व्वकाले त्वचेतसः ॥
ब्राह्मणानामहोरात्रं क्षत्त्रियाणां दिनत्रयम् ।
षड्रात्रञ्चैव वैश्यानां शूद्राणां द्वादशाह्निकम् ॥"
इति वामने १४ अध्यायः ॥

षड्रेखा, स्त्री, (षट् रेखा यत्र ।) षड्भुजा । इति राजनिर्घण्टः ॥ षड्राणी च ॥

षड्लवणं, क्ली, (षट् गुणितं लवणम् ।) मृत्स्नोपेतं पञ्चलवणम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

षड्वक्त्रः, पुं, (षट् वक्त्राणि यस्य ।) कार्त्तिकेयः । यथा,—
"यतस्ततो विशाखोऽसौ ख्यातो लोकेषु षण्मुखः ।
स्कन्दो विशाखः षड्वक्त्रः कार्त्तिकेयश्च विश्रुतः ॥"
इति मत्स्यपुराणे १३४ अध्यायः ॥

षड्विधं, त्रि, (षट् विधाः प्रकारा यत्र ।) षट्प्रकारम् । यथा,—
"संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च ।
अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम् ॥"
इति मुग्धबोधटीकायां दुर्गादासः ॥
अपि च ।
"तत्र स्थितिर्गन्धहेतुर्नानारूपवती मता ।
षड्विधस्तु रसस्तत्र गन्धोऽपि द्विविधो मतः ॥"
इति भाषापरिच्छेदः ॥

षण्डः, पुं, (षणु दाने+"अमन्तात् डः ।" उणा० १।११३। इति डः । बहुलवचनात् सत्वाभावः ।) वृषभः । षाँड़् इति भाषा । तत्पर्य्यायः । गोपतिः २ इट्चरः ३ । इत्यमरः ॥ षण्ढः ४ शण्डः ५ शण्ढः ६ । इति शब्दरत्नावली ॥ क्लीबम् । इति जटाधरामरटीके ॥ समूहः । इति शब्दाः ॥ (यथा, हरिवंशे । ३३ । ३२ ।
"गता निश्चलमूर्द्धानो बभूवुस्ते महोरगाः ।
छायाङ्के कदलीषण्डे कम्पितास्तस्य वायुना ॥")

षण्डः, पुं, क्ली, (षणु दाने + डः ।) अब्जादिकदम्बम् । पद्मकुमुदादिसमूहः । इत्यमरः ॥ (यथा, माघे । ११ । १५ ।
"कलरवमुपगीते षट्पदौघेन धत्तः
कुमुदकमलषण्डे तुल्यरूपामवस्थाम् ॥"
चिह्नम् । यथा, भागवते । ४ । १९ । २३ ।
"यानि रूपाणि जगृहे इन्द्रो हयजिहीर्षया ।
तानि पापस्य षण्डानि लिङ्गं षण्डमिहोच्यते ॥")

षण्डाली, स्त्री, तैलमानम् । छटाक् इति भाषा । सरसी । (षण्डेन वृषभवत् कामुकपुरुषेण अलति पर्य्याप्नोतीति । अल+अण् । गौरादित्वात् ङीष् ।) कामुकस्त्री । इति मेदिनी ॥ मुद्राङ्कितमेदिन्यां दन्त्यसकारादौ लिखिता ॥

षण्ढः, पुं, (शाम्यति स्त्रियाभावात् । शम+"शमेर्ढः ।" उणा० १ । १०१ । इति ढप्रत्ययेन साधुः ।) नपुंसकः । इति राजनिर्घण्टः हेमचन्द्रश्च ॥ स च चतुर्द्दशविधः विंशतिविधश्च । यथा नारदः ।
"परीक्ष्यः पुरुषः पुंस्त्वे निजैरेवाङ्गलक्षणैः ।
चतुर्द्दशविधः शास्त्रे षण्ढो दृष्टो मनीषिभिः ॥
चिकित्स्यश्चाचिकित्स्यश्च तेषामुक्तो विधिः क्रमात् ।
निसर्गषण्ढो वद्धश्च पक्षषण्डस्तथैव च ॥
अभिशापाद्गुरो रोगात् देवक्रोधात्तथैव च ।
ईर्ष्याषण्डश्च सेव्यश्च वातरेता सुखेभगः ॥
आक्षिप्तमोघवीजौ च शालीनोऽन्यापतिस्तथा ॥" १४ ॥
कामतन्त्रे तु ।
"निसर्गषण्ढो वद्धश्च पक्षषण्डश्च कीलकः ।
शापादिषण्डस्तब्धश्च ईर्षकः सेव्यकस्तथा ॥
आक्षिप्तमोघवीजौ च शालीनोऽन्यापतिस्तथा ।
सुखेभगो वातरेताः कुम्भीकः षण्डनष्टकौ ॥
आसेयश्च सुगन्धी च षण्ढः स्त्रीत्वानि विंशतिः ॥" २० ॥
तेषां लक्षणानि यथा,—
"ध्वजादिरहितोत्पन्नो निसर्गषण्ढ उच्यते ।१।
गलिताण्डो भवेद्वद्धः २ पक्षान्तरितशक्तिमान् ॥
पक्षषण्ढः ३ कीलकस्तु यः स्त्रीवदात्मनः स्त्रियम् ।
परेण सह संयोज्य पश्चात्तामेव सेवते ॥ ४ ॥
शापादिषण्ढो गुर्व्वादिशापादेवाप्रहर्षणः ।५।
सदा स्तम्भितरेतास्तु रतिस्तब्धः ६ स ईर्षकः ॥
दृष्ट्वा व्यवायमन्येषां व्यवाये यः प्रवर्त्तते । ७ ।
बहुस्त्रीसेवनाज्जातविरसः सेव्यकः स्मृतः ॥८॥
प्रत्यक्प्रवृत्तवीर्य्यो यो विसर्गसमये भवेत् ।
आक्षिप्तवीजः स ज्ञेयो ९ मोघवीजस्तु स स्मृतः ॥
धृष्टस्त्रीसन्निधानाद्यो भवेत् पतितध्वजः ।१०।
अत्र शालीनलक्षणं पतितम् ॥ ११ ॥
परस्यामेव यस्यास्ति पुंस्त्वं सोऽन्यापतिर्म्मतः ।१२
वक्त्र एव तु यः कुर्य्यान्मैथुनं स सुखेभगः ॥१३॥
वातरेता विसर्गे यो वातं लिङ्गेन मुञ्चति ।१४।
कुम्भीकः स तु यो नार्य्याः पायावेव प्रवर्त्तते ॥ १५ ॥
अविकारिध्वजः षण्डो १६ नष्टो रोगादशुक्रकः । १७ ।
शुक्रप्रायध्वजोच्छ्रायी आसेयः १८ स सुगन्धिकः ॥
यो योनिशेफसोर्गन्धमाघ्राय लभते बलम् ।१९।
षण्ढः स्त्रीतुल्यवाक्चेष्टः स्त्रीधर्म्मा छिन्नलिङ्गकः ॥"२०॥
इति वाचस्पतिमतस्मृतिरत्नावल्यामुद्वाहरहस्यविकाशः ॥ तद्दर्शनस्पर्शनयोः प्रायश्चित्तं यथा,—
"नालपेन्ननविद्विष्टान् वीरहीनां तथा स्त्रियम् ।
देवतापितृसच्छास्त्रयज्ञसत्यादिनिन्दकैः ॥
कृत्वा तु स्पर्शनालापं शुद्ध्येतार्कावलोकनात् ।
अवलोक्य तथोदक्यामन्त्यजं पतितं शवम् ॥
विधर्म्मिसूतिकाषण्ढविवस्त्रान्त्यावसायिनः ।
मृतनिर्य्यातकांश्चैव परदाररतांश्च ये ॥
एतदेव हि कर्त्तव्यं प्राज्ञैः शोधनमात्मनः ।
अभोज्यसूतिकाषण्ढमार्ज्जाराखूंश्च कुक्कुटान् ॥
पतितापविद्धचाण्डालमृतहारांश्च धर्म्मवित् ।
संस्पृश्य शुध्यति स्नानादुदक्याग्रामसूकरौ ॥"
इति मार्कण्डेये सदाचाराध्यायः ॥

षण्नाड़ीचक्रं, क्ली, (षड्विधं नाड़ीचक्रम् ।) नराणां जन्मादिनक्षत्रघटितचक्रविशेषः । यथा,—
"जन्माद्यं कर्म्म ततोऽपि दशमं सांघातिकं षोड़शभम् ।
समुदायमष्टादशभं विनाशसंज्ञं त्रयोविंशम् ॥
आद्यात्तु पञ्चविंशं मानसमेवं नरः षड्भः स्यात् ॥"*॥
तेषां फलम् ।
"देहादेहार्थहानिः स्यात्जन्मर्क्षे उपतापिते ।
कर्म्मर्क्षे कर्म्मणां हानिः पीड़ा मनसि मानसे ।
मूर्त्तिदविबन्धूनां हानिः सांघातिके तथा ॥
सन्तप्ते सामुदयिके मित्रभृत्यार्थसङ्क्षयः ।
वैनाशिके विनाशः स्याद्देहद्रविणसम्पदाम् ॥"
इति ज्योतिस्तत्त्वम् ॥

षण्मास्यः, त्रि, (षण्मासे भवः । षण्मास+"षण्मासात् ण्यच्च ।" ५।१।८३। इति यत् ।) षाण्मास्यः । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥

षण्मुखः, पुं, (षट् मुखानि यस्य ।) कार्त्तिकेयः । इति हलायुधः ॥ (यथा, महाभारते ।३।२३१। १६ ।
"त्वं क्रीड़से षण्मुख कुक्कुटेन
यथेष्टनानाविधकामरूपी ॥")
षट्संख्यकवदने, क्ली । तद्वति, त्रि ॥

षण्मुखा, स्त्री, (षट् मुखानीव रेखा यस्याम् ।) षड्भुजा । इति राजनिर्घण्टः ॥

षत्वं, क्ली, (षस्य भावः । ष+त्व ।) मूर्द्धन्यषकारस्य भावः । यथा । एलषत्वे । इति मुग्धबोधव्याकरणम् ॥

षद, ऌ ज औ श विषादे । शरणे । गतौ । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (तुदा०-पर०-सक०-विषादे अक०-अनिट् ।) ऌ, असदत् । ज, सादः सदः । औ, असात्सीत् । श, सीदती सीदन्ती । विषाद आकुलीभावः । सीदति राधा रासगृहे । शरणं हिंसा । इति दुर्गादासः ।

षद, क गतौ । आङ्पूर्व्वोऽयम् । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (चुरा०-पर०-सक०-सेट् ।) मूर्द्धन्यादिः । क, आसादयति । इति दुर्गादासः ॥

षन, सम्भक्तौ । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा० पर०-सक०-सेट् ।) सम्भक्तिः सेवनम् । सनति गुरुं लोकः । इति दुर्गादासः ॥

षन, ड न उ दाने । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (तना०-उभ० सक०-सेट् । क्त्वावेट् ।) ड न, सनोति सनुते । उ, सनित्वा सत्वा । इति दुर्गादासः ॥

षस्च, गतौ । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा० पर०-सक०-सेट् ।) सश्चति । इति दुर्गादासः ॥

षस्ज, औ ञि सङ्गे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-अक०-अनिट् ।) औ, असाङ्क्षीत् । ञि, सक्तोऽस्ति । सजति वपुषि वासः । इति दुर्गादासः ॥

षप, सम्बे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-अक०-सेट् ।) सपति । असीषपत् । सम्बः सम्बन्धः । इति दुर्गादासः ॥

षम, वैक्लव्ये । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-अक०-सेट् ।) वैक्लव्यं विक्लवीभावः ।
"समन्ति यद्वियोगेन सीमन्तिन्यः स्मरातुराः ।"
इति दुर्गादासः ॥

षम, त् क वैक्लव्ये । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (अदन्तचुरा०-पर०-अक०-सेट् ।) सिषमयिषति । इति दुर्गादासः ॥

षम्ब, सर्पणे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट् ।) सम्बति । इति दुर्गादासः ॥

षर्ज्ज, अर्ज्जने । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट् ।) सिसर्ज्जयिषति । सर्ज्जति धनं लोकः । इति दुर्गादासः ॥

षर्ब्ब, सर्पणे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट् ।) सर्ब्बति । इति दुर्गादासः ॥

षर्षपी, स्त्री, पक्षिविशेषः । यथा,—

"हारीतिका खञ्जनिका षर्षपी खञ्जनाकृती ।"
इति शब्दरत्नावली,

षल, गतौ । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट् ।) सलति । सिषालयिषति । इति दुर्गादासः ॥

षष्टिः, स्त्री, (षट् दशतः परिमाणमस्य । "पङ्क्तिविंशतित्रिंशदिति ।" ५ । १ । ५९ । इति निपातनात् साधुः ।) संख्याविशेषः । षाट इति भाषा । इति ज्योतिषम् ॥ (यथा, मनुः । ३ । १७७ ।

"वीक्ष्यान्धो नवतेः काणः षष्टेः श्वित्री शतस्य तु ।
पापरोगी सहस्रस्य दातुर्नाशयते फलम् ॥")

षष्टिकः, पुं, (षष्टिरात्रेण पच्यन्ते इति । "षष्टिकाः षष्टिरात्रेण पच्यन्ते ।" ५ । १ । ९० । इति कन्प्रत्ययेन निपातितः ।) धान्यविशेषः । षष्टिरात्रेण पच्यते साटिया इति स्वामिसुभूती । इत्यमरभरतौ ॥ तत्पर्य्यायः । षष्टिशालिः २ षष्टिजः ३ स्निग्धतण्डुलः ४ षष्टिवासरजः ५ । अस्य गुणाः ।

"गौरो नीलः षष्टिकोऽयं द्विधा स्या-
दाद्यो वल्यः शीतलो दोषहारी ।
वल्यः पथ्यो दीपनो वीर्य्यवृद्धिं
दत्ते तस्मात् किञ्चिदूनो द्वितीयः ॥"
इति राजनिर्घण्टः ॥

षष्टिसंख्याक्रीते, त्रि ॥

षष्टिका, स्त्री, (षष्टिक + स्त्रियां टाप् ।) षष्टिकधान्यम् । यथा,—

"हैमन्तिकं सितास्विन्नं धान्यं मुद्गास्तिला यवाः ।
कलायकङ्गुनीवारा वास्तूकं हिलमोचिका ।
षष्टिका कालशाकञ्च मूलकं केमुकेतरत् ॥"

इति तिथ्यादितत्त्वे हविष्यान्नप्रकरणीयस्मृतिवचनम् ॥ किञ्च । शरदि षष्टिकाभिः पार्व्वणं नित्यमिति वाचस्पतिमिश्राः ॥

षष्टिक्यं, त्रि, (षष्टिकानां भवनं क्षेत्रम् । षष्टिक + "यवयवकषष्टिकात् यत् ।" ५ । २ । ३ । इति यत् ।) षष्टिकधान्योपयुक्तक्षेत्रादि । इत्यमरः । २ । ९ । ७ ॥

षष्टितमः, त्रि, (षष्टि + "षष्ट्यादेश्चासंख्यादेः ।" ५ । २ । ५८ । इति तमट् ।) षष्टेः पूरणः । इति मुग्धबोधव्याकरणम् ॥

षष्टिधा, व्य, षष्टिप्रकारम् । षष्टिशब्दात् धाच्प्रत्ययेन निष्पन्नम् ॥

षष्टिमत्तः, पुं, (षष्ट्या वर्षैर्मत्तः ।) हस्ती । षष्टिवर्षपर्य्यन्तं वयःपूर्व्वार्द्धस्थित्या षष्टिमत्तः । इति सारस्वताभिधानं शब्दमाला च ॥

षष्टिलता, स्त्री, भ्रमरमारी । इति राजनिर्घण्टः ॥

षष्टिसंवत्सराः, पुं, (षष्टिगुणिताः संवत्सराः ।) प्रभवादिषष्टिसंख्यकवर्षम् । यथा,—

अथ षष्टिसंवत्सरगणना ।

"शाकेन्द्रकालः पृथगाकृतिघ्नः २२
शशाङ्कनन्दाश्वियुगैः ४०९१ समेतः ।
शराद्रिवस्विन्दु-१८७५ हृतः सलब्धः
षष्ट्यावशिष्टः प्रभवादयोऽब्दाः ॥
वर्षं वर्ज्जन्तु यच्छेषं सूर्य्यैः संपूर्य्य खोर्म्मिभिः ६० ।
हृतश्च्युतक्रमतः स्वाब्धिहृतेऽंशे मासकादयः ॥"

अस्यार्थः । शाकेन्द्रकालः शकराजाब्दकालः पृथक् स्थितः तत्रैव आकृतिघ्नः २२ द्वाविंशत्या पूरितः शशाङ्कनन्दाश्वियुगैरेकनवत्यधिकशतद्वयाधिकचतुःसहस्रैः समेतोऽङ्कः । शराद्रिवस्विन्दुहृतः पञ्चसप्तत्यधिकाष्टादशशतैर्यावत्सङ्ख्यं हर्त्तुं शक्नोति तावता हृतः कर्त्तव्यः । सलब्धः पूर्व्वशकाब्दः शरेत्यादिना लब्धसंख्यया युतः कार्य्यः षष्ट्यामशेषे पञ्चादेयोऽङ्कः पूर्व्ववत् षष्ट्या हृते लब्धस्यावशिष्टे प्रभवादयः । एकावशेषे प्रभवः द्व्याद्यवशिष्टे विभवादिः । वर्षं वर्ज्जन्तु यच्छेषं वर्षातिरिक्तं शराद्रिवस्विन्दुहृतावशिष्टं तत् सूर्य्यैर्द्वादशभिः संपूर्य्य खोर्म्मिभिः षष्ट्या हृते च्युतक्रमत इत्यनेन षष्टिहृतावशिष्टाः अङ्का दण्डाः षष्टिहृतलब्धांशके स्वाब्धिहृते चिंशता हृते अवशिष्टा अंशका लब्धा मासाः स्युरिति ॥ * ॥ प्रभवादिषष्टिवर्षाण्युपक्रम्य ।

"आद्या तु विंशतिर्ब्राह्मी द्वितीया वैष्णवी स्मृता ।
तृतीया रुद्रदैवत्या श्रेष्ठा मध्याधमा भवेत् ॥"

भविष्यपुराणे ।

भैरव उवाच ।

"षष्ट्यब्दं कथयाम्यत्र क्रूराः सौम्याश्च ये प्रिये ।
संवत्सरफलं मुख्यं प्रभवादौ वरानने ॥
बहुतोयास्तथा मेघाः सर्व्वशस्या च मेदिनी ।
बहुक्षीरास्तथा गावो व्याधिरोगविवर्ज्जिताः ।
प्रशान्ताः पार्थिवाश्चैव प्रभवे परिकीर्त्तिताः ॥१॥
सुभिक्षं क्षेममारोग्यं सर्व्वे व्याधिविवर्ज्जिताः ।
प्रशान्ता मानवाः सर्व्वे बहुशस्या वसुन्धरा ।
हृष्टास्तुष्टा जनाः सर्व्वे विभवे च वरानने ॥२॥
रोगा बहुविधाश्चैव मनुष्या वाजिकुञ्जराः ।
सर्व्व एव प्रणश्यन्ति शुक्ले वर्षे वरानने ॥ ३ ॥
उत्सवश्च जगत् सर्व्वं धनधान्यसमाकुलम् ।
नित्योत्सवः प्रजावृद्धिः प्रमोदे जायते प्रिये ॥४॥
नीरोगाश्च निराबाधा मानवा विगतद्विषः ।
बहुक्षीरास्तथा गावः प्राजापत्ये वरानने ॥५॥
निरातङ्कं जगत् सर्व्वं धनयौवनगर्व्वितम् ।
अङ्गिरसि प्रजाः सर्व्वा नित्योत्साहा वरानने ॥ ६ ॥
सुभिक्षं क्षेममारोग्यं वर्षाकालं सुशोभनम् ।
शस्यवृद्धिं विजानीयात् श्रीमुखे सुरवन्दिते ॥७॥
बहुक्षीरास्तथा गावो धान्यञ्च बलवत्तरम् ।
जायन्ते सर्व्वशस्यानि भावे वर्षे वरानने ॥ ८ ॥
महार्घं जायते सर्व्वं घृततैलरसादिकम् ।
प्रजानाश्च भवेद्वृद्धिर्युवनि संवत्सरे शुभे ॥ ९ ॥
निष्पत्तिः सर्व्वशस्यानां मध्या धातरि कीर्त्तिता ।
इक्षुक्षीरगुडादीनां प्रबलत्वं वरानने ॥ १० ॥
सुभिक्षं क्षेममारोग्यं कार्पासस्य महार्घता ।
लवणं मधु गव्यञ्च ईश्वरे दुर्लभं प्रिये ॥ ११ ॥
सुभिक्षं क्षेममारोग्यं प्रशान्ताः पार्थिवाः प्रिये ।
तस्करोपहतं विश्वं बहुधान्ये वरानने ॥ १२ ॥
राष्ट्रभङ्गश्च दुर्भिक्षं तस्करैश्चोपपीडनम् ।
जानीयाद्विग्रहं घोरं प्रमाथिनि वरानने ॥१३॥
जायन्ते सर्व्वशस्यानि मेदिनी निरुपद्रवा ।
लवणं मधु गव्यञ्च महार्घं विक्रमे प्रिये ॥१४॥
कोद्रवाः शालिमुद्गाश्च शक्तुमाषास्तथैव च ।
महार्घं जायते सर्व्वं वृषे च सुरवन्दिते ॥१५॥
चणका मुद्गमाषाश्च अन्यच्च विदलं प्रिये ॥
महार्घं जायते सर्व्वं चित्रभानौ वरानने ॥ १६ ॥
सुभिक्षं क्षेममारोग्यं विश्वञ्च निरुपद्रवम् ।
व्यवहारो भवेत् श्रेयान् स्वभानौ देवपूजिते ॥१७॥
अतिवृष्टिश्च जायेत धान्यस्याथ प्रपीडनम् ।
शस्यं भवति सामान्यं दारुणे देववन्दिते ॥ १८ ॥
बहुशस्यानि जायन्ते सर्व्वदेशे सुलोचने ।
सौराष्ट्रे लाटदेशे च पार्थिवे नात्र संशयः ॥१९॥
दुर्भिक्षं जायते घोरं सर्व्वोपद्रवसंयुतम् ।
अनावृष्टिः समाख्याता व्यये संवत्सरे प्रिये ॥२०॥
उन्नतो वर्षणे मेघो जलं नैवोपयच्छति ।
महार्घं सर्व्वजिद्वर्षे सर्व्वमेव वरानने ॥ २१ ॥
कोद्रवाः शालिमुद्गाश्च कङ्गुमाषास्तथैव च ।
सुलभं जायते सुस्थं जगद्वै सर्व्वधारिणि ॥ २२ ॥
अनग्निप्रबला लोका धान्यौषधिप्रपीडनम् ।
जायते मानुषे कष्टं विरोधिनि न संशयः ॥२३॥
सर्व्वाः प्रजाः प्रपीड्यन्ते व्याधिः शोकश्च जायते ।
शिरोवक्षोऽक्षिरोगाश्च पापाद्वि विकृते जनाः ॥ २४ ॥
उपद्रुतं जगत् सर्व्वं तस्करैर्मूषिकैः खगैः ।
पीडिताश्च प्रजाः सर्व्वाः देशभङ्गः खरे प्रिये ॥२५
सुभिक्षं क्षेममारोग्यं शस्यं भवति शोभनम् ।
बहुक्षीरास्तथा गावो नन्दनं नन्दने प्रिये ॥२६॥
अल्पतोयास्तथा मेघा वर्षन्ति खण्डमण्डले ।
नश्यन्ति सर्व्वशस्यानि विजये नात्र संशयः ॥२७
क्षत्त्रियाश्च तथा वैश्याः शूद्राश्च नटनर्त्तकाः ।
पीडितास्ते वरारोहे जये सर्व्वे न संशयः ॥२८॥
सरोगञ्च तथा देवि दाहज्वरसमन्वितम् ।
अभिभूतं जगत् सर्व्वं मन्मथे सुरवन्दिते ॥ २९ ॥
तुषधान्यक्षयो देवि सर्व्वशस्यमहार्घता ।
व्यवहाराश्च नश्यन्ति दुर्म्मुखे दुर्म्मुखाः प्रजाः ॥३०
पीड्यन्ते सर्व्वशस्यानि देशे देशे शुचिस्मिते ।
हेमलम्बे प्रजाः सर्व्वाः क्षीयन्ते नात्र संशयः ॥३१
तस्करैः पार्थिवैश्चैव अभिभूतमिदं जगत् ।
अर्घो भवति सामान्यो विलम्बे तु भयं महत् ॥३२
विषमस्थं जगत् सर्व्वं विरोधे भवसंप्लवम् ।
विकारी सर्व्वतोऽपायो मम वाक्यन्तु नान्यथा ॥३३
क्वचिद्वर्षति पर्ज्जन्यो देशे संछिन्नमण्डलः ।
दुर्भिक्षं सर्व्वरीवर्षे व्यवहारो विपर्य्ययः ॥ ३४ ॥

दुर्भिक्षं जायते सर्वा मेदिनी दुष्यति प्रिये ।
प्लवे प्लवन्ति तोयानि मानवा दुःखिता भुवि ॥३५
सुवर्णरूप्यधान्यानि जगत् सर्व्वं सुशोभनम् ।
ब्राह्मणा वणिजस्तुष्टाः सुभिक्षे शुभकृत् प्रिये॥३६
सुभिक्षं क्षेममारोग्यं क्षमा गोब्राह्मणाः प्रिये ।
सुस्थिताः शोभने वर्षे प्रजाः सर्व्वाः सुलोचने॥३७
विधमस्थं जगत् सर्व्वं व्याकुलं समुदाहृतम् ।
जनानां जायते भद्रे क्रोधि क्रोधः परस्परम् ॥३८॥
सर्व्वत्र जायते क्षेमं सर्व्वशस्यमहार्घता ।
विश्वावसौ वरारोहे कार्पासस्य महार्घता ॥३९
पार्थिवैर्नृपसैन्यैश्च समस्तैः खण्डमण्डले ।
प्रपीड्यन्ते जनाः सर्व्वे भयभीताः पराभवे ॥४०॥
तृणधान्यानि पीड्यन्ते शीघ्रं वर्षति वासवः ।
प्लवङ्गे पीड़िताः सर्व्वाः प्रजाश्च सुरवन्दिते ॥४१
जायन्ते सर्व्वशस्यानि सुभिक्षं निरुपद्रवम् ।
सौम्यदृष्टिर्भवेद्राजा कालिके च शुभं वदेत् ॥४२
सुभिक्षं क्षेममारोग्यं सुखञ्च निरुपद्रवम् ।
सौम्यदृष्टिर्भवेद्राजा सौम्ये सौख्यं प्रकीर्त्तितम्॥४३
तोयपूर्णो भवेन्मेघो वर्षते च दिने दिने ।
निरुपद्रवाश्च राजानः सर्व्वसाधारणे प्रिये ॥४४
वासवो वर्षते देवि देशे चाखण्डमण्डले ।
अहिच्छत्रे कान्यकुब्जे विरोधि कृषिनाशकृत् ॥४५
अभिभूतं जगत् सर्व्वं क्लेशैर्बहुविधैः प्रिये ।
मारुतैः फलदाहैश्च परिवारिणि शोभने ॥४६॥
निष्पत्तिः सर्व्वशस्यानां सुभिक्षं भवति प्रिये ।
प्रमाथिनि जलोद्गारी जलदो मोदते प्रजा ॥४७
निष्पत्तिः सर्व्वशस्यानां सर्व्वशस्यमहार्घता ।
घृतं तैलसमं याति आनन्दे नन्दति प्रजा ॥४८॥
कोद्रवाः शालिमुद्गाश्च पीड्यन्ते वरवर्णिनि ।
सर्व्वौषधानि धान्यानि राक्षसे निष्ठुराः
प्रजाः ॥ ४९ ॥
दुर्भिक्षं जायते घोरं धान्यौषधिप्रपीड़नम् ।
अनले च समाख्यातं नात्र कार्य्या विचारणा॥५०
देशभङ्गः सुदुर्भिक्षं समासात् कथयाम्यहम् ।
पिङ्गले चारुपद्माक्षि दुर्भिक्षं नर्म्मदातटे ॥५१॥
गोमहिष्यो विनश्यन्ति ये चान्ये नटनर्त्तकाः ।
वासवो वर्षते देवि शस्यञ्च नहि जायते ॥
तिलसर्षपमाषादिकार्पासानां महार्घता ।
गोमहिष्यः सुवर्णानि कांस्यताम्रादयस्तथा ॥
तत् सर्व्वं देवि विक्रीय कर्त्तव्यो धान्यसञ्चयः ।
तेन धान्येन लोकोऽयं निस्तरिष्यति दुर्द्दिनम् ।
पार्थिवा मोषका दीनाः कालयुक्ते प्रपीड़िताः॥५२
तोयपूर्णाः स्मृता मेघा बहुशस्या च मेदिनी ।
निष्ठुराः पार्थिवा देवि सिद्धार्थे च वरानने ॥५३
अल्पतोया घनाश्चैव कीटकाः प्रबलाः स्मृताः ।
विरुद्धाः पार्थिवा देवि रौद्रे संवत्सरे प्रिये ॥५४॥
दुर्भिक्षं मध्यमं प्रोक्तं व्यवहारो न वर्त्तते ।
भवेद्दै मध्यमा वृष्टिर्दुर्म्मतौ समुपस्थिते ॥ ५५ ॥
दुर्भिक्षं जायते लोकाः सर्व्वे द्रविणवर्जिताः ।
प्राणिनां जायतेऽहर्षो दुन्दुभौ वरवर्णिनि ॥५६॥
महिषीगोहिरण्यादिताम्रकांस्यादयस्तथा ।
तत् सर्व्वं देवि विक्रीय कर्त्तव्यो धान्यसञ्चयः ॥
रक्ते संवत्सरे देवि क्रूरबुद्धिर्नराधिपः ।
मानवाः क्रूरचेष्टाश्च संग्रामे रुधिरं भवेत् ॥५७॥
दुर्भिक्षं मरणं घोरं धान्यौषधिप्रपीड़नम् ।
पापरोगो भवेद्देवि रक्ताक्षेऽमरवन्दिनि ॥५८॥
रोगो मरणदुर्भिक्षं विरोधो बहुसङ्कुलम् ।
क्रोधे तु विषमं सर्व्वं समाख्यातं हरप्रिये ॥५९ ॥
मेदिनी लभते देवि सर्व्वभूतं चराचरम् ।
देशभङ्गश्च दुर्भिक्षं क्षये संक्षीयते प्रजा ॥
सौराष्ट्रे मालवे देशे दक्षिणे कोङ्कणे तथा ।
दुर्भिक्षं जायते घोरं क्षये संवत्सरे प्रिये ॥
कौसुदीनर्म्मदायाश्च यमुनानर्म्मदातटम् ।
विन्ध्यायां सैन्धवश्चापि विनश्यति न संशयः ॥
सिंहलं मध्यदेशश्च कालञ्जरं तथैव च ।
क्षये क्षयन्ति सर्व्वाणि नान्यथा वरवर्णिनि ॥”६०
इति ज्योतिस्तत्त्वम् ॥

षष्टिहायनः, पुं, (षष्टिर्हायना आयुःकालो यस्य ।) गजः । धान्यविशेषः । इति मेदिनी राजनिर्घण्टश्च ॥ षष्टिसंख्यकवत्सरः । तत्संख्यवयोयुते, त्रि ॥ (यथा, महाभारते ।१।१५४।४४।
“बभञ्जतुस्तदा वृक्षांल्लताश्चाकर्षतुस्तदा ।
मत्ताविव च संरब्धौ वारणौ षष्टिहायनौ ॥”)

षष्ठः, त्रि, (षष् + “तस्य पूरणे डट् ।” ५ । २ । ४८ । डट् । “षट्कतिकतिपयचतुरां थुक् ।” ५ । २ । ५१ । इति थुक् ।) षण्णां पूरणः । इति मेदिनी ॥ (यथा, रघुः । १७ । ७८ ।
“पञ्चमं लोकपालानामूचुः साधर्म्म्ययोगतः ।
भूतानां महतां षष्ठमष्टमं कुलभूभृताम् ॥”)

षष्ठकः, त्रि, षष्ठः । षष्ठशब्दात् स्वार्थे कन्प्रत्ययेन निष्पन्नः ॥ (षष्ठो भागः । “मानपश्वङ्गयोः कन्लुकौ च ।” ५ । ३ । ५१ । इति कन् । “षष्ठको भागो मानञ्चेद्भवति ।” इति काशिका ।)

षष्ठान्नकालकं, क्ली, दिनाद्दानन्तरभुक्तम् । यथा,
“द्व्यन्तरे त्र्यन्तरे भुक्तमाहुः षष्ठान्नकालकम् ।”
इति त्रिकाण्डशेषः ॥

षष्ठिका, स्त्री, (षष्ठी + स्वार्थे कन् ।) यथा । चासुण्डैव षष्ठिकेत्युच्यम् । इति दुर्गोत्सवीयबलिदानप्रकरणे तिथ्यादितत्त्वम् ॥

षष्ठी, स्त्री, (षष्ठ + ङीप् ।) कात्यायनी । इति मेदिनी ॥ षोड़शमातृकान्तर्गतमातृकाविशेषः । सा प्रकृतेः षष्ठीकला स्कन्दभार्य्या च । तस्याः स्वरूपादिर्यथा,—
“प्रधानांशस्वरूपा या देवसेना च नारद ! ।
मातृकासु पूज्यतमा सा च षष्ठी प्रकीर्त्तिता ॥
शिशूनां प्रतिविश्वेषु प्रतिपालनकारिणी ।
तपस्विनी विष्णुभक्ता कार्त्तिकेयस्य कामिनी ॥
षष्ठांशरूपा प्रकृतेस्तेन षष्ठी प्रकीर्त्तिता ।
पुत्त्रपौत्त्रप्रदात्री च धात्री त्रिजगतां सती ॥
सुन्दरी युवती रम्या सततं भर्त्तुरन्तिके ।
स्थाने शिशूनां परमा वृद्धरूपा च योगिनी ॥
पूजा द्वादशमासेषु यस्या विश्वेषु सन्ततम् ।
पूजा च सूतिकागारे परा षष्ठदिने शिशोः ॥
एकविंशतिमे चैव पूजा कल्याणहेतुकी ।
शश्वन्नियमिता चैषा नित्या काम्याहुतिः परा ॥
मातृरूपा दयारूपा शश्वद्रक्षणरूपिणी ।
जले स्थले चान्तरीक्षे शिशूनां स्वप्नगोचरे ॥
इति ब्रह्मवैवर्त्ते प्रकृतिखण्डे १ अध्यायः ॥ * ॥
अपि च ।

श्रीनारायण उवाच ।

“षष्ठांशा प्रकृतेर्या च सा च षष्ठी प्रकीर्त्तिता ।
तस्याः पूजाविधौ ब्रह्मन् इतिहासमिमं शृणु ॥
राजा प्रियव्रतश्चासीत् स्वायम्भुवमनोः सुतः ।
योगीन्द्रो न वहेद्भार्य्यां तपस्यासु रतः सदा ॥
ब्रह्माज्ञया च यत्नेन कृतदारो बभूव सः ।
सुचिरं कृतदारश्च न लेभे तनयं ततः ॥
पुत्त्रेष्टियज्ञं तञ्चापि कारयामास कश्यपः ।
मालिन्यै तस्य कान्तायै मुनिर्यज्ञचरुं ददौ ॥
भुक्त्वा चरुञ्च तस्याश्च सद्यो गर्भो बभूव ह ।
दधार तञ्च सा देवी दैवं द्वादशवत्सरम् ॥
ततः सुषाव सा ब्रह्मन् कुमारं कनकप्रभम् ।
सर्व्वावयवसम्पन्नं मृतमुत्तानलोचनम् ॥
श्मशानञ्च ययौ राजा गृहीत्वा बालकं मुने ।
एतस्मिन्नन्तरे तत्र विमानञ्च ददर्श ह ॥
ददर्श तत्र देवीञ्च कमनीयां मनोहराम् ।
दृष्ट्वा तां पुरतो राजा तुष्टाव परमादरम् ॥
पप्रच्छ राजा तां दृष्ट्वा ग्रीष्मसूर्य्यसमप्रभाम् ।
तेजसा ज्वलितां कान्तां शान्तां स्कन्दस्य नारद ॥

प्रियव्रत उवाच ।

का त्वं सुशोभने कस्य कान्ते कान्तासि सुव्रते ,
कस्य कन्या वरारोहा धन्या मान्या च योषिताम् ॥

देवसेनोवाच ।

ब्रह्मणो मानसी कन्या देवसेनाहमीश्वरी ।
सृष्ट्वा मां मनसा धाता ददौ स्कन्दाय भूमिप ॥
मातृकासु च विख्याता स्कन्दभार्य्या च सुव्रता ।
विश्वे षष्ठीति विख्याता षष्ठांशा प्रकृतेर्यतः ॥
इत्येवमुक्त्वा सा देवी गृहीत्वा बालकं मुने ।
महाज्ञानेन तपसा जीवयामास लीलया ॥
गृहीत्वा बालकं देवी गगनं गन्तुमुद्यता ।
पुनस्तुष्टाव तां राजा शुष्ककण्ठौष्ठतालुकः ॥
नृपस्तोत्रेण सा देवी परितुष्टा बभूव ह ।
उवाच तं नृपं ब्रह्मन् ! वेदोक्तं कर्म्मनिर्म्मितम् ॥

देवसेनोवाच ।

त्रिषु लोकेषु राजा त्वं स्वायम्भुवमनोः सुतः ।
मम पूजाञ्च सर्व्वत्र कारयित्वा स्वयं कुरु ॥
तदा दास्यामि पुत्त्रन्ते कुलपद्ममनोहरम् ।
इत्येवमुक्त्वा सा देवी तस्मै तद्बालकं ददौ ॥
राजा चकार स्वीकारं तत्पूजार्थञ्च सुव्रतः ।
जगाम देवी स्वर्गञ्च दत्त्वा तस्मै शुभं वरम् ॥
आजगाम महाराजः स्वगृहं हृष्टमानसः ।
देवीं तां पूजयामास ब्राह्मणेभ्यो धनं ददौ ॥
राजा च प्रतिमासेषु शुक्लषष्ठ्यां महोत्सवम् ।
षष्ठ्या देव्याश्च यत्नेन कारयामास सर्व्वतः ॥
बालानां सूतिकागारे षष्ठाहे यत्नपूर्व्वकम् ।
तत्पूजां कारयामास चैकविंशतिवासरे ॥

बालानां शुभकार्य्ये च शुभान्नप्राशने तथा ।
सर्व्वत्र वर्द्धयामास स्वयमेव चकार ह ॥
ध्यानं पूजाविधानञ्च स्तोत्रं मन्त्रो निशामय ।
यत् श्रुतं धर्म्मवक्त्रेण कौथुमोक्तञ्च सुव्रत ॥
शालग्रामे घटे वाथ वटमूलेऽथवा मुने ।
भित्तौ पुत्तलिकां कृत्वा पूजयेद्वा विचक्षणः ॥
षष्ठांशां प्रकृतेः शुद्धां सुप्रतिष्ठाञ्च सुप्रभाम् ।
सुपुत्त्रदाञ्च शुभदां दयारूपां जगत्प्रसूम् ॥
श्वेतचम्पकवर्णाभां रत्नभूषणभूषिताम् ।
पवित्ररूपां परमां देवसेनामहं भजे ॥
इति ध्यात्वा स्वशिरसि पुष्पं दत्त्वा विचक्षणः ।
पुनर्ध्यात्वा च मूलेन पूजयेत् सुव्रतां सतीम् ॥
पाद्यार्घ्याचमनीयैश्च गन्धधूपप्रदीपकैः ।
नैवेद्यैर्व्विविधैश्चापि फलेन शोभनेन च ॥
मूलेनौँ ह्रीँ षष्ठीदेव्यै स्वाहेति विधिपूर्व्वकम् ।
अष्टाक्षरं महामन्त्रं यथाशक्ति जपेन्नरः ॥
ततः स्तुत्वा च प्रणमेद्भक्तियुक्तः समाहितः ।
स्तोत्रञ्च सामवेदोक्तं वरपुत्त्रफलप्रदम् ॥
अष्टाक्षरं महामन्त्रं लक्षधा यो जपेन्मुने ।
स पुत्त्रं लभते नूनमित्याह कमलोद्भवः ॥ * ॥
स्तोत्रं शृणु मुनिश्रेष्ठ सर्व्वकामशुभावहम् ।
आञ्छाप्रदञ्च सर्व्वेषां गूढं वेदेषु नारद ॥
प्रियव्रत उवाच ।
नमो देव्यै महादेव्यै सिद्ध्यै शान्त्यै नमो नमः ।
शुभायै देवसेनायै षष्ठ्यै देव्यै नमो नमः ॥
वरदायै पुत्त्रदायै धनदायै नमो नमः ।
सुखदायै मोक्षदायै षष्ठीदेव्यै नमो नमः ॥
शक्तिषष्ठांशरूपायै सिद्धायै च नमो नमः ।
मायायै सिद्धयोगिन्यै षष्ठीदेव्यै नमो नमः ॥
सारायै सारदायै च परायै सर्व्वकारिण्यै ।
बालाधिष्ठातृदेव्यै च षष्ठीदेव्यै नमो नमः ॥
कल्याणदायै कल्याण्यै फलदायै च कर्म्मणाम् ।
प्रत्यक्षायै च भक्तानां षष्ठीदेव्यै नमो नमः ॥
पूज्यायै स्कन्दकान्तायै सर्व्वेषां सर्व्वकर्म्मसु ।
देवरक्षणकारिण्यै षष्ठीदेव्यै नमो नमः ॥
शुद्धसत्त्वस्वरूपायै वन्दितायै नृणां सदा ।
हिंसाक्रोधवर्ज्जितायै षष्ठीदेव्यै नमो नमः ॥
धनं देहि प्रियां देहि पुत्त्रं देहि सुरेश्वरि ।
धर्म्मं देहि यशो देहि षष्ठीदेव्यै नमो नमः ॥
देहि भूमिं प्रजां देहि विद्यां देहि सुपूजिते ।
कल्याणञ्च जयं देहि षष्ठीदेव्यै नमो नमः ॥
इति देवीञ्च संस्तूय लेभे पुत्त्रं प्रियव्रतः ।
यशस्विनञ्च राजेन्द्रं षष्ठीदेवीप्रसादतः ॥
षष्ठीस्तोत्रमिदं ब्रह्मन् यः शृणोति च वत्सरम् ।
अपुत्त्रो लभते पुत्त्रं वरं सुचिरजीविनम् ॥
वर्षमेकञ्च या भक्त्या संस्तुत्येदं शृणोति च ।
सर्व्वपापविनिर्म्मुक्ता महावन्ध्या प्रसूयते ॥
वीरं पुत्त्रञ्च गुणिनं विद्यावन्तं यशस्विनम् ।
सुचिरायुष्मन्तमेव षष्ठीदेवीप्रसादतः ॥
काकवन्ध्या च या नारी मृतापत्या च या भवेत् ।
वर्षं श्रुत्वा लभेत् पुत्त्रं षष्ठीदेवीप्रसादतः ॥
रोगयुक्ते च बाले च पिता माता शृणोति चेत् ।
मासञ्च मुच्यते बालः षष्ठीदेवीप्रसादतः ॥
इति ब्रह्मवैवर्त्ते प्रकृतिखण्डे ४० अध्यायः ॥ * ॥
चन्द्रस्य षष्ठकलाक्रियारूपतिथिविशेषः । स तु शुक्लकृष्णपक्षभेदेन द्विविधः । तत्र चन्द्रस्य वृद्धानुकूलषष्ठकलाक्रियारूपः शुक्लपक्षीयः । तस्य ह्रासानुकूलषष्ठकलाक्रियारूपः कृष्णपक्षीयः ।*।
वैशाखादिषु तस्या विशेषनामानि यथा,—
“प्रसूत्या द्वादशे मासि सम्पूज्यापत्यवृद्धये ।
सुते जाते तथा षष्ठ्यां षष्ठी द्वादशरूपिणी ॥
वैशाखे चान्दनी षष्ठी ज्यैष्ठे चारण्यसंज्ञिता ।
आषाढ़े कार्द्दमी ज्ञेया श्रावणे लुण्ठनी तथा ॥
भाद्रे चपेटी विख्याता दुर्गाख्याश्वयुजे तथा ।
नाड्याख्या कार्त्तिके मासि मार्गे मूलकरूपिणी ॥
पौषे मात्स्यकरूपा च शीतला तपसि स्मृता ।
गोरूपिणी फाल्गुने च चैत्रेऽशोका प्रकीर्त्तिता ॥”
इति स्कन्दपुराणम् ॥
तत्कृत्यादि यथा,—
अथ षष्ठी सा सप्तमीयुता ग्राह्या युग्मात् ।
राजमार्त्तण्डे ।
“ज्यैष्ठे मासि सिते पक्षे षष्ठी चारण्यसंज्ञिता ।
व्यजनैकराहस्तास्तामटन्ति विपिने स्त्रियः ॥
तां विन्ध्यवासिनीं स्कन्दषष्ठीमाराधयन्ति च ।
कन्दमूलफलाहारा लभन्ते सन्ततिं शुभाम् ॥”
कन्दं सूरणादि । मूलं तदितरत् । भविष्ये ।
“येयं मार्गशिरे मासि षष्ठी भरतसत्तम ।
पुण्या पापहरा धन्या शिवा शान्ता गुहप्रिया ॥”
देवीपुराणे चैनमधिकृत्य ।
“षष्ठ्यां स्कन्दस्य कर्त्तव्या पूजा सर्व्वोपचारिका ।
इहैव सुखसौभाग्यमन्ते विष्णुपुरं व्रजेत् ॥”
इयमेव स्कन्दषष्ठी पञ्चमीयुतैवोपोष्या ।
“कृष्णाष्टमी स्कन्दषष्ठी शिवरात्रिचतुर्द्दशी ।
एताः पूर्व्वयुताः कार्य्यास्तिथ्यन्ते पारणं भवेत् ॥”
इति ब्रह्मवैवर्त्तवचनात् ॥
विष्णुधर्म्मोत्तरे ।
“अष्टमीञ्च तथा षष्ठीं नवमीञ्च चतुर्दशीम् ।
शिरोऽभ्यङ्गं न कुर्व्वीत पर्व्वसन्धौ तथैव च ॥”
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥ * ॥
सा च कार्त्तिकेयाभिषेकतिथिः । यथा,—
“स्वयं स्कन्दो महादेवः सर्व्वपापप्रणाशनः ।
तस्य षष्ठीं तिथिं प्रादादभिषेके पितामहः ॥
अस्यां फलाशनो यस्तु यतेन्नियतमानसः ।
अपुत्त्रोऽपि लभेत् पुत्त्रान् अधनोऽपि लभेत् धनम् ।
यं यमिच्छेत मनसा तं तं लभति मानवः ॥
यश्चैतत् पठति स्तोत्रं कार्त्तिकेयस्य मानवः ।
तस्य गेहे कुमाराणां चैमारोग्यं भवेद्ध्रुवम् ॥”
इति वाराहे स्कन्दोत्पत्तिर्नामाध्यायः ॥ * ॥
तत्र जातफलम् ।
“विद्वान् वरिष्ठश्चतुरः सुकीर्त्तिः
प्रलम्बबाहुर्व्विकचीर्णगात्रः ।
सत्यप्रतिष्ठो धनपुत्त्रयुक्तः
षष्ठीप्रसूतो मनुजश्चिरायुः ॥”
इति कोष्ठीप्रदीपः ॥ * ॥
तत्र यात्राकरणदोषो यथा,—
“पञ्चम्यामीप्सितार्थः स्यात् षष्ठ्यां व्याधियुतो भवेत् ।
सप्तम्यामर्थलाभः स्यादष्टम्यामङ्गपीड़नम् ।
षष्ठ्यष्टमीद्वादशीषु न गच्छेत्त्रिदिनस्पृशि ॥”
इति ज्योतिस्तत्त्वम् ॥
षस, लु र स्वापे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (अदा०-पर०-अक०-सेट् ।) मूर्द्धन्यादिः । लु, षस्ति । र, वैदिकः । स्वापः शयनम् । इति दुर्गादासः ॥
षसृज, सर्पणे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट् ।) दन्त्यसोपधः । क्विपि संयोगादि-लोपे सक् । सज्जति । षत्वोऽपि परषाक्षरं न च परेषु संसज्जते । इति प्राकृमते गत्वकृतानित्य-त्वात् । इति दुर्गादासः ॥
षस्त, इ लु र स्वप्ने । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (अदा०-पर०-अक०-सेट् ।) मूर्द्धन्यादिः दन्त्यसोपधः । इ, संस्यते । नमध्यपाठेऽपि नस्योपधत्वाभावादेव लोपाभावे इदनुबन्धो वेदेषूच्चारणभेदार्थः । लु, संस्ति । र, वैदिकः । इति दुर्गादासः ॥
षह, ज ङ शक्तौ । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-आत्म०-सक०-सेट् ।) इहापि शक्तिः क्षमा । ज, साढः सहः । ङ, अन्यायं सहते नासौ । इति हलायुधः । इति दुर्गादासः ॥
षह, य कि शक्तौ । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (दिवा०-चुरा०-भ्वा०-च-पर०-सक०-सेट् ।) शक्तिरिह दैवादिकस्य शकधातो रूपं तेन क्षमा इत्यर्थः । य, सह्यति दुःखं लोकः सहत इत्यर्थः । कि, साहयति । स एवायं नागः सहति कलभेभ्यः परिभवम् । इति दुर्गादासः ॥
षष्ठसाङ्गः, पुं, क्षमावान् । यज्ञः । मयूरः । इति संक्षिप्तसारोणादिवृत्तिः ॥
षाट्, व, सम्बोधनम् । इति केचित् ॥
षाड़वः, पुं, गानम् । रसः । इति मेदिनी ॥ रागस्य जातिविशेषः । स च षट्स्वरमिलितराग-रागिण्यौ । यथा,—
“औड़वः पञ्चभिः प्रोक्तः स्वरैः षड्भिस्तु षाड़वः ।
सम्पूर्णः सप्तभिर्ज्ञेय एवं रागस्त्रिधा मतः ॥”
इति सङ्गीतदर्पणम् ॥
षाड्गुण्यं, क्ली, (षड्गुणा एव । “चातुर्वर्ण्या-दीनां स्वार्थे ।” ५ । १ । १२४ । इत्यस्य वार्त्ति-कोक्त्या ष्यञ् ।) राज्ञां राज्यरक्षणे उपायाः षट् । यथा । सन्धानासनं सन्धिं कृत्वा अव-स्थानम् १ । यात्रासन्धानं युद्धार्थयानम् २ । विगृह्यासनं वैरं कृत्वावस्थानम् ३ । यात्रां संपरिगृह्यासनं शत्रोर्भयप्रदर्शनार्थं यानं प्रदर्श्य स्वस्थाने अवस्थानम् ४ । द्वैधीभावः उभयत्र सन्धीकरणम् ५ । अन्येषां संश्रयः दुर्गादेर्म्महा-राजस्य वा आश्रयः ६ । इति महाभारते राजधर्म्मः ॥ (यथा, माघे । २ । ९३ ।
“षाड्गुण्यमुपयुञ्जीत शक्त्यपेक्षं रसायनम् ।
भवन्त्यस्यैवमङ्गानि स्थास्नूनि बलवन्ति च ॥”)

षाण्मातुरः, पुं, (षसां मातॄणामपत्यमिति । "मातुरुत्संख्यासंभद्रपूर्व्वायाः ।" ४।१।११५ । इति अण् । उकारश्चान्तादेशः ।) कार्त्तिकेयः । इत्यमरः ॥

षात्वणत्विकः, त्रि, षत्वणत्वविधायकशास्त्रव्याख्यानम् । तत्र भवः । यथा । षत्वणत्वयोर्विधायकं शास्त्रं षात्वणत्वं तस्य व्याख्यानमत्र भवो वा षात्वणत्विकः । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥

षाध, औ न य सिद्धौ । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (स्वा०-दिवा०च-पर०-अक०-अनिट् ।) औ, शिषात्सति । न, साध्नोति । य, साध्यति । सिद्धिर्निष्पत्तिः । इति दुर्गादासः ॥

षान्त्व, क सामयोगे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (चुरा०-पर०-सक०-सेट् ।) क, सान्त्वयति शोकार्त्तं दयालुः । सिषान्त्वयिषति । इति दुर्गादासः ॥

षाष्ठः, त्रि, षष्ठः । षष्ठशब्दात् स्वार्थे ण(अण्)प्रत्ययेन निष्पन्नः ॥ (पुं, षष्ठो भागः । "षष्ठाष्टमाभ्यां ञ च ।" ५ । ३ । ५० । इति ञः । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥)

षि, ग ञ न बन्धे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (क्र्या०-स्वा०च-उभ०-सक०-अनिट् ।) मूर्द्धन्यादिः । ग ञ, सिनाति सिनीते । न, सिनोति सिनुते । इति दुर्गादासः ॥

षिच, प श ञ औ क्षरणे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (तुदा०-उभ०-सक०-अनिट् ।) प श ञ, सिञ्चति सिञ्चते । औ, सेक्ता । सिषिचुरवनिमम्बुवाहाः । इति भारविः । इति दुर्गादासः ॥

षिट, अनादरे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट् ।) मूर्द्धन्यादिः । सेटति खलं लोकः । इति दुर्गादासः ॥

षिड्गः, पुं, (षिट् अनादरे + बाहुलकात् गन् डत्वं ऽपि गन् सत्वाभावश्च । इत्युणादिटीकायां उज्ज्वलः । १ । १२३ ।) कामुकः । लोच्चा इति भाषा । तत्पर्य्यायः । विदग्धः २ नागरः ३ भविलः ४ छिदुरः ५ विटः ६ व्यलीकः ७ षट्प्रज्ञः ८ कामकेलिः ९ विदूषकः १० । इति भूरिप्रयोगः ॥ पीठकेलिः ११ पीठमर्द्दः १२ । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ पल्लविकः १३ । इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, माघे । ५ । ३४ ।

"पन्थानमाशु विजहीहि पुरः स्तनौ ते
पश्यन् प्रतिद्विरदकुम्भविशङ्कितेताः ।
स्तम्बेरमः परिणिनंसुरसावुपैति
षिड्गैरगद्यत ससम्भ्रममेव काचित् ॥")

षिध, गत्याम् । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट् ।) सेधति । निष्ठायां सिधितः । इति दुर्गादासः ॥

षिध, उ गत्याम् । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट् । क्त्वा वेट्) सेधति । उ, सेधित्वा सिद्ध्वा । क्त्वा वेटत्वात् क्तेऽपीति इमो निषेधे सिद्धः । इति दुर्गादासः ॥

षिध, उ य औ सिद्धौ । इति दुर्गादासः ॥ (दिवा०-पर०-अक०-अनिट् । क्त्वा वेट् ।) उ, सेधित्वा सिद्ध्वा । य, सिध्यति । औ, असैत्सीत् । अस्मात् पुषादित्वान्नित्यं ङ इत्यन्ये । सिद्धिर्निष्पत्तिः । सिध्यति घटो निष्पन्नः स्यात् इत्यर्थः । इति दुर्गादासः ॥

षिध, ऊ शिवे । शास्त्रे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-शिवे अक०-अनुशासने सक०-वेट् ।) मूर्द्धन्यादिः । ऊ, असेधीत् असैत्सीत् । शिवं मङ्गलम् । तदाकर्म्मकः । सिद्धो वर्णसमाम्नाय इति कातन्त्रस्याद्यसूत्रम् । शास्त्रमनुशासनम् । सेधति शिष्यं गुरुः । इति दुर्गादासः ॥

षिन्भ, उ हिंसने । दीप्तौ । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-दीप्तौ अक०-सेट् । क्त्वा वेट् ।) उ, सिम्भित्वा सिब्ध्वा । इति दुर्गादासः ॥

षिल, श उञ्छे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (तुदा०-पर०-सक०-सेट् ।) उञ्छ उञ्छनमल्पशेषादानम् । श, सिलति धान्यं दीनः । सेलिता । इति दुर्गादासः ॥

षिव, य उ तन्तुततौ । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (दिवा०-पर०-सक०-सेट् । क्त्वा वेट् ।) तन्तुसततिस्तन्तुभिर्ग्रन्थनम् । य, सीव्यति वस्त्रं सौचिकः । उ, सेवित्वा स्यूत्वा । इति दुर्गादासः ॥

षु, गतौ । ऐश्वर्य्यप्रसवयोश्च । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-अनिट् ।) सवति । इति दुर्गादासः ॥

षु, ञ गतौ । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-उभ०-सक०-अनिट् ।) ञ, सुषाव सुषुवे । इति दुर्गादासः ॥

षु, न ञ सन्धानक्लेदपीडमन्थे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (स्वा०-उभ०-सक०-अक०च-अनिट् ।) मूर्द्धन्यादिः । न ञ, सुनोति सुनुते । सन्धा सन्धानम् । क्लेद इह स्नानं मङ्गलस्नानं वा । तथा च षु ञ अभिषवे इति शाब्दः । अभिषवः पीडनं मन्थनं चेति त्रिलोचनादयः । स्नानञ्चेति दुर्गः । सन्धानं मङ्गलस्नानं चेति धातुप्रदीपः । इति दुर्गादासः ॥

षु, ल ऐश्वर्य्यप्रसवयोः । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (अदा०-पर०-अक०-सक० च-सेट् ।) ल, सौति । इति दुर्गादासः ॥

षुः, पुं, गर्भविमोचनम् । इत्येकाक्षरकोषः ॥

षुट्ट, क तौक्ष्ण्ये । अनादरे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (चुरा०-पर०-सक०-सेट् ।) पञ्चमस्वरी टद्वयान्तः । क, सुट्टयति । दन्त्यादिरयमिति भीमः । तौक्ष्ण्यमल्पीभावः । इति दुर्गादासः ॥

षुन्भ, दीपनहिंसयोः । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-दीपने अक० हिंसायां सक०-सेट् ।) मूर्द्धन्यादिः । पञ्चमस्वरी । सुम्भति सुषुम्भ । इति दुर्गादासः ॥

षुर, श ऐश्वर्य्ये दीप्तौ । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (तुदा०-पर०-अक०-सेट् ।) मूर्द्धन्यादिः । श, सुरति सोरिता सुषोर । भा दीप्तिः । ऐश्यमैश्वर्य्यम् । इति दुर्गादासः ॥

षुह, ल य लषि । शक्तौ । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (दिवा०-पर०-सक०-सेट् ।) शक्तिः क्षमा । लृ, असुहत् । य, सुह्यति दुःखं मुनिः सहत इत्यर्थः । सुषोह । इति दुर्गादासः ॥

षू, ङ ल सूतौ । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (अदा०-आत्म०-सक०-अनिट् ।) मूर्द्धन्यादिः । ङ ल, सूते । इति दुर्गादासः ॥

षू, य ङ औ सूतौ । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (दिवा०-आत्म०-सक० अनिट् ।) य ङ, सूयते । औ, सूनः । सूतिर्गर्भविमोचनम् । सूते पुत्त्रं नारी । अन्यत्रापि धर्म्मोऽर्थं प्रसूयते । इति दुर्गादासः ॥

षू, श क्षेपे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (तुदा०-पर०-सक०-अनिट् ।) मूर्द्धन्यादिः । श, सुवति । इति दुर्गादासः ॥

षूः, स्त्री, गर्भविमोचनम् । इति कश्चिदेकाक्षरकोषः ॥

षूद, क्षरणे । इति शाब्दः । (भ्वा०-पर०-सक०-सेट् ।) क्षरणमवदारणं हिंसोपलक्षणमिति रमानाथेन व्याख्यातम् । इति दुर्गादासः ॥

षूद, क आश्रुतिहत्योः । निरासे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (चुरा०-पर०-सक०-सेट् ।) आश्रुतिरङ्गीकारः । क, सूदयति धनं विप्राय दाता । रमानाथस्तु आस्रवण इति दन्त्यसकारं पठित्वा सूदयति मदिरा भाण्डात् क्षरति इत्यर्थ इत्याह । इति दुर्गादासः ॥

षूद, ङ निरासे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-आत्म०-सक०-सेट् ।) षष्ठस्वरी । ङ, सूदते । निरासो निःक्षेपः । इति दुर्गादासः ॥

षूर, ङ य ई स्तम्भे । हिंसे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (दिवा०-आत्म०-स्तम्भे अक०-हिंसे सक०-सेट् । निष्ठायां अनिट् ।) ङ य, सूर्य्यते । ई, सूर्णः । केचिदयं न मन्यते । स्तम्भो जडीभावः । इति दुर्गादासः ॥

षूर्क्ष, नादरे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट् ।) रेफयुक्तः । षष्ठस्वरी । सूर्क्षति दुष्टं लोकः । इति दुर्गादासः ॥

षूर्क्ष्य, ईर्ष्ये । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-अक०-सेट् ।) सूर्क्ष्यति सुषूर्क्ष्य । षष्ठ्यान्तोऽयमित्येके । इति दुर्गादासः ॥

षूष, प्रसवे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट् ।) षष्ठस्वरी मूर्द्धन्यादिः । सूषति । इति दुर्गादासः ॥

षेक, ऋ ङ सर्पणे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-आत्म०-सक०-सेट् ।) मूर्द्धन्यादिः । अस्य षोपदेशविधौ वर्ज्जनेऽपीह पाठः कस्यचिदनुरोधात् । ऋ, असिषेकत् । ङ, सेकते । इति दुर्गादासः ॥

षेल, ऋ चालगत्योः । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट् ।) मूर्द्धन्यादिः । ऋ, असिषेलत् । इति दुर्गादासः ॥

षेव, ऋ ञ ङ सेवने। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-उभ०-आत्म० च-सक०-सेट्।) ऋ, असिषेवत्। ञ, सेवति सेवते। ङ, सेवते। सेवनमाराधनमुपभोग आश्रयणञ्च। विष्णुं सेवते सुखं सेवते तीर्थं सेवते साधुः। अन्ये तस्मात् परस्मैपदममन्यमानाः नीचं सन्द्रुमपि सेवति नीच एव। स्वाधीने विभवेऽप्यहो नरपतिं सेवन्ति किं मानिन इत्यादौ गणकृतानित्यत्वमाहुः। इति दुर्गादासः॥

षै, क्षये। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-पर०-अक०-अनिट्।) मूर्द्धन्यादिः। सायति। इति दुर्गादासः॥

षो, य नाशे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (दिवा०-पर०-सक०-अनिट्।) मूर्द्धन्यादिः। नाश इह नष्टीकरणम्। य, स्यति यमो जन्तून्। इति दुर्गादासः॥

षोड़न्, [न्] पुं, (षट् दन्ता अस्य। "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्।" ६। ३। १०९। इति षष उत्वं दतृदशधासूत्तरपदादेष्टुत्वञ्च।) षड्दन्तयुक्तवृषः। इति हेमचन्द्रः॥

षोड़श, [न्] त्रि, (षट् च दश च। "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्।" ६। ३। १०९। इति साधुः।) संख्याविशेषः। षड़धिका दश। षोल इति भाषा। तद्वाचकौ इन्दुकलामातृकाशब्दौ। इति कविकल्पलता॥ नित्यबहुवचनान्तोऽयम्॥ (यथा, मनुः। ११। २४९।
"सव्याहृतिप्रणवकाः प्राणायामास्तु षोड़श।
अपि भ्रूणहनं मासात् पुनन्त्यहरहःकृताः॥")

षोड़शः, त्रि, षोड़शानां पूरणः। षोड़शन्शब्दात् डट्प्रत्ययेन निष्पन्नः। इति सिद्धान्तकौमुदी॥ (यथा, भागवते। २। ६। ६।
"स्पर्शेषु यत् षोड़शमेकविंशं
निष्कावतानां नृप यज्ञनं विदुः॥")

षोड़शकलाः, स्त्री, (षोड़शसंख्यान्विताः कलाः।) चन्द्रमण्डलस्य षड़धिकदशभागाः। तासां नामानि यथा। ततश्चन्द्रस्य अमृतादिषोड़शकलाः पूर्ववत् प्राणप्रतिष्ठां कृत्वा पूजयेत्। अं अमृतायै नमः १। आं मानदायै २। इं पूषायै ३। ईं तुष्ट्यै ४। उं पुष्ट्यै ५। ऊं रत्यै ६। ऋं धृत्यै ७। ॠं शशिन्यै ८। ऌं चन्द्रिकायै ९। ॡं कान्त्यै १०। एं ज्योत्स्नायै ११। ऐं श्रियै १२। ओं प्रीत्यै १३। औं अङ्गदायै १४। अं पूर्णायै १५। अः पूर्णामृतायै १६। नमः सर्व्वत्र। शक्तश्चेत् प्रत्येकमावाह्य गन्धादिभिः पूजयेत्। इति तन्त्रसारः॥

षोड़शदानं, क्ली, (षोड़शप्रकारं दानम्।) श्राद्धादौ षोड़शप्रकारदेयद्रव्यम्। तत्क्रममाहुः साम्प्रदायिकाः।
"भूम्यासनं जलं वस्त्रं प्रदीपोऽन्नं ततः परम्।
ताम्बूलच्छत्रगन्धाश्च माल्यं फलमतः परम्॥
शय्या च पादुका गावः काञ्चनं रजतं तथा।
दानमेतत् षोड़शकं प्रेतमुद्दिश्य दीयते॥"
तत् षोड़शषोड़शकैरेको दानसागरो भवति॥ तत्र भूमेः पूजायां दानवाक्ये च प्रियदत्तेति विशेषणम्। भूमेर्द्देवता विष्णुः षष्टिवर्षसहस्रावच्छिन्नस्वर्गवासः फलम्। प्रतिग्रहे तद्भूमेः प्रदक्षिणीकरणम्। तद्भूमेरसन्निधाने तामुद्दिश्य प्रदक्षिणम्॥ १॥ आसनस्य उत्तानाङ्गिरसो देवता राज्यस्थानानुत्तमस्वर्गप्राप्तिः फलम्। तत्र विशेषानुपदेशात् करमध्यात्मकाग्नेयेन तीर्थेन प्रतिग्रहः। एवमन्यत्रापि आग्नेयं करतलम्॥ २॥ जलस्य वरुणो देवता तृप्तिप्राप्तिः फलम्॥ ३॥ वस्त्रस्य बृहस्पतिर्द्देवता चन्द्रसालोक्यप्राप्तिः फलम्। प्रतिग्रहे दशान्तग्रहणपरिधाने॥४॥ दीपस्य अग्निर्द्देवता उत्तमचक्षुःप्राप्तिः फलम्॥ ५॥ अन्नस्य प्रजापतिर्द्देवता अक्षयसुखप्राप्तिः फलम्। प्रतिग्रहे सुस्थिग्रहणम्॥ ६॥ ताम्बूलस्य वनस्पतिर्द्देवता मेधावित्वसुभगत्वप्राज्ञत्वदर्शनीयत्वप्राप्तिः फलम्॥७॥ छत्रस्य उत्तानाङ्गिरसो देवता सर्व्वव्याधिविनिर्म्मुक्तत्वश्रीमत्त्वबहुपुत्रत्वप्राप्तिः फलम्। प्रतिग्रहे दण्डधारणम्॥ ८॥ गन्धस्य गन्धर्व्वो देवता अक्षयपदप्रयाणं फलम्॥ ९॥ माल्यस्य वनस्पतिर्द्देवता अत्यन्तसुखित्वभवनं फलम्॥१०॥ फलस्य वनस्पतिर्द्देवता सुदा युक्तत्वं फलम्॥ ११॥ शय्यायाः उत्तानाङ्गिरसो देवता अत्यन्तसुखित्वभवनं फलम्। प्रतिग्रहे आरोहणम्॥ १२॥ पादुकायुगलस्य उत्तानाङ्गिरसो देवता सर्व्वलोकसुखगमनं फलम्। प्रतिग्रहे आरोहणम्॥ १३॥ धेनो रुद्रो देवता सूर्य्यलोकप्राप्तिः फलम्। तत्र धेनुं प्राङ्मुखीमात्मसमीपमानीय।
"ॐ या लक्ष्मीः सर्व्वभूतानां या च देवेष्ववस्थिता।
धेनुरूपेण सा देवी मम शान्तिं प्रयच्छतु॥
ॐ देवस्य या च रुद्राणी शङ्करस्य च या प्रिया।
धेनुरूपेण सा देवी मम शान्तिं प्रयच्छतु॥
ॐ विष्णोर्व्वक्षसि या लक्ष्मीर्या लक्ष्मीर्धनदस्य च।
या लक्ष्मीः सर्व्वभूतानां सा धेनुर्व्वरदास्तु मे॥
ॐ चतुर्म्मुखस्य या लक्ष्मीः स्वाहा चैव विभावसोः।
चन्द्रार्कशक्रशक्तिर्या धेनुरूपास्तु सा श्रिये॥
ॐ स्वधा त्वं पितृसंघानां स्वाहा यज्ञभुजां यतः।
सर्व्वपापहरा धेनुस्तस्माच्छान्तिं प्रयच्छ मे॥
ॐ सर्व्वदेवमयीं देवीं सर्व्ववेदमयीन्तथा।
सर्व्वलोकनिमित्ताय सर्व्वलोकमपि स्थिराम्।
प्रयच्छामि महाभागामक्षयाय सुखाय च॥"
इत्युच्चार्य्य उत्सृजेत्। प्रतिग्रहे पुच्छधारणम्॥ १४॥ हिरण्यस्याग्निर्द्देवता दीर्घायुःप्राप्तिः फलम्॥ २५॥ रजतस्य चन्द्रमा देवता उत्तमरूपप्राप्तिः फलम्॥ १६॥ इति शुद्धितत्त्वम्॥ *॥ गयापद्धत्युक्तषोड़शदानं यथा,
"स्वर्णं रौप्यं तथा ताम्रं कांस्यं गावो गजा हयाः।
गृहं भूमिर्रथो वस्त्रं शय्या छत्रमुपानहौ॥
दासान्नं पितृयज्ञेषु दानं षोड़शकं मतम्॥"
इति वायुपुराणे गयामाहात्म्यम्॥

षोड़शभुजा, स्त्री, (षोड़श भुजा यस्याः।) षोड़शहस्तयुक्ता दुर्गा। यथा,—
"यदा तु षोड़शभुजां महामायां प्रपूजयेत्।
दुर्गातन्त्रेण मन्त्रेण विशेषं तत्र वै शृणु॥
कन्यायां कृष्णपक्षस्य एकादश्यामुपोषितः।
द्वादश्यामेकभक्तन्तु नक्तं कुर्य्यात् परेऽहनि॥
चतुर्द्दश्यां महामायां बोधयित्वा विधानतः।
गीतवादित्रनिर्घोषैर्नानावेदरवैदने:॥
अयाचितं बुधः कुर्य्यात् उपवासं परेऽहनि।
एवमेव व्रतं कुर्य्यात् यावद्वै नवमी भवेत्॥
ज्येष्ठायान्तु समभ्यर्च्य मूलेन प्रतिपूजयेत्।
उत्तरेणार्च्चनं कृत्वा श्रवणान्ते विसर्ज्जयेत्॥"
इति कालिकापुराणे ५९ अध्यायः॥

षोड़शमातृकाः, स्त्री, (षोड़श संख्यकाः मातृकाः।) षोड़शसंख्यकदेवीविशेषः। यथा। गौर्य्यादिषोड़शमातृकाभ्यो नमः। इति दुर्गोत्सवपद्धतिः॥ तासां नामानि यथा, श्राद्धतत्त्वे।
"गौरी पद्मा शची मेधा सावित्री विजया जया।
देवसेना स्वधा स्वाहा मातरो लोकमातरः॥
शान्तिः पुष्टिर्धृतिस्तुष्टिरात्मदेवतया सह।
आदौ विनायकः पूज्यः अन्ते च कुलदेवता॥"

षोड़शर्त्विक्क्रतुः पुं, (षोड़श ऋत्विजो यत्र। तादृशः क्रतुः।) षोड़शपुरोहितसाध्ययागविशेषः। स तु ज्योतिष्टोमयागः। द्वादशाहसाध्यसत्रयागश्च। यथा। ज्योतिष्टोमे द्वादशशतगोदक्षिणाविभागः षोड़शर्त्विजां तद्विकृतौ भूतेः सत्रात्मके द्वादशाहसाध्ये शतेनाह्निनो दीक्षयन्तीत्यादिदर्शनेन निर्णीयते। तत्र विभागमनुरप्याह।
"सर्व्वेषामर्द्धिनो मुख्यास्तदर्द्धेनार्द्धिनोऽपरे।
तृतीयिनस्तृतीयांशाश्चतुर्थाश्चैकपादिनः॥"
दक्षिणा गोशतविभागाय श्रौतकात्यायनोऽपि। अथ द्वादश द्वादश आद्येभ्यः षट् षट् द्वितीयेभ्यश्चतस्रश्चतस्रस्तृतीयेभ्यस्तिस्रस्तिस्र इतरेभ्यः। इत्यत्र षोड़शर्त्विजां चतुरश्चतुरः कृत्वा चत्वारो वर्गाः। इति मलमासतत्त्वम्॥ *॥ एषां ऋत्विजां नामानि यथा। ब्रह्मा १ ब्राह्मणाच्छंसी २ आग्नीध्रः ३ पोता ४। एते सार्व्ववेदीयाः। होता ५ मैत्रावरुणः ६ अच्छावाक् ७ ग्रावस्तोता ८। एते ऋग्वेदिनः। अध्वर्युः ९ प्रतिप्रस्थाता १० नेष्टा ११ उन्नेता १२। एते याजुषाः। उद्गाता १३ प्रस्तोता १४ प्रतिहर्त्ता १५ सुब्रह्मण्यः १६। एते सामगाः। इति महाभारते मोक्षधर्म्मे१०५ अध्याये नीलकण्ठटीका॥

षोड़शांशुः, पुं, (षोड़श अंशवो यस्य।) शुक्रः। इति शब्दमाला॥ षोड़शकिरणयुक्ते, त्रि॥

षोड़शाङ्गः, पुं, (षोड़श द्रव्याणि अङ्गानि यस्य ।) षोड़शप्रकारसुगन्धिद्रव्यमिश्रितधूपः । यथा,—

"गुग्गुलुं सरलं दारु पत्रं मलयसम्भवम् ।
ह्रीवेरमगुरुं कुष्ठं गुड़ं सर्ज्जरसं घनम् ॥
हरीतकीं नखीं लाक्षां जटामांसीञ्च शैलजम् ।
षोड़शाङ्गं विदुर्धूपं देवे पैत्रे च कर्म्मणि ॥"
इति तन्त्रसारः ॥

षोड़शावयवयुक्ते, त्रि ॥

षोड़शाङ्घ्रिः, पुं, (षोड़श अङ्घ्रयो यस्य ।) कर्कटः । इति हेमचन्द्रः ॥ षोड़शचरणयुक्ते, त्रि ॥

षोड़शारं, क्ली, (षोड़श अराणि इव दलानि यस्य ।) षोड़शदलपद्मम् । यथा, तन्त्रे ।

"आधारे लिङ्गनाभौ हृदयसरसिजे तालुमूले ललाटे
द्वे पत्रे षोड़शारे द्विदशदशदले द्वादशार्द्धे चतुष्के ।
वासान्ते वादिलान्ते ड-फ-क-ठ-सहिते कण्ठदेशे स्वराणां
हक्षौ कोदण्डमध्ये सकलदलगतं वर्णरूपं नमामि ॥"

जलाशयोत्सर्गीयवेदिकोपरिकर्त्तव्यचक्रम् । यथा, मत्स्यपुराणे ।

"रजसा मण्डलं कुर्य्यात् पञ्चवर्णेन तत्त्ववित् ।
षोड़शारं भवेच्चक्रं पद्मगर्भं चतुर्म्मुखम् ॥
चतुरस्रन्तु परितो वृत्तं मध्ये गुणोत्तरम् ।
वेद्याश्चोपरि तत् कृत्वा ग्रहाल्लोकपतींस्तथा ।
विन्यसेन्मन्त्रतः सर्व्वान् प्रतिदिक्षु विचक्षणः ॥"
इति जलाशयोत्सर्गतत्त्वम् ॥

षोड़शार्च्चिः, [स्] पुं, (षोड़श अर्च्चींषि यस्य ।) शुक्रग्रहः । इति भूरिप्रयोगः ॥ षोड़शशिखायुक्ते, त्रि ॥

षोड़शावर्त्तः, पुं, (षोड़श आवर्त्ता यस्य ।) शङ्खः । इति हेमचन्द्रः ॥ षोड़शावर्त्तयुक्ते, त्रि ॥

षोड़शिकाम्रं, क्ली, पलपरिमाणम् । इति वैद्यकपरिभाषा ॥

षोड़शी, [न्] पुं, यज्ञपात्रविशेषः । यथा अतिरात्रे षोड़शिनं गृह्णाति नातिरात्रे षोड़शिनं गृह्णातीति । षोड़शी ससोमकपात्रविशेषः । इति मलमासतत्त्वम् ॥

षोड़शी, स्त्री, द्वादशमहाविद्यान्तर्गतविद्याविशेषः । यथा,—

"काली तारा महाविद्या षोड़शी भुवनेश्वरी ।
भैरवी छिन्नमस्ता च विद्या धूमावती तथा ॥
बगला सिद्धविद्या च मातङ्गी कमलात्मिका ।
एता दश महाविद्याः सिद्धविद्याः प्रकीर्त्तिताः ॥"

तत्र पारिभाषिकीं षोड़शीमाह ज्ञानार्णवे ।

"चन्द्रान्तं वारुणान्तञ्च शक्रादिसहितं पृथक् ।
वामाक्षिबिन्दुनादाढ्यं विश्वमातृकलात्मकम् ॥
विद्यादौ योजयेद्देवि साक्षात् जाग्रत्स्वरूपिणी ।
त्रिकूटाः सकला भेदाः पञ्चकूटा भवन्ति हि ।
वैष्णवी वसुकूटा स्यात् षट्कूटा शाङ्करी भवेत् ॥"

अस्यार्थः चन्द्रान्तं हकारः । वारुणान्तं शकारः । शक्रादी रेफः । वामाक्षि ईकारः । विद्यादौ पूर्व्वोक्तद्वादशविद्यादौ ।

"वेदादिमण्डिता देवि शिवशक्तिमयी सदा ।
तदा भेदास्तु सकलाः षट्कूटा परमेश्वरि ।
वैष्णवी नवकूटा स्यात् सप्तकूटा च शाङ्करी ॥"

अस्यार्थः । शिवशक्तिमयी पूर्व्वोक्ता बीजद्वयवती । वेदादिः प्रणवः । मण्डिता आदौ भूषिता ॥ * ॥ अथ महाषोड़शी ।

"आद्यबीजद्वयं भद्रे विपरीतक्रमेण हि ।
विलिख्य परमेशानि ततोऽन्यानि समुद्धरेत् ॥
अन्तर्म्मुखी वरारोहे कुमारी त्रिपुरेश्वरी ।
एभिस्तु पञ्चसंख्याकैर्बीजैः संपुटितां यजेत् ॥
षट्कूटां परमेशानि विद्येयं षोड़शाक्षरी ।
त्रिकूटाः सकला भद्रे षोड़शाणां भवन्ति हि ।
वैणार्कोनविंशार्णा शैवी सप्तदशाक्षरी ॥"

अस्यार्थः । आद्यबीजद्वयं मायारमात्मकम् । विपरीतक्रमः आदौ रमा पश्चान्माया । अन्तर्म्मध्ये स्थितं कामबीजं मुखे आदौ यस्याः कुमार्य्याः । एभिः पञ्चसंख्याकैर्बीजैः षट्कूटां सप्तकूटां नवकूटां वा संपुटितां संपुटवत् कृतां तेनानुलोमविलोमतः संपुटितामित्यर्थः । योगिनीतन्त्रे ।

"श्रीबीजमायाक्षरयोनिशक्ति-
स्मारश्च माया कमलाथ विद्या ।
शक्त्यादिबीजैश्च विलोमतोक्ता
श्रीषोड़शीयञ्च शिवप्रदिष्टा ॥"

तथा च रुद्रयामले ।

"श्रीर्म्माया मदनो वाणी परा तारं शिवप्रिया ।
हरिप्रिया त्रिकूटा सा परा वाणी मनोभवः ।
माता लक्ष्मीर्म्महाविद्या श्रीबीजं षोड़शी परा ॥"

अथ बीजावली षोड़शी । रुद्रयामले ।

"श्रीबीजमाये संलिख्य तथैव च कुमारिकाम् ।
श्रीबीजमाये कामञ्च वाङ्माया कमला तथा ॥
परां कामञ्च वाग्बीजं माया श्रीबीजमेव च ।
बीजावली षोड़शीयं सर्व्वतन्त्रेषु गोपिता ॥
राज्यं देयं शिरो देयं न देया षोड़शाक्षरी ॥" *

तन्त्रान्तरे ।

"आद्या कुण्डलिनी शक्तिः शक्तिराद्या ततः परा ।
निवेशयेत्तयोर्म्मध्ये देवि गोविन्दवल्लभाम् ॥
ततस्तु मन्मथं बीजं श्रीबीजं तदनन्तरम् ।
हृल्लेखा रमयोर्व्यक्तं वेदवक्त्रं विनिःक्षिपेत् ॥
ततो लोपां न्यसेद्देवि त्रिकूटामथवा पराम् ।
आद्यानि पञ्च बीजानि पश्चाद्विन्यस्य सुन्दरि ।
षोड़शीयं सुगोप्या हि स्नेहाद्देवि प्रकाशिता ॥
अस्या माहात्म्यमतुलं जिह्वाकोटिशतैरपि ।
वक्तुं न शक्यते देवि किं पुनः पञ्चभिर्म्मुखैः ॥
अपि प्रियतमं देयं सुतदारधनादिकम् ।
राज्यं देयं शिरो देयं न देया षोड़शाक्षरी ॥"

तन्त्रान्तरे ।

"सिन्दूररजसा वापि कुङ्कुमेन विलेपिते ।
लिखित्वा दर्शयेद्भूमौ न च कर्णे प्रकाशयेत् ॥
ततः स्वात्मविशुद्ध्यर्थं लक्षमेकं जपेद्गुरुः ॥" * ॥

बीजषोड़शीमाह । सिद्धयामले ।

"कामो माया रमा बाला त्रिकूटा च भगाङ्कुशौ ।
काली कामकला कूर्च्चं सर्व्वादौ प्रणवः प्रिये ॥
श्रीमहाषोड़शीयञ्च या ख्याता भुवनत्रये ।
ज्ञानेन म्लेच्छहा विद्या सर्व्वाम्नायैर्नमस्कृता ॥
सप्तलक्षमहाविद्यास्तन्त्रादौ कथिताः प्रिये ।
सारात्सारतरा भूता या या विद्याः सुगोपिताः ॥
बहुना किमिहोक्तेन तासां सारा तु षोड़शी ।
प्रकाशिता महादेवी या पृष्टा ते पुनः पुनः ॥" *

शाक्तकामराजन्तु श्रीक्रमे ।

"मायाबीजं तथा झिण्टी कामं शक्रं वियत् क्रमात् ।
जातवेदो म्लगाङ्केन लाञ्छितं परमेश्वरी ॥
एतद्वाग्भवकूटञ्च पूर्व्ववत् कामराजकम् ।
तथैव शक्तिबीजन्तु सुन्दर्य्येषा प्रकीर्त्तिता ॥"

अत्रापि पूर्व्ववद्बीजसंयोगः । माया ईकारः । झिण्टी एकारः । पुनः शाक्तमाह ।

"एतद्भगं ततो माया ब्रह्मा शक्रो हरोऽग्निना ।
वामनेत्रेण संयुक्तो नादबिन्दुविभूषितः ।
एतद्वाग्भवसुद्दिष्टं पूर्व्ववत् कामशक्तिकम् ॥"

भग एकारः । अत्रापि पूर्व्ववद्बीजसंयोगः । अत्र विशेषः ।

"ब्रह्मबीजं यदा दद्यात् त्रिकूटेषु वरानने ।
प्रथमा सुन्दरी देवी द्वितीया ब्रह्मसुन्दरी ॥
शक्तिकूटे महेशानि अनन्तसुन्दरी मता ।
एषा तु सुन्दरी विद्या मतभेदेन दर्शिता ॥
त्रिकूटान्ते हंसबीजं बिन्दुसर्गविभूषितम् ।
एषा श्रीप्राणसंयुक्ता दारिद्र्यदुःखमोचिनी ॥"
इति तन्त्रसारः ॥ * ॥

ऊनविंशतिपिण्डदानक्रिया । यथा,— प्रेतशिलोत्तरीत्या द्वादशपिण्डान् षोड़शीपिण्डांश्च दद्यात् । इति तीर्थयात्राप्रयोगतत्त्वम् । तद्विधानं यथा,—

"अमावस्यान्तु कन्यार्के तीर्थप्राप्तौ तथा नृप ।
कृत्वा श्राद्धं विधानेन दद्यात् षोड़शपिण्डकम् ॥"

वायुपुराणीयस्तत्प्रयोगो यथा । ऊनविंशतिदास्यमानपिण्डस्थानानि यथादक्षिणं भागचतुष्टयेन कृतानि तत्र दक्षिणाग्रान् कुशान् आस्तीर्य्य ।

"असत्कुले मृता ये च गतिर्येषां न विद्यते ।
आवाहयिष्ये तान् सर्व्वान् दर्भपृष्ठे तिलोदकैः ॥
मातामहकुले ये च गतिर्येषां न विद्यते ।
आवाहयिष्ये तान् सर्व्वान् दर्भपृष्ठे तिलोदकैः ॥
बन्धुवर्गकुले ये च गतिर्येषां न विद्यते ।
आवाहयिष्ये तान् सर्व्वान् दर्भपृष्ठे तिलोदकैः ॥"

इत्येतैस्तिलोदकैरावाह्य ।

"आब्रह्मस्तम्बपर्य्यन्तं देवर्षिपितृमानवाः ।
तृप्यन्तु पितरः सर्व्वे मातृमातामहादयः ॥
अतीतकुलकोटीनां सप्तद्वीपनिवासिनाम् ।
आब्रह्मभुवनाल्लोकादिदमस्तु तिलोदकम् ॥"

इत्येताभ्यां तिलोदकाञ्जलीन् दद्यात्। ततो मूला-
दित: पितृतीर्थेन पिण्डान् दद्यात्। तत्र क्रम:।
“असत्कुले मृता ये च गतिर्येषां न विद्यते।
तेषामुद्धरणार्थाय इमं पिण्डं ददाम्यहम् ॥१॥
मातामहकुले ये च गतिर्येषां न विद्यते।
तेषामुद्धरणार्थाय इमं पिण्डं ददाम्यहम् ॥२॥
बन्धुवर्गकुले ये च गतिर्येषां न विद्यते।
तेषामुद्धरणार्थाय इमं पिण्डं ददाम्यहम् ॥३॥
अजातदन्ता ये केचित् ये च गर्भे प्रपीड़िता:।
तेषामुद्धरणार्थाय इमं पिण्डं ददाम्यहम् ॥४॥
अग्निदग्धाश्च ये केचिन्नाग्निदग्धास्तथा परे।
विद्युच्चौरहता ये च तेभ्य: पिण्डं ददाम्यहम् ॥५॥
दावदाहे मृता ये च सिंहव्याघ्रहताश्च ये।
दंष्ट्रिभि: शृङ्गिभिर्व्वापि तेभ्य: पिण्डं ददा-
म्यहम् ॥ ६ ॥
उद्बन्धनमृता ये च विषशस्त्रहताश्च ये।
आत्मोपघातिनो ये च तेभ्य: पिण्डं ददाम्यहम् ॥७
अरण्ये वर्त्मनि वने क्षुधया तृषया हता:।
भूतप्रेतपिशाचाश्च तेभ्य: पिण्डं ददाम्यहम् ॥
वने जले ॥ ८ ॥
रौरवे चान्धतामिस्रे कालसूत्रे च ये स्थिता:।
तेषामुद्धरणार्थाय इमं पिण्डं ददाम्यहम् ॥९॥
अनेकयातनासंस्था: प्रेतलोके च ये गता:।
तेषामुद्धरणार्थाय इमं पिण्डं ददाम्यहम् ॥१०॥
अनेकयातनासंस्था ये नीता यमकिङ्करै:।
तेषामुद्धरणार्थाय इमं पिण्डं ददाम्यहम् ॥११॥
नरकेषु समस्तेषु यातनासु च ये स्थिता:।
तेषामुद्धरणार्थाय इमं पिण्डं ददाम्यहम् ॥१२॥
पशुयोनिगता ये च पक्षिकीटसरीसृपा:।
अथवा वृक्षयोनिस्थास्तेभ्य: पिण्डं ददाम्य-
हम् ॥ १३ ॥
जात्यन्तरसहस्रेषु भ्रमन्त: स्वेन कर्म्मणा।
मानुष्यं दुर्लभं येषां तेभ्य: पिण्डं ददाम्यहम् ॥१४॥
दिव्यन्तरीक्षभूमिष्ठा: पितरो बान्धवादय:।
मृता असंस्कृता ये च तेभ्य: पिण्डं ददाम्य-
हम् ॥ १५ ॥
ये केचित् प्रेतरूपेण वर्त्तन्ते पितरो मम।
ते सर्व्वे तृप्तिमायान्तु पिण्डदानेन सर्व्वदा ॥१६॥
येऽबान्धवा बान्धवा वा येऽन्यजन्मनि बान्धवा:।
तेषां पिण्डो मया दत्त: अक्षय्यमुपतिष्ठताम् ॥१७॥
पितृवंशे मृता ये च मातृवंशे च ये मृता:।
गुरुश्वशुरबन्धूनां ये चान्ये बान्धवा मृता: ॥
ये मे कुले लुप्तपिण्डा: पुत्त्रदारविवर्ज्जिता:।
क्रियालोपगता ये च जात्यन्धा: पङ्गवस्तथा ॥
विरूपा आमगर्भाश्च ज्ञाताज्ञाता: कुले मम।
तेषां पिण्डो मया दत्त: अक्षय्यमुपतिष्ठताम् ॥१८॥
आब्रह्मणो ये पितृवंशजाता
मातुस्तथा वंशभवा मदीया:।
कुलद्वये ये मम दासभूता
भृत्यास्तथैवाश्रितसेवकाश्च ॥
मित्राणि सख्य: पशवश्च वृक्षा
दृष्टा ह्यदृष्टाश्च कृतोपकारा:।
जन्मान्तरे ये मम दासभूता-
स्तेभ्य: स्वधा पिण्डमहं ददामि ॥ १९ ॥
अत्रोनविंशतिपिण्डे षोड़शपिण्डत्वं पारिभाषिकं
पञ्चाम्रवत्। इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥*॥ एतेषां
मन्त्राणां स्त्रीलिङ्गोहेन स्त्रीषोड़शीत्वं भवति ॥*॥
अथ मातृषोड़शी।
“गर्भादिगमने चैव विषमे भूमिवर्त्मनि।
तस्या निष्क्रमणार्थाय मातृपिण्डं ददाम्यहम् ॥१॥
मासि मासि कृतं कष्टं वेदना प्रसवेषु च।
तस्या निष्क्रमणार्थाय मातृपिण्डं ददाम्यहम् ॥२॥
शैथिल्ये प्रसवे चैव मातुरत्यन्तदुष्करम्।
तस्या निष्क्रमणार्थाय मातृपिण्डं ददाम्यहम् ॥३॥
पद्भ्यां जनयते मातुर्दु:खञ्चैव सुदुस्तरम्।
तस्या निष्क्रमणार्थाय मातृपिण्डं ददाम्यहम् ॥
पद्भ्यामित्यत्र दद्भ्यामिति च पाठ: ॥ ४ ॥
अग्निना शोषते देहं त्रिरात्रानशनेषु च।
तस्या निष्क्रमणार्थाय मातृपिण्डं ददाम्यहम् ॥५॥
पिबेच्च कटुद्रव्याणि क्वाथानि विविधानि च।
तस्या निष्क्रमणार्थाय मातृपिण्डं ददाम्यहम् ॥६॥
दुर्लभं भक्तद्रव्यस्य त्यागे विन्दति यत् फलम्।
तस्या निष्क्रमणार्थाय मातृपिण्डं ददाम्यहम् ॥७॥
रात्रौ मूत्रपुरीषाभ्यां भिद्यते मातृकर्पटम्।
तस्या निष्क्रमणार्थाय मातृपिण्डं ददाम्यहम् ॥८॥
पुत्त्रं व्याधिसमायुक्तं मातृदु:खमहर्निशम्।
तस्या निष्क्रमणार्थाय मातृपिण्डं ददाम्यहम् ॥९॥
यदा पुत्त्रो न लभते तदा मातुश्च शोचनम्।
तस्या निष्क्रमणार्थाय मातृपिण्डं ददाम्यहम् ॥१०
क्षुधया विह्वले पुत्त्रे ददाति निर्भरं स्तनम्।
तस्या निष्क्रमणार्थाय मातृपिण्डं ददाम्यहम् ॥११
दिवा रात्रौ यदा मातु: शोषणञ्च पुन: पुन:।
तस्या निष्क्रमणार्थाय मातृपिण्डं ददाम्यहम् ॥१२
पूर्णे तु दशमे मासि मातुरत्यन्तदुष्करम्।
तस्या निष्क्रमणार्थाय मातृपिण्डं ददाम्यहम् ॥१३
गात्रभङ्गो भवेन्मातुर्मृत्युं नैव प्रयच्छति।
तस्या निष्क्रमणार्थाय मातृपिण्डं ददाम्यहम् ॥१४
अल्पाहारवती माता यावत् पुत्त्रोऽस्ति बालक:।
तस्या निष्क्रमणार्थाय मातृपिण्डं ददाम्यहम् ॥१५
यमद्वारे महाघोरे पथि मातुश्च शोचनम्।
तस्या निष्क्रमणार्थाय मातृपिण्डं ददाम्यहम् ॥”१६
इति गयायां प्रसिद्धि: ॥

षोड़शोपचार:, पुं, (षोड़शप्रकार उपचार:।) षोड़शप्रकारपूजाद्रव्यम्। यथा,—
“आसनं स्वागतं पाद्यमर्घमाचमनीयकम्।
मधुपर्काचमनस्नानवसनाभरणानि च ॥
सुगन्धिसुमनोधूपदीपनैवेद्यवन्दनम्।
प्रयोजयेदर्च्चनायां उपचारांस्तु षोड़श ॥”
इति तन्त्रसार: ॥

षोढ़ा, व्य, (षष् + धाच्। पृषोदरादित्वात् साधु।) षट्प्रकारम्। यथा,—
“सप्रसङ्ग उपोद्घातो हेतुतावसरस्तथा।
निर्व्वाहकैककार्य्यत्वे षोढ़ा सङ्गतिरिष्यते ॥”
इत्यनुमितौ जागदीशी टीका ॥ संख्याया धाच्प्रकारे। इति सूत्रेण षष्शब्दात् धाच्प्रत्ययेन निपातनान्निष्पन्नम्। इति मुग्धबोधव्याकरणम् ॥

षोढ़ान्यास:, पुं, (षोढ़ा षड्धा न्यास:।) विधिना शरीरे मन्त्रविन्यास:। यथा। अथ षोढ़ान्यास:। तदुक्तं वीरतन्त्रे।
“केवलां मातृकां कृत्वा मातृकां तारसंपुटाम् ॥
मातृकापुटितं तारं न्यसेत् साधकसत्तम: ॥ १ ।
श्रीबीजपुटितां तान्तु मातृकापुटितन्तु तत्। २ ॥
कामेन पुटितां देवीं तत् पुटं काममेव च ॥ ३ ॥
शक्त्या च पुटितां देवीं शक्तिञ्च तत्पुटां न्यसेत्। ४।
क्रीं इन्द्रञ्च पुनर्न्यस्वा ऋ-ॠ-ऌ-ॡञ्च पूर्व्ववत् ॥५॥
मूलेन पुटितां देवीं तत्पुटं मन्त्रमेव च। ६।
अनुलोमविलोमेन न्यस्वा मन्त्रं यथाविधि।
मूलेनाष्टशतं कुर्य्यात् व्यापकं तदनन्तरम् ॥”
यथा। प्रणवपुटितां मातृकाम्। एवं मातृकापुटितं तारम्। एवं श्रीबीजपुटितां ताम्। तत्पुटितं श्रीबीजम्। एवं कामेन पुटितां मातृकाम्। मातृकापुटितं कामम्। एवं शक्त्या पुटितां मातृकाम्। मातृकापुटितां शक्तिं न्यसेत्। तथा क्रीं इन्द्रञ्च ऋ-ॠ-ऌ-ॡञ्च पूर्व्ववत्। तत्पुटितां मातृकां न्यसेत्। मातृकापुटितञ्च तत्। मन्त्रपुटितां मातृकाम्। तत्पुटितं मन्त्रम्। पुनरनुलोमविलोमेन केवलं मातृकान्यासं न्यस्य मूलेनाष्टशतेन व्यापकं कुर्य्यात्। अयं न्यासस्ताराया अपि कार्य्य:।
“इति गुप्तेन दुर्गाया अङ्गषोढ़ा प्रकीर्त्तिता।
ताराया: कालिकायाश्च उन्मुख्याश्च तथा-
परे।
एतस्मिन् न्यासवर्य्ये च सर्व्वं पापं प्रणश्यति ॥”
इति तन्त्रसार: ॥

ष्टक, म प्रतीघाते। इति कविकल्पद्रुम: ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट्।) म, तिष्टकयिषति। इति दुर्गादास: ॥

ष्टग, म ए संवृतौ। इति कविकल्पद्रुम: ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट्।) म, तिष्टगयिषति। दन्त्यवर्गद्वितीयोपध इति केचित्। इति दुर्गादास: ॥

ष्टन, मि शब्दे। इति कविकल्पद्रुम: ॥ (भ्वा०-पर०-अक०-सेट्।) मि, स्तनयति स्तानयति अतिष्टनत्। इति दुर्गादास: ॥

ष्टभ, इ ङ स्तम्भे। इति कविकल्पद्रुम: ॥ (भ्वा०-आत्म०-अक०-सक० च-सेट्।) इ, स्तम्भ्यते। ङ, स्तभते। तिष्टभयिषति। इकारस्य पुनरुक्ति: पूर्व्वत्र तत्सम्बन्धनिषेधायैव ष्ठितस्तु सर्व्वं। एक एवेत् पाठबलात् बाध्य इति वत्। स्तम्भो जड़ीभाव: जड़ीकरणञ्च। स्तम्भौ स्थूणाजड़ीभावौ इत्यमरोक्ते:। शीतेनावस्तब्ध: जड़ीकृत इत्यर्थ:। इति क्रमदीश्वरोक्तेश्च। स्तम्भ इह क्रियानिरोध:। इति भीम:। दोषवृद्धिरिति गोविन्दभट्ट:। स्तम्भो दृढ़ीकरणञ्च। स्तभते कपाटेन द्वारं लोक:। इति दुर्गादास: ॥

ष्टम, वैक्लव्ये। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-पर०-अक०-सेट्।) वैक्लव्यं विक्लवीभावः। स्तमति। अतिष्टमत्। इति दुर्गादासः॥

ष्टम, त् क वैक्लव्ये। इति कविकल्पद्रुमः॥ (अदन्त चुरा०-पर०-अक०-सेट्।) मूर्द्धन्यादिः। षोपदेशपाठो भ्वाद्यादीति दन्त्यत्वे कृतसकारादित्वात् षत्वार्थः। तिष्टमयिषति। एवं सर्व्वत्र। इति दुर्गादासः॥

ष्टिघ, ङ ञ आस्कन्दे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (स्वा०-आत्म०-सक०-सेट्।) आस्कन्त आस्कन्दनम्। अभियोग इति भट्टमल्लः। ङ ञ, स्तिघ्नुते नदीं पान्थः। तिष्टिघे। इति दुर्गादासः॥

ष्टिप, ऋ ङ क्षरणे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-आत्म०-अक०-सेट्।) ऋ, अतिष्टेपत्। ङ, स्तेपते तिष्टिपे। क्षरति चरति। इति दुर्गादासः॥

ष्टिम, य क्लेदे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (दिवा०-पर०-अक० सेट्।) य, स्तिम्यति तिष्टेम। क्लेदः आर्द्रभावः। इति दुर्गादासः॥

ष्टीम, य क्लेदे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (दिवा०-पर०-अक०-सेट्।) य, स्तीम्यति तिष्टीम। क्लेद आर्द्रभावः। इति दुर्गादासः॥

ष्टु, ञ ल स्तुतौ। इति कविकल्पद्रुमः॥ (अदा०-उभ०-सक०-अनिट्।) मूर्द्धन्यादिः। ञ ल, स्तौति स्तवीति स्तुते। इति दुर्गादासः॥

ष्टुच, ङ प्रसादे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-आत्म०-सक० सेट्।) मूर्द्धन्यादिस्तमध्यः। प्रसादः प्रसन्नीभावः। ङ, स्तोचते जनं तोष्टुच्यते। षस्याधो मूर्द्धन्यश्च इति केचित्। स्तोचते तोष्टुच्यते। इति दुर्गादासः॥

ष्टुभ, उ ङ स्तम्भे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-आत्म०-अक०-सक० च-सेट्। क्त्वावेट्।) उ, स्तोभित्वा स्तुब्ध्वा। ङ, स्तोभते तुष्टोभयिषति। स्तम्भो जड़ीभावः तत्करणञ्च। स्तम्भौ स्थूणाजड़ीभावावित्यमरोक्तेः। प्रीतेनावस्तब्धो जड़ीकृत इत्यर्थः। इति क्रमदीश्वरोक्तेश्च।
"प्राप्तेन स्तोभते भूयो लघुप्रकृतिको नरः।"
इति हलायुधः।
स्तोभते दृषं प्रीतो वायुः। इति चतुर्भुजः। स्तम्भ इह क्रियानिरोधः। इति भीमः। दोषवृद्धिरिति गोविन्दभट्टः। इति दुर्गादासः॥

ष्टूप, क उच्छ्राये। इति कविकल्पद्रुमः॥ (चुरा०-पर०-सक०-सेट्।) षष्ठस्वरी। उच्छ्रायो राशीकरणम्। क, स्तूपयति धान्यं कृषकः। तुष्टूपयिषति। इति दुर्गादासः॥

ष्टूप, य इर् उच्छ्राये। इति कविकल्पद्रुमः॥ (दिवा०-पर०-सक०-सेट्।) षष्ठस्वरी। य, स्तूप्यति। इर्, अस्तूपत् अस्तूपीत्। पुषादित्वान्नित्यं ङ इत्यन्ये। अतुष्टूपत्। इति दुर्गादासः॥

ष्टृच, गमने। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट्।) सप्तमस्वरयुक्तः तमध्यः। स्तृचति। तरीष्टृच्यते। इति दुर्गादासः॥

ष्टृह, ऊ श्र वधे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (तुदा०-पर०-सक०-वेट्।) मूर्द्धन्यादिः तमध्यः। ऊ, अस्तर्हीत्। अस्तृक्षत्। श्र, स्तृहती स्तृहन्ती। तिष्टर्हियिषति। इति दुर्गादासः॥

ष्टॄह, ऊ श्र वधे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (तुदा०-पर०-सक०-वेट्।) मूर्द्धन्यादिः तमध्यः। अष्टमस्वरी। ऊ, अस्तॄहीत् अस्तॄक्षत्। श्र, स्तॄहती स्तॄहन्ती। तिष्टॄहयिषति। इति दुर्गादासः॥

ष्टेप, ऋ ङ क्षरणे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-आत्म०-अक०-सेट्।) ऋ, अतिष्टेपत्। ङ, स्तेपते तिष्टेपे। क्षरति चरति। इति दुर्गादासः॥

ष्टोमः, पुं, चन्द्रः। दीप्तिः। इति केचित्॥

ष्ट्यै, संहतौ। ध्वनौ। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-पर०-अक०-अनिट्।) अन्तःस्थाद्युक्तदन्त्यवर्गाद्यमध्यः षयोगात् टः। तेन तष्ट्यौ। तष्ट्यास्यति। ताष्ट्यायते। संहतिः समूहः। ष्ट्यायति लोकः एकत्र समूहायते शब्दायते वा इत्यर्थः। दन्त्यविधौ ष्ट्यप्रक्षलिर्वा वर्ज्जनान्न दन्त्यः। इति दुर्गादासः॥

ष्ठग, म ए संवृतौ। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-पर०-अक०-सेट्।) मूर्द्धन्यादिस्थमध्यः षयोगात् ठः। म, तिष्ठगयिषति। ए, अस्थगीत्। दन्त्यवर्गप्रथममध्यः इति केचित्। तिष्ठगयिषति अतिष्ठगत्। इति दुर्गादासः॥

ष्ठल, अ स्थितौ। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-पर०-अक०-सेट्।) अ, स्थालः स्थलः। स्थलति लोकस्तिष्ठतीत्यर्थः। इति दुर्गादासः॥

ष्ठा, ञि स्थाने। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-पर०-अक०-अनिट्।) ञि, स्थितोऽस्ति। स्थानं गतिनिवृत्तिः। तिष्ठति साधुर्धर्म्मे। एष्ठतस्तिष्ठमान इति वीरचरिते प्रकाशार्थे आत्मनेपदविधानात् शानः। अथवा ताच्छील्ये शतृः शानः। इति दुर्गादासः॥

ष्ठिव, उ निरासे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-पर०-सक० सेट्। क्त्वावेट्।) उ, ष्ठेवित्वा ष्ठ्यूत्वा। अस्य नेमु ष्ठीव्यौ इत्यादिना इमो निषेधे निष्ठायां ष्ठ्यूत इति भेदः। निरास इह फुत्कार इति भट्टमल्लः। मुखेन श्लेष्मादेर्व्वमनमिति केचित्। इति दुर्गादासः॥

ष्ठिव, य निरासे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (दिवा०-पर०-सक०-सेट्।) य, ष्ठीव्यति। इति दुर्गादासः॥

ष्ठीव, निरासे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट्।) ष्ठीवति। यं दुस्लिगं मत्वा ष्ठिवुक्लमाचमोऽपीति दीर्घिणां विदधामः स एवायं ष्ठीविष्यति इत्यादिसाधनाय दीर्घौ पठ्यते। तेन दुखिनो ग्रहणेनास्मिन् गृह्णीते भ्वाद्यादि षः स इत्यादिना मूर्द्धन्यषस्य दन्त्यसो न स्यात् एवं ष्ठिवजाद्योः खेरित्यादिना खेष्ठकारस्य तकारे तिष्ठीव टिष्ठीव इत्यपि स्यात्। यत्तु सत्यप्युक्तिमनटि ष्ठीवनमिति निपातनं तदस्य सर्व्वसम्मतत्वाभावात्। निरास इह फुत्कार इति भट्टमल्लः। मुखेन श्लेष्मादेर्व्वमनमिति केचित्। ष्ठीवत्यन्नं लोकः। ष्ठीवामि पुष्कलताम्बूलताम्बूलकम्। इति दुर्गादासः॥

ष्णस, य ल उ मि निरासे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (दिवा०-पर०-अक० सेट्। क्त्वावेट्।) मूर्द्धन्यादिर्दन्त्यनकारयुक्तः। य, स्नस्यति। ल, अस्नसत्। उ, स्नसित्वा स्नस्त्वा। मि, स्नसयति। स्नासयति। इति दुर्गादासः॥

ष्णा, ल शौचने। इति कविकल्पद्रुमः॥ (अदा०-पर०-अक०-अनिट्।) मूर्द्धन्यादिरयम्। दन्त्यादिरयमिति कश्चित्। ल, स्नाति गङ्गायां धीरः। अनुपसर्गस्य ञौ ज्वलह्वलेत्यादिना ह्रस्वो वा स्नपयति स्नापयति। सोपसर्गस्य तु प्रस्नापयति। इति दुर्गादासः॥

ष्णिह, ऊ य ल ञि प्रीतौ। इति कविकल्पद्रुमः॥ (दिवा०-पर०-अक०-वेट्।) ऊ, स्नेहिष्यति स्नेक्ष्यति। य, स्निह्यति बन्धुः। ल, अस्निहत्। ञि, स्निग्धः स्नीढोऽस्ति। इति दुर्गादासः॥

ष्णिह, क स्नेहने। इति कविकल्पद्रुमः॥ (चुरा०-पर०-सक०-सेट्।) स्नेहनं स्निग्धीभावः। क, स्नेहयति चणिका तैलेन। इति दुर्गादासः॥

ष्णु, ञ ल स्तुतौ। इति कविकल्पद्रुमः॥ (अदा०-उभ०-सक०-अनिट्।) ञ ल, स्नौति स्नवीति स्नुते। इति दुर्गादासः॥

ष्णुच, ङ सेचने। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-आत्म०-सक०-सेट्।) स्नोचते सुष्णुचे। इति दुर्गादासः॥

ष्णुम, य भक्षे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (दिवा०-पर०-सक०-सेट्।) दन्त्यनकारयुक्तः। य, स्नुम्यति सुष्णोम। इति दुर्गादासः॥

ष्णुह, य ऊ ल उद्गारे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (दिवा०-पर०-सक०-वेट्।) दन्त्यनकारयुक्तः। उद्गारो वान्तिः। य, स्नुह्यत्यन्नं लोकः। ऊ, स्नोहिष्यति स्नोक्ष्यति। ल, अस्नुहत्। इति दुर्गादासः॥

ष्णै, वेष्टे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-पर०-सक०-अनिट्।) प्रकृत्या दन्त्यवर्गप्रथमोपधः। स्नायति दृषं लता। अनुपसर्गस्य ञौ ज्वलह्वलेत्यादिना ह्रस्वो वा। स्नपयति स्नापयति। सोपसर्गस्य तु प्रस्नापयति। इति दुर्गादासः॥

ष्मि, ङ स्मिते। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-आत्म०-अक०-अनिट्।) स्मितमीषद्धास्यम्। ङ, स्मयते वधूः। विस्मापयते। इति दुर्गादासः॥

ष्वष्क, ङ सर्पणे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-आत्म०-सक०-सेट्।) वकारयुक्तादिः कोपधः। ङ, ष्वष्कते सिष्वष्किषते षाष्वष्क्यते। दन्त्यविधावस्य वर्ज्जनान्न दन्त्यः। चन्द्रोदयस्तु इमं पञ्चमस्वरिणं मत्वा षुष्कते सुषुष्किषते षोषुष्क्यते इत्याह॥ इति दुर्गादासः॥

ष्वद, क स्वादे। छेदे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (चुरा०-पर०-सक०-सेट्।) स्वादो रसोपादानम्। क, स्वादयति क्षीरं लोकः। इति दुर्गादासः॥

ष्वद, ङ प्रीतिलिहोः। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-आत्म०-अक०-सेट्।) प्रीतिः प्रीतीकरणम्। लिट् रसोपादानम्। ङ, अपां हि तृप्ताय न वारिधारा स्वादुः सुगन्धिः स्वदते तुषारा। इति श्रीहर्षः। इति दुर्गादासः॥

ष्वञ्ज, औ ञि ङ आलिङ्गे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-आत्म०-सक०-अनिट्।) षकारयुक्तादिः। आलिङ्ग आलिङ्गनम्। औ, स्वङ्क्ता। ञि, स्वक्तोऽस्ति। ङ, स्वजते युवतीं युवा। परिष्वजति पाञ्चाली मध्यमं पाण्डुनन्दनमिति गणकृतानित्यत्वात्। इति दुर्गादासः॥

ष्वप, औ ष लु ञि शये। इति कविकल्पद्रुमः॥ (अदा०-पर०-अक०-अनिट्।) षकारयुक्तमूर्द्धन्यादिः। औ, अस्वाप्सीत्। ष लु, स्वपिति। ञि, सुप्तोऽस्ति। शयः शयनम्। इति दुर्गादासः॥

ष्वर्त्त, क गत्याम्। कृच्छ्रे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (चुरा०-पर०-सक०-कृच्छ्रे अक०-सेट्।) षकारयुक्तमूर्द्धन्यादिः। कृच्छ्रो दुःखेन जीवनम्। क, स्वर्त्तयति जनो गच्छति दुःखेन जीवति वेत्यर्थः। असिष्वर्त्तत्। इति दुर्गादासः॥

ष्विद, ऌ औ य आ ञि स्विदि। इति कविकल्पद्रुमः॥ (दिवा०-पर०-अक०-अनिट्।) ऌ, अस्विदत्। औ, स्वेत्ता। य, स्विद्यति। आ, स्वेदितं स्विन्नं तेन। ञि, स्विन्नोऽस्ति। स्विदीति मोहस्नेहमोचेष्विति वोपदेवः। गात्रप्रक्षरणे इति प्राञ्चः। न च स्विद्यति तस्याङ्गमिति हलायुधः। इति दुर्गादासः॥

ष्विद, ञि आ ङ ऌ मोहस्नेहमोचेषु। इति कविकल्पद्रुमः। (भ्वा०-आत्म०-अक०-सेट्।) ञि, स्विन्नोऽस्ति। आ, स्वेदितं स्विन्नं तेन। ङ, स्वेदते तिलः तैलं मुञ्चति इत्यर्थः। ऌ, अस्विदत्। स्नेहः स्निग्धीभावः। इति दुर्गादासः॥

स

स, दन्त्यसकारः। स तु व्यञ्जनद्वात्रिंशवर्णः। अस्योच्चारणस्थानं दन्तः। इति व्याकरणम्॥ (तथाच शिक्षायाम्। १७।
"स्युर्मूर्द्धन्या ऋटुरषा दन्त्या ऌतुलसाः स्मृताः॥")
तत्स्वरूपं यथा,—
"सकारं शृणु चार्व्वङ्गि शक्तिबीजं परात्परम्।
कोटिविद्युल्लताकारं कुण्डलीत्रयसंयुतम्॥
पञ्चदेवमयं देवि पञ्चप्राणात्मकं सदा।
रजःसत्त्वतमोयुक्तं त्रिबिन्दुसहितं सदा॥"
इति कामधेनुतन्त्रम्॥ *॥
अस्य लेखनप्रकारो यथा,—
"कुञ्चिता वामतो दक्षगता च गोकृतिस्त्वधः।
पुनरूर्द्ध्वगता तासु वह्निचन्द्रदिवाकराः।
मात्रा भवानी विज्ञेया ध्यानमस्य प्रवक्ष्यते॥"
अस्य ध्यानादि।
"शुक्लाम्बरां शुक्लवर्णां द्विभुजां रक्तलोचनाम्।
श्वेतचन्दनलिप्ताङ्गीं मुक्ताहारोपशोभिताम्॥
गन्धर्व्वगीयमानाञ्च सदानन्दमयीं पराम्।
अष्टसिद्धिप्रदां नित्यां भक्तानन्दविवर्द्धिनीम्॥
एवं ध्यात्वा सकारन्तु तन्मन्त्रं दशधा जपेत्॥
त्रिशक्तिसहितं वर्णं आत्मादितत्त्वसंयुतम्।
प्रणम्य सततं देवि हृदि भावय सुन्दरि॥"
इति वर्णोद्धारतन्त्रम्॥ *॥
तत्पर्य्यायः।
"सो हंसः सुयशा विष्णुर्भ्गोशश्चन्द्रसंज्ञकः।
जगद्बीजं शक्तिनामा सोऽहं वेशवती भृगुः॥
प्रकृतिरीश्वरः शुद्धः प्रभा श्वेता कुलोज्ज्वलः।
दक्षपादोऽन्नतं ब्राह्मी परमात्मा परोऽक्षरः॥
सुरूपा च गुणेशो गौः कलकण्ठो वृकोदरी।
प्राणात्मा च पुरा देवी लक्ष्मीः सोमो हिरण्मयूः।
दुर्गोत्तारिणि सम्मोहाव्यीयो मूर्त्तिमनोहरः॥"
इति तन्त्रम्॥

सं, [म्] व्य, शोभनार्थः। समार्थः। सङ्गतार्थः। प्रकृष्टार्थः। इति मेदिनी॥ उपसर्गविशेषः। अस्यार्थाः यथा। सम् प्रकर्षाश्लेषणैरूर्ध्व्यौचित्याभिमुख्येषु। इति मुग्धबोधटीकायां दुर्गादासः॥

सः, पुं, ईश्वरः। सर्पः। इति शब्दरत्नावली॥ पक्षी। इत्येकाक्षरकोषः॥ विष्णुः। यथा। सः स्यात्स्त्रियां हरे सर्पे। इति भरतैकार्थसंग्रहः॥ पूर्व्वोक्तपरामर्शकः। से इति भाषा। तच्छब्दस्य प्रथमैकवचननिष्पन्नः। यथा, भट्टिः। १। २।
"सोऽध्येष्ट वेदांस्त्रिदशानयष्ट
पितॄनपारीत् सममंस्त बन्धून्॥"
समासपूर्व्वपदस्थे सहार्थः। यथा। समाहकः। क्वचित् समानार्थश्च। यथा। सरूपः। इति व्याकरणम्॥

संग्राही, [न्] पुं, (संगृह्णातीति। सं + ग्रह + णिनिः।) कुटजवृक्षः। इति राजनिर्घण्टः॥ धारके, त्रि॥ (यथा, सुश्रुते। १। ४५।
"दीपनं लघु संग्राहि श्वासकासास्रपित्तनुत्॥"
संग्रहकारके च। यथा, कामन्दकीयनीतिसारे। ४। १०।
"प्रख्यातवंशमक्रूरं लोकसंग्राहिणं शुचिम्।
कुर्व्वीतात्महिताकाङ्क्षी परिवारं महीपतिः॥")

संघं, क्ली, पीतकाष्ठम्। यथा,—
"जायकं भाण्डुकं संघं प्रचेलं प्राविरः पुमान्।
कालीयकञ्च कालानुसार्य्यञ्चाथ समर्थकम्॥"
जायकादिसप्त पीतकाष्ठे। इति शब्दचन्द्रिका॥

संज्ञः, त्रि, (सम्यक्प्रकारेण जानाति यः। सं + ज्ञा + कः।) लग्नजानुकः। यथा,—
"प्रज्ञुः प्रगतजानुः स्यात् प्रज्ञोऽप्येव च दृश्यते।
संज्ञुः संहतजानुश्च भवेत् संज्ञोऽपि तत्र हि॥"
इति साहसाङ्कः। इत्यमरटीकायां भरतः॥

संज्ञपनं, क्ली, (सं + ज्ञा + णिच् + ल्युट्।) मारणम्। इत्यमरः॥ (यथा, भागवते। ४। ५। २२।
"दृष्ट्वा संज्ञपनं योगं पशूनां स पतिर्मखे।
यजमानपशोः कस्य कायात्तेनाहरच्छिरः॥")
विज्ञापनञ्च॥

संज्ञप्तिः, स्त्री, (सं + ज्ञा + णिच् + क्तिन्।) मारणम्। इति हेमचन्द्रः॥ विज्ञापनञ्च॥

संज्ञा, स्त्री, (सं + ज्ञा + भावे अङ्।) चेतना। (यथा, कुमारे। ६। ४४।
"रतिखेदसमुत्पन्ना निद्रा संज्ञाविपर्य्ययः॥")
बुद्धिः। (ज्ञानम्। यथा, भागवते। ६। ७। १७।
"गुरोर्नाधिगतः संज्ञां परीक्षन् भगवान् स्वराट्।
ध्यायन् धिया सुरैर्युक्तः शर्म्म नालभतात्मनः॥"
तथाच गीतायाम्। १। ७।
"नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते॥")
नाम। आख्या। (यथा, मनुः। ८। १३१।
"लोकसंव्यवहारार्थं याः संज्ञाः प्रथिता भुवि।
ताम्ररूप्यसुवर्णानां ताः प्रवक्ष्याम्यशेषतः॥")
हस्ताद्यैरर्थसूचना। हस्तभ्रूलोचनादिभिः प्रयोजनस्य ज्ञापना। इत्यमरभरतौ॥ (यथा, कुमारे। ३। ४१।
"मुखार्पितैकाङ्गुलिसंज्ञयैव
मा चापलायेति गणान् व्यनैषीत्॥")
गायत्री। सूर्य्यपत्नी। इति मेदिनी॥ (यथा, मार्कण्डेये। ७७। १।
"मार्त्तण्डस्य रवेर्भार्य्या तनया विश्वकर्म्मणः।
संज्ञा नाम महाभाग तस्यां भानुरजीजनत्॥"
अस्या विशेषविवरणन्तु तत्रैवाध्याये द्रष्टव्यम्॥)

संज्ञासुतः, पुं, (संज्ञायाः सुतः।) शनिः। इति केचित्॥

संज्ञुः, त्रि, (संहते संलग्ने जानुनी यस्य। "प्रसंभ्यां जानुनोर्ज्ञुः।" ५। ४। १२९। इति ज्ञुः।) संहतजानुकः। इत्यमरः॥

संज्वरः, पुं, (संज्वरयतीति। सं + ज्वर + णिच् + अच्।) अग्निजतापः। इत्यमरः॥ (यथा, कथासरित्सागरे। ५५। ६३।
"कदलीपत्रपवनैर्वीज्यमानां सखीजनैः।
पाण्डुक्षामामभिव्यक्तस्मरसंज्वरलक्षणाम्॥")

संयः, पुं, कङ्कालः। इति शब्दचन्द्रिका॥

संयत्, पुं, स्त्री, (संयम्यतेऽनेनेति। सं + यम् + क्विप्। "गमादीनाम्।" ६। ४। ४०। इत्यस्य वार्त्तिकोक्त्या मलोपः। तुक्।) युद्धम्। इत्यमरभरतौ॥ (यथा, रघुः। ७। ३९।
"उत्थापितः संयति रेणुरश्वैः
सान्द्रीकृतः स्यन्दनवंशचक्रैः॥")

संयतः, त्रि, (सं + यम् + क्तः।) बद्धः। इत्यमरः॥ (यथा, रामायणे। २। १०। २५।
"मायामिव परिभ्रष्टां हरिणीमिव संयताम्॥")
कृतसंयमः। यथा ब्रह्मपुराणम्।
"यो यः कश्चित्तीर्थयात्रान्तु गच्छेत्
सुसंयतः स च पूर्व्वं गृहे स्वे।

स्नातोपवासः शुचिरप्रमत्तः
संपूजयेद्भक्तिनम्रो गणेशम् ॥"
इति प्रायश्चित्ततत्त्वम् ॥

संयत्वरः, पुं, वाग्यतः । जन्तुसन्धः । इति संक्षिप्तसारोणादिवृत्तिः ॥

संयद्वरः, पुं, (संयच्छतीति । सं+यम्+"छित्वर-च्छत्वरेति ।" उणा० ३ । १ । इति ष्वरच्प्रत्ययेन साधु ।) नृपः । इत्युणादिकोषः ॥

संयन्ता, [ऋ] त्रि, संयमनकर्त्ता । नियन्ता । संपूर्व्वयमधातोस्तृन्प्रत्ययेन निष्पन्नः ॥ (यथा, महाभारते । ४ । ६२ । ४८ ।
"तं विसंज्ञमपोवाह संयन्ता रथवाजिनाम् ।
उपदेशमनुस्मृत्य रक्षमाणो महारथम् ॥")

संयमः, पुं, (सं+यम्+"यमः समुपनिविषु च ।" ३ । ३ । ६३ । इति अप् ।) व्रताद्यङ्गपूर्व्वदिनकर्त्तव्याचारः । तत्पर्य्यायः । वियामः २ वियमः ३ यामः ४ यमः ५ संयामः ६ । इत्यमरः ॥ संयमनम् ७ नियमः ८ । इति धरणिः ॥ तद्विधानं यथा । अथ दशमीनियमाः । हरिसन्तोषे ।
"कांस्यं मांसं मसूरञ्च चणकं कोरदूषकम् ।
शाकं मधु परान्नञ्च त्यजेदुपवसन् स्त्रियम् ॥"
अत्रोपवसन्निति तद्दिने भोजनासम्भवात् सामीप्यात् पूर्व्वापरदिनयोर्ग्रहणम् । स्मृतिः ।
"शाकं माषं मसूरञ्च पुनर्भोजनमैथुने ।
द्यूतमत्यम्बुपानञ्च दशम्यां वैष्णवस्त्यजेत् ॥
कांस्यं मांसं सुरां क्षौद्रं लोभं वितथभाषणम् ।
व्यायामञ्च व्यवायञ्च दिवास्वप्नं तथाञ्जनम् ॥
तिलपिष्टं मसूरञ्च दशम्यां वर्ज्जयेत् पुमान् ।
दशम्यामेकभक्तञ्च कुर्व्वीत नियतेन्द्रियः ॥
आचम्य दन्तकाष्ठञ्च खादेत तदनन्तरम् ।
पूर्व्वं हरिदिनाल्लोकाः सेवध्वं चैकभोजनम् ॥
अवनीपृष्ठशयनाः स्त्रियाः सङ्गविवर्ज्जिताः ।
सेवध्वं देवदेवेशं पुराणं पुरुषोत्तमम् ।
सकृद्भोजनसंयुक्ता ह्यादश्याञ्च भविष्यथ ॥"
इत्येकादशीतत्त्वम् ॥ * ॥
श्राद्धपूर्व्वदिनकर्त्तव्यनियमो यथा । देवलः ।
"श्वः कर्त्तास्मीति निश्चित्य दाता विप्रान्निमन्त्रयेत् ।
निरामिषं सकृत् भुक्त्वा सर्व्वसुप्तजने गृहे ।
असम्भवे परेद्युर्व्वा ब्राह्मणांस्तान्निमन्त्रयेत् ॥"
वराहपुराणम् ।
"वस्त्रशौचादि कर्त्तव्यं श्वः कर्त्तास्मीति जानता ।
स्नानोपलेपनञ्चैव कृत्वा विप्रान्निमन्त्रयेत् ।
दन्तकाष्ठञ्च विसृजेत् ब्रह्मचारी शुचिर्भवेत् ॥"
विसृजेत् श्राद्धीयब्राह्मणेभ्यो दद्यात् । मार्कण्डेयपुराणम् ।
"निमन्त्रयेच्च पूर्व्वेद्युः पूर्व्वोक्तान् द्विजसत्तमान् ।
अप्राप्तौ तद्दिने वापि हित्वा योषित्प्रसङ्गिनम् ॥"
यमः ।
"प्रार्थयेत प्रदोषान्ते भुक्तान्नं शयितान् द्विजान् ।
सर्व्वायासविनिर्मुक्तैः कामक्रोधविवर्ज्जितैः ॥
भवितव्यं भवद्भिश्च श्वोभूते श्राद्धकर्म्मणि ।
दक्षिणां जातु चालभ्य त्वं मयात्र निमन्त्रितः ।
एवं निमन्त्र्य नियमान् श्रावयेत् पैतृकान् बुधः ॥"
तन्नियममाह ।
"अक्रोधनैः शौचपरैः सततं ब्रह्मचारिभिः ।
भवितव्यं भवद्भिश्च मया च श्राद्धकर्म्मणि ॥"
इति श्राद्धतत्त्वम् ॥ * ॥
तीर्थयात्रापूर्व्वदिनकर्त्तव्यनियममाह । ब्रह्मपुराणम् ।
"यो यः कश्चित्तीर्थयात्रान्तु गच्छेत्
सुसंयतः स च पूर्व्वं गृहे स्वे ।
स्नातोपवासः शुचिरप्रमत्तः
संपूजयेद्भक्तिनम्रो गणेशम् ॥
देवान् पितॄन् ब्राह्मणांश्चैव साधून्
धीमान् प्रीणयन् वित्तशक्त्या प्रयत्नात् ।
प्रत्यागतश्चापि पुनस्तथैव
देवान् पितॄन् ब्राह्मणान् पूजयेच्च ॥"
एवं प्रकुर्व्वतस्तस्य तीर्थाद्यदुक्तं फलं तत् स्यान्नात्र सन्देह एव । सुसंयतः पूर्व्वदिने कृतैकभक्तादिनियमस्तदुत्तरदिने स्नातोपवास इत्यादि । उपवासदिने मुण्डनमपि ।
"प्रयागे तीर्थयात्रायां पितृमातृवियोगतः ।
कचानां वपनं कार्य्यं वृथा न विकचो भवेत् ॥"
इति विष्णुपुराणात् । इति प्रायश्चित्ततत्त्वम् ॥ * ॥
प्रायश्चित्तपूर्व्वाहकृत्यं यथा । शङ्खलिखितौ ।
"वाप्य केशनखान् पूर्व्वं घृतं प्राश्य वह्निर्निशि ।
प्रत्येकं नियतं कालमात्मनो व्रतमादिशेत् ॥"
इति प्रायश्चित्ततत्त्वम् ॥
(बन्धनम् । यथा, साहित्यदर्पणे । ३ । १५५ ।
"कापि कुन्तलसंव्यानसंयमव्यपदेशतः ।
बाहुमूलं स्तनौ नाभिपङ्कजं दर्शयेत् स्फुटम् ॥"
संकोचः । यथा, मार्कण्डेये । ७७ । ४ ।
"मयि दृष्टे सदा यस्मात् कुरुषे नेत्रसंयमम् ।
तस्माज्जनिष्यते मूढ़े प्रजासंयमनं यमम् ॥")

संयमकः, त्रि, (संयच्छतीति । सं+यम्+ण्वुल् ।) नियन्ता । यथा,—
"स एव धाता सर्व्वस्य तन्नियोगकरा वयम् ।
यमसंयमने व्यक्तः सोऽस्मत्संयमको हरिः ॥"
इति वह्निपुराणे नारसिंहप्रादुर्भावाध्यायः ॥ संयमी च ॥

संयमनं, क्ली, (सं+यम+ल्युट् ।) बन्धनम् । (यथा, साहित्यदर्पणे । ६ । ३१८ ।
"यथावा वेण्यां द्रौपदीकेशसंयमनहेतुर्भीमसेनक्रोधापचितौ युधिष्ठिरोत्साहः ॥") व्रतम् । इति मेदिनी ॥ चतुःशालम् । इति सञ्जयनशब्दटीकायां भरतः ॥ (यमगृहम् । यथा, महाभारते । ३ । १६३ । ८ ।
"एतत् संयमनं पुण्यमतीवाद्भुतदर्शनम् ।
प्रेतराजस्य भवनमृद्ध्या परमया युतम् ॥"
शासनम् । दमनम् । यथा, भागवते ।१०।१६।६।
"तं चण्डवेगविषवीर्य्यमवेक्ष्य तेन
दुष्टां नदीञ्च खलसंयमनावतारः ॥" * ॥
संयच्छतीति । सं+यम+ल्युः । नियन्तरि, त्रि । यथा, मार्कण्डेये । ७७ । ४ ।
"तस्माज्जनिष्यते मूढ़े प्रजासंयमनं यम् ॥")

संयमनी, स्त्री, (संयम्यतेऽस्यामिति । सं+यम्+अधिकरणे ल्युट् ।) यमपुरी । इति मेदिनी ॥ (यथा, भागवते । १० । ४५ । ४२ ।
"ततः संयमनीं नाम यमस्य दयितां पुरीम् ।
गत्वा जनार्द्दनः शङ्खं प्रदध्मौ सहलायुधः ॥")

संयमितः, त्रि, जातसंयमः । संयमशब्दात् इतोऽस्य जाते इत्यनेन इतप्रत्ययेन निष्पन्नः ॥

संयमी, [न्] पुं, (संयमोऽस्यास्तीति । संयम+इनिः ।) मुनिः । इति धरणिः ॥ निगृहीतेन्द्रिये, त्रि । यथा,—
"या निशा सर्व्वभूतानां तस्यां जागर्त्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने ॥"
इति श्रीभगवद्गीतायाम् २ अध्यायः ॥

संयात्रा, स्त्री, द्वीपान्तरगमनम् । संपूर्व्वो यातिर्द्वीपान्तरगमनवृत्तिस्ततस्त्रासुर्मिति त्रः स्त्रियामाप् संयात्रा । द्वीपान्तरगमनं सम्यग्यात्रा संयात्रा वा । इति सांयात्रिकशब्दटीकायां भरतः ॥

संयानं, क्ली, सम्यग्गमनम् । संपूर्व्वयाधातोरनट्(ल्युट्) प्रत्ययेन निष्पन्नम् ॥ (यथा, महाभारते । ३ । १८ । ५ ।
"स त्वं सात्वतमुख्याद्य लब्धसंज्ञो यदृच्छया ।
पश्य मे हयसंयाने शिक्षां केशवनन्दन ! ॥"
प्रेतनिर्हारः । यथा, रामायणे । १ । ७६ । २ ।
"अलं शोकेन भद्रं ते राजपुत्र महायशः ।
प्राप्तकालं नरपतेः कुरु संयानमुत्तमम् ॥")

संयामः, पुं, (सं+यम+"यमः समुपनिविषु च ।" ३ । ३ । ६३ । इति पक्षे घञ् ।) संयमः । इत्यमरः ॥

संयावः, पुं, (सं+यु+"समि युद्रुदुवः ।" ३ । ३ । २३ । इति घञ् ।) घृतक्षीरादिपक्वगोधूमः । यथा,—
"संयावस्तु घृतक्षीरगुड़गोधूमपाकजः ।"
इति शब्दचन्द्रिका ॥
पिष्टकविशेषः । पेराकी इति भाषा । यथा,—
"पर्य्येव: साज्यसमिता निर्म्मिता घृतभर्ज्जिताः ।
कुट्टिताः खालिताः शुक्लाः शर्कराभिर्व्विमर्द्दिताः ॥
तदूर्ध्वं प्रक्षिपेदेलां लवङ्गमरिचानि च ।
नारिकेलं सकर्पूरं चारबीजान्यनेकशः ॥
घृताक्तसमितापुष्टरोटिका रचिता ततः ।
तस्यां तत्पूरणात्तस्य कुर्य्यान्मुद्रां दृढ़ां सुधीः ॥
सर्पिषि प्रचुरे तान्तु सुपचेन्निपुणो जनः ।
प्रकारज्ञैः प्रकारोऽयं संयाव इति कीर्त्तितः ।
मण्डकोऽपि समो ज्ञेयः संयावोऽपि गुणैर्जनैः ॥"
इति भावप्रकाशः ॥

संयुक्, [ज्] त्रि, (सं+युज्+क्विप् ।) गुणवान् । यथा,—
"सत्त्वस्थो गुणवान् संयुक् मित्रयुङ्मित्रवत्सलः ।"
इति त्रिकाण्डशेषः ॥

(यथा, महाभारते । २ । ३६ । २२ ।
"आचार्य्यमृत्विजञ्चैव संयुजञ्च युधिष्ठिर ।
स्नातकञ्च प्रियं प्राहुः षड़र्घार्हान् नृपं तथा ॥")
संयुक्तश्च ॥

संयुक्तः, त्रि, (सं + युज् + क्तः ।) संयोगाश्रयः । यथा, तिथ्यादितत्त्वे ।
"कुर्य्यादलाभे संयुक्तां नालाभेऽपि प्रवेशिनीम् ॥"

संयुगः, पुं, ("युजिर योगे + घञ् । उक्थादिषु युगशब्दस्य पाठात् निपातनादगुणत्वम् । 'विशेषोऽसौ निपातनमिष्यते कालविशेषे रथाद्युपकरणे च ।' इति वृत्तिः । सङ्गता रथयुगा यस्मिन् वा ।" इति निरुक्तटीकायां देवराजयज्वा । २ । १७ । २८ ।) युद्धम् । इत्यमरः ।२। ८। १०५ ॥ (यथा, महाभारते । २।१७।५।
"अनयस्यानुपायस्य संयुगे परमः क्षयः ।
संशयो जायते साम्यात् जयश्च न भवेत् द्वयोः ॥")
संयोगश्च ॥

संयुतः, त्रि, संयुक्तः । यथा,—
"चतुर्थीसंयुता कार्य्या पञ्चमी परया न तु ।
दैवे कर्म्मणि पैत्रे च शुक्लपक्षे तथासिते ॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥

संयोगः, पुं, (सं + युज् + घञ् ।) मेलनम् । न्यायमते गुणपदार्थः । स च सम्बन्धविशेषः । अप्राप्तवस्तुद्वयस्य प्राप्तिः । स च त्रिविधो यथा । एककर्म्मजन्यः । यथा पर्व्वते पक्षिसंयोगः ॥१॥ उभयकर्म्मजन्यः । यथा मेषद्वयसंयोगः ॥ २ ॥ संयोगजन्यसंयोगः । यथा कपालतरुसंयोगजन्यतरुकुम्भसंयोगः ॥ ३ ॥ कर्म्मजन्यसंयोगोऽपि द्विविधः । अभिघातः । तस्मात् शब्दो जायते ॥ १ ॥ नोदनः । तस्मात् शब्दो न जायते ॥ २ ॥ अत्र प्रमाणम् ।
"अप्राप्तयोस्तु या प्राप्तिः सैव संयोग ईरितः ।
कीर्त्तितस्त्रिविधस्त्वेष आद्योऽन्यतरकर्म्मजः ॥
तथोभयोः कर्म्मजन्यो भवेत् संयोगजोऽपरः ।
आदिमः श्येनशैलादिसंयोगः परिकीर्त्तितः ॥
मेषयोः सन्निपातो यः स द्वितीय उदाहृतः ।
कपालतरुसंयोगात् संयोगस्तरुकुम्भयोः ॥
द्वितीयः स्यात् कर्म्मजोऽपि द्विधैव परिकीर्त्तितः ।
अभिघातो नोदनञ्च शब्दहेतुरिहादिमः ।
शब्दाहेतुर्द्वितीयः स्याद्विभागोऽपि त्रिधा भवेत् ॥"
इति भाषापरिच्छेदः ॥*॥
उदयात् पूर्व्वं दशम्याः शेषः । यथा,—
"उदयात् प्राक् दशम्यास्तु शेषः संयोग इष्यते ।
उपरिष्टात् प्रवेशस्तु तस्मात् तां परिवर्ज्जयेत् ॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥
सम्बन्धमात्रम् । इति संयोगपृथक्त्वन्यायार्थदर्शनात् ॥

संयोगपृथक्त्वं, क्ली, (संयोगेन फलसम्बन्धभेदेन पृथक्त्वं नानाविधत्वं यत्र ।) न्यायविशेषः । यथा । एकस्य कर्म्मणो नित्यत्वकाम्यत्वाभ्यां द्वैरूप्याङ्गीकारे नित्यानित्यसंयोगविरोधः । नैवं संयोगपृथक्त्वन्यायात् । स च न्यायश्चतुर्थाध्याये उक्तः । यथा । खादिरे पशुं बध्नाति खादिरं वीर्य्यकामस्य यूपं कुर्व्वीत इति श्रूयते । अत्र संशयः । किं काम्यस्यैव खादिरता नित्येऽपि स्यादुत नेति । तत्र फलार्थत्वेनानित्यतया नित्यप्रयोगाङ्गता न युक्ता । यत्तु नित्येऽपि खादिरत्वश्रवणं तत् काम्यस्यैव पशुबन्धनाय यूपाश्रयज्ञापनार्थं अतो न नित्ये खादिरता इति प्राप्तेराह्नान्ताय चतुर्थाध्यायसूत्रम् । एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वमिति । अत्र संयोगः सम्बन्धमात्रं पृथक्त्वं भेदः । एकस्य खादिरस्य क्रत्वर्थत्वपुरुषार्थत्वरूपोभयात्मकत्वे वाक्यद्वयेन च क्रतुशेषत्वफलशेषत्वलक्षणसंयोगभेदावगमान्न नित्यानित्यसंयोगविरोधः । न चाश्रयज्ञानार्थं नित्यवाक्यं सन्निधानादेवाश्रयलाभात् । अत उभयार्था खादिरतेति । एवं दध्ना जुहोति दध्नेन्द्रियकामस्य इत्यादावुभयार्थतैव । दधित्वस्य द्विधाश्रवणात् । इति प्रायश्चित्ततत्त्वम् ॥

संयोगविरुद्धं, क्ली, (संयोगेन विरुद्धम् ।) परस्परसंयोगेन रोगजनकखाद्यद्रव्यम् । यथा,—
"शाकाम्लफलपिण्याककुलत्थलवणामिषैः ।
करीरदधिमाषैश्च प्रायः क्षीरं विरुध्यते ॥
प्राणहारी तु हारीतो हरिद्रानलपाचितः ।
करोत्तैलेऽनलैर्भ्रष्टं विषं मायूरमामिषम् ॥
वराहवसया भ्रष्टा बलाका तु हरत्यसून् ।
संयुक्ता सैव वारुण्या कुल्माषैश्च विरुध्यते ॥
अविं कुसुम्भशाकेन मत्स्यतैलैः कणां त्यजेत् ।
मांसैरिक्षुविकारांश्च काञ्जिकैस्तिलशष्कुलीम् ॥
कपोतः सार्षपे भ्रष्टो घृतं कांस्ये दशाहगम् ।
विषं घृतसमं क्षौद्रं मधुना गगनाम्बु च ॥
मूलकं माषसूपेन मधुना च न भक्षयेत् ।
एकत्र सर्व्वमांसानि विरुद्धन्ते परस्परम् ॥
रात्र्यश्ववीसर्पदकोदराणां
विस्फोटिकोन्मादभगन्दराणाम् ।
मूर्च्छामदाध्मानगलग्रहाणां
पाण्ड्वामयस्यामविषस्य चैव ॥
किलासकुष्ठग्रहणीगदानां
शोथातिसारज्वरपीनसानाम् ।
सन्तानदोषस्य तथैव मृत्यो-
र्विरुद्धमन्नं प्रवदन्ति हेतुम् ॥
विरुद्धाहारजान् रोगान् विनिहन्ति विरेचनम् ।
वमनं शमनं वापि पूर्व्वं वा हितसेवनम् ॥"
इति संयोगविरुद्धम् । इति राजवल्लभः ॥

संयोगितः, त्रि, जातसंयोगः । संयोग शब्दादितच्प्रत्ययेन निष्पन्नः । इति संयोजितशब्दटीकायां भरतः ॥

संयोगी, [न्] त्रि, (संयोगोऽस्यास्तीति । संयोग + इनिः ।) संयोगविशिष्टः । यथा,—
"अग्रे वृक्षः कपिसंयोगी न मूले ।" इति सिद्धान्तलक्षणजागदीशी ॥

संयोजनं, क्ली, (सं + युज् + ल्युट् ।) मैथुनम् । इति हारावली ॥ संयोगश्च ॥

संयोजितः, त्रि, (सं + युज + णिच् + क्तः ।) पदार्थः पदार्थान्तरेण संयुक्तीकृतः । तत्पर्य्यायः । उपाहितः २ । इत्यमरः ॥ संयोगितः ३ । इति भरतः ॥ (यथा, भागवते । ५ । २३ । ३ ।
"यथा मेधीस्तम्भ आक्रमणपशवः संयोजिताः त्रिभिः सवनैर्यथास्थानं मण्डलानि चरन्ति ॥")

संरम्भः, पुं, (सं + रभ + घञ् । नुम् ।) क्रोधः । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, मनुः ।४।१६६।
"ताड़यित्वा तृणेनापि संरम्भात् मतिपूर्व्वकम् ।
एकविंशतिमाजातीः पापयोनिषु जायते ॥")
आटोपः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ (सम्भ्रमः । यथा, भागवते । ८ । ६ । २४ ।
"न संरम्भेण सिध्यन्ति सर्व्वार्थाः सान्त्वया यथा ॥"
वेगः । यथा, तत्रैव । ८ । ११ । ४५ ।
"संयम्य मन्युसंरम्भं मानयन्तो मुनेर्व्वचः ।
उपगीयमानानुचरैर्ययुः सर्व्वे त्रिविष्टपम् ॥")
उत्साहः । यथा,—
"कार्य्यारम्भेषु संरम्भः स्थेय उत्साह इष्यते ।"
इति साहित्यदर्पणे ३ परिच्छेदः ॥

संरावः, पुं, (सं + रु ल ध्वनौ + "उपसर्गे रुवः ।" ३।३।२२ । इति घञ् ।) शब्दः । इत्यमरः ॥ (यथा, राजतरङ्गिण्याम् । ३ । ३४२ ।
"ततस्तस्य सरित्पाते मुक्तसंरावमग्नतः ।
ऊर्द्ध्वबाहुर्महद्भूतं प्रादुरासीत् महौजसः ॥")

संरावी, [न्] त्रि, प्रशस्तशब्दविशिष्टः । संरावशब्दादस्त्यर्थे इन्प्रत्ययेन निष्पन्नः ॥

संरूढ़ः, त्रि, (सं + रुह + क्तः ।) प्रौढ़ः । अङ्कुरितः । इति मेदिनी ॥ (यथा, महाभारते । १२ । २२८ । २ ।
"तन्मे मनसि संरूढ़ं करिष्यामस्तथा च तत् ॥")

संरोधः पुं, (सं + रुध + घञ् ।) रोधनम् । (यथा, भागवते । १० । ७३ । २ ।
"क्षुत्क्षामाः शुष्कवदनाः संरोधपरिकर्शिताः ।
ददृशुस्ते घनश्यामं पीतकौशेयवाससम् ॥")
क्षेपः । इति मेदिनी ॥

संलग्नः, त्रि, संयुक्तः । संपूर्व्वलगधातोः क्तप्रत्ययेन निष्पन्नः ॥ (यथा, कथासरित्सागरे ।१२३।१११।
"स चाब्धिवेलया नीत्वा विधिनात्यैव रोधसि ।
क्षिप्तस्तद्वीपसंलग्नो महामत्स्योऽवसन्नवान् ॥")

संलयः, पुं, (सं + ली + अच् ।) निद्रा । इति हेमचन्द्रः ॥ प्रलयश्च ॥

संलापः, पुं, (सं + लप + घञ् ।) परस्परभाषणम् । इत्यमरः ॥ अन्योन्यं प्रीतिभाषणं संलापः । उक्तिप्रत्युक्तिभावेन विरोधरहितमन्योन्यभाषणं संलापः । इति परेऽपि । रहसि भाषणं संलापः । इति कौमुदी । मिथोऽन्योन्यं रहस्यपि । इति वक्ष्यति । समन्तालपनं संलापः प्रियादिकथा घञ् । यस्त्वालापः स तु केनापि क्रियते । इदन्तु परस्परभाषणमेवेति भेदः । इति भरतः ॥ "उक्तिप्रत्युक्तिमद्वाक्यं संलाप इति कीर्त्त्यते ।" इत्युज्ज्वलनीलमणिः ॥

संवत्, व्य, वत्सरः । इत्यमरः ॥ अधुना विक्रमादित्यराजवत्सरः संवत् इति ख्यातः ॥ (स्त्री, भूमिविशेषः । यथा, वाजसनेयसंहितायाम् । ११ । १२ ।

"वरिष्ठामनु संवतम् ।"

"वन सम्भक्तौ संवन्यते सम्यग्भज्यते स्वरार्थं सेव्यते इति संवत् संपूर्व्वस्य वनतेः क्विप्येतद्रूपम् । स्नतखननयोग्या भूमिः संवत् । सा च पाशाणाद्यभावेनातिप्रशस्तत्वाद्वरिष्ठेत्युच्यते ।" इति तद्भाष्यम् ॥*॥ संग्रामः । इति निघण्टुः ।२।१७॥)

संवत्सरः, पुं, (संवसन्ति ऋतवो यत्र । सं + वस निवासे + "संपूर्व्वात् चित् ।" उणा० ३ । ७२ । इति त्सरन् ।) वत्सरः । इत्यमरः ॥ "संवसन्ति ऋतवो अत्र संवत्सरः । वस औ निवासे नाम्नीति सरः सस्य तः । संवदति भावान् इति वदो रूपं वा ।" इति भरतः ॥ पञ्चविधवत्सरान्तर्गतप्रथमवत्सरः । यथा,—

"शकाब्दात् पञ्चभिः शेषात् समाद्यादिषु वत्सराः ।

संपरीदानुपूर्व्वाश्च तथोदापूर्व्विका मताः ॥"

संवत्सरादिफलं विष्णुधर्म्मोत्तरे ।

"संवत्सरे तथा दानं तिलस्य च महाफलम् ।

परिपूर्व्वे तथा दानं यवानाञ्च द्विजोत्तमाः ॥

इदापूर्व्वेऽमवस्त्राणां धान्यानाञ्चानुपूर्व्वके ।

उदासंवत्सरे दानं रजतस्य महाफलम् ॥

ज्योतिर्व्विदश्विन्यमध्यात् प्रभवादेश्च सम्भवम् ।

ऊचुस्तद्वत् समाद्यादिवर्षाणामपि सम्भवम् ॥"

इति मलमासतत्त्वम् ॥

संवदनं, क्ली, (सं + वद + ल्युट् ।) आलोचनम् । वशीकरणम् । इति मेदिनी ॥ (यथा, महाभारते । ३ । २३२ । ५७ ।

"एतज्ज्ञानान्यहं कर्त्तुं भर्त्तुः संवदनं महत् ।

असत्स्त्रीणां समाचारं नाहं कुर्य्यान्न कामये ॥")

संवादः । इति हेमचन्द्रः ॥

संवदना, स्त्री, संवदनम् । वशक्रिया । यथा । मणिमन्त्रौषधैर्व्वशीकरणं संवदनम् । संपूर्व्वो वदिर्व्वशीकरणे भावेऽनट् । संवदना चेति केचित् । करणेऽनटि वश क्रियासाधने मणिमन्त्रादावपि । जयश्रियः संवदनं यतस्तदिति रघुः । संचलनमिति पाठान्तरम् । इत्यमरटीकायां भरतः ॥

संवननं, क्ली, (सं + वन + ल्युट् ।) संवदनम् । इत्यमरटीकायां रामाश्रमः ॥ (यथा, कथासरित्सागरे । ३४ । १६६ ।

"हृदयानुप्रवेशो हि प्रभोः संवननं महत् ॥")

संवरं, क्ली, (सं + वृ + "ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च ।" ३ । ३ । ५८ । इति अप् ।) जलम् । बौद्धव्रतविशेषः । इति केचित् ॥ रभसे मकारमध्यपाठः । तत्र सम्बधातोररप्रत्ययेन निष्पन्नम् ॥

संवरः, पुं, दैत्यविशेषः । मत्स्यविशेषः । हरिणविशेषः । इति केचित् ॥ रभसकोषे सम्बर इति पाठः ॥ (क्वचित् शम्बर इति च दृश्यते ॥)

संवर्त्तः, पुं, (सं + वृत् + घञ् ।) प्रलयः । इत्यमरः ॥ (यथा, भागवते । ८ । १५ । २६ ।

"दहन्निव दिशो दिग्भिः संवर्त्ताग्निरिवोत्थितः ॥")

मुनिविशेषः । (यथा, मार्कण्डेये । १३० । ११ ।

"ऋत्विक् तस्य तु संवर्त्तो बभूवाङ्गिरसः सुतः ।

भ्राता बृहस्पतेर्विप्र महात्मा तपसां निधिः ॥"

अयं हि धर्म्मशास्त्रप्रयोजकानामन्यतमः ॥)

कर्षफलद्रुमः । इति मेदिनी ॥ मेघः । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, हरिवंशे ।१२०।६०।

"शुश्रुवे सुमहान् शब्दः संवर्त्तनिनदो यथा ॥")

मेघनायकविशेषः । तस्य विवरणं यथा,—

"त्रियुते शाकवर्षे तु चतुर्भिः शेषिते क्रमात् ।

आवर्त्तं विद्धि संवर्त्तं पुष्करं द्रोणमम्बुदम् ॥

आवर्त्तो निर्जलो मेघः संवर्त्तश्च बहूदकः ।

पुष्करो दुष्करजलो द्रोणः शस्यप्रपूरकः ॥"

इति ज्योतिस्तत्त्वम् ॥

संपूर्व्वकान्तःस्थवकारादिवृतधातोः घञ्प्रत्ययेन निष्पन्नत्वादनुस्वारमध्यः । मकारमध्योऽप्ययम् ॥

संवर्त्तकः, पुं, (संवर्त्तयतीति । सं + वृत् + णिच् + ण्वुल् ।) बलदेवः । इति शब्दरत्नावली ॥ बलदेवस्य लाङ्गलम् । वड़वानलः । इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, भागवते । १२ । ४ । ६ ।

"ततः संवर्त्तको वह्निः सङ्कर्षणमुखोत्थितः ।

दहत्यनिलवेगोत्थः शून्यान् भूविवरानथ ॥")

संवर्त्तकी, [न्] पुं, (संवर्त्तकोऽस्यास्तीति । इनिः ।) बलदेवः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

संवर्त्तिः, स्त्री, (सम्यक्प्रकारेण वर्त्तते इति । सं + वृत् + "कृपिधिवद्भ्यीति ।" उणा० ४ । ११८ । इति इन् ।) संवर्त्तिका । इत्यमरटीकायां भरतः ॥

संवर्त्तिका, स्त्री, पद्मस्य केशरसमीपस्थदलम् । इत्यमरः ॥ पद्मादीनां जटिकाकारे नवपत्रे इत्यन्ये । सम्यक् वर्त्तते वर्द्धते इति संवर्त्तिका णकः । संवर्त्तयति वेष्टयतीति वा नाम्नीति इप्रत्यये संवर्त्तिरपि । संवर्त्तिर्नवपत्रिकेति वोपालितः । पाक्षोणादीति ईपि संवर्त्ती च अतः स्वार्थे के संवर्त्तिका । सामान्यनूतनपत्रेऽपि संवर्त्तिकेति हट्टचन्द्रः ॥ दलमात्रे च संवर्त्तिकेति मधुः । कुर्व्वाणा समकोचयद्दशशतान्यम्भोजसंवर्त्तिकेति मुरारिः । इति भरतः ॥

संवर्द्धकः, त्रि, (संवर्द्धयतीति । सं + वृध् + णिच् + ण्वुल् ।) संवर्द्धनकारी । इति हेमचन्द्रः ॥

संवर्द्धनं, क्ली, (सं + वृध् + ल्युट् ।) सम्यग्वृद्धिः । सन्दीपनम् । संपूर्व्ववृधधातोरनट्प्रत्ययेन निष्पन्नम् ॥ (यथा, महाभारते ।१।६३।१०१।

"पुरुषः स विभुः कर्त्ता सर्व्वभूतपितामहः ।

धर्म्मसंवर्द्धनार्थाय प्रजज्ञेऽन्धकवृष्णिषु ॥"

क्रीड़नम् । यथा, रामायणे । २ । १११ । १० ।

"नित्यञ्च प्रियवादेन तथा संवर्द्धनेन च ॥"

"संवर्द्धनं क्रीड़नम् ।" इति तट्टीका ॥)

संवर्द्धितः, त्रि, (सं + वृध् + णिच् + क्तः ।) सम्यग्वृद्धिविशिष्टः । यथा,—

"अथ प्रभावोपनतैः कुमारं

कल्पद्रुमोत्थैरवकीर्य्य पुष्पैः ।

उवाच वाग्मी दशनप्रभाभिः

संवर्द्धितोरःस्थलतारहारः ॥"

इति रघौ ५ सर्गः ॥

संवलितः, त्रि, (सं + वल + क्तः ।) मिश्रितः । एकत्रीकृतः । यथा । प्रकृतग्रन्थस्थस्वरसंवलितस्यैव पाठस्य धर्त्तुमुचितत्वाद्दाशरथ्येवधारणमुक्तम् । इति पञ्चतोजागदीशी टीका ॥

अन्यच्च ।

"प्रतीयमानः प्रत्येकं प्रथमं हेतुरुच्यते ।

ततः संवलितः सर्व्वो विभवादिः सचेतसाम् ॥"

इति साहित्यदर्पणे ३ परिच्छेदः ॥

संवसथः, पुं, (संवसन्त्यत्रेति । सं + वस + "उपसर्गे वसेः ।" उणा० ३ । ११४ । इति अथः ।) ग्रामः । इत्यमरः ॥

संवहः, पुं, (संवहतीति । सं + वह + अच् ।) सप्तवाय्वन्तर्गतप्रशस्तवायुः । स तु उद्वहवायोरुपरिष्ठः । इति सिद्धान्तशिरोमणिः ॥ (यथा, महाभारते । १२ । ३२८ । ४२ ।

"चतुर्थः संवहो नाम वायुः स गिरिमर्द्दनः ।

येन वेगवता रुग्णा रुक्षेणारुजता नगान् ॥

वायुना सहिता मेघास्ते भवन्ति वलाहकाः ।

दारुणोत्पातसञ्चारो नभसः स्तनयित्नुमान् ॥")

संवाटिका, स्त्री, शृङ्गाटकः । इति जटाधरः ॥

संवादः, पुं, (सं + वद + घञ् ।) सन्देशवाक्यम् । समाचार इति यावत् । तत्पर्य्यायः । वाचिकम् २ सन्देशः ३ । इति जटाधरः ॥ सन्देशवाक् ४ । इत्यमरः ॥ वाचिकं तद्भवेद्यत्र दूतत्वेनाभिशंसनम् । इति शब्दरत्नावली ॥ (मिथःसम्भाषणम् । यथा, गीतायाम् । १८ । ७० ।

"अध्येष्यते च य इमं धर्म्म्यं संवादमावयोः ।

ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥")

संवासः, पुं, (संवसन्त्यत्रेति । सं + वस + घञ् ।) गृहम् । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, बृहत्संहितायाम् । ६५ । १३ ।

"भयदो जनसंवासात्

नदि भाण्डान्यपनयेत् काकः ॥")

पुरवासिनां विहारार्थं पुरमध्ये बहिर्व्वा अनावृतस्थानम् । तत्पर्य्यायः । सन्निवेशः २ सन्निकर्षणम् ३ । इति जटाधरः ॥ (यथा, रामायणे । २ । ४६ । ४ ।

"शृण्वन् वाचो मनुष्याणां ग्रामसंवासवासिनाम् ।

राजानं धिक् दशरथं कामस्य वशमास्थितम् ॥"

एकत्रावस्थानम् । यथा, मनुः । ८ । ३७३ ।

"आत्मया सह संवासे चाण्डाल्या तावदेव तु ॥")

संवाहः, पुं, (संवाहयतीति । सं + वह + णिच् + अच् ।) अङ्गविमर्द्दकः । इति जटाधरः ॥

(सप्राकारमुद्यानम्। इति नीलकण्ठः ॥ यथा, महाभारते। ३। १६०। ३७।
"हारतोरणनिर्व्यूहश्च जसंवादशोभिना॥"
सं + वह + घञ्। विमर्द्दनम्। यथा, मार्कण्डेये। १६। १५।
"तं तथा व्याधितं भार्य्या पतिं देवमिवार्च्चयत्।
पादाभ्यङ्गाङ्गसंवाहस्नानाच्छादनभोजनैः॥")
संवाहकः, त्रि, (संवाहयतीति। सं + वह + णिच् + ण्वुल्।) अङ्गमर्द्दकारकः। तत्पर्य्यायः। अङ्गमर्द्दकः २। इति त्रिकाण्डशेषः॥ अङ्गमर्दः ३। इति हेमचन्द्रः॥ (यथा, कामन्दकीयनीतिसारे। १२। ४५।
"प्रसाधका भोजकाश्च गात्रसंवाहका अपि।
जलताम्बूलकुसुमगन्धभूषणदायकाः।
कर्णयाश्च सदा ह्येते ये चान्येऽभ्यासवर्त्तिनः॥")
संवाहनं, क्ली, (सं + वह + णिच् + ल्युट्।) अङ्गमर्द्दनम्। (यथा, मार्कण्डेये। १०। ७४।
"तैलाभ्यङ्गो बान्धवानामङ्गसंवाहनञ्च यत्।
तेन चाप्याय्यते जन्तुर्यत्राग्निः सबान्धवाः॥")
भारादिवहनम्। इति मेदिनी॥
संवित्तिः, स्त्री, (सं + विद् + क्तिन्।) प्रतिपत्तिः। अनस्याविवादः। इति मेदिनी॥ चेतना। बुद्धिः। इति शब्दरत्नावली हेमचन्द्रश्च॥ (यथा, किराते। १६। ३२।
"छायां विनिर्द्धूय तमोमयीन्तां
तत्त्वस्य संवित्तिरिवापविद्याम्॥"
अनुभवः। यथा, तत्रैव। ११। ३४।
"श्वस्त्वया सुखसंवित्तिः स्मरणीयाधुनातनी।
इति स्वप्नोपमान् मत्वा कामान् मागास्तदङ्गताम्॥")
संवित्, } स्त्री, (सं + विद् + क्विप्।) अङ्गीकारः। ज्ञानम्। (यथा, श्रीधरस्वामी।
संविद्, }
"वागीशा यस्य वदने लक्ष्मीर्यस्य च वक्षसि।
यस्यास्ति हृदये संवित् तं नृसिंहमहं भजे॥")
सम्भाषा। क्रियाकारः। युद्धम्। इत्यमरः॥ आचारः। (यथा, माघे। १२। ३५।
"ओजस्विवर्णोज्ज्वलवृत्तशालिनः
प्रसादिनोऽनुज्झितगोत्रसंविदः।
श्लोकानुपेन्द्रस्य पुरः स्म भूयसो
गुणान् समुद्दिश्य पठन्ति वन्दिनः॥")
सङ्केतः। (यथा, रघुः। ७। ३१।
"स राजलोकः कृतपूर्व्वसंवित्
आरम्भसिद्धौ समयोपलभ्यम्।
आदास्यमानः प्रमदामिषं तत्
आवृत्य पन्थानमजस्य तस्थौ॥")
नाम। तोषणम्। इति मेदिनी॥ समाधिः। इति शब्दरत्नावली॥
संविदितः, त्रि, (सं + विद् + क्तः।) अङ्गीकृतः। इत्यमरः॥
संविधा, स्त्री, (सं सम्यक् विधो यत्र।) अतिविधा। इति शब्दचन्द्रिका॥
संवीक्षणं, क्ली, (सं + वि + ईक्ष + ल्युट्।) अन्वेषणम्। अपहृतवस्तुनस्तात्पर्य्येणान्वेषणम्। इत्यमरः॥ सम्यक्तात्पर्य्येण विविधप्रकारेरीक्षणं संवीक्षणं अनट्। इति भरतः॥
संवीतं, त्रि, (सं + व्ये + क्तः।) रुद्धम्। आवृतम्। इत्यमरः॥ (यथा, मनुः। ४। ४९।
"तिरस्कृत्योच्चरेत् काष्ठलोष्ट्रपत्रतृणादिना।
नियम्य प्रयतो वाचं संवीताङ्गोऽवगुण्ठितः॥")
संवृतः, पुं, आवृतः। संपूर्व्ववृञ्धातोः क्तप्रत्ययेन निष्पन्नः॥
संवृत्तः, पुं, (सं + वृत् + क्तः।) वरुणः। इति शब्दमाला॥
संवृत्तिः, स्त्री, (सं + वृत् + क्तिन्।) सम्यक्प्रकारेण वर्त्तनम्। (यथा, कथासरित्सागरे। ५६। ४१४।
"वसता हृदि भीमभूभुजा
कृतसंवृत्त्युपचारसत्क्रियः।
ऋतुपर्णनृपोऽपि तं नलं
प्रतिपूज्याथ जगाम कोशलान्॥")
आवरणम्। इति संपूर्व्वकवृधातोः क्तिप्रत्ययेन निष्पन्ना॥ (देवीविशेषः। यथा, महाभारते। २। ११। ३९।
"संवृत्तिराशा नियतिः सृष्टिर्देवी रतिस्तथा।
एताश्चान्याश्च वै देव उपतस्थुः प्रजापतिम्॥")
संवेगः, पुं, (सं + विज + घञ्।) भयादिजनितत्वरा। इत्यमरः॥ (यथा, महाभारते। २। ७२। १४।
"अथ सभ्याः सभामध्ये समुच्छ्रितकरास्तदा।
ऊचुरुद्विग्नमनसः संवेगात् सर्व्व एव हि॥")
सम्यक्वेगश्च॥ (यथा, राजतरङ्गिण्याम्। ४। ३९०।
"अभग्नशमसंवेगलब्धसिद्धिर्नराधिपः।
श्रीपर्व्वतादावद्यापि भव्यानामेति दृक्पथम्॥")
संवेदः, पुं, (सं + विद् + घञ्।) अनुभवः। तत्पर्य्यायः। वेदना २। इत्यमरः॥ हे अनुभवे। विद ल मतौ घञ् संवेदः। णौचिश्रन्थेति अने वेदना। न नैरुक्तैः क्ली वेदनम्। तत्र विशेषेणापि सामान्यं बाध्यते न कचित् क्षतीति अनट्। इति भरतः॥ (यथा, हरिवंशे। २०३। २३।
"संवेदजननी धात्री चेति माता प्रचोदिता।
अनुतां तनुतास्वेव जन्तूनां कर्म्मभोगिनाम्॥")
संवेशः, पुं, (सं + विश + घञ्।) निद्रा। इत्यमरः॥ (यथा, रघुः। १। ९३।
"अथ प्रदोषे दोषज्ञः संवेशाय विशांपतिम्।
सूनुः सूनृतवाक् स्रष्टुः विससर्ज्जोदितश्रियम्॥")
स्त्रीरतबन्धः। इति मेदिनी॥ पीठः। इति हेमचन्द्रः॥ (उपभोगस्थानम्। इति स्वामी॥ यथा, भागवते। ३। २३। २०।
"विहारस्थानविश्रामसंवेशप्राङ्गनाजिरैः।
यथोपजोषं रचितैर्विस्मापनमिवात्मनः॥")
संवेशनं, क्ली, (सं + विश + ल्युट्।) रतिक्रिया। इति हेमचन्द्रः॥ (उपवेशनम्। यथा, भागवते। ५। ९। १०।
"शीतोष्णवातवर्षेषु वृष इवानावृताङ्गः पीनः संहननाङ्गः स्थण्डिलसंवेशनामर्द्दनामज्जनरजसा महामणिरिव *** विचचार॥")
संव्यानं, क्ली, (संवीयतेऽनेनेति + सं + व्ये + ल्युट्।) उत्तरीयवस्त्रम्। इत्यमरः॥ (यथा, किराते। ४। २८।
"विपाण्डुसंव्यानमिवानिलोद्धतं
निरुन्धतीः सप्तपलाशजं रजः॥")
वस्त्रम्। इति मेदिनी॥
संशप्तकः, पुं, समयात् संग्रामादनिवर्त्ती। इत्यमरः॥ समयात् कुलाचारात् शपथाद्वा संग्रामादनिवर्त्तिनोऽपराङ्मुखा अपलायमानाश्चाक्रोशन्ति ते संशप्तकाः। शपेर्भावे क्ते शप्तं सम्यक् सत्यं शप्तं येषां ते संशप्तकाः। इति भरतः॥ नारायणीसेनाविशेषः। इति महाभारतम्॥ (यथा, महाभारते। १। १। १८७।
"यदाश्रौषं चाश्मकीयान् महारथान्
व्यवस्थितानर्ज्जुनस्यान्तकाय।
संशप्तकान् निहतानर्ज्जुनेन
तदा नाशंसे विजयाय सञ्जय॥"
एतद्वधवृत्तान्तादिकं महाभारते द्रोणपर्व्वणि १७ अध्यायमारभ्य द्रष्टव्यम्॥)
संशयः, पुं, (सं + शी + अच्।) सन्देहः। इत्यमरः॥ तस्य लक्षणं यथा,—
"स संशयो भवेद्या धीरेकत्राभावभावयोः।
साधारणादिधर्म्मस्य ज्ञानं संशयकारणम्॥"
इति भाषापरिच्छेदः॥
"संशयं लक्षयति संशय इति। एकधर्म्मिकविरुद्धभावाभावप्रकारकं ज्ञानं संशय इत्यर्थः। साधारणेति उभयसाधारणो यो धर्म्मस्तज्ज्ञानं संशयसाधनम्। यथा उच्चैस्तरत्वं स्थाणुत्वसाधारणं ज्ञात्वा अयं स्थाणुर्न वेति सन्दिग्धे। एवमसाधारणज्ञानं संशयकारणम्। यथा शब्दत्वं नित्यानित्यव्यावृत्तं शब्दे गृहीत्वा शब्दो नित्यो न वेति सन्दिग्धे। विप्रतिपत्तिस्तु शब्दोऽनित्यो न वेति शब्दात्मिका न संशयकारणं शब्दव्याप्तिज्ञानादीनां निश्चयमात्रजनकत्वस्वाभाव्यात्। किन्त्वत्र शब्देन कोटिद्वयज्ञानम् जन्यते संशयस्तु मानस एवेति। एवंज्ञानेऽप्रामाण्यसंशयाद्विषयसंशयः। एवं व्याप्यसंशयादपि व्यापकसंशय इत्यादिकं बोध्यम्। किन्तु संशये धर्म्मिज्ञानं धर्म्मीन्द्रियसन्निकर्षो वा कारणमिति।" इति तट्टीका सिद्धान्तमुक्तावली॥
संशयानः, त्रि, संशययुक्तः। संपूर्व्वशीङ्धातोः शानप्रत्ययेन निष्पन्नः॥
संशयापन्नमानसः, त्रि, (संशयमापन्नं मानसं यस्य यत्रेति वा।) संशयविषयः। संशययुक्तः।

तत्पर्य्यायः। सांशयिकः २। इत्यमरः॥ द्वे संशयविषये स्थाण्वादौ। संशयमापन्नः सांशयिकः श्चिकः। संशयमापन्नं मानसं यत्र स्थाण्वादौ स तथा। संशयमापन्नं मानसं यस्य स तथेति षष्ठ्यन्यपदार्थे त्वे संशयितरि पुरुषादावप्येतच्छब्दद्वयप्रवृत्तिः स्यात्। इति भरतः॥

संशयालुः, त्रि, संशयिता। इति हेमचन्द्रः॥

संशयिता, [ऋ] त्रि, (सं+शी+तृच्।) संशयकर्त्ता। इति हेमचन्द्रः॥

संशरणं, क्ली, (सं+शॄ+ल्युट्।) रणारम्भः। इति शब्दमाला॥ (संरक्षणम्। यथा, कामन्दकीये। ६। ४।
"लोकानुग्रहमन्विच्छन् शरीरमनुपालयेत्।
राज्ञः संशरणं धाम शरीरं धर्म्मसाधनम्॥")

संशितं, त्रि, (सं+शो+क्तः।) सम्यक्सम्पादितम्। व्रतविषयकयत्नवान्। यथा। संशितं व्रतम्। सम्यक् सम्पादितमित्यर्थः। संशितो ब्राह्मणः। व्रतविषयकयत्नवानित्यर्थः। इति सिद्धान्तकौमुदी॥

संशुद्धिः, स्त्री, (सं+शुध+क्तिन्।) सम्यक् शोधनम्। शरीरमार्ज्जनम्। यथा,—
"सम्मार्ज्जनञ्च संशुद्धिः संशोधनविशोधने॥"
इति रत्नमाला॥

संशुष्कं, त्रि, आतपादिना संशोषितवस्तु। संपूर्व्वशुषधातोः क्तप्रत्ययेन निष्पन्नम्॥

संशोधनं, क्ली, (सं+शुध+ल्युट्।) संशुद्धिः। इति रत्नमाला॥

संशोधितं, त्रि, (सं+शुध+क्तः।) शुद्धीकृतवस्तु। यथा,—
"ये लेपाः कुष्ठानां युज्यन्ते निर्गताश्रदोषाणाम्।
संशोधिताशयानां सद्यः सिद्धिर्भवेत्तेषाम्॥"
इति मधुमती॥

संश्चत्, स्त्री, (संचिनोति मायामिति। सं+चि+"संश्चत्पद्वेहत्।" उणा० २। ८५। इति अतिप्रत्ययेन निपातनात् साधु।) कुहकः। इत्युणादिकोषः॥

संश्यानः, त्रि, (सं+श्यै+क्तः।) शीतेन सङ्कुचितः। इति मुग्धबोधव्याकरणम्॥

संश्रयः, पुं, (सं+श्रि+अच्।) आश्रयः। यथा,
"स्तुता सुरैः पूर्व्वमभीष्टसंश्रया-
त्तथा सुरेन्द्रेण दिनेषु सेविता।
करोतु सा नः शुभहेतुरीश्वरी
शुभानि भद्राण्यभिहन्तु चापदः॥"
इति मार्कण्डेयपुराणे देवीमाहात्म्ये ५ अध्यायः॥
(आश्रयस्थानम्। यथा, रामायणे।२।४१।६।
"अहो निश्चेतनो राजा जीवलोकस्य संश्रयम्।
धर्म्म्यं सत्यव्रतं रामं वनवासे प्रवत्स्यति॥")

संश्रवः, पुं, (सं+श्रु+अप्।) अङ्गीकारः। इत्यमरः॥ (सम्यक् श्रवणम्। यथा, महाभारते। १५। ३। ६।
"अथ भीमः सुहृन्मध्ये बाहुशब्दं तदाकरोत्।
संश्रवे धृतराष्ट्रस्य गान्धार्य्याश्चाप्यमर्षणः॥")

संश्रितः, त्रि, (सं+श्रि+क्तः।) आश्रितः। यथा,
"न प्राचीमग्रतः शम्भोर्नोदीचीं शक्तिसंश्रिताम्।
न प्रतीचीं यतः पृष्ठमतो दक्षं समाश्रयेत्॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम्॥

संश्रुतः, त्रि, (सं+श्रु+क्तः।) अङ्गीकृतः। इत्यमरः॥ (यथा, रामायणे। ३। १०। ३६।
"मया चैतद्वचः श्रुत्वा कात्स्न्येन परिपालनम्।
ऋषीणां दण्डकारण्ये संश्रुतं जनकात्मजे॥")

संश्लिष्टः, त्रि, आश्लिष्टः। मिलितः। संपूर्व्वश्लिषधातोः क्तप्रत्ययेन निष्पन्नः॥

संश्लेषः, पुं, (सं+श्लिष+घञ्।) आलिङ्गनम्। इत्यमरः॥ (यथा, महाभारते।१२।१३३।१७।
"संश्लेषञ्च परस्त्रीभिर्दस्युरेतानि वर्जयेत्॥")
मेलनम्॥ (यथा, मार्कण्डेये। ३७। १५।
"अनन्तरेञ्च संश्लेषमभ्येत्य तदनन्तरम्।
तेषामन्यतमैर्भृत्यैः समाक्रम्यानयद्गृहम्॥")

संश्वत्, स्त्री, (सं+श्वि+अतिप्रत्ययेन निपातनात् सिद्धम्। "संपूर्व्वात् श्वयतेः संश्वदिति सुभूतिचन्द्रः।" इत्युणादिटीकायां उज्ज्वलदत्तः। २। ८५।) माया। यथा,—
"संश्चत्तु कुहके ज्ञेयं संश्वत् तन्त्रेव ते समे।"
इत्युणादिकोषः॥

संसक्तः, त्रि, (सं+सञ्ज+क्तः।) संलग्नः। अव्यवहितः। इत्यमरः॥

संसक्तिः, स्त्री, संसक्तता। संपूर्व्वषञ्जधातोर्भावे क्तिन्प्रत्ययेन निष्पन्ना॥

संसत्, } स्त्री, (संसीदन्त्यस्यामिति। सं+
संसद्, } सद्+क्विप्।) सभा। इत्यमरः॥ (यथा, रघुः। १६। २४।
"तदद्भुतं संसदि रात्रिवृत्तं
प्रातर्द्विजेभ्यो नृपतिः शशंस॥")

संसरणं, क्ली, (सं+सृ गतौ+ल्युट्।) प्राणिजन्म। असंबाधसैन्यगमनम्। घण्टापथः। इत्यमरः॥ रणारम्भः। इति मेदिनी॥ गमनम्। इति शब्दरत्नावली॥ (संसारः। यथा, भागवते। १०। ४०। २८।
"पुंसो भवेद्यर्हि संसरणापवर्ग-
स्त्वय्यब्जनाभ सदुपासनया मतिः स्यात्॥")

संसर्गः, पुं, (सं+सृज्+घञ्।) सम्बन्धः। स च समवायादिः। इति न्यायशास्त्रम्॥ *॥ पापिष्ठान्त्यजादिसंसर्गप्रायश्चित्तम्। यथा,—
"स्तेयादिना पतिता इत्युपक्रम्य उक्तम्। अज्ञानतो वत्सरेण पातित्यम्।
'संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन्।
याजनाध्यापनाद्यौनादेकशय्यासनाशनात्॥'
इति हारीतवचनात्।
ज्ञानतो वत्सरार्द्धेनेति। तदसंसृष्टस्तद्दोषाभाव एव। [क्वचित्।'
'बान्धवोऽपि पृथग्भूत्वा तत् पापं नाप्नुयात्
इति देवलवचनात्॥*॥
'यस्तस्य भुङ्क्ते पक्वान्नं कृच्छ्रार्द्धं तस्य निर्दिशेत्।
शुष्कान्नभोजिनः पादमित्याह भगवान् मनुः॥'
तस्याविज्ञातचण्डालसहितैकवेश्मस्थसङ्कीर्णकरणरूपमूलपाककर्त्तुः द्वितीयसंसर्गिणः। तथा चापस्तम्बः।
'अन्त्यजातिरविज्ञातो निवसेद्यस्य वेश्मनि।
स वै ज्ञात्वा तु कालेन कुर्य्यात्तस्य विशोधनम्॥
चान्द्रायणं पराको वा द्विजातीनां विशोधनम्।
प्राजापत्यस्तु शूद्राणां तथा संसर्गदूषणे॥
यैस्तत्र भुक्तं पक्वान्नं कृच्छ्रं तेषां विनिर्दिशेत्।
तेषामपि च यैर्भुक्तं तेषामर्द्धं विधीयते।
तेषामपि च यैर्भुक्तं कृच्छ्रपादो विधीयते॥'
अत्र तृतीयसंसर्गिण एव प्रायश्चित्तदर्शनात् चतुर्थसंसर्गे दोषो नास्ति। प्रायश्चित्तविवेकोऽप्येवम्।" इति प्रायश्चित्ततत्त्वम्॥ *॥ अथ संसर्गनिरूपणम्। तत्र महापातकिसंसर्गस्य पापहेतुत्वमाह मनुः।
"ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्व्वङ्गनागमः।
महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह॥"
प्रायश्चित्तमपि मनुना दर्शितम्।
"एषां पापकृतामुक्ता चतुर्णामपि निष्कृतिः।
पतितैः संप्रयुक्तानामिमाः शृणुत निष्कृतीः॥
यो येन पतितेनैषां संसर्गं याति मानवः।
स तस्यैव व्रतं कुर्य्यात् तत्संसर्गविशुद्धये॥
प्रायश्चित्तीयतां प्राप्य दैवात् पापकृतेन वा।
न संसर्गं व्रजेत् सद्भिः प्रायश्चित्तेऽकृते द्विजः॥"
पापिष्ठसंसर्गी पातकी भवति इति कृत्यश्रुतिः॥ विष्णुः। यस्य येन पापात्मना सह संसृजेत् स तस्यैव प्रायश्चित्तं कुर्य्यात्। गोतमोऽप्याह। ब्रह्महसुरापगुरुतल्पगपितृमातृयोनिसम्बन्धागस्तेनाभक्ष्यभक्षकनास्तिकनिन्दकनिन्दितकर्म्माभ्यासिपतितात्याग्यपतितत्यागिनः पतिताः पातकसंप्रयोजकाश्च तैश्चाब्दं समाचरन्। निषिद्धपतितसंसर्गात् पततीति श्रुतिः कल्पा॥ के ते संसर्गप्रकारा इत्यत्राह बृहस्पतिः।
"एकशय्यासनं पङ्क्तिर्भाण्डपक्वान्नमिश्रणम्।
याजनाध्यापनं योनिस्तथा च सहभोजनम्।
नवधा सङ्करः प्रोक्तो न कर्त्तव्योऽधमैः सह॥"
छागलेयः।
"आलापात् गात्रसंस्पर्शात् निश्वासात् सहभोजनात्।
सहशय्यासनाध्यायात् पापं संक्रमते नृणाम्॥"
यमः।
"दुष्कृतं हि मनुष्याणामन्नमाश्रित्य तिष्ठति।
यो यस्यान्नमिहाश्नाति स तस्याश्नाति किल्बिषम्॥"
देवलः।
"पतितेन सहोषित्वा जानन् संवत्सरं नरः।
मिश्रितस्तेन सोऽब्दान्ते स्वयञ्च पतितो भवेत्॥
याजनं योनिसम्बन्धं स्वाध्यायं सहभोजनम्।
कृत्वा सद्यः पतन्त्येते पतितेन न संशयः॥"
व्यासः।
"ब्रह्महा मद्यपः स्तेनो गुरुतल्पग एव च।

महापातकिनस्त्वेते यश्च तैः सह संवसेत् ॥
संवत्सरन्तु पतितैः संसर्गं कुरुते तु यः ।
यानशय्यासनैर्नित्यं जानन् स पतितो भवेत् ॥”
ननु द्वितीयतृतीयसंसर्गिणि प्रमाणं नास्ति अतएव वृद्धशातातपः ।
“अशुचिं संस्पृशेद्यस्तु एक एव स दुष्यति ।
तत्स्पृष्टान्यो न दुष्येत सर्व्वद्रव्येष्वयं विधिः ॥”
तथा ।
“संहतानान्तु पात्राणां यद्येकमुपहन्यते ।
तस्य तत् शोधनं प्रोक्तं न तु तत्स्पृष्टिनामपि ॥”
उच्यते । यश्च येन पापात्मनेति यो येन संपिवेदिति संसर्गी येन संसर्गमिति विष्णुव्यासजावालवचनैः सामान्येन पापिष्ठसंसर्गी पापी भवति इति प्रतिपादनात् संसर्गपापिष्ठस्यापि संसर्गी पापयुक्तो भवतीति एभिरेव प्रतिपादितम् ॥ * ॥ पतितोत्पन्नानां शुद्धिमिच्छतां पतितानां प्रायश्चित्तस्य तृतीयो भागस्तत्प्रायश्चित्तं ज्ञेयम् । स्त्री च पतितोत्पन्ना तृतीयभागस्य तृतीयभागं कुर्य्यात् । इति प्रायश्चित्तविवेकः ॥

संसर्गाभावः, पुं, (संसर्गेण सम्बन्धेन अवच्छिन्नोऽभावः ।) सम्बन्धरहितत्वम् । न्यायमते अभावपदार्थविशेषः । स तु भेदभिन्नाभावः । स च त्रिविधः । प्रागभावः १ ध्वंसः २ अत्यन्ताभावः ३ । यथा,—
“अभावस्तु द्विधा संसर्गान्योन्याभावभेदतः ।
प्रागभावस्तथा ध्वंसोऽप्यत्यन्ताभाव एव च ॥
एवं त्रैविध्यमापन्नः संसर्गाभाव इष्यते ॥”
इति भाषापरिच्छेदः ॥ * ॥
भेदत्वं तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वम् । विनाश्यभावत्वं प्रागभावत्वम् १ जन्याभावत्वं ध्वंसत्वम् २ नित्यसंसर्गाभावत्वमत्यन्ताभावत्वम् ३ । इति सिद्धान्तमुक्तावली ॥

संसर्गी, [न्] (संसर्गोऽस्यास्तीति । इनिः । यद्वा, सं + सृज + “संपृचानुरुधेति ।” ३ । २ । १४२ । इति घिनुन् ।) संसर्गविशिष्टः । यथा । विभागानन्तरं मैत्र्यात् पितृभ्रातृपितृव्यभ्रातृपुत्त्राणां यथायथं एकत्रावस्थानं संसर्गः तद्युक्तः संसर्गी । एवम्भूतस्य संसर्गिणो मृतस्य धनं तज्जातस्यापत्यस्य तदपत्याभावे संसर्गी स्वयं गृह्णीयात् । इति दायतत्त्वम् ॥

संसर्पः, पुं, सम्यक्प्रकारेण गमनम् । सर्पादिगमनवद्गमनम् । संपूर्व्वसृपधातोर्घञ्प्रत्ययेन निष्पन्नः ॥

संसर्पी, [न्] त्रि, संसर्पशब्दादिनिप्रत्ययेन संपूर्व्वकसृपधातोर्णिनिप्रत्ययेन वा निष्पन्नः ॥ संसर्पविशिष्टः । सम्यग्गमनशीलः ॥ (यथा, रघुः । ७ । २६ ।
“कपोलसंसर्पिशिखः स तस्याः
मुहूर्त्तकर्णोत्पलतां प्रपेदे ॥”)

संसारः, पुं, (संसरत्यस्मादिति । सं + सृ गतौ + घञ् ।) मिथ्याज्ञानजन्यवासना । इति नैयायिकाः ॥ यथा । संसारश्च मिथ्याधीप्रभवा वासना । इति प्रामाण्यवादगादाधरी टीप्पनी ॥ स्वादृष्टोपनिबद्धशरीरपरिग्रहः । इति कलापटीकायां गोपीनाथः ॥ संसरणम् । इति शब्दरत्नावली ॥ तत्पर्य्यायः । दुःखलोकः २ भवः ३ कष्टकारकः ४ । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ अपि च ।
“अस्माद्विजायते विश्वमत्रैव प्रविलीयते ।
अमायी मायया बद्धः करोति विविधास्तनूः ॥
न चाप्ययं संसरति न च संसारयेत् प्रभुः ।
नायं पृथ्वी न सलिलं न तेजः पवनो न तत् ॥
न प्राणो न मनो व्यक्तं न शब्दः स्पर्श एव
च ।
न रूपरसगन्धाश्च नाहं कर्त्ता न वागपि ॥
न पाणिपादौ नो पायुर्न चोपस्थो द्विजोत्तमाः ।
न कर्त्ता न च भोक्ता वा न च प्रकृतिपूरुषौ ॥
न माया नैव च प्राणश्चैतन्यं परमार्थतः ।
अहं कर्त्ता सुखी दुःखी कृशः स्थूलेति या मतिः ॥
सा चाहङ्कारकर्तृत्वादात्मन्यारोप्यते जनैः ।
वदन्ति वेदविद्वांसः साक्षिणं प्रकृतेः परम् ॥
भोक्तारमक्षरं शुद्धं सर्व्वत्र समवस्थितम् ।
तस्मादज्ञानमूलोऽयं संसारः सर्व्वदेहिनाम् ॥”
इति कौर्म्मे ईश्वरगीतासु २ अध्यायः ॥
किञ्च ।
“पितृमातृसुहृद्भ्रातृकलत्रादिकृतेन च ।
कृष्टोऽसक्तस्तथा दैन्यमश्रुपूर्णाननो गतः ॥
एवं संसारचक्रेऽस्मिन् भ्रमता तात सङ्कटे ।
ज्ञानमेतन्मया प्राप्तं मोक्षसंप्राप्तिकारकम् ॥”
इति मार्कण्डेयपुराणे पितापुत्त्रसंवादनामाध्यायः ॥

संसारगुरुः, पुं, (संसारस्य गुरुः ।) कामदेवः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ जगद्गुरुश्च ॥

संसारमार्गः, पुं, (संसारस्य मार्गः ।) योनिः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

संसारमोक्षणं, त्रि, (संसारस्य मोक्षणं यस्मात् ।) भवतारकम् । यथा,—
“एवमेतन्महाशास्त्रं देवि ! संसारमोक्षकम् ।
मम भक्तव्यवस्थार्थे प्रयुक्तं परमं मया ॥”
इति वाराहे सुतस्वामिमाहात्म्यनामाध्यायः ॥ *
(संसारस्य मोक्षणम् ।) भवमोचने, क्ली । तदुपाया यथा,—
बलिरुवाच ।
“संसारार्णवमग्नानां नराणामन्यचेतसाम् ।
तरणी यो भवेत् पोतस्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥
प्रह्लाद उवाच ।
ये शङ्खचक्राब्जकरं तु शार्ङ्गिणं
खगेन्द्रकेतुं वरदं श्रियः पतिम् ।
समाश्रयन्ते भवभीतिनाशनं
संसारगर्त्ते न पतन्ति ते पुनः ॥
वैकुण्ठं खड्गपरशुं भवबन्धसमुच्छिदम् ।
प्रणिपत्य महात्मानं संसारे न पुनर्भवेत् ॥
ध्यायेत् दामोदरं यस्तु भक्तिनम्रोऽर्चयेत वा ।
न स संसारगर्त्तेऽस्मिन् मज्जते दानवेश्वर ! ॥
ये मानवा विगतरागपरावरज्ञा
नारायणं सुरगुरुं सततं स्मरन्ति ।
ते धौतपाण्डरपटा इव राजहंसाः
संसारसागरजलस्य तरन्ति पारम् ॥”
इति वामने ६० अध्यायः ॥

संसारी, [न्] पुं, (संसारोऽस्यस्येति । इनिः ।) संसारविशिष्टप्राणी । इति हलायुधः ॥ शरीरी । यथा । संसारिणामिति संसारित्वं शरीरित्वम् । शरीरित्वञ्च भोगावच्छेदकत्वं न तु चेष्टावत्त्वम् । अत ईश्वरपरिगृहीतरामकृष्णादिशरीरव्युदासः मिथ्याज्ञानजन्यवासनाया अदृष्टस्य वा न संसारपदेन विवक्षासम्भवः । इति बौद्धाधिकारस्य गादाधरी टिप्पनी ॥

संसिद्धिः, स्त्री, (सं + सिध + क्तिन् ।) प्रकृतिः । स्वभावः । इत्यमरः ॥ सम्यक्सिद्धिः । मदोग्रा । इति मेदिनी ॥ परमा सिद्धिः । मोक्षः । यथा,
“मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥”
इति श्रीभगवद्गीतायां ८ अध्याये १५ श्लोकः ॥
(फलम् । इति स्वामी ॥ यथा, भागवते । १ । २ । १३ ।
“अतः पुंभिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः ।
स्वनुष्ठितस्य धर्म्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम् ॥”)

संसृतिः, स्त्री, (सं + सृ + क्तिन् ।) संसारः । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, भागवते । १ । १ । १४ ।
“आपन्नः संसृतिं घोरां यन्नाम विवशो गृणन् ।
ततः सद्यो विमुच्येत यद्बिभेति स्वयं भयम् ॥”)
प्रवाहः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

संसृष्टः, त्रि, (सं + सृज् + क्तः ।) संसर्गः । वमनादिना संशुद्धः । इति मेदिनीकरहेमचन्द्रौ ॥ विभागानन्तरं मैत्र्यात् पितृभ्रातृपितृव्यभ्रातृपुत्त्राणां यथायथं एकत्रावस्थानं संसर्गस्तद्युक्तः । अथ संसृष्टधनविभागः । एकपितृजातयोरपि सोदरविमातृजयोर्मृतदेयषट्पुरुषपिण्डदातृत्वेन सोदरस्यैव धनाधिकारो न तु पित्रादित्रयमात्रपिण्डदातुर्विमातृजस्य । क्वचित्तु संसृष्टत्वेन विमातृजस्याप्यसंसृष्टसोदरेण सह तुल्याधिकारिता सोदरस्य संसृष्टत्वे स एव गृह्णीयान्न संसृष्टोऽपि विमातृज इति । तथा च याज्ञवल्क्यः ।
“संसृष्टिनस्तु संसृष्टी सोदरस्य तु सोदरः ।
दद्याच्चापहरेदंशं जातस्य च मृतस्य च ॥
अन्योदर्य्यस्तु संसृष्टी नान्योदर्य्यो धनं हरेत् ।
असंसृष्टोऽपि चादद्यात् संसृष्टी नान्यमातृजः ॥”
संसृष्टिनमाह बृहस्पतिः ।
“विभक्तो यः पुनः पित्रा भ्रात्रा चैकत्र
संस्थितः ।
पितृव्येणाथवा प्रीत्या स तु संसृष्ट उच्यते ॥”
तेन विभागानन्तरं मैत्र्यात् पितृभ्रातृपितृव्यभ्रातृपुत्त्राणां यथायथं एकत्रावस्थानं संसर्गः तद्युक्तः संसर्गी । एवम्भूतस्य संसर्गिणो मृतस्य

धनं तज्जातस्यापत्यस्य तदपत्याभावे संसर्गी स्वयं गृह्णीयात्। एवं सोदरस्य तु सोदरः ॥*॥ ततश्च संसृष्टिनस्तु संसृष्टीत्येतद्वचनं तुल्यरूपसम्बन्धिसंसर्गकृतविशेषप्रतिपत्त्यर्थं तेन सोदराणां सापत्नानां भ्रातृपुत्राणां पितृव्याणां तुल्यानां सद्भावे संसर्गी गृह्णीयात् वाक्यादविशेषश्रुतेः। पूर्ब्बवचने सर्ब्बेषामेव प्रकृतत्वात् सर्ब्बेषु चाक्षेपासम्भवात्। अतो न भ्रातृमात्रविषयमिदं वचनमिति जीमूतवाहनः॥ सोदरे त्वसंसृष्टिनि संसृष्टिन्यसोदरे च सति कतरस्तावत् गृह्णीयात्। एवं सोदरासोदरयोः संसृष्टयोः सद्भावे कतर इत्यत्र प्रथमत आह अन्योदर्य्यस्त्विति। अन्योदर्य्यः पुनः संसृष्टी सन् गृह्णीयात् नान्योदर्य्यमात्रः किन्तु असंसृष्टापि पूर्ब्बवचनस्थसोदरपदानुषङ्गात् प्राप्तः सोदरश्च गृह्णीयात्। तेन एकत्र विषये पूर्ब्बवचनोक्तसंसृष्टत्वसोदरत्वयो-रेकशस्तुल्यत्वादुभयोर्विभज्य ग्रहणम्। तदुभयसत्त्वे च असोदर्य्यस्यासंसृष्टिनोऽतुल्यरूपत्वात् नेति। द्वितीये आह संसृष्टो नान्यमातृज इति। सोदरे संसृष्टिनि सति अन्यमातृजः संसृष्टापि न गृह्णीयात्। अर्थात्तत्र संसृष्टी सोदर एव गृह्णीयात्। संसृष्टत्वाविशेषेऽपि सोदरत्वेन तस्य बलवत्त्वात्। दायभागकारास्तु अन्योदर्य्यस्तु संसृष्टी सन् सत्यपि सोदरेऽसंसृष्टिनि धनं हरेत् नान्योदर्य्यः संसृष्टापि गृह्णीयादिति पूर्ब्बार्द्धस्यार्थः। तत्र किं सोदरस्तदार्थी न गृह्णीयादेवेत्यपेक्षायामुत्तरार्द्धेनोक्तं असंसृष्टापि चाददात् सोदर इत्यनुषज्यते न संसृष्टोऽन्यमातृजः केवलः। किन्तु उभाभ्यामेव विभज्य ग्रहीतव्यमित्याहुः। मिताक्षरादयोऽप्येवम्। याज्ञवल्क्यदीपकलिकायां शूलपाणिमहामहोपाध्यायास्तु। अन्योदर्य्यस्तु संसृष्टी नान्योदर्य्यो धनं हरेत्। असंसृष्टापि सोदर एव गृह्णीयात् न तु संसृष्टः सापत्नो भ्राता। संसृष्ट इति गर्भसंसृष्टः सोदर इति केचित्। नान्योदर्य्यो धनं हरेत् इति पाठे अन्योदर्य्यः सन् धनं न गृह्णीयात् इति व्याख्या असंसृष्टसोदरस्याधिकारार्थमिदं वचनमतो न पुनरुक्तिरित्याहुः। रत्नाकरप्रभृतयस्तु कल्पतरौ नान्योदर्य्यधनं हरेदिति पाठो दृश्यते स मूलभूतयाज्ञवल्क्यमिताक्षरापारिजातहलायुधग्रन्थेषु नान्योदर्य्यो धनं हरेदिति पाठदर्शनात् तदनुसारव्याख्यादर्शनाच्च लिपिकरप्रमाद इत्याहुः। इति दायतत्त्वम् ॥

संसृष्टत्वं, क्ली, (संसृष्ट+त्व।) संसृष्टस्य भावः। यथा। तेन एकत्र विषये पूर्ब्बवचनोक्तसंसृष्टत्वसोदरत्वयोरेकशस्तुल्यत्वादुभयोर्व्विभज्य ग्रहणम्। इति दायतत्त्वम् ॥

संसृष्टी, [न्] पुं, (संसृष्टं संसृष्टत्वमस्यास्तीति। इनिः।) संसृष्टत्वविशिष्टः। यथा, याज्ञवल्क्यः।

"संसृष्टिनस्तु संसृष्टी सोदरस्य तु सोदरः।
दद्याच्चापहरेदंशं जातस्य च मृतस्य च ॥
अन्योदर्य्यस्तु संसृष्टी नान्योदर्य्यो धनं हरेत्।
असंसृष्टापि चाददात् संसृष्टो नान्यमातृजः ॥"
इति दायतत्त्वम् ॥

संस्कारः, पुं, (सं+कृ+घञ्।) प्रतियत्नः। अनुभवः। मानसकर्म्म। इति मेदिनी ॥ न्यायमते गुणविशेषः। स च त्रिविधः। वेगाख्यसंस्कारः १ अयं मूर्त्तपदार्थस्थायी। क्वचिद्वेगजन्यः क्वचित्कर्म्मजन्यश्च। स्थितिस्थापकसंस्कारः २ अयं पृथिवीगुणः केषाञ्चिन्मते पृथिव्यादिचतुःपदार्थगुणः। अयं अतीन्द्रियः स्पन्दनकारणञ्च। भावनाख्यसंस्कारः ३ अयं आत्मनः अतीन्द्रियगुणः। उपेक्षानात्मकनिश्चयजन्यः। अयं स्मरणप्रत्यभिज्ञयोः कारणञ्च ॥ * ॥ अस्य प्रमाणम्।

"संस्कारभेदो वेगोऽथ स्थितिस्थापकभावने।
मूर्त्तमात्रे तु वेगः स्यात् कर्म्मजो वेगजः क्वचित् ॥
स्थितिस्थापकसंस्कारः क्षितौ केचिच्चतुर्ष्वपि।
अतीन्द्रियः स विज्ञेयः क्वचित् स्पन्देऽपि
कारणम् ॥
भावनाख्यस्तु संस्कारो जीववृत्तिरतीन्द्रियः।
उपेक्षानात्मकस्तस्य निश्चयः कारणं भवेत् ॥
स्मरणे प्रत्यभिज्ञायामप्यसौ हेतुरुच्यते ॥"
इति भाषापरिच्छेदः ॥ * ॥

शुद्धिः अदृष्टविशेषजनककर्म्म। यथा। यद्यग्निस्थापनान्तरं कर्म्मकाले दृष्टादिशङ्कया संस्कृताग्निरन्यत्रानीयते तदा पुनर्भूसंस्कारः कर्त्तव्यः। समुह्य उपलिप्य उल्लिख्य उद्धृत्य अभ्युक्षयेत् एष संस्कारोऽनुगतोऽग्नौ भूयः। इति ग्रन्थान्तरात्। इति संस्कारतत्त्वम् ॥ * ॥ दशविधसंस्कारा यथा। विवाहः १ गर्भाधानम् २ पुंसवनम् ३ सीमन्तोन्नयनम् ४ जातकर्म्म ५ नामकरणम् ६ अन्नप्राशनम् ७ चूडाकरणम् ८ उपनयनम् ९ समावर्त्तनम् १०। यथा हारीतः। गर्भाधानवदुपेतो ब्रह्मगर्भं सन्दधाति पुंसवनात् पुंसीकरोति फलस्थापनात् मातापितृजं पाप्मानमपोहति रेतोरक्तगर्भोपघातः पञ्चगुणो जातकर्म्मणा प्रथममपोहति नामकरणेन द्वितीयं प्राशनेन तृतीयं चूडाकरणेन चतुर्थं स्नापनेन पञ्चमं एतैरष्टाभिः संस्कारैर्गर्भोपघातात् पूतो भवतीति। स्नानमत्र समावर्त्तनरूपमिति कल्पतरुः। इति संस्कारतत्त्वम् ॥ * ॥ याज्ञवल्क्यः।

"गर्भाधानमृतौ पुंसः सवनं स्पन्दनात् पुरा।
षष्ठेऽष्टमे वा सीमन्तः प्रसवे जातकर्म्म च ॥
अहन्येकादशे नाम चतुर्थे मासि निष्क्रमः।
षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि चूडा कार्य्या यथाकुलम् ॥
एवमेनः शमं याति बीजगर्भसमुद्भवम् ॥"
इति मलमासतत्त्वम् ॥ * ॥

संस्कृतानामधिकारमाह याज्ञवल्क्यः।
"असंस्कृतास्तु संस्कार्य्या भ्रातृभिः पूर्ब्बसंस्कृतैः।
भगिन्यश्च निजादंशाद्दत्त्वांशन्तु तुरीयकम् ॥"
असंस्कृता भ्रातरो भगिन्यश्च पूर्ब्बसंस्कृतैरुपनीतैः। अन्यथा मन्त्रपाठानधिकारापत्तेः इत्युद्वाहतत्त्वम् ॥ एषां विवरणं तत्तच्छब्दे द्रष्टव्यम्। गरुड़पुराणोक्तसंस्कारास्तत्रैव ९३। ९४। ९५ अध्यायेषु द्रष्टव्याः ॥ * ॥

अथ जीर्णदेवगृहादिसंस्कारफलम्।
"अथ चेज्जीर्णसंस्कारविधिः पुण्यो महामुने!
देवतादिषु कर्त्तव्यो महाभोगफलेप्सुभिः ॥
मूलादष्टगुणं पुण्यं जीर्णसंस्कारतो भवेत्।
तस्मादनाथजीर्णेषु कार्य्यं संस्करणं मुने!।
स्वकीयं परकीयं वा यथाविभवविस्तरैः ॥
स्वतो वा परतो वापि यस्तु संस्कुरुते सुरान्।
स यावच्चन्द्रसूर्य्यौ गौस्तावत्कालं सुखी
भवेत् ॥
लोकेषु तेषु देवानां विरजस्केषु हृष्टधीः।
यथा गोमेधयज्ञेषु पशुरोमसमाः समाः ॥
वसते दिवि हृष्टात्मा जीर्णसंस्कारकारकः।
अनाथा वा सनाथा वा पूजनीयाः सदा सुराः ॥"
इति देवीपुराणे पूजाविधिनामाध्यायः ॥

संस्कारजः, त्रि, संस्कारेण जातः। संस्कारशब्दपूर्ब्बकजनधातोर्डप्रत्ययेन निष्पन्नः ॥

संस्कारवर्ज्जितः, पुं, (संस्कारेण वर्ज्जितः।) उपनयनसंस्कारहीनः। तत्पर्य्यायः। व्रात्यः २। इति हेमचन्द्रः ॥ दशसंस्कारहीने, त्रि ॥

संस्कारहीनः, पुं, (संस्कारेण हीनः।) व्रात्यः। इत्यमरः ॥ संस्कारहीनत्वकालमाह। यमः।
"पतिता यस्य सावित्री दशवर्षाणि पञ्च च।
ब्राह्मणस्य विशेषेण तथा राजन्यवैश्ययोः।
प्रायश्चित्तं भवेदेषां प्रोवाच वदतां वरः ॥"
तथा मार्कण्डेयः।
"विप्रस्य षोड़शाद्वर्षात् राज्ञो द्वाविंशतेः
परम्।
वैश्यस्याष्टाधिकादब्दात् सावित्रीपतनं भवेत् ॥"
विष्णुधर्म्मोत्तरे।
"षोड़शाब्दा हि विप्रस्य राजन्यस्य द्विविंशतिः।
विंशतिः सचतुर्थी च वैश्यस्य परिकीर्त्तिता ॥
सावित्री नातिरिच्येत अत ऊर्द्धं निवर्त्तते ॥"
इति मलमासतत्त्वम् ॥

संस्कृतं, क्ली, (सं+कृ+क्तः।) लक्षणोपेतम्। इति मेदिनी ॥ पाणिन्यादिकृतव्याकरणसूत्रेण उपेत उपगतो लक्षणोपेतः साधुशब्दः। इत्यमरटीकायां भरतः ॥ स तु देववाणी। यथा,
"गीर्व्वाणवाणीवदनं मुकुन्दसंकीर्त्तनञ्चेत्युभयं हि लोके।
सुदुर्लभं तच्च न मुग्धबोधान्न लभ्यतेऽतः पठनीयमेतत् ॥"
इति मुग्धबोधव्याकरणप्रशंसाश्लोकः ॥

संस्कृतः, त्रि, (सं+कृ+क्तः।) कृत्रिमः। इत्यमरः ॥ करणेन निर्वृत्तः कृत्रिमो घटादिः। इति भरतः ॥ पक्वः। स्वतो गुणान्तराधानम्।

इत्यमरटीकायां स्वामी ॥ शस्तः । भूषितः । इति मेदिनी ॥ शोधितः । इति जटाधरः ॥ (यथा, देवीभागवते । १ । २ । ११ ।
"पुराणमुत्तमं पुण्यं श्रीमद्भागवताभिधम् ।
अष्टादशसहस्राणि श्लोकास्तत्र तु संस्कृताः ॥")

संस्क्रिया, स्त्री, (सं + कृ + "कृञः श च ।" ३ । ३ । १०० । इति शः ।) शवदाहादिक्रिया । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ संस्कारश्च ॥

संस्तरः, पुं, (संस्तीर्य्यते इति । सं + स्तॄ + अप् ।) शय्या । यज्ञः । इति हेमचन्द्रः ॥ पल्लवादिरचितशय्या । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, रघुः । ८ । ५७ ।
"नवपल्लवसंस्तरेऽपि ते
मृदु दूयेत यदङ्गमर्पितम् ।
तदिदं विषहिष्यते कथं
वद वामोरु चिताधिरोहणम् ॥")

संस्तवः, पुं, (सं + स्तु + अप् ।) परिचयः । इत्यमरः ॥ (यथा, किराते । ४ । २५ ।
"विहाय वाञ्छामुदिते मदात्यया-
दरक्तकण्ठस्य रुते शिखण्डिनः ।
श्रुतिः श्रयत्युन्मदहंसनिःस्वनं
गुणाः प्रियत्वेऽधिकृता न संस्तवः ॥")
सम्यक्स्तुतिश्च ॥ (यथा, भागवते ।११।१३।४१।
"इति मे छिन्नसन्देहा मुनयः सनकादयः ।
सभाजयित्वा परया भक्त्या गृणत संस्तवैः ॥")

संस्तवानः, त्रि, (संस्तवीतीति । सं + स्तु + "सम्यानच् स्तुवः ।" उणा० २ । ८९ । इति आनच् ।) वक्ता । इत्युणादिकोषः ॥ वाग्मी । उद्गाता । हर्षः । इति संक्षिप्तसारोणादिवृत्तिः ॥

संस्तावः, पुं, (समेत्य स्तुवन्ति यस्मिन् देशे छन्दोगा इति । सम् + स्तु + "यज्ञे समि स्तुवः ।" ३ । ३ । ३१ । इति घञ् ।) क्रतुषु द्विजन्मनां स्तुतिभूमिः । इत्यमरः ॥ यज्ञेषु स्तुतिकारिणां ब्राह्मणानां अवस्थानभूमिः संस्ताव उच्यते । क्रतुषु यज्ञविषयेषु द्विजानां या स्तुतिभूमिः स्थानं स संस्ताव इत्यन्वयः । समेत्य स्तूयते छन्दोगैरत्र इति संस्तावः घञ् । इति भरतः ॥

संस्तुतः, त्रि, (सं + स्तु + क्तः ।) सम्यक्प्रकारेण स्तुतिप्राप्तः । सम्यक्स्तवविषयीभूतः । यथा,—
"भूयश्च शतवार्षिक्यामनावृष्ट्यामनम्भसि ।
मुनिभिः संस्तुता भूमौ सम्भविष्याम्ययोनिजा ॥"
इति देवीमाहात्म्यम् ॥

संस्त्यावः, पुं, (सं + स्त्यै + घञ् । आतो युक् ।) संघातः । सन्निवेशः । इत्यमरः ॥ संस्थानम् । विस्तृतिः । इति मेदिनी ॥ गृहम् । इति हेमचन्द्रः ॥

संस्थः, पुं, (संतिष्ठते स्वपरराष्ट्रेषु इति । सं + स्था + कः ।) चरः । इति मेदिनी ॥ निजराष्ट्रकः । इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, कामन्दकीये । १२ । ३६ ।
"संस्थाः स्वव्यवहारसंस्थित्यै दत्तदायाः शुभाशयाः ॥")

संस्थः, त्रि, (संतिष्ठते इति । सं + स्था + कः ।) अवस्थितः । इति मेदिनी ॥ (यथा, हरिवंशे भविष्यपर्व्वणि । ८ । ६६ ।
"यदा मे मरणं भूयात् तदा मा भूत् स्मृतिभ्रमः ।
दिने दिने चरणं चित्तं त्वयि संस्थं भवत्विति ॥")
मृतः । इति शब्दरत्नावली ॥

संस्था, स्त्री, (संतिष्ठतेऽनयेति । सं + स्था + अङ् ।) न्याय्यपथस्थितिः । इत्यमरः ॥ सन्तिष्ठतेऽनया सम्यगवस्थानं वा संस्था । इति भरतः ॥ अस्याः पर्य्यायो मर्य्यादाशब्दे द्रष्टव्यः ॥ (यथा, उपदेशशतके । ९० ।
"अपि शक्तः परिहर्त्तुं ययातिशापं हरिर्हते कंसे ।
राजासनं न भेजे पुरातनीं पालयेत् संस्थाम् ॥")
प्रतिज्ञा । यथा, रघुः । ११ । ३८ ।
"तस्य वीक्ष्य ललितं वपुः शिशोः
पार्थिवः प्रथितवंशजन्मनः ।
स्वं विचिन्त्य च धनुर्दुरानमं
पीडितो दुहितृशुल्कसंस्थया ॥")
स्थितिः । सादृश्यम् । नाशः । इति मेदिनी ॥ व्यवस्था । (यथा, मनुः । १ । २१ ।
"सर्व्वेषान्तु स नामानि कर्म्माणि च पृथक् पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्म्ममे ॥")
व्यक्तिः । क्रतुभेदः । (यथा, भागवते । १० । २३ । ८ ।
"दीक्षायाः पशुसंस्थायाः सौत्रामण्याश्च सत्तमाः ।
अन्यत्र दीक्षितस्यापि नान्नमश्नन् हि दुष्यति ॥")
समाप्तिः । इति हेमचन्द्रः ॥ प्रलयचतुष्टयम् । यथा,—
"नैमित्तिकः प्राकृतिको नित्य आत्यन्तिको लयः ।
संस्थेति कविभिः प्रोक्तश्चतुर्धास्य स्वभावतः ॥"
इति पुराणम् ॥

संस्थानं, क्ली, (सं + स्था + ल्युट् ।) सन्निवेशः । (यथा, मनुः । ८ । ३७१ ।
"भर्त्तारं लङ्घयेत् या तु स्त्री ज्ञातिगुणदर्पिता ।
तां श्वभिः खादयेद्राजा संस्थाने बहुसंस्थिते ॥")
चतुष्पथः । इत्यमरः ॥ आकृतिः । मृत्युः । इति मेदिनी ॥ चिह्नम् । इत्यजयपालः ॥ सम्यक् स्थितिश्च ॥ (अवस्था । यथा, भागवते । ३ । ९ । २७ ।
"लोकसंस्थानविज्ञान आत्मनः परिखिद्यतः ।
तामाहागाधया वाचा कश्मलं शमयन्निव ॥")

संस्थापनं, क्ली, (सं + स्था + णिच् + ल्युट् ।) सम्यक्स्थितिप्रापणम् । स्थिरीकरणम् । यथा,
"परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्म्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥"
इति भगवद्गीतायाम् ३ अध्यायः ॥
"साधुरक्षणेन दुष्टवधेन च धर्म्मं स्थिरीकर्त्तुम् ।"
इति तट्टीकायां श्रीधरस्वामी ॥

संस्थितः, त्रि, (सं + स्था + क्तः ।) मृतः । इत्यमरः ॥ (यथा, मनुः । ९ । १९० ।
"संस्थितस्यानपत्यस्य सगोत्रात् पुत्त्रमाहरेत् ।
यत्र यद्रिक्थजातं स्यात् तत्तस्मिन् प्रतिपादयेत् ॥")
सम्यक्स्थितिविशिष्टश्च ॥ (यथा, कौर्म्मे ।१।२१।
"इदन्तु पञ्चदशमं पुराणं कौर्म्ममुत्तमम् ।
चतुर्द्धासंस्थितं पुण्यं संहितानां प्रभेदतः ॥")

संस्थितिः, स्त्री, (सं + स्था + क्तिन् ।) संस्थानम् । (यथा, मनुः । ६ । ९० ।
"यथा नदीनदाः सर्व्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।
तथैवाश्रमिणः सर्व्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥")
मृत्युः । गृहम् । इति केचित् ॥

संस्पर्शः, पुं, (सं + स्पृश + घञ् ।) सम्यक्स्पर्शः । स तु त्वगिन्द्रियग्राह्यगुणविशेषः । यथा, छागलेयः ।
"आलापात् गात्रसंस्पर्शात् निश्वासात् सहभोजनात् ।
सहशय्यासनाध्यायात् पापं संक्रमते नृणाम् ॥"
इति प्रायश्चित्तविवेकः ॥

संस्पर्शा, स्त्री, (संस्पृश्यतेऽसौ इति । सं + स्पृश + कर्म्मणि घञ् । टाप् ।) जनीनामगन्धद्रव्यम् । इत्यमरः ॥

संस्फालः, पुं, (सम्यक् स्फालः स्फुरणं यस्य ।) मेषः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

संस्फुटः, त्रि, (संस्फुटतीति । सं + स्फुट् + इगुपधेति कः ।) विकसितः । इति शब्दरत्नावली ॥

संस्फेटः, पुं, (सं + स्फिट अनादरे + अधिकरणे घञ् ।) युद्धम् । इत्यमरटीकायां भरतः ॥

संस्फोटः, पुं, (संस्फोटत्यत्रेति । सं + स्फुट् भेदने + घञ् ।) युद्धम् । इत्यमरः ॥

संस्मरणं, क्ली, (सं + स्मृ + ल्युट् ।) संस्मृतिः । संस्कारजन्यज्ञानम् । यथा, योगियाज्ञवल्क्यः ।
"ध्यायेन्नारायणं नित्यं स्नानादिषु च कर्म्मसु ।
तद्विष्णोरिति मन्त्रेण स्नायादप्सु पुनः पुनः ॥
गायत्त्री वैष्णवी ह्येषा विष्णोः संस्मरणाय वै ।"
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥

संस्मृतिः, स्त्री, संस्मरणम् । संपूर्व्वस्मृधातोः क्तिन्प्रत्ययेन निष्पन्ना ॥ (यथा, कथासरित्सागरे । ५५ । २०६ ।
"तच्छ्रुत्वा संस्मृतिं लब्ध्वा स राजा प्रत्युवाच तम् ॥")

संहतः, त्रि, (सं + हन + क्तः ।) दृढसन्धिः । इत्यमरः ॥ मिलितः । दृढः । इति मेदिनीकरहेमचन्द्रौ ॥ सम्यक्प्रकारेण हतश्च ॥

संहतजानुः, त्रि, (संहते जानुनी यस्य ।) लग्नजानुकः । यथा,—
"प्रज्ञुः प्रगतजानुः स्यात् प्रज्ञोऽप्येवं च दृश्यते ।
संज्ञुः संहतजानुश्च भवेत् संज्ञोऽपि तत्र हि ।
ऊर्द्ध्वज्ञुरूर्द्ध्वजानुः स्यादूर्द्ध्वज्ञोऽप्यूर्द्ध्वजानुकः ॥"
इति भरतधृतशाब्दिकाः ॥

संहतजानुकः, त्रि, (संहतजानुरेव। स्वार्थे कन्।) लग्नजानुकः। तत्पर्य्यायः। संज्ञुः २। इत्यमरः॥ संहतजानुः ३ संज्ञः ४। इति तट्टीकायां भरतः॥

संहतलः, पुं, (संहतं परस्परयोर्म्मिलनं लातीति। ला+कः।) मिलितपाणिद्वयम्। इत्यमरः॥ द्वौ वामदक्षिणौ प्रतलौ संहतौ मिलितौ संहतल उच्यते। प्रतलद्वयं मिलितं संहतलः स्यादित्यर्थः। संहतं लाति संहतलः हननात्मादिति डः। निर्विसर्गपाठे द्वौ वामदक्षिणौ पाणी संहतौ मिलितौ चेत् तदा संहतलप्रतलावुच्येते। अस्मिन्नर्थे प्रतलोऽयं चपेटे संहतले च वर्त्तमानत्वात् नानार्थः। इति भरतः॥

संहतिः, स्त्री, (सं+हन+क्तिन्।) समूहः। इत्यमरः॥ (यथा, हितोपदेशे।
"अल्पानामपि वस्तूनां संहतिः कार्य्यसाधिका।
तृणैर्गुणत्वमापन्नैर्बध्यन्ते मत्तदन्तिनः॥")

संहननं, क्ली, (संहन्यते इति। सं+हन+ल्युट्।) शरीरम्। इत्यमरः॥ (यथा, भागवते। ५। २। २१।
"आग्नीध्रसुतास्ते मातुरनुग्रहादौत्पत्तिकेनैव संहननबलोपेताः पित्रा विभक्ता आत्मतुल्यनामानि यथाविभागं जम्बूद्वीपवर्षाणि बुभुजुः॥")
सम्यग्घातनञ्च। (कठिने, त्रि। यथा, भागवते। ५। ६। १०।
"शीतोष्णवातवर्षेषु वृष इवानाशताङ्गः पीनः संहननाङ्गः * * * विचचार॥" "संहन्यन्ते निविडीभवन्ति अङ्गानि यस्य। कठिनावयव इत्यर्थः॥" इति तट्टीकायां स्वामी॥)

संहराख्यः, पुं, (संहर इति आख्या यस्य।) पावकनामाग्निः। इति मत्स्यपुराणम्॥

संहर्षः, पुं, (सं+हृष+घञ्।) प्रमोदः। स्पर्द्धा। (यथा, महाभारते। ३। २१८। २४।
"संहर्षाद्धारयन् क्रोधं धन्वी स्रग्वी रथ स्थितः।
समरे नाशयेत् शत्रूनमोघो नाम पावकः॥")
वायुः। इति विश्वमेदिन्यौ॥ (लोमहर्षः। यथा, सुश्रुते। ६। ६।
"दाहसंहर्षतास्रत्वशोकनिस्तोदगौरवैः॥")

संहवनं, क्ली, सम्यक्प्रकारेणाहुतिः। संपूर्व्वहुधातोर्भावे ल्युट्‌प्रत्ययेन निष्पन्नम्॥

संहारः, पुं, (संह्रियतेऽनेनेति। सं+हृ+"अध्यायन्यायेति।" ३।३।१२२। इति घञन्तः साधुः।) नरकविशेषः। इत्यमरः॥ प्रलयः। इति हेमचन्द्रः॥ (यथा, मनुः। १। ८०।
"मन्वन्तराण्यसंख्यानि सर्गः संहार एव च।
क्रीडन्निवैतत् कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः॥")
संक्षेपः। इति जटाधरः॥ संहरणञ्च॥ (यथा, रघुः। ५। ५७।
"संमोहनं नाम सखे! ममास्त्रं
प्रयोगसंहारविभक्तमन्त्रम्॥")

संहारमुद्रा, स्त्री, (संहारस्य मुद्रा।) विसर्ज्जनमुद्रा। यथा, राघवभट्टधृतम्।
"अधोमुखे वामहस्ते ऊर्द्धास्यं दक्षहस्तकम्।
क्षिप्राङ्गुलीरङ्गुलीभिः संग्रह्य परिवर्त्तयेत्।
प्रोक्ता संहारमुद्रेयमर्पणे तु प्रशस्यते॥"
अर्पणे आत्मनीति शेषः। इति तिथ्यादितत्त्वम्॥
भैरवविशेषः। यथा,—
"असिताङ्गो रुरुश्चण्डः क्रोध उन्मत्त एव च।
कपाली भीषणश्चैव संहारश्चाष्ट भैरवाः॥"
इति तन्त्रम्॥

संहितः, त्रि, मिलितः। संपूर्व्वधाधातोः क्तप्रत्ययेन निष्पन्नः॥

संहितपुष्पिका, स्त्री, (संहितानि मिलितानि पुष्पाणि यस्याः। कापि अत इत्वम्।) मिश्रेया। इति राजनिर्घण्टः॥

संहिता, स्त्री, (सम्यक् धीयते स्मेति। धा+कर्म्मणि क्तः। यद्वा, सम्यक् हितं प्रतिपाद्यं यस्याः।) मन्वादिप्रणीतधर्म्मशास्त्रम्। तत्पर्य्यायः। स्मृतिः २ धर्म्मसंहिता ३ श्रुतिजीविका ४। इति शब्दरत्नावली। संहिताविशेषा यथा,—
"एवं पुराणसंख्यानं चतुर्लक्षमुदाहृतम्।
अष्टादशपुराणानामेवमेव विदुर्बुधाः।
एवञ्चोपपुराणानामष्टादश प्रकीर्त्तिताः॥
इतिहासो भारतञ्च वाल्मीकं काव्यमेव च।
पञ्चकं पञ्चरात्राणां कृष्णमाहात्म्यमुत्तमम्॥
वाशिष्ठं नारदीयञ्च कापिलं गौतमीयकम्।
परं सनत्कुमारीयं पञ्चरात्रञ्च पञ्चकम्।
पञ्चम्यः संहितानाञ्च कृष्णभक्तिसमन्विताः।
ब्रह्मणश्च शिवस्यापि प्रह्लादस्य तथैव च।
गौतमस्य कुमारस्य संहिताः परिकीर्त्तिताः॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे १३२ अध्यायः॥
अपि च।
"इदन्तु पञ्चदशमं पुराणं कौर्म्ममुत्तमम्॥
चतुर्द्धा संस्थितं पुण्यं संहितानां प्रभेदतः॥
ब्राह्मी भागवती सौरी वैष्णवी च प्रकीर्त्तिता।
चतस्रः संहिताः पुण्या धर्म्मकामार्थमोक्षदाः॥
इयन्तु संहिता ब्राह्मी चतुर्व्वेदैः समन्विता।
भवन्ति षट्‌सहस्राणि श्लोकानामत्र संख्यया॥"
इति कौर्म्मे १ अध्यायः॥
तत्र स्कन्दपुराणोक्तषट्‌संहिता यथा,—
"स्कान्दमद्याभिवक्ष्यामि पुराणं श्रुतिसम्मितम्।
षड्‌विधं संहिताभेदैः पञ्चाशत्खण्डमण्डितम्॥
आद्या सनत्कुमारोक्ता द्वितीया सूतसंहिता।
तृतीया शाङ्करी विप्रास्तुर्य्या वैष्णवी मता॥
तत्परा संहिता ब्राह्मी सौरान्त्या संहिता मता।
ग्रन्थतः पञ्चपञ्चाशत्सहस्रैरुपलक्षिता॥
आद्या तु संहिता विप्रा द्वितीया षट्‌सहस्रिका।
तृतीया ग्रन्थतस्त्रिंशत् सहस्रैरुपलक्षिता।
तुरीया संहिता पञ्चसहस्रैरुपलक्षिता।
ततोऽन्या त्रिसहस्रेण ग्रन्थेनैव विनिर्म्मिता।
अन्त्या सहस्रतः सृष्टा ग्रन्थतः पण्डितोत्तमाः॥"
इति स्कन्दपुराणे सूतसंहितायां शिवमाहात्म्यखण्डे १ अध्यायः॥

संहूतिः, स्त्री, (सं+ह्वे+क्तिन्।) बहुभिः कृताह्वानम्। इत्यमरः॥

संहृतः, त्रि, (सं+हृ+क्तः।) कृतसंहारः। यथा,
"अहं विभूत्या बहुभिरिह रूपैर्यदा स्थिता।
तत् संहृतं मयैकैव तिष्ठाम्याजौ स्थिरो भव॥"
इति मार्कण्डेयपुराणीयदेवीमाहात्म्यम्॥

संहृतिः, स्त्री, (सं+हृ+क्तिन्।) संहारः। यथा,—
"विसृष्टौ सृष्टिरूपा त्वं स्थिति रूपा च पालने।
तथा संहृतिरूपान्ते जगतोऽस्य जगन्मये॥"
इति मार्कण्डेयपुराणे देवीमाहात्म्यम्॥

संक्षयः, पुं, (सं+क्षि+अच्।) नाशः। यथा,—
"रिपवः संक्षयं यान्ति कल्याणं चोपपद्यते।
नन्दते च कुलं पुंसां माहात्म्यं मम शृण्वताम्॥"
इति मार्कण्डेयपुराणे देवीमाहात्म्यम्॥
प्रलयः। इति शब्दरत्नावली॥

संक्षिप्तः, त्रि, (सं+क्षिप्+क्तः।) कृतसंक्षेपः। संक्षेपविशिष्टः। यथा,—
"समाहृत्यान्यतन्त्राणि संक्षिप्तैः प्रतिसंस्कृतैः।
सम्पूर्णमुच्यते वर्गैर्नामलिङ्गानुशासनम्॥"
इत्यमरः॥
संक्षिप्तैः अल्पेनैव बह्वर्थप्रतिपादकतयाभिहितैः। इति तट्टीकायां भरतः॥

संक्षेपः, पुं, (सं+क्षिप्+घञ्।) स्तोकेन भूयसोऽभिधानम्। इत्यमरटीकायां भरतः॥ चुम्बक इति ख्यात इति च ख्यातः॥

संक्षुब्धः, त्रि, (सं+क्षुभ+क्तः।) सञ्चलनविशिष्टः। इति क्षुभधात्वर्थदर्शनात्। आकुलः। यथा,—
"दृष्ट्वा समस्तं संक्षुब्धं त्रैलोक्यममरारयः।
सन्नद्धाखिलसैन्यास्ते समुत्तस्थुरुदायुधाः॥"
इति मार्कण्डेयपुराणे देवीमाहात्म्यम्॥

संक्षेपणं, क्ली, (सं+क्षिप्+ल्युट्।) विस्तीर्णानां संक्षेपः। प्रपञ्चकरणवैपरीत्यम्। इति भरतः॥ तत्पर्य्यायः। समसनम् २। इत्यमरः॥ संहारः ३ समाहारः ४ संग्रहः ५ समासः ६। इति जटाधरः॥

संक्षोभः, पुं, (सं+क्षुभ+घञ्।) चाञ्चल्यम्। सञ्चलनम्। यथा। "संक्षोभमञ्चरयुगमपि चित्ततन्वोः।" इति श्रीभागवतम्॥

सकः, पुं, } पूर्व्वोक्तपरामर्शकः। से इति भाषा।
सका, स्त्री, } तच्छब्दस्य टेः पूर्व्वं अकि परत्र आपप्रत्यये च कृते प्रथमैकवचननिष्पन्नं पदद्वयम्॥ (यथा, ऋग्वेदे। १। १६१। ११।
"इयत्तिका शकुन्तिका सका जघास ते विषम्॥")

सकटः, पुं, (कटेन अशुचिना शवादिना सह वर्त्तमानः।) शाखोटवृक्षः। इति भूरिप्रयोगः॥

सकटान्नं, क्ली, (कटशब्देनाशौचं लक्ष्यते तत्सहचरितमन्नं सकटान्नम्। इति मिताक्षरा।) अशुद्धान्नम्। इति केचित्॥ (यथा, याज्ञवल्क्ये। ३। १५।
"आचार्य्यपित्रुपाध्यायान्निर्हृत्यापि व्रती व्रती।
सकटान्नं न चाश्नीयात् न च तैः सह संवसेत्॥")

सकण्टकः, पुं, (कण्टकेन सह वर्त्तमानः ।) शैवालः । इति शब्दचन्द्रिका ॥ करञ्जविशेषः । इति रत्नमाला ॥ नाटाकरञ्ज इति भाषा ॥ कण्टकयुक्ते, त्रि । यथा,—
"शीतलोष्णसमायुक्तसकण्टकदलान्वित ।
हर पापमपामार्ग भ्राम्यमाणः पुनः पुनः ॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥
(लोमाञ्चिते च त्रि । यथा, कथासरित्सागरे । २५ । २२० ।
"स तं साहसिकस्पर्शभीतैरिव सकण्टकैः ।
अङ्गैः प्रणतमालिङ्ग्य मुमुदे भूपतिश्चिरम् ॥")

सकरः, त्रि, हस्तयुक्तः । राजस्वविशिष्टः । शुण्डयुक्तः । किरणविशिष्टः । करेण सह वर्त्तते योऽसौ । इति बहुव्रीहिसमासनिष्पन्नः ॥

सकरुणः, त्रि, (करुणया सह वर्त्तमानः ।) करुणायुक्तः । सदयः । यथा,—
"भवानि त्वं दासे मयि वितर दृष्टिं सकरुणामिति स्तोतुं वाञ्छन् कथयति भवानि त्वमिति
यः ।
तदैव त्वं तस्मै दिशसि निजसायुज्यपदवीं
मुकुन्दब्रह्मेन्द्रस्फुटमुकुटनीराजितपदाम् ॥"
इत्यानन्दलहरी ॥

सकर्णः, त्रि, (कर्णाभ्यां सह वर्त्तमानः ।) श्रवणशीलः । तत्पर्य्यायः । श्रुतितत्परः २ । इति जटाधरः ॥ कर्णयुक्तश्च ॥

सकर्म्मकः, पुं, (कर्म्मणा सह वर्त्तमानः । कप् ।) कर्म्मयुक्तधातुः । कर्म्मान्वयिक्रियार्थकः । यथा । क्वचित् सकर्म्मकाद्धातोर्भावेऽपि क्रियार्थाभिरक्ति । यथा । कां दिशं गन्तव्यम् । इति मुग्धबोधटीकायां दुर्गादासः ॥ (कर्म्मयुक्ते, त्रि । यथा, भागवते । ५ । २० । ३२ ।
"तद्वर्षपुरुषा भगवन्तं ब्रह्मरूपिणं सकर्म्मकेण कर्म्मणाराधयन्ति ॥" "सकर्म्मकेण ब्रह्मसालोक्यादिसाधनेन ।" इति तट्टीका ॥)

सकलं, त्रि, (कलया सह वर्त्तमानम् ।) समुदायः । तत्पर्य्यायः । समम् २ सर्व्वम् ३ विश्वम् ४ अशेषम् ५ कृत्स्नम् ६ समस्तम् ७ निखिलम् ८ अखिलम् ९ निःशेषम् १० समग्रम् ११ पूर्णम् १२ अखण्डम् १३ अनूनकम् १४ । इत्यमरः ॥ अनन्तम् १५ । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, भागवते । ४ । २८ । ४ ।
"ह्वाभिः प्रविश्य तुभ्यशं प्राद्दयन् सकलां पुरीम् ॥"
कला प्रकृतिस्तया सह वर्त्तते इति । सगुणम् । यथा, महाभारते । १३ । १६ । ८ ।
"निष्कलं सकलं ब्रह्म निर्गुणं गुणगोचरम् ॥")

सकामः, त्रि, (कामेन सह वर्त्तमान इति ।) कामनाविशिष्टः । यथा,—
"अकामो वा सकामो वा यत्र क्वापि बहिर्जले ।
इह चामुत्र दुःखानि माघस्नायी न पश्यति ॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥

सकाशः, पुं, (काशः प्रकाशस्तेन सह वर्त्तते इति ।) समीपः । यथा,—
"देवि दैत्येश्वरः शुम्भस्त्रैलोक्ये परमेश्वरः ।
दूतोऽहं प्रेषितस्तेन त्वत्सकाशमिहागतः ॥"
इति मार्कण्डेयपुराणे देवीमाहात्म्यम् ॥
काशयुक्ते, त्रि ॥

सकुरुण्डः, पुं, साकुरुण्डवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सकुलः, पुं, (कुलेन सह वर्त्तते इति ।) शकुलमत्स्यः । इति शब्दरत्नावली ॥

सकुल्यः, त्रि, (समाने कुले भवः । यत् ।) सगोत्रः । यथा,—
"जारो लङ्गः सगोत्रास्तु स्वजनज्ञातिबान्धवाः ।
सकुल्यबन्धुदायादस्वसमानोदका अपि ॥"
इति जटाधरः ॥ * ॥
स्वावधूर्द्धनतनाष्टमावधिदशमपुरुषपर्य्यन्तपुरुषत्रयम् । तेषां दशमपुरुषपर्य्यन्तसन्ततिः । स्वावध्यधस्तनाष्टमावधिदशमपुरुषपर्य्यन्तसन्ततिश्च ॥ तेषामशौचं यथा, बृहस्पतिः ।
"दशाहेन सपिण्डास्तु शुध्यन्ति प्रेतसूतके ।
त्रिरात्रेण सकुल्यास्तु स्नात्वा शुध्यन्ति
गोत्रजाः ॥"
इति शुद्धितत्त्वम् ॥ * ॥
दायाधिकारिसकुल्यास्तु पञ्चमपुरुषावधयः । यथा । बौधायनः । प्रपितामहः पितामहः पिता स्वयं सोदर्य्यभ्रातरः सवर्णायाः पुत्त्रः पौत्त्रः प्रपौत्त्रो वा एतानविभक्तदायादान् सपिण्डान् आचक्षते । विभक्तदायादान् सकुल्यान् आचक्षते सत्स्वङ्गजेषु तद्गामी ह्यर्थो भवतीति । इति दायतत्त्वं शुद्धितत्त्वञ्च ॥*॥ तस्य कन्यादानाधिकारित्वं यथा । विष्णुः । पिता पितामहो भ्राता सकुल्यो मातामहो माता चेति कन्याप्रदः पूर्व्वनाशे प्रकृतिस्थः परः परः । नारदश्च ।
"पिता दद्यात् स्वयं कन्यां भ्राता वानुमतः पितुः ।
मातामहो मातुलश्च सकुल्यो बान्धवस्तथा ॥
माता त्वभावे सर्व्वेषां प्रकृतौ यदि वर्त्तते ।
तस्यामप्रकृतिस्थायां कन्यां दद्युः स्वजातयः ॥"
इत्युद्वाहतत्त्वम् ॥

सकुली, स्त्री, मत्स्यविशेषः । अस्या गुणादिस्तालव्यशकारादिशकुलशब्दे द्रष्टव्यः ॥

सकृत्, व्य, (एक + "एकस्य सकृच्च ।" ५।४।१९। इति सुच् सकृदादेशश्च । संयोगान्तस्येति सुचो लोपः ।) एकवारम् । (यथा,—
"सकृदंशो निपतति सकृत् कन्या प्रदीयते ।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सकृत् सकृत् ॥"
इति महाभारतम् ॥)
सह । इत्यमरः ॥ विष्ठा । इति तट्टीका ॥ (अस्मिन्नर्थे तालव्यशकारस्य प्रयोगः प्रायशो दृश्यते ॥)

सकृत्प्रजः, पुं, (सकृत् प्रजा यस्य ।) काकः । इत्यमरः ॥ जातैकमात्रापत्ये, त्रि ॥

सकृत्फला, स्त्री, (सकृत् फलानि यस्याः ।) कदली । इति राजनिर्घण्टः ॥

सकृद्गर्भः, पुं, (सकृत् गर्भो यस्य ।) खेसरः । इति राजनिर्घण्टः ॥ एकमात्रगर्भिण्यां, स्त्री ॥

सकृद्वीरः, पुं, (सकृत् वीर इव ।) एकवीरवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सक्तः, त्रि, (सन्ज + क्तः ।) अविरतः । इति हेमचन्द्रः ॥ आसक्तः ॥ (यथा, रामायणे । ६ । ४ । ११८ ।
"अन्योन्यैराहताः सक्ताः सस्वनुर्भीमनिःस्वनाः ।
ऊर्म्मयः सिन्धुराजस्य महाभेर्य्य इवाहवे ॥")

सक्तिः, स्त्री, सङ्गः । सन्जधातोः क्तिप्रत्ययेन निष्पन्ना ॥ (यथा, किराते । ५ । ४६ ।
"सक्तिं जवादपनयत्यनिले लतानां
वैरोचनैर्द्विगुणिताः सहसा मयूखैः ।
रोधोभुवां मुहुरमुत्र हिरण्मयीनां
भासस्तडिद्विलसितानि विडम्बयन्ति ॥")

सक्तुः, पुं, (सच्यते सिच्यते इति । सच सेचने + "सितनिगमिमसिसच्यविधाञ्क्रुशिभ्यस्तुन् ।" उणा० १ । ७० । इति तुन् ।) भृष्टयवादिचूर्णः । छातु इति भाषा । यथा,—
"भृष्टा यवाः पुनर्धाना धानाचूर्णन्तु सक्तवः ॥"
इति हेमचन्द्रः ॥
अस्य गुणादिः तालव्यादिशक्तुशब्दे द्रष्टव्यः ॥ (यथा, कथासरित्सागरे । ४ । १२२ ।
"एकः शरावः सक्तूनामेकः प्रत्यहमम्भसः ।
शकटालस्य तत्रान्तः सपुत्त्रस्य न्यधीयत ॥"
अर्द्धर्च्चादित्वात् क्लीवलिङ्गेऽपि दृश्यते ॥ प्रायशोऽयं शब्दः बहुवचने प्रयुज्यते ॥)

सक्तुकः, पुं, (सक्तुरिव । कन् ।) विषभेदः । इति हेमचन्द्रः ॥ स्वार्थे के सक्तुश्च ॥

सक्तुफला, स्त्री, (सक्तव इव फलानि यस्याः । अजादित्वात् टाप् ।) शमीवृक्षः । इत्यमरः ॥

सक्तुफली, स्त्री, (सक्तव इव फलानि यस्याः । ङीष् ।) शमीवृक्षः । इति शब्दरत्नावली ॥

सक्थि, [न्] क्ली, (सज्यते इति । सन्ज सङ्गे + "असिसञ्जिभ्यां क्थिन् ।" उणा० ३ । १५४ । क्थिन् ।) ऊरुः । इत्यमरः ॥ (यथा, मार्कण्डेये । १८ । ४९ ।
"कृष्णा पदे स्थिता लक्ष्मीर्निलयं संप्रयच्छति ।
सक्थ्नोश्च संस्थिता वस्त्रं तथा नानाविधं वसु ॥")
शकटावयवविशेषः । इत्युणादिकोषः ॥

सक्षमः, त्रि, क्षमताविशिष्टः । क्षमाविशिष्टः । क्षमेण क्षमया वा सह वर्त्तमानः । इति बहुव्रीहिनिष्पन्नः ॥

सक्षारः, त्रि, लवणयुक्तः । क्षारेण सह वर्त्तमानः । इति बहुव्रीहिसमासनिष्पन्नः ॥ (यथा, सुश्रुते । १ । ४५ ।
"वातश्लेष्महरं वाप्यं सक्षारं कटुपित्तलम् ॥")

सखा, [इ] पुं, (समानः ख्यायते इति । समान + ख्या + "समाने ख्यः सचोदात्तः ।" उणा० ४ । १३६ । इति इण् । टिलोपयलोपौ समानस्य सभावश्च ।) सौहार्दयुक्तः । समानः ख्यायते जनैः नाम्नीति हि मनीषादित्वात्

ख्यातिर्यलोपः समानस्य सभावश्च सख्युरङ्गा-
मिति सेर्ङा । इत्यमरटीकायां भरतः ॥ तत्प-
र्य्यायः । आक्रन्दः २ मित्रम् ३ सुहृत् ४ । इति
जटाधरः ॥ वयस्यः ५ सवयाः ६ स्निग्धः ७
सहचरः ८ । इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, माघे ।
२ । ३६ ।
"सखा गरीयान् शत्रुश्च कृत्रिमस्तौ हि कार्य्यतः ।
स्यातामभित्रौ मित्रे च सहजप्राकृतावपि ॥")
सहायः । इति मेदिनी ॥ तत्पत्नीगमने दोषो
यथा,—
"गुरुतल्पव्रतं कुर्य्यात् रेतः सिक्त्वा स्वयोनिषु ।
सख्युः पुत्त्रस्य च स्त्रीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च ॥"
इति प्रायश्चित्ततत्त्वम् ॥
सखिता, स्त्री, (सख्युर्भावः । सखि+तल् ।)
सख्यम् । यथा,—
"मीमांसे बहुसेवितासि सुहृदस्तर्काः समस्ताः
स्थ मे
वेदान्ताः परमात्मबोधगुरवो यूयं मयोपासिताः ।
जाता व्याकरणानि बालसखिता युष्माभिरभ्यर्थ्यये
प्राप्तोऽयं समयो मनूक्तविहितौ साहाय्यमाल-
म्बताम् ॥"
इति मनुटीकायां कुल्लूकभट्टः ॥
सखित्वं, क्ली, (सख्युर्भावः । सखि+त्व ।) सख्यम् ।
(यथा, महाभारते । १ । १३७ । १५ ।
"कृतं सर्व्वेण मेऽन्येन सखित्वन्तु त्वया इषे ।
द्वन्द्वयुद्धञ्च पार्थेन कर्त्तुमिच्छाम्यहं प्रभो ! ॥")
सखी, स्त्री, ("सख्यशिश्वीति भाषायाम् ।" ४ ।
१ । ६२ । इति ङीष् ।) सहचरी । तत्पर्य्यायः ।
आलिः २ वयस्या ३ । इत्यमरः ॥ सध्रीची ४ ।
इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, रघुः । ३ । १ ।
"अथेप्सितं भर्त्तुरुपस्थितोदयं
सखीजनोद्वीक्षणकौमुदीमुखम् ।
निदानमिक्ष्वाकुकुलस्य सन्ततेः
सुदक्षिणा दौहृदलक्षणं दधौ ॥")
सख्यं, क्ली, (सख्युर्भावः कर्म्म वा । सखि+यत् ।)
मित्रता । तत्पर्य्यायः । सौहृदम् २ सौहार्दम् ३
साप्तपदीनम् ४ मैत्रम् ५ अज्र्यम् ६ सङ्गतम् ७ ।
इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, रघुः । १२ । ५७ ।
"वधनिर्धूतशापस्य कबन्धस्योपदेशतः ।
मुमूर्च्छ सख्यं रामस्य समानव्यसने हरौ ॥")
सग, म ए संवृतौ । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-
पर०-सक०-सेट् ।) म, सिसगयिषति । ए,
असगीत् । इति दुर्गादासः ॥
सगन्धः, पुं, (गन्धेन सह वर्त्तमान इति ।) ज्ञातिः ।
इति त्रिकाण्डशेषः ॥ गन्धयुक्ते, त्रि ॥ (यथा,
बृहत्संहितायाम् । ४३ । ३६ ।
"द्विरदमदमहीसरोजलाजै-
र्घृतमधुना च हुताग्ने सगन्धे ॥")
सगरः, पुं, (गरेण सह वर्त्तमानः ।) अर्हद्भेदः ।
इति हेमचन्द्रः ॥ सूर्य्यवंशीयराजविशेषः । स तु
अयोध्याधिपतिबाहुराजपुत्त्रः । तस्योत्पत्त्यादि
यथा,—
"सूर्य्यवंशे महाराजो बाहुर्नाम महानभूत् ।
तस्य राज्यं हृतं सर्व्वं हैहयैस्तालजङ्घकैः ॥
काम्बोजाः पह्लवाश्चैव पारदा यवनाः शकाः ।
एते पञ्चगणा ब्रह्मन् हैहयार्थे पराक्रमन् ॥
हृतराज्यः स वै विप्र तदा बाहुर्व्वनं ययौ ।
पत्नी तु यादवी तस्य गुर्व्विण्यासीत् पतिव्रता ॥
तत्सपत्नी पूर्व्वमेव तस्या गर्भजिघांसया ।
भोजनेन सह प्रादात् गरं धर्म्मानवेक्षया ॥
यादव्यास्तु तपोयोगात् गर्भो नैव ममार ह ।
न ममार च सा राज्ञी देवानामनुकम्पया ॥
पतिं सानुययौ साध्वी सिषेवे तं वने सदा ।
स राजा विपिने तस्मिन् प्राणांस्तत्याज योग-
वान् ॥
सा तु भर्त्तुश्चितिं कृत्वा वने तामध्यरोहत ।
और्व्वस्तां भार्गवस्तात कारुण्यात् समवारयत् ॥
तस्याश्रमे च सा गर्भं सुषुवे ज्वलनप्रभम् ।
अजायत महाबाहुर्गरेणैव सह द्विज ॥
सगरो नाम तेनाभूत् बालकोऽतिमनोहरः ।
और्व्वस्तु जातकर्म्मादि तस्य कृत्वा महात्मनः ॥
अध्याप्य वेदानखिलान् शस्त्राणि प्रत्यपादयत् ।
आग्नेयन्तु महाघोरममरैरपि दुःसहम् ॥
स तेनास्त्रबलेनाजौ बलेन च समन्वितः ।
हैहयांस्तालजङ्घांश्च जघ्ने रुद्रः पशूनिव ॥
आनयामास लोकेऽस्मिन् कीर्त्तिं कीर्त्तिमतांवरः ।
ततः शकान् सयवनान् काम्बोजान् पारदां-
स्तथा ।
पह्लवांश्चापि निःशेषान् कर्त्तुं व्यवसितो नृपः ॥
ते हन्यमाना वीरेण सगरेण महौजसा ।
वशिष्ठं शरणं जग्मुः सूर्य्यवंशपुरोहितम् ॥
वशिष्ठः शरणापन्नान् समये स्थाप्य तानृषिः ।
सगरं वारयामास तेभ्यो दत्त्वाभयं तदा ॥
सगरस्तां प्रतिज्ञान्तु निशम्य सुमहाबलः ।
धर्म्मं जघान तेषाञ्च वेशानन्यांश्चकार ह ॥
अर्द्धं शिरः शकानान्तु मुण्डयामास भूपतिः ।
यवनानां शिरः सर्व्वं काम्बोजानामपि द्विज ॥
पारदान् मुक्तकेशांस्तु पह्लवान् श्मश्रुधारिणः ।
निःस्वाध्यायवषट्कारान् सर्व्वानेव चकार ह ॥
कोलिसर्पा माहिषका दार्व्वाश्चोलाः सकेरलाः ।
खसास्तुषाराश्चीनाश्च मद्राः किष्किन्धका-
स्तथा ।
कौन्तलाश्च तथा बङ्गाः शाल्वाः कौङ्कणका-
स्तथा ।
सर्व्वे ते क्षत्त्रियास्तात धर्म्मास्तेषां निराकृताः ॥
पुरोहितस्य वाक्येन कृता विकृतवेशिनः ।
वशे कृत्य स राजन्यान् स्वराज्यमन्वशासत ॥"
इति पाद्मे स्वर्गखण्डे १५ अध्यायः ॥ * ॥
अपि च ।
"रोहिताच्च वृको जातो वृकाद्बाहुरजायत ॥
सगरस्तस्य पुत्त्रोऽभूत् राजा परमधार्म्मिकः ॥
द्वे भार्य्ये सागरस्यापि प्रभा भानुमती तथा ।
ताभ्यामाराधितः पूर्व्वमौर्व्वोऽग्निः पुत्त्रकाम्यया ॥
और्व्वस्तुष्टस्तयोः प्रादात् यथेष्टं वरमुत्तमम् ।
एका षष्टिसहस्राणि सुतमेकं तथा परा ॥
गृह्णातु वंशकर्त्तारं प्रभा गृह्णाद्बहूंस्तथा ।
एकं भानुमतीपुत्त्रमगृह्णादसमञ्जसम् ॥
ततः षष्टिसहस्राणि सुषुवे यादवी प्रभा ।
खनन्तः पृथिवीं दग्धा विष्णुना येऽश्वमार्गणे ॥
असमञ्जसस्तु तनयः अंशुमान् नाम विश्रुतः ।
तस्य पुत्त्रो दिलीपस्तु दिलीपात्तु भगीरथः ॥
येन भागीरथी गङ्गा तपः कृत्वावतारिता ।
भगीरथस्य तनयो नाभाग इति विश्रुतः ॥"
इति मात्स्ये १२ अध्यायः ॥
सगर्भः, पुं, (समानो गर्भो यस्य । समानस्य सः ।)
सहोदरः । इति शब्दरत्नावली ॥ त्रि, अभ्य-
न्तरितकृष्णपत्रादियुक्तः । यथा,—
"दर्भान् सगर्भानादाय नव सप्त च पञ्च वा ।
साग्रान् समूलानच्छिन्नान् द्विजो दक्षिण-
पाणिना ।
अन्वारब्धेन सव्येन तर्पयेत् षड्विनायकान् ॥"
इति काशीखण्डे सदाचारो नाम ३५ अध्यायः ॥
(गर्भविशिष्टे च त्रि । यथा, कथासरित्सागरे ।
२० । ८४ ।
"अनलोऽपि सगर्भोऽभूत् तेन वीर्य्येण धूर्जटेः ॥")
सगर्भा, स्त्री, (गर्भेण सह वर्त्तमाना ।) गर्भवती ।
यथा,—
"केचिद्गहनमाश्रित्य केचित् पातालमाविशन् ।
सगर्भा चन्द्रसेनस्य भार्य्या दाल्भ्याश्रमं ययौ ॥"
इति पाद्मे सृष्टिखण्डे १ अध्यायः ॥
सहोदरा । इति सगर्भशब्ददर्शनात् ॥
सगर्भ्यः, पुं, (समाने गर्भे भवः । "सगर्भसयूथ-
सनुतात् यन् ।" ४ । ४ । ११४ । इति यन् ।)
सहोदरः । इत्यमरः ॥ (यथा, वाजसनेयसंहि-
तायाम् । ४ । २० ।
"अनु त्वा माता मन्यतामनु पितानु भ्राता
सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः ॥")
सगोत्रं, क्ली, (समानं गोत्रमिति । समानस्य सः ।)
कुलम् । यथा,—
"कुलं गोत्रं सगोत्रञ्च तुल्यगोत्रे निगद्यते ।"
इति शब्दरत्नावली ॥
सगोत्रः, पुं, (समानं गोत्रमस्य । "ज्योतिर्जन-
पदरात्रीति ।" ६।३।८५ । इति समानस्य सः ।)
ज्ञातिः । यथा,—
"सगोत्रबान्धवज्ञातिबन्धुस्वस्वजनाः समाः ॥"
इत्यमरः ॥
(यथा, मनुः । ९ । १९० ।
"संस्थितस्यानपत्यस्य सगोत्रात् पुत्त्रमाहरेत् ॥")
सग्धिः, स्त्री, सहभोजनम् । इत्यमरः ॥ समाना
सह वा जग्धिः सग्धिः । अदः क्तिः जग्धोऽदो
इति जग्धे जग्धिः निपातनात् सग्धिरादेशः ।
सग्धिरपि छन्दसीति परे । इत्यमरटीकायां
भरतः ॥
सघ, न हिंसे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (स्वा०-
पर०-सक०-सेट् ।) न, सघ्नोति । असीसघत् ।
इति दुर्गादासः ॥

सङ्कटः, त्रि, (सम् + "संप्रोदश्च कटच् ।" ५ । २ । २६ । इति कटच् ।) संबाधः । इत्यमरः ॥ हे अल्पावकाशे वर्त्मादौ । सम्यक् कटति आवृणोति सङ्कटं अस् । सम्यगन्योन्यं बाधन्तेऽत्र संबाधः घञ् । वाच्यलिङ्गता च । संबाधं ह्रदयपि तत्रभूव वर्त्म इति माघः । इति भरतः ॥ दुःखि, क्ली । यथा,—

"सर्व्वाबाधासु घोरासु वेदनाभ्यर्द्दितोऽपि वा ।
स्मरन्ममैतच्चरितं नरो मुच्येत सङ्कटात् ॥"

सङ्कटं दुःखमुत्तराद्धसुत्तराम्यि । इति देवीमाहात्म्यस्य टीकायां नागोजीभट्टः ॥

सङ्कटा, स्त्री, (सम्यक् कटति आवृणोति या । सम् + कट् + अच् । टाप् ।) देवीविशेषः । सा च वाराणस्यां प्रसिद्धा । योगिनीविशेषः । यथा,

"मङ्गला पिङ्गला धन्या भ्रामरी भद्रिका तथा ।
उल्का सिद्धिः सङ्कटा च योगिन्योऽष्टौ प्रकीर्त्तिताः ॥"

इति ज्योतिषम् ॥

सङ्कटाशः, पुं, (संकटं अश्नातीति । अश व्याप्तौ + अण् ।) धवदृक्षः । इति वैद्यकम् ॥

सङ्कथनं, क्ली, (सम्यक् कथनम् ।) सम्यग्भाषणम् । यथा,—

"उपवासफलं नश्येत् दिवास्वप्नाच्च मैथुनात् ।
स्त्रीणां संप्रेक्षणात् स्पर्शात्ताभिः सङ्कथनादपि ॥"

इत्येकादशीतत्त्वम् ॥

सङ्कथा, स्त्री, (सम्यक् कथा ।) परस्परभाषणम् । यथा,—

"उल्लापः काक्कुवाणन्योन्योक्तिः संलापसङ्कथे ।"

इति हेमचन्द्रः ॥

(यथा, भागवते । १० । ८२ । १७ ।

"पृथा भ्रातॄन् स्वसॄर्वीक्ष्य तत्पुत्रान् पितरावपि ।
भ्रातृपत्नीर्मुकुन्दञ्च जहौ संकथया शुचः ॥")

सम्यक्कथनञ्च ॥

सङ्करः, पुं, (सङ्कीर्य्यते इति । सं + कॄ विक्षेपे + अप् ।) सम्मार्ज्जन्या क्षिप्तधूल्यादिः । तत्पर्य्यायः । अवकरः २ । इत्यमरः ॥ सङ्कारः ३ । इति शब्दरत्नावली ॥ अग्निचटत्कारः । इति मेदिनीहारावल्यौ ॥ मिश्रितत्वम् । यथा,—

"भेदाख्यानाय न द्वन्द्वो नैकशेषो न सङ्करः ।"

इत्यमरः ॥

परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणयोरेकाधिकरण्यम् । यथा । मूर्त्तत्वं मनसि वर्त्तते भूतत्वं नास्ति आकाशे भूतत्वं वर्त्तते मूर्त्तत्वं नास्ति । पृथिव्यां भूतत्वं वर्त्तते मूर्त्तत्वञ्चास्तीति जातिसाङ्कर्य्यम् । तथा चोक्तम् ।

"व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथानवस्थितिः ।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रहः ॥"

इति सिद्धान्तमुक्तावली ॥ * ॥

वर्णसङ्करजातिः । यथा,—

याज्ञवल्क्य उवाच ।

"वक्ष्ये सङ्करजात्यादि गृहस्थादिविधिं परम् ।
विप्रान्मूर्द्धावसिक्तो हि क्षत्रियायां विशः स्त्रियाम् ॥
जातोऽम्बष्ठस्तु शूद्रायां निषादः पारशवोऽपि वा ।
माहिष्योग्रौ प्रजायेते विट्शूद्राङ्गनयोर्नृपात् ॥
वैश्यां शूद्राच्च राजन्यां माहिष्योग्रौ सुतौ स्मृतौ ।
शूद्रायां करणो वैश्यात् विद्वान् एष विधिः स्मृतः ॥
ब्राह्मण्यां क्षत्रियात् सूतो वैश्याद्वैदेहकस्तथा ।
शूद्राज्जातस्तु चाण्डालः सर्व्वधर्म्मबहिष्कृतः ॥
क्षत्रिया मागधं वैश्यात् शूद्रात् क्षत्तारमेव च ।
शूद्रादायोगवं वैश्या जनयामास वै सुतम् ॥
माहिष्येण करण्यान्तु रथकारः प्रजायते ।
असत्सुताश्च विज्ञेयाः प्रातिलोमानुलोमजाः ॥
जात्युत्कर्षाद्द्विजो ज्ञेयः सप्तमे पञ्चमेऽपि वा ।
व्यत्यये कर्म्मणां साम्ये पूर्व्ववच्चोत्तरावरम् ॥"

इति गारुडे ६६ अध्यायः ॥

सङ्करी, स्त्री, (सं + कॄ + अप् । गौरादित्वात् ङीष् ।) नवदूषितकन्या । इति मेदिनी ॥

सङ्करीकरणं, क्ली, (असङ्करः सङ्करः क्रियतेऽनेनेति । सङ्कर + कृ + ल्युट् । अभूततद्भावे च्विः ।) नवविधपापान्तर्गतपापविशेषः । यथा, विष्णुः । अथ पुरुषस्य कामक्रोधलोभाख्यं रिपुत्रयं भवति । परिग्रहप्रसङ्गेन विशेषाद्गृहाश्रमिणः । तेनायमाक्रान्तोऽतिपातकमहापातकानुपातकोपपातकेषु वर्त्तते । जातिभ्रंशकरेषु सङ्करीकरणेष्वपात्रीकरणेषु मलावहेषु प्रकीर्णकेषु । तद्यथा,—

"खराश्वोष्ट्रमृगेभानामजाविकवधस्तथा ।
सङ्करीकरणं ज्ञेयं मीनाहिमहिषस्य च ॥"

तस्य प्रायश्चित्तं यथा,—

"सङ्करापात्रकृत्यासु मासं शोधनमैन्दवम् ।
मलिनीकरणीयेषु तप्तः स्याद्यावकस्त्र्यहः ॥"

तथा विष्णुः ।

"ग्राम्यारण्यानां पशूनां हिंसा सङ्कीर्णीकरणम् ।
सङ्करीकरणं कृत्वा मासमश्नाति यावकम् ।
कृच्छ्रातिकृच्छ्रमथवा प्रायश्चित्तन्तु कारयेत् ॥"

इति प्रायश्चित्तविवेकः ॥

सङ्कर्षणं, क्ली, आकर्षणम् । सम्यक्प्रकारेण कर्षणम् । संपूर्व्वकृषधातोरनट्प्रत्ययेन निष्पन्नम् ॥ (यथा, भागवते । १० । २ । १३ ।

"गर्भसंकर्षणात् तं वै प्राहुः सङ्कर्षणं भुवि ॥"

एकीकरणम् । इति स्वामी ॥ यथा, भागवते । ५ । २५ । १ ।

"तस्य मूलदेशे त्रिंशद्योजनसहस्रान्तरे आस्ते या वै कला भगवतस्तामसी समाख्याता अनन्त इति सात्वतीया द्रष्टृदृश्ययोः सङ्कर्षणं अहमित्यभिमानलक्षणं यं सङ्कर्षण इत्याचक्षते ॥")

सङ्कर्षणः, पुं, (सम्यक् कर्षतीति । सं + कृष + ल्युः ।) बलदेवः । इत्यमरः ॥ (अस्य नामनिरुक्तिर्यथा, हरिवंशे । ५६ । ६ ।

"कर्षणेनास्य गर्भस्य स्वगर्भाच्चावितस्य वै ।
सङ्कर्षणो नाम शुभे तव पुत्रो भविष्यति ॥"

तथा च भागवते । १० । २ । १३ ।

"गर्भसंकर्षणात् तं वै प्राहुः सङ्कर्षणं भुवि ॥")

सङ्कलः, पुं, सङ्कलनम् । योगः । संपूर्व्वकलधातोर्भावे अल्प्रत्ययेन निष्पन्नः ॥

सङ्कलनं, क्ली, (सं + कल + ल्युट् ।) एकत्रीकरणम् । योजनम् । इति लीलावती ॥ टिक देओया इति भाषा ॥

सङ्कलितः, त्रि, (सं + कल + क्तः ।) लेखादिना संहतः । तत्पर्य्यायः । संगूढः २ । इत्यमरभरतौ ॥ योजिताङ्कम् । टिक देओया आँक इति भाषा । यथा । अथ सङ्कलितव्यवकलितयोः करणसूत्रम् । इति लीलावती ॥ पुञ्जीकृतधान्यादि । इति केचित् ॥

सङ्कल्पः, पुं, (सं + कृप् + भावे घञ् । गुणे कृते रस्य लः ।) कर्म्मणो मानसम् । इत्यमरः ॥ "सङ्कल्प उक्तो हारीतेन । यथा । मनसा सङ्कल्पयति वाचा अभिलपति कर्म्मणा चोपपादयति । इति । भविष्यपुराणवचनेन च ।

'सङ्कल्पेन विना राजन् यत्किञ्चित् कुरुते नरः ।
फलञ्चाप्याल्पकं तस्य धर्म्मस्यार्द्धक्षयो भवेत् ॥'

इति । ब्रह्मपुराणेनापि ।

'आशास्य च शुभं कार्य्यमुद्दिश्य च मनोगतम् ।'

इत्यगस्त्यपूजने उक्तम् । मनोगतं शुभं फलं आशास्य मनसा सङ्कल्प्य उद्दिश्य वाचा अभिलप्य कार्य्यं कर्म्मणा उपपाद्यम् । भविष्ये ।

'शुक्तिशङ्खाश्महस्तैश्च कांस्यरूप्यादिभिस्तथा ।
सङ्कल्पो नैव कर्त्तव्यो मृण्मयेन कदाचन ॥
गृहीत्वौडुम्बरं पात्रं वारिपूर्णं गुणान्वितम् ।
दर्भत्रयं साग्रमूलं फलपुष्पतिलान्वितम् ॥
जलाशयारामकूपे सङ्कल्पे पूर्व्वदिङ्मुखः ।
साधारणे चोत्तरास्य ऐशान्यां निक्षिपेज्जलम् ॥'

अत्र केवलहस्तनिषेधस्तु पात्रान्तरसद्भावविषयः । शक्ताद्विवाहपर्य्यात् एकहस्तपरो वा ।

'गृहीत्वौडुम्बरं पात्रं वारिपूर्णमुदङ्मुखः ।
उपवासन्तु गृह्णीयाद् यद्वा सार्थैव धारयेत् ॥'

इति वराहपुराणदर्शनात् ।" इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥ * ॥ सङ्कल्पश्च भावे मयैतत् कर्त्तव्यमेव निषेधे तु मयैतन्न कर्त्तव्यमिति ज्ञानविशेषः । व्रतादीनां सङ्कल्पसम्भवत्वं यथा,—

"सङ्कल्पमूलः कामो वै यज्ञाः सङ्कल्पसम्भवाः ।
व्रता नियमधर्म्माश्च सर्व्वे सङ्कल्पजाः स्मृताः ॥"

इत्येकादशीतत्त्वम् ॥

तद्वाक्यरचना यथा,—

"श्रीपदं पूर्व्वमुच्चार्य्य ततो विष्णुपदं वदेत् ।
ॐ तत् सदित्युच्चार्य्य नाम गोत्रं ततो वदेत् ।
तत इष्टप्रीतिकामो मूलबीजं समुच्चयेत् ।
ततोऽस्याश्च वरारोहे गङ्गास्नानमहं ततः ।
करिष्ये इति सङ्कल्प्य शिरःस्नानं समाचरेत् ॥
त्रिः स्नात्वा चञ्चलापाङ्गि ! इति वाक्यं सुरार्च्चिते ! ।

अद्वैत्याद्यस्य चार्व्वङ्गि ! रहस्यं प्रवदामि ते ॥"
इति कामधेनुतन्त्रे ३२ पटलः ॥ * ॥
अपि च । अथ सङ्कल्पविधानम् ।
"असङ्कल्पितमर्थो यन्न्यूनाधिकमथापि वा ।
न सम्यक्फलभाग्भूयात्तस्मान्नियममाचरेत् ।
ताम्रपात्रं सदूर्व्वञ्च सतिलं जलपूरितम् ।
सकुशञ्च फलैर्देवि ! गृहीत्वाचम्य कल्पतः ॥
अभ्यर्च्य च शिरःपद्मे श्रीगुरुं करुणामयम् ।
यद्वेशवदनो वापि देवेन्द्रवदनोऽपि वा ॥
मासं पक्षं तिथिञ्चैव देवपर्व्वादिकन्तथा ।
आद्यन्तकालञ्च तथा गोत्रं नाम च कामिनाम् ।
क्रियाङ्कयं करिष्येऽहमेवं सम्रुत्सृजेत् पयः ॥"
इति योगिनीतन्त्रे प्रथमखण्डीयः २ पटलः ॥ * ॥
अन्यच्च । शिवपूजायां मानससङ्कल्पो यथा,—
"ततस्तु परमेशानि ! कृत्वा सङ्कल्पमानसम् ।
यथापूर्व्वं महादेवि ! श्रद्धायुक्तस्थितमानसः ॥
तथा भवतु सर्व्वाङ्गं इति सङ्कल्प्य मानसः ।
न गोत्रं मम देवेशि ! न नाम परमेश्वरि ॥
न माता परमेशानि न पिता मम कामिनि ।
तस्मिन् काले महेशानि मम सर्व्वं न हि प्रिये ॥
न वारं न तिथिं देवि तस्मिन् काले शुचिस्मिते ।
न काष्ठां न कलां देवि तस्मिन् काले वरानने ॥
न दिवा परमेशानि न रात्रिं परमेश्वरि ।
अतएव महेशानि सङ्कल्पं मानसं स्मृतम् ॥
मानसं यदि आयाति तदा स्थानेन किं प्रिये ।
सङ्कल्पं मानसं देवि चतुर्व्वर्गप्रदायकम् ॥
स्थूलं हि परमेशानि सङ्कल्पं व्यर्थमुच्यते ॥
सङ्कल्पेन विना देवि यत् किञ्चित् कृतवान् सुधीः ।
तदुक्तं परमेशानि तत् सर्व्वं मानसं परम् ॥
यदुक्तं परमेशानि मुनिना क्षुद्रबुद्धिना ।
तत् सर्व्वं परमेशानि व्यर्थं भवति पार्व्वति ।
इति सङ्कल्पमाचर्य्य जीवन्यासं समाचरेत् ॥"
इति लिङ्गार्च्चनतन्त्रे ५ पटलः ॥

सङ्कल्पजन्मा, [न्] पुं, (सङ्कल्पात् जन्म यस्य ।) कामदेवः । इति हलायुधः ॥ (यथा, कथासरित्सागरे । ४६ । २३८ ।
"दग्धोऽपि कामः सङ्कल्पजन्मा शर्व्वेण
निर्म्मितः ॥")

सङ्कल्पभवः, पुं, (सङ्कल्पात् भव उत्पत्तिर्यस्य ।) कामदेवः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ (अभिलाषसम्भूतमात्रे, त्रि । यथा, महाभारते । १३ । ४१ । ८ ।
"त्वदर्थमागतं विद्धि देवेन्द्रं मां शुचिस्मिते ।
क्लिश्यमानमनङ्गेन त्वत्सङ्कल्पभवेन ह ॥")

सङ्कल्पयोनिः, पुं, (सङ्कल्पात् योनिर्यस्य ।) कामदेवः । इति हेमचन्द्रः ॥

सङ्कसुकः, त्रि, (सम्यक् कसति इतस्ततो गच्छतीति । सम् + कस गतौ + "समि कसेरुकन् ।" उणा० २ । २६ । इति उकन् ।) अस्थिरः । इत्यमरः ॥ दुर्ब्बलः । इत्युणादिकोषः ॥ मन्दः । इति सिद्धान्तकौमुद्यामुणादिवृत्तिः ॥ संकीर्णः । अपवादशीलः । इति संक्षिप्तसारोणादिवृत्तिः ॥ (यथा, महाभारते । १० । १६३ । १३ ।
"लोष्टमर्द्दी तृणच्छेदी नखखादी तु यो नरः ।
नित्योच्छिष्टः सङ्कसुको नेहायुर्विन्दते महत् ॥")

सङ्कारः, पुं, (संकीर्य्यते इति । सं + कॄ विक्षेपे + घञ् ।) सम्मार्ज्जन्या क्षिप्तधूल्यादिः । इति शब्दरत्नावली ॥ अग्निचटत्कारः । इति मेदिनी ॥

सङ्कारी, स्त्री, नवदूषितकन्या । इति मेदिनी ॥

सङ्काशः, त्रि, (सम्यक् काशते प्रकाशते इति । काश + पचाद्यच् ।) सदृशः । (यथा, महाभारते । १ । १२३ । ३ ।
"आजगाम ततो देवो धर्म्मो मन्त्रबलात् ततः ।
विमाने सूर्य्यसङ्काशे कुन्ती यत्र जपस्थिता ॥")
अन्तिकः । इति विश्वः ॥

सङ्किलः, पुं, दहनोल्का । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सङ्कीर्णं, त्रि, (सं + कॄ + क्तः ।) जनादिभिर्निरवकाशः । इति भरतः ॥ नानाजातिसंमिलितम् । इति भानुदीक्षितः ॥ तत्पर्य्यायः । सङ्कुलम् २ आकीर्णम् ३ । इत्यमरः ॥ निचितम् ४ । इति नानार्थे अमरः ॥ व्याप्तम् ५ समाकीर्णम् ६ । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, महाभारते । १ । १३४ । २६ ।
"द्रोणः सङ्कीर्णयुद्धे च शिक्षयामास वीर्य्यवान् ॥")
सङ्कटः । इत्यजयः ॥ परस्परविजातीयः । यथा,
"विशेष्यनिघ्नैः संकीर्णैर्नानार्थैरव्ययैरपि ।"
इत्यमरश्लोकटीकायां भरतः ॥
अशुद्धः । इति नानार्थे अमरः ॥

सङ्कीर्णः, पुं, (सं + कॄ + क्तः ।) अम्बष्ठकरणादिचाण्डालपर्य्यन्तमिश्रजातिः । इत्यमरः ॥ मिश्रितरागः । इति संगीतशास्त्रम् ॥

सङ्कीर्त्तनं, क्ली, स्त्री, (सं + कीर्त्त + ल्युट् ।) सम्यक्प्रकारेण देवतानामोच्चारणम् । गुणादिकथनम् । यथा,—
"कृष्णवर्णं त्विषा कृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम् ।
यज्ञैः सङ्कीर्त्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः ॥"
इति श्रीमद्भागवते ११ स्कन्धे ५ अध्यायः ॥
"कृष्णं वर्णयति । त्विषा कान्त्या कृष्णं इन्द्रनीलमणिवदुज्ज्वलम् । यद्वा त्विषा कृष्णं कृष्णावतारं अनेन कलौ कृष्णावतारस्य प्राधान्यं दर्शयति । अङ्गानि हृदयादीनि । उपाङ्गानि कौस्तुभादीनि । अस्त्राणि सुदर्शनादीनि । पार्षदाः सुनन्दादयः । तत्सहितं यज्ञैरर्च्चनैः । सङ्कीर्त्तनं नामोच्चारणं स्तुतिश्च तत्प्रधानैः । सुमेधसो विवेकिनः ।" इति तट्टीकायां श्रीधरस्वामी ॥ * ॥ तन्माहात्म्यं यथा,—
"सङ्कीर्त्तनध्वनिं श्रुत्वा ये च नृत्यन्ति मानवाः ।
तेषां पादरजःस्पर्शात् सद्यः पूता वसुन्धरा ॥"
इति बृहन्नारदीयपुराणम् ॥
अपि च ।
"नामसङ्कीर्त्तनं यत्र कृष्णस्य परमात्मनः ।
स्थानं तत्तु पवित्रं स्यान्मृतानां तत्तु मुक्तिदम् ॥"
इति पद्मपुराणम् ॥ * ॥
प्रथमसङ्कीर्त्तनारम्भप्रमाणं यथा । पुष्करतीर्थे नारदं प्रति ब्रह्मवाक्यम् ।
"श्रीकृष्णरससङ्गीतं वीणाध्वनिसमन्वितम् ।
कुरु वत्साधुनाचैव शृण्वन्तु मुनयः सुराः ॥
गोपीनां वस्त्रहरणं परं रासमहोत्सवम् ।
ताभिः सार्द्धं जलक्रीडां हरेरुत्कीर्त्तनं कुरु ॥
कृष्णसङ्कीर्त्तनं तूर्णं पुनाति श्रुतिमात्रतः ।
श्रोतारञ्च प्रवक्तारं पुरुषैः सप्तभिः सह ॥
यत्रैव प्रभवेद्वत्स ! तन्नामगुणकीर्त्तनम् ।
तत्र सर्व्वाणि तीर्थानि पुण्यानि मङ्गलानि च ॥
तत्कीर्त्तनध्वनिं श्रुत्वा सर्व्वाणि पातकानि च ।
दूरादेव पलायन्ते वैनतेयमिवोरगाः ॥
तद्दिनं सफलं धन्यं यशस्यं सर्व्वमङ्गलम् ।
श्रीकृष्णकीर्त्तनं यत्र तत्र वै नायुषोऽव्ययः ॥
कृष्णसंकीर्त्तनस्थाने ये च नृत्यन्ति वैष्णवाः ।
तेषां पादरजःस्पर्शात् सद्यः पूता वसुन्धरा ॥
उत्कीर्त्तनं भवेद्यत्र कृष्णस्य परमात्मनः ।
स्थानं तत्र भवत्तीर्थं मृतानां तत्र मुक्तिदम् ॥
नात्र पापानि तिष्ठन्ति पुण्यानि सुस्थिराणि
च ।
तपस्विनाञ्च व्रतिनां व्रतानां तपसां स्थलम् ॥
वर्त्तन्ते पापिनां देहे पापानि त्रिविधानि च ।
महापापोपपापातिपापान्येव स्मृतानि च ॥
कृष्णसंकीर्त्तनाद्ध्यानात्तन्मन्त्रग्रहणाद्धरेः ।
मुच्यन्ते पातकैस्तैश्च पापिनस्त्रिविधा जनाः ॥"
इति नारदपञ्चरात्रे ज्ञानामृतसारे प्रथमैकरात्रे महोत्सवारम्भो नाम १० अध्यायः ॥

सङ्कीर्त्तितः, त्रि, (सं + कीर्त्त + क्तः ।) सम्यगुच्चरितः । संस्तुतः । यथा,—
"अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत् ।
संकीर्त्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः ॥"
इति श्रीभागवते ६ स्कन्धे २ अध्यायः ॥

सङ्कुचितं, क्ली, (सं + कुच + क्तः ।) संकोचयुक्तम् । अप्रफुल्लम् । तत्पर्य्यायः । निद्राणम् २ मीलितम् ३ मुद्रितम् ४ । इति हेमचन्द्रः ॥ सुप्तम् ५ मिलितम् ६ नतम् ७ निकुञ्चितम् ८ । सनिद्रम् ९ अलसम् १० । इति राजनिर्घण्टः ॥ (यथा, आर्य्यासप्तशत्याम् । ६५४ ।
"सङ्कुचिताङ्गीं द्विगुणांशुकां मनोमात्रविस्फुर-
न्मदनाम् ।
दयितां भजामि मुग्धामिव तुहिन इव प्रसा-
देन ॥")

सङ्कुलं, क्ली, (सङ्कुलतीति । सं + कुल संस्त्याने + इगुपधेति कः ।) युद्धम् । इत्यजयः ॥ (यथा, हरिवंशे । ९१ । ९५ ।
"ततो बलेन महता गजानीकेन चाप्यथ ।
उभयोरन्तरं ताभ्यां सङ्कुलं समपद्यत ॥")
परस्परपराहतवाक्यम् । तत्पर्य्यायः । क्लिष्टम् २ । इत्यमरः ॥ "द्वे पूर्व्वापरविरुद्धे वाक्ये । यथा,—
'यावज्जीवमहं मौनी ब्रह्मचारी पिता मम ।
माता च मम वन्ध्या स्यात् स्मराभोऽनुपमो
भवान् ॥'

कुलजबन्धुसंहत्योः संपूर्व्वः इगुडत्वात् कः । क्लिश्यतिः क्तः क्लिष्टम् । परस्परं पराहतं विरुद्धं परस्परपराहतम् । तत्र सरस्वतीकण्ठाभरणे तु क्लिष्टलक्षणं यथा,—

'दूरे यस्यार्थसंवित्तिः क्लिष्टं नेष्टं हि तत् सताम् ।'

यथा,—

'विजितात्मभवद्वेषिगुरुपादहतो जनः ।
हिमापह्नामित्रधरैर्व्याप्तं व्योमाभिनन्दति ॥'

अस्यार्थः । विना गरुड़ेन जित इन्द्रस्तस्यात्मभवोऽर्ज्जुनस्तस्य द्वेषी कर्णः तस्य गुरुः पिता सूर्य्यः तस्य पादैः रश्मिभिर्हतो जनो लोकः व्योम आकाशमभिनन्दति । कीदृशं हिमापह्नोऽग्निस्तस्यामित्रं जलं तद्धारयन्ति ये तैर्म्मेघैर्व्याप्तम् ।" इति तट्टीकायां भरतः ॥ (सङ्कीर्णता । यथा, महाभारते । ३ । १४२ । ३८ ।

"एतस्मिन् सङ्कुले तात वर्त्तमाने भयङ्करे ।
अतिभारात् वसुमती योजनानां शतं गता ॥")

सङ्कुलं, त्रि, (सं + कुल संख्याने + कः ।) जनादिभिर्निरवकाशम् । तत्पर्य्यायः । सङ्कीर्णम् २ । आकीर्णम् ३ । इत्यमरः ॥ कलिलम् ४ गहनम् ५ । इति केचित् ॥ सङ्कीर्य्यते स्म जनादिभिर्निरन्तरं व्याप्यते स्म सङ्कीर्णं कृश विक्षेपे क्तः । संकुलति सङ्कुलं कुल ज बन्धुसंहत्योः संपूर्व्वेगुडत्वात् कः । संकुलं इत्यादि । प्रकिधातोर्थे प्रकुलं तालव्यादीति स्वामी । आकीर्णं सङ्कीर्णवत् । इति भरतः ॥ (यथा, महाभारते । १ । ११३ । २६ ।

"ततः सेनामुपादाय पाण्डुर्नानाविधध्वजाम् ।
प्रभूतहस्त्यश्वयुतां पदातिरथसङ्कुलाम् ॥")

सङ्केतः, पुं, सङ्किप्यते उच्यतेऽत्र । (सं + कित + घञ् ।) स्वाभिप्रायव्यञ्जकचेष्टाविशेषः । तत्पर्य्यायः । प्रज्ञप्तिः २ परिभाषा ३ शैली ४ समयः ५ आकारः ६ । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ उदाहरणं यथा,—

"सङ्केतप्रियशङ्कया निजपतिं प्रावोचदध्वश्रमम् ।"
इति रससंग्रहः ॥

(यथा च साहित्यदर्पणे ।

"सङ्केतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया ।
हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम् ॥")

न्यायमते यथा । सङ्केतो लक्षणा चार्थे पदवृत्तिः । वृत्त्या पदप्रतिपाद्योऽर्थे एव पदार्थ इत्यभिधीयते । इदं पदमिममर्थं बोधयत्विति अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इति वेच्छा सङ्केतरूपा वृत्तिः । तत्राधुनिकसङ्केतः परिभाषा । तया अर्थबोधकं पदं पारिभाषिकम् । यथा शास्त्रकारादिसङ्केतितनदीवृद्ध्यादिपदम् । ईश्वरसङ्केतः शक्तिः । तया अर्थबोधकं पदं वाचकम् । यथा गोत्वादिविशिष्टबोधकगवादिपदम् । तद्बोध्योऽर्थो गवादिर्वाच्यः स एव मुख्यार्थ इत्युच्यते । इति शक्तिवादे गादाधरी टीका ॥

सङ्केतनिकेतनं, क्ली, (सङ्केतस्य निकेतनम् ।) प्रियमेलनार्थावधारितगृहम् । यथा,—

"सङ्केतनिकेतने प्रियमनवलोक्य समाकुलहृदया विप्रलब्धा ।

'सङ्केतकेलिगृहमेत्य निरीक्ष्य शून्यमेणीदृशो निश्वसितैः श्वसिताधरायाः ।
अर्द्धाक्षरं वचनमर्द्धविकाशि नेत्रं ताम्बूलमर्द्धकवलीकृतमेव तस्थौ ॥'

सङ्केतस्थलं प्रति भर्त्तुरनागमनकारणं चिन्तयति या सोत्कण्ठिता ॥" इति रसमञ्जरी ॥

सङ्कोचं, क्ली, (सङ्कुचतीति । सं + कुच + अच् ।) कुङ्कुमम् । इत्यमरः ॥

सङ्कोचः, पुं, (संकुचतीति । सं + कुच + अच् ।) मत्स्यभेदः । (सं + कुच् + भावे घञ् ।) बन्धः । इति मेदिनी ॥ (यथा, कथासरित्सागरे । ६० । ६५ ।

"निनाय च निशामिन्दुबिम्बमामन्त्रिणीव ताम् ।
बहुमोहाकुलिपटले हृदि सङ्कोचमेत्य सा ॥")

बहुविषयक-वाक्यार्थादेरल्पविषय-स्थापनम् । यथा, सामान्यशब्दार्थस्य विशेषनिष्ठत्वं सङ्कोचः । इति श्राद्धविवेकः ॥ रोधः । जड़ीभाव इत्यर्थः । यथा,—

"यस्मिन् प्रसृदिते राशि तमः सङ्कोचति चितौ ॥"
इति कविकल्पद्रुमटीकायां दुर्गादासः ॥

सङ्कोचनी, स्त्री, (सङ्कुचतीति । सं + कुच + ल्युः । ङीप् ।) लज्जालुलता । इति रत्नमाला ॥

सङ्कोचपिशुनं, क्ली, (सङ्कोचेन पिशुनम् ।) कुङ्कुमम् । इति भावप्रकाशः ॥

सङ्क्रन्दनः, पुं, (सङ्क्रन्दयति असुरानिति । सं + क्रन्द + णिच् + ल्युः ।) इन्द्रः । इत्यमरः ॥ (भौत्यस्य मनोः पुत्रविशेषः । यथा, मार्कण्डेये । १०० । ३२ ।

"ब्रोमाणी च प्रतीरश्च विष्णुः सङ्क्रन्दनस्तथा ।
तेजस्वी सुबलश्चैव भौत्यस्यैते मनोः सुताः ॥"

सं + क्रन्द + भावे ल्युट् ।) रोदने, क्ली । (यथा, महाभारते । ११ । २३ । ४ ।

"दिष्ट्या नैनं महाराज दारुणं भरतर्षभ ।
कुरु सङ्क्रन्दनं घोरं युगान्तमनुपश्यसि ॥"

सङ्क्रन्दयति शत्रूनिति । शत्रुतापके, त्रि । यथा, महाभारते । ४ । ५ । २६ ।

"तस्य मौर्व्वीमपाकर्षत् शूरः सङ्क्रन्दनो युधि ।
कुले नास्ति समो रूपे यस्येति नकुलः स्मृतः ॥")

सङ्क्रमः, पुं, क्ली, दुर्गसञ्चरः । साँको इति भाषा । इत्यमरः ॥ संक्रामति अनेन संक्रम्यते असौ वा संक्रमः । घञ् । दुर्गे सेत्वादि सञ्चरत्यनेन दुर्गसञ्चरः करणे अल् । सञ्चरो निर्गमोऽध्वपथः । इति रत्नकोषः । इति भरतः ॥ (यथा, मनुः । ६ । २८५ ।

"सङ्क्रमध्वजयष्टीनां प्रतिमानाञ्च भेदकः ।
प्रतिकुर्य्याच्च तत् सर्व्वं पञ्च दद्यात् शतानि च ॥")

सङ्क्रमः, पुं, (सं + क्रम + घञ् ।) क्रमणम् । सम्यक्प्राप्तिसञ्चारवस्तु । इति धरणिः ॥ (यथा, भागवते । ४ । १२ । ४८ ।

"दिनक्षये व्यतीपाते सङ्क्रमेऽर्कदिनेऽपि वा ॥")

रविसंक्रमकालो यथा,—

"त्रुटेः सहस्रभागो यः स कालो रविसङ्क्रमः ॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥

सङ्क्रमणं, क्ली, (सं + क्रम + ल्युट् ।) गमनम् । सूर्य्यस्य राश्यन्तरप्रवेशः । यथा । कालकौमुद्यां जावालिः ।

"पूर्व्वे चेदर्द्धरात्रे तु रविसङ्क्रमणं भवेत् ।
प्राहुर्दिनद्वयं पुण्यं त्यक्त्वा मकरकर्कटौ ॥"

देवीपुराणे ।

"रविसङ्क्रमणे पुण्ये न स्नायात् यस्तु मानवः ।
सप्तजन्म भवेत् कुष्ठी दरिद्रश्चोपजायते ॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥

(प्रापणम् । यथा, हरिवंशे । ३२ । १६ ।

"अन्नेवोदाहरन्तीमं भरद्वाजस्य धीमतः ।
धर्म्मसङ्क्रमणञ्चापि मरुद्भिर्भरताय वै ॥")

सङ्क्रान्तः, त्रि, (संक्रान्तिरस्यास्तीति । अच् ।) संक्रान्तिविशिष्टः । यथा,—

"असङ्क्रान्तमासोऽधिमासः स्फुटः स्यात्
द्विसंक्रान्तमासः क्षयाख्यः कदाचित् ॥"
इति मलमासतत्त्वम् ॥

(सं + क्रम् + क्तः ।) प्राप्तः । गतः । क्रमागतधनादि । यथा । स्त्रीसङ्क्रान्तधनस्य स्त्रीधनत्वाभावात् अधिकारविशेषस्याच वचनादप्राप्ताकाङ्क्षया कल्पने लाघवात् स्त्रीसङ्क्रान्तधनमात्रस्य पूर्व्वस्वामिदायादक्रमेणोऽधिकारी कल्पनीय एतदर्थं पत्नीपदस्य स्त्रीमात्रपरत्वमिति भावः । इति दायभागटीकायां श्रीकृष्णतर्कालङ्कारः ॥

सङ्क्रान्तिः, स्त्री, (सं + क्रम + क्तिन् ।) राश्यन्तरसंयोगानुकूलव्यापारः । यथा,—

"नाड़ीनवकदिवसे रविभौमशनैश्चराः ।
सङ्क्रान्तिं यस्य कुर्व्वन्ति तस्य शोकोऽभिजायते ॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥

रविसंक्रान्तिर्यथा । भविष्यमात्स्यज्योतिषेषु ।

"मृगकर्कटसंक्रान्ती द्वे तूदग्दक्षिणायने ।
विषुवती तुलामेषे गोलमध्ये तथापराः ॥"

मृगो मकरः । गोलो राशिचक्रम् ।

"धनुर्म्मिथुनकन्यासु मीने च षड़शीतयः ।
वृषवृश्चिकसिंहेषु कुम्भे विष्णुपदी स्मृता ॥"

देवीपुराणम् ।

"यावद्दिंशकला भुक्तास्तावत् पुण्यं चोत्तरायणे ।
निरंशे भास्करे दृष्टे दिनान्ते दक्षिणायने ॥
अर्द्धरात्रे त्वसंपूर्णे दिवा पुण्यमनागतम् ।
अर्द्धरात्रे व्यतीते तु विज्ञेयं चापरेऽहनि ॥
संपूर्णे चार्द्धरात्रे च उदयेऽस्तमयेऽपि वा ।
मासार्द्धं भास्करे पुण्यमपूर्व्वे पूर्व्वतोदिवे ॥
सम्पूर्णे तूभयोर्ग्राह्यमतिरेके परेऽहनि ।

षड़शीतिमुखेऽतीते तृप्ते च विषुवद्वये ।
भविष्यत्ययने पुण्यमतीते चोत्तरायणे ।
आदौ पुण्यं विजानीयात् यत्राभिन्ना तिथिर्भवेत् ॥”

विंशकला विंशतितमी कला संक्रान्तिक्षणादूर्द्ध्वं यावद्भवति तावत् पुण्यम् । निरंशोऽंशशून्ये संक्रान्तिकाले हि भास्करोऽंशरहितो भवति तस्मिन् दृष्टे दिवेति यावत् । दिनञ्च दिनकरकरसंस्कृतात्रिंशन्नाड़िका इति ज्योतिर्विदः । तदन्तं तत्समाप्तिं यावत् तावत् पुण्यम् । तथा च वृद्धवशिष्ठः । त्रिंशत्कर्कटके नाड्यो मकरे विंशतिः स्मृताः । नाड़ी दण्डः ।

“उत्पलाद्विपलं षष्ट्या विपलात्तु पलं नयेत् ।
पलात् षष्ट्या नयेन्नाड़ीं तत्षष्ट्या तु रवेर्द्दिनम् ॥”
इति सिद्धान्तसन्दर्भात् ॥

ततश्च देवीपुराणवृद्धवशिष्ठयोरेकवाक्यतया कलानाड्योः पर्य्यायता ॥ * ॥ रात्रिसंक्रमणे त्वाह अर्द्धरात्रे त्विति । असम्पूर्णे कलान्यूनार्द्धरात्रे ।

“कलान्यूनार्द्धरात्रे तु यदि संक्रमणं भवेत् ।
तदहः पुण्यमिच्छन्ति गार्गगालवगौतमाः ॥”
इति कृत्यचिन्तामणिवर्द्धमानधृतगार्गवचनात् ।

कालकौमुद्याञ्च गालवेत्यत्र हारीत इति पाठः । ततश्च कलान्यूनार्द्धरात्राभ्यन्तरे द्वादशस्वेव संक्रान्तिषु अनागतं नागतं संक्रमणेन यत्र दिवा तदेव पुण्यं पुण्यजनकम् । तत्तु पूर्व्वदिनं तदेव संक्रान्तेरनागतत्वसम्भवात् । तेन संक्रमणकालादर्व्वागेव दिवापरार्द्धे स्नानादिकं कर्त्तव्यमित्यर्थः । अर्द्धरात्रे व्यतीते कालाधिकार्द्धरात्रे व्यतीते । संपूर्णे अर्द्धरात्रे रात्रिमध्यकलयोः । कलान्यूनार्द्धरात्रे त्विति वचनानन्तरं भुजबलभीमे ।

“अर्द्धरात्रे कलाधिक्ये यदा संक्रमते रविः ।
तदोत्तरदिनं ग्राह्यं स्नानदानजपादिषु ॥
अर्द्धरात्रे तु संपूर्णे यदा संक्रमते रविः ।
प्राहुर्द्दिनद्वयं पुण्यं त्यक्त्वा मकरकर्कटौ ॥”
इति वचनाभ्यां तथा प्रतीतेः । कालविवेके कालकौमुद्याञ्च शातातपजाबालौ ।

“पूर्णे चेदर्द्धरात्रे तु रविसंक्रमणं भवेत् ।
प्राहुर्द्दिनद्वयं पुण्यं त्यक्त्वा मकरकर्कटौ ॥”
एतयोर्व्यवस्थां आह कालमाधवीये भविष्योत्तरीयम् ।

“मिथुनात् कर्किसंक्रान्तिर्यदि स्यादंशुमालिनः ।
प्रदोषे वा निशीथे वा कुर्य्यादहनि पूर्व्वतः ॥
कार्म्मुकन्तु परित्यज्य झषं संक्रमते रविः ।
प्रभाते वार्द्धरात्रे वा स्नानं कुर्य्यात् परेऽहनि ॥”
ततश्च रात्रिमध्यखण्डद्वयात्मकार्द्धरात्रसंक्रान्तावुदयेऽस्तमयेऽपि वा इत्यनेन उदयोपक्रमस्तमयान्तञ्च स्नानार्हं पुण्यम् । एवञ्चोभयदिने पुण्यकाले पूर्व्वदिनाकरण एव परदिने ।

“श्वः कार्य्यमद्य कर्त्तव्यं पूर्व्वाह्णे चापराह्णिकम् ।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतमस्य न वा कृतम् ॥”
इति लिङ्गपुराणात् मोक्षधर्म्माच्च ॥

तत्रापि दक्षिणायने पूर्व्वदिनार्द्धमात्रमिति विशेषः । उत्तरायणे परदिनार्द्धमात्रमिति विशेषः । स्नानार्हमिति भास्करे भास्करोपलक्षिते काले दिवेति यावत् तस्मिन् संक्रमणेऽपि स्नानार्हं पुण्यम् । एतच्च विषुवषड़शीतिविषयम् । अयनकालयोः पूर्व्वमुक्तत्वात् विष्णुपद्याश्चोभयतः षोड़शकलानां पञ्चदशनाड़िकानां वा पुण्यत्वस्य शातातपादिवचनेन वक्ष्यमाणत्वात् । तेन दिवासंक्रमण एवायनादित्वेन पुण्यकाले विशेषः । रात्रिसंक्रमणे तु अर्द्धरात्रीयमकरकर्कटसंक्रमणव्यतिरिक्ते सर्व्वेषां तुल्यमेति । अपूर्णे शर्व्वरीदले कलान्यूनार्द्धरात्रे इत्यत्रापि स्नानार्हमित्यनुषज्यते । दिवापुण्यमिति यत् प्रागुक्तं अत्र तदेव स्नानार्हत्वेन विशेषितमित्यपुनरुक्तिः । एवमुदयास्तमये यत्स्नानार्हं पुण्यं तत् किमेकदिने दिनयोर्व्वेति तत्राह संपूर्णे तूभयोरिति उभयोः पूर्व्वापरदिनयोः स्नानार्हं पुण्यं तेन पूर्व्वदिनस्यास्तमयपर्य्यन्तं परदिनस्य उदयमारभ्य स्नानार्हं पुण्यमित्यर्थः । अतिरेके अर्द्धरात्रात् परतः संक्रमणे परेऽहनि स्नानार्हं पुण्यमित्यनुषज्यते । स्नानार्हन्तु प्रहरद्वयम् ।

“अर्द्धरात्रादधस्तस्मिन् मध्याह्नस्योपरि क्रिया ।
ऊर्द्ध्वं संक्रमणे भानोरुदयात् प्रहरद्वयम् ।
पूर्णार्द्धरात्रसंक्रान्तौ द्वे दिनार्द्धे तु पुण्यदे ॥”
इति संवत्सरप्रदीपगङ्गावाक्यावलीधृतवशिष्ठसौरधर्म्मवचनैकवाक्यत्वात् ।

“अर्द्धरात्रादधश्चैव दिनार्द्धस्योपरि क्रिया ।
ऊर्द्ध्वं संक्रमणे भानोरुदयात् प्रहरद्वयम् ॥”
इति भोजराजकृत्यचिन्तामणिधृतैकवाक्यत्वाच्च । अधः पूर्व्वं ऊर्द्ध्वं परतः । क्रिया स्नानादिका । एवञ्च गार्गवचनस्यतदहरिति यामद्वयपरम् । अन्यथा मूलभूतस्मृत्यन्तरकल्पनापत्तिः । एवञ्च षड़शीतिमुखेऽतीते इत्यादि दिवासंक्रमणविषयम् । तेन दिवा षड़शीतिसंक्रमणे भूते भविष्यत्स्नानार्हं पुण्यं एवं विषुवद्वयेऽपि । दिवोत्तरायणेऽपि भविष्यद्विंशतिदण्डानां पुण्यत्वम् । अत्रोत्तरायणस्य पृथगभिधानात् अयन इति पदं दक्षिणायनपरं गोवलीवर्द्दन्यायात् । तेन दिवा दक्षिणायने भविष्यति भूतत्रिंशद्दण्डानां पुण्यत्वम् । एवञ्च षड़शीत्यादिष्ववकाशमलभमानम् ।

“अर्व्वाक् षोड़श विज्ञेया नाड्यः पश्चाच्च षोड़श ।
कालः पुण्योऽर्कसंक्रान्तेर्व्विद्वद्भिः परिकीर्त्तितः ॥”
इति शातातपीयम् ।

“अतीतानागतौ भोगौ नाड्यः पञ्चदश स्मृताः ।”
इति देवीपुराणीयञ्च वचनं दिवा विष्णुपदीविषयम् । अतएव जाबालिवृद्धवशिष्ठौ ।

“पुण्याख्या विष्णुपद्याश्च प्राक् पश्चादपि षोड़श ।”

अर्द्धरात्रे विशेषमाह आदावित्यादि । अर्द्धरात्रसंक्रान्तावादौ पूर्व्वदिन एव स्नानार्हं पुण्यम् । यद्यभिन्ना संक्रान्तिकाले पूर्व्वदिने च एकैव तिथिर्भवेत् तेन मध्यरात्रे संक्रमणे यदुभयदिनस्नानार्हं पुण्यमुक्तं तद्भिन्नतिथिविषयम् । अतीते पुनरर्द्धरात्रे पूर्व्वेणाह्ना तिथ्यभेदेऽपि परदिनस्यैव पूर्व्वार्द्धं पुण्यमिति तात्पर्य्यार्थः । एवञ्च रात्रिसंक्रान्तौ दिन एव पुण्यत्वाभिधानात् ।

“राहुदर्शनसंक्रान्तिविवाहात्ययवृद्धिषु ।
स्नानदानादिकं कुर्य्युर्निशि काम्यव्रतेषु च ॥”
इति देवलेन दिनसंक्रमणस्य रात्रिप्रविष्टपुण्यकालांशे संक्रान्तिनिमित्तेन स्नानदानादि विधीयते इति ॥ * ॥ यत्तु ।

“मन्दा मन्दाकिनी ध्वाङ्क्षी घोरा चैव महोदरी ।
राक्षसी मिश्रिता प्रोक्ता संक्रान्तिः सप्तधा नृप ॥
मन्दा ध्रुवेषु विज्ञेया मृदौ मन्दाकिनी तथा ।
क्षिप्रे ध्वाङ्क्षीं विजानीयादुग्रे घोरा प्रकीर्त्तिता ॥
चरे महोदरी ज्ञेया क्रूरेऽर्क्षे चैव राक्षसी ।
मिश्रिता चैव विज्ञेया मिश्रितर्क्षेषु संक्रमे ॥”
इत्येतेर्द्वादशस्वेव संक्रान्तिषु ध्रुवादिनक्षत्रयोगान्मन्दादिरूपतया सप्तधाभिन्नासु ।

“त्रि चतुः पञ्च सप्ताष्ट नव द्वादश एव च ।
क्रमेण घटिका ह्येतास्तत् पुण्यं पारमार्थिकम् ॥”
इति देवीपुराण एव त्रिचतुरादिघटिकानां पुण्यत्वमुक्तं तद्दिवारात्र्योस्तत्तत्कालोपदेशात् अवकाशमलभमानं सन्ध्याद्वयसंक्रान्तिविषयमिति समयप्रकाशः ॥*॥ ध्रुवादिगणस्तु दीपिकायाम् ।

“उग्रः पूर्व्वमघान्तकाः ध्रुवगणस्त्रीण्युत्तराणि स्वभू-
र्व्वातादित्यहरित्रयं चरगणः पुष्याश्विहस्ता लघुः ।
चित्रामित्रमृगान्त्यभं मृदुगणस्तीक्ष्णोऽहिरुद्रेन्द्रयुक्
मिश्रोऽग्निः सविशाखभः शुभफलाः सर्व्वे स्वकृत्ये गणाः ॥”

अन्तको भरणी । स्वभू रोहिणी । वातादित्यहरित्रयं स्वाती पुनर्व्वसुः श्रवणा धनिष्ठा शतभिषा । मित्रमृगान्त्यभं अनुराधामृगशिरोरेवत्यः । अहिरुद्रेन्द्रयुक् अश्लेषा आर्द्रा ज्येष्ठा मूला । अग्निः कृत्तिका । कल्पतरुस्तु । क्रमेण यथासंख्येन एता घटिकास्तत्पुण्यं तस्य संक्रमणस्य पुण्यहेतुत्वात् पुण्यं पारमार्थिकं मुख्यम् ।

“त्रुटेः सहस्रभागो यः स कालो रविसंक्रमः ।”
इत्युक्तसूक्ष्मसङ्क्रमकालीनानुष्ठानजन्यपुण्यसमपुण्यहेतव इत्याह । त्रुटिस्तु ।

“लघ्वक्षरचतुर्भागस्त्रुटिरित्यभिधीयते ।
त्रुटिद्वयं लवः प्रोक्तो निमेषस्तु लवद्वयम् ॥”
इति स्मृत्युक्ता ॥

एतदेव मतं युक्तम् । अतएव देवलेन ।

“या याः सन्निहिता नाड्यस्तास्ताः पुण्यतमाः स्मृताः ।”

इत्युक्तम्। एवच्चैता घटिकाः पुण्यतमाः स्नानादिदिकन्तु पुण्यमात्रमिति तस्मात्पूर्व्वेत्यादि न सन्ध्यासंक्रान्तिविषयकमिति। सन्ध्यासंक्रान्ति-विषयत्वे पारमार्थिकमित्यनुपपत्तेः। पुण्यमित्यनेनैव सिद्धेः। पारमार्थिकमित्यत्र कल्पतरुव्याख्यानानवलोकनात् रविसंक्रम इति पाठकल्पनं कल्पनमेव। समयप्रकाशकृतापि तथा पठितत्वात्। जीमूतवाहनेनापि कालविवेके।
"अह्नि संक्रमणे पुण्यमहः कृत्स्नं प्रकीर्त्तितम्।
रात्रौ संक्रमणे भानोर्द्दिनार्द्धं स्नानदानयोः॥"
इति वृद्धवशिष्ठादिवचनपर्य्यालोचनया दिवासंक्रान्तौ दिनमात्रं पुण्यं पुण्यतरास्तु विशेषविहिता नाड्यः इत्याह। अतएव तद्धृतजाबालिवृद्धवसिष्ठशातातपवचनमपि सङ्गच्छते। यथा,—
"वर्त्तमाने तुलामेषे नाड्यस्तूभयतो दश॥"
कालमाधवीयेऽपि। अशीत्यभिधाय प्राशस्त्यतारतम्यमुक्तम्। एवञ्च दिवासंक्रान्तौ कृत्स्नं दिनं पुण्यं षडशीतिमुखेऽतीते इति वचनं पुण्यतरपरम्॥ *॥ ननु देवीपुराणे दिवारात्र्योः संक्रमणे विशिष्यकालाभिधानात् सन्ध्यासंक्रान्तेः कः काल इति चेत्।
"त्रिंशन्मुहूर्त्तं कथितमहोरात्रन्तु यन्मया।"
इति विष्णुपुराणेन सन्ध्ययोः पृथगनुपादानात् दिवारात्रिसम्बन्धित्वान्मुहूर्त्तार्द्धेन तयोरन्तर्भावः। तथा च दक्षः।
"अहोरात्रस्य यः सन्धिः सूर्य्यनक्षत्रवर्ज्जितः।
सा तु सन्ध्या समाख्याता मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः॥"
योगियाज्ञवल्क्यः।
"ह्रासवृद्धौ च सततं दिनरात्र्योर्यथाक्रमम्।
सन्ध्या मुहूर्त्तमाख्याता ह्रासे वृद्धौ समा स्मृता॥"
वराहः।
"अर्द्धास्तमयात् सन्ध्या व्यक्तीभूता न तारका यावत्।
तेजःपरिहानिरुषा भानोरर्द्धोदयं यावत्॥"
अतएव केनापि मुनिना नानादेशीयसंग्रहकारेण च सन्ध्यासंक्रान्तित्वेन विशेषो नाभिहितः॥ *॥ *॥ तदयं संक्षेपः। दिनसंक्रमणे कृत्स्नं दिनं पुण्यम्। षडशीतिमुखेऽतीते इत्याद्युक्तं पुण्यतरं। मन्दा मन्दाकिनीत्यादिरूपेण त्रिचतुरादिघटिकाः पुण्यतमाः। दिनवृत्तोत्तरायणादिविहितविंशतिदण्डादीनां रात्रिप्रविष्टभागस्यापि पुण्यत्वम्। रात्रिसंक्रमणे तु कलान्यूनप्रथमार्द्धरात्रगते तद्दिवसीयशेषयामद्वयं पुण्यम्। कलाद्वयात्मकमध्यरात्रगते तद्दिवसीयतिथेरभेदे तद्दिवसीयशेषयामद्वयं पुण्यम्। भेदे तु तद्दिवसीयशेषयामद्वयं परदिवसीयाद्ययामद्वयञ्च पुण्यम्। उभयदिने पुण्यकालेऽपि पूर्व्वदिनाकरण एव परदिने तद्विहितं कार्य्यम्। तिथिभेदाभेदयोर्द्दक्षिणायने तद्दिवसीयशेषयामद्वयं उत्तरायणे तु परदिवसीयाद्ययामद्वयं पुण्यमिति। मध्यरात्रीयकलोत्तरशेषार्द्धरात्रसंक्रमणमात्रे तु परदिनाद्ययामद्वयं पुण्यमिति। सन्ध्यासंक्रमणे तु दिनदण्डे दिनस्य रात्रिदण्डे रात्रेर्व्यवस्थेति॥ *॥ *॥ ब्रह्मपुराणे।
"शुक्लपक्षस्य सप्तम्यां यदा संक्रमते रविः।
महाजया तदा प्रोक्ता सप्तमी भास्करप्रिया॥
स्नानं दानं तपो होमः पितृदेवाभिपूजनम्।
सर्व्वं कोटिगुणं प्रोक्तं तपनेन महौजसा॥"
अत्र।
"मासपक्षतिथीनाञ्च निमित्तानाञ्च सर्व्वशः।"
इत्यनेन प्राप्ततिथ्युल्लेखे तद्विशेषणत्वेन महाजया इत्युल्लेख्यम्। संज्ञाविधेरेतदेव प्रयोजनं यत्तया निर्द्दिश इत्युक्तत्वात्। एवञ्च संक्रान्तिविशेषस्य निमित्तत्वेन प्राप्तौ विषुवाद्युल्लेखोऽपि॥ *॥ स्कान्दे।
"एकान्ततो मया प्रोक्ताः कालाः संक्रान्तिसंज्ञकाः।
नैतेषु विद्यतेऽनिष्टं यतश्चाक्षयसंज्ञिताः॥
अश्रद्धयापि यद्दत्तं कुपात्रेभ्योऽपि मानवैः।
अकालेऽपि हि तत् सर्व्वं सत्यमक्षयतां व्रजेत्॥"
मात्स्ये।
"अयने कोटिगुणितं लक्षं विष्णुपदीषु च।
षडशीतिसहस्रन्तु षडशीत्यामुदाहृतम्॥
शतमिन्दुक्षये पुण्यं सहस्रन्तु दिनक्षये।
विषुवे शतसाहस्रमा-का-मा-वेष्वनन्तकम्॥"
आ-का-मा-वेषु आषाढीकार्त्तिकीमाघीवैशाखीपूर्णिमासु। देवीपुराणे।
"रविसंक्रमणे पुण्ये न स्नायाद्यस्तु मानवः।
सप्तजन्मस्वसौ रोगी निर्द्धनश्चोपजायते॥" *॥
दीपिकायाम्।
"नाड़ीनक्षत्रदिवसे रविभौमशनैश्चराः।
संक्रान्तिं यस्य कुर्व्वन्ति तस्य क्लेशोऽभिजायते॥
गोमूत्रसर्षपैः स्नानं सर्व्वौषधिजलेन च।
विशुद्धं काञ्चनं दद्यान्नाड़ीदोषोपशान्तये॥"
नाड़ीनक्षत्राणि चाद्यदशषोड़शाष्टादशत्रयोविंशतिपञ्चविंशतयः। रत्नमालायाम्।
"ताराबलादिन्दुरथेन्दुवीर्य्या-
द्दिवाकरः संक्रममाण उक्तः।
ग्रहाश्च सर्व्वे सवितुर्ब्बलेन
महीसुताद्याः क्रमशः प्रशस्ताः॥" *॥
संवत्सरप्रदीपे।
"धुस्तूरबीजसलिलैः स्नायात् संक्रान्तिशान्तये।
तथा सर्व्वौषधीभिश्च विष्णुमन्त्रांश्च संजपेत्॥
यदाह्नि मेषसंक्रान्तिस्तुलासंक्रमणं निशि।
तदा प्रजा विवर्द्धन्ते धनधान्यसमृद्धिभिः॥
कुजार्कशनिवारेण महासंक्रमणं यदा।
तदा भवेत् प्रजानाशो दुर्भिक्षादिभयं महत्॥"
षट्त्रिंशन्मतनिगमौ।
"संक्रान्त्यां पञ्चदश्याञ्च द्वादश्यां श्राद्धवासरे।
वस्त्रं न पीड़येत्तत्र न च क्षारेण योजयेत्॥
संक्रान्त्याञ्च त्रयोदश्यां पक्षान्ते नवमीदिने।
सप्तम्यां रविवारे च स्नानमामलकैस्त्यजेत्॥"
शातातपः।
"रविवारेऽर्कसंक्रान्त्यां षष्ठ्यां वै सप्तमीतिथौ।
आरोग्यकामस्तु नरो निम्बपत्रं न भक्षयेत्॥" *
कृत्यचिन्तामणौ गुणिसर्व्वस्वे च।
"चैत्रे मासि च सम्पूज्यो घण्टाकर्णो घटात्मकः।
आरोग्याय स्नुहीमूलं संक्रान्त्यां तत्र कारयेत्॥"
पूजामन्त्रः।
"घण्टाकर्ण महावीर सर्व्वव्याधिविनाशन।
विस्फोटकभये प्राप्ते रक्ष रक्ष महाबल!॥"
शिवपुराणे।
"घण्टाकर्णो गणः श्रीमान् शिवस्यातीव-
वल्लभः॥" *॥
कृत्यचिन्तामणौ।
"मसूरं निम्बपत्रञ्च योऽत्ति मेषगते रवौ।
अपि रोषान्वितस्तस्य तक्षकः किं करिष्यति॥"
संवत्सरप्रदीपे तूत्तरार्द्धे।
"मेषस्थे च विधौ तस्य नास्त्यङ्के विषजं भयम्॥"
स्मृतिः।
"मेषादौ शक्तवो देया वारिपूर्णा च गर्गरी॥"
वारिदानमन्त्रः।
"एष धर्म्मघटो दत्तो ब्रह्मविष्णुशिवात्मकः।
अस्य प्रदानात् सफला मम सन्तु मनोरथाः॥
वैशाखे यो घटं पूर्णं सभोज्यं वै द्विजन्मने।
ददात्यशक्त्या राजेन्द्र स याति परमां गतिम्॥"
पूर्णं जलेनेति शेषः। महार्णवे।
"यो ददाति हि मेषादौ शक्तूनम्बुघटान्वितान्।
पितृनुद्दिश्य विप्रेभ्यः सर्व्वपापैः प्रमुच्यते॥
विप्रेभ्यः पादुके छत्रं पितृभ्यो विषुवे शुभम्।"
पितृभ्यः पितृनुद्दिश्य इत्यर्थः। अत्र विषुवस्य पुण्यविशेषजनकत्वेन विवक्षितत्वात् मेषादाविति विषुवसंक्रान्तिपुण्यकालपरम्। अन्यथा कालद्वयकल्पनापत्तेः॥ *॥ कर्म्मोपदेशिन्यां व्यासः।
"संक्रान्त्यां पक्षयोरन्ते द्वादश्यां श्राद्धवासरे।
सायंसन्ध्यां न कुर्व्वीत कृते च पितृहा भवेत्॥"
देवीपुराणे।
"अतीतानागतो भोगो नाड्यः पञ्चदश स्मृताः।
सान्निध्यन्तु भवेत्तत्र ग्रहाणां संक्रमे रवेः॥
पुण्यपापविभागेन फलं देवी प्रयच्छति।"
भोगः पुण्यपापजननयोग्यकालः। पुण्यपापविवेचने विश्वामित्रः।
"यमार्थ्याः क्रियमाणं हि शंसन्त्यागमवेदिभिः।
स धर्म्मो यं विगर्हन्ति तमधर्म्मं प्रचक्षते॥"
आगमवेदिभिः क्रियमाणमिति सम्बन्धः। तान्त्रिकास्तु।
"विहितक्रियया साध्यो धर्म्मः पुंसो गुणो मतः।
प्रतिषिद्धक्रियासाध्यः स गुणोऽधर्म्म उच्यते॥"
अत्रैकस्मिन्नेव काले पुण्यपापफलदानदर्शनात् संक्रमणपुण्यकाल एव स्नानादिवत्तैलादित्यागः। एवमेव गुरुचरणाः। एकादशीप्रकरणोक्तसंक्रान्त्युपवासस्य व्रतत्वेन भावरूपत्वात् भाव-

घटितत्वाद्दोभयथापि तत्र पूर्व्वे विधिर्वृत्तिरित्यनेन पुण्यकालयुक्ताहोरात्रकर्त्तव्यता अहर्व्युपवासवत्। एकादशीतत्त्वे एतद्बहुधा विस्तृतम्। एवञ्च रात्रिशेषार्द्धसंक्रान्तौ दिवाशेषार्द्धमात्रस्य तत्पुण्यकालत्वाद्रात्रिमुहूर्त्तार्द्धे सायं सन्ध्योपासनं कार्य्यमेव। * । ब्रह्मपुराणे।

"नित्यं द्वयोरयनयोर्नित्यं विषुवतोर्द्वयोः।
चन्द्रार्कयोर्ग्रहणयोर्व्यतीपातेषु पर्व्वसु ॥
अहोरात्रोषितः स्नानं श्राद्धं दानं तथा जपम्।
यः करोति प्रसन्नात्मा तस्य स्यादक्षयञ्च तत् ॥"

अहोरात्रोषितः पूर्व्वदिने कृतोपवासः। एतत्परमेव।

"अर्द्धरात्रे व्यतीते तु संक्रान्तिर्यदहर्भवेत्।
पूर्व्वे व्रतादिकं कुर्य्यात् परेद्युः स्नानदानयोः ॥"

इति भौमपराक्रमीयम् ॥

स्नानदानयोरित्यत्र सप्तमीनिर्द्देशात् परदिवसीयस्नानदानादिनिमित्तकं पूर्व्वदिने उपवाससंयमरूपं व्रतादिकं कुर्य्यादित्यर्थः। इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥*॥ अथ रविसंक्रान्तिगणनम्।

"नवाष्टशक्रहीनेन शकाब्दाङ्केन पूरिताः।
भूर्व्वाणचन्द्रावेकाग्नी कुरामौ वेदयुग्मके ॥
१ । १५ । ३१ । ३१ । २४ ॥
अङ्का अनुपलादेस्तु षष्ट्या लब्धाङ्कमिश्रिताः।
दस्रात् खाग्नी इषेषू च ३०।५७ पलाद्दित्वा
तत: पुनः ॥
सप्तावशिष्टा वाराः स्युस्ततो दस्रादिकाः परे।
मेषसंक्रमणे भानोः सिद्धान्तस्फुटसम्मताः ॥
भुजौ षड्रिषू रामाग्नी २।५६।३३ कालो
जातिगंजावनी ।६।२२।१८।
रामश्चन्द्रोऽग्नियुग्मञ्च ३।१।२३ तर्कोऽङ्क इङ्नवाशुगौ ॥६।२६।५६॥
द्वावङ्कइष्वेदबाणा २।२६।५४ अब्धिर्बाणशरौ
सुराः ।४।५५।३३।
षसागवेदौ भूम्यन्दू ६।४८।१० एकं शैलभुवौ
शराः ॥१।१७।५॥
द्वौ षड्ग्नी तथा काला २।३६।६ अब्धी रामाः
शरावनी ।४।३।१५।
पञ्चाग्नीषू तथा रुद्रा ५ । ५३ । ११ मेषसंक्रमवारतः।
अङ्कैर्योज्या वृषादेस्तु वाराद्याः संक्रमे रवेः ॥"

इति ज्योतिस्तत्त्वम् ॥

सङ्क्रान्तिचक्रं, क्ली, (संक्रान्त्याश्चक्रम्।) नराणां शुभाशुभ-ज्ञानार्थनक्षत्राङ्कितनराकारचक्रम्। यथा,—

"मूर्द्ध्नि सप्त मुखे त्रीणि हृदये पञ्च विन्यसेत्।
त्रितयं हस्तपादेषु महाविषुवभक्रमात् ॥
मस्तके भूपतेः सौख्यं वदने पटुता स्वभे।
हृदये च धनाध्यक्षोऽर्थप्राप्तिर्द्दक्षिणे करे ॥
वामकरे महद्दुःखं सुखं पादे च दक्षिणे।
भ्रमणं वामपादे च कथितं विषुवत्फलम् ॥"

इति महाविषुवचक्रम् ॥*॥

"षड्मूर्द्ध्नि वदने पञ्च चत्वारि हृदये तथा।
त्रितयं करपादेषु पयोविषुवभक्रमात् ॥
मानं मूर्द्ध्नि मुखे चैवं हृदये सुखसम्भवः।
दोः पदोर्द्दक्षयोर्भोगस्त्रासश्च वामयोः स्वभे ॥"

इति जलविषुवचक्रफलम् ॥ * ॥

"शीर्षे पञ्च मुखे त्रीणि हस्तयोश्च त्रयं त्रयम्।
हृदि पञ्च शशी नाभौ गुह्ये च पादयो रसाः।
उत्तरायणभाज्ज्ञेयं स्वनक्षत्रस्थितिः फलम् ॥

शीर्षेऽर्थलाभो वदने सुखानि
दक्षे करेऽर्थो हृदये च सौख्यम्।
नाभौ शुभं वामकरेऽर्थनाशो
गुह्ये भयं वामपदे प्रवासः ॥"

इत्युत्तरायणचक्रफलम् ॥ * ॥

"शीर्षे त्रीणि मुखे त्रीणि हृदये पञ्च हस्तयोः।
अष्टौ पादद्वयेऽप्यष्टौ दक्षिणायनभक्रमात् ॥
शीर्षे मानं मुखे विद्या हृदये वित्तसञ्चयः।
प्रवासः स्यात् करे वामे भिक्षालाभश्च दक्षिणे।
निष्फलं वामपादे च किञ्चिल्लाभश्च दक्षिणे ॥"

इति दक्षिणायनचक्रफलम् ॥ * ॥

"ऋक्षे संक्रमणं यत्र विष्णुपद्यां मुखे च तत्।
चत्वारि दक्षिणे बाहौ त्रीणि त्रीणि पदद्वये ॥
चत्वारि वामबाहौ च हृदये पञ्च निर्द्दिशेत्।
अक्ष्णोर्द्वयं द्वयं योज्यं मूर्द्ध्नि द्वौ चैककं
गुह्ये ॥
रोगो भोगस्तथा यानं बन्धनं लाभ एव च।
ऐश्वर्य्यं राजपूजा च अपमृत्युरिति क्रमात् ॥"

इति विष्णुपदीचक्रफलम् ॥ * ॥

"मुखे चैकं करे वेदाः पादयुग्मे द्वयं द्वयम्।
क्रोडे बाणास्तथा वेदाः करे सव्येतरेऽपि च ॥
द्वयं द्वयं तथा नेत्रे मस्तके त्रितयं तथा।
द्वयञ्चैव तथा गुह्ये षडशीत्यां स्वभे स्थिते ॥
मुखे दुःखं करे लाभः पादयोर्भ्रमणं हृदि।
कान्ता स्याद्बन्धनं वामे हस्ते स्यात् स्वीयभे
नृणाम् ॥
सम्मानं नेत्रयोश्चैव अपमानश्च मस्तके।
गुह्ये चैव भवेन्मृत्युः षडशीतिफलश्रुतिः ॥"

इति षडशीतिचक्रफलम् ॥ * ॥

इति ज्योतिस्तत्त्वम् ॥

सङ्क्रामः, पुं, (सं + क्रम + घञ्।) दुर्गसञ्चरः। इति हेमचन्द्रः ॥

सङ्क्लेदः, पुं, (सं + क्लिद + घञ्।) आर्द्रभावः। (यथा, हरिवंशे। ५३। ४२।

"अनया सह जाह्नव्या मोदमानो ममाज्ञया।
इमं सलिलसंक्लेदं विस्मरिष्यसि सागर ! ॥")

सङ्ख्यं, क्ली, (सम्यक् ख्यायतेऽत्रेति। सं + ख्या + बाहुलकात् कः।) युद्धम्। इत्यमरः ॥ (यथा, गीतायाम्। १। ४६।

"एवमुक्त्वार्ज्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ॥")

सङ्ख्येये, त्रि ॥

सङ्ख्याता, स्त्री, सङ्ख्यात्वम्। सङ्ख्येयता। सङ्ख्याशब्दात् भावे तप्रत्ययेन निष्पन्नम् ॥

सङ्ख्या, स्त्री, (संख्यायतेऽनयेति। सं + ख्या + अङ्। टाप्।) बुद्धिः। इति राजनिर्घण्टः ॥ विचारणा। इत्यमरः ॥ (यथा, महाभारते। २। ५७। ७।

"यो वेत्ति संख्यां निकृतौ विधिज्ञ-
श्चेष्टास्वखिन्नः कितवोऽक्षजासु।
महामतिर्यश्च जानाति द्यूतं
स वै सर्व्वं सहते प्रक्रियासु ॥")

एकत्वादिः। इति मेदिनी ॥ सङ्ख्येये, त्रि। यथा,—

"विपणो विक्रयः सङ्ख्याः सङ्ख्येये ह्यादश त्रिषु।
विंशत्याद्याः सदैकत्वे सर्व्वाः सङ्ख्येयसङ्ख्ययोः ॥
सङ्ख्यार्थे द्विबहुत्वे स्तस्तासु चानवतेः स्त्रियः।
पङ्क्तेः शतसहस्रादि क्रमाद्दशगुणोत्तरम् ॥"

इति चामरः ॥

"आदश दशश्रुतिपर्य्यन्तं अष्टादश यावत् एकादिकाः संख्याशब्दाः संख्येये द्रव्ये वर्त्तन्ते। त्रिषु लिङ्गेषु तेन संख्यासंख्येययोः समानाधिकरण्येन वृत्तिः। यथा एका शाटी एकः पटः एकं कुण्डम्। हि शब्दो अवधारणे संख्येय एव न तु संख्यायामित्यर्थः। तेन घटा दश इति साधुर्न घटानां दशेति। किन्तु द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने इति सूत्रे द्व्येकयोरिति निर्द्देशात् संख्यामात्रेऽपि सम्भव इति भाष्यम्। घटानां पञ्च इत्यपि स्यादिति सुभूतिः। 'वार्त्ताकुरेषा गुणसप्तयुक्ता' इति वैद्यकम्। आङ्शब्देन दशशब्दस्याव्ययीभावः। दशशब्दस्य त्रिलिङ्गत्वात् नपुंसकत्वपक्षे क्लीबादेति पक्षे अः तेन आदशं आदशेति पाठः। विंशः। अष्टादशपरा विंशत्याद्याः सर्व्वा एव संख्याः संख्यायां संख्येये च नित्यमेकवचनान्ता भवन्ति यथा विंशतिर्गावः गवां विंशतिः। संख्या। इह संख्या संख्यान्तरं अन्यथा पूर्व्वेण विरोधः स्यात् संख्या अर्थः अभिधेयो यस्य स संख्यार्थः तत्र संख्यार्थे विंशत्यादौ संख्यायां संख्येये च सामानाधिकरण्यात् द्विवचनबहुवचने भवतः यथा द्वे विंशती गावः गवां वा तिस्रो विंशतयो गावः गवां वा एवं द्वे शते दश शतानीत्यादि। अयमभिप्रायः सदा विंशत्यादीनामनावृत्तिरेकैव विंशतिरेकमेव शतमित्येवं स्यात् तदा पूर्व्वेण एकवचनान्ततैव यथोक्तं विंशतिर्गावः गवां विंशतिरिति। यदा विंशत्यादेरावृत्तिर्विंशतिद्वयं शतद्वयमित्येवं स्यात् तदा अनेन द्विवचनबहुवचनान्तता स्यात् यथोक्तं द्वे विंशती तिस्रो विंशतयः। अतएव परे परिभाषन्ते। विंशत्यादेरनावृत्तौ बहुत्वेऽप्येकवचनं इति। एकशेषात् द्वे विंशती तिस्रो विंशतयः इत्यन्येऽपि। स्वमतेऽपि त्र्यादयः संख्याशब्दा त्र्यन्ता इत्युक्तेः टेर्लोप इति सूत्रे विंशतेस्तिखडाविति डिवर्जनेनैव एकवचनान्ततान्ज्ञापकात् कद्व्यानि इत्यनेन चावृत्तौ द्वित्वबहुत्वसम्भवाच्चायमर्थोऽवगम्यः। तासु संख्यासु विंशताद्या नवत्यन्ताः स्त्रीलिङ्गाः भिन्नलिङ्गेनापि सामानाधिकरण्ये स्त्रिय एव

यथा विंशत्या पुरुषैः विंशतिः कुलानीति विंशतिः स्तुतिरष्टाविंशतियावत् एवं त्रिंशत् स्तुतिरष्टात्रिंशद्यावत् एवं चत्वारिंशदादौ। पङ्क्तिर्दशसङ्ख्या तामारभ्य परार्द्धान्तं दशगुणोत्तरं दशगुणाधिकं क्रमात् शतसहस्रादि भवति। क्रमादितिपदोपादानादयमर्थः एकं दशगुणितं पङ्क्तिरुच्यते। दशपङ्क्तयः शतम्। दशशतानि सहस्रम्। एवं दशगुणितं सहस्रमयुतम्। एवं लक्षनियुतादि ज्ञेयम्। तथा च। ब्रह्माण्डपुराणम्।

'एकं दश शतञ्चैव सहस्रमयुतं तथा।
लक्षञ्च नियुतञ्चैव कोटिरर्बुदमेव च॥
वृन्दः खर्व्वो निखर्व्वश्च शङ्खपद्मौ च सागरः।
अन्त्यं मध्यं परार्द्धञ्च दशवृद्ध्या यथाक्रमम्॥'

शतं तालव्यशकारम्। सहस्रं द्विदन्त्यसकारम्।" इति भरतः॥ *॥ न्यायमते अस्या गणनव्यवहारे कारणत्वम्। एकत्वं नित्यवस्तुनि नित्यम्। अन्यत्र अनित्यम्। द्वित्वादिपरार्द्धपर्य्यन्तं अपेक्षाबुद्ध्या जायते। एवं अपेक्षाबुद्धिनाशे तेषां नाशः। पर्य्याप्तिसम्बन्धेन अनेकाश्रये तिष्ठन्ति। यथा,—

"गणनव्यवहारे तु हेतुः संख्या विधीयते।
नित्येषु नित्यमेकत्वमनित्येऽनित्यमिष्यते॥
द्वित्वादयः परार्द्धान्ता अपेक्षाबुद्धिजा मताः।
अनेकाश्रयपर्य्याप्ता एते तु परिकीर्त्तिताः॥
अपेक्षाबुद्धिनाशाच्च तेषां नाशो निरूपितः।
अनेकैकत्वबुद्धिर्या सापेक्षा बुद्धिरुच्यते॥"

इति भाषापरिच्छेदः॥*॥

अपि च।

श्रीमैत्रेय उवाच।

"परार्द्धसंख्यां भगवन्! ममाचक्ष्व यया तु सः।
द्विगुणीकृतया ज्ञेयः प्राकृतः प्रतिसञ्चरः॥

श्रीपराशर उवाच।

स्थानात् स्थानं दशगुणमेकस्माद्गुण्यते द्विज।
ततोऽष्टादशमे भागे परार्द्धमभिधीयते॥
परार्द्धद्विगुणं यत्तु प्राकृतः प्रलयो द्विज।
तदाव्यक्तेऽखिलं व्यक्तं स्वहेतौ लयमेति वै॥"

इति विष्णुपुराणे ६ अंशे ३ अध्यायः॥

सङ्ख्यातं, त्रि, (सं+ख्या+क्तः।) ज्ञातसङ्ख्यम्। तत्पर्य्यायः। गणितम् २। इत्यमरः॥ (यथा, भागवते। ६। १४। २।

"रजोभिः समसंख्याताः पार्थिवैरिह जन्तवः।
तेषां ये केचनेहन्ते श्रेयो वै मनुजादयः॥")

सङ्ख्यानं, क्ली, (सं+ख्या+ल्युट्।) सङ्ख्या। संपूर्व्वख्याधातोरनट्प्रत्ययेन निष्पन्नम्॥ (यथा, मनुः। ८। ४००।

"मिथ्यावादी च संख्याने दाप्योऽष्टगुणमत्ययम्॥"

प्रकाशः। यथा, भागवते। ५। १७। १७।

"ॐ नमो भगवते महापुरुषाय सर्व्वगुणसंख्यानायानन्तायाव्यक्ताय नम इति॥"

"सर्व्वेषां गुणानां संख्यानं प्रकाशो यस्मात्।" इति तत्र श्रीधरस्वामी॥)

सङ्ख्यावान्, पुं, (संख्या बुद्धिरस्यास्तीति। मतुप्। मस्य वः।) पण्डितः। इत्यमरः॥ (यथा, काशीखण्डे। ८२। ८।

"रणाङ्गणे ज्ञतान्ताभः सङ्ख्यावांश्च सदोजिरे॥")

सङ्ख्यायुक्ते, त्रि। इति मेदिनी॥

सङ्ख्येयं, त्रि, (संख्यातुं योग्यमिति। सं+ख्या+यत्।) सङ्ख्यायोग्यम्। तत्पर्य्यायः। गणेयम् २ गणनीयम् ३। इति जटाधरः॥ गण्यम् ४। इति हेमचन्द्रः॥ (यथा, साहित्यदर्पणे। ४। २५५।

"एकोऽपि भेदोऽनन्तत्वात् सङ्ख्येयस्तस्य नैव यत्॥")

सङ्गः, पुं, (सञ्ज सङ्गे+घञ्।) मेलनम्। तत्पर्य्यायः। मेलकः २ सङ्गमः ३। इत्यमरः॥ (यथा, देवीभागवते। १। २०। ६७।

"अम्बिका च यदा स्नाता नारी ऋतुमती तदा।
सङ्गं प्राप्य मुनेः पुत्त्रमसूतान्धं महाबलम्॥")

रागः। यथा। "रागसङ्गौ तु गृध्नुता।" इति त्रिकाण्डशेषः॥ (यथा, कुमारे। १। २७।

"अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते
द्विरेफमाला सविशेषसङ्गा॥"*॥)

सङ्गदोषो यथा,—

"स मे समाधिर्जलवासमित्त्र-
मत्स्यस्य सङ्गात् सहसैव नष्टः।
परिग्रहः सङ्गकृतो ममायं
परिग्रहोत्थाश्च महाविधित्साः॥"

इति विष्णुपुराणे ४ अंशे २ अध्यायः॥

अन्यच्च।

"अहोऽस्य दारसंयोगः कथं तस्योर्द्ध्वरेतसः।
दृष्ट्वा तयोश्च शृङ्गारं मुनिः कामी बभूव ह।
जितेन्द्रियेऽसतां सङ्गात् दोषः सांसर्गिको भवेत्॥"

इति ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे २६ अध्यायः॥

अपि च।

"असतां सङ्गदोषेण को न याति पराभवम्।
त्रिदशैर्व्वान्छितो वह्निर्भस्मना सहितो यथा॥"

इति चाणक्यम्॥

किञ्च।

"यत्र यत्र स्थितो जीवस्तमोयोगेन लभ्यते।
उपशाखाय किं न स्यादसत्सङ्गो मनीषिणाम्॥"

इति ज्योतिस्तत्त्वम्॥

सङ्गणिका, स्त्री, अप्रतिरूपकथा। इति त्रिकाण्डशेषः॥

सङ्गतं, क्ली, (सं+गम्+क्तः।) सौहार्द्दम्। इति हेमचन्द्रः॥ (यथा, कुमारे। ५। ३९।

"यतः सतां सन्नतगात्त्रि! सङ्गतं
मनीषिभिः साप्तपदीनमुच्यते॥")

युक्तियुक्तवाक्यम्। इति भरतः॥ तत्पर्य्यायः। हृदयङ्गमम् २। इत्यमरः। १।६।१८॥ (मौर्य्यवंशीयनृपतिविशेषे, पुं। यथा, भागवते। १२। १। १३।

"सुयशा भविता तस्य सङ्गतः सुयशःसुतः॥")

सङ्गतिः, स्त्री, (सं+गम+क्तिन्।) सङ्गमः। ज्ञानम्। इति मेदिनी॥ न्यायमते। आनन्तर्य्याभिधानप्रयोजकजिज्ञासाजनकज्ञानविषयो ह्यर्थः। सा च षोढ़ा। प्रसङ्गः १। सङ्गतित्वे सति उपोद्घातादिभिन्नः। यथा सामान्यलक्षणायां प्रसङ्गसङ्गतिः। उपोद्घातः २। निर्द्दिष्टोपपादकत्वम्। यथा परामर्शप्रवर्त्तकज्ञाने च उपोद्घातसङ्गतिः। हेतुता ३। यथा। प्रत्यक्षप्रमाणे हेतुतासङ्गतिः। अवसरः ४। अनन्तरवक्तव्यत्वम्। यथा। उपमाने अवसरसङ्गतिः। निर्व्वाहकम् ५। कारणतानिर्व्वाहकं कार्य्यत्वम्। यथा। अनुमाने कार्य्यतासङ्गतिः। एककार्य्यत्वम् ६। एककार्य्यकारित्वम्। यथा हेत्वाभासे एककार्य्यकारित्वसङ्गतिः। इति अनुमितिग्रन्थे जगदीशतर्कालङ्कारः॥ (मेलनम्। यथा, मोहमुद्गरे। ६।

"क्षणमिह सज्जनसङ्गतिरेका
भवति भवार्णवतरणे नौका॥"

युक्तिः। यथा,—

"त्वमद्य भव नो राजा राजपुत्त्र महायशः।
सङ्गत्या नापराध्नोति राज्यमेतदनायकम्॥"

इति रामायणे। २। ७९। ३॥)

सङ्गमः, पुं, क्ली, (सं+गम+"ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च।" ३। ३। ५८। इति अप्।) सङ्गः। इत्यमरः॥ (यथा, साहित्यदर्पणे।

"सङ्गमविरहविकल्पे वरमिह विरहो न
सङ्गमस्तस्याः।
सङ्गमे सैव तथैका त्रिभुवनमपि तन्मयं
विरहे॥").

नद्यादिमेलकः। इति पुंनपुंसकलिङ्गसंग्रहटीकायां भरतः॥ स्त्रीपुंसोर्म्मिथुनीभावः। स त्रिविधः। प्रथमः १। मध्यमः २। उत्तमः ३। यथा,—

"त्रिविधं तत्समाख्यातं प्रथमं मध्यमोत्तमम्।
अदेशकालभाषाभिर्न्निर्ज्जने च परस्त्रियाः।
कटाक्षावेक्षणं हास्यं प्रथमं साहसं स्मृतम्॥१
प्रेषणं गन्धमाल्यानां धूपभूषणवाससाम्।
प्रलोभनञ्चान्नपानैर्म्मध्यमं साहसं स्मृतम्॥२॥
सहासनं विविक्तेषु परस्परसमाश्रयः।
केशाकेशिग्रहश्चैव सम्यक्संग्रहणं स्मृतम्॥"३॥

इति मिताक्षराधृतव्यासवचनम्॥

सङ्गरं, क्ली, (संगीर्य्यते इति। सं+गॄ+अप्।) शमीवृक्षफलम्। इति मेदिनी॥

सङ्गरः, पुं, (संगृणन्ति शब्दायन्ते वीरा यत्र। सं+गॄ शब्दे+अप्।) युद्धम्। (यथा, कथासरित्सागरे। ३१। ६२।

"सङ्कटे हि परीक्ष्यन्ते प्राज्ञाः शूराश्च सङ्गरे॥")

आपत्। अङ्गीकारः। (यथा, रघुः। ५। २६।

"तथेति तस्याः वितथं प्रतीतः
प्रत्यग्रहीत् सङ्गरमग्रजन्मा॥")

संवित्। इत्यमरः॥ क्रियाकारः। विषम्। इति मेदिनी॥

सङ्गवः, पुं, (सङ्गताः गावो दोहनार्थं यत्र । निपातनात् साधुः ।) प्रातःकालात् परं मुहूर्त्तत्रयम् । यथा,—
"प्रातःकालो मुहूर्त्तांस्त्रीन् सङ्गवस्तावदेव तु ।
मध्याह्नस्त्रिमुहूर्त्तः स्यादपराह्णस्ततः परम् ।
सायाह्नस्त्रिमुहूर्त्तः स्याच्छ्राद्धं तत्र न कारयेत् ॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥
(यथा, ऋग्वेदे । ५ । ७६ । ३ ।
"उतायातं सङ्गवे प्रातरह्नो
मध्यन्दिन उदिता सूर्य्यस्य ॥"
"अह्नो द्वेधा त्रेधा पञ्चधापीति समाना विभागाः सन्ति इह पञ्चधा विभाग आस्तः उतापिचायातं आगच्छतं कदा सङ्गवे सङ्गवकाले । सङ्गच्छन्ति गावो दोहनभूमिं यस्मिन् काले स सङ्गवः । रात्र्यपरकाले हि गावो वने हिमतृणानि भक्षयित्वा पुनर्दोहाय सङ्गवे प्रतिनिवर्त्तन्ते ॥" इति तद्भाष्ये सायणः ॥)

सङ्गी, [न्] त्रि, (सङ्गोऽस्यास्तीति । इनिः ।) सङ्गविशिष्टः । यथा,—
"आम्रलुतो नैव मनोरथाना-
मन्तोऽस्ति विज्ञातमिदं मयाद्य ।
मनोरथासक्तिपरस्य चित्तं
न जायते वै परमार्थसङ्गि ॥"
इति विष्णुपुराणे ४ अंशे २ अध्यायः ॥

सङ्गीतं, क्ली, (सं + गै + क्तः ।) प्रेक्षणार्थनृत्यगीतवाद्यम् । यथा, हेमचन्द्रः ।
"गीतवाद्यनृत्यत्रयं नाट्यं तौर्य्यत्रिकञ्च तत् ।
सङ्गीतं प्रेक्षणार्थेऽस्मिन् शास्त्रोक्ते नाट्यधर्म्मिका ॥"
नृत्यगीतवाद्यस्य शास्त्रम् । तत्तु सोमेश्वरभरतहनूमत्कल्लिनाथमतभेदात् चतुर्व्विधम् । अधुना हनूमन्मतं प्रचलितम् । तस्य अध्यायाः सप्त । स्वराध्यायः १ रागाध्यायः २ तालाध्यायः ३ नृत्याध्यायः ४ भावाध्यायः ५ कोकाध्यायः ६ हस्ताध्यायश्च ७ । इति सङ्गीतशास्त्रम् ॥ * ॥
सङ्गीतावसाने ताम्बूलदानप्रमाणं यथा,—
"ता वासुदेवोऽप्यनुरक्तचित्तः
संनृत्य गीताभिनयैरुदारैः ।
नरेन्द्रसूनो परितोषितेन
ताम्बूलयोगेन वराप्सरोभिः ॥
तदागताभिर्वराङ्गनास्तु
क्षणेप्सया मानमयास्तथैव ।
फलानि गन्धोत्तमवन्ति वीरा-
श्चालिक्यगान्धर्व्वमयाहृतश्च ॥
क्षणेच्छया च त्रिदिवाद्भुतैव
अनुग्रहार्थं भुवि मानुषाणाम् ।
स्थितश्च रम्यं हरितेजसेव
प्रयोजयामास स रौक्मिणेयः ।
छालिक्यगान्धर्व्वमुदारबुद्धि-
स्तेनैव ताम्बूलमथ प्रयुक्तम् ॥"
इति हरिवंशे भानुमतीहरणे जलक्रीडायाम् १४८ अध्यायः ॥

सङ्गीतिः, स्त्री, (सं + गै + "स्थागापापचो भावे ।" ३ । ३ । ९५ । इति क्तिन् ।) आलापः । इति हलायुधः ॥ सङ्गीतञ्च ॥

सङ्गीर्णं, त्रि, (सं + गॄ + क्तः ।) अङ्गीकृतम् । इत्यमरः ॥

सङ्गुप्तः, पुं, (सं + गुप + क्तः ।) बुद्धभेदः । इति हेमचन्द्रः ॥ सङ्गोपनाश्रये, त्रि ॥

सङ्गूढः, त्रि, (सं + गुह + क्तः ।) लेखादिना संहृतः । इति भरतः ॥ रेखादिना पुञ्जीकृतधान्यादिः । इति नीलकण्ठः ॥ तत्पर्य्यायः । सङ्कलितः २ । इत्यमरः ॥

सङ्गोपनं, क्ली, (सं + गुप + ल्युट् ।) सम्यक्प्रकारेण गोपनम् । संपूर्व्वगुपधातोरनट्प्रत्ययेन निष्पन्नम् ॥

सङ्ग्रहः, पुं, (सं + ग्रह + अप् ।) समाहृतिः । इत्यमरः ॥ (यथा, रघुः । १७ । ६० ।
"कोशेनाश्रयणीयत्वमिति तस्यार्थसंग्रहः ।
अम्बुगर्भो हि जीमूतश्चातकैरभिनन्द्यते ॥")
"संक्षेपेण गृह्यन्ते नानास्थाने विप्रकीर्णा अर्था बुध्यन्तेऽनेन संग्रहः । संपूर्व्वात् ग्रह आदानेऽल् ।
'विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां सूत्रभाष्ययोः ।
निबन्धो यः समासेन संग्रहं तं विदुर्बुधाः ॥'
इति ॥
इतस्तत आकृष्य एकत्र निबन्धनं संग्रहः । इति कल्पतरुप्रभृतयः ।" इत्यमरटीकायां भरतः ॥ नानाग्रन्थस्था अर्थाः संगृह्यन्ते एकस्थानस्थाः क्रियन्ते इति संग्रहो ग्रन्थविशेषः । इति श्राद्धविवेकटीकायां श्रीकृष्णतर्कालङ्कारः ॥ * ॥ (यथा, हरिवंशे । ८९ । ७ ।
"चतुष्पादं धनुर्व्वेदं शास्त्रग्रामं ससङ्ग्रहम् ।
अचिरेणैव कालेन गुरुस्तावध्यापयत् ॥")
हृषत् । उत्तुङ्गः । ग्रहणम् । (यथा, रघुः । १ । ६६ ।
"नूनं मत्तः परं वंश्याः पिण्डविच्छेददर्शिनः ।
न प्रकामभुजः श्राद्धे स्वधासंग्रहतत्पराः ॥")
संक्षेपः । इति मेदिनी ॥ मुष्टिः । इति विश्वः ॥ स्वीकारः । महोद्योगः । इति नानार्थरत्नमाला ॥

सङ्ग्रहणी, स्त्री, (संहिता ग्रहणी ।) ग्रहणीरोगः । तस्य निदानादि ग्रहणीशब्दे द्रष्टव्यम् । अथ सामान्यग्रहणीरोगस्य चिकित्सामाह ।
"ग्रहणीमाश्रितं रोगमजीर्णवदुपाचरेत् ।
लङ्घनैर्दीपनीयैश्च मन्दातीसारभेषजैः ॥
दोषं सामं निरामञ्च विद्यादत्रातिसारवत् ।
अतिसारोक्तविधिना तस्यामञ्च विपाचयेत् ॥
पेयादि पटु लघ्वन्नं पञ्चकोलादिभिर्युतम् ।
दीपनानि च तक्रञ्च ग्रहण्यां योजयेद्भिषक् ॥
कपित्थविल्वचाङ्गेरीतक्रदाडिमसाधिता ।
यवागूः पाचयत्यामं सकृत् संवर्त्तयत्यपि ॥"
संवर्त्तयति घनीकरोति ॥ * ॥ औषधान्याह ।
"जातीफललवङ्गैलापत्रत्वङ्नागकेशरैः ।
कर्पूरं चन्दनन्तिलत्वक्क्षीरतगरामलैः ॥
तालीशपिप्पलीपथ्यास्थूलजीरकचित्रकैः ।
शुण्ठीविडङ्गमरिचैः समभागैर्विचूर्णितैः ॥
यावन्त्येतानि सर्व्वाणि दद्याद्भङ्गाञ्च तावतीम् ।
सर्व्वचूर्णसमाना शुभ्रा प्रदेया शुभ्रशर्करा ॥
कर्षमात्रमिदं खादेन्मधुनाप्लावितं जनः ।
नाशयेद्ग्रहणीं कासं क्षयं श्वासमरोचकम् ॥"
इति जातीफलादिचूर्णम् ॥ * ॥
"चित्रकं पिप्पलीमूलं क्षारौ लवणपञ्चकम् ।
व्योषं हिङ्ग्वजमोदाञ्च चव्यं चैकत्र चूर्णयेत् ॥
वटिका मातुलुङ्गस्य रसैर्व्वा दाडिमस्य वा ।
कृता विपाचयत्यामं प्रदीपयति चानलम् ॥"
क्षारौ सर्ज्जिकायवक्षारौ । लवणपञ्चकमिति ।
सैन्धवं रुचकं चैव विडं सामुद्रिकं गडमिति ।
व्योषं शुण्ठीपिप्पलीमरिचानि । अजमोदात्र यवानिका । मातुलुङ्गं वीजपूरकम् । चित्रकादिवटिका ॥ * ॥
"श्रीफलशलाटुकल्को नागरचूर्णेन मिश्रितः सगुडः ।
ग्रहणीगदमत्युग्रं तक्रभुजा शीलितो जयति ॥"
श्रीफलशलाटुः विल्वस्यामं फलम् । गुडस्यात्र भागद्वयम् । विल्वकल्कः ॥ * ॥
"चतुष्पलं सुधाकाण्डं त्रिफलं लवणत्रयम् ।
वार्त्ताकोः कुडवञ्चार्कमूलाद्द्विपले तथानलात् ॥
दग्ध्वद्रवेण वार्त्ताकोर्गुटिका भोजनोत्तरम् ।
भुक्ताभुक्तं पचत्याशु नाशयेद्ग्रहणीगदम् ।
कासं श्वासं तथार्शांसि विसूचीञ्च हृदामयम् ॥"
इति वार्त्ताकुगुटिका ॥ * ॥
"मुस्तकातिविषाविल्वकौटजं सूक्ष्मचूर्णितम् ।
मधुना च समालीढं ग्रहणीं सर्व्वजान्जयेत् ॥"
कौटजं इन्द्रयवः । मुस्तादिचूर्णम् ॥ * ॥
"श्वेतो वा यदि वा रक्तः सुपक्वो ग्रहणीगदः ।
गुडेनाधिकसर्ज्जेन भक्षितेनाशु नश्यति ॥"
सर्ज्जः राल इति लोके । सर्ज्जरसचूर्णम् ॥ * ॥
"विल्वाब्दशक्रयववालकमोचसिद्ध-
माजं पयः पिवति यो दिवसत्रयेण ।
सोऽतिप्रवृद्धचिरजं ग्रहणीविकारं
सामं सशोणितमसाध्यमपि क्षिणोति ॥"
मोचो मोचरसः । क्षिणोति हन्ति ।
"प्रस्थत्रये त्वामलकीरसस्य
शुद्धस्य दत्त्वार्द्धतुलां गुडस्य ।
चूर्णीकृतैर्ग्रन्थिकजीरचव्य-
व्योषेभकृष्णाहपुषाजमोदैः ॥
विडङ्गसिन्धुत्रिफलायवानी-
पाठाग्निधान्यैश्च पलप्रमाणैः ।
दत्त्वा त्रिवृच्चूर्णपलानि चाष्टा-
वष्टौ च तैलस्य पचेद्यथावत् ॥
तं भक्षयेदक्षफलप्रमाणं
यथेष्टचेष्टस्त्रिसुगन्धियुक्तम् ।
अनेन सर्व्वा ग्रहणीविकाराः
सश्वासकासस्वरभेदशोथाः ॥
शाम्यन्ति चायं चिरमन्तराग्ने-
र्हतस्य पुंस्त्वस्य च वृद्धिहेतुः ।

क्षीणानु वन्ध्यामयनाशनः स्यात्
कल्याणको नाम गुडः प्रसिद्धः ॥
तैले मनाक् त्रिवृत् भृष्टा त्रिसुगन्धि पलं पलम् ।
सिद्धे निधेयमत्रैव गुडे कल्याणपूर्व्वके ॥”
इति कल्याणकगुडः ॥ * ॥
“पिप्पली पिप्पलीमूलं चव्यकं गजपिप्पली ।
धान्यकञ्च विडङ्गानि यवानी मरिचानि च ॥
त्रिफला चाजमोदा च नलिनी जीरकस्तथा ।
सैन्धवं रौमकं चापि सामुद्रं रुचकं विडम् ॥
आरग्वधश्च त्वक् पत्रं सूक्ष्मैला चोपकुञ्चिका ।
शुण्ठी शक्रयवाश्चैव प्रत्येकं कर्षसम्मिता ॥
मृद्वीकायाः पलान्यत्र चत्वारि कथितानि हि ।
त्रिवृतायाः पलान्यष्टौ गुडस्याद्दतुला तथा ॥
तिलतैलपलान्यष्टौ चामलक्या रसस्य तु ।
प्रस्थत्रयमिदं सर्व्वं शनैर्म्मृद्वग्निना पचेत् ॥
उडुम्बरं चामलकं वादरं वा यथाफलम् ।
तावन्मात्रमिदं खादेद्भक्षयेद्वा यथानलम् ॥
निखिलान् ग्रहणीरोगान् प्रमेहांश्चैकविंशतिम् ।
उरोघातं प्रतिश्यायं दौर्ब्बल्यं वह्निसंक्षयम् ॥
ज्वरानपि हरेत् सर्व्वान् कुर्य्यात् कान्तिं मतिं स्वरम् ।
पिचुपाठान्वयाद्धन्ति रक्तपित्तञ्च पित्तग्रहम् ॥
धातुक्षीणो वयःक्षीणः स्त्रीषु क्षीणः क्षयी च यः ।
तेभ्यो हितश्च वन्ध्यायै महाकल्याणको गुडः ॥”
इति महाकल्याणकगुडः ॥ * ॥
“कुष्माण्डानां सुपक्वानां स्विन्नानां निष्कुलत्वचाम् ।
सर्पिःप्रस्थे पलशतं ताम्रपात्रे शनैः पचेत् ॥
पिप्पली पिप्पलीमूलं चित्रकं गजपिप्पली ।
धान्यकानि विडङ्गानि नागरं मरिचानि च ॥
त्रिफला चाजमोदा च कलिङ्गाजाजिसैन्धवम् ।
एकैकस्य पलं चैकं त्रिवृतोऽष्टपलानि च ॥
तैलस्य च पलान्यष्टौ गुडात् पञ्चाशदेव तु ।
आमलक्या रसस्यात्र प्रस्थत्रयमुदीरितम् ॥
तावत् पाकं प्रकुर्व्वीत मृदुना वह्निना भिषक् ।
यावत् दर्व्वीप्रलेपः स्यात् तदेनमवतारयेत् ॥
औडुम्बरं चामलकं वादरं वा यथाफलम् ।
तावन्मात्रमिदं खादेद्भक्षयेद्वा यथानलम् ॥
अनेनैव विधानेन प्रयुक्तश्च दिने दिने ।
निहन्ति ग्रहणीरोगान् कुष्ठान्यर्शोभगन्दरान् ॥
ज्वरमानाहहृद्रोगगुल्मोदरविसूचिकाः ।
कामलां पाण्डुरोगञ्च प्रमेहांश्चैकविंशतिम् ॥
वातशोणितवीसर्पदद्रुचर्म्मदलीमकान् ।
वातपित्तकफान् सर्व्वान् दुष्टान् शुक्रान् समाचरेत् ॥
व्याधिक्षीणा वयःक्षीणा स्त्रीषु क्षीणाश्च ये नराः ।
तेभ्यो हितो गुडोऽयं स्यात् बन्ध्यानामपि पुत्त्रदः ।
वृष्यो बल्यो बृंहणश्च वयसः स्थापनः परः ॥”
इति कुष्माण्डकल्याणगुडः ॥ * ॥
अतीसाराधिकारलिखितं विल्वं तैलञ्चात्र हितम् । इति ग्रहणीरोगाधिकारः । इति भावप्रकाशः ॥

सङ्ग्राम, ङ न तु-क. युद्धे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (अदन्त चुरा०-आत्म०-उभ०-च-अक०-सेट् ।) असंसंग्रामत् । ङ, संग्रामयते । न, संग्रामयति संग्रामयते । ञितैवोभयपदसिद्धौ ङित्करणं अफलवत्कर्त्तरि आत्मनेपदार्थम् । एवं सर्व्वत्र । किन्तु अयमात्मनेपदीति प्राञ्चः कदाचित् परस्मैपदार्थो नकारः । इति दुर्गादासः ॥

सङ्ग्रामः, पुं, (सङ्ग्राम + णिच् + भावे घञ् ।) युद्धम् । इत्यमरः ॥ (यथा, मनुः । ७ । ८७ ।
“न निवर्त्तेत संग्रामात् क्षात्त्रं धर्म्ममनुस्मरन् ॥”)

सङ्ग्रामपटहः, पुं, (सङ्ग्रामस्य पटहः ।) रणवाद्यम् । यथा, त्रिकाण्डशेषे ।
“रणतूर्य्यन्तु संग्रामपटहोऽभयडिण्डिमः ।”

सङ्ग्राहः, पुं, (संग्रहणमिति । सं + ग्रह + “समि मुष्टौ ।” ३ । ३ । ३६ । इति घञ् ।) फलकस्य मुष्टिः । फलकग्रहणस्थानमिति यावत् । मुष्टिबन्धनक्रिया । तत्पर्य्यायः । मुष्टिबन्धः २ । द्वे मुष्टिबन्धनक्रियायाम् । मुष्टेर्ब्बन्धोऽङ्गुलिविन्यासो मुष्टिबन्धः । मुष्टिना बन्धो दृढग्रहणं संग्राह इत्यपरे । मुष्ट्यामेव संग्रह इत्यन्ये । मुष्टिः क्रियाश्च संग्रह इति वोपालितः । संपूर्व्वग्रहेर्घञ् संग्राहः । इत्यमरभरतौ ॥ (यथा, महाभारते । ५ । १५४ । २० ।
“सुसंग्राहाः सुसम्पन्नाः हेमभाण्डपरिच्छदाः ।”
“पदातिनो नरास्तत्र बभूवुर्हेममालिनः ॥”)

सङ्ग्राही, [न्] पुं, (संगृह्णाति मलमिति । सं + ग्रह + णिनिः ।) कुटजवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥ (मलसन्धारके, त्रि । यथा, सुश्रुते ।१ । ४५ ।
“दीपनं लघु संग्राहि श्वासकासास्रपित्तनुत् ॥”
संग्राहके, त्रि । यथा, कामन्दकीये । ४ । १० ।
“प्रख्यातवंशमक्रूरं लोकसंग्राहिणं शुचिम् ।
कुर्व्वीतात्महिताकाङ्क्षी परिवारं महीपतिः ॥”)

सङ्घः, पुं, (सं + हन + “संघोद्घौ गणप्रशंसयोः ।” ३ । ३ । ८६ । इति अप् टिलोपो घत्वञ्च निपात्यते ।) समूहः । इत्यमरः ॥ सजातीयानां विजातीयानाञ्च जन्तूनां वृन्दे सङ्घसार्थौ स्याताम् । यथा भिक्षुसङ्घः वणिक्सार्थः । संहन्यते परिच्छिद्यतेऽनेनेति सङ्घः । संपूर्व्वात् हनधातोर्नाम्नीति डः निपातनात् हस्य घः । इति भरतः ॥ (यथा, महाभारते । १ । १२० । १ ।
“तत्रापि तपसि श्रेष्ठे वर्त्तमानः स वीर्य्यवान् ।
सिद्धचारणसङ्घानां बभूव प्रियदर्शनः ॥”)

सङ्घचारी, [न्] पुं, (सङ्घेन चरतीति । चर + णिनिः ।) मत्स्यः । इति हेमचन्द्रः ॥ बहुभिः सहगामिनि, त्रि ॥ (यथा, महाभारते । ६ । ११ । १६ ।
“ततस्तद्युद्धमत्युग्रमभवत् सङ्घचारिणाम् ॥”)

सङ्घजीवी, [न्] पुं, (सङ्घेन जीवतीति । जीव + णिनिः ।) ज्ञातीनः । इति हेमचन्द्रः ॥

सङ्घट्टः, पुं, (सं + घट्ट + घञ् ।) अन्योन्यविमर्द्दनम् । यथा,—
“नैवान्यत्र मदान्धसिन्धुरघटासङ्घट्टघण्टारणत्-
कारत्रस्तसमस्तवैरिवनितालब्धस्तुतिर्भूपतिः ।”
इति वाल्मीकिकृतगङ्गाष्टकस्तोत्रम् ॥
गठनम् । यथा,—
“मृदाहरणसङ्घट्टप्रतिष्ठाह्वानमेव च ।
स्नपनं पूजनञ्चैव विसर्ज्जनमतः परम् ॥”
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥
चक्रविशेषश्च ॥

सङ्घट्टचक्रं, क्ली, (संघट्ट एव चक्रम् ।) युद्धविचारार्थनक्षत्राङ्कितचक्रविशेषः । यथा,—
“अश्विन्यादि लिखेच्चक्रं सप्तविंशतितारकैः ।
त्रिकोणं नवभिर्व्वेधः कर्त्तव्यस्तिर्य्यगाकृतिः ॥
अश्विनीरेवतीवेधो अश्विनीज्येष्ठयोस्तथा ।
मघापुष्णोः सर्पपित्रोरश्लेषामूलयोस्तथा ॥
ज्येष्ठामूलकयोर्व्वेधो भवेत् सङ्घट्टचक्रके ।
एवं सङ्घट्टचक्रे च कार्य्या ऋक्षगता ग्रहाः ॥
भूपनामर्क्षसङ्घट्टे युद्धं भवति नान्यथा ।
निर्व्वेधे सौम्यवेधे च युद्धं नास्ति रणेशयोः ॥
क्रूरवेधे भवेद्युद्धं तत्काले घोरदारुणम् ।
युद्धाकाङ्क्षी भवेद्राजा यस्य भं क्रूरवेधितम् ॥
युद्धद्वेषी भवेत् सौम्यैर्भैश्च वेधविवर्ज्जिते ।
सौम्यक्रूरविभागेन मित्रामित्रक्रमेण च ।
वक्रातिचारगत्या च युद्धमत्रास्ति नास्ति च ॥”
इति स्वरोदये सङ्घट्टकालानलचक्रम् ॥

सङ्घट्टनं, क्ली, स्त्री, (सं + घट्ट + ल्युट् । स्त्रियां युच् ।) मेलनम् । गठनम् । घटना । इति केचित् ॥ (यथा, साहित्यदर्पणे । ६ । ६२४ ।
“पदसंघट्टना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत् ।
उपकर्त्त्री रसादीनां सा पुनः स्याच्चतुर्व्विधा ॥”)

सङ्घट्टा, स्त्री, (संघट्टते इति । सं + घट्ट + अच् + टाप् ।) लता । इति शब्दचन्द्रिका ।

सङ्घतलः, पुं, (सङ्घे संहते तले यत्र ।) मिलितप्रतलद्वयम् । इत्यमरः ॥ योड़ हात इति भाषा ॥

सङ्घपुष्पी, स्त्री, (सङ्घानि पुष्पाणि यस्याः ।) धातकी । इति राजनिर्घण्टः ॥

सङ्घर्षः, पुं, (सं + घृष + घञ् ।)) सङ्घर्षणम् । (यथा, महाभारते । १ । १८ । २३ ।
“तेषां सङ्घर्षजश्चाग्निरर्च्चिर्भिः प्रज्वलन् मुहुः ।
विद्युद्भिरिव नीलाभ्रमावृणोत् मन्दरं गिरिम् ॥”)
स्पर्द्धा । (यथा, महाभारते । १ । ७६ । ५ ।
“सुराणामसुराणाञ्च समजायत वै मिथः ।
ऐश्वर्य्यं प्रति संघर्षस्त्रैलोक्ये सचराचरे ॥”)
संसर्पः । इति शब्दरत्नावली ॥

सङ्घाटिका, स्त्री, (संघाटयतीति । सं + घट + णिच् + ण्वुल् । टापि अत इत्वम् ।) युग्मम् । कुट्टनी । जलकण्टकम् । इति मेदिनी ॥ घ्राणम् । इति विश्वः ॥

सङ्घातः, पुं, (सं + हन + घञ् ।) समूहः । (यथा, कुमारे । ५ । ५५ ।
“न जातु बाला लभते स्म निर्वृतिं
तुषारसङ्घातशिलातलेष्वपि ॥”)
नरकभेदः । इत्यमरः ॥ हननम् । इति मेदिनी । (निविड़संयोगः । यथा, कुमारे । २ । ११ ।
“द्रवः सङ्घातकठिनः स्थूलः सूक्ष्मो लघुर्गुरुः ।
व्यक्तो व्यक्तेतरश्चासि प्राकाम्यं ते विभूतिषु ॥”)

कफः। इति राजनिर्घण्टः॥ नाटके गतिविशेषः। इति केचित्॥

सङ्घातपत्रिका, स्त्री, (सङ्घातयुक्तानि पत्राणि यस्याः। कापि अत इत्वम्।) शतपुष्पा। इति राजनिर्घण्टः॥

सङ्घुषितं, } त्रि, सम्यग्घोषणाश्रयः। संपूर्व्वसङ्घुष्टं, } घुषधातोः क्तप्रत्यये क्ते वा वधामह्वषत्वरसंघुषास्वन इत्यनेन विकल्पेन इमा निष्पन्नम्। इति मुग्धबोधव्याकरणम्॥ (यथा, महानिर्व्वाणतन्त्रे। १। ४।
"मत्तकोकिलसन्दोहसंघुष्टविपिनान्तरे॥")

सचिः, स्त्री, (सच समवाये+"सर्व्वधातुभ्य इन्।" उणा० ४। ११७। इति इन्।) शची। इत्यमरटीकायां रामाश्रमः॥

सचिक्कणः, त्रि, स्निग्धवस्तुः। इति शब्दरत्नावली॥

सचिवः, पुं, (सच समवाये+इन्। तथा सन् वातीति। वा+कः।) मन्त्री। सहायः। इत्यमरः॥ (यथा, देवीभागवते। ९।८।४२।
"इत्युक्त्वा सचिवान् राजा कथयित्वा सुरक्षकाम्।
कारयित्वाथ प्रासादं सप्तभूमिकमुत्तमम्।
आरुरोहोत्तरासन्नः सचिवैः सह तत्क्षणम्॥")
कृष्णधत्तूरकः। इति राजनिर्घण्टः॥

सचिवामयः, पुं, (सचिवानामामयः।) विसर्पः। इति राजनिर्घण्टः॥

सची, स्त्री, (सचि+कृदिकारादिति ङीष्।) शची। इन्द्राणी। शचते व्यक्तं वक्ति शची शच ड वाति तालव्यादिः नाम्नीति इः पाञ्चोणादीति पक्षे ईपि शची। कौशिकी च शची कोशातकीति वर्णदेशमालायां तालव्येषु पठ्यते। सची दन्त्यादिश्च तत्र सचते आप्याययति इन्द्रमिति षच ड सेचने पूर्व्ववत् इः ईप् च। इत्यमरटीकायां भरतः॥ सचिः शचीति भरतद्विरूपकोषश्च॥

सचीनन्दनः, पुं, (सच्या नन्दनः।) शचीसुतः। स च जयन्तः। चैतन्यदेवः। यथा,—
"शाके मुनिर्योमयुगेन्दुगण्ये
पुण्ये तिथौ फाल्गुनपौर्णमास्याम्॥
त्रैलोक्यभाग्योदयपुण्यकीर्त्ति-
रेवः सचीनन्दन आविरासीत्॥"
इति चैतन्यचन्द्रोदयनाटकम्॥

सचेटः, पुं, आम्रः। इति शब्दमाला॥ चेट्या सह वर्त्तमाने, त्रि॥

सचारा, स्त्री, हरिद्रा। इति शब्दचन्द्रिका॥

सच्चित्, क्ली, ब्रह्म। इति मुग्धबोधव्याकरणम्॥

सच्चिदानन्दः, पुं, (संश्चासौ चिच्चासौ आनन्दश्चेति त्रिपदे कर्म्मधारयः।) नित्यज्ञानसुखस्वरूपं ब्रह्म। यथा,—
"अहं देवो न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवास्मि न शोकभाक्।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान्॥"
इत्याह्निकतत्त्वम्॥

साकारदेवविशेषणे, त्रि। यथा,—
"मुकुन्दं सच्चिदानन्दं प्रणिपत्य प्रणीयते।"
इत्यादि मुग्धबोधव्याकरणम्॥

सजम्बालः, त्रि, (जम्बालेन पङ्केन सह वर्त्तमानः।) पङ्किलः। इत्यमरः॥

सजातिः, पुं, (समाना जातिरस्य। समानस्य सः।) समानजातिस्त्रीपुंसोः पुत्रः। यथा,—
"सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायन्ते हि सजातयः।
अनिन्द्येषु विवाहेषु पुत्राः सन्तानवर्द्धनाः॥"
इति मिताक्षरायां आचाराध्यायः॥
समानजातौ, त्रि॥

सजातीयः, त्रि, (जातौ भवः जातीयः। समानो जातीयः। समानस्य सः।) समानधर्म्माक्रान्तः। यद्वा,—
"सजातीयैः कुलं यूथं तिरश्चां पुं नपुंसकम्।"
इत्यमरः॥

सजूः, [ष्] व्य, सहार्थः। इति शब्दरत्नावली भरतश्च॥ (यथा, भागवते। ६। १८। ६७।
"सजूरिन्द्रेण पञ्चाशत् देवास्ते मरुतोऽभवन्॥")

सजूः, [ष्] त्रि, (जुष सेवे+क्विप्। जुषा सह वर्त्तते इति। सहस्य सः। "ससजुषो रुः।" ८। २। ६६। इति रुः। र्वोरिति दीर्घः।) प्रीतियुक्ता। सेवायुक्ता। इति मुग्धबोधव्याकरणम्॥ "जुषी प्रीतिसेवनयोः। जोषणं जुट् सह जुषा वर्त्तते या सा सजूः।" इति तट्टीकायां दुर्गादासः॥ तापसः। इति संक्षिप्तसारव्याकरणम्॥

सज्जः, त्रि, (सज्जतीति। सज्ज+अच्।) सन्नद्धः। इत्यमरः॥ सम्भृतः। इति विश्वमेदिन्यौ॥ निभृतः। इति शब्दरत्नावली॥ सज्जायुक्तश्च॥ (यथा, महाभारते। १। २। २३२।
"ते तस्य वचनं श्रुत्वा मन्त्रयित्वा तु यद्धितम्।
सांग्रामिकं ततः सर्व्वं सज्जचक्रुः परन्तपाः॥")

सज्जनं, क्ली, (सज्ज+णिच्+ल्युट्।) रक्षार्थं सैन्यस्थानम्। चौकीति ख्यातम्। तत्पर्य्यायः। उपरक्षणम् २। इत्यमरः॥ घट्टः। इति मेदिनी॥ सज्जा च॥

सज्जनः, पुं, (सन् चासौ जनश्चेति।) सत्कुलोद्भवः। तत्पर्य्यायः। महाकुलः २ कुलीनः ३ आर्य्यः ४ सभ्यः ५ साधुः ६। इत्यमरः॥ कुलजः ७ सन्‌ः ८ साधुजः ९। इति शब्दरत्नावली॥ मेदिनीकरमते वाच्यलिङ्गोऽयम्। तल्लक्षणं यथा,—
दाल्भ्य उवाच।
"निजाचारग्राहिणो ये कुर्व्वन्तो वेदसम्मतम्।
पापाभिलाषरहिताः सज्जनास्ते प्रकीर्त्तिताः॥"
इति पाद्मे क्रियायोगसारे १६ अध्यायः॥
तत्सङ्गप्रशंसा यथा,—
"नलिनीदलगतजलवत्तरलं
तद्वज्जीवनमतिशयचपलम्।
क्षणमिह सज्जनसङ्गतिरेका
भवति भवार्णवतरणे नौका॥"
इति श्रीशङ्कराचार्य्यकृतमोहमुद्गरः॥

सज्जना, स्त्री, (सज्ज+णिच्+ण्यासश्रन्थेति युच्। टाप्।) नायकस्यारोहणार्थं गजसज्जीकरणम्। तत्पर्य्यायः। कल्पना २। इत्यमरः॥ (यथा, आर्य्यासप्तशत्याम्। ३१६।
"निजपदगतिगुणरञ्जितजगतां करिणाञ्च सत्कवीनाञ्च।
वहतामपि महिमानं शोभायै सज्जना एव॥")

सज्जा, स्त्री, वेशः। साज इति भाषा। सन्नाहः। साँजओया इति भाषा। षसृजधातोर्भावे आत्प्रत्ययनिष्पन्ना। इति व्याकरणम्॥

सज्जितः, त्रि, भूषितः। कृतसज्जः। वर्म्मितः। सन्नद्धः। षसृजधातोः क्तप्रत्ययेन निष्पन्नः॥

सञ्चः, पुं, (संचिनोति वर्णानिति। सं+चि+डः।) पुस्तकलेखनार्थपत्रचयः। साँच् इति भाषा। यथा,—
"श्रीताडीपत्रजे सञ्चे समे पत्रसुसञ्चिते।
विचित्रकं विपार्श्वे च चर्म्मणा संपुटीकृते॥
रक्तेन अथ कृष्णेन मूर्द्ध्न्यावद्धितेन च।
दृढसूत्रसुबन्धेन एवंविधकृतेन च॥
यस्तु द्वादशसाहस्रीं संहितामुपलेखयेत्।
ददाति चाभियुक्ताय स याति परमां गतिम्॥"
इति देवीपुराणे विद्यादानमाहात्म्यफलनामाध्यायः॥

सञ्चत्, पुं, ("संश्चत्तृपद्वेहत्।" उणा० २। ८५। इत्यत्र "सञ्चत्" इति पाठेन अतिप्रत्ययान्तो निपात्यते।) प्रतारकः। इति सिद्धान्तकौमुदी॥

सञ्चयः, पुं, (सञ्चीयते इति। सम्+चि+"एरच्।" ३। ३। ५६। इत्यच्।) समूहः। इत्यमरः॥ (यथा, कथासरित्सागरे। १८। १२८।
"तस्थौ स सेवमानस्तं राजानं स तदाश्रितः।
भुञ्जानश्च सहान्यैस्तैर्ग्रामं ग्रामसञ्चयम्॥")
संग्रहः। यथा,—
"शक्तेनापि हि शूद्रेण न कार्य्यो धनसञ्चयः।
शूद्रो हि धनमासाद्य ब्राह्मणानेव बाधते॥"
इत्याह्निकाचारतत्त्वम्॥

सञ्चयनं, क्ली, (सं+चि+ल्युट्।) सञ्चयः। यथा, संवर्त्तः।
"चतुर्थेऽहनि कर्त्तव्यमस्थिसञ्चयनं द्विजैः।
ततः सञ्चयनादूर्द्ध्वमङ्गस्पर्शो विधीयते॥"
इति शुद्धितत्त्वम्॥

सञ्चयी, [न्] त्रि, सञ्चयविशिष्टः। संग्रहकर्त्ता। सञ्चयशब्दादस्त्यर्थे इन्प्रत्ययेन निष्पन्नः। यथा, सञ्चयी नावसीदति। इति महाभारतम्॥

सञ्चरः, पुं, (सञ्चरन्त्यनेनेति। सम्+चर+"गोचरसंचरेति।" ३। ३। ११९। इति घः।) सेतुः। इति त्रिकाण्डशेषः॥ सञ्चरो निर्गमोऽम्बुपथः। इति भरतधृतरत्नमाला॥ (मार्गः। इति सिद्धान्तकौमुदी॥ यथा, कुमारे। ६। ४३।
"यत्रौषधिप्रकाशेन नक्तं दर्शितसञ्चराः।
अनभिज्ञास्तमिस्राणां दुर्दिनेष्वभिसारिकाः॥")
देहः। इति हेमचन्द्रः॥

सञ्चलनं, क्ली, कम्पनम्। संपूर्व्वचलधातोरनट्-(ल्युट्)प्रत्ययेन निष्पन्नम्॥ (यथा, मार्कण्डेये। ९। १८।

"केचिद्गिरिनिपातेन केचिदम्भोधिवारिणा।
केचित् मही सञ्चलनात् प्रययुः प्राणिनः क्षयम्॥")

सञ्चानः, पुं, श्येनपक्षी। इति केचित्॥ शिकरे इति भाषा॥

सञ्चाय्यः, पुं, (संचीयतेऽस्मिन् सोम इति। सं+चि+"क्रतौ कुण्डपाय्यसञ्चाय्यौ।" ३।१।१३०। इति ण्यदायादेशौ निपात्येते।) यज्ञविशेषः। इति मुग्धबोधव्याकरणम्॥

सञ्चारः, पुं, (सं+चर+घञ्।) दुर्गसञ्चरः। इत्यमरटीका॥ गमनम्। यथा। सञ्चारो रति-मन्दिरावधि इत्यादि काव्यप्रकाशः॥ (यथा, रघुः। २। १५।

"सञ्चारपूतानि दिगन्तराणि
कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम्।
प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा
प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः॥")

ग्रहादे राश्यन्तरसंक्रमणञ्च॥ (यथा, याज्ञवल्क्ये। ३। १७२।

"तारानक्षत्रसञ्चारैर्ज्जागरैः स्वप्नजैरपि॥"*॥

सञ्चरत्यस्मिन्निति। अधिकरणे घञ्। देशः। इति रामायणटीका॥ यथा, रामायणे। २। ११९। १८।

"तावुभौ वनचरास्तापसा धर्म्मचारिणः।
वनस्य तस्य सञ्चारं राक्षसैः समभिप्लुतम्॥")

सञ्चारजीवी, [न्] त्रि, (सञ्चारेण जीवतीति। जीव+णिनिः।) शरणापन्नः। इति त्रिकाण्डशेषः॥

सञ्चारिका, स्त्री, (सञ्चारयति नायकयोर्व्वार्त्ता-मिति। सं+चर+णिच्+ण्वुल्।) दूती। इत्यमरः॥ युगलम्। कुट्टनी। घ्राणम्। इति मेदिनी॥

सञ्चारी, [न्] पुं, (सञ्चरतीति। सं+चर+णिनिः।) धूपः। इति त्रिकाण्डशेषः॥ वायुः॥ इति शब्दचन्द्रिका॥ भावविशेषः। यथा,—

"स्थायिसात्त्विकसञ्चारिप्रभेदैः स्याद्रतिः पुनः।"
इति हेमचन्द्रः॥

अन्यच्च।

"सञ्चारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः।
उद्बुद्धमात्रस्थायी च भाव इत्यभिधीयते॥"

अपि च।

"नानाभिनयसम्बन्धान् भावयन्ति रसान् यतः।
तस्माद्भावा अमी प्रोक्ताः स्थायिसञ्चारि-
सात्त्विकाः॥"

वात्सल्यरससञ्चारिणो यथा,—

"सञ्चारिणोऽनिष्टशङ्काहर्षगर्व्वादयो मताः॥"

वीररससञ्चारिणस्तु। "धृतिमतिगर्व्वस्मृतितर्क-रोमाञ्चाः।" इति साहित्यदर्पणे ३ परिच्छेदः॥ (गतिशीले, त्रि। यथा, गीतगोविन्दे। ६। ११।

"अङ्गेष्वाभरणं करोति बहुशः पत्रेऽपि सञ्चारिणि
प्राप्तं त्वां परिशङ्कते वितनुते शय्यां चिरं ध्यायति॥")

सञ्चारिणी, स्त्री, (सञ्चरतीति। सं+चर+णिनिः। ङीप्।) हंसपदी। इति राज-निर्घण्टः॥ (गतिशीला। यथा, कुमारे।३।५४।

"पर्य्याप्तपुष्पस्तवकावनम्रा
सञ्चारिणी पल्लविनी लतेव॥")

सञ्चाली, स्त्री, गुञ्जा। यथा,—

"सञ्चाली प्रोच्यते गुञ्जा सा तिस्रो रूपकं भवेत्॥"
इति युक्तिकल्पतरुः॥

सञ्छिन्ना, स्त्री, (सम्यक् छिन्नमस्यामिति।) मूषी-कर्णी। इति शब्दरत्नावली॥

सञ्चेयं, त्रि, सञ्चयनीयम्। सञ्चेतव्यम्। संपूर्व्वक-चिञ्धातोः कर्म्मणि यप्रत्ययेन निष्पन्नम्॥

सञ्जः, पुं, (सम्यक् जायते इति। सं+जन+डः। सम्यक् जयतीति। जि+अन्येष्वपीति वा डः।) ब्रह्मा। शिवः। इति मेदिनी॥

सञ्जवनं, क्ली, (सञ्जवन्ति संमिलन्त्यत्रेति। सं+जु गतौ+अधिकरणे ल्युट्।) अन्योन्याभिमुख-गृहचतुष्टयम्। तत्पर्य्यायः। चतुःशालम् २। इत्यमरः॥ संयमनम् ३ चतुःशाली ४। इति भरतः॥ सञ्जीवनम् ५ शाला ६ निलयः ७ चतुःशालकम् ८। इति शब्दरत्नावली॥ (यथा, हरिवंशे। १५५। ५६।

"तस्मिन् सुविहिताः सर्व्वे रुक्मदण्डाः पताकिनः।
सदने वासुदेवस्य मार्गसञ्जवनध्वजाः॥")

सञ्जा, स्त्री, छागी। इति त्रिकाण्डशेषः॥

सञ्जीवनं, क्ली, (संजीव्यतेऽस्मिन्निति। सं+जीव+अधिकरणे ल्युट्।) सञ्जवनम्। इति शब्द-रत्नावली॥ (सं+जीव+भावे ल्युट्।) सम्यक्प्रकारेण प्राणधारणञ्च॥ (यथा, मुकुन्द-मालायाम्। ३०।

"आमोशोद्दलनौषधं मुनिमनोवृत्तिप्रवृत्त्यौषधं
दैत्यानर्थकरौषधं त्रिजगतां सञ्जीवनैकौषधम्।
भक्तात्यन्तहितौषधं भवभयप्रध्वंसि दिव्यौषधं
श्रेयः प्राप्तिकरौषधं पिब मनः श्रीकृष्णनामौ-
षधम्॥"

नरकविशेषः। यथा, मनुः। ४। ८९।

"नरकं कालसूत्रञ्च महानरकमेव च।
सञ्जीवनं महावीचिं तपनं सम्प्रतापनम्॥"

स्त्री, विद्याविशेषः। यथा, महाभारते। १। ७६। ३३।

"ततः सञ्जीवनीं विद्यां प्रयुज्य कचमाह्वयत्॥")

सञ्ज्ञं, क्ली, संज्ञम्। इति शब्दचन्द्रिका॥

सञ्ज्ञः, त्रि, संज्ञः। इत्यमरटीकायां भरतः॥

सञ्ज्ञपनं, क्ली, (सं+ज्ञा+णिच्+ल्युट्।) संज्ञपनम्। इत्यमरः॥

सञ्ज्ञप्तिः, स्त्री, (सं+ज्ञा+णिच्+क्तिन्।) संज्ञप्तिः। इति हेमचन्द्रः॥

सञ्ज्ञा, स्त्री, (सं+ज्ञा+अङ्।) संज्ञा। इति मेदिनी॥

सञ्ज्ञुः, त्रि, (संहते जानुनी यस्य। "प्रसंभ्यां जानुनोर्ज्ञुः।" ५। ४। १२९। इति ज्ञुः।) संज्ञुः। इत्यमरः॥

सञ्ज्वरः, पुं, (सम्यक् ज्वरः।) संज्वरः। इत्य-मरः॥

सटं, क्ली, (सटतीति। सट अवयवे+अच्।) जटा। यथा,—

"जटा झटिर्जटी जूटो जुटकन्तु सटं सटा।
कोटीरं जूटकं हस्तं शिखायां व्रतिनामपि॥"
इति शब्दरत्नावली॥

सटा, स्त्री, (सट अवयवे+अच्।) जटा। केशरः। इति मेदिनी॥ (यथा, रघुः। ९। ६०।

"तं वाहनादवनतोत्तरकायमीषत्
विध्यन्तमुद्धृतसटाः प्रतिहन्तुमीषुः॥")

शिखा। इति शब्दरत्नावली॥ (यथा, भाग-वते। ४। ५। २।

"क्रुद्धः सुदष्टौष्ठपुटः स धूर्जटि-
र्जटां तडिद्वह्निसटोग्ररोचिषम्॥")

सटाङ्कः, पुं, (सटा अङ्कश्चिह्नं यस्य।) सिंहः। इति शब्दरत्नावली॥

सटिः, स्त्री, (सटतीति। सट अवयवे+इन्।) शटी। इति शब्दरत्नावली॥

सटिका, स्त्री, गन्धपत्रा। सटी। इति राज-निर्घण्टः॥

सटी, स्त्री, (सटि+वा ङीष्।) गन्धद्रव्यविशेषः। वन आदा इति अम्लहरिद्रा इति च भाषा। आवेहलदी इति कोङ्कणे प्रसिद्धा। तत्पर्य्यायः। शटी २ गन्धशटी ३ सुगन्धा ४ सटिः ५ शटिः ६ गन्धमूला ७ गन्धमूली ८ पलाशः ९ कर्च्चूरः १० षड्ग्रन्थिका ११ कर्च्चूरः १२ गन्धोलिः १३ गन्धमूलकः १४। इति शब्दरत्ना-वली॥ शटी १५ षड्ग्रन्था १६ अम्लनिशा १७ वधूः १८ गन्धारी १९ सटिका २० पला-शिका २१ सुभद्रा २२ तृणी २३ दूर्व्वा २४ गन्धा २५ पृथुपलाशिका २६ सौम्या २७ हिमोद्भवा २८ गन्धवधूः २९। अस्या गुणाः। सुतिक्तत्वम्। अम्लरसत्वम्। लघुत्वम्। उष्ण-त्वम्। रुचिप्रदत्वम्। ज्वरकफासकण्डूव्रणदोष-वक्त्रामयनाशित्वम्। हृद्यत्वञ्च। इति राज-निर्घण्टः॥

सट्टा, स्त्री, पक्षिभेदः। वाद्यम्। इति संक्षिप्त-सारोणादिवृत्तिः॥

सठ, क श्ठार्थे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (चुरा०-पर०-सक०-सेट्।) दन्त्यादिः। क, साठयति श्ठार्थे गत्यसंस्कृतसंस्कृतेषु। इति दुर्गादासः॥

सठी, स्त्री, शठी। इति राजनिर्घण्टः॥

सणसूत्रं, क्ली, (सणस्य सूत्रम्।) शणसूत्रम्। इत्यमरटीकायां रायमुकुटः॥

सण्डः, पुं, षण्डः। इत्यमरटीका॥

सखिण्डशः, पुं, सन्दंशः। साँड़ाशि इति भाषा। यथा,—

"पायसं कृशराच्छागं देवान्नानि च यानि वै।
भुक्तानि यैरसंस्कृत्य तेषामन्त्राणि पापिनाम्॥
निपातितानां भूपृष्ठे उद्धृतानि निरीक्षताम्।
सखिण्डशैरपकृष्यन्ते नरैर्याम्यैर्मुखात्ततः॥"

इति मार्कण्डेयपुराणे १४ अध्यायः॥

सड्डीनं, क्ली, खगगतिक्रिया। इत्यमरः॥ खगानां पक्षिणां गतौ स्थानान्तरसञ्चारे एताः क्रियाः व्यापाराः। कास्ता इत्याह प्रथमडीनं उड्डयनाय क्रमबन्धः। ऊर्द्धं डीनं उड्डीनं वियद्गमनम्। संगतं डीनं सड्डीनं वृक्षादौ पतनमिति। पृथक् पृथक् पक्षिगतिक्रियासु प्रडीनं सङ्कगमनमित्यन्ये। ओ डी ङ य गतौ डीङ च नभोगतौ भावे क्तः सुख्वादोदिति नत्वम्। इति भरतः॥

सततं, क्ली, (सन्तन्यते स्मेति। सं+तन+क्तः। समो वा हिततततयोरिति पक्षे मलोपः।) निरन्तरक्रिया। तद्वति, त्रि। इत्यमरः॥ तत्पर्य्यायः अनवरतशब्दे नित्यशब्दे च द्रष्टव्यः। अपि च।

"सततं त्वनवरतानारताश्रान्तसन्ततम्।
प्रसक्तासक्तनित्याजस्रानुद्भाविरतानिशम्॥"

इति जटाधरः॥

(यथा, मनुः। ४। २२।

"एतानेके महायज्ञान् यज्ञशास्त्रविदो जनाः।
अनीहमानाः सततमिन्द्रियेष्वेव जुह्वति॥")

सतत्त्वं, क्ली, स्वभावः। इति हेमचन्द्रः। ६। १३॥

सतर्कः, त्रि, तर्केण सह वर्त्तमानः। सावधानः। इति लोकप्रसिद्धिः॥

सतानन्दः, पुं, गौतममुनिपुत्त्रः। स च जनकराजपुरोहितः। इति शब्दरत्नावली॥

सतिः, स्त्री, (सनु दाने+क्तिच्। "सनः क्तिचि लोपश्चास्यान्यतरस्याम्।" ६। ४। ४५। इति नलोपः।) दानम्। अवसानम्। इति सातिशब्दटीकायां भरतः।

सती, स्त्री, (अस्तीति। अस्+शतृ। उगित्वात् ङीप्।) दुर्गा। साध्वी। इति मेदिनी॥ (यथा, कुमारे। १। २१।

"सती सती योगविसृष्टदेहा
तां जन्मने शैलवधूं प्रपेदे॥")

सौराष्ट्रमृत्तिका। इति हेमचन्द्रः॥ दानम्। अवसानम्। इति नानार्थसातिशब्दटीकायां भरतः॥*॥ स्थानविशेषे सत्यष्टोत्तरशतनामानि यथा,—

देव्युवाच।

"सर्व्वगा सर्व्वभूतेषु द्रष्टव्या सर्व्वतो भुवि।
सप्तलोकेषु यत्किञ्चिद्रहितं न मया विना॥
तथापि येषु स्थानेषु द्रष्टव्याः सिद्धिमीप्सुभिः।
स्मर्त्तव्या भूतिकामैर्व्वा ता वक्ष्यामि प्रयत्नतः॥
वाराणस्यां विशालाक्षी नैमिषे लिङ्गधारिणी।
प्रयागे ललिता देवी कामुका गन्धमादने॥
मानसे कुमुदा नाम विश्वकाया तथेश्वरे।
गोमन्ते गोमती नाम मन्दरे कामचारिणी॥
मदोत्कटा चैत्ररथे जयन्ती हस्तिनापुरे।
कान्यकुब्जे तथा गौरी रम्भा मलयपर्व्वते॥
एकाम्रके कीर्त्तिमती विश्वा विश्वेश्वरे विदुः।
पुष्करे पुरुहूतेति केदारे मार्गदायिनी॥
नन्दा हिमवतः पृष्ठे गोकर्णे भद्रकर्णिका।
स्थानेश्वरे भवानी तु विल्वके विल्वपत्रिका॥
श्रीशैले माधवी नाम भद्रा भद्रेश्वरे तथा।
जया वराहशैले तु कमला कमलालये॥
रुद्रकोट्यान्तु रुद्राणी काली कालञ्जरे तथा।
महालिङ्गे तु कपिला माकोटे मकुटेश्वरी॥"

अत्र कपिलाम्बरा इति च पाठः।

"शालग्रामे महादेवी शिवलिङ्गे जलप्रिया।
मायापूर्य्यां कुमारी तु सन्ताने ललिता तथा॥
उत्पलाक्षी सहस्राक्षे हिरण्याक्षे महोत्पला।
गयायां मङ्गला नाम विमला पुरुषोत्तमे॥
विपाशायाममोघाक्षी पाटला पुण्ड्रवर्द्धने।
नारायणी सुपार्श्वे तु त्रिकूटे रुद्रसुन्दरी॥
विपुले विपुला नाम कल्याणी मलयाचले।
कोटवी कोटितीर्थेषु सुगन्धा माधवे वने॥
गोदाश्रमे त्रिसन्ध्या तु गङ्गाद्वारे रतिप्रिया।
शिवकुण्डे शिवानन्दा नन्दिनी देविकातटे॥
रुक्मिणी द्वारवत्यान्तु राधा वृन्दावने वने।
देवकी मथुरायान्तु पाताले परमेश्वरी॥
चित्रकूटे तथा सीता विन्ध्ये विन्ध्याधिवासिनी।
सह्याद्रावेकवीरा तु हरिश्चन्द्रे तु चन्द्रिका॥
रमणा रामतीर्थे तु यमुनायां मृगावती।
करवीरे महालक्ष्मीरुमादेवी विनायके॥
अरोगा वैद्यनाथे तु महाकाले महेश्वरी।
अभयेत्युष्णतीर्थे तु अमृता विन्ध्यकन्दरे॥"

उष्णतीर्थेऽत्र अम्बतीर्थेति च पाठः।

"माण्डव्ये माण्डवी नाम स्वाहा माहेश्वरे पुरे।
छगलाण्डे प्रचण्डा तु चण्डिकामरकण्टके॥
सोमेश्वरे वरारोहा प्रभासे पुष्करावती।
देवमाता सरस्वत्यां पारा पारातटे मता॥
महालये महाभागा पयोष्ण्यां पिङ्गलेश्वरी।
सिंहिका कृतशौचे तु कार्त्तिकेये तु शङ्करी॥
उत्पलावर्त्तके लोला सुभद्रा शोणसङ्गमे।
माता सिद्धवने लक्ष्मीरनङ्गा भरताश्रमे॥
जालन्धरे विश्वमुखी तारा किष्किन्धपर्व्वते।
देवदारुवने पुष्टिर्मेधा काश्मीरमण्डले॥
भीमादेवी हिमाद्रौ च तुष्टिर्वस्त्रेश्वरे तथा।
कपालमोचने शुद्धिर्माता कायावरोहणे॥
शङ्खोद्धारे ध्वनिर्नाम धृतिः पिण्डारके तथा।
काला तु चन्द्रभागायामच्छोदे शिवधारिणी॥
वेण्णायाममृता नाम बदर्य्यां उर्व्वशी तथा।
ओषधी चोत्तरकुरौ कुशद्वीपे कुशोदका।
मन्मथा हेमकूटे तु कुमुदे सत्यवादिनी॥*॥
अश्वत्थे वन्दनीया तु निधिर्वैश्रवणालये।
गायत्त्री वेदवदने पार्व्वती शिवसन्निधौ॥
देवलोके तथेन्द्राणी ब्रह्मास्येषु सरस्वती।
सूर्य्यविम्बे प्रभा नाम मातॄणां वैष्णवी तथा॥
अरुन्धती सतीनान्तु रामासु च तिलोत्तमा।
चित्ते ब्रह्मकला नाम शक्तिः सर्व्वशरीरिणाम्॥
एतदुद्देशतः प्रोक्तं नामाष्टशतमुत्तमम्।
अष्टोत्तरञ्च तीर्थानां शतमेतदुदाहृतम्॥
यः पठेच्छृणुयाद्वापि सर्व्वपापैः प्रमुच्यते॥
एषु तीर्थेषु यः कृत्वा स्नानं पश्यति मानवः।
सर्व्वपापविनिर्म्मुक्तः कल्पं शिवपुरे वसेत्॥
यस्तु मत्परमः कालं करोत्येतेषु मानवः।
स भित्त्वा ब्रह्मसदनं पदमभ्येति शाङ्करम्॥
नामाष्टशतकं यस्तु श्रावयेच्छिवसन्निधौ।
तृतीयायामथाष्टम्यां बहुपुत्त्रो भवेन्नरः॥
गोदाने श्राद्धकाले वा अहन्यहनि वा पुनः।
देवार्च्चनविधौ विद्वान् पठन् ब्रह्माधिगच्छति॥
एवं वदन्ती सा तत्र ददाहात्मानमात्मना।
स्वायम्भुवेऽपि काले च दक्षप्राचेतसोऽभवत्॥
पार्व्वती चाभवद्देवी शिवदेहार्द्धधारिणी।
मेनागर्भसमुत्पन्ना भुक्तिमुक्तिफलप्रदा॥
अरुन्धती जपन्त्येतत्प्राप्ता योगमुत्तमम्।
पुरूरवाश्च राजर्षिर्लोकेषु जयतामगात्॥
ययातिः पुत्त्रलाभन्तु धनलाभन्तु भार्गवः।
तथान्ये देवदैत्याश्च ब्राह्मणाः क्षत्त्रियास्तथा।
वैश्याः शूद्राश्च बहवः सिद्धिमीयुर्यथेप्सिताम्॥
यत्रैतल्लिखितं तिष्ठेत् पूज्यते देवसन्निधौ।
न तत्र शोकदौर्गत्यं कदाचिदपि जायते॥"

इति मत्स्यपुराणे १३ अध्यायः॥*॥

सावित्त्री। यथा,—

यम उवाच।

"सावित्त्रीवरदानेन त्वं सावित्त्रीकला सती।
प्राप्ता पुरा भूभृता च तपसा तत्समा शुभे॥
यथा श्रीः श्रीपतेः क्रोड़े भवानीव भवोरसि।
सौभाग्या सुप्रिया त्वञ्च भव सत्यवति प्रिये॥"

इति ब्रह्मवैवर्त्ते प्रकृतिखण्डे २४ अध्यायः॥*॥

विद्यमाना। (यथा,—

"तथा समक्षं दहता मनोभवं
पिनाकिना भग्नमनोरथा सती।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्व्वती
प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता॥"

इति कुमारसम्भवे। ५। १॥)

सतीनः, पुं, वंशः। इति शब्दमाला॥ सतीलकः। इत्यमरटीकायां भरतः॥ (यथा, सुश्रुते। १। ४६।

"हरेणवः सतीनाश्च विज्ञेया बद्धवर्च्चसः॥"*॥

क्ली, जलम्। इति निघण्टुः। १। १२॥)

सतीनकः, पुं, (सतीन एव। स्वार्थे कन्।) सतीलकः। इत्यमरटीका॥

सतीर्थः, पुं, (समानस्तीर्थो गुरुर्यस्य। समानस्य सः।) परस्परैकगुरुशिष्यः। इति शब्दरत्नावली॥

सतीर्थ्यः, पुं, (समाने तीर्थे वासीति। "समानतीर्थे वासी।" ४। ४। १०७। इति यत्। "तीर्थे ये।" ६। ३। ८७। इति समानस्य सः।) परस्परैकगुरुशिष्यः। इत्यमरः॥ एकोऽभिन्नो

गुरुर्येषां तेऽन्योन्यं सतीर्थ्या:। समाने तीर्थे गुरौ वसन्ति सतीर्थ्या:। ठघेकादिति य:। ज्योतिर्जनपदेत्यादिना स:। तीर्थं स्थविशुद्धजले गुरौ इति वक्ष्यते। इति भरत:॥ अपि च।

"स्यात् सतीर्थ: सतीर्थ्योऽपि तथैकगुरुरित्यपि।"

इति शब्दरत्नावली॥

सतीन:, पुं, वंश:। इति हारावली॥ वायु:। इत्यमरटीकायां रायमुकुट:॥ ("तीनेन तीलवत् कृष्णवर्णचिह्नेन सह वर्त्तते इति। निपातनादिकारस्य दीर्घ:।" इति भरत:॥) कलाय:। यथा,

"कलायखिपुट: प्रोक्त: सतीलो वर्त्तुलो मत:।"

इति भरतधृतव्याडि:॥

सतीलक:, पुं, (सतील एव। स्वार्थे कन्।) कलाय:। यथा,—

"कलायस्तु सतीलक: हरेणुखण्डिकौ चास्मिन्।"

इत्यमर:॥

"चत्वारि कलाये। मटर इति ख्याते। कलायशब्दो विशेषे सामान्ये च अतएव माषकलाय इत्यादिप्रयोग:। कल्यते भुज्यते कलाय:। कड भक्षणे गाम्नोति आय: मनीषादित्वात् डस्य ल:। तिलेन तिलवत् कृष्णवर्णचिह्नेन सह वर्त्तते सतील: निपातनादिकारस्य दीर्घ: स्वार्थे के सतीलक: दन्त्यादि:। ह्रियते भक्षणार्थं हरति मनो वा हरेणु: गाम्नोति रणु:। खण्ड्यते विदार्य्यते खण्डिक: पूर्व्वेण इक:।

'कलायखिपुट: प्रोक्त: सतीलो वर्त्तुलो मत:।
हरेणु: कण्टका ज्ञेया————।'

इति तु व्याडि:।" इति भरत:॥

सतीला, स्त्री, कलायविशेष:। तेवोड़ा इति भाषा। यथा। सतीला निष्ठिका तिपुटीति शब्दचन्द्रिका॥

सतुषं, क्ली, (तुषेण सह वर्त्तमानम्।) तुषयुक्तशस्यम्। धान्यम्। यथा,—

"शस्यं क्षेत्रगतं प्राहु: सतुषं धान्यमुच्यते।
आमं वितुषमित्युक्तं खिन्नमन्नमुदाहृतम्॥"

इति आह्निकतत्त्वम्॥

सत्वट्, [ष्] त्रि, (त्वषा सह वर्त्तमान:।) त्वषायुक्त:। तत्पर्य्याय:। त्वषित: २ तर्षित: ३। इति त्रिकाण्डशेष:॥

सतेर:, पुं, तुष:। इति संक्षिप्तसारोणादिवृत्ति:॥

सत्, क्ली, (अस्तीति। अस+शतृ।) ब्रह्म। यथा। भगवद्गीतायाम्।

"ओम् तत्सदिति निर्द्देशो ब्रह्मणस्त्रिविध: स्मृत:।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिता: पुरा॥"

ओम् तत् सदिति त्रिविधो ब्रह्मणो जगदीश्वरस्य निर्द्देशोऽभिधानं ब्रह्मविद्भिश्चिन्तितम्। तत्र तावदोमिति ब्रह्मेत्यादि श्रुतिप्रसिद्धेरोमिति ब्रह्मणो नाम। पातञ्जलिरप्याह अस्यैव वाचक: प्रणव:। अस्य ब्रह्मण:। ओम्कारो भगवान् विष्णुरित्यादि तु वाच्यवाचकयोरभेदेन। तथा च। जगत्कारणत्वेन प्रसिद्धत्वादविदुषां परोक्षत्वाच्च तच्छब्दोऽपि ब्रह्मणो नाम। एवं परमार्थसत्त्वसाधुत्वप्रशस्तत्वादिभि: सच्छब्दोऽपि। अतस्तेन त्रिविधनिर्द्देशेन। यद्वा यस्यायं त्रिविधो निर्द्देशस्तेन परमात्मना ब्राह्मणादयो निर्म्मिता:॥ वैदिके कर्म्मणि तेषां प्रथमतो निर्द्देशो यथा,—

"तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतप:क्रिया।
प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ता: सततं ब्रह्मवादिनाम्॥"

यस्मादेवं ब्रह्मणो निर्द्देशस्तस्मादोमित्युदाहृत्य उच्चार्य्य कृता वेदवादिनां यज्ञाद्या: शास्त्रोक्ता: क्रिया: सततमङ्गवैकल्येऽपि प्रवर्त्तन्ते प्रकर्षेण वर्त्तन्ते सगुणा भवन्तीति भगवान् शङ्कराचार्य्यचरणा:॥

"तदित्यनभिसन्धाय यज्ञदानतप:क्रिया।
दानक्रियाश्च विविधा: क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभि:॥"

तदिति ब्रह्मणोऽभिधानमुदाहृत्य इत्यनुषङ्ग:। अनभिसन्धाय कर्म्मण: फलमिति शेष:। तस्मात् फलाभिसन्धानं विना मुमुक्षुणा कर्म्म कर्त्तव्यमित्यपि बोध्यम्।

"सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्म्मणि तथा सच्छब्द: पार्थ युज्यते॥"

यतो विद्यमानजन्मनि उत्तमचरिते च सदित्येतत् प्रयुज्यते। अतो यज्ञादौ कर्म्मणि प्रथमत: सच्छब्द: प्रयुज्यते। इत्येकादशीतत्त्वम्॥*॥

सत्, त्रि, (अस्तीति। अस+शतृ।) सत्यम्। साधु:। (यथा, मुग्धबोधे।

"रामं नमति सानन्दं धर्म्मानभिनिविश्य स सन्॥")

विद्यमानम्। (यथा, हितोपदेशे।

"दुर्ज्जन: परिहर्त्तव्यो विद्ययालङ्कृतोऽपि सन्।
मणिना भूषित: सर्प: किमसौ न भयङ्कर:॥")

प्रशस्तम्। अभ्यर्हितम्। इत्यमर:॥ धीर:। इति मेदिनी॥

सत्कदम्ब:, पुं, (सन् कदम्ब:।) केलिकदम्ब:। यथा,—

"केलिवृक्ष: सत्कदम्बो व्रजभू: शिशुपालक:।"

इति शब्दचन्द्रिका॥

सत्कर्त्ता, [ऋ] पुं, (सतां कर्त्ता।) विष्णु:। यथा। सत्कर्त्ता सत्कृत: साधुरिति तस्य सहस्रनामस्तोत्रम्॥

सत्कर्म्म, [न्] क्ली, (सत् प्रशस्तं कर्म्म।) वेदविहितक्रिया। यथा। विष्णुपुराणे।

"सत्कर्म्मयोग्यो न जनो नैवाप: शौचकारणम्।
यस्मिन्ननुदिते तस्मै नमो देवाय भास्वते॥"

इति प्रायश्चित्ततत्त्वम्॥

सत्काञ्चनार:, पुं, (सन् काञ्चनार:।) रक्तकाञ्चन:। यथा,—

"कोविदारे चमरिक: कुद्दालो युगपत्रक:।
सत्काञ्चनार: कामाख्यहयवाहनशङ्कर:॥"

इति शब्दचन्द्रिका॥

सत्काण्ड:, पुं, चिल्ल:। इति शब्दचन्द्रिका॥

सत्कार:, पुं, (सत्करणमिति। सत्+कृ+घञ्।) पूजा। यथा। एवम्भूता: सभासद: सभायां यथा सीदन्ति उपविशन्ति तथा दानमानसत्कारै राज्ञा कर्त्तव्या:। इति व्यवहारतत्त्वम्॥ (यथा, कुमारे। ६। ५२।

"विधिप्रयुक्तसत्कारै: स्वयं मार्गस्य दर्शक:।
स तैराक्रमयामास शुद्धान्तं शुद्धकर्म्मभि:॥"

उत्सवविशेष:। यथा, मनु:। ३। ५६।

"तस्मादेता: सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनै:।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च॥"

"सत्कारेषु कौमुद्यादिषु उत्सवेषु उपनयनादिषु।" इति तट्टीकायां कुल्लूक:॥*॥)

श्रवदाहादिक्रिया। इति लोकप्रसिद्धि:॥

सत्कुलीन:, पुं, (सत्कुले जात:। सत्कुल+ख:। सन् प्रशस्त: कुलीन इति वा।) सत्कुलोद्भव:। यथा,—

"सत्कुलीनाय शान्ताय ऋजवे दम्भवर्ज्जिते।
दद्यात् स्तोत्रमिदं पुण्यं सर्व्वकामफलप्रदम्॥"

इति विश्वसारतन्त्रे वटुकभैरवस्तोत्रम्॥

सत्कृत:, त्रि, (सत्+कृ+क्त:।) पूजित:। कृतसत्कार:। यथा,—

"तस्थौ कञ्चित् स कालञ्च मुनिना तेन सत्कृत:।"

इति देवीमाहात्म्यम्॥

(महादेवे, पुं। इति महाभारतम्। १३। १७। ११३॥)

सत्कृति:, स्त्री, (सत्+कृ+क्तिन्।) सत्कार:। सत्क्रियाशब्दार्थदर्शनात्॥ (यथा, भागवते। १०। १५। ४३।

"तत्सत्कृतिं समधिगम्य विवेश गोष्ठं
सव्रीड़हासविनयं यदपाङ्गमोक्षम्॥"

पुं, विष्णु:। इति महाभारतम्।१३।१४९।८८॥)

सत्क्रिया, स्त्री, (सती क्रिया।) श्रवदाहादिक्रिया। तत्पर्य्याय:। संस्क्रिया २। इति त्रिकाण्डशेष:॥ संस्कार: ३। इति शब्दरत्नावली॥ (यथा, महाभारते। १। ४४। ५।

"ततो नृपे तक्षकतेजसा हते
प्रयुज्य सर्व्वा: परलोकसत्क्रिया:।
शुचिर्द्विजो राजपुरोहितस्तदा
तथैव ते तस्य नृपस्य मन्त्रिण:॥"

परिष्कार:। यथा, रघु:। ११। ३।

"यावदादिशति पार्थिवस्तयो-
र्निर्गमाय पुरमार्गसत्क्रियाम्।
तावदाशु विदधे मरुत्सखै:
सा सपुष्पजलवर्षिभिर्घनै:॥")

सम्मानम्। यथा, मनु:।

"घटेऽपवर्ज्जिते ज्ञातिमध्यस्थो यवसं गवाम्।
प्रदद्यात् प्रथमं गोभि: सत्कृतस्य हि सत्क्रिया॥"

इति प्रायश्चित्ततत्त्वम्॥

सत्तम:, त्रि, (अयमेषामतिशयेन सन्। सत्+तमप्।) अतिशोभन:। इत्यमर:॥ पूज्यतम:। साधीयान्। उत्तम:। इति मेदिनी॥ (यथा, देवीभागवते। ११। १६। ३।

"तदिदानिं वक्ष्यामि शृणु देवर्षिसत्तम!॥")

सत्ता, स्त्री, जातिविशेष:। इति भाषापरिच्छेद:॥ (सतो भाव:। सत्+तल्।) विद्यमानता।

यथा। यद्यपि पापस्य कार्य्यानन्वितत्वेन तत्सत्तायामप्रामाण्यं प्रतिभाति। इति प्रायश्चित्ततत्त्वम् ॥ साधुता। सतो भाव इत्यर्थे सच्छब्दात् तप्रत्ययेन निष्पन्ना ॥

सत्त्रं, क्ली, (सतः साधून् त्रायते इति। त्रै+कः। यद्वा, सीदन्ति सज्जना यत्र। सद गतौ+ "गुधृवीपचिवचीति।" उणा० ४। १६६। इति त्रः।) यज्ञः। (यथा, मनुः। ८। ३०३।
"अभयस्य हि यो दाता संपूज्यः सततं नृपः।
सत्त्रं हि वर्द्धते तस्य सदैवाभयदक्षिणम् ॥")
सदादानम्। आच्छादनम्। अरण्यम्। (यथा, किराते। १३। ६।
"अयमेव मृगव्यसत्त्रकामः
प्रहरिष्यन् मयि मायया शमस्थे।
पृथुभिर्ध्वजिनीरवैरकार्षीत्
चकितोद्भ्रान्तमृगाणि काननानि ॥")
कैतवम्। इति मेदिनी ॥ (यथा, महाभारते। ४। ३६। ३८।
"सत्त्रेण नूनं छन्नं हि चरन्तं पार्थमर्ज्जुनम्।
उत्तरः सारथिं कृत्वा निर्य्यातो नगरात्
बहिः ॥")
धनम्। गृहम्। दानम्। सरोवरम्। इत्यनेकार्थकोषः ॥ यागविशेषः। यथा,—
"नैमिषेऽनिमिषक्षेत्रे ऋषयः शौनकादयः।
सत्त्रं स्वर्गाय लोकाय सहस्रसममासत ॥
कलिमागतमाज्ञाय क्षेत्रेऽस्मिन् वैष्णवे वयम्।
आसीना दीर्घसत्त्रेण कथायां सक्षणा हरेः ॥"
इति श्रीभागवते १ स्कन्धे १ अध्यायः ॥ * ॥
द्वादशाहसाध्यसत्त्रं यथा। ज्योतिष्टोमे द्वादशगोशतदक्षिणाविभागः षोडशर्त्विजां तद्विकृतीभूते सत्त्रात्मके द्वादशाहसाध्ये शतैकाहिनो दीक्षयन्तीत्यादिदर्शनेन निर्णीयते। तच्च सावनमानेन कर्त्तव्यम्। यथा,—
"सत्त्राण्युपास्याथ सावनेन
लौक्यञ्च यत् स्याद्व्यवहारकर्म्म।"
इति मलमासतत्त्वम् ॥ * ॥
सदक्षिणं सततान्नदानम्। तन्निन्दकश्रवणादिनिषेधो यथा,—
"नालपेज्जनविद्विष्टान् वीरहीनां तथा स्त्रियम्।
देवतापितृसच्छास्त्रयज्ञसत्त्रादिनिन्दकैः।
कृत्वा तु स्पर्शनालापं शुद्ध्यतार्कावलोकनात् ॥"
इति मार्कण्डेयपुराणे सदाचाराध्यायः ॥
सत्त्रं सदक्षिणं सततान्नदानम्। इति तट्टीका ॥

सत्त्रं, [म्], अ, सह। इति शब्दरत्नावली जटाधरश्च ॥

सत्त्रशाला, स्त्री, (सत्त्रस्य शाला।) अन्नादिदानगृहम्। तत्पर्य्यायः। प्रतिश्रयः २। इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, कथासरित्सागरे। २१। ७४।
"ततः सा सत्त्रशालान्तः प्रविवेश वणिक्सुता।
अन्वगात् राजपुत्त्रोऽपि स तां गुप्तमवेक्षितुम् ॥")

सत्त्रा, अ, सह। इत्यमरः ॥

सत्त्राजित्, पुं, राजविशेषः। स तु श्रीकृष्णस्य श्वशुरः। परे भल्लाटनगरे शशिध्वजराजो बभूव। इति कल्किपुराणे २७ अध्यायः ॥

सत्त्रिः, पुं, मेघः। हस्ती। जयशीले, त्रि। इत्युणादिकोषः ॥

सत्त्रिजातकं, क्ली, (सत् साधु त्रिजातकं तुल्यत्वगेलापत्रादिकं यत्र।) व्यञ्जनविशेषः। यथा,—
"मांसं वहुघृते भृष्टं सिक्तं तोयाम्बुना
मुहुः।
जीरकाद्यैः समायुक्तं परिशुष्कं तदुच्यते।
तदेव घृततक्राढ्यं प्रदिग्धं सत्त्रिजातकम् ॥"
इति शब्दचन्द्रिका ॥

सत्त्री, [न्] पुं, (सत्त्रमस्यास्तीति। इनिः।) गृहपतिः। इत्यमरः ॥ द्वे गृहस्थे। सत्त्रं सदा दानं विद्यतेऽस्य सत्त्री इन्। सदैव सत्त्रं छितकारम्। सत्त्रमाच्छादने यज्ञे सदा दाने च कैतवे। इति विश्वः। गृहस्य पतिर्गृहपतिः। इति भरतः ॥ नित्यप्रवृत्तान्नदानः। यथा विष्णुः। नाशौचं राज्ञां राजकर्म्मणि न व्रतिनां व्रते न सत्त्रिणां सत्त्रे न कारूणां स्वकर्म्मणि न राजाज्ञाकारिणां तदिच्छया न देवप्रतिष्ठाविवाहयोः पूर्व्वसंवृतयोः। इति। सत्त्रिणां नित्यप्रवृत्तान्नदानानां सत्त्रेऽन्नदाने। इति शुद्धितत्त्वम् ॥ (यज्ञान्विते, त्रि। यथा, महाभारते।१४।७।३।
"सत्यमेतद्भवानाह स मां जानाति सत्त्रिणम्।
कथयस्व तदेतन्मे क्व नु सम्प्रति नारदः ॥")

सत्त्वं, क्ली, (सतो भावः। सत्+त्व।) प्रकृतेर्गुणविशेषः। अत्र सत्त्वं प्रकाशकत्वात् सुखहेतुः। सतो भावः सत्त्वम्। त्वतौ भावे इति त्वं निपातनात्तलोप इति केचित्। सत्त्वं छितकारमिति बहवः। इत्यमरभरतौ ॥ * ॥ (यथा, मनुः। १२। २४।
"सत्त्वं रजस्तमश्चैव त्रीन् विद्यादात्मनो गुणान्।
यैर्व्याप्येमान् स्थितो भावान् महान् सर्व्वानशेषतः ॥")
महाभारतमते सुखजनकगुणः। तस्य धर्म्माः। प्रसादः १ हर्षः २ प्रीतिः ३ असन्देहः ४ धृतिः ५ स्मृतिः ६। इति मोक्षधर्म्मः ॥ द्रव्यम्। असुः। (यथा, रामायणे। २। ६०। १।
"ततो भूतोपसृष्टेव वेपमाना पुनः पुनः।
धरण्यां गतसत्त्वेव कौशल्या सूतमब्रवीत् ॥")
व्यवसायः। इत्यमरः ॥ पिशाचादिः। (यथा, रामायणे। २। ३३। १०।
"अद्य नूनं दशरथः सत्त्वमाविश्य भाषते।
न हि राजा प्रियं पुत्त्रं विवासयितुमर्हति ॥")
बलम्। (यथा, रघुः। ४। ७२।
"शशंस तुल्यसत्त्वानां सैन्यघोषेऽप्यसम्भ्रमम्।
गुहाशयानां सिंहानां परिवृत्त्यावलोकितम् ॥")
स्वभावः। (यथा, किराते। १२। ३६।
"सत्त्वविहितमतुलम्भुजयोर्बलमस्य पश्यत मृधेऽधिकुप्यतः ॥")
आत्मा। चित्तम्। इति मेदिनी ॥ रसः। आयुः। इति धरणिः ॥ कुवेरः। इति हेमचन्द्रः ॥ धनम्। आत्मता। इति शब्दरत्नावली ॥

सत्त्वः, पुं, क्ली, (सत्त्वमस्यास्तीति। अर्श आदित्वादच्।) जन्तुः। इत्यमरः ॥ (यथा, रघुः। २। ८।
"स्थाणुदेशाम्बुनिवृत्तोमधेनोः
वन्यान् विनेष्यन्निव दुष्टसत्त्वान् ॥")

सत्त्वता, स्त्री, सत्त्वस्य भावः। सत्त्वशब्दात् भावे तप्रत्ययानन्तरं आप्प्रत्ययेन निष्पन्ना ॥

सत्त्वसम्पन्नः, त्रि, (सत्त्वं सम्पन्नः।) सत्त्वप्राप्तः। इति लोकप्रसिद्धिः ॥

सत्त्वस्थः, त्रि, (सत्त्वे तिष्ठतीति। स्था+कः।) सत्त्ववृत्तिशाली। सत्त्वप्रधानः। यथा,—
"ऊर्द्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥"
इति भगवद्गीतायाम्। १४। १८ ॥

सत्पत्त्रं, क्ली, (सत् पत्त्रं यस्य।) पद्मस्य नवदलम्। इति शब्दचन्द्रिका ॥

सत्पथः, पुं, (सन् पन्थाः। टच्।) प्रशस्तपथः। तत्पर्य्यायः। अतिपन्थाः २ सुपन्थाः ३ अभिताध्वा ४। इत्यमरः ॥ सुपथः ५। इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, भागवते। ४। १२। ५०।
"ज्ञानमज्ञाततत्त्वाय यो दद्यात् सत्पथेऽमृतम्।
कृपालोर्दीननाथस्य देवास्तस्यानु गृह्णते ॥")

सत्पशुः, पुं, (सन् पशुः।) यज्ञीयपशुः। इति केचित् ॥ शोभनपशुश्च ॥

सत्पुत्त्रः, पुं, (सन् पुत्त्रः।) उत्तमसन्तानः। वेदादिविहितपित्रादिकार्य्यकर्त्ता। यथा,—
"पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात्त्रायते पितरं सुतः।
मुखसन्दर्शनेनापि तदुत्पत्तौ यतेत सः ॥"
इति श्रुत्युक्तनरकनिस्ताराय ऋणमस्मिन् सन्नयति अमृतत्वञ्च विन्दति। पिता पुत्त्रस्य जातस्य पश्येच्च जीवतो मुखम्। इति वशिष्ठोक्तर्णापनयनाय च यत् पश्येदिति नियमविधानं तदकृतपुत्त्रकार्य्यपुत्त्रपरम्। सत्पुत्त्रस्तु मुखदर्शनं विनापि नरकनिस्तारकः। तथा च विष्णुपुराणम्।
"सत्पुत्त्रेण तु जातेन वेणोऽपि त्रिदिवं ययौ।
पुन्नाम्नो नरकात्त्रातः स तेन सुमहात्मना ॥"
ब्रह्मपुराणेऽपि।
"समुत्पन्नेन भो विप्राः सत्पुत्त्रेण महात्मना।
त्रातः स पुरुषव्याघ्रः पुन्नाम्नो नरकात्तदा ॥"
इति शुद्धितत्त्वम् ॥

सत्पुरुषः, पुं, (सन् पुरुषः।) पूज्यमानपुरुषः। इति संक्षिप्तसारसमासपादः (यथा, रामायणे। २। ४८। ८।
"एकः सत्पुरुषो लोके लक्ष्मणः सह सीतया।
योऽनुगच्छति काकुत्स्थं रामं परिचरन् वने ॥")

सत्प्रतिग्रहः, पुं, सद्भ्यः साधुभ्यः प्रतिग्रहो दानग्रहणम्। साधुजनदत्तद्रव्यग्रहणम्। यथा,—
"सप्तवित्तागमा धर्म्म्या दायो लाभः क्रयो जयः।

प्रयोगः कर्म्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च ॥”
इति मानवे १० अध्यायः ॥

सत्प्रतिपक्षः, पुं, (सन् प्रतिपक्षः ।) तुल्यव्यक्तिः । प्रतियोगी । न्यायमते । साध्याभावव्याप्यवत् पक्षः । यथा । ह्रदो वह्निमान् धूमादित्यादौ वह्न्यभावव्याप्यवह्रदादिः । इति सत्प्रतिपक्षग्रन्थः ॥ तल्लक्षणं यथा । साध्यविरोध्युपस्थापनसमर्थसमानबलोपस्थित्या प्रतिरुद्धकार्य्यलिङ्गत्वं तत्त्वं बलञ्च व्याप्तिपक्षधर्म्मतो विरोधिबोधकान्यगमकतौपयिकरूपसम्पत्तिमत्तया ज्ञायमानेन प्रतिरुद्धकार्य्यत्वं वा तत्त्वम् । इति गङ्गेशोपाध्यायकृतचिन्तामणिः ॥

सत्फलः, पुं, (सत् फलं यस्य ।) दाड़िमवृक्षः । इति शब्दचन्द्रिका ॥ शोभनफलवद्वृक्षश्च ॥

सत्यं, क्ली, (सते हितम् । सत् + यत् ।) कृतयुगम् । शपथः । यथार्थम् । (यथा, रघुः ।१२।७५।
“कामं जीवति मे नाथ इति सा विजहौ शुचम् ।
प्राङ्मत्वा सत्यमस्यान्तं जीवितास्मीति लज्जिता ॥”)
तद्वति, त्रि । इति मेदिनी ॥ (यथा, याज्ञवल्क्ये । ३ । १४६ ।
“महाभूतानि सत्यानि यथात्मापि तथैव हि ॥”)
सिद्धान्तः । इति शब्दरत्नावली ॥*॥ यथार्थस्य पर्य्यायः । तथ्यम् २ ऋतम् ३ सम्यक् ४ । इत्यमरः ॥ अवितथम् ५ भूतम् ६ । इति जटाधरः ॥ तल्लक्षणम् । यथा,—
“यथार्थकथनं यच्च सर्व्वलोकसुखप्रदम् ।
तत् सत्यमिति विज्ञेयमसत्यं तद्विपर्य्ययम् ॥”
इति पाद्मे क्रियायोगसारे १६ अध्यायः ॥ * ॥
तदाकारा यथा,—
“सत्यञ्च समता चैव दमश्चैव न संशयः ।
अमात्सर्य्यं क्षमा चैव ह्रीस्तितिक्षानसूयता ॥
त्यागो ध्यानमथार्य्यत्वं धृतिश्च सततं दया ।
अहिंसा चैव राजेन्द्र सत्याकारास्त्रयोदश ॥”
इति महाभारते राजधर्म्मः ॥ * ॥
तस्यापालने दोषो यथा,—
“कृत्वा शपथरूपञ्च सत्यं हन्ति न पालयेत् ।
स कृतघ्नः कालसूत्रे वसेद्देवचतुर्युगम् ॥
सप्तजन्मसु काकश्च सप्तजन्मसु पेचकः ।
ततः शूद्रो महाव्याधी जन्मसप्त ततः शुचिः ॥”
इति ब्रह्मवैवर्त्ते प्रकृतिखण्डे ४८ अध्यायः ॥*॥
अपि च ।
“सत्येन लोकं जयति सत्यन्तु परमं तपः ।
यथाभूतप्रसादन्तु सत्यमाहुर्म्मनीषिणः ॥”
इति कौर्म्मे उपविभागे १४ अध्यायः ॥ * ॥
तस्य प्रशंसा यथा,—
“सत्यमायास्यति हरिः सत्यं निष्कपटं वद ।
वद तत् स्वभयं त्यक्त्वा सत्यं ब्रूहि सुसंसदि ॥
वरं कूपशताद्वापी वरं वापीशतात् क्रतुः ।
वरं क्रतुशतात् पुत्त्रः सत्यं पुत्त्रशतात् किल ॥
नहि सत्यात् परो धर्म्मो नानृतात् पातकं परम् ।
नहि मातुः परो बन्धुर्न गुरुर्मन्त्रदात् परः ॥”
इति ब्रह्मवैवर्त्ते जन्मखण्डे ६५ अध्यायः ॥ * ॥
अपि च ।
“तस्मात् सत्यं परं ब्रह्म सत्यमेव परं तपः ।
सत्यमेव परो यज्ञः सत्यमेव परं श्रुतम् ॥
सत्यं वेदेषु जागर्त्ति सत्यञ्च परमं पदम् ।
कीर्त्तिर्यशश्च पुण्यञ्च पितृदेवर्षिपूजनम् ॥
आद्यो विधिश्च विद्या च सर्व्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ।
सत्यं यज्ञस्तथा वेदा मन्त्रा देवाः सरस्वती ॥
व्रतचर्य्या तथा सत्यं ओङ्कारः सत्यमेव च ।
सत्येन वायुरभ्येति सत्येन तपते रविः ॥
सत्येनाग्निर्दहेन्नित्यं स्वर्गं सत्येन गच्छति ।
सत्येन चापः क्षिपति पर्जन्यो धरणीतले ॥
परेण सर्व्वदेवानां सर्व्वतीर्थावगाहनम् ।
सत्यस्य वचनाल्लोके सर्व्वमाप्नोत्यसंशयम् ॥
अश्वमेधसहस्रञ्च सत्यञ्च तुलया धृतम् ।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥
सत्येन देवाः प्रीयन्ते पितर ऋषयस्तथा ।
मनुष्याः सिद्धगन्धर्व्वाः सत्यात् सिद्धिमितो गताः ॥
अगाधे विपुले शुद्धे सत्यतीर्थे शुचिह्रदे ।
स्नातव्यं मनसा युक्तैः स्नानं तत् परमं स्मृतम् ॥
आत्मार्थे वा परार्थे वा पुत्त्रार्थे वापि मानवाः ।
अनृतं ये न भाषन्ते ते बुधाः स्वर्गगामिनः ॥
तस्मात् सत्यकृतं पञ्च तदनन्तफलं भवेत् ॥”
इति वह्निपुराणे दानावस्थानिर्णयनामाध्यायः ॥
अपि च ।
“तड़ागशतदानेन यत् पुण्यं लभते नरः ।
ततोऽधिकञ्च लभते वापीदानेन निश्चितम् ॥
दशवापीप्रदानेन यत् फलं लभते नरः ।
ततोऽधिकञ्च लभते पुण्यं कन्याप्रदानतः ॥
दशकन्याप्रदानेन यत् फलं लभते नरः ।
ततोऽधिकञ्च लभते यज्ञैकेन नराधिपः ॥
शतयज्ञेन लभते यत् पुण्यं पुण्यकृज्जनः ।
ततोऽधिकञ्च लभते पुत्त्रास्यदर्शनेन च ॥
दर्शने शतपुत्त्राणां यत् पुण्यं लभते नरः ।
तत् पुण्यं लभते नूनं पुण्यवान् सत्यपालनात् ॥
नहि सत्यात् परो धर्म्मो नानृतात् पातकं नरः ।
नहि गङ्गासमं तीर्थं न देवः केशवात् परः ॥”
इति ब्रह्मवैवर्त्तपुराणम् ॥ * ॥
अन्यच्च ।
“सत्यमूलं जगत् सर्व्वं सर्व्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ।
सिद्धं लभन्ते सत्येन ऋषयो वेदपारगाः ॥
सत्येन दीयते कन्या सत्यं जल्पन्ति ब्राह्मणाः ।
सत्यं वदन्ति राजानः सत्येन वसुधा धृता ॥
सत्येन गम्यते स्वर्गं मोक्षं सत्येन प्राप्यते ।
सूर्य्यस्तपति सत्येन सोमः सत्येन राजते ॥
यमः सत्येन हरति सत्येनेन्द्रो विराजते ।
वरुणश्च कुवेरश्च तौ च सत्ये प्रतिष्ठितौ ॥
तत् सत्यं मम नश्येत तदहं नागमे पुनः ॥”
इति वाराहे मथुरामाहात्म्ये अन्धकतीर्थप्रभाववर्णननामाध्यायः ॥ * ॥ अन्यच्च ।
“सत्यं सन्तोष आस्तिक्यं तथा चेन्द्रियनिग्रहः ।
देवताभ्यर्च्चनं पूजा ब्राह्मणानां विशेषतः ॥
सत्यं भूतहितं वाक्यमस्तेयं स्वागतम्परम् ।
नियमाः पञ्च सत्याद्या बाह्यमाभ्यन्तरं द्विधा ॥”
इति गारुड़े ४६ अध्यायः ॥ * ॥
अपि च ।
“येऽर्थाः धर्म्मेण ते सत्या येऽधर्म्मेण गतश्रियः ।
सत्यशौचं मनःशौचं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ॥
सर्व्वभूतदया शौचं जलशौचञ्च पञ्चमम् ।
यस्य सत्यञ्च शौचञ्च तस्य स्वर्गो न दुर्लभः ॥
सत्यं हि वचनं यस्य सोऽश्वमेधाद्विशिष्यते ॥”
इति गारुड़े ११३ अध्यायः ॥ * ॥
अपि च ।
“न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्म्मम् ।
नासौ धर्म्मो यत्र नो सत्यमस्ति
नो तत् सत्यं यच्छलेनानुविद्धम् ॥
ब्राह्मणोऽपि मनुष्याणामादित्यश्चैव तेजसाम् ।
शिरोऽपि सर्व्वगात्राणां व्रतानां सत्यमुत्तमम् ॥”
इति गारुड़े ११५ अध्यायः ॥ * ॥
ब्रह्म । यथा । यः सर्व्वज्ञः सर्व्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः सर्व्वस्य वशी सर्व्वस्येशानः यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः सोऽकामयत बहुस्यां स ईक्षत तत्तेजोऽसृजत् सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म इत्याद्याः । इति श्रीभागवतदशमस्कन्धीय ८७ अध्यायीयतृतीयश्लोकटीकायां श्रीधरस्वामी ॥ * ॥ अपि च ।
“अहमात्मा परं ब्रह्म सत्यं ज्ञानमनन्तकम् ।
विज्ञानमानन्दो ब्रह्म तत्त्वमसि केवलम् ॥
नित्यं शुद्धं बुद्धियुक्तं सत्यमानन्दमद्वयम् ।
योऽसावादित्यपुरुषः सोऽसावहमखण्डितः ।
इति ध्यायन् विमुच्येत ब्रह्मणो भवबन्धनात् ॥”
इति गारुड़े ४६ अध्यायः ॥
तद्वैदिकपर्य्यायः । वट् १ श्रत् २ सत्रा ३ अद्धा ४ इत्था ५ ऋतम् ६ । इति षट् सत्यनामानि । इति वेदनिघण्टौ । ३ । १० ॥

सत्यं, [म्] व, प्रश्नः । स्वीकारः । इति शब्दरत्नावली ॥

सत्यः, पुं, (सते हितः । सत् + यत् ।) श्रीरामः । यथा,—
“कौशल्यानन्दनः श्रीशः सत्यो दशमुखान्तकः ॥”
इति शब्दरत्नावली ॥
विष्णुः । यथा,—
“औत्तमेऽप्यन्तरे विष्णुः सत्यैः सह सुधोत्तमैः ।
सत्यायामभवत् सत्यः सत्यरूपो जनार्द्दनः ॥”
इति कौर्म्मे ४८ अध्यायः ॥ * ॥
अन्यच्च ।
“सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं
सत्यस्य योनिं निहितञ्च सत्ये ।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥”
इति श्रीभागवते १० स्कन्धे १ अध्यायः ॥*॥

"प्रतिश्रुतं सत्यं व्रतमिति छन्दाः प्रथमं सत्यत्वेन स्तुवन्ति सत्यव्रतमिति। सत्यं व्रतं सङ्कल्पो यस्य। सत्यं परं श्रेष्ठं प्राप्तिसाधनं यस्मिन् तम्। त्रिसत्यं त्रिष्वपि कालेषु सृष्टेः पूर्व्वं प्रलयानन्तरं स्थितिसमये च सत्यं अव्यभिचारेण वर्त्तमानम्। तत एवाहुः। सत्यस्य योनिमिति। सच्छब्देन पृथिव्यप्तेजांसि। त्यच्छब्देन वाय्वाकाशौ। एवं सच्च त्यच्च सत्यं भूतपञ्चकम्। तं सत्यमित्याचक्षते इति श्रुतेः। तस्य योनिं कारणं अनेन सृष्टेः पूर्व्वं वर्त्तमानतोक्ता। तथा सत्ये तस्मिन्नेव निहितं अन्तर्यामितया स्थितं अनेन स्थितिसमये च सत्यत्वमुक्तम्। तथा सत्यस्य सत्यं तस्यैव सत्यस्य सत्यं पारमार्थिकं नाशेऽपि अवशिष्यमाणं रूपं अनेन प्रलयेऽप्यवधित्वेन सत्यत्वं दर्शितं एवं त्रिसत्यत्वमुपपादितम्। तथा ऋतसत्यनेत्रम्। ऋतञ्च सूनृता वाणी सत्यञ्च समदर्शनम्। तथा भगवता व्याख्यास्यमानत्वात् सत्यञ्च समदर्शनमिति ऋतञ्च सूनृता वाणी कविभिः परिकीर्त्तिता॥ इति तयोर्नेत्रं नयनसाधनं नेतारं प्रवर्त्तकमिति यावत्। एवं सर्व्वप्रकारेण सत्यात्मकं तां वयं शरणं प्रपन्ना इत्यर्थः।" इति श्रीधरस्वामी॥*॥ अश्वत्थवृक्षः। इति राजनिर्घण्टः॥ नान्दीमुखश्राद्धदेवः। यथा,

"इष्टिश्राद्धे क्रतुर्दक्षः सत्यो नान्दीमुखे वसुः।
नैमित्तिके कालकामौ काम्ये च धुरिलोचनौ॥"
इति श्राद्धतत्त्वम्॥*॥

(मुनिविशेषः। यथा, महाभारते।२।४।१०।
"असितो देवलः सत्यः सर्पमाली महाशिराः॥"
देवगणविशेषः। यथा, मार्कण्डेये।७१।१—२।
"मन्वन्तरे तृतीयेऽस्मिन् उत्तमस्य प्रजापतेः।
देवानिन्द्रानृषीन् भूपान् निबोध गदतो मम॥
स्वधामानस्तथा देवा यथानामानुकारिणः।
सत्याख्यश्च द्वितीयोऽन्यस्त्रिदशानां तथा गणः॥")

तपोलोकादूर्द्ध्वलोकः। इति विश्वः॥ अस्य विवरणं सत्यलोकशब्दे द्रष्टव्यम्॥

सत्यकं, क्ली, सत्यङ्कारः। इति केचित्॥ (सत्यमेव। स्वार्थे कन्।) सत्यम्। तद्युक्ते, त्रि॥ (वृष्णिवंशीयविशेषे, पुं। यथा, भागवते।९।२४।१३।
"अनमित्रसुतो योऽन्यः शिनिस्तस्य च सत्यकः॥")

सत्यङ्कारः, पुं, (सत्यस्य कार इति। कृ+घञ्। "कारे सत्यागदस्य।" ६।३।७०। इति मुम्।) अवश्यं मयैतत् क्रेतव्यमिति सत्याकरणम्। तत्पर्य्यायः। सत्यापनम् २ सत्याकृतिः ३। इत्यमरः॥ सत्यापना ४। इति वोपालितः॥ (यथा, राजतरङ्गिण्याम्।६।७१।
"लेभिरे निधनन्तस्मात् सत्यङ्कारात् पदातयः॥")

सत्यङ्कारकृतः, त्रि, (सत्यङ्कारेण कृतः।) अवश्यं मयैतत् क्रेतव्यमिति सत्यं कृत्वा यद्देयम्। वायना इति भाषा। इति मिताक्षरा॥ (यथा, याज्ञवल्क्यः।२।६१।
"सत्यङ्कारकृतं द्रव्यं द्विगुणं प्रतिपादयेत्॥")

सत्यतपाः, [स्] पुं, (सत्यं तपो यस्य।) मुनिविशेषः। स तु पुरा व्याध आसीत् ततस्तपः कृत्वा दुर्व्वाससो वरेण वेदादिसर्व्वशास्त्रज्ञो भूत्वा एतन्नामा बभूव। यथा,—
"तमस्थिशेषं व्याधन्तु क्षुधादुर्व्वलतां गतम्।
उवाच वेदाः साङ्गास्ते सरहस्यपदक्रमाः।
शास्त्रविद्यापुराणानि प्रत्यक्षाणि भवन्तु ते॥
एवं प्रादाद्वरं तस्य दुर्व्वासा नाम चाकरोत्।
भवान् सत्यतपा नाम ऋषिराद्यो भविष्यसि॥"
इति वाराहे सत्यतपउपाख्याननामाध्यायः॥

सत्यधृतिः, पुं, (सत्या धृतिः।) ऋषिविशेषः। यथा,—
"शरद्वतस्तु दायादमहल्या संप्रसूयते।
शतानन्दं ऋषिश्रेष्ठं तस्यापि सुमहातपाः।
सुतः सत्यधृतिर्नाम धनुर्वेदस्य पारगः॥"
इति मात्स्ये ४८ अध्यायः॥

(सत्यशीले, त्रि। यथा, रामायणे।२।८२।६।
"रामस्तथा सत्यधृतिः सतां धर्म्ममनुस्मरन्।
नाजहात् पितुरादेशं शशी ज्योत्स्नामिवोदितः॥")

सत्यनारायणः, पुं, (सत्यो नारायणः।) देवताविशेषः। सत्यपीर इति भाषा। तस्य व्रतकथा यथा,—
"एकदा मुनयः सर्व्वे सर्व्वलोकहिते रताः।
सुरम्ये नैमिषारण्ये गोष्ठीञ्चक्रुर्म्मनोरमाम्॥
तत्रान्तरे महातेजा व्यासशिष्यो महायशाः।
सूतः शिष्यगणैर्युक्तः समायातो हरिं स्मरन्॥
तमायान्तं समालोक्य सूतं शास्त्रार्थपारगम्।
नेमुः सर्व्वे समुत्थाय शौनकाद्यास्तपोधनाः॥
सोऽपि तान् सहसा भक्त्या मुनीन् परमवैष्णवान्।
ननाम दण्डवद्भूमौ सर्व्वधर्म्मविदांवरः॥
वरासने महाबुद्धिस्तैर्दत्ते मुनिपुङ्गवैः।
उवास स सभामध्ये सर्व्वैः शिष्यगणैर्वृतः॥
तत्रोपविष्टं तं सूतं शौनको मुनिसत्तमः।
बद्धाञ्जलिरिमां वाचमुवाच विनयान्वितः॥
शौनक उवाच।
महर्षे सूत सर्व्वज्ञ कलिकाले समागते।
केनोपायेन भगवन् हरिभक्तिर्भवेन्नृणाम्॥
कलौ सर्व्वे भविष्यन्ति पापकर्म्मपरायणाः।
वेदविद्याविहीनाश्च तेषां श्रेयः कथं भवेत्॥
कलावन्नगतप्राणा लोकाः स्वल्पायुषस्तथा।
निर्धनाश्च भविष्यन्ति नानापीड़ाप्रपीड़िताः॥
प्रयाससाध्यं सुकृतं शास्त्रेषु श्रूयते द्विज।
तस्मात् केऽपि करिष्यन्ति कलौ न सुकृतं जनाः॥
सुकृतेषु विनष्टेषु प्रवृत्ते पापकर्म्मणि।
सवंशाः प्रलयं सर्व्वे गमिष्यन्ति दुराशयाः॥
स्वल्पश्रमैरल्पवित्तैरल्पकालैश्च सत्तम।
यथा भवेन्महापुण्यं तथा कथय सूत नः॥
यस्योपदेशतः पुण्यं पापं वा कुरुते जनः।
स तद्भागी भवेन्मर्त्त्य इति शास्त्रेषु निश्चितम्॥
पुण्योपदेशी सदयः कैतवैश्च विवर्ज्जितः।
पापापनविरोधी च चत्वारः केशवोपमाः॥
ज्ञानं संप्राप्य संसारे यः परेभ्यो न यच्छति।
ज्ञानरूपी हरिस्तस्मै प्रसन्न इव नेक्षते॥
ज्ञानरत्नैश्च रत्नैश्च परसन्तोषकृन्नरः।
स ज्ञेयः सुकृतिर्नूनं नररूपधरो हरिः॥
व्रतेन तपसा किंवा प्राप्यते वाञ्छितं फलम्।
सर्व्वं तत् श्रोतुमिच्छामि कथयस्व महामते॥
त्वमेव मुनिशार्दूल वेदवेदाङ्गपारगः।
त्वदृते नहि वक्तान्यो यतस्त्वं व्यासशासितः॥
सूत उवाच।
धन्योऽसि त्वं मुनिश्रेष्ठ त्वमेव वैष्णवाग्रणीः।
यतः समस्तलोकानां हितं वाञ्छसि सर्व्वदा।
शृणु शौनक वक्ष्यामि यत् त्वया श्रोतुमिष्यते॥
नारदेनैवमुक्तः सन् भगवान् कमलापतिः।
सुरर्षये यथैवाह तत् शृणुष्व समाहितः॥*॥
एकदा नारदो योगी परानुग्रहकाङ्क्षया।
पर्य्यटन् विविधान् लोकान् मर्त्त्यलोकमुपागमत्॥
तत्र दृष्टा जनाः सर्व्वे नानादुःखसमन्विताः।
नानायोनिसमुत्पन्नाः क्लिश्यन्ते पापकर्म्मभिः॥
केनोपायेन चैतेषां दुःखनाशो भवेद्ध्रुवम्।
इति सञ्चिन्त्य मनसा विष्णुलोकं गतस्तदा॥
तत्र नारायणं देवं शुक्लवर्णं चतुर्भुजम्।
शङ्खचक्रधरं देवं वनमालाविभूषितम्॥
दृष्ट्वा तं देवदेवेशं स्तोतुं समुपचक्रमे॥
नारद उवाच।
नमस्ते वाङ्मनोऽतीतरूपायानन्तशक्तये।
आदिमध्यान्तहीनाय निर्गुणाय गुणात्मने॥
सर्व्वेषामादिभूताय भक्तानामार्त्तिनाशिने।
श्रुत्वा स्तोत्रं ततो विष्णुर्नारदं प्रत्यभाषत॥
श्रीभगवानुवाच।
किमर्थमागतोऽसि त्वं किन्ते मनसि वर्त्तते।
कथयस्व महाभाग तत् सर्व्वं कथयामि ते॥
नारद उवाच।
मर्त्त्यलोके जनाः सर्व्वे नानाक्लेशसमन्विताः।
नानायोनिसमुत्पन्नाः पच्यन्ते पापकर्म्मणा॥
तत् कथं शमयेन्नाथ लघूपायेन तद्वद।
श्रोतुमिच्छामि तत् सर्व्वं कृपास्ति यदि ते मयि॥
श्रीभगवानुवाच।
साधु पृष्टं त्वया वत्स! लोकानुग्रहकाम्यया।
यत् कृत्वा मुच्यते मोहात् तत् शृणुष्व वदामि ते
व्रतमस्ति महापुण्यं स्वर्गे च भुवि दुर्लभम्।
तव स्नेहान्मया विप्र प्रकाशीक्रियतेऽधुना॥*॥
सत्यनारायणस्यैतद्व्रतं सम्यग्विधानतः।
कृत्वा सद्यः सुखं भुक्त्वा परत्र मोक्षमाप्नुयात्॥
तत् श्रुत्वा भगवद्वाक्यं नारदः पुनरब्रवीत्॥
किं फलं किं विधानञ्च कृतं केनेति वा व्रतम्।
तत् सर्व्वं विस्तराद्ब्रूहि कदा कार्य्यं हि तद्व्रतम्॥
श्रीभगवानुवाच।
दुःखशोकादिशमनं धनधान्यविवर्द्धनम्।
सौभाग्यसन्ततिकरं सर्व्वत्र विजयप्रदम्॥
यस्मिन् कस्मिन् दिने मर्त्त्यो भक्तिश्रद्धासमन्वितः।
सत्यनारायणं देवं यजेत्तुष्टो निशामुखे॥

बान्धवैर्ब्राह्मणैश्चैव सहितो धर्म्मतत्परः ।
नैवेद्यं भक्तितो दद्यात् सपादं भक्ष्यमुत्तमम् ॥
रम्भाफलं घृतं क्षीरं गोधूमस्य च चूर्णकम् ।
अभावे शालिचूर्णं वा शर्करां वा गुड़ं तथा ॥
सपादसर्व्वभक्ष्याणि एकीकृत्य निवेदयेत् ।
विप्राय दक्षिणां दद्यात् कथां श्रुत्वा जनः सह ॥
ततश्च बन्धुभिः सार्द्धं विप्रेभ्यः प्रतिपादयन् ।
प्रसादं भक्षयेत् भक्त्या नृत्यगीतादिकं चरेत् ॥
ततः स्तुत्वा गृहं गच्छेत् सत्यनारायणं स्मरन् ।
एवं कृते मनुष्याणां वाञ्छासिद्धिर्भवेद्ध्रुवम् ॥
विशेषतः कलियुगे नान्योपायोऽस्ति भूतले ।
कथामस्य प्रवक्ष्यामि कृतकृत्यो भवेत् द्विजः ॥*॥
कश्चित् काशीपुरे ग्रामे आसीद्विप्रश्च निर्द्धनः ।
क्षुधातृष्णाकुलो भूत्वा सततं भ्रमते महीम् ॥
दुःखितं ब्राह्मणं दृष्ट्वा भगवान् ब्राह्मणप्रियः ।
वृद्धब्राह्मणरूपः सन् पप्रच्छ द्विजमादरात् ॥
किमर्थं भ्रमसे विप्र ! महीं कृत्स्नाश्च दुःखितः ।
तत् सर्व्वं श्रोतुमिच्छामि कथ्यतां यदि रोचते ॥

विप्र उवाच ।

ब्राह्मणोऽतिदरिद्रोऽहं भिक्षार्थं भ्रमते महीम् ।
उपायं यदि जानासि कृपया कथय प्रभो ॥

वृद्ध उवाच ।

सत्यनारायणो देवो वाञ्छितार्थफलप्रदः ।
तस्य त्वं द्विजशार्द्दूल कुरुष्व व्रतमुत्तमम् ॥
यत् कृत्वा सर्व्वदुःखेभ्यो मुक्तो भवति मानवः ॥
विधानञ्च व्रतस्यास्य विप्रायाभाष्य यत्नतः ।
सत्यनारायणो वृद्धस्तत्रैवान्तरधीयत ॥
ततः प्रातः करिष्यामि व्रतं मनसि चिन्तितम् ।
इति सञ्चिन्त्य विप्रोऽसौ रात्रौ निद्रां न चाल-भत् ॥
ततः प्रातः समुत्थाय सत्यनारायणव्रतम् ।
करिष्येऽहञ्च सङ्कल्प्य भिक्षार्थमगमद्द्विजः ॥
तस्मिन्नेव दिने विप्रः प्रचुरं प्राप्तवान् धनम् ।
तेनैव बन्धुभिः सार्द्धं सत्यस्य व्रतमाचरत् ॥
सर्व्वदुःखविनिर्म्मुक्तः सर्व्वसम्पत्समन्वितः ।
बभूव स द्विजश्रेष्ठो व्रतस्यास्य प्रभावतः ।
ततः प्रभृतिकालञ्च मासि मासि व्रतं कृतम् ॥

सूत उवाच ।

एवं नारायणस्येदं व्रतं कृत्वा द्विजोत्तमः ।
सर्व्वपापविनिर्म्मुक्तो दुर्लभं मोक्षमाप्नुयात् ॥
व्रतञ्च तद्‌यदा विप्रः पृथिव्यां सञ्चरिष्यति ।
तदेतत् सर्व्वदुःखं हि नराणाञ्च विनश्यति ॥
एवं नारायणेनोक्तं नारदाय महात्मने ।
मयापि कथितं विप्र किमन्यत् कथयामि ते ॥”
इति श्रीस्कन्दपुराणे रेवाखण्डे सत्यनारायण-विप्रसंवादो नाम १ अध्यायः ॥ * ॥

शौनक उवाच ।

“तस्माद्विप्र व्रतं केन पृथिव्यां चरितं मुने ।
तत् सर्व्वं श्रोतुमिच्छामि श्रद्धास्माकं प्रजायते ॥

सूत उवाच ।

शृणुध्वं मुनयः सर्व्वे तस्माद्‌येन कृतं भुवि ।
एकदा स द्विजवरो यथाविभवविस्तरैः ॥
बन्धुभिः स्वजनैः सार्द्धं व्रतं कर्त्तुं समुद्यतः ।
एतस्मिन्नेव काले तु काष्ठक्रेतुः समागतः ।
बहिः काष्ठञ्च संस्थाप्य विप्रस्य मन्दिरं ययौ ॥
तृष्णया पीड़ितात्मा स विप्रं दृष्ट्वा तथाविधम् ।
प्रणिपत्य द्विजश्रेष्ठं किमिदं क्रियते त्वया ।
कृते किं फलमाप्नोति विस्तराद्वद मे प्रभो ॥

विप्र उवाच ।

सत्यनारायणस्येदं व्रतं सर्व्वेप्सितप्रदम् ।
दुःखशोकादिशमनं सर्व्वत्र विजयप्रदम् ॥
धनादिसन्ततिकरं सर्व्वेषामीप्सितप्रदम् ।
यस्य प्रसादान्मे सर्व्वं धनधान्यादिकं महत् ॥
ततस्तु स व्रतं ज्ञात्वा काष्ठक्रेतातिहर्षितः ।
पपौ जलं प्रसादञ्च भुक्त्वा तन्नगरं ययौ ॥
सत्यनारायणं देवं चिन्तयन् स्थिरमानसः ।
काष्ठं विक्रीय नगरे प्राप्स्यते चाद्य यद्धनम् ।
तेनैव सत्यदेवस्य व्रतमद्य करोम्यहम् ॥
इति सञ्चिन्त्य मनसा काष्ठं कृत्वा तु मस्तके ।
जगाम नगरे रम्ये धनिनां यत्र संस्थितिः ।
तद्दिने काष्ठमूल्यञ्च द्विगुणं प्राप्तवानसौ ॥
ततः प्रसन्नहृदयः सुपक्वकदलीफलम् ।
शर्कराञ्च घृतं दुग्धं गोधूमस्य च चूर्णकम् ॥
प्रत्येकन्तु सपादञ्च गृहीत्वा गृहमाययौ ।
ततो बन्धून् समाहूय चकार विधिना व्रतम् ॥
तद्व्रतस्य प्रसादेन धनपुत्रान्वितोऽभवत् ।
इह लोके सुखं भुक्त्वा चान्ते सत्यपुरं ययौ ॥”
इति श्रीस्कन्दपुराणे रेवाखण्डे सत्यनारायण-कथायां विप्रकाष्ठक्रेतुसंवादो नाम २ अध्यायः ॥

सूत उवाच ।

“पुनरन्यत् प्रवक्ष्यामि शृणुध्वं मुनिसत्तमाः ।
आसीदुल्कामुखो नाम नृपतिर्ब्बलिनां वरः ॥
जितेन्द्रियः सत्यवादी ययौ देवालयं प्रति ।
दिने दिने धनं दत्त्वा द्विजान् सन्तोषयेत् सुधीः ॥
भार्य्या तस्य प्रमुग्धा च सरोजवदना सती ।
सन्मितास्या शरदिन्दुं सकटाक्षं च बिभ्रती ॥
काञ्चीञ्च बिभ्रती श्यामा मालतीमाल्यभूषिता ।
भद्रशीला व्रतं सत्यं सिन्धुतीरेऽकरोच्छुभे ॥
एतस्मिन्नन्तरे तत्र साधुः कोऽपि समागतः ।
वाणिज्यार्थं बहुधनै रत्नाद्यैः परिपूरितः ॥
नावं संस्थाप्य तत्तीरे जगाम तत्तटं प्रति ।
दृष्ट्वा तत्र व्रतं सम्यक् पप्रच्छ विनयान्वितः ॥

साधुरुवाच ।

किमिदं कुरुषे राजन् भक्तियुक्तेन चेतसा ।
प्रकाशं कुरु तत् सर्व्वं श्रोतुमिच्छामि सम्प्रति ॥

राजोवाच ।

पूजनं क्रियते साधो विष्णोरतुलतेजसः ।
व्रतञ्च स्वजनैः सार्द्धं पुत्रादिप्राप्तये मया ॥
प्रत्युवाच ततो नत्वा राजानं मधुरं वचः ।
सत्यं कथय मे राजन् व्रतमेतत् करोम्यहम् ॥
ममापि सन्ततिर्नास्ति सत्यमेतत् सुतव्रतम् ।
ततो निवृत्य वाणिज्यात् सानन्दं गृहमागतः ॥
भार्य्यायै कथितं सर्व्वं व्रतञ्च सन्ततिप्रदम् ।
तदा व्रतं करिष्यामि यदा मे सन्ततिर्भवेत् ॥
यत्किञ्चिद्दिवसे तस्य भार्य्या लीलावती सती ।
गर्भयुक्तानन्दचित्ताभवद्धर्म्मपरायणा ॥
पूर्णे गर्भे ततो जाता बालिका चातिनिर्म्मला ।
दिने दिने वर्द्धमाना शुक्लपक्षे यथा शशी ॥
ततो वणिक् सुतायाश्च जातकर्म्मादिकञ्चरन् ।
नाम्ना कलावती चेति तन्नामकरणं कृतम् ॥
ततो लीलावती प्राह स्वामिनं मधुरं वचः ।
न करोषि किमर्थं वा पुरा यच्च प्रतिश्रुतम् ॥
विवाहसमयेऽप्यस्याः करिष्यामि व्रतं प्रिये ।
इति भार्य्यां समाश्वास्य जगाम नगरं प्रति ॥
ततः कलावती कन्या वर्द्धिता पितृवेश्मनि ।
दृष्ट्वा कन्यां ततः साधुर्नगरे बन्धुभिः सह ।
मन्त्रयित्वा द्रुतं दूतं प्रेरयित्वा स धर्म्मवित् ।
विवाहार्थञ्च कन्याया वरं श्रेष्ठं विचारन् ॥
तेनाज्ञप्तश्च दूतोऽसौ काञ्चनं नगरं ययौ ।
तस्मादेकं वणिक्पुत्रं समादायागतो हि सः ॥
दृष्ट्वा तं सुन्दरं बालं वणिक्पुत्रं गुणान्वितम् ।
ज्ञातिभिर्बन्धुभिः सार्द्धं परितुष्टेन चेतसा ॥
दत्तवान् साधुराहूय कन्यां विधिविधानतः ।
ततो भाग्यवशात्तेन विस्मृतं व्रतमुत्तमम् ॥
विवाहसमयेऽप्यस्यास्तेन रुष्टोऽभवद्विभुः ॥
ततः कालेन कियता निजधर्म्मविशारदः ।
वाणिज्यार्थं गतः शीघ्रं जामात्रा सहितो वणिक् ॥
रत्नसारपुरे रम्ये गत्वा सिन्धुसमीपतः ।
वाणिज्यं कुरुते साधुर्जामात्रा श्रीमता सह ।
पुरीं निर्म्माय नगरे चन्द्रकेतोर्नृपस्य च ॥
एतस्मिन्नेव काले तु सत्यनारायणः प्रभुः ।
भ्रष्टप्रतिज्ञमालोक्य शापं तस्मै प्रदत्तवान् ।
अद्यप्रभृति कालञ्च महादुःखं भविष्यति ॥
तस्मिन्नेव दिने राज्ञो धनमादाय तस्करः ।
तेनैव वर्त्मना यातः पृष्ठदेशं विलोकयन् ॥
तत्पश्चाद्धावकान् दूतान् दृष्ट्वा भीतेन चेतसा ।
धनं संस्थाप्य तत्रैव गतः शीघ्रमलक्षितः ॥
ततो दूताः समायाता यत्रास्ते सज्जनो वणिक् ।
दृष्ट्वा नृपधनं तत्र बद्ध्वा दूता वणिक्सुतौ ॥
हर्षयुक्ता धावमाना ऊचुर्नृपसमीपतः ।
तस्करौ द्वौ समानीतौ विलोक्याज्ञापय प्रभो ॥
ते नृपाज्ञां समादाय दृढं बद्ध्वा तु तावुभौ ।
स्थापितौ द्वौ महादुर्गे कारागारेऽविचारयन् ॥

सूत उवाच ।

मायया सत्यदेवस्य न श्रुतञ्च तयोर्वचः ।
ततस्तयोर्धनं यच्च गृहीतं चन्द्रकेतुना ॥
तच्छापाच्च तयोर्गेहे भार्य्या च दुःखिताभवत् ।
चौरेणापहृतं सर्व्वं गृहे यच्च स्थितं धनम् ॥
आधिव्याधिसमायुक्ता क्षुत्पिपासातिपीड़िता ।
अन्नचिन्तापरा भूत्वा भ्रमते च गृहे गृहे ।
ततः कलावती कन्या बभ्राम प्रतिवासरे ॥
एकस्मिन् दिवसे रात्रौ क्षुधार्त्ता द्विजमन्दिरम् ।
गत्वापश्यद्व्रतं तत्र सत्यनारायणस्य सा ॥
उपविश्य कथां श्रुत्वा वरं प्रार्थयती मुदा ।
प्रसादभक्षणं कृत्वा ययौ रात्रौ गृहं प्रति ॥

ततो लीलावती कन्यां भर्त्सयामास तांश्चप्रम्।
पुत्रि! रात्रौ स्थिता कुत्र किन्ते मनसि वर्त्तते ॥
द्विजालये व्रतं मातर्दृष्टं वाञ्छितसिद्धिदम् ॥
तत् श्रुत्वा कन्यकावाक्यं व्रतं कर्त्तुं समुद्यता।
ससुता सा वणिग्भार्य्या सत्यनारायणस्य च ॥
व्रतं चक्रे च वै साध्वी बन्धुभिः स्वजनैः सह।
भर्त्तृजामातरौ क्षिप्रमागच्छेतां ममाश्रमम् ॥
इति देवं वरं याचे सत्यदेवं पुनः पुनः।
अपराधन्तु भर्त्तुर्मे जामातुः क्षन्तुमर्हसि ॥
व्रतेन तस्यास्तुष्टोऽसौ सत्यनारायणः प्रभुः।
दर्शयामास स्वप्नं हि चन्द्रकेतुं नृपोत्तमम् ॥
वन्दिनौ मोचय प्रातर्वणिजौ नृपसत्तम!।
देयं धनञ्च तत् सर्व्वं विधिना द्विगुणीकृतम् ॥
नो चेत् त्वां नाशयिष्यामि सराज्यधनपुत्रकम्।
एवमाभाष्य राजानं ध्यानगम्योऽभवत् प्रभुः ॥
ततः प्रभातसमये राजा च स्वजनैः सह।
उपविश्य सभामध्ये प्राह दूतजनं प्रति।
बद्धौ महाजनौ शीघ्रं मोचयध्वं वणिक्सुतौ ॥
इति राज्ञो वचः श्रुत्वा मोचयित्वा महाजनौ।
समानीय नृपस्याग्रे प्रोचुश्च विनयान्विताः ॥
आनितौ द्वौ वणिक्पुत्रौ मुक्तौ निगड़बन्धनात् ॥
ततो महाजनौ नत्वा चन्द्रकेतुं नृपोत्तमम्।
स्मृत्वा च पूर्व्ववृत्तान्तं विस्मयाद्भयविह्वलौ ॥
राजा वणिक्सुतौ वीक्ष्य प्रोवाच सादरं वचः।
दैवात् प्राप्तं महत् कष्टमिदानीं नास्ति ते भयम् ॥
इदानीमेव मुक्तस्त्वं क्षुरकर्म्मादिकञ्चर ॥
ततो नृपवरः श्रीमान् स्वर्णरत्नविभूषणैः।
अलङ्कृत्य वणिक्पुत्रौ वचसाप्रीणयद्भृशम्।
पुरा नीतञ्च यद्द्रव्यं द्विगुणीकृत्य दत्तवान् ॥
प्रोवाच तौ ततो राजा गच्छ साधो निजाश्रमम्।
राजानं प्रणिपत्याह गन्तव्यं त्वत्प्रसादतः ॥
यात्रां कृत्वा ततः साधुर्म्मङ्गलाचारपूर्व्विकाम्।
ब्राह्मणेभ्यो धनं दत्त्वा सहर्षो नगरं ययौ ॥
कियद्दूरे गते साधौ सत्यनारायणः प्रभुः।
जिज्ञासां कृतवान् साधो किमस्ति तरणौ तव ॥
ततो महाजनो मत्तो हेलया च प्रहस्य च।
कथं पृच्छसि भो दण्डिन्! मुद्रां किं लब्धुमिच्छसि ॥
लतापत्रादिकञ्चैव वर्त्तते तरणौ मम।
निष्ठुरञ्च वचः श्रुत्वा सत्यं भवतु ते वचः ॥
एवमुक्त्वा गतः शीघ्रं दण्डी तस्य समीपतः।
कियद्दूरे ततो गत्वा स्थितः सिन्धुसमीपतः ॥
गते दण्डिनि साधुश्च कृतनित्यक्रियस्तदा।
उत्थितस्तरणीं दृष्ट्वा विस्मयं परमं ययौ ॥
लतापत्रादिकं दृष्ट्वा मूर्च्छितो न्यपतद्भुवि।
लब्धसंज्ञो वणिक्पुत्रस्ततश्चिन्तापरोऽभवत् ॥
श्वशुरं दुहितुः कान्तो वचनञ्चेदमब्रवीत् ॥

जामातोवाच।

किमर्थं कुरुते शोकं शापादेतच्च दण्डिनः।
शक्यते तेन सर्व्वं हि कर्त्तुं हर्त्तुं न संशयः ॥
ततस्त्वरं यामो वाञ्छितार्थो भविष्यति।
जामातुश्च वचः श्रुत्वा तत्सकाशं गतस्तदा ॥
दृष्ट्वा च दण्डिनं भक्त्या नत्वा प्रोवाच सादरम्।
क्षमस्व चापराधं मे यदुक्तं तव सन्निधौ ॥
मया दुरात्मना देव मुग्धोऽहं तव मायया।
यदुक्तं तद्वचो नाथ दुष्टं मे क्षन्तुमर्हसि ॥
यतः परकृताः सर्व्वे क्षमासारा हि साधवः।
पुनः पुनस्ततो नत्वा रुरोद शोकविह्वलः ॥
तमुवाच ततो दण्डी विलपन्तं विलोक्य च।
मा रोदीः शृणु मे वाक्यं मम पूजापराङ्मुखः।
मामवज्ञाय दुर्ब्बुद्धे! लब्धं दुःखं मुहुर्म्मुहुः।
तत् श्रुत्वा भगवद्वाक्यं स्तुतिं कर्त्तुं समुद्यतः ॥

साधुरुवाच।

त्वन्मायामोहिताः सर्व्वे ब्रह्माद्यास्त्रिदिवौकसः।
न जानन्ति गुणं रूपं तवाश्चर्य्यमिदं प्रभो ॥
मूढोऽहं त्वां कथं जाने मोहितस्तव मायया।
प्रसीद पूजयिष्यामि यथाविभवविस्तरैः ॥
पुत्रं वित्तञ्च मच्चित्तं पाहि मां शरणागतम् ॥
श्रुत्वा भक्तियुतं वाक्यं परितुष्टो जनार्द्दनः।
वरञ्च वाञ्छितं दत्त्वा तत्रैवान्तरधीयत ॥
ततोऽसौ नावमारुह्य दृष्ट्वा रत्नादिपूरिताम्।
कृपया सत्यदेवस्य यत् फलं वाञ्छितं मम ॥
इत्युक्त्वा स्वजनैः सार्द्धं पूजां कृत्वा यथाविधि।
हर्षेण महता साधुः प्रयाणं चाकरोत् द्विजः ॥
नावं संयोज्य वेगेन स्वदेशमगमत्तदा ॥
ततो जामातरं प्राह पश्य वत्स पुरीं मम।
दूतञ्च प्रेरयामास निजवित्तस्य रक्षकम् ॥
ततोऽसौ नगरं गत्वा साधुभार्य्यां विलोक्य च।
उवाच वाञ्छितं वाक्यं नत्वा बद्धाञ्जलिस्तदा ॥
निकटे नगरस्यैव जामात्रा सहितो वणिक्।
आगतो बन्धुवर्गैश्च धनैर्ब्बहुविधैस्तथा ॥
श्रुत्वा दूतमुखाद्वाक्यं महाहर्षयुता सती।
सत्यपूजां ततः कृत्वा प्रोवाच तनुजां प्रति।
व्रजामि शीघ्रमागच्छ साधुसन्दर्शनाय च ॥
इति मातृवचः श्रुत्वा व्रतं कृत्वा समाप्य च।
प्रसादं संपरित्यज्य गता सा च पतिं प्रति ॥
तेन रुष्टः सत्यदेवो भर्त्तारं तरणीन्तथा।
संहृत्य च धनैः सार्द्धं जले तस्मिन् समर्पयत् ॥
ततः कलावतीकन्या नालोक्य वणिजं पतिम्।
शोकेन महता तत्र रुदन्ती चापतद्भुवि ॥
दृष्ट्वा तथाविधां कन्यां न दृष्ट्वा तत्पतिं तरीम्।
भीतेन महता साधुः किमाश्चर्य्यमिदं महत् ॥
विचिन्त्यमानास्ते सर्व्वे बभूवुस्तरिवाहकाः ॥
ततो लीलावती साध्वी दृष्ट्वा तद्विह्वला सती।
विललापातिदुःखेन भर्त्तारञ्चेदमब्रवीत् ॥
इदानीं नौकया सार्द्धं महस्रोऽभूदलक्षितम्।
न जाने केन दैवेन हेलया वापहारितम् ॥
सत्यदेवस्य माहात्म्यं किं ज्ञातुं नहि शक्यते।
इत्युक्त्वा विललापाथ तत्रस्था स्वजनैः सह ॥
ततो लीलावती कन्यां क्रोड़े कृत्वा रुरोद च।
ततः कलावतीकन्या नष्टे स्वामिनि दुःखिता।
गृहीत्वा पादुकां तस्य अनुगन्तुं मनो दधे ॥
कन्यायाश्चरितं दृष्ट्वा सभार्य्यः सुजनो वणिक्।
अतिशोकेन सन्तप्तश्चिन्तयामास धर्म्मवित् ॥
हृतो हि सत्यदेवेन जामाता सत्यमायया।
सत्यपूजां करिष्यामि यथाविभवविस्तरैः ॥
इति सर्व्वान् समाहूय कथितञ्च मनोरथम्।
नत्वा च दण्डवद्भूमौ सत्यदेवं पुनः पुनः ॥
ततस्तुष्टः सत्यदेवो गगनाद्वणिजं प्रति।
जगाद वचनञ्चेदं नैवेद्यमवमन्य च।
आगता स्वामिनं द्रष्टुमतोऽदृश्योऽभवत् प्रभुः ॥
गृहं गत्वा प्रसादञ्च भुक्त्वा चायाति सा पुनः।
लब्धभर्त्तृसुखा साधो भविष्यति न संशयः ॥
ततश्च प्राणदं वाक्यं श्रुत्वा गगनमण्डलात्।
क्षिप्रं तदा गृहं गत्वा प्रसादं प्रतिभुज्य च ॥
अपश्यत् पुनरागत्य पतिं नावं जनैः सह।
ततः कलावती तुष्टा जगाद पितरं प्रति ॥
एहि तात गृहं याहि विलम्बं कुरुषे कथम्।
तत् श्रुत्वा कन्यकावाक्यं सन्तुष्टोऽभूद्वणिक्सुतः ॥
पूजनं सत्यदेवस्य कृत्वा विधिविधानतः।
धनैर्बन्धुगणैः सार्द्धं जगाम निजमन्दिरम् ॥
पौर्णमास्याञ्च संक्रान्त्यां पूजां कृत्वा यथाविधि।
इह लोके सुखं भुक्त्वा चान्ते सत्यपुरं ययौ ॥”
इति श्रीस्कन्दपुराणे रेवाखण्डे श्रीसत्यनारायणकथायां वणिक्साधुमोचनवर्णनो नाम ३ अध्यायः ॥ * ॥

सूत उवाच।

“अथ चान्यत् प्रवक्ष्यामि शृणुध्वं मुनिसत्तमाः।
आसीदंशध्वजो राजा प्रजापालनतत्परः ॥
प्रसादं सत्यदेवस्य त्यक्त्वा दुःखमवाप सः।
एकदा स वनं गत्वा हत्वा च विविधान् मृगान् ॥
आगत्य वटमूले च दृष्ट्वा सत्यस्य पूजनम्।
गोपाः कुर्व्वन्ति सन्तुष्टा भक्तियुक्ताः सबान्धवाः ॥
राजा दृष्ट्वा तु दर्पेण नागतो न ननाम सः।
ततो गोपगणाः सर्व्वे प्रसादं नृपसन्निधौ ॥
संस्थाप्य पुनरागत्य भुक्त्वा सर्व्वे यथेप्सितम्।
ततः प्रसादं संत्यज्य राजा दुःखमवाप सः ॥
तस्य पुत्रशतं नष्टं धनधान्यादिकञ्च यत्।
सत्यदेवेन तत् सर्व्वं नाशितं मम निश्चितम् ॥
अतस्तत्रैव गच्छामि यत्र देवस्य पूजनम्।
मनसेति विनिश्चित्य ययौ गोपालसन्निधिम् ॥
ततोऽसौ सत्यदेवस्य पूजां गोपगणैः सह।
भक्तिश्रद्धान्वितो भूत्वा चकार विधिवन्नृपः ॥
सत्यदेवप्रसादेन धनपुत्रान्वितोऽभवत्।
इह लोके सुखं भुक्त्वा चान्ते विष्णुपुरं ययौ ॥
य इदं कुरुते सत्यव्रतं परमदुर्लभम्।
शृणोति च कथां पुण्यां भक्तिमुक्तिफलप्रदाम् ॥
धनधान्यादिकं तस्य भवेत् सत्यप्रसादतः।
दरिद्रो लभते वित्तं बद्धो मुच्येत बन्धनात् ॥
भीतो भयात् प्रमुच्येत सत्यमेतन्न संशयः।
ईप्सितञ्च फलं भुक्त्वा चान्ते सत्यपुरं व्रजेत् ॥
इति वः कथितं विप्राः सत्यनारायणव्रतम्।
यत् कृत्वा सर्व्वदुःखेभ्यो मुक्तो भवति मानवः ॥
विशेषतः कलियुगे सत्यपूजाकथाफलम्।
सत्यनारायणं केचित् सत्यदेवं तथापरे ॥

नानारूपधरो भूत्वा सर्व्वेषामीप्सितप्रदः ।
भविष्यति कलौ सत्यव्रतरूपी सनातनः ॥
य इदं पठते नित्यं शृणोति मुनिसत्तमाः ।
तस्य नश्यन्ति पापानि सत्यदेवप्रसादतः ॥"

इति श्रीस्कन्दपुराणे रेवाखण्डे सत्यनारायणकथा-नाम ४ अध्यायः ॥ * ॥ इति श्रीसत्यनारायण-व्रतकथा समाप्ता ॥ क्वचित् पुस्तके अध्यायनाम नास्ति । क्वचिच्च भविष्यपुराणे इति कृत्वा एतत्कथा लिखिता ॥ * ॥ अथ सत्यनारायण-पूजापद्धतिः । आदौ स्वस्तिवाचनपूर्व्वकं सङ्कल्पं कुर्य्यात् । अद्येत्यादि अमुकतिथौ रात्रौ अमुकगोत्रः श्रीअमुकदेवशर्म्मा अमुककामः गणेशादिदेवतापूजापूर्व्वकश्रीसत्यनारायणपूजन-कथाश्रवणमहं करिष्ये । ततः सूक्तं पठेत् । तत आसनशुद्ध्यादिकं कृत्वा गणेशादिदेवता-नवग्रहदिक्पालान् पूजयेत् । लक्ष्मीसरस्वत्यादि-पुरुषानादिपुरुषश्रीरामलक्ष्मणपूजां कृत्वा यव-तिलैः सत्यनारायणमावाहयेत् । प्रणवव्याहृतीः समुच्चार्य्य भगवन् सत्यनारायण इहागच्छ इहागच्छ इह तिष्ठ इह तिष्ठ मम पूजां गृहाण इत्यादिना आवाह्य पुष्पं गृहीत्वा ध्यायेत् ।

"ध्यायेत् सत्यं गुणातीतं गुणत्रयसमन्वितम् ।
लोकनाथं त्रिलोकेशं पीताम्बरधरं हरिम् ॥
इन्दीवरदलश्यामं शङ्खचक्रगदाधरम् ।
नारायणं चतुर्ब्बाहुं श्रीवत्सपदभूषितम् ।
गोविन्दं गोकुलानन्दं जगतः पितरं गुरुम् ॥"

इति ध्यात्वा एतत् पाद्यं सत्यनारायणाय नमः । अर्घ्यमन्त्रस्तु ।

"व्यक्ताव्यक्तस्वरूपाय हृषीकपतये नमः ।
मया निवेदितो भक्त्या अर्घ्योऽयं प्रतिगृह्य-
ताम् ॥"

एषोऽर्घ्यः श्रीसत्यनारायणाय नमः । पुष्पा-ञ्जलिं गृहीत्वा ।

"नमस्ते विश्वरूपाय शङ्खचक्रधराय च ।
पद्मनाभाय देवाय हृषीकपतये नमः ।
नमोऽनन्तस्वरूपाय त्रिगुणात्मविभासिने ॥"

नैवेद्यं गृहीत्वा ।

"त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पितम् ।
गृहाण सुमुखो भूत्वा प्रसीद पुरुषोत्तम ॥"

ततः अञ्जलिं बद्ध्वा पठेत् ।

"अच्युतं पुण्डरीकाक्षं नृसिंहं दैत्यसूदनम् ।
हृषीकेशं जगन्नाथं वागीशं वरदायकम् ॥
गुणत्रयं गुणातीतं गोविन्दं गरुड़ध्वजम् ।
जनार्द्दनं जनानन्दं जानकीवल्लभं जयम् ॥
प्रणमामि सदा सत्यनारायणमतः परम् ।
दुर्गमे विषमे घोरे शत्रुभिः परिपीड़िते ॥
विविधापत्सु दुःखेषु तथान्येष्वपि यद्भयम् ।
नामान्येतानि सङ्कीर्त्त्य ईप्सितं फलमाप्नुयात् ॥
सत्यनारायणं देवं वन्देऽहं कामदं शुभम् ।
लीलया च ततं विश्वं येन तस्मै नमो नमः ॥"

ततो दक्षिणान्दद्यात् । अच्छिद्रावधारणं कुर्य्यात् । इति सत्यनारायणपूजापद्धतिः ॥

सत्यपुरं, क्ली, (सत्यं पुरम् ।) विष्णुलोकः । यथा,

"ईप्सितञ्च फलं भुक्त्वा चान्ते सत्यपुरं वसेत् ।
इति वः कथितं विप्राः सत्यनारायणव्रतम् ॥"

इति स्कन्दपुराणीयसत्यनारायणव्रतकथा ॥

सत्यफलः, पुं, (सत्यं फलं यस्य ।) विल्ववृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सत्यभामा, स्त्री, कृष्णपत्नीभेदः । इति शब्दरत्ना-वली ॥ सा च श्रीकृष्णस्याष्टमहिष्यन्तर्गत-महिषीविशेषः । यथा,—

"अष्टौ महिष्यस्ताः सर्व्वा रुक्मिण्याद्या महा-
त्मनः ।
रुक्मिणी सत्यभामा च कालिन्दी च शुचि-
स्मिता ॥
मित्रविन्दा जाम्बवती नाग्नजिती सुलक्षणा ।
सुशीला नाम तन्वङ्गी महिष्यश्चाष्टमाः
स्मृताः ॥"

इति पाद्मे उत्तरखण्डे ६६ अध्यायः ॥

सत्यभारतः, पुं, (सत्यं भारतं यस्य ।) वेदव्यासः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सत्ययुगं, क्ली, (सत्यं युगम् ।) चतुर्युगानां प्रथम-युगम् । यथा,—

"कृतं सत्ययुगं त्रेताग्नायी द्वापरयज्ञियौ ।
कलिर्भैरकः कर्म्मयुगं पापन्तु पातकम् ॥"

इति त्रिकाण्डशेषः ॥ * ॥

तस्य कृतनामकारणं यथा,—

"तदुपाधिकृतः कालो ब्रह्मणो जन्मकृत्कृतम् ।
शतसंवत्सरे ब्रह्मा लयं प्राप्नोति हि त्वयि ॥
लयान्ते तन्नाभिमध्यादुत्थितः सृजति प्रभुः ।
ततः कृतयुगान्तेऽहं कालं सद्धर्म्मपालकम् ॥
कृतकृत्याः प्रजा यत्र तन्नाम्ना मां कृतं विदुः ॥"

इति कल्किपुराणे १६ अध्यायः ॥ * ॥

तद्धर्म्मा यथा,—

"धर्म्मश्चतुष्पादभवत् कृते पूर्णं जगत्त्रयम् ।
देवा यथोक्तफलदाश्चरन्ति भुवि सर्व्वतः ॥
सर्व्वशस्या वसुमती हृष्टपुष्टजनावृता ।
शाठ्यचौर्य्यानृतैर्हीना आधिव्याधिविवर्ज्जिता ॥
विप्रा वेदविदः सुमङ्गलयुता नार्य्यस्तु चर्य्याव्रतैः
पूजाहोमपराः पतिव्रतधरा यागोद्यताः
क्षत्त्रियाः ।
वैश्या वस्तुषु धर्म्मतो विनिमयैः श्रीविष्णुपूजा-
पराः
शूद्रास्तु द्विजसेवनाद्धरिकथालापाः सपर्य्या-
पराः ॥"

इति कल्किपुराणे २८ अध्यायः ॥ * ॥

तद्युगमानं यथा,—

"चत्वारि त्रीणि द्वे चैकं कृत्यादिषु यथाक्रमम् ।
संख्यातानि सहस्राणि द्विगुणानि शतानि च ॥"

इति श्रीभागवते १२ स्कन्धे ४ अध्याये २ श्लोक-टीकायां श्रीधरस्वामी ॥ तस्योत्पत्त्यादिर्यथा । वैशाखशुक्लपक्षे तृतीयायां रविवारे सत्य-युगोत्पत्तिः । तत्रावतारचतुष्टयं मत्स्यकूर्म्म-वराहनृसिंहाः । पूर्णं पुण्यम् । पापं नास्ति । कुरुक्षेत्रं तीर्थम् । मत्स्यांशो ब्राह्मणः । मज्जा-गताः प्राणाः । इच्छामृत्युः । एकविंशति-हस्तपरिमितो मानवदेहः । लक्षवर्षं परमायुः । सुवर्णनिर्म्मितभोजनपात्रम् । सत्ययुगाब्दाः १७२८००० । सत्ययुगस्य राजा बलिः वेणः मान्धाता पुरोरवा धुन्धुमारिकः कार्त्तवीर्य्यः एते षट् चक्रवर्त्तिनः ॥ सत्ययुगस्य लक्षणम् ।

"सत्यधर्म्मरतो नित्यं तीर्थानाञ्च सदाश्रयम् ।
नन्दन्ति देवताः सर्व्वाः सत्ये सत्यपरा नराः ॥"

तत्र तारकब्रह्मनाम यथा,—

"नारायणपरा वेदा नारायणपराः स्वराः ।
नारायणपरा मुक्तिर्नारायणपरा गतिः ॥"

इति मुद्राङ्कितपञ्जिकातः संगृहीतम् ॥

सत्ययुगाद्या, स्त्री, (सत्ययुगस्य आद्या तिथि-रित्यर्थः ।) कृतयुगारम्भकतिथिः । सा तु वैशाखशुक्लतृतीया । तद्विवरणं युगाद्याशब्दे द्रष्टव्यम् ॥

सत्ययौवनः, पुं, (सत्यमेव यौवनमिव यस्य ।) विद्याधरः । इति जटाधरः ॥

सत्यरतः, पुं, (सत्ये रतः ।) सत्यव्रतराजपुत्त्रः । यथा,—

"त्रिधन्वनः सुतो जातस्त्रय्यारुण इति स्मृतः ।
तस्य सत्यव्रतो नाम तस्मात् सत्यरतः स्मृतः ॥
तस्य पुत्त्रो हरिश्चन्द्रो हरिश्चन्द्राच्च रोहितः ।"

इति मात्स्ये १२ अध्यायः ॥

सत्यलोकः, पुं, (सत्यो लोकः ।) सप्तलोकान्तर्गत-लोकविशेषः । यथा,—

"षड्गुणेन तपोलोकात् सत्यलोको विराजते ।
अपुनर्मारका यत्र ब्रह्मलोको हि स स्मृतः ॥"

इति विष्णुपुराणे २ अंशे ७ अध्यायः ॥

जनलोकापेक्षयैव षड्गुणेन द्वादशकोट्युच्छ्रा-येण तपोलोकानन्तरं सत्यलोकः । न तु तपो-लोकात् षड्गुणेनेति मन्तव्यम् । तथा सत्यष्ट-चत्वारिंशत्कोट्युच्छ्रायत्वेन ब्रह्माण्डे तस्याव-काशाभावात् । सूर्य्याण्डगोलयोरन्तःकोट्यः स्युः पञ्चविंशतिरिति शुकोक्तेः । सत्यलोक एव कल्प-भेदेन ब्रह्माधिष्ठानात् परं वैकुण्ठलोकादि ज्ञेयम् । एवञ्च भूतलादूर्द्ध्वं पञ्चदशलक्षोत्तराख्ययोर्विं-शतिः कोट्यो भवन्ति । सत्यलोकादूर्द्ध्वञ्च पञ्च-दशलक्षैककोटिद्वयादण्डकटाह इति ज्ञेयम् । अपुनर्मारकाः पुनर्म्मृत्युशून्याः । इति तट्टीका ॥

सत्यवचाः, [स्] पुं, (सत्यं वचो यस्य ।) ऋषिः । इत्यमरः ॥ सत्यवादिनि, त्रि ॥

सत्यवती, स्त्री, (सत्यमस्त्यस्येति । सत्य + मतुप् । मस्य वः । ङीप् ।) व्यासमाता । तत्पर्य्यायः । काली २ योजनगन्धा ३ गन्धकाली ४ मत्स्यो-दरी ५ व्यासमाता ६ सत्या ७ चित्राङ्गदप्रसूः ८ विचित्रवीर्य्यसूः ९ कन्या १० दासेयी ११ दास-नन्दिनी १२ । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, भागवते । १ । ३ । २१ ।

"ततः सप्तदशे जातः सत्यवत्यां पराशरात् ।
चक्रे वेदतरोः शाखा दृष्ट्वा पुंसोऽल्पमेधसः ॥")

नारदपत्नी । (यथा, महाभारते ।५।११७।१५।
"दमयन्त्यां नलश्चैव सत्यवत्याञ्च नारदः ॥")
ऋचीकमुनिपत्नी । इति मेदिनी ॥ (यथा, हरिवंशे । २७ । १८ ।
"गाधेः कन्या महाभागा नाम्ना सत्यवती
शुभा ।
तां गाधिः काव्यपुत्राय ऋचीकाय ददौ प्रभुः ॥")
सत्यविशिष्टे, त्रि ॥ (यथा, भागवते ।४।२१।४६।
"पुत्त्रेण जयते लोकानिति सत्यवती श्रुतिः ।
ब्रह्मदण्डहतः पापो यद्वेणोऽत्यतरत्तमः ॥")
ऋचीकपत्न्याः प्रमाणान्तरं यथा,—
"ब्रह्मपुत्त्रो भृगुर्नाम ऋचीकस्तत्सुतोऽभवत् ।
स भार्य्यार्थी चरन् भूमौ कान्यकुब्जं गतः पुरा ॥
ददर्श चारव्यगतं जह्नोर्वंशसमुद्भवम् ।
कुशिकस्य सुतं गाधिं तपस्थं नृपसत्तमम् ॥
अरण्यस्थस्य तस्याथ पुत्त्रकामस्य भूभृतः ।
सभार्य्यस्य सुता जज्ञे देवकन्यासमा गुणैः ॥
ऋचीको भृगुपुत्त्रस्तां भार्य्यार्थं समयाचत ।
गाधिं नृपतिशार्दूलं स चोवाच नृपो मुनिम् ॥
एकतः श्यामकर्णानामश्वानां चन्द्रवर्च्चसाम् ।
सहस्रमेकं यो दद्यात्तस्मै पुत्त्री प्रदीयते ॥
ऋचीक उवाच ।
दास्याम्यश्वसहस्रन्तु तव राजंस्तथाविधम् ।
कञ्चित्कालं प्रतीक्षस्व यावत्तदहमानये ॥
गङ्गाजलादुत्थितन्तु दत्तं सम्यक् प्रचेतसा ।
आदायाश्वसहस्रं स मुनिर्गाधिमथाभ्ययात् ॥
तानश्वान् गाधिरादाय पुत्त्रीं सत्यवतीं स्वकाम् ।
ऋचीकाय ददौ लक्ष्मीं केशवायेव सागरः ॥
ऋचीको गाधितनयां लब्ध्वा भार्य्यामनिन्दिताम् ।
मुदितः स तया रेमे यथाकामं स्वमाश्रमे ॥
कृतदारं सुतं श्रुत्वा द्रष्टुं पुत्त्रं स्वकं भृगुः ।
अथाजगाम मतिमान् स्नुषां दृष्ट्वा ननन्द च ॥
दम्पती तं समासीनं भृगुं देवगणार्च्चितम् ।
पूजयित्वा समासीनं तस्थतुस्तौ कृताञ्जली ॥
ततो भृगुः स्नुषां स्वीयां सुप्रीत इदमब्रवीत् ।
वरं वृणीष्व दास्यामि वाञ्छितं वरवर्णिनि ।
अदेयं दुष्करं वापि यत्र ते वर्त्तते स्पृहा ॥
ततः सत्यवती पुत्त्रं तप-आम्नायपारगम् ।
मातुश्च वीरमतुलं पुत्त्रं वरमयाचत ॥
स चैवमस्त्वित्युक्त्वैव भूत्वा ध्यानपरस्तदा ।
विश्वमावर्त्य मनसा यत्नात् श्वासं ससर्ज्ज सः ॥
तस्य निःश्वासवातात्तु निःसृतं वै चरुद्वयम् ।
तस्यै तत् द्वितयं दत्त्वा भृगुस्तामिदमब्रवीत् ॥
चरुद्वयं गृहाण त्वं स्नुषे सत्यवति स्वयम् ।
स्नात्वा ऋतौ ऋतौ माता तदा त्वञ्च करिष्यथः ॥
आलिङ्गाश्वत्थवृक्षं ते माता पुंसवनाय वै ।
चरुमारक्तकं चेमं सा भोक्ष्यति सुतस्ततः ॥
त्वञ्चोडुम्बरवृक्षन्तु समालिङ्ग्य सितं चरुम् ।
भक्षस्वैतेन पुत्त्रस्ते भविष्यति सनातनः ॥
एवमुक्त्वा भृगुर्यातो यथेच्छं सापि संमुदम् ।
अवाप मात्रा सहिता भर्त्त्रा पित्रा च भाविनी ॥
अथ स्नानदिनेऽश्वत्थमालिङ्ग्यारक्तकं चरुम् ।
अद्यात् सत्यवती तस्या माता फल्गुं सितं
चरुम् ॥ * ॥
परिवर्त्तन्तु तं ज्ञात्वा दिव्यज्ञानो भृगुर्मुनिः ।
अथागत्य स्नुषां तान्तु वचनञ्चेदमब्रवीत् ॥
विपर्य्ययस्त्वया भद्रे वृक्षालिङ्गनकर्म्मणि ।
तथा चरुप्राशने च तस्मादन्यो भविष्यति ॥
ब्राह्मणः क्षत्त्रियाचारस्तव पुत्त्रो भविष्यति ।
क्षत्त्रियो ब्राह्मणाचारो मातुस्ते भविता सुतः ॥
इत्युक्ता भृगुणा साध्वी तदा सत्यवती भृगुम् ।
पुनः प्रसादयामास पौत्त्रो मेऽस्त्विति तादृशः ।
एवमस्त्विति प्रोक्ता स तत्रैवान्तर्दधे भृगुः ॥
अथ काले सुतं दीप्तं जमदग्निञ्च गाधिजा ।
सुषुवे जननी तस्या विश्वामित्रं तपोधनम् ॥
जमदग्निस्ततो वेदान् चतुरः प्राप मा चिरम् ॥
प्रादुरासन्धनुर्व्वेदः स्वयं तस्मिन् महात्मनि ॥
विश्वामित्रोऽपि सकलान् वेदानपि तथाचिरात् ।
धनुर्व्वेदं तथा क्षत्त्रं विप्रश्चाभूत्तपोधनः ॥
जाज्वल्यमानस्तेजस्वी जमदग्निर्महातपाः ।
वेदैस्तपोभिः स मुनीनत्यक्रामच्च सूर्य्यवत् ॥"
इति श्रीकालिकापुराणे जामदग्न्योपाख्याने ८४ अध्यायः ॥
सत्यवतीसुतः, पुं, (सत्यवत्याः सुतः ।) व्यासः । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, महाभारते । १ । १५७ । १२ ।
"एवं स तान् समाश्वास्य व्यासः सत्यवतीसुतः ।
एकचक्रामभिगतः कुन्तीमाश्वासयत् प्रभुः ॥"
जमदग्निः । इति पुराणम् ॥)
सत्यवाक्, [च्] पुं. (सत्या वाक् यस्य ।) ऋषिः । इति शब्दरत्नावली ॥ (कश्यपपत्न्या मुनेः पुत्त्रविशेषः । यथा, महाभारते । १ । ६५ । ४३ ।
"सत्यवागर्कपर्णश्च प्रयुतश्चापि विश्रुतः ॥")
काकः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ (सावर्णमनुपुत्त्रविशेषः । यथा, मार्कण्डेये । ८० । ११ ।
"विरजाश्चार्व्ववीरश्च निर्म्मोहः सत्यवाक् कृतिः ।
विष्ण्वाद्याश्चैव तनयाः सावर्णस्य मनोर्नृपाः ॥")
सत्यवादिनि, त्रि ॥ (यथा, रामायणे । २ । २६ । ११ ।
"कालश्चायं समुत्पन्नः सत्यवाग् भवतु द्विजः ॥")
सत्यवादी, [न्] त्रि, (सत्यं वदतीति । वद + णिनिः ।) यथार्थवक्ता । तत्पर्य्यायः । सत्योद्यः २ । इति शब्दमाला ॥ (यथा, महानिर्व्वाणतन्त्रे । ३ । ६६ ।
"अस्मिन् धर्म्मे महेशि ! स्यात् सत्यवादी जितेन्द्रियः ।
परोपकारनिरतो निर्व्विकारः सदाशयः ॥")
सत्यवान्, [त्] पुं, (सत्यमस्त्यस्येति । सत्य + मतुप् । मस्य वः ।) राजविशेषः । स तु सावित्रीपतिः । इति मेदिनी ॥ (अस्य नामनिरुक्तिर्यथा, महाभारते । ३ । २९३ । १२ ।
"सत्यं वदत्यस्य पिता सत्यं माता प्रभाषते ।
ततोऽस्य ब्राह्मणाश्चक्रुर्नामैतत् सत्यवानिति ॥"
अस्य विशेषवृत्तान्तस्तु तत्रैव २९२ अध्यायमारभ्य द्रष्टव्यः ॥ * ॥ चाक्षुषमनुपुत्त्रविशेषः । यथा, भागवते । ४ । १३ । १६ ।
"स चक्षुः सुतमाकूत्यां पत्न्यां मनुमवाप ह ।
मनोरसूत महिषी विरजान्नड्वला सुतान् ।
पुरुं कृतं त्वन्तं द्युम्नं सत्यवन्तं ऋतं व्रतम् ॥")
सत्यवति, त्रि ॥ (यथा, महाभारते । १३ । ७५ । ३४ ।
"सत्यवन्तः स्वर्गलोके मोदन्ते भरतर्षभ ॥")
सत्यवृत्तः, त्रि, (सत्यं वृत्तं यस्य ।) सत्यवादी । इति केचित् ॥ (सच्चरित्रे, क्ली । यथा, महाभारते । १३ । ७३ । ११ ।
"यावज्जीवं सत्यवृत्ते रतश्च
दाने रतो यः क्षमी चापराधे ॥")
सत्यव्रतः, पुं, (सत्यमेव व्रतं यस्य ।) त्रेतायुगे सूर्य्यवंशीयपञ्चविंशराजः । यथा,—
"त्रिधन्वनः सुतो जातस्त्रय्यारुण इति स्मृतः ।
तस्य सत्यव्रतो नाम तस्मात् सत्यरतः स्मृतः ॥"
इति मात्स्ये १२ अध्यायः ॥
स च त्रिशङ्कुराजः । यथा,—
"त्रिधन्वनस्त्रय्यारुणस्त्रय्यारुणात् सत्यव्रतः । योऽसौ त्रिशङ्कुसंज्ञामवाप चाण्डालतामुपगतश्च । द्वादशवार्षिक्यामनावृष्ट्यां विश्वामित्रस्य कलत्रापत्यपोषणार्थं चाण्डालपरिग्रहपरिहरणार्थञ्च जाह्नवीतीरे न्यग्रोधे मृगमांसमनुदिनं बबन्ध । परितुष्टेन च विश्वामित्रेण सशरीरः स्वर्गं आरोपितः । त्रिशङ्कोर्हरिश्चन्द्रः ।" इति विष्णुपुराणे ४ अंशे ३ अध्यायः ॥ (धृतराष्ट्रस्य पुत्त्रविशेषः । यथा, महाभारते । १।६३।११७।
"जयः सत्यव्रतश्चैव पुरुमित्रश्च भारत ॥"
महादेवः । इति महाभारतम् ।१३।१७।१५०॥
सत्यरूपव्रते, क्ली । यथा, रामायणे ।२।२६।३७
"सा त्वं वसेह कल्याणि राज्ञः समनुवर्त्तिनी ।
भरतस्य रता धर्म्मे सत्यव्रतपरायणा ॥"
सत्यव्रतविशिष्टे, त्रि । यथा, हरिवंशे ।३१।५८
"एतेऽपि वंशजाः सर्व्वे राजानः कीर्त्तिता
मया ।
सत्यव्रता महात्मानः प्रजावन्तो महारथाः ॥")
सत्यसङ्काशः, त्रि, (सत्यस्य सङ्काशः सदृशः ।) सत्यसन्निभः । इति केचित् ॥
सत्यसङ्गरः, पुं, (सत्यः सङ्गरः प्रतिज्ञा युद्धं वा यस्य ।) कुवेरः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ अन्यायरहितयुद्धश्च ॥ (ऋषिविशेषः । इति महाभारतम् । २ । ७ । १५ ॥)
सत्यसन्धः, पुं, (सत्ये सन्धा अभिसन्धिर्यस्य ।) रामानुजभरतः । जनमेजयः । इति शब्दरत्नावली ॥ (विष्णुः । इति महाभारतम् । १३ । १४९ । ६७ ॥ धृतराष्ट्रपुत्त्रः । इति च महाभारतम् । १ । ११७ । ८ ॥) सत्यप्रतिज्ञे, त्रि ॥ यथा,—
"राजेन्द्रं सत्यसन्धं दशरथतनयं श्यामलं शान्तमूर्त्तिं

वन्दे लोकाभिरामं रघुकुलतिलकं राघवं राव-
णारिम् ॥”
इति महानाटके १ अङ्कः ।

सत्यसन्धा, स्त्री, (सत्ये सन्धाभिसन्धिर्यस्याः ।) द्रौपदी । इति शब्दरत्नावली ॥

सत्या, स्त्री, (सत्यमस्त्यस्या इति । सत्य+अच् । टाप् ।) सीता । सा च रामपत्नी । सत्यवती । सा तु व्यासमाता । इति शब्दरत्नावली ॥ दुर्गा । इति ब्रह्मवैवर्त्ते प्रकृतिखण्डम् ॥ (सत्यभामा । सा च कृष्णपत्नी । यथा, भागवते । १ । १४ । ३७ ।

“यत्पादशुश्रूषणमुख्यकर्म्मणा
सत्यादयो द्व्यष्ट-सहस्रयोषितः ।
निर्ज्जित्य संख्ये त्रिदशांस्तदाशिषो
हरन्ति वज्रायुधवल्लभोचिताः ॥”

तथा च महाभारते । ३ । २३४ । २ ।
“आरुरुक्षू रथं सत्यामाह्वयामास केशवः ॥”
शंयुपत्नी । यथा, महाभारते । ३ । २१८ । ४ ।
“शंयोरप्रतिमा भार्य्या सत्या सत्याय धर्म्मजा ।
अग्निस्तस्य सुतो दीप्तस्तिस्रः कन्याश्च सुव्रताः ॥”)

सत्याकृतिः, स्त्री, (सत्यस्य आकृतिः करणम् । “सत्यादशपथे ।” ५ । ४ । ६६ । इति डाच् ।) अवश्यं मयैतत् क्रेतव्यमिति सत्यकरणम् । तत्पर्य्यायः । सत्यङ्कारः २ सत्यापनम् ३ । इत्यमरः ॥

सत्याग्निः, पुं, (सत्यस्य अग्निः ।) अगस्त्यमुनिः । इति शब्दरत्नावली ॥

सत्यानृतं, क्ली, वाणिज्यम् । इत्यमरः ॥ किञ्चित् सत्यं किञ्चिदसत्यं सत्यसहितमनृतं वा यत्र । इति भरतः ॥ (यथा, मनुः । ४ । ६ ।
“सत्यानृतन्तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते ।
सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्ज्जयेत् ॥”
सत्यञ्चानृतञ्चेति द्वन्द्वे कृते द्विवचनप्रयोगः स्यात् । यथा, वाजसनेयसंहितायाम् । १९ । ७७ ।
“दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः ॥”)

सत्यापनं, क्ली, (सत्यस्य करणम् । सत्य+“सत्यापपाशेति ।” ३ । १ । २५ । इति णिच् आपुक् च ततो ल्युट् ।) सत्याकृतिः । इत्यमरः ॥

सत्यापना, स्त्री, (सत्यस्य करणम् । सत्य+“सत्यापपाशेति ।” ३ । १ । २५ । इति णिच् आपुक् च ततो युच् ।) सत्याकृतिः । इत्यमरटीकायां बोपालितः ॥

सत्योद्यः, त्रि, (सत्यस्य वदनम् । वद्+क्यप् ।) सत्यवादी । इति शब्दमाला ॥

सत्र, त् ङ क सम्बन्धे । सन्ततौ । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (अदन्त-चुरा०-आत्म०-सक०-सेट् ।) दन्त्यवर्गाद्यमध्यः । सन्ततिर्निर्वाहक्रियेति भट्टमल्लः । ङ, सत्रयते । सत्रापयते प्रतिज्ञां साधुः । सन्ततिर्विस्तारणमिति गोविन्दभट्टः । इति दुर्गादासः ॥

सत्रं, क्ली, (सत्र्यते संतन्यते इति । सत्र+घञ् ।) यज्ञविशेषः । यथा,—

“नैमिषेऽनिमिषक्षेत्रे ऋषयः शौनकादयः ।
सत्रं स्वर्गाय लोकाय सहस्रसममासत ॥
कलिमागतमाज्ञाय क्षेत्रेऽस्मिन् वैष्णवे वयम् ।
आसीना दीर्घसत्रेण कथायां सक्षणा हरेः ॥”
इति श्रीभागवते १ स्कन्धे १ अध्यायः ॥

सत्राजित्, पुं, (सत्रेण आजयति लोकानिति । आ+जि+क्विप् ।) राजविशेषः । स च श्रीकृष्णश्वशुरः । सत्यभामापिता । परे शमिध्वजराजश्च बभूव । इति कल्किपुराणे २७ अध्यायः ॥ (त्रि, सन्ततजयशीलः । यथा, ऋग्वेदे । २ । २१ । १ ।
“सत्राजिते नृजित उर्व्वराजिते ।”
“सत्राजिते सत्रा सन्ततं जयशीलाय ।” इति तद्भाष्ये सायणः ॥)

सत्रिजातकं, क्ली, (त्रिजातकेन सह वर्त्तमानम् ।) मांसव्यञ्जनविशेषः । यथा,—
“मांसं वहुष्टते भृष्टं सिक्तं चोष्णाम्बुना मुहुः ।
जीरकाद्यैः समायुक्तं परिशुष्कं तदुच्यते ।
तदेव घृतसक्वाढ्यं प्रदिग्धं सत्रिजातकम् ॥
इति शब्दचन्द्रिका ॥”

सत्वरं, क्ली, सह त्वरया वर्त्तते इति । शीघ्रम् । इत्यमरः ॥ (यथा, रामायणे । २ । ३६ । १४ ।
“राजा सत्वरमाहूय व्यापृतं वित्तसञ्चये ।
उवाच देशकालज्ञो निश्चितं सर्व्वतः शुचिः ॥”)
तद्वति, त्रि । इति भरतः ॥ (यथा, मनुः । ९ । ९४ ।
“त्रिंशद्वर्षो वहेत् कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम् ।
त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्म्मे सीदति सत्वरः ॥”)

सत्सारः, पुं, (सन् सारो यस्य ।) वृक्षविशेषः । चित्रकरः । कविः । इति केचित् ॥ उत्तमसारयुक्ते, त्रि ॥

सथुत्कारं, क्ली, अम्बुकृतम् । इति हेमचन्द्रः ॥ थुत्कारेण सह वर्त्तमानञ्च ॥

सदंशकः, पुं, (दंशकेन सह वर्त्तमानः ।) कर्कटः । इति राजनिर्घण्टः ॥ दंशयुक्ते, त्रि ॥

सदंशवदनः, पुं, (सदंशं दंशाकारसहितं वदनं यस्य ।) कङ्कपक्षी । इति राजनिर्घण्टः ॥

सदञ्जनं, क्ली, (सत् अञ्जनम् ।) कुसुमाञ्जनम् । यथा,—
“रीतिपुष्पं पुष्पकेतु पौष्पकं कुसुमाञ्जनम् ।
सदञ्जनञ्च चाक्षुष्यं माक्षिकं धातुमाक्षिकम् ॥”
इति शब्दचन्द्रिका ॥

सदनं, क्ली, (सीदन्त्यत्रेति । सद्+अधिकरणे ल्युट् ।) गृहम् । इत्यमरः ॥ (यथा, रामायणे । २ । ६४ । ३६ ।
“तिष्ठ मा मागमः पुत्त्र यमस्य सदनं प्रति ।
श्वो मया सह गन्तासि जनन्या च समेधितः ॥”)
जलम् । इति मेदिनी ॥

सदः, [स्] स्त्री, क्ली, (सीदन्त्यस्यामिति । सद्+“सर्व्वधातुभ्योऽसुन् ।” उणा० ४ । १८८ । इति असुन् ।) सभा । इत्यमरः ॥ (यथा, हितोपदेशे ।

“विपदि धैर्य्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः ।
यशसि चाभिरुचौ व्यसनं श्रुतौ
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ॥”)

सदस्यः, पुं, (सदसि साधुः । सदस्+यत् ।) विधिदर्शी । इत्यमरः ॥ न्यूनातिरिक्ततां विपर्य्यासञ्च परिहर्त्तुं विधिं वेदोक्तयज्ञक्रियाकलापं द्रष्टुं शीलं येषां ते सदस्याः । सदसि साधवः कारका इति विकारसंघेत्यादिना यः । इति भरतः ॥ तस्य नामान्तरं प्रश्नवक्ता । यथा,—
“एकः कर्म्मनियुक्तः स्यात् द्वितीयस्तन्त्रधारकः ।
तृतीयः प्रश्नकं ब्रूयात्ततः कर्म्म समाचरेत् ॥”
कर्म्मनियुक्तः आचार्य्यः स च ब्रह्माङ्के होमकर्म्मणि ब्रह्मा । स्वयं होमाकरणे होतापि । स्वयं प्रधानकर्म्माकरणे प्रतिनिधिरपि । तन्त्रधारकः पुस्तकधारकः । प्रश्नवक्ता सदस्यः । इति संस्कारतत्त्वम् ॥ *॥ सभ्यः । यथा । सभ्याः सदस्याः पार्षद्याः सभास्तारा सभासदः । सामाजिका इत्यादि हेमचन्द्रः ॥

सदा, व, सर्व्वकालः । सर्व्वदा । इत्यमरः ॥ यथा,
“परोपकारनियतः सदा भव महाजन ।”
इति विष्णुपुराणम् ॥

सदागतिः, पुं, (सदा सर्व्वदा गतिर्यस्य ।) वायुः । इत्यमरः ॥ (यथा, महाभारते । १ । ७२ । १ ।
“एवमुक्तस्तथा शक्रः सन्दिदेश सदागतिम् ।
प्रातिष्ठत तदा काले मेनका वायुना सह ॥”)
सूर्य्यः । निर्व्वाणम् । सदीश्वरः । इति मेदिनी ॥ (सर्व्वदा गमनशीले, त्रि । यथा, महाभारते । ३ । १३३ । २५ ।
“चतुर्व्विंशतिपर्व्व त्वां षण्नाभि द्वादशप्रधि ।
तत्त्रिषष्टिशतारं वै चक्रं पातु सदागति ॥”)

सदाचारः, पुं, (सतां साधूनामाचारः ।) साधूनामाचरणम् । तल्लक्षणादि यथा,—
“सरस्वतीदृषद्वत्योर्द्देवनद्योर्यदन्तरम् ।
तद्देवनिर्म्मितं देशं ब्रह्मावर्त्तं प्रचक्षते ॥
तस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्य्यक्रमागतः ।
वर्णानां सान्तरालानां सदाचारः स उच्यते ॥”
इति मनुः ॥ * ॥

अन्यच्च ।

और्व्व उवाच ।
“सदाचारेषु राजेन्द्र विशेषान् शृणु संप्रति ।
यानवश्यं नृपः कुर्य्यात्तान्नरः सकलान् शृणु ॥
साधवः क्षीणदोषाश्च सच्छब्दः साधुवाचकः ।
तेषामाचरणं यत्तु सदाचारः स उच्यते ॥
आगमेषु पुराणेषु संहितासु यथोदितान् ।
समुद्दिष्टसदाचारांस्तान् गृह्णीयाद्गृहस्थवत् ॥
ऋषीन् यजेद्वेदपाठैर्द्देवान् होमैस्तु पूजयेत् ।
श्राद्धैः पितॄन् यजेदन्नैर्भूतानि बलिभिस्तथा ॥
मैत्रं प्रसाधनं स्नानं दन्तधावनमञ्जनम् ।
सर्व्वं गृहस्थवत् कुर्य्यात् निषेकाद्यं विधिं तथा ॥
षट्कर्म्मसु नियुञ्जीत राजा विप्रान् समन्ततः ।
तथैव क्षत्त्रियादीनि स्वे स्वे कर्म्मणि योजयेत् ॥

य: स्वधर्म्मं परित्यज्य परधर्म्मं समाचरेत् ।
तं शूतेन नृपो दण्डै: पुनस्तस्मिन्नियोजयेत् ॥
सांवत्सरेषु कृत्येषु विशेष्यैतान् समाचरेत् ।
अवश्यं पार्थिवो राजन् विशेषांस्तु शृणुष्व मे ॥
शरत्काले महाष्टम्यां दुर्गाया: परिपूजनम् ।
नीराजनं दशम्यान्तु कुर्य्याद्वै बलवृद्धये ॥
पौषे मासि तृतीयायां कुर्य्यात् पुष्याभिषेचनम् ।
पूजयित्वा श्रियं देवीं श्रीपञ्चम्यां नृपश्चरेत् ॥
श्रीयज्ञं धनधान्यस्य वृद्धये नृपसत्तम: ।
ज्यैष्ठे दशहरायान्तु विष्णोरिष्टिं समाचरेत् ॥
रवौ हरिस्थे द्वादश्यां शक्रपूजां समाचरेत् ।
विशेष्यैतांस्तु नृपति: कुर्य्यात् सर्व्वं बहुव्ययै: ।
एभि: कृतैर्बलं राज्यं कोषश्चापि विवर्द्धते ॥
अकृतेष्वेषु यज्ञेषु दुर्भिक्षं मरकं तथा ।
जायते च नृपस्तस्मादेषु यज्ञं समाचरेत् ॥
शरत्काले महाष्टम्यां दुर्गाया: पूजने विधि: ।
पुरा प्रोक्तस्तु विधिना तेन कार्य्यन्तु पूजनम् ॥”

इति कालिकापुराणे ८८ अध्याय: ॥ * ॥

अपि च ।

“सदाचारे विशेषोऽयं कथितस्तव पार्थिव ! ।
निषेधेषु विशेषांस्तु शृणु येन श्रियेष्यते ॥
असंपूज्य तथा विष्णुं शिवामग्निं पुरन्दरम् ।
अदत्त्वा च तथा दानं न भुञ्जीयान्नृप: क्वचित् ॥
हावयेदग्निहोत्रन्तु नित्यमेव पुरोहितै: ।
अहुत्वा चाग्निहोत्रन्तु भुञ्जन्नरकमाप्नुयात् ॥
नारक्षिते गृहे राजा रक्षिपरिवर्ज्जिते ।
स्वपेत्तथा स्त्रिया सार्द्धं न कदाचन संविशेत् ॥
भुक्तान्नं श्रीफलं नाद्यात्तथा धात्रीफलं नृप: ।
बुद्धिक्षयकरा एता माष आसवन्दतिका: ॥
निम्बाटरूषपत्राश्च बुद्धिवृद्धिकरा न ता: ।
बुद्धिवृद्धिहरान्नित्यं त्यजेद्राजा च भोजने ॥
भोजयेदन्वहं बुद्धिवृद्धिहेतुं नृपोत्तम: ।
न पर्य्यायविहीनन्तु प्रारोहेदासनं नृप: ॥
न यानं न गजानश्वमारोहेदीक्ष्य आश्रयम् ।
नैकन्तु विचरेद्राजा कदाचिदपि निर्ज्जने ॥
मदहेतुं न भुञ्जीयात् कदाचिदपि भोजने ।
कदापि नोपसेवेत ह्यष्टम्यां मांसमैथुने ॥
अमास्नानं गयाश्राद्धं तिलैस्तर्पणमेव च ।
न जीवत्पितृको भूप: कुर्य्यात् कृत्वाघमाप्नुयात् ॥
न क्षेत्रजादींस्तनयान् राजा राज्येऽभिषेचयेत् ।
पितृणां श्राद्धयेन्नित्यमौरसे तनये सति ॥
औरस: क्षेत्रजश्चैव दत्त: कृत्रिम एव च ।
गूढोत्पन्नोऽपविद्धश्च भागार्हास्तनया इमे ॥
कानीनश्च सहोढश्च क्रीत: पौनर्भवस्तथा ।
स्वयंदत्तश्च पोष्यश्च षडिमे पुत्त्रपांशुला: ॥
अभावे पूर्व्वपूर्व्वेषां परान् समभिषेचयेत् ।
पौनर्भवं स्वयंदत्तं दासं राज्ये न योजयेत् ।
दत्ताद्याश्चापि तनया निजगोत्रेण संस्थिता: ।
आयान्ति पुत्त्रतां सम्यगन्यबीजसमुद्भवा: ॥
पितुर्गोत्रेण य: पुत्त्र: संस्कृत: पृथिवीपते ।
आचूड़ान्तं न पुत्त्र: स: पुत्त्रतां याति चान्यत: ॥
चूड़ाद्या यदि संस्कारा निजगोत्रेण वै कृता: ।
दत्ताद्यास्तनयास्ते स्युरन्यथा दास उच्यते ॥
ऊर्द्धन्तु पञ्चमाद्वर्षाद्दत्ताद्याश्च सुता नृप ।
गृहीत्वा पञ्चवर्षीयं पुत्त्रेष्टिं प्रथमं चरेत् ॥
पौनर्भवन्तु तनयं जातमात्रं समानयेत् ।
कृत्वा पौनर्भवं स्तोमं जातमात्रस्य तस्य वै ॥
सर्व्वांस्तु कुर्य्यात् संस्कारान् जातकर्म्मादिकान्नर: ।
कृते पुनर्भवस्तोमे सुत: पौनर्भवस्तथा ॥
एकोद्दिष्टं पितु: कुर्य्यान्न श्राद्धं पार्व्वणादिकम् ।
क्रीताद्या वनिता मूल्यै: सा दासीति निगद्यते ॥
तस्यां यो जायते पुत्त्रो दास: पुत्त्रस्तु स स्मृत: ।
न राज्ञो राज्यभाक् स स्याद्विपुलानपि श्राद्धकृत् ।
अधम: सर्व्वपुत्त्रेभ्यस्तं तस्मात् परिवर्ज्जयेत् ॥
पुराणधर्म्मशास्त्राणि संहिताश्च मुनीरिताम् ।
नाध्यापयेन्नृप: शूद्रैर्व्विहितान्यत् यदृच्छया ॥
यस्य राज्ये सदा शूद्रा: पुराणं संहितां तथा ।
पठन्ति स्यान्महीनाशो राजा राष्ट्रेण सान्वय: ।
मोहाद्वा कामत: शूद्र: पुराणं संहितां स्मृतिम् ।
पठन्नरकमाप्नोति पितृभि: सह पापकृत् ॥
शूद्रोक्त्या विहितं यच्च यश्च मन्त्र उदाहृत: ।
तद्वयं विप्रवद्वाद्ग्राह्यं शूद्रै: सदैव हि ॥
न योजयेन्नृप: शूद्रं व्यवहारस्य दर्शने ।
नियोज्य तत्र तं भूप ! तामिस्रे तेन पच्यते ।
हीनायुश्च भवेल्लोको राजा चापि सहान्वय: ॥
काणं खञ्जमन्धपुत्त्रं वानभिज्ञमजितेन्द्रियम् ।
न ह्रस्वं व्याधितं वापि नृप: कुर्य्यात् पुरोहितम् ॥
कृपणस्य धनं राजा न गृह्णीयात् कदाचन ।
न द्विजानां तथा दद्याद्वनानि विपुलान्यपि ॥
नारोहेत् कामुकोन्मत्तं गजं राजा कदाचन ।
आरुह्य कामुकं तन्तु परत्रेह विषीदति ॥
अनायुष्यं न कुर्य्यात्तु कर्म्म भूप: कदाचन ।
सततं आयुषो वृद्ध्यै यतेत सकलैर्ब्बलै: ॥
न क्रूरवारे नाष्टम्यां न षष्ठ्यां नृपसत्तम: ।
अञ्जनाभ्यञ्जने कुर्य्यात्ताम्बूलस्यापि भोजनम् ॥
अतिसूक्ष्मं तथा पूर्णं ग्रहणं चन्द्रसूर्य्ययो: ।
नालोकयेत् स्वयं राजा रक्तं सूर्य्यं तथैव च ॥
उत्पातं जायते यत्तु दिव्यं भौमञ्च नाभसम् ।
नेक्षेत यत्नान्नृपतिर्दृष्ट्वा नाद्यात् त्र्यहं पुन: ॥
सर्व्वदा मङ्गलं रत्नं धारयेत् सह दूर्व्वया ।
अवस्त्राच्छादितं गात्रं न विप्रेभ्य: प्रदर्शयेत् ॥
न तोये स्वं मुखं पश्येन्नाद्यान्मांसानि पर्व्वसु ।
नारोहेत खरं चोष्ट्रं न वामीमपि गुर्व्विणीम् ॥
एवं नययुतो राजा चतुरङ्गं विवर्द्धयन् ।
आत्मानं सततं रक्षन् सदा वीर्य्यं विवर्द्धयेत् ॥
वीर्य्यक्षयकरं नित्यं भक्ष्यं भोज्यञ्च पानकम् ।
वर्ज्जयेत् क्षारशाकाद्यानत्यम्लु बहुतिक्तकम् ॥
कांस्यराजतरङ्गस्थं तोयं पानेऽप्यवर्द्धनम् ।
मूत्रवृद्धिकरं वीर्य्यक्षयकारि विवर्ज्जयेत् ॥
ताम्रायःस्वर्णसीसानां पात्रस्थं फलचर्म्मणो: ।
शुक्रवृद्धिकरं तोयं तदुपासीत यत्नत: ॥
सर्व्वमूलेषु कृत्येषु सदाचारेष्वनुष्ठित: ।
भुक्त्वेह विविधान् भोगानेन्द्रं स्थानं व्रजेत् परे ॥

श्रीमार्कण्डेय उवाच ।

एवमौर्व्वस्तु सगरं शशास मुनिपुङ्गव: ।
शास्त्राणि चैव सर्व्वाणि सदाचारान् सगुह्यकान् ।
बहुश: कथयामास सगराय महात्मने ॥
तन्नास्ति यत् पुरौर्व्वेण कथितं सगराय न ।
राजनीति: सतां नीतिर्यच्चान्यच्छास्त्रसम्भवम् ॥
संहितासु पुराणेषु यच्चागमचये स्थितम् ।
सर्व्वं शुश्राव सगरो मुखादौर्व्वस्य धीमत: ॥
तेषान्तु कथितं किञ्चिदुद्धृत्य द्विजसत्तमा: ।
विष्णुधर्म्मोत्तरे पूर्व्वं मया रहसि भारते ॥
राजनीतिं सदाचारं वेदवेदाङ्गसङ्गतम् ।
रहस्यं सततं विष्णोर्वोऽच्यं द्विजसत्तमा: ॥
यच्चानुदितमन्यत्र गदितं वा ससंशयम् ।
संशयच्छेदनं तेषु युष्मभ्यं कथितं त्विदम् ॥
अनुक्तं संशयच्छेदि पुराणं कालिकाह्वयम् ।
योऽभ्यसेत् सततं विप्र: स वेदानां फलं लभेत् ॥”

इति श्रीकालिकापुराणे ८६ अध्याये राजनीति-सदाचारादिकं समाप्तम् ॥ * ॥ अन्यच्च ।

ऋषय ऊचु: ।

“सदाचारो निगदितस्तव योऽस्माभिरादरात् ।
लक्षणं तस्य वक्ष्यामस्तच्छृणुष्व निशाचर ॥
गृहस्थेन सदा कार्य्यमाचारपरिपालनम् ।
न ह्याचारविहीनस्य भद्रमत्र परत्र च ॥
यज्ञदानतपांसीह पुरुषस्य न भूतये ।
भवन्ति य: समुत्सृज्य सदाचारं प्रवर्त्तते ॥
दुराचारो हि पुरुषो नेह नामुत्र नन्दति ।
कार्य्यो यत्न: सदाचारे आचारो हन्त्यलक्षणम् ॥
तस्य स्वरूपं वक्ष्याम: सदाचारस्य राक्षस ।
शृणुष्वैकमनास्तच्च यदि श्रेयो हि वाञ्छसि ॥

धर्म्मोऽस्य मूलं धनमस्य शाखा
पुष्पञ्च काम: फलमस्य मोक्ष: ।
असौ सदाचारतरु: सुकेशिन्
संसेवितो येन स पुण्यभोक्ता ॥
ब्राह्मे मुहूर्त्ते प्रथमे विबुध्ये-
दनुस्मरेद्देववरं महर्षीन् ।
प्राभातिकं मङ्गलमेव वाच्यं
यदुक्तवान् देवपतिस्त्रिनेत्र: ॥

सुकेशी उवाच ।

किं तदुक्तं सुप्रभातं शङ्करेण महात्मना ।
प्रभाते यत् पठन् मर्त्यो मुच्यते पापबन्धनात् ॥

ऋषय ऊचु: ।

श्रूयतां राक्षसश्रेष्ठ सुप्रभातं हरोदितम् ।
श्रुत्वा स्मृत्वा पठित्वा च सर्व्वपापै: प्रमुच्यते ॥

ब्रह्मा मुरारिस्त्रिपुरान्तकारी
भानु: शशी भूमिसुतो बुधश्च ।
गुरु: सशुक्र: सह भानुजेन
कुर्व्वन्तु सर्व्वे मम सुप्रभातम् ॥
भृगुर्व्वशिष्ठ: क्रतुरङ्गिराश्च
मनु: पुलस्त्य: पुलह: सगोतम: ।
रैभ्यो मरीचिश्च्यवनो रिभुश्च
कुर्व्वन्तु सर्व्वे मम सुप्रभातम् ॥

सनत्कुमार: सनक: सनन्दन:
सनातनोऽप्यासुरिपिङ्गलौ च।
सप्त स्वरा: सप्त रसातलाश्च
कुर्व्वन्तु सर्व्वे मम सुप्रभातम्॥
पृथ्वी सगन्धा सरसास्तथाप:
सस्पर्शवायुर्ज्ज्वलितञ्च तेज:।
नभ: सशब्दं महता सहैव
कुर्व्वन्तु सर्व्वे मम सुप्रभातम्॥
सप्तार्णवा: सप्त कुलाचलाश्च
सप्तर्षयो द्वीपवराश्च सप्त।
भूरादि कृत्वा भुवनानि सप्त
कुर्व्वन्तु सर्व्वे मम सुप्रभातम्॥
इत्थं प्रभाते परमं पवित्रं
य: संस्मरेद्वा शृणुयाच्च भक्त्या।
दु:स्वप्ननाशो ननु सुप्रभाते
भवेच्च सत्यं भगवत्प्रसादात्॥
तत: समुत्थाय विचिन्तयेच्च
धर्म्मं तथार्थञ्च विहाय शय्याम्।
उत्थाय पश्चाद्धरिरितुरदीर्य्य
गच्छेत्तदोत्सर्गविधिं हि कर्त्तुम्॥
न देवगोब्राह्मणवह्निमार्गे
न राजमार्गे न चतुष्पथे च।
कुर्य्यादयोत्सर्गमपीह गोष्ठे
प्रच्छाद्य शीर्षं सुखनासिकञ्च॥
ततश्च शौचार्थमुपाहरेन्मृदं
गुदे त्रयं पाणितले च सप्त।
तथोभयो: पञ्च चतुस्तथैकां
लिङ्गे तथैकां मृदमाहरेच्च॥
नान्तर्ज्जलाद्राक्षसमूषिकस्थला-
च्छौचावशिष्टा सदनादिभस्मा।
वल्मीकमृच्चैव हि शौचनाय
ग्राह्या सदाचारविदा नरेण॥
उदङ्मुख: प्राङ्मुखो शुचिस्थ:
समाचमेदद्भिरफेनिलाभि:।
आचम्य च त्रि: परिमृज्य च द्वि-
स्तत: स्पृशेच्चात्मशिर: करेण॥
सन्ध्यां स निर्व्वर्त्य तत: क्रमेण
केशांश्च संशोध्य च दन्तधावनम्।
कृत्वा तथा दर्पणदर्शनञ्च
कृत्वा शिर:स्नानमथाह्निकञ्च॥
संपूज्य तोयेन पितॄन् सदेवान्
होमञ्च कृत्वालभनं शुभानाम्।
कृत्वा बहिर्निर्गमनं प्रशस्तं
दूर्व्वां दधि सर्पिरथोदकुम्भम्॥
धेनुं सवत्सां वृषभं सुवर्णं
मृद्गोमयं स्वस्तिकमक्षतानि।
लाजा मधु ब्राह्मणकन्यकाश्च
श्वेतानि पुष्पाण्यथ शोभनानि॥
हुताशनं चन्दनमर्कबिम्ब-
मश्वत्थवृक्षञ्च समालभेत।
ततस्तु कुर्य्यान्निजजातिधर्म्मं
देशानुशिष्टं कुलधर्म्ममग्र्यम्॥

स्वगोत्रधर्म्मं न हि सन्त्यजेत
तेनापि सिद्धिं समुपाचरेत।
नासत्प्रलापं न च सत्यहीनं
न निष्ठुरं नागमशास्त्रहीनम्॥
वाक्यं वदेत साधुजनेन येन
निन्द्यो भवेन्नैव च धर्म्मभेदी।
सङ्गं न चासत्सु जनेषु कुर्य्यात्
सन्ध्यासु भक्ष्यं सुरतं दिवा च।
सर्व्वासु योनीषु पराबलासु
रजस्वलास्वेव जलेषु धीर:॥
वृथाटनं वृथादानं वृथा च पशुमारणम्।
न कर्त्तव्यं गृहस्थेन वृथा दारपरिग्रहम्॥
वृथाटनान्नित्यहानिर्व्वृथादानाद्धनक्षय:।
वृथापशुघ्न: प्राप्नोति पातकान्नरकं महत्॥
सन्तत्या हानिरश्लाघ्या वर्णसङ्करतो भयम्।
भेतव्यञ्च भवेल्लोके वृथादारपरिग्रहात्॥
परस्वे परदारे च न कार्य्या बुद्धिरुत्तमै:।
परस्वं नरकायैव परदाराश्च मृत्यवे॥
नेक्षेत् परस्त्रियं नग्नां न सम्भाषेच्च तस्करान्।
उदक्या दर्शनं स्पर्शं सम्भाषाञ्च विवर्ज्जयेत्॥
नैकासने तथा स्थेयं सुन्दर्य्या परजायया।
तथैव स्यान्न मातुश्च तथैव दुहितुस्त्वपि॥
न भार्य्यां वीक्षते नग्नां पुरुषेण कदाचन।
न च स्नायीत वै नग्नो न शयीत कदाचन॥
दिग्वाससोऽपि न तथा परिभ्रमणमिष्यते।
भिन्नासनं भाजनादीन् दूरत: परिवर्ज्जयेत्॥
नन्दासु नाभ्यङ्गमुपाचरेत
क्षौरञ्च रिक्तासु जयासु मांसम्।
पूर्णासु योषित् परिवर्जनीया
भद्रासु सर्व्वाणि समालभेत॥
नाभ्यङ्गमर्के न च भूमिपुत्रे
क्षौरञ्च शुक्रे रविजे च मांसम्।
बुधेषु योषिन्न समाचरेत
शेषेषु सर्व्वाणि सदैव कुर्य्यात्॥
चित्रासु हस्ते श्रवणेषु तैलं
क्षौरं विशाखास्वभिजित्सु वर्ज्ज्यम्।
मूले मृगे भाद्रपदासु मांसं
योषिन्मघाकृत्तिकयोत्तरासु॥
सदैव वर्ज्यं शयने उदक्शिर-
स्तथा प्रतीच्यां रजनीचरेश।
भुञ्जीत नैवेह च दक्षिणामुखो
न च प्रतीचीमभिभोजनीयम्॥
देवालयं चैत्यतरुं चतुष्पथं
विद्याधिकञ्चापि गुरुं प्रदक्षिणम्।
कुर्य्यान्न वामं गमने च धीमान्
द्विजान् नमान् गाश्च निशाचरेश॥
माल्यानुलेपं वसनानि यत्नतो
नान्यैर्धृतान्येव हि धारयेत।
स्नायाच्छिर:स्नानतया च नित्यं
निष्कारणं चैव विना निशासु॥
ग्रहोपरागे स्वजनाभिघाते
मुक्त्वा च जन्मर्क्षगते शशाङ्के।
नाभ्यङ्गितं कायमुपस्पृशेच्च
स्नातो न केशान् विधुनीत चापि॥
गात्राणि चैवाम्बरपाणिना च
स्नातोऽवमृज्याद्रजनीचरेश।
वसेच्च देशेषु सुराजकेषु
सुसंहितस्तीयजनेषु नित्यम्॥
अक्रोधना न्यायपरा अमत्सरा:
कृषीवला ह्यौषधिजातयश्च।
न तेषु देशेषु वसेच्च बुद्धिमान्
यस्मिन्नृपो दण्डरुचिस्त्वशक्त:।
जनोऽपि नित्योत्सवबद्धवैर:
सदा जिगीषुश्च निशाचरेन्द्र॥

ऋषय ऊचु:।

यन्न भोज्यं महाबाहो सदा धर्म्मस्थितैर्नरै:।
यञ्चोत्थञ्च समुद्दिष्टं कथयिष्यामहे वयम्॥
त्वञ्चममन्नं पर्य्युषितं स्नेहाक्तं चिरसंस्थितम्।
अस्नेहा व्रीहय: श्लक्ष्णा विकारा: पयसा-
स्तथा॥
शशक: शल्लको गोधा तथा खड्गी च कच्छप:।
तद्वद्विदलकादीनि भोज्यानि मनुरब्रवीत्॥
मणिवज्रप्रवालानां तद्वन्मुक्ताफलस्य च।
शैलदारुमयाणाञ्च तृणगुल्मौषधस्य च॥
शाकधान्याजिनानाञ्च संहतानाञ्च वाससाम्।
वल्कलानामशेषाणामम्बुना शुद्धिरिष्यते॥
सस्नेहानामथोष्णेन तिलकल्केन चाविकम्।
कार्पासिकानां वस्त्राणां शुद्धि: स्यात् सह
भस्मना॥
नागदन्तास्थिशृङ्गाणां तक्षणाच्छुद्धिरिष्यते।
पुन:पाकेन भाण्डानां मृण्मयानाञ्च शुद्धता॥
शुद्धं भैक्ष्यं कारुहस्त: पण्यं योषिन्मुखं तथा।
रथ्यागतमविज्ञातं दासवर्गेण यत् कृतम्॥
वाक्यपूतं चिरातीतमनेकान्तरितं लघु।
चेष्टितं बालवृद्धानां बालस्य तु मुखं शुचि॥
कर्म्मान्तानामपि गोशाला स्तनन्धयसुता स्त्रिय:।
वाग्विप्रुषो द्विजेन्द्राणां माठे वामम्बुविन्दव:॥
भूमिर्व्विशुध्यति मार्त्तदाहगोक्रमसेचनै:।
लेपादुल्लेखनात् सेकात् वेश्मसम्मार्ज्जनाज्जलात्॥
केशकीटावपन्नेऽन्ने गोघ्राते मक्षिकान्विते।
मृद्वारिभस्मक्षाराणि प्रक्षेप्तव्यानि शुद्धये॥
उडुम्बराणाञ्चाम्लेन क्षारेण त्रपुसीसयो:।
कांस्यानां भस्मना शुद्धिस्तोयाच्छुद्धिर्द्रवस्य च॥
अमेध्याक्तस्य मृत्तोयैर्गन्धापहरणेन च।
अन्येषामपि द्रव्याणां शुद्धिर्गन्धावहारत:॥
मातु: प्रसवने वत्स: शकुनि: फलपातने।
गर्द्दभो भारहारित्वे श्वा मृगग्रहणे शुचि:॥
रथ्याकर्द्दमतोयानि नाव: पथि तृणानि च।
मारुतेनैव शुध्यन्ति पक्केष्टकाचितानि च॥
शूलं द्रोणाढकस्यान्नममेध्याभिप्लुतं भवेत्।
अग्रमुद्धृत्य सन्त्याज्यं शेषस्य प्रोक्षणं स्मृतम्॥
उपवासं त्रिरात्रं वा दूषितान्नस्य भोजने।
अज्ञाते ज्ञातपूर्व्वे च नैव शुद्धिर्व्विधीयते॥
उदक्याश्व तु नग्नाश्च सूतिकान्त्यावसायिन:।

स्पृष्ट्वा स्नायीत शौचार्थं तथैव मृतहारिणः ॥
सस्नेहमस्थि संस्पृश्य सवासाः स्नानमाचरेत् ।
आलभ्यैव तु निःस्नेहं गामालभ्यार्कमीक्ष्य च ॥
न लङ्घयेत् नरं कृष्यावर्त्मीनं दुर्ब्बलं तथा ।
गृहादुच्छिष्टविण्मूत्रपादाम्भांसि क्षिपेद्बहिः ॥
पञ्चपिण्डाननुद्धृत्य न स्नायात् परवारिणि ।
स्नायीत देवखातेषु सरोह्रदसरित्सु च ॥
नोद्यानादौ विकालेषु प्राज्ञस्तिष्ठेत् कदाचन ।
नालपेज्जनविद्विष्टं वीरहीनां तथा स्त्रियम् ॥
देवतापितृसच्छास्त्रयज्ञसत्रादिनिन्दकैः ।
कृत्वा तु स्पर्शनालापं शुध्यतेऽर्कावलोकनात् ॥
अभोज्याः सूतिकाषण्ढमार्ज्जाराखुश्वकुक्कुटाः ।
पतितापविद्धनग्नाश्च चाण्डालाद्यधमाश्च ये ॥
सुकेशी उवाच ।
भवद्भिः कीर्त्तिताभोज्या य एते सूतिकादयः ।
अमीषां श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतो लक्षणानि च ॥
ऋषय ऊचुः ।
ब्राह्मणी ब्राह्मणश्चैव यावच्छेषत्वमागतौ ।
तावुभौ सूतिकेत्युक्तौ तयोरन्नं विगर्हितम् ॥
न जुहोत्युचिते काले न स्नाति च ददाति च ।
पितृदेवार्च्चनाहीनः स षण्ढः परिगीयते ॥
दम्भार्थं जपते यश्च तप्यते यजते तथा ।
न परत्रार्थमुद्युक्तो मार्ज्जारः परिकीर्त्तितः ॥
विभवे सति नैवाश्नाति न ददाति जुहोति च ।
तमाहुराखुं तस्यान्नं भुक्त्वा कृच्छ्रेण शुध्यति ॥
सभागतानां यः सभ्यः पक्षपातं समाश्रयेत् ।
तमाहुः कुक्कुटं देवास्तस्याप्यन्नं विगर्हितम् ।
स्वधर्म्मं यः समुत्सृज्य परधर्म्मं समाचरेत् ।
अनापदि स विद्वद्भिः पतितः परिकीर्त्त्यते ॥
वेदत्यागी पितृत्यागी गुरुबन्धुत्यजकस्तथा ।
गोब्राह्मणस्त्रीवधकृदपविद्धः स उच्यते ॥
येषां कुले न वेदोऽस्ति न शास्त्रं नैव च व्रतम् ।
ते नग्नाः कीर्त्तिताः सद्भिस्तेषामन्नं विगर्हितम् ॥
आशार्त्तानामदाता च दातुश्च प्रतिषेधकः ।
शरणागतं यस्त्यजति स चाण्डालाधमो नरः ॥
यो बान्धवैः परित्यक्तः साधुभिर्ब्राह्मणैरपि ।
कुण्डाशी यश्च तस्यान्नं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥
यो नित्यकर्म्मणो हानिं कुर्य्यान्नैमित्तिकस्य च ।
भुक्त्वान्नं तस्य शुध्येत त्रिरात्रोपोषितो नरः ॥
नित्यस्य कर्म्मणो हानिः केवलं मृतजन्मसु ।
न तु नैमित्तिकोच्छेदः कर्त्तव्यो हि कथञ्चन ॥
जाते पुत्त्रे पितुः स्नानं सचेलस्य विधीयते ।
मृते च सर्व्वबन्धूनामित्याह भगवान् भृगुः ॥
प्रेताय सलिलं देयं बहिर्दग्ध्वा तु गोत्रजैः ।
प्रथमेऽह्नि चतुर्थे वा सप्तमे वास्थिसञ्चयम् ॥
ऊर्द्ध्वं सञ्चयनात्तेषामङ्गस्पर्शो विधीयते ।
सोदकैस्तु क्रिया कार्य्या अशुद्धैस्तु सपिण्डकैः ॥
विषोद्बन्धनशस्त्राम्बुवह्निपातमृतेषु च ।
तथा गृहीतसन्न्यासे देशान्तरमृते तथा ॥
सद्यःशौचं भवेद्विद्वन् तत्राप्युक्तं चतुर्व्विधम् ।
गर्भस्रावे तदेवोक्तं पूर्णकाले न वै चरेत् ॥
ब्राह्मणानामहोरात्रं क्षत्त्रियाणां दिनत्रयम् ।
षड्रात्रं चैव वैश्यस्य शूद्राणां द्वादशाह्निकम् ॥
दशद्वादशमासार्द्धं माससंख्यादिनैश्च तैः ।
स्नात्वा कर्म्मक्रियाः कुर्य्युः सर्व्वे वर्णा यथाक्रमम् ॥
प्रेतमुद्दिश्य कर्त्तव्यमेकोद्दिष्टं विधानतः ।
सपिण्डीकरणं कार्य्यं प्रेतस्य वत्सरान्तरे ॥
ततः पितृत्वमापन्ने दर्शपौर्णादिभिः शुभैः ।
प्रीणनन्तस्य कर्त्तव्यं यथाश्रुतिनिदर्शनम् ॥
पितुरर्थं समुद्दिश्य भूमिकोषादिकञ्च यत् ।
कुर्य्यादृयेनास्य सुप्रीता पितरो यान्ति राक्षस ॥
यद्यदिष्टतमं किञ्चित् यच्चास्य दयितं गृहे ।
तत्तद्गुणवते देयं तदेवाक्षयमिच्छता ॥
अध्येतव्या त्रयी नित्यं भाव्यञ्च विदुषा सदा ।
धर्म्मतो धनमाहार्य्यं यष्टव्यञ्चापि शक्तितः ॥
आचारं कुर्व्वतो नात्मा जुगुप्सामेति राक्षस ।
तत् कर्त्तव्यमशङ्केन यन्न गोप्यं महाजने ॥
एवमाचरतो लोके पुरुषस्य गृहे सतः ।
धर्म्मार्थकामसंप्राप्तिः परत्रेह च शोभना ॥
एष तूद्देशतः प्रोक्तो गृहस्थाश्रम उत्तमः ॥ * ॥
वानप्रस्थाश्रमं धर्म्मं ते वक्ष्यामोऽवधार्य्यताम् ।
अपत्यसन्ततिं दृष्ट्वा प्राज्ञो देहस्य चायतिम् ।
वानप्रस्थाश्रमं गच्छेदात्मनः शुद्धिकारणम् ॥
तत्रारण्योपभोगेन तपोभिश्चात्मकर्षणम् ।
भूमौ शय्या ब्रह्मचर्य्यं पितृदेवातिथिक्रिया ॥
होमस्त्रिसवनस्नानं जटावल्कलधारणम् ।
वन्यस्नेहनिषेवित्वं वानप्रस्थविधिस्त्वयम् ॥ * ॥
सर्व्वसङ्गपरित्यागो ब्रह्मचर्य्यममानिता ।
जितेन्द्रियत्वमावासे नैकस्मिन् वसते चिरम् ॥
अनारम्भस्तथाहारे भिक्षा विप्रे ह्यनिन्दिते ।
आत्मज्ञानं विवेकश्च तथा ह्यात्मावबोधनम् ॥
चतुर्थे चाश्रमे धर्म्मा ह्यस्माभिस्ते प्रकीर्त्तिताः ॥
वर्णधर्म्माणि चान्यानि निशामय निशाचर ॥
गार्हस्थ्यं ब्रह्मचर्य्यञ्च वानप्रस्थं त्रयाश्रमाः ।
क्षत्त्रियस्यापि गदिता य आचारो द्विजस्य हि ॥
वैखानसत्वं गार्हस्थ्यमाश्रमद्वितयं विशः ।
गार्हस्थ्यमुत्तमं त्वेकं शूद्रस्य क्षणदाचर ॥
स्वानि वर्णाश्रमोक्तानि धर्म्माणीह न हापयेत् ।
यो हापयति तस्यासौ परिकुप्यति भास्करः ॥
कुपितः कुलनाशाय देहरोगविवृद्धये ।
वर्णांशु यतते तस्य नरस्य क्षणदाचर ॥

तस्मात् स्वधर्म्मं न हि संत्यजेत
न हापयेच्चापि तथात्मवंशम् ।
यः संत्यजेच्चापि निजं हि धर्म्मं
तस्मै प्रकुप्येत दिवाकरश्च ॥

पुलस्त्य उवाच ।

इत्येवमुक्तो मुनिभिः सुकेशी
प्रणम्य तान् ब्रह्मनिधीन्महर्षीन् ।
जगाम चोत्पत्य पुरं स्वकीयं
मुहुर्म्मुहुर्धर्म्ममवेक्षमाणः ॥”

इति श्रीवामनपुराणे १४ अध्यायः ॥ * ॥ अन्यत् पाद्मे स्वर्गखण्डे २६ । ३० । ३१ अध्यायेषु विष्णुपुराणे ३ अंशे ११ अध्याये मार्कण्डेयपुराणे सदाचारनामकाध्याये चालोकनीयम् ॥

(सन् साधुराचारो यस्य । सदाचरणशीले, त्रि । यथा, कथासरित्सागरे । २ । ७ ।
“कात्यायनो जगादैनमुपविष्टः क्षणान्तरे ।
सदाचारो भवानेवं कथमेतां गतिं गतः ॥”)

सदाचारवान्, [त्] त्रि, सदाचारविशिष्टः । सदाचारी । सदाचारशब्दादस्त्यर्थे वतुप्रत्ययनिष्पन्नः ॥ (यथा, मनुः । ४ । १५८ ।
“सर्व्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान् नरः ।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥”)

सदातनः, पुं, (सदा भवः । सदा+“सायंचिरमिति ।” ४ । ३ । २३ । इति ट्युणौ तुट् च ।) विष्णुः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ नित्ये, त्रि । इत्यमरः ॥ (यथा, भट्टिः । ५ । ६५ ।
“सायन्तनीं तिथिप्रण्यः पङ्कजानां दिवातनीम् ।
कान्तिं कान्त्या सदातन्या ह्रेपयन्ती शुचिस्मिता ॥”)

सदातोया, स्त्री, (सदा तोयं यत्र ।) एलापर्णी । इति शब्दचन्द्रिका ॥ करतोया । इति सदानीराशब्ददर्शनात् ॥

सदादानः, पुं, (सदा दानं मदजलं यस्य ।) ऐरावतः । गणेशः । मत्तहस्ती । इति मेदिनी ॥ नित्यदाने, क्ली ॥

सदानन्दः, पुं, (सदा आनन्दो यस्य ।) शिवः । यथा,—
“सदाशिवः सदाकर्त्ता सदाहर्त्ता सदागतिः ।
सदानन्दः सदावर्त्ता सदासङ्गविवर्जितः ॥”
इति श्रीशिवयामले पार्व्वतीश्वरसंवादे शिवसहस्रनामस्तोत्रम् ॥ सतताह्लादयुक्ते, त्रि । यथा,
“ममानन्दे सदानन्दः सदानन्दो भविष्यति ।
ममानन्दे निरानन्दो निरानन्दो भविष्यति ॥”
इति पुराणे भगवतीवाक्यम् ॥

सदानर्त्तः, पुं, (सदा नृत्यतीति । नृत्+अच् ।) खञ्जनपक्षी । इति शब्दचन्द्रिका ॥ सर्व्वदानृत्यकारके, त्रि ॥

सदानीरवहा, स्त्री, (वहतीति । वह+अच् । सदा सर्व्वदा नीरस्य वहा ।) करतोया नदी । इति शब्दरत्नावली ॥

सदानीरा, स्त्री, (सदा नीरं यस्याः ।) करतोया नदी । इत्यमरः ॥ गौरीविवाहसमये शङ्करकरगलितसम्प्रदानतोयप्रभवत्वात् करस्य तोयं विद्यते अत्रेति करतोया अर्श आदित्वादच् । आवणे एतदन्यं सर्व्वा नद्यो रजस्वला इयन्तु न रजस्वला । अतएव सदा सर्व्वदा नीरमस्या इति सदानीरा । तथा च स्मृतिः ।
“अषाढौ कर्कटे देवी त्र्यहं गङ्गा रजस्वला ।
सर्व्वा रक्तवहा नद्यः करतोयाम्बुवाहिनी ॥”
इति भरतः ॥
(यथा, महाभारते । २ । २० । २७ ।
“गण्डकीञ्च सदानीरां शर्करावर्त्तमेव च ।
एकपर्व्वतके नद्यः क्रमेणैत्याव्रजन्त ते ॥”
निरन्तरजलपूर्णे अश्रुजलपूर्णे च त्रि । यथा, आर्य्यासप्तशत्याम् । २२४ ।

"चिरपथिकद्राघिमभिलदलकलताशै-
बलावलिग्रथिता ।
करतोयेव व्यगाह्या दृष्टिरिदानीं सदानीरा ॥")

सदापुष्पः, पुं, (सदा पुष्पं यस्य ।) नारिकेलवृक्षः । इति शब्दमाला ॥ सर्व्वदाकुसुमयुक्ते, त्रि ॥ (यथा, महाभारते । १४ । ३५ । २०-२२ ।
"अव्यक्तबीजप्रभवो बुद्धिस्कन्धमयो महान् ।
महाहङ्कारविटप इन्द्रियाङ्कुरकोटरः ॥
महाभूतविशेषश्च विशेषप्रतिशाखवान् ।
सदापर्णः सदापुष्पः सदाशुभफलोदयः ॥
आजीवः सर्व्वभूतानां ब्रह्मबीजः सनातनः ।
एतज्ज्ञात्वा च तत्त्वानि ज्ञानेन परमासिना ॥
छित्त्वा चामरतां प्राप्य जहाति मृत्युजन्मनी ॥")

सदापुष्पी, स्त्री, (सदा पुष्पं यस्याः । ङीष् ।) रक्तार्कवृक्षः । इति रत्नमाला ॥

सदाप्रसून:, पुं, (सदा प्रसूनं यस्य ।) रोहितकः । अर्कः । कुन्दः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सदाफलः, पुं, (सदा फलमस्य ।) स्कन्धफलः । नारिकेलः । उडुम्बरः । इति मेदिनी ॥ बिल्वः । इति जटाधरः ॥

सदाफला, स्त्री, (सदा फलं यस्याः ।) त्रिसन्धि-पुष्पम् । इति राजनिर्घण्टः ॥ वार्त्ताकुविशेषः । सला बेगुन इति कुली बेगुन इति ढेँको बेगुन इति च भाषा । अस्या गुणाः ।
"सदाफला त्रिदोषघ्नी रक्तपित्तप्रसादनी ।
कण्डुकच्छूहरी चैव वार्त्ताकीगुणवत्तरा ॥"
इति राजवल्लभः ॥

सदाभद्रा, स्त्री, (सदा भद्रमस्याः ।) गम्भारीवृक्षः । इति रत्नमाला ॥

सदायोगी, [न्] पुं, (सदा सर्व्वस्मिन् काले योगी ।) विष्णुः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ हरिशयने मधु-मांसवर्ज्जनफलभागी । यथा,—
"सदामुनिः सदायोगी मधुमांसस्य वर्ज्जनात् ।
निराधिर्नीरुगोजस्वी विष्णुभक्तश्च जायते ॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥

सदृक्, [श्] त्रि, (समान इव दृश्यतेऽसौ । समान+दृश्+"समानान्ययोश्चेति वक्तव्यम् ।" ३ । २ । ६० । इत्यस्य वार्त्तिकोक्त्या क्विन् । "दृक्-दृशवतुषु ।" ६ । ३ । ८९ । इति समानस्य सः ।) तुल्यम् । इत्यमरः ॥ (यथा, कथा-सरित्सागरे । ३६ । ८८ ।
"न त्वया सदृगन्योऽस्ति त्रैलोक्येऽपि धनुर्धरः ॥")

सदृक्षः, त्रि, (समान इव दृश्यते इति । समान+दृश्+क्सः । समानस्य सादेशः ।) सदृशः । इत्यमरः ॥ (यथा, भागवते । ३ । १ । २९ ।
"कच्चिद्धरेः सौम्य सुतः सदृक्ष
आस्तेऽग्रणी रथिनां साधु साम्बः ॥")

सदृशः, त्रि, (समान इव दृश्यतेऽसौ । समान+दृश्+कञ् । "दृक्दृशवतुषु ।" ६ । ३ । ८९ । इति समानस्य सः ।) समः । इत्यमरः ॥ (यथा, रघुः । १ । १५ ।
"आकारसदृशप्रज्ञः प्रज्ञया सदृशागमः ।
आगमैः सदृशारम्भ आरम्भसदृशोदयः ॥")
उचितः । इति मेदिनी ॥

सदृशस्पन्दनं, क्ली, निष्पन्दः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सदेशः, त्रि, (देशेन सह वर्त्तमानः ।) निकटः । इत्यमरः ॥ देशान्वितः । यथा,—
"सदेशसवेशौ निकटे देशवेशान्वितौ क्रमात् ।"
इति धरणिः ॥

सद्भूतः, त्रि, (सन् भूतः ।) सत्यम् । इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, हरिवंशे । १४८ । ४४ ।
"तद्वचश्रिर्गुणा वाच्याः प्रद्युम्नस्य महात्मनः ।
सद्भूताः कुलरूपस्य शीलस्य वयसस्तथा ॥")

सद्म, [न्] क्ली, (सीदन्त्यत्रेति । सद+मनिन् ।) गृहम् । इत्यमरः ॥ (यथा, रघुः । ३ । १९ ।
"न केवलं सद्मनि मागधीपतेः
पथि व्यजृम्भन्त दिवौकसामपि ॥" * ॥
"विशीर्य्यते शिलादिषु पातात् विशीर्य्यन्तेऽनेन कुथादय इति वा । गच्छति वागच्छति निम्नं गम्यते वा प्राणिभिः । अवसादयति पिपासा-युक्तं वा । सदॢ विशरणगत्यवसादनेषु+मनिन् ।" इति निघण्टुटीका । १ । १२ । ६६ ।) जलम् । इति मेदिनी ॥ (सादयन्त्यवसादयन्ति प्राणिनो यत्रेति । संग्रामः । इति निघण्टुः । २ । १७ ॥)

सद्यः, [स्] व्य, (समानेऽहनि इति । "सद्यः परुत्परार्य्यैषम इति ।" ५ । ३ । २२ । इति द्यप्रत्ययः समानस्य सभावश्च निपात्यते ।) तत्क्षणम् । तत्पर्य्यायः । सपदि २ । इत्यमरः ॥ के तत्क्षणे तत्काले । समानेऽह्नि सद्यः कृतः क कृष्ट इत्यादिना निपातः । सद्यः पतति मांसेन इति सपदि मुकुलिताक्षीम् । इयं दन्त्यादि । इति भरतः ॥

सद्यःक्षतं, क्ली, (सद्यस्तत्क्षणात् क्षतम् ।) नाम । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ तत्क्षणक्षते, त्रि ॥

सद्यःप्राणकरः, त्रि, (सद्यस्तत्क्षणात् प्राणस्य बलस्य करः ।) तत्क्षणात् बलकारकद्रव्यादिः । यथा, चाणक्ये ।
"सद्योमांसं नवान्नञ्च बाला स्त्री क्षीरभोजनम् ।
घृतमुष्णोदकञ्चैव सद्यःप्राणकराणि षट् ॥"

सद्यःप्राणहरः, त्रि, (सद्यः प्राणस्य बलस्य हरः ।) तत्क्षणात् बलायुषोर्नाशकद्रव्यादि । यथा,—
"शुष्कं मांसं स्त्रियो वृद्धा बालार्कस्तरुणं दधि ।
प्रभाते मैथुनं निद्रासद्यःप्राणहराणि षट् ॥"
इति चाणक्यम् ॥

सद्यःशुद्धिः, स्त्री, (सद्यस्तत्क्षणात् शुद्धिः ।) सद्यः-शौचम् । यथा,—
"देशान्तरमृते बाले सद्यःशुद्धिर्यतौ मृते ॥"
इति गारुडे १०७ अध्यायः ॥

सद्यःशोथा, स्त्री, (सद्यःशोथो यस्याः ।) कपि-कच्छूः । इति शब्दचन्द्रिका ॥

सद्यःशौचं, क्ली, (सद्य एव शौचं शुद्धिः ।) तत्-क्षणाच्छुद्धिः । यथा,—
"शिल्पिनः कारवो वैद्या दासीदासाश्च भृत्यकाः ।
अग्निमान् श्रोत्रियो राजा सद्यःशौचाः प्रकी-
र्त्तिताः ॥"
इति गारुडे १०७ अध्यायः ॥ * ॥
अन्यच्च ।
"कारवः शिल्पिनो वैद्या दासीदासास्तथैव च ।
दातारो नियमी चैव ब्रह्मविद्ब्रह्मचारिणौ ॥
सत्रिणो व्रतिनस्तावत् सद्यःशौचा उदाहृताः ।
राजा चैवाभिषिक्तश्च प्रातः सत्रिण एव च ॥
यज्ञे विवाहकाले च देवयागे तथैव च ।
सद्यःशौचं समाख्यातं दुर्भिक्षे वाप्युपद्रवे ॥
डिम्बाहवहतानाञ्च विद्युता पार्थिवैर्द्विजैः ।
सद्यःशौचं समाख्यातं सजातिमरणे तथा ॥
अग्नौ मरुप्रपतने वीराध्वन्याप्यनाशके ।
ब्राह्मणार्थे च संन्यस्ते सद्यःशौचं विधीयते ॥"
इति कौर्म्मे उपविभागे २२ अध्यायः ॥ * ॥
अपरञ्च । अथ सद्यःशौचम् । तत्र विष्णुः । नाशौचं राज्ञां राजकर्म्मणि न व्रतिनां व्रते न सत्रिणां सत्रे न कारूणां स्वकर्म्मणि न राजाज्ञाकारिणां तदिच्छया न देवप्रतिष्ठा-विवाहयोः पूर्व्वसंभृतयोः इति । सत्रिणां नित्य-प्रवृत्तान्नदानानां सत्रे अन्नदाने । कारवः सूपकाराद्याः । आदिपुराणे ।
"सूपकारेण यत् कर्म्म करणीयं नरेष्विह ।
तदन्यो नैव शक्नोति तस्माच्छुद्धः स सूपकृत् ॥"
कूर्म्मपुराणे ।
"कारवः शिल्पिनो वैद्या दासा दास्यस्तथैव च ।
दातारो नियमी चैव ब्रह्मविद्ब्रह्मचारिणौ ।
सत्रिणो व्रतिनस्तावत् सद्यःशौचा उदाहृताः ॥"
आदिपुराणे ।
"शिल्पिनश्चित्रकाराद्याः कर्म्म यत् साधयन्त्युत ।
तत् कर्म्म नान्यो जानाति तस्मात् शुद्धः
स्वकर्म्मणि ॥
दासा दास्यश्च यत् कर्म्म कुर्व्वन्त्यपि च लीलया ।
तदन्यो न क्षमः कर्त्तुं तेन ते शुचयः स्मृताः ॥"
चित्रकाराद्यरूपाः शिल्पिनः । आद्यशब्दाच्चैल-निर्णेजकाद्याः । शातातपः ।
"भृत्यकर्म्मकराः शूद्रा दासा दास्यस्तथैव च ।
स्नाने शरीरसंस्कारे गृहकर्म्मण्यदूषिताः ॥"
स्मृतिः ।
"सद्यःस्पृश्यो गर्भदासो भक्तदासस्त्र्यहा-
च्छुचिः ॥"
वैद्या अपि चिकित्सायामेव । तथा च स्मृतिः ।
"चिकित्सको यत् कुरुते तदन्येन न शक्यते ।
तस्मात् चिकित्सकः स्पर्शे शुद्धो भवति नित्यशः ॥"
दातार आवश्यकप्रत्यहं गोभूमिहिरण्यादि-दाने प्रवृत्ताः । तेषां तद्दान एव । प्रत्यहं दानञ्च । दातव्यं प्रत्यहं पात्रे इति याज्ञ-वल्क्यात् । कादाचित्कदानकारिणान्तु दाने प्रक्रान्ते अशौचं नास्ति तावत् यावत्तत् कर्म्म कुर्व्वन्ति इति । हारलताप्येवम् । पूर्व्वसङ्कल्पित-द्रव्यदानेऽपि नाशौचम् । यथा च मिता-क्षरायाम् ।

"पूर्व्वसङ्कल्पितं द्रव्यं दीयमानं न दुष्यति ॥"
इति ॥

आदिपुराणे ।
"निवृत्ते कृच्छ्रहोमादौ ब्राह्मणादिषु भोजने ।
गृहीतनियमस्यापि न स्यादन्यस्य कस्यचित् ॥
निमन्त्रितेषु विप्रेषु प्रारब्धे श्राद्धकर्म्मणि ।
निमन्त्रणाद्धि विप्रस्य स्वाध्यायाद्विरतस्य च ।
देहे पितृषु तिष्ठत्सु नाशौचं विद्यते क्वचित् ॥"
प्राजापत्यादिकृच्छ्रे समाप्ते होमयागजपेषु समाप्तेषु सम्पूर्णार्थमवश्यं मया ब्राह्मणा भोजयितव्या इति गृहीतनियमो यस्तस्याशौचेऽन्यकुलजातानामपि भुञ्जानानां दोषाभावः। कस्यचिद्दातृभोक्तोरित्यर्थः। एवं प्रारब्धश्राद्धेऽपि क्वचिदित्यनेन दातृभोक्तोरशौचाभावः।
तथा च विष्णुः ।
"व्रतयज्ञविवाहेषु श्राद्धे होमेऽर्च्चने जपे ।
आरब्धे सूतकं न स्यादनारब्धे तु सूतकम् ॥"
इति ॥

पराशरः ।
"दीक्षितेष्वभिषिक्तेषु व्रततीर्थपरेषु च ।
तपोदानप्रसक्तेषु नाशौचं मृतसूतके ॥"
यजमानानां सोमयागाङ्गदीक्षणीयेष्टौ कृतायां दीक्षितत्वं भवति तेन दीक्षणीयेष्ट्युत्तरकालं यजमानस्य यत् कर्म्म तत्राशौचं नास्ति। अभिषिक्तेषु क्षत्रियनृपतिषु। तीर्थं गङ्गादि। गुरुरिति कश्चित् ॥ कालमाधवीये कूर्म्मपुराणम् ।
"काम्योपवासे प्रक्रान्ते अन्तरा मृतसूतके ।
तत्र काम्यव्रतं कुर्य्यात् दानार्च्चनविवर्ज्जितम् ॥"
तत्र दानार्च्चनं स्वयं वर्ज्जयेत् अन्यद्वारा तु कारयेत्। तथा च मत्स्यपुराणम् ।
"गर्भिणी सूतिका नक्तं कुमारी च रजस्वला ।
यदाशुद्धा तदान्येन कारयेत् क्रियते सदा ॥"
उपवासाचरणे गर्भादिपीडासम्भावनायां नक्तं भोजनं कुर्य्यात् ।
"उपवासेष्वशक्तस्य तदेव फलमिच्छतः ।
अनभ्यासेन रोगाणां किमिष्टं व्रतमुच्यताम् ॥"
इति नारदप्रश्नानन्तरम् ।
"उपवासेष्वशक्तानां नक्तं भोजनमिष्यते ।"
इति मत्स्यपुराण एवेश्वरप्रतिवचनात् ।
स्वयमशुद्धा शुद्धद्वारा पूजादिकं कारयेत्। कायिकमुपवासादि सदा शुद्ध्यशुद्धिकाले स्वयं क्रियते। स्मृतिपरिभाषायामप्येवम्। विष्णुः।
"बहुकालिकसङ्कल्पो गृहीतश्च पुरा यदि ।
सूतके मृतके चैव व्रतं तन्नैव दुष्यति ॥"
एतत्काम्यव्रतपरम्। नित्यानान्त्वारब्धानामनारब्धानामविशेषेण कर्त्तव्यता। नाशौचमित्यनुवृत्तौ ब्रह्मपुराणम् ।
"नैष्ठिकस्याथवान्यस्य भिक्षार्थं प्रस्थितस्य च ॥"
नैष्ठिकस्य ब्रह्मचारिविशेषस्य। अन्यस्य चतुर्थाश्रमिणः। अशौचिभिक्षाग्रहणे दोषाभावः। इति हारलताप्रभृतयः ॥ कौर्म्मे ।
"सद्यःशौचं समाख्यातं दुर्भिक्षे चाप्युपप्लवे ।
डिम्बाहवहतानाञ्च विद्युता पार्थिवैर्द्विजैः ।
सद्यःशौचं समाख्यातं श्वापादिमरणे तथा ॥"
उपप्लवे राजविप्लवे। औपसर्गिकात्यन्तमरकपीडने च सद्यःशौचमुक्तम्। तथा च पराशरः।
"उपसर्गमृते चैव सद्यःशौचं विधीयते ।"
अतएव ।
"आपद्यपि च कष्टायां सद्यःशौचं विधीयते ।"
इति याज्ञवल्क्यवचने अनिरुद्धभट्टशूलपाणिप्रभृतिभिरौपसर्गिकात्यन्तमरकपीडायां सद्यःशौचं विधीयते इत्युक्तम्। उपसर्गश्च त्रिविधोत्पातः। तथा च गर्गसंहितावार्हस्पत्ययोः।
"अतिलोभादसत्याद्वा नास्तिक्याद्वाप्य-
धर्म्मतः ।
नरापचारान्नियतमुपसर्गः प्रवर्त्तते ॥
अतोऽपचारान्नियतमपवर्ज्जन्ति देवताः ।
ताः सृजन्त्यद्भुतांस्तावद्दिव्यनाभसभूमिजान् ॥
त एव त्रिविधा लोके उत्पाता देवनिर्म्मिताः ।
विचरन्ति विनाशाय रूपैः सम्भावयन्ति च ॥"
यद्यप्युपसर्गः स्मृतो रोगभेदोपप्लवयोरपीति विश्वकोषादुपसर्गस्योभयवाचकत्वं तथाप्यत्र मुनिप्रयुक्तत्वेनान्तरङ्गत्वात् त्रिविधोत्पातात्मकोपसर्गो गृह्यते न तु रोगविशेषात्मक इति। एतेनोपसृजन्तीति व्युत्पत्त्या देहाभ्यन्तर एव यावद्वर्त्तते तावत्कालमरण एव सद्यःशौचं बहिर्भावे त्वपरम्परया मरणे सति स्वजात्युक्ताशौचमेवेति व्याहमिति दर्शनस्मृतिसारप्रदीपा इति वाचस्पतिमिश्रोक्तं हेयम्। द्विजैर्ब्राह्मणैः। श्वापादीत्यादिशब्देनाभिचारमृतस्य ग्रहणम्। ब्रह्मकूर्म्मपुराणाभ्यां यद्ब्राह्मणहतस्याशौचाभाव उक्तः स बुद्धिपूर्ब्बकहनने बोद्धव्यः। प्रमादहते त्वशौचाद्यस्त्येव अन्यथा मरीचिवचनं निर्व्विषयं स्यात्। यथा,—
"विषशस्त्रश्वापदाहितिर्य्यग्ब्राह्मणघातिनाम् ।
चतुर्द्दश्यां क्रिया कार्य्या अन्येषान्तु विगर्हिता ॥"
विप्रादिवाहचर्य्यात् ब्राह्मणकर्तृकघातोऽत्रास्तीति प्रतीयते। यच्चात्र ये च वै ब्राह्मणैर्हता इति ब्रह्मपुराणीयं बाधकत्वेनोपन्यस्तं श्राद्धविवेके तच्चिन्त्यम् ।
"महापातकिनो ये च पतितास्ते उदाहृताः ।"
इत्युत्तरार्द्धेन पातित्यमभिधाय तेषां श्राद्धनिषेधात्। जावालः।
"दुर्भिक्षे राष्ट्रसम्पाते शस्त्रगोब्रह्मघातिते ।
पतितेऽनशनप्रेते विदेशस्थे शिशौ न च ॥"
नाशौचमित्यर्थः। इति शुद्धितत्त्वम् ॥

सद्यस्कः, त्रि, (सद्यः कायतीति। कै+कः।) नूतनम्। इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, सुश्रुते। १। ४५।
"नवनीतं पुनः सद्यस्कं लघु सुकुमारं मधुरमिति ॥")

सद्योजातः, पुं, (सद्यस्तत्क्षणात् जातः।) वत्सः। इति शब्दचन्द्रिका ॥ शिवः। यथा,—
"भक्त्यैर्नानाविधैर्युक्तां ब्राह्मणाय निवेदयेत् ।
प्रीयतां देवदेवोऽत्र सद्योजातः पिनाकधृक् ॥"
इति मात्स्ये शिवचतुर्द्दशीव्रते ९५ अध्यायः ॥
सद्योजाताय नमः। इति शिवरात्रिव्रते शिवस्नानमन्त्रः। इति तिथ्यादितत्त्वञ्च ॥ तत्क्षणोत्पन्ने, त्रि ॥

सद्योभावी, [न्] पुं, (सद्यो भवतीति। भू+णिनिः।) तर्णकः। सद्योजातवत्सः। इति शब्दचन्द्रिका ॥

सद्रुः, त्रि, (सीदति गच्छतीति। सद गतौ+ "दाधेट्सिशदसदो रुः।" ३। २। १५९। इति रुः।) गमनकर्त्ता। इति सिद्धान्तकौमुदी ॥

सद्वसथः, पुं, ग्रामः। सच्छब्दपूर्ब्बकवसधातोरथच्प्रत्ययेन निष्पन्नः। इति केचित् ॥ किन्तु संपूर्ब्बवसधातोरथप्रत्यये संवसथ इति सिद्धान्तकौमुद्यां निष्पादितम् ॥

सद्वृत्तं, क्ली, (सत् वृत्तम्।) साधुस्वभावः। सच्चरित्रम्। इति जटाधरः ॥ (यथा, कथासरित्सागरे। ५१। २२७।
"स च नरवाहनदत्तः सद्वृत्तमनोरमासुदारगुणाम्।
प्राप्यालङ्कारवतीं वाणीमिव सुकविरास्त
तद्रसिकः ॥")
सद्वृत्ते, त्रि। यथा,—
"नासमञ्जसशीलैस्तु सहासीत कदाचन ।
सद्वृत्तसन्निकर्षो हि क्षणार्द्धमपि शस्यते ॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम् ।

सद्वृत्तिभाक्, [ज्] त्रि, (सद्वृत्तिं भजतीति भज्+क्विप्।) सद्वृत्तिविशिष्टः। यथा, सारावल्याम् ।
"पथ्याशिनां शीलवतां नराणां
सद्वृत्तिभाजां विजितेन्द्रियाणाम् ।
एवंविधानामिदमायुरत्र
चिन्त्यं सदा वृद्धमुनिप्रवादः ॥"
इति मलमासतत्त्वम् ।

सधर्म्मचारिणी, स्त्री, (सह धर्म्मं चरतीति। चर+णिनिः। "वोपसर्ज्जनस्य।" ६। ३। ८२। इति सहस्य सः।) भार्य्या। यथा,—
"सधर्म्मचारिणी पत्नी जाया च गृहिणी गृहा ॥"
इति हलायुधः ॥
(यथा, महाभारते। १३। १४०। ४८।
"एतन्मे संशयं सर्व्वं वक्तुमर्हसि वै प्रभो ।
सधर्म्मचारिणी चाहं भक्ता चेति वृषध्वज ॥")

सधर्म्मा, [न्] त्रि, (समानो धर्म्मो यस्य। "धर्म्मादनिच् केवलात्।" ५। ४। १२४। इति अनिच्।) सदृशः। यथा,—
"तुल्यः समानः सदृक्षः सरूपः सदृशः समः ।
साधारणसधर्म्माणौ सवर्णः सन्निभः सदृक् ॥"
इति हेमचन्द्रः ॥
समानधर्म्मयुक्तश्च ॥ (यथा, मनुः। १०। ४१।
"सजातिजानन्तरजाः षट्सुता द्विजधर्म्मिणः ।
शूद्राणान्तु सधर्म्माणः सर्व्वेऽपध्वंसजाः
स्मृताः ॥")

सधर्म्मिणी, स्त्री, (सह धर्म्मोऽस्या अस्तीति । “धर्म्मशीलवर्णान्ताच्च ।” ५ । २ । १३२ । इति इनिः । “वोपसर्ज्जनस्य ।” ६ । ३ । ८२ । इति सहस्य सः ।) भार्य्या । यथा,—

“सुवासिनी वधूटी स्याच्चिरण्ट्यथ सधर्म्मिणी ।
पत्नी सहचरी पाणिगृहीती गृहिणी गृहा ॥”

इति हेमचन्द्रः ॥

सधर्म्मा, [न्] त्रि, (सह धर्म्मोऽस्यस्येति । “धर्म्मशीलवर्णान्ताच्च ।” ५ । २ । १३२ । इति इनिः । “वोपसर्ज्जनस्य ।” ६ । ३ । ८२ । इति सहस्य सः ।) समानधर्म्माचारी । यथा,—

“पशूनां समजोऽन्येषां समाजोऽथ सधर्म्मिणाम् ।”

इत्यमरः ॥

सधवा, स्त्री, (धवेन भर्त्रा सह वर्त्तमाना ।) जीवत्पतिका । तत्पर्य्यायः । सभर्त्तृका २ पतिवत्नी ३ सनाथा ४ । इति जटाधरः ॥ अस्या धर्म्मा यथा,—

“भर्त्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्म्मो ह्यमायया ।
तद्बन्धूनाञ्च कल्याण्यः प्रजानाञ्चानुपोषणम् ॥
दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जड़ो रोग्यधनोऽपि वा ।
पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी ॥”

इति श्रीभागवते १० स्कन्धे २९ अध्यायः ॥

सधिः, पुं, अग्निः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सधिः, [स्] पुं, (सहते इति । सह+“सहेर्धश्च ।” उणा० २ । ११४ । इति इसिन् धश्चान्तादेशः ।) वृषभः । इति सिद्धान्तकौमुद्यामुणादिवृत्तिः ॥

सध्रीची, स्त्री, (सह अञ्चति या सा । अञ्च+ऋत्विगादिना क्विन् । सहस्य सध्रिः । अञ्चतेश्चोपसंख्यानं इति ङीप् । अच इत्यकारलोपः । चाविति दीर्घः ।) सखी । इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, भट्टिः । ६ । ७ ।

“सीतां सौमित्त्रिणा त्यक्तां सध्रीचीं नष्टुमेकिकाम् ।
विज्ञायामंस्त काकुत्स्थः चये क्षेमं सुदुर्लभम् ॥”)

सध्र्यङ्, [च्] त्रि, (सह अञ्चतीति । अञ्च गतौ+ऋत्विगादिना क्विन् । सहस्य सध्रिः ।) सहचरः । इत्यमरः ॥ (यथा, भागवते । २ । ७ । ४७ ।

“सध्र्यङ् नियम्य यतयो यमकर्त्तहेतिं
जह्युः स्वराड़िव निपानखनित्त्रमिन्द्रः ॥”

सम्यक् । यथा, तत्रैव । ४ । २७ । १ ।

“इत्थं पुरञ्जनं सध्र्यग्वशमानीय विभ्रमैः ।
पुरञ्जनी महाराज रेमे रमयती पतिम् ॥”)

सन्, पुं, व्याकरणीयप्रत्ययविशेषः । तत्सूत्रादि यथा । सन्निच्छायाम् । धोः परः सन् स्यादिच्छायाम् । अत्तुमिच्छति जिघत्सति । इति मुग्धबोधव्याकरणे सनन्तपादः ॥ * ॥ प्रथमैकवचनान्तपुंलिङ्गसच्छब्दरूपोऽप्येवम् । तदुदाहरणम् । यथा,—

“रामं नमति सानन्दं धर्म्मानभिनिविश्य सन् ॥”

इति तत्रैव कारकपादः ॥

सनः, पुं स्त्री, हस्तिकर्णास्फालः । यथा । कर्णास्फाले सनः सनी । इति शब्दरत्नावली ॥

सनः, पुं, घण्टापाटलिवृक्षः । इति शब्दचन्द्रिका ॥ (सनत्कुमारः । सनकः । सनन्दनः । सनातनः । दाने, क्ली । अखण्डिते, त्रि ॥ यथा, भागवते । २ । ७ । ५ ।

“तप्तं तपो विविधलोकसिसृक्षया मे
आदौ सनात् स्वतपसः स चतुःसनोऽभूत् ॥”

“स हरिः चतुःसनोऽभूत् । सनत्कुमारः सनकः सनन्दनः सनातन इति चत्वारः सनशब्दा नाम्नि यस्य सः । कथम्भूतात् स्वतपसः सनात् अखण्डितात् यद्वा स्वतपसः सनात् दानात् समर्पणादित्यर्थः षणु दाने ।” इति तट्टीकायां श्रीधरस्वामी ॥)

सनकः, पुं, विष्णुपारिषद्भेदः । इति शब्दरत्नावली ॥ स तु ब्रह्मणश्चतुष्पुत्त्रान्तर्गतपुत्त्रविशेषः । यथा,—

“दृष्ट्वा पापीयसीं सृष्टिं नात्मानं बह्वमन्यत ।
भगवद्ध्यानपूतेन मनसान्यांस्ततोऽसृजत् ॥
सनकञ्च सनन्दञ्च सनातनमथात्मभूः ।
सनत्कुमारञ्च मुनीन् निष्क्रियानूर्द्ध्वरेतसः ॥
तान् बभाषे स्वभूः पुत्त्रान् प्रजाः सृजत पुत्त्रकाः ।
तन्नैच्छन्मोक्षधर्म्माणो वासुदेवपरायणाः ॥”

इति श्रीभागवते ३ स्कन्धे १२ अध्यायः ॥

तस्य वासस्थानं जनलोकः । इति काशीखण्डम् ॥

सनत्, पुं, ब्रह्मा । इति त्रिकाण्डशेषशब्दरत्नावल्यौ ॥

सनत्, व्य, सर्व्वदा । इत्यमरटीकायां रामाश्रमः ॥

सनत्कुमारः, पुं, (सनतो ब्रह्मणः कुमारः ।) ब्रह्मणः पुत्त्रः । तत्पर्य्यायः । वैधात्रः २ । इत्यमरः ॥ वैधात्रिः ३ । इति भरतः ॥ धातृपुत्त्रः ४ वेधायः ५ । इति शब्दरत्नावली ॥ तन्नामव्युत्पत्तिर्यथा । सनत् ब्रह्मा तस्य कुमारः सनत्कुमारः । सन्नित्यकुमारस्तेन सनत्कुमारो वापीति स्वामिमतम् । इति भरतः ॥ तन्नामकारणम् । यथा,—

“यथोत्पन्नस्तथैवाहं कुमार इति विद्धि माम् ।
तस्मात् सनत्कुमारेति नामैतन्मे प्रतिष्ठितम् ॥”

इति महाभारते हरिवंशः ॥ * ॥

स च धर्म्मस्यौरसेन अहिंसायां जातः पश्चात् ब्रह्मणो दत्तपुत्त्रः । अयं साध्यगणः । यथा,—

श्रीनारद उवाच ।

“कोऽयं सनत्कुमारेति यस्योक्तं ब्रह्मणा स्वयम् ।
तवापि तेन गदितं वद मामनुपूर्व्वतः ॥

पुलस्त्य उवाच ।

धर्म्मस्य भार्य्या हिंसाख्या तस्यां पुत्त्रचतुष्टयम् ।
सम्प्राप्तं मुनिशार्द्दूल योगशास्त्रविचारकम् ॥
ज्येष्ठः सनत्कुमारोऽभूत् द्वितीयश्च सनातनः ॥
तृतीयः सनको नाम चतुर्थश्च सनन्दनः ॥
सांख्यवेत्तारमपरं कपिलं वोढुमासुरिम् ।
दृष्ट्वा पञ्चशिखं श्रेष्ठं योगयुक्तं तपोनिधिम् ॥
ज्ञानयोगं न ते दद्युर्ज्यायांसोऽपि कनीयसाम् ।
ज्ञानमाद्यं महायोगं कपिलादिर्न चावदत् ॥
सनत्कुमारश्चाभ्येत्य ब्रह्माणं कमलोद्भवम् ।
अपृच्छद्योगविज्ञानं तमुवाच प्रजापतिः ॥
कथयिष्यामि ते साध्यं यदि पुत्त्रेति मे वचः ।
शृणोषि कुरुषे तच्च ज्ञानं साध्यं शृणो भव ॥
पितामहवचः श्रुत्वा साध्यः प्राह तपोधन ।
सत्यं हि तव पुत्त्रोऽहं देव योगं वदस्व माम् ॥
तमुवाच महायोगी त्वन्मातापितरौ यदि ।
दास्येते च ततः स्नुर्दायादो मेऽसि पुत्त्रकः ॥
सनत्कुमारः प्रोवाच दायादपरिकल्पना ।
येषां हि भवता प्रोक्ता तान् मे व्याख्यातुमर्हसि ॥
तदुक्तं साध्यमुख्येन वाक्यं श्रुत्वा पितामहः ।
प्राह प्रहस्य भगवान् शृणु वत्सेति नारद ! ॥”

इति वामने ५७ । ५८ अध्यायौ ॥

स च पञ्चहायनवयस्कः चूड़ादिसंस्कारवेदसन्ध्याविहीनश्च । यथा,—

“तच्छ्रुत्वा सृञ्जयो राजा रत्नभूषणभूषिताम् ।
गृहीत्वा कन्यकां रम्यां नारदाय ददौ मुदा ॥
गृहीत्वा च सभार्य्यं तं पुत्त्रं धाता मुदान्वितः ।
प्रययौ ब्रह्मलोकञ्च देवेन्द्रैर्मुनिभिः सह ॥
तत्राजगाम नमस्च प्रज्वलन् ब्रह्मतेजसा ।
सनत्कुमारो भगवान् साक्षाच्च बालको यथा ॥
सृष्टेः पूर्व्वञ्च वयसा यथैवं पञ्चहायनः ।
अचूड़ोऽनुपवीतश्च वेदसन्ध्याविहीनकः ॥
कृष्णेति मन्त्रं जपति यस्य नारायणो गुरुः ।
अनन्तकालकल्पश्च भ्रातृभिश्च त्रिभिः सह ॥
वैष्णवानामग्रणीशो ज्ञानिनाञ्च गुरोर्गुरुः ।
आराद्दृष्ट्वा नारदस्तं भ्रातरञ्च सतां वरम् ॥
सहसा शिरसा भूमौ दण्डवत् प्रणनाम तम् ।
उवाच नारदं बालः प्रहस्य परमार्थकम् ॥”

इति ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे १२९ अध्यायः ॥

जिनमते द्वादशसार्व्वभौमान्तर्गतसार्व्वभौमभेदः । इति हेमचन्द्रः ॥

सनन्दः, पुं, ब्रह्मणः पुत्त्रचतुष्टयान्तर्गतपुत्त्रविशेषः । स तु जनलोकवासी । इति काशीखण्डम् ॥ स एव दिव्यमनुष्यः । अस्य तर्पणं निवीतिना प्रत्यङ्मुखेन प्राजापत्यतीर्थेन सामगेन कर्त्तव्यम् । तदितरेण उदङ्मुखेन कर्त्तव्यम् । यथा दक्षः ।

“प्रादेशमात्त्रमुद्धृत्य सलिलं प्राङ्मुखः सुरान् ।
उदङ्मुखांस्तर्पयेत पितॄन् दक्षिणतस्तथा ॥
अग्रैस्तु तर्पयेद्देवान् मनुष्यान् कुशमध्यतः ।
पितॄंस्तु कुशमूलाग्रे विधिः कौशो यथाक्रमम् ॥
कृतोपवीती देवेभ्यो निवीती च भवेत्ततः ।
मनुष्यांस्तर्पयेद्भक्त्या ऋषिपुत्त्रानृषींस्तथा ॥
सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः ।
कपिलश्चासुरिश्चैव वोढुः पञ्चशिखस्तथा ।
सर्व्वे ते तृप्तिमायान्तु मद्दत्तेनाम्बुना सदा ॥”

अनेनाञ्जलिद्वयम् । यथा,—

“एकैकमञ्जलिं देवा द्वौ द्वौ तु सनकादयः ।
अर्हन्ति पितरस्त्रींस्त्रीन् स्त्रियस्त्वेकैकमञ्जलिम् ॥”

परिशिष्टप्रकाशधृतं सामवेदीयषट्त्रिंशद्ब्राह्मणम् । मनुष्याणामेषा दिक् या प्रतीचीति । तथा च ज्योतिष्टोमे श्रूयते । प्राचीं

देवा अभजन्त दक्षिणां पितरः प्रतीचीं मनुष्याः उदीचीमसुराः अपरेषामुदीचीं मनुष्याः । विष्णुपुराणे ।
"प्राजापत्येन तीर्थेन मनुष्यांस्तर्पयेत् पृथक् ।"
इत्याह्निकाचारतत्त्वम् ॥

सनपर्णी, स्त्री, (सनस्य पर्णमिव पर्णमस्याः । पाककर्णेति ङीष् ।) असनपर्णी । इति शब्दरत्नावली ॥

सनसूत्रं, क्ली, (सनस्य सूत्रम् ।) पवित्रकम् । इ शणसूत्रजाले । शणस्य सूत्रं शणसूत्रं शणति ददाति सूत्रं शणः । शण अण दाने अन् शणस्तालव्यादिर्मूर्द्धन्यणान्तः । इति वह्नव: । सनो दन्त्यसादिर्दन्त्यनान्तः । इति केचित् । तन्मते षन द ु ण दाने इत्यस्य रूपम् । सणो दन्त्यसादिर्मूर्द्धन्यणान्त इत्यपरे । सण किम मणि काकण कोण काणा इति मूर्द्धन्यणान्ते विद्याभरणः ।
"कार्पासमुपवीतं स्यात् विप्रस्योर्द्धवृतं त्रिवृत् ।
सनसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम् ॥"
इति मनुवचनात् पवित्रकमपि तदुच्यते । इत्यमरटीकायां भरतः ॥

सना, व्य, नित्यम् । इत्यमरः ॥ (यथा, ऋग्वेदे । ३ । ५४ । ६ ।
"सना पुराणमध्येम्यारात् ॥")

सनात्, व्य, नित्यम् । इत्यमरटीकायां रामाश्रमः ॥ (चिरात् । यथा, ऋग्वेदे । ४ । २० । ६ ।
"सनादेव सहसो जात उग्रः ॥"
"सनादेव चिरादेव जात उत्पन्नः ॥" इति तद्भाष्ये सायणः ॥) विष्णुः । इति तस्य सहस्रनामस्तोत्रम् ॥

सनातनः, पुं, (सना भवः । "सायंचिरंप्राह्णेप्रगे इति ।" ४ । ३ । २३ । इति ट्युट्युलौ तुट् च ।) विष्णुः । शिवः । ब्रह्मा । पितृणामतिथिः । इति हेमचन्द्रः । दिव्यमनुष्यः । अस्य प्रमाणं सनन्दशब्दे द्रष्टव्यम् । स च ब्रह्मणः पुत्रः । यथा,—
"सनत्कुमारो धर्म्मश्च सनकश्च सनातनः ।
सनन्दश्चापि सर्व्वेच येऽन्ये वा ब्रह्मणः सुताः ॥
विचक्षणा न यदक्तुं के वान्ये जड़बुद्धयः ॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते प्रकृतिखण्डे ३१ अध्यायः ॥
स तु जनलोकवासी । इति काशीखण्डम् ॥ वह्निपुराणमते तु तपोलोकस्य इति भेदः । वैणवराजः । इति मत्स्यपुराणम् ॥

सनातनः, त्रि, (सना भवः । सायंचिरमिति ट्युट्युलौ तुट् च ।) नित्यम् । इत्यमरः ॥ सुनिश्चलः । इति विश्वः ॥ (यथा, मनुः । ७ । ९८ ।
"एषोऽनुपस्कृतः प्रोक्तो योधधर्म्मः सनातनः ।
अस्माद्धर्म्मान्न च्यवेत क्षत्त्रियो घ्नन् रणे रिपून् ॥")

सनातनतमः, पुं, (अयमेषामतिशयेन सनातनः । तमप् ।) विष्णुः । इति महाभारते तस्य सहस्रनामस्तोत्रे । १३ । १४९ । १०६ ॥

सनातनी, स्त्री, (सनातन + टित्वात् ङीप् ।) दुर्गा । लक्ष्मीः । सरस्वती । इति शब्दरत्नावली ॥ तस्या व्युत्पत्तिर्यथा,—
"सर्व्वकाले सना प्रोक्ता विद्यमाने तनोति च ।
सर्व्वत्र सर्व्वकालेषु विद्यमाना सनातनी ॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते प्रकृतिखण्डे ५४ अध्यायः ॥
अपि च ।
"निर्गुणस्य च नित्यस्य वाचकश्च सनातनः ।
सदा नित्या निर्गुणा या कीर्त्तिता सा सनातनी ॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे २७ अध्यायः ॥
अन्यच्च ।
"स्थितिं करोति भूतानां सैव काले सनातनी ।"
इति देवीमाहात्म्यम् ॥

सनाथा, स्त्री, (नाथेन सह वर्त्तमाना ।) जीवद्भर्त्तृका । इति जटाधरः ॥ (प्रभुविशिष्टे, त्रि । यथा, भागवते । १ । ११ । ८ ।
"अहो सनाथा भवता स्म यद्वयं
त्रैविष्टपानामपि दूरदर्शनम् ।
प्रेमस्मितस्निग्धनिरीक्षणाननं
पश्येम रूपं तव सर्व्वसौभगम् ॥")

सनाभिः, पुं, (समानो नाभिर्गोत्रमस्य । "ज्योतिर्जनपदेति ।" ६ । ३ । ८५ । इति समानस्य सः ।) सपिण्डः । ज्ञातिः । इत्यमरमेदिनीकरौ ॥ (यथा, मनुः । ५ । ७२ ।
"यथोक्तेनैव कल्पेन शुध्यन्ति तु सनाभयः ॥")

सनाभिः, त्रि, (समानो नाभिर्यस्येति । समानस्य सः ।) तुल्यः । इति मेदिनी ॥ स्नेहयुक्तः । इति शब्दरत्नावली ॥

सनामकः, पुं, शोभाञ्जनः । इति शब्दचन्द्रिका ॥ (समानं नाम यस्य ।) समाननामयुक्ते, त्रि । (यथा, हरिवंशे । ३१ । १४ ।
"स तासु जनयामास पुत्त्रिकासु सनामकान् ।
दश पुत्त्रान् महात्मासौ तपस्युग्रेरतान् सदा ॥")

सनिः, पुं, (सन + "खनिकष्यज्यसीति ।" उणा० ४ । १३९ । इति इः ।) पूजा । दानम् । इति सिद्धान्तकौमुद्यामुणादिवृत्तिः ॥ (यथा, ऋग्वेदे । १ । १०० । १३ ।
"सं सचन्ते सनयस्तं धनानि ॥"
"सनयो धनस्य दातानि सचन्ते सेवन्ते ।" इति तद्भाष्ये सायणः ॥)

सनिः, पुं, स्त्री, ("सन + खनिकष्यज्यसीति ।"उणा० ४ । १३९ । इति इः ।) अध्येषणा । इत्यमरः ॥ गुर्व्वादेः सत्कारपूर्व्वकं क्वचिदर्थे नियोजनम् । तच्च हे गुरो अस्माकं कर्म्म कुर्व्वित्यादिरूपम् । सायते दीयते पुण्यादिकमत्र सनिः षन द ु ण दाने नाम्नीति इः पाञ्च्यौषादीति ईपि सनी च । अन्वेषणादिवदध्येषणा । इति भरतः ॥ दिक् । इति शब्दमाला ॥

सनितः, त्रि, प्रतिपन्नः । इति हेमचन्द्रः ॥

सनिष्ठीवं, क्ली, (निष्ठीवेन सह वर्त्तमानम् ।) सनिष्ठेवम् । इत्यमरटीकायां भरतः ॥

सनिष्ठेवं, क्ली, अस्फूटवचनम् । इत्यमरः ॥ निष्ठेवो मुखवारिविन्दुः तेन सह वर्त्तते इति सनिष्ठेवं निपूर्व्वष्ठिवेर्घञ् गुणः सनिष्ठीवमिति क्वचित् पाठो लिपिकरप्रमादादिति मुकुटः । इत्यमरटीकायां भरतः ॥

सनी, स्त्री, (सन + इः । वा ङीप् ।) सनिः । इत्यमरटीकायां भरतः ॥ हस्तिकर्णस्फालः । इति शब्दरत्नावली ॥

सनीडः त्रि, (नीडेन वासस्थानेन सह वर्त्तमानः ।) निकटः । इत्यमरः ॥ (यथा, भट्टिः । ५ । ३१ ।
"सम्यय तत्सनीड़ेऽसौ तं दृष्टान्तमशिश्रवत् ॥") नीडयुक्तश्च ॥

सन्तः, पु, संहतलः । इति शब्दचन्द्रिका ॥ सच्छब्दस्य प्रथमाबहुवचनान्तरूपञ्च ॥ (यथा, रघुः । १ । १० ।
"तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः ।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा ॥")

सन्ततं, क्ली, (सम् + तन + क्तः । समो वा हितततयोः इति पक्षे मलोपाभावः ।) सततम् । तद्वति, त्रि । इत्यमरः ॥

सन्तताभ्यासः, पुं, (सन्ततं यथा तथा अभ्यासः ।) निरन्तराभ्यासः । यथा । स्वाध्यायः सन्तताभ्यासः । इति भूरिप्रयोगः ॥

सन्ततिः, स्त्री, (सम् + तन + क्तिन् ।) गोत्रम् । इत्यमरः ॥ (यथा, रघुः । १ । ६९ ।
"सन्ततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्म्मणे ॥") पंक्तिः । (यथा, कथासरित्सागरे । ११ । ५१ ।
"तत् श्रुत्वा नेत्रयुगलात् सरागादश्रुसन्ततिम् ।
हृदयान्नीरतांश्चापि समं कन्या मुमोच सा ॥")
विस्तारः । (यथा, भागवते । १ । ४ । १९ ।
"अदधात् यज्ञसन्तत्यै वेदमेकं चतुर्विधम् ॥")
परम्पराभवः । पुत्त्रः । कन्या । इति विश्वः ॥ (यथा, स्मृतिः ।
"सन्तत्या पितृकृणम् शोधयित्वा परिव्रजेत् ॥")

सन्तप्तः, त्रि, (सम् + तप् + क्तः ।) अध्वगमनादिना श्रान्तः । तत्पर्य्यायः । सन्तापितः २ धूपितः ३ धूपायितः ४ दूनः ५ । इत्यमरः ॥ तप्तः ६ । इति शब्दरत्नावली ॥ अग्निजतापयुक्तः । यथा,—
"आदित्यदीप्तप्रतिमाभूकल्पं
सिंहासनं तस्य सपादपीठम् ।
सन्तप्तचामीकरवल्गुवज्र
विभागविन्यस्तमहार्घरत्नम् ॥"
इति भट्टिकाव्ये ३ सर्गः ॥

सन्तमसं, क्ली, (समन्तात् तमः । "अवसमन्धेभ्यस्तमसः ।"५ । ४ । ७९ । इति अच् ।) विष्वक्तमः । व्यापकान्धकारः । इत्यमरः ॥ (यथा, माघे । ६ । २२ ।
"अवधार्य्य कार्य्यगुरुतामभवन्न भयाय सान्द्रतमसन्तमसम् ॥")
मोहः । यथा,—

"ममापि किं नो दयसे दयाधन
त्वदङ्घ्रिमग्नं यदि वेत्थ मे मनः ।
निमज्जयन् सन्तमसे पराशयं
विधिस्तु वाच्यः क्व तवागसः कथा ॥"
इति नैषधे ९ सर्गः ॥

सन्तर्पणं, क्ली, (सन्तर्पयति इन्द्रियाणीति । सं + तृप् + णिच् + ल्युः ।) द्राक्षादाडिमखर्ज्जूरीकदलीशर्करालाजाचूर्णमध्वाज्यसंमिलितम् । इति राजनिर्घण्टः ॥ तृप्तिकारके, त्रि । यथा,
"पुण्यो महाब्रह्मसमूहजुष्टः
सन्तर्पणो नाकसदां वरेण्यः ।
जज्वाल लोकस्थितये स राजा
यथाध्वरे वह्निरभिप्रणीतः ॥"
इति भट्टिकाव्ये १ सर्गः ॥

सन्तानः, पुं, (सन्तनोति विस्तारयति पत्रपुष्पादीनिति । सम् + तन विस्तारे + "तनोतेरुपसंख्यानम् ।" ३ । १ । १४० । इत्यस्य वार्त्तिकोक्त्या णः ।) कल्पवृक्षः । (संतन्यते इति । तन + घञ् ।) वंशः । इत्यमरः ॥ विस्तारः । (यथा, महाभारते । १ । १०३ । १० ।
"तयोरुत्पादयापत्यं सन्तानाय कुलस्य नः ।
मन्नियोगात् महाबाहो धर्म्मं कर्त्तुमिहार्हसि ॥")
अपत्यम् । इति मेदिनी ॥ (यथा, मनुः ।९।५९।
"देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यक् नियुक्तया ।
प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ॥")
तद्वैदिकपर्य्यायः । तुक् १ तोकम् २ तनयः ३ तोक्म ४ तक्म ५ शेषः ६ अप्नः ७ गयः ८ जाः ९ अपत्यम् १० यहुः ११ सूनुः १२ नपात् १३ प्रजा १४ बीजम् १५ । इति पञ्चदशापत्यनामानि । इति वेदनिघण्टौ । २ । २ ॥ (अस्त्रविशेषे, क्ली । यथा, महाभारते ।५।९६।४०।
"सन्तानं नर्त्तकं घोरमास्यमोदकमष्टमम् ।
एतैर्विद्धाः सर्व्व एव मरणं यान्ति मानवाः ॥")

सन्तानिका, स्त्री, (सन्तानो विस्तारोऽस्त्यस्या इति । सन्तान + ठन् ।) क्षीरसरः । मर्कटजालकः । छुरिकाफलम् । फेनः । इति हारावली ॥ आद्यस्य गुणाः ।
"सन्तानिका गुरुः शीता वृष्या पित्तास्रवातजित् ॥"
इति राजनिर्घण्टः ॥
मिष्टान्नविशेषः । सरभाजा इति भाषा । तत्करणप्रकारो यथा । दुग्धं शरावचतुष्टयं शर्कराद्र्धशरावपरिमिता घृतं शरावपादैकञ्च गृहीत्वा तद्दुग्धे आवर्त्तनेन घनीभूते उष्णे स्थिते मन्थानदण्डेन मथनेन बहुतरफेनो भविष्यति । तत्फेनसहितदुग्धस्य तप्ताङ्गारोपरिरक्षणात् सरो जायते । तं सरमस्त्रेण चतुष्कोणाकृतिं निर्म्माय घृतेन भृष्ट्वा एकतारबद्धशर्करारसे मग्नं कुर्य्यात् । किन्तु तत्राधिकक्षणं न रक्षेत् । इति पाकराजेश्वरः ॥ (जालकरज्जुः । यथा, सुश्रुते ।१।१८।
"अत ऊर्द्ध्वं व्रणबन्धनद्रव्याण्युपदेक्ष्यामः । तद्यथा क्षौमकार्प्पास- * * विदलरज्जुतूलफलसन्तानिकालौहानीति ॥")

सन्तापः पुं, (सं + तप + घञ् ।) अग्निजतापः । तत्पर्य्यायः । संज्वरः २ । इत्यमरः ॥ तापः ३ शोषः ४ उष्मा ५ । इति राजनिर्घण्टः ॥ सम्यक् तापनञ्च ॥ (यथा, कथासरित्सागरे । १५ । ७५ ।
"जन्मना ज्वरसन्तापपीड़ां गाढ़मवाप सः ॥"
दुःखम् । यथा, भागवते । ६ । १४ । ४१ ।
"दासीनां कोऽनु सन्तापः स्वामिनः परिचर्य्यया ।
अभीक्ष्णं लब्धमानानां दास्या दासीव दुर्भगाः ॥")

सन्तापनः, पुं, (सन्तापयतीति । सं + तप + णिच् + ल्युः ।) कामदेवस्य पञ्चबाणान्तर्गतबाणविशेषः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ सम्यक्तापकारके, त्रि । (यथा, भागवते ।७।१०।२६।
"दिष्ट्या ते निहतः पापी लोकसन्तापनोऽसुरः ॥")

सन्तापितः, त्रि, (सं + तप + णिच् + क्तः ।) अध्वादिना श्रान्तः । इत्यमरभरतौ ॥ अस्य पर्य्यायः सन्नशब्दे द्रष्टव्यः ॥

सन्तिः, स्त्री, (सनु दाने + क्तिच् । "सनः क्तिचि लोपश्चास्यान्यतरस्याम् ।" ६ । ४ । ४५ । इति नलोपाभावः ।) दानम् । अवसानम् । इत्यमरे सातिशब्दटीकायां नीलकण्ठः ॥ सतिश्च सातिश्च सतिसाती । सनोतेराशिषि तिगन्तस्य एतौ निपात्यौ । पक्षे सनुतात् इति वाक्ये तिकिञ्चते श्चवचतेरिति इमनिषेधे वनतेत्यत्र तिकिवर्ज्जनात् नलोपाभावे सन्तिः । इति मुग्धबोधटीकायां दुर्गादासः ॥ सन्तिशब्दो निर्विसर्गश्चेत् अस ल भावे इत्यस्मात् अन्तिप्रत्ययेन निष्पन्नः । यथा,—
"सन्ति रम्या जनपदा बह्वन्नाः परितः कुरून् ।"
इति महाभारते विराटपर्व्व ॥

सन्तुष्टः, त्रि, (सं + तुष + क्तः ।) सन्तोषयुक्तः । यथा,—
"मञ्चध्वममराः सर्व्वे गृहीत्वार्घ्यं स्वमालयम् ।
सन्तुष्टा वरमस्माकं दत्त्वेदानीं सुपूजिताः ॥"
इति छन्दोगाह्निकोत्सर्गतत्त्वम् ॥

सन्तोषः, पुं, (सं + तुष + घञ् ।) सन्तुष्टिः । तत्पर्य्यायः । तुष्टिः २ स्वास्थ्यम् ३ । इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, हितोपदेशे ।
"सन्तोषामृततृप्तानां यत् सुखं शान्तचेतसाम् ।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ॥")

सन्दंशः, पुं, (सन्दशतीवेति । सं + दन्श + अच् ।) कङ्कमुखः । इति हेमचन्द्रः ॥ सँड़ासी इति भाषा ॥ (यथा, मार्कण्डेये । १४ । ६३ ।
"निपातितानां भूपृष्ठे उद्धृत्यापि निरीक्षताम् ।
सन्दंशैः पश्य कृष्यन्ते नरैर्यान्त्येर्मुखान्ततः ॥"
वैद्यशास्त्रोक्तयन्त्रविशेषः । यथा, सुश्रुते ।१।७।
"तत्र मनःशरीराबाधकराणि शल्यानि तेषामाहरणोपायो यन्त्राणि । तानि षट्प्रकाराणि । तद्यथा । स्वस्तिकयन्त्राणि । सन्दंशयन्त्राणि । *** द्वे सन्दंशयन्त्रे *** सनिग्रहोऽनिग्रहश्च सन्दंशौ षोड़शाङ्गुलौ भवतस्त्वङ्मांसशिरास्नायुगतशल्योद्धरणार्थमुपदिश्येते ॥")

सन्दंशिका, स्त्री, (सन्दंशतीवेति । सं + दंश + ण्वुल् । टापि अत इत्वम् ।) सम्पुटी । सँड़ासी इति चिमटा इति च भाषा । लौहयन्त्रविशेषः ॥ कातारि इति भाषा । इति मेदिनी ॥

सन्दर्भः, पुं, (सं + दृभ ग्रन्थने + घञ् ।) रचना । इति हलायुधः ॥ (यथा, आर्य्यासप्तशत्याम् । ७०० ।
"कविसमरसिंहनादः स्वरानुवादः सुधैकसंवादः ।
विद्वद्विनोदकन्दः सन्दर्भोऽयं मया सृष्टः ॥")
प्रबन्धः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ ग्रन्थनम् । यथा,—
"सन्दर्भो रचना गुम्फः श्रन्थनं ग्रन्थनं समाः ।"
इति हेमचन्द्रः ॥
तस्य लक्षणं यथा,—
"गूढ़ार्थस्य प्रकाशश्च सारोक्तिः श्रेष्ठता तथा ।
नानार्थवत्त्वं वेद्यत्वं सन्दर्भः कथ्यते बुधैः ॥"
इति रूपसनातनगोस्वामिकृत श्रीभागवतीयषट्सन्दर्भस्य प्रथमसन्दर्भकारिका ॥

सन्दर्शनं, क्ली, (सं + दृश + ल्युट् ।) सम्यक्प्रकारेण दर्शनम् । यथा,—
"सन्दर्शनार्थमम्बाया नदीपुलिनसंस्थितः ।
स च वैश्यस्तपस्तेपे देवीसूक्तं परं जपन् ॥"
इति मार्कण्डेयपुराणे देवीमाहात्म्यम् ॥
(सं + दृश + णिच् + ल्युट् । कारितदर्शनम् । यथा, महाभारते । १ । २ । १८० ।
"अस्त्रसन्दर्शनारम्भो धर्म्मराजस्य सन्निधौ ॥")

सन्दानं, क्ली, (सं + दा + ल्युट् ।) दाम । इत्यमरः ॥ सम्यग्दानञ्च ॥

सन्दानः, पुं, गजस्याष्ठीवतोरधोभागः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सन्दानिका, स्त्री, अरिखदिरः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सन्दानितः, त्रि, (सन्दानं जातमस्येति । सन्दान + इतच् ।) बद्धः । इत्यमरः ॥

सन्दानिनी, स्त्री, गोगृहम् । इति हेमचन्द्रः ॥ गोयालि इति भाषा ॥

सन्द्रावः, पुं, (सं + द्रु + "समि युद्रुदुवः ।" ३ । ३ । २३ । इति घञ् ।) पलायनम् । इत्यमरः ॥

सन्दाहः, पुं, (सं + दह + घञ् ।) मुखताल्वोष्ठदाहः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सन्दिग्धः, त्रि, (सं + दिह + क्तः ।) सन्देहयुक्तः । यथा,—
"न तावत् सन्दिग्धसाध्यधर्म्मत्वं पक्षत्वमिति पक्षताम्लम् ॥"

सन्दिग्धमतिः, त्रि, सन्देहविषयीभूतबुद्धियुक्तः । सन्दिग्धा मतिर्यस्य इति बहुव्रीहिसमासनिष्पन्नः ॥

सन्दिग्धार्थः, पुं, (सन्दिग्धोऽर्थः ।) सन्देहविषयीभूतार्थः । (सन्दिग्धोऽर्थो यस्य ।) तद्विशिष्टे, त्रि ॥

सन्दितः, त्रि, (सं+दो अवखण्डने+क्तः।) बद्धः। इत्यमरः॥

सन्दिष्टं, क्ली, (सं+दिश+क्तः।) वार्त्ता। इति शब्दरत्नावली॥ कथिते, त्रि॥

सन्दिष्टार्थः, पुं, (सन्दिष्टोऽर्थो यस्य।) सन्देशहरः। इति केचित्॥

सन्दिहानः, त्रि, (सं+दिह+शानच्।) सन्दिग्धः। यथा, जटाधरः।
"सन्दिहानः सांशयिकः संशयापन्नमानसः॥"

सन्दी, स्त्री, खट्टा। यथा। निषद्या खट्टिका सन्दी। इति त्रिकाण्डशेषः॥

सन्दीप्यः, पुं, मयूरशिखावृक्षः। इति शब्दचन्द्रिका॥

सन्देशः, पुं, (सं+दिश+घञ्।) संवादः। इति शब्दरत्नावली॥ (यथा, मेघदूते। ७।
"सन्देशं मे हर धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य
गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणाम्॥")
खनामख्यातमिष्टान्नविशेषश्च॥

सन्देशवाक्, [च्] स्त्री, (सन्देश एव वाक्।) संवादः। तत्पर्य्यायः। वाचिकम् २। इत्यमरः॥

सन्देशहरः, पुं, (हरतीति। हृ+अच्। सन्देशस्य हरः।) दूतः। इत्यमरः॥ (यथा, रघुः। ३। ६६।
"तवैव सन्देशहरात् विशांपतिः
शृणोति लोकेश! तथा विधीयताम्॥")

सन्देशहारकः, पुं, (सन्देशं संवादं हरतीति। हृ+ण्वुल्।) दूतः। इति हेमचन्द्रः॥

सन्देहः, पुं, (सं+दिह+घञ्।) एकधर्म्मिकविरुद्धभावाभावप्रकारकं ज्ञानम्। इति सिद्धान्तमुक्तावली॥ तत्पर्य्यायः। विचिकित्सा २ संशयः ३ द्वापरः ४। इत्यमरः॥ (यथा, महाभारते। ३। ५७। ११।
"तान् समीक्ष्य ततः सर्व्वान् निर्व्विशेषाकृतीन्
स्थितान्।
सन्देहादथ वैदर्भी नाभ्यजानान्नलं नृपम्॥")

सन्दोहः, पुं, (सं+दुह+घञ्।) समूहः। इत्यमरः॥ (यथा, आर्य्यासप्तशत्याम्। ५८६।
"स्तननूतननखलेखालम्बी तव घर्म्मबिन्दुसन्दोहः।
आभाति पट्टसूत्रे प्रविशन्निव मौक्तिकप्रसरः॥")

सन्द्रावः, पुं, (सं+द्रु+"समि युद्रुदुवः।"३।३। २३। इति घञ्।) पलायनम्। इत्यमरः॥

सन्धा, स्त्री, (सं+धा+अङ्।) स्थितिः। प्रतिज्ञा। इति मेदिनी॥ (यथा, रघुः। १४। ५२।
"गङ्गां निषादाहृतनौविशेष-
स्ततार सन्धामिव सत्यसन्धः॥")
सन्धानम्। इति शब्दरत्नावली॥ सन्ध्या। यथा। सन्धा द्विजमैत्री पितृप्रसूः। इति भरतधृतवाचस्पतिः॥

सन्धानं, क्ली, (सन्धीयते यदिति। सं+धा+ल्युट्।) मद्यसन्धीकरणम्। इति नयनानन्दः॥ तत्पर्य्यायः। अभिषवः २। इत्यमरः॥ सन्धानी ३ सन्धिका ४। इति शब्दरत्नावली॥ सन्धीयते सन्धानं वंशाङ्कुरफलादीन् बहुकालं सन्धाय यत् क्रियते। इति भरतः॥ सङ्घट्टनम्। इति मेदिनी॥ (यथा, कुमारे। ५। २७।
"मुखेन सा पद्मसुगन्धिना निशि
प्रवेपमानाधरपत्रशोभिना।
तुषारवृष्टिक्षतपद्मसम्पदां
सरोजसन्धानमिवाकरोदपाम्॥")
काञ्जिकम्। इति हलायुधः॥ मदिरा। अवदंशः। सौराष्ट्रम्। इति राजनिर्घण्टः॥ धनुषि बाणयोजनम्। यथा,—
"तदाशु कृतसन्धानं प्रतिसंहर शायकम्।
आर्त्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्त्तुमनागसि॥"
इत्यभिज्ञानशकुन्तलायाम् १ अङ्कः॥
अन्वेषणम्। इति लोकप्रसिद्धम्॥ (सन्धिः। यथा, महाभारते। ५। १०। ३३।
"एवं कृते तु सन्धाने वृत्रः प्रमुदितोऽभवत्।
यत्तः समभवच्चापि शक्रो हर्षसमन्वितः॥")
सन्दधातीति। सं+धा+ल्युः। धारके, त्रि। यथा, सुश्रुते। १। ४५।
"मधु तु मधुरं कषायानुरसं * * हृद्यं सन्धानं शोधनं रोपणमिति॥")

सन्धानिका, स्त्री, (सन्धानमस्त्यस्या इति। सन्धान+ठन्।) खाद्यद्रव्यविशेषः। आचार इति भाषा। तत्करणप्रकारेको यथा। अपक्वाम्रफलानि विंशतिः राजिका शरावषोड़शैकभागमिता मरिचं तोलकद्वयं लवणं षट्तोलकं मेथिकाद्वितोलकं जीरकं तोलकद्वयं हरिद्रातोलकैकं नागरमुस्तकमेकतोलकं कृष्णजीरकं तोलकैकं गृहीत्वा आम्रभिन्नं सकलद्रव्यं चूर्णयित्वा एकत्रीकुर्य्यात्। आम्रन्तु दीर्घे द्विखण्डं चतुष्खण्डं वा कृत्वा अस्थीं दूरीकृत्य तदभ्यन्तरे पूर्व्वोक्तचूर्णं पूरयित्वा शलाकया विद्धाखण्डाम्रवत् कुर्य्यात्। ततस्तैले निमज्जयेत्। इति पाकराजेश्वरः॥

सन्धानितः, त्रि, सन्धानविशिष्टः। सङ्घट्टितः। सन्धानशब्दादितप्रत्ययेन निष्पन्नः॥

सन्धानिनी, स्त्री, गोगृहम्। इति केचित्॥

सन्धानी, स्त्री, (सन्धीयते यस्यामिति। सं+धा+ल्युट्। ङीप्।) कुप्यशाला। इति हेमचन्द्रः॥ सन्धानम्। इति शब्दरत्नावली॥

सन्धिः, पुं, (सन्धानमिति। सं+धा+किः।) राजादीनां षड्गुणान्तर्गतगुणविशेषः। स तु स्वर्णादिदानेन बन्धुभिः प्रीत्युत्पादनात् मित्रीकरणम्। मेल इति ऐक्य इति च भाषा। तद्विवरणं यथा,—
"पणबद्धो भवेत् सन्धिः स्वयं हीनस्तमाचरेत्।
मर्य्यादोल्लङ्घनं नास्ति यदि शत्रोरिति स्थितिः॥
मर्य्यादोल्लङ्घनं यत्र शत्रौ संशयितं भवेत्।
न तं संशयितं कुर्य्यादित्युवाच बृहस्पतिः॥
बलवद्भिर्गृहीतः सन् नृपोऽनन्यप्रतिश्रयः।
आपन्नः सन्धिभावेन विदध्यात् कालयापनाम्॥
ये च दैवेनोपहता राष्ट्रं येषाञ्च दुर्गतम्।
बहवो रिपवो येषां तेषां सन्धिर्विधीयते॥
दुर्म्मन्त्रो भिन्नमन्त्रश्च नीचधर्म्मरतश्च यः।
एतैः सन्धिं न कुर्व्वीत विशेषात् पूर्व्वपीड़ितैः।
सन्धिं हि तादृशैः कुर्व्वन् प्राणैरपि हि हीयते॥"
इति भोजराजकृतयुक्तिकल्पतरुः॥ *॥
षोड़शविधसन्धिर्यथा,—
"बलीयसाभियुक्तस्तु नृपो नान्यप्रतिक्रियः।
आपन्नः सन्धिमन्विच्छेत् कुर्व्वाणः कालयापनम्॥
कपाल १ उपहारश्च २ सन्तानः ३ सङ्गत-४
स्तथा।
उपन्यासः ५ प्रतीकारः ६ संयोगः ७ पुरुषा-
न्तरः ८॥
अदृष्टनर ९ आदिष्ट १० आत्मादिष्ट ११
उपग्रहः १२।
परिक्रय- १३ स्तथोच्छिन्न- १४ स्तथा च
परभूषणः १५॥
स्कन्धोपनेयः १६ सन्धिश्च षोड़शैते प्रकीर्त्तिताः।
इति षोड़शकं प्राहुः सन्धिं सन्धिविचक्षणाः॥"
तेषां लक्षणानि। यथा,—
"कपालसन्धिर्व्विज्ञेयः केवलं समसन्धितः। १।
सम्प्रदानाद्भवति य उपहारः स उच्यते॥२॥
सन्तानसन्धिर्व्विज्ञेयो दारिकादानपूर्व्वकः।३।
सद्भिस्तु सङ्गतः सन्धिर्म्मैत्रीपूर्व्व उदाहृतः॥
यावदायुःप्रमाणस्तु समानार्थप्रयोजनम्।
सम्पत्तौ वा विपत्तौ वा कारणैर्यो न भिद्यते॥
सङ्गतः सन्धिरेवायं प्रकृष्टत्वात् सुवर्णवत्।
तथान्यैः सन्धिकुशलैः काञ्चनः स उदाहृतः॥४॥
आत्मकार्य्यसिद्धिस्तु समुद्दिश्य क्रियेत यः।
स उपन्यासकुशलैरुपन्यास उदाहृतः॥ ५॥
मयास्योपकृतं पूर्व्वं ममाप्येष करिष्यति।
इति यः क्रियते सन्धिः प्रतीकारः स उच्यते॥"
अन्यच्च।
"उपकारं करोम्यस्य ममाप्येष करिष्यति।
अयञ्चापि प्रतीकारो रामसुग्रीवयोरिव॥६॥
एकार्थां सम्यगुद्दिश्य क्रियां यत्र हि गच्छति।
समं हि तत्प्रमाणेन स च संयोग उच्यते॥७॥
आवयोर्य्योधमुख्यैस्तु मदर्थः साध्यतामिति।
यस्मिन् पणस्तु क्रियते स सन्धिः पुरुषान्तरः॥८॥
त्वयैकेन मदीयोऽर्थः संप्रसाध्यस्त्वसाविति।
यत्र शत्रुः पणं कुर्य्यात् सोऽदृष्टपुरुषः स्मृतः॥९॥
यत्र भूम्येकदेशेन पणेन रिपुवर्ज्जितः।
सन्धीयते सन्धिविद्भिः स चादिष्ट उदाहृतः॥१०॥
स्वसैन्येन तु सन्धानमात्मादिष्ट उदाहृतः।११।
क्रियते प्राणरक्षार्थं सर्व्वदानादुपग्रहः॥१२॥
कोषांशेनार्द्धकोषेण सर्व्वकोषेण वा पुनः।
शिष्टस्य प्रतिरक्षार्थं परिक्रय उदाहृतः॥१३॥
भुवां सारवतीनान्तु दानादुच्छिन्न उच्यते।१४।
भूम्युत्थफलदानेन सर्व्वेण परभूषणः॥ १५॥
प्रतिच्छिन्नं फलं यत्र प्रतिस्कन्धेन दीयते।

स्कन्धोपनेयं तं प्राहुः सन्धिं सन्धिविच-
क्षणाः ॥ १६ ॥
परस्परोपकारस्तु मैत्रीसम्बन्धकस्तथा ।
उपहारश्च विज्ञेयाश्चत्वारश्चैव सन्धयः ॥”
इति विष्णुशर्म्मकृतहितोपदेशे सन्धिर्नाम चतुर्थ-
कथासंग्रहः ॥ संयोगः । तत्पर्य्यायः । श्लेषः २ ।
इत्यमरभरतौ ॥ (यथा, मनुः । ८ । २४८ ।
“तडागान्युदपानानि वाप्यः प्रस्रवणानि च ।
सीमासन्धिषु कार्य्याणि देवतायतनानि च ॥”)
सुरङ्गा । भगम् । सङ्घट्टनम् । रूपकाणां
मुखाद्यङ्गम् । सावकाशः । इति मेदिनी ॥ भेदः ।
इति विश्वः ॥ (साधनम् । यथा, रघुः ।१९।१६।
“तस्य सावरणदृष्टसन्धयः
काम्यवस्तुषु नरेषु सङ्गिनः ।
वल्लभाभिरुपसृत्य चक्रिरे
सामिभुक्तविषयाः समागमाः ॥”)
व्याकरणमते वर्णद्वयस्य मेलनम् । (यथा,
कथासरित्सागरे । ६ । ११३—११७ ।
“अथैका तस्य महिषी राज्ञः स्तनभरालसा ।
शिरीषसुकुमाराङ्गी क्रीडन्ती स्नानमभ्यगात् ॥
सा जलैरभिषिञ्चन्तं राजानमसहा सती ।
अब्रवीन्मोदकैर्देव परिताडय मामिति ॥
तच्छ्रुत्वा मोदकान् राजा द्रुतमानाययन् बहून् ।
ततो विहस्य सा राज्ञी पुनरेवमभाषत ॥
राजन्नवसरः कोऽत्र मोदकानां जलान्तरे ।
उदकैः सिञ्च मा त्वं मामित्युक्तं हि मया तव ॥
सन्धिमात्रं न जानासि माशब्दोदकशब्दयोः ।
न च प्रकरणं वेत्सि मूर्खस्त्वं कथमीदृशः ॥”)
तस्य लक्षणादिर्यथा । अर्द्धमात्रोच्चारणकालेना-
व्यवहितयोर्व्वर्णयोर्द्द्वितरोच्चारणं सन्धिः । अत
एव श्लोकार्द्धयोर्मन्त्रार्द्धयोर्व्वा न सन्धिः । तत्र
अर्द्धमात्रोच्चारण-कालव्यवधानस्योचितत्वादिति
प्राञ्चः । स्वमते तु सन्ध्यध्यायस्थविहितकार्य्यं
सन्धिरिति सन्धिलक्षणम् । तेन पिपठ्यादि-
शब्दानां संयोगान्तलुपि लुपि न सन्ध्यादिविधौ
इति निषेधेऽपि सन्धिग्रहणात् सन्धिलुप्येव न
सन्धिरिति नियमात् भपभसोरित्यनेन चपजवौ
पिपक् पिपग् इति । भिन्नपदे तु सन्धिर्व्विभाष-
येति बोध्यम् । तथा च ।
“सन्धिरेकपदे नित्यो नित्यो धातूपसर्गयोः ।
सूत्रेषु च भवेन्नित्यः सैवान्यत्र विभाषया ॥”
इति प्राञ्चः ।
एकपदे इति स्वभावादेकपदे समासेऽपि ।
यथादानं भवेत् नद्यौ इत्यादि । समासे सुरारिः
हृषीकेशः त्र्यम्बकः गवीशः इत्यादि । धातू-
पसर्गयोस्तु अधीते उपेत्य इत्यादि । अन्यत्र
अत्र अम्भः अत्राम्भः इह इन्दुः इहेन्दुः
इत्यादि । धातूपसर्गयोः समासस्य नित्यत्वादेक-
पदग्रहणेनैवेष्टसिद्धौ तयोः पुनरुपादानं अनित्य-
समासे कदाचिदेकपदेऽपि सन्धिर्विभाष्यते इति
ज्ञापनार्थम् । तेन उच्चारितरुचिरऋचां चान-
नानां चतुर्णां इत्यादि सिद्धिः । इति मुग्ध-
बोधव्याकरणटीकायां दुर्गादासः ॥ * ॥ सर्व्वा-
ङ्कुरसन्धिर्म्मासत्रयेण भवति । गात्रसन्धिः सप्त-
मासैर्भवति । इति सुखबोधः ॥ युगसन्धिर्युग-
शब्दे देहसन्धिर्म्मर्म्मशब्दे च द्रष्टव्यः ॥

सन्धिका, स्त्री, (सन्धा एव । स्वार्थे कन् ।) मद्य-
सन्धानम् । इति शब्दरत्नावली ॥

सन्धिचौरः, पुं, (सन्धिकृत् सुरङ्गाकारी चौरः ।
सन्धिना चौर इति वा ।) चौरविशेषः ।
सिँधाल चोर इति भाषा । यथा । सन्धिचौरस्तु
हारकः । इति शब्दमाला ॥

सन्धिजं, क्ली, (सन्धेर्जायते यदिति । जन + डः ।)
आसवादि । यथा, काशीखण्डे ।
“कार्त्तिके वर्ज्जयेत्तैलं कार्त्तिके वर्ज्जयेन्मधु ।
कार्त्तिके वर्ज्जयेत् कांस्यं कार्त्तिके मासि सन्धि-
जम् ॥”
सन्धिजमासवादि । इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥
(सन्धिसमुत्पन्ने, त्रि । यथा, सुश्रुते । ६ । २ ।
“पक्वः शोफः सन्धिजः संस्रवेद्यः
सान्द्रं पूयं पूति पूयालसः सः ॥”)

सन्धिजीवकः, त्रि, (सन्धिना अभिसन्धिना जीव-
तीति । जीव + ण्वुल् ।) कुत्सया विभवान्वेषी ।
तत्पर्य्यायः । पार्श्वकः २ । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सन्धितः, त्रि, (सन्धा जातास्येति । सन्धा +
इतच् ।) सन्धियुक्तः । मिलितः । यथा,—
“असद्वराहिश्यवपुः सन्धितः सन्धिमानसौ ।
आर्य्यत्वादार्य्यराजाख्यः ख्यातो भुवि भवि-
ष्यति ॥”
इति राजतरङ्गिण्याम् २ तरङ्गः ॥
आसवादि । यथा,—
“कार्त्तिके वर्ज्जयेत् कांस्यं कार्त्तिके शुक्तसन्धि-
तम् ।”
इति श्रीहरिभक्तिविलासे १६ विलासः ॥
शुक्तं काञ्जिकादिपर्य्युषितद्रव्यं सन्धितञ्च वर्ज्ज-
येत् । इति तट्टीका ॥

सन्धिनी, स्त्री, (सन्धास्त्यस्या इति । इनिः ।
ङीप् ।) वृषभेणाक्रान्ता गौः । इत्यमरः ॥ या
ऋतुमती वृषभेण आक्रान्ता निष्पादितमैथुना
सा सन्धिनी । गर्भेण सन्धानं सन्धा सा विद्यते
अस्याः सन्धिनी इन् । इति भरतः ॥ अकाल-
दुग्धा गौः । इति मेदिनी शब्दरत्नावली च ॥
(यथा, याज्ञवल्क्यः । १ । १७० ।
“सन्धिन्यनिर्द्दशावत्सागोपयः परिवर्ज्जयेत् ॥”)

सन्धिपूजा, स्त्री, (सन्धौ अष्टमीनवमीसन्धिक्षणे
पूजा ।) शारदीयमहापूजान्तर्गततृतीया पूजा ।
यथा कालिकापुराणवचनान्तरम् ।
“अष्टमीनवमीसन्धौ तृतीया खलु कथ्यते ।
तत्र पूज्या त्वहं पुत्र योगिनीगणसंयुता ॥”
ज्योतिषे ।
“अष्टम्यां सन्धियोगे सकलपरिजनैः पूजयेत्
सत्त्वभावैः ।”
सप्तमीपूजावत्महाष्टम्यादिकृत्यमपि यद्दिवका-
लिकायामेव न तु परदिवसीयखण्डतिथौ किन्तु
पूर्व्वोक्तवचनानुरोधात् निशायामेव खण्डतिथावपि
सन्धिपूजा । एवञ्च पूर्णाष्टम्यां महाष्टमीपूजा
तत्परदिने अष्टमीनवम्योः सन्धिपूजा तत्परदिने
महानवमीपूजा प्रागुक्तनन्दिकेश्वर-पुराणा-
द्युक्तोदयगामितिथ्यनुरोधात् । तत्परदिने
दशम्यां विसर्जनं पूजानुरोधेनाधिकदिनलाभात् ।
अन्यत् दुर्गाशब्दे द्रष्टव्यम् ॥

सन्धिबन्धः, पुं, (सन्धिं बध्नातीति । बन्ध + अच् ।)
भूमिचम्पकः । इति शब्दचन्द्रिका ॥

सन्धिबन्धनं, क्ली, (सन्धेर्बन्धनं यस्मात् ।) शिरा ।
इति केचित् ॥

सन्धिमतिः, पुं, काश्मीरदेशीयजयेन्द्रराजमन्त्री ।
स च परे राजा बभूव । यथा,—
“सुतो महीमहेन्द्रस्य जयेन्द्रस्तस्य भूपतेः ।
श्यामाजानुभुजो राजा शुभोजाथ प्रणुप्रथः ॥
तस्याभूदद्भुतोदन्तभवभक्तिविभूषितः ।
राज्ञः सन्धिमतिर्नाम मन्त्री मतिमतांवरः ॥
असद्वराहिश्यवपुः सन्धितः सन्धिमानसौ ।
आर्य्यत्वादार्य्यराजाख्यः ख्यातो भुवि भवि-
ष्यति ॥”
इति राजतरङ्गिण्याम् २ तरङ्गः ॥

सन्धिरन्ध्रका, स्त्री, (सन्धिरन्ध्रेण कायतीति ।
कै + कः । टाप् ।) सुरङ्गा । इति केचित् ॥

सन्धिला, स्त्री, (सन्धिं लातीति । ला + कः ।)
सुरङ्गा । नदी । मदिरा । इति मेदिनी ॥

सन्धिवेला, स्त्री, (सन्धिरूपा वेला ।) काल-
विशेषः । स तु अहोरात्रादिमेलनकालरूपः ।
यथा । व्यासः ।
“उपास्ते सन्धिवेलायां निशाया दिवसस्य च ।
तामेव सन्ध्यां तस्मात्तु प्रवदन्ति मनीषिणः ॥”
इत्याह्निकतत्त्वम् ॥

सन्धिहारकः, पुं, (सन्धिना हरतीति । हृ +
ण्वुल् ।) सन्धिचौरः । यथा,—
“वन्दिचौरो मालवः स्यात् कुम्भिलः सन्धि-
हारकः ।”
इति हारावली ॥

सन्ध्या, स्त्री, (सं सम्यक् ध्यायन्त्यस्यामिति । सं +
ध्यै चिन्तने + “आतश्चोपसर्गे ।” इत्यङ् । यद्वा,
सन्दधातीति । सं + धा + “अघ्न्यादयश्च ।”
उणा० ४ । १११ । इति यक्प्रत्ययेन निपा-
तितः ।) कालविशेषः । स तु दिवारात्रि-
सम्बन्धिदण्डद्वयरूपः । तत्पर्य्यायः । पितृप्रसूः २ ।
इत्यमरः ॥ सन्धा ३ द्विजमैत्री ४ । इति भरत-
धृतवाचस्पतिः । सायम् ५ दिनान्तम् ६
निशादि ७ दिवसात्ययम् ८ । इति राज-
निर्घण्टः ॥ सायाह्नः ९ विकालः १० ब्रह्म-
भूतिः ११ सायः १२ । इति शब्दरत्नावली ॥
सा च कालस्य भार्य्या । यथा,—
“कालस्य तिस्रो भार्य्याश्च सन्ध्यारात्रिदिनानि च ।
याभिर्विना विधाता च संख्यां कर्त्तुं न शक्यते ॥”
इति ब्रह्मवैवर्त्ते प्रकृतिखण्डे १ अध्यायः ॥ * ॥
रात्रेरान्त्यदण्डचतुष्टयात्मककालः । यथा,—

"त्रियामां रजनीं प्राहुस्त्यक्त्वाद्यन्तचतुष्टयम्।
नाडीनां तदुभे सन्ध्ये दिवसाद्यन्तसंज्ञिते॥"
इति प्रायश्चित्ततत्त्वम्॥

तत्प्रार्थक्यं यथा,—
"समुद्रे हिमवत्पार्श्वे नद्यामस्याञ्च दुर्म्मते।
रात्रावहनि सन्ध्यायां कस्य शुभः परिग्रहः॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम्॥ *॥

त्रिसन्ध्यकालीनोपासना। तत्कालोपास्या देवता। यथा। अथ सन्ध्योपासनम्। तत्र छन्दोगपरिशिष्टम्।
"अत ऊर्द्धं प्रवक्ष्यामि सन्ध्योपासनिकं विधिम्।
अनर्हः कर्म्मणां विप्रः सन्ध्याहीनो यतः स्मृतः॥"
अतः प्रातःस्नानानन्तरम्। तथा,—
"एतत् सन्ध्यात्रयं प्रोक्तं ब्राह्मण्यं यदधिष्ठितम्।
यस्य नास्त्यादरस्तत्र न स ब्राह्मण उच्यते॥"
शातातपः।
"अब्राह्मणास्तु षट् प्रोक्ता ऋषिणा तत्त्ववादिना।
आद्यो राजभृतस्तेषां द्वितीयः क्रयविक्रयी॥
तृतीयो बहुयाज्यः स्याच्चतुर्थो ग्रामयाजकः।
पञ्चमस्तु भृतस्तेषां ग्रामस्य नगरस्य च॥
अनागतान्तु यः पूर्व्वां सादित्याञ्चैव पश्चिमाम्।
नोपासीत द्विजः सन्ध्यां स षष्ठोऽब्राह्मणः स्मृतः॥"
राजभृतो राजसेवकः। ग्रामादेर्भृतो भरणीयः। ग्रामलक्षणमाह मार्कण्डेयपुराणम्।
"तथा शूद्रजनप्राया सुसम्पन्नकृषीवला।
क्षेत्रोपयोगभूमध्ये वसतिर्ग्रामसंज्ञिका॥"
अत्र सन्ध्यात्रयस्य नित्यत्वाभिधानात्।
"सर्व्वकालमुपस्थानं सन्ध्यायाः पार्थिवेष्यते।
अन्यत्र सूतकाशौचविभ्रमातुरभीतितः॥"
इति विष्णुपुराणीये सन्ध्याया इत्येकवचनान्तपाठो धर्म्मकोषोक्तो युक्तः। एवमेव नयवर्द्धमानः। सर्व्वकालं प्रातर्म्मध्याह्नसायंरूपकालत्रये। अन्यथा तदुपादानं व्यर्थं स्यात्। विभ्रमश्चित्तविक्षेपः। तेन चतादावपि सन्ध्यामाचरन्ति। अतएव याज्ञवल्क्यः।
"सर्व्वावस्थोऽपि यो विप्रः सन्ध्योपासनतत्परः।
ब्राह्मण्याच्च न हीयेत अन्यजन्मगतोऽपि सन्॥"
सर्व्वावस्थोऽपि नित्यं सेवकादिकर्म्मरतोऽपि। यथोचितशौचेऽप्यशक्तोऽपि इति रत्नाकरः। अन्याद्यवस्थापन्नोऽपीति युक्तम्॥ *॥ सन्ध्यात्रयसाधारणलक्षणमाह योगियाज्ञवल्क्यः।
"त्रयाणाञ्चैव वेदानां ब्रह्मादीनां समागमः।
सन्धिः सर्व्वसुराणाञ्च तेन सन्ध्या प्रकीर्त्तिता॥"
सन्ध्याद्वयकालस्तु अहोरात्रसन्धिमुहूर्त्तात्मकः। तथा च दक्षः।
"अहोरात्रस्य यः सन्धिः सूर्य्यनक्षत्रवर्ज्जितः।
सा च सन्ध्या समाख्याता मुनिभिस्तत्त्ववादिभिः॥"
सूर्य्यनक्षत्रवर्ज्जितः। अर्द्धास्तमिताद्धोंदितसूर्य्यमण्डलप्रकृष्टतेजोनक्षत्रवर्ज्जितः। तथा च वराहः।
"अर्द्धास्तमयात् सन्ध्या व्यक्तीभूता न तारका यावत्।
तेजःपरिहानिरुषा भानोरर्द्धोदयं यावत्॥"
अत्र आद्यन्तता उक्ता। परिमाणमाह दक्षः।
"रात्र्यन्तकाले नाड्यौ द्वे सन्ध्यादिः काल उच्यते।
दर्शनादुरविरेखायास्तदन्तो मुनिभिः स्मृतः॥"
नाडीद्वयः। योगी याज्ञवल्क्यः।
"ह्रासवृद्धी च सततं दिनरात्र्योर्यथाक्रमम्।
सन्ध्या मुहूर्त्तमाख्याता ह्रासे वृद्धौ समा स्मृता॥"
अत्रोपासनाया अपि सन्ध्यात्वमाह व्यासः।
"उपास्ते सन्धिवेलायां निशाया दिवसस्य च।
तामेव सन्ध्यां तस्मात्तु प्रवदन्ति मनीषिणः॥"
उपास्ते यज्ञत्रयमाणप्राणायामादिक्रिययेति यावत्॥ *॥ तत्काले उपास्या अपि देवता सन्ध्या। तथा च याज्ञवल्क्यः।
"सन्ध्यौ सन्ध्यामुपासीत नास्तगे नोद्गते रवौ॥"
उपासनोपक्रममाह संवर्त्तः।
"प्रातःसन्ध्यां सनक्षत्रामुपासीत यथाविधि।
सादित्यां पश्चिमां सन्ध्यां अर्द्धास्तमितभास्कराम्॥"
सनक्षत्रामित्यनेन तद्युक्तकाले उपक्रम्य प्रातःसन्ध्यामुपासीत। एवमेवार्द्धास्तमितभास्करार्थां पश्चिमां सादित्यामित्यनेन तद्युक्तकाले उपक्रम्य उपासीतेत्यर्थः॥ *॥ मध्याह्नसन्ध्याया अष्टममुहूर्त्तं कालमाह स्मृतिः॥
"पूर्व्वापरे तथा सन्ध्ये सनक्षत्रे प्रकीर्त्तिते।
समसूर्य्येऽपि मध्याह्ने मुहूर्त्तसप्तमोपरि॥"
शांख्यायनगृह्यम्। अरण्ये समित्पाणिः सन्ध्यामुपास्ते नित्यं वाग्यत उत्तरापराभिमुखोऽन्वष्टमदिग्भागनक्षत्रदर्शनात्। अतिक्रान्तायां महाव्याहृतीः सावित्रीं स्वस्त्ययनादि जप्त्वा एवं प्रातः प्राङ्मुखस्तिष्ठन् आमण्डलदर्शनादिति। उत्तरापराभिमुखो वायुकोणाभिमुखः। कोणं विशतीति अन्वष्टमदिग्भमिति। उभयदिगष्टमभागमिति यावत्। व्यासः।
"गायत्री नाम पूर्व्वाह्णे सावित्री मध्यमे दिने।
सरस्वती च सायाह्ने सैव सन्ध्या त्रिषु स्मृता॥
प्रतिग्रहान्न दोषाच्च पातकादुपपातकात्।
गायत्री प्रोच्यते तस्मात् गायन्तं त्रायते यतः॥
सवितृद्योतनात् सैव सावित्री परिकीर्त्तिता।
जगतः प्रसवित्रीत्वात् वाग्रूपत्वात् सरस्वती॥"
तैत्तिरीयब्राह्मणम्। उद्यन्तमस्तं यान्तं आदित्यमभिध्यायन् कुर्व्वन् ब्राह्मणो विद्वान् सकलं भद्रमश्नुते। असावादित्यो ब्रह्म इति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति य एवं वेदेत्ययमर्थः। वक्ष्यमाणप्रकारेण प्राणायामादिकं कुर्व्वन् यथोक्तनामरूपोपेतं सन्ध्याशब्दस्य वाच्यमादित्यं ब्रह्मेति ध्यायन् ऐहिकमामुत्रिकञ्च सकलभद्रमश्नुते। य एवमुक्तध्यानेन शुद्धान्तःकरणो ब्रह्मसाक्षात्कुरुते स पूर्व्वमपि ब्रह्मैव सन् प्रज्ञावान् चिरजीवित्वं प्राप्तो यथोक्तज्ञानेनाज्ञानोपशमे ब्रह्मैव प्राप्नोति। इति पराशरभाष्ये माधवाचार्य्यः॥ अतएव व्यासः।
"न भिन्नां प्रतिपद्येत गायत्रीं ब्रह्मणा सह।
सोऽहमस्मीत्युपासीत विधिना येन केनचित्॥" *॥
गायत्रीस्थभर्गपदप्रतिपाद्य ईश्वरः। अहं जीवरूपोऽस्मि भवामि इति। अजहत्स्वार्थलक्षणया जीवेश्वरयोरहंकारप्रतिफलितत्वोपाधिरहितेन चिद्रूपेणैक्यम्। घटाकाशमहाकाशयोरुपाधिरहितवत्समात्। ऐक्यमिव भावयन् उपासीत। याज्ञवल्क्योऽपि।
"या सन्ध्या सा तु गायत्री द्विधा भूत्वा प्रतिष्ठिता।
सन्ध्या उपासिता येन विष्णुस्तेन उपासितः॥" *॥
उपासनायाः फलमाह स एव।
"गवां सर्पिः शरीरस्थं न करोत्यङ्गपोषणम्।
निःसृतं कर्म्मसंयुक्तं पुनस्तासां तदौषधम्॥
एवं स हि शरीरस्थः सर्पिर्वत् परमेश्वरः।
विना चोपासनादेव न करोति हितं नृषु॥
प्रणवव्याहृतिभ्याञ्च गायत्र्या त्रितयेन च।
उपास्यं परमं ब्रह्म आत्मा यत्र प्रतिष्ठितः॥"
त्रितयेन प्रणवादित्रितयेन ब्रह्मप्रतिपादकेनोच्चारितेन तदर्थावगमेन उपास्यं प्रसादनीयम् तदाह स एव।
"वाच्यः स ईश्वरः प्रोक्तो वाचकः प्रणवः स्मृतः
वाचकेऽपि च विज्ञाते वाच्य एव प्रसीदति॥
भूर्भुवः स्वस्तथा पूर्व्वं स्वयमेव स्वयम्भुवा।
व्याहृता ज्ञानदेहेन तस्मात् व्याहृतयः स्मृताः॥"
ज्ञानदेहेन तत्त्वज्ञानस्य चिद्रूपेश्वरस्य देहे शरीररूपेण व्याहृता उक्ताः। तेन तद्वाच्योऽपीश्वरः। कूर्म्मपुराणम्।
"प्रधानं पुरुषः कालो ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।
सत्त्वं रजस्तमस्तिस्रः क्रमाद्व्याहृतयः स्मृताः॥"
एतद्रूपेणापि भावनीयाः। इत्याह्निकाचारतत्त्वम्॥ *॥ अपि च।
"दिनान्तसन्ध्यां सूर्य्येण पूर्व्वामृक्षैर्युतां बुधः।
उपतिष्ठेत् यथान्यायं सम्यगाचम्य पार्थिव॥
सर्व्वकालमुपस्थानं सन्ध्यायाः पार्थिवेष्यते।
अन्यत्र सूतकाशौचविभ्रमातुरभीतितः॥
सूर्य्येणाभ्युदितो यस्तु त्यक्तः सूर्य्येण यः स्वपन्।
अन्यत्रातुरभावाच्च प्रायश्चित्तीयते नरः॥
तस्मादनुदिते सूर्य्ये समुत्थाय महीपते।
उपतिष्ठेन्नरः सन्ध्यां सूर्य्यांश्च दिनान्तजाम्॥
उपतिष्ठन्ति वै सन्ध्यां ये न पूर्व्वां न पश्चिमाम्
व्रजन्ति ते दुरात्मानस्तामिस्रं नरकं नृप॥"
इति विष्णुपुराणे ३ अंशे ११ अध्यायः॥ *॥
दीक्षितविशेषस्य सन्ध्याविशेषा यथा,—

भूमिरुवाच।

"देवदेव कथं सन्ध्यां दीक्षितः कुरुते वद।
केन मन्त्रेण वा भक्तस्तव कर्म्मपरायणः॥

वराह उवाच ।
शृणु माधवि तत्त्वेन सन्ध्यामन्त्रमनुत्तमम् ।
यथा वदन्ति वै सूर्य्यं सन्ध्यां पूर्व्वं चिरां तथा ॥
जलाञ्जलिं गृहीत्वा च मम भक्त्या व्यवस्थितः ।
मुहूर्त्तं ध्यानमास्थाय इमं मन्त्रमुदाहरेत् ॥
मन्त्रः । भवोद्भवमादिं व्यक्तमव्ययमादित्यं सर्व्वे देवा ब्रह्मरुद्रेन्द्रास्ताश्च ऋषयो यथासीत् ध्यानयोगस्थिता ते सन्ध्या संज्ञा वासुदेवं नमन्ति वयं देवमादि व्यक्तरूपं कृत्वा चात्मनि देवसंस्था तथापि संसारार्थं कर्म्म तत्कारणमेव सन्ध्या संस्था वासुदेव नमो नमः ।
अनेनैव तु मन्त्रेण सन्ध्यां कुर्य्यात्तु दीक्षितः ॥”
इति वाराहे चतुर्व्वर्णदीक्षानामाध्यायः ॥ * ॥
सन्ध्याप्रशंसा यथा,—

मुनय ऊचुः ।
“कथं मुने दिवं याति ब्राह्मणो दग्धकिल्बिषः ।
अनभिज्ञो हि मे ब्रूहि यदुक्तं वह्निना पुरा ॥
सूत उवाच ।
सायं प्रातश्च यः सन्ध्यामुपास्तेऽस्खलमानसः ।
जपन् हि पावनीं देवीं गायत्त्रीं वेदमातरम् ॥
तपसा भावितो देव्या ब्राह्मणः पूतकिल्बिषः ।
न सीदेत् प्रतिगृह्णानो अपि पृथ्वीं ससागराम् ॥
ये चास्य दारुणाः केचित् ग्रहाः सूर्य्यादयो दिवि ।
ते चास्य सौम्यतां यान्ति शिवाः शिवतरास्तथा ॥
यत्र तत्र गतं चैनं दारुणाः पिशिताशनाः ।
घोररूपा महाकायाः प्रभवन्ति न राक्षसाः ॥”
इति वह्निपुराणे आश्वमेधिकनामाध्यायः ॥*॥
अपि च ।
“नित्यं नित्यं त्रिसन्ध्याञ्च करिष्यसि दिने दिने ।
मध्याह्ने चापि सायाह्ने प्रातरेव शुचिः सदा ॥
सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्व्वकर्म्मसु ।
यदह्ना कुरुते कर्म्म न तस्य फलभाग्भवेत् ॥
नोपतिष्ठति यः पूर्व्वां नोपास्ते यस्तु पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद्बहिः कार्य्यः सर्व्वस्मात् द्विजकर्म्मणः ॥
यावज्जीवनपर्य्यन्तं यस्त्रिसन्ध्यं करोति च ।
स च सूर्य्यसमो विप्रस्तेजसा तपसा सदा ॥
तत्पादपद्मरजसा सद्यः पूता वसुन्धरा ।
जीवन्मुक्तः स तेजस्वी सन्ध्यापूतो हि यो द्विजः ॥
तीर्थानि च पवित्राणि तस्य संस्पर्शमात्रतः ।
ततः पापानि यान्त्येव वैनतेयादिवोरगाः ॥
न गृह्णन्ति सुरास्तेषां पितरः पिण्डतर्पणम् ।
स्वेच्छया च द्विजातिश्च त्रिसन्ध्यरहितस्य च ॥
विष्णुमन्त्रविहीनश्च त्रिसन्ध्यरहितो द्विजः ।
एकादशीविहीनश्च विषहीनो यथोरगः ॥”
इति ब्रह्मवैवर्त्ते प्रकृतिखण्डे २१ अध्यायः ॥
अन्यत् कौर्म्मे १७ अध्याये गारुडे २१५।२२० अध्याययोर्द्रष्टव्यम् ॥*॥ जननमरणाशौचे तन्निषेधो यथा,—
“सन्ध्यां पञ्चमहायज्ञं नैत्यिकं स्मृतिकर्म्म च ।
तन्मध्ये हापयेत्तेषां दशाहान्ते पुनः क्रिया ॥”
इति शुद्धितत्त्वम् ॥ * ॥

सायंसन्ध्यानिषेधकाला यथा । कर्म्मोपदेशिन्यां व्यासः ।
“संक्रान्त्यां पक्षयोरन्ते द्वादश्यां श्राद्धवासरे ।
सायंसन्ध्यां न कुर्व्वीत कृते च पितृहा भवेत् ॥”
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥ * ॥
तत्काले शयनादिनिषेधो यथा,—
“स्वप्नमध्ययनं स्नानमुद्वर्त्तं भोजनं गतिः ।
उभयोः सन्ध्ययोर्नित्यं मध्याह्ने चैव वर्ज्जयेत् ॥”
इति कौर्म्मे १५ अध्यायः ॥
नदीविशेषः । युगसन्धिः । इति मेदिनी ॥ चिन्ता । संश्रवः । सीमा । सन्धानम् । कुसुमविशेषः । इति हेमचन्द्रः ॥
सन्ध्यांशः, पुं, (सन्ध्याया अंशः ।) युगसन्धिः । यथा,—
“चत्वार्य्याहुः सहस्राणि वर्षाणान्तु कृतं युगम् ।
तस्य तावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशश्च तथाविधः ॥
इतरेषु ससन्ध्येषु ससन्ध्यांशेषु च त्रिषु ।
एकापायेन वर्त्तन्ते सहस्राणि शतानि च ॥”
इति मानवे । १ । ६९-७० ॥
चत्वार्य्याहुरिति । चत्वारि वर्षसहस्राणि कृतयुगं कालं मन्वादयो वदन्ति तस्य तावद्वर्षशतानि सन्ध्या सन्ध्यांशश्च भवति युगस्य पूर्व्वा सन्ध्या उत्तरश्च सन्ध्यांशः । तदुक्तं विष्णुपुराणे ।
“तत्प्रमाणैः शतैः सन्ध्या पूर्व्वा तत्राभिधीयते ।
सन्ध्यांशकश्च तत्तुल्यो युगस्यानन्तरो हि यः ॥
सन्ध्यासन्ध्यांशयोरन्तर्यः कालो मुनिसत्तम ।
युगाख्यः स तु विज्ञेयः कृतत्रेतादिसंज्ञकः ॥”
वर्षसंख्या चेयं दिव्यमानेन तस्यैवानन्तरप्रक्रान्तत्वात् ।
“दिव्यैर्व्वर्षसहस्रैस्तु कृतत्रेतादिसंज्ञितम् ।
चतुर्युगं द्वादशभिस्तद्विभागं निबोध मे ॥”
इति विष्णुपुराणवचनाच्च ।
इतरेष्विति अन्येषु त्रेताद्वापरकलियुगेषु सन्ध्यासन्ध्यांशसहितेषु एकहान्या सहस्राणि शतानि च भवन्ति । तेनेदं सम्पद्यते । त्रीणि वर्षसहस्राणि त्रेतायुगं तस्य त्रीणि वर्षशतानि सन्ध्या सन्ध्यांशश्च । एवं द्वि वर्षसहस्रे द्वापरः तस्य द्वे वर्षशते सन्ध्या सन्ध्यांशश्च । एवं वर्षसहस्रं कलिः । तस्यैकवर्षशतं सन्ध्या सन्ध्यांशश्च । इति कुल्लूकभट्टः ॥
सन्ध्याचलः, पुं, (सन्ध्याया अचलः ।) पर्व्वतविशेषः । यथा,—
“आराधनोपदेशाय कापोतस्य वचः स्मरन् ।
जग्मतुर्द्दक्षिणां काष्ठां यत्र सन्ध्याचलः स्थितः ॥
कान्ता नाम नदी तत्र वशिष्ठेनावतारिता ।
तस्यास्तीरे महाशैले स्निग्धच्छाया लता तदा ॥
सन्ध्यां वशिष्ठः कृतवान् तत्र यस्माद्विधेः सुतः ।
अतः सन्ध्याचलं नाम तस्य गायन्ति देवताः ॥”
इति कालिकापुराणे ५० अध्यायः ॥ * ॥
अपि च ।
“शोभकाख्यान्महाशैलाद्देशान्यां पर्व्वतोत्तमः ।
तुङ्गः सन्ध्याचलो नाम वशिष्ठो यत्र शप्तवान् ॥
निमेर्भार्य्या तु राजर्षेः शापाद्ब्रह्मसुतः पुरा ।
वशिष्ठो ह्यशरीरोऽभूत्तच्छापाच्च निमिस्तथा ॥
ततो ब्रह्मोपदेशेन निर्ज्जने कामरूपके ।
सन्ध्याचले तपस्तेपे तस्य विष्णुरभूत्तदा ॥
प्रत्यक्षस्तस्य देवस्य वरदानान्महामुनिः ।
अन्हतान्यवतार्य्यैवं कुण्डं कृत्वा गिरेस्तटे ॥
तत्र स्नात्वा च पीत्वा च शरीरं प्राप पूरितम् ।
तस्मादन्हतकुण्डात्तु सन्ध्या नाम नदीवरा ।
निःसृता तत्र चाप्लुत्य चिरायुरमरो भवेत् ॥”
इति च कालिकापुराणे ८१ अध्यायः ॥
सन्ध्यानाटी, [न्] पुं, (सन्ध्यायां नटतीति । नट+इनिः ।) शिवः । इति शब्दरत्नावलीत्रिकाण्डशेषौ ॥
सन्ध्यापुष्पी, स्त्री, (सन्ध्यायां पुष्पं यस्याः । ङीष् ।) जाती । इति राजनिर्घण्टः ॥
सन्ध्याबलः, पुं, (सन्ध्यायां बलं यस्य ।) राक्षसः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥
सन्ध्यावलिः, पुं, शिवालयस्थितस्ततकाष्ठादिनिर्म्मितवृषः । यथा,—
“ये शिवायतनोत्कृष्टास्ते सन्ध्यावलयो वृषाः ।”
इति हारावली ॥
सन्ध्याभ्रं, क्ली, (सन्ध्याया अभ्रमिव तद्वर्णत्वात् ।) सुवर्णगैरिकम् । इति राजनिर्घण्टः ॥ (सन्ध्याकालीनमेघः । यथा, रघुः । १२ । २८ ।
“सन्ध्याभ्रकपिशस्तस्य विराधो नाम राक्षसः ।
अतिष्ठन्मार्गमावृत्य रामस्येन्दोरिव ग्रहः ॥”)
सन्ध्यारागं, क्ली, (सन्ध्याया राग इव रागो यस्य ।) सिन्दूरम् । इति राजनिर्घण्टः ॥ (यथा, आर्य्यासप्तशत्याम् । ३६२ ।
“प्राचीरागरितेयं प्रियस्य वदनेऽधरं समर्पयति ।
प्राग्गिरिपिहिता रात्रिः सन्ध्यारागं दिनस्येव ॥”)
सन्ध्यारामः, पुं, (सन्ध्यायां रामो रमणं यस्य ।) ब्रह्मा । इति शब्दरत्नावली ॥
सन्नः, पुं, (सद+क्तः ।) पियालवृक्षः । इत्यमरटीकायां भरतः ॥ अवसन्ने, त्रि ॥ (यथा, रामायणे । ६ । ११३ । ८७ ।
“कश्मलाभिहता सन्ना बभौ सा रावणोरसि ॥”)
सन्नकः, पुं, (सीदति स्मेति । सद+क्तः । ततः स्वार्थे कन् ।) खर्व्वः । इति सन्नकद्रुशब्दटीकायां भरतः ॥
सन्नकद्रुः, पुं, पियालवृक्षः । इत्यमरः ॥ सन्नकः खर्व्वो द्रुः स्कन्धोऽस्येति सन्नकद्रुरिति स्वामी । सन्नको द्रुश्चेति द्वे नामनी इति सोमनन्दी । इति भरतः ॥
सन्नतिः, स्त्री, (सं+नम+क्तिन् ।) प्रणतिः । (यथा, भागवते । १० । ७० । २४ ।
“ये च दिग्विजये तस्य सन्नतिं न ययुर्नृपाः ।
प्रसह्य रुद्धास्तेनासन्नयुते द्वे गिरिव्रजे ॥”)
ध्वनिः । इति मेदिनी ॥ नम्रता । यथा, हरिवंशे ।

"यत्र ह्रीः श्रीः स्थिता तत्र यत्र श्रीस्तत्र सन्नतिः।
सन्नतिर्ह्रीस्तथा श्रीश्च नित्यं कृष्णे महात्मनि॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम्॥
(तथा च रामायणे । ५ । ६४ । २० ।
"नच चेदं सुसदृशं वाक्यं नान्यस्य कस्यचित्।
सन्नतिर्हि तवाख्याति भविष्यच्छुभयोग्यताम्॥")

सन्नद्धः, त्रि, (सं+नह+क्तः ।) वर्म्मितः । कृतसन्नाहः । (यथा, भागवते । ७ । १० । ६६ ।
"सन्नद्धो रथमास्थाय शरं धनुरुपाददे॥")
व्यूढः । व्यूहविन्यासयुक्तः । इति मेदिनी॥ आततायी । वधोद्यतः । इत्यमरटीकायां रायमुकुटः॥ सन्नाहसंयुतः । इति शब्दरत्नावली॥ (आबद्धः । यथा, अभिज्ञानशकुन्तले १ अङ्के ।
"कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम्॥"
सञ्जातः । इति मल्लिनाथः॥ यथा, रघुः । ३ । ७ ।
"पुराणपत्रापगमादनन्तरं
लतेव सन्नद्धमनोज्ञपल्लवा॥")

सन्नयः, पुं, (सं+नी+अच् ।) समूहः । (यथा, महाभारते । १ । १९० । ६ ।
"अस्मिन् राजसमावाये देवानामिव सन्नये।
किमयं सदृशं कञ्चित् नृपतिं नैव दृष्टवान्॥")
पृष्ठस्थायिबलः । इत्यमरमेदिनीकरौ॥

सन्नाहः, पुं, (संनह्यतेऽसौ इति । सं+नह+घञ् ।) अङ्गत्राणम् । साँजोया इति भाषा । तत्पर्य्यायः । वर्म्म २ कङ्कटः ३ जगरः ४ कवचम् ५ दंशः ६ तनुत्रम् ७ मायी ८ उरश्छदः ९ । इति हेमचन्द्रः॥ (यथा, महाभारते । ४ । ३० । १७ ।
"पृथक् काञ्चनसन्नाहान् रथेष्वश्वानयोजयन्॥"
उद्योगः । इति रामानुजः॥ यथा, रामायणे । ६ । ७५ । ४० ।
"ततो रामशरान् दृष्ट्वा विमानेषु गृहेषु च।
सन्नाहो राक्षसेन्द्राणां तुमुलः समपद्यत॥")

सन्नाह्यः, पुं, (संनह्यते इति । सं+नह+ण्यत् ।) युद्धयोग्यगजः । यथा,—
"राजवाह्यस्तूपवाह्यः सन्नाह्यः समरोचितः।"
इति हेमचन्द्रः॥

सन्निकर्षः, पुं, (सं+नि+कृष+घञ् ।) सान्निध्यम् । तत्पर्य्यायः । पार्श्वम् २ समीपम् ३ सविधम् ४ समीपाभ्यासम् ५ सवेशः ६ अन्तिकः ७ सदेशम् ८ अभ्यग्रम् ९ सनीडम् १० सन्निधानम् ११ उपान्तम् १२ निकटम् १३ उपकण्ठम् १४ सन्निकृष्टम् १५ समर्य्यादम् १६ अभ्यर्णम् १७ आसन्नः १८ सन्निधिः १९ । इति हेमचन्द्रः॥ (यथा, कुमारे । ३ । ७४ ।
"स्त्रीसन्निकर्षं परिहर्त्तुमिच्छन्
अन्तर्दधे भूतपतिः सभूतः॥")
न्यायमते विषयेन्द्रियसम्बन्धः । स च ज्ञानस्य कारणम् । स तु द्विविधः । लौकिकसन्निकर्षः अलौकिकसन्निकर्षश्च । लौकिकसन्निकर्षश्च षड्विधः । इन्द्रियसंयोगः १ इन्द्रियसंयुक्तसमवायः २ इन्द्रियसंयुक्तसमवेतसमवायः ३ श्रोत्रादिसमवायः ४ श्रोत्रादिसमवेतसमवायः ५ तदादिविशेषणता ६ ॥ अलौकिकसन्निकर्षस्तु त्रिविधः । सामान्यलक्षणा १ ज्ञानलक्षणा २ योगजः ३ । यथा,—
"महत्त्वं षड्विधे हेतुरिन्द्रियं करणं मतम्।
विषयेन्द्रियसम्बन्धो व्यापारः सोऽपि षड्विधः॥
द्रव्यग्रहस्तु संयोगात् संयुक्तसमवायतः।
द्रव्येषु समवेतानां तथा तत्समवायतः॥
तत्रापि समवेतानां शब्दस्य समवायतः।
तद्वृत्तीनां समवेतसमवायेन तद्ग्रहः॥
विशेषणतया तद्वदभावानां ग्रहो भवेत्।
यदि स्यादुपलभ्येतेत्येवं यत्र प्रसज्यते॥
प्रत्यक्षं समवायस्य विशेषणतया भवेत्।
अलौकिकः सन्निकर्षस्त्रिविधः परिकीर्त्तितः॥
सामान्यलक्षणा ज्ञानलक्षणा योगजस्तथा।
आसत्तिराश्रयाणान्तु सामान्यज्ञानमिष्यते॥
तदिन्द्रियजतद्धर्म्मबोधसामग्र्यपेक्ष्यते।
विषयी यस्य तस्यैव व्यापारो ज्ञानलक्षणः॥
योगजो द्विविधः प्रोक्तो युक्तयुञ्जानभेदतः।
युक्तस्य सर्व्वदा भानं चिन्तासहकृतोऽपरः॥"
इति भाषापरिच्छेदः॥

सन्निकर्षणं, क्ली, (सं+नि+कृष+ल्युट् ।) सन्निधानम् । तत्पर्य्यायः । सन्निधिः २ । इति सङ्कीर्णवर्गे अमरः॥ सन्निधम् ३ । इति भरतः॥ (सम्बन्धः । यथा, भागवते । ११ । २८ । १२ ।
"यावद्देहेन्द्रियप्राणैरात्मनः सन्निकर्षणम्।
संसारः फलवांस्तावदपार्थोऽप्यविवेकिनः॥")

सन्निकृष्टः, त्रि, (सं+नि+कृष+क्तः ।) सन्निकर्षविशिष्टः । निकटः । इति विशेष्यनिघ्नवर्गे अमरः॥ अस्य पर्य्यायः समीपशब्दे द्रष्टव्यः॥

सन्निधं, क्ली, (सं+नि+धा+कः ।) सन्निधानम् । इति भरतधृतबोपालितः॥

सन्निधानं, क्ली, (सं+नि+धा+ल्युट् ।) निकटम् । इति हेमचन्द्रः॥ (यथा, रामायणे । २ । २१ । ५३ ।
"श्रेयो मुहूर्त्तं तव सन्निधानं
ममैव कृत्स्नादपि जीवलोकात्॥"*॥
सन्निधीयतेऽस्मिन्निति ।) आश्रयः । यथा,—
"आरम्भः संशयानामविनयभवनं पत्तनं साहसानां
दोषाणां सन्निधानं कपटशतमयं क्षेत्रमप्रत्ययानाम्।
दुर्ग्राह्यं यन्महद्भिः सुरनरवृषभैः सर्व्वमायाकरण्डं
स्त्रीरूपं केन लोके विषममृतमयं धर्म्मनाशाय सृष्टम्॥"
इति शान्तिशतकम्॥
(अवस्थानम् । यथा, मार्कण्डेये । ९७ । ३५ ।
"यस्मिन् गेहे च लिखितमेतत् तिष्ठति नित्यदा।
सन्निधानं कृते श्राद्धे तत्रास्माकं भविष्यति॥")

सन्निधिः, स्त्री, (सं+नि+धा+किः ।) सन्निकर्षः । इत्यमरः॥ (यथा, मनुः । २ । १९४ ।
"हीनान्नवस्त्रवेशः स्यात् सर्व्वदा गुरुसन्निधौ॥")
इन्द्रियगोचरः । इति मेदिनी॥ (अवस्थानम् । यथा, जलशुद्धिप्रकरणे ।
"गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्म्मदे सिन्धुकावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु॥")

सन्निपतितः, त्रि, एकत्रीकृतः । मिश्रितः । संनिपूर्व्वकपतधातोः क्तप्रत्ययेन निष्पन्नः॥

सन्निपातः, पुं, (सम्यक् निपातो पतनं यत्र ।) तालभेदः । यथा,—
"एक एव गुरुर्यत्र सन्निपातः स उच्यते।"
इति सङ्गीतदामोदरः॥
(सम्यक् निपातो यस्मात् ।) विकारोत्पादकमिलितदोषत्रयम् । अस्य त्रयोदश नामलक्षणानि यथा,—
"शीघ्रगस्तान्त्रिकश्चैवमसाध्यश्चित्तविभ्रमः।
कष्टसाध्यः कण्ठकुब्जः कर्णिको जिह्मगस्तथा॥
कष्टात् कष्टतमो ज्ञेयो रुग्दाहो हन्ति मानवम्।
अन्तको भग्ननेत्रश्च रक्तष्ठीवी निपातकः॥
शीताङ्गश्च प्रलापश्च अभिन्यासोऽतिमारकः।
ज्ञातव्याः सर्व्वदा वैद्यैः सन्निपातास्त्रयोदश॥"*
माधवीये।
"शीघ्रगस्तान्त्रिकश्चित्तविभ्रमः कण्ठकुब्जकः।
कर्णिको जिह्मगश्चैव रुग्दाहश्चान्तकस्तथा॥
भग्ननेत्रो विलापश्च प्रलापः शीतलाङ्गकः।
अभिन्यासश्चेति विद्यात् सन्निपातास्त्रयोदश॥*॥
सदाश्वं श्लेष्मणा पूर्णं शूलं कासोऽतिवेदना।
शोथश्च लक्षणान्येवं शीघ्रगे सान्निपातिके॥१॥
अतितन्द्रा ज्वरः श्वासकासस्तापोऽतिसारकः।
स्थूलकण्ठः सिता श्यामा जिह्वा कण्ठे च
कूजति॥
श्रुतिरल्पा चेति विद्यात् तान्त्रिके सान्निपातिके॥२॥
मदो मोहो भ्रमस्तापो हास्यगीतप्रलापनम्।
नित्यं वैकल्यता पीडा विकटाक्षनिरीक्षणम्।
लक्षणैः सन्निपातोऽयं ज्ञातव्यश्चित्तविभ्रमः॥३॥
कण्ठग्रहो ज्वरो मूर्च्छा दाहः कम्पविलापनम्।
मोहस्तापः शिरोऽर्त्तिश्च वातार्त्तः प्रलयं गतः॥
कण्ठकुब्जं सन्निपातं कष्टसाध्यं विनिर्द्दिशेत्॥४॥
ज्वरः कर्णान्तशोथश्च श्वासः कम्पः प्रलापनः॥
खेदः कण्ठग्रहस्तापस्तृष्णोहो भयमेव च।
कर्णिके सन्निपाते च लक्षणानि भवन्ति हि॥५॥
सङ्कटा कठिना जिह्वा कासः श्वासोऽतिविह्वलः।
मूको बधिरता तापो बलहानिश्च लक्षणम्॥
जिह्मगः सन्निपातोऽयं कष्टात् कष्टतरः परः॥६
मोहस्तापः प्रलापश्च यथा कण्ठे भ्रमः श्रमः॥
वेदना च तथा जाड्यं श्वासश्च लक्षणैरिमैः।
कष्टात् कष्टतरो ज्ञेयः कथाहः सान्निपातिकः॥७
दाहो मोहः शिरःकम्पो हिक्का श्वासाङ्गमर्द्दनम्।
सन्तापश्चान्तको ज्ञेयः सन्निपातोऽतिमारकः॥८

श्वसनं लोचने भुग्ने स्रुतिः स्थूला ज्वरोऽधिकः ।
मोहः प्रलापनं कम्पो भ्रमो निद्रा च लक्षणैः ।
ज्ञातव्यो भुग्ननेत्रोऽयं सन्निपातः क्षयंकरः ॥९॥
रक्तनिष्ठीवनं मूर्च्छा ज्वरो मोहस्तृषा भ्रमः ।
वान्तिर्हिक्कातिसारश्च संज्ञानाशो हृदि व्यथा ॥
मण्डलं श्यावरक्तञ्च देहेषु लक्षणैरिमैः ।
ज्ञातव्यः सन्निपातोऽयं रक्तष्ठीवी निपातकः ॥१०॥
प्रलापतापकर्णार्त्तिः प्रज्ञानाशोऽतितापवान् ।
ज्ञेयः प्रलापकश्चिह्नैः सन्निपातोऽतिमारकः ॥११॥
शरीरं हिमवत् शीतमतिसारश्च कम्पनम् ।
कर्णनादो हस्ततापो हिक्का श्वासः क्रमोत्तरम् ।
सर्व्वाङ्गशीतलो हन्ति शीताङ्गः सन्निपातकः ॥ १२ ॥
त्रिदोषश्च मुखं शुष्कं निद्रावैकल्यकष्टवाक् ।
निश्चेतनमतिश्वासो मन्दाग्निर्बलहीनता ॥
मृत्युतुल्यमभिन्यासं सन्निपातञ्च लक्षयेत् ॥ १३ ॥
इति चक्रपाणिदत्तः ॥ * ॥

यं दृष्ट्वा यस्य सम्भवः स तस्य सन्निपातः । सन्निपातविधिरनिमित्तं तद्विघाताय । इति कलापव्याकरणे ४ वृत्तौ २ प्रकरणम् ॥ सङ्गः । यथा,—

"धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः
सन्देशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः ।
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन् गुह्यकस्तं ययाचे
कामार्त्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ॥"
इति मेघदूतम् ॥

सम्यक्प्रकारेण पतनं मरणञ्च ॥

सन्निपातज्वरः, पुं, (सम्यक् निपातो नाशो यस्मात् तादृशो ज्वरः ।) त्रिदोषज्वरः । स तु अष्टप्रकारज्वरान्तर्गतज्वरविशेषः । अष्टत्वं विवृणोति । वातिकः पैत्तिकः श्लैष्मिकश्चेति त्रयः । द्वन्द्वजाश्च त्रयः । वातपैत्तिकः वातश्लैष्मिकः पित्तश्लैष्मिकश्चेति । संघातजः सान्निपातिक एकः ।

"द्व्युल्बणैकोल्बणैः षट् स्युर्हीनमध्याधिकैश्च षट् ।
समैश्चैको विकारास्ते सन्निपातास्त्रयोदश ॥"

इति चरकेण त्रयोदश सन्निपाता उक्ताः ॥ ते यथा । वातोल्बणः १ पित्तोल्बणः २ कफोल्बणः ३ । वातपित्तोल्बणः ४ वातश्लेष्मोल्बणः ५ पित्तश्लेष्मोल्बणः ६ एवं षट् । अधिकवातो मध्यपित्तो हीनकफः १ अधिकवातो मध्यकफो हीनपित्तः २ अधिकपित्तो मध्यवातो हीनकफः ३ अधिकपित्तो मध्यमकफो हीनवातः ४ अधिककफो मध्यवातो हीनपित्तः ५ अधिककफो मध्यपित्तो हीनवातश्चेति ६ षट् । त्र्युल्बण एकः १ । एवं त्रयोदश । अत्र तु त्रिदोषजत्वेन साम्यात् सान्निपातिक एक एव गणितः । आगन्तुजोऽपि एक एव । अत्र आगन्तुजशब्देन अभिघातादयो हेतव उच्यन्ते । कुतश्चिद्व्याधयः कार्य्यकारणयोरभेदोपचारात् । इति ज्वराधिकारे भावप्रकाशः ॥ * ॥ अथ सन्निपातज्वराधिकारमाह । तत्र सन्निपातज्वरस्य विप्रकृष्टसन्निकृष्टकारणकथनपूर्व्विकां सम्प्राप्तिमाह ।

"त्रिदोषजनकैर्व्वातपित्तश्लेष्मामगेहगाः ।
बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं रसगा ज्वरकारिणः ॥"

पूर्व्वरूपमाह ।

"प्राग्रूपाणि त्रिदोषाणां स्युस्त्रिदोषज्वरे नृणाम् ।"

सन्निपातज्वरस्य सामान्यानि लक्षणान्याह ।

"क्षणे दाहः क्षणे शीतमस्थिसन्धिशिरोरुजा ।
सास्रावे कलुषे रक्ते निर्भुग्ने चापि लोचने ॥
सस्वनौ सरुजौ कर्णौ कण्ठः शूकैरिवावृतः ।
तन्द्रा मोहः प्रलापश्च कासश्वासोऽरुचिर्भ्रमः ॥
परिदग्धा खरस्पर्शा जिह्वा स्रस्ताङ्गता परा ।
ष्ठीवनं रक्तपित्तस्य कफेनोन्मिश्रितस्य च ॥
शिरसो लोठनं तृष्णा निद्रानाशो हृदि व्यथा ।
स्वेदमूत्रपुरीषाणां चिराद्दर्शनमल्पशः ॥
कृशत्वं नातिगात्राणां प्रततं कण्ठकूजनम् ।
कोठानां श्यावरक्तानां मण्डलानाञ्च दर्शनम् ॥
मूकत्वं स्रोतसां पाको गुरुत्वमुदरस्य च ।
चिरात् पाकश्च दोषाणां सन्निपातज्वराकृतिः ॥"

लोचने सास्रावे साश्रुणी । कलुषेऽस्वच्छे । निर्भुग्ने निर्गते कुटिले च । कण्ठः शूकैरिव धान्याग्रैरिवावृतः । जिह्वा परिदग्धा परिदग्धेव ज्ञायते । अथवा परिदग्धेव कृष्णा दृश्यते । स्रस्ताङ्गता शिथिलगात्रता । परा अतिशयिता । ष्ठीवनमित्यादि कफसंयुक्तस्य रक्तस्य पित्तस्य च ष्ठीवनम् । शिरसो लोठनमितस्ततः शिरश्चालनम् । कृशत्वं नातिगात्राणां गात्राणामतिशयितं कार्श्यं न व्याधिप्रभावात् । प्रततं निरन्तरम् । कोठः वरटीदष्टसंस्थानः कोठ इत्यभिधीयते । श्यावः कपिशो वर्णः । मूकत्वमवचनत्वमल्पवचनत्वं वा । स्रोतसां कर्णनासादीनाम् ॥ * ॥ ननु वातादयः परस्परविरुद्धगुणास्तेषां सम्भूयैककार्य्यारम्भकत्वं नोपपद्यते परस्परोपघातात् दहनसलिलयोरिव । तत् कथं वातपित्तकफा मिलित्वा विकारोत्पादकाः । अत्र समाधानमुक्तं दृढ़बलेन ।

"विरुद्धैरपि न त्वेते गुणैर्घ्नन्ति परस्परम् ।
दोषाः सहजसात्म्यत्वाद्विषं घोरमहीनिव ॥"

गदाधरस्तु हेत्वन्तरमुक्तवान् ।

"दैवाद्दोषस्वभावाद्वा दोषाणां सान्निपातिके ।
विरुद्धैश्च गुणैः कश्चिन्नोपघातः परस्परम् ॥"इति

ननु भिन्नचयप्रकोपकालानां वातपित्तकफानां युगपदुत्थानाभावात् कथं सम्भूय सन्निपातज्वरारम्भकत्वमुपपद्यते । उच्यते । त्रिदोषजनकनिदानबलेन युगपदेषां प्रकोपादिति सिद्धान्तः ॥ * ॥ अथ सामान्यसन्निपातज्वरस्य त्रयोदश विशेषानाह ।

"एकोल्बणास्त्रयस्ते स्युर्द्व्युल्बणाश्च तथेति षट् ।
त्र्युल्बणश्च भवेदेको विज्ञेयः स तु सप्तमः ॥
प्रवृद्धमध्यहीनैस्तु वातपित्तकफैश्च षट् ।
सन्निपातज्वरस्यैवं स्युर्विशेषास्त्रयोदश ॥"

तत्र प्रवृद्धवातो मध्यपित्तो हीनकफः १ मध्यवातः प्रवृद्धपित्तो हीनकफः २ हीनवातः प्रवृद्धपित्तो मध्यकफः ३ प्रवृद्धवातो हीनपित्तो मध्यकफः ४ मध्यवातो हीनपित्तः प्रवृद्धकफः ५ हीनवातो मध्यपित्तः प्रवृद्धकफश्चेति षट् ६ । तेषां नामानि क्रमादाह ।

"विस्फारकश्चाशुकारी कम्पनो बभ्रुसंज्ञकः ।
शीघ्रकारी तथा भल्लुः सप्तमः कूटपाकलः ॥
सम्मोहकः पाकलश्च याम्यः क्रकच इत्यपि ।
तद्वत् कर्कटकः प्रोक्तस्ततो वैदारिकाभिधः ॥"

तन्त्रान्तरे विस्फारक इत्यत्र विस्फुरक इति पाठः । बभ्रुस्थाने विभुरिति पाठः । कुत्रापि विष्णु इत्यपि पाठः । भल्लुरित्यत्र फल्गुरिति पाठः । याम्य इत्यत्र संग्राम इति पाठः । कर्कटक इत्यत्र कर्कोटक इति पाठः ॥*॥ तत्र वातोल्बणस्य लक्षणमाह ।

"श्वासः कासो भ्रमो मूर्च्छा प्रलापो मोहवेपथुः ।
पार्श्वस्य वेदना जृम्भा कषायत्वं मुखस्य च ॥
वातोल्बणस्य लिङ्गानि सन्निपातस्य लक्षयेत् ।
एष विस्फारको नाम्ना सन्निपातः सुदारुणः ॥"१

अथ पित्तोल्बणस्य लक्षणमाह ।

"अतीसारो भ्रमो मूर्च्छा मुखपाकस्तथैव च ।
गात्रे च बिन्दवो रक्ता दाहोऽतीव प्रजायते ।
पित्तोल्बणस्य लिङ्गानि सन्निपातस्य लक्षयेत् ।
भिषग्भिः सन्निपातोऽयमाशुकारी प्रकीर्त्तितः ॥"२॥*॥

अथ कफोल्बणस्य लक्षणमाह ।

"जड़ता गद्गदा वाणी रात्रौ निद्रा भवत्यपि ।
प्रस्तब्धे नयने चैव मुखमाधुर्य्यमेव च ॥
कफोल्बणस्य लिङ्गानि सन्निपातस्य लक्षयेत् ।
मुनिभिः सन्निपातोऽयमुक्तः कम्पनसंज्ञकः ॥"३॥

अथ वातपित्तोल्बणस्य लक्षणमाह ।

"वातपित्ताधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति ।
तस्य ज्वरो मदस्तृष्णा मुखशोषप्रमीलकाः ।
आध्मानारुचितन्द्राश्च कासश्वासभ्रमश्रमाः ।
मुनिभिर्बभ्रुनामायं सन्निपात उदाहृतः ॥"४॥*

अथ वातश्लेष्मोल्बणस्य लक्षणमाह ।

"वातश्लेष्माधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति ।
तस्य शीतज्वरो मूर्च्छा क्षुत्तृष्णा पार्श्वनिग्रहः ॥
शूलमस्विद्यमानस्य हिक्का श्वासश्च जायते ।
असाध्यः सन्निपातोऽयं शीघ्रकारीति कथ्यते ।
न हि जीवत्यहोरात्रमनेनाविष्टविग्रहः ॥"५॥

अथ पित्तश्लेष्मोल्बणस्य लक्षणमाह ।

"पित्तश्लेष्माधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति ।
अन्तर्दाहो बहिः शीतं तस्य तृष्णा प्रवर्द्धते ॥
तुद्यते दक्षिणं पार्श्वमुरःशीर्षगलग्रहाः ।
ष्ठीवति श्लेष्मपित्तञ्च कृच्छ्रात् कण्ठश्च दूयते ॥
विड्भेदः श्वासहिक्काश्च वर्द्धन्ते सप्रमीलकाः ।
ऋषिभिर्भल्लुनामायं सन्निपात उदाहृतः ॥"६॥

अथ वातपित्तश्लेष्मोल्बणस्य लक्षणमाह ।

"सर्व्वदोषोल्बणो यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति ।

त्रयाणामपि दोषाणां तस्य रूपाणि लक्षयेत् ॥
व्याधिभ्यो दारुणश्चैव वज्राशन्यग्निसन्निभः ।
केवलोच्छ्वासपरमस्तब्धाङ्गस्तब्धलोचनः ॥
त्रिरात्रोपरमे तस्य जन्तोर्हरति जीवितम् ।
तदवस्थन्तु तं दृष्ट्वा मूढो व्याहरते जनः ॥
धर्षितो राक्षसैर्न्यूनमवेलायां चरन्ति ये ।
अन्यया ब्रुवते केचित् यक्षिण्या ब्रह्मराक्षसैः ॥
पिशाचैर्गुह्यकैश्चैव तथान्यैर्मस्तके हतम् ।
कुलदेवार्च्चनाहीनं धर्षितं कुलदेवतैः ॥
नक्षत्रपीडामपरे गरकर्म्मेति चापरे ।
सन्निपातमिमं प्राहुर्भिषजः कूटपाकलम् ॥”७॥
अथ प्रवृद्धमध्यहीनवातादिजनितसन्निपातज्वराणां लक्षणान्याह ।
“प्रवृद्धमध्यहीनैस्तु वातपित्तकफैश्च यः ।
तेन रोगास्त एवोक्ता यथादोषबलाश्रयाः ॥
प्रलापायाससम्मोहकम्पमूर्च्छारतिभ्रमाः ।
एकपक्षाभिघातश्च तत्राप्येतद्विशेषतः ।
एष सम्मोहको नाम्ना सन्निपातः सुदारुणः ॥”
रोगास्त एवोक्ता उक्ता एव ते रोगाः यथा-वेपथुनिद्रानाशविष्टम्भादयो वातजाः । दाहतृष्णोष्णता स्वेदादयः पित्तजाः । गौरवाग्निमान्द्यालस्यकासिका मुखप्रसेकादयः कफजाः । तत्रापि प्रलापादयः पक्षाघातान्ता विशेषाद्भवन्ति ॥ * ॥ ननु वातः प्रवृद्धः सन् ज्वरं करिष्यति पित्तन्तु मध्यं सममिति यावत् तत् कथं ज्वरं करिष्यति । यत आह ।
“धातवस्तन्मला दोषा नाशयन्त्यसमास्तनुम् ।
समाः सुखाय विज्ञेया बलायोपचयाय च ॥”
इति ।
उच्यते । अत्र पित्तं मध्यमपि अप्रकृतमेव यतोऽप्रकृतयोर्वातश्लेष्मणोरपेक्षया मध्यं तेन मध्यं मध्यकुपितमित्यर्थः ॥*॥ ननु कफः क्षीणः स कथं ज्वरं करिष्यति हीनशक्तिकत्वात् । उच्यते । दोषाः क्षीणा अपि व्याधीन् कुर्व्वन्त्येव । यत आह ।
“वातक्षयेऽल्पचेष्टत्वं मन्दवाक्त्वं विसंज्ञता ।
पित्तक्षयेऽधिकश्लेष्मा वह्निर्मन्दः प्रभाक्षयः ॥
शिथिलाः सन्धयो मूर्च्छा रौक्ष्यं दाहो कफक्षयः ॥”
इत्याशङ्का सिद्धान्तस्यापरत्रापि ॥ ८ ॥ * ॥
“मध्यप्रवृद्धहीनैस्तु वातपित्तकफैश्च यः ।
तेन रोगास्त एवोक्ता यथादोषबलाश्रयाः ॥
मोहप्रलापमूर्च्छाः स्युर्मन्यास्तम्भः शिरोग्रहः ।
कासः श्वासो भ्रमस्तन्द्रा संज्ञानाशो हृदिग्रहः ॥
खेभ्यो रक्तं विसृजति तन्द्रा स्यात् स्तब्धनेत्रता ।
तत्राप्येते विशेषाः स्युर्मृत्युरर्व्वाक् त्रिवासरात् ।
भिषग्भिः सन्निपातोऽयं कथितः पाकलाभिधः ॥ ९ ॥
हीनप्रवृद्धमध्यैस्तु वातपित्तकफैश्च यः ।
तेन रोगास्त एवोक्ता यथादोषबलाश्रयाः ॥
हृदयं दह्यते चास्य यकृत्प्लीहान्त्रफुप्फुसाः ।
पच्यन्तेऽत्यर्थमूर्द्ध्वाधः पूयशोणितनिर्गमः ॥
शीर्णदन्तश्च मृत्युश्च तत्राप्येतद्विशेषतः ।
भिषग्भिः सन्निपातोऽयं याम्यनामा प्रकीर्त्तितः ॥” १० ॥ * ॥
अथ प्रवृद्धवातमध्यपित्तहीनकफस्य सन्निपातस्य लक्षणमाह ।
“प्रवृद्धमध्यहीनैस्तु वातपित्तकफैश्च यः ।
तेन रोगास्त एवोक्ता यथादोषबलाश्रयाः ॥
प्रलापायाससंमोहकम्पमूर्च्छारतिभ्रमाः ।
मन्यास्तम्भेन मृत्युश्च तत्राप्येतद्विशेषतः ।
उक्तः क्रकचनामायं सन्निपातो भिषग्वरैः ॥ ११ ॥ * ॥
मध्यहीनप्रवृद्धैस्तु वातपित्तकफैश्च यः ।
तेन रोगास्तथैवोक्ता यथादोषबलाश्रयाः ॥
अन्तर्दाहो विशेषोऽत्र न च वक्तुं स शक्यते ।
रक्तमालक्तकेनेव लक्ष्यते मुखमण्डलम् ॥
यत्नेनाकर्षितः श्लेष्मा हृदयान्न प्रसिच्यते ।
इषुणेवाहतं पार्श्वं तुद्यन्ते खन्यते हृदि ॥
प्रमीलकश्वासहिक्का वर्द्धते तु दिने दिनम् ।
जिह्वा दग्धा खरस्पर्शा गलः शूकैरिवावृतः ॥
विसर्गं नाभिजानाति कूजेच्चापि कपोतवत् ।
अतीवश्लेष्मणा पूर्णः शुष्कवक्त्रोष्ठतालुकः ॥
तन्द्रानिद्रातियोगार्त्तो हतवाग्निर्हतद्युतिः ।
न चातिलभते स्वास्थ्यं विपरीतानि पश्यति ॥
आयम्यते च बहुशो रक्तं ष्ठीवति चाल्पशः ।
एष कर्कटको नाम्ना सन्निपातः सुदारुणः ॥ १२ ॥ * ॥
हीनमध्यप्रवृद्धैस्तु वातपित्तकफैश्च यः ।
तेन रोगास्त एवोक्ता यथादोषबलाश्रयाः ॥
अल्पं शूलं कटीतोदो मध्ये दाहो रुजा भ्रमः ।
भृशं क्लमः शिरो वक्रमन्या हृदयवाग्रुजः ॥
प्रमीलकः श्वासहिक्काकासजाड्यविसंज्ञताः ।
प्रथमोत्पन्नमेतन्तु साधयन्ति कदाचन ॥
एतस्मिन् सन्निवृत्ते तु कर्णमूले सुदारुणा ।
पिडका जायते जन्तोर्यया कृच्छ्रेण जीवति ॥
स वैदारिकसंज्ञोऽयं सन्निपातः सुदारुणः ।
त्रिरात्रोपरमे तस्य व्यर्थमौषधकल्पनम् ॥”१३॥
अथ तन्त्रान्तरे । वातोल्वणादीनां सन्निपातज्वरविशेषाणां त्रयोदशानां शीताङ्गादीनि त्रयोदश नामान्तराणि लक्षणान्तराणि चाह ।
“शीताङ्गस्तिमलोऽङ्गवज्ज्वरगणे तन्द्री प्रलापी ततो
रक्तष्ठीवयिता च तत्र गणितः सम्भुग्ननेत्रस्तथा ।
साभिन्यासकजिह्वकश्च कथितः प्राक्सन्धिगोऽथान्तको
रुग्दाहः सहचित्तविभ्रम इह द्वौ कर्णकण्ठग्रहौ ॥”
तन्द्री तन्द्रिकः । प्रलापी प्रलापकः । रक्तष्ठीवयिता रक्तष्ठीवी । सम्भुग्ननेत्रो भुग्ननेत्रः । अभिन्यासकः अभिन्यासः । कर्णकण्ठग्रहौ कर्णग्रहः कर्णकः । कण्ठग्रहः कण्ठकुब्जकः ॥ * ॥
अथ तेषां प्रत्येकलक्षणानि ।
“हिमशिशिरशरीरः सन्निपातज्वरी यः
श्वसनकसनहिक्कामोहकम्पप्रलापैः ।
क्लमबहुकफतान्तर्दाहवम्यङ्गपीडा-
स्वरविकृतिभिरार्त्तः शीतगात्रः स उक्तः ॥१॥
तन्द्रातीव ततस्तृषातिसरणं श्वासोऽधिकः कासरुक्
सन्तापातितनुर्गले श्वयथुना साकं च कण्डूः कफः ।
सुश्यामा रसना क्लमः श्रवणयोर्मान्द्यञ्च दाहस्तथा
यत्र स्यात् स हि तन्द्रिको निगदितो दोषत्रयोत्थो ज्वरः ॥ २ ॥
यत्र ज्वरे निखिलदोषनितान्तदोष-
जाते प्रलापबहुला सहसोत्थिताश्च ।
कम्पव्यथापतनदाहविसंज्ञताः स्यु-
र्नाम्ना प्रलापक इति प्रथितः पृथिव्याम् ॥३॥
निष्ठीवो रुधिरस्य रक्तसदृशं कृष्णं तनौ मण्डलं
लौहित्यं नयने तृषारुचिवमिश्वासातिसारभ्रमाः ।
आध्मानञ्च विसंज्ञता च तपनं हिक्काङ्गपीडा भृशं
रक्तष्ठीविनि सन्निपातजनिते लिङ्गं ज्वरे जायते ॥ ४ ॥
भृशं नयनरक्तताश्वसनकासतन्द्राभ्रमाः
प्रलापमदवेपथुश्रवणहानिमोहास्तथा ।
अहो निखिलदोषजे भवति यत्र लिङ्गं ज्वरे
पुरातनचिकित्सकैः स इह भुग्ननेत्रो मतः ॥ ५ ॥
दोषास्तीव्रतरा भवन्ति बलिनः सर्व्वेऽपि यत्र ज्वरे
मोहोऽतीव विचेष्टता विकलता श्वासो भृशं मूकता ।
दाहश्चिक्कणमाननञ्च दहनो मन्दो बलस्य क्षयः
सोऽभिन्यास इति प्रकीर्त्तित इह प्राज्ञैर्भिषग्भिः पुरा ॥ ६ ॥
त्रिदोषजनिते ज्वरे भवति यत्र जिह्वा भृशं
वृता कठिनकण्टकैस्तदनु मूकता मूढता ।
श्रुतिक्षतिबलक्षती श्वसनकाससन्तापथः
पुरातनभिषग्वरास्तमिह जिह्वकं चक्षते ॥७॥
श्लथातिशयिता भवेच्छ्वयथुसंयुता सन्धिषु
प्रभूतकफता मुखे विगतनिद्रता कासरुक् ।
समस्तमिति कीर्त्तितं भवति लक्ष्म यत्र ज्वरे
त्रिदोषजनिते बुधैः स हि निगद्यते सन्धिगः ॥८॥
यस्मिन् लक्षणमेतदस्ति सकलैर्दोषैरुदीते ज्वरे-
ऽजस्रं मूर्द्धविधूननं सकसनं सर्व्वाङ्गपीडाधिका ।
हिक्काश्वाससदाहमोहसहिता देहेऽतिसन्तप्तता
वैकल्यञ्च तथावचांसि मुनिभिः सङ्कीर्त्तितः सोऽन्तकः ॥ ९ ॥
दाहोऽधिको भवति यत्र तृषा च तीव्रा
श्वासप्रलापविरुचिभ्रममोहपीडाः ।
मन्याहनुव्यथनकण्ठरुजा श्रमाश्च
रुग्दाहसंज्ञ उदितस्त्रिभवो ज्वरोऽयम् ॥ १० ॥
गायति नृत्यति हसति प्रलपति विकृतं निरीक्षते मुह्येत् ।
दाहव्यथाभयार्त्तो दोषत्रयचित्तविभ्रमो ज्वरवान् ॥ ११ ॥

निःशेषदोषजनितज्वरशेषजन्मा
स्यात् कर्णमूलविषये श्वयथुर्यथा च ।
कण्ठग्रहो बधिरताश्वसनप्रलाप-
प्रस्वेदमोहदहनानि च कर्णकाख्ये ॥ १२ ॥
कण्ठः शूकशतावबद्धवदतिश्वासः प्रलापोऽरुचि-
र्दाहो देहरुजा तृषापि च हनुस्तम्भः शिरो-
ऽर्त्तिस्तथा ।
मोहो वेपथुना सहेति सकलं लिङ्गं त्रिदोषज्वरे
यत्र स्यात् स हि कण्ठकुब्ज उदितः प्राज्ञै-
श्चिकित्साबुधैः ॥ १३ ॥ * ॥
सन्धिगस्तेषु साध्यः स्यात्तन्त्रिकश्चित्तविभ्रमः ।
कर्णको जिह्वकः कण्ठकुब्जः पञ्चापि कष्टकाः ॥
रुग्दाहस्तु तिकष्टेन संसाध्यस्तेषु भाषितः ।
रक्तष्ठीवी भुग्ननेत्रः शीतगात्रः प्रलापकः ।
अभिन्यासोऽन्तकश्चैते षड़साध्याः प्रकी-
र्त्तिताः ॥”*॥

अथ तन्त्रान्तरे । वातोल्वणादीनां सन्निपात-
ज्वरविशेषाणां त्रयोदशानां कुम्भीपाकादीनि
त्रयोदश नामान्तराणि लक्षणान्तराणि चाह ।

“कुम्भीपाकः प्रोर्णुनावः प्रलापी
ह्यन्तर्दाहो दण्डपातोऽन्तकश्च ।
एणीदाहश्चाथ हारिद्रसंज्ञो
भेदा एते सन्निपातज्वरस्य ॥
अजघोषभूतहासौ यन्त्रापीड़श्च संन्यासः ।
संशोषो च विशेषास्तस्यैवोक्तास्त्रयोदश च ॥”

अथैषां लक्षणानि ।

“घोणाविवरभरद्बहुशोणासितनीललोहितं
सार्द्रं ।
विलुठन् मस्तकमभितः कुम्भीपाकेन पीड़ितं
विद्यात् ॥
उत्क्षिप्य यः स्वमङ्गं क्षिपत्यधस्ताच्छितान्त-
मुच्छ्वसिति ।
तं प्रोर्णुनावजुष्टं विचित्रकष्टं विजानीयात् ॥
स्वेदभ्रमाङ्गपीड़ा कम्पो दवथुर्वमी व्यथा कण्ठे ।
गात्रञ्च गुर्व्वतीदं प्रलापिजुष्टस्य जायते
लिङ्गम् ॥
अन्तर्दाहः शैत्यं बहिश्च यस्या विशेषतः श्वासः ।
अङ्गमिव दग्धकल्पं सोऽन्तर्दाहाहितः कथितः ॥
नक्तं दिवा न निद्रामुपैति गृह्णाति मूढ़धीर्नभसः ।
उत्थाय दण्डपाते भ्रमातुरः सर्व्वतो भ्रमति ॥”
नभसो गृह्णाति आकाशात् किञ्चिद्ग्रहीतुं
करौ प्रसारयति इत्यर्थः ।

“संपूर्य्यते शरीरं ग्रन्थिभिरभितस्तथोदरं
मरुता ।
श्वासातुरस्य सततं विचेतनस्यान्तकार्त्तस्य ॥
परिधावतीव गात्रे वक्पात्रे भुजगपतग-
हरिणगणः ।
वेपथुमतः सदाहस्यैणीदाहज्वरार्त्तस्य ॥”
वक्पात्रे पीड़ाभाजने । गात्रस्य विशेषणमेतत् ।
“यस्यातिपीतमङ्गनयने सुतरामलं ततोऽप्य-
धिकम् ।
दाहोऽतिशीनता बहिरस्य स हारिद्रको ज्ञेयः ॥
छगलकशरीरगन्धः स्कन्धरुजावान्निरुद्धगल-
रन्ध्रः ।
अजघोषसन्निपातादाताम्राक्षः पुमान् भवति ॥
शब्दादीनधिगच्छति न स्वान्विषयान् यदी-
न्द्रियग्रामः ।
हसति प्रलपति परुषं स ज्ञेयो भूतहासार्त्तः ॥
येन मुहुर्ज्वरवेगाद्यन्त्रेणेवावपीड्यते गात्रम् ।
रक्तं पीतञ्च वमेत् यन्त्रापीड़ः स विज्ञेयः ॥
अतिसरति वमति कूजति गात्राण्यभितश्चिरं
नरः क्षिपति ।
स श्वाससन्निपाते प्रलपति भृशाश्चिमण्डलो
भवति ॥
मेचकवपुरतिमेचकलोचनयुगलोऽबलो मलोत्-
सर्गात् ।
संशोषिणि सितपिड़कामण्डलयुक्तो ज्वरे भवति ॥
नारायण एव भिषग्भेषजमेतेषु जाह्नवीनीरम् ।
नैरुज्यहेतुरेको नित्यं मृत्युञ्जयोऽध्येयः ॥”*॥

अथासाध्यसन्निपातज्वरस्य लक्षणमाह ।

“सन्निपातज्वरस्यान्ते कर्णमूले सुदारुणः ।
शोथः संजायते तेन कश्चिदेव प्रमुच्यते ॥”
सुदारुणः मारकत्वात् यतस्तेन शोथेन कश्चि-
देव प्रमुच्यते । कोऽपि जीवितं त्यजति इत्यर्थः ।
“सन्निपातज्वरान् कृच्छ्रानसाध्यानपरे जगुः ।
दोषे विबद्धे नष्टेऽग्नौ सर्व्वसम्पूर्णलक्षणः ।
सन्निपातज्वरोऽसाध्यः कष्टसाध्यस्ततोऽन्यथा ॥”
दोषे पित्तकफे । विबद्धे अपक्वे सर्व्वसम्पूर्ण-
लक्षणः सर्व्वाणि दाहशीतादीनि सम्पूर्णानि
अन्यूनानि शौढ़ानीति यावत् लक्षणानि यस्य
सः । ततोऽन्यथा दोषे पक्वे चाग्नौ दीप्ते स्वल्प-
लक्षणकः कष्टसाध्य इत्यर्थः ॥ * ॥ * ॥

अथ सामान्यसन्निपातज्वरस्य चिकित्सा ।

“सन्निपातार्णवे मग्नं योऽभ्युद्धरति मानवम् ।
कस्तेन न कृतो धर्म्मः काञ्च पूजां न सोऽर्हति ॥
मृत्युना सह योद्धव्यं सन्निपातं चिकित्सता ।
यश्च तत्र भवेज्जेता स जेतामयसङ्कुले ॥
श्लेष्मनिग्रहमेवादौ कुर्य्याद्व्याधौ त्रिदोषजे ।
निरस्ते श्लेष्मणि ह्यस्य स्रोतःसङ्घाटितेषु च ।
लाघवं जायते सद्यस्तृष्णा चैवोपशाम्यति ॥”*॥

भेड़ोऽप्याह ।

“सन्निपातज्वरे पूर्व्वं कुर्य्यादामकफापहम् ।
पश्चात् श्लेष्मणि संक्षीणे शमयेत् पित्तमारुतौ ॥”
इति ॥ * ॥

ननु तन्त्रान्तरे प्रथमं पित्तस्य प्रतिक्रिया प्रोक्ता ।
यथा,—

“शमयेत् पित्तमेवादौ ज्वरेषु समवायिषु ।
दुर्न्निवारतरं तद्धि ज्वरार्त्तेषु विशेषतः ॥” इति ।
अन्यत्रापि ।
“समवाये त्रिदोषाणां पूर्व्वं पित्तमुपाचरेत् ।
ज्वरे चैवातिसारे च सर्व्वत्रान्यत्र मारुतः ॥”
इति ॥

तथान्यत्र प्रथमं वायोः प्रतिक्रिया प्रोक्ता ।
यथा,—

“वातस्यानुजयेत् पित्तं पित्तस्यानुजयेत् कफम् ।”
इति ॥ * ॥

तत्र व्यवस्थामाह तन्त्रान्तरे ।

“ज्वरे त्रिदोषजे सामे शमयेत् प्रथमं कफम् ।
जीर्य्यत्यामे जयेत् पित्तं निरामे त्वनिलं जयेत् ॥”
इति । प्रथममिति स्थानत्रयेऽपि सम्बध्यते ।
अन्ये त्विति समादधते ।
“त्रयाणां वा जयेत् पूर्व्वं तं यः स्याद्बलवत्तरः ।”
इति ।

तथा च ।

“संसर्गे यो गरीयान् स्यादुपक्रम्यः स वै भवेत् ।
शेषदोषाविरोधेन सन्निपाते तथैव च ॥” इति ॥
संसर्गे दोषद्वयसंसर्गे । गरीयान् बलवत्तरः ।
“अंशांशं यत्र दोषाणां विवेक्तुं नैव शक्नुयात् ।
क्रियां साधारणीं तत्र विदधीत चिकित्सकः ॥
लङ्घनं वालुकास्वेदो नस्यं निष्ठीवनं तथा ।
अवलेहोऽञ्जनञ्चैव प्राक् प्रयोज्यं त्रिदोषजे ॥”
ज्वर इति शेषः ॥*॥ ननु ।
“क्रियायास्तु गुणालाभे क्रियामन्यां प्रयोजयेत् ।
पूर्व्वस्यां शान्तवेगायां न क्रियासङ्करो हितः ॥”
इति वचनेन क्रियासङ्करस्य निषिद्धत्वात् कथ-
मत्र नस्यनिष्ठीवनावलेहाञ्जनानि युगपद्विधी-
यन्ते इत्याशङ्कायामाह ।
“क्रियाभिस्तुल्यरूपाभिः क्रियासाङ्कर्य्यमिष्यते ।
भिन्नरूपतयैतास्तु नहि कुर्व्वन्ति दूषणम् ॥”*॥

तत्र लङ्घनस्य अवधिमाह ।

“त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा दशरात्रमथापि वा ।
लङ्घनं सन्निपातेषु कुर्य्याद्वारोग्यदर्शनात् ॥”
लङ्घने त्रिरात्रादिविकल्प उल्वणवाताद्यपेक्षया ।
दोषाणां शीघ्रमध्यमन्दशक्तिकत्वात् व्याधिस्वभा-
वाच्च । आरोग्यदर्शनात् इति यावद्रोगता-
दर्शनं स्यात्तावद्वा लङ्घनं कुर्य्यात् । एतेन
त्रिरात्राद्यवधेरनियतत्वं सूचितम् । अतएव
सुश्रुतः प्राह ।
“सप्तमे दिवसे प्राप्ते दशमे द्वादशेऽपि वा ।
पुनर्घोरतरो भूत्वा प्रशमं याति हन्ति वा ॥”
घोरतर इति घोरः स्वभावादेव तदा घोरतरो
भूत्वेति ॥ * ॥ हननप्रशमनयोः कारणमाह ।
“पित्तकफानिलवृद्ध्या दशदिवसद्वादशाहसप्ता-
हात् ।
हन्ति विमुञ्चत्यथवा त्रिदोषजो धातुमलपा-
कात् ॥”
त्रिदोषजो ज्वर इति शेषः । धातुमलपाकात्
धातुपाकाद्धन्ति मलपाकाद्विमुञ्चतीत्यर्थः ।
धातुमलपाके प्राक्तनकर्म्मैव हेतुः । तत्र यदि
जीवनसंवर्द्धकं कर्म्मास्ति तदा मलपाकोऽन्यथा
धातुपाकः । स च रसादिशुक्रान्तधातूनां पाको
बाह्यः ॥*॥ तत्र धातुपाकस्य लक्षणमाह ।
“निद्रानाशो हृदि स्तम्भो विष्टम्भो गौरवा-
रुची ।
अरतिर्बलहानिश्च धातूनां पाकलक्षणम् ॥”
विष्टम्भ उदरस्य । गौरवं गात्राणाम् । अन्यच्च ।

"संबाध्यमानो हृदि नाभिदेशे
गात्रेषु वा पाकरुजायुतेषु ।
पीड़ाज्वरार्त्तोऽङ्गुलिभिश्च गच्छेत्
स धातुपाकी कथितो भिषग्भिः ॥"

अपरञ्च ।
"नाभेरूर्द्ध्वं हृदोऽधस्तात् पीड्यते व्यथया यदि ।
धातोः पाकं विजानीयादन्यथा तु मलस्य च ॥"
मलपाकलक्षणमाह ।
"दोषप्रकृतिवैकृत्यं लघुता ज्वरदेहयोः ।
इन्द्रियाणाञ्च वैमल्यं मलानां पाकलक्षणम् ॥"
दोषप्रकृतिवैकृत्यं दोषा वातादयस्तेषां प्रकृति-
र्वेपथुदाहगौरवादिकरणं तस्य वैकृत्यं वैप-
रीत्यम् । वैमल्यं मलराहित्यम् । मलानां
दोषाणाम् । अन्यच्च ।
"प्राग्वदीन्द्रियपञ्चकस्य पटुता वह्नेश्च यत्र क्रमात्
तृष्णादिप्रशमो ज्वरस्य मृदुता तं दोषपाकं
वदेत् ।
हृन्नाभ्योरतिवेदनातिसरणं तीव्रो ज्वरस्तृण्मद-
श्वासाधिक्यमरोचको रतिरिति स्याद्धातु-
पाकाकृतिः ॥"॥*॥
आमस्याधिक्येन सप्तमदिवसाद्यवध्यतिक्रमे पर-
मावधिमाह । हारीतः ।
"सप्तमी द्विगुणा यावन्नवम्येकादशी तथा ।
एषा त्रिदोषमर्य्यादा मोक्षाय च वधाय च ॥"
नवम्येकादशी चागमनदिवसं संविहाय बोद्धव्या
तेनागमनदिवसं नीत्वा दशमी द्वादशी च अत्र
रात्रिरित्यध्याह्रियते ।
"सन्निपातज्वरी पूर्व्वं सम्यग्लङ्घनमाचरेत् ।
शृतं शीतं पिबेदम्भः समये भेषजं भजेत् ॥
सन्निपातेन तृष्णार्त्तं पार्श्वरुक् तालुशोषितम् ।
यः पाययेज्जलं शीतं स मृत्युर्नरविग्रहः ॥"
शीतं अक्वथितम् । शृतं तु शीतं विहितमेव
इति लङ्घनम् ॥ * ॥ अथ वालुकास्वेदः ।
"वातश्लेष्मकृते स्वेदात् कारयेद्रूक्षनिर्म्मितात् ।
स्निग्धः स्वेदो निषिद्धोऽत्र विना केवलवातजान् ॥
खर्परभृष्टपटस्थितकाञ्जिकसंसिक्तवालुकास्वेदः ।
शमयति वातकफामयमस्तकशूलाङ्गभङ्गादीन् ॥
स्रोतसामार्द्रवं कृत्वा नीत्वा पावकमाशयम् ।
हत्वा वातकफस्तम्भं स्वेदो ज्वरमपोहति ॥"
इति वालुकास्वेदः ॥ * ॥
अथ नस्यम् ।
"सैन्धवं श्वेतमरिचं सर्षपाः कुष्ठमेव च ।
वस्तमूत्रेण संपिष्टं नस्यं तन्द्रानिवारणम् ॥"
श्वेतमरिचं शिग्रुबीजम् । सैन्धवादिनस्यम् ॥
"मधूकसारसिन्धूत्थवचोषणकणाः समाः ।
श्लक्ष्णं पिष्ट्वाम्भसा नस्यं दद्यात् संज्ञाप्रबोध-
नम् ॥"
इति मधूकसारादिनस्यम् ॥
"मातुलुङ्गार्द्रकरसं कोष्णं त्रिलवणान्वितम् ।
अन्यदा सिद्धविहितं नस्यं तीक्ष्णं प्रयोजयेत् ॥
तेन प्रभिद्यते श्लेष्मा प्रभिन्नश्च प्रसिच्यते ।
शिरोहृदयकण्ठास्यपार्श्वरुक् चोपशाम्यति ॥
मोहामयेन मुग्धं बोधयितुं यादृशः शक्तः ।
कल्पतरुनामधेयो रसो न तादृक् परं
किञ्चित् ॥"
इति नस्यम् ॥ * ॥
अथ निष्ठीवनम् ।
"जिह्वातालुगलक्लोम मरुत्पित्तेन चोच्छ्रितः ।
सदा स चारयेच्छोषं जिह्वायाः खरतां तथा ॥
स्फुटनञ्च तदा जिह्वां लेपयेन्मधुपिष्टया ।
द्राक्षया साज्यपातेन जिह्वा स्यात् सरसा
मृदुः ॥
आर्द्रकस्य रसोपेतं सैन्धवं कटुकत्रयम् ।
आकण्ठाद्धारयेदास्ये निष्ठीवेच्च पुनः पुनः ॥
तेनास्य हृदयक्लोममन्यापार्श्वशिरोगलात् ।
लीनोऽप्याकृष्यते श्लेष्मा लाघवं चास्य जायते ॥
पर्व्वभेदो ज्वरो मूर्च्छा निद्राश्वासगलामयाः ।
मुखाक्षिगौरवं जाड्यमुत्क्लेशश्चोपशाम्यति ॥
सकृत् द्विस्त्रिश्चतुः कुर्य्याद्दृष्ट्वा दोषबलाबलम् ।
एतद्धि परमं प्राहुर्भेषजं सन्निपातिनाम् ॥"
इति कवलग्रहः ॥ * ॥
अथावलेहः ।
"कट्फलं पौष्करं शृङ्गी व्योषं यासश्च कारवी ।
श्लक्ष्णचूर्णीकृतं चैतत् मधुना सह लेहयेत् ॥
एषावलेहिका हन्ति सन्निपातं सुदारुणम् ।
हिक्कां श्वासञ्च कासञ्च कण्ठरोगञ्च नाशयेत् ।
एतद्योज्यं कफोद्रेके चूर्णमार्द्रकजै रसैः ॥"
तन्त्रान्तरे च उक्तम् ।
"अष्टाङ्गं मधुना लिह्यादार्द्रकस्य रसेन वा ।
संमोहं दारुणं हन्यात्तन्द्राकाससमन्वितम् ॥"
इति ।
"सर्व्वेषु सन्निपातेषु न क्षौद्रमवचारयेत् ।
शीतोपचारि क्षौद्रं स्याच्छीतञ्चात्र विरुध्यते ॥"
अयमभिप्रायः । सन्निपातज्वरेषु श्लेष्मनिग्र-
हार्थं सर्व्वदा स्वेदो हित उक्तः । अत्राग्नि-
सम्बन्धाद्देहस्योष्णता तिष्ठेदेव । उष्णेन मधुना
विरोधः । उक्तञ्च सुश्रुतेन ।
"उष्णैर्व्विरुध्यते सर्व्वं विषान्वयतया मधु ।
उष्णार्त्तमुष्णैरुष्णे च तन्निहन्ति यथा विषम् ॥"
इति ॥
शीतोपचारि क्षौद्रमिति । शीतेनोपचारोऽस्या-
स्तीति शीतोपचारि । शीतञ्चात्र सन्निपाते
विरुध्यते । अयमवलेहः प्रायेणोर्द्ध्वजत्रुरोग-
हरत्वात् सायमुपयुज्यते । यत उक्तं चरकेण ।
"ऊर्द्ध्वजत्रुगदघ्नी या सा सायमवलेहिका ।
अधोरोगहरी या सा भोजनात् प्राक् प्रयु-
ज्यते ॥"
पौष्करं पुष्करमूलं तदलाभे कुष्ठं देयम् ।
शृङ्गी कर्कटशृङ्गी । व्योषं शुण्ठीपिप्पलीमरि-
चानि । यासो यवासः । केचिद्यासस्थाने
यवानीं प्रक्षिपन्ति । कारवी मगरेला इति
लोके । अष्टाङ्गावलेहिका ॥ * ॥
"छिन्नमामलकं पिष्ट्वा द्राक्षया सह मेलयेत् ।
विश्वभेषजसंयुक्तं मधुना सह लेहयेत् ।
तेनाशु शाम्यति श्वासः कासो मूर्च्छारुचि-
स्तथा ॥"
इत्यवलेहः ॥ * ॥
अथाञ्जनम् ।
"शिरीषबीजगोमूत्रकृष्णामरिचसैन्धवैः ।
अञ्जनं स्यात् प्रबोधाय सरसोनशिलावचैः ॥"
इति शिरीषबीजाद्यञ्जनम् ॥ * ॥
"अयोरजः श्वेतलोध्रमञ्जनं मरिचं तथा ।
गोपित्तेन समायुक्तं तन्द्रानाशनमुत्तमम् ॥"
गोपित्तं गोरोचना । लौहचूर्णाद्यञ्जनम् ॥ * ॥
"अञ्जनं सव्यगारव्यं मधुसिन्धुशिलोषणैः ।
प्रमोहद्रोहि भवति भाषितं भिषजां वरैः ॥"
शिला मनःशिला । उषणं मरिचम् । इत्य-
ञ्जनम् ॥ * ॥ अथ क्वाथः ।
"सूतं विषञ्च मरिचं तुल्यकं नवसादरम् ।
चूर्णितं खरसैर्म्मद्यं धूर्त्तपत्ररसोनयोः ॥
सन्निपातकृते मोहे मूर्द्ध्नि लिम्पेत् पदोपरि ।
अस्थिरथास्त्वनेनैव लेपं कुर्य्यात् पदोपरि ॥"
पदं पौङ इति लोके ।
"बिल्वश्योनाकगम्भारीपाटलागणिकारिकाः ।
पाचनं वातकफहृत् पञ्चमूलमिदं महत् ॥
शालपर्णी पृश्निपर्णी बृहती कण्टकारिका ।
गोक्षुरो वातपित्तघ्नं कनीयः पञ्चमूलकम् ॥
उभयं दशमूलं तत् पिप्पलीचूर्णसंयुतम् ।
सन्निपातज्वरं हन्ति हृत्कण्ठग्रहनाशनम् ॥
तन्द्रावातकफातङ्कश्वासपार्श्वार्त्तिकासनुत् ।
महान्ति यानि मूलानि काष्ठगर्भाणि यानि
च ।
तेषान्तु वल्कलं ग्राह्यं ह्रस्वमूलानि कृत्स्नशः ॥"
अत्र बिल्वादीनां पञ्चानां मूलस्य वल्कलं
ग्राह्यम् । दशमूलक्वाथः ॥ * ॥
"दशमूलीकषायस्तु स पौष्करकणान्वितः ।
सन्निपातज्वरे देयः श्वासकाससमन्विते ॥"
इति द्वादशाङ्गक्वाथः ॥ * ॥

"चिरज्वरे वातकफोल्वणे वा
त्रिदोषजे वा दशमूलमिश्रः ।
किराततिक्तादिगणः प्रयोज्यः
शुद्धार्थिने वा त्रिवृता विमिश्रः ॥"

किराततिक्तादिर्यथा,—
"किराततिक्तको मुस्तं गुडूची विश्वभेषजम् ।
किरातादिगणो ज्ञेय चातुर्भद्रकमित्यपि ॥"
इति चतुर्द्दशाङ्गक्वाथः ॥ * ॥
"दशमूली शटी शृङ्गी पौष्करं सदुरालभम् ।
भार्गी कुटजबीजञ्च पटोलं कटुरोहिणी ॥
अष्टादशाङ्ग इत्येष सन्निपातज्वरापहः ।
कासहृद्ग्रहपार्श्वार्त्तिश्वासहिक्कावमीहरः ॥"
इत्यष्टादशाङ्गक्वाथः ॥ * ॥

"भूनिम्बदारुदशमूलमहौषधाब्द-
तिक्तेन्द्रबीजधनिकेभकणाकषायः ।
तन्द्राप्रलापकसनारुचिदाहमोह-
श्वासत्रिदोषजनितज्वरनाशनः स्यात् ॥"

इति द्वितीयोऽष्टादशाङ्गक्वाथः ॥

एतस्यैव गुणा उक्ता वङ्गसेनेन ।
"अष्टादशाङ्गमित्येष म्लुकल्पं ज्वरं जयेत् ॥"
इति ॥ * ॥

अथ सन्निपातज्वरे रसाः ।
"विषं त्रिकटुकं गन्धं टङ्कणं मृतशुल्वकम् ।
धुस्तूरस्य च बीजानि हिङ्गुलं नवमं स्मृतम् ॥
एतानि समभागानि दिनैकं विजयाद्रवैः ।
मर्द्दयेच्चणकाकारा कर्त्तव्या वटिकाथ वा ॥
भक्षणीया तु पातव्यो रविमूलकषायकः ।
मृतसञ्जीवनीनाम्ना सन्निपातज्वरान्तकृत् ॥"
इति मृतसञ्जीवनी वटिका ॥ * ॥

सन्निपातज्वरे रसप्रदीपे ।
"शुद्धसूतसमं गन्धं सूतांशं मृतताम्रकम् ।
त्रिभिस्तुल्यैर्गवां क्षीरैर्म्मर्द्दयेदातपे खरे ॥
मर्द्दयेद्दिनमेकन्तु निर्गुण्डीशिग्रुजद्रवैः ।
विधाय गोलं तं गोलमन्धमूषागतं पचेत् ॥
त्रियामान् वालुकायन्त्रे ततः खल्ले विचूर्णयेत् ।
अष्टमांशं विषं तत्र क्षिपेत्तेनापि मर्द्दयेत् ॥
त्रिनेत्राख्यो रसो ह्येष ज्ञेयो गुञ्जाद्वयोन्मितः ।
पञ्चकोलकषायेण छागीदुग्धेन वा सह ॥
रसेनानेन मुक्तेन सन्निपातज्वरो महान् ।
संक्षयं व्रजति क्षिप्रं कर्त्तव्यो नात्र संशयः ॥"
इति त्रिनेत्रो रसः ॥ * ॥

सन्निपातज्वरे रसप्रदीपे ।
"भस्म षोड़शनिष्कं स्यादारण्योपलसम्भवम् ।
मरिचं निष्कमात्रञ्च विषं निष्कं विचूर्णयेत् ॥
रसो भस्मेश्वरो नाम्ना सन्निपातज्वरान्तकृत् ।
एकगुञ्जामितो भक्ष्य आर्द्रकस्य द्रवेण हि ॥"
इति भस्मेश्वरो रसः ॥ * ॥

सन्निपातज्वरे रसेन्द्रचिन्तामणौ ।
"द्वौ कर्षौ सूतकाद्ग्राह्यौ गन्धकाद्वौ तथैव च ।
यत्नतस्तूभयं मर्द्द्यं दिनं हंसपदीरसैः ॥
कल्कस्य वटिकां कृत्वा निःक्षिपेत् काचभाजने ।
कर्षैकमभ्रकं तत्र क्षिप्त्वा वक्त्रं निरोधयेत् ॥
कूपिकायाः परौ भागौ वालुकाभिश्च पूरयेत् ।
सार्द्धं यावदहोरात्रं तावत्तत्र पचेद्रसम् ॥
दीपमात्रोऽनलो देयः स्वाङ्गशीतं तदुद्धरेत् ।
तोलार्द्धमभ्रकं तत्र क्षिपेत्तावच्चयोषणम् ॥
भक्षितो रक्तिकामात्रो रसस्त्वग्निकुमारकः ।
सन्निपातज्वरं हन्याद्वातं मन्दाग्नितामपि ॥
शूलं संग्रहणीं गुल्मं क्षयं पाण्डुगदं तथा ।
श्वासकासादिकान् सर्व्वान् गदानेष विनाशयेत् ॥"
इति अग्निकुमारो रसः ॥ * ॥

सन्निपातज्वरादिषु रसेन्द्रचिन्तामणौ ।
"गन्धेशटङ्कमरिचं विषं धत्तूरजैर्द्रवैः ।
दिनसंमर्द्दितं शुष्कं पञ्चवक्त्रो रसो भवेत् ॥
आर्द्रकस्य द्रवेणैष दातव्यो रक्तिकामितः ।
सन्निपातज्वरं घोरं नाशयेन्नात्र संशयः ॥"
ईशः पारदः । टङ्कः टङ्कणः । पञ्चवक्त्रो रसः ॥*
सन्निपातज्वरे रसेन्द्रचिन्तामणौ । अथ शीतज्वर रसाः ।

"सूतकं गन्धकञ्चैव हरितालं मनःशिलाम् ।
एकनिष्कं द्विनिष्कञ्च चतुर्निष्कं तथैव च ॥
पञ्चनिष्करसैः कारवेल्ल्याः कल्कं प्रकल्पयेत् ।
ताम्रपत्राणि तुल्यानि तेन कल्केन लेपयेत् ॥
शरावसंपुटे तानि कृत्वा तेषामुपर्य्यपि ।
दद्यात्तां पिष्टिकां पश्चात् पुटपाकेन पाचयेत् ॥
ततः संचूर्णयेदेव रसः क्षौद्रेण भक्षितः ।
यवैकमात्रया हन्ति घोरं शीतज्वरं ध्रुवम् ॥"
पारटङ्कः १ गन्धकटङ्कः २ हरितालटङ्कः ४ मनःशिलाटङ्कः ५ ताम्रपत्रटङ्कः १२ । इति शीतज्वरारिरसः ॥ * ॥ रसप्रदीपे ।
"पारदं गन्धकं तुल्यं दरदञ्च विषं समम् ।
विषाद्दशगुणं योज्यं मरिचं विश्वभेषजम् ॥
अश्वगन्धा तु विजया कासमर्द्दकठिल्लकाः ।
चतुर्णाञ्च रसैरेतच्चूर्णं यत्नेन मर्द्दयेत् ॥
तुलस्यास्तु दलैः सार्द्धं भक्षितो रक्तिकामितः ।
हन्ति शीतज्वरं घोरं नाम्नायं शीतकेशरी ॥"
इति शीतकेशरीरसः ॥*॥

रसप्रदीपे ।
"तालकं शुक्तिकाचूर्णं तुल्यं तत्रोभयोपरि ।
नवमांशञ्च तुत्थं स्यात् मर्द्दयेत् कन्यकाद्रवैः ॥
तत्तु संशुष्कमुपलैर्वन्यैर्गजपुटे पचेत् ।
शीतं तच्चूर्णयेदर्द्धं गुञ्जामात्रं शितायुतम् ॥
प्रभाते भक्षदेत्तेन याति शीतज्वरक्षयम् ।
वान्तिर्भवति कस्यापि कस्यापि न भवत्यपि ॥"
इति शीतभञ्जी ॥ * ॥

"रसकं पारदं तुल्यं तालकं गन्धटङ्कणम् ।
सर्व्वमेतत् समं चूर्णं कारवेल्लीरसैर्द्दिनम् ॥
मर्द्दयेत्तेन शुद्धस्य रसकादिसमस्य तु ।
ताम्रस्य भाजनस्यान्तर्लिम्पेद्द्व्यङ्गुलोन्मितम् ॥
तत् पचेद्वालुकायन्त्रे यवा यावत् स्फुटन्ति हि ।
शीतलं तद्धि गृह्णीयात्ताम्रपात्रोदराद्भिषक् ॥
शीतभञ्जी रसो माषमात्रो मरिचसंयुतः ।
भक्षितः पर्णखण्डेन नाशयेद्विषमज्वरान् ॥"
इति शीतभञ्जी रसः ॥*॥

शीतज्वरादिविषमज्वरेषु रसेन्द्रचिन्तामणौ ।
"तालको दरदोऽमृतपारदो गन्धकः शिला ।
क्रमाद्भागार्द्धरहितं कारवेल्लाम्बुमर्द्दितम् ॥
अनेनास्य प्रमाणेन ताम्रपात्रीं प्रलेपयेत् ।
अधोमुखीं दृढ़े भाण्डे तान्निरुध्याथ पूरयेत् ॥
चुल्ल्यां वालुकया धस्रमग्निं प्रज्वालयेद्दृढ़म् ।
शीतं संचूर्ण्य माषोऽस्य नागवल्लीदले स्थितः ॥
भक्षितो मरिचैः सार्द्धं समस्तान् विषमज्वरान् ।
शीतदाहादिकान् हन्ति पथ्यं शाल्योदनं पयः ॥"
इति शीतभञ्जी रसः ॥*॥

रसरत्नप्रदीपे ।
"रसं गन्धं विषञ्चैव समं शुद्धञ्च टङ्कणम् ।
मर्द्दयेत् खल्लमध्ये तु यावत् कज्जलसन्निभम् ॥
नकुलस्य मुखे क्षिप्त्वा मृदा संवेष्टयेद्दृढ़म् ।
स्थापयेत् मृण्मये पात्रे अधोऽर्द्धलवणं न्यसेत् ॥
मुखे भाण्डं संनिरुध्य चतुर्यामं दृढ़ाग्निना ।
स्वाङ्गशीतं समुद्धृत्य कृत्वा खल्लेषु कज्जलीम् ।
गुञ्जाद्वयप्रमाणेन नस्यकर्म्माणि योजयेत् ।
वामभागे ज्वरं हन्ति तत्क्षणात् कौतुकं महत् ।
योजयेद्दक्षिणे भागे आरोग्यं निश्चितं भवेत् ॥"
इत्यर्द्धनारीनाटेश्वरो रसः ॥ * ॥

शीतज्वरादिविषमज्वरेषु रसरत्नप्रदीपे ।
"कट्फलं त्रिफलादारुचन्दनं सपद्मकम् ।
कटुकापद्मकोशीरं विपचेत् कर्षकं जले ॥
त्रिदोषदाहतृष्णाघ्नं पानमात्रेयपूजितम् ।
दीर्घकालजरार्त्तानामेतत् स्यादमृतोपमम् ॥"
कर्षं कट्फलाद्युशीरान्तानां समुदितानां जले प्रस्थमिते विपचेत् अर्द्धशेषम् । कट्फलादियानं तृष्णायां दाहे च ।
"सन्निपाते तु दाहार्त्तं यः सिञ्चेच्छीतवारिणा ।
आतुरः स कथं जीवेद्भिषग्वा स कथं भवेत् ॥"
एष सन्निपातिनो दाहे शीताम्बुसेकनिषेधो रुग्दाहाभ्यश्च तत्र वाप्याद्यवगाहनस्योक्तत्वात् ॥"*
अथान्नमाह ।
"दुःस्पर्शगोक्षुरक्षुद्रासिद्धमाहारमर्पयेत् ।
दोषशान्तिबलाभार्थं त्रिदोषज्वरिणे भिषक् ॥"
दुःस्पर्शो यवासः । आहारमुचितमन्नम् ॥
"लाजशक्तून् समश्नीयात् सैन्धवेन समन्वितान् ।
ते चेच्जीर्य्यन्त्यविघ्नेन ज्वरी जीवेत्तदा ध्रुवम् ॥"
इति केचित् ॥
"रक्तपित्ते हितत्वेन तृष्णादाहज्वरेषु च ।
लाजानां शक्तवः शीता न च तेऽत्र हिता मताः ॥
पाचनो दीपनः शोषी लाजमण्डो यतः स्मृतः ।
दशमूलादिसंसिद्धः सन्निपातज्वरे हितः ॥
सन्निपातज्वरी यस्तु कम्पते प्रलपत्यपि ।
किञ्चिदेव न जानाति चिकित्सा तस्य कथ्यते ॥
अभ्यञ्जयेत् पुराणेन सर्पिषा पूर्व्वमेव तम् ।
बलारास्नागुडूच्याद्यैस्तैलैश्च परिषेचयेत् ॥
वर्त्तको वर्त्तका लावो वार्त्ताकस्तित्तिरिः शशः ।
कुलिङ्गश्च रसैरेषां तर्पयेत यथानलम् ॥"
वर्त्तकः वटेर इति लोके । वर्त्तका बटई इति लोके । वार्त्ताको वातचटक इति निर्घण्टः ॥ बगेरा इति लोके । कुलिङ्गो गरगरैया इति लोके ।
"सन्निपाते क्षुधार्त्तं यो भोजयेत् पिशितौदनम् ।
स कथं भिषगाख्यान्तु लभते मनुजाधमः ॥"*॥
अथ वातोल्बणसन्निपातज्वरस्य चिकित्सा ।
"पञ्चमूलीकषायन्तु दद्यात् वातोत्तरे ज्वरे ।
भृशोष्णं वा सुखोष्णं वा दृष्ट्वा दोषबलाबलम् ॥"
पञ्चमूली महती प्रथमं प्राप्तायास्त्यागे वचनाभावात् ॥ * ॥ अथ पित्तोल्बणसन्निपातज्वरस्य चिकित्सा ।
"परूषकाणि त्रिफला देवदारु च कट्फलम् ।
चन्दनं पद्मकं चैव तथा कटुकरोहिणी ॥
पृश्निपर्णी शृतं त्वभिरुषितं शीतलं जलम् ।
पित्तोत्तरे तृषामेतत् सन्निपाते चिकित्सितम् ॥"
इति परूषकादिक्वाथः ॥ * ॥

"किराततिक्तकं मुस्तं गुडूची विश्वभेषजम् ।
पाठोदीच्यं स्वयालश्च शृतं पित्ताधिके पिबेत् ॥"
इति किराताद्यष्टकम् ॥ * ॥
अथ कर्णोत्थसन्निपातज्वरस्य चिकित्सा ।
"हृहत्यौ पौष्करं भार्गी शटी शृङ्गी दुरा-
लभा ।
वत्सकस्य तु बीजानि पटोलं कटुरोहिणी ॥
हृहत्यादिगणः शस्तः सन्निपाते कफोत्तरे ।
श्वासादिषु च सर्व्वेषु हितः सोपद्रवेष्वपि ॥"
इति हृहत्यादिक्वाथः ॥ * ॥
अथ वातपित्तोत्थसन्निपातज्वरस्य चिकित्सा ।
"वातपित्तहरं हृद्यं कनीयः पञ्चमूलकम् ।
तत्क्वाथो मधुना हन्ति वातपित्तोत्तरं ज्वरम् ॥"
इति लघुपञ्चमूलम् ॥ * ॥
अथ वातश्लेष्मोत्थसन्निपातज्वरचिकित्सा ।
"किराततिक्तकं मुस्तं गुडूची विश्वभेषजम् ।
चातुर्भद्रकमित्याहुर्व्वातश्लेष्मोत्थयो ज्वरे ॥"
इति चातुर्भद्रकक्वाथः ॥ * ॥
अथ पित्तश्लेष्मोत्थसन्निपातज्वरचिकित्सा ।
"पर्पटः कट्फलं कुष्ठमुशीरं चन्दनं जलम् ।
नागरं मुस्तकं शृङ्गी पिप्पल्येषां शृतं हितम् ।
तृष्णादाहाग्निमान्द्येषु पित्तश्लेष्मोत्थयो ज्वरे ॥"
इति पर्पटादिक्वाथः ॥ * ॥
अथ वातपित्तश्लेष्मोत्थसन्निपातज्वरचिकित्सा ।
"नागरं धान्यकं भार्गी पद्मकं रक्तचन्दनम् ।
पटोलं पिचुमर्द्दश्च त्रिफला मधुकं बला ॥
शर्करा कटुका मुस्ता गजाह्वा व्याधिघातकः ।
किराततिक्तमम्टता दशमूली निदिग्धिका ॥
योगराजो निहन्त्येष सन्निपातत्रिकोत्थजम् ।
सन्निपातसमुत्थानं म्टत्युमप्यागतं जयेत् ॥"
गजाह्वा गजपिप्पली । व्याधिघातकः आरग्वधः ।
निदिग्धिका द्वैगुण्यार्थं पृथक् पठिता । इति
योगराजक्वाथः ॥ * ॥ अथ प्रवृद्धमध्यक्षीणवा-
तादिजनितसन्निपातज्वराणां यथा तन्त्रेण
चिकित्सामाह ।
"प्रवृद्धं कर्षयेद्दोषं क्षीणं संवर्द्धयेद्भिषक् ।
चिकित्सेयं विधातव्या दोषयोर्वृद्धहीनयोः ॥"
अस्यायमर्थः । प्रवृद्धं दोषं कर्षयेत् तत्क्षैण्य-
हेतुभिरौषधान्नविहारैः कृशीकृत्य समीकुर्य्यात् ।
क्षीणं दोषं संवर्द्धयेत् । तद्वृद्धिहेतुभिरौषधान्न-
विहारैर्वर्द्धयित्वा समीकुर्य्यादित्यर्थः ।
"प्रवृद्धे शमिते दोषे मध्यमः स्वयमेव हि ।
शान्तिं याति समं नीते त्वनुबन्धोऽनुबन्धवत् ॥"
अस्यायमर्थः । वर्षासु वायुरनुबन्ध्यः सेव्यः ।
प्रधानमिति यावत् । पित्तश्लेष्माणावनुबन्धौ
वायोरनुचरौ शरदि पित्तमनुबन्ध्यं कफोऽनु-
बन्धः । वसन्ते कफोऽनुबन्ध्यो वातपित्ते अनुबन्धौ
तत्र यथानुबन्ध्ये प्रशमं नीतेऽनुबन्धः स्वयमेव
शान्तिं याति । तथा प्रवृद्धे दोषे शमिते ह्रास-
यित्वा समीकृते मध्यमो दोषो हि निश्चयेन
स्वमेव शान्तिं याति प्रकृतौ भवतीत्यर्थः ॥ * ॥
अथ शीताङ्गादीनां सन्निपातज्वराणां त्रयो-
दशानां विशिष्टा चिकित्सा । तत्र शीताङ्गस्य
चिकित्सामाह ।
"भास्वन्मूलं जीरकं योषभार्गी-
व्याघ्रीशुण्ठीपुष्करं गोजलेन ।
सिद्धं सद्यः शीतगात्रातिमोह-
श्वासश्लेष्मोद्रेककासान्निहन्ति ॥"
भास्वन्मूलं अर्कमूलम् ।
"कर्कोटिकाकन्दरजः कुलत्थ-
कृष्णावचाकट्फलकृष्णजीरैः ।
किराततिक्तामलकद्रलावु-
पथ्याभिरुद्वर्त्तनमत्र शस्तम् ॥"
कर्कोटिकाकन्दरजः खखसामूलरजः ।
"रसविषमरिचमहौषधिप्रियफलभस्मैकभूचतुर्व्व-
सुभिः ।
भागैर्मितमुद्धूलनमिदममितस्वेदशैत्यहरम् ॥" * ॥
अथ तन्द्रिकस्य चिकित्सा ।
"सुद्राह्वतानागरपौष्कराणि
शृतानि पीतानि शिवायुतानि ।
शुण्ठीकणागस्तिरसौषधानि
नस्येन तन्द्राविजयोत्थयानि ॥
मरिचकणचपचपचा वचा वक्
क्रमिहरनागरशर्व्वरीगवाक्ष्यः ।
कृतनकजलकल्किता नितान्तं
नसि निहिता ननु तन्द्रिकं जयन्ति ॥"
चपः बालकः । पचपचा दारुहरिद्रा । वक्
कुष्ठम् । क्रमिहरो विडङ्गः । शर्व्वरी हरिद्रा ।
गवाक्षी इन्द्रवारुणी । नसि नासिकायाम् ।
"तुरङ्गलालालवणोत्तमेन्दुः
मनःशिलामागधिकामधूनि ।
नियोजितान्यञ्जिनि निश्चितं द्राक्
तन्द्रां सनिद्रां विनिवारयन्ति ॥"
लवणोत्तमं सैन्धवम् । इन्दुः कर्पूरः । निद्रा
अतिनिद्रा ॥ * ॥ अथ प्रलापकस्य चिकित्सा ।
"सतगरवरतिक्तो रेवताम्भोदतिक्ता-
नलदतुरगगन्धाभारतीहारहूराः ।
मलयजदशमूलीशङ्खपुष्पीसुपक्वाः
प्रलपनमपहन्युः पानतो नातिदूरात् ॥"
वरतिक्तोऽत्र पर्पटो न तु महानिम्बस्तन्त्रा-
न्तरानुरोधात् । नलदं लामज्जकम् । तदलाभा-
दुशीरं ग्राह्यम् । भारती ब्राह्मी । वरम्भी
इति लोके । हारहूरा द्राक्षा ।
"सान्त्वनैरञ्जनैर्नस्यैस्तीक्ष्णैर्युक्तिमितसेवनैः ।
सर्व्वतो विकृतं चित्तमस्य प्रकृतिमानयेत् ॥" * ॥
अथ रक्तष्ठीविनश्चिकित्सा ।
"रौहिषधन्वयवासकवासा-
पर्पटगन्धलताकटुकाभिः ।
शर्करया सममेष कषायः
स्तनष्ठीविन उदित उपायः ॥"
रौहिषं सुगन्धतृणविशेषः । रोहित इति
लोके । गन्धलता प्रियङ्गुः ।
"पद्मकचन्दनपर्पटमुस्ता-
जातिवरारुणचन्दनवारि ।
क्लीतकनिम्बयुतं परिपक्वं
वारि भवेदिह शोणितहारि ॥"
क्लीतकं यष्टीमधुकम् । इह रक्तष्ठीविनि ।
"मधुकमधूकपरूषकपाथ-
श्चन्दनपल्लवदारुसनाथः ।
श्रीपर्णीफलशीतकषायः
सशित इह स्यादस्रजयाय ॥"
पल्लवं पत्रकम् । पाथः बालः । सनाथः सप्र-
धानः । श्रीपर्णी गम्भारी ॥ * ॥ अथ भुग्न-
नेत्रस्य चिकित्सा ।
"तुरङ्गगन्धालवणोग्रगन्धा-
मधूकसारोषणमागधीभिः ।
वस्ताम्बुशुण्ठीलशुनान्विताभि-
र्नस्यं त्वसम्भुग्नदृशं करोति ॥" * ॥
अथाभिन्यासस्य चिकित्सा ।
"शृङ्गीभार्ग्यभयाजाजीकणाभूनिम्बपर्पटैः ।
देवदारुवचाकुष्ठयासकट्फलनागरैः ॥
मुस्तधान्याकतिक्तेन्द्रयवपाठाहरेणुभिः ।
हस्तिपिप्पल्यपामार्गपिप्पलीमूलचित्रकैः ॥
विशलारग्वधारिष्टशटीवाकुचिकाफलैः ।
विडङ्गरजनीदार्व्वीयवानीद्वयसंयुतैः ॥
समांशैर्व्विहितः क्वाथो हिङ्ग्वार्द्रकरसान्वितः ।
अभिन्यासज्वरं घोरं हन्ति तन्द्राञ्च तत्क्षयात् ॥
प्रमोहं कर्णमूलञ्च सन्निपातांस्त्रयोदश ।
हिक्कां श्वासञ्च कासञ्च तथा सर्व्वानुपद्रवान् ॥"
इति शृङ्ग्यादिक्वाथः ॥ * ॥
अथ जिह्वकस्य चिकित्सा ।
"किराततिक्ताकुलकत्कलिङ्ग-
कर्पूरकृष्णाकटुतैलयुक्तः ।
अम्लद्रवः संशमयेद्रसज्ञा
दोषांस्तुतो दाशरथिर्यथाब्धिम् ॥"
आकुलकत् अकरकरहा इति लोके । कलिङ्गं
कुलिञ्जन इति लोके । अम्लद्रवः बीजपूरादि-
रसः । इति किरातादिकवलः ॥ * ॥
"शालूरपर्णी मालूरमूलामयमधुप्लुता ।
शम्बूकपुष्पी सहिता सेव्या वाचां विशुद्धये ॥"
शालूरपर्णी ब्राह्मी । मालूरमूलं विल्वमूलम् ।
आमयः कुष्ठम् । शम्बूकपुष्पी शङ्खपुष्पी । शालूर-
पर्ण्यादिरवलेहः ॥ * ॥
"क्षुद्रा नागरपुष्कराम्टतलता ब्राह्मी वचा
सुव्रता
भार्गी वासकया सतोयसुरसा क्वाथो जये-
ज्जिह्वकम् ।
विश्वावर्म्मविभावरीयुगवरावत्सादनीव्याघ्रीरद-
व्याघ्रीनिम्बपटोलपुष्करजटारुग्दारुभिर्व्वा
कृतः ॥"
पुष्करं पुष्करमूलम् । तथा चामरसिंहः ।
'मूले पुष्करकाश्मीरपद्मपत्राणि पौष्करे ।'
सुव्रता गन्धपलाशी काश्मीरे प्रसिद्धा । सुरसा
तुलसी । विश्वादिर्योगान्तरम् । वर्म्म पर्पटः ।
विभावरीयुगं हरिद्रा दारुहरिद्रा च । वरा
त्रिफला । वत्सादनी गुडूची । व्याघ्री कण्ट-

कारिका। चक्रदत्तम्॥ *॥ अथ सन्निपातस्य चिकित्सा।
"शटीसुरतरूत्तमाः स्थविरदारुरास्नाः समाः
सनागरसुधान्विताः पिब शतावरीसंयुताः।
महज्ज्वलनपाचिताः सह पुरेण सन्निग्रह-
व्यथापहतये वृथा शिशिरसेवनं मा कृथाः॥"
उत्तमा त्रिफला। स्थविरदारु विधारा इति लोके। सुधा गुडूची। पुरो गुग्गुलुः।
"वचाकवचकच्छुरासहचराब्दताभङ्गुरा-
सुराङ्घ्रघननागरातरुमहादारुरास्नापुराः।
वृषातरुणभीरुभिः सह भवन्ति सन्निग्रह-
थयोरुजडिमक्लमभ्रमप्रलापघातद्रुहः॥"
कवचः पर्पटकः। कच्छुरा यवासः। भङ्गुरा अतिविषा। सुराङ्घ्रं देवदारु। अतरुमहादारु वृद्धदारु। पुरो गुग्गुलुः। वृषा वृषदन्ती एरण्डवत् पत्रविटपा तदलाभे दन्ती च ग्राह्या समानगुणत्वात्। तरुण एरण्डः। भीरुः शतावरी।

"सुरदारु शटी सुधालता
सुवहा शुण्ठियुता शृता जले।
सपुराः शमयन्ति सेविताः
सततं सन्निगतं सदागतिम्॥"

सुवहा रास्ना।

"मुस्तैरण्डप्राणदादार्वीदारु-
च्छिन्नारास्नाभीरुकर्चूरतिक्ताः।
वासा विश्वा पञ्चमूलीयुगाढ्या
हन्यान्मन्यास्तम्भसन्निग्रहार्तीः॥"

प्राणदा हरितकी। वासाः नीलपुष्पसहचरः। तिक्ता कटुका॥ *॥ अथान्तके विधिः।

"हृत्तापहाय शमसुखमारि
ज्वरारिपूयादिमदापहारि।
ज्वरच्छिदं जीवितदञ्च नित्यं
मृत्युञ्जयं चेतसि चिन्तयस्व॥"

इह अन्तके। व्रतं लङ्घनादिनियमम्।
"कर्पूरप्रकरावदातवपुषं सद्योगमुद्रायुषं
शम्भुं भक्तजनेषु भावुकयुषं भालस्फुरच्चक्षुषम्।
संपूर्णामृतकुम्भसम्भृतकरं शुभ्राक्षमालाधरं
पिङ्गोत्तुङ्गजटाकलापरुचिरं चन्द्रार्द्धमौलिं
स्तुहि॥
भिषग्भिरिति निर्णीते सन्निपातेऽन्तकाभिधे।
भेषजं जाह्नवीनीरं वैद्यो गोविन्द एव हि॥"*
अथ तृड्दाहस्य चिकित्सा।
"उशीरचन्दनोदीच्यद्राक्षामलकपर्पटैः।
शृतं शीतं जलं दद्याद्दाहतृड्ज्वरशान्तये॥"
इति षडङ्गपानम्॥ *॥
"सशीतो निशि पर्य्युषितः प्रातर्धान्याकतण्डुल-
क्वाथः
पीतः शमयत्यचिरादन्तर्दाहं ज्वरं पैत्तम्॥"
धान्याकतण्डुलाः कण्डितधान्यकानि। इति धान्याकक्वाथः॥ *॥
"पथ्यां तैलघृतक्षौद्रैर्लिहन् दाहज्वरापहाम्।
कासासृक्पित्तवीसर्पश्वासान् हन्ति वमीमपि॥"
तैलघृतक्षौद्रैरित्यत्र न समुच्चयः स्नेहेन केवलेन मधुनापि लिह्यात्। इति पथ्यावलेहः॥ *॥
"प्रशमयति दाहमचिरात् दधियुक्कर्कन्धुपल्लवैर्लेपः।
लेपो हिमकरमलयजनिम्बदलैस्तक्रपिष्टैर्वा॥"
हिमकरः कर्पूरः। तथा च घनसारश्चन्द्रसंज्ञ इत्यमरः॥

"उत्तानसुप्तस्य गभीरताम्र-
कांस्यादिपात्रे निहिते च नाभौ।
शीताम्बुधारा बहुला पतन्ती
निहन्ति दाहं त्वरितं ज्वरञ्च॥
शीताम्भसा तु शतशश्च विलोडितेन
मध्येव चन्दनयुतेन घृतेन दिग्धा।
दाहज्वरी सकमलोत्पलमाल्यधारी
क्षिप्रं विशेत् सलिलकोष्ठमनल्पकालम्॥
काञ्जिकार्द्रपटेनावगुण्ठनं दाहनाशनम्।
अथ गोतक्रसंसिक्तशीतलोत्तलवाससा॥"*॥

अथान्नमाह।
"द्राक्षावमर्द्दितं चाम्लं निरन्नं छायान्वितम्।
शर्करामधुसंयुक्तं पाययेल्लाजतर्पणम्॥"
लाजतर्पणं लाजशक्तुभिरुपतर्पणम्।
"वाप्यः कमलहासिन्यो जलयन्त्रगृहाः शुभाः।
नार्य्यश्चन्दनदिग्धाङ्ग्यो दाहदैन्यहरा मताः॥

मुक्तावलीचन्दनशीतलानां
सुगन्धपुष्पाम्बरभूषितानाम्।
नितम्बिनीनां सुपयोधराणा-
मालिङ्गनान्याशु हरन्ति दाहम्॥

प्रह्लादं चास्य विज्ञाय ताः स्त्रीरपनयेत् पुनः।
हितञ्च भोजयेदन्नं येनाप्नोति सुखं महत्॥"
प्रह्लादकं कामकृतं हर्षम्॥ *॥ अथ पित्तभ्रमस्य चिकित्सा।

"कणावचोग्रालवणोत्तमानि
करञ्जबीजं च सदामलानि।
पथ्याच सिद्धार्थकहिङ्गुशुण्ठी-
युतानि बस्ताम्बुविमिश्रितानि॥
पिष्ट्वा गुटीयं नयने विधेया
प्रचेतनेति प्रथितान्विताख्या।
चित्तभ्रमापस्मृतिभूतदोष-
शिरोऽक्षिरोगभ्रमनाशहेतुः॥"

बस्ताम्बु छागमूत्रम्।
"कुम्भोद्भवतरोरम्भोगुडविश्वाकणान्वितम्।
निहितं नसि नूनं स्यात् चित्तभ्रमविनाशनम्॥"
कुम्भोद्भवतरोरम्भः अगस्तिवृक्षत्वक्स्वरसः।
"सुराह्वजमेधाक्षामधूकमलयोद्भवैः।
मरुत्तरुमधूच्छिष्टैः पुरपाणिजपांशुभिः॥
लोहलामज्जकैलाभिर्धूपश्चित्तभ्रमापहः।
[illegible]दोषहरः श्रीदः सौभाग्यकर उत्तमः॥"
सुरा एकाङ्गी। मूर्द्धजो बाला। मरुत्तरुः देवदारुः। पुरः गुग्गुलुः। पाणिजः नखः। पांशुः पर्पटकः। लोहं अगुरुः। लामज्जकं उशीरवत् पीतच्छविहृद्यविशेषः। तदलाभे उशीरं ग्राह्यम्।
"मृद्वीकामरदारुमत्स्यशकलामुस्तामलक्योऽब्दता
पथ्यारेवतरामसेनकरजोराजीफलैः संयुताः।
हन्त्युच्छिन्नकणोऽथ दद्रुरदला ब्राह्मी पटोलो
पयः
पथ्या पर्पटराजवृक्षकटुकाशम्बूकपुष्पः शृताः॥"
मृद्वीका द्राक्षा। मत्स्यशकला कटुका। आरेवतः आरग्वधः। रामसेनकः किराततिक्तकः। रजः पर्पटकः। राजीफलः पटोलः। अथ योगान्तरमाह। दद्रुरदला मण्डूकपर्णी। सा च चार्था ब्राह्मी मञ्जिष्ठा शोणकश्च। तथाप्यत्र ब्राह्मी ग्राह्या। यत उक्तं गुणग्रन्थे। ब्राह्मी मतिप्रदा मेध्या ज्वरघ्नी रसायनीति। ब्राह्मी वरम्भी इति लोके। पयः बालकं राजवृक्ष आरग्वधः। शम्बूकपुष्पी शङ्खपुष्पी॥ *॥
अथ कर्णकस्य चिकित्सा।

"प्रलेपः समस्तं नयत्यल्पमेकः
समुद्रिक्तशोथस्य रक्तावसेकः।
विपक्वस्य शस्त्रक्रिया पूयजित् सा
व्रणत्वं गतस्य द्रुतं तच्चिकित्सा॥"

अयमर्थः। अल्पं तं कर्णकं एकः प्रलेपः अस्तं नाशं नयति। तच्चिकित्सा व्रणचिकित्सा।

"निशाविशालामयमरिमन्थ-
दार्वीङ्गुदीमूलकृतः प्रलेपः।
प्रभाकरक्षीरयुतप्रभावाद्-
व्यस्तः समस्तोऽप्यथ कर्णकघ्नः॥"

कुलत्थः कट्फलं शुण्ठी कारवी च समांशकैः।
सुखोष्णैर्लेपनं कार्य्यं कर्णमूले मुहुर्मुहुः॥
गैरिकं कठिनीशुण्ठीकट्फलैः सवणैः समैः।
उष्णैः काञ्जिकसम्पिष्टैः प्रलेपः कर्णमूलनुत्॥
शिग्रुराजिकयोः पिष्ट्वा कर्णमूलं प्रलेपयेत्।
कर्णमूलभवः शोथस्तेन लेपेन शाम्यति॥
अशिशिरजलपरिमर्द्दितं मरिचकणाजीर-
सिन्धुजं त्वरितम्।
नस्यविधिसेवितं ननु कर्णकरुक् नाशकृद्-
गदितम्॥

भार्गीजयापौष्करकण्टकारी-
कटुत्रिकोग्राघनकुण्डलीभिः।
कुलीरशृङ्गीकटुकारसाभिः
शृतः कषायः किल कर्णकघ्नः॥

भार्गी वभनेटी इति लोके। तदलाभे कण्टकारीमूलं ग्राह्यम्। जया गणियार इति लोके। पौष्करं पुष्करमूलम्। उग्रा वचा। कुण्डली गुडूची। कुलीरशृङ्गी कर्कटशृङ्गी। रसा रास्ना।

"दशमूलमत्स्यशकलाचपला-
त्रिफलामहौषधिकिरातयुतम्।
मरिचं परिकथितमाशु बला-
दपहन्ति कर्णरुजः सकलाः॥"

चपला पिप्पली॥ *॥ अथ कण्ठकुब्जस्य चिकित्सा।

"फलत्रिकत्र्यूषणमुस्तकाग्नि-
कलिङ्गसिंहाननशृङ्गवेरैः।

बाधः स्रुतः क्रामति कण्ठकुब्जं
कण्ठीरवः कुञ्जरमाशु यद्वत् ॥”
सिंहाननो वासकः । शर्व्वरी हरिद्रा ।
“किरातकटुकाकणाकुटजकण्टकारीशटी-
कलिङ्गकिलिमाभयाकटुककट्फलाम्भोधरैः ।
विषामलकपुष्कराननकुलीरशृङ्गीवृषै-
र्म्महौषधसखैरयं जयति कण्ठकुब्जं गणः ॥”
शटी कर्चूरः । कलिङ्गः विभीतकः । किलिमं
देवदारु । कटुकं मरिचम् । विषा अतिविषा ।
पुष्करं पुष्करमूलम् । वृषः वासकः । वृषा-
दिभिः किंविशिष्टैः महौषधसखैः महौ-
षधस्य सखिभिः । तेन एतैः सहितेन महौ-
षधेन इत्यर्थः ॥ * ॥ अथोल्वणवातादिप्रचण्ड-
मध्यक्षीणवातादिहेतुकानां कुम्भीपाकादिसन्नि-
पातज्वराणां त्रयोदशानां चिकित्साभिधीयते ।
सा च तुल्यहेतुकानां विस्फुरकादीनां त्रयो-
दशानामिव विधातव्या । इति सन्निपातज्वरा-
धिकारः । इति भावप्रकाशः ॥

सन्निपातनुत्, पुं, (सन्निपातं नुदतीति । नुद्+
क्विप् ।) नेपालनिम्बः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सन्निबद्धः, त्रि, सम्यग्बन्धनयुक्तः । संनिपूर्व्वबन्ध-
धातोः कर्म्मणि क्तप्रत्ययेन निष्पन्नः ॥

सन्निबन्धनं, क्ली, सम्यङ्निश्चितबन्धनम् । सम्यग्-
विबन्धनम् । संनिपूर्व्वकबन्धधातोरनट्प्रत्ययेन
निष्पन्नम् ॥

सन्निभः, त्रि, (सम्यक् निभातीति । सं+नि+
भा+कः ।) सदृशः । इति जटाधरः ॥ (यथा,
भागवते । ३ । १३ । २२ ।
“भगवान् यज्ञपुरुषो जगर्ज्जागेन्द्रसन्निभः ॥”)

सन्निरुद्धगुदः, पुं, (संनिरुद्धं गुदं यस्मात् ।) गुह्य-
द्वारोद्भवरोगविशेषः । इति भावप्रकाशः ॥
(यथा, सुश्रुते । ४ । २० । ४३ ।
“संनिरुद्धगुदं रोगं वल्मीकं वह्निरोहिणीम् ।
प्रत्याख्याय यथायोगं चिकित्सितमथाचरेत् ॥”)
तन्निदानादि क्षुद्ररोगशब्दे द्रष्टव्यम् ॥

सन्निविष्टः, त्रि, (सं+नि+विश्+क्तः ।) उप-
विष्टः । यथा,—
“ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्त्ती
नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः ।
केयूरवान् कनककुण्डलवान् किरीटी
हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः ॥”
इत्यादित्यहृदयम् ॥
निकटः । इति केचित् ॥

सन्निवृत्तिः, स्त्री, (सं+नि+वृ+क्तिन् ।) सम्यङ्-
निवर्त्तनम् । (यथा, रघुः । १० । २७ ।
“गतिस्त्वं वीतरागाणामभूयः सन्निवृत्तये ॥”)

सन्निवेशः, पुं, (संनिविशन्ते अत्रेति । सं+नि+
विश+घञ् ।) पत्तनादिषु दिगादिपरिच्छिन्न-
प्रदेशः । पूर्व्वदिगाद्यवच्छिन्नगृहम् । इति
कलिङ्गः ॥ पुरादेर्ब्बहिर्व्विहरणभूमिः । इति
स्वाम्यादयः ॥ तत्पर्य्यायः । निकर्षणम् २ । इत्य-
मरभरतौ ॥ किञ्च ।

“नगरादिबहिः स्वैरविहारचारुभूमिषु ।
तत्र द्वयं निगदितं सन्निवेशो निकर्षणम् ॥”
इति शब्दरत्नावली ॥
(यथा, रघुः । १४ । ७६ ।
“अशून्यतीरां मुनिसन्निवेशै-
स्तमोऽपहन्त्रीं तमसां वगाह्य ॥”
संस्थानम् । यथा, कुमारे । ३ । ४५ ।
“उत्तानपाणिद्वयसन्निवेशात्
प्रफुल्लराजीवमिवाङ्कमध्ये ॥”)

सन्निहितं, त्रि, (सं+नि+धा+क्तः ।) निकट-
स्थितम् । यथा । ब्रह्मपुराणे ।
“षष्ठ्यादौ कृष्णपक्षे तु भूमौ सन्निहिता भवेत् ।
यावत् पुण्यममावास्यां दिनानि दश पञ्च च ॥”
इति प्रायश्चित्ततत्त्वम् ॥
(अग्निविशेषे, पुं । यथा, महाभारते । ३ ।
२२० । १६ ।
“प्राणानाश्रित्य यो देहं प्रवर्त्तयति देहिनाम् ।
तस्य सन्निहितो नाम शब्दरूपस्य साधनः ॥”)

सन्न्यस्तः, त्रि, (सं+नि+अस्+क्तः ।) सम्यङ्-
न्यासीकृतः । समर्पितः । यथा,—
“योगसन्न्यस्तकर्म्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्म्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥”
इति भगवद्गीतायाम् ४ अध्यायः ॥

सन्न्यासः, पुं, (सं+नि+अस्+घञ् ।) जटा-
मांसी । इति शब्दचन्द्रिका ॥ काम्यकर्म्मणां
न्यासः । यथा,—
“काम्यानां कर्म्मणां न्यासं सन्न्यासं कवयो विदुः ।
सर्व्वकर्म्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥”
इति श्रीभगवद्गीतायाम् १८ अध्यायः ॥
अपि च ।
“सन्न्यासः कर्म्मणां न्यासः कृतानामकृतैः सह ।
कुशलाकुशलाभ्यान्तु प्रहाणं न्यास उच्यते ॥”
इति मात्स्ये १२० अध्यायः ॥ * ॥
चतुर्थाश्रमः । तदाश्रमधर्म्मा यथा,—
“सर्व्वसङ्गपरित्यागो ब्रह्मचर्य्यसमन्वितः ।
जितेन्द्रियत्वमावासे नैकस्मिन् वसतिश्चिरम् ॥
अनारम्भस्तथाहारे भिक्षा विप्रे त्वनिन्दिते ।
आत्मज्ञानविवेकश्च तथा ह्यात्मावबोधनम् ॥
चतुर्थे चाश्रमे धर्म्मो ह्यस्माभिस्ते प्रकीर्त्तितः ॥”
इति वामने १४ अध्यायः ॥ * ॥
तदाश्रमकालादि यथा,—
“एवं वनाश्रमे स्थित्वा तृतीयं भागमायुषः ।
चतुर्थमायुषो भागं सन्न्यासेन नयेत् क्रमात् ॥
अग्नीनात्मनि संस्थाप्य द्विजः प्रव्रजितो भवेत् ।
योगाभ्यासरतः शान्तो ब्रह्मविद्यापरायणः ॥
यदा मनसि सम्पन्नं वैतृष्ण्यं सर्व्ववस्तुषु ।
तदा सन्न्यासमिच्छन्तु पतितः स्याद्विपर्य्यये ॥
प्राजापत्यां निरूप्येष्टिमाग्नेयीमथवा पुनः ।
दान्तः पक्वकषायोऽसौ ब्रह्माश्रममुपाश्रयेत् ॥”
इति कौर्म्मे उपविभागे २७ अध्यायः ॥ * ॥
कलौ क्षत्त्रियवैश्ययोः सन्न्यासनिषेधो यथा,—
“अश्वमेधं गवालम्भं सन्न्यासं पलपैतृकम् ।
देवरेण सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्ज्जयेत् ॥”
इति कलौ सन्न्यासनिषेधकं क्षत्त्रियवैश्यविष-
यकम् । इति मलमासतत्त्वम् ॥ सन्न्यासप्रति-
षेधश्च कलौ क्षत्त्रविशोर्भवेत् । इति मलमास-
तत्त्वप्रतिष्ठायां श्रीरघुनन्दनभट्टाचार्य्यः ॥ * ॥
चैत्रमासे सन्न्यासकरणप्रमाणं यथा,—
“चैत्रे शिवोत्सवं कुर्य्यात् नृत्यगीतमहोत्सवैः ।
स्नायात् त्रिसन्ध्यं रात्रौ च हविष्याशी जिते-
न्द्रियः ।
शिवस्वरूपतां याति शिवप्रीतिकरः परः ॥
क्षत्त्रियादिषु यो मर्त्त्यो देहं संपीड्य भक्तितः ।
अश्वमेधफलं तस्य जायते च पदे पदे ॥
सर्व्वकर्म्मपरित्यागी शिवोत्सवपरायणः ।
भक्तैर्ज्जागरणं कुर्य्याद्रात्रौ नृत्यकुतूहलैः ॥
नानाविधैर्म्महावाद्यैर्नृत्यैश्च विविधैरपि ।
नानावेशधरैर्नृत्यैः प्रीयते शङ्करप्रभुः ॥
किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने नीललोहिते ।
तस्मात् सर्व्वप्रयत्नेन तोषणीयो महेश्वरः ॥
शङ्खवाद्यं शङ्खतोयं वर्ज्जयेत् शिवसन्निधौ ।
ग्रामाद्बहिरिमं शम्भोरुत्सवं कारयेन्मुदा ।
उपोष्य कृत्वा संक्रान्त्यां व्रतमेतत् समापयेत् ॥”
इति वृहद्धर्म्मपुराणे उत्तरखण्डे ६ अध्यायः ॥

सन्न्यासी, [न्] पुं, (संन्यासोऽस्यास्तीति । इनिः ।)
सन्न्यासाश्रमविशिष्टः । चतुर्थाश्रमी । तत्पर्य्यायः ।
पाराशरी २ मस्करी ३ परिव्राट् ४ कर्म्मन्दी ५
श्रमणः ६ भिक्षुः ७ । इति जटाधरः ॥ तस्य
लक्षणादि यथा । सर्व्वं गृहादिकं त्यक्त्वा मुण्डित-
मुण्डो गैरिककौपीनाच्छादनं दण्डं कमण्डलुञ्च
बिभ्रत् भिक्षावृत्तिर्निर्ज्जने तीर्थे वा स्थित्वा
केवलमीश्वराराधनं करोति यः स सन्न्यासी ।
स तु चतुर्व्विधः । कुटीचरः १ बहूदकः २
हंसः ३ परमहंसः ४ । तस्य धर्म्मा यथा,—
“सदने वा कदने वा लोष्ट्रे वा काञ्चने तथा ।
समबुद्धिर्यस्य शश्वत् स सन्न्यासीति कीर्त्तितः ॥
दण्डं कमण्डलुं रक्तवस्त्रमात्रञ्च धारयेत् ।
नित्यं प्रवासी नैकत्र स सन्न्यासीति कीर्त्तितः ॥
शुद्धाचारद्विजान्नञ्च भुङ्क्ते लोभादिवर्ज्जितः ।
किन्तु किञ्चिन्न याचेत स सन्न्यासीति कीर्त्तितः ॥
न व्यापारी नाश्रमी च सर्व्वकर्म्मविवर्ज्जितः ।
ध्यायेन्नारायणं शश्वत् स सन्न्यासीति कीर्त्तितः ॥
शश्वन्मौनी ब्रह्मचारी सम्भाषालापवर्ज्जितः ।
सर्व्वं ब्रह्ममयं पश्येत् स सन्न्यासीति कीर्त्तितः ॥
सर्व्वत्र समबुद्धिश्च हिंसामायाविवर्ज्जितः ।
क्रोधाहङ्काररहितः स सन्न्यासीति कीर्त्तितः ॥
अयाचितोपस्थितञ्च मिष्टामिष्टञ्च भुक्तवान् ।
न याचेत भक्षणार्थी स सन्न्यासीति कीर्त्तितः ॥
न च पश्येत् मुखं स्त्रीणां न तिष्ठेत्तत्समीपतः ।
दारवीमपि योषाञ्च न स्पृशेद् यः स भिक्षुकः ।
अयं सन्न्यासिनां धर्म्म इत्याह कमलोद्भवः ॥”
इति ब्रह्मवैवर्त्ते प्रकृतिखण्डे ३३ अध्यायः ॥*॥
अपि च ।
“सर्व्वन्यासो हरौ भूप धर्म्मः सन्न्यासिनां ध्रुवम् ।

रक्तैकवासा दण्डी च बिभर्त्ति मृत्कमण्डलुम् ॥
सर्व्वत्र समदर्शी च स्मरेन्नारायणं सदा ।
करोति भ्रमणं नित्यं गेहे गेहे न तिष्ठति ॥
विद्यामन्त्रञ्च कस्मैचित् न ददाति च दैवतम् ।
करोति नाश्रमं भिक्षुः करोति नान्यवासनाम् ॥
करोति नान्यसङ्गञ्च निर्म्मोहः सङ्गवर्ज्जितः ।
न स्वादु भुङ्क्ते दैवाच्च स्त्रीमुखं न हि पश्यति ॥
न वाञ्छितं भक्ष्यवस्तु याचते गृहिणं व्रती ।
इति सन्न्यासिनां धर्म्ममित्याह कमलोद्भवः ॥”
इति ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे ५६ अध्यायः ॥
अन्यच्च ।
“तपसा कर्षितोऽत्यर्थं यस्तु ध्यानपरो भवेत् ।
सन्न्यासीह स विज्ञेयो वानप्रस्थाश्रमे स्थितः ॥
योगाभ्यासरतो नित्यमारुरुक्षुर्ज्जितेन्द्रियः ।
ज्ञानाय वर्त्तते भिक्षुः प्रोच्यते पारमेष्ठिकः ॥
यस्त्वात्मरतिरेव स्यान्नित्यतृप्तो महामुनिः ।
सम्यक् च दमसम्पन्नः स योगी भिक्षुरुच्यते ॥
भैक्ष्यं श्रुतञ्च मौनित्वं तपो ध्यानं विशेषतः ।
सम्यक् च ज्ञानवैराग्यं धर्म्मोऽयं भिक्षुके मतः ॥
ज्ञानसन्न्यासिनः केचित् वेदसन्न्यासिनोऽपरे ।
कर्म्मसन्न्यासिनः केचित् त्रिविधः पारमेष्ठिकः ॥
योगी च त्रिविधो ज्ञेयो भौतिको मोक्ष एव
च ।
तृतीयोऽन्त्याश्रमी प्रोक्तो योगमूर्त्तिसमाश्रितः ॥
प्रथमा भावना पूर्व्वे मोक्षे त्वक्षरभावना ।
तृतीये चान्तिमा प्रोक्ता भावना पारमेश्वरी ॥
यतीनां यतचित्तानां न्यासिनामूर्द्ध्वरेतसाम् ।
आनन्दं ब्रह्म तत् स्थानं यस्मान्नावर्त्तते मुनिः ॥
योगिनाममृतं स्थानं व्योमाख्यं परमक्षरम् ।
आनन्दमैश्वरं यस्मान्मुक्तो नावर्त्तते नरः ॥”
इति गारुडे ४६ अध्यायः ॥*॥
अपरञ्च ।
“ज्ञानसन्न्यासिनः केचिद्वेदसन्न्यासिनोऽपरे ।
कर्म्मसन्न्यासिनस्त्वन्ये त्रिविधाः परिकीर्त्तिताः ॥
यः सर्व्वसङ्गनिर्म्मुक्तो निर्द्वन्द्वश्चापि निर्भयः ।
प्रोच्यते ज्ञानसन्न्यासी स्वात्मन्येव व्यवस्थितः ॥
वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं निराशीर्निष्परिग्रहः ।
प्रोच्यते वेदसन्न्यासी मुमुक्षुर्व्विजितेन्द्रियः ॥
यस्त्वग्नीनात्मसात् कृत्वा ब्रह्मार्पणपरो द्विजः ।
ज्ञेयः स कर्म्मसन्न्यासी महायज्ञपरायणः ॥
त्रयाणामपि चैतेषां ज्ञानी त्वभ्यधिको मतः ।
न तस्य विद्यते कर्म्म न लिङ्गाद्या विपश्चितः ॥
निर्म्ममो निर्भयः शान्तो निर्द्वन्द्वः पर्णभोजनः ।
जीर्णकौपीनवासाः स्यान्नग्नो वा ध्यानतत्परः ॥
ब्रह्मचारी मिताहारो ग्रामादन्नं समाहरेत् ।
अध्यात्मरतिरासीत निरपेक्षो निरामिषः ।
आत्मनैव सहायेन स्वर्गार्थं विचरेदिह ॥”
स्वर्गार्थमित्यत्र सुखार्थमिति च पाठः ।
“नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम् ॥
कालमेव प्रतीक्षेत निदेशं भृतको यथा ।
नाध्येतव्यं न वक्तव्यं न श्रोतव्यं कदाचन ॥
एवं ज्ञानपरो योगी ब्रह्मभूयाय कल्पते ।
एकवासोऽथवा विद्वान् कौपीनाच्छादनोऽथवा ॥
मुण्डः शिखी वाथ भवेत् त्रिदण्डी निष्परि-
ग्रहः ।
काषायवासाः सततं ध्यानयोगपरायणः ॥
ग्रामान्ते वृक्षमूले वा वासं देवालयेऽपि वा ।
समः शत्रौ तथा मित्रे तथा मानापमानयोः ॥
भैक्षेण वर्त्तयेन्नित्यं नैकान्नादी भवेत् क्वचित् ॥
यस्तु मोहेन चान्यस्मादेकान्नादी भवेद्यदि ।
न तस्य निष्कृतिः काचिद्धर्म्मशास्त्रेषु कथ्यते ॥
रागद्वेषविमुक्तात्मसमलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
प्राणिहिंसानिवृत्तश्च मौनी स्यात् सर्व्वनिस्पृहः ॥
दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ॥
सत्यपूतां वदेद्वाणीं मनःपूतं समाचरेत् ॥
नैकत्र निवसेद्देशे वर्षाभ्योऽन्यत्र भिक्षुकः ।
स्नानशौचरतो नित्यं कमण्डलुकरः शुचिः ॥
ब्रह्मचर्य्यरतो नित्यं वनवासरतो भवेत् ।
मोक्षशास्त्रेषु निरतो ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ॥
दम्भाहङ्कारनिर्म्मुक्तो निन्दापैशुन्यवर्ज्जितः ।
आत्मज्ञानगुणोपेतो यतिर्म्मोक्षमवाप्नुयात् ॥*॥
अभ्यसेत् सततं वेदं प्रणवाख्यं सनातनम् ।
स्नात्वाचम्य विधानेन शुचिर्द्देवालयादिषु ॥
यज्ञोपवीती शान्तात्मा कुशपाणिः समाहितः ।
धौतकाषायवसनो भस्मच्छन्नतनूरुहः ॥
अधियज्ञं ब्रह्म जपेदाधिदैविकमेव च ।
आध्यात्मिकञ्च सततं वेदान्ताभिमतञ्च यत् ॥
पुत्त्रेषु वाथ निवसन् ब्रह्मचारी यतिर्म्मुनिः ।
वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं स याति परमां गतिम् ॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्य्यं तपः परम् ।
क्षमा दया च सन्तोषो व्रतान्यस्य विशेषतः ॥
वेदान्तज्ञाननिष्ठो वा पञ्चयज्ञान् समाहितः ।
कुर्य्यादहरहः स्नात्वा भैक्षान्नेनैव तेन हि ॥
होममन्त्रान् जपेन्नित्यं काले काले समाहितः ।
स्वाध्यायं चान्वहं कुर्य्यात् सावित्रीं सन्ध्ययो-
र्ज्जपेत् ॥
ध्यायीत सततं देवमेकान्ते परमेश्वरम् ।
एकान्नं वर्ज्जयेन्नित्यं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
एकवासा द्विवासा वा शिखी यज्ञोपवीतवान् ।
कमण्डलुकरो विद्वांस्त्रिदण्डी याति तत्पदम् ॥”
इति कौर्म्मे उपविभागे २७ अध्यायः ॥*॥
व्यास उवाच ।
“एतत्त्वाश्रमनिष्ठानां यतीनां नियतात्मनाम् ।
भैक्षेण वर्त्तनं प्रोक्तं फलमूलैरथापि वा ॥
एककालं चरेद्भैक्षं न प्रसज्येत विस्तरे ।
भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्व्विषयेष्वपि सज्जति ॥
सप्तागारं चरेद्भैक्षमलाभे तु पुनश्चरेत् ।
प्रक्षाल्य पात्रे भुञ्जीयादद्भिः प्रक्षालयेत्तु तत् ॥
अथवान्यदुपादाय पात्रं भुञ्जीत नित्यशः ।
भुक्त्वा च सन्त्यजेत् पात्रं यात्रामात्रमलोलुपः ॥
विधूमे सन्नमुषले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने ।
वृत्ते शरावसंपाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत् ॥
गोदोहमात्रं तिष्ठेत कालं भिक्षुरधोमुखः ।
भिक्षेत्युक्त्वा सकृत्तूष्णीमश्नीयाद्वाग्यतः शुचिः ॥
प्रक्षाल्य पाणिपादौ च समाचम्य यथाविधि ।
आदित्ये दर्शयित्वान्नं भुञ्जीत प्राङ्मुखोऽत्वरः ॥
हुत्वा प्राणाहुतीः पञ्च ग्रासानष्टौ समाहितः ।
आचम्य देवं ब्रह्माणं ध्यायीत परमेश्वरम् ॥
अलावुं दारुपात्रञ्च मृण्मयं वैणवं तथा ।
चत्वारि यतिपात्राणि मनुराह प्रजापतिः ॥
प्रदोषे पररात्रे च मध्यरात्रे तथैव च ।
सन्ध्यास्वह्नि विशेषेण चिन्तयेन्नित्यमीश्वरम् ॥
कृत्वा हृत्पद्मनिलये विश्वाख्यं विश्वसम्भवम् ।
आत्मानं सर्व्वभूतानां परस्तात्तमसः स्थितम् ॥
सर्व्वस्याधारभूतानामानन्दं ज्योतिरव्ययम् ।
प्रधानपुरुषातीतमाकाशं दहनं परम् ॥
तदन्तः सर्व्वभावानामीश्वरं ब्रह्मरूपिणम् ।
ध्यायेदनादिमद्वैतमानन्दादिगुणालयम् ॥
महान्तं परमं ब्रह्म पुरुषं सत्यमव्ययम् ।
सितेतरारुणाकारं महेशं विश्वरूपिणम् ॥
ओङ्कारान्तेऽथवात्मानं संस्थाप्य परमात्मनि ।
आकाशे देवमीशानं ध्यायीताकाशमव्ययम् ॥
कारणं सर्व्वभूतानामानन्दैकसमाश्रयम् ।
पुराणं पुरुषं शुभ्रं ध्यायन्मुच्येत बन्धनात् ॥
यद्वा गुहायां प्रकृतौ जगत्सम्मोहनालये ।
विचिन्त्य परमं व्योम सर्व्वभूतैककारणम् ॥
जीवनं सर्व्वभूतानां यत्र लोकः प्रलीयते ।
आनन्दं ब्रह्मणः सूक्ष्मं यत् पश्यन्ति मुमुक्षवः ॥
तन्मध्ये निहितं ब्रह्म केवलं ज्ञानलक्षणम् ।
अनन्तं सत्यमीशानं विचिन्त्यासीत संयतः ॥
गुह्याद्गुह्यतमं ज्ञानं यतीनामेतदीरितम् ।
योऽनुतिष्ठेत सततं सोऽश्नुते योगमैश्वरम् ॥
तस्मात् ध्यानरतो नित्यमात्मविद्यापरायणः ।
ज्ञानं समभ्यसेद्ब्राह्मं मुच्येत भवबन्धनात् ॥
यद्वा पृथक्त्वमात्मानं सर्व्वस्मादेव केवलम् ।
आनन्दमक्षरं ज्ञानं ध्यायीत च पुनः परम् ॥
यस्माद्भवन्ति भूतानि यद्गत्वा नेह जायते ।
स तस्मादीश्वरो देवः परस्माद्योऽधितिष्ठति ॥
यदन्तरे तद्गगनं शाश्वतं शिवमव्ययम् ।
यमाहुस्तत्परो यस्तु स देवः स्यान्महेश्वरः ।
व्रतानि यानि भिक्षूणां तथैवोपव्रतानि च ।
एकैकातिक्रमे तेषां प्रायश्चित्तं विधीयते ॥
उपेत्य च स्त्रियं कामात् प्रायश्चित्तं समाहितः ।
प्राणायामसमायुक्तं कुर्य्यात् सान्तपनं शुचिः ॥
ततश्चरेत नियमान् कृतस्नान् संयतमानसः ।
पुनराश्रममागत्य चरेद्भिक्षुरतन्द्रितः ॥
न नर्म्मयुक्तमनृतं हिनस्तीति मनीषिणः ।
तथापि न च कर्त्तव्यः प्रसङ्गो ह्येष दारुणः ॥
एकरात्रोपवासञ्च प्राणायामशतं तथा ।
उक्त्वानृतं प्रकर्त्तव्यं यतिना धर्म्मलिप्सुना ॥
परमापद्गतेनापि न कार्य्यं स्तेयमन्यतः ।
स्तेयादभ्यधिकः कश्चित् नास्त्यधर्म्म इति स्मृतिः ॥
हिंसा चैषा परा दृष्टा या चात्मज्ञाननाशिका ।
यदेतद्द्रविणं नाम प्राणास्ते तु बहिश्चराः ।
स तस्य हरते प्राणान् यो यस्य हरते धनम् ॥
एवं कृत्वा स दुष्टात्मा भिन्नवृत्तो व्रतच्युतः ।

भूयो निर्व्वेदमापन्नश्चरेच्चान्द्रायणं व्रतम् ॥
विधिना शास्त्रदृष्टेन संवत्सरमिति श्रुतिः ।
भूयो निर्व्वेदमापन्नश्चरेद्भिक्षुरतन्द्रितः ॥
अकस्मादपि हिंसान्तु यदि भिक्षुः समाचरेत् ।
कुर्य्यात् कृच्छ्रातिकृच्छ्रन्तु चान्द्रायणमथापि वा ॥
स्कन्देदिन्द्रियदौर्ब्बल्यात् स्त्रियं दृष्ट्वा यतिर्यदि ।
तेन धारयितव्या वै प्राणायामास्तु षोड़श ।
दिवा स्कन्ने त्रिरात्रं स्यात् प्राणायामशतं तथा ॥
एकान्ने मधुमांसे च नवश्राद्धे तथैव च ।
प्रत्यक्षलवणे चोक्तं प्राजापत्यं विशोधनम् ॥
ध्याननिष्ठस्य सततं नश्यते सर्व्वपातकम् ।
तस्मान्महेश्वरं ज्ञात्वा तस्य ध्यानरतो भवेत् ॥
यद्ब्रह्म परमं ज्योतिः प्रतिष्ठाक्षयमव्ययम् ।
योऽन्तरात्मा परं ब्रह्म स विज्ञेयो महेश्वरः ॥
एष देवो महादेवः केवलं परमेश्वरः ।
तदेवाक्षयमद्वैतं तदादित्यान्तरं परम् ॥
यस्मात् महीयते देवः स्वधाम्नि ज्ञानसंज्ञिते ।
आत्मयोगाह्वये तत्त्वे महादेवस्ततः स्मृतः ॥
नान्यं देवं महादेवाद्व्यतिरिक्तं प्रपश्यति ।
तमेवात्मानमन्वेति यः स याति परं पदम् ॥
मन्यन्ते ये स्वमात्मानं विभिन्नं परमेश्वरात् ।
न ते पश्यन्ति तं देवं वृथा तेषां परिश्रमः ॥
एकमेव परं ब्रह्म विज्ञेयं तत्त्वमव्ययम् ।
स देवस्तु महादेवो नैतद्विज्ञाय बध्यते ॥
तस्माद्यत्नेन नियतं यतिः संयतमानसः ।
ज्ञानयोगरतः शान्तो महादेवपरायणः ॥
एष वः कथितो विप्रा यतीनामाश्रमः शुभः ।
पितामहेन प्रभुणा मुनीनां पूर्व्वमीरितः ॥
न पुत्त्रशिष्ययोगिभ्यो दद्यादिदमनुत्तमम् ।
ज्ञानं स्वयम्भुवा प्रोक्तं यतिधर्म्माश्रमं शिवम् ॥
  इति यतिनियमानामेतदुक्तं विधानं
  पशुपतिपरितोषे यद्भवेदेकहेतुः ।
  न भवति पुनरेषामुद्भवो वा विनाशः
  प्रणिहितमनसा ये नित्यमेवाचरन्ति ॥"

इति कौर्म्मे उपविभागे यतिधर्म्मो नाम २८ अध्यायः ॥ * ॥ युगभेदे सन्न्यासिनां नामानि उपाधयश्च यथा । आदौ वेदान्ताचार्य्यो ब्रह्मा । द्वितीयाचार्य्यो विष्णुः । तृतीयाचार्य्यो रुद्रः । चतुर्थाचार्य्यो वशिष्ठः । पञ्चमाचार्य्यः शक्तिः । षष्ठाचार्य्यः पराशरः । सप्तमाचार्य्यो व्यासः । अष्टमाचार्य्यः शुकः । नवमाचार्य्यो गौड़ः । दशमाचार्य्यो गोविन्दः । एकादशः श्रीशङ्कराचार्य्यः । सत्ययुगमध्ये आचार्य्यत्रयं ब्रह्मविष्णुरुद्राः । त्रेतायुगे आचार्य्यत्रयं वशिष्ठशक्तिपराशराः । द्वापरे आचार्य्यद्वयं व्यासशुकौ । कलियुगे आचार्य्यत्रयं गौड़गोविन्दशङ्कराचार्य्याः । शङ्कराचार्य्यस्य चत्वारः शिष्याः स्वरूपाचार्य्यः पद्माचार्य्यः त्रोटकाचार्य्यः पृथ्वीधराचार्य्यः इति ॥ * ॥ अथ दश नामानि । स्वरूपाचार्य्यस्य शिष्यः तीर्थ आश्रमश्च । पद्माचार्य्यस्य शिष्यद्वयं वनः अरण्यश्च । त्रोटकाचार्य्यस्य शिष्यत्रयं गिरिपर्व्वतसागरा इति । पृथ्वीधराचार्य्यस्य शिष्यत्रयम् । सरस्वती भारती पुरी चेति । इति श्रीशङ्कराचार्य्यविरचितं सप्तमसूत्रम् ॥ * ॥ अपि च ।

"तीर्थाश्रमवनारण्यगिरिपर्व्वतसागराः ।
सरस्वती भारती च पुरीति दश कीर्त्तिताः ॥"

तेषां लक्षणानि यथा,—

"त्रिवेणीसङ्गमे तीर्थे तत्त्वमस्यादिलक्षणे ।
स्नायात्तत्त्वार्थभावेन तीर्थनामा स उच्यते ॥१॥
आश्रमग्रहणे प्रौढ़ आशापाशविवर्ज्जितः ।
यातायातविनिर्मुक्त एतदाश्रमलक्षणम् ॥ २ ॥
सुरम्ये निर्झरे देशे वने वासं करोति यः ।
आशापाशविनिर्मुक्तो वननामा स उच्यते ॥३॥
अरण्ये संस्थितो नित्यमानन्दनन्दने वने ।
त्यक्त्वा सर्व्वमिदं विश्वमारण्यलक्षणं किल ॥ ४ ॥
वासो गिरिवरे नित्यं गीताभ्यासे हि तत्परः ।
गम्भीराचलबुद्धिश्च गिरिनामा स उच्यते ॥ ५ ॥
वसेत् पर्व्वतमूलेषु प्रौढ़ो यो ध्यानधारणात् ।
सारात् सारं विजानाति पर्व्वतः परि-
कीर्त्तितः ॥ ६ ॥
वसेत् सागरगम्भीरो वनरत्नपरिग्रहः ।
मर्य्यादाश्च न लङ्घेत सागरः परिकीर्त्तितः ॥७॥
स्वरज्ञानवशो नित्यं स्वरवादी कवीश्वरः ।
संसारसागरे साराभिज्ञो यो हि सरस्वती ॥८॥
विद्याभारेण सम्पूर्णः सर्व्वभारं परित्यजेत् ।
दुःखभारं न जानाति भारती परिकीर्त्तितः ॥९॥
ज्ञानतत्त्वेन संपूर्णः पूर्णतत्त्वपदे स्थितः ।
परब्रह्मरतो नित्यं पुरीनामा स उच्यते ॥"१०॥

इति बृहच्छङ्करविजये विद्यारण्यस्वामिधृतम् ॥

श्रीसदाशिव उवाच ।

"अवधूताश्रमो देवि कलौ सन्न्यास उच्यते ।
विधिना येन कर्त्तव्यं तत् सर्व्वं शृणु साम्प्रतम् ॥
ब्रह्मज्ञाने समुत्पन्ने विरते सर्व्वकर्म्मणि ।
अध्यात्मविद्यानिपुणः सन्न्यासाश्रममाचरेत् ॥
विहाय वृद्धौ पितरौ शिशुं भार्य्यां पतिव्रताम् ।
त्यक्त्वासमर्थान् बन्धूंश्च प्रव्रजन्नारकी भवेत् ॥
सम्पाद्य गृहकर्म्माणि परितोष्यागमानपि ।
निर्म्ममो निलयाकाङ्क्षेन्निष्कामो विजितेन्द्रियः ॥
आहूय स्वजनान् बन्धून् ग्रामस्थान् प्रति-
वासिनः ।
प्रीत्यानुमतिमन्विच्छेद्गृहाच्छिन्नमिष्टुनरः ॥
तेषामनुज्ञामादाय प्रणम्य परदेवताम् ।
ग्रामं प्रदक्षिणीकृत्य निरपेक्षो गृहाद्वियात् ॥
मुक्तः संसारपाशेभ्यः परमानन्दहर्षितः ।
कुलावधूतं ब्रह्मज्ञं गत्वा संप्रार्थयेदिदम् ॥
गृहाश्रमे परं ब्रह्मन् ममैतद्विगतं वयः ।
प्रसादं कुरु मे नाथ सन्न्यासग्रहणं प्रति ॥
निवृत्तगृहकर्म्माणं विचार्य्य विधिवद्गुरुः ।
शान्तं विवेकिनं वीक्ष्य द्वितीयाश्रममादिशेत् ॥
ततः शिष्यः कृतस्नानो यतात्मा विहिताह्निकः ।
ऋणत्रयविमुक्त्यर्थं देवर्षीं श्चार्च्चयेत् पितॄन् ॥
देवा ब्रह्मा च विष्णुश्च रुद्रश्च स्वगणैः सह ।
ऋषयः सनकाद्याश्चात्रयाद्यो देवर्षयस्तथा ॥
अत्र ये पितरः पूज्या वक्ष्यामि शृणु तानपि ।
पिता पितामहश्चैव प्रपितामह एव च ॥
माता पितामही देवि तथैव प्रपितामही ।
मातामहादयोऽप्येवं मातामह्यादयोऽपि च ॥
प्राच्यामृषीन् यजेद्देवान् दक्षिणस्यां पितॄन्
यजेत् ।
मातामहान् प्रतीच्यान्तु पूजयेन्न्यासकर्म्मणि ॥
पूर्व्वादिक्रमतो दद्यादासनानां द्वयं द्वयम् ।
देवादीन् क्रमतस्तत्रावाह्य पूजां समाचरेत् ॥
समर्च्च्य विधिवत्तेभ्यः पिण्डान् दद्यात् पृथक्
पृथक् ।
पिण्डप्रदानविधिना दत्त्वा पिण्डं यथाक्रमम् ॥
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा प्रार्थयेत् पितृदेवताः ।
तृप्यध्वं पितरो देवा देवर्षिमातृकागणाः ॥
गुणातीतपदे यूयमनृणीकुरुताचिरात् ॥
आनृण्यमर्थयित्वा तु प्रणम्य च पुनः पुनः ।
ऋणत्रयविनिर्म्मुक्तमात्मश्राद्धं प्रकल्पयेत् ॥
पिता ह्यात्मैव सर्व्वेषां तत्पिता प्रपितामहः ।
आत्मन्यात्मार्पणार्थाय कुर्य्यादात्मक्रियां सुधीः ॥
उत्तराभिमुखो भूत्वा पूर्व्ववत् कल्पितासने ।
आवाह्यात्मपितॄन् देवि दद्यात् पिण्डं समर्च्चयन् ॥
प्रागग्रान् दक्षिणाग्रांश्च पश्चिमाग्रान् यथा-
क्रमात् ।
पिण्डार्थमास्तरेद्दर्भानुदगग्रान् स्वकर्म्मणि ॥
समाप्य श्राद्धकर्म्माणि गुरुदर्शितवर्त्मना ।
मुमुक्षुश्चित्तशुद्ध्यर्थमिमं मन्त्रं शतं जपेत् ॥
ह्रीं त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्द्धनम् ।
उर्व्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मा मृतात् ॥
उपासनानुसारेण विधामण्डलपूर्व्वकम् ।
संस्थाप्य कलसं तत्र गुरुः पूजां समारभेत् ॥
ततस्तु परमब्रह्म ध्यात्वा शाम्भववर्त्मना ।
विधाय पूजां ब्रह्मज्ञो ब्रह्मस्थापनमाचरेत् ॥
प्रागुक्तसंस्कृते वह्नौ सङ्कल्पोक्ताहुतिं गुरुः ।
दत्त्वा शिष्यं समाहूय साकल्यं हावयेत्तु तम् ॥
आदौ व्याहृतिभिर्हुत्वा प्राणहोमं प्रकल्पयेत् ।
प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च वायवः ॥
तत्र होमं ततः कुर्य्याद्देहामेध्यत्वमुक्तये ।
पृथिवी सलिलं वह्निर्वायुराकाशमेव च ॥
गन्धो रसश्च रूपञ्च स्पर्शः शब्दो यथाक्रमात् ।
ततो वाक्पाणिपादाश्च पायूपस्थौ ततः परम् ॥
श्रोत्रं त्वक् नयनं जिह्वाघ्राणबुद्धीन्द्रियाणि च ।
एतानि मे पदान्ते च शुध्यन्ति पदमुच्चरेत् ॥
ह्रीं ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं*ठिठ
इत्यपि ।
चतुर्व्विंशतितत्त्वानि कर्म्माणि वैदिकानि च ।
हुत्वाग्नौ निष्क्रियो देहं मृतवच्चिन्तयेत्ततः ॥
विभाव्य मृतवत् कायं रहितं सर्व्वकर्म्मणा ।
स्मरन् तत् परमं ब्रह्म यज्ञसूत्रं समुद्धरेत् ॥
ऐं क्लीं हुं इति मन्त्रेण स्कन्धादुत्तार्य्य तत्त्ववित् ।
यज्ञसूत्रं करे धृत्वा पठित्वा व्याहृतित्रयम् ।
वह्निजायां समुच्चार्य्य घृताक्तमनले क्षिपेत् ॥
हुत्वैवमुपवीतञ्च कामबीजं समुच्चरन् ।

छित्त्वा शिखां करे कृत्वा घृतमध्ये नियोजयेत् ॥
ब्रह्मपुत्त्रि शिखे त्वं हि वाणीरूपा सनातनी ।
दीयते पावके स्थानं गच्छ देवि नमोऽस्तु ते ॥
कामं मायां कूर्च्चमन्त्रं वह्निजायामुदीरयेत् ।
शिखामाश्रित्य पितरो देवो देवर्षयस्तथा ।
सर्व्वाण्याश्रमकर्म्माणि निवसन्ति शिखोपरि ॥
ततः सन्तर्प्य ताः सर्व्वा देवर्षिपितृदेवताः ।
शिखासूत्रपरित्यागात् देही ब्रह्ममयो भवेत् ॥
यज्ञसूत्रशिखात्यागात् सन्न्यासः स्याद्द्विजन्मनाम् ।
शूद्राणामितरेषाञ्च शिखां हुत्वैव संस्क्रिया ॥
ततो मुक्तशिखासूत्रः प्रणमेद्दण्डवद्गुरुम् ।
गुरुरुत्थाप्य तं शिष्यं दक्षकर्णे वदेदिमम् ॥
तत्त्वमसि महाप्राज्ञ हंसः सोऽहं विभावय ।
निर्म्ममो निरहङ्कारः स्वभावेन सुखं चर ॥
ततो घटञ्च वह्निञ्च विसृज्य ब्रह्मतत्त्ववित् ।
आत्मस्वरूपं तं मत्वा प्रणमेच्छिरसा गुरुम् ॥
नमस्तुभ्यं नमो मह्यं तुभ्यं मह्यं नमो नमः ।
त्वमेव त्वदहमेव विश्वरूपं नमोऽस्तु ते ॥
ब्रह्ममन्त्रोपासकानां तत्त्वज्ञानां जितात्मनाम् ।
स्वमन्त्रेण शिखाच्छेदात् सन्न्यासग्रहणं भवेत् ॥
ब्रह्मज्ञानविशुद्धानां किं यज्ञैः श्राद्धपूजनैः ।
स्वेच्छाचारपराणान्तु प्रत्यवायो न विद्यते ॥
ततो निर्द्वन्द्वरूपोऽसौ निष्कामः स्थिरमानसः ।
निर्म्ममो विहरेत् शिष्यः साक्षाद्ब्रह्ममयो भुवि ॥
मुक्तो विधिनिषेधाभ्यां निर्योगक्षेम आत्मवित् ।
सुखदुःखसमो धीरो जितात्मा विगतस्पृहः ॥
स्थिरात्मा प्राप्तदुःखोऽपि सुखे प्राप्तेऽपि निस्पृहः ।
सदानन्दः शुचिः शान्तो निरपेक्षो निराकुलः ॥
नोद्वेजकः स्याज्जीवानां सदा प्राणिहिते रतः ।
विगतामर्षभीर्दान्तो निःसङ्कल्पो निरुद्यमः ॥
शोकद्वेषविमुक्तः स्याच्छत्रौ मित्रे समो भवेत् ।
शीतवातातपसहः समो मानापमानयोः ॥
समः शुभाशुभे तुष्टो यदृच्छालाभवस्तुना ।
निस्त्रैगुण्यो निर्व्विकल्पो निर्लोभः स्यादसञ्चयी ॥
यथासत्यनुपाश्रित्य स्रष्टा विश्वं प्रतिष्ठते ।
आत्माश्रितस्तथा देही जानन्नेवं सुखी भवेत् ॥
इन्द्रियाण्येव कुर्व्वन्ति स्वं स्वं कर्म्म पृथक् पृथक् ।
आत्मा साक्षी विनिर्लिप्तो ज्ञात्वैवं मोक्षभाग्-
भवेत् ॥
धातुप्रतिग्रहं निन्दामनृतं क्रीड़नं स्त्रिया ।
रेतस्त्यागमसूयाञ्च सन्न्यासी परिवर्ज्जयेत् ॥
सर्व्वत्र समदृष्टिः स्यात् कीटे देवे तथा नरे ।
सर्व्वं ब्रह्मेति जानीयात् परिव्राट् सर्व्वकर्म्मसु ।
विप्रान्नं श्वपचान्नं वा यस्मात्तस्मात् समागतम् ॥
देशं कालं तथा पात्रमश्नीयादविचारयन् ।
अध्यात्मशास्त्राध्ययनैः सदा तत्त्वविचारणैः ॥
अवधूतो नयेत् कालं स्वेच्छाचारपरायणः ।
सन्न्यासिनां मृतं कायं दाहयेन्न कदाचन ॥
संपूज्य गन्धपुष्पाद्यैर्निखनेद्वाप्सु मज्जयेत् ।
अप्राप्तयोगमर्त्त्यानां सदा कामाभिलाषिणाम् ॥
प्रभावाज्जायते देवि प्रवृत्तिः कर्म्मसंकुले ।
अत्रापि ते सानुरक्ता ध्यानार्च्चाजपसाधने ॥
श्रेयस्तदेव जानन्तस्तत्रैव दृढ़निश्चयाः ।
अतः कर्म्मविधानानि प्रोक्तानि चित्तशुद्धये ॥
नामरूपं बहुविधं तदर्थं कल्पितं मया ।
ब्रह्मज्ञानं विना देवि कर्म्मसंन्यसनं विना ॥
कुर्व्वन् कल्पशतं कर्म्म न भवेन्मुक्तिभाजनः ।
कुलावधूतस्तत्त्वज्ञो जीवन्मुक्तो नराकृतिः ॥
साक्षान्नारायणं मत्वा गृहस्थस्तं प्रपूजयेत् ।
यतेर्द्दर्शनमात्रेण विमुक्तः सर्व्वपातकात् ।
तीर्थव्रततपोदानसर्व्वयज्ञफलं लभेत् ॥”
इत्यवधूताश्रमः । इति महानिर्व्वाणतन्त्रे अष्टमोल्लासः ॥

सप, सम्बन्धे । (भ्वा०-पर०-सक०-सेट् ।) असीसपत् । इति दुर्गादासः ॥ कविकल्पद्रुमे मूर्द्धन्यादिरयम् ॥

सपत्राकरणं, क्ली, (सपत्र + कृ + ल्युट् । “सपत्रनिष्पत्रादतिव्यथने ।” ५ । ४ । ६१ । इति डाच् ।) अत्यन्तपीड़नम् । इति हलायुधः ॥

सपत्राकृतः, पुं, (सपत्र + कृ + क्तः । डाच् ।) चतुष्पादिः । अत्यन्तपीड़िते, त्रि । इति केचित् ॥

सपत्राकृतिः, स्त्री, (सपत्र + कृ + क्तिन् । डाच् ।) अत्यन्तपीड़नम् । तत्पर्य्यायः । निष्पत्राकृतिः २ । इति हेमचन्द्रः ॥

सपत्नः पुं, (सह पतति एकार्थे इति । पत + नः । सहस्य सः ।) शत्रुः । इत्यमरः ॥ (यथा, महाभारते । १ । १४५ । ५ ।
“संरक्ष तात मन्त्रञ्च सपत्नांश्च ममोद्धर ।
निपुणेनाभ्युपायेन यद्ब्रवीमि तथा कुरु ॥”)

सपत्नारिः, पुं, (सपत्नस्य शत्रोररिरिव दुर्गप्रभवत्वात् ।) वंशविशेषः । वेयुड़ वाँश इति भाषा । यथा,—
“ब्रह्मयष्टिः सपत्नारिर्ब्बहुसन्तनिराशुपः ।”
इति शब्दचन्द्रिका ॥

सपत्नी, स्त्री, (समानः एकः पतिर्यस्याः । “नित्यं सपत्न्यादिषु ।” ४ । १ । ३५ । इति ङीप् । पत्युर्नकारादेशः समानस्य सभावोऽपि निपात्यते ।) समानपतिका । सतीन इति भाषा ॥ (यथा, आर्य्यासप्तशत्याम् । ४६३ ।
“या नीयते सपत्न्या प्रविश्य या वर्ज्जिता
भुजङ्गेन ।
यमुनाया इव तस्याः सखि मलिनं जीवनं मन्ये ॥”)
यथा च । दौहित्राभावे सपत्नीपुत्रः । तस्य पुत्रत्वस्मरणात् । यथा मनुः ।
“सर्व्वासामेकपत्नीनामेका चेत् पुत्त्रिणी भवेत् ।
सर्व्वास्तास्तेन पुत्त्रेण प्राह पुत्त्रवतीर्म्मनुः ॥”
एकपत्नीनामिति एकः पतिर्यासामिति ।
अत्र सपत्नीपुत्त्रस्य पुत्त्रत्वातिदेशात् तत्सत्त्वेऽपि स्त्रीणां सपिण्डनं मैथिलैरुक्तम् । तन्न ।
“पुत्त्रेणैव तु कर्त्तव्यं सपिण्डीकरणं स्त्रियाः ।
पुरुषस्य पुनस्त्वन्ये भ्रातृपुत्त्रादयोऽपि ये ॥”
इति लघुहारीतवचने एवकारेणातिदिष्टपुत्त्रनिषेधात् । इति शुद्धितत्त्वम् ॥

सपदि, अ, (संपद्यते इति । पद गतौ + इन् । पृषोदरादित्वात् मलोपः ।) द्रुतम् । तत्क्षणः । इत्यमरः ॥ (यथा, कुमारे । ३ । ७६ ।
“सपदि मुकुलिताक्षीं रुद्रसंरम्भभीत्या
दुहितरमनुकम्पामद्रिरादाय दोर्भ्याम् ।
सुरगज इव बिभ्रत् पद्मिनीं दन्तलग्नां
प्रतिपथगतिरासीत् वेगदीर्घीकृताङ्गः ॥”)

सपर्य्या, स्त्री, (सपर पूजायाम् + “कण्ड्वादिभ्यो यक् ।” ३।१।२७। इति यक् । “अ प्रत्ययात् ।” ३ । ३ । १०२ । इति अः । ततष्टाप् ।) पूजा । इत्यमरः ॥ (यथा, माघे । १ । १४ ।
“तमर्घ्यमर्घ्यादिकयादिपूरुषः
सपर्य्यया साधु स पर्य्यपूपुजत् ॥”)

सपादः, त्रि, पादेन सह वर्त्तमानः । स तु चरणयुक्तश्चतुर्थभागसहितश्च । यथा,—
“सपादपलमानेन वेला चुर्ण्यति निश्चितम् ।”
इति सत्कृत्यमुक्तावली ॥

सपादपीठं, त्रि, (सपादं पादसहितं पीठं यत्र ।) पादपीठयुक्तसिंहासनादि । यथा,—
“आदित्यदीप्तप्रतिमानुकल्पं
सिंहासनं तस्य सपादपीठम् ।
सन्तप्तचामीकरवल्गुवज्रं
विभागविन्यस्तमहाधिरत्नम् ॥”
इति भट्टौ ३ सर्गः ॥

सपिण्डः, पुं, (समानः पिण्डो मूलपुरुषो निवापो वा यस्य । समानस्य सः ।) सप्तपुरुषान्तर्गतज्ञातिः । तत्पर्य्यायः । सनाभिः २ । इत्यमरः ॥ स च अशौचविवाहदायभेदात् त्रिविधः । तत्राशौचसपिण्डस्य लक्षणं यथा । सप्तपुरुषान्तर्गतत्वे सति गोत्रैक्ये सति दातृत्वभोक्तृत्वान्यतरसम्बन्धेन पिण्डलेपान्यतरवत्त्वम् । दत्तकन्यानान्तु भर्तृसापिण्ड्येन सापिण्ड्यम् । अदत्तानां पितृवधित्रिपुरुषसापिण्ड्यम् । विवाहसपिण्डास्तु । पितृपितृबन्ध्वपेक्षया सप्तमपुरुषावधयः । मातामहमातृबन्ध्वपेक्षया पञ्चमपुरुषावधयश्च । यथा,—
“पञ्चमात् सप्तमादूर्द्ध्वं मातृतः पितृतः क्रमात् ।
सपिण्डता निवर्त्तेत सर्व्ववर्णेष्वयं विधिः ॥”
इत्युद्वाहतत्त्वधृतनारदवचनम् ॥
दायसपिण्डास्तु । त्रिपुरुषावधयः । ते च पितृपितामहप्रपितामहाः तेषां पुत्त्रपौत्त्रप्रपौत्त्रदौहित्राः । मातामहप्रमातामहवृद्धप्रमातामहाः । तत्पुत्त्रपौत्त्रप्रपौत्त्राश्च । इति दायभागः ॥ * ॥ अथ सपिण्डादिविचारः । मत्स्यपुराणम् ।
“लेपभाजश्चतुर्थाद्याः पित्राद्याः पिण्डभागिनः ।
पिण्डदः सप्तमस्तेषां सापिण्ड्यं साप्तपौरुषम् ॥”
नन्वेवं भ्रात्रादिभिः सह पिण्डलेपभोक्तृत्वासम्भवात् कथं सपिण्डत्वमिति चेदुच्यते । तेषामपि पिण्डलेपयोः सम्बन्धोऽस्ति । तथा च बौधायनः । प्रपितामहः पितामहः पिता स्वयं सोदर्य्यभ्रातरः । सवर्णायाः पुत्त्रः पौत्त्रः प्रपौत्त्रो

वा एतानविभक्तदायादान् सपिण्डानाचक्षते विभक्तदायादान् सकुल्यानाचक्षते सत्स्वङ्गजेषु तद्गामी ह्यर्थो भवति इति। अस्यार्थः। पित्रादिपिण्डत्रयेषु सपिण्डनेन भोक्तृत्वात्। पुत्रादिभिस्त्रिभिस्तत्पिण्डदानात्। यश्च जीवन् यस्य पिण्डदाता स मृतः सन् सपिण्डनेन तत्पिण्डभोक्ता एवं सति मध्यस्थितः पुरुषः पूर्व्वेषां जीवन् पिण्डदाता मृतः सन् तत्पिण्डभोक्ता परेषां जीवतां पिण्डसम्प्रदानभूत आसीत् मृतैश्च तैः सह दौहित्रादिदेयपिण्डभोक्ता। अतो येषामयं पिण्डदाता ये चास्य पिण्डभोक्तारस्तेऽविभक्तं पिण्डरूपं दायं अश्नन्तीति अविभक्तदायादाः सपिण्डा इति। इदञ्च सपिण्डत्वं सकुल्यत्वञ्च दायग्रहणार्थम्। अशौचाद्यर्थन्तु पिण्डलेपभुजामपि। लेपभाजश्चतुर्थाद्याः पित्राद्याः पिण्डभागिनः॥ इति प्रागुक्तमत्स्यपुराणात् वक्ष्यमाणकूर्म्मपुराणशङ्खलिखितवचनाच्च। पिण्डे यथा परस्परं भोक्तृत्वं तथा लेपे तुल्यन्यायात्। हारलतायां कूर्म्मपुराणम्।

“सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्त्तते।
समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नोरवेदने॥
पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः।
लेपभाजश्चतुर्थाद्याः सापिण्ड्यं साप्तपौरुषम्॥”

लेपभागिभ्यस्तूर्द्ध्वं यावज्जन्मनाम्नोरवेदनं यावदमुकनाम्नोऽस्मात् पूर्व्वपुरुषादयं जातः इति विशेषः। अयमस्मत्कुले जात इति सामान्यतो वा स्मर्यते तावत् समानोदकत्वमिति हारलता॥ अत्र परवचनेनैव सापिण्ड्यसिद्धौ पूर्व्ववचनपूर्व्वार्द्धं जीवत्पितृकत्वादिना अधिकपुरुषेषु पिण्डलेपसम्बन्धेऽपि सपिण्डतानिवृत्तिज्ञापनाय। सर्व्वदेशीयाचारोऽपि तथा। यथा श्राद्धविवेकेऽपि पार्व्वणश्राद्धानन्तरं नित्यश्राद्धे विकल्प उक्तः। मार्कण्डेयपुराणम्।

“नित्यक्रियां पितॄणान्तु केचिदिच्छन्ति सत्तमाः।
न पितॄणां तथैवान्ये शेषं पूर्व्ववदाचरेत्॥”

अत्र पूर्व्वार्द्धात् पितॄणां प्राप्तौ न पितॄणामित्यत्र पुनः पितॄणां ग्रहणं सनकादीनामश्रोतृवर्गाभ्यनुज्ञानार्थं इति फलान्तरमुक्तम्। हरिशर्म्मणापि अन्यार्थं पुनर्व्वचनमिति लिखितम्। अथ यः खलु पिण्डान् दत्त्वैव मृतः परतश्चाप्राप्तपितृभावः स कथं सपिण्डः एकपिण्डदातृत्वभोक्तृत्वलक्षणसम्बन्धाभावादिति चेत् तद्योग्यतयेति ब्रूमः। योग्यताप्रयोजकञ्च सामान्यशास्त्रविषयत्वम्। ततश्च अत्यतिवृद्धप्रपितामहावधिकाधस्तनानां षण्णां पुंसां प्रत्येकापेक्षया सप्तानामेकगोत्राणां स्वावधिपरतनानां सप्तानाञ्च सापिण्ड्यं पिण्डलेपयोर्दातृत्वभोक्तृत्वसम्बन्धादिति। स्त्रीणान्तु भर्तृसापिण्ड्येन सापिण्ड्यम्। प्रत्तानां भर्तृसापिण्ड्यमिति वचनात्। नन्वेवं कन्यायाः कथं सपिण्डतेति चेत् आदिपुराणवचनात् त्रैपुरुषं सापिण्ड्यम्। यथा,—

“सपिण्डता तु कन्यानां सवर्णानां त्रिपौरुषी।”

अत्र कन्यानामनूढानाम्। अप्रत्तानां त्रिपौरुषमिति वशिष्ठवचनात्। तेन आत्मपञ्चमे वृद्धप्रपितामहे सापिण्ड्यं निवर्त्तते इति प्रतिपादितम्। अतएव कन्यायाः प्रपितामहभ्रात्रा तत्सन्ततिभिश्च सह सापिण्ड्याभावात् कन्यामरणजननयोस्तेषां सपिण्डाशौचं नास्ति किन्तु समानोदकनिमित्तमेवाशौचमिति। एवं तेषामपि जननमरणयोः कन्यानामिति शूलपाणिमहामहोपाध्यायाः॥ यत्तु कूर्म्मपुराणम्।

“अप्रत्तानां तथा स्त्रीणां सापिण्ड्यं साप्तपौरुषम्।
प्रत्तानां भर्तृसापिण्ड्यं प्राह देवः पितामहः॥”

इति रत्नाकरधृतं तद्विवाहे पितृपक्षविषयम्। यथा, विष्णुपुराणम्।

“सप्तमीं पितृपक्षाच्च मातृपक्षाच्च पञ्चमीम्।
उद्वहेत द्विजो भार्य्यां न्यायेन विधिना नृप॥”

सप्तमीं पञ्चमीं हित्वा इति शेषः। भर्तृसापिण्ड्यमित्यत्र साप्तपौरुषमित्यनुषज्यते। तेन भर्तृसमानसापिण्ड्यमित्यर्थः। शङ्खलिखितौ।

“सपिण्डता तु सर्व्वेषां गोत्रतः साप्तपौरुषी।
पिण्डश्चोदकदानञ्च शौचाशौचं तदानुगम्॥”

गोत्रतः गोत्रैक्ये तेन मातामहकुले कदाचित् षट्पुरुषपर्य्यन्तं पिण्डसम्बन्धेऽपि न सपिण्डता। तान् सप्तपुरुषान् आ समन्तात्कारेण पिण्डादिकमनुगच्छतीति तदानुगम्। एतेन सपिण्डता एकशरीरावयवान्वयेन भवति। तथा हि। पितुः शरीरावयवान्वयेन पित्रा सह एवं पितामहादिभिरपि पितृद्वारेण तच्छरीरावयवान्वयात्। एवं मातृशरीरावयवान्वयेन मात्रादिभिरपि। एवं पत्या सह पत्न्या एकशरीरारम्भकतया सापिण्ड्यम्। तथा च गर्भोपनिषदि। एतत् षाट्कौषिकं शरीरं त्रीणि पितृतः त्रीणि मातृतः अस्थिस्नायुमज्जानः पितृतः त्वङ्मांसरुधिराणि मातृतश्चेति। तत्र तत्रावयवान्वयप्रतिपादनात्। निर्व्वाप्य पिण्डान्वये तु सापिण्ड्ये भ्रातृपितृव्यादिसापिण्ड्यं न स्यात्। अतिप्रसङ्गस्तु सप्तान्यतमत्वेन प्रयोगोपाधिना निरसनीयः। यद्येवं मातामहादीनामपि मरणे सपिण्डत्वेन दशाहाशौचं प्राप्नोति स्यादेतत् यदि मातामहानां मरणे त्रिरात्रं स्यादशौचकं इत्यादिविशेषवचनं न स्यात्। यत्र तु विशेषवचनं नास्ति तत्र दशाहमिति मिताक्षरारत्नाकरादिमतमपास्तम्। लेपभाज इत्यादिवाचनिकेऽर्थे सापिण्ड्ये एकशरीरावयवान्वयरूप-स्वकपोलरचितार्थानवकाशात्। निर्व्वाप्य पिण्डसम्बन्धेन भ्रात्रादीनां सापिण्ड्यस्य मत्स्यपुराणबौधायनाभ्यां पूर्व्वमुक्तत्वात्। कामधेनुहारलताकल्पतरुपारिजातकारादिभिस्तथैव व्याख्यातत्वाच्च। रेतःशोणितपरिणामरूपत्वादपत्यशरीरस्य भवतु वा तथा। पत्या सह पत्न्या एकशरीरारम्भकतायाः प्रत्यक्षबाधितत्वात् कथं सापिण्ड्यं प्रमातामहा-

दीनां विशेषवचनाभावात् सपिण्डत्वेन दशाहाद्यशौचप्रसङ्गात् मातामहादौ सापिण्ड्यस्य लोकविरुद्धत्वाच्च। भवतु वा तथा शरीरद्वारा सापिण्ड्यं तथापि वचनात् यथा सप्तान्तर्गतत्वं तत्त्वं तथा गोत्रतः साप्तपौरुषीति वचनात् गोत्रैक्यमपि प्रागुक्तवचनात्। कन्यायास्त्रिपौरुषं सापिण्ड्यं ऊढायाश्च कर्तृसापिण्ड्येन सापिण्ड्यमिति चेत् तदेतन्मतेऽपि व्यवस्थायां न क्षतिरिति। अतएव सुमन्तुवचनाभिहितं यद्दशमपुरुषपर्य्यन्तमशौचं तत् सप्तमपुरुषाभ्यन्तराशौचान्न्यूनं त्रिरात्रम्। यथा शाखिनामेकपिण्डस्वधानामादशमात् धर्म्मविच्छित्तिर्भवति आसप्तमात् ऋक्थविच्छित्तिर्भवति आतृतीयात् स्वधाविच्छित्तिर्भवति अन्यथा पिण्डाशौचक्रियादुच्छेदात् ब्रह्महतुल्यो भवतीति। अस्यार्थः। एका समाना पिण्डस्वधा येषां ते तथा। यथा एकोद्दिष्टस्य पिण्डे तु अनुशब्दो न युज्यते इत्यत्रानुशब्देनानुशब्दयुक्तो मन्त्रो लक्ष्यते अनुयुक्तमन्त्रस्तु ये चात्र त्वामनु यांश्च त्वमनु तस्मै ते स्वधा इति तथा पिण्डस्वधाशब्देन पिण्डसम्बन्धिस्वधाशब्दयुक्तमन्त्रकरणकदेयजलं लक्षितम्। तथा च। ऊर्ज्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतं स्वधास्तर्पयत मे पितॄन् इत्यनेन पिण्डान् सिञ्चेदित्युक्तम्। ततश्च एकपिण्डस्वधानां समानोदकानामित्यर्थः। अतएव मनुः।

“जन्मन्येकोदकानान्तु त्रिरात्रात् शुद्धिरिष्यते।”

विष्णुपुराणम्।

“मातृपक्षस्य पिण्डेन सम्बद्धा ये जलेन वा।”

मातृपक्षस्य मातामहपक्षस्य पिण्डेन सम्बद्धाः सपिण्डाः जलेन सम्बद्धाः समानोदका इति श्राद्धविवेकेऽपि व्याख्यातम्।

“असम्बन्धा भवेद्या तु पिण्डेनैवोदकेन वा॥”

इति विवाहेऽप्युक्तम्। अत्र पुत्रिकायाः पार्व्वणे पिण्डोदकयोः सम्बन्धात् कन्यामात्रेऽपि तद्योग्यतायाः सत्त्वात् कन्या पिण्डोदकसम्बन्धोच्यते। एतदनुसारादपि तस्याः सपिण्डता बोद्धव्या तस्मादेकपिण्डस्वधानामित्यनेन समानोदकभावः समाख्यातः। न तु दशमपुरुषपर्य्यन्तं पित्रादिजीवनादिना पिण्डसम्बन्धेऽपि सापिण्ड्यं विहितं प्रागुक्तयुक्तेः स्वधेत्यस्य तदनुपयुक्तत्वेन वैयर्थ्यापत्तेः। अपुत्रधनाधिकारस्तु सन्निहिततराभावे सप्तमपुरुषपर्य्यन्तम्। मृतपितृकस्य स्वधोपलक्षितश्राद्धाधिकारः पुरुषत्रयपर्य्यन्तमिति। अत्र स्वधाशब्दो मन्त्रपरः पितृभक्षपरोऽपि। तथा च गुणविष्णुधृता श्रुतिः। स्वधा वै पितॄणामन्नमिति। दशमपुरुषानन्तरं समानोदकत्वेऽपि न त्रिरात्रं किन्तु पक्षिण्यादि। तथा हि। उदकक्रियामधिकृत्य पारस्करः। सर्व्वे ज्ञातयो भावयन्ति। आसप्तमाद्दशमाद्वा समानग्रामवासेन यावत् सम्बन्धमनुस्मरेयुर्व्वा इति। भावयन्ति निष्पादयन्ति। अत्र यावत् सम्बन्धमनुस्मरेयुरेककुलजाता वयमिति स्मरणं

भवतीत्यनेनैव सर्व्वेषामुदकदाने प्राप्ते यदासप्तमाद्दशमाद्वेत्युक्तं तत् सन्निकर्षतारतम्येनाशौचभेदेऽप्युदककर्म्मसमानार्थमिति। अशौचभेदस्तु सप्तमपुरुषपर्य्यन्तं सपिण्डत्वाद्दशाहः। ततश्च दशमपुरुषपर्य्यन्तं त्र्यहः। तथा च विष्णुवृहस्पती।

"दशाहेन सपिण्डास्तु शुध्यन्ति प्रेतसूतके।
त्रिरात्रेण सकुल्यास्तु स्नात्वा शुध्यन्ति
गोत्रजाः॥"

ततश्चतुर्द्दशपुरुषपर्य्यन्तं पक्षिणी। ततश्च जन्मनामस्मृतिपर्य्यन्तमेकाहः। तथा च मिताक्षराविवादचिन्तामण्योर्वृहन्मनुः।

"सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्त्तते।
समानोदकभावस्तु निवर्त्तेताचतुर्द्दशात्॥
जन्मनामस्मृतेरेके तत्परं गोत्रमुच्यते॥"

अत्र समानोदकत्वे द्विविधे। पूर्व्वत्र गोतमः पक्षिणीमसपिण्डे इति। परत्र हारीतः।

"मातामहे त्रिरात्रं स्यादेकाहस्त्वसपिण्डके॥"

अत्रैव गोत्रजानामहः स्मृतमिति जावालवचनम्। ततः परं सर्व्वथा समानोदकतानिवृत्तेः स्नानमात्रमिति। स्नात्वा शुध्यन्ति गोत्रजा इति वृहस्पत्युक्तत्वादिति। इति शुद्धितत्त्वम्॥

सपिण्डीकरणं, क्ली, (सपिण्ड + कृ + ल्युट्। अभूततद्भावे च्विः।) पूर्णसंवत्सरक्रियमाणपार्व्वणैकोद्दिष्टेतिकर्त्तव्यताकश्राद्धम्। यत्र प्रेतपिण्डस्य पितृपिण्डेन सह मिश्रीकरणम्। यथा,—

"सपिण्डीकरणं प्रोक्तं पूर्णे संवत्सरे पुनः।
कुर्य्याच्चत्वारि पात्राणि प्रेतादीनां द्विजोत्तमाः॥
प्रेतार्थं पितृपात्रेषु पात्रमासेचयेत्ततः।
ये समाना इति द्वाभ्यां पिण्डानप्येवमेव हि॥
सपिण्डीकरणश्राद्धं देवपूर्व्वं विधीयते।
पितॄनावाहयेदत्र पृथक् पिण्डञ्च निर्द्दिशेत्॥
ये सपिण्डीकृताः प्रेता न तेषां स्यात् पृथक्
क्रिया।
यस्तु कुर्य्यात् पृथक् पिण्डं पितृहा सोऽपि
जायते॥"

इति कूर्म्मपुराणे उपविभागे २२ अध्यायः॥*॥

अन्यच्च।

"ततः संवत्सरे पूर्णे सपिण्डीकरणं भवेत्।
सपिण्डीकरणादूर्द्ध्वं प्रेतः पार्व्वणभुग्यतः॥
वृद्धिपूर्त्तेषु योग्यश्च गृहस्थश्च भवेत्ततः।
सपिण्डीकरणं श्राद्धं देवपूर्व्वं नियोजयेत्॥
पितॄनेवाशयेत्तत्र पृथक् प्रेतं विनिर्द्दिशेत्।
गन्धोदकतिलैर्युक्तं कुर्य्यात् पात्रचतुष्टयम्।
अर्घ्यार्थं पितृपात्रेषु प्रेतपात्रं प्रसेचयेत्॥
तद्वत् सङ्कल्प्य चतुरः पिण्डान् पिण्डप्रदस्तदा।
ये समाना इति द्वाभ्यामाद्यन्तु विभजेत्त्रिधा॥
चतुर्थस्य पुनः कार्य्यं न कदाचित् यतो भवेत्।
ततः पितृत्वमापन्नः स चतुर्थस्तदा पुमान्॥
अग्निष्वात्तादिमध्यन्तु प्राप्नोत्यमृतमुत्तमम्।
सपिण्डीकरणादूर्द्ध्वं तस्मै तस्मान्न दीयते॥"

इति मात्स्ये १८ अध्यायः॥

अपरञ्च। अथ सपिण्डीकरणम्। तत्र गोभिलः। पूर्णे संवत्सरे षण्मासे त्रिपक्षे यदहर्व्वा वृद्धिरापद्येत तदहश्चत्वार्य्युदकपात्राणि सतिलगन्धपुष्पोदकानि पूरयित्वा त्रीणि पितॄणामेकं प्रेतस्य प्रेतपात्रं पितृपात्रेष्वासिञ्चति। ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये तेषां लोकः स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पताम्।

"ये समानाः समनसो जीवा जीवेषु मामकाः।
तेषां श्रीर्मयि कल्पतामस्मिन् लोके शतं समाः॥"

इति।

एतेनैव पिण्डो व्याख्यात इति। पूर्णे संवत्सरे इति मुख्यकल्पः। तदशक्तौ नवमो मासः। संवत्सरान्ते विसर्ज्जनं नवममास्यमित्येके। इति पैठीनसिवचनात्। तदशक्तौ षष्ठो मासः। तत्राप्यशक्तौ त्रिपक्षः तत्राप्यशक्तौ अशौचापगमे प्रथममासस्य द्वादशभिर्द्दिनैर्द्वादशमासिकानि श्राद्धानि निर्व्वर्त्य त्रयोदशाहः सपिण्डीकरणकालः। शूद्रस्य द्वादशाहो न तु त्रयोदशाह एव मासिकार्थवत् द्वादशाहश्राद्धं कृत्वा त्रयोदशेऽह्नि वा तत् कुर्य्यान्मन्त्रवर्ज्जं हि शूद्राणां द्वादशेऽह्नीति विष्णुवचनात्। मासिकार्थवदिति मासिकार्थो मासि मासि क्रियमाणश्राद्धप्रयोजनं प्रेताप्यायनादि तद्युक्तं द्वादशाहक्रियमाणश्राद्धमित्यर्थः॥*॥ यत्र त्रैकादशमासाभ्यन्तरेऽधिमासपातः तत्र त्रयोदशसु दिनेषु त्रयोदश मासिकानि कृत्वा चतुर्द्दशेऽह्नि सपिण्डनं कार्य्यमिति। संवत्सराभ्यन्तरे यद्यधिमासो भवति तदा मासिकार्थं दिनमेकं वर्द्धयेत्। इति विष्णुवाक्यात्। शूद्रस्य त्रयोदशदिनेषु त्रयोदशमासिकानि त्रयोदशेऽह्नि सपिण्डनं वृद्धपरिकल्पनान्यायात्। एवञ्च श्राद्धवृद्धिमात्रं न दिनवृद्धिरिति मिश्रोक्तं ज्ञेयम्। तद्धृतविष्णुसूत्रे दिनमेकं वर्द्धयेदिति श्रुतेः। श्राद्धाधिक्यमाह सत्यव्रतः।

"संवत्सरस्य मध्ये तु यदि स्यादधिमासकः।
तदा त्रयोदशे श्राद्धं कार्य्यन्तदधिकं भवेत्॥"

तत्राप्यशक्तौ प्रथममासस्यैकाह एव द्वादशमासिकसहितसपिण्डीकरणकालः।

"मुख्यं श्राद्धं मासि मासि अपर्य्याप्तावृतुं प्रति।
द्वादशाहेन वा कुर्य्यादेकाहे द्वादशाथवा॥"

इति मरीचिवचनात्। अपर्य्याप्तौ अशक्तौ ऋतुर्म्मासद्वयम्। अत्र कल्पे षष्ठमासिकदिने पञ्चममासिकं कृत्वा प्रथमषाण्मासिकं कृत्वा षष्ठमासिकं कार्य्यं तदानुगुणकर्षन्यायात्। न तु तत्पूर्व्वं षाण्मासिकं व्युत्क्रमापत्तेर्न च पञ्चममासिकमपि पूर्व्वदिने मृततिथ्यभावात् एवमेव वाचस्पतिमिश्रः॥*॥ अपकर्षनिमित्तमाह व्याघ्रः।

"आनन्त्यात् कुलधर्म्माणां पुंसाञ्चैवायुषः
क्षयात्।
अस्थितेश्च शरीरस्य द्वादशाहः प्रशस्यते॥"

एतच्च द्वादशाहपदं शावाशौचान्तस्तृतीयदिनमात्रपरमिति प्राचीनमैथिलाः अजहत्स्वार्थलक्षणया स्वजात्युक्ताशौचान्त्यतृतीयदिनमात्रोपलक्षकं इति श्राद्धप्रदीपश्राद्धचिन्तामणी। तद्द्वयमप्ययुक्तम्। द्वादशाहेन वा कुर्य्यात् इति मरीचिवचनद्वादशाहश्राद्धं कृत्वा त्रयोदशेऽह्नि वा कुर्य्यात् इति विष्णुवचनाभ्यामेकवाक्यतया द्वादशाहमित्यस्य द्वादशदिनपरत्वात्। कुलधर्म्माणामिति कुलधर्म्म्यो निरागमादिसिद्धान्तरभाविनाशपरचक्रभयोत्पन्नस्वच्छदेशगमनादिभिर्निमित्तैः अशौचापगमे द्वादशदिनानि षोडशश्राद्धापकर्षकाल इति शूलपाण्युपाध्यायव्याख्यानात्। मरीचिनैव एकाहे द्वादशाथवेति सामान्यत एव एकाहविधानाच्च। अतएव एकाहापेक्षया प्राशस्त्याभिधानमपि सङ्गच्छते अतएव प्रथममासस्य एकाह एव द्वादशमासिकसहितसपिण्डीकरणकालः इति श्राद्धविवेकः। अत्र यानि एकाहकर्त्तव्यतया द्वादशमासिकश्राद्धान्युक्तानि तानि शूद्रेणापि आद्यमासिकदिन एव कार्य्याणि। न त्वाद्यमासिकं कृत्वा तत्परदिने एकादशमासिकानीति ज्ञेयम्। एवञ्च तेषामपकर्षे तन्मध्यतदन्तकालकर्त्तव्यतया षाण्मासिकद्वयसपिण्डीकरणापकर्षः सिध्यतीति सुधीभिर्विभाव्यम्॥*॥ यदहर्व्वा वृद्धिरिति वृद्धिराशास्यमानं पुंसवनादि। आपद्येत आसन्ना भवति तद्दिने सपिण्डीकरणम्। तथा हि प्रागावर्त्तनाद्गर्भः कालं विद्यात्। इति गोभिलसूत्रेण पुंसवनादिरूपवृद्धेर्यामद्वयाभ्यन्तरे विधानात् सपिण्डीकरणस्य चापराह्णे विधानात्तयोः कालयोरवाधाय वृद्धिपूर्व्वदिने अपकर्षः॥*॥ ननु सपिण्डीकरणस्यापराह्णिकत्वे किं प्रमाणमिति चेत् अपराह्णे तु पैतृकमित्युत्सर्गवचनम्।

"किञ्च यद्यप्यदन्तकः पूषा पैष्टमत्ति सदा
चरुम्।
अग्नीन्द्रेश्वरसामान्यात्तत्तुलोऽत्र विधीयते॥"

इति छन्दोगपरिशिष्टवचने यथा बहूनामनुरोधात्तत्कुलचरुर्नैकानुरोधात् पैष्टचरुः। विरुद्धधर्म्मसमवाये भूयसां स्यात् सधर्म्मकत्वम्। इति जैमिनिसूत्रात्। तद्वदत्रापि बहुदेवताकपार्व्वणानुरोधादेकोद्दिष्टकालबाध इति। एवञ्च संवत्सरं अधिकृत्य।

"सपिण्डीकरणं तस्मिन् काले राजेन्द्र तत् शृणु।
एकोद्दिष्टविधानेन कार्य्यं तदपि पार्थिव॥"

इति विष्णुपुराणीयमेकोद्दिष्टांशे तदितिकर्त्तव्यतापरं न तु तत्कालपरम्। तथा च परिशिष्टप्रकाशधृतम्।

"श्राद्धद्वयमुपक्रम्य कुर्व्वीत सहपिण्डताम्।
तयोः पार्व्वणवत् पूर्व्वमेकोद्दिष्टमथापरम्॥"

इति॥*॥

एवञ्च शुद्धितत्त्वलिखित-रामनकोपाख्यानवत् वृद्धिं निर्द्दिश्य कृतं सपिण्डीकरणं तदानविघ्नेन वृद्ध्यभावेऽपि वृद्ध्यारम्भकालान्तरं पूर्व-

संवत्सरं वा प्राप्य पितृत्वप्रापकं इति न सपिण्डनान्तरम्। अत्र श्वः कर्त्तास्मीति निश्चित्य दाता विप्रान्निमन्त्रयेत्। इतिवन्निश्चित्येति उत्कटकोटिकसम्भावनोपलक्षणम्। भविष्यन्निमित्तस्य कर्म्मणः प्रत्यूहार्हत्वात्। एवञ्च वृद्धिश्राद्धं यदर्थं कृतं तत् कर्म्म चेत् विघ्नात्तद्दिने न क्रियते तदा दिनान्तरे तत्कर्म्मणि क्रियमाणे तदङ्गत्वात् पुनर्व्वृद्धिश्राद्धं कर्त्तव्यमेव।

“प्रधानस्याक्रिया यत्र साङ्गं तत् क्रियते पुनः।
तदङ्गस्याक्रियायान्तु नावृत्तिर्न च तत् क्रिया॥”

इति छन्दोगपरिशिष्टेन साङ्गकरणाभिधानात्॥ हेमाद्रिधृतम्।

“पूर्णे संवत्सरे श्राद्धं षोड़शं परिकीर्त्तितम्।
तेनैव च सपिण्डत्वं तेनैवाब्दिकमिष्यते॥”

अत्र पूर्णसंवत्सरक्रियमाणश्राद्धादेवोभयनिर्व्वाहः। तथापकृष्टसपिण्डनादप्युभयनिर्व्वाहान्न पूर्णसंवत्सरे आब्दिकान्तरं कार्य्यम्। एवञ्च पञ्चदशश्राद्धे कृतेऽप्युन्नेयम्॥ * ॥ उदकपात्राणि इति अर्घ्यार्थमुदकयुक्तपात्राणि। अत्र त्रीणि पितृणामेकं प्रेतस्येति पाठक्रमदर्शनात् सर्व्वत्र छन्दोगानां यजुर्व्वेदिनाञ्च गृह्यानुरोधात् सपिण्डीकरणे प्रेतकर्म्मकरणं पितृकर्म्मपूर्व्वकम्। तयोः पार्व्वणवत् पूर्व्वमेकोद्दिष्टमथापरम्। इति पूर्व्वलिखितवचने शाब्दक्रमदर्शनात्। देवकृत्यपितृकृत्ययोर्म्मध्ये प्रेतकृत्येन व्यवधानस्यायुक्तत्वाच्च। एतेन अथ सपिण्डीकरणं संवत्सरमेकं पिण्डमुद्दिश्य संवत्सरान्ते चत्वार्य्युदकपात्राणि प्रयुनक्ति तत्रैकं प्रेतस्य त्रीणि इतरेभ्यः। इत्याश्वलायनदर्शनात् सर्व्वशाखिनां सपिण्डीकरणे प्रेतादित्वं मैथिलोक्तं निरस्तम्। एतद्वचनस्य तच्छाखिमात्रपरत्वात्। किन्त्वर्घ्यदानमात्रे पाठक्रमाच्छाब्दक्रमस्य बलवत्त्वात् ब्रह्मपुराणे प्रेतार्घ्यदानानन्तरं ततः पितामहादिभ्यः इति शाब्दक्रमस्यावाधायार्घ्यपात्रेषु गन्धपुष्पदानपर्य्यन्तं पितृपूर्व्वकता उत्सर्गे तु प्रेतपूर्व्वकतेति। तथा ब्रह्मपुराणम्।

“चतुर्थ्यश्चार्घ्यपात्रेभ्य एकं वामेन पाणिना।
गृहीत्वा दक्षिणेनैव पाणिना च तिलोदकम्॥
सम्मार्ज्जयित्वा पृथिवीं ये समाना इति स्मरन्।
प्रेतविप्रस्य हस्ते तु चतुर्भागं जलं क्षिपेत्॥
ततः पितामहादिभ्यस्तन्मन्त्रैश्च पृथक् पृथक्।
ये समाना इति द्वाभ्यां तज्जलन्तु समर्पयेत्॥
अर्घ्यं तेनैव विधिना प्रेतपात्राच्च पूर्व्ववत्।
तेभ्यश्चार्घ्यं निवेद्यैव पश्चाच्च स्वयमाचमेत्॥”

एकं प्रेतपात्रं वामेन अनन्तरं दक्षिणेन गृहीत्वा इति सम्बन्धः। ये समाना इति मन्त्रद्वयं पठन् प्रेतपात्रस्थं उत्सृष्टजलं कुशरेखात्रयेण चतुर्धा विभज्य भागमेकं प्रेतब्राह्मणहस्ते क्षिपेत् दद्यात्। उत्सृष्टजलपिण्डयोर्व्विभागे मन्त्रस्य करणत्वं व्यक्तमाह शातातपः।

“निरूप्य चतुरः पिण्डान् पिण्डदः प्रतिनामतः।
ये समाना इति द्वाभ्यामाद्यन्तु विभजेत् त्रिधा।
एष एव विधिः पूर्व्वमर्घ्यपात्रचतुष्टये॥”

ततस्तदनन्तरं तन्मन्त्रैः पितामहादिभेदेन त्रिरावृत्तैर्या दिव्या इति मन्त्रैश्चकारात् पितामहाद्युत्सर्गवाक्यैरर्घ्यमुत्सृज्य ये समाना इति द्वाभ्यां मन्त्राभ्यामर्घ्यं पुष्पोदकं तज्जलं प्रेतपात्रस्थजलं तेनैव विधिना प्रत्येकेन पूर्व्ववत् चतुर्भागरूपं प्रेतपात्रात् समर्पयेत्। तेभ्यः पितामहादिभ्यस्त्रिभ्यस्तन्मिश्रितपुष्पतिलोदकरूपमर्घ्यं निवेद्य तत्तद्ब्राह्मणहस्ते प्रक्षिप्य पश्चादाचमेदित्यर्थः। तेन प्रेतब्राह्मणहस्ते उत्सृज्य दत्तस्यैवार्घ्यजलस्य तदवशिष्टजलस्य भागत्रयं पितामहाद्युत्सृष्टार्घ्यजलेषु मिश्री कर्त्तव्यमिति प्रतीयते। अतएव दत्तस्यैव प्रेतपिण्डस्य मिश्रीभाव इति श्राद्धविवेकः॥ * ॥ यच्च न चात्र दैवं भोजयेत् प्रागेव दैवे अर्घ्यं मन्नाद्यञ्च दत्त्वा गन्धमाल्यैः पात्रमर्च्चयित्वा हुतशेषं पितृभ्यः पात्रेषु दद्यात् इत्याश्वलायनवचने पितृपात्रे दैवं न मिश्रयेदिति कल्पतरुव्याख्यानुरोधेन मैथिलोक्तं सर्व्वशाखिनान्तथाचरणम्। तन्न युक्तम्। आश्वलायनेन काण्डानुशयस्योक्तत्वात् बह्वृचानामेव तथा युक्तत्वात्। न सामगयजुर्व्वेदिनोः। तयोः पदार्थानुशयस्योक्तत्वात्। अत्र सामयजुर्व्वेदिनोः श्राद्धसूत्रे समन्वये मन्त्रदर्शनात्तत्रैव मन्त्रान्वयः पितृदयितादावुक्तः। वस्तुतस्तु पौराणिकत्वात् देवताभ्य इत्यस्य पाठवत् साधारणस्मृतिकारशातातपोक्तत्वाच्च विभागेऽपि मन्त्रान्वयो युक्तः। अतएव मैथिलैरपि तथा लिखितमिति॥ * ॥ एवञ्च पार्व्वणे प्रागुक्तवचनेन शेषद्रव्येण पिण्डदानविधानात् तद्विकृतावपि सपिण्डीकरणे तन्नियमात् यद्यपि शेषाभावे पिण्डनिवृत्तिरायाति तथापि।

“यथोक्तवस्त्वसंप्राप्तौ ग्राह्यं तदनुकारि यत्।
यवानामिव गोधूमा व्रीहीणामिव शालयः॥”

इति छन्दोगपरिशिष्टवचनात् मुख्याभावे प्रतिनिधिः शास्त्रार्थ इति न्यायाच्च मध्वाद्यभावे गुड़ादिग्रहणवत् द्रव्यान्तरेणापि पिण्डदानम्। शेषद्रव्यनियमस्तु तत्सम्भवे द्रव्यान्तरत्यागाय। अन्यथा तदङ्गाभावे कर्म्मवैगुण्यं स्यात्। सहपिण्डक्रियायां इति मनूक्तेः प्रेतपिण्डस्य सह मिश्रीकरणं यत्रेति सपिण्डीकरणसमाख्यासिद्ध्यर्थं सुतरां तत्र तथाचरणम्। प्रतिपत्तिरूपकर्म्माङ्ग एव प्रतिपाद्याभावे तन्निवृत्तिः। पशुयागे लोहितं निरस्यति शकृन्निरस्यति इत्यादावुक्ता। अतएव यज्ञवास्तुरूपप्रतिपत्तियागेऽपि यज्ञो यत्र वसति इति यज्ञवास्तुसमाख्यानुरोधेनास्तृतकुशविनाशेऽपि कुशान्तरप्रतिनिधिर्भट्टनारायणैः गोभिलभाष्ये उक्तः। प्राक् स्विष्टकृत आवापः इति गोभिलसूत्रस्य व्याख्यानेऽपि आ उप्यते इत्यावापः प्रधानहोमः स तु स्विष्टकृद्धोमात् प्राक् न पश्चादित्यर्थः। एवञ्च मुख्यहोमे लुप्यते यदि चरुर्नष्टो दुष्टो वा भवति तदान्यः पाच्यः मुख्ये कृते चेन्नाशदुष्टी स्यातां तदाज्येनैव स्विष्टकृद्धोम इति शरला। एतेन शेषनाशे पिण्डनिवृत्तिरिति वाचस्पतिमिश्रोक्तं हेयम्॥ * ॥ एतेन पिण्ड इति। एतेनार्घ्यदानविधानेन। पिण्डः पिण्डमिश्रणप्रकारो व्याख्यातः। तथा च ब्रह्मपुराणम्।

“अथ तेनैव विधिना दर्भमूलेऽवनेजनम्।
पितुर्द्दत्त्वा तु पिण्डन्तु दद्यात्क्रमात्तु पूर्व्ववत्॥
दत्त्वा पिण्डान् पितृभ्यस्तु पश्चात् प्रेताय पार्श्वतः।
तन्तु पिण्डं त्रिधा कृत्वा आनुपूर्व्व्या च सन्ततम्॥
निदध्यात्त्रिषु पिण्डेषु एवं संसर्ज्जने विधिः॥”

पितृभ्यः पितृपितामहादिभ्यः पिण्डान् दत्त्वा पश्चात् प्रेताय पार्श्वतः पूर्व्वदेशे पिण्डं दद्यादित्यर्थः। तं प्रेताय दत्तपिण्डम्। आनुपूर्व्व्या पितामहादिक्रमेण। संसर्ज्जने प्रेतपिण्डमिश्रणे। भविष्यपुराणम्।

“गन्धोदकतिलैर्युक्तं कुर्य्यात् पात्रचतुष्टयम्।
अर्घ्यार्थं पितृपात्रेषु प्रेतपात्रं प्रसेचयेत्॥”
ये समाना इति द्वाभ्यामेतज्ज्ञेयं सपिण्डनम्।
नित्येन तुल्यं शेषं स्यादेकोद्दिष्टं स्त्रिया अपि॥”

नित्येनावश्यकेन तत्तत्र पार्व्वणांशे पार्व्वणेन एकोद्दिष्टांशे एकोद्दिष्टेन शेषं अङ्गजातं तुल्यम्। एकोद्दिष्टमिति एकोद्दिष्टं तद्धर्म्मग्राहित्वात् सपिण्डीकरणञ्चेत्युभयपरम्। एतत् सपिण्डीकरणमेकोद्दिष्टं स्त्रिया अपि। इति याज्ञवल्क्यवचनैकवाक्यत्वात्। तेन श्राद्धेषु मध्ये एतच्छ्राद्धद्वयं स्त्रियाः कर्त्तव्यं न त्वाभ्युदयिकश्राद्धादि। अत्र वा कर्त्तरि कृत्ये इति कर्त्तरि षष्ठीति कर्त्तृत्वनियमः। वृद्धिश्राद्धादौ स्त्रीणां भोजनदर्शनान्न भोक्तृत्वनियमः॥ * ॥ पितरि पूर्व्व मृते तद्वर्षाभ्यन्तरे पितामहे प्रपितामहे च मृते यथा कर्त्तव्यं तथाह छन्दोगपरिशिष्टे कात्यायनः।

“पितुः सपिण्डतां कृत्वा कुर्य्यान्मासानुमासिकम्।
असंस्कृतौ न संस्कार्य्यौ पूर्व्वौ पौत्रप्रपौत्रकैः।
पितरं तत्र संस्कुर्य्यादिति कात्यायनोऽब्रवीत्॥
पापिष्ठमपि शुद्धेन शुद्धं पापकृतापि वा।
पितामहेन पितरं संस्कुर्य्यादिति निश्चयः॥”

पितुः सपिण्डतां कृत्वा प्रेतीभूतयोरपि पितामहप्रपितामहयोः सतोः प्रतिमासविहितं पार्व्वणं पितृवृद्धप्रपितामहातिवृद्धप्रपितामहानां कर्त्तव्यं न तु तयोः सपिण्डीकरणापेक्षा कार्य्या॥ * ॥ ननु सपिण्डनेनासंस्कृताभ्यां पितामहप्रपितामहाभ्यां सह पितुः कथं सपिण्डनाख्यसंस्कारस्तस्मात् तदर्थं तयोः सपिण्डीकरणमपकर्षणीयं पितुरेव वा सपिण्डनमुत्कर्षणीयमित्यत आह असंस्कृताविति। उत्कर्षापकर्षौ न कार्य्यावित्यनेन वचनेनोक्तम्। कथमसंस्कृतेन सह संस्कार इत्यत्र आह पापिष्ठमपीति। पापिष्ठमकृतसपिण्डीकरणं शुद्धेन कृतसपिण्डीकरणेन पितामहेन पापकृता वा

अकृतसपिण्डीकरणेनापि शुद्धं कुर्य्यादिति शास्त्रनिश्चयः। अतो वचनबलाददोषः इति तात्पर्य्यम्। अत्र तु प्रेतीभूतपितामहेन पितुः सपिण्डने पितामहस्यैकोद्दिष्टमेव।

"असपिण्डीकृतं प्रेतमेकोद्दिष्टेन तर्पयेत्॥"

इति प्रागुक्तजाबालवचनात्। एवमन्यत्रापि बोध्यम्। वृद्धप्रपितामहस्य प्रेतत्वे तेन सह न कार्य्यमिति तात्पर्य्यम्॥*॥ अत्र मातुः सपिण्डने श्वशुरार्य्यश्वशुरयोः पिण्डौ कुर्य्यादाच्छादौ। तथा च गार्ग्यः।

"पतिनैकेन कर्त्तव्यं सपिण्डीकरणं स्त्रियाः।
सा मता हि मृतैकत्वं कुर्य्यादन्तरयन् पितॄन्॥
श्वशुरस्याग्रतो यस्माच्छिरःप्रच्छादनक्रिया।
पुत्त्रैर्भर्त्त्रा सा कार्य्या मातुरभ्युदयार्थिभिः॥"

अन्तरयन्नीत्यर्थे अन्तरयन्निति लिङ्गव्यत्ययेन पुंस्त्वमिति हलायुधः। परवचनं गोभिलश्राद्धसूत्रभाष्यकृतापि लिखितम्। अतएव प्रव्रजिते पतिते वा पितरि मृते न पितामह्यादिभिर्म्मातुः सपिण्डीकरणं किन्तु पितामह्यादिभिरेव।

"स्वेन भर्त्त्रा सहैवास्याः सपिण्डीकरणं स्त्रियाः।
एकत्वं सा गता यस्माच्चरुमन्त्राहुतिव्रतैः।
तस्मिन् सति सुताः कुर्य्युः पितामह्या सहैव तु॥"

इत्यत्र तस्मिन् सतीति आह्वानाहर्भर्त्तृपलक्षणम्। अतएव।

"तस्याश्चैव तु जीवन्त्यां तस्याः श्वश्र्वेति
निश्चयः।"

इति लघुहारीतेन श्वश्रूजीवने तस्याः श्वश्र्वेत्युक्तं न तु श्वशुरेणेति क्वचिदप्युक्तम्॥*॥ एवं पितामह्यादिभिर्म्मातुः सपिण्डीकरणेऽपि सामगेन ये चात्र त्वामनु यांश्च त्वमनु तस्मै ते स्वधा इति मन्त्रो न पाठ्यः मन्त्रलिङ्गविरोधात्। अतएव आभ्युदयिके मातृपत्रे श्रीदत्तादिभिर्म्मन्त्रान्तरं लिखितं न तु ये चात्र त्वामिति। वस्तुतस्तु आभ्युदयिके छन्दोगानां मातृपत्र एव नास्तीति वक्ष्यते। एवञ्च।

"अर्घ्यार्थं पितृपात्रेषु प्रेतपात्रं प्रसेचयेत्।
ये समाना इति द्वाभ्यां शेषं पूर्व्ववदाचरेत्॥"

एतत् सपिण्डीकरणमेकोद्दिष्टं स्त्रिया अपि। इति याज्ञवल्क्येन पार्व्वणैकोद्दिष्टविकृतीभूतपुंसपिण्डनातिदेशात् तद्विकृतीभूतस्त्रीसपिण्डनेऽपि ये समाना इति मन्त्रद्वयस्य पार्व्वणोक्तस्य ये चात्र त्वामिति मन्त्रस्य च लिङ्गार्थासमवेतत्वेऽपि प्रकृत्यर्थस्य समवेतार्थत्वात् पाठः।

"ततश्च मातामहानामप्येवं श्राद्धं कुर्य्याद्विचक्षणः।
मन्त्रोहेन यथान्यायं शेषाणां मन्त्रवर्ज्जितम्॥"

इत्यनेन यच्छेषाणां मन्त्रवर्ज्जनमित्युक्तं तत् शुन्धन्तां पितरः शुन्धन्तां पितामहाः इत्यादि प्रकृत्यूहयोग्यमन्त्रवर्ज्जनपरमिति प्रागुक्तम्। मार्कण्डेयपुराणम्।

"सर्व्वाभावे स्त्रियः कुर्य्युः स्वभर्त्तॄणाममन्त्रकम्।
तदभावे च नृपतिः कारयेत् स्वकुटुम्बवत्॥
स्त्रीणामप्येवमेवैतदेकोद्दिष्टमुदाहृतम्।
मृताहनि यथान्यायं नृणां यद्वद्दिहोदितम्॥"

स्त्रियोऽत्र असवर्णोढ़ा अपरिणीता वेति श्राद्धविवेकः। सवर्णोढ़ायाः पुत्त्रपौत्त्रप्रपौत्त्राभाव एव विधानात्। तथा शङ्खः।

"पितुः पुत्त्रेण कर्त्तव्या पिण्डदानोदकक्रिया।
तदभावे तु पत्नी स्यात्तदभावे सहोदरः॥"

स्त्रीणामिति तु सम्प्रदानपरम्। स्त्रीकर्त्तृकत्वस्य पूर्व्वार्द्धे एवोक्तत्वात्। एकमेवामन्त्रकमित्यर्थः। इति श्राद्धविवेकः॥ अत्र स्त्रिय इत्यस्यासवर्णोढ़ा अपरिणीतापरत्वव्याख्यानात् स्त्रीणां मन्त्रनिषेधोऽपि तत्सम्प्रदानकश्राद्ध एवावगम्यते। न तु स्त्रीसम्प्रदानकमात्रे। कल्पतरौ तु स्त्रीणामप्येवमिति याज्ञवल्क्येन सम्बन्धेन पितृव्यत्वादिना पुरुषाणामेकादशाहादिश्राद्धं ताडशेन सम्बन्धेनैव स्त्रीणामेतत् कर्त्तव्यमिति। एतद्व्याख्याने स्त्रीसम्प्रदानकश्राद्धे सुतरां मन्त्राः पाठ्याः। याज्ञवल्क्येनापि समन्त्रकमेकोद्दिष्टं सपिण्डीकरणञ्चोक्ता एतत् सपिण्डीकरणमेकोद्दिष्टं स्त्रिया अपीत्यनेन स्त्रिया अपि तथैवोक्तम्।

"मातुः सपिण्डीकरणं पितामह्या सहोदितम्।
यथोक्तेनैव कल्पेन पुत्त्रिकाया न चेत् सुतः॥"

इति छन्दोगपरिशिष्टेनापि यथोक्तेनैव कल्पेन इत्यनेन मन्त्रादिकसर्व्वमतिदिष्टं व्यवहारोऽपि तथेति। अमन्त्रकं स्त्रीकर्त्तृकमन्त्रपाठरहितम्। अमन्त्रा हि स्त्रियो मताः। इति बौधायनेन समाख्यतोऽभिधानात्। न तु श्राद्धकर्त्तृकमन्त्रपाठरहितम्। तथा च वराहपुराणम्।

"अयमेव विधिः प्रोक्तः शूद्राणां मन्त्रवर्ज्जितः।
अमन्त्रस्य तु शूद्रस्य विप्रो मन्त्रेण गृह्यते॥"

अत्रामन्त्रस्येति विशेषणस्य यावदमन्त्रश्राद्धार्थत्वेन परिभाषारूपत्वान्न प्रेतश्राद्धमात्रविषयः। न वा शूद्रकर्त्तृकश्राद्धमात्रविषयः। किन्तु स्त्रीकर्त्तृकश्राद्धमप्यस्य विषयः। यत्तं ब्राह्मे।

"स्त्रीभिश्चावरवर्णैश्च श्राद्धं विप्रानुशासनात्।
मन्त्रवद्विधिपूर्व्वन्तु वह्निपाकविवर्ज्जितम्॥"

विप्रानुशासनात् विप्रपाठनात्। मन्त्रवन्मन्त्रयुक्तम्। वह्निपाकविवर्ज्जितमित्यसवर्णास्त्रीकर्त्तृकश्राद्धपरम्। पतिकर्त्तृकश्राद्धेऽपि पत्न्याः पाकाधिकारदर्शनात्। तथा च छन्दोगपरिशिष्टम्।

"शाकञ्च फाल्गुनाष्टम्यां स्वयं पत्न्यथवा पचेत्।"

पत्नीत्वञ्च सवर्णोढ़ायाः। ज्येष्ठा पत्नीति वचनात्। ज्येष्ठामाह मनुः।

"यदि स्वाश्च पराश्चैव विन्देरन् योषितो द्विजाः।
तासां वर्णक्रमेणैव ज्येष्ठ्यं पूजा च वेश्म च॥"

कुबेरोपाध्यायधृतम्।

"असंस्कृतप्रमीतानां पिता न श्राद्धमाचरेत्।
यदि स्नेहेन कुर्व्वीत सपिण्डीकरणं विना॥"

असंस्कृतप्रमीतानाम् अनुपनीतमृतानाम्। लघुहारीतः।

"पुत्त्रेणैव तु कर्त्तव्यं सपिण्डीकरणं स्त्रियाः।
पुरुषस्य पुनस्तन्ये भ्रातृपुत्त्रादयोऽपि ये॥"

आदिशब्दग्राह्यानाह स एव।

"भ्राता वा भ्रातृपुत्त्रो वा सपिण्डः शिष्य एव
वा।
सहपिण्डक्रियां कृत्वा कुर्य्यादभ्युदयं ततः॥"

भ्राता वा इति वाशब्दात् भ्रात्रपेक्षया प्रधानत्वेन पूर्व्वाधिकारिणां दौहित्रान्तानां समुच्चयः। अतएव सपिण्डत्वेनैव भ्रातृतत्पुत्त्रयोरधिकारसिद्धौ पृथगुपादानं प्राधान्यज्ञापनार्थम्॥*॥

"महागुरौ प्रेतीभूते वृद्धिकर्म्म न युज्यते॥"

इति शूलपाणिलिखितवचनेन।

"प्रमीतौ पितरौ यस्य देहस्तस्याशुचिर्भवेत्।
नापि दैवं न वा पैत्रं यावत् पूर्णो न वत्सरः॥"

इति देवीपुराणवचनेन च प्रेतीभूतमातापितृकस्य पितुः प्रेतीभूतमातापितृकस्य संस्कार्य्यस्य प्रेतीभूतमातापितृकायाः अनूढ़ायाः कन्यायाश्च वैदिककर्म्मकर्त्तृत्वकर्म्मत्वानर्हत्वेन तत्परीहाराय यदहर्व्वा वृद्धिरापद्येत इत्यनेन पूर्व्वदिने सपिण्डनं कृत्वा पित्रादिः परदिने अभ्युदयं नामकरणादिकं कुर्य्यात्। ऊढ़ायास्तु पतिरेको गुरुः स्त्रीणाम्। इति वचनोक्तैकपदेन पत्युरेव महागुरुत्वाभिधानात् तत्प्रेतत्वमात्रे तस्याः कर्म्मानधिकारः। एवञ्च पितृमात्रोर्म्महागुरुत्वाभावात्तयोर्म्मरणे ऊढ़ाया न कर्म्मानधिकारः। अत्राभ्युदयसपिण्डनयोरानन्तर्य्यमात्रं क्त्वाप्रत्ययार्थः न त्वेककर्त्तृत्वमपि। अन्यथा सपिण्डनाधिकारिण्याः पत्न्याः सत्त्वे अभ्युदयाधिकारिणो भ्रातुः सपिण्डनाधिकारापत्तेः। यथा,—

"नानिष्ट्वा तु पितॄन् श्राद्धैः कर्म्म वैदिक-
मारभेत्॥"

इति शातातपवचने पितृकर्त्तृकवृद्धिश्राद्धानन्तरमेव पुत्त्रेण विवाहः क्रियते। न तु पुत्त्रेण श्राद्धान्तरं क्रियते॥*॥ अत्र पुरुषस्य पुनस्तन्ये इत्यनेन पुत्त्रवत् शिष्यान्तस्य सपिण्डने सामान्यतोऽधिकारप्रतिपादनात् अभ्युदयं विनापि पुरुषस्य सपिण्डनं प्रतीयते।

"सह पिण्डक्रियां कृत्वा कुर्य्यादभ्युदयं ततः।"

इति तु सपिण्डीकरणात् पूर्व्वमभ्युदयाभावार्थं न त्वभ्युदयसत्त्व एव सपिण्डीकरणार्थमिति॥*॥ यत्तु।

"यानि पञ्चदशाद्यानि अपुत्त्रस्येतराण्यपि।
एकस्यैव तु दातव्यमपुत्त्रायाश्च योषितः॥"

इति छन्दोगपरिशिष्टीयं सपिण्डीकरणेतरपञ्चदशश्राद्धविधायकं तच्छिष्यपर्य्यन्ताभावे पुरुषस्य बोध्यम्। इतराणि एकोद्दिष्टविधानेनैव यानि प्राप्तानि प्रत्याब्दिकश्राद्धानि तान्येव दातव्यं दातव्यानि इत्यर्थः। अपुत्त्रायाश्चेति चकारोऽनुक्तसमुच्चायकः पतिरहिताया इति समुच्चिनोति।

"अपुत्त्रायां मृतायान्तु पतिः कुर्य्यात् सपिण्ड-
नाम्।

इति पैठीनसिवचनैकवाक्यत्वात्। अत्र छन्दोग-परिशिष्टे अपुत्त्रायाः पञ्चदशश्राद्धविधानात्।
"सपिण्डीकरणं तासां पुत्त्राभावे न विद्यते।"
इति मार्कण्डेयपुराणाच्च बालकपुत्त्रसत्त्वे सपिण्डी-करणं अन्येनापि कर्त्तव्यमिति प्रतीयते। एवं पतिः कुर्य्यादित्यत्रापि पतिसत्त्वमात्रं विवक्षि-तम्। तेन ऊढ़या दुहित्रा सपिण्डनं कार्य्यम्॥*॥
अत्र।
"सर्व्वासामेकपत्नीनामेका चेत् पुत्त्रिणी भवेत्।
सर्व्वास्तास्तेन पुत्त्रेण प्राह पुत्त्रवतीर्म्मनुः॥"
इति मनुवचने सपत्नीपुत्त्रस्य पुत्त्रत्वातिदेशात् तत्सत्त्वेऽपि स्त्रीणां सपिण्डनं मैथिलैरुक्तम्। तन्न। प्रागुक्तलघुहारीतवचने पुत्त्रेणैवेत्येव-कारेणातिदिष्टपुत्त्रनिषेधात्। अतएव तदुत्त-रार्द्धे भ्रातृपुत्त्रोपादानं सङ्गच्छते। अन्यथा भ्रातृपुत्त्रसत्त्वे।
"यद्येकजाता बहवो भ्रातरश्च सहोदराः।
एकस्यापि सुते जाते सर्व्वे ते पुत्त्रिणो मताः॥"
इति वृहस्पतिवचनेन पुत्त्रत्वातिदेशात् भ्रातृ-पुत्त्रस्य पितृव्यश्राद्धाधिकारे प्राप्ते भ्रातृपुत्त्रो-पादानं व्यर्थं स्यात्। पुत्त्रातिदेशफलन्तु तत्सत्त्वे पुत्त्रान्तराकरणं पुन्नामनरकत्राणञ्च॥*॥ लघु-हारीतः।
"सपिण्डीकरणान्तानि यानि श्राद्धानि षोड़श।
पृथङ्नैव सुताः कुर्य्युः पृथग्द्रव्या अपि क्वचित्॥
प्रेतसंस्कारकर्म्माणि यानि श्राद्धानि षोड़श।
यथाकालन्तु कार्य्याणि नान्यथा मुच्यते ततः॥"
पृथग्द्रव्या अपि विभक्तधना अपि पृथक् न कुर्य्युः सुतरामपृथग्धनाः पृथक् न कुर्य्युः किन्त्व-पृथक् कुर्य्युः। अत्र विशेषयति मरीचिः।
"मृते पितरि पुत्त्रेण क्रिया कार्य्या विधानतः।
बहवः स्युर्यदा पुत्त्राः पितुरेकत्रवासिनः॥
सर्व्वेषान्तु मतं कृत्वा ज्येष्ठेनैव तु यत् कृतम्।
द्रव्येण चाविभक्तेन सर्व्वैरेव कृतं भवेत्॥"
पुत्त्रेणेत्यविशेषात् सर्व्वेषामधिकारे प्राप्ते ज्येष्ठस्य साक्षात् कर्त्तव्यतामाह बहव इति। ज्येष्ठेनापि सर्व्वेषां भ्रातॄणां मत्करणेनैव करणं भवतु इति मतं ज्ञानं कृत्वाविभक्तत्वेन द्रव्यसंसर्गेण च कृतं कर्म्म सर्व्वैरेव कृतमेव भवेत्। तदानीं द्रव्यासंसर्गे च तस्मात् द्रव्यं प्राप्तव्यमिति कृत्वा कर्त्तव्यम्। यदि तेन तन्न परिशुध्यति तदा स ऋणी भवति प्रत्यवायी च भवति। न तु तेन श्राद्धान्तरं कर्त्तव्यमिति श्राद्धविवेकोक्तं युक्तम्। पृथङ् नैव सुताः कुर्य्युरित्यनेन पृथक्करणस्य पर्य्युदस्तत्वेनानधिकारात्। यथाकालमिति अ-शौचान्तद्वितीयदिनद्वादशमासन्ततिथ्येकाह-न्यूनषण्मासद्वितयसंवत्सरेषु। न च विधानसाम-र्थ्यादेव तत्तत्कालप्राप्तेरनर्थकमिदमिति वाच्यम्। तत्तत्कालानां द्वादशाहाद्यपेक्षया प्राधान्यबोध-नार्थत्वात्॥*॥ अत्र।
"आनन्त्यात् कुलधर्म्माणां पुंसाञ्चैवायुषः क्षयात्।
अस्थितेश्च शरीरस्य द्वादशाहः प्रशस्यते॥"
इति व्यासवचनोक्तप्रशस्यत इत्यनेन कुलाचार-ज्योतिःशास्त्रादिज्ञातझटितिमरणराष्ट्रोपप्लवा-दिम्लेच्छदेशादिगमनानुसारादेव सपिण्डीकर-णापकर्षे द्वादशाहापेक्षया प्रागुक्तनवममासादि-गौणकालपरिग्रहः। अथवा यथाकालमित्या-देर्यद्दृष्ट्वा वृद्धिरापद्येत इत्यनेनावश्यकनाम-करणादिवृद्ध्यर्थमेवापकर्षो न त्वनावश्यक इष्टा-पूर्त्ताद्यर्थापकर्षः कार्य्य इति तात्पर्य्यम्। अतएव लघुहारीतेन। तथैव काम्यं यत् कर्म्म वत्सरात् प्रथमादृते इत्यनेन काम्यस्यापकर्षनिमित्तता नास्तीत्युक्तम्। यदि त्वावश्यकवृद्धिनिमित्तेनाप-कर्षः कृतस्तदा इष्टापूर्त्तादिकाम्यं वत्सराभ्य-न्तरेऽपि कर्त्तव्यमिति। श्राद्धविवेकोऽप्येवम्। यद्यपि गोभिलसूत्रादौ सपिण्डीकरणस्यैवाप-कर्षः प्रागुक्तस्तथापि सपिण्डीकरणापकर्षे तत्-पूर्व्वकर्त्तव्यश्राद्धानामपि तदादिनदन्तन्यायादप-कर्षः।
"सपिण्डीकरणान्ता तु ज्ञेया प्रेतक्रिया बुधैः।"
इति शातातपवचने प्रेतक्रियायाः सपिण्डीकर-णान्तत्वं प्रतीयते॥*॥ अत्र वृद्धिनिमित्तं विना सपिण्डनापकर्षे कृते पूर्णसंवत्सरकालं प्राप्य प्रेतत्वपरीहारमाह विष्णुधर्म्मोत्तरम्।
"कृते सपिण्डीकरणे नरः संवत्सरात् परम्।
प्रेतदेहं परित्यज्य भोगदेहं प्रपद्यते॥"
वृद्धिनिमित्तकसपिण्डीकरणापकर्षे कृते तत्-क्षणादेव प्रेतत्वपरीहारः। तदर्थं एवापकर्षात्। एवञ्चान्यनिमित्तकापकर्षे वृद्धिकालं प्राप्य प्रेतत्व-परीहारः। तत्कालस्य पूर्णसंवत्सरकालतुल्य-त्वात्।
"अर्व्वाक् संवत्सराद्वृद्धौ पूर्णे संवत्सरेऽपि वा।
ये सपिण्डीकृताः प्रेता न तेषान्तु पृथक्क्रिया॥"
इति शातातपवचनात्। इति श्राद्धतत्त्वम्॥
सपीतकः, पुं, राजकोषातकी। इति राज-निर्घण्टः॥
सपीतिः, स्त्री, (पा पाने + क्तिन्। "घुमास्था-गेति।" ६।४।६६। इति ईत्वम्। सह एकत्र पीतिः पानम्। सहस्य सः।) आत्मीयजन-सहमिलितैककालपानम्। तत्पर्य्यायः। तुल्य-पानम् २। इत्यमरः॥ सहपीतिः ३। इति शब्दरत्नावली॥ (यथा, वाजसनेयसंहिता-याम्। १८। ६।
"सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे कृषिश्च मे * * * यज्ञेन कल्पन्ताम्॥")
सपीतिका, स्त्री, हस्तिघोषा। इति राजनिर्घण्टः॥
सप्त, [न्] त्रि, (सप समवाये + कनिन्। तुट् च। इत्युज्ज्वलः। १। १५६।) संख्याविशेषः। सात इति भाषा। बहुवचनान्तोऽयम्। तद्वाचकानि यथा। पातालम् १ भुवनम् २ मुनिः ३ द्वीपः ४ सूर्य्याश्वः ५ वारः ६ समुद्रः ७ स्वरः ८ राज्या-ङ्गम् ९ व्रीहिः १० वह्निशिखा ११ पर्व्वतः १२। इति कविकल्पलता॥ सप्तसंख्याविशिष्टः। यथा,
"सप्त सप्त विलिखेत् प्ररेखिका-
स्तिर्य्यगूर्द्ध्वमथ कृत्तिकादिकम्।
लेखयेदभिजिता समन्वितं
चैकरेखगखगेन विध्यते॥"
इति ज्योतिस्तत्त्वे दीपिका॥
अपि च।
"क्रमात् स्वराणां सप्तानामारोहश्चावरोहणम्।
मूर्च्छनेत्युच्यते ग्रामत्रये ताः सप्त सप्त च॥"
इति संगीतदर्पणम्॥
सप्तकः, त्रि, (सप्तन् + कन्।) सप्तानां पूरणः। यथा,—
"घोटके सप्तके मेषतुले युग्महयौ तथा।
सिंहघटौ सदा वर्ज्यौ स्मृतिं तत्राब्रवीच्छिवः॥"
इति ज्योतिस्तत्त्वम्॥
सप्तसंख्याविशिष्टः। यथा,—
"यच जाय दरिद्रा च चकाह शास्तिरेव च।
दीधी वेवी च विज्ञेयो यचादिः सप्तको गणः॥"
इति मुग्धबोधटीकायां दुर्गादासः॥
सप्तसंख्या। सप्त एव सप्तकः स्वार्थे कप्रत्ययः॥
सप्तकी, स्त्री, (सप्तभिः स्वरैरिव कायति शब्दायते इति। कै + कः। गौरादित्वात् ङीष्।) काञ्ची। इत्यमरः॥
सप्तगोदावरं, क्ली, सप्तानां गोदावरीणां समा-हारः। इति मुग्धबोधव्याकरणम्॥ (यथा, महाभारते। ३। ८५। ४४
"सप्तगोदावरे स्नात्वा नियतो नियताशनः।
महत् पुण्यमवाप्नोति देवलोकञ्च गच्छति॥")
सप्तच्छदः, पुं, (सप्त सप्त छदा यस्य।) वृक्षविशेषः। छातिम् इति भाषा॥ (यथा, रघुः। ५। ४८।
"सप्तच्छदक्षीरकटुप्रवाह-
मसह्यमाघ्राय मदं तदीयम्।
विलङ्घिताधोरणतीव्रयत्नाः
सेनागजेन्द्रा विमुखा बभूवुः॥")
तत्पर्य्यायः। गुच्छपुष्पः २ युग्मपर्णः ३ मलिन-च्छदः ४ वृहत्त्वक् ५ बहुपर्णः ६ शाल्मलि-पत्रकः ७ मदगन्धः ८ गन्धिपर्णः ९। अस्य गुणाः। तिक्तत्वम्। उष्णत्वम्। त्रिदोषघ्नत्वम्। दीपनत्वम्। मदगन्धित्वम्। व्रणरक्तामयकृमि-नाशित्वञ्च। इति राजनिर्घण्टः॥ अन्यत् सप्त-पर्णशब्दे द्रष्टव्यम्॥
सप्तजिह्वः, पुं, (सप्त जिह्वा काल्यादयो आहुति-ग्रसनार्था यस्य।) अग्निः। इति त्रिकाण्डशेषः॥ (यथा, वृहत्संहितायाम्। ७४। १६।
"सुक्षतक्षतयाङ्गना गतासून्
अवगूह्य प्रविशन्ति सप्तजिह्वम्॥")
तस्य सप्तजिह्वानां नामानि यथा,—
"काली कराली च मनोजवा च
सुलोहिता चैव सुधूम्रवर्णा।
उग्रा प्रदीप्ता च स्फुलिङ्गिनी च
सप्तैव लोलाः कथिताश्च जिह्वाः॥"
टीकासर्व्वस्वे तु उग्राप्रदीप्तयोः स्थाने स्फुलि-ङ्गिनी विश्वनदाख्येति नामद्वयम्। इत्यमर-

टीकाधारसुन्दरी ॥ कर्म्मविशेषे तासां नामान्तराणि यथा। हिरण्या १ कनका २ रक्ता ३ कृष्णा ४ सुप्रभा ५ बहुरूपा ६ अतिरक्ता ७ एताः सात्त्विक्यो यागकर्म्मणि। काम्यकर्म्मणि तु। पद्मरागा १ सुवर्णा २ भद्रलोहिता ३ लोहिता ४ श्वेता ५ धूमिनी ६ करालिका ७ एता राजस्यः। क्रूरककर्म्मणि तु। विश्वमूर्त्तिः १ स्फुलिङ्गिनी २ धूम्रवर्णा ३ मनोजवा ४ लोहिता ५ कराला ६ काली ७ एतास्तामस्यः ॥ * ॥ एतासामधिष्ठातृदेवता यथा,—

"अमर्त्यपितृगन्धर्व्वयक्षनागपिशाचकाः।
राक्षसः सप्तजिह्वानामीरिता अधिदेवताः ॥"

एतासां वर्णादिद्वयमौ यथा। शारदातिलकटीकायाम् ।

"हिरण्या तप्तहेमाभा शूलपाणेर्द्दिशि स्थिता।
वैदूर्य्यवर्णा कनका प्राच्यां दिशि समाश्रिता ॥
तरुणादित्यसङ्काशा रक्ता जिह्वाग्निसंस्थिता।
कृष्णा नीलाभ्रसङ्काशा नैरृत्यां दिशि संस्थिता॥
सुप्रभा पद्मरागाभा वारुण्यां दिशि संस्थिता।
अतिरक्ता जवाभासा वायव्यां दिशि संस्थिता।
बहुरूपा यथा ख्याता दक्षिणोत्तरसंस्थिता ॥"

इति तन्त्रसारः ॥

सप्तज्वालः, पुं, (सप्त ज्वाला यस्य।) अग्निः। इति हेमचन्द्रः ॥

सप्ततन्तुः, पुं, (सप्तभिर्भूरादिभिर्म्महाव्याहृतिभिरग्निजिह्वाभिर्वा तन्यते इति। तन विस्तारे+ "सितनिगमीति।"उणा० १। ७०। इति तुन्। सप्त तन्तवः संस्था यस्येति वा।) यज्ञः। इत्यमरः ॥ (यथा, माघे। १४। ६।

"सप्ततन्तुमधिगन्तुमिच्छतः
कुर्व्वनुग्रहमनुज्ञया मम।
मूलतामुपगते खलु त्वयि
प्रापि धर्म्ममयवृक्षता मया ॥")

सप्ततिः, स्त्री, (सप्त दशतः परिमाणमस्य। "पंक्तिविंशतित्रिंशदिति।"५। १। ५९। इति निपातनात् साधुः।) सङ्ख्याविशेषः। सत्तोर इति भाषा। यथा,—

"नवतिर्योजनानाञ्च सहस्राणाञ्च सप्ततिः।
यावद्घटिकमात्रेण तावच्चलति भास्करः ॥"

इत्यादित्यहृदयम् ॥

सप्ततितमः, त्रि, (सप्तति+"तस्य पूरणे डट्।" ५।२।४८। इति डट्। "षष्ट्यादेश्चासंख्यादेः।" ५। २। ५८। इति डटस्तमडागमः।) सप्ततेः पूरणः। सप्ततिशब्दात् पूरणार्थे मयट्प्रत्ययनिष्पन्नः। इति मुग्धबोधव्याकरणम् ॥

सप्तदश, [न्] त्रि, (सप्ताधिका दश।) सङ्ख्याविशेषः। सतरो इति भाषा। तत्संख्याविशिष्टः। यथा। एष वै सप्तदश प्रजापतिर्यज्ञे यज्ञे अन्वायत्तः। इति मलमासतत्त्वम् ॥ बहुवचनान्तोऽयम् ॥

सप्तदशः, त्रि, (सप्तदशन्+"तस्य पूरणे डट्।" ५।२।४८। इति डट्।) सप्तदशानां पूरणः। यथा,

"ततः सप्तदशे जातः सत्यवत्यां पराशरात्।
चक्रे वेदतरोः शाखा दृष्ट्वा पुंसोऽल्पमेधसः ॥"

इति श्रीभागवते १ स्कन्धे ३ अध्यायः ॥

सप्तदीधितिः, पुं, (सप्त दीधितयो यस्य।) अग्निः। इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सप्तद्वीपपतिः, पुं, (सप्तानां द्वीपानां पतिः।) सप्तद्वीपानामधिपतिः। यथा,—

"न मृत्युमाप्तादेशात्तः सभार्य्यऋद्धिसंयुतः।
सप्तद्वीपपतिर्ज्जातः सूर्य्यायुतसमप्रभः ॥"

इति तिथ्यादितत्त्वधृतमत्स्यपुराणम् ॥

सप्तद्वीपा, स्त्री,(सप्त द्वीपा यस्याम्।) पृथिवी। यथा,

"मनोः स्वायम्भुवस्यासन् दश पुत्रास्तु तत्समाः।
यैरियं पृथिवी सर्व्वा सप्तद्वीपा सपत्तना।
ससमुद्रा करवती प्रतिवर्षं निवेशिता ॥"

इति मार्कण्डेयपुराणम् ॥

तेषां नामादि द्वीपशब्दे द्रष्टव्यम् ॥

सप्तधा, व्य, (सप्तन्+धाच्।) सप्तप्रकारम्। यथा,

"सप्तवारानुपोष्यैव सप्तधा संयतेन्द्रियः।
सप्तजन्मकृतात् पापात् मुच्यते नात्र संशयः ॥"

इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥

सप्तधातवः, पुं, (सप्तगुणिता धातवः।) शरीरस्थसप्तसंख्यकधातवः। तद्यथा,—

"रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जानः शुक्रसंयुताः।
शरीरस्थैर्यदा सम्यक् विज्ञेयाः सप्तधातवः ॥"

इति राजनिर्घण्टः ॥

सप्तनाड़ीचक्रं, क्ली, (सप्तनाड़ीनां चक्रम्।) वृष्टिज्ञानार्थं ग्रहनक्षत्राङ्कितसप्तनाड़िकसर्पाकारचक्रम्। यथा। अथ सप्तनाड़ीचक्रम्।

"अथातः संप्रवक्ष्यामि यच्चक्रं सप्तनाड़िकम्।
येन विज्ञानमात्रेण वृष्टिं जानन्ति साधकाः ॥
कृत्तिकादीनि ऋक्षाणि साभिजिद्दि क्रमेण च।
सप्तनाड़ीव्यधस्तत्र कर्त्तव्यः पन्नगाकृतिः ॥
ताराचतुष्कवेधेन नाड़िकैका प्रजायते।
तासां नामान्यहं वक्ष्ये तथा चैव फलानि च ॥
कृत्तिका च ३ विशाखा च १६ मैत्राख्या १७ भरणी २ तथा।
जहीदा शनिनाड़ी स्याच्चण्डनाड्यभिधा मता ॥
रोहिणी ४ स्वाती १५ ज्येष्ठा-१८श्वि१ द्वितीया नाड़िका मता।
आदित्यप्रभवा नाड़ी वायुनाड़ी तथैव च ॥
सौम्यम् ५ चित्रा १४ तथा मूलम् १९ पौष्णचैव २७ चतुर्थकम्।
तृतीयाङ्गारका नाड़ी दहनाख्या च सम्मता ॥
रौद्रम् ६ हस्तम् १३ तथा पूर्व्वाषाढ़ा २० भाद्रपदोत्तरा २६।
चतुर्थी जीवना नाड़ी सौम्यनाड़ी प्रकीर्त्तिता ॥
पुनर्व्वसु- ७ त्तरफल्गुन्यु- १२ त्तराषाढ़- २१ तारकाः।
पूर्व्वभाद्रा च २५ शुक्राख्या पञ्चमी नीरनाड़िका ॥
पुष्यर्क्षम् ८ फल्गुनी पूर्व्वा ११ अभिजित् ० शततारकाः २४।
षष्ठी नाड़ी च विज्ञेया बुधाख्या जलनाड़िका ॥
अश्लेषर्क्षम् ९ मघा १० विष्णु- २२ र्धनिष्ठाभं २३ तथैव च।
अमृताख्या हि सा चान्द्री सप्तमी चन्द्रनाड़िका॥
मध्यनाड़ीस्थिता सौम्या नाड़ी तस्याग्रपृष्ठतः।
सौम्ययाम्यगतं ज्ञेयं नाड़िकानां त्रिकं त्रिकम् ॥
क्रूरा याम्यगता ज्ञेया सौम्या सौम्यदिशि स्थिता।
मध्यनाड़ी च मध्यस्था ग्रहरूपफलप्रदाः ॥
एकनाड़ीगता द्वाद्या ग्रहाः क्रूराः शुभा यदि।
ततो नाड़ीफलं वाच्यं शुभं वा यदि वाशुभम्।
ग्रहाः कुर्य्युर्म्महावातं गताश्चण्डाख्यनाड़िकाम्।
वायुनाड़ीगता वायुं दहनाख्याभिदाहकाः ॥
सौम्यनाड़ीगता मध्या नीरस्था मेघवाहकाः।
जलायां वृष्टिदश्चन्द्रचन्द्रनाड़ीगतास्तथा ॥
एकोऽपि तत् फलं दत्ते स्वनाड़ीसंस्थितो ग्रहः।
भूसुतः सर्व्वनाड़ीषु दत्ते नाड़ीसमं फलम् ॥
प्रावृट्काले तु संप्राप्ते रौद्रऋक्षगते रवौ।
नाड़ीवेधसमायोगे जलयोगं वदाम्यहम् ॥
यत्र नाड़ीस्थितश्चन्द्रस्तत्र स्युः खेचरा यदि।
क्रूराः सौम्या विमिश्राश्च तद्दिने वृष्टिरुत्तमा ॥
एकऋक्षसमायोगो जायते यदि खेचरैः।
तत्काले च महावृष्टिर्यावदस्तांशके शशी ॥
केवलैः सौम्यैः पापैर्व्वा ग्रहैर्व्विद्धो यदा शशी।
तदा तु तुच्छपानीयं दुर्हिनञ्च भवेद्ध्रुवम् ॥
यस्य ग्रहस्य नाड़ीस्थश्चन्द्रमास्तद्ग्रहेण च।
दृष्टो युक्तः करोत्यम्भो यदि योगो न जायते ॥
स्त्रियौ सितासितौ चैव सौरिसौम्यौ नपुंसकौ।
पुरुषाः पुरुषैर्व्वायुः क्लीवौ तु बुधकारणौ ॥
स्त्रीपुरुषसमायोगे वृष्टिस्तु प्रबला भवेत् ॥
पीयूषनाड़ीगश्चन्द्रस्तत्र खेटाः शुभाशुभाः ॥
द्विचतुःपञ्च पानीयं दिनान्येकत्रिसप्तकम्।
एवं जलाख्यनाड़ीस्थे चन्द्रमिश्रग्रहान्विते ॥
दिनार्द्धं दिवसं पञ्च दिनानि जायते जलम्।
नीरनाड़ीस्थिते चन्द्रे जलस्थैः पूर्व्ववद्ग्रहैः ॥
यामं दिनार्द्धकं त्रीणि दिनानि जायते जलम्।
अमृतादि त्रिनाड़ीषु यदि स्युः सर्व्वखेचराः ॥
तत्र वृष्टिः क्रमाज्ज्ञेया ध्यर्कैरसवासरान्।
सौम्यनाड़ीगताः सर्व्वे वृष्टिदास्ते दिनत्रयम् ॥
शेषा नाड्यो महाराज दुष्टवृष्टिप्रदा ग्रहाः।
निर्म्मला जलदा नाड़ी भवेद्योगो शुभाधिकः ॥
क्रूराधिकसमायोगे जलदाश्चापि निर्म्मलाः।
याम्यनाड़ीगताः क्रूरा अनावृष्टिप्रसूचकाः ॥
शुभयुक्ता जलाशस्याश्चातिवृष्टिः शुभा ग्रहाः।
एकनाड़ीसमायुक्तौ चन्द्रमोधरणीसुतौ ॥
यदि तत्र भवेज्जीवस्तदा वारिमयी मही।
बुधशुक्रौ यदैकत्र गुरुणा च समन्वितौ ॥
चन्द्रयोगे तदा काले जायते वृष्टिरुत्तमा।
जलयोगगतौ स्यातां यदा चन्द्रसितौ ग्रहौ ॥
क्रूरदृष्टौ युतौ वापि तदा मेघोऽल्पवृष्टिदः।
उदयास्तगते मार्गे वक्रयुक्ते च संक्रमौ ॥
जलनाड़ीगतास्ते तु महावृष्टिप्रदा ग्रहाः ॥"

इति स्वरोदये सप्तनाड़ीचक्रम् ॥

तच्चक्ररूपं यथा।

सप्तनामा, स्त्री, (सप्त नामानि यस्याः। "डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम्।" ४।१।१३। इति डाप्।) आदित्यभक्ता। इति राजनिर्घण्टः॥

सप्तपत्रः, पुं, (सप्त सप्त पत्राणि यस्य।) मुद्गरवृक्षः। इति राजनिर्घण्टः॥

सप्तपदी, स्त्री, सप्तानां पदानां समाहारः। ("द्विगोः।" ४।१।२१। इति ङीप्।) इति व्याकरणम्॥ विवाहाङ्गसप्तपदीगमनं यथा। ततो जामाता प्रागुदीचीं गत्वा वधूं सप्तभिर्मन्त्रैः सप्तमण्डलिकासु सप्तपदानि नयेत्। वधूश्च दक्षिणपादं नीत्वा पश्चाद्वामपादं मण्डलिकां नयेत् जामाता च वधूं ब्रूयात्। वामेन पादेन दक्षिणं पादमाक्रामयेति। सप्तानां मन्त्राणामृष्यादयः साधारणाः। प्रजापतिरृषिरेकपाद्विराट् छन्दो विष्णुर्देवता पादाक्रमणे विनियोगः। ॐ एकमिषे विष्णुस्त्वा नयतु। द्वे ऊर्ज्जे विष्णुस्त्वा नयतु। त्रीणि व्रताय विष्णुस्त्वा नयतु। चत्वारि मायोभवाय विष्णुस्त्वा नयतु। पञ्च पशुभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु। षड्रायस्पोषाय विष्णुस्त्वा नयतु। सप्तसप्तभ्यो होत्राभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु॥ ततः सप्तमं पदं गतां वधूं पतिराभाषते। प्रजापतिरृषिर्ब्राह्मकीपंक्तिश्छन्दः कन्या देवता पादाक्रमणानन्तरमाभाषणे विनियोगः। सखा सप्तपदी भव सख्यन्ते गमेयं सख्यन्ते मा योषाः सख्यन्ते मायोष्ठाः। इति सप्तपदीगमनम्। इति भवदेवभट्टः॥

सप्तपर्णी, स्त्री, (सप्तानां द्राक्षादीनां पर्णमिव यत्र।) मिष्टान्नविशेषः। यथा,—

"द्राक्षादाडिमखर्ज्जूरर्व्वर्जिताक्तं सशर्करम्।
लाजचूर्णं समध्वाज्यं सप्तपर्णमुदाहृतम्॥"

इति शब्दचन्द्रिका॥

सप्तपर्णः, पुं, (सप्त सप्त पर्णानि यस्य।) वृक्षविशेषः। छातिम् इति भाषा॥ (यथा, रघुः। ४।२३।

"प्रसवैः सप्तपर्णानां मदगन्धिभिराहताः।
असूययेव तन्नागाः सप्तधैव प्रसुस्रुवुः॥")

तत्पर्य्यायः। विशालत्वक् २ शारदी ३ विषमच्छदः ४। इत्यमरः॥ शारदः ५ देववृक्षः ६ दानगन्धिः ७ शिरोरुजा ८ गन्धनाशः ९ सुतिपर्णः १० ग्रहाशी ११ गन्धनाशनः १२। इति शब्दरत्नावली॥ गुत्सपुष्पः १३ शुक्तिपर्णः १४ सुपर्णकः १५। इति जटाधरः॥ बहुत्वक् १६। इति रत्नमाला॥ अस्य गुणाः।

"सप्तपर्णो व्रणश्लेष्मवातकुष्ठास्रजन्तुजित्।
दीपनः श्वासगुल्मघ्नः स्निग्धोष्णस्तुवरः स्मृतः॥"

अन्यत् सप्तच्छदशब्दे द्रष्टव्यम्॥

सप्तपर्णी, स्त्री, (सप्त सप्त पर्णान्यस्याः। ङीष्।) लज्जालुलता। इति रत्नमालाराजनिर्घण्टौ॥

सप्तपातालं, क्ली, (सप्तानां पातालानां समाहारः।) सप्तसंख्यकाधोभुवनम्। यथा,—

"आदित्यरश्मितो देवो वज्ररूपी जनार्द्दनः।
निःसृत्य प्रथमं यातः पातालतलमन्ततः॥
सप्तपातालसंस्थांस्तु नागगन्धर्व्वराक्षसान्।
देवान् दैत्यांश्च शेषांश्च जघान वरशूलधृक्॥"

इति कालिकापुराणे २४ अध्यायः॥

तन्नामानि यथाह भरतः।

"अतलं वितलञ्चैव नितलञ्च गभस्तिमत्।
महाख्यं सुतलञ्चाग्र्यं पातालं सप्तमं विदुः॥"

सप्तपुत्रसूः, स्त्री (सप्त पुत्रान् सूते इति। सू + क्विप्।) सप्तपुत्रप्रसूता। तत्पर्य्यायः। सुतवस्करा २। इति त्रिकाण्डशेषः॥

सप्तभद्रः, पुं, (सप्तसु स्थानेषु भद्रमस्य।) शिरीषवृक्षः। इति शब्दचन्द्रिका॥

सप्तमः, त्रि, (सप्तन् + "तस्य पूरणे डट्।" ५।२।४८। इति डट्। "नान्तादसंख्यादेर्मट्।" ५।२।४९। इति डटो मडागमः।) सप्तानां पूरणः। सातइ इत्यादि भाषा। यथा,—

"शेषभाजश्चतुर्थाद्याः पित्राद्याः पिण्डभागिनः।
पिण्डदः सप्तमस्तेषां सापिण्ड्यं साप्तपौरुषम्॥"

इति शुद्धितत्त्वम्॥

सप्तमी, स्त्री, (सप्तम + टित्वात् ङीप्।) तिथिविशेषः। चन्द्रस्य सप्तमकलाक्रिया। तत्र शुक्लपक्षे अन्तपूर्णत्वच्छिन्नसप्तमकलाक्रिया। कृष्णपक्षे तु अन्तन्ह्रासानुकूलसप्तमकलाक्रियेति विशेषः। पञ्जिकायां तस्या अङ्कः शुक्लपक्षे ७ कृष्णपक्षे २२॥ * ॥ तत्र जातफलम्।

"कन्याप्रजो वैरिकुलेभसिंहो
विशालनेत्रः प्रथितप्रभावः।
देवद्विजार्च्चारसिको महात्मा
स्यात् सप्तमीजः पितृवित्तहर्त्ता॥"

इति कोष्ठीप्रदीपः॥ * ॥

अथ सप्तमी। सा च षष्ठीयुता ग्राह्या युग्मात्। पैठीनसिवचनाच्च। यथा,—

"पञ्चमी सप्तमी चैव दशमी च त्रयोदशी।
प्रतिपन्नवमी चैव कर्त्तव्या सांमुखी तिथिः॥"

सांमुख्यमुक्तं स्कान्दे।

"सांमुख्यं नाम सायाह्नव्यापिनी दृश्यते यदा।"

अतएव परदिने त्रिसन्ध्यकालाव्यापित्वे षष्ठीयुक्तसप्तम्यामुपवासमाह भविष्यपुराणम्।

"षष्ठीसमेता कर्त्तव्या सप्तमी नाष्टमीयुता।
पतङ्गोपासनायेह षष्ठ्यामाहुरुपोषणम्॥"

यथा उपोषणे तथा कर्म्मान्तरे। तथा।

"षष्ठ्या युता सप्तमी च कर्त्तव्या सर्व्वदा तिथिः।
षष्ठी च सप्तमी यत्र तत्र सन्निहितो हरिः॥"

इति स्कन्दपुराणात्॥ तथा।

"शुक्लपक्षस्य सप्तम्यां सूर्य्यवारो यदा भवेत्।
सप्तमी विजया नाम तत्र दत्तं महाफलम्॥"

भविष्ये।

"शालितण्डुलप्रस्थस्य कुर्य्यादन्नं सुसंस्कृतम्।
सूर्य्याय चरुकं दत्त्वा सप्तम्याञ्च विशेषतः॥
यावन्तस्तण्डुलास्तस्मिन् वेद्यां परिसंख्यया।
तावद्वर्षसहस्राणि सूर्य्यलोके महीयते॥"

गोपथब्राह्मणम्।

"द्वात्रिंशत्पलिकं प्रस्थमुक्तं स्वयमथर्व्वणा॥"

ज्योतिषे।

"पलन्तु लौकिकैर्म्मानैः साष्टरक्तिद्विमाषकम्।
तोलकत्रितयं ज्ञेयं ज्योतिर्ज्ञैः स्मृतिसम्मतम्॥"

तेन चतूरक्तिकाधिकमाषपञ्चकाधिकषड्धिकशततोलकमिताः प्रस्थतण्डुलाः। इति। एवञ्चैतन्न्यूनाधिकयोः फलतारतम्यं बोध्यम्। एवं देवतान्तरेऽपि तत्तल्लोकमहितत्वफलेन कल्पयितुं युक्तम्। अतएव शिवेऽप्येवं वक्ष्यते॥ * ॥ वराहपुराणे।

"अथापरं महाराज व्रतमारोग्यसंज्ञितम्।
कथयामि परं पुण्यं सर्व्वपापप्रणाशनम्॥
तस्यैव माघमासस्य सप्तम्यां समुपोषितः।
पूजयेद्भास्करं देवं विष्णुरूपं सनातनम्॥
आदित्य भास्कर रवे भानो सूर्य्य दिवाकर।
प्रभाकरेति संपूज्यो देवः सर्व्वेश्वरो रविः॥
षष्ठ्यामेककृताहारः सप्तम्यां समुपोषितः।
अष्टम्याञ्चैव भुञ्जीत एष एव विधिः स्मृतः॥
अनेन वत्सरं पूर्णं विधिना योऽर्च्चयेद्रविम्।

तस्यारोग्यं धनं धान्यमिह जन्मनि जायते ॥
परत्र च शुभं स्थानं यद्गत्वा न निवर्त्तते ।"
सप्तम्यां समुपोषित इति आदिकर्म्मणि क्तः ।
तेन सप्तम्यां समुपवस्तुमारब्धवानित्यर्थः । ततश्च
प्रातः सप्तम्यामेवोपवाससङ्कल्पः । रविश्च विष्णु-
रूपतया पूजाकाले ध्येयः । अभिलापे तु
तत्तिथाविति उक्ता आरभ्येति ऐहिकारोग्यधन-
धान्यपारलौकिकशुभस्थानलाभकामः संवत्सरं
यावदारोग्यव्रतमिति विशेषः । ततः प्रभृति
सप्तम्यासुपवासं कुर्व्वन् ।
"आदित्य भास्कर रवे भानो सूर्य्य दिवाकर ।
प्रभाकर नमस्तुभ्यं अस्माद्रोगाद्विमोचय ॥"
इति मन्त्रेण पूजयेत् । अत्र षष्ठ्यादिषु तत्तत्-
कर्म्मविधानात् षष्ठीयमेतेत्यस्य न विषयः ।
कालिकापुराणे भक्तं प्रति सूर्य्यवाक्यम् ।
"अदृष्ट्वा मां न भुञ्जीत विष्णूनं नैव दर्शयेत् ॥"
तथा ।
"मदर्च्चाधृतनिर्म्माल्यं शरीरे न तु धारयेत् ।"
अर्च्चा प्रतिमा ॥ * ॥ अथ विधानसप्तमी ।
कृत्यचिन्तामणौ ।
"अर्क्काग्रं शुचि गोमयं सुमरिचं तोयं फलञ्चाम्बुते
मूलं नक्तमुपोषणञ्च विधिवत् ह्येकभक्तं नरः ।
क्षीरं वायुशनं घृताशनमिति प्रोक्तान्यनूनि
क्रमात्
कृत्वा द्वादश सप्तमीर्दिनकृतः प्राप्नोत्यभीष्टं
फलम् ॥"
अत्र पार्थ्यादीतरभोजननिष्पत्तिरवसीयते ।
तपस्त्वात् । तथा च मत्स्यपुराणम् ।
"तपोभिः प्राप्यतेऽभीष्टं नासाध्यं हि तपस्यतः ।
दुर्भगत्वं वृथा लोको वहते सति साधने ॥"
तपसः क्लेशस्वभावत्वं तत्रैवोक्तम् ।
"उमेऽतिचपला शुचि व चर्म्मं तावकं वपुः ।
सोढुं क्लेशस्वभावस्य तपसः सौम्यदर्शने ॥"
व्यक्तमुक्तं यथा,—
"अर्कपत्राङ्कुरमात्रमञ्जरीचर्व्वितकम् ।
कपिलाविड्यवमात्रं मञ्जुलं मरिचं जलम् ॥
कदलीफलमध्यन्तु कणामात्रमपक्वकम् ।
कुशमूलं यवमात्रं सच्छायादिगुणे पयो ॥
भक्ष्यं मितोदनं नक्तं शुद्धोपवसनं तथा ।
एकभक्तं मयूराण्डप्रमाणं भोजनं मतम् ॥
अर्द्धप्रसृतिमात्रन्तु कपिलादुग्धभक्षणम् ।
स्नात्वा सम्पूज्य मार्त्तण्डं प्राङ्मुखो वायुमा-
श्नुयेत् ॥
घृतं स्वल्पं पौषमासे माघाद्यब्दं समाचरेत् ।
ब्राह्मणान् भोजयेद्भक्त्या गुडक्षीरनिरामिषैः ॥
विप्राय दक्षिणा देया विभवस्यानुरूपतः ।
अष्टम्यां पारणं कुर्य्यात् कट्वम्लरहितेन च ॥
मुद्गमाषतिलादीनि घृतञ्चैव विवर्ज्जयेत् ।
एकसिद्धं भक्ष्यमुक्तमर्कतन्त्रानुसारतः ॥" *॥
एतद्व्रतस्य माघादिमासविशेषविहितकर्म्मत्वेन
मलमासेतरकर्त्तव्यत्वं आह वशिष्ठलिङ्गपुरा-
णम् ।

"प्रारब्धे तु व्रते पश्चात् सम्प्राप्ते त्वधिमासके ।
पूर्व्वमानेन तं त्यक्त्वा कार्य्यं द्वादशमासिकम् ॥"
पूर्व्वमानेन मलिम्लुचशून्याब्दमानेन । तं मल-
मासम् । द्वादशमासिकं द्वादशमासेष्वेव कार्य्यं
न मलमास इत्यर्थः । यत्तु ।
"मासे मलिम्लुचेऽप्येवं यजेद्देवीं सशङ्कराम् ।
किन्तु नोद्यापनं कार्य्यमित्याह भगवान्
शिवः ॥"
इति विष्णुरहस्यवचनम् ॥
तन्मासविशेषानङ्कितमासमात्रकर्त्तव्यामावास्या-
दिव्रतकर्त्तव्यतापरम् । उद्यापनं प्रतिष्ठा ।
एवमारम्भोऽपि निषिद्धः । गार्ग्यः ।
"अस्तं गते गुरौ शुक्रे बाले वृद्धे मलिम्लुचे ।
उपायनमुपारम्भं व्रतानां नैव कारयेत् ॥"
उपायनं प्रतिष्ठा । उपारम्भमारम्भम् । एतच्च
कालाशुद्धिमात्रपरं तत्तन्मात्रविधिकल्पने गौर-
वात् ॥ * ॥ भविष्ये ।
"माघे मासि सिते पक्षे सप्तम्यां नियमेन या ।
स्नात्वा शिवं लेखयित्वा मण्डले च सहाम्बिकम् ।
पूजयेच्च तदा तस्या दुष्पापं नैव विद्यते ॥"
इदं कुक्कुटीव्रतत्वेन ख्यातम् ॥ * ॥ भविष्ये ।
"सूर्य्यग्रहणतुल्या हि शुक्ला माघस्य सप्तमी ।
अरुणोदयवेलायां तस्यां स्नानं महाफलम् ॥
माघे मासि सिते पक्षे सप्तमी कोटिभास्करा ।
दद्यात् स्नानार्घ्यदानाभ्यामायुरारोग्यसम्पदः ॥
अरुणोदयवेलायां शुक्ला माघस्य सप्तमी ।
गङ्गायां यदि लभ्येत सूर्य्यग्रहशतैः समा ॥"
कोटिभास्करा कोटिसप्तमीतुल्या । सूर्य्यग्रहण-
फलं स्नानजं सन्निहिते बुद्धिरन्तरङ्गेति न्यायात् ।
तेन बहुशतसूर्य्यग्रहणकालीनगङ्गास्नानजन्य-
फलसमफलप्राप्तिः फलमत्र ज्ञेयम् । अत्र बहु-
शतसूर्य्यग्रहणानां प्रत्येकाधिकरणतासंसर्गान्व-
यात् कालानां स्नानानां तत्फलानामपि बहु-
शतत्वं लभ्यते अतो नाप्रसिद्धिः । पूर्णसप्तम्यां
पूर्व्वापरयोर्व्वारुणोदयकाले सप्तमी पूर्व्वदिने
तत्काले स्नानम् ।
"चतस्रो घटिका प्रातररुणोदय उच्यते ।
यतीनां स्नानकालोऽयं गङ्गाम्भःसदृशः स्मृतः ॥
त्रियामां रजनीं प्राहुस्त्यक्त्वाद्यन्तचतुष्टयम् ।
नाडीनां तदुभे सन्ध्ये दिवसाद्यन्तसंज्ञिते ॥"
इति कालमाधवीयधृतस्कन्दवैवर्त्तीयेन पूर्व्वस्य
तत्कालस्य पूर्णतिथिसम्बन्धिदिनकर्त्तव्यकर्म्माङ्ग-
त्वेन इतरस्य चेतराङ्गत्वेनाभिधानात् । अतएव
दक्षेण तत्कालमारभ्याह्निककृत्यमभिहितम् ।
अत्रारुणोदयकाले मुहूर्त्तान्यूनतिथिलाभ एव
स्नानम् ।
"व्रतोपवासस्नानादौ घटिकैका यदा भवेत् ।
उदये सा तिथिर्ग्राह्या श्राद्धादावस्तगामिनी ॥"
इति विष्णुधर्म्मोत्तरात् ।
अत्र घटिका मुहूर्त्तं श्राद्धयोग्यकालानुरोधात्
इति वक्ष्यते । ब्रह्मवैवर्त्तवचने घटिका एक-
रूपा परवचने नाडीनामाद्यन्तचतुष्टयमित्येक-

वाक्यत्वात् ॥ * ॥ ये तु सूर्य्योदयात् प्रागपि
प्रातःस्नानविधानात् तत्रैव माघसप्तम्याख्य-
गुणफलविधिर्लाघवादित्याहुस्तच्चिन्त्यम् । प्रक-
रणान्यत्वे प्रयोजनान्यत्वं इति जैमिनिसूत्रेण
प्रकरणभेदे गुणविध्यसिद्धेः । अतएव कल्पतरु-
रत्नाकरयोः ।
"य इच्छेद्विपुलान् भोगान् चन्द्रसूर्य्यग्रहोप-
मान् ।
प्रातःस्नायी भवेन्नित्यं द्वौ मासौ माघफाल्-
गुनौ ॥"
इति विष्णुस्मृतौ नित्यस्नानप्रकरणात् प्रकरणा-
न्तराम्नानात् प्रकरणान्तराधिकरणन्यायेन
काम्यस्नानान्तरमिदमित्युक्तं न तु गुणफल-
विधिः । किन्तु काम्यकरणे प्रसङ्गान्नित्यसिद्धि-
रिति । अत्र माघमासनिमित्तकमाघसप्तमी-
निमित्तककाम्यस्नानयोः प्रातर्व्विधानात् नैमि-
त्तिकत्वेन प्रायश्चित्तवत् सकृदनुष्ठानम् ।
"प्रधानस्याक्रिया यत्र साङ्गं तत् क्रियते पुनः ।
तदङ्गस्याक्रियायान्तु नावृत्तिर्न च तत्क्रिया ॥"
इति कात्यायनवचनात् ॥
"न स्नानमाचरेद्भुक्त्वा नातुरो न महानिशि ।
न वासोभिः सहाजस्रं नाविज्ञाते जलाशये ॥"
इति मनुवचनेनैकदाजस्रस्नाननिषेधाच्च ।
"धर्म्मविन्नाचरेत् स्नानमाह्निकञ्च पुनःपुनः ।"
इति मनुवचनाच्च ।
अतएव नान्दीमुखप्रकरणेऽपि प्रधानानामपि
काम्यानां वसन्तशरत्कालविहितानां तन्त्रेणैव
सिद्धिरिति श्राद्धचिन्तामणिः । निष्कामविष्णु-
प्रीतिकामयोः सुतरां सकृदनुष्ठानं गुणतार-
तम्यात् फलतारतम्यं इति न्यायेन फलं बोध्यम् ।
तत्तु इक्षुक्षीरगुडादिमाधुर्य्यभेदवन्निर्द्देष्टुमश-
क्यम् ।
"पक्षान्तरेऽपि कन्यास्थे रवौ श्राद्धं प्रशस्यते ।
कन्यागते पञ्चमे तु विशेषेणैव कारयेत् ॥"
इति हेमाद्रिधृतादित्यपुराणोक्तवत् । एतद्वच-
प्रागर्द्धं कार्त्तिकमलमासाद्यविषयम् ।
"देशकालाश्रमपात्रद्रव्यदात्मनोगुणाः ।
सुतप्रस्यापि दानस्य फलातिशयहेतवः ॥"
इति ब्रह्मपुराणोक्तवच्च ।
तीर्थभेदे त्वेकदापि नानास्नानम् ।
"विषुवद्दिवसे प्राप्ते पञ्चतीर्थी विधानतः ।"
इति ब्रह्मपुराणादिवचनात् तीर्थभेदे तन्त्रप्रस-
ङ्गयोरसम्भवाच्च । अतएव गङ्गावाक्यावली-
श्राद्धचिन्तामण्योः । यत्तु प्रयागे न्याहस्नान-
क्रोडीकृतेऽपि माघसप्तमीस्नानादावसाधारण-
सङ्कल्पेन पुनस्तथैव प्रातःस्नानाचरणं तद-
युक्तम् । तदा सकृत्स्नानस्यैव विहितत्वात्
अन्यथा त्र्याहफलकामनायां तदानन्त्यापत्ति-
रित्युक्तम् । * । स्नाने परिपाटीमाह कृत्य-
कल्पलतायां विष्णुः । सप्तबदरपत्राणि सप्तार्क-
पत्राणि च शिरसि निधाय ।
"यद्यज्जन्मकृतं पापं मया सप्तसु जन्मसु ।

तस्मै रोकश्च शोकश्च माकरी इत्यु सप्तमी ॥"
इत्युच्चार्य्य स्नायादिति शेषः। रोकं छिद्रम्। तिथितत्त्वस्य पौर्णमास्यमावास्याङ्कत्वान्माकरीति पदं मकराकारब्रह्मचान्द्रमासीयतिथिपरम्।
"तिथिकृत्ये च कृष्णादिं व्रते शुक्लादिमेव च।
विवाहादौ च सौरादिं मासं कृत्ये विनिर्द्दिशेत्॥"
इति ब्रह्मपुराणात्॥
मन्वन्तरादित्वेन तथा शुक्लत्वाच्च। यथा, मत्स्यपुराणे।
"यस्मान्मन्वन्तरादौ तु रथमापुर्द्दिवाकराः।
माघमासस्य सप्तम्यां तस्मात् सा रथसप्तमी।
अरुणोदयवेलायां तस्यां स्नानं महाफलम्॥"
अतएव नारसिंहे रथाख्यायामित्युक्तम्। यथा,
"महानवम्यां द्वादश्यां भरण्यामपि चैव हि।
तथाक्षयतृतीयायां शिष्यान्नाध्यापयेद्‌बुधः।
माघमासे तु सप्तम्यां रथाख्यायान्तु वर्ज्जयेत्॥"
द्वादश्यां शयनोत्थानद्वादश्याम्। भरण्यां शक्रध्वजपातभरण्याम्। इति कल्पतरुः। अत्र महानवम्यादिसाहचर्य्याद्‌गौणचान्द्रत्वं प्रतीयते। अतएव चतुर्द्दशमन्वन्तरादिगणने क्वापि न रथशब्दः। यथा, भविष्यमात्स्ययोः।
"अश्वयुक्शुक्लनवमी द्वादशी कार्त्तिकी तथा।
तृतीया चैत्रमासस्य तथा भाद्रपदस्य च॥
फाल्गुनस्याप्यमावास्या पौषस्यैकादशी तथा।
आषाढ़स्यापि दशमी तथा माघस्य सप्तमी॥
श्रावणस्याष्टमी कृष्णा तथाषाढ़स्य पूर्णिमा।
कार्त्तिकी फाल्गुनी चैत्री ज्यैष्ठी पञ्चदशी सिता।
मन्वन्तरादयस्त्वेता दत्तस्याक्षयकारिकाः॥"
अत्रामावास्याष्टमीव्यतिरिक्ताः शुक्लाः। पुनःपुनस्तथापदोपादानात् उपक्रमोपसंहारयोः शुक्लत्वकीर्त्तनाच्च। अत्र कामधेनौ तृतीया चैव माघस्येति। कल्पतरौ तु तृतीया चैत्रमासस्येति लिखितम्। अत्र पाठद्वैधे श्रीपतिरत्नमालायाम्। अश्वयुजि शुक्लनवमी द्वादशपूर्व्वे मधौ तृतीया चेति पाठाच्चैत्रतृतीयैव ग्राह्या। श्रीदत्तोऽप्येवम्। माघसप्तम्याश्चान्द्रत्वं सौरागमेऽपि।
"अर्कपत्रैः सबदरैर्दूर्व्वाक्षतसचन्दनैः।
अष्टाङ्गविधिना चार्घ्यं दद्यादादित्यतुष्टये॥
माघेऽथ फाल्गुने वापि भवेद्वै माघसप्तमी।
माकरीति च यत् प्रोक्तं तत् प्रायोऽर्त्तिदर्शनात्॥"
अष्टाङ्गविधिना।
"योऽष्टाङ्गमर्घ्यमापूर्य्य भानोर्मूर्द्धि निवेदयेत्।
ताम्रपात्रार्घ्यदानेन पुण्यं दशगुणं स्मृतम्॥"
इति विष्णुपुराणीयेन। आदित्यपुराणे।
"कृतदारान्निविशेषेण यत् कर्म्म विहितं नरैः।
दैवं वाप्यथवा पैत्रं तदन्यच्चापि दृश्यते॥"
अर्घमन्त्रस्तु।
"जननी सर्व्वभूतानां सप्तमी सप्तसप्तिके।
सप्तव्याहृतिके देवि नमस्ते रविमण्डले॥"
प्रणाममन्त्रस्तु।
"सप्तसप्तिवह प्रीत सप्तलोकप्रदीपन।
सप्तम्यां हि नमस्तुभ्यं नमोऽनन्ताय वेधसे॥"
सप्तिरश्वः। इति तिथ्यादितत्त्वम्॥ * ॥ सप्तमीव्रतविशेषा यथा,—
ब्रह्मोवाच।
"भगवन् भवसंसारसागरोत्तारकारकम्।
किञ्चिद्व्रतं समाचक्ष्व स्वर्गारोग्यसुखप्रदम्॥
श्रीभगवान् उवाच।
सौरधर्म्मं प्रवक्ष्यामि नाम्ना कल्याणसप्तमीम्।
विशोकसप्तमीं तद्वत् फलदां पापनाशिनीम्॥
शर्कराख्यसप्तमीं पुण्यां तथा कमलसप्तमीम्।
मन्दारसप्तमीं पुण्यां तथैव शुभसप्तमीम्॥
सर्व्वाः सर्व्वफलाः प्रोक्ताः सर्व्वदेवर्षिपूजिताः।
विधानमासां वक्ष्यामि यथावदनुपूर्व्वशः॥
यदा तु शुक्लसप्तम्यामादित्यस्य दिनं भवेत्।
सा तु कल्याणिनी नाम विजया तु निगद्यते॥"
आसां इतिकर्त्तव्यताकालौ च मत्स्यपुराणे ६८ अध्यायावधि ७५ अध्यायपर्य्यन्तं द्रष्टव्यौ॥ * ॥
सा सूर्य्यमूर्त्तिप्रकाशिका तिथिः। यथा,—
"एवमुक्तस्तदा देवैः सौम्यां मूर्त्तिमथाकरोत्।
प्रकाशत्वं जगामाशु देवतानां महाप्रभः॥
एतत् सर्व्वं सुराणान्तु दहनं शमितं पुरा।
सप्तम्यां खलु सूर्य्यस्य मूर्त्तिञ्च कृतवान् भुवि॥"
इति वाराहे सूर्य्योत्पत्तिनामाध्यायः॥

सप्तरक्तं, क्ली, (सप्तानां रक्तानां तद्वर्णानां समाहारः।) शरीरस्य रक्तवर्णसप्तावयवाः। ते च हस्तपादतलनेत्रान्तरतालुकाधरजिह्वानखाः। यथा, सामुद्रके।
"पाणिपादतलौ रक्तौ नेत्रान्तरनखानि च।
तालुकाधरजिह्वाश्च सप्तरक्तं प्रशस्यते॥"

सप्तर्षयः, पुं भूम्नि, (सप्त ऋषयः।) सप्तसंख्यकर्षयः। तेषां नामानि यथा। मरीचिः १ अत्रिः २ अङ्गिराः ३ पुलस्त्यः ४ पुलहः ५ क्रतुः ६ वशिष्ठः ७। इत्यमरः॥ अपि च।
"सप्तर्षिमण्डलं तस्माद्दृश्यते सर्व्वतोपरि।
तत्र सप्तर्षयः सन्ति विनियुक्ताः प्रजासृजा॥
मरीचिरत्रिः पुलहः पुलस्त्यः क्रतुरङ्गिराः।
वशिष्ठश्च महाभाग ब्राह्मणो मानसाः सुताः॥
सप्तब्रह्मण इत्येते उच्यन्ते ब्रह्मवादिभिः।
संभूतिरनसूया च क्षमा प्रीतिश्च सन्नतिः॥
अरुन्धतिस्तथा लज्जा तत्पत्न्यो लोकमातरः।
एतासां तपसा चैतद्धार्य्यते भुवनत्रयम्॥
सन्ध्यात्रयमुपासीना गायत्रीजपतत्पराः।
तस्मिन् लोके वसन्त्येते ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः॥"
इति पाद्मे स्वर्गखण्डे ११ अध्यायः॥
(प्रतिमन्वन्तरे सप्तर्षयो भिन्ना एवासन्। तद्‌वृत्तान्तस्तु ऋषिशब्दे द्रष्टव्यः॥)

सप्तला, स्त्री, (सप्त लातीति। ला + कः।) नवमालिका। इत्यमरः॥ चर्म्मकषा। गुञ्जा। पाटला। इति मेदिनी॥

सप्तसती, स्त्री, सप्तानां शतानां समाहारः। इति व्याकरणम्॥ ("द्विगोः।" ४।१।२१। इति ङीप्।) सप्तशतिका। सप्तशतश्लोकात्मकदेवीमाहात्म्यम्। चण्डीति ख्यातम्। यथा,—
"अर्गलं कीलकञ्चादौ पठित्वा कवचं ततः।
जपेत् सप्तशतीं चण्डीं क्रम एष शिवोदितः॥"
इत्यर्गलस्तोत्रम्॥
तथा च नागोजीभट्टः।
"तत्रादौ चरिताध्याये श्लोका अशीतिरुत्तमाः।
अथ मध्ये चरित्रे तु पञ्चाष्टैकसुसंख्यकाः॥
यथोऽध्यायाश्चतुःसप्तचतुर्व्वेदखवेदकाः।
अथोत्तरचरित्रे तु षट्षड्मिश्लोकभाक्।
अग्नीसोमाध्यायवती गीता सप्तशती स्मृता॥"

सप्तशलाकः, पुं, (सप्त शलाकाः तद्वत्‌रेखा यत्र।) विवाहस्य शुभाशुभदिनज्ञानार्थं तिर्य्यगूर्द्ध्वसप्तरेखाविशिष्टचक्रविशेषः। यथा,—
"कृत्तिकादिचतुःसप्तरेखाराशौ परिभ्रमन्।
ग्रहश्चैदेकरेखास्थो वेधः सप्तशलाकजः॥
सप्त सप्त विलिखेत् प्ररेखिकास्तिर्य्यगूर्द्ध्वमथ कृत्तिकादिकम्।
लेखयेदभिजिता समन्वितं चैकरेखगखगेन विध्यते॥
वेधस्य चतुर्थेऽंशे श्रवणादौ लिप्तिकाचतुष्के च।
अभिजित् तस्थे खचरे विज्ञेया रोहिणीविद्धा॥"
लिप्तिका दण्डः।
"यस्याः शशी सप्तशलाकभिन्नः
पापैरपापैरथवा विवाहे।
रक्तांशुकेनैव तु रोदमाना
श्मशानभूमिं प्रमदा प्रयाति॥"
इति सप्तशलाकवेधः। इति ज्योतिस्तत्त्वम्॥

तच्चक्ररूपं यथा।

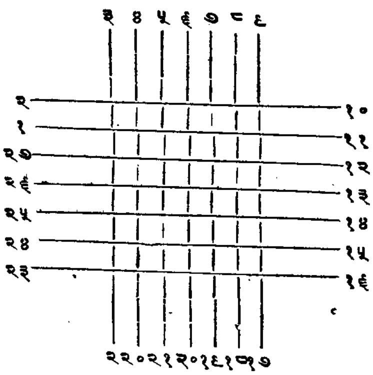

सप्तशिरा, स्त्री, (सप्त शिरा यस्याः।) नागवल्ली। इति राजनिर्घण्टः॥

सप्तसप्तिः, पुं, (सप्त सप्तयो घोटका यस्य।) सूर्य्यः। इति हेमचन्द्रः॥ (यथा, रघुः। १३। ४१।
"हविर्भुजामेधवतां चतुर्णां
मध्ये ललाटन्तपसप्तसप्तिः।
असौ तपस्यत्यपरस्तपस्वी
नाम्ना सुतीक्ष्णश्चरितेन दान्तः॥")

सप्तसागरः, पुं, (सप्त सागरा इव कुण्डानि यत्र ।) महादानविशेषः । यथा,—

मत्स्य उवाच ।

"अथातः संप्रवक्ष्यामि महादानमनुत्तमम् ।
सप्तसागरकं नाम सर्व्वपापविनाशनम् ॥
पुण्यं दिनमथासाद्य कृत्वा ब्राह्मणवाचनम् ।
तुलापुरुषवत् कुर्य्यात् लोकेशावाहनं बुधः ॥
ऋत्विङ्मण्डपसंभारभूषणाच्छादनादिकम् ।
कारयेत् सप्त कुण्डानि काञ्चनानि विचक्षणः ॥
प्रादेशमात्राणि तथारत्निमात्राणि वा पुनः ।
कुर्य्यात् सप्तपलादूर्द्ध्वमासहस्राच्च शक्तितः ॥
संस्थाप्यानि च सर्व्वाणि कृष्णाजिनतिलोपरि ।
प्रथमं पूरयेत् कुण्डं लवणेन विचक्षणः ॥
द्वितीयं पयसा तद्वत् तृतीयं सर्पिषा पुनः ।
चतुर्थन्तु गुडेनैव दध्ना पञ्चममेव च ॥
षष्ठं शर्करया तद्वत् सप्तमं तीर्थवारिणा ।
स्थापयेल्लवणस्यान्तु ब्रह्माणं काञ्चनं शुभम् ॥
केशवं क्षीरमध्ये तु घृतमध्ये महेश्वरम् ।
भास्करं गुडमध्ये तु दधिमध्ये सुराधिपम् ॥
शर्करायां न्यसेत् लक्ष्मीं जलमध्ये तु पार्व्वतीम् ।
सर्व्वेषु सर्व्वरत्नानि धान्यानि च समन्ततः ॥
तुलापुरुषवत् शेषमत्रापि परिकल्पयेत् ।
ततो वारुणहोमान्ते स्नापितो वेदपुङ्गवैः ।
त्रिः प्रदक्षिणमावृत्य मन्त्रानिमानुदीरयेत् ॥
नमो वः सर्व्वसिन्धूनां आधारेभ्यः सनातनाः ।
जन्तूनां प्राणदेभ्यश्च समुद्रेभ्यो नमो नमः ॥
क्षीरोदकाज्यदधिमाधवलावणेक्षु-
साराम्बृतेन भुवनत्रयजीवसंघान् ।
आनन्दयन्ति वसुभिश्च यतो भवन्त-
स्तस्मान्ममाप्यघविघातमलं दिशध्वम् ॥
यस्मात् समस्तभुवनेषु भवन्त एव
तीर्थामरासुरसुवन्द्यमणिप्रतानम् ।
पापक्षयामृतविलेपनभूषणाय
लोकस्य बिभ्रति तदस्तु ममापि लक्ष्मीः ॥
इति ददाति रसामरसंयुतान्
शुचिरविस्मयवानिह सागरान् ।
अमलकाञ्चनवर्णमयानसौ
पदमुपैति हरेरमरार्च्चितः ॥
सकलपापविघातविराजितं
पितृपितामहपुत्रकलत्रकम् ।
नरकलोकसमाकुलमप्यलं
झटिति नेतुमसौ शिवमन्दिरम् ॥"

इति मत्स्यपुराणे महादानानुकीर्त्तने सप्तसागरप्रदानिको नाम २९१ अध्यायः ॥

सप्तसूः, स्त्री, (सप्त सूते इति । सू+क्विप् ।) सप्तपुत्त्रप्रसूता । तत्पर्य्यायः । सुतवस्करा २ । इति शब्दरत्नावली ॥

सप्तांशुपुङ्गवः, पुं, (सप्तभिरंशुभिः पुङ्गव इव श्रेष्ठत्वात् ।) शनिग्रहः । इति जटाधरः ॥

सप्तार्च्चिः, [स्] पुं, (सप्त अर्च्चींषि यस्य ।) अग्निः । (यथा, रघुः । १० । २१ ।
"सप्तसामोपगीतं त्वां सप्तार्णवजलेशयम् ।
सप्तार्च्चिर्मुखमाचख्युः सप्तलोकैकसंश्रयम् ॥")
चित्रकवृक्षः । इत्यमरः ॥ शनिग्रहः । इति हेमचन्द्रः ॥ क्रूरचक्षुषि, त्रि । इति मेदिनी ॥ अग्नेः सप्तानामर्च्चिषां नामानि सप्तजिह्वशब्दे द्रष्टव्यानि ॥

सप्ताश्वः, पुं, (सप्त अश्वा यस्य ।) सूर्य्यः । अर्कवृक्षः । इत्यमरः ॥ (क्वचित् वाच्यलिङ्गेऽपि दृश्यते । यथा, ऋग्वेदे । ५ । ४५ । ९ ।
"आ सूर्य्यो यातु सप्ताश्वः क्षेत्रं यदस्योर्विया-
दीर्घयाथे ॥"
"सूर्य्यः सर्व्वस्य प्रेरको देवः सप्ताश्वः सर्पणस्वभावाश्वोपेतः सप्तसंख्याकाश्वो वा आयातु अस्मदभिमुखमागच्छतु ॥" इति तद्भाष्ये सायणः ॥)

सप्ताश्ववाहनः, पुं, (सप्त अश्वा वाहनान्यस्य ।) सूर्य्यः । यथा,—
"लोकसाक्षी त्रिलोकेशः कर्त्ता हर्त्ता तमि-
स्रहा ।
तपनस्तापनश्चैव शुचिः सप्ताश्ववाहनः ॥"
इति शाम्बपुराणे सूर्य्यस्तोत्रम् ॥

सप्तिः, पुं, ("षप समवाये । 'सपिनसिवसिपदिभ्यस्तिप्' इति श्रीभोजदेवः । सपति सङ्ग्रामेषु सहसामेवेति । गतिकर्म्मणो वा सप्तिः । सपतेः सर्पणार्थात् इति माधवः । सृपि गतौ । अस्माद्वा तिप्रत्यये गुणे च रेफलोपो बाहुलकात् सर्पति सप्तिः ।" इति निघण्टुटीकायां देवराजयज्वा । १ । १४ । ५ ।) अश्वः । इत्यमरः ॥ (यथा, ऋग्वेदे । ८ । ४ । १४ ।
"अर्व्वाञ्चं त्वा सप्तयोऽध्वरश्रियो वहन्तु सवनेदुप ॥")

सफरः, पुं, मत्स्यविशेषः । पुटी इति भाषा ॥ शयाना स्फुरति पार्श्वेन गच्छतीति शफरी मनीषादिः नदादित्वात् ङीप् । शोणिशफरीशव्याशकटभिशाशरणशतपद्य इत्युष्मभेदात् तालव्यादिः । दन्त्यादिरपीति केचित् । शफरश्च । इत्यमरटीकायां भरतः ॥

सफरी, स्त्री, (सफर+ङीष् ।) मत्स्यविशेषः । इति भरतः ॥ पुँटी इति भाषा ॥ तत्पर्य्यायः । शफरी २ प्रोष्ठी ३ । इत्यमरः ॥ शफरः ४ श्वेतकोलः ५ । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ (यथा,—
"अगाधजलसञ्चारी रोहितोऽपि स्थिरायते ।
गण्डूषजलमात्रेण सफरी फर्फरायते ॥"
इत्युद्भटः ॥)

सफलं, त्रि, (फलेन सह वर्त्तमानम् ।) फलविशिष्टम् । तत्पर्य्यायः । अमोघम् २ । इति जटाधरः ॥ (यथा, मार्कण्डेये । ६१ । ३७ ।
"सफलं मे भवेज्जन्म यदि मां नावमन्यसे ॥"
सशस्यम् । यथा, कथासरित्सागरे । २५ । १२ ।
"अपश्यदाश्रमपदं सफलस्निग्धपादपम् ॥")

सबलः, त्रि, (बलेन सह वर्त्तमानः ।) सैन्ययुक्तः । सामर्थ्यवान् । यथा,—
"सबले च रहे पापे दिनमात्रं प्रपद्यते ।
मध्ये बले तथा मासं वर्षं विद्यात्तथाबले ॥"
इति पञ्चस्वरा ॥

सबलिः, पुं, विकालः । इति हेमचन्द्रः ॥

सबाधः, त्रि, पीड़ायुक्तः । निषेधयुक्तः । बाधया बाधेन च सह वर्त्तमानो यः इति बहुव्रीहिसमासनिष्पन्नः ॥

सब्रह्मचारी, [न्] पुं, (ब्रह्म वेदस्तदध्ययनार्थं यद्व्रतं तदपि ब्रह्म तच्चरतीति ब्रह्मचारी समानो ब्रह्मचारी । यद्वा, समाने ब्रह्मणि चरतीति । णिनिः । "चरणे ब्रह्मचारिणि ।" ६ । ३ । ८६ । इति समानस्य सः ।) परस्परैकब्रह्मव्रताचारः । इत्यमरः ॥ एकस्माद्गुरोर्ब्रह्मणि वेदाय अर्थात् वेदाध्ययनाय व्रतं अभिब्रह्मचर्य्याख्यं आचरन्ति ये तेऽन्योन्यं सब्रह्मचारिण उच्यन्ते । उपचारात् ब्रह्माध्ययनार्थं व्रतमपि ब्रह्म । समानं ब्रह्म चरन्तीति ग्रहादित्वाण्णिनि ज्योतिर्जनपदेत्यादिना समानस्य सभावे सब्रह्मचारिणः । एकब्रह्मव्रताचारा इत्यत्र एकस्माद्ब्रह्मणो ब्रह्माध्येतुं व्रतमाचरन्तीति तुमर्थे चतुर्थी विग्रहन्तीति परे । सब्रह्मचारी भिन्नगुरुशिष्य इति हारलतेति नयनानन्दः । इति भरतः ॥

सभर्तृका, स्त्री, (भर्त्रा सह वर्त्तमाना । सहस्य सः ।) विद्यमानपतिका । तत्पर्य्यायः । पतिवत्नी २ । इत्यमरः ॥ सधवा ३ सनाथा ४ । इति जटाधरः ॥

सभा, स्त्री, (सह भान्ति शोभन्ते यत्रेति । भा दीप्तौ + भिदादित्वात् अधिकरणे अङ् । सहस्य सः ।) सह भान्ति अत्र । मज्लिस् इति पारसीक भाषा । पञ्चायित इति हिन्दी भाषा । मिटिं इति इङ्गरेजी भाषा । तत्पर्य्यायः । समज्या २ परिषत् ३ गोष्ठी ४ समितिः ५ संसत् ६ आस्थानी ७ आस्थानम् ८ सदः ९ समाजः १० । इत्यमरः ॥ पर्षत् ११ इति जटाधरः ॥ तल्लक्षणादि यथा । मनुः ।
"यस्मिन् देशे निषीदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रयः ।
राज्ञः प्रतिकृतो विद्वान् ब्राह्मणस्तां सभां
विदुः ॥" * ॥
विद्वत्संहतावपि सभापर्य्यायपरिषच्छब्दमाह स एव ।
"त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की निरुक्तो धर्म्मपाठकः ।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्व्वे परिषत् स्याद्दशावराः ॥"
त्रैविद्यः त्रिवेदपारगः । हैतुकः सद्युक्तिव्यवहारी । अतएवामरसिंहः । सभा सदसि सभ्ये च । अत्र भा दीप्तिः प्रकाशो ज्ञानमिति यावत् । तया सह साक्षात् परम्परया वा वर्त्तते इति सभा ॥ * ॥ कात्यायनः ।
"कुलशीलवयोवृत्तवित्तवद्भिरधिष्ठितम् ।
वणिग्भिः स्यात् कतिपयैः कुलवृद्धैरधिष्ठि-
तम् ॥"
सद इति शेषः । इति व्यवहारतत्त्वम् ॥ * ॥ सामाजिकः । द्यूतम् । गृहम् । इति मेदिनी ॥

समूहः । इति हेमचन्द्रः ॥ * ॥ सभायां एकाकिगमननिषेधो यथा,—
"नैकश्चरेत् सभां विप्रः समवायञ्च वर्ज्जयेत् ॥"
इति कौर्म्मे उपविभागे १५ अध्यायः ॥

सभाज, त क सेवने । प्रीतौ । दर्शने । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (अदन्तचुरा०-पर०-सक०-सेट् ।) अससभाजत् । इति दुर्गादासः ॥

सभाजनं, क्ली, (सभाज त क सेवने प्रीतौ + ल्युट् ।) गमनागमनादिसमये सुहृदादेः आलिङ्गनारोग्यप्रश्नस्वागतादिनानन्दोत्पादनम् । तत्पर्य्यायः । आनन्दनम् २ आप्रच्छनम् ३ । इत्यमरः ॥ टु नदि समृद्धि सभाज त क सेवनप्रीतिदर्शने प्रच्छौ ज्ञीप्से अनट् । नन्दतिः पृच्छतिश्चाङ्पूर्व्वौ लिङ्गनादाविति सुभूतिः । गमनसमये सुहृदमालिङ्ग्य गमनानुज्ञाग्रहणम् । आगतस्य वा स्वागतारोग्यादिपृच्छा आनन्दनमिति रमानाथः । इति भरतः ॥ (यथा, रघुः । १३ । ४३ ।
"सभाजने मे भुजमूर्द्ध्वबाहुः
सव्येतरं प्राध्वमितः प्रयुङ्क्ते ॥"
सभाजयतीति । सभाज त क प्रीतौ + ल्युः । प्रीतिदायके, त्रि । यथा, महाभारते ।४।१३।१० ।
"प्रभूतनागाश्वरथं सभाजनं
सहस्रियुक्तं बहुपानभोजनम् ।
मनोहरं काञ्चनचित्रभूषणं
गृहं महत् शोभयतामियं मम ॥")

सभापतिः, पुं, (सभायाः पतिः ।) सभाधिपतिः । (यथा, भागवते । ६ । १७ । ७ ।
"जटाधरस्तीव्रतपा ब्रह्मवादी सभापतिः ।
अङ्गीकृत्य स्त्रियञ्चास्ते गतह्रीः प्राकृतो यथा ॥")
द्यूतगृहस्वामी । इति केचित् ॥

सभासत् } **सभासद्** } पुं, (सभा + सद् + क्विप् ।) सभायां सीदति उपविशति यः । तत्पर्य्यायः । सभास्तारः २ सभ्यः ३ सामाजिकः ४ । इत्यमरः ॥ पारिषद्यः ५ पर्षद्यः ६ परिषदः ७ पार्षदः ८ परिसभ्यः ९ । इति शब्दरत्नावली ॥ तल्लक्षणादि यथा । कात्यायनः ।
"सभ्येनावश्यवक्तव्यं धर्म्मार्थसहितं वचः ।
शृणोति यदि नो राजा स्यात्तु सभ्यस्तदानृणः ॥"
सभ्यः सभायां साधुः । तथाभिधानाह याज्ञवल्क्यः ।
"श्रुताध्ययनसम्पन्नाः कुलीनाः सत्यवादिनः ।
राज्ञा सभासदः कार्य्याः शत्रौ मित्रे च ये समाः ॥"
श्रुताध्ययनसम्पन्नाः धर्म्मशास्त्रज्ञाः । कुलीनाः सङ्करादि-दोषशून्यमातापितृवंश-परम्पराकाः । एवम्भूताः सभासदः सभायां यथा सीदन्ति तथा दानमानसत्कारैः राज्ञा कर्त्तव्याः । इति व्यवहारतत्त्वम् ॥ * ॥ अन्यच्च ।
"समः शत्रौ च मित्रे च धर्म्मशास्त्रविशारदः ।
विप्रमुख्यः कुलीनश्च धर्म्माधिकरणे भवेत् ॥
कार्य्यास्तथाविधास्तत्र द्विजमुख्याः सभासदः ॥"
इति मत्स्यपुराणे १८६ अध्यायः ॥
बृहस्पतिस्तु सप्त पञ्च त्रयो वा सभासदो भवन्तीत्याह ।
"लोकवेदज्ञधर्म्मज्ञाः सप्त पञ्च त्रयोऽपि वा ।
यत्रोपविष्टा विप्राः स्युः सा यज्ञसदृशी सभा ॥"
किञ्च ।
"सप्राड्विवाकः सामात्यः सब्राह्मणपुरोहितः ।
ससभ्यः प्रेक्षको राजा स्वर्गे तिष्ठति धर्म्मतः ॥"
तत्र ब्राह्मणा अनियुक्ताः सभासदस्तु नियुक्ता इति भेदः । तत्र नियुक्तानां यथावस्थितार्थकथनेऽपि यदि राजान्यथा करोति तदासौ निवारणीयोऽन्यथा दोषः । उक्तञ्च कात्यायनेन ।
"अन्यायेनापि तं यान्तं येऽनुयान्ति सभासदः ।
तेऽपि तद्भागिनस्तस्माद्बोधनीयः स तैर्नृपः ॥"
इति मिताक्षरा ॥

सभास्तारः, पुं, (सभां स्तृणातीति । स्तृञ् आच्छादने + "कर्म्मण्यण् ।" ३।२।१। इत्यण् ।) सभासद् । इत्यमरः ॥ (यथा, महाभारते ।२।४६।२।
"के च तत्र सभास्तारा राजानो ब्रह्मवित्तम ! ॥")

सभिकः, पुं, (सभा द्यूतसभा आश्रयत्वेनास्त्यस्येति । सभा + ब्रीह्यादित्वात् ठन् ।) द्यूतकारकः । इत्यमरः ॥ दे सभियार इति ख्याते । सभा द्यूतमस्याश्रयत्वेनास्ति सभिकः विकारसंघेति ष्णिकः । सभा द्यूतं सभा गृहमिति रुद्रः । द्यूतं कारयति द्यूतकारकः णकान्तात् स्वार्थे कः । इति भरतः ॥ तत्पर्य्यायः ।
"दुरोदरश्च निर्ग्रन्थद्यूतकारकतस्कराः ।
सभिकः प्रतिभूश्चेति ———————॥"
इति जटाधरः ॥
(यथा, याज्ञवल्क्ये । २ । २०२ ।
"ग्लहे शतिकवृद्धेस्तु सभिकः पञ्चकं शतम् ।
गृह्णीयात् धूर्त्तकितवादितराद्दशकं शतम् ॥")

सभीकः, पुं, द्यूतकारकः । इति शब्दरत्नावली ॥

सभोचितः, पुं, (सभायामुचितः ।) पण्डितः । इति धनञ्जयः ॥ सभायोग्ये, त्रि ॥

सभ्यः, पुं, (सभायां साधुः । सभा + "सभाया यः ।" ४ । ४ । १०५ । इति यः ।) साधुः । सभासद् । इत्यमरः ॥ (यथा, मनुः । ८ । १० ।
"सोऽस्य कार्य्याणि संपश्येत् सभ्यैरेव त्रिभिर्वृतः ॥"
अस्मिन्नर्थे वाच्यलिङ्गेऽपि दृश्यते । यथा, रघुः । १ । ५५ ।
"तस्मै सभ्याः सभार्य्याय गोप्त्रे गुप्ततमेन्द्रियाः ।
अर्हणामर्हते चक्रुर्मुनयो नयचक्षुषे ॥")
सभिकः । इति जटाधरः ॥

सभ्यः, त्रि, (सभा + यः ।) प्रत्ययितः । इति जटाधरः ॥ सभासम्बन्धी च ॥

सम्, व्य, समार्थः । प्रकृष्टार्थः । सङ्गतः । शोभनः । इति शब्दरत्नावली ॥ समुच्चयः । इति हेमचन्द्रः ॥ चतुर्थोपसर्गः । इति व्याकरणम् ॥ अस्यार्थविशेषाः संशब्दे द्रष्टव्याः ॥

समः, त्रि, (समतीति । सम वैक्लव्ये + पचाद्यच् ।) सर्व्वम् । (अस्मिन्नर्थे सर्व्वनामसंज्ञा भवति, यथा, मुग्धबोधे ।
"नमः समस्मात् पूर्व्वस्मा अन्तरस्मा अमेधसाम् ॥")
समानम् । इत्यमरः ॥ (अस्मिन्नर्थे सर्व्वनामसंज्ञा न भवति । यथा, मुग्धबोधे ।
"समायैषु परायैषां मुक्तयेऽर्थान्तराय च ॥")
साधुः । इति मेदिनी ॥

समः, पुं, (सम वैक्लव्ये + पचाद्यच् ।) राशिविशेषाणां संज्ञाविशेषः । ते तु राशयः वृषकर्कटकन्यावृश्चिकमकरमीनाः । यथा,—
"क्रूरोऽथ सौम्यः पुरुषोऽङ्गना च
ओजोऽथ युग्मं विषमः समश्च ।
चरस्थिरद्व्यात्मकनामधेया
मेषादयोऽमी क्रमशः प्रदिष्टाः ॥"
इति ज्योतिस्तत्त्वम् ॥ * ॥
मानस्य प्रकारविशेषः । स तु यदा गीतवाद्ययोस्तालः गायकस्य हस्तपादादिचालनञ्च एकदा समभावेन पतति तदा भवति । इति सङ्गीतशास्त्रम् ॥ * ॥ वर्गमूलानयनार्थं अङ्कोपरि दत्त ऋजुरेखाविशेषः । यथा,—
"त्यक्त्वान्त्याद्विषमात् कृतिं द्विगुणयेन्मूलं समे तद्धृते
त्यक्त्वा लब्धकृतिं तदाद्यविषमाल्लब्धं द्विनिघ्नं न्यसेत् ॥"
इत्यादि लीलावती ॥

समकन्या, स्त्री, (समा विवाहतुल्या कन्या ।) विवाहोपयुक्ता । इति धनञ्जयः ॥ सदृशकुमारी च ॥

समकोलः, पुं, (समः कोलो यस्य ।) सर्पः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

समक्तः, त्रि, गमनकर्त्ता । संपूर्व्वकाञ्चधातोः क्तप्रत्ययेन निष्पन्नः । इति मुग्धबोधव्याकरणम् ॥

समक्षं, त्रि, अक्ष्णोः समीपम् । संपूर्व्वाक्षिशब्दात् अप्रत्ययेन निष्पन्नम् । इति मुग्धबोधव्याकरणम् ॥ (यथा, कुमारे । ५ । १ ।
"तथा समक्षं दहता मनोभवं
पिनाकिना भग्नमनोरथा सती ।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्व्वती
प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता ॥")

समगन्धकः, पुं, (समास्तुल्या गन्धा गन्धद्रव्याणि यत्र । कप् ।) कृत्रिमधूपः । यथा,—
"तुरुकधूपे भक्तकरो गिरिः स्यात् समगन्धकः ।"
इति शब्दचन्द्रिका ॥

समगन्धिकं, क्ली, (समस्तुल्यो गन्धोऽस्यास्तीति । ठन् ।) उशीरम् । इति राजनिर्घण्टः ॥ तुल्यगन्धयुक्ते, त्रि ॥

समग्रः, त्रि, (समं समकालमेव गृह्णातीति । ग्रह + डः ।) सकलम् । (यथा, रामायणे । २ । ५२ । ८४ ।
"चतुर्द्दश हि वर्षाणि समग्राण्युष्य कानने ।

भ्रात्रा सह मया चैव पुनः प्रत्यागमिष्यति ॥”) पूर्णम् । इत्यमरः ॥ (यथा, महाभारते । १ । १५४ । १३ ।

“अवेक्षमाणस्तस्याश्च हिडिम्बो मानुषं वपुः ।
स्रग्दामपूरितशिखं समग्रेन्दुनिभाननम् ॥”)

समङ्गा, स्त्री, मञ्जिष्ठा । इत्यमरः । लज्जालुलता । वराहक्रान्ता । इति रत्नमाला ॥ बाला । इति राजनिर्घण्टः ॥

समचित्तं, क्ली, (समं तुल्यं चित्तम् ।) एकविषयकान्तःकरणवृत्तिः । यथा,—

“मनो बुद्धिश्च चित्तञ्च ते ज्ञनीशाः शरीरिणाम् ।
एकचित्तं मनः कृत्वा शानेन पृथुलोचने ॥
समचित्तं प्रपद्यन्ते न ते लिम्पन्ति मानवाः ।
सर्व्वभक्ष्याणि भक्षन्तः पेयापेयं तथैव च ।
समं चित्तं मयि यदि तदा तस्य न च क्रिया ॥”

इति वाराहे गुह्यकर्म्ममाहात्म्यवर्णनं नामाध्यायः ॥ (समं सर्व्वेषु पदार्थेषु तुल्यरूपं चित्तं यस्येति विग्रहे सर्व्वत्र तुल्यदर्शके, त्रि । यथा, भागवते । ७ । १३ । ६ ।

“न यतेराश्रमः प्रायो धर्म्महेतुर्महात्मनः ।
शान्तस्य समचित्तस्य बिभृयादुत वा त्यजेत् ॥”)

समजं, क्ली, (समजन्ति पशवो यत्र । सम् + अज गतौ + अप् ।) वनम् । इति मेदिनी ॥

समजः, पुं, (सं + अज गतौ + “समुदोरजः पशुषु ।” ३।३।६९। इति अप् ।) पशुसमूहः । इत्यमरः ॥ मूर्खसंहतिः । इति शब्दरत्नावली ॥

समज्ञा, स्त्री, (समैः सर्व्वैर्ज्ञायते इति । ज्ञा + घञर्थे कः ।) कीर्त्तिः । इत्यमरः ॥ समाज्ञा समज्या समाख्या इति च पाठः । इति भरतः ॥

समज्या, स्त्री, (समजन्ति सङ्गच्छन्तेऽस्यामिति । सम् + अज + “संज्ञायां समजनिषद” इति ।” ३ । ३ । ९९ । इति क्यप् ।) सभा । इत्यमरः ॥ कीर्त्तिः । इति तट्टीकायां रायमुकुटः ॥

समञ्जसं, क्ली, (सम्यक् अञ्ज औचित्यं यत्र । अच् ।) उचितम् । इत्यमरः ॥

समञ्जसः, त्रि, (सम्यक् अञ्ज औचित्यं यत्र । अच् ।) समीचीनः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ (यथा, भागवते । ६ । ६ । ३५ ।

“आहोस्विदात्मारान उपशमशीलः समञ्जसदर्शन उदास्त इतिह वाव न विदाम ॥”)

अभ्यस्तः । इति जयपालः ॥

समठः, पुं, गम्भीरः । इति शब्दरत्नावली हारावली च ॥

समता, स्त्री, समत्वम् । समस्य भावः इत्यर्थे सम शब्दात् तप्रत्ययेन निष्पन्ना ॥ (यथा, रघुः । ९ । ६ ।

“समतया वसुवृष्टिविसर्ज्जनै-
र्नियमनादसताञ्च नराधिपः ॥”)

समतिरिक्तं, क्ली, सम्यगधिकम् । सम्यक्प्रकारे अतिरिक्तं इति तत्पुरुषसमासनिष्पन्नम् ॥

समत्रयं, क्ली, (समं त्रयं यत्र ।) समभागहरीतकीनागरगुड़म् । इति राजनिर्घण्टः ॥

समदर्शी, [न्] त्रि, (समं पश्यतीति । दृश + णिनिः ।) सर्व्वभूतेषु तुल्यदर्शनशीलः । यथा,—

“विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥”

इति श्रीभगवद्गीता ॥

समदृष्टिः, स्त्री, (समा दृष्टिः ।) सर्व्वत्र तुल्यदर्शनम् । यथा,—

“दुःखे सुखे च विप्रेन्द्र या दृष्टिर्व्वर्त्तते सदा ।
तथा शत्रौ च मित्रे च समदृष्टिश्च सा स्मृता ॥”

इति पाद्मे क्रियायोगसारे १६ अध्यायः ॥

(समा दृष्टिर्यस्य ।) समदर्शिनि, त्रि ॥

समधिकः, त्रि, (सम्यक् अधिकः ।) अधिकः । तत्पर्य्यायः । अतिरिक्तः २ । इत्यमरः ॥ (यथा, रघुः । १८ । ५३ ।

“प्रतिकृतिरचनाभ्यो दूतिसन्दर्शिताभ्यः
समधिकतररूपाः शुद्धसन्तानकामैः ।
अधिविविदुरमात्यैराहृतास्तस्य यूनः
प्रथमपरिगृहीते श्रीभुवौ राजकन्याः ॥”)

समन्तः, पुं, सीमा । सम्यक्प्रकारेण अन्तः इति तत्पुरुषसमासनिष्पन्नः ॥

समन्ततः, [स्] व्य, चतुर्द्दिगभिव्याप्तः । तत्पर्य्यायः । परितः २ सर्व्वतः ३ विष्वक् ४ । इत्यमरः ॥ समन्तात् ५ । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, रामायणे । २ । ५७ । ३४ ।

“स्त्रियश्च सर्व्वा रुरुदुः समन्ततः
पुरं तदासीत् पुनरेव सङ्कुलम् ॥”)

समन्तदुग्धा, स्त्री, (समन्तात् दुग्धं क्षीरमस्याः ।) स्नुहीवृक्षः । इत्यमरः ॥

समन्तपञ्चकं, क्ली, (समन्तात् पञ्चकं ह्रदपञ्चकं यत्र ।) कुरुक्षेत्रम् । तच्च कुरुपाण्डवयोर्युद्धस्थानम् । तत्र पुरा परशुरामः क्षत्रियरुधिरेण पञ्च ह्रदान् चकार । यथा,—

“त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः ।
समन्तपञ्चके पञ्च कृतवान् रुधिरैर्ह्रदान् ॥
स तेषु तर्पयामास पितॄन् भृगुकुलोद्वहः ।
साक्षात् ददर्श पितरं स च रामं न्यवारयत् ॥”

इति पाद्मे भूमिखण्डे १२४ अध्यायः ॥*॥

अन्यच्च ।

“त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः ।
समन्तपञ्चके चक्रे शोणितोदान् ह्रदान् नव ॥”

इति श्रीभागवते ९ स्कन्धे १६ अध्यायः ॥*॥

तस्य माहात्म्यं सीमा च यथा,—

“पृथिव्यां नैमिषं तीर्थमन्तरीक्षे च पुष्करम् ।
त्रयाणामपि लोकानां कुरुक्षेत्रं विशिष्यते ॥”

इत्यारभ्य,—

“तरन्तुकारन्तुकयोर्यदन्तरं
रामह्रदानाञ्च मचक्रुकस्य च ।
एतत् कुरुक्षेत्रसमन्तपञ्चकं
पितामहस्योत्तरवेदिरुच्यते ॥”

इति महाभारतीयवनपर्व्वणि ८३ अध्यायः ॥

समन्तभद्रः, पुं, (समन्तात् भद्रमस्य ।) बुद्धः । इत्यमरः ॥

समन्तभुक्, [ज्] पुं, (समन्तात् भुङ्क्ते इति । भुज् + क्विप् ।) अग्निः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

समन्तात्, व्य, समन्ततः । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, ऋतुसंहारे । १ । २२ ।

“दिनकरपरितापात् क्षीणतोयाः समन्तात्
विदधति भयमुच्चैर्वीक्ष्यमाणा वनान्ताः ॥”)

समन्युः, पुं, (मन्युना क्रतुना क्रोधेन वा सह वर्त्तमानः ।) शिवः । इति केचित् ॥ क्रोधयुक्तश्च ॥ (यथा, महाभारते । ३ । २६८ । ४ ।

“बुद्धिं समाच्छाद्य च मे समन्यु-
रुद्धूयते प्राणपतिः शरीरे ॥”)

समन्वितः, त्रि, (सम् + अनु + इण् + क्तः ।) संयुक्तः । यथा, तिथ्यादितत्त्वे ।

“विसृष्टमङ्गलं शान्तं सदाचारपदं तथा ।
कलस्वरसमायुक्तं रसभावसमन्वितम् ॥”

समपदं, क्ली, (समे पदे यत्र ।) धन्विनां पादयोस्तुल्यरूपतया धारणम् । इत्यमरटीकायां भरतः ॥

समपदः, पुं, (समे पदे चरणे यत्र ।) रतिबन्धविशेषः । यथा,—

“योषित्पादौ हृदि स्थाप्य कराभ्यां पीड़येत् स्तनौ ।
यथेष्टं ताड़येद्योनिं बन्धः समपदः स्मृतः ॥”

इति रतिमञ्जरी स्मरदीपिका च ॥

समपादं, क्ली, (समौ पादौ यत्र ।) धन्विनां पादयोस्तुल्यरूपतया धारणम् । इति हेमचन्द्रः ॥

समभिव्याहारः, पुं, (सम् + अभि + वि + आ + हृ + घञ् ।) सहितः । घटमानय इत्यत्र भवति चाव्यवहितपूर्व्ववर्त्तितारूपसमभिव्याहारसम्बन्धेन घटपदनिष्ठस्यानुस्वारपदस्य व्यतिरेकप्रयुक्तो घटवत् कर्म्मत्वमिति भेदान्वयबुद्ध्यभाव इति तादृशान्वयबोधे घटपदस्यानुस्वारपदवत्त्वमाकाङ्क्षा एवं विविगमनाविरहादव्यवहितोत्तरवर्त्तितारूपसमभिव्याहारसम्बन्धेन अनुस्वारपदनिष्ठस्य घटपदस्य व्यतिरेकप्रयुक्तोऽपि घटवत् कर्म्मत्वमिति भेदान्वयबुद्ध्यभाव इत्यनुस्वारपदस्य घटपदवत्त्वमपि तादृशान्वयबोधे आकाङ्क्षा । इति आकाङ्क्षाग्रन्थे मथुरानाथः ॥

समभिव्याहृतः, पुं, (सम् + अभि + वि + आ + हृ + क्तः ।) सहोच्चरितः । सहितः । यथा निमित्तानां उत्पत्तिविधिसमभिव्याहृतनियतानाम् । इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥

समभिहारः, पुं, (सम् + अभि + हृ + घञ् । पौनःपुन्यम् । भृशार्थः । इति मेदिनी ॥

समभूमिः, स्त्री, (समा भूमिः ।) समानस्थानम् तत्पर्य्यायः । आजिः २ । इति जटाधरः ॥ (यथा, रामायणे । २ । ५६ । ११ ।

“समभूमितले रम्ये द्रुमैर्बहुभिरावृते ।
पुण्ये रंस्यामहे तात चित्रकूटस्य कानने ॥”)

समम्, व्य, सहितम् । यथा । साकन्तु साकं सत्रं समं सह । इत्यमरः ॥ (यथा, मनुः ।२।११३।

"विद्ययैव समं कामं मर्त्तव्यं ब्रह्मवादिना ।
आपद्यपि हि घोरायां नत्वेनामरिणे वपेत् ॥")

समयः, पुं, (सम्यगेतीति । सम् + इण् गतौ + पचाद्यच् ।) कालः । (यथा, उत्तरचरिते १ अङ्के ।
"समयः स वर्त्तत इवैष यत्र मां
समनन्दयत् सुमुखि ! गौतमार्पितः ।
अयमागृहीतकमनीयकङ्कण-
स्तव मूर्त्तिमानिव महोत्सवः करः ॥")

शपथः । आचारः । (यथा, महाभारते । १३ । ६० । ५० ।
"ऋषीणां समये नित्यं ये चरन्ति युधिष्ठिर ! ।
निश्चिताः सर्व्वधर्म्मज्ञास्तान् देवान् ब्राह्मणान् विदुः ॥")

सिद्धान्तः । संवित् । इत्यमरः ॥ क्रियाकारः । निर्द्देशः । भाषा । (यथा, महाभारते । ५ । ३३ । ११६ ।
"देशाचारान् समयान् जातिधर्म्मान्
बुभूषते यः स परावरज्ञः ॥")

सङ्केतः । इति मेदिनी ॥ (व्यवहारः । यथा, मनुः । १० । ५३ ।
"न तैः समयमन्विच्छेत् पुरुषो धर्म्ममाचरन् ॥")

सम्पत् । नियमः । (यथा, भागवते ।३।२२।१८।
"अतो भजिष्ये समयेन साध्वीं
यावत्तेजो विभृयादात्मनो मे ॥")

अवसरः । इति हेमचन्द्रः ॥ * ॥ कालप्रशंसा । यथा,—

परशुराम उवाच ।
"राजेन्द्रोत्तिष्ठ समरं कुरु साहसपूर्व्वकम् ।
कालभेदे जयो नृणां कालभेदे पराजयः ॥
काले सिंहः शृगालश्च शृगालः सिंहमेव च ।
काले व्याघ्रं नरो हन्ति गजेन्द्रं हरिणस्तथा ॥
मक्षिकं मक्षिका काले गरुडश्च यथोरगः ।
किङ्करः स्तौति राजेन्द्रं काले राजा च किङ्करम् ॥
इन्द्राश्च मनवः काले काले राजा मरिष्यति ।
तिरोहिता च प्रकृतिः काले श्रीकृष्णविग्रहे ॥
मरिष्यन्ति सुराः सर्व्वे त्रिलोकस्थाश्चराचराः ।
सर्व्वे काले लयं यान्ति कालो हि दुरतिक्रमः ॥
कालस्य कालः श्रीकृष्णः स्रष्टुः स्रष्टा यथेच्छया ।
संहर्त्ता चैव संहर्त्तुः पातुः पाता परात्परः ॥
महास्थूलात् स्थूलतमः सूक्ष्मात् सूक्ष्मतमः कृशः ।
परार्णुः परमः कालः कालश्च कालभेदकः ॥"

इति ब्रह्मवैवर्त्ते गणपतिखण्डे ४० अध्यायः ॥ * ॥ अपि च ।
"कालः करोति संसर्गं बन्धूनां बन्धुभिः समम् ।
कालः करोति विच्छेदं विरोधं प्रीतिमेव च ॥
कालः सृष्टिञ्च कुरुते कालश्च परिपालनम् ।
कालः करोति सानन्दं कालः संहरते प्रजाः ॥
सुखं दुःखं भयं शोकं जरां मृत्युञ्च जन्म च ।
सर्व्वं कर्म्मानुरोधेन काल एव करोति च ।
सर्व्वं कालकृतं तात विस्मयं न व्रज व्रज ॥"

इति ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे ६० अध्यायः ॥

अथ कालनिरूपणम् ।
"आनन्दनन्दनस्यैव परिपूर्णतमस्य च ।
शृणु कालगतिं वत्स मदीयज्ञानगोचराम् ॥
नराणाञ्च पितॄणाञ्च सुराणाञ्चापि ब्रह्मणः ।
नागानां राक्षसादीनां तत्परेषाञ्च पुत्त्रक ॥
कथयामि निगूढार्थं सावधानं निशामय ।
सर्व्वस्माच्च परः स्थूलः सर्व्वाधारो महान् विराट् ॥
यस्य लोमसु विश्वानि चासंख्यानि च तानि च ।
सर्व्वस्माच्च परं सूक्ष्मं परमाणुं निशामय ॥
कालारम्भात्मकं सर्व्वस्यानूह्यं परमीप्सितम् ।
परमः सद्विशेषाणामनेकोऽयुतशस्तथा ॥
परमाणुः स विज्ञेयो नृणामैक्यभ्रमो यथा ।
परमाणुद्वयेनाणुस्त्रसरेणुस्तु ते त्रयः ॥
त्रसरेणुत्रिकेणापि त्रुटिरुक्ता मनीषिभिः ।
वेधस्त्रुटिशतेनैव त्रिवेधेन लवस्तथा ॥
त्रिलवेन निमेषश्च त्रिनिमेषेण च क्षणः ।
काष्ठा पञ्चक्षणेनैव लघुश्च दशकाष्ठया ॥
लघुपञ्चदशे दण्डस्तत्प्रमाणं निशामय ।
द्वादशार्द्धपलोन्मा च चतुर्भिश्चतुरङ्गुलैः ॥
स्वर्णमाषैः कृतच्छिद्रं यावत् प्रच्छन्नजलप्लुतम् ।
दण्डद्वये च मुहूर्त्तः षष्टिदण्डात्मिका तिथिः ॥
तदष्टभागः प्रहरः प्रमाणञ्च निरूपणम् ।
चतुर्भिः प्रहरै रात्रिश्चतुर्भिर्दिनमेव च ॥
तिथिपञ्चदशेनैव पक्षमानं प्रकीर्त्तितम् ।
पक्षद्वयेन मासः स्यात् शुक्लकृष्णाभिधेन च ॥
ऋतुर्म्मासद्वयेनैव तत्षट्केनैव वत्सरः ।
वसन्तग्रीष्मवर्षाश्च शरद्धेमन्तशीतकम् ॥
वर्षाः पञ्चविधा ज्ञेयाः कालविद्भिर्निरूपिताः ।
संवत्सरः प्रवत्सरश्च इलावत्सर एव च ॥
अनुवत्सरो वत्सरोऽयमिति कालविदो विदुः ।
अब्दो द्विषट्कमासैश्च तन्नाम शृणु चोद्धव ॥ * ॥
वैशाखो ज्यैष्ठ आषाढः श्रावणो भाद्र एव च ।
आश्विनः कार्त्तिको मार्गः पौषो माघस्तु फाल्गुनः ॥
चैत्रस्तु चरमो ज्ञेयो वर्षशेषो निरूपितः ।
वसन्तश्चैत्रवैशाखौ मासौ युग्मेन कीर्त्तितः ॥
ज्यैष्ठाषाढद्वयेनैव ग्रीष्मस्तु परिकीर्त्तितः ।
वर्षा श्रावणभाद्रेण चाश्विने कार्त्तिके शरत् ॥
मार्गे पौषे च हेमन्तः शिशिरो माघफाल्गुने ।
अब्दस्त्वयने द्वे चैवोत्तरे दक्षिणायने ॥
माघादिषट्कं नियतं उत्तरायणमीप्सितम् ।
श्रावणादिमासषट्कं दक्षिणायनमेव च ॥
माघादाषाढपर्य्यन्तं दिनवृद्धिं क्रमेण वै ।
नक्तं वृद्धं श्रावणाच्च पौषपर्य्यन्तमेव च ॥ * ॥
प्रतिपदः पूर्णिमान्तः शुक्लः पक्षः प्रकीर्त्तितः ।
पूर्णिमायाः प्रतिपदः अमावास्यान्त एव च ॥
कृष्णपक्षस्तु विज्ञेयो वेदविद्भिर्निरूपितः ।
द्वितीया च तृतीया च चतुर्थी पञ्चमी तथा ॥
षष्ठी च सप्तमी चैव ह्यष्टमी नवमी तथा ।
दशम्येकादशी चापि द्वादशी च त्रयोदशी ।
चतुर्द्दशी कुहूर्यावद्दिनन्तु गणनं स्मृतम् ॥ * ॥

अश्विनी भरणी चापि कृत्तिका रोहिणी तथा ।
मृगशिरास्तथार्द्रा च नक्षत्रे द्वे पुनर्व्वसुः ॥
पुष्याश्लेषा मघा चैव पूर्व्वा चोत्तरफल्गुनी ।
हस्ता चित्रा तथा स्वाती विशाखा चानुराधिका ॥
ज्येष्ठा मूला तथा ज्ञेया पूर्व्वाषाढोत्तरा तथा ।
श्रवणाप्यभिजिच्चैव धनिष्ठा च प्रकीर्त्तिता ॥
ततः शतभिषा ज्ञेया पूर्व्वभाद्रपदस्तथा ।
तथोत्तरस्तु विज्ञेयो रेवती चरमा स्मृता ॥
अष्टाविंशश्च नक्षत्रं कलत्रं शशिनोद्भव ।
क्रमेण ताभिः सार्द्धञ्च चन्द्रस्तिष्ठति नित्यशः ॥
सप्तविंशतिनक्षत्रं कलत्रञ्च श्रुतौ श्रुतम् ।
अभिजिच्छ्रवणाच्छाया तेनाष्टाविंशतिः स्मृताः ॥
एकदा च मधौ चन्द्रो रोहिण्या रामया सह ।
रेमे दिवानिशं दृष्ट्वा श्रवणा च चुकोप सा ॥
छायां दत्त्वा च चन्द्राय ययौ तातान्तिकं भिया ।
ततः पितरमानीय सा प्रचक्रे विभागकम् ॥
बभूव तेन नक्षत्रमभिजिन्नामकं पुरा ।
एतत् श्रुतं कृष्णमुखाच्छतशृङ्गे च पर्व्वते ।
नक्षत्रं कथितं वत्स तिथ्यां भ्रमति नित्यशः ॥ * ॥
योगञ्च करणञ्चैव मद्वक्त्रेण निशामय ।
विष्कम्भः प्रीतिरायुष्मान् सौभाग्यः शोभनस्तथा ॥
अतिगण्डः सुकर्म्मा च धृतिः शूलस्तथैव च ।
गण्डो वृद्धिर्ध्रुवश्चैव व्याघातो हर्षणस्तथा ॥
वज्रश्चासृग्व्यतीपातो वरीयान् परिघः शिवः ।
सिद्धः साध्यः शुभः शुक्लो ब्रह्मेन्द्रो वैधृतिस्तथा ।
कीर्त्तितस्तु योगगणः करणं श्रूयतामिति ।
ववश्च बालवश्चैव कौलवस्तैतिलस्तथा ॥
गरश्च वणिजश्चापि विष्टिश्च शकुनिस्तथा ।
चतुष्पाच्चापि नागश्च किन्तुघ्न इति कीर्त्तनम् ॥
नराणाञ्चापि मासेन पितॄणाञ्च दिवानिशम् ।
शुक्ले तेषां दिनञ्चापि कृष्णे नक्तं प्रकीर्त्तितम् ॥
वत्सरेण नराणान्तु सुराणाञ्च दिवानिशम् ।
दिनन्तेषामुत्तरेण नक्तञ्च दक्षिणायने ॥
मन्वन्तरन्तु दिव्यानां युगानामेकसप्ततिः ।
मनोरायुःपरिमितं शक्रस्यायुः प्रकीर्त्तितम् ॥
पञ्चविंशत्सहस्रञ्च तथा पञ्चशतं परम् ।
तत्र सूर्य्यगतिर्नास्ति शक्रपातानुसारतः ॥
युगानां षष्टिमधिकं नराणाञ्च प्रकीर्त्तितम् ।
कालेनैतेन शक्रस्य पतनञ्च मनोस्तथा ॥ * ॥
चतुर्द्दशेन्द्रावच्छिन्नकालेन ब्रह्मणो दिनम् ।
एतेनैव च तद्युक्तमुक्तं धातुर्द्दिवानिशम् ॥
एवन्तेषां निपतनं बोद्धव्यं तद्दिवानिशम् ।
तत्र सूर्य्यगतिर्नास्ति शक्रपातानुसारतः ॥
दिवानिशञ्च जानन्ति ब्रह्मलोकनिवासिनः ।
दण्डद्वयं लवपलं शक्रपातेन तत्पलम् ॥
एवं त्रिंशद्दिनेनैव धातुर्म्मासः प्रकीर्त्तितः ।
अब्दो द्वादशभिर्म्मासैरेवन्तस्य शतायुषः ॥
ब्रह्मणः पतनेनैव निमेषः श्रीहरेरपि ॥ * ॥
धातुः पातानुसारेण वैकुण्ठेन दिवानिशम् ।
तत्र सूर्य्यगतिर्नास्ति चैवं गोलोकतः स्मृतम् ॥

वैकुण्ठवासिनः सर्व्वे तेन जानन्त्यहर्निशम् ॥
चन्द्रस्यापि ग्रहाणाञ्च गतिर्नास्तीति तत्र वै ।
चक्रं नैव भ्रमत्येव राशीनामिच्छया हरेः ॥
दिनञ्च तेजसा दीप्तं कृष्णस्य परमात्मनः ।
नक्तं तेजोविहीनञ्च हरौ च मन्दिरं गते ॥
एवं कालगतिस्तत्र विष्णुलोकेऽस्ति सन्ततम् ।
कालस्वरूपो भगवान् परमात्मा निराकृतिः ॥
चन्द्रसूर्य्यगतिर्नास्ति पातालेषु च सप्तसु ।
तद्वासिनश्च जानन्ति सङ्केतेन दिवानिशम् ॥
दिने च मूर्द्ध्नि नागानां मणिर्ज्वलति नित्यशः ।
सन्ध्यायां दीप्तिहीनश्च रात्रिश्च तमसावृता ॥
कालं तन्त्रीप्रमाणेन जानन्ति तन्निवासिनः ।
यथा भुवि तथा तत्र परिमाणं प्रकीर्त्तितम् ॥*॥
कृतं त्रेता द्वापरश्च कलिश्चेति चतुर्युगम् ।
दिव्यैर्द्वादशसाहस्रैर्व्वत्सरैश्चापि सम्मितम् ॥
अष्टौ शतान्यप्यधिकं सहस्राणां चतुष्टयम् ।
दिव्यैर्व्वर्षैः कृतयुगं कालविद्भिर्निरूपितम् ॥
अष्टाविंशत्सहस्राण्यप्यधिकं परिमाणकम् ।
लक्षाणाञ्च सप्तदश नृमाणं परिकीर्त्तितम् ॥
अधिकं षट्शतान्येव सहस्राणां त्रयं तथा ।
दिव्यैर्वर्षैश्च त्रेतेति वत्स कालविदो विदुः ॥
षण्णवतिसहस्राणि लक्षैर्द्वादशभिः सह ।
नृणां वर्षैश्च त्रेतेति कालविद्भिः प्रकीर्त्तितः ॥
चतुष्टयं शतानाञ्चाप्यधिकं द्विसहस्रकम् ।
वर्षं दिव्यं द्वापरञ्च कालज्ञैः परिकीर्त्तितम् ॥
चतुःषष्टिसहस्राणि लक्षैरष्टभिरेव च ।
नृणां वर्षैर्द्वापरञ्च कालज्ञैः परिकीर्त्तितम् ॥
अधिकं द्विशतञ्चैव दिव्यं वर्षसहस्रकम् ।
एवं मितं कलियुगं वत्स प्राज्ञैः प्रकीर्त्तितम् ॥
द्वात्रिंशच्च सहस्रञ्च चतुर्लक्षं नृमाणकम् ।
वर्षञ्चेति कलियुगं चकार कालकोविदः ॥
लक्षैश्चिचत्वारिंशद्भिः सह विंशत्सहस्रकैः ।
नृमाणवर्षैः कालज्ञैर्व्याक्तमेव चतुर्युगम् ॥
इति ते कथितं वत्स कालसंख्यानिरूपणम् ।
यथाश्रुतं यथाज्ञानं गच्छ वत्स हरेः पुरम् ॥”
इति ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे राधोद्धवसंवादे कालनिरूपणम् ८६ अध्यायः ॥ * ॥ अपि च ।

मार्कण्डेय उवाच ।

“निमेषो नाम कालाङ्गो नेत्रोन्मेषविलक्षितः ।
तैरष्टादशभिः काष्ठा काष्ठानां त्रिंशता कला ॥
कलाभिस्तावतीभिस्तु क्षणाख्यः परिकीर्त्तितः ।
क्षणैर्द्वादशभिः प्रोक्तो मुहूर्त्तस्तैस्तु त्रिंशता ॥
मानुष्यः स्यादहोरात्रः पक्षस्ते दश पञ्च च ।
पक्षाभ्यां मनुषो मासः पितॄणां तदहर्न्निशम् ॥
मासैर्द्वादशभिर्व्वर्षो देवानां तदहर्निशम् ॥
कृष्णपक्षः पितॄणान्तु कर्म्मार्थं दिवसो मतः ॥
स्वप्नार्थं शुक्लपक्षस्तु रजनी परिकीर्त्तिता ।
देवानान्तु दिनं प्रोक्तं षण्मासा उत्तरायणम् ॥
रात्रिः स्वप्नाय देवानां षण्मासा दक्षिणायनम् ।
द्वाभ्यां द्वाभ्यान्तु मासाभ्यामर्कजाभ्यामृतुः स्मृतः ॥
ऋतुभिस्त्रायनं प्रोक्तं त्रिभिस्तन्मानुषं मतम् ।
ऋतुभिर्व्वत्सरः षड्भिस्तांश्च शृणु पृथक् पृथक् ॥ * ॥
चैत्रादियुगलैः संज्ञा तैस्तैः षड्भिर्द्विजोत्तमाः ।
वसन्तश्चैत्रवैशाखौ ग्रीष्मो ज्येष्ठः शुचिस्तथा ॥
प्रावृट् नभोनभस्यौ तु शरत् स्यादिशकार्त्तिकौ ।
सहःपौषौ च हेमन्तः शिशिरो माघफाल्गुनौ ॥
षड़िमे ऋतवः प्रोक्ताः यज्ञादौ विहिताः पृथक् ।
नृणां मानेन दशभिर्लक्षैः सप्तभिरुत्तरैः ॥
साष्टाविंशतिसाहस्रैर्म्मानं कृतयुगस्य च ।
सन्ध्या चतुःशतानीह वर्षाणामन्तरालतः ॥
सन्ध्यांशस्तावता प्रोक्तस्तदन्तर्गत ईप्सितः ।
त्रेता द्वादशभिर्लक्षैर्म्मानुषैर्व्वत्सरैर्भवेत् ॥
षण्णवत्या सहस्रैश्च सन्ध्या च स्यात् शतत्रयम् ।
शतत्रयन्तु सन्ध्यांशस्तदन्तः परिकीर्त्तितः ॥
चतुःषष्टिसहस्राणि लक्षाण्यष्टौ प्रमाणतः ।
भवेद्युगं द्वापराख्यं तेषु सन्ध्या शतद्वयम् ॥
शतद्वयन्तु सन्ध्यांशस्तदन्तर्गत इष्यते ।
द्वात्रिंशत्तु सहस्राणि चतुर्लक्षाणि वै कलेः ।
संवत्सरैर्भवेन्मानं सन्ध्यैकं प्रोच्यते शतम् ॥
वत्सराणामेकशतं सन्ध्यांशश्च तदन्तरे ।
एवं कृतञ्च त्रेता च द्वापरश्च तथा कलिः ॥
मानुषेण प्रमाणेन भवेद्युगचतुष्टयम् ।
त्रिचत्वारिंशता लक्षैर्मानं चतुर्युगं भवेत् ॥
सहस्रैरपि विंशत्या सन्ध्यासन्ध्यांशसंयुतम् ।
दैवं दिनं वत्सरेण मानुषेण सरात्रकम् ॥
एवं क्रमं गणित्वा तु मानुषैश्चतुर्युगम् ।
दैवं द्वादशसाहस्रं वत्सराणां प्रकीर्त्तितम् ॥
दैवैर्द्वादशसाहस्रैर्व्वत्सरैर्दैविकं युगम् ।
तदचतुर्युगं नृणां सन्ध्यासन्ध्यांशसंयुतम् ॥
देवानान्तु कृतं त्रेता द्वापरादिव्यवस्थया ।
न युगव्यवहारोऽस्ति न च धर्म्मादिभिन्नता ॥
किन्तु चातुर्युगं नारं भवेद्दैवयुगं सदा ।
दैवैरेव च सप्तत्या युगैर्म्मन्वन्तरं भवेत् ॥
दैवे युगसहस्रे द्वे ब्रह्मणः स्यादहर्न्निशम् ।
चतुर्युगसहस्रे द्वे नृणां मानेन तद्भवेत् ॥
एकस्मिन् ब्राह्मदिवसे मनवः स्युश्चतुर्द्दश ।
एवं ब्राह्मेण मानेन दिवसैस्तु त्रिभिः शतैः ॥
सषष्टिभिर्व्वत्सरः स्याद्ब्राह्मणो वर्षो नृणां यथा ।
ब्राह्मैः पञ्चशता वर्षैः परार्द्धः परिकीर्त्तितः ॥
तदीश्वरस्य दिवसं तावती रात्रिरिष्यते ।
शतेन ब्रह्मणो वर्षैः कालः स्यात् द्विपरार्द्धकः ॥
परार्द्धद्वितयेऽतीते ब्रह्मणः प्रलयो भवेत् ।
प्रलीने ब्रह्मणि परे जगतां प्राकृतो लयः ॥
समस्तजगदाधारमव्ययं यत् परात्परम् ।
तस्य ब्रह्मस्वरूपस्य दिवारात्रश्च तद्भवेत् ।
तत्परं नाम तस्यार्द्धं परार्द्धमभिधीयते ॥”
इति श्रीकालिकापुराणे २४ अध्यायः ॥*॥
किञ्च ।
“अक्षिपक्ष्मपरिक्षेपो निमेषः परिकीर्त्तितः ।
द्वौ निमेषौ त्रुटिर्नाम द्वे त्रुटी तु लवः स्मृतः ॥
द्विलवः क्षण इत्युक्तः काष्ठा प्रोक्ता दश क्षणाः ।
दश काष्ठाः किला नाम तत्संख्या स्याच्च घाटिका ॥
घटिके द्वे मुहूर्त्तः स्यात्त्रिंशता दिवानिशम् ।
चतुर्व्विंशतिवेलाभिरहोरात्रं प्रचक्षते ॥
सूर्य्योदयादिविज्ञेयो मुहूर्त्तानां क्रमः सदा ।
पश्चिमादर्द्धरात्रादिहोराणां विद्यते क्रमः ॥” ।
इति वह्निपुराणे गणभेदनामाध्यायः ॥*॥
अपरं नृसिंहपुराणे २ अध्याये कौर्म्मे ६ अध्याये च द्रष्टव्यम् ॥

समयकारः, पुं, (समयस्य कारः करणम् ।) सङ्केतः । यथा,—
“प्रशास्तिः परिभाषा शैली सङ्केतसमयकाराश्च ।”
इति त्रिकाण्डशेषः ॥

समया, व्य, (समयनमिति । सम् + इण गतौ + “आः समिण्निकषिभ्याम् ।” उणा० ४।१७४। इति आप्रत्ययः ।) निकटः । अस्य पर्य्यायः । निकषा २ हिरुक् ३ । इत्यमरः ॥ (यथा, शिशुपालवधे । ६ । ७३ ।
“कुटजानि वीक्ष्य शिखिभिः शिखरीन्द्रं
समयावनौ घनमदभ्रमराणि ।
गगनञ्च गीतनिनदस्य गिरोच्चैः
समया वनौघनमदभ्रमराणि ॥”)
मध्यः । इति चामरः । ३ । ३ । २५१ ॥
“समया निकटे मध्ये मध्ये च निकषान्तिके ।”
हिरुङ्मध्ये विनार्थे च————॥”
इति रुद्रः ॥
हिरुगुक्तञ्च सामीप्ये । इत्यमरमाला ॥ काल-विज्ञापनम् । इति शब्दरत्नावली ॥

समरः, पुं, क्ली, (सम्यक् अरणं प्रापणमिति सं + ऋ गतौ + अप् । यद्वा, सम्यक् ऋच्छन्त्यत्रेति । “मन्दरकन्दरशीकरेति ।” बाहुलकात् अरप्रत्ययेन साधुः । इत्युज्ज्वलः । ३ । १३१ ।) युद्धम् । इत्यमरः ॥ (यथा, रघुः ।१२।८२।
“इतराण्यपि रक्षांसि पेतुर्वानरकोटिषु ।
रजांसि समरोत्थानि तच्छोणितनदीष्विव ॥”)

समरभः, पुं, (समरवत् भातीति । भा + कः ।) रतिबन्धविशेषः । तस्य लक्षणं यथा,—
“स्वजङ्घाद्वयसंयुक्तं कृत्वा योषित्पदद्वयम् ।
स्तनौ धृत्वा रमेत् कामी बन्धः समरभः स्मृतः ॥”
इति रतिमञ्जरी ॥

समरूप्यः, त्रि, (समादागत इति । सम + “हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः ।” ४ । ३ । ८१ । इति रूप्यः ।) समस्य साधोर्भूतपूर्व्वो गवादिः । समशब्दात् रूप्यप्रत्ययेन निष्पन्नः ॥

समर्थः, त्रि, (समर्थयते इति । सं + अर्थ + पचाद्यच् ।) शक्तिष्ठः । (यथा, तिथितत्त्वे ।
“ये समर्था जगत्यस्मिन् सृष्टिस्थित्यन्तकारिणः ।
तेऽपि कालेन लीयन्ते कालो हि बलवत्तरः ॥”)
सम्बन्धार्थः । हितः । इत्यमरः ॥ (यथा, महाभारते । १३ । ५ । २६ ।
“नार्हसे मां सहसाद्य द्रुमं त्याजयितुं चिरात् ।
समर्थमुपजीव्येमं त्यजेयं कथमद्य वै ॥”)

समर्थता, स्त्री, (समर्थस्य भावः । समर्थ+तल् ।) सामर्थ्यम् । शक्तिः । समर्थत्वम् । समर्थशब्दात् तप्रत्ययेन निष्पन्ना ॥

समर्थनं, क्ली, (सम्+अर्थ+ल्युट् ।) इदमुचितमिदमनुचितमिति निश्चयः । तत्पर्य्यायः । संप्रधारणा २ । इत्यमरः ॥ समर्थना ३ । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, कथासरित्सागरे । २५ । ७३ ।
"शक्तिदेवस्य पार्श्वस्थो विष्णुदत्तः समर्थनम् ।
विनोदपूर्व्वकं कुर्व्वन् कथां कथितवानिमाम् ॥")
सामर्थ्यञ्च ॥ (यथा, महाभारते ।१।१३०।१०।
"स तु नागरीयत्वात् तपसश्च समर्थनात् ।
अवतस्थे महाप्राज्ञो धैर्य्येण परमेण ह ॥")

समर्थना, स्त्री, (सम्+अर्थ+युच् । टाप् ।) असाध्येऽध्यवसायः । यथा । सिन्धुमपि शोषयामि । इति मुग्धबोधव्याकरणम् ॥ समर्थनम् । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, महाभारते । ४ । ४ । २४ ।
"समर्थनासु सर्व्वासु हितञ्च प्रियमेव च ।
संवर्णयेत्तदेवास्य प्रियादपि हितं वदेत् ॥")

समर्द्धकः, त्रि, (सम्यगृध्नोतीति । सम्+ऋधु वृद्धौ+ण्वुल् ।) वरदः । इष्टफलदातृदेवतादिः । इत्यमरः ॥

समर्पणं, क्ली, संपूर्व्वस्य ऋधातोर्णौ (णिचि) कृते पनि कृतेऽनट् (ल्युट्) प्रत्ययनिष्पन्नम् । सम्यक्प्रकारेणार्पणम् । साँपोन इति भाषा । यथा,
"प्राणायामं ततः कृत्वा प्रजपेत् साधकाग्रणीः ।
देवीहस्ते जपफलसमर्पणमथाचरेत् ॥"
इति तोड़लतन्त्रे ३ पटलः ॥

समर्य्यादः, पुं, (मर्य्यादया सह वर्त्तमानः ।) समीपः । मर्य्यादासहिते, त्रि । इति मेदिनी ॥

समलं, क्ली, (मलेन सह वर्त्तमानम् ।) विष्ठा । इति शब्दरत्नावली ॥ आविले, त्रि । इति जटाधरः ॥ (कलङ्कविशिष्टे च त्रि । यथा, कथासरित्सागरे । १०६ । ६१ ॥
"समलो योऽस्ति इष्टोऽद्य चन्द्रोऽनेनेति कौतुकात् ।
अधोऽस्ति दर्शितं धात्रा चन्द्रमन्यमिवामलम् ॥")

समवकारः, पुं, (समवकीर्य्यन्ते बहवोऽर्था यस्मिन्निति । सम्+अव+कृ+घञ् ।) नाटकभेदः । यथा,—
"स्यान्नाटकं प्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः ।
व्यायोगः समवकारो वीथ्यङ्केहामृगा इति ।
अभिनेयप्रकाराः स्युर्भाषाः षट् संस्कृतादिकाः ॥"
इति हेमचन्द्रः ॥
(तल्लक्षणादिकं यथा,—
अथ समवकारः ।
"वृत्तं समवकारे तु ख्यातं देवासुराश्रयम् ।
सन्धयो निर्व्विमर्षास्तु त्रयोऽङ्कास्तत्र चादिमे ॥
सन्धी द्वावन्त्ययोस्तद्वदेक एको भवेत् पुनः ।
नायका द्वादशोदात्ताः प्रख्याता देवदानवाः ॥
फलं पृथक् पृथक् तेषां वीरमुख्योऽखिलो रसः ।
वृत्तयो मन्दकैशिक्यो नात्र बिन्दुप्रवेशकौ ॥
वीथ्यङ्गानि च तत्र स्युर्यथालाभं त्रयोदश ।
गायत्र्युष्णिङ्मुखान्यत्र छन्दांसि विविधानि च ॥
त्रिशृङ्गारस्त्रिकपटः कार्य्यश्चायं त्रिविद्रवः ।
वस्तु द्वादशनाड़ीभिर्निष्पाद्यं प्रथमाङ्कगम् ॥
द्वितीयेऽङ्के च तिसृभिर्द्वाभ्यामङ्के तृतीयके ॥
नाड़िका घटिकाद्वयमुच्यते । बिन्दुप्रवेशकौ च नाटकोक्तावपि नेह विधातव्यौ । तत्र ।
धर्म्मार्थकामैस्त्रिविधः शृङ्गारः कपटः पुनः ।
स्वाभाविकः कृत्रिमश्च दैवजो विद्रवः पुनः ॥
अचेतनैश्चेतनैश्च चेतनाचेतनैः कृतः ॥
तत्र शास्त्राविरोधेन कृतो धर्म्मशृङ्गारः । अर्थलाभार्थकल्पितः अर्थशृङ्गारः । प्रहसनशृङ्गारः कामशृङ्गारः । तत्र कामशृङ्गारः प्रथमाङ्क एव । अन्ययोस्तु न नियम इत्याहुः । चेतनाचेतना गजादयः । समवकीर्य्यन्ते बहवोऽर्था अस्मिन्निति समवकारः । यथा, समुद्रमथनम् ।" इति साहित्यदर्पणे ।६।५१५—५१६।)

समवतारः, पुं, तीर्थम् । समवपूर्व्वकतॄधातोर्घञ्प्रत्ययेन निष्पन्नः ॥ (यथा, किराते । ५ । ७ ।
"दधतमाकरिभिः करिभिः क्षतैः
समवतारसमैरसमैस्तटैः ॥")

समवर्त्ती, [न्] पुं, (समं वर्त्तते इति । सम्+वृत्+णिनिः ।) यमः । इत्यमरः ॥ (यथा, महाभारते । १२ । २०७ । ३५ ।
"शासितारञ्च पापानां पितॄणां समवर्त्तिनम् ।
असृजत् सर्व्वभूतात्मा निधिपञ्च धनेश्वरम् ॥")
तुल्यवर्त्तनशीले, त्रि ॥

समवायः, पुं, (समवायते इति । सम्+अव+अय+घञ् ।) समूहः । इत्यमरः ॥ (यथा, मनुः । ४ । १०८ ।
"अनध्यायो ग्रामे समवाये जनस्य च ॥")
सम्बन्धविशेषः । यथा,—
"घटादीनां कपालादौ द्रव्येषु गुणकर्म्मणोः ।
तेषु जातेश्च सम्बन्धः समवायः प्रकीर्त्तितः ॥"
इति भाषापरिच्छेदः ॥
अवयवावयविनोर्गुणगुणिनोः क्रियाक्रियावतोर्जातिव्यक्त्योर्नित्यद्रव्यविशेषयोश्च यः सम्बन्धः स समवायः । इति सिद्धान्तमुक्तावली ॥

समवेतः,त्रि, (सम्+अव+इण्+क्तः।) मिलितः । यथा,—
"धर्म्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्व्वत सञ्जय ॥"
इति भगवद्गीतायाम् १ अध्यायः ॥
समवायसम्बन्धेन वृत्तिः । यथा,—
"यत् समवेतं कार्य्यं भवति
ज्ञेयन्तु समवायिजनकं तत् ।"
इति भाषापरिच्छेदः ॥

समन्वितः, त्रि, सम्यक्प्रकारेण आप्तिविशिष्टः । संपूर्व्वकाप्धातोः शानच्प्रत्ययेन निष्पन्नः ॥

समष्टिः, स्त्री, (सं+अश आप्तौ+क्तिन् ।) समस्तः । मिलितः । यथा,—
"समष्टिरीशः सर्व्वेषां स्वात्मतादात्म्यवेदनात् ।
तदभावात्ततोऽन्ये तु ज्ञायन्ते व्यष्टिसंज्ञया ॥"
इति पञ्चदशी ॥

समष्ठिलः, पुं, (समं तिष्ठतीति । स्था+बाहुलकात् इलच् ।) क्षुपविशेषः । कोकुआँ इति हिन्दी भाषा । तत्पर्य्यायः । भण्डीरः २ नद्याम्रः ३ आम्रगन्धकः ४ कोकाक्षः ५ कण्टकिफलः ६ उपदंशः ७ । अस्य गुणाः । कटुत्वम् । उष्णत्वम् । रुच्यत्वम् । मुखविशोधनत्वम् । कफवातप्रशमनत्वम् । दाहकारित्वम् । दीपनत्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥

समष्ठिला, स्त्री, (समष्ठिल+स्त्रियां टाप् ।) गण्डीरः । इत्यमरः ॥ हे शशा इति ख्याते शमठ इति ख्याते । अनूपदेशजे शाके इति केचित् । गुल्हिया इति ख्याते शाके इति सर्व्वानन्दः । गण्डीनि ग्रन्थियुक्तानि अङ्गानि ईरयति गण्डीरः पच । गण्डं रोगविशेषं ईरयति गण्डीरः शूरणकन्दादिरित्यन्ये । समष्ठिरस्ति जाति समष्ठिला ड: मनीषादित्वात् सत्ववत्वम् । इति भरतः ॥

समष्ठीला, स्त्री, समष्ठिला । यथा,—
"समष्ठोऽपि च गण्डीरः समष्ठीला समष्ठिला ।"
इति शब्दरत्नावली ॥

समसनं, क्ली, (सम्+अस्+ल्युट् ।) संक्षेपणम् । इत्यमरः । (समासः । इति केचित् ।)

समसुप्तिः, पुं, (समेषां सर्व्वेषां सुप्तिर्यत्र ।) कल्पान्तः । महाप्रलयः । इति हेमचन्द्रः । २ । ७५ ॥ (स्त्री, समा सुप्तिरिति ।) तुल्यशयनञ्च ॥

समस्तं, त्रि, (सम्+अस्+क्तः ।) सम्पूर्णम् । तत्पर्य्यायः । समम् २ सर्व्वम् ३ विश्वम् ४ अशेषम् ५ कृत्स्नम् ६ निखिलम् ७ अखिलम् ८ निःशेषम् ९ समग्रम् १० सकलम् ११ पूर्णम् १२ अखण्डम् १३ अनूनकम् १४ । इत्यमरः ॥ अनन्तम् १५ । इति शब्दरत्नावली ॥ अन्यूनम् १६ अनूनम् १७ । इति जटाधरः ॥ (यथा, विष्णुपुराणे । १ । ४ । ३३ ।
"सुक्तान्यशेषाणि सटाकलापो
प्राप्यं समस्तानि छवीषि देव ॥")

समस्थः, त्रि, (समे तिष्ठतीति । स्था+कः ।) समानः । समभावेन स्थितः । समशब्दपूर्व्वकस्थाधातोर्डप्रत्ययेन निष्पन्नः ॥ (यथा, बृहत्संहितायाम् । ५० । २० ।
"परतो न विशेषफलं
विषमसमस्थास्तु पापशुभफलदाः ॥")

समस्थली, स्त्री, (समा स्थली ।) गङ्गायमुनयोर्मध्यदेशः । तत्पर्य्यायः । अन्तर्व्वेदिः २ । इति हेमचन्द्रः ॥

समस्या, स्त्री, (समसनं उक्त्या संक्षेपणम् । सम्+अस्+ण्यत् । संज्ञापूर्व्वकत्वात् वृद्ध्यभावः ।) समस्यते संक्षिप्यतेऽनया समस्या अस्तु इत् लोपे शीघ्रजयजेत्यादिना अप् भिन्नाभि-

प्रायस्य श्लोकादेस्तदीयत्वेन प्रत्यभिज्ञायमानानां भागानां स्वकृतेन परकृतेन वा भागान्तरेण समसनं संघटनं समस्येति माधवी ॥ श्लोकस्य पादेनैकेन द्वाभ्यां त्रिभिर्व्वा पूरणम् । यथा,—
"शम्भुर्वीः किं तवाद्यापि चित्रकाननगामरैः ।
स्मर नारायणं येन त्रेतायां रावणो हतः ॥"
इत्यादिश्लोकादौ पादे पूरणरूपेणायमित्येके । इति रायमुकुटः ॥ तत्पर्य्यायः । समासार्था २ । इत्यमरः ॥ समस्यार्था ३ समासार्था ४ । इति भरतः ॥

समस्यार्था, स्त्री, (समस्या अर्थो यस्याः ।) समस्या । इत्यमरटीकायां भरतः ॥

समज्ञा, स्त्री, यशः । इति शब्दरत्नावली ॥

समा, स्त्री, (षम वैक्लव्ये+पचाद्यच् । ततष्टाप् ।) वत्सरः । इत्यमरः ॥ समति विकलयति भावान् समा षम ष्टम वैक्लव्ये पचादित्वादच् टाप् । समा नित्यबहुवचनान्ताः स्त्रियामिति वामनादयः । समां समां विजायते इत्येकत्वेऽपि दृश्यते इति स्वामी । अतएव समा इति बहुवचनेन क्वचित् पाठः । समेति क्वचिदेकवचनेन । इति तट्टीकायां भरतः ॥ (यथा, रामायणे ।१।२।१५।
"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥")

समांशहारी, [न्] त्रि, (समांशं हरतीति । हृ+णिनिः ।) समभागार्हः । यथा, दायतत्त्वे ।
"समांशहारिणी माता पुत्राणां स्यात् मृते पतौ ॥"

समांशिकः, त्रि, (समांशोऽस्यास्तीति । ठन् ।) समभागार्हः । यथा,—
"यदि कुर्य्यात् समानांशान् पत्न्यः कार्य्याः समांशिकाः ।
न दत्तं स्त्रीधनं यासां दत्ते त्वर्द्धं प्रकीर्त्तितम् ॥"
इति दायतत्त्वम् ॥

समांशी, [न्] त्रि, (समांशोऽस्यास्तीति । इनिः ।) तुल्यभागविशिष्टः । समानभागी । यथा,—
"ज्येष्ठं वा श्रेष्ठभागेन सर्व्वे वा स्युः समांशिनः ॥"
इति दायतत्त्वम् ॥

समांसमीना, स्त्री, (समां समां विजायते इति । "समां समां विजायते ।"५।२।१२। इति खः ।) प्रतिवर्षप्रसूतगवी । इत्यमरः ॥

समाकर्षी, [न्] पुं, (समाकर्षति चित्तमिति । सम्+आ+कृष्+णिनिः ।) अतिदूरगामिगन्धः । तत्पर्य्यायः । निर्हारी २ । इत्यमरः ॥ घ्राणजनकगन्धयुक्ते भक्ष्यादिद्रव्ये द्वयमेतदिति साम्प्रः ॥ तत्र, त्रि ॥

समाख्या, स्त्री, (समाख्यायतेऽनयेति । सम्+आ +ख्या+अङ् ।) कीर्त्तिः । इति शब्दरत्नावली ॥ संज्ञा । यथा,—
"सपिण्डीकरणसमाख्यासिद्ध्यर्थं सुतरां तत्र तथाचरणम् ॥" इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥

समागतः, त्रि, (सम्+आ+गम+क्तः ।) सम्यगागमनविशिष्टः । आगमनाश्रयः । यथा,—
"कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ।
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ॥"
इति भगवद्गीतायाम् । १ । २२ ॥

समागतिः, स्त्री, समागमनम् । समाङ्पूर्व्वगमधातोः क्तिप्रत्ययनिष्पन्नम् ॥

समागमः, पुं, (सं+आ+गम+घञ् ।) सम्यगागमनम् । सम्प्राप्तिः । यथा,—
"रतिशक्तिः स्त्रियः कान्ता भोज्यं भोजनशक्तिता ।
दानशक्तिः सविभवा रूपमारोग्यसम्पदः ।
श्राद्धपुष्पमिदं प्रोक्तं फलं ब्रह्मसमागमः ॥"
इति श्राद्धतत्त्वधृतमत्स्यपुराणवचनम् ॥

समाघातः, पुं, (समाहन्यतेऽत्रेति । सं+आ+हन+घञ् ।) युद्धम् । इत्यमरः ॥ (यथा, साहित्यदर्पणे । ६ । ४२१ ।
"सम्फेटस्तु समाघातः क्रुद्धसत्वरयोर्द्वयोः ॥")
वधः । इति मेदिनी ॥

समाचारः, पुं, (सम्+आ+चर+घञ् ।) सम्यगाचरणम् । यथा,—
"पुण्यश्लोकां समाचारं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।"
इति मात्स्ये ६६ अध्यायः ॥
संवादः । इति लोकप्रसिद्धः ॥

समाजः, पुं, (संवीयतेऽत्रेति । सं+अज+घञ् । "अजेर्व्यघञपोः ।"२ । ४ । ५६ । इति वीभावो न । "अजिव्रज्योश्च ।" ७ । ३ । ६० । इति कुत्वनिषेधः ।) पशुभिन्नानां संघः । इत्यमरः ॥ सभा । इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, भागवते । १० । ४४ । ६ ।
"धर्म्मव्यतिक्रमोऽह्यस्य समाजस्य ध्रुवं भवेत् ।
यत्राधर्म्मः समुत्तिष्ठेन्न स्थेयं तत्र कर्हिचित् ॥")
हस्ती । इति अनेकार्थकोषः ॥

समाज्ञा, स्त्री, (समाज्ञायते इति । सम्+आ+ज्ञा+"आतश्चोपसर्गे ।" इत्यङ् । टाप् ।) समज्ञा । इत्यमरटीकायां भरतः ॥

समादानं, क्ली, (सम्+आ+दा+ल्युट् ।) समीचीनग्रहणम् । सम्यग्ग्रहणम् । (यथा, महाभारते । १३ । ६४ । ३५ ।
"सर्व्वपापसमादानं नृशंसे चानृते च यत् ।
तत्तस्यास्तु सदा पापं यस्ते हरति पुष्करम् ॥")
सौगताह्निकम् । बौद्धानां नित्यकर्म्म । इति मेदिनी ॥

समाधाः, पुं, निष्पत्तिः । विरोधभञ्जनम् । इति लोकप्रसिद्धम् । समाधानम् । समाङ्पूर्व्वधाधातोर्विच्प्रत्ययेन निष्पन्नः ॥

समाधानं, क्ली, (सम्+आ+धा+ल्युट् ।) प्रणिधि मनःस्थिरीकरणम् । चित्तैकाग्र्यम् । तत्पर्य्यायः । अवधानम् २ प्रणिधानम् ३ समाधिः ४ । इति हेमचन्द्रः ॥ निगृहीतस्य मनसः श्रवणादौ तदनुगुणविषये च समाधिः समाधानम् । इति वेदान्तसारः ॥ इदानीं समाधानं लक्षयति । निगृहीतस्येति । शब्दादिविषयेभ्यो निगृहीतस्यान्तःकरणस्य श्रवणादौ तदनुगुणेषु तदुपकारकेषु अमानित्वादिसाधनविषयेषु समाधिनैरन्तर्य्येण तच्चिन्तनं समाधानमित्यर्थः । इति तट्टीकासुबोधिनी ॥ (यथा, भागवते । ३ । २८ । ६ ।
"स्वधिष्ण्यानामेकदेशे मनसा प्राणधारणम् ।
वैकुण्ठलीलाभिध्यानं समाधानं तथात्मनः ॥")
पूर्व्वपक्षस्योत्तरम् । इति लोकप्रसिद्धम् ॥ (नाटकाङ्गविशेषः । यथा, साहित्यदर्पणे ।६।३३८।
"उपक्षेपः परिकरः परिन्यासो विलोभनम् ।
युक्तिः प्राप्तिः समाधानं विधानं परिभावना ।
उद्भेदः करणं भेद एतान्यङ्गानि वै मुखे ॥"
तल्लक्षणादिकं यथा, तत्रैव । ६ । ३४५ ।
'बीजस्यागमनं यत्त तत् समाधानमुच्यते ।
यथा, वेणीसंहारे ।
नेपथ्ये भो भो विराटद्रुपदप्रभृतयः ! श्रूयताम् ।
'यत् सत्यव्रतभङ्गभीरुमनसा यत्नेन मन्दीकृतं यद्विस्मर्त्तुमपीहितं शमवता शान्तिं कुलस्येच्छता ।
तद्द्यूतारणिसम्भृतं नृपसुताकेशाम्बराकर्षणैः क्रोधज्योतिरिदं महत् कुरुवने यौधिष्ठिरं जृम्भते ॥'
अत्र 'स्वस्था भवन्ति मयि जीवति' आदिबीजस्य प्रधाननायकाभिमतत्वेन सम्यगाहितत्वात् समाधानम् ॥"॥)

समाधिः, पुं, (समाधीयतेऽस्मिन् मनो जनैरिति । सम्+आ+धा+"उपसर्गे घोः किः ।" इति किः ।) समर्थनम् । नीवाकः । नियमः । इत्यमरः ॥ (यथा, कुमारे । ५ । ६ ।
"अथानुरूपाभिनिवेशतोषिणा" —
"अथाप्यतारण्यनिवासमात्मनः
फलोदयान्ताय तपःसमाधये ॥")
समर्थनं अशक्ये अध्यवसायः दुर्घटस्य घटनत्वं वा । नीवाको वचनाभावः । इति स्वामी ॥ धान्यादिषु मूल्योत्कर्षपूर्व्वको जनादरः । इति सुभूतिः ॥ नियमः अङ्गीकारः । एते समाधयः । समाधीयतेऽस्मिन् मनो जनैरिति किः । इति भरतः ॥ ध्यानम् । काव्यगुणविशेषः । इति मेदिनी ॥ (अर्थालङ्कारविशेषः । यथा, साहित्यदर्पणे । १० । ७४० ।
"समाधिः सुकरे कार्य्ये दैवाद्वस्त्वन्तरागमात् ॥"
यथा,—
"मानमस्या निराकर्त्तुं पादयोर्मे पतिष्यतः ।
उपकाराय दिष्ट्येदमुदीर्णं घनगर्ज्जितम् ॥"
समाधीयतेऽनेनेति करणे किः । कारणसामग्री । यथा, रघुः । १ । २९ ।
"तं वेधा विदधे नूनं महाभूतसमाधिना ।
तथाहि सर्व्वे तस्यासन् परार्थैकफला गुणाः ॥")
इन्द्रियनिरोधनम् । इति शब्दरत्नावली ॥ * ॥
समाधिलक्षणं यथा, गारुडे ४४ अध्याये ।
"नित्यं शुद्धं बुद्धियुक्तं सत्यमानन्दमद्वयम् ।
तुरीयमक्षरं ब्रह्म अहमस्मि परं पदम् ।
अहं ब्रह्मेत्यवस्थानं समाधिरिति गीयते ॥"

अपि च तत्रैव २४० अध्याये ।
"द्वादशध्यानपर्य्यन्तं मनो ब्रह्मणि यो नरः ।
तुष्टे तु संयतो मुक्तः समाधिः सोऽभिधीयते ॥
ध्येयमेव हि सर्व्वत्र ध्याता तन्मयतां गतः ।
पश्यति द्वतरहितं समाधिः सोऽभिधीयते ॥"
अन्यच्च विष्णुपुराणे । ६ । ७ । ९० ।
"तस्यैव कल्पनाहीनं स्वरूपग्रहणं हि यत् ।
मनसा ध्याननिष्पाद्यं समाधिः सोऽभिधीयते ॥"
अपरञ्च ।
"इमं गुणसमाहारमनात्मत्वेन पश्यतः ।
अन्तः शीतलता यस्य समाधिरिति कथ्यते ॥"
इति योगवाशिष्ठे उपशमप्रकरणम् ॥
योगाङ्गविशेषः । यथा । समाधिस्तु द्विविधः । सविकल्पको निर्व्विकल्पकश्चेति । तत्र सविकल्पको नाम ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयानपेक्षया द्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारितायाश्चित्तवृत्तेरवस्थानम् । तदा मृण्मयगजादिभानेऽपि मृद्भानवत् द्वैतभानेऽप्यद्वैतं वस्तु भासते । तदुक्तमभियुक्तैः ।
"दृशिस्वरूपं गगनोपमं परं
सकृद्विभातं त्वजमेकमक्षयम् ।
अलेपकं सर्व्वगतं यदद्वयं
तदेव चाहं सततं विमुक्तम् ॥
दृशिस्तु शुद्धोऽहमविक्रियात्मको
न मेऽस्ति बन्धो न च मे विमोक्षः ॥"
इत्यादि ॥ * ॥
निर्व्विकल्पकस्तु । ज्ञातृज्ञानादिभेदलयापेक्षया द्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारिताया बुद्धिवृत्तेरतितरामेकीभावेनावस्थानम् । तदा तु जलाकाराकारितलवणानवभासेन जलमात्रावभासवदद्वितीयवस्त्वाकाराकारितचित्तवृत्त्यनवभासेनाद्वितीयवस्तुमात्रमेवावभासते । ततश्चास्य सुषुप्तेश्चाभेदशङ्का न भवति उभयत्र वृत्त्यभाने समानेऽपि तत्सद्भावासद्भावमात्रेणानयोर्भेदोपपत्तेः ॥ अस्याङ्गानि । यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयः । तत्र अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्य्यापरिग्रहाः यमाः ।१। शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।२। करचरणादिसंस्थानविशेषलक्षणानि पद्मस्वस्तिकादीनि आसनानि । ३ । रेचकपूरककुम्भकलक्षणाः प्राणनिग्रहोपायाः प्राणायामाः । ४ । इन्द्रियाणां स्वस्वविषयेभ्यः प्रत्याहरणं प्रत्याहारः । ५ । अद्वितीयवस्तुन्यन्तरिन्द्रियधारणं धारणा । ६ । तत्राद्वितीयवस्तुनि विच्छिद्य विच्छिद्य अन्तरिन्द्रियवृत्तिप्रवाहो ध्यानम् ।७। समाधिस्तु उक्तः सविकल्पक एव । ८ । एवमस्याङ्गिनो निर्व्विकल्पकस्य लयविक्षेपकषायरसास्वादलक्षणाश्चत्वारो विघ्नाः सम्भवन्ति । लयस्तावत् अखण्डवस्त्वनवलम्बनेन चित्तवृत्तेर्निद्रा । १ । अखण्डवस्त्वनवलम्बनेन चित्तवृत्तेरन्यावलम्बनं विक्षेपः । २ । लयविक्षेपाभावेऽपि चित्तवृत्ते रागादिवासनया स्तब्धीभावात् अखण्डवस्त्वनवलम्बनं कषायः । ३ । अखण्डवस्त्वनवलम्बनेनापि चित्तवृत्तेः सविकल्पानन्दास्वादनं रसास्वादः । समाध्यारम्भसमये सविकल्पानन्दास्वादनं वा । ४ । अनेन विघ्नचतुष्टयेन रहितं चित्तं निर्व्वातदीपवदचलं सदखण्डचैतन्यमात्रमवतिष्ठते यदा तदा निर्व्विकल्पकः समाधिरित्युच्यते ॥ * ॥ तदुक्तम् ।
"लये सम्बोधयेत् चित्तं विक्षिप्तं शमयेत् पुनः ।
सकषायं विजानीयात् शमप्राप्तं न चालयेत् ॥
नास्वादयेद्रसं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत् ॥"
इत्यादि । यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते इत्यादि च । इति श्रीसदानन्दयोगीन्द्रविरचितवेदान्तसारः ॥ (स्वनामख्यातवैश्यविशेषः । अयं हि महामायामाराध्य परं ज्ञानमलभत् । अस्य विशेषवृत्तान्तस्तु देवीमाहात्म्ये द्रष्टव्यः ॥)

समाधिस्थः, त्रि, (समाधौ तिष्ठतीति । स्था + कः ।) समाधियुक्तः । यथा,—
"मनः संकल्परहितमिन्द्रियार्थानचिन्तयन् ।
यस्य ब्रह्मणि संलीनं समाधिस्थः स कीर्त्तितः ॥
ध्यायतः परमात्मानमात्मस्थं यस्य योगिनः ।
मनस्तन्मयतां याति समाधिस्थः स कीर्त्तितः ॥"
इति गारुडे गीतासारे २४० अध्यायः ॥

समानं, त्रि, (समानीति सम्यक्प्रकारेण प्राणितीति । सम् + आ + अन + अच् । यद्वा, समानं मानमस्य । समानस्य च्छन्दसीति सः ।) सत् । समम् । (यथा, रघुः । २ । ७४ ।
"भुजे भुजङ्गेन्द्रसमानसारे
भूयः स भूमेर्धुरमाससञ्ज ॥")
एकम् । इति मेदिनी ॥ (यथा, मनुः ।४।४०।
"नोपगच्छेत् प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्त्तवदर्शने ।
समानशयने चैव न शयीत तया सह ॥" * ॥
मानेन सह वर्त्तमानमिति विग्रहे गर्व्वसहितञ्च । यथा, भागवते । १ । १६ । ३६ ।
"स्थैर्य्यं समानमहरत् मधुमानिनीनां
रोमोत्सवो मम यदङ्घ्रिविटङ्किताया: ॥")

समानः, पुं, (समन्तादनित्यनेनेति । सम् + अन + घञ् ।) शरीरस्थवायुविशेषः । स तु नाभिसंस्थितः । इत्यमरभरतौ ॥ (यथा,—
"हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः ॥")
वर्णभेदः । इति हेमचन्द्रः ॥ स तु एकस्थानोच्चार्य्यवर्णः । यथा । साम्यन्त्वेकस्थानत्वम् । इति मुग्धबोधव्याकरणम् ॥

समानकालीनः, त्रि, (समानकाले भवः । समानकाल + खः ।) तुल्यकालोत्पत्तिकः । यथा । गोषु दुह्यमानासु आगतः दुग्धास्वागत इत्यादौ समानकालीनत्वं भाषते । तेन गोविषयकवर्त्तमानदोहनकालीनगमनानुकूलकृतिमान् । एवं गोविषयकातीतदोहनसमानकालीनातीतगमनानुकूलकृतिमानिति बोधः । इति सारमञ्जरी ॥

समानोदकः, पुं, (समानं एकं तर्पणकाले देयमुदकं यस्य ।) एकोदकः । स तु ज्ञातिविशेषः । तर्पणे समानं एकमुदकमस्य । यथा,
"जातो नङ्गः सगोत्रस्तु स्वजनज्ञातिबान्धवाः ।
सकुल्यबन्धुदायादस्वसमानोदका अपि ॥"
इति जटाधरः ॥
स तु चतुर्द्दशपुरुषपर्य्यन्तः जन्मनामस्मृतिपर्य्यन्तश्च । तत्र आद्यस्यैकादशपुरुषावधिचतुर्द्दशपुरुषपर्य्यन्तस्याशौचं पक्षिणी द्वितीयस्यैकाहः । यथा । उदकक्रियामधिकृत्य पारस्करः । सर्व्वे ज्ञातयो भावयन्ति । आसप्तमाद्दशमाद्वा समानग्रामवासेन यावत् सम्बन्धमनुस्मरेयुर्व्वा इति भावयन्ति निष्पादयन्ति अत्र यावत् सम्बन्धमनुस्मरेयुरेककुलजाता वयमिति स्मरणं भवतीत्यनेनैव सर्व्वेषामुदकदाने प्राप्ते यदासप्तमाद्दशमादुक्तं तत्सन्निकर्षतारतम्येनाशौचभेदेऽप्युदककर्म्म समानार्थमिति । अशौचभेदस्तु सप्तमपुरुषपर्य्यन्तं सपिण्डत्वाद्दशाहः । ततश्च दशमपुरुषपर्य्यन्तं त्र्यहः । तथा च विष्णुबृहस्पती ।
"दशाहेन सपिण्डास्तु शुध्यन्ति मृतसूतके ।
त्रिरात्रेण सकुल्यास्तु स्नात्वा शुध्यन्ति गोत्रजाः ॥"
ततश्चतुर्द्दशपुरुषपर्य्यन्तं पक्षिणी ततश्च जन्मनामस्मृतिपर्य्यन्तमेकाहः । तथा च मिताक्षराविवादचिन्तामण्योर्बृहन्मनुः ।
"सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्त्तते ।
समानोदकभावस्तु निवर्त्तेताचतुर्द्दशात् ॥
जन्मनामस्मृतेरेके तत्परं गोत्रमुच्यते ॥"
अत्र समानोदकत्वे द्विविधे पूर्व्वत्र गोतमः पक्षिणीमसपिण्डे । परत्र हारीतः । मातामहे त्रिरात्रं स्यादेकाहस्त्वसपिण्डके इति । अत्रैव गोत्रजानामहः स्मृतमिति जावालवचनम् ततः परं सर्व्वथा समानोदकतानिवृत्तेः स्नानमात्रमिति स्नात्वा शुध्यन्ति गोत्रजा इति बृहस्पत्युक्तत्वादिति । इति शुद्धितत्त्वम् ॥

समानोदर्य्यः, पुं, (समाने उदरे शयितः । "समानोदरे शयित ओ चोदात्तः ।" ४।४।१०८ । इति यत् । "विभाषोदरे ।" ६ । ३ । ८८ । इति पक्षे सादेशो न ।) सहोदरः । इत्यमरः ॥ (यथा, भट्टिः । ७ । ८६ ।
"समानोदर्य्यमस्माकं जटायुश्च सुधादरात् ॥")

समापः, पुं, (समा आपो यस्मिन् । ऋक्पूरित्यः । "समाप ईत्वे प्रतिषेधो वक्तव्यः ।" ६।३।९७ । इत्यस्य वार्त्तिकोक्त्या ईत्वप्रतिषेधः ।) देवयजनम् । इति मुग्धबोधव्याकरणम् ॥

समापकः, त्रि, समापनकर्त्ता । समापयति यः संपूर्व्वापधातोर्णकप्रत्ययेन निष्पन्नः । यथा,—
"आख्यातास्तिवादयस्तेषाञ्च प्रधानत्वं वाक्यसमापकत्वात् ।" इति दुर्गादासः ॥

समापनं, क्ली, (सम् + आप् + ल्युट् ।) परिच्छेदः । समाप्तिः । (यथा, मनुः । ५ । ८८ ।
"आदिष्टी नोदकं कुर्य्यादाव्रतस्य समापनात् ।
समाप्ते तूदकं कृत्वा त्रिरात्रेणैव शुध्यति ॥")

वधः। इति मेदिनी॥ समाधानम्। इति विश्वः॥ सभ्रम्। इति धरणिः॥

समापन्नं, त्रि, (सम्+आ+पद्+क्तः।) समाप्तः। प्राप्तः। क्लिष्टः। वधः। इति विश्वः॥

समापिका, स्त्री, (समापयतीति। सम्+आप+ण्वुल्। टापि अत इत्वम्।) वाक्यसमापकक्रिया। तत्र तिबादयो भवन्ति। यथा। देवदत्तो गच्छति। क्वचित् क्तान्तादिपदेनापि वाक्यसमाप्तिः। यथा। गाम्ना इष्टः शिवो जनैः। क्वचित् तथाद्यन्तक्रियाया अपि वाक्यसमापकत्वम्। यथा। मया कां दिशं गन्तव्यम्। काइन्तिकी क्रिया असमापिका। तत्र शत्रादयो भवन्ति। यथा। गच्छन् भुङ्क्ते। भुक्ता व्रजति। इति व्याकरणटीका॥

समापितं, त्रि, (सम्+आप्+णिच्+क्तः।) कृतसमापनम्। यथा,—

"आरब्धं मलमासात् प्राक् यत् कर्म्म न
समापितम्।
आगते मलमासेऽपि तत् समाप्यं न संशयः॥"
इति मलमासतत्त्वम्॥

समाप्तः, त्रि, (सम्+आप्+क्तः।) समापनप्राप्तः। समाप्तिविशिष्टः। यथा,—

"समाप्तिं यदि जानीयान्मयैतदन्यथाकृतम्।
यतस्तदन्यथाभूतं तत एव समापयेत्॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम्॥

समाप्तालः, पुं, (समाप्ताय अलतीति। अल+अच्।) पतिः। इति संक्षिप्तसारोणादिवृत्तिः॥

समाप्तिः, स्त्री, (सम्+आप्+क्तिन्।) अवसानम्। (यथा, कुमारे। ३। २७।

"सद्यः प्रवालोद्गमचारुपत्रे
नीते समाप्तिं नवचूतबाणे।
निवेशयामास मधुर्द्विरेफान्
नामाक्षराणीव मनोभवस्य॥")

समर्थनम्। इति मेदिनी॥ परिप्राप्तिः। इति शब्दरत्नावली॥

समाप्तार्था, स्त्री, (समाप्ता अर्थो यस्याः।) समस्या। इति समासार्थाशब्दटीकायां भरतः॥

समाप्यं, त्रि, (सम्+आप्+ण्यत्।) समापनीयम्। समापितव्यम्। अस्य प्रमाणं समापितशब्दे द्रष्टव्यम्॥

समायोगः, पुं, (सम्+आ+युज+घञ्।) संयोगः। (यथा, मनुः। ९। ३३।

"क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः
पुमान्।
क्षेत्रबीजसमायोगात् सम्भवः सर्व्वदेहिनाम्॥")

समवायः। प्रयोजनम्। इति मेदिनी॥

समालम्बी, [न्] पुं, (समालम्बते इति। सम्+आ+लम्ब+णिनिः।) भूतृणम्। इति राजनिर्घण्टः॥

समालम्भः, पुं, (सम्+आ+लभ+घञ्। "उपसर्गात् खलघञोः।" ७। १। ६७। इति नुम्।) कुङ्कुमादिविलेपनम्। इत्यमरः॥ (यथा, महाभारते। १३। १३१। ६।

"गोरोचनासमालम्भो वचाहस्तश्च यो भवेत्।
घृताक्षतञ्च यो दद्यात् मस्तके तत्परायणः।
ये च मांसं न खादन्ति तान्न शक्नुम हिंसितुम्॥"

मारणम्। यथा, महाभारते। १२। ३४। २८।

"वृथा पशुसमालम्भं नैव कुर्य्यान्न कारयेत्॥")

समालम्भनं, क्ली, (सम्+आ+लभ+ल्युट्।) कुङ्कुमादिविलेपनम्। तत्पर्य्यायः। विच्छित्तिः २ कषायः ३। इति त्रिकाण्डशेषः॥ समालम्भः ४ विलेपनम् ५। इत्यमरः॥ (यथा, रामायणे। ४। २६। २८।

"समालम्भनमादाय गोरचनमनःशिलाम्।
आजग्मुस्तत्र मुदिता वराः कन्याश्च षोड़श॥")

सम्यङ्मारणम्। सम्यक्स्पर्शनम्। यथा। अत ऊर्द्ध्वसमालम्भनमाशौचशरात्राद्विति गोभिलसूत्रम्॥

समाली, स्त्री, कुसुमाकरः। इति त्रिकाण्डशेषः॥

समावर्त्तनं, क्ली, (सम्+आ+वृत्+ल्युट्।) वेदाध्ययनानन्तरं गार्हस्थ्याधिकारप्रयोजकं कर्म्म। यथा। "अथ समावर्त्तनम्। ज्योतिषे।

'भौमभानुजयोर्व्वारे नक्षत्रे च व्रतोदिते।
ताराचन्द्रविशुद्धौ च समावर्त्तनमिष्यते॥'

गोभिलः। अथाप्लवनम्। अथ व्रतानन्तरमाप्लवनं स्नानं कुर्य्यादिति शेषः। उत्तरतः पुरस्तादाचार्य्यकुलस्य परिव्रतं भवति। आचार्य्यगृहादुत्तरस्यां पूर्व्वस्यां वा स्नानार्थमावृतं स्नानं कुर्य्यात्। अत्र प्रागग्रेषु दर्भेषु उदगाचार्य्य उपविशति तत्रावृते उदक् उदङ्मुखः प्राक् ब्रह्मचार्य्युदगग्रेषु दर्भेषु। प्राक् प्राङ्मुख उपविशतीत्यन्वयः। सर्व्वौषधिविफाण्टाभिरद्भिर्गन्धवतीभिः शीतोष्णाभिराचार्य्योऽभिषिञ्चेत्। सर्व्वौषधयश्च।

'व्रीहयः शालयो मुद्गा गोधूमाः सर्षपास्तिलाः।
यवाश्चौषधयः सप्त विपदो घ्नन्ति धारिताः॥'

इति छन्दोगपरिशिष्टोक्ताभिः तेषु या आपो विफाण्टा विपक्वा उष्णीकृतास्ताः सर्व्वौषधिविफाण्टास्ताभिर्गन्धवतीभि-श्चन्दनादि-गन्धद्रव्ययुक्ताभिः शीतोष्णाभिः शीतोदकमिश्रिताभिरिति भट्टभाष्यम्॥ स्वयमिव तु मन्त्रवर्णो भवति। इवशब्द एवार्थे। स्वयमेव ब्रह्मचारी आत्मानमभिषिञ्चेत्। आचार्य्यकर्तृकाभिषेकस्तु परमतो यतो मन्त्रवर्णा भवन्ति। मन्त्रवर्णः अभिषेकमन्त्रलिङ्गं तत्र तेनाहं मामभिषिञ्चामि इति तेन मामभिषिञ्चितमिति च। तद्विधिमाह। येऽप्स्वन्तरग्नयः प्रविष्टा इत्यपामञ्जलिमवसिञ्चति। येऽप्स्वन्तरग्नय इति मन्त्रेण तासामपामञ्जलिं ब्रह्मचारी अवसिञ्चति। क्व भूमौ कुतः अवसिञ्चति वचनात्। तन्मन्त्रस्याभिहितान् सृजामीति यदपामिति मन्त्रस्याभिहितान् सृजामि इति मन्त्रलिङ्गदयाच्च सर्व्वाधारत्वेन प्राप्तायां भूमौ त्यजति। यदपां घोरं यदपां क्रूरं यदपामशान्तमिति च। अपामञ्जलिमवसिञ्चतीति वर्त्तते चकारात्। यो रोचनस्तमिह गृह्णामीत्यात्मानमभिषिञ्चति। प्रकृतानामपामञ्जलिना यो रोचन इति मन्त्रेण ब्रह्मचारी आत्मानमभिषिञ्चति। ओम् यशसे तेजसे इति च। आत्मानमभिषिञ्चतीति वर्त्तते। येन स्त्रियमकृणुतमिति च। आत्मानमभिषिञ्चतीति वर्त्तते। तूष्णीं चतुर्थम्। आत्मानमभिषिञ्चतीति वर्त्तते। अभिषेकः शिरसि कर्त्तव्यः शिरः प्रधानमङ्गानामिति वचनात्। उपोत्थायादित्यमुपतिष्ठेत उद्यन् भ्राजभृष्टिभिरित्येतत्प्रभृतिमन्त्रेण। आचार्य्यसमीपादुत्थाय उद्यन्नित्येतत्प्रभृतिमन्त्रेण मा हिंसीरित्यन्तमन्त्रेणादित्यमुपतिष्ठेत उपांशुमन्त्रेण चेत्यात्मनेपदम्। मेखलामवमुञ्चते उदुत्तमं वरुणमिति। अवमुञ्चते अधस्तादवसारयति अवशब्दो अधस्तादर्थे। ब्राह्मणान् भोजयित्वा स्वयं भुक्त्वा केशश्मश्रुरोमनखानि वापयतीति शिखावर्ज्जम्। ब्राह्मणान् भोजयित्वा स्वयं भुक्त्वा नापितेन मुण्डयीत। अत्र शिखावर्ज्जमिति वचनात् प्राक् सशिखं वपनमिति दर्शयति। उक्तञ्च। सशिखं वपनं कार्य्यमास्नानात् ब्रह्मचारिणा इति। स्नात्वा अलङ्कृत्याहते वाससी परिधाय स्रजमावध्नीत श्रीरसि मयि रमस्वेति। अलङ्कृत्य कुण्डलादिनात्मानं योजयित्वा आहते।

'ईषद्धौतं नवं शुभ्रं सदशं यन्न धारितम्।
आहतं तद्विजानीयात् सर्व्वकर्म्मसु पावनम्॥'
इति वशिष्ठोक्तलक्षणे।

ईषत् स्वल्पम्। न धारितं न परिधानादि कृतम्। स्रजं ग्रथितपुष्पं आवध्नीत शिरसीति शेषः। श्रीरसीति मन्त्रेण। नेत्र्यौ स्थो नयतं मामित्युपानहौ। आवध्नीतेत्यनुवर्त्तते। उपानहौ चर्म्मपादुके योग्यत्वात् पादयोः। गन्धर्व्वोऽसीति मन्त्रेण वैणवं दण्डं गृह्णाति। वैणवं वंशप्रभवं गन्धर्व्वोऽसीति मन्त्रेण। आचार्य्यं सपरिषत्कमभ्येत्याचार्य्यपरिषदमीक्षते। यक्षमिव चक्षुषः प्रियो वो भूयासमिति। सपरिषत्कं शिष्यादिसभासहितं अभ्येत्याभिमुखेन गत्वा आचार्य्यं परिषदञ्चेक्षते यक्षमिति मन्त्रेण। उपोपविश्य मुख्यान् प्राणान् संमृशन् ओष्ठापिधाना नकुलीति उपाचार्य्यसमीपे मुख्यान् प्राणान् मुखप्रभवान् वायून् संस्पृशन् स्नातकः। ओष्ठापिधानमिति मन्त्रं जपेत्। अत्रैनमाचार्य्योऽर्हयेत्। अत्रावसरे एनं स्नातकं विवाहोक्तवरार्हणविधिनार्च्चयेत्। तदशक्तौ गन्धपुष्पाभ्याम्। गोयुक्तं रथमुपक्रम्य पक्षसी कूवरबाहूराभिमृशेत्। वनस्पतिविड्वङ्गो हि भूया इति। पक्षसी चक्रे। कूवरं रथिकस्थानम्। बाहूरं रथरेखित्यर्थः। वनस्पतीति मन्त्रेणाभिमृशेत् स्पृशेत्। आस्था ते जयतु जेत्वानीत्यातिष्ठति। रथमारुह्य आस्था ते जयतु जेत्वानीति वन-

स्यते इत्यादिमन्त्रस्य चतुर्थपादेनातिष्ठति। उपविशति प्राग्वा उदग्वाभिप्रयाय प्रदक्षिणमावृत्या उपयाति। तेन रथेन प्राङ्मुखो वा प्रयाय प्रकर्षेण गत्वा उपयाति आचार्य्यसमीपमागच्छति उपयातायार्घ्यमिति कौहनीयाः। उपयातायाचार्य्यसमीपमागतायार्घ्यं देयमिति कौहनीया आचार्य्या आहुः। रथाभावेऽपि मन्त्रपाठाचारः। चरुकरणे तण्डुलादाववघातादिवत्। अस्य कर्म्मणः समावर्त्तनसंज्ञापि।

'गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।
उद्वहेत द्विजो भार्य्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्॥'
इति मनूक्तेः॥

स्पष्टं शौनककारिकायाम्। कुर्व्वीत स्वयमेवैतत् समावर्त्तनसंज्ञकम्।” इति संस्कारतत्त्वम्॥

समावायः, पुं, समूहः। इत्यमरटीकायां भरतः। (यथा, भागवते। २। ८। १३।

“यस्मिन् कर्म्मसमावायो यथा येनोपगृह्यते।
गुणानां गुणिनाञ्चैव परिणाममभीप्सताम्॥”)

समावृतः, त्रि, (सम्+आ+वृ+क्तः।) सम्यक्प्रकारेण आवृतः। यथा,—

“जय त्वं कालि सर्व्वेशे सर्व्वभूतसमावृते।
रक्ष मां निजभूतेभ्यो बलिं भुङ्क्ष्व नमोऽस्तु ते॥”
इति दुर्गार्च्चाप्रयोगतत्त्वम्॥

समावृत्तः, पुं, (सम्+आ+वृत्+क्तः।) वेदाध्ययननिवृत्तः। तत्पर्य्यायः। लब्धानुज्ञः २। इत्यमरः॥ साङ्गवेदाध्ययनानन्तरं त्वमिदानीं गृहस्थो भव इति गार्हस्थ्याय प्राप्तानुमतिः समावृत्त उच्यते। समावर्त्तते अध्ययनान्निवर्त्तते इति समाङ्पूर्व्वात् वृतेः कर्त्तरि क्ते समावृत्तः। इति भरतः॥

“अतः परं समावृत्तः कुर्य्याद्दारपरिग्रहम्।”
इति उद्वाहतत्त्वञ्च॥ * ॥

तस्य सर्व्वाशौचे मुण्डनं यथा अशौचाधिकारे आपस्तम्बः। अनुभाविनाञ्च परिवापनमिति। अनुभाविनां स्वाशौचमनुभवतां समावृत्तानां सर्व्वाशौचे मुण्डनम्। यत् पुनरापस्तम्बः। न समावृत्ता वपेयुरन्यत्र वीहारादित्येके। वीहारात् दर्शपौर्णमासाङ्गयागविशेषादन्यत्र समावृत्ता गृहस्था न वपेयुः। इत्येकेषां मतम्। तत् काम्यपरम्। इति शुद्धितत्त्वम्॥

समावृत्तकः, पुं, (समावृत्त एव। स्वार्थे कन्।) समावृत्तः। इति शब्दरत्नावली॥

समावेशः, पुं, (सम्+आ+विश+घञ्।) एकत्र सहावस्थानम्। यथा। अर्थसाधनत्वं बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्वम्। अनर्थसाधनत्वं बलवदनिष्टसाधनत्वम्। न चानयोरेकत्र समावेशः। इति तिथ्यादितत्त्वे वैधहिंसाविचारः॥ (यथा, हरिवंशे भविष्यपर्व्वणि। १। ६।

“परस्परसमावेशात् जगतः पालने स्थितौ।
तयोस्तत्र यथावृत्तं कैलाशे पर्व्वतोत्तमे॥”)

समावेशितः, त्रि, सहावस्थितः॥ प्रविष्टः। समावेशप्राप्तः॥ समावेश-शब्दादितप्रत्ययेन निष्पन्नः॥

समाश्रयः, पुं, (सम्+आ+श्रि+अच्।) सम्यगाश्रयः। (यथा, रघुः। ८। १२।

“तमरण्यसमाश्रयोन्मुखं
शिरसा वेष्टनशोभिना सुतः।
पितरं प्रणिपत्य पादयो-
रपरित्यागमयाचतात्मनः॥”)

सम्यगाधारः। सहायः। समाङ्पूर्व्वकश्रिधातोरल्प्रत्ययेन निष्पन्नः॥

समाश्रितः, त्रि, (सम्+आ+श्रि+क्तः।) सम्यक्प्रकारेणाश्रितः। यथा,—

“रवेः कवेः किं समरस्य सारः
कवेर्भयं किं किमदन्ति भृङ्गाः।
सदा भयञ्चाप्यभयञ्च केषां
भागीरथीतीरसमाश्रितानाम्॥”
इत्यन्तर्लापिका॥

समासः, पुं, (सम्+अस्+घञ्।) संक्षेपः। (यथा, मनुः। ७। २०२।

“सर्व्वेषान्तु विदित्वैषां समासेन चिकीर्षितम्।
स्थापयेत् तत्र तद्वंश्यं कुर्य्याच्च समयक्रियाम्॥”)

समर्थनम्। इति मेदिनी॥ समाहारः। इति हलायुधः॥ एकपद्यम्। इति हेमचन्द्रः॥ समसनं पदयोः पदानां वा एकपदीकरणं समासः। इति संक्षिप्तसारव्याकरणम्॥ स च षड्विधः। द्वन्द्वः १ बहुव्रीहिः २ कर्म्मधारयः ३ तत्पुरुषः ४ द्विगुः ५ अव्ययीभावः ६। तेषां लक्षणं यथा। भिन्नान्यैकार्थद्व्यादिसंख्याव्ययादीनां च-ह-य-ष-ग-वाः। इति मुग्धबोधव्याकरणम्॥ * ॥ अपि च।

“नाम्नां समासो युक्तार्थस्तत्स्था लोप्या विभक्तयः॥”

इति वैयाकरणाः॥ तस्य सामान्यलक्षणं यथा। अभिधानाश्रितलोपाभाववदन्यमध्यवर्त्तिविभक्तिशून्यनाम-समुदायत्वं समासत्वम्। तत्र कर्म्मधारय-द्विगुतत्पुरुष-बहुव्रीहि-द्वन्द्वाव्ययीभावाः षट् समासा भवन्ति। तत्र कर्म्मधारयत्वं समासनियतलक्षणाशून्यासंज्ञाख्यसंख्यावाचक पूर्व्वपदकान्यमध्यवर्त्तिविभक्तिशून्यतुल्याधिकरणपदसमुदायत्वम्। यथा नीलोत्पलमित्यादि॥ १॥

तत्र द्विगुत्वम्। समासाधीनलक्षणाशून्यमध्यपदवर्त्तिविभक्ति-शून्यासंज्ञाख्यसंख्यावाचक-पूर्व्वपदक-तुल्याधिकरणनामसमुदायत्वम्। स च तद्धितार्थे विषयीभूते तद्धितार्थेऽभिधेये उत्तरपदे वा समाहारे वाभिधेये भवति। उत्तरपदं पारिभाषिकं यत्पदघटितसमासान्तर्व्वर्त्ति द्विगुस्थपदं तत् पदम्। तेन च पञ्चगावो धनानीत्येवासमस्तप्रयोगो न तु पञ्चगवानि धनानि इति। तद्धितार्थे विषयीभूते यथा पञ्चगर्गरूप्यः पञ्चब्राह्मण्यः पञ्चनापितिः द्वैनाविकमित्यादि। तद्धितार्थेऽभिधेये यथा पञ्चकपालः ओदनः। समासस्य संस्कृतोऽर्थः संस्कारे प्रयोज्यतासम्बन्धेन पञ्चकपालस्यान्वयो व्युत्पत्तिवैचित्र्यात् तथा च पञ्चकपालप्रयोज्यसंस्काराश्रयाभिन्न ओदनः। तद्धितार्थस्य समासेनाभिधानात् न तद्धितप्रत्ययाः समाहारेऽभिधेये यथा पञ्चगवं चतुष्पथं द्विपात्रं त्रिभुवनं चतुर्युगमित्यादयः। उत्तरपदे यथा। पञ्चगवधनः इत्यादि॥२॥

तत्पुरुषत्वन्तु। समासाधीनलाक्षणिकविशेषणपदकमध्यवर्त्ति विभक्ति-शून्यनामसमुदायत्वम्। यथा। राजपुरुषः। कष्टाश्रितः। पुरुषोत्तमः। इत्यादि॥ ३॥

समासप्रयुक्तलक्षणानियतोत्तरपदकसमासत्वं बहुव्रीहित्वम्। समासाधीनलाक्षणिकविशेष्यवाचकपदकमध्यवर्त्तिविभक्तिशून्यनामसमुदायत्वं वा सम्बन्धिलाक्षणिकत्वव्याप्योत्तरपदकत्वं वा बहुव्रीहित्वम्। बहुव्रीहिश्च द्विविधः। समानाधिकरणो व्यधिकरणश्च। यथा चित्रगुः। गृहधान्यकक्षेत्रः। आरूढवानरो वृक्षः। इत्यादि॥ ४॥

स्वघटकीभूतप्रत्येकपदार्थान्वितार्थकसोत्तरविभक्तिकमध्यवर्त्ति विभक्तिशून्यनामसमुदायत्वं द्वन्द्वत्वम्। यथा धवखदिरपलाशांश्छिन्धि। इति। द्विविधो द्वन्द्वः। इतरेतरयोगः समाहारश्च। यत्र समाहारस्यावयवार्थः प्रधानं तत्रेतरेतरयोगः द्विवचनेऽपि तत्रैव। यथा। देवदत्तयज्ञदत्तौ। धवखदिरपलाशाः। इति। यत्र संहतिप्राधान्यं तत्र समाहारस्तत्रैकवचनं नपुंसकलिङ्गता च। यथा वागदृशदं हस्त्यश्वम्। इत्यादि॥ ५॥

समासप्रयुक्तलक्षणाशून्यावयवपूर्व्वपदकमध्यवर्त्तिविभक्तिशून्यतत्पुरुषान्यनामसमुदायत्वं अव्ययीभावत्वम्। यथा। उपकुम्भं अघटं निर्म्मक्षिकं अधिस्त्रि इत्यादि॥ ६॥ इति समासवादः॥ * ॥ अन्यच्च। यौगिकेषु समासं लक्षयति।

'यादृशस्य महावाक्यस्यान्तस्वादिनिजार्थके।
यादृशार्थस्य धीहेतुः स समासस्तदर्थकः॥”

यादृशमहावाक्योत्तरः त्वतलादिः स्वार्थस्य यादृशार्थावच्छिन्नविषयताशालिबोधे हेतुस्तादृशं तद्वाक्यं तथाविधार्थे समासः। विभजते।

“स चायं षड्विधः कर्म्मधारयादिप्रभेदतः।
यच्चोपपदसंज्ञोऽन्यस्तेनासौ सप्तधा मतः॥
पूर्व्वमध्यान्त्यसर्व्वान्यपदप्राधान्यतः पुनः।
प्राच्यैः पञ्चविधः प्रोक्तः समासो वा भटादिभिः॥”

तेषु कर्म्मधारयं लक्षयति।

'क्रमिकं यन्नामयुगमेकार्थेऽन्यार्थबोधकम्।
तादात्म्येन भवेदेष समासः कर्म्मधारयः॥”

क्रमिकं यन्नामद्वयं तयोरेकस्य नाम्नोऽर्थे धर्म्मिणि तादात्म्येनापरनाम्नोऽर्थस्य अन्वयबोधं प्रति समर्थं तादृशनामद्वयं कर्म्मधारयः। यथा नीलोत्पलम्॥ १॥ द्विगुं लक्षयति।

“संख्याशब्दयुतं नाम तदलक्ष्यार्थबोधकम्।
अभेदेनैव यत् स्वार्थे स द्विगुस्त्रिविधो मतः॥”

संख्यावच्छिन्नशक्त-यत् पदोत्तरत्वविशिष्टयन्नामस्वार्थधर्म्मिकं तादात्म्येन तदलक्ष्यार्थस्यान्वयबोधं

प्रति समर्थं तन्नामोत्तरतापन्नं तन्नामैव तदन्त्यार्थाभिन्नस्वार्थे द्विगुरुच्यते। तत्र तद्धितार्थद्विगुं लक्षयति।

"तद्धितार्थान्वितस्वार्थस्तद्धितार्थद्विगुर्म्मतः।
तद्धितार्थे साम्वणिकसान्त्यनाम त्वसर्व्वगः॥
यो द्विगुः स उत्तरतद्धितार्थान्वितस्वार्थकः॥"

उत्तरपदद्विगुं लक्षयति।

"स्वान्तर्निविष्टशब्दाभ्यां शब्दान्तरसमासगः।
यो द्विगुः शाब्दिकैरुक्तः स उत्तरपदद्विगुः॥"

यो द्विगुः स्वघटकनामभ्यां सह साकाङ्क्षनामान्तरेण समासस्यान्तर्गतः स उत्तरपदद्विगुः। यथा पञ्चगवधनः। समाहारद्विगुं लक्षयति।

"स्वार्थान्वितसमाहारलक्षकः स्वान्त्यशब्दकः।
उक्ताभ्यामितरः किं वा समाहारद्विगुर्द्विगुः॥"

स्वोपस्थाप्यार्थस्य समाहारलक्षको यदीयान्त्यशब्दः स द्विगुः समाहारद्विगुः। यथा पञ्चपुलीत्यादि॥ २॥ तत्पुरुषं लक्षयति।

"यदीयेन सुबर्थेन युतयद्बोधनक्षमः।
यः समासस्तस्य तत्र स तत्पुरुष उच्यते॥"

यदर्थगतेन सुबर्थेन विशिष्टस्य यदर्थस्यान्वयबोधं प्रति यः समासः स्वरूपयोग्यः स तदर्थस्य तदर्थे तत्पुरुषः। न तु यन्नामोत्तरं यन्नाम यदर्थगतसुबर्थावच्छिन्नस्य यत् स्वार्थस्य बोधकं तदुत्तरतन्नामैव तदर्थयोस्तत्पुरुषः। पूर्व्वकायोऽर्द्धपिप्पलीत्यादावव्याप्तेः। विभजते।

"द्वितीयादिसुबर्थस्य भेदादेव च षड्विधः।
क्रियान्वयी द्वितीयादेरर्थः प्रायोऽत्र
योजितः॥" ३॥

अव्ययीभावं लक्षयति।

"उत्तरार्थान्वितस्वार्थाव्ययपूर्व्वस्तु यो भवेत्।
समासः सोऽव्ययीभावः स्त्रीपुंलिङ्गविवर्जितः॥"

यः समासः सोऽत्तरपदोपस्थाप्येन यदर्थेनान्वितस्य यदर्थस्य बोधकाव्ययपूर्व्वभागकः स तद्विशिष्टस्य तदर्थस्य बोधने अव्ययीभावः। यथा निर्मक्षिकं उपकुम्भमित्यादि।

"अमादेशं विना श्रूयमाणषष्ठी न बोधिका।
स्वार्थे यदर्थस्य यत्रा सोऽव्ययीभाव इष्यते॥"

अमादेशं विना श्रूयमाणषष्ठी स्वार्थे यत् समासार्थस्यान्वयबोधं प्रत्यसमर्था स एव वाव्ययीभावः श्रूयमाणैव षष्ठी स्वार्थे समासान्तरार्थस्यान्वयबोधनेऽसमर्था न तु लुप्तापि॥ ४॥ बहुव्रीहिं लक्षयति।

"बहुव्रीहिः स्वगर्भार्थसम्बन्धित्वेन बोधकः।
निरूढ्या लक्षणया स्वांशज्ञापकशब्दवान्॥"

स्वांशस्य निरूढलक्षणया ज्ञापकेन शब्देन घटितः स्वगर्भस्य यादृशार्थस्य सम्बन्धित्वप्रकारेणान्वयबोधं प्रति समर्थः समासः स्वगर्भतादृशार्थसम्बन्धिबोधने बहुव्रीहिः।

"अस्यैकं प्रथमान्तं सत् सुबन्तैरितरैः सह।
यदा भेदसुबन्तेन साकाङ्क्षं नाम विग्रहः॥"

अस्य बहुव्रीहेर्घटकमेकं नाम प्रथमान्तं सत् सुबन्तैरितरनामभिः सह भेदार्थकसुबन्तयच्छब्देन साकाङ्क्षं विग्रहः कथ्यते। बहुव्रीहिं विभजते।

"तदतद्गुणसंविज्ञानौ द्वौ भेदौ तदादिमः।
विग्रहस्य विशेष्यो यत्तद्विशेष्यकबोधकृत्॥"

तत्र विग्रहवाक्यस्य विशेष्यविधया प्रत्याय्यो योऽर्थस्तद्विशेष्यकबोधकृत् बहुव्रीहिस्तयोरादिमः तद्गुणसंविज्ञानः। तस्य स्वार्थगुणीभूतस्य सम्यग् विशेष्यविधया विज्ञानं यस्मिन्निति व्युत्पत्त्या स्वार्थान्वयः संज्ञात्वात् तद्भिन्नस्तु अतद्गुणसंविज्ञानस्त्वरम इत्यर्थादवगम्यते। प्राचां मतेन तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिमन्यथा निर्व्वक्ति।

"यः स्वार्थघटकार्थस्य स्वार्थान्वयिनि बोधने।
अनुकूलो बहुव्रीहिः स तयोरथवादिमः॥"

यो बहुव्रीहिः स्वार्थस्यान्वयिनि स्वार्थघटकस्याप्यर्थस्यान्वयबोधने समर्थः स तयोस्तद्गुणातद्गुणयोरादिमः। लम्बकर्णमानय हारग्रीवं पश्य इत्यादि। पुनर्विभजते।

"स्वान्तर्निविष्टद्वित्र्यादिनामभिर्विग्रहात् पुनः।
बहुव्रीहिर्बहुविधो द्विपदत्रिपदादिकः॥"

द्वित्रिचतुरादिभिरेव स्वघटकनामभिर्विग्रहवशात् द्विपदत्रिपदचतुष्पदादिको बहुव्रीहिर्ब्बोध्यः॥ ५॥ द्वन्द्वं लक्षयति।

"यद्यदर्थकयन्नामव्यूहो यद्वत्प्रकारके।
बोधे समर्थः स द्वन्द्वः समासस्तावदर्थकः॥"

यद्यदर्थोपस्थापकस्य क्रमिकयादृशनामस्तोमस्य निश्चयस्तदर्थप्रकारकान्वयबोधं प्रति तस्यैव समर्थस्तादृशनामनिवह एव तावदर्थको द्वन्द्वसमासः। द्वन्द्वं विभजते।

"द्वौ भेदावस्य शाब्दोक्तौ समाहारेतरेतरौ।
एकान्यवचनाकाङ्क्षा हानोपादानतश्च तौ॥"

अस्य द्वन्द्वस्य द्वौ भेदौ समाहार इतरेतरश्च शास्त्रसिद्धौ। तत्रैकवचनान्यसुबाकाङ्क्षाविहीनः समाहारः। तथाविधसुबाकाङ्क्षश्चेतरेतरः। यथा। पाणिपादं हस्त्यश्वं धवखदिरौ। इत्यादि॥ ६॥ उपपदसमासं लक्षयति।

"यदुत्तरपदं नामानुत्तरं यद्बोधकम्।
धातुकृन्नसुपपदसमासः स तदन्तकः॥"

धातुकृद्भ्यां निष्पन्नं यस्योत्तरपदं शब्दानुत्तरं स यादृशार्थस्य बोधं प्रत्यसमर्थं तादृशार्थे तादृशार्थकान्त्यपदकः समास उपपदसंज्ञकः। कुम्भकारः क्षीरपायीत्यादि। विभजते।

"कारकैकोपपदकः षड्विधोऽयमिति भ्रमः।
कर्म्मकर्त्राद्युपपदभेदात् बहुविधस्त्वसौ॥" ७॥

इति शब्दशक्तिप्रकाशिका॥

समासक्तः, त्रि. (सम्+आ+सञ्ज+क्तः।) संयुक्तः। यथा, कर्पूरास्तवस्तोत्रे।

"चिपञ्चारे पीठे शवशिवहृदि स्मेरवदनां
महाकालेनोच्चैर्मदनरसलावण्यनिरताम्।
समासक्तो नक्तं स्वयमपि रतानन्दनिरतो
जनो यो ध्यायेत्त्वामयि जननि स स्यात् स्मरहरः॥"

समासञ्जनं, क्ली. (सं+आ+सञ्ज+ल्युट्।) समासङ्गः। मेलनम्। संयोगः। समाङ्पूर्व्वकसन्जधातोरनट्प्रत्ययेन निष्पन्नम्॥

समासन्नं, त्रि, निकटस्थम्। समाङ्पूर्व्वसदधातोः क्तप्रत्ययेन निष्पन्नम्॥ (यथा, रघुः। १०।३५।

"अथ वेलासमासन्नशैलरन्ध्रानुनादिना।
स्वरेणोवाच भगवान् परिभूतार्णवध्वनिः॥")

समासवान्, [त्] पुं, (समासः संक्षेपोऽस्यास्तीति। समास+मतुप्। मस्य वः।) तुन्नवायः। इति शब्दचन्द्रिका॥ समासविशिष्टे, त्रि॥

समासादितः, त्रि, (सम्+आ+सद्+णिच्+क्तः।) आहृतः। प्राप्तः। समाङ्पूर्व्वण्यन्तसदधातोः क्तप्रत्ययेन निष्पन्नः॥

समासाद्यं, त्रि, (सम्+आ+सद्+ण्यत्।) प्राप्यम्। इत्यमरः॥ अनुस्वारशून्यश्चेत् प्राप्यानन्तरबोधकक्रिया॥ (यथा, महाभारते। ५। १६। १६।

"अपां फेनं समासाद्य विष्णुतेजोऽभिबृंहितम्।
त्वया वृत्रो हतः पूर्व्वं देवराज! जगत्पते!॥")

समासार्था, स्त्री, (समासेन संक्षेपेण अर्थो यस्याः।) समस्या। श्लोकस्य पादेनैकेन द्वाभ्यां त्रिभिर्व्वा पूरणम्। इत्यमरभरतौ॥

समाहरणं, क्ली, (सं+आ+हृ+ल्युट्।) समाहारः। समाङ्पूर्व्वकहृञ्धातोरनट्प्रत्ययेन निष्पन्नम्॥

समाहारः, पुं, (सं+आ+हृ+घञ्।) समुच्चयः। इत्यमरः॥ बहूनां भिन्नानां वाक्यव्यापारेण बुद्ध्या वा पञ्चमूली त्रिभुवनवत् राशीकरणम्। इति भरतः॥ संक्षेपः। यथा,

"समासस्तु समाहारः संक्षेपः संग्रहोऽपि च।"
इति हेमचन्द्रः॥

समाहारद्वन्द्वसमाहारद्विगुसमासयोर्व्विवरणं समासशब्दे द्रष्टव्यम्॥

समाहितः, त्रि, (सम्+आ+धा+क्तः।) समाधिस्थः। (यथा, देवीभागवते। १। १७। ६६।

"स्नात्वा प्रातःक्रियां कृत्वा पुनरास्ते समाहितः॥")

उक्तसिद्धान्तः। आहितः। निर्विवादीकृतः। प्रतिज्ञातः। इति मेदिनी॥ निष्पन्नः। इति धरणिः॥ मुष्टौ, पुं। इति शब्दरत्नावली॥

समाहृतः, त्रि, सम्यक्प्रकारेण आहरणीकृतः। संगृहीतः। एकत्रीकृतः। संक्षेपेण प्रतिपादितः। समाङ्पूर्व्वकहृधातोः क्तप्रत्ययेन निष्पन्नः॥

समाहृतिः, स्त्री, (सम्+आ+हृ+क्तिन्।) संग्रहः। इत्यमरः॥ एककर्तृकाणामनेककर्तृकाणां वा एकाभिप्रायाणां वाक्यानां समाहरणं समाहृतिः। समाह्रियते संक्षेपेण प्रतिपद्यते अनया समाहृतिः। संपूर्व्वात् आङ्पूर्व्वात् हृञ् हरणे इत्यस्मात् क्तिः। इति भरतः॥

समाह्वयः, पुं, (समाहूयतेऽनेनेति। सम्+आ+ह्वे+पुंसीति घः। बाहुलकात् साधुः।)

द्यूतम्। आक्रानम्। इति शब्दरत्नावली॥ पशुपक्षिद्यूतम्। सङ्गरम्। इति मेदिनी॥ *॥ तस्य निषिद्धत्वं यथा,—

"द्यूतं समाह्वयञ्चैव राजा राष्ट्रान्निवारयेत्।
राज्यान्तकरणावेतौ द्वौ दोषौ पृथिवीक्षिताम्॥
प्रकाशमेतत् तास्कर्य्यं यद्देवनसमाह्वयौ।
तयोर्नित्यं प्रतीघाते नृपतिर्यत्नवान् भवेत्॥
अप्राणिभिर्यत् क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते।
प्राणिभिः क्रियते यस्तु स विज्ञेयः समाह्वयः॥
द्यूतं समाह्वयञ्चैव यः कुर्य्यात् कारयेत वा।
तान् सर्व्वान् घातयेद्राजा शूद्रांश्च द्विज-
लिङ्गिनः॥"

इति मानवे। ९। २२१—२२४॥

समाज्ञा, स्त्री, (सम्यक् आज्ञा यस्याः।) गोजिह्वाद्रुमः। इति शब्दचन्द्रिका॥ समाख्या च॥

समिकं, क्ली, शूलम्। इति शब्दरत्नावली॥ बँड़्सा इति भाषा॥

समित्, स्त्री, (समीयतेऽत्रेति। सम्+इण्+क्विप्।) युद्धम्। इत्यमरः॥ (यथा, महाभारते। ५। २२। २३।

"पाञ्चालश्च राजा समितीन्द्रकल्पो
युधि प्रवीरैर्बहुभिः समेतः॥")

समित्, [ध्] स्त्री, (समीध्यतेऽनयेति। इन्ध+क्विप्।) अग्निसन्दीपनार्थतृणकाष्ठादिः। तत्पर्य्यायः। इन्धनम् २ एधम् ३ इध्मम् ४ एधः ५। इत्यमरः॥ समिन्धनम् ६। एतस्मिन् रूढ्ये क्लिलिङ्गम्। इति शब्दरत्नावली॥ *॥ होमीयसमिल्लक्षणं मत्स्यपुराणे।

"प्रादेशमात्राः सशिखाः सवल्काश्च पला-
शिनीः।
समिधः कल्पयेत् प्राज्ञः सर्व्वकर्म्मसु सर्व्वदा॥"

लक्षणान्तरं यथा, छन्दोगपरिशिष्टम्।

"नाङ्गुष्ठादधिका न्यूना समित् स्थूलतया क्वचित्।
न निर्म्मुक्तत्वचा चैव न सकीटा न पाटिता॥
प्रादेशात् नाधिका नोना न तथा स्याद्विशा-
खिका।
न सपत्रा न निर्वीर्य्या होमेषु च विजानता॥"

इति संस्कारतत्त्वम्॥*॥

तस्य निषिद्धलक्षणं यथा,—

"विशीर्णा विदला ह्रस्वा वक्राः स्थूला द्विधा-
कृताः।
कृमिदष्टाश्च दीर्घाश्च समिधो नैव कारयेत्॥"

अत्र दोषो यथा,—

"विशीर्णायुःक्षयं कुर्य्याद्विदला पुत्त्रनाशिनी।
ह्रस्वा नाशयते पत्नीं वक्रा बन्धुविनाशिनी॥
कृमिदष्टा रोगकरी विद्वेषकरणी द्विधा।
पशून् मारयते दीर्घा स्थूला चार्थविनाशिनी॥"

इति तन्त्रम्॥*॥

नवग्रहाणां समिधो यथा,—

"अर्कः पलाशः खदिरस्त्वपामार्गोऽथ पिप्पलः।
उडुम्बरः शमी दूर्व्वाः कुशाश्च समिधः क्रमात्॥"

इति संस्कारतत्त्वे याज्ञवल्क्यवचनम्॥

समिता, स्त्री, (सम्यक्प्रकारेण इता प्राप्ता।) गोधूमचूर्णम्। इति हेमचन्द्रः॥ मयदा इति भाषा॥ तस्या लक्षणं यथा,—

"गोधूमा धवला धौताः कुट्टिताः शोषितास्ततः।
प्रक्षिप्ताः सा विनिष्पिष्टाश्चालिताः समिता
स्मृता॥"

इति राजनिर्घण्टः॥

समितिः, स्त्री, (संयन्त्यस्यामिति। सं+इण्+क्तिन्।) सभा। (यथा, महाभारते। १।२।२२४।

"प्रभाते राजसमितौ सञ्जयो यत्र वा विभोः।
ऐकात्म्यं वासुदेवस्य प्रोक्तवानर्ज्जुनस्य च॥")

युद्धम्। (यथा, भागवते। २। ७। ३४।

"ये वा मृधे समितिशालिन आत्तचापाः
काम्बोजमत्स्यकुरुसृञ्जयकेकयाद्याः॥")

सङ्गः। इत्यमरमेदिनीकरौ॥ साम्यम्। इति हेमचन्द्रः॥ (सन्निपातः। इति श्रीधरस्वामी॥ यथा, भागवते। ११। २५। ८।

"प्रवृत्तिलक्षणे निष्ठा पुमान् यर्हि गृहाश्रमे।
स्वधर्म्मे चानुतिष्ठेत गुणानां समितिर्हि सा॥")

समिथः, पुं, (समेतीति। सम्+इण्+"समीणः।" उणा० २। ११। इति थक्।) अग्निः। इत्युणादिकोषः॥ युद्धम्। इति सिद्धान्तकौमुद्यामुणादिवृत्तिः॥ (यथा, ऋग्वेदे। ४।२०।८।

"शिक्षानरः समिथेषु प्रहावान्
वस्वो राशिमभिनेतासि भूरिम्॥"

अस्मिन्नर्थे क्वचित् क्लीवेऽपि दृश्यते। यथा, तत्रैव। १। ५५। ५।

"स इन्महानि समिथानि मज्मना
कृणोति युध्म ओजसा जनेभ्यः॥")

आहुतिः। इति संक्षिप्तसारोणादिवृत्तिः॥

समिद्, [ध्] स्त्री, (समिध्यतेऽनयेति। सं+इन्ध+क्विप्।) समित्। इत्यमरः॥ (यथा, मनुः। २। १७६।

"नित्यः स्नात्वा शुचिः कुर्य्यात् देवर्षिपितृ-
तर्पणम्।
देवताभ्यर्च्चनञ्चैव समिदाधानमेव च॥")

समिद्धः, पुं, (सं+इन्ध+क्तः।) प्रदीप्तः। यथा, कात्यायनः।

"योऽनर्च्चिषि जुहोत्यग्नौ व्यङ्गारिणि च मानवः।
मन्दाग्निरामयावी च दरिद्रश्च स जायते।
तस्मात् समिद्धे होतव्यं नासमिद्धे कदाचन॥"

इति संस्कारतत्त्वम्॥

समिधः, पुं, (समिध्यते इति। सं+इन्ध+कः।) अग्निः। इति त्रिकाण्डशेषः॥ (यथा, रामायणे। २। २४। ६।

"अयन्तु मामात्मभवस्तवादर्शनमारुतः।
विलापदुःखसमिधो रुदिताश्रुहुताहुतिः॥")

समिन्धनं, क्ली, (समिध्यतेऽनेनेति। सं+इन्ध+ल्युट्।) समित्। इति शब्दरत्नावली॥ (यथा, भट्टिः। २। २८।

"तपोमरुद्भिर्भवतां शराग्निः
संधुक्ष्यतां नोऽरिसमिन्धनेषु॥")

समिरः, पुं, वायुः। इति हेमचन्द्रः। ४। १७२॥

समीकं, क्ली, (सम्+अलीकादयश्चेति ईकः।) युद्धम्। इत्यमरः॥ (यथा, ऋग्वेदे। ४। २४। ३।

"तमिन्नरो विह्वयन्ते समीके
रिरिक्वांसस्तन्वः कृण्वतत्राम्॥")

समीकृतं, त्रि, एकीकृतम्। समानीकृतम्। कृञ्धातौ परे समशब्दात् च्विप्रत्ययेन निष्पन्नम्॥

समीक्षं, क्ली, (सम्यगीक्ष्यतेऽनेनेति। सम्+ईक्ष्+घञ्।) साङ्ख्यशास्त्रम्। इति त्रिकाण्डशेषः॥ सम्यग्दर्शनञ्च॥

समीक्षणं, क्ली, सम्यक्प्रकारेण दर्शनम्। प्रेक्षणम्। संपूर्व्वेक्षधातोरनट्(ल्युट्)प्रत्ययेन निष्पन्नम्॥ (प्रकाशके, त्रि। यथा, भागवते। ८।२४।५०।

"त्वमर्कदृक्सर्व्वदृशां समीक्षणो
वृतो गुरुर्नः स्वगतिं बुभुत्सताम्॥")

समीक्षा, स्त्री, (सम्+ईक्ष+गुरोश्चेत्यः। टाप्।) तत्त्वम्। बुद्धिः। निभालनम्। इति मेदिनी॥ मीमांसाशास्त्रम्। यत्नः। इति शब्दरत्नावली॥ (आत्मविद्या। इति स्वामी॥ यथा, भागवते। ११। २८। ३४।

"एवं समीक्षा निपुणा सती मे
हन्यात् तमिस्रं पुरुषस्य बुद्धेः॥"

सम्यग्दर्शनम्। यथा, भागवते। ३। ४। १०।

"आश्रृण्वतो मामनुरागहास-
समीक्षया विश्रमयन्नुवाच॥")

समीचः, पुं, (संयन्ति नद्यो यस्मिन्निति। सं+इण्+"समीणः।" उणा० ४। ९२। इति चट्। दीर्घश्च।) समुद्रः। इत्युणादिकोषः॥

समीचकः, पुं, मैथुनम्। इति केचित्॥

समीची, स्त्री, (संयातीति। सं+इण्+चट्। ङीप्।) मृगी। इत्युणादिकोषः॥ वन्दना। इति त्रिकाण्डशेषः॥

समीचीनं, क्ली, (सम्यगेव। सम्यक्+"विभाषाञ्चेरदिक् स्त्रियाम्।" ५। ४। ८। इति खः।) यथार्थम्। तत्पर्य्यायः। सत्यम् २ सम्यक् ३ ऋतम् ४ तथ्यम् ५ यथातथम् ६ यथास्थितम् ७ सद्भूतम् ८। इति हेमचन्द्रः॥ तद्वति, त्रि॥ (यथा, भागवते। २। ४। ५।

"समीचीनं वचो ब्रह्मन् सर्व्वज्ञस्य तवानघ।
तमो विशीर्य्यते मह्यं हरेः कथयतः कथाम्॥")

समीदः, पुं, गोधूमचूर्णम्। इति केचित्॥

समीनः, त्रि, (समामधीष्टो भृतो भूतो भावी वा। समा+"समायाः खः।" ५। १। ८५। इति खः।) वत्सरसम्बन्धी। समाशब्दात् खीनप्रत्ययेन निष्पन्नः॥

समीनिका, स्त्री, प्रतिवर्षप्रसूता गौः। इति शब्दचन्द्रिका॥

समीपः, त्रि, (सङ्गता आपो यत्र। "ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे।" ५। ४। ७४। इति अः। "द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्।" ६। ३। ९७ इति ईत्।) निकटः। इत्यमरः॥ (क्लीवेऽपि दृश्यते। यथा, मनुः। २। १०४।

"अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः॥")

समीपता, स्त्री, नैकट्यम्। समीपत्वम्। सामीप्यम्। समीपशब्दात् तल्प्रत्ययेन निष्पन्नम्॥

समीयः, त्रि, (सम + "गहादिभ्यश्च।" ४।२।१३८। इति छः।) समसम्बन्धी। तुल्याकारणकः। समशब्दात् छीयप्रत्ययेन निष्पन्नः॥

समीरः, पुं, (सम्यगीर्त्ते गच्छतीति। सं + ईर गतौ + कः।) वायुः। इत्यमरः। १।१।६५॥ (यथा, माघे। ४। ५४।

"समीरशिशिरः शिरःसु वसतां
सतां जवनिका निकामसुखिनाम्॥")

शमीवृक्षः। इति राजनिर्घण्टः॥

समीरणः, पुं, (समीरयतीति। सम् + ईर + ल्युः।) वायुः। (यथा, कुमारे। १। ८।

"यः पूरयन् कीचकरन्ध्रभागान्
दरीमुखोत्थेन समीरणेन।
उद्गास्यतामिच्छति किन्नराणां
तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम्॥")

मरुवकः। इत्यमरः।२।४।७६॥ पथिकः। इति मेदिनी॥ (क्ली, सं + ईर + ल्युट्। प्रेरणम्। यथा, महाभारते। ८। ८४। २३।

"शराभिघाताच्च रथा च राजन्
स्वशा च भासास्वसमीरणाच्च॥"*॥

प्रेरके, त्रि। यथा, हरिवंशे। १०२। २२।

"सोऽपिबत् पाण्डुराभाभस्तत्कालं ज्ञातिभिर्वृतः।
वनान्तरगतो रामः पानं मदसमीरणम्॥")

समुखः, त्रि, (मुखेन सह वर्त्तमानः।) वाग्मी। वावदूकः। इति हेमचन्द्रः॥

समुचितः, त्रि, सम्यगुचितः। उपयुक्तः। यथा,—

"वदामस्त्वं किंवा जननि वयमुच्चैर्जड़धियो
न धाता नापीशो हरिरपि न ते वेत्ति परमम्।
तथापि त्वद्भक्तिर्मुखरयति चास्माकममिते
तदेतत् क्षन्तव्यं न खलु पशुरोषः समुचितः॥"

इति तन्त्रसारधृतश्यामास्तोत्रम्॥

समुच्चयः, पुं, (सं + उत् + चि + अच्।) समाहारः। इत्यमरः। ३। २। १६॥ यथा,—

"राशौ द्वयोर्बहूनाञ्च समाहारः समुच्चयः॥"

इति शब्दरत्नावली॥

(यथा, कुमारे। १। ४९।

"सर्व्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन
यथाप्रदेशं विनिवेशितेन।
सा निर्म्मिता विश्वसृजा प्रयत्ना-
देकस्थसौन्दर्य्यदिदृक्षयेव॥")

समुच्छेदः, पुं, विनाशः। संपूर्व्वोत्पूर्व्वच्छिदधातोर्घञ्प्रत्ययेन निष्पन्नः॥ (यथा, किराते।११।४९।

"वंशलक्ष्मीमनुद्धृत्य समुच्छेदेन विद्विषाम्।
निर्व्वाणमपि मन्येऽहमन्तरायं जयश्रियः॥")

समुच्छ्रयः, पुं, (सं + उत् + श्रि + अच्।) विरोधः। उत्सेधः। इति मेदिनी॥ (यथा, रघुः।९।२०।

"कनकयूपसमुच्छ्रयशोभिनो
वितमसा तमसासरयूतटाः॥")

समुच्छ्रायः, पुं, समुच्छ्रयः। समुत्पूर्व्वश्रिधातोर्घञ्प्रत्ययेन निष्पन्नः॥

समुच्छ्रितः, त्रि, उच्चः। समुत्पूर्व्वश्रिधातोः क्तप्रत्ययेन निष्पन्नः॥

समुज्झितः, त्रि, (सम् + उज्झ उत्सर्गे + क्तः।) त्यक्तः। इत्यमरः। ३। १। १०७॥

समुत्क्रमः, पुं, ऊर्द्ध्वगमनम्। समुत्पूर्व्वक्रमधातोरल्प्रत्ययेन निष्पन्नः॥

समुत्क्रोशः, पुं, (समुत्क्रोशतीति। सं + उत् + क्रुश + अच्।) कुररपक्षी। इति शब्दरत्नावली॥ (भावे घञ्।) उच्चैःशब्दश्च॥

समुत्थः, त्रि, (समुत्तिष्ठतीति। सं + उत् + स्था + कः।) समुद्भवः। समुत्थितः। समुत्पूर्व्वस्थाधातोर्डप्रत्ययेन निष्पन्नः॥ (यथा, मनुः। ७। ४५।

"दश कामसमुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च।
व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्ज्जयेत्॥")

समुत्थानं, क्ली, (सम् + उत् + स्था + ल्युट्।) समुद्योगः। (यथा, महाभारते।३।३२।७।

"सर्व्वे हि स्वं समुत्थानमुपजीवन्ति जन्तवः।
अपि धाता विधाता च यथायमुदके बकः॥")

व्याधीनां निर्णयः। इति मेदिनी॥ (यथा, मनुः। ८। २८७।

"अङ्गावपीड़नायाञ्च व्रणशोणितयोस्तथा।
समुत्थानव्ययं दाप्यः सर्व्वदण्डमथापि वा॥")

ऊर्द्ध्वगमनम्। सम्यक्प्रकारेण उत्थानम्॥ उत्तोलनम्। यथा,—

"इन्द्रध्वजसमुत्थानं प्रमादान्न कृतं यदि।
तदा द्वादशमे वर्षे कर्त्तव्यं नान्तरा पुनः॥"

इति तिथ्यादितत्त्वम्॥

समुत्थितः, पुं, (सम् + उत् + स्था + क्तः।) सम्यगुत्थितः। यथा,—

"समुत्थितस्त्वं श्रवणाद्यपादे
गृहाण पूजां भगवन्नमस्ते॥"

इति तिथ्यादितत्त्वे शक्रोत्थानपूजामन्त्रः॥

समुत्पन्नः, त्रि, (सम् + उत् + पद + क्तः।) समुद्भूतः। यथा,—

"पुस्तकस्था च या विद्या परहस्तगतं धनम्।
कार्य्यकाले समुत्पन्ने न सा विद्या न तद्धनम्॥"

इति चाणक्यम्॥

समुत्पिञ्जः, त्रि, (सम् + उत् + पिजि हिंसायाम् + अच्।) अत्यन्ताकुलः। यथा,—

"उत्पिञ्जलसमुत्पिञ्जपिञ्जला भृशमाकुले॥"

इति हेमचन्द्रः॥

समुत्पिञ्जः, पुं, (सम् + उत् + पिञ्ज + पचाद्यच्।) भृशमाकुलसैन्यम्। इत्यमरः। २। ८। ९९॥

समुत्सुकः, त्रि, (सम्यगुत्सुकः।) सम्यगुत्कण्ठितः। इति हेमचन्द्रे उत्सुकशब्दार्थदर्शनात्॥ सम्यगिष्टार्थोद्युक्तः। इत्यमरे उत्सुकशब्दार्थदर्शनात्॥ (यथा, रघुः। १। ३३।

"तस्यामात्मानुरूपायामात्मजन्मसमुत्सुकः।
विलम्बितफलैः कालं स निनाय मनोरथैः॥")

समुदक्तं, त्रि, (समुदच्यते स्मेति। सम् + उत् + अन्च + क्तः।) उद्धृतम्। कूपादेरुद्धृतजलादि। इत्यमरः। ३। १। ९०॥

समुद्भूतः, त्रि, (सम् + उत् + भू + क्तः।) समुत्पन्नः। यथा, देवीमाहात्म्ये।

"साब्रवीत्तान् सुरान् सुभ्रूर्भवद्भिस्तूयतेऽत्र का।
शरीरकोषतश्चास्याः समुद्भूताब्रवीच्छिवा॥"

समुदयं, क्ली, (सम् + उत् + इण् + अच्।) लग्नम्। यथा,—

"सामर्थ्यं तनु कल्पते समुदये वित्तं कुटुम्बं ततो
विक्रान्तिं सहजं तृतीयभवने योधश्च सच्चिन्तयेत्।"

इत्यादि ज्योतिस्तत्त्वम्॥

यन्नाड़ीचक्रान्तर्गतचतुर्थनाड़ी। सा तु जन्मनक्षत्रावधिकाष्टादशनक्षत्ररूपा। तत्पर्य्यायः। सामुदायिकम् २। यथा, ज्योतिस्तत्त्वे।

"जन्मर्क्षं कर्म्म ततो दशमं सांघातिकं
षोड़शभम्।
समुदयमष्टादशभं विनाशसंज्ञं त्रयोविंशम्॥
सन्तापे सामुदायिके मिश्रभूत्यर्थसंक्षयः॥"

समुदयः, पुं, (सम् + उत् + इण् + अच्।) समूहः। इत्यमरः। २। ५। ४०॥ (यथा, कथासरित्सागरे। १०। १६६।

"समुपाजग्मतुस्तौ च सेनासमुदयान्वितौ।
तं विज्ञायैव संबन्धं मुदा दुहितृवत्सलौ॥")

युद्धम्। (यथा, महाभारते। ६। ११३। ४४।

"द्रोणः पाञ्चालपुत्त्रेण समागम्य महारणे।
महासमुदयं चक्रे शरैः सन्नतपर्व्वभिः॥")

समुद्गमः। इति मेदिनी॥ दिवसः। इति शब्दचन्द्रिका॥

समुदागमः, पुं, (सम् + उत् + आ + गम + घञ्।) समन्ताज्ज्ञानम्। इति त्रिकाण्डशेषः॥

समुदाचारः, पुं, (सम् + उत् + आ + चर + घञ्।) आशयः। इति त्रिकाण्डशेषः॥

समुदायः, पुं, (सम् + उत् + अय + घञ्।) समूहः। युद्धम्। इत्यमरः। २। ५। ४०; २। ८। १०६॥ पृष्ठस्थायिबलम्। इत्यजयः॥ समुच्छ्रयः। इति मेदिनी॥

समुदितः, त्रि, सम्यक्प्रकारेण कथितः। संपूर्व्ववदधातोः क्तप्रत्ययेन निष्पन्नः। उदयं प्राप्तः। समुद्गतः। संपूर्व्वोत्पूर्व्वेणधातोः क्तप्रत्ययेन निष्पन्नः॥

समुद्गः, पुं, (समुद्गच्छतीति। सम् + उत् + गम् + अन्येष्वपीति डः।) सम्पुटकः। इति हेमचन्द्रः॥ (यथा, रामायणे। २। ६९। ७५।

"शुक्लाश्चन्दनकल्काश्च समुद्गेष्ववतिष्ठत॥"

मुद्गेन सह वर्त्तमानः।) मुद्गसहितश्च॥

समुद्गकः, पुं, (समुद्ग एव। स्वार्थे कन्।) सम्पुटकः। इत्यमरः। २।६।१३६॥ साँपुड़ा इति ख्याते। समुद्गच्छतीति हनजनाद्गमादेरिति डे समुद्गः ततः स्वार्थे कः। सम्पुटति द्रव्यैः संश्लिष्टो भवति सम्पुटकः पुट श्लि ष्टेषे इगुपधत्वात् कः ततः

स्वार्थे कः। इति भरतः॥ (यथा, कथासरित्सागरे। ३८। ४७।
"भिक्षुः प्रपञ्चबुद्ध्याख्यः समुद्गकमुपानयत्॥")
छन्दोविशेषश्च॥

समुद्गमः, पुं, ऊर्द्धगतिः। उत्पत्तिः। संपूर्व्वोत्पूर्व्वगमधातोः अल् प्रत्ययेन निष्पन्नः॥ (यथा, कथासरित्सागरे। १११। ९८।
"जुह्वतामग्निहोत्राणि धूमराजिसमुद्गमैः।
प्रदर्शयदिवारोहमार्गं दिवि तपस्विनाम्॥")

समुद्गीतं, त्रि, उच्चैर्गीतम्। समुत्पूर्व्वगैधातोः क्तप्रत्ययेन निष्पन्नम्॥

समुद्गीर्णः, त्रि, वमितः। उत्तोलितः। कथितः। समुत्पूर्व्वगॄधातोः क्तप्रत्ययेन निष्पन्नः॥

समुद्धतः, त्रि, (सम् + उत् + हन + क्तः।) अविनीतः। इत्यमरः। ३।१।२॥ समुद्गीर्णः। इति हेमचन्द्रः॥

समुद्धरणं, क्ली, (सम् + उत् + हृ + ल्युट्।) वान्तान्नम्। उन्नयः। इत्यमरः॥ वान्तार्थ उन्नीणार्थः उन्नयः कूपादेर्जलाद्युत्तोलनं वृक्षाद्युन्मूलनं वा अनयोः समुद्धरणम्। समुद्ध्रियते उत्तोल्यते यत् समुद्धरणं कर्म्मण्यनट्। भुक्तोज्झितोन्मूलितयोः स्यादुद्धरणमुन्नये। इति रभसः। इति भरतः॥ (यथा, महाभारते। १२। ३२७। १८।
"सोऽन्वेष्यमाणस्तदाक्यं समुद्धरणनिश्चितः।
जग्राह तां तदा शक्तिं न चैनां स व्यकम्पयत्॥")

समुद्धृतं, त्रि, (सम् + उत् + हृ + क्तः।) समुत्कीर्णम्। अपनीतम्। इति मेदिनी॥ सम्यक्प्रकारेण उद्धृतम्। उत्थापितम्। यथा,—
"जलौघमग्ना सचराचरा धरा
विषाणकोट्याखिलविश्वमूर्त्तिना।
समुद्धृता येन वराहरूपिणा
स मे स्वयम्भुर्भगवान् प्रसीदतु॥"
इति पाण्डवगीता॥

समुद्रः, पुं, जलसमूहस्थानम्। तस्य व्युत्पत्तिर्यथा। "चन्द्रोदयात् आपः सम्यगुन्दन्ति क्लिद्यन्ति अत्र। चन्द्रोदयात् समुन्दयन्ति वा समुद्रः। उन्दधौ क्लेदे नाम्नोति रक् इसुङ्नलोप इति नलोपः।
'अपां चैव समुन्नेन स समुद्र इति स्मृतः।'
इति वायुपुराणम्॥
मुद्रा मर्य्यादा तया सह वर्त्तते इति वा समुद्रः। सम्यगुद्गतो रोऽग्निरत्र इति। मुदं राति ददातीति डे। मुद्राणि रत्नादीनि तैः सह वर्त्तते इति वा।" इति भरतः॥ तत्पर्य्यायः। अब्धिः २ अकूपारः ३ पारावारः ४ सरित्पतिः ५ उदन्वान् ६ उदधिः ७ सिन्धुः ८ सरस्वान् ९ सागरः १० अर्णवः ११ रत्नाकरः १२ जलनिधिः १३ यादःपतिः १४ अपांपतिः १५। इत्यमरः।१।७।१॥ महाकच्छः १६ नदीकान्तः १७ तरीषः १८ द्वीपवान् १९ जलेन्द्रः २० मन्थिरः २१ चौणीप्राचीरम् २२ मकरालयः २३। इति जटाधरः॥ सरिताम्पतिः २४ जलधिः २५ नीरनिधिः २६ नीरधिः २७ अम्बुधिः २८ पाथोनिधिः २९ पाथोधिः ३० यादसाम्पतिः ३१ नदीनः ३२ इन्दुजनकः ३३ तिमिकोषः ३४ वारांनिधिः ३५ वारिनिधिः ३६ वार्द्धिः ३७ वारिधिः ३८ तोयनिधिः ३९ कीलालधिः ४० धरणीपूरः ४१ चौराब्धिः ४२ धरणिप्लवः ४३ वाङ्कः ४४ कचङ्गलः ४५ पेरः ४६ मितद्रुः ४७ वाहिनीपतिः ४८ शङ्खधरः ४९ दारदः ५० तिमिः ५१ प्राणभास्वान् ५२ ऊर्म्मिमाली ५३ महाशयः ५४ अम्भोनिधिः ५५ अम्भोधिः ५६ तरिषः ५७ कूलङ्कषः ५८ तारिषः ५९। इति शब्दरत्नावली॥ वारिराशिः ६० शैलशिविरम् ६१ पराकुवः ६२ तरन्तः ६३ महीप्राचीरम् ६४। इति त्रिकाण्डशेषः॥ पयोधिः ६५ सरिन्नाथः ६६ अम्भोराशिः ६७ धुनीनाथः ६८ नित्यः ६९ कन्धिः ७० अपांनाथः ७१। अस्य जलगुणाः। विस्रत्वम्। लवणरक्तामयप्रदत्वम्। उष्णत्वम्। वैवर्ण्यदोषजनकत्वम्। विशेषाद्दाहार्त्तिपित्तकारित्वञ्च। इति राजनिर्घण्टः॥ अपि च।
"सामुद्रमुदकं क्षारं सर्व्वदोषप्रकोपणम्॥"
इति राजवल्लभः॥
मुद्राशुक्ते, त्रि॥ *॥ स च समुद्रो ब्रह्मणो मेढ्राज्जातः। यथा,—
"हृदि कामो भ्रुवोः क्रोधो लोभश्चाधरदच्छदात्।
आस्याद्वाक् सिन्धवो मेढ्रात् निर्ऋतिः पायोरघाश्रयः॥"
इति श्रीभागवते। ३। १२। २४॥
कल्पभेदे श्रीकृष्णौरसेन विरजागर्भजातः। यथा,
"श्रीकृष्णो विरजां दृष्ट्वा सरिद्रूपां प्रियां सतीम्।
उच्चै रुरोद विरजातीरे नीरमनोहरे॥
जलादुत्थाय चागच्छ विधाय तनु नूतनम्।
आजगाम हरेरग्रं साक्षाद्राधेव सुन्दरी॥
ताञ्च रूपवतीं दृष्ट्वा प्रेमपूर्णां जगत्पतिः।
चकारालिङ्गनं तूर्णं चुचुम्ब च मुहुर्मुहुः॥
नानाप्रकारशृङ्गारं विपरीतादिकं प्रभुः।
रहसि प्रेयसीं प्राप्य चकार च पुनः पुनः॥
विरजा सा रजोयुक्ता धृत्वा वीर्य्यममोघकम्।
सद्यो बभूव तत्रैव धन्या गर्भवती सती।
तस्थौ तत्र सुखासीना सार्द्धं पुत्रैश्च सप्तभिः॥
एकदा हरिणा सार्द्धं वृन्दारण्ये सुनिर्ज्जने।
विजहार पुनः साध्वी शृङ्गारासक्तमानसा॥
एतस्मिन्नन्तरे तत्र मातुः क्रोड़ं जगाम ह।
कनिष्ठपुत्रस्तस्याश्च भ्रातृभिः पीड़ितो भिया॥
भीतं स्वतनयं दृष्ट्वा तत्याज तां कृपानिधिः।
क्रोड़े चकार बालं सा कृष्णो राधागृहं ययौ॥
प्रबोध्य बालं सा साध्वी न ददर्शान्तिके प्रियम्।
विललाप भृशं तत्र शृङ्गारातृप्तमानसा॥
शशाप स्वसुतं कोपात् लवणोदो भविष्यति।
कदापि ते जलं केन न खादिष्यन्ति जीविनः॥
शशाप सर्व्वान् बालांश्च यान्तु मूढ़ा महीतलम्।
गच्छध्वञ्च महीं मूढ़ा जम्बुद्वीपं मनोहरम्॥
स्थितिर्नैकत्र युष्माकं भविष्यति पृथक् पृथक्।
द्वीपे द्वीपे स्थितिं कृत्वा तिष्ठन्तु सुखिनः सुताः।
द्वीपस्थाभिर्नदीभिश्च सह क्रीड़न्तु निर्जने॥
कनिष्ठो मातृशापाच्च लवणोदो बभूव ह।
कनिष्ठः कथयामास मातृशापञ्च बालकान्॥
आजग्मुर्दुःखिताः सर्व्वे मातृस्थानञ्च बालकाः।
श्रुत्वा विवरणं सर्व्वे प्रजग्मुर्धरणीतलम्॥
प्रणम्य मातुश्चरणं भक्तिनम्रात्मकन्धराः।
सप्तद्वीपे समुद्राश्च सप्त तस्थुर्विभागशः॥
कनिष्ठाद्वृद्धपर्य्यन्तं द्विगुणं द्विगुणं मुने!।
लवणेक्षुसुरासर्पिर्दधिदुग्धजलार्णवाः॥
एतेषाञ्च जलं पृथ्व्यां शस्यार्थञ्च भविष्यति।
व्याप्ताः समुद्राः सप्तैव सप्तद्वीपा वसुन्धराम्॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे २ अध्यायः॥
तस्य ह्रासवृद्धिकारणं यथा,—
"अपां चैव समुद्रेकात् समुद्र इति संज्ञितः।
उदयतीन्दौ पूर्व्वे तु समुद्रः पूर्य्यते सदा॥
प्रक्षीयमाणे बहुले क्षीयतेऽस्तमितेन वै।
आपूर्य्यमाणो ह्युदधिरात्मनैवाभिपूर्य्यते॥
ततो वै क्षीयमाणस्य स्वात्मन्येव क्षपां क्षयः।
उद्दीप्यन्तेऽग्निसंयोगात् उखास्थापो यथा स्वयम्॥
तथा स्वतः समुद्रोऽपि वर्द्धते शशिनोदये।
अन्यूनानतिरिक्तास्ता वर्द्धन्त्यापो ह्रसन्ति च॥
उदयास्तमयेष्विन्दोः पक्षयोः शुक्लकृष्णयोः।
क्षयो वृद्धिश्च उदधेः सोमवृद्धिक्षयौ यथा॥
दशोत्तराणि पञ्चाहुरङ्गुलानां शतानि च।
अपां वृद्धिः क्षयो दृष्टः समुद्राणान्तु पर्व्वसु॥"
इति मात्स्ये १०० अध्यायः॥
अन्यत् विष्णुपुराणे २।४ अध्याये द्रष्टव्यम्॥*॥
समुद्रे वर्णनीयानि यथा,—
"अब्धौ द्वीपाद्रिरत्नोर्म्मिपोतयादोजलप्लवाः।
विष्णुकुल्यागमश्चन्द्राद्वृद्धिरौर्व्वाङ्गपूरणम्॥"
इति कविकल्पलतायाम् १स्तवके ३कुसुमम्॥*॥
कलौ द्विजानां समुद्रयात्रादिनिषेधो यथा, उद्वाहतत्त्वधृतवृहन्नारदीयवचनम्।
"समुद्रयात्रास्वीकारः कमण्डलुविधारणम्।
द्विजानामसवर्णासु कन्यासूपयमस्तथा॥
देवरेण सुतोत्पत्तिर्मधुपर्के पशोर्व्वधः।
मांसादनं तथा श्राद्धे वानप्रस्थाश्रमस्तथा॥
दत्तायाश्चैव कन्यायाः पुनर्द्दानं वरस्य च।
दीर्घकालं ब्रह्मचर्य्यं नरमेधाश्वमेधकौ॥
महाप्रस्थानगमनं गोमेधश्च तथा मखम्।
इमान् धर्म्मान् कलियुगे वर्ज्यानाहुर्मनीषिणः॥"
(केषाञ्चिन्मते कलावपि समुद्रयात्रास्वीकारे न दोषः॥) क्षीरोदसमुद्रस्य मन्थनवृत्तान्तो यथा, भागवते। ८। ७। १—१०।
"कृतस्थानविभागास्त एवं कश्यपनन्दनाः।
ममन्थुः परमं यत्ता अमृतार्थं पयोनिधिम्॥
मथ्यमानेऽर्णवे सोऽद्रिरनाधारो ह्यपोऽविशत्।

ध्रियमाणोऽपि बलिभिर्गौरवात् पाण्डुनन्दन ॥
ते सुनिर्व्विन्नमनसः परिम्लानमुखश्रियः ।
आसन् स्वपौरुषे नष्टे दैवेनातिबलीयसा ॥
विलोक्य विघ्नेशविधिं तदेश्वरो
दुरन्तवीर्य्योऽवितथाभिसन्धिः ।
कृत्वा वपुः काच्छपमद्भुतं महत्
प्रविश्य तोयं गिरिमुज्जहार ॥
तमुत्थितं वीक्ष्य कुलाचलं पुनः
समुद्यता निर्म्मथितुं सुरासुराः ।
दधार पृष्ठेन स लक्षयोजन-
प्रस्तारिणा द्वीप इवापरो महान् ॥
सुरासुरेन्द्रैर्भुजवीर्य्यवेपितं
परिभ्रमन्तं गिरिमङ्ग पृष्ठतः ।
बिभ्रत्तदावर्त्तनमादिकच्छपो
मेनेऽङ्गकण्डूयनमप्रमेयः ॥”
तथा तत्रैव । ८ । ७ । १८—१९ ।
“निर्म्मथ्यमानादुदधेरभूद्विषं
महोल्वणं हालाहलाह्वमग्रतः ।
संभ्रान्तमीनोन्मकराहिकच्छपात्
तिमिद्विपग्राहतिमिङ्गिलाकुलात् ॥
तदुग्रवेगं दिशि दिश्युपर्य्यधो
विसर्पदुत्सर्पदसह्यमप्रति ।
भीताः प्रजा दुद्रुवुरङ्ग सेश्वरा
अरक्ष्यमाणाः शरणं सदाशिवम् ॥”
तथाच तत्रैव । ८ । ७ । ३६—४३ ।
“तद्वीक्ष्य व्यसनं तासां कृपया भृशपीड़ितः ।
सर्व्वदेवसुहृद्देव इदमाह सतीं प्रियाम् ॥
अहो बत भवान्येतत् प्रजानां पश्य वैशसम् ।
क्षीरोदमथनोद्भूतात् कालकूटादुपस्थितम् ॥
आसां प्राणपरीप्सूनां विधेयमभयं हि मे ।
एतावान् हि प्रभोरर्थो यद्दीनपरिपालनम् ॥
प्राणैः स्वैः प्राणिनः पान्ति साधवः क्षणभङ्गुरैः ॥
बद्धवैरेषु भूतेषु मोहितेष्वात्ममायया ॥
पुंसः कृपयतो भद्रे सर्व्वात्मा प्रीयते हरिः ।
प्रीते हरौ भगवति प्रीयेऽहं सचराचरः ॥
तस्मादिदं गरं भुञ्जे प्रजानां स्वस्तिरस्तु मे ।
एवमामन्त्र्य भगवान् भवानीं विश्वभावनः ॥
तद्विषं जग्धुमारेभे प्रभावज्ञान्वमोदत ।
ततः करतलीकृत्य व्यापि हालाहलं विषम् ॥
अभक्षयन्महादेवः कृपया भूतभावनः ।
तस्यापि दर्शयामास स्ववीर्य्यं जलकल्मषः ॥
यच्चकार गले नीलं तच्च साधोर्विभूषणम् ॥”
तथा तत्रैव । ८ । ८ । १—९ ।
“पीते गरे वृषाङ्केण प्रीतास्तेऽमरदानवाः ।
ममन्थुस्तरसा सिन्धुं हविर्द्धानी ततोऽभवत् ॥
तामग्निहोत्रीमृषयो जगृहुर्ब्रह्मवादिनः ।
यज्ञस्य देवयानस्य मेध्याय हविषे नृप ॥
तत उच्चैःश्रवा नाम हयोऽभूच्चन्द्रपाण्डरः ।
तस्मिन् बलिः स्पृहाञ्चक्रे नेन्द्र ईश्वरशिक्षया ॥
तत ऐरावतो नाम वारणेन्द्रो विनिर्गतः ।
दन्तैश्चतुर्भिः श्वेताद्रेर्हरन् हिमवतो महीम् ॥
ऐरावणादयस्त्वष्टौ दिग्गजा अभवंस्ततः ।
अभ्रमुप्रभृतयोऽष्टौ च करिण्यस्त्वभवन्नृप ॥
कौस्तुभाख्यमभूद्रत्नं पद्मरागं महोदधेः ।
तस्मिन् मणौ स्पृहाञ्चक्रे वक्षोऽलङ्करणे हरिः ॥
ततोऽभवत् पारिजातः सुरलोकविभूषणम् ।
पूरयत्यर्थिनो योऽर्थैः शश्वद्भुवि यथा भवान् ॥
ततश्चाप्सरसो जाता निष्ककण्ठ्यः सुवाससः ।
रमण्यः स्वर्गिणां वल्गुगतिलीलावलोकनैः ॥
ततश्चाविरभूत् साक्षात् श्रीरमा भगवत्परा ।
रञ्जयन्ती दिशः कान्त्या विद्युत्सौदामनी यथा ॥
तस्यां चक्रुः स्पृहां सर्व्वे ससुरासुरमानवाः ।
रूपौदार्य्यवयोवर्णमहिमाक्षिप्तचेतसः ॥”
तथा तत्रैव । ८ । ८ । २५ ।
“तस्याः श्रियस्त्रिजगतो जनको जनन्या
वक्षोनिवासमकरोत् परमं विभूतेः ।
श्रीः स्वाः प्रजाः सकरुणेन निरीक्षणेन
यत्र स्थितैधयत साधिपतींस्त्रिलोकान् ॥”
तत्रैव । ८ । ८ । ३०—३६ ।
“अथासीद्वारुणी देवी कन्या कमललोचना ।
असुरा जगृहुस्तां वै हरेरनुमतेन ते ॥
अथोदधेर्मथ्यमानात् काश्यपैरमृतार्थिभिः ।
उदतिष्ठन्महाराज पुरुषः परमाद्भुतः ॥
दीर्घपीवरदोर्दण्डः कम्बुग्रीवोऽरुणेक्षणः ।
श्यामलस्तरुणः स्रग्वी सर्व्वाभरणभूषितः ॥
पीतवासा महोरस्कः सुमृष्टमणिकुण्डलः ।
स्निग्धकुञ्चितकेशान्तसुभगः सिंहविक्रमः ॥
अमृतापूर्णकलसं बिभ्रद्वलयभूषितः ।
स वै भगवतः साक्षाद्विष्णोरंशांशसम्भवः ॥
धन्वन्तरिरिति ख्यात आयुर्व्वेददृगीज्यभाक् ।
तमालोक्यासुराः सर्व्वे कलसं चामृताभृतम् ॥
लिप्सन्तः सर्व्ववस्तूनि कलसं तरसाहरन् ।
नीयमानेऽसुरैस्तस्मिन् कलसेऽमृतभाजने ।
विषण्णमनसो देवा हरिं शरणमाययुः ॥”
तत्रैव । ८ । ८ । ४१ ।
“एतस्मिन्नन्तरे विष्णुः सर्व्वोपायविदीश्वरः ।
योषिद्रूपमनिर्द्देश्यं दधार परमाद्भुतम् ॥”
तत्रैव । ८ । ९ । १२ ।
“ततो गृहीत्वामृतभाजनं हरि-
र्ब्बभाष ईषत्स्मितशोभया गिरा ।
यद्यभ्युपेतः क्व च साध्वसाधु वा
कृतं मया वो विभजे सुधामिमाम् ॥”
तत्रैव । ८ । ९ । २० ।
“कल्पयित्वा पृथक्पङ्क्तीरुभयेषां जगत्पतिः ।
तांश्चोपवेशयामास स्वेषु स्वेषु च पङ्क्तिषु ॥
दैत्यान् गृहीतकलसो वञ्चयन्नुपसञ्चरैः ।
दूरस्थान् पाययामास जरामृत्युहरां सुधाम् ॥”
तत्रैव । ८ । ९ । २४ ।
“देवलिङ्गप्रतिच्छन्नः स्वर्भानुर्देवसंसदि ।
प्रविष्टः सोममपिबच्चन्द्रार्काभ्याञ्च सूचितः ॥
चक्रेण क्षुरधारेण जहार पिबतः शिरः ।
हरिस्तस्य कबन्धस्तु सुधया प्लावितोऽपतत् ॥
शिरस्त्वमरतां नीतमजो ग्रहमचीकॢपत् ।
यस्तु पर्व्वणि चन्द्रार्कावभिधावति वैरधीः ॥
पीतप्रायेऽमृते देवैर्भगवान् लोकभावनः ।
पश्यतामसुरेन्द्राणां स्वरूपं जगृहे हरिः ॥”
पाद्मे उत्तरखण्डे ६९ अध्यायेऽप्येवम् ॥ (अन्त-रिक्षम् । इति निघण्टुः । १ । ३ ॥ अस्य व्युत्-पत्तिर्यथा, तट्टीकायाम् । “समुद्द्रवन्ति सङ्गता ऊर्द्ध्वं द्रवन्ति गच्छन्त्यस्मादापो रश्मिभिराकृष्य-माणा आदित्यमण्डलम् । समुत्-पूर्व्वात् द्रवते-र्गत्यर्थात् अन्येष्वपि दृश्यते इति अपादाने ड-प्रत्यये टि-लोपे च रूपम् । यद्वा, संहता अभिद्रवन्त्येनमापो भौमरसलक्षणा वायुना प्रेर्य्यमाणाः आदित्यमण्डलाद्वा वर्षाकाले रश्मिभिः प्रवर्त्तमानाः । अत्र उदित्येष उप-सर्गोऽभीत्यर्थे वर्त्तते । कर्म्मणि ड-प्रत्यय इति विशेषः । सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि अन्तरिक्ष-चारीणीति वा । सम्पूर्व्वात् मुद हर्षे इत्यस्मात् स्फायितञ्चिवञ्चि इत्यादिना अधिकरणे रक्-प्रत्यये समो म-लोपे च रूपम् । यद्वा, सम् इत्येकीभावे उदकात् उच्छब्दः रो मत्वर्थीयः । एकीभूतमुदकमस्मिन् विद्यते वर्षास्विति उदक-शब्दस्योद्भावश्छान्दसः । यद्वा सम्पूर्व्वात् उन्दी क्लेदने इत्यस्मात् स्फायितञ्चिवञ्चि इत्यादिना कर्त्तरि रक्-प्रत्यये किञ्चान्नलोपे च समुद्रः ॥” इति देवराजकृतनिर्व्वचनम् ॥)

समुद्रकफः, पुं, (समुद्रस्य कफ इव ।) समुद्रफेनः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

समुद्रकान्ता, स्त्री, (समुद्रस्य कान्ता ।) नदी । इति हलायुधः ॥ पृक्का । इति राजनिर्घण्टः ॥

समुद्रगा, स्त्री, (समुद्रं गच्छतीति । गम + डः ।) नदी । इति हेमचन्द्रः ॥ गङ्गा । यथा,—
“यद्द्वयं श्रावणादि सर्व्वा नद्यो रजस्वलाः ।
तासु स्नानं न कुर्व्वीत वर्ज्जयित्वा समुद्रगाम् ॥”
इति प्रायश्चित्ततत्त्वे छन्दोगपरिशिष्टवचनम् ॥
(यथा च महाभारते । ३ । १०९ । १० ।
“सा बभूव विसर्पन्ती त्रिधा राजन् समुद्रगा ।
फेनपुञ्जाकुलजला हंसानामिव पङ्क्तयः ॥”)
समुद्रगामिनि, त्रि ॥

समुद्रगृहं, क्ली, (समुद्र इव जलयुक्तं गृहम् ।) जलयन्त्रगृहम् । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

समुद्रचुलुकः, पुं, (समुद्रश्चुलुक इव अनायासेन पेयत्वात् यस्य ।) अगस्त्यमुनिः । इति त्रिकाण्ड-शेषः ॥

समुद्रदयिता, स्त्री, (समुद्रस्य दयिता ।) नदी । इति हेमचन्द्रः ॥

समुद्रनवनीतं, क्ली, (समुद्रस्य क्षीरोदस्य नव-नीतमिव ।) अमृतम् । चन्द्रः । इति मेदिनी ॥

समुद्रफलं, क्ली, (समुद्रस्य फलमिव ।) अब्धि-फलम् । औषधविशेषः । यथा,—
“समुद्रनाम प्रथमं पश्चात् फलमुदाहरेत् ।
समुद्रफलमित्यादि नाम वाच्यं भिषग्वरैः ॥
फलं समुद्रस्य कटूष्णकारि
वातापहं भूतनिरोधकारि ।

त्रिदोषदावानलदोषहारि
कफामयभ्रान्तिविरोधकारि ॥"
इति राजनिर्घण्टः ॥

समुद्रफेनः, पुं, (समुद्रस्य फेनः ।) स्वनामख्यातद्रव्यम् । तत्पर्य्यायः । फेनः २ अब्धिकफः ३ अर्णवजमलः ४ । इति रत्नमाला ॥ डिण्डीरः ५ । इत्यमरः ।२।६।१०५॥ समुद्रकफः ६ जलहासः ७ फेनकः ८ । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ समुद्रफेनम् ९ फेनम् १० वार्द्धिफेनम् ११ पयोधिजम् १२ सुफेनम् १३ अब्धिडिण्डीरम् १४ सामुद्रम् १५ । अस्य गुणाः । शिशिरत्वम् । कषायत्वम् । नेत्ररोगकफकण्ठामयारुचिकर्णरोगनाशित्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥ अपि च ।
"समुद्रफेनश्चक्षुष्यो लेखनः शीतलश्च सः ।
कषायो विषपित्तघ्नः कर्णरुक्कफहृल्लघुः ॥"
इति भावप्रकाशः ॥

समुद्रमेखला, स्त्री, (समुद्रः मेखलेव यस्याः ।) पृथिवी । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

समुद्रयात्रा, स्त्री, (समुद्रे यात्रा गमनम् ।) समुद्रगमनम् । (यथा, हरिवंशे । १४५ । ४ ।
"द्वारवत्यां निवसतो विष्णोरतुलतेजसः ।
समुद्रयात्रा सम्प्राप्ता तीर्थे पिण्डारके नृप ! ॥")
कलियुगे तन्निषेधो यथा,—
"समुद्रयात्रास्वीकारः कमण्डलुविधारणम् ।"
इत्युपक्रम्य ।
"इमान् धर्म्मान् कलियुगे वर्ज्यानाहुर्मनीषिणः ॥"
इत्युद्वाहतत्त्वे उक्तवान् ॥

समुद्रयानं, क्ली, (समुद्रस्य यानम् ।) पोतम् । जाहाज इति भाषा । यथा,—
"पुनस्तत्रैव गमने वणिग्भावे मतिर्गता ।
समुद्रयाने रत्नानि महामौल्यानि साधुभिः ।
रत्नपारीक्षकैः सार्द्धमानयिष्ये बहूनि च ॥
एवं निश्चित्य मनसा महासार्थपुरःसरः ।
समुद्रयायिभिर्लोकैः संविदं सूच्य निर्गतः ॥"
इत्युपक्रम्य ।
"शुकेन सह संप्राप्तो महान्तं लवणार्णवम् ।
पोतारूढ़ास्ततः सर्व्वे पोतवाहैरुपोषिताः ॥"
इति वाराहे गोकर्णमाहात्म्यनामाध्यायः ॥
(समुद्रगमनम् । यथा, मनुः । ८ । १५७ ।
"समुद्रयानकुशला देशकालार्थदर्शिनः ।
स्थापयन्ति तु यां वृद्धिं सा तत्राधिगमं प्रति ॥")

समुद्रयायी, [न्] त्रि, (समुद्रे गच्छतीति । गम् + णिनिः ।) समुद्रगामी । यथा, वाराहे ।
"समुद्रयायिभिर्लोकैः संविदं सूच्य निर्गतः ॥"
(अस्य निन्दा यथा, मनौ । ३ । १५८ ।
"आगारदाही गरदः कुण्डाशी सोमविक्रयी ।
समुद्रयायी वन्दी च तैलिकः कूटकारकः ॥
* * *
एतान् विगर्हिताचारानपाङ्क्तेयान् द्विजाधमान् ।
द्विजातिप्रवरो विद्वानुभयत्र विवर्ज्जयेत् ॥")

समुद्ररमणा, स्त्री, (समुद्रो रमण इव यस्याः ।) पृथ्वी । इति हलायुधः ॥ (क्वचित् समुद्ररसना इति पाठो दृश्यते ॥)

समुद्रलवणं, क्ली, (समुद्रजातं लवणम् ।) समुद्रजलजातलवणम् । करकच् लवण इति भाषा । तत्पर्य्यायः । सामुद्रकम् २ सामुद्रम् ३ शिवम् ४ वशिरम् ५ सारोत्थम् ६ अक्षीवम् ७ लवणाब्धिजम् ८ । अस्य गुणाः । लघुत्वम् । हृद्यत्वम् । पलिताखपित्तदत्वम् । विदाहित्वम् । कफवातघ्नत्वम् । दीपनत्वम् । रुचिकारित्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥ अपि च, भावप्रकाशे ।
"सामुद्रं यत्तु लवणमक्षीवं वशिरञ्च तत् ।
सामुद्रं मधुरं पाके सतिक्तं मधुरं गुरु ॥
नात्युष्णं दीपनं भेदि सक्षारमविदाहि च ।
श्लेष्मलं वातनुत्तिक्तमरूक्षं नातिशीतलम् ॥"

समुद्रवह्निः, पुं, (समुद्रस्य वह्निः ।) वाड़वानलः । इति हलायुधः ॥

समुद्रविजयः, पुं, दृष्टार्हत्पिता । इति हेमचन्द्रः ॥

समुद्रसुभगा, स्त्री, (समुद्रस्य सुभगा ।) गङ्गा । इति राजनिर्घण्टः ॥

समुद्रा, स्त्री, सटी । (सम्यगुद्गतो रोऽग्निर्यस्याः ।) शमी । इति राजनिर्घण्टः ॥

समुद्रान्तं, क्ली, (समुद्रस्य अन्त उत्पत्तिस्थानत्वेनास्त्यस्येति । अच् ।) जातीफलम् । इति शब्दचन्द्रिका ॥ (समुद्रस्य अन्तम् ।) समुद्रतीरम् ॥ (समुद्रः अन्तो यस्येति । समुद्रान्तविशिष्टे, त्रि । यथा, भागवते ।१०।४७।३३।
"एतदन्तः समाम्नायो योगः सांख्यं मनीषिणाम् ।
त्यागस्तपो दमः सत्यं समुद्रान्ता इवापगाः ॥")

समुद्रान्ता, स्त्री, (समुद्रस्य अन्तः उत्पत्तिस्थानत्वेनास्त्यस्या इति । अच् । टाप् ।) दुरालभा । इत्यमरः । २।४।९२ ॥ कार्पासी । पृक्का । इति मेदिनी ॥ यवासः । इति राजनिर्घण्टः ॥

समुद्राम्बरा, स्त्री, (समुद्रः अम्बरमिव यस्याः ।) पृथिवी । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

समुद्रारः, पुं, (समुद्रं ऋच्छतीति । ऋ + उण् ।) कुम्भीरः । सेतुबन्धः । तिमिङ्गिलमत्स्यः । इति मेदिनी ॥

समुद्रियः, त्रि, (समुद्रे भव इति । समुद्र + "समुद्राभ्राद्घः ।" ४ । ४ । ११८ । इति घः ।) समुद्रभवः । समुद्रसम्बन्धी । (यथा, वाजसनेयसंहितायाम् । ११ । ४६ ।
"वृषाग्निं वृषणं भरन्नपां गर्भं समुद्रियम् ॥")

समुद्रीयः, त्रि, समुद्रसम्बन्धी । समुद्रशब्दात् णीयप्रत्ययेन निष्पन्नः ॥

समुन्दनं, क्ली, (सम् + उन्द + ल्युट् ।) आर्द्रीभावः । तत्पर्य्यायः । तेमः २ स्तेमः ३ । इत्यमरः ।३।२।२९॥

समुन्नं, त्रि, (सम् + उन्द + क्तः ।) आर्द्रम् । इत्यमरः । ३ । १ । १०५ ॥

समुन्नतः, त्रि, (सम् + उत् + नम + क्तः ।) समुन्नद्धः । स्तम्भभेदः । इति धरणिः ॥

समुन्नतिः, स्त्री, (सम् + उत् + नम + क्तिन् ।) उच्छ्रायः । उत्सेधः । इति जटाधरः ॥ (यथा, कुमारे । ६ । ६६ ।
"उपपन्नमिदं सर्व्वमतः परमपि त्वयि ।
मनसः शिखराणाञ्च सदृशी ते समुन्नतिः ॥")

समुन्नद्धः, त्रि, (सम् + उत् + नह + क्तः ।) पण्डितम्मन्यः । गर्व्वितः । इत्यमरः ।३।३।१०३॥ प्रभुः । इत्यजयः ॥ समुद्भूतः । इति मेदिनी ॥ ऊर्द्ध्वबद्धः । इति हेमचन्द्रः ॥

समुपजोषं, [म्] व्य, (सम् + उप + जुष + अम् ।) आनन्दः । इत्यमरटीकायां रामाश्रमः । ३ । ४ । १० ॥ तालव्यशकारादि च ॥

समुपेयिवान्, [स्] त्रि, गमनकर्त्ता । गमनविशिष्टः । समुपपूर्व्वधातोः क्वसुप्रत्ययेन निष्पन्नः ॥

समुल्लसत्, त्रि, सम्यगुल्लासयुक्तम् । समुत्पूर्व्वलसधातोः शतृप्रत्ययेन निष्पन्नम् ॥

समुल्लिखन्, [त्] त्रि, (सम् + उत् + लिख + शतृ ।) पादादिना भूमिखननकर्त्ता । यथा,—
"तुषारसंघातशिलाः खुराग्रैः
समुल्लिखन् दर्पकलः ककुद्मान् ।
दृष्टः कथञ्चिद्गवयैर्विविग्नै-
रसोढ़सिंहध्वनिरुन्ननाद ॥"
इति कुमारसम्भवे । १ । ५६ ॥

समूढ़ः, त्रि, (सम् + वह + क्तः ।). पुञ्जितः । (यथा, माघे । १ । ४ ।
"नवानधोऽधो बृहतः पयोधरान्
समूढ़कर्पूरपरागपाण्डरम् ॥")
भुग्नः । सद्योजातः । अनुपप्लुतः । इति मेदिनी ॥ दमितः । विवाहितः । इति धरणिः ॥ शोधितः । इति जटाधरः ॥ मूढ़ेन सहितश्च ॥

समूरः, पुं, मृगभेदः । इति हेमचन्द्रः ॥

समूरुः, पुं, मृगविशेषः । इत्यमरः । २ । ५ । ९ ॥

समूलं, त्रि, मूलेन सह वर्त्तमानम् । मूलसहितम् । यथा,—
"अधर्म्मेणैधते राजंस्ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नान् जयति समूलन्तु विनश्यति ॥"
इति महाभारते शान्तिपर्व्वणि राजधर्म्मे युधिष्ठिरं प्रति भीष्मवाक्यम् ॥

समूहः, पुं, (समूह्यते इति । सम् + ऊह + घञ् ।) अनेकः । तत्पर्य्यायः । निवहः २ व्यूहः ३ सन्दोहः ४ विसरः ५ व्रजः ६ स्तोमः ७ ओघः ८ निकरः ९ व्रातः १० वारः ११ संघातः १२ सञ्चयः १३ समुदायः १४ समुदयः १५ समवायः १६ चयः १७ गणः १८ संहतिः १९ वृन्दम् २० निकुरम्बम् २१ कदम्बकम् २२ । इत्यमरः । २।५।३९-४० ॥ पूगः २३ सन्नयः २४ स्कन्धः २५ निचयः २६ जालम् २७ अग्रम् २८ पटलम् २९ काण्डम् ३० मण्डलम् ३१ चक्रम् ३२ । इति जटाधरः ॥ विस्तरः ३३ उत्कारः ३४ समुच्चयः ३५ आकरः ३६ प्रकरः ३७ संघः ३८ प्रचयः ३९ जातम् ४० । इति

शब्दरत्नावली ॥ (यथा, मनुः । ८ । २२१ ।
"एवं दण्डविधिं कुर्य्याद्धार्म्मिकः पृथिवीपतिः ।
ग्रामजातिसमूहेषु समयव्यभिचारिणाम् ॥")

सम्मूहनी, स्त्री, (सम्मूह्यतेऽनयेति । सम् + ऊह + ल्युट् । स्त्रियां ङीप् ।) सम्मार्ज्जनी । इति हेमचन्द्रः ॥

सम्मूह्यः, पुं, (सम्मूह्यते इति । सम् + ऊह + ण्यत् ।) यज्ञाग्निः । तत्पर्य्यायः । परिचाय्यः २ उपचाय्यः ३ । इत्यमरः ।२।७।२० ॥ सम्यगूह्यतेयोग्ये, त्रि । निर्विसर्गश्चेदाणन्तार्थे । यथा,—
"प्रागुदक्प्रवणं देशं समं वा परिसम्मूह्य ॥"
इति गोभिलसूत्रम् ॥

सम्वृद्धः, त्रि, (सम् + ऋधु वृद्धौ + क्तः ।) समृद्धियुक्तः । तत्पर्य्यायः । अधिकर्द्धिः २ । इत्यमरः । ३।१।११ ॥ अधिसम्पत्तिशाली ३ । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, रामायणे । २।१४।२७ ॥
"संहृष्टमनुजोपेतां समृद्धविपणापणाम् ॥"
नागविशेषे, पुं । इति महाभारतम् । १ । ५७ । १७ ॥)

समृद्धिः, स्त्री, (सम् + ऋध् + क्तिन् ।) सम्यगृद्धिः । अतिशयसम्पत्तिः । तत्पर्य्यायः । ऋधा २ । इत्यमरः । ३ । २ । १० ॥ विधा ३ । इति जटाधरः ॥ (यथा, रघुः । ६ । १३ ।
"चरणयोर्नखरागसमृद्धिभि-
र्मुकुटरत्नमरीचिभिरस्पृशन् ॥")

समेतः, त्रि, (सम् + आ + इण् + क्तः ।) सम्यक्प्राप्तः । संयुक्तः । यथा,—
"नामसमेतं कृतसङ्केतं वादयते मृदु वेणुम् ।
बहु मनुते ननु ते तनुसङ्गतपवनचलितमपि
रेणुम् ॥"
इति श्रीजयदेवः ॥

समेधितः, त्रि, सम्यग्वर्द्धितः । संपूर्व्वैधधातोः क्तप्रत्ययेन निष्पन्नः ॥

समोदकं, क्ली, (समं उदकं यत्र ।) मथिताद्धाम्बुदधि । अर्द्धजलयुक्तघोलम् । इति हेमचन्द्रः ॥ तत्पर्य्यायः । उदश्वित् २ । इत्यमरः । २ । ९ । १३६ ॥

सम्पः, पुं, पतनम् । इति भूरिप्रयोगः ॥

सम्पत्तिः, स्त्री, (सं + पद् + क्तिन् ।) विभवोत्कर्षः । तत्पर्य्यायः । श्रीः २ लक्ष्मीः ३ सम्पद् ४ । इत्यमरः ।२।८।८२॥ ऋद्धिः५ । इति जटाधरः ॥ भूतिः ६ । इति मेदिनी ॥ (यथा, कथासरित्सागरे । २४ । १६१ ।
"तत्रैव च ददौ तस्मै सुतां श्रीमविवर्द्धिताम् ।
निजां शिवाय सम्पत्तिमिव मूर्त्तवहारिताम् ॥")

सम्पत्, [द्] स्त्री, (सं + पद् + क्विप् ।) सम्पत्तिः । इत्यमरः ।२।८।८२॥ (यथा, रघुः । १ । ६४ ।
"तथैव चिन्त्यमानस्य गुरुणा ब्रह्मयोनिना ।
सानुबन्धाः कथं न स्युः सम्पदो मे निरापदः ॥")
गुणोत्कर्षः । (यथा, किराते । ५ । २४ ।
"गुणसम्पदा समधिगम्य परं
महिमानमत्र महिते जगताम् ।

नयशालिनि श्रिय इवाधिपतौ
विरमन्ति न ज्वलितुमौषधयः ॥")
हारभेदः । इति मेदिनी ॥

सम्पदं, क्ली, (सम्यक् पदं यत्र ।) समं पदयुगम् । इति शब्दमाला ॥

सम्पद्वरः, पुं, (सं + पद + वरच् । इति पुरुषोत्तमदेवः । इगुपादिटीकायामुज्ज्वलदत्तः ।) राजा । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥

सम्पन्नः, त्रि, (सं + पद + क्तः ।) साधितः । (यथा, पञ्चदश्यां । ८ । ८१ ।
"लौकिकं वचनं सार्थं सम्पन्नं त्वत्प्रसादतः ॥")
सम्पत्तियुक्तः । इति मेदिनी ॥

सम्परायः, पुं, (सम्यक् परे काले ईयते इति । इण् + घञ् ।) आपत् । युद्धम् । उत्तरकालः । इत्यमरः । ३ । ३ । १५० ॥

सम्परायकं, क्ली, युद्धम् । इत्यमरटीकायां भरतः । २ । ८ । १०४ ॥

सम्परायिकं,क्ली, युद्धम् । इत्यमरटीकायां स्वामी । २ । ८ । १०४ ॥

सम्पर्कः, पुं, (सम् + पृच + घञ् ।) मेलकः । रतिः । इति मेदिनी ॥ संसर्गः । यथा,—
"सम्पर्काद्व्यस्यति विप्रो जनने मरणेऽपि वा ।
सम्पर्कविनिवृत्तानां न प्रेतं नैव सूतकम् ॥"
इति शुद्धितत्त्वम् ॥

सम्पर्क्की, [न्] त्रि, (सं + पृची सम्पर्के + "संपृचेति ।" ३।२।१४२ इति घिनुण् ।) सम्पर्कविशिष्टः । सम्पर्कशब्दादिनिप्रत्ययेन निष्पन्नः । इति केचित् ॥

सम्पर्कीयः, त्रि, सम्पर्कयुक्तः । सम्बन्धीयः । सम्पर्कशब्दात् छीयप्रत्ययेन निष्पन्नः ॥

सम्पा, स्त्री, (संपततीति । सं + पत + ड । टाप् ।) विद्युत् । यथाह कश्चित् ।
"रागान्धा तमसो विकारिविरहज्वालातिदृष्टैः स्मरा-
विष्टा भूतलगात् पयोऽतिविषमाद्भ्रष्टा वधूः सत्पथात् ।
पङ्कादेव मदेन पङ्किलतनुः सम्पाति सम्पाततः सम्पाभानुभुजङ्गस्य विजहौ यान्ती भुजङ्गाश्रयम् ॥"

सम्पाकः, पुं, (सम्यक् पाको यस्य ।) आरग्वधवृक्षः । इत्यमरः । २।४।२३ ॥ (यथा, सुश्रुते उत्तरतन्त्रे ६१ अध्याये ।
"सम्पाकश्रेयसीसप्तपर्णापामार्गपीलुभिः ॥")
सम्यक्पाकश्च ॥

सम्पाकः, त्रि, (सम्यक् पाको यस्य ।) तर्क्कः । धृष्टः । इति मेदिनी ॥ अल्पः । लम्पटः । इति धरणिः ॥

सम्पाटः, पुं, तर्कुः । इति शब्दमाला ॥

सम्पातः, पुं, (सम् + पत + घञ् ।) पतनम् । इति भूरिप्रयोगः ॥ (यथा, गीतायाम् । १ । २० ।
"प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ।
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ! ॥")
पक्षिणां गतिविशेषः । इति जटाधरः ॥

सम्पातिः, पुं, अरुणपुत्रः । स च जटायुषोऽग्रजो भ्राता । यथा, रामायणे । ४ । ५६ । २ ।
"सम्पातिर्नाम नाम्ना तु चिरजीवी विहङ्गमः ।
भ्राता जटायुषः श्रीमान् विख्यातबलपौरुषः ॥"
(यथा च तत्रैव गरुड़वाक्ये । ३ । १४ । ३२ ।
"द्वौ पुत्रौ विनतायास्तु गरुड़ोऽरुण एव च ।
तस्माज्जातोऽहमरुणात् सम्पातिश्च ममाग्रजः ॥"
यथाच महाभारते । १ । ६६ । ७० ।
"अरुणस्य भार्य्या श्येनी तु वीर्य्यवन्तौ महाबलौ ।
सम्पातिं जनयामास वीर्य्यवन्तं जटायुषम् ॥"
तथा तत्रैव । ३ ।२७८ । १ ।
"सखा दशरथस्यासीत् जटायुररुणात्मजः ।
गृध्रराजो महावीरः सम्पातिर्यस्य सोदरः ॥"
अस्य पक्षदहन-विवरणम् । यथा, रामायणे । ४ । ५८ । ४—७ ।
"पुरा वृत्रवधे वृत्ते स चाहञ्च जयैषिणौ ।
आदित्यमुपयातौ खे ज्वलन्तं रश्मिमालिनम् ॥
आवृत्याकाशमार्गेण जवेन स्वर्गतौ भृशम् ।
मध्यं प्राप्ते तु सूर्य्ये तु जटायुरवसीदति ॥
तमहं भ्रातरं दृष्ट्वा सूर्य्यरश्मिभिरर्द्दितम् ।
पक्षाभ्यां छादयामास स्नेहात् परमविह्वलम् ॥
निर्दग्धपक्षः पतितो विन्ध्येऽहं वानरर्षभाः ।
अहमस्मिन् वसन् भ्रातुः प्रवृत्तिं नोपलक्षये ।
जटायुषस्त्वेवमुक्तो भ्राता सम्पातिना तदा ॥")

सम्पातिकः, पुं, (सम्पातिरेव । स्वार्थे कन् ।) गरुड़ज्येष्ठपुत्रः । इति शब्दमाला (अरुणस्य ज्येष्ठपुत्रः । इति पुराणम् ॥)

सम्पादकः, पुं, (सम्पादयतीति । सं + पद् + णिच् + ण्वुल् ।) निष्पादकः । सम्पन्नकर्त्ता ॥

सम्पादनं, क्ली, निष्पादनम् । संपूर्व्वकण्यन्तपदधातोरनट्-(ल्युट्) प्रत्ययेन निष्पन्नम् ॥ (यथा, कथासरित्सागरे । १५ । १३६ ।
"संभाव्य विद्युद्रयमात्मचिकीर्षितस्य
सम्पादनाय सुतरां जगृहुः प्रयत्नम् ॥")

सम्पादितः, त्रि, निष्पादितः । संपूर्व्वण्यन्तपदधातोः क्तप्रत्ययेन निष्पन्नः ॥

सम्पीड़नं, क्ली, सम्यक्प्रकारेण यन्त्रणम् । संपूर्व्वपीड़धातोरनट् (ल्युट्) प्रत्ययेन निष्पन्नम् ॥

सम्पीतिः, स्त्री, सम्यक्पानम् । संपूर्व्वपाधातोः क्तिन्प्रत्ययेन निष्पन्नम् ॥

सम्पुटः, पुं, (सं + पुट् + कः ।) कुरवकः । इत्यजयः ॥ पेटा । इति हेमचन्द्रः ॥ एकजातीयोभयमध्यवर्त्ती । यथा, तन्त्रसारः ।
"सकामः संपुटो जप्यो निष्कामः संपुटं विना ।"
तथा च तत्रैव ।
"केवलां मातृकां जप्त्वा मातृका तारसंपुटा ।
मातृकापुटितं तारं न्यसेत् साधकसत्तमः ॥"
रतिबन्धविशेषः । तल्लक्षणं यथा,—
"संप्रसार्य्योभयोः पादौ प्रयागतकपोलकः ।

भगलिङ्गस्य संयोगात् रमते संपुटो हि सः ॥”

इति रतिमञ्जरी ॥

सम्पुटकः, पुं, (सम्पुट्यते इति । सं+पुट+क्वुन् ।) आधारविशेषः । साँपुड़ा इति ख्यातः । इति भरतः ॥ तत्पर्य्यायः । समुद्गकः २ । इत्यमरः ।२ । ६ । १३६ ॥ समुद्गः २ सम्पुटः ३ । इति हेमचन्द्रः ॥

सम्पूर्णं, त्रि, (सं+पॄ+क्तः ।) समग्रम् । परिपूर्णम् । साङ्गम् । यथा,—

“गृहीतेऽस्मिन् व्रते देव ! यद्यपूर्णे त्वहं म्रिये ।
तन्मे भवतु संपूर्णं त्वत्प्रसादाज्जनार्द्दन ! ॥”

इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥

सम्पूर्णः, पुं, (सं+पॄ+क्तः ।) रागस्य जातिविशेषः । स तु सप्तस्वरमिश्रितरागिण्यः । यथा,

“औड़वः पञ्चभिः प्रोक्तः स्वरैः षड्भिस्तु
षाड़वः ।
सम्पूर्णः सप्तभिः प्रोक्तो रागजातिस्त्रिधा मता ॥”

इति सङ्गीतरत्नाकरः ॥

अपि च । सम्पूर्णस्वराः सा ऋ ग म प ध नि । सम्पूर्णरागाः सप्तभिः स्वरैर्यथा । नाटवसन्तादयः । इति सङ्गीतदामोदरः ॥

सम्पूर्णा, स्त्री, (सम्पूर्ण+टाप् ।) एकादशीविशेषः । सा तु पूर्व्वारुणोदयव्यापिनी सती षष्टिदण्डात्मिका । यथा,—

“आदित्योदयवेलायाः प्राङ्मुहूर्त्तद्वयान्विता ।
सैकादशी हि संपूर्णा विद्धान्या परिकीर्त्तिता ॥”

इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥

सम्पृक्तः, त्रि, (सं+पृच्+क्तः ।) मिश्रितः । तत्पर्य्यायः । करम्बः २ कबरः ३ मिश्रः ४ खचितः ५ । इति हेमचन्द्रः ॥

सम्प्रति, व्य, (सम् च प्रति च द्वयोः समाहारः ।) अस्मिन् काले । तत्पर्य्यायः । एतर्हि २ इदानीं ३ अधुना ४ सांप्रतम् ५ । इत्यमरः ।३।४।२३॥ (यथा, भागवते । ७ । १ । १७ ।

“सम्प्रत्यमर्षी गोविन्दे दन्तवक्रश्च दुर्म्मतिः ॥”)

सम्प्रतिः, पुं, अतीतकल्पीयार्हद्भेदः । इति हेमचन्द्रः ॥

सम्प्रतिपत्तिः, स्त्री, (सं+प्रति+पद्+क्तिन् ।) उत्तरविशेषः । यथा,—

“मिथ्यासंप्रतिपत्तिश्च प्रत्यवस्कन्दनं तथा ।
प्राङ्न्यायाश्चोत्तराः प्रोक्ताश्चत्वारः शास्त्र-
वेदिभिः ॥
श्रुत्वाभियोगं प्रत्यर्थी यदि तं प्रतिपद्यते ।
सा तु संप्रतिपत्तिः स्याच्छास्त्रविद्भिरुदाहृता ॥”

अभियुज्यते अभियोगः । प्रतिपद्यते अङ्गीकरोति । तं साध्यार्थम् । इति व्यवहारतत्त्वम् ॥ (सौमनस्यम् । यथा, माघे । १६ । ३८ ।

“न तस्थौ भर्त्तृतः प्राप्तमानसम्प्रतिपत्तिषु ।
रणैकसर्गेषु भयं मानसं प्रति पत्तिषु ॥”)

सम्प्रतिरोधकं, त्रि, (सम्यक्प्रकारेण प्रतिरुणद्धीति । सं+प्रति+रुध+ण्वुल् ।) प्रतिबन्धकम् । संप्रतिपूर्व्वरुधधातोर्णकप्रत्ययेन निष्पन्नम् ॥

सम्प्रतीतिः, स्त्री, सम्यक्ख्यातिः । सम्यग्ज्ञानम् । संप्रतिपूर्व्वेणधातोः क्तिन्प्रत्ययेन निष्पन्नम् ॥

सम्प्रदाता, [ऋ] त्रि, (सं+प्र+दा+तृच् ।) संप्रदानकर्त्ता । यथा, शुद्धितत्त्वे कात्यायनवचनम् ।

“त्रयाणामुदकं कार्य्यं त्रिषु पिण्डः प्रवर्त्तते ।
चतुर्थः संप्रदातैषां पञ्चमो नोपपद्यते ॥”

सम्प्रदानं, क्ली, (सं+प्र+दा+ल्युट् ।) सम्यक्प्रकारेण दानम् । षट्कारकान्तर्गतकारकविशेषः । स च दितसःसूयाक्रोधेर्षारुचिद्रोहश्लाह्नुस्थाघस्पृहिशप्राधीच्छाप्रतिश्रुप्रत्यनुगृधार्य्यर्थीनां विषयः । तत्र चतुर्थी विभक्तिः स्यात् । मुख्यसंप्रदानन्तु प्रकृष्टं दानं यो लभते सः । तथा चोक्तम् ।

“सम्प्रदानं तदेव स्यात् पूजानुग्रहकाम्यया ।
दीयमानेन संयोगात् स्वामित्वं लभते यदि ॥”

इति मुग्धबोधव्याकरणटीकायां दुर्गादासः ॥ अपि च ।

“गत्यादिभिन्ने धात्वर्थे चतुर्थ्या विग्रहस्य या ।
यः स्वार्थो बोधनीयस्तत् संप्रदानत्वमीरितम् ॥”

गत्यादिभिन्ने यद्धातूपस्थाप्य यादृशार्थे विग्रहस्थचतुर्थ्या यः स्वार्थो बोधयितुं शक्यते स तद्धातूपस्थाप्य तादृशक्रियायां संप्रदानत्वमुच्यते । ब्राह्मणाय दानं धनस्य इत्यादौ ददातेः स्वत्वजनकत्यागोऽर्थः तन्निविष्टे च स्वत्वे ब्राह्मणादेः प्रतियोगित्वं निरूपितत्वं वा चतुर्थ्या बोध्यते इति तदेव तत्र संप्रदानत्वं ब्राह्मणादिप्रतियोगिकं यद्गमट्टत्तिस्वत्वं तज्जनकस्त्याग इत्येवं तत्र प्रत्ययात् धात्वर्थतावच्छेदकीभूतस्वत्वाख्यफलवत्तया धनादेर्दानकर्म्मत्वात् । न चैवं पशुकामनया यागकरणदशायां चैत्रः स्वात्मने पशुं ददातीत्यपि प्रयोगापत्तिः तादृशयागस्य चैत्रीयं यत् पशुनिष्ठं स्वत्वं तज्जनकत्यागत्वादिति वाच्यं स्वत्वध्वंसजनकक्रियापर्य्यवसन्नस्य त्यागस्यैकदेशे स्वत्वध्वंसेऽपि द्वितीयाद्यर्थस्यान्वयेन पशुफलकयागे पशुनिष्ठस्य स्वत्वध्वंसस्य जनकत्वविरहादेतद्वाक्यस्याप्रमाणत्वात् । ग्रामाय गत इत्यादौ विग्रहस्थचतुर्थ्या धात्वर्थे बोध्यमपि कर्म्मत्वं न गत्यादिभिन्ने । दण्डाय सेचक इत्यादौ गत्यादिभिन्ने चतुर्थ्या बोधनीयोऽपि संवर्द्धयितुमित्यादितुमर्थो न विग्रहस्थयेति न तत्र प्रसङ्गः । संप्रदानशब्दस्तु स्वाश्रयगोचरत्यागजन्यस्वत्वस्य प्रतियोगिन्येव शक्त इति स्वत्वप्रतियोगित्वं संप्रदानमित्यादिको न प्रयोगः । न च दानस्य स्वत्वहेतुत्वे प्रमाणाभावः ।

‘सप्त वित्तागमा धर्म्म्या दायो लाभः क्रयो
जयः ।
प्रयोगः कर्म्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च ॥’

इत्यादि मन्वादिवचनैस्तस्य स्वत्वहेतुत्वाप्रतिपादनादिति वाच्यम् । ब्राह्मणाय त्यक्तायां गवि गौरियं ब्राह्मणस्य न तु ममेत्यादि सार्व्वजनीनप्रतीतेरेव तत्र प्रमाणत्वात् प्रदानं स्वाम्यकारणमिति वचनाच्च अतएव विदेशस्थं पात्रमुद्दिश्य त्यक्तधने स्वीकारमन्तरेणैव पात्रस्य मरणश्रुते पितृदायत्वेन तद्धनं पुत्त्रादिभिर्विभज्य गृह्यते अन्यथा तैरिव उदासीनैरपि तद्धनस्यारण्यकुशादेरिवोपादाने यथेष्टनियोगे च प्रत्यवायो न स्यात् नन्वेवं दानादेव स्वत्वसिद्धेर्दत्तवस्तुनि स्वीकारो व्यर्थं इति चेन्न लब्ध्वा चाष्टगुणं फलमित्यादि स्मृतेः प्रतिगृहीतद्रव्यदानस्य फलविशेषं प्रति हेतुत्वेन तादृशफलसम्पत्त्यर्थमेव प्रतिग्रहस्योपयोगात् याजनाध्यापनप्रतिग्रहैर्द्विजो धनमर्ज्जयेदित्यादिस्मृत्या प्रागुक्तस्मृत्या च प्रतिग्रहस्यापि स्वत्वहेतुत्वबोधनाच्च । स्वत्वजनकव्यापारस्यैवार्ज्जनपदार्थत्वात् । दासाय भक्ष्यं ददाति भृतकाय वेतनं ददातीत्यादावपि स्वत्वजनकत्यागं प्रतिपादयन् ददातिर्मुख्य एव पुण्यजनकस्तु न तादृशं दानमवैधत्वात् । यत्तु स्वीकारजन्यस्य स्वत्वस्य जनकस्त्यागो दानं मनसा पात्रमुद्दिश्य धनत्यागस्तु न दानं किन्तूत्सर्गमात्रं प्रतिग्रहजन्यस्वत्वं प्रति हेतुभूतवैधत्यागस्यैव तथात्वात् उपेक्षा तु स्वत्वध्वंसमात्रजनकस्त्यागो न तु तत्र स्वत्वजनकस्यान्तर्भाव इति मैथिलैरुक्तं तन्न युक्तं लाघवेन स्वत्वजनकत्यागस्यैव ददात्यर्थत्वात् । तिलानस्मै प्रतियच्छति तुरगमस्मै विक्रीणीते इत्यादौ द्रव्यान्तरग्रहणपूर्व्वकं दानमेव प्रतिदानम् । मूल्यग्रहणपूर्व्वकं दानमेव विक्रय इति तत्रापि मुख्यमेव संप्रदानत्वं चतुर्थ्या बोध्यते । तिलादिकञ्च न मूल्यं पणपुराणादेरेव शास्त्रे तथात्वोपदेशात् । अदृष्टार्थं दत्तस्यैव च स्वीकारः प्रतिग्रह इति परेण प्रतिदत्तस्य विक्रीतस्य वा तिलतुरगादेः स्वीकारो न दोषावहः । मैत्राय रोचते मोदक इत्यत्र चतुर्थ्या धात्वर्थान्वितं आधेयत्वं धातुना च भक्ष्यत्वप्रकारकेच्छोपस्थाप्यते तिङा तु प्रकाशत इत्यादाविव विषयत्वलक्षणं कर्त्तृत्वं तथा च मैत्रनिष्ठायाः भक्ष्यत्वप्रकारकेच्छाया विषयतावान् मोदकः इत्याकारकस्तत्र बोधः । गुरवे गां धारयते इत्यत्र धृङा गृहावस्थितिः द्वितीयया तदन्वितं कर्त्तृत्वं चतुर्थ्या च तन्निविष्टगृहान्वितं सम्बन्धित्वमुपस्थाप्यते तेन गोकर्त्तृकाया गुरुसम्बन्धिगृहावस्थितेरनुकूलव्यापारवान् इत्याकारकस्तत्र बोधः । धातूत्तरणिचा व्यापारबोधनादिति कालापाः । पाणिनीयास्तु धारेरुत्तमर्णः इति सूत्रानुसारेण चैत्राय शतं धारयते इत्यादाविव गुरवे गां धारयते इत्यादावपि ऋणग्रहणं धारणं दत्तत्वञ्च चतुर्थ्यर्थः तथा च गुरुदत्तां गां ऋणत्वेन गृह्णाति इत्याकारस्तत्र वाक्यार्थः पश्चात् शोध्यत्वेनाङ्गीकृत्य गृहीतञ्च द्रव्यमृणमित्याहुः । पुत्त्राय राध्यति पुत्त्रायेक्षत इत्यादौ दैवनिरूपणं धात्वर्थः तन्निविष्टे च दैवे सुबर्थस्य सम्बन्धस्यान्वयस्तेन पुत्त्रस्य दैवं निरूपयति इत्येवं तत्र बोधः । गुरवे गां

प्रतिशृणोति आशृणोति इत्यादौ देयत्वेनाभ्युपगमः शृणोतेरर्थस्तत्र गोविंशिष्यत्वेन तदेकदेशे च दाने गुरोरुद्दिश्यत्वेनान्वयस्तेन गुरूद्देश्यकदानकर्म्मत्वेन गामभ्युपगच्छतीत्येवं तत्र बोधः। ह्नोते प्रतिगृणातीत्यादौ हर्षानुकूलव्यापारलक्षणं प्रोत्साहनं गृणातेरर्थस्तदेकदेशे च हर्षे होत्रादेरन्वयः तेन होतृनिष्ठहर्षानुकूलव्यापारवान् इत्याकारकस्तत्र बोधः। चैत्राय कुप्यतीत्यादौ धात्वर्थे उत्कटद्वेषस्तत्र विषयित्वलक्षणं संप्रदानत्वं चतुर्थ्या बोध्यते तेन चैत्रविषयकोत्कटद्वेषवान् इत्याकारकस्तत्र बोधः। पुत्रे कोपो न शुध्यते इत्यत्र तद्धितस्य कोपपदस्यैवार्थे पुत्र इत्यस्यान्वयो न तु धात्वर्थे। पटाय यतते इत्यादावपि धात्वर्थकृतौ सुपा पटस्य विषयित्वं बोध्यते तत्र उद्देश्यत्वमेव चतुर्थ्यर्थः कथमन्यथा पटेच्छया तन्तुनिर्म्माणदशायां पटाय यतते इत्यादिकः प्रयोग इत्यपि वदन्ति। मित्राय द्रुह्यति इत्यत्र हिंसाचरणं द्रोहस्तेन मित्रस्य हिंसामाचरतीत्यर्थः। शिष्याय ईर्ष्यति इत्यत्र अनिष्टानुपेक्षणमीर्षा तथा च शिष्यानिष्टं नोपेक्षत इत्यर्थः। पुत्रायासूयति इत्यत्रासूया गुणद्वेषस्तेन पुत्रस्य गुणं द्वेष्टि इत्याकारकस्तत्र बोधः। मित्रं द्रुह्यति शिष्यमीर्ष्यति पुत्रमसूयतीत्यपि प्रयोगात् द्रुहादिकर्म्मणः संप्रदानत्वं वैकल्पिकमित्युन्नीयते। कोपपूर्व्वकस्य द्रोहादेर्द्रुहादिधातुवाच्यत्वे तत्कर्म्मणः संप्रदानत्वं द्रोहादिमात्रस्य तथात्वे तु कर्म्मत्वमेवेति पुनः कौमाराः। सोपसर्गयोस्तु क्रुधद्रुहोः कर्म्मणः कर्म्मतैव न तु संप्रदानता अतएव शिष्यस्याभिक्रोद्धा मित्रस्याभिद्रोग्धेत्यादौ कृद्योगे कर्म्मणि षष्ठ्येव प्रमाणम्।”

इति शब्दशक्तिप्रकाशिका॥

सम्प्रदायः, पुं, (सं+प्र+दा+घञ्। “आतो युक् चिण्कृतोः।” ७।३।३३। इति युक्।) गुरुपरम्परागतसदुपदेशः। शिष्टपरम्परावतीर्णोपदेशः। इति भरतः॥ तत्पर्य्यायः। आम्नायः २। इत्यमरः।३।२।७॥ (यथा, माघे। १४। ७६।

“सम्प्रदायविगमादुपेयुषी-
रेष नाशमविनाशिविग्रहः।
स्मर्त्तुमप्रतिहतस्मृतिः श्रुती-
र्दत्त इत्यभवदत्रिगोत्रजः॥”)

गुरुपरम्परागतसदुपदिष्टव्यक्तिसमूहः। यथा,

“संप्रदायानुरोधेन पौर्व्वापर्य्यानुसारतः।
श्रीभागवतभावार्थदीपिकेयं प्रतन्यते॥”

इति श्रीधरस्वामी॥

तद्भेदा यथा, श्रीपद्मपुराणे।

“श्रीमन्नारायणो ब्रह्मा नारदो व्यास एव च।
श्रीलमध्वः पद्मनाभो नृहरिर्माधवस्तथा॥
अक्षोभो जयतीर्थश्च ज्ञानसिन्धुर्महानिधिः।
विद्यानिधिश्च राजेन्द्रो जयधर्म्ममुनिस्तथा॥
पुरुषोत्तमो ब्रह्मण्यो व्यासतीर्थमुनिस्तथा।
श्रीमाल्लक्ष्मीपतिः श्रीमान्माधवेन्द्रपुरिस्तथा॥
संप्रदायविहीना ये मन्त्रास्ते निष्फला मताः।
अतः कलौ भविष्यन्ति चत्वारः संप्रदायिनः।
श्रीमाध्विरुद्रसनका वैष्णवाः क्षितिपावनाः॥”

तन्त्रोक्तवैष्णवसंप्रदाया यथा,—

श्रीशिव उवाच।

“वैखानः सामवेदादौ श्रीराधावल्लभी तथा।
गोकुलेशो महेशानि! तथा वृन्दावनी भवेत्॥
पाञ्चरात्रः पञ्चमः स्यात् षष्ठः श्रीवीरवैष्णवः।
रामानन्दी हविष्याशी निम्बार्कश्च महेश्वरि॥
ततो भागवतो देवि दश भेदाः प्रकीर्त्तिताः।
शिखी मुण्डी जटी चैव द्विविदण्डी क्रमेण च॥
एकदण्डी महेशानि वीरशैवस्तथैव च।
सप्त पाशुपताः प्रोक्ता दशधा वैष्णवा मताः॥
एतेषां वासनं देवि! शृणु यत्नेन शाम्भवि।
वेवेष्टि सर्व्वं संव्याप्य यस्तिष्ठति स वैष्णवः॥
वैखानसादिरूपाद्यैर्भूषितः स्मार्त्तवैष्णवः।
श्रीराधावल्लभं देवि शृणु यत्नेन शाम्भवि॥
वैष्णवाचारनिरतो विष्णुतन्त्रैकपारगः।
अनन्यचेताः शान्तात्मा विष्णुचिन्तापरायणः॥
श्रीराधावल्लभो देवि गोकुलेशं शृणु प्रिये।
नानाभूषणसम्पन्नो नानासुगन्धिभूषितः॥
गवां कुलं प्रीणयिता केलिकृष्णस्वरूपधृक्।
शरीरमर्थं प्राणांश्च तन्निवेदनकारकम्॥
अन्तःशक्तिपरो देवि वहिर्वैष्णवरूपधृक्।
गन्धर्व्वाचारनिरतो लतावेष्टनतत्परः॥
संप्रदायो गोकुलेशः सर्व्वसिद्धिकरो भुवि।
वृन्दावनाख्यं देवेशि शृणु यत्नेन सांप्रतम्॥
विगताशः प्रसन्नात्मा विष्णुभक्तिपरायणः।
कामिनीसङ्गचपलो वनक्रीड़ाविनोदधृक्॥
सौगन्धभूषिततनुः स्त्रीध्यानैकपरायणः।
विष्णुसारूप्यतत्त्वज्ञः प्रोक्तो वृन्दावनी शिवे॥
पाञ्चरात्रो महेशानि तथैव वीरवैष्णवः।
पूर्व्वमेव महेशानि कीर्त्तितः परमेश्वरि॥
रा शक्तिरिति विख्याता म शिवः परिकीर्त्तितः।
तदानन्दी शान्तचित्तो प्रसन्नात्मा विचारधृक्॥
सर्व्वत्र समरूपश्च रामानन्दी प्रकीर्त्तितः।
हविष्याशं महेशानि यथावदवधारय।
पापसंहरणाशक्तो विष्णुभक्तो जितेन्द्रियः॥
यमादिनियमैर्युक्तो भक्ताचारपरायणः।
स्वोपयोगफलाग्राही परकार्य्यपरायणः॥
हविष्याशी महेशानि शिवभक्तिस्वरूपधृक्।
निम्बार्काख्यं संप्रदायं शृणु यत्नेन सांप्रतम्॥
नित्यार्च्चनक्रमासक्तः स्वतन्त्रैकपरायणः।
बाह्यपूजादिनिरतो नान्यभक्तः प्रसन्नधीः॥
आर्य्यपक्षान्वितः स्वच्छः स्वच्छन्दाचारतत्परः।
स्वतन्त्रः स्मार्त्तविद्वेषी निम्बार्को भगवान् हरिः॥
अथ भागवतं देवि कथ्यते शृणु सांप्रतम्॥
विष्णुभक्त्यैकनिपुणो विज्ञातात्मा प्रसन्नधीः।
स्मार्त्तगर्व्वान्वितो देवि तदन्याचारतत्परः॥
आर्य्यपक्षान्वितो देवि तथा स्वरूपवेशधृक्।
शैवद्वेषी तस्य सङ्गात् पुनः स्नानपरायणः।
केवलं विष्णुतत्त्वज्ञः प्रोक्तो भागवतः शिवे॥”

इति शक्तिसङ्गमतन्त्रे १ खण्डे ८ पटलः॥

सम्प्रधारणा, स्त्री, (सम्+प्र+धृ+णिच्+युच्। टाप्।) उचितानुचितनिश्चयः। तत्पर्य्यायः। समर्थनम् २। इत्यमरः। २।८।२५॥

सम्प्रपदं, क्ली, (सं+प्र+पद गतौ+कः।) भ्रमणम्। पर्य्यटनम्। इति केचित्॥ (यथा, याज्ञवल्क्ये। ३।५१।

“स्वप्याद् भूमौ शुचौ रात्रौ दिवासंप्रपदैर्नयेत्।
स्थानासनविहारैर्वा योगाभ्यासेन वा तथा॥”)

सम्प्रयोगः, पुं, (सं+प्र+युज+घञ्।) निधुवनम्। रतम्। अन्वितिः। सम्बन्धः। (यथा, रघुः। ५। ५४।

“उष्णत्वमग्न्यातपसंप्रयोगात्
शैत्यं हि यत् सा प्रकृतिर्जलस्य॥”)

कार्म्मणम्। वशीकरणादिकर्म्म। इति मेदिनीकरहेमचन्द्रौ॥ अर्पिते, त्रि। इत्यजयः॥

सम्प्रयोगी, [न्] पुं, (संप्रयोगोऽस्यास्तीति। इनिः।) कलाकेलिः। कामुकः। संप्रयोजकः। इति मेदिनी॥

सम्प्रसारणं, क्ली, (सं+प्र+सृ+णिच्+ल्युट्।) व्याकरणस्य संज्ञाविशेषः। यथा। इग्यणः संप्रसारणम्। यणस्थाने प्रयुज्यमानो य इक् स संप्रसारणसंज्ञः स्यात्। इति सिद्धान्तकौमुदी॥

सम्प्रहारः, पुं, (सम्यक्प्रकारेण प्रह्रीयतेऽत्रेति। सं+प्र+हृ+घञ्।) युद्धम्। इत्यमरः। २। ८। १०५॥ (यथा, रघुः। ७। ५२।

“अन्यौ गदाव्यायतसंप्रहारौ
भग्नायुधौ बाहुविमर्द्दनिष्ठौ॥”)

गमनम्। इति मेदिनी॥ हननम्। इति धरणिः॥

सम्प्राप्तः, त्रि, (सं+प्र+आप्+क्तः।) सम्यक्प्रकारेण प्राप्तः। यथा। स्कन्दपुराणम्।

“संप्राप्ते मकरादित्ये पुण्ये पुण्यप्रदे सदा।
कर्त्तव्यो नियमः कश्चिद्व्रतरूपो नरोत्तमैः॥”

इति तिथ्यादितत्त्वम्॥

सम्प्राप्तिः, स्त्री, (सं+प्र+आप्+क्तिन्।) सम्यक्प्रापणम्। यथा,—

“आत्मनेपदसंप्राप्तौ परस्मै क्वचिद्भवेत्॥”

इति संक्षिप्तसारव्याकरणम्॥

सम्प्रैषः, पुं, (सं+प्र+इष+घञ्।) नियोगः। विधिः। इति हेमचन्द्रः॥

सम्फालः, पुं, (सम्यक् फालो गमनं यस्य।) मेषः। इति हेमचन्द्रः॥

सम्फुल्लः, त्रि, (सं+फल+क्तः। “उत्फुल्लसंफुल्लयोरिति वक्तव्यम्।” ८। २। ५५। इत्यस्य वार्त्तिकोक्त्या निपातितः।) विकसितः। प्रफुल्लः। इत्यमरः। २। ४। ७॥

सम्ब, सर्पणे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट्।) दन्त्यादिः। ओष्ठ्यवर्गशेषोपधः। सम्बति। सिसम्बयिषति। इति दुर्गादासः॥

सम्ब, क, सम्बन्ध। इति कविकल्पद्रुमः॥ (चुरा०-पर०·सक०-सेट्।) ओष्ठ्यवर्गशेषोपधः। क, सम्बयति धनं लोकः संबध्नातीत्यर्थः। तालव्यादिरयमिति धातुप्रदीपः। मूर्द्धन्यादिरित्यप्येके। इति दुर्गादासः॥

सम्बं, क्ली, (सम्बति सर्पतीति। सम्ब+अच्।) जलम्। इति जटाधरः॥ वारदयकर्षणम्। इति सम्बाकृतशब्ददर्शनात्॥

सम्बद्धः, त्रि, (सं+बन्ध+क्तः।) सम्बन्धयुक्तः। यथा सुमन्तुः। मातृपितृसम्बद्धा आसप्तमाद्विवाह्याः कन्या भवन्ति। इत्युद्वाहतत्त्वम्॥ (यथा च भागवते। २। ६। १।
"आत्ममायामृते राजन् परस्यानुभवात्मनः।
न घटेतार्थसम्बन्धः स्वप्नद्रष्टुरिवाञ्जसा॥")
बन्धनविशिष्टः। (यथा, रामायणे।५।५६।२७।
"दन्तौष्ठपुटसंबद्धं वक्त्रं सापि तदाकरोत्॥")

सम्बन्धः, पुं, (सम्बध्यते इति। सं+बन्ध+घञ्।) मन्त्रिः। न्यायः। इत्यजयः॥ (सख्यम्। इति मल्लिनाथः॥ यथा, रघुः। २। ५८।
"सम्बन्धमाभाषणपूर्व्वमाहु-
र्वृत्तः स नौ सङ्गतयोर्व्वनान्ते॥")
संसर्गः। यथा। एकपदार्थे अपरपदार्थसंसर्गः संसर्गमर्य्यादया भासते स च प्रतियोग्यनुयोग्याधाराधेयविषयविषयिभावादिः। इति प्रथमव्युत्पत्तिवादीयगादाधरी॥ सम्पर्कः। स च त्रिविधः। विद्याजः १ योनिजः २ प्रीतिजः ३। तद्विवरणं यथा,—
"सम्बन्धो येषु येषां यः सर्व्वजातिषु सर्व्वतः।
तं त्वां ब्रवीमि वेदोक्तं ब्रह्मणा कथितं पुरा॥
पिता तातस्तु जनको जन्मदातरि वर्त्तते।
अम्बा माता च जननी गर्भधात्रीं प्रचक्षते॥
पितामहः पितृपिता तत्पिता प्रपितामहः।
अत ऊर्द्ध्वं ज्ञातयश्च सगोत्राः परिकीर्त्तिताः॥
मातामहः पिता मातुः प्रमातामह एव च।
मातामहस्य जनकस्तत्पिता वृद्धपूर्व्वकः॥
पितामही पितुर्म्माता तत्श्वश्रूः प्रपितामही।
मातामही मातृमाता मातृतुल्या च पूजिता॥
प्रमातामहीति विख्याता प्रमातामहकामिनी।
वृद्धप्रमातामही ज्ञेया तत्पितुः कामिनी तथा।
पितृभ्राता पितृव्यः स्यान्मातुर्भ्राता तु मातुलः।
पितुः स्वसा पितुर्भग्नी मातुर्भग्नी च मासुरी॥
सूनुश्च तनयः पुत्रो दायादश्चात्मजस्तथा।
धनभाक् वीर्य्यजश्चैव पुंसि जन्ये च वर्त्तते॥
जन्यायां दुहिता कन्या चात्मजा परिकीर्त्तिता।
पुत्रपत्नी वधूर्ज्ञेया जामाता दुहितुः पतिः॥
पतिः प्रियश्च भर्त्ता च स्वामी कान्ते च वर्त्तते।
पत्नीभ्राता श्यालकश्च पत्नीभग्नी च श्यालिका॥
देवरः स्वामिनो भ्राता ननन्दा स्वामिनः स्वसा।
श्वशुरः स्वामिनस्तातः श्वश्रूश्च स्वामिनः प्रसूः॥
भार्य्या जाया प्रिया कान्ता स्त्री च पत्न्याश्च वर्त्तते।
पत्नीमाता तथा श्वश्रूस्तत्पिता श्वशुरः स्मृतः॥
सगर्भः सोदरो भ्राता सगर्भा भगिनी स्मृता।
भग्नीपुत्रो भागिनेयो भ्रातृपुत्रश्च भ्रातृजः॥
श्यालस्तु भगिनीकान्तो भगिनीपतिरेव च।
श्यालीपतिस्तु भ्राता च श्वशुरैकत्वहेतुना।
श्वशुरस्तु पिता ज्ञेयो जन्मदातुः समो मुने॥
अन्नदाता भयत्राता पत्नीतातस्तथैव च।
विद्यादाता जन्मदाता पञ्चैते पितरो नृणाम्॥
अन्नदातुश्च या पत्नी भगिनी गुरुकामिनी।
माता च तत्सपत्नी च कन्या पुत्रप्रिया तथा॥
मातुर्म्माता पितुर्म्माता श्वश्रूः पित्रोः स्वसा सुता।
पितृव्यानी मातुलानी मातरश्च चतुर्द्दश॥
पौत्रस्तु पुत्रपुत्रे च प्रपौत्रस्तत्सुतोऽपि च।
तत्पुत्राद्याश्च ये वंश्या कुलजाताश्च कीर्त्तिताः॥
कन्यापुत्रश्च दौहित्रस्तत्पुत्राद्याश्च बान्धवाः।
भागिनेयसुताद्याश्च पुरुषा बान्धवाः स्मृताः॥
भ्रातृपुत्राश्च पुत्राद्यास्ते पुनर्ज्ञातयः स्मृताः॥
गुरुपुत्रस्तथा भ्राता पोष्यः परमबान्धवः।
गुरुकन्या च भगिनी पोष्या मातृसमा मुने॥
पुत्रस्य च गुरुर्भ्राता पोष्यः सुस्निग्धबान्धवः।
पुत्रस्य श्वशुरभ्राता बन्धुर्वैवाहिकः स्मृतः॥
कन्यायाश्च श्वशुरे तत्सम्बन्धः परिकीर्त्तितः।
गुरुश्च कन्यकायाश्च पुरुषा बान्धवाः स्मृताः॥"
पुरुषा बान्धवाः स्मृता इत्यत्र भ्राता सुस्निग्धबान्धवा इत्यपि क्वचित् पाठः।
"गुरुः श्वशुरभ्रातॄणां गुरुतुल्यश्च पूजितः।
बन्धुता येन सार्द्धञ्च तन्मित्रं परिकीर्त्तितम्॥
मित्रं सुखप्रदं ज्ञेयं दुःखदो रिपुरुच्यते।
बान्धवो दुःखदो दैवात् निःसम्बन्धी सुखप्रदः॥
सम्बन्धस्त्रिविधः पुंसां विप्रेन्द्र! जगतीतले।
विद्याजो योनिजश्चैव प्रीतिजश्च प्रकीर्त्तितः॥
मित्रन्तु प्रीतिजं ज्ञेयं स सम्बन्धः सुदुर्ल्लभः।
मित्रमाता मित्रभार्य्या मातृतुल्या न संशयः॥
मित्रभ्राता मित्रपिता भ्रातृपितृसमो नृणाम्।
चतुर्थं नाम सम्बन्धमित्याह कमलोद्भवः॥
जारश्चोपरतिर्बन्धुर्दुष्टासंभोगकर्त्तरि।
उपपत्नी नवङ्गी च प्रेयसी चित्तहारिणी॥
स्वामितुल्यश्च जारश्च नवङ्गी गृहिणीसमा।
सम्बन्धो देशभेदे च सर्व्वदेशे विगर्हितः॥
अवैदिको निन्दितस्तु विश्वामित्रेण निर्म्मितः।
दुस्त्याज्यस्तु महद्भिश्च देशभेदे च सञ्चरेत्॥
अकीर्त्तिजनकः पुंसां योषिताञ्च विशेषतः।
तेजीयसां न दोषाय विद्यमानो युगे युगे॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते ब्रह्मखण्डे सम्बन्धजातिनिर्णयो नाम १० अध्यायः॥ *॥ कूर्म्मपुराणे।
"एकोदकानां मरणे सूतकं चैतदेव हि।
पञ्चिणीं योनिसम्बन्धे बान्धवेषु तथैव च॥"
योनिसम्बन्धे मातृस्वस्रीयभागिनेयेषु॥ अपि च।
"असम्बन्धिनो द्विजान् दहित्वा वहित्वा सद्यःशौचं सम्बन्धे तु त्रिरात्रम्। इति शुद्धितत्त्वम्॥
शब्दव्याकरणयोरुत्पाद्योत्पादकभावः सम्बन्धः। ग्रन्थादौ तस्य वक्तव्यता यथा,—
"सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्त्तते।
ग्रन्थादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः॥"
सप्रयोजन इत्यत्र क्वचित् पुस्तके साभिधेयक इति पाठः। इति मुग्धबोधटीकायां दुर्गादासः॥

सम्बन्धः, त्रि, (सम्बध्यते इति। सं+बन्ध+घञ्।) शक्तः। हितः। इत्यजयः॥

सम्बन्धी, [न्] त्रि, (सम्बन्धोऽस्यास्तीति। इनिः।) सम्बन्धविशिष्टः। तत्पर्य्यायः। गुणवान् २ संयुक् ३। इति त्रिकाण्डशेषः॥ (यथा, मनुः। ८।६४।
"नार्थसम्बन्धिनो नाप्ता न सहाया न वैरिणः।
न दृष्टदोषाः कर्त्तव्या न व्याध्यार्त्ता न दूषिताः॥"
पुं, मातृपक्षीयः। श्वशुरादिः। जामाता। श्यालकादिः। यथा, मनुः। २। १३२।
"विप्रोष्य तूपसंग्राह्या ज्ञातिसम्बन्धियोषितः॥"
"ज्ञातयः पितृपक्षाः पितृव्यादयः। सम्बन्धिनो मातृपक्षाः श्वशुरादयश्च तेषां ज्येष्ठानां याः स्त्रियः।" इति कुल्लूकभट्टः॥ *॥ तथाच मनुः। ४। १७६।
"बालवृद्धातुरैर्वैद्यैर्ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः॥"
"ज्ञातयः पितृपक्षाः। सम्बन्धिनो जामातृश्यालकादयः।" इति तट्टीकायां कुल्लूकः॥ *॥
वैवाहिकः। यथा, उत्तरचरिते। ४ अङ्के।
"स सम्बन्धी श्लाघ्यः प्रियसुहृदसौ तच्च हृदयं
स चानन्दः साक्षादपि च निखिलं जीवितपदम्॥"
मित्रम्। इति मल्लिनाथः॥ यथा, रघुः।२।५८।
"तद्भूतनाथानुग नार्हसि त्वं
सम्बन्धिनो मे प्रणयं विहन्तुम्॥")

सम्बाकृतं, त्रि, (सम्बं कृतम्। डाच्।) वारद्वयकृष्टक्षेत्रम्। इत्यमरः। २। ९। ९॥ तालव्यशादि च॥

सम्बाधः, पुं, (सम्यक् बाधा यत्र।) सङ्कटः। (यथा, माघः। ८। २।
"संसक्तैर्विपुलतया मिथो नितम्बैः
सम्बाधं दृढदपि तद्बभूव वर्त्म॥")
भगम्। इति मेदिनी॥ भयम्। (यथा, महाभारते। ४। ३८। ७।
"व्यायामसहमत्यर्थं तृणराजसमं महत्।
सर्व्वायुधमहामात्रं शत्रुसम्बाधकारकम्॥")
नरकवर्त्म। इति शब्दरत्नावली॥

सम्बाधनं, क्ली, (सम्यक् बाधनं यत्र।) मदनस्य द्वारम्। शूलाग्रम्। द्वारपालः। इति मेदिनी॥

सम्बुद्धः, पुं, (सं+बुध+क्तः।) बुद्धावतारः। इति त्रिकाण्डशेषः॥ सम्यग्बोधाश्रये, त्रि॥

सम्बुद्धिः, स्त्री, (सं+बुध+क्तिन्।) सम्बोधनम्। यथा। त्व्यर्थसम्बुद्ध्यक्तार्थे प्रो। इति मुग्धबोधव्याकरणम्॥

सम्बोधः, पुं, (सं+बुध+घञ्।) बोधनम्। (यथा, महाभारते। ३। ३१२। ८५।
"ज्ञानं तत्त्वार्थसम्बोधः शमश्चित्तप्रशान्तता।
दयासर्व्वसुखैषित्वमार्ज्जवं समचित्तता॥")
क्षेपः। इति मेदिनी॥ नाशः। इत्यजयपालः॥

सम्बोधनं, क्ली, (सं+बुध+ल्युट् ।) अन्यत्र व्यासक्तस्य कार्य्यान्तरे नियोजनार्थमाभिमुख्यविधानम् । यथा हे विष्णो । इति व्याकरणम् ॥ हे वृक्ष हे लते हे फल इत्यादावचेतने तूपचारः । इति दुर्गादासः ॥ तत्पर्य्यायः । आमन्त्रणम् २ । इति हेमचन्द्रः ॥ सम्बुद्धिः ३ । इति मुग्धबोधः ॥ (यथा, साहित्यदर्पणे ।६।५१३।
"सम्बोधनोक्तिप्रत्युक्ती कुर्य्यादाकाशभाषितैः ॥")

सम्भली, स्त्री, कुट्टनी । इत्यमरः । २ । ६ । १९ ॥ "हे परपुरुषेण सह परनारीं योजयन्त्यां कुट्टनी इति ख्यातायाम् । कुट्टयति छिनत्ति स्त्रीपुरुषवैमत्यं कुट्टनी नन्द्यादिः । शं कल्याणं भलते निरूपयति शम्भली भल ङ निरूपणे पचादित्वादन् गद्यादित्वादीप् शम्भली तालव्यादिः । सम्यक् भलते सम्भली दन्त्यादिरित्यन्ये ।" इति भरतः ॥

सम्भवः, पुं, (सं+भू+अप् ।) हेतुः । उत्पत्तिः । (यथा, आर्य्यासप्तशत्याम् । ४५८ ।
"महता प्रियेण निर्म्मितमप्रियमपि सुभग !
सह्यतां याति ।
सुतसम्भवेन यौवनविनाशनं न खलु खेदाय ॥")
मेलकः । आधेयस्य आधारानतिरिक्तत्वम् । इति मेदिनी ॥ सङ्गतः । अपायः । इत्यजयः ॥ वर्त्तमानकल्पीयार्हद्भेदः । इति हेमचन्द्रः ॥

सम्भव्यः, पुं, (सं+भू+यत् ।) कपित्थः । इति शब्दचन्द्रिका ॥ सम्भवनीये, त्रि ॥

सम्भारः, पुं, (सं+भृ+घञ् ।) सम्भृतिः । समूहः । इति मेदिनी ॥ सर्व्वपूर्णत्वम् । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ (यज्ञादिकार्य्योपकरणद्रव्यम् । यथा, देवीभागवते । १ । १९ । २३ ।
"कृत्वा तस्य मखं पूर्णं करिष्यामि तवापि वै ।
तावत् कुरुष्व राजेन्द्र सम्भारन्तु शनैः शनैः ॥"
तथा तत्रैव । २ । ८ । ४ ।
"विवाहार्थञ्च सम्भारं रचयामासतुर्व्वने ॥"
संग्रहः । इति मल्लिनाथः ॥ यथा, कुमारे । २ । ३६ ।
"पर्य्यायसेवामुत्सृज्य पुष्पसम्भारतत्पराः ।
उद्यानपालसामान्यमृतवस्तमुपासते ॥")

सम्भावनं, क्ली, (सम्भावयत्यनेनेति । सं+भू+णिच्+ल्युट् ।) अलङ्कारविशेषः । यथा,—
"सम्भावनं यदीदं स्यादित्यूहोऽन्यस्य सिद्धये ।
यदि शेषो भवेद्वक्ता कथिताः स्युर्गुणास्तव ॥"
इति चन्द्रालोकः ॥

सम्भावनं क्रियासु योग्यताध्यवसायः । इति मुग्धबोधव्याकरणम् ॥ (सम्भावके, त्रि । यथा, भागवते । ४ । १७ । २६ ।
"पुमान् योषिदुत क्लीव आत्मसम्भावनोऽधमः ।
भूतेषु निरनुक्रोशो नृपाणां तद्वधोऽवधः ॥")

सम्भावना, स्त्री, (सं+भू+णिच्+युच् । टाप् ।) उत्कटकोटिकसंशयः । संपूर्व्वकात् भू क शुद्धिचिन्तयोरित्यस्मात् ण्यासश्रन्थोत्यादिसूत्रेण युनप्रत्ययनिष्पन्ना । यथा, "एवं कोक्यंशे औत्कटरूपं सम्भावनात्वमपि विषयताविशेषः । इति ध्येयम् ।" इति सत्प्रतिपक्षचिन्तामणिदीधितिगादाधरी ॥ धूमदर्शनानन्तरं वह्न्यादिव्यवहारस्तु सम्भावनामात्रादिति कुसुमाञ्जलिटीकायां हरिदासः । पौराणिकास्तु सम्भवनामकं प्रमाणान्तरं मन्यन्ते तत्प्रमाणजन्या प्रमितिः सम्भावना इति वदन्ति । तन्मतन्तु न चतुष्टयमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात् इति सूत्रेणोपन्यस्य शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावानामनर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेध इति सूत्रेण भगवदक्षपादपादैर्निराकृतम् । निश्चित्येति उत्कटकोटिकसम्भावनोपलक्षणं इति तिथ्यादितत्त्वे स्मार्त्तभट्टाचार्य्यलिखनन्तु सम्भावनाशब्दस्य संशयमात्रपरतया सङ्गमनीयम् । इति नानाग्रन्थेभ्यः संगृहीतम् ॥

सम्भावितः, त्रि, (सं+भू+णिच्+क्तः ।) सम्भावनाविशिष्टः । सम्भवनयोग्यः । बहुमतः । यथा, भगवद्गीतायाम् । २ । ३४ ।
"अकीर्त्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
सम्भावितस्य चाकीर्त्तिर्म्मरणादतिरिच्यते ॥"
"सम्भावितस्य बहुमतस्य ।" इति तट्टीकायां श्रीधरस्वामी ॥

सम्भाषणं, क्ली, (सं+भाष+ल्युट् ।) कथनम् । आलापनम् । यथा,—
"कृते सम्भाषणादेव त्रेतायां स्पर्शनेन तु ।
द्वापरे त्वर्थमादाय कलौ पतति कर्म्मणा ॥"
इत्युदाहृतत्त्वम् ॥

सम्भाषा, स्त्री, (सं+भाष+अङ् । टाप् ।) सम्भाषणम् ॥

सम्भिन्नः, त्रि, (सं+भिद्+क्तः ।) सम्यग्भेदविशिष्टः । यथा,—
"सम्भिन्नकांस्यवद्घोषो निरेति वदनादयम् ।
कास इत्युच्यते लोके तालव्यान्तो न कीर्त्तितः ॥"
इति प्राचीनकारिका ॥

सम्भुः, त्रि, (सं+भू+"विप्रसंभ्यो ड्वसंज्ञायाम् ।" ३ । २ । १८० । इति डुः ।) सम्भवति यः । इति मुग्धबोधव्याकरणम् ॥

सम्भूतः, त्रि, (सं+भू+क्तः ।) उत्पन्नः । यथा, मार्कण्डेयपुराणे । ८४ । ३४ ।
"इत्येतत् कथितं भूप सम्भूता सा यथा पुरा ।
देवी देवशरीरेभ्यो जगत्त्रयहितैषिणी ॥"

सम्भूतविजयः, पुं, (सम्भूतो विजयो यस्य ।) श्रुतकेवलिसंज्ञकबौद्धविशेषः । इति हेमचन्द्रः ॥

सम्भूयसमुत्थानं, क्ली, (सम्भूय मिलित्वा समुत्थानं कर्म्मकरणं यत्र ।) मिलित्वैकमत्या वणिजां कर्म्मकरणम् । तत्तु विवादपदविशेषः । यथा, सम्भूयसमुत्थानं नाम विवादपदमिदानीमभिदधाति ।
"समवायेन वणिजां लाभार्थं कर्म्म कुर्व्वताम् ।
लाभालाभौ यथाद्रव्यं यथा वा संविदा कृतौ ॥"
सर्व्वे वयमिदं कर्म्म मिलिताः कुर्म्म इत्येवंरूपा सम्प्रतिपत्तिः समवायस्तेन ये वणिङ्नटनर्त्तकप्रभृतयो लाभलिप्सवो भूत्वा प्रातिस्विकं कर्म्म कुर्व्वते तेषां लाभालाभावुपचयौ यथाद्रव्यं येन यावद्धनं पण्यग्रहणार्थं दत्तं तदनुसारेणावसेयौ । यद्वा । प्रधानगुणभावपर्य्यालोचनयास्य भागद्वयमस्यैको भाग इत्येवंरूपया संविदा समयेन यथा संप्रतिपन्नौ तथा वेदितव्यौ । किञ्च ।
"प्रतिषिद्धमनादिष्टं प्रमादात् यच्च नाशितम् ।
स तद्दद्याद्विप्लवाच्च रक्षितादृशमांशभाक् ॥"
तेषां सम्भूय प्रचरतां मध्ये पण्यमिदमित्थं न व्यवहर्त्तव्यमिति प्रतिषिद्धमाचरता यन्नाशितं अनादिष्टमननुज्ञातं वा कुर्व्वाणेन तथा प्रमादात् प्रज्ञाहीनतया वा येन यन्नाशितं स तत्पण्यं वणिग्भ्यो दद्यात् । यः पुनस्तेषां मध्ये चौरराजादिजनितात् व्यसनात् पण्यं पालयति स तस्माद्रक्षितात् पण्यात् दशमममंशं लभते ।
"अर्घप्रक्षेपणाद्विंशं भागं शुल्कं नृपो हरेत् ।
व्यासिद्धं राजयोग्यञ्च विक्रीतं राजगामि तत् ॥"
इह यतः पण्यस्येयन्मूल्यं इत्यर्घस्तस्य प्रक्षेपणात् राजनिरूपणाद्धेतोरसौ मूल्याद्विंशतितममंशं शुल्कार्थं गृह्णीयात् । यत् पुनर्व्यासिद्धमन्यत्र न विक्रेयमिति राज्ञा प्रतिषिद्धम् । यच्च राजयोग्यं माणिक्याद्यप्रतिषिद्धमपि तद्राज्ञे अनिवेद्य लाभलोभेन विक्रीतञ्चेद्राजगामिन्मूल्यदाननिरपेक्षं तत् सर्व्वं पण्यं राजापहरेदित्यर्थः ।
"मिथ्या वदन् परीमाणं शुल्कस्थानादपासरत् ।
दाप्यस्त्वष्टगुणं यच्च सव्याजक्रयविक्रयी ॥"
यः पुनर्व्वणिक् शुल्कवञ्चनार्थं परीमाणं निह्नुते शुल्कग्रहणस्थानाद्वापसरति यश्चास्यैतदस्य वेत्येवं विवादास्पदीभूतं पण्यं क्रीणाति विक्रीणीते वा ते सर्व्वे पण्यादष्टगुणं दण्डनीयाः । अपि च ।
"तरिकः स्थलजं शुल्कं गृह्णन् दाप्यः पणान् दश ।
ब्राह्मणप्रातिवेश्यानामेतदेवानिमन्त्रणे ॥"
शुल्कं हि द्विविधं स्थलजं जलजञ्च । तत्र स्थलजमर्घप्रक्षेपणाद्विंशं भागं शुल्कं नृपो हरेदित्युक्तम् । जलजन्तु मानवेऽभिहितम् ।
"पणं यानं तरे दाप्यं पुरुषोऽर्द्धपणान्तरे ।
पादं पशुश्च योषिच्च पादार्द्धं रिक्तकः पुमान् ॥
भाण्डपूर्णानि यानानि तार्य्यं दाप्यानि सारतः ।
रिक्तभाण्डानि यत्किञ्चित् पुमांसश्चापरिच्छदाः ॥"
शुल्कद्वयेऽप्ययमपरो विशेषः ।
"न भिन्नकार्षापणमस्ति शुल्कं
न शिल्पवृत्तौ न शिशौ न दूते ।
न भैक्ष्यलब्धे न हृतावशेषे
न श्रोत्रिये प्रव्रजिते न यज्ञे ॥" इति ।
तीर्य्यतेऽनेनेति तरो नावादिस्तत्कृतशुल्केऽधिकृतस्तरिकः स यदा स्थलोद्भवं शुल्कं गृह्णाति तदा दशपणान् दण्डनीयः । वेशो वेश्म प्रतिवेश इति स्ववेश्माभिमुखं स्ववेश्मपार्श्वस्थं चोच्यते तत्र भवाः प्रतिवेश्याः । ब्राह्मणाश्च ते प्रातिवेश्याश्च ब्राह्मणप्रातिवेश्यास्तेषां श्रुतवृत्तसम्प-

ज्ञानां श्राद्धादिषु विभवे सत्यनिमन्त्रणे एतदेव दशपक्षात्मकं दूषणं वेदितव्यम् ॥ * ॥ देशान्तरस्थवणिग्रिकथं प्रत्याह ।

"देशान्तरगते प्रेते द्रव्यं दायादबान्धवाः ।
ज्ञातयो वा हरेयुस्तदागतास्तैर्विना नृपः ॥"

यदा सम्भूयकारिणां मध्ये यः कश्चिद्देशान्तरं गतो मृतस्तदा तदीयमंशं दायादः पुत्राद्यपत्यवर्गः बान्धवाः मातृपक्षीयाः मातुलाद्याः ज्ञातयोऽपत्यवर्गव्यतिरिक्ताः सपिण्डा वा आगताः सम्भूयव्यवहारिणो ये देशान्तरादागतास्ते वा गृह्णीयुस्तैर्विना दायाद्यभावे राजा गृह्णीयात् । वाशब्देन च दायादीनां वैकल्पिकं अधिकारं दर्शयति । पौर्व्वापर्य्यनियमस्तु पत्नी दुहितर इत्यादि प्रतिपादित एवात्रापि विज्ञेयः। शिल्पसत्रकाचारिन्यायव्यनिषेधो वणिक्प्राप्तिश्च वचनप्रयोजनम् । वणिजामपि मध्ये यः पितृदानर्णदानादिसमर्थः स गृह्णीयात् । सामर्थ्याविशेषे पुनः सर्व्वे वणिजः संहतिनो विभज्य गृह्णीयुस्तेषामभावे दशवर्षं दायाद्यागमनं प्रतीक्ष्यानागतेषु स्वयमेव राजा गृह्णीयात् तदिदं नारदेन स्पष्टमुक्तम् ।

"एकस्य चेत् स्यात् मरणं दायादोऽस्य तदाप्नुयात् ।
अन्यो वासति दायादे शक्ताश्चेत् सर्व्व एव ते ॥
तदभावे तु शुल्कं तत् कारयेद्दशवत्सरात् ।
अस्वामिकमदायादं दशवर्षस्थितं ततः ॥
राजा तदात्मसात् कुर्य्यात् एवं धर्म्मो न हीयते ॥"

किञ्च ।

"जिह्मं त्यजेयुर्निर्लाभमशक्तोऽन्येन कारयेत् ।"

जिह्मो वञ्चकः तं निर्लाभं निर्गतलाभं लाभमाच्छिद्य त्यजेयुः बहिष्कुर्य्युः । यश्च सम्भूयकारिणां मध्ये भाण्डप्रत्यवेक्षणादिकं कर्त्तुमसमर्थोऽसावन्येन स्वं कर्म्म भाण्डभारवाहनं तदायव्ययपरीक्षणादिकं कारयेत् । इति मिताक्षरा ॥

सम्भृतः, त्रि, (सं + भृ + क्त ।) सम्यक्पुष्टः । सम्यग्भृतः । सम्यक्प्रकारेण धृतः ।

सम्भृतिः, स्त्री, (सं + भृ + क्तिन् ।) सम्यक्पोषणम् । सम्यग्भरणम् । सम्यग्धारणम् । (सम्भारः । यथा, कथासरित्सागरे । १०३ । १७१ ।

"अन्येद्युर्गणकैः स्त्रीलग्नादिष्टे निश्चिते नृपः ।
चकारामरदत्तोऽत्र तद्विवाहाय सम्भृतिम् ॥")

सम्भेदः, पुं, (सं + भिद् + घञ् ।) सिन्धुनद्योः सङ्गमः । इत्यमरः । १ । १० । ३५ ॥ (यथा, मनुः । ८ । ३५६ ।

"परस्त्रियं योऽभिवदेत् तीर्थेऽरण्ये वनेऽपि वा ।
नदीनां वापि सम्भेदे स संग्रहणमाप्नुयात् ॥")

स्फुटनम् । (यथा, सुश्रुते । २ । ५ ।

"कौण्यं गतिक्षयोऽङ्गानां सम्भेदः च्युतसर्पणम् ॥")

मेलनम् । इति मेदिनी ॥

सम्भोगः, पुं, (सं + भुज् + घञ् ।) भोगः । (यथा, मनुः । ८ । २०० ।

"सम्भोगो दृश्यते यत्र न दृश्येतागमः क्वचित् ।
आगमः कारणं तत्र न सम्भोग इति स्थितिः ॥")

सुरतम् । (यथा, महाभारते । ४ । १३ । २८ ।

"इत्युच्चावसमारम्भाः साक्षात्कारकरा मम ।
आत्मप्रदानसम्भोगात् मामुद्धर्त्तुं त्वमर्हसि ॥")

जिनशासनम् । इति मेदिनी ॥ हर्षः । इति शब्दरत्नावली ॥ केलिनागरः । इति जटाधरः ॥ शृङ्गारभेदः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ तस्य लक्षणं यथा, साहित्यदर्पणे ३ परिच्छेदे ।

"दर्शनस्पर्शनादीनि निषेवेते विलासिनौ ।
यत्रानुरक्तावन्योऽन्यं सम्भोगः समुदाहृतः ॥"

सम्भोगी, [न्] पुं, (सम्भोगोऽस्यास्तीति । इनिः ।) केलिनागरः । इति भूरिप्रयोगः ॥ सम्भोगविशिष्टे, त्रि ॥

सम्भ्रमः, पुं, (सं + भ्रम + घञ् ।) भयादिजनितत्वरा । (यथा, रघुः । ११ । २५ ।

"वीक्ष्य वेदिमथ रक्तबिन्दुभि-
र्बन्धुजीवपृथुभिः प्रदूषिताम् ।
संभ्रमोऽभवदपोढकर्म्मणा-
मृत्विजां च्युतविकङ्कतस्रुचाम् ॥")

तत्पर्य्यायः । संवेगः २ । इत्यमरः । १।७।३४ ॥ आवेगः ३ । इति तट्टीका ॥ प्रवेगः ४ त्वरा ५ त्वरिः ६ । इति वाचस्पतिः ॥ भयम् । (यथा, रामायणे । ४ । २ । १४ ।

"सम्भ्रमस्त्यज्यतामेष सर्व्वैर्वालिकृते महान् ॥")

आदरः । इति मेदिनी ॥ महाश्रमः । स्तनम् । इत्यजयपालः ॥

सम्मतिः, स्त्री, (सं + मन + क्तिन् ।) अभिलाषः । अनुज्ञा । इति मेदिनी ॥ (यथा, किराते । १० । ३६ ।

"कथमिव तव सम्मतिर्भवित्री
सममृतुभिर्मुनिनावधीरितस्य ॥")

आत्मज्ञानम् । इत्यजयपालः ॥

सम्मदः, पुं, (सम् + मद् + "प्रमदसंमदौ हर्षे ।" ३ । ३ । ६८ । इति अप् ।) हर्षः । (यथा, साहित्यदर्पणे । ३ । १६७ ।

"मदसम्मदपीड़ाद्यैर्वैस्वर्य्यं गद्गदं विदुः ॥")

मत्स्यविशेषः । यथा, विष्णुपुराणे । ४ । २ । १६ ।

"बह्वृचश्च सौभरिर्नाम महर्षिरन्तर्जले द्वादशाब्दं कालमुवास । तत्र चान्तर्ज्जले मत्स्यः सम्मदो नामातिबहुप्रजोऽतिप्रमाणो मीनाधिपतिरासीत् ॥" तद्वति, त्रि । इत्यमरः ।३।४।२४॥

सम्मर्द्दः, पुं, (संमृद्यतेऽत्रेति । सं + मृद् + घञ् ।) युद्धम् । इति केचित् ॥ (यथा, महाभारते । ५ । १६८ । १० ।

"जवे प्रहारे संमर्द्दे सर्व्व एवातिमानुषाः ।
सर्व्वैर्जिता महीपाला दिग्जये भरतर्षभ ॥" * ॥

परस्परविमर्द्दः । यथा, रघुः । १५ । २०१ ।

"यज्ञोपतरवप्योऽभूत् संमर्द्दस्तत्र मज्जताम् ।
अतस्तदाख्यया तीर्थं पावनं भुवि पप्रथे ॥")

सम्मादः, पुं, (सं + मद् + घञ् ।) सम्यक्प्रकारेण मत्तता ॥

सम्मानः, पुं, (सम् + मन + घञ् ।) समादरः । यथा, तिथ्यादितत्त्वे ।

"जन्मर्क्षयुक्ता यदि जन्ममासे
यस्य ध्रुवं जन्मतिथिर्भवेच्च ।
भवन्ति तद्वत्सरमेव याव-
न्नैरुज्यसम्मानसुखानि तस्य ॥"

सम्मानितः, त्रि, (सम्मानोऽस्य जातः । सम्मान + इतच् ।) समादृतः । गौरवितः । यथा, मार्कण्डेयपुराणे । ८२ । ७० ।

"अन्यैरपि सुरैर्देवी भूषणैरायुधैस्तथा ।
सम्मानिता ननादोच्चैः साट्टहासं मुहुर्मुहुः ॥"

सम्मार्ज्जकः, पुं, (सम्मार्ज्जयतीति । सं + मृज् + ण्वुल् ।) सम्मार्जनी । इति शब्दरत्नावली ॥ सम्यङ्मार्ज्जनकर्त्तरि, त्रि ॥

सम्मार्ज्जनं, क्ली, (सं + मृज + ल्युट् ।) संशोधनम् । यथा, रत्नमालायाम् ।

"सम्मार्ज्जनञ्च संशुद्धिः संशोधनविशोधने ॥"

सम्मार्ज्जनी, स्त्री, (संमृज्यतेऽनयेति । सं + मृज + ल्युट् । ङीप् ।) धूल्यादिमार्जनसाधनी । कोँच्ता इति झाँटा इति च भाषा । तत्पर्य्यायः । शोधनी २ । इत्यमरः । २ । २ । १८ ॥ जहनी ३ समूहनी ४ । इति शब्दरत्नावली ॥ बहुकरी ५ मर्द्दनी ६ । इति हेमचन्द्रः ॥

सम्मितः, त्रि, (सं + मा + क्तः ।) समानपरिमाणः । सदृशः । इति जटाधरः ॥

सम्मिश्रः, त्रि, (सम्यक् प्रकारेण मिश्रयतीति । मिश्र मिश्रणे + अच् ।) संयुक्तः । मिश्रितः । यथा, तिथ्यादितत्त्वे ।

"सम्मिश्रा या चतुर्द्दश्या अमावस्या भवेत् क्वचित् ।
खर्व्वितां तां विदुः केचिद्गतेष्वमिति चापरे ॥"

सम्मुखः, त्रि, (सम्यक् मुखं यस्य ।) अभिमुखागतः । तत्पर्य्यायः । अमपृष्ठः २ । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ (यथा, कथासरित्सागरे ।२७।१३८।

"तस्यां विक्रमसिंहाख्यो बभूवान्वर्थयाख्यया ।
राजा वैरिणो यस्य नैवासन् सम्मुखाः क्वचित् ॥"

अभिमुखे, क्ली । सुमुख इति भाषा ॥ यथा, कथासरित्सागरे । ४ । ७० ।

"नाशकत् सम्मुखे स्थातुं कश्चो ह्यविनयक्रमः ॥"

तथा च साहित्यदर्पणे । ३ । १५४ ।

"दृष्टा दर्शयति व्रीड़ां सम्मुखं नैव पश्यति ॥"

सर्व्वं मुखमिति निपातनात् अन्तलोपे सम्मुखमिति सिद्धम् । इति शब्दार्थचिन्तामणिः ॥ समस्तमुखे च क्ली । इति काशिका । ५।२।६ ॥)

सम्मुखी, [न्] पुं, (सम्मुखमस्यास्तीति । इनिः ।) दर्पणम् । इति केचित् ॥

सम्मुखीनः, त्रि, (सर्व्वस्य मुखस्य दर्शनः । सम्मुख + "यथामुखसम्मुखस्य दर्शनः खः ।" ५ । २ । ६ । इति खः ।) अभिमुखः । इति हेमचन्द्रः ।६।७३॥ (यथा, रघुः । १५ । १७ ।

"अपशूलं तमासाद्य लवणं लक्ष्मणानुजः ।
रुरोध सम्मुखीनो हि जयो रन्ध्रप्रहारिणाम् ॥")

सम्मूढः, त्रि, (सं+मुह+क्तः।) सम्यङ्मोहयुक्तः। मुग्धः। यथा, शुद्धितत्त्वे।
"मानुष्ये कदलीस्तम्भे निःसारे सारमार्गणम्।
यः करोति स सम्मूढो जलबुद्बुदसन्निभे॥"

सम्मूर्च्छजः, पुं, (सम्यक्प्रकारेण मूर्च्छति व्याप्नोतीति। मूर्च्छ व्याप्तौ+अच्। तथाविधः सन् जायते इति। जन+डः।) वृक्षादिः। इति हेमचन्द्रः॥

सम्मूर्च्छनं, क्ली, (सं+मूर्च्छ व्याप्तौ मोहे च+ल्युट्।) सर्व्वतो व्याप्तिः। तत्पर्य्यायः। अभिव्याप्तिः २। इत्यमरः। ३। २। ६॥ उच्छ्रायः। मोहः। इति मेदिनी॥

सम्मूर्च्छनोद्भवः, पुं, (संमूर्च्छनादुद्भवतीति। उत्+भू+अच्।) मत्स्यादिः। इति हेमचन्द्रः॥

सम्मृष्टः, त्रि, (सं+मृज+क्तः।) संशोधितः। इत्यमरः। २। ६। ४६॥ हे मक्षिकाद्यपनयनेन शोधिते व्यञ्जनादौ। इति भरतः॥

सम्मोदः, पुं, (सं+मुद्+घञ्।) प्रीतिः। हर्षः। इति शब्दरत्नावली॥

सम्यक्, व्य, समुदयः। इति केचित्॥ यथा,—
"सम्यक् संसाधनं कर्म्म कर्त्तव्यमधिकारिणा।
निष्कामेण सदा पार्थ काम्यं कामान्वितेन च॥"
इति प्रायश्चित्ततत्त्वम्॥

सम्यच्, [च्] त्रि, (सं+अञ्च+ऋत्विगादिना क्विन्। "समः समि।" ६। ३। ९३। इति सम्यादेशः।) सत्यवचनम्। अर्थेन सह समञ्चति सङ्गच्छते। इत्यमरभरतौ॥ मनोज्ञः। सङ्गतः। इति मेदिनी॥ (यथा, ऋग्वेदे।२।३।६।
"तन्तुं ततं संवयन्ती समीची
यज्ञस्य पेशः सुदुघे पयस्वती॥")

सम्राट्, [ज्] पुं, (सम्यक् राजते इति। सं+राज+क्विप्। "मो राजि समः क्वौ।" ८। ३। २५। इति समो मकारस्य मादेशत्वेन नानुस्वारः।) येन राजसूयेन इष्टम्। यो मण्डलस्येश्वरः। आज्ञया राज्ञः शास्ति यः। इत्यमरः॥ राजसूययज्ञवर्त्तिसाध्यो यागविशेषः। तेन येन इष्टं यागः कृतः। यो मण्डलस्य द्वादशराजमण्डलस्य ईश्वरः। यश्च राज्ञो नृपान् आज्ञया शास्ति भृत्यवद्व्यापारेषु नियोजयति स सम्राडुच्यते। केचित्तु समुच्चयेन त्रीण्येतान्याहुः। राजसूययाजी यः स सम्राट् चतुरब्धिसीमावच्छिन्नाया भूमेर्य ईश्वरः सोऽपि। यश्च कियत्परिमाणाया भूमेः पतीनाज्ञया शास्ति सोऽपि। इह परत्र च सम्यक् राजते इति क्विप् सम्राट् दान्ते म इत्यत्र सम्राड्वर्ज्जनान्नानुस्वारः। इति भरतः॥ (यथा, रघुः। २। ५।
"आस्वादवद्भिः कवलैस्तृणानां
कण्डूयनैर्दंशनिवारणैश्च।
अव्याहतैः स्वैरगतैः स तस्याः
सम्राट् समाराधनतत्परोऽभूत्॥")

सयोनिः, पुं, (योनिभिः सह वर्त्तमानः।) इन्द्रः। इति केचित्॥ योन्या सह वर्त्तमाने समानोत्पत्तिस्थानके च, त्रि॥ (यथा ऋग्वेदे।३।१।६।
"सना अत्र युवतयः सयोनी-
रेकं गर्भं दधिरे सप्तवाणीः॥"
"समानमन्तरिक्षं योनिस्थानं यासां ताः।"
इति तद्भाष्ये सायणः॥)

सरं, क्ली, (सरतीति। सृ+अच्।) सरोवरः। इति शब्दरत्नावली॥ जलम्। इति जटाधरः॥

सरः, पुं, (सृ गतौ+पचाद्यच्।) दध्यग्रम्। तत्पर्य्यायः।
"सरस्तु दध्युत्तरगं दधिस्नेहस्तु कट्वरम्।"
इति रत्नमाला॥
गतिः। इति मेदिनी॥ बाणः। लवणः। इति हेमचन्द्रः॥ निर्झरे, पुं क्ली। इति भरतद्विरूपकोषः॥

सरः, त्रि, (सृ+अच्।) सारकः। भेदकः। यथा, राजवल्लभः।
"पिप्पली मधुरा वृष्या कटुका दीपनी सरा॥"
गमनकर्त्तरि, त्रि॥

सरः, [स्] क्ली, (सरतीति। सृ+"सर्व्वधातुभ्योऽसुन्।" उणा० ४। १८८। इति असुन्।) सरोवरः। इत्यमरः। १। १०। २६॥ (यथा, महाभारते। १। १५६। २४।
"तथैव वनदुर्गेषु पुष्पितद्रुमसानुषु।
सरःसु रमणीयेषु पद्मोत्पलयुतेषु च॥")
अस्य विवरणं तडागपद्माकरशब्दयोर्द्रष्टव्यम्॥
अस्य जलगुणाः। यथा, राजवल्लभः।
"सारसं लघु रुच्यान्नं बल्यं स्वादु कषायवत्॥"
नीरम्। यथा। सरो नीरे तडागे च। इति रुद्रः। इत्यमरटीकायां भरतः॥

सरःकाकः, पुं, (सरसः काकः।) हंसः। इति शब्दरत्नावली॥

सरःकाकी, स्त्री, (सरसः काकी।) हंसी। इति शब्दरत्नावली॥

सरकं, क्ली, (सरमेव। स्वार्थे कन्।) सरोवरः। इति शब्दरत्नावली॥ आकाशम्। इति सिद्धान्तकौमुद्यामुणादिवृत्तिः॥

सरकः, पुं, क्ली, (सरतीति। सृ+वुन्।) शीधुपानम्। शीधुपात्रम्। इक्षुशीधु। अच्छिन्नाध्वगपङ्क्तिः। इति मेदिनी॥ मद्यपरिवेशनम्। इत्यमरटीकायां भरतः॥ (यथा, कथासरित्सागरे। ५४। १६८।
"शाम्रायां निशि पप्रच्छ निजं परिजनञ्च सः।
किमद्य रात्रिपर्य्याप्तमस्ति नः सरकं न वा॥")

सरकः, त्रि, (सुष्ठु सरतीति। सृ+"प्रसृल्वः समभिहारे वुन्।" ३। १। १४९। इति वुन्।) गतिशीलः। इति शब्दरत्नावली॥

सरघा, स्त्री, (सरं मधुविशेषं हन्तीति। हन+डः। निपातनात् साधुः।) मधुमक्षिका। इत्यमरः। २। ५। २६॥ (यथा, रघुः। ४। ६३।
"भल्लापवर्ज्जितैस्तेषां शिरोभिः श्मश्रुलैर्महीम्।
तस्तार सरघाव्याप्तैः सक्षौद्रपटलैरिव॥")

सरङ्गः, पुं, (सरतीति। सृ+अङ्गच्।) चतुष्पात्। पक्षी। इति संक्षिप्तसारोणादिवृत्तिः॥

सरजं, क्ली, (सरात् जायते इति। जन+डः।) नवनीतम्। हैयङ्गवीनम्। इति हारावली॥ (मलिनम्। यथा, भागवते। ३। २३। २३।
"सा तद्भर्त्तुः समादाय वचः कुवलयेक्षणा।
सरजं बिभ्रती वासो वेणीभूतांश्च मूर्द्धजान्॥")

सरजाः, [स्] स्त्री, (रजसा सह वर्त्तमाना।) ऋतुमती स्त्री। तत्पर्य्यायः। मलिना २। इति त्रिकाण्डशेषः॥ (पङ्कजे, क्ली। इति काशिका। ५। ४। ७७॥)

सरट्, पुं, (सरतीति। सृ गतौ+"सर्त्तेरटिः।" उणा० १। १३३। इति अटिः।) वायुः। मेघः। इत्युणादिकोषः॥ मधुमक्षिका। इति सिद्धान्तकौमुद्यामुणादिवृत्तिः॥ कृकलासः। इत्यमरटीका॥

सरटः, पुं, (सरतीति। सृ गतौ+शकादित्वादटन्।) कृकलासः। इत्यमरः। २। ५। १२॥ गिरगिट् इति काँकलास इति च भाषा॥ तत्पतनादिफलं यथा,—
"वक्षसि प्रपाते च फलं सरटस्य प्ररोहणे।
शीर्षे राजश्रियोऽवाप्तिर्भाले चैश्वर्य्यमेव च॥
कर्णयोर्भूषणावाप्तिर्नेत्रयोर्बन्धुदर्शनम्।
नासिकायाञ्च सौगन्ध्यं वक्त्रे मिष्टान्नभोजनम्॥
कण्ठे चैव श्रियोऽवाप्तिर्भुजयोर्विभवो भवेत्।
धनलाभो बाहुमूले करयोर्धनहृद्भयः॥
स्तनमूले च सौभाग्यं हृदि सौख्यविवर्द्धनम्।
पृष्ठे नित्यं महीलाभः पार्श्वयोर्बन्धुदर्शनम्॥
कटिद्वये वस्त्रलाभो गुह्ये शत्रुसमागमः।
जङ्घे चार्थक्षयो नित्यं गुदे रोगभयं भवेत्॥
ऊर्व्वोश्च वाहनावाप्तिर्जानुजङ्घेऽर्थसंचयः।
वामदक्षिणयोः पादोर्भ्रमणं नियतं भवेत्॥
वक्षसि प्ररोहणे चैव पतने सरटस्य च।
व्यत्यासाच्च फलं चैव तद्वदेवं प्रजायते॥
वक्षसि प्ररोहणं रात्रौ सरटस्य प्रपातनम्।
निधनायैव भवति व्याधिपीडाविपर्य्ययौ॥
पतनानन्तरं चैवारोहणं यदि जायते।
पतने फलमुत्क्रम्य रोहणेऽन्यत् फलं भवेत्॥
आरोहणञ्चोर्द्धवक्त्रे अधोवक्त्रे च पातनम्।
भवेदिष्टफलं तस्य तत्फलं जायते ध्रुवम्॥
स्पृष्टमात्रेण यः सद्यः सचेलं जलमाविशेत्।
पञ्चगव्यप्राशनञ्च कुर्य्यादर्कावलोकनम्॥
वस्त्रीरूपं सुवर्णस्य रक्तवस्त्रेण वेष्टयेत्।
पूजयेत् गन्धपुष्पाद्यैस्तदन्य पूर्णकुम्भके॥
पञ्चगव्यं पञ्चरत्नं पञ्चामृतं सपल्लवम्।
पञ्चत्वक्कषायञ्च निःक्षिप्यावाहयेत्ततः॥
पूजयेद्गन्धपुष्पाद्यैर्लोकपालांस्तथा क्रमात्।
मृत्युञ्जयेन मन्त्रेण समिद्भिः खादिरैः शुभैः॥
तिलैर्वाहुतिभिर्होममष्टोत्तरसहस्रकम्॥"
वस्त्री गृहगोधिका। मृत्युञ्जयमन्त्रस्त्र्यम्बकमन्त्रः।

इति विद्याकरः इति ज्योतिस्तत्त्वम् ॥ (वातः । इत्युणादिटीकायामुज्ज्वलदत्तः । ४ । १०५ ॥)

सरटिः, पुं, (सरतीति + सृ + अटिन् ।) वायुः । मेघः । इत्युणादिकोषः ॥

सरटुः, पुं, (सृ + अटुः ।) कृकलासः । इत्युणादिकोषः ॥

सरणं, क्ली, (सरतीति । सृ गतौ + "शुचदृक्षम्यदन्द्रभ्यश्चधीति ।" ३ । २ । १५० । इति युच् ।) लोहमलम् । इति हेमचन्द्रः । (सृ + ल्युट् ।) गमनम् ॥ (यथा, महाभारते । १ । २३१ । ५ । "अजातपक्षाश्च सुता न शक्ताः सरणे मम ॥")

सरणा, स्त्री, (सरतीति + सृ + युच् ।) प्रसारणी । इत्यमरः । २ । ४ । १५२ ॥ गन्धभादालि इति भाषा ॥ त्रिवृता । इति शब्दमाला ॥ तेउड़ी इति भाषा ॥ गमनकर्त्तरि, त्रि ॥

सरणिः, स्त्री, (सरन्त्यनयेति । सृ गतौ + "अर्त्तिसृधृधमीति ।" उणा० २।१०३ । इति अनिः ।) पङ्क्तिः । पन्थाः । इति मेदिनी ॥ (यथा, राजतरङ्गिण्याम् । ३ । ४०१ । "सरणां सरणिं त्यक्त्वा जीवितस्पृहया समम् । गुहां तेन ततः सान्द्रतमोभीमा व्यगाह्यत ॥") प्रसारणी । इत्यमरटीकायां भरतः ॥

सरणी, स्त्री, (सरणि + वा ङीष् ।) पङ्क्तिः । पन्थाः । इति मेदिनी ॥ प्रसारणी । इत्यमरटीकायां भरतः । २ । ४ । १५ ॥

सरण्डः, पुं, (सरतीति । सृ + "अण्डन् कृसृभृवृञः ।" उणा० १ । १२८ । इति अण्डन् ।) धूर्त्तः । सरटः । भूषणभेदः । इति मेदिनी ॥ कामुकः । पक्षी । इति शब्दरत्नावली ॥

सरण्यं, त्रि, (सरण + ण्यत् ।) गम्यम् । गन्तव्यम् । सरणशब्दात् ण्यप्रत्ययेन निष्पन्नम् ॥

सरण्युः, पुं, (सरतीति । सृ गतौ + "यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच् ।" ...) मेघः । वायुः । जलम् । इति शब्दरत्नावली । वसन्तः । अग्निः । इत्युणादिकोषः ॥

सरत्, स्त्री, (सृ + शतृ ।) सूत्रम् । इति शब्दमाला ॥ (गन्तरि, त्रि ॥)

सरत्निः, पुं स्त्री, रत्निः । इति केचित् ॥

सरद्वान्, [त्] पुं, गौतममुनिः । गौतमसुतमुनिपुत्त्रः । इति पुराणम् ॥ तालव्यशादिश्च ॥

सरपत्रिका, स्त्री, (सरपत्रं जलस्थपत्रमस्यस्या इति । ठन् । टापि अत इत्वम् ।) पद्मम् । पद्मपत्रम् । इति शब्दरत्नावली ॥

सरमा, स्त्री, (रमया शोभया सह वर्त्तमाना ।) राक्षसीभेदः । सा च विभीषणपत्नी । (इयं लङ्कावाससमये सीतायाः प्रणयिनी आसीत् । एतद्वृत्तान्तस्तु रामायणे लङ्काकाण्डे । ३३ । ३४ । अध्यायद्वयेऽनुसन्धेयः ॥) कुक्कुरी । देवशुनी । इति मेदिनी ॥ (यथा, महाभारते ।१।३।११। "जनमेजय एवमुक्तो देवशुन्या सरमया भृशं सम्भ्रान्तो विषण्णश्चासीत् ॥") कश्यपपत्नीविशेषः । तदपत्यानि श्वापदाः । यथा,—

"गोलाङ्गूलर्क्षकौरक्षचैत्यापत्यं तथैव च । अपत्यं सरमायाश्च गणो वै श्वापदादयः ॥"

इति वह्निपुराणे काश्यपीयवंशनामाध्यायः ॥

सरयुः, पुं, (सरतीति । सृ गतौ + "सर्त्तेरयुः ।" उणा० ३ । २२ । इति अयुः ।) वायुः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सरयुः } स्त्री, (सरतीति । सृ गतौ + "सर्त्तेरयुः ।" उणा० ३।२२ । इति अयुः । "सर्त्तेरयूः ।" इति केचित् ।) नदीविशेषः ।
सरयूः, }

इत्युणादिकोषः । अस्या जलगुणाः । "सरयूसलिलं स्वादु बलपुष्टिप्रदायकम् ।"

इति राजनिर्घण्टः ॥

तस्या उत्पत्तिर्यथा,—

"एवं विवाह्य विधिवत् सौवर्णे मानसाचले । अरुन्धतीं वशिष्ठस्तु मोदमाप तया सह ॥ तत्र यत् पतितं तोयं मानसाचलकन्दरे । तत्तोयं सप्तधा भूत्वा मानसाचलकन्दरात् ॥ हैमाद्रेः कन्दरे सानौ सरस्याश्च पृथक् पृथक् । यत्तोयं सङ्गतं कुर्य्याद्धंसा वड़वसन्निधौ । तेनाभूत् सरयूर्नाम्ना नदी पुण्यतमा शुभा ॥"

इति कालिकापुराणे २३ अध्यायः ॥

सरलः, पुं, (सरतीति । सृ + "वृषादिभ्यश्चित् ।" उणा० १।१०८ । इति कलच् । बाहुलकात् गुणः । इत्युज्ज्वलदत्तः ।) वृक्षविशेषः । (यथा, कुमारे । १ । ९ ।

"कपोलकण्डूः करिभिर्विनेतुं
विघट्टितानां सरलद्रुमाणाम् ।
यत्र स्रुतक्षीरतया प्रसूतः
सानूनि गन्धः सुरभीकरोति ॥")

तत्पर्य्यायः । पीतद्रुः २ पूतिकाष्ठम् ३ । इत्यमरः ।२।४।६० ॥ धूपवृक्षकः ४ । इति शब्दरत्नावली ॥ पीतदारुः ५ भद्रदारुः ६ मनोज्ञः ७ । इति रत्नमाला ॥ पीतः ८ स्निग्धदारुसंज्ञः ९ स्निग्धः १० मरिचपत्रकः ११ पीतवृक्षः १२ सुरभिदारुः १३ । अस्य गुणाः । कटुत्वम् । तिक्तत्वम् । उष्णत्वम् । कफवातव्रणदोषशोफकण्डूतिविषवाधित्वम् । कोष्ठशुद्धिदातृत्वम् । इति राजनिर्घण्टः ॥ अन्यच्च भावप्रकाशे ।

"सरलः पीतवृक्षः स्यात् तथा सुरभिदारुकः । सरलो मधुरस्तिक्तः कटुपाकरसो लघुः ॥ स्निग्धोष्णः कर्णकण्ठाक्षिरोगरक्षोहरः स्मृतः । कफानिलस्वेददाहकासमूर्च्छाव्रणापहः ॥"

बुद्धः । अग्निः । इति धरणिः ॥

सरलः, त्रि, (सृ + कलच् । बाहुलकात् गुणः ।) उदारः । अवक्रः । इति मेदिनी ॥ (यथा, कथासरित्सागरे । ४ ।

"आदिश्यानाययामास गणकान् सरलाशयः ॥")

सरलद्रवः, पुं, (सरलस्य द्रवः ।) सरलवृक्षरसः । टारपीन इति भाषा । तत्पर्य्यायः । पायसः २ श्रीवासः ३ वृकधूपः ४ श्रीवेष्टः ५ । इत्यमरः । २।६।१२६ ॥ तैलपर्णी ६ श्रीपिष्टः ७ । इति जटाधरः ॥ श्रीवेष्टः ८ यासः ९ यवासः १० वृताङ्कः ११ दध्याङ्कः १२ चोराङ्कः १३ अवक्रः १४ चोरश्रीः १५ वायसः १६ । इति शब्दरत्नावली ॥ अस्य गुणाः श्रीवेष्टशब्दे द्रष्टव्याः ।

सरला, स्त्री, (सरल + टाप् ।) त्रिपुटा । इत्यमरः ।२।४।१०८॥ नदीभेदः । इति भूरिप्रयोगः ॥

सरलाङ्गः, पुं, (सरलः पीतद्रुरङ्गमस्य ।) श्रीवेष्टः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सरवं, स्त्री, (सरं रागं श्यतीति । शो + कः ।) लक्ष्मम् । इत्यमरटीका । तालव्यशादिश्च ॥

सरसं, क्ली, (रसेन जलेन सह वर्त्तमानम् ।) सरोवरः । इति शब्दरत्नावली ॥ रसयुक्ते, त्रि । यथा,—

"कविता कोमलवनिता आयाता सुखदायिका । बलादानीयमाना सा सरसा विरसा भवेत् ॥"

इत्युद्भटः ।

सरसम्यतं, क्ली, त्रिकण्टकृच्छ्रः । तेकाँटाशिज इति भाषा ॥ यथा, शब्दचन्द्रिकायाम् ।

"त्रिकण्टः पत्रगुप्तश्च पेयमः सरसम्यतम् ॥"

सरसा, स्त्री, (रसेन सह वर्त्तमाना ।) श्वेतत्रिवृता । इत्यमरटीकायां रायमुकुटः ॥

सरसिजं, क्ली, (सरसि जायते इति । जन + डः । सप्तम्या अलुक् ।) पद्मम् । इति राजनिर्घण्टः ॥ (यथा, शाकुन्तले १ अङ्के ।

"सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति । इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥" सरोवरजाते, त्रि । यथा, सुश्रुते । १ । ४६ ।

"अधस्ताद्गुरवो ज्ञेया मत्स्याः सरसिजाः स्मृताः ॥")

सरसी, स्त्री, (सृ + असुन् । गौरादित्वात् ङीष् ।) सरोवरः । इत्यमरः । १ । १० । २८ ॥ (यथा, रघुः । १ । ४३ ।

"सरसीष्वरविन्दानां वीचिविक्षोभशीतलम् । आमोदमुपजिघ्रन्तौ स्वनिश्वासानुकारिणम् ॥")

सरसीकः, पुं, (सरस्यां कायति शब्दायते इति । कै + कः ।) सारसपक्षी । इति शब्दरत्नावली ॥

सरसीरुहं, क्ली, (सरस्यां रोहतीति । रुह + कः ।) पद्मम् । इत्यमरः । १ । १० । ४० ॥ (यथा, गीतगोविन्दे । ८ । २ ।

"तामनुसर सरसीरुहलोचन या तव हरति विषादम् ॥")

सरस्वती, स्त्री, (सरो नीरं तद्वत् रसो वास्त्यस्या इति । सरस् + मतुप् । मस्य वः । तस्मै मत्वर्थे इति भत्वान्न पदकार्य्यम् ।) नदी । (यथा, महाभारते । १ । २१४ । ३ ।

"ते तया तैश्च सा वीरैः पतिभिः सह पञ्चभिः । बभूव परमप्रीता नागैरिव सरस्वती ॥")

वाणी । (यथा, रघुः । १५ । ४६ ।

"उच्चचार पुरस्तस्य गूढरूपा सरस्वती ॥") स्त्रीरत्नम् । गौः । नदीभेदः । मनुपत्नी । इति

मेदिनी ॥ ज्योतिष्मती । ब्राह्मी । इति राजनिर्घण्टः ॥ सोमलता । इति शब्दचन्द्रिका ॥ बुद्धशक्तिविशेषः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ दुर्गा । यथा, देवीपुराणे ४५ अध्याये ।
"स्वराः स्वरणशीलत्वात् गेयाख्याः सप्त कीर्त्तिताः ।
अतिप्रापणदाने वा तेन देवी सरस्वती ॥"
वाग्देवता । तत्पर्य्यायः । ब्राह्मी २ भारती ३ भाषा ४ गीः ५ वाक् ६ वाणी ७ । इत्यमरः ॥ इरा ८ शारदा ९ गिरा १० गिरांदेवी ११ गीर्द्देवी १२ ईश्वरी १३ वाचा १४ वचसामीशा १५ वाग्देवी १६ वर्णमातृका १७ । इति शब्दरत्नावली ॥ गौः १८ श्रीः १९ । इति जटाधरः ॥ वाक्येश्वरी २० अन्त्यसन्ध्येश्वरी २१ सायंसन्ध्यादेवता २२ । इति कविकल्पलता ॥* तस्या उत्पत्त्यादि यथा, ब्रह्मवैवर्त्ते ब्रह्मखण्डे । ३ । ५२—६३ ।

सौतिरुवाच ।

"आविर्ब्बभूव कन्यैका धर्म्मस्य वामपार्श्वतः ।
मुक्तिर्मूर्त्तिमती साक्षात् द्वितीया कमलालया ॥
आविर्ब्बभूव तत्पश्चान्मुखतः परमात्मनः ।
एका देवी शुक्लवर्णा वीणापुस्तकधारिणी ॥
कोटिपूर्णेन्दुशोभाढ्या शरत्पङ्कजलोचना ।
वह्निशुद्धांशुकाधाना रत्नाभरणभूषिता ॥
सस्मिता सुदती श्यामा सुन्दरीणाञ्च सुन्दरी ।
श्रेष्ठा श्रुतीनां शास्त्राणां विदुषां जननी परा ॥
वागधिष्ठातृदेवी सा कवीनामिष्टदेवता ।
शुद्धसत्त्वस्वरूपा च शान्तरूपा सरस्वती ॥
गोविन्दपुरतः स्थित्वा जगौ प्रथमतः सुखम् ।
तन्नामगुणकीर्त्तिञ्च वीणया सा ननर्त्त च ॥
कृतानि यानि कर्म्माणि कल्पे कल्पे युगे युगे ।
तानि सर्व्वाणि हरिणा तुष्टाव संपुटाञ्जलिः ॥

सरस्वत्युवाच ।

रासमण्डलमध्यस्थं रासोल्लाससमुत्सुकम् ।
रत्नसिंहासनस्थञ्च रत्नभूषणभूषितम् ॥
रासेश्वरं रासकरं वरं रासेश्वरीश्वरम् ।
रासाधिष्ठातृदेवञ्च वन्दे रासविनोदिनम् ॥
रासायासपरिश्रान्तं रासे रासविहारिणम् ।
रासोत्सुकानां गोपीनां कान्तं शान्तं मनोहरम् ॥
प्रणम्य तं यामीत्युक्त्वा प्रहृष्टवदना सती ।
उवास सा सकामा च रत्नसिंहासने वरे ॥
इति वाणीकृतं स्तोत्रं प्रातरुत्थाय यः पठेत् ।
बुद्धिमान् सोऽपि विद्यावान् लक्ष्मीवान् पुत्त्रवान् सदा ॥"
अपि च तत्रैव गणेशखण्डे । ४० । ६१—६७ ।
"सा च शक्तिः सृष्टिकाले पञ्चधा चेश्वरेच्छया ।
राधा पद्मा च सावित्री दुर्गा देवी सरस्वती ॥
प्राणाधिष्ठात्री या देवी कृष्णस्य परमात्मनः ।
प्राणाधिकप्रियतमा सा राधा परिकीर्त्तिता ॥
ऐश्वर्य्याधिष्ठातृदेवी सर्व्वमङ्गलकारिणी ।
परमानन्दरूपा च सा लक्ष्मीः परिकीर्त्तिता ॥
विद्याधिष्ठात्री या देवी परमेशस्य दुर्लभा ।
वेदशास्त्रयोगमाता सा सावित्री प्रकीर्त्तिता ॥
बुद्ध्यधिष्ठात्री या देवी सर्व्वशक्तिस्वरूपिणी ।
सर्व्वज्ञानात्मिका सर्व्वा सा दुर्गा दुर्गनाशिनी ॥
वागधिष्ठात्री या देवी शास्त्रज्ञानप्रदा सदा ।
कृष्णकण्ठोद्भवा या च सा च देवी सरस्वती ॥
पञ्चधादौ स्वयं देवी मूलप्रकृतिरीश्वरी ।
ततः सृष्टिक्रमेणैव बहुधा कलया च सा ॥"*॥
तस्याः पूजादिर्यथा,—

श्रीनारायण उवाच ।

"आदौ सरस्वतीपूजा श्रीकृष्णेन विनिर्म्मिता ।
यत्प्रसादान्मुनिश्रेष्ठ मूर्खो भवति पण्डितः ॥
आविर्भूता यदा देवी वक्त्रतः कृष्णयोषितः ।
इयेष कृष्णं कामेन कामुकी कामरूपिणी ॥
स च विज्ञाय तद्भावं सर्व्वज्ञः सर्व्वमातरम् ।
तामुवाच हितं सत्यं परिणामसुखावहम् ॥

श्रीकृष्ण उवाच ।

भज नारायणं साध्वी मदंशं तं चतुर्भुजम् ।
युवानं सुन्दरं सर्व्वगुणयुक्तञ्च मत्समम् ॥
कामज्ञं कामिनीनाञ्च तासाञ्च कामपूरकम् ।
कोटिकन्दर्पलावण्यलीलाम्यकृतमीश्वरम् ॥
कान्ते कान्तञ्च मां कृत्वा यदि स्थातुमिहेच्छसि ।
त्वत्तो बलवती राधा न ते भद्रं भविष्यति ॥
यो यस्मात् बलवान् वाणि ततोऽन्यं रक्षितुं क्षमः ।
कथं परान् साधयति यदि स्वयमनीश्वरः ॥
सर्व्वेशः सर्व्वशास्ताहं राधां बाधितुमक्षमः ।
तेजसा मत्समा सा च रूपेण च गुणेन च ॥
प्राणाधिष्ठात्री देवी सा प्राणांस्त्यक्तुञ्च कः क्षमः ।
प्राणतोऽपि प्रियः कुत्र केषां वास्ति च कश्चन ॥
त्वं भद्रे गच्छ वैकुण्ठं तव भद्रं भविष्यति ।
पतिं तमीश्वरं कृत्वा मोदस्व सुचिरं सुखम् ॥
लोभमोहकामकोपमानहिंसाविवर्जिता ।
तेजसा त्वत्समा लक्ष्मी रूपेण च गुणेन च ॥
तया सार्द्धं तव प्रीत्या शश्वत्कालं प्रयास्यति ।
गौरवं मद्वरात्तुल्यं करिष्यति पतिर्द्वयोः ॥
प्रतिविश्वेषु ते पूजां महतीं ते मुदान्विताः ।
माघस्य शुक्लपञ्चम्यां विद्यारम्भे च सुन्दरि ॥
मानवा मनवो देवा मुनीन्द्राश्च मुमुक्षवः ।
सन्तश्च योगिनः सिद्धा नागगन्धर्व्वराक्षसाः ॥
मद्वरेण करिष्यन्ति कल्पे कल्पे लयावधि ।
भक्तियुक्ताश्च दत्त्वा चैवोपचाराणि षोड़श ॥
काण्वशाखोक्तविधिना ध्यानेन स्तवनेन च ।
जितेन्द्रियाः संयताश्च घटे च पुस्तकेऽपि च ॥
कृत्वा सुवर्णगुटिकां गन्धचन्दनचर्च्चिताम् ।
कवचं ते ग्रहीष्यन्ति कण्ठे वा दक्षिणे भुजे ॥
पठिष्यन्ति च विद्वांसः पूजाकाले च पूजिते ।
इत्युक्त्वा पूजयामास तां देवीं सर्व्वपूजितः ॥
ततस्तत्पूजनञ्चक्रुर्ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
अनन्तश्चापि धर्म्मश्च मुनीन्द्राः सनकादयः ।
सर्व्वे देवाश्च मनवो नृपाश्च मानवादयः ।
बभूव पूजिता नित्या सर्व्वलोकैः सरस्वती ॥

नारद उवाच ।

पूजाविधानं स्तवनं ध्यानं कवचमीप्सितम् ।
पूजोपयुक्तनैवेद्यं पुष्पञ्च चन्दनादिकम् ॥
वद वेदविदां श्रेष्ठ श्रोतुं कौतूहलं मम ।
वर्द्धते साम्प्रतं शश्वत् किमिदं श्रुतिसुन्दरम् ॥

श्रीनारायण उवाच ।

शृणु नारद वक्ष्यामि काण्वशाखोक्तपद्धतिम् ।
जगन्मातुः सरस्वत्याः पूजां विधिसमन्विताम् ॥
माघस्य शुक्लपञ्चम्यां विद्यारम्भदिनेऽपि च ।
पूर्व्वेऽह्नि संयमं कृत्वा तत्राह्नि संयतः शुचिः ॥
स्नात्वा नित्यक्रियां कृत्वा घटं संस्थाप्य भक्तितः ।
संपूज्य देवषट्कञ्च नैवेद्यादिभिरेव च ॥
गणेशञ्च दिनेशञ्च वह्निं विष्णुं शिवं शिवाम् ।
संपूज्य संयतो गेही ततोऽभीष्टं प्रपूजयेत् ॥
ध्यानेन वक्ष्यमाणेन ध्यात्वावाह्य घटे बुधः ।
ध्यात्वा पुनः षोड़शोपचारेण पूजयेद्व्रती ॥
पूजोपयुक्तं नैवेद्यं यद्यद्वेदे निरूपितम् ।
वक्ष्यामि सांप्रतं किञ्चित् यथाधीतं यथागमम् ॥
नवनीतं दधि क्षीरं लाजञ्च तिललड्डुकम् ।
इक्षुमिक्षुरसं शुक्लवर्णपक्वगुड़ं मधु ॥
स्वस्तिकं शर्करा शुक्लधान्यस्याक्षतमक्षतम् ।
अस्विन्नशुक्लधान्यस्य पृथुकं शुक्लमोदकम् ॥
घृतसैन्धवसंस्कारैर्हविष्यान्नञ्च व्यञ्जनैः ।
यवगोधूमचूर्णानां पिष्टकं घृतसंस्कृतम् ॥
पिष्टकं स्वस्तिकस्यापि पक्वरम्भाफलस्य च ।
परमान्नञ्च सघृतं मिष्टान्नञ्च सुधोपमम् ॥
नारिकेलं तदुदकं केशरं मूलमार्द्रकम् ।
पक्वरम्भाफलं चारु श्रीफलं वदरं फलम् ॥
कालदेशोद्भवं पक्वफलं शुक्लं सुसंस्कृतम् ।
सुगन्धि शुक्लपुष्पञ्च सुगन्धि शुक्लचन्दनम् ॥
नवीनशुक्लवस्त्रञ्च शङ्खञ्च सुन्दरं मुने ।
माल्यञ्च शुक्लपुष्पाणि शुक्लहारञ्च भूषणम् ॥
यद्दृष्टञ्च श्रुतौ ध्यानं प्रशस्तं श्रुतिसुन्दरम् ।
तन्निबोध महाभाग भयभञ्जनकारणम् ॥
सरस्वतीं शुक्लवर्णां सस्मितां सुमनोहराम् ।
कोटिचन्द्रप्रभामुष्टपुष्टश्रीयुक्तविग्रहाम् ॥
वह्निशुद्धांशुकाधानां सस्मितां सुमनोहराम् ।
रत्नसारेन्द्रनिर्म्माणवरभूषणभूषिताम् ।
सुपूजितां सुरगणैर्ब्रह्मविष्णुशिवादिभिः ॥
वन्दे भक्त्या च वन्द्यां तां मुनीन्द्रमनुमानवैः ।
एवं ध्यात्वा च मूलेन सर्व्वं दत्त्वा विचक्षणः ॥
संस्तूय कवचं धृत्वा प्रणमेद्दण्डवद्भुवि ।
येषां येषामिष्टदेवी तेषां नित्या क्रिया मुने ॥
विद्यारम्भे च वर्षान्ते सर्व्वेषां पञ्चमीदिने ।
सर्व्वोपयुक्तो मूलञ्च वैदिकाष्टाक्षरं परम् ॥
येषां येनोपदेशो वा तेषां स मूल एव च ।
सरस्वतीचतुर्थ्यन्तो वह्निजायान्त एव च ॥
लक्ष्मीमायादिकश्चैव मन्त्रोऽयं कल्पपादपः ।
पुरा नारायणश्चेमं वाल्मीकाय कृपानिधिः ॥
प्रददौ जाह्नवीतीरे पुण्यक्षेत्रे च भारते ।
भृगुर्ददौ च शुक्राय पुष्करे सूर्य्यपर्व्वणि ॥

चन्द्रपर्व्वणि मारीचो ददौ वाक्पतये मुदा ।
भृगवे च ददौ तुष्टो ब्रह्मा बदरिकाश्रमे ॥
आस्तीकाय जरत्कारुर्ददौ क्षीरोदसन्निधौ ।
विभाण्डको ददौ मेरौ ऋष्यशृङ्गाय धीमते ॥
शिवः कणादमुनये गोतमाय ददौ मुदा ।
सूर्य्यश्च याज्ञवल्क्याय तथा कात्यायनाय च ॥
शेषः पाणिनये चैव भरद्वाजाय धीमते ।
ददौ शाकटायनाय सुतले बलिसंसदि ॥
चतुर्लक्षजपेनैव मन्त्रः सिद्धो भवेन्नृणाम् ।
यदि स्यात् सिद्धमन्त्रोऽपि वृहस्पतिसमो भवेत् ॥
कवचं शृणु विप्रेन्द्र यद्दत्तं विधिना पुरा ।
विश्वस्रष्टं विश्वजयं भृगवे गन्धमादने ॥

भृगुरुवाच ।

ब्रह्मन् ब्रह्मविदां श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानविशारद ।
सर्व्वज्ञ सर्व्वजनक सर्व्वेश सर्व्वपूजित ॥
सरस्वत्याश्च कवचं ब्रूहि विश्वजयं प्रभो ।
अयातयाममन्त्राणां समूहसंयुतं परम् ॥

ब्रह्मोवाच ।

शृणु वत्स प्रवक्ष्यामि कवचं सर्व्वकामदम् ।
श्रुतिसारं श्रुतिसुखं श्रुत्युक्तं श्रुतिपूजितम् ॥
उक्तं कृष्णेन गोलोके मह्यं वृन्दावने वने ।
रासेश्वरेण विभुना रासे च रासमण्डले ॥
अतीवगोपनीयञ्च कल्पवृक्षपरं वरम् ।
अश्रुताद्भुतमन्त्राणां समूहैश्च समन्वितम् ॥
यद्धृत्वा पठनाद्ब्रह्मन् बुद्धिमांश्च वृहस्पतिः ।
यद्धृत्वा भगवान् शुक्रः सर्व्वदैत्येषु पूजितः ॥
पठनाद्धारणाद्वाग्मी कवीन्द्रो वाल्मिको मुनिः ।
स्वायम्भुवो मनुश्चैव यद्धृत्वा सर्व्वपूजितः ॥
कणादो गोतमः कण्वः पाणिनिः शाकटायनः ।
ग्रन्थञ्चकार यद्धृत्वा दक्षः कात्यायनः स्वयम् ॥
धृत्वा वेदविभागञ्च पुराणान्यखिलानि च ।
चकार लीलामात्रेण कृष्णद्वैपायनः स्वयम् ॥
शातातपश्च संवर्त्तो वशिष्ठश्च पराशरः ।
यद्धृत्वा पठनाद्ग्रन्थं याज्ञवल्क्यश्चकार सः ॥
ऋष्यशृङ्गो भरद्वाजश्चास्तीको देवलस्तथा ।
जैगीषव्यो याजलिश्च यद्धृत्वा सर्व्वपूजितः ॥
कवचस्यास्य विप्रेन्द्र ऋषिरेव प्रजापतिः ।
स्वयं छन्दश्च वृहती देवो रासेश्वरः प्रभुः ॥
सर्व्वतत्त्वपरिज्ञानसर्व्वार्थसाधनेषु च ।
कवितासु च सर्व्वासु विनियोगः प्रकीर्त्तितः ॥
श्रीँ ह्रीँ सरस्वत्यै स्वाहा शिरो मे पातु सर्व्वतः ।
श्रीँ वाग्देवतायै स्वाहा भालं मे सर्व्वदावतु ॥
ॐ सरस्वत्यै स्वाहेति श्रोत्रं पातु निरन्तरम् ।
ॐ श्रीँ ह्रीँ भारत्यै स्वाहा नेत्रयुग्मं सदावतु ।
ॐ ह्रीँ वाग्वादिन्यै स्वाहा नासां मे सर्व्वतोऽवतु ॥
ह्रीँ विद्याधिष्ठातृदेव्यै स्वाहा चोष्ठं सदावतु ॥
ॐ श्रीँ ह्रीँ ब्राह्म्यै स्वाहेति दन्तपंक्तिं सदावतु ।
ऐमित्येकाक्षरो मन्त्रो मम कण्ठं सदावतु ॥
ॐ श्रीँ ह्रीँ पातु मे ग्रीवां स्कन्धं मे श्रीँ सदावतु ।
ॐ वागधिष्ठातृदेव्यै स्वाहा सर्व्वं सदावतु ॥
ॐ सर्व्वकण्ठवासिन्यै स्वाहा प्राच्यां सदावतु ।
ॐ सर्व्वजिह्वावासिन्यै स्वाहाग्निदिशि रक्षतु ॥
ॐ ऐँ ह्रीँ श्रीँ क्लीँ सरस्वत्यै बुधजनन्यै स्वाहा ।
सततं मन्त्रराजोऽयं दक्षिणे मां सदावतु ॥
ऐँ ह्रीँ श्रीँ त्र्यक्षरो मन्त्रो नैरृत्यां सर्व्वदावतु ॥
ॐ ऐँ कविजिह्वाग्रवासिन्यै स्वाहा मां वारुणेऽवतु ॥
सदम्बिकायै स्वाहा च वायव्ये मां सदावतु ।
ॐ गद्यपद्यवासिन्यै स्वाहा मामुत्तरेऽवतु ॥
ऐँ सर्व्वशास्त्रवासिन्यै स्वाहैशान्यै सदावतु ।
ॐ ह्रीँ सर्व्वपूजितायै स्वाहा चोर्द्ध्वे सदावतु ॥
ऐँ ह्रीँ पुस्तकवासिन्यै स्वाहाधो मां सदावतु ।
ॐ ग्रन्थबीजस्वरूपायै स्वाहा मां सर्व्वतोऽवतु ॥
इति ते कथितं विप्र सर्व्वमन्त्रौघविग्रहम् ।
इदं विश्वजयं नाम कवचं ब्रह्मरूपिणम् ॥
पुरा श्रुतं धर्म्मवक्त्रात् पर्व्वते गन्धमादने ।
तव स्नेहान्मयाख्यातं प्रवक्तव्यं न कस्यचित् ॥
गुरुमभ्यर्च्य विधिवत् वस्त्रालङ्कारचन्दनैः ।
प्रणम्य दण्डवद्भूमौ कवचं धारयेत् सुधीः ॥
पञ्चलक्षजपेनैव सिद्धन्तु कवचं भवेत् ।
यदि स्यात् सिद्धकवचो वृहस्पतिसमो भवेत् ॥
महावाग्मी कवीन्द्रश्च त्रैलोक्यविजयी भवेत् ।
शक्नोति सर्व्वं जेतुञ्च कवचस्य प्रसादतः ॥
इदञ्च काण्वशाखोक्तं कवचं कथितं मुने ।
स्तोत्रं पूजाविधानञ्च ध्यानञ्च वन्दनं तथा ॥”
इति ब्रह्मवैवर्त्ते प्रकृतिखण्डे सरस्वतीकवचम् ।
४ । ५६—६१ ॥ * ॥

श्रीनारायण उवाच ।

“वाग्देवतायाः स्तवनं श्रूयतां सर्व्वकामदम् ।
महामुनिर्याज्ञवल्क्यो येन तुष्टाव तां पुरा ॥
गुरुशापाच्च स मुनिर्हतविद्यो बभूव ह ।
तदा जगाम दुःखार्त्तो रविस्थानञ्च पुण्यदम् ॥
स प्राप तपसा सूर्य्यं लोलार्के दृष्टिगोचरे ।
तुष्टाव सूर्य्यं शोकेन रुरोद च मुहुर्मुहुः ॥
सूर्य्यस्तं पाठयामास वेदवेदाङ्गमीश्वरः ।
उवाच स्तुहि वाग्देवीं भक्त्या च स्मृतिहेतवे ।
तमित्युक्त्वा दीननाथोऽप्यन्तर्द्धानं चकार सः ।
मुनिः स्नात्वा च तुष्टाव भक्तिनम्रात्मकन्धरः ॥

याज्ञवल्क्य उवाच ।

कृपां कुरु जगन्मातर्म्मामेवं हततेजसम् ।
गुरुशापात् नष्टस्मृतिं विद्याहीनञ्च दुःखितम् ॥
ज्ञानं देहि स्मृतिं देहि विद्यां विद्याधिदेवते ।
प्रतिष्ठां कवितां देहि शक्तिं शिष्यप्रबोधिकाम् ॥
ग्रन्थकर्त्तृत्वशक्तिञ्च सच्छिष्यं सुप्रतिष्ठितम् ।
प्रतिभां सत्सभायाञ्च विचारक्षमतां शुभाम् ॥
लुप्तं सर्व्वं दैवदोषात् दूरीभूतं पुनः पुनः ।
यथाङ्कुरं भस्मनि च करोति देवता पुनः ॥
ब्रह्मस्वरूपा परमा ज्योतीरूपा सनातनी ।
सर्व्वविद्याधिदेवी या तस्यै वाण्यै नमो नमः ॥
यया विना जगत् सर्व्वं शश्वज्जीवन्मृतं परम् ।
ज्ञानाधिदेवी या तस्यै सरस्वत्यै नमो नमः ॥
यया विना जगत् सर्व्वं मूकमुन्मत्तवत् सदा ।
वागधिष्ठातृदेवी या तस्यै नित्यं नमो नमः ॥
हिमचन्दनकुन्देन्दुकुमुदाम्भोजसन्निभा ।
वर्णाधिदेवी या तस्यै चाक्षरायै नमो नमः ॥
विसर्गबिन्दुमात्रासु यदधिष्ठानमेव च ।
तदधिष्ठातृदेवी या तस्यै वाण्यै नमो नमः ॥
यया विनाच संख्यावान् संख्यां कर्त्तुं न शक्यते ।
कालसंख्यास्वरूपा या तस्यै देव्यै नमो नमः ॥
व्याख्यास्वरूपा या देवी व्याख्याधिष्ठातृदेवता ।
भ्रमसिद्धान्तरूपा या तस्यै देव्यै नमो नमः ॥
स्मृतिशक्तिर्ज्ञानशक्तिर्बुद्धिशक्तिस्वरूपिणी ।
प्रतिभाकल्पनाशक्तिर्या च तस्यै नमो नमः ॥
सनत्कुमारो ब्रह्माणं ज्ञानं पप्रच्छ यत्र वै ।
बभूव जड़वत् सोऽपि सिद्धान्तं कर्त्तुमक्षमः ॥
तदाजगाम भगवानात्मा श्रीकृष्ण ईश्वरः ।
उवाच सततं स्तौहि वाणीमिति प्रजापते ॥
स च तुष्टाव त्वां ब्रह्मा चाज्ञया परमात्मनः ।
चकार त्वत्प्रसादेन तदा सिद्धान्तमुत्तमम् ॥
यदाप्यनन्तं पप्रच्छ ज्ञानमेकं वसुन्धरा ।
बभूव मूकवत् सोऽपि सिद्धान्तं कर्त्तुमक्षमः ॥
तदा त्वां स च तुष्टाव संत्रस्तः कश्यपाज्ञया ।
ततश्चकार सिद्धान्तं निर्म्मलं भ्रमभञ्जनम् ॥
व्यासः पुराणसूत्रञ्च पप्रच्छ वाल्मिकं यदा ।
मौनीभूतः स सस्मार त्वामेव जगदम्बिकाम् ॥
तदा चकार सिद्धान्तं त्वद्वरेण मुनीश्वरः ।
संप्राप निर्म्मलं ज्ञानं भ्रमान्धध्वंसदीपकम् ॥
पुराणसूत्रं श्रुत्वा स व्यासः कृष्णकलोद्भवः ।
त्वां सिषेवे च दध्यौ च शतवर्षञ्च पुष्करे ॥
तदा त्वत्तो वरं प्राप्य स कवीन्द्रो बभूव ह ।
तदा वेदविभागञ्च पुराणञ्च चकार सः ॥
तदा महेन्द्रः पप्रच्छ तत्त्वज्ञानं शिवाशिवम् ।
क्षणं त्वामेव संचिन्त्य तस्मै ज्ञानं ददौ विभुः ॥
पप्रच्छ शब्दशास्त्रञ्च महेन्द्रश्च वृहस्पतिम् ।
दिव्यं वर्षसहस्रञ्च स त्वां दध्यौ च पुष्करे ॥
तदा त्वत्तो वरं प्राप्य दिव्यं वर्षसहस्रकम् ।
उवाच शब्दशास्त्रञ्च तदर्थञ्च सुरेश्वरम् ॥
अध्यापिताश्च ये शिष्या यैरधीतं मुनीश्वरैः ।
ते च त्वां परिसंचिन्त्य प्रवर्त्तन्ते सुरेश्वरि ॥
त्वं संस्तुता पूजिता च मुनीन्द्रमनुमानवैः ।
दैत्येन्द्रैश्च सुरैश्चापि ब्रह्मविष्णुशिवादिभिः ॥
जड़ीभूतः सहस्रास्यः पञ्चवक्त्रश्चतुर्म्मुखः ।
यां स्तोतुं किमहं स्तौमि त्वामेकास्येन मानवः ॥
इत्युक्त्वा याज्ञवल्क्यश्च भक्तिनम्रात्मकन्धरः ।
प्रणनाम निराहारो रुरोद च मुहुर्म्मुहुः ॥
तदा ज्योतिःस्वरूपा सा तेनादृष्टाप्युवाच तम् ।
सुकवीन्द्रो भवेत्युक्त्वा वैकुण्ठञ्च जगाम ह ॥
याज्ञवल्क्यकृतं वाणीस्तोत्रं यः संयतः पठेत् ।
सुकवीन्द्रो महावाग्मी वृहस्पतिसमो भवेत् ॥
महामूर्खश्च दुर्म्मेधा वर्षमेकं यदा जपेत् ।
स पण्डितश्च मेधावी सुकविश्च भवेद्ध्रुवम् ॥”
इति ब्रह्मवैवर्त्ते प्रकृतिखण्डे सरस्वत्युपाख्यानम् ।
५ । १—३५ ॥ * ॥

अपि च। "संवत्सरप्रदीपे।
'पञ्चम्यां पूजयेल्लक्ष्मीं पुष्पधूपान्नवारिभिः।
मस्याधारं लेखनीञ्च पूजयेन्न लिखेत्ततः॥
माघे मासि सिते पक्षे पञ्चमी या श्रियः प्रिया।
तस्याः पूर्व्वाह्ण एवेह कार्य्यः सारस्वतोत्सवः॥'
सारस्वत इत्युपादानात् श्रियः सरस्वत्याः।
तथा च व्याडिः।
'लक्ष्मीसरस्वतीधीत्रिवर्गसम्पद्विभूतिशोभासु।
उपकरणवेशरचनाविधासु च श्रीरिति प्रथिता॥'
तथा चोक्तं गां दद्यादित्यादौ नानार्थशब्दस्यापि प्रसिद्धार्थत्वेन व्यवहारः विपरीतार्थग्राहक-वाक्यशेषसत्त्वे तु अप्रसिद्धार्थत्वेन च व्यवह्रियते सर्व्वदा नानार्थानां व्यवहारस्तु श्लेषकाव्यादा-विति।
'तरुणशकलमिन्दोर्ब्बिभ्रती शुभ्रकान्तिः
कुचभरनमिताङ्गी सन्निषण्णा सिताब्जे।
निजकरकमलोद्यल्लेखनीपुस्तकश्रीः
सकलविभवसिद्ध्यै पातु वाग्देवता नः॥'
इति शारदोक्तं ध्यायेत्॥
पाद्यादिभिः पूजयित्वा।
'भद्रकाल्यै नमो नित्यं सरस्वत्यै नमो नमः।
वेदवेदान्तवेदाङ्गविद्यास्थानेभ्य एव च स्वाहा॥'
इति ब्रह्मपुराणीयेन त्रिः पूजयेत्॥
मत्स्यसूक्ते।
'बन्धुजीवञ्च द्रोणञ्च सरस्वत्यै च दापयेत्॥'
सरस्वतीं संपूज्य।
'यथा न देवो भगवान् ब्रह्मा लोकपितामहः।
त्वां परित्यज्य सन्तिष्ठेत्तथा भव वरप्रदा॥
वेदाः शास्त्राणि सर्व्वाणि नृत्यगीतादिकञ्च यत्।
न विहीनं त्वया देवि तथा मे सन्तु सिद्धयः॥
लक्ष्मीर्म्मेधा धरा पुष्टिर्गौरी तुष्टिः प्रभा धृतिः।
एताभिः पाहि तनुभिरष्टाभिर्म्मां सरस्वति॥'
इति मत्स्यपुराणीयैः प्रार्थयेत्॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम्॥ * ॥ अथ सरस्वती-मन्त्रादि।
"अग्निर्व्वरुणसंयुक्तो दवाग्वादिनिठद्वयम्।
सरस्वत्या दशार्णोऽयं वागैश्वर्य्यफलप्रदः॥"
मन्त्रो यथा। वद वद वाग्वादिनि वह्निवल्लभेति दशाक्षरः। तथा निबन्धे।
'भुवनेश्वरीसंपुटोऽयं महासारस्वतप्रदः॥'*॥
अस्य यन्त्रम्।
"व्योमेन्दी रसनार्णकर्णिकमचां द्वन्द्वैः स्फुरत्-केशरं
पत्रान्तर्गतपञ्चवर्गयशला वर्णादिवर्गं क्रमात्।
आशास्वश्रिषु लान्तलाङ्गलियुजा क्षौणी-पुरेणावृतं
यन्त्रं कल्पितमत्र पूजयतु तां वर्णात्मिकां देवताम्॥"
गौतमीये।
"कर्णिकायां प्रेतबीजं विधिना विलिखेत् गुरुः।
ततः षोड़शकेशरेषु विलिखेत् षोड़श स्वरान्॥
तथाष्टदलमध्ये च वर्गाष्टकं यथाविधि।
कादिमान्ताः पञ्च पञ्च वर्गाः स्युर्मातृकोदिताः॥
यादिवान्ताः शादिहान्ता ळ-क्षमीशे प्रवि-न्यसेत्।
चतुरस्रं चतुर्द्वारं दिक्षु वं ठं विदिक्षु च॥"*॥
अस्य पूजाप्रयोगः। प्रातःकृत्यादिपीठन्यासान्तं कर्म्म विधाय केशरेषु मध्ये च पीठशक्तीर्न्यसेत्। यथा, 'ॐ मेधायै नमः। ॐ प्रज्ञायै नमः। ॐ प्रभायै नमः। ॐ विद्यायै नमः। ॐ धियै नमः। ॐ धृत्यै नमः। ॐ स्मृत्यै नमः। ॐ बुद्ध्यै नमः। ॐ विद्येश्वर्य्यै नमः। मध्ये तदुपरि ॐ पद्मासनाय नमः।' प्रणवादिनमोऽन्तेन पूजयेत्। तथा च सारदातिलके।
"आधारशक्तिमारभ्य पीठशक्त्यन्तमर्च्चयेत्।
मेधाप्रज्ञाप्रभाविद्याधीधृतिस्मृतिबुद्धयः॥
विद्येश्वरी च सम्प्रोक्ता ताराद्या नव शक्तयः।
वर्णाब्जेनासनं दद्यात् मूर्त्तिं मूलेन कल्पयेत्॥"
तत ऋष्यादिन्यासः। तद्यथा। शिरसि ॐ कण्वऋषये नमः। मायापुटितश्चेत् ॐ बृहस्पतये ऋषये नमः। मुखे विराट्छन्दसे नमः। हृदि वागीश्वर्य्यै देवतायै नमः॥ * ॥ अथ मन्त्रन्यासः। शिरसि वं नमः। श्रवणयोर्दं नमः वं नमः। चक्षुषोर्दं नमः वां नमः। नासि-कयोर्वां नमः दिं नमः। वदने निं नमः। लिङ्गे स्वां नमः। गुह्ये हां नमः॥ * ॥
ततो मातृकायाः कराङ्गन्यासौ कृत्वा ध्यायेत्। तथा च निबन्धे।
"शिरःश्रवणदृङ्नासावदनान्धुगुदेष्विमान्।
न्यस्य वर्णान् षड़ङ्गानि मातृकोक्तानि कल्प-येत्॥"
ततो ध्यानम्।
"तरुणशकलमिन्दोर्बिभ्रती शुभ्रकान्तिः
कुचभरनमिताङ्गी सन्निषण्णा सिताब्जे।
निजकरकमलोद्यल्लेखनीपुस्तकश्रीः
सकलविभवसिद्ध्यै पातु वाग्देवता नः॥"
एवं ध्यात्वा मानसैः संपूज्य शङ्खस्थापनं कुर्य्यात्। ततः पीठपूजां कृत्वा केशरेषु मध्ये दिक्षु च मेधादिपीठमन्त्रान्तं संपूज्य पुनर्ध्यात्वावाहनादि-पञ्चपुष्पाञ्जलिदानपर्य्यन्तं कर्म्म विधाय आव-रणपूजां कुर्य्यात्। अग्निकोणे अं कं खं गं घं ङं आं हृदयाय नमः। एवं नैरृते इं चं छं जं झं ञं ईं शिरसे स्वाहा। वायुकोणे उं टं ठं डं ढं णं ऊं शिखायै वषट्। ईशाने एं तं थं दं धं नं ऐं कवचाय हुं। मध्ये ओं पं फं बं भं मं औं नेत्रत्राय वौषट्। दिक्षु अं यं रं लं वं शं षं सं हं ळं क्षं अः करतलपृष्ठाभ्यां अस्त्राय फट्। ततः पत्रेषु पूर्व्वादिषु ॐ योगायै नमः। ॐ सत्यायै नमः। ॐ विमलायै नमः। ॐ ज्ञानायै नमः। ॐ बुद्ध्यै नमः। ॐ स्मृत्यै नमः। ॐ मेधायै नमः। ॐ प्रज्ञायै नमः। दलाग्रेषु। ब्राह्म्याद्या मातरः पूज्याः प्रणवादि-नमोऽन्तिकाः। तद्बहिरिन्द्रादीन् वज्रादींश्च पूजयेत्। ततो धूपादिविसर्ज्जनान्तं कर्म्म समा-पयेत्॥ * ॥ अस्य पुरश्चरणं दशलक्षजपः। तथा च।
"दशलक्षं जपेन्मन्त्रं दशांशं जुहुयात्ततः।
पुण्डरीकैः पयोऽभ्यक्तैस्तिलैस्त्रिमधुरान्वितैः॥"
इति॥ * ॥
मन्त्रान्तरम्।
"हृदयान्ते भगवति वदशब्दद्वयं ततः।
वाग्देविवह्निजायान्तं वाग्भवाद्यं समुच्चरेत्॥"
अस्य पूजाप्रयोगः। प्रातःकृत्यादिपीठन्यासान्तं कर्म्म विधाय केशरेषु मध्ये च पूर्व्वोक्तमेधादि-पीठशक्तीः पीठमनुञ्च न्यसेत्। ततः पूर्व्वोक्त-ऋष्यादिन्यासं कृत्वा कराङ्गन्यासौ कुर्य्यात्। तद्-यथा। ऐं अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। नमस्तर्ज्जनीभ्यां स्वाहा। भगवति मध्यमाभ्यां वषट्। वद वद अनामिकाभ्यां हुँ। वाग्देवि कनिष्ठाभ्यां वौषट्। स्वाहा करतलपृष्ठाभ्यां फट्। एवं हृदयादिषु। तथा च निबन्धे।
"मनोः षड्भिः पदैः कुर्य्यात् जातियुक्तं षड़-ङ्गकम्॥"*॥
ततो ध्यानम्।
"शुभ्रां स्वच्छविलेपमाल्यवसनां शीतांशुखण्डो-ज्ज्वलां
व्याख्यामक्षगुणं सुधाढ्यकलसं विद्याञ्च हस्ता-म्बुजैः।
बिभ्राणां कमलासनां कुचनतां वाग्देवतां सस्मितां
वन्दे वाग्विभवप्रदां त्रिनयनां सौभाग्यसम्पत्-करीम्॥"
एवं ध्यात्वा मानसैः संपूज्य शङ्खस्थापनं कुर्य्यात्। ततः पूर्व्वोक्तक्रमेण पूजयेत्। किन्त्वङ्गमन्त्रे विशेषः। अस्य पुरश्चरणमष्टलक्षजपः। तथा च।
"हविष्याशी जपेन्मन्त्रं वसुलक्षमनन्यधीः।
दशांशं जुहुयादन्ते तिलैराज्यपरिप्लुतैः॥
तारो मायाधरो बिन्दुः शक्तिस्तारः सरस्वती।
ङेऽन्तो नमोऽन्तको मन्त्रः प्रोक्त एकादशा-क्षरः॥"*॥
अस्याः पूजाप्रयोगः। प्रातःकृत्यादिपूर्व्वोक्त-पीठमन्त्रान्तं विन्यस्य पूर्व्वोक्तं ऋष्यादिन्यासं कुर्य्यात्। ततो मन्त्रन्यासः। ॐ नमो ब्रह्म-रन्ध्रे। ह्रीँ नमो भ्रूमध्ये। ऐं नमः ह्रीँ नम-श्चक्षुषोः। ॐ नमः सं नमः कर्णयोः। रं नमः स्वं नमो नासिकयोः। त्यैं नमो मुखे। नं नमो लिङ्गे। मं नमो गुह्ये। ततः कराङ्गन्यासौ। ऐं अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। ऐं तर्ज्जनीभ्यां स्वाहा। इत्यादि। एवं हृदयादिषु। तथा च निबन्धे।
"मन्त्रवर्णान् न्यसेन्मन्त्री वाग्भवेनाङ्गकल्पना।"
इत्यादि॥*॥
ततो ध्यानम्।
"वाणीं पूर्णनिशाकरोज्ज्वलमुखीं कर्पूरकुन्द-प्रभा-
चन्द्रार्द्धाङ्कितमस्तकां निजकरैः संबिभ्रती-मादरात्।

वीणामचगुणां सुधाढ्यकलसं विद्याञ्च तुङ्गस्तनीं
दिव्यैराभरणैर्विभूषिततनुं हंसाधिरूढ़ां भजे ॥”

एवं ध्यात्वा मानसैः संपूज्य शङ्खस्थापनं कुर्य्यात्। ततः पीठपूजां विधाय केशरेषु मध्ये च पूर्व्वोक्तपीठशक्तीः पीठमनुञ्च यजेत्। ततः पुनर्ध्यात्वा आवाहनादि पञ्चपुष्पाञ्जलिदानपर्य्यन्तं कर्म्म समाप्य आवरणपूजां कुर्य्यात्। देव्या दक्षिणे ॐ संस्कृतायै वाङ्मय्यै नमः। वामे ॐ प्राकृतायै वाङ्मय्यै नमः। ततः केशरेषु अग्निकोणे ऐं हृदयाय नमः। नैरृते ऐं शिरसे स्वाहा। वायव्ये ऐं शिखायै वषट्। ईशाने ऐं कवचाय हुँ। मध्ये ऐं नेत्रत्रयाय वौषट्। दिक्षु ऐं अस्त्राय फट्। ततः पूर्व्वादिपत्रेषु ॐ प्रज्ञायै नमः एवं मेधायै श्रुत्यै शक्त्यै स्मृत्यै वागीश्वर्य्यै मत्यै स्वस्त्यै। ततः पत्राग्रेषु ब्राह्म्याद्याः पूजयेत्। तथा च निबन्धे।

“देव्या दक्षिणतः पूज्या संस्कृता वाङ्मयी शुभा।
प्राकृता वाङ्मयी पूज्या वामतः सर्व्वदा शुभा ॥
इष्ट्वा पूर्व्ववदङ्गानि प्रज्ञाद्याः पूजयेत् पुनः।
प्रज्ञा मेधा श्रुतिः शक्तिः स्मृतिर्व्वागीश्वरी मतिः।
स्वस्तिश्चेति समाख्याता ब्राह्म्याद्यास्तदनन्तरम् ॥”

तद्वहिरिन्द्रादीन् वज्राद्यांश्च पूजयेत्। ततो धूपादिविसर्ज्जनान्तं कर्म्म समापयेत्। अस्य पुरश्चरणं द्वादशलक्षजपः। तथा च।

“जपेत् द्वादशलक्षाणि तद्दशांशं सिताम्बुजैः।
नागचम्पकपुष्पैर्व्वा जुहुयात् साधकोत्तमः ॥”* ॥

मन्त्रान्तरं शारदायाम्।

“वाचस्पतेऽमृते भूयः प्लुवप्लुरिति कीर्त्तयेत्।
वागाद्यो मनुराख्यातो रुद्रसंख्याक्षरोऽपरः ॥”

अस्य पूजादिकं पूर्व्ववत्। कराङ्गन्यासस्तु ऐं अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। वाचस्पते तर्ज्जनीभ्यां स्वाहा। अमृते मध्यमाभ्यां वषट्। प्लुव अनामिकाभ्यां हुँ। प्लुः कनिष्ठाभ्यां फट्। एवं हृदयादिषु। तथा च निबन्धे।

“कुर्य्यादङ्गानि विधिवत् वागाद्यैः पञ्चभिः पदैः ॥”

ध्यानन्तु।

“आसीना कमले करैर्जपवटीं पद्मद्वयं पुस्तकं
बिभ्राणा तरुणेन्दुवद्धमुकुटा शुक्लेन्दुकुन्दप्रभा।
भालोन्मीलितलोचना कुचभराक्रान्ताभवद्भूतये
भूयाद्वागधिदेवता मुनिगणैरासेव्यमानानिशम् ॥”

एवं ध्यात्वा पूर्व्ववत् पूजादिकं कुर्य्यात्। अस्य पुरश्चरणमेकादशलक्षजपः। तथा च।

“रुद्रलक्षं जपेन्मन्त्रं दशांशं जुहुयाद्घृतैः ॥”*

मन्त्रान्तरं शारदायाम्।

“तोयस्थं प्रथमं विष्णोः सकेवलचतुर्मुखम्।
अर्घीशेन्दुयुतो वह्निर्विन्दुमत्याम्बुमान् भृगुः।
उक्तानि त्रीणि बीजानि सद्भिः सारस्वतार्थिनाम् ॥”

तोयं वकारः विष्णोः प्रथममाकारः केवलेन आकाररहितेन ककारेण सहितः तेन वागिति सिद्धं वाग्भवमित्यर्थः। केचित्तु लक्षितलक्षणाभयादेवं वदन्ति आकारयुक्तो वकारः के मस्तके वसते केवलोऽनुस्वारः तद्युक्तेन ककारेण सह वर्त्तते तेन कामिति। तन्न। निरूढ़लक्षणायाः शक्तितुल्यत्वात्। वाक् वाग्भवं इति पर्य्यायः। वस्तुतस्तु ऐं क्लीं स्रोम्।

“द्वादशस्वरमुद्धृत्य विन्दुनादविभूषितम्।
विन्दुनादसमायुक्तं वह्निबीजं समुद्धरेत् ॥
षष्ठस्वरसमायुक्तं द्वितीयं बीजमुद्धरेत्।
चन्द्रबीजं समुद्धृत्य वरुणं योजयेत्ततः।
त्रयोदशस्वरारूढ़ं विन्दुनादविभूषितम् ॥”

इति विश्वसारवचनात् वाग्भवबीजमेव। अस्य पूजादिकं पूर्व्ववत्। कराङ्गन्यासस्तु द्विरुक्तैस्त्रिभिर्व्वीजैर्विधेयः। तथा च निबन्धे।

“अङ्गानि कल्पयेन्मन्त्री द्विरुक्तैर्जातिसंयुतैः ॥”

ध्यानन्तु।

“मुक्ताहारावदातां शिरसि शशिकलालङ्कृतां बाहुभिः स्वै-
र्व्याख्यां वर्णाक्षमालां मणिमयकलसं पुस्तकञ्चोदहन्तीम्।
आपीनोत्तुङ्गवक्षोरुहभरविलसन्मध्यदेशामधीशां
वाचामीड़े चिराय त्रिभुवननमितां पुण्डरीके निषसाम् ॥”

एवं ध्यात्वा पूर्व्ववत् पूजादिकं कुर्य्यात्। अस्य पुरश्चरणं त्रिलक्षजपः। तथा च।

“त्रिलक्षं प्रजपेन्मन्त्रं जुहुयात्तद्दशांशतः।
पायसैराज्यसंसिक्तैः संस्कृते हव्यवाहने ॥”* ॥

अथ पारिजातसरस्वतीमन्त्राः। मन्त्रदेवप्रकाशिकायाम्। स च प्रणवहृल्लेखा संपुटितहकारसकारौकारविन्दुयुक्तः सरस्वती ङेऽन्ता नतिश्च। अस्य पूजा। प्रातःकृत्यादिपीठमन्त्रान्तं विन्यस्य ऋष्यादिन्यासं कुर्य्यात्। शिरसि कण्वऋषये नमः। मुखे ऌष्णुप्छन्दसे नमः। हृदि पारिजातसरस्वत्यै देवतायै नमः। ततो मातृकोक्तकराङ्गन्यासौ कुर्य्यात्। मूर्द्ध्नि भ्रूमध्यनेत्रकर्णनासापुटद्वयजिह्वालिङ्गपायुषु एकादशाक्षरन्यासः। ततो ह्सां अङ्गुष्ठाभ्यां नम इत्यादिना कराङ्गन्यासौ कुर्य्यात्। अन्यत् सर्व्वं पूर्व्ववत्। दक्षिणामूर्त्तिसंहितायान्तु।

“सम्पत्प्रदाया भैरव्या वाग्भवं बीजमालिखेत्।
तारेण परया देवि संपुटीकृत्य मन्त्रवित्।
सरस्वत्यै हृदन्तोऽयं रुद्रार्णो मनुरीरितः ॥”

तथा च प्रपञ्चसारे।

“आद्यन्तप्रणवशक्तिमध्यसंस्था
वाक् भूयो भवति च सरस्वती ङेऽन्ता।
नत्यन्तो मनुरयमीशसंख्यवर्णः
संप्रोक्तो भजमानः पारिजातः ॥
दक्षिणामूर्त्तिरृषिः प्रोक्तो गायत्री छन्द ईरितम्।
पारिजातेश्वरी वाणी देवता परिकीर्त्तिता ॥
तृतीयञ्च द्वितीयञ्च बीजशक्ती च तारकम्।
कीलकं परमेशानि महासारस्वतप्रदम् ॥
षड्दीर्घस्वरसंभिन्नबीजेनाङ्गानि विन्यसेत् ॥”

ततो ध्यानम्।

“हंसारूढ़ा हरहसितहारेन्दुकुन्दावदाता
वाणी मन्दस्मिततरमुखी मौलिवद्धेन्दुरेखा।
विद्यावीणामृतमयघटाक्षस्रजा दीप्तहस्ता
शुभ्राब्जस्था भवदभिमतप्राप्तये भारती स्यात् ॥”

अस्य पूजादिकं पूर्व्वोक्तैकादशाक्षरीवत्। पुरश्चरणन्तु द्वादशलक्षजपः। सितपद्मैर्नागचम्पकैर्वा जुहुयाद्द्वादशसहस्रमिति। इति तन्त्रसारः ॥*॥ नदीविशेषस्य पर्य्यायः। ब्रह्मसमुद्भवा २ वाक्प्रदा ३ ब्रह्मसुता ४ भारती ५ वेदगर्भा: ६ पयोष्णिजाता ७ वाणी ८ विशाला ९ कुटिला १०। तज्जलगुणाः। स्वादुत्वम्। पूतत्वम्। सर्व्वरुजापहत्वम्। रुच्यत्वम्। दीपनत्वम्। पथ्यत्वम्। देहकान्तिकरत्वम्। लघुत्वञ्च। इति राजनिर्घण्टः ॥*॥ सा तु देशभेदे सप्तनाम्नी यथा। पुष्करे पितामहयज्ञे आहूता सुप्रभा १ नैमिषारण्ये सत्रयाजिभिरृषिभिराहूता काञ्चनाक्षी २ गयदेशे गयराजयज्ञे आहूता विशाला ३ उत्तरकोशलायां औद्दालकमुनियज्ञे समाहूता मनोरमा ४ ऋषभद्वीपे कुरुक्षेत्रे कुरुराजयज्ञे समाहूता ओघवती ५ गङ्गाद्वारे दक्षप्रजापतियज्ञे समाहूता सुरेणुः ६ हिमालयपर्व्वते ब्रह्मणः पुनर्यज्ञे समाहूता विमलोदा ७। तत्र सप्तसरस्वत्यः समागताः। अतएव, तत् तीर्थं सप्तसारस्वतनाम्ना ख्यातम्। इति महाभारते शल्यपर्व्व ॥ * ॥

तस्या उत्पत्तिर्ब्रह्मपत्नीत्वकारणञ्च यथा,—

नारायण उवाच

“सरस्वती सा वैकुण्ठे स्वयं नारायणान्तिके।
गङ्गाशापेन कलया कलहाद्भारते सरित् ॥
पुण्यदा पुण्यजननी पुण्यतीर्थस्वरूपिणी।
पुण्यवद्भिर्निषेव्या च स्थितिः पुण्यवतां मुने ॥
तपस्विनां तपोरूपा तपस्याकाररूपिणी।
कृतपापेध्मदाहाय ज्वलदग्निस्वरूपिणी ॥
ज्ञाने सरस्वतीतोये मग्नं यैर्म्मानवैर्भुवि।
तेषां स्थितिश्च वैकुण्ठे सुचिरं हरिसंसदि ॥
भारते कृतपापी च स्नात्वा तत्रावलीलया।
मुच्यते सर्व्वपापेभ्यो विष्णुलोके वसेच्चिरम् ॥
चातुर्म्मास्यां पौर्णमास्यामक्षयायां दिनक्षये।
व्यतीपाते च ग्रहणेऽन्यस्मिन् पुण्यदिनेऽपि च ॥
आनुषङ्गेण यः स्नाति हेलया श्रद्धयापि वा।
सारूप्यं लभते नूनं वैकुण्ठे स हरेरपि ॥
सरस्वतीमनुं तत्र मासमेकञ्च यो जपेत्।
महामूर्खः कवीन्द्रश्च स भवेन्नात्र संशयः ॥
नित्यं सरस्वतीतोये यः स्नाति मुण्डयेन्नरः।
न गर्भवासं कुरुते पुनरेव स मानवः ॥
इत्येवं कथितं किञ्चित् भारतीगुणकीर्त्तनम्।
सुखदं पुण्यदं सारं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥*॥

नारद उवाच ।
कथं सरस्वती देवी गङ्गाशापेन भारते ।
कलया कलहेनैव बभूव पुण्यदा सरित् ॥
नारायण उवाच ।
शृणु नारद वक्ष्यामि कथामेनां पुरातनीम् ।
यस्याः श्रवणमात्रेण सर्व्वपापैः प्रमुच्यते ॥
लक्ष्मीः सरस्वती गङ्गा तिस्रो भार्य्या हरेरपि ।
प्रेम्णा समास्तास्तिष्ठन्ति सन्ततं हरिसन्निधौ ॥
चकार सैकदा गङ्गा विष्णोर्म्मुखनिरीक्षणम् ॥
सस्मिता च सकामा च सकटाक्षं पुनः पुनः ।
विभुर्जहास तद्वक्त्रं निरीक्ष्य च क्षणं मुदा ।
क्षमां चकार तद्दृष्ट्वा लक्ष्मीर्नैव सरस्वती ॥
बोधयामास तां पद्मा सत्त्वरूपा च सस्मिता ।
क्रोधाविष्टा च सा वाणी न च शान्ता बभूव ह ॥
उवाच गङ्गां भर्त्तारं रक्तास्या रक्तलोचना ।
कम्पिता कोपवेगेन शश्वत्प्रस्फुरिताधरा ॥
सरस्वत्युवाच ।
सर्व्वत्र समताबुद्धिः सद्भर्त्तुः कामिनीं प्रति ।
धर्म्मिष्ठस्य वरिष्ठस्य विपरीता खलस्य च ॥
ज्ञातं सौभाग्यमधिकं गङ्गायां ते गदाधर ।
कमलायाश्च तत्तुल्यं न च किञ्चिन्मयि प्रभो ॥
गङ्गायाः पद्मया सार्द्धं प्रीतिश्चास्ति सुसम्मता ।
क्षमां चकार तेनेदं विपरीतं हरिप्रिया ॥
किं जीवनेन मेऽत्रैव दुर्भगायाश्च साम्प्रतम् ।
निष्फलं जीवनं तस्या या पत्युः प्रेमवञ्चिता ॥
त्वां सर्व्वेशं सत्त्वरूपं ये वदन्ति मनीषिणः ।
ते च मूर्खा न वेदज्ञा न जानन्ति मतिं तव ॥
सरस्वतीवचः श्रुत्वा दृष्ट्वा तां कोपसंयुताम् ।
मनसा स समालोच्य प्रजगाम बहिःसभाम् ॥
गते नारायणे गङ्गामुवाच निर्भयं रुषा ।
वागधिष्ठातृदेवी सा वाक्यं श्रवणदुष्करम् ॥
हे निर्लज्जे हे सकामे स्वामिगर्व्वं करोषि किम् ।
अधिकं स्वामिसौभाग्यं विज्ञापयितुमिच्छसि ॥
मानचूर्णं करिष्यामि तवाद्य हरिसन्निधौ ।
किं करिष्यति ते कान्तो ममैव कान्तवल्लभे ॥
इत्येवमुक्त्वा गङ्गायाः केशं ग्रहीतुमुद्यता ।
वारयामास तां पद्मा मध्यदेशे स्थिता सती ॥
शशाप वाणी तां पद्मां महाकोपवती सती ।
वृक्षरूपा सरिद्रूपा भविष्यसि न संशयः ॥
अत्युन्नताश्च तां दृष्ट्वा कोपप्रस्फुरिताधरा ।
उवाच गङ्गा तां देवीं पद्माञ्च रक्तलोचना ॥
गङ्गोवाच ।
त्वमुत्सृज महोग्राञ्च पद्मे किं मे करिष्यति ।
वागदुष्टा वागधिष्ठात्री देवीयं कलहप्रिया ॥
इत्येवमुक्त्वा सा देवी वाण्यै शापं ददाविति ।
सरित्स्वरूपा भवतु सा या त्वाञ्च शशाप ह ॥
अधोमर्त्त्यं सा प्रयातु सन्ति यत्रैव पापिनः ।
कलौ तेषाञ्च पापांशं लभिष्यसि न संशयः ॥
इत्येवं वचनं श्रुत्वा तां शशाप सरस्वती ।
त्वमेव यास्यसि महीं पापिपापं लभिष्यसि ॥
एतस्मिन्नन्तरे तत्र भगवानाजगाम ह ।
चतुर्भुजश्चतुर्भिश्च पार्षदैश्च चतुर्भुजैः ॥
सरस्वतीं करे धृत्वा वासयामास वक्षसि ।
बोधयामास सर्व्वज्ञः सर्व्वज्ञानं पुरातनम् ॥
श्रीनारायण उवाच ।
लक्ष्मि त्वं कलया गच्छ धर्म्मध्वजगृहं शुभे ।
अयोनिसम्भवा योनौ तस्य कन्या भविष्यसि ॥
तत्रैव दैवदोषेण वृक्षत्वञ्च लभिष्यसि ।
मदंशस्यासुरस्यैव शङ्खचूडस्य कामिनी ॥
भूत्वा पश्चाच्च मत्पत्नी भविष्यसि न संशयः ।
त्रैलोक्यपावनी नाम्ना तुलसीति च भारते ॥
कलया च सरिद्भूत्वा शीघ्रं गच्छ वरानने ।
भारते भारतीशापात् नाम्ना पद्मावती भव ॥
गङ्गे यास्यसि पश्चात्त्वमंशेन विश्वपावनी ।
भारतं भारतीशापात् पापदाहाय पापिनाम् ॥
भगीरथस्य तपसा तेन नीता सुदुष्करात् ।
नाम्ना भागीरथी पूता भविष्यसि महीतले ॥
मदंशस्य समुद्रस्य जाया भव ममाज्ञया ।
मत्कलांशस्य तस्यैव शान्तनोश्च सुरेश्वरि ॥ * ॥
गङ्गाशापेन कलया भारतं गच्छ भारति ।
कलहस्य फलं भुङ्क्ष्व सपत्नीभ्यां सहाच्युते ॥
स्वयञ्च ब्रह्मसदनं ब्रह्मणः कामिनी भव ।
गङ्गा यातु शिवस्थानमत्र पद्मैव तिष्ठतु ॥
शान्ता च क्रोधरहिता मद्भक्ता सत्त्वरूपिणी ।
महासाध्वी महाभागा सुशीला धर्म्मचारिणी ॥
यदंशकलया सर्व्वा धर्म्मिष्ठाश्च पतिव्रताः ।
शान्तरूपाः सुशीलाश्च प्रतिविश्वेषु योषितः ॥
तिस्रो भार्य्यास्त्रिशालाश्च त्रयो भृत्याश्च
बान्धवाः ।
ध्रुवं वेदविरुद्धाश्च न ह्येते मङ्गलप्रदाः ॥
गच्छ गङ्गे शिवस्थानं ब्रह्मस्थानं सरस्वती ।
अत्र तिष्ठतु मद्गेहे सुशीला कमलालया ॥
इत्युक्त्वा जगतां नाथो विरराम च नारद ।
अत्युच्चै रुरुदुर्देव्यः समालिङ्ग्य परस्परम् ॥
ताश्च सर्व्वाः समालोच्य क्रमेणोचुः सदीश्वरम् ।
कम्पिताः साश्रुनेत्राश्च शोकेन च भयेन च ॥
सरस्वत्युवाच ।
विदायं देहि मे नाथ दुष्टाया जन्मशोधनम् ।
सत्स्वामिना परित्यक्ता कुतो जीवन्ति काः
स्त्रियः ॥
देहत्यागं करिष्यामि योगेन भारते ध्रुवम् ।
अत्युच्छ्रितो निपतनं प्राप्नुमर्हति निश्चितम् ॥
गङ्गोवाच ।
अहं केनापराधेन त्वया त्यक्ता जगत्पते ।
देहत्यागं करिष्यामि निर्दोषाया वधं लभ ॥
निर्दोषां कामिनीं त्यागं करोति यो जनो भवे ।
स याति नरकं कल्पं किं ते सर्व्वेश्वरस्य वा ॥
महालक्ष्मीरुवाच ।
नाथ सत्त्वस्वरूपस्त्वं कोपः कथमहो तव ।
प्रसादं कुरु भार्य्ये द्वे सदीशस्य क्षमा वरम् ॥
भारतं भारतीशापात् यास्यामि कलया विभो ।
कतिकालं स्थितिस्तत्र कदा द्रक्ष्यामि ते पदम् ॥
दास्यन्ति पापिनः पापं मह्यं स्नानावगाहनात् ।
केन तेन विमुक्ताहमागमिष्यामि त्वत्पदम् ॥
कलया तुलसीरूपा धर्म्मध्वजसुता सती ।
भूत्वा कदा लभिष्यामि त्वत् पादाम्बुजमच्युत ॥
वृक्षरूपा भविष्यामि त्वदधिष्ठातृदेवता ।
मामुद्धरिष्यसि कदा तन्मे ब्रूहि कृपानिधे ॥
गङ्गा सरस्वतीशापात् यदि यास्यति भारतम् ।
सा केन मुक्ता पापाच्च कदा त्वां वा लभि-
ष्यति ॥
गङ्गाशापेन सा वाणी यदि यास्यति भारतम् ।
कदा शापाद्विनिर्मुच्य लभिष्यति पदं तव ॥
तां वाणीं ब्रह्मसदनं गङ्गां वा शिवमन्दिरम् ।
गन्तुं वदसि हे नाथ तत् क्षमस्व च ते वचः ॥
इत्युक्त्वा कमला कान्तपदं धृत्वा ननाम च ।
स्वकेशैर्वेष्टनं कृत्वा रुरोद च पुनः पुनः ॥
उवाच पद्मनाभस्तां पद्मां कृत्वा स्ववक्षसि ।
ईषद्धास्यप्रसन्नास्यो भक्तानुग्रहकातरः ॥
श्रीनारायण उवाच ।
त्वद्वाक्यमाचरिष्यामि स्ववाक्यञ्च सुरेश्वरि ।
शमताञ्च करिष्यामि शृणु तत्क्रममेव च ॥
भारती यातु कलया सरिद्रूपा च भारतम् ।
अर्द्धांशा ब्रह्मसदनं स्वयं तिष्ठतु मद्गृहे ॥
भगीरथेन नीता सा गङ्गा यास्यति भारतम् ।
पूतं कर्त्तुं त्रिभुवनं स्वयं तिष्ठतु मद्गृहे ॥
तत्रैव चन्द्रमौलेश्च मौलिं प्राप्स्यति दुर्लभम् ।
ततः स्वभावतः पूताप्यतिपूता भविष्यति ॥
कलांशांशेन त्वं गच्छ भारतं कमले भव ।
पद्मावती सरिद्रूपा तुलसी वृक्षरूपिणी ॥
कलेः पञ्चसहस्रे च गते वर्षे च मोक्षणम् ।
युष्माकं सरिताञ्चैव मद्गृहञ्चागमिष्यति ॥”
इति ब्रह्मवैवर्त्ते प्रकृतिखण्डे । ६।१—८६॥

सरस्वान्, [त्] पुं, (सरो नीरमस्यस्येति मतुप् । तसौ मत्वर्थे इति भत्वान्न पदकार्य्यम् ।) समुद्रः । इत्यमरः ।१।१०।१ ॥ नदः । रसिके, त्रि । इति मेदिनी ॥

सरा, स्त्री, (सरति गच्छतीति । सृ + अच् । टाप् ।) निर्भरः । इति भरतद्विरूपकोषः ॥ प्रसारिणी । इति राजनिर्घण्टः ॥

सरावः, पुं, (सरात् सरणात् अवतीति । अव रक्षणे + अच् ।) शरावः । इति भरतद्विरूपकोषः ॥

सरिः, पुं, स्त्री, (सरतीति । सृ + इन् ।) निर्भरः । इति हेमचन्द्रः ॥

सरिका, स्त्री, हिङ्गुपत्री । इति शब्दचन्द्रिका ॥ गमनकर्त्री च ॥

सरित्, स्त्री, (सरतीति । सृ गतौ + “हृसृरुहियुषिभ्य इतिः ।” उणा० १ । ६६ । इति इतिः ।) नदी । इत्यमरः । १ । १० । २६ ॥ (यथा, देवीमाहात्म्ये ।
“सरितो मार्गवाहिन्यस्तथासंस्तत्र पातिते ॥”)
सूत्रम् । इति शब्दमाला ॥ दुर्गा । यथा,—
“क्रिया कारणरूपत्वात् सरणाच्च सरित्स्मृता ।
सङ्गमाद्गमनाद्गङ्गा लोके देवी विभाव्यते ॥”
इति देवीपुराणे ४५ अध्यायः ॥

सरित्पतिः, पुं, (सरितां पतिः ।) समुद्रः । इत्यमरः ।१।१०।१॥ (यथा, भागवते ।५।१७।७। "एवं माल्यवच्छिखरान्निष्पतन्ती तत उपरत-वेगा केतुमालमभि वंक्षुः प्रतीच्यां दिशि सरित्-पतिं प्रविशति ॥")

सरित्वान्, [त्] पुं, (सरितः सन्त्यस्येति । सरित्+मतुप् । मस्य वः ।) समुद्रः । इति केचित् ॥

सरित्सुतः, पुं, (सरितो गङ्गायाः सुतः ।) भीष्मः । गङ्गापुत्रत्वात् ॥

सरितांनाथः, पुं, (सरितां नदीनां नाथः । अलुक् समासः ।) समुद्रः । यथा,—
"त्वं देव सरितांनाथ ! त्वं देवि सरितां वरे ।
उभयोः सङ्गमे स्नात्वा मुञ्चामि दुरितानि वै ॥"
इति प्रायश्चित्ततत्त्वे गङ्गासागरस्नानमन्त्रः ॥

सरिताम्पतिः, पुं, (सरितां पतिः । अलुक् समासः ।) समुद्रः । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, कुमारे । २ । ३७ ।
"तस्योपायनयोग्यानि रत्नानि सरिताम्पतिः ।
कथमप्यम्भसामन्तः आनिष्पत्तेः प्रतीक्षते ॥")

सरिद्वरा, स्त्री, (सरित्सु वरा श्रेष्ठा ।) गङ्गा । इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, महाभारते ।१।९६।८।
"महाभिषस्तु तं दृष्ट्वा नदी धैर्य्याच्च्युतं नृपम् ।
तमेव मनसाध्यायन्त्युपावर्त्तत्सरिद्वरा ॥"
नदीश्रेष्ठे, त्रि । यथा, महाभारते ।१।७८।९।
"सा तमग्निसमं विप्रमनुचिन्त्य सरिद्वरा ।
शतधा विद्रुता यस्माच्छतद्रुरिति विश्रुता ॥")

सरिन्नाथः, पुं, (सरितां नाथः ।) समुद्रः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सरिमा [न्] पुं, (सरतीति । सृ+"हृ-भृ-धृ-सृ-स्तृभ्य इमनिच् ।" उणा० ४।१४७ । इति इमनिच् ।) गमनम् । वायुः । इत्युणादिकोषः ॥

सरिलं, क्ली, (सलिलम् । रलयोरैक्यात् लस्य रः ।) सलिलम् । इत्यमरटीकायां भरतः ॥

सरिषपः, पुं, (सृ गतौ+अपः युमागमश्च । ततः पृषोदरादित्वात् साधुः । इत्युणादिटीकायां उज्ज्वलदत्तः । ३ । १४१ ।) सर्षपः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सरी, स्त्री, (सरि+कृदिकारादिति वा ङीष् ।) निर्झरः । इति भरतद्विरूपकोषः ॥

सरीसृपः, पुं, (कुटिलं सर्पतीति । सृप्+यङ् लुक्+पचाद्यच् ।) सर्पः । इत्यमरः ।१।८।७॥ (यथा, महाभारते । ३ । २ । ३ ।
"वनञ्च दोषबहुलं बहुव्यालसरीसृपम् ।
परिक्लेशश्च वो मन्ये ध्रुवं तत्र भविष्यति ॥"*॥
जङ्गमे, त्रि । इति स्वामी ॥ यथा, भागवते । ५ । १८ । २७ ।
"पातुं न शेकुर्द्विपदश्चतुष्पदः ।
सरीसृपं स्थाणु यदत्र दृश्यते ॥")

सरुः, पुं, (सृ+उन् ।) त्सरुः । खड्गमुष्टिः । इत्यमरटीकासारसुन्दरी ॥

सरुः, त्रि, (सृ+उन् ।) सूक्ष्मः । इति भूरिप्रयोगः ॥

सरूपः, त्रि, (समानं रूपं यस्य । "ज्योतिर्जन-पदेति ।" ६ । ३ । ८५ । इति समानस्य सः ।) सदृशः । समानरूपः । इति जटाधरः ॥ (यथा, मुण्डकोपनिषदि । २ । १ । १ ।
"यथा सुदीप्तात् पावकात् विस्फुलिङ्गाः
सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।
तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः
प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति ॥")

सरूपता, स्त्री, (सरूपस्य भावः । तल् । टाप् ।) समरूपत्वम् । तुल्यता । सरूपशब्दात् तप्रत्ययेनापि निष्पन्ना ॥

सरोजं, क्ली, (सरसि जायते इति । जन+डः ।) पद्मम् । इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, कुमारे । ५ । २७ ।
"मुखेन सा पद्मसुगन्धिना निशि
प्रवेपमानाधरपत्रशोभिना ।
तुषारवृष्टिक्षतपद्मसम्पदां
सरोजसन्धानमिवाकरोदपाम् ॥")
सरोवरजाते, त्रि ॥

सरोजन्म, [न्] क्ली, (सरसः जन्म उत्पत्तिर्यस्य ।) पद्मम् । इति हेमचन्द्रः ॥

सरोजिनी, स्त्री, (सरोजानि सन्त्यस्यामिति । सरोज+"पुष्करादिभ्यो देशे ।" ५ । २ ।१३५। इति इनिः ।) कमलाकरः । पद्मम् । इति मेदिनी ॥ पद्मसमूहः । इति रत्नमाला ॥ (यथा, साहित्यदर्पणे । १० । ७०३ ।
"निसर्गसौरभोद्भ्रान्तभृङ्गसङ्गीतशालिनी ।
उदिते वासराधीशे स्मेराजनि सरोजिनी ॥")

सरोजी, [न्] पुं, (सरोजं उत्पत्तिस्थानत्वेनास्त्यस्येति । इनिः ।) ब्रह्मा । इति शब्दरत्नावलीत्रिकाण्डशेषौ ॥

सरोत्सवः, पुं, (सरे सरोवरे उत्सवो यस्य ।) सारसपक्षी । इति शब्दरत्नावली ॥

सरोधः, त्रि, रुद्धः । रोधेन सह वर्त्तमानः । इति बहुव्रीहिसमासनिष्पन्नः ॥

सरोरुट्, [ह्] क्ली, (सरसि रोहतीति । रुह+क्विप् ।) पद्मम् । इति हेमचन्द्रः ॥

सरोरुहं, क्ली, (सरसि रोहतीति । रुह+कः ।) पद्मम् । इति रत्नमाला ॥ (यथा, भागवते । १ । १५ । २८ ।
"एवं चिन्तयतो जिष्णोः कृष्णपादसरोरुहम् ।
सौहार्द्देनातिगाढ़ेन शान्तासीद्विमला मतिः ॥")

सरोरुहासनः, पुं, (सरोरुहमासनं यस्य ।) ब्रह्मा । इति हेमचन्द्रः ॥

सरोवरः, पुं, (सरःसु वरः श्रेष्ठः पद्माकरत्वात् ।) जलाशयविशेषः । (यथा, भागवते ।८।२४।२१।
"तत आदाय सा राज्ञा क्षिप्ता राजन्
सरोवरे ।
तदावृत्यात्मना सोऽयं महामीनोऽन्ववर्द्धत ॥")
तत्पर्य्यायः । पद्माकरः २ कासारः ३ तड़ागः ४ तड़ाकः ५ तटाकः ६ सरसः ७ सरसी ८ सरः ९ सरम् १० सरकम् ११ । इति शब्दरत्नावली ॥ तल्लक्षणादि पुष्करिणीशब्दे द्रष्टव्यम् । तस्य जलगुणाः सरःशब्दे द्रष्टव्याः ॥

सर्कः, पुं, वायुः । मनः । प्रजापतिः । इति संक्षिप्तसारोणादिवृत्तिः ॥

सर्गः, पुं, (सृज्+घञ् ।) स्वभावः । निर्म्मोचः । (यथा, महाभारते । १३ । १६२ । ३५ ।
"राजमार्गे गवां मध्ये धान्यमध्ये च धार्म्मिकाः ।
नोपसेवन्ति राजेन्द्र सर्गं मूत्रपुरीषयोः ॥")
निश्चयः । (यथा, रघुः । ३ । ५१ ।
"गृहाण शस्त्रं यदि सर्ग एष ते
न खल्वनिर्जित्य रघुं कृती भवान् ॥")
अध्यायः । (यथा, साहित्यदर्पणे । ६ । ५५९ ।
"नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका
इह ॥")
सृष्टिः । इत्यमरः । ३ । ३ । २२ ॥ (यथा, मनुः । १ । २९ ।
"हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्म्माधर्म्मावृतानृते ।
यद्यस्य सोऽदधात् सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशत् ॥"
संसारः । यथा, गीतायाम् । ५ । १९ ।
"इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ॥")
मोहः । उत्साहः । इति मेदिनी ॥ अनुमतिः । इति हेमचन्द्रः ॥ * ॥ सर्गविवरणं यथा,—
"अव्याकृतगुणक्षोभात् महतस्त्रिवृतोऽहमः ।
भूतसूक्ष्मेन्द्रियार्थानां सम्भवः सर्ग उच्यते ॥"
इति श्रीभागवतम् ॥
नवधासर्गो यथा,—
"सर्गो नवविधस्तस्य प्राकृतो वैकृतस्तु यः ।
कालद्रव्यगुणैरस्य त्रिविधः प्रतिसंक्रमः ॥
आद्यस्तु महतः सर्गो गुणवैषम्यमात्मनः ।
द्वितीयस्त्वहमो यत्र द्रव्यज्ञानक्रियोदयः ॥
भूतसर्गस्तृतीयस्तु तन्मात्रो द्रव्यशक्तिमान् ।
चतुर्थ ऐन्द्रियः सर्गो यस्तु ज्ञानक्रियात्मकः ॥
वैकारिको देवसर्गः पञ्चमो यन्मयं मनः ।
षष्ठस्तु तमसः सर्गो यस्त्वबुद्धिकृतः प्रभोः ॥
षड़िमे प्राकृताः सर्गा वैकृतानपि मे शृणु ।
रजोभाजो भगवतो लीलेयं हरिमेधसः ॥
सप्तमो मुख्यसर्गस्तु षड्विधस्तस्थुषाञ्च यः ।
वनस्पत्योषधिलतात्वक्सारा वीरुधो द्रुमाः ।
उत्स्रोतसस्तमःप्राया अन्तःस्पर्शा विशेषिणः ।
तिरश्चामष्टमः सर्गः सोऽष्टाविंशद्विधो मतः ॥
अविदो भूरितमसो घ्राणज्ञा हृद्यवेदिनः ।
गौरजो महिषः कृष्णः शूकरो गवयो रुरुः ॥
द्विशफाः पशवश्चेमे अविरुष्ट्रश्च सत्तम ।
खरोऽश्वोऽश्वतरो गौरः शरभश्चमरी तथा ॥
एते चैकशफाः क्षत्तः शृणु पञ्चनखान् पशून् ।
श्वा शृगालो वृको व्याघ्रो मार्जारः शशशल्लकौ ॥
सिंहः कपिर्गजः कूर्म्मो गोधा च मकरादयः ।
कङ्कगृध्रबकश्येनभासभल्लूकबर्हिणः ॥
हंससारसचक्राह्वकाकोलूकादयः खगाः ।
अर्व्वाक्स्रोतस्तु नवमः क्षत्तरेकविधो नृणाम् ॥
रजोऽधिकाः कर्म्मपरा दुःखे च सुखमानिनः ।
वैकृतास्त्रय एवैते देवसर्गश्च सत्तम ॥

वैकारिकस्तु यः प्रोक्तः कौमारस्तूभयात्मकः ।
देवसर्गश्चाष्टविधो विबुधाः पितरोऽसुराः ॥
गन्धर्व्वाप्सरसः सिद्धा यक्षरक्षांसि चारणाः ।
भूतप्रेतपिशाचाश्च विद्याध्राः किन्नरादयः ॥
दशैते विदुराख्याताः सर्गास्ते विश्वसृक्कृताः ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि वंशं मन्वन्तराणि च ॥
एवं रजःप्लुतः स्रष्टा कल्पादिष्वात्मभूर्हरिः ।
सृजत्यमोघसंकल्प आत्मैवात्मानमात्मना ॥"

इति च श्रीभागवते । ३ । १० । १४-२६ ॥
(विष्णुः । इति महाभारतम् । १३ ।१४९।३०॥
शिवः । इति च तत्रैव । १३ । १७ । १४८ ॥)

सर्गबन्धः, पुं, (सर्गैरध्यायैर्ब्बन्धो यस्य ।) महाकाव्यम् । इति भूरिप्रयोगः ॥ तल्लक्षणं यथा,—
"सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम् ।
आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्द्देशो वापि तन्मुखम् ॥
इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा तदाश्रयम् ।
चतुर्व्वर्गफलायत्तं चतुरोदात्तनायकम् ॥
नगरार्णवशैलर्त्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनैः ।
उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवैः ॥
विप्रलम्भैर्व्विवाहैश्च कुमारोदयवर्णनैः ।
मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि ॥
अलङ्कृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम् ।
सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः ॥
सर्व्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरञ्जनम् ।
काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायते सदलङ्कृति ॥"

इति दण्डी ॥

सर्ज्ज, अर्ज्जने । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट् ।) सिसर्ज्जयिषति । सर्ज्जति धनं लोकः । इति दुर्गादासः ॥

सर्ज्जः, पुं, (सृजति निर्य्यासादीनिति । सृज + अच् ।) शालवृक्षः । इत्यमरः । २ । ४ । ४४ ॥ सर्ज्जरसः । इति भरतः ॥ पीतशालः । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, ऋतुसंहारे ।२।१७।
"कदम्बसर्ज्जार्ज्जुननीपकेतकी-
विकम्पयंस्तत्कुसुमाधिवासितः ।
सशीकराम्भोधरसङ्गशीतलः
समीरणः कं न करोति सोत्सुकम् ॥")

सर्ज्जकः, पुं, (सर्ज्ज एव । स्वार्थे कन् ।) पीतशालः । इत्यमरः । २ । ४ । ४४ ॥ (यथा, भावप्रकाशे । १ । १ ।
"सर्जकोऽजककर्णः स्यात् शालो मरिच-
पत्रकः ॥")

शालः । इति जटाधरः ॥

सर्ज्जगन्धा, स्त्री, (सर्ज्जस्येव गन्धो यस्याः ।) रास्ना । इति रत्नमाला ॥

सर्ज्जनं, क्ली, (सृज + ल्युट् ।) सैन्यपश्चाद्भागः । इति शब्दरत्नावली ॥ विसर्ज्जनम् । सृष्टिः । इति सृजधात्वर्थदर्शनात् ॥ (यथा, सर्व्वदर्शनसंग्रहे अक्षपाददर्शने ।
"तस्मादीश्वरस्य जगत्सर्ज्जनं न युज्यते ॥")

सर्ज्जनिर्यासकः, पुं, (सर्ज्जस्य निर्यासः । स्वार्थे कन् ।) रालः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सर्ज्जमणिः, पुं, (सर्ज्जस्य मणिरिव ।) धूनकः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सर्ज्जरसः, पुं, (सर्ज्जस्य रसः ।) शालवृक्षनिर्यासः । धूना इति भाषा । (यथा, महाभारते । १ । १४५ । ६ ।
"शणसर्ज्जरसादीनि यानि द्रव्याणि कानिचित् ।
आग्नेयान्युत सन्तीह तानि तत्र प्रदापय ॥")
तत्पर्य्यायः । यक्षधूपः २ अरालः ३ सर्व्वरसः ४ बहुरूपः ५ । इत्यमरः । २।६।१२७ ॥ रालः ६ वह्निवल्लभः ७ । इति भरतधृतरभसः ॥ शालजः ८ शालनिर्यासः ९ सर्ज्जः १० धूनकः ११ शालसारः १२ । इति रत्नमाला ॥ विरूपः १३ । इति शब्दरत्नावली ॥ शालवेष्टः १४ अग्निवल्लभः १५ सर्ज्जमणिः १६ । इति हेमचन्द्रः ॥ राजनिर्घण्टोक्तपर्य्यायगुणौ रालशब्दे द्रष्टव्यौ ॥

सर्ज्जिः, स्त्री, (सर्ज्ज अर्ज्जने + इन् ।) सर्ज्जिकाक्षारः । इति रत्नमाला ॥

सर्ज्जिका, स्त्री, (सर्ज्जिरेव । स्वार्थे कन् । टाप् ।) सर्ज्जिकाक्षारः । इति जटाधरः ॥ (नदीविशेषः । इति भरतः ॥)

सर्ज्जिकाक्षारः, पुं, (सर्ज्जिका एव क्षारः ।) यद्वा, सर्ज्जिकाया नद्याः क्षारः । इति भरतः ॥ साचिक्षार इति साजिमाटि इति च भाषा ॥ तत्पर्य्यायः । कापोतः २ सुखवर्च्चकः ३ सौवर्च्चलम् ४ रुचकम् ५ । इत्यमरः । २।९।१०९ ॥ सृजिकाक्षारः ६ सर्ज्जिका ७ क्षारः ८ । इति तट्टीका । स्वर्ज्जिका ९ स्वर्ज्जिका १० । इति शब्दरत्नावली ॥ सुरवर्च्चकः ११ । इति जटाधरः ॥ सर्ज्जिक्षारः १२ सर्ज्जिकः १३ सर्ज्जी १४ सुखोर्ज्जिकः १५ सुवर्च्चिकः १६ सुवर्च्ची १७ सुखवर्च्चाः १८ । अस्य गुणाः । पटुत्वम् । कटुत्वम् । उष्णत्वम् । कफवातोदरार्त्तिनाशित्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥ अपि च ।
"पाक्यक्षारो यवक्षारो यावशूको यवाग्रजः ।
सर्ज्जिकोऽपि स्मृतः क्षारः कापोतः सुखवर्च्चकः ॥
कथितः सर्ज्जिकाभेदो विशेषज्ञैः सुवर्च्चिका ।
यवक्षारो लघुः स्निग्धः सुसूक्ष्मो वह्निदीपनः ॥
निहन्ति शूलं वातामश्लेष्मश्वासगलामयान् ।
पाण्डुत्वार्शोग्रहणीगुल्मानाहप्लीहहृदामयान् ॥
सर्ज्जिकाल्पगुणा तस्माद्विशेषाद्गुल्मशूलहृत् ।
सुवर्च्चिका सर्ज्जिकावद्बोद्धव्या गुणतो जनैः ॥"

इति भावप्रकाशः ॥

सर्ज्जिक्षारः, पुं, (सर्ज्जिरेव क्षारः ।) सर्ज्जिकाक्षारः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सर्ज्जी, स्त्री, (सर्ज्जि + वा ङीष् ।) सर्जिकाक्षारः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सर्ज्जः, पुं, (सर्ज्जति उपार्ज्जयतीति । सर्ज्ज अर्ज्जने + अच् ।) वणिक् । इति मेदिन्युणादिकोषौ ॥

सर्ज्जूः, स्त्री, (सर्ज्जतीति । सर्ज्ज + "कृषिचमितनिधनीति ।" उणा० १ । ८२ । इति ऊः ।) विद्युत् । इति मेदिनी ॥ अभिसारः । हारः । इति शब्दरत्नावली ॥

सर्ज्यः, पुं, (सर्ज्जस्येदमिति । यत् ।) सर्जरसः । इति रत्नमाला ॥ अर्ज्जनीये, त्रि ॥

सर्पः, पुं, (सृप्यते इति । सृप + घञ् ।) नागकेशरः । इति रत्नमाला ॥ (सृप + भावे घञ् ।) गमनम् । इति सृपधात्वर्थदर्शनात् । (सर्पति इतस्ततो गच्छतीति । सृप + अच् ।) श्मश्रुधारी म्लेच्छजातिविशेषः । पुरा अयं क्षत्त्रिय आसीत् । सगरराजेन अस्य वेदयागादौ अनधिकारित्वं कृत्वा वेशान्यत्वं धर्म्मनाशञ्च चकार । यथा, महाभारते हरिवंशे १४ अध्याये ।
"सगरः स्वां प्रतिज्ञान्तु गुरोर्व्वाक्यं निशम्य च ।
धर्म्मं जघान तेषां वै वेशान्यत्वं चकार ह ॥
अर्द्धं शकानां शिरसो मुण्डयित्वा व्यसर्ज्जयत् ।
यवनानां शिरः सर्व्वं काम्बोजानां तथैव च ॥
पारदान् मुक्तकेशांस्तु पह्लवान् श्मश्रुधारिणः ।
निःस्वाध्यायवषट्काराः कृतास्तेन महात्मना ॥
शका यवनकाम्बोजाः पारदाः पह्लवास्तथा ।
कोलिसर्पा माहिषका दार्व्वाश्चोलाः सकेरलाः ॥
सर्व्वे ते क्षत्त्रियास्तात धर्म्मस्तेषां निराकृतः ।
वशिष्ठवचनाद्राजन् सगरेण महात्मना ॥"
हिंस्रजन्तुविशेषः । साप इति भाषा । तत्पर्य्यायः । पृदाकुः २ भुजगः ३ भुजङ्गः ४ अहिः ५ भुजङ्गमः ६ आशीविषः ७ विषधरः ८ चक्री ९ व्यालः १० सरीसृपः ११ कुण्डली १२ गूढ़पात् १३ चक्षुःश्रवाः १४ काकोदरः १५ फणी १६ दर्व्वीकरः १७ दीर्घपृष्ठः १८ दन्दशूकः १९ विलेशयः २० उरगः २१ पन्नगः २२ भोगी २३ जिह्मगः २४ पवनाशनः २५ । इत्यमरः । १ । ८ । ३ ॥ विलशयः २६ कुम्भीनसः २७ द्विरसनः २८ भेकभुक् २९ श्वसनोत्सुकः ३० फणाधरः ३१ फणधरः ३२ फणावान् ३३ फणवान् ३४ फणाकरः ३५ फणकरः ३६ समकोलः ३७ व्याड़ः ३८ दंष्ट्री ३९ विषास्यः ४० गोकर्णः ४१ उरङ्गमः ४२ गूढ़पादः ४३ विलवासी ४४ दर्व्विभृत् ४५ हरिः ४६ । इति शब्दरत्नावली ॥ प्रचलाकी ४७ द्विजिह्वः ४८ जलरुण्डः ४९ कञ्चुकी ५० चिकुरः ५१ भुजः ५२ । इति जटाधरः ॥ अस्योत्पत्तिरुत्पत्तौ यथा,
"अप्रियेणास्य तान् दृष्ट्वा केशाः शीर्य्यन्त वेधसः ।
हीनाः स्वशिरसो भूयः समरोहन् ततः शिरः ।
सर्पणात्तेऽभवन् सर्पा हीनत्वादहयः स्मृताः ॥"
इति वह्निपुराणे सर्गकथननामाध्यायः ॥ * ॥
सर्पाणामुत्सवतिथिर्यथा,—

सुमन्तुरुवाच ।

"पञ्चमी दयिता राजन् नागानां नन्दिवर्द्धिनी ।
पञ्चम्यां किल नागानां भवतीत्युत्सवो महान् ॥
वासुकिस्तक्षकश्चैव कालीयो मणिभद्रकः ।
ऐरावतो धृतराष्ट्रः कर्क्कोटकधनञ्जयौ ॥
एते प्रयच्छन्त्यभयं प्राणिनां प्राणजीविनाम् ।
पञ्चम्यां स्नापयन्तीह नागान् क्षीरेण ये नराः ॥
तेषां कुले प्रयच्छन्ति अभयं प्राणदक्षिणाम् ।
शप्ता नागा यदा मात्रा दह्यमाना दिवानिशम् ।

निर्व्वासयन्ति स्नपनर्गवां क्षीरेण मिश्रितैः ।
ये स्नापयन्ति वै नागान् भक्त्या श्रद्धासमन्विताः ॥
शतानीक उवाच ।
मात्रा शप्ताः कथं नागाः कारणं संवदस्व वै ।
कथं वानन्दकरणं कस्य वा संप्रसादनम् ॥
सुमन्तुरुवाच ।
उच्चैःश्रवा अश्वरत्नं श्वेतो जातोऽम्रतोद्भवः ।
तं दृष्ट्वा चाब्रवीत् कद्रुर्नागानां जननी स्वसा ॥
अश्वरत्नमिदं श्वेतं संपश्येऽम्रतसम्भवम् ।
कृष्णांश्च पश्यसे वालान् स वै श्वेतः सुता हयैः ॥
विनतोवाच ।
सर्व्वश्वेतो हयवरो नास्य कृष्णो न लोहितः ।
कथं त्वं पश्यसे कृष्णं विनतोवाच तां स्वसा ॥
कद्रुरुवाच ।
पश्येऽहमेकनयना कृष्णवालसमन्वितम् ।
द्विनेत्रा त्वन्तु विनते न पश्यसि पणं कुरु ॥
विनतोवाच ।
अहं दासी भविन्नी ते कृष्णे केशे प्रदर्शिते ।
न चेद्दर्शनतो कद्रुर्मम दासी भविष्यसि ॥
एवं तेऽविनयं कृत्वा गते क्रोधसमन्विते ।
विनतास्वसा च शयने कद्रुर्जिह्मभचिन्तयत् ॥
आहूय पुत्रान् प्रोवाच वाला भूत्वा हयात्तने ।
तिष्ठध्वं विपणे जेष्ये विनतां जयगृद्धिनीम् ॥
प्रोचुस्तां जिह्मबुद्धिन्ते नागा मातां विगृह्य तु ।
अधर्म्ममेतन्मातोऽतो न करिष्याम ते वचः ॥
तान् शशाप रुषा कद्रुः पावको वः प्रधक्ष्यति ।
गते बहुतिथे काले पाण्डवो जनमेजयः ॥
सर्पसत्रं स कर्त्ता वै भुवि अन्यैः सुदुष्करम् ।
तस्मिन् सत्रे स तिग्मांशुः पावको वः प्रधक्ष्यति ॥
एवं शप्त्वा रुषा कद्रुः प्रोक्तवान्नैव किञ्चन ।
मात्रा शप्तास्तथा नागाः कर्त्तव्यं नान्वपद्यत ॥
वासुकिं दुःखितं ज्ञात्वा ब्रह्मा प्रोवाच सान्त्वयन्
मा शुचो वासुकेऽत्यर्थं शृणु मद्वचनं परम् ॥
पराशरकुले जातो जरत्कारुरिति द्विजः ।
भविष्यति महातेजास्तस्मिन् काले तपोनिधिः ॥
भगिनीञ्च जरत्कारुं तस्य त्वं प्रति दास्यति ।
भविता तस्य पुत्रोऽसौ आस्तीक इति विश्रुतः ॥
स तत् सत्रं प्रवृद्धं वै नागानां भयदं महत् ।
निषेधिष्यति स मुनिर्व्वाग्भिरग्राभिस्तोष्यति ॥
तदिमां भगिनीं राजन् तस्य त्वं प्रतिदास्यति ।
जरत्कन्यां जरत्कारोः प्रदद्यादविचारयन् ॥
यदासौ प्रार्थतेऽरण्ये यत्किञ्चिद्विवदिष्यति ।
तत् कर्त्तव्यमशङ्केन यदीच्छेः श्रेय आत्मनः ॥
पितामहवचः श्रुत्वा वासुकिः प्रणिपत्य च ।
तथा करोद्यथा चोक्तं यत्नञ्च परमास्थितः ॥
तच्छ्रुत्वा पन्नगाः सर्व्वे प्रहर्षोत्फुल्ललोचनाः ।
पुनर्जातमिवात्मानं मेनिरे भुजगोत्तमाः ॥
तच्च सत्रं महाबाहो तव पित्रा प्रवर्त्तितम् ।
ऋत्विग्भिः सहितेनेह सर्व्वलोकेषु दुष्करम् ॥
प्रोक्तञ्च विष्णुना पूर्व्वं धर्म्मपुत्रस्य धीमतः ।
अवश्यं तस्य भविता नागानां भयकारकम् ॥
तस्मात् कालान्तराद्राजन् साग्रे वर्षशते गते ।
तत् सत्रं भविता घोरं नागानां क्षयकारकम् ॥
यास्यन्त्यधर्म्मनिरतां दन्दशूका विषोल्वणाः ।
कोटिसंख्या महाराज निपतिष्यन्त्यहर्न्निशम् ॥
आप्लवे तु निमग्नानां घोरे रौद्राग्निसागरे ।
आस्तीकस्तत्र भविता तेषां नौर्वह्निसागरे ॥
स्तुत्वा स चाग्निं राजानमृत्विजस्तदनन्तरम् ।
निवर्त्तयिष्यति तद्यागं नागानां मोहनं परम् ॥
पञ्चम्यां तच्च भविता ब्रह्मा प्रोवाच लोहितान् ॥
तस्मादियं महाबाहो पञ्चमी दयिता सदा ।
नागानामानन्दकरी दत्ता वै ब्रह्मणा पुरा ॥
कृत्वा तु भोजनं पूर्व्वं ब्राह्मणानान्तु कामतः ।
विसृज्य नागाः प्रीयन्तां ये केचित् पृथिवीतले ॥
ये च हेलिमरीचिस्था येऽन्तरीक्षे दिवि स्थिताः ।
ये नदीषु महानागा ये सरस्वतिगामिनः ।
ये च वापीतड़ागेषु तेषु सर्व्वेषु वै नमः ॥
नागान् विप्रांश्च संपूज्य विसृज्य च यथार्थतः ।
ततः पश्चात्तु भुञ्जीयात् सह भृत्यैर्नराधिपः ॥
प्रथमं मधुरमश्नीयात् द्वितीयं भुज्य कामतः ।
एवं नियमयुक्तस्य यत् फलं तन्निबोध मे ॥
मृतो नागपुरं याति पूज्यमानोऽप्सरोगणैः ।
विमानवरमारूढ़ो रमते कालमीप्सितम् ॥
इह चागत्य राजासौ अयुतानां वरो भवेत् ।
सर्व्वरत्नसमृद्धः स्यात् वाहनाढ्यश्च जायते ॥
पञ्चजन्मन्यसौ राजा द्वापरे द्वापरे भवेत् ।
आधिव्याधिविनिर्म्मुक्तः पत्नीपुत्रसहायवान् ।
तस्मात् पूज्याश्चनागाश्च घृतपायसगुग्गुलैः ॥*॥
शतानीक उवाच ।
दशन्ति यं नरं विप्र नागाः क्रोधसमन्विताः ।
भवेत् किं तस्य दष्टस्य विस्तरात् प्रब्रवीहि मे ॥
सुमन्तुरुवाच ।
दंष्ट्रा शुक्ला च कृष्णा च रक्ता पीता च दक्षिणा ।
समासेन तु वक्ष्यामि यथा वै वर्णतः स्मृताः ॥
शुक्लात्तु ब्राह्मणी ज्ञेया रक्तात्तु क्षत्रिया स्मृता ।
वैश्या तु पीतिका ज्ञेया कृष्णा शूद्रा तु कथ्यते ॥*
अतः परं प्रवक्ष्यामि दंष्ट्राणां विषलक्षणम् ।
दंष्ट्राणान्तु विषं नास्ति नित्यमेव भुजङ्गमे ॥
दक्षिणं नेत्रमासाद्य विषं सर्पस्य तिष्ठति ।
संक्रुद्धस्यैव सर्पस्य विषं गच्छति मस्तके ॥
मस्तकाद्धमनीं याति ततो नाड़ीषु तिष्ठति ।
नाड़ीभ्यो गच्छते दंष्ट्रे विषं तत्र प्रवर्त्तते ॥
तत् सर्व्वं कथयिष्यामि यथावदनुपूर्व्वशः ।
अष्टभिः कारणैः सर्पो दशते नात्र संशयः ॥*॥
आक्रान्तो दशते पूर्व्वं द्वितीयं पूर्व्ववैरिणम् ।
तृतीयं दशते भीतश्चतुर्थं मददर्पितः ॥
पञ्चमन्तु क्षुधाविष्टः षष्ठञ्चेह विषोल्वणः ।
सप्तमं पुत्ररक्षार्थं अष्टमं कालचोदितम् ॥
यस्तु सर्पो दशित्वा तु उदरं परिवर्त्तयेत् ।
बलशुम्भास्मतिर्दंष्ट्रा आक्रान्तं तं विनिर्द्दिशेत् ॥
यस्य सर्पेण दष्टस्य गम्भीरं दृश्यते व्रणम् ।
वैरदष्टं विजानीयात् कश्यपस्य वचो यथा ॥
एकदंष्ट्रा पदे यस्य अव्यक्तं न च कूपितम् ।
भीतदष्टं विजानीयात् यथोवाच प्रजापतिः ॥
यस्य सर्पेण दष्टस्य रेखा दन्तस्य जायते ।
मददष्टं विजानीयात् कश्यपस्य वचो यथा ॥
द्वे च दंष्ट्रे पदे यस्य दृश्येते च महाक्षतम् ।
क्षुधाविष्टं विजानीयात् यथोवाच प्रजापतिः ॥
द्वे दंष्ट्रे यस्य दृश्येते कश्चिद्रुधिरसंकुले ।
विषोल्वणं विजानीयाद्दशन्तं नात्र संशयः ।
अपत्यरक्षणार्थाय जानीयान्नात्र संशयः ॥
यत्तु काकपदाकारं त्रिभिर्द्दन्तैर्व्विच्छिद्रितम् ।
महानाग इति प्रोक्तः कालदष्टं विनिर्द्दिशेत् ॥*॥
त्रिविधं दष्टजातेस्तु लक्षणं समुदाहृतम् ।
दष्टं दृष्ट्वा तु पीतञ्च दष्टोद्धृतं तथैव च ॥
यस्तु सर्पो दशित्वा तु पिबते तु विचक्षणः ।
दृष्ट्वा तु पीतं विज्ञेयं कश्यपस्य वचो यथा ॥
विषभागौ तु सर्पस्य त्रिभागस्तत्र संक्रमेत् ।
उदरं दर्शयेद्यस्तु उद्धृतं तं विनिर्द्दिशेत् ॥
छर्द्दितं विषवेगेन निर्व्विषः पन्नगो भवेत् ।
असाध्यश्चापि विज्ञेयश्चतुर्द्दंष्ट्राभिपीड़ितः ॥
ग्रीवाभङ्गो भवेत् किञ्चित् संदष्टो विषयोगतः ।
आर्द्राश्लेषामघाभरणीकृत्तिकासु विशेषतः ॥
विशाखा त्रिषु पूर्व्वासु मूलास्वातिशतात्मके ।
सर्पदष्टा न जीवन्ति विषं पीतञ्च यैस्तथा ॥
शून्यागारे श्मशाने च शुष्कवृक्षे तथैव च ।
न जीवन्ति नरा दष्टा नक्षत्रे तिथिसंयुते ।
हतो दंशस्ततः शुङ्खयन्तरः परिकीर्त्तितः ॥”
इति भविष्यपुराणे शतसाहस्राह्वसंहितायां
पञ्चमीकल्पे ॥*॥
कश्यप उवाच ।
“ततः परं प्रवक्ष्यामि कालदष्टस्य लक्षणम् ।
शृणु गौतम तत्त्वेन यादृशो भवते नरः ॥
जिह्वाभङ्गो हृदि शूलं चक्षुर्भ्याञ्च न पश्यति ।
दंशश्च दग्धसङ्काशं पक्वजम्बूफलोपमम् ॥
वैवर्णं चैव दन्तानां श्यामो भवति वर्णतः ।
सर्व्वेष्वङ्गेषु शैथिल्यं पुरीषस्य च भेदनम् ॥
भग्नस्कन्धकटिग्रीव ऊर्द्ध्वदृष्टिरधोमुखः ।
दह्यते वेपते चैव स्वपते च मुहुर्म्मुहुः ॥
शस्त्रेण छिद्यमानस्य रुधिरं न प्रवर्त्तते ।
दण्डेन ताड्यमानस्य दण्डराजी न जायते ॥
दंशो काकपदे सुनीलमसकृज्जम्बूफलाभं घनं
उच्छूनं रुधिराङ्गसेकबहुलं कृच्छ्रान्निरोधो
भवेत् ।
हिक्काश्वासगलग्रहश्च सुमहान् या दुस्त्वचा
दृश्यते
संस्थानं प्रवदन्ति शास्त्रनिपुणास्तत् कालदष्टं
विदुः ॥
दंशो यस्याथ शोथः प्रवलितवलितं मण्डलं वा
सुनीलं
प्रस्वेदो गात्रभेदः स्रवति च रुधिरं साशुनासञ्च
जल्पेत् ।
दन्तोष्ठाभ्यां वियोगो भ्रमति च हृदयं सन्नि-
रोधश्च तीव्रो
दिष्यानामेष दंशस्थलविपुलमथो विद्धि तं
कालदष्टम् ॥

दन्तैर्दन्तान् स्पृशति बहुशो दृष्टिरायासखिन्ना
स्थूलो दंष्ट्रः स्रवति रुधिरं क्रेकरं चक्षुरेकम् ।
प्रत्यादिष्टः श्वसिति सततं सानुनासञ्च भाषेत्
यद्यद्ब्रूते सकलगदितं कालदष्टं तमाहुः ॥
वेपते वेदना तीव्रा रक्तनेत्रश्च जायते ।
ग्रीवाभङ्गश्च लालाभिः कालदष्टं विनिर्द्दिशेत् ॥
दर्पणे सलिले वापि आत्मच्छायां न पश्यति ।
मन्दरश्मिं तथा दीपं तेजोहीनं दिवाकरम् ॥
वेपते वेदनातस्तु रक्तनेत्रश्च जायते ।
स याति निधनं जन्तुः कालदष्टं विनिर्द्दिशेत् ॥
अष्टम्याञ्च नवम्याञ्च कृष्णपक्षे चतुर्द्दशीम् ।
नागपञ्चमीदष्टानां जीवितस्य च संशयः ॥
आर्द्राश्लेषामघाभरणीकृत्तिकासु विशेषतः ।
विशाखा त्रिषु पूर्व्वासु मूलास्वातिशतात्मके ॥
सर्पदष्टा न जीवन्ति विषं पीतञ्च यैस्तथा ।
शून्यागारे श्मशाने च शुष्कवृक्षे तथैव च ।
न जीवन्ति नरा दष्टा नक्षत्रे तिथिसंयुते ॥
अष्टोत्तरं मर्म्मशतं प्राणिनां समुदाहृतम् ।
तेषां मध्ये तु मर्म्माणि दश द्वे चापि कीर्त्तिते ॥
शङ्खे नेत्रे भ्रुवोर्म्मध्ये वस्तिभ्यां वृषणान्तरे ।
कक्षे स्कन्धे हृदि मध्ये तालुके चिबुके गुदे ॥
एषु द्वादशमर्म्मसु दष्टः शस्त्रेण वा हतः ।
न जीवन्ति नरा लोके कालदष्टं विनिर्द्दिशेत् ॥*
अ-क-च-ट-त-प-म-य-शान् वदन्ति प्रोक्ष्या न जीवन्ति हृतस्य गतम् ।
ब्रूयात् यदि स्खलति गिरा तस्य संप्राप्तकालः ॥
भवति च यदि दूत उत्तमस्याधमो वा
यदि भवति च दूत उत्तमो वाधमस्य ॥
आदौ दष्टस्य नाम यदि वदति क्वचिदक्षि तस्याथ पश्चात्
वर्णान्तं वर्णभेदो यदि भवति समः प्राप्तकालस्य दूतः ॥
दूतो वा दण्डहस्तो भवति च युगलं पाशहस्तस्तथा वा
रक्तं वस्त्रञ्च कृष्णं अथ शिरसि गतं एकवस्त्रश्च दूतः ।
तैलाभ्यक्तश्च तद्वत् यदि त्वरितगतिर्मुक्तकेशश्च याति
यः कुर्य्यात् घोरशब्दं करचरणयुगैः प्राप्तकालस्य दूतः ॥*॥
नागोदयं प्रवक्ष्यामि ईशानेन तु भाषितम् ।
ब्रह्मणा तु पुरा सृष्टा यदा नागास्त्वनेकशः ॥
अनन्तं भास्करं विद्यात् सोमं विद्यात्तु वासुकिम् ।
तक्षकं भूमिपुत्रन्तु कर्कोटञ्च बुधं विदुः ॥
पद्मं वृहस्पतिं विद्यान्महापद्मञ्च भार्गवम् ।
कुलिकः शङ्खपालश्च शनैश्चरः ॥
पूर्व्वपादः शङ्खपालो द्वितीयः कुलिकोऽस्य च ।
नेत्रभागे यमौ दिष्टौ दिनरात्रौ तथैव च ॥
शुक्रसोमौ च मध्याह्ने उदये तु चमासुतम् ।
प्रायः प्रागष्टमे भागे दिवासन्ध्याविहोच्यते ॥
महाश्च भुञ्जते राजन् पथि मृत्युं व्रजत्यधः ।
अधो गत्वा भवेत् सर्पो निर्व्विषो नात्र संशयः ॥

शतानीक उवाच ।
नागदष्टः पिता यस्य भ्राता वा दुहितापि वा ।
माता पुत्त्रोऽथवा भार्य्या किं कर्त्तव्यं वदस्व वै ॥
मोक्षाय तस्य विप्रेन्द्र दानं व्रतमुपोषितम् ।
ब्रूहि मे द्विजशार्दूल येन तद्वै करोम्यहम् ॥
सुमन्तुरुवाच ।
उपोष्या पञ्चमी राजन् नागानां पुष्टिवर्द्धिनी ।
शुभैकमेकं राजेन्द्र विधानं शृणु भारत ! ॥
मासि भाद्रपदे या तु शुक्लपक्षे महीपते ।
सा तु पुण्या महाप्रोक्ता ग्राह्यापि च महीपते ॥
ज्ञेया द्वादश संवर्त्ते पञ्चम्यां भरतर्षभ ।
चतुर्थ्यामेकभक्तन्तु तस्यां नक्तं प्रकीर्त्तितम् ॥
भूरिचन्द्रमयं नागमथवा कलधौतकम् ।
कृत्वा दारुमयं वापि अथवा मृण्मयं नृप ॥
पञ्चम्यामर्च्चयेद्भक्त्या नागं पञ्चफणं नृप ।
करवीरैः शतपत्रैर्जातिपुष्पैश्च सुव्रत ॥
तथा गन्धप्रधूपैश्च पूज्यं पन्नगसत्तमम् ।
ब्राह्मणं भोजयेत् पश्चात् घृतपायसमोदकैः ॥
अनन्तं वासुकिं शङ्खं पद्मं कम्बलमेव च ।
तथा कर्कोटकं नागं नागं चाश्वतरं नृप ॥
धृतराष्ट्रं शङ्खपालं कालियं तक्षकं तथा ।
पिङ्गलञ्च तथा नागं मासि मासि च कीर्त्तितम् ॥
संवर्त्तान्ते पारणं स्यान्महाब्राह्मणभोजनम् ।
इतिहासविदे नागं गैरिकेण कृतं नृप ॥
तथार्ज्जुनी प्रदातव्या वाचकस्य महीपते ।
एष पारणके वापि विधिः प्रोक्तो बुधैर्नृप ॥
तव पित्रा कृतश्चैव पितुर्मोक्षाय भारत ।
शुभात्मिकेयं वैधी च पञ्चमी भरतर्षभ ॥
सुवर्णभारनिष्पन्नं नागं दत्त्वा तथा च गाम् ।
व्याप्तस्य कुरुशार्दूल पितुरानृण्यमाप्नुयात् ॥
तव पित्रा कृतञ्चैवं पञ्चम्योपासनं नृप ।
उत्तङ्कस्य नागतां वीर तव पूर्व्वपितामहः ॥
पुण्येतरसदो गत्वा तथा पुण्यसदो नृप ।
सुनासीरसदो गत्वा तथा भद्रसदो गतः ॥
भूपसदस्ततो गत्वा कञ्जकस्य सदो गतः ।
अन्येऽपि ये करिष्यन्ति इदं व्रतमनुत्तमम् ।
दष्टकात् मोक्षते तेषां शुभं स्थानमवाप्नुयात् ॥
यश्चेदं शृणुयान्नित्यं नरः श्रद्धासमन्वितः ।
कुले तस्य न नागेभ्यो भयं भवति कुत्रचित् ॥”
इति भविष्यपुराणे पञ्चमीकल्पे ॥ * ॥
शतानीक उवाच ।
“सर्पाणां कतिरूपाणि के वर्णाः किञ्च लक्षणम् ।
का जातिस्तु भवेत्तेषां केषु योनिः कुलेषु वा ॥
सुमन्तुरुवाच ।
अत्र ते वच्मि संवादं कश्यपस्य महात्मनः ।
यथासीद्गौतमेनेह शृणु पूर्व्वं हिमाचले ॥
हुताग्निहोत्रमासीनं कश्यपन्तु हिमाचले ।
प्रणम्य शिरसा भक्त्या गौतमो वाक्यमब्रवीत् ॥
सर्पाणां कतिरूपाणि किञ्चिह्नं किञ्च लक्षणम् ।
जातिं कुलं तथा वर्णान् ब्रूहि सर्व्वं प्रजापते ।
कथं वा जायते सर्पः कथं सुप्तविषं प्रभो ।
विषवेगाः कति प्रोक्ताः कत्येव विषनाड़िकाः ॥

दंष्ट्राः कतिविधाः प्रोक्ताः किं प्रमाणं विषागमे
कदा तु गृह्णीते गर्भं कथं वेह प्रसूयते ॥
कीदृशी स्त्री पुमांश्चैव कीदृशश्च नपुंसकम् ।
किं नाम दशनं चैव एतत् कथय सुव्रत ॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा कश्यपः प्रत्यभाषत ।
शृणु गौतम तत्त्वेन सर्पाणामिह लक्षणम् ॥*॥
मास्याषाढ़े तथा ज्यैष्ठे प्रमाद्यन्ति भुजङ्गमाः ।
ततो नागो नागिनी च मैथुनं संप्रपद्यते ॥
चतुरो वार्षिकान् मासान् नागी गर्भमधारयत् ।
ततः कार्त्तिकमासे तु अण्डकानि प्रसूयते ॥
अण्डकानान्तु विज्ञेयं द्वे शते द्वे च विंशती ।
तान्येव भक्षयेत् सा तु नागैकं कृपया त्यजेत् ॥
सुवर्णकेवर्णनिभात् पुमान् संजायतेऽण्डकात् ।
तानेव खादते सर्पौ अहोरात्राणि विंशतिम् ॥
अर्क्कोदिकसुवर्णाभात् दीर्घराजीवसन्निभात् ।
तस्मादुत्पाद्यते स्त्री वै अण्डाद्ब्राह्मणसत्तम ॥
शिरीषपुष्पवर्णाभादण्डकात् स्यान्नपुंसकम् ।
ततो भिनत्ति चाण्डानि षण्मासेन तु गौतम ॥
ततस्ते प्रीतिसंबन्धात् स्नेहं बध्नन्ति बालकाः ।
ततोऽसौ सप्तरात्रेण कृष्णो भवति यत्नतः ॥*॥
आयुःप्रमाणं सर्पाणां शतं विंशोत्तरं स्मृतम् ।
मृत्युश्चाष्टविधो ज्ञेयः शृणुष्वात्र यथाक्रमम् ॥
मयूरात् मानुषाद्वापि चकोराद्गोखुरात्तथा ।
विड़ालान्नकुलाच्चैव वराहाद्वृश्चिकात्तथा ॥
एतेषां यदि मुच्येत जीवेद्विंशोत्तरं शतम् ।
सप्ताहे तु ततः पूर्णे दंष्ट्राणान्तु विरोहणम् ॥
विषस्यागमनं तत्र विक्षेपश्च पुनः पुनः ।
एवं ज्ञात्वा तु तत्त्वेन विषकर्म्म समारभेत् ॥
एकविंशतिरात्रेण विषं दंष्ट्रासु जायते ।
नागीपार्श्वसमावर्त्तौ बालसर्पस्तु उच्यते ॥
पञ्चविंशतिरात्रस्तु सद्यः प्राणहरो भवेत् ।
षण्मासाज्जातमात्रस्तु कञ्चुकं वै प्रमुञ्चति ॥
पादानाञ्चापि विज्ञेया द्वे शते द्वे च विंशती ।
गोलोमसदृशाः पादाः प्रविशन्ति क्रमन्ति च ॥
सन्धीनां चास्य विज्ञेयं द्वे शते विंशती तथा ।
पांशुल्यश्चापि विज्ञेया द्वे शते विंशतिस्तथा ॥
अकालजाता ये सर्पा निर्व्विषास्ते प्रकीर्त्तिताः ।
पञ्चसप्ततिवर्षाणि आयुस्तेषां प्रकीर्त्तितम् ॥
रक्तपीतशुक्लदन्ता आनीला मन्दवेगिनः ।
एते चाल्पायुषो ज्ञेया अल्पाहाराश्च भीरवः ॥
एकञ्चास्य भवेद्वक्त्रं द्वे जिह्वे च प्रकीर्त्तिते ।
प्रथमा ब्रह्मदैवत्या द्वितीया विष्णुदेवता ॥
तृतीया रुद्रदैवत्या चतुर्थी यमदेवता ।
हीना प्रमाणतः सा तु वामनेत्रं समाश्रिता ॥
नास्यां मन्त्राः प्रयोक्तव्या नौषधं नैव भेषजम् ।
वैद्यः पराङ्मुखो याति मृत्युस्तस्या विशेषणात् ॥
चिकित्सा न बुधैः कार्य्या तदन्तं तस्य जीवितम् ।
मकरीं मासिकीं विद्यात् करालीञ्च हिमासिकीम् ।
कालरात्री भवेत् त्रीणि चतुरो यमदूतिका ॥
मकरीशक्तकं विद्यात् कराली काकपादिका ।

ढकाराकृतिः कालरात्री याम्या कूपाकृतिः
स्मृता ॥
मकरी वातुला ज्ञेया कराली पैत्तिकी स्मृता ।
कफात्मिका कालरात्री यमदूती सान्निपातिकी॥
शुक्ला तु मकरी ज्ञेया कराली रक्तसन्निभा ।
कालरात्री भवेत् पीता कृष्णा च यमदूतिका ॥”
इति भविष्यपुराणे पञ्चमीकल्पे ॥ * ॥
कश्यप उवाच ।
“सविषा दंष्ट्रयोर्म्मध्ये यमदूती तु चेद्भवेत् ।
न चिकित्सा बुधैः कार्य्या तं गतायुं विनि-
र्द्दिशेत् ॥
प्रहरार्द्धं दिवारात्रौ एकैकं भुञ्जते अहिः ।
एकस्य च समानञ्च द्वितीयं षोड़शं तथा ॥
नागोदये ययुद्दष्टो हतो विद्धो विदारितः ।
कालदष्टं विजानीयात् कश्यपस्य वचो यथा ॥
यस्मान्नि पतते विन्दुर्व्वालाग्रसलिलोद्धृतम् ।
तस्मान्नं स्रवते दंष्ट्राविषं सर्पस्य दारुणम् ॥
ज्वालाशते तु संपूर्णे देहे संक्रमते विषम् ।
यावत् संक्रामयेद्बाहुं कुञ्चितं वा प्रसारयेत् ॥
अनेन च्चणमात्रेण विषं गच्छति मस्तके ।
वेधते विषवेगस्तु शतशोऽथ सहस्रशः ॥
वर्द्धते रक्तमासाद्य ततो वाते शिखी यथा ।
तैलबिन्दुर्ज्जलं प्राप्य यथा वेगेन वर्द्धते ॥
शिखण्डी आश्रयं प्राप्य मारुतेन समीरितः ।
ततस्त्वाशतं प्राप्य त्वचास्थानं विचेष्टितम् ॥
त्वचास्तु द्विगुणं विद्याच्छोणितेषु चतुर्गुणम् ।
पित्ते तु त्रिगुणं याति श्लेष्मे वै षोड़शं भवेत् ॥
वायौ त्रिंशद्गुणञ्चैव मज्ज्ञि षष्टिगुणं तथा ।
प्राणे चैकार्णवीभूते सर्व्वस्रोतान्निरोधयेत् ॥
स्रोतेन रुध्यमानेन याति साध्यमसाध्यताम् ।
ततोऽसौ म्रियते जन्तुर्निश्वासोच्छ्वासवर्ज्जितः ॥
निष्क्रान्ते तु ततो जीवे भूते पञ्चत्वमागते ।
तानि भूतानि गच्छन्ति यस्य यस्य यथालयम् ॥
पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव च ।
इत्येषामेव संघातः शरीरमभिधीयते ॥
पृथिवी पृथिवीं याति आपस्तोयेषु लीयते ।
तेजो गच्छति चादित्यं मारुतो मारुतं व्रजेत् ॥
आकाशञ्चैव आकाशे सह तेनैव गच्छति ।
स्वस्थानं ते प्रपद्यन्ते परस्परवियोजिताः ॥
न जीवेदागतः कश्चिदिह जन्मनि सुव्रत ।
विषार्थं न उपेक्षेत त्वरितं तु चिकित्सयेत् ॥*॥
एकमस्ति विषं लोके द्वितीयञ्चोपपद्यते ।
यथा चलविषञ्चैव स्थावरन्तु तथैव च ॥
प्रथमे विषवेगे तु रोमहर्षं प्रजायते ।
द्वितीये विषवेगे तु स्वेदो गात्रेषु जायते ॥
तृतीये विषवेगे तु कम्पो गात्रेषु जायते ।
चतुर्थे विषवेगे तु श्रोत्रान्तरनिरोधकृत् ॥
पञ्चमे विषवेगे तु हिक्का गात्रेषु जायते ।
षष्ठे तु विषवेगे तु ग्रीवाभङ्गस्तु जायते ॥
सप्तमे विषवेगे तु प्राणेभ्यो विप्रमुच्यते ।
सप्तधातुवहा ह्येते वैनतेयेन भाषिताः ॥ * ॥
त्वचस्थाने विषे प्राप्ते तस्य रूपाणि मे शृणु ।
अङ्गानि तिमिरायन्ते यतन्ते च मुहुर्म्मुहुः ॥
एतानि यस्य चिह्नानि तस्य त्वचगतं विषम् ।
तस्यागदं प्रवक्ष्यामि येन सम्पद्यते सुखम् ॥
अर्कमूलमपामार्गप्रियङ्गु तगरं तथा ॥
एतदालोड्य दातव्यं ततः सम्पद्यते सुखम् ॥
ततस्तस्मिन् कृते विप्रा न निवर्त्तेत चेद्विषम् ।
त्वचस्थानं ततो भित्त्वा रक्तस्थानं प्रधावति ॥*॥
विषे च रक्तसंप्राप्ते तस्य रूपानि मे शृणु ।
दह्यते मुह्यते चैव शीतलं बहु मन्यते ॥
एतानि यस्य रूपाणि तस्य रक्तं विषं गतम् ।
तत्रागदं प्रवक्ष्यामि येन सम्पद्यते सुखम् ॥
उशीरं चन्दनं कुष्ठमुत्पलं तगरं तथा ।
महाकालस्य मूलानि सिन्धुवारभ्टगस्य च ॥
हिङ्गुञ्च मरिचञ्चैव पूर्व्ववेगे तु दापयेत् ।
बृहती पृश्निकाली च इन्द्रवारुणिमूलकम् ॥
सर्पगन्धा घृतं चैव द्वितीये परिकीर्त्तितम् ।
सिन्दुवारं तथा हिङ्गु तृतीये कारयेद्बुधः ॥
नस्यं पानञ्च कुर्व्वीत अञ्जनं लेपनं तथा ।
एतेनैवोपचारेण ततः सम्पद्यते सुखम् ॥ * ॥
रक्तस्थानं ततो गत्वा पित्तस्थानं प्रधावति ।
पित्तस्थानगते विप्र विषे रूपाणि मे शृणु ॥
उत्तिष्ठते निपतते दह्यते मुह्यते तथा ।
गात्रतः पीतता स्याद्वै दिशः पश्यति पीतिकाः ॥
ध्वलाश्च भवेन्मूर्च्छा न चात्मानं विजानते ।
विषक्रियां तस्य कुर्य्यात् यथा सम्पद्यते
सुखम् ॥
पिप्पलं मधुकं चैव मधुखण्डघृतं तथा ।
मधुसारमलावुञ्च जातिशर्करवालुकाम् ॥
इन्द्रवारुणिमूलञ्च गवां मूत्रेण पेषयेत् ।
नस्यं तस्य प्रयुञ्जीत पानमालेपमाञ्जनम् ॥
एतेनैवोपचारेण ततः सम्पद्यते सुखम् ।
पित्तस्थानमतिक्रम्य श्लेष्मस्थानञ्च गच्छति ॥ * ॥
श्लेष्मस्थाने ततः प्राप्ते तस्य रूपाणि मे शृणु ।
गात्राणि तस्य रुध्यन्ते निश्वासश्च न जायते ॥
लाला च स्रवते तस्य कण्ठे घुरघुरायते ।
एतानि यस्य रूपाणि तस्य श्लेष्मगतं विषम् ॥
तस्यागदं प्रवक्ष्यामि येन सम्पद्यते सुखम् ।
त्रिकटुकञ्च कोशातकी लोध्रमधुसारकम् ॥
एतेषां सप्तभागानि गवां मूत्रेण पेषयेत् ।
नस्यं पानञ्च कुर्व्वीत अञ्जनं लेपनं तथा ॥
एतेनैवोपचारेण ततः सम्पद्यते सुखम् ।
श्लेष्मस्थानमतिक्रम्य वायुस्थानञ्च गच्छति ॥ * ॥
तत्र रूपाणि वक्ष्यामि वायुस्थानगते विषे ।
आध्मायते च जठरं यत्नवांश्च न पश्यति ॥
ईदृशं कुरुते रूपं दृष्टिभङ्गश्च जायते ।
एतानि यस्य रूपाणि तस्य वायुगतं विषम् ॥
तस्यागदं प्रवक्ष्यामि येन सम्पद्यते सुखम् ।
शोणमूलं प्रियालञ्च रत्ना च गजपिप्पली ॥
भार्गी वचा पिप्पलिदेवदारु-
मधूकसारं सह सिन्दुवारम् ।
हिङ्गुञ्च पिष्ट्वा गुड़िकाञ्च कुर्य्या-
द्दद्याच्च तस्याञ्जनलेपनादीन् ॥
एषोऽगदः सर्व्वविषाणि हन्यात्
स्वयम्भुवा देववरेण दृष्टः ॥
अञ्जनञ्चैव नस्यञ्च क्षिप्रं दद्याद्विषान्विते ।
वायुस्थानं ततो मुक्त्वा मज्जस्थानं प्रधावति ॥*
विषे मज्जगते विप्र तस्य रूपाणि मे शृणु ।
दृष्टिश्च हीयते तस्य भ्रंशमङ्गानि मुञ्चति ॥
एतानि यस्य रूपाणि तस्य मज्जगतं विषम् ।
तस्यागदं प्रवक्ष्यामि येन सम्पद्यते सुखम् ॥
घृतं मधु शर्कराञ्च उशीरं चन्दनं तथा ।
एतदालोड्य दातव्यं पानं तस्य च सुव्रत ॥
ततः प्रणश्यते दुःखं ततः सम्पद्यते सुखम् ।
अथ तस्मिन् कृते योगे विषं तस्य निवर्त्तते ॥*॥
मज्जस्थानं ततो गत्वा मर्म्मस्थानं प्रधावति ।
विषे तु मर्म्मसंप्राप्ते शृणु रूपं यथा भवेत् ॥
निश्चेष्टः पतते भूमौ कर्णाभ्यां बधिरो भवेत् ।
कशया सिच्यमानस्य रोमहर्षो न जायते ॥
दण्डेन हन्यमानस्य दण्डराजी न जायते ।
शस्त्रेण छिद्यमानस्य रुधिरं न प्रवर्त्तते ॥
केशेषु लुच्यमानेषु नैव क्लेशप्रवेदने ।
यस्य कर्णौ च पार्श्वौ च हनू पादौ च सन्धयः ॥
शिथिलानि भवन्तीह स गतासुरिति श्रुतिः ।
एतानि यस्य रूपाणि विपरीतानि गौतम ॥
मृतन्तु तं विजानीयात् कश्यपस्य वचो यथा ।
वैद्यास्तस्य न पश्यन्ति ये पश्यन्ति कुशिक्षिताः ॥
विचक्षणास्तु पश्यन्ति मन्त्रौषधिसमन्विताः ।
तस्यागदं प्रवक्ष्यामि स्वयं रुद्रेण भाषितम् ॥
मयूरपित्तं मार्ज्जारपित्तं नकुलपित्तकम् ।
मत्स्यमाहिषपित्तञ्च श्यामालीमूलमेव च ॥
कुङ्कुमं भार्गवं कुष्ठं काश्मरी च त्वचं तथा ।
उत्पलस्य च किञ्जल्कं पद्मस्य कुमुदस्य च ॥
एतानि समभागानि गोमूत्रेण तु शोषयेत् ।
एषोऽगदो यस्य हस्ते दष्टेन म्रियते न वै ।
कालाहिनापि दष्टोऽपि क्षिप्रं भवति निर्व्विषः ॥
क्षिप्रमेव प्रदातव्यं मृतसञ्जीवनौषधम् ।
अञ्जनञ्चैव नस्यञ्च क्षिप्रं दद्यात् विचक्षणः ॥”
इति भविष्यपुराणे ब्रह्मपर्व्वणि पञ्चमीधातुगत-
विषक्रिया ॥ * ॥
गौतम उवाच ।
“कीदृशं एतदाख्याहि सर्व्वं दष्टस्य लक्षणम् ॥
कश्यप उवाच ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि नागानां रूपलक्षणम् ।
सर्पदष्टस्य च तथा समासाद्द्विजपुङ्गव ! ॥
अथ सर्पेण दष्टस्य ऊर्द्ध्वा दृष्टिः प्रजायते ।
सर्प्या दष्टस्य च तथा अधोदृष्टिः प्रजायते ॥
नपुंसकेन दष्टस्य अङ्गमर्द्दः प्रजायते ।
रुषा दष्टस्य वा साम्या दृष्टिर्द्विजवरोत्तम ॥
कुमारेणापि दष्टस्य दक्षिणा एव जायते ।
गुर्व्विण्या वाथ दष्टस्य तथा स्वेदश्च जायते ॥
रोमाञ्चः सूतिकायाश्च वेपथुश्चापि जायते ।
पन्नगी प्रभवेद्रात्रौ दिवा सर्पो विषाधिकः ॥
नपुंसकन्तु सन्ध्यायां कश्यपेन तु भाषितम् ।
अन्धकारे तु दष्टानामुदके गहने वने ॥

सुप्तस्य वै प्रमत्तस्य पदे सर्पो न दृश्यते ।
दृष्टरूपाण्यजानन् वै कथं वैद्यश्चिकित्सति ॥
चतुर्व्विधा इह प्रोक्ताः पन्नगास्तु महात्मना ।
दर्व्वीकरा मण्डलिनो राजिला व्यन्तरास्तथा ॥
दर्व्वीकरा वातविषा मण्डलाः पैत्तिकाः स्मृताः ।
श्लेष्मला राजिला ज्ञेया व्यन्तराः सान्निपातिकाः ॥
रक्तं परीक्षयेन्नाड़ं सर्पाणान्तु पृथक् पृथक् ।
कृष्णं दर्व्वीकराणान्तु जायते वातशुक्लयम् ॥
रक्तं घनञ्च बहुशः शोणितं मण्डलीकृते ।
पिच्छिलं राजिले स्वल्पं तद्वद्व्यन्तरके तथा ॥ * ॥
ज्ञेयाः सर्पास्तु चत्वारः पञ्चमो नोपलभ्यते ।
ब्राह्मणः क्षत्त्रियो वैश्यः शूद्रश्चैव चतुर्थकः ॥
ब्राह्मणे मधुरं दद्यात् तिक्तं दद्यात्तथोत्तरे ।
वैश्ये कषफलं दद्यात् शूद्रे त्रिफलमेव वा ॥
ब्राह्मणेन तु दष्टस्य दाहो गात्रेषु जायते ।
मूर्च्छा च प्रबला स्याद्वै न ज्ञानमभिजायते ॥
श्यामवर्णं मुखञ्च स्यात्मनस्तम्भश्च जायते ।
तस्य कुर्य्यात् प्रतीकारं येन सम्पद्यते सुखम् ॥
अश्वगन्धामपामार्गं सिन्दुवारं सुरालयम् ।
एतत् सर्पिःसमायुक्तं पानं नस्यञ्च दापयेत् ।
एतेनैवोपचारेण सुखी भवति मानवः ॥ * ॥
क्षत्त्रियेण तु दष्टस्य कम्पो गात्रेषु जायते ।
मूर्च्छा मोहस्तथा स्याद्वै न ज्ञानमभिजायते ॥
जायते वेदना तस्य ऊर्द्ध्वञ्चैव निरीक्षते ।
तस्य कुर्य्यात् प्रतीकारं येन सम्पद्यते सुखम् ॥
अर्कमूलमपामार्गं प्रियङ्गुमथ वारुणीम् ।
एतत् सर्पिःसमायुक्तं पानं तस्य प्रदापयेत् ।
एतेनैवोपचारेण सुखी भवति मानवः ॥ * ॥
वैश्येनापि हि दष्टस्य शृणु रूपाणि यानि तु ।
श्लेष्मप्रकोपो लाला च नवोद्वहति वेदना ॥
मूर्च्छा च प्रबला यस्य आत्मानं नाभिनन्दति ।
तस्य कुर्य्यात् प्रतीकारं येन सम्पद्यते सुखम् ॥
अश्वगन्धां सगोमूत्रां गृहधूमं सगुग्गुलुम् ।
शिरीषार्कपलाशञ्च श्वेतां च गिरिकर्णिकाम् ॥
गोमूत्रेण समायुक्तं पानं नस्यञ्च दापयेत् ।
एष वैश्येन दष्टानामगदः परिकीर्त्तितः ॥ * ॥
शूद्रेणापि हि दष्टस्य शृणु तत्त्वेन गौतम ।
कुप्यते वेपते चैव ज्वरः शीतश्च जायते ॥
अङ्गानि चुलुचुलायन्ते शूद्रदष्टस्य लक्षणम् ।
तस्यागदं प्रवक्ष्यामि येन सम्पद्यते सुखम् ॥
पद्मञ्च लोध्रकञ्चैव चौद्रं पद्मस्य केशरम् ।
मधु मधुकसारञ्च श्वेता च गिरिकर्णिका ॥
एतानि समभागानि पेषयेत् शीतवारिणा ।
पानं लेपाञ्जनं नस्यं सुखी भवति मानवः ॥ * ॥
पूर्व्वाह्णे चरते विप्रो मध्याह्ने क्षत्त्रियश्चरेत् ।
अपराह्णे चरेद्वैश्यः शूद्रः सन्ध्याचरो भवेत् ॥
आहारश्चात्र पुष्पाणि ब्राह्मणानां विदुर्ब्बुधाः ।
मूषिकाः क्षत्त्रियाणाञ्च आहारो द्विजसत्तम ॥
वैश्या मण्डूकभक्ष्याश्च शूद्राः सर्व्वाशिनस्तथा ॥
अग्रतो दशते विप्रः क्षत्त्रियो दक्षिणेन तु ।
वामपार्श्वे सदा वैश्यः पश्चाद्वै शूद्र आदशेत् ॥
मदकाले तु संप्राप्ते पीड्यमाना महाविषाः ।
अवेलायां दशन्ति वै मैथुनार्त्ता भुजङ्गमाः ॥ * ॥
पुष्पगन्धाः स्मृता विप्राः क्षत्त्रियाश्चन्दनावहाः ।
वैश्याश्च घृतगन्धा वै शूद्राः मत्स्यस्य गन्धिनः ॥ *
वासं तेषां प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्व्वशः ।
नदीकूपतड़ागेषु गिरिप्रस्रवणेषु च ।
आरामेषु पवित्रेषु शुचिस्थायतनेषु च ॥
वसन्ति ब्राह्मणाः सर्पाः ग्रामद्वारे चतुष्पथे ॥
क्षत्त्रियो वसते नित्यं तोरणेषु पुरेषु च ।
गोशालास्वश्वशालासु पलालेषु तटेषु च ॥
गोष्ठेषु पथि वृक्षेषु विप्र वैश्या वसन्ति च ।
अविविक्तेषु स्थानेषु निर्झरेषु वनेषु च ।
शून्यागारे श्मशाने च शूद्रा विप्र वसन्ति च ॥
श्वेताश्च कपिलाश्चैव ये सर्पाश्चानलप्रभाः ।
सात्त्विका मनस्विनो विप्र ब्राह्मणास्ते बुधैः स्मृताः ॥
रक्तवर्णसुवर्णाभप्रवालमणिसन्निभाः ।
सूर्य्यप्रभास्तथा विप्र क्षत्त्रियास्ते भुजङ्गमाः ॥
नानाविचित्रराजीभिरतसीवर्णसन्निभाः ।
बाणपुष्पसुवर्णाभा वैश्यास्ते च भुजङ्गमाः ॥
काकोदरनिभाः केचित् ये च अञ्जनसन्निभाः ।
काकवर्णा धूम्रवर्णास्ते शूद्राः परिकीर्त्तिताः ॥ *
यस्य सर्पेण दष्टस्य दंशमङ्गुलमन्तरम् ।
बालदष्टं विजानीयात् कश्यपस्य वचो यथा ॥
यस्य सर्पेण दष्टस्य दंष्ट्रा द्व्यङ्गुलमन्तरम् ।
यौवनस्थेन दष्टस्य एतद्भवति लक्षणम् ॥
यस्य सर्पेण दष्टस्य सार्द्धद्व्यङ्गुलमन्तरम् ।
वृद्धदष्टं विजानीयात् कश्यपस्य वचो यथा ॥ * ॥
अनन्तः प्रेक्षते पूर्व्वं वामपार्श्वं तु वासुकिः ।
तक्षको दक्षिणे पार्श्वे कर्क्कोटः पृष्ठतस्तथा ॥
वलेन भ्रमते पद्मो महापद्मो निमज्जति ।
निमज्ज्योत्तिष्ठते चैव शङ्खपालो मुहुर्म्मुहुः ॥
सर्व्वेषां कुरुते रूपं कुलिकः पन्नगोत्तमः ।
अनन्तस्य दिशा पूर्व्वा वासुकेस्तु हुताशनः ॥
दक्षिणा तक्षकस्योक्ता कर्क्कोटस्य तु नैरृती ।
पश्चिमा पद्मनाभस्य महापद्मस्य वायुजा ॥
उत्तरा शङ्खपालस्य ऐशानी कुलिकस्य तु ।
अनन्तस्य भवेत् पद्मं वासुकेः स्यात्तथोत्पलम् ॥
स्वस्तिकं तक्षकस्योक्तं कर्क्कोटस्य त्रिरेखकम् ।
पद्मस्य तु भवेत् पद्मं शूलमश्वतरस्य तु ॥
शङ्खजातेर्भवेच्छत्रं कुलिकस्यार्द्धचन्द्रकम् ।
अनन्तः कुलिको विप्रः क्षत्त्रियौ शङ्खवासुकी ॥
महापद्मस्तक्षकश्च वैश्यौ विप्र प्रकीर्त्तितः ।
पद्मकर्क्कोटकौ शूद्रौ सदा ज्ञेयौ मनीषिभिः ॥
अनन्तकुलिकौ शुक्लौ वर्णतो ब्रह्मसम्भवौ ।
वासुकिः शङ्खपालश्च रक्तौ ह्यग्निसमुद्भवौ ॥
तक्षकश्च महापद्म इन्द्रात् पीतौ बभूवतुः ।
पद्मकर्क्कोटकौ विप्र सर्पौ कृष्णौ बभूवतुः ॥ * ॥
हयं यानं वृषं छत्रं राजानमथ पावकम् ।
धरणीमुत्पाद्य ह्येतानेतान् सिद्धिकरान् विदुः ॥
पूर्णकुम्भः पताका च काञ्चनं मणयस्तथा ।
शरसो मालिका जम्बूजीवञ्जीवेति सुव्रता ॥
एतेषां दर्शनं श्रेष्ठं कन्या च प्रातिस्मृतिका ।
चतुःषष्टिः समाख्याता भोगिनो मत्तपन्नगाः ॥
अष्टशास्त्रेषु षड्विंशा अष्टत्रिंशा महीधराः ।
विंशास्तु कुलिताः प्रोक्ताः सप्त मण्डलिनस्तथा ।
राजीवास्तु दश प्रोक्ता दशाः षोड़श पञ्च च ॥
दुन्दुभी दुन्दुभिश्चैव चेड़भः श्रेष्ठवाहनः ॥
नागपुष्पसुवर्णाख्या निर्व्विषा ये च पन्नगाः ।
एवमेवन्तु सर्पाणां शतद्विनवति स्मृतम् ॥

वराहकर्णं गजपिप्पलिञ्च
गान्धारिका पिप्पलदेवदारु ।
मधूकसारं सह सिन्धुवारं
हिङ्गुञ्च पिष्ट्वा गुड़िका च कार्य्या ॥ * ॥

सुमन्तुरुवाच ।

इत्युक्तवान् पुरा वीर गौतमस्य प्रजापतिः ।
लक्षणं सर्व्वनागानां रूपवर्णविशेषतः ॥
तस्मात् संपूजयेन्नागान् सदा भक्त्या समन्वितः ।
विशेषतस्तु पञ्चम्यां पयसा पायसेन च ॥
श्रावणे मासि पञ्चम्यां शुक्लपक्षे नराधिप ।
द्वारस्योभयतो लेख्या गोमयेन विषोल्बणाः ॥
पूजयेद्विधिवद्वीर दधिदूर्व्वाङ्कुरैः कुशैः ।
गन्धपुष्पोपहारैश्च ब्राह्मणानाञ्च तर्पणैः ॥
ये तस्यां पूजयन्तीह नागान् भक्तिपुरःसराः ।
न तेषां सर्पतो वीर भयं भवति कर्हिचित् ॥”
इति भविष्ये पञ्चमीकल्पे ॥ * ॥

सुमन्तुरुवाच ।

“तथा भाद्रपदे मासि पञ्चम्यां श्रद्धयान्वितः ।
तथालिख्य नरो नागान् कृष्णवर्णादिवर्णकैः ॥
पूजयेद्गन्धपुष्पैश्च सर्पिःपायसगुग्गुलैः ।
तस्य तुष्टिं समायान्ति पन्नगास्तक्षकादयः ॥
आसप्तमात् कुलात्तस्य न भयं नागतो भवेत् ।
तस्मात् सर्व्वप्रयत्नेन नागान् वै पूजयेद्बुधः ॥”
इति भविष्ये पञ्चमीकल्पे ॥ * ॥

सुमन्तुरुवाच ।

“तथा चाश्वयुजे मासि पञ्चम्यां कुरुनन्दन ।
कृत्वा कुशमयान्नागान् इन्द्राण्या सह पूजयेत् ॥
घृतोदकाभ्यां पयसा स्नापयित्वा विशाम्पते ।
गोधूमैः पयसा सिद्धैर्भक्ष्यैश्च विविधैस्तथा ॥
यस्तस्यां विधिवन्नागान् शुचिर्भक्त्या समन्वितः ।
पूजयेत् कुरुशार्द्दूल तस्य शेषादयो नृप ॥
नागाः प्रीता भवन्तीह शान्तिमाप्नोति मानवः ।
सुशान्तिलोकमासाद्य मोदते शाश्वतीः समाः ॥
इत्येतत् कथितं विप्र पञ्चमीकल्पमुत्तमम् ।
पन्नगाश्चुच्यते मन्त्रं सर्व्वसर्पनिषेधकम् ॥”
ॐ कुरु कुले नः फट् स्वाहा । इति भविष्य-पुराणे शतसाहस्र्यां संहितायां पञ्चमीकल्पे ॥ *
अन्यच्च ।

सूत उवाच ।

“प्राणेश्वरं गारुड़ञ्च शिवोक्तं प्रवदाम्यहम् ।
स्थानान्यादौ प्रवक्ष्यामि नद्यां दष्टो न जीवति ॥
चितावल्मीकशैलादौ कूपे च विवरे तरोः ।
दंशे रेखात्रयं यस्य प्रच्छन्नं स न जीवति ॥
षष्ठ्याञ्च कर्कटे मेषे मूलाश्लेषामघादिषु ।
कक्षाश्रोणिगले सन्धौ शङ्खकर्णोदरादिषु ॥

दण्डी शस्त्रधरी भिक्षुर्नग्नादिः कालदूतकः।
वक्त्रे बाहौ च ग्रीवायां पृष्ठे च नहि जीवति॥
पूर्व्वं दिनपतिर्भुङ्क्ते ह्यर्द्धयाममतोऽपरे।
शेषा ग्रहाः प्रतिदिनं षट्सङ्ख्यापरिवर्त्तनैः॥
नागभोगक्रमो ज्ञेयो रात्रौ वाणविवर्त्तनैः।
शेषोऽर्कः फणिपश्चन्द्रस्तक्षको भौम ईरितः॥
कर्कोटो ज्ञो गुरुः पद्मो महापद्मश्च भार्गवः।
शङ्खः शनैश्चरो राहुः कुलिकश्चाष्टधा ग्रहाः॥
रात्रौ दिवा सुरगुरोर्भोगे स्यादमरान्तकः।
पङ्गोः कालो दिवा राहुः कुलिकेन सह
स्थितः॥
यामार्द्धसन्धिसंस्थः स वेलां कालयतीश्वरेत्।
वाणद्विषड्वह्निवाजियुगभूरेकभागतः॥
दिवा षड्वेदनेत्रादिपञ्चत्रिवसुखाग्निकैः।
पादाङ्गुष्ठे पादपृष्ठे गुल्फे जानुनि लिङ्गके॥
नाभौ हृदि स्तनतटे कण्ठे नासापुटेष्वथ।
कर्णयोश्च भ्रुवोः शङ्खे मस्तके प्रतिपत्क्रमात्॥
तिष्ठेच्चन्द्रश्च जीवेन पुंसो दक्षिणभागके।
कायस्य वामभागे तु स्त्रिया वायुवहात् करात्॥
आमवत्त्वक्षती मोहो निवर्त्तेत च मर्द्दनात्।
आत्मनः परमं बीजं हंसाख्यं स्फाटिकामलम्॥
ज्ञातव्यं विषपापघ्नं बीजं तस्य चतुर्व्विधम्।
बिन्दुपञ्चस्वरयुतमाद्यमुक्तं द्वितीयकम्॥
षष्ठारूढं तृतीयं स्यात् सविसर्गं चतुर्व्विधम्।
ॐ कुरु कुल्ले स्वाहा॥
विद्या त्रैलोक्यरक्षार्थं गरुडेन धृता पुरा।
वधेप्सुना च नागानां मुखेऽथ प्रणवं न्यसेत्॥
गले कुरु न्यसेत् पश्चात् हृदि चैव विशेषतः।
कुल्ले स्वा गुह्ययोः पादयुगे हान्यास ईरितः।
गृहेऽपि लिखिता यत्र तन्नागाः संत्यजन्ति च॥
सहस्रमन्त्रजप्तन्तु सूत्रं कर्णे धृतं तथा।
यद्गृहे शर्करा जप्ता क्षिप्ता नागास्त्यजन्ति च।
सप्तलक्षस्य जप्यादे सिद्धिः प्राप्ता सुरासुरैः॥
ॐ सुवर्णरेखे कुक्कुटविग्रहरूपिणि स्वाहा॥
एवञ्चाष्टदले पद्मे दले वर्णयुगं लिखेत्।
नामैतत् वारिधाराभिः स्नातो दष्टो विषं
त्यजेत्॥
ॐ पक्षि स्वाहा।
अङ्गुष्ठादिकनिष्ठान्तं करे न्यस्याथ देहके।
के वक्त्रे हृदि लिङ्गे च पादयोर्गरुडो ह्ययं सः॥
नाक्रामन्ति च तच्छायां स्वप्नेऽपि विषपन्नगाः।
यस्तु लक्षं जपेच्चास्याः स दृष्ट्वा नाशयेद्विषम्॥
ॐ ह्रौं ह्रौं ह्रौं भिरुण्डायै नमः॥
कर्णे जप्ता त्वियं विद्या दष्टकस्य विषं हरेत्।
अ-आ न्यसेत्तु पादाग्रे इ-ई गुल्फेऽथ जानुनि॥
उ-ऊ ए-ऐ कटितटे ओ नाभौ विन्यसेत्
सुधीः।
हृदि औ वक्त्रदेशे च अङ्के अः हंससंयुताः॥
हंसो विषादि च हरेत् जप्तो ध्यातोऽथ पूजितः।
गरुडोऽहमिति ध्यात्वा कुर्य्याद्विषहरां क्रियाम्॥
हं मन्त्रं गात्रविन्यस्तं विषादिहरमीरितम्।
न्यस्य हंसं वामकरे नासामुखनिरोधकृत्॥

मन्त्री हरेत् दष्टकस्य त्वङ्मांसादिगतं विषम्।
स वायुना समाकृष्य दष्टानां गरलं हरे।
तर्णौ न्यसेद्दष्टकेव नीलकण्ठादि संस्मरेत्॥*॥
पीतं प्रत्यङ्गिरामूलं तण्डुलाम्भोविषापहम्।
पुनर्नवाफलिनीनां मूलं पङ्कजमीदृशम्॥
मूलं शुक्लदहत्याश्तु कर्कोट्या गैरिकार्णिकम्।
अङ्घ्रिद्वन्द्वोपेतलेपोऽयं विषमर्द्दनः॥
विषन्दर्हिं न त्रजेच उष्णं पिबति यो घृतम्।
पञ्चाङ्गन्तु शिरीषस्य मूलं गुञ्जनजन्तथा।
सर्व्वाङ्गलेपतश्चापि पानाद्वा विषहृद्भवेत्॥
ह्रीँ गोनसादिविषहृत्॥
हृल्ललाटविसर्गान्तं ध्यातं वश्यादिकृद्भवेत्।
न्यस्तं योनौ वशीत् कन्यां कुर्य्यान्मदजलाविलाम्॥
जप्ता सप्ताष्टसाहस्रं गरुत्मानिव सर्व्वगः।
कविः स्यात् श्रुतिधारी स्यादप्यक्षीणायुरा-
प्नुयात्।
विषहृत् स्यात् कथा तद्वन्मुनिर्वा सम्मतो
ध्रुवम्॥"
इति गारुडे प्राणेश्वरं गारुडं समाप्तं १८
अध्यायः॥ * ॥ * ॥ अपरञ्च।
अग्निरुवाच।
"नागादयोऽथ तारादिदशस्थानानि मर्म्म च।
सूतकं दष्टचेष्टेति सप्तलक्षणमुच्यते॥
शेषवासुकितक्षाख्याः कर्कटोऽब्जो महाम्बुजः।
शङ्खपालश्च कुलिक इत्यष्टौ नागवर्य्यकाः॥
दशाष्टपञ्चत्रिगुणशतमूर्द्धान्विताः क्रमात्।
विप्रौ नृपौ विशौ शूद्रौ द्वौ द्वौ नागेषु कीर्त्तितौ॥
तदन्वयाः पञ्चशतं तेभ्यो जाता ह्यसङ्ख्यकाः।
फणिमण्डलिराजीलवातपित्तकफात्मकाः॥
व्यन्तरा दोषमिश्रास्ते सर्पा दर्व्वीकराः स्मृताः।
रथाङ्गलाङ्गलच्छत्रस्वस्तिकाङ्कुशधारिणः॥
गोनसा मन्दगा दीर्घा मण्डलैर्व्विविधैः स्थिताः।
राजीलाश्चित्रिताः स्निग्धास्तिर्य्यगूर्द्ध्वञ्च
राजिभिः॥
व्यन्तरा मिश्रचिह्नाश्च भूवर्षाग्नियवायवः।
चतुर्व्विधास्ते षड्विंश भेदाः षोड़श गोनसाः॥
त्रयोदश च राजीला व्यन्तरा एकविंशतिः।
येऽनुक्तकाले जायन्ते सर्पास्ते व्यन्तराः स्मृताः॥
आषाढ़ादित्रिमासैः स्याद्गर्भो मासचतुष्टये।
अण्डकानां शते द्वे च चत्वारिंशत् प्रसूयते।
सर्पा ग्रसन्ति सूतौ तान् विना स्त्रीपुंनपुंसकान्।
उन्मीलतेऽक्षि सप्ताहात् कृष्णो मासाद्भवेद्बहिः॥
द्वादशाहात् सुबोधः स्याद्दन्ताः स्युः सूर्य्य-
दर्शनात्।
द्वात्रिंशद्दिनविंशत्या चतस्रस्तेषु दंष्ट्रिकाः॥
कराली मकरी कालरात्री च यमदूतिका।
एतास्ताः सविषा दंष्ट्रा वामदक्षिणपार्श्वगाः॥
षण्मासान्मुच्यते कृत्तिं जीवेत् षष्टिसमाद्वयम्।
नागाः सूर्य्यादिवारेशाः सप्त उक्ता दिवानिशि॥
तेषां षट् प्रतिवारेषु कुलिकः सर्व्वसन्धिषु।
शङ्खेन वा महाब्जेन सह तस्योदयोऽथवा॥
द्वयोर्व्वा नाड़िकामन्त्रमन्तरं कुलिकोदयः।

दुष्टः सकालः सर्व्वत्र सर्व्वदंशे विनिर्द्दिशेत॥
कृत्तिका भरणी स्वाती मूलं पूर्व्वात्रयाश्विनी।
विशाखार्द्रा मघाश्लेषा चित्रा श्रवणरोहिणी॥
हस्ता मन्दकुजौ वारौ पञ्चमी चाष्टमी तिथिः।
षष्ठी रिक्ता शिवा निन्द्या पञ्चमी च चतुर्द्दशी॥
सन्ध्याचतुष्टयं दुष्टं दग्धयोगाश्च राशयः।
एकद्विबहवो दंशा दष्टविद्धञ्च खण्डितम्॥
अदंशमवगुप्तं स्याद्दंशमेवं चतुर्व्विधम्।
त्रयो द्वेकक्षता दंशा वेदना रुधिरो नृणाम्॥
नक्तं द्वेकाङ्घ्रिकूर्म्माभा दंशाश्च यमचोदिताः॥
दाही पिपीलिकास्पर्शी कण्ठशोषरुजान्वितः।
सतोदो ग्रन्थितो दंशः सविषो न्यस्तनिर्व्विषः॥
देवालये शून्यगृहे वल्मीकोद्यानकोटरे।
रथ्या सन्ध्या श्मशाने च श्मशाने सिन्धुसङ्गमे॥
द्वीपे चतुष्पथे सौधे गृहेऽब्जे पर्व्वताग्रतः।
विलद्वारे जीर्णकूपे जीर्णवेश्मनि कुड्यके॥
शिग्रुश्लेष्मातकाक्षेषु जम्बूडुम्बरणेषु च।
वटे च जीर्णप्राकारे खास्यहृत्कक्षजत्रुणि॥
तालौ शङ्खे गले मूर्द्ध्नि चिबुके नाभिपादयोः।
दंशोऽशुभः शुभो भूतः पुष्पहस्तः सुवाक् सुधीः॥
लिङ्गवर्णसमानश्च शुक्लवस्त्रोऽमलः शुचिः।
अपद्वारागतः शस्त्री प्रमादी भूगतेक्षणः॥
विवर्णवासाः पाशादिहस्तो गद्गदवर्णभाक्।
शुष्ककाष्ठाश्रितः खिन्नस्तिलाक्तककरांशुकः॥
आर्द्रवासाः कृष्णरक्तपुष्पो हेमशिरोरुहः।
कुचमर्द्दी नखच्छेदी गुदस्पृक् पादलेखकः॥
केशमुञ्ची तृणच्छेदी दुष्टा दूतास्तथैकलः।
इड़ान्यावाहयद्द्विधा यदि दूतस्य चात्मनः॥
आभ्यां द्वाभ्यां पृष्टयान्यान् विद्यात् स्त्रीपुंनपुं-
सकान्।
दूतः स्पृशति यद्गात्रं तस्मिन् दंशमुदाहरेत्॥
दूताङ्घ्रिचलनं दुष्टं सुखिभिर्निश्चला शुभा।
जीवपार्श्वे शुभो दूतो दुष्टोऽन्यत्र समागतः॥
जीवो गतागते दुष्टः शुभो दूतनिवेदने।
दूतस्य वाक् प्रदुष्टा सा पूर्व्वामजार्द्धनिन्दिता॥
विभक्तैस्तस्य वाक्यान्तैर्व्विषनिर्व्विषकालता।
आद्यैः स्वरैश्च काद्यैश्च वर्णैर्भिन्नलिपिर्द्विधा॥
स्वरजोवसुमान् वर्गो इति ज्ञेयाश्च मातृकाः।
वाताग्नीन्द्रजलात्मानो वर्गेषु च चतुष्टयम्॥
नपुंसकाः पञ्चमाः स्युः स्वराः शक्राम्बुयोनयः।
दुष्टौ दूतस्य वाक्पादौ वाताग्नी मध्यमो हरिः॥
प्रशस्ता वारुणा वर्णा अतिदुष्टा नपुंसकाः।
प्रस्थाने मङ्गलं वाक्यं गर्ज्जितं मेघहस्तिनोः॥
प्रदक्षिणं फले वृक्षे चासस्य च रुतं जितम्।
शुभा गीतादिशब्दाः स्युरीदृशं स्यादसिद्धये॥
अनर्थगीताद्याक्रन्दो दक्षिणे विरुतं क्षुतम्।
वेश्या विप्रो नृपः कन्या गौर्दन्ती मुरजध्वजौ॥
क्षीराज्यदधिशङ्खाम्बुच्छत्रं भेरी फलं सुराः।
तण्डुला हेमरूप्यञ्च सिद्धयेऽभिमुखा अमी॥
सकाष्ठः सानलः कारुर्म्मलिनाम्बरभारभृत्।
गलस्थटङ्को गोमायुगृध्रोलूककपर्द्दिकाः॥
तैलं कपालकार्पासा निषेधो भस्मनष्टये।

विषवेगाश्च सप्त स्युर्धातोर्धात्वन्तराश्रित: ॥
विषदंष्ट्रो ललाटं यात्यतो नेत्रं ततो मुखम् ।
आस्याच्चरणनाभी द्वौ धातून् प्राप्नोति हि
क्रमात् ॥”

इत्याग्नेये २९४ अध्याये लक्षणानि ॥ * ॥

अग्निरुवाच ।
“मन्त्रध्यानौषधैर्दष्टचिकित्सां प्रवदामि ते ।
ॐ नमो भगवते नीलकण्ठायेति ॥
जपनाद्विषहानि: स्यादौषधं जीवरक्षणम् ।
साज्यं सक्षौद्रसं पेयं द्विविधं विषमुच्यते ॥
जङ्गमं सर्पमूषादि शृङ्गादि स्थावरं विषम् ।
शान्तस्वरान्वितो ब्रह्मा लोहितं तारक: शिव:॥
विषते नाम मन्त्रोऽयं तार्क्ष्य: शब्दमय: स्तुत: ।
ज्वल महामते हृदयाय । गरुड़विलासशिरसे ।
गरुड़शिखायै । गरुड़विषभञ्जन २ प्रभेदन २
वित्रासय २ विमर्द्दय २ कवचाय । अप्रति-
हतशासनं वँ हूँ फट् अस्त्राय । उग्ररूप-
धारक सर्व्वभयङ्कर भीषय २ सर्व्वं दह २
भस्मीकुरु कुरु स्वाहा नेत्राय ।
सप्तवर्णान्तयुग्माष्टदिग्दलस्वरकेशरात् ।
वर्णरतं बहिस्त्वाभूत् कर्णिकं मातृकाम्बुजम् ।
कृत्वा हृदिस्थं तन्मन्त्री वामहस्ततले स्मरेत् ॥
अङ्गुष्ठादौ न्यसेद्वर्णान् विषभेदोदिता: कला: ।
पात्रं वज्रचतुष्कोणं पार्थिवं शक्रदैवतम् ॥
वृत्तार्द्धमाप्यं पद्मार्द्धं शुक्लं वरुणदैवतम् ।
त्र्यस्रं स्वस्तिकयुक्तञ्च भैषजं वह्निदैवतम् ॥
वृत्तबिन्दुवृतं वायुदैवतं कृष्णमानिलम् ।
अङ्गुष्ठाद्यङ्गुलीमध्ये पर्व्वास्तेषु स्ववेश्मसु ॥
सवर्णनागवाहनवेष्टितेषु न्यसेत् क्रमात् ।
विषते चतुरो वर्णान् स्वमण्डलसमत्विष: ।
अरूपे वरतन्मात्रे आकाशे शिवदैवते ॥
कनिष्ठामध्यपर्व्वान्ते न्यसेत्तस्यादमक्षरम् ।
नागानामादिवर्णांश्च स्वमण्डलगतान्न्यसेत् ॥
भूतादिवर्णान् विन्यस्य अङ्गुष्ठाद्यन्तपर्व्वसु ।
तन्मात्रादिगुणाद्यर्णानङ्गुलीषु न्यसेद्बुध: ॥
स्पर्शनादेव तार्क्ष्येण हन्ति हन्याद्विषद्वयम् ।
मण्डलादिषु तान् वर्णान् विषते करयोर्जितान् ॥
श्रेष्ठाद्यङ्गुलिभिर्द्दन्ताभिस्थानेषु पर्व्वसु ।
सजोमत: सवर्णभमानाभे स्तुहिनप्रभम् ॥
कुङ्कुमारुणमाकण्ठाद्दाकेशान्तात् सितेतरम् ।
ब्रह्माण्डव्यापिनं तार्क्ष्यं चन्द्राख्यं नागभूषणम् ॥
नीलाग्ननासमात्मानं महापक्षं स्मरेद्बुध: ।
एवं तार्क्ष्यात्मनो वाक्यान्मन्त्र: स्यान्मन्त्रिणो विषे॥
स्वस्ति तार्क्ष्यकरस्यान्त:स्थिताङ्गुष्ठविषापहा ।
तार्क्ष्यं हस्तं समुद्यम्य तत्पञ्चाङ्गुलिचालनात् ॥
कुर्य्याद्विषस्य स्तम्भादीन्तदुत्तमदवीषया ।
आकाशादिशभूबीज: पञ्चाङ्गाधिपतिर्म्मनु: ॥
संस्तम्भयेति बीषातो भाषया स्तम्भयेद्विषम् ।
व्यत्यस्तभूषया बीजो मन्त्रोऽयं साधुसाधित: ॥
संप्लव: प्लावयप्लस: प्लव्हादय: संहरेद्विषम् ।
दष्टमुत्थापयेद्वेषं स्वजप्राम्भोऽभिषेकत: ॥
स्वजप्तशङ्खभेर्य्यादिनिस्वनश्रवणेन वा ।
संहृत्यैव संयुक्तो भूतेजोऽथव्ययात् स्थित: ॥
भूवाय्वव्ययान्मन्त्री विषं संक्रामयत्यसौ ।
अन्तस्थो निजवेशस्थो बीजाम्नीन्दुजलाम्बुभि: ॥
एतत् कर्म्म नयेन्मन्त्री गरुड़ाकृतिविग्रह: ।
तार्क्ष्यवारणगेहस्थस्तर्जनाशाययेद्विषम् ॥
जानुदघ्नीन्दुमुदितं स्वधाश्रीबीजलाञ्छितम् ।
स्नानपानात् सर्व्वविषजरारोगापमृत्युजित् ॥
पक्षि पक्षि महापक्षि महापक्षि विवि स्वाहा ।
पक्षि पक्षि महापक्षि महापक्षि क्षीक्षी स्वाहा॥
द्वावेतौ पक्षिराड़मन्त्रौ विषघ्नावभिमन्त्रणात् ।
पक्षिराजाय विद्महे पक्षिदेवाय धीमहि तन्नो
गरुड़: प्रचोदयात् ॥
वह्निस्थौ पार्श्वतत्पूर्व्वौ दन्तश्रीकौ च दन्तिनौ ।
सकलौ लाङ्गलौ चेति नीलकण्ठाद्यमीरित: ॥
वक्ष:कण्ठशिखान्वितं न्यसेत् स्तम्भे सुसंस्कृतौ ।
हर हर हृदयाय नम: कपर्द्दिने च शिरसे नील-
कण्ठाय वै शिखाम् ॥
कालकूटविषभक्षणाय स्वाहायर्व्व वर्म्म च ।
कण्ठनेत्रं कृत्तिवासं नेत्रै: प्रत्येकशक्तिभि: ।
पूर्व्वाद्यैराननैर्युक्तं श्वेतपीतारुणासितै: ॥
अभयं वरदञ्चापं वासुकिञ्च दशभुजः ।
यज्ञोपवीतपार्श्वेषु गौरी रुद्रोऽस्य देवता ॥
पादजानुगुह्यनाभिहृत्कण्ठाननमूर्द्धसु ।
मन्त्रार्णान्न्यस्य करयोरङ्गुष्ठाद्यङ्गुलीषु च ॥
तर्ज्जन्यादितदन्तासु सर्व्वमङ्गुष्ठयोर्न्यसेत् ।
ध्यात्वैवं संहरेत् क्षिप्रं बद्धया मूलमुद्रया ॥
कनिष्ठा ज्येष्ठया बद्धा तिस्रोऽन्या: प्रसृतिर्भव: ।
विषनाशी वामहस्तमन्यस्मिन् दक्षिणं करम् ॥
नमो भगवते नीलकण्ठाय चि: । अमलकण्ठाय
चि: सर्व्वज्ञकण्ठाय चि: क्षिप ओम् स्वाहा ॥
नमो नीलकण्ठाय नैकसर्व्वविषापहाय । नमस्ते
रुद्रमन्यव इति सम्मार्ज्जनाद्विषं विनश्यति ॥
न सन्देह: कर्णजाप्या उपनेत्रा विधानत: ।
यजेद्रुद्रविधानेन नीलग्रीवं महेश्वरम् ।
विषव्याधिविनाश: स्यात् कृत्वा रुद्र विधानत:॥”
इत्याग्नेये महापुराणे दष्टचिकित्सा नाम २९५
अध्याय: ॥ * ॥ * ॥ यात्राकाले तस्य शुभा-
शुभसूचकत्वं यथा,—

“गोनासदर्व्वीकरराजिलाद्या
जात्यैव सर्व्वे भयदा भुजङ्गा: ।
विलोक्य सर्पं यदि निर्व्विकल्पा
निवृत्तविप्रस्य शुभं विचिन्त्यम् ॥
पाषाणसंस्तम्भितकण्टकेषु
दत्वा पदं यान्ति विनष्टविघ्ना: ।
सर्पेच्छया पन्नगनामधेय:
प्रयाणकाले स तु वामभागे ।
दृष्ट: शुभै: सिद्धिकदुन्नताग्र-
स्तिष्ठेत् पथोर्द्ध्वं यदि राज्यलाभ: ॥”

इति सर्प: । इति वसन्तराजशाकुने १५ वर्ग: ॥

सर्पकङ्कालिका, स्त्री, (सर्पकङ्काली एव । स्वार्थे कन् ।) वृक्षविशेष: । तत्पर्य्याय: । तीक्ष्णा २ विषदंष्ट्रा ३ विषापहा ४ । इति रत्नमाला ॥ सहा ५ सर्पकङ्काली ६ विषनाशिनी ७ । इति शब्दचन्द्रिका ॥

सर्पकङ्काली, स्त्री, (सर्पस्य कङ्कालमिवाङ्गं यस्या: । ङीष् ।) सर्पकङ्कालिका । इति शब्दचन्द्रिका ॥

सर्पगन्धा, स्त्री, (सर्पं गन्धयति हिनस्तीति । गन्ध हिंसने + अण् । टाप् ।) वृक्षविशेष: । यथा,
“कुम्भाकी सर्पगन्धा च रसना च पलङ्कषा ॥”
इति जटाधर: ॥

सर्पघातिनी, स्त्री, (सर्पं हन्तीति । हन + णिनि: । ङीष् ।) सर्पकङ्कालीभेद: । यथा,—
“सर्पसहा सर्पनामा सर्पाङ्गी सर्पघातिनी ॥”
इति रत्नमाला ॥

सर्पतृण:, पुं, (सर्पस्तृणमिव च्छेद्यो यस्य ।) नकुल: । इति हेमचन्द्र: ॥

सर्पदंष्ट्र:, पुं, (सर्पस्य दंष्ट्रेव पुष्पमस्य ।) दन्तीवृक्ष: । इति शब्दचन्द्रिका ॥

सर्पदंष्ट्रा, स्त्री, (सर्पस्य दंष्ट्रेव ।) वृश्चिकाली । इति रत्नमाला ॥

सर्पदंष्ट्रिका, स्त्री, (सर्पदंष्ट्रा + स्वार्थे कन् । टापि अत इत्वम् ।) अजशृङ्गी । इति राजनिर्घण्ट: ॥

सर्पदण्डा, स्त्री, (सर्पं दण्डयतीति । दण्ड + अण् । टाप् ।) सैंहली । इति राजनिर्घण्ट: ॥

सर्पदण्डी, स्त्री, (सर्पं दण्डयतीति । दण्ड + अण् । ङीष् ।) गोरक्षी । इति राजनिर्घण्ट: ॥

सर्पदन्ती, स्त्री, (सर्पस्य दन्त इव पुष्पमस्या: । गौरादित्वात् ङीष् ।) नागदन्ती । इति राजनिर्घण्ट: ॥

सर्पदमनी, स्त्री, (सर्पस्य दमनमस्या: । ङीष् ।) वन्ध्याकर्क्कोटकी । इति राजनिर्घण्ट: ॥

सर्पनामा, स्त्री, (सर्पस्य नाम नाम यस्या: ।) सर्पकङ्कालीभेद: । इति रत्नमाला ॥

सर्पपुष्पी, स्त्री, (सर्पस्य दन्त इव पुष्पमस्या: । ङीष् ।) नागदन्ती । इति राजनिर्घण्ट: ॥

सर्पफणज:, पुं, (सर्पस्य फणात् जायते इति । जन + ड: ।) सर्पफणजातमणि: । इति शब्दरत्नावली ॥

सर्पभुक्, [ज] पुं, (सर्पं भुङ्क्ते इति । भुज + क्विप् ।) मयूर: । इति हेमचन्द्र: ॥ सर्पभक्षके, त्रि ॥

सर्पमाला, स्त्री, (सर्पस्य मालेव ।) सर्पकङ्कालीभेद: । इति काचित् रत्नमाला ॥ सर्पनामा इति साधुपाठ: ॥

सर्पराज: पुं, (सर्पाणां राजा । समासे टच् ।) वासुकि: । इत्यमर: । १ । ८ । ४ ॥ (सर्पश्रेष्ठे, त्रि । यथा, हरिवंशे ६८ । १५ ।
“एष मोर्ह्गत: कृष्णो मग्नो वै कालिये ह्रदे ।
भक्ष्यते सर्पराजेन तदागच्छत मारिषम् ॥”)

सर्पलता, स्त्री, (सर्प इव लता ।) नागवल्ली । इति राजनिर्घण्ट: ॥

सर्पसत्रं, क्ली, (सर्पनाशकं सत्रम् ।) सर्पनाशकयज्ञविशेष: । यथा, श्रीभागवते ।१२।६।१६-२८।
“जनमेजय: स्वपितरं श्रुत्वा तक्षकभक्षितम् ।
यथा जुहाव संक्रुद्ध: सर्पान् सत्रे सह द्विजै: ॥

सर्पसत्रे समिद्धाग्नौ दह्यमानान् महोरगान् ।
दृष्ट्वेन्द्रं भयसंविग्नस्तक्षकः शरणं ययौ ॥
अपश्यंस्तक्षकं तत्र राजा पारीक्षितो द्विजान् ।
उवाच तक्षकः कस्मान्न दह्यतेोरगाधमः ॥
तं गोपायति राजेन्द्र शक्रः शरणमागतम् ।
तेन संस्तम्भितः सर्पस्तस्मान्नाग्नौ पतत्यसौ ॥
पारीक्षित इति श्रुत्वा प्राहर्त्विज उदारधीः ।
सहेन्द्रस्तक्षको विप्रा नाग्नौ किमिति पात्यते ॥
तच्छ्रुत्वा जुहुवुर्विप्राः सहेन्द्रं तक्षकं मखे ।
तक्षकाशु पतस्वेह सहेन्द्रेण मरुत्वता ॥
इति शब्दोदितास्त्रेपैः स्थानादिन्द्रः प्रचालितः ।
बभूव संभ्रान्तमतिः सविमानः सतक्षकः ॥
तं पतन्तं विमानेन सह तक्षकमम्बरात् ।
विलोक्याङ्गिरसः प्राह राजानं तं बृहस्पतिः ॥
नैष त्वया मनुष्येन्द्र वधमर्हति सर्पराट् ।
अनेन पीतमम्टतमथवा अजरामरः ॥
जीवितं मरणं जन्तोर्गतिः स्वेनैव कर्म्मणा ।
राजंस्ततोऽन्यो नास्त्यस्य प्रदाता सुखदुःखयोः ।
सर्पचौराग्निवज्राम्बुक्षुत्तृड्व्याध्यादिभिर्नृप ।
पञ्चत्वमिच्छति जन्तुर्भुङ्क्त आरब्धकर्म्म तत् ॥
तस्मात् सत्रमिदं राजन् संस्थीयेताभिचारिकम् ॥
सर्पा अनागसो दग्धा जनैर्दुःखं हि भुज्यते ॥
इत्युक्तः स तथेत्याह महर्षेर्मानयन् वचः ।
सर्पसत्रादुपरतः पूजयामास वाक्पतिम् ॥”
(जरत्कारुपुत्रस्यास्तीकस्य वचनादेव जनमेजयः सर्पसत्रात् विररामेति पुराणान्तरमतम् ॥)

सर्पसत्री, [न्] पुं, (सर्पसत्रमस्यास्तीति । इनिः ।) जनमेजयराजः । इति शब्दरत्नावली ॥

सर्पसहा, स्त्री, (सर्पं सहते इति । सह+अच् ।) सर्पकङ्कालीभेदः । इति रत्नमाला ॥

सर्पहा, [न्] पुं, (सर्पं हन्तीति । हन्+क्विप् ।) नकुलः । इति हेमचन्द्रः ॥

सर्पाक्षं, क्ली, (सर्पस्य अक्षीव अङ्गं यस्य । षच् ।) रुद्राक्षम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

सर्पाक्षी, स्त्री, (सर्पस्य अक्षीव पुष्पं यस्याः । षच् । ङीप् ।) गन्धनाकुली । इति राजनिर्घण्टः ॥ वृक्षविशेषः । महचरी इति गन्धिनी इति च हिन्दी भाषा । तत्पर्य्यायः । गण्डाली२ नाडीकलापकः ३ । अस्य गुणाः । कटुत्वम् । तिक्तत्वम् । उष्णत्वम् । कृमिनाशित्वम् । वृश्चिकोन्दुरुसर्पाणां विषनाशित्वम् । व्रणरोपणत्वञ्च । इति भावप्रकाशः ॥

सर्पाख्यः, पुं, (सर्पस्य आख्या आख्या यस्य ।) महिषकन्दभेदः । इति राजनिर्घण्टः । नागकेशरः । इति रत्नमाला ॥ सर्पनामके, त्रि ॥

सर्पाङ्गी, स्त्री, (सर्पस्येव अङ्गं यस्याः । ङीष् ।) सर्पकङ्कालीभेदः । इति रत्नमाला ॥ सेंहली । इति राजनिर्घण्टः ॥

सर्पादनी, स्त्री, (सर्पस्य तद्विषस्य अदनं भक्षणं यस्याः । ङीप् ।) नाकुली । इति राजनिर्घण्टः ॥

सर्पारातिः, पुं, (सर्पस्य अरातिः ।) गरुडः । इति हेमचन्द्रः ॥

सर्पारिः, पुं, (सर्पस्य अरिः ।) नकुलः । इति राजनिर्घण्टः ॥ गरुडश्च ॥ (यथा, हरिवंशे । ६८ । ३७ ।
“तं दृष्ट्वा पन्नगश्रेष्ठं सर्पं सर्पारिकेतनः ।
अक्रुद्ध एव भगवान् प्रत्युवाचोरगेश्वरम् ॥”)

सर्पावासं, क्ली, (सर्पस्य आवासो यत्र ।) चन्दनम् । इति राजनिर्घण्टः ॥ सर्पस्थाने, पुं ॥ (यथा, हरिवंशे । ६८ । २५ ।
“यशोदामनुगच्छन्त्यः सर्पावासमिमं ह्रदम् ।
प्रविशामो न यास्यामो विना दामोदरं व्रजम् ॥”)

सर्पाशनः, पुं, (सर्पमश्नातीति । अश+ल्युः ।) मयूरः । इति हलायुधः ॥ गरुडश्च ॥

सर्पिः, [स्] क्ली, (सर्पतीति । सृप गतौ+“अर्च्चिशुचिहुसृपीति ।” उणा० २ । १०६ । इति इसिः ।) घृतम् । इत्यमरः । २ । ९ । ५२ ॥ (यथा, मनुः । ३ । २७४ ।
“अपि नः स कुले जायात् यो नो दद्यात् त्रयोदशीम् ।
पायसं मधुसर्पिर्भ्यां प्राक्छाये कुञ्जरस्य च ॥”
उदकम् । इति निघण्टुः । १ । १२ ॥)

सर्पिणी, स्त्री, (सर्पतीति । सृप्+णिनिः । ङीप् ।) सर्पभार्य्या । साषिनी इति भाषा ॥ यथा, शब्दरत्नावल्याम् ।
“आशीराशी सर्पदंष्ट्रा ततश्ची सर्पी च सर्पिणी ॥”
क्षुद्रक्षुपभेदः । तत्पर्य्यायः । भुजगी २ भोगी ३ कुण्डली ४ पन्नगी ५ फणी ६ । तस्या गुणौ । विषघ्नत्वम् । शुक्रवर्द्धनत्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥

सर्पी, स्त्री, (सर्प+जातौ ङीष् ।) सर्पिणी । इति शब्दरत्नावली ॥

सर्पी, [न्] त्रि, गमनकर्त्ता । सृपधातोर्णिन्प्रत्ययेन निष्पन्नः ॥ (यथा, किराते ।५।३५।
“स एष कैलास उपान्तसर्पिणः
करोत्यकालेऽस्तमयं विवस्वतः ॥”)

सर्पेष्टं, क्ली, (सर्पीणां सर्पभार्य्याणामिष्टम् ।) श्रीखण्डचन्दनम् । इति रत्नमाला ॥

सर्पेष्टं, क्ली, (सर्पाणामिष्टम् ।) श्रीखण्डचन्दनम् । इति जटाधरः ॥

सर्व्व, सर्पणे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट् ।) दन्त्यादिः । ओष्ठ्यवर्गशेषोपधः । सर्व्वति सिसर्व्वयिषति । इति दुर्गादासः ॥

सर्व्वः, पुं, (सर्व्वस्मिन् सर्व्वतीति । सर्व्व गतौ+पचाद्यच् । यद्वा, सृ गतौ+“सर्व्वनिघृष्व इति ।” उणा० १ । १५३ । इति वन्प्रत्ययेन साधुः ।) शिवः । इत्यमरः ।१।१।३२ ॥ क्षितिमूर्त्तिरयम् । यथा, विसर्ज्जनात् पूर्व्वं भविष्यपुराणोक्तं स्वभावसिद्धप्राच्यैशान्यादिदिक्षु वामावर्त्तेन पूजनम् । यथा, सर्व्वाय क्षितिमूर्त्तये नम इत्यादि तिथ्यादितत्त्वम् ॥ विष्णुः । यथा,—
“असतश्च सतश्चैव सर्व्वस्य प्रभवाप्ययौ ।
सर्व्वस्य सर्व्वदा ज्ञानात् सर्व्वमेतं प्रचक्षते ॥”
इति विष्णुपुराणम् ॥
विष्णुसहस्रनामस्तोत्रेऽप्येवमेव ॥

सर्व्वः, त्रि, (सृ+वन् ।) सम्पूर्णः । इत्यमरः । ३ । १ । ६४ ॥ अस्य पर्य्यायः सकलशब्दे द्रष्टव्यः । प्रयोगो यथा,—
“सर्व्वरत्नमयो मेरुः सर्व्वाश्चर्य्यमयं नभः ।
सर्व्वतीर्थमयी गङ्गा सर्व्वदेवमयो हरिः ॥”
इति वह्निपुराणे देवाम्बरीषसंवादे २ अध्यायः ॥

सर्व्वसहा, स्त्री, (सर्व्वं सहते इति । सह+“पूःसर्व्वयोर्दारिसहोः ।” ३ । २ । ४१ । इति खच् । अरुर्द्विषदिति मुम् ।) पृथिवी । इत्यमरः ।२।१।३॥ (यथा, आर्य्यासप्तशत्याम् । १३९ ।
“ऊढासुनातिवाहय पृष्ठे तथापि कालमचलापि ।
सर्व्वंसहे कठोरत्वचः किमङ्केन कमठस्य ॥”
राज्ञि, पुं । इति काशिका ॥ सर्व्वक्लेशादिसहे, त्रि । यथा, साहित्यदर्पणे । २ । २० ।
“कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्व्वंसहो
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि ! धीरा भव ।”)

सर्व्वकः, त्रि, सकलः । सर्व्वशब्दस्य टेः पूर्व्वमकि तस्मात् स्वार्थे के च निष्पन्नः । इति मुग्धबोधव्याकरणम् ॥

सर्व्वकर्त्ता, [ऋ] पुं, (सर्व्वेषां कर्त्ता ।) ब्रह्मा । इति शब्दरत्नावली ॥

सर्व्वकर्म्मीणः, त्रि, (सर्व्वकर्म्माणि व्याप्नोतीति । सर्व्वकर्म्म+“तत्सर्व्वादेः पथ्यङ्गकर्म्मपत्रपात्रं व्याप्नोति ।” ५ । २ । ७ । इति खः ।) सकलकर्म्मकर्त्ता । यथा, भट्टौ ५ सर्गे ।
“संग्रामे सर्व्वकर्म्मीणौ बाहू यस्योपजानुकौ ॥”

सर्व्वके, अ, सर्व्वत्र । सर्व्वशब्दात् अकच्प्रत्ययेन निष्पन्नः । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥

सर्व्वकेशी [न्] पुं, (सर्व्वकेशोऽस्यास्तीति । सर्व्वकेश+“सर्व्वादेश्चेति वक्तव्यम् ।” ५ । २ । १३५ । इत्यस्य वार्त्तिकोक्त्या इनिः ।) नटः । इति शब्दरत्नावली ॥

सर्व्वक्षारः, पुं, (सर्व्वेषां क्षारः ।) क्षारभेदः । सावान् इति भाषा । इति केचित् ॥ तत्पर्य्यायः । बहुक्षारः २ समूहक्षारकः ३ रोमक्षारः ४ महाक्षारः ५ मलारिः ६ क्षारमेलकः ७ । अस्य गुणाः । अतिक्षारत्वम् । चक्षुष्यत्वम् । वस्तिशोधनत्वम् । उदावर्त्तकृमिनाशित्वम् । मलवस्त्रविशोधनत्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥

सर्व्वगं, क्ली, (सर्व्वं गच्छतीति । गम+“अन्तात्यन्ताध्वेति ।” ३।२।४८ । इति डः ।) जलम् । इति मेदिनी ॥

सर्व्वगः, पुं, (सर्व्वं गच्छतीति । गम+डः ।) शिवः । (यथा, महाभारते । १३।१७।१०४ ।
“प्रभावः सर्व्वगो वायुरर्य्यमा सविता रविः ॥”) ब्रह्मा । इति मेदिनी ॥ आत्मा । इति शब्द-

माता ॥ (भीमस्य पुत्त्रः । यथा, महाभारते । १ । ९५ । ७७ ।
"भीमोऽपि काश्यां बलधरां नामोपयेमे वीर्य्य-शुल्कां तस्यां सर्व्वगं नामोत्पादयामास ॥")

सर्व्वगामिनि, त्रि ॥ (यथा, याज्ञवल्क्ये । ३ । १३० ।
"करणैरन्वितस्यापि पूर्व्वज्ञानं कथञ्चन ।
वेत्ति सर्व्वगतां कस्मात् सर्व्वगोऽपि न वेद-नाम् ॥")

सर्व्वगन्धं, क्ली, (सर्व्वे गन्धा यत्रेति ।) चतुर्जातकादि । यथा, शब्दचन्द्रिकायाम् ।
"चतुर्जातककक्कोललवङ्गागुरुसिह्लकम् ।
सर्व्वगन्धमिदं चान्यं सुरिभिः परिकीर्त्तितम् ॥"
अन्यच्च भावप्रकाशे ।
"चातुर्जातककर्पूरकक्कोलागुरुकुङ्कुमम् ।
लवङ्गसहितञ्चैव सर्व्वगन्धं विनिर्द्दिशेत् ॥"
(पुंलिङ्गेऽपि दृश्यते । यथा, बृहत्संहितायाम् । ४८ । ४२ ॥
"रत्नानि सर्व्वगन्धांश्च विल्वञ्च सवितङ्कतम् ।
प्रशस्तनाम्नश्चौषध्यो हिरण्यं मङ्गलानि च ॥"

सर्व्वगन्धविशिष्टे, त्रि । यथा, छान्दोग्योपनिषदि । ३ । १४ । २ ।
"आकाशात्मा सर्व्वकर्म्मा सर्व्वकामः सर्व्वगन्धः सर्व्वरसः सर्व्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः ॥")

सर्व्वगा, स्त्री, (सर्व्वं गच्छतीति । गम + डः । टाप् ।) प्रियङ्गुवृक्षः । इति शब्दचन्द्रिका ॥

सर्व्वग्रन्थिः, पुं, (सर्व्वस्मिन् ग्रन्थिरिव यत्र ।) पिप्पलीमूलम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

सर्व्वग्रन्थिकं, क्ली, (सर्व्वत्र ग्रन्थिरिवात्र । कन् ।) पिप्पलीमूलम् । इति हेमचन्द्रः ॥

सर्व्वचर्म्मीणः, त्रि, (सर्व्वचर्म्मणा कृतः । सर्व्व-चर्म्मन् + "सर्व्वचर्म्मणः कृतः खखञौ ।" ५ । २ । ५ । इति खः ।) सकलचर्म्मनिर्म्मितः । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥

सर्व्वजनीनः, त्रि, (सर्व्वजनाय हितः । सर्व्वजन + "सर्व्वजनात् ठञ् खश्च ।" ५ । १ । ९ । इत्यस्य वार्त्तिकोक्त्या खः ।) सर्व्वजनसम्बन्धी । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥

सर्व्वजया, स्त्री, (सर्व्वेषां जयो यस्याः ।) स्त्रीकर्त्तृकमार्गशीर्षादिद्वादशमासनिष्पाद्यव्रतविशेषः । यथा । अथ सर्व्वजयाव्रतम् । सामान्योक्तं कृत्वा अद्य मार्गशीर्षे मासि अमुकपक्षे अमुकतिथौ विष्णुपदीसंक्रान्त्यामारभ्य वर्षपर्य्यन्तं अमुकगोत्रा श्रीअमुकी द्वादशमासशाकादित्यागफलप्राप्तिपूर्व्वकपुत्त्रपौत्त्राद्यैश्वर्य्यप्राप्त्यनन्तरस्वर्गकामा मनोरथकामा वा गणेशादिहरगौरीपूजात्मकसर्व्वजयाव्रतमहं करिष्ये । ततः सामान्योक्तं नवग्रहपूजान्तं कृत्वा अङ्गन्यासं प्रणवेन कृत्वा गौरीसहितहरं ध्यायेत् ।
"श्वेतवर्णं वृषारूढं व्यालयज्ञोपवीतिनम् ।
विभूतिभूषिताङ्गञ्च व्याघ्रचर्म्मधरं शुभम् ॥
पञ्चवक्त्रं दशभुजं जटिलं चन्द्रचूड़कम् ।
त्रिनेत्रं पार्व्वतीयुक्तं प्रमथैश्च समन्वितम् ।
प्रसन्नवदनं देवं वरदं भक्तवत्सलम् ॥"
इति ध्यात्वा ॐ नमः शिवाय ह्रीँ दुर्गायै नमः । इति मन्त्रेणार्घ्यं कृत्वा पुनर्ध्यात्वा ॐ गौरीसहितहराय नमः । इत्यासनादिना पूजयेत् । ततः पञ्चपुष्पाञ्जलिदानं कृत्वा प्रणमेत् ।
"नमस्ते पार्व्वतीनाथ ! नमस्ते शशिशेखर ! ।
नमस्ते पार्व्वतीदेव्यै चण्डिकायै नमो नमः ॥"*॥
अथ कथा ।

लक्ष्मीरुवाच ।

"भगवन्तं सुखासीनं लक्ष्मीः पृच्छति केशवम् ।
केन व्रतेन देवेश स्त्रीणां सर्व्वमनोरथम् ॥
सौभाग्यमतुलञ्चापि पुत्त्रपौत्त्रविवर्द्धनम् ।
नानासुखसमायुक्तं लभ्यते वैष्णवं पदम् ॥
तद्व्रतं ब्रूहि मे देव ! क्रियते च यथा प्रभो ॥

श्रीभगवानुवाच ।

अस्ति सर्व्वजया नाम व्रतानां व्रतमुत्तमम् ।
तस्यानुष्ठानमात्रेण स्त्रीणां सर्व्वमनोरथम् ॥
लोकचर्य्यहिते युक्ता सिध्यतीह न संशयः ।
कुरु त्वं तद्व्रतं देवि ! प्रचारय महीतले ॥

लक्ष्मीरुवाच ।

प्रसन्नो यदि देवेश विधानं मयि कथ्यताम् ।
सुखेन येन देवेश ! क्रियते व्रतमुत्तमम् ॥

श्रीभगवानुवाच ।

सर्व्वजयाव्रतं वक्ष्ये शृणुष्व पद्मे सुशोभनम् ।
नैव दृष्टं व्रतं देवि यथा सर्व्वजयाव्रतम् ॥
पुरुषाणां मयाख्यातं स्त्रीणां सर्व्वजयाव्रतम् ।
पितृद्धारणकं नाम मनोरथप्रदायकम् ॥
व्रतराजमिदं भद्रे नारीणां सुखदायकम् ॥
मार्गशीर्षे त्यजेत् शाकं पौण्डरीकं फलं लभेत् ॥
पौषे तु लवणं त्यक्त्वा गोसहस्रफलं स्मृतम् ।
माघे तैलं परित्यज्य श्रियं प्राप्नोति मानवी ॥
फाल्गुने च त्यजेत् पूगं भवेत् पतिव्रता सती ।
चैत्रे पुष्पं परित्यज्य सा याति परमां गतिम् ॥
भक्तं त्यक्त्वाथ वैशाखे याति चन्द्रपुरीं शुभाम् ।
ज्यैष्ठे धाराजलं त्यक्त्वा वारुणं लोकमाप्नुयात् ।
आषाढ़े च दधि त्यक्त्वा वारुणं लोकमाप्नुयात् ॥
श्रावणे वसनं त्यक्त्वा प्रजापतिपुरं व्रजेत् ।
भाद्रे तु व्यजनं त्यक्त्वा नारायणपुरं व्रजेत् ॥
आश्विने च घृतं त्यक्त्वा लावण्यमुत्तमं लभेत् ।
शय्याञ्च कार्त्तिके त्यक्त्वा प्रयाति परमां गतिम् ॥
मासान्ते चोपभुञ्जीत सर्व्वं दत्त्वा द्विजातये ।
शय्या देया व्रते पूर्णे दानानि विविधानि च ।
गौर्य्या हरञ्च संपूज्य शाकं भुञ्जीत पायसम् ॥
एवं या कुरुते नारी वर्षं यावत् समाप्यते ।
स्वर्गे वसति सा नित्यं पुत्त्रपौत्त्रप्रतिष्ठिता ॥
तत् कुरुष्व प्रयत्नेन येन सर्व्वजया भव ॥
शचीव देवराजस्य रतीव मदनस्य च ।
तत्सदृशी भवेत् भद्रे व्रतस्यास्य प्रसादतः ॥"
इति स्कन्दपुराणोक्ता सर्व्वजयाव्रतकथा समाप्ता ॥ ततः स्तुत्वा प्रणम्य विसर्जयेत् । वर्षान्ते प्रतिष्ठा कर्त्तव्या । द्रव्यदानेऽमुकमासामुकद्रव्यत्यागजन्यासुकफलप्राप्तिकामा शिवदुर्गाप्रीतिकामा वा ब्राह्मणायाहं ददे इति वदेत् । इति कृत्यचन्द्रिका ॥

सर्व्वजित्, पुं, (सर्व्वान् जयतीति । जि + क्विप् ।) कालचक्रस्य एकविंशवर्षः । इति केचित् ॥ (त्वाष्ट्रे युगे आद्यवत्सरः । यथा, बृहत्संहितायाम् । ८ । ३७ ।
"त्वाष्ट्रे युगे सर्व्वजिदाद्य उक्तः
संवत्सरोऽन्यः खलु सर्व्वधारी ॥")
सकलजयकर्त्तरि, त्रि ॥

सर्व्वज्ञः, पुं, (सर्व्वं जानातीति । ज्ञा + कः ।) शिवः । (यथा, महाभारते ।१३।१७।३९।
"सुवर्णरेताः सर्व्वज्ञः सुवीजो वीजवाहनः ॥")
बुद्धः । इत्यमरः ।१।१।३५। ; १।१।१३॥ (विष्णुः । यथा, महाभारते । १३ । १४९ । ६१ ।
"सर्व्वदर्शी विमुक्तात्मा सर्व्वज्ञो ज्ञानमुत्तमम् ॥")
सकलज्ञातरि, त्रि ॥ (यथा, रघुः । १० । २० ।
"सर्व्वज्ञस्त्वमविज्ञातः सर्व्वयोनिस्त्वमात्मभूः ॥")

सर्व्वज्ञा, स्त्री, (सर्व्वं जानातीति । ज्ञा + कः । टाप् ।) दुर्गा । यथा, देवीपुराणे ४५ अध्याये ।
"उत्पत्तिस्थितिनाशेषु रजादित्रिगुणा मता ।
सर्व्वज्ञा सर्व्ववेत्तृत्वाच्छान्तित्वाच्छान्तिरुच्यते ॥"

सर्व्वतः, [?] व्य, चतुर्द्दिगभिव्याप्तिः । तत्पर्य्यायः । समन्ततः २ परितः ३ विष्वक् ४ । इत्यमरः । ३ । ४ । १३ ॥ (यथा, मुण्डकोपनिषदि । ३।२।५ ।
"ते सर्व्वगं सर्व्वतः प्राप्य धीरा
युक्तात्मानः सर्व्वमेवाविशन्ति ॥"*॥
सर्व्व + तसिल् । सर्व्वः । यथा, मनुः । १ । ५ ।
"अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्व्वतः ॥"
"प्रसुप्तमिव सर्व्वतः प्रथमार्थे तसिः । स्वकार्य्याक्षममित्यर्थः ।" इति तट्टीकायां कुल्लूकः ॥ पञ्चम्यास्तसिल् । सर्व्वस्मात् । सर्व्वेभ्यः । यथा, मनुः । ४ । २४७ ।
"सर्व्वतः प्रतिगृह्णीयान्मध्वथाभयदक्षिणाम् ॥"
सप्तम्यास्तसिल् । सर्व्वस्मिन् । यथा, ऋतुसंहारे । १ । २३ ।
"भ्रमति गवययूथः सर्व्वतस्तोयमिच्छन्
शरभकुलमजिह्मं प्रोद्धरत्यम्बु कूपात् ॥")

सर्व्वतःशुभा, स्त्री, (सर्व्वतः शुभं यस्याः ।) प्रियङ्गुवृक्षः । इति शब्दचन्द्रिका ॥

सर्व्वतन्त्रः, पुं, (सर्व्वं तन्त्रमस्येति ।) सकलतन्त्राध्येता । इति केचित् ॥ (क्ली, सर्व्वं तन्त्रमिति ।) सकलशास्त्रञ्च ॥

सर्व्वतापनः, पुं, (सर्व्वान् तापयतीति । तप + णिच् + ल्युः ।) कामदेवः । इति केचित् ॥ सर्व्वतापके, त्रि ॥

सर्व्वतिक्ता, स्त्री, (सर्व्वतस्तिक्ता ।) काकमाची । इति राजनिर्घण्टः ॥

सर्व्वतोभद्रं, क्ली, पुं, (सर्व्वतो भद्रमस्मादिति ।) ईश्वरगृहविशेषः । इत्यमरः ।२।२।१०॥ द्वारालिन्दादिभेदभिन्नाष्टगृहम् । तस्य लक्षणमुपन्यस्तं साम्बेन यथा,—

"स्वस्तिकं प्राङ्मुखं यत् स्यादलिन्दानुगतं भवेत्।
तत्पार्श्वानुगतौ चान्यौ तत्पर्य्यन्तगतोऽपर: ॥
अनिषिद्धालिन्दभेदं चतुर्द्वारञ्च यद्गृहम्।
तद्भवेत् सर्व्वतोभद्रं चतुरालिन्दशोभितम् ॥
प्राक्पश्चिमानुगतौ च शेषावुद्दरविस्तृतौ।
यत्रालिन्दौ रुचक्यतो न चेत् स्यादुत्तरामुखम् ॥
क्रमेणोपचीयमानं यत्रालिन्दत्रयं गृहे।
तद्वर्द्धमानमित्याहुर्न चेत् स्यादुत्तरामुखम् ॥
दक्षिणानुगतालिन्दत्रयं यत् पश्चिमामुखम्।
पूजनीयोत्तरोच्छ्रायं नन्द्यावर्त्तं वदन्ति तत् ॥
उपर्य्युपरि यद्गेहं तद्विच्छन्दकसंज्ञकम् ॥"
इति वचनेषु स्वस्तिकादीनां क्लीवत्वदर्शनात् स्वस्तिकादीनां पुंनपुंसकत्वं मन्तव्यम्। एवमादिप्राप्तौ रुचकवर्द्धमानौ पुंलिङ्गावपि यदुक्तम्।
"स्वस्तिक: सर्व्वतोभद्रो रुचको वर्द्धमानक:।
नन्द्यावर्त्तादयश्चापि द्वारालिन्दादिभेदत: ॥"
इति भरत: ॥ * ॥
लक्षणान्तरं यथा, भविष्योत्तरे।
"मेषादिचन्द्रे जातस्य नृपते: स्युरनुक्रमात्।
द्वादशैव गृहान् वक्ष्ये तेषां लक्षणमग्रत: ॥
सुनन्द: सर्व्वतोभद्रो भद्रो नान्दीमुखस्तथा।
विनोदश्च विलासश्च विजयो विमलस्तथा ॥
रङ्ग: कैलिव्वर्णयो वीरो द्वादशैते प्रकीर्त्तिता: ॥"
तल्लक्षणं यथा,—
"द्वौ राजहस्तावायामे परिणाहे तथैव च।
इत्ययं सर्व्वतोभद्र: शुक्रश्चास्याधिदेवता ॥
दानवा रक्षकाश्चैव पूज्यास्ते चात्र यत्नत:।
चतुर्द्दशास्य द्वाराणि क्षणाश्चित्रावृतानि च ॥
पीठपट्टावृतो शेष: सर्व्वानिष्टविनाशन:।
अत्र स्थित्वा महीपाल: सर्व्वान् शत्रून् निहन्ति ॥"
दीर्घ २१ प्रस्थ २० इति सर्व्वतोभद्र:। इति युक्तिकल्पतरु: ॥ (सर्व्वतो मङ्गलप्रदे, त्रि। यथा, भागवते। १०। ७१। ११।
"इत्युद्धववचो राजन् सर्व्वतोभद्रमच्युतम्।
देवर्षिर्यदुवृद्धाश्च कृष्णश्च प्रत्यपूजयन् ॥")
सर्व्वतोभद्रं, क्ली, (सर्व्वतो भद्रमस्येति।) वृषोत्सर्गव्रतप्रतिष्ठादौ पूजाधारमण्डलविशेष:। यथा, शारदायाम्।
"चतुरस्रे चतु:कोष्ठे कर्णसूत्रसमन्विते।
चतुर्ष्वपि च कोष्ठेषु कोणसूत्रचतुष्टयम् ॥
मध्ये मध्ये यथा मत्स्या भवेयु: पातयेत्तथा।
पूर्व्वापरायते द्वे द्वे मन्त्री याम्योत्तरायते ॥
पातयेत्तेषु मत्स्येषु समं सूत्रचतुष्टयम्।
पूर्व्ववत् कोणकोष्ठेषु कर्णसूत्राणि पातयेत् ॥
तद्वत् भूतेषु मत्स्येषु दद्यात् सूत्रचतुष्टयम्।
तत: कोष्ठेषु मत्स्या: स्युस्तेषु सूत्राणि पातयेत् ॥
यावत् शतद्वयं मन्त्री षट्पञ्चाशत् पदान्यपि।
तावत्तेनैव विधिना तत्र सूत्राणि पातयेत् ॥
षट्त्रिंशता पदैर्म्मध्ये लिखेत् पद्मं सुलक्षणम्।
बहि:पङ्क्त्या भवेत् पीठं पङ्क्तियुग्मेन वीथिका ॥
द्वारशोभोपशोभास्त्रान् शिष्टाभ्यां परिकल्पयेत्।
शास्त्रोक्तविधिना मन्त्री तत: पद्मं समालिखेत् ॥
पद्मक्षेत्रस्य संव्यज्य द्वादशांशं बहि: सुधी:।
तन्मध्यं विभजेत् वृत्तैस्त्रिभि: समविभागत: ॥
आद्यं स्यात् कर्णिकास्थानं केशराणां द्वितीयकम्।
तृतीयं पद्मपत्राणां सुक्तांशेन दलाग्रकम् ॥
बाह्यवृत्तान्तरालस्य मानेन विधिना सुधी:।
निधाय केशराग्रेषु परितोऽर्द्धनिशाकरान् ॥
लिखित्वा सन्धिसंस्थानि तत्र सूत्राणि पातयेत्।
दलाग्राणाञ्च यन्मानं तन्मानाद्वत्तमालिखेत् ॥
तदन्तरालतन्मध्यसूत्रस्योभयत: सुधी:।
आलिखेदाद्यवृत्तेन दलाग्राणि समन्तत: ॥
दलमूलेषु युगश: केशराणि प्रकल्पयेत्।
एतत् साधारणं प्रोक्तं पङ्कजं तन्त्रवेदिभि: ॥
पदानि चीणि पादार्थं पीठकोणेषु मार्ज्जयेत्।
अवशिष्टै: पदैर्व्विद्वान् पीठगात्राणि कारयेत् ॥
पदानि वीथिसंस्थानि मार्ज्जयेत् पङ्क्तिभेदत:।
दिक्षु द्वाराणि रचयेत् द्विचतु:कोष्ठकैस्तथा ॥
पदैस्त्रिभिरथैकेन शोभा: स्यु द्वारपार्श्वयो:।
उपशोभा: स्युरेकेन त्रिभि: कोष्ठैरनन्तरम् ॥
अवशिष्टै: पदै: षड्भि: कोणानां स्याच्चतुष्टयम्।
रञ्जयेत् पञ्चभिर्व्वर्णैर्म्मण्डलं तन्मनोहरम् ॥
पीतं हरिद्राचूर्णं स्यात् सितं तण्डुलसम्भवम्।
कुसुम्भचूर्णमरुणं कृष्णं दग्धपुलाकजम् ॥
बिल्वादिपत्रजं श्यामं इत्युक्तं वर्णपञ्चकम्।
अङ्गुलोत्सेधविस्तारा: सीमारेखा: सिता: शुभा: ॥
कर्णिका पीतवर्णेन केशराण्यरुणेन च।
शुक्लवर्णानि पत्राणि तत्सन्धीन् श्यामलेन च ॥
रजसा रञ्जयेन्मन्त्री यद्वा पीतैव कर्णिका।
केशरा: पीतरक्ता: स्युररुणानि दलान्यपि ॥
सन्धय: कृष्णवर्णा: स्यु: सितेनाप्यसितेन वा।
रञ्जयेत् पीठगर्भाणि पादा: स्युररुणप्रभा: ॥
गात्राणि तस्य शुक्लानि वीथीषु चतसृष्वपि।
आलिखेत् कल्पलतिका दलपुष्पफलान्विता: ॥
वर्णैर्नानाविधैश्चित्रै: सर्व्वदृष्टिमनोहरा:।
द्वाराणि श्वेतवर्णानि शोभा रक्ता: समीरिता: ॥
उपशोभा: पीतवर्णा: कोणान्यसितभानि च।
तिस्रो रेखा बहि: कार्य्या: सितरक्तासिता: क्रमात् ॥
मण्डलं सर्व्वतोभद्रमेतत् साधारणं स्मृतम् ॥"*
प्रकारान्तरं यथा,—
"चतुरस्रां भुवं भित्त्वा दिग्भ्यो द्वादशधा सुधी:
पातयेत्तत्र सूत्राणि कोष्ठानां दृश्यते शतम् ॥
चतुश्चत्वारिंशदाढ्यं पश्चात् षट्त्रिंशताम्बुजम्।
कोष्ठै: प्रकल्पयेत् पीठं पङ्क्त्या नैवात्र वीथिका ॥
द्वारशोभे यथा पूर्व्वमुपशोभा न दृश्यते।
अवशिष्टै: पदै: कुर्य्यात् षड्भि: कोणानि तन्त्रवित्।
विदध्यात् पूर्व्ववत् शेषमेवं वा मण्डलं स्मृतम्।"
इति तन्त्रसारे १ परिच्छेद: ॥ * ॥

सर्व्वतोभद्रमण्डलस्य रूपं यथा।

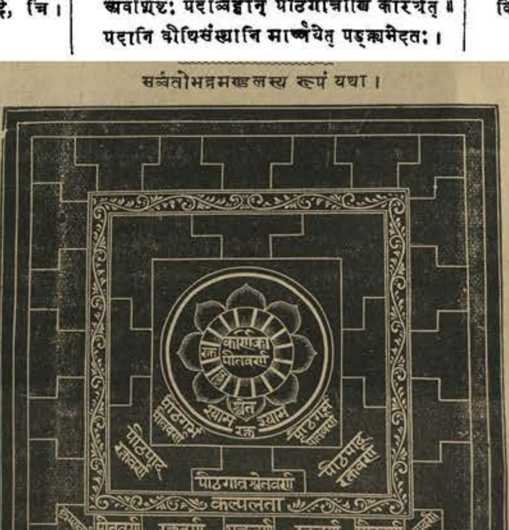

नाराणां शुभाशुभज्ञानार्थं चक्रविशेषः । यथा,
“अथातः संप्रवक्ष्यामि चक्रं त्रैलोक्यदीपनम् ।
विख्यातं सर्व्वतोभद्रं सद्यः प्रत्ययकारकम् ॥
ऊर्द्ध्वगा दश विन्यस्य तिर्य्यग्रेखास्तथा दश ।
एकाशीतिपदं चक्रं जायते नात्र संशयः ॥
अकारादिस्वराः कोष्ठेष्वीशादौ विदिशि
क्रमात् ।
प्रदक्षिणक्रमाज्ज्ञेया ज्योतिःशास्त्रविशारदैः ॥
कृत्तिकादीनि धिष्ण्यानि पूर्व्वाशादि लिखेत्ततः ।
सप्त सप्त क्रमेणैव अष्टाविंशति संख्यया ॥
अ-व-क-ह-डाः पूर्व्वस्यां म-ट-प-र-ता
इरिति दक्षिणस्याम् ।
न-य-भ-ज-खा वारुण्यां ग-श-द-च ला-श्चोत्त-
रस्यां स्युः ॥
त्रयस्त्रयो वृषाद्यास्तु पूर्व्वादिक्रमतो बुधैः ।
राशयो द्वादश स्थाप्या मेषान्ता दक्षमार्गतः ॥
शेषेषु कोष्ठकेष्वेवं नन्दादितिथिपञ्चकम् ।
वाराणां सप्तकं लेख्यं भौमाद्यं नन्तिथिक्रमात् ॥
इत्येवं सर्व्वतोभद्रप्रकारः कथितो मया ।
यस्मिन्नृक्षे स्थितः खेटस्ततो वेधत्रयं भवेत् ॥
ग्रहदृष्टिवशेनात्र वामदक्षिणसंमुखे ।
भुक्तं भोग्यं तथाक्रान्तं विद्धं क्रूरग्रहेण भम् ॥
शुभाशुभेषु कार्य्येषु वर्ज्जनीयं प्रयत्नतः ।
वक्रगे दक्षिणा दृष्टिर्वामा दृष्टिश्च शीघ्रगे ॥
संमुखी मध्यचारे च ज्ञेया भौमादिपञ्चके ।
सूर्य्यमुक्ता ग्रहाः शीघ्रास्तथा चार्के द्वितीयगे ॥
समास्तृतीयगे ज्ञेया मन्दा भानौ चतुर्थगे ।
वक्राः स्युः पञ्चषष्ठेऽर्के त्वतिवक्रा नगाष्टगे ॥
नवमे दशमे भानौ जायते सहजा गतिः ।
द्वादशैकादशे सूर्य्ये लभन्ते शीघ्रतां पुनः ॥
रविस्थित्यंशकत्रिंशावधेः संख्यात्र कथ्यते ।
न तु राश्यन्तरस्पर्शात् द्वितीयादिनिरूपणम् ॥
राहुकेतू सदा वक्रौ शीघ्रगौ चन्द्रभास्करौ ।
गतेरेकस्वभावत्वाद्देषां दृष्टित्रयं सदा ॥
क्रूरा वक्रा महाक्रूराः सौम्या वक्रा महाशुभाः ।
स्युः सहजस्वभावस्थाः सौम्याः क्रूराश्च शीघ्रगाः ॥
ब-ङ-क्षाः ष-ण-ठाश्चैव ध-फ-ढाश्च-भ-ञा-
स्तथा ।
एतत् त्रिकं त्रिकं विद्धं विद्धैः क-प-भ-दैः
क्रमात् ॥
ब-ङ-क्षा रौद्रगे वेधे ष-ण-ठा अस्तगे ग्रहे ।
ध-फ-ढाः पूर्व्वाषाढायां थ-झ-ञा भाद्र उत्तरे ॥
रवौ शसौ खयौ चैव जयौ णनौ परस्परम् ।
एकेन हि द्वयं ज्ञेयं शुभाशुभग्रहव्यधे ॥
अवर्णादिस्वरद्वन्द्वे त्वेकवेधात् द्वयोर्व्यधः ।
युग्मवर्णात्मके वेधे अनुस्वारविसर्गयोः ॥”
आकारादियुग्मवर्णात्मकवेधवदनुस्वारविसर्गयोः
एकवेधादुभयवेध इत्यर्थः ।
“कोणस्थऋक्षयोर्म्मध्ये अन्त्यादिपादगे ग्रहे ।
अकारादिचतुष्केषु वेधः पूर्णतिथौ तथा ॥
एकादिक्रूरवेधेन फलं पुंसां प्रजायते ।
उद्वेगश्च भयं हानिर्व्याधिर्म्मृत्युः क्रमेण च ॥
ऋक्षे भ्रमोऽक्षरे हानिः स्वरे व्याधिर्भयं तिथौ ।
राशौ विद्धे महाविघ्नः पञ्चविद्धो न जीवति ॥
एकवेधे भयं युद्धे युग्मवेधे धनक्षयः ।
त्रिवेधे तु भवेद्भङ्गो मृत्युर्वेधचतुष्टये ॥”
दृष्टित्रये उदाहरणमाह ।
“भरण्यकारवृषभं नन्दां भद्रां तुलाञ्च भम् ।
विशाखां हरिभं विध्येद्ग्रह आग्नेयसंस्थितः ॥”
उदाहरणान्तरमाह ।
“वं युग्ममौस्वरं कन्यां रेफं स्वातीमुकारकम् ।
अश्विनीं रोहिणीस्थोऽभिजिद्भमेवं परेष्वपि ॥
यथा दुष्टफलाः क्रूरास्तथा सौम्याः शुभप्रदाः ।
क्रूरयुक्तः पुनः सौम्यो ज्ञेयः क्रूरफलप्रदः ॥
अर्कवेधे मनस्तापो द्रव्यहानिश्च भूसुते ।
रोगपीड़ाकरः सौरी राहुकेतू च विघ्नदौ ॥
चन्द्रे मिश्रफलं पुंसां रतिलाभश्च भार्गवे ।
बुधवेधे भवेत् प्रज्ञा जीवः सर्व्वशुभप्रदः ॥
स्वक्षेत्रस्थे बलं पूर्णं पादोनं मित्रभे ग्रहे ।
अर्द्धं समगृहे प्रोक्तं पादं शत्रुगृहे स्थिते ॥
इदञ्च सौम्यक्रूराणां बलं स्थानवशात् समम् ।
एतदेव फलं विद्धि सौम्यैः क्रूरैर्व्विपर्य्ययात् ॥
स्थानवेधसमायोगात् यत्संख्यं जायते बलम् ।
तत्संख्यं वेध्यवस्तूनां फलं ज्ञेयं शुभाशुभम् ॥
दृष्टिहीने पुनर्वेधे न स्यात् किञ्चित् शुभाशुभम् ।
ग्रहाः सौम्यास्तथा क्रूरा वक्राः शीघ्रोच्चनीचगाः ॥
स्थानञ्च वेध्यमित्येवं बलं ज्ञात्वा फलं वदेत् ।
वक्रग्रहे फलं द्विघ्नं त्रिगुणं स्वोच्चसंस्थिते ॥
स्वभावजं फलं शीघ्रे नीचस्थोऽर्द्धफलो ग्रहः ।
तिथिराश्यंशनक्षत्रं विद्धं क्रूरग्रहेण यत् ॥
सर्व्वेषु शुभकार्य्येषु वर्ज्जयेत्तत् प्रयत्नतः ।
न नन्दति विवाहे च यात्रायां न निवर्त्तते ॥
रोगान्न मुच्यते रोगी वेधवेलाकृतोद्यमः ।
रोगकाले भवेद्वेधः क्रूरखेचरसम्भवः ॥
वक्रगत्या भवेन्मृत्युः शीघ्रे जाड्यरुजान्वितः ।
वेधस्थाने रणे भङ्गो दुर्गे खण्डिः प्रजायते ॥
कविप्रवेशनं तत्र योधाघातश्च तत्र वै ॥”
कविश्चौरयोद्धा ।
“यत्र पूर्व्वादिकाष्ठायां वृषराश्यादिगो रविः ।
सा दिगस्तमिता ज्ञेया शेषास्तिस्रः सदोदिताः ॥
ईशानस्थाः स्वराः प्राच्यां ज्ञेया याम्या-
मथाग्निगाः ।
नैर्ऋतस्थाश्च वारुण्यां वायव्यां सौम्यगा मताः ।
नक्षत्राणि स्वरा वर्णा राशयस्तिथयो दिशः ॥
ते सर्व्वेऽस्तमिता ज्ञेया यत्र भानुस्त्रिमासिकः ॥
नक्षत्रेऽस्ते रुजा वर्णे हानिः शोकः स्वरेऽस्तगे ।
राशौ विघ्नस्तिथौ भीतिः पञ्चास्ते मरणं भवेत् ॥
यात्रा युद्धं विवादश्च द्वारं प्रासादहर्म्म्ययोः ।
न कर्त्तव्यं शुभं चाप्यदस्ताशाभिमुखं नरैः ॥
अस्ताशायां स्थितं यस्य नाम्नः प्रथममक्षरम् ।
स आर्त्तः सर्व्वकार्य्येषु ज्ञेयो दैवहतो नरः ॥
करौ कोष्ठे तथा द्वन्द्वे चातुरङ्गमहाबले ।
वर्ण्याश्वास्तं गता योधा यदोच्छेदिजयं रणे ॥
नक्षत्रेऽभ्युदिते पुष्टिर्व्वर्णे लाभः स्वरे सुखम् ।
राशौ जयस्तिथौ तेजः पदाप्तिः पञ्चकोदये ॥
प्रश्नकाले भवेद्विद्धं यल्लग्नं क्रूरखेचरैः ।
तदुष्टं शोभनं सौम्यैर्म्मिश्रैर्म्मिश्रफलं भवेत् ॥
ग्रहाविद्धन्तु यल्लग्नं फलं लग्नस्वभावतः ।
ज्ञातव्यमीक्षिते केन्द्रे भाषितं यवनादिकम् ॥
शीर्षोदये सौम्यविलग्नवर्गे
लग्नेऽपि वा सौम्ययुते शुभं स्यात् ।
अतोऽन्यथात्वे तु तदन्यथात्वं
मिश्रं विमिश्रैरधिकं बलाढ्यैः ॥
केन्द्रोपगा नवमपञ्चमगाश्च सौम्याः
केन्द्राष्टवर्ज्जमशुभास्त्रयषष्ठसंस्थाः ।
सर्व्वार्थसाधनकराः परिपृच्छतां स्यु-
रेभिर्विपर्य्ययगतैस्तु विपर्य्ययः स्यात् ॥
लग्नाधिनाथो यदि केन्द्रगः स्यात्
तन्मित्रमेतस्य च केन्द्रगं वा ।
अथाष्टकेन्द्रानपहाय पापा
अन्यत्र याता यदि तच्छुभं स्यात् ॥
आद्यो लग्नाधिपः कार्य्ये लग्ने कार्य्याधिपो यदि ।
द्वितीयो लग्नपो लग्ने कार्य्ये कार्य्याधिपो यदि ॥
लग्नपः कार्य्यपश्चापि लग्ने यदि तृतीयकः ।
चतुर्थः कार्य्यपौ स्यातां यदि लग्नपकार्य्यपौ ॥
कार्य्यसिद्धिस्तदा ज्ञेया मित्रश्चेदधिकं मतम् ।
एवं दृष्टिवशाज्ज्ञेयं फलं तद्वच्चतुष्टयम् ॥
पूर्णनाड़ीस्थितो दूतो यत् पृच्छति शुभाशुभम् ।
तत् सर्व्वं सिद्धिमाप्नोति शून्ये शून्यं समीरणे ॥
आदौ शून्यगतः पृच्छेत्पश्चात् पूर्णा विशेद्यदि ।
तदा सर्व्वार्थसिद्धिः स्यात् वामे वामं न संशयः ।
श्वासप्रवेशकाले चेद्दूतो ऊख्यति वाञ्छितम् ।
तस्यार्थः सिद्धिमाप्नोति निर्गमे नास्ति सुन्दरम् ॥
ऊर्द्ध्ववामाग्रतो दूतो ज्ञेयो वामपथस्थितः ।
पृष्ठे दक्षे तथाधस्ताद्दक्षवाही शतो मतः ॥
यात्रादानविवाहेषु वस्त्रालङ्कारभूषणे ।
शुभे कर्म्मणि सन्धौ च प्रवेशे वामगः शुभः ॥
कलहद्यूतयुद्धेषु स्नानभोजनमैथुने ।
व्यवहारे भये भङ्गे दक्षनाड़ी प्रशस्यते ॥
क्रूरैरुभयतो विद्धा यस्याक्षरतिथिस्वराः ।
राशिर्धिष्ण्यञ्च पञ्चापि तस्य मृत्युर्न संशयः ॥
मण्डलं नगरं ग्रामो दुर्गं देवालयं पुरम् ।
क्रूरैरुभयतो वेधे विनश्यन्ति न संशयः ॥
कृत्तिकायां तथा पुष्ये रेवत्याञ्च पुनर्व्वसौ ।
विद्धे सति क्रमाद्वेधो वर्णेषु ब्राह्मणादिषु ॥
तैलं भाण्डं रसो धान्यं गवाश्वादिचतुष्पदाः ।
सर्व्वं महार्घतां याति यावत् क्रूरव्यधे स्थितम् ॥
क्रूरवेधसमायोगे यस्योपग्रहसम्भवः ।
तस्य मृत्युर्न सन्देहो रोगाद्वाथ रणादपि ॥
सूर्य्यभात् पञ्चमं धिष्ण्यं ज्ञेयं विद्युन्मुखाभिधम् ।
शूलञ्चाष्टमकं प्रोक्तं सन्निपातं चतुर्द्दशम् ॥
केतुरष्टादशं प्रोक्तमुल्का स्यादेकविंशतिम् ।
द्वाविंशतितमं कम्पं त्रयोविंशञ्च वज्रकम् ॥
निर्घातश्च चतुर्विंशमुक्ता अष्टावुपग्रहाः ।
प्रस्थाने विघ्नदाः प्रोक्ताः सर्व्वकार्य्येषु सर्व्वदा ॥”
इति सर्व्वतोभद्रचक्रम्। इति ज्योतिषतत्त्वम् ॥*

सर्व्वतोभद्रचक्रस्य रूपं यथा ।

पूर्व्व

उत्तर

अ	३	४	५	६	७	८	९	आ
२	उ	अ	व	क	ह	ड	ऊ	१०
१	ल	ऌ	वृषः	मिथुनः	कर्कटः	ॡ	म	११
२७	च	मेषः	ओ	नन्दा	औ	सिंहः	ट	१२
२६	द	मीनः	रिक्ता	पूर्णा	भद्रा	कन्या	प	१३
२५	श	कुम्भः	अः	जया	अं	तुला	र	१४
२४	ग	ऐ	मकरः	धनुः	वृश्चिकः	ए	त	१५
२३	ॠ	ख	ज	भ	य	न	ऋ	१६
ई	२२	०	२१	२०	१९	१८	१७	इ

दक्षिण

पश्चिम

सर्व्वतोभद्रः, पुं, (सर्व्वतो भद्रमस्येति ।) निम्ब-वृक्षः । इत्यमरः ।२।४।६२ ॥ व्यूहविशेषः । इति तट्टीका ॥ विष्णुरथः । इति शब्दरत्नावली ॥ वंशः । इति शब्दचन्द्रिका ॥ चित्रकाव्यविशेषः । इति मेदिनी ॥

तदुदाहरणं यथा ।

स	का	र	ना	ना	र	का	स
का	य	सा	द	द	सा	य	का
र	सा	ह	वा	वा	ह	सा	र
ना	द	वा	द	द	वा	द	ना

इति सर्व्वतोभद्रः । इति माघे । १९ । २७ ॥ अस्यार्थः । "सकारेति । पुनः कीदृशी ।
'कारो वधे निश्चये च बले यत्ने रतावपि ।'
इति विश्वः ।
सकाराः सयत्नाः सोत्साहाः नाना नानाविधाश्च ये आराः अरीणां समूहाः । भिक्षादिभ्योऽण् । तेषां कासा गतिभेदाः काया विग्रहाश्च तेषां सादं ददतीति साददाः नाशकारकाः सायका यस्यां सा तथोक्ता । रसेन रागेणाहवो यस्याः सा रसाहवा रणरागिणीत्यर्थः । वाहसाराणां वाहश्रेष्ठानां ये नादा ह्रेषादिघोषास्तेषां वादं कलहं ददतीति वाददानि । तैः सह कलहायमानानि वादनानि वाद्यानि यस्यां सा वाहसारनादवाददवादना तूर्य्यवादघोषेत्यर्थः । अतएव तेषां तुल्यतोक्तेरतिशयोक्तिः । सर्व्वतो भ्रमणात् सर्व्वतोभद्राख्यश्चित्रबन्धः । अत एव दण्डी ।
'तदिदं सर्व्वतोभद्रं भ्रमणं यदि सर्व्वतः ।' इति ।
उद्धारस्तु । चतुःकोष्ठे चतुरङ्गबन्धे पुंक्तिचतुष्टये पादचतुष्कं विलिख्यानन्तरं पङ्क्तिचतुष्टयेऽप्यधःक्रमेण पादचतुष्टयलेखने प्रथमासु चतसृषु प्रथमपादः सर्व्वतो वाच्यते । एवं द्वितीयादिषु द्वितीय इत्यादि ।" इति तट्टीकायां मल्लिनाथः ॥
(वटिकौषधविशेषः । यथा,—
"विशुद्धं गगनं ग्राह्यं द्विकर्षं शुद्धगन्धकम् ।
तोलकं तोलकार्द्धञ्च हिङ्गुलोत्थरसन्तथा ॥
कर्पूरं केशरं मांसी तेजपत्रं लवङ्गकम् ।
जातीकोषफलञ्चैव सूक्ष्मैलाकरिपिप्पली ॥
कुष्ठं तालीशपत्रञ्च धातकी चोचमुस्तकम् ।
हरितकी मरिचञ्च शृङ्गवेरविभीतकम् ॥
पिप्पल्यामलकञ्चैव शाणभागं विचूर्णितम् ।
सर्व्वमेकीकृतं पिष्ट्वा वटीं कुर्य्याद्द्विगुञ्जिकाम् ॥
भक्षयेत् पर्णखण्डेन मधुना सितयापि वा ।
रोगं ज्ञात्वानुपानञ्च प्रातः कुर्य्याद्विचक्षणः ॥
हन्ति मन्दानलान् सर्व्वानामदोषं विसूचिकाम् ।
पित्तश्लेष्मभवं रोगं वातश्लेष्मभवन्तथा ॥
आनाहं मूत्रकृच्छ्रञ्च संग्रहग्रहणीं वमिम् ।
अम्लपित्तं शीतपित्तं रक्तपित्तं विशेषतः ।
चिरज्वरं पित्तभवं धातुस्थं विषमज्वरम् ॥
कासं पञ्चविधं हन्ति कामलां पाण्डुमेव च ।
सर्व्वलोकहितार्थाय शिवेन भाषितः पुरा ।
सर्व्वतोभद्रनामायं रसः साक्षान्महेश्वरः ॥"
इति वैद्यकरसेन्द्रसारसंग्रहे ज्वराधिकारे ॥
"सूतं गन्धं तपनगगनं कान्तलौहस्य चूर्णं
कृत्वैकस्मिन् दृशदि पिषितं शृङ्गवेरस्य वारा ।
गुञ्जाद्रोगे यकृतिगुदजे प्लीह्नि सर्व्वज्वरेषु
शोथे पाण्डौ कृमिकृतगदे सर्व्वतः कामलायाम् ।
कासे श्वासे प्रमिहजठरे सर्व्वदोषप्रभूते
ख्यातो योगः सुरमणिकृतः सर्व्वरोगैकहन्ता ॥"
इति च रसेन्द्रसारसंग्रहे प्लीहाधिकारे ॥)
सर्व्वतोभद्रा, स्त्री, (सर्व्वतो भद्रं मङ्गलमस्या इति ।) गम्भारी । नटयोषित् । इति मेदिनी ॥
सर्व्वतोमुखं, क्ली, (सर्व्वतो मुखमस्येति ।) जलम् । इत्यमरः ।१।१०।४॥ आकाशम् । इति मेदिनी ॥ (समन्ततोमुखविशिष्टे, त्रि । यथा, महाभारते । १ । २११ । १२ ।
"एवं सर्व्वान् समादिश्य पूर्व्वतीरे महोदधेः ।
क्रूरां मतिं समास्थाय जग्मतुः सर्व्वतोमुखौ ॥")
सर्व्वतोमुखः, पुं, (सर्व्वतः मुखमस्येति ।) शिवः । (यथा, महाभारते । १३ । १७ । ६६ ।
"सर्व्वकामवरश्चैव सर्व्वदः सर्व्वतोमुखः ॥")
ब्रह्मा । (यथा, कुमारे । २ । ३ ।
"अथ सर्व्वस्य धातारं ते सर्व्वे सर्व्वतोमुखम् ।
वागीशं वाग्भिरर्थ्याभिः प्रणिपत्योपतस्थिरे ॥")
आत्मा । इति मेदिनी ॥ (विष्णुः । यथा, महाभारते । १३ । १४९ । १०० ।
"अमृतांशोऽमृतवपुः सर्व्वज्ञः सर्व्वतोमुखः ॥")
ब्राह्मणः । इति शब्दरत्नावली ॥ स्वर्गः । इति शब्दमाला ॥ अग्निः । यथा,—
"सर्व्वतः पाणिपादान्तः सर्व्वतोऽक्षिशिरोमुखः ।
विश्वरूपो महानग्निः प्रणीतः सर्व्वकर्म्मसु ॥"
इति तिथ्यादितत्त्वधृताग्निप्रणयनमन्त्रः ॥
सर्व्वत्र, व्य, (सर्व्वस्मिन्निति । सर्व्व + "सप्तम्यास्त्रल् ।" ५ । ३ । १० । इति त्रल् ।) सर्व्वदिग्देशकाले । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, रघुः । ३ । ६२ ।
"तुतोष वीर्य्यातिशयेन वृत्रहा
पदं हि सर्व्वत्र गुणैर्निधीयते ॥")
सर्व्वत्रगः, पुं, (सर्व्वत्र गच्छतीति । गम + "डप्रकरणे सर्व्वत्रपन्नयोरुपसंख्यानम् ।" ३ । २ । ४८ । इत्यस्य वार्त्तिकोक्त्या डः ।) वायुः । सर्व्वत्रगामिनि, त्रि । इति वक्ष्यमाणशब्ददर्शनात् ॥ (यथा, गीतायाम् । ९ । ६ ।

"यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्व्वत्रगो महान् ।
तथा सर्व्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥")

सर्व्वत्रगामी, [न्] पुं, (सर्व्वत्र गच्छतीति । गम + णिनिः ।) वायुः । इति शब्दचन्द्रिका ॥ सर्व्वदिग्देशकाले गमनकर्त्तरि, त्रि ॥

सर्व्वथा, व्य, (सर्व्वेण प्रकारेण । सर्व्व + "प्रकारवचने थाल् ।" ५ । ३ ।२३ । इति थाल् ।) सर्व्वप्रकारम् । इति व्याकरणम् ॥ (यथा, मनुः । २ । १५ ।
"उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा ।
सर्व्वथा वर्त्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः ॥")
प्रतिज्ञा । शपथम् । हेतुः । इति शब्दरत्नावली ॥

सर्व्वदमनः, पुं. (सर्व्वान् दमयतीति । दम + ल्युः ।) भरतराजः । स तु शकुन्तलापुत्त्रः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ (अस्य नामनिरुक्तिर्यथा, महाभारते । १ । ७४ । ५—७ ।
"षड्वर्ष एव बालः स कण्वाश्रमपदं प्रति ।
सिंहान् व्याघ्रान् वराहांश्च महिषांश्च गजां-
स्तथा ॥
बबन्ध वृक्षे बलवानाश्रमस्य समीपतः ।
आरोहन् दमयंश्चैव क्रीडंश्च परिधावति ॥
ततोऽस्य नाम चक्रुस्ते कण्वाश्रमनिवासिनः ।
अस्त्वयं सर्व्वदमनः सर्व्वान् हि दमयत्यसौ ॥
स सर्व्वदमनो नाम कुमारः समपद्यत ॥"*॥
सर्व्वदमनकर्त्तरि, त्रि । इति व्याकरणम् ॥)

सर्व्वदर्शी, [न्] पुं, (सर्व्वं पश्यतीति । दृश् + णिनिः ।) बुद्धः । इति शब्दरत्नावली ॥ सकलदर्शनकर्त्तरि, त्रि ॥ (यथा, रामायणे । २ । १०६ । ६ ।
"सर्व्वज्ञः सर्व्वदर्शी च बुद्धिमांश्चासि राघव ! ॥")

सर्व्वदा, व्य, (सर्व्व + "सर्व्वैकान्यकिंयत्तदः काले दा ।" ५ । ३ । १५ । इति दा ।) सर्व्वस्मिन् काले । इत्यमरः ।३।४ २२॥ (यथा, नरसिंहपुराणे । १२ । ५६ ।
"त्वत्पादपद्मे देवेश भक्तिं मे देहि सर्व्वदा ।
यदि तुष्टो ममाद्य त्वमन्यदेकं वृणोम्यहम् ॥")

सर्व्वदुःखक्षयः, पुं, (सर्व्वेषां दुःखानां क्षयो यत्र ।) मोक्षः । इति हेमचन्द्रः ॥ सकलपीडानाशश्च ॥

सर्व्वदेवमुखः, पुं, (सर्व्वेषां देवानां मुखं यत्र ।) अग्निः । इति जटाधरः ॥

सर्व्वद्राड्, [ष्] त्रि, सर्व्वस्य पूजकः । सर्व्वानर्च्चति इत्यर्थे क्विप्प्रत्ययेन निष्पन्नः । इति व्याकरणम् ॥

सर्व्वधारी, [न्] पुं, (सर्व्वं धरतीति । धृ + णिनिः ।) कालचक्रस्य द्वाविंशवर्षः । इति केचित् ॥ (यथा, बृहत्संहितायाम् । ८ । २७ ।
"त्वाष्ट्रे युगे सर्व्वजिदाद्य उक्तः
संवत्सरोऽन्यः खलु सर्व्वधारी ।
तस्मात् विरोधी विकृतः खरश्च ।
शस्तो द्वितीयोऽत्र भवाय शेषाः ॥"*॥
सर्व्वधारके, त्रि ॥)

सर्व्वधुरावहः, पुं, (सर्व्वा चासौ धूश्चेति । सर्व्वधुरा । ऋक्पूरित्यः । वहतीति । वह + अच् । सर्व्वधुराया वहः ।) सकलभारवाहकः । रथलाङ्गलादीनां भारवाहकगवादिः । इत्यमरः ॥

सर्व्वधुरीणः, पुं, (सर्व्वधुरां वहतीति । "खः सर्व्वधुरात् ।" ४ । ४ । ७८ । इति खः ।) सकलभारवाहकः । रथलाङ्गलादीनां भारवाहकगवादिः । इत्यमरः । २ । ९ । ६६ ॥

सर्व्वन्दमः, पुं, (सर्व्वं दमयतीति । दम + अच् । द्वितीयाया अलुक् ।) भरतराजः । स तु शकुन्तलापुत्त्रः । इति हेमचन्द्रः ॥

सर्व्वपा, स्त्री, (सर्व्वं पातीति । पा + कः । टाप् ।) बलिराजपत्नी । इति केचित् ॥ सर्व्वरक्षणकर्त्तरि सर्व्वपानकर्त्तरि च त्रि ॥

सर्व्वपूर्णत्वं, क्ली, (सर्व्वैर्द्रव्यैः पूर्णत्वम् ।) सम्भारः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सर्व्वप्रियः, त्रि, सर्व्वेषां जनानां प्रियः । सकलजनवल्लभः ॥ सर्व्वस्य शिवस्य प्रियः । सर्व्वः प्रियो यस्येति वा । शिवभक्तः ॥

सर्व्वभक्षा, स्त्री, (सर्व्वान् भक्षयतीति । भक्ष + अण् ।) छागी । इति हेमचन्द्रः ॥ सर्व्वभक्षणकर्त्तरि, त्रि ॥ (यथा, महाभारते । १ । ६ । १४ ।
"इति श्रुत्वा पुलोमाया भृगुः परममन्युमान् ।
शशापाग्निमतिक्रुद्धः सर्व्वभक्षो भविष्यसि ॥")

सर्व्वमङ्गला, स्त्री, (सर्व्वाणि मङ्गलानि अस्याः ।) दुर्गा । इत्यमरः ॥ अस्या व्युत्पत्तिर्यथा,—
"मङ्गलं मोक्षवचनं चाशब्दो दातृवाचकः ।
सर्व्वान्मोक्षान् या ददाति सा एव सर्व्वमङ्गला ॥
हर्षे सम्पदि कल्याणे मङ्गलं परिकीर्त्तितम् ।
तान् ददाति च या देवी सा एव सर्व्वमङ्गला ॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते प्रकृतिखण्डे ५४ अध्यायः ॥
अपि च ।
"सर्व्वमङ्गलशब्दश्च सम्पूर्णैश्वर्य्यवाचकः ।
आकारो दातृवचनस्तस्मात् सा सर्व्वमङ्गला ॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे सर्व्वमङ्गलास्तोत्रं २७ अध्यायः ॥ अन्यच्च ।
"सर्व्वाणि हृदयस्थानि मङ्गलानि शुभानि च ।
ददाति चेप्सितान् लोके तेन सा सर्व्वमङ्गला ॥"
इति देवीपुराणे ४५ अध्यायः ॥

सर्व्वमयः, त्रि, सर्व्वात्मकः । सर्व्वशब्दात् मयट्प्रत्ययेन निष्पन्नः ॥ (यथा, मार्कण्डेये ।९९।३३।
"आप्याय्यन्ते च ते यज्ञास्त्वदाधारा हुताशन ।
अतः सर्व्वस्य योनिस्त्वं वह्ने सर्व्वमयस्तथा ॥")

सर्व्वमूल्यं, क्ली, (सर्व्वस्य मूल्यम् ।) कपर्द्दकम् । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सर्व्वमूषकः, पुं, (सर्व्वान् मुष्णातीति । मुष + ण्वुल् । पृषोदरादित्वात् साधुः ।) कालः । इति हेमचन्द्रः ॥

सर्व्वरसः, पुं, (सर्व्वो रसो यत्र ।) सूरी । पण्डितः । इति शब्दरत्नावली ॥ धूनकः । इत्यमरः ॥ वाद्यभाण्डम् । तत्तु वीणाभेदः । इति मेदिनी ॥ लवणरसः । इति हेमचन्द्रः ॥ (मधुरादिरसः । यथा, भागवते । २ । ६ । १ ।
"वाचां वह्नेर्मुखं क्षेत्रं छन्दसां सप्त धातवः ।
हव्यकव्यामृतान्नानां जिह्वा सर्व्वरसस्य च ॥"
सर्व्वरसविशिष्टे, त्रि । यथा, छान्दोग्योपनिषदि । ३ । १४ । २ ।
"सर्व्वकामः सर्व्वगन्धः सर्व्वरसः इति ॥")

सर्व्वरसोत्तमः, पुं, (सर्व्वरसेषु उत्तमः ।) लवणरसः । इति हेमचन्द्रः ॥

सर्व्वरात्रः, पुं, (सर्व्वा रात्रिः । "अहःसर्व्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः ।" ५ । ४ । ८७ । इति अच् ।) समस्तरजनी । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥

सर्व्वरी, स्त्री, शर्व्वरी । रात्रिः । इति वक्ष्यमाणशब्ददर्शनात् ॥

सर्व्वरीकरः, पुं, (सर्व्वर्य्याः करः ।) चन्द्रः । इति धरणिः ॥

सर्व्वर्त्तुपरिवर्त्तः, पुं, (सर्व्वर्त्तूनां परिवर्त्तो यत्र ।) वत्सरः । इति जटाधरः ॥

सर्व्वर्त्तुफलं, क्ली, (सर्व्वर्त्तुजातं फलम् ।) सकलर्त्तुजातफलम् । यथा,—
"सर्व्वर्त्तुकुसुमाकीर्णे सर्व्वर्त्तुफलशोभिते ।
स्थिरच्छायद्रुमाकीर्णे सन्तानकवनावृते ॥"
इति भविष्यपुराणे शिवरात्रिव्रतकथा ॥

सर्व्वरक्षणकवचं, क्ली, (सर्व्वरक्षणं सर्व्वरक्षाकरं कवचम् ।) कवचविशेषः । यथा,—
"शिशोः स्वस्त्ययनं चक्रुस्तूर्णं ब्राह्मणपुङ्गवाः ।
हस्तं दत्त्वा शिशोर्गात्रे पपाठ कवचं द्विजः ॥
वदामि तत्ते विप्रेन्द्र कवचं सर्व्वरक्षणम् ।
तद्दत्तं मायया पूर्व्वं ब्रह्मणे नाभिपङ्कजे ॥
निद्रिते जगतां नाथे जले च जलशायिनि ।
भीताय स्तुतिकर्त्त्रे च मधुकैटभयोर्भयात् ॥
योगनिद्रोवाच ।
दूरीभूतं कुरु भयं भयं किन्ते मयि स्थिते ।
स्थितायां मयि च ब्रह्मन् सुखी तिष्ठ जगत्पते ॥*
श्रीहरिः पातु ते वक्त्रं मस्तकं मधुसूदनः ।
श्रीकृष्णश्चक्षुषी पातु नासिकां राधिकापतिः ॥
कर्णयुग्मञ्च कण्ठञ्च कपालं पातु माधवः ।
कपोलं पातु गोविन्दः केशांश्च केशवः स्वयम् ॥
अधरौष्ठं हृषीकेशो दन्तपंक्तिं गदाग्रजः ।
रासेश्वरश्च रसनां तालुकं वामनो विभुः ॥
वक्षः पातु मुकुन्दस्ते जठरं पातु दैत्यहा ।
जनार्द्दनः पातु नाभिं पातु विष्णुश्च ते हनुम् ॥
नितम्बयुग्मं गुह्यञ्च पातु ते पुरुषोत्तमः ।
जानुयुग्मं जानकीशः पातु ते सर्व्वदा विभुः ॥
हस्तयुग्मं नृसिंहश्च पातु सर्व्वत्र सङ्कटे ।
पादयुग्मं वराहश्च पातु ते कमलोद्भव ॥
ऊर्द्ध्वं नारायणः पातु अधस्तात् कमलापतिः ।
पातु पूर्व्वं च गोपालः पातु वह्नौ दशास्यहा ॥
वनमाली पातु याम्यां वैकुण्ठः पातु नैरृते ।
वारुणे वासुदेवश्च पातु ते जलजासन ! ॥
पातु ते सततमजो वायव्यां विष्टरश्रवाः ।
उत्तरे च सदा पातु सोऽनन्तोऽनन्तकः स्वयम् ॥
ऐशान्यामीश्वरः पातु सर्व्वत्र पातु शत्रुजित् ।
जले स्थले चान्तरीक्षे निद्रायां पातु माधवः ॥*

इत्येवं कथितं ब्रह्मन्! कवचं परमाद्भुतम्।
अनेन कृपया दत्तं स्तुतेनैव पुरा मया॥
शुम्भेन सह संग्रामे निर्लक्ष्ये घोरदारुणे।
गगनस्थितो यः सद्यः प्राप्तिमात्रेण शङ्कितः॥
कवचस्य प्रसादेन धरण्यां पतितो मृतः।
पूर्व्वं वर्षशतं खे च कृत्वा युद्धं भयावहम्॥
मृते शुम्भे च गोविन्दः कृपालुर्गगने स्थितः।
माल्यञ्च कवचं दत्त्वा गोलोकं स जगाम ह॥
कल्पान्तरस्य वृत्तान्तं कृपया कथितं मुने।
अद्यापि तव भयं नास्ति कवचस्य प्रभावतः॥
कोटिशः कोटिशो नष्टा मया दृष्टाश्च सर्व्वशः।
अहञ्च हरिणा सार्द्धं कल्पे कल्पे स्थिरा सदा॥
इत्युक्त्वा कवचं दत्त्वा सान्तर्द्धानं चकार ह।
निःशङ्को नाभिकमले तस्थौ स कमलोद्भवः॥*॥
सुवर्णगुटिकायान्तु कृत्वेदं कवचं परम्।
कण्ठे वा दक्षिणे बाहौ बध्नीयात् यः सुधीः सदा॥
विषाग्निजलशत्रुभ्यो भयं तस्य न विद्यते।
जले स्थले चान्तरीक्षे निद्रायां रक्षतीश्वरः॥
संग्रामे वज्रपाते च विपत्तौ प्राणसङ्कटे।
कवचस्मरणादेव सद्यो निःशङ्कतां व्रजेत्॥
बद्ध्वेदं कवचं कण्ठे शङ्करस्त्रिपुरं पुरा।
जघान लीलामात्रेण दुरन्तमसुरेश्वरम्॥
बद्ध्वेदं कवचं काली रक्तबीजं चखाद सा।
सहस्रशीर्षा धृत्वेदं विश्वं धत्ते तिलं यथा॥
आवां सनत्कुमारश्च धर्म्मः साक्षी च कर्म्मणाम्।
कवचस्य प्रसादेन सर्व्वत्र जयिनो वयम्॥
न्यस्य नन्दशिशोः कण्ठे जगाम कवचं द्विजः।
आत्मनः कवचं कण्ठे दधार च हरिः स्वयम्॥
प्रभावं कथितं सर्व्वं कवचस्य हरेस्तथा।
अनन्तस्याच्युतस्यैव प्रभावमतुलं मुने!॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे १२ अध्यायः॥

सर्व्वला, स्त्री, (सर्व्वं लातीति। ला+कः। टाप्।) तोमरः। इत्यमरः। २। ८। ६३॥

सर्व्वलिङ्गी, [न्] पुं, (सर्व्वेषां वर्णाश्रमाणां लिङ्गं चिह्नमस्यास्तीति। इनिः।) पाषण्डः। इत्यमरः॥ द्वे वेदविरुद्धाचारेषु सर्व्ववर्णचिह्नधारिषु बौद्धक्षपणकादिषु। पापं संवन्ति ददति पाषण्डाः मनीषादित्वात् साधुत्वं मूर्द्धन्यमध्योऽयम्। सर्व्वेषां वर्णाश्रमाणां किञ्चित् किञ्चित् लिङ्गमस्त्येषामिति। इन्। इति भरतः॥ सकलचिह्नधारिणि, त्रि॥

सर्व्वली, स्त्री, (सर्व्वं लातीति। ला+कः। गौरादित्वात् ङीष्।) तोमरः। इति शब्दरत्नावली॥

सर्व्वलोहः, पुं, (सर्व्वो लोहो यस्य।) लौहमयबाणः। यथा,—
"प्रक्ष्वेडनः सर्व्वलोहो नाराच एषणश्च सः।"
इति हेमचन्द्रः॥
सकलधातुश्च॥

सर्व्ववर्णिका, स्त्री, (सर्व्वं वर्णयतीति। वर्ण+ण्वुल्। टापि अत इत्वम्।) गम्भारीवृक्षः। इति जटाधरः॥

सर्व्ववल्लभा, स्त्री, (सर्व्वेषां वल्लभा।) असती नारी। इति धरणिः। इति केचित्॥ सकलप्रिये, त्रि॥

सर्व्ववित्, पुं, (सर्व्वं वेत्तीति। विद्+क्विप्।) परमेश्वरः। यथा,—
"यः सर्व्वज्ञः सर्व्वविच्च यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतत् ब्रह्मनाम रूपमन्नञ्च जायते॥"
इति मुण्डकोपनिषत्। १। १। ९॥
सर्व्वज्ञे, त्रि॥)

सर्व्ववेदः, पुं, (सर्व्ववेदानधीते इति। "क्रतूक्थादिसूत्रान्तात् ठक्।" ४। २। ६०। इति ठक्। "सर्व्वादेः सादेश्च लुग्वक्तव्यः।" इति लुक्।) सर्व्ववेदाध्येता ब्राह्मणः। इति केचित्॥ सर्व्वज्ञे, त्रि,॥

सर्व्ववेदाः, [स्] पुं, (सर्व्वं धनं वेदयति निवेदयति ऋत्विग्भ्य इति। विद्+णिच्+असुन्।) सर्व्वस्वदक्षिणयागो येनेष्टः सः। इत्यमरः॥ सर्व्वस्वं दक्षिणा यत्र स सर्व्वस्वदक्षिणो विश्वजिन्नामयागः स येनेष्टः सम्पादितः स सर्व्ववेदा उच्यते। सर्व्वं स्वं वेदयति लम्भयति ऋत्विजे इति सर्व्ववेदाः विद ऌ लाभे अन्तात् चासुसिति असु। इति भरतः॥

सर्व्ववेशी, [न्] पुं, (सर्व्वेषां वेशोऽस्यास्तीति। इनिः।) नटः। इति हेमचन्द्रः॥ सकलवेशधारिणि, त्रि॥

सर्व्वशान्तिकृत्, पुं, (सर्व्वशान्तिं करोतीति। कृ+क्विप्।) भरतराजः। स तु शकुन्तलापुत्रः। इति शब्दरत्नावली॥ सकलशमकारके, त्रि॥

सर्व्वसङ्गतः, पुं, (सर्व्वं सङ्गतमस्येति।) षष्टिकाधान्यम्। इति शब्दचन्द्रिका॥ सकलसङ्गतियुक्ते, त्रि॥

सर्व्वसंसर्गलवणं, क्ली, (सर्व्वसंसर्गेण जातं लवणम्।) औषरकम्। इति राजनिर्घण्टः॥

सर्व्वसन्नहनार्थकः, पुं, (सर्व्वेषां सन्नहनस्य अर्थो यत्र।) चतुरङ्गसैन्यसन्नाहः। तत्पर्य्यायः। सर्व्वाभिसारः २ सर्व्वौघः ३। इत्यमरः॥ सर्व्वसन्नहनं अर्थोऽभिधेयमस्य। सर्व्वैरभिसियतेऽभिमुखं गम्यतेऽनेन सर्व्वाभिसारः करणे घञ्। सर्व्वेषां ओघो वृन्दमत्र सर्व्वौघः। इति भरतः॥

सर्व्वसन्नाहः, पुं, (सर्व्वेषां सन्नाहो यत्र।) सर्व्वात्मा। इति हलायुधः॥ सर्व्वसन्नहनञ्च॥

सर्व्वसहः, पुं, (सर्व्वं सहते इति। सह+अच्।) गुग्गुलुः। इति रत्नमाला॥ सकलसहिष्णौ, त्रि॥ (यथा, भागवते। ६। ५। ६।
"स त्वं जगत्त्राणखलप्रहाणये
निरूपितः सर्व्वसहो गदाभृता॥")

सर्व्वसिद्धिः, पुं, (सर्व्वेषां सिद्धिरस्मात्।) श्रीफलः। इति शब्दचन्द्रिका॥ सकलसाधनञ्च॥

सर्व्वस्वं, क्ली, (सर्व्वं स्वम्।) समुदायधनम्। यथा,
"गुरवे दक्षिणां दद्यात् प्रत्यक्षाय शिवात्मने।
सर्व्वस्वं वा तदर्द्धं वा तदर्द्धं वा तदाज्ञया॥"
इति तन्त्रसारः॥

सर्व्वस्वी, [न्] पुं, वर्णसङ्करविशेषः। स तु गोपकन्यायां नापिताज्जातः। इति ब्रह्मवैवर्त्ते ब्रह्मखण्डे १० अध्यायः॥ (सकलधनविशिष्टे, त्रि॥

सर्व्वहितं, क्ली, (सर्व्वस्मिन् हितम्।) मरिचम्। इति राजनिर्घण्टः॥ सकलहितकारके, त्रि॥

सर्व्वाङ्गं, क्ली, (सर्व्वं अङ्गम्।) सकलावयवः। यथा,—
"पादौ रक्षतु मे केतुः सर्व्वाङ्गं मे नवग्रहाः।
आपादमस्तकञ्चैव सर्व्वविघ्नविनाशकाः॥"
इति उन्मीलातन्त्रे नवग्रहकवचम्॥
(पुं, महादेवः। इति महाभारतम्। १३। १७। ३१॥)

सर्व्वाङ्गसुन्दररसः, पुं, (सर्व्वस्मिन् अङ्गे सुन्दरः। स एव रसः।) औषधविशेषः। यथा,—
"रसगन्धकतुल्यांशो द्वौ भागौ टङ्गणस्य च।
मौक्तिकं विद्रुमं शङ्खमवनीय समांशतः॥
हेमभस्मार्द्धभागञ्च सर्व्वं खल्ले निधापयेत्।
निम्बुद्रवस्य योगेन पिष्टिकां कारयेद्भिषक्॥
पश्चात् गजपुटं दद्यात् शीतलञ्च समुद्धरेत्।
हेमभस्मसमं तीक्ष्णं तीक्ष्णार्द्धो दरदो मतः॥
एकीकृत्य समस्तानि सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत्।
ततः पूजां प्रकुर्व्वीत भक्षयेत् दिवसे शुभे॥
सर्व्वाङ्गसुन्दरो ह्येष रोगराजनिकृन्तनः।
वातपित्तज्वरे घोरे सन्निपाते सुदारुणे॥
अर्शःसु ग्रहणीरोगे मेहे गुल्मे भगन्दरे।
निहन्ति वातजान्रोगान् श्लैष्मिकांश्च विशेषतः॥
पिप्पलीमधुसंयुक्तं घृतयुक्तमथापि वा।
भक्षयेत् पर्णखण्डेन सितया चार्द्रकेण वा॥
गुडूचीसत्त्वसहितं प्रमेहे च विशेषतः।
रसरत्नाकरप्रोक्तः सिद्धयोगो रसोत्तमः।
राजिकाहिङ्गुतैलाम्लं लवणाढ्यं विवर्ज्जयेत्॥"
सर्व्वाङ्गसुन्दररसः। इति भैषज्यरत्नावली॥
(यथा च।
"रसगन्धकयोः कर्षं ग्राह्यमेकं सुशोधितम्।
ततः कज्जलिकां कृत्वा मृदुपाकेन साधयेत्॥
जातीफलं तथा कोषं लवङ्गारिष्टपत्रके।
सिन्धुवारदलञ्चैव एलाबीजं तथैव च॥
एषाञ्च कर्षमात्रेण तोयेनाथ विमर्द्दयेत्।
मुक्तागृहे पुनः स्थाप्यं पुटपाकेन साधयेत्॥
घनपङ्के बहिर्लिप्ता पुटमध्ये निधापयेत्।
गुञ्जाष्टकप्रमाणेन प्रत्यहं भक्षयेन्नरः॥
एतत् प्रोक्तं कुमाराणां रक्षणाय महौषधम्।
ज्वरघ्नं दीपनञ्चैव बलवर्णप्रसाधनम्॥
दुर्व्वारं ग्रहणीरोगं जयत्येव प्रवाहिकाम्।
सूतिकाञ्च जयेदेतदक्ताशों रक्तसम्भवम्॥
पिशाचा दानवा दैत्या बालानां विघ्नकारकाः।
यत्रौषधवरस्तिष्ठेत् तत्र सीमां न यान्ति ते॥
बालानां गदयुक्तानां स्त्रीणाञ्चैव विशेषतः।
महागन्धकमेतद्धि सर्व्वव्याधिनिसूदनम्॥
विना पाकेन सर्व्वाङ्गसुन्दरोऽयं प्रकीर्त्तितः॥"
इति वैद्यकरसेन्द्रसारसंग्रहेऽतिसाराधिकारे॥)

सर्व्वाङ्गीणः, त्रि, (सर्व्वाङ्गं व्याप्नोतीति । "तत्सर्व्वादेः पथ्यङ्गकर्म्मपत्रपात्रं व्याप्नोति ।" ५ । २ । ७ । इति खः ।) सर्व्वावयवसम्बन्धयुक्तः । सर्व्वावयवव्याप्तः । यथा, भट्टौ । ४ । १० ।
"वसानस्तन्तुकनिभे सर्व्वाङ्गीणे तरुत्वचौ ।
काशीरः खाड्गिकः शार्ङ्गी रक्षन् विप्रांस्तनुत्रवान् ॥"

सर्व्वाणी, स्त्री, (सर्व्वस्य पत्नी । सर्व्व+"इन्द्रवरुणभवसर्व्वेति ।" ४।१।४९। इति ङीष् । आनुगागमश्च ।) दुर्गा । इत्यमरः ।१।१।३६। अस्या व्युत्पत्तिर्यथा, ब्रह्मवैवर्त्ते प्रकृतिखण्डे ५४ अध्याये ।
"सर्व्वान्मोक्षं प्रापयति जन्ममृत्युजरादिकम् ।
चराचरांश्च विश्वस्थान् सर्व्वाणी तेन कीर्त्तिता ॥"

सर्व्वानुकारिणी, स्त्री, (सर्व्वमनुकरोतीति । कृ+णिनिः । ङीप् ।) शालपर्णी । इति राजनिर्घण्टः ॥

सर्व्वानुभूतिः, स्त्री, (सर्व्वेषामनुभूतिर्यत्र ।) श्वेतत्रिवृता । इत्यमरः ।२।४।१०८॥ (अस्याः पर्य्यायो यथा, भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे प्रथमभागे ।
"श्वेता त्रिवृत्ता भण्डी स्यात्त्रिवृता त्रिपुटापि च ।
सर्व्वानुभूतिः सरला निशोत्रा रेचनीति च ॥")
चतुर्व्विंशतिभूतार्हदन्तर्गतार्हद्भेदः । चतुर्व्विंशतिभाव्यर्हदन्तर्गतार्हद्भेदश्च । इति हेमचन्द्रः ॥

सर्व्वान्नभक्षकः, त्रि, (भक्षयतीति । भक्ष+ण्वुल् । सर्व्वेषामन्नं सर्व्वान्नम् । तस्य भक्षकः ।) सकलान्नभोजी । तत्पर्य्यायः । उदरपिशाचः २ सर्व्वान्नीनः ३ । इति हेमचन्द्रः ॥

सर्व्वान्नभोजी, [न्] त्रि, सर्व्वेषां चतुर्णां वर्णानामेवान्नं भुङ्क्ते सर्व्वान्नभोजी । इति भरतः ॥ (भुज+णिनिः ।) सर्व्वेषामन्नभक्षकः । इत्यमरः ।३।१।२२॥ सर्व्वप्रकारान्नभक्षकः । इति केचित् ॥

सर्व्वान्नीनः, त्रि, (सर्व्वान्नानि भक्षयतीति । सर्व्वान्न+"अनुपदसर्व्वान्नायानयमिति ।" ५ । २ । ९ । इति खः ।) सर्व्वान्नभोजी । इत्यमरः ॥

सर्व्वाभिसन्धी, [न्] पुं, (सर्व्वस्मिन् विषये अभिसन्धास्यस्येति । इनिः ।) वैडालव्रतिकः । छद्मतापसः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ सकलाभिसन्धानविशिष्टे, त्रि ॥

सर्व्वाभिसारः, पुं, (सर्व्वेषामभिसारो यत्र ।) चतुरङ्गसैन्यसन्नाहः । इत्यमरः । २ । ८ । ९४ ॥ अस्य पर्य्यायः सर्व्वसन्नहनशब्दे द्रष्टव्यः ॥

सर्व्वार्थसाधिका, स्त्री, (सर्व्वान् अर्थान् साधयतीति । साधि+ण्वुल् । टापि अत इत्वम् ।) दुर्गा । यथा, मार्कण्डेये देवीमाहात्म्ये ।
"सर्व्वमङ्गलमङ्गल्ये शिवे सर्व्वार्थसाधिके ।
शरण्ये त्र्यम्बके गौरि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥"
सकलप्रयोजनसाधके, त्रि ॥

सर्व्वार्थानुसाधिनी, स्त्री, (सर्व्वानर्थाननुसाधयतीति । अनु+साधि+णिनिः । ङीप् ।) दुर्गा । यथा, देवीपुराणे ४५ अध्याये ।
"धर्म्मादीन् चिन्तितान् यस्मात् सर्व्वलोकेषु यच्छति ।
ततो देवी समाख्याता सा सर्व्वार्थानुसाधिनी ॥"

सर्व्वार्थसिद्धः, पुं, (सर्व्वेषु अर्थेषु सिद्धः ।) बुद्धः । इत्यमरः । १ । १ । १५ ॥ सकलप्रयोजनसिद्धियुक्ते, त्रि ॥

सर्व्वावसरः, पुं, (सर्व्वेषामवसरो यत्र ।) अर्द्धरात्रः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सर्व्वास्त्रा, स्त्री, (सर्व्वाणि अस्त्राणि यस्याः ।) षोड़शविद्यादेव्यन्तर्गतदेवीविशेषः । इति हेमचन्द्रः ॥ सकलास्त्रयुक्ता च ॥

सर्व्वाह्णः, पुं, (सर्व्वमहः । "राजाहःसखिभ्यष्टच् ।" ५।४।९१। इति टच् । "अह्नोऽह्न एतेभ्यः ।" ५ । ४ । ८८ । इति अह्नादेशः । णत्वञ्च ।) समस्तदिनम् । इति व्याकरणम् ॥

सर्व्वीयः, त्रि, (सर्व्वस्मै हितः । सर्व्व+"सर्व्वाण्णस्य वा वचनम् ।" ५ । १ । १० । इत्यस्य वार्त्तिकोक्त्या पक्षे छः ।) सर्व्वसम्बन्धी । सर्व्वशब्दात् छीयप्रत्ययेन निष्पन्नः । इति व्याकरणम् ॥

सर्व्वेश्वरः, पुं, (सर्व्वेषामीश्वरः ।) शिवः । इति केचित् ॥ सार्व्वभौमश्च । (निखिलप्रभौ, त्रि । यथा, भागवते । ६ । ९ । ३३ ।
"केवलजगदाधार लोकैकनाथ सर्व्वेश्वर लक्ष्मीनाथ इति ॥")

सर्व्वौघः, पुं, (सर्व्वेषामोघो यत्र ।) चतुरङ्गसैन्यसन्नाहः । इत्यमरः ॥ गुरुवेगः । इति मेदिनी ॥

सर्व्वौषधिः, पुं, (सर्व्वा ओषधयो यत्र ।) ओषधिवर्गविशेषः । यथा,—
"कुष्ठमांसीहरिद्राभिर्वचाशैलेयचन्दनैः ।
सुराचन्दनकर्पूरैः मुस्तैः सर्व्वौषधिः स्मृतः ॥"
अत्र द्वितीयचन्दनपदं रक्तचन्दनपरम् ॥ इति राजनिर्घण्टः ॥ (क्वचित् स्त्रीलिङ्गेऽपि दृश्यते ॥)

सर्व्वौषधिगणः, पुं, (सर्व्वौषधीनां गणः ।) मुराद्यौषधिसमूहः । यथा,—
"मुरा मांसी वचा कुष्ठं शैलेयं रजनीद्वयम् ।
शटी चम्पकमुस्तञ्च सर्व्वौषधिगणः स्मृतः ॥"
इति शब्दचन्द्रिका ॥

अन्यच्च ।
"हरिद्रा चन्दनं दार्व्वी मुस्तकं देवताड़कम् ।
धन्याकं जीरकं मेथी धात्रीफलमुशीरकम् ॥
शिलागन्धिः शटी गन्धमांसी कर्पूरकं वचा ।
नखी मरुवकं कुष्ठं देवदारु विड़ङ्गकम् ॥
सरलं पद्मकाष्ठञ्च वालकं भद्रमुस्तकम् ।
ग्रन्थिकञ्च जटामांसी पलाशः शैलजं शमी ॥
अर्कचोरकं दूर्व्वा मुरा मांसी च कुङ्कुमम् ।
अपामार्गो मधुरिका विकाशा खदिरः कुशा ॥
चातुर्ज्जातकसत्योऽथोऽश्वगन्धा यज्ञडुम्बरः ।
नागेश्वरश्च कस्तूरी त्रिफला पद्मकेशरम् ॥
कक्कोलं धातकीपुष्पं त्रिकटु रेणुकं यवः ।
तिलाः कुन्दुरु लशुनं भार्गी गोरोचना वकः ॥
शुण्ठी पुष्पञ्च मञ्जुनी श्रीफलं वंशलोचना ।
इन्दीवरं मधुसुता वकुलं मालतीदलम् ॥
इन्द्रबीजं कोकनदं जयन्ती गजपिप्पली ।
श्वेतापराजितापुष्पं सर्व्वौषधिगणः स्मृतः ॥"
इति पाद्मोत्तरखण्डे १०७ अध्यायः ॥

सर्षपः, पुं, (सरतीति । सृ गतौ+"सर्त्तेरपः षुक् च ।" उणा० ३ । १४१ । इति अपः षुगागमश्च ।) शस्यविशेषः । सरिषा इति भाषा ॥ तत्पर्य्यायः । तन्तुभः १ कदम्बकः २ । इत्यमरः । २।९।१७॥ सरिषपः ४ । इति भरतः ॥ तन्तुकः ५ । इति रमानाथः ॥ कटुस्नेहः ६ । इति जटाधरः ॥ शर्षपः ७ । इति शब्दरत्नावली ॥ राजक्षवकः ८ । इति राजनिर्घण्टः ॥ (यथा, छान्दोग्योपनिषदि । ३ । १४ । ३ ।
"एष म आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्व्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा इति ॥")
अस्य गुणाः । कफवातघ्नत्वम् । तीक्ष्णत्वम् । उष्णत्वम् । रक्तपित्तकारित्वम् । कटुत्वम् । क्रिमिकुष्ठनाशित्वञ्च । सिद्धार्थस्यापि तद्गुणाः । इति राजवल्लभः ॥ * ॥ अपरञ्च ।
"आसुरी राजिका राजी रक्तिका रक्तसर्षपः ।
तीक्ष्णगन्धा मधुरिका चवकः क्षतकः क्षवः ॥
आसुरी कटुतिक्तोष्णा वातशीहार्त्तिशूलनुत् ।
दाहपित्तप्रदा हन्ति कफगुल्मक्रिमिव्रणान् ॥*॥
सर्षपो राजक्षवकः कृष्णा तीक्ष्णफला राजिका ।
राज्ञी सा कृष्णा सर्षपाख्या विज्ञेया राजसर्षपाख्या च ॥
राजसर्षपकस्तिक्तः कटूष्णो वातशूलनुत् ।
पित्तदाहप्रदो गुल्मकण्डूकुष्ठव्रणापहः ॥"
इति काशेयसरिषपः ॥ * ॥
"सर्षपस्तनयो गौरः सिद्धार्थो भूतनाशनः ।
कटुस्नेहो ग्रहघ्नश्च कण्डूघ्नो राजिकाफलः ॥
तीक्ष्णकश्च दुराधर्षो रक्षोघ्नः कुष्ठनाशनः ।
सिद्धप्रयोजनः सिद्धः साधनः सितसर्षपः ॥
सिद्धार्थः कटुकोष्णश्च वातरक्तग्रहापहः ।
त्वग्दोषशमनो रुच्यो विषभूतव्रणापहः ॥"
इति सर्षपः ॥ * ॥

तत्तैलगुणाः ।
"सर्षपतैलं तिक्तं कटुकं वातकफविकारघ्नम् ।
पित्तास्रदोषदं क्रिमिकुष्ठघ्नं तिलजवच्चक्षुष्यम् ॥"
तत्पत्रशाकगुणाः ।
"सार्षपं पत्रमत्युष्णं रक्तपित्तप्रकोपणम् ।
त्रिदाहि कटुकं स्वादु शुक्रहृत् रुचिदायकम् ॥"
इति राजनिर्घण्टः ॥ * ॥

अन्यच्च ।
"सर्षपः कटुकस्नेहस्तन्तुभश्च कदम्बकः ।
गौरस्तु सर्षपः प्राज्ञैः सिद्धार्थ इति कथ्यते ॥
सर्षपस्तु रसे पाके कटुः स्निग्धः सतिक्तकः ।
तीक्ष्णोष्णः कफवातघ्नो रक्तपित्ताग्निवर्द्धनः ॥
रक्षोहरो जयेत् कण्डूकुष्ठकोठक्रिमिग्रहान् ।
यथा रक्तस्तथा गौरः किन्तु गौरो वरो मतः ॥"

अथ राइ । कृष्ण राइ ।
"राजी तु राजिका तीक्ष्णगन्धा क्षुज्जनिका सुरी ।
क्षवः क्षुताभिजनकः क्रिमिकः कृष्णसर्षपः ॥
राजिका कफवातघ्नी तीक्ष्णोष्णा रक्तपित्तकृत् ।

किञ्चिन्मूत्राग्निदा कण्डूकुष्ठकोठकृमीन् हरेत् ॥
अतितीक्ष्णा विशेषेण तद्वत् कृष्णापि राजिका ॥”
तत्तैलगुणाः ।
“दीपनं सार्षपं तैलं कटुपाकरसं लघु ।
लेखनं स्पर्शवीर्य्योष्णं तीक्ष्णं पित्तास्रदूषकम् ॥
कफमेदोऽनिलार्शोघ्नं शिरःकर्णामयापहम् ।
कण्डूकोठकृमिश्वित्रकुष्ठदुष्टव्रणप्रणुत् ॥
तद्वत् राजिकयोस्तैलं विशेषान्मूत्रकृच्छ्रकृत् ॥”
राजिकयोः कृष्णा राई । आरक्त राई । तयोः ॥ * ॥ तच्छाकगुणाः ।
“कटुकं सार्षपं शाकं बहुमूत्रमलं गुरु ।
अम्लपाकं विदाहि स्यादुष्णं रूक्षं त्रिदोषकृत् ॥
सक्षारं लवणं तीक्ष्णं स्वादुशाकेषु निन्दितम् ।
तीक्ष्णोष्णं सार्षपं नालं वातश्लेष्मव्रणापहम् ।
कण्डूकृमिहरं दद्रुकुष्ठघ्नं रुचिकारकम् ॥”
इति भावप्रकाशः ॥ * ॥
स्थावरविषभेदः । इति हेमचन्द्रः ॥ षड्लिक्षा-परिमाणम् । यथा,—
“जालान्तरगते भानौ यच्चाणुर्दृश्यते रजः ।
तैश्चतुर्भिर्भवेल्लिक्षा लिक्षाषड्भिश्च सर्षपः ॥”
इति शब्दचन्द्रिका ॥

सर्षपतैलं, क्ली, (सर्षपोद्भवं तैलम् ।) सर्षपजातस्नेहः । यथा,—
“सर्षपतैलं तिक्तं कटुकं वातकफविकारघ्नम् ।
पित्तास्रदोषदं कृमिकुष्ठघ्नं तिलजवच्चक्षुष्यम् ॥”
इति राजनिर्घण्टः ॥

सर्षपी, स्त्री, (सृ गतौ + अपः सुगागमश्च । ततो ङीष् ।) खञ्जनिका । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ (पिडकाविशेषः । यथा, सुश्रुते । २ । ६ ।
“गौरसर्षपसंस्थाना तत्प्रमाणा तु सर्षपी ॥”)

सलं, क्ली, (सरतीति । सृ गतौ + अच् । रस्य लः । सल गतौ + अच् वा ।) जलम् । इत्यमरटीकायां भरतः ॥

सलिलं, क्ली, (सलति गच्छतीति । सल गतौ + “सलिकल्यनीति ।” उणा० १ । ५५ । इति इलच् ।) जलम् । इत्यमरः । १ । १० । ३ ॥ तत्र विण्मूत्रत्यागनिषेधो यथा, मनुः ।
“न मूत्रं पथि कुर्व्वीत न भस्मनि न गोव्रजे ।
न फालकृष्टे न जले न चित्यां न च पर्व्वते ॥
न जीर्णदेवायतने न वल्मीके कदाचन ।
न ससत्त्वेषु गर्त्तेषु न गच्छन्नापि संस्थितः ॥
न नदीतीरमासाद्य न च पर्व्वतमस्तके ।
वाय्वग्निविप्रानादित्यमपः पश्यंस्तथैव च ।
न कदाचन कुर्व्वीत विण्मूत्रस्य विसर्ज्जनम् ॥”
इत्याह्निकतत्त्वम् ॥
अपि च ।
“मूत्रश्लेष्मपुरीषाणि यैरुत्सृष्टानि वारिणि ।
ते पात्यन्ते च विण्मूत्रे दुर्गन्धे पूयपूरिते ॥”
इति वामनपुराणे कर्म्मविपाको नाम १२ अध्यायः ॥ * ॥ अथ सलिलपरीक्षा । पितामहः ।
“तोयस्याथ प्रवक्ष्यामि विधिं धर्म्म्यं सनातनम् ।
मण्डलं पुष्पधूपाभ्यां कारयेत् सुविचक्षणः ॥
शरान् संपूजयेद्भक्त्या वैणवञ्च धनुस्तथा ॥”
तत्र प्रथमतो वरुणं पूजयेत् । यथा नारदः ।
“गन्धमाल्यैः सुरभिभिर्मधुक्षीरघृतादिभिः ।
वरुणाय प्रकुर्व्वीत पूजामादौ समाहितः ॥”
ततो धर्म्मावाहनादिसकलदेवतापूजाहोमसमस्तकप्रतिज्ञापत्रशिरोनिवेशान्तं कर्म्म कुर्य्यात् । कात्यायनः ।
“शरांस्त्वनायसाग्रांस्तु प्रकुर्व्वीत विशुद्धये ।
वेणुकाष्ठमयांश्चैव क्षेप्ता च सुदृढं क्षिपेत् ॥”
पितामहः ।
“क्षेप्ता च क्षत्त्रियः कार्य्यः तद्वृत्तिर्ब्राह्मणोऽथवा ।
अक्रूरहृदयः शान्तः सोपवासस्तथा शुचिः ॥
इषून् प्रक्षिपेद्धीमान् मारुते वाति वा भृशम् ।
विषमे भूप्रदेशे च वृक्षस्थाणुसमाकुले ॥”
नारदः ।
“क्रूरं धनुः सप्तशतं मध्यमं षट्शतं मतम् ।
मन्दं पञ्चशतं प्रोक्तमेष ज्ञेयो धनुर्व्विधिः ॥”
अङ्गुलीनां सप्ताधिकं शतं यस्य धनुषः परिमाणं तत् सप्तशतं एवं षट्शतादिकम् । पितामहः ।
“मध्यमेन तु चापेन प्रक्षिपेत्तु शरत्रयम् ।
हस्तानाञ्च शते सार्द्धे लक्ष्यं कृत्वा विचक्षणः ॥
तेषाञ्च प्रेषितानान्तु शराणां शास्त्रदेशनात् ।
मध्यमस्तु शरो ग्राह्यः पुरुषेण बलीयसा ॥
शराणां पतनं ग्राह्यं सर्पणं परिवर्ज्जयेत् ।
सर्पन् सर्पन् शरो याति दूराद्दूरतरं यतः ॥”
पतनं ग्राह्यमिति शरपतनस्थानपर्य्यन्तं गच्छेदित्यर्थः । तेन प्रसरणपक्षेऽपि पतनस्थानकशरग्रहणम् । ततश्च प्रथमतः पुरुषान्तरेण तत्स्थाने शर आनेतव्यः । नारदः ।
“नदीषु नातिवेगासु तडागेषु सरःसु च ।
ह्रदेषु स्थिरतोयेषु कुर्य्यात् पुंसां निमज्जनम् ॥”
नातिवेगासु स्थितिविरोधिवेगशून्यासु । विष्णुः ।
पङ्कशैवालदुष्टग्राहमत्स्यजलौकादिवर्ज्जिते तस्य नाभिमात्रजले मग्नस्याराधकेषिणः पुरुषस्यान्यस्योरू गृहीत्वाभिमन्त्रिताम्भः प्रविशेत् । तत्समकालञ्च नातिक्रूरमृदुना धनुषा पुरुषोऽपरः शरमोक्षं कुर्य्यादिति । तस्य शोध्यस्येत्यर्थः । अन्यथा तस्येति व्यर्थं स्यात् ॥ * ॥ अन्यपुरुषस्य स्तम्भधारणमाह स्मृतिः ।
“उदके प्राङ्मुखस्तिष्ठेद्धर्म्मस्थूणां प्रगृह्य च ॥”
प्राड्विवाककर्त्तृकजलाभिमन्त्रणमाह पितामहः ।
“तोय त्वं प्राणिनां प्राणः सृष्टेराद्यन्तु निर्म्मितम् ।
शुद्धेश्च कारणं प्रोक्तं द्रव्याणां देहिनान्तथा ।
अतस्त्वं दर्शयात्मानं शुभाशुभपरीक्षणे ॥” * ॥
शोध्यकर्त्तृकाभिमन्त्रणमाह याज्ञवल्क्यः ।
“सत्येन माभिरक्ष त्वं वरुणेत्यभिशाप्य कम् ।
नाभिमात्रोदकस्थस्य गृहीत्वोरू जलं विशेत् ॥”
मा मामभिशाप्य शपथं कारयित्वा कं जलं विशेत् निमज्जेत् । तोरणञ्च निमज्जनसमीपे समे स्थाने शोध्यकर्णप्रमाणोच्छ्रितं कार्य्यम् । यथा, नारदः ।
““गत्वा तु तज्जलस्थानं तटे तोरणमुच्छ्रितम् ।
कुर्व्वीत कर्णमात्रन्तु भूमिभागे समे शुचौ ॥”
शरमोक्षे विशेषमाह तु नारदबृहस्पती ।
“शरप्रक्षेपणस्थानाद्युवा जवसमन्वितः ।
गच्छेत् परमया शक्त्या यत्रासौ मध्यमः शरः ॥
मध्यमं शरमादाय पुरुषोऽन्यस्तथाविधः ।
प्रत्यागच्छेत् तु वेगेन यतः स पुरुषो गतः ॥
आगतस्तु शरग्राही न पश्यति यदा जले ।
अन्तर्ज्जलगतं सम्यक् तदा शुद्धिं विनिर्द्दिशेत् ॥
अन्यथा न विशुद्धः स्यादेकाङ्गस्यापि दर्शनात् ।
स्थानाद्वान्यत्र गमनाद्यस्मिन् पूर्व्वं निवेशयेत् ॥”
जविनौ विशेषयति नारदः ।
“पञ्चाशतो धावकानां यौ स्यातामधिकौ जवे ।
तौ च तत्र नियोक्तव्यौ शरानयनकर्म्मणि ॥ ”
एकाङ्गस्य दर्शनादिति कर्णाद्यभिप्रायेण ।
“शिरोमात्रन्तु दृश्येत न कर्णौ नापि नासिके ।
अप्सु प्रवेशने यस्य शुद्धं तमपि निर्द्दिशेत् ॥”
इति विशेषाभिधानात् ॥
कात्यायनः ।
“निमज्ज्योत्प्लवते यस्तु दृष्टश्चेत् प्राणिना नरः ।
पुनस्तत्र निमज्जेत दंशचिह्नविचारितः ॥”
जलान्तर्गतमत्स्यजलौकादिना दष्टः समुत्प्लवते यदि तदा दष्टे दृष्टे पुनर्निमज्जनीय इत्यर्थः ॥ * ॥
पितामहः ।
“गन्तुश्चापि च कर्त्तुश्च समं गमनमज्जनम् ।
गच्छेत्तोरणमूलात्तु शरस्थानं जवी नरः ॥
तस्मिन् गते द्वितीयोऽपि वेगादादाय शायकम् ।
गच्छेत्तोरणमूलन्तु यतः स पुरुषो गतः ॥
आगतस्तु शरग्राही न पश्यति यदा जले ।
अन्तर्ज्जलगतं सम्यक् ततः शुद्धिं विनिर्द्दिशेत् ॥”
अत्र मज्जनसमकालं गमनाभिधानात् शरमोक्षसमकालं गमनं शूलपाण्युक्तमयुक्तम् । मज्जनसमकालक्षिप्तं मध्यमं शरमादायेत्यपरमुक्तमपि प्रमाणशून्यम् । ततश्च त्रिषु शरेषु मुक्तेषु एको वेगवान् मध्यमशरपतनस्थानं गत्वा तमादाय तत्रैव तिष्ठति अन्यस्तु पुरुषो वेगवान् शरमोक्षस्थाने तोरणमूले तिष्ठति एवं स्थितयोस्तृतीयायां करतालिकायां प्राड्विवाकदत्तायां शोध्यो निमज्जति तत्समकालमेव तोरणमूलस्थितोऽपि द्रुततरं मध्यमशरपतनस्थानं गच्छति शरग्राही च तस्मिन् प्राप्ते द्रुततरं तोरणमूलं प्राप्यान्तर्ज्जलगतं यदि न पश्यति तदा शुद्धो भवतीति वर्त्तुलार्थः ॥ * ॥ तत्र प्रयोगः । उक्तलक्षणजलाशयनिकटे तथा तोरणं विधाय उक्तदेशे लक्ष्यं कृत्वा तोरणसमीपे सशरं धनुः संपूज्य जलाशये वरुणमावाह्य पूजयित्वा तत्तीरे धर्म्मादींश्च देवान् हवनान्तमिष्ट्वा दक्षिणां कृत्वा शोध्यस्य शिरसि प्रतिज्ञापत्रं बद्ध्वा प्राड्विवाको जलमभिमन्त्रयेत् ।

"ॐ तीर्थ त्वं प्राणिनां प्राण: स्रष्टुराद्यन्तु निर्म्मितम् ।
शुद्धेश्च कारणं प्रोक्तं द्रव्याणां देहिनां तथा ।
अतस्त्वं दर्शयात्मानं शुभाशुभपरीक्षणे ॥"
इति मन्त्रेण ॥

शौध्यस्तु ॐ सत्येन माभिरक्षस्व वरुणेत्यनेन जलमभिमन्त्र्य गृहीतस्थूणस्य शोध्यनाभिमात्रोदकावस्थितस्य बलीयस: प्राङ्मुखस्य पुरुषस्य समीपं जलमध्ये गच्छेत् । तत: शरेषु त्रिषु मुक्तेषु मध्यमशरपतनस्थाने मध्यमशरं गृहीत्वा अविस्मिन्नेकस्मिन् पुरुषे स्थिते अन्यस्मिंश्च तीरस्थमूले स्थिते प्राड्विवाकेन तालत्रये दत्ते शोध्यो गृहीतस्थूणप्राङ्मुखपुरुषस्योरू गृहीत्वा निमज्जति । तत्समकालमेव तीरस्थमूलस्थोऽपि मध्यमशरस्थानं द्रुतं गच्छति । तत: शरग्राही च तस्मिन् प्राप्ते द्रुतं तीरस्थमूलं प्राप्य जलान्त:स्थं यदि न पश्यति तदा शुद्ध: । कर्णाद्यङ्गं विना शिरोमात्रदर्शनेऽपि शुद्ध: मज्जनस्थानादन्यत्र गमनेऽप्यशुद्ध: । दक्षिणादिकं दद्यात् । इति दिव्यतत्त्वम् ॥

सलिलकुन्तल:, पुं, (सलिलस्य कुन्तल इव ।) शैवाल: । इति त्रिकाण्डशेष: ॥

सलिलजं, क्ली, (सलिले जायते इति । जन + ड: ।) पद्मम् । इति राजनिर्घण्ट: ॥ जलजाते, त्रि ॥ (यथा, महाभारते । ७ । १२५ । २१ ।
"एष वृष्णिप्रवीरेण भ्रात: सलिलजो भृशम् ।
पृथिवीमान्तरीक्षञ्च निनादयति शङ्खराट् ॥")

सलिलाशय:, पुं, (सलिलानामाशय: ।) जलाशय: । तस्य वैकृत्ये दोषो यथा,—
गर्ग उवाच ।
"नगरादपसर्पन्ते समीपमुपयान्ति च ।
नद्यो ह्रदा: प्रस्रवणा: विरसाश्च भवन्ति ते ।
विवर्णं कलुषं तप्तं फेनवज्जन्तुसङ्कुलम् ।
क्षीरं स्नेहं सुरां रक्तं वहन्ते चाकुलोदका: ॥
षण्मासाभ्यन्तरे तत्र परचक्रभयं भवेत् ।
जलाशया नदन्ते वा प्रज्वलन्ति कथञ्चन ॥
विमुञ्चन्ति तथा ब्रह्मन् ज्वालाधूमरजांसि च ।
अखाते वा जलोत्पत्ति: सवत्त्वा वा जलाशया: ॥
संगीतशब्दा श्रूयन्ते जले मारभयं वदेत् ।
दिव्यमम्भोभयं सर्पिर्मधुना त्ववसेचनम् ।
जप्तया वारुणा मन्त्रास्तैश्च होमो जले भवेत् ॥
मध्वाज्ययुक्तं परमान्नमत्र
देयं द्विजाग्र्यं द्विजभोजनार्थम् ।
गावश्च देया: सितवस्त्रयुक्ता-
स्तथोदकुम्भा: सलिलाशयान्त्यै ॥"
इति मात्स्ये २०८ अध्याय: ॥

सलिलेन्धन:, पुं, (सलिलं इन्धनं यस्य ।) वाड़वानल: । इति त्रिकाण्डशेष: ॥

सलील:, त्रि, लीलया सह वर्त्तमान: । लीलाविशिष्ट: । यथा,—
"सुरद्रुमूलमण्डपे विचित्ररत्ननिर्म्मिते
लसद्वितानभूषिते सलीलविभ्रमालसम् ।
सुराङ्गनाभवस्रवीकरप्रपञ्चचामर-
स्फुरत्समीरवीजितं सदाच्युतं भजामि तम् ॥"
इति छन्दोमञ्जरी ॥

सल्लकी, स्त्री, (सत्शल्यं लक्यते खाद्यते गजैरिति । सत् + लक + क्वुन् । गौरादित्वात् ङीष् ।) स्वनामख्यातवृक्ष: । तत्पर्य्याय: । गजभक्ष्या २ सुवहा ३ सुरभी ४ रसा ५ महेरणा ६ कुन्दुरुकी ७ ह्लादिनी ८ । इत्यमर: ।२।४।१२४॥ गजभक्षा ९ सुरभि: १० सुरभीरसा ११ महेरुणा १२ शल्लकी १३ सिल्लकी १४ शिल्लकी १५ ह्रादिनी १६ । इति तट्टीका ॥ शल्यते श्लाघ्यते गजै: शल्लकी । शल क ड श्लाघे चुरादि: णेरभावपक्षे क्वन्नीति लकट । श्वाविद्दुभिदौ शल्लक्यौ शङ्का श्वासवितर्कयोरिति तालव्यादौ रभस: । सलति गच्छति सलगतौ इत्यादि: वाक: भौवादि: निपातनात् लस्य द्वित्वम् । सतृशल्य लक्यते खाद्यते गजैरिति वा सल्लकी इत्यादिरित्यर्थे । सिल्लकी चेत्येके । देशीप्रायेयम् । सल्लकी सिल्लकी क्रदेति रुद्र: । इति स्वामी । इत्यमरटीकायां भरत: ॥

संव(म्ब)रं, क्ली, (संव्रियते इति । सं + वृ + अप् ।) संयम: । इति त्रिकाण्डशेष: ॥ बौद्धव्रतविशेष: । इति मेदिनी ॥ जलम् । इत्यमर: । १।१०।४ ॥ "सम्बति सम्बरम् । सम्ब सर्पणे पूर्व्वेण अर सम्बरं इत्यादि । शम्ब गताविव्यस्मादरे तालव्यादि च ।
'क्लीवन्तु सम्बरं नीरबौद्धव्रतविशेषयो: ।
विशेषे पुंसि दैत्यस्य मत्स्यस्य हरिणस्य च ॥'
इति दन्त्यादौ रभस: ॥
'शम्बरो हरिणे दैत्ये मत्स्ये च सलिले स्मृत: ॥'
इति तालव्यादावजय: ।" इति भरत: ॥

संव(म्ब)र:, पुं, (संवृणोति आवृणोति जलमिति । सं + वृ + अच् ।) सेतु: । यथा । सेतौ पल्यालिसंवरा: । इति हेमचन्द्र: ॥ दैत्यविशेष: । हरिणविशेष: । मत्स्यविशेष: । शैलविशेष: । जिनविशेष: । इति मेदिनी ॥ स तु भावर्हन् । इति हेमचन्द्र: ॥

संवरणं, क्ली, (सं + वृ + ल्युट् ।) आवरणम् । (यथा, महाभारते । १ । १४१ । ७१ ।
"मन्त्रसंवरणे यत्न: सदा कार्य्योऽनसूयता ॥")
इन्द्रियसंयम: । इति संवरादिशब्दटीकायां भरत: ॥ (प्राकार: । यथा, रामायणे । २ । ८८ । २४ ।
"शून्यसंवरणारक्षामयन्त्रितहयद्विपाम् ।
अनावृतपुरद्वारां राजधानीमरक्षिताम् ॥"
"शून्यसंवरणारक्षां संवरणानां प्राकाराणामासमन्तात् रक्षया शून्याम् ।" इति तट्टीका ॥*॥ पुं, अजमीढ़पुत्त्र: । स च कुरो: पिता । इति महाभारतम् । १ । ९५ । ३७ ॥)

संवरारि:, पुं, (संवरस्य अरि: ।) कामदेव: । इत्यमर: ।१।१।२३॥ "संवरस्य दैत्यविशेषस्य अरि: ।
'क्लीवन्तु संवरं नीरबौद्धव्रतविशेषयो: ।
विशेषे पुंसि दैत्यस्य मत्स्यस्य हरिणस्य च ॥'
इति दन्त्यादौ रभस: । संवरणं संवर: भावेऽल् । इन्द्रियसंयम: संवरस्तस्यारिरिति वा । तदुक्तं साहित्यकल्पतरुणा । रुद्रस्य सम्बरारिश्च पुष्पवतीनां कुसुमधन्वेति । तदयं संवरारिरिह तालव्यादिर्दन्त्यादिश्च ॥" इति भरत: ॥

संवरी, स्त्री, शतावरी । इति शब्दचन्द्रिका ॥ मूषिकपर्णी । इत्यमर: । २ । ४ । ८८ ॥ इन्दुरकाणी इति ख्यातायां थुलकुड़ी इति ख्यातायामिति केचित् । शं कल्याणं वृणोति शंवरी पूर्व्ववदच् ङीप् तालव्यशादि: दन्त्यसादिश्चेति स्वामी । इति भरत: ॥

संवलं, क्ली, (संवृणोतीति । सं + वृ + अच् । रस्य ल: ।) जलम् । इति शब्दरत्नावली ॥

संवल:, पुं क्ली, पाथेयम् । तालव्यादिर्दन्त्यादिश्च । इत्यमरभरतौ ॥

सवं, क्ली, (सूते रसानिति । सू + अच् ।) जलम् । इति जटाधर: ॥ पुष्परस: । इति केचित् ॥

सव:, पुं, (सूयते सोमोऽत्रेति । सू + अप् ।) यज्ञ: । इत्यमर: । २।७।१३ ॥ (यथा, महाभारते । १ । ९४ । २५ ।
"राजसूयाश्वमेधाद्यै: सोऽयजत् बहुभि: सवै: ॥")
सन्तान: । इति मेदिनी ॥ सूर्य्य: । चन्द्र: । इति केचित् ॥ (अज्ञे, त्रि । यथा, वाजसनेयसंहितायाम् । ९ । ३९ ।
"सविता त्वा सवानां सुवताम् ।"
"सविता सवानां प्रसवानामज्ञानामाधिपत्ये हे यजमान त्वा त्वां सुवतां प्रेरयतु ।" इति तद्भाष्यम् ॥)

सवनं, क्ली, (सु ञ् अभिषवे + ल्युट् ।) यज्ञस्नानम् । (यथा, किराते । १२ । १० ।
"प्रविवेश गामिव कृशस्य
नियमसवनाय गच्छत: ।
तस्य पदविनमितो हिमवान्
गुरुतां नयन्ति हि गुणा न संहति: ॥")
तत्पर्य्याय: । सुत्या २ अभिषव: ३ । इत्यमर: । २।७।४७॥ सोमसन्धानम् ४ । इति जटाधर: ॥ सोमपानम् । इति भरत: ॥ अध्वरम् । (यथा, रघु: । ८ । ७५ ।
"अथ तं सवनाय दीक्षित:
प्रणिधानात् गुरुराश्रमस्थित: ।
अभिषङ्गजड़ं विजज्ञिवान्
इति शिष्येण किलान्वबोधयत् ॥")
सोमनिर्द्दलनम् । इति मेदिनी ॥ प्रसव: । इति केचित् ॥ (सु + युच् । चन्द्रे, पुं । इत्युणादिवृत्तौ उज्ज्वलदत्त: ।२।७४॥ वनेन सह वर्त्तमानमिति विग्रहे वनविशिष्टे, त्रि । यथा, महाभारते । १ । १८ । ८ ।
"अथ पर्व्वतराजानं तमनन्तो महाबल: ।
उज्जहार बलाद्ब्रह्मन् सवनं सवनौकसम् ॥")

सवया:, [स्] स्त्री, (समानं वयोऽस्या: । "ज्योतिर्जनपदेति ।" ६।३।८५ । इति समानस्य स: ।)

समवयस्का। तत्पर्य्यायः। आलिः २ वयस्या ३ सखी ४ सहचरी ५। इति जटाधरः॥

सवयाः, [स्] पुं, (समानं वयो यस्य।) वयस्यः। इत्यमरः। २। ८। १२॥ समानवयस्के, त्रि॥ (यथा रघुः। ५। ६५।
"सूतात्मजाः सवयसः प्रथितप्रबोधं
प्राबोधयन्नुषसि वाग्भिरुदारवाचः॥")

सवरः, पुं, सलिलम्। शिवः। इति त्रिकाण्डशेषः॥

सवर्णः, त्रि, (समानो वर्णोऽस्य। "ज्योतिर्जन-पदेति।" ६। ३। ८५। इति समानस्य सः।) सदृशः। इति हेमचन्द्रः॥ (यथा, रघुः।६।५९।
"ग्रथितमौलिरसौ वनमालया
तरुपलाशसवर्णतनुच्छदः॥")
समानवर्णः। (यथा, महाभारते।७।२२।४३।
"इन्द्रायुधसवर्णैस्तु कुन्तिभोजो हयोत्तमैः।
आयात् सदश्वैः पुरुजित् मातुलः सव्यसाचिनः॥")
तुल्यजातिः। यथा, मनुः।
"पाणिग्रहणसंस्कारः सवर्णासूपदिश्यते।
असवर्णास्वयं ज्ञेयो विधिरुद्वाहकर्म्मणि॥"
इत्युद्वाहतत्त्वम्॥
एकस्थानोत्पन्नवर्णः। यथा। सवर्णेनाकदीर्घः। इति संक्षिप्तसारव्याकरणम्॥

सवर्णा, स्त्री, (समानो वर्णो यस्याः।) सूर्य्यपत्नी छाया। इति शब्दरत्नावली॥ (समानवर्णा स्त्री। यथा, मनुः। ३। ४।
"उद्वहेत द्विजो भार्य्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्॥")

सवहा, स्त्री, त्रिवृता। इत्यमरटीकायां भरतः॥

सविकाशः, त्रि, विकशितः। प्रफुल्लः। विकाशेन सह वर्त्तमानः॥

सविता, [ऋ] पुं, (सूते लोकादीनिति। सू+तृच्।) सूर्य्यः। इत्यमरः।१।३।३१॥ (यथा, कुमारे। ५। २०।
"विजित्य नेत्रप्रतिघातिनीं प्रभा-
मनन्यदृष्टिः सवितारमैक्षत॥")
तस्य व्युत्पत्तिर्यथा,—
"धीशब्दवाच्यो ब्रह्माणं प्रचोदयति सर्व्वदा।
स्वष्टार्थं भगवान् विष्णुः सविता स तु कीर्त्तितः॥
सर्व्वलोकप्रसवनात् सविता स तु कीर्त्त्यते।
यतस्तद्देवता देवी सावित्रीत्युच्यते ततः॥"
इति वह्निपुराणे गायत्त्रीकल्पो नामाध्यायः॥
अर्कवृक्षः। इति चामरः। २। ४। ८०॥

सवितृदैवतः, पुं, (सविता दैवतं यस्य।) हस्त-नक्षत्रम्। इति हेमचन्द्रः॥

सवितृलः, त्रि, सवितृसम्बन्धी। सवितृशब्दात् लप्रत्ययेन निष्पन्नः॥

सवित्रं, क्ली, (सूयतेऽनेनेति। सू प्रसवे+"अर्त्ति-लूधूसूखनसहचर इत्रः।" ३।२।१८४। इति करणे इत्रः।) प्रसवकरणम्। इति मुग्धबोधव्याकरणम्॥

सवित्रियः, त्रि, (सवितुरयमिति। सवितृ+घः।) सूर्य्यसम्बन्धीयः। इति सिद्धान्तकौमुदी॥

सवित्री, स्त्री, (सूते या। सू+तृच्। ङीप्।) माता। इति हेमचन्द्रः॥ (यथा, कुमारे।१।२४।
"तया दुहित्रा सुतरां सवित्री
स्फुरत्प्रभामण्डलया चकाशे॥")
गौः। इति केचित्॥

सविधः, त्रि, (समाना विधास्येति।) निकटम्। इत्यमरः। ३। १। ६७॥ (यथा, कथासरित्सागरे। ५३। ३०।
"अग्रे सविधमागत्य राशस्तस्योपविष्टवान्॥")
समानप्रकारश्च॥ (यथा, भागवते।३।३।८।
"आसां मुहूर्त्त एकस्मिन् नानागारेषु योषिताम्।
सविधं जगृहे पाणीननुरूपः स्वमायया॥")

सविस्मयः, त्रि, (विस्मयेन सह वर्त्तमानः।) विस्मयापन्नः। तत्पर्य्यायः। वीक्षापन्नः २। इति हारावली॥

सवेशः, त्रि, (वेशेन सह वर्त्तमानः।) वेशान्वितः। इति धरणिः॥ निकटम्। इत्यमरः।३।१।६७॥

सव्यः, त्रि, (षू प्रेरणे+"माच्छाससिसूभ्यो यः।" उणा० ४। १०६। इति यः।) वामः। इत्यमरः। ३। १। ८५॥ (यथा, मनुः। २। ६३।
"उद्धृते दक्षिणे पाणावुपवीत्युच्यते द्विजः।
सव्ये प्राचीन आवीती निवीती कण्ठसज्जने॥")
दक्षिणः। (यथा, अनर्घराघवे। ६। ७०।
"एकेन सव्यपाणिना विशिखमुत्खाय किमाह रावणः। साधु रे मनुष्यडिम्भ साधु।"
"सव्यपाणिना दक्षिणहस्तेन।" इति तट्टीका॥)
प्रतिकूलः। इति हेमचन्द्रः॥

सव्यः, पुं, (सूते विश्वमिति। सू प्रसवे+"माच्छाससिसूभ्यो यः।" उणा० ४। १०६। इति यः।) विष्णुः। इति शब्दमाला॥

सव्यसाची, [न्] पुं, (सव्येन वामेन हस्तेनापि सचति सन्दधाति बाणमिति। सच सन्धाने+णिनिः।) अर्ज्जुनः। इति हेमचन्द्रः॥ (यथा, महाभारते। ४। १२। १६।
"उभौ मे दक्षिणौ पाणी गाण्डीवस्य विकर्षणे।
तेन देवमनुष्येषु सव्यसाचीति मां विदुः॥")

सव्येष्ठः, पुं, (सव्ये तिष्ठतीति। स्था+कः। "स्थास्थिन्स्थृणाम्।" ८। ३। ६७। इत्यस्य वार्त्तिकोक्त्या षत्वम्। हलदन्तादित्यलुक्।) सारथिः। इति हलायुधः॥

सव्येष्ठा, [ऋ] पुं, (सव्ये तिष्ठतीति। स्था+"सव्ये स्थश्छन्दसि।" उणा० २। १०२। इति छन्दसि ऋः। स च ङित्। "स्थास्थिन्स्थृणाम्।" ८।३।६७। इति षत्वम्। सप्तम्या अलुक्।) सारथिः। इत्यमरः। २। ८। ६०॥

सशल्या, स्त्री, (शल्येन सह वर्त्तमाना।) नागदन्ती। इति रत्नमाला॥ शल्ययुक्तभूम्यादौ, त्रि॥

सशूकः, पुं, (शूकेन दयया सह वर्त्तमानः।) आस्तिकः। इति केचित्॥

सश्मश्रुः, स्त्री, (श्मश्रुणा सह वर्त्तमाना।) श्मश्रुयुक्तस्त्री। तत्पर्य्यायः। नरमालिनी २। इति हेमचन्द्रः॥ (श्मश्रुविशिष्टे, त्रि॥)

ससत्त्वा, स्त्री, (सत्त्वेन सह वर्त्तमाना।) गर्भिणी। इति शब्दरत्नावली॥ (यथा, रघुः। ३। ९।
"नदीमिवान्तःसलिलां सरस्वतीं
नृपः ससत्त्वां महिषीममन्यत॥")
प्राणियुक्ते, त्रि। यथा, "मनुः। ४। ४७।
'न मूत्रं पथि कुर्व्वीत न भस्मनि न गोव्रजे॥'
'न ससत्त्वेषु गर्त्तेषु न गच्छन्नपि संस्थितः॥'
ससत्त्वेषु प्राणिमत्सु।" इत्याह्निकतत्त्वम्॥

ससनं, क्ली, (सस नाशे+ल्युट्।) यज्ञार्थपशुहननम्। इत्यमरटीका। २। ७। २६॥ तस्य रूपान्तरं शमनं शसनञ्च॥

सस्मितः, त्रि, (स्मितेन सह वर्त्तमानः।) ईषद्धास्ययुक्तः। यथा,—
"सस्मिताननसरोजमङ्गने
रिङ्गमाणमतिलोलकुन्तलम्।
रोचनोल्लसितभालमस्तु मे
केशवं मनसि शैशवं वपुः॥"
इत्यनुमितौ जगदीशः॥

सस्यं, क्ली, (सस स्वप्ने+"माच्छाससिसूभ्यो यः।" उणा० ४। १०६। इति यः।) वृक्षादीनां फलम्। यथा,—
"संसनं सीसकं सस्यं सस्तं सास्ना च साध्वसम्॥"
इत्यूष्मविवेकात्। इत्यमरटीकायां भरतः॥
धान्यम्। यथा, हेमचन्द्रः।
"धान्यन्तु सस्यं सीत्यञ्च व्रीहिस्तम्बकरिश्च तत्।"
शस्त्रम्। गुणः। इति विश्वः॥ तस्य प्रशंसा यथा,
"जीर्णमन्नं प्रशंसीयात् भार्य्याञ्च गतयौवनाम्।
रणात् प्रत्यागतं शूरं सस्यञ्च गृहमागतम्॥"
इति चाणक्यशतकम्॥
अन्यत् शस्यशब्दे द्रष्टव्यम्॥

सस्यकः, पुं, (सस्येन गुणेन परिजातः सन्नद्धः। सस्य+"सस्येन परिजातः।" ५। २। ६८। इति कन्।) मणिभेदः। (यथा, बृहत्संहितायाम्। ७। २०।
"हेमकान्तिरथवा शुकवर्णः
सस्यकेन मणिना सदृशो वा॥")
असिः। इति मेदिनी॥
"सस्यको नालिकेराम्भःसस्याभमणिखड्गयोः॥"
इति हेमचन्द्रः॥
(शालिः। साधुः। इति काशिका॥)

सस्यमारी, [न्] पुं, (सस्यं मारयतीति। मृ+णिच्+णिनिः।) महामूषकः। इति राजनिर्घण्टः॥ सस्यनाशके, त्रि॥

सस्यसंवरः, पुं, (सस्यैः संव्रियते इति। सं+वृ+"ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च।"३।३।५८। इति अप्।) शालवृक्षः। इत्यमरः। २। ४। ४४॥

सस्यसंवरणः, पुं, (सस्यैः संवरणमस्येति।) अश्वकर्णवृक्षः। इति राजनिर्घण्टः॥

सस्वेदा, स्त्री, (स्वेदेन सह वर्त्तमाना।) दूषिता कन्या। इति शब्दरत्नावली॥ (घर्म्मविशिष्टे, त्रि॥)

सह, व्य, सहितम्। तत्पर्य्याय:। साकम् २ सार्द्धम् ३ समम् ४ समम् ५। इत्यमर:। ३। ४। ४॥ सत्रा: ६। इति जटाधर:॥ (यथा, मनु:। १०। ६१।

"यत्र त्वेते परिध्वंसा जायन्ते वर्णदूषका:।
राष्ट्रिक: सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति॥")

साकल्यम्। विद्यमानम्। सादृश्यम्। यौगपद्यम्। समृद्धि:। सम्बन्ध:। इति मेदिनी॥ सामर्थ्यम्। इति शब्दरत्नावली॥

सहं, क्ली, (सहते इति। सह+अच्।) पांशुलवणम्। इति राजनिर्घण्ट:॥

सह:, पुं, (सहते इति। सह+पचाद्यच्।) अग्रहायणमास:। (यथा, वाजसनेयसंहितायाम्। १४। २७।

"सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू॥"*॥

महादेव:। इति महाभारतम्। १३। १७। १२६॥) क्षमे, त्रि। इति हेमचन्द्र:॥ (यथा, महाभारते। १६। ८। १०।

"गदापरिघशक्तीनां सहा: परिघबाहव:।
त एरकाभिर्निहता: पश्य कालस्य पर्य्ययम्॥")

सह:, पुं क्ली, (सहते इति। सह+अच्।) बलम्। इति मेदिनी॥

सह:, [स्] क्ली, (सहते इति। सह+"सर्व्वधातुभ्योऽसुन्।" उणा० ४।१८८। इति असुन्।) ज्योति:। बलम्। इति शब्दरत्नावली॥ (यथा, रघु:। ८। ७।

"सदयं बुभुजे महाभुज:
सहसोद्वेगमियं व्रजेदिति।
अचिरोपनतां स मेदिनीं
नवपाणिग्रहणां वधूमिव॥")

सहकार:, पुं, (सह युगपत् कारयति विक्षेपयति सौगन्ध्यमिति। कृ+णिच्+अच्।) अतिसौरभाम्र:। इत्यमर:। २। ४। ३३॥ (यथा, रघु:। ४। ६।

"मन्दोत्कण्ठा: कृतास्तेन गुणाधिकतया गुरौ।
फलेन सहकारस्य पुष्पोद्गम इव प्रजा:॥")

सहकारी, [न्] पुं, (सह करोतीति। कृ+णिनि:।) प्रत्यय:। यथा,—

"अथ हेतुरुपादानं प्रत्यया: सहकारिण:॥"
इति त्रिकाण्डशेष:॥

न्यायमते तद्भिन्नत्वे सति तज्जन्यजनकत्वं सहकारित्वम्॥ (मिलित्वा करणशीले, त्रि॥)

सहचर:, पुं स्त्री, (सह चरतीति। चर+अच्।) पीतझिण्टी। नीलझिण्टी। इति रत्नमाला॥ (यथा, सुश्रुते। १। ३८।

"वीततरुसहचरद्वयदर्भवृषादनीति॥")

सहचर:, पुं, (सह चरतीति। चर+अच्।) झिण्टी। वयस्य:। (यथा, कथासरित्सागरे। २४। १३२।

"तत: सहचरै: साकं तस्यैवाश्रिश्रयद्गृहम्॥")

प्रतिबन्धक:। इति हेमचन्द्र:॥ अनुचरे, त्रि। इति मेदिनी॥ (यथा, कुमारे। २। ६४।

"सहचरमधुहस्तन्यस्तचूताङ्कुरास्त्र:
शतमखमुपतस्थे प्राञ्जलि: पुष्पधन्वा॥")

सहचरी, स्त्री, (सह चरति या। चर+अच्। पचादिषु चरतेष्टित्करणात् ङीष्।) पीतझिण्टी। इत्यमर:। २। ४। ७५॥ सखी। इति जटाधर:॥ पत्नी। इति हेमचन्द्र:॥ (यथा, रघु:। ६। ५७।

"लक्ष्मीकृतस्य हरिणस्य हरिप्रभाव:
प्रेक्ष्य स्थितां सहचरीं व्यवधाय देहम्।
आकर्णकृष्टमपि कामितया स धन्वी
बाणं कृपामृदुमना: प्रतिसञ्जहार॥")

सहज:, पुं, (सह जायते इति। जन+ड:।) सहोदर:। इत्यमर:। २। ६। ३४॥ निसर्ग:। सहोत्थे, त्रि। इति मेदिनी॥ (यथा, रघु:। ८। ४३।

"विललाप स वाष्पगद्गदं
सहजामप्यपहाय धीरताम्।
अभितप्तमयोऽपि मार्द्दवं
भजते कैव कथा शरीरिषु॥")

जन्मलग्नात् तृतीयस्थानम्। यथा,—

"सुतमदननवान्त्ये पूर्णदृष्टि: सुरारिर्युगलदशमराशौ ह्यङ्घ्रिपादत्रयार्द्ध:।
सहजरिपुचतुर्थ्येष्वष्टमे चार्द्धदृष्टि:
स्थितिभवनमुपान्त्यं नैव दृश्यं हि राहो:॥"
इति ज्योतिस्तत्त्वम्॥

सहजमित्रं, क्ली, (सहजं मित्रम्।) स्वाभाविकसुहृत्। यथा,—

"अरिर्मित्रमुदासीनोऽनन्तरस्तत्पर: पर:।
क्रमशो मण्डलं चिन्त्यं सामादिभिरुपक्रमै:॥"

अरि: शत्रु:। मित्रं सुहृत्। उभयविलक्षण उदासीन:। ते च त्रयस्त्रिविधा:। सहजा: कृत्रिमा: प्राकृताश्चेति। सहजं मित्रं भागिनेयपैतृष्वस्रीयमातृष्वस्रीयादि:। इति मिताक्षरायामाचाराध्याये १ अध्याय:॥

सहजात:, त्रि, (सह जात: उत्पन्न:।) सहोदर:। यमज:। इति केचित्॥ (सहोत्थे, त्रि। यथा, कथासरित्सागरे। ११३। २२।

"तारावलोकनामा च क्रमाद्वृद्धिं जगाम स:।
दानधर्म्मविवेकाद्यै: सहजातैर्गुणै: सह॥")

सहजारि:, पुं, (सहज: स्वाभाविक: अरि:।) स्वाभाविकशत्रु:। यथा। "सहजारि: सापत्न्यपितृव्यतत्पुत्रादि:।" इति मिताक्षरायामाचाराध्याय:॥

सहजोदासीन:, पुं, (सहज उदासीन:।) स्वाभाविकपरतर:। यथा। "सहजकृत्रिममित्रशत्रुलक्षणरहितौ सहजकृत्रिमोदासीनौ।" इति मिताक्षरायामाचाराध्याय:॥

सहण्डुकं, क्ली, मांसव्यञ्जनविशेष:। यथा,—

"छागादेर्मांसमूर्द्धादे: कुट्टितं खण्डितं पुन:।
शुद्धमांसविधानेन पचेदेतत् सहण्डुकम्।
सहण्डुकं गुणग्रन्थे शुद्धमांसगुणं स्मृतम्॥"
इति भावप्रकाश:॥

सहदेव:, पुं, (पाण्डवविशेष:। इति मेदिनी॥ स च पाण्डुराजस्य पञ्चमपुत्त्र:। माद्रीगर्भे अश्विनीकुमाराभ्यां जात:॥ जरासन्धसुत:। स युधिष्ठिरसमकालीनो मगधेषु राजासीत्। इति श्रीभागवतम्॥ (हर्य्यश्वसुत:। यथा, हरिवंशे। २९। ३।

"हर्य्यश्वनसुतो राजा सहदेव: प्रतापवान्।
सहदेवस्य धर्म्मात्मा नदीन इति विश्रुत:॥"

सोमदत्तपुत्त्र:। यथा, तत्रैव। ३२। ८०।

"सोमदत्तस्य दायाद: सहदेवो महायशा:।
सहदेवसुतश्चापि सोमको नाम पार्थिव:॥"

देवै: सह वर्त्तमाने, त्रि। यथा, भागवते। ४। २। ८।

"श्रूयतां ब्रह्मर्षयो मे सहदेवा: सहाग्नय:।
साधूनां ब्रुवतो वृत्तं नाज्ञानान्न च मत्सरात्॥")

सहदेवा, स्त्री, (सह दीव्यतीति। दिव+अच्। टाप्।) बला। दण्डोत्पल:। शारिवौषधि:। इति मेदिनी॥ अर्क्कमाता। इति हेमचन्द्र:॥ (देवककन्यान्यतमा। सा तु वसुदेवपत्नी। यथा, भागवते। ९। २४। २३।

"शान्तिदेवोपदेवा च श्रीदेवा देवरक्षिता।
सहदेवा देवकी च वसुदेव उवाह ता:॥")

सहदेवी, स्त्री, सर्पाक्षी। इति मेदिनी॥ पीतदण्डोत्पला। इति रत्नमाला॥ बलाभेद:। तत्पर्य्याय:। महाबला २ व्यस्तबला ३ कटम्भरा ४ केशारुहा ५ केसरिका ६ मृगादनी ७ वर्षपुष्पा ८ केशवर्द्धिनी ९ पुरासिनी १० देवबला ११ सारिणी १२ पीतपुष्पी १३ देवार्हा १४ गन्धवल्लरी १५ मृगा १६ मृगरसा १७। अस्या गुणा:। हृद्रोगवातार्श:शोफहारित्वम्। शुक्रवृद्धिकारित्वम्। बल्यत्वम्। विषमज्वरनाशित्वञ्च। इति राजनिर्घण्ट:॥ सहदेवपत्नी च॥

सहदेवीगण:, पुं, (सहदेवीनां गण:।) प्रतिष्ठायां देवस्नानार्थमोषधिसमूह:। यथा,—

"पञ्चगव्यै: स्नापयेच्च सहदेव्यादिभिस्तत:।
सहदेवी बला चैव शतमूली शतावरी॥
कुमारी च गुडूची च सिंही व्याघ्री तथैव च।
या ओषधीति मन्त्रेण स्नानमोषधिमङ्गलै:॥"
इति गारुडे ४८ अध्याय:॥

सहधर्म्मिणी, स्त्री, (सह धर्म्मोऽस्यस्या इति। इनि:। ङीप्।) वेदविधानेनोढ़ा। इत्यमर:। २। ६। ५॥

सहनं, क्ली, (सह+ल्युट्।) क्षान्ति:। तत्पर्य्याय:। तितिक्षा २ क्षमा ३। इति हेमचन्द्र:॥ (यथा, साहित्यदर्पणे। ६। ३९०।

"कार्य्यसंग्रह आदानं तदाच्छादनं पुन:।
कार्य्यार्थमपमानादे: सहनं खलु यद्भवेत्॥")

सहन:, त्रि, (सहते इति। सह+युच्।) सहनशील:। इत्यमर:। ३। १। ३१॥ तत्पर्य्याय:। सहिष्णु: २ क्षमिता ३ क्षमी ४ तितिक्षु: ५ क्षन्ता ६। इति हेमचन्द्र:॥

सहम
सहम

सहनर्त्तनं, क्ली, (सह मिलित्वा नर्त्तनम् ।) एकत्र मण्डलाकारनृत्यकरणम् । इति केचित् ॥

सहपांशुकिलः, पुं, (सह पांशुना रजसा किलति क्रीड़तीति । किल क्रीड़ने + कः ।) वयस्यः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सहपानं, क्ली, (सह मिलित्वा पानम् ।) एकत्र मद्यभक्षणम् । तत्पर्य्यायः । सपीतिः २ । इति हेमचन्द्रः ॥ तुल्यपानम् ३ । इत्यमरः ।२।६।५५॥ सहपीतिः ४ । इति शब्दरत्नावली ॥

सहपूर्व्वाह्णं, क्ली, (पूर्व्वाह्णस्य सदृशम् । “अव्ययीभावे चाकाले । ६।३।८१ । इत्यत्र अकाले इति कथनात् न सादेशः ।) पूर्व्वाह्णसदृशम् । इति मुग्धबोधव्याकरणे अव्ययीभावसमासः ॥

सहभावी, [न्] त्रि, (सह भवतीति । भू + णिनिः ।) सहायः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सहभोजनं, क्ली, (सह मिलित्वा भोजनम् ।) एकत्र भक्षणम् । तत्पर्य्यायः । सग्धिः २ । इत्यमरः । २।६।५५ ॥ (सहभोगकरणम् । यथा, महाभारते । १ । १९६ । २४ ।

“एष नः समयो राजन् रत्नस्य सहभोजनम् ।
न च तं हातुमिच्छामः समयं राजसत्तम ॥”)

सहमरणं, क्ली, (सह पत्या मरणम् ।) मृतस्वामिसहितज्वलच्चितारोहण-पूर्व्वकमरणम् । यथा । “अथ सहानुगमनम् । अङ्गिराः ।
‘मृते भर्त्तरि या नारी समारोहेद्धुताशनम् ।
सारुन्धतीसमाचारा स्वर्गलोके महीयते ॥
तिस्रः कोट्योऽर्द्धकोटी च यानि लोमानि मानवे ।
तावन्त्यब्दानि सा स्वर्गे भर्त्तारं यानुगच्छति ॥
व्यालग्राही यथा व्यालं बलादुद्धरते विलात् ।
तद्वद्भर्त्तारमादाय तेनैव सह मोदते ॥
मातृकं पैतृकञ्चैव यत्र कन्या प्रदीयते ।
पुनाति त्रिकुलं नारी भर्त्तारं यानुगच्छति ॥
तत्र सा भर्तृपरमा परा परमलालसा ।
क्रीड़ते पतिना सार्द्धं यावदिन्द्राश्चतुर्द्दश ॥’
भर्तृपरमा भर्त्ता परमो यस्याः सा तथा । परा परमलालसेत्यत्र स्तूयमानाप्सरोगणैरिति व्यासेन पठितम् ।
‘ब्रह्मघ्नो वा कृतघ्नो वा मित्रघ्नो वापि यो नरः ।
तं वै पुनाति सा नारी इत्याङ्गिरसभाषितम् ॥
साध्वीनामेव नारीणामग्निप्रपतनादृते ।
नान्यो धर्म्मो हि विज्ञेयो मृते भर्त्तरि कर्हिचित् ॥’
या नारीत्युपादानात् सहमरणाभावपक्षोऽपि सूचितः । नान्यो धर्म्म इति तु सहमरणस्तुत्यर्थम् । तथा च विष्णुः । मृते भर्त्तरि ब्रह्मचर्य्यं तदन्वारोहणं वा इति । ब्रह्मचर्य्यं मैथुनवर्ज्जनं ताम्बूलादिवर्ज्जनञ्च । यथा प्रचेताः ।
‘ताम्बूलाभ्यञ्जनञ्चैव कांस्यपात्रे च भोजनम् ।
यतिश्च ब्रह्मचारी च विधवा च विवर्ज्जयेत् ॥’
अभ्यञ्जनमायुर्व्वेदोक्तं पारिभाषिकम् । यथा,—
‘मूर्द्ध्नि दत्तं यदा तैलं भवेत् सर्व्वाङ्गसङ्गतम् ।
स्रोतोभिस्तर्पयेद्गात्रं अभ्यङ्गः स उदाहृतः ॥
तैलमल्पं यदाङ्गेषु न च स्याद्गात्रतर्पणम् ।
सा मार्ष्टिः पृथगभ्यङ्गो मस्तकादौ प्रकीर्त्तितः ॥’
स्मृतिः ।
‘एकाहारः सदा कार्य्यो न द्वितीयः कदाचन ।
पर्य्यङ्कशायिनी नारी विधवा पातयेत् पतिम् ॥
गन्धद्रव्यस्य सम्भोगो नैव कार्य्यस्तथा पुनः ।
तर्पणं प्रत्यहं कार्य्यं भर्त्तुस्तिलकुशोदकैः ।
तत्पितुस्तत्पितुश्चापि नामगोत्रादिपूर्व्वकम् ॥’
एतत् तु तर्पणं पुत्त्रपौत्राद्यभावविषयमिति मदनपारिजातः ॥
‘वैशाखे कार्त्तिके माघे विशेषनियमञ्चरेत् ।
स्नानं दानं तीर्थयात्रां विष्णोर्नामग्रहं मुहुः ॥’
अत्र साध्वीत्वमाह ।
‘आर्त्तार्त्ते मुदिता हृष्टे प्रोषिते मलिना कृशा ।
मृते म्रियेत या पत्यौ साध्वी ज्ञेया पतिव्रता ॥’
छन्दोगपरिशिष्टीयमिति कल्पतरुः ॥ साध्वीप्रसादेन लोकधारणमप्याह ॥ मत्स्यपुराणम् ।
‘तस्मात् साध्व्यः स्त्रियः पूज्याः सततं देववज्जनैः ।
तासां राज्ञा प्रसादेन धार्य्यते च जगत्त्रयम् ॥’
महाभारते ।
‘अवमत्य च याः पूर्व्वं पतिं दुष्टेन चेतसा ।
वर्त्तन्ते याश्च सततं भर्त्तॄणां प्रतिकूलतः ॥
भर्त्रनुमरणं काले याः कुर्व्वन्ति तथाविधाः ।
कामात् क्रोधात् भयान्मोहात् सर्व्वाः पूता भवन्ति ताः ॥’
अत्र ऐहिकब्रह्मवधपतिद्रोहनिषेधात् जन्मान्तरीयतत्पापवत एव सहमरणेनोद्धारः । ब्रह्मपुराणे ।
‘देशान्तरमृते पत्यौ साध्वी तत्पादुकाद्वयम् ।
निधायोरसि संशुद्धा प्रविशेज्जातवेदसम् ॥
ऋग्वेदवादात् साध्वी स्त्री न भवेदात्मघातिनी ।
त्र्यहाशौचे निवृत्ते तु श्राद्धं प्राप्नोति शास्त्रवत् ॥’
ऋग्वेदवादात् इमा नारीरविधवा इत्यादिमन्त्रात् । एवञ्च आङ्गिरोब्रह्मपुराणवचनपर्य्यालोचनया ब्राह्मण्यादिसकलभार्य्याणां स्वगतभर्तृगतफलविशेषार्थिनीनां गर्भवतीबालापत्यादिव्यतिरिक्तानां सहमरणानुमरणयोरधिकार इति । विवादकल्पतरुरत्नाकरौ । तत्र ब्राह्मण्या अनुमरणाधिकारोऽसङ्गतस्तस्यास्तन्निषेधात् । तथा च मिताक्षरायां देवबोधकृतयाज्ञवल्क्यटीकायाञ्च गौतमः ।
‘पृथक्चितिं समारुह्य न विप्रा गन्तुमर्हति ।
इतरासान्तु नारीणां स्त्रीधर्म्मोऽयं परः स्मृतः ॥’
तस्माद्ब्राह्मण्याः सहमरणमेव इतरासान्तु उभयमिति । कल्पतरुरत्नाकरशुद्धिचिन्तामणिषु पादुकाद्वयमिति दर्शनात् पादुकादिकमित्यपपाठः किन्तु पादुकाद्वयमित्युपलक्षणम् । उशनसा विप्रेतरासां द्रव्यविशेषमनुपादाय पृथक्चित्यारोहणमात्रोक्तेः । यथोशनाः ।
‘पृथक्चितिं समारुह्य न विप्रा गन्तुमर्हति ।
अन्यासामेव नारीणां स्त्रीधर्म्मोऽयं परः स्मृतः ॥’
मदनपारिजातोऽप्येवम् । शिष्टाचारोऽपि तथा । कृत्यतत्त्वार्णवे बृहन्नारदीयम् ।
‘बालापत्याश्च गर्भिण्यो ह्यदृष्टऋतवस्तथा ।
रजस्वला राजसुते ! नारोहन्ति चितां शुभे ॥’
राजसुते इति सगरमातुः सम्बोधनम् । बृहस्पतिः ।
‘बालसम्बर्द्धनं त्यक्त्वा बालापत्या न गच्छति ।
रजस्वला सूतिका च रक्षेद्गर्भञ्च गर्भिणी ॥’
एवमन्यतश्चेद्बालस्य संवर्द्धनं स्यात् तदा तस्या अप्यधिकारः । व्यासः ।
‘दिनैकगम्यदेशस्था साध्वी चेत् कृतनिश्चया ।
न दहेत् स्वामिनं तस्या यावदागमनं भवेत् ॥’
भविष्यपुराणे ।
‘तृतीयेऽह्नि उदक्याया मृते भर्त्तरि वै द्विजाः ।
तस्यानुमरणार्थाय स्थापयेदेकरात्रकम् ॥’
तस्य भर्त्तुः । तथा,—
‘एकां चितां समासाद्य भर्त्तारं यानुगच्छति ।
तद्भर्त्तुर्यः क्रियाकर्त्ता स तस्याश्च क्रियाश्चरेत् ॥’
एतच्च पिण्डदानपर्य्यन्तम् ।
‘यश्चाग्निदाता प्रेतस्य पिण्डान्दद्यात् स एव हि ।’
इति वायुपुराणैकवाक्यत्वात् ॥
ब्रह्मपुराणे ।
‘आवयेद्भर्त्तृजायान्तु स्वभर्तृकुलपामिमाम् ।
चितामारोपयन् प्राज्ञः प्रमृते धर्म्ममुत्तमम् ॥
इमाः पतिव्रताः पुण्याः स्त्रियो या याः सुशोभनाः ।
सह भर्तृशरीरेण संविशन्तु विभावसुम् ॥
एवं श्रुत्वा ततो नारी श्रद्धाभक्तिसमन्विता ।
पितृमेधेन यज्ञेन इष्ट्वा स्वर्गमवाप्नुयात् ॥’
प्रमृते भर्त्तरीति शेषः । पितृमेधेन यज्ञेन चितारोहणरूपेण । पादुकाद्वयग्रहणपूर्व्वकानुमरणेऽपि सह भर्तृशरीरेण इत्यनूहः शयोन्यः । देशान्तरमृते पत्यावित्यादिना शरीरप्रतिनिधित्वेन तदीयद्रव्यविधानात् । प्रतिनिधौ च यथाश्रुतमन्त्रपाठमाह कात्यायनः । शब्देऽविप्रतिपत्तिः इत्येतत् विवृतमेकादशीतत्त्वे ॥*॥ न च अग्निजलप्रविष्टानां भृगुसंग्रामदेशान्तरमृतानां गर्भाणां जातदन्तानां मरणे त्रिरात्रेण शुद्धिः । इति काश्यपवचनात् सहमृताया अप्यग्निप्रवेशेन त्रिरात्राशौचं तत्रैव तस्याः पिण्डदानमिति वाच्यम् । प्रागुक्तब्रह्मपुराणे पृथक्चितिसमारोहणमात्रे त्र्यहाशौचविधानात् अन्यत्र भर्तृतुल्याशौचप्रतीतेः । सहमरणे काश्यपोक्तत्रिरात्राशौचाङ्गीकारेऽपि तस्याशौचस्य वृद्ध्या पत्यशौचकालावधिस्थायित्वम् ॥
‘अन्तर्द्दशाहे स्यातां चेत् पुनर्म्मरणजन्मनी ।
तावत्स्यादशुचिर्व्विप्रो यावत्तत् स्यादनिर्द्दशम् ॥’
इति मनूक्ताशौचसङ्करे पराशौचस्य पूर्व्वाशौचकालावधिस्थायित्वप्रतीतेः । ततश्च यथा अशौचकालसङ्कोचे तन्मध्य एव सङ्कल्प्य पिण्ड-

दानं तथाशौचकालवृद्धावपि यावदशौचं यथाक्रमं दश पिण्डा देया इति। अतएव जिकनीयान्त्येष्टिविध्यनुमरणविवेकयोर्व्यासः।

'संस्थितं पतिमालिङ्ग्य प्रविशेद्या हुताशनम्।
तस्याः पिण्डादिकं देयं क्रमशः पतिपिण्डवत्॥'

विष्णुः।

'अन्विता पिण्डदानन्तु यथा भर्त्तुर्द्दिने दिने।
तदन्वारोहिणी यस्मात्तस्मात् सा नात्मघातिनी॥'

अत्रातुः सहार्थः। पतिमालिङ्ग्येत्यनेनैकवाक्यत्वात्। स्वाम्यशौचाभ्यन्तरे पृथक्चितान्मृताया न्यूनाहेन पिण्डदानं स्वाम्यशौचापगमे तु श्राद्धम्।

'अन्वितायाः प्रदातव्या दशपिण्डा न्यूनाहेन तु।
स्वाम्यशौचव्यतीते तु तस्याः श्राद्धं विधीयते॥'

इति जिकनष्टतपैठीनसिवचनात्॥

अग्निपुराणस्थेदमिति शूलपाणिः। अत्रातुः पश्चादर्थः। अतीते तु भर्त्तृशौचे पादुकाद्यमुपादाय ज्वलदग्निप्रवेशे न्यूनाहाशौचव्यवस्थया पिण्डदानं चतुर्थेदिने श्राद्धं पूर्व्वोक्तब्रह्मपुराणवचनात्। तत्र तु भर्त्तुः संग्रामहतत्वादिना सद्यःशौचं तत्र पृथक्चितान्मृताशौचस्य पूर्व्वोक्तब्रह्मपुराणवचनात् त्रिरात्रत्वं बहुकालव्यापित्वेनावहृद्धिमत्त्वात् तेनैव पूर्व्वाशौचस्य व्यपगमात् तत्र भर्त्तुरपि त्र्यहेण पिण्डदानम्। तत्राधिकचितारोहणे भर्त्तृशौचव्यपगमात् शुद्धिः। संस्थितं पतिमालिङ्ग्य इति अन्वितापिण्डदानमिति पूर्व्वोक्तवचनाभ्यां अग्निप्रवेशे सुमन्तुना सद्यःशौचविधानाच्च। यथा। श्ववग्निजलसंग्रामदेशान्तरस्थसन्न्यास्यनशनाशनिमहाध्वनिकानां उदकक्रिया कार्य्या सद्यःशौचं भवति इति। भृगुपतदेशः। महाध्वनिकः पुण्यार्थं हिमालयावधिकमहापथगमनेन सम्यादितमरणः। न चैतत् सद्यःशौचं नित्यवेदाध्यापकैरग्निहोत्रिभिश्च एकाहाशौचिभिश्च कर्त्तव्यमिति हारलतादत्तविषयत्वेन नैतद्विषयकमिति वाच्यम्। तन्मात्रविषयकत्वे प्रमाणाभावात्। सामान्यमुखप्रवृत्ततया वचनान्तरसंवादितया चैतद्विषयकमिति। अन्यथा कश्यपोक्तत्रिरात्राशौचमपि अग्निजलसंग्रामप्रविष्टानां प्रमादादेव मरणे इति हारलतादर्शनात् अनुमरणविषयकं न स्यात् तस्मात् काश्यपवचनं ब्रह्मपुराणसमानविषयकं इति। सुमन्तुवचनं संग्रामहतभर्त्तृसहगमनविषयकमपीति॥ *॥ एवञ्च समाधिना त्यक्तदेहस्य मुक्तस्य धृतराष्ट्रस्य पर्णोटजाग्निना * देहदाहकाले तत्पत्न्या गान्धार्य्या अग्निप्रवेशदर्शनादिदानीं काश्यादिमृतस्य मुक्तस्यापि पत्न्युस्तत्पत्न्याः सहमरणं सङ्गच्छते। श्रीभागवते तदुक्तम्।

'दह्यमानेऽग्निभिर्द्देहे पत्युः पत्नी सहोटजे।
बहिःस्थिता पतिं साध्वी तमग्निमनुवेक्ष्यति॥'

अनुवेक्ष्यति अग्निप्रवेशनं करिष्यति इति युधिष्ठिराय नारदस्य भविष्यत्कथनम्।

'दयितं यान्यदेशस्थं मृतं श्रुत्वा पतिव्रता।
समारोहति शीघ्राग्नौ तस्याः सिद्धिं निबोधत॥'

इति व्यासवचनादिना सहमरणानुमरणयोर्निरवकाशनैमित्तिककाम्यत्वेन मलमासादावपि कर्त्तव्यता।

'नैमित्तिकानि काम्यानि निपतन्ति यथा यथा।
तथा तथैव कार्य्याणि न कालस्तु विधीयते॥'

इति दक्षवचनात्॥ *॥

तदयं प्रयोगः। पुत्त्रादिना स्वगृह्योक्तविधिना अग्नौ दत्ते ज्वलितायां भर्त्तृचितायां सहगन्त्री साध्वी स्नाता परिहितधौतवासोयुगा कुशहस्ता प्राङ्मुखी वा देवतीर्थेनाचान्ता तिलजलकुशत्रयमादाय ॐ तत् सदिति ब्राह्मणेरुच्चारिते नारायणं संस्मृत्य नमोऽद्यामुके मासि अमुके पक्षे अमुकतिथौ अमुकगोत्रा श्रीमती अमुकीदेवी अरुन्धतीसमाचारत्वपूर्व्वकस्वर्गलोकमहीयमानत्वमानवाधिकरणकलोमसमसंख्याब्दावच्छिन्नस्वर्गवासभर्त्तृसहित-मोदमानत्व-मातृ-पितृ-श्वशुर-कुलत्रय-पूतत्व-चतुर्द्दशेन्द्रावच्छिन्नकालाधिकरणकाप्सरोगणस्तूयमानत्वपतिसहितक्रीड़मानत्वब्रह्मघ्नपतिपूतत्वकामा भर्त्तृज्वलच्चितारोहणमहं करिष्ये इति। अनुमरणे तु भर्त्तृज्वलच्चितारोहणमित्यत्र ज्वलच्चिताप्रवेशेन भर्त्त्रनुमरणमिति सङ्कल्प्य अष्टौ लोकपाला आदित्यचन्द्रानिलाग्न्याकाशभूमिजलहृदयावस्थितान्तर्यामिपुरुषयमदिनरात्रिसन्ध्याधर्म्मा यूयं साक्षिणो भवत ज्वलच्चितारोहणेन भर्त्तृशरीरानुगमनमहं करोमि इति। अनुमरणे तु भर्त्तृशरीरानुगमनमित्यत्र भर्त्त्रनुमरणमित्युच्चार्य्य ज्वलच्चिताग्निं त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य।

'ॐ इमा नारीरविधवाः सपत्नी-
राञ्जनेन सर्पिषा संविशन्तु।
अनश्रवो अनमीवाः सुरत्ना
आरोहन्तु जनयोयोनिमग्रे॥'

इति ऋग्वेदोक्तमन्त्रे।१०।१८।७॥

'ॐइमाः पतिव्रताः पुण्याः स्त्रियो या याः सुशोभनाः।
सह भर्त्तृशरीरेण संविशन्तु विभावसुम्॥'

इति पौराणिके मन्त्रे च ब्राह्मणेन पठिते नमो नम इत्युच्चार्य्य ज्वलच्चितां समारोहेत्॥ *॥ आपस्तम्बः।

'चितिभ्रष्टा तु या नारी मोहाद्विचलिता भवेत्।
प्राजापत्येन शुध्येत्तु तस्माद्धि पापकर्म्मणः॥'

पाश्चात्यनिर्णयामृते स्मृतिः।

'एकचित्यां समारूढ़ौ दम्पती निधनं गतौ।
पृथक् श्राद्धं तयोः कुर्य्यादोदनन्तु पृथक् पृथक्॥'

विद्याकरधृता स्मृतिः।

'एकाहेन मृतानान्तु बहूनामथवा द्वयोः।
तन्त्रेण श्रपणं कृत्वा पृथक् श्राद्धं प्रवर्त्तयेत्॥'

यत्तु।

'यदा नारी विशेदग्निं स्वेच्छया पतिना सह।
अशौचमुदकं तस्याः सह भर्त्रेति निश्चितम्।
तिथ्यन्तरमृतायान्तु पृथक् श्राद्धं न विद्यते॥"

इति चतुर्भुजभट्टाचार्य्यधृतयमवचनाद्भिन्नतिथिमृताया अपि पत्युर्म्मृततिथौ श्राद्धमिति हरिदासतर्काचार्य्याः। तन्न अस्य वचनस्यामूलत्वात् समूलत्वेऽपि श्राद्धपदं पिण्डपरम्। एकोद्दिष्टं मृताहनीति यमवचनविरोधात्।" इति शुद्धितत्त्वम्॥ *॥ अन्यत् ब्रह्मवैवर्त्ते गणपतिखण्डे २८ अध्याये। मार्कण्डेयपुराणे दमचरिताध्याये। विष्णुपुराणे ५ अंशे ३८ अध्याये। कल्किपुराणे ३३ अध्याये च द्रष्टव्यम्॥

सहयायी, [न्] त्रि, (सह यातीति। या+णिनिः।) मिलितगामी। यथा,—

"न नदीषु नदीं ब्रूयात् पर्व्वतेषु च पर्व्वतान्।
आवासे भोजने वापि न त्यजेत् सहयायिनम्॥"

इति कूर्म्मपुराणे उपविभागे।१५।५८॥

सहरसा, स्त्री, (सह रसो यस्याः।) मुद्गपर्णी। इति शब्दरत्नावली॥

सहरि, व्य, हरेः सदृशम्। इति मुग्धबोधव्याकरणम्॥ सूर्य्ये वृषे च, पुं। इति केचित्॥

सहर्षः, पुं, (सह हर्षो यत्र।) स्पर्द्धनम्। हर्षः। इति त्रिकाण्डशेषः॥ (हर्षेण सह वर्त्तमानः।) हर्षयुक्ते, त्रि॥ (यथा, कथासरित्सागरे। २।२३।

"एतच्छ्रुत्वा वचः शम्भोः सहर्षोऽहमिहागतः॥")

सहसा, व्य, हठात्। तत्पर्य्यायः। अतर्कितः २। इत्यमरः।३।४।७॥ अकस्मात् ३। इति शब्दरत्नावली॥ सहसा कर्म्मकरणनिषेधो यथा, किरातार्ज्जुनीये।२।३०।

"सहसा विदधीत न क्रिया-
मविवेकः परमापदां पदम्।
वृणते हि विमृश्यकारिणं
गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः॥"

हास्ययुक्ते, त्रि। यथा,—

"प्रियतमेन यया सरुषा स्थितं
न सहसा सहसा परिरभ्य तम्।
श्लथयितुं क्षणमक्षमतां गता
न सहसा सहसा कृतवेपथुः॥"

इति माघे।६।५७॥

सहसादृष्टः, त्रि, हठात् दृष्टः। दत्तकपुत्त्रे, पुं। इति केचित्॥

सहसानः, पुं, (सहते इति। सह+"ऋञ्जिवृधिमन्दिसहिभ्यः कित्।" उणा० २।८७। इति असानच्।) मयूरः। यज्ञः। क्षमायुक्ते, त्रि। इत्युणादिकोषः॥ (शत्रूणामभिभवितरि, त्रि। इति सायणः॥ यथा, ऋग्वेदे।१।१८६।८।

"मानस्य सूनुः सहसाने अग्नौ॥")

सहस्यः, पुं, (सहसि बले साधुः। तत्र साधुरिति यत्।) पौषमासः। इत्यमरः।१।४।१५॥ (यथा, कुमारे।५।२६।

"निनाय सात्यन्तहिमोत्किरानिलाः
सहस्यरात्रीरुदवासतत्परा॥")

सहस्रं, क्ली, (सहो बलमस्त्यस्मिन्निति । सहस्+र: । "सहो बलनामसु आख्यातम् । रो मत्वर्थीय: । अस्यापि भाविनी शक्तिरस्मिन्नस्ति ।" इति निघण्टुटीकायां देवराजयज्वा । ३ । १ ।) दशशतसंख्या । इति हेमचन्द्र: ॥ हाजार इति पारस्यभाषा । (यथा, मनु: । ३ । १७७ ।
"पापरोगी सहस्रस्य दातुर्नाशयते फलम् ॥")
तद्वाचकानि यथा । जाह्नवीवक्त्रम् १ शेषशीर्षम् २ पद्मच्छद: ३ रविकर: ४ अर्ज्जुनबाणा: ५ वेदशाखा ६ इन्द्रदृष्टि: ७ । इति कविकल्पलता ॥ (बहु । इति निघण्टु: ।३।१॥ यथा,—
"सहस्रशीर्षा पुरुष: सहस्राक्ष: सहस्रपात् ।"
इति पुरुषसूक्तम् ॥)

सहस्रकाण्डा, स्त्री, (सहस्रं काण्डानि यस्या: ।) श्वेतदूर्व्वा । इति राजनिर्घण्ट: ॥

सहस्रकिरण:, पुं, (सहस्रं किरणानि यस्य ।) सूर्य्य: । इति हलायुध: ॥ (यथा, बृहत्संहितायाम् । ४२ । १३ ।
"राशौ राशौ यस्मिन्
शिशिरमयूख: सहस्रकिरणो वा ॥")

सहस्रदंष्ट्र:, पुं, (सहस्रं दंष्ट्रा यस्य ।) पाठीनमत्स्य: । इत्यमर: । १ । १० । १८ ॥ (यथा, सुश्रुते । १ । ४६ । "रोहितपाठीनपाटलाराजीववर्म्मिगोमत्स्य-कृष्णमत्स्य-वागुञ्जारमुरलसहस्रदंष्ट्रप्रभृतयो नादेया: ॥")

सहस्रदंष्ट्री, [न्] पुं, (सहस्रदंष्ट्रा: सन्त्यस्येति । इनि: ।) वोदालमत्स्य: । इति शब्दरत्नावली ॥

सहस्रदो:, [स्] पुं, (सहस्रं दोषो बाहवो यस्य ।) कार्त्तवीर्य्यार्ज्जुन: । इति जटाधर: ॥

सहस्रधार:, पुं, (सहस्रं धारा यस्य ।) विष्णुचक्रम् । इति केचित् ॥

सहस्रधारा, स्त्री, (सहस्रं बहवो धारा जलप्रपाता यत्र ।) देवतास्नानार्थसहस्रच्छिद्रयुक्तपात्रगलितजलधारा । यथा,—
"सहस्रधारया देवीं स्नापयामि सुरेश्वरीम् ॥"
इति दुर्गोत्सवपद्धति: ॥

सहस्रनयन:, पुं, (सहस्रं नयनानि यस्य ।) इन्द्र: । इति हलायुध: ॥ (यथा, कथासरित्सागरे । १०१।२२७ ।
"केयं सहस्रनयनप्रेक्षणीया किमप्सरा: ।
वनश्रीरथवा पुष्पलग्नाग्रकरपल्लवा ॥"
वाच्यलिङ्गेऽपि दृश्यते । यथा, महाभारते । १३ । १४ । २०४ ।
"किञ्चात्र बहुभि: सूक्तैर्हेतुवादै: पुरन्दर ।
सहस्रनयनं दृष्ट्वा त्वामेव सुरसत्तम ॥")

सहस्रनेत्र:, पुं, (सहस्रं नेत्राणि यस्य ।) इन्द्र: । इति हेमचन्द्र: ॥ (यथा, रघु: । ६ । २३ ।
"क्रियाप्रबन्धादयमध्वराणा-
मजस्रमाहूतसहस्रनेत्र: ।
शच्याश्चिरं पाण्डुकपोललम्बान्
मन्दारशून्यानलकांश्चकार ॥"
वाच्यलिङ्गेऽपि दृश्यते । यथा, महाभारते । १ । २१२ । २७ ।
"एवं चतुर्म्मुख: स्थाणुर्महादेवोऽभवत्पुरा ।
तथा सहस्रनेत्रश्च बभूव बलसूदन: ॥")
विष्णु: । इति श्रीभागवतम् ॥

सहस्रपत्रं, क्ली, (सहस्राणि पत्राणि यस्य ।) पद्मम् । इत्यमर: । १ । १० । ४२ ॥ (यथा, रघु: । ७ । ११ ।
"तासां मुखैरासवगन्धगर्भै-
र्व्याप्तान्तरा: सान्द्रकुतूहलानाम् ।
विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षा:
सहस्रपत्राभरणा इवासन् ॥")

सहस्रपात्, [द्] पुं, (सहस्रं पादा यस्य । संख्यासुपूर्व्वस्येति पादस्यान्तलोप: ।) विष्णु: । यथा,
"सहस्रशीर्षा पुरुष: सहस्राक्ष: सहस्रपात् ॥"
इति पुरुषसूक्तम् ॥
(तथाच महाभारते । १३ । १४९ । ३७ ।
"सहस्रमूर्द्धा विश्वात्मा सहस्राक्ष: सहस्रपात् ॥"
महादेव: । यथा, तत्रैव । १३ । १७ । १३० ।
"हर्य्यक्ष: ककुभो वज्री शतजिह्व: सहस्रपात् ॥"
ऋषिविशेष: । यथा, तत्रैव । १ । १० । ७ ।
"अहं पुरा रुरो ! नाम्ना ऋषिरासं सहस्रपात् ।
सोऽहं शापेन विप्रस्य भुजङ्गत्वमुपागत: ॥")

सहस्रपाद:, पुं, (सहस्रं पादा यस्य ।) कारण्डपक्षी । सूर्य्य: । विष्णु: । इति मेदिनी ॥

सहस्रबाहु:, पुं, (सहस्रं बाहवो यस्य ।) बाणराज: । यथा,—
"बाण: पुत्त्रशतज्येष्ठो बलेरासीन्महात्मन: ।
सहस्रबाहुर्वाद्येन ताण्डवेऽतोषयन्मृडम् ॥"
इति श्रीभागवते । १० । ६२ । २ ॥
(कार्त्तवीर्य्यार्ज्जुन: । शिव: । यथा, महाभारते । १३ । १७ । १३१ ।
"सहस्रबाहु: सर्व्वाङ्ग: शरण्य: सर्व्वलोककृत् ॥"
बहुबाहुविशिष्टे, त्रि । यथा, भागवते ।४।५।३।
"ततोऽतिकायस्तनुवा स्पृशन् दिवं
सहस्रबाहुर्घनरुक् त्रिसूर्य्यदृक् ॥")

सहस्रभुज:, पुं, (सहस्रं भुजा यस्य ।) विष्णु: । यथा,—
"पश्यन्त्यदोरूपमदभ्रचक्षुषा
सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुतम् ।
सहस्रमूर्द्धश्रवणाक्षिनासिकं
सहस्रमौल्यम्बरकुण्डलोल्लसत् ॥"
इति श्रीभागवते । १ । ३ । ४ ॥
कार्त्तवीर्य्यार्ज्जुन: ॥ (बाणराजश्च ॥)

सहस्रभुजा, स्त्री, (सहस्रं भुजा यस्या: ।) महालक्ष्मी: । सा च महिषासुरमर्द्दिनी । यथा,—
"श्वेतानना नीलभुजा सुश्वेतस्तनमण्डला ।
रक्तमध्या रक्तपादा नीलजङ्घोरुतालुका ॥
चित्रानुलेपना कान्ता सर्व्वसौभाग्यदायिनी ।
अष्टादशभुजा पूज्या सा सहस्रभुजा रणे ॥
आयुधान्यत्र वक्ष्यन्ते दक्षिणाध:करक्रमात् ।
अक्षमाला च मुषलं बाणासिकुलिशं गदाम् ॥
चक्रं त्रिशूलं परशुं शङ्खघण्टे च पाशकम् ।
शक्तिं दण्डं चर्म्म चापं पानपात्रं कमण्डलुम् ॥
अलङ्कृतभुजा त्वेभिरायुधै: परमेश्वरी ।
सम्पूज्या स्तुतिकालादौ महिषासुरमर्द्दिनी ॥
इत्येषा राजसी मूर्त्ति: सर्व्वदेवमयी मता ।
यां ध्यात्वा मानवो नित्यं लभते हितमात्मन: ॥"
इति मार्कण्डेयपुराणीयदेवीमाहात्म्यपाठक्रम: ॥

सहस्रमूर्द्धा, [न्] पुं, (सहस्रं मूर्द्धानो यस्य ।) विष्णु: । अस्य प्रमाणं सहस्रभुजशब्दे द्रष्टव्यम् ॥ (तथाच महाभारते । १३ । १४९ । ३७ ।
"सहस्रमूर्द्धा विश्वात्मा सहस्राक्ष: सहस्रपात् ॥"
शिव: । यथा, महाभारते । १३ । १७ । १३० ।
"सहस्रमूर्द्धा देवेन्द्र: सर्व्वदेवमयो गुरु: ॥")

सहस्रमूली, स्त्री, (सहस्रं मूलानि यस्या: । ङीष् ।) द्रवन्ती । इति राजनिर्घण्ट: ॥

सहस्रमौलि:, पुं, (सहस्रं मौलयो यस्य ।) विष्णु: । अस्य प्रमाणं सहस्रभुजशब्दे द्रष्टव्यम् ॥ (अनन्तदेव: । यथा, देवीभागवते । १ । २ । ७ ।
"विष्णुस्तु शेषशयने स्वपितीति काले
तन्नाभिपद्ममुकुले खलु तस्य जन्म ।
आधारतां किल गतोऽत्र सहस्रमौलि:
सम्बोध्यतां स भगवान् हि कथं मुरारि: ॥")

सहस्ररश्मि:, पुं, (सहस्रं रश्मयो यस्य ।) सूर्य्य: । इति सहस्रकिरणशब्ददर्शनात् ॥ (यथा, माघे । १ । ५३ ।
"अशक्नुवन् सोढुमधीरलोचन:
सहस्ररश्मेरिव यस्य दर्शनम् ॥")

सहस्रवदन:, पुं, (सहस्रं वदनानि यस्य ।) विष्णु: । इति शब्दरत्नावली ॥

सहस्रवीर्य्या, स्त्री, (सहस्रं वीर्य्याण्यस्या: ।) दूर्व्वा । इत्यमर: । २ । ४ । १५८ ॥ महाशतावरी । इति राजनिर्घण्ट: ॥ (यथा, सुश्रुते । १ । १६ ।
"शतवीर्य्यां सहस्रवीर्य्यां सिद्धार्थांश्च शिरसा धारयेत् ॥"* ॥ प्रभूतवीर्य्यशालिनि, त्रि । यथा, वाजसनेयसंहितायाम् । १३ । २६ ।
"सहस्रवीर्य्यासि सा मा जिन्व ॥")

सहस्रवेधं, क्ली, (सहस्रं वेधा यस्य ।) चुक्रम् । काञ्जिकविशेष: । इति राजनिर्घण्ट: ॥

सहस्रवेधि, [न्] क्ली, (सहस्रं विध्यतीति । विध छिद्रीकरणे + णिनि: ।) हिङ्गु । इति मेदिनीराजनिर्घण्टौ ॥

सहस्रवेधी, [न्] पुं, (सहस्रं वेधितुं शीलमस्य । विध छिद्रीकरणे + णिनि: ।) अम्लवेतस: । इति मेदिनी ॥ कस्तूरी । इति राजनिर्घण्ट: ॥ सहस्रवेधकर्त्तरि, त्रि ॥

सहस्रशिखर:, पुं, (सहस्रं शिखराणि यस्य ।) विन्ध्यपर्व्वत: । इति केचित् ॥ (यथा, मार्कण्डेये । ५५ । १० ।
"सहस्रशिखरश्चाद्रि: पारिपात्र: सशृङ्गवान् ॥",

सहस्रश्रवण:, पुं, (सहस्रं श्रवणानि यस्य ।) विष्णु: । अस्य प्रमाणं सहस्रभुजशब्दे द्रष्टव्यम् ।

सहस्रहर्य्याश्वः, पुं, इन्द्ररथः । इति केचित् ॥

सहस्रा, स्त्री, (सहस्रं वीर्य्याणि सन्त्यस्यामिति । अच् । टाप् ।) अम्बष्ठा । इति भावप्रकाशः ॥

सहस्रांशुः, पुं, (सहस्रं अंशवो यस्य ।) सूर्य्यः । इत्यमरः । १ । ३ । २१ ॥ (यथा, मनुः । १ । ९ ।
"तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।
तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्व्वलोकपितामहः ॥")

सहस्राक्षः, पुं, (सहस्रमक्षीण्यस्येति । "बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच् ।" ५।४।११३ । इति षच् ।) इन्द्रः । इत्यमरः । १ । १ । ४३ ॥ (यथा, महाभारते । १ । २५ । ८ ।
"नमुचिघ्न नमस्तेऽस्तु सहस्राक्ष शचीपते ! ॥")
विष्णुः । यथा,—
"सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।"
इति पुरुषसूक्तम् ॥
(पीठस्थानविशेषः । यथा, देवीभागवते । ७ । ३० । ६५ ।
"उत्पलाक्षी सहस्राक्षे हिरण्याक्षे महोत्पला ॥")

सहस्राननः, पुं, (सहस्रं आननानि यस्य ।) विष्णुः । अस्य प्रमाणं सहस्रभुजशब्दे द्रष्टव्यम् ॥

सहस्रानीकः, पुं, शतानीकराजपुत्त्रः । यथा,—
"शतानीकोऽभवत् पूर्व्वं पुराकल्पे महीपतिः ।
इन्द्राय सुबहून् यज्ञान् श्रद्धापूतेन चेतसा ॥
यज्ञे यज्ञे सहस्राणि गजाश्वरथदन्तिनाम् ।
ब्राह्मणेभ्योऽददद्राजन् शतमानाश्च शतं शतम् ॥
द्विजस्तुष्टो ददौ पुत्त्रं कौशिको भूभृते तथा ।
पश्चात्तस्य स बालोऽपि कालात् कालं व्यवर्द्धत ॥
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो धर्म्मज्ञो नियतव्रतः ।
कान्त्या चन्द्रमसस्तुल्यः प्रतापात् सूर्य्यवत् प्रभुः ॥
समये धर्म्मराजेव क्षमया पृथिवीसमः ।
एतद्गुणवतो ज्ञात्वा सुतं राज्ञो द्विजातयः ।
सहस्रानीकनामानं चक्रुस्तस्य सुहर्षिताः ॥"
इति वह्निपुराणे पापनाशनव्रतदानाध्यायः ॥
(तथा च भागवते । ९ । २२ । ३८—३९ ।
"तस्य पुत्त्रः शतानीको याज्ञवल्क्यात् त्रयीं पठन् ।
अस्त्रज्ञानं क्रियाज्ञानं शौनकात् परमेष्यति ॥
सहस्रानीकस्तत्पुत्त्रस्ततश्चैवाश्वमेधजः ॥")

सहस्रारः, पुं क्ली, (सहस्रं आराणि कोणा यस्य ।) शिरोऽवस्थिताधोमुखसहस्रदलकमलम् । यथा,
"सहस्रारे हिमनिभे सर्व्ववर्णविभूषिते ।
अ-क-थादि-त्रिरेखाढ्य-ह-ल-क्ष-त्रयभूषिते ॥
तन्मध्ये परबिन्दुञ्च सृष्टिस्थितिलयात्मकम् ।
एवं समाहितमना ध्यायेन्मासोऽयमान्तरः ॥"
इति तन्त्रसारोक्तान्तर्म्मातृकान्यासः ॥
(सहस्रं अराणि यस्येति । बहुचक्राङ्गविशिष्टे, त्रि । यथा, देवीभागवते । ६ । ५ । १८ ।
"चक्रं मुमोच वेगेन सहस्रारं सुदर्शनम् ॥")

सहस्री, [न्] पुं, (सहस्रं बलमस्यस्येति । सहस्र+"तपःसहस्राभ्यां विनीनी ।" ५ । २ । १०२ । इति इनिः ।) सहस्रेण यो बली । तत्पर्य्यायः । साहस्रः २ । इत्यमरः । २ । ८ । ६२ ॥ द्वे हाजरा इति ख्याते । ये सहस्रेण सहस्रसंख्येन गजादिना बलिनः सैन्यवन्तः ते । सहस्रं बलानि सन्त्येषामिति अस्त्यर्थे विकारसंघेत्यादिना ष्णः नैकाजादिति इनि च रूपद्वयम् । इति भरतः ॥ (सहस्रविशिष्टे, त्रि । यथा, मनुः । ८ । ३७६ ।
"ब्राह्मणीं यद्यगुप्तान्तु गच्छेतां वैश्यपार्थिवौ ।
वैश्यं पञ्चशतं कुर्य्यात् क्षत्त्रियन्तु सहस्रिणम् ॥"
तथाच भागवते । १ । ९ । ३० ।
"सहोपसंहृत्य गिरः सहस्रिणी-
र्विमुक्तसङ्गं मन आदिपुरुषे ॥"
"सहस्रिणीः सहस्रार्थवतीः ।" इति तट्टीका ॥)

सहा, स्त्री, (सहत इति । सह+अच् । टाप् ।) घृतकुमारी । मुद्गपर्णी । इत्यमरः । २ । ४ । ७३ ; २ । ४ । ११३ ॥ नखभेषजम् । रक्तोत्पला । पृथिवी । इति मेदिनी ॥ शुक्लझिण्टी । सर्पकङ्काली । इति शब्दचन्द्रिका ॥ रास्ना । स्वर्णक्षीरी । पीतरक्तोत्पला । इति रत्नमाला ॥ तरणीपुष्पम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

सहः, [स्] पुं, (सहते इति । सह+असुन् ।) अग्रहायणमासः । इत्यमरः ॥ (यथा, भागवते । १२ । ११ । ४१ ॥
"अथांशुः कश्यपस्तार्क्ष्य ऋतसेनस्तथोर्व्वशी ।
विद्युच्छत्रुर्महाशङ्खः सहोमासं नयन्त्यमी ॥")
हेमन्तकालः । इति मेदिनी ॥

सहाचरः, पुं, (सह आचरतीति । आ+चर+अच् ।) पीतझिण्टी । इति शब्दरत्नावली ॥ (अस्य पर्य्यायो यथा,—
"सैरेयकः श्वेतपुष्पः सैरेयः कटसारिका ।
सहाचरः सहचरः स च भिन्द्यपि कथ्यते ॥"
इति भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे प्रथमे भागे ॥
यथा, सुश्रुते चिकित्सितस्थाने । ३७ ।
"सहाचरवरीविम्बाकाकनासाविदारिभिः ॥"
यथाच ।
"वासानिम्बपटोलकेतकीबलाकुष्माण्डकेन्दीवरी-
वर्षाभूकुटजाश्वगन्धसहिते द्वे पूतिगन्धान्विते ॥
मांसं नागबलासहाचरपुरैर्हिङ्ग्वार्द्रके नित्यशो
ग्रास्यास्तत्क्षणमेव न द्विगुणिता ये चेक्षुजाला घनाः ॥"
इति वैद्यकपरिभाषायाम् ॥)
सहचरश्च ॥

सहायः, पुं, (सह अयते इति । अय+अच् ।) अनुकूलः । तत्पर्य्यायः । अनुप्लवः २ अनुचरः ३ अभिसरः ४ । इत्यमरः । २ । ८ । ७१ ॥ (यथा, मनुः । ६ । ४९ ।
"अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः ।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥")
राज्ञां सहाया यथा, मात्स्ये । २१५ । ७४ ।
"सद्वृताश्च तथा पुत्त्राः सततं प्रतिमानिताः ।
राज्ञा सहायाः कर्त्तव्याः पृथिवीं जेतुमिच्छता ॥"

सहायता, स्त्री, (सहाय+"ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यस्तल् ।" ४ । २ । ४३ । इति तल् ।) सहायानां समूहः । इत्यमरः । ३ । ३ । ४१ ॥ (सहायस्य भावः कर्म्म वा । तल् ।) साहाय्यञ्च ॥ (यथा, रघुः । ९ । १९ ।
"स किल संयुगमूर्द्ध्नि सहायतां
मघवतः प्रतिपद्य महारथः ।
स्वभुजवीर्य्यमगापयदुच्छ्रितं
सुरवधूरवधूतभयाः शरैः ॥")

सहायत्वं, क्ली, सहायता । सहायस्य भावः । सहायशब्दाद्भावे त्वप्रत्ययेन निष्पन्नम् ॥ (यथा, कथासरित्सागरे । ३० । ८७ ।
"अङ्गीचक्रे सहायत्वं राजा तस्यारिमर्द्दने ॥")

सहारः, पुं, (सहते इति । सह+"तुषारादयश्च ।" उणा० ३।१३९ । इत्यारन् ।) आम्रवृक्षः । इत्युणादिकोषः ॥ महाप्रलयः । इति हलायुधः ॥

सहारोग्यः, त्रि, (आरोग्येण सह वर्त्तमानः ।) नीरुक् । इति हेमचन्द्रः ॥

सहार्दः, त्रि, हार्देन सह वर्त्तमानः ॥ सप्रेमः । स्नेहयुक्तः ॥

सहितः, त्रि, (सं+धा+क्तः । "समो वा हिततयोः ।" ६ । १ । १४४ । इत्यस्य वार्त्तिकोक्त्या मलोपः ।) सहशब्दात् इतच्प्रत्ययेन च निष्पन्नः । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥ समभिव्याहृतः । संयुक्तः । (मिलितः । यथा, मनुः । ९ । २१२ ।
"सोदर्य्या विभजेरंस्तं समेत्य सहिताः समम् ।
भ्रातरो ये च संसृष्टा भगिन्यश्च सनाभयः ॥")
संहितः । सम्यग्हितः । इति मुग्धबोधव्याकरणम् ॥ हितेन सह वर्त्तमानश्च ॥

सहिता, [तृ] त्रि, (सहते इति । सह+तृच् । "तीषसहेति ।" ७।२।४८ । इति पक्षे इट् ।) सहनशीलः । सोढा । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥

सहित्रं, क्ली, (सह्यते अनेनेति । सह+"अर्त्तिलूधूसूखनसहचर इत्रः ।" ३ । २ । १८४ । इति इत्रः ।) सहनकरणम् । इति व्याकरणम् ॥

सहिष्णुः, त्रि, (सहते इति । सह+"अलंकृञ्निराकृञिति ।" ३ । २ । १३६ । इति इष्णुच् ।) सहनशीलः । तत्पर्य्यायः । सहनः २ क्षन्ता ३ तितिक्षुः ४ क्षमिता ५ क्षमी ६ । इत्यमरः । ३ । १ । ३१ ॥ (यथा, किराते । २ । ५० ।
"अपरागसमीरणेरितः
क्रमशीर्णाकुलमूलसन्ततिः ।
सुकरस्तरुवत्सहिष्णुना
रिपुरुन्मूलयितुं महानपि ॥")

सहिष्णुता, स्त्री, (सहिष्णोर्भावः । सहिष्णु+तल् ।) सहिष्णोर्भावः । तत्पर्य्यायः । तितिक्षा २ क्षमा ३ क्षान्तिः ४ । इति जटाधरः ॥ (यथा, सुश्रुते । ४ । २४ ।
"श्रमक्लमपिपासोष्णशीतादीनां सहिष्णुता ॥")

सहुरिः, पुं, (सहते इति । सह+"जसिसहोरुरिन् ।" उणा० २ । ७३ । इति उरिन् ।) सूर्य्यः । इत्युणादिकोषः ॥

सहुरिः, स्त्री, (सह सहने + उरिन् ।) पृथिवी । इति सिद्धान्तकौमुद्यामुणादिवृत्तिः ॥

सहृदयः, त्रि, (हृदयेन अन्तःकरणेन सह वर्त्तमानः ।) प्रशस्तमनाः । इत्यमरटीकायां भरतः । ३ । १ । ३ ॥ (यथा, रामायणे ।२।१३।२२ ।
"कुरु साधुप्रसादं मे बाले सहृदया ह्यसि ॥")

सहृल्लेखं, क्ली, (हृल्लेखेन सह वर्त्तमानम् ।) विचिकित्सितान्नम् । यथा,—
"विचिकित्सा तु हृदये यस्मिन् यस्मिन् प्रजायते ।
सहृल्लेखन्तु विज्ञेयं पुरीषन्तु स्वभावतः ॥"
इति प्रायश्चित्तविवेकः ॥

सहोक्तिः, स्त्री, (सह उक्तिः ।) अलङ्कारविशेषः । यथा,—
"सहोक्तिः सहभावश्चेत् भासते जनरञ्जनः ।
दिगन्तमगमत्तस्य कीर्त्तिः प्रत्यर्थिभिः सह ॥"
इति चन्द्रालोकः ॥
(अस्य लक्षणोदाहरणानि यथा, साहित्यदर्पणे । १० । ७०१ ।
"सहार्थस्य बलादेकं यत्र स्याद्वाचकं द्वयोः ।
सा सहोक्तिर्मूलभूतातिशयोक्तिर्यदा भवेत् ॥"
अतिशयोक्तिरत्रत्राभेदाध्यवसायमूला कार्य्यकारणपौर्व्वापर्य्यविपर्य्ययरूपा च । अभेदाध्यवसायमूलापि श्लेषभित्तिका अन्यथा च । क्रमेणोदाहरणम् ।
"सहाधरदलेनास्या यौवने रागभाक् प्रियः ॥"
अत्र रागपदे श्लेषः ।
"सह कुमुदकदम्बैः काममुल्लासयन्तः
सह घनतिमिरौघैर्धैर्य्यमुत्सारयन्तः ।
सह सरसिजषण्डैः स्वान्तमामीलयन्तः
प्रतिदिशममृतांशोरंशवः सञ्चरन्ति ॥"
इदं मम । अत्रोल्लासादीनां सम्बन्धिभेदादेव भेदो न तु श्लिष्टतया ।
"सममेव नराधिपेन सा
गुरुसम्मोहविलुप्तचेतना ।
अगमत्सह तैलबिन्दुना
ननु दीपार्च्चिरिव क्षितेस्तलम् ॥"
इयञ्च मालयापि सम्भवति । तथोदाहृते सह कुमुदकदम्बैरित्यादौ ।
"लक्ष्मणेन समं रामः काननं गहनं ययौ ।"
इत्यादौ चातिशयोक्तिमूलत्वाभावान्नायमलङ्कारः ॥ * ॥)

सहोटजः, पुं, (उटजेन सह वर्त्तमानः ।) मुनीनां पर्णशाला । यथा,—
"मुनीनाञ्च चिताङ्कुर्य्यां पर्णोटजसहोटजौ ।"
इति हारावली ॥

सहोढ़ः, पुं, (ऊढ़या सह वर्त्तमानः ।) द्वादशविधपुत्रान्तर्गतपुत्त्रविशेषः । इति जटाधरः ॥
"या गर्भिणी संस्क्रियते ज्ञाताज्ञातापि वा सती ।
वोढुः स गर्भो भवति सहोढ़ इति चोच्यते ॥"
इति मानवे ९ अध्यायः ॥
या गर्भवती अज्ञातगर्भा ज्ञातगर्भा वा परिणीयते स गर्भस्तस्यां जातः परिणेतुः पुत्त्रो भवति सहोढ़ इति व्यपदिश्यते । इति कुल्लूकभट्टः ॥ (ऊढ़ेन हृतद्रव्येण सह वर्त्तमाने, त्रि । यथा, मनुः । ९ । २७० ।
"न होढ़ेन विना चौरं घातयेद्धार्म्मिको नृपः ।
सहोढं सोपकरणं घातयेदविचारयन् ॥")

सहोदरः, पुं, (उदरेण सह वर्त्तते इति । सह समानं उदरं यस्येति वा ।) एकमातृगर्भजातभ्राता । तत्पर्य्यायः । सहजः २ सोदरः ३ भ्राता ४ सगर्भः ५ समानोदर्य्यः ६ सोदर्य्यः ७ । इति जटाधरः ॥ (यथा, मनुः । ९ । १९२ ।
"जनन्यां संस्थितायान्तु समं सर्व्वे सहोदराः ।
भजेरन् मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः ॥")

सहोबलं, क्ली, (सहसा तेजसा सह बलमनेनेति ।) सौराष्ट्रम् । इति केचित् ॥

सह्योरः, त्रि, (सहते सर्व्वमिति । सह + "किशोरादयश्च ।" उणा० १ । ६६ । इति ओरन् ।) साधुः । इत्युणादिकोषः ॥

सह्यं, क्ली, (सह्यते इति । सह + यत् ।) आरोग्यम् । साम्यम् । सुमधुरम् । इति शब्दरत्नावली ॥ (प्रियम् । यथा, महाभारते । ३।२७७।१० ।
"ततस्तं प्रत्युवाचाथ मारीचो राक्षसेश्वरम् ।
किन्ते सह्यं मया कार्य्यं करिष्याम्यवशोऽपि तत् ॥")

सह्यः, पुं, पर्व्वतविशेषः । इति मेदिनी ॥ (यथा, रघुः । ४ । ५२ ।
"असह्यविक्रमः सह्यं दूरात् मुक्तमुदन्वता ।
नितम्बमिव मेदिन्याः स्रस्तांशुकमलङ्घयत् ॥")
स तु पुनाख्यदेशस्य उत्तरपश्चिमदिशि वर्त्तते ॥

सह्यः, त्रि, (सोढुं शक्यः । सह + "शकिसहोश्च ।" ३ । १ । ९९ । इति यत् ।) सोढव्यः । सहनीयः । इति मेदिनी ॥ (यथा, मार्कण्डेये । १०६ । ५६ ।
"सह्यं भवतु ते तेजो भूतानां भूतभावन ! ॥")

सा, स्त्री, गौरी । लक्ष्मीः । इति शब्दरत्नावली ॥ पूर्व्वोक्तपरामर्शविषयीभूता । प्रसिद्धा । इति स्त्रीलिङ्गतच्छब्दस्य प्रथमैकवचननिष्पन्ना । इति व्याकरणम् ॥ (यथा, साहित्यदर्पणे ।
"सङ्गमविरहविकल्पे वरमिह विरहो न सङ्गमस्तस्याः ।
सङ्गे सैव तथैका त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे ॥")

सांख्यं, क्ली, (संख्या सम्यग्ज्ञानं सा अस्त्यनेनेति । संख्या + अण् ।) सम्यक् ख्यायते प्रकाश्यते वस्तुतत्त्वमनयेति संख्या सम्यक् ज्ञानं तस्यां प्रकाशमानमात्मतत्त्वं सांख्यम् । इति श्रीभगवद्गीताटीकायां श्रीधरस्वामी ॥ षड्दर्शनान्तर्गतदर्शनशास्त्रविशेषः । तत्पर्य्यायः । कापिलम् २ । इति हेमचन्द्रः ॥ यथा,—
"पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम् ।
प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम् ॥"
इति श्रीभागवते । १ । ३ । १० ॥
अपि च मात्स्ये । ३ । २९ ।
"सांख्यं संख्यात्मकत्वाच्च कपिलादिभिरुच्यते ॥"
अथ सांख्यैराख्यायते परिणामवादे परिपन्थिनि जागरूके कथंकारं विवर्त्तवाद आदरणीयो भवेदेष हि तेषामाक्षेपः । संक्षेपेण हि सांख्यशास्त्रे चतस्रो विधाः संभाव्यन्ते । कश्चित्प्रकृतिरेव कश्चिद्विकृतिः प्रकृतिश्च । कश्चिदनुभय इति । तत्र केवला प्रकृतिः । प्रधानपदेन वेदनीया मूलप्रकृतिः । नासावन्यस्य कस्यचिद्विकृतिः । प्रकरोतीति प्रकृतिरिति व्युत्पत्त्या सत्त्वरजस्तमोगुणानां साम्यावस्थाया अभिधानात् । तदुक्तम् । मूलप्रकृतिरविकृतिरिति । मूलञ्चासौ प्रकृतिश्चेति मूलप्रकृतिः । महदादेः कार्य्यकलापस्यासौ मूलं न तस्य प्रधानस्य मूलान्तरमस्ति अनवस्थापातात् । न च बीजाङ्कुरवदनवस्थादोषो न भवति इति वाच्यम् । प्रमाणाभावादिति भावः । प्रकृतयश्च महदहङ्कारतन्मात्राणि । तदप्युक्तम् । महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्तेति । अस्यार्थः । प्रकृतयश्च ता विकृतयश्चेति प्रकृतिविकृतयः सप्त महदादीनि तत्त्वानि । तत्रान्तःकरणादिपदेनेयं महत्तत्त्वमहङ्कारप्रकृतिः मूलप्रकृतेस्तु विकृतिः । एवमहङ्कारतत्त्वं अभिमानापरनामधेयमहतो विकृतिः । प्रकृतिश्च तदेवाहङ्कारतत्त्वं तामसं सत् पञ्चतन्मात्राणां सूक्ष्माभिधानम् । तदेव सात्त्विकं सत् प्रकृतिरेकादशेन्द्रियाणां बुद्धीन्द्रियाणां चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनात्वगाख्यानां कर्म्मेन्द्रियाणां वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानामुभयात्मकस्य मनसश्च रजसस्तूभयत्र क्रियोत्पादनद्वारेण कारणमस्तीति न वैयर्थ्यम् । तदुक्तमीश्वरकृष्णेन ।
"अभिमानोऽहङ्कारस्तस्मात् द्विविधः प्रवर्त्तते सर्गः ।
एकादशकश्च गणस्तन्मात्रा पञ्चकश्चैव ॥
सात्त्विकमेकादशकः प्रवर्त्तते वैकृतादहङ्कारात् ।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम् ॥
बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनात्वगाख्यानि ।
वाक्पादपाणिपायूपस्थाख्यानि कर्म्मेन्द्रियाण्याहुः ॥"
उभयात्मकमत्र मनः सङ्कल्पविकल्पात्मकमिन्द्रियञ्चेति । विस्तृतञ्च तत्त्वकौमुद्यामाचार्य्यवाचस्पतिभिः । किमवला विकृतयस्तु वियदादीनि पञ्चभूतानि । एकादशेन्द्रियाणि च । तदुक्तं षोड़शकस्तु विकार इति षोड़शसंख्यावच्छिन्नो गणषोड़शको विकार एव न प्रकृतिरित्यर्थः । यद्यपि पृथिव्यादयो गोघटादीनां प्रकृतिस्तथापि न ते पृथिव्यादिभ्यस्तत्त्वान्तरमिति न प्रकृतिः । तत्त्वान्तरोपादानत्वञ्चेह प्रकृतित्वमभिमतं गोघटादीनां स्थूलत्वेन्द्रियग्राह्यत्वयोः समानत्वेन तत्त्वान्तरत्वाभावः । तत्र शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्रेभ्यः पूर्व्वपूर्व्वसूक्ष्मभूतसहितेभ्यः पञ्च महाभूतानि

वियदादीनि क्रमेणैकद्वित्रिचतुःपञ्चगुणानि जायन्ते। इन्द्रियसृष्टिस्तु प्रागेवोक्ता। उक्तञ्च। प्रकृतेर्महान् ततोऽहङ्कारः तस्माद्गणश्च षोड़शकः तस्मादपि षोड़शकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानीति। अनुभयात्मकः पुरुषः। तदुक्तम्। न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुष इति। पुरुषस्तु कूटस्थो नित्यः परिणामो न कस्यचित्। प्रकृतिर्नापि विकृतिः कस्यचिदित्यर्थः। एतत्पञ्चविंशतितत्त्वसाधकत्वेन प्रमाणत्रयमभिमतम्। तदप्युक्तम्। दृष्टमनुमानमाप्तवचनं सर्व्वप्रमाणसिद्धत्वात् त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धीति। इह कार्य्यकारणभावे चतुर्द्धा विप्रतिपत्तिः प्रसरति। असतः सज्जायत इति सौगताः सङ्गिरन्ते। नैयायिकादयः सतोऽसज्जायते इति। वेदान्तिनः सतो विवर्त्तः कार्य्यजातं न वस्तु सदिति। सांख्याः पुनः सतः सज्जायत इति। तत्रासतः सज्जायत इति न प्रामाणिकः पक्षः। असतो निरूपाख्यस्य शशविषाणवत् कारणत्वानुपपत्तेः तुच्छातुच्छयोस्तादात्म्यानुपपत्तेश्च। नापि सतोऽसज्जायते कारकव्यापारात् प्रागसतः शशविषाणवत् सता सम्बन्धलक्षणोत्पत्तेः। न हि नीलं निपुणतमेनापि पीतं कर्त्तुं पार्य्यते। ननु सत्त्वासत्त्वे घटस्य धर्म्माविति चेदुच्यते। असति धर्म्मिणि तद्धर्म्म इति व्यपदेशानुपपत्त्या धर्म्मिणः सत्त्वापत्तेः। तस्मात् कारकव्यापारात् प्रागपि कार्य्यम्। सदेव सतश्चाभिव्यक्तिरुपपद्यते। यथा पीड़नेन तिलेषु तैलस्य दोहनेन सौरभेयीषु पयसः। असतः करणे किमपि निदर्शनं दृश्यते। किञ्च कार्य्येण कारणं सम्बद्धं तज्जनकं असम्बद्धं वा प्रथमे कार्य्यस्य सत्त्वमायातं सतोरेव सम्बन्ध इति नियमात्। चरमे सर्व्वं कार्य्यजातं सर्व्वस्माज्जायेत असम्बद्धत्वाविशेषात्। तदाख्यायि सांख्याचार्य्यैः।

“असत्त्वान्नास्ति सम्बन्धः कारणैः सत्त्वसङ्गिभिः।
असम्बद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः॥”

अथैवमनुक्तेयसम्बद्धमपि तदेव जनयति यत्र यच्छक्तं शक्तिश्च कार्य्यदर्शनोन्नेयेति तन्न संगच्छते। तिलेषु तैलजननशक्तिरित्यत्र तैलस्यासत्त्वे सम्बद्धत्वासम्बद्धत्वविकल्पेन तच्छक्तिरिति निरूपणायोगात् कार्य्यकारणयोरभेदाच्च। कार्य्यस्य सत्त्वं कारणात् पृथक् न भवति पटस्तन्तुभ्यो न भिद्यते तद्धर्म्मत्वान्न यदेवं न तदेवं यथा गौरश्वः। तद्धर्म्मश्च पटः तस्मान्नार्थान्तरं तर्हि प्रत्येकं त एव प्रावरणकार्य्यं कुर्य्युरिति चेन्न। संस्थानभेदेनाविर्भूतपटभावानां प्रावरणार्थक्रियाकारित्वोपपत्तेः। यथा हि। कूर्म्मस्याङ्गानि कूर्म्मशरीरे निविशमानानि तिरोभवन्ति निःसरन्ति चाविर्भवन्ति एवं कारणतन्त्वादेः पटादयो विशेषा निःसरन्त आविर्भवन्त उत्पद्यन्त इत्युच्यन्ते निविशमानास्तिरोभवन्तो विनश्यन्तीत्युच्यन्ते न पुनरसतामुत्पत्तिः सतां वा विनाशः। यथोक्तं भगवद्गीतायाम्।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

इति। ततश्च कार्य्यानुमानात्तत्प्रधानसिद्धिः। तदुक्तम्। असदकारणत्वादुपादानग्रहणात् सर्व्वसम्भवात्। शक्तस्य शक्यकरणात् कारणाभावाच्च सत्कार्य्यमिति। नापि सतो ब्रह्मतत्त्वस्य विवर्त्तः प्रपञ्चः बाधानुपलम्भात्। अधिष्ठानारोप्ययोः चिज्जड़योः कलधौतरौप्यादिवत् सारूप्याभेदेनापि संभवाच्च। तस्मात् सुखदुःखमोहात्मकस्य तथाविधकारणमवधारणीयम्। तथा च प्रयोगः। विमतं भावजातं सुखदुःखमोहात्मककारकं तदन्वितत्वात् यत् येनान्वीयते तत्तत्कारणकं यथा रुचकादिकं सुवर्णान्वितं सुवर्णकारणकं तथा चेदं तस्मात्तथेति। तत्र जगत्कारणे येयं सुखात्मकता तत् सत्त्वम्। या दुःखात्मकता तद्रजः। या च मोहात्मकता तत्तम इति त्रिगुणात्मककारणसिद्धिः। तथा हि प्रत्येकं भावास्त्रैगुण्यवन्तोऽनुभूयन्ते यथा मैत्रदारेषु सत्यवती मैत्रस्य सुखमाविरस्यति तं प्रति सत्त्वगुणप्रादुर्भावात्तत्सपत्नीनां दुःखं ताः प्रति रजोगुणप्रादुर्भावात् तामलभमानस्य चैत्रस्य मोहो भवति तं प्रति तमोगुणसद्भावात्। एवमन्यदपि घटादिकं लभ्यमानं सुखं करोति परैरपि ह्रियमाणं दुःखाकरोति उदासीनस्योपेक्षाविषयत्वेनोपतिष्ठते उपेक्षाविषयत्वं नामोह: मुह वैचित्त्ये इत्यस्माद्धातोर्मोहशब्दनिष्पत्तेः उपेक्षणीयेषु चित्तवृत्त्यनुदयात्तस्मात् सर्व्वं भावजातं सुखदुःखमोहात्मकं त्रिगुणप्रधानकारणकमवगम्यते। तथा च श्वेताश्वतरोपनिषदि श्रूयते।

“अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां
बह्वीं प्रजां जनयन्तीं सरूपाम्।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते
जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥” इति॥

अत्र लोहितशुक्लकृष्णशब्दा रञ्जकत्वप्रकाशकत्वावरकत्वसाधर्म्म्यात् रजःसत्त्वतमोगुणत्वप्रतिपादनपराः। नन्वचेतनं प्रधानं चेतनानधिष्ठितं महदादिकार्य्ये न व्याप्रियते अतः केनचित् चेतनाधिष्ठात्रा भवितव्यम्। तथा च सर्व्वार्थदर्शी। परमेश्वरः स्वीकर्त्तव्यः स्यादिति चेत्। तदसङ्गतं अचेतनस्य। यथा वत्सविवृद्ध्यर्थमचेतनं क्षीरं प्रवर्त्तते। यथा च जलमचेतनं लोकोपकाराय प्रवर्त्तते। तथा च प्रकृतिरचेतनापि पुरुषविमोक्षाय प्रवर्त्स्यति। तदुक्तम्। वत्सविवृद्ध्यर्थं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरेतस्याः पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्येति। यस्तु परमेश्वरः करुणया प्रवर्त्तक इति परमेश्वरास्तित्ववादिनां डिण्डिमः स प्रायेण गतः विकल्पानुपपत्तेः। स किं सृष्टेः प्राक् प्रवर्त्तते सृष्ट्युत्तरकालं वा। आद्ये शरीराद्यभावेन दुःखानुपपत्तौ जीवानां दुःखप्रहाणेच्छानुपपत्तिः। द्वितीये परस्पराश्रयप्रसङ्गः। करुणया सृष्टिः सृष्ट्या कारुण्यमिति तस्मादचेतनस्यापि चेतनानधिष्ठितस्य प्रधानस्य महदादिरूपेण परिणामः पुरुषार्थप्रयुक्तप्रधानपुरुषसंयोगनिमित्तः। यथा। निर्व्यापारस्याप्ययस्कान्तसन्निधानेन लोहितस्य व्यापारः। तथा निर्व्यापारस्य पुरुषस्य सन्निधानेन प्रधानव्यापारो युज्यते। प्रकृतिपुरुषसम्बन्धश्च पङ्ग्वन्धवत् परस्परापेक्षानिबन्धनः। प्रकृतिर्हि भोग्यतया भोक्तारं पुरुषमपेक्षते। पुरुषोऽपि भेदाग्रहाद्बुद्धिच्छायापन्नया तद्गतं दुःखत्रयं वारयमाणः कैवल्यमपेक्षते। तत्प्रकृतिपुरुषविवेकनिबन्धनः। न च तदन्तरेण युक्तमिति कैवल्यार्थं पुरुषः प्रधानमपेक्षते। यथा खलु कौचित् पङ्ग्वन्धौ पथि सार्थेन गच्छन्तौ दैवकृतादुपप्लवात् परित्यक्तसार्थौ मन्दमन्दमितस्ततः परिभ्रमन्तौ भयाकुलौ दैववशात् संयोगमुपगच्छेताम्। तत्र चान्धेन पङ्गुः स्कन्धमारोपितः पङ्गुदर्शितेन मार्गेणान्धः समीहितं स्थानं प्राप्नोति पङ्गुरपि स्कन्धाधिरूढ़ः तथा परस्परापेक्षप्रधानपुरुषनिबन्धनः सर्गः पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थंतया प्रधानस्य पङ्ग्वन्धवत् उभयोरपि सम्बन्धस्तत्कृतः सर्गः इति। ननु पुरुषार्थनिबन्धना भवतु प्रकृतेः प्रवृत्तिः निवृत्तिस्तु कथमुपपद्यत इति चेदुच्यते यथा भर्त्रा दृष्टदोषा स्वैरिणी पुनर्भर्त्तारं नोपैति यथा वा कृतप्रयोजना नर्त्तकी नर्त्तने. तथा प्रकृतिरपि यथोक्तं रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्त्तते नर्त्तकी यथा नृत्यात् पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य निवर्त्तते प्रकृतिरिति। तदर्थं निरीश्वरसांख्यशास्त्रप्रवर्त्तककपिलानुसारिणां मतमुपन्यस्तम्। इति माधवाचार्य्यकृतसर्व्वदर्शनसंग्रहे सांख्यदर्शनम्॥ अस्य चत्वारः अध्यायाः। तत्र प्रकृतिपुरुषयोरुभयोः सृष्टिकर्त्तृत्वं अन्धपङ्गुन्यायेन स्थापितम्। तत्त्वानां संख्यानञ्च कृतम्। इति केचित्॥

सांघातिकः, त्रि, (संघाते साधुः। संघात+“गुड़ादिभ्यष्ठञ्।” ४। ४। १०३। इति ठञ्।) सम्यक्प्रकारेण हननकारकः। मारात्मकः॥ जन्मनक्षत्रावधिकषोड़शनक्षत्रम्। यथा,—

“जन्माद्यं कर्म्म ततोऽपि दशमं सांघातिकं षोड़शभम्॥”

तत्फलम्।

“देहद्रविणबन्धूनां हानिः सांघातिके तथा।”

इति ज्योतिस्तत्त्वम्॥

सांदृष्टिकं, क्ली, (संदृष्टौ प्रत्यक्षे भवम्। संदृष्टि+ठञ्।) सद्यःफलम्। इत्यमरः॥ दृष्टिपरिकल्पनान्यायः। यथा। दौहित्रात्मजसन्तानाभावे पितुरधिकारवत् दौहित्रात्मपितृसन्तानाभावे पितामहाधिकारस्य सांदृष्टिकन्यायसिद्धत्वाच्च। यथा पित्रभावे माता तथा पितामहाभावे पितामहीति सांदृष्टिकन्यायेन पितामह्यधिकारस्य सिद्धत्वाच्च। इति श्रीकृष्णतर्कालङ्कारकृतक्रमसंग्रहः॥

सांयात्रिकः, पुं, (संयात्रा द्वीपान्तरगमनम् । सा प्रयोजनमस्येति । संयात्रा + "तदस्य प्रयोजनम् ।" इति ठञ् ।) पोतवणिक् । इत्यमरः । २ । १० । १२ ॥ हे वहित्रगामिनि वणिग्जने । संपूर्व्वो याति र्द्वीपान्तरगमनवृत्तिस्तस्मात् सुपिति त्रः स्त्रियामाप् संयात्रा द्वीपान्तरगमनं तदस्य प्रयोजनमिति विकारसंघेति ष्णिकः । सम्यक् यात्रा संयात्रा तया व्यवहरतीति ठघे कादिति ष्णिको वा । इति भरतः ॥ (यथा, हरिवंशे । ५८ । १४ ।
"सिद्धिः सांयात्रिकाणान्तु वेला त्वं सागरस्य च ॥").

सांयुगीनः, त्रि, (संयुगे साधुः । संयुग + "प्रतिजनादिभ्यः खञ् ।" ४ । ४ । ९९ । इति खञ् ।) युद्धकुशलः । रणे साधुः । इत्यमरः । २ । ८ । ७७ ॥ (यथा, रघुः । ११ । ३० ।
"इत्यपास्तमखविघ्नयोस्तयोः
सांयुगीनमभिनन्द्य विक्रमम् ।
ऋत्विजः कुलपतेर्यथाक्रमं
वाग्यतस्य निरवर्त्तयन् क्रियाः ॥")

सांराविणं, क्ली, (सं + रु शब्दे + "अभिविधौ भावे इनुण् ।" ३ । ३ । ४४ । इति इनुण् । "अणिनुणः ।" ५।४।१५ । इति स्वार्थे अण् ।) हट्टस्य सम्यक् शब्दः । इति मुग्धबोधव्याकरणम् ॥ संपूर्व्वे रुत ध्वनौ भावे णिनि णित्वाद्वृद्धौ सांराविणं इति स्थिते ततः स्वार्थे ष्णि णित्त्वे ञिराद्यच इति वृद्धौ ययोर्लोप इत्यकारलोपे सांराविणं हट्टस्य सम्यक् शब्दो व्याप्त इत्यर्थः । इति तट्टीकायां दुर्गादासः ॥ (यथा, अनर्घराघवे । ७ । ५७ ।
"यं दोर्मात्रपरिच्छदो युधि सुरोत्तृचिष्य प्रतीच्छन्मुहुः
संतेने दशभिर्निजैरपि मुखैः सांराविणं रावणः ।")

सांवत्सरः, पुं, (संवत्सरं तज्ज्ञानोपयोगि शास्त्रं वेत्ति अधीते वा । संवत्सर + अण् ।) गणकः । इत्यमरः । २ । ८ । १४ ॥ (यथा, बृहत्संहितायाम् । २ । १०—११ ।
"मुहूर्त्ते तिथिनक्षत्रऋतवश्चायने तथा ।
सर्व्वाण्येवाकुलानि स्युर्न स्यात् सांवत्सरो यदि ॥
तस्माद्राज्ञाभिगन्तव्यो विद्वान् सांवत्सरोऽग्रणीः ।
जयं यशःश्रियं भोगान् श्रेयश्च समभीप्सता ॥"
अस्य लक्षणादिकं तत्रैव २ अध्याये विशेषतो द्रष्टव्यम् ॥ * ॥ फले, पर्व्वणि च क्ली । इति पाणिनिः । ४ । ३ । १६ ॥ संवत्सरस्येदमिति । अण् ।) संवत्सरसम्बन्धिनि, त्रि ॥ (यथा, हरिवंशे । १४० । ३ ।
"स सांवत्सरदीक्षायां दीक्षितः षट्पुरालये ।
आवर्त्ताया शुभे तीरे सुनद्या मुनिजुष्टया ॥")

सांवत्सरिकः, त्रि, (संवत्सर + "कालात् ठञ् ।" ४।३।११ । इति ठञ् ।) संवत्सरे भवः । संवत्सरं व्याप्य भूतः । प्रतिवर्षकर्त्तव्यश्राद्धम् । यथा अथ सांवत्सरिकश्राद्धम् । तत्र गोभिलः । अत ऊर्द्ध्वं संवत्सरे संवत्सरे प्रेतायान्नं दद्यात् यस्मिन्नहनि प्रेतः स्यात् इति । अत ऊर्द्ध्वं सपिण्डीकरणान्तश्राद्धनिमित्तादाद्यसंवत्सरादूर्द्ध्वं संवत्सरे संवत्सरे प्रतिवर्षं यस्मिन्नहनि मृतस्तस्मिन्नहनि मृताय दद्यात् । व्यासः । प्रतिसंवत्सरञ्चैवमेकोद्दिष्टं मृताहनि । एतेन सपिण्डीकरणापकर्षे आद्यसंवत्सरेऽपि मृताहे श्राद्धान्तरं कर्त्तव्यमिति मैथिलोक्तं हेयम् । यत्तमाह हेमाद्रिधृतं वचनम् ।
"पूर्णे संवत्सरे श्राद्धं षोडशं परिकीर्त्तितम् ।
तेनैव च सपिण्डत्वं तेनैवाब्दिकमिष्यते ॥"
अत्र पूर्णसंवत्सरक्रियमाणश्राद्धाद्‌यथोभयनिर्व्वाहस्तथापकृष्टसपिण्डीकरणश्राद्धादप्युभयनिर्व्वाहो न पूर्णसंवत्सरे आब्दिकान्तरम् । एवं पञ्चदशश्राद्धेऽप्यन्नयम् । मत्स्यपुराणम् ।
"ततः प्रभृति संक्रान्तावुपरागादिपर्व्वसु ।
त्रिपिण्डमाचरेत् श्राद्धमेकोद्दिष्टं मृताहनि ॥"
ततः प्रेतत्वपरीहारात् त्रिपिण्डं त्रैपुरुषम् । निरुपपदमृताहशब्दः मृतसम्बन्धिमासपक्षतिथिविशेषपरः । उपपदात्तु कश्चित्तिथिविशेषमात्रपरः । यथा मृताहे प्रतिमासं कुर्य्यादित्यादौ । शङ्खः ।
"सपिण्डीकरणादूर्द्ध्वं यत्र यत्र प्रदीयते ।
तत्र तत्र त्रयं कुर्य्यात् वर्ज्जयित्वा मृताहनि ॥
अमावास्यां क्षयो यस्य प्रेतपक्षेऽथवा पुनः ।
सपिण्डीकरणादूर्द्ध्वं तस्योक्तः पार्व्वणो विधिः ॥"
त्रयं सम्प्रदानानां त्रयं कुर्य्यात् त्रिभ्यो दद्यात् इत्यर्थः । मृताहपर्य्युदस्तत्रिदैवतस्य प्रति प्रसवमाह । अमावास्यामिति । प्रेतपक्षोऽत्र पितृपक्षः अश्वयुक्कृष्णपक्ष इति यावत् । न तु कृष्णपक्षमात्रं कृष्णपक्षसामान्यपरत्वे अमावास्यापदवैयर्थ्यापत्तेः ॥ * ॥ पितृपक्षं विशेषयति हेमाद्रिमाधवाचार्य्यधृतं नागरखण्डम् ।
"नभो वाथ नभस्यो वा मलमासो यदा भवेत् ।
सप्तमः पितृपक्षः स्यादन्यत्रैव तु पञ्चमः ॥"
अत्र श्रावणभाद्रयोरन्यतरस्य मलमासत्वे आषाढ्यपेक्षया सप्तमपक्षस्य पितृपक्षत्वात् । अत्र मृतस्यैव प्रेतपक्षमृतत्वं न तु मलमासभाद्रकृष्णपक्षमृतस्य । ततश्च तत्र मृतस्य वर्षान्तरे अश्वयुक्कृष्णपक्षेऽपि तच्छ्राद्धकरणे न पार्व्वणम् । किन्त्वेकोद्दिष्टमिति । अत्र पार्व्वणो विधिः पार्व्वणेतिकर्त्तव्यताकैकोद्दिष्टविधिरिति नव्यवर्द्धमानप्रभृतयः । तन्न पूर्व्ववचनोक्तत्रैपुरुषिकस्य मृताहे पर्य्युदस्तस्य पार्व्वणो विधिरित्यनेन प्रतिप्रसवात् । तस्मादत्र सदैवतैकोद्दिष्टं न युक्तं किन्तु त्रैपुरुषिकं न तु षाट्पुरुषिकम् ।
"कर्षूसमन्वितं मुक्त्वा तथाद्यं श्राद्धषोडशम् ।
प्रत्याब्दिकञ्च शेषेषु पिण्डाः स्युः षडिति स्थितिः ॥"
इति छन्दोगपरिशिष्टवचनेन प्रत्याब्दिकव्यतिरेकेण षट्संख्यानियमात् ॥ * ॥ एवममावास्यादिमरणनिमित्तेन मातुरपि प्रत्याब्दिकं पार्व्वणविधिनैव ।
"अपुत्त्रा ये मृताः केचित् स्त्रियो वा पुरुषाश्च ये ।
तेषामपि च देयं स्यादेकोद्दिष्टं न पार्व्वणम् ॥"
इत्यापस्तम्बवचने अपुत्त्रा इति विशेषणोपादानात् सपुत्त्राणां पार्व्वणाभ्यनुज्ञानात् । एतच्च मात्रादित्रितयदैवतं कार्य्यम् । मात्रे पितामह्यै प्रपितामह्यै च पूर्व्ववत् ब्राह्मणान् भोजयित्वा इत्यन्वष्टकायां तथा दर्शनात् । अवसानदिननिमित्तेन पार्व्वणविधिना छन्दोगैरपि मात्रादित्रिकाणां श्राद्धं कर्त्तव्यम् । न योषिद्भ्यः पृथग्दद्यादवसानादिनादृते । इति छन्दोगपरिशिष्टवचने विशेषतः प्रतिप्रसवात् । एवं सपिण्डीकरणेऽपि । एतच्च मृताहपार्व्वणं मातापित्रोरेव । तथा च हेमाद्रिधृतं कात्यायनवचनम् ।
"सपिण्डीकरणादूर्द्ध्वं पित्रोरेव हि पार्व्वणम् ।
पितृव्यभ्रातृमातृणामेकोद्दिष्टं सदैव तु ॥"
मातृपदं सपत्नीमातृपरम् । सपत्नीमात्रित्यत्र मातृपदस्य राजदन्तादित्वात् परनिपातः । ततश्च वाक्ये मातृसपत्नीति न प्रयोज्यं किन्तु सपत्नीमातरित्यादिकम् ॥ * ॥ एवं सामिकौरसक्षेत्रजाभ्यां मृताहे पार्व्वणं कर्त्तव्यम् ।
"औरसक्षेत्रजौ पुत्त्रौ विधिना पार्व्वणेन तु ।
प्रत्यब्दमितरे कुर्य्युरेकोद्दिष्टं सुता दश ॥"
इति जावालवचनस्य ।
"यत्र यत्र प्रदातव्यं सपिण्डीकरणात् परम् ।
पार्व्वणेन विधानेन देयमग्निमता सदा ॥"
इति मत्स्यपुराणवचनस्य चैकवाक्यत्वात् । उशनाश्च ।
"प्रत्यब्दं दर्शवच्छ्राद्धं साग्निः कुर्व्वीत वै द्विजः ।
एकोद्दिष्टं सदा कुर्य्यान्निरग्निः श्राद्धदः सुतः ॥"
अत्र प्रागुक्तयुक्त्या प्रेतश्राद्धस्य एकोद्दिष्टत्वाभिधानात् सांवत्सरिकश्राद्धे यदेकोद्दिष्टपदमुक्तं तत् प्रेतश्राद्धधर्म्मग्राहित्वार्थम् । ततश्च योग्यत्वादेकार्घ्यादिलाभः । न तु यथा प्रेतश्राद्धे पितृशब्दस्थाने प्रेतपदोहः तथा अत्रापीति वाच्यं सांवत्सरिके प्रेतत्वाभावात्तथाविधानानुपपत्तेः । एवं प्रतिसांवत्सरिकश्राद्धे सम्बन्धार्थपदं आशीःप्रार्थनं शेषभोजनञ्च कर्त्तव्यम् ॥ * ॥ रजस्वलायां विशेषयति गौतमः ।
"अपुत्त्रा तु यदा भार्य्या सम्प्राप्ते भर्त्तुराब्दिके ।
रजस्वला भवेत् सा तु कुर्य्यात् तत्पञ्चमे दिने ॥"
कुर्य्याच्छ्राद्धमिति शेषः । यत्तु श्राद्धचिन्तामणौ । एकोद्दिष्टं त्रैवर्णिकेन सिद्धान्नेन कर्त्तव्यम् ।
"एकोद्दिष्टन्तु कर्त्तव्यं पाकेनैव सदा स्वयम् ।
अभावे पाकपात्राणां तदहः समुपोषणम् ॥"
इति लघुहारीतवचनात् ॥
पाकपात्राभावः पाकसामग्र्यभावोपलक्षकः । तदापि नामश्राद्धं किन्तूपोषणमेव श्राद्धस्थानीयमित्यर्थः । स्वयमित्यभिधानात् अपाटवादिनापि

नान्यद्वारा कारयितव्यम् । अतएव उपवासेनैव श्राद्धस्थानीयेन तदकरणप्रायश्चित्तेन वा कृतकृत्यतया श्राद्धविघ्ने इत्यादिवचनादपि नैकादश्यामनुष्ठानमिति तन्न । पितृत्वप्रेतत्वेनैकादश्यां तदनुष्ठानस्य युक्तत्वात् । अन्यथा षोड़शश्राद्धाधिकारिणः कदाचित्तथात्वे ।
"यस्यैतानि न दीयन्ते प्रेतश्राद्धानि षोड़श ।
पिशाचत्वं ध्रुवं तस्य दत्तैः श्राद्धशतैरपि ॥"
इति यमवचनेन षोड़शश्राद्धाभावे प्रेतत्वपरीहारो न स्यात् । तस्मादुपवासो न श्राद्धार्थः किन्तु तदानीन्तनाकरणप्रायश्चित्तार्थः । यथा स्वकालाकृतसंस्कारे प्रायश्चित्तं कृत्वा कालान्तरे तत्करणं तथात्रापि तद्दिने उपवासं कृत्वा एकादश्यां श्राद्धं कर्त्तव्यमिति । एकोद्दिष्टं नान्यद्वारा कार्य्यमित्यत्रापि गोत्रजेतरत्वेन विशेषणीयम् ।
"न कदाचित् सगोत्राय श्राद्धं कार्य्यमगोत्रजैः ।"
इति प्रेतश्राद्धे ब्रह्मपुराणात् ।
अत्र हि नागोत्रजस्य साक्षात्कर्तृत्वं निषिध्यते सगोत्रायेत्यसम्बन्धापत्तेः । तस्मात् अगोत्रजैर्द्वारभूतैः सगोत्राय श्राद्धं न कार्य्यमित्यर्थः । तथा च पर्य्युदासपक्षे गोत्रजद्वारा कारयितव्यमिति सुव्यक्तमेव । प्रसज्यपक्षे तु अगोत्रजविशेषणस्वरसात् गोत्रजलाभः । प्रेतश्राद्धधर्म्मग्राहित्वात् सांवत्सरिकमपि तथेति श्राद्धविवेकः । कल्पतरुरत्नाकरयोस्तु स्वगोत्रायेति पठितं स्वमात्मीयं गोत्रं यस्य स स्वगोत्रः विद्यमानगोत्र इत्यर्थः । यस्मै श्राद्धं कर्त्तव्यं तस्य स्वगोत्रे विद्यमानेऽन्यगोत्रजेन संघातान्तर्गतेन राज्ञा श्राद्धं न कारयितव्यमिति व्याख्यातञ्च । एतन्मतेऽप्यूढ़दुहित्रादीनामसगोत्रत्वेऽपि न निषेधः । वस्तुतस्तु तत्पाठेऽपि कर्म्मधारयापेक्षया बहुव्रीहेर्जघन्यत्वात् स्वमात्मीयञ्च तत् गोत्रञ्चेति तस्मै अन्यगोत्रजद्वारा श्राद्धं न कार्य्यमित्यर्थः । अतो लघुहारीतवचने स्वयं पदं स्वगोत्रपरम् । अन्यथा ब्रह्मपुराणोक्तागोत्रजपदवैयर्थ्यापत्तेः ॥ * ॥ एवञ्च भविष्यपुराणप्रभासखण्डयोः ।
"मृताहनि पितुर्य्यस्तु न कुर्य्यात् श्राद्धमादरात् ।
मातुश्चैव वरारोहे वत्सरान्ते मृताहनि ।
नाहन्तस्य महादेवि ! पूजां गृह्णामि नो हरिः ॥"
मरीचिः ।
"पण्डिता ज्ञानिनो मूर्खाः स्त्रियोऽथ ब्रह्मचारिणः ।
मृताहं समतिक्रम्य चाण्डालेष्वभिजायते ॥"
इत्याभ्यां कालमाधवीयधृताभ्यां वचनाभ्यां सांवत्सरिकश्राद्धस्य मृताहकर्त्तव्यत्वेनावश्यकत्वात् भविष्यन्मृताहे स्वयं कर्त्तव्यत्वसम्भावनारहितेन मृतातात् पूर्व्वकालेऽपि प्रतिनिधीयते ।
"प्रचिप्याग्निं स्वदारेषु परिकल्प्यर्त्विजं तथा ।
प्रवसेत् कार्य्यवान् विप्रो वृथैव न चिरं क्वचित् ॥"
इति छन्दोगपरिशिष्टोक्तसायं प्रातर्होमप्रतिनिधिवत् । एवं सति प्रतिनिध्यकरण एव एकादश्यां क्रियते ॥ * ॥ न च पाकस्याङ्गत्वेन प्रधानतिथिकर्त्तव्यतानियम इति वाच्यम् ।
"व्रतोपवासनियमे घटिकैका यदा भवेत् ।
सा तिथिः सकला ज्ञेया पित्रर्थे चापराह्णिकी ॥"
इति वचनेन मुहूर्त्तमात्रलाभेऽपि कर्त्तव्यतोपदेशात् तदानीं पाके तदसम्भवात् । एवमुदीच्याङ्गशेषभोजनेऽपि न तन्नियमः । इति श्राद्धतत्त्वम् ॥ (गणके, पुं । यथा, वृहत्संहितायाम् । २ । १२ ।
"नासांवत्सरिके देशे वस्तव्यं भूतिमिच्छता ।
चक्षुर्भूतो हि यत्रैष पापं तत्र न विद्यते ॥")

सांवादिकः, पुं, (सम्यक् वादाय प्रभवतीति । संवाद+ठञ् ।) नैयायिकः । यथा,—
"नैयायिकः साक्षपादः स्यात्सांवादिक आर्हतः ॥"
इति जटाधरः ॥
संवाददातरि, त्रि ॥

सांशयिकः, त्रि, (संशयमापन्नः । संशय+"संशयमापन्नः ।" ५ । १ । ७३ । इति ठञ् ।) संशययुक्तः । तत्पर्य्यायः । संशयापन्नमानसः २ । इत्यमरः । ३ । १ । ५ ॥ सन्दिहानः ३ । इति जटाधरः ॥ द्वे संशयविषये स्थाण्वादौ । संशयमापन्नः सांशयिकः स्थाणुः संशयमापन्नं मानसं यत्र स्थाण्वादौ स तथा । संशयमापन्नं मानसं यस्य स तथेति षष्ठ्यन्तपदार्थत्वे संशयितरि पुरुषादावप्येतच्छब्दद्वयप्रवृत्तिः स्यादिति भरतः ॥ (संशयविषयकः । यथा, मार्कण्डेये । १० । ४५ ।
"तद्ब्रूहि त्वं महाभाग यत् ते सांशयिकं हृदि ॥")

सांस्थानिकः, त्रि, (संस्थाने व्यवहरतीति । संस्थान+"कठिनान्तप्रस्तारसंस्थानेषु व्यवहरति ।" ४ । ४ । ७२ । इति ठक् ।) समानदेशीयः । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥ संस्थानयुक्तश्च ॥

सांस्राविणं, क्ली, (स्नुस्य स्रवं व्याप्य सम्यक् स्रावः । इति संक्षिप्तसारोणादिवृत्तिः ॥

साकं, व्य, सहार्थम् । इत्यमरः । ३ । ४ । ४ ॥ (यथा, कथासरित्सागरे । ४ । १३६ ।
"अहं जनन्या गुरुभिश्च साकमासाद्य लक्ष्मीमवसं चिराय ॥")

साकल्यं, क्ली, (सकल+भावे ष्यञ् ।) समुदायः । सकलस्य भावः । (यथा, मनुः । १२ । २५ ।
"यो यदैषां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यते ।
स तदा तद्गुणप्रायं तं करोति शरीरिणम् ॥")

साकारः, त्रि, (आकारेण सह वर्त्तमानः ।) आकारविशिष्टः । यथा,—
"साकारञ्च निराकारं सगुणं निर्गुणं प्रभुम् ।
सर्व्वाधारञ्च सर्व्वञ्च स्वेच्छारूपं नमाम्यहम् ॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते गणपतिखण्डे । ३२ । ३१ ॥

साकुरुण्डः, पुं, (सकुरुण्ड एव । स्वार्थे अण् ।) वृक्षविशेषः । सकुरुण्डर इति गुर्जरदेशीयभाषा । तत्पर्य्यायः । ग्रन्थिफलः २ विकटः ३ वत्सभूषणः ४ कुरुण्डः ५ कर्व्वूरफलः ६ सकुरुण्डः ७ । अस्य गुणाः । कषायत्वम् । रुचिकारित्वम् । दीपनत्वम् । सारकत्वम् । श्लेष्मवातनाशित्वम् । वस्त्ररञ्जनकत्वम् । लघुत्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥

साकेतं, क्ली, अयोध्यानगरम् । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, रघुः । ५ । ३१ ।
"जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ
द्वावप्यभूतामभिवन्द्यसत्त्वौ ॥")

साक्तुकः, पुं, (सक्तुषु साधुः । सक्तु+"गुड़ादिभ्यष्ठञ् ।" ४ । ४ । १०३ । इति ठञ् ।) यवः । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥ (सक्तूनां समूहः । सक्तु+"अचित्तहस्तिधेनोष्ठक् ।" ४ । २ । ४७ । इति ठक् ।) सक्तुसमूहे, क्ली । सक्तुसम्बन्धिनि, त्रि ॥ (सक्तवे प्रभवतीति । "तस्मै प्रभवति संतापादिभ्यः ।" ५ । १ । १०१ । इति ठञ् । सक्तुसमर्थे च त्रि ॥)

साक्षरं, त्रि, अक्षरयुक्तम् । अक्षरेण सह वर्त्तमानम् । इति बहुव्रीहिसमासनिष्पन्नम् ॥

साक्षात्, व्य, प्रत्यक्षम् । (यथा, कुमारे । ६ । २२ ।
"साक्षात् दृष्टोऽसि न पुनर्विद्मस्त्वां वयमञ्जसा ।
प्रसीद कथयात्मानं न धियां पथि वर्त्तसे ॥")
तुल्यम् । इत्यमरः । ३ । ३ । २४ ॥

साक्षी, [न्] त्रि, (अक्ष्णा दर्शनेन्द्रियेण सह वर्त्तमानं यत् तत् साक्षं प्रत्यक्षज्ञानम् । तदस्यास्तीति । साक्ष+इनिः ।) दृष्टा । इति हेमचन्द्रः ॥ तत्पर्य्यायः । प्रत्यक्षदर्शनः २ । इति शब्दमाला ॥ तस्य मिथ्याकथने अकथने च दोषो यथा, महाभारते आदिपर्व्वणि ।
"दृष्टो हि साक्षी यः साक्ष्यं जानन्नप्यन्यथा वदेत् ।
स पूर्व्वानात्मनः सप्त कुले हन्यात्तथापरान् ॥
यश्च कार्य्यार्थतत्त्वज्ञो जानन्नपि न भाषते ।
सोऽपि तेनैव पापेन लिप्यते नात्र संशयः ॥"
अपि च ।
"ब्रह्मस्वस्याप्यहारी च मिथ्यासाक्ष्यप्रदायकः ।
मित्रद्रोही कृतघ्नश्च वृषवाहकसूपकृत् ॥
एते महापातकिनस्त्रिषु लोकेषु निन्दिताः ।
कालसूत्रे च नरके पतन्ति ब्रह्मणः शतम् ॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते गणपतिखण्डे । ४४ । ५० ; ५४ ॥
अपरञ्च ।
"मिथ्यासाक्ष्यं यो ददाति कामात् क्रोधात्तथा भयात् ।
सभायां पाक्षिकं वक्ति स कृतघ्न इति स्मृतः ॥
मिथ्यासाक्ष्यं पाक्षिकं वा भारते वक्ति यो नृप ।
यावदिन्द्रसहस्रञ्च सर्पकुण्डे वसेद्ध्रुवम् ॥
सन्ततं वेष्टितैः सर्पैर्भीतश्च भक्षितस्तथा ।
भुङ्क्ते च सर्पविण्मूत्रं यमदूतेन ताड़ितः ॥
कृकलासो भवेत्तत्र भारते सप्तजन्मसु ।
सप्तजन्मसु मण्डूकः पितृभिः सप्तभिः सह ॥
ततो भवेच्च वृक्षश्च महारण्ये च शाल्मलिः ।
ततो भवेन्नरो मूकस्ततः शूद्रस्ततः शुचिः ॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते प्रकृतिखण्डे ४६ अध्यायः ॥ * ॥

सर्व्वशरीरेषु श्रीकृष्णस्य साक्षिरूपत्वं यथा,—
“स्थूलात् स्थूलतरं प्राप्तमतिसूक्ष्ममदर्शनम्।
स्थितं सर्व्वशरीरेषु साक्षिरूपमदृश्यकम्।
शरीरवन्तं सगुणमशरीरं गुणोत्करम्॥”
इति ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे।७।६४-६५॥
(पुं, विष्णुः। इति महाभारतम्।१३।१४६।१५॥)

साक्ष्यं, क्ली, (साक्षिणो भावः कर्म्म वा। साक्षिन्+ष्यञ्। यद्वा, साक्षिणि भवम्। साक्षिन्+“दिगादिभ्यो यत्।” ४।३।५४। इति यत्।) साक्षिकर्म्म। यथा। मनुः।
“समक्षदर्शनात् साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिध्यति।”
एतत् प्रमाणमात्रोपलक्षणम्।
“अनुभावी च यः कश्चित् कुर्य्यात् साक्ष्यं विवादिनाम्।”
इति तद्वचनान्तरात्॥
अतएवाज्ञातमपि साक्षिणमाह। मनुः।
“यत्रानिबद्धो वीक्षेत शृणुयाद्वापि किञ्चन।
पृष्टस्तत्रापि तद्ब्रूयात् यथादृष्टं यथाश्रुतम्॥”
अनिबद्धस्तत्र साक्षित्वेनानियुक्तः। परम्परयापि श्रवणमाह विष्णुः।
“उद्दिष्टसाक्षिणि मृते देशान्तरगतेऽपि वा।
तदभिहितश्रोतारः प्रमाणं नात्र संशयः॥”
अस्योत्तरसंज्ञामाह नारदः।
“साक्षिणामपि यत् साक्ष्यं स्वपक्षं परिभाषताम्।
श्रवणात् श्रावणाच्चापि स साक्ष्युत्तमसंज्ञकः॥”
स्वपक्षसम्बन्धिसाक्ष्यं परिभाषतां साक्षिणां यः स्वयं शृणोति अर्थिना श्राव्यते वा स श्रवणात् श्रावणादुत्तरसाक्षीत्यर्थः। एवं योऽर्थिना गूढ़तया प्रत्यर्थिवचनं श्रावितः स गूढ़साक्षीत्याह स एव।
“अर्थिना स्वार्थसिद्ध्यर्थं प्रत्यर्थिवचनं स्फुटम्।
यः श्राव्यते तदा गूढ़ो गूढ़साक्षी स उच्यते॥”
तेनान्यतरवाद्यभिहितार्थविषयकदृष्टकारणजं विज्ञापनं साक्ष्यमिति स्थितम्। तत्र नारदः।
“तेषामपि न बालः स्यान्नैको न स्त्री न कूटकृत्।
न बान्धवो न चारातिर्ब्रूयुस्ते कार्य्यमन्यथा॥”
कार्य्यं सदपि अन्यथा तद्विरुद्धत्वेन। एवञ्च यदि परमधार्म्मिकत्वेन बान्धवादीनामपि सत्यवादित्वं निश्चीयते तदा तेऽपि साक्षिणो भवितुमर्हन्तीति। तेषां साक्ष्यविधायकं वक्ष्यमाणमनुवचनमपि एतादृशविषयम्॥*॥ याज्ञवल्क्यः।
“त्र्यवराः साक्षिणो ज्ञेयाः श्रौतस्मार्त्तक्रियारताः।
यथाजाति यथावर्णं सर्व्वे सर्व्वेषु वा स्मृताः॥”
त्रयोऽवरा निकृष्टा येषां ते त्र्यवराः त्रिभ्यो अन्यूना भवन्तीत्यर्थः। यथेति यो यज्जातीयस्तस्य तज्जातीयः साक्षी। स्त्रीणां स्त्रियोऽन्त्यजानामन्त्यजाः। यथावर्णं ब्राह्मणानां ब्राह्मणाः क्षत्त्रियादीनां क्षत्त्रियादयः। अभावे तु तत्तद्भेदं विना सर्व्व एव॥ *॥ त्र्यवरा इत्यस्यापवादमाह स एव।
“उभयानुमतः साक्षी भवेदेकोऽपि धर्म्मवित्।”
उभयानुमतत्वं धर्म्मवित्त्वञ्च नियतं तन्त्रम्। तदाह विष्णुः। अभिमतगुणसम्पन्नस्तूभयानुमतस्त्वेकोऽपि इति। अतएव श्रोत्रियमप्येकं निषेधयति बृहस्पतिः।
“नव सप्त पञ्च वा स्युश्चत्वारस्त्रय एव वा।
उभौ तु श्रोत्रियौ ग्राह्यौ नैकं पृच्छेत् कदाचन॥”
एको मिलितगुणसम्पन्नः प्रधानकल्पः। तदभावे उभयानुमतमात्रोऽपि ग्राह्यस्तदाह नारदः।
“उभयानुमतो यः स्याद्द्वयोर्विवदमानयोः।
भवत्येकोऽपि साक्षित्वे प्रष्टव्यः स्यात् स संसदि॥”
उभयानुमत एकोऽलुब्धत्वादिना सर्व्वजनप्रसिद्धश्चेत्तदा साक्षित्वे संसदि बहुजनसन्निधौ प्रष्टव्यः। तथात्वे स्नेहवैरादिसत्त्वेऽप्यकीर्त्तिभयात् सत्याभिधानसम्भवादित्याशयः। विचारस्य तत्त्वनिर्णयार्थत्वात्। तदाह मनुः।
“एकोऽप्यलुब्धः साक्षी स्यात् बह्व्यः शुच्योऽपि न स्त्रियः।
स्त्रीबुद्धेरस्थिरत्वात्तु दोषैश्चान्येऽपि ये वृताः॥”
एकोऽलुब्धस्तु साक्षी स्यादिति कुल्लूकभट्टधृतपाठः। एको लुब्धस्त्वसाक्षी स्यादिति जीमूतवाहनधृतपाठस्तु न युक्तः। लुब्धाश्चेद्बहवोऽप्यसाक्षिणो भवितुमर्हन्तीति। एकपदस्य व्यर्थतापत्तेः। भवतु वा तत्पाठः तथाप्येक इत्यनुरोधात् तन्निषेधमुखेनालुब्धस्यैकस्य अनुमतिसत्त्वे धर्म्मवित्त्वमन्तरेण साक्षित्वं बोध्यम्। इत्यर्थतो न विरोधः। अतएव विश्वरूपप्रभृतीनां उभयानुमत एक एव साक्षीति व्याख्याने धर्म्मविदिति नोक्तम्। दोषैः स्तेयादिभिः। तथा च नारदः।
“स्तेनाः साहसिका धूर्त्ताः कितवा घोधकाश्च ये।
असाक्षिणस्तु ते दुष्टास्तेषु सत्यं न विद्यते॥”
कितवा द्यूतकराः॥*॥ अपवादमाह उशनाः।
“दासोऽन्धो बधिरः कुष्ठी स्त्री बालः स्थविरादयः।
एतेऽप्यनभिसम्बन्धाः साहसे साक्षिणो मताः॥”
स्थविरो म्लानेन्द्रियग्रामः। आदिशब्दात् कितवादयः। उभयानुमताभावे शुचिक्रियत्वादिगुणयुक्तश्चैको ग्राह्यः। तथा च व्यासः।
“शुचिक्रियश्च धर्म्मज्ञो योऽस्यत्राप्यनभूतवाक्।
प्रमाणमेकोऽपि भवेत् साहसेषु विशेषतः॥”
अनुभूतवाक् स्थानान्तरे सत्यत्वेनेति। भवदेवभट्टोऽप्येवम्। कात्यायनः।
“अभ्यन्तरस्तु निःक्षेपे साक्ष्यमेकोऽपि दापयेत्।
अर्थिना प्रहितः साक्षी भवेदेकोऽपि याचिते॥
संस्कृतं येन यत् पण्यं तत्तेनैव विभावयेत्।
एक एव प्रमाणं स विवादे परिकीर्त्तितः॥”
संस्कृतं गठितम्। पण्यं कुण्डलादि। विष्णुः। स्तेयसाहसवाग्दण्डपारुष्यसंग्रहणेषु साक्षिणो न परीक्षा इति। स्तेयपरदारगमनादिकार्य्याणां निह्नवेनैव क्रियमाणत्वात् दैवादेव परं साक्षिणो भवन्तीति न परीक्षा इत्युक्तम्। तेषां वाक्यन्तु मित्रारिभावादिनिरूपणेनैवोपपत्त्यनुपपत्तिभ्यामालोचनीयं न तु वाक्यमात्रादिति व्यवहारमातृका॥ अतएव कात्यायनः।
“ऋणादिषु परीक्षेत साक्षिणः स्थिरकर्म्मसु।
साहसात्ययिके नैव परीक्षा क्वचित् स्मृता॥”
इति॥*॥ श्रोत्रियादीनामसाक्ष्यमाह नारदः।
“श्रोत्रियास्तापसा वृद्धा ये च प्रव्रजिता नराः।
वचनात्तेष्वसाक्षित्वं नात्र हेतुरुदाहृतः॥”
वचनादिति श्रोत्रियत्वादिरूपाभिधानात् न च तत्रान्यो हेतुरित्यर्थः। तथा च स्वीयवैदिककर्म्मकरणव्यग्रतया परकीयकार्य्ये विस्मरणसम्भवात् साक्षित्वरूपलघुकार्य्यनियोगे तच्छापभयेन व्यवहारद्रष्टारोऽपि तान्न पृच्छन्तीति तत्साक्ष्यकरणानर्थक्याच्च न ते साक्षिणः कर्त्तव्याः। किन्त्वकृताः स्वयं साक्षिणो भवन्त्येव। उभौ तु श्रोत्रियौ स्यातामिति स्मृतेः। वृद्धस्यासाक्षित्वं वृद्धत्वादेव म्लानेन्द्रियत्वादित्यर्थः॥ *॥ मनुः।
“स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्य्युर्द्विजानां सदृशा द्विजाः।
शूद्राश्च सन्तः शूद्राणामन्त्यानामन्त्ययोनयः॥
अन्तर्वेश्मन्यरण्ये वा शरीरस्यात्ययेऽपि च।
स्त्रियाप्यसम्भवे कार्य्यं बालेन स्थविरेण वा।
शिष्येण बन्धुना वापि दासेन भृतकेन वा॥*॥
देवब्राह्मणसान्निध्ये साक्ष्यं पृच्छेदृतं द्विजान्।
उदङ्मुखान् प्राङ्मुखान् वा पूर्व्वाह्णे वै शुचिः शुचीन्॥
ब्रूहीति ब्राह्मणं पृच्छेत् सत्यं ब्रूहीति पार्थिवम्।
गोवीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्व्वैस्तु पातकैः॥”
गोवीजकाञ्चनापहारे यत् पापं तत्तवानृताभिधाने स्यादिति वैश्यम्। एतत् साक्ष्यानृताभिधाने भवान् सर्व्वैः पातकैः सम्बध्यते इत्युक्ता शूद्रञ्च पृच्छेत्।
“ब्रह्मघ्ना ये स्मृता लोका ये च स्त्रीबालघातिनः।
मित्रद्रुहः कृतघ्नाश्च ते ते स्युर्ब्रुवतो मृषा॥”
इति मनूक्तं दूषणम्॥ सत्फलञ्च।
“अश्वमेधसहस्रञ्च सत्यञ्च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेवातिरिच्यते॥”
इति मनुनारदोक्तं श्रावयेत्॥*॥ याज्ञवल्क्यः।
“न ददाति हि यः साक्ष्यं जानन्नपि नराधमः।
स कूटसाक्षिणां पापैस्तुल्यो दण्डेन चैव हि॥”
कात्यायनः।
“अवीचिनरके वर्षं वसेयुः कूटसाक्षिणः।”
याज्ञवल्क्यः।
“सत्यां प्रतिज्ञां यस्योचुः साक्षिणः स जयी भवेत्।
अन्यथा वादिनो यस्य ध्रुवस्तस्य पराजयः॥
वर्णिनां हि वधो यत्र तत्र साक्ष्यनृतं वदेत्।
तत्पावनाय निर्व्वाप्यश्चरुः सारस्वतो द्विजैः॥”
गौतमः। नानृतवचने दोषो जीवनञ्चेत्तदधीनम्। न तु पापीयसो जीवनम्। इति।
“द्वैधे बहूनां वचनं समेषु गुणिनां तथा।
गुणिद्वैधे तु वचनं ग्राह्यं ये गुणवत्तराः॥”
तेषामिति शेषः॥ *॥ यत्तु।

"साक्षिणां लिखितानाञ्च निर्द्दिष्टानाञ्च वादिनाम्।
तेषामेकोऽन्यथावादी भेदात् सर्व्वेऽप्यसाक्षिणः॥"

इति कात्यायनवचनं तत् त्रयाणां तुल्यरूपाणां साक्षिणां मध्ये एकस्याप्यन्यथावादे अपरस्य तत्तुल्यस्य सत्प्रतिपक्षतया तृतीयस्य किञ्चिद्वादित्वे तत्र भेदात् परस्परविरुद्धार्थाभिधाने भेदात् साक्षिभ्यो न निर्णय: इति परम्॥ * ॥ बृहस्पति:। साक्षिद्वैधे कर्म्मनिष्ठानां ग्रहणमाह। गुणिद्वैधे क्रियावतामित्यनेन। तथा।

"साक्षिणोऽर्थिसमुद्दिष्टान् सत्सु दोषेषु दोषयेत्।
अदुष्टं दूषयन् वादी तत्समं दण्डमर्हति॥" इति।

तत्समं विवादसमम्। सभासदादिविदितसाक्षिदूषणमेव ग्राह्यं न तु त्वावरादिसाक्षिभिः प्रतिपाद्यम्। अनवस्थापातात्। इत्याह नारद:।

"सभासदां प्रसिद्धं यल्लोकसिद्धमथापि वा।
साक्षिणां दूषणं ग्राह्यमसाध्यं दोषवर्ज्जनात्॥
अन्यैश्च साक्षिभिः साध्ये दूषणे पूर्व्वसाक्षिणाम्।
अनवस्था भवेद्दोषस्तेषामप्यन्यसम्भवात्॥"

असाध्यं साधनानर्हम्। सिद्धत्वाद्दोषवर्ज्जनात्। अनवस्थाविरहात्। तस्मात् प्रसिद्धदूषणमेव ग्राह्यम्॥ * ॥ दूषणमाह कात्यायन:।

"बालोऽज्ञानादसत्यात् स्त्री पापाभ्यासाच्च कूटकृत्।
विब्रूयात् बान्धवः स्नेहात् वैरनिर्यातनादरिः॥
यः साक्षी नैव निर्द्दिष्टो नाहूतो नैव दर्शितः।
ब्रूयान्मिथ्येति तथ्यं वा दण्ड्यः सोऽपि नराधमः॥"

कात्यायन:।

"क्रिया न दैविकी प्रोक्ता विद्यमानेषु साक्षिषु।
लेख्ये च सति वादेषु न दिव्यं न च साक्षिणः॥
समत्वं साक्षिणां यत्र दिव्यैस्तत्र विशोधयेत्॥"

एतत् संशयानुच्छेदे बोध्यम्। याज्ञवल्क्य:।

"निह्नुते लिखितानेकमेकदेशे विभावितः।
दाप्यः सर्व्वान्नृपेणार्थान्न ग्राह्यस्त्वनिवेदितः॥"

यो लिखितानेकं सुवर्णादिकं अपलपति स एकद्रव्ये साक्ष्यादिभिर्व्विभावितः सन् सर्व्वान् दद्यात्। कात्यायन:।

"यद्येकदेशप्राप्तापि क्रिया विद्येत मानुषी।
सा ग्राह्या न तु पूर्णापि दैविकी वदतां नृणाम्॥"

वदतां विवदतामित्यविशेषेण दर्शयति। पूर्णापि दैविकी समग्रविषयिकापि न ग्राह्या। तेनैकदेशप्रतिपादिकया मानुष्या क्रियया समस्तसाध्यसिद्धिरिति।

"साध्यार्थांशे निगदिते साक्षिभिः सफलं भवेत्।
स्त्रीसङ्गे साहसे चौर्य्ये यत् साध्यं परिकल्पितम्॥"

इति कात्यायनवचनं तत्विषयप्रदर्शकम्। ऋणनिक्षेपादप्रकृतेऽपि योज्यमिति॥ * ॥ यत्तु।

"अनेकार्थाभियोगे तु यावत् संशोधयेद्धनी।
साक्षिभिस्तावदेवासौ लभते साधितं धनम्॥"

तद्दणाद्यनभिज्ञपुत्रादिविषयकम्। तथा हि। नानाविधपित्र्णाद्यभियुक्तेनाजानता नाहं जानामीति उत्तरवादिना साक्ष्यादिभिर्यावद्धनं प्रतिपादयति तावदेव पुत्त्रेण दातव्यम्। एवमेव विश्वरूपजीमूतवाहनप्रभृतय:॥*॥ कात्यायन:।

"अनुमानाद्वरः साक्षी साक्षिभ्यो लिखितं गुरु।
अनिरुद्धा त्रिपुरुषी भुक्तिस्तेभ्यो गरीयसी॥"

अनुमानं प्रत्यासङ्कलितम्। तदाह मनु:।

"बाह्यैर्व्विभावयेल्लिङ्गैर्भावमन्तर्गतं नृणाम्।
स्वरवर्णेङ्गिताकारैश्चक्षुषा चेष्टितेन च॥"

स्वरो गद्गदादि:। वर्णोऽस्वाभाविक:। इङ्गितं स्वेदवेपथुरोमाञ्चादि। आकारो विकृत:। चक्षुषा कातरेण। चेष्टितेन स्थानत्यागादिना। एषाञ्चान्यथासिद्धिर्निरूप्यत्वादेभ्यः साक्षी बलवान् इत्यर्थ:। स्वनिरूप्यत्वे तु याज्ञवल्क्य:।

"देशाद्देशान्तरं याति सृक्कणी परिलेढि च।
ललाटं स्विद्यते चास्य मुखं वैवर्ण्यमेति च॥
परिशुष्यत्स्खलद्वाक्यो विरुद्धं बहु भाषते।
वाक् चक्षुः पूजयति नो तथौष्ठौ निर्भुजत्यपि॥
स्वभावाद्विकृतिं गच्छेन्मनोवाक्कायकर्म्मभिः।
अभियोगे च साक्ष्ये च स दुष्टः परिकीर्त्तितः॥"

न परोक्तां वाचं प्रतिवचनेन पूजयति। तथौष्ठौ चक्षुश्च परकीयवीक्षणेन निर्भुजति कुटिलीकरोति यदा मनोवाक्कायकर्म्मभिः स्वभावात् पूर्व्वोक्तां यथायोग्यां विकृतिं गच्छेत्तदा स दुष्ट इत्यर्थ:। अतएव श्रीरामायणे।

"आकारश्छाद्यमानोऽपि न शक्योऽसौ निगूहितुम्।
बलाद्धि विवृणोत्येव भावमन्तर्गतं नृणाम्॥"

आकारो देहधर्म्मः मुखाप्रसादवैवर्ण्यरूप:॥ नारद:।

"सुदीर्घेणापि कालेन लिखितं सिद्धिमाप्नुयात्।
संजानन्नात्मनो लेख्यमजानंस्तु लेखयेत्॥"

सुदीर्घेणेति संस्कारोद्बोधकलिखनसत्त्वादयं चिरेणापि साक्ष्यं दातुं शक्नोति इत्यर्थ:॥ * ॥ लिपिज्ञं स्वहस्तेन लेखयेत् तदज्ञं परहस्तेनेत्याह व्यास:।

"अलिपिज्ञो ऋणी यः स्यात् लेखयेत् स्वमतन्तु सः।
साक्षी वा साक्षिणान्येन सर्व्वसाक्षिसमीपगः॥"

बृहस्पति:।

"न्यस्तं घातितं यच्च सीमायाश्च समन्ततः।
अकृतोऽपि भवेत् साक्षी ग्रामस्तत्र न संशयः॥"

अकृता अपि साक्षिणो भवन्तीत्याहतुर्म्मनुकात्यायनौ।

"अन्ये पुनरनिर्द्दिष्टाः साक्षिणः समुदाहृताः।
ग्रामश्च प्राड्विवाकश्च राजा च व्यवहारिणाम्॥
कार्य्येष्वभ्यन्तरो यः स्यादर्थिना प्रहितश्च यः।
कुल्याः कुलविवादेषु भवेयुस्तेऽपि साक्षिणः॥"

स्मृति:।

"दत्तादत्तेऽथ भृत्यानां स्वामिनां निर्गमे सति।
विक्रीयादानसम्बन्धे क्रीत्वा धनमनिच्छति॥
द्यूते समाह्वये चैव विवादे समुपस्थिते।
साक्षिणः साधनं प्रोक्तं न दिव्यं न च लेख्यकम्॥
प्रक्रान्ते साहसे वापि पारुष्ये दण्डवाचिके।
बलोद्भवेषु कार्य्येषु साक्षिणो दिव्यमेव च॥"

बृहस्पति:।

"लेख्यं वा साक्षिणो वापि विवादे यस्य दूषिताः।
तस्य कार्य्यं न सिध्येत यावत्तन्न विशोधयेत्॥"

तल्लेख्यसाक्षिरूपप्रमाणम्॥ * ॥ लेख्यशोधनमाह। कात्यायन:।

"स्वहस्तलेख्यसन्देहे जीवतो वा मृतस्य च।
तत् स्वहस्तकृतैरन्यैः पत्रैस्तल्लेख्यनिर्णयः॥"

तथा।

"समवेतैश्च यद्दृष्टं वक्तव्यं तत्तथैव च।
विभिन्नैनेव कार्य्ये तु तद्वक्तव्यं पृथक् पृथक्॥
नापृष्टैरनियुक्तैर्वा समं सत्यं प्रयत्नतः।
वक्तव्यं साक्षिभिः साक्ष्यं विवादस्थानमागतैः॥
अनुद्दिष्टेन चित्तेन दृष्टं सम्यग्विदा तु यत्।
प्रत्यक्षं तत् स्मृतं कार्य्यं साक्ष्यं साक्षी तु तद्वदेत्॥"

नारद:।

"यः परार्थेऽपहरति स्वां वाचं पुरुषाधमः।
आत्मार्थे किं न कुर्य्यात् स पापी नरकनिर्भयः॥
अर्था वै वाचि नियता वाङ्मूला वाग्विनिःसृता।
यस्तु तांस्तेनयेद्वाचं स सर्व्वस्तेयकृन्नरः॥"

बौधायन:।

"पञ्च पश्वनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते।
शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते॥
हन्ति जातानजातांश्च हिरण्यार्थेऽनृतं वदन्।
सर्व्वं भूम्यनृते हन्ति साक्ष्ये साक्षी मृषा वदन्॥"

बृहस्पति:।

"यस्याशेषं प्रतिज्ञातं साक्षिभिः प्रतिपादितम्।
स जयी स्यादन्यथा तु साध्यार्थं न समाप्नुयात्॥"

याज्ञवल्क्य:।

"उक्तेऽपि साक्षिभिः साक्ष्ये यद्यन्ये गुणवत्तराः।
द्विगुणा वान्यथा ब्रूयुः कूटाः स्युः पूर्व्वसाक्षिणः॥"

अन्यथा पूर्व्वविपरीतार्थप्रकारेण। कूटा अनादेयवचना:। तथा,—

"यः साक्ष्यं श्रावितोऽन्येभ्यो निह्नुते तत्तमावृतः।
स दाप्योऽष्टगुणं दण्डं ब्राह्मणञ्च विवासयेत्॥"

स्वमन्येभ्यः साक्ष्यं श्रावयेति वादिना प्रयुक्तो यः श्रावितः कारितदयात् परसिद्धि:। एवम्भूतोऽपि सभायां निगदकाले साक्ष्यं निह्नुते यस्तस्याष्टगुणो दण्ड:। इति व्यवहारतत्त्वम्॥ (त्रि, द्रष्टा:। इति श्रीधरस्वामी॥ यथा, भागवते। ५। ११। ७।

"तावानयं व्यवहारः सदाविः
क्षेत्रज्ञसाक्ष्यो भवति स्थूलसूक्ष्मः॥")

साखेय:, त्रि, (सख्युरिदम्। सखि + "वुञ्छण्कठजिति।" ४। २। ८०। इति ढञ्।) सखिसम्बन्धी। इति सिद्धान्तकौमुदी॥

साख्यं, क्ली, (सख्युर्भाव: कर्म्म वा। सखि + ष्यञ्।) सख्यम्। इति धनञ्जयकोष:॥

सागरः, पुं, (सगरस्य राज्ञोऽयमिति । सगर+अण् ।) समुद्रः । इत्यमरः । १ । १० । १ ॥ सगरेणावतारितत्वात् तस्यायमिति वा सागरो इत्यादिः । क्षीरोदादिष्वप्युपमया सागरव्यपदेशः इति भट्टाः । इति भरतः ॥ स तु सप्तविधः । यथा,—

"लवणः क्षीरसंज्ञश्च घृतोदो दधिसंज्ञकः ।
सुरोदेक्षुरसोदौ च स्वादूदः सप्तमो भवेत् ॥
चत्वारः सागराः ख्याताः पुष्करिण्यश्च ताः स्मृताः ॥"

इत्याद्य वह्निपुराणे गणभेदनामाध्यायः ॥ * ॥ (सगरस्यापत्यं पुमानिति । सगर+अण् । सगरपुत्त्रः । यथा, महाभारते ।३।१०७।७।

"वध्यमानास्ततो लोकाः सागरैर्मन्दबुद्धिभिः ।
ब्रह्माणं शरणं जग्मुः सहिताः सर्व्वदैवतैः ॥")

मृगविशेषः । इति शब्दचन्द्रिका ॥ दशपद्मसंख्या । यथा,—

"विन्दः खर्व्वो निखर्व्वश्च शङ्खपद्मौ च सागरः ॥"
इति ब्रह्माण्डपुराणम् ॥

(सागरस्येदमिति । सागरसम्बन्धिनि, त्रि । यथा, हरिवंशे । ५३ । ३८ ।

"आधत्स्व सरितां नाथ त्वद्भर्मां सागरीं तनुम् ॥")

सागरगामिनी, स्त्री, (सागरं गच्छतीति । गम+णिनिः । ङीप् ।) नदी । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ (वाच्यलिङ्गेऽपि दृश्यते । यथा, रघुः ।६।५२।

"नृपं तमावर्त्तमनोज्ञनाभिः
सा व्यत्यगादन्यवधूर्भवित्री ।
महीधरं मार्गवशादुपेतं
स्रोतोवहा सागरगामिनीव ॥")

सूक्ष्मैला । इति राजनिर्घण्टः ॥

सागरनेमिः, स्त्री, (सागरः नेमिरिव यस्याः ।) पृथिवी । इति हेमचन्द्रः ॥

सागरमेखला, स्त्री, (सागरः मेखलेव यस्याः ।) पृथिवी । इति हेमचन्द्रः ॥ (वाच्यलिङ्गेऽपि दृश्यते । यथा, महाभारते । ३ । १०७ । ६४ ।

"अंशुमानपि धर्म्मात्मा महीं सागरमेखलाम् ।
प्रशशास महाराज ! यथैवास्य पितामहः ॥")

सागराम्बरा, स्त्री, (सागरः अम्बरं वस्त्रमिव यस्याः ।) पृथिवी । इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, रघुः । ३ । ९ ।

"निधानगर्भामिव सागराम्बरां
शमीमिवाभ्यन्तरलीनपावकाम् ।
नदीमिवान्तःसलिलां सरस्वतीं
नृपः ससत्त्वां महिषीममन्यत ॥")

सागरालयः, पुं, (सागरः आलयो यस्य ।) वरुणः । इति शब्दमाला ॥

सागरोत्थं, क्ली, (सागरादुत्तिष्ठतीति । उत्+स्था+कः ।) समुद्रलवणम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

साङ्कलं, त्रि, (सङ्कल+"सङ्कलादिभ्यश्च ।" ४ । २ । ७५ । इति अञ् ।) सङ्कलेन निर्वृत्तम् । सङ्कलनाज्जातम् । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥

साङ्कृतिः, पुं, मुनिविशेषः । स तु वैयाघ्रपद्यगोत्रस्य प्रवरः । यथा,—

"वैयाघ्रपद्यगोत्राय साङ्कृतिप्रवराय च ।
अपुत्राय ददाम्येतत् सलिलं भीष्मवर्म्मणे ॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥

साङ्क्षेपिकः, त्रि, (सङ्क्षेपाय हितः । सङ्क्षेप+ठञ् ।) संक्षिप्तः । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥ (यथा, मनुटीकायां कुल्लूकः । १२ । ३४ ।

"इदं वक्ष्यमाणं साङ्क्षेपिकं क्रमेण लक्षणं ज्ञातव्यम् ॥") संक्षेपकारकः । संक्षेपशब्दात् ष्णिकप्रत्ययनिष्पन्नः ॥

साङ्ख्यः, पुं, कपिलमुनिकृतदर्शनशास्त्रविशेषः । तत्पर्य्यायः । कापिलः २ । इति हेमचन्द्रः ॥ तथा च ।

"साङ्ख्यं कपिलमुनिना प्रोक्तं
संसारविमुक्तिकारणं हि ।
यत्रैताः सप्ततिरार्य्या
भाष्यं चात्र गौड़पादकृतम् ॥
एतत् पवित्रमग्र्यं
मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ ।
आसुरिरपि पञ्चशिखाय
तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम् ॥
शिष्यपरम्परयागतमीश्वरकृष्णेन चैतदार्य्याभिः ।
संक्षिप्तमार्य्यमतिना सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम् ॥
सप्तत्यां किल येऽर्था-
स्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य ।
आख्यायिका विरहिताः
परवादविवर्ज्जिताश्चापि ॥"
इति साङ्ख्यप्रवचनभाष्यम् ॥

साङ्ख्ययोगः, पुं, (साङ्ख्योक्तो योगः ।) ज्ञानयोगः । स च ब्रह्मविद्या । यथा,—

"द्वितीये शोकसन्तप्तमर्ज्जुनं ब्रह्मविद्यया ।
प्रतिबोध्य हरिश्चक्रे स्थितप्रज्ञस्य लक्षणम् ॥"
इति गीताटीकायां श्रीधरस्वामी । २। १ ॥

तद्वृयोगो यथा,—

श्रीभगवानुवाच ।

"अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥
न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्व्वे वयमतः परम् ॥
देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥
मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय ! शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तां तितिक्षस्व भारत ॥
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥
नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ।
अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्व्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्त्तुमर्हति ॥
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्मात् युद्धस्व भारत ॥
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥
न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥
वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ ! कं घातयति हन्ति कम् ॥
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्व्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्य्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥
अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो ! नैनं शोचितुमर्हसि ॥
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्य्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥"

इत्यादि श्रीभगवद्गीतायां साङ्ख्ययोगे । २ । ११—३० ॥ * ॥

साङ्गमः, पुं, (सङ्गम एव । स्वार्थे अण् ।) सङ्गमः । इत्यमरटीकायां भरतः । ३ । २ । १९ ॥

साङ्ग्रामिकः, पुं, (संग्रामे साधुः । संग्राम+"गुड़ादिभ्यष्ठञ् ।" ४ । ४ । १०३ । इति ठञ् ।) सेनापतिः । सङ्ग्रामकुशले, त्रि । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥ (सङ्ग्रामसम्बन्धिनि च त्रि । यथा, महाभारते । १ । २ । २३२ ।

"ते तस्य वचनं श्रुत्वा मन्त्रयित्वा च यद्धितम् ।
साङ्ग्रामिकं ततः सर्व्वं सज्जं चक्रुः परन्तपाः ॥")

साङ्मुखी, स्त्री, (सङ्मुखाय हिता । सङ्मुख+अण् । ङीप् ।) सायाह्नव्यापिनी तिथिः । यथा,—

"पञ्चमी सप्तमी चैव दशमी च त्रयोदशी ।
प्रतिपन्नवमी चैव कर्त्तव्या साङ्मुखी तिथिः ॥
इति पैठीनसिवचनस्य तु ।
'साङ्मुख्यं नाम सायाह्नव्यापिनी दृश्यते यदा ।'
इति स्कन्दपुराणेन सायाह्नव्यापितिथेः साङ्मुख्यविधानेन पूजादावनवकाशादुपवासपरत्वम् । सायाह्नव्यापित्वमपि मुहूर्त्तान्यूनत्वेन ज्ञेयम् ।"
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥

साचि, व्य, (सच+इण् ।) तिर्य्यगर्थः । तत्पर्य्यायः । तिरः २ । इत्यमरः । ३ । ४ । ६ ॥ (यथा, किराते । १० । ५७ ।

"सविनयमपराभिसृत्य साचि
स्मितसुभगैकलसत्कपोललक्ष्मीः ॥")

साचिव्यं, क्ली, (सचिव+ष्यञ् ।) सचिवस्य भावः । सचिवशब्दात् भावे ष्णप्रत्ययेन निष्पन्नम् ॥ (यथा, रामायणे । ५ । ५ । १ ।

"चन्द्रोऽपि साचिव्यमिवास्य कुर्व्वं-
स्तारागणैर्मध्यगतो विराजन् ।
ज्योत्स्नावितानेन निपत्य लोका-
नुत्तिष्ठतेऽनेकसहस्ररश्मिः ॥")

साचिवाटिका, स्त्री, (साचि यथा तथा वटति वेष्टयतीति । वट वेष्टने + ण्वुल् । टापि अत इत्वम् ।) श्वेतपुनर्नवा । इति रत्नमाला ॥

साचीकृतं, त्रि, (असाचि साचि कृतम् । अभूततद्भावे च्विः ।) वक्रीकृतम् । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥ (यथा, रघुः । ६ । १४ ।

"प्रालम्बमुत्कृष्य यथावकाशं
निनाय साचीकृतचारुवक्त्रः ॥")

साञ्जनः, पुं, (अञ्जनेन तद्वच्छरीरेण सह वर्त्तमानः ।) कृकलासः । इति शब्दचन्द्रिका ॥ (अञ्जनविशिष्टे, त्रि ॥)

साट, त् क प्रकाशने । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (अदन्तचुरा०-पर०-अक०-सेट् ।) द्वितीयस्वरयुक्तसकारादिरयम् । अससाटत् । इति दुर्गादासः ॥

सात्, क्ली, (सात सुखे + क्विप् ।) ब्रह्म । इति केचित् ॥

सात, क सुखे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (चुरा०-पर०-अक०-सेट् ।) दन्त्यादिः । सातयः । सौत्रधातुरयम् । इति दुर्गादासः ॥

सातं, क्ली, (सात सुखे + अच् ।) सुखम् । इत्यमरटीकायां भरतः ॥ दत्तम् । नष्टम् । षणधातोः षोधातोश्च क्तप्रत्ययेन निष्पन्नम् ॥

सातयः, त्रि, (सातयतीति । सात सुखे + "अनुपसर्गात् लिम्पविन्देति ।" ३ । १ । १३८ । इति शः ।) सुखजनकः । सात क सुखे इत्यस्मात् णौ शप्रत्ययेन निष्पन्नः । इति मुग्धबोधटीकायां दुर्गादासः ॥

सातला, स्त्री, (सातं सर्पविषादिनाशं लातीति । ला + कः ।) चर्म्मकषा । इत्यमरः ।२।४।१४३॥ स्नुह्विशेषः । स तु सेहुण्डभेदः । तत्पर्य्यायः । सप्तला २ सारी ३ विदुला ४ विमला ५ अमला ६ बहुफेना ७ चर्म्मकषा ८ फेना ९ दीप्ता १० विषाणिका ११ स्वर्णपुष्पी १२ पत्रघना १३ । अस्या गुणाः । कफपित्तघ्नत्वम् । लघुत्वम् । तिक्तत्वम् । कषायत्वम् । विसर्पविषविस्फोटव्रणशोफनाशित्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥

सातवाहनः, पुं, (सातः वाहनो यस्य ।) शालिवाहनराजः । इति हेमचन्द्रः ॥ (सातनामकेन गुह्यकेनोढ़त्वादस्य तथा नाम । यथा, कथासरित्सागरे । ६ । १०७—१०८ ।

"इत्युक्तान्तर्हिते तस्मिन् सातनामनि गुह्यके ।
स राजा तं समादाय बालं प्रत्याययौ गृहम् ॥
सातेन यस्मादूढ़ोऽभूत्तस्मात्तं सातवाहनम् ।
नाम्ना चकार कालेन राज्ये चैनं न्यवेशयत् ॥")

सातिः, स्त्री, (षन + क्तिन् । "जनसनखनामिति ।" ६ । ४ । ४२। इति आत्वम् । यद्वा, षणु दाने + क्तिन् । "ऊति-यूति-जूति-सातीति ।" ३।३।९७। इति इत्वाभावो निपात्यते ।) अवसानम् । दानम् । तीव्रवेदना । इत्यमरभरतौ ॥ (संभजनम् । इति ऋग्भाष्ये सायणः ॥ यथा, ऋग्वेदे । १० । १४३ । ५ ।

"यातमच्छा पतत्रिभिर्नासत्या सातये कृतम् ॥")

सातिसारः, त्रि, (अतिसारेण सह वर्त्तमानः ।) अतिसाररोगयुक्तः । तत्पर्य्यायः । अतिसारकी २ । इत्यमरः । २ । ४ । ५९ ॥

सातीलकः, पुं, (सतीलक एव । स्वार्थे अण् ।) सतीलकः । इत्यमरटीकायां रायमुकुटः । २ । ९ । १६ ॥

सात्त्व(त्व)तः, पुं, (सात्त्वतस्यापत्यं पुमानिति । सात्त्वत + अण् ।) बलदेवः । इति हेमचन्द्रः ॥ (कृष्णः । यथा, महाभारते । १ । २१९ । १२ ।

"ततस्तत्र महाबाहुः शयानः शयने शुभे ।
आपगानां वनानाञ्च कथयामास सात्त्वते ॥"

यादवमात्रे । यथा, तत्रैव । १ । २२२ । ३ ।

"अपेलुब्धान् न वः पार्थो मन्यते सात्त्वतान्
सदा ।
स्वयंवरमनाधृष्यं मन्यते चापि पाण्डवः ॥"*॥

सत्त्वमेव सात्त्वं तत् तनोतीति । तन + डः ।) विष्णुः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ (यच्छब्देन सत्त्वमूर्त्तिर्भगवान् । स उपास्यतया विद्यतेऽस्येति । मतुप् । ततः स्वार्थे अण् ।) विष्णुभक्तविशेषः । यथा,—

"सत्त्वं सत्त्वाश्रयं सत्त्वगुणं सेवेत केशवम् ।
योऽनन्यत्वेन मनसा सात्त्वतः समुदाहृतः ॥
विहाय काम्यकर्म्मादीन् भजेदेकाकिनं हरिम् ।
सत्यं सत्त्वगुणोपेतो भक्त्या तं सात्त्वतं विदुः ॥
मुकुन्दपादसेवायां तन्नामश्रवणेऽपि च ।
कीर्त्तने च रतो भक्तो नाम्नः स्यात् स्मरणे
हरेः ॥
वन्दनार्च्चनयोर्भक्तिरनिशं दास्यसख्ययोः ।
रतिरात्मार्पणे यस्य दृढ़ा नन्तस्य सात्त्वतः ॥"

इति पाद्मोत्तरखण्डे ९९ अध्यायः ॥*॥

यदुवंशीयसत्त्वतराजपुत्त्रः । यथा,—

"अनोस्तु पुरुकुत्सोऽभूदंशुस्तस्य तु रिक्-
थभाक् ।
अथांशोः सत्त्वतो नाम विष्णुभक्तः प्रतापवान् ॥
महात्मा दाननिरतो धनुर्व्वेदविदां वरः ।
स नारदस्य वचनाद्वासुदेवार्च्चनान्वितः ॥
शास्त्रं प्रवर्त्तयामास कुण्डगोलादिभिः श्रुतम् ।
तस्य नाम्ना तु विख्यातं सात्त्वतं नाम शोभनम् ॥
प्रवर्त्तते महाशास्त्रं कुण्डादीनां हितावहम् ।
सात्त्वतस्तस्य पुत्त्रोऽभूत् सर्व्वशास्त्रविशारदः ॥
पुण्यश्लोको महाराजस्तेन चैतत् प्रकीर्त्तितम् ।
सात्त्वतः सत्त्वसम्पन्नः कौशल्यान् सुषुवे सुतान् ॥
अन्धकं वै महं भोजं विष्णुं देवावृधं नृपम् ॥"

इति कौर्म्मे पूर्व्वभागे यदुवंशानुकीर्त्तने । २४ । ३१—३६ ॥ (सङ्करजातिविशेषः । यथा, मनुः । १० । २३ ।

"वैश्यात्तु जायते व्रात्यात् सुधन्वाचार्य्य एव च ।
कारूषश्च विजन्मा च मैत्रः सात्त्वत एव च ॥")

सात्त्व(त्व)ताः, पुं, भूम्नि, देशभेदः । यथा,—

"यदवस्तु दशार्हाः स्युः सात्त्वताः कुकुराश्च ते ।"
इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सात्त्व(त्व)ती, स्त्री, नाटकवृत्तिविशेषः । यथा,—

"अभिनेयप्रकाराः स्युर्भाषाः षट् संस्कृता-
दिकाः ।
भारती सात्त्वती कैशिक्यारभट्यौ च वृत्तयः ॥"
इति हेमचन्द्रः ॥

(यथा, शृङ्गारतिलके । ३ । ४२—४३ ।

"हर्षप्रधानाधिकसत्त्ववृत्ति-
स्त्यागोत्तरोदारवचोमनोज्ञा ।
आश्चर्य्यसम्पत्सुभगा च या स्या-
त्सा सात्त्वती नाम मताच वृत्तिः ॥
नातिगूढ़ार्थसम्पत्तिः अच्छशब्दमनोरमा ।
वीरे रौद्रेऽद्भुते शान्ते वृत्तिरेषा मता यथा ॥
सम्प्राप्तं जननी निधिस्य पयसां निःशेष-
रत्नाकरो
मर्य्यादानिरतस्त्वमेव जलधे ! कृतेऽत्र कोऽन्या-
दृशम् ।
किं त्वेकस्य गृहं गतस्य वडवावह्निः सदा तृष्यया
क्रान्तस्योदरपूरणेऽपि न सहो यत्तन्मनाग्दुःख-
मम् ॥
स्फारितोत्कटकठोरतारका-
कीर्णवह्निकणसंततिः क्रुधा ।
दुर्निमित्ततडिदाकृतिर्बभौ
दृष्टिरिष्टसमरांशुमालिनः ॥
अत्यद्भुतं नराधिप तव कीर्त्तिर्धवलयन्त्यपि
जगन्ति ।
रक्तान् करोति सुहृदो मलिनयति च वैरि-
वदनानि ॥
निवृत्तविषयासङ्गमधुना सुचिराय मे ।
आत्मन्येव समाधानं मनः केवलमिच्छति ॥"*॥

सात्त्वतस्यापत्यं स्त्री । सात्त्वत + अण् । ङीप् ।) शिशुपालमाता । इति केचित् ॥ (यथा, महाभारते । २ । ४५ । ६ ।

"एष नः शत्रुरत्यन्तं पार्थिवाः सात्त्वतीसुतः ।
सात्त्वतानां नृशंसात्मा न हितोऽनपकारि-
णाम् ॥"

सुभद्रा । यथा, महाभारते । १ । २२२ । ६६ ।

"स सात्त्वत्यामधिरथः सम्बभूव धनञ्जयात् ।
मखे निर्मथनेनेव शमीगर्भाद्धुताशनः ॥")

सात्त्विकः, पुं, (सत्त्वात् सत्त्वगुणप्रधानात् विष्णोर्भूतः । सत्त्व + ठञ् ।) ब्रह्मा । (सात्त्वं सत्त्वगुणोऽस्यास्तीति । ठन् । विष्णुः । इति महाभारतम् । १३ । १४९ । १०६ ॥) त्रिविधभावान्तर्गतभावविशेषः । इति हेमचन्द्रः ॥ तस्य लक्षणं यथा,—

"सत्त्वोत्कटे मनसि ये प्रभवन्ति भावा-
स्ते सात्त्विका इति विदुर्मुनिपुङ्गवास्ते ।"
इति सर्व्वानन्दः ॥

ते च यथा,—

“स्वेदः स्तम्भोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः ।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मताः ॥”

प्रलयो मूर्च्छा । इति भरतः ॥

सात्त्विकः, त्रि, (सत्त्वेन निर्वृत्तः । तेन निर्वृत्त-मिति ठञ् ।) सत्त्वगुणनिष्पादितः । इत्यमरः । १ । ७ । १६ ॥ सत्त्वं मनोगुण आश्रयो वा तेन निष्पादितः सात्त्विकः स्वेदादिः । सत्त्वशब्दात् ठणे कादिति ष्णिकः । इति भरतः ॥ * ॥ सत्त्व-गुणयुक्तः । तद्विवरणं यथा, गीतायाम् ।१७।४।

“यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥”

सात्त्विकयज्ञो यथा, गीतायाम् । १७ । ११ ।

“अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥”

सात्त्विकतपो यथा, तत्रैव । १७ । १७ ।

“श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥”

सात्त्विकदानं यथा, तत्रैव । १७ । २० ।

“दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥”

सात्त्विकयोगो यथा, तत्रैव । १८ । ६ ।

“कार्य्यमित्येव यत् कर्म्म नियतं क्रियतेऽर्ज्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलञ्चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥”

सात्त्विकज्ञानं यथा, तत्रैव । १८ । २० ।

“सर्व्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्वि-
कम् ॥”

सात्त्विककर्म्म यथा, तत्रैव । १८ । २३ ।

“नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म्म यत्तत् सात्त्विकमुच्यते ॥”

सात्त्विकबुद्धिर्यथा, तत्रैव । १८ । ३० ।

“प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च कार्य्याकार्य्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षञ्च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥”

सात्त्विकी धृतिर्यथा, तत्रैव । १८ । ३३ ।

“धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ !
सात्त्विकी ॥”

सात्त्विकसुखं यथा, तत्रैव । १८ । ३७ ।

“यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत् सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥”

सात्त्विकपुराणानि यथा,—

“वैष्णवं नारदीयञ्च तथा भागवतं शुभम् ।
गारुड़ञ्च तथा पाद्मं वाराहं शुभदर्शने ।
सात्त्विकानि पुराणानि विज्ञेयानि शुभानि वै ॥”

सात्त्विकस्मृतयो यथा,—

“वाशिष्ठञ्चैव हारीतं व्यासं पाराशरं तथा ।
भारद्वाजं काश्यपञ्च सात्त्विका मुक्तिदाः
शुभाः ॥”

इति पाद्मोत्तरखण्डे ४३ अध्यायः ॥

सात्त्विकप्रियाहारा यथा,—

“आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः
सात्त्विकप्रियाः ॥”

इति श्रीभगवद्गीतायाम् । १७ । ८ ॥

सात्त्विककर्त्ता कर्तृशब्दे सात्त्विकाहार आहार-शब्दे च द्रष्टव्यः ॥

सात्त्विकी, स्त्री, (सात्त्वं सत्त्वगुणोऽस्त्यस्या इति । सात्त्व + ठन् । ङीप् ।) दुर्गा । इति शब्दरत्ना-वली ॥ पूजाविशेषः । यथा,—

“शारदी चण्डिकापूजा त्रिविधा परिगीयते ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तत्
शृणु ॥”

सात्त्विकी जपयज्ञाद्यैर्नैवेद्यैश्च निरामिषैः ।
माहात्म्यं भगवत्याश्च पुराणादिषु कीर्त्तितम् ।
पाठस्तस्य जपः प्रोक्तः पठेद्देवीमनास्तथा ॥”

इति दुर्गोत्सवतत्त्वम् ॥

सात्म्य, त्रि, सुखजनकम् । आत्मनो हितं कर्म्म आत्म्यं आत्म्येन सह वर्त्तमानं सात्म्यम् । इति भैषज्यरत्नावली ॥ (यथा, सुश्रुते । १ ।४५ ।

“सर्व्वप्राणभृतां तस्मात् सात्म्यं क्षीरमिहो-
च्यते ॥”

“सात्म्यं नाम तद्यत् सातत्येनोपसेव्यमानमुप-शेते । तत्र ये घृतक्षीरतैलमांसरससात्म्याः सर्व्व-रससात्म्याश्च ते बलवन्तः क्लेशसहाः चिर-जीविनश्च भवन्ति । रूक्षनित्याः पुनरेक-रससात्म्याश्च ये ते प्रायेणाल्पबलाश्चाक्लेश-सहाः अल्पायुषोऽल्पसाधनाश्च ।” इति चरके विमानस्थानेऽष्टमेऽध्याये ॥

“यो रसः कल्पते यस्य सुखायैव निषेवितः ।
व्यायामजातमन्यद्वा तत्सात्म्यमिति निर्द्दिशेत् ॥”

इति सुश्रुते सूत्रस्थाने ३६ अध्याये ॥

क्ली, ऐक्यम् । यथा, भागवते ।६।१८।२०

“इन्द्रेण प्रापिताः सात्म्यं किं तत् साधु
कृतं हि तैः ॥”

सारूप्यम् । यथा, तत्रैव । ७ । १० । ४० ।

“नृपाश्चैद्यादयः सात्म्यं हरेस्तच्चिन्तया ययुः ॥”)

सात्यकिः, पुं, (सत्यकस्यापत्यं पुमानिति । इञ् ।) वृष्णिवंशीयसत्यकपुत्रः । स तु श्रीकृष्णस्य सारथिः । तत्पर्य्यायः । शैनेयः २ शिनेर्नप्ता ३ युयुधानः ४ । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ योधः ५ । इति जटाधरः ॥ (अयं हि अर्ज्जुनस्य शिष्य आसीत् भारतयुद्धे युधिष्ठिरपक्षमाश्रित्य तुमुलं युद्धं विधाय च हतेऽपि निखिलबले वासुदेवेन पाण्डवैश्च सह जीवित आसीत् । तथाहि महा-भारते अश्वत्थामवाक्ये । १० । ६ । ४७ ।

“सप्त पाण्डवतः शेषा धार्त्तराष्ट्रास्त्रयो वयम् ।
ते चैव भ्रातरः पञ्च वासुदेवोऽथ सात्यकिः ।
अहञ्च कृतवर्म्मा च कृपः शारद्वतस्तथा ॥”)

सात्यवतः, पुं, (सत्यवत्यां भवः । अण् ।) वेदव्यासः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सात्यवतेयः, पुं, (सत्यवत्या अपत्यं पुमान् । सत्य-वती + ढक् ।) सत्यवतीसुतः । वेदव्यासः । इति हलायुधः ॥

सादः, पुं, (सद + घञ् ।) विषादः । (यथा, रघुः । ३ । २ ।

“शरीरसादादसमग्रभूषणा
मुखेन सालक्ष्यत लोध्रपाण्डुना ॥”)

शरणम् । गतिः । (यथा, बृहत्संहितायाम् । ४६ । ६० ।

“यानं वाहवियुक्तं यदि गच्छेन्न व्रजेच्च वाहन-
युतम् ।
राष्ट्रभयं भवति तदा चक्राणां सादभङ्गे च ॥”)

सादनं, क्ली, (सद् + स्वार्थे णिच् + ल्युट् ।) सदनम् । इत्यमरटीकायां भरतः ॥ (यथा, महाभारते । १ । १५४ । २८ ।

“अहमेको नयिष्यामि त्वामद्य यमसादनम् ॥”)

सादनी, स्त्री, (साद्यन्ते रोगा अनया । सद + णिच् + करणे ल्युट् । ङीप् ।) कटुकी । इति राजनिर्घण्टः ॥

सादिः, पुं, (सद गतौ + “वसिवपियजीति ।” उणा० ४ । १२४ । इति इञ् ।) सारथिः । इति हेमचन्द्रः ॥ योद्धा । इत्युणादिकोषः ॥ अवसन्नः । वायुः । इति संक्षिप्तसारोणादि-वृत्तिः ॥

सादितः, त्रि, (सद + णिच् + क्तः ।) विषादितः । (यथा, रघुः । ७ । ४४ ।

“यैः सादिता लक्षितपूर्व्वकेतून्
तानेव सामर्षतया निजघ्नुः ॥”)

शरणप्रापितः । गमितः । इति ण्यन्तसदधातोः क्तप्रत्ययेन निष्पन्नः ॥

सादी, [न्] पुं, (सद गतौ + णिनिः ।) अश्वारूढः । इत्यमरः । २ । ८ । ६० ॥ (यथा, रघुः ।७।४७।

“पूर्व्वं प्रहर्त्ता न जघान भूयः
प्रतिप्रहाराक्षममश्वसादी ॥”)

गजारोहः । रथारोहः । इति मेदिनी ॥

सादृश्यं, क्ली, (सदृशस्य भावः । सदृश + ष्यञ् ।) सदृशत्वम् । तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्म्मवत्त्वम् । यथा, चन्द्रभिन्नत्वे सति चन्द्रगताह्लादकत्वादि-मत्त्वं मुखे चन्द्रसादृश्यम् । इति सिद्धान्तमुक्ता-वली ॥ * ॥ अथ सादृश्यानि । वेण्याः सर्पः १ भ्रमरश्रेणिः २ । केशपाशस्य चामरः १ मयूर-पुच्छः २ । धम्मिल्लस्य विधुन्तुदः १ अन्धकारः २ । सीमन्तस्य मेघः १ पन्थाः २ दण्डः ३ । ललाटस्य अष्टमीचन्द्रः १ फलकम् २ । कपोलस्य चन्द्रः १ मुकुरस्थलम् २ । भ्रुवोः खड्गः १ धनुर्यष्टिः २ रेखा ३ पल्लवः ४ वल्लिः ५ । दृशोः चकोरचञ्चुः १ हरिणचक्षुः २ मदिरा ३ खञ्जनः ४ अञ्जनम् ५ कुमुदम् ६ नीलपद्मम् ७ प्रोष्ठीमत्स्यः ८ । कर्णस्य दोला १ पाशः २ । नासायाः वंशः १ केतकीपुष्पकण्टकः २ अधो-मुखतूणीरः ३ चञ्चुः ४ तिलपुष्पम् ५ दण्डः ६ । अधरस्य नवपल्लवम् १ बिम्बफलम् २ प्रवालः ३ । दन्तानाम् मुक्ताश्रेणिः १ कुन्दपुष्पम् २ दाड़िम-बीजम् ३ हीरकम् ४ । स्मितस्य ज्योत्स्ना १ पुष्पम् २ पीयूषम् ३ । श्वासस्य पद्मगन्धः १

सुखाशीतलम् २। जिह्वायाः जवापुष्पम् १ चञ्चलवस्तु २। वाण्याः कोकिलशब्दः १ भ्रमरगुञ्जनम् २ सुधा ३ मधु ४ वीणावाद्यम् ५। मुखस्य चन्द्रः १ पद्मम् २ दर्पणम् ३। कण्ठस्य शङ्खः १। चिबुकस्य दर्पणवृन्तम् १। अंसस्य कुम्भः १। बाह्वोः वल्लरी १ मृणालम् २ तरङ्गः ३ शाखा ४ पाशः ५। हस्तस्य मृणालादयः १। अङ्गुल्याः पल्लवम् १ पद्मदलम् २ चम्पकपुष्पम् ३ नवदलम् ४ दीपः ५। नखानां रत्नम् १ ताराः २ पुष्पम् ३ चन्द्रः ४। स्तनयोः पद्ममुकुलम् १ घटः २ हस्तिकुम्भः ३ गिरिः ४ चक्रवाकः ५ बिल्वयुग्मम् ६। मध्यस्य वरटकमध्यम् १ सिंहमध्यम् २ वज्रमध्यम् ३ क्षीणद्रव्यम् ४। लोमश्रेण्याः रेखा १ नीलकान्तमणिशिखा २ शैवाललता ३ धूमलता ४ हस्तिशुण्डः ५। नाभेः आवर्त्तः १ पद्मम् २ ह्रदः ३ विवरम् ४ कूपः ५। त्रिवल्याः तरङ्गः १ सोपानम् २ निश्रेणी ३। जघनस्य पुलिनम् १ पीठः २ फलकम् ३। नितम्बस्य स्थलम् १ पर्व्वतः २ पृथिवी ३ स्थूलोपलम् ४ महद्वस्तु ५। ऊर्व्वोः कदलीकाण्डः १ करिकरः २। जङ्घयोः स्तम्भः १। पादस्य पद्मम् १ नवपल्लवम् २। गतेः हंसगमनम् १ हस्तिगमनम् २ खञ्जनगमनम् ३ ॥ पुरुषस्त्रियोरौचित्येन सादृश्यं वर्णनीयम्। पुरुषरूपे कोऽपि कुत्रचिद् विशेषो लिख्यते। स्कन्धस्य वृषस्कन्धः १ वज्रम् २ अश्वस्कन्धः ३। बाह्वोः वृहत्सर्पः १ हस्तिशुण्डः २ स्तम्भः ३ अर्गलदण्डः। वक्षसः शिला १ कवाटम् २। गतेः प्रमत्तामुकुन्दतिः १। यशसः चन्द्रकुन्दयूथिकाप्रभृतिशुक्लवर्णपदार्थाः १। प्रतापस्य अग्निः १ वाडवाग्निः २ रविः ३ रविकिरणादिः ४ जवापद्मप्रभृतिरक्तवर्णपदार्थाः ५। पुण्यस्य संस्कारः १ गौः २ वृक्षबीजम् ३ अङ्कुरः ४ शुक्लवर्णपदार्थाः ५। सामर्थ्यस्य महद्वस्तु १ सिंहविक्रमादिः २। नीतेः साध्वी स्त्री १ प्रदीपज्वाला २ लतादिः ३। आज्ञायाः वेदवाक्यम् १ गुरूपदेशः २ उत्कटेच्छादिः ३। शासनस्य प्रारब्धकर्म्म १ स्थिरवस्तूनि २। पापस्य कर्द्दमः १ कलङ्कः २ अकीर्त्तिः ३ कृष्णवर्णकेशमसीप्रभृतिवस्तूनि ४ अन्धकारः ५। अकीर्त्तेः मालिन्यम् १ कृष्णवर्णवस्तूनि २ अन्धकारः ३। कस्तूरिकायाः मेघः १ भ्रमरः २ नीलकान्तमणिः ३ कज्जलम् ४ सुगन्धिद्रव्यदाहजन्यधूमः ५ कृष्णवर्णपुष्पप्रभृतिः ६ स्थलविशेषे कन्दर्पाशः ७ कामुकायशः ८ कामिन्ययशश्च ९। कज्जलस्य पूर्व्वोक्तमेघादीनि ९। कर्पूरस्य चन्द्रः १ चन्द्रकिरणः २ कुन्दयूथिकादिपुष्पम् ३ डिण्डीरपिण्डः ४ विरहिगण्डप्रभृतिः ५। मनोरथस्य फलपुष्पादियुक्तवृक्षः १ कविबुद्धिरचना २। आनन्दस्य सुधासमुद्रः १ ब्रह्मसाक्षात्कारादिः २। कामिन्यवलोकनस्य नित्यसुखसाक्षात्कारः १ अमृतरसः २ पूर्णचन्द्रादिसाक्षात्कारः ३ अतिप्रियतमवस्तुप्राप्तिः ४ ब्रह्मसाक्षात्कारः ५। अमृतस्य कामिन्यधरादिः १ सत्काव्यम् २ ब्रह्मसाक्षात्कारः ३। विषस्य साध्वीस्त्रीविरहः १ पापम् २ मलिनवस्तु ३ दुःखदवस्तु ४ शीघ्राग्निः ५ शीतकालीनशीतोदकम् ६ व्यभिचारिणी भार्य्या ७। विरहस्य अग्निः १ आधिः २ यातना ३ समुद्रः ४ तप्तवस्तु ५ दुःखदवस्तूनि ६। पुष्पाणां चन्द्रादिः १ कामिनी २ कर्पूरम् ३ यशः ४। चन्द्रस्य प्रमदामुखम् १ अतिशुभ्रवस्तु २ यशःपुण्यादिः ३। सूर्य्यस्य शिवनेत्राग्निः १ जवापुष्पम् २ वसन्तकालीनपलाशवृक्षः ३ काञ्चनवृक्षः ४ वाडवाग्निः ५। पद्मस्य पाटलपुष्पम् १ कामिनीमुखादिः २ रक्तवर्णद्रव्यम् ३। इन्दीवरस्य नीलकान्तमणिः १ कस्तूरी २ कामिनीनेत्रम् ३। कैरवस्य चन्द्रः १ कुन्दादिशुक्लवर्णवस्तु २। राज्ञः इन्द्रः १ कुवेरः २ चन्द्रः ३ सूर्य्यः ४ मान्धातृभगीरथप्रभृतिप्रसिद्धचक्रवर्त्तिनः ५। मेघस्य कृष्णः १ काली २ नीलपद्मसमूहः ३ भ्रमरश्रेणिः ४ इन्दीवरवनम् ५ दात्यूहः ६ कृष्णवर्णवस्तु ७। शरन्मेघस्य चन्द्रप्रभृतिशुक्लवर्णपदार्थाः १। कन्दर्पस्य चन्द्रः १ पुरूरवाः २ अश्विनीकुमारः ३ नलः ४। प्रदीपस्य चम्पकपुष्पम् १ प्रतापः २ शास्त्रम् ३ ऋषिः ४। वायोः शीघ्रगपदार्थः १। अश्वस्य वायुः १ हरिणः २ मनः ३। हस्तिनः पर्व्वतः १ मेघः २ तमालवृक्षः ३ अन्धकारः ४। सौधस्य कैलासः १ ऐरावतः २ उच्चैःश्रवाः ३ चन्द्रः ४। शिवस्य पूर्व्वोक्तानि ४। श्रीकृष्णस्य सजलजलदः १ तमालवृक्षः २ नीलमणिः ३ भ्रमरश्रेणिः ४ इन्दीवरम् ५ नीलपद्मम् ६ आकाशः ७। श्रीरामस्य पूर्व्वकथिताः पदार्थाः ७ दूर्व्वादलम् ८ वृक्षपल्लवम् ९। लक्ष्म्याः पार्व्वती १ चन्द्रकान्तिः २ रतिः ३ सीता ४ द्रौपदी ५ पद्मकान्तिः ६। सरस्वत्याः चन्द्रकला १ कैलासकान्तिः २ शुक्लवर्णपदार्थः ३। विपत्तेः समुद्रः १ पण्डितमनः २ नारायणोदरम् ३ ब्रह्माण्डम् ४। समुद्रस्य मेघादिकृष्णवर्णवस्तु १ विदूरभूमिः २ महाभारतम् ३ अपस्मारी ४। पुरस्य स्वर्गः १ कैलासः २ मनोरमवृहद्वस्तु ३। रथस्य पुष्पकम् १ वैकुण्ठः २ पुरी ३ पोतः ४ पृथ्वी ५। कामिनीमुखस्य चन्द्रः १ पद्मम् २ दर्पणः ३। कामिन्याः तडित् १ तारा २ स्वर्णलता ३ स्वर्णवर्णा केतकी ४। नायकस्य चन्द्रः १ कन्दर्पः २ ऐलः ३ अश्विनीकुमारः ४। सभायाः सूर्य्यमण्डलम् १ सुधर्म्मा २ गण्डकीपर्व्वतः ३ सुमेरुः ४ गङ्गा ५। पण्डितस्य वृहस्पतिः १ शुक्रः २ ऋषिः ३ सरस्वती ४। विरहिणः श्रीरामः १ श्रीशिवः २ अजः ३ दुःखिव्यक्तिः ४ उन्मत्तव्यक्तिः ५ चन्दनतरुः ६ शिवशिरश्चन्द्रः ७ वाडवाग्नियुक्तसमुद्रः ८ वल्मीकः ९ चन्द्रशेखरपर्व्वतः १०। दातुः कर्णः १ उशीनरः २ कल्पवृक्षः ३ कामधेनुः ४ रोहणः ५ समुद्रः ६ मेघः ७ बलिः ८ जैमिनिः ९ युधिष्ठिरः १०। वसन्तऋतोः मलयवायुः १ मद्यम् २ उन्मादरोगः ३। विरहिणं प्रति यमः १ अग्निः २ विषम् ३ सर्पः ४। ग्रीष्मऋतोः अग्निः १ विरहः २ विरहिणीनिश्वासः ३ सर्पनिश्वासः ४। वर्षाऋतोः रात्रिः १ समुद्रः २ गगनम् ३ नारायणः ४। शरदृतोः काशपुष्पादिरूपचामरैरावतगजाः १ चन्द्रः २। शीतऋतोः अपस्मारिव्यक्तिः १ राज्यशून्यराजा २। शिशिरऋतोः राजागमनकालः १। गुणिनः समुद्रः १ पर्व्वतः २ पृथिवी ३ मदनः ४ अश्विनौ ५। सचिवस्य वृहस्पतिः १। वाक्यस्य कोकिलशब्दः १ भ्रमरगुञ्जनम् २ वीणावाद्यम् ३। इति कविकल्पलतायाम् ४ स्तवके ४ कुसुमम् ॥

साध, य न औ सिद्धौ। इति कविकल्पद्रुमः ॥ (दिवा०-स्वा० च-पर०-अक०-निष्पादने सक०-अनिट्।) य, साध्यति। न, साध्नोति। औ, सिधात्सति। सिद्धिर्निष्पत्तिः। साध्यति घटो निष्पन्नः स्यादित्यर्थः। सिद्धिर्निष्पादनेति गोविन्दभट्टः। साध्नोति साध्यति घटं कुलालः निष्पादयतीत्यर्थः। इति दुर्गादासः ॥

साधकः, पुं, (साध्यति निष्पादयति कार्य्यमिति। साध + ण्वुल्।) साधनकर्त्ता। निष्पादकः। तस्य लक्षणं यथा,—

"अतः परं प्रवक्ष्यामि साधकानान्तु लक्षणम्।
धर्म्मशीलास्तपोयुक्ताः सत्यवादिजितेन्द्रियाः।
मात्सर्य्येण परित्यक्ताः सर्व्वसत्त्वहिते रताः ॥
कर्म्मशीलास्तथोत्साहा मर्त्त्यलोकेऽजुगुप्सकाः।
परस्परसुसन्तुष्टानुकूलाः साधकस्य तु।
ईदृशैः साधनं कुर्य्यात् सुसहायैः सहैव तु ॥"

इति देवीपुराणे नन्दामाहात्म्यसमाप्ताध्यायः ॥

अपि च।

"चतुर्द्धा साधको ज्ञेयो मृदुमध्याधिमात्रकः।
अधिमात्रतमः श्रेष्ठो भवाब्धौ लङ्घनक्षमः ॥
मन्दोत्साही सुसंमूढ़ो व्याधिस्थो गुरुदूषकः।
लोभी पापमतिश्चैव बह्वाशी वनिताश्रयः ॥
चपलः कातरो रोगी पराधीनोऽतिनिष्ठुरः।
मन्दाचारो मन्दवीर्य्यो ज्ञातव्यो मृदुना नरः ॥
द्वादशाब्दे भवेत् सिद्धिरेतस्य यत्नतः परम्।
मन्त्रयोगाधिकारी स ज्ञातव्यो गुरुणा ध्रुवम् ॥१
समबुद्धिः क्षमायुक्तः पुण्यकाङ्क्षी प्रियंवदः।
मध्यस्थः सर्व्वकार्य्येषु सामान्यः स्यान्न संशयः।
एतज्ज्ञात्वैव गुरुभिर्दीयते युक्तितो लयः ॥२॥
स्थिरबुद्धिर्लये युक्तः स्वाधीनो वीर्य्यवानपि।
महाशयो दयायुक्तः क्षमावान् वीर्य्यवानपि ॥
शूरो वयस्थः श्रद्धावान् गुरुपादाब्जपूजकः।
योगाभ्यासरतश्चैव ज्ञातव्यश्चाधिमात्रकः ॥
एतस्य सिद्धिः षड्वर्षैर्भवेदभ्यासयोगतः।
एतस्मै दीयते धीरैर्हठयोगश्च साधकः ॥३॥
महावीर्य्यान्वितोत्साही मनोज्ञः शौर्य्यवानपि।
शास्त्रज्ञोऽभ्यासशीलश्च निर्म्ममश्च निराकुलः ॥
नवयौवनसम्पन्नो मिताहारी जितेन्द्रियः।
निर्भयश्च शुचिर्दक्षो दाता सर्व्वजनाश्रयः ॥

अधिकारी स्थिरो धीमान् यथेच्छावस्थित: क्षमी ।
सुशीलो धर्म्मचारी च गुप्तचेष्ट: प्रियंवद: ॥
शास्त्रविश्वाससम्पन्नो देवतागुरुपूजक: ।
जनसङ्गविरक्तश्च महाव्याधिविवर्ज्जित: ॥
अणिमाद्यष्टयोग्यश्च सर्व्वयोगस्य साधक: ।
त्रिभि: संवत्सरै: सिद्धिरेतस्य स्यान्न संशय: ।
सर्व्वयोगाधिकारी च नास्य कार्य्या विचारणा ॥"४॥
इति शिवसंहिता ॥

साधका, स्त्री, दुर्गा । यथा,—
"साधनात् सिद्धिरित्युक्ता साधका वाथ ईश्वरी ।
स्वामित्वाद्दानसिद्धित्वात् सिद्धीश्वर्य्या प्रकीर्त्तिता ॥"
इति देवीपुराणे ४५ देवीनिरुक्ताध्याय: ॥

साधनं, क्ली, (साध + ल्युट् ।) करणकारकविशेष: । तत्र तृतीया स्यात् । इति व्याकरणम् ॥ साध्यते कर्म्म निष्पाद्यतेऽनेनेति साधनम् । इति दुर्गादास: ॥ (कारणम् । हेतु: । यथा, मनु: । ११ । २३८ ।
"औषधान्यगदो विद्या दैवी च विविधा स्थिति: ।
तपसैव प्रसिध्यन्ति तपस्तेषां हि साधनम् ॥")
मारणम् । (यथा, किराते । १४ । १७ ।
"अथो शरस्तेन मदर्थमुज्झित:
फलञ्च तस्य प्रतिकायसाधनम् ।
अविक्षते तत्र मयात्मसात् कृते
कृतार्थता नन्वधिका चमूपते: ॥")
मृतसंस्कार: । अग्निदानम् । गति: । गमनम् । द्रव्यम् । धनम् । अर्थदापनम् । अर्थस्य धनभूम्यादेर्द्दापनम् । निर्व्वर्त्तनम् । निष्पादनम् । (यथा, रघु: । ४ । २६ ।
"वार्षिकं सञ्जहारेन्द्र: धनुर्जैत्रं रघुर्दधौ ।
प्रजार्थसाधने तौ हि पर्य्यायोद्यतकार्म्मुकौ ॥")
उपकरणम् । सामग्री । यथा युद्धोपकरणं हस्त्यश्वादि: । (यथा, ऋतुसंहारे । ६ । ३४ ।
"रम्य: प्रदोषसमय: स्फुटचन्द्रभास:
पुंस्कोकिलस्य विरुतं पवन: सुगन्धि: ।
मत्तालियूथविरुतं निशि शीधुपानं
सर्व्वं हि साधनमिदं कुसुमायुधस्य ॥")
अनुव्रज्या । अनुगमनम् । इत्यमरभरतौ । ३ । ३ । ११६ ॥ सैन्यम् । सिद्धौषधि: । उपाय: । इति मेदिनी ॥ यथा,—
"तपोभि: प्राप्यतेऽभीष्टं नासाध्यं हि तपस्यत: ।
दुर्भगत्वं वृथा लोको वहते सति साधने ॥"
इति तिथ्यादितत्त्वधृतमत्स्यपुराणवचनम् ॥
मेढ्र: । इति च मेदिनी ॥ मैत्रम् । उद्ध: । सिद्धि: । इति धरणि: ॥ कारक: । प्रमाणम् । इति हेमचन्द्र: ॥ व्याप्यम् । यथा,—
"अनुमा त्वनुमानं स्यात् व्याप्यं लिङ्गञ्च साधनम् ।"
इति त्रिकाण्डशेष: ॥

मोहनम् । जव: । इत्यजय: ॥ साधना । साधा इति भाषा । यथा,—
ब्रह्मोवाच ।
"शशाप पार्व्वती रुष्टा स्त्रीस्वभावाच्च चापलात् ।
सर्व्वेषां साधनेनैव क्षन्तुमर्हन्ति साधव: ॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते गणेशखण्डे । १२ । ५१ ॥
मन्त्रसिद्धिकरणम् । यथा,—
"मत्स्यं मांसञ्च मद्यञ्च मुद्रा मैथुनमेव च ।
दिवाभागे च वीराणां साधनं भवसाधनम् ॥"
इति मुण्डमालातन्त्रम् ॥
ब्रह्मज्ञानसाधनन्तु नित्यानित्यवस्तुविवेकेहामुत्रफलभोगविरागशमदमादिसम्पन्मुमुक्षुत्वम् । इति वेदान्तसार: ॥

साधना, स्त्री, (साध + णिच् + युच् + टाप् ।) सिद्धि: । निष्पादना । इति साधधात्वर्थदर्शनात् ॥ आराधना । ण्यन्तसाधधातोरनप्रत्ययनिष्पन्ना ॥

साधन्त:, त्रि, (साध्यति भिक्षामिति । साध + "तृभूवहिवसिभासिसाधीति ।" उणा० ३।१२८। इति झच् । स च चित् ।) भिक्षुक: । इत्युणादिकोष: ॥

साधयन्ती, स्त्री, (साधयतीति । साध + णिच् + शतृ । ङीप् ।) उपासनाकर्त्री । यथा,—
"सखि मत्प्राणनाथन्तु साधयन्ती निरन्तरम् ।
अतिश्रान्तासि सद्भावस्नेहयोरियमौचिती ॥"
इति काव्यचन्द्रिका ॥

साधारण:, त्रि, (आधारणं अविशेषेण कार्य्यादिभारधारणं तेन सह वर्त्तते इति ।) समान: । सदृश: । इत्यमर: । २ । १० । ३७ ॥ (यथा, कुमारे । १ । ४२ ।
"कण्ठस्य तस्या: स्तनबन्धुरस्य
मुक्ताकलापस्य च निस्तलस्य ।
अन्योन्यशोभाजननात् बभूव
साधारणो भूषणभूष्यभाव: ॥")
सामान्यम् । अनेकसम्बन्धिवस्तु । इति चामर: । ३ । १ । ८२ ॥ यथा,—
"साधारणं समाश्रित्य यत्किञ्चिद्वाहनायुधम् ।
शौर्य्यादिनाप्नोति धनं भ्रातरस्तत्र भागिन: ॥"
इति दायभाग: ॥
तद्वैदिकपर्य्याय: । स्व: १ पृश्नि: २ नाक: ३ गौ: ४ विष्टप् ५ नभ: ६ । इति षट् साधारणनामानि । इति वेदनिघण्टौ । १ । ४ ॥ * ॥
पुं, न्यायमते हेत्वाभासविशेष: । यथा,—
"अनैकान्तो विरुद्धश्चाप्यसिद्ध: प्रतिपक्षित: ।
कालात्ययापदिष्टश्च हेत्वाभासस्तु पञ्चधा ॥
आद्य: साधारणस्तु स्यात् स्यादसाधारणोऽपर: ।
तथैवानुपसंहारी त्रिधानैकान्तिको भवेत् ॥
य: सपक्षे विपक्षे च स तु साधारणो मत: ।
यस्तूभयस्माद्व्यावृत्त: स त्वसाधारणो मत: ॥
तथैवानुपसंहारी केवलान्वयिपक्षक: ॥"
इति भाषापरिच्छेद: ॥

(देशविशेष: । क्ली, उदकविशेषश्च । यथा,—
"मिश्रचिह्नस्तु यो देश: स हि साधारण: स्मृत: ।
तस्मिन् देशे यदुदकं तत्तु साधारणं स्मृतम् ॥"
इति भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे द्वितीये भागे ॥
"उभयगुणसमेतं नातिरूक्षं न स्निग्धं
नच खरबहुलञ्च स्नेहनं कण्टकाढ्यम् ।
भवति च जलमल्पं नातिशीतं नचोष्णं
समप्रकृतिसमेतं विद्धि साधारणञ्च ॥"
इति हारीते प्रथमस्थाने चतुर्थेऽध्याये ॥
"जाङ्गलं वातभूयिष्ठमनूपन्तु कफोल्वणम् ।
साधारणं सममलं त्रिधा भूदेशमादिशेत् ॥"
इति वाभटे सूत्रस्थाने प्रथमेऽध्याये ॥)

साधारणदेश:, पुं, (साधारणो देश: ।) जाङ्गलानूपलक्षणसम्पन्नस्थानम् । तद्वारिगुणा: । हृद्यत्वम् । दीपनत्वम् । मधुरत्वम् । लघुत्वञ्च । इति राजवल्लभ: ॥

साधारणधर्म्म:, पुं, (साधारणो धर्म्म: ।) चतुर्वर्णकर्त्तव्यकर्म्म : यथा, मानवे ९ अध्याये ।
"प्रजनार्थं स्त्रिय: सृष्टा: सन्तानार्थञ्च मानवा: ।
तस्मात्साधारणो धर्म्म: श्रुतौ पत्न्या सहोदित: ॥"
अपि च ।
"अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियसंयम: ।
दम: क्षमार्ज्जवं दानं सर्व्वेषां धर्म्मसाधनम् ॥"
इति गारुडे । ९६ । ३० ॥

साधारणस्त्री, स्त्री, (साधारणा सामान्या अनेकसम्बन्धिनी स्त्री ।) वेश्या । इति हेमचन्द्र: ॥

साधारणी, स्त्री, (साधारणस्येयमिति । अण् । स्त्रियां ङीष् ।) कुञ्चिका । इति हेमचन्द्र: ॥

साधारण्यं, क्ली, (साधारणस्येदमिति । ष्यञ् ।) कुञ्चिका । इति हेमचन्द्र: ॥ साधारणस्य भावश्च ॥ (यथा, साहित्यदर्पणे १ परिच्छेदे ।
"कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता ।
दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगम: स्फुट: ॥")

साधिका, स्त्री, (साधयतीति । साध + णिच् + ण्वुल् । टापि अत इत्वम् ।) सुषुप्ति: । इति हेमचन्द्र: ॥ साधनकर्त्री । अधिकेन सह वर्त्तमाने, त्रि । (यथा, भागवते । ३ । ११ । २४ ।
"स्वं स्वं कामं मनुर्भुङ्क्ते साधिकां ह्येकसप्ततिम् ॥"
यथा च तत्रैव । ५ । २१ । १० ।
"सार्द्धद्वादशलक्षाणि साधिकानि चोपयाति ॥")

साधित:, त्रि, (साध + णिच् + क्त: ।) दापित: । इत्यमर: । ३ । १ । ४० ॥ हे धनादिकं दापिते धृतौ इति ख्यातं यस्मै दत्तं तत्रेति रमानाथ: । दण्डिते इति विद्याविनोद: । शोधितद्रव्ये इति नयनानन्द: । ददातेर्ण्यन्तात् क्त: ह्री व्ली रीति पत् देपो रूपमिति नयनानन्द: । दायित इति पाठ इति कलिङ्गपुरुषोत्तमौ । तत्र जि दय ङ ग्रहणे गतौ वधे दाने इत्यस्मात् ण्यन्तात् क्त: । साधेर्ण्यन्तात् क्ते साधित: । इति भरत: ॥
"दायितो दापितोऽपि स्यात् साधित: शोधितोऽपि च ।"
इति शब्दरत्नावली ॥

साधिष्ठः, त्रि, (अयमेषामतिशयेन वाढ़ः । वाढ़+"अतिशायने तमबिष्ठनौ ।" ५ । ३ । ५५ । इति इष्ठन् । "अन्तिकवाढ़योर्नेदसाधौ ।" ५ । ३ । ६३ । इति साधादेशः ।) अतिशयवाढ़ः । दृढ़तमः । इत्यमरः । ३ । १ । ११२ ॥ न्याय्यः । इति हेमचन्द्रः ॥ अत्यार्य्यः । इति मेदिनी ॥ (यथा, छान्दोग्ये । ४ । ९ । ३ ।
"श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्य आचार्य्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापतीति ॥")

साधीयान् [स्] त्रि, (अयमनयोरतिशयेन वाढ़ः इति । वाढ़+"द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ ।" ५।३।५७ । इति ईयसुन् । "अन्तिकवाढ़योरिति ।" ५ । ३ । ६० । इति साधादेशः ।) अतिशयवाढः । अतिशयसाधुः । इत्यमरः । ३।३।२३४ ॥ (यथा, साहित्यदर्पणे १ परिच्छेदे ।
"कटुकौषधोपशमनीयस्य रोगस्य सितशर्करोपशमनीयत्वे कस्य वा रोगिणः सितशर्कराप्रवृत्तिः साधीयसी न स्यादिति ॥")

साधुः, पुं, (साध्नोति निष्पादयति धर्म्मादिकार्य्यमिति । साध+"कृवापाजीति ।" उणा० १ । १ । इति उण् ।) उत्तमकुलोद्भवः । तत्पर्य्यायः । महाकुलः २ कुलीनः ३ आर्य्यः ४ सभ्यः ५ सज्जनः ६ । इत्यमरः । २ । ७ । ३ ॥ कुलजः ७ साधुजः ८ कुलकः ९ कुलिकः १० । इति शब्दरत्नावली ॥ कुल्यः ११ कौलेयकः १२ इति भरतः ॥ जिनः । मुनिः । इति हेमचन्द्रः ॥ * ॥ साधुलक्षणं यथा,—
"यथालब्धोऽपि सन्तुष्टः समचित्तो जितेन्द्रियः ।
हरिपादाश्रयो लोके विप्रः साधुरनिन्दकः ॥ १ ॥
निर्वैरः सदयः शान्तो दम्भाहङ्कारवर्ज्जितः ।
निरपेक्षो मुनिर्व्वीतरागः साधुरिहोच्यते ॥ २ ॥
लोभमोहमदक्रोधकामादिरहितः सुखी ।
कृष्णाङ्घ्रिशरणः साधुः सहिष्णुः समदर्शनः ॥ ३ ॥
समचित्तो मुनिः पूतो गोविन्दचरणाश्रयः ।
सर्व्वभूतदयः कार्ण्णो विवेकी साधुरुत्तमः ॥ ४ ॥
कृष्णार्पितप्राणशरीरबुद्धिः
शान्तेन्द्रियस्त्रीसुतसम्पदादिः ।
आसक्तचित्तः श्रवणादिभक्ति-
र्यस्येह साधुः सततं हरेर्यः ॥ ५ ॥
कृष्णाश्रयः कृष्णकथानुरक्तः
कृष्णेष्टमन्त्रस्तुतिपूजनीयः ।
कृष्णानिशं ध्यानमनास्त्वनन्यो
यो वै स साधुर्म्मुनिवर्य्यकार्ण्णः ॥" ६ ॥
इति पाद्मोत्तरखण्डे ९९ अध्यायः ॥ * ॥
अन्यच्च ।
"न प्रहृष्यति सम्माने नावमानेन कुप्यति ।
न क्रुद्धः परुषं ब्रूयादेतत् साधोस्तु लक्षणम् ॥"
इति गारुडे । ११३ । ४२ ॥ * ॥
तस्य स्वभावो यथा,—
"त्यक्तात्मसुखभोगेच्छाः सर्व्वसत्त्वसुखैषिणः ।
भवन्ति परदुःखेन साधवो नित्यदुःखिताः ॥
परदुःखातुरा नित्यं स्वसुखानि महान्त्यपि ।
नापेक्षन्ते महात्मानः सर्व्वभूतहिते रताः ॥
परार्थमुद्यताः सन्तः सन्तः किं किं न कुर्व्वते ।
तादृगप्यम्बुधेर्व्वारि जलदैस्तत् प्रपीयते ॥
एक एव सतां मार्गो यदङ्गीकृतपालनम् ।
दहन्तमकरोत् क्रोड़े पावकं यदपां पतिः ॥
आत्मानं पीड़यित्वापि साधुः सुखयते परम् ।
ह्लादयन्नाश्रितान् वृक्षो दुःखञ्च सहते स्वयम् ॥"
इति वह्निपुराणे दानावस्थानिर्णयनामाध्यायः ॥
(तथा, महानिर्व्वाणतन्त्रे । १ । २२ ।
"देवायतनगा मर्त्त्या देवकल्पा दृढ़व्रताः ।
सत्यधर्म्मपराः सर्व्वे साधवः सत्यवादिनः ॥")
तस्य प्रशंसा यथा,—
"यत्पूजायां भवेत् पूज्यो हृष्ट्या न यमदर्शनम् ।
पापसंघः स्पर्शनाच्च किमहो साधुसङ्गमः ॥
साधूनां हृदयं धर्म्मो वाचो वो नः सनातनाः ।
कर्म्मक्षयाणि कर्म्माणि यतः साधुर्हरिः स्वयम् ॥"
इति कल्किपुराणे ३० अध्यायः ॥ * ॥
(एतदाचारस्तु चतुर्व्विधधर्म्मप्रमाणान्यतमः ।
यथा, मनुः । २ । ६ ।
"वेदोऽखिलो धर्म्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥")
कलिशूद्रस्त्रीणां साधुत्वं तत्कारणञ्च यथा ।
"कलिः साध्विति यत् प्रोक्तं शूद्रः साध्विति योषितः ।
यच्चाह भगवान् साधुर्धन्याश्चेति पुनः पुनः ॥
तत् सर्व्वं श्रोतुमिच्छामो न चेत् गुह्यं महामुने ।
इत्युक्तो मुनिभिर्व्यासः प्रहस्येदमथाब्रवीत् ॥
श्रूयतां भो मुनिगणा यदुक्तं साधु साध्विति ।
यत् कृते दशभिर्व्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन तत् ॥
द्वापरे तच्च मासेन अहोरात्रेण तत् कलौ ।
तपसो ब्रह्मचर्य्यस्य जपादेश्च फलं द्विजाः ॥
प्राप्नोति पुरुषस्तेन कलिः साध्विति भाषितम् ।
ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्च्चयन् ॥
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्त्य केशवम् ।
धर्म्मोत्कर्षमतीवात्र प्राप्नोति पुरुषः कलौ ॥
स्वल्पायासेन धर्म्मज्ञास्तेन तुष्टोऽस्म्यहं कलेः ॥ *
व्रतचर्य्यापरैर्ग्राह्या वेदाः पूर्व्वं द्विजातिभिः ।
ततस्तु धर्म्मसंप्राप्तैर्यष्टव्यं विधिवद्धनैः ॥
वृथाकथा वृथाभोज्यं वृथेज्या च द्विजन्मनाम् ।
पतनाय तथा भाव्यं तैस्तु संयमिभिः सदा ॥
असम्यक्करणे दोषास्तेषां सर्व्वेषु वस्तुषु ।
भक्ष्यपेयादिकं चैषां नेच्छाप्राप्तिकरं द्विजाः ॥
पारतन्त्र्यं समस्तेषु तेषां कार्य्येषु वै यतः ।
जयन्ति ते निजान् लोकान् क्लेशेन महता द्विजाः ॥
द्विजशुश्रूषयैवैष पाकयज्ञाधिकारवान् ।
निजं जयति वै लोकं शूद्रो धन्यतरस्ततः ॥
भक्ष्याभक्ष्येषु नास्यास्ति पेयापेयेषु वा यतः ।
नियमो मुनिशार्द्दूलास्तेनासौ साध्वितीरितम् ॥
स्वधर्म्मस्याविरोधेन नरैर्लब्धं धनं सदा ।
प्रतिपाद्यञ्च पात्रेषु यष्टव्यञ्च यथाविधि ॥
तस्यार्ज्जने महान् क्लेशः पालने च द्विजोत्तमाः ।
तथा सद्विनियोगाय विज्ञेयं गहनं नृणाम् ॥
एभिरन्यैस्तथा क्लेशैः पुरुषा द्विजसत्तमाः ।
निजान् जयन्ति वै लोकान् प्राजापत्यादिकान् क्रमात् ॥
योषित्शुश्रूषणं भर्त्तुः कर्म्मणा मनसा गिरा ।
कुर्व्वती समवाप्नोति तत्सालोक्यं ततो द्विजाः ॥
नातिक्लेशेन महता तानेव पुरुषो यथा ।
तृतीयं व्याहृतं तेन मया साध्विति योषिताम् ॥"
इति विष्णुपुराणे । ६ । २ । १२—२९ ॥

साधुः, त्रि, (साध्नोति कार्य्यमिति । साध+उण् ।) वार्द्धुषिकः । चारुः । (यथा, महाभारते । १ । १०७ । ८ ।
"न किञ्चिद्वचनं राजन्नब्रवीत् साध्वसाधु वा ॥") सज्जनः । इति मेदिनी ॥

साधुजः, त्रि, (साधौ सत्कुले जायते इति । जन+डः ।) उत्तमकुलोद्भवः । इति शब्दरत्नावली ॥

साधुधीः, स्त्री, (साधुर्धीर्यस्याः ।) श्वश्रूः । इति हारावली । २०९ ॥ (साधुधीः ।) सुन्दरबुद्धिः । तद्युक्ते, त्रि ॥

साधुपुष्पं, क्ली, (साधु चारु पुष्पं यस्य ।) स्थलपद्मम् । इति शब्दमाला ॥ उत्तमकुसुमञ्च ॥

साधुवाहः, पुं, (साधुरुत्तमो वाहः ।) विनीताश्वः । इति हेमचन्द्रः ॥ सुन्दरवाहनञ्च ॥

साधुवाही, [न्] पुं, (साधु उत्तमं वहतीति । वह+णिनिः ।) शोभनवहनशीलघोटकः । सुशिक्षिताश्वः । तत्पर्य्यायः । विनीतः २ । इत्यमरः । २ । ८ । ४४ ॥ सुष्ठुवाहनशीलकः ३ । इति शब्दरत्नावली ॥ सुन्दरघोटकविशिष्टे, त्रि ॥ (साधुवहनशीले, च त्रि । यथा, महाभारते । ६ । ४६ । ३६ ।
"तस्य क्रुद्धः स नागेन्द्रो वहतः साधुवाहिनः ।
पदा युगमधिष्ठाय जघान चतुरो हयान् ॥")

साधुवृक्षः, पुं, (साधुर्वृक्षः ।) कदम्बतरुः । इति शब्दचन्द्रिका ॥ वरुणवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥ शोभनतरुश्च ॥

साधुवृत्तिः, स्त्री, उत्तमजीविका । सद्विवरणम् । सुन्दरवर्त्तनम् । साध्वी चासौ वृत्तिश्चेति कर्म्मधारयसमासनिष्पन्ना । साधोर्वृत्तिरिति षष्ठीतत्पुरुषसमासनिष्पन्ना वा ॥

साहतं, क्ली, मयूरसमूहः । पण्यवीथी । आतपत्रम् । इत्यजयपालः ॥

साध्यः, पुं, (साध्यमस्यास्तीति । अर्श आदित्वादच् ।) गणदेवताविशेषः । इत्यमरः । १ । १ । १० ॥ स तु द्वादशसंख्यकः । यथा, भरतः ।
"साध्या द्वादश विख्याता रुद्राश्चैकादश स्मृताः ॥"
तेषां नामानि यथा,—
"मनो मन्ता तथा प्राणो नरोऽपानश्च वीर्य्यवान् ।
विनिर्भयो नयश्चैव हंसो नारायणो वृषः ।
प्रभुश्चेति समाख्याताः साध्या द्वादश पौर्व्विकाः ॥"
इति वह्निपुराणे गणभेदनामाध्यायः ॥ * ॥

देव:। विष्कम्भादिसप्तविंशतियोगान्तर्गतैकविंशयोग:। इति मेदिनी ॥ तत्र जातफलम्।
"असाध्यसाध्य: किल साध्यजात:
शूरोऽतिधीरो विजितारिपक्ष:।
बुद्ध्या सुपायै: परिसाधितार्थ:
परं कृतार्थ: सुतरां विनीत:॥"
इति कोष्ठीप्रदीप:॥

साध्य:, त्रि, (साध+यत्।) साधनीय:। इति मेदिनी ॥ यथा,—
"ऋणादिषु विवादेषु स्थिरप्रायेषु निश्चितम्।
ऊने वाप्यधिके चार्थे प्रोक्ते साध्यं न सिध्यति॥"
इति मिताक्षराधृतकात्यायनवचनम्॥
साधनार्हाभिमत:। स तु पक्ष:। यथा,—
"प्रतिज्ञादोषनिर्मुक्तं साध्यं सत्कारणान्वितम्।
निश्चितं लोकसिद्धञ्च पक्षं पक्षविदो विदु:॥"
साध्यं साधनार्हाभिमतं पक्षं विदु:। यद्यप्यत्र साध्यं ग्राह्यं तद्विशिष्टधर्म्मी पक्ष इति भेदस्तथाप्यत्र वाक्प्रत्यायनार्गादिधर्म्मविशेषविशिष्टस्य पक्षतया धर्म्मिणोऽधमर्णपदेरेव साध्यत्वात् साध्यपक्षयोरभेदाभिधानम्। इति व्यवहारतत्त्वम्॥ *॥ अनुमितिविधेय:। यथा। साध्यतावच्छेदकमिति अनुमितिविधेयतावच्छेदकमित्यर्थ:। इति सिद्धान्तलक्षणजागदीशीटीका॥ मन्त्रविशेष:। यथा,—
"नामाद्याक्षरमारभ्य यावन्मन्त्रादिमाक्षरम्।
चतुर्भि: कोष्ठैरेकैकमिति कोष्ठचतुष्टयम्॥
पुन: कोष्ठककोष्ठेषु सव्यतो नाम्न आदित:।
सिद्ध: साध्य: सुसिद्धोऽरि: क्रमाज्ज्ञेया मनीषिभि:॥
सिद्ध: सिध्यति कालेन साध्यस्तु जपहोमत:।
सुसिद्धो ग्रहणमात्रेण अरिर्मूलं निकृन्तति॥"
इति तन्त्रसार:॥

साध्यतावच्छेदकं, क्ली, (साध्यतामवच्छिनत्तीति। अव + छिद + ण्वुल्।) अनुमितिविधेयांशे भासमानो धर्म्म:। यथा साध्यतावच्छेदकमिति अनुमितिविधेयतावच्छेदकमित्यर्थ:। तथा चोक्तव्याप्तिज्ञानादेकांशे इदन्त्वप्रकारिका इदन्त्वावच्छिन्नानुमितिर्न तु वह्निमान् इत्याकारा इदन्त्वप्रकारिकापि तस्य व्यापकतावच्छेदकत्वेनाग्रहात् कारणबाधेन तदसम्भवादिति भाव:। इति सिद्धान्तलक्षणस्य जागदीशीटीका॥

साध्यसिद्धिपाद:, पुं, (साध्यस्य सिद्धिर्यत्र। तादृश: पाद:।) व्यवहारस्य चतुर्थपाद:। स च निर्णयपाद:। यथा। प्रत्यर्थिनोऽग्रतो लेख्यमिति भाषापाद: प्रथम:। श्रुतार्थस्योत्तरं लेख्यमित्युत्तरपादो द्वितीय:। ततोऽर्थी लेखयेत् सद्य इति क्रियापादस्तृतीय:। तत्सिद्धौ सिद्धिमाप्नोति इति साध्यसिद्धिपादश्चतुर्थ:। यथा,—
"भाषोत्तरक्रियासाध्यसिद्धिभि: क्रमवृत्तिभि:।
आक्षिप्तचतुरंशस्तु चतुष्पादभिधीयते॥"
इति मिताक्षरा॥

साध्वसं, क्ली, (साधूनस्यतीति। साधु+अस+अच्।) भयम्। इत्यमर:। १।७।२१॥ (यथा, भागवते। २।१।१५।
"अन्तकालेऽपि पुरुष आगते गतसाध्वस:।
छिन्द्यादसङ्गशस्त्रेण स्पृहां देहेऽनु ये च तम्॥"
स्यति नाशयतीति। सो+"स्यतेर्धुक्।" इति असच् धुक् च। प्रतिभा। इत्युणादिटीकायां उज्ज्वल:। ३।११७॥ भाविकाद्यविशेष:। इति साहित्यदर्पणम्। ६।५५६॥)

साध्वी, स्त्री (साधु+ङीप्।) मेदा। इति राजनिर्घण्ट:॥ पतिव्रता। इत्यमर:। २।६।६॥ तल्लक्षणमाह हारीत:।
"आर्त्तार्त्ते मुदिता हृष्टे प्रोषिते मलिना कृशा।
मृते म्रियेत या पत्यौ साध्वी ज्ञेया पतिव्रता॥"
("सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता।" इत्यपि क्वचित् पाठ:॥ *॥) तद्धर्म्मो यथा। अङ्गिरा:।
"साध्वीनामेव नारीणामग्निप्रपतनादृते।
नान्यो धर्म्मो हि विज्ञेयो मृते भर्त्तरि कर्हिचित्॥"
इति शुद्धितत्त्वम्॥

तत्प्रशंसा यथा,—
"साध्वी स्त्री मातृतुल्या च सर्व्वथा हितकारिणी।
असाध्वी वैरतुल्या च शश्वत् सन्तापदायिका॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते गणपतिखण्डे। २।२५॥ *॥
साध्वीस्त्रीणां पति: प्रेम्णा शतपुत्राधिक:। यथा,—
"शतपुत्राधिक: प्रेम्णा सतीनाञ्च पतिर्नृप!।
निरूपितो भगवता वेदेषु हरिणा स्वयम्॥"
इति तत्रैव। ३४।६२॥ *॥
"कामिनीं कुलजाताञ्च रक्षेत् कामिनीं सतीम्।
न पृच्छति कुले जात एवमेव श्रुतौ श्रुतम्॥
श्रुतौ पुराणे यासाञ्च चरित्रमनिरूपितम्।
तासु को विश्वसेत् प्राज्ञो अप्रज्ञाञ्च दुराशयाम्।
तासां को वा रिपुर्मित्रं प्रार्थयन्ती नवं नवम्।
दृष्ट्वा सुवेशं पुरुषमिच्छन्ति हृदये सदा॥
वाह्ये स्वात्मसतीत्वञ्च प्रापयन्ती प्रयत्नत:।
सत्त्वप्रधानं यद्रूपं तत् शुद्धञ्च स्वभावत:।
तदुत्तमञ्च विश्वेषु साध्वीरूपं प्रशंसितम्॥
स्थानाभावात् क्षणाभावात् मध्यस्थेरभावत:।
देहक्लेशेन रोगेण सत्संसर्गेण सुन्दरि!॥
बहुगोष्ठीष्वतैरेव रिपुराजभयेन च।
रजोरूपस्य साध्वीत्वमेतेनैव प्रजायते॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते प्रकृतिखण्डे १४ अध्याय:॥ *॥
अन्यच्च।
"सुते स्वनाम्नि य: स्नेहो याकाङ्क्षान्वेतिच्छोभिते।
पतिस्नेहस्य साध्वीनां कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥
स्वनाम्नि स्वनदानान्ते मिष्टान्ने भोजनावधि।
कान्ते चित्तं सतीनाञ्च स्वप्ने ज्ञाने च सन्ततम्॥
नाम्ने तृष्णा जवे तृष्णा साध्वीनां स्वामिना विना।
यथा जारे पुंश्चलीनां साध्वीनान्तु तथा प्रिये॥
शोकं निमग्नमन्येषां कालेन पानभोजनात्।
विपरीतं कान्तशोको वर्द्धते भक्षणादहो॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे। १७।८७,८०,८१॥ *॥ किञ्च।
"आकाशोऽपि दिश: सर्व्वा यदि नश्यन्ति वायव:।
तथापि साध्वीशापस्तु न नश्यति कदाचन॥"
इति तत्रैव। ४२।३४॥

सानन्द:, पुं, (आनन्देन सह वर्त्तते इति।) षोडशध्रुवकान्तर्गतध्रुवकभेद:। यथा,—
"अष्टादशाक्षरैर्युक्तो यशोहर्षप्रदो ध्रुव:।
कहस्कसंज्ञके ताले सानन्दो वीरके रसे॥"
इति सङ्गीतदामोदर:॥
गुच्छकरञ्ज:। इति राजनिर्घण्ट:॥ आनन्दयुक्ते, त्रि। यथा,—
"रामं नमति सानन्दं धर्म्मानभिनिविश्य सन्॥"
इति मुग्धबोधव्याकरणम्॥

सानन्दूर:, पुं, तीर्थविशेष:। यथा,—
धरण्युवाच।
"द्वारकात: परं श्रेष्ठं अस्ति गुह्यं परं क्वचित्।
ततो महीवच: श्रुत्वा विष्णु: कमललोचन:।
वाराहरूपी भगवान् प्रत्युवाच वसुन्धराम्॥
वराह उवाच।
सानन्दूरेति विख्यातं भूमे! गुह्यं परं मम।
उत्तरे तु समुद्रस्य मलयस्य च दक्षिणे।
तत्र तिष्ठामि वसुधे उदीचीदिशमाश्रित:॥
प्रतिमा वै मदीयास्ति नात्युच्चा नातिनीचका।
आयसीं तां वदन्त्येके अन्ये ताम्रमयीं तथा॥
कांस्यीं रीतिमयीमन्ये केचित् सीसकनिर्मिताम्।
शिलामयीमित्यपरे महदाश्चर्य्यरूपिणीम्।
तत्र स्थानानि मे भूमे कथ्यमानं मया शृणु॥
मनुजा यत्र मुच्यन्ते गता: संसारसागरम्।
तत्राश्चर्य्यं प्रवक्ष्यामि सानन्दूरे यशस्विनि!॥
सौवर्णं दृश्यते पद्मं मध्याह्ने तु दिवाकरे।
यत्र रामग्रहं नाम मम गुह्यं यशस्विनि॥
तत्रापि शृणु चाश्चर्य्यं यत्रापि परिवर्त्तते।
एवं तत्र लता दृश्यसूक्ष्मस्थूलमहाद्रुमम्।
समुद्रमध्ये तिष्ठन्तं सोऽपि तत्र न पश्यति॥*॥
अन्यच्च ते प्रवक्ष्यामि महाश्चर्य्यं शृणुष्व मे।
मम भक्ताश्च पश्यन्ति तिष्ठन्तो हि स्वकर्म्मणा॥
बहुमत्स्यसहस्राणि कोट्यो ह्यर्व्वुदमेव च।
क्षिप्त: पिण्डश्च तन्मध्ये येन केन विकर्म्मिणा॥
एकस्तत्र स्थूलमत्स्यो भूमिचक्रेण चाङ्कित:।
तावत् कश्चिन्न गृह्णाति यावत्तेन न भक्षित:॥
तत्र रामसरं नाम तस्मिन् क्षेत्रे परं मम।
अगाधञ्चाप्यपारञ्च रक्तपद्मविभूषितम्॥
तत्र स्नानन्तु कुर्व्वीत एकरात्रोषितो नर:।
बुधस्य भवनं गत्वा मोदते नात्र संशय:॥
अथ प्राणान् प्रमुञ्चेत रम्ये रामसरे तथा।
बुधस्य भवनं त्यक्त्वा मम लोकञ्च गच्छति॥
तत्र रामसरे भूमे महाश्चर्य्यं शृणुष्व मे।
मनुजास्तत्र पश्यन्ति मम कर्म्मपरायणा:॥

सत्वर: क्रोशविस्तारं बहुगुल्मलताकुलम् ।
मनोज्ञं रमणीयञ्च जलजैश्चापि संवृतम् ॥
तत्र शृङ्गाणि पद्मानि द्योतयन्ति दिशो दश ।
एकन्तु दृश्यते श्वेतमेकं रुक्ममयं तथा ॥
तत्र ब्रह्मसरं नाम गुह्यं क्षेत्रे परं मम ।
उत्तरेण तु पार्श्वेन मम क्षेत्रस्य सुन्दरि ॥
तत्र कुण्डं महाभागे पर्व्वते च समाश्रितम् ।
धारा यत्र पतेच्चैव स्थूला मुषलसन्निभा ॥
तत्र स्नानञ्च कुर्व्वीत षष्ठकालोषितो नर: ।
ब्रह्मलोकं समासाद्य मोदते नात्र संशय: ॥
अथ प्राणान् प्रमुच्येत तत्र ब्रह्मसरे मम ।
ब्रह्मणा समनुज्ञातो मम लोकञ्च गच्छति ॥
तत्राश्चर्य्यं महाभागे रम्ये ब्रह्मसरे शृणु ।
मद्भक्ता यानि पश्यन्ति घोरं संसारमोक्षणम् ॥
चतुर्व्विंशतिद्वादश्यां सा धारा पृथुलेक्षणे ।
मध्याह्ने पतते भूमे यावत् सूर्य्य: स तिष्ठति ॥
परावृत्ते तु मध्याह्ने सा धारा न पतेद्भुवि ।
एवं तत्र महाश्चर्य्यं पुण्ये ब्रह्मसरे मम ॥”
इति वाराहे सानन्दूरमाहात्म्यनामाध्याय: ॥

सानसि:, पुं, (सन्यते दीयते दक्षिणाद्यर्थमिति । षणु दाने + “सानसिवर्णसीति ।” उणा० ४ । १०७ । इति असिप्रत्ययेन साधु: ।) सुवर्ण: । इत्युणादिकोष: ॥ (संभजनीये, त्रि । यथा, ऋग्वेदे । १० । १४० । ४ ।
“पृणक्षि सानसिं क्रतुम् ॥”
“सानसिं संभजनीयं क्रतुं कर्म्म पृणक्षि अस्माभि: संपर्चयसि फलेन वा संयोजयसि ॥”
इति तद्भाष्ये सायण: ॥)

सानिका, स्त्री, (सनति सुस्वरमिति । षणु दाने + ण्वुल् । टापि अत इत्वम् ।) वंशी । इति शब्दरत्नावली ॥

सानु:, पुं क्ली, (सन्यते सेव्यते मुनिप्रभृतिभिरिति । सन सेवायाम् + “दृसनिजनीति ।” उणा० १ । ३ । इति ञुण् ।) पर्व्वतसमभूभाग: । तत्पर्य्याय: । स्नु: २ प्रस्थ: ३ । इत्यमर: । २ । ३ । ५ ॥ (यथा, रामायणे । २ । ३१ । २७ ।
“भवांस्तु सह वैदेह्या गिरिसानुषु रंस्यते ।
अहं सर्व्वं करिष्यामि जाग्रत: स्वपतश्च ते ॥”)
वनम् । वात्या । मार्ग: । अग्रम् । कोविद: । इति मेदिनी ॥ अर्क: । पल्लव: । इति जटाधर: ॥

सानुजं, क्ली, (सानौ जायते इति । जन् + ड: ।) प्रपौण्डरीकम् । इति राजनिर्घण्ट: ॥

सानुज:, पुं, (सानौ पर्व्वतप्रस्थे जायते इति । जन + ड: ।) तुम्बुरुवृक्ष: । इति राजनिर्घण्ट: ॥ अनुजेन सह वर्त्तमाने सानुजाते च त्रि ॥

सानुमान्, [न्] पुं, (सानुर्विद्यतेऽस्येति । सानु + मतुप् ।) पर्व्वत: । इति हेमचन्द्र: ॥ (यथा, रघु: । ८ । ९० ।
“न पृथग्जनवच्छुचो वशं
वशिनामुत्तम ! गन्तुमर्हसि ।
द्रुमसानुमतां किमन्तरं
यदि वायौ द्वितयेऽपि ते चला: ॥”

वाच्यलिङ्गेऽपि दृश्यते । यथा, रामायणे । २ । ४८ । १० ।
“आपगाश्च महानूपा: सानुमन्तश्च पर्व्वता: ॥”)

सानेयिका, स्त्री, (सानेयी + स्वार्थे कन् ।) वंशी । इति शब्दरत्नावली ॥

सानेयी, स्त्री, वंशी । इति शब्दरत्नावली ॥

सान्तपनं, क्ली, (सन्तपतीति । सम् + तप + ल्यु: । तत: स्वार्थे अण् ।) व्रतविशेष: । इत्यमर: । २ । ७ । ५२ ॥ यथा,—
“गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पि: कुशोदकम् ।
एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रं सान्तपनं स्मृतम् ॥”
इति मानवे ११ अध्याय: ॥
गोमूत्रमिति । गोमूत्रादि एकीकृत्य एकस्मिन्नहनि भक्षयेत् नान्यत् किञ्चिदद्यात् अपरदिने चोपवास: । इत्येतत् सान्तपनं कृच्छ्रं स्मृतम् । यदा तु गोमूत्रादिषट् प्रत्येकं षड्दिनान्युपभुञ्जीत सप्तमे दिने चोपवास: तदा महासान्तपनं भवति । तथा च याज्ञवल्क्य: ।
“कुशोदकञ्च गोक्षीरं दधि मूत्रं शकृद् घृतम् ।
जग्ध्वा परेऽह्न्युपवसेत् कृच्छ्रं सान्तपनञ्चरन् ॥
पृथक्सान्तपनद्रव्यै: षडह:सोपवासिक: ।
सप्ताहेन तु कृच्छ्रोऽयं महासान्तपनं स्मृतम् ॥”
इति कुल्लूकभट्ट: ॥
गारुडे १०५ अध्यायेऽप्येवम् ॥ (सन्तापके, त्रि ॥ यथा, ऋग्वेदे । ७ । ५९ । ९ ।
“सान्तपना इदं हविर्मरुतस्तज्जुजुष्टन ॥”
“सान्तपना: शत्रूणां संतापका हे मरुत: ॥”
इति तद्भाष्ये सायण: ॥ सन्तपनस्य सूर्य्यस्येदमिति । अण् । सूर्य्यसम्बन्धिनि च त्रि । यथा, वाजसनेयसंहितायाम् । १७ । ८५ ।
“स्वतवांश्च प्रघासी च सान्तपनश्च गृहमेधी च ।”
‘सन्तपन: सूर्य्यस्तत्सम्बन्धी सान्तपन: ।’ इति तद्भाष्यम् ॥)

सान्तरं, त्रि, विरलम् । इति जटाधर: ॥ (यथा, बृहत्संहितायाम् । २२ । ३ ।
“यदि ता: स्युरेकरूपा:
शुभास्तत: सान्तरास्तु न शिवाय ॥”)
अन्तरेण सह वर्त्तमानश्च ॥ (सावकाशम् । यथा, महाभारते । ७ । ११ । १८ ।
“तस्य जिह्मभिप्रायं ज्ञात्वा द्रोणोऽथ तत्त्ववित् ।
तं वरं सान्तरं तस्मै ददौ संचिन्त्य बुद्धिमान् ॥”)

सान्त्ल, क सामयोगे । इति कविकल्पद्रुम: ॥ (चुरा०-पर०-सक०-सेट् ।) क, सान्त्लयति प्रीतात्मा दयालु: । इति दुर्गादास: ॥

सान्त्व, त् क सान्त्वने । इति कविकल्पद्रुम: ॥ (अदन्तचुरा०-पर०-सक०-सेट् ।) दन्त्यादिस्तमध्य: वकारोपध: । सान्त्वनं प्रियकरणम् । सान्त्वयति सान्त्वापयति । इति दुर्गादास: ॥

सान्त्वं, क्ली, (सान्त्व सान्त्वने + घञ् ।) अत्यर्थमधुरम् । तत्तु कर्णमन:प्रीतिजनकं वाक्यम् । (यथा, महाभारते । ५ । १४० । २ ।
“कानि सान्त्वानि गोविन्द: सूतपुत्रे प्रयुक्तवान् ॥”)
साम । तच्च प्रियवादार्थप्रदानसम्बन्धादिभि: क्रोधोपशमनम् । इत्यमरभरतौ ॥ (यथा, माघे । २ । ५४ ।
“चतुर्थोपायसाध्ये तु रिपौ सान्त्वमपक्रिया ।
स्वेद्यमामज्वरं प्राज्ञ: कोऽम्भसा परिषिञ्चति ॥”)
दाक्षिण्यम् । इति मेदिनी ॥

सान्त्वनं, क्ली, (सान्त्व + ल्युट् ।) सामोपाय: । इति हेमचन्द्र: ॥ प्रियकरणम् । इति सान्त्वधातुटीकायां दुर्गादास: ॥ (यथा, महाभारते । २ । ३८ । ६ ।
“नास्मै देयो ह्यनुनयो नायमर्हति सान्त्वनम् ।
लोकवृद्धतमे कृष्णे योऽर्हणां नाभिमन्यते ॥”)

सान्त्वना, स्त्री क्ली, (सान्त्व + युच् । टाप् । क्लीपक्षे ल्युट् ।) सान्त्वनम् । प्रणय: । यथा । “प्रणय: सान्त्वना न ना ।” इति जटाधर: ॥

सान्त्ववाद:, त्रि, (सान्त्वस्य सामस्य वाद: कथनम् ।) सान्त्वनावाक्यम् । इति केचित् ॥

सान्दीपनि:, पुं, (सन्दीपनस्यापत्यमिति । सन्दीपन + इञ् ।) मुनिविशेष: । यथा, ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे । ६६ । ३० ।
“विश्वामित्र: शतानन्दो जाजलिस्तैतिलिस्तथा ।
सान्दीपनिश्च ब्रह्मांशो योगिनां ज्ञानिनां गुरु: ॥”
अपि च ।
“विदिताखिलविज्ञानौ तत्त्वज्ञानमयावपि ।
शिष्याचार्य्यक्रमं वीरौ ख्यापयन्तौ यदूत्तमौ ॥
तत: सान्दीपनिं काश्यमवन्तिपुरवासिनम् ।
अस्त्रार्थं जग्मतुर्व्वीरौ बलदेवजनार्द्दनौ ॥”
काश्यं काश्यां जातम् ।
“तस्य शिष्यत्वमभ्येत्य गुरुवृत्तिपरौ हि तौ ।
दर्शयाञ्चक्रतुर्व्वीरावाचारमखिले जने ॥
सरहस्यं धनुर्व्वेदं ससंग्रहमधीयताम् ।
अहोरात्रैश्चतु:षष्ट्या तदद्भुतमभूद्द्विज ॥
सान्दीपनिरसंभाव्यं तयो: कर्म्मातिमानुषम् ।
विचिन्त्य तौ तदा मेने प्राप्तौ चन्द्रदिवाकरौ ॥
अस्त्रग्राममशेषञ्च प्रोक्तमात्रमवाप्य तौ ।
ऊचतुर्व्रियतां या ते दातव्या गुरुदक्षिणा ॥
सोऽप्यतीन्द्रियमालोक्य तयो: कर्म्म महामति: ।
अयाचत मृतं पुत्रं प्रभाते लवणार्णवे ॥”
अतीन्द्रियं अन्यत्रादृष्टपूर्व्वम् ।
“गृहीतार्घ्यौ ततस्तौ तु सार्घपात्रो महोदधि: ।
उवाच न मया पुत्रो हृत: सान्दीपनेरिति ॥
दैत्य: पञ्चजनो नाम शङ्खरूप: स बालकम् ।
जग्राह सोऽस्ति सलिले ममैवारिनिसूदन ॥
इत्युक्तोऽन्तर्जलं गत्वा हत्वा पञ्चजनञ्च तम् ।
कृष्णो जग्राह तस्यास्थिप्रभवं शङ्खमुत्तमम् ॥
तं पाञ्चजन्यमापूर्य्य गत्वा यमपुरीं हरि: ।
बलदेवश्च बलवान् जित्वा वैवस्वतं यमम् ॥
तं बालं यातनासंस्थं यथापूर्व्वशरीरिणम् ।
पित्रे प्रदत्तवान् कृष्णो बलश्च बलिनां वर: ॥”
इति विष्णुपुराणे । ५ । २१ । १८—३० ॥

सान्दृष्टिकं, क्ली, (सन्दृष्टौ प्रत्यक्षे भवम् । सन्दृष्टि + ठञ् ।) सद्यःफलम् । इत्यमरः ।२।८।२६ ॥ दृष्टपरिकल्पनान्यायः । यथा । पितामहदौहित्राभावे प्रपितामहप्रपितामह्योः क्रमेणाधिकारः प्रपितामहपिण्डस्य धनिभोग्यत्वात् पूर्व्वोक्तसांदृष्टिकन्यायसिद्धत्वाच्च । इति दायक्रमसंग्रहः ॥

सान्द्रं, क्ली, (अदि बन्धने + बाहुलकात् रक् । अन्द्रेण सह वर्त्तते इति ।) वनम् । इति मेदिनी ॥

सान्द्रः, त्रि, (अन्द्रेण निविड़बन्धनेन सह वर्त्तते इति ।) घनः । इत्यमरः । ३ । १ । ६६ ॥ (यथा, माघे । ४ । २८ ।

"उच्चैर्महारजतराजिविराजितासौ
दुर्वर्णभित्तिरिह सान्द्रसुधासवर्णा ॥")

मृदुः । इति मेदिनी ॥ स्निग्धः । मनोज्ञः । इति शब्दरत्नावली ॥

सान्द्रपुष्पः, पुं, (सान्द्रं पुष्पमस्य ।) विभीतकवृक्षः । इति शब्दचन्द्रिका ॥

सान्द्रस्निग्धः, त्रि, (सान्द्रः स्निग्धश्च ।) निविड़स्निग्धः । तत्पर्य्यायः । मेदुरः २ । इति शब्दरत्नावली ॥

सान्धिकः, पुं, (सन्धा मद्यसन्धीकरणं शिल्पमस्य । सन्धा + ठक् ।) शौण्डिकः । इति शब्दमाला ॥ (सन्धिं करोतीति । ठक् ।) सन्धिकर्त्ता च ॥

सान्धिवेलं, त्रि, (सन्धिवेला + "सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण् ।" ४ । ३ । १६ । इति अण् ।) सन्धिवेलायां भवम् । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥

सान्ध्यः, त्रि. (सन्ध्यायां भवः । सन्ध्या + सन्धिवेलादित्वात् अण् ।) सन्ध्यासम्बन्धीयः । (यथा, रघुः । २ । २३ ।

"गुरोः सदारस्य निपीड्य पादौ
समाप्य सान्ध्यञ्च विधिं दिलीपः ।
दोहावसाने पुनरेव दोग्ध्रीं
भेजे भुजोच्छिन्नरिपुर्निषण्णाम् ॥")

सान्ध्यकुसुमा, स्त्री, (सान्ध्यं सन्धिकालोद्भवं कुसुमं यस्याः ।) त्रिसन्धिपुष्पवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सान्नहनिकः, त्रि, (सन्नहनं प्रयोजनमस्येति । सन्नहन + तदस्य प्रयोजनमिति ठक् ।) सन्नाहविशिष्टः । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥

सान्नाय्यं, क्ली, (सम्यक् नीयते होमार्थमिति । सं + नी + "पाय्यसान्नाय्येति ।" ३ । १ । १२९ । इति ण्यत् आयादेशः समो दीर्घत्वञ्च निपात्यते ।) हविः । इत्यमरः । ३ । ७ । २७ ॥

सान्निध्यं, क्ली, (सन्निधिरेव । सन्निधि + "चातुर्व्वर्ण्यादीनां स्वार्थे उपसंख्यानम् ।" ५ । १ । १२४ । इत्यस्य वार्त्तिकोक्त्या स्वार्थे ष्यञ् ।) निकटम् । यथा,—

"अर्च्चकस्य तपोयोगात् अर्च्चनस्यातिशायनात् ।
आभिरूप्याच्च बिम्बानां देवः सान्निध्यमृच्छति ॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥

सान्निपातिकः, त्रि, (सन्निपातस्य शमनं कोपनं वा । "सन्निपाताच्च ।" ५ । १ । ३८ इत्यस्य वार्त्तिकोक्त्या स्वार्थे ष्यञ् ।) सन्निपातजरोगः । इति राजनिर्घण्टः ॥ (यथा, कुमारे ।२।४८।

"तस्मिन्नुपायाः सर्व्वे नः क्रूरे प्रतिहतक्रियाः ।
वीर्य्यवन्त्यौषधानीव विकारे सान्निपातिके ॥")

तद्विवरणं सन्निपातशब्दे द्रष्टव्यम् ॥

सान्न्यासिकः, पुं, (संन्यासः प्रयोजनमस्येति । ठक् ।) सन्न्यासी । तत्पर्य्यायः । भिक्षुः २ यतिः ३ कर्म्मन्दी ४ रक्तवसनः ५ परिव्राजकः ६ तापसः ७ पाराशरी ८ पारिकाङ्क्षी ९ मस्करी १० पारिरक्षकः ११ । इति हेमचन्द्रः ॥

सापत्नः, पुं, (सपत्न एव । स्वार्थे ष्यञ् ।) शत्रुः । इत्यमरटीकायां रमानाथः । २ । ८ । १० ॥ (सपत्न्या अपत्यमिति । सपत्नी + ष्यञ् ।) सपत्नीपुत्त्रः । यथा, बृहस्पतिः ।

"पित्रा सह विभक्ता ये सापत्ना वा सहोदराः ।
जघन्यजाश्च ये तेषां पितृभागहरास्तु ते ॥"
इति दायतत्त्वम् ॥

(सपत्न्या भावः । सपत्नी + ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ् ।) सपत्नीभावे, क्ली ॥ (यथा, माघे । ८ । १५ ।

"नित्याया निजवसतेर्निरासिरे य-
च्छ्रीणेशा श्रियमरविन्दतः कराग्रैः ।
व्यक्ताश्च नियतमनेन निन्युरस्याः
सापत्नं क्षितिसुतविद्विषो महिष्यः ॥")

सापिण्ड्यं, क्ली, (सपिण्डस्य भावः । सपिण्ड + ष्यञ् ।) सपिण्डता । सा तु पुंसां सप्तमपुरुषपर्य्यन्तं अनूढकन्यानां त्रिपुरुषपर्य्यन्तञ्च स्थायिनी । यथा,—

"लेपभाजश्चतुर्थाद्याः पित्राद्याः पिण्डभागिनः ।
पिण्डदः सप्तमस्तेषां सापिण्ड्यं साप्तपौरुषम् ॥"
इति मत्स्यपुराणम् ॥

अप्रत्तानां त्रिपौरुषम् । इति वशिष्ठः ॥ अपि च ।

"पित्रादिषड्भिः सापिण्ड्यं तत्सन्ततिसप्तकैः ।
गोत्रैक्ये सति तत्तु स्यात् षड्भिः पुत्त्रादिभिस्तथा ।
अप्रत्तानान्तु कन्यानां त्रिभिः पित्रादिभिः स्मृतम् ॥"
इति कारिका ॥

अन्यत् सपिण्डशब्दे द्रष्टव्यम् ॥

साप्तपदीनं, क्ली, (सप्तभिः पदैरवाप्यते इति । "साप्तपदीनं सख्यम् ।" ५ । २ । २२ । इति खञ् प्रत्ययेन साधुः ।) सख्यम् । इत्यमरः ।२। ८ । १२ ॥ (यथा, कुमारे । ५ । ३९ ।

"प्रयुक्तसत्कारविशेषमात्मना
न मां परं सम्प्रतिपत्तुमर्हसि ।
यतः सतां सन्नतगात्रि ! सङ्गतं
मनीषिभिः साप्तपदीनमुच्यते ॥")

सप्तपदसम्बन्धिनि, त्रि ॥

साफल्यं, क्ली, (सफलस्य भावः । सफल + ष्यञ् ।) सफलता । (यथा, मुकुन्दमालायाम् । २९ ।

"जिह्वे श्रीकृष्णमन्त्रं जप जप सततं जन्मसाफल्यमन्त्रम् ॥")

साब्दी, स्त्री, द्राक्षाविशेषः । इति केचित् ॥

साम, क सान्त्वे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (चुरा०-पर०-सक०-सेट् ।) दन्त्यादिर्द्वितीयस्वरी । सान्त्वः प्रियकरणम् । क, सामयति दीनं दानेन दाता । इति दुर्गादासः ॥

साम, त् क सान्त्वने । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (अदन्तचुरा०-पर०-सक०-सेट् ।) सान्त्वनं प्रियकरणम् । अससामत् दीनं दानेन दाता । इति दुर्गादासः ॥

साम, [न्] क्ली, (स्यति छिनत्ति दुःखं गेयत्वात् स्यति दुःखयति दुरध्येयत्वादिति वा । सो + "सातिभ्यां मनिन्मनिणौ ।" उणा० ४।१५२। इति मनिन् ।) वेदविशेषः । इत्यमरः ।१।६।३॥ स्यति पापं साम षो य नाशे चासुसिति मन् । इति भरतः ॥ तल्लक्षणमाह जैमिनिः । गीतेषु सामाख्या इति । गीयमानेषु मन्त्रेषु सामसंज्ञेत्यर्थः । इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥ तत्तु चतुर्व्वेदान्तर्गततृतीयवेदः । तस्य सहस्रशाखा तस्योपनिषत् छान्दोग्यादिः । विवरणन्तु वेदशब्दे द्रष्टव्यम् ॥ * ॥ सामध्वनिश्रवणानन्तरं वेदपाठनिषेधस्तदधिष्ठातृदेवताकथनञ्च यथा,—

"सामध्वनावृग्यजुषी नाधीयीत कदाचन ।
वेदस्याधीत्य वाप्यन्तमारण्यकमधीत्य च ॥
ऋग्वेदो देवदैवत्यो यजुर्व्वेदस्तु मानुषः ।
सामवेदः स्मृतः पित्र्यस्तस्मात्तस्याशुचिर्ध्वनिः ॥"
इति मानवे । ४ । १२३ ॥ * ॥

(वेदोऽयं गजोत्पत्तिकारणम् । तथा च रघुवंशटीकायां मल्लिनाथधृतपालकाव्ये । १६ । ३ ।

"सूर्य्यस्याण्डकपाले द्वे समानीय प्रजापतिः ।
हस्ताभ्यां परिगृह्याथ सप्तसामान्यगायत ।
गायतो ब्रह्मणस्तस्मात् समुत्पेतुर्मतङ्गजाः ॥")

शत्रुवशीकरणोपायविशेषः । इत्यमरः ।२।८।२०॥ प्रियवादार्थप्रदानसम्बन्धादिभिः क्रोधोपशमनं साम । स्यति विरोधमिति षोऽन्तकर्म्मणीत्यस्मात् चासुसिति मन् । सान्त्व साम त् क सान्त्वने इत्यस्मात् नाम्नीति अन् वा । साम दन्त्यादि । शमयति विरोधमिति शाम नान्तं तालव्यादि इति केचित् । इति भरतः ॥ * ॥ अपि च ।

मनुरुवाच ।

"उपायांस्त्वं समाचक्ष्व सामपूर्व्वान्महाद्युते ।
लक्षणञ्च तथा तेषां प्रयोगञ्च सुरोत्तम ॥

मत्स्य उवाच ।

साम भेदस्तथा दानं दण्डश्च मनुजोत्तम ।
उपेक्षा च तथा माया इन्द्रजालञ्च पार्थिव ॥
प्रयोगाः कथिताः सप्त तन्मे निगदतः शृणु ।
द्विविधं कथितं साम तथ्यञ्चातथ्यमेव च ॥
तत्राप्यतथ्यं साधूनां आक्रोशायैव जायते ।
तथ्यं साधुप्रियश्चैव सामसाध्या नरा मताः ॥
महाकुलीना ऋजवो धर्म्मनिष्ठा जितेन्द्रियाः ।
सामसाध्या नरास्तथ्यं तेषु साम प्रयोजयेत् ॥

तथ्यञ्च साम कर्त्तव्यं कुलशीलादिवर्जिना ।
तथा सदुपचाराणां कृतानाञ्चानुवर्णनम् ॥
अनयैव तथा युक्त्या कृतज्ञाख्यापनं स्वकम् ।
एवं साम्ना च कर्त्तव्या वशगा धर्म्मतत्परा: ॥
साम्ना यद्यपि रक्षांसि गृह्णन्तीति परा श्रुति: ।
तथाप्येतदसाधूनां प्रयुक्तं नोपकारकम् ।
अतिशङ्कितमित्येवं पुरुषं सामवादिनम् ।
असाधवोऽवजानन्ति तस्मात् तेषु विवर्ज्जयेत् ॥
ये शुद्धवंशा ऋजव: प्रनीता
धर्म्मे स्थिता: सत्यपरा विनीता: ।
ते साम साध्या: पुरुषा: प्रदिष्टा
मानोन्नता ये सततञ्च राजन् ॥"
इति मात्स्ये राजधर्म्मे सामविधि: ।२२२।१-१०॥
(प्रियवाक्यादिना सान्त्वनम् । यथा, देवीभागवते । १ । १७ । ३१ ।
"सामपूर्व्वमुवाचासौ तं त्वत्वा संस्थितं मुनिम् ।
गच्छतो यत्र ते कार्य्यं यथेष्टं द्विजसत्तम ! ॥")
सामकं, क्ली, (सममेव सामम् । अण् । तत: स्वार्थे कन् ।) मूलद्रव्यम् । (यथा, मिताक्षरायाम् । २ । ६४ ।
"वृद्धिमाचापाकरणार्थन्तु बन्धकं सामकं दत्त्वा-
प्रयाहृणी समं मूल्यं सममेव सामकम् ॥")
सामक:, पुं, (समतीति । सम अवैकल्ये + ण्वुल् ।) तर्कुशाण: । इति त्रिकाण्डशेष: ॥
(साम अधीते वेद वा । सामन् + "क्रमादिभ्यो वुन् ।" ४।२।६१। इति वुन् । सामाभिज्ञे, त्रि ॥)
सामग:, पुं, (साम गायतीति । गै शब्दे + टक् ।) सामवेदी ब्राह्मण: । इति जटाधर: ॥ (विष्णु: । इति महाभारतम् । १३ । १४९ । ७५ ॥ * ॥ सामवेदज्ञे, त्रि । यथा, भागवते । १।४।२१ ।
"तत्रर्ग्वेदधर: पैल: सामगो जैमिनि: कवि: ।
वैशम्पायन एवैको निष्णातो यजुषामुत ॥")
सामगर्भ:, पुं, (साम गर्भे यस्य ।) विष्णु: । इति शब्दरत्नावली ॥
सामगी, स्त्री, (साम गायतीति । गै + टक् । ङीप् ।) सामगब्राह्मणपत्नी । इति केचित् ॥
सामग्री, स्त्री, (समग्रस्य भाव: । ष्यञ् । अभिधानात् स्त्रीत्वम् । ङीष् । यलोप: ।) कारणसमूह: । यथा,—
"सामग्री चेन्न फलविरहो व्याप्तिरेवेति तत्त्वम् ।"
इति पदाङ्कदूत: ॥
द्रव्यम् । यथा,—
"एकोद्दिष्टन्तु कर्त्तव्यं पाकेनैव सदा स्वयम् ।
अभावे पाकपात्राणां तदह: समुपोषणम् ॥"
इति लघुहारीतवचनात् पाकपात्राभाव: पाकसामग्र्यभावोपलक्षणम् । इति श्राद्धतत्त्वम् ॥
सामग्र्यं, क्ली, (समग्रस्य भाव: । समग्र + ष्यञ् ।) समुदायत्वम् । (यथा, कुमारे । ३ । २८ ।
"वर्णप्रकर्षे सति कर्णिकारं
दुनोति निर्गन्धतया स्म चेत: ।
प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां
पराङ्मुखी विश्वसृज: प्रवृत्ति: ॥")

सामज:, पुं, (साम्नो वेदभेदात् जायते इति, जन + ड: ।) हस्ती । सामोत्थे, त्रि । इति मेदिनी ॥ (उभयार्थे प्रमाणम् । यथा, माघे । १२ । ११ ।
"नानाविधाविष्कृतसामजस्वर:
सहस्रवर्त्मा चपलैर्दुरध्यय: ।
गाम्भीर्यभूयिष्ठतया समानतां
स सामवेदस्य दधौ बलोदधि: ॥")
सामञ्जस्यं, क्ली, (समञ्जसस्य भाव: । समञ्जस + ष्यञ् ।) औचित्यम् ॥
सामनी, स्त्री, पशुबन्धनरज्जु: । इति रामशब्दटीकायां सारसुन्दरी ॥
सामन्त:, पुं, (समन्ताया: संलग्नैकदेशाया भूमेरयमिति । समन्ता + तस्येदमिति अण् । समन्तात् भव: । तत्र भव इति अण् वा ।) स्वविषयानन्तरराजा । सम् संलग्नोऽन्त एकदेशो यस्या: सा समन्ता स्वविषयानन्तरा भूमि: तस्या ईश्वरा इति धो सामन्ता: । इत्यमरटीकायां भरत: ॥ (यथा, रघु: । ५ । २८ ।
"सामन्तसम्भावनयैव धीर:
कैलासनाथं तरसा जिगीषु: ॥"
सीमान्तरभवे, त्रि । यथा, मनु: । ८ । २५८ ।
"साक्ष्यभावे तु चत्वारो ग्रामा: सामन्तवासिन: ।
सीमाविनिर्णयं कुर्यु: प्रयता राजसन्निधौ ॥"
"ग्रामसामन्ता: सीमान्तरवासिन: प्रत्यया: ।"
इति मेधातिथि: ॥ "समन्तभवा: सामन्तास्तन्निवासिनश्चत्वारो ग्रामवासिन: ।" इति तट्टीकायां कुल्लूक: ॥)
सामन्य:, पुं, (सामसु साधु: । सामन् + "तत्र साधु: ।" ४ । ४ । ९८ । इति यत् ।) सामवेदज्ञब्राह्मण: । (यथा, भट्टि: । ४ । ९ ।
"ऋग्यजुषमधीयानान् सामन्यांश्च समर्चयन् ।
जुहुवे देवतात्कृत्वा मूल्यमुक्षण्च होमवान् ॥")
सामयिक:, त्रि, (समय: प्राप्तोऽस्य । समय + "समयस्तदस्य प्राप्तम् ।" ५।१।१०४। इति ठञ् ।) समयोचित: । (यथा, याज्ञवल्क्ये । २ । १८९ ।
"निजधर्म्माविरोधेन यस्तु सामयिको भवेत् ।
सोऽपि यत्नेन संरक्ष्यो धर्म्मो राजकृतश्च य: ॥")
सामयोनि:, पुं, (साम्न: योनि: कारणम् ।) ब्रह्मा । (साम वेदभेद: योनि: कारणं यस्य ।) हस्ती । सामोत्थवस्तुनि, त्रि । इति मेदिनी ॥ (यथा, रघु: । १६ । ३ ।
"चतुर्भुजांशप्रभव: स तेषां
दानप्रवृत्तेरनुपारतानाम् ।
सुरद्विपानामिव सामयोनि-
र्भिन्नोऽष्टधा विप्रससार वंश: ॥")
सामर्थ्यं, क्ली, (समर्थस्य भाव: । समर्थ + ष्यञ् ।) योग्यता । (यथा, रामायणे । २ ।४३ । २० ।
"न हि मे जीविते किञ्चित् सामर्थ्यमिह कल्पते ।
अपश्यन्त्या: प्रियं पुत्त्रं लक्ष्मणञ्च महाबलम् ॥")
शक्ति: । इति मेदिनी ॥ (यथा, गीतायाम् । २ । ३६ ।

"अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिता: ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दु:खतरं नु किम् ॥")
सामवायिक:, पुं, (समवायान् समवैति । समवाय + "समवायान् समवैति ।" ४ । ४ । ४३ । इति ठक् ।) मन्त्री । इति हेमचन्द्र: ॥ समवायसम्बन्धिनि, त्रि ॥
सामाजिक:, पुं, (समाजं समवैतीति । समाज + "समवायान् समवैति ।" ४।४।४३। इति ठक् । यद्वा, समाजं रक्षतीति । "रक्षति ।" ४ । ४ । ३३ । इति ठक् ।) सभ्य: । इत्यमर: । २ । ७ । १६ ॥ (यथा, साहित्यदर्पणे । ३ । २२९ ।
"सामाजिकैस्ततो हास्यरसोऽयमनुभूयते ॥")
समाजसम्बन्धिनि सभासम्बन्धिनि च त्रि ॥ (यथा, साहित्यदर्पणे । ३ । ३९ ।
"ननु कथं रामादिरत्याद्युद्बोधकारणै: सीतादिभि: सामाजिकरत्याद्युद्बोध इत्युच्यते ॥")
सामान्यं, क्ली, (समान एव । स्वार्थे ष्यञ् ।) जाति: । यथा,—
"जातिर्जातञ्च सामान्यं व्यक्तिस्तु पृथगात्मिका ॥"
इत्यमर: । १ । ४ । ३० ॥
तद्द्विविधं यथा, भाषापरिच्छेदे ।
"सामान्यं द्विविधं प्रोक्तं परञ्चापरमेव च ।
द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु सत्ता परतयोच्यते ॥
परभिन्ना च या जाति: सैवापरतयोच्यते ।
व्यापकत्वात् परापि स्यात् व्याप्यत्वादपरापि च ।
द्रव्यत्वादिकजातिस्तु परापरतयोच्यते ॥"
तल्लक्षणं यथा । नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वम् । अनेकसमवेतत्वं संयोगादीनामप्यस्ति अत: सत्यन्तं नित्यत्वे सति समवेतत्वं गगनपरिमाणादीनामप्यस्ति अत उक्तं अनेकेति नित्यत्वे सति अनेकवृत्तित्वमत्यन्ताभावस्याप्यस्ति अतो वृत्तिसामान्यमुपेक्ष्य समवेतत्वमुक्तम् । एकव्यक्तिवृत्तिस्तु न जाति: । तथा चोक्तम् ।
"व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथानवस्थिति: ।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रह: ॥"
एकव्यक्तिकत्वात् आकाशत्वं न जाति: । तुल्यवृत्तिकत्वात् घटत्वं कलसत्वं न जातिद्वयम् । संकीर्णत्वात् भूतत्वं मूर्त्तत्वं न जाति: । अनवस्थाभयात् सामान्यत्वं न जाति: । विशेषस्य व्यावृत्तस्वभावस्य रूपहानि: स्यादतो विशेषत्वं न जाति: । समवायसम्बन्धाभावात् समवायो न जाति: । द्रव्यादित्रिकवृत्तिरिति परत्वं अधिकदेशवृत्तित्वं अपरत्वमल्पदेशवृत्तित्वम् । सकलजात्यपेक्षया अधिकदेशवृत्तित्वात् सत्ताया: परत्वम् । एतद्बोधनाय द्रव्यादीति । तदपेक्षया चान्यासां जातीनां अपरत्वम् । परभिन्ना सत्ताभिन्ना । व्यापकत्वात् परापि स्यात् व्याप्यत्वादपरापि च । पृथिवीत्वाद्यपेक्षया व्यापकत्वात् अधिकदेशवृत्तित्वात् द्रव्यत्वस्य परत्वम् । सत्तापेक्षया अल्पदेशवृत्तित्वाद्द्रव्यत्वस्य अपरत्वञ्च । तथा च धर्म्मद्वयसमावेशात् उभयमविरुद्धम् । इति सिद्धान्तमुक्तावली ॥ (सादृश्यम् । समा-

नत्वम्। यथा, महाभारते। १२। २२८। ४।
"सामान्यमृषिभिर्गत्वा ब्रह्मलोकनिवासिभिः।
ब्रह्मेवामिततेजस्वी शान्तपाप्मा महातपाः।
विचचार यथाकामं त्रिषु लोकेषु नारदः॥")
सामान्यं, त्रि, (समानस्य भावः। समान+ष्यञ्।) अनेकसम्बन्ध्येकवस्तु। साधारणम्। इत्यमरः। ३। १। ८२॥ यथा, देवलः।
"सामान्यं पुत्त्रकन्यानां मृतायां स्त्रीधनं विदुः।
अप्रजायां हरेद्भर्त्ता माता भ्राता पितापि वा॥"
इति दायतत्त्वम्॥
(यथा च कुमारे। ७। ४४।
"एकैव मूर्त्तिर्बिभिदे त्रिधा सा
सामान्यमेषां प्रथमावरत्वम्।
विष्णोर्हरस्तस्य हरिः कदाचित्
वेधास्तयोस्तावपि धातुराद्यौ॥")
सामान्यलक्षणा, स्त्री, (सामान्यं साधारणधर्म्मः लक्षणं यस्याः।) अलौकिकसन्निकर्षविशेषः। स तु आश्रयज्ञापकसामान्यज्ञानम्। यथा। एकघटदर्शने सकलघटज्ञानं भवति ईदृशघटत्वादिज्ञानम्। तत्प्रमाणं यथा, भाषापरिच्छेदे।
"अलौकिकः सन्निकर्षस्त्रिविधः परिकीर्त्तितः।
सामान्यलक्षणा ज्ञानलक्षणा योगजस्तथा॥
आसत्तिराश्रयाणान्तु सामान्यज्ञानमिष्यते।
तदिन्द्रियजतद्धर्म्मबोधसामग्र्यपेक्षते॥"
सामान्यशासनं, क्ली, (सामान्यं शासनम्।) सामान्याधिकारः। यथा,—
"महेन्द्रकोषौ स्याद्ब्रह्मशासनं धर्म्मकीलकः।
सामान्यशासनं सौरं सुकृतिः शूद्रशासनम्॥"
इति पुरवर्गे शब्दरत्नावली॥
सामान्या, स्त्री, (सामान्य+टाप्।) साधारणी नायिका। अस्या लक्षणम्। धनमात्रलाभार्थं सकलपुरुषाभिलाषा॥ सा त्रिधा। अन्यसम्भोगदुःखिता। वक्रोक्तिगर्व्विता। मानवती। वक्रोक्तिगर्व्वितापि द्विविधा। प्रेमगर्व्विता सौन्दर्य्यगर्व्विता च। एता नायिका अवस्थाभेदेन प्रत्येकं अष्टप्रकारा भवन्ति। यथा। प्रोषितभर्तृका १ खण्डिता २ कलहान्तरिता ३ विप्रलब्धा ४ उत्कण्ठिता ५ वासकसज्जा ६ स्वाधीनपतिका ७ अभिसारिका ८। इति रसमञ्जरी॥ (यथा च साहित्यदर्पणे। ३। १११—११२।
"धीरा कलाप्रगल्भा स्याद्वेश्या सामान्यनायिका।
निर्गुणानपि न द्वेष्टि न रज्यति गुणिष्वपि।
वित्तमात्रं समालोक्य सा रागं दर्शयेद् बहिः॥
काममङ्गीकृतमपि परिक्षीणधनं नरम्।
मात्रा निष्कासयेदेषा पुनः सन्धानकाङ्क्षया॥
तस्कराः पण्डका मूर्खाः सुखप्राप्तधनास्तथा।
लिङ्गिनश्छन्नकामाद्या आसां प्रायेण वल्लभाः॥
एषापि मदनासक्ता कापि सत्यानुरागिणी।
रक्तायां वा विरक्तायां रतमस्यां सुदुर्लभम्॥"
पण्डको वातरोगपण्डादिः। छन्नं प्रच्छन्नं ये कामयन्ते ते छन्नकामाः। तत्र रागहीना यथा नटकमेलकादौ मदनमञ्जर्य्यादिः। रक्ता यथा मृच्छकटिकादौ वसन्तसेनादिः। पुनश्च।
"अवस्थाभिर्भवन्त्यष्टावेताः षोडशभेदिताः॥
स्वाधीनभर्तृका तद्वत् खण्डिताथाभिसारिका॥
कलहान्तरिता विप्रलब्धा प्रोषितभर्तृका।
अन्या वासकसज्जा स्याद्विरहोत्कण्ठिता
तथा॥"
एतासां लक्षणानि तु तत्तच्छब्दे विशेषतो द्रष्टव्यानि॥)
सामि, व्य, अर्द्धम्। निन्दा। इत्यमरः।३।३।२४८॥
सामिकृतः, त्रि, अर्द्धीकृतः। सामिशब्दात् कृधातोः क्तप्रत्ययेन निष्पन्नः॥
सामिधेनी, स्त्री, (समिधां आधानी। समिध्+"सामिधामाधाने षेण्यण्।" ४। ३। १२०। इत्यस्य वार्त्तिकोक्त्या षेण्यण्। षित्वात् ङीष्।) अग्निसमिन्धना ऋक्। अग्नेर्ज्वालने या ऋक् पठ्यते। तत्पर्य्यायः। धाय्या २। इत्यमरः। २। ७। २२॥ (यथा, महाभारते।३।१३४।२६।
"नवैवोक्ताः सामधेन्यः पितॄणां
तथा प्राहुर्नवयोगं विसर्गम्॥"
समित्। इति मेदिनी॥
सामिपीतः, त्रि, अर्द्धपानकृतः। सामिशब्दात् पाधातोः क्तप्रत्ययेन निष्पन्नः॥
सामिभुक्तः, त्रि, अर्द्धभुक्तः। सामिशब्दात् भुजधातोः क्तप्रत्ययेन निष्पन्नः॥ (यथा, रघुः। १९। १६।
"वल्लभाभिरुपसृत्य चक्रिरे
सामिभुक्तविषयाः समागमाः॥")
सामीची, स्त्री, वन्दना। इति हारावली॥
सामीप्यं, क्ली, (समीपस्य भावः। समीप+चतुर्वर्णादित्वात् ष्यञ्।) समीपत्वम्। नैकट्यम्। यथा,—
"वः कसामीप्यसादृश्यवाक्याशुक्रमर्हिषु॥"
इति मुग्धबोधव्याकरणम्॥
अधिकरणविशेषः। आधारभेदः। यथा,—
"सामीप्याश्लेषविषयैर्व्याप्त्याधारश्चतुर्व्विधः।"
इति कारके मुग्धबोधव्याकरणम्॥
सामुद्रं, क्ली, (समुद्रे भवम्। अण्।) समुद्रलवणम्। इति हेमचन्द्रः॥ करकच् इति भाषा। तत्पर्य्यायः।
"सामुद्रं यत्तु लवणं त्रिकूटं काड़कञ्च तत्॥"
इति रत्नमाला॥
अस्य गुणाः।
"सामुद्रं लवणं पाके नात्युष्णमविदाहि च।
भेदनं मधुरं स्निग्धं शूलघ्नं नातिपित्तलम्॥"
इति राजवल्लभः॥
अन्यत् समुद्रलवणशब्दे द्रष्टव्यम्॥ * ॥ समुद्रफेनम्। इति राजनिर्घण्टः॥ (समुद्रेण ऋषिणा प्रोक्तमिति। अण्।) देहचिह्नम्। इति मेदिनी॥ (तल्लक्षणान्वितग्रन्थविशेषः। इति केचित्॥) समुद्रजाते, त्रि। इति च मेदिनी॥ (पुं, समुद्रगामी वणिक्। यथा, याज्ञवल्क्ये। २। ३८।
"कान्तारगास्तु दशकं सामुद्रा विंशकं शतम्।
दद्युर्व्वा स्वकृतां वृद्धिं सर्व्वे सर्व्वासु जातिषु॥"
मशकविशेषः। यथा, सुश्रुते। ५। ८।
"मशकाः सामुद्रः परिमण्डलो हस्तिमशकः कृष्णः पार्व्वतीय इति पञ्च तेर्दष्टस्य तीव्रकण्डूर्दंशः शोफश्च। पार्व्वतीयस्तु कीटैः प्राणहरैस्तुल्यलक्षणः॥" * ॥ देशविशेषः। यथा, मार्कण्डेये। ५८। १३।
"प्राग्ज्योतिषाः सलौहित्याः सामुद्राः पुरुषादकाः।

*   *   *   *

वर्द्धमानाः कोशलाश्च मुखे कूर्म्मस्य संस्थिताः॥")
सामुद्रकं, क्ली, (सामुद्रमेव। स्वार्थे कन्।) समुद्रलवणम्। इति राजनिर्घण्टः॥ समुद्रोक्तस्त्रीपुंलक्षणग्रन्थः। तद्विवरणं यथा,—
श्रीकृष्ण उवाच।
"कीदृशः पुरुषो वन्द्योऽवन्द्यो वा कीदृशो भवेत्।
कन्या वा कीदृशी शस्ता गर्हिता वापि
कीदृशी॥
महेश उवाच।
शृणु कृष्ण प्रवक्ष्यामि समुद्रवचनं यथा।
लक्षणन्तु मनुष्याणां एकैकेन वदाम्यहम्॥
वामभागे तु नारीणां दक्षिणे पुरुषस्य च।
निर्द्दिष्टं लक्षणं तेषां समुद्रेण यथोदितम्॥
पूर्व्वमायुः परीक्षेत पश्चाल्लक्षणमेव च।
आयुर्हीनं नराणाञ्चेत् लक्षणैः किं प्रयोजनम्॥"
अथ पुरुषलक्षणम्।
"पञ्चदीर्घं चतुर्ह्रस्वं पञ्चसूक्ष्मं षडुन्नतम्।
सप्तरक्तं त्रिगम्भीरं त्रिविशालं प्रशस्यते॥
बाहुर्नेत्रद्वयं कुक्षी द्वौ तु नासा तथैव च।
स्तनयोरन्तरञ्चैव पञ्चदीर्घं प्रशस्यते॥
ग्रीवाथ कर्णौ पृष्ठञ्च ह्रस्वे जङ्घे सुपूजिते।
चत्वारि यस्य ह्रस्वानि पूजां प्राप्नोति नित्यशः॥
सूक्ष्माण्यङ्गुलिपर्व्वाणि दन्तकेशनखत्वचः।
पञ्च सूक्ष्माणि येषां हि ते नरा दीर्घजीविनः॥
नासा नेत्रञ्च दन्ताश्च ललाटञ्च शिरस्तथा।
हृदयञ्चैव विज्ञेयमुन्नतं षट् प्रशस्यते॥
पाणिपादतलौ रक्तौ नेत्रान्तरनखानि च।
तालुकोऽधरजिह्वा च सप्तरक्तं प्रशस्यते॥
स्वरो बुद्धिश्च नाभिश्च त्रिगम्भीरमुदाहृतम्।
उरः शिरो ललाटञ्च त्रिविस्तीर्णं प्रशस्यते॥
कटिर्विशाला बहुपुत्त्रभागी
विशालहस्तो नरपुङ्गवः स्यात्।
उरो विशालं धनधान्यभागी
शिरो विशालं नरपूजितः स्यात्॥
न श्रीस्त्यजति रक्ताङ्गं नार्थः कनकपिङ्गलम्।
दीर्घबाहुं न चैश्वर्य्यं न मांसोपचितांसकम्॥'
कदाचिद्दन्तुरो मूर्खः कदाचित् लोमशः सुखी।

 सामुद्र सामुद्र

कदाचित् तुन्दिलो दुःखी कदाचित् चञ्चला सती ॥
नेत्रस्नेहेन सौभाग्यं दन्तस्नेहेन भोजनम् ।
त्वक्स्नेहेन चैश्वर्य्यं पादस्नेहेन वाहनम् ॥
अकर्म्मकठिनौ हस्तौ पादावध्वनि कोमलौ ।
यस्य पाणितलौ रक्तौ तस्य राज्यं विनिर्द्दिशेत् ॥
दीर्घलिङ्गेन दारिद्र्यं स्थूललिङ्गेन निर्धनः ।
कृशलिङ्गेन सौभाग्यं ह्रस्वलिङ्गेन भूपतिः ॥
रेखाभिर्ब्बहुभिर्दुःखं स्वल्पाभिर्धनहीनता ।
रक्ताभिः श्रियमाप्नोति कृष्णाभिः प्रेष्यतां व्रजेत् ॥
अङ्गुष्ठोदरमध्ये तु यवो यस्य विराजितः ।
उत्तमं भोजनं तस्य शतं जीवति मानवः ॥
अङ्कुशं कुलिशं छत्रं यस्य पाणितले भवेत् ।
तस्यैश्वर्य्यं विनिर्द्दिष्टं अशीत्यायुर्भवेद्ध्रुवम् ॥
धनुर्यस्य भवेत् पाणौ पङ्कजं वाथ तोरणम् ।
तस्यैश्वर्य्यञ्च राज्यञ्च अशीत्यायुर्भवेद्ध्रुवम् ॥
कनिष्ठातर्जनीं यावद्रेखा भवति चाव्यता ।
विंशत्यब्दाधिकशतं नरो जीवत्यनामयः ॥
कनिष्ठामध्यमां यावद्रेखा भवति चाव्यता ।
शताब्दं वाथ वाशीतिं नरो जीवेन्न संशयः ॥
कनिष्ठानामिकायाञ्चेत् रेखा भवति चाव्यता ।
षष्टिं पञ्चाशदब्दं वा नरा जीवन्त्यसंशयम् ॥
रेखया भिद्यते रेखा स्वल्पायुश्च भवेन्नरः ।
कनिष्ठाधःस्थिता रेखाः संख्या यावतिकाः स्मृताः ।
तावती पुरुषाणान्तु नारी भवति निश्चितम् ॥
करमध्यगता रेखा ध्रुवा ऊर्द्ध्वभवेद् यदि ।
नृपो वा नृपतुल्यो वा चिरं ख्यातोऽर्थवान् भवेत् ॥
मत्स्यपुच्छप्रकीर्णेन विद्यावित्तसमन्वितः ।
पितामहस्य वा किञ्चिद्धनञ्च लभते ध्रुवम् ॥
मध्यमायां यदि यवा दृश्यन्तेऽत्यन्तशोभनाः ।
तदान्यसञ्चितं वित्तं प्राप्नोत्यङ्गुष्ठके यवे ॥
यस्याथ चक्रमङ्गुष्ठे यवः पूर्णश्च दृश्यते ।
तदा पितामहादीनामर्ज्जितं धनमाप्नुयात् ॥
तर्ज्जन्यामथ चक्रञ्च मित्रद्वारा धनम्भवेत् ।
तेनैव विपरीतन्तु व्ययो भवति निश्चितम् ॥
मध्यमायां स्थिते चक्रे देवद्वारा धनं लभेत् ।
तेनैव विपरीतन्तु व्ययो भवति निश्चितम् ॥
अनामिकायां भवेच्चक्रं सर्व्वदारा भवेद्धनम् ।
तेनैव विपरीतन्तु व्ययो भवति निश्चितम् ॥
कनिष्ठायां भवेच्चक्रं वाणिज्येन धनं भवेत् ।
तेनैव विपरीतन्तु व्ययो भवति निश्चितम् ॥
ललाटे दृश्यते यस्य चक्ररेखाचतुष्टयम् ।
अशीत्यायुः समाप्नोति पञ्चरेखाः शतं समाः ॥
यस्योन्नतं ललाटञ्च ताम्रवर्णञ्च दृश्यते ।
रेखाहीनञ्च कान्तञ्च स चोन्मत्तो महीं भ्रमेत् ॥
यस्य जिह्वा भवेद्दीर्घा नासाग्रं लेढि सर्व्वदा ।
योगी भवति निर्व्वाणः पृथ्वीं भ्रमति सर्व्वदा ॥
दन्ताश्च विरला यस्य गण्डे कूपोऽपि जायते ।
परस्त्रीरमणो नित्यं परवित्तेन वित्तवान् ॥
कार्कश्यैः कठिनैर्लिङ्गैः प्रमाणान्निर्गतैः सदा ।
रमते च सदा दासीं निर्धनो भवति ध्रुवम् ॥

कृशलिङ्गेन सूक्ष्मेण रक्तवर्णेन भूपतिः ।
बहुस्त्रीरमणो नित्यं नारीणां वल्लभो भवेत् ॥
यस्य पादतले पद्मं चक्रं वाप्यथ तोरणम् ।
अङ्कुशं कुलिशं वापि स राजा भवति ध्रुवम् ॥
कृशातिलोमशा ये स्युः केकराक्षाः कुचेलकाः ।
कातरं थालजिह्वाश्च ते दरिद्रा न संशयः ॥
कपिला मलिनाङ्गाश्च ह्रस्वाश्चैव दृढनखाः ।
कृशातिदीर्घा मनुजास्ते दरिद्रा न संशयः ॥
चिबुके श्मश्रुशून्या ये निर्लोमहृदयाश्च ये ।
ते धूर्त्ता नैव सन्देहः समुद्रवचनं यथा ॥
सूचीमुखा भग्नपृष्ठाः कृशदन्ताः कुचेलकाः ।
वक्रनासा वक्रनासास्ते नरा दुष्टमानसाः ॥
दयावन्तश्च दातारो रूपवन्तो जितेन्द्रियाः ।
परोपकारिणश्चैव तेऽपूर्व्वा मानवाः स्मृताः ॥”
इति पुरुषलक्षणम् ॥ * ॥

अथ स्त्रीलक्षणम् ।

“यस्याः पादतले रेखा सा भवेत् क्षितिपाङ्गना ।
भवेदखण्डभोगा च या मध्याङ्गुलिसङ्गता ॥
उन्नतो मांसलोऽङ्गुष्ठो वर्त्तुलोऽतुलभोगदः ।
वक्रो ह्रस्वश्च चिपिटः सुखसौभाग्यभञ्जकः ॥
दीर्घाङ्गुलीभिः कुलटा कृशाभिरतिनिर्धना ।
ह्रस्वाभिः स्याच्च ह्रस्वायुः भग्नाभिर्भग्नवर्त्तिनी ॥
चिपिटाभिर्भवेद्दासी विरलाभिर्दरिद्रिणी ।
परस्परं समारूढा यदाङ्गुल्यो भवन्ति हि ॥
हत्वा बहूनपि पतीन् परप्रेष्या तदा भवेत् ।
स्निग्धा समुन्नतास्ताम्रा वृत्ताः पादनखाः शुभाः ॥
राज्ञीत्वसूचकं स्त्रीणां पादपृष्ठं समुन्नतम् ।
समपार्ष्णिः शुभा नारी पृथुपार्ष्णिः सुदुर्भगा ॥
कुलटोन्नतपार्ष्णिः स्यात् दीर्घपार्ष्णिश्च दुःखभाक् ।
रोमहीने समे स्निग्धे जङ्घे च क्रमवर्त्तुले ॥
सा राजपत्नी भवति विशिरे सुमनोहरे ।
वृत्तं पिशितसंलग्नं जानुयुग्मं प्रशस्यते ॥
निर्म्मांसं स्वैरचारिण्या दरिद्रायाश्च विश्लथम् ।
विशिरैः करभाकारैरूरुभिर्मसृणैर्घनैः ।
सुवृत्तै रोमरहितैर्भवेयुर्भूपवल्लभाः ॥
चतुर्भिरङ्गुलैः शस्ता कटिर्विंशतिसंयुतैः ।
समुन्नतनितम्बाढ्या चतुरस्रा मृगीदृशाम् ॥
नितम्बबिम्बो नारीणां उन्नतो मांसलः पृथुः ।
महाभोगाय संप्रोक्तः तदन्योऽशर्म्मणाय च ॥
गम्भीरा दक्षिणावर्त्ता नाभिः स्यात् सुखसम्पदे ।
वामावर्त्ता समुत्ताना व्यक्तग्रन्थी न शोभना ॥
उदरेणाभितुच्छेन विशिरेण मृदुत्वचा ।
योषित् भवति भोगाढ्या नित्यमिष्टान्नसेविनी ॥
कुम्भाकारं दरिद्राया जठरञ्च मृदङ्गवत् ।
कुष्माण्डाभं यवाभञ्च दुष्पूरं जायते स्त्रियाः ॥
निर्लोम हृदयं यस्याः समं निम्नत्ववर्जितम् ।
ऐश्वर्य्यं चाप्यवैधव्यं प्रियप्रेमा च सा भवेत् ॥
घनौ वृत्तौ दृढौ पीनौ समौ शस्तौ पयोधरौ ।
स्थूलाग्रौ विरलौ शुष्कौ वामोरूणां न शर्म्मदौ ॥
दक्षिणोन्नतवक्षोजा पुत्त्रिणीष्वग्रणीर्मता ।

वामोन्नतकुचा सूते कन्यां सौभाग्यसुन्दरीम् ॥
मूले स्थूलौ क्रमकृशावग्रे तीक्ष्णौ पयोधरौ ।
सुखदौ बाल्यकाले तु पश्चादत्यन्तदुःखदौ ॥
अम्भोजमुकुलाकारमङ्गुष्ठाङ्गुलिसम्मुखम् ।
हस्तद्वयं मृगाक्षीणां बहुभोगाय जायते ॥
मृदुमध्योन्नतं रक्तं तलं पाण्योररन्ध्रकम् ।
प्रशस्तं शस्तरेखाढ्यमल्परेखं शुभप्रदम् ॥
विधवा बहुरेखेण विरेखेण दरिद्रिणी ।
भिक्षुकी सुशिराढ्येन नारी करतलेन वै ॥
मत्स्येन सुभगा नारी स्वस्तिकेन च सुप्रजा ।
पद्मेन भूपतेः पत्नी जनयेत् भूपतिं सुतम् ॥
चक्रवर्त्तिस्त्रियाः पाणौ नन्द्यावर्त्तप्रदक्षिणः ।
शङ्खातपत्रकमठा राजमातृत्वसूचकाः ॥
कृषीवलस्य पत्नी स्याच्छकटेन युगेन वा ।
चामराङ्कुशकोदण्डैः राजपत्नी भवेद् ध्रुवम् ॥
अङ्गुष्ठमूलान्निर्गत्य रेखा याति कनिष्ठिकाम् ।
यदि स्यात् पतिहन्त्री सा दूरतस्तां त्यजेत् सुधीः ॥
त्रिशूलासिगदाशक्तिदुन्दुभ्याकृतिरेखया ।
नितम्बिनी कीर्त्तिमती करेण पृथिवीतले ॥
पाटलो वर्त्तुलः स्निग्धो रेखाभूषितमध्यभूः ।
सीमन्तिनीनामधरो राज्ञां चैव प्रियो भवेत् ॥
श्यामः स्थूलोऽधरोष्ठः स्यात् वैधव्यकलहप्रदः ।
मसृणो मत्तकाशिन्याश्चोत्तरोष्ठः सुभोगदः ॥
पीताः श्यामाश्च दशनाः स्थूला दीर्घा द्विपङ्क्तयः ।
शुक्त्याकाराश्च विरला दुःखदौर्भाग्यकारणम् ।
अधस्तादधिकैर्दन्तैर्मातरं भक्षयेत् स्फुटम् ॥
पतिहीना च विकटैः कुलटा विरलैर्भवेत् ।
समवृत्तपुटा नासा लघुच्छिद्रा शुभावहा ॥
स्थूलाग्रा मध्यनम्रा च न प्रशस्ता समुन्नता ।
ललना लोचने शस्ते रक्तान्ते कृष्णतारके ॥
गोक्षीरवर्णविशदे सुस्निग्धे कृष्णपक्ष्मणी ।
उन्नताक्षी न दीर्घायुः वृत्ताक्षी कुलटा भवेत् ॥
मेषाक्षी महिषाक्षी च केकराक्षी न शोभना ।
कामग्रहीता नितरां गोपिङ्गाक्षी सुदुर्म्मदा ॥
पारावताक्षी दुःशीला रक्ताक्षी भर्त्तृघातिनी ।
कोटरानयना दुष्टा गजनेत्रा न शोभना ॥
पुंश्चली वामकाणाक्षी वन्ध्या दक्षिणकाणिका ।
मधुपिङ्गाक्षी रमणी धनधान्यसमृद्धिभाक् ।
प्रलम्बमलिकं यस्या देवरं हन्ति सा ध्रुवम् ॥
रोमशेन शिरालेन प्रांशुना रोगिणी मता ॥
स्थूलमूर्द्धा च विधवा दीर्घशीर्षा च बन्धकी ।
विशालेनापि शिरसा भवेद्दौर्भाग्यभाजनम् ॥
केशा अलिकुलच्छायाः स्निग्धाः सूक्ष्माः सुकोमलाः ।
किञ्चिदाकुञ्चिताग्राश्च कुटिलाश्चातिशोभनाः ॥
भ्रुवोरन्ते ललाटे वा मशको राज्यसूचकः ।
वामे कपोले मशकः शोणो मिष्टान्नदः शुभः ॥
तिलकं लाञ्छनं वापि हृदि सौभाग्यकारणम् ।
यस्या दक्षिणवक्षोजे भवेत् तिलकलाञ्छनम् ॥
कन्याचतुष्टयं सूते सूते सा च सुतद्वयम् ।

तिलकं लाञ्छनं शोणं यस्या वामकुचे भवेत् ।
एकं पुत्रं प्रसूयादौ अन्ते च विधवा भवेत् ।
गुह्यस्य दक्षिणे भागे तिलकं यदि योषितः ॥
तदा क्षितिपतेः पत्नी सूते च क्षितिपं सुतम् ।
नासाग्रे मशकः शोणो महिष्या एव जायते ॥
कृष्णः स एव भर्तृघ्न्याः पुंश्चल्या वा प्रकी-
र्त्तितः ।
नाभेरधस्तात् तिलकं मशको लाञ्छनं शुभम् ॥
मशकस्तिलकं चिह्नं गुल्फदेशे दरिद्रकृत् ॥
सुलक्षणापि दुःशीला कुलक्षणशिरोमणिः ॥
कुलक्षणापि या साध्वी सर्व्वलक्षणभूस्तु सा ।
कृष्णा कपिलकेशी च मिलितभ्रूकुटिस्तथा ।
गमनं सत्वरञ्चैव त्यक्तव्या स्यात् सदा बुधैः ॥
यस्या गमनमात्रेण भूमौ कम्पः प्रजायते ।
मङ्गाशिनीं प्रलोभाच्च तां नारीं परिवर्जयेत् ॥
विरला दशना यस्याः कृष्णोष्ठी कृष्णजिह्विका ।
भर्त्तारं प्रथमं हन्ति द्वितीयञ्चैव विन्दति ॥
अङ्गुली विरला यस्याः सलोमा गात्रकर्कशा ।
भेका भेकस्तनी शुभ्रा दूरतः परिवर्जयेत् ॥
त्रीणि यस्याः प्रलम्बानि ललाटं उदरं भगम् ।
त्रीणि सा भक्षयेन्नारी श्वशुरं देवरं पतिम् ॥
ललाटे श्वशुरं हन्यात् जठरे देवरं तथा ।
भगाच्च हन्याद्भर्त्तारं महादोषास्त्रयः स्मृताः ॥
यस्या अत्युत्कटं नार्य्या वक्षश्च विस्तृतं भवेत् ।
उत्तरोष्ठे च लोमानि शीघ्रं सा भक्षयेत्
पतिम् ॥
चरणानामिका यस्याः क्षितिं न स्पृशते यदि ।
द्वितीया वा तृतीया वा सा कन्या सुख-
वर्ज्जिता ॥
नासाग्रे दृश्यते यस्याः तिलकं मशकोऽपि च ।
कृष्णदन्ता कृष्णजिह्वा दशाहेन पतिं हरेत् ॥
सूक्ष्मकेशा तु या कन्या गौरवर्णा च या भवेत् ।
अष्टौ जनयते पुत्त्रान् प्राप्नोति विपुलं सुखम् ॥”
इति सामुद्रके स्त्रीलक्षणं समाप्तम् ॥
(समुद्रसम्बन्धिनि, त्रि । यथा, महाभारते ।
५ । ३५ । ४४ ।
“सामुद्रकं वाणिजकञ्च चौरं
शलाकधूर्त्तञ्च चिकित्सकञ्च ।
अरिञ्च मित्रञ्च कुशीलवञ्च
नैतान् साक्ष्ये त्वधीकुर्व्वीत सप्त ॥”)
सामुद्रिकः, त्रि, (समुद्रेण प्रोक्तं शास्त्रमधीते
वेत्तीति वा । ठञ् ।) स्त्रीपुंसचिह्नवेत्ता । इति
हारावली ॥ समुद्रसम्बन्धी च ॥ (यथा, महा-
भारते । १२ । १६६ । २ ।
“सामुद्रिकान् स वणिजस्ततोऽपश्यत् स्थितान्
पथि ।
स तेन सह सार्थेन प्रययौ सागरं प्रति ॥”)
साम्नी, स्त्री, वैदिकच्छन्दोविशेषः । इति केचित् ॥
साम्परायिकं, क्ली, (संपरायाय विपदे प्रभव-
तीति । संपराय+“तस्मै प्रभवति सन्तापा-
दिभ्यः ।” ५ । १ । १०१ । इति ठञ् ।) युद्धम् ।
इत्यमरः । २ । ८ । १०४ ॥ (सम्पराये उत्तर-
काले हितम् । सम्पराय+ठक् ।) पार-
लौकिके, त्रि । यथा,—
“प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्त्तते ।
न साम्परायिकं तस्य दुर्म्मतेर्व्विद्यते फलम् ॥”
इति मनुः । ११ । ३० ।
(सम्परायं युद्धमर्हतीति । तदर्हतीति ठक् ।
युद्धार्हे, त्रि । यथा, रघुः । १७ । ६२ ।
“पित्रा संवर्द्धितो नित्यं कृतास्त्रः साम्परायिकः ।
तस्य दण्डवतो दण्डः स्वदेहान्न व्यशिष्यत ॥”)
साम्प्रतं, व्य, (सम् च प्रति च द्वयोः समाहारः ।
ततः प्रज्ञाद्यण् ।) युक्तम् । (यथा, कुमारे ।
२ । ५५ ।
“इतः स दैत्यः प्राप्तश्रीर्नेत एवार्हति क्षयम् ।
विषवृक्षोऽपि संवर्द्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम् ॥”)
इदानीम् । इत्यमरः । ३ । ४ । ११ ; २३ ॥
(यथा, ऋतुसंहारे । १ । ७ ।
“सचन्दनाम्बुव्यजनोद्भवानिलैः” ...
“समुद्गतस्वेदचिताङ्गसन्धयो
विमुच्य वासांसि गुरूणि साम्प्रतम् ।
स्तनेषु तन्वंशुकमुन्नतस्तना
निवेशयन्ति प्रमदाः सयौवनाः ॥”*॥
सम्प्रति भवं साम्प्रतम् । अण् । इदानीन्तने,
त्रि । यथा, हरिवंशे । ६ । १६ ।
“वैवस्वतेऽन्तरे चास्मिन् साम्प्रते समुपस्थिते ।
वैण्यात् प्रभृति राजेन्द्र सर्व्वस्यैतस्य सम्भवः ॥”
तथाच तत्रैव । ७ । ३७ ।
“मनोर्वैवस्वतस्यैते वर्त्तन्ते साम्प्रतेऽन्तरे ।
इक्ष्वाकुप्रमुखाश्चैव दशपुत्त्रा महात्मनः ॥”
तथाच तत्रैव । ८ । ४३ ।
“तस्य ते कीर्त्तयिष्यामि मनोर्वैवस्वतस्य ह ।
विसर्गं भरतश्रेष्ठ साम्प्रतस्य महाद्युतेः ॥”)
साम्ब, क सम्बन्धे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (चुरा०-
पर०-सक०-सेट् ।) ओष्ठ्यवर्गशेषोपधः ।
द्वितीयस्वरी । क, साम्बयति धनं लोकः संब-
ध्नाति इत्यर्थः । इति दुर्गादासः ॥
साम्बरं, क्ली, (सम्बरदेशे भवम् । अण् ।) गड-
लवणम् । यथा,—
“गडादिलवणं शुभ्रं रुध्वीजं गडदेशजम् ।
गडोत्थञ्च महारम्भं साम्बरं सम्बरोद्भवम् ॥”
इति राजनिर्घण्टः ॥
साम्बरी, स्त्री, (सम्बरेण कृता । सम्बर+अण्+
ङीष् ।) माया । यथा,—
“शाम्बरी साम्बरी माया मायाकृच्छ्रिक्षुके नटे ।”
इति शब्दरत्नावली ॥
साम्भवी, स्त्री, रक्तलोध्रः । इति शब्दचन्द्रिका ॥
साम्मातुरः, पुं, (सम्मातुरपत्यं पुमान् । सम्मातृ+
“मातुरुत्संख्यासंभद्रपूर्व्वायाः ।” ४।१।११५। इति
अण् । उकारश्च ।) सतीतनयः । तत्पर्य्यायः ।
भाद्रमातुरः २ । इति हेमचन्द्रः । ३ । २२० ॥
साम्यं, क्ली, (समस्य भावः । सम+ष्यञ् ।)
समता । तुल्यत्वम् । यथा,—
“चाण्डालान्त्यस्त्रियो गत्वा भुक्त्वा च प्रति-
गृह्य च ।
पतत्यज्ञानतो विप्रो ज्ञानात् साम्यन्तु गच्छति ॥”
इति प्रायश्चित्ततत्त्वम् ॥
साम्यन्त्वेकस्थानत्वम् । इति मुग्धबोधव्याक-
रणम् ॥ (साम्यावस्थापन्ने, त्रि । यथा, भाग-
वते । ८ । ३ । १२ ।
“नमः शान्ताय घोराय मूढाय गुणधर्म्मिणे ।
निर्व्विशेषाय साम्याय नमो ज्ञानघनाय च ॥”)
साम्राज्यं, क्ली, (सम्राजो भावः । ष्यञ् ।)
समस्तराज्यम् । (यथा, रघुः । ४ । ५ ।
“छायामण्डललक्ष्येण तमदृश्या किल स्वयम् ।
पद्मा पद्मातपत्रेण भेजे साम्राज्यदीक्षितम् ॥”)
दशलक्षाधिपत्यम् । यथा,—
“लक्षाधिपत्यं राज्यं स्यात् साम्राज्यं दश-
लक्षके ।
शतलक्षे महेशानि महासाम्राज्यमुच्यते ॥”
इति वरदातन्त्रे २ पटलः ॥
साम्राणिकर्द्दमं, क्ली, जवादिनामकगन्धद्रव्यम् ।
इति राजनिर्घण्टः ॥
साम्राणिजं, क्ली, महापारेवतम् । इति राज-
निर्घण्टः ॥
सायं, व्य, (स्यति समापयति दिनमिति । षो+
बाहुलकात् णम् । युगागमश्च ।) सायाह्नः ।
इत्यमरः । ३ । ४ । १६ ॥ सन्ध्या । इति राज-
राजनिर्घण्टः ॥ तथा,—
“दिनान्ते पुंसि सायः स्यात् सायाह्ने साय-
मव्ययम् ।”
इति शब्दार्णवः ॥
(यथा, रघुः । १ । ४८ ।
“सदुष्मापयशाः प्रापदाश्रमं श्रान्तवाहनः ।
सायं संयमिनस्तस्य महर्षेर्म्महिषीसखः ॥”)
सायंकालः, पुं, (सायं सायाह्नः कालः ।)
सायाह्नः । सायंसन्ध्यासमयः । यथा, स्मृति-
सागरधृतमत्स्यसूक्तम् ।
“ज्येष्ठा वाप्यथवा षष्ठी सायंकाले न चेद्भवेत् ।
सायमेव तथापि स्याद्बिल्वशाखाभिमन्त्रणम् ॥”
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥
सायंसन्ध्या, स्त्री, (सायं सायाह्ने या सन्ध्या ।)
सायंकालोपास्या देवता । सायंकालकर्त्तव्यो-
पासना । सायंसन्ध्योपासनाकालश्च । तत्प्रमाणं
सन्ध्याशब्दे द्रष्टव्यम् । पश्चिमा सन्ध्या । तस्या
उत्पत्तिर्यथा,—
मार्कण्डेय उवाच ।
“नारायणः स्वयं सन्ध्यां पस्पर्शाथाग्रपाणिना ।
ततः पुरोडाशमयं तच्छरीरमभूत् क्षणात् ॥
महामुनेर्म्महायज्ञे तस्मिन् विश्वोपकारिणि ।
नाग्निः क्रव्यादतां यातीत्येतदर्थं तथा कृतम् ॥
एवं कृत्वा जगन्नाथस्तत्रैवान्तरधीयत ।
सन्ध्याप्यगच्छद्यत्रेजे तत्र मेधातिथिर्म्मुनिः ॥
अथ विष्णोः प्रसादेन केनाप्यनुपलक्षिता ।
प्रविवेश तदा यज्ञं सन्ध्या मेधातिथेर्मुनेः ॥
वशिष्ठेन पुरा या तु वर्णीभूता तु सा सुता ।
उपदिष्टा तपश्चर्त्तुं वचनात् परमेष्ठिनः ॥

तमेव ज्ञात्वा मनसि तपश्चर्य्योपदेशकम् ।
प्रतिज्ञेन तदा सन्ध्या ब्राह्मणं ब्रह्मचारिणम् ॥
समिद्धेऽग्नौ महायज्ञे मुनिभिर्नोपलक्षिता ।
तदा विष्णोः प्रसादेन सा विवेश विधेः सुता ॥
तस्याः पुरोडाशमयं शरीरं तत्क्षणात्ततः ।
दग्धं पुरोडाशगन्धं व्यस्तारयदलक्षितम् ॥
वह्निस्तस्याः शरीरं तद्दग्ध्वा सूर्य्यस्य मण्डले ।
शुद्धं प्रवेशयामास विष्णोरेवाज्ञया पुनः ॥
सूर्य्यो द्विधा विभज्याथ तत्शरीरं तदा रथे ।
स्वके संस्थापयामास प्रीतये पितृदेवयोः ॥
यदूर्द्धभागं तस्यास्तु शरीरस्य द्विजोत्तमाः ।
प्रातःसन्ध्याभवत् सा तु अहोरात्रादिमध्यगा ॥
यच्छेषभागस्तस्यास्तु अहोरात्रान्तमध्यगा ।
सा सायमभवत् सन्ध्या पितृप्रीतिप्रदा सदा ॥
सूर्य्योदयाच्च प्रथमं यदा स्यादरुणोदयः ।
प्रातःसन्ध्या तदोदेति देवानां प्रीतिकारिणी ॥
अस्तं गते ततः सूर्य्ये शोणपद्मनिभा सदा ।
उदेति सायंसन्ध्या सा पितृणां मोदकारिणी ॥"
इति श्रीकालिकापुराणे अरुन्धतीजन्मकथने २२ अध्यायः ॥

सायंसन्ध्यादेवता, स्त्री, (सायंसन्ध्याया देवता ।) सरस्वती । इति कविकल्पलता ॥

सायः, पुं, (स्यति समापयति दिनमिति । सो + श्याद्व्यधेति णः । ततो युगागमः ।) दिनान्तः । इत्यमरः । १ । ४ । ३ ॥ बाणः । इति मेदिनी ॥ सायोत्सवौ विकालके । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सा(शा)यकः, पुं, (स्यति छिनत्तीति । सो + ण्वुल् + युक् ।) बाणः । (यथा, रामायणे । २ । ३१ । ३० ।
"अभेद्ये कवचे दिव्ये तूणी चाक्षय्यसायकौ ॥")
खड्गः । इत्यमरः । ३।३।२ ॥ (यथा, महाभारते । ४ । ४० । १४ ।
"कस्य पाञ्चनखे कोषे सायको हेमविग्रहः ।
प्रमाणरूपसम्पन्नः पीत आकाशसन्निभः ॥"
पञ्चमसंख्या । यथा, साहित्यदर्पणे । ४ । २६४ ।
"सङ्करेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया ।
वेदखाग्निशराः शुद्धैरिषुबाणाग्निसायकाः ॥")

सायकपुङ्खा, स्त्री, (सायकस्य पुङ्ख इव पुङ्खो यस्याः ।) शरपुङ्खा । इति राजनिर्घण्टः ॥ (सायकस्य पुङ्खे, पुं । यथा, रघुः । २ । ३१ ।
"सक्ताङ्गुलिः सायकपुङ्ख एव
चित्रार्पितारम्भ इवावतस्थे ॥")

सायन्तनः, त्रि, (सायं भवः । सायम् + "सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च ।" ४ । ३ । २३ । इति ट्युल् तुट् च ।) सायंकालभवः । यथा,—
"सन्ध्यां सायन्तनीं कुर्य्यात् द्वादश्यादिष्वपि प्रिये ।
अकुर्व्वन्निरयं याति यतो नित्यागमक्रिया ॥"
इति इन्द्रनीलतन्त्रे प्रथमपटलः ॥

सायाह्नः, पुं, (सायमह्नः । "संख्याविसायेति ।" ६ । ३ । ११० । ज्ञापकात् समासः ।) पञ्चधाविभक्तदिनपञ्चमांशः । दिवसस्य शेषमुहूर्त्तत्रयम् । यथा,—
"प्रातःकालो मुहूर्त्तांस्त्रीन् सङ्गवस्तावदेव तु ।
मध्याह्नस्त्रिमुहूर्त्तः स्यादपराह्णस्ततः परम् ॥
सायाह्नस्त्रिमुहूर्त्तः स्यात् श्राद्धं तत्र न कारयेत् ।
राक्षसी नाम सा वेला गर्हिता सर्व्वकर्म्मसु ॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥
तत्पर्य्यायः ।
"सायो दिनान्तः सायाह्नो विकालः सायमेव च ।"
इति शब्दरत्नावली ॥

सायिका, स्त्री, क्रमस्थितिः । इति शब्दरत्नावली ॥

सायी, [न्] पुं, (साययति नाशयति गतिक्लेशमिति । सै क्षये + णिनिः ।) अश्वारोहः । इति केचित् ॥

सायुज्यं, क्ली, (सयुजो सहयोगस्य भावः । ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ् ।) सहयोगः । एकत्वम् । तत्तु पञ्चधामुक्त्यन्तर्गतमुक्तिविशेषः । यथा,—
"सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥"
इति श्रीभागवते । ३ । २९ । १३ ॥
"भक्तानां निष्कामतां कैमुतिकन्यायेनाह । सालोक्यं मया सह एकस्मिन् लोके वासम् । सार्ष्टिं समानैश्वर्य्यम् । सामीप्यं निकटवर्त्तित्वम् । सारूप्यं समानरूपताम् । एकत्वं सायुज्यम् । उत अपि दीयमानमपि न गृह्णन्ति कुतस्तत्कामना इत्यर्थः ।" इति श्रीधरस्वामी ॥
"एकत्वं भगवत्सायुज्यं ब्रह्मसायुज्यञ्च । अनयोस्तल्लीलात्मकत्वेन तत्सेवनार्थत्वाभावात् सर्व्वथावश्यकत्वमेवेति भावः ।" इति क्रमसन्दर्भः ॥

साये, व्य, दिनान्ते । सायंकाले । इति केचित् ॥

सार, त् क दौर्ब्बल्ये । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (अदन्तचुरा०-पर०-अक०-सेट् ।) रेफोपधः । अससारत् । इति दुर्गादासः ॥

सारं, क्ली, पुं,(सार त् क दौर्ब्बल्ये + अच् । सृ गतौ + घञ् इति वा ।) जलम् । धनम् । (यथा, रघुः । ४ । ७९ ।
"परस्परेण विज्ञातस्तेषूपायनपाणिषु ।
राज्ञा हिमवतः सारो राज्ञः सारो हिमाद्रिणा ॥")
न्याय्यम् । इति मेदिनी ॥ (सरात् जातम् । सर + अण् ।) नवनीतम् । इति राजनिर्घण्टः ॥ (यथा, सुश्रुते उत्तरतन्त्रे । २६ ।
"क्षीरशेषञ्च तन्मथ्य शीतं सारमुपाहरेत् ॥"
अमृतम् । यथा, भागवते । ७ । ६ । २५ ।
"धर्म्मादयः किमगुणेन च काङ्क्षितेन
सारं जुषां चरणयोरुपगायतां नः ॥")
लौहम् । इति भावप्रकाशः । विपिनम् । इति शब्दरत्नावली ॥*॥ सारवस्तूनि यथा,—
"सारं रसानान्तु घृतं घृतसारं हुतञ्च यत् ।
हुतस्य सारं स्वर्गश्च स्वर्गात् सारन्तु योषितः ॥
अतो राजन् प्रदेयाः स्युः स्त्रियः स्वर्गमभीप्सतः ।
तथैवेह सुखं ताभिः सह राज्यं नृपोत्तम ॥"
इति वह्निपुराणे दासीदानाध्यायः ॥
अपि च ।
"असारे खलु संसारे सारमेतच्चतुष्टयम् ।
काश्यां वासः सतां सङ्गो गङ्गाम्भः शम्भुसेवनम् ॥"
इति कवितारत्नाकरधृतपुराणवचनम् ॥

सारः, पुं, (सृ + "सृ स्थिरे ।" ३ । ३ । १७ । इति घञ् ।) बलम् । (यथा, महाभारते ।१।१५५। २३ ।
"तरस्व भीम मा क्रीड़ जहि रक्षो विभीषणम् ।
पुरा विकुरुते मायां भुजयोः सारमर्पय ॥")
स्थिरांशः । इत्यमरः । ३ । ३ । १७० ॥ (यथा, रघुः । १० । १० ।
"प्रभानुलिप्तश्रीवत्सं लक्ष्मीविभ्रमदर्पणम् ।
कौस्तुभाख्यमपां सारं बिभ्राणं बृहतोरसा ॥")
मज्जा । इत्यमरः । २।४।१२ ॥ वक्क्षारम् । इति राजनिर्घण्टः ॥ वायुः । इति जटाधरः ॥ रोगः । इति धरणिः ॥ पाशकः । इति शब्दरत्नावली ॥ दधुत्तरम् । इति शब्दचन्द्रिका ॥ (अर्थालङ्कारविशेषः । यथा, साहित्यदर्पणे । १० । ७३१ ।
"उत्तरोत्तरमुत्कर्षो वस्तुनः सार उच्यते ॥"
यथा,—
"राज्ये सारं वसुधा वसुधायामपि पुरं पुरे सौधम् ।
सौधे तल्पं तल्पे वराङ्गनासर्व्वस्वम् ॥")

सारः, त्रि, (सृ + घञ् ।) अतिदृढ़ः । इति शब्दरत्नावली ॥ वरः । श्रेष्ठः । इत्यमरमेदिनीकरौ ॥ यथा,—
"सर्व्वसारो यथा कृष्णो व्रतानां पुण्यकं तथा ॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते गणपतिखण्डे । ३ । ३० ॥
अपि च ।
श्रीमार्कण्डेय उवाच ।
"जगत् सर्व्वन्तु निःसारमनित्यं दुःखभाजनम् ।
उत्पद्यते क्षणादेतत् क्षणादेतत् विपद्यते ॥
यथैवोत्पद्यते साराद्विःसारं जगदक्षरात् ।
पुनस्तस्मिन्निलीयन्ते महाप्रलयसङ्गमे ॥
उत्पत्तिप्रलयाभ्यान्तु जगन्निःसारतां हरिः ।
शम्भवे दर्शयामास भावेन जगतां पतिः ॥
एकं शिवं शान्तमनन्तमच्युतं
परात्परं ज्ञानमयं विशेषम् ।
अद्वैतमग्रमचिन्त्यरूपं
सारन्त्विदं नास्ति सारं त्वदन्यत् ॥
यस्मादेतज्जायते विश्वमग्रं
यस्मिल्लीनं स्यात् तत्पश्चात् स्थितञ्च ।
आकाशवच्चैकजालस्य भूत्वा
यद्विश्वं वै ध्रियते तच्च सारम् ॥
अष्टाङ्गयोगैर्यदवाप्तुमिच्छन्
योगी युनक्त्यात्मरूपं सदैव ।
निवर्त्तते प्राप्य यदिह लोके
तदेव सारं सारमन्यन्न चास्ति ॥

सारो द्वितीयो धर्म्मस्तु यो नित्यप्राप्तये भवेत् ।
यो वै निवर्त्तको नाम तच्चासारः प्रवर्त्तकः ॥
सर्व्वं चरति लोकेऽस्मिन् धर्म्मो नैव च्युतो भवेत् ।
स्वधर्म्मादृयो न चलति स एवाचर उच्यते ॥
एतद्वः कथितं सारं निःसारञ्च यथा जगत् ।
यथा स्वयं ददर्शाशु शम्भुर्ध्यानेन खेऽन्तरे ॥
एतद्वै दर्शयामास स विष्णुर्जगतां पतिः ।
स्वयं जग्राह मनसा ध्यानेनात्मनि शङ्करः ॥
सारं तत्त्वं परमं निष्कलं य-
त्सत्त्वं हीनं मूर्त्तिमान् धर्म्म एषः ।
सारोऽन्योऽसौ सारहीनं तदन्यत्
ज्ञात्वैवेत्थं याति नित्यं महाधीः ॥"
इति श्रीकालिकापुराणे २७ अध्यायः ॥

सारकः, पुं, (सारयति मलमिति । सृ + णिच् + ण्वुल् ।) जयपालः । इति राजनिर्घण्टः ॥ विरेचके, त्रि । इति वैद्यकम् ॥

सारखदिरः, पुं, (सारः अतिदृढः खदिरः ।) दुःखदिरः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सारगन्धः, पुं, (सारो गन्धो यस्य ।) चन्दनम् । इति शब्दचन्द्रिका ॥

सारग्राही, [न्] त्रि, (सारं गृह्णातीति । ग्रह + णिनिः ।) सारग्रहणकर्त्ता ॥

सारघं, क्ली, (सरघाभिर्मधुमक्षिकाभिः कृतमिति । सरघा + अण् ।) मधु । इति जटाधरः ॥ (यथा, भागवते । १० । १६ । ४३ ।
"पीत्वा मुकुन्दमुखसारघमक्षिभृङ्गै-
स्तापं जहुर्विरहजं व्रजयोषितोऽह्नि ॥")

सारङ्गः, पुं, (सरतीति । सृ गतौ + "सृवृभ्यो-ऽङ्गच् ।" उणा० १ । १२१ । इति अङ्गच् । वृद्धिश्च ।) चातकपक्षी । इत्यमरः ।२।५।१७॥ (यथा, रामायणे । २ । ६३ । १६ ।
"उष्णमन्तर्दधे सद्यः स्निग्धा ददृशिरे घनाः ।
ततो जहृषिरे सर्व्वे भेकसारङ्गबर्हिणः ॥")
हरिणः । (यथा, भट्टिः । ३ । २६ ।
"गोमायुसारङ्गगणाश्च सम्यक्
नायासिषुर्भीममराशिषुश्च ॥")
मातङ्गजः । इति मेदिनी ॥ पक्षिभेदः । भृङ्गः । इति विश्वः ॥ यथा,—
"नानुद्वेष्टि कलिं सम्राट् सारङ्ग इव सारभुक् ।
कुशलान्याशु सिध्यन्ति नेतराणि कृतानि यत् ॥"
इति श्रीभागवते । १ । १८ । ७ ॥
"ननु अधर्म्महेतुं कलिं सर्व्वथा किं न हतवान् तत्राह नानुद्वेष्टीति । सारङ्गो भ्रमर इव सारग्राही । सारमाह यत् यस्मिन् कुशलानि पुण्यानि आशु संकल्पमात्रेण फलन्ति इतराणि पापानि आशु न सिध्यन्ति यतस्तानि कृतान्येव सिध्यन्ति न तु संकल्पितमात्राणीति ।" इति श्रीधरस्वामी ॥ * ॥ छत्रम् । राजहंसः । चित्रमृगः । (यथा, महाभारते । ७ । २२ । २१ ।
"आक्रीडन्तो वहन्तिस्म सारङ्गशबला हयाः ॥")
वाद्यभेदः । अंशुकम् । इति शब्दरत्नावली ॥ नानावर्णः । मयूरः । कामदेवः । धनुः । केशः । स्वर्णम् । आभरणम् । पद्मम् । शङ्खः । चन्दनम् । कर्पूरम् । पुष्पम् । कोकिलः । मेघः । पृथिवी । रात्रिः । दीप्तिः । सिंहः । इत्यनेकार्थकोषः ॥ * ॥ सारङ्गहरिणमांसगुणाः ।
"सारङ्गं जाङ्गलं स्निग्धं मधुरं लघु वृष्यदम् ।"
इति राजनिर्घण्टः ॥

सारङ्गः, त्रि, (सृ + अङ्गच् ।) शबलः । इत्यमरः । ३ । ३ । २३ ॥ "शारङ्गश्चातके ख्यातः शबले हरिणेऽपि च । इति तालव्यादावजयः । अतएव सारङ्गो दन्त्यादिस्तालव्यादिश्च ।" इति भरतः ॥

सारङ्गिकः, पुं, (सारङ्गं हन्तीति । सारङ्ग + "पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति ।" ४।४।३५ । इति ठक् ।) व्याधः । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥

सारङ्गी, स्त्री, वाद्यविशेषः । इति केचित् ॥

सारजं, क्ली, (सारात् जायते इति । जन + डः ।) नवनीतम् । इति शब्दचन्द्रिका ॥

सारणं, क्ली, (सारयतीति । सृ + णिच् + ल्युः ।) गन्धभेदः । इति धरणिः ॥

सारणः, पुं, (सृ + णिच् + ल्युः ।) अतीसाररोगः । रावणमन्त्री । इति हेमचन्द्रः ॥ भद्रबला । इति धरणिः ॥ आम्रातकः । इति शब्दचन्द्रिका ॥

सारणिः, स्त्री, (सृ + णिच् + अनिः । इत्युणादिवृत्तौ उज्ज्वलः । २ । १०३ ।) क्षुद्रनदी । प्रसारणी । इत्युणादिकोषः ॥

सारणिकः, त्रि, पथिकः । सरणिशब्दात् ष्णिक-प्रत्ययेन निष्पन्नः ॥ (यथा, महाभरते । १२ । ६१ । ३६ ।
"यदा सारणिकान् राजा पुत्त्रवत् परिरक्षति ।
भिनत्ति च न मर्य्यादां स राज्ञो धर्म्म उच्यते ॥")

सारणिकघ्नः, पुं, (सारणिकान् पथिकान् हन्तीति । हन + टक् ।) दस्युः । इति केचित् ॥

सारणी, स्त्री, (सारणि + वा ङीष् ।) प्रसारणी । स्वल्पनदी । इति मेदिनी ॥ (यथा, अनर्घराघवे । २ । २५ ।
"आलवालवलयेषु भूरुहां
मांसलस्तिमितमन्तरान्तरा ।
केरलीचिकुरभङ्गिभङ्गुरं
सारणीषु पुनरम्बु हृष्यते ॥")

सारण्डः, पुं, सर्पाण्डः । इति जटाधरः ॥

सारतरुः, पुं, (सारं जलं तत्प्रधानस्तरुः ।) कदलीवृक्षः । इति धनञ्जयः ॥

सारथिः, पुं, (सरत्यश्वानिति । सृ + अन्तर्भावितण्यर्थः + "सर्त्तेर्णिच ।" उणा० ४ । ८९ । इति अथिन् ।) रथादिघोटकनियोगकर्त्ता । तत्पर्य्यायः । नियन्ता २ प्राजिता ३ यन्ता ४ सूतः ५ क्षत्ता ६ सव्येष्ठा ७ दक्षिणस्थः ८ रथकुटुम्बी ९ । इत्यमरः ।२।८।५९-६०॥ सादी १० सर्व्यष्ठः ११ नियामकः १२ चातुरिकः १३ । इति जटाधरः ॥ प्रवेता १४ रथनागरः १५ । इति शब्दरत्नावली ॥ सरथस्यापत्यं सारथिः बाह्वादित्वात् इञ् । सह रथेन वर्त्तते योऽसौ सरथोऽश्वः तं प्रेरयति ढ्घेऽकादिति णिर्व्वा । सारयति अश्वान् इति ण्यन्तात् सृ गताविव्यस्मात् नाम्नीति अथिप्रत्ययो वा । इत्यमरटीकायां भरतः ॥ तल्लक्षणं यथा, मात्स्ये । २१५ । २०—२१ ।
"निमित्तशकुनज्ञानी हयशिक्षाविशारदः ।
हयायुर्व्वेदतत्त्वज्ञो भूरिभागविशेषवित् ॥
स्वामिभक्तो महोत्साहः सर्व्वेषाञ्च प्रियंवदः ।
शूरश्च कृतविद्यश्च सारथिः परिकीर्त्तितः ॥"
समुद्रः । इति संक्षिप्तसारोणादिवृत्तिः ॥

सारदा, स्त्री, (सारं ददातीति । दा + कः ।) सरस्वती । इति शब्दरत्नावली ॥ दुर्गा । यथा । शरत्कालबोधनीयत्वेन शारदापदव्युत्पत्तिस्तत्परं तालव्यादि सारं ददातीति व्युत्पत्तिस्तु काल्पनिकी । इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥ सारदातरि, त्रि ॥

सारद्रुमः, पुं, (सारः अतिदृढः द्रुमः ।) खदिरः । इति राजनिर्घण्टः ॥ (यथा, बृहत्संहितायाम् । ४३ । ५८ ।
"उत्थापयेत् लक्ष्म सहस्रचक्षुषः
सारद्रुमाभग्नकुमारिकान्वितम् ॥")

सारपादपः, पुं, (सारः अतिदृढः पादपः ।) धामनिवृक्षः । इति रत्नमाला ॥

सारभाण्डं, क्ली, (सारस्य भाण्डमिव ।) अकृत्रिमपात्रम् । यथा मृगनाभ्यादि ॥ (यथा, याज्ञवल्क्यः । २ । २५० ।
"समुद्रपरिवर्त्तञ्च सारभाण्डञ्च कृत्रिमम् ।
आधानं विक्रयं वापि नयतो दण्डकल्पना ॥")

सारमितिः, पुं, वेदः । इति हेमचन्द्रः ॥ सारं यथार्थं मीयते ज्ञायते अनेन सारमितिः । सारोपपदात् माधातोर्नाम्नीति तिः ॥

सारमूषिका, स्त्री, (सारे मूषिकेव ।) देवदाली । इति राजनिर्घण्टः ॥

सारमेयः, पुं, (सरमाया अपत्यं पुमानिति । ढक् ।) कुक्कुरः । इत्यमरः । २ । १० । ३१ ॥ (यथा, महाभारते । ६ । ९ । ७३ ।
"अन्योन्यस्यावलुम्पन्ति सारमेया इवामिषम् ।
राजानो भरतश्रेष्ठ भोक्तुकामा वसुन्धराम् ॥")

सारमेयी, स्त्री, (सरमाया अपत्यं स्त्री । ढक् । ङीष् ।) कुक्कुरी । इति शब्दरत्नावली ॥

सारलोहं, क्ली, (सारं श्रेष्ठं लोहम् ।) लौहसारः । इति भूरिप्रयोगः ॥ इष्पात इति भाषा ॥

सारवः, त्रि, (सरय्वां भवः । अण् । "दाण्डिनायनहास्तिनायनेति ।" ६ । ४ । १७४ । इति निपातनात् साधुः ।) सरयुनदीसमुत्पन्नः । इत्यमरः । १ । १० । ३६ ॥

सारवर्ज्जितः, त्रि, स्थिरांशरहितः । असारवस्तु । सारेण वर्ज्जित इति तृतीयातत्पुरुषसमासनिष्पन्नः ॥

सारसं, क्ली, (सरसि भवम् । सरस् + अण् ।) पद्मम् । इत्यमरः । १ । १० । ४० ॥ स्त्रीकट्याभरणम् । इति केचित् ॥

सारसं, त्रि, (सरसि भवम् । सरस्+अण् ।) सरोवरोद्भवजलादि । तज्जलगुणाः । यथा,—
"नद्याः शैलवराद्याश्चो यत्र संस्तुत्य तिष्ठति ।
तत् सरोजजलं छन्नं तरङ्गः सारसं स्मृतम् ॥
सारसं सलिलं बल्यं तृष्णाघ्नं मधुरं लघु ।
रोचनं तुवरं रूक्षं बद्धमूत्रमलं सितम् ॥"
इति भावप्रकाशः ॥
(यथा च ।
"सारं घनं वातकफाशुकारि
त्वग्दोषकृत् तत् कटु दीपनञ्च ।
प्रोक्तं विपाके भ्रमशोषकारि
स्यात् सारसं नो सुखकारि वारि ॥"
इति हारीते प्रथमस्थाने सप्तमेऽध्याये ॥)

सारसः, पुं, चन्द्रः । इति मेदिनी ॥

सारसः, पुं स्त्री, (सरसि भवः । अण् ।) स्वनामख्यातपक्षी । तत्पर्य्यायः । पुष्कराह्वः २ । इत्यमरः । २ । ५ । २२ ॥ गोनर्द्दः ३ नाङ्कुरः ४ लक्ष्मणः ५ सलक्ष्मणः ६ सरसीकः ७ सरोत्सवः ८ । इति शब्दरत्नावली ॥ रसिकः ९ कामी १० । तन्मांसगुणाः । मधुरत्वम् । अम्लत्वम् । कषायत्वम् । महातिसारपित्तग्रहणयर्शोनाशित्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥ * ॥ तस्य शाकुनं यथा,—
"इष्टार्थसिद्धिः सकलासु दिक्षु
स्यात् सारसद्वन्द्वविलोकनेन ।
श्रुत्वास्य पृष्ठे निनदं न गच्छेत्
सिध्यत्यभीष्टं गृह एव यस्मात् ॥
वामेन योषित्कुललाभकारी
शब्दस्तथाग्रे नृपतोऽर्थलब्ध्यै ।
यः सारसाभ्यां युगपद्विरावः
क्लेशोऽचिरेण क्रमतोऽपि वामः ।
स वेदितव्यः कथितार्थकारी
क्रौञ्चद्वयस्याप्ययमेव वर्गः ॥"
इति वसन्तराजशाकुने सारसवर्गः ॥

सारसनं, क्ली, (सारं सनोति ददातीति । षणु दाने+अच् ।) काञ्ची । स्त्रीकट्याभरणम् । इत्यमरः । २।६।१०९ ॥ अस्य पर्य्यायः काञ्चीशब्दे द्रष्टव्यः ॥ कञ्चुकदार्ढ्यार्थं मध्यकायनिबद्धपट्टिकादि । तत्पर्य्यायः । अधिकाङ्गम् २ । इत्यमरः । २ । ८ । ६३ ॥ द्वे कञ्चुकदार्ढ्यार्थं मध्यकाये निबद्धे पट्टिकादौ । सकञ्चुकाः सन्नाहाः मध्ये दार्ढ्यार्थं यद्बध्नन्ति तत् सारसनं अधिकाङ्गञ्चोच्यते । इति भरतः ॥ (यथा, किराते । १८ । ३२ ।
"तवोत्तरीयं करिचर्म्म साङ्गजं
ज्वलन्मणिः सारसनं महानहिः ।
स्रगास्यपंक्तिः शवभस्म चन्दनं
कला हिमांशोश्च समञ्चकासत ॥")

सारसी, स्त्री, (सारस+जातौ ङीष् ।) सारसपत्नी । इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, महाभारते । ११ । १८ । १४ ।
"हंसगद्गदभाषिण्यो दुःखशोकप्रमोहिताः ।
सारस्य इव राजन्यः पतिताः पश्य माधव ! ॥")

सारस्वतः, पुं, (सरस्वती देवतास्येति । अण् ।) बिल्वदण्डः । (सरस्वत्या अयमिति । तस्येदमित्यण् ।) देशविशेषः । स तु हस्तिनापुरस्य उत्तरपश्चिमभागे प्रसिद्धः । इति हेमचन्द्रः ॥ यथा । कूर्म्माङ्गस्थदेशानाह ।
"मध्ये सारस्वता मत्स्याः शूरसेनाः समाथुराः ।
पाञ्चालशाल्वमाण्डव्यकुरुक्षेत्रगजाह्वयाः ॥"
इति ज्योतिस्तत्त्वम् ॥
सरस्वतीनदीपुत्त्रमुनिविशेषः । सारस्वतदेशोद्भवब्राह्मणः । यथा,—
"सारस्वताः कान्यकुब्जा गौड़मैथिलकोत्कलाः ।
पञ्च गौड़ा इति ख्याता विन्ध्यस्योत्तरवासिनः ॥"
इति पुराणम् ॥
कल्पविशेषः ॥ यथा,—
"सारस्वतस्य कल्पस्य मध्ये ये स्युर्नरामराः ।
तद्वृत्तान्तोद्भवं लोके तद्भागवतमुच्यते ॥"
इति मात्स्ये ५० अध्यायः ॥
व्याकरणविशेषः । (नवमद्वापरयुगस्य व्यासः । यथा, देवीभागवते । १ । ३ । २८ ।
"सारस्वतस्तु नवमे त्रिधामा दशमे तथा ॥"
घृतविशेषे, क्ली । यथा,—
"समूलपत्रामादाय ब्राह्मीं प्रक्षाल्य वारिणा ।
उदूखले चोदयित्वा रसं वस्त्रेण गालयेत् ॥
रसे चतुर्गुणे तस्मिन् घृतप्रस्थं विपाचयेत् ।
औषधानि तु पेष्याणि तानीमानि प्रदापयेत् ॥
हरिद्रा मालती कुष्ठं त्रिवृती सहरीतकी ।
एतेषां पलिकान् भागान् शेषाणि कार्षिकाणि तु ॥
पिप्पल्योऽथ विड़ङ्गानि सैन्धवं शर्करा वचा ।
सर्व्वमेतत् समालोड्य शनैर्मृद्वग्निना पचेत् ॥
एतत्प्राशितमात्रेण वाग्विशुद्धिश्च जायते ।
सप्तरात्रप्रयोगेण किन्नरैः सह गीयते ॥
अर्द्धमासप्रयोगेण सोमराजीवपुर्भवेत् ।
मासमात्रप्रयोगेन श्रुतमात्रन्तु धारयेत् ॥
हन्त्यष्टादशकुष्ठानि अर्शांसि विविधानि च ।
पञ्चगुल्मान् प्रमेहांश्च कासं पञ्चविधं जयेत् ॥
बन्ध्यानाञ्चैव नारीणां नराणामल्परेतसाम् ।
घृतं सारस्वतं नाम बलवर्णाग्निवर्द्धनम् ॥"
इति वैद्यकचक्रपाणिसंग्रहे रसायनाधिकारे ॥
इदमेव ब्राह्मीघृतमित्याख्ययापि प्रसिद्धम् ॥ * ॥)
त्रि, सरस्वतीसम्बन्धी । (यथा, याज्ञवल्क्ये । २ । ८३ ।
"वर्णिनां हि वधो यत्र तत्र साक्ष्यनृतं वदेत् ।
तत्पावनाय निर्व्वाप्यश्चरुः सारस्वतो द्विजैः ॥"
सारस्वतदेशसम्बन्धी ॥ (सरस्वतीनदीसम्बन्धी । यथा, मेघदूते । ५१ ।
"कृत्वा तासामभिगममपां सौम्य सारस्वतीनामन्तः शुद्धस्त्वमपि भविता वर्णमात्रेण कृष्णः ॥")

सारस्वतकल्पः, पुं, (सारस्वतः कल्पः ।) सरस्वत्युपासनाप्रकरणम् । यथा,—
ब्रह्मोवाच ।
"शृणु ब्रह्मन् परं गुह्यं कल्पं सारस्वतं मम ।
यस्य विज्ञानमात्रेण जाड्यापहरणं भवेत् ॥
सर्व्वशास्त्रप्रकाशश्च सर्व्वज्ञो जायतेऽचिरात् ।
अभ्यासाच्च भवेद्यस्य वाचश्चित्रा भवन्ति हि ॥
अवापुश्चिदशा याम्तं वागीशत्वं बृहस्पतिः ।
द्वैपायनोऽपि यां ज्ञात्वा वेदव्यासोऽभवन्मुनिः ॥
मन्त्रोद्धारं प्रवक्ष्यामि साङ्गावरणपूजनैः ।
अनन्तं बिन्दुना युक्तं वामगण्डान्तभूषितम् ॥
जपेत् द्वादशलक्षन्तु मूकोऽपि वाक्पतिर्भवेत् ।
नाभौ शुभ्रारविन्दञ्च ध्यायेदृशदलं सुधीः ॥
तन्मध्ये भावयेन्मन्त्री मण्डलानां त्रयं चिरम् ।
रत्नसिंहासनं तत्र वर्णज्योत्स्नामयं पुनः ॥
तस्योपरि पुनर्ध्यायेद्देवीं वागीश्वरीं ततः ।
मुक्ताकान्तिनिभां देवीं ज्योत्स्नाजालविकाशिनीम् ॥
मुक्ताहारयुतां शुभ्रां शशिखण्डविमण्डिताम् ।
बिभ्रतीं दक्षहस्ताभ्यां व्याख्यां वर्णस्य मालिकाम् ॥
अमृतेन तथा पूर्णं घटं दिव्यञ्च पुस्तकम् ।
दधतीं वामहस्ताभ्यां पीनस्तनभरान्विताम् ॥
मध्ये क्षीणां तथा स्वच्छां नानारत्नविभूषिताम् ।
आत्माभेदेन ध्यात्वैवं ततः संपूजयेत् क्रमात् ॥
आद्येन दीर्घयुक्तेन कुर्य्यादङ्गानि हस्तयोः ।
हृदयादौ तथा कुर्य्याद्बीजेनाङ्गक्रिया पुनः ॥
भ्रुवोर्म्मध्ये तथा नाभौ गुह्ये च देशिकस्तथा ।
न्यसेद्बीजं पुनर्वक्त्रौ व्यापकं विन्यसेत्ततः ॥
पीठन्यासं ततो कुर्य्यात् देवताभावशुद्धये ।
मातृकायान्तु यत् प्रोक्तं पीठमभ्यर्च्य यत्नतः ॥
वर्णाब्जेनासनं दद्यात् मूर्त्तिं मूलेन कल्पयेत् ।
आवाह्य पूजयेत्तस्यां देवीं वागीश्वरीं ततः ॥
अङ्गैः प्रथमा वृत्तिः स्यात् द्वितीया शक्तिभिस्तल ।
दलाग्रेषु समभ्यर्च्य ब्रह्माण्याद्या यथाविधि ॥
लोकपाला बहिः पूज्यास्तेषामस्त्राणि तद्बहिः ।
एवं सम्पूजयेन्मन्त्री जपहोमरतस्तदा ॥
कवित्वं लभते वाग्मी लक्षैर्दशभिर्ध्रुवम् ।
प्रातर्जप्त्वा सहस्रन्तु पिबेद्ब्राह्मीं वचान्विताम् ॥
न विस्मरति मेधावी श्रुतान् वेदागमानपि ।
कण्ठमात्रोदके स्थित्वा ध्यायेन्मार्त्तण्डमण्डले ॥
ज्योतिःपुञ्जनिभां देवीं परिवारसमन्विताम् ।
वराभययुतां हस्ते मुद्रापुस्तकधारिणीम् ॥
जपन् सहस्रमाणेन षण्मासं विजितेन्द्रियः ।
भौमां सम्प्राप्य वाक्सिद्धिं कवीनामग्रणीर्भवेत् ॥
अथ योगं प्रवक्ष्यामि जाड्यनाशकरं परम् ।
रात्रिशेषे समुत्थाय शुचिर्भूत्वा समाहितः ॥
शुद्धभावेन चात्मानं गुरुञ्च परिकल्पयेत् ।
तत्प्रभापटलव्याप्तं जगत् सर्व्वं विचिन्तयेत् ॥
मूलाधारे स्थितां देवीं कुण्डलीं परदेवताम् ।
सुप्तां प्रोत्थाप्य तां शक्त्या क्रमाच्चक्राणि भेदयेत् ॥
ततः परशिवे नीत्वा सौधीञ्च प्रापयेत्ततः ।
ऊर्द्धग्रन्थिं विनिर्भिद्य जिह्वां दीपस्वरूपिणीम् ॥
बीजरूपस्वशक्त्या तु प्रोक्तसक्तां परात्मिकाम् ।
शब्दब्रह्मस्वरूपाञ्च निश्चलां चिन्तयेत् पुनः ॥
तत्प्रभापटलव्याप्तं शरीरं चिन्तयेत्ततः ॥

नित्यं सहस्रमायेन जपेत् संवत्सरं यदि ।
ततः संजायते मन्त्री वाचस्पतिरिवापरः ॥
छन्दोऽलङ्कारतर्कादिनानाशास्त्रार्थविद्भवेत् ।
कवित्वं ज्ञानशक्त्या तु पाण्डित्यमधिकं भवेत् ॥*॥
अथापरं प्रवक्ष्यामि योगं भुवि सुदुर्लभम् ।
नाभिचक्रस्थितां सौम्यां रक्ताकारां विचि-
न्तयेत् ॥
चौमावस्त्रनितम्बाञ्च रक्ताभरणभूषिताम् ।
पाशाङ्कुशधरां दिव्यां वराभययुतां पुनः ॥
दृष्ट्वा चामृतवर्षिण्या पूरयन्तीं मनोरथान् ।
एवं ध्यात्वा जपेल्लक्षं मनुजो विहितं ततः ॥
होमं कुर्य्यात् त्रिमध्वक्तं रक्तोत्पलयुतैर्द्विजः ।
ततः सन्तर्पयेद्देवीं दुग्धयुक्तेन सर्पिषा ॥
पायसेन बलिं दद्यात् दधिपिष्टमधुप्लुतैः ।
एवं कृत्वा विधानन्तु साधकेश्वरो भवेत् ॥
सिद्धार्थैस्त्रिमधुरोपेतैर्हुत्वा जगद्वशं नयेत् ।
पद्मदानेन मत्तर्तीं प्राप्नुयात् श्रियमूर्जिताम् ॥
देवीहृदयविद्याया नास्ति किञ्चित् सुदुर्लभम् ।
स्नेहभावेन सम्प्रोक्तं न देयं यस्य कस्यचित् ॥
एतत्ते कथितं दिव्यं विद्योत्पत्तेश्च कारणम् ।
विष्णुना दत्तमस्मभ्यं मया तुभ्यं द्विजोत्तम ॥
सिद्धमन्त्रो यदा मन्त्री वालिशस्यापि मूर्द्धनि ।
हस्तं दत्त्वा जपेत् सोऽपि सौधीं वाचमन-
र्गलाम् ॥”
इति स्वायम्भुवमातृकातन्त्रे सारस्वतः पटलः ।
इति तन्त्रसारः ॥

सारस्वतव्रतः, पुं, (सारस्वतः सरस्वतीदेवताकः व्रतः ।) सरस्वत्या व्रतविशेषः । यथा,—
मनुरुवाच ।
“मधुरा भारती केन व्रतेन मधुसूदन ।
तथैव जनसौभाग्यमतिविद्यासुकौशलम् ॥
अभेदश्चापि दम्पत्योस्तथा बन्धुजनेन च ।
आयुश्च विपुलं पुंसां तन्मे कथय माधव ॥
मत्स्य उवाच ।
सम्यक् पृष्टं त्वया राजन् शृणु सारस्वतं व्रतम् ।
यस्य सङ्कीर्त्तनादेव तुष्यतीह सरस्वती ॥
यो यद्भक्तः पुमान् कुर्य्यादेतद्व्रतमनुत्तमम् ।
तद्वासरादौ संपूज्य विप्रानेतत् समारभेत् ॥
अथवादित्यवारेण ग्रहताराबलेन वा ।
पायसं भोजयेद्विद्वान् कृत्वा ब्राह्मणवाचनम् ॥
शुक्लवस्त्राणि दत्त्वा च सहिरण्यानि शक्तितः ।
गायत्रीं पूजयेद्भक्त्या शुक्लमाल्यानुलेपनैः ॥
यथा न देवो भगवान् ब्रह्मा लोकपितामहः ।
त्वां परित्यज्य सन्तिष्ठेत्तथा भव वरप्रदा ॥
वेदाः शास्त्राणि सर्व्वाणि नृत्यगीतादिकञ्च यत् ।
न विहीनं त्वया देवि तथा मे सन्तु सिद्धयः ॥
लक्ष्मीर्म्मेधा धरा पुष्टिर्गौरी तुष्टिः प्रभा मतिः ।
एताभिः पाहि तनुभिरष्टाभिर्म्मां सरस्वति ॥
एवं सम्पूज्य गायत्रीं वीणाक्षमालाधारिणीम् ।
शुक्लपुष्पाक्षतैर्भक्त्या सकमण्डलुपुस्तकाम् ॥
मौनव्रतेन भुञ्जीत सायं प्रातश्च धर्म्मवित् ।
पञ्चम्यां प्रतिपक्षञ्च पूजयेत् शब्दवासिनीम् ॥
तथैव तण्डुलप्रस्थं घृतपात्रेण संयुतम् ।
क्षीरं दद्याद्धिरण्यञ्च गायत्री प्रीयतामिति ॥
सन्ध्यायाञ्च तथा मौनमेतत् कुर्व्वन् समाचरेत् ।
नान्तराभोजनं कुर्य्यात् यावन्मासास्त्रयोदश ॥
समाप्ते तु व्रते दद्यात् भोजनं शुक्लतण्डुलैः ।
सुवर्णं वस्त्रयुग्मञ्च गाञ्च विप्राय शोभनाम् ॥
देया वितानं घण्टाञ्च सितनेत्रपटावृताम् ।
चन्दनं वस्त्रयुग्मञ्च दध्यन्नं शिखरं पुनः ।
तथोपदेष्टारमपि भक्त्या सम्पूजयेद्गुरुम् ॥
वित्तशाठ्येन रहितो वस्त्रमाल्यानुलेपनैः ।
अनेन विधिना यस्तु कुर्य्यात् सारस्वतं व्रतम् ।
विद्यावानर्थयुक्तश्च रक्तकण्ठश्च जायते ॥
सरस्वत्याः प्रसादेन ब्रह्मलोके महीयते ।
नारी वा कुरुते या तु सापि तत्फलभागिनी ॥
ब्रह्मलोके वसेद्राजन् यावत् कल्पायुतत्रयम् ।
सारस्वतं व्रतं यस्तु शृणुयादथवा पठेत् ।
विद्याधरपुरे सोऽपि वसेदब्दायुतत्रयम् ॥”
इति मत्स्यपुराणे । ६६ । १—२४ ॥

सारस्वताः, पुं भूम्नि, (सारस्वते भवाः । अण् ।) सारस्वतदेशजातमनुष्याः । यथा, हेमचन्द्रे ।
“काश्मीरास्तु माधुमताः सारस्वतास्तु विक-
र्णिकाः ॥”

सारस्वतोत्सवः, पुं, (सारस्वतः सरस्वतीसम्बन्धी उत्सवः ।) सरस्वत्या उत्सवः । इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥ अस्य प्रमाणादिकं सरस्वतीशब्दे द्रष्टव्यम् ॥

सारा, स्त्री, (सारयतीति । सृ + णिच् + अच् । टाप् ।) कृष्णत्रिवृता । इति शब्दरत्नावली ॥ दूर्व्वा । इति शब्दचन्द्रिका ॥ (सेहुण्डभेदः ॥ शातला अनेनैव नाम्ना प्रसिद्धा ॥ यथा,—
“शातला सप्तला सारा विमला विदुला च सा ।
तथा निगदिता भूरिफेना चर्म्मकषेत्यपि ॥”
इति भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे प्रथमे भागे ॥)

सारालः, पुं, (सारेण सरणेन अलति पर्य्याप्नोतीति । अल + अच् ।) तिलः । इति शब्दचन्द्रिका ॥

सारिः, पुं, स्त्री, (सरतीति । सृ + इण् ।) पाशकः । इति शब्दरत्नावली ॥

सारिका, स्त्री, (सरति गच्छतीति । सृ + ण्वुल् । टाप् ।) पक्षिविशेषः । इत्यमरः । २ । ५ । ८ ॥ शालिक इति भाषा ॥ (यथा, रामायणे । २ । ५३ । २२ ।
“मन्ये प्रीतिविशिष्टा सा मत्तो लक्ष्मण !
सारिका ।
यत्तस्याः श्रूयते वाक्यं शुक पादमरेर्दश ॥”)
तत्पर्य्यायः । पीतपादा २ गोराटी ३ गोकिराटिका ४ । इति हेमचन्द्रः ॥ शारिका ५ सारी ६ शारी ७ चित्रलोचना ८ । इति शब्दरत्नावली ॥ मधुरालापा ९ दूती १० मेधाविनी ११ गोराणिका १२ गोकिराटी १३ गोरिका १४ कलहप्रिया १५ । इति राजनिर्घण्टः ॥

सारिणी, स्त्री, (सरतीति । सृ + णिनि । ङीप् ।) सहदेवी । कार्पासी । दुरालभा । कपिलशिंशपा । प्रसारिणी । रक्तपुनर्णवा । इति राजनिर्घण्टः ॥

सारिवा, स्त्री, लताविशेषः । अनन्तमूल इति ख्याता । गोरिया साउ इति हिन्दी भाषा । सा तु जम्बुवत्पत्रा दुग्धगर्भा प्रतानिर्भवति । तत्पर्य्यायः । शारदा २ गोपी ३ गोपकन्या ४ गोपवल्ली ५ प्रतानिका ६ लता ७ आस्फोता ८ काष्ठशारिवा ९ । इति राजनिर्घण्टः ॥ गोपा १० उत्पलसारिवा ११ अनन्ता १२ शारिवा १३ श्यामा १४ । इति शब्दरत्नावली ॥ अस्या गुणाः । मधुरत्वम् । स्निग्धत्वम् । वृष्यत्वम् । पित्तप्रणाशित्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥ * ॥ कृष्णसारिवा । सा तु इन्द्रजम्बुवत्पत्रा सुगन्धा कालघण्टेति प्रसिद्धा । करिया साउ इति हिन्दी भाषा । श्यामालता इति वङ्गभाषा । तत्पर्य्यायः । कृष्णमूली २ कृष्णा ३ चन्दनसारिवा ४ भद्रा ५ चन्दनगोपा ६ चन्दना ७ कृष्णवल्ली ८ । अस्या गुणाः । त्रिदोषशमनत्वम् । तिक्तत्वम् । कटुरसत्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥ अपि च ।
“सारिवाद्वौ तु मधुरौ हिमौ भूतनिकृन्तनौ ।
कुष्ठकण्डुज्वरहरौ देहदुर्गन्धिनाशनौ ॥”
इति राजनिर्घण्टः ॥
किञ्च ।
“सारिवायुगलं स्वादु स्निग्धं शुक्रकरं गुरु ।
अग्निमान्द्यारुचिश्वासकासामविषनाशनम् ।
दोषत्रयास्रप्रदरज्वरातिसारनाशनम् ॥”
इति भावप्रकाशः ॥

सारी, स्त्री, (सारि + वा ङीष् ।) सारिकापक्षिणी । पाशकः । इति शब्दरत्नावली ॥ सप्तला । इति राजनिर्घण्टः ॥ (सप्तलाशब्देऽस्या गुणादयो ज्ञातव्याः ॥)

सारोष्ट्रिकः, पुं, (सारोष्ट्रे देशे भवः । सारोष्ट्र + ठञ् ।) विषभेदः । सारोष्ट्रो देशभेदस्तत्र भवः सारोष्ट्रिकः ठपे कादिति णिकः दन्त्यादिः । सुराष्ट्रशब्दात् सौराष्ट्रिकः । इति स्वामी । इत्यमरभरतौ । १ । ८ । १० ॥

सार्थः, पुं, (सरतीति । सृ + “सर्त्तेर्णिच्च ।” उणा० २ । ५ । इति थन् । स च णित् ।) जन्तुसंघः । इत्यमरः । २ । ६ । ४१ ॥ वणिक्समूहः । (यथा, रघुः । १७ । ६४ ।
“वापीष्विव स्रवन्तीषु वनेषूपवनेष्विव ।
सार्थाः स्वैरं स्वकीयेषु चेरुर्वेश्मस्विवाद्रिषु ॥”)
समूहमात्रम् । इति मेदिनी ॥ (यथा, बृहत्संहितायाम् । ८६ । ४९ ।
“पश्चिमे शर्व्वरीभागे गोमृकोलूकपिङ्गलाः ।
सर्व्व एव विपर्य्यस्ता ग्राह्याः सार्थेषु योषि-
ताम् ॥”)

सार्थः, त्रि, अर्थेन सह वर्त्तमानः । अर्थयुक्तः । इति हेमचन्द्रः ॥ यथा, वनपर्व्वणि ।

"सार्थः प्रसवतो मित्रं भार्य्या मित्रं गृहे सतः।
आतुरस्य भिषङ्मित्रं दानं मित्रं मरिष्यतः॥"
इति शुद्धितत्त्वम्॥

सार्थकः, त्रि, (सार्थ+कन्।) अर्थेन सह वर्त्तमानः। यथा,—
"शब्दान्तरमपेक्ष्यैव सार्थकः सार्थबोधकृत्।
प्रकृतिः प्रत्ययश्चैव निपातश्चेति स त्रिधा॥"
इति शब्दशक्तिप्रकाशिका॥
(सफलः। यथा, भागवते। १०। ४१। ४५।
"प्राह नः सार्थकं जन्म पावितञ्च कुलं प्रभो।
पितृदेवर्षयो मह्यं तुष्टा ह्यागमनेन वाम्॥")

सार्थवाहः, पुं, (सार्थं वहतीति। वह+अण्।) वणिक्। इत्यमरः। २। ९। ७८॥ (यथा, कलाविलासे। १। ११।
"भुक्तोत्तरं सहृदयैरास्थानीसंस्थितं कदा-
चित्तम्।
अभ्येत्य सार्थवाहो रत्नमहार्घोपहारमणि-
कनकः॥")

सार्द्र, त्रि, (आर्द्रेण सह वर्त्तमानम्।) आर्द्रम्। इत्यमरः। ३। १। १०५॥ आर्द्रयुक्ते, त्रि।
"अङ्गुष्ठमात्रं स्थौल्येन बाहुमात्रः प्रमाणतः।
सार्द्रश्च सपलाशश्च दण्ड इत्यभिधीयते॥"
इति प्रायश्चित्ततत्त्वधृताङ्गिरोवचनम्॥

सार्द्धं, व, सहितम्। इत्यमरः। ३।४।४॥ (यथा, महाभारते। ७। २७। २।
"सुशर्म्मा भ्रातृभिः सार्द्धं युद्धार्थी पृष्ठतोऽन्व-
यात्॥")

सार्द्धं, त्रि, अर्द्धेन सह वर्त्तमानम्। अर्द्धयुक्तम्। यथा,—
"मुनिभिर्द्दिरशनं प्रोक्तं विप्राणां मर्त्यवासिनां
नित्यम्।
अहनि च तथा तमस्विन्यां सार्द्धप्रहरया-
मान्तः॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम्॥

अपि च।
"गतेऽब्दे द्वितये सार्द्धे पञ्चपक्षे दिनद्वये।
दिवसस्याष्टमे भागे पतत्येकोऽधिमासकः॥"
इति मलमासतत्त्वम्॥

सार्पिषः, त्रि, (सर्पिषः अयं सर्पिषा संस्कृतो वा। सर्पिष्+अण्।) सर्पिःसम्बन्धी। सर्पिःसंस्कृतवस्तु। सर्पिःशब्दात् ष्णप्रत्ययेन निष्पन्नः॥

सार्पिष्कं, त्रि, (सर्पिष्+"तेन संस्कृतम्।" इति ठक्।) सर्पिषा संस्कृतम्। यथा,—
"सार्पिष्कं दाधिकं सर्पिर्दधिभ्यां संस्कृतं
क्रमात्।"
इति हेमचन्द्रः॥

सार्प्यं, पुं, (सर्पो देवता यस्य। ष्यञ्।) अश्लेषानक्षत्रम्। इति हेमचन्द्रः॥ (यथा, रामायणे। १। १८। १५।
"पुष्ये जातस्तु भरतो मीनलग्ने प्रसन्नधीः।
सार्प्ये जातौ तु सौमित्री कुलीरेऽभ्युदिते रवौ॥"
सर्पस्यायमिति।) सर्पसम्बन्धिनि, त्रि॥

सार्व्वः, पुं, (सर्व्वस्मै हितः। सर्व्व+"सर्व्वपुरुषाभ्यां णढञौ।" ५। १। १०। इति णः।) बुद्धः। जिनः। इति हेमचन्द्रः॥ सर्व्वसम्बन्धिनि, त्रि॥

सार्व्वजनिकः, त्रि, (सर्व्वजनाय हितः। "सर्व्वजनात् ठञ्खञ्च।" ५। १। ९। इत्यस्य वार्त्तिकोक्त्या ठञ्।) सकलजनहितः। सर्व्वजनशब्दात् ष्णिकप्रत्ययेन निष्पन्नः॥

सार्व्वजनीनः, त्रि, (सर्व्वजनाय हितः। सर्व्वजन+खः।) सार्व्वजनिकः। सर्व्वजनशब्दात् णीनप्रत्ययेन निष्पन्नः॥

सार्व्वभौमः, पुं, (सर्व्वभूमौ विदितः। "तत्र विदित इति च।" ५। १। ४३। इत्यण्।) उत्तरदिग्गजः। इत्यमरः। १। ३। ४॥ सर्व्वभूमीश्वरः। तत्पर्य्यायः। चक्रवर्त्ती २ एकजन्मा ३ नृपाग्रणीः ४। इति शब्दरत्नावली॥ (यथा, महाभारते। ३। ६३। ९।
"भरतस्य च वीरस्य सार्व्वभौमस्य पार्थिव!।
ध्रुवं प्राप्स्यति दुष्प्रापान् लोकांस्तीर्थपरि-
प्लुतः॥")

विदूरथपुत्त्रः। यथा,—
"परिक्षिरनपत्योऽभूत् सुरथो नाम जाह्नवः।
ततो विदूरथस्तस्मात् सार्व्वभौमस्ततोऽभवत्॥"
इति श्रीभागवते ९ स्कन्धे २२ अध्यायः॥
(पुरुवंशीयाहंयातिनृपस्य पुत्त्रः। यथा, महाभारते। १। ९५। १५—१६। "अहंयातिः खलु कृतवीर्य्यदुहितरमुपयेमे भानुमतीं नाम। तस्यामस्य यज्ञे सार्व्वभौमः। सार्व्वभौमः खलु जित्वा जहार कैकेयीं सुनन्दां नाम तामुपयेमे॥"*॥) सकलभूमिसम्बन्धिनि, त्रि॥

सार्व्वलौकिकः, त्रि, (सर्व्वलोके विदितः। "लोकसर्व्वलोकात् ठञ्।" ५।१।४४। इति ठञ्।) सर्व्वजनविदितः। यथा,—
"भवन्तं कार्त्तवीर्य्यो यो हीनसन्धिमचीकरत्।
जिगाय तस्य हन्तारं स रामः सार्व्वलौकिकः॥"
इति भट्टिकाव्ये ५ सर्गः॥
सार्व्वलौकिकः सर्व्वलोकविदितः। इति तट्टीका॥

सार्व्ववेद्यः, पुं, (सर्व्ववेदं वेत्तीति। सर्व्ववेद+ष्यञ्।) सकलवेदज्ञब्राह्मणः। सर्व्ववेदशब्दात् ष्णप्रत्ययेन निष्पन्नः॥

सार्षपः, त्रि, (सर्षपस्यायमिति। सर्षप+अण्।) सर्षपसम्बन्धीयशाकतैलादिः। यथा,—
"घृतञ्च सार्षपं तैलं यत्तैलं पुष्पवासितम्।
अदुष्टं पक्वतैलञ्च स्नानाभ्यङ्गेषु नित्यशः॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम्॥

सालः, पुं, (शल्यते इति। शल गतौ+घञ्।) शालमत्स्यः। इत्यमरटीकायां भरतः॥ वृक्षमात्रम्। प्राकारः। इति मेदिनी॥ रालः। इति राजनिर्घण्टः॥ (सारोऽस्त्यनेनेति। अच्। रस्य लः।) स्वनामख्यातवृक्षः। इत्यमरः। २। २। ३॥ सखुया इति हिन्दी भाषा। तत्पर्य्यायः। सर्ज्जः २ सर्ज्जरसः ३ कलः ४ कललोद्भवः ५ वल्लीवृक्षः ६ चीरपर्णः ७ शालकार्य्यः ८ पुस्तकान्तरे रालः कार्य्यश्चेति शब्दद्वयम्। अजकर्णकः ९ वस्तकर्णः १० कषायी ११ ललनः १२ गन्धवृक्षकः १३ वंशः १४ रालनिर्यासः १५ दिव्यसारः १६ सुरेष्टकः १७ शूरः १८ अग्निवल्लभः १९ यक्षधूपः २० सिंहकः २१। अस्य गुणाः। कटुत्वम्। तिक्तत्वम्। उष्णत्वम्। हिमत्वम्। स्निग्धत्वम्। अतिसारपित्तास्रदोषकुष्ठकण्डूविस्फोटवातनाशित्वञ्च। इति राजनिर्घण्टः॥
अपि च।
"सालस्तु सर्ज्जकार्य्याश्वकर्णकाः शस्यसम्बरः।
अश्वकर्णः कषायः स्याद्व्रणस्वेदकफक्रिमीन्॥
ब्रध्नविद्रधिवाधिर्य्ययोनिकर्णगदान् हरेत्॥"
अथ सालप्रभेदाः।
"सर्ज्जकोऽन्योऽजकर्णः स्यात्कालो मरिचपत्रकः।
अजकर्णः कटुस्तिक्तः कषायोष्णो थपोहति।
कफवाण्डुश्रुतिगदान् मेहकुष्ठविषव्रणान्॥"
इति भावप्रकाशः॥

सालङ्गः, पुं, रागस्य प्रकारविशेषः। यो रागो रागान्तरामिश्रितः सन् रागान्तराभासयुक्तः। इति सङ्गीतशास्त्रम्॥

सालनः, पुं, (सालः कारणत्वेनास्त्यस्येति। पमादित्वात् नः।) सर्ज्जरसः। इति रत्नमाला॥

सालनिर्यासः, पुं, (सालस्य निर्यासः।) सर्ज्जरसः। इति रत्नमाला॥

सालपर्णी, स्त्री, (सालस्य पर्णमिव पर्णमस्याः। ङीष्।) शालपर्णी। इत्यमरः। २। ४। ११५॥ शालपानि इति भाषा। यथा,—
"शालपर्णी सालपर्णी स्थिरा चांशुमती ध्रुवा॥"
इति शब्दरत्नावली॥
"अभावे पृश्निपर्ण्याश्च शालपर्णीं नियोजयेत्।"
इति वैद्यशास्त्रम्॥

सालपुष्पं, क्ली, सालस्येव पुष्पमस्य।) स्थलपद्मम्। इति शब्दरत्नावली॥

सालभञ्जिका, स्त्री, (सारं भनक्तीति। भञ्ज+ण्वुल्। टापि अत इत्वम्। रस्य लः।) पुत्तलिका। यथा,—
"पाञ्चालिका तु पाञ्चाली पुत्रिका साल-
भञ्जिका।"
इति जटाधरः॥
वेश्या। यथा,—
"वेश्या तु गणिका क्षुद्रा वारस्त्री सालभञ्जिका।"
इति च जटाधरः॥

सालरसः, पुं, (सालस्य रसः।) रालः। इति राजनिर्घण्टः॥

सालवाहनः, पुं, (सालः तन्नामा यक्षो वाहनं यस्य।) शालिवाहनराजः। इति केचित्॥ (अस्य विवरणं सातवाहनशब्दे द्रष्टव्यम्॥)

सालवेष्टः, पुं, (सालस्य वेष्टः निर्य्यासः।) धूनकः। इति भूरिप्रयोगः॥

सालशृङ्गं, क्ली, (सालस्य शृङ्गमिव।) प्राचीराग्रम्। इति केचित्॥

सालाः, स्त्री, (सालः प्राकारोऽस्त्यस्या इति। अच्। टाप्।) गृहम्। इत्यमरटीकायां भरतः॥

सालाकारी, स्त्री, युद्धे पराजितनारी। इति केचित्॥

सालातुरीयः, पुं, पाणिनिमुनिः। इति हेमचन्द्रः॥ तालव्यशकारादिः साधुपाठः। यथा,—
"शालातुरीयशालङ्किदाक्षिपुत्राश्च पाणिनौ।"
इति शब्दरत्नावली॥

सालारं, क्ली, (सालां रातीति। रा+कः।) द्व्यरत्न्यायामभित्तिस्थकीलकः। डाण्डा इति भाषा। इति केचित्॥

सालावृकः, पुं, (सालाया वृक इव।) कुक्कुरः। शृगालः। तरक्षुः। इति केचित्॥ तालव्यशकारादिश्चायम्॥

सालूरः, पुं, मण्डूकः। इति शब्दरत्नावली॥ तालव्यशकारादिश्च॥

सालेयः, पुं, मधुरिका। इत्यमरटीका॥ तालव्यशकारादिश्च॥

साल्वः, पुं, विष्णुवध्यराजविशेषः। इति हेमचन्द्रः॥ स तु सौभदेशाधिपतिः। इति महाभारते कर्णपर्व्व॥ देशविशेषः। तद्देशस्थे, पुं भूम्नि। तद्देशसम्बन्धिनि, त्रि॥ तालव्यशादिश्च॥

साल्वहा, [न्] पुं, (साल्वं हन्तीति। हन्+क्विप्।) विष्णुः। इति हेमचन्द्रः॥

साल्विकः, पुं, पक्षिविशेषः। सालिक इति भाषा। यथा,—
"शवमल्लः क्षुद्रचूड़ो गृथलक्ताश्च साल्विकः।"
इति शब्दचन्द्रिका॥

सावकः, त्रि, शिशुः। इति केचित्॥ तालव्यशकारादिः साधुपाठः॥

सावधानः, त्रि, (अवधानेन सह वर्त्तमानः।) सचेतनः। सतर्कः। यथा, श्राद्धतत्त्वे।
"आगच्छन्तु महाभागा विश्वेदेवा वरप्रदाः।
ये चात्र विहिताः श्राद्धे सावधाना भवन्तु ते॥"

सावनं, क्ली, (सवनं सोमयज्ञस्नानं तस्येदमित्यण्।) सवनसम्बन्धिदिनम्। यथा। सोमयागे सवनत्रयस्याहोरात्रसाध्यत्वात् तत्सम्बन्धि दिनं सावनम्। इति माधवाचार्य्यः॥ अपि च। ब्रह्मसिद्धान्ते। सावनं दण्डाः षष्टिरहःस्वलग्नखगुणांशाद्यास्तदैनं भवेत्। इति मलमासतत्त्वम्॥ (यथाच सूर्य्यसिद्धान्ते।
"उदयादुदयं भानोः सावनं तत् प्रकीर्त्तितम्।
सावनानि स्युरेतेन यज्ञकालविधिस्तु तैः॥")

सावनः, पुं, (सवनस्यायमिति। अण्।) यज्ञकर्म्मान्तः। यजमानः। वरुणः। इति मेदिनी॥ दिवसविशेषः। यथा,—
"तिथिनैकेन दिवसश्चान्द्रमाने प्रकीर्त्तितः।
अहोरात्रेण चैकेन सावनो दिवसः स्मृतः॥"
इति मलमासतत्त्वम्॥

मासभेदः। स च त्रिंशदहोरात्रात्मकः। यथा,
"त्रिंशता सौरदिवसैः सावनः परिकीर्त्तितः।"
इति शब्दरत्नावली॥

अपि च। ब्रह्मसिद्धान्ते।
"चान्द्रः शुक्लादिदर्शान्तः सावनस्त्रिंशता दिनैः।
एकराशौ रविर्यावत् कालं मासः स भास्करः।
सर्व्वर्क्षपरिवर्त्तैश्च नाक्षत्र इति चोच्यते॥"
विष्णुधर्म्मोत्तरे च।
"सन्निकर्षादथारभ्य सन्निकर्षमथापरम्।
चन्द्रार्कयोर्बुधैर्म्मासश्चान्द्र इत्यभिधीयते।
सावने च तथा मासि त्रिंशत्सूर्य्योदयाः स्मृताः॥
आदित्यराशिभोगेन सौरो मासः प्रकीर्त्तितः।
सर्व्वर्क्षपरिवर्त्तैश्च नाक्षत्र इति चोच्यते॥" * ॥
सावनमासकर्त्तव्यकर्म्मादि यथा,—
"सूतकादिपरिच्छेदो दिनमासाब्दपास्तथा।
मध्यमग्रहभुक्तिश्च सावनेन प्रकीर्त्तितः॥"
पितामहः।
"आब्दिके पितृकृत्ये च मासश्चान्द्रमसः स्मृतः।
विवाहादौ स्मृतः सौरो यज्ञादौ सावनो मतः॥"
अत्र आदिपदेन सत्रभृतिवृद्धिप्रायश्चित्तायुर्द्दायाशौच-गर्भाधान-पुंसवन-सीमन्तोन्नयन-नामकरणान्नप्राशन-निष्क्रमण-चूड़ादिग्रहणम्। तथा च विष्णुधर्म्मोत्तरम्।
"अध्यायनञ्च ग्रहचारकर्म्म
सौरेण मानेन सदाध्यवस्येत्।
सत्राण्युपास्यान्यथ सावनेन
लौक्यञ्च यत् स्याद्व्यवहारकर्म्म॥"
इति मलमासतत्त्वम्॥ * ॥
वर्षविशेषः। यथा,—
"सौरेणाब्दस्तु मानेन यदा भवति भार्गव।
सावनेन च मानेन दिनषट्कं प्रपूर्य्यते॥"
सौरसंवत्सरे दिनषट्काधिकः सावनः संवत्सरो भवतीति। इति मलमासतत्त्वम्॥

सावरः, पुं, (सवराणामयमिति। अण्।) लोध्रः। इत्यमरटीका शब्दरत्नावली च॥ (यथा, सुश्रुते। ४। २२।
"शारिवोत्पलषष्ट्याह्वसावरागुरुचन्दनैः॥")
पापम्। अपराधः। इति विश्वः॥ (मृगविशेषमांसे, क्ली। तस्य गुणा यथा,—
"सावरं पललं स्निग्धं शीतलं गुरु च स्मृतम्।
रसे पाके च मधुरं कफदं रक्तपित्तहृत्॥"
इति भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे द्वितीये भागे॥) तालव्यशकारादिरप्ययम्॥

सावर्णः, पुं, (सवर्ण एव। स्वार्थे अण्। सवर्णाया छायाया अपत्यमिति अण् वा।) अष्टममनुः। यथा,—
"छायासंज्ञासुतो योऽसौ द्वितीयः कथितो मनुः।
पूर्व्वजस्य सवर्णोऽसौ सावर्णस्तेन कथ्यते॥"
इति देवीभागवतम्॥
(तथाच हरिवंशे। ६। १६।
"पूर्व्वजस्य मनोस्तात सदृशोऽयमिति प्रभुः।
मनुरेवाभवन्नाम्ना सावर्ण इति चोच्यते॥")
यथाच मात्स्ये। ६। ३१—३३।
"सावर्णस्य प्रवक्ष्यामि मनोर्भावि तथान्तरम्।
अश्वत्थामा शरद्वांश्च कौशिको गालवस्तथा॥
शतानन्दः काश्यपश्च रामश्च ऋषयः स्मृताः।
धृतिर्व्वरीयान् यवसः सुवर्णो वृष्टिरेव च॥
चरिष्णुरीड्यः सुमतिः वसुः शुक्रश्च वीर्य्यवान्।
भविष्या दश सावर्णा मनोः पुत्त्राः प्रकीर्त्तिताः॥"

सावर्णलक्ष्यं, क्ली, (सावर्णस्य समानवर्णस्य पूर्व्वाकृतेरिति यावत् लक्ष्यं यस्मात्।) चर्म्म। इति शब्दरत्नावली॥

सावर्णिः, पुं, (सवर्णाया अपत्यमिति। इञ्।) अष्टममनुः। स च सूर्य्यपुत्त्रः। यथा,—
"विवस्वतश्च द्वे जाये विश्वकर्म्मसुते उभे।
संज्ञा छाया च राजेन्द्र ये प्रागभिहिते तव॥
तृतीयां वड़वामेके तासां संज्ञासुतास्त्रयः।
यमो यमी श्राद्धदेवश्छायायाश्च सुतान् शृणु॥
सावर्णिस्तपती कन्या भार्य्या संवरणस्य या।
शनैश्चरस्तृतीयोऽभूदश्विनौ वड़वात्मजौ॥
अष्टमेऽन्तर आयाते सावर्णिर्भविता मनुः।
निर्म्मोकविरजस्काद्याः सावर्णितनया नृप॥
तत्र देवाः सुतपसो विरजा अमृतप्रभाः।
तेषां विरोचनसुतो वलिरिन्द्रो भविष्यति॥
दत्त्वेमां याचमानाय विष्णवे यः पदत्रयम्।
राद्धमिन्द्रपदं हित्वा ततः सिद्धिमवाप्स्यति॥
योऽसौ भगवता बद्धः प्रीतेन सुतले पुनः।
निवेशितोऽधिके स्वर्गादधुनास्ते स्वराडिव॥
गालवो दीप्तिमान्रामो द्रोणपुत्त्रः कृपस्तथा।
ऋष्यशृङ्गः पितास्माकं भगवान् वादरायणः।
इमे सप्तर्षयस्तत्र भविष्यन्ति स्वयोगतः॥
इदानीमासते राजन् स्वे स्वे आश्रममण्डले।
देवगुह्यात् सरस्वत्यां सार्व्वभौम इति प्रभुः।
स्थानं पुरन्दराद्धृत्वा वलये दास्यतीश्वरः॥"
इति श्रीभागवते। ८। १३। ८—१७॥
(अस्य विशेषविवरणन्तु मार्कण्डेयपुराणे देवीमाहात्म्ये द्रष्टव्यम्॥) गोत्रविशेषः। यथा। वात्स्यसावर्णिगोत्रयोरौर्व्वच्यवनभार्गवजामदग्न्याप्नुवत्प्रवराः। इत्युद्वाहतत्त्वम्॥

सावित्रं, क्ली, (सविता देवता अस्येति। अण्।) यज्ञोपवीतम्। इति शब्दरत्नावली॥ (तत्सम्बन्धिनि, त्रि। यथा, भागवते। ४।३१।१०।
"किं जन्मभिस्त्रिभिर्व्वेह शौक्रसावित्रयाज्ञिकैः।
कर्म्मभिर्वा त्रयीप्रोक्तैः पुंसोऽपि विबुधायुषा॥")

सावित्रः, पुं, (सविता देवता अस्येति। अण्।) ब्राह्मणः। इति हेमचन्द्रः॥ शङ्करः। वसुः। इति मेदिनी॥ (स्वार्थे अण्।) सूर्य्यः। गर्भः। इति शब्दरत्नावली॥ (सवितुरपत्यं पुमान्। अण्। कर्णः। यथा, महाभारते। १। १३७। ८।
"सोऽब्रवीत् मेघगम्भीरस्वरेण वदतां वरः।
भ्राता भ्रातरमज्ञातं सावित्रः पाकशासनिम्॥"
सूर्य्यवंशीये, त्रि। यथा, उत्तरचरिते १ अङ्के।
"यत् सावित्रैर्दीपितं भूमिपालै-
र्लोकश्रेष्ठैः साधु शुद्धं चरित्रम्।
मत्सम्बन्धात् कश्मला किंवदन्ती
स्याच्चेदस्मिन् हन्त धिक् मामधन्यम्॥"

सवितृसम्बन्धिनि च त्रि । यथा, मनुः । ४ । १५० ।
"सावित्रान् शान्तिहोमांश्च कुर्य्यात् पर्व्वसु नित्यशः ॥")

सावित्री, स्त्री, शाल्वदेशीयसत्यवद्राजपत्नी । सा तु मद्रदेशीयाश्वपतिराजकन्या ॥ (अस्या विशेषविवरणन्तु महाभारते वनपर्व्वणि २९२ अध्यायमारभ्य द्रष्टव्यम् ॥*॥) उमा । इति मेदिनी ॥ तन्नामकरणं यथा,—
"त्रिदशैरर्च्चिता देवी वेदयागेषु पूजिता । भावशुद्धस्वरूपा तु सावित्री तेन सा स्मृता ॥"
इति देवीपुराणे ४४ अध्यायः ॥
अपि च ।
"सर्व्वलोकप्रसवनात् सविता स तु कीर्त्त्यते । यतस्तद्देवता देवी सावित्रीत्युच्यते ततः । वेदप्रसवनाच्चापि सावित्री प्रोच्यते बुधैः ॥"
इति वह्निपुराणे ब्राह्मणप्रशंसानामाध्यायः ॥ गायत्त्री । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ * ॥ (उपनयनकर्म्म । यथा, मनुः । २ । ३८ ।
"आ षोड़शात् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्त्तते । आ द्वाविंशात् क्षत्त्रबन्धोरा चतुर्विंशतेर्विशः ॥"
"सावित्रीशब्देन तदनुवचनसाधनमुपनयनाख्यं कर्म्म लक्ष्यते ।" इति मेधातिथिः ॥) ब्रह्मपत्नी । सा तु सवितुः पृश्न्यां पत्न्यां जाता । अस्या उत्पत्तिनामान्तराणि यथा,—
"ततः संजपतस्तस्य भित्त्वा देहमकल्मषम् । स्त्रीरूपमर्द्धमकरोदर्द्धं पुरुषरूपवत् ॥ शतरूपा च सा ख्याता सावित्री च निगद्यते । सरस्वत्यथ गायत्त्री ब्रह्माणी च परन्तप ॥"
इति मात्स्ये । ३ । ३०—३२ ॥ * ॥
तस्या शतनामानि यथा,—
विष्णुरुवाच ।
"सावित्री पुष्करे नाम तीर्थानां प्रवरे शुभे । वाराणस्यां विशालाक्षी नैमिषे लिङ्गधारिणी । प्रयागे ललिता देवी कामुका गन्धमादने । मानसे कुमुदा नाम विश्वकाया तथाम्बरे ॥ गोमते गोमती नाम मन्दारे कामचारिणी । मदोत्कटा चैत्ररथे जयन्ती हस्तिनापुरे ॥ कान्यकुब्जे तथा गौरी रम्भा मलयपर्व्वते । एकाम्रके कीर्त्तिमती विश्वा विश्वेश्वरे तथा ॥ जया वराहशैले तु कमला कमलालये । रुद्रकोट्यान्तु रुद्राणी काली कालञ्जरे गिरौ । महालिङ्गे तु कपिला कर्क्कोटे मुकुटेश्वरी । शालग्रामे महादेवी शिवलिङ्गे जलप्रिया ॥ नीलोत्पला मायापुर्य्यां सन्तन्ने ललिते तथा । उत्पलाक्षी सहस्राक्षे हिरण्याक्षी महोत्पले ॥ गङ्गायां मङ्गला नाम विमला पुरुषोत्तमे । विपाशायाममोघाक्षी पाटला पाण्डुपर्व्वते ॥ नारायणी सुपार्श्वे तु त्रिकूटे रुद्रसुन्दरी । विपुले विपुला नाम कल्याणी मलयाचले ॥ कोटरी कोटरीतीर्थे सुगन्धा गन्धमादने । कुब्जाम्रके त्रिसन्ध्या तु गङ्गाद्वारे हरिप्रिया ॥ शिवकुण्डे शुभा चण्डा नन्दिनी देविकातटे । रुक्मिणी द्वारवत्यान्तु राधा वृन्दावने वने ॥ देवकी मथुरायान्तु पाताले परमेश्वरी । सीता विन्ध्ये तथा रौद्री कालिन्द्यां विन्ध्यवासिनी ॥ सह्याद्रावेकवीरा तु हरिश्चन्द्रे तु चन्द्रिका । रमणा रामतीर्थे तु यमुनायां मृगावती ॥ करवीरे महालक्ष्मीरुमा देवी विनायके । अरोगे तु रोगहन्त्री महाकाले महेश्वरी ॥ अभयेत्युष्णतीर्थे तु अमृता विन्ध्यकन्दरे । माण्डव्ये माण्डवी देवी महागौरी महेश्वरी ॥ गणेशे च प्रचण्डा तु चण्डिकामरकण्टके । सोमेश्वरी वराहे तु प्रभासे पुष्करावती ॥ देवी माता सरस्वत्यां पारावारतटे स्थिता । महालये महापद्मा पयोष्ण्यां पिङ्गलेश्वरी । सिंहिका कृतशौचे च कार्त्तिकेये तु शङ्करी । उत्पलावर्त्तके लोला सुभद्रा सिन्धुसङ्गमे ॥ माता सिद्धवने लक्ष्मीरनङ्गा भरताश्रमे । जालन्धरे विश्वमुखी तारका किष्किन्धपर्व्वते ॥ देवदारुवने पुष्टिर्मेधा काश्मीरमण्डले । भीमा देवी हिमाद्रौ तु तुष्टिर्व्विश्वेश्वरे तथा ॥ कपालमोचने शुद्धा माता कायावरोहणे । शङ्खोद्धारे ध्वनिर्नाम धृतिः पिण्डारके वने ॥ काली तु चन्द्रभागायामच्छोदे सिद्धिदायिनी । वरनारायणे देवी वदर्य्यामूर्व्वशी तथा ॥ ओषधीशोत्तरकुरौ कुशद्वीपे कुशोदका । मन्मथा हेमकूटे तु कुमुदे सत्यवादिनी ॥ अश्वत्थवन्दनीका तु निधिर्व्वैश्रवणालये । गायत्त्री वेदशालायां सावित्री ब्रह्मसन्निधौ ॥ सूर्य्यविम्बे प्रभा नाम मातॄणां वैष्णवी मता । अरुन्धती सतीनान्तु रामासु च तिलोत्तमा ॥ ब्रह्मे ब्रह्मकला नाम शक्तिः सर्व्वशरीरिणाम् । एतदुद्देशतः प्रोक्तं नामाष्टशतमुत्तमम् ॥ अष्टोत्तरञ्च तीर्थानां शतमेतदुदाहृतम् । यो जपेत् शृणुयाद्वापि सर्व्वपापैः प्रमुच्यते ॥ एषु तीर्थेषु यत् कृत्वा स्नात्वा पश्येन्नरो हि यः । सर्व्वपापविनिर्म्मुक्तः कल्पं ब्रह्मपुरे वसेत् ॥ नामाष्टशतकं यस्तु श्रावयेद्ब्रह्मसन्निधौ । पौर्णमास्याममावस्यां बहुपुत्त्रो भवेन्नरः ॥ गोदाने श्राद्धदाने च अहन्यहनि वा पुनः । देवार्च्चनविधौ विद्वान् परं ब्रह्माधिगच्छति ॥"
इति पद्मपुराणे सृष्टिखण्डे १७ अध्यायः ॥*॥
अपि च ।
नारद उवाच ।
"तुलस्युपाख्यानमिदं श्रुतमीश सुधोपमम् । तत्तु सावित्र्युपाख्यानं तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ पुरा येन समुद्भूता सा श्रुता च श्रुतिप्रसूः । केन वा पूजिता देवी प्रथमे कैश्च वा परे ॥
नारायण उवाच ।
ब्रह्मणा वेदजननी पूजिता प्रथमे मुने । द्वितीये च वेदगणैस्तत्पश्चाद्विदुषां गणैः ॥ तदा चाश्वपतिः पूर्व्वं पूजयामास भारते । तत्पश्चात् पूजयामासुर्व्वर्णाश्चत्वार एव च ॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते प्रकृतिखण्डे । २३ । १—४ ॥

सावित्रीव्रतं, क्ली, (सावित्र्या व्रतम् ।) ज्यैष्ठकृष्णचतुर्द्दश्यां स्त्रीकर्त्तव्यनियमविशेषः । तद्विवरणं यथा । पराशरः ।
"भूते वा दर्शे वापि सावित्रीं तां विनिर्द्दिशेत् ॥"
तां चतुर्द्दशीम् ।
"ज्यैष्ठकृष्णचतुर्द्दश्यां सावित्रीमर्च्चयन्ति याः । वटमूले सोपवासा न ता वैधव्यमाप्नुयुः ॥"
राजमार्त्तण्डकृत्यचिन्तामण्योः ।
"ज्यैष्ठे मासि चतुर्द्दश्यां सावित्रीव्रतमुत्तमम् । अवैधव्याय कुर्व्वन्ति स्त्रियः श्रद्धासमन्विताः ॥"
व्रतमात्रे तु अनन्तचतुर्द्दशीव्रतोक्तमाचरन्ति । हृष्टपरिकल्पनान्यायात् । तदुक्तं मत्स्यपुराणे ।
"गर्भिणी सूतिका नक्तं कुमारी च रजस्वला । यदाशुद्धा तदान्येन कारयेत् क्रियते सदा ॥"
उपवासाशक्तौ नक्तं भोजनं कुर्य्यात् ।
"उपवासेष्वशक्तानां नक्तं भोजनमिष्यते ।"
इति तद्वचनान्तरात् । अशुद्धा चेत् पूजां कारयेत् । कायिकश्चोपवासादिकं यदा शुद्धया अशुद्धया च स्वयं क्रियते । एवं स्मृतिपरिभाषायां वर्द्धमानोपाध्यायाः । नारदः ।
"दिवाभागे चयोदश्यां यदा चतुर्द्दशी भवेत् । तत्र पूज्या महासाध्वी देवी सत्यवता सह ॥"
दिवाभागे दण्डद्वयमात्रसत्त्वेऽपि अतएव प्रदोषे व्रतमाचरन्ति । पूर्व्वाह्णे तद्विधत्वेऽपि पराह्णे त्रिसन्ध्यव्यापित्वे पराह्ण एव त्रिसन्ध्यव्यापिनीति वचनात् । यदा तु पूर्व्वापरयोर्न तथाविधा । तदापि पराह्ण एव । यथा । ज्योतिषे ।
"चतुर्द्दश्याममावास्या यदा भवति नारद ! । उपोष्य पूजनीया सा चतुर्द्दश्यां विधानतः ॥"
सा सावित्री । तत्रश्चामावास्यायां सावित्रीव्रतविधानं शिवा घोरा तथा प्रेतेति वचनश्चेतत्परम् । पराशरः ।
"सावित्रीमर्च्चयित्वा तु फलाहारा परेऽहनि । सतश्चाविधवा नारी वित्तभोगान् लभेत सा ॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥
अन्यत् वनपर्व्वीयसावित्रीव्रतकथायां द्रष्टव्यम् ॥

सावित्रीसूत्रं, क्ली, (सावित्रीदीक्षाकालिकं सूत्रम् ।) यज्ञोपवीतम् । इति शब्दरत्नावली ॥

साशयन्दकः, पुं, ज्येष्ठी । इति केचित् ॥

साशूकः, पुं, कमलः । इति हारावली । १५६ ॥

साश्रुधीः, स्त्री, श्वश्रूः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सास्थितास्राङ्गं, क्ली, (सास्थि अस्थिसहितं तास्राङ्गं यत्र ।) कांस्यम् । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सास्ना, स्त्री, (षस स्वप्ने + "रास्नासास्नास्थूणावीणाः ।" उणा० ३ । १५ । इति नप्रत्ययेन साधुः ।) गलकम्बलः । इत्यमरः । २ । ९ । ६३ ॥ (यथा, माघे । ५ । ६२ ।
"रोमन्थमन्थरचलद्गुरुसास्नमासाचक्रे निमीलदलसेक्षणमौक्षकेण ॥")

साहचर्य्यं, क्ली, (सहचरस्य भावः कर्म्म वा । सहचर + ष्यञ् ।) सहचरस्य भावः । (यथा, कुमारे । ३ । २१ ।
"मधुश्च ते मन्मथ ! साहचर्य्या-
दसावनुक्तोऽपि सहाय एव ।
समीरणो नोदयिता भवेति
व्यादिश्यते केन हुताशनस्य ॥")
सहगमनम् । सहचरशब्दात् ष्यञ्प्रत्ययेन निष्पन्नम् ॥ सहचारः । सामानाधिकरण्यम् । एकाधिकरणवृत्तित्वम् । यथा,—
"प्रायशो रूपभेदेन साहचर्य्याच्च कुत्रचित् ।"
इत्यमरः ॥
(सहधर्म्माचरणम् । इति मल्लिनाथः ॥ यथा, रघुः । १६ । ८७ ।
"तस्याः स्पृष्टे मनुजपतिना साहचर्य्याय हस्ते माङ्गल्योर्णावलयिनि पुरः पावकस्योच्छिखस्य ॥")

साहयः, त्रि, (साहयतीति । साहि + "अनुपसर्गात् लिम्पविन्देति ।" ३ । १ । १३८ । इति शः ।) सहनकारयिता । इति व्याकरणम् ॥

साहसं, क्ली, (सहसा बलेन निर्वृत्तम् । सहस् + "तेन निर्वृत्तम् ।" ४।२।६८ । इति अण् ।) दण्डः । इत्यमरः । २।८।२१ ॥ स च त्रिविधः । यथा, याज्ञवल्क्यः ।
"साशीतिपणसाहस्रो दण्ड उत्तमसाहसः ।
तदर्द्धं मध्यमः प्रोक्तस्तदर्द्धमधमः स्मृतः ॥"
इति प्रायश्चित्ततत्त्वम् ॥
बलात्कारकृतकार्य्यम् । इति मेदिनी ॥ (यथा,
"वेगरोधात् क्षयाच्चैव साहसाद्विषमाशनात् ।
त्रिदोषो जायते यक्ष्मा गदो हेतुचतुष्टयात् ॥"
इति माधवकरसंगृहीतरुग्विनिश्चये यक्ष्माधिकारे ॥ "साहसादिति साहसो बलवद्विग्रहादिरूपः क्षोभहेतुत्वेन कारणत्वम् ॥" इति तट्टीकायां विजयरक्षितः ॥*॥ दुष्कृतकर्म्म । अविमृश्यकृतिः । (यथा, महाभारते । २।४२।९ ।
"यद्येतत् साहसं तात ! यदि वा दुष्कृतं कृतम् ।
प्रियं वाप्यप्रियं वा ते वागुक्ता न मृषा भवेत् ॥")
दमः । इति हेमचन्द्रः ॥ पश्चाद्दोषमनालोच्य करणम् । तत्तु चौर्य्यपरदारगमनादि । इति मुग्धबोधटीकायां दुर्गादासः ॥*॥ साहसमाह नारदः ।
"मनुष्यमारणं स्तेयं परदाराभिमर्षणम् ।
पारुष्यमनृतञ्चैव साहसं पञ्चधा स्मृतम् ॥"
अत्र सद्य एवोत्तरदापनम् । यथा,—
"साहसस्तेयपारुष्यगोऽभिशापात्यये स्त्रियाम् ।
विवादयेत् सद्य एव कालोऽन्यत्रेच्छया स्मृतः ॥"
विवादयेत् सद्य एवोत्तरं दापयेत् । इति शूलपाणिः ॥ तत्र दासादयोऽपि साक्षिणो भवन्ति । यथा, उशना ।
"दासोऽन्धो बधिरः कुष्ठी स्त्रीबालस्थविरादयः ।
एतेऽप्यनभिसम्बन्धाः साहसे साक्षिणो मताः ॥"
इति व्यवहारतत्त्वम् ॥
(तद्युक्ते, त्रि । यथा, हरिवंशे भविष्यपर्व्वणि । ३६ । ३७ ।
"न जाने इति यद्ब्रूषे किमतः साहसं वचः ॥")

साहसः, पुं, (सहसे बलाय हितः । सहस् + अण् ।) अग्निविशेषः । यथा,—
"प्रायश्चित्ते विधुश्चैव पाकयज्ञे तु साहसः ।
लक्षहोमे च वह्निः स्यात् कोटिहोमे हुताशनः ॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥

साहसाङ्कः, पुं, (साहसः एव अङ्कश्चिह्नं यस्य ।) विक्रमादित्यराजः । इति जटाधरः ॥

साहसिकः, त्रि, (सहसा बलेन वर्त्तते इति । सहस् + "ओजःसहोम्भसा वर्त्तते ।" ४ । ४ । २७ । इति ठक् ।) मनुष्यमारकः । चौरः । पारदारिकः । परुषवादी । अनृतवादी । इति साहसशब्दार्थदर्शनात् । एते असाक्षिणः । यथा नारदः ।
"स्तेनाः साहसिका धूर्त्ताः कितवा योधकाश्च ये ।
असाक्षिणस्तु ते दुष्टास्तेषु सत्यं न विद्यते ॥"
इति व्यवहारतत्त्वम् ॥
(हठकारी । यथा, "केचित् साहसिकास्त्रिलोचनमिति पेठुः ।" इति कुमारटीकायां मल्लिनाथः । ३ । ४४ ॥)

साहस्रं, क्ली, (सहस्राणां समूहः । सहस्र + "भिक्षादिभ्योऽण् ।" ४ । २ । ३८ । इति अण् ।) सहस्रसमूहः । इत्यमरः । ३ । २ । ४५ ॥ (यथा, महाभारते । २ । ५८ । १३ ।
"एतावन्ति च दासानां साहस्राण्युत सन्ति मे ॥"
सहस्रमेव । स्वार्थे अण् ।) सहस्रमात्रम् । यथा,—
"हरिस्ते साहस्रं कमलबलिमाधाय पदयोर्यदेकोने तस्मिन्निजमुदहरन्नेत्रकमलम् ।
गतो भक्त्युद्रेकः परिणतिमसौ चक्रवपुषा
त्रयाणां रक्षायै त्रिपुरहर जागर्त्ति जगताम् ॥"
इति महिम्नस्तवः ॥
(सहस्रेण क्रीतमिति । "शतमानविंशतिकसहस्रवसनादण् ।" ५ । १ । २७ । इति अण् ।) सहस्रेण क्रीते, त्रि ॥ (सहस्रस्येदमिति । अण् ।) सहस्रसम्बन्धिनि च त्रि ॥ (यथा, विष्णुपादादिकेशान्तवर्णनस्तोत्रे । १४ ।
"साहस्री वापि संख्या प्रकटमभिहिता सर्व्ववेदेषु येषाम् ॥")

साहस्रः, पुं, (सहस्रमस्यास्तीति । सहस्र + "अण् च ।" ५ । २ । १०३ । अण् ।) सहस्रसङ्ख्यकगजादिना बली । इत्यमरः । २ । ८ । ६२ ॥ (सहस्रविशिष्टे, त्रि । यथा, मनुः । ८ । ३८३ ।
"सहस्रं ब्राह्मणो दण्ड्यो दाप्यो गुप्ते तु ते व्रजन् ।
शूद्रायां क्षत्त्रियविशोः साहस्रो वै भवेद्दमः ॥")

साहायकं, क्ली, (सहायस्य भावः कर्म्म वा । सहाय + "योपधात् गुरूपोत्तमात् वुञ् ।" ५ । १ । १३२ । इत्यत्र सहायाद्वेति वक्तव्यम् इत्युक्तेः पाक्षिको वुञ् ।) साहाय्यम् । सहायस्य भाव इत्यर्थे कण्प्रत्ययेन निष्पन्नम् ॥ (यथा, रघुः । १७ । ५ ।
"स कुलोचितमिन्द्रस्य साहायकमुपेयिवान् ।
जघान समरे दैत्यं दुर्जयं तेन चावधि ॥")

साहाय्यं, क्ली, (सहायस्य भावः कर्म्म वा । सहाय + पक्षे ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ् ।) सहायता । सहायशब्दात् ष्यञ्प्रत्ययेन निष्पन्नम् ॥ (यथा, महाभारते । १ । १५५ । १६ ।
"साहाय्येऽस्मि स्थितः पार्थ ! पातयिष्यामि राक्षसम् ।",

साहित्यं, क्ली, स्त्री, (सहित + ष्यञ् ।) मेलनम् । सहितस्य भावः इत्यर्थे ष्यञ्प्रत्ययेन निष्पन्नम् ॥ परस्परसापेक्षाणां तुल्यरूपाणां युगपदेकक्रियान्वयित्वं साहित्यम् । इति श्राद्धविवेकः ॥ तुल्यवदेकक्रियान्वयित्वम् । बुद्धिविशेषविशेष्यत्वं वा । इति शब्दशक्तिप्रकाशिका ॥ साहित्यं एकक्रियान्वयित्वम् । तद्यथा । धवखदिरपलाशांश्छिन्धि इत्यत्र धवखदिरपलाशप्रतियोगिकं यत् साहित्यं तन्निरूपितं यदवयवविभागरूपफलं तज्जनिका या छिदिक्रिया तदनुकूलकृतिमांस्त्वम् । इति सारमञ्जरी ॥ मनुष्यकृतश्लोकमयग्रन्थविशेषः । स तु भट्टि-रघु-कुमारसम्भव-माघ-भारवि-मेघदूत-विदग्धमुखमण्डनशान्तिशतकप्रभृतयः ॥

साह्यं, क्ली, (सहस्य भावः । सह + ष्यञ् ।) मेलनम् । सहितत्वम् । इति धरणिः ॥ (साहाय्यम् । यथा, महाभारते । ५ । ७ । ११ ।
"ततो दुर्य्योधनः कृष्णमुवाच प्रहसन्निव ।
विग्रहेऽस्मिन् भवान् साह्यं मम दातुमिहार्हति ॥")

साह्यकृत्, पुं, (साह्यं करोतीति । कृ + क्विप् ।) समभिव्याहारी ॥

साह्वयः, पुं, (आह्वयेन सह वर्त्तमानः ।) मेषादिप्राणिद्यूतम् । पशुयुद्धम् । यथा,—
"मेषादिप्राणिद्यूते स्यात् साह्वयश्च समाह्वयः ।"
इति शब्दरत्नावली ॥
(नामयुक्ते, त्रि । यथा, भागवते । १ । ४ । ६ ।
"कथमालक्षितः पौरैः सं प्राप्तः कुरुजाङ्गलम् ।
उन्मत्तमूकजड़वत् विचरन् गजसाह्वये ॥")

सिंहः, पुं, (सिञ्चति तेजः पशुषु इति । सिच + "सिचेः संज्ञायां हनुमौ कश्च ।" उणा० ५ । ६२ । इति कः । अन्त्यादेशो हकारः । नुम् च । पृषोदरादित्वात् अन्तविपर्य्यये हिनस्तीति सिंह इत्यपि भवति ।) स्वनामख्यातपशुः । (यथाह कश्चित् ।
"सिंहो बली द्विरदकुञ्जरमांसभोजी
संवत्सरेण कुरुते रतिमेकवारम् ।
पारावतः खलु शिलाकणमात्रभोजी-
कामी भवेदनुदिनं वद कोऽत्र हेतुः ॥")
तत्पर्य्यायः । मृगेन्द्रः २ पञ्चास्यः ३ हर्य्यक्षः ४ केशरी ५ हरिः ६ । इत्यमरः । २ । ५ । १ ॥

यारीन्द्रः ७ श्वेतपिङ्गलः ८ कण्ठीरवः ९ पञ्चशिखः १० शैलाटः ११ भीमविक्रमः १२ सटाङ्कः १३ मृगराट् १४ मृगराजः १५ मन्तप्लवः १६ केशरी १७ अम्बौकाः १८ करिदारकः १९। इति शब्दरत्नावली ॥ महावीरः २० श्वेतपिङ्गः २१ गजमोचनः २२ मृगारिः २३। इति जटाधरः ॥ इभारिः २४ नखरायुधः २५ महानादः २६ मृगपतिः २७। इति हेमचन्द्रः ॥ पञ्चमुखः २८ नखी २९ मानी ३० क्रव्यादः ३१ मृगाधिपः ३२ शूरः ३३ विक्रान्तः ३४ द्विरदान्तकः ३५ बहुबलः ३६ दीप्तः ३७ बली ३८ विक्रमी ३९ दीप्रपिङ्गलः ४०। तन्मांसगुणाः। अर्शःप्रमेहजठरामयजाड्यनाशित्वम्। इति राजनिर्घण्टः ॥ अपि च।
"सिंहव्याघ्रतरक्षतरक्ष्वृक्षद्वीपिनस्तथा।
बभ्रुजम्बुकमार्जारा इत्याद्यास्तु गुहाशयाः ॥
गुहाशया वातहरा गुरूष्णमधुराश्च ते।
स्निग्धा बल्या हिता नित्यं नेत्रगुह्यविकारिणाम् ॥"
इति भावप्रकाशः ॥ * ॥
पदान्ते श्रेष्ठार्थवाचकः। इत्यमरः। ३।१।५९ ॥ (यथा, रामायणे। २। ७६। ७।
"क्व यास्यसि महाराज ! हित्वेमं दुःखितं जनम्।
हीनं पुरुषसिंहेन रामेणाक्लिष्टकर्म्मणा ॥")
अर्हतां ध्वजः। इति हेमचन्द्रः ॥ रक्तशिग्रुः। इति राजनिर्घण्टः ॥ (यथा, सुश्रुते। ४। ९।
"तुत्थालकटुकाव्योषसिंहाकैहयमारकाः ॥")
मेषादिद्वादशराश्यन्तर्गतपञ्चमराशिः। तत्पर्य्यायः। लेयः २। इति सत्कृत्यमुक्तावली ॥ तस्याधिष्ठात्री देवता सिंहः। स च मघापूर्व्वफल्गुनी-समुदायोत्तरफल्गुनी-प्रथमपादेन भवति। अग्निराशिः। पीतवर्णः। रूक्षः। एवं धूम्रवर्णः। पित्तप्रकृतिः। पूर्व्वदिक्स्वामी। पर्व्वतचारी। क्षत्त्रियवर्णः। क्रूरः। महाशब्दः। अल्पसन्तानः। अल्पस्त्रीसङ्गश्च। तत्र जातफलम्। क्रोधी। शीघ्रगतिः। हास्यवाचिः। स्नानसक्तः। चपलः। शीतलः। मत्स्यप्रियश्च। इति इहज्जातकादयः ॥ * ॥ मेषादिद्वादशलग्नान्तर्गतपञ्चमलग्नम्। तत्र जातफलम्।
"सिंहलग्ने समुत्पन्नो भोगी शत्रुविमर्द्दनः।
स्वल्पोदरोऽल्पपुत्रश्च सोत्साहो गजविक्रमः ॥"
इति कोष्ठीप्रदीपः ॥
सिंहकेलिः, पुं, (सिंहस्येव केलिर्यस्य।) मञ्जुघोषः। जिनविशेषः। इति त्रिकाण्डशेषः ॥
सिंहकेशरः, पुं, (सिंहस्येव केशरो यस्य।) वकुलः। इति त्रिकाण्डशेषः ॥ सिंहस्य जटा च ॥
सिंहतलः, पुं, (सिंहस्येव तलमत्र। यद्वा, संहतलः। पृषोदरादित्वात् साधुः।) बद्धाञ्जलिः। करद्वययोजनम्। इत्यमरटीकायां रामाश्रमः। २। ६। ८५ ॥

सिंहतुण्डः, पुं, (सिंहस्य तुण्डमिव पुष्पमस्य।) सेहुण्डवृक्षः। इति राजनिर्घण्टः ॥ (अस्य पर्य्यायो यथा,—
"सेहुण्डः सिंहतुण्डः स्यात् वज्री वज्रद्रुमोऽपि च।
सुधासमन्तदुग्धा च स्नुक् स्त्रियां स्यात् स्नुही गुडा ॥"
इति भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे प्रथमे भागे ॥
सिंहस्य तुण्डमिव तुण्डमस्य। मत्स्यविशेषः। यथा, मनुः। ५। १६।
"पाठीनरोहितावाद्यौ नियुक्तौ हव्यकव्ययोः।
राजीवान् सिंहतुण्डांश्च सशल्कांश्चैव सर्व्वशः ॥"
सिंहमुखे, क्ली ॥)
सिंहद्वारं, क्ली, (सिंहचिह्नितं द्वारमिति मध्यपदलोपिकर्म्मधारयः।) प्रवेशद्वारम्। तत्पर्य्यायः। प्रवेशनम् २। इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, कथासरित्सागरे। ४३। १७५।
"सिंहद्वारे शुवा देवि दृष्टौ स्ताभिर्मर्हाव्रती।
सद्वितीयोऽपि यो प्रत्ते सौन्दर्य्येणाद्वितीयताम् ॥")
सिंहध्वनिः, पुं, (सिंहस्य ध्वनिः।) सिंहशब्दः। सिंहनादवद्दर्पशब्दः। यथा,—
"तुषारसंघातशिलाः खुराग्रैः
समुल्लिखन् दर्पकलः ककुद्मान्।
दृष्टः कथञ्चिद्गवयैर्विविग्नै-
रसोढ़सिंहध्वनिरुन्ननाद ॥"
इति कुमारसम्भवम् ॥
सिंहनादः, पुं, (सिंहस्येव नादः।) योधानां रणोत्साहजरवः। तत्पर्य्यायः। क्ष्वेडा २। इत्यमरः। २। ८। १०७ ॥ गजयूथदर्पनाशात् तद्भङ्गाय यथा सिंहस्य नादस्तथा परबलभङ्गाय स्वोत्साहविद्धये च यो रावः सः। सिंहस्येव नादः सिंहनादः। इति भरतः ॥ (यथा आर्य्यासप्तशत्याम्। ७००।
"कविसमरसिंहनादः स्वराणुनादः सुधैकसंवादः।
विद्वद्विनोदकन्दः सन्दर्भोऽयं मया हृष्टः ॥"
महादेवः। इति महाभारतम्। १३। १७। ११०। ॥ * ॥ सिंहस्य नादः।) सिंहशब्दश्च ॥
सिंहनादकः, पुं, (सिंह इव नदतीति। नद + ण्वुल्।) बुक्कारः। इति हारावली। १९४ ॥ सिङ्गा इति भाषा ॥
सिंहनादिका, स्त्री, (सिंहमपि नादयतीति। नद + णिच् + ण्वुल्। टापि अत इत्वम्।) दुरालभा। इति शब्दचन्द्रिका ॥
सिंहपर्णी, स्त्री, सिंहस्य शिरोः पर्णमिव पर्णमस्याः। ङीष्।) वासकः। इति जटाधरः ॥
सिंहपुच्छिका, स्त्री, (सिंहपुच्छी + स्वार्थे कन्।) चित्रपर्णिका। इति रत्नमाला ॥ चुरचाकुलिया इति भाषा ॥
सिंहपुच्छी, स्त्री, (सिंहस्य पुच्छ इव पुष्पमस्याः। ङीष्।) चित्रपर्णिका। पृश्निपर्णी। इत्यमरः। २। ४। ९३ ॥ माषपर्णी। इति रत्नमाला ॥

सिंहपुष्पी, स्त्री, (सिंहस्य पुच्छ इव पुष्पमस्याः। ङीष्।) पृश्निपर्णी। इति राजनिर्घण्टः ॥
सिंहमुखी, स्त्री, (सिंहस्य मुखमिव पुष्पमस्याः। ङीष्।) वासकः। इति राजनिर्घण्टः ॥
सिंहयाना, स्त्री, (सिंहो यानं वाहनं यस्याः।) दुर्गा। इति हेमचन्द्रः ॥
सिंहरथा, स्त्री, (सिंह एव रथो यस्याः।) दुर्गा। इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, हरिवंशे। १७६। १७।
"वराङ्गनां सिंहरथां बहुरूपां वृषध्वजाम् ॥")
सिंहलं, क्ली, (सिंहलो देशः प्रभवत्वेनास्त्यस्येति। अच्।) रङ्गम्। इति हेमचन्द्रः ॥ रीतिः। त्वचम्। इति राजनिर्घण्टः ॥
सिंहलः, पुं, स्त्री, (सिंहं लाति प्राप्नोतीति। ला + कः।) देशविशेषः। शिलोन इति ख्यातः। यथा,—
"द्रविडोऽथ सिंहलमहेन्द्रमलया ऋष्यमूकाः।
चित्रकूटमहारण्यकाञ्चीसिंहलकोङ्कणाः ॥"
इति ज्योतिस्तत्त्वम् ॥
(अयन्तु जम्बुद्वीपस्य अष्टप्रतिद्वीपानामन्यतमः। यथा, भागवते। ५। १९। २९—३०।
"जम्बुद्वीपस्य च राजन् उपद्वीपानष्टौ हैक उपदिशन्ति सगरात्मजैरश्वान्वेषण इमां महीं परितो निखनद्भिरुपकल्पितान्। तद्यथा स्वर्णप्रस्थश्चन्द्रशुक्ल आवर्त्तनो रमणको मन्दहरिणः पाञ्चजन्यः सिंहलो लङ्केति।" * ॥
तद्देशवासिनि, पुं भूम्नि। यथा, महाभारते। १। १७४। ३५।
"पौण्ड्रान् किरातान् यवनान् सिंहलान् वर्व्वरान् खशान्।
ससर्ज्ज फेनतः सा गौर्म्लेच्छान् बहुविधानपि ॥")
सिंहलस्था, स्त्री, (सिंहले तिष्ठति या। स्था + कः।) सैंहली। इति राजनिर्घण्टः ॥ सिंहलदेशवासिनी च ॥
सिंहलास्थानः, पुं, (सिंहल आस्थानं यस्य।) तालसदृशवृक्षविशेषः। यथा,—
"प्रोतुफलः सिंहलास्थानश्च पिञ्जा क्वापि च ॥"
इति शब्दमाला ॥
सिंहलीलः, पुं, (सिंहस्य लीलेव लीला यत्र।) रतिबन्धविशेषः। तस्य लक्षणं यथा,—
"लिङ्गोपरिस्थिता नारी भूमौ दत्त्वा पदद्वयम्।
हृदये दत्तहस्ता च सिंहलीलः प्रकीर्त्तितः ॥
लिङ्गोपरिस्थिता नारी कान्तोरुस्थपदद्वया।
हृदये दत्तहस्ता च सिंहलीलोऽप्ययमपि ॥"
इति रतिमञ्जरी ॥
सिंहवाहिनी, स्त्री, (सिंहरूपो वाहो वाहनमस्त्यस्या इति। इनिः।) दुर्गा। यथा,—
"सिंहमारुह्य कल्पान्ते निहतो महिषो यतः।
महिषघ्नी ततो देवी कथ्यते सिंहवाहिनी ॥"
इति देवीपुराणे ४५ अध्यायः ॥

सिंहविक्रान्तः, पुं, (सिंह इव विक्रान्तः।) अश्वः। इति हारावली।५२। शब्दमाला च ॥ सिंहतुल्यविक्रमविशिष्टे, त्रि ॥

सिंहविन्ना स्त्री, (सिंह इव विन्ना विख्याता।) माषपर्णी। इति राजनिर्घण्टः ॥

सिंहसंहननः, त्रि, (सिंहस्येव संहननं अवयवो यस्य।) वराङ्गरूपोपेतः। इत्यमरः।३।१।१२॥ प्रत्येकमवयवशुद्ध्या सुन्दरः। सिंहसंहननः स स्यादयो हि सर्व्वाङ्गसुन्दरः। इति कोषान्तरम् ॥ सिंहस्येव संहननं देहोऽस्य सिंहसंहननः। रूढ़िशब्दोऽयं यथाकथञ्चिदन्वयः। इति भरतः॥ (सिंहस्य संहननम्।) सिंहनाशने, क्ली ॥

सिंहा, स्त्री, (सिञ्चतीति। सिच+कः। अन्त्यादेशो हकारः। नुम् च। टाप्।) नाड़ी। इति राजनिर्घण्टः ॥

सिंहाणं, क्ली, लौहमलम्। इत्यमरटीका। २। १। ६८ ॥

सिंहानं, क्ली, लौहमलम्। इत्यमरः। २।१।६८॥ तस्य रूपान्तराणि यथा। शिंघाणम् २ सिंहाणम् ३ सिंघाणम् ४। इति तट्टीका ॥ नासिकामलम्। सिकनी इति भाषा। तत्पर्य्यायः। सिंहाणकम् २ सिंघाणम् ३ सिंघणम् ४। इति शब्दरत्नावली ॥ कफः ५ श्लेष्मा ६ खेटः ७। इति जटाधरः ॥

सिंहासनं, क्ली, (सिंहचिह्नितमासनम्।) स्वर्णमयराजासनम्। इत्यमरः। २। ८। ३२॥ अथ सिंहासनयुक्तिः।

"राज्ञो वरासनं नाम श्रीसिंहासनमुच्यते ॥
शुभे मुहूर्त्ते शुभमासवर्षे
सुवारवेलातिथिचन्द्रयोगे।
काले निवृत्पातनिरीतिभावे
सिंहासनावस्थविधिं वदन्ति ॥
स्थिरराशिस्थिते भानौ चन्द्रे च स्थिरभोदिते।
आसनारम्भमिच्छन्ति गृहारम्भेऽपि येषु च ॥"
एतेन गृहारम्भसिंहासनयोरारम्भः। तत्र क्रमः।
"बाणवेदाग्निपञ्चाशि सोपानानि युगैः क्रमात्।
चत्वारिंशत्तथा त्रिंशत् विंशतिः षोड़शैव च ॥
सिंहान्वितानि ज्ञेयानि चरणानि युगैः क्रमात्।
पद्मः शङ्खो गजो हंसः सिंहो भृङ्गो मृगो हयः ॥
अष्टौ सिंहासनानीति नीतिशास्त्रविदो विदुः।
आदित्यादिदशाजानां भूपतीनां यथाक्रमम् ॥
राज्ञः स्वहस्तैरष्टाभिरायामपरिणाहयोः।
राजपात्रमिदं नाम सोपानं पुरुषोन्नतम् ॥
तदर्द्धमानं तन्मध्ये राजासनमुदाहृतम्।
अर्द्धोन्नतमिदं रम्यं प्रोक्तं कलिमहीभुजाम्।
दिगष्टद्व्यग्निकोणः स्यादृश्वादीनां यथा-
यथम् ॥"

अथाष्टानां लक्षणानि।
"गम्भारीकाष्ठघटितः पद्ममालोपचित्रितः।
पद्मरागविचित्राङ्गः शुद्धः काञ्चनसंवृतः ॥
चरणाग्रे पद्मकोषात् पद्मरागविचित्रिताः।
दिव्यष्टौ पुत्रिका राजद्वादशाङ्गुलिसम्मिताः॥
राजासनं चतस्रश्च एवं द्वादशपुत्रिकाः।
रत्नैश्च नवभिः कार्य्यं निर्म्माणं चान्तरान्तरा ॥
रक्तवस्त्रावृतं ह्येतत् पद्मसिंहासनं मतम्।
अत्रोषित्वा नरपतिः प्रतापमतिविन्दति ॥१॥
भद्रेन्द्रकाष्ठघटितः शङ्खमालोपशोभितः।
शुद्धस्फटिकचित्राङ्गः शुद्धरूप्योपशोभितः ॥
चरणाग्रे शङ्खनाभिः पुत्रिकाः सप्तविंशतिः।
स्थाने स्थाने विधातव्याः शुद्धस्फटिकसंस्कृताः।
शुक्लपट्टावृतं ह्येतत् शङ्खसिंहासनं मतम् ॥२॥
पनसेनोपघटितो गजमालोपशोभितः।
विद्रुमैरपि वैदूर्य्यैः काञ्चनेनापि शोभितः ॥
चरणाग्रे गजशिरः पुच्छादेकैकपुत्रिका।
माणिक्यरचिता रक्तवस्त्रादिकविभूषणम्।
गजसिंहासनं नाम साम्राज्यफलदायकम् ॥३॥
शालकाष्ठेन घटितो हंसमालोपशोभितः।
पुष्परागैः काञ्चनेन कुरुविन्दैश्च चित्रितः ॥
चरणाग्रे हंसरूपं पुत्रिकास्त्वेकविंशतिः।
गोमेदकोपघटितापीतवस्त्रविभूषणम्।
हंससिंहासनं नाम सर्व्वानिष्टविनाशनम् ॥४॥
चन्दनेनोपघटितः सिंहमालोपभूषितः।
शुद्धहीरकचित्राङ्गः शुद्धकाञ्चननिर्म्मितः ॥
चरणाग्रे सिंहलेखः पुत्रिकाश्चैकविंशतिः।
मुक्ताशुक्तिभिरन्यैश्च निर्म्मलैरेव भूषणम् ॥
शुद्धशुक्लावृतं ह्येतत् सिंहसिंहासनं मतम्।
अत्रोषित्वा नरपतिः कृत्स्नां साधयति
क्षितिम् ॥५॥
भृङ्गमालोपसहितं शुद्धचम्पककल्पितम्।
शुद्धैर्म्मरकतैर्युक्तं पादाग्रे पद्मकोषिकाः ॥
द्वाविंशतिः पुत्रिकास्तु नीलवस्त्रादिभूषणम्।
भृङ्गसिंहासनं नाम शत्रुक्षयजयप्रदम् ॥६॥
निम्बकाष्ठेन घटनान्मृगमालोपशोभितम्।
इन्द्रनीलैर्म्महानीलैः काञ्चनेनापि चित्रितम् ॥
चरणाग्रे मृगशिरश्चत्वारिंशच्च पुत्रिकाः।
नीलवस्त्रादियुक्तन्तु मृगसिंहासनं मतम्।
लक्ष्मीविजयसम्पत्तिनैरन्तर्य्यपदमुत्तमम् ॥ ७ ॥
कैशरेणोपघटितं हयमालोपशोभितम्।
समस्तवस्त्रभूषाश्च पुत्रिकाः पञ्चसप्ततिः ॥
चरणाग्रे हयशिरश्चित्रवस्त्रादिभूषणम्।
हयसिंहासनं नाम लक्ष्मीविजयवर्द्धनम् ॥८॥
इत्येतत् कथितं सारं महासिंहासनाष्टकम्।
यथा भोजेन लिखितं यथा चान्यैश्च पण्डितैः ॥
एतस्यातिक्रमं दम्भाद्यः कुर्य्यात् पृथिवीपतिः।
अचिरादेव कुरुते तस्य मृत्युरतिक्रमम् ॥
परासनस्थो यो राजा यो राजा च निरासनः।
स परैर्हन्यते सिंहैरिव मत्तगजाधिपः ॥
खलमभिचासनमध्यसंस्थिति-
र्न दुष्यतीति प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥"
इति युक्तिकल्पतरुः ॥ * ॥

चतूराजीक्रीड़ायां जयविशेषः। यथा, तिथ्यादितत्त्वे।
"अन्यद्राजपदं राजा यदा यातो युधिष्ठिर।
तदा सिंहासनं तस्य भण्यते नृपसत्तम ॥
राजा च नृपतिं हत्वा कुर्य्यात् सिंहासनं यदा।
द्विगुणं वाहयेत् पण्यमन्यथैकगुणं भवेत् ॥
मित्रसिंहासनं पार्थ यदा रोहति भूपतिः।
तदा सिंहासनं नाम सर्व्वं नयति तद्बलम् ॥
यदा सिंहासनं कर्त्तुं राजा घष्ठपदाश्रितः।
तदा घातेन हन्तव्यो बलेनापि सुरक्षितः ॥"*॥
योगासनविशेषः। यथा, हठप्रदीपे।
"गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः
क्षिपेत्।
दक्षिणे सव्यगुल्फन्तु दक्षगुल्फन्तु सव्यके ॥
हस्तौ च जान्वोः संस्थाप्य स्वाङ्गुलीः संप्रसार्य्य च।
आत्तवक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः ॥
सिंहासनं भवेदेतत् पूजितं योगिभिः सदा।
बन्धत्रयस्य सन्धानं कुरुते चासनोत्तमम् ॥"

सिंहासनः, पुं, (सिंहस्य आसनं उपवेशनमिव आसनं यत्र।) षोड़शरतिबन्धान्तर्गतचतुर्द्दशबन्धः। तस्य लक्षणं यथा,—
"स्वजङ्घाद्वयबाहू च कृत्वा योषापदद्वयम्।
स्तनौ धृत्वा रमेत् कामी बन्धः सिंहासनो मतः॥"
इति रतिमञ्जरी ॥

सिंहासनचक्रं, क्ली, (सिंहासनमिव चक्रम्।) सप्तविंशति-नक्षत्राङ्कित-नराकार-चक्र-त्रयम्। यथा,—
"अथातः संप्रवक्ष्यामि चक्रं सिंहासनत्रयम्।
सप्तविंशतिनक्षत्रैरेकैकञ्च नवात्मकम् ॥
अश्विनीमघमूलाद्यं पञ्चनाड़ीविभेदतः।
अश्विन्याद्युत्तरे भागे मघाद्यं पूर्व्वतः स्थितम् ॥
मूलाद्यं दक्षिणे भागे ज्ञातव्यं नृपतित्रयम्।
इतरेषु च राज्येषु नृपनामर्क्षतो वदेत् ॥
शुभाशुभमिदं सर्व्वं यत्र यस्य शनिः स्थितः।
नाड़िकापञ्चवेधेन एकैकस्यासनं भवेत् ॥
आधारमासनं पट्टं सिंहं सिंहासनं तथा।
ग्रहैर्व्वैधवशाज्ज्ञेयं सौम्यैः क्रूरैः शुभाशुभम् ॥
ऋक्ष आधारगे राजा अभिषिक्तो य आसने।
पराधीनगतं राज्यं कुरुते नात्र संशयः ॥
आसनस्थेन ऋक्षेण नीतियुक्तो भवेन्नृपः।
प्रधानपुरुषो देवः प्रजाशान्तिकरो भवेत् ॥
पट्ट ऋक्षे यदा राजा उपविष्टो नृपासने।
पूर्व्वराजस्थितिस्तुल्यश्चिरं पालयते महीम् ॥
सिंहरूपी भवेद्राजा सिंहर्क्षेणासने स्थितः।
संग्रामस्य प्रियो नित्यमसाध्यो मन्त्रिमण्डले: ॥
सिंहासनगते धिष्ण्ये तेजस्वी भीषणाकृतिः।
चलच्चित्तो महाक्रोधी प्रजापीड़ाकरो नृपः ॥
तत्कालेन्दुगते ऋक्षे क्रूरनिर्व्वेधनाड़िके।
शुभावस्था शुभे लग्ने संस्थाप्यो नृप आसने ॥
ईदृशे च समायोगे उपविष्टो य आसने।
उच्छाद्य शत्रुसंघातमेकच्छत्रं करोति सः ॥
क्रूरग्रहगतां नाड़ीमुपविष्टो य आसने।
बन्धनं भूमिनाशश्च तथा मृत्युः प्रजायते ॥
आधार ऋक्षगः सौरिरनावृष्टिं करोति च।
दुर्भिक्षं रौरवं तत्र प्रजापीड़ा च जायते ॥
आसने च यदा सौरिर्युद्धे भङ्गप्रदो भवेत्।

अथवा व्याधिपीड़ा च मनोदुःखं प्रजायते ॥
षट्ट् कचे यदा सौरिः षट्टराशौ विनश्यति ।
प्रियो वाथ कुमारो वा मन्त्रिबन्धुस्तयोऽपि वा ॥
सिंहे सिंहासने वापि यदा तिष्ठति सूर्य्यजः ।
तदा स्थलनं सन्देहो यदि शक्रसमो नृपः ॥
शनिराहुकुजमाहेया यदा चन्द्रेण संयुताः ।
यस्यासनगता एते तस्य राज्ञो भयङ्कराः ॥
क्रूरयुक्तोऽथ वक्रस्तु क्रूरनाड़ीगतोऽपि वा ।
आसने चन्द्रयोगेन कालरूपी शनैश्चरः ॥
एवं शुभफलं दद्यादेवमन्यो न संशयः ।
करोति विपुलं राज्यं यस्यासनगतो गुरुः ॥"
इति ज्योतिस्तत्त्वम् ॥

सिंहास्यः, पुं, (सिंहस्य आस्यमिव पुष्पमस्य ।) वासकः । इत्यमरः । २ । ४ । १०३ ॥ सिंहतुल्यमुखे, त्रि ॥

सिंहिका, स्त्री कश्यपपत्नी । राहुमाता । यथा,
"कश्यपस्य पत्नियो तु सिंहिका
राहुवासुतनयावजीजनत् ।
पूर्व्वजो हरिनिकृत्तकन्धरो
देवतैरपरजो निपातितः ॥"
इति वास्तुयागतत्त्वम् ॥
(पीठस्था देवीविशेषः । यथा, देवीभागवते । ७ । ३० । ७५ ।
"सिंहिका कृतशौचे तु कार्त्तिके त्वतिशाङ्करी ॥")

सिंहिकासुतः, पुं, (सिंहिकायाः सुतः पुत्रः ।) राहुः । इति शब्दरत्नावली । वास्तुपुरुषः । इति वास्तुयागतत्त्वम् ॥

सिंही, स्त्री, (सिंह + ङीष् ।) सिंहपत्नी । (यथा, कथासरित्सागरे । ६ । १०२ ।
"अयं स वर्द्धितोऽस्माभिः सिंहीमैः पयसा मया ॥")
वार्त्ताकी । इत्यमरः । २ । ४ । ११४ ॥ कण्टकारी । वासकः । इति मेदिनी ॥ हृहती । राहुमाता । इति विश्वः ॥ मुद्गपर्णी । इति राजनिर्घण्टः ॥

सिंहीलता, स्त्री, (सिंह्याः लता ।) हृहती । इति भावप्रकाशः ॥

सिक, सेचने । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट् ।) दन्त्यादिः । सिकता । इति दुर्गादासः ॥ सौचधातुरयम् ॥

सिकता, स्त्री (सिक सेचने + बाहुलकात् अतच् ।) विकतिलः । वालुकायुक्तभूमिः । इति मेदिनी । ते, १६६ ॥ वालुका । इति राजनिर्घण्टः ॥

सिकताः, स्त्री, भूम्नि, (सिक + अतच् ।) वालुका । इति मेदिनी । ते, १६६ ॥ अमरश्च । ३।३।७३॥ (यथा, महाभारते । २ । ७६ । १६ ।
"सिकता वपन् सव्यसाची राजानमनुगच्छति ।
असक्ताः सिकतास्तस्य यथा संप्रति भारत ।
असक्तं शरवर्षाणि तथा मोक्ष्यति शत्रुषु ॥")

सिकतामयं, क्ली, (सिकतात्मकम् । मयट् ।) वालुकामयतटम् । तत्पर्य्यायः । सैकतम् २ । इत्यमरः । १ । १० । ६ ॥

सिकतावान्, [त्] त्रि, (सिकताः सन्त्यत्रेति । मतुप् । मस्य वः ।) वालुकाबहुलदेशः । तत्पर्य्यायः । सिकता २ विकतिलः ३ सैकतः ४ । इत्यमरभरतौ । २ । १ । ११ । ॥

सिकतिलः, त्रि, (सिकताः सन्त्यत्रेति । सिकता + "देशे लुबिलचौ च ।" ५ । २ । १०५ । इति इलच् ।) सिकतावान् । इत्यमरटीकायां भरतः । २ । १ । ११ ॥

सिक, [च्] स्त्री, (सिच्यते इति । सिच् + क्विप् ।) वस्त्रम् । इति हेमचन्द्रः ॥ (जालम् । यथा, भागवते । ६ । १२ । ८ ।
"लोकाः सपाला यस्येमे श्वसन्ति विवशा वशे ।
द्विजा इव सिचा बद्धाः स काल इह कारणम् ॥")

सिक्तः, त्रि, (सिच् + क्तः ।) सेकाश्रयः । कृतसेचनः । यथा, वायुपुराणे गयापद्धतौ ।
"आम्राश्च सिक्ताः पितरश्च तृप्ता
एका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धा ॥"

सिक्थं, क्ली, (सिचति क्षरतीति । सिच क्षरणे + "पातृतुदिवचीति ।" उणा० २ । ७ । इति थक् ।) मधूच्छिष्टम् । इति मेदिनी ॥ मोम इति भाषा ॥ (यथा,—
"तिलातसिकथनिशायष्टीनताकमलपञ्चकैः ।
पटोलमालतीनिम्बपत्रैश्च स्यं घृतं स्तुतम् ॥"
इति तिक्ताद्यघृतम् ॥
इति वैद्यकचक्रपाणिसंग्रहे व्रणशोथाधिकारे ॥)
नीली । इति हेमचन्द्रः ॥

सिक्थः, पुं, (सिच + थक् ।) भक्तपुलाकः । (सिटी इति भाषा ॥ यथा,—
"————पेया सिक्थसमन्विता ॥"
इति वैद्यकचक्रपाणिसंग्रहे ज्वराधिकारे ॥)
ग्रासः । इति मेदिनी ॥ (यथा, कथासरित्सागरे । १०८ । ७७ ।
"भक्तसिक्थद्वयं प्राप्य पाकभाण्डादभक्षयम् ॥")

सिक्थकं, क्ली, (सिक्थमेव । स्वार्थे कन् ।) मधूच्छिष्टम् । इत्यमरः । २ । ६ । १०७ ॥ (पुं, भक्तपुलाकः । सिटी इति भाषा । यथा,—
"सिक्थकैर्रहितो मण्डः पेया सिक्थसमन्विता ।
यवागूर्बहुसिक्था स्याद्विलेपी विरलद्रवा ॥"
इति वैद्यकचक्रपाणिसंग्रहे ज्वराधिकारे ॥
यथा च ह्नश्रुतसंहितायाम् । २६ । ८ ।
"दन्तैर्नखैर्गोमयादाश्च लोम्ना
हेम्ना भूयाः सिक्थकेन द्विजाद्याः ।
संदह्या वर्षमासा दिशश्च
शेषद्रवाण्याल्मरूपस्थितानि ॥")

सिध्मः, पुं, स्फटिकः । इति केचित् ॥

सिङ्घाणं, क्ली, नासिकामलम् । इति शब्दरत्नावली ॥ सिकनी इति भाषा ॥

सिङ्घाणं, क्ली, नासिकामलम् । इति शब्दरत्नावली ॥

सिङ्घाणकं, क्ली, नासिकामलम् । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, वाभटे उत्तरस्थाने २६ अध्याये ।
"अजस्रं पिच्छिलं पीतं पक्वं सिङ्घाणकं घनम् ॥")

सिङ्घिनी, स्त्री, नासिका । इति हलायुधः ॥

सिचयः, पुं, (सिचं सिचनमेति प्राप्नोतीति । इन् + अच् ।) वस्त्रम् । इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, राजतरङ्गिण्याम् । १ । १ ।
"भूषाभोगिफणारत्नरोचिःसिचयचारवे ।
नमः प्रलीनमुक्ताय हरकल्पमहीरुहे ॥")
जीर्णवस्त्रम् ॥ इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सिचन्, [तृ] त्रि, (सिचतीति । सिच् + शतृ ।) सेचनकर्त्ता ॥

सिञ्चिता, स्त्री, (सिच + णिच् + क्तः । टाप् ।) पिप्पली । इति शब्दचन्द्रिका ॥

सिञ्जा, स्त्री, अलङ्कारध्वनिः । इति केचित् ॥ तालव्यशकारादिः साधुपाठः ॥

सितं, क्ली, (सितः शुक्लवर्णोऽस्यास्तीति । अच् ।) रौप्यम् । मूलकम् । इति राजनिर्घण्टः ॥ चन्दनम् । इति रत्नमाला ॥ (तत्तु शुक्लचन्दनम् । यथा,—
"सितं मलयजं प्रोक्तं गोशीर्षं सितचन्दनम् ॥"
इति गारुडे २०८ अध्याये ॥)

सितः, पुं, (सिनोतीति । सि बन्धने + "अञ्जिघृसिभ्यः क्तः ।" उणा० ३ । ८६ । इति क्तः ।) शुक्लवर्णः । इत्यमरः । १ । ५ । १० ॥ शुक्राचार्य्यः । इति शब्दरत्नावली ॥ शरः । इति नानार्थध्वनिमञ्जरी ॥

सितः, त्रि, (सितः शुक्लवर्णोऽस्यास्तीति । अच् ।) शुक्लवर्णयुक्तः । इत्यमरः । १ । ५ । १६ ॥ (यथा, माघे । १ । २५ ।
सितं सितिम्ना सुतरां मुनेर्वपु-
र्विसारिभिः सौधमिवाथ लम्भयन् ॥"* ॥
सो + क्तः ।) समाप्तः । निबद्धः । ज्ञातः । इति विश्वः ॥

सितकण्टा, स्त्री, (सितः शुक्लः कण्टो यस्याः ।) श्वेतकण्टकारी । इति राजनिर्घण्टः ॥

सितकण्टारिका, स्त्री, श्वेतकण्टकारी । इति राजनिर्घण्टः ॥

सितकण्ठः, पुं, (सितः कण्ठो यस्य ।) दात्यूहपक्षी । इति शब्दरत्नावली । श्वेतकण्ठयुक्ते, त्रि ॥

सितकरः, पुं, (सितः शुक्लः करो यस्य ।) कर्पूरः । इति राजनिर्घण्टः ॥ चन्द्रश्च ॥

सितकर्णी, स्त्री, (सितः कर्ण इव पुष्पमस्याः । ङीष् ।) वासकः । इति राजनिर्घण्टः । (सितपर्णी इति क्वचित् पाठः ॥ गुणादयोऽस्या वासकशब्दे ज्ञातव्याः ॥)

सितकुञ्जरः, पुं, (सितः कुञ्जरो यस्य ।) इन्द्रः । (सितः शुक्लः कुञ्जरः ।) ऐरावतः । इति केचित् ॥

सितगुञ्जा, स्त्री, सिता गुञ्जा ।) श्वेतगुञ्जा । इति राजनिर्घण्टः ॥

सितचिह्नः, पुं, (सितानि चिह्नानि यत्र ।) वालुकागड़ः । इति हारावली ॥ बेलिया मत्स्य इति भाषा ॥

सितच्छत्रं, क्ली, (सितं छत्रम् ।) राजच्छत्रम् । इति भूरिप्रयोगः ॥

सितच्छत्रा, स्त्री, (सितं छत्रमिव पुष्पमस्याः ।) शतपुष्पा । इत्यमरः । २ । ४ । १५२ ॥ (विवृतिरस्याः शतपुष्पाशब्दे द्रष्टव्या ॥)

सितच्छत्रितः, पुं, (सितच्छत्रं जातमस्येति । इतच् ।) श्वेतच्छत्रयुक्तः । यथा, नैषधे । १ । १ ।
"निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथां
तथाद्रियन्ते न बुधाः सुधामपि ।
नलः सितच्छत्रितकीर्त्तिमण्डलः
स राशिरासीन्महसां महोज्ज्वलः ॥"

सितच्छदः, पुं, (सितौ छदौ पक्षौ यस्य ।) हंसः । इति हेमचन्द्रः ॥

सितच्छदा, स्त्री, (सितश्छदो यस्याः ।) श्वेतदूर्व्वा । इति राजनिर्घण्टः ॥

सितदर्भः, पुं, (सितो दर्भः ।) श्वेतकुशः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सितदीधितिः, पुं, चन्द्रः । सिता शुक्ला दीधितिः किरणो यस्य इति बहुव्रीहिसमासनिष्पन्नः ॥

सितदीप्यः, पुं, (सितं दीप्यं दीप्तिर्यस्य ।) श्वेतजीरकः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सितदूर्व्वा, स्त्री, (सिता दूर्व्वा ।) श्वेतदूर्व्वा । इति रत्नमाला ॥

सितद्रुः, पुं, (सितः द्रुर्यो यस्य ।) मोरटविशेषः । इति रत्नमाला ॥ (सितो द्रुरिति ।) शुक्लवर्णवृक्षश्च ॥

सितधातुः, पुं, (सितः शुक्लो धातुः ।) कठिनी । इति राजनिर्घण्टः ॥ शुक्लवर्णधातुमात्रञ्च ॥

सितपक्षः, पुं, (सितौ पक्षौ यस्य ।) हंसः । इति शब्दरत्नावली ॥ (सितः पक्षः ।) शुक्लपक्षः । (यथा, बृहत्संहितायाम् । ६० । २० ।
"उदगयने सितपक्षे
शिशिरगभस्तौ च जीववर्गस्थे ॥")

सितपर्णी, स्त्री, (सितं पर्णमस्याः । ङीष् ।) अर्कपुष्पिकाख्यः । इति रत्नमाला ॥

सितपाटलिका, स्त्री, (सिता पाटलिका ।) शुक्लपाटलाख्यः । श्वेतपाड़रि इति हिन्दी भाषा । तत्पर्य्यायः । सितकुम्भी २ कबेरचा ३ सितामोघा ४ कुबेराक्षी ५ श्वेताख्या ६ काष्ठपाटला ७ धवलपाटली ८ । अस्या गुणाः । तिक्तत्वम् । गुरुत्वम् । उष्णत्वम् । वातदोषवमिहिक्काकफश्रमशोफनाशित्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥

सितपुङ्खा, स्त्री, (सितः पुङ्खो यस्याः ।) श्वेतशरपुङ्खा । इति राजनिर्घण्टः ॥

सितपुष्पं, क्ली, (सितं पुष्पमस्य ।) कैवर्त्तीमुस्तकम् । इति जटाधरः ॥ तालव्यशकारादिरपि पाठः ॥

सितपुष्पः, पुं, (सितं पुष्पमस्य ।) तगरवृक्षः । इति शब्दरत्नावली ॥ श्वेतरोहितः । काशः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सितपुष्पा, स्त्री, (सितं पुष्पं यस्याः ।) मल्लिका । इति शब्दरत्नावली ॥

सितपुष्पी, स्त्री, (सितं पुष्पं यस्याः । ङीष् ।) श्वेतापराजिता । इति राजनिर्घण्टः ॥ अस्याः पर्य्यायो यथा, वैद्यकरत्नमालायाम् ।
"गवाक्ष्यश्वखुरी श्वेता श्वेतभण्डापराजिता ।
द्विविधा सा सिता नीला गिरिकर्णी गवादनी ॥")

सितमरिचं, क्ली, (सितं मरिचम् ।) श्वेतमरिचम् । तत्पर्य्यायः । सिताभ्रम् २ सितवल्लीजम् ३ वालुकम् ४ बहुलम् ५ धवलम् ६ चन्द्रकम् ७ । अस्य गुणाः । कटुत्वम् । उष्णत्वम् । विषभूतहृच्छिरोरोगनाशित्वम् । अवृष्यत्वम् । शुक्ला रसायनत्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥

सितमाषः, पुं, (सितो माषः ।) राजमाषः । इति हारावली ॥

सितरञ्जनः, पुं, (सितं रञ्जयतीति । रञ्ज + ल्युः ।) पीतवर्णः । इति हेमचन्द्रः ॥

सितरश्मिः, पुं, चन्द्रः । सितः शुक्लो रश्मिः किरणो यस्य सः ॥

सितवर्षाभूः, पुं, (सितो वर्षाभूः ।) पुनर्नवा । इति राजनिर्घण्टः ॥

सितशायिका, स्त्री, (सिता शायिका ।) श्वेतशरपुङ्खा । इति राजनिर्घण्टः ॥

सितशिम्बिकः, पुं, (सिता शिम्बिर्यस्य । कप् ।) गोधूमः । इति हेमचन्द्रः ॥ शितिशिम्बिकोऽपि पाठः ॥

सितशिवं, क्ली, (सितं शुक्लं शिवं मङ्गलजनकञ्च ।) सैन्धवलवणम् । तस्य रूपान्तराणि । शितशिवम् । सितसिवम् । शीतशिवम् । शीतसिवम् । इत्यमरटीका । २ । ९ । ४२ ॥

सितशिंशपा, स्त्री, (सिता शिंशपा ।) श्वेतशिंशपावृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सितशूकः, पुं, (सितः शूको यस्य ।) यवः । इत्यमरटीकायां भरतः ॥ (यवशब्देऽस्य विवरणं ज्ञातव्यम् ॥)

सितशूरणः, पुं, (सितः शूरणः ।) वनशूरणः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सितसप्तिः, पुं, (सिता सप्तयो घोटका यस्य ।) अर्ज्जुनः । इति केचित् ॥ (यथा, किराते । १३ । १६ ।
"स भवस्य भवक्षयैकहेतोः
सितसप्तेश्च विधास्यतोः सहार्थम् ।
रिपुराप पराभवाय मध्यं
प्रकृतिप्रत्यययोरिवानुबन्धः ॥" * ॥
सितः सप्तिः ।) श्वेताश्वश्च ॥

सितसर्षपः, पुं, (सितः सर्षपः ।) गौरसर्षपः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सितसारः, पुं, (सितः सारो निर्य्यासो यस्य ।) शालिञ्चशाकः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सितसारकः, पुं, (सितसार एव । स्वार्थे कन् ।) शालिञ्चशाकः । इति राजनिर्घण्टः ॥ (अस्य पर्य्यायो यथा, वैद्यकरत्नमालायाम् ।
"शालिञ्चः सितसारश्च मत्सुरो लोहमारकः ॥")

सितसिंही, स्त्री, (सिता सिंहीव ।) श्वेतकण्टकारी । इति राजनिर्घण्टः ॥

सितसिन्धुः, स्त्री, (सिता शुक्लजला सिन्धुः ।) गङ्गा । इति शब्दरत्नावली ॥

सिता, स्त्री, (सित + टाप् ।) शर्करा । इत्यमरः । २ । ९ । ४३ ॥ अस्या गुणाः ।
"खण्डस्तु सिकताकल्पं सुश्वेतं शर्करा सिता ।
सिता सुमधुरा रुच्या वातपित्तास्रदाहहृत् ।
मूर्च्छाच्छर्द्दिज्वरान् हन्ति सुशीता शुक्रकारिणी ॥"
इति राजनिर्घण्टः ॥
(यथा, महानिर्व्वाणतन्त्रे । ६ । ७८ ।
"ततो दुग्धं सिताश्चैव दत्त्वा पाकविधानतः ।
सुपचेत् संस्कृते वह्नौ सावधानेन सुव्रते ॥")
मल्लिका । इति शब्दरत्नावली ॥ श्वेतकण्टकारी । वाकुची । विदारी । श्वेतदूर्व्वा । चन्द्रिका । कुटुम्बिनी । मद्यम् । पिङ्गा । त्रायमाणा । तेजनी । इति राजनिर्घण्टः । पर्व्वतजातापराजिता । इति रत्नमाला ॥

सितांशुः, पुं, (सिता अंशवो यस्य ।) चन्द्रः । (यथा, नैषधे । १ । १२ ।
"सितांशुवर्णैर्वयति स्म तद्गुणै-
र्महासिवेम्नः सहकृत्वरी बहुम् ।
दिगङ्गनाङ्गाभरणं रणाङ्गने
यशःपटं तद्भटचातुरीतुरी ॥")
कर्पूरः । इति शुभ्रांशुशब्ददर्शनात् ॥

सितांशुतैलं, क्ली, (सितांशुजातं कर्पूरसम्भवं तैलम् ।) कर्पूरतैलम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

सिताखण्डः, पुं, (सितायाः खण्डो यत्र ।) मधुजालशर्करा । तत्पर्य्यायः । खण्डकः २ सितजा ३ शर्करजा ४ माधवी ५ मधुशर्करा ६ माक्षीकशर्करा ७ । अस्य गुणाः । अतिमधुरत्वम् । चक्षुष्यत्वम् । छर्द्दिकुष्ठव्रणकफश्वासहिक्कापित्तास्रदोषनाशित्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥

सिताग्रः, पुं, (सितः अग्रो यस्य ।) कण्टकम् । इति हारावली ॥

सिताङ्कः, पुं, (सितः अङ्को यत्र ।) वालुकागड्मत्स्यः । इति हारावली । १९० ॥ (सिताङ्ग इति पाठः साधुः ॥)

सिताङ्गः, पुं, (सितमङ्गं यस्य ।) श्वेतरोहितः । इति राजनिर्घण्टः ॥ (वालुकागड्मत्स्यः । इति हारावली । १९० ॥)

सिताजाजी, स्त्री, श्वेतजीरकः । इति राजनिर्घण्टः ॥ (गुणादयोऽस्याः श्वेतजीरकशब्दे ज्ञेयाः ॥)

सितादिः, पुं, (सितायाः आदिः कारणम् ।) गुड़ः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सिताननः, पुं, (सितमाननं यस्य ।) गरुड़ः । इति केचित् ॥ शुक्लमुखयुक्ते, त्रि ॥

सितापाङ्गः, पुं, (सितौ अपाङ्गौ यस्य ।) मयूरः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सिताब्जं, क्ली, (सितमब्जम् ।) श्वेतकमलम् । इति राजनिर्घण्टः ॥ (यथा, सरस्वतीध्याने ।
"कुचभरनमिताङ्गी सन्निषण्णा सिताब्जे ॥")

सिताभः, पुं, (सिता शुक्ला आभा यस्य ।) कर्पूरः । इत्यमरटीकायां रायमुकुटः ॥

सिताभा, स्त्री, (सिता आभा यस्याः ।) तक्राह्वा । इति राजनिर्घण्टः ॥

सिताभ्रः, पुं, (सितं शुक्लमभ्रति प्राप्नोतीति । अभ्र गतौ + अण् ।) कर्पूरः । इत्यमरः ।२।६।१३०॥ (अस्य पर्य्यायो यथा,—
"पुंसि क्लीवे च कर्पूरः सिताभ्रो हिमवालुकः ।
घनसारश्चन्द्रसंज्ञो हिमनामापि स स्मृतः ॥"
इति भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे प्रथमे भागे ॥)

सिताभ्रकं, क्ली, (सितं शुभ्रमभ्रति प्राप्नोतीति । अभ्र + ण्वुल् ।) कर्पूरम् । इति रत्नमाला ॥

सिताम्बरः, पुं, (सितमम्बरं यस्य ।) श्वेतवस्त्रपरिहितव्रती । इति हलायुधः ॥ शुक्लवस्त्रपरिधायिनि, त्रि ॥

सिताम्भोजं, क्ली, (सितं अम्भोजम् ।) श्वेतपद्मम् । इत्यमरः । १ । ६ । ४१ ॥

सितार्ज्जकः, पुं, (सितमर्ज्जयतीति । अर्ज्ज + ण्वुल् ।) श्वेततुलसी । श्वेताजवला इति हिन्दी भाषा । तत्पर्य्यायः । वैकुण्ठः २ वटपत्रः ३ कुठेरकः ४ जम्बीरः ५ गन्धबहुलः ६ सुमुखः ७ कटुपत्रकः ८ । अस्य गुणाः । कटुत्वम् । उष्णत्वम् । कफवातनेत्रामयनाशित्वम् । रुच्यत्वम् । सुखप्रसवकारकत्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥

सितालकः, पुं, (आलयति भूषयतीति । अल + णिच् + ण्वुल् । सितः आलकः ।) श्वेतमन्दारकः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सितालता, स्त्री, (सिता लता ।) श्वेतदूर्व्वा । इति रत्नमाला ॥ (श्वेतदूर्व्वाशब्देऽस्या विषयो ज्ञातव्यः ॥)

सितालिकटभी, स्त्री, श्वेतकिणिहीवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सितावरः, पुं, (सितमावृणोतीति । आ + वृ + अच् ।) शाकविशेषः । सुसुनी इति भाषा । तत्पर्य्यायः । सूच्याह्वः २ सूचीपत्रकः ३ श्रीवारकः ४ शिखी ५ वभ्रुः ६ स्वस्तिकः ७ सुनिषण्णकः ८ कुरटः ९ कुक्कुटः १० सूचीदलः ११ श्वेतावरः १२ मेधाकृत् १३ ग्राहकः १४ । अस्य गुणाः । संग्राहित्वम् । कषायत्वम् । उष्णत्वम् । त्रिदोषनाशित्वम् । मेधारुचिप्रदत्वम् । दाहज्वरहारित्वम् । रसायनत्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥ निद्राकारित्वम् । इति लोकप्रसिद्धम् ॥ तस्य लक्षणं यथा,—
"चाङ्गेरीसदृशः पत्रैश्चतुर्द्दल इतीरितः ।
शाको जलान्विते देशे चतुष्पत्रीति चोच्यते ॥"
इति भावप्रकाशः ॥

सितावरी, स्त्री, (सितमावृणोतीति । आ + वृ + अच् । ङीष् ।) वाकुची । इति राजनिर्घण्टः ॥

सितासितः, पुं, (वर्णेन सितः वस्त्रेण असितः ।) बलदेवः । इति हेमचन्द्रः ॥ शुक्रसहितशनिः । यथा । ज्योतिस्तत्त्वे ।
"सितासितौ चन्द्रमसो न कश्चित्
बुधः शशी सौम्यसितौ रवीन्दू ।
रवीन्दुभौमा रवितश्च मित्रा
मित्रारिशेषस्य समः प्रदिष्टः ॥"
शुक्लसहितकृष्णश्च ॥ (यथा, महाभारते । ७ । १३० । २९ ।
"ते हया बह्वशोभन्त मिश्रिता वातरंहसः ।
सितासिता महाराज यथा व्योम्नि बलाहकाः ॥")

सिताश्रयः, पुं, (सित आश्रयो यस्य ।) श्वेतशिग्रुः । श्वेतरोहितः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सितिः, त्रि, शुक्लः । कृष्णः । इत्यमरटीकायां रमानाथः ॥

सितिकण्ठः, पुं, (सितिः कृष्णः कण्ठो यस्य ।) शितिकण्ठः । शिवः । इत्यमरटीकायां सितिशब्दस्य दन्त्यादित्वदर्शनात् ॥

सितिमा, [न्] पुं, (सितस्य सितेर्वा भावः । इमनिच् ।) शुक्लता । (यथा, माघे । १ । २५ ।
"सितं सितिम्ना सुतरां मुनेर्वपु-
र्विसारिभिः सौधमिवाथ लम्भयन् ॥")
कृष्णता । इति सितिशब्दादिमन्प्रत्ययेन निष्पन्नः ॥

सितिवारः, पुं, (सितिं वृणोतीति । वृ + अण् ।) सुनिषण्णकः । इति भावप्रकाशः ॥

सितिवासाः, [स्] पुं, (सिति नीलं वासो यस्य ।) बलदेवः । इति नीलाम्बरशब्ददर्शनात् ॥ (यथा, माघे । १ । ६ ।
"पिशङ्गमौञ्जीयुजमर्ज्जुनच्छविं
वसानमेणाजिनमञ्जनद्युति ।
सुवर्णसूत्राकलिताधराम्बरां
विडम्बयन्तं सितिवाससस्तनुम् ॥")

सितेक्षुः, पुं, (सितः इक्षुः ।) श्वेतेक्षुः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सितेतरः, पुं, (सितादितरः ।) श्यामशालिः । कुलत्थः । इति राजनिर्घण्टः ॥ शुक्लेतरवर्णश्च ॥ (यथा, कुमारे । १ । ३८ ।
"नीविमतिक्रम्य सितेतरस्य
तन्मेखलामध्यमणेरिवार्च्चिः ॥"
सितस्य इतरस्य इति विग्रहे । कृष्णशुक्लौ । अत्र द्विवचनप्रयोगः स्यात् । यथा, भागवते । १० । ४१ । ४१ ।
"नानालक्षणवेषाभ्यां कृष्णरामौ विरेजतुः ।
स्वलङ्कृतौ बालगजौ पर्व्वणीव सितेतरौ ॥")

सितेतरगतिः, पुं, (सितेतरा कृष्णा गतिरस्य ।) अग्निः । इति हलायुधः ॥

सितोदरः, पुं, (सितमुदरं यस्य ।) कुबेरः । इति हेमचन्द्रः ॥ शुक्लकुक्षियुक्ते, त्रि ॥ (सितमुदरमिति ।) शुक्लकुक्षौ, क्ली ॥

सितोद्भवं, क्ली (सित उद्भवो यस्य ।) श्वेतचन्दनम् । इति केचित् ॥ (सिताया उद्भवो यस्य ।) शर्कराजाते, त्रि ॥

सितोपलं, क्ली, (सितमुपलमिव ।) कठिनी । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सितोपलः, पुं, (सितः उपलः ।) स्फटिकः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सितोपला, स्त्री, (सित उपल इव आकृतिर्यस्याः । स्त्रियां टाप् ।) शर्करा । इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा,—
"सिता सितोपला चैव मत्स्यण्डी शर्करा स्मृता ॥"
इति गारुडे २०८ अध्यायः ॥
अस्या गुणा यथा,—
"सितोपला सरा लघ्वी वातपित्तहरी हिमा ॥"
इति भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे द्वितीये भागे ॥)

सिद्धं, क्ली, (सिध + क्तः ।) सैन्धवलवणम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

सिद्धः, पुं, (सिध + क्तः ।) देवयोनिविशेषः । इत्यमरः । १ । १ । ११ ॥ स तु अणिमादिगुणोपेतो विश्वावसुप्रभृतिः । इति भरतः ॥ (यथा, कुमारे । १ । ५ ।
"उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते
शृङ्गाणि यस्यातपवन्ति सिद्धाः ॥")
व्यासादिः । विष्कम्भादिसप्तविंशतियोगान्तर्गतैकविंशयोगः । इति मेदिनी ॥ तत्र जातफलम् ।
"जितेन्द्रियः सर्व्वकलानिधानो
गौरोऽतिशूरो मधुरो विनीतः ।
सत्त्वोपपन्नः कृतभूरिभोगो
यस्य प्रसूतौ किल सिद्धयोगः ॥"
इति कोष्ठीप्रदीपः ॥
व्यवहारः । इति शब्दरत्नावली ॥ कृष्णधुस्तूरः । गुडः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सिद्धः, त्रि, (सिध + क्तः ।) प्रसिद्धः । (यथा, भागवते । १० । १८ । १६ ।
"एवं तौ लोकसिद्धाभिः क्रीडाभिश्चेरतुर्वने ॥")
नित्यः । निष्पन्नः । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, रामायणे । २ । ९८ । ८ ।
"सिद्धार्थः खलु सौमित्रिर्यश्चन्द्रविमलोपमम् ।
मुखं पश्यति रामस्य राजीवाक्षं महाद्युतिम् ॥")
मुक्तः । इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, भागवते । ६ । १२ । १९ ।
"अहो दानव सिद्धोऽसि यस्य ते मतिरीदृशी ॥")
पक्वम् । यथा, सुमन्तुः ।
"पर्य्युषितं पुनःसिद्धमभोज्यमन्यत्र हिरण्योदकस्पर्शात् ।" इति आह्निकतत्त्वम् ॥ मन्त्रसिद्धिविशिष्टः । यथा,—
अथ मन्त्रसिद्ध्युपायाः । गौतमीये ।
"सम्यगनुष्ठितो मन्त्रो यदि सिद्धिर्न जायते ।
पुनस्तेनैव कर्त्तव्यं ततः सिद्धो भवेद्ध्रुवम् ॥
पुनरनुष्ठितो मन्त्रो यदि सिद्धिर्न जायते ।
पुनस्तेनैव कर्त्तव्यं ततः सिद्धो न संशयः ॥
पुनः सोऽनुष्ठितो मन्त्रो यदि सिद्धिर्न जायते ।
उपायास्तत्र कर्त्तव्याः सप्त शङ्करभाषिताः ।
भ्रामणं रोधनं वश्यं पीडनं पोषशोषणम् ।
दहनान्तं क्रमात् कुर्य्यात् ततः सिद्धो भवेन्मनुः ॥

भ्रामणं वायुबीजेन यथानुक्रमयोगतः ।
तन्मन्त्रं यन्त्र आलिख्य सिद्धकपूरकुङ्कुमैः ।
उशीरचन्दनाभ्यान्तु मन्त्रं संग्रथितं लिखेत् ।
क्षीराज्यमधुतोयानां मध्ये तल्लिखितं भवेत् ॥
पूजनाज्जपनाद्धोमात् भ्रामितः सिद्धिदो भवेत् ।
भ्रमितो यदि न सिद्धः स्याद्बोधनं तस्य कारयेत्॥
सारस्वतेन बीजेन संपुटीकृत्य संजपेत् ।
एवं रुद्धे भवेत् सिद्धो न चेदेतद्वशीकुरु ॥
अलक्तचन्दनं कुष्ठं हरिद्रा मादनं शिला ।
एतैस्तु मन्त्रमालिख्य भूर्ज्जपत्रे सुशोभने ।
धार्य्यं कण्ठे भवेत् सिद्धः पीडनं वास्य कारयेत् ॥
अधरोत्तरयोगेन पदानि परिजप्य वै ।
ध्यायेच्च देवतां तद्वत् अधरोत्तररूपिणीम् ॥
विद्यामादित्यदुग्धेन लिखित्वाक्रम्य पाष्णिना ।
तथाभूतेन मन्त्रेण होमः कार्य्यो दिने दिने ॥
पीडितो लज्जयाविष्टः सिद्धः स्यादथ पोषयेत् ।
बालायास्त्रितयं बीजं आद्यन्ते तस्य योजयेत्॥
गोक्षीरमधुनालिख्य विद्यां पाणौ विभावयेत् ।
पोषितोऽयं भवेत् सिद्धो न चेत् कुर्व्वीत शोषणम् ॥
द्वाभ्यान्तु वायुबीजाभ्यां मन्त्रं कुर्य्याद्विदर्भितम् ।
एषा विद्या गले धार्य्या लिखित्वा वरभस्मना ॥
शोषितोऽपि न सिद्धः स्यात् दहनीयोऽग्निबीजतः ।
आग्नेयेन तु बीजेन मन्त्रस्यैकैकमक्षरम् ॥
आद्यन्तमथ ऊर्द्ध्वञ्च योजयेद्दाहकर्म्मणि ।
ब्रह्मवृक्षस्य तैलेन मन्त्रमालिख्य धारयेत् ॥
कण्ठदेशे ततो मन्त्रः सिद्धः स्याच्छङ्करोदितम् ।
इत्येतत् कथितं सम्यक् केवलं तव भक्तितः ॥
एकेनैव कृतार्थः स्याद्बहुभिः किन्तु सुव्रते ॥”
इति तन्त्रसारः ॥ * ॥
सिद्धिविशिष्टः । स च चतुस्त्रिंशद्विधः । यथा—
“चतुस्त्रिंशद्विधः सिद्धः सर्व्वकर्म्मोपकारकः ।
तमुपैति स्वयं सिद्धं भक्तस्तं नैव वाञ्छति ॥
द्वात्रिंशद्विधं सिद्धं सर्व्वसाधनकारणम् ।
मन्मुखात् श्रूयतां नन्द सिद्धमन्त्रं गृहाण च ॥
अणिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं महिमा तथा ।
ईशित्वञ्च वशित्वञ्च तथा कामावसायिता ॥
दूरश्रवणमेवेति परकायप्रवेशनम् ।
मनोयायित्वमेवेति सर्व्वज्ञत्वमभीप्सितम् ॥
वह्निस्तम्भं जलस्तम्भं चिरजीवित्वमेव वा ।
वायुस्तम्भं क्षुत्पिपासानिद्रास्तम्भनमेव च ॥
कायव्यूहञ्च वाक्सिद्धं मृतानयनमीप्सितम् ।
सृष्टीनां कारणञ्चैव प्राणाकर्षणमेव च ॥
प्राणानाञ्च प्रदानञ्च लोभादीनाञ्च स्तम्भनम् ।
इन्द्रियाणां स्तम्भनञ्च बुद्धिस्तम्भनमेव च ॥”
इति ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे ।७८।२०-२६॥

सिद्धकः, पुं, (सिद्ध इव । इवार्थे कन् ।) सिन्धुवारः । शालः । इति राजनिर्घण्टः ॥ (यथा, सुश्रुते । ५ । ३ ।
“धवाश्वकर्णासनपारिभद्रा
सपाटलाः सिद्धकमोचकौ च ॥”)

सिद्धकामेश्वरी, स्त्री, (सिद्धा कामेश्वरी ।) कामाख्यायाः पञ्चमूर्त्त्यन्तर्गतप्रथममूर्त्तिः । तस्या रूपं यथा, कालिकापुराणे ६१ अध्याये ।
“रविशशियुतकर्णा कुङ्कुमापीतवर्णा
मणिकनकविचित्रा लोलजिह्वा त्रिनेत्रा ।
अभयवरदहस्ता साक्षसूत्रप्रशस्ता
प्रणतसुरवरेशा सिद्धकामेश्वरी सा ॥
अरुणकमलसंस्था रक्तपद्मासनाख्या
नवतरुणशरीरा मुक्तकेशी सुहारा ।
शववहृदि पृथुतुङ्गस्तन्ययुग्मा मनोज्ञा
शिशुरविसमवक्त्रा सिद्धकामेश्वरी सा ॥
विपुलविभवदात्री स्मेरवक्त्रा सुकेशी
दलितकरकदन्ता सामिचन्द्रावतंसा ।
मनसिजदृशदिस्था योनिमुद्रालसन्ती
पवनगगनशक्ता संश्रुतस्थानभागा ॥”

सिद्धगङ्गा, स्त्री, (सिद्धा गङ्गा । ‘क्वचित् सिद्धजनाकीर्णां पश्य मन्दाकिनीं नदीम् ।’ रामा० २ । ९५ । ६ । इत्युक्तेः सिद्धसेविता गङ्गा इति वा ।) मन्दाकिनी । इति जटाधरः ॥

सिद्धजलं, क्ली, (सिद्धं पक्वं जलं यत्र ।) काञ्जिकम् । इति हारावली ॥ (सिद्धं जलमिति ।) पक्ववारि च ॥

सिद्धदेवः, पुं, (सिद्धो देवः ।) शिवः । इति शब्दरत्नावली ॥

सिद्धधातुः, पुं, (सिद्धो धातुः ।) पारदः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सिद्धपीठः, पुं, (सिद्धः पीठः ।) सिद्धस्थानम् । यथा,—
“जातो लक्षवलिर्यत्र होमो वा कोटिसंख्यकः ।
महाविद्याजपः कोटिः सिद्धपीठः प्रकीर्त्तितः ॥”
इति तन्त्रम् ॥

सिद्धपुरं, क्ली, (सिद्धं पुरम् ।) भूगोलस्याधोदेशविशेषः । यथा—
“लङ्का कुमध्ये यमकोटिरस्याः
प्राक्पश्चिमे रोमकपत्तनञ्च ।
अधस्ततः सिद्धपुरं सुमेरुः
सौम्येऽथ याम्ये वड़वानलश्च ॥
कुवृत्तपादान्तरितानि तानि
स्थानानि षड्गोलविदो वदन्ति ॥”
इति सिद्धान्तशिरोमणिः ॥

सिद्धपुष्पः, पुं, (सिद्धप्रियं मन्त्रसिद्धं वा पुष्पमस्य ।) करवीरवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सिद्धप्रयोजनः, पुं, (सिद्धानां प्रयोजनं यत्र ।) गौरसर्षपः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सिद्धमन्त्रः, पुं, (सिद्धो मन्त्रः ।) सिद्धप्राप्तमन्त्रः । यथा, ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे । ७८ । २१ ; २७—२८ ।
“द्वात्रिंशद्विधं सिद्धं सर्व्वसाधनकारणम् ।
मन्मुखात् श्रूयतां नन्द सिद्धमन्त्रं गृहाण च ॥”
“ओम् सर्व्वेश्वराय सर्व्वविघ्नविनाशिने मधुसूदनाय स्वाहेत्येवं मन्त्रश्च सर्व्वेषां कल्पपादपः ।
सामवेदे च कथितः सिद्धानां सर्व्वसिद्धिदः ॥
अनेन योगिनः सिद्धा मुनीन्द्राश्च सुरास्तथा ।
शतलक्षजपेनैव मन्त्रसिद्धिर्भवेत् सताम् ॥”

सिद्धमोदकः, पुं, (सिद्धान् मोदयतीति । मुद + णिच् + ण्वुल् ।) तवराजोद्भवखण्डः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सिद्धयोगिनी, स्त्री, (सिद्धा योगिनी ।) योगिनीविशेषः । इत्यपराजितास्तोत्रम् ॥ (यथा, कथासरित्सागरे । ३७ । १६१ ।
“इत्युक्त्वैव गतायाञ्च तस्यां सा सिद्धयोगिनी ।
तत्प्रतीघातहेतोर्मामवोचद्बन्धमोचिनी ॥”)

सिद्धरसः, पुं, (सिद्धो रसः ।) पारदः । रससिद्धः । इत्यजयपालः ॥

सिद्धरसः, त्रि, (सिद्धो रसो यस्य ।) धातुप्रभृतिः । इति मेदिनी ॥

सिद्धविद्या, स्त्री, (सिद्धा विद्या ।) महाविद्याविशेषः । यथा,—
“काली तारा महाविद्या षोड़शी भुवनेश्वरी ।
भैरवी छिन्नमस्ता च विद्या धूमावती तथा ॥
बगलामुखी सिद्धविद्या मातङ्गी कमलात्मिका ।
एता दश महाविद्याः सिद्धविद्याः प्रकीर्त्तिताः ॥”
इति तन्त्रसारः ॥

सिद्धसलिलं, क्ली, (सिद्धं पक्वं सलिलं यत्र ।) काञ्जिकम् । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सिद्धसाधनं, क्ली, (सिद्धस्य साधनम् ।) सिद्धस्य वस्तुनः साधनम् । साध्यवत्त्वानिश्चयसत्त्वेऽप्यनुमानम् । यथा,—
“अतएव न स्वरूपासिद्धिः सिद्धसाधनं वा ।”
इति सिद्धान्तलक्षणे जगदीशः ॥

सिद्धसाधनः, पुं, (सिद्धानां साधनमस्मादिति ।) गौरसर्षपः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सिद्धसाध्यः, पुं, (सिद्धात् साध्यः ।) मन्त्रविशेषः । यथा,—
“सिद्धसिद्धो यथोक्तेन द्विगुणात् सिद्धसाध्यकः ।
सिद्धसुसिद्धोऽर्द्धजपात् सिद्धारिर्हन्ति बान्धवान्॥”
इति तन्त्रसारः ॥

सिद्धसिद्धः, पुं, (सिद्धात् सिद्धः ।) मन्त्रविशेषः । यथा,—
“सिद्धसिद्धो यथोक्तेन द्विगुणात् सिद्धसाध्यकः ।
सिद्धसुसिद्धोऽर्द्धजपात् सिद्धारिर्हन्ति बान्धवान्॥”
इति तन्त्रसारः ॥

सिद्धसिन्धुः, स्त्री, (सिद्धसेविता सिन्धुः ।) गङ्गा । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सिद्धसुसिद्धः, पुं, (सिद्धात् सुसिद्धः ।) मन्त्रविशेषः । अस्य प्रमाणं सिद्धसाध्यशब्दे द्रष्टव्यम् ॥

सिद्धसेनः, पुं, (सिद्धा सेना यस्य ।) कार्त्तिकेयः । इति शब्दरत्नावली ॥

सिद्धसेवितः, पुं, (सिद्धैः सेवितः ।) वटुकभैरवः । इति तस्याष्टोत्तरशतनामस्तोत्रम् ॥ सिद्धजनोपासिते, त्रि ॥

सिद्धा, स्त्री, (सिध + क्तः । टाप् ।) ऋद्धिः । इति राजनिर्घण्टः ॥ योगिनीविशेषः ; यथा, जातकदीपिकायाम् ।

"मङ्गला पिङ्गला धन्या भ्रामरी भद्रिका तथा।
उल्का सिद्धा सङ्कटा च योगिन्योऽष्टौ प्रकीर्त्तिताः ॥"

सिद्धान्तः, पुं, (सिद्धः अन्तो यस्मात् ।) पूर्व्वपक्षं निरस्य सिद्धपक्षस्थापनम् । इति भरतः ॥ (यथा, महाभारते । १ । ७० । ४३ ।
"स्थापनाक्षेपसिद्धान्तपरमार्थज्ञतां गतेः ॥")
तत्पर्य्यायः । राद्धान्तः २ । इत्यमरः । ३।५।४ ॥ नवविधज्योतिर्ग्रन्थाः । यथा । ब्रह्मसिद्धान्तः १ सूर्य्यसिद्धान्तः २ सोमसिद्धान्तः ३ बृहस्पतिसिद्धान्तः ४ गर्गसिद्धान्तः ५ नारदसिद्धान्तः ६ पराशरसिद्धान्तः ७ पुलस्त्यसिद्धान्तः ८ वशिष्ठसिद्धान्तश्च ९ ॥ तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्तः । स च चतुर्विधः । सर्व्वतन्त्रप्रतितन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थित्यर्थान्तरभावात् । सर्व्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः सर्व्वतन्त्रसिद्धान्तः ॥ १ ॥ समानतन्त्रसिद्धः परतन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः ॥२॥ यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः ॥ ३ ॥ अपरीक्षिताभ्युपगमात् तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः ॥४॥ इति गौतमसूत्रम् ॥ (तथास्य विवृतिर्यथा,—
"अथ सिद्धान्तः । सिद्धान्तो नाम यः परीक्षकैर्बहुविधं परीक्ष्य हेतुभिः साधयित्वा स्थाप्यते निर्णयः स सिद्धान्तः । स चोक्तश्चतुर्विधः । सर्व्वतन्त्रसिद्धान्तः, प्रतितन्त्रसिद्धान्तः, अधिकरणसिद्धान्तः, अभ्युपगमसिद्धान्त इति ।
तत्र सर्व्वतन्त्रसिद्धान्तो नाम सन्ति निदानानि, सन्ति व्याधयः,सन्ति सिद्धुरपायाः साध्यानामिति । प्रतितन्त्रसिद्धान्तो नाम तस्मिंस्तस्मिंस्तन्त्रे तत्तत् प्रसिद्धं यथान्यत्राष्टौ रसाः षड्न्यत्र । पञ्चेन्द्रियाणि यथान्यत्र षड़िन्द्रियाणि । वाताधिकृताः सर्व्वविकारा यथान्यत्र वातादिकृता भूतकृताश्च प्रसिद्धाः ।
अधिकरणसिद्धान्तो नाम यस्मिन्नधिकरणे संस्तूयमाने सिद्धान्यन्यान्यपि अधिकरणानि भवन्ति । न मुक्तः कर्म्मानुबन्धिकं कुरुते निस्पृहत्वादिति प्रस्तुते सिद्धाः कर्म्मफलमोक्षपुरुषप्रेत्यभावा भवन्ति ।
अभ्युपगमसिद्धान्तः । अभ्युपगमसिद्धान्तो नाम यमर्थमसिद्धमपरीक्षितमनुपदिष्टमहेतुकं वा वादकालेऽभ्युपगच्छन्ति भिषजः । तद्यथा द्रव्यं न प्रधानमिति कृत्वा वक्ष्यामः । गुणाः प्रधाना इति कृत्वा वक्ष्यामः । इत्येवमादिश्चतुर्व्विधः सिद्धान्तः ।" इति चरके विमानस्थाने ८ अध्यायः ॥)

सिद्धान्ताचारः, पुं, (सिद्धोऽन्तो यस्य । तादृश आचारः ।) तान्त्रिकाचारविशेषः । यथा,—
"आत्मानं देवतां मत्वा यजेद्देवीञ्च मानसैः ।
सदा शुद्धः सदा शान्तः सिद्धान्ताचार उच्यते ॥"
इत्याचारभेदतन्त्रम् ॥

सिद्धान्ती, [न्] पुं, (सिद्धान्तोऽस्यास्तीति । इन् ।) मीमांसकः । इति भूरिप्रयोगः ॥

सिद्धापगा, स्त्री, (सिद्धसेविता आपगा ।) गङ्गा । इति हेमचन्द्रः ॥

सिद्धायिका, स्त्री, चतुर्व्विंशतिबुद्धशासनदेवतान्तर्गतदेवीविशेषः । इति हेमचन्द्रः ॥

सिद्धारिः, पुं. मन्त्रविशेषः । एतत्प्रमाणं सिद्धसाध्यशब्दे द्रष्टव्यम् ॥

सिद्धार्थः, पुं, (सिद्धोऽर्थो यस्य ।) बुद्धार्हत्पिता । इति हेमचन्द्रः ॥ शाक्यसिंहः । इति मेदिनी ॥ (सिद्धोऽर्थो यस्मात् ।) श्वेतसर्षपः । इत्यमरः । २ । ९ । १८ ॥ (यथा, भागवते । ४ । ९ । ५८ ।
"ध्रुवाय पथि दृष्टाय तत्र तत्र पुरस्त्रियः ।
सिद्धार्थाक्षतदध्यम्बुदूर्व्वापुष्पफलानि च ।
उपजह्रुः प्रयुञ्जाना वात्सल्यादाशिषः सतीः ॥")
अस्य पर्य्यायगुणाः गौरसर्षपशब्दे द्रष्टव्याः ॥ वटीवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥ प्रसिद्धार्थः । यथा,—
"सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्त्तते ।
ग्रन्थादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥"
इति व्याकरणटीका ॥

सिद्धार्था, स्त्री, (सिद्धोऽर्थो यस्याः ।) चतुर्थजिनमाता । इति हेमचन्द्रः ॥

सिद्धिः, स्त्री, (सिध + क्तिन् ।) दुर्गा । यथा,—
"साधनात् सिद्धिरित्युक्ता साधका वाथ ईश्वरी ॥"
इति देवीपुराणे ४५ अध्यायः ॥
ऋद्धिनामौषधम् । इत्यमरः । २ । ४ । ११२ ॥ योगविशेषः । निष्पत्तिः । (यथा, मनुः ।२।९७।
"वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥")
पादुका । अन्तर्द्धिः । वृद्धिः । इति मेदिनी ॥ मोक्षः । इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, मनुः । १२ । ११ ।
"कामक्रोधौ तु संयम्य ततः सिद्धिं नियच्छति ॥")
सम्पत्तिः । इति धरणिः ॥ बुद्धिः । इति शब्दरत्नावली ॥*॥ अष्टसिद्धिनामलक्षणानि यथा,
"अणिमा महिमा चैव लघिमा प्राप्तिरेव च ।
प्राकाम्यञ्च तथेशित्वं वशित्वञ्च तथापरम् ॥
यत्र कामावसायित्वं गुणानेतानथैश्वरान् ।
प्राप्नोत्यष्टौ नरव्याघ्र परनिर्व्वाणसूचकान् ॥
सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरोऽणीयान् शीघ्रत्वाल्लघिमा गुणः ।
महिमाशेषपूज्यत्वात् प्राप्तिर्नाप्राप्यमस्य यत् ॥
प्राकाम्यमस्य व्यापित्वात् ईशित्वं चेश्वरो यतः ।
वशित्वात् वशिता नाम योगिनः सप्तमो गुणः ॥
यत्रेच्छास्थानमप्युक्तं यत्र कामावसायिता ।
ऐश्वर्य्यं कारणैरेभिर्योगिनः प्रोक्तमष्टधा ॥"
इति मार्कण्डेये दत्तात्रेयालर्कसंवादे योगवल्लभनामाध्यायः ॥ * ॥ (अष्टादशसिद्धिनामानि यथा, ब्रह्मवैवर्त्ते । १ । ६ । १८—१९ ।
"अणिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं महिमा तथा ।
ईशित्वञ्च वशित्वञ्च सर्व्वकामावसायिता ॥
सर्व्वज्ञदूरश्रवणं परकायप्रवेशनम् ।
वाक्सिद्धिः कल्पवृक्षत्वं स्रष्टुं संहर्त्तुमीशता ।
अमरत्वञ्च सर्व्वाङ्गं सिद्धयोऽष्टादश स्मृताः ॥")
भावनासिद्धिर्यथा,—
"तीर्थे कान्तेऽभीष्टदेवे गुरौ मन्त्रे भवौषधे ।
आस्था च यादृशी यासां सिद्धिस्तासाञ्च तादृशी ॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे ३९ अध्यायः ॥*
ज्ञानात् सिद्धिर्यथा,—
"तस्मात् त्वमपि भूपाल देहि न्यायार्ज्जितं धनम् ।
दानात् ज्ञानं ततः प्राप्य ज्ञानात् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥"
इति वह्निपुराणे शिवेरुपाख्याननामाध्यायः ॥

सिद्धिदः, पुं. (सिद्धिं ददातीति । दा + कः ।) वटुकभैरवः । इति तस्य स्तोत्रम् ॥ सिद्धिदातरि, त्रि । (यथा, देवीभागवते । ६ । २ । ५१ ।
"तं कुन्ती वचनं प्राह मम मन्त्रोऽस्ति कामदः ।
दत्तो दुर्व्वाससा पूर्व्वं सिद्धिदः सर्व्वथा प्रभो ॥")
यथा च ।
"मधुमासे तु संप्राप्ते शुक्लपक्षे चतुर्द्दशी ।
प्रोक्ता मदनभञ्जीति सिद्धिदा तु महोत्सवे ॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥

सिद्धियोगः, पुं, (सिद्धेर्योगो यत्र ।) तिथिवारघटितशुभयोगविशेषः । यथा,—
"शुक्रे नन्दा बुधे भद्रा शनौ रिक्ता कुजे जया ।
गुरौ पूर्णा च संयुक्ता सिद्धियोगः प्रकीर्त्तितः ॥"
इति ज्योतिःसागरः ॥

सिद्धियोगिनी, स्त्री, (सिद्धिप्रदा योगिनी ।) योगिनीभेदः । यथा,—
"प्रणवाद्याश्च या विद्याः शूद्रादौ न समीरिताः ।
अस्याश्चैव विशेषो यत् योषिच्चेत् समुपासयेत् ॥
डाकिनी सा भवत्येव डाकिनीभिः प्रजायते ।
पतिहीना पुत्त्रहीना यथा स्यात् सिद्धियोगिनी ॥"
इति तन्त्रसारः ॥ * ॥
दक्षस्य पञ्चाशत् कन्याः । तथा,—
"सती ख्यातिः स्मृतिः स्वाहा ह्यनसूया स्वधा तथा ।
प्रीतिः क्षमा च संभूतिः सन्नतिश्च अरुन्धती ॥
कीर्त्तिर्लक्ष्मीर्धृतिर्मेधा पुष्टिः श्रद्धा क्रिया मतिः ।
बुद्धिर्लज्जा वपुःशान्तिस्तुष्टिः सिद्धिस्तथा रतिः ॥
अरुन्धती वसुर्यामी लम्बा भानुर्मरुत्वती ।
सङ्कल्पा च मुहूर्त्ता च साध्या विश्वा च नामतः ॥
अदितिश्च दितिश्चैव दनुः कालादनायुषा ।
सिंहिका सुरसा कद्रुर्विनता सुरभिः खसा ॥
क्रोधा इरा च प्राधा च दक्षकन्याः प्रकीर्त्तिताः ।
पञ्चाशत् सिद्धियोगिन्यः सर्व्वलोकस्य मातरः ॥"
इति वह्निपुराणे गणभेदनामाध्यायः ॥

सिद्धिला, स्त्री, (सिद्धिं लातीति । ला + कः । ङीष् ।) क्षुद्रपिपीलिका । इति केचित् ॥

सिद्धिस्थानं, क्ली, (सिद्धेः स्थानम् ।) पुण्यस्थानविशेषः । यथा,—
"अतः परं प्रवक्ष्यामि सिद्धिस्थानानि यानि तु ।

यस्मिन्नाराधिता देवी क्षिप्रं भवति सिद्धिदा ॥
तुङ्गारं शतश्रृङ्गञ्च त्रिकूटं पर्व्वतं तथा ।
विन्ध्या गङ्गा सरिद्यत्र रेवातीरमथापि वा ॥
पयोष्णी असुराख्या तु अथवा मण्डलेश्वरे ।
शङ्करेश्वररामेशे अथवा अमरेश्वरे ॥
वेत्रवत्यास्तटे रम्ये हरिश्चन्द्रे तथा प्रिये ।
सरस्वतीतटे पुण्ये सुगन्धायतनेऽपि वा ॥
स्थानेष्वेषु जपं कुर्य्यात् नन्दाहे कृतमानसः ।
भैरवं मूलभेदञ्च चण्डीशं त्रिपुरान्तकम् ॥
अष्टचक्रं चक्रोत्कूलं कपालाख्यागनामकम् ।
अजाविकं खरोष्ट्राख्यं स्थानान्येतानि वर्ज्जयेत् ॥"

इति देवीपुराणे कुण्डप्रवेशनामाध्यायः ॥

सिद्धेश्वरी, स्त्री, (सिद्धा ईश्वरी ।) देवीविशेषः । यथा,—
"सिद्धां सिद्धेश्वरीं सिद्धविद्याधरगणैर्युताम् ।
मन्त्रसिद्धिप्रदां योनिसिद्धिदां लिङ्गशोभिताम् ॥"
इति मुण्डमालातन्त्रे ११ पटले महाविद्यास्तोत्रम् ॥ अपि च ।
"कृष्णेन बलभद्रेण गोपैः कंसजिघांसुभिः ।
सङ्केतकं कृतं तत्र मन्त्रनिश्चयकारकम् ॥
तदा सङ्केतकैः सा च सिद्धा देवी प्रतिष्ठिता ।
सिद्धिप्रदा भोगदा च तेन सिद्धेश्वरी स्मृता ।
सङ्केतकेश्वरीञ्चैव दृष्ट्वा सिद्धिमवाप्नुयात् ॥"
इति वाराहे मथुरापरिक्रमप्रादुर्भावनामाध्यायः ॥

सिद्धौघः, पुं, (सिद्धानामोघः ।) गुरुक्रमविशेषः । यथा, तन्त्रे ।
"अथ तारागुरून् वक्ष्ये इष्टादृष्टफलप्रदान् ।
ऊर्द्धकेशो व्योमकेशो नीलकण्ठो वृषध्वजः ॥
दिव्यौघाः सिद्धिदा वत्स,सिद्धौघान् शृणु यत्नतः ।
वशिष्ठः कूर्म्मनाथश्च मीननाथो महेश्वरः ॥
हरिनाथो मानवौघान् शृणु वक्ष्यामि तद्गुरून् ।
तारावती भानुमती जयाविद्या महोदरी ॥
सुखानन्दः परानन्दः पारिजातः कुलेश्वरः ।
विरूपाक्षः फेरवी च कथितं तारिणीकुलम् ।
आनन्दनाथशब्दान्ता गुरवः सर्व्वसिद्धिदाः ।
स्त्रियोऽपि गुरुरूपाश्च अम्बान्ताः परिकीर्त्तिताः ॥"
इति तन्त्रसारः ॥
अन्यच्च ।
"ब्रह्मानन्दः पूर्णदेवश्चलचित्तश्चलाचलः ।
कुमारः क्रोधनश्चैव तथा च वरदीपनः ॥
माया मायावती चैव मानवौघान् शृणु प्रिये ।
वशिष्ठः कूर्म्मनाथश्च मीननाथो महेश्वरः ।
हरिनाथो मानवौघानथ वक्ष्यामि सद्गुरून् ॥"
इति शक्तिरत्नाकरतन्त्रम् ॥
तथा ।
"नारदः काश्यपः शम्भुर्भार्गवः कुलकौशिकः ।
एते पञ्च महादेव सिद्धौघाः परिकीर्त्तिताः ॥"
इति तन्त्रम् ॥

सिध्म, [न्] क्ली, (सिध+मन् । स च कित् ।) किलासरोगः । इत्यमरः ।२ । ६ । ५३॥ (यथा, सुश्रुते । २ । ५ ।
"क्षुद्रकुष्ठान्यपि स्थूलारुष्कं महाकुष्ठमेककुष्ठचर्म्मदलं विसर्पः परिसर्पः सिध्म विचर्च्चिका किटिमं पामा रकसा चेति ॥")

सिध्मं, क्ली, (सिध + बाहुलकात् मक् ।) किलासरोगः । इति हेमचन्द्रः ॥ सप्तमहाकुष्ठान्तर्गतकुष्ठरोगविशेषः । तल्लक्षणं यथा,—
"श्वेतं ताम्रं तनु च यद्रजो घृष्टं विमुञ्चति ।
प्रायश्चोरसि तत् सिध्ममलाबुकुसुमोपमम् ॥"
इति माधवकरः ॥
त्वङ्मात्रगता सिध्मपुष्पिका इति अलाबुपुष्पवत् श्वेतं सिध्मं सिध्मपुष्पिका । महाकुष्ठन्तु सिध्मं धातुप्रविष्टं सिध्मपुष्पिकेतरं श्वेतलोहितवर्णम् । एतेन सिध्मस्य द्वैविध्यं सूचितम् । इति विजयरक्षिताद्यः ॥

सिध्मपुष्पिका, स्त्री, (सिध्मस्य किलासस्य पुष्पं विद्यते यस्याः । सिध्मपुष्प+ठन् ।) कुष्ठव्याधिभेदः । सा च त्वङ्मात्रगता अलाबुपुष्पवत् श्वेता । इति रुग्विनिश्चयटीकायां विजयरक्षिताद्यः ॥

सिध्मलः, त्रि, (सिध्मं अस्यास्तीति । सिध्म+"सिध्मादिभ्यश्च ।"५ । २ । ९७ । इति लच् ।) किलासी । इत्यमरः । २ । ६ । ६१ ॥ (यथा, वाजसनेयसंहितायाम् । ३० । १७ ।
"विश्वेभ्यो भूतेभ्यः सिध्मलं भूत्यै जागरणमभूत्यै इति ॥")

सिध्मला, स्त्री, (सिध्ममस्या अस्तीति । लच् ।टाप् ।) मत्स्यविकृतिः । इति मेदिनी ॥ (औषधविशेषः । तद्यथा,—
"त्वगादिहीनाः संशुद्धाः प्रत्यग्राः शकुलादयः ।
अक्षाचूर्णीकृतं तेषां शोते पलशतत्रयम् ॥
शतेन कटुतैलस्य चोषरामठधान्यकैः ।
क्रिमिघ्नदीप्यकनिशापिकाग्निकार्द्रकैः ॥
जीरकद्वयदुग्धीरसुरसार्ज्जकशिग्रुकैः ।
हृल्लवणाम्लगुणाभ्यां मार्कवैलवणैस्त्रिभिः ॥
चूर्णितैः पलिकैः सार्द्धमारनालपरिप्लुतैः ।
विन्यसेत् स्नेहपात्रे तु धान्यराशौ पुनर्न्यसेत् ॥
सप्तरात्रात् समुद्धृत्य पानभक्षणभोजनैः ।
सिध्मलेयं प्रयोक्तव्या सामे वायौ विशेषतः ॥
भग्नरुग्णास्रुतहताः कम्पिनः पीठसर्पिणः ।
गृध्रसीमग्निसादञ्च शूलगुल्मोदराणि च ।
वलीपलितखालित्यं हत्वास्युरमलेन्द्रियाः ॥"
इति वैद्यकचक्रपाणिसंग्रहे आमवाताधिकारे ॥)

सिध्मवान्, [त्] त्रि, (सिध्ममस्यास्तीति । सिध्म+पक्षे मतुप् । मस्य वः ।) किलासरोगविशिष्टः । इति सिध्मशब्दादस्त्यर्थे वतुप्रत्ययेन निष्पन्नः ॥

सिध्मा, स्त्री, किलासरोगः । इति हेमचन्द्रः ॥

सिध्यः, पुं, (सिध्यन्त्यस्मिन्नर्था इति । सिध+"पुष्यसिध्यौ नक्षत्रे ।" ३ । १ । ११६ । इति क्यप्प्रत्ययेन निपातितः ।) पुष्यनक्षत्रम् । इत्यमरः । १ । ३ । २२ ॥

सिध्रः, पुं, साधुः । वृक्षः । इत्युणादिकोषः ॥

सिध्रका, स्त्री, (सिध्र+स्वार्थे कन् । अभिधानात् स्त्रीत्वम् ।) वृक्षविशेषः । इत्यमरः ।३ । ५ । ८ ॥ सेधति रोगहन्तृत्वमिति सिध्रमा । सीध इति ख्यातो वृक्षः । षिधु गत्यां नाम्नीति रक् ततः स्वार्थे कः संज्ञाविधेरनित्यत्वात् न इत् । इति भरतः ॥

सिध्रकावणं, क्ली, (सिध्रकाणां वनमिति । णत्वम् ।) देवोद्यानम् । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सिनं, क्ली, (सिनोति बध्नाति आत्मानमिति । षिञ् बन्धने+"इण्षिञ्जीति ।" उणा० ३ । २ । इति नक् ।) शरीरम् । इति संक्षिप्तसारोणादिवृत्तिः ॥ (अन्नम् । इति निघण्टुः ।२ ।७ ।)

सिनः, पुं, (सिनोतीति । षिञ् बन्धने+"इण्षिञ्जीति ।" उणा० ३ । २ । इति नक् ।) ग्रासः । इति मुग्धबोधव्याकरणम् ॥ कायः । इति केचित् ॥ शुक्लगुणविशिष्टे, त्रि ॥

सिनी, स्त्री, शुक्लगुणविशिष्टा । यथा । श्वेता सिता सिनी श्येनी । इति व्याडिः । इति सिनीवालीशब्दटीकायां भरतः ॥

सिनी(बा)वाली, स्त्री, (सिनी शुक्ला बाला चन्द्रकला अस्यामिति । यद्वा, सिन्या शुक्लया चन्द्रकलया वल्यते मिश्र्यते या । वल मिश्रणे+घञ् । ततो ङीष् ।) दृष्टेन्दुकलामावास्या । इत्यमरः । १ । ४ । । ९ ॥ सा चतुर्द्दशीयुक्तामावस्या । सिनी श्वेता बाला चन्द्रकलास्यां सिनीवाली नद्यादित्वान्ङीप् । इति तट्टीकायां भरतः ॥ (यथा, भागवते । ४ । १२ । ४८ ।
"पौर्णमास्यां सिनीवाल्यां द्वादश्यां श्रवणेऽथवा ॥")
दुर्गा । इति मेदिनी ॥

सिन्दुकः, पुं, सिन्दुवारवृक्षः । इत्यमरः ।२।४।६८॥ (तथास्य पर्य्यायगुणाश्च ।
"सिन्दुवारः श्वेतपुष्पः सिन्दुकः सिन्दुवारकः ॥
नीलपुष्पी तु निर्गुण्डी शेफाली सुवहा च सा ।
सिन्दुकः स्मृतिदस्तिक्तः कषायः कटुको लघुः ॥
केश्यो नेत्रहितो हन्ति शूलशोथाममारुतान् ;
क्रमिकुष्ठारुचिश्लेष्मज्वरान्नीलापि तद्विधा ।
सिन्दुवारदलं जन्तु-वातश्लेष्महरं लघु ॥"
इति भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे प्रथमे भागे ॥)

सिन्दु(न्धु)वारः, पुं, (सिन्धुं गजमदं वारयति तिक्तत्वात् । वृ+अण् । पश्चिके धस्य दः ।) वृक्षविशेषः । निसिन्दा इति भाषा । इन्नुकुर इति च कश्चित् । तत्पर्य्यायः । सिन्दुकः २ इन्द्रसुरिसः ३ निर्गुण्डी ४ इन्द्राणिका ५ । इत्यमरः । २।४।६८ ॥ सिन्धुकः ६ सिन्धुवारकः ७ इन्द्राणी ८ पौलोमी ९ शक्राणी १० कासनाशिनी ११ । इति रत्नकोषः ॥ श्वेतपुष्पः १२ सिन्दुवारकः १३ स्थिरसाधनकः १४ अनन्तः १५ सिद्धकः १६ अर्थसिद्धकः १७ । अस्य गुणाः । कटुत्वम् । तिक्तत्वम् । कफवातक्षयकुष्ठकण्डूतिशूलनाशित्वम् । कायसिद्धिदत्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥

अपि च ।
"सिन्धुकः स्मृतिदस्तिक्तः कषायः कटुको लघुः ।
केश्यो नेत्रहितो हन्ति शूलशोथाममारुतान् ॥
क्रिमिकुष्ठारुचिश्लेष्मव्रणान् नीलापि तद्विधा ।
सिन्धुवारदलं तत्तु वातश्लेष्महरं लघु ॥"
इति भावप्रकाशः ॥ * ॥
"स्यन्दं वारयति सिन्दुवारः षण् निपातनात् णिः अत उर्त्वं । सिन्दुकसिन्दुवारौ दन्त्यसादी तवर्गतृतीयवन्ताविति बहवः । केचित्तु सिन्धुं समुद्रमपि वारयति शोषयति तीक्ष्णरसत्वेन कफघ्नत्वात् सिन्धुवारः सिन्धुकसिन्धुवारौ तवर्गचतुर्थवन्तावित्याहुः ।" इति भरतः ॥

सिन्दूरं, क्ली (स्यन्दते इति स्यन्दू ङ चरणे + "स्यन्देः सम्प्रसारणञ्च ।" उणा० १ । ६६ । इति ऊरन् । सम्प्रसारणञ्च ।) रक्तवर्णचूर्णविशेषः । सिँदूर इति भाषा । तत्पर्य्यायः । नागसम्भवम् २ । इत्यमरः । २ । ९ । १०५ ॥ नागरेणुः ३ रक्तम् ४ सीमन्तकम् ५ नागजम् ६ नागगर्भम् ७ शोणम् ८ वीररजः ९ गणेशभूषणम् १० सन्ध्यारागम् ११ शृङ्गारकम् १२ सौभाग्यम् १३ अरुणम् १४ मङ्गल्यम् १५ । अस्य गुणाः । कटुत्वम् । तिक्तत्वम् । उष्णत्वम् । व्रणविरोपणत्वम् । कुष्ठास्रभ्रमकण्डूतिविसर्पशमनत्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥ * ॥ अपि च ।
"सिन्दूरं रक्तरेणुश्च नागगर्भञ्च सीसजम् ।
सीसोपधातुः सिन्दूरं गुणैस्तत् सीसवन्मतम् ॥
संयोगजप्रभावेण तस्याप्यन्ये गुणाः स्मृताः ।
सिन्दूरमुष्णं वीसर्पकुष्ठकण्डूविषापहम् ।
भग्नसन्धानजननं व्रणशोधनरोहणम् ॥" * ॥
सिन्दूरस्य शोधनमाह ।
"दुग्धाम्लयोगतस्तस्य विशुद्धिर्गदिता बुधैः ।"
इति भावप्रकाशः ॥ * ॥
सिन्दूरदानमन्त्रो यथा,—
"सिन्दूरञ्च वरं रम्यं भाले शोभाविवर्द्धनम् ।
पूरणं भूषणानाञ्च सिन्दूरं प्रतिगृह्यताम् ॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते प्रकृतिखण्डे २१ अध्यायः ॥ * ॥
तस्य धारणात् पत्युरायुर्वृद्धिर्भवति । यथा,—
"हरिद्रां कुङ्कुमञ्चैव सिन्दूरं कज्जलं तथा ।
कार्पासकञ्च ताम्बूलं माङ्गल्याभरणं शुभम् ॥
केशसंस्कारकबरीकरकर्णविभूषणम् ।
भर्त्तुरायुष्यमिच्छन्ती दूरयेन्न पतिव्रता ॥"
इति काशीखण्डे ४ अध्यायः ॥

सिन्दूरः, पुं, (स्यन्दते इति । ऊरन् ।) वृक्षविशेषः । इति मेदिनी ॥

सिन्दूरकारणं, क्ली, (सिन्दूरस्य कारणमिति ।) सीसकम् । इति हेमचन्द्रः ॥

सिन्दूरतिलकः, पुं, (सिन्दूरस्येव तिलको यस्य ।) हस्ती । इति मेदिनी ॥

सिन्दूरतिलका, स्त्री, (सिन्दूरस्य तिलको यस्याः ।) साधवा नारी । इति मेदिनी ॥

सिन्दूरपुष्पी, स्त्री, (सिन्दूरवत् रक्तवर्णं पुष्पं यस्याः । पाककर्णेति ङीष् ।) पुष्पवृक्षविशेषः । तत्पर्य्यायः । सिन्दूरी २ वीरपुष्पी ३ तृणपुष्पी ४ करच्छदा ५ शोणपुष्पी ६ । अस्या गुणाः । कटुत्वम् । तिक्तत्वम् । कषायत्वम् । श्लेष्मवातशिरोऽर्त्तिभूतनाशित्वम् । चण्डीप्रियत्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥

सिन्दूरी, स्त्री, (सिन्दूरं तद्वर्णोऽस्या अस्तीति । अच् । गौरादित्वात् ङीष् ।) रोचनी । रक्तचेलिका । धातकी । इति मेदिनी ॥

सिन्धुः, पुं, (स्यन्दते इति । स्यन्दू प्रस्रवणे + "स्यन्देः सम्प्रसारणं धश्च ।" उणा० १ । १२ । इतिः उः । धकारादेशः सम्प्रसारणञ्च ।) समुद्रः । इत्यमरः । १ । १० । १ ॥ (यथा, भागवते । ३ । ११ । ३१ ।
"तावत्त्रिभुवनं सद्यः कल्पान्तैधितसिन्धवः ।
प्लावयन्त्युत्कटाटोपचण्डवातेरितोर्म्मयः ॥")
वमथुः । देशविशेषः । (यथा, रघुः । १५ । ८७ ।
"युधाजितश्च सन्देशात् स देशं सिन्धुनामकम् ।
ददौ दत्तप्रभावाय भरताय भृतप्रजः ॥")
नदविशेषः । इति मेदिनी ॥ इन्दस् इति ख्यातः । (यथा, रघुः । ४ । ६७ ।
"विनीताध्वश्रमास्तस्य सिन्धुतीरविचेष्टनैः ।
दुधुवुर्वाजिनः स्कन्धान् लग्नकुङ्कुमकेशरान् ॥")
गजमदः । इति हेमचन्द्रः ॥ सिन्धुवारवृक्षः । इति शब्दचन्द्रिका ॥ श्वेतटङ्कणम् । इति राजनिर्घण्टः ॥ रागविशेषः । स च मालकौशरागपुत्त्रः । यथा,—
"माधवः शोभनः सिन्धुर्म्मारुमेवाडकुन्तलाः ।
कलिङ्गः सोमसंयुक्तः कौशिकस्य सुता इमे ॥"
इति सङ्गीतसिन्धुः ॥

सिन्धुः, स्त्री, (स्यन्दते इति । स्यन्द + उः । सम्प्रसारणम् । दस्य धश्च ।) नदी । इति मेदिनी ॥ (यथा, मुण्डकोपनिषदि । २ । १ । ९ ।
"अतः समुद्रा गिरयश्च सर्व्वे-
ऽस्मात् स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्व्वरूपाः ।
अतश्च सर्व्वा ओषधयो रसश्च
येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ॥")
नदीविशेषः । तज्जलगुणाः । यथा,—
"शतद्रोर्विपाशाशुजः सिन्धुनद्याः
सुशीतं लघु स्वादु सर्व्वामयघ्नम् ।
जलं निर्म्मलं दीपनं पाचनञ्च
प्रदत्ते बलं बुद्धिमेधायुषञ्च ॥"
इति राजनिर्घण्टः ॥

सिन्धुकः, पुं, (सिन्धुरेव । स्वार्थे कन् ।) सिन्धुवारवृक्षः । इति शब्दचन्द्रिका ॥ (यथा, बृहत्संहितायाम् । ५९ । ६ ।
"वेश्मानां जीवकखदिर-
सिन्धुकस्यन्दनाश्च शुभफलदाः ॥")

सिन्धुकफः, पुं, (सिन्धोः कफ इव ।) समुद्रफेनः । इति शब्दरत्नावली ॥

सिन्धुकरं, क्ली, (सिन्धौ सिन्धुदेशे कीर्य्यते इति । कॄ + अप् ।) श्वेतटङ्कणम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

सिन्धुखेलः, पुं, (सिन्धौ तत्समीपे खेलतीति । खेल + कः ।) सिन्धुदेशः । इति शब्दरत्नावली ॥

सिन्धुजं, क्ली, (सिन्धोर्जायते इति । जन + डः ।) सैन्धवलवणम् । इत्यमरः । २ । ९ । ४२ ॥ (यथा, सुश्रुते । ४ । ३७ ।
"वचापुष्करकुष्ठैलामदनामरसिन्धुजैः ॥")
समुद्रजाते, त्रि ॥ (यथा, महाभारते । ३ । ७१ । १४ ।
"शुद्धान् दशभिरावर्त्तैः सिन्धुजान् वातरंहसः ॥")

सिन्धुजन्म, [न्] क्ली, (सिन्धोर्जन्म उत्पत्तिर्यस्य ।) सैन्धवलवणम् । इति रत्नमाला ॥

सिन्धुजन्मा, [न्] पुं, (सिन्धोः क्षीरसमुद्रात् जन्म यस्य ।) चन्द्रः । इति जटाधरः ॥

सिन्धुजा, स्त्री, (सिन्धोर्जायते इति । जन + डः ।) लक्ष्मीः । इति जटाधरः ॥

सिन्धुड़ा, स्त्री, मालवरागभार्य्या । यथा,—
"धानुषी मालसी रामकिरी च सिन्धुड़ा तथा ।
आश्वारी भैरवी च मालवस्य प्रिया इमाः ॥"
इति सङ्गीतदामोदरः ॥

सिन्धुनन्दनः, पुं, (सिन्धोः क्षीरोदस्य नन्दनः ।) चन्द्रः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सिन्धुनाथः, पुं, (सिन्धूनां नदीनां नाथः ।) समुद्रः । इति केचित् ॥ (यथा, माघे । १४ । ६८ ।
"मत्कुणाविव पुरा परिप्लवौ
सिन्धुनाथशयने निषेदुषः ।
गच्छतः स्म मधुकैटभौ विभो-
र्यस्य नैद्रसुखविघ्नतां क्षणम् ॥")

सिन्धुपुत्त्रः, पुं, (सिन्धोः पुत्त्रः ।) मर्कटेन्दुः । इति शब्दचन्द्रिका ॥ चन्द्रश्च ॥

सिन्धुपुष्पः, पुं, (सिन्धौ पुष्प्यति प्रकाशते इति । पुष्प पुष्पने + अच् ।) शङ्खः । इति शब्दचन्द्रिका ॥

सिन्धुमन्थजं, क्ली, (सिन्धुमन्थात् जायते इति । जन + डः ।) सैन्धवलवणम् । इति रत्नमाला ॥

सिन्धुरः, पुं, (सिन्धुं मदं राति ददातीति । रा + कः ।) हस्ती । इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, आर्य्यासप्तशत्याम् । १९८ ।
"गलितगलितवरयुवतिः करी कपोलौ करोतु
मदमलिनौ ।
सुखबन्धमात्रसिन्धुर लम्बोदर किं मदं वहसि ॥")

सिन्धुरद्वेषी, [न्] पुं, (सिन्धुरं हस्तिनं द्वेष्टीति । द्विष + णिनिः ।) सिंहः ॥

सिन्धुलवणं, क्ली, (सिन्धुजातं लवणम् ।) सैन्धवम् । इति रत्नमाला ॥

सिन्धुवारः, पुं, (सिन्धुमपि वृणोति गमेति । वृ + अण् ।) हयोत्तमः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ (सिन्धुं मदजलमपि वारयति तिरस्करोति तिक्तरसेन । वृ + णिच् + अण् ।) सिन्धुवारवृक्षः । इत्यमरः । २ । ४ । ६८ ॥ यथा,—
"निसुन्धकः सिन्धुवारः सिन्धुकं सुरसोऽपि च ।
तथेन्द्रसुरसश्चेन्द्रसुरिसः सिन्धुवारितः ।

निर्गुण्डीन्द्राणिकेन्द्राणी सुरसा सिन्धुवारकः ॥”
इति शब्दरत्नावली ॥

अस्य गुणाः ।
“सिन्धुवारो विषश्लेष्मव्रणकुष्ठक्षयापहः ।”
इति राजवल्लभः ॥

सिन्धुवारकः, पुं, (सिन्धुवार एव । स्वार्थे कन् ।) सिन्धुवारवृक्षः । इति शब्दरत्नावली ॥

सिन्धुवारितः, पुं, (सिन्धुर्मदजलं वारितो येन ।) सिन्धुवारवृक्षः । इति शब्दरत्नावली ॥

सिन्धुवेषणः, पुं, गम्भारीवृक्षः । इति शब्दचन्द्रिका ॥

सिन्धुशयनः, पुं, (सिन्धुः क्षीरोदः शयनं यस्य ।) विष्णुः । क्षीरोदशायित्वात् ॥

सिन्धुसङ्गमः, पुं, (सिन्धूनां सङ्गमो यत्र ।) नदीनदसमुद्राणां परस्परमेलकः । तत्पर्य्यायः । सम्भेदः २ । इत्यमरः । १ । १० । ३५ ॥ सिन्धोर्नद्योः सङ्गमो मेलकः सम्भेदः । सम्भिदन्ति मिलन्ति अस्मिन्निति सम्भेदः घञ् । सिन्धुशब्देन नदी नदः समुद्रश्चोच्यते तेन नद्योर्नदयोर्नदीसमुद्रयोश्च मेलकः सम्भेदः । इति वैकुण्ठादयः । इति भरतः ॥

सिन्धूद्भवं, क्ली, (सिन्धोरुद्भवो यस्य ।) सैन्धवलवणम् । इति रत्नमाला ॥ (यथा, सुश्रुते । १ । ४४ ।
“विडङ्गसारो मरिचं सदारु-
योगः स सिन्धूद्भवकल्कयुक्तः ॥”)

सिन्धूपलं, क्ली, (सिन्धोः समुद्रस्य उपलमिव ।) सैन्धवलवणम् । इति हारावली । ५५ ॥

सिप्रं, क्ली, (सिच् + क्विप् । सिचं चरणं रातीति । रा + कः । पृषोदरादित्वात् चस्य पः ।) सरोवरविशेषः । यथा, कालिकापुराणे ४१ अध्याये ।
“एतस्मिन्नन्तरे शम्भुः सिप्रं त्यक्त्वा तदा सरः ।
गङ्गावतारमगमत् हिमवत्प्रस्थसुत्तमम् ॥”

सिप्रः, पुं, (सिच् क्षरणे + क्विप् । तं रातीति । रा + कः । पृषोदरादित्वात् साधुः ।) चन्द्रः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ निदाघसलिलम् । घर्म्मः । इति मेदिनी ॥

सिप्रा, स्त्री, (सिप्र + स्त्रियां टाप् ।) नदीभेदः । इति मेदिनी ॥ सा तु उज्जयनीदेशसमीपे वर्त्तते । (यथा, रघुः । ६ । ३५ ।
“अनेन यूना सह पार्थिवेन
रम्भोरु ! कच्चित् मनसो रुचिस्ते ।
सिप्रातरङ्गानिलकम्पितासु
विहर्त्तुमुद्यानपरम्परासु ॥”)
तस्या उत्पत्तिर्यथा कालिकापुराणे २३ अध्याये ।
“एवं विवाह्य विधिवत् सौवर्णे मानसाचले ।
अरुन्धतीं वशिष्ठस्तु मोदमाप तया सह ॥
तत्र यत् पतितं तोयं मानसाचलकन्दरे ।
विवाहावभृतार्थाय शान्त्यर्थं च पुरा कृतम् ॥
ब्रह्मविष्णुमहादेवपाणिभिः समुदीरितम् ।
तत्तोयं सप्तधा भूत्वा पतितं मानसाचलात् ॥
हेमाद्रेः कन्दरे सानौ सरस्याञ्च पृथक् पृथक् ।
तत्तोयं पतितं सिप्रे देवभोग्ये सरोवरे ।
तेन सिप्रा नदी जाता विष्णुना प्रेरिता
क्षितिम् ॥”

सिमः, पुं, (षि ञ् बन्धने + “अविसिविसिशुषिभ्यः कित् ।” उणा० १ । १४३ । इति मन् । स च कित् ।) समुदायः । सिमः सर्व्वः । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥ (यथा, ऋग्वेदे । १ । ११५ । ४ ।
“रात्री वासस्तनुते सिमस्मै ।”)

सिम्बा, स्त्री, (षम वैक्लव्ये + उल्वादयश्चेति साधुः ।) शमी । यथा,—
“शमी समी शिम्बिशिम्बे सिम्बा सिम्बिरपीष्यते ।”
इति द्विरूपकोषः ॥
सं छिमिड़ा इति ख्याते शुँटी इति ख्याते । शाम्यति शक्तिरनया शमी शमभियं शमे नाश्नोति इः पाश्चोणादीति ईपि शमी तालव्यादिः शमेः पूर्व्वैव वे निपातनादकारस्य इत्वे शिम्बापि तालव्यादिः । सिम्बा दन्त्यादिरिति पुरुषोत्तमादयः । सिम्बिशब्दोऽप्यत्र शिम्बिरपि तालव्यादिर्दन्त्यादिश्च । इति भरतः ॥

सिम्बिः, स्त्री, शिम्बा । इति द्विरूपकोषः ॥ नखीनामगन्धद्रव्यम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

सिम्बिका, स्त्री, शमीधान्यम् । इति भावप्रकाशः ॥ तालव्यशकारादिरपि ॥

सिम्बी, स्त्री, (सिम्बि + पक्षे ङीष् ।) निष्पावी । इति राजनिर्घण्टः ॥ अपि च ।
“सिम्बा सिम्बी पुस्तसिम्बिस्तथा पुस्तकसिम्बिका ।
शिम्बिद्वयञ्च मधुरं रसे पाके हिमं गुरु ।
बल्यं दाहकरं प्रोक्तं श्लेष्मलं वातपित्तजित् ॥”
इति भावप्रकाशः ॥

सिरः, पुं, पिप्पलीमूलम् । इति हेमचन्द्रः ॥ (पिप्पलीमूलशब्देऽस्य विषयो ज्ञेयः ॥)

सिरा, स्त्री, (सिनोतीति । षिञ् बन्धने + रक् । इत्युणादौ उज्ज्वलः । २।१३ ।) नाड़ी । (यथा, सुश्रुते । ३ । ७ ।
“आप्नुवन्त्यभितो देहं नाभितः प्रसृताः सिराः ।
प्रतानाः पद्मिनीकन्दाद्बिसादीनां यथा जलम् ॥”
यथा च ।
“आनाहमन्यः स्रवणात् स्रोतांसि सरणात्
सिराः ॥”
इति चरके सूत्रस्थाने त्रिंशेऽध्याये ॥
तथा च ।
“सप्त सिराशतानि भवन्ति । याभिरिदं शरीरमाराम इव जलहारिणीभिः केदार इव च कुल्याभिरुपस्निह्यतेऽनुगृह्यते चाकुञ्चनप्रसारणादिभिर्विशेषैः । द्रुमपत्रसेवनीनामिव च तासां प्रतानास्तासां नाभिर्मूलं ततश्च प्रसरन्त्यूर्द्ध्वमधस्तिर्य्यक् च ॥ भवतश्चात्र ॥
यावत्यस्तु सिराः काये सम्भवन्ति शरीरिणाम् ।
नाभ्यां सर्व्वा निबद्धास्ताः प्रतन्वन्ति समन्ततः ॥
नाभिस्थाः प्राणिनां प्राणाः प्राणान्नाभिर्व्युपाश्रिता ।
सिराभिरावृता नाभिश्चक्रनाभिरिवारकैः ॥
तासां मूलसिराश्चत्वारिंशत्तासां वातवाहिन्यो दश पित्तवाहिन्यो दश कफवाहिन्यो दश दश रक्तवाहिन्यः । तासान्तु वातवाहिनीनां वातस्थानगतानां पञ्चशप्ततिशतं भवति तावत्य एव पित्तवाहिन्यः पित्तस्थाने कफवाहिन्यश्च कफस्थाने रक्तवाहिन्यश्च यकृत्प्लीह्नोरेवमेतानि सप्त सिराशतानि ।
तत्र वातवाहिन्यः सिरा एकस्मिन् सक्थ्नि पञ्चविंशतिः एतेनेतरसक्थिबाहू च व्याख्यातौ । विशेषतस्तु कोष्ठे चतुस्त्रिंशत्तासां गुदमेढ्राश्रिताः श्रोण्यामष्टौ द्वे द्वे पार्श्वयोः षट् पृष्ठे तावत्य एव चोदरे दश वक्षसि । एकचत्वारिंशज्जत्रुण ऊर्द्ध्वं तासां चतुर्द्दश ग्रीवायां कर्णयोश्चतस्रः । नव जिह्वायाम् । षट् नासिकायाम् । अष्टौ नेत्रयोः । एवमेतत् पञ्चसप्तत्यधिकशतं वातवहानां सिराणां व्याख्यातम् । एष एव विभागः शेषाणामपि । विशेषतस्तु पित्तवाहिन्यो नेत्रयोर्दश कर्णयोर्द्वे । एवं रक्तवहाः कफवहाश्च । एवमेतानि सप्त सिराशतानि सविभागानि व्याख्यातानि । भवन्ति चात्र ।
क्रियाणामप्रतीघातममोहं बुद्धिकर्म्मणाम् ।
करोत्यन्यान् गुणांश्चापि स्वाः सिराः पवनश्चरन् ॥
यदा तु कुपितो वायुः स्वाः सिराः प्रतिपद्यते ।
तदास्य विविधा रोगा जायन्ते वातसम्भवाः ॥
भ्राजिष्णुतामन्नरुचिमग्निदीप्तिमरोगताम् ।
संसर्पत् स्वाः सिराः पित्तं कुर्य्याच्चान्यान् गुणानपि ॥
यदा प्रकुपितं पित्तं सेवते स्ववहाः सिराः ।
तदास्य विविधा रोगा जायन्ते पित्तसम्भवाः ॥
स्नेहमङ्गेषु सन्धीनां स्थैर्य्यं बलमुदीर्णताम् ।
करोत्यन्यान् गुणांश्चापि बलासः स्वाः सिराश्चरन् ॥
यदा तु कुपितः श्लेष्मा स्वाः सिराः प्रतिपद्यते ।
तदास्य विविधा रोगा जायन्ते श्लेष्मसम्भवाः ॥
धातूनां पूरणं वर्णं स्पर्शज्ञानमसंशयम् ।
स्वाः सिराः सञ्चरद्रक्तं कुर्य्याच्चान्यान् गुणानपि ॥
यदा तु कुपितं रक्तं सेवते स्ववहाः सिराः ।
तदास्य विविधा रोगा जायन्ते रक्तसम्भवाः ॥
नहि वातं सिराः काश्चिन्न पित्तं केवलन्तथा ।
श्लेष्माणं वा वहन्त्येता अतः सर्व्ववहाः स्मृताः ॥
प्रदुष्टानां हि दोषाणामुच्छ्रितानां प्रधावताम् ।
ध्रुवमुन्मार्गगमनमतः सर्व्ववहाः स्मृताः ॥
तत्रारुणा वातवहाः पूर्य्यन्ते वायुना सिराः ।
पित्तादुष्णाश्च नीलाश्च शीता गौर्य्यः स्थिराः
कफात् ॥
असृग्वहास्तु रोहिण्यः सिरा नात्युष्णशीतलाः ।
अत ऊर्द्ध्वं प्रवक्ष्यामि न विध्येद्याः सिरा
भिषक् ॥
वैकल्यं मरणञ्चापि वधात्तासां ध्रुवं भवेत् ।
सिराशतानि चत्वारि विद्याच्छाखासु बुद्धिमान् ॥

षट्त्रिंशच्च शतं कोष्ठे चतुःषष्टिश्च मूर्द्धनि ।
शाखासु षोडश सिराः कोष्ठे द्वात्रिंशदेव तु ॥
पञ्चाशज्जत्रुणश्चोर्द्ध्वमवेध्याः परिकीर्त्तिताः ॥”
इति सुश्रुते शारीरस्थाने सप्तमेऽध्याये ॥)
अम्बुवाहिनी । इति हेमचन्द्रः ॥

सिह्लकी, स्त्री, शल्लकीवृक्षः । इत्यमरटीकायां भरतः । २ । ४ । १२४ ॥

सिवरः, पुं, हस्ती । इति जटाधरः ॥

सिषाधयिषा, स्त्री, (साधयितुमिच्छा । साध + सन् + अः । स्त्रियां टाप् ।) साधनेच्छा । यथा, भाषापरिच्छेदे । ७० ।
“सिषाधयिषया शून्या सिद्धिर्यत्र न विद्यते ।
स पक्षस्तत्र वृत्तित्वज्ञानादनुमितिर्भवेत् ॥”

सिहुण्डः, पुं, स्नुहीवृक्षः । इति शब्दरत्नावली ॥ (स्नुहीशब्देऽस्य विवृतिर्विज्ञेया ॥)

सिह्लः, पुं, (स्निह्यति मनो यत्र । स्निह + घञ् । पृषोदरादित्वात् साधुः ।) गन्धद्रव्यविशेषः । सिह्ला इति ख्यातः । तत्पर्य्यायः । तुरुष्कः २ पिण्डकः ३ यावनः ४ । इत्यमरः । २।४।१२८ ॥ सिह्लकः ५ पिण्याकः ६ कपिजलः ७ तैलाख्यः ८ यावः ९ यावलः १० । इति शब्दरत्नावली ॥ सल्लकीद्रवः ११ पिञ्जकः १२ तैलपर्णी १३ दृक्-धूपः १४ कृष्णधूपः १५ । इति जटाधरः ॥

सिह्लकः, पुं, (सिह्ल एव । स्वार्थे कन् ।) सिह्लः । इति शब्दरत्नावली ॥ (शिलारसः । अस्य पर्य्यायो यथा,—
“कपिनामा कपितैलं क्रत्रिमं कपिलश्चलः ।
तुरुष्को मुक्तिशुक्तश्च पिण्डाशः सिह्लको रसः ॥”
इति वैद्यकरत्नमालायाम् ॥
“सिह्लकस्तु तुरुष्कः स्याद्यतो यवनदेशजः ।
कपितैलञ्च सञ्जातस्तथाच कपिनामकः ॥”
अस्य गुणा यथा,—
“सिह्लकः कटुकः स्वादुः स्निग्धोष्णः शुक्र-
कान्तिकृत् ।
दृष्यः कण्ठ्यः स्वेदकुष्ठज्वरदाहग्रहापहः ॥”
इति भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे प्रथमे भागे ॥)

सिह्लकी, स्त्री, सल्लकी । इति शब्दरत्नावली ॥

सिह्लभूमिका, स्त्री, सल्लकी । इति शब्दरत्नावली ॥

सीक, ऋ ङ सेके । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-आत्म०-सक०-सेट् ।) ऋ, असिसीकत् । ङ, सीकते । इति दुर्गादासः ॥

सीक, कि आमर्षे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (चुरा०-पक्षे भ्वा०-पर०-सक०-सेट् ।) कि, सीकयति सीकति । आमर्षि स्पर्शे । प्रमादं तालव्यादौ दृश्यम् । इति दुर्गादासः ॥

सीरकः, पुं, शीकरः । इत्यमरटीकायां भरतः । १ । ३ । ११ ॥ (यथा, रघुः । ५ । ४२ ।
“स नर्म्मदा रोधसि सीकरार्द्रै-
र्मरुद्भिरानर्त्तितनक्तमाले ।
निवेशयामास विलङ्घिताध्वा
क्लान्तं रजोधूसरकेतु सैन्यम् ॥”)

सीता, स्त्री, (सिनोतीति । षिञ् बन्धे + बाहुलकात् क्तः । दीर्घश्च । इत्युणादौ उज्ज्वलः । ३ । ९० ।) लाङ्गलपद्धतिः । इत्यमरः । २।९।१४ ॥
“हे लाङ्गलरेखायां सिनोति खनति भूमिं सीता । षि ञ ग ञ बन्धे नाम्नीति तः निपातनाद्दीर्घः । सीता दन्त्यसादिः । शेते भुवि इति शीता तालव्यशादिश्च ।” इति भरतः ॥ (यथा, कुमारे । ५ । ६१ ।
“न वेद्मि स प्रार्थितदुर्लभः कदा
सखीभिरस्रोत्तरमीक्षितामिमाम् ।
तपःकृशामभ्युपपत्स्यते सखीं
वृषेव सीतां तदवग्रहक्षताम् ॥”)
जनकराजनन्दिनी । सा तु श्रीरामपत्नी । तत्-पर्य्यायः । वैदेही २ मैथिली ३ जानकी ४ धरणीसुता ५ । इति हेमचन्द्रः ॥ भूमिसम्भवा ६ । इति जटाधरः ॥ अस्या उत्पत्तिर्यथा, वाल्मीकीये रामायणे । ६६ । १३—१४ ।
“अथ मे कृषतः क्षेत्रं लाङ्गलादुत्थिता ततः ।
क्षेत्रं शोधयता लब्धा नाम्ना सीतेति विश्रुता ॥
भूतलादुत्थिता सा तु व्यवर्द्धत ममात्मजा ।
वीर्य्यशुल्केति मे कन्या स्थापितेयमयोनिजा ॥”
अपि च तट्टीकाधृतपद्मपुराणम् ।
“अथ लोकेश्वरी लक्ष्मीर्जनकस्य पुरे स्वतः ।
शुभक्षेत्रे हलोत्खाते तारे चोत्तरफल्गुने ॥
अयोनिजा पद्मकरा बालार्कशतसन्निभा ।
सीतामुखे समुत्पन्ना बालभावेन सुन्दरी ॥
सीतामुखोद्भवात् सीता इत्यस्यै नाम चाकरोत् ।
ततोऽभूदौरसी तस्य उर्म्मिला नाम कन्यका ॥”
तज्जन्मव्रतादि गौतमं प्रति शिवेनोक्तं यथा,—
“वैशाखशुक्लपक्षे त्वष्टम्यां संयमनं कुरु ।
परेद्युर्विकुरुष्वैतज्जानकीजन्मनो व्रतम् ॥
सन्तुष्टा जानकी तेन भविष्यति न संशयः ।
एतद् व्रतं ममाप्यस्ति कर्त्तव्यं श्वो द्विजोत्तम ॥
माहात्म्यं तस्य गदितुं नास्ति मे निश्चलं मनः ।
अहं तद्व्रतलीनोऽस्मि शक्तस्तद्गदितुं न हि ॥
तस्मादेकं वदामि त्वां मार्कण्डेयाश्रमेऽधुना ।
गत्वा मुनीन्द्रः सकलं मार्कण्डेयोऽनुपृच्छ्यताम् ।
सर्व्वं निवेदितं तस्मै व्रतमाहात्म्यमुत्तमम् ।
विधानञ्च फलं तस्य स मुनिस्त्वां वदिष्यति ॥
मार्कण्डेयोपदिष्टेन विधिनाचर तद्व्रतम् ।
यथाशक्त्यपि कुर्व्वाणो व्रतस्योत्सवमादरात् ॥
सम्प्राप्स्यसे सकलान् कामान्नात्र कार्य्या विचा-
रणा ॥”
इत्यादि गौतमप्रश्नानन्तरं श्रीमार्कण्डेय उवाच ।
“त्रेतायुगे उत्तराशां गते कमलिनीपतौ ।
सर्व्वर्त्तुनिकरश्रेष्ठ ऋतौ तु कुसुमाकरे ॥
मासि पुण्यतमे विप्र माधवे माधवप्रिये ।
नवम्यां शुक्लपक्षे च वासरे मङ्गले शुभे ॥
सार्प्पे ऋक्षे च मध्याह्ने जानकी जनकालये ।
आविर्भूता स्वयं देवी योगेषु गतिरुत्तमा ॥
एतद्योगे कृतञ्चेतद्व्रतं प्रोक्तमनन्तकम् ॥
अष्टम्यां यदि विद्धा स्यान्नवमी माधवे सिते ।
कुर्य्यान्नेदं व्रतं तस्यां कृतञ्चेन्न्यूनता भवेत् ॥
मध्याह्नव्यापिनी ग्राह्या व्रतेऽस्मिन्नवमी तिथिः ।
दिनद्वयगतायान्तु तस्यां कार्य्या परा नरैः ॥
एतैर्योगैर्विनापि स्यात् तद्दिनं पापनाशनम् ।
व्रतानां नित्यमाम्नातं कर्त्तव्यं व्रतमुत्तमम् ॥*॥
यस्तु नो कुरुते मोहात् जानकीजन्मसम्भवम् ।
व्रतं स पच्यते घोरे नरके नात्र संशयः ॥
तस्मिन्नहनि मूढात्मा भुङ्क्ताप्यन्नन्तु यो नरः ।
मुने स कृमिसङ्घातं सपूयं खादति स्फुटम् ॥
न करोति हि यः श्रुत्वा व्रतानामुत्तमं व्रतम् ।
स महापातकी ज्ञेयः सर्व्वधर्म्मवहिष्कृतः ॥*॥
कुरुते यो व्रतं सोऽपि पृथ्वीदानफलं लभेत् ।
महाषोड़शदानानां यज्ञानां मुनिपुङ्गव ! ॥
प्राप्नोति सर्व्वतीर्थानां प्राप्नुयात् सकलं फलम् ।
सर्व्वभूतदयां कृत्वा फलमाप्नोति यज्जनः ।
तत्प्राप्नोति व्रतादस्मात् नात्र कार्य्या विचारणा ॥
अष्टम्यां प्रातरुत्थाय कृत्वा शौचमतन्द्रितः ।
महानद्यां तड़ागे वा कूपे वाप्यन्तिकेऽपि वा ॥
स्नात्वा कुर्य्यान्नित्यकर्म्म प्रातःसन्ध्यादिवन्दनम् ।
देवान् पितॄंश्च संतर्प्य हविष्याशी च संयतः ॥
एकभुक् ब्रह्मचारी स्याद्भूमिशायी च गौतम ॥
नवम्यां प्रातरुत्थाय दान्तो भूत्वा समाहितः ॥
तीर्थादौ विधिवत् स्नात्वा कृतनित्यक्रियो नरः ।
कुर्व्वीत मण्डपं रम्यं षोड़शस्तम्भमण्डितम् ॥
अष्टस्तम्भयुतं वापि चतुःस्तम्भमथापि वा ।
तोरणैः सहितं कुर्य्याद्वितानवरशोभितम् ॥
द्वारेषु शङ्खचक्रादिपताकाभिर्ध्वजैस्तथा ।
अलङ्कुर्य्यात् प्रतिस्तम्भं स्थापयेत् कलसान्
शुभान् ॥
शुद्धतण्डुलराशीषु पूर्णपात्रैरलङ्कृतान् ।
मध्ये तु चत्वरं कुर्य्यात् चतुर्हस्तप्रमाणतः ॥
हस्तमात्रोच्छ्रितं रम्यं चतुरस्रं त्वदा मुने ॥*॥
पलद्वयमितां कुर्य्यात् जानकीप्रतिमां शुभाम् ॥
काञ्चनीमथवा शक्त्या कुर्य्यादेकपलोन्मिताम् ।
तदर्द्धेन तदर्द्धेन कुर्य्याच्छक्त्या चतुर्भुजाम् ॥
वित्तशाठ्यमकृत्वैवं राजतीमपि कारयेत् ।
औड़म्बरीं पैत्तलीं वा त्वद्व्रसथीं द्विजात्मज ॥
कुर्य्यात् पटेऽथ वा लेख्या वर्णकैः प्रतिमां वराम् ।
लेख्यञ्च सूतिकागारं सर्व्वतश्च पटावृतम् ॥
पर्य्यङ्कशयने सुप्ता तत्र राज्ञी महामतिः ।
तस्याः समीपतः सुप्ता मैथिली स्तनपायिनी ॥
जातकर्म्मकरो लेख्यो जनकश्च महीपतिः ।
शतानन्दः पुरोधाश्च लेखनीयः प्रयत्नतः ॥
इत्यादि चरितं लेख्यं जानकीजन्मसम्भवम् ।
यथाशक्ति स्थलं कुर्य्यात् काञ्चनं किल गौतम ॥
राजतं चैत्रममलं स्वर्णसिंहासनं तथा ।
कुर्य्यात्ताम्रमयं कुम्भं पूर्णपात्रावृतं मुखे ॥
तन्मध्ये पञ्चरत्नादि तीर्थाम्बु निक्षिपेन्मुने ॥
आचार्य्यं शास्त्रकुशलं वेदाध्ययनकोविदम् ।
वृणुयाद्विमलाचारमवतंसाङ्गदासनैः ॥
अन्तरीयोत्तरीयैश्च पञ्चपात्रादिभिर्व्रती ।
श्रीफलादिभिरभ्यर्च्य गन्धमाल्यानुलेपनैः ॥

वृणुयाद्वै विधानेन ततः षोडश ऋत्विजः ॥
विद्यावतः सदाचारानष्टौ वा भक्तिसंयुतः ।
मध्ये वेदीं समालेख्य विचित्रैर्व्वर्णकैस्ततः ॥
पद्ममष्टदलं तत्र स्थापयेत् कलसं ततः ।
रत्नसिंहासनं रम्यं संस्थाप्य विजितेन्द्रियः ॥
तत्राधिवासनं कुर्य्यादनुज्ञाग्रहणपूर्व्वकम् ।
प्रतिमायां विधानेन देवीमावाहयेत्ततः ॥ * ॥
प्राणानायम्य मूलेन त्रिरेकाग्रेण चेतसा ।
मूलमन्त्रस्य जनकं मुनिं विन्यस्य मूर्द्धनि ॥
मुखे छन्दश्च गायत्रीं सीतादेवीं हृदि न्यसेत् ।
नाभौ तु विन्यसेद्ब्रह्मन् लक्ष्मीबीजं सविन्दुकम् ॥
पादयोश्च नमः शक्तिं ततो विन्यस्य मन्त्रवित् ।
श्रीं श्रीमित्यादिभिर्व्वीजैर्द्दीर्घैः षट्स्वरसंयुतैः ।
कृत्वा करषडङ्गेषु न्यासं ध्यायेत्ततो व्रती ॥*॥
चतुर्भुजां सुवर्णाभां रामालोकनतत्पराम् ।
श्रीराघवान्वितां सीतां चिन्तयेद्धृदि सर्व्वदा ॥
इति ध्यात्वा समुच्चार्य्य मूलमन्त्रं कृताञ्जलिः ।
सविन्दुकमलाबीजं पूर्व्वमुच्चार्य्य गौतम ॥
सीतायै इति पश्चात्तु नमःशब्दं वदेत् किल ।
संपूज्य प्रतिमां रात्रौ कृत्वैवमधिवासनम् ।
ब्रह्मचारी भूमिशायी तस्यां रात्रौ भवेद्व्रती ॥
तस्यां नवम्यां विधिवत् कृत्वा शौचमतन्द्रितः ।
नद्यादौ विमले स्नात्वा नित्यकर्म्म विधाय च ॥
ततस्तु प्रथमे यामे नित्यपूजाविधिं व्रती ।
कृत्वा द्वितीयप्रहरे गीतवाद्यपुरःसरम् ॥
मध्याह्नसमये भक्त्या कुर्य्यादेकाग्रचेतसा ।
आसने उपविश्यादौ मूलं विन्यस्य पूर्व्ववत् ॥
चतुरस्रञ्च षट्कोणं त्रिकोणञ्च पुरस्ततः ।
कृत्वा मण्डलमाधारं तत्र संपूज्य मन्त्रवित् ॥
मूलेन शङ्खं संस्थाप्य जलमासिच्य निर्म्मलम् ।
चिन्मयं तत्र संचिन्त्य तीर्थमङ्कुशमुद्रया ॥
आकृष्य मूलमन्त्रेण सप्तवाराभिमन्त्रितैः ।
जलैः संप्रोक्षयेद्विद्वान् सामग्रीं पूजनोचिताम् ॥
पात्राणि ताम्रहेमादिनिर्म्मितानि ततो मुने ।
पाद्यार्घप्रदानार्थञ्च मधुपर्कार्थमेव च ॥
तथैवाचमनीयार्थमेवमासादयेत् क्रमात् ।
एकस्मिन्नथवा पात्रे पाद्यादीनि प्रकल्पयेत् ॥
पात्राणीत्थं समासाद्य ततोऽन्तर्यागमाचरेत् ।
पुष्पाञ्जलिं समादाय ध्यायेद्वै प्रतिमागताम् ॥
शङ्खचक्रगदापद्मान्याश्रयन्तीं चतुर्भुजैः ।
महामतेस्तथा प्राज्ञो जनकस्य महात्मनः ॥
हलचालनतः साक्षादाविर्भूतां स्वतः श्रियम् ।
सीतां देवीं हृदि ध्यात्वा मूलमन्त्रेण मन्त्रवित् ॥
पुष्पाञ्जलित्रयं देवी प्रतिमामूर्द्धनि क्षिपेत् ।
हिरण्यवर्णां मन्त्रेण देवीमावाहयेत्ततः ॥
आवाहनादिमुद्राणामष्टकं संप्रदर्शयेत् ।
तामावाहय इत्युक्तो मन्त्रो देयासने मुने ॥
अश्वपूर्णामर्घदाने पाद्यं कासोऽस्मि मन्त्रतः ।
चन्द्रप्रभेति मन्त्रेण दद्यादाचमनीयकम् ॥
आदित्यवर्णे इत्युक्तो मन्त्रः पञ्चामृते भवेत् ।
आप्यायस्वेति मन्त्रेण पयसा स्नापयेत्ततः ॥
दधिक्राव्णस्ततो दध्ना घृतेन घृतवत्युत ।
मधुना मधुवातेति त्र्यृचया सितया मुने ॥
स्वादुयवस्वमन्त्रेण ततस्तीर्थाम्बुभिः क्रमात् ।
उपैतु मामिति प्रोक्तः सीतायाः स्नपने मनुः ॥
स्वर्णसिंहासने रम्ये प्रतिमां स्थापयेद्व्रती ।
वासोभिः क्षुत्पिपासेति पूजयेद्विमलोत्तमैः ॥
गन्धद्वारामिति भवेद्दाने गन्धादिकस्य तु ।
मनसः काममित्याहुर्म्माल्यमाभरणादिके ॥
मधुपर्कं ततो दद्यात् सीतादेव्यै विधानतः ।
कस्तूरीकुसुमोपेतैः कर्पूरागुरुचन्दनैः ॥
प्रतिमां पूजयेद्भक्त्या ततः पुष्पैः स्वकालिकैः ।
सुगन्धैः कर्द्दमेनेति मन्त्रेण किल गौतम ॥
अर्च्चयेत्तुलसीपत्रैः कोमलैर्म्मञ्जरीयुतैः ।
प्रतिमां मूलमन्त्रेण शतमष्टोत्तरं जपेत् ।
ततः संपूजयेद्विद्वान् राजानं जनकं व्रती ॥”
जनकपूजामन्त्रः ।
“देवी पद्मालया साक्षादवतीर्णा यदालये ।
मिथिलापतये तस्मै जनकाय नमो नमः ॥”
महामतिपूजामन्त्रः ।
“श्रीसीताजननी मातर्म्महिषी जनकस्य च ।
पूजां गृहाण मद्दत्तां महामति नमोऽस्तु ते ॥”
शतानन्दपूजनमन्त्रः ।
“निधानं सर्व्वविद्यानां विदत्कुलविभूषण ।
जनकस्य पुरोधास्त्वं शतानन्दाय ते नमः ॥”
हलपूजनमन्त्रः ।
“जीवयस्यखिलं विश्वं चालयन् वसुधातलम् ।
प्रादुर्भावयसे सीतां सीर तुभ्यं नमोऽस्तु वे ॥”*॥
सुभगापूजनमन्त्रः ।
“त्वयैवोत्पादितं सर्व्वं जगदेतच्चराचरम् ।
त्वमेवासि महामाया मुनीनामपि मोहिनी ॥
त्वयायत्ता इमे लोकाः श्रीसीतावल्लभा परा ।
वन्दनीयासि देवानां सुभगे त्वां नमाम्यहम् ॥*॥
ततोऽष्टदलमध्यस्थजयाद्या भक्तितः क्रमात् ।
संपूजयेद्विशुद्धात्मा गन्धपुष्पाक्षतादिभिः ॥
बहिर्म्मण्डलवर्त्तिन्यः षोडशाद्यास्तु देवताः ।
अणिमाद्यभिधाः पूज्या बहिः सर्व्वा अतस्ततः ॥
संपूज्यावरणान्येवं मुख्यदेव्यास्ततो व्रती ।
दशाङ्गैर्गुग्गुलैर्द्दद्याद्धूपमायः स्वतंविभिः ॥
दीपञ्च साज्यवर्त्तीभिरार्द्रपुष्करिणीमिति ।
नैवेद्यं घृतपक्वान्नैर्नानाव्यञ्जनसंयुतैः ॥
प्रदद्यात् पायसाद्यैरप्यार्द्रांयःकरिणीमिति ।
राज्ञे च गुड़लड्डुकान् महामत्यै निवेदयेत् ॥
ताम्बूलञ्च ततो दद्यात् कर्पूराद्यैः सुसंयुतम् ।
साङ्गतासिद्धये देया यथाशक्ति च दक्षिणा ॥
नीराजयेत्ततो देवीं प्रणमेत्तदनन्तरम् ।
तामाहूय च मन्त्रेण पुष्पाञ्जलिमथार्पयेत् ॥*॥
मूलेन हावयेत् विप्रैरष्टोत्तरसहस्रकम् ।
अष्टोत्तरशतं वापि पायसं शर्क्करायुतम् ॥
आहुतीनां ततः पश्चान्मुने कुर्य्यात् प्रदक्षिणाम् ।
पुनः पुष्पाञ्जलिं दद्यात् सीतामूर्द्धनि भक्तितः ।
आदाय तुलसीपत्रं पुष्पं यत्किञ्चिदेव वा ।
सीताङ्घ्रिपङ्कजाज्ञया तदाकारं विभावयन् ॥
इति मन्त्रगिरा भूत्वा रोपयेत्तत् स्वमूर्द्धनि ।
ततः सीतापदाम्भोजद्वयं संस्पृश्य मङ्गलम् ॥
कराञ्जलिपुटं बद्ध्वा प्रार्थयेद्रामवल्लभाम् ।
भक्त्या परमया ब्रह्मन् ताभिः कोमलशक्तिभिः ।

दुरन्तसंसारसमुद्रमग्नं
सीते शरण्यां शरणागतं त्वाम् ।
उद्धारयस्वाशु कृतं भयेत-
द्भुतं ततो देवि मयि प्रसीद ॥

संप्रार्थ्य जानकीमेवं दण्डवत् प्रणमेत् पुनः ।
पुष्पाञ्जलिं पुनर्द्दत्त्वा स्तुवीत परमेश्वरीम् ।

नीलनीरजदलायतेक्षणां
कौशलेशभुजसावलम्बनाम् ।
सानुरागहरिमेवमीक्षतीं
भावये मनसि रामवल्लभाम् ॥
मन्दहंसगतिगाञ्च कृशाङ्गीं
कामकान्तिपरिभूतचन्द्रिकाम् ।
ताड़कारिसहप्रेमविमग्नां
भावये मनसि रामवल्लभाम् ॥
कुन्तलालककपोलमाननां
राहुवक्त्रगसुधासमद्युतिम् ।
वाससा पिदधतीं ह्रियाकुलां
भावये मनसि रामवल्लभाम् ॥
कायवाङ्मनसगीःपतिर्व्वधात्
स्वप्नजाग्रतिषु राघवेश्वरः ।
शिवविरिञ्चिभिरङ्घ्रिवन्दितां
भावये मनसि रामवल्लभाम् ॥
भक्त्यैकगम्यां प्रकृतेः पराञ्च
चित्ते भृशं लोकनमस्कृताञ्च ।
भूवायुवह्निवननाकसंस्थितां
विभावये चेतसि रामवल्लभाम् ॥
इन्द्ररुद्रधनदानुपालकैः
सद्विमानगणमास्थितैर्द्दिवि ।
पुष्पवर्षमनुसंस्तुतशीलां
भावये मनसि रामवल्लभाम् ॥
ध्येयमानममरैश्च स्वरूपां
वामधामतनुनिर्ज्जितहेमाम् ।
फुल्लनीरजविभावराननां
भावये मनसि रामवल्लभाम् ॥
सचयैर्द्दिविसदां विमानगै-
र्व्विस्मयाकुलमनोभिरीक्षिताम् ।
तेजसापि दधतीं सदा दिशं
भावये मनसि रामवल्लभाम् ॥
एतदष्टकमनिष्टहानिकृद्
यः पठेदथ शृणोत्यहर्म्मुखे ।
अन्तरापरहिता तु मैथिली
तस्य भक्तिमतुलां प्रयच्छति ॥

स्तुत्वेत्थं जानकीदेवीं गीतवाद्यादिभिर्व्रती ।
रात्रौ जागरणैः सर्व्वां तां रत्रिमपवाहयेत् ॥
ततः प्रातर्द्दशम्याञ्च पूर्व्वोक्तविधिना द्विज ।
प्रतिमां पूजयित्वादावाचार्य्यं पूजयेत्ततः ॥
तस्मै सोपस्करां दद्यात् सवत्सां गां पयस्विनीम् ।
दक्षिणाञ्च यथाशक्ति ततः पूर्णाहुतिं चरेत् ।
पूर्णाहुतिविधानेन कृत्वा च प्रतिमादिकम् ।

सीतायाः प्रीतये दद्यात् मण्डपादि विस्तृत्य च ।
सीताप्रीतिं वाचयीत ब्राह्मणाचार्य्यभावितैः ।
अन्येभ्योऽपि यथाशक्त्या भूयसीं दक्षिणां ददेत् ॥
अतिथिभ्योऽन्नदानञ्च कर्त्तव्यं तद्दिने किल ।
सन्तोष्य सकलान् लोकान् कुटुम्बसहितो व्रती ॥
विधिना पारणं कुर्य्यात् भूमिशायी च मानवः ।
तस्योपरि सदा प्रीता सीता स्यान्नात्र संशयः ॥ *
यद्गृहे नित्यपूज्या स्यात् प्रतिमा तत्र गौतम ।
तस्यामेवोत्सवं कुर्य्याज्जानक्याः पूजनादिकम् ॥
नित्यपूज्या न यस्य स्यात् सीतायाः प्रतिमा यदा ।
शालग्रामशिलायां स कुर्य्यात् सीतोत्सवं बुधः ॥
लक्ष्मीनारायणौ यस्मात्तस्यां संवसतः सदा ।
पूर्व्वोक्तविधिना सीतानवम्या उत्सवं द्विज ॥
पूजां कुर्व्वीत वै तस्याः सर्व्वैः पञ्चामृतादिभिः ।
तुष्येत तेन वै तस्मिन् जानकीरघुनन्दनौ ॥ * ॥
इत्थं निगदितं सर्व्वं जानकीजन्मनो व्रतम् ।
कुर्व्वन्तीन्द्रादयः सर्व्वे व्रतमेतदनुत्तमम् ॥
गन्धर्व्वाः किन्नरा यक्षा गुह्यकाः सिद्धचारणाः ।
नागाश्च मुनयश्चापि प्रकुर्व्वन्ति व्रतं द्विज ॥
यः कुर्य्याद्व्रतमेतद्धि जानकीजन्मसम्भवम् ।
स लभेत् सकलं ब्रह्मन् पृथ्वीयात्राफलं किल ॥
तथा षोड़शदानानां फलं प्राप्नोति मानवः ।
अश्वमेधादियज्ञानां तीर्थानामपि गौतम ॥
अत्युग्रतपसां वापि वेदोक्तानाञ्च विन्दति ।
गौतमेदं व्रतं तस्मादवश्यं कुरु भक्तितः ॥
नेदं वक्तुं समर्थाः स्मः फणीन्द्रचतुराननाः ।
कृताद्व्रतोत्तमादस्माद्दीर्घायुः प्राप्नवानहम् ।
व्रतानां नित्यमाम्नातं भक्तिदं कुर्व्वतां सताम् ॥
सूत उवाच ।
मुनये गौतमायेत्थं जानकीजन्मसम्भवम् ।
व्रतञ्च व्रतमाहात्म्यं विधानं श्रुतिचोदितम् ।
जगाद सकलं वत्स मार्कण्डेयो मुनीश्वरः ॥"
इत्यादि श्रीभविष्यपुराणे श्रीसीतानवमीव्रत-माहात्म्यं समाप्तम् ॥ * ॥ स्वर्गगङ्गा । इति मेदिनी ॥ सा तु भद्राश्ववर्षगङ्गा । यथा, श्रीभागवते ५ स्कन्धे । "सीता तु ब्रह्मसदनात् केशवाचलादिगिरिशिखरेभ्योऽधोऽधः प्रस्रवन्ती गन्धमादनमूर्द्धसु पतित्वान्तरेण भद्राश्वं वर्षं प्राच्यां दिशि क्षारसमुद्रमभिप्रविशति ।" अपि च ।
मार्कण्डेय उवाच ।
"यत्र देवसभा भूता सानौ तस्य महागिरेः ।
तत्र जाता देवनदी सीताख्या वचनाद्विधेः ॥
स्नापयित्वा यथा चन्द्रं सीतातोयैर्मनोहरैः ।
चन्द्रं पपुर्ब्रह्मवाक्यात् सर्व्वे ते त्रिदिवौकसः ॥
तदा सीताजलं चन्द्रस्नानयोगाच्च साम्प्रतम् ।
भूत्वा निपतितं तस्मिन् हृदक्षोहितसंज्ञके ॥
तदिदृष्ट्वं तदा तोयं तस्मिन् सरसि निर्म्मलम् ।
तद्दर्शी स्वयं ब्रह्मा विष्टब्धं साधु तज्जलम् ॥
तद्दर्शनाज्जलात्तस्मादुत्थिता कनकोत्तमा ।
चन्द्रभागेति तन्नाम विधिश्चक्रे स्वयं ततः ।
भार्य्यार्थं सागरस्तान्तु जग्राह ब्रह्मसम्मते ॥"
इति कालिकापुराणे २२ अध्यायः ॥

लक्ष्मीः । उमा । शस्याधिदेवता । इति नानार्थ-ध्वनिमञ्जरी ॥ मदिरा । इति राजनिर्घण्टः ॥ गङ्गास्रोतः । यथा,—
"गङ्गायान्तु भद्रसोमा महाभद्राथ पाटला ।
तस्याः स्रोतसि सीता च वङ्क्षुर्भद्रा च कीर्त्तिता ।
तद्भेदेऽलकनन्दापि शारिणी त्वल्पनिम्नगा ॥"
इति शब्दमाला ॥
(नदीविशेषः । इति केचित् ॥ यथा, महाभारते । ३ । १८८ । १०० ।
"गाङ्गं शतद्रुं सीताञ्च यमुनामथ कौशिकीम् ।
* * * *
एताश्चान्याश्च सरितः पृथिव्यां या नरोत्तम ।
परिक्रामन् प्रपश्यामि तस्य कुक्षौ महात्मनः ॥")
सीतापतिः, पुं, (सीतायाः पतिः ।) श्रीरामचन्द्रः । इति शब्दरत्नावली ॥
सीतायाःपतिः, पुं, (सीतायाः पतिः । अलुक् समासः ।) श्रीरामचन्द्रः । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, रामायणटीकाकृतो मङ्गलाचरणे ।
"रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाःपतये नमः ॥")
सीतीलकः, पुं, सतीलकः । इत्यमरटीकायां रायमुकुटः ॥
सीत्कारः, पुं, (सीत् + कृ + भावे घञ् ।) मनुष्याणां सुखानुरागजशब्दः । (यथा, आर्य्यासप्तशत्याम् । २१६ ।
"नेच्छया चिकुरग्रहसमयसीत्कारमीलितदृशापि ।
बाला कपोलपुलकं विलोक्य निहतोऽस्मि शिरसि पदा ॥")
सीत्कृतं, क्ली, (सीत् + कृ + भावे क्तः ।) मनुष्याणां सुखानुरागजशब्दः । यथा,—
"शब्दो सुखानुरागोत्थः प्रवादः सीत्कृतं स्मृतम् ॥"
इति हेमचन्द्रः ॥
सीत्यं, क्ली, (सीतया निर्वृत्तमिति । सीता + यत् ।) धान्यम् । इति हेमचन्द्रः ॥
सीत्यं, त्रि, (सीतया सम्मितम् । सीता + "नौवयोधर्म्मेति ।" ४ । ४ । ९१ । इति यत् ।) कृष्टक्षेत्रादि । इत्यमरः । २ । ९ । ८ ॥
सीदं, क्ली, आलस्यम् । इति भूरिप्रयोगः ॥
सीधुः, पुं, (शीधुः । पृषोदरादित्वात् शस्य सः ।) मद्यम् । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, देवीभागवते । ५ । २४ । ६० ।
"अशोकं कुरु राजानं पादघातविकाशितम् ।
वकुलं सीधुसेकेन तथा कुरवकं कुरु ॥")
मद्यभेदः । इत्यमरः । २।१०।४२ ॥ यथा,—
"इक्षोः पक्वै रसैः सिद्धः सीधुः पक्वरसश्च सः ।
आमैस्तैरेव यः सीधुः स च शीतरसः स्मृतः ॥
सीधुः पक्वरसः श्रेष्ठः स्वराग्निबलवर्णकृत् ।
वातपित्तकरो हृद्यः स्नेहनो रोचनो हरेत् ॥
विबन्धमेदःशोफार्शः शोषोदरकफामयान् ।

तस्मादल्पगुणः शीतरसः संलेखनः स्मृतः ॥"
इति राजनिर्घण्टः ॥
(यथा च ।
"सीधुः कषायाम्लकमाधुरो वा
सन्दीपनो भेदमलापहा च ।
आमातिसारानिलपित्तशूल-
श्लेष्मामयार्शोग्रहणीगदघ्नः ॥"
इति हारीते प्रथमे स्थाने ११ अध्यायः ॥)
सीधुगन्धः, पुं, (सीधोरिव गन्धो यस्य ।) वकुलः । इति शब्दरत्नावली ॥
सीधुपुष्पः, पुं, (सिधुवत् गन्धयुक्तं पुष्पं यस्य ।) कदम्बः । वकुलः । इति राजनिर्घण्टः ॥
सीधुपुष्पी, स्त्री, (सीधुवत् गन्धयुक्तं पुष्पं यस्याः । ङीष् ।) धातकी । इति राजनिर्घण्टः ॥ (धातकीशब्देऽस्या विवरणं ज्ञातव्यम् ॥)
सीधुरसः, पुं, (सीधोरिव रसो यत्र ।) आम्रवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥
सीधुसंज्ञः, पुं, (सीधोः संज्ञा संज्ञा यस्य ।) वकुलवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥
सीध्रं, क्ली, अपानम् । इति केचित् ॥
सीपः, पुं, तर्पणाद्यर्थजलपात्रम् । कोषा इति भाषा । यथा,—
"वस्तुतस्तु अन्नागुड़्तस्य चीपासम्भवात् उद्धृतपदं हस्तादन्येन सीपादिनोद्धृतपरम् । तेन सीपादियुक्तकरतर्पणे तत्रैव जले तिलान् मिश्रयेत् ।" इति गोपालन्यायपञ्चाननकृतविचारनिर्णयः ॥
सीमन्तः, पुं, (सीम्नोऽन्तः । शकन्ध्वादित्वात् साधुः ।) केशेषु वर्त्म । इति हेमचन्द्रः ॥ सिँति इति भाषा ॥ (यथा महाभारते ।१।४४।२।
"अपश्यन्त तथा यान्तमाकाशे नगसत्तमम् ।
सीमन्तमिव कुर्व्वाणं नभसः पद्मवर्च्चसम् ॥")
सीमन्तोन्नयनसंस्कारः । यथा, याज्ञवल्क्यः । १ । ११ ।
"गर्भाधानमृतौ पुंसःसवनं स्पन्दनात् पुरा ।
षष्ठेऽष्टमे वा सीमन्तः प्रसवे जातकर्म्म च ॥"
(शरीराङ्गविशेषः । यथा, सुश्रुते । ३ । ५ ।
"चतुर्द्दशैव सीमन्ताः । ते चास्थिसंघातवद्गणनीया यतस्तैर्युक्ता अस्थिसंघाताः । ये तूक्ताः संघातास्तु खल्वष्टादशैकेषाम् ॥")
सीमन्तकं, क्ली, (सीमन्ते कायति शोभते इति । कै + कः ।) सिन्दूरम् । इति राजनिर्घण्टः ॥
सीमन्तकः, पुं, नरकावासः । यथा,—
"सप्त पञ्चैव नरकावासाः सीमन्तकादयः ॥"
इति हेमचन्द्रः ॥
सीमन्तिनी, स्त्री, (सीमन्तोऽस्या अस्तीति । इनिः । ङीप् ।) नारी । इत्यमरः । २।६।२ ॥ (यथा, रामायणे । २ । ३५ । २१ ।
"मास्म सीमन्तिनी काचित् जनयेत् पुत्रमीदृशम् ।
सौमित्रे ! योऽहमम्बाया दद्मि शोकमनन्तकम् ॥")

सीमन्तोन्नयनं, क्ली, (सीमन्तस्य उन्नयनं उत्तोलनं यत्र ।) संस्कारविशेषः । इति जटाधरः ॥ तद्विधानञ्च यथा,—

अथ सीमन्तोन्नयनम् ।

“यदि पुंसवनं न कृतं तदा तस्मिन्नेव दिने प्रायश्चित्तात्मकमहाव्याहृतिहोमं कृत्वा पुंसवनञ्च कृत्वा सीमन्तोन्नयनं कार्य्यम् । तथा च नारदः ।

‘येषान्तु न कृताः पित्रा संस्कारविधयः क्रमात् ।
कर्त्तव्या भ्रातृभिस्तेषां पैतृकादेव तद्धनात् ॥
अविद्यमाने पित्रर्थे स्वांशादुद्धृत्य वा पुनः ।
अवश्यकार्य्याः संस्कारा भ्रातृभिः पूर्व्वसंस्कृतैः ॥’

क्रमात् भ्रातृणां संस्काराणाञ्च पौर्व्वापर्य्यक्रमात् भ्रातृक्रमस्तु सोदरविषय एव । विवाहे तथा दर्शनात् । छन्दोगपरिशिष्टम् ।

‘देवतानां विपर्य्यासे जुहोतिषु कथं भवेत् ।
सर्व्वं प्रायश्चित्तं कृत्वा क्रमेण जुहुयात् पुनः ॥
संस्कारा अतिपद्येरन् स्वकालाच्चेत् कथञ्चन ।
हुत्वैतदेव कुर्व्वीत ये तूपनयनादधः ॥’

एतदित्यनेन सर्व्वं प्रायश्चित्तमनुकृष्टं तच्च प्रागेव विवृतम् । उभयकरणे तन्त्रेणैव मातृकापूजादि ।

‘गणशः क्रियमाणे तु मातृभ्यः पूजनं सकृत् ।
सकृदेव भवेत् श्राद्धमादौ न पृथगादिषु ॥’

इति छन्दोगपरिशिष्टात् ॥ * ॥

गोभिलः । अथ सीमन्तोन्नयनंप्रथमे गर्भे चतुर्थे मासि षष्ठेऽष्टमे वा । अथ पुंसवनानन्तरम् । सीमन्तः केशरचनाविशेषः । वाशब्देनाम चतुर्थादिमासानां तुल्यवद्विकल्पः । किन्तु पूर्व्वपूर्व्वकालः प्रशस्तः । समर्थस्य क्षेपायोगात् इति न्यायात् । ततश्च नवममासादौ प्रायश्चित्तं कृत्वैव कर्त्तव्यम् । प्रथमगर्भे इत्युपादानात् । यदि कथञ्चिदकृत एतस्मिन् संस्कारे गर्भनाशे पुनर्गर्भोत्पत्तौ अयं कालनियमो न किन्तु गर्भसन्दने सीमन्तोन्नयनं यावन्न बालप्रसवः । इति शङ्खलिखितोक्तकालो ग्राह्यः । इहद्राजमार्त्तण्डे ।

‘या नार्य्यकृतसीमन्ता प्रसूते च कथञ्चन ।
अङ्के निधाय तं बालं पुनः संस्कारमर्हति ॥*॥
षष्ठे मासेऽष्टमेऽह्नीन्ध्यकुजदिनकृतां नन्दभद्रे
तिथौ च
मैत्रे मूले मृगाङ्के करपितृपवने पौष्णविष्णुत्रियुग्मे ।
पुष्याश्वादित्यरौद्रे युवतिहरिभसे वृश्चिके वापि
लग्ने
चन्द्रे तारानुकूले शुभमपि नियतं स्याच्च
सीमन्तकर्म्म ॥
मृगाजरहिते लग्ने नवांशे पुंग्रहस्य च ।
केचिद्वदन्ति सीमन्तं तथा रिक्तेतरे तिथौ ॥’

गोभिलः । प्रातः सशिरस्काप्लुतोदगग्रेषु दर्भेषु पश्चादग्नेः प्राच्युपविशति उक्तार्थमेतत् । पश्चात् पतिरवस्थाय युगमन्तमौडुम्बरं शलाटुग्रथमाबध्नाति अयमूर्ज्जावतो वृक्ष इति । अग्नेः पश्चात् पतिः स्थित्वा । युगानि फलानि यस्मिन् शलाटुग्रथं नीलस्तवके स युगमान् तं मतुबन्तम् । तथा च भट्टनारायणधृतं छन्दोगपरिशिष्टम् ।

‘शलाटु नीलमित्युक्तं ग्रथस्तवक उच्यते ।
कपुष्णिकाभितः केशा मूर्द्ध्नि पश्चात् कपुच्छलः ॥’

एतद्वचनं नारायणोपाध्यायेन धृतम् । उडुम्बरभवमौडुम्बरम् । अयमूर्ज्जावतो वृक्ष इति मन्त्रेण भार्य्यायाः कण्ठे बध्नाति ॥ * ॥ अथ सीमन्तमूर्द्ध्वं नयति भूरिति दर्भपिञ्जलीभिरेव प्रथमं भुव इति द्वितीयं स्वरिति तृतीयम् । अथानन्तरं यत्र सिन्दूरं स्त्री ददाति तं सीमन्तं ललाटोर्द्ध्वं नयति भूरिति मन्त्रेण दर्भपिञ्जलीभिस्तिसृभिः । एकवारकरणाद्यावन्त्युन्नयनानि तावतीभिरेव तिसृभिरित्यर्थः । प्रथमादिपदानि तु आहुतीनां पिञ्जलीनाञ्च पृथङ्नियोगार्थम् । पिञ्जली पवित्रम् । तथा च छन्दोगपरिशिष्टम् ।

‘अनन्तर्गर्भिणं साग्रं कौशं द्विदलमेव च ।
प्रादेशमात्रं विज्ञेयं पवित्रं यत्र कुत्रचित् ।
एतदेव हि पिञ्जल्या लक्षणं समुदाहृतम् ॥’

गोभिलः । अथ वीरतरेण येनादितेरित्येतयर्चा । वीरास्तरन्त्यनेन युद्धमिति वीरतरः शरः ॥ तथा च छन्दोगपरिशिष्टम् ।

‘श्वाविच्छलाका शलली तथा वीरतरः शरः ।
तिलतण्डुलसम्पाकः कृशरः सोऽभिधीयते ॥’

ततश्च शरेण येनादितेरिति मन्त्रेण सीमन्तमूर्द्ध्वं नयति इति पूर्व्वसूत्रादनुवर्त्तते ॥ * ॥ अथ पूर्णेन सूत्रचात्रेण वाकामहमित्येतयर्चा । चात्रं तर्कुः । तेन सूत्रपूर्णेन वाकामहमिति मन्त्रेण सीमन्तमूर्द्ध्वं नयतीति शेषः । त्रिः श्वेतया शलल्या याास्ते राके सुमतय इति स्थानत्रितये शुक्लेन शेणाजगुकण्टकेन यास्ते इति मन्त्रेण सीमन्तमूर्द्ध्वं नयतीति शेषः । कृशरः स्थालीपाक उत्तरघृतस्तमवेक्षयेत् । कृशर उक्तः । स्थालीपाकचरुः स उपरि दत्तघृतस्तं बध्वाः प्रदर्शयेत् । स्थालीपाकपदं चरुस्थाल्यां कृशरस्य श्रपणार्थम् । मनुष्यार्थत्वात् द्विःप्रक्षालनम् । ततश्च यः कश्चित्पश्यानसे श्रपयित्वा स्थापयेत् । किम्पश्यसीत्युक्त्वा प्रजामिति वाचयेत् किं पश्यसीति पतिरुक्ता प्रजामित्यादि मन्त्रं गर्भिणीं वाचयेत् । तं सा स्वयं भुञ्जीत । तमेवेक्षितं कृशरम् । वीरसूर्जीवसूर्जीवपत्नीति ब्राह्मण्यो मङ्गल्यादिभिर्व्वाग्भिरुपासीरन् । वीरान् विक्रान्तान् पुत्रान् सूत इति वीरसूस्त्वं भवेति वाक्यशेषः प्रतिपदं स्यात् । जीवतो दीर्घायुषः पुत्रान् सूत इति जीवसूः जीवतः पत्नी जीवपत्नी अविधवेत्यर्थः । एवं प्रकाराभिर्व्वाग्भिरनुनयेयुः । क्रमश्च महाव्याहृतिभिर्हुत्वा औडुम्बरफलस्तवकं कण्ठे बद्धा प्रजामिति वाचयेदित्यन्तं तन्त्रं कृत्वा व्याहृतिभिर्होमादितन्त्रं समापयेत् ततो ब्राह्मण्य उपासीरन् ।” इति संस्कारतत्त्वम् ॥

सीमा,[न्] } **सीमा**, } स्त्री, (सीयते इति । सि+“नामन्सीमन्व्योमन्निति ।”उणा० ४।१५०। इति मनिन्प्रत्ययेन साधुः । “डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम् ।”४।१।१३। इति पाक्षिको डाप् ।) ग्रामादीनामवधारितान्तभागः । सीमाना इति भाषा । तत्पर्य्यायः । मर्य्यादा २ अवधिः ३ आघाटः ४ । इति जटाधरः ॥ (यथा, मनुः । ८ । २५३—२५४ ।

“यदि संशय एव स्यात् लिङ्गानामपि दर्शने ।
साक्षिप्रत्यय एव स्यात् सीमावादविनिर्णयः ॥
ग्रामीयककुलानाञ्च समक्षं सीम्नि साक्षिणः ।
प्रष्टव्याः सीमलिङ्गानि तयोश्चैव विवादिनोः ॥”)

स्थितिः । (यथा, माघे । ३ । ५७ ।

“यस्यामजिह्मा महतीमपङ्काः
सीमानमत्यायतयोऽत्यजन्तः ।
जनैरजातस्खलनैर्न जातु
द्वयेऽप्यमुच्यन्त विनीतमार्गाः ॥”)

क्षेत्रम् । अण्डकोषः । इति मेदिनी ॥ (यथा,—
“केशेषु चमरीं हन्ति सीम्नि पुष्कलको हतः ॥”
इति सिद्धान्तकौमुदी । २ । ३ । ३६ ॥)

वेला । इति विश्वः ॥

सीमाविवादः, पुं, (सीमायाः विवादः ।) ग्रामादीनां सीमाविषयककलहः । यथा । अधुना सीमाविवादनिर्णय उच्यते ।

“सीम्नो विवादे क्षेत्रस्य सामन्ताः स्थविरादयः ।
गोपाः सीमाकृषाणा ये सर्व्वे च वनगोचराः ॥
नयेयुरेते सीमानं स्थलाङ्गारतुषद्रुमैः ।
सेतुवल्मीकनिम्नास्थिचैत्याद्यैरुपलक्षिताम् ॥”

ग्रामद्वयसम्बन्धिनः क्षेत्रस्य सीम्नो विवादे तथैकग्रामान्तर्व्वर्त्तिक्षेत्रमर्य्यादाविवादे च सामन्तादयः स्थलाङ्गारादिभिः पूर्व्वकृतैः सीमालक्षणैरुपलक्षितां चिह्नितां सीमां नयेयुः निश्चिनुयुः । सीमा क्षेत्रादिमर्य्यादा सा चतुर्व्विधा । जनपदसीमा १ ग्रामसीमा २ क्षेत्रसीमा ३ गृहसीमा ४ चेति । सा च यथासम्भवं पञ्चलक्षणा । तदुक्तं नारदेन ।

“ध्वजिनी मत्स्यिनी चैव नैधानी भयवर्ज्जिता ।
राजशासननीता च सीमा पञ्चविधा स्मृता ॥”

ध्वजिनी वृक्षादिलक्षिता । वृक्षादीनां प्रकाशकत्वेन ध्वजतुल्यत्वात् । मत्स्यिनी सलिलवती मत्स्यशब्दस्य तदाधारजललक्षणत्वात् । नैधानी निखाततुषाङ्गारादिमती । तेषां निखातत्वेन निधानतुल्यत्वात् । भयवर्जिता अर्थिप्रत्यर्थिपरस्परसम्प्रतिपत्तिनिर्म्मिता । राजशासननीता । ज्ञातृचिह्नाभावे राजेच्छया निर्म्मिता । एवम्भूतायां षोढ़ा विवादः संभवति । यथाह कात्यायनः ।

“आधिक्यं न्यूनता चांशे अस्तिनास्तित्वमेव च ।
अभोगभुक्तिः सीमा च षड्भूवादस्य हेतवः ॥”

इति । तथा हि । ममात्र पञ्चनिवर्त्तनाया भूमेरधिका भूरस्तीति केनचिदुक्ते पञ्चनिवर्त्तनैव नाधिकेत्याधिक्ये विवादः । पञ्चनिवर्त्तना मदीया भूरित्युक्ते न ततो न्यूनैवेति न्यूनतायाम् । पञ्चनिवर्त्तनो ममांश इत्युक्तेऽंश एव नास्तीत्यस्ति-

नास्तित्वविवादः सम्भवति। मदीया भूः प्रागविद्यमानभोगैव भुज्यत इत्युक्तेन सन्तता चिरन्तन्येव मे भुक्तिरित्यभोगभुक्तौ विवादः। इयं मर्य्यादेयञ्चेति सीमाविवाद इति षट्प्रकार एव विवादः सम्भवति। षट्प्रकारेऽपि भूविवादे श्रुत्यर्थाभ्यां सीमाया अपि निर्णीयमानत्वात् सीमानिर्णयप्रकरणे तस्यान्तर्भावः। समन्ताद्भवाः सामन्ताः। चतसृषु दिक्ष्वनन्तरा ग्रामादयस्ते च प्रतिसीमं व्यवस्थिताः।

"ग्रामो ग्रामस्य सामन्तः क्षेत्रं क्षेत्रस्य कीर्त्तितम्।
गृहं गृहस्य निर्द्दिष्टं समन्तात् परिरभ्य हि॥"

इति कात्यायनवचनात्। ग्रामादिशब्देन तत्स्थाः पुरुषा लक्ष्यन्ते। ग्रामः पलायत इति यथा। सामन्तग्रहणञ्च तत्संसक्तादुपलक्षणार्थम्। उक्तञ्च कात्यायनेन।

"संसक्तकास्तु सामन्तास्तत्संसक्तास्तथोत्तराः।
संसक्तसक्तसंसक्ताः पद्माकाराः प्रकीर्त्तिताः॥"

इति। स्थविरा वृद्धाः। आदिग्रहणेन मौलोद्धृतयोर्ग्रहणम्। वृद्धादिलक्षणञ्च तेनैवोक्तम्।

"निष्पाद्यमानं यैर्दृष्टं तत् कार्य्यं तद्गुणान्वितैः।
वृद्धा वा यदि वावृद्धास्ते च वृद्धाः प्रकीर्त्तिताः॥
ये तत्र पूर्ब्बं सामन्ताः पश्चाद्देशान्तरं गताः।
तन्मूलत्वात्तु ते मौला ऋषिभिः परिकीर्त्तिताः॥
उपश्रवणसम्भोगकार्य्याख्यानोपचिह्निताः।
उद्धरन्ति पुनर्यस्मादुद्धृतास्ते ततः स्मृताः॥"

गोपा गोचारकाः।

"सीमाकृषाणाः सीमासंनिहितक्षेत्रकर्षकाः।"

सर्व्वे च वनगोचरा वनचारिणो व्याधादयस्ते च मनुनोक्ताः।

"व्याधान् शाकुनिकान् गोपान् कैवर्त्तान् मूलखातकान्।
व्यालग्राहानुञ्छवृत्तीनन्यांश्च वनगोचरान्॥"

स्थलमुन्नतो भूप्रदेशः। अङ्गारोऽग्नेर्दग्धशेषम्। तुषा धान्यत्वचः। द्रुमा न्यग्रोधादयः। सेतुर्जलप्रवाहबन्धः। चैत्यं पाषाणादिबन्धः। आद्यशब्देन वेणुवालुकादीनां ग्रहणम्। एतानि च प्रकाशाप्रकाशभेदेन द्विःप्रकाराणि। तथा च मनुः।

"सीमावृक्षांस्तु कुर्व्वीत न्यग्रोधाश्वत्थकिंशुकान्।
शाल्मलीन् शालतालांश्च क्षीरिणश्चैव पादपान्॥
गुल्मान् वेणूंश्च विविधान् शमी वल्ली स्थलानि च।
शरान् कुब्जकगुल्मांश्च तथा सीमा न नश्यति॥
तडागान्युदपानानि वाप्यः प्रस्रवणानि च।
सीमासन्धिषु कार्य्याणि देवतायतनानि च॥"

इति प्रकाशरूपाणि॥

"उपच्छन्नानि चान्यानि सीमालिङ्गानि कारयेत्।
सीमाज्ञाने नृणां वीक्ष्य नित्यं लोके विपर्य्ययम्॥
अश्मनोऽस्थीनि गोवालांस्तुषान् भस्मकपालिकाः।
करीषमिष्टकाङ्गारशर्करावालुकास्तथा॥
यानि चैवंप्रकाराणि कालाद्भूमिर्न भक्षयेत्।
तानि सन्धिषु सीमाया अप्रकाशानि कारयेत्॥
एतैर्लिङ्गैर्नयेत् सीमां राजा विवदमानयोः॥"

प्रच्छन्नलिङ्गानि एतैः प्रकाशाप्रकाशरूपैर्लिङ्गैः सामन्तादिप्रदर्शितैः सीमां प्रति विवदमानयोः सीमानिर्णयं कुर्य्याद्राजा॥ *॥ यदा पुनश्चिह्नानि न सन्ति विद्यमानानि वा लिङ्गालिङ्गतया सन्दिग्धानि तदा निर्णयोपायमाह।

"सामन्ता वा समग्रामाश्चत्वारोऽष्टौ दशापि वा।
रक्तस्रग्वसनाः सीमां नयेयुः क्षितिधारिणः॥"

सामन्ताः पूर्ब्बोक्तलक्षणाः। समग्रामाश्चत्वारोऽष्टौ दशापि वा इत्येवं समसंख्याः प्रत्यासन्नग्रामीणाः। रक्तस्रग्विणो रक्ताम्बरधराः मूर्द्धोपितक्षितिखण्डाः सीमानं नयेयुः प्रदर्शयेयुः। सामन्ता वेति विकल्पाभिधानं स्मृत्यन्तरोक्तसाक्ष्यभिप्रायम्। यथाह मनुः।

"साक्षिप्रत्यय एव स्यात् सीमावादविनिर्णयः।"

तत्र च साक्षिणां निर्णेतृत्वं मुख्यं तदभावे सामन्तानाम्। तदुक्तम्।

"साक्ष्यभावे तु चत्वारो ग्रामाः सीमन्तवासिनः।
सीमाविनिर्णयं कुर्य्युः प्रयता राजसन्निधौ॥"

तदभावे तत्संसक्तादीनां निर्णेतृत्वम्। यथाह कात्यायनः।

"स्वार्थसिद्धौ प्रदुष्टेषु सामन्तेष्वर्थगौरवात्।
तत्संसक्तैस्तु कर्त्तव्य उद्धारो नात्र संशयः॥
संसक्तसक्तदोषे तु तत्संसक्ताः प्रकीर्त्तिताः।
कर्त्तव्या न प्रदुष्टास्तु राज्ञा धर्म्मं विजानता॥"

सामन्ताद्यभावे मौलादयो ग्राह्याः। तेषामभावे सामन्ता मौलवृद्धोद्धृतादयः। स्थावरे षट्प्रकारेऽपि कार्य्या नात्र विचारणेति कात्यायनेन क्रमविधानात्। एते च सामन्तादयः संख्यागुणातिरेकेण संभवन्ति।

"सामन्ताः साधवं पूर्व्वं निर्दोषाः स्युर्गुणान्विताः।
द्विगुणास्तूत्तरा ज्ञेयास्ततोऽन्ये त्रिगुणा मताः॥"

इति स्मरणात्॥ *॥

ते च साक्षिणः सामन्तादयश्च स्वैः स्वैः शपथैः शापिताः सन्तः सीमां नयेयुः।

"शिरोभिस्ते गृहीत्वोर्व्वीं स्रग्विणो रक्तवाससः।
सुकृतैः शापिताः स्वैः स्वैर्नयेयुस्ते समञ्जसम्॥"

इति स्मरणात्॥

नयेयुरिति बहुवचनं द्वयोर्निरासार्थं नैकस्य।

"एकश्चेदुन्नयेत् सीमां सोपवासः समुन्नयेत्।
रक्तमाल्याम्बरधरो भूमिमादाय मूर्द्धनि॥"

इति नारदेनैकस्याभ्यनुज्ञानात्। यत्तु।

"नैकः समुन्नयेत् सीमां नरः प्रत्ययवानपि।
गुरुत्वादस्य कार्य्यस्य क्रियैषा बहुषु स्थिता॥"

इत्येकस्य निषेधः। स उभयानुमतधर्म्मविदतिरिक्तविषय इत्यविरोधः॥ *॥

स्थलादिचिह्नाभावेऽपि साक्षिसामन्तादीनां सीमाज्ञान उपायविशेषो नारदेनोक्तः।

"निम्नगापहृतोत्सृष्टनष्टचिह्नासु भूमिषु।
तत्प्रदेशानुमानाच्च प्रमाणाद्भोगदर्शनात्॥"

निम्नगाया नद्या अपहृतेनापहरणेनोत्सृष्टानि स्वस्थानात् प्रच्युतानि नष्टानि वा लिङ्गानि यासु मर्य्यादाभूमिषु तत्र तत्प्रदेशानुमानात् उत्सृष्टनष्टचिह्नानां प्राचीनप्रदेशानुमानाद् ग्रामादारभ्य सहस्रदण्डपरिमितं क्षेत्रमस्य ग्रामस्य पश्चिमे भाग इत्येवं विधानात् प्रमाणाच्च प्रत्यर्थिसमक्षमविप्रतिपन्नायाः सार्त्तकालोपलक्षितेर्भुक्तेर्वा निश्चिनुयुः। बृहस्पतिना चात्र विशेषो दर्शितः।

"आगमञ्च प्रमाणञ्च भोगं कालञ्च नाम च।
भूभागलक्षणञ्चैव ये विदुस्तेऽत्र साक्षिणः॥"

एते च साक्षिसामन्तादयः शपथैः शापिताः सन्तः कुलादिसमक्षं राज्ञा प्रष्टव्याः। यथाह मनुः।

"ग्रामेयककुलानान्तु समक्षं सीम्नि साक्षिणः।
प्रष्टव्याः सीमलिङ्गानि तयोश्चैव विवादिनोः॥"

ते पृष्टाः साक्ष्यादयः समस्ता ऐकमत्येन सीम्नि निर्णयं कुर्युः। तैर्निर्णीतां सीमां तत्प्रदर्शितसकललिङ्गयुक्तां साक्ष्यादिनामाङ्कितां चाविस्मरणार्थं पत्रे समारोपयेत्। उक्तञ्च मनुना।

"ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः सामन्ताः सीम्नि निर्णयम्।
निबध्नीयात्तथा सीमां सर्व्वांस्तांश्चैव नामतः॥"

एतेषां साक्षिसामन्तप्रभृतीनां सीमाचंक्रमणदिनादारभ्य यावत् त्रिपक्षं राजदैविकं व्यसनं चेन्नोपपद्यते तदा तत्प्रदर्शनात् सीमानिर्णयः। अयञ्च राजदैविकव्यसनावधिः कात्यायनोक्तः।

"सीमाचंक्रमणे कोषे पादस्पर्शे तथैव च।
त्रिपक्षपञ्चसप्ताहं दैवराजिकमिष्यते॥" इति॥

यदा त्वमीषां उक्तसाक्ष्यवचसां त्रिपक्षाभ्यन्तरे रोगादिर्दृश्यते। अथवा प्रतिवादिनिर्द्दिष्टाभ्यधिकसंख्यागुण-साक्ष्यन्तरविरुद्धवचनता तदा ते मृषाभाषितया दण्डनीयाः। तदाह।

"अनृते तु पृथग्दण्ड्या राज्ञा मध्यमसाहसम्॥"

अनृते मिथ्यावदने निमित्तभूते सति सर्व्वे सामन्ताः प्रत्येकं मध्यमसाहसेन चत्वारिंशदधिकेन पणपञ्चशतेन दण्डनीयाः। सामन्तविषयता चास्य साक्ष्यमौलादीनां स्मृत्यन्तरे दण्डान्तरविधानादवगम्यते। तथा च मनुः।

"यथोक्तेन नयन्तस्ते पूयन्ते सत्यसाक्षिणः।
विपरीतं नयन्तस्तु दाप्याः स्युर्द्विशतं दमम्॥"

नारदोऽपि।

"अथ चेदनृतं ब्रूयुः सामन्ताः सीम्नि निर्णये।
सर्व्वे पृथक् पृथक् दण्ड्या राज्ञा मध्यमसाहसम्॥"

सामन्तानां मध्यमसाहसं दण्डमभिधाय।

"शेषाश्चेदनृतं ब्रूयुर्नियुक्ता भूमिकर्म्मणि।
प्रत्येकन्तु जघन्यास्ते विनेयाः पूर्व्वसाहसम्॥"

तत्संयुक्तादिषु प्रथमं साहसमुक्तवान्। मौलादीनामपि तमेव दण्डमाह।
"मौलवृद्धादयस्त्वन्ये दण्डनाया पृथक् पृथक्।
विनेयाः प्रथमेनैव साहसेनानृते स्थिताः॥"
इति।

आदिग्रहणेन गोपशाकुनिकव्याधवनगोचराणां ग्रहणम्॥ * ॥ यद्यपि शाकुनिकादीनां पापरतत्वाल्लिङ्गदर्शने एवोपयोगो न साक्षात्सीमानिर्णये तथापि लिङ्गदर्शने एव मृषाभाषित्वसम्भवात् दण्डविधानमुपपद्यत एव। अनृते तु पृथग्दण्डा इत्येतद्दण्डविधानमज्ञानविषयम्।
"बहूनान्तु गृहीतानां न सर्व्वे निर्णयं यदि।
कुर्य्युर्भयाद्वा लोभाद्वा दण्ड्यास्तूत्तमसाहसम्॥"
इति ज्ञानविषये साक्ष्यादीनां कात्यायनेन दण्डान्तरविधानात्॥ * ॥ तथा साक्षिवचनभेदेऽप्ययमेव दण्डस्तेनैवोक्तः। कीर्त्तिते यदि भेदः स्याद्दण्ड्यास्तूत्तमसाहसमिति। एवमज्ञानादिना अनृतवदने साक्ष्यादीन् दण्डयित्वा पुनः सीमाविचारः प्रवर्त्तयितव्यः। अज्ञानोक्तौ दण्डयित्वा पुनः सीमां विचारयेदित्युक्त्वा।
"त्यक्त्वा दुष्टांस्तु सामन्तानन्यान् मौलादिभिः
सह।
संमिश्रः कारयेत् सीमामेवं धर्म्मविदो विदुः॥"
इति निर्णयप्रकारस्तेनैवोक्तः॥ * ॥ यदा पुनः सामन्तप्रभृतयो ज्ञातारश्चिह्नानि च न सन्ति तदा कथं निर्णय इत्यत आह।
"अभावे ज्ञातृचिह्नानां राजा सीम्नः प्रवर्त्तिता।"
ज्ञातॄणां सामन्तादीनां लिङ्गादीनाञ्च। ज्ञात्रादीनामभावे राजैव सीम्नः प्रवर्त्तिता प्रवर्त्तयिता। अन्तर्भावितोऽत्र ण्यर्थः। ग्रामद्वयमध्यवर्त्तिनीं विवादास्पदीभूतां भुवं समं प्रविभज्यास्मै इयं भूरस्मै इयमित्युभयोः समर्प्य तन्मध्ये सीमालिङ्गानि कुर्य्यात्। यदा तस्यां भूमावन्यतरस्योपकारातिशयो दृश्यते तदा तस्यैव ग्रामस्य सकला भूः समर्पणीया। यथाह मनुः।
"सीमायामविषह्यायां स्वयं राजैव धर्म्मवित्।
प्रदिशेद्भूमिमेकेषामुपकारादिभिः स्थितिः॥"*॥
असत्यामप्यतद्भावाशङ्कायामस्याः स्मृतेर्न्यायमूलतां द्योतयितुमतिदेशमाह।
"आरामायतनग्रामनिपानोद्यानवेश्मसु।
एष एव विधिर्ज्ञेयो वर्षाम्बुप्रवहादिषु॥"
आरामः पुष्पफलोपचयहेतुः भूभागः। आयतनं निवेशनं पलालकूटाद्यर्थं विभक्तो प्रदेशः ग्रामः प्रसिद्धः। ग्रामग्रहणञ्च नगराद्युपलक्षणम्। निपानं पानीयस्थानं कूपवापीप्रभृतिकम्। उद्यानं क्रीड़ार्था भूमिः। वेश्म गृहम्। एतेष्वारामादिष्वयमेव सामन्तसाक्ष्यादिलक्षणो विधिर्ज्ञातव्यः। तथा प्रवर्षणोद्भूतेषु जलप्रवाहेषु अनयोर्गृहयोर्मध्ये न जलौघः प्रवहत्यनयोर्वेत्येवं प्रकारे विवादे आदिग्रहणात् प्रासादादिष्वपि प्राचीन एव विधिर्ज्ञेयः वेदितव्यः।

तथा च कात्यायनः।
"क्षेत्रकूपतड़ागानां केदारारामयोरपि।
गृहप्रासादावसथनृपदेवगृहेषु च॥" इति॥*॥
सीमानिर्णयमुक्त्वा तत्प्रसङ्गेन मर्य्यादाप्रभेदनादौ दण्डमाह।
"मर्य्यादायाः प्रभेदे तु सीमातिक्रमणे तथा।
क्षेत्रस्य हरणे दण्डा अधमोत्तममध्यमाः॥"
अनेकक्षेत्रव्यवच्छेदिका साधारणी भूर्मर्य्यादा तस्याः प्रकर्षेण भेदने सीमातिक्रमणे सीमामतिलङ्घ्य कर्षणे क्षेत्रस्य च भयादिप्रदर्शनेन हरणे यथाक्रमेणाधमोत्तममध्यमदण्डा वेदितव्याः। क्षेत्रग्रहणञ्च गृहारामाद्युपलक्षणार्थम्। यदा पुनः स्वीयभ्रान्त्या क्षेत्रादिकमपहरति तदा द्विशतो दमो वेदितव्यः॥ यथाह मनुः।
"गृहं तड़ागमारामं क्षेत्रं वा भीषया हरन्।
शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादज्ञानाद्द्विशतो दमः॥"
इति॥

अपह्रियमाणक्षेत्रादि भूयस्त्वपर्य्यालोचनया कदाचिदुत्तमोऽपि दण्डः प्रयोक्तव्यः। अत एवाह।
"वधः सर्व्वस्वहरणं पुरान्निर्वासनाङ्कने।
तदङ्गच्छेद इत्युक्तो दण्ड उत्तमसाहसः॥"
इति॥*॥
यः पुनः परक्षेत्रे सेतुकूपादिकं प्रार्थनया अर्थदानेन वा लब्धानुज्ञो निर्मातुमिच्छति तं निषेधतः क्षेत्रस्वामिन एव दण्ड इत्यत आह।
"न निषेध्योऽल्पबाधस्तु सेतुः कल्याणकारकः।
परभूमिं हरन् कूपः स्वल्पक्षेत्रो बहूदकः॥"
परकीयां भूमिमपहरन्नाश्रयन्नपि सेतुर्जलप्रवाहबन्धः क्षेत्रस्वामिना न प्रतिषेध्यः स चेदीषत्पीड़ाकरो बहूपकारकश्च भवति। कूपश्चाल्पक्षेत्रव्यापित्वेनाल्पबाधो बहूदकत्वेन बहूपकारको नैव निवारणीयः। कूपग्रहणञ्च वापीपुष्करिण्याद्युपलक्षणार्थम्। यदा पुनरसौ सर्व्वक्षेत्रवर्त्तितया बहुबाधो नद्यादिसमीपक्षेत्रवर्त्तितया वा अल्पोपकारकस्तदासौ निषेध्य इत्यर्थादुक्तम्भवति॥ * ॥ सेतोश्च द्वैविध्यमुक्तं नारदेन।
"सेतुश्च द्विविधो ज्ञेयः खेयो बन्ध्यस्तथैव च।
तोयप्रवर्त्तनात् खेयो बन्ध्यः स्यात्तन्निवर्त्तनात्॥"
इति॥
यदा त्वन्यनिर्म्मितं सेतुं भेदनादिना नष्टं स्वयं संस्करोति तदा पूर्व्वस्वामिनं तद्वंश्यं वा पृष्ट्वैव संस्कुर्य्यात्। यथाह नारदः।
"पूर्व्वप्रवृत्तमुत्सन्नमपृष्ट्वा स्वामिनन्तु यः।
सेतुं प्रवर्त्तयेत् कश्चित् न स तत्फलभाक् भवेत्॥
मृते तु स्वामिनि पुनस्तद्वंश्ये वापि मानवे।
राजानमामन्त्र्य ततः कुर्य्यात् सेतुप्रवर्त्तनम्॥"
इति॥ * ॥
क्षेत्रस्वामिनं प्रति उपदिष्टमिदानीं सेतोः प्रवर्त्तयितारं प्रति आह।
"स्वामिने योऽनिवेद्यैव क्षेत्रे सेतुं प्रवर्त्तयेत्।
उत्पन्ने स्वामिनो भोगस्तदभावे महीपतेः॥"
क्षेत्रस्वामिनमनभ्युपगम्य तदभावे राजानं वा यः परक्षेत्रे सेतुं प्रवर्त्तयत्यसौ न फलभाग्भवत्यपि तु तदुत्पन्ने फले क्षेत्रस्वामिनो भोगस्तदभावे राज्ञः। तस्मात् प्रार्थनयार्थदानेन वा क्षेत्रस्वामिनं तदभावे राजानं वाप्यनुज्ञाप्यैव परक्षेत्रे सेतुः प्रवर्त्तनीय इति तात्पर्य्यार्थः॥*॥ क्षेत्रस्वामिना सेतुर्न प्रतिषेध्य इत्युक्तमिदानीं तस्यैव प्रसक्तानुप्रसक्त्या कञ्चिद्विध्यन्तरमाह।
"फालाहतमपि क्षेत्रं न कुर्य्याद्यो न कारयेत्।
स प्रदाप्यः कृष्टफलं क्षेत्रमन्येन कारयेत्॥"
यः पुनः क्षेत्रस्वामिनः पार्श्वेऽहमिदं क्षेत्रं कृषामि इत्यङ्गीकृत्य पश्चादुत्सृजति न चान्येन कर्षयति तत्र क्षेत्रं यद्यपि फालाहतमीषद्धलेन विदारितं न सम्यग्बीजवापार्हं तथापि तस्याकृष्टस्य फलं यावत्तत्रोत्पत्त्यर्हं सामन्तादिकल्पितं तावदसौ कर्षको दापनीयः। तच्च क्षेत्रं पूर्व्वकर्षकादुच्छिद्यान्येन कारयेत्। इति सीमाविवादप्रकरणम्। इति मिताक्षरा॥ * ॥ अपि च।
"सीमां प्रति समुत्पन्ने विवादे ग्रामयोर्द्वयोः।
ज्यैष्ठे मासि नयेत् सीमां सुप्रकाशेषु सेतुषु॥
सीमावृक्षांश्च कुर्व्वीत न्यग्रोधाश्वत्थकिंशुकान्।
शाल्मलीन् शालतालांश्च क्षीरिणश्चैव पादपान्॥
गुल्मान् वेणूंश्च विविधान् शमीवल्लीस्थलानि च।
शरान् कुब्जकगुल्मांश्च तथा सीमा न नश्यति॥
तड़ागान्युदपानानि वाप्यः प्रस्रवणानि च।
सीमासन्धिषु कार्य्याणि देवतायतनानि च॥
उपच्छन्नानि चान्यानि सीमालिङ्गानि कारयेत्।
सीमाज्ञाने नृणां वीक्ष्य नित्यं लोके विपर्य्ययम्॥
अश्मनोऽस्थीनि गोवालान् तुषान् भस्म कपा-
लिकाः।
करीषमिष्टकाङ्गारान् शर्करा वालुकास्तथा॥
यानि चैवं प्रकाराणि कालाद्भूमिर्न भक्षयेत्।
तानि सन्धिषु सीमायामप्रकाशानि कारयेत्॥
एतैर्लिङ्गैर्नयेत् सीमां राजा विवदमानयोः।
पूर्व्वभुक्त्या च सततमुदकस्यागमेन च॥
यदि संशय एव स्यात् लिङ्गानामपि दर्शने।
साक्षिप्रत्यय एव स्यात् सीमावादविनिर्णयः॥
ग्रामीयककुलानाञ्च समक्षं सीम्नि साक्षिणः।
प्रष्टव्याः सीमलिङ्गानि तयोश्चैव विवादिनोः॥
ते पृष्टास्तु तथा ब्रूयुः समस्ताः सीम्नि निश्चयम्।
निबध्नीयात्तथा सीमां सर्व्वांस्तांश्चैव नामतः॥
शिरोभिस्ते गृहीत्वोर्व्वीं स्रग्विणो रक्तवाससः।
सुकृतैः शापिताः स्वैः स्वैर्नयेयुस्ते समञ्जसम्॥
यथोक्तेन नयन्तस्ते पूयन्ते सत्यसाक्षिणः।
विपरीतं नयन्तस्तु दाप्याः स्युर्द्विशतं दमम्॥
साक्ष्यभावे तु चत्वारो ग्रामाः सामन्तवा-
सिनः।
सीमाविनिर्णयं कुर्य्युः प्रयता राजसन्निधौ॥
सामन्तानामभावे तु मौलानां सीम्नि साक्षि-
णाम्।
इमानप्यनुयुञ्जीत पुरुषान् वनगोचरान्॥

व्याधान् शाकुनिकान् गोपान् कैवर्त्तान् मूल-
खानकान् ।
व्यालग्राहानुञ्छवृत्तीनन्यांश्च वनचारिणः ॥
ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः सीमासन्धिषु लक्षणम् ।
तत्तथा स्थापयेद्राजा धर्म्मेण ग्रामयोर्द्वयोः ॥
क्षेत्रकूपतडागानामारामस्य गृहस्य च ।
सामन्तप्रत्ययो ज्ञेयः सीमासेतुविनिर्णयः ॥
सामन्ताश्चेन्मृषा ब्रूयुः सेतौ विवदतां नृणाम् ।
सर्व्वे पृथक् पृथक् दण्ड्या राज्ञा मध्यमसाहसम् ॥
गृहं तडागमारामं क्षेत्रं वा भीषया हरन् ।
शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादज्ञानाद्विशतो दमः ॥
सीमायामविषह्यायां स्वयं राजैव धर्म्मवित् ।
प्रदिशेत् भूमिमेतेषामुपकारादिति स्थितिः ॥”
इति मानवे ८ अध्यायः ॥

सीमिकः, पुं, (स्यमति शब्दायते इति । स्यमु शब्दे+“स्यमेः संप्रसारणञ्च ।” उणा० २ । ४३ । इति किकन् धातोः सम्प्रसारणं दीर्घश्च ।) वृक्षभेदः । वल्मीकः । क्षुद्रकृमिजातिः । इति संक्षिप्तसारोणादिवृत्तिः ॥

सी(शी)रः, पुं, (सिनोति सीयते इति वा । षि बन्धे +“शुसिचिमीनां दीर्घश्च ।”उणा० २ । २५ । इति क्रन् । दीर्घश्च ।) सूर्य्यः । इति मेदिनी ॥ अर्कवृक्षः । हलः । इत्यमरः । २ । ९ । १४ ॥ (यथा, मेघदूते । १६ ।
“सद्यः सीरोत्कषणसुरभि क्षेत्रमारुह्य मालं
किञ्चित्पश्चात् व्रज लघुगतिः किञ्चिदेवोत्तरेण ॥”)

सी(शी)रकः, पुं, (सीर+संज्ञायां कन् ।) शिशुमारः । इति शब्दमाला ॥ (सीर+स्वार्थे कन् ।) सीरशब्दार्थोऽप्यत्र ॥

सी(शी)रध्वजः, पुं, (सीरः ध्वजे यस्य ।) चन्द्रवंशीयराजविशेषः । स तु ह्रस्वरोमराजपुत्त्रः । यस्य पुत्त्रार्थं यजनभुवं कृषतः सीरे सीता दुहिता समुत्पन्ना तस्य पुत्त्रो भानुमान् । इति विष्णुपुराणे । ४ । ५ । १२ ॥ (भागवतमतेऽस्य पुत्त्रः कुशध्वजः । यथा, तत्रैव । ९ । १३ । १८ ।
“ततः सीरध्वजो जज्ञे यज्ञार्थं कर्षतो महीम् ।
सीता सीराग्रतो जाता तस्मात् सीरध्वजः
स्मृतः ॥
कुशध्वजस्तस्य पुत्त्रस्ततो धर्म्मध्वजो नृपः ॥”)

सीरपाणिः, पुं, (सीरः पाणौ यस्य ।) बलदेवः । इत्यमरः । १ । १ । २५ ॥

सीरी, [न्] पुं, (सीरोऽस्यास्तीति । इनिः ।) बलदेवः । इति हलायुधः भूरिप्रयोगश्च ॥

सीलन्धः, पुं, मत्स्यभेदः । खिलिन्दा इति भाषा । तस्य गुणाः ।
“सीलन्धः श्लेष्मलो वृष्यो विपाके मधुरो गुरुः ।
वातपित्तहरो हृद्य आमवातकरश्च सः ॥”
इति भावप्रकाशः ॥

सीवनं, क्ली, (षिवु तन्तुसन्ताने+ल्युट् । ष्ठिवु सिवोर्ल्युटि वा दीर्घः इति स्वामी । मुग्धबोधमते “ष्ठीवनसीवने वा ।” इति सूत्रात् निपातितः ।) तन्तुसन्तानम् । सूचीकर्म्म । सैयानी इति सेलायी इति च भाषा । तत्पर्य्यायः । सेवनम् २ स्यूतिः ३ । इत्यमरः । ३ । २ । ५ ॥ ऊतिः ४ यूतिः ५ । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, सुश्रुते । ४ । १ ।
“यथोक्तं सीवनं तेषु कार्य्यं सन्धानमेव च ॥”)

सीवनी, स्त्री, (सिव+ल्युट् । स्त्रियां ङीप् ।) लिङ्गमण्यधःसूत्रम् । लिङ्गाग्रात् गुह्यपर्य्यन्तसीवनम् । इति हेमचन्द्रः ॥

सीसं, क्ली, सीसकम् । इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, महाभारते । ५ । ४९ । ७९ ।
“सुवर्णस्य मलं रूप्यं रूप्यस्यापि मलं त्रपु ।
ज्ञेयं त्रपु मलं सीसं सीसस्यापि मलं मलम् ॥”
अथ सीसस्योत्पत्तिर्नामगुणाश्च ।
“दृष्ट्वा भोगिसुतां रम्यां वासुकिस्तु मुमोच यत् ।
वीर्य्यं जातस्ततो नागः सर्व्वरोगापहो नृणाम् ।
सीसं वप्रश्च वप्रञ्च योगेष्टं नागनामकम् ॥
नागनामकं नागः भुजङ्ग इत्यादि ।
सीसं रङ्गगुणं ज्ञेयं विशेषात् मेहनाशनम् ॥”
इति भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे प्रथमे भागे ॥)

सीसकं, क्ली, (सीसमेव । स्वार्थे कन् ।) धातुविशेषः । सीसा इति भाषा । तत्पर्य्यायः । नागम् २ योगेष्टम् ३ वप्रम् ४ । इत्यमरः । २ । ९ । १०५ ॥ सीसम् ५ सीसपत्त्रकम् ६ गडूपदभवम् ७ सिन्दूरकारणम् ८ वर्द्धम् ९ स्वर्णारि १० यवनेष्टम् ११ सुवर्णकम् १२ । इति हेमचन्द्रः ॥ वध्रम् १३ पिच्चटम् १४ सुवर्णारि १५ त्रपु १६ त्रपुः १७ । इति शब्दरत्नावली ॥ वध्रकम् १८ महाबलम् १९ यवनेष्टकम् २० । इति जटाधरः ॥ बहुमलम् २१ चीनम् २२ पिष्टम् २३ । इति रत्नमाला ॥ जडम् २४ भुजङ्गमम् २५ उरगम् २६ कुरङ्गम् २७ परिपिष्टकम् २८ मृदुकृष्णायसम् २९ पद्मम् ३० तारशुद्धिकरम् ३१ शिराष्टत्तम् ३२ वयोवङ्गम् ३३ चीनपिष्टम् ३४ । अस्य गुणाः ।
“सीसन्तु वङ्गसाम्यं स्याद्रसवीर्य्यविपाकतः ।
उष्णञ्च कफवातघ्नमर्शोघ्नं गुरु लेखनम् ॥
वर्णे नीलं मृदु स्निग्धं निर्म्मलञ्च सुगौरवम् ।
रौप्यसंशोधने क्षिप्रं सीसकन्तु तदुत्तमम् ॥”
इति राजनिर्घण्टः ॥ * ॥
अथ सीसस्योत्पत्तिनामगुणाः ।
“दृष्ट्वा भोगिसुतां रम्यां वासुकिस्तु मुमोच यत् ।
वीर्य्यं जातस्ततो नागः सर्व्वरोगापहो नृणाम् ॥
सीसं वप्रश्च वप्रञ्च योगेष्टं नागनामकम् ।
नागः भुजङ्ग इत्यादि ।
सीसं वङ्गगुणं ज्ञेयं विशेषान्मेहनाशनम् ॥
नागस्तु नागशततुल्यबलं ददाति
व्याधिं विनाशयति जीवनमातनोति ।
वह्निं प्रदीपयति कामबलं करोति
मृत्युञ्च नाशयति सन्ततसेवितः सः ॥
पाकेन हीनौ किल रङ्गनागौ
कुष्ठानि गुल्मांश्च तथा निकृष्टान् ।
पाण्डुप्रमेहानिलसादशोथ-
भगन्दरादीन् कुरुतः प्रयुक्तौ ॥” * ॥
अथ सीसकस्य शोधनम् ।
“तस्य साहजिका दोषा वङ्गस्येव निदर्शिताः ।
शोधनञ्चापि तस्येव भिषग्भिर्गदितं पुरा ॥” * ॥
अथ सीसकस्य मारणविधिः ।
“ताम्बूलरससंपिष्टशिलालेपात् पुनः पुनः ।
द्वात्रिंशद्भिः पुटैर्नागो निरुत्थं भस्म जायते ॥”
शिला मनःशिला । अन्यच्च ।
“अश्वत्थचिञ्चात्वक्चूर्णं चतुर्थांशेन निःक्षिपेत् ।
मृत्पात्रे विद्रुतो नागो लोहदर्व्या प्रचालितः ॥
यामैकेन भवेद्भस्म तत्तुल्या स्यान्मनःशिला ।
काञ्जिकेन द्वयं पिष्ट्वा पचेद्दृढपुटेन च ॥
स्वाङ्गशीतं पुनः पिष्ट्वा शिलया काञ्जिकेन च ।
पुनः पचेत् शरावाभ्यामेवं षष्टिपुटैर्म्मृतिः ॥”
इति भावप्रकाशः ॥
मारितस्यास्य गुणाः पूर्व्ववत् ॥ * ॥ अपि च ।
“तैले तक्रे गवां मूत्रे काञ्जिके च कुलत्थके ।
त्रिधा त्रिधा विशुद्धिः स्यात् स्वर्णादीनां
समासतः ॥”
अथ सीसकस्य मारणम् ।
“कुडवं नागपत्राणां कुनट्याः स्यात् पलार्द्धकम् ।
तण्डुलीयरसैर्यामं यामं वासारसैस्तथा ॥
संमर्द्य च क्रियां कृत्वा घर्म्मे संशोष्य तं पुनः ।
शरावसंपुटे कृत्वा पचेदन्योपलैर्भिषक् ॥
एवं सप्तपुटैर्नागो भस्मीभवति निश्चितम् ।
द्विगुञ्जोऽयं ध्रुवं हन्यात् प्रमेहानखिलानपि ॥”
इति वैद्यदर्पणः ॥

सीसपत्रकं, क्ली, सीसकम् । इति हेमचन्द्रः ॥

सीहुण्डः, पुं, सेहुण्डवृक्षः । स्नुही । इत्यमरः । २ । ४ । १०५ ॥

सु, गतौ । ऐश्वर्य्ये । प्रसवे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-अनिट् ।) सवति । इति दुर्गादासः ॥

सु, ञ गतौ । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-उभ०-सक०-अनिट् ।) ञ, सुषाव सुषुवे । इति दुर्गादासः ॥

सु, व्य, निर्भरम् । इत्यमरः । ३ । ४ । २ ॥ (यथा, महाभारते । १ । १५८ । १६ ।
“विदित्वा अवसिष्यामि यद्यपि स्यात् सुदुष्करम् ॥”)
पूजा । इत्यमरः । ३ । ४ । ५ ॥ (शोभनम् । यथा, मनुः । ७ । ३१ ।
“प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता ॥”)
अनुमतिः । कृच्छ्रम् । समृद्धिः । इति मेदिनी ॥ अनायासः । इति भरतैकार्थसंग्रहः ॥ उपसर्गविशेषः । यथा । सु पूजानायासातिशयेषु । इति मुग्धबोधटीकायां दुर्गादासः ॥ सप्तम्या बहुवचनविभक्तिः । इति व्याकरणम् ॥

सुकण्टका, स्त्री, (सुष्ठु कण्टकोऽस्याः ।) घृतकुमारी । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुकच्छुः, पुं, (सु शोभना कच्छुर्य्यत्र ।) कच्छूरोगः । इति शब्दरत्नावली ॥

सुकन्दः, पुं, (सु सुन्दरः कन्दो यस्य ।) कशेरुः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुकन्दकः, पुं, (सु सुन्दरः कन्दो यस्य । कप् ।) पलाण्डुः । इत्यमरः ।२।४।१४७॥ वाराहीकन्दः । धरणीकन्दः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुकन्दी, [न्] पुं, (सुकन्दोऽस्यास्तीति । इनिः ।) सूरणः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुकन्यकः, त्रि, शोभना कन्या यस्य । इति मुग्धबोधव्याकरणम् ॥

सुकन्या, स्त्री, (सु शोभना कन्या ।) शर्य्यातिराजकन्या । सा तु च्यवनर्षिपत्नी । यथा, श्रीभागवते ९ । ३ अध्याये ।

"शर्य्यातिर्मानवो राजा ब्रह्मिष्ठः संबभूव ह ।
सुकन्या नाम तस्यासीत् कन्या कमललोचना ॥
सुकन्या च्यवनं प्राप्य पतिं परमकोपनम् ।
प्रीणयामास चित्तज्ञा अप्रमत्तानुवृत्तिभिः ॥"

शोभना कन्या च ॥

सुकन्याकः, त्रि, (शोभना कन्या यस्य ।) सुकन्यकः । इति मुग्धबोधव्याकरणम् ॥

सुकरः, त्रि, (सुखेन क्रियते इति । सु + कृ + "ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल् ।" ३ । ३ । १२६ । इति खल् ।) सुखकरः । अक्लेशसाध्यः । यथा,—

"क्रियमाणन्तु यत् कर्म्म स्वयमेव प्रसिध्यति ।
सुकरैः स्वैर्गुणैः कर्त्तुः कर्म्मकर्त्तेति तद्विदुः ॥"

इति मुग्धबोधव्याकरणम् ॥

सुकरा, स्त्री, (सु सुखं करोतीति । कृ + अच् ।) सुशीला गौः । इत्यमरः । २ । ९ । ७० ॥

सुकर्णकः, पुं, (सुन्दरः कर्ण इव कन्दो यस्य ।) हस्तिकन्दः । इति राजनिर्घण्टः ॥ सुन्दरकर्णयुक्ते, त्रि ॥

सुकर्णिका, स्त्री, (सुन्दरः कर्ण इव पर्णमस्याः । कापि अत इत्वम् ।) मूषीकर्णी । इति शब्दरत्नावली ॥

सुकर्णी, स्त्री, (शोभनः कर्ण इव पत्रमस्याः । ङीष् ।) इन्द्रवारुणी । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुकर्म्मा, [न्] पुं, (सु शोभनं कर्म्म यस्मात् ।) विष्कम्भादिसप्तविंशतियोगान्तर्गतसप्तमयोगः । तत्र जातफलम् ।

"परोपकारी कुशलः कलासु
हर्षेण युक्तो नितरां यशस्वी ।
प्रसूतिकाले यदि चेत् सुकर्म्मा
नरः सुकर्म्मा भवति प्रसिद्धः ॥"

इति कोष्ठीप्रदीपः ॥

विश्वकर्म्मा । इति मेदिनी ॥

सुकर्म्मा, [न्] त्रि, (सु शोभनं कर्म्म यस्य ।) शोभनकर्म्मशीलः । सत्क्रियः । इति हेमचन्द्रः ॥

सुकलः, त्रि, (सुष्ठु कलयते इति । सु + कल + खल् ।) दातृभोक्तृव्यक्तिः । इत्यमरः । ३।१।८॥ य एक एव दत्ते भुङ्क्ते च तत्र । विख्यातत्वात् सुष्ठु अतिशयेन वा कल्यते शब्द्यते वा असौ सुकलः । इति भरतः ॥

सुकाण्डः, पुं, (सु शोभनः काण्डो यस्य ।) कारवेल्लः । इति राजनिर्घण्टः ॥ सुन्दरकाण्डयुक्तवृक्षादिश्च ॥

सुकाण्डिका, स्त्री, (सुन्दरः काण्डो यस्याः । कन् । टापि अत इत्वम् ।) काण्डीरलता । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुकाण्डी, [न्] पुं, (सुन्दराः काण्डा इव चरणानि सन्त्यस्येति । इनिः ।) भ्रमरः । इति राजनिर्घण्टः ॥ सुन्दरकाण्डयुक्तश्च ॥

सुकामा, स्त्री, (सुष्ठु काम्यतेऽसौ । सु + कम् + कर्म्मणि घञ् ।) त्रायमाणा । इति राजनिर्घण्टः ॥ (सुष्ठु कामो यस्याः ।) शोभनकामयुक्ता च ॥

सुकालुका, स्त्री, डोड्डीक्षुपः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुकाष्ठकं, क्ली, (सु शोभनं काष्ठमस्येति । कन् ।) देवकाष्ठम् । इति राजनिर्घण्टः ॥ सुन्दरदारु च ॥

सुकाष्ठा, स्त्री, (सु शोभनं काष्ठमस्याः ।) कट्वी । काष्ठकदली । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुकुन्दकः, पुं, पलाण्डुः । इति शब्दरत्नावली ॥

सुकुन्दनः, पुं, वर्व्वरः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुकुमारः, त्रि, (सुष्ठु कुमारयतीति । सु + कुमारत् क केलौ + घञ् ।) कोमलः । इत्यमरः । ३ । १ । ७८ ॥ (यथा, महाभारते । १ । १५४ । १४ ।

"सुभ्रूनासाक्षिकेशान्तं सुकुमारनखत्वचम् ॥")

पुं, उत्तमबालकश्च ॥

सुकुमारः, पुं, (सु + कुमारत् क केलौ + अच् । घञ् वा ।) पुण्ड्रेक्षुः । इति मेदिनी ॥ वनचम्पकः । यवः । श्यामाकः । इति राजनिर्घण्टः ॥ दैत्यविशेषः । इति केचित् ॥ (मोदकौषधविशेषः । यथा,—

"त्रिवृद्दलं पलं चूर्णं सिताचौद्रं पलं पलम् ।
एलालवङ्गमरिचानाञ्च निष्कं प्रति विमिश्रयेत् ॥
किञ्चिन्मृद्वग्निना तप्तं कर्षद्वयञ्च भक्षयेत् ।
विरेकः सुकुमाराणां रक्तपित्तनिलापहः ॥"

इति सुकुमारमोदकः ।

इति वैद्यकचक्रपाणिसंग्रहः ॥)

सुकुमारकं, क्ली, (सुकुमारमिव । कन् ।) तमालपत्रम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुकुमारकः, पुं, (सुकुमार एव । स्वार्थे कन् ।) शालिः । इति राजनिर्घण्टः ॥ सुन्दरबालकः । यथा, हरिवंशे । ३८ । ३६ ।

"सिंहप्रसेनमवधीत् सिंहो जाम्बवता हतः ।
सुकुमारक ! मा रोदीस्तव ह्येष स्यमन्तकः ॥"

सुकुमारा, स्त्री, (सुकुमार + टाप् ।) जाती । नवमालिका । कदली । पृक्का । मालती । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुकुमारी, स्त्री, (सुकुमार + ङीष् ।) नवमालिका । इति राजनिर्घण्टः ॥ (शङ्खिनी । तत्पर्य्यायो यथा,—

"शङ्खिनी सुकुमारी च ।"

इति गारुडे २०८ अध्यायः ॥

कोमलाङ्गी स्त्री । यथा, रामायणे । २।३८।४ ।

"सुकुमारी च बाला च सततञ्च सुखोचिता ।
नेयं वनस्य योग्येति सत्यमाह गुरुर्मम ॥")

सुकृत्, त्रि, (सुष्ठु करोतीति । कृ + "सुकर्म्मपापमन्त्रपुण्येषु कृञः ।" ३ । २ । ८९ । इति क्विप् ।) पुण्यवान् । इति जटाधरः ॥ धार्म्मिकः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ (यथा, रघुः । ११।५० ।

"सद्य एव सुकृतां हि पच्यते
कल्पवृक्षफलधर्म्मि काङ्क्षितम् ॥")

सुकृतं, क्ली, (सु + कृ + क्तः ।) पुण्यम् । इत्यमरः । १ । ४ । २४ ॥ (यथा, कुमारे । ६ । ४७ ।

"अथ ते मुनयो दिव्याः प्रेक्ष्य हैमवतं पुरम् ।
स्वर्गाभिसन्धिसुकृतं वञ्चनामिव मेनिरे ॥")

शुभम् । सुविहिते, त्रि । इति मेदिनी ॥ (यथा, भागवते । ८ । २३ । ३१ ।

"क्रियमाणे कर्म्मणीदं दैवे पित्र्येऽथ मानुषे ।
यत्र यत्रानुकीर्त्त्येत तत् तेषां सुकृतं विदुः ॥")

सुकृतन्तु मनुष्यैः सह गच्छति । यथा,—

"सुकृतं दुष्कृतं लोके गच्छन्तमनुगच्छति ।
तस्माद्वित्तं समासाद्य दैवाद्वा पौरुषादथ ।
दद्यात् सम्यक् द्विजातिभ्यः कीर्त्तनानि च कारयेत् ॥"

इति वह्निपुराणे वैष्णवक्रियायोगे यमानुशासनो नामाध्यायः ॥

सुकृतिः, स्त्री, (सु + कृ + क्तिन् ।) पुण्यम् । मङ्गलम् । सत् कर्म्म ॥

सुकृती, [न्] त्रि, (सुकृतमस्यास्तीति । इनिः ।) पुण्यवान् । इत्यमरः । ३ । १ । ३ ॥ शुभयुक्तः । इति मेदिन्यां सुकृतशब्दार्थदर्शनात् ॥ (यथा, गीतायाम् । ७ । १६ ।

"चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्ज्जुन ।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥")

सुकेशरः, पुं, (सुन्दरः केशरो यस्य ।) बीजपूरः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुकेशा, स्त्री, (शोभनः केशो यस्याः ।) सुन्दरकेशयुक्ता । यथा । "सुकेशी सुकेशा रथ्या ।" इति मुग्धबोधव्याकरणम् ॥

सुकेशी, स्त्री (शोभनः केशो यस्याः । ङीष् ।) स्वर्गवेश्याभेदः । इति पुराणम् ॥ (यथा, महाभारते । १३ । १९ । ४५ ।

"मनोहरा सुकेशी च सुमुखी हासिनी प्रभा ।
एताश्चान्याश्च वै बह्व्यः प्रनृत्ताप्सरसः शुभाः ॥")

शोभनकेशयुक्ते, त्रि ॥ (यथा, महाभारते । ३ । ६४ । ६४ ।

"शुभ्रूः सुकेशी सुश्रोणी सुकुचा सुद्विजानना ।
सा विवेशाश्रमपदं वीरसेनसुतप्रिया ॥")

सुकोली, स्त्री, (सु शोभना कोली।) क्षीरकाकोली। इति रत्नमाला ॥ शोभनवदरी च ॥

सुकोशकः, पुं, (सु शोभनः कोशो यस्य।) कोषाम्रः। इति राजनिर्घण्टः ॥

सुख, त् क तत्क्रतौ। इति कविकल्पद्रुमः ॥ (अदन्तचुरा० पर०-सक०-सेट्।) तत्क्रतिः सुखक्रिया। श्रीजयदेवकवेरिति गीतं सुखयतु केशवपदमुपनीतम्। इति दुर्गादासः ॥

सुखं, क्ली, (सुखयतीति। सुख + अच्।) आत्मवृत्तिगुणविशेषः। इति नैयायिकाः ॥ मनसो धर्म्मः। इति वेदान्तिकाः ॥ तत्पर्य्यायः। सुत् २ प्रीतिः ३ प्रमदः ४ हर्षः ५ प्रमोदः ६ आमोदः ७ संमदः ८ आनन्दथुः ९ आनन्दः १० शर्म्म ११ शातम् १२। इत्यमरः।१।४।२५ ॥ मदः १३ भोगः १४ रभसः १५ निर्वृतिः १६ धृतिः १७ वीचिः १८। इति जटाधरः ॥ संमेदः १९ मोदः २० नन्दथुः २१ नन्दः २२ मुदा २३ सौख्यम् २४ उपजोषम् २५ आनन्दम् २६ जोषम् २७। इति शब्दरत्नावली ॥ न्यायमते जगतां काम्यं धर्म्मजन्यमिदम्। यथा,—

"सुखन्तु जगतामेव काम्यं धर्म्मेण जन्यते।
अधर्म्मजन्यं दुःखं स्यात् प्रतिकूलं सचेतसाम् ॥"*

तस्य मनोगोचरत्वं यथा,—

"मनोग्राह्यं सुखं दुःखमिच्छा द्वेषो मतिः
कृतिः ॥"

इति भाषापरिच्छेदः ॥ * ॥

"सुखं चतुर्व्विंशतिगुणान्तर्गतगुणविशेषः। तत्तु नित्यं जन्यञ्च। नित्यं परमात्मनो विशेषगुणान्तर्व्वर्त्ति। जन्यसुखं जीवात्मनो विशेषगुणान्तर्व्वर्त्ति। तच्च शुभादृष्टजन्यं धनमित्रलाभारोग्यमिष्टान्नपानपुरीषोत्सर्गपुत्त्रादिजन्मतत्प्राप्तिकान्तासम्भोगादिजन्यञ्च तस्य द्विक्षणस्थायित्वं स्वोत्तरोत्पन्नानुभवनाश्यत्वात्। सुखाश्रयरागेणैवात्मनो मानसबोधः। सुखं तदुपायश्चेष्टः। बालस्य स्तन्यपानप्रवृत्तौ सुखसाधनत्वज्ञानं हेतुः तत्र सुखस्यैवेष्टत्वम्। दुःखजनकगमनादिप्रवृत्तौ सुखोपायो धनं तदेवेष्टं तत्साधनत्वज्ञानमेव हेतुः। यागादिप्रवृत्तावपि पारलौकिकसुखसाधनत्वज्ञानं कारणं सुखोपायस्वर्गादिरूपेष्टसाधनत्वज्ञानमपि कारणम्। सुखस्य कालावच्छेद्यत्वं शरीरावच्छेद्यत्वञ्चातोऽव्याप्यवृत्तित्वं शरीरैकदेशावच्छेदेन दुःखसम्भवेऽप्यन्यदेशावच्छेदेन सुखसम्भवात् एकक्षणावच्छेदेन जीवस्य दुःखसम्भवेऽपि क्षणान्तरावच्छेदेन सुखसम्भवाच्च तत्तु विस्फोटकवतो मिष्टान्नभोजनादौ द्रष्टव्यम्। इति तार्किकाः ॥ * ॥ तत्कारणं यथा,—

"सुदिनं दुर्द्दिनं शश्वद्भ्रमत्येव भवे भव।
सर्व्वेषां प्राकृतानाञ्च द्वे बीजे सुखदुःखयोः ॥
सुखाद्भवति हर्षश्च दर्पः शौर्य्यं प्रमत्तता।
राग ऐश्वर्य्यकामौ च विद्वेषश्च परस्परम् ॥
दुःखात् शोकात् समुद्वेगाद्भयं नित्यं प्रवर्त्तते।
हतान्येतानि सर्व्वाणि हते बीजे महेश्वर ॥
सुदिनं दुर्द्दिनञ्चैव सर्व्वं कर्म्मोद्भवं भव ॥"

इति ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे।४३।४८-५१ ॥

तस्य कारणान्तरं लक्षणञ्च यथा,—

"रागद्वेषादियुक्तानां न सुखं कुत्रचित् द्विज।
विचार्य्य खलु पश्यामि तत् सुखं यत्र निर्वृतिः ॥
यत्र स्नेहो भयं तत्र स्नेहो दुःखस्य भाजनम्।
स्नेहमूलानि दुःखानि तस्मिंस्त्यक्ते महत्
सुखम् ॥
शरीरमेवायतनं दुःखस्य च सुखस्य च।
जीवितञ्च शरीरञ्च जात्यैव सह जायते ॥
सर्व्वं परवशं दुःखं सर्व्वमात्मवशं सुखम्।
एतद्विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥
सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम्।
सुखं दुःखं मनुष्याणां चक्रवत् परिवर्त्तते ॥"

इति गारुडे ११३ अध्यायः ॥ * ॥

सर्व्वभूतसुखकर्त्तव्यत्वं यथा, देवीपुराणे देवीसंवत्सरवलिहरणाध्याये।

"कृमिकीटपतङ्गेषु भूमौ दध्योदनं क्षिपेत्।
सर्व्वदा सर्व्वभूतानां सुखं कार्य्यं सुखार्थिनाम् ॥"

सुख-दुःख-साधनानामस्थिरत्वं सुखस्य मनोविलासमात्ररूपत्वञ्च यथा,—

"वस्त्वेकमेव दुःखाय सुखायेर्ष्योद्भवाय च।
कोपाय च यतस्तस्माद्वस्तु वस्त्वात्मकं कुतः ॥
तदेव प्रीतये भूत्वा पुनर्दुःखाय जायते।
तदेव कोपाय ततः प्रसादाय च जायते ॥
तस्माद्दुःखात्मकं नास्ति न च किञ्चित् सुखात्मकम्।
मनसः परिणामोऽयं सुखदुःखोपलक्षणः ॥"

इति विष्णुपुराणे।२।६।४३-४५ ॥

"सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते
घनान्धकारेष्विव दीपदर्शनम्।
सुखात्तु यो याति नरो दरिद्रतां
धृतः शरीरेण मृतः स जीवति ॥"

इति मृच्छकटिकम् ॥ * ॥

तद्वैदिकपर्य्यायः। शिम्बाता १ शतरा २ शातपन्ता ३ शिलगुः ४ स्यूमकम् ५ शेवृधम् ६ मयः ७ सुम्नम् ८ सुदिनम् ९ शूषम् १० शुनम् ११ शग्मम् १२ भेषजम् १३ जलाषम् १४ स्योनम् १५ सुम्नम् १६ शेवम् १७ शिवम् १८ शम् १९ कम् २०। इति विंशतिः सुखनामानि ॥ इति वेदनिघण्टौ।३।६ ॥ * ॥ त्रिविधसुखं यथा,—

"अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तञ्च नियच्छति।
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ॥
तत् सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥१
विषयेन्द्रियसंयोगात् यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत् सुखं राजसं स्मृतम् ॥२
यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥"३॥

इति श्रीभगवद्गीतायाम् १८ अध्यायः ॥

स्वर्गः। इति मेदिनी ॥ वृद्धिनामौषधम्। इति राजनिर्घण्टः ॥ जलम्। इति केचित् ॥ सुखविशिष्टे, त्रि। यथा,—

"शस्तञ्चाथ त्रिषु द्रव्ये पापं पुण्यं सुखादि च।"

इत्यमरः।३।४।२६ ॥

"पापपुण्यशब्दौ सुखादयः शस्तान्ताश्च गुणे यथोक्तलिङ्गाः उपचारात्तद्वति द्रव्ये विशेष्ये वर्त्तमाना वाच्यलिङ्गाः। यथा,—
'पापा ऋतुमती कन्या पापो राजाप्यरक्षकः।
पापं व्याधकुलं हिंस्रं पापो विप्रश्च सेवकः ॥'
पुण्यं तीर्थं पुण्या नदी पुण्य आश्रमः। सुखा भूतिः सुखो वासः सुखं कामिकुलम्।" इति भरतः ॥

सुखकरः, त्रि, (सुखं कर्त्तुं शीलमस्येति। सुख + कृ + टः।) सुकरः। यथा। कर्त्तुं सुकरैः सुखकरैरित्यर्थः। इति मुग्धबोधटीकायां दुर्गादासः ॥

सुखगः, त्रि, (सुखेन गच्छतीति। गम् + डः।) सुखेन गमनकर्त्ता ॥

सुखङ्करी, स्त्री, (सुखं करोतीति। कृ + खच्। मुम्। ङीप्।) जीवन्तीवृक्षः। इति राजनिर्घण्टः ॥ सुखकरी च ॥

सुखकुण्डः, पुं, शिवखट्वाङ्गः। इति त्रिकाण्डशेषः।

सुखचरः, त्रि, सुखगामी। सुखेन चरति इत्यर्थे टप्रत्ययेन निष्पन्नः। ग्रामविशेषे, पुं। सुखेन चरति अत्र इत्यर्थे अलप्रत्ययेन निष्पन्नः ॥

सुखचारः, पुं, (सुखेन चरत्यनेनेति। चर + घञ्।) उत्तमघोटकः। इति शब्दमाला ॥

सुखजातः, त्रि, (सुखेन जातः। यद्वा, जातं सुखमस्येति।) जातसुखः। यथा भट्टौ ५।३८।

"सुखजातः सुरापीतो गृजन्यो माल्यधारयः ॥"

(सुखस्य जनने, क्ली। यथा, गीतगोविन्दे।१०।३।

"घटय भुजबन्धनं जनय रदखण्डनं
येन वा भवति सुखजातम् ॥")

सुखदं, क्ली, (सुखं ददातीति। दा + कः।) विष्णोः स्थानम्। विष्णोरासनम्। इति केचित् ॥

सुखदः, पुं, (सुखं ददातीति। दा + कः।) विष्णुः। यथा। सुखदोऽनेकदोऽग्रजः। इति तस्य सहस्रनामस्तोत्रम् ॥ तालभेदः। यथा,—

"विंशत्यक्षरसंयुक्तो ध्रुवः सुखदसंज्ञकः।
शृङ्गारवीरयोर्ज्ञेयो गुरुणैकेन मण्डितः ॥"

इति संगीतदामोदरः ॥

सुखदातरि, त्रि ॥ (यथा, बृहत्संहितायाम्।१०४।३८।

"हरिणप्लुतशावविचेष्टितं
रिपुगते मनसः सुखदं गुरौ ॥")

सुखदा, स्त्री, (सुखं ददाति या। दा + कः। टाप्।) सुखदात्री। गङ्गा। यथा,—

"सद्यःपातकसंहन्त्री सद्योदुःखविनाशिनी।
सुखदा मोक्षदा गङ्गा गङ्गेव परमा गतिः ॥"

इति गङ्गाप्रणाममन्त्रः ॥

स्वर्गवेश्या। इति शब्दरत्नावली ॥ शमीवृक्षः। इति राजनिर्घण्टः ॥

सुखदोह्या, स्त्री, (सुखेन दोह्या दोहनयोग्या ।) सुखसंदोह्या गौः । इति हेमचन्द्रः ॥

सुखभाक्, [ज्] त्रि, सुखी । सुखं भजते इति । ठाङ्गजवहसङ्घो विण् । इत्यनेन सुखशब्दपूर्व्वक-भजधातोर्विण्प्रत्ययेन निष्पन्नः । इति मुग्ध-बोधव्याकरणम् ॥ (यथा, बृहत्संहितायाम् । ४७ । ५ ।

"निर्व्वैराः क्षितिपाः सुखभाजः
संहृष्टाश्च जना गतरोगाः ॥")

दृष्टपरिष्वङ्गः । इति महाभारते मोक्षधर्म्मः ॥

सुखमोदा, स्त्री, (सुखकरी मोदो यस्याः ।) सल्ल-कीवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुखरात्रिः, } स्त्री, (सुखकरी रात्रिर्यस्या-
सुखरात्रिका, } मिति । पक्षे कप् ।) दीपा-न्विताभावास्यारात्रिः । तद्विधानं यथा, ज्योतिषे ।

"तुलाराशिगते भानौ अमावास्यां नराधिपः ।
स्नात्वा देवान् पितॄन् भक्त्या संपूज्याथ प्रणम्य च ॥
कृत्वा तु पार्व्वणश्राद्धं दधिक्षीरगुड़ादिभिः ।
ततोऽपराह्णसमये घोषयेन्नगरे नृपः ।
लक्ष्मीः संपूज्यतां लोका उल्काभिश्चापि
वेष्टताम् ॥"*॥

दर्शदेधे प्रदोषव्याप्त्या निर्णयः ।
"तुलासंस्थे सहस्रांशौ प्रदोषे भूतदर्शयोः ।
उल्काहस्ता नराः कुर्य्युः पितॄणां मार्गदर्शनम् ॥"
इति ज्योतिषात् ॥

उभयतः प्रदोषप्राप्तौ परदिन एव युग्मात् ।
"दण्डैकरजनीयोगो दर्शस्य स्यात् परेऽहनि ।
तदा विहाय पूर्व्वेद्युः परेऽह्नि सुखरात्रिका ॥"
इति ज्योतिर्व्वचनाच्च ॥

उभयत्र प्रदोषाव्याप्तावपि उल्कादानं परदिने पूर्व्वोक्तपार्व्वणानुरोधात् ।
"भूताहे ये प्रकुर्व्वन्ति उल्काग्रहणमचेतसः ।
निराशाः पतरो यान्ति शापं दत्त्वा सुदारुणम् ॥"
इति ज्योतिर्व्वचनाच्च ॥ * ॥

अत्रैव लक्ष्मीः पूर्व्वाह्णे रात्रौ पूज्या ।
"अमावास्या यदा रात्रौ दिवाभागे चतुर्द्दशी ।
पूजनीया तदा लक्ष्मीर्व्विज्ञेया सुखरात्रिका ॥"
इति ज्योतिर्व्वचनात् ॥ * ॥

उल्काग्रहणादिपितृकृत्यत्वात् प्राचीनावीतिना दक्षिणामुखेन कर्त्तव्यम् । तथा च मनुः ।
"प्राचीनावीतिना सम्यगपसव्यमतन्द्रिणा ।
पित्र्यमानिधनात् कार्य्यं विधिवद्दर्भपाणिना ॥"
तत्र ग्रहणमन्त्रः ।
"शस्त्राशस्त्रहतानाञ्च भूतानां भूतदर्शयोः ।
उज्ज्वलज्योतिषा देहं दहेयं व्योमवह्निना ॥"
दानमन्त्रश्च ।
"अग्निदग्धाश्च ये जीवा येऽप्यदग्धाः कुले मम ।
उज्ज्वलज्योतिषा दग्धास्ते यान्तु परमां गतिम् ॥"
विसर्ज्जनमन्त्रः ।
"यमलोकं परित्यज्य आगता ये महालये ।
उज्ज्वलज्योतिषा वर्त्म प्रपश्यन्तो व्रजन्तु ते ॥"*

ब्रह्मपुराणम् ।
"अमावास्यां यदा देवाः कार्त्तिके मासि केशवात् ।
अभयं प्राप्य सुप्ताश्च क्षीरोदार्णवसानुषु ॥
लक्ष्मीर्दैत्यभयान्मुक्ता सुखं सुप्ताम्बुजोदरे ।
चतुर्युगसहस्रान्ते ब्रह्मा स्वपिति पङ्कजे ॥
अतोऽत्र विधिवत् कार्य्या मनुष्यैः सुखरात्रिका ।
दिवा तत्र न भोक्तव्यमृते बालातुराज्जनात् ॥
प्रदोषसमये लक्ष्मीं पूजयित्वा यथाक्रमम् ।
दीपवृक्षास्तथा कार्य्या भक्त्या देवगृहेष्वपि ॥
चतुष्पथश्मशानेषु नदीपर्व्वतसानुषु ।
वृक्षमूलेषु गोष्ठेषु चत्वरेषु गृहेषु च ॥
वस्त्रैः पुष्पैः शोभितव्याः क्रयविक्रयभूमयः ।
दीपमालापरिक्षिप्ते प्रदोषे तदनन्तरम् ॥
ब्राह्मणान् भोजयित्वादौ विभोज्य च बुभुक्षि-
तान् ।
अलङ्कृतेन भोक्तव्यं नववस्त्रोपशोभिना ।
स्निग्धैर्म्मुग्धैर्व्विदग्धैश्च बान्धवैर्भृतकैः सह ॥"
मुग्धैः सुन्दरैः । मुग्धः सुन्दरमूढ़योरिति विश्वः ॥*॥ अत्र लक्ष्मीपूजायां पुष्पदानकाले ।
"नमस्ते सर्व्वदेवानां वरदासि हरिप्रिये ।
या गतिस्त्वत्प्रपन्नानां सा मे भूयात् तदर्च्चनात् ॥"
लक्ष्म्यै नमः । इत्यनेन वारत्रयं पूजयेत् ।
"सुखरात्र्यां प्रदोषे तु कुवेरं पूजयन्ति ये ॥"
इति वृद्धधरष्टतात् कुवेरमपि पूजयन्ति ।
"धनदाय नमस्तुभ्यं निधिपद्माधिपाय च ।
भवन्तु त्वत्प्रसादान्मे धनधान्यादिसम्पदः ॥"
इति पठित्वा कुवेराय नमः । इति त्रिः पूज-येत् । ततो देवगृहादिषु दीपान् दद्यात् । तत्र मन्त्रः ।
"अग्निज्योती रविज्योतिश्चन्द्रज्योतिस्तथैव च ।
उत्तमः सर्व्वज्योतीनां दीपोऽयं प्रतिगृह्यताम् ॥"
ततो ब्राह्मणान् बन्धूंश्च भोजयित्वा स्वयं भुक्त्वा सुखं सुप्त्वा प्रत्यूषे भविष्योक्तं कर्म्म कुर्य्यात् । यथा,—
"सुखरात्रेरुषःकाले प्रदीपोज्ज्वलितालये ।
बन्धुर्व्वन्धूनवन्धूंश्च वाचा कुशलयार्च्चयेत् ॥
प्रदीपवन्दनं कार्य्यं लक्ष्मीमङ्गलहेतवे ।
गोरोचनाचन्दनैश्च दद्यादङ्गेषु सर्व्वतः ॥"
लक्ष्मीपूजामन्त्रः ।
"विश्वरूपस्य भार्य्यासि पद्मे पद्मालये शुभे ।
महालक्ष्मि नमस्तुभ्यं सुखरात्रिं कुरुष्व मे ॥
वर्षाकाले महाघोरे यन्मया दुष्कृतं कृतम् ।
सुखरात्रिप्रभातेऽद्य तन्मे लक्ष्मीर्व्यपोहतु ॥
या रात्रिः सर्व्वभूतानां या च देवेष्ववस्थिता ।
संवत्सरप्रिया या च सा ममास्तु सुमङ्गला ॥
माता त्वं सर्व्वभूतानां देवानां सृष्टिसम्भवा ।
आख्याता भूतले देवि सुखरात्रि नमोऽस्तु ते ॥"
लक्ष्म्यै नमः । इति त्रिः पूजयेत् । इति तिथ्यादि-तत्त्वम् ॥

सुखवर्च्चकः, पुं, (सुखं वर्च्चयति उद्दीपयतीति । वर्च्च + णिच् + ण्वुल् ।) सर्जिकाक्षारः । इत्य-मरः । २ । ६ । १०६ ॥

सुखवर्च्चाः, [स्] पुं, (सुखं वर्च्चयतीति । वर्च्च + असुन् ।) सर्जिकाक्षारः । इति राज-निर्घण्टः ॥

सुखवासः, पुं, (सुखकरो वासो यस्य ।) फल-विशेषः । तरमूज इति भाषा । तत्पर्य्यायः । शीर्णवृन्तः २ । इति रत्नमाला ॥

सुखवासनः, पुं, (सुखं वासयतीति । वस + णिच् + ल्युः ।) सुखवासनगन्धद्रव्यम् । यथा,—
"सुखवासकरो गन्ध आमोदो सुखवासनः ।
सुखवासन इत्येके शुभवासन इत्यपि ॥"
इति शब्दरत्नावली ॥

सुखसन्दुह्या, स्त्री, सुशीला गौः । इत्यमरटीकायां भरतः । २ । ६ । ७१ ॥

सुखसन्दोह्या, स्त्री, (सुखेन सन्दोह्या ।) सुशीला गौः । तत्पर्य्यायः । सुव्रता २ । इत्यमरः । २ । ६ । ७१ ॥ सुखदोह्या ३ । इति हेमचन्द्रः ॥ सुखदुह्या ४ । इति भरतः ॥

सुखा, स्त्री, (सुखमस्त्यस्यामिति । अच् । टाप् ।) वरुणपुरी । इति मेदिनी ॥

सुखाधारः, पुं, (सुखानामाधारः ।) स्वर्गः । इति शब्दरत्नावली ॥ सुखस्याधारे, त्रि ॥

सुखायतः, पुं, (सुखेन आयम्यते इति । आ + यम + क्तः ।) सुशिक्षिताश्वः । यथा,—
"सुखायतः शुद्धसुखः सुखचारः सुखायनः ।"
इति शब्दमाला ॥

सुखायनः, पुं, (सुखेन अयति गच्छति अनेनेति । अय + ल्युट् ।) सुशिक्षिताश्वः । यथा,—
"सुखायतः शुद्धसुखः सुखचारः सुखायनः ।"
इति शब्दमाला ॥

सुखावतीश्वरः, पुं, (सुखावत्या ईश्वरः ।) बुद्ध-भेदः । इति हेमचन्द्रः ॥

सुखावहः, त्रि, (आवहतीति । आ + वह + अच् । सुखस्य आवहः ।) सुखदाता । यथा,
"सर्व्वपापहरं पुण्यं सर्व्वापद्विनिवारकम् ।
सर्व्वकामार्थदं देवि ! साधकानां सुखावहम् ॥"
इति वटुकभैरवस्तोत्रम् ॥

सुखाशः, पुं, (सुखा सुखयुक्ता आशा यस्य । यद्वा, सुखायां पुर्य्यां शेते इति । शी + डः ।) वरुणः । (सुखेन अश्यते इति । अश + घञ् ।) राज-तिनिशः । (अश भोजने + भावे घञ् । सुखेन आशः ।) सुखभोजनम् । इति मेदिनी ॥

सुखाशकः, पुं, (सुखाश एव । स्वार्थे कन् ।) राजतिनिशः । इति शब्दमाला ॥

सुखी, [न्] त्रि, (सुखमस्यास्तीति । सुख + इन् ।) सुखविशिष्टः । यथा, रामकवचम् ।
"स चिरायुः सुखी पुत्त्री विनयी विजयी भवेत् ॥"
"स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ।"
इति भगवद्गीता ॥
"सा श्रीर्या न मदं कुर्य्यात् स सुखी तृष्णयोज्-
झितः ।
तन्मित्रं यस्य विश्वासः पुरुषः स जितेन्द्रियः ॥"
इति गारुड़े ११६ अध्यायः ॥

सुखोत्सवः, पुं, (सुखकरः उत्सवो यस्मात्।) पतिः। इति त्रिकाण्डशेषः॥ (सुखजनक उत्सवः।) आनन्दोत्सवश्च॥

सुखोदकं, क्ली, (सुखजनकमुदकम्।) सुखजनकतप्तजलम्। तत्पर्य्यायः। सुखोष्णम् २। इति रत्नमाला॥

सुखोज्झिकः, पुं, सर्ज्जिकाक्षारः। इति राजनिर्घण्टः॥

सुगं, क्ली, (सुखेन गच्छति निर्य्यातीति। गम+डः।) विष्ठा। इति शब्दचन्द्रिका॥ (सुखेन गच्छत्यस्मिन्निति। "सुदुरोरधिकरणे।" ३।२।४८। इत्यस्य वार्त्तिकोक्त्या डः। सुखगन्तव्यो देशादिः॥) सुन्दरगामिनि, त्रि॥ (सुन्दरं गायतीति। गै+कः। शोभनगीतशालिनि च त्रि॥ यथा, भागवते। १०। १२। ३४।

"गीतैः सुगा वाद्यधराश्च वाद्यकैः
स्तवैश्च विप्रा जयनिःस्वनैर्गणाः॥")

सुगण, त्रि, (सुगणयतीति। सु+गण+क्विप्।) सुन्दरगणकः। इति सिद्धान्तकौमुदी॥

सुगतः, पुं, (सु शोभनं गतं गमनं ज्ञानं वा अस्येति।) बुद्धः। इत्यमरः। १।१।११॥ (तद्धर्म्मावलम्बी। यथा, कथासरित्सागरे। २६। ४०।
"तेनाभिपूज्य सुगतान् भासयामास तत्र सा॥")
सुन्दरगमनविशिष्टे, त्रि॥

सुगतिः, पुं, (शोभना गतिर्यस्य।) अतीतकल्पीयार्हद्भेदः। इति हेमचन्द्रः॥ ग्रन्थकर्तृविशेषः। यथा, सुगतिसोपानप्रभृतयोऽप्येवमिति स्मार्त्तलिखनम्॥ (गयस्य पुत्त्रविशेषः। यथा, भागवते। ५। १५। १४।
"गयात् गायन्त्यां चित्ररथः सुगतिरवरोधन इति त्रयः पुत्त्रा बभूवुः।" शोभना गतिर्यस्येति। शोभनगतिशीले, त्रि। यथा, बृहत्संहितायाम्। ६। ४५।

"सुगतिरविक्षतो जयान्वितः
क्षतयुगरूपकरः चिताङ्कयः॥"

स्त्री, सद्गतिः। यथा, महाभारते। १। २। ३३५।
"यत्र धर्म्मं समाश्रित्य विदुरः सुगतिं गतः॥")

सुगन्धं, क्ली, (शोभनो गन्धो यस्य।) क्षुद्रजीरकम्। गन्धतृणम्। इति रत्नमाला॥ (भूतृणम्। तत्पर्य्यायो यथा,—
"गुह्यबीजन्तु भूतीकं सुगन्धं जम्बुकप्रियम्।
भूतृणन्तु भवेच्छत्रा मालातृणकमित्यपि॥"
इति भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे प्रथमे भागे॥)
नीलोत्पलम्। चन्दनम्। इति राजनिर्घण्टः॥ ग्रन्थिपर्णम्। इति भावप्रकाशः॥

सुगन्धः, पुं, (शोभनो गन्धो यस्य।) रक्तशिग्रुः। गन्धकः। चणकः। भूतृणम्। इति राजनिर्घण्टः॥ (भूपलाशः। तत्पर्य्यायो यथा,—
"आस्फोतकः सुगन्धश्च भूपलाशो विशल्यकृत्॥"
इति वैद्यकरत्नमालायाम्॥
कुन्दुरुः। सुगन्धद्रव्यशल्लकीनिर्य्यासः। तत्पर्य्यायो यथा,—
"कुन्दुरुस्तु सुकुन्दः स्यात् सुगन्धः कुन्द इत्यपि॥"
इति भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे प्रथमे भागे॥
क्रिमिभेदः। यथा,—
"अन्नादा उदरावेष्टा हृदयादा महागुदाः।
चुरवो दर्भकुसुमाः सुगन्धास्ते च कुर्व्वते॥"
इति वैद्यकविनिश्चयसंग्रहे क्रिम्यधिकारे॥)
समवायातिरिक्तसम्बन्धेन सद्गन्धविशिष्टे, त्रि॥ (यथा, भट्टिः। २ सर्गे।
"आघ्रायिवान् गन्धवहः सुगन्धः॥")

सुगन्धकः, पुं, (शोभनो गन्धो यस्य। ततः कन्।) रक्ततुलसी। गन्धकः। इति रत्नमाला॥ नागरङ्गः। इति त्रिकाण्डशेषः॥ कर्क्कोटकः। इति हेमचन्द्रः॥ (शालिधान्यम्। यथा,—
"रक्तशालिः सकलमः पाण्डुकः शकुनाहृतः।
सुगन्धकः कर्द्दमको महाशालिश्च दूषकः॥
पुष्पाण्डकः पुण्डरीकस्तथा महिषमस्तकः।
दीर्घशूकः काञ्चनको हायनो लोध्रपुष्पकः॥
इत्याद्याः शालयः सन्ति बहवो बहुदेशजाः॥"
इति भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे प्रथमे भागे॥)

सुगन्धतैलनिर्य्यासं, क्ली, (सुगन्धः तैलस्य निर्य्यासो यत्र।) जवादिनामगन्धद्रव्यम्। इति राजनिर्घण्टः॥

सुगन्धपत्त्रा, स्त्री, (सुगन्धानि पत्त्राणि यस्याः।) रुद्रजटा। इति राजनिर्घण्टः॥

सुगन्धभूतृणं, क्ली, (सुगन्धो भूतृणम्।) गन्धतृणम्। इति राजनिर्घण्टः॥

सुगन्धमूला, स्त्री, (सुगन्धं मूलं यस्याः।) स्थलपद्मिनी। रास्ना। इति राजनिर्घण्टः॥ (लवली। तत्पर्य्यायो यथा,—
"सुगन्धमूला लवली पाण्डुः कोमलवल्कला॥"
इति भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे प्रथमे भागे॥)

सुगन्धा, स्त्री, (शोभनो गन्धो यस्याः।) रास्ना। इत्यमरः। २। ४। ११४॥ शटी। इति शब्दरत्नावली॥ वन्ध्याकर्क्कोटकी। रुद्रजटा। शतपुष्पा। नाकुली। नवमालिका। स्वर्णयूथिका। एला। गङ्गापत्त्री। सल्लकी। माधवी। इति राजनिर्घण्टः॥ अनन्ता। मातुलुङ्गा। तुलसी। इति रत्नमाला॥ (पीठस्थानस्थदेवीविशेषः। यथा, देवीभागवते। ७। ३०। ६८।
"कोटवी कोटतीर्थे तु सुगन्धा माधवे वने॥")

सुगन्धामलकं, क्ली, (सुगन्धमामलकम्।) मिलितौषधविशेषः। यथा,—
"सर्व्वौषधिसमायुक्ताः शुष्कास्त्वामलकत्वचः।
यदा तदायं योगः स्यात् सुगन्धामलकाभिधः॥"
इति राजनिर्घण्टः॥

सुगन्धिः, पुं, (शोभनो गन्धो यस्य। "गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः।" ५। ४। १३५। इति इत्।) सद्गन्धः। तत्पर्य्यायः। इष्टगन्धः २ सुरभिः ३। घ्राणतर्पणः ४। इत्यमरः। १।५।११॥ परमात्मा। इति मोक्षधर्म्मटीकायां नीलकण्ठधृतवेदः॥ सहकारः। इति शब्दचन्द्रिका॥ सुगन्धयुक्ते, त्रि। इति मेदिनी॥ (यथा, कुमारे। ३। ५६।

"सुगन्धिनिश्वासविवृद्धतृष्णं
बिम्बाधरासन्नचरं द्विरेफम्।
प्रतिक्षणं संभ्रमलोलदृष्टि-
लीलारविन्देन निवारयन्ती॥")

सुगन्धि, क्ली, (शोभनो गन्धो यस्य। इत्।) एलवालुकम्। इत्यमरः। २। ४। १२१॥ (अथ एलवालुकं कक्कोलसदृशं कुष्ठगन्धि।
"एलवालुकमैलेयं सुगन्धि हरिवालुकम्।
ऐलवालुकमेलालुकमित्यं पञ्चमीरितम्॥"
इति भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे प्रथमे भागे॥)
मुस्ता। कशेरु। गन्धतृणम्। धान्यकम्। पिप्पलीमूलम्। इति राजनिर्घण्टः॥

सुगन्धिकं, क्ली, (शोभनो गन्धो यस्य। इत्। ततः स्वार्थे कन्।) कह्लारम्। इति शब्दरत्नावली॥ पुष्करमूलम्। गौरसुवर्णम्। सुरपर्णम्। उशीरम्। इति राजनिर्घण्टः॥

सुगन्धिकः, पुं, (सु शोभनो गन्धो यस्य। इत्। ततः कन्।) महाशालिः। इति हेमचन्द्रः॥ तुरुष्कः। इति राजनिर्घण्टः॥ गन्धकः। इत्यमरटीकायां रायमुकुटः॥

सुगन्धिकुसुमः, पुं, (सुगन्धि कुसुमं यस्य।) पीतकरवीरः। इति राजनिर्घण्टः॥ सुगन्धिपुष्पे, क्ली॥

सुगन्धिकुसुमा, स्त्री, (सुगन्धि कुसुमं यस्याः।) एला। इति जटाधरः॥

सुगन्धिता, स्त्री, (सुगन्धेर्भावः। तल्। टाप्।) सौगन्धिः। सौरभम्। इति हलायुधः॥ (यथा, माघे। ३। ५४।

"सुगन्धितामप्रतियत्नपूर्व्वां
बिभ्रन्ति यत्र प्रमदाय पुंसाम्।
मधूनि वक्त्राणि च कामिनीना-
मामोदकर्म्मव्यतिहारमीषुः॥")

सुगन्धित्रिफला, स्त्री, (सुगन्धि त्रिफलं त्रिशिराकं फलं यस्याः।) जातीफलम्। पूगफलम्। लवङ्गकलिकाफलम्। इति राजनिर्घण्टः॥

सुगन्धिनी, स्त्री, (सुगन्धोऽस्त्यस्या इति। इनिः। ङीप्।) आरामशीतला। इति राजनिर्घण्टः॥ (सुवर्णकेतकी। अस्याः पर्य्यायो यथा,
"केतकः सूचिकापुष्पो जम्बूकः क्रकचच्छदः।
सुवर्णकेतकी त्वन्या लघुपुष्पा सुगन्धिनी॥"
इति भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे प्रथमे भागे॥)

सुगन्धिमूलं, क्ली, (सुगन्धि मूलमस्य।) उशीरम्। इति राजनिर्घण्टः॥

सुगन्धिमूषिका, स्त्री, (सुगन्धिगन्धविशिष्टा मूषिका।) छुछुन्दरी। इति राजनिर्घण्टः॥

सुगमः, त्रि, (सु+गम+खल्।) सुखेन गम्यते प्राप्यते यः। यथा, पथे सुगमम्। इति मुग्धबोधीयादादिप्रकरणलिखनम्॥ (यथा, भागवते। १०। ८४। ३६।

"चित्तस्योपशमोऽयं वै कविभिः शास्त्रचक्षुषा।
दर्शितः सुगमो योगो धर्म्मश्चात्मसुदावहः ॥")

सुगहनः, त्रि, (सुन्दरो गहनः ।) निविडः । इत्यमरटीकायां रामाश्रमः ॥

सुगहना, स्त्री, कुम्बा । सुगहनेतिविशेषणमिति केचित् । नाम इत्यन्ये । इत्यमरटीकायां रमानाथः ॥

सुगहनावृतिः, स्त्री, कुम्बा । इत्यमरः ॥ यज्ञस्थाने अस्पृश्यादिदर्शनवारणाय या सुगहना निरवकाशा वृतिर्वेष्टनं सा कुम्बा । इति भरतः ॥

सुगृहः, पुं, (सुन्दरं गृहं यस्य ।) चञ्चुसूचिकपक्षी । इति हेमचन्द्रः ॥ (सुन्दरं गृहम् ।) सुन्दरालये, क्ली ॥

सुगृहीतः, त्रि, (सु+ग्रह+क्तः ।) सुन्दररूपेण कृतग्रहणः ॥

सुगृहीतनामा, [न्] पुं, (सुगृहीतं नाम यस्य ।) शुभकाम्यया प्रातः स्मर्य्यते यः । स च युधिष्ठिरादिः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सुग्रन्थिः, पुं, (शोभना ग्रन्थयो यत्र ।) चोरकः । इति राजनिर्घण्टः ॥ सुन्दरग्रन्थियुक्ते, त्रि ॥

सुग्रीवः, पुं, (शोभना ग्रीवा यस्य ।) विष्णोरश्वः । (यथा, महाभारते । २ । २ । १४ ।
"प्रययौ पुण्डरीकाक्षः शैव्यसुग्रीववाहनः ॥")
शाखामृगेश्वरः । इति मेदिनी ॥ स तु सूर्य्यपुत्त्रः किष्किन्धाधिपतिः श्रीरामचन्द्रस्य सखा । यथा, वाल्मीकीये रामायणे बालकाण्डे १७ सर्गे ।
"वानरेन्द्रं महेन्द्राभमिन्द्रो वालिनमात्मजम् ।
सुग्रीवं जनयामास तपनस्तपतां वरः ॥"
किञ्च तत्रैव किष्किन्धाकाण्डे ५ सर्गे ।
"दीप्यमानं ततो वह्निं पुष्पैरभ्यर्च्च्य सत्कृतम् ।
तयोर्मध्ये तु सुप्रीतो निदधौ सुसमाहितः ॥
ततोऽग्निं दीप्यमानं तौ चक्रतुश्च प्रदक्षिणम् ।
सुग्रीवो राघवश्चैव वयस्यत्वमुपागतौ ॥"*॥
अर्हत्पिता । स च वर्त्तमानयुगीयनवमजिनपिता । इति हेमचन्द्रः ॥ शिवः । इन्द्रः । राजहंसः । असुरः । पर्व्वतविशेषः । अस्त्रविशेषः । नागभेदः । इति केचित् ॥ शोभनग्रीवायुक्ते, त्रि । इति विश्वः ॥

सुग्रीवी, स्त्री, (शोभना ग्रीवा यस्याः । ङीप् ।) ताम्रागर्भजाता कश्यपदुहिता । यथा,—
"षट्सुतास्तु महासत्त्वास्ताम्रायाः परिकीर्त्तिताः ।
शुकी श्येनी च भासी च सुग्रीवी शुचिगृध्रिका ॥
शुकी शुकानजनयत् उलूकी प्रत्युलूककान् ।
श्येनी श्येनांस्तथा भासी भासान् गृध्रांश्च गृध्र्यपि ।
शुच्यौदकान् पक्षिगणान् सुग्रीवी तु व्यजायत ॥"
इति गारुडे ६ अध्यायः ॥

सुग्रीवेशः, पुं, (सुग्रीवस्य ईशः ।) श्रीरामचन्द्रः । इति शब्दरत्नावली ॥

सुग्लः, त्रि, (सुग्लायतीति । सु+ग्लै+"आतश्चोपसर्गे ।"३ । १ । १३६ । इति कः ।) अत्यन्तहर्षक्षयविशिष्टः । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥

सुचक्षुः, [स्] पुं, (शोभनं चक्षुरिव फलं यस्य ।) उडुम्बरः । इति जटाधरः ॥ शोभनलोचने, क्ली ॥ तद्युक्ते, त्रि ॥

सुचञ्चुका, स्त्री, (सुष्ठु चञ्चुरिव शिखा यस्याः । कप् ।) महाचञ्चुशाकः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुचरित्रा, स्त्री, (शोभनं चरित्रं यस्याः ।) साध्वी । इत्यमरः । २ । ६ । ६ ॥ शोभनचरित्रयुक्ते, त्रि ॥

सुचर्म्मा, [न्] पुं, (शोभनं चर्म्म यस्य ।) भूर्जवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥ शोभनचर्म्मविशिष्टे, त्रि ॥

सुचारुः, त्रि, (शोभनश्चारुश्च ।) मनोहरः । यथा, कालिकापुराणोक्तदशभुजादुर्गाध्याने ।
"सुचारुदशनां तद्वत् पीनोन्नतपयोधराम् ॥"

सुचित्रकः, पुं, (सुन्दराणि चित्राणि यत्र ।) मत्स्यरङ्कः । चित्रसर्पः । इति शब्दरत्नावली ॥ सुन्दरचित्रयुक्ते, त्रि ॥

सुचित्रबीजा, स्त्री, (सुचित्रं बीजं यस्याः ।) विडङ्गा । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुचित्रा, स्त्री, (शोभनानि चित्राणि यस्याः ।) चिर्भिटा । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुचिरायुः, [स्] पुं, (सुचिरं आयुर्यस्य ।) देवता । इति शब्दरत्नावली ॥

सुचुटी, स्त्री, अश्मादुद्धरणार्थलौहादियन्त्रविशेषः। चिमुटा इति भाषा । इति केचित् ॥

सुचेलकः, पुं, (शोभनश्चेलकः ।) शोभनवस्त्रम् । सरु कापड़ इति भाषा । तत्पर्य्यायः । पटः २ । इत्यमरः । २ । ६ । ११६ ॥ पटिः ३ पटी ४ । इति तट्टीका ॥ सुन्दरवस्त्रयुक्ते, त्रि ॥

सुच्छन्दी, स्त्री, शतद्रुनदी । इति शब्दरत्नावली ॥ शतलज् इति ख्याता ॥

सुजनः, पुं, (सु सुन्दरो जनः ।) साधुः । सज्जनः । यथा,—
"दुर्ज्जनस्य हि सङ्गेन सुजनोऽपि विनश्यति ।
प्रसन्नं जलमित्याहुः कर्द्दमैः कलुषीकृतम् ॥"
इति गारुडे १५ अध्यायः ॥

सुजनता, स्त्री, (सुजनस्य भावः । तल् । टाप् ।) सौजन्यम् । यथा,—
"धिगस्त्वेतां विद्यां धिगपि कवितां धिक् सुजनतां
वयो रूपं वा धिक् धिगपि च यशो निर्धनवताम् ।
असौ जीयादेकः सकलगुणहीनोऽपि धनवान्
बहिर्यस्य द्वारे तृणलवसमाः सन्ति गुणिनः ॥"
इत्युद्भटः ॥

सुजलं, क्ली, (शोभनं जलं यस्मात् ।) कमलम् । इति राजनिर्घण्टः ॥ सुन्दरसलिलञ्च ॥ सुन्दरजलसम्बन्धिनि, त्रि ॥

सुजल्पः, पुं, (सुन्दरो जल्पः कथनम् ।) वाक्यविशेषः । यथा,—
"यत्रार्ज्जवात् सगाम्भीर्य्यं सदैन्यं सहचापलम् ।
सोत्कण्ठञ्च हरिः स्पृष्टः स सुजल्पो निगद्यते ॥"
इत्युज्ज्वलनीलमणिः ॥

सुजाता, स्त्री, (सु+जन+क्तः ।) तुवरी । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुजीवन्ती, स्त्री, (सुजीवतीति । सु+जीव+शतृ । ङीप् ।) स्वर्णजीवन्ती । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुट्ट, क तौच्छ्ये । अनादरे । इति कविकल्पद्रुमः (चुरा०-पर०-सक०-सेट् ।) पञ्चमस्वरी टहयान्तः । क, सुट्टयति । दन्त्यादिरयमिति भीमः । तौच्छ्यमल्पीभावः । इति दुर्गादासः ॥

सुतः, पुं, (सूयते स्मेति । सु+क्तः ।) पुत्त्रः । इत्यमरः । २ । ६ । २७ ॥ "सूयते सुतः कर्म्मणि क्तः । पुतो नरकभेदात् त्रायते इति पुत्त्रः ।
'पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात् पितरं त्रायते सुतः ।
तस्मात् पुत्त्र इति ख्यातः स्वयमेव स्वयम्भुवा ॥'
इति स्मृतिः ॥
किंवा पुनाति मातापितरावितिं त्रासुचिति त्रे निपातात् ह्रस्वत्वे पुत्त्रः । पुत्त्रो द्वितकारः एकतकारश्च ।" इत्यमरटीकायां भरतः ॥ * ॥ मातृपितृस्वभाववत्स्वभावे सुतकन्ये भवतः । यथा,—
"शीलं संभजते पुत्त्रो मातुस्तातस्य वै सुता ।
यथाशीला भवेन्माता तथाशीलो भवेत् सुतः ॥
यद्वर्णा वै भवेद्भूमिस्तद्वर्णं सलिलं भवेत् ॥
मातॄणां शीलदोषेण पितृशीलगुणेन च ।
विभिन्नास्तु प्रजाः सर्व्वा भवन्ति भवशीलिनाम् ॥"
इति वह्निपुराणे काश्यपीयवंशः ॥
पार्थिवः । इति मेदिनी ॥ * ॥ (उत्पन्ने, त्रि ॥)

सुतजीवकः, पुं, (सुतं जीवयतीति । जीव+ण्वुल् ।) पुत्त्रजीववृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुतनुः, स्त्री, (शोभना तनुर्यस्याः ।) नारी । इति राजनिर्घण्टः ॥ (शोभना तनुः शरीरम् ।) शोभनशरीरम् ॥ तद्युक्ते, त्रि ॥ (यथा, उत्तरचरिते १ अङ्के ।
"स्मरसि सुतनु ! तस्मिन् पर्व्वते लक्ष्मणेन
प्रतिविहितसपर्य्यासुस्थयोस्तान्यहानि ॥")

सुतपाः, [स्] पुं, (सुष्ठु तपतीति । सु+तप्+"गतिकारकयोः पूर्व्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ।"उणा० ४।२२६ । इति असिः ।) सूर्य्यः । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥ शोभनं तपो यस्य । मुनिः ॥ (रौच्यमनुपुत्त्रविशेषः । इति मार्कण्डेयपुराणम् । ६४ । २५ ॥ विष्णुः । इति महाभारतम् । १३ । १४६ । ३४ ॥ उग्रतपस्यायुक्ते, त्रि । यथा, कथासरित्सागरे । ११२ । २४१ ।
"स एव जातः संकल्पदोषाद्दाशकुले द्विजः ।
भार्य्यास्य सा च सुतपा जातैषा ते सुता नृप ॥")

सुतपादिका, स्त्री, (सुताः समकालीनमुत्पन्नाः पादा मूलानि यस्याः । कप् । टापि अत इत्वम् ।) हंसपदी । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुतरां, व्य, (सु+द्विवचनविभज्येत्यादिना तरप् ।) अवधारितार्थप्रतिपादकम् । यथा । क्रियैव काल इति मते तु सुतरां नाधिकरणता । इति ।

सपिण्डीकरणसमाख्यासिद्ध्यर्थं सुतरां तत्र तथाचरणम् । इति च तिथ्यादितत्त्वम् ॥ अपि च ।
"अपुत्त्रा जन्मिनः पापात् प्राणिनः समवस्थिताः ।
मनुजास्तत्र सुतरां भवन्ति गृहकर्म्मिणः ॥"
इति पाद्मे सृष्टिखण्डे ४३ अध्यायः ॥
"शृणु द्विज महाबुद्धे दर्म्भेनापि स्तुतो हरिः ।
ददाति मोक्षं सुतरां किं पुनर्द्दम्भवर्ज्जनात् ॥"
इति तत्रैव पातालखण्डम् ॥

सुतकारी, स्त्री, देवदालीलता । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुतर्द्दनः, पुं, (सुष्ठु तर्द्दति पीडयति विरहिणमिति । तर्द्द अर्द्दने + ल्युः ।) कोकिलः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सुतलः, पुं, (शोभनं तलं यत्र ।) अट्टालिकाबन्धः । नागलोकप्रभेदः । इति मेदिनी ॥ स तु पातालषष्ठखण्डः । तद्विवरणं यथा,—
"ततोऽधस्तात् सुतल उदारश्रवाः पुण्यश्लोको विरोचनात्मजो बलिर्भगवता महेन्द्रस्य प्रियं चिकीर्षमाणेनादितेर्लब्धकायो भूत्वा वटुवामनरूपेण पराक्षिप्तलोकत्रयो भगवदनुकम्पयैव पुनः प्रवेशित इन्द्रादिष्वविद्यमानया सुसमृद्धया श्रियाभिजुष्टः स्वधर्म्मेणाराधयंस्तमेव भगवन्तमाराधनीयमपगतसाध्वस आस्ते अधुनापि ।"
इति श्रीभागवते । ५ । २४ । १८ ॥ (तथाच देवीभागवते । ८ । १६ । १३—३२ ।
"ततो वितलाधस्तात् प्रोक्तं सुतलाख्यं विलेश्वरम् ।
पुण्यश्लोको बलिर्नाम आस्ते वैरोचनिर्मुने ! ॥
महेन्द्रस्य च देवस्य चिकिर्षुः प्रियमुत्तमम् ।
त्रिविक्रमोऽपि भगवान् सुतले बलिमानयत् ॥
त्रैलोक्यलक्ष्मीमाक्षिप्य स्थापितः किल दैत्यराट् ।
इन्द्रादिष्वप्यलब्धा या सा श्रीस्तमनुवर्त्तते ॥
तमेव देवदेवेशमाराधयति भक्तितः ।
व्यपेतसाध्वसोऽद्यापि वर्त्तते सुतलाधिपः ॥
* * * *
एवं दैत्यपतिः सोऽयं बलिः परमपूजितः ।
सुतले वर्त्तते यस्य द्वारपालो हरिः स्वयम् ॥
एकदा दिग्जये राजा रावणो लोकरावणः ।
प्रविशन् सुतले येन भक्तानुग्रहकारिणा ॥
पादाङ्गुष्ठेन प्रक्षिप्तो योजनायुतमत्र हि ॥
एवम्भूतानुभावोऽयं बलिः सर्व्वसुखैकभुक् ।
आस्ते सुतलराज्यस्थो देवदेवप्रसादतः ॥")

सुतवल्करा, स्त्री, (सुताः वल्कराः पक्षिण इव बहुत्वात् यस्याः ।) सप्तपुत्त्रप्रसूः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सुतश्रेणी, स्त्री, (सुता उत्पन्ना श्रेणी यस्याः । एकत्र बहुजातत्वात् तथात्वम् ।) मूषिकपर्णी । इत्यमरः । २ । ४ । ८८ ॥ उन्दुरविलोया इति हिन्दी भाषा । तत्पर्य्यायः । द्रवन्ती २ न्यग्रोधी ३ मूषिकाङ्कया ४ चित्रा ५ मूषककर्णी ६ प्रत्यक्श्रेणी ७ शम्बरी ८ । अस्या गुणाः । चक्षुष्यत्वम् । कटुत्वम् । आखुविषव्रणदोषनेत्रामयनाशित्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥ पुस्तकान्तरे स्रुतश्रेणीति च पाठः ॥

सुतहिबुकयोगः, पुं, विवाहोक्तयोगविशेषः । यथा, ज्योतिःसारसंग्रहे ।
"सुतहिबुकवियद्विलग्नधर्म्मे-
ष्वमरगुरुर्यदि दानवार्च्चितो वा ।
यदशुभमुपयाति तच्छुभं स्यात्
शुभमतिवृद्धिमुपैति तत्प्रभावात् ॥"
अपि च ज्योतिस्तत्त्वे ।
"लग्ने तत्पञ्चमे तूर्य्ये नवमे दशमे तथा ।
गुरुर्भृगुर्व्वा दोषघ्नो विवाहे वर्द्धते शुभम् ॥"
अयमेव सुतहिबुकयोगः ॥

सुता, स्त्री, (सूयते स्म या । सु + क्तः । टाप् ।) स्त्र्यपत्यम् । कन्या । इति मेदिनी ॥ यथा,—
"आत्मजस्तनयः सूनुः सुतः पुत्त्रः स्त्रियां त्वमी ।
आहुर्दुहितरं सर्व्वे————॥"
इत्यमरः । २ । ६ । २७-२८ ॥
"अमी आत्मजाद्याः स्त्रियां वर्त्तमाना दुहितरमाहुः । यथा । आत्मजा । तनया । सूनोः प्रत्ययान्तराभावात् स्त्रियामपि सूनुरेव । सुता । पुत्त्रा । स्वार्थे के केऽकस्य इति ह्रस्वत्वे देयसूतपुत्त्रेत्यादिना विभाषया अत इति पुत्त्रिका पुत्त्रका च । शोनादिपाठात् पुत्त्री च । मा भैषीः पुत्त्रि सीतेति महानाटकम् ।" इति तट्टीकायां भरतः ॥ (यथा, भट्टिः । २ । ४७ ।
"हिरण्मयी शाललतेव जङ्गमा
च्युतादिव स्थास्नुरिवाचिरप्रभा ।
शशाङ्ककान्तेरधिदेवताकृतिः
सुता ददे तस्य सुताय मैथिली ॥")
दुरालभा । इति शब्दचन्द्रिका ॥

सुतात्मजः, पुं, (सुतस्य सुताया वा आत्मजः ।) पौत्त्रः । दौहित्त्रः । इति सुतात्मजाशब्ददर्शनात् ॥

सुतात्मजा, स्त्री, (सुतस्य सुताया वा आत्मजा ।) पौत्त्री । दौहित्त्री । इत्यमरः । २ । ६ । २६ ॥

सुतारका, स्त्री, (शोभने तारके यस्याः ।) चतुर्व्विंशतिबुद्धशासनदेवतान्तर्गतदेवताविशेषः । इति हेमचन्द्रः ॥ शोभनतारकायुक्ते, त्रि ॥

सुतिक्तः, पुं, (सुष्ठु तिक्तः ।) पर्प्पटः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुतिक्तकः, पुं, (सुष्ठु तिक्तः । ततः कन् ।) पारिभद्रः । इति जटाधरः ॥ भूनिम्बः । इति शब्दरत्नावली ॥

सुतिक्ता, स्त्री, (सुष्ठु तिक्ता ।) कोषातकी । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुतीः, त्रि, पुत्त्रेच्छुः । पुत्त्रवदाचरणकर्त्ता । इति मुग्धबोधव्याकरणम् ॥

सुती, [न्] त्रि, (सुतमस्यास्तीति । इनिः ।) सुतविशिष्टः । यथा, हितोपदेशे ।
"गुणिगणगणनारम्भे
न पतति कठिनी ससम्भ्रमात् यस्य ।
तेनाम्बा यदि सुतिनी
वद वन्ध्या कीदृशी भवति ॥"

सुतीक्ष्णः, पुं, (सुष्ठु तीक्ष्णः ।) शोभाञ्जनः । इति जटाधरः ॥ श्वेतशिग्रुः । इति राजनिर्घण्टः ॥ मुनिविशेषः । यथा, भट्टौ ४ सर्गे ।
"पुरो रामस्य जुहवाञ्चकार ज्वलने वपुः ।
शरभङ्गः प्रदिश्यारात् सुतीक्ष्णमुनिकेतनम् ॥"
अतिशयखरे, त्रि ॥ (यथा, ऋतुसंहारे । ६ । २८ ।
"समदमधुकराणां कोकिलानाञ्च नादैः
कुसुमितसहकारैः कर्णिकारैश्च रम्यैः ।
इषुभिरिव सुतीक्ष्णैर्मानसं मानिनीनां
तुदति कुसुमबाणो मन्मथोद्दीपनाय ॥")

सुतुङ्गः, पुं, (सुष्ठु तुङ्गः ।) नारिकेलवृक्षः । इति हारावली । १०० ॥ ग्रहाणां उच्चांशविशेषः । तस्य नामान्तरं अन्त्यतुङ्गः । यथा, सत्कृत्यमुक्तावल्याम् ।
"सूर्य्यादुच्चान् क्रियवृषमृगस्त्रीकुलीरान्त्ययूके
दिग्वह्नीन्द्रद्वयतिथिशरान् सप्तविंशांश्च विंशान् ।
अंशानेतान् वदति यवनश्चान्त्यतुङ्गान् सुतुङ्गान्
तानेवांशान् मदनभवनेष्वाह नीचान् सुनीचान् ॥"
अतिशयोच्चे, त्रि ॥

सुतेजनः, पुं, (सुतेजयतीति । सु + तिज + ल्युः ।) धन्वनवृक्षः । इति भावप्रकाशः ॥ (तथास्य गुणाः ।
"धन्वङ्गः कफपित्तास्रकासहृत्तुवरो लघुः ।
वृंहणो बलकृद्रूक्षः सन्धिकृद्व्रणरोपणः ॥"
इति भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे प्रथमे भागे ॥)

सुतेजाः, [स्] पुं, (सुष्ठु तेजो यस्य । यद्वा, सुतेजयतीति । सु + तिज + "गतिकारकयोरिति ।" उणा० ४ । २२६ । इति असिः ।) अतीतकल्पीयार्हद्भेदः । इति हेमचन्द्रः । आदित्यभक्ता । इति राजनिर्घण्टः ॥ शोभनतेजोयुक्ते, त्रि ॥ (यथा, छान्दोग्योपनिषदि । ५।१२।१ ।
"एष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से ॥")

सुतैला, स्त्री, (सुष्ठु तैलमस्यामिति ।) महाज्योतिष्मती । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुत्रामा, [न्] पुं, (सु + त्रै + मनिन् ।) इन्द्रः । इत्यमरः । १।१।४५ ॥ सुष्ठु त्रायते भुवनं सुत्रामा आतुखिति मन् सोः पक्षे दीर्घत्वं सूत्रामा च । इति रुद्रः । इति भरतः ॥ (यथा, अम्बाष्टके । ३ ।
"यत्राशयो लगति तत्रागजा वसतु कुत्रापि निस्तुलशुका
सुत्रामकालमुखसत्राशनप्रकरसुत्राणकारिचरणा ॥"
वाच्यलिङ्गेऽपि दृश्यते । यथा, वाजसनेयसंहितायाम् । १० । ३१ ।
"इन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्व ।"
"सुष्ठु त्रायते इति सुत्रामा तस्मै सुत्राम्णे शोभनत्राणकर्त्रे सुत्रातत्राय वा इन्द्राय पच्यस्व ।" इति तद्भाष्यम् ॥)

सुत्वा, [न्] पुं, (सु+"सुयजोर्ङ्वनिप्।" ३।२। १०३। इति ङ्वनिप्।) अभिषवे कृती। इत्यमरः।२।७।४७॥ अभिषवः स्नानमात्रं इह तु प्रस्तावात् यज्ञाङ्गस्नानं तत् कृतवान् यः स सुत्वा कथ्यते। सुनः क्वनिप् तन् सुत्वा करोतीति अधीतिवत्। कृते इति पाठे सप्तमी। इति भरतः॥

सुद, द प्रीभे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-पर०-अक०-सेट्।) सुन्दरम्। इति दुर्गादासः॥ बोवधातुरयम्॥

सुदग्धिका, स्त्री (सुष्ठु दग्धं दाहोऽस्यस्या इति। सुदग्ध+ठन्।) दग्धानामवृक्षः। इति राजनिर्घण्टः॥

सुदण्डः, पुं, (शोभनो दण्डो यस्मात्।) वेत्रः। इति राजनिर्घण्टः॥

सुदण्डिका, स्त्री, गोरक्षी। इति राजनिर्घण्टः॥

सुदत्, [त्] त्रि, (शोभना दन्ता यस्य। "वयसि दन्तस्य दतृ।" ५।४।१४१। इति दतृ।) शोभनदन्तविशिष्टः। (स्त्रियां ङीप्। यथा, रघुः।६।३७।

"विधाय सृष्टिं ललितां विधातु-
र्जगाद भूयः सुदतीं सुनन्दा॥"

शोभनो दत् दन्तः इति विग्रहे सुदत् इत्येव स्यात्। शोभनदन्तः। यथा, भागवते।३।२३।३२।

"सुभ्रुवा सुदता सुस्निग्धापाङ्गेन चक्षुषा।
पद्मकोशस्पृधा नीलैरलकैश्च लसन्मुखम्॥")

सुदन्तः, पुं, (शोभनो दन्तो यस्य। वयोगम्यमानाभावात् न दत्रादेशः।) नटः। इति केचित्॥ शोभनदन्तश्च॥

सुदन्ती, स्त्री, (शोभनो दन्तो यस्याः। ङीप्। वयोगम्यमानाभावात् न दत्रादेशः।) दिक्करिणीविशेषः। शुभदन्तीशब्ददर्शनादिति केचित्॥

सुदर्भा, स्त्री, (सुष्ठु दर्भो यत्र।) इक्षुदर्भा। इति राजनिर्घण्टः॥ शोभनकुशयुक्ते, त्रि॥

सुदर्शं, क्ली, (सुष्ठु दृश्यते इति। सु+दृश्+ल्युट्। शोभनं दर्शनमस्येति वा।) इन्द्रनगरम्। इति मेदिनी॥

सुदर्शनः, पुं, क्ली, (शोभनं दर्शनमस्येति।) विष्णुचक्रम्। इत्यमरः।१।१।२६। तस्योत्पत्तिर्यथा,—

"तस्मात् प्रसादं कुरु मे यद्यनुग्राह्यभागहम्।
अपनेष्यामि ते तेजः कृत्वा यन्त्रे दिवाकर॥
रूपं तव करिष्यामि लोकानन्दकरं प्रभो।
तथेत्युक्तः स रविणा भ्रमौ कृत्वा दिवाकरम्॥
पृथक् चकार तत्तेजश्चक्रं विष्णोरकल्पयत्।
त्रिशूलञ्चापि रुद्रस्य वज्रमिन्द्रस्य चाधिकम्।
दैत्यदानवसंहर्त्तुः सहस्रकिरणात्मकम्॥"

इति मात्स्ये।११।२७-३०॥ *॥

अपि च पाद्मोत्तरखण्डे १४५ अध्याये।

ईश्वर उवाच।

"नाशमेभिर्न्नैवायाति जाः शस्त्रास्त्रैर्वध्यते मया।
देवाश्च स्वतेजांसि शस्त्रार्थं दीयतां मम॥

नारद उवाच।

अथ विष्णुमुखा देवाः स्वतेजांसि ददुस्तथा।
तान्येकं वै गतानीशो दृष्ट्वा स्वयमुच्चकैः॥
तेनाकरोन्महादेवः सहसा शस्त्रमुत्तमम्।
चक्रं सुदर्शनं नाम ज्वालामालातिभीषणम्।
तेजःशेषेण च तथा वज्रञ्च कृतवान् हरः॥"

तच्च शिवेन विष्णवे दत्तम्। यथा,—

"ततः प्रीतः प्रभुः प्रादात् विष्णवे प्रवरं वरम्।
प्रत्यक्षं तैजसं श्रीमान् दिव्यं चक्रं सुदर्शनम्॥
तद्दत्त्वा देवदेवाय सर्व्वभूतभयप्रदम्।
कालचक्रनिभं चक्रं शङ्करो विष्णुमब्रवीत्॥
वरायुधोऽयं देवेश सर्व्वायुधनिवर्हणः।
सुदर्शनो द्वादशारो यो मनःसदृशो जवी॥
आरात् स्थिता अमी चात्र देवा मासाश्च राशयः।
शिष्टानां रक्षणार्थाय संस्थिता ऋतवस्तु षट्॥
अग्निः सोमस्तथा मित्रो वरुणश्च प्रजापतिः।
इन्द्राग्नी चाप्यथो विश्वे प्रजापतय एव च॥
हनूमांश्चाथ बलवान् देवो धन्वन्तरिस्तथा।
तपांस्येव तापसश्च द्वादशैते प्रतिष्ठिताः॥
चैत्राद्याः फाल्गुनान्ताश्च मासास्तत्र प्रतिष्ठिताः॥
त्वमेवमादाय विभो वरायुधं
प्रशु सुराणां जहि मा विशङ्किथाः।
अमोघ एषोऽमरराजपूजितो
धृतो मया देहगतस्तपोबलात्॥"

इति वामने ७८ अध्यायः॥ *॥

वैष्णवाङ्गे तच्चिह्नधारणविधिः यथा। स्कन्दे।

"कृत्वा धातुमयीं मुद्रां तापयित्वा स्वकां तनुम्।
चक्रादिचिह्नितां भूप धारयेद्वैष्णवो नरः॥"

नारदीयपञ्चरात्रे।

"द्वादशारन्तु षट्कोणं वलयत्रयसंयुतम्।
हरेः सुदर्शनं तप्तं धारयेत्तद्विचक्षणः॥"

इति श्रीहरिभक्तिविलासे १५ विलासः॥

अन्यत् सुदाशब्दे द्रष्टव्यम्॥*॥ श्रीमन्दिरोपरि देयतच्चक्रप्रमाणं यथा,—

"बिम्बार्द्धमानं चक्रन्तु त्रिभागेणाथ कारयेत्।
द्वात्रिंशदङ्गुलं ज्येष्ठं कनिष्ठं षड्ढानितः॥
प्रतिमातुर्य्यभागेन कारयेद्वा सुदर्शनम्।
लौहजं शैलजं वापि कारयेच्छिल्पपूर्व्वकम्॥
अष्टारं द्वादशारं वा मध्ये मूर्त्तिसमन्वितम्।
नारसिंहेन रौद्रेण विश्वरूपेण वा पुनः॥"

इत्यादि॥ *॥

"अधिवास्य विधानेन चक्रं दण्डं ध्वजं तथा।
देववत् सकलं कृत्वा मण्डपस्नपनादिकम्॥
नेत्रोन्मीलनकं कृत्वा पूर्व्वोक्तं सर्व्वमाचरेत्।
अधिवासयेत विधिना शय्यायां प्राप्य देशिकः॥
ततः सहस्रशीर्षेति सूक्तं चक्रे न्यसेद्बुधः।
तथा सौदर्शनं मन्त्रं मनस्तत्त्वं निवेशयेत्॥
मनोऽनुरूपेणास्येव सजीवकरणं स्मृतम्।
आरेषु मूर्त्तयो न्यस्याः केशवाद्याः सुरोत्तमाः॥
नाभ्यग्रप्रतिनेमीषु न्यसेत्तत्त्वानि देशिकः।
नारसिंहं विश्वरूपमध्यमध्ये निवेशयेत्॥
सकलं विन्यसेद्दण्डे स्वात्मानं सजीवकम्।
निष्कलं परमात्मानं ध्वजे ध्यायन् न्यसेद्धरिम्॥
तच्छक्तिं व्यापिनीं ध्यायेत् ध्वजरूपाचलाननाम्।
ततो मण्डपमध्ये तु स्नाप्य पूज्य यथाविधि॥
पूर्व्वोक्तेन विधानेन होमं कुण्डेषु कारयेत्॥
ततः प्रभातसमये मूर्त्तिपैः सह देशिकः।
मूर्त्तिपः आचार्य्यः।
कलसे स्वर्णशकलं न्यस्त्वा रत्नानि पञ्च च।
स्थापयेच्चक्रमन्त्रेण स्वर्णचक्रमधस्ततः॥
पारदेन तु संप्लाव्य नेत्रपट्टेन स्थापयेत्।
ततो निवेशयेच्चक्रं द्वादशारं सुदर्शनम्॥
दुर्निरीक्ष्यं सुरैर्दैत्यैर्ज्वलद्वह्निस्फुलिङ्गकम्।
तन्मध्ये चिन्तयेद्देवं नृसिंहं दैत्यनिर्द्दलम्॥
स्फुरत्सौदामिनीजिह्वं ज्वलज्ज्वलनकेशरम्।
दीप्तार्कनयनं चन्द्रकोटिभास्वरदंष्ट्रिणम्॥
तप्तस्य तपनीयस्य सदृशं मरुणाननम्।
सर्व्वदुःखहरं देवं दुर्दर्शं देवदानवैः॥
सर्व्ववर्णान्तबीजेन चतुर्द्दशयुतेन च।
बिन्दुनालङ्कृतेनादौ प्रणवेन युतेन च।
अन्ते प्रणतियुक्तेन स्थापयेद्दृढनाशनम्॥"

इति श्रीहरिभक्तिविलासे १६ विलासः॥ *॥

चक्रमन्त्रो यथा। ॐ नमो भगवते सुदर्शनाय निर्णाशितसकलरिपुध्वजाय भगवन्नारायणकराम्भोरुहसंस्पर्शदुर्ल्ललिताय।

"एह्येहि त्वं सहस्रार चक्रराज सुदर्शन।
यज्ञभागं प्रगृह्णस्व पूजाञ्चैव नमो नमः॥"

इति च तत्रैव १५ विलासः॥

सुमेरुः। जम्बूवृक्षः। इति मेदिनी॥ (यथा, मात्स्ये।११३।७४—७५।

"सुदर्शनो नाम महान् जम्बूवृक्षः सनातनः।
नित्यपुष्पफलोपेतः सिद्धचारणसेवितः॥
तस्य नाम्ना समाख्यातो जम्बूद्वीपो वनस्पतेः।
योजनानां सहस्रञ्च शतधा च महान् पुनः॥
उत्सेधो वृक्षराजस्य दिवमावृत्य तिष्ठति॥")

वृक्षार्हत्पिता। जिनानां बलदेवः। इति हेमचन्द्रः॥ (मत्स्यः। तत्पर्य्यायो यथा,—

"मत्स्यो मीनो विसारश्च झषो वैसारिणोऽण्डजः।
शकुली पृथुरोमा च स सुदर्शन इत्यपि।
रोहिताद्यास्तु ये जीवास्ते मत्स्याः परिकीर्त्तिताः॥"

इति भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे द्वितीये भागे॥)

सुदर्शनः, त्रि, सुदृश्यः। सुखेन दृश्यते असौ इति सुपूर्व्वकदृशधातोः कर्म्मण्यनप्रत्ययेन निष्पन्नः। इति मुग्धबोधटीकायां दुर्गादासः॥ (शोभनं दर्शनं यस्येति वा। यथा, भागवते।४।२४।५१।

"श्यामश्रोण्यधिरोचिष्णुदुकूलस्वर्णमेखलम्।
समपार्श्वाङ्घ्रिजङ्घोरु निम्नजानुसुदर्शनम्॥"

सुदर्शनचूर्णं, क्ली, (सुदर्शनं सुदृश्यं चूर्णं यस्य ।) ज्वररोगस्य औषधविशेषः । यथा,—

"त्रिफला रजनीयुग्मं कण्टकारीयुगं शटी ।
त्रिकटु ग्रन्थिकं मूर्व्वा गुडूची धन्वयासकः ॥
कटुका पर्पटो मुस्तं त्रायमाणा च वालु-
कम् ।
निम्बं पुष्करमूलञ्च मधुयष्टी च वत्सकः ॥
यवानीन्द्रयवो भार्गी शिग्रुवीजं सुराष्ट्रजा ।
वचा त्वक् पद्मकोशीरचन्दनातिविषाबलाः ॥
शालिपर्णी पृश्निपर्णी विड़ङ्गं तगरं तथा ।
चित्रकं देवकाष्ठञ्च चव्यं पत्रं पटोलजम् ॥
जीवकर्षभकौ चैव लवङ्गं वंशलोचना ।
पुण्डरीकञ्च काकोलिपत्रकं जातिपत्रकम् ॥
तालीशपत्रमेतानि समभागानि चूर्णयेत् ।
अर्द्धांशं सर्व्वचूर्णस्य किरातं प्रक्षिपेत् सुधीः ॥
एतत् सुदर्शनं नाम चूर्णं दोषत्रयापहम् ।
ज्वरांश्च निखिलान् हन्यान्नात्र कार्य्या विचा-
रणा ॥
पृथग्द्वन्द्वागन्तुजांश्च धातुस्थान् विषमज्वरान् ।
सन्निपातोद्भवांश्चापि मानसानपि नाशयेत् ॥
शीतादीनपि दाहादीन् मोहं तन्द्रां भ्रमं
तृषाम् ।
कासं श्वासञ्च पाण्डुञ्च हृद्रोगं कामलामपि च ॥
त्रिकपृष्ठकटीजानुपार्श्वशूलञ्च नाशयेत् ।
शीताम्बुना पिबेदेतत् सर्व्वज्वरनिवृत्तये ॥
सुदर्शनं यथा चक्रं दानवानां विनाशनम् ।
तद्वज्ज्वराणां सर्व्वेषां चूर्णमेतत् प्रणाशनम् ॥"*॥

पुष्करमूलाभावे कुष्ठमपि दद्यात् । भार्ग्यभावे कण्टकारीमूलम् । सौराष्ट्राभावे स्फुटिकां दद्यात् । तगरालाभे कुष्ठं देयम् । जीवकर्षभयोरभावे विदारीकन्दस्य भागद्वयं दद्यात् । पुण्डरीकं श्वेतकमलम् । काकोल्यभावे अश्वगन्धामूलं दद्यात् । तालीशपत्रकाभावे स्वर्णताली प्रदीयते इति । अथवा कण्टकारीजटा देया । इति भावप्रकाशः ॥

सुदर्शनद्वीपं, क्ली, (सुदर्शनस्य तन्नाम्ना प्रसिद्धस्य जम्बूवृक्षस्य द्वीपम् ।) जम्बूद्वीपम् । इति पुराणम् ॥

सुदर्शना, स्त्री, (सुखेन दृश्यतेऽसौ । सु+दृश+भाषायां शासियुधीति युच् । टाप् ।) सुदर्शनवृक्षः । सुदर्शनगुलञ्च इति पद्मगुलञ्च इति च ख्यातः । तत्पर्य्यायः । चक्राङ्गा २ वृषकर्णी ३ दधमनी ४ । इति रत्नमाला ॥ सोमवल्ली ५ मधुपर्णिका ६ चक्राङ्का ७ । अस्या गुणाः । स्वादुत्वम् । उष्णत्वम् । कफशोफास्रवातनाशित्वञ्च । इति भावप्रकाशः ॥ विषनाशित्वम् । इति राजवल्लभः ॥ आज्ञा । ओषधिविशेषः । इति विश्वमेदिन्यौ ॥

सुदर्शनी, स्त्री, (सुष्ठु दर्शनं यस्याः । ङीप् ।) अमरावती । इति विश्वः ॥

सुदलः, पुं, (सुष्ठु दलमस्य ।) क्षीरमोरटा । इति रत्नमाला ॥

सुदला, स्त्री, (सुष्ठु दलान्यस्याः ।) शालपर्णी । तरुणी । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुदान्तः, पुं, (सुष्ठु दान्तः ।) शाक्यमुनिशिष्यविशेषः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ (अतिशयशान्ते, त्रि । यथा, महाभारते ।१।३८।१२ ।

"सुदान्तानपि चैवाहं दद्यामष्टादशापरान् ॥")

सुदामा, [न्] पुं, (सुष्ठु ददातीति । दा+ "आतो मनिन्क्वनिप्वनिपश्च ।"३ । २ । ७४ । इति मनिन् ।) मेघः । पर्व्वतः । इति मेदिनी ॥ गोपभेदः । समुद्रः । इति शब्दरत्नावली ॥ ऐरावतः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ श्रीकृष्णशरणागत-विप्रविशेषः । यथा, ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे ११२ अध्याये ।

"सद्यो जहार दारिद्र्यं सुदाम्नो ब्राह्मणस्य च ।
समागतस्य स्वगृहात् द्वारकां शरणार्थिनः ॥"

सुदामा, [न्] त्रि, (सु+दा+मनिन् ।) सुदाता । सुष्ठु ददातीत्यर्थे मन्प्रत्ययेन निष्पन्नः । इति मुग्धबोधव्याकरणम् ॥

सुदामा, स्त्री, नदीविशेषः । यथा, वाल्मीकीये रामायणे अयोध्याकाण्डे ७० सर्गे ।

"स प्राङ्मुखो राजगृहादभिनिर्याय वीर्य्यवान् ।
ततः सुदामां द्युतिमान् सन्तीर्य्यावेक्ष्य तां
नदीम् ॥"

सुदायः, पुं, (सुष्ठु दीयते इति । सु+दा+घञ् । युगागमः ।) देययौतकादि । इत्यमरः । २ । ८ । २८ ॥ यथा । यौतकं आदिना उपनयनभिक्षाप्रसादादि च यत् देयं तत् दायहरणपदवाच्यम् । कन्यादानकाले आमात्यादिभ्यो व्रतभिक्षादौ ब्राह्मणादिभ्यश्च यद्द्रव्यं दीयते तत्र दायादिद्वयमित्यर्थः । युतकं योनिसम्बन्धः तत्र भवमिति वा यौतकम् । युतयोर्व्वधूवरयोरिदमिति वा कश्चि यौतकम् । यौतुकमुकारमध्यमपि । यौतकं यौतुकञ्च तत् । इति वाचस्पतिः ॥ दीयते दायः कर्म्मणि घञ् सुष्ठु दीयते सुदाय इति पाठ इत्यन्ये । इति भरतः ॥ पितृमातृभर्तृकुलसम्बन्धी । यथा,—

"सुदायेभ्यः पितृमातृभर्तृकुलसम्बन्धिभ्यो लब्धं सौदायिकम् ।" इति दायतत्त्वम् ॥

सुदारुः, पुं, (सुष्ठु दारु यत्र ।) पारियात्रपर्व्वतः । तत्पर्य्यायः । पारियात्रिकः २ । इति हेमचन्द्रः ॥

सुदि, अ, शुक्लपक्षः । इति पश्चिमदेशे प्रसिद्धः ॥

सुदिनं, क्ली, (सुष्ठु दिनम् ।) शुभदिवसः । यथा, ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे । ४३ । ४८ ; ५१ ।

"सुदिनं दुर्द्दिनं शश्वत् भ्रमत्येवं भवे भव ।
सर्व्वेषां प्राकृतानाञ्च द्वे बीजे सुखदुःखयोः ॥
सुदिनं दुर्द्दिनञ्चैव सर्व्वं कर्म्मोद्भवं भव ।
तत्कर्म्म तपसा साध्यं कर्म्मणाञ्च शुभाशुभम् ॥"

सुदिनाहं, क्ली, (सुदिनेषु शुभदिनेषु अहः शुभदिनम् । यद्वा, सुदिनं प्रशस्तमहः । टच् समासे ।) प्रशस्तदिनम् । यथा । उत्तमैकाभ्याञ्च । आभ्यामह्नादेशो न । उत्तमशब्दः अन्त्यार्थः पुण्यशब्दमाह । पुण्यैकाभ्यामित्येव सूत्रयितुमुचितम् । पुण्याहम् । सुदिनाहम् । सुदिनशब्दः प्रशस्तवाची । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥

सुदीर्घः, त्रि, (सुष्ठु दीर्घः ।) अतिविस्तारः । यथा,—

"विवाह्य श्रोत्रियैर्भुक्तं राज्ञामाढ्यैस्तथैव च ।
सुदीर्घेणापि कालेन तेषां तत्तु न सिध्यति ॥"
इति व्यवहारतत्त्वम् ॥

सुदीर्घघर्म्मा, स्त्री, (सुदीर्घः अतिशयः घर्म्मो यस्याः ।) असनपर्णी । इति शब्दचन्द्रिका ॥

सुदीर्घफलिका, स्त्री, (सुदीर्घं फलं यस्याः । कप् । टापि अत इत्वम् ।) वार्त्ताकुविशेषः । इति रत्नमाला ॥ शिङ्गा वेगुन इति भाषा ॥

सुदीर्घा, स्त्री, (सुष्ठु दीर्घा ।) चीनाकर्कटी । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुदुःखितः, त्रि, (सुष्ठु दुःखितः ।) अतिशयव्यथितः । यथा । ज्योतिस्तत्त्वे भीमपराक्रमवचनम् ।

"विशाखादौ त्रिके चित्रे ज्येष्ठायां ज्वलने यमे ।
एभिर्व्विवाहिता कन्या भवत्येव सुदुःखिता ॥"

सुदुर्लभः, त्रि, (सु+दुर्+लभ+खल् ।) अतिदुष्प्राप्यः । यथा,—

"ब्रह्मत्वादपि देवत्वादिन्द्रत्वादमरादपि ।
अमृतात् सिद्धिलाभाच्च हरिदास्यं सुदुर्लभम् ॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे ६७ अध्यायः ॥

सुदुश्चरः, त्रि, (सु+दुर्+चर+खल् ।) अतिशयदुःखेनाचरणीयः । यथा, श्रीभागवते ११ । २९ । १ ।

"सुदुश्चरामिमां मन्ये योगचर्य्यामनात्मनः ।
यथाञ्जसा पुमान् सिध्येत् तन्मे ब्रूह्यञ्जसाच्युत ॥"
(कार्त्तिकेये, पुं । यथा, महाभारते । ३ । २३१ । ७ ।

"शम्भुर्नेता विशाखश्च नैगमेयः सुदुश्चरः ॥")

सुदुष्करः, त्रि, (सु+दुर्+कृ+खल् ।) अत्यन्तक्लेशकरः । यथा, श्रीभागवते । ४ । ८ । ६६ ।

"सुदुष्करं कर्म्म कृत्वा लोकपालैरपि प्रभुः ।
एष्यत्यचिरतो राजन् यशो विपुलयंस्तव ॥"

सुदुस्तरः, त्रि, (सु+दुर्+तॄ+खल् ।) अतिदुःखेन तरणीयः । यथा, श्रीभागवते । १० । २ । ३१ ।

"स्वयं समुत्तीर्य्य सुदुस्तरं द्युमन्
भवार्णवं भीममदभ्रसौहृदाः ।
भवत्पदाम्भोरुहनावमत्र ते
निधाय याताः सदनुग्रहो भवान् ॥"

सुदुस्त्यजः, त्रि, (सु+दुर्+त्यज+खल् ।) अतिदुःखेन त्याज्यः । यथा,—

"त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं
धर्म्मिष्ठ आर्य्यवचसा यदगादरण्यम् ।
मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधाव-
द्वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥"
इत्याह्निकतत्त्वधृतश्रीभागवतवचनम् ॥

सुदूरः, त्रि, (सुष्ठु दूरः।) अतिदूरतरः। तत्पर्य्यायः। दवीयान् २ दविष्ठः ३। इत्यमरः। ३।१।६८॥

सुदूरपराहतः, त्रि, (सुदूरे पराहतः निराकृतः।) अतिदूरनिराकृतः। चिरध्वस्तः। यथा। "अननुगमेन तत्तज्जातिघटितलक्षणासम्भवात् लक्षणानुपपत्तिरूपयुक्तिः सुदूरपराहतत्वात् इति भाववर्णनं अनुपादेयमेव।" इत्यवयवग्रन्थगादाधरी॥

सुदृक्, [श्] त्रि, (सुष्ठु दृक् नेत्रं यस्य।) सुन्दरचक्षुर्युक्तः। यथा, श्रीभागवते। १०।३०।२७।
"भीता सुदृक् पिधायास्यं भेजे भीतिविडम्बनम्॥"
"सुदृक् सुनयनं आस्यं पिधाय। सुदृक् वराकीति वा। भीतिविडम्बनं भयानुकरणम्।" इति श्रीधरस्वामी॥ शोभनचक्षुषि, स्त्री॥

सुदृढ़ं, क्ली, (सुष्ठु दृढ़म्।) गाढ़म्। तद्वति, त्रि। इति शब्दरत्नावली॥

सुद्युम्नः, पुं, वैवस्वतमनुपुत्त्रः। स तु इड़राजः। यथा, वह्निपुराणे सागरोपाख्याननामाध्याये।
"जलक्रीड़ागतो यत्र पार्व्वत्या सहितो हरः।
स्त्रीरूपधारिभिर्व्याप्तस्तत्र स हिमवद्गिरौ॥
ततोऽविशदिड़स्तत्र मृगयाक्षिप्तचेतनः।
बभूव नृपतिः सद्यः सानुयात्रबलान्वितः॥
इदं स्त्रीलिङ्गमापन्नः प्रतिभ्रमति कानने।
ततो बुधाश्रमं प्रायादिड़ारूपाश्रया सती॥
बुधेनान्तरमासाद्य मैथुनायोपमन्त्रिता।
सोमपुत्त्राद्बुधाद्राजन् तस्या जज्ञे पुरूरवाः॥
जनयित्वा पुनः सा तं पुनः सुद्युम्नतां गता।
प्रसादात् शङ्करस्यापि बुधेनाराधितस्य च॥
सुद्युम्नस्य तु दायादः सर्व्वः परधार्म्मिकः॥"

सुधन्वा, [न्] त्रि, (सुष्ठु धनुर्यस्य। धनुषश्चेत्यनङ्।) प्रौढ़धानुष्कः। इति मेदिनी॥ (यथा, वाजसनेयसंहितायाम्। १६।३६।
"नमस्तीक्ष्णेषवे चायुधिने च नमः स्वायुधाय च सुधन्वने॥")

सुधन्वा, [न्] पुं, (सुष्ठु धनुर्यस्य।) विश्वकर्म्मा। इति मेदिनी॥ राजविशेषः। इति पुराणम्॥ (यथा, हरिवंशे। १२।१०।
"सम्भूतस्य च दायादः सुधन्वा रिपुमर्द्दनः।
सुधन्वनः सुतश्चासीत् त्रिधन्वा नाम पार्थिवः॥"
विदुरः। यथा, भागवते। ३।२१।३५।
"तस्मिन् सुधन्वन्नहनि भगवान् यत् समादिशत्।
उपायादाश्रमपदं मुनेः शान्तव्रतस्य तत्॥")

सुधन्वाचार्य्यः, पुं, व्रात्यवैश्यात् सवर्णायां जातो जातिविशेषः। यथा,—
"वैश्यात्तु जायते व्रात्यात् सुधन्वाचार्य्य एव च।
कारुषश्च विजन्मा च मैत्रः सात्वत एव च॥"
इति मानवे १० अध्यायः॥

सुधर्म्मः, पुं, जिनगणाधिपविशेषः। इति हेमचन्द्रः॥

सुधर्म्मा, स्त्री, (शोभनो धर्म्मोऽस्यामिति। अनिच्। ततः "डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम्।" ४।१।१३। इति पक्षे डाप्।) देवसभा। इत्यमरः। १।१।५२॥ (यथा, रघुः। १७।२७।
"स राजककुदव्यग्रपाणिभिः पार्श्ववर्त्तिभिः।
ययावुदीरितालोकः सुधर्म्मानवमां सभाम्॥"
"सुधर्म्माया देवसभाया अनवमां अन्यूनाम्।" इति तट्टीकायां मल्लिनाथः॥)

सुधर्म्मा, [न्] पुं, (सुष्ठु धर्म्मो यस्य। "धर्म्मादनिच् केवलात्।" ५।४।१२४। इति अनिच्।) देवसभा। कुटुम्बी। इत्युणादिकोषः। २।१८७॥ (देवसभार्थे स्त्रीलिङ्गोऽपि भवति॥*॥ सु + धृ + "मिथुने मनिः।" उणा० ४।१५१। इति मनिः।) क्षत्त्रियः। इत्युज्ज्वलदत्तः॥ सद्धर्म्मविशिष्टे, त्रि। यथा, हरिवंशे। ११५।७५।
"सुधर्म्मणे सुधर्म्मां तां क्षत्त्रायाक्लिष्टकारिणे।
देवी देवसभां दत्त्वा वायुरन्तरधीयत॥")

सुधर्म्मी, स्त्री, देवसभा। इत्यमरटीका। १।१।५१॥

सुधा, स्त्री, (सुखेन धीयते पीयते इति। धे ट पाने + "आतश्चोपसर्गे।" ३।३।१०६। इत्यङ्। टाप्।) अमृतम्। इत्यमरः। १।१।५१॥ (यथा, रामायणे। २।६१।१३।
"न पश्चात्तेऽपि मन्यन्ते सुधामपि सुरोपमाः॥")
लेपनम्। (यथा, माघे। १२।६२।
"सैनासुधाक्षालितसौधसम्पदं
पुरीं बहूनां परभागमाप सा॥")
मूर्व्वा। स्नुही। (यथा,—
"सेहुण्डः सिंहतुण्डः स्याद्वज्री वज्रद्रुमोऽपि च।
सुधा समन्तदुग्धा च स्नुक् स्त्रियां स्यात् स्नुही गुड़ा॥"
इति भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे प्रथमे भागे॥)
गङ्गा। इष्टका। इति मेदिनी॥ विद्युत्। रसः। तोयम्। (यथा,—
"रसायनमिवर्षीणां देवानाममृतं यथा।
सुधेवोत्तमनागानां भैषज्यमिदमस्तु ते॥"
इति सुश्रुते सूत्रस्थाने ४३ अध्यायः॥)
धात्री। इति नानार्थध्वनिमञ्जरी॥ हरीतकी। मधु। इति शब्दचन्द्रिका॥ शालपर्णी। इति राजनिर्घण्टः॥

सुधांशुः, पुं, (सुधाशुक्ताः अंशवो यस्य।) चन्द्रः। इत्यमरः। १।३।१४॥ (यथा, कथासरित्सागरे। १०१।१२८।
"दीप्रदावानलशिखाः सुधांशोरपि रश्मयः।
तस्याः सुन्दरसेनोत्कचेतसो बत जज्ञिरे॥"
कर्पूरः। चन्द्रसंज्ञत्वात्।)

सुधांशुतैलं, क्ली, (सुधांशोः कर्पूरस्य तैलम्।) कर्पूरतैलम्। इति राजनिर्घण्टः॥

सुधांशुरत्नं, क्ली, (सुधांशुप्रियं रत्नम्।) मौक्तिकम्। इति राजनिर्घण्टः॥

सुधाकरः, पुं, (सुधाशुक्ताः करा यस्य।) चन्द्रः। इति शब्दरत्नावली॥ (यथा, आर्य्यासप्तशत्याम्। ११६।
"उल्लसितलाञ्छनोऽयं ज्योत्स्नावर्षी सुधाकरः स्फुरति।
आसक्तकृष्णचरणः प्रकट इव प्रकटितचौरः॥")

सुधाङ्गः, पुं, (सुधामयं अमृतात्मकमङ्गमस्य। सुधेव शुक्लमङ्गमस्येति वा।) चन्द्रः। इति त्रिकाण्डशेषः॥

सुधाजीवी, [न्] पुं, (सुधा + जीव + णिनिः।) सुधया लेपनेन जीवति यः। राज इति भाषा। तत्पर्य्यायः। पलगण्डः २ लेपकः ३। इति त्रिकाण्डशेषः॥

सुधाधारः, पुं, (सुधाया आधारः।) चन्द्रः। इति शब्दरत्नावली॥ अमृतपात्रञ्च॥

सुधानिधिः, पुं, (सुधाया निधिः।) चन्द्रः। इति शब्दरत्नावली॥

सुधापयः, [स्] क्ली, (सुधेव शुक्लं पयः निर्य्यासः।) स्नुहीक्षीरम्। इति केचित्॥

सुधापाणिः, पुं, (सुधा पाणौ यस्य।) धन्वन्तरिः। इति केचित्॥

सुधाभुक्, [ज्] पुं, (सुधां भुङ्क्ते इति। भुज + क्विप्।) देवः। इति हेमचन्द्रः॥

सुधाभृतिः, पुं, (सुधाया भृतिर्यस्मात्।) चन्द्रः। यज्ञः। इति सुद्राङ्कितमेदिनी॥ हस्तलिखितमेदिन्यां सुधासूतिरिति पाठः॥

सुधामयः, पुं, (सुधात्मकः इति। सुधा + मयट्।) भूपालभवनम्। इति शब्दरत्नावली॥ अमृतात्मके, त्रि। यथा, श्रीजयदेवे।
"रासोल्लासभरेण विभ्रमभृतामाभीरवामभ्रुवामभ्यर्णे परिरभ्य निर्भरमुरः प्रेमान्धया राधया। साधु त्वद्वदनं सुधामयमिति व्याहृत्य गीतस्तुतिव्याजादुद्भटचुम्बितः स्मितमनोहारी हरिः पातु वः॥"

सुधामोदकः, पुं, (सुधेव मोदयतीति। मुद + णिच् + ण्वुल्।) यवासशर्करा। इति राजनिर्घण्टः॥

सुधामोदकजः, पुं, (सुधामोदात् जायते इति। जन + डः।) तवराजोद्भवखण्डः। इति राजनिर्घण्टः॥

सुधावर्षी, [न्] पुं, (सुधां वर्षतीति। वृष + णिनि।) ब्रह्मा। इति शब्दरत्नावली॥ बुद्धभेदः। इति त्रिकाण्डशेषः॥

सुधावासः, पुं, (सुधाया आवासः।) चन्द्रः। यथा,
"ज्योत्स्नायाः पतये तुभ्यं ज्योतिषां पतये नमः।
नमस्ते रोहिणीकान्त सुधावास नमोऽस्तु ते॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम्॥
(त्रपुसम्। तत्पर्य्यायो यथा,—
"त्रपुसं कण्टकिफलं सुधावासः सुशीतलम्॥"
इति भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे प्रथमे भागे॥)

सुधावासा, स्त्री, (सुधाया वासो यत्र।) त्रपुषी। इति राजनिर्घण्टः॥

सुधासिन्धुः, पुं, (सुधायाः सिन्धुः।) अमृतसमुद्रः। यथा,—

"सुधासिन्धोर्मध्ये सुरविटपिवाटीपरिवृते
मणिद्वीपे नीपोपवनवति चिन्तामणिगृहे ।
शिवाकारे मञ्चे परमशिवपर्य्यङ्कनिलयां
भजन्ति त्वां धन्याः कतिचन चिदानन्दलह-
रीम् ॥"
इत्यानन्दलहरी ॥

सुधासूतिः, पुं, (सुधायाः सूतिरुत्पत्तिर्यत्र ।) यज्ञः । चन्द्रः । पद्मम् । इति शब्दरत्नावली ॥

सुधास्रवा, स्त्री, (स्रवतीति । सु + अच् । टाप् । सुधायाः स्रवा ।) प्रतिजिह्वा । अलिजिह्विका । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ रुदन्तीवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुधाहरः, पुं, (सुधां हरतीति । हृ + अच् । सुधाया हर इति वा ।) गरुडः । इति शब्दरत्नावली ॥

सुधाहृत्, पुं, (सुधां हरतीति । हृ + क्विप् ।) गरुडः । इति हेमचन्द्रः ॥

सुधितिः, पुं स्त्री, स्वधितिः । इत्यमरटीकायां रायमुकुटः ॥

सुधीः, पुं, (सु शोभना धीर्यस्य ।) पण्डितः । इत्यमरः । २ । ७ । ५ ॥

सुधीः, स्त्री, (शोभना धीः ।) सुन्दरबुद्धिः । सुबुधीः । इति मुग्धबोधव्याकरणम् ॥ (शोभना धीर्यस्य ।) शोभनबुद्धियुक्ते, त्रि ॥ (यथा, भट्टिः । १२ । ६ ।
"मात्रातिमात्रं शुभयैव बुद्ध्या
चिरं सुधीरभ्यधिकं समाधात् ॥")

सुधूम्यः, पुं, स्वादुनामगन्धद्रव्यम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुधोद्भवः, पुं, (सुधया सह उद्भवो यस्य ।) धन्वन्तरिः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सुधोद्भवा, स्त्री, (सुधाया उद्भवो यस्याः ।) हरीतकी । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ (हरीतकी-शब्देऽस्य विवरणं ज्ञेयम् ॥)

सुनन्दं, क्ली, (सुष्ठु नन्दयतीति । नन्द + अच् ।) बलभद्रस्य मुषलम् । इति शब्दमाला ॥ (कुजम्भ-दैत्यस्य मुषलम् । यथा, मार्कण्डेये । ११६ । १८ ।
"सुनन्दं नाम मुषलं त्वष्ट्रा यन्निर्म्मितं पुरा ।
तज्जहार स दुष्टात्मा तेन हन्ति रणे रिपून् ॥")
सुन्दरानन्दजनके, त्रि ॥

सुनन्दः, पुं, (सुष्ठु नन्दयतीति । नन्द + अच् ।) श्रीकृष्णस्य पार्षदविशेषः । यथा, श्रीभागवते १० । [illegible] । ५६ ।
"सुनन्दनन्दप्रमुखैः स्वपार्षदैः
चक्रादिभिर्मूर्त्तिधरैर्निजायुधैः ।
पुष्ट्या श्रिया कीर्त्त्यजयाखिलर्द्धिभि-
र्निषेव्यमाणं परमेष्ठिनां पतिम् ॥"
द्वादशविध-राजगृहान्तर्गतगृहविशेषः । यथा,
"यद्दृयत्रैवोच्यते मानं तस्य तेनैव कल्पना ।
राज्ञः स्वहस्तमेकन्तु दीर्घे सर्व्वत्र निःक्षिपेत् ॥
आयामेन सुनन्दः स्याद्राजहस्तैश्च पञ्चभिः ।
परिणाहे चतुर्भिश्च राजहस्तैः प्रतिष्ठितः ॥
अस्याधिदेवता भौमो रक्षतीदं वसुन्धरा ।
द्वाराणि विंशतिश्चास्य रक्तचित्राष्टतानि च ॥
रक्तपट्टावृतो गेहः सकलार्थप्रसाधकः ।
अत्र स्थित्वा महीपालः सुचिरं पाति मेदि-
नीम् ॥"
दीर्घः ५१ प्रस्थः ४० । इति सुनन्दः ॥ सुन्दरः इति च पाठः । इति युक्तिकल्पतरुः ॥

सुनन्दा, स्त्री, (सुष्ठु नन्दयति या । नन्द + अच् । टाप् ।) उमा । गोरोचना । इति मेदिनी ॥ नारी । इति विश्वः ॥ उमासखीभेदः । इति शब्दमाला ॥ (अजपत्न्या इन्दुमत्याः सखी द्वारपालिका । यथा, रघुः । ६ । २० ।
"ततो नृपाणां श्रुतवृत्तवंशा
पुंवत्प्रगल्भा प्रतिहाररक्षी ।
प्राक् सन्निकर्षं मगधेश्वरस्य
नीत्वा कुमारीमवदत् सुनन्दा ॥")
कर्कटपत्रीवृक्षः । इति रत्नमाला ॥ इषिरमूल इति भाषा ॥ (पुरुवंशीयसार्व्वभौमनृपतेः पत्नी । यथा, महाभारते । १ । ९५ । १६ ।
"सार्व्वभौमः खलु जित्वा जहार कैकेयीं सुनन्दां नाम तामुपयेमे । तस्यामस्य जज्ञे जयत्सेनो नाम ।" * ॥ दुष्मन्तपुत्त्रभरतस्य पत्नी । यथा, तत्रैव । १ । ९५ । ३२ ।
"भरतः खलु काशेयीमुपयेमे सार्व्वसेनीं सुनन्दां नाम । तस्यामस्य जज्ञे भुमन्युः ।" * ॥ चेदि-राजकन्या । यथा, तत्रैव । ३ । ६५ । ५० ।
"एवमुक्त्वा ततो भैमीं राजमाता विशाम्पते ।
उवाचेदं दुहितरं सुनन्दां नाम भारत ॥")

सुनयनः, पुं, (शोभने नयने यस्य ।) मृगः । इति शब्दचन्द्रिका ॥ शोभनचक्षुर्युक्ते, त्रि ॥ (यथा, रघुः । ९ । ५२ ।
"दद्दृशुरध्वनि तं वनदेवताः
सुनयनं नयनन्दितकोशलम् ॥")

सुनयना, स्त्री, (सु शोभने नयने यस्याः ।) नारी । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुनालकः, पुं, कपूरकः । इति शब्दचन्द्रिका ।

सुनाभः, पुं, (सुष्ठु नाभिरस्य । अच् समासे ।) मैनाकपर्व्वतः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ (यथा, महाभारते । ३ । १० । ३० ।
"इन्द्रकीलः सुनाभश्च तथा दिव्यौ च पर्व्वतौ ॥"
धृतराष्ट्रपुत्त्रविशेषः । यथा, तत्रैव ।१।११७।५।
"ऊर्णनाभः सुनाभश्च तथानन्दोपनन्दकौ ॥"
सुष्ठु नाभिश्चक्रमध्यमस्येति । सुदर्शनचक्रे, क्ली । यथा, भागवते । ३ । ३ । ६ ।
"सुतं मृधे खं वपुषा ग्रसन्तं
दृष्ट्वा सुनाभोन्मथितं धरित्र्या ।
आमन्त्रितस्तत्तनयाय शेषं
दत्त्वा तदन्तःपुरमाविवेश ॥"
वाच्यलिङ्गेऽपि दृश्यते । यथा, महाभारते । ३ । ३ । ४८ ।
"तत्तेजसा कृतं चक्रं सुनाभं विश्वकर्म्मणा ।
देवारीणां मदो येन नाशितः शार्ङ्गधन्वना ॥")

सुनामद्वादशी, स्त्री, (सुनामा द्वादशी । यद्वा, सुनामप्रिया द्वादशी ।) द्वादशमासीयद्वादशी-कर्त्तव्यव्रतविशेषः । यथा,—
अम्बरीष उवाच ।
"कथं सुनामभिर्देवो द्वादश्यां मुनिसत्तम ।
पूज्यते केशवो मर्त्त्यैर्भुक्तिकामफलार्थिभिः ॥
वशिष्ठ उवाच ।
शृणुष्वैकमना भूयः सुनामद्वादशीं शुभाम् ।
सर्व्वपापहरां स्वर्ग्यां भुक्तिमुक्तिप्रदायिकाम् ॥
मनसापि चिकीर्षन्ति ये द्वादशीं नरोत्तमाः ।
तेऽपि घोरं न पश्यन्ति पुनः संसारसागरम् ॥
आद्यं सर्व्वव्रतानान्तु वैष्णवानां नृपोत्तम ।
नरैः स्त्रीभिश्च कर्त्तव्यं विष्णोस्तुष्टिकरं परम् ॥ *
मार्गशीर्षे शुभे मासि शुक्लपक्षे यतव्रतः ।
प्रथमं चैव गृह्णीयात् द्वादशीं विधिवन्नरः ॥
मनोवाक्कायचेष्टाभिः स विशुद्धो जितेन्द्रियः ।
दशम्यां नियतः स्नात्वा प्रणिपत्य जनार्द्दनम् ॥
हविष्यान्नकृताहारः शुचिर्भूत्वा भवेद्व्रती ।
उपलिप्ते शुचौ देशे भक्षयेत् दन्तधावनम् ॥
उपोष्यैकादशीं सम्यक् पूजयित्वा जनार्द्दनम् ।
सुनामद्वादशीं देव अहं भोक्ष्ये परेऽहनि ॥
एवं सङ्कल्प्य नियमं प्रणम्य गरुडध्वजम् ।
दशम्यामेकभक्ताशी संयतः संवसेन्निशाम् ॥
एकादश्यां ततः कुर्य्यादेकचित्तः समाहितः ।
पूर्व्वं प्रपूजयेत् सूर्य्यं ततो देवं प्रपूजयेत् ॥
नमस्ते देवदेवेश नमस्ते भक्तवत्सल ।
भास्कराय नमस्तुभ्यं रवये कार्य्यभानवे ॥
नमः सूर्य्याय देवाय नमस्ते सप्तसप्तये ।
एकस्मै हि नमस्तुभ्यमेकचक्ररथाय च ॥
ज्योतिषां पतये नित्यं सर्व्वतेजोहराय च ।
दिवाकर नमस्तेऽस्तु प्रभाकर नमोऽस्तु ते ॥
एवं संपूज्य विधिवत् पुष्पधूपानुलेपनैः ।
दीपैर्व्वस्त्रैः सुनैवेद्यैस्ततो विष्णुगृहं व्रजेत् ॥
ततोऽनु स्नापयेद्देवं दधिक्षीरघृतादिभिः ।
सर्व्वौषधिजलैः पुण्यैस्तथा चन्दनवारिभिः ॥
कुङ्कुमोशीरकर्पूरैश्चन्दनेन विलेपयेत् ।
अच्युतं चार्च्चयेद्भक्त्या मालतीकुसुमैर्भृशम् ॥
गुग्गुलुं घृतसंयुक्तं धूपं दद्याद्धरेर्भृशम् ।
पायसापूपसंयावकरम्भाण्डकदम्बकैः ॥
नैवेद्यं हरये दद्यात् फलमोदकयान्वितैः ।
गीतवाद्यैर्हरेर्स्तोत्रैः प्रणमेच्च मुहुर्मुहुः ॥
एवं पूजां हरेः कृत्वा द्विजं ज्ञानप्रदायकम् ।
पूजयेदन्तरं नास्ति विप्रकेशवयोरपि ॥
ततोऽव्रणं समालभ्य चन्दनेन नवं घटम् ।
सुस्थिरं तोयसम्पूर्णं न्यसेद्देवस्य सन्निधौ ॥
सहेममौक्तिकाद्यन्तु वज्ररत्नसुवर्णकम् ।
न्यस्य गर्भे सवस्त्रन्तु पूजयेत्तत्र केशवम् ॥
यस्य रोम्णि स्थिता मेघाः सर्व्वसन्धिषु पन्नगाः ॥
सागराः कुक्षिदेशस्थाः सोऽव्यायात् जगत्पतिः ।
वनस्पतिरसो दिव्यः सर्व्वगन्धेषु चोत्तमः ।
घृतेन सहसोन्मिश्रो धूपोऽयं प्रतिगृह्यताम् ॥
केशवः केशिहा केशिकंसारिष्टनिसूदनः ।

सर्व्वकामप्रदो देव: स मे पापं व्यपोहतु ॥
एवमभ्यर्च्य देवेशं प्रणिपत्य क्षमापयेत् ।
द्वादश्यां तत्र तोयेन स्नापयेत्तेन मानव: ॥
सर्व्वपापविनिर्म्मुक्तो वैष्णवीं लभते तनुम् ।
कृताभिषेक: पुण्यात्मा सम्यगभ्यर्च्य केशवम् ॥
नवनीतकृतां धेनुं ब्राह्मणायोपपादयेत् ।
केशव: प्रीयतां देव: केशिहन्ता महाच्युत: ।
स मे भवेत्तु सुप्रीत: इष्टान् कामान् प्रयच्छतु ।
एवं प्रदक्षिणं कृत्वा शृणु तस्यापि यत् फलम् ॥
त्रिंशद्वर्षकृतं पापं हित्वा स त्रिविधं नर: ।
षष्टिं वर्षसहस्राणि स्वर्गे मोदति देववत् ॥
यदा कालादिहायाति सधर्म्मो धनवान् भवेत् ।
अभावादथ धेनूनां तत् पात्रं कल्पयेत्तत: ॥
तत्फलं हि विनिर्द्दिष्टं यथाशक्त्या तु दक्षिणा ।
भक्त्या फलं समाप्नोति भक्तिरेवात्र कारणम् ॥*
पौषस्यैव तु मासस्य योऽप्येवं स्नपयेन्नर: ।
समाहितमना भूप रसधेनुप्रदायक: ॥
आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनव: ।
अयनं वर्त्मनी तस्मात् नारायण इति स्मृत: ॥
नारायण: प्रीयतां मे देवो नरप्रिय: सदा ।
इष्टकामप्रदो नित्यं स मे पापं व्यपोहतु ॥
तत: प्रदक्षिणं कृत्वा ब्राह्मणान् भोजयेत्तत: ।
एवं हि पौषमासस्य तस्य पुण्यफलं शृणु ॥
षष्ट्या वार्द्धै: कृतं पापं स्वल्पं वा यदि वा बहु ।
हत्वा स्वर्गं समाप्नोति वर्षाणामयुतायुतम् ॥*॥
माघस्यैव तु मासस्य द्वादशीं शुक्लपक्षत: ।
य: क्षिपेद्धि शुचिर्भूत्वा एकचित्त: समाहित: ॥
स्नापने पूजने नित्यं ब्राह्मणानाञ्च तर्पणे ।
प्रदाने नृपशार्दूल इमं मन्त्रमुदीरयेत् ॥
मा लक्ष्मीश्च पुराज्येष्ठा भगिनी शशिनोऽनुजा ।
भर्त्ता त्वमपि तस्याश्च सर्व्वकामद माधव ॥
प्रीयतां माधवो देवो मधुकैटभसूदन: ।
वासुदेवो जगन्नाथो मम पापं व्यपोहतु ॥
एवं य: कुरुते सद्यस्तस्य पुण्यफलं शृणु ।
यावज्जन्मकृतं पापं हत्वा सर्व्वमशेषत: ॥
दिव्यवर्षसहस्राणि स्वर्गे वसति षोड़श ।
गुड़धेनुप्रदो माघे इहायात: सदा सुखी ॥
भवेद्राजन् निरातङ्क: पुत्त्रैश्वर्य्यसमन्वित: ।
तत्र विष्णुपरो भूत्वा क्रमान्मोक्षमवाप्नुयात् ॥*॥
फाल्गुनामलपक्षस्य द्वादश्यां नियत: शुचि: ।
पूजयित्वा विधानेन देवदेवं स्वशक्तित: ॥
मन्त्रेणानेन राजेन्द्र गोविन्द: प्रीयतामिति ।
गवां भक्तोऽसि गोस्वामी गोवासी गोकुलालय: ॥
सर्व्वकामप्रदो नित्यं स मे पापं व्यपोहतु ।
स्तुत्वैवं शर्कराधेनुं भक्त्या दद्यात् द्विजातये ॥
तत: प्रदक्षिणं कृत्वा शृणु पुण्यं यथातथम् ।
बलीवर्द्दसहस्राणां दशानां धूर्व्विवाहिनाम् ॥
न तैस्तत् फलमाप्नोति द्वादश्या यद्भवेन्नृप ।
दिव्यवर्षसहस्राणि स्वर्गे तिष्ठति स्वर्गिवत् ॥*॥
चैत्रस्य द्वादशीं शुक्लां समुपोष्य नृपोत्तम ।
स्नात्वा प्रपूजयेद्विष्णुं जगतोऽन्तरचारिणम् ॥
पूर्व्वोक्तविधिवत् स्नात्वा गोमूत्रैर्गोमयेन च ।
स्नापयित्वाम्हतेनैव पञ्चानां गव्यसंयुतै: ॥
अद्भि: पश्चात् प्रपूज्यैवं गन्धधूपविलेपनै: ।
पुष्पैर्व्वासोभिरेवं हि मन्त्रेणानेन बुद्धिमान् ॥
प्रवेशने यथाशीलो जगतां रक्षणाय च ।
दुष्टानां विनिर्जेतुमसि विष्णुरतो हरे ॥
विष्णुर्भवतु मे प्रीतो विष्णुर्देव: सनातन: ।
सर्व्वपापविनाशाय विष्णुर्मे प्रीयतामिति ॥
मधुधेनुमभावाच्च शक्तित: पात्रमेव च ।
दत्त्वा यत् फलमाप्नोति तदिहैकमना: शृणु ॥
पूर्व्वजन्मनि यत् पापमिह जन्मनि साम्प्रतम् ।
वर्त्तते सकलं हत्वा स्वर्गलोके महीयते ॥ * ॥
वैशाखस्य तु मासस्य पूजयेन्मधुसूदनम् ।
पूर्व्वोक्तविधिना राजन् सौवर्णं मधुसूदनम् ॥
जलकुम्भे तु संस्थाप्य मन्त्रेणानेन पूजयेत् ।
एकार्णवे जले धातुर्हृता वेदा: पुरा हरे ॥
मधुना ते हत: सोऽपि तेनासि मधुसूदन: ।
स मे भवतु सुप्रीतो देवदेव: सनातन: ॥
सर्व्वपापविनाशाय प्रीयतां मधुसूदन: ।
घृतधेनुमथो दत्त्वा ब्राह्मणान् भोजयेत्तत: ॥
तत: प्रदक्षिणं कुर्य्यात् दत्त्वा देयान् यथोपगान् ।
एवन्तु चपमाणस्य तस्य पुण्यफलं शृणु ॥
कपिलानां सहस्रस्य सम्यग्दत्तस्य पुष्करे ।
तत्फलं समवाप्नोति भक्तियुक्तोऽप्यसंशय: ।
यावदिन्द्रो वसेत् स्वर्गे तावदेव स तिष्ठति ॥*॥
ज्यैष्ठस्यैव तु मासस्य शुक्लपक्षे तु द्वादशीम् ।
पूजयेद्विधिवद्भक्त्या समुपोष्य त्रिविक्रमम् ॥
जलधेनुमथो दद्याद्विप्राय नियत: शुचि: ।
यज्ञभागभुजो दैत्यान् सन्निहत्य क्रमैस्त्रिभि: ॥
त्रैलोक्यमाहृतं तस्मात् तेनासि त्वं त्रिविक्रम: ।
त्रिविक्रमं त्रिलोकेशं प्रीणयामि त्रिविक्रमम् ॥
तत: प्रदक्षिणं कृत्वा ब्राह्मणेभ्यश्च दक्षिणाम् ।
दत्त्वा तु भोजयेत्तांस्तु शृणु तस्यापि यत् फलम् ॥
वाजपेयस्य यज्ञस्य सम्यगिष्टस्य पार्थिव ।
तत्फलं लभते मर्त्त्य: परत्रेह सुखी भवेत् ॥*॥
वामनन्तु तथाषाढ़े समुपोष्य प्रयत्नत: ।
द्वादशीं नियताहारो वामनं तत्र पूजयेत् ॥
हिताय सर्व्वदेवानां आदित्य: कामदो यथा ।
तथा त्वं भव मे देव वामनो बलिबन्धन: ॥
तिलधेनुं ततो दद्यात् वामन: प्रीयतामिति ।
तदभावात्तथा पात्रं यथाशक्त्या च दक्षिणाम् ॥
पूर्व्वजन्मकृतं पापमिह जन्मकृतञ्च यत् ।
तत् सर्व्वं विनिहत्याशु परत्र च शुभां गतिम् ॥*॥
श्रावणस्य तु मासस्य द्वादश्यां शुक्लपक्षत: ।
य: क्षिपेन्नियतो भूत्वा समुपोष्य जनार्द्दनम् ॥
समर्च्चयेत् यथाशक्त्या पूर्व्वोक्तविधिना तत: ।
धेनुं सर्व्वगुणोपेतां ब्राह्मणाय निवेदयेत् ॥
मन्त्रेणानेन राजेन्द्र पौराणविहितेन च ।
समादाय ततो लक्ष्मीं लोकेभ्य: क्षीरसागरे ।
स्वपिषि श्रावणे मासि श्रीधरोऽसि जगत्पते ! ॥
श्रावणे श्रीधरो देव: श्रीवत्स: श्रीनिकेतन: ।
प्रीयतां हि श्रिय: कान्तो गतिमिष्टां ददातु मे ॥
गवां दशसहस्रेण पात्रदत्तेन यत् फलम् ।
सकलं लभते मर्त्त्यो भक्तियुक्तो न संशय: ।
स्वर्गेषु विपुलान् भोगान् भुनक्ति सुरराड़िव ॥*॥
तेनैव विधिना राजन् मासे भाद्रपदे तत: ।
समुपोष्य ततो भक्त्या हृषीकेशं प्रपूजयेत् ॥
मुक्ताधेनुमथो दद्यात् यथाविभवविस्तरात् ।
हृषीकाणीन्द्रियाण्याहुस्तेषामीशो जगत्पति: ॥
करोति कर्त्तृभूतोऽसौ हृषीकेशो भवानत: ।
देवदेवं हृषीकेशं भूतेषु प्रभवाव्ययम् ॥
प्रीणयामि सुसंप्रीतो मम पापं व्यपोहतु ।
एवं प्रदक्षिणं कृत्वा विष्णुलोके महीयते ॥*॥
द्वादश्यां समुपोष्यैव पद्मनाभं तथाश्विने ।
पूजयेद्विधिवद्भक्त्या गन्धधूपविलेपनै: ।
गन्धधेनुं ततो दद्यात् कर्पूरागुरुचन्दनै: ।
कुङ्कुमेन हि राजेन्द्र वित्तशाठ्यं विवर्ज्जयेत् ॥
एकार्णवगते तोये स्वपतो यस्य वेधस: ।
निवासाय भवन्नाभ्यां पद्मनाभोऽसि इत्युत ॥
प्रीयतां पद्मनाभो मे दुष्कृतं चोपशाम्यतु ।
इत्युक्त्वा तं समभ्यर्च्य दद्यात् धेनुं द्विजातये ॥
इत्येवं क्षपमाणस्य तस्य पुण्यमत: शृणु ।
सप्तजन्मकृतं पापं स्वल्पं वा यदि वा बहु ।
दग्ध्वा तत् सकलं भूप विष्णुलोकं स गच्छति ॥*॥
कार्त्तिकस्य तु मासस्य एकादश्यामुपोषित: ।
प्रसुप्तं बोधयेद्रात्रौ श्रद्धाभक्तिसमन्वित: ॥
नृत्यैर्गीतैस्तथा वाद्यैर्ऋग्यजु:साममङ्गलै: ।
वीणापणवशब्दैश्च पुराणश्रवणेन च ॥
वासुदेवकथाभिश्च स्तोत्रैरन्यैश्च वाहवै: ।
सुभाषितैरिन्द्रजालैर्भूमिशोभाभिरेव च ॥
पुष्पैर्धूपैश्च नैवेद्यैर्दीपवृक्षैश्च शोभनै: ।
होमैर्भक्ष्यैरपूपैश्च फलै: शाकैश्च पायसै: ।
इक्षोर्विकारैर्मधुना द्राक्षाखोड़ै: सदाड़िमै: ।
कुठेरकस्य मञ्जर्य्या सर्ज्जिकालवणेन च ॥
छद्याभ्यां श्वेतरक्ताभ्यां चन्दनाभ्याञ्च सर्व्वदा ।
कुङ्कुमालक्तकाभ्याञ्च रक्तवस्त्रै: सकङ्कणै: ॥
तथा नानाविधै: पुष्पैर्द्रव्यैर्वौचित्रियाधनै: ।
तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां द्वादश्यामरुणोदये ।
स्नात्वा नदीजलै: पुण्यै: प्रतिमां स्नापयेत्तत: ॥
उत्थितां त्वपरे रम्यां ताम्रां रौप्यां सुवर्णजाम्।
वैष्णवी प्रतिमा यत्र चित्रे सुप्ता क्वचित् भवेत् ।
तत्र स्नानादिपूजा च वेद्यां कार्य्या च विष्णवे ॥
आदौ घृतेन तैलेन मधुना तदनन्तरम् ।
दध्ना क्षीरेण च तत: पञ्चगव्येन शास्त्रवित् ॥
उद्वर्त्तनं माषचूर्णं मसूरामलकानि च ।
रौध्रं कालीयकञ्चैव नागरं वर्णकं तथा ॥-
सर्षपाश्च प्रियङ्गुश्च मातुलुङ्गरसैस्तथा ।
सर्व्वौषध्य: सर्व्वगन्धा: सर्व्ववीजानि काञ्चनम् ॥
माङ्गल्यानि यथालाभं रत्नानि च कुशोदकम् ।
हस्तिदन्तोद्धृता म्रच्च वृषशृङ्गोद्धृता तथा ॥
नदीतीरार्णवां स्थानात् वल्मीकात् सङ्गमात्
ह्रदात् ।
इन्द्रस्थानाच्च सरसस्तथा पर्व्वतमस्तकात् ॥
एताभि: स्नाप्य देवेशं दद्यात् गोरोचनां शुभाम्।
ततस्तु कलसा देया यथाप्राप्तं स्वलङ्कृता: ॥

जातीपल्लवसंयुक्ताः सफलाश्च सकाञ्चनाः ।
पुण्याहवेदशब्देन वीणावेणुरवेण च ॥
शब्देन मधुरेणैव सूतमागधवन्दिनाम् ।
एवं संस्थाप्य गोविन्दं स्वनुलिप्तं स्वलङ्कृतम् ॥
सुवासं पूजयेत्तत्तु सुमनोभिश्च कुङ्कुमैः ।
दीपैर्धूपैर्मनोज्ञैश्च पायसेन तु भूरिणा ॥
नानारत्नप्रदानैश्च होमैः पुण्यैः सदक्षिणैः ।
वासोभिर्भूषणैर्हृद्यैर्गोभिरश्वैर्गजैरपि ॥
ब्राह्मणाः पूजनीयाश्च विष्णोराद्याः सुमूर्त्तयः ।
विष्णो रात्रौ प्रसुप्तस्य दामोदरगतं यतः ॥
ब्रह्माण्डस्य च तेनासि दामोदर इति स्तुतः ।
दामोदर इमां धेनुं गृह्णातु स्वयमेव हि ॥
द्विजरूपेण ते विष्णो प्रकल्पेषा सनातनी ।
इत्येवं पृथिवीदानात् फलं प्राप्नोति मानवः ॥
सुवर्णस्य महाधेनुं दत्त्वा नृपवरोत्तमः ।
हत्वा पापान्यशेषाणि शतजन्मान्तराणि वै ॥
वैष्णवं लोकमाप्नोति यावदिन्द्राश्चतुर्द्दश ।
सम्यगत्र व्रते चीर्णे सप्तजन्मानुगं फलम् ॥
ददाति भगवान् विष्णुः कामान् मोक्षं नरेश्वर ।
ब्राह्मणान् भोजयेद्भक्त्या भक्ष्यैश्चाविचैरपि ॥
ततः प्रदक्षिणं कृत्वा यथाशक्त्या च दक्षिणाम् ।
कलसान् द्वादशैवैवं ब्राह्मणेभ्यः प्रदापयेत् ॥
वस्त्रेणावेष्टितग्रीवान् हेमगर्भोपशोभितान् ।
दधिक्षीरयुतांश्चैव सगुडान् नृप भूरिशः ।
शक्तिर्यथा तथा दद्यात् भक्तिरेवात्र कारणम् ॥
प्रसङ्गेनापि यो राजन् सुनामद्वादशीं नरः ।
करोति पुण्यभागी स यथा दैत्योद्भवो बलिः ॥
एवं यः कुरुते राजन् सुनामद्वादशीं नरः ।
राजसूयस्य यज्ञस्य फलं समधिकं भवेत् ॥
सर्व्वदानेषु यत् पुण्यं यच्च पुण्यं तपोवने ।
सर्व्वतीर्थेषु यत् पुण्यं तत् पुण्यं समुदाहृतम् ॥
गावो द्वादश दातव्या वस्त्रयुग्मानि काञ्चनम् ।
अलाभे चैव गामेकां पात्रं वा स्वर्णसंयुतम् ॥
मासे मासेऽथवाप्येवं चञ्चलं जीवितं यतः ।
बहुविघ्ना हि धर्म्मस्य कर्त्तुश्छिद्रं न जायते ॥
एतज्ज्ञात्वा सुमेधावी न तत्र क्षपयेत्क्षणः ।
न तस्य वित्तलाभोऽस्ति भक्तिग्राह्यो हि केशवः ॥
अनेन विधिना यस्तु द्वादशीं प्रतिवत्सरम् ।
कृत्वा नरः परं याति विष्णुलोकमनामयम् ॥
सुनामद्वादशी चैव व्रतानामुत्तमा नृप ।
आद्या नरैस्तु कर्त्तव्या तोषयज्जिष्णुमार्द्दनम् ॥
यश्चैनां कीर्त्तयेत् पुण्यां शृणुयात् द्वादशीं नरः ॥
तावुभौ गच्छतः स्वर्गं कर्त्ता विष्णुपुरं व्रजेत् ॥"
इति वह्निपुराणे सुनामद्वादशीनामाध्यायः ॥

सुनारः, पुं, (सुष्ठु नालमस्य । लस्य रः ।) शुनीस्तन्यम् । सर्पाण्डः । कलविङ्कः । इति मेदिनी ॥

सुनालकः, पुं, (सुष्ठु नालमस्य । कप् ।) वकपुष्पवृक्षः । इति शब्दचन्द्रिका ॥ सुन्दरनालयुक्ते, त्रि ॥

सुनासिका, स्त्री, (सुष्ठु नासिका यस्याः ।) काकनासा । इति राजनिर्घण्टः ॥ (शोभना नासिका ।) शोभननासा । तद्युक्ते, त्रि ॥ (यथा, भागवते । ९ । २४ । ४६ ।
"पद्मकोशपलाशाक्षं सुन्दरभ्रु सुनासिकम् ॥")

सुनासीरः, पुं, (सुष्ठु नासीरं अग्रगामिसैन्यं यस्य ।) इन्द्रः । इत्यमरः । १ । १ । ४४ ॥ (देवः । यथा, भागवते । ४ । ७ । ७ ।
"ततो मीढ्वांसमामन्त्र्य सुनासीराः सहर्षिभिः ।
भूयस्तद्देवयजनं समीढ्वद्वेधसो ययुः ॥")
सुनाशीरश्च ॥

सुनिर्यासा, स्त्री, (शोभनो निर्यासो यस्याः ।) जिङ्गिनीवृक्षः । इति भावप्रकाशः ॥

सुनिश्चितः, पुं, (सुष्ठु निश्चितं निश्चयो यस्य ।) बुद्धविशेषः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सुनिश्चितः, त्रि, (सुष्ठु निश्चितः ।) सुन्दरनिश्चयविषयीभूतः । इति हलायुधः ॥

सुनिषण्णं, क्ली, (सुष्ठु निषण्णं निद्रा यस्मात् ।) सुनिषण्णकशाकम् । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ (यथा, सुश्रुते । ६ । ४५ ।
"घटोत्कशेलुसुनिषण्णयूथिका
वटातिमुक्ताङ्कुरमिन्दुवारजम् ।
हितञ्च शाकं घृतसंस्कृतं सदा
तथैव धात्रीफलदाडिमान्वितम् ॥"
क्वचित् पुंलिङ्गेऽपि दृश्यते । यथा,—
"सुनिषण्णो हिमो ग्राही मोहदोषत्रयापहः ।
अविदाही लघुः स्वादुः कषायो रूक्षदीपनः ।
वृष्यो रुच्यो ज्वरश्वासमेहकुष्ठभ्रमप्रणुत् ॥"
इति भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे प्रथमे भागे ॥)

सुनिषण्णकं, क्ली, पुं, (सुनिषण्णमेव । स्वार्थे कन् ।) शाकविशेषः । सुषुणी इति भाषा । तत्पर्य्यायः । चितुन्नम् २ । इत्यमरः । २ । ४ । १४९ ॥ सुनिषण्णम् ३ चुचूः ४ । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ (यथा,
"शितिवारः शितिवरः स्वस्तिकः सुनिषण्णकः ।
श्रीवारकः सूचिपत्रः पर्णकः कुक्कुटः शिखी ॥
चाङ्गेरीसदृशं पत्रं चतुर्द्दल इतीरितः ।
शाको जलान्विते देशे चतुःपत्रीति चोच्यते ॥"
इति भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे प्रथमे भागे ॥)
अस्य गुणाः । यथा,—
"अविदाही त्रिदोषघ्नः संग्राही सुनिषण्णकः ।"
इति राजवल्लभः ॥
अन्यत् सितावरशब्दे द्रष्टव्यम् ॥

सुनिष्टप्तः, त्रि, अत्युत्तप्तः । सुपूर्व्वनिर्पूर्व्वतपधातोः क्तप्रत्ययेन निष्पन्नः ॥

सुनीतिः, स्त्री, (शोभना नीतिः ।) शोभननयः । ध्रुवमाता । इति मेदिनी ॥ (सा तु उत्तानपादस्य राज्ञोऽप्रेयसी पत्नी । यथा, भागवते । ४ । ८ । ८ ।
"जाये उत्तानपादस्य सुनीतिः सुरुचिस्तयोः ।
सुरुचिः प्रेयसी पत्युर्नेतरा यत्सुतो ध्रुवः ॥")
शोभननीतिविशिष्टे, त्रि ॥

सुनीथः, त्रि, (सुष्ठु नयति धर्म्ममिति । सु + नी + "हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन् ।" उणा० २ । २ । इति क्थन् ।) धर्म्मशीलकः । इत्युणादिकोषः ॥ पुं, ब्राह्मणः । इति संक्षिप्तसारोणादिवृत्तिः ॥ (चन्द्रवंशीयालर्कराजपौत्रः । यथा, भागवते । ९ । १७ । ८ ।
"अलर्कात् सन्ततिस्तस्मात् सुनीथोऽथ निकेतनः ॥")

सुनीलं, क्ली, (सुष्ठु नीलम् ।) लामज्जकम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुनीलः, पुं (अतिशयो नीलः ।) दाड़िमः । इति राजनिर्घण्टः ॥ सुन्दरनीलवर्णश्च ॥

सुनीलकः, पुं, (सुनील एव । स्वार्थे कन् ।) नीलभृङ्गराजः । नीलासनः । नीलरत्नम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुनीला, स्त्री, (अतिशयनीला ।) अतसी । विष्णुक्रान्ता । जरतीतृणम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुनु, [नौ] क्ली, जलम् । शोभना नौर्यत्र तत् सुनु जलम् । इति मुग्धबोधटीकायां दुर्गादासः ॥

सुनौः, त्रि, शोभननौकाविशिष्टः । शोभना नौर्यस्य वा इति बहुव्रीहिसमासनिष्पन्नः । शोभननौकायाम्, स्त्री ॥

सुन्दः, पुं, वानरविशेषः । यथा,—
"जाम्बवान् ऋषभः सुन्दो नलः शतवलिः पृथुः ।
चूड़ानीकाश्च सर्वाश्च हनुमानादाय सर्व्वतः ॥"
इति वाल्मीकीये रामायणे युद्धकाण्डे ४७ सर्गः ॥
राक्षसविशेषः । यथा,—
"अथ कालोपमौ युद्धे सुतौ सुन्दोपसुन्दयोः ।
यज्ञविघ्नकरौ तौ ते नैव दास्यामि पुत्रकम् ॥"
इति रामायणे बालकाण्डे २० सर्गः ॥
(संह्रादपुत्रः । यथा, हरिवंशे । ३ । ७२ ।
"संह्रादपुत्रौ सुन्दश्च निसुन्दश्चैव तावुभौ ॥"
विष्णुः । इति महाभारतम् । १३ । १४९ । ९८ ॥)

सुन्दरं, त्रि, (सुष्ठु उनत्ति आर्द्रीकरोति चित्तमिति । सु + उन्द क्लेदने + अरः । शकन्ध्वादित्वात् साधुः ।) मनोहरम् । तत्पर्य्यायः । रुचिरम् २ चारु ३ सुषमम् ४ साधु ५ शोभनम् ६ कान्तम् ७ मनोरमम् ८ रुच्यम् ९ मनोज्ञम् १० मञ्जु ११ मञ्जुलम् १२ । इत्यमरः । ३ । १ । ५१ ॥ मनोहारि १३ सौम्यम् १४ भद्रकम् १५ रमणीयम् १६ रामणीयकम् १७ । इति तट्टीका ॥ बन्धूरम् १८ बन्धुरम् १९ पेशलम् २० पेसलम् २१ वामम् २२ रामम् २३ अभिरामम् २४ नन्दितम् २५ सुमनम् २६ ॥ इति शब्दरत्नावली ॥ वल्गु २७ हारि २८ स्वरूपम् २९ अभिरूपम् ३० दिव्यम् ३१ । इति जटाधरः ॥

सुन्दरः, पुं, (सु + उन्द + अरः ।) कामदेवः । इति केचित् ॥ वृक्षविशेषः । सुँदूरी इति भाषा ॥ यथा,—
"जम्बुवल्कलखदिरसिन्धुवाराश्च सुन्दरः ।
एषामन्यतमाङ्गारं निर्म्मलाम्बुनि भावयेत् ॥"
इति सुखबोधः ॥

सुन्दरी, स्त्री, (सुन्दर + गौरादित्वात् ङीष् ।) नारीभेदः । इत्यमरः । २ । ६ । ४ ॥ सुष्ठु उनत्ति

आर्द्रयति मनः इति सुन्दरी। उन्द धी क्लेदे सुपूर्व्वः नाम्नीति अरः निपातनादुल्लोपः गदादित्वात् ङीष्। रूपलावण्यसम्पन्ना सुन्दरी। इति तट्टीकायां भरतः॥ तरुभेदः। इति मेदिनी॥ हरिद्रा। इति शब्दचन्द्रिका॥ त्रिपुरसुन्दरी। यथा,—

"अङ्गुष्ठानामिकायोगात् वामहस्तस्य पार्व्वति।
तर्पयेत् सुन्दरीं देवीं समुद्राञ्च सकाइनाम्॥"

इति तन्त्रसारे श्रीविद्याप्रकरणम्॥

योगिनीविशेषः। यथा,—

"तावज्जप्तं जपेद्विद्वान् यावदायाति सुन्दरी।
ज्ञात्वा दृढ़ं साधकेन्द्रं निशीथे याति निश्चितम्॥"

इति तत्रैव योगिनीसाधनप्रकरणम्॥

सुनृभ, हुन्नौ। हिंसे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-पर०-अक०-हिंसे सक०-सेट्।) सुम्भति। इति दुर्गादासः॥

सुन्वन्, [त्] त्रि, यज्ञकर्त्ता। "सुञो यज्ञसंयोगे।" ३।२।१३२। इति सुनोतेः शतृप्रत्ययः॥ सर्व्वे सुन्वन्तः। सर्व्वे यजमानाः सत्रिणः। इति सिद्धान्तकौमुदी॥

सुपक्वः, पुं, (सु + पच् + क्तः।) सुगन्ध्याम्रः। इति शब्दचन्द्रिका॥ शोभनपरिणते, त्रि॥ (यथा, भागवते। १।८।४०।

"इमे जनपदाः स्वृद्धाः सुपक्वौषधिवीरुधः।
वनाद्रिनद्युदन्वन्तो ह्येधन्ते तव वीक्षिताः॥")

सुपत्रं, क्ली, (शोभनं पत्रमस्य।) तेजपत्रम्। इति शब्दचन्द्रिका॥

सुपत्रः, पुं, (शोभनं पत्रमस्येति।) आदित्यपत्रः। पक्षिवाहनम्। इति राजनिर्घण्टः॥

सुपत्रकः, पुं, (शोभनं पत्रमस्य। कप्।) शिग्रुः। इति राजनिर्घण्टः॥ (शिग्रुशब्देऽस्य विशेषो ज्ञातव्यः॥)

सुपत्रा, स्त्री, (शोभनं पत्रमस्याः।) रुद्रजटा। शतावरी। पालङ्कम्। शमी। शालपर्णी। इति राजनिर्घण्टः॥

सुपत्रिका, स्त्री, जतुका। इति राजनिर्घण्टः॥

सुपथः, पुं, (सु शोभनः पन्थाः। अः समासे।) सन्मार्गः। यथा,—

"सत्पथस्त्वतिपन्थाश्च सुपन्थाः सुपथोऽपि च।"

इति शब्दरत्नावली॥

(यथा, कथासरित्सागरे। २०।१६२।

"विषयाक्षिप्यमाणा हि तिष्ठन्ति सुपथे कथम्॥")

शोभनपथयुक्ते, त्रि॥

सुपथ्या, स्त्री, (सुष्ठु पथ्यं यस्याः।) श्वेतचिल्ली। इति राजनिर्घण्टः॥ सत्खाद्ये, त्रि॥

सुपन्थाः, पुं, (शोभनः पन्थाः।) सत्पथः। इति शब्दरत्नावली॥

सुपद्मः, पुं, पद्मनाभदत्त-कृतव्याकरणविशेषः। यथा,—

"शेषावधेयं धीराः श्रीपद्मनाभनिवेदितम्।
उक्तो व्याकरणादर्शः सुपद्मस्तस्य पञ्जिका॥
ततो हि बालबोधाय प्रयोगाणाञ्च दीपिका।
उणादिवृत्ती रचिता तथा च धातुकौमुदी॥"

इति तदीयपरिभाषावृत्तिः॥

(पुं, क्ली। शोभनं पद्मम्।) शोभनपद्मश्च। शोभनपद्मविशिष्टे, त्रि॥

सुपद्मा, स्त्री, वचा। इति शब्दचन्द्रिका॥

सुपर्णः, पुं, (सुष्ठु पर्णं पत्रो यस्य।) गरुड़ः। इत्यमरः। १।१।३१॥ (यथा, रघुः। १०।६१।

"उद्भ्रान्ते स सुपर्णेन वेगाकृष्टपयोमुचा॥")

स्वर्णचूड़पक्षी। कृतमालवृक्षः। इति मेदिनी॥ (पक्षिमात्रम्। यथा, मनुः। १।३७।

"नागान् सर्पान् सुपर्णांश्च पितॄणाञ्च पृथग्गणान्॥"

विष्णुः। इति महाभारतम्। १३।१४९। ३४॥) शोभनपर्णविशिष्टे, त्रि॥

सुपर्णकः, पुं, (सु शोभनानि पर्णानि यस्य। कन्।) आरग्वधवृक्षः। इति रत्नमाला॥ सप्तच्छदवृक्षः। इति जटाधरः॥ गरुड़ः। इति हेमचन्द्रः॥

सुपर्णकेतुः, पुं, (सुपर्णः केतौ यस्य।) विष्णुः। इति हलायुधः॥

सुपर्णा, स्त्री, (सु शोभनानि पर्णानि पत्राणि यस्याः।) पद्मिनी। इति शब्दमाला॥

सुपर्णाख्यः, पुं, (सुपर्ण इति आख्या यस्य।) नागकेशरः। इति त्रिकाण्डशेषः॥ (अस्य पर्य्यायो यथा, वैद्यकरत्नमालायाम्।

"दीपः सर्पः सुपर्णाख्यश्चाम्पेयो नागकेशरः॥")

सुपर्णिका, स्त्री, (शोभनानि पर्णानि यस्याः। कप्। टापि अत इत्वम्।) स्वर्णजीवन्ती। पलाशी। शालपर्णी। रेणुका। वाकुची। इति राजनिर्घण्टः॥ (अस्याः पर्य्यायो यथा,—

"अवल्गुजो वाकुची स्यात् सोमराजी सुपर्णिका।
शशिलेखा कृष्णफला सोमा पूतिफलीति च।
सोमवल्ली कालमेषी कुष्ठघ्नी च प्रकीर्त्तिता॥"

इति भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे प्रथमे भागे॥)

सुपर्णी, स्त्री, (सुष्ठु पर्णान्यस्याः। गौरादित्वात् ङीष्।) कमलिनी। गरुड़माता। इति मेदिनी॥ (पक्षिणीमात्रे च। यथा, महाभारते। ३।२२४।१०।

"सुपर्णी सा तदा भूत्वा निर्जगाम महावनात्॥")

सुपर्णीतनयः, पुं, (सुपर्ण्यास्तनयः।) गरुड़ः। इति हलायुधः॥

सुपर्व्वा, [न्] पुं, (सुष्ठु पर्व्व यस्य।) देवता। इत्यमरः। १।१।७॥ बाणः। वंशः। पर्व्व। धूमः। इति मेदिनी॥

सुपर्व्वा, स्त्री, (शोभनं पर्व्व यस्याः।) श्वेतदूर्व्वा। इति राजनिर्घण्टः॥ सुन्दरपर्व्वविशिष्टा च॥

सुपाक्यं, क्ली, (सुपाकाय हितम्। सुपाक + यत्।) विड़लवणम्। इति राजनिर्घण्टः॥

सुपात्रं, क्ली, (सुष्ठु पात्रम्।) योग्यव्यक्तिः। (यथा, भागवते। ७।१४।४१।

"पुरुषेष्वपि राजेन्द्र सुपात्रं ब्राह्मणं विदुः।
तपसा विद्यया तुष्ट्या धत्ते वेदं हरेस्तनुम्॥")

तत्र दानविधिर्यथा,—

"तस्मात्सर्व्वात्मना पात्रे दद्यात्कनकदक्षिणाम्।

इति।

सर्व्वेषामेव पात्राणां परं पात्रं महेश्वरः।
पतन्तं त्रायते यस्मादतीव नरकार्णवादिति॥
पात्रशास्त्राध्यात्मिका मुख्या विशुद्धाश्चाग्निहोत्रिणः।
देवताश्च तथा मुख्या गोदानं ह्येतदुत्तममिति॥
सर्व्वत्र गुणवद्दानं श्वपाकादिष्वपि स्मृतम्।
देशे काले विधानेन पात्रे दत्तं विशेषतः॥"

पात्रे विद्यातपस्यादिगुणयुक्ते। इति च प्रायश्चित्ततत्त्वम्॥ अपि च।

"तस्मात् सर्व्वात्मना पात्रे दद्यात् कनकमुत्तमम्।
अपात्रे पातयेद्दत्तं सुवर्णं नरकार्णवे॥"

इति शुद्धितत्त्वम्॥ * ॥

शोभनभाजनम्। शोभनञ्च तत्पात्रञ्चेति कर्म्मधारयसमासनिष्पन्नम्। उत्तमपात्रयुक्ते, त्रि॥

सुपानः, त्रि, (सुखेन पीयते इति। सु + पा + "आतो युच्।" ३।३।१२८। इति युच्।) पानयोग्यः। सुखेन पीयतेऽसौ। आतोऽनोऽदरिद्र इत्यनेन कर्म्मणि अनप्रत्ययेन निष्पन्नः। इति मुग्धबोधव्याकरणम्॥

सुपार्श्वः, पुं, (सुष्ठु पार्श्वोऽस्य।) चतुर्व्विंशतिवृत्ताहेदन्तर्गतवृत्ताहेद्विशेषः। इति हेमचन्द्रः॥ प्लक्षवृक्षः। इति राजनिर्घण्टः॥ पक्षिविशेषः। स तु सम्पातिपुत्रः। यथा,—

"निरंशपक्षं सम्पातिं वानराः सुमहौजसः।"

इत्युपक्रम्य।

"क्व सीता केन वा दृष्टा को वा हरति मैथिलीम्।
तदाख्यातु भवान् सर्व्वं गतिर्भव वनौकसाम्॥
सहरीन् प्रतिसंसुक्तान् सीताश्रुतिसमाहितान्।
पुनराश्वासयन् प्रीत इदं वचनमब्रवीत्॥
अहमस्मिन् गिरौ दुर्गे बहुयोजनमायते।
चिरान्निपतितो वृद्धः क्षीणप्राणपराक्रमः॥
तं मामेवं गतः पुत्त्रः सुपार्श्वो नाम नामतः।
आहारेण यथाकालं विभर्त्ति पततां वरः॥"

इति वाल्मीकीये रामायणे किष्किन्धाकाण्डे ५९ सर्गः॥ (पीठस्थानविशेषः। यथा, देवीभागवते। ७।३०।६६।

"नारायणी सुपार्श्वे तु त्रिकूटे रुद्रसुन्दरी॥"

इलावृतवर्षस्य पर्व्वतविशेषः। यथा, विष्णुपुराणे। २।२।१७।

"विपुलः पश्चिमे पार्श्वे सुपार्श्वश्चोत्तरे स्मृतः॥")

सुपार्श्वकः, पुं, (सुष्ठु पार्श्वो यस्य। कन्।) चतुर्व्विंशतिभाव्यर्हदन्तर्गतार्हद्विशेषः। इति हेमचन्द्रः॥ गर्द्दभाण्डवृक्षः। इत्यमरः। २।४।४३॥ (अथ पिप्पलभेदः। गजहुण्डसहोरा इति लोके।

"पारीषोऽन्यः पलाशश्च कपिचूतः कमण्डलुः।
गर्द्दभाण्डश्कन्दरालः कपीतनः सुपार्श्वकः॥"

इति भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे प्रथमे भागे॥)

सुपिङ्गला, स्त्री, (सुष्ठु पिङ्गला ।) जीवन्ती । ज्योतिष्मती । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुपीडनं, क्ली, (सु+पीड+ल्युट् ।) सुष्ठु-मर्द्दनम् । इति केचित् ॥ गाचापा इति भाषा ॥

सुपीतं, क्ली, (सु+पा+क्तः ।) गर्ज्जरम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुपीवा, [न्] त्रि, (सुष्ठु पिबतीति । सु+पा+ "आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च ।" ३ । २ । ७४ । इति क्वनिप् ।) शोभनपानकर्त्ता । इति मुग्ध-बोधटीकायां दुर्गादासः ॥

सुपुटः, पुं, (सुष्ठु पुटमस्य ।) कोलकन्दः । विष्णु-कन्दः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुपुत्त्रिका, स्त्री, (शोभना पुत्त्रिकेव ।) जतुका । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुपुष्करा, स्त्री, स्थलपद्मिनी । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुपुष्पं, क्ली, (शोभनं पुष्पमस्य ।) लवङ्गम् । इति शब्दचन्द्रिका ॥ आहुल्यम् । प्रपौण्डरीकम् । तूलम् । इति राजनिर्घण्टः ॥ स्त्रीणां रजः । यथा,—

"सुपुष्पैराकीर्णं कुसुमधनुषो मन्दिरमहो
पुरो ध्यायन् ध्यायन् यदि जपति भक्तस्तव
मनुम् ।"
इति तन्त्रसारः ॥

सुपुष्पः, पुं, (शोभनानि पुष्पाणि यस्य ।) रक्त-पुष्पकः । इति शब्दचन्द्रिका ॥ माखितामादार इति भाषा ॥ शिरीषः । हरिद्रुः । राजतरुणी । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुपुष्पिका, स्त्री, (शोभनानि पुष्पाणि यस्याः । ङीष् । ततः कन् ।) पाटला । इति राज-निर्घण्टः ॥ (गुणादयोऽस्याः पाटलाशब्दे ज्ञातव्याः ॥)

सुपुष्पी, स्त्री, (सुष्ठु पुष्पं यस्याः । ङीष् ।) श्वेता-पराजिता । जीर्णफञ्जी । शतपुष्पी । मिश्रेया । द्रोणपुष्पी । इति राजनिर्घण्टः ॥ कदली । इति शब्दचन्द्रिका ॥

सुपूरः, पुं, बीजपूरः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुपूरकः, पुं, (सुष्ठु पूरयतीति । पूर+ण्वुल् ।) वकपुष्पवृक्षः । इति रत्नमाला ॥

सुप्, क्ली, लिङ्गोत्तरप्रयुज्यमानप्रत्ययविशेषः । स तु सप्तमीविभक्तेर्बहुवचनम् । इति मुग्धबोधव्याक-रणम् ॥ सुपद्मादिव्याकरणमते एकविंशति-विभक्तीनां संज्ञा ॥ (यथा, "सुप्तिङन्तचयो वाक्यम् ।" इति व्याकरणटीकायां वाक्य-लक्षणम् ॥)

सुप्तं, क्ली, (स्वप्+क्तः ।) सुषुप्तिः । तत्पर्य्यायः । शयिका २ । इति हेमचन्द्रः ॥

सुप्तः, त्रि, (स्वप्+क्तः ।) निद्रितः । तत्पर्य्यायः । निद्राणः २ शयितः ३ । इति हेमचन्द्रः ॥ तस्य बोधने विधिनिषेधौ यथा,—

"क्षुधितस्तृषितः कामी विद्यार्थी ह्यधिकारकः ।
भाण्डारी च प्रवासी च सप्त सुप्तान् प्रबोधयेत् ॥
भक्षिका भ्रमरी सर्पो राजा वै बालकस्तथा ।
परश्वापि च मूर्खश्च सप्त सुप्तान्न बोधयेत् ॥"

(स्वकार्य्याक्षमः । यथा,—

"त्वग्रूक्षा स्फुटिता सुप्ता कृशा कृष्णा च तुद्यते ।
आतन्यते सरागा च पर्व्वरुक्त्वग्गतेऽनिले ॥"

इति माधवकरसंगृहीतरुग्विनिश्चये वात-व्याध्यधिकारे । ६ ॥)

सुप्तघातकः, त्रि, (सुप्तमपि हन्तीति । हन+ण्वुल् ।) हिंस्रः । तत्पर्य्यायः । दम्भेरः २ । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सुप्तजनः, पुं, (सुप्ता जना यत्र ।) अर्द्धरात्रः । इति जटाधरः ॥ (सुप्तो जनः ।) निद्रितलोकश्च ॥

सुप्तज्ञानं, क्ली, (सुप्ते निद्रावस्थायां ज्ञानम् ।) स्वप्नः । इति जटाधरः ॥

सुप्तविज्ञानं, क्ली, (सुप्ते निद्रावस्थायां विज्ञा-नम् ।) स्वप्नः । इति जटाधरः ॥

सुप्तिः, स्त्री, (स्वप्+क्तिन् ।) स्वप्नता । निद्रा । (यथा, भागवते । ४ । २९ । ७१ ।

"सुप्तिमूर्च्छोपतापेषु प्राणायनविघाततः ।
नेहतेऽहमिति ज्ञानं मृत्युप्रज्वारयोरपि ॥")

विश्रम्भः । स्पर्शनम् । इति मेदिनी ॥

सुप्रतिभा, स्त्री, (सुष्ठु प्रतिभा यस्याः ।) मदिरा । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुप्रतिष्ठा, स्त्री, (सुष्ठु प्रतिष्ठा यस्याः ।) पञ्चा-क्षराक्षरच्छन्दः । स तु द्विविधः । पङ्क्तिः । प्रिया च । यथा,—

"उक्थात्युक्था तथा मध्या प्रतिष्ठा सा
सुपूर्व्विका ।
गायत्री च ततश्चोष्णिगनुष्टुप् बृहती तथा ॥"

पङ्क्तेरुदाहरणं तच्छब्दे द्रष्टव्यम् । प्रियाया यथा । स-ल-गैः प्रिया ।

"व्रजसुभुवो विलसत्कलाः ।
अभवन् प्रिया सुरवैरिणः ॥"
इति छन्दोमञ्जरी ॥

(शोभना प्रतिष्ठा ।) सुन्दरप्रशंसा च । (शोभनप्रतिष्ठाविशिष्टे, त्रि । यथा, महा-भारते । ३ । ६४ । ६४ ।

"सुभ्रूः सुकेशी सुश्रोणी सुकुचा सुद्विजानना ।
वर्च्चस्विनी सुप्रतिष्ठा स्वसितायतलोचना ।
सा विवेशाश्रमपदं वीरसेनसुतप्रिया ॥")

सुप्रतिष्ठितः, पुं, (सुष्ठु प्रतिष्ठितः ।) उडुम्बरवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥ सुन्दरप्रतिष्ठायुक्ते, त्रि ॥ (यथा, महाभारते । २ । ५८ । ४ ।

"अयं सहस्रसमितो वैयाघ्रः सुप्रतिष्ठितः ॥"

तथाच ।

"अश्मापि याति देवत्वं महद्भिः सुप्रतिष्ठितः ॥"
इत्युद्भटः ॥)

सुप्रतीकः, पुं, (शोभनाः प्रतीका अङ्गानि यस्य ।) ईशानदिग्गजः । इत्यमरः । १ । ३ । ४ ॥ (यथा, रघुः । ५ । ७५ ।

"मदपटुनिनदद्भिर्बोधितो राजहंसैः
सुरगज इव गाङ्गं सैकतं सुप्रतीकः ॥")

शिवः । कामदेवः । इति केचित् ॥ (साधुः । इति श्रीधरस्वामी ॥ यथा, भागवते ।१०।८।३१।

"एवं धार्ष्ट्यान्युशति कुरुते मेहनादीनि वास्तौ
स्तेयोपायैर्विरचितकृतिः सुप्रतीको यथास्ते ॥"

शोभनः प्रतीकः ।) शोभनाङ्गम् । तद्युक्ते, त्रि ॥ (यथा, भागवते । ५ । ३ । २ ।

"भगवान् भागवतवात्सल्यतया सुप्रतीक आत्मानमपराजितं निजजनाभिप्रेतार्थविधित्-सया गृहीतहृदय इति ।")

सुप्रभः, पुं, (सुष्ठु प्रभा यस्य ।) शुक्लबलः । इति हेमचन्द्रः ॥ सुन्दरप्रभायुक्ते, त्रि ॥ (यथा, मार्कण्डेये । ९० । २७ ।

"वङ्गः पुण्यास्तथा बालाः सुप्रभोऽभूद्दिवा-
करः ॥")

सुप्रभा, स्त्री, (सुष्ठु प्रभा यस्याः ।) वाकुची । इति राजनिर्घण्टः ॥ अग्निजिह्वाविशेषः । यथा,—

"सुप्रभा पद्मरागाभा वारुण्यां दिशि संस्थिता ॥"
इति तन्त्रसारः ॥

शोभनदीप्तिश्च ॥

सुप्रभातं, क्ली, (सुष्ठु प्रभातम् ।) शुभसूचक-प्रातःकालः । (यथा, भ्रमराष्टके । ८ ।

"रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पद्मजालम् ।
इत्थं विचिन्तयति कोषगते द्विरेफे
हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार ॥")

प्राभातिकपाठ्यमङ्गलवाक्यम् । यथा,—

सुकेशिरुवाच ।

"किं तदुक्तं सुप्रभातं शङ्करेण महात्मना ।
प्रभाते यत् पठन्मर्त्यो मुच्यते पापबन्धनात् ॥

ऋषय ऊचुः ।

श्रूयतां राक्षसश्रेष्ठ सुप्रभातं हरोदितम् ।
श्रुत्वा स्मृत्वा पठित्वा च सर्व्वपापैः प्रमुच्यते ॥

ब्रह्मा मुरारिस्त्रिपुरान्तकारी
भानुः शशी भूमिसुतो बुधश्च ।
गुरुः सशुक्रः सह भानुजेन
कुर्व्वन्तु सर्व्वे मम सुप्रभातम् ॥

भृगुर्व्वशिष्ठः क्रतुरङ्गिराश्च
मनुः पुलस्त्यः पुलहः सगौतमः ।
रैभ्यो मरीचिश्च्यवनोऽथ दक्षः
कुर्व्वन्तु सर्व्वे मम सुप्रभातम् ॥

सनत्कुमारः सनकः सनन्दनः
सनातनोऽप्यासुरिपिङ्गलौ च ।
सप्तस्वराः सप्तरसातलाश्च
कुर्व्वन्तु सर्व्वे मम सुप्रभातम् ॥

पृथ्वी सगन्धा सरसास्तथापः
सस्पर्शवायुर्ज्ज्वलितश्च तेजः ।
नभः सशब्दं महता सहैव
कुर्व्वन्तु सर्व्वे मम सुप्रभातम् ॥

सप्तार्णवाः सप्त कुलाचलाश्च
सप्तर्षयो द्वीपवराश्च सप्त ।
भूरादि कृत्वा भुवनानि सप्त
कुर्व्वन्तु सर्व्वे मम सुप्रभातम् ॥

इत्थं प्रभाते परमं पवित्रं
यः संस्मरेद्वा शृणुयाच्च भक्त्या ।
दुःस्वप्ननाशो ननु सुप्रभाते
भवेच्च सत्यं भगवत्प्रसादात् ॥”

इति वामनपुराणे १४ अध्यायः ॥

सुप्रभाता, स्त्री, नदीविशेषः । यथा । अरुणा नृमणा आङ्गिरसी सावित्री सुप्रभाता ऋतम्भरा सत्यम्भरेति महानद्यः । इति श्रीभागवते । ५ । २० । ४ ॥ शोभनप्रभातयुता रात्रिश्च ॥

सुप्रयुक्तः, त्रि, (सु+प्र+युज+क्तः ।) शोभनप्रयोगविशिष्टः । (यथा, साहित्यदर्पणे । १ परिच्छेदे ।
“एकः शब्दः सुप्रयुक्तः सम्यक् ज्ञातः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति ॥”)

सुप्रयुक्तशरः, पुं, (सुप्रयुक्तः शरो येन ।) कृतहस्तः । इति हेमचन्द्रः ॥

सुप्रयोगविशिखः, पुं, सुशिक्षितबाणमोचकः । साध्यसाधनक्षमत्वात् शोभनः प्रयोगो निक्षेपो यस्य स सुप्रयोगः तादृशो विशिखो बाणो यस्य स तथा । कृतहस्तः सुप्रयोगविशिखः कृतपुङ्खवत् । इत्यमरभरतौ । २ । ८ । ६८ ॥

सुप्रलभ्यः, पुं, (सु+प्र+लभ+खल् । “उपसर्गात् खल्घञोः ।” ७ । १ । ६७ । इति नुम् ।) सुखलभ्यः । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥

सुप्रलापः, पुं, (सु+प्र+लप+घञ् ।) सुवचनम् । इत्यमरः । १ । ६ । ३८ ॥

सुप्रसन्नः, पुं, (सुष्ठु प्रसन्नः ।) कुबेरः । इति शब्दमाला ॥ सुप्रसादयुक्ते, त्रि ॥ (यथा, मार्कण्डेये । १०५ । ७ ।
“तथानुकम्पां पुत्राणां सुप्रसन्नो रवे मम ।
कुरु प्रसन्नार्त्तिहर स्थितिकर्त्ता त्वमुच्यते ॥”)

सुप्रसन्नकः, पुं, (सुप्रसन्न+संज्ञायां कन् ।) कृष्णार्जकः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुप्रसरा, स्त्री, (सुप्रसरतीति । सु+प्र+सृ+अच् । टाप् ।) प्रसारिणी लता । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुप्रसादः, पुं, (सुष्ठु प्रसादो यस्य ।) शिवः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ (विष्णुः । इति महाभारतम् । १३ । १४९ । ३९ ॥ सु+प्र+सद्+घञ् ।) सुप्रसन्नता च । (प्रसन्नतायुक्ते, त्रि । यथा, महाभारते । १२ । ५७ । ३१ ।
“क्षिप्रकारी जितक्रोधः सुप्रसादो महामनाः ॥”)

सुप्रिया, स्त्री, (सुष्ठु प्रिया ।) सुन्दरस्त्री । अस्याः प्रमाणं सुभगाशब्दे द्रष्टव्यम् ॥ (अप्सरोविशेषः । यथा, महाभारते । १ । १२३ । ६० ।
“असिता च सुबाहुश्च सुप्रिया सुवपुस्तथा ॥”)

सुफलः, पुं, (सुष्ठु फलं यस्य ।) कर्णिकारः । दाडिमः । बदरः । मुद्गः । इति राजनिर्घण्टः ॥ कपित्थः । इति शब्दचन्द्रिका ॥ शोभनफलयुक्ते, त्रि । (यथा, मार्कण्डेये । १२० । १६ ।
“सुफलानि च शस्यानि रसवन्ति फलानि च ॥”
शोभनफले, क्ली ॥ * ॥ सुष्ठु फला यस्येति विग्रहे शोभनफलाविशिष्टे, त्रि । यथा, महाभारते । ४ । ४० । १२ ।
“सुफलश्चित्रकोषश्च किङ्किणीशायको महान् ।
कस्य हेमत्सरुर्दिव्यः खड्गः परमनिर्म्मलः ॥”)

सुफला, स्त्री, (सुष्ठु फलं यस्याः ।) इन्द्रवारुणी । कुष्माण्डी । काश्मरी । कदली । कपिलद्राक्षा । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुफेनः, पुं, (सुष्ठु फेनः ।) समुद्रफेनः । इति राजनिर्घण्टः ॥ (क्वचित् क्लीवलिङ्गोऽपि दृश्यते ॥)

सुबन्धः, पुं, (सुष्ठु बन्धो यस्य ।) तिलः । इति शब्दचन्द्रिका ॥

सुब्रह्मण्यः, पुं, कार्त्तिकेयः । इति केचित् ॥

सुब्रह्मवासुदेवः, पुं, ब्रह्मरूपवसुदेवसुतः । यथा,—
“सुब्रह्मवासुदेवाय गोब्राह्मणहिताय च ।
शान्तिरस्तु शिवञ्चास्तु इत्युक्त्वा तान् विसर्ज्जयेत् ॥”
इति तिथ्यादितत्त्वे जन्माष्टमीप्रकरणम् ॥

सुभगः, पुं, (सुष्ठु भगं माहात्म्यं श्रीर्वा यस्य ।) टङ्कणः । चम्पकः । रक्ताम्लानः । अशोकः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुभगः, त्रि (सुष्ठु भगं श्रीर्यस्य ।) सुहृद्यः । तत्पर्य्यायः । चतुष्कः २ । इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, रघुः । ११ । ८० ।
“केवलोऽपि सुभगो नवाम्बुदः
किं पुनस्त्रिदशचापलाञ्छितः ॥”)
शोभनैश्वर्य्यादियुक्तश्च ॥

सुभगा, स्त्री, (सुष्ठु भगं यस्याः ।) कैवर्त्ती । शालपर्णी । हरिद्रा । नीलदूर्व्वा । तुलसी । प्रियङ्गुः । कस्तूरी । सुवर्णकदली । इति राजनिर्घण्टः ॥ वनमल्ली । इति शब्दरत्नावली ॥ पतिप्रिया । यथा, माण्डव्यः ।
“मघा त्यक्त्वं परित्यज्य यदा सिंहे गुरुर्भवेत् ।
तत्राब्दे कन्यका चोढा सुभगा सुप्रिया भवेत् ॥”
इति मलमासतत्त्वम् ॥

सुभगासुतः, पुं, (सुभगायाः सुतः ।) सौभागिनेयः । इत्यमरः । २ । ६ । २४ ॥

सुभङ्गः, पुं, (सुखेन भज्यते इति । सु+भञ्ज+घञ् ।) नारिकेलवृक्षः । इति जटाधरः ॥

सुभद्रः, पुं, (सुष्ठु भद्रं यस्मात् ।) विष्णुः । इति शब्दमाला ॥ राजभेदः । इति हेमचन्द्रः ॥ (पौरवीगर्भसम्भूतो वसुदेवस्य पुत्रविशेषः । यथा, भागवते । ९ । २४ । ४७ ।
“सुभद्रो भद्रबाहुश्च दुर्म्मदो भद्र एव च ।
पौरव्यास्तनया ह्येते भूताद्या द्वादशाभवन् ॥”)
शोभनमङ्गलयुक्ते, त्रि ॥ (यथा, महाभारते । १ । २३३ । १७ ।
“त्वत्त एताः पुनः शुक्र वीरुधो हरितच्छदाः ।
जायन्ते पुष्करिण्यश्च सुभद्रश्च महोदधिः ॥”)

सुभद्रकः, पुं, (सुष्ठु भद्रमस्मात् । ततः कन् ।) देवरथः । यथा, शब्दरत्नावल्याम् ।
“व्योमयानं दिव्यरथो विमानोऽस्त्री सुभद्रकः ॥”
बिल्ववृक्षः । इति शब्दचन्द्रिका ॥

सुभद्रा, स्त्री, (शोभनं भद्रमस्याः ।) श्यामालता । इति शब्दमाला ॥ (अस्याः पर्य्यायो यथा,—
“कालपेषी महाश्यामा सुभद्रोत्पलशारिवा ।
दीर्घमूला च पालिन्दी मसूरविदलाच सा ॥”
इति वैद्यकरत्नमालायाम् ।)
घृतमण्डा । इति शब्दचन्द्रिका ॥ काश्मरी । इति राजनिर्घण्टः ॥ श्रीकृष्णभगिनी । सा च अर्ज्जुनभार्य्या । यथा,—
श्रीकृष्ण उवाच ।
“ममैषा भगिनी पार्थ सारणस्य सहोदरा ।
सुभद्रा नाम भद्रं ते पितुर्मे दयिता सुता ।
यदि ते वर्त्तते बुद्धिर्व्वक्ष्यामि पितरं स्वयम् ॥
अर्ज्जुन उवाच ।
दुहिता वसुदेवस्य वासुदेवस्य च स्वसा ।
रूपेण चैषा सम्पन्ना कमिवैषा न मोहयेत् ॥
निवृत्तश्चार्ज्जुनस्तत्र विवाहं कृतवान् प्रभुः ।
पूर्णे तु द्वादशे वर्षे खाण्डवप्रस्थमागतः ॥”
इति महाभारते आदिपर्व्वणि २२१ अध्यायः ॥
(पीठस्थानस्थदेवीविशेषः । यथा, देवीभागवते । ७ । ३० । ७५ ।
“उत्पलावर्त्तके लोला सुभद्रा शोणसङ्गमे ॥”)

सुभद्राणी, स्त्री, त्रायन्ती । इति रत्नमाला ॥ बहुला इति ख्याता ॥

सुभद्रेशः, पुं, (सुभद्राया ईशः ।) अर्ज्जुनः । इति हेमचन्द्रः ॥

सुभाञ्जनः, पुं, (सु शोभनं अञ्जनं यस्मात् ।) शोभाञ्जनवृक्षः । इति भरतद्विरूपकोषः ॥

सुभाषितः, पुं, (सुष्ठु भाषितं यस्य ।) बुद्धभेदः । यथा,—
“कोमाभो द्वादशाक्षश्च वीतरागः सुभाषितः ॥”
इति त्रिकाण्डशेषः ॥
सुन्दरकथिते, त्रि ॥ (सुन्दरवाक्यविशिष्टे च त्रि । यथा, महाभारते । ३ । ६० । ४ ।
“नलश्च हृतसर्व्वस्वमुपलभ्येदमब्रवीत् ।
बृहत्सेनामतियशां तां धात्रीं परिचारिकां ।
हितां सर्व्वार्थकुशलामनुरक्तां सुभाषिताम् ॥” *
सुष्ठु भाषितम् । सुवाक्ये, क्ली ॥ यथा, हितोपदेशे ।
“विषादप्यमृतं ग्राह्यममेध्यादपि काञ्चनम् ।
नीचादप्युत्तमां विद्यां बालादपि सुभाषितम् ॥”)

सुभिक्षः, त्रि, (सुखेन लभ्या भिक्षा यत्र ।) सुलभभैक्षद्रव्यम् । सुलभभैक्षयुक्तकालादिश्च । यथा,—
“द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्य्यमण्डलभेदिनौ ।
दाताऽन्नस्य तु दुर्भिक्षे सुभिक्षे वस्त्रहेमदः ॥”
इति वह्निपुराणे आह्निकतपोनामाध्यायः ॥
किञ्च ।
“श्वेते क्षेमसुभिक्षं ब्राह्मणपीड़ाश्च निर्दिशेद्दाहौ ॥”
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥

सुभिक्षा, स्त्री, (सुष्ठु भिक्ष्यतेऽसौ । सु+भिक्ष+घञ् ।) धातकीपुष्पिका । इत्यमरः । २।४।१२४॥ (अस्याः पर्य्यायो यथा,—

"धातकी धातुपुष्पी च ताम्रपुष्पी च कुञ्जरा ।
सुभिक्षा बहुपुष्पी च वह्निज्वाला च सा स्मृता ॥"
इति भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे प्रथमे भागे ॥)

सुभीरकः, पुं, पलाशवृक्षः । इति हारावली ॥

सुभूः, त्रि, (शोभना भूरुत्पत्तिर्यस्य ।) सुजन्मा । इति मुग्धबोधव्याकरणम् ॥ (शोभना भूर्भूमिः ।) उत्कृष्टभूमौ, स्त्री । तत्सम्बन्धिनि, त्रि ॥

सुभूतिकः, पुं, (सुष्ठु भूतिर्यत्र । कप् ।) बिल्ववृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुभूमः, पुं, कार्त्तवीर्य्यः । स तु जिनानां अष्टम-चक्रवर्त्ती । इति हेमचन्द्रः ॥

सुभृशं, क्ली, (सुष्ठु भृशम् ।) बाढ़म् । अतिशयम् । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, देवीभागवते । २ । ६ । २६ ।

"शप्स्यामि तं द्विजश्रेष्ठं येन मन्त्रः समर्पितः ।
त्वाञ्चापि सुभृशं कुन्ति ! नो चेत् मां त्वं भजि-
ष्यसि ॥")

तद्वति, त्रि ॥

सुभ्रुः } स्त्री, (सुष्ठु भ्रुर्यस्याः । वा ऊङ् ।) सुभ्रूः } नारी । इति जटाधरः ॥ (शोभना भ्रूः । यथा, भागवते । ३ । २३ । ३२ ।

"सुभ्रुवा सुदता स्निग्धापाङ्गेन चक्षुषा ।
पद्मकोषस्पृधा नीलैरलकैश्च लसन्मुखम् ॥")

सुन्दरभ्रूयुक्ते, त्रि ॥ (यथा, भागवते ।४।८।४५।

"सुनसं सुभ्रुवं चारु कपोलं सुरसुन्दरम् ॥")

सुमं, क्ली, (सुष्ठु मातीति । मा + कः ।) पुष्पम् । इत्यमरटीकायां भरतः ॥ (यथा, राजेन्द्रकर्ण-पूरे । ७४ ।

"किं हारैः किमु कङ्कणैः किमु सुमैः किं कर्णपूरैरलं
केयूरैर्मणिकुण्डलैरलमलं साडम्बरैरम्बरैः ।
पुंसामेकमखण्डनं पुनरिदं शम्भोर्मते मण्डनं
यन्निष्पीडितपार्व्वणेन्दुशकलस्यन्दोपमाः
सूक्तयः ॥")

सुमः, पुं, (सुष्ठु माति सौन्दर्य्यमिति । मा + कः ।) चन्द्रः । नभः । इति संक्षिप्तसारोणादिवृत्तिः ॥

सुमङ्गला, स्त्री, (सुष्ठु मङ्गलं यस्याः ।) वाय-सोली । इति रत्नमाला ॥ माकड़हाता इति माकड़िया इति च भाषा ॥ अर्हतां माता । इति हेमचन्द्रः ॥ कामाख्यादेशीयनदीविशेषः । यथा, कालिकापुराणे ८१ अध्याये ।

"नदी सुमङ्गला नाम हिमपर्व्वतनिर्गता ।
पूर्व्वस्यां मणिकूटस्य सदा स्रवति शोभना ॥
मणिकूटं समारुह्य यस्तां पश्यति वै नदीम् ।
स गङ्गास्नानजं पुण्यमवाप्य त्रिदिवं व्रजेत् ॥"

अतिशयक्षेमयुक्ते, त्रि ॥

सुमतः, त्रि, सुन्दरज्ञानविषयः । सुशब्दपूर्व्वकमन-धातोः क्तप्रत्ययेन निष्पन्नः ॥

सुमतिः, पुं, (शोभना मतिर्यस्य ।) वर्त्तमानकल्पी-यार्हद्भेदः । भूतकल्पीयार्हद्भेदः । इति हेम-चन्द्रः ॥ सुन्दरमतियुक्ते, त्रि । (यथा, भाग-वते । १० । ६० । ४८ ।

"त्वं वै समस्तपुरुषार्थमयः फलात्मा
यद्वाञ्छया सुमतयो विसृजन्ति कृत्स्नम् ।
तेषां विभो समुचितो भवतः समाजः
पुंसः स्त्रियाश्च रतयोः सुखदुःखिनोर्न ॥" ॥

शोभना मतिः ।) शोभनमतौ, स्त्री ॥

सुमतिः, स्त्री, (शोभना मतिर्यस्याः ।) विष्णु-यशसः पत्नी । सा कल्किमाता । यथा,—

"शम्भले विष्णुयशसो गृहे प्रादुर्भवाम्यहम् ।
सुमत्यां मातरि विभोः कन्यायां तन्निदेशतः ।
चतुर्भिर्भ्रातृभिर्देव करिष्यामि कलिक्षयम् ॥"
इति कल्किपुराणे २ अध्यायः ॥

अपि च । तत्रैव ।

"सुमत्यां विष्णुयशसा गर्भमाधत्त वैष्णवम् ॥"
"सुमतिस्तं सुतं लब्ध्वा विष्णुं जिष्णुं जगत्पतिम् ।
पूर्णकामा विप्रमुख्यानाहूयादाद्गवां शतम् ॥"

सुमदनः, पुं, (सुष्ठु मदयति कोकिलादीनिति । सु + मद + णिच् + ल्युः ।) आम्रवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुमदात्मजा, स्त्री, (सुमदः आत्मज इव यस्याः । सुमदस्य आत्मजेव इति वा ।) अप्सराः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सुमधुरं, क्ली, (सुष्ठु मधुरम् ।) अत्यर्थमधुर-वाक्यम् । तत्पर्य्यायः । सान्त्वम् २ । इति हेम-चन्द्रः ॥ अतिशयमधुररसयुक्ते, त्रि ॥ (यथा, महाभारते । १३ । ५४ । १५ ।

"गीतध्वनिं सुमधुरं तथैवाध्यापनध्वनिम् ।
हंसान् सुमधुरांश्चापि तत्र शुश्राव पार्थिवः ॥")

सुमधुरः, पुं, (सुष्ठु मधुरो रसो यत्र ।) जीव-शाकः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुमनः, पुं, (सुष्ठु मन्यते इति । सु + मन + अच् ।) गोधूमः । इत्यमरः । २ । ६ । १८ ॥ (अस्य पर्य्यायो यथा,—

"गोधूमः सुमनोऽपि स्यात्त्रिविधः स च कीर्त्तितः ।
महागोधूम इत्याख्यः पश्चाद्देशात् समागतः ॥"
इति भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे प्रथमे भागे ॥)

धुस्तूरः । इति शब्दमाला ॥ मनोहरे, त्रि । इति शब्दरत्नावली ॥

सुमनः, [स्] क्ली, (शोभनं मनो यस्मात् ।) पुष्पम् । इत्यमरः ॥ (यथा, भागवते । ४ । १५ । ७ ।

"प्रशंसन्ति स्म तं विप्रा गन्धर्व्वप्रवरा जगुः ।
ससृजुः सुमनोधाराः सिद्धा नृत्यन्ति स्वःस्त्रियः ॥")

उत्तममनश्च । शोभनमनोयुक्ते, त्रि ॥ (यथा, महाभारते । १ । ४६ । १० ।

"ब्राह्मणाः क्षत्त्रिया वैश्याः शूद्राश्चैव स्वकर्म्मसु ।
स्थिताः सुमनसो राजंस्तेन राज्ञा स्वधि-
ष्ठिताः ॥")

सुमनःपत्रिका, स्त्री, (सुमनसो जात्याः पत्रिका ।) जातीपत्रिका । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुमनःफलं, क्ली, (सुमनसो जात्याः फलम् ।) जातीफलम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुमनःफलः, पुं, (सुष्ठु मनो यस्मात् तादृशं फलं यस्य ।) कपित्थवृक्षः । इति शब्दचन्द्रिका ॥

सुमनसः, स्त्री भूम्नि, पुष्पम् । इत्यमरः ।२।४।१७॥ सुप्रीतं मन आभिरिति सुमनसः नित्यबहुवच-नान्तत्वात् बहुवचननिर्देशः । भूम्नि स्त्रियः सुमनसः । इति रत्नकोषः ॥ बह्वश्च समा-सिकता अप् सुमनसोऽप्सरस इति भूम्नि वाम-नोऽपि । भूम्नि भूरिप्रयोगः । एकत्वञ्च दृश्यते । सुमनाः पुष्पमालत्योः स्त्रियां ना धीरदेवयो-रिति मेदिनी । वेश्या श्मशानसुमना इव वर्ज्ज-नीया इति शूद्रकप्रयोगश्च । सुमनसः क्लीवत्व-मपि पुष्पं सुमनः कुसुममिति नाममालादिदर्श-नात् । अप्रत्याख्येये दधिसुमनसीति क्लीवत्वं छान्दसमित्येके । इति भरतः ॥ (यथा, महा-भारते । १३ । ६८ । २०—२२ ।

"मनो ह्लादयते यस्मात् श्रियञ्चापि ददाति च ।
तस्मात् सुमनसः प्रोक्ता नरैः सुकृतकर्म्मभिः ॥
देवताभ्यः सुमनसो यो ददाति नरः शुचिः ।
तस्य तुष्यन्ति वै देवास्तुष्टाः पुष्टिं ददत्यपि ॥
यं यमुद्दिश्य दीयेरन् देवं सुमनसः प्रभो ।
मङ्गलार्थं स तेनास्य प्रीतो भवति दैत्यप ! ॥")

सुमना, स्त्री, जातीपुष्पवृक्षः । इति शब्दरत्ना-वली ॥ (यथा, भरतधृतसुश्रुतः ।

"सुमनायाश्च पत्राणि पटोलारिष्टयोस्तथा ॥")

सुमनाः, [स्] पुं, (शोभनं मनो यस्य ।) देवता । इत्यमरः । १ । १ । ७ ॥ सुष्ठु मन्यते सुमनाः अस् । शोभनं मनोऽस्य इति वा । इति भरतः ॥ पण्डितः । इति मेदिनी ॥ पूतिकरञ्जः । इति शब्दमाला ॥ निम्बः । महाकरञ्जः । गोधूमः । इति राजनिर्घण्टः ॥ (शोभनचित्ते, त्रि । यथा, महाभारते । ३ । २६ । २१ ।

"ततस्ते ब्राह्मणाः सर्व्वे वकं दाल्भ्यमपूजयन् ।
युधिष्ठिरे स्तूयमाने भूयः सुमनसोऽभवन् ॥")

सुमनाः, [स] स्त्री, (सुष्ठु मनो यस्याः ।) पुष्पम् । मालती । इति मेदिनी ॥ जाती । शतपत्री । इति राजनिर्घण्टः ॥ "सुष्ठु मन्यते जनैर्मनोज्ञ-त्वात् शोभनं मनोऽस्यामिति वा सुमनाः सान्ता स्त्रीलिङ्गा च ।

'स्त्रियां सुमनसो भूम्नि पुष्पे जातौ च भेदतः ।
त्रिष्वपि यदा दृष्टस्तदा भेदेन शिष्यते ॥'
इति व्याड़िः ।

'सुमनाः पुष्पमालत्योः स्त्रियां नाधीरदेवयोः ।'
इति सान्तेषु मेदिनी । आवन्तापि सुमनास्ति ।
'सुमनायाश्च पत्राणि पटोलारिष्टयोस्तथा ।'
इति सुश्रुतः ।" इत्यमरटीकायां भरतः ॥

सुमनोरजः, [स्] क्ली, (सुमनसां रजः ।) परागः । इत्यमरः । २ । ४ । १७ ॥

सुमन्तुः, पुं, मुनिविशेषः । स चाथर्व्ववेदशाखा-प्रचारकः । वज्रवारकश्च । यथा,—

"तत्रर्ग्वेदधरः पैलः सामगो जैमिनिः कविः ।
वैशम्पायन एवैको निष्णातो यजुषामुत ॥
अथर्व्वाङ्गिरसामासीत् सुमन्तुर्दारुणो मुनिः ।
इतिहासपुराणानां पिता मे रोमहर्षणः ॥"
इति श्रीभागवते । १ । ४ । २०—२२ ॥

"जैमिनिश्च सुमन्तुश्च वैशम्पायन एव च।
पुलस्त्यः पुलहश्चैव षडेते वज्रवारकाः॥"
इति पुराणम्॥

(सुष्ठु मन्तुरपराधो यस्य।) अल्पापराधिनि, त्रि॥

सुमन्त्रः, पुं, कल्किदेवस्य ज्येष्ठभ्राता। यथा,—
"कल्केर्ज्येष्ठास्त्रयः शूराः कविप्राज्ञसुमन्त्रकाः।
तातमातृप्रियकरा गुरुविप्रप्रतिष्ठिताः॥"
इति कल्किपुराणे २ अध्यायः॥
अपि च।
"विशाखयूपभूपालः प्रायात् साधुजनप्रियः।
कल्किं द्रष्टुं हरेरंशमाविर्भूतञ्च सम्भले॥
कविं प्राज्ञं सुमन्त्रञ्च पुरस्कृत्य महाप्रभम्।
गार्ग्यभार्ग्यविशालैश्च ज्ञातिभिः परिवारितम्॥"
इति तत्रैव ३ अध्यायः॥
दशरथराजस्य सारथिः मन्त्री च। यथा,—
"तद्गच्छ त्वरितं सूत राजपुत्रं यशस्विनम्।
राममानय भद्रं ते नात्र कार्य्या विचारणा॥
अश्रुत्वा राजवचनं कथं गच्छामि भामिनि।
तच्छ्रुत्वा मन्त्रिणो वाक्यं राजा मन्त्रिणमब्रवीत्॥
सुमन्त्र रामं द्रक्ष्यामि शीघ्रमानय सुन्दरम्॥"
इति वाल्मीकीये रामायणे अयोध्याकाण्डे १४ सर्गः॥

सुमित्रः, पुं, चतुर्व्विंशतिवर्षमानार्हत्सिद्धान्तर्गत-विंशार्हत्पिता। इति हेमचन्द्रः॥ इक्ष्वाकु-वंशीयबृहद्बलान्वयः सुरथराजपुत्त्रः। इति विष्णुपुराणे ४ अंशे २२ अध्यायः॥

सुमित्रभूः, पुं, सगरः। स तु जिनानां चक्रवर्त्ति-भेदः। इति हेमचन्द्रः॥

सुमित्रा, स्त्री, दशरथराजपत्नी। सा तु लक्ष्मण-शत्रुघ्नमाता। यथा, भट्टौ १ सर्गे।
"प्रासोष्ट शत्रुघ्नमुदारचेष्ट-
मेका सुमित्रा सह लक्ष्मणेन॥"
तत्पर्य्यायः। लक्ष्मणप्रसूः २। इति शब्दरत्ना-वली॥

सुमुखं, क्ली, नखक्षतविशेषः। इति शब्दरत्ना-वली॥ (शोभनं मुखमिति।) उत्तमास्यञ्च॥

सुमुखः, पुं, (शोभनं मुखं यस्य।) गरुड़पुत्त्रः। (यथा, महाभारते। ५। १०१। २।
"वैनतेयसुतैः सूत षड़्भिस्ततमिदं कुलम्।
सुमुखेन सुनाम्ना च सुनेत्रेण सुवर्च्चसा।
सुरुचा पक्षिराजेन सुबलेन च मातले!॥")
गणेशः। शाकभेदः। नागभेदः। इति शब्द-रत्नावली॥ (यथा, महाभारते। १।३५।१४।
"हस्तपिण्डः पिठरकः सुमुखः कौणपाशनः।
कुठरः कुञ्जरश्चैव तथा नागः प्रभाकरः॥")
पण्डितः। इति विश्वः॥ सिताव्र्ज्जकः। वन-वर्व्वरिका। वर्व्वरः। इति राजनिर्घण्टः॥

सुमुखः, त्रि, (सुष्ठु, मुखं यस्य।) मनोज्ञः। सुन्दराननः। इति शब्दरत्नावली॥ (यथा, भागवते। ४। २१। १५।
"सुनासः सुमुखः सौम्यः पीनांसः सुद्विज-स्मितः॥")

सुमुखसूः, पुं, (सुमुखस्य सूरुत्पत्तिर्यस्मात्।) गरुड़ः। इति त्रिकाण्डशेषः॥ उत्तमाननपुत्त्र-पिता च॥

सुमुखा, स्त्री, (शोभनं मुखं यस्याः। टाप्।) सुन्दरी नारी। सुन्दरानना। इति भरत-द्विरूपकोषः॥ सुमुखा शाला। इति मुग्ध-बोधव्याकरणम्। दर्पणः। इति केचित्॥

सुमुखी, स्त्री, (सुष्ठु मुखं यस्याः। "स्वाङ्गा-च्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्।" ४। १। ५४। इति ङीष्।) सुन्दरी नारी। सुन्दरानना। (यथा, कुमारे। १। २६।
"उ मेति मात्रा तपसो निषिद्धा
पश्चादुमाख्यां सुमुखी जगाम॥")

सुमुष्टिः, पुं, (मुष वधने + क्तिन्। शोभना मुष्टि-र्यस्मात्।) विषमुष्टिक्षुपः। इति राजनिर्घण्टः॥

सुमूलः, पुं, (सुष्ठु मूलं यस्य।) श्वेतशिग्रुः। इति राजनिर्घण्टः॥

सुमूलकं, क्ली, (शोभनं मूलं यस्य। कप्।) गर्ज्जरम्। इति राजनिर्घण्टः॥

सुमूला, स्त्री, (शोभनं मूलं यस्याः।) शालपर्णी। पृश्निपर्णी। इति राजनिर्घण्टः॥ सुन्दरमूल-युक्ते, त्रि॥

सुमेखलः, पुं, (शोभना मेखला यस्मात्।) मुञ्जः। इति राजनिर्घण्टः॥ (अस्य पर्य्यायो यथा,—
"मुञ्जो मुञ्जातको वाणः स्थूलदर्भः सुमेखलः॥"
इति भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे प्रथमे भागे॥)
शोभनमेखलायुक्ते, त्रि॥

सुमेधाः, [स्] स्त्री, (सुष्ठु मेधा अस्याः। "नित्यमसिच् प्रजामेधयोः।" ५। ४। १२२। इति असिच्।) ज्योतिष्मती। (सुष्ठु मेधा यस्य।) सुबुद्धौ, त्रि। इति मेदिनी॥ (यथा, भागवते। ६। ४। ३।
"इमे अङ्गिरसः सत्रमासतेऽद्य सुमेधसः॥")

सुमेरुः, पुं, (सुष्ठु मिनोति क्षिपति ज्योतींषि इति। सु + मि + "मिपीभ्यां रुः।" उणा० ४। १०१। रुः।) पर्व्वतविशेषः। तत्पर्य्यायः। मेरुः २ हेमाद्रिः ३ रत्नसानुः ४ सुरालयः ५। इत्य-मरः। १। १। ५२॥ अमराद्रिः ६ भूस्वर्गः ७। इति जटाधरः॥ तद्विवरणं यथा,—
"एषां मध्ये इलावृतं नामाभ्यन्तरवर्षं यस्य नाभ्यामवस्थितः सर्व्वतः सौवर्णः कुलगिरि-राजो मेरुर्द्वीपायामसमुन्नाहः कर्णिकाभूतः कुवलयकमलस्य मूर्द्धनि द्वात्रिंशत्सहस्रयोजन-विततो मूले षोड़शसहस्रं तावतान्तर्भूम्यां प्रविष्टः॥"७॥
"मन्दरो मेरुमन्दरः सुपार्श्वः कुमुद इत्ययुत-योजनविस्तारोन्नाहा मेरोश्चतुर्दिशमवष्टम्भ-गिरय उपक्लृप्ताः॥ ११॥
चतुर्षु एतेषु चूतजम्बूकदम्बन्यग्रोधाः चत्वारः पादपप्रवराः पर्व्वतकेतव इवाधिसहस्रयोजनो-न्नाहास्तावद्विटपविततयः शतयोजनपरि-णाहाः॥ १२॥
ह्रदाश्चत्वारः पयोमध्विक्षुरसमृष्टजलाः यदुपस्पर्शिन उपदेवगणा योगैश्वर्य्याणि स्वाभा-विकानि भारतर्षभ धारयन्ति॥ १३॥
देवोद्यानानि च भवन्ति चत्वारि नन्दनं चैत्ररथं वैभ्राजकं सर्व्वतोभद्रमिति॥"१४॥
"मेरोर्मूर्द्धनि भगवत आत्मयोनेर्मध्यत उप-क्लृप्तां पुरीमयुतयोजनसाहस्रीं समचतुरस्रां शातकौम्भीं वदन्ति॥ २८॥
तामनुपरितो लोकपालानामष्टानां यथादिशं यथारूपं तुरीयमानेन पुरोऽष्टावुपक्लृप्ताः।"२९॥
इति श्रीभागवते ५ स्कन्धे १६ अध्यायः॥
"अस्मिन्नैन्द्रीं पुरीं पूर्व्वस्मां मेरोर्देवधानीं नाम दक्षिणतो याम्यां संयमनीं नाम पश्चा-द्वारुणीं निम्लोचनीं नाम उत्तरतः सौम्यां विभावरीं नाम।"इति च तत्रैव।५।२१।७॥*॥
अपि च।
"परिमण्डलस्तयोर्मध्ये मेरुः कनकपर्व्वतः।
चातुर्व्वर्णः स सौवर्णश्चतुरस्रः समुच्छ्रितः॥
नानावर्णः स पार्श्वे तु पूर्व्वान्ते श्वेत उच्यते।
पीतन्तु दक्षिणं तत्र भृङ्गपत्रनिभं परम्॥
उत्तरं तस्य रक्तं वै इति वर्णसमन्वितः।
मेरुस्तु शुशुभे दिव्यो राजवत् समधिष्ठितः॥
आदित्यतरुणाभासो विधूम इव पावकः।
योजनानां सहस्राणि चतुरशीतिरुच्छ्रितः॥
प्रविष्टः षोड़शाधस्तादष्टाविंशतिविंशतिः।
विस्तारात्त्रिगुणस्तस्य परिणाहः समन्ततः॥
स पर्व्वतो महादिव्यो दिव्यौषधिसमन्वितः।
भुवनैरावृतः सर्व्वैर्जातरूपपरिष्कृतैः॥
तत्र देवगणाः सर्व्वे गन्धर्व्वोरगराक्षसाः।
शैलराजे प्रमोदन्ते सर्व्वतोऽप्सरसस्तथा॥
स तु मेरुः परिवृतो भुवनैर्भूतभावनैः।
यस्येमे चतुरो देशा नानापार्श्वेषु संस्थिताः॥
भद्राश्वो भारतश्चैव केतुमालश्च पश्चिमे।
उत्तराश्चैव कुरवः कृतपुण्यप्रतिश्रयाः॥
विष्कम्भपर्व्वतास्तद्वन्मन्दरो गन्धमादनः।
विपुलश्च सुपार्श्वश्च सर्व्वरत्नविभूषितः॥"
इति मात्स्ये ८५ अध्यायः॥*॥
किञ्च।
"मध्ये पृथिव्यामद्रीन्द्रो भास्वान् मेरुर्हिरण्मयः।
योजनानां सहस्राणि चतुरशीतिः समुच्छ्रितः॥
प्रविष्टः षोड़शाधस्ताद्धरण्यां धरणीधरः।
तावत्प्रमाणा पृथिवी पर्व्वतस्य समन्ततः॥
तस्य शृङ्गत्रयं मूर्द्ध्नि स्वर्गो यत्र प्रतिष्ठितः।
नानाद्रुमलताकीर्णं नानारत्नोपशोभितम्॥
मध्यगं पश्चिमं पूर्व्वं मेरोः शृङ्गाणि त्रीणि वै।
शतयोच्छ्रितमात्राणि द्वे शृङ्गे तस्य मध्यतः॥
मध्यस्थं स्फाटिकं शृङ्गं वैदूर्य्यरत्नकामयम्।
इन्द्रनीलमयं पूर्व्वं माणिक्यं पश्चिमं स्मृतम्॥
योजनानां सहस्राणि नियुतानि चतुर्दश।
उच्छ्रितं मध्यगं शृङ्गं स्वर्गो यत्र प्रतिष्ठितः॥
प्रयुतान्तरितं शृङ्गं मूर्द्ध्नि च्छत्राकृति स्थितम्।
पूर्व्वमध्यमशृङ्गाणां सकलं मध्यमस्य च॥

त्रिपृष्ठो नाकपृष्ठो वा अमरःशान्तिनिर्वृती ।
आनन्दोऽथ प्रमोदश्च स्वर्गाः शृङ्गे च मध्यमे ॥
श्वेतश्च पौष्टिकश्चैव उपशोभनमन्मथौ ।
आह्लादः स्वर्गराजश्च स्वर्गाः शृङ्गे तु पश्चिमे ॥
निर्म्ममो निरहङ्कारः सौभाग्यश्चातिनिर्म्मलः ।
स्वर्गाश्चैते द्विजश्रेष्ठ पूर्व्वशृङ्गे समर्थिताः ॥
एकविंशत्यमी स्वर्गा निविष्टा मेरुमूर्द्धनि ॥ * ॥
अहिंसादानकर्त्ता च यज्ञानां तपसां तथा ।
तेषु तेषु वसन्ति स्म जनाः क्रोधविवर्ज्जिताः ।
जलप्रवेशी त्वानन्दं प्रमोदं वह्निसाहसः ॥
भृगुप्रपाते सौख्यस्तु रणे चैवास्य निर्म्मलः ॥
अनशने तु संवासे ततो गच्छेत्त्रिविष्टपम् ।
क्रतुयाजी नाकपृष्ठमग्निहोत्री च निर्वृतिम् ॥
तड़ागकूपकर्त्ता च लभते पौष्टिकं द्विज ।
सौवर्णदायी सौभाग्यं लभेत् स्वर्गं महातपाः ॥
शीतकाले महावह्निं प्रज्वालयति यो नरः ।
सर्व्वसत्त्वहितार्थाय स्वर्गं चाप्सरसं लभेत् ॥
हिरण्यगोप्रदानेन निरहङ्कारमाप्नुयात् ।
भूमिदानेन शुद्धेन लभते शान्तिकं पदम् ॥
रौप्यदानेन शुद्धेन स्वर्गं गच्छति निर्म्मलम् ।
अश्वदानेन पुण्याह्वं कन्यादानेन मङ्गलम् ॥
द्विजेभ्यस्तर्पणं कृत्वा दत्त्वा वस्त्राणि भक्तितः ।
श्वेतन्तु लभते स्वर्गं यत्र गत्वा न शोचति ॥
कपिलागोप्रदानेन परार्द्ध्यमनुभूयते ।
गोवृषस्य प्रदानेन स्वर्गं मन्मथमश्नुते ॥
स पुमान् स सरित्स्नायी तिलधेनुप्रदस्तथा ।
छत्रोपानहदाता च स्वर्गं तत्फलशोभनम् ॥
देवायतनकर्त्तारो शुश्रूषणपरस्तथा ।
तीर्थयात्रापरश्चैव स्वर्गराजे महीयते ॥
एकान्नभोजी यो मर्त्यो नक्तभोजी च नित्यशः ।
उपवासी त्रिरात्राद्यैः शान्तस्वर्गं शुभं लभेत् ॥
सरित्स्नायी जितक्रोधो ब्रह्मचारी दृढ़व्रतः ।
निर्म्मलं स्वर्गमाप्नोति तथा भूतहिते रतः ।
विद्यादानेन मेधावी निरहङ्कारमाप्नुयात् ॥
येन येन हि भावेन यद्यद्दानं प्रयच्छति ।
तत्तत् स्वर्गमवाप्नोति यद्यदिच्छति मानवः ॥
यस्तु सर्व्वाणि दानानि ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छति ।
संप्राप्य न निवर्त्तेत दिवं शान्तमनामयम् ॥
शृङ्गन्तु पश्चिमं यत्र ब्रह्मा तत्र स्थितः स्वयम् ।
पूर्व्वशृङ्गे स्वयं विष्णुर्मध्ये चैव शिवः स्थितः ॥”

इति नारसिंहे । ३० । १४—४५ ॥

अन्यत् कौर्म्मे ४२ । ४३ अध्याययोः वाराहे रुद्रगीतासु च द्रष्टव्यम् ॥

सुयलुण्ठः, पुं, कर्पूरकः । इति शब्दचन्द्रिका ॥

सुयः, पुं, देशविशेषः । इति शब्दरत्नावली ॥

सुयामुनः, पुं, (शोभनं अतिप्रियं यामुनं यमुना-सम्बन्धि जलं यस्य ।) विष्णुः । वत्सराजः । प्रासादः । अद्रिविशेषः । इति हेमचन्द्रः ॥ मेघविशेषः । इति मेदिनी ॥

सुयोधनः, पुं, (सुखेन युध्यतेऽसौ । सु+युध+युच् ।) दुर्य्योधनराजः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ (यथा, महाभारते । १ । १५५ । ३५ ।

“शीघ्रं गच्छाम भद्रं ते न नो विद्यात् सुयोधनः ॥”)

सुर, श ऐश्वर्य्ये । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (तुदा०-पर०-अक०-सेट् ।) इन्त्यादिः । श, सुरति सोरिता सुषोर सुसोर । भा, दीप्तिः । ऐश्यं ऐश्वर्य्यम् । इति दुर्गादासः ॥

सुरः, पुं, (सुष्ठु राति ददात्यभीष्टमिति । रा+कः । यद्वा, सुरति शोभते इति । सुर+इगुपधेति कः । यद्वा, सुनोतीति । षुञ् अभिषवे+ “सुसूधाञ्गृधिभ्यः क्रन् ।” उणा० २।२४। क्रन् ।) देवः । इत्यमरः ।१।१।७॥ (यथा, रघुः ।३।५६।

“चुकोप तस्मै स भृशं सुरश्रियः
प्रसह्य केशव्यपरोपणादिव ।”

सूर्य्यः । पण्डितः । इति केचित् ॥ (स्वरः । यथा, महाभारते । १३ । ८५ । ६१ ।

“लक्षणानि सुरास्त्रीमा निरुक्तं सुरपङ्क्तयः ॥”)

सुरकरीन्द्रदर्पापहा, स्त्री, (सुरकरीन्द्रस्य ऐरावतस्य दर्पं हन्तीति । हन+डः । टाप् ।) गङ्गा । यथा,—

“भगीरथपथानुगा सुरकरीन्द्रदर्पापहा
महेशमुकुटप्रभा गिरिशिरःपताका सिता ।
सुरासुरनरोरगैरजभवाच्युतैः संस्तुता
विमुक्तिफलदायिनी भगवती स्वयं राजते ॥”

इति कल्किपुराणे ३४ अध्यायः ॥

सुरकारुः, पुं, विश्वकर्म्मा । सुराणां कारुः शिल्पीति बहुव्रीहिसमासनिष्पन्नः ॥

सुरकृता, स्त्री, (सुरेण कृता ।) गुड़ूची । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुरक्तः, त्रि, (सु+रञ्ज+क्तः ।) शोभनरागयुक्तः । अतिशयरक्तविशिष्टः । अत्यनुरक्तः । इति केचित् ॥

सुरक्तकः, पुं, (सुरक्त+संज्ञायां स्वार्थे वा कन् ।) कोषाम्रः । स्वर्णगैरिकम् । इति राजनिर्घण्टः ।

सुरखण्डनिका, स्त्री, वीणाभेदः । इति शब्दरत्नावली ॥ सुरमण्डलिका इति पाठान्तरम् ॥

सुरगण्डः, पुं, रोगविशेषः । इति भूरिप्रयोगः ॥ राजगाँड़ इति भाषा ॥

सुरगुरुः, पुं, (सुराणां गुरुः ।) बृहस्पतिः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ (यथा, कथासरित्सागरे । ११५ । ७२ ।

“ततो मुक्ता रणं देवसैन्येऽपीन्द्रमनुद्रुते ।
निनाय ब्रह्मभवनं भीतः सुरगुरुः शचीम् ॥”

देवपूज्ये, त्रि । यथा, महाभारते । १।१।३२ ।

“यस्मात् पितामहो जज्ञे प्रभुरेकः प्रजापतिः ।
ब्रह्मा सुरगुरुः स्थाणुर्म्मनुः कः परमेष्ठ्यथ ॥”)

सुरग्रामणीः, पुं, (सुराणां ग्रामणीर्नेता ।) इन्द्रः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सुरङ्गं, क्ली, (सुष्ठु रङ्गो यस्मात् ।) हिङ्गुलम् । पत्तङ्गम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुरङ्गः, पुं, (सुष्ठु रङ्गो यस्मात् ।) नागरङ्गः । इति राजनिर्घण्टः ॥ गर्त्तविशेषः । इति सुरङ्गयुक्-शब्ददर्शनात् ॥

सुरङ्गदं, क्ली, (सुष्ठु रङ्गं ददातीति । दा+कः ।) पत्तङ्गम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुरङ्गधातुः, पुं, (सुष्ठु रङ्गो यस्मात् तादृशो धातुः ।) गैरिकम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुरङ्गयुक्, [ज्] पुं, (सुरङ्गं युनक्तीति । युज्+क्विप् ।) सुरङ्गं कृत्वा अपहरति यः । यथा,—

“कुजम्भिलः सुरङ्गाहिरधश्चौरः सुरङ्गयुक् ॥”

इति शब्दरत्नावली ॥)

सुरङ्गा, स्त्री, सन्धिः । सौँध इति भाषा । इति हलायुधः ॥ कैवर्त्तिका । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुरङ्गिका, स्त्री, मूर्व्वा । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुरङ्गी, स्त्री, (सुष्ठु रङ्गो यस्याः । ङीष् ।) काकनाशा । इति राजनिर्घण्टः ॥ रक्तशोभाञ्जनः । इति रत्नमाला ॥

सुरजःफलः, पुं, (सुष्ठु रजो यत्र तादृशं फलं यस्य ।) पनसवृक्षः । इति भूरिप्रयोगः ॥

सुरजनी, स्त्री, (सु शोभना रजनी ।) रात्रिः । इति शब्दचन्द्रिका ॥

सुरज्येष्ठः, पुं, (सुरेषु ज्येष्ठः ।) ब्रह्मा । इत्यमरः । १ । १ । १६ ॥

सुरञ्जनः, पुं, (सुष्ठु रञ्जयतीति । रञ्ज+णिच्+ल्युः ।) गुवाकवृक्षः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सुरतं, क्ली, (सुष्ठु रतं रमणं यत्र ।) निधुवनम् । इति मेदिनी ॥ (यथा, कुमारे । १ । १० ।

“भवन्ति यत्रौषधयो रजन्या-
मतैलपूराः सुरतप्रदीपाः ॥”)

सुरते वर्णनीयानि । यथा,—

“सुरते सात्त्विका भावाः शीत्काराः कुट्म-लाञ्चिता ।
काञ्चीकङ्कणमञ्जीररवाधरनखक्षतिः ॥”

इति कविकल्पलतायाम् १ स्तवके ३ कुसुमम् ॥

दयालौ, त्रि । इत्यमरटीका सारसुन्दरी । ३ । १ । १५ ॥ (अत्रार्थे सूरतः इति पाठः साधुः ॥ क्रीड़ायुक्तः । इति उणादिवृत्तौ उज्ज्वलदत्तः । ५ । १४ ॥)

सुरततालो, स्त्री, (सुरतं तालयतीति । तल+णिच्+अण् । गौरादित्वात् ङीष् ।) दूती । शिरःस्रक् । इति मेदिनी ॥

सुरता, स्त्री, (सुराणां भावः समूहो वा । सुर+तल् ।) देवत्वम् । इति मेदिनी ॥ (यथा, महाभारते । ५ । ९८ । १४ ।

“भवनं पश्य वारुण्यं यदेतत् सर्व्वकाञ्चनम् ।
यत् प्राप्य सुरतां प्राप्ताः सुराः सुरपतेः सखे ॥”)

सुरसमूहः । इति व्याकरणम् ॥ (सुष्ठु रता । अप्सरोविशेषः । यथा, महाभारते ।१।६५।५१।

“केशिनी च सुबाहुश्च सुरता सुरजा तथा ॥”)

सुरतोषकः, पुं, (सुरान् तोषयतीति । तुष्+णिच्+ण्वुल् ।) कौस्तुभमणिः । इति शब्दरत्नावली ॥ देवप्रीतिकारके, त्रि ॥

सुरथः, पुं, चन्द्रवंशीयचैत्रराजपुत्रः । यथा,—

श्रीनारायण उवाच ।

“अत्रिश्च ब्रह्मणः पुत्रस्तस्य पुत्रो निशाकरः ।

स च कृत्वा राजसूयं द्विजराजो बभूव ह ॥
गुरुपत्न्याश्च तारायां तद्बभूव बुधः सुतः ।
बुधपुत्त्रश्च चैत्रश्च तत्पुत्त्रः सुरथश्च सः ॥”
इति ब्रह्मवैवर्त्ते प्रकृतिखण्डे । ५८ । ४—५ ॥
स च स्वारोचिषमन्वन्तरे कोलापुर्य्यधिपतिः ।
तेनादौ पृथिव्यां दुर्गापूजा कृता । तत्प्रसादेन च असौ सावर्णिर्नाम मनुर्जातः । यथा,—
“कालान्तरे पूजिता सा सुरथेन महात्मना ।
राज्ञा मेधसशिष्येण मृण्मय्याञ्च सरित्तटे ॥
मेषादिभिश्च महिषैः कृष्णसारैश्च गण्डकैः ।
छागैर्मौनैश्च कुष्माण्डैः पक्षिभिर्बलिभिर्मुने ॥
वेदोक्तानि च दत्त्वैव उपचाराणि षोड़श ।
धृत्वा च कवचं ध्यात्वा संपूज्य च विधानतः ॥
राजा कृत्वा परीहारं वरं प्राप यथेप्सितम् ।
मुक्तिं संप्राप वैश्यश्च संपूज्य च सरित्तटे ॥
तुष्टाव राजा वैश्यश्च साश्रुनेत्रः पुटाञ्जलिः ।
विससर्ज्ज मृण्मयीं तां गभीरे निर्म्मले जले ॥
दृण्मयीं मृण्मयीं दृष्ट्वा जलधौतां नराधिपः ।
रुरोद तत्र वैश्यश्च ततः स्थानान्तरं ययौ ॥
त्यक्त्वा देहञ्च वैश्यश्च पुष्करे दुष्करं तपः ।
कृत्वा जगाम गोलोकं दुर्गादेवीवरेण च ॥
राजा ययौ स्वराज्यञ्च पूज्यो निष्कण्टकं बली ।
भोगञ्च बुभुजे भूपः षष्टिवर्षसहस्रकम् ॥
भार्य्यां स्वराज्यं संन्यस्य पुत्त्रे स कालयोगतः ।
मनुर्ब्बभूव सावर्णिस्तप्त्वा च पुष्करे तपः ॥”
इति ब्रह्मवैवर्त्ते प्रकृतिखण्डे ५४ अध्यायः ॥ * ॥
विस्तारस्तु दुर्गाशब्दे द्रष्टव्यः ॥

सुरदारु, क्ली, (सुरप्रियं दारु ।) देवदारु । इति रत्नमाला ॥ (यथा, भागवते । ८।२।१३ ।
“पिचुमर्द्दैः कोविदारैः सरलैः सुरदारुभिः ॥”)

सुरदीर्घिका, स्त्री, (सुराणां दीर्घिका ।) स्वर्गगङ्गा । इत्यमरः । १ । १ । ५२ ॥

सुरदुन्दुभी, स्त्री, (सुराणां दुन्दुभीव आह्लादकत्वात् ।) तुलसी । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुरद्रुमः, पुं, (सुराणां द्रुमः ।) देवनलः । इति राजनिर्घण्टः ॥ देवदारु च ॥ (कल्पवृक्षादिः । यथा, भागवते । १० । ३८ । २२ ।
“न तस्य कश्चिद्दयितः सुहृत्तमो
न चाप्रियो द्वेष्य उपेक्ष्य एव वा ।
तथापि भक्तान् भजते यथा तथा
सुरद्रुमो यद्वदुपाश्रितोऽर्थदः ॥”)

सुरद्विट्, [ष्] पुं, (सुरान् द्वेष्टीति । द्विष् + क्विप् ।) असुरः । इत्यमरः । १ । १ । १२ ॥ (यथा, रघुः । १० । १५ ।
“प्रणिपत्य सुरास्तस्मै शमयित्रे सुरद्विषाम् ।
अथैनं तुष्टुवुः स्तुत्यमवाङ्मनसगोचरम् ॥”
राहुः । यथा, तत्रैव । २ । ३९ ।
“उपस्थिता शोणितपारणा मे
सुरद्विषश्चान्द्रमसी सुधेव ॥”
तथाच वृहत्संहितायाम् । ६७ । २ ।
“षड्भिः सितस्य मासैरब्देन शनेः सुरद्विषोऽब्दार्द्धात् ॥”)
देवद्वेषकः ॥ (यथा, भागवते । १ । ३ । २४ ।
“ततः कलौ संप्रवृत्ते संमोहाय सुरद्विषाम् ।
बुद्धो नामाञ्जनसुतः कीकटेषु भविष्यति ॥”)

सुरद्विपः, पुं, (सुराणां द्विपः ।) देवहस्ती । इति केचित् ॥ (ऐरावतः । यथा, रघुः । ३ । ५५ ।
“हरेः कुमारोऽपि कुमारविक्रमः
सुरद्विपास्फालनकर्क्कशाङ्गुलौ ।
भुजे शचीपत्रविशेषकाङ्किते
स्वनामचिह्नं निचखान सायकम् ॥”)

सुरधनुः, [स्] क्ली, (सुरस्य धनुः ।) इन्द्रधनुः । इति जटाधरः ॥ (यथा, किराते । ७।१६ ।
“यातस्य ग्रथिततरङ्गसैकताभे
विच्छेदं विपयसि वारिवाहजाले ।
आतेनुश्चिदशवधूजनाङ्गभाजां
सन्धानं सुरधनुषः प्रभामणीनाम् ॥”)

सुरधूपः, पुं, (सुरप्रियो धूपः ।) रालः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुरनदी, स्त्री, (सुराणां नदी ।) गङ्गा । इति भूरिप्रयोगः ॥ (यथा, महाभारते । ६।८०।५ ।
“गङ्गायाः सुरनद्या वै स्वादुभूतं यथोदकम् ।
महोदधिगुणाभ्यासात् लवणत्वं नियच्छति ॥”)

सुरनन्दा, स्त्री, (सुरान् नन्दयतीति । नन्द + णिच् + अण् । टाप् ।) नदीविशेषः । इति शब्दरत्नावली ॥

सुरनालः, पुं, (सुरप्रियं नालमस्य ।) देवनलः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुरनिम्नगा, स्त्री, (सुराणां निम्नगा ।) गङ्गा । इत्यमरः । १ । १० । ३१ ॥ (यथा, कथासरित्सागरे । ५२ । ३४२ ।
“त्यक्त्वा सर्व्वं तनुं त्यक्ष्यंस्तपसा सुरनिम्नगाम् ॥”)

सुरनिर्गन्धं, क्ली, पत्रकम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुरपतिः, पुं, (सुराणां पतिः ।) इन्द्रः । इत्यमरः । १।१।४६॥ (यथा, महाभारते ।७।१०१ । १८ ।
“पुनर्द्ददौ सुरपतिर्म्मह्यं वर्म्म सुसंग्रहम् ॥”)

सुरपथं, क्ली, (सुराणां पन्थाः । समासे अः ।) आकाशम् । इति हेमचन्द्रः ॥

सुरपर्णं, क्ली, (सुरप्रियं पर्णमस्य ।) ओषधिविशेषः । माचीपत्री इति ख्यातः । तत्पर्य्यायः । देवपर्णम् २ वीरपर्णम् ३ सुगन्धिकम् ४ माचीपत्रम् ५ सूक्ष्मपत्रम् ६ देवार्हम् ७ गन्धपत्रकम् ८ । अस्य गुणाः । कटुत्वम् । उष्णत्वम् । कृमिश्वासवातसकफकासनाशित्वम् । दीपनत्वम् । वर्ण्यत्वम् । वालहितत्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुरपर्णिकः, पुं, (सुरप्रियं पर्णमस्यस्येति । ठन् ।) सुरपुन्नागः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुरपर्णिका, स्त्री, (सुरपर्णी । संज्ञायां कन् ।) पुन्नागः । इति हेमचन्द्रः ॥

सुरपर्णी, स्त्री, (सुरप्रियं पर्णमस्याः । ङीष् ।) पलाशी । इति राजनिर्घण्टः

सुरपादपः, पुं, (सुराणां पादपः ।) कल्पवृक्षः । देवतरुशब्दस्वरसात् ॥ (यथा, भागवते ।८।५।१७।
“वेत्रकीचकवेणूनां गुल्मानि सुरपादपान् ॥”)

सुरपुन्नागः, पुं, (सुरप्रियः पुन्नागः ।) पुन्नागवृक्षविशेषः । तत्पर्य्यायः । नमेरुः २ सुरेष्टः ३ सुरपर्णिकः ४ सुरताङ्गः ५ । अस्य गुणाः पुन्नागवत् । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुरपुरी, स्त्री, (सुरस्य पुरी ।) अमरावती । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सुरप्रियः, पुं, (सुराणां प्रियः ।) अगस्त्यपुष्पवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥ इन्द्रः । वृहस्पतिः । इति केचित् ॥ देवद्रुमे, त्रि ॥

सुरप्रिया, स्त्री, (सुराणां प्रिया ।) जाती । स्वर्णरम्भा । इति राजनिर्घण्टः ॥ (अप्सराः । यथा, भागवते । ८ । १५ । १९ ।
“हेमजालाक्षनिर्गच्छद्धूमेनागुरुगन्धिना ।
पाण्डरेण प्रतिच्छन्नमार्गे यान्ति सुरप्रियाः ॥”)

सुरभि, क्ली, (सुष्ठु रभतेऽनेनेति । सु + रभ + इन् ।) स्वर्णम् । गन्धाश्म । इति शब्दरत्नावली ॥ सुन्दरः । साधुगन्धः । इति धरणिः ॥

सुरभिः, पुं, (सु + रभ + इन् ।) सुगन्धिः । इत्यमरः । १ । ५ । ११ ॥ चम्पकः । वसन्तर्त्तुः । जातीफलवृक्षः । इति मेदिनी ॥ शमीवृक्षः । कदम्बवृक्षः । कणगुग्गुलुः । गन्धतृणम् । बकुलवृक्षः । रालः । इति राजनिर्घण्टः ॥ चैत्रमासः । धीरः । इति धरणिः ॥ गन्धफलः । इति शब्दरत्नावली ॥

सुरभिः, स्त्री, (सु + रभ + इन् ।) शल्लकी । मातृभेदः । सुरा । गौः । इति मेदिनी ॥ पुस्तकान्तरे सुरास्थाने सुरा इति पाठः । रुद्रजटा । वनमालिका । तुलसी । पाची । इति राजनिर्घण्टः ॥ पृथिवी । इति धरणिः ॥ गोमाता । (यथा, रघुः । १ । ८१ ।
“सुतां तदीयां सुरभेः कृत्वा प्रतिनिधिं शुचिः ।
आराधय सपत्नीकः प्रीता कामदुघा हि सा ॥”)
तस्या उत्पत्त्यादिर्यथा,—

नारद उवाच ।

“सा का वा सुरभी देवी गोलोकादागता च या ।
तज्जन्मचरितं ब्रह्मन् श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥

श्रीनारायण उवाच ।

गवामधिष्ठातृदेवी गवामाद्या गवां प्रसूः ।
गवां प्रधाना सुरभी गोलोके सा समुद्भवा ॥
सर्व्वादिसृष्टिकथनं कथयामि निशामय ।
बभूव येन तज्जन्म पुरा वृन्दावने वने ॥
एकदा राधिकानाथो राधया सह कौतुकात् ।
गोपाङ्गनापरिवृतः पुण्यं वृन्दावनं ययौ ॥
सहसा तत्र रहसि विजहार च कौतुकात् ।
बभूव क्षीरपानेच्छा तदा स्वेच्छामयस्य च ॥
ससृजे सुरभिं देवी लीलया वामपार्श्वतः ।
वत्सयुक्तां दुग्धवतीं वत्सो नाम्ना मनोरथः ॥
दृष्ट्वा सवत्सां सुदामा रत्नभाण्डे दुदोह च ।
क्षीरं सुधातिरिक्तञ्च जन्ममृत्युजरापहम् ॥
तदुष्णञ्च पयः स्वादु पपौ गोपीपतिः स्वयम् ।
सरो बभूव पयसा भाण्डविस्रंशनेन च ॥
दैर्घ्ये च विस्तृते चैव परितः शतयोजनम् ।

गोलोके सुप्रसिद्धश्च स च क्षीरसरोवरः ॥
गोपिकानाञ्च राधायाः क्रीड़ावापी बभूव सा ।
रत्नेन खचिता तूर्णं भूता वापीश्वरेच्छया ॥
बभूवुः कामधेनूनां सहसा लक्षकोटयः ।
तावन्तो हि च वत्साश्च सुरभीलोमकूपतः ॥
तासां पुत्राः प्रपौत्राश्च सम्बभूवुरसंख्यकाः ।
कथिता च गवां सृष्टिस्तया च पूरितं जगत् ॥
पूजाञ्चकार भगवान् सुरभ्याश्च पुरा मुने ।
ततो बभूव तत्पूजा त्रिषु लोकेषु दुर्लभा ॥
दीपान्वितापरदिने श्रीकृष्णस्याज्ञया हरेः ।
बभूव सुरभीपूजा धर्म्मवक्त्रादिति श्रुतम् ॥
ध्यानं स्तोत्रं मूलमन्त्रं यद्यत् पूजाविधिक्रमम् ।
वेदोक्तञ्च महाभाग निबोध कथयामि ते ॥
ॐ सुरभ्यै नम इति मन्त्रस्तस्याः षड़क्षरः ।
सिद्धो लक्षजपेनैव भक्तानां कल्पपादपः ॥
ध्यानं यजुर्व्वेदोक्तं तत् पूज्यञ्च सर्व्वसम्मतम् ।
ऋद्धिदं वृद्धिदञ्चैव मुक्तिदं सर्व्वकामदम् ॥
लक्ष्मीस्वरूपां परमां राधासहचरीं पराम् ।
गवामधिष्ठातृदेवीं गवामाद्यां गवां प्रसूम् ॥
पवित्ररूपां पूज्याञ्च भक्तानां सर्व्वकामदाम् ।
यया पूतं सर्व्वविश्वं तां देवीं सुरभीं भजे ॥
घटे वा धेनुशिरसि बद्धस्तम्भे गवामपि ।
शालग्रामे जले वाग्नौ सुरभीं पूजयेद्द्विजः ॥
दीपान्वितापरदिने पूर्व्वाह्णे भक्तिसंयुतः ।
यः पूजयेच्च सुरभिं स च पूज्यो भवेद्भुवि ॥
एकदा त्रिषु लोकेषु वाराहे विष्णुमायया ।
क्षीरं जहार सहसा चिन्तिताश्च सुरादयः ॥
ते गत्वा ब्रह्मलोकञ्च ब्रह्माणं तुष्टुवुस्तदा ।
तदाज्ञया च सुरभीं तुष्टाव पाकशासनः ॥
महेन्द्र उवाच ।
नमो देव्यै महादेव्यै सुरभ्यै च नमो नमः ।
गवां बीजस्वरूपायै नमस्ते जगदम्बिके ॥
नमो राधाप्रियायै च पद्मांशायै नमो नमः ।
नमः कृष्णप्रियायै च गवां मात्रे नमो नमः ॥
कल्पवृक्षस्वरूपायै सर्व्वेषां सततं परम् ।
श्रीदायै धनदायै च बुद्धिदायै नमो नमः ।
यशोदायै कीर्त्तिदायै धर्म्मदायै नमो नमः ॥
स्तोत्रश्रवणमात्रेण तुष्टा हृष्टा जगत्प्रसूः ।
आविर्ब्बभूव तत्रैव ब्रह्मलोके सनातनी ॥
महेन्द्राय वरं दत्त्वा वाञ्छितञ्चातिदुर्लभम् ।
जगाम सा च गोलोकं ययुर्देवादयो गृहम् ॥
बभूव विश्वं सहसा दुग्धपूर्णञ्च नारद ।
दुग्धाद्घृतं ततो यज्ञस्ततः प्रीतिः सुरस्य च ॥
इदं स्तोत्रं महापुण्यं भक्तियुक्तश्च यः पठेत् ।
स गोमान् धनवांश्चैव कीर्त्तिमान् पुण्यवान्
भवेत् ॥
स स्नातः सर्व्वतीर्थेषु सर्व्वयज्ञेषु दीक्षितः ।
इह लोके सुखं भुक्त्वा यात्यन्ते कृष्णमन्दिरम् ॥
सुचिरं निवसेत्तत्र करोति कृष्णसेवनम् ।
न पुनर्भवनं तस्य ब्रह्मपुत्त्र भवे भवेत् ॥”
इति श्रीब्रह्मवैवर्त्ते प्रकृतिखण्डे सुरभ्युपाख्यानं नाम ४७ अध्यायः ॥

सुरभिः, त्रि, (सु+रभ+इन् ।) सुगन्धिः । *(यथा, मनुः । ३।२०९ ।
“उपवेश्य तु तान् विप्रानासनेष्वजुगुप्सितान् ।
गन्धमाल्यैः सुरभिभिरर्च्चयेद्देवपूर्व्वकम् ॥”)
कान्तम् । इति मेदिनी ॥ (यथा, रघुः ।२।३।
“निवर्त्त्य राजा दयितां दयालु-
स्तां सौरभेयीं सुरभिर्यशोभिः ।
पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां
जुगोप गोरूपधरामिवोर्व्वीम् ॥”)
धीरः । विख्यातः । इति धरणिः ॥
सुरभिका, स्त्री, (सुरभि+स्वार्थे कन् ।) स्वर्ण-कदली । इति राजनिर्घण्टः ॥
सुरभिगन्धिः, त्रि, (सुरभिर्गन्धो यस्य । “गन्धस्ये-दुत्पूतिसुसुरभिभ्यः ।” ५ । ४ । १३५ । इति इकारः ।) शोभनगन्धयुक्तः । इति केचित् ॥
सुरभित्रिफला, स्त्री, (सुरभिः सुगन्धिस्त्रिफला ।) सुगन्धत्रिफला । इति राजनिर्घण्टः ॥
सुरभित्वक्, [च्] स्त्री, (सुरभिः त्वक् यस्याः ।) बृहदेला । इति राजनिर्घण्टः ॥
सुरभिदारुः, पुं, (सुरभि सुगन्धि दारु यस्य ।) सरलवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥
सुरभिपत्रा, स्त्री, (सुरभि पत्रं यस्याः ।) जम्बू-वृक्षः । राजजम्बूः । इति राजनिर्घण्टः ॥
सुरभिबाणः, पुं, (सुरभिः साधुगन्धः बकुलादि-पुष्पं वा बाणो यस्य ।) कामदेवः । इति केचित् ॥
सुरभिवल्कलं, क्ली, (सुरभि सुगन्धि वल्कलं यस्य ।) गुड़त्वक् । इति शब्दरत्नावली ॥
सुरभिस्रवा, स्त्री, (सुरभिः सुगन्धिः स्रवो निर्य्यासो यस्याः ।) सल्लकी । इति राजनिर्घण्टः ॥
सुरभी, स्त्री, (सुरभि+वा ङीष् ।) सुगन्धिः । इत्यमरटीकायां भरतः । २ । ४ । १२३ ॥ शल्लकी । इति शब्दचन्द्रिका ॥ (यथा,—
“शल्लकी गजभक्ष्या च सुवहा सुरभी रसा ।
महेरुणा कुन्दुरुकी वल्लकी च बहुस्रवा ॥”
इति भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे प्रथमे भागे ॥)
ह्रस्वेकारान्तसुरभिशब्दार्थोऽप्यत्र ॥ गोमाता । यथा,—
“सा का वा सुरभी देवी गोलोकादागता च या ।
तज्जन्मचरितं ब्रह्मन् श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥”
इति ब्रह्मवैवर्त्ते प्रकृतिखण्डे ४७ अध्यायः ॥
(ह्रस्वेकारान्तसुरभिशब्देऽस्याः विशेषविवरणं ज्ञेयम् ॥) अथ गोयात्राप्रवेशविक्रयदिनम् ।
तत्र तिथयः अमावस्याष्टमीचतुर्द्दशीविष्टिभिन्नाः । तत्र नक्षत्राणि रोहिणी पूर्व्वफल्गुनी पूर्व्वा-षाढ़ा पूर्व्वभाद्रपद् उत्तरफल्गुनी उत्तराषाढ़ा उत्तरभाद्रपत् श्रवणा भरणी चित्रा एतद्व्यति-रिक्तानि । योगाः व्यतीपातवैधृतिभिन्नाः । तत्र वाराः क्रूरग्रहभिन्नाः । इति ज्योतिस्-तत्त्वम् ॥
सुरभीरसा, स्त्री, शल्लकीवृक्षः । इत्यमरटीकायां मथुरेशः । २ । ४ । १२३ ॥

सुरभूरुहः, पुं, (सुराणां भूरुहः ।) देवदारुः । इति भावप्रकाशः ॥ (कल्पवृक्षादिश्च ॥)
सुरमृत्तिका, स्त्री, (सुरप्रिया मृत्तिका ।) तुवरी । इति राजनिर्घण्टः ॥
सुरमेदा, स्त्री, (सुरप्रियो मेदो यस्याः ।) महा-मेदा । इति राजनिर्घण्टः ॥ (महामेदाशब्देऽस्या विशेषो ज्ञातव्यः ॥)
सुरर्षिः, पुं, (सुरश्चासौ ऋषिश्चेति ।) देवर्षिः । इत्यमरः । १ । १ । ५१ ॥ स तु नारदतुम्बुरु-कोलाहलादिः । यथा । ब्रह्मर्षिदेवर्षिराजर्षि-महर्षिपरमर्षिकाण्डर्षिश्रुतर्षिभेदात् सप्तप्रकार-ऋषयस्तत्र नारदाद्याः सुरर्षय उक्ता इति भरतः ॥ (यथा, भागवते । ४ । २४ । ६२ ।
“महानहं खं मरुदग्निवार्धराः
सुरर्षयो भूतगणा इदं यतः ॥”
तथाच महाभारते । १ । १ । २२७ ।
“इति राज्ञां चतुर्व्विंशन्नारदेन सुरर्षिणा ।
पुत्त्रशोकाभितप्ताय पुरा शैव्याय कीर्त्तितम् ॥”)
सुरलता, स्त्री, (सुरप्रिया लता ।) महाज्योति-ष्मती । इति राजनिर्घण्टः ॥
सुरला, स्त्री, (सुरान् लातीति । ला+कः ।) गङ्गा । इति हारावली ॥ नदीविशेषः । इति शब्दचन्द्रिका ॥
सुरलासिका, स्त्री, (सुरानपि लासयति आक्रा-दयतीति । लस्+णिच्+ण्वुल् । टापि अत इत्वम् ।) वंशीवाद्यम् । यथा,—
“सालेयिका च सालेयी मालिका सुरलासिका ॥”
इति शब्दरत्नावलीति केचित् ॥
सुरलोकः, पुं, (सुराणां लोकः ।) स्वर्गः । इत्य-मरः । १ ।१।६॥ (यथा, भागवते ।७।१०।१३।
“कीर्त्तिं विशुद्धां सुरलोकगीतां
विहाय मामेष्यति मुक्तबन्धः ॥”)
सुरवर्त्म, [न्] क्ली, (सुराणां वर्त्म ।) आकाशम् । इत्यमरः । १ । २ । १ ॥
सुरवल्लभा, स्त्री, (सुराणां वल्लभा ।) श्वेतदूर्व्वा । इति राजनिर्घण्टः ॥
सुरवल्ली, स्त्री, (सुराणां वल्ली ।) तुलसी । इति राजनिर्घण्टः ॥
सुरवैरी, [न्] पुं, (सुराणां वैरी ।) असुरः । इति शब्दरत्नावली ॥ [हलायुधः ॥
सुरशत्रुः, पुं, (सुराणां शत्रुः ।) असुरः । इति
सुरशाखी, [न्] पुं, (सुराणां शाखी ।) कल्पवृक्षः । इति जटाधरः ॥
सुरश्रेष्ठा, स्त्री, (सुरेषु श्रेष्ठा ।) ब्राह्मी । इति राजनिर्घण्टः ॥
सुरसं, क्ली, (शोभनो रसो यस्य ।) बोलम् । त्वचम् । गन्धतृणम् । इति राजनिर्घण्टः ॥ तुलसी । इति मेदिनी ॥
सुरसः, पुं, (शोभनो रसो यस्य ।) सिन्धुवारः । इति शब्दरत्नावली ॥ (अस्य पर्य्यायो यथा,—
“इन्द्राणी चेन्द्रः सुरसो निर्गुण्डी श्वेतवारकः ॥”
इति वैद्यकरत्नमालायाम् ॥)

शीतरस:। इति राजनिर्घण्ट:॥ (शीतशाल:। अस्य पर्य्यायो यथा,—
"सुरसो बीजकश्चैव पीतशालोऽभिधीयते॥"
इति गारुडे २०८ अध्याय:॥
तुलसीविशेष:। अस्य गुणा यथा,—
"हिक्काकासविषश्वासपार्श्वशूलविनाशन:।
पित्तकृत्कफवातघ्न: सुरस: पूतिगन्धनुत्॥"
इति चरके सूत्रस्थाने। २७ अध्याय:॥
"कफानिलविषश्वासकासदौर्गन्ध्यनाशन:।
पित्तकृत् पार्श्वशूलघ्न: सुरस: समुदाहृत:॥"
इति सुश्रुते सूत्रस्थाने ४६ अध्याय:॥)

सुरस:, त्रि, (शोभनो रसो यस्य।) स्वादु:। इति मेदिनी॥ सुन्दररसयुक्तश्च। (यथा, बृहत्संहितायाम्। ५४। १०३।
"तस्मां प्रभूतं सुरसञ्च तोयं
क्षाराथवा यत्र च रक्तम्तु वा॥")

सुरसद्म, [न्] क्ली, (सुराणां सद्म।) स्वर्ग:। इति हलायुध:॥ (देवगृहम्। यथा, कथासरित्सागरे। ८३। ८३।
"एत मोक्षं प्रयातेति वदन्त्यामिव दूरत:।
वाताक्षिप्तसमुत्क्षिप्तै: सुरसद्मध्वजांशुकै:॥")

सुरसम्भवा, स्त्री, (सुरप्रिय: सम्भवो यस्या:।) आदित्यभक्ता। इति राजनिर्घण्ट:॥

सुरसरित्, स्त्री, (सुराणां सरित्।) गङ्गा। इति हलायुध:॥ (यथा, रघु:। २। ७५।
"सुरसरिदिव तेजो वह्निनिष्ठ्यूतमैशम्॥")

सुरसर्षपक:, पुं, (सुरप्रिय: सर्षप:। तत: कन्।) देवसर्षप:। इति राजनिर्घण्ट:॥

सुरसा, स्त्री, (शोभनो रसो यस्या:।) तुलसी। यथा। सुरसा स्त्री तु पर्णासे। इति शब्दरत्नावली॥ पर्णासे तु नपुंसकम्। इति मुद्राङ्कितमेदिनी॥ पर्णासे पुंनपुंसकम्। इति हस्तलिखितमेदिनी॥ सुरसस्तु त्रिषु स्वादौ पर्णासे न नपुंसकम्। इति च कस्याञ्चिन्मेदिन्यां पाठ:॥*॥ रास्ना। इत्यमर:। २। ४। ११४॥ मिश्रेया। इति शब्दचन्द्रिका। ब्राह्मी। इति रत्नमाला॥ महाशतावरी। इति राजनिर्घण्ट:॥ दुर्गा। इति केचित्॥ नागमाता। इति मेदिनी॥ यथा,—
"ततो देवा: सगन्धर्व्वा: सिद्धाश्च परमर्षय:।
अब्रुवन् सूर्य्यसङ्काशां सुरसां नागमातरम्॥
अयं वातात्मज: श्रीमान् प्लवते सागरोपरि।
हनूमान्नाम तस्य त्वं मुहूर्त्तं विघ्नमाचर॥
राक्षसं रूपमास्थाय सुघोरं पर्व्वतोपमम्।
दंष्ट्राकरालं पिङ्गाक्षं वक्त्रं कृत्वा नभस्पृशम्॥
बलमिच्छामहे ज्ञातुं भूयश्चास्य पराक्रमम्।
त्वां विजेष्यत्युपायेन विषादं वा गमिष्यति॥"
इति वाल्मीकीये रामायणे सुन्दराकाण्डे १ सर्ग:॥
नदीभेद:। इति श्रीभागवते ५ स्कन्धे १९ अध्याय:॥ (अप्सरोविशेष:। यथा, महाभारते। १। १२३। ६०।
"पुण्डरीका सुगन्धा च सुरसा च प्रमाथिनी॥"
राक्षसीविशेष:। तद्विषयको मन्त्रो यथा,—
"हिमवदुत्तरे कूले सुरसा नाम राक्षसी।
तस्या नूपुरशब्देन विशल्या गुर्व्विणी भवेत्॥"
इति हारीते चिकित्सितस्थाने ५१ अध्याये॥)

सुरसाह्व:, पुं, वृक्षगणविशेष:। यथा,—
"निर्गुण्डी तुलसी ब्राह्मी बृहती कण्टकारिका।
पुनर्नवेति मुनिभि: सुरसाह्व: प्रकीर्त्तित:॥"
इति शब्दचन्द्रिका॥

सुरसिन्धु:, पुं, (सुराणां सिन्धु:।) गङ्गा। इति केचित्॥ (यथा, कथासरित्सागरे। १८। ६२।
"निवसन्ति च देशेऽपि सुरसिन्धुसमाश्रिते॥")

सुरसुन्दरी, स्त्री, (सुराणां सुन्दरी रमणी सुरेषु सुन्दरी इति वा।) अप्सरा:। दुर्गा। इति केचित्॥ योगिनीविशेष:। तद्विवरणं योगिनीशब्दे द्रष्टव्यम्॥ (सुरस्त्री। यथा, किराते। ५। २८।
"अस्मिन् रतिश्रमनुदश्च सरोजवाता:
स्मर्त्तुं दिशन्ति न दिव: सुरसुन्दरीभ्य:॥")

सुरा, स्त्री, (सु अभिषवे + क्रन्। स्त्रियां टाप्। इत्युणादिवृत्तौ उज्ज्वल:। २। २४। यद्वा, सुष्ठु रायन्त्यनयेति। सु + रै शब्दे + "आतश्चोपसर्गे।" ३। ३। ११६। इत्यङ्। टाप्।) चषकम्। मद्यम्। इति मेदिनी॥ अस्या: पर्य्यायगुणादि मदिराशब्दे मद्यशब्दे च द्रष्टव्यम्। सुराया विशेषगुणा यथा,—
"कृशानां सक्तमूत्राणां ग्रहण्यर्शोविकारिणाम्।
सुरा प्रशस्ता वातघ्नी स्तन्यरक्तक्षयेषु च॥"
इति राजवल्लभ:॥
तत्पानप्रायश्चित्तं यथा,—
"ब्रह्मघ्नश्च सुरापश्च स्तेयी च गुरुतल्पग:।
सेतुं दृष्ट्वा विशुध्यन्ति तत्संयोगी च पञ्चम:।
ततो धेनुशतं दद्यात् ब्राह्मणानान्तु भोजनम्॥"
इति गारुडे २२६ अध्याय:॥*॥
तत्पाने शुक्राचार्य्यशापो यथा,—
"सुरापानाद्वञ्चनां प्रापयित्वा
संज्ञानाशं चैनमस्यातिघोरम्।
दृष्ट्वा कचञ्चापि तथापि रूपं
पीतं तथा सुरया मोहितेन॥
समन्युरुत्थाय महानुभाव-
स्तदोशना विप्रहितं चिकीर्षु:।
काव्य: स्वयं वाक्यमिदं जगाद
सुरापानं प्रति वै जातशङ्क:॥
यो ब्राह्मणोऽद्यप्रभृतीह कश्चित्
मोहात् सुरां पास्यति मन्दबुद्धि:।
अपेतधर्म्मा ब्रह्महा चैव स स्यात्
अस्मिन् लोके गर्हित: स्यात् परे च॥
मया चैमां विप्रधर्म्मोक्तसीमां
मर्य्यादां वै स्थापितां सर्व्वलोके।
सन्तो विप्रा: शुश्रुवांसो गुरूणां
देवा दैत्याश्चोपशृण्वन्तु सर्व्वे॥"
इति महाभारते। १। ७६। ५९—६२॥
ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां त्रिविधसुरापानप्रायश्चित्तादि यथा,—
"सुरां पीत्वा द्विजो मोहादग्निवर्णां सुरां पिबेत्।
तया स्वकाये निर्दग्धे मुच्यते किल्बिषात्तत:॥
गोमूत्रमग्निवर्णं वा पिबेदुदकमेव वा।
पयो घृतं वा मरणाद्गोसकृद्रसमेव वा॥
कणान् वा भक्षयेदब्दं पिण्याकं वा सकृन्निशि।
सुरापानापनुत्त्यर्थं बालवासा जटी ध्वजी॥
सुरा वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यते।
तस्माद्ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत्॥
गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा।
यथैवैका तथा सर्व्वा न पातव्या द्विजोत्तमै:॥
यक्षरक्ष:पिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम्।
तद्ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्नता हवि:॥
अमेध्ये वा पतेन्मत्तो वैदिकं वाप्युदाहरेत्।
अकार्य्यमन्यत् कुर्य्याद्वा ब्राह्मणो मदमोहित:॥
यस्य कायगतं ब्रह्म मद्येनाप्लाव्यते सकृत्।
तस्य व्यपैति ब्राह्मण्यं शूद्रत्वञ्च स गच्छति॥
एषा विचित्राभिहिता सुरापानस्य निष्कृति:॥"
इति मानवे ११। ९१—९९।
सौत्रामणियज्ञेऽपि तत्पाननिषेधो यथा,—
"यद्घ्राणभक्षो विहित: सुराया-
स्तथा पशोरालभनं न हिंसा।
एवं व्यवाय: प्रजया न रत्यै
इमं विशुद्धं न विदु: स्वधर्म्मम्॥"
इति श्रीभागवते। ११। ५। १३॥*॥
"यस्मात् सुराया घ्राणभक्ष: अवघ्राणं स एव विहित: न पानं तथा पशोरपि आलभनमेव विहितं न तु हिंसा। अतो न यथेष्टभक्षणाभ्युपेत्यर्थ:। व्यवायोऽपि प्रजया निमित्तभूतया न रत्यै। अतो मनोरथवादिन इमं विशुद्धं स्वधर्म्मं न विदुरिति।" इति तट्टीकायां श्रीधरस्वामी॥ अन्यत् प्रायश्चित्तशब्दे द्रष्टव्यम्॥*॥ सुरापाने वर्णनीयानि यथा,—
"सुरापाने विकलता स्खलनं वचने गतौ।
लज्जा मानच्युति: प्रेमाधिक्यं रक्ताक्षता भ्रम:॥"
इति कविकल्पलतायां १ स्तवके ३ कुसुमम्॥

सुरा:, [रै] पुं स्त्री, धनवान्। सु शोभनो रा धनं यस्येति बहुव्रीहौ कृते रैशब्दस्य राट्शेन निष्पन्न:॥

सुराकर:, पुं, (सुराया आकर:।) नारिकेलवृक्ष:। इति केचित्। मद्योत्पत्तिस्थानम्। यथा।
"आकरा: शुचय: सर्व्वे वर्जयित्वा सुराकरम्।"
इति शुद्धितत्त्वे बौधायनवचनम्॥

सुराङ्गना, स्त्री, (सुराणामङ्गना।) देवपत्नी अप्सरा:॥ इति केचित्। यथा,—
"सुरद्रुमूलमण्डपे विचित्ररत्ननिर्म्मिते
लसद्वितानभूषिते सलील-विभ्रमालसम्।
सुराङ्गनाभवल्लवीकरप्रपञ्च-चामर-
स्फुरत्समीर-वीजितं सदाच्युतं भजामि तम्॥"
इति छन्दोमञ्जर्य्याम् २ स्तवक:॥

सुराचार्य्य:, पुं, (सुराणामाचार्य्य:।) बृहस्पति:। इत्यमर:। १। २। २४॥

सुराजकः, पुं, (सुष्ठु राजते इति । राज + ण्वुल् ।) भृङ्गराजः । इति शब्दमाला ॥

सुराजा, [न्] पुं, (सुष्ठु पूजितो राजा । "न पूजनात् ।" ५ । ४ । ६९ । इति न टच् ।) शोभनो राजा । इति मुग्धबोधव्याकरणम् ॥ (सुष्ठु राजा यस्य । सुन्दरनृपतियुक्ते देशादौ, त्रि । यथा,—

"सुराज्ञि देशे राजन्वान् स्यात्ततोऽन्यत्र राजवान् ॥"

इत्यमरः । २ । १ । १३ ॥)

सुराजीवी, [न्] पुं, (सुरया जीवतीति । जीव + णिनिः ।) शौण्डिकः । यथा,—

"कल्यपालः सुराजीवी शौण्डिको मण्डहारकः।
वारिवासः पानवणिक् ध्वजो ध्वज्यासुतीवलः ॥"

इति हेमचन्द्रः ॥

(यथा, याज्ञवल्क्यः । १ । १६४ ।

"चैलधावसुराजीविसहोपपतिवेश्मनाम् ॥")

सुरापः, त्रि, (सुरां पिबतीति । पा + कः ।) सुरापानकर्त्ता । यथा,—

"ब्रह्महा जायते यक्ष्मी सुरापः श्यावदन्तकः ।
सुवर्णहारी कुनखी दुश्चर्म्मा गुरुतल्पगः ॥"

इति प्रायश्चित्तविवेकः ॥

सुरापगा, स्त्री, (सुराणां आपगा ।) गङ्गा । इति जटाधरः ॥ (यथा, किराते । ५ । ४० ।

"इह सनियमयोः सुरापगायाः
मुषसि सयावकसव्यपादलेखा ।
कथयति शिवयोः शरीरयोगं
विषमपदा पदवी विवर्त्तनेषु ॥")

सुरापाणाः, पुं, भूम्नि, (सुरा पानं येषाम् । "पानं देशे ।" ८।४।९ इति णत्वम् ।) पूर्व्वदेशस्थाः । यथा । सुरापाणाः प्राच्याः । इति संक्षिप्तसार-टीकायां गोयीचन्द्रः ॥

सुरापा(णं)नं, क्ली, (सुरायाः पानम् । "वा भाव-करणयोः ।" ८ । ४ । १० । इति विभाषया णत्वम् ।) मद्यपानम् । यथा,—

"ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्व्वङ्गनागमः ।
महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह ॥"

इति प्रायश्चित्तविवेकः ॥

अवदंशः । इति शब्दरत्नावली ॥

सुराभागः, पुं, (सुराया भागः ।) सुराया अग्रभागः । इति शब्दचन्द्रिका ॥

सुरामण्डः, पुं, (सुराया मण्डः ।) सुराया अग्रभागः । तत्पर्य्यायः । कारोत्तरः २ । इत्यमरः । २ । १० । ४३ ॥ कारोत्तमः ३ । इति तट्टिका ॥ कालोत्तरः ४ सुराभागः ५ । इति शब्दचन्द्रिका ॥

सुरारिः, पुं, (सुराणां अरिः ।) असुरः । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, कुमारे । ३ । ९ ।

"प्रसीद विश्राम्यतु वीर वज्रं
शरैर्म्मदीयैः कतमः सुरारिः ।
बिभेतु मोघीकृतबाहुवीर्य्यः
स्त्रीभ्योऽपि कोपस्फुरिताधराभ्यः ॥")

सुरारिहन्ता, [ऋ] पुं, (सुरारीणां हन्ता ।) विष्णुः । यथा,—

"मैत्राद्यपादे स्वपितीह विष्णु-
र्वैष्णव्यमध्ये परिवर्त्तते च ।
पौष्णावसाने च सुरारिहन्ता
प्रबुध्यते मासचतुष्टयेन ॥"

इति तिथ्यादितत्त्वम् ।

सुरार्हं, क्ली, (सुरान् अर्हतीति । अर्ह + अण् ।) हरिचन्दनम् । इति राजनिर्घण्टः ॥ स्वर्णम् । इति केचित् ॥

सुरालयः, पुं, (सुराणां आलयः ।) सुमेरुः । इत्यमरः । १ । १ । ५२ ॥ स्वर्गः । यथा गारुडे ।

"गङ्गां येऽत्रावगाहन्ते विधिना च नराधिप ।
चतुर्युगसहस्रं ते न पतन्ति सुरालयात् ॥"

इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥

(देवमन्दिरम् । यथा, भागवते ।७।१५।४९।

"पूर्त्तं सुरालयारामकूपाजीव्यादिलक्षणम् ॥"

सुराया आलयः ।) सुरानिलयश्च ॥

सुराष्ट्रः, पुं, (शोभनं राष्ट्रं यस्य ।) देशविशेषः । सुरत् इति ख्यातः । स तु भारतवर्षस्य प्रतीच्यां दिशि वर्त्तते । इति सौराष्ट्रिकशब्द-टीकायां भरतः ॥ (यथा महाभारते ।३।८८।१९।

"सुराष्ट्रेष्वपि वक्ष्यामि पुण्यान्यायतनानि च ॥"

श्रीरामचन्द्रस्य परिवारविशेषः । स तु श्रीरामयन्त्रे पद्मदलमध्यतः पूज्यः । यथा, अगस्त्य-संहितायाम् ।

"धृष्टं जयन्तं विजयं सुराष्ट्रं राष्ट्रवर्द्धनम् ।
अकोपं धर्म्मपालाख्यं सुमन्त्रं दलमध्यतः ॥"

इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥

सुराष्ट्रजं, क्ली, (सुराष्ट्रे जायते इति । जन् + डः ।) तुवरिका । इत्यमरः ।२।४।१२१॥ अस्य पर्य्यायो यथा,—

"सौराष्ट्री तुवरी काङ्क्षी मृत्तालकसुराष्ट्रजे ।
आढकी चापि साख्याता मृत्स्ना च सुर-
मृत्तिका ॥"

इति भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे प्रथमे भागे ॥)

सुराष्ट्रजः, पुं, (सुराष्ट्रे जायते इति । जन् + डः ।) कृष्णमुद्गः । इति राजनिर्घण्टः ॥ विष-भेदः । इति शब्दचन्द्रिका ॥ तद्देशजाते, त्रि ॥

सुराष्ट्रजा, स्त्री, (सुराष्ट्रे जायते इति । जन् + डः । टाप् ।) तुवरी । इति राजनिर्घण्टः ॥ (तुवरीशब्देऽस्या विशेषो विज्ञेयः ॥)

सुराह्वः, पुं, (सुरस्य आह्वा आह्वा यस्य ।) देव-दारु । इति शब्दरत्नावली ॥ (क्वचित् क्ली । अस्य पर्य्यायो यथा,—

"सुरदारु द्रुकिलिमं सुराह्वं भद्रदारु च ।
देवकाष्ठं पीतदारु देवदारु च दारु च ॥"

इति वैद्यकरत्नमालायाम् ॥)

हरिद्रुश्च । मरुवकः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुरि, [रै] त्रि, (सु शोभनं रा धनं यस्य ।) शोभनधनवत् । इति मुग्धबोधव्याकरणम् ॥

सुरुङ्गः, पुं, शोभाञ्जनः । इति शब्दमाला ॥

सुरुङ्गा, स्त्री, सुरङ्गा । सौँध इति सुड़ङ्ग इति च भाषा । तत्पर्य्यायः । सन्धिला २ सन्धिः ३ । इति जटाधरः ॥ (यथा, महाभारते । १ । १४९ । ११ ।

"ज्ञात्वा तु तद्गृहं सर्व्वमादीप्तं पाण्डुनन्दनाः ।
सुरुङ्गां विविशुस्तूर्णं मात्रा सार्द्धमरिन्दमाः ॥")

सुरुङ्गाहिः, पुं, (सुरुङ्गायामहिरिव ।) चौर-विशेषः । यथा,—

"कुजम्भिलः सुरुङ्गाहिरथचौरः सुरङ्गयुक् ।"

इति शब्दरत्नावली ॥

सुरूपं, क्ली, (सु शोभनं रूपमस्य ।) तूलम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुरूपः, त्रि, (सु सुन्दरं रूपमस्य ।) शोभनरूप-विशिष्टः । यथा,—

"सुन्दरं रुचिरं चारु मनोज्ञं मञ्जु मञ्जुलम् ।
कान्तं मनोरमं रुच्यं सुषमं साधु शोभनम् ॥
वल्गु हारि सुरूपाभिरूपदिव्यमनोहरम् ॥"

इति जटाधरः ॥

(यथा, बृहत्संहितायाम् । ५८ । ४० ।

"शाम्बश्च गदाहस्तः प्रद्युम्नश्चापभृत् सुरूपश्च ॥")

विद्वान् । यथा,—

"विद्वान्विपश्चिद्दोषज्ञः सन् सुधीः कोविदो बुधः ।
व्यक्तो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः संख्यावान् पण्डितः
कविः ॥
धीमान् सूरिः कृतिः कृष्टिर्लब्धवर्णो विचक्षणः ।
प्राप्तरूपसुरूपाभिरूपदूरदृशाः समाः ॥"

इति जटाधरः ॥

सुरूपा यथा । नकुलः १ पुरूरवाः २ अश्विनी-कुमारौ ३ नलकूवरौ ४ कन्दर्पः ५ शाम्बः ६ । इति कविकल्पलता ॥

सुरूपा, स्त्री,(सु शोभनं रूपं यस्याः ।) शालपर्णी । भार्गी । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुरूहकः, पुं, गर्द्दभाश्वः । इति हेमचन्द्रः ॥

सुरेज्यः, पुं, (सुराणां इज्यः ।) बृहस्पतिः । इति केचित् ॥ (यथा, बृहत्संहितायाम् । ८ । २३ ।

"विष्णुः सुरेज्यो बलभिद्धुताश-
स्त्वष्टोत्तरप्रोष्ठपदाधिपश्च ॥")

सुरेज्या, स्त्री, (सुराणामिज्या ।) तुलसी । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुरेन्द्रः, पुं, (सुरेषु इन्द्रः ऐश्वर्य्यशाली ।) इन्द्रः । इति केचित् ॥ (यथा, भागवते । ८।७।३१ ।

"न ते गिरित्राखिललोकपाल
विरिञ्चवैकुण्ठसुरेन्द्रगम्यम् ॥"

लोकपालः । इति मल्लिनाथः ॥ यथा, रघुः । ३ । ११ ।

"सुरेन्द्रमात्राश्रितगर्भगौरवात्
प्रयत्नमुक्तासनया गृहागतः ॥"

तथाच मनुः । ७ । ५ ।

"यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्म्मितो
नृपः ।
तस्मादभिभवत्येष सर्व्वभूतानि तेजसा ॥")

सुरेन्द्रजित्, पुं, (सुरेन्द्रं देवराजं जितवानिति । जि+क्विप् । तुगागमश्च ।) गरुड़ः । इति हलायुधः ॥ इन्द्रजिच्च ॥

सुरेभं, क्ली, (सु+रेभ+अच् ।) रङ्गम् । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सुरेवटः, पुं, रामपूगः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सुरेश्वरः, पुं, (सुराणामीश्वरः ।) रुद्रः । इति जटाधरः ॥ (यथा, मात्स्ये । ५ । २९—३० ।
"अजैकपादहिर्ब्रध्नो विरूपाक्षोऽथ रैवतः ।
हरश्च बहुरूपश्च त्र्यम्बकश्च सुरेश्वरः ॥
सावित्रश्च जयन्तश्च पिनाकी चापराजितः ।
एते रुद्राः समाख्याता एकादश गणेश्वराः ॥"
इन्द्रः । यथा, रघुः । ३ । ६४ ।
"नरेन्द्रसूनुः प्रतिसंहरन्निषुं
प्रियंवदः प्रत्यवदत् सुरेश्वरम् ॥"
देवश्रेष्ठे, त्रि । यथा, भागवते । ४ । १५ । ९ ।
"ब्रह्मा जगद्गुरुर्देवैः सहासृत्य सुरेश्वरैः ।
वैण्यस्य दक्षिणे हस्ते दृष्ट्वा चिह्नं गदाभृतः ।
पादयोररविन्दञ्च तं वै मेने हरेः कलाम् ॥"
सुरेश्वराचार्य्यः । यथा, पञ्चदशी । ६ । १९० ।
"अन्योन्याध्यासमत्रापि जीवकूटस्थयोरिव ।
ईश्वरब्रह्मणोः सिद्धं कृत्वा ब्रूते सुरेश्वरः ॥")

सुरेश्वरी, स्त्री, (सुराणामीश्वरी ।) स्वर्गगङ्गा । इति शब्दरत्नावली ॥ दुर्गा च ॥

सुरेष्टः, पुं, (सुराणामिष्टः ।) शिवमल्ली । शालः । सुरपुन्नागः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुरेष्टा, स्त्री, (सुराणामिष्टा ।) ब्राह्मी । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुरोत्तमः, पुं, (सुरेषु उत्तमः ।) सूर्य्यः । इति केचित् ॥ देवश्रेष्ठश्च ॥ (यथा, महाभारते । ३ । ५६ । ७ ।
"विप्रियं ह्याचरन् मर्त्त्यो देवानां मृत्युमृच्छति ।
त्राहि मामनवद्याङ्गि ! वरयस्व सुरोत्तमान् ॥")

सुरोत्तरः, पुं, (सुरेषु तत्पूजनेषु उत्तरः श्रेष्ठः ।) चन्दनम् । इति शब्दचन्द्रिका ॥

सुरोदः, पुं, (सुरा उदकं यस्य । उत्तरपदस्योदकस्योदादेशः ।) सुरासमुद्रः । इति जटाधरः ॥ (यथा, भागवते । ५ । १ । ३३ ।
"क्षारोदेक्षुरसोद-सुरोद-घृतोद-क्षीरोद-दधिमण्डोद-शुद्धोदाः सप्त जलधयः ॥")

सुलक्षणा, स्त्री, (सु शोभनं लक्षणं यस्याः ।) उमासखीविशेषः । इति शब्दमाला ॥ सुन्दरलक्षणयुक्ते, त्रि ॥ (यथा, कथासरित्सागरे ।१५।६८।
"तच्छ्रुत्वा व्यसृजत् राजा सोऽथ प्रत्ययितान् द्विजान् ।
गत्वा सुलक्षणा सा वा न वेत्यालोच्यतामिति ॥")

सुलभः, त्रि, सुखेन लभ्यते इति । सु+लभ+खल् । "न सुदुर्भ्यां केवलाभ्याम् ।" ७ । १ । ६८ । इति नुमागमो न ।) सुखलभ्यः । अनायासप्राप्यः । यथा, आह्निकतत्त्वे ।
"सुलभं सकलं पुण्यं यज्ञदानादिजं फलम् ।
गङ्गातोयेश्च सतिलैर्दुर्लभं पितृतर्पणम् ॥"

सुलभा, स्त्री, (सुखेन लभ्यते इति । लभ+खल् । टाप् ।) माषपर्णी । धूम्रपत्रा । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुलोचनः, पुं, (शोभने लोचने यस्य ।) हरिणः । इति राजनिर्घण्टः ॥ दुर्य्योधनः । इति केचित् ॥ (धृतराष्ट्रपुत्त्राणामन्यतमः । यथा, महाभारते । १ । ६७ । ९४ ।
"विविंशतिर्विकर्णश्च जलसन्धः सुलोचनः ॥")
सुन्दरचक्षुर्युक्ते, त्रि ॥ (यथा, महाभारते । ३ । ५५ । १३ ।
"अतीवसुकुमाराङ्गीं तनुमध्यां सुलोचनाम् ।
आक्षिपन्तीमिव च भाः शशिनः स्वेन तेजसा ॥")

सुलोचना, स्त्री, (शोभने लोचने यस्याः ।) माधवराजपत्नी । यथा,—

माधव उवाच ।

"श्रीमद्विक्रमभूभर्त्तुः पुत्त्रोऽहं माधवाह्वयः ।
सर्व्वभावैर्भविष्यामि वशगस्तव सुन्दरि ! ॥

चन्द्रकलोवाच

समुद्रपारे तरुणपुरन्दरपुरोपमा ।
सच्चद्वीपेऽस्ति विख्याता दीव्यन्ती संज्ञया पुरी ॥
गुणाकराह्वयस्तत्र राजा श्रेष्ठो महायशाः ।
सुशीला नाम तद्भार्य्या सर्व्वलक्षणसंयुता ॥
सुलोचनाह्वया कन्या वीर तत्कुक्षिसम्भवा ।
गृहाण तां विवाहेन स्वर्गभोगं यदीच्छसि ॥"
इत्युपक्रम्य ।
"ततः शुभे क्षणे तस्मिन् पृष्ठमारुह्य वाजिनः ।
प्रचेष्टाख्येन भृत्येन विलङ्घ्य जलधिं ययौ ॥
ततो गन्धर्व्वविधिना स राजतनयः सुधीः ।
चक्रे विवाहं तां कन्यां तत्रैव प्राप्तकौतुकः ॥"
इति पाद्मे क्रियायोगसारे ५ अध्यायः ॥

सुलोमशा, स्त्री, (शोभना लोमशा ।) काकजङ्घा । इति राजनिर्घण्टः ॥ शोभनलोमयुते, त्रि ॥

सुलोमा, स्त्री, (सुष्ठु लोमान्यस्याः । डाप् ।) ताम्रवल्ली । मांसच्छदा । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुलोहकं, क्ली, (सुष्ठु लोहमिव । कन् ।) पित्तलम् । इति हेमचन्द्रः ॥

सुलोहिता, स्त्री, (सुष्ठु लोहिता ।) अग्निजिह्वाविशेषः । इति शब्दमाला ॥ (यथा, मुण्डकोपनिषदि । १ । २ । ४ ।
"काली कराली च मनोजवा च
सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा ।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरूपी च देवी
लोलायमाना इति सप्त जिह्वाः ॥")
सुन्दररक्तवर्णे, पुं ॥ तद्वति, त्रि ॥

सुवक्रः, पुं, (सुष्ठु वक्त्रं यस्मात् ।) वनवर्व्वरी । इति राजनिर्घण्टः ॥ सुन्दरानने, त्रि ॥ (यथा, महाभारते । १४ । ८ । १६ ।
"उष्णीषिणे सुवक्राय सहस्राक्षाय मीढुषे ॥")

सुवचनं, क्ली, (सुष्ठु वचनम् ।) शोभनोक्तिः । तत्पर्य्यायः । सुप्रलापः २ । इत्यमरः ।१।६।१७॥ (यथा, उत्तरचरिते । १ अङ्के ।
"म्लानस्य जीवकुसुमस्य विकाशनानि
सन्तर्पणानि सकलेन्द्रियमोहनानि ।
एतानि ते सुवचनानि सरोरुहाक्षि
कर्णामृतानि मनसश्च रसायनानि ॥")

सुवचनी, स्त्री, (सुष्ठु वचनं यस्याः । टित्त्वात् ङीप् । एतदाराधनया आराधयितुर्वाक्यसाफल्यात्तथात्वम् ।) देवीविशेषः । विपदि स्त्रियो यस्याः पूजां मन्वते कुर्व्वन्ति च । आचारमार्त्तण्डे शुभसूचनीति वर्त्तते ॥

सुवचाः, [स्] त्रि, (सुष्ठु वचो यस्य ।) वाग्मी । इति जटाधरः ॥

सुवनः, पुं, (सूते विश्वमिति । सू+"भूसूधूभ्रस्जिभ्यश्छन्दसि ।" उणा० २।८०। इति क्युन् ।) सूर्य्यः । अग्निः । इत्युणादिकोषः ॥ चन्द्रः । इति केचित् ॥

सुवर्च्चकः, पुं, स्वर्जिकाक्षारः । इति जटाधरः ॥

सुवर्च्चला, स्त्री, सूर्य्यपत्नी । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ अतसी । इति रत्नमाला ॥ सूर्य्यसुखीपुष्पम् । इति केचित् । आदित्यभक्ता । (अस्याः पर्य्यायो गुणाश्च यथा,—
"सुवर्च्चला सूर्य्यभक्ता वरदा बदरापि च ।
सूर्य्यावर्त्ता रविप्रीतापरा ब्रह्मसुदुर्लभा ॥
सुवर्च्चला हिमा रूक्षा स्वादुपाका सरा गुरुः ।
अपित्तला कटुः क्षारा विष्टम्भकफवातजित् ॥"
इति भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे प्रथमे भागे ॥)
ब्राह्मी । इति राजनिर्घण्टः ॥ देशविशेषे, पुं ॥

सुवर्च्चाः, [स्] त्रि, शोभनतेजोविशिष्टः । शोभनं वर्च्चो यस्येति बहुव्रीहिसमासनिष्पन्नः ॥ (यथा, महाभारते । ३ । ५३ । ७ ।
"तं स भीमः प्रजाकामस्तोषयामास धर्म्मवित् ।
महिष्या सह राजेन्द्र सत्कारेण सुवर्च्चसम् ॥"*
पुं, धृतराष्ट्रपुत्त्रविशेषः । १ । ६७ । १०१ ।
"दृढ़हस्तः सुहस्तश्च वातवेगसुवर्च्चसौ ॥")

सुवर्च्चिकः, पुं, स्वर्जिकाक्षारः । इति राजनिर्घण्टः ॥ (यथा,—
"कथितः स्वर्जिकाभेदो विशेषज्ञैः सुवर्च्चिकः ॥"
इति भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे प्रथमे भागे ॥)

सुवर्च्चिका, स्त्री, जतुका । इति राजनिर्घण्टः ॥ (स्वर्जिकाक्षारः । अस्याः पर्य्यायो यथा,—
"कापोतं स्वर्जिका स्वर्जिः सर्ज्जिका च सुवर्च्चिका ।"
इति वैद्यकरत्नमालायाम् ॥
तथास्या गुणाः ।
"सुवर्च्चिका स्वर्जिकावत् बोद्धव्या गुणतो जनैः ॥"
इति भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे प्रथमे भागे ॥)

सुवर्च्चीं, [न्] पुं, स्वर्जिकाक्षारः इति राजनिर्घण्टः ॥

सुवर्णं, क्ली, (शोभनो वर्णो यस्य ।) धातुविशेषः । सोना इति भाषा । तत्पर्य्यायः । स्वर्णम् २ कनकम् ३ हिरण्यम् ४ हेम ५ हाटकम् ६ तपनीयम् ७ शातकुम्भम् ८ गाङ्गेयम् ९ भर्म्म १० कर्व्वुरम् ११ चामीकरम् १२ जातरूपम् १३

महारजतम् १४ काञ्चनम् १५ रुक्मम् १६ कार्त्तस्वरम् १७ जाम्बूनदम् १८ अष्टापदम् १९। इत्यमरः। २। ९। ९४॥ शातकौम्भम् २० भर्म्मम् २१ कर्व्वूरम् २२ कर्चुरम् २३ रुग्मम् २४। इति तट्टीका॥ भद्रम् २५ भूरि २६ पिञ्जरम् २७ द्रविणम् २८ गैरिकम् २९ चाम्पेयम् ३० मनः ३१ चन्द्रः ३२ कलधौतम् ३३। इति जटाधरः॥ अश्मकम् ३४ अग्निवीजम् ३५ लोहवरम् ३६ उज्ज्वालकम् ३७ सर्गमणिप्रभवम् ३८ मुख्यधातु ३९। इति शब्दरत्नावली॥ उज्ज्वलम् ४० कल्याणम् ४१ मनोहरम् ४२ अग्निवीर्य्यम् ४३ अग्नि ४४ भास्करम् ४५ पिञ्जानम् ४६ अपिञ्जरम् ४७ तेजः ४८ दीप्तम् ४९ अग्निभम् ५० दीप्तकम् ५१ मङ्गल्यम् ५२ सौमङ्गकम् ५३ भृङ्गारम् ५४ जाम्बवम् ५५ आग्नेयम् ५६ निष्कम् ५७ अग्निशिखम् ५८। अस्य गुणाः। स्निग्धत्वम्। कषायत्वम्। तिक्तत्वम्। मधुरत्वम्। दोषत्रयध्वंसनत्वम्। शीतत्वम्। स्वादुत्वम्। रसायनत्वम्। रुचिकारित्वम्। चक्षुष्यत्वम्। आयुष्यदत्वम्। प्रज्ञावीर्य्यवलस्मृतिकरत्वञ्च। तद्धारणस्य गुणाः। कान्तिदुरितक्षयश्रीकारित्वम्॥ * ॥ तत्परीक्षादि यथा,—

"दाहेऽतिरक्तमथ यच्च सितं छिदायां
काश्मीरकान्ति च विभाति निकाषपट्टे।
स्निग्धञ्च गौरवमुपैति च यत्तुलायां
जानीत देवकनकं मृदु रक्तपीतम्॥
तत्रैकं रसवेधजं तदपरं जातं स्वयं भूमिजं
किञ्चान्यद्बहु लोहसङ्करभवं चेति त्रिधा काञ्चनम्।
तत्राद्यं कलपीतरक्तमपरं रक्तं ततोऽन्यद्यथा
गौराभं तदिति क्रमेण गदितं स्यात् पूर्व्वपूर्व्वोत्तमम्॥"

इति राजनिर्घण्टः॥ * ॥

अपिच सुवर्णस्योत्पत्तिनामलक्षणगुणाः।
"पुरा निजाश्रमस्थानां सप्तर्षीणां जितात्मनाम्।
पत्नीर्विलोक्य लावण्यलक्ष्मीसम्पन्नयौवनाः॥
कन्दर्पदर्पविध्वस्तचेतसो जातवेदसः।
पतितं तद्धरापृष्ठे रेतस्तु हेमतामगात्॥
कृत्रिमं चापि भवति तद्रसेन्द्रस्य वेधतः।
स्वर्णं सुवर्णं कनकं हिरण्यं हेम हाटकम्॥
तपनीयं कलधौतं गाङ्गेयं भर्म्म काञ्चनम्।
चामीकरं शातकुम्भं तथा कार्त्तस्वरञ्च तत्॥
जाम्बूनदं जातरूपं महारजतमित्यपि।
दाहे रक्तं सितं छेदे निकषे कुङ्कुमप्रभम्॥
तारशुल्वोऽभिहतं स्निग्धं कोमलं गुरु हेम सत्॥"

सत् उत्तमम्।
"तच्छ्वेतं कठिनं रूक्षं विवर्णं समलं दलम्।
दाहे छेदेऽसितं श्वेतं कषे त्याज्यं लघु स्फुटम्॥"
दलं दोषत इति लोके। स्फुटं यद्घनाहतं स्फुटति॥

"सुवर्णं शीतलं वृष्यं बल्यं गुरु रसायनम्।
स्वादु तिक्तञ्च तुवरं पाके च स्वादु पिच्छिलम्॥
पवित्रं वृंहणं नेत्र्यं मेधास्मृतिमतिप्रदम्।
हृद्यमायुष्करं कान्तिवाग्विशुद्धिस्थिरत्वकृत्।
विषद्वयक्षयोन्मादत्रिदोषज्वरशोषजित्॥
बलं सवीर्य्यं हरते नराणां
रोगव्रजं पोषयतीह काये।
असौख्यकार्य्येव सदा सुवर्ण-
मशुद्धमेतन्मरणञ्च कुर्य्यात्॥
असम्यङ्मारितं स्वर्णं बलं वीर्य्यञ्च नाशयेत्।
करोति रोगान्मृत्युञ्च तद्धन्याद्यत्नतस्ततः॥"

इति भावप्रकाशः॥ * ॥

अथ सुवर्णकरणम्।
"मध्वाज्यं गुडताम्रञ्च करेणामाच्चिकं रसम्।
धमनाच्च भवेद्रौप्यं सुवर्णकरणं शृणु॥
पीतं धुस्तूरपुष्पञ्च सीसकञ्च पलं मतम्।
पाठा लाङ्गलशाखा च मूलमावर्त्तनाद्भवेत्॥"

इति गारुडे १८८ अध्यायः॥ * ॥

अपि च।

श्रीशङ्कर उवाच।
"आनीय पारदं देवि स्थापयेत् प्रस्तरोपरि।
तस्योपरि जपेन्मन्त्रं सर्व्वबन्धमयात्मकम्॥
सार्द्धसहस्रं देवेशि प्रजपेत् साधकाग्रणीः।
स्वयम्भुपुष्पसंयुक्ते वस्त्रे चारुणसन्निभे॥
संस्थाप्य पारदं देवि मृत्पात्रे शुभगे शिवे।
पुष्पयुक्तेन सूत्रेण बध्नीयात् बहुयत्नतः॥
मृत्तिकया रसेनैव धान्यस्य परमेश्वरि।
लेपयेद्बहुयत्नेन रौद्रे शुष्काणि कारयेत्॥
पुनश्च लेपयेद्धीमान् ततो वह्नौ विनिःक्षिपेत्।
अष्टमीनवमीरात्रौ क्षिपेन्नैव सुरेश्वरि॥
अथवा परमेशानि मृत्पात्रे स्थापयेद्रसम्।
वस्त्रारसेन तद्द्रव्यं शोधयेद्बहुयत्नतः॥
घृतनारीरसेनैव तथैव शोधनं चरेत्।
एवं कृते तु गुटिका यदि स्यात् दृढ़बन्धनम्॥
धुस्तूरञ्च समानीय मध्ये शून्यञ्च कारयेत्।
कृष्णाख्यातुलसीयोगे तथा घृतकुमारिका॥
एवं कृते वह्नियोगे भस्मसात् जायते किल।
भस्मयोगे भवेत् स्वर्णं शमदायाः प्रसादतः।
विवर्णं जायते द्रव्यं यदि पूजां न चाचरेत्॥"

इति मातृकाभेदतन्त्रे ५ पटलः॥ * ॥

अस्य धार्य्यत्वं सर्व्वदेवतात्मकत्वञ्च यथा, रामायणे महाभारते च परशुरामं प्रति वशिष्ठवाक्यम्।
"सर्व्वरत्नानि निर्मथ्य तेजोराशिं समुत्थितम्।
सुवर्णमेभ्यो विप्रेन्द्र रत्नं परमनुत्तमम्॥
एतस्मात् कारणाद्देवगन्धर्व्वोरगराक्षसाः।
मनुष्याश्च पिशाचाश्च प्रयता धारयन्ति तत्॥"
तथा।
"तस्मात् सर्व्वपवित्रेभ्यः पवित्रं परमं स्मृतम्॥"
तथा।
"अग्निर्व्वै सकला देवाः सुवर्णञ्च तदात्मकम्।
तस्मात् सुवर्णं ददता दत्ताः स्युः सर्व्वदेवताः॥"
तस्मात्तत् पदादौ न धार्य्यं देवतात्मकत्वात्।

इति शुद्धितत्त्वम्॥ * ॥ तद्दानफलं यथा,—

अम्बरीष उवाच।
"न सुवर्णं विना दानं तिलैर्व्वा मुनिसत्तम।
कस्मात् पवित्रमित्युक्तं भवानेतत् ब्रवीतु मे॥

वशिष्ठ उवाच।
अत्र ते कथयिष्यामि इतिहासं पुरातनम्।
जामदग्न्यस्य रामस्य मुनिभिः सह पार्थिव॥
त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं मुनीन् पप्रच्छ पार्थिव।
कृत्वा तु कृपयाविष्टो निःक्षत्रां भार्गवः पुरा॥

राम उवाच।
क्रोधादिदं कृतं कर्म्म मया मुनिवरोत्तमाः।
कथं कस्माद्विमुच्येऽहं पापात् क्षत्रवधादतः॥
इत्युक्ता धर्म्मतत्त्वज्ञाः पापानां पावनं परम्।
दानञ्चेह सुवर्णस्य ते तमूचुर्म्महर्षयः॥
एतत् पवित्रमतुलं सम्भूतमिह शुश्रुम।
शम्भोर्वीर्य्यात् परं तेजो ह्यपत्यं जातवेदसः॥
सहजं कार्त्तिकेयस्य रुद्रशुक्रसमुद्भवम्।
पवित्रं यत् सुरैः सर्व्वैर्धार्य्यन्ते मुकुटादिभिः॥
अग्निस्तु देवताः सर्व्वाः प्रीयन्ते सर्व्वदेवताः।
तस्मात् सुवर्णं ददतां सुवर्णञ्च तदात्मकम्॥
दश पूर्व्वापरांश्चैव प्रोवाचेदं वृहस्पतिः।
सुवर्णं ये प्रयच्छन्ति नरकात्तारयन्ति ते॥
सर्व्वान् कामान् प्रयान्त्येते पितामहसुतोऽब्रवीत्।
मरीचिर्भगवान् पूर्व्वं ये प्रयच्छन्ति काञ्चनम्॥
यः सुवर्णं नरो नित्यं ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छति।
स चिरं विरजा विद्वान् देववद्दिवि मोदते॥
सर्व्वेषामेव दानानामेकजन्मानुगं फलम्।
हाटकक्षितिगौरीणां सप्तजन्मानुगं फलम्॥
विद्यमानं सुवर्णं तु यो लोभान्न प्रयच्छति।
स सदा जन्मपापैस्तु वेष्टितो नरकं व्रजेत्॥
कृत्वापि सुमहत् पापं जातरूपं ददाति यः।
स सद्यस्तेन पापेन मुच्यते नात्र संशयः॥
एवं ज्ञात्वा तु मुक्त्यर्थं सुवर्णं देहि भार्गव।
तुलामारुह्य कायस्य समानमात्मनस्तथा॥
इत्युक्तो मुनिभिर्द्दिव्यै राम धर्म्मभृतांवरः।
प्रादात् सुवर्णं विप्रेभ्यः ततः पापादमुच्यत॥
तस्मात्त्वमपि राजेन्द्र द्विजेभ्यो देहि काञ्चनम्।
विष्वक्‌सेनं समुद्दिश्य यदीच्छेः शाश्वतीं गतिम्॥"
इति वह्निपुराणे तुलापुरुषदाननामाध्यायः॥ * ॥
अपि च।
"सुवर्णदानं गोदानं भूमिदानं तथैव च।
नाशयन्त्याशु पापानि महापातकजान्यपि॥"

इति प्रायश्चित्ततत्त्वम्॥ * ॥

उत्कृष्टस्वर्णस्य गृहे चिरस्थापननिषेधो यथा,
"न चिरं स्थापयेद्गेहे हेम संशोधितं बुधः।
तिष्ठत् भयावहं यस्मात् शोकव्याधिकरं नृणाम्॥
शीघ्रं परस्वीकरणात् श्रेयः प्राप्नोति पुष्कलम्॥"
संशोधितं पात्रमुद्दिश्य त्यक्तम्। अतएव विष्णुपुराणे।
"तस्मात् सर्व्वात्मना पात्रे दद्यात् कनकमुत्तमम्।
अपात्रे पातयेद्दत्तं सुवर्णं नरकार्णवे॥

प्रमादतस्तु तन्नष्टं तावन्मात्रं निवेदयेत् ।
अन्यथा स्तेयदुक्तः स्यात् हेमादत्ते विनाश्रिते ॥”
तद्धेम न्यासयाच उत्कृष्टं न्यासयसादक्षतं यदि
चौरादिना अपह्नियते तदा तावदेव पुनरुत्-
सृज्य देयमिति दानसागरः ॥ * ॥ तत्तु अग्नि-
दैवतम् । यथा,—
“आग्नेयं कनकं प्रोक्तं सर्व्वलौहानि वायव ।”
इति शुद्धितत्त्वम् ॥
(अथास्य मारणविधिः ।
“गलितस्य सुवर्णस्य षोड़शांशेन सीसकम् ।
योजयित्वा समुद्धृत्य निम्बुनीरेण मर्द्दयेत् ॥
गोलं कृत्वा गन्धचूर्णं समं दद्यात्तदुपरि ।
शरावसंपुटे कृत्वा पुटेत्त्रिंशद्वनोपलैः ।
एवं सुनिपुटैर्हेम मौव्यानं लभते पुनः ॥”
अस्य गुणाः ।
“कषायं तिक्तमधुरं सुवर्णं गुरु लेखनम् ।
हृद्यं रसायनं बल्यं चक्षुष्यं कान्तिदं शुचि ॥
आयुर्मेधावयःस्थैर्य्यवाग्विशुद्धिस्मृतिप्रदम् ।
वयोन्मादगराणाञ्च कुष्ठानां नाशनं परम् ॥”
इति वैद्यकरसेन्द्रसारसंग्रहे जारणमारणा-
धिकारे ॥*॥) हरिचन्दनम् । इति मेदिनी ॥
स्वर्णगैरिकम् । इति रत्नमाला ॥ धनम् । इति
हेमचन्द्रः ॥ नागकेशरम् । इति राजनिर्घण्टः ॥
सुवर्णः, पुं, क्ली, (सुष्ठु वर्णोऽस्य ।) हेम्नोऽष्टः ।
स अशीतिरक्तिकापरिमितस्वर्णम् । तत्पर्य्यायः ।
बिस्तः २ । इत्यमरः । २ । ६ । ८६ ॥ कर्षं
सुवर्णस्य सुवर्णसंज्ञम् । इति लीलावती ॥ कर्ष-
परिमाणम् । इति वैद्यकपरिभाषा । (यथा,—
“विद्यात्कर्षं तथा चापि सुवर्णं कवलग्रहम् ॥”
इति गारुड़े २०८ अध्यायः ॥)
सुवर्णः, पुं, (शोभनो वर्णो यस्य ।) स्वर्णकर्षः ।
यज्ञविशेषः । इति मेदिनी ॥ धुस्तूरः । इत्य-
मरः ॥ कणगुग्गुलुः । इति राजनिर्घण्टः ॥
सुष्ठुवर्णे, त्रि । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा,
महाभारते । १३ । ६८ । ३३ ।
“वाससां सम्प्रदानेन स्वदारनिरतो नरः ।
सुवर्णश्च सुवेशश्च भवतीत्यनुशुश्रुमः ॥”)
सुवर्णकं, क्ली, (सुवर्णमिव । इवार्थे कन् ।)
पित्तलम् । इति हेमचन्द्रः ॥ (स्वार्थे कन् ।
सुवर्णम् । यथा, महाभारते । ३ । ८२ । ७५ ।
“तत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ लभेत् बहु सुवर्णकम् ॥”
सुष्ठु वर्णो यस्य । कन् ।) सुन्दरवर्णयुक्ते, त्रि ॥
सुवर्णकः, पुं, (सुष्ठु वर्णो यस्य । कन् ।) आरग्वध-
वृक्षः । इत्यमरः । २ । ४ । २४ ॥
सुवर्णकदली, स्त्री, (सुवर्णा सुवर्णवर्णा सुन्दर-
वर्णा वा कदली ।) कदलीविशेषः । चाँपा
कला इति भाषा । तत्पर्य्यायः । सुवर्णरम्भा २
कनकमोचा ३ पीता ४ सुवर्णमोचा ५ चम्पक-
रम्भा ६ सुरभिका ७ सुभगा ८ हेमफला ९
स्वर्णफला १० कनकरम्भा ११ पीतरम्भा १२
गौरी १३ गौररम्भा १४ काञ्चनकदली १५
सुरप्रिया १६ । अस्या गुणाः । मधुरत्वम् ।
हिमत्वम् । स्वल्पाग्ने दीपनकारित्वम् । तृष्णा-
दाहनाशित्वम् । कफावहत्वम् । वृष्यकारित्वम् ।
गुरुत्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥
सुवर्णकारः, पुं, (सुवर्णं स्वर्णभूषणादिकं करो-
तीति । कृ + अण् ।) स्वर्णकारः । इति हला-
युधः ॥ सेकरा इति भाषा ॥ (यथा, मनुः ।
४ । २१८ ।
“राजान्नं तेज आदत्ते शूद्रान्नं ब्रह्मवर्चसम् ।
आयुः सुवर्णकारान्नं यशश्चर्म्मावकर्त्तिनः ॥”)
सुवर्णगैरिकं, क्ली, (सुवर्णं सुन्दरवर्णं गैरिकम् ।)
गैरिकभेदः । वर्णकमाटि इति वङ्गभाषा ।
पीत गेरु इति हिन्दी भाषा । तत्पर्य्यायः ।
स्वर्णधातुः २ सुरक्तकः ३ सन्ध्याभ्रम् ४ बभ्रु-
धातुः ५ शिलाधातुः ६ । अस्य गुणाः ।
“गैरिकं मधुरं शीतं कषायं व्रणरोपणम् ।
विस्फोटार्शोऽग्निदाहघ्नं वरं स्वर्णादिकं शुभम् ॥”
इति राजनिर्घण्टः ॥
(तथाच ।
“गैरिकं रक्तधातुश्च गैरेयं गिरिजन्तथा ।
सुवर्णगैरिकं त्वन्यत्ततो रक्ततरं हि तत् ॥
गैरिकद्वितयं स्निग्धं मधुरन्तुवरं हिमम् ।
चक्षुष्यं दाहपित्तास्रकफहिक्काविषापहम् ॥”
इति भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे प्रथमे भागे ॥)
सुवर्णनकुली, स्त्री, (सुवर्णा नकुली ।) महा-
ज्योतिष्मती । इति राजनिर्घण्टः ॥
सुवर्णपुष्पः, पुं, (सुवर्णवत् पुष्पं यस्य ।) राज-
तरुणी । इति राजनिर्घण्टः ॥ (यथा, वृहत्-
संहितायाम् । २९ । १० ।
“श्रेष्ठी सुवर्णपुष्पैः
पद्मैर्विप्राः पुरोहिताः कुमुदैः ॥”)
सुवर्णप्रसरं, क्ली, (सुवर्णस्य प्रसर इव यत्र ।)
एलवालुकम् । इति वैद्यकम् ॥
सुवर्णवणिक्, पुं, (सुवर्णस्य वणिक् क्रयविक्रयादि-
कर्त्ता ।) जातिविशेषः । सोनार वेणिया इति
भाषा । स तु अम्बष्ठाद्वैश्यायां जातः मध्यम-
वर्णसङ्करः । इति केचित् ॥ तस्य पातित्यकारणं
यथा, ब्रह्मवैवर्त्ते ब्रह्मखण्डे । १० । ९५ ।
“कश्चिद्विप्रविशेषश्च संसर्गात् स्वर्णकारिणः ।
स्वर्णचौर्य्यादिदोषेण पतितो ब्रह्मशापतः ॥”
अपि च ।
“गान्धिकः शाङ्खिकश्चैव कांस्यको मणिकारकः ।
सुवर्णजीविकश्चैव पञ्चैते वणिजः स्मृताः ॥
अम्बष्ठादृजपुत्रात्तु जायते गान्धिको वणिक् ।
गन्धचन्दनधूपादिक्रयविक्रयकारकः ॥
गान्धिक्यां राजपुत्राच्च संजातः शाङ्खिको वणिक् ।
शङ्खं दृष्ट्वा मुनेः पत्नी शङ्खजीवी प्रकीर्त्तितः ॥
शाङ्खिक्यां गान्धिकाज्जातस्तास्म्रकांस्योप-
जीविकः ।
शाङ्खिकात् कांस्यकन्यायां मणिकारः प्रजायते ।
कांस्यकाराच्च माणिक्यां सुवर्णजीविकोऽभवत् ॥”
इति पराशरपद्धतौ भार्गवरामकृतवर्णसङ्कर-
जातिमाला ॥
सुवर्णबिन्दुः, पुं, (सुवर्णवत् बिन्दुर्यस्य ।) विष्णुः ।
इति हेमचन्द्रः ॥
सुवर्णयूथी, स्त्री, (सुवर्णवत् पीता यूथी ।) पीत-
वर्णयूथिका । स्वर्णयूइ इति भाषा । तत्पर्य्यायः ।
सुगन्धा २ हेमयूथिका ३ युवतीष्टा ४ रक्तगन्धा ५
शिखण्डी ६ नागपुष्पिका ७ हरिणी ८ पीत-
यूथी ९ पीतिका १० कनकप्रभा ११ मनोहरा १२
गन्धाढ्या १३ । अस्या गुणाः । स्वादुत्वम् ।
शिशिरत्वम् । शर्करापित्तदाहश्वासनाना-
त्वग्दोषनाशित्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥
अपि च ।
“यूथिका गणिकाम्बष्ठा सा पीता हेमपुष्पिका ।
यूथीयुगं हिमं तिक्तं कटुपाकं सरं लघु ॥
मधुरं तुवरं हृद्यं पित्तघ्नं कफवातलम् ।
व्रणास्यमुखदन्ताक्षिशिरोरोगविषापहम् ॥”
इति भावप्रकाशः ॥
सुवर्णवर्णः, पुं, (सुवर्णवत् वर्णो यस्य ।) विष्णुः ।
यथा,—
“सुवर्णवर्णो हेमाङ्गो वराङ्गश्चन्दनाङ्गदी ।”
इति तस्य सहस्रनामस्तोत्रम् ॥
सुवर्णवर्णा, स्त्री,(सुवर्णवत् वर्णो यस्याः ।) हरिद्रा ।
इति शब्दचन्द्रिका ॥ स्वर्णवर्णयुक्ते, त्रि ॥
सुवर्णा, स्त्री, (सुष्ठु वर्णो यस्याः ।) कृष्णागुरु ।
इति मेदिनी ॥ वाट्यालकः । इति शब्दचन्द्रिका ॥
स्वर्णक्षीरी । हरिद्रा । इति राजनिर्घण्टः ॥
(हस्तिनपुरकर्त्तुर्हस्तिनो माता । यथा, महा-
भारते ।१ । ९५ । ३४ ।“सुहोत्रः खलु इक्ष्वाकु-
कन्यामुपयेमे सुवर्णां नाम तस्यामस्य जज्ञे
हस्ती य इदं हास्तिनपुरं स्थापयामास एत-
दस्य हास्तिनपुरत्वम् ॥”)
सुवर्णाख्यः, पुं, (सुवर्णस्य आख्या आख्या यस्य ।)
नागकेशरः । इति रत्नमाला ॥ धुस्तूरवृक्षः ।
इति कनकाह्वयशब्ददर्शनात् ॥ (तीर्थविशेषे,
क्ली । इति महाभारतम् । ३ । ८४ । १७ ।)
सुवर्णी, स्त्री, (सुष्ठु वर्णो यस्याः । गौरादित्वात्
ङीष् ।) आखुपर्णी । इति राजनिर्घण्टः ॥
(विवृतिरस्या आखुपर्णीशब्दे ज्ञातव्या ।)
सुवयाः, [स्] स्त्री, (सुष्ठु वयो यस्याः ।) प्रौढ़ा
स्त्री । इति राजनिर्घण्टः ॥
सुवल्लिः, स्त्री, (शोभना वल्लिः ।) सोमराजी ।
इत्यमरः । २ । ४ । ९५ ॥
सुवल्ली, स्त्री, (सुवल्लि + पक्षे ङीष् ।) सोमराजी ।
इत्यमरटीकायां भरतः ॥
सुवसन्तः, पुं, (शोभनो वसन्तो यत्र ।) चैत्रावली ।
इति तिथ्याविशेषः॥ सुन्दरवसन्तकालः सुजाती-
यवसन्तरोगश्च ॥
सुवसन्तकः, पुं, (शोभनो वसन्तो यत्र । कप् ।)
वासन्ती । मदनोत्सवः । इति मेदिनी ॥
सुवहः, त्रि, (सुखेन उह्यते इति । सु + वह +
खल् ।) सुखवाह्यः । इति मेदिनी ॥ (सुष्ठु
वहतीति । वह + अच् ।) सव्यवहः । इति
हेमचन्द्रः ॥

सुवहा, स्त्री, (सुष्ठु वहति सौगन्ध्यमिति । सु+वह+अच् ।) शेफालिका । रास्ना (अस्याः पर्य्यायो यथा,—
"रास्ना युक्तरसा रस्या सुवहा रसना रसा ।
एलापर्णी च सुरसा सुगन्धा श्रेयसी तथा ॥"
इति भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे प्रथमे भागे ॥) गोधापदी । एलापर्णी । इत्यमरः ।२ । ४ ।७०॥ शल्लकी । (अस्याः पर्य्यायो यथा,भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे प्रथमे भागे ।
"शल्लकी गजभक्ष्या च सुवहा सुरभीरसा ।
महेरणा कुन्दुरुकी वल्लकी च बहुस्रवा ॥")
वीणा । इति मेदिनी ॥ त्रिवृता । इति शब्द-चन्द्रिका भरतश्च ॥ वन्दजटा । हंसपदी । गन्धनाकुली । सुशली । नीलसिन्धुवारः । इति राजनिर्घण्टः ॥ (अस्याः पर्य्यायो यथा,—
"सिन्धुवारः श्वेतपुष्पः सिन्दुकः सिन्दुवारकः ।
नीलपुष्पी तु निर्गुण्डी शेफाली सुवहा च सा ॥"
इति भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे प्रथमे भागे ॥)

सुवासः, पुं, (शोभनो वासः ।) शोभनगन्धः । उत्तमनिवासः । इति केचित् ॥ (महादेवः । इति महाभारतम् । १३ । १७ । ११५ ॥)

सुवासिनी, स्त्री, (सुखेन वसतीति । सु+वस+णिनिः ।) चिरिण्टी । इत्यमरः । २ । ६ । ८ ॥ सुखेन वसतीति सुवासिनीति द्राविड़ाः । पितृ-कुलस्नेहात् चिरमेटति गच्छति चिरिण्टी । इट गतौ अन् मनीषादिः । सुवासिन्यां चिरिण्टी स्यात् द्वितीयवयसि स्त्रियामिति रुद्रः । चर-ण्टीत्येके । इति तट्टीकायां भरतः ॥

सुविद्, पुं, (सुष्ठु वेत्तीति । विद्+क्विप् ।) पण्डितः । गुणयुक्तनार्य्याम्, स्त्री । इत्यमरे सौवि-दल्लशब्दटीकायां रामाश्रमः ॥

सुविदः, पुं, (सुष्ठु वेत्तीति । सु+विद्+कः ।) सौविदः । इत्यमरटीकायां रायमुकुटः ॥ राजा । इति भरतः ॥

सुविदत्, पुं, (सुष्ठु वेत्तीति । विद्+क्विप् । तमत-तीति । अत्+क्विप् ।) राजा । इत्यमरे सौवि-दल्लशब्दटीकायां रायमुकुटः ॥

सुविदत्रं, त्रि, (सुष्ठु वेत्तीति । सु+विद्+"सुविदेः कत्रन् ।" उणा० ३ । १०८ । इति कत्रन् ।) कुटुम्बः । इत्युणादिकोषः ॥

सुविदल्लं, क्ली, अन्तःपुरम् । इत्यमरटीकायां राय-मुकुटः ॥

सुविदल्ला, स्त्री, ऊढ़ा नारी । इत्यमरे सौविदल्ल-शब्दटीकायां रायमुकुटः ॥

सुविधिः, पुं, (सु शोभनो विधिर्यस्य ।) अर्हद्वि-शेषः । इति हेमचन्द्रः ॥ उत्तमविधानञ्च ॥

सुविनीता, स्त्री, (सुष्ठु विनीता ।) सुकरा गौः । इति शब्दरत्नावली ॥ अतिशयविनयविशिष्टे, त्रि ॥

सुवीजः, पुं, (सु शोभनं वीजं यस्य ।) खसुखसः । इति राजनिर्घण्टः ॥ (महादेवः । इति महा-भारतम् । १३ । १७ । ३८ ॥) सुन्दरवीजे, क्ली । तद्वति, त्रि ॥

सुवीरकं, क्ली, (सु+वीर शौर्य्ये+ण्वुल् ।) सौवी-राञ्जनम् । इति शब्दचन्द्रिका ॥ (पर्य्यायोऽस्य यथा,—
"सुवीरकं पार्व्वतेयं सौवीरं नीलमञ्जनम् ॥"
इति वैद्यकरत्नमालायाम् ॥)

सुवीराम्लं, क्ली, (सुवीरं अतिशयतेजःशालि अम्लं यस्य ।) काञ्जिकम् । इति जटाधरः ॥

सुवीर्य्यं, क्ली, (सुष्ठु वीर्य्यं यस्य ।) वदरीफलम् । इति जटाधरः ॥ उत्तमवीर्य्यञ्च ॥

सुवीर्य्या, स्त्री, (सुष्ठु वीर्य्यं यस्याः ।) वनका-र्पासी । इति शब्दरत्नावली ॥ (वनकार्पासीशब्दे-ऽस्या विशेषो ज्ञेयः ॥)

सुवृत्तः, पुं, (शोभनो वृत्तः ।) शूरणः । इति राज-निर्घण्टः ॥ त्रि, सुन्दरवर्त्तुलः ॥ (यथा, महा-भारते । १ । १५४ । ८ ।
"पश्य बाहू सुवृत्तौ मे हस्तिहस्तनिभाविमौ ॥"
सुष्ठु वृत्तं चरित्रं यस्येति । सच्चरित्रः । यथा, रघुः । ८ । ७७ ।
"मयि तस्य सुवृत्त ! वर्त्तते
लघुसन्देशपदा सरस्वती ।
श्वशुर विश्रुतसत्त्वसार ! तां
हृदि चैनामुपधातुमर्हसि ॥")

सुवृत्ता, स्त्री, (सुष्ठु वृत्ता ।) शतपत्री । काकली-द्राक्षा । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुवेगा, स्त्री, (सुष्ठु वेगो यस्याः ।) महाज्योति-ष्मती । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुवेलः, पुं, (सुगता वेला समुद्रकूलं येन । यद्वा, सुष्ठु वेला स्थितिर्यस्य ।) त्रिकूटपर्व्वतः । इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, अनर्घराघवे । ६ । १७ ।
"श्रुत्वा दाशरथी सुवेलकटके साटोपमर्धधनु-ष्टङ्कारैः परिपूरयन्ति ककुभः शोचन्ति कौणे-यकान् ॥")

सुवेलः, त्रि, (शोभना वेला मर्य्यादा स्थितिर्यस्य ।) प्रणतः । शान्तः । इति मेदिनी ॥

सुवे(ष)शः, पुं, (शोभनो वेशो यस्य ।) श्वेतेक्षुः । इति राजनिर्घण्टः ॥ सुन्दरवेशयुक्ते, त्रि । यथा,
"सुवेशं पुरुषं दृष्ट्वा भ्रातरं यदि वा सुतम् ।
योनिः क्लिद्यति नारीणां सत्यं सत्यं हि नारद ॥"
इति महाभारतम् ॥

सुवेशी, [न्] त्रि, (सुवेशोऽस्यास्तीति । इनिः ।) सुन्दरवेशयुक्तः ॥

सुव्रतः, पुं, (सुष्ठु व्रतं यस्य ।) भाविकल्पीयार्हद्वि-शेषः ॥ वर्त्तमानकल्पीयार्हद्विशेषः । इति हेम-चन्द्रः ॥ (कार्त्तिकेयः । यथा, महाभारते । ३ । २३१ । ७ ।
"सुव्रतो ललितश्चैव बालक्रीड़नकप्रियः ॥")
शोभनव्रतयुक्ते, त्रि ॥ (यथा, महाभारते । १ । २३४ । २७ ।
"सुव्रता चापि कल्याणी सर्व्वभूतेषु विश्रुता ।
अरुन्धती महात्मानं वशिष्ठम्पर्य्यशङ्कत ॥")

सुव्रता, स्त्री, (सुष्ठु व्रतं यस्याः ।) सुखसंदोह्या गौः । इत्यमरः । २ । ९ । ७१ ॥ शोभनव्रता । इति मेदिनी ॥ वर्त्तमानकल्पीयपञ्चदशजिन-माता । इति हेमचन्द्रः ॥ (शटी । तत्पर्य्यायो यथा,—
"शटी पलाशी षड्ग्रन्था सुव्रता गन्धमूलिका ।
गन्धारिका गन्धवधूर्वधूः पृथुपलाशिका ॥"
इति भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे प्रथमे भागे ॥)

सुशर्म्मा, [न्] पुं, राजविशेषः । इति पुराणम् ॥ निन्दितब्राह्मणविशेषः । यथा,—
"सुशर्म्मा नाम को देव किं जातीयः किमात्मकः ।
कुतस्तस्य च वै मुक्तिः केन वा यत्र हेतुना ॥
श्रीभगवानुवाच ।
सुशर्म्मा नाम दुर्म्मेधाः सीमा पापात्मनामभूत् ।
अनाम्नायविदां वंशे विप्राणां क्रूरकर्म्मणाम् ॥"
इति पाद्मोत्तरखण्डे ८० अध्यायः ॥
सु+शॄ ग्नि हिंसे+"अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते ।" ३ । २ । ७५ । इति मनिन् ।) सुष्ठु शृणाति यः । इति मुग्धबोधटीकायां दुर्गादासः ॥ शोभनसुख-विशिष्टे, त्रि ॥

सुशल्यः, पुं, (सुष्ठु दृढ़ं शल्यं कण्टकं यस्य ।) खदिरः । इति राजनिर्घण्टः ॥ (खदिरशब्देऽस्य विवरणं ज्ञातव्यम् ॥)

सुशवी, स्त्री, कारवेल्लः । कृष्णजीरकः । इत्यमर-टीकायां भरतः । २ । ४ । १५५ ॥

सुशाकं, क्ली, (सुष्ठु शाको यस्मात् ।) आर्द्रकम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुशाकः, पुं, (सुष्ठु शाको यस्य ।) चञ्चुः । भिण्डा । तण्डुलीयः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुशान्ता, स्त्री, शशिध्वजराजपत्नी । यथा, कल्किपुराणे २२ अध्याये ।
"शशिध्वजो महातेजा गजायुतबलः सुधीः ।
तस्य पत्नी महादेवी विष्णुव्रतपरायणा ॥
सुशान्ता स्वामिनं प्राह कल्किना योद्धुमुद्यतम् ।
नाथ कान्तं जगन्नाथं सर्व्वान्तर्यामिनं प्रभुम् ।
कल्किं नारायणं साक्षात् कथं त्वं प्रहरिष्यसि ॥"

सुशिखः, पुं, (शोभना शिखा यस्य ।) अग्निः । इति जटाधरः ॥ उत्तमशिखायुक्ते, त्रि ॥

सुशिखा, स्त्री, (शोभना शिखा ।) मयूरशिखा । इति राजनिर्घण्टः ॥ (सुन्दरकेशः । यथा, भागवते । ३ । २० । ३६ ।
"मध्यं विषीदति बृहत्स्तनभारभीतं
शान्तेव दृष्टिरमला सुशिखासमूहः ॥")

सुशीतं, क्ली, (शोभनं शीतम् ।) पीतचन्दनम् । इति शब्दचन्द्रिका ॥ अतिशयशीतञ्च । तद्वति, त्रि ॥

सुशीतः, पुं, (सुष्ठु शीतः ।) प्लक्षवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुशीतलं, क्ली, (सुष्ठु शीतलम् ।) गन्धतृणम् । इति रत्नमाला ॥ (गन्धतृणशब्देऽस्य विशेषो ज्ञेयः ॥) अतिशीतगुणविशिष्टे, त्रि ॥ (यथा, महाभारते । ३ । ६५ । ४ ।
"निर्म्मलस्वादु सलिलं मनोहारि सुशीतलम् ।
सुपरिश्रान्तवाहास्ते निवेश्याय मनो दधुः ॥")

सुशीता, स्त्री, (सुष्ठु शीता ।) शतपत्री । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुशीविका, स्त्री, कन्दविशेषः । वाराहीकन्दः । इति शब्दचन्द्रिका ॥

सुशीमः, पुं, शीतगुणः । इत्यमरटीकायां स्वामी ॥ तद्वति, त्रि ॥

सुशीलः, पुं, (सु शोभनं शीलमस्य ।) चोलराजः । यथा,—

"यो विष्णुदासः स तु पुण्यशीलो
यश्चोलभूपः स सुशीलनामा ।
आवामुभौ तत्समरूपभाजौ
द्वाःस्थौ कृतौ तेन रमाप्रियेण ॥"

इति पाद्मे उत्तरखण्डे ५४ अध्यायः ॥

शोभनशीलविशिष्टे, त्रि ॥ (यथा, भागवते । ६ । १ । १७ ।

"सध्रीचीनो ह्ययं लोके पन्थाः क्षेमोऽकुतोभयः ।
सुशीलाः साधवो यत्र नारायणपरायणाः ॥"

शोभनं शीलमिति । सच्चरित्रे, क्ली । यथा, महाभारते । ३ । २६७ । ४३ ।

"त्वया सुशीलव्रतपुण्ययुक्तया
समुद्धृतं साध्वि पुनः कुलीनया ॥")

सुशीलता, स्त्री, (सुशीलस्य भावः । तल् । टाप् ।) सत्स्वभावः । सुशीलत्वम् ॥

सुशीला, स्त्री, (शोभनं शीलं यस्याः । टाप् ।) श्रीकृष्णस्याष्टमहिष्यन्तर्गतमहिषीविशेषः । यथा,—

"अष्टौ महिष्यस्ताः सर्व्वा रुक्मिण्याद्या महात्मनः ।
रुक्मिणी सत्यभामा च कालिन्दी च शुचिस्मिता ॥
मित्रविन्दा जाम्बवती नाग्नजिती सुलक्षणा ।
सुशीला नाम तन्वङ्गी महिष्यश्चाष्टमाः स्मृताः ॥"

इति पाद्मोत्तरखण्डे ६८ अध्यायः ॥

यमभार्य्या । इति केचित् ॥

सुश्रीका, स्त्री, (शोभना श्रीः शोभा यस्याः । कप् ।) सल्लकी । इति राजनिर्घण्टः ॥ सुन्दरश्रीयुक्ते, त्रि ॥ (यथा, हरिवंशे । १८३ । ११३ ।

"द्वारोपशोभितां कृत्वा सर्व्वां द्वारवतीं पुरीम् ।
संसृष्टरथ्यां सुश्रीकां बहुरत्नोपशोभिताम् ॥")

सुश्रुतः, पुं, विश्वामित्रमुनिपुत्त्रः । स तु चिकित्साशास्त्रकर्त्ता । यथा,—

"तथा धन्वन्तरिर्वंशे जातः क्षीराब्धिमन्थने ।
देवादीनां जीवनाय आयुर्व्वेदमुवाच ह ।
विश्वामित्रसुतायैव सुश्रुताय महात्मने ॥"

इति गारुडे १५० अध्यायः ॥

अथ सुश्रुतप्रादुर्भावः ।

"अथ ज्ञानदृशा विश्वामित्रप्रभृतयोऽवदन् ।
अयं धन्वन्तरिः काश्यां काशिराजोऽयमुच्यते ॥
विश्वामित्रो मुनिस्तेषु पुत्त्रं सुश्रुतमुक्तवान् ।
वत्स वाराणसीं गच्छ त्वं विश्वेश्वरवल्लभाम् ॥
तत्र नाम्ना दिवोदासः काशिराजोऽस्ति बाहुजः ।
स हि धन्वन्तरिः साक्षादायुर्व्वेदविदां वरः ॥
आयुर्व्वेदं ततोऽधीत्य लोकोपकृतिहेतवे ।
सर्व्वप्राणि दया तीर्थमुपकारो महामखः ॥
पितुर्व्वचनमाकर्ण्य सुश्रुतः काशिकां गतः ।
तेन सार्द्धं समध्येतुं मुनिस्तनुशतं ययौ ॥
अथ धन्वन्तरिं सर्व्ववानप्रस्थाश्रमे स्थितम् ।
भगवन्तं सुरश्रेष्ठं मुनिभिर्ब्बहुभिः स्तुतम् ॥
काशिराजं दिवोदासं तेऽपश्यन् विनयान्विताः ।
स्वागतं व इति स्माह दिवोदासो यशोधनः ॥
कुशलं परिपप्रच्छ तथागमनकारणम् ।
ततस्ते सुश्रुतद्वारा कथयामासुरुत्तरम् ॥
भगवन् मानवान् दृष्ट्वा व्याधिभिः परिपीड़ितान् ।
क्रन्दतो म्रियमाणांश्च जातास्माकं हृदि व्यथा ॥
आमयानां शमोपायं विज्ञातुं वयमागताः ।
आयुर्व्वेदं भवानस्मानध्यापयतु यत्नतः ॥
अङ्गीकृत्य वचस्तेषां नृपतिस्तानुपादिशत् ।
व्याख्यातं तेन ते यत्नात् जगृहुर्मुनयो मुदा ॥
काशिराजं जयाशीर्भिरभिनन्द्य मुदान्विताः ।
सुश्रुताद्याः सुसिद्धार्था जग्मुर्गेहं स्वकं स्वकम् ॥
प्रथमं सुश्रुतस्तेषु स्वं तन्त्रं कृतवान् स्फुटम् ।
सुश्रुतस्य सखायोऽपि पृथक् तन्त्राणि तेनिरे ॥
सुश्रुतेन कृतं तन्त्रं सुश्रुतं बहुभिर्मतः ।
तस्मात्तत् सुश्रुतं नाम्ना विख्यातं क्षितिमण्डले ॥"

इति भावप्रकाशः ॥

(क्ली, गोष्ठीश्राद्धे तृप्तिप्रश्नः । यथा, मनुः । ३ । २५४ ।

"पित्र्ये स्वदितमित्येव वाच्यं गोष्ठे तु सुश्रुतम् ।
सम्पन्नमित्यभ्युदये दैवे रुचितमित्यपि ॥")

सुषमः, त्रि, (सुष्ठु समं सर्व्वं यस्मात् । "सुविनिर्दुर्भ्यः सुपिसूतिसमाः ।" ८ । ३ । ८८ । इति षत्वम् ।) शोभनम् । इत्यमरः । ३ । १ । ५२ ॥ समः । इति मेदिनी ॥

सुषमा, स्त्री, (सु शोभनं समं सर्व्वं यया ।) परमा शोभा । इत्यमरः । १ । ३ । १७ ॥ (यथा, नैषधे । १६ । २ ।

"जयजय महाराज प्राभातिकीं सुषमामिमां सफलयतमां दामोदरोदरलसत्पद्मणोः ॥")

निजामां कालभेदः । इति हेमचन्द्रः ॥

सुषवी, स्त्री, (सुष्ठु सूते फलानीति । सु + सू + अच् । गौरादित्वात् ङीष् ।) कारवेल्लः । इत्यमरः । २ । ४ । ११५ ॥ कृष्णजीरकः । जीरकः । इति मेदिनी ॥ क्षुद्रकारवेल्लः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सुषिः, स्त्री, (सुष्ठु स्यतीति । सु + सो + बाहुलकात् किः ।) शुषिः । इत्यमरः । १ । ८ । १ ॥

सुषिरं, क्ली, (शुष शोषणे + "इषिमदीति ।" उणा० १ । ५२ । इति किरच् । पृषोदरादित्वात् शस्य सः । यद्वा, सुषिरस्यास्तीति । सुषि + "ऊषसुषिमुष्कमधो रः ।" ५ । २ । १०७ । इति रः ।) शुषिरम् । इत्यमरटीकायां भरतः । १ । ८ । १ ॥ (काष्ठम् । इति काशिका ॥ छिद्रयुक्ते, त्रि । यथा, बृहत्संहितायाम् । ५३ । ८८ ।

"शस्तौषधिद्रुमलतामधुरा सुगन्धिः
स्निग्धा समा न सुषिरा च मही नराणाम् ॥")

सुषीमः, पुं, सर्पविशेषः । इति मेदिनी ॥ चन्द्रकान्तमणिः । इति जटाधरः ॥

सुषीमः, त्रि, शीतगुणयुक्तः । इत्यमरः । १ । ३ । १६ ॥ मनोज्ञः । इति मेदिनी ॥

सुषुप्तं, क्ली, (सु + स्वप + क्तः ।) सुषुप्तावस्था । यथा,—

"यो जागरे बहिरनुक्षणधर्म्मिणोऽर्थान्
भुङ्क्ते समस्तकरणैर्हृदि तत्सदृक्षान् ।
स्वप्ने सुषुप्त उपसंहरते स एकः
स्मृत्यन्वयात्त्रिगुणवृत्तिदृगिन्द्रियेशः ॥"

इति श्रीभागवते । ११ । १३ । ३२ ॥

सुषुप्तियुक्ते, त्रि ॥ (यथा, भागवते । ६ । १६ । ५३ ।

"यथा सुषुप्तः पुरुषो विश्वं पश्यति चात्मनि ।
आत्मानमेकदेशस्थं मन्यते स्वप्न उत्थितः ॥")

सुषुप्तिः, स्त्री, (सु + स्वप् + क्तिन् ।) सत्त्वप्रधानं अज्ञानम् । तस्य नामान्तरम् । कारणशरीरम् । आनन्दमयकोषश्च । इति वेदान्तसारः । सर्व्वस्य स्थूलसूक्ष्मोपाधेः कारणोपाधौ लीनत्वं सुषुप्तित्वम् । इति तट्टीका ॥ अवस्थाविशेषः । यथा, "स्वप्नावस्था परीक्षिता सुषुप्तावस्थेदानीं परीक्ष्यते । तत्रैताः सुषुप्तविषयाः श्रुतयो भवन्ति यद्रैतत् सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु नाड़ीषु सुप्तो भवतीति । नाड़ीरनुक्रम्य श्रूयते । ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेत इति । विकल्प्यमानेषु तु सुषुप्तिस्थानेषु कदाचिन्नाड़ीभ्यः प्रतिबुध्यते कदाचित् पुरीततः कदाचिदात्मन इत्यशाविष्यत् । तस्मादप्यात्मैव तु सुप्तिस्थानमिति ।" इति शारीरिकभाष्ये ३ अध्याये २ पादः ॥ किञ्च । "यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत् सुषुप्तम् ।" इति माण्डुक्योपनिषत् ॥ सुनिद्रा च ॥

सुषुम्ना, स्त्री, (सुषु इत्यव्यक्तशब्दं म्नायतीति । म्ना + कः ।) मेरुदण्डवाह्ये इड़ापिङ्गलानाड़ीमध्यस्थनाड़ीविशेषः । यथा,—

"मेरोर्व्वाह्यप्रदेशे शशिमिहिरशिरे सव्यदक्षे निषण्णे
मध्ये नाड़ी सुषुम्ना त्रितयगुणमयी चन्द्रसूर्य्याग्निरूपा ।"

इति षट्चक्रभेदः ॥ *॥

तस्या अशुभलक्षणं यथा,—

"क्षणं वामे क्षणं दक्षे यदा वहति मारुतः ।
सुषुम्ना सा च विज्ञेया सर्व्वकार्य्यहराशुभा ॥
तस्यां नाड्यां स्थितो वह्निर्ज्वलन्तकालरूपिणः ।
विषमं तं विजानीयात् सर्व्वकार्य्यविनाशनम् ॥
यदानुक्रममुल्लङ्घ्य तस्यां नाड्यां द्वयं वहेत् ।
तदा तस्य विजानीयादशुभं समुपस्थितम् ॥"

इति ब्रह्मयामलम् ॥

"मेरुवाह्ये इड़ा नाड़ी पिङ्गलया समन्विता ।
सुषुम्ना भानुमार्गेण ब्रह्मद्वारावधिस्थिता ॥"

इति योगस्वरोदयः ॥

सुषेणः, पुं, करमर्द्दकः । इत्यमरः । २ । ४ । ६७ ॥ विष्णुः । (यथा, महाभारते । १३ । १४६ । ७१ ।

"महावराहो गोविन्दः सुषेणः कनकाङ्गदी ॥"
"शोभना सेना स्वगणात्मिका यस्य।"इति तत्र शाङ्करभाष्यम् ॥) वानरराजसुग्रीववैद्यः। इति मेदिनी ॥ वेतसः। इति राजनिर्घण्टः ॥ (वसुदेवपुत्त्रविशेषः। यथा, भागवते। ९। २४। ५३—५४।
"वसुदेवस्तु देवक्यामष्टपुत्त्रानजीजनत्।
कीर्त्तिमन्तं सुषेणञ्च भद्रसेनमुदारधीः ॥
ऋजुं सम्मर्द्दनं भद्रं सङ्कर्षणमहीश्वरम्।
अष्टमस्तु तयोरासीत् स्वयमेव हरिः किल ॥"
नागविशेषः। इति महाभारतम्।१।५७।१६॥ नृपविशेषः। स च शूरसेनाधिपतिः। यथा, रघुः। ६। ४५।
"सा शूरसेनाधिपतिं सुषेण-
मुद्दिश्य लोकान्तरगीतकीर्त्तिम्।
आचारशुद्धोभयवंशदीपं
शुद्धान्तरक्ष्या जगदे कुमारी ॥")
सुषेणिका, स्त्री, सघाच्छिरहृता। इत्यमरः। २। ४। १०८ ॥
सुषेणी, स्त्री, त्रिवृत्। इति राजनिर्घण्टः ॥
सुषोमा, स्त्री, नदीभेदः। इति श्रीभागवते। ५। १९। १७ ॥
सुष्ठु, व, (सुतिष्ठतीति। सु+स्था+"अपदुःसुषु स्थः।" उणा॰ १। २६। इति कुः। सुषमादित्वात् षत्वम्।) प्रशंसा। अतिशयम्। इत्यमरः। ३। ४। १ ॥ सत्यम्। इति संक्षिप्तसारोणादिवृत्तिः ॥ (यथा, भागवते।४।२२।१७।
"पृथोस्तदुक्तमाकर्ण्य सारं सुष्ठु मितं मधु।
स्मयमान इव प्रीत्या कुमारः प्रत्युवाच ह ॥"
"सुष्ठु गम्भीरार्थम्।" इति तट्टीका ॥)
सुष्मं, क्ली, रज्जुः। इत्यमरटीकायां स्वामी ॥
सुसंयतः, त्रि, (सु+सम्+यम+क्तः।) यथाविधिसंयमविशिष्टः। यथा, ब्रह्मपुराणम्।
"यो यः कश्चित्तीर्थयात्रान्तु गच्छेत्
सुसंयतः स च पूर्व्वं गृहे स्वे।
कृतोपवासः शुचिरप्रमत्तः
संपूजयेत् भक्तिनम्रो गणेशम् ॥"
इति प्रायश्चित्ततत्त्वम् ॥
सुसंस्कृतं, त्रि, (सुष्ठु संस्क्रियते इति। सु+सं+कृ+क्तः।) घृतादिनानाद्रव्येण प्रयत्नसंस्कृतव्यञ्जनादि। तत्पर्य्यायः। प्रयस्तम् २। इत्यमरः ॥
"तैलपाकसुसंस्कारे प्रयस्तमुपसंस्कृतम् ॥"
इति शब्दरत्नावली ॥
उत्तमसंस्कारविशिष्टञ्च ॥
सुसत्या, स्त्री, जनकराजभार्य्या। यथा,—
"जानामि पितरं चाहं विदेहाधिपतिं नृपम्।
तस्य भार्य्यां सुसत्याख्यामहं जानामि मातरम्॥
भ्रातरस्तत्सुताः सर्व्वे सीता मे भगिनी शुभा।
सुसत्या मम मातेति लोको जानाति सन्ततम् ॥"
इति कालिकापुराणे ३७ अध्यायः ॥
सुसवी, स्त्री, सुषवी। इत्यमरटीकायां रायमुकुटः। २। ४। १५५ ॥

सुसम्पत् } (सुष्ठु सम्पत्। प्रादिसमासः।)
सुसम्पद् } सौभाग्यम्। तत्पर्य्यायः। परभागः २। इति त्रिकाण्डशेषः ॥
सुसहः, त्रि, सुखसह्यः। दुःसहभिन्नः। सुखेन सह्यतेऽसाविति सहधातोः कर्म्मण्यल्प्रत्ययेन निष्पन्नः ॥
सुसारः, पुं, (सुष्ठु सारो यस्य।) रक्तखदिरः। इति राजनिर्घण्टः ॥ अतिशयसारविशिष्टे, त्रि ॥
सुसारवत्, क्ली, (सुसारोऽस्त्यस्येति। मतुप्। मस्य वः।) स्फाटिकम्। इति त्रिकाण्डशेषः ॥
सुसिकता, स्त्री, (सुष्ठु सिकतेव।) शर्करा। इति राजनिर्घण्टः ॥ उत्तमबालुका च ॥
सुसीमा, स्त्री, दृशार्हन्माता। सा तु षष्ठजिनजननी। इति हेमचन्द्रः ॥ (शोभना सीमा।) उत्तमसीमा च ॥
सुस्थः, त्रि, (सु+स्था+कः।) सुखेन तिष्ठति यः। अरोगी। यथा, श्रीभागवते। १०। ३। २७।
"मर्त्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन्
सर्व्वान् लोकान् निर्भयं नाध्यगच्छत्।
त्वत्पादाब्जं प्राप्य यदृच्छयाद्य
सुस्थः शेते मृत्युरस्मादपैति ॥"
सुस्थता, स्त्री, (सुस्थस्य भावः। तल्।) आरोग्यम्। इति शब्दचन्द्रिका ॥
सुस्थिरः त्रि, (सुष्ठु स्थिरः।) स्थिरतरः। यथा, श्रीभागवते। ११। ६। ३१।
"नह्येकस्माद्गुरोर्ज्ञानं सुस्थिरं स्यात् सुपुष्कलम्।
ब्रह्मैतदद्वितीयं वै गीयते बहुधर्षिभिः ॥"
सुस्वाः, पुं, (सुष्ठु स्वात्मनैव स्वनत्वात्। सु+स्वै+क्विप्।) शमीधान्यभेदः। खेसारी इति भाषा। अस्य गुणाः।
"सुस्वा दुर्व्वातलो रूक्षः कषायो विशदो गुरुः।"
इति राजनिर्घण्टः ॥
सुस्नातः, पुं, (सुष्ठु+स्नातः।) यज्ञान्तस्नानकृत्। इति शब्दरत्नावली ॥ सुन्दररूपकृतस्नाने, त्रि। यथा,—
"अथाहःसु निष्टेषु सुस्नाताः कृतमङ्गलाः।
आशुथ्यादिप्रमुच्यन्ते ब्राह्मणान् स्वस्तिवाच्य च॥"
इति शुद्धितत्त्वम् ॥
सुस्मिता, स्त्री, (सुष्ठु स्मितं यस्याः।) स्त्रीभेदः। इति हेमचन्द्रः ॥ सुन्दरेषद्धास्ययुक्ते, त्रि ॥
सुहस्ती, [न्] पुं, बौद्धभेदः। यथा,—
"महागिरिसुहस्त्याद्या वज्रान्ता दशपूर्व्विणः।"
इति हेमचन्द्रः। ३४ ॥
सुहितः, त्रि, (सु+धा+क्तः।) विहितः। तृप्तः। इति विश्वः ॥ (यथा, बृहत्संहितायाम्। ५१। २६।
"अतिबहु तदा सुभुक्तान्नं संस्थितः सुहितो वदेत् ॥")
सुहिता, स्त्री, (सु+धा+क्तः। टाप्।) अग्निजिह्वाविशेषः। इति जटाधरः ॥

सुहृत् } पुं, (सु शोभनं हृत् हृदयं यस्य।)
सुहृद् } मित्त्रम्। सखा। इत्यमरः। २।८।१२ ॥ (यथा, हितोपदेशे।
"सुहृदां हितकामानां यः शृणोति न भाषितम्।
विपत्सन्निहिता तस्य स नरः शत्रुनन्दनः ॥")
एकस्माल्लग्नात्तच्चतुर्थलग्नम्। यथा,—
"पातालं हिबुकञ्चैव सुहृद्भञ्चतुर्थकम्।"
इति ज्योतिस्तत्त्वम् ॥
"शशिजः सुहृद्गृहगतः करोति चातुर्य्यहास्यधनवन्तं वचसामधिपः।"इत्यादि कोष्ठीप्रदीपः ॥
(महादेवः। इति महाभारतम्।१३।१७।६६॥)
सुहृदयः, त्रि, (सुष्ठु हृदयमन्तःकरणं यस्य।) प्रशस्तमनाः। तत्पर्य्यायः। हृदयालुः २। इत्यमरः। ३। १। ३ ॥ सहृदयः ३। इति शब्दरत्नावली ॥
सुहोत्रः, पुं, चन्द्रवंशीयबृहद्दिषुराजपुत्त्रः। यथा,
"बृहद्दिषोश्च दायादः सुहोत्रो नाम धार्म्मिकः।
सुहोत्रस्यापि दायादो हस्ती नाम बभूव ह ॥"
इति महाभारते हरिवंशे पितृकल्पे २० अः ॥
(सहदेवपुत्त्रः। यथा, महाभारते।१।९५।८०।
"सहदेवोऽपि माद्रीमेव स्वयंवरे विजयां नामोपयेमे मद्रराजस्य द्युतिमतो दुहितरं तस्यां पुत्त्रमजनयत् सुहोत्रं नाम।"* ॥ भरतवंशीयस्य भुमन्योः पुत्त्रविशेषः। यथा, तत्रैव। १। ९४। २४।
"सुहोत्रञ्च सुहोता च सुहविः सुयजुस्तथा।
पुष्करिण्यामृचीकाश्च भुमन्योरभवन् सुताः ॥")
सूः, स्त्री, सूतिः। क्षेपः। सूधातोः क्विप्प्रत्ययेन निष्पन्नमिति केचित् ॥
सूकः, पुं, बाणः। वातः। उत्पलम्। इति मेदिनी॥
सूकरः, पुं, (सू इत्यव्यक्तशब्दं कर्त्तुं शीलमस्य। कृ+टः।) वराहः। इत्यमरः। २। ५। २ ॥ (यथा, वैराग्यशतके। १६।
"कामिजनपरमभोग्ये कामसुखे धारयन्ति वीभत्सम्।
सन्तः शमसुखरसिकाः सुधाशनाः सूकराम इव ॥"* ॥
सुष्ठु कर्त्तुं शीलमस्य। सु+कृ+टः। पक्षे उपसर्गस्य दीर्घत्वम्।) कुम्भकारः। इति शब्दरत्नावली ॥ मृगभेदः। इति जटाधरः ॥
सूकरी, स्त्री, (सूकर+जातौ ङीष्।) सूकरभार्य्या ॥ (यथा, याज्ञवल्क्ये। ३। २५६।
"पतिलोकं न सा याति ब्राह्मणी या सुरां पिबेत्।
इहैव सा शुनी गृध्री सूकरी चोपजायते ॥")
वराहक्रान्ता। इति शब्दमाला ॥
सूक्तं, त्रि, (सुष्ठु उक्तम्।) शोभनोक्तिविशिष्टम्। वेदोक्तस्तोत्रमन्त्रादि। यथा। ऋग्वेदस्य अग्निमीळे इत्यादि अग्निसूक्तम्। १। १। १ ॥ * ॥ सहस्रशीर्षेत्यादि पुरुषसूक्तम्। १०।९०।१ ॥*॥ अहं रुद्रेभिरित्यादि देवीसूक्तम्।१०।१२५।१॥*

हिरण्यवर्णामित्यादि श्रीसूक्तम् ॥*॥ रात्री व्यख्यदायतीत्यादि रात्रिसूक्तम् । १०।१२७।१ ॥*॥ आतू न इन्द्र क्षुमन्तमित्यादि गणेशसूक्तम् । ८ । ७०।१ ॥*॥ इयमददाद्रभसम् इत्यादि सरस्वतीसूक्तम् । ६ । ६१ । १ ॥*॥ अतो देवा अवन्तु न इत्यादि विष्णुसूक्तम् ।१।२२।१६ ॥*॥ मेदिनी देवीत्यादि भूसूक्तम् ॥*॥ आदित्यानामित्यादि आदित्यसूक्तम् । ७।५१।१ ॥*॥ त्वं सोम इत्यादि सोमसूक्तम् ।९।६१।१॥ इत्यादि ऋग्वेदस्य सूक्तसहस्रम् । यथा । सहस्रमेकं सूक्तानामित्यादि चरणव्यूहः ॥ यजुर्वेदस्य विश्वमेशमित्यादि कुमारसूक्तम् । सोमाय पितृमते इत्यादि पितृसूक्तम् । पवमान स्वर्ण्णन इत्यादि पावमानीसूक्तम् । इत्यादि वेदप्रसिद्धम् ॥ तथा,—

"जप्यानि सूक्तानि तथैव चैषा-
मनुक्रमेणापि यथास्वरूपम् ।"

इति मलमासतत्त्वम् ॥

अपि च ।

"सन्दर्शनार्थमम्बाया नदीपुलिनसंस्थितः ।
स च वैश्यस्तपस्तेपे देवीसूक्तं परं जपन् ॥"

इति मार्कण्डेयपुराणे देवीमाहात्म्यम् ॥

सूक्ता, स्त्री, (सुष्ठु उक्तं कथनं यस्याः ।) शारिका । यथा, त्रिकाण्डशेषे ।

"सूक्ता मदनशलाका चित्राक्षी शारिकावचण्डा च ।"

सूक्ष्मं, क्ली, (सूच्यते इति । सूच पैशुन्ये + "सूचेः स्मन् ।" उणा० ४ । १७६ । इति स्मन् ।) कैतवम् । अध्यात्मम् । इति मेदिनी ॥ (यथा, भागवते । ३ । ८ । १४ ।

"तस्यार्थसूक्ष्माभिनिविष्टदृष्टे-
रन्तर्गतोऽर्थो रजसा तनीयान् ॥")

अलङ्कारविशेषः । यथा,—

"सूक्ष्मं पराशयाभिज्ञे त्वरयाकूतचेष्टितम् ।
मयि पश्यति सा केशैः सीमन्तमणिमावृणोत् ॥"

इति चन्द्रालोकः ॥

सूक्ष्मः, पुं, (सूच् + स्मन् ।) कतकद्रुमः । इति शब्दरत्नावली ॥ अणुः । अल्पे, त्रि । इति मेदिनी ॥ (यथा, महाभारते । १ । २१३ । १५ ।

"न तस्याः सूक्ष्ममप्यस्ति यद्गात्रे रूपसम्पदा ।
नियुक्ता यत्र वा दृष्टिर्न सज्जति निरीक्षताम् ॥")

तत्पर्य्यायः ।

"अल्पे स्तोके क्षुल्लसूक्ष्मं क्षुल्लकञ्च क्रशं तनु ।
दभ्रं खल्लं खुल्लकञ्च स्त्रियां मात्रा त्रुटी कणा ।
पुमानणुर्लवो लेशः कणोऽपि च निगद्यते ॥"

इति शब्दरत्नावली ॥

सूक्ष्मकृष्णफला, स्त्री, (सूक्ष्मं कृष्णञ्च फलं यस्याः ।) मध्यमजम्बुवृक्षः । इति रत्नमाला ॥

सूक्ष्मतण्डुलः, पुं, (सूक्ष्मं तण्डुलं बीजं यस्य ।) खसखसः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सूक्ष्मतण्डुला, स्त्री, (सूक्ष्मं तण्डुलं बीजं यस्याः ।) पिप्पली । इति राजनिर्घण्टः ॥

सूक्ष्मदर्शी, [न्] त्रि, (सूक्ष्मं पश्यतीति । दृश + णिनिः ।) अतिशयबुद्धिमान् । तत्पर्य्यायः । कुशाग्रीयमतिः २ तत्कालधीः ३ प्रत्युत्पन्नमतिः ४ । इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, महाभारते । १३ । १४ । २३ ।

"न विदुर्यस्य भवनमादित्याः सूक्ष्मदर्शिनः ।
स कथं नरमात्रेण शक्यो ज्ञातुं सतां गतिः ॥")

सूक्ष्मदारु, क्ली, (सूक्ष्मं दारु ।) तनुकाष्ठम् । तत्पर्य्यायः । कलिङ्गः २ । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सूक्ष्मपत्रः, पुं, (सूक्ष्माणि पत्राणि यस्य ।) धान्यकम् । वनजीरकः । देवसर्षपः । लघुवदरः । सुरपर्णम् । वनवर्व्वरी । लोहितेक्षुः । कुकुटद्रुः । इति राजनिर्घण्टः । यथा,—

"वावलः स्वर्णपुष्पश्च सूक्ष्मपत्रश्च कण्टलः ॥"

इति शब्दचन्द्रिका ॥

सूक्ष्मपत्रिका, स्त्री, (सूक्ष्माणि पत्राणि यस्याः । ततः कन् । टापि अत इत्वम् ।) शतपुष्पा । शतावरी । लघुब्राह्मी । क्षुद्रोपोदकी । दुरालभा । आकाशमांसी । इति राजनिर्घण्टः ॥

सूक्ष्मपर्णा, स्त्री, (सूक्ष्मं पर्णमस्याः ।) जीर्णफञ्जी । जोड़ी । इति राजनिर्घण्टः ॥

सूक्ष्मपर्णी, स्त्री, (सूक्ष्मं पर्णमस्याः । ङीष् ।) रामदूतीवृक्षः । यथा,—

"रामदूती पत्रपुष्पी विशल्या नागदन्तिका ।
काण्डली सूक्ष्मपर्णी च भरण्याख्या फणिज्झका ॥"

इति शब्दचन्द्रिका ॥

सूक्ष्मपिप्पली, स्त्री, (सूक्ष्मा पिप्पली ।) वनपिप्पली । इति राजनिर्घण्टः ॥

सूक्ष्मपुष्पी, स्त्री, यवतिक्ता । इति राजनिर्घण्टः ॥

सूक्ष्मफलः, पुं, (सूक्ष्मं फलमस्य ।) भूकर्व्वुदारः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सूक्ष्मफला, स्त्री, (सूक्ष्मं फलमस्याः ।) भूम्यामलकी । इति रत्नमाला ॥

सूक्ष्मवदरी, स्त्री, (सूक्ष्मा बदरी ।) भूवदरी । इति राजनिर्घण्टः ॥

सूक्ष्मबीजः, पुं, (सूक्ष्मं बीजं यस्य ।) खसखसः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सूक्ष्मभूतं, क्ली, (सूक्ष्मं भूतम् ।) अपञ्चीकृताकाशादिभूतम् । इति वेदान्तसारः ॥

सूक्ष्ममक्षिकः, पुं, (सूक्ष्मा मक्षिका तद्वदाकृतिरस्यास्तीति । अच् ।) मशकः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सूक्ष्ममूला, स्त्री, (सूक्ष्मं मूलं यस्याः ।) जयन्ती । इति राजनिर्घण्टः ॥

सूक्ष्मवल्ली, स्त्री, (सूक्ष्मा वल्ली ।) ताम्रवल्ली । जतुका । इति राजनिर्घण्टः ॥

सूक्ष्मवस्त्रं, क्ली, (सूक्ष्मं वस्त्रम् ।) श्लक्ष्णवसनम् । सरु कापड़ इति भाषा । यथा । उपभोगोऽपि न सूक्ष्मवस्त्रपरिधानादिना । इति दायभागः ॥

सूक्ष्मशरीराणि, क्ली, (सूक्ष्माणि शरीराणि ।) ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं कर्म्मेन्द्रियपञ्चकं वायुपञ्चकं बुद्धिमनसी चेति सप्तदशावयवानि । इति वेदान्तसारः ॥

सूक्ष्मशर्करा, स्त्री, (सूक्ष्मा शर्करेव ।) वालुका । इति राजनिर्घण्टः ॥

सूक्ष्मशाखः, पुं, (सूक्ष्मा शाखा यस्य ।) जालवर्व्वूरः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सूक्ष्मशालिः, पुं, (सूक्ष्मः शालिः ।) अणुधान्यविशेषः । तत्पर्य्यायः । सूचिशालिः २ पावशालिः ३ सूचकः ४ । अस्य गुणाः । सुमधुरत्वम् । लघुत्वम् । पित्तास्रदाहनाशित्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥

सूक्ष्मषट्चरणः, पुं, (सूक्ष्माणि षट्चरणानि यस्य ।) पक्ष्मयूकः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सूक्ष्मा, स्त्री, (सूक्ष्म + टाप् ।) यूथिका । इति शब्दचन्द्रिका ॥ क्षुद्रैला । करुणी । वालुका । इति राजनिर्घण्टः ॥

सूक्ष्मैला, स्त्री, (सूक्ष्मा एला ।) क्षुद्रैला । गुजराटी एलाचि इति भाषा । तत्पर्य्यायः । वयस्था २ तीक्ष्णगन्धा ३ त्रपुटी ४ त्रुटिः ५ । इति रत्नमाला ॥

सूच, त् क पैशुन्ये । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (अदन्तचुरा०-पर०-सक० सेट् ।) दीर्घी । असूसूचत् कथां लोकः कथितवान् इत्यर्थः । इति रमानाथः । पैशुन्यमन्तर्द्रोह इत्येके । इति दुर्गादासः ॥

सूचः, पुं, (सीव्यति चरणौ इति । सिव + "सिवेष्टेरू च ।" उणा० ४ । ९३ । इति चट् । टेरूत्वञ्च ।) कुशाङ्कुरः । इति केचित् ॥

सूचकः, त्रि, (सूचयतीति । सूच पैशुन्ये + ण्वुल् ।) पिशुनः । इत्यमरः । ३।१।४७ ॥ (यथा, मनुः । ४ । ७१ ।

"लोष्टमर्द्दी तृणच्छेदी नखखादी च यो नरः ।
स विनाशं व्रजत्याशु सूचकोऽशुचिरेव च ॥")

अस्य विवरणं कर्णेजपशब्दे द्रष्टव्यम् ॥ (सूचनकर्त्ता । यथा महाभारते । १ । १३६ । २७ ।

"द्वारदेशात् समुद्भूतो माहात्म्यबलसूचकः ।
वज्रनिष्पेषसदृशः शुश्रुवे भुजनिस्वनः ॥")

सूचकः, पुं, (सीव्यत्यनेनेति । सिव + "सिवेष्टेरू च ।" उणा० ४।९३ । इति चट् । टेरूत्वञ्च । ततः स्वार्थे कन् ।) सीवनद्रव्यम् । (सूचयतीति । सूच + ण्वुल् ।) बोधकः । कुक्कुरः । विड़ालः । काकः । इति मेदिनी । के, १६८ ॥ पिशुनः । बुद्धः । सिद्धः । पिशाचः । इति शब्दरत्नावली ॥ सूत्रधारः । कथकः । इति हेमचन्द्रः ॥ सूक्ष्मशालिः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सूचनं, क्ली, (सूच + ल्युट् ।) गन्धनम् । इत्यमरः । ३ । ३ । ११४ ॥ ज्ञापनम् । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ (यथा, कथासरित्सागरे । १५ । १४८ ।

"भङ्गिसूचनविधौ विशारदो
नारदो मुनिरदर्शनं ययौ ॥")

सूचना, स्त्री, (सूच + णिच् + युच् । टाप् ।) व्यधनम् । दृष्टिः । गन्धनम् । अभिनयः । इति

विस्रमेदिन्यौ ॥ (ज्ञापनम् । यथा, साहित्य-
दर्पणे । ६ । ३१२ ।
"यत्र स्यादङ्ग एकस्मिन्नङ्कानां सूचनाखिला ।
तदङ्कमुखमित्याहुर्बीजार्थख्यापकञ्च तत् ॥")
सूचिः, स्त्री, (सूच्यतेऽनयेति । सूच + णिच् +
"अच इः ।" उणा० ४ । १३८ । इति इः ।)
व्यधनी । इत्यमरः । ३।५।७ ॥ (यथा, कथा-
सरित्सागरे । १०४ । ७५ ।
"चन्द्रोऽग्निर्विषमाहारो गीतानि श्रुतिसूचयः ।
उद्यानं बन्धनं पौष्पी माला द्विधा शरावली ॥"
"विवेश भरतोऽतीव श्रेणी सुवेव सूचिना ।"
इति रामायणे । २ । ७५ । १७ । इत्यत्र तु
महाकविप्रयोगवशात् साधुत्वम् ॥) नृत्यप्रभेदः ।
शिखा । यथा,—
"सूचिर्नृत्यप्रभेदे च व्यधनीशिखयोरपि ।"
इति रत्नकोषः ॥
(यथा, कुमारे । ५ । ४३ ।
"अलभ्यशोकाभिभवेयमाकृति-
र्विमानना सुभ्रु कुतः पितुर्गृहे ।
पराभिमर्शो न तवास्ति कः करं
प्रसारयेत् पन्नगरत्नसूचये ॥" * ॥
केतकीपुष्पम् । इति सूचिपुष्पशब्ददर्शनात् ॥
यथा, ऋतुसंहारे । २ । २३ ।
"मुदित इव कदम्बैर्जातपुष्पैः समन्तात्
पवनचलितशाखैः शाखिभिर्नृत्यतीव ।
हसितमिव विधत्ते सूचिभिः केतकीनां
नवसलिलनिषेकात् शान्ततापो वनान्तः ॥"
व्यूहविशेषः । यथा, मनुः । ७ । १९१ ।
"संहतान् योधयेदल्पान् कामं विस्तार-
येद्बहून् ।
सूच्या वज्रेण चैवैतान् व्यूहेन व्यूह्य योधयेत् ॥")
सूचिकः, पुं, सूच्या जीवति यः । दरजी इति
भाषा । तत्पर्य्यायः । सौचिकः २ सौचिः ३
तुन्नवायः ४ सूचभित् ५ । इति शब्दरत्ना-
वली ॥ (यथा, बृहत्संहितायाम् । १० । ६ ।
"हन्ते नापितचाक्रिकचौरभिषक्सूचिक-
दीक्षिताद्याः ॥")
सूचिका, स्त्री, (सूचिरेव स्वार्थे कन् ।) सूचिः ।
हस्तिशुण्डः । इति केचित् ॥
सूचिकाधरः, पुं, (सूचिकायाः शुण्डस्य धरः ।)
हस्ती । इति शब्दमाला ॥
सूचिकाभरणः, पुं, औषधविशेषः । यथा,—
"विषं पलमितं सूतः शाणकश्चूर्णयेद्द्वयम् ।
तच्चूर्णं संपुटे क्षिप्त्वा काचलिप्तशरावयोः ॥
मुद्रां कृत्वाथ संशोष्य ततश्चुल्ल्यां निवेशयेत् ।
वह्निं शनैः शनैः कुर्य्यात् प्रहरद्वयसङ्ख्यया ॥
ततः उद्घाट्य तन्मुद्रामुपरिस्थशरावकात् ।
संलग्नो यो भवेद्धूमस्तं गृह्णीयाच्छनैः शनैः ॥
वायुस्पर्शो यथा न स्यात्ततः कूप्यां निवेशयेत् ।
यावत् सूच्या मुखे लग्नं कूप्या निर्याति भेषजम् ॥
तावन्मात्रो रसो देयो मूर्च्छिते सन्निपातिनि ॥
क्षुरेण प्रच्छिते मूर्द्ध्नि तत्राङ्गुल्या च घर्षयेत् ॥
रक्तभेषजसम्पर्कात् मूर्च्छितोऽपि हि जीवति ।
तथैव सर्पदष्टोऽपि मृतावस्थोऽपि जीवति ।
यदा तापो भवेत्तस्य मधुरं तत्र दीयते ॥"
इति सूचिकाभरणो रसः ॥
इति भैषज्यरत्नावली ॥ * ॥ अपि च ।
"विषं पलं रसं शाणं तच्चूर्णं काचकेऽर्पिते ।
मृत्संपुटे च संरुध्य चुल्ल्यां संस्थाप्य पाच-
येत् ॥
शनैर्यामद्वयं पश्चात्तं समुद्घाट्य शीतलम् ।
ऊर्द्ध्वपात्रगतं धूमं गृहीत्वा सूक्ष्ममावृतम् ॥
यावत् सूच्या मुखे लग्नं कूप्या आयाति भेषजम् ।
क्षुरेण प्रच्छते शीर्षे तत्राङ्गुल्या च घर्षयेत् ॥
त्रिदोषे मूर्च्छितो जीवो रक्तभेषजसङ्गमात् ।
सर्पदष्टो मृतावस्थः सोऽपि जीवति तत्क्षणात् ॥
दद्याच्च मधुरं तोयं सूचिकाभरणे रसे ॥"
इति सूचिकाभरणरसः सन्निपाते ॥
इति रसप्रदीपः ॥ * ॥ (अपि च ।
"रसात्मकनागाच्च विषं स्थावरजङ्गमम् ।
मात्स्यवाराहमायूरच्छागपित्तैर्विभावयेत् ॥
सूचिकाभरणो नाम भैरवेण प्रकीर्त्तितः ।
सूचिकाग्रेण दातव्यः सन्निपातनिवृत्तये ॥"
इति सूचिकाभरणो रसः ॥
इति वैद्यकरसेन्द्रसारसंग्रहे ज्वराधिकारे ॥)
सूचिकामुखं, क्ली, (सूचिकेव क्रमसूक्ष्मं मुखं यस्य ।)
शङ्खः । इति हारावली । ११० ॥ सूच्यास्ये, त्रि ॥
सूचितः, त्रि, (सूच + क्तः ।) कथितः । बोधितः ।
(यथा, साहित्यदर्पणे । ६ । ३११ ।
"अङ्कान्ते सूचितः पात्रैस्तदङ्कस्याविभागतः ।
यत्राङ्कोऽवतरत्येषोऽङ्कावतार इति स्मृतः ॥")
सूचिपत्रकः, पुं, (सूचिवत् सूक्ष्माणि पत्राणि
यस्य । कप् ।) शितावरशाकः । इति राज-
निर्घण्टः ॥
सूचिपुष्पः, पुं, (सूच्याकारं पुष्पमस्य । सूचिरिति
नाम्ना ख्यातं पुष्पमस्येति वा ।) केतकवृक्षः ।
इति जटाधरः ॥
सूचिरोमा, [न्] पुं, (सूचिवत् रोमाणि यस्य ।)
वराहः । इति हारावली ॥
सूचिवदनः, पुं, (सूचिवत् सूक्ष्मं वदनं यस्य ।)
नकुलः । मशकः । इति राजनिर्घण्टः ॥
सूचिवान्, [त्] पुं, (सूचिस्तदाकारचञ्चुरस्य-
स्येति । मतुप् । मस्य वः ।) गरुड़ः । इति
शब्दरत्नावली ॥
सूचिशालिः, पुं, (सूचिवत् सूक्ष्मः शालिः ।)
इति राजनिर्घण्टः ॥
सूची, स्त्री, (सीव्यतेऽनया । सिव + "सिवेष्टेरू च ।"
उणा० ४ । ९३ । इति चट् । टेरूत्वञ्च ।
टित्वात् ङीप् । गौरादित्वात् ङीष् इति केचित् ।
सूच + इः । कृदिकारादिति ङीष् वा ।) सीवन-
द्रव्यम् । सूँच इति भाषा ॥ (यथा, महा-
भारते । ५ । ५८ । १८ ।
"यावद्धि सूच्यास्तीक्ष्णाया विध्येदग्रेण मारिष ।
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान् प्रति ॥"
वैद्यकोक्तकार्य्यमस्या यथा,—
"एषण्यागतिमन्विष्य क्षारसूत्रानुसारिणीम् ।
सूचीं विदध्याद्गत्यन्ते चोन्नम्याशु च निर्हरेत् ॥
सूत्रस्यान्तं समानीय गाढ़बन्धनमाचरेत् ।
ततः क्षारबलं वीक्ष्य सूत्रमन्यत् प्रवेशयेत् ॥
क्षाराक्तं मतिमान् वैद्यो यावन्न छिद्यते गतिः ।
भगन्दरेऽप्ययं विधिः कार्य्यो वैद्येन जानता ॥
अर्व्वुदादिषु चोत्क्षिप्य मूले सूचं न्यधापयेत् ।
सूचीभिर्यववक्त्राभिराचितं वाथवा ततः ।
मूले सूत्रेण बध्नीयाच्छिन्ने चोपचरेद्व्रणम् ॥"
इति वैद्यकचक्रपाणिसंग्रहे नाड़ीव्रणाधिकारे ॥)
आङ्गिकाभिनयविशेषः । अङ्गहारचेष्टा । इति
मेदिनी ॥ करणम् । इति हेमचन्द्रः ॥ दृष्टिः ।
इति केचित् ॥ (केतकीपुष्पम् । इति सूचिशब्द-
दर्शनात् ॥ व्यूहविशेषः । यथा, मनुः । ७।१८७।
"वराहमकराभ्यां वा सूच्या वा गरुड़ेन वा ॥")
सूची, [न्] त्रि, (सूचयतीति । सूच + णिनिः ।)
सूचकः । (पिशुनः । यथा, महाभारते ।
५ । ३५ । ४६ ।
"पर्व्वकारी च सूची च मित्रध्रुक् पारदा-
रिकः ॥")
सूचीदलः, पुं, (सूचीवत् दलानि यस्य ।) शिता-
वरः । इति राजनिर्घण्टः ॥
सूचीपत्रा, स्त्री, (सूचीवत् पत्राणि यस्याः ।)
गण्डदूर्व्वा । इति राजनिर्घण्टः ॥
सूचीपुष्पः, पुं, (सूचीवत् सूक्ष्मं पुष्पमस्य । सूचीति
नाम्ना प्रसिद्धं पुष्पमस्येति वा ।) केतकी । इति
रत्नमाला ॥
सूचीमुखं, क्ली, (सूचीवत् सूक्ष्मं मुखं यस्य ।)
हीरकम् । इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, साहित्य-
दर्पणे । ८ । ६१२ ।
"सूचीमुखेन सकृदेव कृतव्रणस्त्वं
मुक्ताकलाप लुठसि स्तनयोः प्रियायाः ।
बाणैः स्मरस्य शतशो विनिकृत्तमर्म्मा
स्वप्नेऽपि तां कथमहो न विलोकयामि ॥" * ॥
नरकविशेषः । यथा, भागवते । ५ । २६ । ७ ।
"पर्य्यावर्त्तनः सूचीमुखमित्यष्टाविंशतिर्नरका
विविधयातनाभूमयः ॥" * ॥ सूच्या मुखम् । यथा,
कादम्बरी । "तमसि सूचीमुखाग्रभेद्ये इति ॥")
सूच्यास्ये, त्रि । (यथा, महाभारते । ६।१९।५ ।
"सूचीमुखमनीकं स्यादल्पानां बहुभिः सह ॥"
तथा, मार्कण्डेये । १४ । ५५ ।
"कृतास्ते पूयनिर्य्यासभुजः सूचीमुखास्तु ते ॥")
सूचीमुखः, पुं, (सूचीवत् सूक्ष्मं मुखं यस्य ।)
शितकुशः । इति राजनिर्घण्टः ॥
सूचीरोमा, [न्] पुं, (सूचीवत् रोमाणि यस्य ।)
शूकरः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ सूचीतुल्य-
लोमविशिष्टे, त्रि ॥
सूच्यग्रस्थूलकः, पुं, (सूच्या अग्र इव स्थूलः । ततः
कन् ।) तृणविशेषः । उलु इति भाषा । यथा,—
"सूच्यग्रस्थूलको दर्भो जूर्णाख्यश्च खरच्छदः ॥"
इति रत्नमाला ॥

सूच्यास्यः, पुं, (सूचीवत् आस्यं मुखं यस्य ।)
मूषिकः । इति हेमचन्द्रः ॥ सूचीमुखे, त्रि ॥
सूच्याह्वः, पुं, (सूच्या आह्वा आख्या यस्य ।)
सितावरः । इति राजनिर्घण्टः ॥
सूतः, पुं, (सू प्रेरणे ऐश्वर्य्ये प्रसवे च + क्तः ।)
सारथिः । (यथा, रघुः । ३ । ४२ ।
"स पूर्व्वतः पर्व्वतपक्षशातनं
ददर्श देवं नरदेवसम्भवः ।
पुनः पुनः सूतनिषिद्धचापलं
हरन्तमश्वं रथरश्मिसंयतम् ॥")
त्वष्टा । इत्यमरः । ३ । ३ । ६१ ॥ क्षत्त्रियात्
ब्राह्मणीसुतः । (यथा, मनुः । १० । ११ ।
"क्षत्त्रियात् विप्रकन्यायां सूतो भवति जातितः ॥"
अश्वसारथ्यमेवैतेषां जीविका । यथा, तत्रैव ।
१० । ४७ ।
"सूतानामश्वसारथ्यमम्बष्ठानां चिकित्सितम् ॥")
वन्दी । (यथा, रघुः । ५ । ६५ ।
"सूतात्मजाः सवयसः प्रथितप्रबोधं
प्राबोधयन्नुषसि वाग्भिरुदारवाचः ॥")
पारदः । इति मेदिनी ॥ (यथा, वैद्यकरसेन्द्र-
सारसंग्रहे जारणमारणाधिकारे ।
"हतो हन्ति जराव्याधिं मूर्च्छितो व्याधिघातकः ।
बद्धः खेचरतां धत्ते कोऽन्यः सूतात् कृपाकरः ॥")
सूर्य्यः । इत्यनेकार्थकोषः ॥ पुराणवक्ता । यथा,
"सवान्ते सूतमनघं नैमिषीया महर्षयः ।
पुराणसंहितां पुण्यां पप्रच्छ लोमहर्षणम् ॥
त्वया सूत महाबुद्धे भगवान् ब्रह्मवित्तमः ।
इतिहासपुराणार्थं व्यासः सम्यगुपासितः ॥
अस्य ते सर्व्वरोमाणि वचसा हृषितानि यत् ।
द्वैपायनस्य भगवांस्ततो वै रोमहर्षणः ॥
भवन्तमेव भगवान् व्याजहार स्वयं प्रभुः ।
मुनीनां संहितां वक्तुं व्यासः पौराणिकीं पुरा ॥
त्वं हि स्वायम्भुवे यज्ञे सुत्याहे वितते सति ।
संभूतः संहितां वक्तुं स्वांशेन पुरुषोत्तम ॥"
इति कौर्म्मे । १ । ३—६ ॥ * ॥
अपि च ।
"नियोगाद्ब्रह्मणः सार्द्धं देवेन्द्रेण महौजसः ।
वेणपुत्त्रस्य वितते पुरा पैतामहे मखे ॥
सूतः पौराणिको जज्ञे मायारूपः स्वयं हरिः ।
प्रवक्ता सर्व्वशास्त्राणां धर्म्मज्ञो गुणवत्सलः ॥
तं मां वित्त मुनिश्रेष्ठाः पूर्व्वोद्भूतं सनातनम् ।
एतस्मिन्नन्तरे व्यासः कृष्णद्वैपायनः स्वयम् ॥
श्रावयामास मां प्रीत्या पुराणपुरुषो हरिः ।
मदन्वये च ये सूताः संभूता वेदवर्ज्जिताः ।
तेषां पुराणवक्तृत्वं वृत्तिरासीदजाज्ञया ॥"
इति कौर्म्मे १२ अध्यायः ॥ * ॥
किञ्च ।
"ब्रह्मणः पौष्करे यज्ञे सुत्याहे वितते सति ।
पृषदाज्यात् समुत्पन्नः सूतः पौराणिको द्विजः ॥
वक्ता वेदादिशास्त्राणां त्रिकालामलतत्त्ववित् ।
तीर्थयात्राप्रसङ्गेन नैमिषारण्यमागमत् ॥"
इति वह्निपुराणे १ अध्यायः ॥ * ॥

अन्यच्च ।
"हस्ते तु दक्षिणे चक्रं दृष्ट्वा तस्य पितामहः ।
विष्णोरंशं पृथुं मत्वा परितोषं परं ययौ ॥४४॥
तस्य वै जातमात्रस्य यज्ञे पैतामहे शुभे ।
सूतः सूत्यां समुत्पन्नः सौत्येऽहनि महामते ॥५०॥
तस्मिन्नेव महायज्ञे जज्ञे प्राज्ञोऽथ मागधः ।
प्रोक्तौ तदा मुनिवरैस्तावुभौ सूतमागधौ ॥५१॥
स्तूयतामेष नृपतिः पृथुर्वैण्यः प्रतापवान् ॥"५२॥
इति विष्णुपुराणे । १ । १३ अध्यायः ॥ * ॥
पृथुरेव पृथीर्जातत्वात् जातमात्रस्य यज्ञ इत्यु-
च्यते । पृथुरेवाभवत् यस्मात्ततः पृथुरजायत
इति मात्स्योक्तेः । पैतामहे पितामहदैवत्ये
पृथोरेव यज्ञे न तु पितामहकर्त्तृके । यथाह
वायुः । वैण्यस्य हि पृथोर्यज्ञे वर्त्तमाने महा-
त्मनः । सूतः सूत्यां समुत्पन्न इति । सूत्यामिति
सूतिरभिषूतिः अभिषूयते कण्ड्यते सोमोऽस्या-
मिति सूतिः सोमाभिषवभूमिस्तस्याम् । सौत्ये-
ऽहनि तस्मिन्नेव दिने । इति तट्टीका ॥ * ॥
किञ्च ।
"एतस्मिन्नेव काले तु यज्ञे पैतामहे शुभे ।
सूतः सूत्यां समुत्पन्नः सौत्येऽहनि पुराणवित् ॥
तेषां यज्ञे पुनस्त्वेवसुत्पन्नौ सूतमागधौ ।
पृथोः स्तवार्थं तौ तत्र समाहूतौ महर्षिभिः ॥
ते ऊचुर्ऋषयः सर्व्वे स्तूयतामेष पार्थिवः ।
तैर्नियुक्तौ सुकर्म्माणि पृथोर्यानि महात्मनः ॥
तुष्टुवुस्तानि सर्व्वाणि आशीर्व्वादांस्ततः परान् ।
तयोः स्तवान्ते सुप्रीतः पृथुः प्रादात् जनेश्वरः ॥
अनूपदेशं सूताय मागधान् मागधाय च ।
तं दृष्ट्वा परमप्रीताः प्रजाः प्राहुर्महर्षयः ॥
वृत्तीनामेष वो दाता भविष्यति नरेश्वरः ॥"
इति वह्निपुराणे पृथोरुपाख्याननामाध्यायः ॥
सूतः, पुं, क्ली, (सू + क्तः ।) पारदः । इत्यमरः ॥
(यथा,—
"रसोनस्वरसैः सूतो नागवल्लीदलोत्थितैः ।
त्रिफलायास्तथा क्वाथे रसो मर्द्दः प्रयत्नतः ॥
ततस्तेभ्यः पृथक्कृत्वा सूतं प्रक्षाल्य काञ्जिकैः ।
सर्व्वदोषविनिर्म्मुक्तं योजयेद्रसकर्म्मसु ॥"
इति वैद्यकरसेन्द्रसारसंग्रहे जारणमारणा-
धिकारे ॥)
सूतः, त्रि, (सू + क्तः ।) प्रसूतः । प्रेरितः । इति
मेदिनी ॥
सूतकं, क्ली, (सू + भावे क्तः । ततः स्वार्थे कन् ।)
जन्म । इति मेदिनी ॥ (सूतकं जन्म कारणे-
त्वेनास्त्यस्येति । अच् ।) जननाशौचम् । यथा,
"स्नतेन सूतकं गच्छेन्नेतरत् सूतकेन तु ।" इति ।
वृद्धमनुरपि ।
"शावस्योपरि शावे तु सूतकोपरि सूतके ।
शेषाहोभिर्व्विशुद्धिः स्यादुदक्यां सूतिकां विना ॥"
मरणाशौचम् । यथा,—
"सर्व्वं गोत्रमसंस्पृश्यं तत्र स्यात् सूतके सति ।
मध्येऽपि सूतके दद्यात् पिण्डान् प्रेतस्य तृप्तये ॥"
इति शुद्धितत्त्वम् ॥

प्रतिबन्धकम् । यथा,—
"व्रतयज्ञविवाहेषु श्राद्धे होमेऽर्च्चने जपे ।
आरब्धे सूतकं न स्यादनारब्धे तु सूतकम् ॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥
(उपरागः । ग्रहणम् । यथा, मनुः ।४। ११० ।
"प्रतिगृह्य द्विजो विद्वानेकोद्दिष्टस्य केतनम् ।
त्र्यहं न कीर्त्तयेद्ब्रह्म राज्ञो राहोश्च सूतके ॥"
"राजा चन्द्रमास्तस्य सूतकं राहुं प्रत्यस्त-
मयणं चशब्दात् सूर्य्यस्य च । अथवा जनपदे-
श्वरस्य राज्ञः सूतकं पुत्त्रजन्मोत्सवः । राहोः
सूतकं चन्द्रसूर्य्ययोरुपरागः ग्रहणमिति प्रसि-
द्धम् ॥" इति तत्र मेधातिथिः ॥)
सूतकः, पुं, क्ली, (सूत एव । स्वार्थे कन् ।) पारदः ।
इति मेदिनी ॥ (पर्य्यायोऽस्य यथा,—
"रसेन्द्रः पारदः सूतः सूतराजश्च सूतकः ।
शिवतेजो रसः सप्त नामान्येवं रसस्य तु ॥"
इति वैद्यकरसेन्द्रसारसंग्रहे जारणमारणा-
धिकारे ॥)
सूतका, स्त्री, सूतिका । इति सूतकागृहशब्द-
दर्शनात् ॥
सूतकागृहं, क्ली, (सूतकायाः गृहम् ।) सूतिका-
गृहम् । इत्यमरटीकायां भरतः । २ । २ । ८ ॥
सूततनयः, पुं, (सूतस्य अधिरथस्य सूर्य्यस्य वा
तनयः ।) कर्णः । इति हेमचन्द्रः ॥ (सौतिः ।
इति महाभारतम् ॥)
सूतपुत्त्रः, पुं, (सूतस्य अधिरथस्य सूर्य्यस्य वा
पुत्त्रः ।) कर्णः । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा,
महाभारते । १ । १३५ । ११ ।
"स्पर्द्धमानस्तु पार्थेन सूतपुत्त्रोऽत्यमर्षणः ।
दुर्य्योधनं समाश्रित्य सोऽवमन्यत पाण्डवान् ॥"
सौतिः । यथा, तत्रैव । १ । ५ । ११ ।
"सूतपुत्त्र ! यथा तस्य भार्गवस्य महात्मनः ।
च्यवनत्वं परिख्यातं तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ॥")
सूतपुत्त्रकः, पुं, (सूतपुत्त्र एव । स्वार्थे कन् ।)
कर्णः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ (सौतिः । इति
महाभारतम् ॥)
सूतराट्, [ज्] पुं, (सूतः सन् राजते इति ।
राज् + क्विप् ।) पारदः । इति राजनिर्घण्टः ॥
सूतिः, स्त्री, (सू + क्तिन् ।) सोमाभिषवभूमिः ।
यथा । "अभिषूयते कण्ड्यते सोमोऽस्यामिति
सूतिः सोमाभिषवभूमिः ।" इति सूतशब्दे
विष्णुपुराणटीका ॥ जननम् । (यथा, भाग-
वते । १ । १६ । १ ।
"यथा हि सूत्यामभिजातकोविदाः
समादिशन् विप्र महद्गुणस्तथा ॥")
सन्तानः । सीवनम् । इति केचित् ॥
सूतिका, स्त्री, (सू + क्तः । टाप् । ततः स्वार्थे
कन् । यद्वा, सूतं प्रसवोऽस्त्यस्यामिति । ठन् ।)
नवप्रसूता । यथा,—
"शावस्योपरि शावे तु सूतकोपरि सूतके ।
शेषाहोभिर्व्विशुद्धिः स्यादुदक्यां सूतिकां विना ॥"
इति शुद्धितत्त्वम् ॥ * ॥

तदन्नभोजनप्रायश्चित्तं यथा। शङ्खः ;
"चाण्डालान्नं भूमिपान्नमजजीविश्वजीविनाम्।
शौण्डिकान्नं सूतिकान्नं भुक्त्वा मासं व्रती भवेत्॥"
इति प्रायश्चित्ततत्त्वम्॥ * ॥
तदवलोकनतदालपनतत्संस्पर्शनिषेधो यथा,—
"नालपेत् जनविद्विष्टान् वीरहीनां तथा स्त्रियम्।
देवता-पितृसच्छास्त्रयज्ञसत्रादिनिन्दकैः॥
कृत्वा तु स्पर्शनालापं शुध्येतार्कावलोकनात्।
अवलोक्य तथोदक्यामन्त्यजं पतितं शवम्॥
विधर्म्मिसूतिकाषण्डविवस्त्रान्त्यावसायिनः।
स्तननिर्यातकांश्चैव परदाररतांश्च ये।
एतदेव हि कर्त्तव्यं प्राज्ञैः शोधनमात्मनः॥"
पारिभाषिकसूतिकालक्षणं यथा,—
"अभोज्यसूतिकाषण्डमार्जाराखूंश्च कुक्कुटान्।
पतितापविद्धचाण्डालमृतहारांश्च धर्म्मवित्॥
संस्पृश्य शुध्यते स्नानात् उदक्याग्रामसूकरौ।
तद्वच्च सूतिकाशौचदूषितौ पुरुषावपि॥
अलर्क उवाच।
भवता कीर्त्तिताभोज्या य एते सूतिकादयः।
अमीषां श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतो लक्षणानि हि॥
मदालसोवाच।
ब्राह्मणी ब्राह्मणश्चैव यावच्छैलमागतौ।
तावुभौ सूतिकेत्युक्तौ तयोरन्नं विगर्हितम्॥"
इति मार्कण्डेयपुराणे सदाचाराध्यायः॥
वामनपुराणे १४ अध्याये च द्रष्टव्यम्॥
सूतिकागारं, क्ली, (सूतिकाया आगारम्।) प्रसवगृहम्। इति जटाधरः॥ (यथा, हरिवंशे। १६३। ४७।
"आहृत्य शम्बरेण त्वमिहानीतोऽसि मानद।
सप्तरात्रे त्वसम्पूर्णे सूतिकागारमध्यतः॥")
सूतिकागृहं, क्ली, (सूतिकाया गृहम्।) प्रसवालयः। तत्पर्य्यायः। अरिष्टम् २। इत्यमरः। २। २। ८॥ सूतकागृहम् ३। इति तट्टीका॥ सूतीगृहम् ४ सूतिगृहम् ५। इति जटाधरः॥ तस्याकृतिर्यथा,—
"अष्टहस्तायतं चारु चतुर्हस्तविशालकम्।
प्राचीद्वारमुदग्द्वारं विदध्यात् सूतिकागृहम्॥"
इति भावप्रकाशः॥
तत्र पिशाचानां वासो यथा,—
"सर्व्वश्मशानप्रतिचान् सूतिकागृहसेविनः।
पृष्ठतः पाणिपादांश्च पृष्ठग्रीवान् सुरंहसः॥
एवंविधान् पिशाचांश्च दृष्ट्वा ब्रह्मानुकम्पया।
अन्तर्धानं वरं प्रादात् कामचारित्वमेव च॥"
इति वह्निपुराणे प्रजापतिसर्गनामाध्यायः॥
प्रसवात् पूर्व्वं तत्संस्कारमाह शाङ्खायनगृह्यम्। काकादन्या मेचकधातक्या कृहत्या: कोषातक्या: कालक्लीतकस्य मूलानि पेषयित्वा उपलेपयेद्गृहं अस्मिन् प्रजायते रक्षसामपहत्यै इति। काकादनी काकजङ्घा। मेचकधातकी काकमोचिका। कोषातकी घोषकम्। कालक्लीतकः यष्टिमधुकेति कल्पतरुः॥ अतएव हरिवंशे।
"एष मानुष्यको यत्नो मानुषैरेव साध्यते।
श्रूयतां येन दैवं हि मद्विधैः प्रतिहन्यते॥
मन्त्रग्रामैः सुविहितैरौषधैश्चैव योजितैः।
यत्नेन चानुकूलेन दैवमप्यनुलोम्यते॥"
इत्यनुचरान् प्रति कंसवाक्यम्। इति ज्योतिस्तत्त्वम्॥
सूतिकागेहं, क्ली, (सूतिकाया गेहम्।) प्रसवगृहम्। यथा,—
"जगाम सूतिकागेहं नारीरूपं विधाय भूः।
जयशब्दः शङ्खशब्दो हरिशब्दो बभूव ह॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे ४ अध्यायः॥
सूतिकाभवनं, क्ली, (सूतिकाया भवनम्।) प्रसवगृहम्। इति हलायुधः॥
सूतिकावासः, पुं, (सूतिकाया आवासः।) प्रसवगृहम्। यथा,—
"सूतिकावासनिलया जन्मदा नाम देवताः।
तासां यागनिमित्तन्तु शुद्धिर्जन्मनि कीर्त्तिता।
षष्ठेऽह्नि रात्रियागन्तु जन्मदानान्तु कारयेत्॥"
इति शुद्धितत्त्वम्॥
सूतिकारोगः, पुं, (सूतिकाया रोगः।) नवप्रसूताया व्याधिभेदः। तन्निदानादि यथा,—
"मिथ्योपचारात् संक्लेशात् विषमाजीर्णभोजनात्।
सूतिकायास्तु ये रोगा जायन्ते दारुणाश्च ते॥"
मिथ्योपचारात् अनुचिताचरणात्। प्रवातादिसेवनात्। संक्लेशात् संक्लिश्यन्ते दोषा अनेन इति संक्लेशः दोषजनकमन्नं तस्मात्। दारुणाः कष्टसाध्याः। के ते व्याधय इत्याकाङ्क्षायामाह।
"अङ्गमर्द्दो ज्वरः कासः पिपासा गुरुगात्रता।
शोथः शूलातिसारौ च सूतिकारोगलक्षणम्॥"
एतेऽङ्गमर्द्दादयः प्रायेण सूतिकाया भवन्तः सूतिकारोगत्वेन लक्ष्यन्ते॥ * ॥ ज्वरादीनां रोगविशेषाणां निदानविशेषमाह।
"ज्वरातीसारशोथाश्च शूलानाहबलक्षयाः।
तन्द्रारुचिप्रसेकाद्या वातश्लेष्मसमुद्भवाः॥
कृच्छ्रसाध्या हि ते रोगाः क्षीणमांसबलाश्रिताः।
ते सर्व्वे सूतिका नाम्ना रोगास्ते चाप्युपद्रवाः॥"
सूतिकाभवत्वेन सूतिकाख्या ते रोगाः। आश्रयाश्रितयोरभेदोपचारात्। ते चाप्युपद्रवा इति। त एव ज्वरादय उक्तानां रोगाणामन्यतमं प्रधानीकृत्योपद्रवाश्च॥ * ॥
अथ सूतिकारोगचिकित्सा।
"सूतिकारोगशान्त्यर्थं कुर्य्यात् वातहरीं क्रियाम्।
दशमूलकृतं क्वाथं कोष्णं दद्यात् घृतान्वितम्॥
अमृतानागरसहचरभद्रोत्कटपञ्चमूलकं जलदम्।
शृतशीतं मधुयुक्तं शमयत्यचिरेण सूतिकातङ्कम्॥
देवदारु वचा कुष्ठं पिप्पली विश्वभेषजम्।
भूनिम्बकट्फलं मुस्तं तिक्ताधान्यं हरीतकी॥
गजकृष्णा सदुःस्पर्शा गोक्षुरं धन्वयासकः।
बृहत्यतिविषा छिन्ना कर्कटः कृष्णजीरकः॥
समभागान्वितैरेतैः सिन्धुरामठसंयुतैः।
क्वाथमष्टावशेषन्तु प्रसूतां पाययेत् स्त्रियम्॥
शूलकासज्वरश्वासमूर्च्छाकम्पशिरोऽर्त्तिभिः।
युक्तं प्रलापतृड्दाहतन्द्रातीसारवान्तिभिः॥
निहन्ति सूतिकारोगं वातपित्तकफोद्भवम्।
कषायो देवदार्व्वादिः सूतायाः परमौषधम्॥"
इति देवदार्व्वादिक्वाथः॥ * ॥
"जीरकः स्थूलजीरश्च शतपुष्पाद्वयं तथा।
यवानी चाजमोदा च धान्यकं मेथिकापि च॥
शुण्ठी कृष्णा कणामूलं चित्रकं हपुषापि च।
वदरीफलचूर्णञ्च कुष्ठं कम्पिल्लकं तथा॥
एतानि पलमात्राणि गुडं शतपलं मतम्।
क्षीरं प्रस्थद्वयं दद्यात् सर्पिषः कुडवन्तथा॥
पञ्चजीरकपाकोऽयं प्रसूतानां प्रशस्यते।
युज्यते सूतिकारोगे योनिरोगे ज्वरे क्षये।
कासे श्वासे पाण्डुरोगे कार्श्ये वातामयेषु च॥"
इति पञ्चजीरकपाकः॥ * ॥
"आज्यस्याञ्जलियुग्ममत्र पयसः प्रस्थद्वयं खण्डतः
पञ्चाशत्पलमत्र चूर्णितमथ प्रक्षिप्यते नागरम्।
प्रस्थार्द्धं गुडवद्विपाच्य विधिना सुस्विन्नयं धान्यकात्
मिश्याः पञ्चपलं पलं कृमिरिपोः सत्राजिजीरादपि॥
चोचाम्भोदनलीरगेन्द्रसुमनस्तत् द्राविडीनां पलं
पक्वं नागरखण्डसंज्ञकमिदं सौभाग्यदं योषिताम्।
तृट्श्वासज्वरदाहशोषशमनं सश्वासकासापहं
प्लीहव्याधिविनाशनं कृमिहरं मन्दाग्निसन्दीपनम्॥"
दलं पत्रकम्। उरगेन्द्रसुमनः नागकेशरम्। द्राविडी सूक्ष्मैला। सौभाग्यशुण्ठीपाकः। इति भावप्रकाशः॥
सूतिकाषष्ठी, स्त्री, (सूतिकाया षष्ठी। सूतिकागृहपूज्या षष्ठीति मध्यपदलोपी कर्म्मधारयो वा।) सूतिकागारे जातबालकस्य षष्ठदिने पूज्यदेवीविशेषः। अथ सूतिकाषष्ठी-पूजा। विष्णुधर्म्मोत्तरे।
"सूतिकावासनिलया जन्मदा नाम देवताः।
तासां यागनिमित्तार्थं शुद्धिर्जन्मनि कीर्त्तिता॥
षष्ठेऽह्नि रात्रियागन्तु जन्मदानाञ्च कारयेत्।
रक्षणीया सदा षष्ठी निशा तत्र विशेषतः॥
राम! जागरणं कार्य्यं जन्मदानां तथा बलिः॥"
रामेति सम्बोधनम्॥ * ॥ तत्राशौचान्तरदोषोऽपि नास्ति।
"अशौचे तु समुत्पन्ने पुत्त्रजन्म यदा भवेत्।
कर्त्तुस्तात्कालिकी शुद्धिः पूर्व्वाशौचाद्विशुध्यति॥"
इति प्रजापतिवचनात्। पुत्त्रजन्मेति श्रवणात् पितुरेवाशौचाभावः न तु मातुः कर्त्तुरिति पुंलिङ्गनिर्द्देशाच्च। कारयेदिति अन्यभोजनाभिप्रायेण॥*॥ तत्रादौ विनायकादिसहितषोडशमातृकापूजनम्। तथा च कृत्यचिन्तामणौ।

"छागजागरणं कार्य्यं खड्गो धार्य्यः समीपतः ।
आवाह्य पूजयेद्देवीं गणेशं मातरं गिरिम् ॥"
देवीं षष्ठीम् । गिरिं मन्थानदण्डम् ॥ * ॥ मातृनामान्याह । वसुधारापरिशिष्टम् ।
"गौरी पद्मा शची मेधा सावित्री विजया जया ।
देवसेना स्वधा स्वाहा मातरो लोकमातरः ॥
शान्तिः पुष्टिर्धृतिस्तुष्टिरात्मदेवतया सह ।
आदौ विनायकः पूज्यो अन्ते च कुलदेवता ॥"
ताश्चाभिधाय भविष्ये ।
"पूज्याश्चित्रेऽथवा कार्य्या वरदाभयपाणयः ।"
मातरः इति सर्व्वासां विशेषणम् । अतएव गौर्य्यै मात्रे नमः । इत्यादि प्रयोगः । एता मातरो लोकमातरो ज्ञेयाः अतएव तथोल्लेखेन निर्द्देशः ॥ * ॥ गणेशपूजायां प्रार्थनामन्त्रो यथा,
"सर्व्वविघ्नहरो देव एकदन्तो गजाननः ।
षष्ठीदेवेऽर्च्चितः प्रीत्या शिशुं दीर्घायुषं कुरु ॥"
ततः ।
"आयाहि वरदे देवि महाषष्ठीति विश्रुता ।
शक्तिरूपेण मे पुत्त्रं रक्ष जागरवासरे ॥"
इति षष्ठ्या आवाहनम् । ततः षष्ठीं पूजयेत् ।
"गौर्य्याः पुत्त्रो यथा स्कन्दः शशा संरक्षितस्तथा ।
तथा ममाप्ययं बालो रक्ष्यतां षष्ठि ते नमः ॥"
इति विः पूजयेदिति । भोजराजः ।
"गणेशश्चैव नन्दा च पूतना मुखमण्डिका ।
बिडालिका शकुनिका शुष्कनन्दा च जम्भिका ॥
आर्य्यका रेवती च पिलिपिच्छा ततः परम् ।
स्कन्दा च द्वादशैतेऽर्च्च्याः रक्षार्थं मातृकाग्रहाः ॥"
कल्पचिन्तामणौ स्तुतिः ।
"जय देवि जगन्मातर्जगदानन्दकारिणि ।
प्रसीद मम कल्याणि नमोऽस्तु षष्ठि देवि ते ॥"
वरप्रार्थनम् ।
"रूपं देहि यशो देहि भाग्यं भगवति देहि मे ।
पुत्त्रान् देहि धनं देहि सर्व्वान् कामांश्च देहि मे ॥
धात्री त्वं कार्त्तिकेयस्य महाषष्ठीति विश्रुता ।
त्वत्प्रसादादविघ्नेन चिरं जीवतु बालकः ॥
देवतानां महीपानां सर्व्वेषां हितकारिणि ।
समर्पितं रक्ष पुत्त्रं महाषष्ठि नमोऽस्तु ते ॥
इत्यनेन बालं यजमानः कृत्वा समर्पयेत् ॥"
मन्थानदण्डं पूजयेत् ।
"मन्थानमन्दरोऽसि त्वं मथितः सागरस्तया ।
तथा ममापि पुत्त्रस्य मथ विघ्नं नमोऽस्तु ते ॥"
ततः षट्कृत्तिकाः पूजयेत् । ताश्च ।
"शिवा सम्भूतिनाम्नी च कीर्त्तिः सन्नतिरेव च ।
अनसूया क्षमा चैव षडेताः कृत्तिकाः स्मृताः ॥"
मार्कण्डेयपुराणम् ।
"अथात्मुपशुश्रूषे च निर्यूपे सूतिकागृहे ।
अदीपशस्त्रमूषले भूतिसर्षपवर्ज्जिते ।
अनुप्रविश्य या जातमपहृत्यात्मसम्भवम् ।
क्षणप्रसविनी बालं तत्रैवोत्सृज्यते द्विज ॥
सा जातहारिणी नाम सुघोरा पिशिताशना ।
तस्मात् संरक्षणं कार्य्यं यत्नतः सूतिकागृहे ॥"
यूपो वहुच्छागस्तम्भः । पशुः छागः । छागजागरणं कार्य्यमित्येकवाक्यत्वात् ॥ * ॥ प्राञ्चो ।
"पायसं सर्पिषा मिश्रं द्विजेभ्यो यः प्रयच्छति ।
गृहं तस्य न रक्षांसि धर्षयन्ति कदाचन ॥"
इति ज्योतिस्तत्त्वम् ॥
अन्यत् षष्ठीशब्दे द्रष्टव्यम् ॥

सूतिगृहं, क्ली, (सूत्याः प्रसवस्य गृहम् ।) प्रसवगृहम् । इति शब्दरत्नावली ॥

सूतिमासः, पुं, (सूतेः प्रसवस्य मासः ।) प्रसवमासः । तत्पर्य्यायः । वैजननः २ । इत्यमरः । २ । ६ । ३६ ॥
"सूतिमासो वैजननो नवमो दशमोऽपि च ।"
इति जटाधरः ॥

सूतीगृहं, क्ली, (सूत्याः गृहम् ।) प्रसवागारः । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, भागवते । १० । ८५ । २० ।
"सूतीगृहे ननु जगाद भवानजो नौ
संजज्ञ इत्यनुयुगं निजधर्म्मगुप्त्यै ॥")

सूत्कारः, पुं, (सूत् इति शब्दस्य कारः करणम् ।) अनुकरणशब्दविशेषः । सूत् इति शब्दं करोति । यथा, सीत्कारादिः ॥

सूत्थानः, त्रि, (सुष्ठु उत्थानं उद्योगो यस्य ।) चतुरः । इत्यमरः ॥ सुन्दरोत्थाने, क्ली ॥

सूत्तरं, क्ली, सुरासन्धानम् । इति शब्दचन्द्रिका ॥

सूत्या, स्त्री, (सू + क्यप् । निपातनात् साधुः ।) यज्ञस्नानम् । तत्पर्य्यायः । अभिषवः २ सवनम् ३ । इत्यमरः ॥ सोमलतारसपानम् । इति भरतः ॥

सूत्याशौचं, क्ली, (सूतिनिमित्तकमाशौचम् ।) जननाशौचम् । यथा,—
"दशाहाभ्यन्तरे बाले प्रमीते तस्य बान्धवैः ।
शावाशौचं न कर्त्तव्यं सूत्याशौचं विधीयते ॥"
इति शुद्धितत्त्वम् ॥

सूत्र, त क ग्रन्थने । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (अदन्तचुरा०-पर०-सक०-सेट् ।) दीर्घी दन्त्यवर्गाद्यमध्यः । वेष्टने इत्यन्ये । सूत्रयति सूत्रापयति सूत्रेण हारं लोकः । इति दुर्गादासः ॥

सूत्रं, क्ली, (सूत्र्यतेऽनेनेति । सूत्र क ग्रन्थने + णिच् + "घञ् ।" इत्यच् । यद्वा षिवु तन्तुसन्ताने + "षिविसुम्योष्टेरू च ।" उणा० ४ । १६२ । इति ष्ट्रन् । टेरू च ।) वस्त्रारम्भकम् । सुता इति भाषा । तत्पर्य्यायः । तन्तुः २ । इत्यमरजटाधरौ ॥ सूत्रतन्तुः ३ । इति भरतधृतहारावली ॥ (यथा, रघुः । १ । ४ ।
"अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्व्वसूरिभिः ।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः ॥"
यज्ञसूत्रम् । यथा, महानिर्व्वाणे । १ । ४८ ।
"ब्राह्मण्यचिह्नमेतावत् केवलं सूत्रधारणम् ॥")
व्यवस्था । शास्त्रादिसूचनाग्रन्थः । इति मेदिनी ॥ सूत्रलक्षणं यथा,—
"स्वल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् ।
अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥"
इति मुग्धबोधटीकायां दुर्गादासः ॥
(कारणम् । निमित्तम् । यथा, भागवते । ४ । ६ । ४३ ।
"त्वमेव धर्म्मार्थदुघाभिपत्तये
दक्षेण सूत्रेण ससर्ज्जिथाध्वरम् ॥")

सूत्रकण्ठः, पुं, (सूत्रं कण्ठे यस्य ।) विप्रः । खञ्जरीटः । कपोतः । इति मेदिनी ॥

सूत्रकोणः, पुं, (सूत्रबद्धः कोणो यस्य ।) डमरुः । इति हारावली ॥

सूत्रकोणकः, पुं, (सूत्रकोण एव । स्वार्थे कन् ।) डमरुः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सूत्रगण्डिका, स्त्री, (सूत्रं गण्डयतीति । गडि + ण्वुल् ।) तन्तुवायोपकरणविशेषः । तत्पर्य्यायः । एषणी २ । इति शब्दमाला ॥

सूत्रतन्तुः, पुं, (सूत्रमेव तन्तुः ।) सूत्रम् । इति हारावली ॥

सूत्रतर्कुटी, स्त्री, (सूत्रस्य तर्कुटी ।) तर्कुटी । इति जटाधरः ॥ टेको इति भाषा ॥

सूत्रधरः, पुं, (धरतीति । धृ + अच् । सूत्रस्य धरः ।) सूत्रधारः । इति केचित् ॥

सूत्रधारः, पुं, (सूत्रं धरति धारयति वा । धृ + णिच् वा + अण् ।) शचीपतिः । इन्द्रः । नान्द्यन्तरसञ्चारी । स तु रङ्गभूमिं परिक्रम्य नाटकीयकथासूत्रसूचकः । (यथा, साहित्यदर्पणे । ६ । २८३ ।
"पूर्व्वरङ्गं विधायैव सूत्रधारो निवर्त्तते ।
प्रविश्य स्थापकस्तद्वत् काव्यमास्थापयेत्ततः ॥")
शिल्पिप्रभेदः । छुतार इति भाषा । इति मेदिनी ॥ स च शूद्रागर्भे विश्वकर्म्मण औरसेन जातः । इति ब्रह्मवैवर्त्ते ब्रह्मखण्डे १० अध्यायः ॥

सूत्रपुष्पः, पुं, (सूत्रार्थं पुष्पमस्य ।) कार्पासः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सूत्रवीणा, स्त्री, (सूत्रबद्धा वीणा ।) वीणाभेदः । तत्पर्य्यायः । लाबुकी २ । इति हारावली ॥

सूत्रभित्, **सूत्रभिद्**, पुं, (सूत्रं भिनत्तीति । भिद् + क्विप् ।) सौचिकः । इति शब्दरत्नावली ॥

सूत्रमध्यभूः, पुं, (सूत्रमध्यवत् भूरुत्पत्तिर्यस्य ।) यक्षधूपः । इति शब्दचन्द्रिका ॥

सूत्रयन्त्रं, क्ली, (सूत्रस्य यन्त्रम् ।) सूत्रवेष्टनकाष्ठम् । तांत इति भाषा । यथा,—
"आवापनं सूत्रयन्त्रं यत्सूत्रैरभिवेष्टते ॥"
इति शब्दमाला ॥

सूत्रला, स्त्री, (सूत्रं लातीति । ला + कः ।) तर्कुटी । इति हारावली ॥

सूत्रवेष्टनं, क्ली, (वेष्ट्यतेऽनेनेति । वेष्ट + करणे ल्युट् । सूत्रस्य वेष्टनम् ।) तन्तुवायोपकरणम् । तासनी इति भाषा । तत्पर्य्यायः । त्रसरः २ । इत्यमरः । ३ । २ । २४ ॥ तसरः ३ । इति भरतः ॥

सूत्रामा, [न्] पुं, (सुष्ठु त्रायते इति । सु + त्रै + "सर्व्वधातुभ्यो मनिन् ।" उणा० ४ । १४४ । इति मनिन् । पृषे उपसर्गस्य दीर्घत्वम् ।) इन्द्रः । इत्यमरः । १ । १ । ४५ ॥

सूत्राली, स्त्री, (सूत्रस्य आली श्रेणिर्यत्र ।) गलसूत्रम् । तत्पर्य्यायः । गलमेखला २ । इति हारावली ॥

सूत्री, [न्] पुं, (सूत्रमस्यास्तीति । सूत्र + इनिः ।) काकः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ सूत्रविशिष्टे, त्रि ॥

सूदः, पुं, (सूदयति रसानिति । सूद क्षरणे + णिच् + अच् ।) सूपकारः । (यथा, महाभारते । १ । १३४ । २१ ।
"तं दृष्ट्वा नित्यसंयुक्तमिष्वस्त्रं प्रति फाल्गुनम् ।
आहूय वचनं द्रोणो रहः सूदमभाषत ॥")
व्यञ्जनम् । इत्यमरः । ३ । ३ । ९० ॥ (यथा, महाभारते । १ । १२८ । ३४ ।
"भक्ष्यं भोज्यञ्च पेयञ्च चोष्यं लेह्यमथापि वा ।
उपाहृतं नरैस्तत्र कुशलैः सूदकर्म्मणि ॥")
सपः । इति विश्वः ॥ सारथ्यम् । अपराधः । लोध्रः । पापम् । इत्यजयपालः ॥

सूदनं, क्ली, (सूद + ल्युट् ।) अङ्गीकरणम् । हननम् । (यथा, हरिवंशे । १६३ । ४२ ।
"वैष्णवास्त्रं प्रयच्छास्मै वधार्थं शम्बरस्य च ।
अभेद्यं कवचं तस्य प्रयच्छासुरसूदने ॥")
निःक्षेपणम् । सूदधातोरनट्प्रत्ययेन निष्पन्नम् ॥ तद्वति, त्रि । (यथा, महाभारते । १।१९।२० ।
"तत्र दिव्यं धनुर्दृष्ट्वा नरस्य भगवानपि ।
चिन्तयामास तच्चक्रं विष्णुर्दानवसूदनम् ॥")

सूदशाला, स्त्री, (सूदस्य शाला ।) पाकशाला । तथा,—
"सूदशाला रसवती पाकस्थानं महानसम् ॥"
इति हेमचन्द्रः ॥

सूदाध्यक्षः, पुं, (सूदानां सूपकाराणामध्यक्षः ।) पाकशालाध्यक्षः । तत्पर्य्यायः । पौरोगवः १ । इति हेमचन्द्रः ॥ पुरोगमः २ । इति शब्दरत्नावली ॥ तल्लक्षणं यथा,—
"अनाहार्य्यः शुचिर्दक्षश्चिकित्सितविदांवरः ।
सूदशास्त्रविशेषज्ञः सूदाध्यक्षः प्रशस्यते ॥"
इति मात्स्ये १८९ अध्यायः ॥

सूनं, क्ली, (सू ओ ङ य सूतौ + क्तः ।) प्रसवः । पुष्पम् । विकसिते, त्रि । इति विश्वमेदिन्यौ ॥

सूनः, त्रि, (सू + क्तः । "ओदितश्च ।" ८ । २ । ४५ । इति निष्ठातस्य नः ।) जातः । इति मुग्धबोधव्याकरणम् ॥

सूनवान्, [त्] त्रि, (सू + क्तवतु ।) जातः । इति मुग्धबोधव्याकरणम् ॥

सूना, स्त्री, (सूयते स्मेति । सू + क्तः । टाप् ।) पुत्री । (षुञ् न पीडने + "सुञो दीर्घश्च ।" उणा० ३ । १३ । इति नः । दीर्घश्च धातोः ।) वधस्थानम् । गलशुण्डिका । इति मेदिनी । ने, २४ ॥ मृगादिमांसविक्रयः । मृगपक्षिवधस्थानम् । इति संक्षिप्तसारोणादिवृत्तिः ॥ (यथा, भागवते । १ । १७ । । ३८ ।
"अभ्यर्थितस्तदा तस्मै स्थानानि कलये ददौ ।
द्यूतं पानं स्त्रियः सूना यत्राधर्म्मश्चतुर्व्विधः ॥")
जाता । इति सूनशब्दार्थदर्शनात् । सूनाप्रकाराणि तत्पापनाशकानि च पञ्चसूनाशब्दे द्रष्टव्यानि ॥

सूनी, [न्] पुं, (सूना अस्त्यस्येति । इनिः ।) व्याधः । मांसविक्रयी । (यथा, याज्ञवल्क्ये । १ । १४१ ।
"प्रतिग्रहे सूनिचक्रिध्वजिवेश्यानराधिपाः ।
दुष्टा दशगुणं पूर्व्वात् पूर्व्वादेते यथाक्रमम् ॥")

सूनुः, पुं, (सूयते इति । सू + "सुवः कित् ।" उणा० ३ । ३५ । इति नुः । स च कित् ।) पुत्त्रः । (यथा, रघुः । १ । ९५ ।
"सूनुः सूनृतवाक् स्रष्टुः विससर्ज्जोदितश्रियम् ॥")
अनुजः । सूर्य्यः । इति मेदिनी ॥ अर्कवृक्षः । इत्यमरः ॥

सूनुः, } स्त्री, (सू + नुः । वा ऊङ् ।) कन्या ।
सूनूः, } इति हेमचन्द्रः ॥

सूनृतं, क्ली, (सुष्ठु ऊनयतीति । सु + ऊन + ऋत + चणर्थे कः । उपसर्गस्य दीर्घः ।) सत्यप्रियवाक्यम् । इत्यमरः । १।६।१६ ॥ (यथा, साहित्यदर्पणे । ३ । १५५ ।
"भाषते सूनृतं स्निग्धमनुरक्ता नितम्बिनी ॥")
मङ्गलम् । इत्यजयः ॥ तद्वति, त्रि । (यथा, भागवते । १ । १९ । ३१ ।
"प्रणम्य मूर्द्धावहितः कृताञ्जलि-
र्नत्वा गिरा सूनृतयान्वपृच्छत् ॥")

सून्मदः, त्रि, (सुष्ठु उन्मदः ।) उन्मत्तः । उन्मदिष्णुः । इत्यमरे उन्मदशब्दटीकायां भरतः । ३ । १ । २० ॥

सून्मादः, त्रि, (सुष्ठु उन्मादः ।) उन्मादरोगविशिष्टः । इत्यमरे उन्मदशब्दटीकायां रमानाथः ॥

सूपः, पुं, (सौति रसानिति । सु + "कुयुभ्यां च ।" उणा० ३ । २६ । इति पः । चकारात् कित् दीर्घत्वञ्च ।) व्यञ्जनविशेषः । डाल इति भाषा । सूदः । इति मेदिनी ॥ भाण्डम् । शायकम् । इति शब्दरत्नावली ॥ * ॥ अथ दाली ।
"दलितन्तु शमीधान्यं दालिर्द्दाली स्त्रियामुभे ।
दाली तु सलिले सिद्धा लवणार्द्रकहिङ्गुभिः ।
संयुक्ता सूपनाम्नी स्यात् कथ्यते तद्गुणा अथ ॥
सूपो विष्टम्भको रूक्षः शीतस्तु स विशेषतः ।
निस्तुषो भृष्टसिद्धः स लाघवं सुतरां व्रजेत् ॥"
इति भावप्रकाशः ॥

सूपकारः, पुं, (सूपं करोतीति । कृ + अण् ।) पाककर्त्ता । तत्पर्य्यायः । वल्लवः २ आरालिकः ३ आन्धसिकः ४ सूदः ५ औदनिकः ६ गुणः ७ । इत्यमरः । २ । ९ । २८ ॥ पाचकः ८ । इति शब्दरत्नावली ॥ पाकुकः ९ । इत्युणादिकोषः ॥ भक्ष्यकारः १० । इति हेमचन्द्रः ॥ तस्य लक्षणं यथा, चाणक्यम् ।
"इङ्गिताकारतत्त्वज्ञो बलवान् मिष्टपाचकः ।
शूरश्च कठिनश्चैव सूपकारः स उच्यते ॥"
शूद्रपाकोपजीवी । यथा, ब्रह्मवैवर्त्ते प्रकृतिखण्डे २७ अध्याये ।
"देवोपजीवाजीवी यः देवलश्च प्रकीर्त्तितः ।
शूद्रपाकोपजीवी यः सूपकारः प्रकीर्त्तितः ॥
सन्ध्यापूजाविहीनश्च प्रमत्तः पतितः स्मृतः ।
उक्तपूर्व्वप्रकारेण लक्षणं वृषलीपतेः ॥
एते महापातकिनः कुम्भीपाकं प्रयान्ति ते ।
कुण्डान्यन्यानि ते यान्ति निबोध कथयामि
तान् ॥"

सूपधूपनं, क्ली, (सूपस्य धूपनमस्मादिति ।) हिङ्गु । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सूपपर्णी, स्त्री, (सूपकरं सूपस्य स्वादुताकरं पर्णमस्याः । ङीष् ।) मुद्गपर्णी । इति रत्नमाला ॥

सूपश्रेष्ठः, पुं, (सूपेषु तत्साधनेषु श्रेष्ठः ।) मुद्गः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सूपाङ्गं, क्ली, (सूपस्य अङ्गम् । तत्साधनत्वात् ।) हिङ्गु । इति राजनिर्घण्टः ॥

सूमं, क्ली, (सू + "इषियुधीति ।" उणा० १।१४२। इति मक् ।) क्षीरम् । आकाशम् । इति मेदिनी ॥ जलम् । इति शब्दरत्नावली ॥

सूरः, पुं, (सूते जगदिति । सू + "सुसूधाञ्गृधिभ्यः क्रन् ।" उणा० २ । २४ । इति क्रन् ।) सूर्य्यः । (यथा, ऋग्वेदे । १ । १६३ । २ ।
"सूरादश्वं वसवो निरतष्ट ॥")
अर्कवृक्षः । इत्यमरः ।१।३।२८; २।४।८० ॥ वृत्तार्हत्पितृविशेषः । इति हेमचन्द्रः ॥ पण्डितः । इति केचित् ॥

सूरणः, पुं, शूरणः । इति शब्दरत्नावली ॥ कार्त्तिकमासि तस्य भक्षणनिषेधो यथा, कर्म्मलोचने ।
"मकरे मूलकञ्चैव सिंहे चालाबुकं तथा ।
कार्त्तिके सूरणञ्चैव सद्यो गोमांसभक्षणम् ॥"

सूरतः, त्रि, (सुष्ठु रमते इति । सु + रम + "सौ रमतेः क्तो दमे पूर्व्वपदस्य च दीर्घः ।" उणा० ५ । १४ । इति क्तः सुशब्दस्य च दीर्घः ।) कृपालुः । इत्यमरः । ३ । १ । १५ ॥

सूरसूतः, पुं, (सूरस्य सूर्य्यस्य सूतः सारथिः ।) अरुणः । स सूर्य्यसारथिः । इत्यमरः ।१।३।३२॥

सूरिः, पुं, (सूते सद्वाक्यानीति । सू + "सूङः क्रिः ।" उणा० ४ । ६४ । इति क्रिः ।) पण्डितः । इत्यमरः । २ । ७ । ६ ॥ (यथा, भागवते । १ । १ । १ ।
"जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः
स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्
सूरयः ॥")
यादवः । सूर्य्यः । इत्युणादिकोषः ॥

सूरी, [न्] पुं, (सूरः सूर्य्य उपास्यतया अस्त्यस्येति । सूर + इनिः ।) पण्डितः । इति शब्दरत्नावली ॥

सूरी, स्त्री, (सू + क्रिः । ङीष् ।) राजसर्षपः । इति रत्नमाला ॥ (विदुषी । इत्युणादिवृत्तौ

उज्ज्वलः । ४ । ६४ ॥ * ॥ सूर्य्यस्य पत्नी । "पुंयोगादाख्यायाम् ।" ४।१।४८। इति ङीष् । सूर्य्यतिष्यागस्त्येति यलोपः । सूरी । इति व्याकरणम् ॥)

सूर्क्ष, नादरे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट् ।) रेफयुक्तः षष्ठस्वरी दन्त्यादिः । सूर्क्षति दुष्टं लोकः । सुसूर्क्ष । इति दुर्गादासः ॥

सूर्क्षणं, क्ली, (सूर्क्ष + ल्युट् ।) अनादरः । इति शब्दरत्नावली ॥

सूर्क्ष्य, अनादरे । ईर्षे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट् ।) दन्त्यादिर्दीर्घी रेफमध्यः । सूर्क्ष्यति सुसूर्क्ष्य । इति दुर्गादासः ॥

सूर्क्ष्यः, पुं, (सूर्क्ष्यते अनाद्रियते इति । सूर्क्ष्य + घञ् ।) माषः । इति शब्दरत्नावली ॥

सूर्पः, पुं, क्ली, शूर्पः । इति शब्दरत्नावली ॥ कुम्भपरिमाणम् । द्विद्रोणपरिमाणम् । इति वैद्यकपरिभाषा ॥

सूर्म्मी, स्त्री, शूर्म्मी । इति केचित् ॥

सूर्य्यः, पुं, (सरति आकाशे सुवति कर्म्मणि लोकं प्रेरयति वा । सृ गतौ सू प्रेरणे वा + "राजसूयसूर्य्यमृषोद्येति ।" ३।१।११४ । इति क्यप्प्रत्ययेन साधुः ।) ग्रहविशेषः । अर्कपर्णः । इति मेदिनी ॥ बलिपुत्त्रः । इति केचित् ॥ (यथा, हरिवंशे । ३ । ७४ ।
"बलेः पुत्त्रशतञ्चासीत् बाणज्येष्ठं नराधिप ।
धृतराष्ट्रश्च सूर्य्यश्च चन्द्रमाश्चेन्द्रतापनः ॥")
दानवविशेषः । यथा,—
"अभवन् दनुपुत्त्राश्च वंशे ख्याता महासुराः ।
विप्रचित्तिप्रधानास्ते शतं तीव्रपराक्रमाः ॥
स्वर्भानुर्वृषपर्व्वा च क्रुहश्च महासुरः ।
धृतराष्ट्रश्च सूर्य्यश्च दनुसाश्चेन्द्रतापनः ॥"
इति वह्निपुराणे काश्यपीयवंशः ॥
ग्रहविशेषस्य पर्य्यायो यथा । सूरः २ अर्य्यमा ३ आदित्यः ४ द्वादशात्मा ५ दिवाकरः ६ भास्करः ७ अहस्करः ८ ब्रध्नः ९ प्रभाकरः १० विभाकरः ११ भास्वान् १२ विवस्वान् १३ सप्ताश्वः १४ हरिदश्वः १५ उष्णरश्मिः १६ विकर्त्तनः १७ अर्कः १८ मार्त्तण्डः १९ मिहिरः २० अरुणः २१ पूषा २२ द्युमणिः २३ तरणिः २४ मित्रः २५ चित्रभानुः २६ विरोचनः २७ विभावसुः २८ ग्रहपतिः २९ त्विषाम्पतिः ३० अहःपतिः ३१ भानुः ३२ हंसः ३३ सहस्रांशुः ३४ तपनः ३५ सविता ३६ रविः ३७ । इत्यमरः । १।३।२८—३१ ॥ शूरः ३८ भगः ३९ वृध्नः ४० पद्मिनीवल्लभः ४१ हरिः ४२ दिनमणिः ४३ चण्डांशुः ४४ सप्तसप्तिः ४५ गभस्तिमान् ४६ अंशुमाली ४७ काश्यपेयः ४८ खगः ४९ भानुमान् ५० लोकलोचनः ५१ पद्मबन्धुः ५२ ज्योतिष्मान् ५३ अव्ययः ५४ तापनः ५५ चित्ररथः ५६ खमणिः ५७ दिवामणिः ५८ गभस्तिहस्तः ५९ हेलिः ६० पतङ्गः ६१ अर्च्चिः ६२ दिनप्रणीः ६३ वेदोदयः ६४ कालकृत् ६५ ग्रहराजः ६६ तमोनुदः ६७ रसाधारः ६८ प्रतिदिवा ६९ ज्योतिःपीथः ७० इनः ७१ । इति शब्दरत्नावली ॥ कर्म्मसाक्षी ७२ जगच्चक्षुः ७३ त्रयीतपः ७४ प्रद्योतनः ७५ खद्योतः ७६ लोकबान्धवः ७७ पद्मिनीकान्तः ७८ अंशुहस्तः ७९ पद्मपाणिः ८० हिरण्यरेताः ८१ पीतः ८२ अद्रिः ८३ अगः ८४ हरिवाहनः ८५ अम्बरीषः ८६ धामनिधिः ८७ हिमारातिः ८८ गोपतिः ८९ कुञ्जारः ९० प्लवगः ९१ सूनुः ९२ तमोपहः ९३ गभस्तिः ९४ । इति जटाधरः ॥ * ॥ अस्य वर्णः रक्तश्याममिश्रितः । स च पूर्व्वदिक्पुरुष-क्षत्त्रियजाति-सत्त्वगुण-कटुरससिंहराशीनामधिपतिः । धात्वादिसुवर्णद्रव्यचतुष्पदगोभूमिस्वामी । चतुष्कोणाकृतिः । मध्याह्नकाले प्रबलः । ह्रस्वः । रण्ड्वारी । तिक्तरसप्रियश्च । इति बृहज्जातकादयः ॥ * ॥ ग्रहयज्ञे तु । वर्त्तुलाकारः । मण्डलमध्यस्थः । अस्य जन्मभूमिः कलिङ्गदेशः । गोत्रः काश्यपः । वर्णः रक्तः । पूर्व्वमुखः । जातिः क्षत्त्रियः । बलिर्गुडौदनम् । धूपे गुग्गुलुः । गन्धो रक्तचन्दनम् । समित् अर्कः । अस्य ध्यानम् ।
"क्षत्त्रियं काश्यपं रक्तं कालिङ्गं द्वादशाङ्गुलम् ।
पद्महस्तद्वयं पूर्व्वाननं सप्ताश्ववाहनम् ।
शिवाधिदैवतं ध्यायेद्वह्निप्रत्यधिदैवतम् ॥"
अस्य मन्त्रः ।
"आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥" दक्षिणा धेनुः । इति ग्रहयागसंस्कारतत्त्वे ॥ * ॥ तस्योत्पत्त्यादिर्यथा,—
"अथान्तरीक्षादाभाष्य कश्यपं मुनिसत्तमम् ।
सतोयमेघगम्भीरा वाणुवाचाशरीरिणी ॥
मारितश्च यतः प्रोक्तमेतदण्डं त्वयादितिम् ।
तस्मात्सुने सुतस्तेऽयं मार्त्तण्डाख्यो भविष्यति ॥
सूर्य्याधिकारञ्च विभुर्जगत्येष करिष्यति ।
हनिष्यत्यसुरांश्चायं यज्ञभागहरानरीन् ॥
देवा निशम्येति वचो गगनात् समुपागतम् ।
प्रहर्षमतुलं याता दानवाश्च हतौजसः ॥
ततो युद्धाय दैतेयानाजुहाव शतक्रतुः ।
सह देवैर्मुदा युक्तो दानवाश्च तमभ्ययुः ॥
तेषां युद्धमभूद्घोरं देवानामसुरैः सह ।
शस्त्रास्त्रदीप्तिसंदीप्तसमस्तभुवनान्तरम् ॥
तस्मिन् युद्धे भगवता मार्त्तण्डेन निरीक्षिताः ।
तेजसा दह्यमानास्तु भस्मीभूता महासुराः ॥
ततः प्रहर्षमतुलं प्रापुः सर्व्वे दिवौकसः ।
तुष्टुवुस्तेजसो योनिं मार्त्तण्डमदितिं तथा ॥
स्वाधिकारं ततः प्रापुर्यज्ञभागांश्च पूर्व्ववत् ।
भगवानपि मार्त्तण्डः स्वाधिकारमथाकरोत् ॥
कदम्बपुष्पवद्भास्वानधश्चोर्द्ध्वञ्च रश्मिभिः ।
वृतोऽग्निपिण्डसदृशो दध्रे नातिस्फुटं वपुः ॥"
इति मार्कण्डेयपुराणे मार्त्तण्डोत्पत्तिः ॥ * ॥
मार्कण्डेय उवाच ।
"अथ तस्मै ददौ कन्यां संज्ञां नाम विवस्वते ।
प्रसाद्य प्रणतो भूत्वा विश्वकर्म्मा प्रजापतिः ॥
विवस्वतस्तु संभूतौ मनू द्वौ चरितं तयोः ।
पूर्व्वमेव तवाख्यातं मयैतदखिलं द्विज ॥
त्रीण्यपत्यान्यसौ तस्यां जनयामास गोपतिः ।
द्वौ पुत्त्रौ सुमहाभागौ कन्याञ्च यमुनां नदीम् ॥
मनुर्व्वैवस्वतो ज्येष्ठः श्राद्धदेवः प्रजापतिः ।
तेषां यमो यमी चैव यमलौ संबभूवतुः ॥
तत्तेजोऽभ्यधिकं चैव मार्त्तण्डस्य विवस्वतः ।
असहन्ती तु तत्तेजः स्वां छायां वीक्ष्य साब्रवीत् ॥
संज्ञोवाच ।
अहं यास्यामि भद्रं ते स्वकञ्च भवनं पितुः ।
निर्विकारं त्वयाप्यत्र स्थेयं मच्छासनात् शुभे ॥
इमौ च बालकौ मह्यं कन्या च वरवर्णिनी ।
संभाव्या नैव चाख्येयमिमं भगवते त्वया ॥
छायोवाच ।
आकेशग्रहणाद्देवि आशापान्नैव कर्हिचित् ।
आख्यास्यामि मतं तुभ्यं गम्यतां यत्र वाञ्छितम् ॥
इत्युक्ता छायया संज्ञा जगाम पितृमन्दिरम् ।
तत्रावसत् पितृगृहे कञ्चित् कालं शुभेक्षणा ॥
भर्त्तुः समीपं याहीति पित्रोक्ता सा पुनः पुनः ।
अगच्छद्वडवा भूत्वा कुरून् विप्रोत्तरांस्ततः ॥
तत्र तेपे तपः साध्वी निराहारा महामुने ।
पितुः समीपं यातायाः संज्ञाया वाक्यतत्परा ॥
तद्रूपधारिणी छाया भास्करं समुपस्थिता ।
तस्याञ्च भगवान् सूर्य्यः संज्ञेयमिति चिन्तयन् ॥
तथैव जनयामास पुत्त्रौ द्वौ कन्यकां तथा ।
पूर्व्वजस्य मनोस्तुल्यः सावर्णिस्तेन सोऽभवत् ॥
यस्तयोः प्रथमं जातः पुत्त्रयोर्द्विजसत्तम ।
द्वितीयो योऽभवच्चान्यः स ग्रहोऽभूत् शनैश्चरः ॥
कन्याभूत्तपती या तां वव्रे संवरणो नृपः ।
संज्ञा तु पार्थिवी तेषामात्मजानां यथाकरोत् ॥
स्नेहं न पूर्व्वजातानां तथा कृतवती सती ।
मनुस्तत् क्षान्तवांस्तस्या यमश्चास्या न चक्षमे ॥
बहुशः पीड्यमानस्तु पितुः पत्न्या सुदुःखितः ।
स वै कोपाच्च बाल्याच्च भाविनोऽर्थस्य वै बलात् ॥
पदा संतर्ज्जयामास छायां संज्ञासुतो यमः ।
तं शशाप ततः क्रुद्धा संज्ञा सा पार्थिवी भृशम् ॥
छायोवाच ।
पदा तर्ज्जयसे यस्मात् पितृभार्य्यां गरीयसीम् ।
तस्मात्तवैष चरणः पतिष्यति न संशयः ॥
यमस्तु तेन शापेन भृशं पीड़ितमानसः ।
मनुना सह धर्म्मात्मा सर्व्वं पित्रे न्यवेदयत् ॥
यम उवाच ।
स्नेहेन तुल्यमस्मासु माता देव न वर्त्तते ।
विसृज्य ज्यायसोऽस्मान् कनीयांसो बुभूषति ॥
तस्या मयोद्यतः पादो न तु देहे निपातितः ।
बाल्याद्वा यदि वा मोहात् तद्भवान् क्षन्तुमर्हसि ॥
शप्तोऽहं तात कोपेन जनन्या तनयो यतः ।
ततो न मन्ये जननीममेषां तपतां वर ॥
निर्गुणेष्वपि पुत्त्रेषु न माता निर्गुणा भवेत् ।
पादस्ते पततां पुत्त्र कथमेतत्त्वयोदितम् ॥
तव प्रसादाच्चरणो न पतेत् भगवन् यथा ।

माहशापाद्यं मेऽद्य तथा चिन्तय गोपते ॥
रविरुवाच ।
असंशयमिदं पुत्त्र भविष्यत्यत्र कारणम् ।
येन त्वामाविशत् क्रोधो धर्म्मज्ञं सत्यवादिनम् ॥
सर्व्वेषामेव शापानां प्रतिघातो हि विद्यते ।
न तु मात्राभिशप्तानां क्वचिच्छापनिवर्त्तनम् ॥
न शक्यमेतन्मिथ्या तु कर्त्तुं मातुर्व्वचस्तव ।
किं चित्ते संविधास्यामि पुत्त्रस्नेहादनुग्रहम् ॥
कृमयो मांसमादाय प्रयास्यन्ति महीतलम् ।
कृतं तस्या वचः सत्यं त्वञ्च त्राता भविष्यसि ॥
मार्कण्डेय उवाच ।
आदित्यस्त्वब्रवीच्छायां किमर्थं तनयेषु वै ।
तुल्येष्वप्यधिकः स्नेह एकत्र क्रियते त्वया ॥
नूनं न चैषां जननी संज्ञा कापि त्वमागता ।
विगुणेष्वप्यपत्येषु माता शापं न दास्यति ॥
सा तत् परिहरन्तीव नाचचक्षे विवस्वतः ।
स चात्मानं समाधाय युक्तस्तत्त्वमवैक्षत ॥
तं शप्तुमुद्यतं दृष्ट्वा छायासंज्ञा दिनाधिपम् ।
भयेन कम्पिता ब्रह्मन् यथावृत्तं न्यवेदयत् ॥
विवस्वांस्तु तदा क्रुद्धः श्रुत्वा श्वशुरमभ्यगात् ।
स चापि तं यथान्यायमर्च्चयित्वा दिवाकरम् ।
निर्द्दग्धुकामं रोषेण शान्तयामास सुव्रतः ॥
विश्वकर्म्मोवाच ।
तवातितेजसा व्याप्तमिदं रूपं सुदुःसहम् ।
असहन्ती ततः संज्ञा वने चरति वै तपः ॥
द्रक्ष्यते तां भवानद्य स्वां भार्य्यां शुभचारिणीम् ।
रूपार्थं भवतोऽरण्ये चरन्तीं सुमहत्तपः ॥
मतं मे ब्रह्मणो वाक्यात् यदि ते देव रोचते ।
रूपं निवर्त्तयाम्यद्य तव कान्तं दिवस्पते ॥
मार्कण्डेय उवाच ।
यतो हि भास्वतो रूपं प्रागासीत् परि-
मण्डलम् ।
ततस्तथेति तं प्राह त्वष्टारं भगवान् रविः ॥
विश्वकर्म्मा त्वनुज्ञातः शाकद्वीपे विवस्वतः ।
भ्रमिमारोप्य तत्तेजः शातनायोपचक्रमे ॥
देवाश्च ब्रह्मणा सार्द्धं भास्वन्तमभितुष्टुवुः ।
लिख्यमानं सहस्रांशुं प्रणेमुः सर्व्वदेवताः ॥
ततः कोलाहले तस्मिन् सर्व्वदेवसमागमे ।
तेजसः शातनं चक्रे विश्वकर्म्मा शनैः शनैः ॥”
इति मार्कण्डेयपुराणे सूर्य्यतेजःशातनम् ॥*॥
“शातितं चास्य यत्तेजस्तेन चक्रं विनिर्म्मितम् ।
विष्णोः शूलञ्च सर्व्वस्य शिविका धनदस्य च ॥
दण्डः प्रेतपतेः शक्तिर्देवसेनापतेस्तथा ।
अन्येषाञ्चैव देवानामायुधानि स विश्वकृत् ।
चकार तेजसा भानोर्भासुराण्यरिशान्तये ॥
इति शातिततेजाः स श्वशुरेणातिशोभनम् ।
वपुर्दधार मार्त्तण्डः पुष्पचापमनोरमम् ॥
स ददर्श समाधिस्थां स्वां भार्य्यां वड़वाकृतिम् ।
अधृष्यां सर्व्वभूतानां तपसा नियमेन च ॥
ततो जगाम भास्वान् वै संज्ञा यत्र व्यवस्थिता ॥
सा च दृष्ट्वा समायान्तं परपुंसो विशङ्कया ।
जगाम संमुखं तस्य पृष्ठरक्षणतत्परा ॥
ततश्च नासिकायोगात् तयोस्तत्र समेतयोः ।
नासत्यदस्रौ तनयावश्ववक्त्राद्विनिर्गतौ ॥
रेतसोऽन्ते च रेवन्तः खड्गी धन्वी तनुत्रधृक् ।
अश्वारूढ़ः समुत्पन्नो बाणतूणसमन्वितः ॥
ततः स्वरूपमतुलं दर्शयामास भानुमान् ।
तस्याथ सा समालोक्य स्वरूपं मुदमाददौ ॥
स्वरूपधारिणीं चैनामानिनाय निजालयम् ।
संज्ञां भार्य्यां प्रीतिमतीं भास्करो वारितस्करः ॥
ततः पूर्व्वसुतो योऽस्याः सोऽभूद्वैवस्वतो मनुः ।
द्वितीयश्च यमः शापात् पापदर्शनतत्परः ॥
कृमयो मांसमादाय पादतस्ते महीतलम् ।
पतिष्यन्तीति शापान्तं तस्य चक्रे पिता स्वयम् ॥
धर्म्मदृष्टिर्यतश्चासौ समो मित्रे तथाहिते ।
ततो नियोगे तं याम्ये चकार तिमिरापहः ॥
यमुनाञ्च नदीं चक्रे कलिन्दान्तरवाहिनीम् ।
अश्विनौ देवभिषजौ कृतौ पित्रा महात्मना ॥
गुह्यकाधिपतित्वे च रेवन्तो विनियोजितः ॥
रेवन्तमप्याह ततो भगवान् लोकभावनः ।
त्वमप्यशेषलोकस्य पूज्यो वत्स भविष्यसि ॥
अरण्येऽग्नौ महादावे वैरिदस्युभयेषु च ।
त्वां स्मरिष्यन्ति ये मर्त्त्या मोक्ष्यन्ते ते महापदः ॥
क्षेमं वृद्धिं सुखं राज्यं मारोग्यं कीर्त्तिमुन्नतिम् ।
नराणां परितुष्टस्त्वं पूजितः संप्रदास्यसि ॥
छायासंज्ञासुतश्चापि सावर्णः सुमहायशाः ।
भाव्यः सोऽनागते काले मनुः सावर्णिकोऽष्टमः ॥
मेरुपृष्ठे तपो घोरमद्यापि चरति प्रभुः ।
भ्राता शनैश्चरस्तस्य ग्रहोऽभूच्छासनाद्रवेः ॥
यवीयसी च या कन्या तस्य चासीद्द्विजोत्तम ।
अभवत् सा सरिच्छ्रेष्ठा तपती लोकपावनी ॥
यस्तु ज्येष्ठो महाभाग सर्गो तस्येह साम्प्रतम् ।
विस्तरं तस्य वक्ष्यामि मनोर्वैवस्वतस्य ह ॥
य इदं जन्म देवानां शृणुयाद्वा पठेत्तथा ।
विवस्वतस्तु जातानां रवेर्म्माहात्म्यमेव च ।
आपदं प्राप्य मुच्येत प्राप्नुयाच्च महद्यशः ॥
अहोरात्रकृतं पापमेतत् शमयति श्रुतम् ।
माहात्म्यमादिदेवस्य मार्त्तण्डस्य महात्मनः ॥”
इति मार्कण्डेयपुराणे मार्त्तण्डमाहात्म्यनामा-
ध्यायः ॥ अपि च ।
प्रजापाल उवाच ।
“शरीरस्य कथं मूर्त्तिग्रहणं ज्योतिषो द्विज ।
एतन्मे संशयं छिन्धि प्रणतस्य द्विजोत्तम ॥
महातपा उवाच ।
योऽसावात्मा ज्ञानशक्तिरेक एव सनातनः ।
स द्वितीयं-यदा चैच्छत् तदा तेजः समुत्थितम् ॥
तत् सूर्य्य इति भास्वांस्तु अन्योन्येन महात्मनः ।
लोलीभूतानि तेजांसि भासयन्ति जगत्त्रयम् ॥
तस्मिन् सर्व्वे सुराः सिद्धा गणाः सर्व्वे मह-
र्षिभिः ।
स्वयं भूता इति विभो तस्मात् सूर्य्यस्तु सोऽभवत् ॥
लोलीभूतस्य तस्याशु तेजसोऽभूच्छरीरकम् ।
पृथक्त्वेन रविः सोऽथ कीर्त्त्यते वेदवादिभिः ॥
भासयन् सर्व्वलोकांस्तु यतोऽसावुत्थितो दिवि ।
अतोऽसौ भास्करः प्रोक्तः प्राकाश्यात् प्रभाकरः ।
दिवा दिवस इत्युक्तस्तत्कारित्वाद्दिवाकरः ।
सर्व्वस्य जगतस्त्वादिरादित्यस्तेन उच्यते ॥
एतस्य द्वादशादित्याः संभूतास्तेजसा पृथक् ।
प्रधान एक एवायं जगत्सु परिवर्त्तते ॥
तं दृष्ट्वा जगतो व्याप्तिं कुर्व्वाणं परमेश्वरम् ।
तस्यैवान्तःस्थिता देवा विनिष्क्रम्य स्तुतिं जगुः ॥”
इति वाराहे आदित्योत्पत्तिनामाध्यायः ॥*॥
उत्तरायणदक्षिणायनयोरनुलोमप्रतिलोमं गम्य-
यानि मण्डलानि प्रतिमासं सूर्य्यभ्रमणाधिकारि-
गणाश्च यथा,—
“अशीतिमण्डलशतं काष्ठयोरन्तरं द्वयोः ।
आरोहणावरोहाभ्यां भानोरब्देन या गतिः ॥
स रथोऽधिष्ठितो देवैरादित्यैरृषिभिस्तथा ।
गन्धर्व्वैरप्सरोभिश्च ग्रामणीसर्पराक्षसैः ॥
धाता कृतस्थला चैव पुलस्त्यो वासुकिस्तथा ।
रथकृद्ग्रामणीर्हेतिस्तुम्बुरुश्चैव सप्तमः ॥
एते वसन्ति वै चैत्रे मधुमासे सदैव हि ।
मैत्रेय स्यन्दने भानोः सप्त मासाधिकारिणः ॥
अर्य्यमा पुलहश्चैव रथौजाः पुञ्जिकस्थला ।
प्रहेतिः कच्छवीरश्च नारदश्च रथे रवेः ।
माधवे निवसन्त्येते शुचिसंज्ञे निबोध मे ॥
मित्रोऽत्रिस्तक्षको रक्षः पौरुषेयोऽथ मेनका ।
हाहा रथस्वनश्चैव मैत्रेयैते वसन्ति वै ॥
वशिष्ठो वरुणो रम्भा सहजन्यो हुहूर्बुधः ।
रथचित्रस्तथा शुक्रे वसन्त्याषाढ़संज्ञिते ॥
इन्द्रो विश्वावसुः स्रोत एलापत्रस्तथाङ्गिराः ।
प्रम्लोचा च नभस्येते सर्पश्चार्के वसन्ति हि ॥
विवस्वानुग्रसेनश्च भृगुरापूरणस्तथा ।
अनुम्लोचा शङ्खपालश्च व्याघ्रो भाद्रपदे तथा ॥
पूषा च सुरुचिर्व्वातो गौतमोऽथ धनञ्जयः ।
सुषेणोऽन्यो घृताची च वसन्त्याश्वयुजे रवौ ॥
विश्वावसुर्भरद्वाजः पर्ज्जन्यैरावतौ तथा ।
विश्वाचीसेनजित्संज्ञौ कार्त्तिके चाधिकारिणः ॥
अंशुकश्यपतार्क्ष्यास्तु महापद्मस्तथोर्व्वशी ।
चित्रसेनस्तथा विद्युत् मार्गशीर्षाधिकारिणः ॥
क्रतुर्भगस्तथोर्णायुस्स्फूर्ज्जः कर्कोटकस्तथा ।
अरिष्टनेमिश्चैवान्या पूर्व्वचित्तिर्व्वराप्सराः ।
पौषमासे वसन्त्येते सप्त भास्करमण्डले ॥
लोकप्रकाशनार्थाय विप्रवर्य्याधिकारिणः ।
त्वष्टा च जमदग्निश्च कम्बलोऽथ तिलोत्तमा ।
ब्रह्मापेतोऽथ ऋतजित् धृतराष्ट्रश्च सप्तमः ।
माघमासे वसन्त्येते सप्त मैत्रेय भास्करे ॥
श्रूयतां चापरे सूर्य्ये फाल्गुने निवसन्ति ये ।
विष्णुरश्वतरो रम्भा सूर्य्यवर्च्चाश्च सत्यजित् ॥
विश्वामित्रस्तथा रक्षो यज्ञापेतो महामुने ।
मासेष्वेतेषु मैत्रेय वसन्त्येते तु सप्तकाः ॥
सवितुर्मण्डले ब्रह्मन् विष्णुशक्त्युपबृंहिताः ।
स्तुवन्ति मुनयः सूर्य्यं गन्धर्व्वैर्गीयते पुरः ॥
नृत्यन्त्यप्सरसो यान्ति सूर्य्यस्यानु निशाचराः ।
वहन्ति पन्नगा यक्षः क्रियतेऽभीषु संग्रहः ॥
बालखिल्यास्तथैवेनं परिवार्य्य समासते ।

सोऽयं सप्तगणः सूर्य्यमण्डले मुनिसत्तम ।
हिमोष्णवारिवृष्टीनां हेतुत्वं समुपागतः ॥”
इति विष्णुपुराणे २ अंशे १० अध्यायः ॥ * ॥
सूत उवाच ।
“एवमेष महादेवो देवदेवः पितामहः ।
करोति नियतं कालं कालात्मा ह्यैश्वरी तनुः ॥
तस्य ये रश्मयो विप्राः सर्व्वलोकप्रदीपकाः ।
तेषां श्रेष्ठाः पुनः सप्त रश्मयो ग्रहयोनयः ॥
सुषुम्नो हरिकेशश्च विश्वकर्म्मा तथैव च ।
विश्वव्यचाः पुनश्चान्यः सम्पद्वसुरतः परः ।
अर्व्वाग्वसुरिति ख्यातः स्वराडन्यः प्रकीर्त्तितः ॥
सुषुम्नः सूर्य्यरश्मिस्तु पुष्णाति शिशिरद्युतिम् ।
तिर्य्यगूर्द्ध्वप्रचारोऽसौ सुषुम्नः परिगीयते ॥
हरिकेशस्तु यः प्रोक्तो रश्मिर्नक्षत्रपोषकः ।
विश्वकर्म्मा तथा रश्मिर्बुधं पुष्णाति सर्व्वदा ॥
विश्वव्यचास्तु यो रश्मिः शुक्रं पुष्णाति नित्यदा ।
सम्पद्वसुरिति ख्यातः स पुष्णाति च लोहितम् ॥
बृहस्पतिं प्रपुष्णाति रश्मिरर्व्वाग्वसुः प्रभोः ।
शनैश्चरं प्रपुष्णाति सप्तमश्च स्वराट् तथा ॥
एवं सूर्य्यप्रभावेन सर्व्वा नक्षत्रतारकाः ।
वर्द्धन्ते वर्द्धिता नित्यं नित्यमाप्याययन्ति च ॥
दिव्यानां पार्थिवानाञ्च नैशानाञ्चैव सर्व्वशः ।
आदानान्नित्यमादित्यस्तेजसां तमसां प्रभुः ।
आदत्ते स तु नाडीनां सहस्रेण समन्ततः ॥
नादेयांश्चैव सामुद्रान् कूपांश्चैव सहस्रशः ।
स्थावरान् जङ्गमांश्चैव यच्च कुल्यादिकं पयः ॥
तस्य रश्मिसहस्रन्तु शीतवर्षोष्णनिस्रवम् ।
तासां चतुःशतं नाड्यो वर्षन्ते चित्रमूर्त्तयः ॥
छन्दनाश्चैव याज्याश्च केतना भूतनास्तथा ।
अमृता नाम ताः सर्व्वा रश्मयो वृष्टिसर्ज्जनाः ॥
हिमोद्वहाश्च तामस्यो रश्मयस्त्रिशतं पुनः ।
रश्म्यो मेष्यश्च पैष्यश्च ह्लादिन्यो हिमसर्ज्जनाः ॥
चन्द्रास्ता नामतः सर्व्वाः पीताभाः स्युर्गभस्तयः ।
शुक्राश्च ककुभश्चैव गावो विश्वभृतस्तथा ॥
शुक्रास्ता नामतः सर्व्वास्त्रिविधा घर्म्मसर्ज्जनाः ।
समं बिभर्त्ति ताभिः स मनुष्यपितृदेवताः ॥
मनुष्यानौषधेनेह स्वधया च पितॄनपि ।
अमृतेन सुरान् सर्व्वान् तिसृभिस्तर्पयत्यसौ ॥
वसन्ते ग्रैष्मिके चैव शतैः सन्तपति त्रिभिः ।
शरद्यपि च वर्षासु चतुर्भिः सम्प्रवर्षति ।
हेमन्ते शिशिरे चैव हिममुत्सृजति त्रिभिः ॥
वरुणो माघमासे तु सूर्य्यः पूषा तु फाल्गुने ।
चैत्रे मासि भवेदंशो धाता वैशाखतापनः ॥
ज्यैष्ठमूले भवेदिन्द्र आषाढे सविता रविः ।
विवस्वान् श्रावणे मासि प्रोष्ठपद्यां भगः स्मृतः ॥
पर्जन्योऽश्वयुजि त्वष्टा कार्त्तिके मासि भास्करः ।
मार्गशीर्षे भवेन्मित्रः पौषे विष्णुः सनातनः ॥
पञ्चरश्मिसहस्राणि वरुणस्यार्ककर्म्मणि ।
षड्भिः सहस्रैः पूषा तु देवोंऽशः सप्तभिस्तथा ॥
धाताष्टभिः सहस्रैस्तु नवभिस्तु शतक्रतुः ।
विवस्वान् दशभिः पाति पात्येकादशभिर्भगः ॥
सप्तभिस्तपते मित्रस्त्वष्टा चैवाष्टभिस्तपेत् ।
अर्य्यमा दशभिः पाति पर्ज्जन्यो नवभिस्तपेत् ।
षड्भी रश्मिसहस्रैस्तु मित्रस्तपति विश्वधृक् ॥
वसन्ते कपिलः सूर्य्यो ग्रीष्मे काञ्चनसप्रभः ।
श्वेतो वर्षासु वर्णेन पाण्डरः शरदि प्रभुः ॥
हेमन्ते ताम्रवर्णः स्यात् शिशिरे लोहितो रविः ।
ओषधीषु बलं धत्ते स्वधामपि पितृष्वथ ॥
सूर्य्योऽमरत्वममृतत्रयं त्रिषु नियच्छति ।
अन्ये चाष्टौ ग्रहा ज्ञेयाः सूर्य्ये चाधिष्ठिता
द्विजाः ॥
चन्द्रमाः सोमपुत्रश्च शुक्रश्चैव बृहस्पतिः ।
भौमो मन्दस्तथा राहुः केतुमानपि चाष्टमः ॥
सर्व्वे ध्रुवे निबद्धा वै ग्रहास्ते वातरश्मिभिः ।
भ्राम्यमाणा यथायोगं भ्रमन्त्यनु दिवाकरम् ॥
अलातचक्रवद्यान्ति वातचक्रेरिता द्विजाः ।
यस्माद्वहति तान् वायुः प्रवहस्तेन वै स्मृतः ॥ *
रथस्त्रिचक्रः सोमस्य कुन्दाभास्तस्य वाजिनः ।
वामदक्षिणतो युक्ता दश तेन निशाकरः ॥
वीथ्याश्रयाणि चरति नक्षत्राणि रविर्यथा ।
ह्रासवृद्धी च विप्रेन्द्रा ध्रुवाधाराणि सर्व्वदा ॥
स सोमः शुक्लपक्षे तु भास्करे परतस्थिते ।
आपूर्य्यते परोऽस्यान्तः सततं दिवसक्रमात् ॥
क्षीणोऽपि तं सुरैः सोममाप्याययति नित्यदा ।
एकेन रश्मिना विप्राः सुषुम्नाख्येन भास्करः ॥
एषा सूर्य्यस्य वीर्य्येण सोमस्याप्यायिता तनुः ।
पौर्णमास्यां स दृश्येत संपूर्णो दिवसक्रमात् ॥
संपूर्णमर्द्धमासेन तं सोमममृतात्मकम् ।
पिबन्ति देवता विप्रा यतस्तेऽमृतभोजनाः ॥
ततः पञ्चदशे भागे किञ्चिच्छिष्टे कलात्मके ।
अपराह्णे पितृगणाः स जघन्यां पर्य्युपासते ॥
पिबन्ति द्विकलं कालं शिष्टा तस्य कला तु या ।
स्वधामृतमयीं पुण्यां तामिन्दोरमृतात्मिकाम् ॥
निःसृतं तदमावास्यां गभस्तिभ्यः स्वधामृतम् ।
मासतृप्तिमवाप्याग्र्यां पितरः सन्ति निर्वृताः ॥
न सोमस्य विनाशः स्यात् सुधा देवैस्तु पीयते ।
एवं सूर्य्यनिमित्तोऽस्य क्षयो वृद्धिश्च सत्तमाः ॥”
इति कौर्म्मे ४० अध्यायः ॥ * ॥
अस्य भार्य्यापत्यानि यथा ।
सूत उवाच ।
“अदितिः सुषुवे पुत्त्रमादित्यं कश्यपात् प्रभुम् ।
तस्यादित्यस्य चैवासीद्भार्य्याणान्तु चतुष्टयम् ॥
संज्ञा राज्ञी प्रभा छाया पुत्त्रांस्तासां निबोधत ॥
संज्ञा त्वाष्ट्री तु सुषुवे सूर्य्यान्मनुमनूत्तमम् ।
यमञ्च यमुनाञ्चैव राज्ञी रैवन्तमेव च ॥
प्रभा प्रभातमादित्याच्छाया सावर्णिमात्मजम् ।
शनिञ्चैव तपतीञ्च विष्टिञ्चैव यथाक्रमम् ॥”
इति कौर्म्मे २० अध्यायः ॥ * ॥
तस्य मण्डलपरिमाणं यथा,—
सूत उवाच ।
“सूर्य्याचन्द्रमसावेतौ भ्रमतो यावदेव तु ।
सप्तानाञ्च समुद्राणां द्वीपानाञ्चापि विस्तरः ॥
विस्तारार्द्धं पृथिव्यास्तु भवेदन्यत्र बाह्यतः ।
पर्य्यासपारिमाण्यात्तु चन्द्रादित्यौ प्रकाशतः ॥
पर्य्यासपारिमाण्यैस्तु बुधैस्तुल्यं दिवं स्मृतम् ।
अवतीमांस्त्रयो लोकान् यस्मात् सूर्य्यः परि-
भ्रमात् ॥
अविरात्त प्रकाशे तु अवनात् स रविः स्मृतः ।
तयोर्भूयः प्रवक्ष्यामि प्रमाणं चन्द्रसूर्य्ययोः ॥
महितत्वान्महीशब्दो यस्मिन्नर्थे निपात्यते ।
अस्य भारतवर्षस्य विष्कम्भात्तुल्यविस्तृतम् ।
मण्डलं भास्करस्याथ योजनैस्तन्निबोधत ।
नवयोजनसाहस्रो विस्तारो मण्डलस्य तु ॥
विस्तारात्त्रिगुणश्चापि परिणाहोऽत्र मण्डले ।
विष्कम्भमण्डलाच्चैव भास्करात् द्विगुणः शशी ॥”
तस्य गतिनिरूपणं यथा,—
“मानसस्योत्तरे पृष्ठे लोकपालाश्चतुर्द्दिशम् ।
स्थिता धर्म्मव्यवस्थार्थं लोकसंरक्षणाय च ॥
लोकपालोपरिष्टात्तु सर्व्वतो दक्षिणायने ।
काष्ठागतस्य सूर्य्यस्य गतिस्तस्य निबोधत ॥
दक्षिणोपक्रमः सूर्य्यः क्षिप्तेषुरिव सर्पति ।
ज्योतिषां चक्रमादाय सततं परिगच्छति ॥
मध्यतश्चामरावत्यां यदा भवति भास्करः ।
वैवस्वते संयमने ऊर्द्ध्वं तत्र प्रदृश्यते ॥
सुखायामर्द्धरात्रन्तु विभावर्य्यस्तमेति च ।
वैवस्वते संयमने मध्याह्ने तु रविर्यदा ॥
सुखायामथ वारुण्यामुत्तिष्ठन् स तु दृश्यते ।
विभावर्य्यामर्द्धरात्रं माहेन्द्र्यामस्तमेति च ॥
सुखायामथ वारुण्यां मध्याह्ने चार्य्यमा यदा ।
विभावर्य्यां सोमपुर्य्यां उत्तिष्ठति विभावसुः ॥
रात्र्यर्द्धं चामरावत्यामस्तमेति यमस्य च ।
सोमपुर्य्यां विभावर्य्यां मध्याह्ने चार्य्यमा यदा ॥
अमरावत्यां महेन्द्रस्य तत्रच्छति दिवाकरः ।
अर्द्धरात्रं संयमने वारुण्यामस्तमेति च ॥
सुशीघ्रमेव पर्य्येति भास्करोऽलातचक्रवत् ।
भ्रमन् वै भ्रममाणानि ऋक्षाणि चरते रविः ॥
एवं चतुर्षु पार्श्वेषु दक्षिणान्तेषु सर्पति ।
उदयास्तमये चासावुत्तिष्ठति पुनः पुनः ॥
पूर्व्वाह्णे चापराह्णे तु द्वौ द्वौ देवालयौ तु सः ।
तपत्येकञ्च मध्याह्ने ताभिरेव च रश्मिभिः ॥
उदितो वर्द्धमानाभिर्म्मध्याह्ने तपते रविः ।
अतः परं ह्रसन्तीभिर्गोभिरस्तं नियच्छति ॥
उदयास्तमयाभ्याञ्च स्मृते पूर्व्वापरे तु वै ।
यावत् पुरस्तात्तपति तावत् पृष्ठेऽथ पार्श्वयोः ॥
यैरर्को यत्र दृश्येत तेषां स उदयः स्मृतः ।
प्रणाशं गच्छते यत्र तेषामस्तः स उच्यते ॥
सर्व्वेषामुत्तरे मेरुर्लोकालोकश्च दक्षिणे ।
विदूरभावादर्कस्य भूमेर्लेखागतस्य च ॥
शियन्ते रश्मयो यस्मात्तेन रात्रौ न दृश्यते ।
ऊर्द्ध्वं शतसहस्रन्तु स्थितस्तत्र प्रदृश्यते ॥
एवं पुष्करमध्येन यदा भवति भास्करः ।
त्रिंशद्भागन्तु मेदिन्या मुहूर्त्तेन स गच्छति ॥
योजनाग्रां मुहूर्त्तस्य इमां संख्यां निबोधत ।
पूर्णं शतसहस्राणामेकत्रिंशत्तु ताः स्मृताः ॥
पञ्चाशच्च सहस्राणि तथान्यान्यधिकानि च ।
मौहूर्त्तिकी गतिर्ह्येषा सूर्य्यस्य तु विधीयते ॥

एतेन गतियोगेन यदा काष्ठान्तु दक्षिणाम् ।
पर्य्यागच्छत् पतङ्गोऽसौ मानकोष्ठेऽन्तरेऽहनि ॥
मध्येन पुष्करस्याथ भ्रमते दक्षिणायने ।
मानसोत्तरमेरोस्तु अन्तरं त्रिगुणन्तु तत् ॥
सर्पतो दक्षिणायान्तु काष्ठायान्तु निबोधत ।
नवकोट्यः प्रसंख्याता योजनैः परिमण्डलम् ॥
तथा शतसहस्राणि चत्वारिंशच्च पञ्च च ।
अहोरात्रात् पतङ्गस्य गतिरेषा विधीयते ॥
दक्षिणाद्विनिवृत्तोऽसौ विषुवस्थो यदा रविः ।
क्षीरोदस्य समुद्रस्य उत्तरातो दिशश्चरन् ।
मण्डलं विषुवच्चापि योजनैस्तन्निबोधत ॥
तिस्रः कोट्यस्तु संपूर्णा विषुवस्याथ मण्डलम् ।
तथा शतसहस्राणां विंशत्येकाधिका पुनः ॥
श्रावणे चोत्तरां काष्ठां चित्रभानुर्यदा भवेत् ।
गोमेदकस्य द्वीपस्य उत्तरान्तु दिशश्चरन् ॥
उत्तरायाः प्रमाणन्तु काष्ठाया मण्डलस्य तु ।
दक्षिणोत्तरमध्यानि तानि विद्याद् यथाक्रमम् ॥
स्थानं जरद्गवं मध्ये तथैरावतमुत्तमम् ।
वैश्वानरं दक्षिणतो निर्दिष्टमिह तत्त्वतः ॥
नागवीथ्युत्तरा वीथी अजवीथीश्च दक्षिणे ।
उभे आषाढ़मूलन्तु अजवीथ्युदयास्त्रयः ॥
अभिजित् पूर्व्वतः स्वाती नागवीथ्युत्तरास्त्रयः ।
अश्विनी कृत्तिका याम्या नागवीथ्युत्तरा स्मृता ॥
रोहिण्यार्द्रा मृगशिरो नागवीथीरिति स्मृता ।
पुष्याश्लेषा पुनर्व्वसुर्वीथीरैरावती स्मृता ॥
तिस्रस्तु वीथयो ह्येता उत्तरो मार्ग उच्यते ।
पूर्व्वा उत्तरफल्गुन्योर्मघा चैवार्षभी भवेत् ॥
पूर्व्वोत्तरे प्रोष्ठपदे गोवीथी रेवती स्मृता ।
श्रवणा च धनिष्ठा च वारुणञ्च जरद्गवम् ।
एताश्च वीथयस्तिस्रो मध्यमो मार्ग उच्यते ॥
हस्ता चित्रा तथा स्वाती नागवीथीरिति
स्मृता ।
विशाखमित्रपैत्रञ्च नागवीथीरिहोच्यते ॥
मूलपूर्व्वोत्तराषाढ़ा विथीर्व्वैश्वानरी तथा ।
स्मृतास्तिस्रस्तु वीथ्यस्ता मार्गे वै दक्षिणे बुधैः ॥
काष्ठयोरन्तरं ह्येतद् वक्ष्यन्ते योजनैः पुनः ।
एतच्छतसहस्राणामेकत्रिंशत्तु वै स्मृतम् ॥
शतानि त्रीणि चान्यानि त्रयस्त्रिंशच्च योजनैः ।
काष्ठयोरन्तरं ह्येवं योजनाग्रात् प्रकीर्त्तितम् ॥
काष्ठयोर्लेखयोश्चैव अयने दक्षिणोत्तरे ।
ते वक्ष्यामि प्रसंख्याय योजनैस्तु निबोधत ॥
एकैकमन्तरन्तद्वै युक्तान्येतानि सप्ततिः ।
सहस्रैरतिरिक्ता च ततोऽन्या पञ्चविंशतिः ॥
लेखयोः काष्ठयोश्चैव बाह्याभ्यन्तरयोश्चरन् ।
अभ्यन्तरं स पर्य्येति मण्डलान्युत्तरायणम् ॥
बाह्यतो दक्षिणेनैव सततं सूर्य्यमण्डलम् ।
चरत्यसौ प्रतीच्यान्तु त्र्यशीतिमण्डलं शतम् ॥
तदिष्टे दक्षिणे तावत् भ्रमते मण्डलानि तु ।
प्रमाणं मण्डलस्यापि योजनाग्रान्निबोधत ॥
योजनानां सहस्राणि दश चाष्टौ ततः स्मृतः ।
अधिकान्यष्टपञ्चाशत् योजनानि च वै पुनः ॥
विष्कम्भो मण्डलस्यैतत्तिर्य्यक् स तु विधीयते ।
अहस्तु चरते नाभिं सूर्य्यो वै मण्डलक्रमात् ॥
कुलालचक्रपर्य्यन्तं यथा रविः शशी तथा ।
दक्षिणे चक्रवत् सूर्य्यस्तथा शीघ्रं निवर्त्तते ॥
तस्मात् प्रकृष्टां भूमिन्तु कालेनाल्पेन गच्छति ।
सूर्य्यो द्वादशभिः शीघ्रं मुहूर्त्तैर्दक्षिणायने ॥
त्रयोदशार्द्धमृक्षाणां मध्ये चान्तरमण्डलम् ।
मुहूर्त्तैस्तानि ऋक्षाणि नक्तमष्टादशैश्चरन् ॥
कुलालचक्रमध्यस्थो यथामन्दं प्रसर्पति ।
उदगयने तथा सूर्य्यः स सर्पेत् मन्दविक्रमः ॥
तस्मात् दीर्घेण कालेन भूमिं सोऽल्पां प्रसर्पति ।
सूर्य्योऽष्टादशभिर्वह्नी मुहूर्त्तैरुदगायने ॥
त्रयोदशानां मध्ये तु ऋक्षाणां चरते रविः ।
मुहूर्त्तैस्तानि ऋक्षाणि रात्रौ द्वादशभिश्चरम् ॥
ततो मन्दतरं ताभ्यां चक्रन्तु भ्रमतां पुनः ।
मृत्पिण्ड इव मध्यस्थो भ्रमतेऽसौ ध्रुवस्तथा ॥
मुहूर्त्तैस्तावत् त्रिंशद्भिरहोरात्रं ध्रुवं भ्रमन् ।
उभयोः काष्ठयोर्म्मध्ये भ्रमते मण्डलानि तु ॥
उत्तरे प्रक्रमेऽर्कस्य दिवा मन्दगतिः स्मृता ।
तस्यैव तु पुनर्नक्तं शीघ्रा सूर्य्यस्य वै गतिः ॥
दक्षिणे क्रमणे चापि दिवा शीघ्रं विधीयते ।
गतिः सूर्य्यस्य वै नक्तं मन्दा चापि पुनः स्मृता ॥
एवं गतिविशेषेण विभजन्रात्र्यहानि तु ।
अजवीथ्या दक्षिणं यल्लोकालोकस्य चोत्तरम् ॥
लोकसन्तानको ह्येष वैश्वानरपथाद्बहिः ।
व्युष्टा यावत् प्रभा सौरी पुष्करात् संप्रकाशते ।
पार्श्वेभ्यो बाह्यतस्तावत् लोकालोकस्तु पर्व्वतः ॥
योजनानां सहस्राणि दशोर्द्धं चोच्छ्रितो गिरिः ।
प्रकाशश्चाप्रकाशश्च सर्व्वतः परिमण्डलः ॥
नक्षत्रचन्द्रसूर्य्याश्च ग्रहास्तारागणैः सह ।
अभ्यन्तरे प्रकाशन्ते लोकालोकस्य वै गिरेः ॥”
इति मात्स्ये १०१ अध्यायः ॥
अस्य राहुग्रस्तत्वादिकारणं यथा,—
नन्द उवाच ।
“ राहुग्रस्तः कथं सूर्य्यश्चन्द्रो वापि जगत्प्रभो ॥
नष्टश्च कथं भाद्रे चतुर्थ्याञ्च सितासिते ।
वेदानां जनकस्त्वञ्च कं पृच्छामि त्वया विना ॥
श्रीभगवान् उवाच ।
शृणु नन्द प्रवक्ष्यामि कथामेतां पुरातनीम् ।
यां श्रुत्वा निष्कलङ्कश्च तीर्थस्नायी भवेन्नरः ॥
एकदा यमदग्निश्च महाकौतूहलान्वितः ।
रेणुकासहितस्तुष्टो जगाम नर्म्मदातटम् ।
निर्ज्जने नर्म्मदातीरे विजहार तया सह ॥
चन्दनोक्षितसर्व्वाङ्गं वक्षमालाधरं मुनिम् ।
महारासरसाढ्यं तमुवाच भास्करः स्वयम् ॥
वेदकर्त्तुः प्रपौत्रस्त्वं ब्रह्मणश्च जगत्पतेः ।
चतुर्व्वेदविधेयेषु मुनिश्रेष्ठः सदा शुचिः ॥
वेदप्रणिहितो धर्म्मो ह्यधर्म्मस्तद्विपर्य्ययः ।
धर्म्मं त्यजति धर्म्मज्ञो अधर्म्मेण रतः कथम् ॥
दिवामैथुनदोषञ्च वक्ति वेदो विशेषतः ।
अहञ्च कर्म्मणां साक्षी तेन त्वां कथयामि ते ॥
सूर्य्यस्य वचनं श्रुत्वा तत्याज मैथुनं द्विजः ॥
दृष्ट्वा पुरो विप्ररूपं सूर्य्यं तेजस्विनं सुरम् ।
उवाच सूर्य्यं रक्तास्यः कोपलज्जासमन्वितः ॥
रेणुका लज्जिता तत्र विधाय वाससी सती ॥
यमदग्निरुवाच ।
अद्य मे निर्ज्जनस्थाने रसभङ्गस्त्वया कृतः ।
मम शापात् पापदृष्टो राहुग्रस्तो भविष्यसि ॥
द्रष्टुं त्वां मेघगणाः सर्व्वे दूरीभूता भवन्ति ते ।
त्वामाच्छन्नं करिष्यन्ति वायुना प्रेरितास्तथा ॥
स्वतेजसा भवान् गर्व्वी हततेजा भविष्यति ।
मेघाच्छन्नः स्वल्पतेजा राहुग्रस्तो भवान् भव ॥
ब्राह्मणस्य वचः श्रुत्वा भगवान् भास्करः स्वयम् ।
भक्तः पुटाञ्जलिर्भूत्वा तुष्टाव मुनिपुङ्गवम् ॥
सूर्य्य उवाच ।
अहमेव त्वया शप्तो मया शप्तो भवान् भव ।
अन्यथा मां वदन्त्येवं सूर्य्यं निस्तेजसं जनाः ॥
पराभूतः क्षत्त्रियेण भविष्यसि द्विजेश्वरः ।
मरणं क्षत्त्रियात्तेन भवतश्च भविष्यति ॥
सूर्य्यस्य वचनं श्रुत्वा चुकोप ब्राह्मणः पुनः ।
तं शशापातिरक्तास्यः शम्भुना च जितो
भवान् ॥
उभयोः कलहं ज्ञात्वा कश्यपेन सह व्रज ।
आजगाम स्वयं ब्रह्मा विधाता जगतामपि ॥
आगत्य ब्रह्मा संत्रस्तं बोधयामास भास्करम् ।
मुनिश्रेष्ठञ्च धर्म्मज्ञं धर्म्मज्ञानां गुरोर्गुरुः ॥
ब्रह्मोवाच ।
नमस्ते भास्कर त्वञ्च साक्षान्नारायणो भवान् ।
युष्माकं परिपाल्यश्चाप्यवध्यो ब्राह्मणः सदा ॥
अहं करोमि भवतो विप्रशापान्तमुत्तमम् ।
शान्तो भव सुरश्रेष्ठ साक्षी त्वं सर्व्वकर्म्मणाम् ॥
कुत्रचिद्दिवसे ब्रह्मभृतौ त्वं कुत्रचित् क्षणम् ।
भविष्यसि घनाच्छन्नः सद्यो मुक्तो भविष्यसि ॥
न्यूनातिरिक्ते वर्षे वा राहुग्रस्तो भविष्यसि ।
तत्राहृश्यश्च केषाञ्चित् पुण्यदृश्यो हि कस्यचित् ॥
अन्यथा सर्व्वकाले नापुण्यदृश्यो भवान् भुवि ।
त्वां दृष्ट्वा च नमस्कृत्य सर्व्वे निष्पापिणो जनाः ॥
जन्मसप्ताष्टरिप्फाङ्कचतुर्थे दशमे विधौ ।
जन्मर्क्षे निधने नृणां अदृश्यस्त्वं भविष्यसि ॥
अस्तकाले घनाच्छन्ने मध्याह्नस्थे जलेऽपि वा ।
अर्द्धोदिते च काले च पापदृश्यो भविष्यसि ॥
भार्य्यादुःखनिमित्तेन भार्य्यया हेतुभूतया ।
श्वशुरेण शशाङ्केन हततेजा भविष्यसि ॥
अन्यथा तव तेजश्च संज्ञा सहितुमक्षमा ।
मालिसुमालियुद्धे च शम्भुना त्वं पराजितः ॥
इत्येवमुक्त्वा सूर्य्यञ्च बोधयामास ब्राह्मणम् ॥”
इति ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे ।७६।१—५०॥
ब्रह्माण्डपुराणे ५६ अध्यायेऽप्येवमेव ॥
अथ सूर्य्यमन्त्राः ।
“तारो घृणिर्भृगुः पश्चाद्वामकर्णविभूषितः ।
वह्न्यासनो मरुत् शेषः सनेत्रोऽद्रिस्त्वपश्चिमः ।
अष्टाक्षरो मनुः प्रोक्तो भानोरभिमतः परः ॥”
ॐ घृणि सूर्य्य आदित्य । अस्य पूजा । प्रातः
कृत्यादिप्राणायामान्तं विधाय पीठन्यासं कुर्य्यात्
तत्र विशेषः । हृदयस्य पूर्व्वादिदिक्षु मध्ये च ।

प्रभूतं विमलं सारं समाराध्यं परमसुखं विन्यस्य आधारशक्त्यादि ओं सूर्य्यमण्डलाय द्वादशकलात्मने नमः इत्यन्तं विन्यसेत्। तथा च निबन्धे।

"पीठे क्लृप्ते च प्रथमं दिक्षु मध्ये च संयजेत्।
प्रभूतं विमलं सारं समाराध्यमनन्तरम्॥
परमादि सुखं पीठं स्वबिम्बान्तं प्रकल्पयेत्।

ततः केशरेषु मध्ये च वां दीप्तायै नमः॥
एवं वीं सूक्ष्मायै वूं जयायै वें भद्रायै वैं विभूत्यै वों विमलायै वौं अमोघायै वं विद्युतायै वः सर्व्वतोमुख्यै। तथा च निबन्धे।

"दीप्ता सूक्ष्मा जया भद्रा विभूतिर्व्विमला पुनः।
अमोघा विद्युता सर्व्वतोमुखी पीठशक्तयः॥
दीप्तदीपशिखाकारान् बीजन्यासान् विदुः क्रमात्।
अक्लीवह्रस्वचितयस्वरान् बिन्दुविसंयुतान्॥"

तदुपरि ब्रह्मविष्णुशिवात्मकाय सौराय योगपीठाय नमः। तथा च शारदायाम्।

"वदेत् पदं चतुर्थ्यन्तं ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम्।
सौराय योगपीठाय नमःपदमनन्तरम्॥
पीठमन्त्रोऽयमाख्यातो दिनेशस्य जगत्पतेः॥"

तत ऋष्यादिन्यासः। शिरसि देवभागऋषये नमः। मुखे गायत्रीच्छन्दसे नमः। हृदि आदित्याय देवतायै नमः। निबन्धे।

"देवभागो मुनिः प्रोक्तो गायत्री छन्द ईरितम्।
आदित्यो देवता प्रोक्तो दृष्टादृष्टफलप्रदः॥"

ततः कराङ्गन्यासौ। सत्याय तेजोज्वालामणे हूँ फट् स्वाहा अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। एवं ब्रह्मणे १० तर्ज्जनीभ्यां स्वाहा। विष्णवे १० मध्यमाभ्यां वषट्। रुद्राय १० अनामिकाभ्यां हूम्। अग्नये १० कनिष्ठाभ्यां वौषट्। सर्व्वाय १० करतलपृष्ठाभ्यां फट्। एवं हृदयादिषु। तथा च शारदायाम्।

"सत्याय हृदयं प्रोक्तं ब्रह्मणे शिर ईरितम्।
विष्णवे स्याच्छिखावर्म्म रुद्राय परिकीर्त्तितम्॥
अग्नये नेत्रमाख्यातं सर्व्वायास्त्रमुदीरितम्।
तेजोज्वालामणे हूँ फट् द्विठान्ताः परिकीर्त्तिताः॥"

ततो मूर्त्तिन्यासः। यथा शिरसि ॐ आदित्याय नमः। मुखे एं रवये। हृदये ऊं भानवे। गुह्ये इं भास्कराय। चरणयोः अं सूर्य्याय। तथा च निबन्धे।

"आदित्यं विन्यसेन्मूर्ध्नि रविं मुखगतं न्यसेत्।
हृदये भानुनामानं भास्करं गुह्यदेशतः।
सूर्य्यं चरणयोर्न्यस्येद्वर्णैः सत्यादिपञ्चभिः॥"

ततो मन्त्रन्यासः। शिरसि ॐ ॐ नमः। मुखे ॐ घृ नमः। कण्ठे ॐ णि नमः। हृदि ॐ सू नमः। कुक्षौ ॐ र्य्य नमः। नाभौ ॐ आ नमः। लिङ्गे ॐ दि नमः। पादयोः ॐ त्य नमः। तथा च।

"मूर्द्धास्यकण्ठहृदयकुक्षिनाभिध्वजाङ्घ्रिषु।
मन्त्रवर्णान्न्यसेदष्टौ प्रत्येकं प्रणवादिकान्॥"*॥

ततो ध्यानम्।

"रक्ताब्जयुग्माभयदानहस्तं
केयूरहाराङ्गदकुण्डलाढ्यम्।
माणिक्यमौलिं दिननाथमीडे
बन्धूककान्तिं विलसत्त्रिनेत्रम्॥"

एवं ध्यात्वा मानसैः संपूज्य अर्घस्थापनं कृत्वा गुरुपंक्तिं संपूज्य पीठपूजां कुर्य्यात्। ततः खं खखोल्काय नमः। इति मन्त्रेण मूर्त्तिं संकल्प्य पुनर्ध्यात्वा आवाहनादिपञ्चपुष्पाञ्जलिदानपर्य्यन्तं विधायावरणपूजामारभेत्। तथा च निबन्धे।

"तारादि खं खखोल्काय मनुना मूर्त्तिकल्पना।
साक्षिणं सर्व्वलोकानां तस्यामावाह्य पूजयेत्॥"

केशरेष्वग्न्यादिकोणेषु मध्ये दिक्षु च सत्याय तेजोज्वालामणे हूँ फट् स्वाहा हृदयाय नमः। एवं ब्रह्मणे शिरसे स्वाहा। विष्णवे शिखायै वषट्। रुद्राय कवचाय हूम्। अग्नये नेत्रत्रयाय वौषट्। सर्व्वाय अस्त्राय फट्। दिक्पत्रेषु पूर्व्वादि ॐ आदित्याय नमः। एवं एं रवये ऊं भानवे इं भास्कराय। विदिक्पत्रेषु अग्न्यादि उं उषायै पं प्रज्ञायै पं प्रभायै सं सन्ध्यायै। तथा च।

"अङ्गानि पूजयेदादौ दिक्पत्रेष्वर्कमूर्त्तयः।
आदित्याद्यास्ततोऽभ्यर्च्या शक्तयः कोणपत्रगाः॥
स्वस्वनामादिवर्णैः स्युस्तासां बीजान्यनुक्रमात्।
उषा प्रज्ञा प्रभा सन्ध्या शक्तयः परिकीर्त्तिताः॥"

ततः पत्राग्रेषु भास्कराद्याः संपूज्य पुरतोऽरुणमर्च्चयेत्। तथा च शारदायाम्।

"पत्राग्रसंस्था भास्कराद्याः पुरतोऽरुणमर्च्चयेत्।"

तद्बाह्ये चन्द्रादीन् पूजयेत्। यथा चन्द्राय नमः। एवं मङ्गलाय बुधाय बृहस्पतये शुक्राय शनैश्चराय राहवे केतवे। तथा च शारदायाम्।

"चन्द्रादीन् पूजयेत्पश्चात् ग्रहानष्टौ ततो बहिः॥"

ततः इन्द्रादीन् वज्रादींश्च सम्पूज्य धूपादिविसर्जनान्तं कर्म्म समापयेत्। अस्य पुरश्चरणमष्टलक्षजपः। तथा च।

"वसुलक्षं जपेन्मन्त्रं समिद्भिः क्षीरशाखिनाम्।
तत्सहस्रं प्रजुहुयात् क्षीराक्ताभिर्ज्जितेन्द्रियः॥"

वाचनिक एवाष्टसहस्रहोमः॥*॥मन्त्रान्तरं यथा,

"आकाशमग्निदीर्घेन्दुसंयुतं भुवनेश्वरी।
सर्गान्वितो भृगुर्भानोस्त्र्यक्षरोऽयं समीरितः॥"

ह्रां ह्रीं सः। अस्य पूजाप्रयोगः। प्रातःकृत्यादिपूर्व्वमन्त्रोक्तपीठन्यासं विधाय पूर्व्वोक्तं ऋष्यादिन्यासं कुर्य्यात्। ततो मन्त्रन्यासः। यथा आधारादिपादपर्य्यन्तं ह्रां नमः। कण्ठादाधारपर्य्यन्तं ह्रीं नमः। मूर्द्धादिकण्ठपर्य्यन्तं सः नमः। शारदायाम्।

"आधारादिपदाग्रान्तं कण्ठादाधारकावधि।
मूर्द्धादिकण्ठपर्य्यन्तं क्रमाद्बीजत्रयं न्यसेत्॥"

ततः कराङ्गन्यासौ। ह्रां अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। ह्रीं तर्ज्जनीभ्यां स्वाहा। ह्रूं मध्यमाभ्यां वषट्। ह्रैं अनामिकाभ्यां हूँ। ह्रौं कनिष्ठाभ्यां वौषट्। ह्रः करतलपृष्ठाभ्यां फट्। एवं हृदयादिषु। तथा च निबन्धे।

"षड्दीर्घभाजा मध्येन बीजेनाङ्गानि कल्पयेत्॥"

ततो ध्यानम्।

"रक्ताम्बुजासनमशेषगुणैकसिन्धुं
भानुं समस्तजगतामधिपं भजामि।
पद्मद्वयाभयवरान् दधतं कराब्जै-
र्माणिक्यमौलिमरुणाङ्गरुचिं त्रिनेत्रम्॥"

एवं ध्यात्वा मानसैः संपूज्य अर्घ्यस्थापनं कृत्वा पूर्व्वोक्तक्रमेण पीठपूजां विधाय मूर्त्तिमन्त्रेण मूर्त्तिं सङ्कल्प्य पुनर्ध्यात्वावाहनादिपञ्चपुष्पाञ्जलिदानपर्य्यन्तं विधायावरणपूजामारभेत्। अग्निनिर्ऋतिवायवीशानेषु मध्ये दिक्षु च ह्रां हृदयाय नमः इत्यादिना पूजयेत्। पत्रेषु चन्द्रादीन् पूजयेत्। तत इन्द्रादीन् वज्रादींश्च पूजयेत्। ततो धूपादिविसर्ज्जनान्तं कर्म्म समापयेत्। अस्य पुरश्चरणं द्वादशलक्षजपः। तथा च।

"भानुलक्षं जपेन्मन्त्रमाज्येन च दशांशतः।
तिलैर्व्वा मधुरासिक्तैर्जुहुयाद्विजितेन्द्रियः॥"

मन्त्रान्तरम्।

"आकाशमग्निपवनसत्यान्तार्घीशबिन्दुमत्।
मार्त्तण्डभैरवं नाम बीजमेतदुदाहृतम्॥
पुटितं विश्वबीजेन सर्व्वकामफलप्रदम्॥"

विश्वबीजमाह।

"टान्तं दहनवेन्दुसहितं तदुदाहृतम्॥"

ठ्रं ह्रौं ठ्रम्। अस्य पूजाप्रयोगः। प्रातःकृत्यादि पूर्व्ववत् एतन्मन्त्रोक्तपीठन्यासान्तं कर्म्म विधाय ऋष्यादिन्यासं कुर्य्यात्। ततो मूर्त्तिन्यासः। ठ्रं सूर्य्याय नमोऽङ्गुष्ठयोः। ठ्रिं भास्कराय नमस्तर्ज्जन्योः। ठ्रुं भानवे नमः मध्यमयोः। ठ्रें रवये नमोऽनामिकयोः। ठ्रों दिवाकराय नमः कनिष्ठयोः। ततः शिरसि वदने हृदये गुह्ये पाददेशेषु तास्तद्बीजादिका न्यसेत्। तथा च निबन्धे।

"पञ्चह्रस्वाढ्यबीजेन पञ्चमूर्त्तीः प्रविन्यसेत्।
अङ्गुष्ठादिकनिष्ठान्तं अङ्गुलिषु क्रमादिमाः॥
सूर्य्यस्तु भास्करो भानुस्ततो रविर्दिवाकरौ।
शिरोवदनहृद्गुह्यपाददेशेषु ताः क्रमात्॥"

ततः कराङ्गन्यासौ। ठ्रां अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। ठ्रीं तर्ज्जनीभ्यां स्वाहा। ठ्रूं मध्यमाभ्यां वषट्। ठ्रैं अनामिकाभ्यां हूम्। ठ्रौं कनिष्ठाभ्यां वौषट्। एवं हृदयादिषु। ठ्रां हृदयाय नमः इत्यादि। तथा च निबन्धे।

"दीर्घयुक्तेन बीजेन नेत्रान्ताङ्गानि विन्यसेत्।"

ततो मूलबीजेन व्यापकं कृत्वा ध्यायेत्। तथा च।

"व्यापकं मूलबीजेन कुर्व्वीत तदनन्तरम्।"

ध्यानम्।

हेमाम्भोजप्रवालप्रतिमनिजरुचिं चारुखट्वाङ्गपद्मौ
चक्रं शक्तिं सपाशं सृणिमतिरुचिरामक्षमालां कपालम्।

हस्ताम्भोजैर्दधानं त्रिनयनविलसद्वक्त्राभि-
रामं
मार्त्तण्डं वल्लभार्द्धं मणिमयमुकुटं हारदीप्तं
भजामः ॥”
एवं ध्यात्वा मानसैः सम्पूज्यार्घस्थापनं कुर्य्यात्। ततः पूर्व्वोक्तक्रमेण पीठं संपूज्य पूर्व्वादिदिक्षु कर्णिकायाम्। उं उषायै नमः। एवं पं प्रभायै पं प्रज्ञायै सं सन्ध्यायै इति संपूज्य मूर्त्तिं मूलेन कल्पयेत्। ततः पूर्व्वादिदिक्षु सूर्य्यं भास्करं भानुं रविञ्च पूजयेत्। कोणेषु दिवाकरम्। ततः पूर्व्वदक्षिणपश्चिमोदीच्येषु दिक्षु ह्रां हृदयाय नमः। इत्यादिना पूजयेत्। ईशाने ह्रौं नेत्रत्रयाय वौषट्। शारदायाम्।
“सूर्य्यादीन् चतुरो दिक्षु विदिक्ष्वर्कं समर्च्चयेत्।
अङ्गपूजा यथापूर्व्वा नेत्रमीशानदिग्गतम् ॥”
ततः पूर्व्ववच्चन्द्रादिग्रहान् पूजयेत्। ततो लोकपालान् पूजयेत्। तथा च निबन्धे।
“ग्रहानष्टौ तथा बाह्ये लोकपालांस्ततः परम् ॥”
ततो धूपादिविसर्ज्जनान्तं कर्म्म समापयेत्। अस्य पुरश्चरणजपो लक्षत्रयसंख्यः। त्रिमधुरोपेतैः कमलैर्द्दशांशहोमः। तथा च।
“लक्षत्रयं जपेन्मन्त्री बीजं विम्बपुटीकृतम्।
दशांशं कमलैः शुक्लैर्जुहुयान्मधुरोक्षितैः ॥
इमं मन्त्रं जपन्मर्त्यः कान्तिं पुत्रान् धनं द्युतिम्।
वाक्‌सिद्धिममितां लक्ष्मीं सौभाग्यमपि साधयेत्॥”
इति तन्त्रसारः ॥ * ॥
अस्य प्राकारान्तरमन्त्रध्यानपूजादिकं गरुड़पुराणे ३६ अध्याये द्रष्टव्यम् ॥ * ॥ सूर्य्ये वर्णनीयानि यथा। अरुणता १ रविमणिप्रकाशः २ चक्रवाकप्रीतिः ३ पद्मप्रकाशः ४ पथिकप्रीतिः ५ लोचनप्रीतिः ६ तारार्त्तिः ७ चन्द्रामकाशः ८ दीपाप्रकाशः ९ ओषधप्रकाशः १० पेचकार्त्तिः ११ तमोऽभावः १२ चौरार्त्तिः १३ कुमुदार्त्तिः १४ कुलटार्त्तिः १५। इति कविकल्पलता ॥

सूर्य्यकान्तः, पुं, (सूर्य्यः कान्तो यस्य। सूर्य्यस्य कान्तः प्रियो वा।) स्फटिकः। इति हलायुधः ॥ मणिविशेषः। (यथा, रघुवंशे। ११। २१।
“ज्योतिरिन्धननिपाति भास्करात्
सूर्य्यकान्त इव ताड़कान्तकः ॥”)
तत्पर्य्यायः। सूर्य्यमणिः २ सूर्य्याश्मा ३ दहनोपमः ४। इति हेमचन्द्रः ॥ तपनमणिः ५ तापनः ६ रविकान्तः ७ दीप्तोपलः ८ अग्निगर्भः ९ ज्वलनाश्मा १० अर्कोपलः ११। अस्य गुणाः। उष्णत्वम्। निर्म्मलत्वम्। रसायनत्वम्। वातश्लेष्महरत्वम्। मेध्यत्वम्। पूजनाद्रवितुष्टिदत्वञ्च। इति राजनिर्घण्टः ॥ पुष्पवृक्षविशेषः। तत्पर्य्यायः। सूर्य्यमणिः २ पुष्परक्तः ३ पत्रपुटः ४। इति शब्दचन्द्रिका ॥

सूर्य्यकान्तिः, स्त्री, (सूर्य्यस्येव कान्तिर्यस्याः।) पुष्पविशेषः। यथा,—
“सूर्य्यकान्तिस्ताम्रवर्णा ओड्रपर्य्याय इत्यपि ॥”
इति शब्दचन्द्रिका ॥
सूर्य्यस्य दीप्तिश्च ॥

सूर्य्यकालः, पुं, (सूर्य्योपलक्षितः कालः।) दिवसः। इति शब्दचन्द्रिका ॥

सूर्य्यकालानलचक्रं, क्ली, नराणां शुभाशुभज्ञानार्थं नक्षत्रघटितचक्रविशेषः। यथा,—
“ऊर्द्ध्वगास्त्रित्रिशूलाग्रास्तिस्रस्तिर्य्यग्व्यवस्थिताः।
द्वे द्वे नाड्यौ स्थिते कोणे शृङ्गयुग्मं तदेकया ॥
मध्यत्रिशूलदण्डादौ भानुभाद्यं भमण्डलम्।
साभिजित्तत्र दातव्यं सव्यमार्गेण सर्व्वदा ॥
नाम ऋक्षं स्थितं यत्र ज्ञेयं तत्र शुभाशुभम्।
अधोगतेष्वित्रक्षत्रेष्वदण्डे वधबन्धनम् ॥
रेखाष्टके जयो लाभ ऋक्षषट्के तथा पुनः।
शृङ्गयुग्मे रुजाभङ्गो मृत्युः शूलत्रये स्फुटम् ॥
विवादे वसने युद्धे रोगार्त्ते गमने तथा।
सूर्य्यकालानलं चक्रं ज्ञातव्यन्तु प्रयत्नतः ॥”
इति स्वरोदयः ॥

सूर्य्यग्रहः, पुं, (सूर्य्यरूपो ग्रहः।) नवग्रहाणां प्रथमग्रहः। (सूर्य्यस्य ग्रहः ग्रहणम्।) सूर्य्योपरागः। यथा, नारदे।
“सूर्य्यग्रहः सूर्य्यवारे सोमे सोमग्रहो भवेत्।
चूड़ामणिरयं योगस्त्वनन्तफलं स्मृतम् ॥”
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥

सूर्य्यग्रहणं, क्ली, (सूर्य्यस्य ग्रहणम्।) सूर्य्योपरागः। तत्कारणं यथा, वह्निपुराणे गणभेदनामाध्याये।
“सूर्य्येन्द्वोरुपरागस्तु गोलकच्छायया भवेत्।
अन्योन्ययोस्तयोरेव व्यापयोरेव कारणात् ॥
ग्रासमोक्षौ तु जायेते लत्रातः पूर्व्वपश्चिमौ।
तत्र पुण्यफलाङ्गाराः ख्यातो राहोस्तु विष्णुना ॥”
अन्यत् ग्रहणशब्दे द्रष्टव्यम् ॥

सूर्य्यजः, पुं, (सूर्य्यात् जायते इति। जन + डः।) सुग्रीववानरः। इति जटाधरः ॥ शनिग्रहः। (यथा, वृहत्संहितायाम्। १०४। ४४।
“मध्यमध्वानं सप्तमे चाष्टमे च
हीनः स्त्रीपुत्त्रैः सूर्य्यजे दीनचेष्टः ॥”
यमः। मनुः। रेवन्तः। कर्णश्च ॥)

सूर्य्यजा, स्त्री (सूर्य्यात् जायते इति। जन + डः। टाप्।) यमुना नदी। इति हेमचन्द्रः ॥

सूर्य्यतनयः, पुं, (सूर्य्यस्य तनयः।) शनैश्चरग्रहः। यमः। (सावर्णिमनुः। रेवन्तः।) यथा,—
“तस्य पत्नीत्रयन्त्वासीत् संज्ञा राज्ञी प्रभा तथा।
रेवतस्य सुता राज्ञी रेवन्तं सुषुवे सुतम्। २।
प्रभा प्रभातं सुषुवे त्वाष्ट्री संज्ञा तथा मनुम्।
यमश्च यमुना चैव यमलौ तु बभूवतुः ॥ ३ ॥
जनयामास तस्यान्तु पुत्त्रञ्च मनुरूपिणम्।
सवर्णत्वाच्च सावर्णिर्मनोर्वैवस्वतस्य च ॥ ८ ॥
ततः शनिञ्च तपतीं विष्टिञ्चैव क्रमेण तु।
छायायां जनयामास संज्ञेयमिति भास्करः ॥” ९ ॥
इति मात्स्ये ११ अध्यायः ॥
(वानरराजः सुग्रीवः। कर्णश्च ॥)

सूर्य्यतनया, स्त्री, (सूर्य्यस्य तनया।) यमुना नदी। इत्यमरः। १। १०। ३२ ॥

सूर्य्यपत्रः, पुं, (सूर्य्य इव तीक्ष्णं पत्रमस्य।) आदित्यपत्रः। इति राजनिर्घण्टः ॥

सूर्य्यपुत्त्रः, पुं, (सूर्य्यस्य पुत्त्रः।) वरुणः। शनिः। इति केचित् ॥ (यथा, महाभारते। ६। ३। १३।
“मघास्वङ्गारको वक्रः श्रवणे च वृहस्पतिः।
भाग्यं नक्षत्रमाक्रम्य सूर्य्यपुत्त्रेण पीड्यते ॥”)
यमः। यथा,—
“धर्म्मराज नमस्तुभ्यं नमस्ते यमुनाग्रज।
पाहि मां किङ्करैः सार्द्धं सूर्य्यपुत्त्र नमोऽस्तु ते ॥”
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥
(अश्विनीकुमारौ। यथा, महाभारते। १३। १५७। १६।
“पिबेतामश्विनौ सोमं भवद्भिः सहितावुभौ।
उभावेतावपि सुरौ सूर्य्यपुत्त्रौ सुरेश्वर ! ॥”)
अन्यत् सूर्य्यतनयशब्दे द्रष्टव्यम् ॥

सूर्य्यपुत्त्री, स्त्री, (सूर्य्यस्य पुत्त्री।) यमुना। यथा, महाभारते।
“यमस्वसर्नमस्तेऽस्तु यमुने लोकपूजिते।
वरदा भव मे नित्यं सूर्य्यपुत्त्रि नमोऽस्तु ते ॥”
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥
विद्युत्। इति केचित् ॥

सूर्य्यफणिचक्रं, क्ली, सर्व्वकार्य्यशुभाशुभज्ञापकचक्रविशेषः। यथा,—
“सप्तविंशतिभान्यत्र पङ्क्तियुक्ता क्रमेण तु।
चान्तारचान्तरे वेधः फणिचक्रं त्रिनाड़िकम् ॥
यत्र ऋक्षे स्थितो भानुर्भेदादौ गणयेद्बुधः।
नाम ऋक्षं स्थितं यत्र ज्ञेयं तत्र शुभाशुभम् ॥
कुर्य्यान्मृत्युञ्च रोगञ्च नाड़ीवेधगतं नृणाम्।
वर्ज्जयेत् सर्व्वकार्य्येषु युद्धकाले विशेषतः ॥
निर्व्वेधऋक्षमध्यस्थं यस्य नाम प्रजायते।
सिध्यन्ति सर्व्वकार्य्याणि संग्रामे च जयो भवेत् ॥”
इति स्वरोदयः ॥

सूर्य्यभक्तः, पुं, (सूर्य्यस्य भक्तः प्रियः।) बन्धूकपुष्पवृक्षः। सूर्य्यपूजके, त्रि। इति मेदिनी ॥

सूर्य्यभक्तकः, पुं, (सूर्य्यभक्त एव। स्वार्थे कन्।) बन्धूकपुष्पवृक्षः। इति शब्दमाला ॥ सूर्य्यपूजके, त्रि ॥

सूर्य्यमणिः, पुं, (सूर्य्यप्रियो मणिः।) सूर्य्यकान्तमणिः। इति हेमचन्द्रः ॥ पुष्पवृक्षविशेषः। यथा, शब्दचन्द्रिकायाम्।
“सूर्य्यकान्तः सूर्य्यमणिः पुष्परक्तः पत्रपुटः ॥”

सूर्य्यमण्डलं, क्ली, (सूर्य्यस्य मण्डलम्।) सूर्य्यसन्निधिवेष्टनम्। तत्पर्य्यायः। परिवेशः २ परिधिः ३ उपसूर्य्यकम् ४ मण्डलम् ५। इत्यमरः। १। ३। ३२ ॥ यथा,—
“सायाह्ने शिवरूपाञ्च वृद्धां वृषभवाहिनीम्।
सूर्य्यमण्डलमध्यस्थां सामवेदसमायुताम् ॥”
इत्याह्निकतत्त्वम् ॥

सूर्य्यलता, स्त्री, (सूर्य्यप्रिया लता।) आदित्यभक्ता। इति राजनिर्घण्टः ॥

सूर्य्यलोकः, पुं, (सूर्य्यस्य लोकः ।) सौरभुवनम् । यथा,—
"विनौषधैर्विना वैद्यैर्विना पथ्यपरिग्रहैः ।
कालेन निधनं प्राप्य सूर्य्यलोके महीयते ॥"
इति काशीखण्डे सूर्य्यार्घ्यदानफलम् ॥
अपि च ।
"सौरं लोकमथावाप्य यथेन स विमानगः ।
यथा कदम्बकुसुमं किञ्जल्कैः सर्व्वतोवृतम् ॥
देदीप्यमानं हि तथा समन्ताद्भानुभानुभिः ।
दूरादर्विं स विज्ञाय ध्वतनामरसद्यम् ॥
नवभिर्योजनानाञ्च सहस्रैः सम्मितेन च ।
विचित्रेणैकचक्रेण सप्तसप्तियुतेन च ॥
अनूरुणाधिष्ठितेन सर्व्वतो ध्वतरश्मिना ।
अप्सरोमुनिगन्धर्व्वसर्पग्रामणिनैर्वृतैः ॥
स्यन्दनेनातिजविना प्रणनाम कृताञ्जलिः ।
तस्य प्रणामैर्देवोऽपि भूभङ्गेनानुमन्य च ।
अतिदूरं नभोवर्त्म प्रतिचक्राम स यथात् ॥
प्रक्रामे सुमयौ दूरं शिवशर्म्मातिशर्म्मवान् ।
प्रोवाच भगवद्भृत्यौ कथं लभ्यं रवेः पदम् ॥"
इति स्कन्दपुराणे काशीखण्डे सूर्य्यलोकवर्णनं नाम ६ अध्यायः ॥

सूर्य्यवंशः, पुं, (सूर्य्यस्य वंशः ।) सूर्य्यस्य सन्तानः । तद्विवरणं यथा । परमेश्वरात् ब्रह्मा जातः । तस्य पुत्त्रो मरीचिः । तस्य कश्यपः । तस्य सूर्य्यः । तस्य वैवस्वतो मनुः । सत्ययुगे मनुरेव राजासीत् । त्रेतायुगे तस्य पुत्त्रः इक्ष्वाकुः अयोध्यायां राजासीत् । अस्मिन् युगे अतिदीर्घायुषो राजानो बहुकालं राज्यं कृतवन्तः । त्रेताद्वापरयोः सन्धौ श्रीरामचन्द्रो दशरथसुतरूपेण अवतीर्णः । द्वापरयुगस्य प्रथमे तस्य पुत्त्रः कुशो जातः । तद्वंशः सुमित्रान्तः कलेः सहस्रवर्षपर्य्यन्तं राज्यं कृतवन्तः एतत्पर्य्यन्तं सूर्य्यवंशविश्रान्तिः । पुनः सत्ययुगे मरुः नष्टं सूर्य्यवंशं भावयिष्यति । सः योगसिद्धः सन् कलापग्रामे आस्ते । इति श्रीभागवतमतम् ॥ वंशवर्णनविस्तारस्तु मत्स्यपुराणे ११ अध्यायादौ गरुडपुराणे १४३ अध्याये च द्रष्टव्यः ॥

सूर्य्यवल्ली, स्त्री, (सूर्य्यप्रिया वल्ली ।) अर्कपुष्पिकावृक्षः । इति रत्नमाला ॥

सूर्य्यसंज्ञं, क्ली, (सूर्य्यस्य संज्ञा संज्ञा यस्य ।) कुङ्कुमम् । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ (पुं, अर्कवृक्षः । इत्यमरे अर्काह्व इति दर्शनात् । २ । ४ । ८० ॥)

सूर्य्यसारथिः, पुं, (सूर्य्यस्य सारथिः ।) अरुणः । इति शब्दरत्नावली ॥ (यदुक्तं महाभारते । १ । १६ । २३ ।
"अरुणो दृश्यते ब्रह्मन् प्रभातसमये सदा ।
आदित्यरथमध्यास्ते सारथ्यं समकल्पयत् ॥")

सूर्य्यहृदयं, क्ली, (सूर्य्यस्य हृदयमिव ।) सूर्य्यस्य स्तवविशेषः । यथा,—
"अथोपतिष्ठेदादित्यमुदयन्तं समाहितः ।
मन्त्रैस्तु विविधैः सौरैरृग्यजुःसामसम्भवैः ॥
उपस्थाय महायोगं देवदेवं दिवाकरम् ।
कुर्व्वीत प्रणतिं भूमौ मूर्द्ध्ना तेनैव मन्त्रतः ॥
ॐ खं खसोल्काय शान्ताय कारणत्रयहेतवे ।
निवेदयामि चात्मानं नमस्ते ज्ञानरूपिणे ॥
क्वचित् पुस्तके खखोल्कायेति च पाठः ।
नमस्ते घृणिने तुभ्यं सूर्य्याय ब्रह्मरूपिणे ।
त्वमेव ब्रह्म परममापो ज्योती रसोऽमृतम् ॥
भूर्भुवः स्वस्त्वमोङ्कारः सर्व्वे रुद्राः सनातनाः ।
पुरुषः सन्महोऽन्तस्त्वां प्रणमामि कपर्द्दिनम् ॥
त्वमेव विश्वं बहुधा जातं वै जायते च न ।
नमो रुद्राय सूर्य्याय त्वामहं शरणं गतः ॥
प्रचेतसे नमस्तुभ्यमुमायाः पतये नमः ।
नमो नमस्ते रुद्राय त्वामहं शरणं गतः ॥
हिरण्यबाहवे तुभ्यं हिरण्यपतये नमः ।
अम्बिकापतये तुभ्यमुमायाः पतये नमः ॥
नमस्ते नीलकण्ठाय नमस्तुभ्यं पिनाकिने ।
विलोहिताय भर्गाय सहस्राक्षाय ते नमः ॥
नमो हंसाय ते नित्यमादित्याय नमोऽस्तु ते ।
प्रपद्ये त्वां विरूपाक्ष महान्तं परमेश्वरम् ॥
हिरण्मये गृहे गुप्तमात्मानं सर्व्वदेहिनाम् ।
नमस्यामि परं ज्योतिर्ब्रह्माणं त्वां परामृतम् ॥
विश्वं पशुपतिं भीमं नरनारीशरीरिणम् ।
नमः सूर्य्याय रुद्राय भास्वते परमेष्ठिने ॥
उग्राय सर्व्वभक्षाय त्वां प्रपद्ये सदैव हि ॥
एतद्वै सूर्य्यहृदयं जप्त्वा स्तवमनुत्तमम् ।
प्रातःकालेऽथ मध्याह्ने नमस्कुर्य्याद्दिवाकरम् ॥
इदं पुत्त्राय शिष्याय धार्म्मिकाय द्विजातये ।
प्रदेयं सूर्य्यहृदयं ब्रह्मणा तु प्रदर्शितम् ॥
सर्व्वपापप्रशमनं वेदसारं समुद्धृतम् ।
ब्राह्मणानां हितं पुण्यं ऋषिसङ्घैर्निषेवितम् ॥
यस्तु नित्यं पठेद्धीमान् प्रेक्षन्नादित्यमण्डलम् ।
महापातकयुक्तोऽपि पूयते नात्र संशयः ॥
क्षयापस्मारकुष्ठाद्यैर्व्याधिभिः पीडितोऽपि सन् ।
जप्त्वा शतगुणं स्तोत्रं स श्लाघ्यो भवति द्रुतम् ॥
भूतग्रहपिशाचातिबीजवसनकर्षिभिः ।
स्तुवन् ध्यात्वा हरिं विप्रो मुच्यते महतो भयात् ॥"
इति कूर्म्मपुराणे उपविभागे १७ अध्यायः ॥
मार्कण्डे ५० अध्याये चैतद्द्रष्टव्यम् ॥ ("भविष्योत्तरोक्तसूर्य्यहृदयन्तु बहुभिः समाद्रियते पठ्यते च अतस्तत् सप्रक्रियमुच्यते । अथ आदित्यहृदयप्रारम्भः । आचम्य देशकालौ संकीर्त्य ममारोग्यावाप्तये श्रीसवितासूर्य्यनारायणप्रीत्यर्थं द्वादशनमस्काराख्यं कर्म्म करिष्ये । अथ ध्यानम् ।
"ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्त्ती
नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः ।
केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी
हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः ॥
एकचक्रो रथो यस्य दिव्यः कनकभूषितः ।
स मे भवतु सुप्रीतः पद्महस्तो दिवाकरः ॥"
मित्राय नमः । रवये नमः । सूर्य्याय नमः । भानवे नमः । खगाय नमः । पूष्णे नमः । हिरण्यगर्भाय नमः । मरीचये नमः । आदित्याय नमः । सवित्रे नमः । अर्काय नमः । भास्कराय नमः ।
"नमः सवित्रे जगदेकचक्षुषे
जगत्प्रसूतिस्थितिनाशहेतवे ।
त्रयीमयाय त्रिगुणात्मधारिणे
विरिञ्चिनारायणशङ्करात्मने ॥
नमोऽस्तु सूर्य्याय सहस्ररश्मये
सहस्रशाखान्वितसम्भवात्मने ।
सहस्रयोगोद्भवभावभागिने
सहस्रसंख्यायुगधारिणे नमः ॥
आदित्यस्य नमस्कारं ये कुर्व्वन्ति दिने दिने ।
जन्मान्तरसहस्रेषु दारिद्र्यं नोपजायते ॥
इति नमस्काराः ॥
शतानिक उवाच ।
"कथमादित्यमुद्यन्तमुपतिष्ठेद्द्विजोत्तमः ।
एतन्मे ब्रूहि विप्रेन्द्र प्रपद्ये शरणं तव ॥
सुमन्तुरुवाच ।
इदमेव पुरा पृष्टः शङ्खचक्रगदाधरः ।
प्रणम्य शिरसा देवमर्ज्जुनेन महात्मना ॥
कुरुक्षेत्रे महाराज निवृत्ते भारते रणे ।
कृष्णनाथं समासाद्य प्रार्थयित्वाब्रवीदिदम् ॥
अर्ज्जुन उवाच ।
ज्ञानञ्च धर्म्मशास्त्राणां गुह्याद्गुह्यतरं तथा ।
मया कृष्ण परिज्ञातं वाङ्मयं सचराचरम् ॥
सूर्य्यस्तुतिमयं न्यासं वक्तुमर्हसि माधव ।
भक्त्या पृच्छामि देवेश कथयस्व प्रसादतः ॥
सूर्य्यभक्तिं करिष्यामि कथं सूर्य्यं प्रपूजयेत् ।
तदहं श्रोतुमिच्छामि त्वत्प्रसादेन यादव ॥
श्रीभगवानुवाच ।
रुद्रादिदैवतैः सर्व्वैः पृष्टेन कथितं मया ।
वक्ष्येऽहं सूर्य्यविन्यासं शृणु पाण्डव यत्नतः ॥
अस्माकं यत्त्वया पृष्टमेकचित्तो भवार्ज्जुन ।
तदहं सम्प्रवक्ष्यामि आदिमध्यवसानकम् ॥
अर्ज्जुन उवाच ।
नारायण सुरश्रेष्ठ पृच्छामि त्वां महायशाः ।
कथमादित्यमुद्यन्तमुपतिष्ठेत् सनातनम् ॥
श्रीभगवानुवाच ।
साधु पार्थ महाबाहो बुद्धिमानसि पाण्डव ।
यन्मां पृच्छस्युपस्थानं तत् पवित्रं विभावसोः ॥
सर्व्वमङ्गलमाङ्गल्यं सर्व्वपापप्रणाशनम् ।
सर्व्वरोगप्रशमनमायुर्व्वर्द्धनमुत्तमम् ॥
अमित्रदमनं पार्थ संग्रामे जयवर्द्धनम् ।
वर्द्धनं धनपुत्त्राणामादित्यहृदयं शृणु ॥
यच्छ्रुत्वा सर्व्वपापेभ्यो मुच्यते नात्र संशयः ।
त्रिषु लोकेषु विख्यातं निःश्रेयसकरं परम् ॥
देवदेवं नमस्कृत्य प्रातरुत्थाय चार्ज्जुन ।
विघ्नान्यनेकरूपाणि नश्यन्ति स्मरणादपि ॥
तस्मात् सर्व्वप्रयत्नेन सूर्य्यमावाहयेत् सदा ।
आदित्यहृदयं नित्यं जाप्यं तच्छृणु पाण्डव ॥
यज्जपान्मुच्यते जन्तुर्दारिद्र्यादाशु दुस्तरात् ।
लभते च महासिद्धिं कुष्ठव्याधिविनाशिनीम् ॥
अस्मिन् मन्त्रे ऋषिश्छन्दोदेवताशक्तिरेव च ।
सर्व्वमेव महाबाहो कथयामि तवाग्रतः ॥
मया ते गोपितं न्यासं सर्व्वशास्त्रप्रबोधितम् ।

सूर्य्यहृ
सूर्य्यहृ

अथ ते कथयिष्यामि उत्तमं मन्त्रमेव च ॥”
ॐ अस्य श्रीआदित्यहृदयस्तोत्रमन्त्रस्य । श्रीकृष्ण ऋषिः । श्रीसूर्य्यात्मा त्रिभुवनेश्वरो देवता । अनुष्टुप् छन्दः । हरितहयरथं दिवाकरं घृणिरिति बीजम् । ॐ नमो भगवते जितवैश्वानरजातवेदसे इति शक्तिः । ॐ नमो भगवते आदित्याय नम इति कीलकम् ॥ ॐ अग्निगर्भदेवता इति मन्त्रः ॥ ॐ नमो भगवते तुभ्यमादित्याय नमो नमः । श्रीसूर्य्य नारायणप्रीत्यर्थे जपे विनियोगः । अथ न्यासः । ॐ ह्रां अङ्गुष्ठाभ्यां नमः । ॐ ह्रीं तर्ज्जनीभ्यां नमः । ॐ ह्रूं मध्यमाभ्यां नमः । ॐ ह्रैं अनामिकाभ्यां नमः । ॐ ह्रौं कनिष्ठिकाभ्यां नमः । ॐ ह्रः करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः । ॐ ह्रां हृदयाय नमः । ॐ ह्रीं शिरसे स्वाहा । ॐ ह्रूं शिखायै वषट् । ॐ ह्रैं कवचाय हुम् । ॐ ह्रौं नेत्रत्रयाय वौषट् । ॐ ह्रः अस्त्राय फट् । ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौं ह्रः । इति दिग्बन्धः ॥
अथ ध्यानम् ।

“भास्वद्रत्नाढ्यमौलिं स्फुरदधररुचा रञ्जितं चारुकेशं
भास्वन्तं दिव्यतेजः करकमलयुतं स्वर्णवर्ण-प्रभाभिः ।
विश्वाकाशावकाशग्रहपतिशिखरे भाति यश्चोदयाद्रौ
सर्व्वानन्दप्रदाता हरिहरनमितः पातु मां विश्वचक्षुः ॥

पूर्व्वमष्टदलं पद्मं प्रणवादिप्रतिष्ठितम् ।
मायाबीजं दलाष्टाग्रे यन्त्रमुद्धारयेदिति ॥
आदित्यं भास्करं भानुं रविं सूर्य्यं दिवाकरम् ।
मार्त्तण्डं तपनं चेति दलेष्वष्टसु योजयेत् ॥
दीप्ता सूक्ष्मा जया भद्रा विभूतिर्व्विमला तथा ।
अमोघा विद्युता चेति मध्ये श्रीः सर्व्वतोमुखी ॥
सर्व्वज्ञः सर्व्वगश्चैव सर्व्वकारणदेवता ।
सर्व्वेशं सर्व्वहृदयं नमामि सर्व्वसाक्षिणम् ॥
सर्व्वात्मा सर्व्वकर्त्ता च सृष्टिजीवनपालकः ।
हितः स्वर्गापवर्गश्च भास्करेश नमोऽस्तु ते ॥”
इति प्रार्थना ॥

“नमो नमस्तेऽस्तु सदा विभावसो
सर्व्वात्मने सप्तहयाय भानवे ।
अनन्तशक्तिर्म्मणिभूषणेन
ददस्व भुक्तिं मम मुक्तिमव्ययाम् ॥
अर्कन्तु मूर्द्ध्नि विन्यस्य ललाटे तु रविं न्यसेत् ।
विन्यसेन्नेत्रयोः सूर्य्यं कर्णयोश्च दिवाकरम् ॥
नासिकायां न्यसेद्भानुं मुखे वै भास्करं न्यसेत् ।
पर्ज्जन्यमोष्ठयोश्चैव तीक्ष्णं जिह्वान्तरं न्यसेत् ॥
सुवर्णरेतसं कण्ठे स्कन्धयोस्तिग्मतेजसम् ।
बाह्वोस्तु पूषणञ्चैव मित्रं वै पृष्ठतो न्यसेत् ॥
वरुणं दक्षिणे हस्ते त्वष्टारं वामतः करे ।
हस्तावुष्णकरः पातु हृदयं पातु भानुमान् ॥
उदरे तु यमं विन्द्यादादित्यं नाभिमण्डले ।
कट्यां तु विन्यसेद्धंसं रुद्रमूर्व्वोस्तु विन्यसेत् ॥
जान्वोस्तु गोपतिं न्यस्य सवितारन्तु जङ्घयोः ।
पादयोश्च विवस्वन्तं गुल्फयोश्च दिवाकरम् ॥
बाह्यतस्तु तमोध्वंसं भगमभ्यन्तरे न्यसेत् ।
सर्व्वाङ्गेषु सहस्रांशुं दिग्विदिक्षु भगं न्यसेत् ॥”
इति दिग्बन्धः ॥

“एष आदित्यविन्यासो देवानामपि दुर्लभः ।
इमं भक्त्या न्यसेत् पार्थ स याति परमां गतिम् ॥
कामक्रोधकृतात् पापात् मुच्यते नात्र संशयः ।
सर्पादपि भयं नैव संग्रामेषु पथिष्वपि ॥
रिपुसङ्घट्टकालेषु तथा चौरसमागमे ।
त्रिसन्ध्यं जपतो न्यासं महापातकनाशनम् ॥
विस्फोटकसमुत्पन्नं तीव्रज्वरसमुद्भवम् ।
शिरोरोगं नेत्ररोगं सर्व्वव्याधिविनाशनम् ॥
कुष्ठव्याधिस्तथा दद्रुरोगाश्च विविधाश्च ये ।
जपमानस्य नश्यन्ति शृणु भक्त्या तदर्ज्जुन ॥
आदित्यो मन्त्रसंयुक्त आदित्यो भुवनेश्वरः ॥
आदित्यान्नापरो देवो ह्यादित्यः परमेश्वरः ॥
आदित्यमर्च्चयेद्ब्रह्मा शिव आदित्यमर्च्चयेत् ।
यदादित्यमयं तेजो मम तेजस्तदर्ज्जुन ॥
आदित्यं मन्त्रसंयुक्तमादित्यं भुवनेश्वरम् ।
आदित्यं ये प्रपश्यन्ति मां पश्यन्ति न संशयः ॥
त्रिसन्ध्यमर्च्चयेत् सूर्य्यं स्मरेद्भक्त्या तु यो नरः ।
न स पश्यति दारिद्र्यं जन्मजन्मनि चार्ज्जुन ॥
एतत्ते कथितं पार्थ आदित्यहृदयं मया ।
शृणुष्व मुच्यते पापेभ्यः सूर्य्यलोके महीयते ॥
ॐ नमो भगवते तुभ्यमादित्याय नमो नमः ।
आदित्यः सविता सूर्य्यः खगः पूषा गभस्तिमान् ॥
सुवर्णः स्फटिको भानुः स्फुरितो विश्वतापनः ।
रविर्व्विश्वो महातेजाः सुवर्णः सुप्रबोधकः ॥
हिरण्यगर्भस्त्रिशिरास्तपनो भास्करो रविः ।
मार्त्तण्डो गोपतिः श्रीमान् कृतज्ञश्च प्रतापवान् ॥
तमिस्रहा भगो हंसो नासत्यश्च तमोनुदः ।
शुद्धो विरोचनः केशी सहस्रांशुर्महाप्रभुः ॥
विवस्वान् पूषणो मृत्युर्म्मिहिरो जामदग्न्यजित् ।
धर्म्मरश्मिः पतङ्गश्च शरण्योऽमित्रहा तपः ॥
दुर्व्विज्ञेयगतिः शूरस्तेजोराशिर्म्महायशाः ।
शम्भुश्चित्राङ्गदः सौम्यो हव्यकव्यप्रदायकः ॥
अंशुमानुत्तमो देव ऋग्यजुः साम एव च ।
हरिदश्वस्तमोदारः सप्तसप्तिर्म्मरीचिमान् ॥
अग्निगर्भोऽदितेः पुत्त्रः शम्भुस्तिमिरनाशनः ।
पूषा विश्वम्भरो मित्रः सुवर्णः सुप्रतापवान् ॥
आतपी मण्डली भास्वान् तपनः सर्व्वतापनः ।
कृतविश्वो महातेजाः सर्व्वरत्नमयोद्भवः ॥
अक्षरश्च क्षरश्चैव प्रभाकरविभाकरौ ।
चन्द्रश्चन्द्राङ्गदः सौम्यो हव्यकव्यप्रदायकः ॥
अङ्गारकोऽङ्गदोऽगस्ती रक्ताङ्गश्चाङ्गवर्द्धनः ।
बुधो बुद्धासनो बुद्धिर्ब्बुद्धात्मा बुद्धिवर्द्धनः ॥
बृहद्भानुर्बृहद्भासो बृहद्धामा बृहस्पतिः ।
शुक्रस्त्वं शुक्ररेतास्त्वं शुक्राङ्गः शुक्रभूषणः ॥
शनिमान् शनिरूपस्त्वं शनैर्गच्छसि सर्व्वदा ।
अनादिरादिरादित्यस्तेजोराशिर्म्महातपाः ॥
अनादिरादिरूपस्त्वमादित्यो दिक्पतिर्य्यमः ।
भानुमान् भानुरूपस्त्वं स्वर्भानुर्भानुदीप्तिमान् ॥
धूमकेतुर्म्महाकेतुः सर्व्वकेतुरनुत्तमः ।
तिमिरावरणः शम्भुः स्रष्टा मार्त्तण्ड एव च ॥
नमः पूर्व्वाय गिरये पश्चिमाय नमो नमः ।
नमोत्तराय गिरये दक्षिणाय नमो नमः ॥
नमो नमः सहस्रांशो ह्यादित्याय नमो नमः ।
नमः पद्मप्रबोधाय नमस्ते द्वादशात्मने ॥
नमो विश्वप्रबोधाय नमो भ्राजिष्णुजिष्णवे ।
ज्योतिषे च नमस्तुभ्यं ज्ञानार्काय नमो नमः ॥
प्रदीप्ताय प्रगल्भाय युगान्ताय नमो नमः ।
नमस्ते होतृपतये पृथिवीपतये नमः ॥
नमोङ्कार वषट्कार सर्व्वयज्ञ नमोऽस्तु ते ।
ऋग्वेदादि यजुर्व्वेद सामवेद नमोऽस्तु ते ॥
नमो हाटकवर्णाय भास्कराय नमो नमः ।
जयाय जयभद्राय हरिदश्वाय ते नमः ॥
दिव्याय दिव्यरूपाय ग्रहाणां पतये नमः ।
नमस्ते शुचये नित्यं नमः कुरु कुलात्मने ॥
नम त्रैलोक्यनाथाय भूतानां पतये नमः ।
नमः कैवल्यनाथाय नमस्ते दिव्यचक्षुषे ॥
त्वं ज्योतिस्त्वं द्युतिर्ब्रह्मा त्वं विष्णुस्त्वं प्रजापतिः ।
त्वमेव रुद्रो रुद्रात्मा वायुरग्निस्त्वमेव च ॥
योजनानां सहस्रे द्वे द्वे शते द्वे च योजने ।
एकेन निमिषार्द्धेन क्रममाण नमोऽस्तु ते ॥
नवयोजनलक्षाणि सहस्रद्विशतानि च ।
यावद्घटीप्रमाणेन क्रममाण नमोऽस्तु ते ॥
अग्रतश्च नमस्तुभ्यं पृष्ठतश्च सदा नमः ।
पार्श्वतश्च नमस्तुभ्यं नमस्ते चास्तु सर्व्वदा ॥
नमः सुरारिहन्त्रे च सोमसूर्य्याग्निचक्षुषे ।
नमो दिव्याय व्योमाय सर्व्वतन्त्रमयाय च ॥
नमो वेदान्तवेद्याय सर्व्वकर्म्मादिसाक्षिणे ।
नमो हरितवर्णाय सुवर्णाय नमो नमः ॥
अरुणो माघमासे तु सूर्य्यो वै फाल्गुने तथा ।
चैत्रमासे तु वेदाङ्गो भानुर्व्वैशाखतापनः ॥
ज्यैष्ठमासे तपेदिन्द्र आषाढ़े तपति रविः ॥
गभस्तिः श्रावणे मासि यमो भाद्रपदे तथा ॥
इषे सुवर्णरेताश्च कार्त्तिके च दिवाकरः ॥
मार्गशीर्षे तपेन्मित्रः पौषे विष्णुः सनातनः ॥
पुरुषस्त्वधिके मासे मासाधिक्ये तु कल्पयेत् ।
इत्येते द्वादशादित्याः काश्यपेयाः प्रकीर्त्तिताः ॥
उग्ररूपा महात्मानस्तपन्ति विश्वरूपिणः ।
धर्म्मार्थकाममोक्षाणां प्रस्फुटा हेतवो नृप ॥
सर्व्वपापहरश्चैवमादित्यं संप्रपूजयेत् ।
एकधा दशधा चैव शतधा च सहस्रधा ॥
तपन्ति विश्वरूपेण सृजन्ति संहरन्ति च ।
एष विष्णुः शिवश्चैव ब्रह्मा चैव प्रजापतिः ॥
महेन्द्रश्चैव कालश्च यमो वरुण एव च ।
नक्षत्रग्रहताराणामधिपो विश्वतापनः ॥
वायुरग्निर्धनाध्यक्षो भूतकर्त्ता स्वयं प्रभुः ।
एष देवो हि देवानां सर्व्वमाप्यायते जगत् ॥
एष कर्त्ता हि भूतानां संहर्त्ता रक्षकस्तथा ।
एष लोकानुलोकश्च सप्तद्वीपाश्च सागराः ॥
एष पातालसप्तस्थो दैत्यदानवराक्षसाः ।

एष धाता विधाता च बीजं क्षेत्रं प्रजापतिः ॥
एष एव प्रजा नित्यं संवर्द्धयति रश्मिभिः ।
एष यज्ञः स्वधा स्वाहा ह्रीः श्रीश्च पुरुषोत्तमः ॥
एष भूतात्मको देवः सूक्ष्मो व्यक्तः सनातनः ।
ईश्वरः सर्व्वभूतानां परमेष्ठी प्रजापतिः ॥
कालात्मा सर्व्वभूतात्मा वेदात्मा विश्वतोमुखः ।
जन्ममृत्युजराव्याधिसंसारभयनाशनः ॥
दारिद्र्यव्यसनध्वंसी श्रीमान् देवो दिवाकरः ।
विकर्त्तनो विवस्वांश्च मार्त्तण्डो भास्करो रविः ॥
लोकप्रकाशकः श्रीमांल्लोकचक्षुर्ग्रहेश्वरः ।
लोकसाक्षी त्रिलोकेशः कर्त्ता हर्त्ता तमिस्रहा ॥
तपनस्तापनश्चैव शुचिः सप्ताश्ववाहनः ।
गभस्तिहस्तो ब्रह्मण्यः सर्व्वदेवनमस्कृतः ॥
आयुरारोग्यमैश्वर्यं नरा नार्यश्च मन्दिरे ।
यस्य प्रसादात् सन्तुष्टिरादित्यहृदयं जपेत् ॥
इत्येतैर्नामभिः पार्थ आदित्यं स्तौति नित्यशः ।
प्रातरुत्थाय कौन्तेय तस्य रोगभयं नहि ॥
पातकान्मुच्यते पार्थ व्याधिभ्यश्च न संशयः ।
एकसन्ध्यं द्विसन्ध्यं वा सर्व्वपापैः प्रमुच्यते ॥
त्रिसन्ध्यं जपमानस्तु पश्येच्च परमं पदम् ॥
यदह्नः कुरुते पापं तदह्नः प्रतिमुच्यते ॥
यद्रात्र्याः कुरुते पापं तद्रात्र्याः प्रतिमुच्यते ।
दद्रुस्फोटककुष्ठानि मण्डलानि विषूचिका ॥
सर्व्वव्याधिमहारोगभूतबाधास्तथैव च ॥
डाकिनी शाकिनी चैव महारोगभयं कुतः ॥
ये चान्ये दुष्टरोगाश्च ज्वरातीसारकादयः ।
जपमानस्य नश्यन्ति जीवेच्च शरदां शतम् ॥
संवत्सरेण मरणं यदा तस्य ध्रुवं भवेत् ।
अशीर्षां पश्यति च्छायामहोरात्रं धनञ्जय ॥
यस्त्विदं पठते भक्त्या भानुवारे महात्मनः ।
प्रातःस्नाने कृते पार्थ एकाग्रकृतमानसः ॥
सुवर्णचक्षुर्भवति न चान्धस्तु प्रजायते ।
पुत्त्रवान् धनसम्पन्नो जायते चारुजः सुखी ॥
सर्व्वसिद्धिमवाप्नोति सर्व्वत्र विजयी भवेत् ।
आदित्यहृदयं पुण्यं सूर्य्यनामविभूषितम् ॥
श्रुत्वा च निखिलं पार्थ सर्व्वपापैः प्रमुच्यते ।
अतःपरतरं नास्ति सिद्धिकामस्य पाण्डव ॥
एतज्जपस्व कौन्तेय येन श्रेयो ह्यवाप्स्यसि ।
आदित्यहृदयं नित्यं यः पठेत् सुसमाहितः ॥
भ्रूणहा मुच्यते पापात् कृतघ्नो ब्रह्मघातकः ।
गोघ्नः सुरापो दुर्भोगी दुष्प्रतिग्रहकारकः ॥
पातकानि च सर्व्वाणि दहत्येव न संशयः ।
य इदं शृणुयान्नित्यं जपेद्वापि समाहितः ॥
सर्व्वपापविशुद्धात्मा सूर्य्यलोके महीयते ।
अपुत्त्रो लभते पुत्त्रान् निर्द्धनो धनमाप्नुयात् ॥
कुरोगी मुच्यते रोगाद्भक्त्या यः पठते सदा ।
यस्त्वादित्यदिने पार्थ नाभिमात्रजले स्थितः ॥
उदयाचलमारूढं भास्करं प्रणतः स्थितः ।
जपते मानवो भक्त्या शृणुयाद्वापि भक्तितः ॥
स याति परमं स्थानं यत्र देवो दिवाकरः ।
अमित्रदमनं पार्थ यदा कर्त्तुं समारभेत् ॥
तदा प्रतिकृतिं कृत्वा शत्रोश्च रणपांशुभिः ।
आक्रम्य वामपादेन आदित्यहृदयं जपेत् ॥
एतन्मन्त्रं समाहूय सर्व्वसिद्धिकरं परम् ॥”
ॐ ह्रीं हिमालीढं स्वाहा । ॐ ह्रीं निलीढं स्वाहा । ॐ ह्रीं मालीढं स्वाहा । इति मन्त्रः ॥
“त्रिभिश्च रोगी भवति ज्वरी भवति पञ्चभिः ।
जपैस्तु सप्तभिः पार्थ राक्षसीं तनुमाविशेत् ॥
राक्षसेनाभिभूतस्य विकारान् शृणु पाण्डव ।
गीयते नृत्यते नग्न आस्फोटयति धावति ॥
शिवारुतञ्च कुरुते हसते क्रन्दते पुनः ।
एवं संपीड्यते पार्थ यद्यपि स्यान्महेश्वरः ॥
किंपुनर्मानुषः कश्चिच्छौचाचारविवर्ज्जितः ।
पीड़ितस्य न संदेहो ज्वरो भवति दारुणः ॥
यदा चानुग्रहं तस्य कर्त्तुमिच्छेच्छुभङ्करम् ।
तदा सलिलमादाय जपेन्मन्त्रमिमम्बुधः ॥
नमो भगवते तुभ्यमादित्याय नमो नमः ।
जयाय जयभद्राय हरिदश्वाय ते नमः ॥
स्नापयेत्तेन मन्त्रेण शुभं भवति नान्यथा ॥
अन्यथा च भवेद्दोषो नश्यते नात्र संशयः ॥
अतस्ते निखिलः प्रोक्तः पूजाञ्चैव निबोध मे ।
उपलिप्ते शुचौ देशे नियतो वाग्यतः शुचिः ॥
वृत्तं वा चतुरस्रं वा लिप्तभूमौ लिखेच्छुचिः ।
त्रिधा तत्र लिखेत् पद्ममष्टपत्रं सकर्णिकम् ॥
अष्टपत्रं लिखेत् पद्मं लिप्तगोमयमण्डले ।
पूर्व्वपत्रे लिखेत् सूर्य्यमाग्नेय्यान्तु रविं न्यसेत् ॥
याम्यायाञ्च विवस्वन्तं नैरृत्यान्तु भगं न्यसेत् ।
प्रतीच्यां वरुणं विन्द्याद्वायव्यां मित्रमेव च ॥
आदित्यमुत्तरे पत्रे ईशान्यां विष्णुमेव च ।
मध्ये तु भास्करं विन्द्यात् क्रमेणैव समर्च्चयेत् ॥
अतःपरतरं नास्ति सिद्धिकामस्य पाण्डव ।
महातेजःसमुद्यन्तं प्रणमेत् सकृताञ्जलिः ॥
सकेशराणि पद्मानि करवीराणि चार्ज्जुन ।
तिलतण्डुलसंयुक्तं कुशगन्धोदकेन च ॥
रक्तचन्दनमिश्राणि कृत्वा वै ताम्रभाजने ।
धृत्वा शिरसि तत्पात्रं जानुभ्यां धरणीं स्पृशेत् ॥
मन्त्रपूतं गुड़ाकेशं चार्घ्यं दद्याद्गभस्तये ।
साधुधं सरथञ्चैव सूर्य्यमावाहयाम्यहम् ॥”
स्वागतो भव । सुप्रतिष्ठो भव । सन्निधो भव । सन्निहितो भव । सम्मुखो भव । इति पञ्चमुद्राः ॥
स्फुटयित्वाङ्कयेत् सूर्य्यं भुक्तिं मुक्तिं लभेन्नरः ॥
ॐ श्रीं विद्यां किलिकिलि, कटकेष्टसर्व्वार्थसाधनाय स्वाहा । ॐ श्रीं ह्रीं ह्रः हंसः सूर्य्याय नमः स्वाहा । ॐ श्रीं ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौं ह्रः सूर्य्यमूर्त्तये स्वाहा । ॐ श्रीं ह्रीं खं खः लोकाय सर्व्वमूर्त्तये स्वाहा । ॐ ह्रूं मार्त्तण्डाय स्वाहा ।

“नमोऽस्तु सूर्य्याय सहस्रभानवे
नमोऽस्तु वैश्वानर जातवेदसे ।
त्वमेव चार्घ्यं प्रतिगृह्ण देव
देवाधिदेवाय नमो नमस्ते ॥

नमो भगवते तुभ्यं नमस्ते जातवेदसे ।
दत्तमर्घ्यं मया भानो त्वं गृहाण नमोऽस्तु ते ॥
एहि सूर्य्यसहस्रांशो तेजोराशे जगत्पते ।
अनुकम्पय मां देव गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते ॥
नमो भगवते तुभ्यं नमस्ते जातवेदसे ॥
ममेदमर्घ्यं गृह्ण त्वं देवदेव नमोऽस्तु ते ॥
सर्व्वदेवाय देवाय आधिव्याधिविनाशिने ।
इदं गृहाण मे देव सर्व्वव्याधिर्विनश्यतु ॥
नमः सूर्य्याय शान्ताय सर्व्वरोगविनाशिने ।
ममेप्सितं फलं दत्वा प्रसीद परमेश्वर ॥”
ॐ नमो भगवते सूर्य्याय स्वाहा । ॐ शिवाय स्वाहा । ॐ सर्व्वात्मने सूर्य्याय नमः स्वाहा । ॐ अक्षय्यतेजसे नमः स्वाहा ।
“सर्व्वसंकटदारिद्र्यं शत्रुं नाशय नाशय ।
सर्व्वलोकेषु विश्वात्मा सर्व्वात्मा सर्व्वदर्शकः ॥
नमो भगवते सूर्य्य कुष्ठरोगान् विखण्डय ।
आयुरारोग्यमैश्वर्यं देहि देव नमोऽस्तु ते ।
नमो भगवते तुभ्यमादित्याय नमो नमः ॥”
ॐ अक्षय्यतेजसे नमः । ॐ सूर्य्याय नमः ।
ॐ विश्वमूर्त्तये नमः ।
“आदित्यञ्च शिवं विन्द्याच्छिवमादित्यरूपिणम् ।
उभयोरन्तरं नास्ति आदित्यस्य शिवस्य च ॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं पुरुषो वै दिवाकरः ।
उदये ब्रह्मणो रूपं मध्याह्ने तु महेश्वरः ॥
अस्तमाने स्वयं विष्णुस्त्रिमूर्त्तिश्च दिवाकरः ।
नमो भगवते तुभ्यं विष्णवे प्रभविष्णवे ॥

ममेदमर्घ्यं प्रतिगृह्ण देव
देवाधिदेवाय नमो नमस्ते ॥”

श्रीसूर्य्याय साङ्गाय सपरिवाराय श्रीसूर्य्यनारायणायेदमर्घ्यम् ।
“हिमघ्नाय तमोघ्नाय रक्षोघ्नाय च ते नमः ।
कृतघ्नघ्नाय सत्याय तस्मै सत्यात्मने नमः ॥
जयो जयश्च विजयो जितप्राणो जितश्रमः ।
मनोजवो जितक्रोधो वाजिनः सप्त कीर्त्तिताः ॥

हरितहयरथं दिवाकरं
कनकमयाम्बुजरेणुपिञ्जरम् ।
प्रतिदिनमुदयं नवं नवं
शरणमुपैमि हिरण्यरेतसम् ॥

न तं बालाः प्रबाधन्ते न व्याधिभ्यो भयं भवेत् ।
न नागेभ्यो भयञ्चैव न च भूतभयं क्वचित् ॥
अग्निशत्रुभयं नास्ति पार्थिवेभ्यस्तथैव च ।
दुर्गतिं तरते घोरां प्रजाश्च लभते पशून् ॥
सिद्धिकामो लभेत् सिद्धिं कन्याकामस्तु कन्यकाम् ।
एतत्पठेत्स कौन्तेय भक्तियुक्तेन चेतसा ॥
अश्वमेधसहस्रस्य वाजपेयशतस्य च ।
कन्याकोटिसहस्रस्य दत्तस्य फलमाप्नुयात् ॥
इदमादित्यहृदयं योऽधीते संततं नरः ।
सर्व्वपापविशुद्धात्मा सूर्य्यलोके महीयते ॥
नास्त्यादित्यसमो देवो नास्त्यादित्यसमा गतिः ।
प्रत्यक्षो भगवान् विष्णुर्येन विश्वं प्रतिष्ठितम् ॥
नवतिर्योजनं लक्षं सहस्राणि शतानि च ।
यावद्घटीप्रमाणेन तावच्चरति भास्करः ॥
गवां शतसहस्रस्य सम्यग् दत्तस्य यत् फलम् ।
तत् फलं लभते विद्वान् शान्तात्मा स्तौति यो रविम् ।

योऽधीते सूर्य्यहृदयं सकलं सफलं भवेत् ।
अष्टानां ब्राह्मणानाञ्च लेखयित्वा समर्पयेत् ॥
ब्रह्मलोकञ्चयौयाञ्च जायते मानुषोऽपि वा ।
जातिस्मरत्वमाप्नोति शुद्धात्मा नात्र संशयः ॥

अजाय लोकत्रयपावनाय
भूतात्मने गोपतये वृषाय ।
सूर्य्याय सर्व्वप्रलयान्तकाय
नमो महाकारुणिकोत्तमाय ॥
विवस्वते ज्ञानभृतान्तरात्मने
जगत्प्रदीपाय जगद्धितैषिणे ।
स्वयम्भुवे दीप्तसहस्रचक्षुषे
सुरोत्तमायामिततेजसे नमः ॥
सुरैरनेकैः परिसेविताय
हिरण्यगर्भाय हिरण्मयाय ।
महात्मने मोक्षपदाय नित्यं
नमोऽस्तु ते वासरकारणाय ॥

आदित्यश्चार्च्चितो देव आदित्यः परमं पदम् ।
आदित्यो मातृको भूत्वा आदित्यो वाङ्मयं जगत् ।
आदित्यं पश्यते भक्त्या मां पश्यति ध्रुवं नरः ।
नादित्यं पश्यते भक्त्या न स पश्यति मां नरः ॥
त्रिगुणञ्च त्रितत्त्वञ्च त्रयो देवास्त्रयोऽग्नयः ।
त्रयाणाञ्च त्रिमूर्त्तिस्त्वं तुरीयस्त्वं नमोऽस्तु ते ॥

नमः सवित्रे जगदेकचक्षुषे
जगत्प्रसूतिस्थितिनाशहेतवे ।
त्रयीमयाय त्रिगुणात्मधारिणे
विरिञ्चिनारायणशङ्करात्मने ॥
यस्योदये नेह जगत्प्रबुद्ध्यते
प्रवर्त्तते चाखिलकर्म्मसिद्धये ।
ब्रह्मेन्द्रनारायणरुद्रवन्दितः
स नः सदा यच्छतु मङ्गलं रविः ॥
नमोऽस्तु सूर्य्याय सहस्ररश्मये
सहस्रशाखान्वितसम्भवात्मने ।
सहस्रयोगोद्भवभावभागिने
सहस्रसंख्यायुगधारिणे नमः ॥
यन्मण्डलं दीप्तिकरं विशालं
रत्नप्रभं तीव्रमनादिरूपम् ।
दारिद्र्यदुःखक्षयकारणञ्च
पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥
यन्मण्डलं देवगणैः सुपूजितं
विप्रैः स्तुतं भावनमुक्तिकोविदम् ।
तं देवदेवं प्रणमामि सूर्य्यं
पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥
यन्मण्डलं ज्ञानघनं त्वगम्यं
त्रैलोक्यपूज्यं त्रिगुणात्मरूपम् ।
समस्ततेजोमयदिव्यरूपं
पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥
यन्मण्डलं गूढमतिप्रबोधं
धर्म्मस्य वृद्धिं कुरुते जनानाम् ।
तत् सर्व्वपापक्षयकारणञ्च
पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥
यन्मण्डलं व्याधिविनाशदक्षं
यदृग्यजुःसामसु सम्प्रगीतम् ।
प्रकाशितं येन च भूर्भुवः स्वः
पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥
यन्मण्डलं वेदविदो वदन्ति
गायन्ति यच्चारणसिद्धसङ्घाः ।
यद्योगिनो योगजुषाञ्च सङ्घाः
पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥
यन्मण्डलं सर्व्वजनेषु पूजितं
ज्योतिश्च कुर्य्यादिह मर्त्त्यलोके ।
यत्कालकालादिमनादिरूपं
पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥
यन्मण्डलं विष्णुचतुर्म्मुखाख्यं
यदक्षरं पापहरं जनानाम् ।
यत्कालकल्पक्षयकारणञ्च
पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥
यन्मण्डलं विश्वसृजं प्रसिद्ध-
मुत्पत्तिरक्षाप्रलयप्रगल्भम् ।
यस्मिन् जगत् संहरतेऽखिलञ्च
पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥
यन्मण्डलं सर्व्वगतस्य विष्णो-
रात्मा परं धाम विशुद्धतत्त्वम् ।
सूक्ष्मान्तरैर्योगपथानुगम्यं
पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥
यन्मण्डलं ब्रह्मविदो वदन्ति
गायन्ति यच्चारणसिद्धसङ्घाः ।
यन्मण्डलं वेदविदः स्मरन्ति
पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥
यन्मण्डलं वेदविदोपगीतं
यद्योगिनां योगपथानुगम्यम् ।
तत् सर्व्ववेदं प्रणमामि सूर्य्यं
पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम् ॥

मण्डलाष्टमिदं पुण्यं यः पठेत् सततं नरः ।
सर्व्वपापविशुद्धात्मा सूर्य्यलोके महीयते ॥

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्त्ती
नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः ।
केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरिटी
हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः ॥
सशङ्खचक्रं रविमण्डले स्थितं
कुशेशयाक्रान्तमनन्तमच्युतम् ।
भजामि बुद्ध्या तपनीयमूर्त्तिं
सुरोत्तमं चित्रविभूषणोज्ज्वलम् ॥

एवं ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः ।
कीर्त्तयन्ति सुरश्रेष्ठं देवं नारायणं विभुम् ॥
वेदवेदाङ्गशरीरं दिव्यदीप्तिकरं परम् ।
रक्षोघ्नं रक्तवर्णञ्च सृष्टिसंहारकारकम् ॥
एकचक्रो रथो यस्य दिव्यः कनकभूषितः ।
स मे भवतु सुप्रीतः पद्महस्तो दिवाकरः ॥
आदित्यः प्रथमं नाम द्वितीयन्तु दिवाकरः ।
तृतीयं भास्करः प्रोक्तं चतुर्थन्तु प्रभाकरः ॥
पञ्चमन्तु सहस्रांशुः षष्ठञ्चैव त्रिलोचनः ।
सप्तमं हरिदश्वञ्च अष्टमञ्च विभावसुः ॥
नवमं दिनकृत् प्रोक्तं दशमं द्वादशात्मकः ।
एकादशं त्रयीमूर्त्तिर्द्वादशं सूर्य्य एव च ॥
द्वादशादित्यनामानि प्रातःकाले पठेन्नरः ।
दुःस्वप्ननाशनञ्चैव सर्व्वदुःखञ्च नश्यति ॥
दद्रुकुष्ठहरञ्चैव दारिद्र्यं हरते ध्रुवम् ।
सर्व्वतीर्थप्रदञ्चैव सर्व्वकामप्रवर्द्धनम् ॥
यः पठेत् प्रातरुत्थाय भक्त्या नित्यमिदं नरः ।
सौख्यमायुस्तथारोग्यं लभते मोक्षमेव च ॥
अग्निमीळे नमस्तुभ्यमिषेत्वोर्ज्जस्वरूपिणे ।
अग्न आयाहि वीतस्त्वं नमस्ते ज्योतिषां पते ॥
शन्नोदेवी नमस्तुभ्यं जगच्चक्षुर्नमोऽस्तु ते ।
पञ्चमायोपवेदाय नमस्तुभ्यं नमो नमः ॥
पद्मासनः पद्मकरः पद्मगर्भसमद्युतिः ।
सप्ताश्वरथसंयुक्तो द्विभुजः स्यात् सदा रविः ॥
आदित्यस्य नमस्कारं ये कुर्व्वन्ति दिने दिने ।
जन्मान्तरसहस्रेषु दारिद्र्यं नोपजायते ॥

उदयगिरिमुपेतं भास्करं पद्महस्तं
निखिलभुवननेत्रं भक्तरत्नोपमेयम् ।
तिमिरकरिमृगेन्द्रं बोधकं पद्मिनीनां
सुरवरमभिवन्दे सुन्दरं विश्ववन्द्यम् ॥”

इति श्रीभविष्योत्तरपुराणे श्रीकृष्णार्ज्जुनसंवादे आदित्यहृदयस्तोत्रं संपूर्णम् ॥ * ॥)

सूर्य्या, स्त्री, (सूर्य्यस्य भार्य्या । टाप् ।) सूर्य्यभार्य्या । संज्ञा । इति शब्दरत्नावली ॥ इन्द्रवारुणी । इति राजनिर्घण्टः ॥ नवोढा । इति शब्दरत्नावली ॥ यथा, श्रीभागवते । १० । १ । २६ ।

“तस्यां हि कर्हिचिच्छौरिर्व्वसुदेवः कृतोद्वहः ।
देवक्या सूर्य्यया सार्द्धं प्रयाणे रथमारुहत् ॥”

(वाक् । इति निघण्टुः । १ । ११ ॥ “सर्त्ते-र्गत्यर्थात् सुवतेर्व्वा प्रेरणार्थात् राजसूय-सूर्य्येत्यादिना निपातनात् क्यपि सर्त्तेरुत्वं सुवतेर्व्वा रुडागमः । सरति गच्छति स्तोतॄन् प्रति, कर्म्मप्रच्युतिं वा सुवति प्रेरयति चोदनां-रूपा पुरुषाणेनिदं कुर्व्विति । यद्वा, सुपूर्व्वा-दीरतेः कृत्यल्युटो बहुलम् इति कर्म्मणि क्यपि निपातनाद्रूपसिद्धिः । सुष्ठु ईर्य्यते उच्चार्य्यते इति सूर्य्या । यद्वा, षु प्रेरणे सुसूधाग्टधिभ्यः क्रन् इति क्रन्-प्रत्ययः । प्रेर्य्यते उच्चारणकाले प्राणेन सूरा छन्दसि स्वार्थे इति यत्प्रत्ययः सूर्य्या । यद्वा, सूरयो मेधाविनः तानर्हति छन्दसि च इति यत्-प्रत्ययः । यद्वा, सूरिषु साधुः तत्र साधुः इति यत् ।” इति तट्टीकायां देवराजयज्वा ॥)

सूर्य्यार्घ्य, क्ली, (सूर्य्याय देयमर्घ्यम् ।) सूर्य्यसम्प्रदानकार्घ्यम् । शान्तिपूजायां अच्छिद्रावधारणार्थं सूर्य्यार्घ्यदानम् । यथा,—

“ततो भास्करबीजेन सहितेनामुना पुनः ।
मन्त्रेण भास्करायार्घ्यमच्छिद्रार्थं निवेदयेत् ॥
नमो विवस्वते ब्रह्मन् भास्वते विष्णुतेजसे ।
जगत्सवित्रे शुचये सवित्रे कर्म्मदायिने ॥
ततः कृताञ्जलिर्भूत्वा पठित्वा मन्त्रमीरितम् ।
एकाग्रमनसा वाग्भिरच्छिद्रमवधारयेत् ॥
यच्छिद्रं तपश्छिद्रं यच्छिद्रं पूजने मम ।
सर्व्वं तदच्छिद्रमस्तु भास्करस्य प्रसादतः ॥”

इति कालिकापुराणे ५६ अध्यायः ॥ * ॥

रोगादिशान्त्यर्थं सूर्य्यस्य हंसादिसप्ततिनामभिः सप्ततिधार्घ्यप्रदानप्रमाणं यथा,—
"हंसो भानुः सहस्रांशुस्तपनस्तापनो रविः।
विकर्त्तनो विवस्वांश्च विश्वकर्म्मा विभावसुः॥
विश्वरूपो विश्वकर्त्ता मार्त्तण्डो मिहिरोऽंशुमान्।
आदित्यश्चोष्णगुः सूर्य्योऽर्य्यमा ब्रध्नो दिवाकरः॥
द्वादशात्मा सप्तहयो भास्करोऽहस्करः खगः।
सूरः प्रभाकरः श्रीमान् लोकचक्षुर्ग्रहेश्वरः॥
त्रिलोकेशो लोकसाक्षी तमोऽरिः शाश्वतः शुचिः।
गभस्तिहस्तस्तीव्रांशुस्तरणिः सुमहोरणिः॥
द्युमणिर्हरिदश्वोऽर्को भानुमान् भयनाशनः।
छन्दोऽश्वो वेदवेद्यश्च भास्वान् पूषा वृषाकपिः॥
एकचक्ररथो मित्रो मन्देहारिस्तमिस्रहा।
दैत्यहा पापहर्त्ता च धर्म्माधर्म्मप्रकाशकः॥
हेलिकश्चित्रभानुश्च कलिघ्नस्तार्क्ष्यवाहनः।
दिक्पतिः पद्मिनीनाथः कुशेशयकरो हरिः॥
घर्म्मरश्मिर्दुर्निरीक्ष्यश्चण्डांशुः कश्यपात्मजः।
एभिः सप्ततिसंख्याकैः पुण्यैः सूर्य्यस्य नामभिः॥
प्रणवादिचतुर्थ्यन्तैर्नमस्कारसमन्वितैः।
प्रत्येकमुच्चरन्नाम दृष्ट्वा दृष्ट्वा दिवाकरम्॥
विधृत्य पाणियुग्मेन ताम्रपात्रं सुनिर्म्मलम्।
जानुभ्यामवनीं गत्वा परिपूर्य्य जलेन च॥
करवीरादिकुसुमै रक्तचन्दनमिश्रितैः।
दूर्व्वाङ्कुरैरक्षतैश्च निःक्षिप्तैः पात्रमध्यतः॥
दद्यादर्घ्यमनर्घ्याय सवित्रे ध्यानपूर्व्वकम्।
उपमौलि समानीय तत्पात्रं नान्यदृङ्मनाः॥
प्रतिमन्त्रं नमस्कुर्य्यादुदयास्तमये रविम्।
अनया नाम सप्तत्या महामन्त्ररहस्यया॥
एवं कुर्व्वन्नरो जातु न दरिद्रो न दुःखभाक्।
व्याधिभिर्म्मुच्यते घोरैरपि जन्मान्तरार्ज्जितैः॥
विनौषधैर्व्विना वैद्यैर्व्विना पथ्यपरिग्रहैः।
कालेन निधनं प्राप्य सूर्य्यलोके महीयते॥"

इति स्कन्दपुराणे काशीखण्डे ६ अध्यायः॥

सूर्य्यालोकः, पुं, (सूर्य्यस्य आलोकः।) आतपः। इति राजनिर्घण्टः॥

सूर्य्यावर्त्तः, पुं, (सूर्य्य इव आवर्त्तते इति। आ + वृत् + अच्।) क्षुपविशेषः। हुड्हुड़िया इति भाषा। अस्य गुणः। सूर्य्यावर्त्तो विबन्धघ्नः। इति राजवल्लभः॥ शाकविशेषः। सुलचिया इति भाषा। तत्पर्य्यायः।
"पार्व्वतेयश्च करभी वशिरः कपिपिप्पली।
जामातासौ कथित् प्रोक्तः सूर्य्यावर्त्तः सितोऽपरः॥"

इति रत्नमाला॥

"वराहकाली कथितः सूर्य्यावर्त्तस्तु शान्दिके॥"

इति हारावली॥

सूर्य्यावर्त्ता, स्त्री, (सूर्य्य इव आवर्त्तते या। आ + वृत् + अच्। टाप्।) आदित्यभक्ता। इति राजनिर्घण्टः॥

सूर्य्याश्मा, [न्] पुं (सूर्य्यप्रियोऽश्मा प्रस्तरः।) सूर्य्यकान्तमणिः। इति हेमचन्द्रः॥

सूर्य्याश्वः, पुं, (सूर्य्यस्य अश्वः।) सूर्य्यघोटकः। तत्पर्य्यायः। वाताटः २ हरितः ३। इति त्रिकाण्डशेषः॥

सूर्य्यास्तं, क्ली, (सूर्य्यस्य अस्तम्।) सूर्य्यस्यास्ताचलगमनम्। यथा,—
"निशीथादध इत्यनेन अहोरात्रपूर्व्वकालत्वेन सूर्य्यास्तमयकालस्यापि लाभात्॥" इति तिथ्यादितत्त्वम्॥

सूर्य्याह्वं, क्ली, (सूर्य्यस्य आह्वा आख्या यस्य।) ताम्रम्। इति त्रिकाण्डशेषः॥ सूर्य्यनामके, त्रि॥

सूर्य्याह्वः, पुं, (सूर्य्यस्य आह्वा आख्या यस्य।) अर्कवृक्षः। इति राजनिर्घण्टः॥

सूर्य्येन्दुसङ्गमः, पुं, (सूर्य्येण सह इन्दोः सङ्गम एकराश्यवस्थानरूपमेलनं यत्र।) अमावास्या। इत्यमरः। १। ४। ८॥ सूर्य्यचन्द्रमेलनञ्च॥

सूर्य्योढः, पुं, (सूर्य्येण ऊढोऽस्तगतो यत्र।) सूर्य्यास्तकालप्राप्तोऽतिथिः। यथा,—
"सूर्य्योढस्तु स सम्प्राप्तो यः सूर्य्येऽस्तं गतेऽतिथिः॥"

इति हेमचन्द्रः॥

यथा, विष्णुपुराणम्।
"दिवातिथौ तु विमुखे गते यत् पातकं भवेत्।
तदेवाष्टगुणं विद्यात् सूर्य्योढे विमुखे गते॥"

इत्याह्निकाचारतत्त्वम्॥

सूर्य्योदयः, पुं, (सूर्य्यस्य उदयः।) सूर्य्यस्य प्रकाशः। यथा, विष्णुधर्म्मोत्तरे।
"सावने च तथा मासि त्रिंशत्सूर्य्योदयाः स्मृताः।
आदित्यराशिभोगेन सौरो मासः प्रकीर्त्तितः॥"

इति मलमासतत्त्वम्॥

तत्र शयननिषेधो यथा,—
"सूर्य्योदये चास्तमिते च शायिनं
विमुञ्चति श्रीरपि चक्रपाणिनम्॥"

इति लक्ष्मीचरित्रम्॥

तत्काले स्नानादेः कर्त्तव्यता यथा,—
"सूर्य्योदयं विना नैव स्नानदानादिकाः क्रियाः॥"

इति प्रायश्चित्ततत्त्वम्॥

सूष, प्रसवे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट्।) षष्ठस्वरी। सूषति। इति दुर्गादासः॥

सृ, गतौ। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-पर०-सक०-अनिट्।) सरति। नालानं करिणा सस्रे इति रघौ कर्म्मकर्तृत्वादिति रमानाथः। तच्चिन्त्यं कर्तृस्थभावधातूनां तन्निषेधात्। वस्तुतस्तु गमकत्वानित्यत्वादात्मनेपदम्। नालानेरिति वा पाठ्यं तत्र कर्म्माविवक्षायां भावे प्रत्ययः। इति दुर्गादासः॥

सृ, क गतौ। स्मृतौ। इति कविकल्पद्रुमः॥ (चुरा०-पर०-सक०-सेट्।) क, सारयति। इति दुर्गादासः॥

सृ, र लि गतौ। इति कविकल्पद्रुमः॥ (ह्वा०-पर०-सक०-अनिट्।) र, वैदिकः। लि, ससर्त्ति। इति दुर्गादासः॥

सृक्, [ज्] पुं, (सृजतीति। सृज् + क्विप्।) सृष्टिकर्त्ता। तस्य रूपान्तराणि। सृग्। सृट्। सृड्। इति सिद्धान्तकौमुदी॥

सृकः, पुं, (सरतीति। सृ गतौ + "सृवृभूशुषिमुषिभ्यः कक्।" उणा० ३। ४१। इति कक्।) कैरवः। वाणः। इत्युणादिकोषः॥ पद्मम्। वायुः। इति सिद्धान्तकौमुद्यामुणादिवृत्तिः॥ (वज्रः। इति निघण्टुः। २। २०॥ सरणशीले, त्रि। यथा, ऋग्वेदे। १०। १८०। २।
"सृकं संशाय पविमिन्द्रतिग्मम्॥"
"सृकं सरणशीलम्।" इति तद्भाष्यम्॥)

सृकण्डुः, स्त्री, कच्छूरोगः। इति शब्दरत्नावली॥

सृकालः, पुं, सृगालः। इति शब्दचन्द्रिका॥

सृक्क, [न्] क्ली, (सृजति लालादीनिति। सृज + बाहुलकात् कनिन्।) सृक्कणी। इति सुभूतिः। इत्यमरटीकायां भरतः॥ (यथा, महाभारते। ३। १२५। २।
"भयात् संस्तम्भितभुजः सृक्कणी लेलिहन्मुहुः॥")

सृक्कं, क्ली, सृक्कणी। इत्यमरटीकायां भरतः॥ (यथा, सुश्रुते। २। १६।
"जम्भवच्चात्र मूर्च्छन्ति सृक्कस्रोभयतोमुखात्॥")

सृक्कणी, स्त्री, ओष्ठयोः प्रान्तभागः। इति पाणिनिः। इत्यमरटीकायां भरतः॥ (यथा, सुश्रुते। ६। ६०।
"भूमौ यः प्रसरति सर्पवत् कदाचित्
सृक्कण्यौ विलिहति जिह्वया प्रसक्तम्॥")

सृक्कि, क्ली, सृक्कणी। इत्यरुणः। इत्यमरटीकायां भरतः॥

सृक्क, [न्] क्ली, (सृजति लालादीनिति। सृज + वनिप्।) ओष्ठप्रान्तभागः। यथा,—
"————————प्रान्तावोष्ठस्य सृक्कणी।"

इत्यमरः॥

"ओष्ठयोर्व्वामदक्षिणौ प्रान्तौ सृक्कणी उच्येते। ओष्ठस्येति जातावेकत्वम्। सृजतो लालादि सृक्कणी चासुनिति कनिप् निपातनात् कङ्। सृक्कणा कर्णितप्रयोगात् वसंयोगः। अन्यथा टायां सदानोऽल्लोप इत्यल्लोपः स्यात्। 'महासृक्काय शोभितो नृसिंहनखरागवत्।' इति श्लेषात् ककारद्वयसंयोगोऽपि। सृक्क नाम्नं क्लीवं सृक्कणी क्लीवे इति सुभूतिः। प्रान्तावोष्ठस्य सृक्कणी क्लीवकाण्डेऽमरदत्तश्च। ईश्माणि सृक्कणी। सृक्कण्यौ विलिहति जिह्वया तथैवेति रुचिनिश्चयः।
'स सृक्कणीप्रान्तमसृक्प्रदिग्धं
प्रलेलिहानो हरिणा विरुद्धः।'

इति पाणिनिः॥

सृक्कि क्लीवमिदन्तञ्च सक्थ्यस्थिनी दधि सक्थि तथा वारिः स्यादित्यरुणः। सृक्कं क्लीवमदन्तञ्च।
'सृक्के द्वे चैव विज्ञेये चत्वारिंशच्च वक्त्रजाः।'

इत्युक्तेः । वामं लिहन् सृक्कमरण्यघूर्णं, इति वसन्तराजप्रयोगाच्च ।” इति भरतः ॥

सृक्कं, क्ली, ओष्ठप्रान्तभागः । इति वसन्तराजप्रयोगः ।.इत्यमरटीकायां भरतः ॥.

सृक्कणी, स्त्री, ओष्ठप्रान्तभागः । कस इति भाषा । इति शाब्दिकः । इत्यमरटीकायां भरतः । २ । ६ । ९१ ॥

सृक्कि, क्ली, ओष्ठयोः प्रान्तभागः । इत्यरुणः । इत्यमरटीकायां भरतः । २ । ६ । ९१ ॥

सृक्किणी, स्त्री, ओष्ठयोरन्तरम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

सृगः, पुं, (सरतीति । सृ + बाहुलकात् गक् ।) भिन्दिपालः । इत्यमरः । २ । ८ । ९१ ॥

सृगालः, पुं (सृजति मायामिति । सृज् + बाहुलकात् कालन् । न्यङ्क्वादित्वात् कुत्वम् ।) जम्बुकः । इति शब्दरत्नावली ॥ दैत्यविशेषः । इति केचित् ॥

सृङ्का, स्त्री, शब्दवती रत्नमयी माला । यथा,—

“तमब्रवीत् प्रीयमाणो महात्मा
वरं तवेहाद्य ददामि भूयः ।
तवैव नाम्ना भवितायमग्निः
सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण ॥”

इति कठोपनिषदि प्रथमा वल्ली ॥

“सृङ्कां शब्दवतीं रत्नमयीं मालां इमामनेकरूपां विचित्रां गृहाण स्वीकुरु । सृङ्कां वाकुत्सितां गतिं कर्म्ममयीं गृहाण । अन्यदपि कर्म्मविज्ञानमनेकहेतुत्वात् स्वीकुर्व्वित्यर्थः ।” इत्यादि शाङ्करभाष्यम् ॥

सृज, औ श विसर्गे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (तुदा०-पर०-सक०-अनिट् ।) औ, अस्राक्षीत् । श, सृजति । इति दुर्गादासः ॥

सृज, य ङ औ विसर्गे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (दिवा०-आत्म०-सक०-अनिट् ।) य ङ, सृज्यते । औ, स्रष्टा । स्रक्ष्यते । विसर्गस्त्यागः । त्यागो शुद्धां पर एव अन्यत्र करोतीत्यर्थः । यथा । उपासनामेत्य पितुः स सृज्यते इति नैषधम् ॥ संपूर्व्वोऽयमकर्म्मकः । यथा । संसृज्यते सरसिजैररुणांशुभिन्नैः “निशापरिणामवायुरिति रघुः । इति दुर्गादासः ॥

सृजकाचारः, पुं, सर्ज्जिकाचारः । इत्यमरटीकायां रमानाथः ॥

सृणिः, पुं, (सरतीति । सृ + “सृविषिभ्यां कित् ।” उणा० ४ । ४९ । इति निः । स च कित् । णत्वञ्च ।) शत्रुः । इति शब्दमाला ॥

सृणिः, स्त्री, (सृ + निः । णत्वञ्च ।) अङ्कुशः । इत्यमरः । २ । ८ । ४१ ॥ (सृणिरयोरित्युणादिवृत्तौ उज्ज्वलदत्तः ॥ तथा च शिशुपालवधे । ५ । ५ ।

“आरक्षममवमत्य सृणिं शिताग्रमेकः पलायत जवेन कृतार्त्तनादः ॥”)

सृणिका, स्त्री, लाला । इत्यमरः । २ । ६ । ६७ ॥

सृणी, स्त्री, (सृणि + कृदिकारादिति ङीष् ।) अङ्कुशः । इत्यमरः । २ । ८ । ४१ ॥

सृणीका, स्त्री, लाला । इत्यमरटीकायां रामाश्रमः । २ । ६ । ६७ ॥

सृतः, त्रि, (सृ + क्तः ।) गतः । (यथा, महाभारते । ९ । २३ । २९ ।

“गान्धारराजस्तु पुनर्वाक्यमाह ततो बली ।
निवर्त्तध्वमधर्म्मज्ञा युध्यध्वं किं सृतेन वः ॥”)

सृतिः, स्त्री, (सृ + क्तिन् ।) गमनम् । मार्गः । इति मेदिनी ॥ (यथा, गीतायाम् । ८ । २७ ।

“नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्व्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्ज्जुन ॥”*

जन्म । इति स्वामी ॥ यथा, भागवते । १० । ६० । ४३ ।

“त्वाङ्ग तवाङ्घ्रिवरणं सृतिभिर्भ्रमन्त्या
यो वै भवाप्तमुपयात्यनृतापवर्गः ॥”

निर्म्माणम् । यथा, भागवते । ३ । २ । १३ ।

“कात् स्नेन चाद्येह गतं विधातुरर्व्वाक्सृतौ कौशलमित्यमन्यत ॥”

“अर्व्वाक्सृतौ अर्व्वाचीनसंसारनिर्म्माणे मनुष्यनिर्म्माणे वा ।” इति तट्टीका ॥)

सृत्वरः, त्रि, (सरति तच्छीलः । सृ गतौ + “इण्नश्जिसर्त्तिभ्यः क्वरप् ।” ३ । २ । १६३ । इति क्वरप् ।) गमनकर्त्ता । सृधातोः क्वरप्प्रत्यये तगागमेन निष्पन्नः । इति मुग्धबोधव्याकरणम् ॥

सृत्वरी, स्त्री, (सृ + क्वरप् । सृ + क्वनिप् वा । ङीप् ।) माता । इति संक्षिप्तसारोणादिवृत्तिः ॥ गमनकर्त्री । इति मुग्धबोधव्याकरणम् ॥

सृत्वा, [न्] पुं, (सृ गतौ + “शीङ्क्रुशीरुहीति ।” उणा० ४ । ११३ । इति क्वनिप् ।) विसर्पः । वृष्णिः । प्रजापतिः । इति संक्षिप्तसारोणादिवृत्तिः ॥

सृदरः, पुं, (दृ विदारणे + “कृदरादयश्च ।” उणा० ५ । ४१ । इति अच्प्रत्ययेन निपातनात् साधुः ।) सर्पः । इति सिद्धान्तकौमुद्यामुणादिवृत्तिः ॥

सृदाकुः, पुं, (सरतीति । सृ + “सर्त्तेर्दुक् च ।” उणा० ३ । ७८ । इति काकुर्दुगागमश्च ।) वायुः । वज्रम् । अग्निः । प्रतिसूर्य्यकः । इति मेदिनी ॥ मृगः । इति संक्षिप्तसारोणादिवृत्तिः ॥

सृदाकुः, स्त्री, (सरतीति । सृ गतौ + काकुर्दुगागमश्च ।) नदी । इत्युणादिकोषः ॥

सृप, लृ औ गत्याम् । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-अनिट् ।) लृ, असृपत् । अस्य लृदित्त्वेऽपि शब्दस्पृश इति विशेषविधानात् पक्षे च्लेः सिः तेन असार्प्सीत् अस्राप्सीत् इत्यपि । औ, सर्प्ता । इति दुर्गादासः ॥

सृपाटः, पुं, सृपाटी । इति स्त्रीपुंलिङ्गसंग्रहटीकायां भरतः । ३ । ५ । ३८ ॥

सृपाटिका, स्त्री, चञ्चुः । इति हेमचन्द्रः ॥

सृपाटी, स्त्री, (सृपाट + गौरादित्वात् ङीष् ।) परिमाणभेदः । इति स्त्रीपुंलिङ्गसंग्रहटीकायां भरतः । ३।५।३८ ॥ रक्तधारा । इति तत्रैव गोवर्द्धनः ॥

सृप्रः, पुं, (सृप गतौ + “स्फायितञ्चिवञ्चीति ।” उणा० २ । १३ । इति रक् ।) चन्द्रः । इत्युणादिकोषः ॥

सृभ, उ हिंसे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट् । क्त्वावेट् ।) सप्तमस्वरी । उ, सर्भित्वा सृब्ध्वा । इति दुर्गादासः ॥

सृमरः, पुं, (सरति तच्छीलः । सृ गतौ + “सृघस्यदः क्मरच् ।” ३।२।१६० । इति क्मरच् ।) पशुविशेषः । इत्यमरः । २ । ५ । ११ ॥ बालमृगः । इति केचित् ॥ (यथा, रामायणे । ३ । १०३ । ४२ ।

“वराहमृगसिंहाश्च महिषाः सृमरास्तथा ।
व्याघ्रगोकर्णगवया वित्रेसुः पृषतैः सह ॥”)

सृष्टं, त्रि, (सृज् + क्तः ।) निर्म्मितम् । युक्तम् । निश्चितम् । बहुलम् । इति मेदिनी ॥ भूषितम् । इत्यजयः ॥ त्यक्तम् । (यथा, रामायणे । २ । ३५ । १५ ।

“महाब्रह्मर्षिसृष्टा वा ज्वलन्तो भीमदर्शनाः ।
धिक्वाग्दण्डा न हिंसन्ति रामप्रव्राजने स्थिताम् ॥”)

सृष्टिः, स्त्री, (सृज् + क्तिन् ।) निर्म्मितिः । स्वभावः । इति मेदिनी ॥ निर्गुणः । इति शब्दरत्नावली ॥* अस्याः सृष्टिर्यथा । सृष्टेः पूर्व्वं मनश्चक्षुराद्यगोचरो भगवान् एक एवासीत् । यदा स स्वेच्छया द्रष्टा सन् दृश्यं नापश्यत् तदा त्रिगुणमयीं मायां प्रकाशयामास । ततो भगवान् स्वांशेन पुरुषरूपं कृत्वा तस्यां मायायां स्ववीर्य्यं चैतन्यं आधत्त । सा समष्टिजीवरूपं महत्तत्त्वं जनयामास । तस्मात् त्रिविधोऽहङ्कारो जातः तत्र सात्त्विकाहङ्कारात् मनइन्द्रियाधिष्ठातृदेवताश्च जाताः । राजसाहङ्कारात् दशेन्द्रियाणि जातानि । तामसाहङ्कारात् पञ्च महाभूतानि तेषां पञ्च गुणाश्च जाताः । एवं प्रकृत्यादिभिरेतैश्चतुर्विंशतितत्त्वैर्ब्रह्माण्डं निर्म्माय भगवान् तस्मिन्नेकेनांशेन प्रविश्य गर्भोदकसंज्ञकं जलं ससर्ज । तज्जलमध्ये योगनिद्रया सहस्रयुगमितं कालं स्थितवान् । तदन्ते उत्थाय स्वयमंशेन ब्रह्मा भूत्वा सर्व्वान् सृष्ट्वा नानावतारान् कृत्वा पालयति । कल्पान्ते रुद्ररूपेण संहरति च । इति श्रीभागवतमते संक्षेपसृष्टिः ॥ * ॥ अपि च ।

“स्थावरान्ताः सुराद्यास्तु प्रजा ब्रह्मंश्चतुर्व्विधाः ।
ब्रह्मणः कुर्व्वतः सृष्टिं जज्ञिरे मानसीस्तु ताः ॥
ततो देवासुरपितॄन् मनुष्यांश्च चतुष्टयम् ।
सिसृक्षुरम्भांस्येतानि स्वमात्मानमयूयुजत् ॥
युक्तात्मनस्तमोमात्रा उद्रिक्ताभूत् प्रजापतेः ।
सिसृक्षोर्जघनात् पूर्व्वमसुरा जज्ञिरे ततः ॥
उत्ससर्ज ततस्तान्तु तमोमात्रात्मिकां तनुम् ।
सा तु त्यक्ता तनुस्तेन मैत्रेयाभूद्विभावरी ॥
सिसृक्षुरन्यदेहस्थः प्रीतिमाप ततः सुराः ।
सत्त्वोद्रिक्ताः समुद्भूता मुखतो ब्रह्मणो द्विज ।

त्यक्ता सापि तनुस्तेन सत्त्वप्रायमभूद्दिनम् ।
ततो हि बलिनो रात्रावसुरा देवता दिवा ॥
सत्त्वमात्रात्मिकामेव ततोऽन्यां जगृहे तनुम् ।
पितृवन्मन्यमानस्य पितरस्तस्य जज्ञिरे ॥
उत्ससर्ज्ज ततस्तान्तु पितॄन् सृष्ट्वापि स प्रभुः ।
सा चोत्सृष्टाभवत् सन्ध्या दिननक्तान्तरस्थितिः ॥
रजोमात्रात्मिकामन्यां जगृहे स तनुं ततः ।
रजोमात्रोत्कटा जाता मनुष्या द्विजसत्तम ॥
तामप्याशु स तत्याज तनुमाद्यः प्रजापतिः ।
ज्योत्स्ना समभवत् सापि प्राक्सन्ध्या याभिधीयते ॥
ज्योत्स्नोद्गमे तु बलिनो मनुष्याः पितरस्तथा ।
मैत्रेय सन्ध्यासमये तस्मादेते भवन्ति वै ॥
ज्योत्स्ना रात्र्यहनी सन्ध्या चत्वार्य्येतानि वै प्रभोः ।
ब्रह्मणस्तु शरीराणि त्रिगुणोपाश्रयाणि तु ॥
रजोमात्रात्मिकामेव ततोऽन्यां जगृहे तनुम् ।
ततः क्षुद्ब्रह्मणो जाता जज्ञे कोपस्तया ततः ॥
क्षुत्क्षामानन्धकारेऽथ सोऽसृजद्भगवांस्ततः ।
विरूपाः श्मश्रुला जातास्तेऽभ्यधावन्त तं प्रभुम् ॥
मैवं भो रक्ष्यतामेष यैरुक्तं राक्षसास्तु ते ।
ऊचुः खादाम इत्यन्ये ये ते यक्षास्तु जक्षणात् ॥
अप्रियेणाथ तान् दृष्ट्वा केशाः शीर्य्यन्त वेधसः ।
हीनाश्च शिरसो भूयः समारोहन्त तच्छिरः ॥
सर्पणात्तेऽभवन् सर्पा हीनत्वादहयः स्मृताः ।
ततः क्रुद्धो जगत्स्रष्टा क्रोधात्मानो विनिर्ममे ॥
वर्णेन कपिशेनोग्रा भूतास्ते पिशिताशनाः ।
ध्यायतो गां समुत्पन्ना गन्धर्व्वास्तस्य तत्क्षणात् ॥
पिबन्तो जज्ञिरे वाचं गन्धर्व्वास्तेन ते द्विज ।
एतानि सृष्ट्वा भगवान् ब्रह्मा तच्छक्तिचोदितः ॥
ततः स्वच्छन्दतोऽन्यानि वयांसि वयसोऽसृजत् ।
अवयो वक्षसश्चक्रे मुखतोऽजाः स सृष्टवान् ॥
सृष्टवानुदराद्गाश्च पार्श्वाभ्याञ्च प्रजापतिः ।
पद्भ्याञ्चाश्वान् समातङ्गान् रासभान् गवयान् मृगान् ॥
उष्ट्रानश्वतरांश्चैव न्यङ्कूनन्यांश्च जातयः ।
ओषध्यः फलमूलानि रोमभ्यस्तस्य जज्ञिरे ॥
त्रेतायुगमुखे ब्रह्मा कल्पस्यादौ द्विजोत्तम ।
सृष्ट्वा पश्वोषधीः सम्यक् युयोज स तदाध्वरे ॥
गौरजो पौरुषो मेषो अश्वाश्वतरगर्द्दभाः ।
एतान् ग्राम्यपशूनाहुरारण्यांश्च निबोध मे ॥
श्वापदो द्विखुरो हस्ती वानरः पक्षिपञ्चमः ।
औदकाः पशवः षष्ठाः सप्तमास्तु सरीसृपाः ॥
गायत्रञ्च ऋचश्चैव त्रिवृत्सामरथन्तरम् ।
अग्निष्टोमञ्च यज्ञानां निर्म्ममे प्रथमान्मुखात् ॥
यजूंषि त्रैष्टुभं छन्दः स्तोमं पञ्चदशं तथा ।
बृहत्साम तथोक्थञ्च दक्षिणादसृजन्मुखात् ॥
सामानि जगती छन्दः स्तोमं सप्तदशं तथा ।
वैरूपमतिरात्रञ्च पश्चिमादसृजन्मुखात् ॥
एकविंशमथर्व्वाणमाप्तोर्य्यामाणमेव च ।
अनुष्टुभं स वैराजमुत्तरादसृजन्मुखात् ॥
उच्चावचानि भूतानि गात्रेभ्यस्तस्य जज्ञिरे ।
देवासुरपितॄन् सृष्ट्वा मनुष्यांश्च प्रजापतिः ॥
ततः पुनः ससर्ज्जादौ सङ्कल्पात् स पितामहः ।
यक्षान् पिशाचान् गन्धर्व्वान् तथैवाप्सरसां गणान् ॥
नरकिन्नररक्षांसि वयःपशुमृगोरगान् ।
अव्ययञ्च व्ययञ्चैव यदिदं स्थाणुजङ्गमम् ।
तत् ससर्ज्ज तदा ब्रह्मा भगवानादिकृत् प्रभुः ॥
तेषां ये यानि कर्म्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे ।
तान्येव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः ॥
हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्म्माधर्म्मावृतानृते ।
तद्भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात्तत्तस्य रोचते ॥
इन्द्रियार्थेषु भूतेषु शरीरेषु च स प्रभुः ।
नानात्वं विनियोगञ्च धातैव व्यसृजत् स्वयम् ॥
नाम रूपञ्च भूतानां कृत्यानाञ्च प्रपञ्चनम् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ देवादीनां चकार सः ॥
ऋषीणां नामधेयानि यथा वेदश्रुतानि वै ।
तथा नियोगयोग्यानि अन्येषामपि सोऽकरोत् ॥
यथर्त्तावृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्य्यये ।
दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु ॥
करोत्येवंविधां सृष्टिं कल्पादौ स पुनः पुनः ।
सिसृक्षाशक्तियुक्तोऽसौ सृज्यशक्तिप्रचोदितः ॥"

इति विष्णुपुराणे । १ । ५ । २७—६५ ॥

सृष्टिप्रदा, स्त्री, (सृष्टिं तद्धेतुभूतगर्भं प्रददातीति । प्र + दा + कः ।) गर्भदात्रीक्षुपः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सॄ, ञि हिंसे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (क्र्या०-पर०-सक०-अनिट् ।) दन्त्यादिरेकारोपधः तद्रहितोऽपीति केचित् । ञि, सृणाति । सीर्णः सीर्णिः । इति दुर्गादासः ॥

सेक, ऋ ङ गत्याम् । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-आत्म०-सक०-सेट् ।) ऋ, असिसेकत् । ङ, सेकते । इति दुर्गादासः ॥

सेकः, पुं, (सिच् + घञ् ।) सेचनम् । तत्पर्य्यायः । चारः २ । इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, रघुः । १ । ५१ ।
"सेकान्ते मुनिकन्याभिस्तत्क्षणोज्झितवृक्षकम् ।
विश्वासाय विहङ्गानामालवालाम्बुपायिनाम् ॥"
तथास्य गुणाः ।
"सेकः शमयतेऽनिलरुक्क्रमसन्धिप्रबाधकः ।
क्षताभिदग्धाभिहतविघृष्टानां रुजापहः ॥
जलसिक्तस्य वर्द्धन्ते यथा मूलेऽङ्कुरास्तरोः ।
तथा धातुविवृद्धिर्हि स्नेहसिक्तस्य जायते ॥"
इति सुश्रुते चिकित्सास्थाने २४ अध्याये ॥)

सेकपात्रं, क्ली, (सेकाय पात्रम् ।) जलसेचनाधारः । सिँउनी इति भाषा । तत्पर्य्यायः । सेचनम् २ । इत्यमरः । २ । १० । १३ ॥

सेकिमं, क्ली, (सेकेन निर्वृत्तमिति । सेक + "भावप्रत्ययान्तादिमप् वक्तव्यः ।" ४ । ४ । २० । इत्यस्य वार्त्तिकोक्त्या इमप् ।) मूलकम् । इति हेमचन्द्रः ॥ (सेकनिर्वृत्ते, त्रि ॥)

सेक्ता, [ऋ] पुं, (सिञ्चति रेतः । सिच् + तृच् ।) भर्त्ता । इति हेमचन्द्रः ॥ सेचनकर्त्तरि, त्रि ॥ (यथा, ऋग्वेदे । ३ । ३२ । १५ ।
"सेक्तेव कोशं सिसिचे पिबध्यै ॥")

सेक्त्रं, क्ली, (सिच्यतेऽनेनेति । सिच् + "दाम्नीशसयुयुजेति ।" ३ । २ । १८२ । इति करणे ष्ट्रन् ।) सेकपात्रम् । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥

सेचकः, पुं, (सिञ्चतीति । सिच् + ण्वुल् ।) मेघः । सेककर्त्तरि, त्रि । इति मेदिनी ॥

सेचनं, क्ली, (सिच क्षरणे + ल्युट् ।) क्षरणम् । सेकः । (यथा, मार्कण्डेये । ३१ । १३ ।
"भुङ्क्ते चाचामतां यच्च जलं यच्चाङ्घ्रिसेचने ।
ब्राह्मणानां तथैवान्ये तेन तृप्तिं प्रयान्ति वै ॥")
नौकायाः सेकभाजनम् । इति मेदिनी ॥ (अभिषेकः । यथा, महानिर्व्वाणे । २ । ११५ ।
"तद्दशांशेन हवनं तर्पणं तद्दशांशतः ।
सेचनं तद्दशांशेन तद्दशांशेन सुन्दरि ! ॥")

सेटुः, पुं, फलविशेषः । तरमुज् इति भाषा । तत्पर्य्यायः । चेलानः २ चित्रफलम् ३ सुखाशः ४ राजतेमिषः ५ लतापनसः ६ नाटाम्रः ७ । इति त्रिकाण्डशेषः जटाधरश्च ॥

सेतिका, स्त्री, अयोध्या । इति भूतशुद्धितन्त्रम् ॥

सेतुः, पुं, (सिनोति बध्नाति जलमिति । सिञ् बन्धने + "सितनिगमिमसीति ।" उणा० १ । ७० । इति तुन् ।) क्षेत्रादेरालिः । इत्यमरः । २ । १ । १४ ॥ तत्पर्य्यायः । आली २ । इति भरतः ॥ पूरणः ३ पिण्डलः ४ । इति हारावली ॥ पद्धारः ५ जङ्गालः ६ सम्वरः ७ । इति जटाधरः ॥ पिण्डिलः ८ । इति शब्दरत्नावली ॥ धरणः ९ । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ * ॥ तद्दानादिफलं यथा,—
"सेतुप्रदानादिन्द्रस्य लोकमाप्नोति मानवः ।
प्रपाप्रदानाद्वरुणलोकमाप्नोत्यसंशयम् ॥
संक्रमाणान्तु यः कर्त्ता स स्वर्गं तरते नरः ।
स्वर्गलोके च निवसेदिष्टकासेतुकृत् सदा ॥"
इति मठादिप्रतिष्ठातत्त्वम् ॥ * ॥ वरुणवृक्षः । इति मेदिनी राजनिर्घण्टश्च । (अस्य पर्य्यायो गुणाश्च यथा,—
"वरुणो वरणः सेतुस्तिक्तशाकोऽग्निदीपनः ।
वरुणः पित्तलो भेदी श्लेष्मकृच्छ्राश्ममारुतान् ॥
निहन्ति गुल्मवातास्रक्रिमींश्चोष्णोऽग्निदीपनः ।
कषायो मधुरस्तिक्तः कटुको रूक्षको लघुः ॥"
इति भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे प्रथमे भागे ।) प्रणवः । इति तन्त्रसारः ॥ अपि च ।
"मन्त्राणां प्रणवः सेतुस्तत्सेतुः प्रणवः स्मृतः ।
स्रवत्यनोङ्कृतं पूर्व्वं परस्ताच्च विशीर्य्यते ॥
नमस्कारो महामन्त्रो देव इत्युच्यते हरेः ।
द्विजातीनामयं मन्त्रः शूद्राणां सर्व्वकर्म्मणि ॥
अकारश्चाप्युकारश्च मकारश्च प्रजापतिः ।
वेदत्रयात् समुद्धृत्य प्रणवं निर्म्ममे पुरा ॥
स उदात्तो द्विजातीनां राज्ञां स्यादनुदात्तकः ।
स्वरितश्चोरुजातानां मनसापि तथा स्मरेत् ॥

चतुर्द्दशस्वरो योऽसौ सेतुरौकारसंज्ञकः ।
स चानुस्वारचन्द्राभ्यां शूद्राणां सेतुरुच्यते ॥
निःसेतुश्च यथा तोयं क्षणान्निम्नं प्रसर्पति ।
मन्त्रस्तथैव निःसेतुः क्षणात् क्षरति यज्वनाम् ॥
तस्मात् सर्व्वेषु मन्त्रेषु चतुर्व्वर्णा द्विजादयः ।
पार्श्वयोः सेतुमादाय जपकर्म्म समारभेत् ॥
शूद्राणामादिसेतुर्व्वा द्विसेतुर्व्वा यथेच्छतः ।
द्वे सेतू वः समाख्याताः सर्व्वदैव द्विजातयः ॥"
इति कालिकापुराणे ५५ अध्यायः ॥

सेतुकः, पुं, (सेतुरेव । स्वार्थे कन् ।) वरणवृक्षः । इति शब्दरत्नावली ॥

सेतुबन्धः, पुं, (सेतोर्बन्धः ।) लङ्कागमनार्थश्रीरामकृतसमुद्रबन्धनसेतुः । तत्पर्य्यायः । समुद्राद्रः २ । इति जटाधरः ॥ तद्विवरणं यथा,—
"ततोऽब्रवीद्रघुश्रेष्ठं सागरो विनयान्वितः ।
नलः सेतुं करोत्वस्मिन् जले मे विश्वकर्म्मणः ॥
सुतो धीमान् समर्थोऽस्मिन् कार्य्ये लब्धवरो हरिः ।
कीर्त्तिं गायन्तु ते लोकाः सर्व्वलोकमलापहाम् ॥
इत्युक्त्वा राघवं नत्वा ययौ सिन्धुरदृश्यताम् ।
ततो रामस्तु सुग्रीवलक्ष्मणाभ्यां समन्वितः ।
नलमाज्ञापयच्छीघ्रं वानरैः सेतुबन्धने ॥
ततोऽतिहृष्टः प्लवगेन्द्रयूथपै-
र्महानगेन्द्रप्रतिमैर्युतो नलः ।
बबन्ध सेतुं शतयोजनायतं
सुविस्तरं पर्व्वतपादपैर्दृढम् ॥"
इति श्रीमदध्यात्मरामायणे लङ्काकाण्डे ३ अः ॥
"सेतुमारभ्यमाणस्तु तत्र रामेश्वरं शिवम् ।
सङ्कल्पनियतो गत्वा पुरीं वाराणसीं नरः ॥
आनीय गङ्गासलिलं रामेशमभिषिच्य च ।
क्षिप्त्वा समुद्रे तद्भारिं ब्रह्म प्राप्नोत्यसंशयः ॥
कृतानि प्रथमेनाह्ना योजनानां चतुर्द्दश ।
द्वितीयेन तथा चाह्ना योजनानाञ्च विंशतिः ॥
तृतीयेन तथा चाह्ना योजनान्येकविंशतिः ।
चतुर्थेन तथा चाह्ना द्वाविंशतिं तथा शतम् ॥
पञ्चमेन त्रयोविंशद्योजनानां समन्ततः ।
बबन्ध सागरे सेतुं नलो वानरसत्तमः ॥
तेनैव जग्मुः कपयो योजनानां शतं द्रुतम् ।
असंख्याताः सुवेलाद्रिं ररक्षुः प्लवगोत्तमाः ॥
आरुह्य मारुतिं रामो लक्ष्मणोऽप्यङ्गदं तथा ।
ददृशू राघवौ लङ्कां नानाचित्रध्वजाकुलाम् ॥"
इति तत्रैव ४ अध्यायः ॥
(क्षेत्रादेरालिबन्धनम् । यथा, महाभारते । ७ । ८४ । २ ।
"गतोदके सेतुबन्धो यादृक् तादृगयं तव ।
विलापो निष्फलो राजन् मा शुचो भरतर्षभ ॥")

सेतुभेदी, [न्] पुं, (सेतुं भिनत्तीति । भिद् + णिनिः ।) दन्तीवृक्षः । इति शब्दचन्द्रिका ॥

सेतुवृक्षः, पुं, (सेतुनामको वृक्षः ।) वरणवृक्षः । इति शब्दमाला राजनिर्घण्टश्च ॥ (अस्य पर्य्यायो यथा, वैद्यकरत्नमालायाम् ।
"वरुणस्तिक्तशाकश्च सेतुवृक्षोऽश्मनां पतिः ॥")

सेत्रं, क्ली, (सीयतेऽनेनेति । षिञ् बन्धने + "दाम्नीशसयुयुजेति ।" ३ । २ । १८२ । इति ष्ट्रन् ।) निगडः । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥ वेड़ी इति भाषा ॥

सेना, स्त्री, चतुर्व्विंशतिनक्षत्रात्मकानां तृतीया माता । इति हेमचन्द्रः ॥ इनेन प्रभुणा सह वर्त्तते या । (यद्वा, सिनोति शत्रुमिति । षिञ् बन्धने + "कृवृजृषीति ।" उणा० ३ । १० । इति नः । स च नित् । टाप् ।) चतुरङ्गबलम् । फौज इति पारस्यभाषा । (यथा, रघुः । १ । १९ ।
"सेनापरिच्छदस्तस्य द्वयमेवार्थसाधनम् ।
शास्त्रेष्वकुण्ठिता बुद्धिर्मौर्व्वी धनुषि चातता ॥")
तत्पर्य्यायः । ध्वजिनी २ वाहिनी ३ पृतना ४ अनीकिनी ५ चमूः ६ वरूथिनी ७ बलम् ८ सैन्यम् ९ चक्रम् १० अनीकम् ११ । इत्यमरः । २ । ८ । ७८ ॥ वाहना १२ पूतना १३ गुल्मिनी १४ वरचत्तुः १५ । इति शब्दरत्नावली ॥ केचित्तु ध्वजिन्यादि सप्तकं सेनायाम् । बलादि चतुष्कं सेनाङ्गे इत्याहुः । अतएव ध्वजिन्यादि सप्तकं सामान्येन सेनायाम् । बलादि चतुष्कन्तु सामान्येन सेनायां सेनाङ्गे च इति मतम् ॥ इति भरतः ॥

सेनाङ्गं, क्ली, (सेनाया अङ्गम् ।) हस्त्यश्वरथपदातीनां समूहः । यथा,—
"हस्त्यश्वरथपादातं सेनाङ्गं स्याच्चतुष्टयम् ॥"
इत्यमरः । २ । ८ । ३३ ॥
(यथा, वृहत्संहितायाम् । ११ । ४२ ।
"सेनाङ्गेषु नृपाणां गृहतरुशैलेषु चापि देशानाम् ॥")

सेनाचरः, त्रि, (सेनायां चरतीति । चर + "भिक्षासेनादायेषु ।" ३ । २ । १७ । इति टः ।) सैन्यानुगामी । सेनया सह गन्ता । इति केचित् ॥ (यथा, महाभारते । १ । १३० । १४ ।
"ततः सेनाचरस्तस्य राज्ञः श्वा तत्र यदृच्छया ।
कश्चित् सेनाचरोऽरण्ये मिथुनं तदपश्यत ॥")

सेनानीः, पुं, (सेनां नयतीति । नी + "सत्सूद्विषेति ।" ३ । २ । ६१ । इति क्विप् ।) कार्त्तिकेयः । इत्यमरः । १ । १ । ४२ ॥ (यथा, रघुः । २ । ३७ ।
"अथैनमद्रेस्तनया शुशोच
सेनान्यमालीढमिवासुरास्त्रैः ॥")
वाहिनीपतिः । इति चामरः । २ । ८ । ६२ ॥ (यथा, महाभारते । ४ । २ । ६ ।
"स तु कामाग्निसंतप्तः सुदेष्णामभिगम्य वै ।
प्रहसन्निव सेनानीरिदं वचनमब्रवीत् ॥")

सेनापतिः, पुं, (सेनायाः पतिः ।) कार्त्तिकेयः । (क्वचित् वाच्यलिङ्गोऽपि दृश्यते । यथा, महानिर्व्वाणतन्त्रे । १ । १४ ।
"किमुच्यते महाप्राज्ञे कथ्यतां प्राणवल्लभे ।
यदकथ्यं गणेशेऽपि स्कन्दे सेनापतावपि ॥")
अनीकाधिपतिः । इति मेदिनी ॥ अस्य पर्य्यायः । सेनानीः २ वाहिनीपतिः ३ । इत्यमरः । २ । ८ । ६२ ॥ सेनापतिलक्षणं यथा,—
"कुलीनः शीलसम्पन्नो धनुर्व्वेदविशारदः ।
हस्तिशिक्षाश्वशिक्षासु कुशलः श्लक्ष्णभाषणः ॥
निमित्ते शकुनज्ञाने वेत्ता चैव चिकित्सिते ।
कृतज्ञः कर्म्मणां शूरस्तथा क्लेशसहो ऋजुः ॥
व्यूहतत्त्वविधानज्ञः फल्गुसारविशेषवित् ।
राज्ञा सेनापतिः कार्य्यो ब्राह्मणः क्षत्त्रियोऽथवा ॥"
इति मात्स्ये राजधर्म्मे । २१५ । ८—१० ॥
सेनापतौ वर्णनीयानि यथा,—
"सेनापतिर्ज्जितावासः स्वामिभक्तः सुधीरधीः ।
अभ्यासी वाहने शस्त्रे शास्त्रे च विजयी रणे ॥"
इति कविकल्पलतायाम् १ स्तवके वर्ण्यस्थितिर्नाम ३ कुसुमम् ॥

सेनामुखं, क्ली, (सेनाया मुखम् ।) पत्तित्रयः । स तु सेनासङ्ख्याविशेषः । तद्यथा । हस्ती ३ रथः ३ अश्वः ९ पदातिः १५ समुदायेन त्रिंशत् ३० । इत्यमरः । २ । ८ । ८१ ॥ (यथा च महाभारते । १ । २ । १९ ।
"एको रथो गजश्चैको नराः पञ्च पदातयः ।
त्रयश्च तुरगास्तज्ज्ञैः पत्तिरित्यभिधीयते ॥
पत्तिन्तु त्रिगुणामेतामाहुः सेनामुखं बुधाः ॥")
पुरद्वारसंमुखरथ्यापथः । इति केचित् ॥

सेनारक्षः, पुं, (सेनां रक्षतीति । रक्ष + अण् ।) सेनारक्षकप्रहरिकादिः । तत्पर्य्यायः । सैनिकः २ । इत्यमरः । २ । ८ । ६१ ॥

सेफः, पुं, शेफः । इति जटाधरः ॥

सेमन्ती, स्त्री, पुष्पविशेषः । सेँउती इति भाषा । यथा, नारसिंहे ५२ अध्याये ।
"चम्पकानां पुष्पशतादशोकं पुष्पमुत्तमम् ।
अशोकानां सहस्राद्धि सेमन्ती पुष्पमुत्तमम् ॥"

सेराहः, पुं, पीयूषवर्णाश्वः । स तु दुग्धवर्णतुरगः । इति हेमचन्द्रः ॥

सेरुः, त्रि, (षिञ् बन्धने + "दाधेट्सिशदसदो रुः ।" ३ । २ । १५९ । इति रुः ।) बन्धनकर्त्ता । इति मुग्धबोधव्याकरणम् ॥

सेल, ऋ चालगत्योः । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट् ।) ऋ, असिसेलत् । इति दुर्गादासः ॥

सेलुः, पुं, श्लेष्मवृक्षः । स तु श्लेष्मातकः । इति भरतद्विरूपकोषः ॥

सेव, ञ ङ ऋ सेवने । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-उभ०-आत्म० च सक०-सेट् ।) ञ, सेवति सेवते । ङ, सेवते । ऋ, असिसेवत् । सेवनं आराधनं उपभोगः आश्रयणञ्च । विष्णुं सेवते । सुखं सेवते । तीर्थं सेवते साधुः । अन्ये त्वस्मात् परस्मैपदममन्यमानाः । नीचं सन्तमपि सेवति नीच एव । स्वाधीने विभवेऽप्यहो नरपतिं सेवन्ति किं मानिनः ॥ इत्यादौ गणकृतानित्यत्वमाहुः । इति दुर्गादासः ॥

सेवं, क्ली. (सेव्यते यदिति । सेव + घञ् ।) सेविफलम् । इति राजनिर्घण्टः ॥ (अस्य पर्य्यायो गुणाश्च यथा,—

"मुष्टिप्रमाणं बदरं सेवं सिवितिकाफलम् ।
सेवं समीरपित्तघ्नं बृंहणं कफकृद्गुरु ।
रसे पाके च मधुरं शिशिरं रुचिशुक्रकृत् ॥"
इति भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे प्रथमे भागे ॥)

सेवकः, पुं, (सेवते इति । सिव + ण्वुल् ।) प्रसेवकः । इति मेदिनी ॥

सेवकः, त्रि, (सेवते इति । सेट् सेवने + ण्वुल् ।) अनुजीवी । भृत्यः । इति मेदिनीशब्दरत्नावल्यौ ॥ (यथा, बृहत्संहितायाम् । ५ । ३४ ।
"पूर्व्वेण सलिलपूर्णां करोति वसुधां समागतो दैत्यः ।
पश्चात् कर्षकसेवकजीवविनाशाय निर्द्दिष्टः ॥")
तस्य प्रभुसन्निधौ प्रश्नकरणमत्वं यथा,—
"किङ्करः किङ्करी वापि सर्व्वथा प्रभुमीश्वरः ।
यो यस्य सेवानिरतः स कं ईच्छति तं विना ॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे १३ अध्यायः ॥
(आश्रयिता । यथा, भागवते । ४।१६।१६ ।
"दृढव्रतः सत्यसन्धो ब्रह्मण्यो वृद्धसेवकः ।
शरण्यः सर्व्वभूतानां मानदो दीनवत्सलः ॥")

सेवकालुः, पुं, निशाभङ्गाख्यः । दुग्धपेया इति ख्यातः । इति शब्दचन्द्रिका ॥

सेवती, स्त्री, पुष्पविशेषः । सेँउती इति भाषा । तत्पर्य्यायगुणाः ।
"शतपत्री तरुण्युक्ता कर्णिका चारुकेसरा ।
महाकुमारी गन्धाढ्या लघुपुष्पातिमञ्जुला ॥
शतपत्री हिमा हृद्या ग्राहिका शुक्रला लघुः ।
दोषत्रयास्रजिद्वर्ण्या तिक्ता कट्वी च पाचनी ॥"
इति भावप्रकाशः ॥

सेवधिः, पुं, (सेवः सेवनं धीयतेऽस्मिन्निति । सेवां विना निधिलाभाभावादित्यर्थः । धा + किः ।) निधिः । इत्यमरटीकायां भरतः ॥ तालव्यशकारादिरप्ययम् ॥

सेवनं, क्ली, (सिव तन्तुसन्ताने + ल्युट् ।) सूच्यादिना वस्त्रादिसीवनम् । सेलाइ इति सेयानी इति च भाषा । तत्पर्य्यायः । सीवनम् २ स्यूतिः ३ । इत्यमरः । ३ । २ । ५ ॥ ऊतिः ४ ब्यूतिः ५ । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, सुश्रुते । १ । ८ ।
"सूच्यः सेवने । इत्यष्टविधे कर्म्मण्युपयोगः शस्त्राणां व्याख्यातः ॥" ॥ सेट् सेवने + ल्युट् ।) उपास्तिः । उपासना । इति मेदिनी ॥ (यथा, भागवते । ४ । १६ । १६ ।
"तमन्वीयुर्भागवता ये च तत्सेवनोत्सुकाः ॥"
आश्रयः । यथा, भागवते । ७ । १२ । २० ।
"सत्यानृतञ्च वाणिज्यं श्ववृत्तिर्नीचसेवनम् ।
वर्ज्जयेत् तां सदा विप्रो राजन्यश्च जुगुप्सिताम् ॥"
उपभोगः । यथा, मनुः । ११ । १७६ ।
"यत् करोत्येकरात्रेण वृषलीसेवनात् द्विजः ।
तद्भैक्ष्यभुग्जपन्नित्यं त्रिभिर्व्वर्षैर्व्यपोहति ॥")

सेवनी, स्त्री, (सीव्यत्यनयेति । सिव + ल्युट् । ङीप् ।) सूची । इति हेमचन्द्रः ॥ शरीरावयवसंयोगविशेषः । यथा,—
"सेवन्यः सप्त तासान्तु भवेयुः पञ्च मस्तके ।
एका शेफसि जिह्वायामेका विद्धेन्न ताः क्वचित् ॥"
इति भावप्रकाशः ॥
(यथा च माधवकरसंगृहीतरुग्विनिश्चयेऽर्शोऽधिकारे ।
"सामान्यलिङ्गं बहुभिसेवनीवलिमर्द्दस ॥")

सेवा, स्त्री, (सेट् सेवने + "गुरोश्च हलः ।" ३ । ३ । १०३ । इत्यः । टाप् ।) सेवनम् । तत्पर्य्यायः । श्ववृत्तिः २ । इत्यमरः । २ । ९ । २ ॥ (यथा, मनुः । ४ । ६ ।
"सत्यानृतन्तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते ।
सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात् तां परिवर्ज्जयेत् ॥")
आराधना । उपभोगः । आश्रयणम् । इति सेवधात्वर्थदर्शनात् ॥ (यथा, मनुः । १२ । ८७ ।
"वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानमिन्द्रियाणाञ्च संयमः ।
अहिंसा गुरुसेवा च निःश्रेयसकरं परम् ॥")
अथ माघादिद्वादशमासेषु विष्णुसेवाविधिस्तत्फलञ्च । यथा,—

व्यास उवाच ।

"विप्र द्वादशमासेषु माघादिषु सनातनः ।
पूजितव्यो विधानेन शृणु तानि वदाम्यहम् ॥
माघे मासि समायाते सर्व्वमासोत्तमे शुभे ।
आमिषं मैथुनञ्चैव वर्ज्जयेद्वैष्णवो जनः ॥
प्रातःस्नायी भवेन्नित्यं तैलान्यपि च वर्ज्जयेत् ।
द्विर्भोजनं परान्नञ्च माघे मासि परित्यजेत् ॥
प्रातः शुक्लाम्बरधरः कृतपञ्चमहाध्वरः ।
सपर्य्यामारभेद्विष्णोः स्थिरदत्तो हि वैष्णवः ॥
ईषदुष्णजलैर्दिव्यैः स्नापयेद्विष्णुमव्ययम् ।
अतिशीतेन चन्द्रेण विष्णोरङ्गञ्च लेपयेत् ॥
पूजायै जगदीशस्य देवदेवस्य चक्रिणः ।
प्रक्षालितानि पात्राणि जलहीनानि कारयेत् ॥
स्नापयित्वा जगन्नाथमीषदुष्णजलैस्ततः ।
प्रोञ्छितव्यं तच्छरीरं दिव्यवस्त्रेण यत्नतः ॥
सलिलैरीषदुष्णैश्च यः स्नापयति केशवम् ।
माघे मासि द्विजश्रेष्ठ फलं तस्य मयोच्यते ॥
विमुक्तः पातकैः सर्व्वैर्जन्मजन्मान्तरार्ज्जितैः ।
इह भुक्त्वा सुखं सर्व्वं शेषे याति हरेर्गृहम् ॥
यत्नात् प्रक्षाल्य पात्राणि स्नात्वा हीनानि वारिभिः ।
यः पूजयेज्जगन्नाथं तस्य पुण्यं निशामय ॥
इह भुक्त्वा वरान् भोगान् रोगशोकविवर्ज्जितः ।
अन्ते युगसहस्राणि तिष्ठेत् केशवमन्दिरे ॥
प्रभातेऽपि च सन्ध्यायां पुरतश्चक्रपाणिनः ।
ज्वलन्तं स्थापयेद्वह्निं निर्धूमं वैष्णवो जनः ॥
शीतस्यावरणार्थाय प्रातः सायञ्च यो जनः ।
माघे विष्णुग्रतो वह्निं ज्वालयेत्तत्फलं शृणु ॥
इह भुक्त्वाखिलान् भोगान् पुत्त्रपौत्त्रसमन्वितः ।
अन्ते विष्णुपुरं याति दैवतैरपि दुर्लभम् ॥
यथैवात्मा तथा विष्णुः सन्देहो नात्र विद्यते ।
तस्मादात्मानुमानेन विष्णुसेवा विधीयते ॥
प्रभाते रौद्रदग्धे च पवित्रे स्नापयेद्धरिम् ।
न भुनक्ति द्विजश्रेष्ठ यावत् शीतं सुदुःसहम् ॥
स्वपन्तं देवदेवेशं पर्य्यङ्कोपरि केशवम् ।
स्नापयेन्निशि निर्व्वाते देशे च वैष्णवो जनः ॥
न प्राप्नोति यथा शीतं देवदेवो जगद्गुरुः ।
शुक्लैः पवित्रैर्द्दिव्यैस्तं वस्त्रैराच्छादयेद्बुधः ॥
आत्मनः कुरुते मर्त्यो यथा शीतनिवारणम् ।
तथा शीतक्षयं कुर्य्याद्देवदेवस्य चक्रिणः ॥
क्षीरेण स्नापयेद्यस्तु माघे मासि जनार्द्दनम् ।
तस्मै देवोत्तमो विष्णुः सन्तुष्टो न ददाति किम् ॥
यः पूजयेत् सकृन्माघे स्नापयित्वा जनार्द्दनम् ।
नारिकेलोदकैर्द्दिव्यैः फलं तस्य वदाम्यहम् ॥
नरकाब्धौ मज्जमानान् दुस्तरे स्वेन कर्म्मणा ।
उद्धृत्य कोटिपुरुषान् मन्दिरं याति चक्रिणः ॥
माघे मासि च शुक्लायां पञ्चम्यां द्विजसत्तम ।
एकादश्याञ्च सप्तम्यां हरिः पूज्यो विशेषतः ॥
दातव्यो देवदेवाय सपत्नाय सुरारये ।
पायसोऽपूपसहितो माघे मासि दिने दिने ॥
अपूपं पायसं यस्तु माघे यच्छति चक्रिणे ।
तस्य पुण्यमहं वच्मि शृणु वैष्णव जैमिने ॥
अन्ते विष्णुपुरं गत्वा मन्वन्तरचतुष्टयम् ।
भुङ्क्ते मनोरथान् भोगान् प्रसादाच्चक्रपाणिनः ॥
पुनरागत्य धरणीं चक्रवर्त्ती नृपो भवेत् ।
भुङ्क्ते भोगांश्च सुचिरं मृतो याति हरेर्गृहम् ॥
पञ्चम्याञ्चैव सप्तम्यामेकादश्याञ्च जैमिने ।
अशक्त्या वैष्णवो दद्यात् परमान्नं सुरारये ॥
कृष्णपक्षाद्द्विजश्रेष्ठ शुक्लपक्षो विशिष्यते ।
शुक्लपक्षे तिथिष्वासु दद्यादन्नं सुरारये ॥
एकाहमपि यो माघे विष्णवे दैत्यजिष्णवे ।
सापूपं पायसं दद्यान्न तस्य दुर्लभो हरिः ॥
यत्किञ्चित् विष्णूद्देशार्थं माघे मासि प्रदीयते ।
तदक्षयं भवेत् सर्व्वं कोऽपि नास्त्यत्र संशयः ॥
माघे मासि कृतं कर्म्म शुभं वाशुभमेव च ।
तस्य नास्ति क्षयं विप्र मन्वन्तरशतैरपि ॥
माघे चम्पकपुष्पेण योऽर्च्चयेत् कमलापतिम् ।
स गच्छेत् परमं धाम विमुक्तः सर्व्वपातकैः ॥
यावन्ति स्वर्णपुष्पाणि दीयन्ते चक्रपाणये ।
तावत् युगसहस्राणि स्थीयते विष्णुमन्दिरे ॥
मेरुतुल्यसुवर्णानि दत्त्वा भवति यत् फलम् ।
एकेन स्वर्णपुष्पेण दत्त्वा भवति तत् फलम् ॥
सुवर्णपुष्पं विप्रेन्द्र सर्व्वदा केशवप्रियम् ।
माघे मासि विशेषेण पवित्रे केशवोपमे ॥
सुवर्णकुसुमैर्द्दिव्यैर्येन नाराधितो हरिः ।
कुलैर्हीनः सुवर्णाद्यैः स भवेज्जन्मजन्मनि ॥"
इति पाद्मे क्रियायोगसारे ९।१० अध्यायौ ॥ ॥

व्यास उवाच ।

"फाल्गुने ब्राह्मणश्रेष्ठ श्रीकृष्णं सुरवन्दितम् ।
पूजयेद्भक्तिभावेन प्रत्यहं वैष्णवो जनः ॥
फाल्गुने स्नापयेद्यस्तु सर्पिषा देवकीसुतम् ।
फलं तस्य प्रवक्ष्यामि मत्तः सम्यक् निशामय ॥
सर्व्वयज्ञफलं प्राप्य सर्व्वदानफलं तथा ।
अन्ते याति हरेः स्थानं सर्व्वपापविवर्ज्जितः ॥
युगकोटिसहस्राणि भुक्त्वा भोगं हरेर्गृहे ।
तत्रैव मोक्षमाप्नोति संप्राप्य ज्ञानमुत्तमम् ॥
यस्तु यच्छति कृष्णाय शिशिरे शोपमूर्त्तये ।

तिलानां मोदकं दिव्यं स गच्छेद्धरिमन्दिरम् ॥
यो दुग्धलड्डुकं दद्यात् केशवाय महात्मने ।
स पिवेदमृतं स्नात्वा मन्वन्तरशतादधि ॥
हरये ललितं खण्डं यस्तु यच्छति जैमिने ।
तस्य विष्णुः प्रसन्नात्मा छिनत्ति भवबन्धनम् ॥
विचित्रफाणितं यस्तु दद्याद्भगवते द्विज ।
अन्ते शक्रपुरं गत्वा स भवेत् सुरवन्दितः ॥
निर्म्मलां शर्करां यच्छेद्यस्तु कृष्णाय भक्तिमान् ।
स किं न लभते विप्र वासुदेवप्रसादतः ॥
सुपक्वं फाल्गुने मासि मधुरं वदरीफलम् ।
यस्तु यच्छति कृष्णाय फलं तस्य मयोच्यते ॥
इह भुङ्क्ते सुखं सर्व्वं पुत्त्रपौत्त्रसमन्वितः ।
अन्ते हरेर्गृहं याति रथमारुह्य शोभनम् ॥
न दद्याद्गुड़संयुक्तं हरये वदरीफलम् ।
अज्ञानाद्ब्राह्मणश्रेष्ठ दद्याच्चेन्नारकी भवेत् ॥
फाल्गुने मासि यो दद्याद्धरये दाड़िमीफलम् ।
सुपक्वं तत् फलं विप्र वदतो मे निशामय ॥
तत्र यावन्ति वीजानि तिष्ठन्ति दाड़िमीफले ।
तावन्मन्वन्तरं विष्णोर्गृहे तिष्ठति वैष्णवः ॥
फाल्गुने मासि यो दद्याद्धरये गुड़पिष्टकम् ।
स विज्ञेयो द्विजश्रेष्ठ वाजिमेधसहस्रकृत् ॥ * ॥
चैत्रे मासि द्विजश्रेष्ठ मधुना मधुसूदनम् ।
स्नापयेल्लभते मर्त्त्यस्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥
मधुना स्नापयेत् यस्तु नारायणमनामयम् ।
न चर्चा क्रियते तस्य कदाचिद्रविसूनुना ॥
चैत्रे किंशुकपुष्पेण योऽर्च्चयेत् कमलापतिम् ।
तन्नाम चित्रगुप्तेन पञ्जिकायां न लिख्यते ॥
चैत्रिके जगतामीशं कृष्णं तिलकपुष्पकैः ।
यजतो नास्ति वै जन्म पुनरस्मिन् महीतले ॥
कृष्णं वञ्जुलपुष्पेण सर्व्वदेवशिरोमणिम् ।
पूजयेन्मनुजो विप्र लभते नापदं क्वचित् ॥
वासन्तीभिः सुगन्धाभिर्व्वसन्ते यस्तु पूजयेत् ।
भववन्तं परात्मानं स देवैरपि पूज्यते ॥
जयाकिंशुलयैर्हिन्तैरखण्डैर्योऽर्च्चयेद्धरिम् ।
तं वन्दते समुत्थाय स्वयं पौठादयमोऽपि च ॥
धात्रीपत्रैर्नवीनैश्च कोमलैर्हरिमर्च्चयन् ।
अचिरेणैव लभते सकलं वाञ्छितं जनः ॥
शाल्मल्याखण्डपत्रैश्च धुस्तूरैश्चार्कपुष्पकैः ।
योऽर्च्चयेद्विष्णुमीशञ्च स संसाराब्धिपारगः ॥
यो दद्याद्विष्णवे विप्र कदलीफलमुत्तमम् ।
शक्राद्याखिदशाः सर्व्वे वन्दन्ते तमहर्न्निशम् ।
यो दद्याच्चैत्रिके मासि भक्त्या गोपालरूपिणे ।
गोधूमपिष्टकं विप्र सर्व्वपापैः प्रमुच्यते ॥ * ॥
आयाते माधवे मासि पवित्रे माधवप्रिये ।
आमिषं मैथुनं तैलं विष्णुभक्तः परित्यजेत् ॥
प्रातः समाचरेत् स्नानं माधवे मासि वैष्णवः ।
परित्यजेत् परान्नञ्च न च कुर्य्यात् द्विभोजनम् ॥
प्रभाते पूजयेद्विष्णुं पूर्व्वोक्तविधिना द्विजः ।
वैशाखे स्नापयेद्विष्णुं पुष्पवासितवारिणा ॥
स्नापयेत् शीततोयेन सन्ध्यापर्य्यन्तमच्युतम् ।
त्रिसन्ध्यं पूजयेद्भक्त्या नैवेद्यैर्व्विविधैः प्रभुम् ॥
वैशाखे चाम्रलसम्भिर्लक्ष्मीपतिरलङ्कृतः ।
न किं ददाति विप्रर्षे प्रसन्नः परमेश्वरः ॥
वैशाखे मासि यो दद्यात् यवान्नं चक्रपाणये ।
तस्य पुण्यानि संख्यातुं कः समर्थोऽस्ति पण्डितः ॥
यत्किञ्चिन्माधवे मासि माधवप्रीतिहेतवे ।
दीयते मानवैर्व्विप्र तत् सर्व्वमक्षयं भवेत् ।
यदन्यत् सुकृतं कर्म्म क्रियते मासि माधवे ।
माधवप्रीतये विप्र क्षयं तस्य न विद्यते ॥
वैशाखो दुर्लभो मासः सर्व्वकामफलप्रदः ।
पूजितव्यो हरिस्तत्र हित्वा कार्य्यशतान्यपि ॥
एकाहमपि यः पूजां वैशाखे कुरुते हरेः ।
शतवर्षं हरिं यष्ट्वा यत् फलं लभते स तत् ॥
वैशाखे मासि यः कुर्य्यात् प्रपां श्रीधवतुष्टये ।
दिने दिनेऽश्वमेधस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥
वैशाखे सिञ्चयेन्नित्यं विष्णुमश्वत्थरूपिणम् ।
चतुर्व्वर्गफलावाप्तिहेतवे वैष्णवो जनः ॥
गण्डूषमात्रतोयेन कुर्य्याद्योऽश्वत्थसेचनम् ।
सोऽपि याति परं स्थानं विमुक्तः पाप-
कोटिभिः ॥

व्यास उवाच ।

साक्षाद्देवः स्वयं विष्णुरश्वत्थोऽखिलविश्वराट् ।
तद्भक्तिं कुर्व्वतः पुंसो विद्यते नाशुभं क्वचित् ॥
अश्वत्थं सेवते यस्तु विष्णुबुद्ध्या नरोत्तमः ।
तस्य प्रसन्नो भगवान् ददाति परमं पदम् ॥"

इति पाद्मे क्रियायोगसारे १३ अध्यायः ॥ * ॥

व्यास उवाच ।

"ज्यैष्ठे मासि द्विजश्रेष्ठ भगवन्तं जनार्द्दनम् ।
पूजयेद्भक्तिभावेन जलैः संस्थाप्य शीतलैः ॥
उद्वर्त्तनञ्च दातव्यं सुगन्धामलकीं तथा ।
तैलं सुगन्धं हरये ग्रीष्मकाले दिने दिने ॥
सुवासिते शीतले च मन्दिरेऽतिमनोहरे ।
प्रत्यहं कमलाकान्तं स्थापयेत् जलमण्डपे ॥
न रौद्रदेशे विप्रेन्द्र सधूमे रन्धनालये ।
न सूतिकागृहे चैव स्थापयेत् कमलापतिम् ॥
चामरैर्वीजितः श्वेतैः सुदीर्घैः कमलापतिः ।
ज्यैष्ठे मासि द्विजश्रेष्ठ सुप्रीतः किं न यच्छति ॥
मयूरपुच्छव्यजनैर्निदाघे पूजितो हरिः ।
ददात्यभिमतं सर्व्वं अचिरेणैव सत्तम ॥
तालवृन्तकवातेन पवित्राम्बरवायुना ।
यैर्ग्रीष्मे वीज्यते विष्णुस्ते सर्व्वे स्वर्गगामिनः ॥
यो गात्रलेपनं कुर्य्यात् सुगन्धैर्यक्षकर्द्दमैः ।
ग्रीष्मे हरेश्चन्दनैश्च स विशेन्माधवीं तनुम् ॥
गन्धैर्मृगमदाद्यैश्च यो लिम्पेन्माधवीं तनुम् ।
उष्णागमे द्विजश्रेष्ठ स मुक्तो नात्र संशयः ॥
प्रफुल्लकुमुदोद्याने तुलसीकानने तथा ।
सन्ध्यायां स्थापयेद्विष्णुं देशे धीरसमीरणे ॥
स्रग्भिः पाटलिपुष्पाणां येन विष्णुरलङ्कृतः ।
ज्यैष्ठे मासि स विज्ञेयो वाजिमेधसहस्रकृत् ॥
यस्तु मुक्तावलीं दद्यात् ग्रीष्मे श्रीपतये जनः ।
भूपालत्वं हरिस्तस्मै यच्छेज्जन्मनि जन्मनि ॥
यस्तु मण्डयति ग्रीष्मे श्रीकृष्णं मणिमालया ।
तस्य पुण्यफलं विप्र वदतो मे निशामय ॥
यावद्ब्रह्मा सृजत्येतत् जैमिने सकलं जगत् ।
तावद्विष्णुपुरे तिष्ठेन्मणिमालाविभूषितः ॥
सुवर्णाभरणैर्यस्तु रजताभरणैस्तथा ।
कृष्णं मण्डयति ग्रीष्मे सोऽपि तत्फलमाप्नुयात् ।
विचित्रं यस्तु पर्य्यङ्कं सगण्डूकं प्रयच्छति ।
हरये देवदेवाय न स्याद्दुःखी कदापि सः ॥
ग्रीष्मकाले न देयानि गुरूणि वसनानि च ।
हरये ब्राह्मणश्रेष्ठ देयं तन्वंशुकं शुचि ॥
यस्तु चूतफलैर्द्दिव्यैः सुपक्वैः पूजयेद्धरिम् ।
अन्ते शक्रपुरं गत्वा स पिवेदमृतं मुदा ॥
पियालानां फलैः पक्वैर्योऽर्च्चयेत् कमलापतिम् ।
सोऽपि तत्फलमाप्नोति किमन्यैर्बहुभाषितैः ॥
निदाघे हरये दद्याद्यवागमतिशीतलाम् ।
नानाव्यञ्जनसंयुक्तां श्रद्धया वैष्णवो जनः ॥ * ॥
आषाढ़े मासि विप्रेन्द्र देवदेवं जगत्पतिम् ।
दधिभिः स्नापयित्वा तु पूजयेद्भक्तितो बुधः ॥
दधिभिः स्नापयेद्यस्तु भगवन्तं जनार्द्दनम् ।
मातुः पयोधरपयः पुनस्तेन न पीयते ॥
घनागमे घनश्यामं कदम्बकुसुमैर्हरिम् ।
आराध्य यान्ति विप्रर्षे पापिनोऽपि परां
गतिम् ॥
कदम्बपुष्पमालाभिर्म्मण्डयत्यब्जलोचनम् ।
यस्तस्य ब्राह्मणश्रेष्ठ पुण्यं वच्मि निशामय ॥
तस्यां यावन्ति मालायां तिष्ठन्ति कुसुमानि वै ।
प्रतिपुष्पे द्विजश्रेष्ठ वाजिमेधफलं लभेत् ॥
सुगन्धैः केतकीपुष्पैः पूजितः कमलेश्वरः ।
सर्व्वं दुःखं हरत्येष मानवानां द्विजोत्तम ॥
पनसानां फलैर्द्दिव्यैः सुपक्वैर्घृतमिश्रितैः ।
पूजितो भगवान् विष्णुर्द्दात्यैश्वर्य्यमुत्तमम् ॥
आषाढ़े मासि दध्यन्नं हरये प्रतिवासरम् ।
श्रद्धया वैष्णवो दद्यान्मुक्तिमिच्छन्द्विजोत्तम ॥
कृष्णाय नवनीतं यो ददाति वैष्णवो जनः ।
तस्य पुण्यं न संख्यातुं शक्नोम्यब्दशतैरपि ॥
हैयङ्गवीनं यो दद्याद्गोपालाय महात्मने ।
आमिक्षां सगुड़ाञ्चैव स महात्मा हरेः प्रियः ॥
सशर्कराणि दुग्धानि कृष्णाय यस्तु यच्छति ।
तस्य प्रसन्नो भगवान् ददात्यभिमतं फलम् ॥ * ॥
श्रावणे मासि विप्रेन्द्र देवकीनन्दनं प्रभुम् ।
स्नापयेन्निर्म्मलैस्तोयैः शुद्धैः कलुषवर्ज्जितैः ॥
मल्लिकाकुसुमैर्विष्णुं योऽर्च्चयेत् वैष्णवो जनः ।
विमुक्तः सकलैः पापैर्व्विष्णुलोकं स गच्छति ॥
शेफालिकाप्रसूनैश्च यूथिकाकुसुमैस्तथा ।
अर्च्चयन् कमलाकान्तं मनुजो नावसीदति ॥
सुगन्धैस्तगरैः पुष्पैः नमलाकुसुमैस्तथा ।
योऽर्च्चयेत् कमलाकान्तं तस्य वश्यं जगत्त्रयम् ॥
प्रफुल्लैर्म्मालतीपुष्पैः सुगन्धैर्योऽर्च्चयेद्धरिम् ।
तत्पुण्यं नास्ति तत्तुल्यो येन स्याद्भुवि
मानवः ॥
कुन्दपुष्पैश्च बन्धूकैर्ज्जगद्बन्धुं जनार्द्दनम् ।
अर्च्चयन् सकलं काममाप्नोति भुवि मानवः ॥
महासहाप्रसूनैश्च तथा कुरुवकैर्हरिम् ।
कुरुण्टकैः पूजयेद्यस्तस्य तुष्टः सदा हरिः ॥
शिरीषकुसुमैर्विष्णुं पद्मपुष्पैश्च योऽर्च्चयेत् ।

करवीरप्रसूनैश्च स याति हरिसन्निधिम् ॥
श्रावणे मासि यो दद्यात् लाजान् घृतसम-
न्वितान् ।
हरये तस्य विप्रर्षे न विपत्तिर्गृहे भवेत् ॥
श्रावणे पिष्टकं यस्तु हरये गुडपूरकम् ।
ददाति तस्य विप्रर्षे गृहे श्रीर्निश्चला भवेत् ॥*॥
भाद्रे मासि द्विजश्रेष्ठ नारायणमनामयम् ।
श्रद्धया पूजयेत् प्राज्ञश्चतुर्व्वर्गफलप्रदम् ॥
निर्व्वाते नूतनागारे सर्व्वोपद्रववर्ज्जिते ।
स्थापयेत् पुण्डरीकाक्षं भगवन्तं जनार्द्दनम् ॥
दंशैश्च मशकैश्चैव प्रकीर्णैर्म्मक्षिकादिभिः ।
हरिं पुरातनागारे स्थापयेन्नहि भक्तिमान् ॥
सकर्द्दमे पतद्वारि गलद्भित्तौ गृहे तथा ।
हरिं न स्थापयेत् प्राज्ञो वर्षासु परमेश्वरम् ॥
विष्ण्वालये द्विजश्रेष्ठ बध्नीयाद्यस्तु मानवः ।
चन्द्रातपं विचित्रञ्च चन्द्रलोकं स गच्छति ॥
रात्रौ नानाविधैर्धूपैर्म्मन्दिरे जगतीपतेः ।
दंशांश्च मशकांश्चैव वर्षाकाले निवारयेत् ॥
मशारिकाभिः प्राहत्य मधुशायिनमच्युतम् ।
प्रावृषि स्थापयेद्विष्णुं निशायां दिव्यमन्दिरे ॥
कह्लारपत्रैर्द्दैवेशं सुगन्धेन् तनैस्तथा ।
मुमुक्षुः पूजयेन्मर्त्त्यो भाद्रे मासि दिने दिने ॥
न भाद्रे केतकीपुष्पैः पूजितश्चो जनार्द्दनः ।
यतो भाद्रपदे मासि केतकी स्यात् सुरारमा ॥
पक्वैस्तालफलैर्हि योऽर्च्चयेद्यदुनन्दनम् ।
गर्भवासमहादुःखं स भूयो लभते न हि ॥
संयुक्तं घृतदुग्धाभ्यां पक्वतालं सुरारये ।
यो दद्यात् श्रद्धया मर्त्यः स गच्छेन्मन्दिरं हरेः ॥
भाद्रे मासि द्विजश्रेष्ठ हरये तालपिष्टकम् ।
सघृतं वैष्णवो दद्यात् कैवल्यप्राप्तिहेतवे ॥
मासि भाद्रपदे विप्र न कुर्य्याच्छाकभक्षणम् ।
न रात्रौ भोजनं कुर्य्यान्मुमुक्षुर्वैष्णवो जनः ॥*॥
आश्विने मासि विप्रेन्द्र केशवं क्लेशनाशनम् ।
पूजयेद्भक्तिभावेन पूर्व्वोक्तविधिना जनः ॥
पूर्व्वाह्णे पूजयेद्यस्तु भक्त्या लक्ष्मीपतिं हरिम् ।
विष्णुपूजाफलं विप्र सम्पूर्णं तेन लभ्यते ॥
यत्तोयं दीयते विप्र पूर्व्वाह्णे हरये जनैः ।
पीयूषमिव तत्तोयं गृह्णाति कमलापतिः ॥
मध्याह्ने दीयते यच्च सलिलं चक्रपाणये ।
तोयं तोयमिव स्वामी तद्गृह्णाति द्विजोत्तम ॥
अपराह्णे तु यत्तोयं गोविन्दाय प्रदीयते ।
तत्तोयं रक्ततुल्यं स्यान्न गृह्णाति यतो हरिः ॥
अतएव द्विजश्रेष्ठ पूर्व्वाह्णे हरिमर्च्चयेत् ।
सकलं लभते कामं केशवस्यानुकम्पया ॥
एकवस्त्रेण विप्रेन्द्र न कुर्य्यात् पूजनं हरेः ।
कुर्य्याद्यदापि तदा पूजां तां न गृह्णाति केशवः ॥
अधौतेन च वस्त्रेण या पूजा कमलापतेः ।
विफला सा च पूजा स्यान्न च विष्णुः प्रसीदति ॥
यस्त्वबद्धशिखः पूजां चक्रिणः कुरुते जनः ।
पूजाफलं न चाप्नोति अनिर्ग्राह्या च सा भवेत् ॥
असंस्कृतगृहे पूजा क्रियते या जगत्पतेः ।
सा पूजा ब्राह्मणश्रेष्ठ अनिर्ग्राह्या भवेत् खलु ॥

स्नानं देवार्च्चनञ्चैव दानञ्च पितृतर्पणम् ।
तिलकेन विना विप्र न च कुर्य्याद्विचक्षणः ॥
तिलकान्न गृहीत्वा यत् पुण्यकर्म्म विधीयते ।
भस्मीभवति तत् सर्व्वं कर्त्ता च नारकी भवेत् ॥
शङ्खचक्रगदापद्मैरङ्कितं यस्य दृश्यते ।
शरीरं ब्राह्मणश्रेष्ठ विज्ञेयः सोऽच्युतः स्वयम् ॥”
इत्यादि ॥
“त्रिपत्रीकृतदूर्व्वाभिराश्विने योऽर्च्चयेद्धरिम् ।
दूर्व्वेव सन्ततिस्तस्य अविच्छिन्ना प्रवर्त्तते ॥
आश्विने मासि यो दद्याद्धरये कर्क्कटीफलम् ।
शोको न जायते तस्य कदाचिद्धृदये द्विज ॥*॥
कार्त्तिके तु समायाते सर्व्वमासोत्तमे शुभे ।
दामोदरं देवदेवं भक्त्या प्राज्ञः प्रपूजयेत् ॥
कार्त्तिके मासि विप्रेन्द्र विष्णुप्रीणनहेतवे ।
यथोक्तविधिना प्राज्ञः प्रातःस्नानं समाचरेत् ॥
आमिषं मैथुनञ्चैव कार्त्तिके मसि यस्त्यजेत् ।
जन्मान्तरार्ज्जितैः पापैर्म्मुक्तो याति परां गतिम् ॥
तुलाराशिगते सूर्य्ये प्रातःस्नानं द्विजोत्तम ।
हविष्यं ब्रह्मचर्य्यञ्च महापातकनाशनम् ॥
आमिषं मैथुनञ्चैव कार्त्तिके यस्तु न त्यजेत् ।
जन्मजन्मनि विप्रेन्द्र स भवेत् ग्राम्यशूकरः ॥
द्विर्भोजनं परान्नञ्च तैलञ्च वैष्णवो जनः ।
आयाते कार्त्तिके मासि यत्नादपि परित्यजेत् ॥
दामोदराय नभसि प्रदीपं यस्तु यच्छति ।
फलं तस्य प्रवक्ष्यामि समासेन शृणु द्विज ॥
ब्रह्महत्यादिभिः पापैर्व्विमुक्तः क्लेशदायकैः ।
दामोदरपुरं गत्वा तिष्ठेत् कोटियुगावधि ॥
दीपं ज्वलन्तं नभसि त्रिदशा वासवादयः ।
विलोक्य हर्षिताः सर्व्वे वदन्तीति परस्परम् ॥
असौ पुण्यात्मनां श्रेष्ठः केशवार्च्चनतत्परः ।
प्रदीपं कार्त्तिके मासि यतो यच्छति चक्रिणे ॥
आगमिष्यति पुण्यात्मा कदायं त्रिदिवं प्रति ।
करिष्यामि कदा सख्यमनेन हरिसेविना ॥
मुहूर्त्तमपि यो दद्याद्दीपं नभसि चक्रिणे ।
कार्त्तिके मासि विप्रेन्द्र तस्य तुष्टः सदा हरिः ॥
दद्याद्घृतप्रदीपं यः कार्त्तिके हरिमन्दिरे ।
दिने दिनेऽश्वमेधस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥
तुलसीदललक्षेण कार्त्तिके पूजयेद्धरिम् ।
लक्षैकवाजिमेधस्य मानवो लभते फलम् ॥
बिल्वच्छदनलक्षेण योऽर्च्चयेत् विष्णुमव्ययम् ।
कार्त्तिके शङ्करं वापि लभते सोऽपि तत्फलम् ॥
कार्त्तिके बकपुष्पेण हरिपूजनतत्परः ।
परमं मोक्षमाप्नोति प्रसादाज्जगतीपतेः ॥
यत्किञ्चित् कार्त्तिके मासि विष्णुमुद्दिश्य दीयते ।
तदक्षयं भवेत् सर्व्वं सत्यमेतन्मयोच्यते ॥
घृतान्नं शूरणान्नं यः कार्त्तिके विष्णवे नरः ।
दद्याद्दिने दिने विप्र तस्य विष्णुपुरे स्थितिः ॥
प्रफुल्लपद्मपुष्पेण सितेनाप्यसितेन वा ।
योऽर्च्चयेत् कमलाकान्तं तस्य किं भुवि दुर्लभम् ॥
कुमलैः कार्त्तिके मासि सितैर्व्वा लोहितैस्तथा ।
संपूज्य पद्मिनं मर्त्यो लभते परमं पदम् ॥
प्रदत्तं कार्त्तिके मासि हरये येन पङ्कजम् ।

न दत्तं तेन किं विप्र विष्णवे दैत्यजिष्णवे ॥
एकमेवाम्बुजं यस्तु ददाति कैटभारये ।
तस्मै किं भगवान् विष्णुर्न ददाति श्रियः पतिः ॥
कमलैः कार्त्तिके मासि येन नाराधितो हरिः ।
जन्मजन्मनि तद्गेहे कमला नहि तिष्ठति ॥
पद्मबीजानि यो दद्यात् केशवाय महात्मने ।
स जायते विप्रकुले शुद्धे च प्रतिजन्मनि ॥
ब्राह्मणस्य कुले जातः स चतुर्व्वेदविद्भवेत् ।
धनवान् बहुपुत्रश्च कुटुम्बानाञ्च पोषकः ॥
नास्ति पद्मसमं पुष्पं जैमिने सत्यमुच्यते ।
येन संपूज्य गोविन्दं पापात्मापि च मोक्षभाक् ॥
सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यमेव मयोच्यते ।
कमलैर्हरिमभ्यर्च्य लभते परमं पदम् ॥
एकमेवारविन्दं यः प्रददाति सुरारये ।
तस्य नास्ति पुनर्जन्म संसारेऽस्मिन् भृगूद्वह ॥”
इति पाद्मे क्रियायोगसारे १२ अध्यायः ॥*॥
व्यास उवाच ।
“मार्गशीर्षे द्विजश्रेष्ठ महालक्ष्म्या समन्वितम् ।
पूजयेदव्ययं विष्णुं भक्तिभावेन वैष्णवः ॥
उच्छिष्टदेशे विप्रेन्द्र तथैव पतितालये ।
दुर्गन्धेन परित्याज्ये स्थाने विष्णुं न पूजयेत् ॥
पाषण्डानां समीपे तु महापातकिनां तथा ।
असत्यभाषिणाञ्चैव न कुर्य्याद्विष्णुपूजनम् ॥
तस्मादेकमना भूत्वा भक्तिश्रद्धासमन्वितः ।
पूजयेत् कमलाकान्तं चतुर्व्वर्गफलाप्तये ॥
शाल्यन्नं सघृतञ्चैव मुद्गपूपसमन्वितम् ।
सवास्तूकादिशाकञ्च दद्यात् सहसि विष्णवे ॥
नागरङ्गफलं दिव्यं सुपक्वं यस्तु यच्छति ।
केशवाय द्विजश्रेष्ठ सोऽप्सराभिरपि पूज्यते ॥
यद्यन्यं नूतनं वस्तु प्रियं भगवतो हरेः ।
तदेवाग्रहायणे मासि भक्त्या दद्यान्मुरारये ॥*॥
पौषे मासि समायाते श्रीकृष्णं वरदं प्रभुम् ।
नित्यमिक्षुरसैर्द्दिव्यैः स्नापयेद्वैष्णवो जनः ॥
यः स्नापयति विप्रेन्द्र विष्णुमिक्षुरसैः प्रभुम् ।
इह भुङ्क्ते सुखं सर्व्वं मृतो यातीक्षुसागरम् ॥
यो दद्यादिक्षुवेदं देवदेवाय विष्णवे ।
सोऽपि तत्फलमाप्नोति किमन्यैर्ब्बहुभाषितैः ॥
सदुग्धं पृथुकं पौषे दधिभिर्व्वा समन्वितम् ।
दत्त्वा मुरारये मर्त्यः सर्व्वान् कामानवाप्नुयात् ॥
सर्व्वं पुरातनं वस्त्रं दूरीकृत्य सुरारये ।
शीतस्य वारणार्थाय दद्याद्वस्त्रञ्च नूतनम् ॥
पौषे संक्रमणे विप्र सलक्ष्मीकाय विष्णवे ।
दद्यान्मुसुम्भसुजो दशवर्णञ्च पिष्टकम् ॥
यस्तु शङ्खध्वनिं कुर्य्यात् संपूज्य कमलापतिम् ।
तस्य पुण्यफलं वच्मि शृणु वत्स समाहितः ॥
अगम्यागमनाच्चैव विमुक्तः सर्व्वपातकैः ।
शैवे विष्णुपुरं गत्वा विष्णुना सह मोदते ॥
वैनतेयाञ्चितां घण्टां यस्तु वादयते हरेः ।
पूजाकाले द्विजश्रेष्ठ तस्य पुण्यं वदाम्यहम् ॥
अभक्ष्यभक्षणाच्चैव मुक्तः पापैः सुदारुणैः ।
प्रयाति मन्दिरं विष्णो रथमारुह्य शोभनम् ॥
तत्र भुक्त्वाखिलं भोगं कल्पकोटिशतावधि ।

पुनरागत्य धरणीं चतुर्व्वेदी द्विजो भवेत् ॥
तत्र भुक्त्वा सुखं सर्व्वं शोकदुःखविवर्ज्जितः ।
पुनर्व्विष्णुपुरं गत्वा मोक्षं प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥
वीणां वादयते यस्तु पूजाकाले जगत्पतेः ।
पण्डितानामग्रणीः स्यात् प्रतिजन्मनि जन्मनि ॥
मृदङ्गवाद्यशब्दैस्तु पूजायां कैटभद्विषः ।
तस्य प्रसन्नो देवेशो ददात्यभिमतं फलम् ॥
डमरुं डिण्डिमञ्चैव भर्म्मरीं मधुरीं तथा ।
पटहं दुन्दुभिञ्चैव काहलं सिन्धुवादनम् ॥
कांस्यञ्च करतालञ्च वेणुं वादयते च यः ।
पूजाकाले महाविष्णोस्तस्य पुण्यं निशामय ॥
सर्व्वैः पातकैर्म्मुक्तो मन्दिरं याति चक्रिणः ।
परमं स्थानमासाद्य तत्रैव परिमुच्यते ॥
करशब्दञ्च यः कुर्य्यात् पूजाकाले जगद्गुरोः ।
मुखवाद्यञ्च विप्रेन्द्र तस्य पुण्यं वदाम्यहम् ॥
कोटिकोटिकुलैर्युक्तः प्रयाति हरिमन्दिरम् ।
स्थानमासाद्य तत्रैव मोक्षमव्ययमाप्नुयात् ॥
विष्णोरायतने यस्तु भक्तियुक्तः प्रनृत्यति ।
स याति ब्राह्मणश्रेष्ठ तद्विष्णोः परमं पदम् ॥
यस्तु गायति गीतानि भक्त्या नारायणाग्रतः ।
स गन्धर्व्वत्वमाप्नोति गन्धर्व्वाणां पुरेषु च ॥
स्तौति स्तोत्रं जगन्नाथं यो भक्त्या वैष्णवो जनः ।
तस्य प्रसन्नो भगवान् सर्व्वान् कामान् प्रयच्छति ॥
मासे मासे हरिं यस्तु विधिनानेन पूजयेत् ।
अचिरेणैव विप्रर्षे प्रसादयति सोऽच्युतम् ॥
जगदुदधिमिमं ये तर्त्तुमिच्छन्ति मर्त्त्याः
प्रचुरतरगभीरं सर्व्वदुःखप्रदञ्च ।
परमपुरुषपादाम्भोजयुग्मं मनोज्ञं
त्रिदशगणिवहसेव्यं ते तु सर्व्वे भजन्तु ॥”

इति पाद्मे क्रियायोगसारे १३ अध्यायः ॥ * ॥

अथ द्वात्रिंशत् सेवापराधाः । भगवद्भक्तानां चत्रियसिद्धान्नभोजनम् १ अनिषिद्धदिने दन्तधावनमकृत्वा विष्णोरुपसर्पणम् २ मैथुनं कृत्वास्नात्वा विष्णोरुपसर्पणम् ३ मृतं नरं स्पृष्ट्वास्नात्वा विष्णुकर्म्मकरणम् ४ रजस्वलां स्पृष्ट्वा विष्णुगृहप्रवेशनम् ५ मागधं शवं स्पृष्ट्वास्नात्वा विष्णुसन्निधावस्थानम् ६ विष्णुं स्पृशतः पायुवायुप्रयोगः ७ विष्णोः कर्म्म कुर्व्वतः पुरीषत्यागः ८ विष्णुशास्त्रमनादृत्य शास्त्रान्तरप्रशंसा ९ अतिमलिनं वासः परिधाय विष्णुकर्म्माचरणम् १० अविधानेनाचम्य विष्णोरुपसर्पणम् ११ विष्णोरपराधं कृत्वा विष्णोरुपसर्पणम् १२ क्रुद्धस्य विष्णुस्पर्शनम् १३ निषिद्धपुष्पेण विष्णवर्च्चनम् १४ रक्तं वासः परिधाय विष्णोरुपसर्पणम् १५ अन्धकारे दीपेन विना विष्णोश्च स्पर्शनम् १६ कृष्णवस्त्रं परिधाय विष्णोः कर्म्माचरणम् १७ वायसोद्धृतवासः परिधाय विष्णोः कर्म्माचरणम् १८ विष्णवे कुक्कुरोच्छिष्टदानम् १९ वराहमांसं भुक्त्वा विष्णोरुपसर्पणम् २० हंसजालपदसरारिमांसं भुक्त्वा विष्णोरुपसर्पणम् २१ दीपं स्पृष्ट्वा हस्तमप्रक्षाल्य विष्णोः स्पर्शनं कर्म्मकरणं वा २२ श्मशानं गत्वास्नात्वा विष्णूपसर्पणम् २३ पिण्याकं भुक्त्वा विष्णोरुपसर्पणम् २४ विष्णवे वराहमांसनिवेदनम् २५ मद्यमादाय पीत्वा वा स्पृष्ट्वा विष्णुगृहप्रवेशनम् २६ परकीयेणाशुचिना वस्त्रेण परिहितेन विष्णुकर्म्माचरणम् २७ विष्णवे नवान्नमप्रदाय तद्भोजनम् २८ गन्धपुष्पेऽप्रदाय धूपदीपदानम् २९ उपानद्भ्यामारुह्य विष्णुस्थानप्रवेशनम् ३० भेरीशब्देन विना विष्णुप्रबोधनम् ३१ अजीर्णे सति विष्णुस्पर्शनम् ३२ । एतदुपलक्षणम् । इत्याह्निकाचारतत्त्वम् ॥ * ॥

अपि च ।

धरण्युवाच ।

“तवापराधात् देवेश वर्ज्यान् यान् वैष्णवेन च ।
निरपराधो मनुजः सापराधश्च जायते ॥
कर्म्माचरणे येन करणेन जुगुप्सितम् ।
तव पूजाफलं सर्व्वं जायते तद्वदस्व मे ॥

वराह उवाच ।

कर्म्मणा मनसा वाचा ये पापरुचयो जनाः ।
भक्षणं दन्तकाष्ठस्य राजान्नस्य तु भोजनम् ॥
मैथुनं शवसंस्पर्शं पुरीषोत्सर्गमेव च ।
मृतवृद्रव्याः स्पर्शं स्पर्शनं मेहनं तथा ॥
अभाष्यभाषणं कोपं पिण्याकस्य च भक्षणम् ।
रक्तपारक्यमलिनं वस्त्रधारित्वनीलिजम् ॥
गुरोश्चालोकनिर्व्वन्धं पतितान्नस्य भक्षणम् ।
अभक्ष्यभक्षणञ्चैव तण्डुलीयविभीतकम् ॥
अदानं तु वरान्नस्य जालपादवराकयोः ।
भक्षणं देवतागारे सोपानत्कोपसर्पणम् ॥
तथैव देवपूजायां निषिद्धकुसुमार्च्चनम् ।
अनुत्तार्य्य च निर्म्माल्यं पूजा जीर्णान्धकारयोः ॥
पानं सुराया देवस्य अन्धकारे प्रबोधनम् ।
वातकर्म्मार्च्चने विष्णोरनमस्करणं तथा ॥
अपराधास्त्रयस्त्रिंशत् समाख्याता मया धरे ।
एभिर्युक्तस्तु पुरुषो विष्णुं नैव प्रपश्यति ॥
दूरस्थो न नमस्कारं कुर्य्यात् पूजां तु राघवी ॥”

तत्प्रायश्चित्तं यथा,—

“एकरात्रं द्विरात्रं वा त्रिरात्रं स्नानमेव च ।
नवासाः पञ्चगव्याशी मलवस्त्रान्तिकं क्रमात् ॥
नीलीरञ्जनदोषार्थं गोमयेन प्रघर्षणम् ।
प्राजापत्येन शुद्धिः स्यात् नीलीवस्त्रस्य धारणात् ।
चान्द्रायणद्वयं कुर्य्यात् गुरोः चमितमुत्तमम् ।
चान्द्रायणं पराकञ्च पतितान्नस्य भक्षणात् ॥
चान्द्रायणं पराकञ्च प्राजापत्यं तथैव च ।
गोप्रदानञ्च भोज्यञ्च अभक्ष्यस्य च भक्षणे ॥
उपवासस्तु पञ्चाहं पञ्चगव्येन शुध्यति ।
सोपानत्कश्चरेत् पादं कृच्छ्रस्य दिनभोजनम् ॥
पुण्याभाषेऽर्च्चनं स्नानं देवस्पर्शञ्च कारयेत् ।
अनिर्म्माल्ये नमस्कारं स्नानं पञ्चामृतेन तु ॥
सुरापाने द्विजातीनां चान्द्रायणचतुष्टयम् ।
तथैव द्वादशाष्टौ तु प्राजापत्यत्रयं चरेत् ॥
अन्धकूर्च्चेन शुद्धिः स्यात् गोप्रदानत्रयेण च ।
त्रयाणामेकरात्रेण पञ्चाम्बुनिषेवणात् ॥
मुच्यते त्वपराधैस्तु तथा विष्णोः स्तवं पठन् ।
एतत्ते कथितं गुह्यं किमन्यत् श्रोतुमिच्छसि ॥

धरण्युवाच ।

अस्ति कश्चिदुपायोऽत्र येन त्वं तुष्ठ तुष्यसि ।
पूजितः सफलश्चासि अपराधविशोधनः ॥

वराह उवाच ।

संवत्सरस्य मध्ये तु तीर्थे सौकरवे मम ।
कृतोपवासः स्नानेन गङ्गायां शुद्धिमाप्नुयात् ।
मथुरायां तथाप्येवं सापराधः शुचिर्भवेत् ॥
अनयोस्तीर्थयोरेवं यः सेवेत नराधमः ।
सहस्रजन्मजनितानपराधान् जहाति सः ।
स्नानात् पानात् तथा ध्यानात् कीर्त्तनाद्दारणात्तथा ।
अवगाहनतश्चैव दर्शनाद्याति पातकम् ॥”

इति वाराहपुराणे अपराधप्रायश्चित्तनामाध्यायः ॥

सेवि, क्ली, (सेव्यते लोकैरिति । सेव + इन् ।) फलविशेषः । सेओ इति हिन्दी भाषा । तत्पर्य्यायः । वदरम् २ चिचितिकाफलम् ३ मुष्टिप्रमाणम् ४ सेवितम् ५ सेवम् ६ । अस्य गुणाः । वातपित्तहरत्वम् । गुरुत्वम् । वृंहणत्वम् । कफकरत्वम् । हृद्यत्वम् । पाके स्वादुरसत्वम् । हितत्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥

सेविका, स्त्री, मिष्टान्नविशेषः । सेओयाञि इति भाषा । यथा,—

“समितावर्त्तिकाः कृत्वा सुक्ष्मा यवसन्निभाः ।
शुष्काः चीरेण संसाध्या भोज्या घृतसिता-न्विताः ॥”

अस्या गुणाः ।

“सेविका तर्पणी बल्या गुर्व्वी पित्तानिलापहा ।
ग्राहिणी सन्धिकृद्रुच्या तां खादेन्नातिमात्रया ॥”

इति भावप्रकाशः ॥

(दासी । भुजिष्या । इति केचित् ॥)

सेवितः, त्रि, (सेव + क्तः ।) समुपासितगुर्व्वादिः । तत्पर्य्यायः । वरिवसितः २ वरिवस्थितः ३ उपासितः ४ उपचरितः ५ । इति शब्दरत्नावली ॥ आराधितः । उपभुक्तः । आश्रितः । इति सेवधात्वर्थदर्शनात् ॥ (यथा, महाभारते । १ । १७ । ६ ।

“काञ्चनाभरणं चित्रं देवगन्धर्व्वसेवितम् ॥”)

सेविफले, क्ली । इति राजनिर्घण्टः ॥

सेव्यं, क्ली, (सेव्यते इति । सेव + ण्यत् ।) वीरणमूलम् । इत्यमरः । २ । ४ । १६४ ॥ (अस्य पर्य्यायो यथा,—

“वीरणस्य तु मूलं स्यादुशीरं नलदञ्च तत् ।
अमृणालञ्च सेव्यञ्च समगन्धिकमित्यपि ॥”

इति भावप्रकाशे पूर्व्वखण्डे १ भागे ॥

लामज्जकम् । उशीरवत्पीतच्छविलृणविशेषः । तत्पर्य्यायो यथा,—

“लामज्जकं सुनालं स्यादमृणालं लयं लघुः ।
इष्टकापथकं सेव्यं नलदञ्चावदातकम् ॥”

इति च भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे प्रथमे भागे ॥

"स्वादुशीरं मृणालञ्च सैयं लामज्जकन्तथा ।"
इति गारुडे २०८ अध्यायः ॥)

सैयः, पुं, (सेव्यते इति । सेव + ण्यत् ।) अश्वत्थवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥ पिप्पलवृक्षः । इति शब्दरत्नावली ॥

सैयः, त्रि, (सेव सेवने + ण्यत् ।) सेवार्हः । इति मेदिनी ॥ (यथा, कथासरित्सागरे । ५२ । १३७ ।
"अहं तं सैयमन्येषां करिष्यामीश्वरं क्षणात् ।
तत्तं वृणीष्व भर्त्तारं यदि ते पुत्त्रि रोचते ॥")

सैया, स्त्री, (सेव + ण्यत् । टाप् ।) वन्दाकवृक्षः । इति शब्दरत्नावली ॥

सै, क्षयाम् । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-अक०-अनिट् ।) सायति । क्षितिः क्षयः । इति दुर्गादासः ॥

सैंहः, त्रि, (सिंहस्यायमिति । सिंह + अण् ।) सिंहसम्बन्धी । सिंहतुल्यः । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥ (स्त्रियां ङीप् । यथा, माघे । १।४७ ।
"सटाच्छटाभिन्नघनेन बिभ्रता
नृसिंह सैंहीमतनुं तनुं त्वया ।
स मुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरै-
रुरोविदारं प्रतिचस्करे नखैः ॥")

सैंहली, स्त्री, (सिंहले देशे भवा । सिंहल + अण् । ङीप् ।) सिंहपिप्पली । तत्पर्य्यायः । सर्पदण्डा २ सर्पाङ्गी ३ अश्मभूमिजा ४ पार्व्वती ५ शैलजा ६ ताम्रा ७ लम्बबीजा ८ उत्कटा ९ अद्रिजा १० सिंहलस्था ११ लम्बदन्ता १२ जीवला १३ जीवाला १४ जीवनेष्ठी १५ कुरम्बी १६ । अस्या गुणाः । कटुत्वम् । उष्णत्वम् । अग्नुनाशित्वम् । दीपनत्वम् । कफश्वाससमीरार्त्तिशमनत्वम् । कोष्ठशोधनत्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥ सिंहलद्वीपभवे, त्रि ॥

सैंहिकः, पुं, (सिंहिकायां भवः । अण् ।) राहुः । इति शब्दरत्नावली ॥

सैंहिकेयः, पुं, (सिंहिकाया अपत्यं पुमानिति । सिंहिका + ढक् ।) राहुः । इत्यमरः ॥ (यथा, माघे । २ । ३५ ।
"ध्रियते यावदेकोऽपि रिपुस्तावत् कुतः सुखम् ।
पुरः क्लिश्नाति सोमं हि सैंहिकेयोऽसुर-
द्रुहाम् ॥")

सैकतं, क्ली, (सिकताः सन्त्यत्रेति । अण् ।) वालुकामयतटम् । इत्यमरः । १ । ३ । २६ ॥ (यथा, कुमारे । १ । २९ ।
"मन्दाकिनीसैकतवेदिकाभिः
सा कन्दुकैः कृत्रिमपुत्त्रकैश्च ।
रेमे मुहुर्मध्यगता सखीनां
क्रीडारसं निर्विशतीव बाल्ये ॥")

सैकतः, त्रि, (सिकताः सन्त्यत्रेति । सिकता + "सिकताशर्कराभ्याञ्च ।" ५ । २ । १०४ । इति अण् ।) सिकतामयः । इत्यमरः । ३ । १० । ९ ॥ तत्पर्य्यायः । सिकतिलः २ सिकतावान् ३ । इति राजनिर्घण्टः ॥ (यथा, भागवते । ११।२७।१२ ।
"शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती ।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता ॥")

सैकतिकं, क्ली, माङ्गल्यसूत्रम् । मङ्गलसूत्रकम् । इति मेदिनी ॥

सैकतिकः, पुं, (सैकतं पुलिनं प्रियत्वेनास्त्यस्येति । सैकत + ठन् ।) संन्यस्तः । क्षपणकः । सन्देहजीविनि, त्रि । इति मेदिनी ॥

सैकतेष्टं, क्ली, (सैकतं स्थानमिष्टमस्य ।) आर्द्रकम् । इति राजनिर्घण्टः ॥ वालुकामयप्रिये, त्रि ॥

सैतवाहिनी, स्त्री, बाहुदानदी । इत्यमरः । १ । १० । ३३ ॥

सैद्धान्तिकः, त्रि, (सिद्धान्तं वेत्तीति । सिद्धान्त + ठक् ।) सिद्धान्तज्ञः । इति हेमचन्द्रः कौमुदी च ॥

सैनापत्यं, क्ली, (सेनापतेर्भावः कर्म्म वा । सेनापति + "पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् ।" ५।१।१२८ । इति यक् ।) सेनापतेर्भावः । तत्कर्म्म च । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥ (यथा, मनुः ।१२।१०० ।
"सैनापत्यञ्च राज्यञ्च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्व्वलोकाधिपत्यञ्च वेदशास्त्रविदर्हति ॥"
सेनापतेरिदमिति । "दित्यदित्यादित्येति ।" ४ । १ । ८५ । इति ण्यः ।) सेनापतिसम्बन्धिनि, त्रि ॥

सैनिकः, पुं, (सेनां समवैतीति । सेना + "सेनाया वा ।" ४ । ४ । ४५ । इति पक्षे ठक् ।) सेनायां समवेतः । इत्यमरः । २ । ८ । ६१ ॥ मिलितहस्त्यश्वरथपादातं सेना तत्र ये समवेताः एकदेशीभूतास्ते सैन्याः सैनिकाश्च । इति भरतः ॥ (यथा, रघुः । ३ । ६१ ।
"निमेषमात्रादवधूय तद्‌व्यथां
सहोत्थितः सैनिकहर्षनिस्वनैः ॥")
सैन्यरक्षकः । इति मेदिनी अमरश्च ॥ प्राणिवधनियुक्तः । यथा, श्रीभागवते पञ्चमस्कन्धगद्यम् । ये त्विह वै पुरुषाः पुरुषमेधेन यजन्ते याश्च स्त्रियो नृपशून् खादन्ति तांश्च ताश्च ते पशव इव निहता यमसदने यातयन्तो रक्षोगणाः सैनिका इव स्वधितिना अवदायासृक् पिबन्तीति । सैनिकाः प्राणिवधनियुक्ताः । इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥ सेनासम्बन्धिनि, त्रि ॥ (यथा, महाभारते । ७ । १९० । ४१ ।
"एवं तं निहतं संख्ये ददृशे सैनिको जनः ॥")

सैन्धवं, क्ली, पुं, (सिन्धौ समुद्रतीरे सिन्धुदेशे वा भवम् । सिन्धु + "अणञौ च ।"४।३।३३ । इति अण् ।) लवणविशेषः । स तु सिन्धुनद्युपलक्षितदेशोद्भवः । तत्पर्य्यायः । शीतशिवम् २ माणिमन्थम् ३ सिन्धुजम् ४ । इत्यमरः । २ । ९ । ४२ ॥ वशिरम् ५ सिन्धुदेशजम् ६ माणिबन्धम् ७ । इति जटाधरः ॥ शिलाशिवम् ८ । इति शब्दरत्नावली ॥ नादेयम् ९ शिवम् १० सिद्धम् ११ शिवात्मजम् १२ पथ्यम् १३ । अस्य गुणाः ।
"सैन्धवं लवणं हृद्यं चक्षुष्यं दीपनं रुचि ।
पूतं स्वादु त्रिदोषघ्नं व्रणदोषविबन्धजित् ॥
सैन्धवं द्विविधं ज्ञेयं सितं रक्तमिति क्रमात् ।
रसवीर्य्यविपाकेषु गुणाढ्यं कथितं सितम् ॥"
इति राजनिर्घण्टः ॥

अपि च ।
"सैन्धवं लवणं स्वादु दीपनं पाचनं लघु ।
स्निग्धं रुच्यं हिमं हृष्यं सूक्ष्मनेत्रं त्रिदोषहृत् ॥"
इति भावप्रकाशः ॥

किञ्च ।
"सैन्धवं दोषजिद्‌वृष्यं चक्षुष्यमविदाहि च ।
अग्निसन्दीपनं स्निग्धं रोचनं मधुरं लघु ॥"
इति राजवल्लभः ॥

तत्तु हविष्यान्नम् । यथा, स्मृतिः ।
"लवणे सैन्धवसामुद्रे गव्ये च दधिसर्पिषी ।"
इति हविष्यान्नगणने तिथ्यादितत्त्वम् ॥

सैन्धवः, पुं, (सिन्धुरभिजनोऽस्येति । सिन्धु + "सिन्धुतक्षशिलादिभ्योऽणञौ ।" ४।३।९३ । इति अण् ।) घोटकः । स तु सिन्धोरदूरभवः । विकारसंघेति चादूरभवार्थे ष्णः । इत्यमरभरतौ । २।८।४४ ॥ (यथा, भागवते ।९।१।२३ ।
"स एकदा महाराज ! विचरन् मृगयां वने ।
वृतः कतिपयामात्यैरश्वमारुह्य सैन्धवम् ॥"
सिन्धुदेशाधिपतिः । जयद्रथः । यथा, महाभारते । १ । १ । १९६ ।
"यदा द्रोणः कृतवर्म्मा कृपश्च
कर्णो द्रौणिर्मद्रराजश्च शूरः ।
अमर्षयन् सैन्धवं वध्यमानं
तदा नाशंसे विजयाय सञ्जय ॥"
सिन्धुदेशोत्पन्नमात्रे । यथा, तत्रैव । ३ । ५१ । २४ ।
"हारहूणांश्च चीनांश्च तुखारान् सैन्धवांस्तथा ॥")

सैन्धी, स्त्री, तालादिरसनिर्यासः । तत्पर्य्यायः । हाला २ । अस्या गुणाः । शीतलत्वम् । कषायत्वम् । अम्लत्वम् । पित्तदाहनाशित्वम् । वातदत्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥

सैन्यं, क्ली, (सेना एव । चतुर्वर्णादित्वात् ष्यञ् ।) सेना । इत्यमरः । २ । ८ । ७८ ॥ (यथा मार्कण्डेये । ८७ । २१ ।
"हतशेषं ततः सैन्यं दृष्ट्वा चण्डं निपातितम् ।
मुण्डञ्च सुमहावीर्य्यं दिशो भेजे भयातुरम् ॥")

सैन्यः, पुं, (सेनां समवैतीति । सेना + "सेनाया वा ।" ४।४।४५ । इति ण्यः ।) सेनासमवेतः । इत्यमरः । २ । ८ । ६१ ॥ "मिलितहस्त्यश्वरथपादातं सेना तत्र ये समवेता एकदेशीभूतास्ते सैन्याः सैनिकाश्च ।" इति भरतः ॥ किञ्च ।
"सैन्यं क्लीवं बलेऽपि ना समवेते तु वाच्यवत् ॥"
इति मेदिनी ॥

सैन्यपृष्ठं, क्ली, (सैन्यस्य पृष्ठम् ।) सैन्यस्य पश्चाद्भागः । यत्र स्थिते राजा स्वसैन्यं प्रतिगृह्णाति । तत्पर्य्यायः । प्रतिग्रहः २ । इत्यमरः ॥ परिग्रहः ३ । इति भरतः ॥ पतद्‌ग्रहः ४ । इति टीकान्तरम् ॥

सैमन्तिकं, क्ली, सिन्दूरम्। इति केचित्॥ सीमन्तशब्दात् ष्णिकप्रत्ययेन निष्पन्नम्॥

सैरन्ध्री, स्त्री, (सैरं स्वाच्छन्द्यं धरतीति। धृ+मूलविभुजादित्वात् कः। पृषोदरादित्वात् साधुः।) अन्यवेश्मस्था स्वतन्त्रा शिल्पजीविनी। इत्यमरः। २। ६। १८॥ (यथा, महाभारते। ३। ६५। ५१।
"सैरन्ध्रीमभिजानीष्व सुनन्दे देवरूपिणीम्।
वयसा तुल्यतां प्राप्ता सखी तव भवत्वियम्॥")
द्रौपदी। इति हेमचन्द्रः॥ (वर्णसङ्करसम्भूतस्त्री। यथा, महाभारते। १३। ४८। २६।
"अगम्यागमनाच्चैव जायते वर्णसङ्करः।
बाह्यानामनुजायन्ते सैरन्ध्र्यां मागधेषु च।
प्रसाधनोपचारज्ञमदासन्दासजीवनम्॥")

सैरिकः, पुं, (सीर+ठक्।) सीरेण लाङ्गलेन खनति यः। कृषाण् इति भाषा॥ (सीरं वहतीति। सीर+"हलसीरात् ठक्।" ४। ४। ८१। इति ठक्।) सीरस्य वोढा। हेलेगरु इति भाषा॥ (सीरस्येदमिति। "हलसीरात् ठक्।" ४। ३। १२४। इति ठक्।) सीरसम्बन्धिनि, त्रि। तेषां पर्य्यायः। हालिकः २ लाङ्गलिकः ३। इत्यमरः। २। ९। ६४॥

सैरिन्ध्री, स्त्री, (सैरं स्वातन्त्र्यं धरतीति। धृ+मूलविभुजादित्वात् कः। पृषोदरादित्वात् साधुः। गौरादित्वात् ङीष्।) परवेश्मस्था स्ववशा शिल्पकारिका। इत्यमरः। २। ६। १८॥ तत्पर्य्यायः। सैरन्ध्री २ सैरिन्ध्रिः ३। इति तट्टीका॥ (यथा, महाभारते। ४। ८। २।
"वासश्च परिधायैकं कृष्णा सुमलिनं महत्।
कृत्वा वेशं हि सैरिन्ध्र्याः कृष्णा च व्यचरत् तदा॥")
वर्णसङ्करसम्भूतस्त्री। मल्लिका। इति मेदिनी॥ द्रौपदी। इति धरणिः॥ (यथा, महाभारते। ४। २३। ५।
"यथा सैरिन्ध्रीदोषेण न ते राजन्निदं पुरम्।
विनाशमेति वै क्षिप्रं तथा नीतिर्विधीयताम्॥")

सैरिभः, पुं, (सीरे लाङ्गलवहने इभ इव। शकन्ध्वादित्वात् साधुः। ततः स्वार्थे अण्।) महिषः। इत्यमरः। २। ५। ४॥ स्वर्गः। इति त्रिकाण्डशेषः॥

सैरीयः, पुं, (सीरे भवः। अण्। सैरः कर्षस्तत्र भवः। वृद्धात् छः।) झिण्टी। इति शब्दरत्नावली॥

सैरीयकः, पुं, (सैरीय एव। स्वार्थे संज्ञायां वा कन्।) झिण्टी। इत्यमरः। २। ४। ७५॥ अस्य गुणः। कफवातनाशित्वम्। इति राजवल्लभः॥

सैरेयः, पुं, (सैरे कर्षे भवः। सैर+"नद्यादिभ्यो ढक्।" ४।२।९७। इति ढक्।) झिण्टी। इति शब्दमाला भरतश्च॥ (अस्य पर्य्यायो यथा,—
"सैरेयकः श्वेतपुष्पः सैरेयः कटसारिका।
सहाचरः सहचरः स च भिन्त्यपि कथ्यते॥"
अथास्य गुणाः।
"सैरेयः कुष्ठवातास्रकफकण्डूविषापहः।
तिक्तोष्णो मधुरोऽनम्लः सुस्निग्धः केशरञ्जनः॥"
इति भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे प्रथमे भागे॥)

सैरेयकः, पुं, (सैरेय एव। स्वार्थे कन्।) झिण्टी। इति राजनिर्घण्टो भरतश्च॥ (अस्य पर्य्यायो यथा, भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे प्रथमे भागे।
"सैरेयकः श्वेतपुष्पः सैरेयः कटसारिका।
सहाचरः सहचरः स च भिन्त्यपि कथ्यते॥")

सैवालं, क्ली, शैवालम्। यथा,—
"या पांशुपाण्डरवपुर्व्विरसा पुरासीत्
सैवालकाङ्कुरलतामधुना बिभर्त्ति।
वक्रं प्रवर्त्तति तनोर्व्वितनोति लक्ष्मीं
प्रायः पयोधरसमुन्नतिरत्र हेतुः॥"
इति प्रसिद्धश्लेषकाव्यम्॥

सोः, स्त्री, पार्व्वती। इति केचित्॥ षोधातोः क्विप्प्रत्ययेन निष्पन्ना॥

सोढः, त्रि, (सह मर्षणे+क्तः। "सहिवहोरोदवर्णस्य।" ६। ३। ११२। इति अवर्णस्य ओत्।) क्षान्तः। इत्यमरः। ३। १। ९७॥ दुःखादिसहनशीलः। इति तट्टीकायां नीलकण्ठः॥

सोढा, [ऋ] त्रि, (सहते इति। सह+तृच्।) क्षमायुक्तः। शक्तः। इति मेदिनी॥ (यथा, महाभारते। ७। २६। ६।
"सोढा शस्त्रनिपातानामग्निस्पर्शस्य चानघ।
स पाण्डवबलं सर्व्वमद्यैको नाशयिष्यति॥")

सोत्कण्ठः, त्रि, (उत्कण्ठया सह वर्त्तमानः।) उत्कण्ठायुक्तः। तत्पर्य्यायः। उत्कः २ उन्मनाः ३। इति जटाधरः॥ (यथा, कथासरित्सागरे। ३१। ४५।
"तन्नोद्यानगतं सा तं वत्सेशं सखुदीरितम्।
ददर्श दूरात् सोत्कण्ठा चकोरीवाम्रतलिनम्॥")

सोत्प्रासं, क्ली, (उत्प्रासेन सह वर्त्तमानम्।) प्रियावाक्यम्। यथा, शब्दरत्नावल्याम्।
"सोल्लुण्ठनन्तु सोत्प्रासं चटु चाटु प्रियोदितम्॥"

सोत्प्रासः, पुं, (उत्प्रासेन आधिक्येन सह वर्त्तमानः।) सशब्दहास्यम्। यथा,—
"सोत्प्रास आच्छुरितकमवच्छुरितकं तथा।
अट्टहासो महाहासो हासः प्रहास इत्यपि॥"
इति शब्दरत्नावली॥

सोदर्य्यं, त्रि, उदरेण सह वर्त्तमानम्। वृद्धियुक्तम्। सुद् समेत् इति भाषा। यथा,—
"दत्तां कन्यां हरन् दण्ड्यो व्ययं दद्याच्च सोदयम्।
म्लतायां वर आदद्यात् परिशोध्योभयव्ययम्॥"
इत्युद्वाहतत्त्वधृतयाज्ञवल्क्यवचनम्॥

सोदरः, पुं, (सह समानं उदरं यस्य। सहस्य सः।) सहोदरः। इति शब्दरत्नावली॥ (यथा, मनुः। ८। २९९।
"भार्य्या पुत्त्रश्च दासश्च शिष्यो भ्राता च सोदरः।
प्राप्तापराधास्ताड्याः स्यू रज्ज्वा वेणुदलेन वा॥")

सोदरा, स्त्री, सहोदरा भगिनी। इति सोदरशब्दाट्टाप्प्रत्ययेन निष्पन्ना॥

सोदर्य्यः, पुं, (समानोदरे शयितः। सोदर+"सोदराद् यः।" ४।४।१०९। इति यः।) सहोदरः। इत्यमरः।२।६।३४॥ (यथा, रघुः।१५।२६।
"स हत्वा लवणं वीरस्तदा मेने महौजसम्।
भ्रातुः सोदर्य्यमात्मानमिन्द्रजिद्वधशोभिनः॥")

सोनहः, पुं, लशुनम्। इति शब्दरत्नावली॥

सोन्मादः, त्रि, (उन्मादेन सह वर्त्तमानः।) उन्मदः। उन्मदिष्णुः। तस्य रूपान्तराणि यथा। उन्मादः। सून्मादः। सून्मदः। इत्यमरटीकायां भरतः। ३। १। २३॥

सोपकरणं, त्रि, उपकरणेन सह वर्त्तमानम्। उपकरणविशिष्टम्। यथा,—
"एवञ्च अमुककाम इति सोपकरणं वत्सतरीचतुष्टययुक्तं वृषमिति चाभिलप्य उत्सर्गः सङ्कल्पते।" इति वृषोत्सर्गतत्त्वम्॥ इदं सोपकरणमामान्नमैवेद्यममुकदेवतायै नमः। इति च पूजापद्धतिः॥

सोपकारः, त्रि, उपकारविशिष्टः। उपकारेण सह वर्त्तमान इति बहुव्रीहिसमासे कृते सहशब्दस्य सादेशेन निष्पन्नः॥

सोपधं, त्रि, (उपधया सह वर्त्तमानमिति।) सच्छद्मदानादि। यथा हारीतः। अथासद्व्यदानमस्वर्ग्यं यच्च दत्त्वा परितप्यते। तद्व्यदानमफलं यच्चोपकारिणे ददाति तन्मात्रं परिक्लिष्टं यच्च सोपधं ददाति अन्यश्रावितमल्पं यच्चापात्राय ददाति अनिष्टदानं भवति यच्च दत्त्वा प्रकीर्त्तयति क्षयदानं यच्चाश्रद्धया ददाति क्रोधाद्व्यर्थं यच्चाक्रुश्य ददाति दत्त्वा वाक्रोशति असत्कृतं पैशाचं यच्चावज्ञातं ददाति दत्त्वा वावजानीते सुवर्णोत्तमसं यच्चाशक्तो ददाति। एते दानोपसर्गा येऽपकृष्टं दानमप्रसिद्धमस्वर्ग्यमयशस्यमनुबन्धफलं भवत्यल्पफलं वेति। तन्त्रे त्यागानन्तरकाले हस्तार्पणसम्भवेऽपि अदानमसमर्पणम्। उपकारिणे यतनोपकारिणे। तन्मात्रं यथोक्तोपकाररहितम्। सोपधं सच्छद्म। अन्यश्रावितं लोकसम्भावनार्थं प्रकाशितम्। अनिष्टदानं शत्रवे दानम्। क्षयो मानभङ्गः। अशक्तो भयादिमान्। इति शुद्धितत्त्वम्॥

सोपप्लवः, पुं, (उपप्लवेन सह वर्त्तमानः।) राहुग्रस्तः चन्द्रः सूर्य्यश्च। इत्यमरः। १।४।१०॥

सोपवासः, त्रि, (उपवासेन सह वर्त्तमानः।) उपवासविशिष्टः। यथा,—
"मत्स्यांस्तु कामतो जग्ध्वा सोपवासस्त्र्यहं वसेत्॥"
इति तिथ्यादितत्त्वे याज्ञवल्क्यवचनम्॥

सोपाकः, पुं, श्वपाकः। इति केचित्॥ (चण्डालात् पुक्कस्यां समुत्पन्नोऽन्त्यजजातिविशेषः। यथा, मनुः। १०।३८।
"चण्डालेन तु सोपाको मूलव्यसनवृत्तिमान्।
पुक्कस्यां जायते पापः सदा सज्जनगर्हितः॥")

सोपाधिः, त्रि, (उपाधिना सह वर्त्तमानः ।) उपाधियुक्तः । प्रतिलाभेच्छादिना दानादिः । यथा नारदः ।

"अदत्तन्तु भयक्रोधकामशोकरुजान्वितैः ।
तथोत्कोचपरीहासव्यत्यासच्छलयोगतः ॥
बालमूढ़ास्वतन्त्रार्त्तमत्तोन्मत्तापवर्जितैः ॥
कर्त्ता ममेदं कर्म्मेति प्रतिलाभेच्छया च यत् ॥"

प्रतिलाभेच्छया सोपाधिदत्तमुपाध्यसिद्धावसिद्धमिति विवादचिन्तामणिः । इति शुद्धितत्त्वम् ॥

सोपानं, क्ली, (उपानमुपरिगमनं तेन सह विद्यमानम् ।) आरोहणम् । इत्यमरः । २।२।१८ ॥ इष्टकादिरचिते पथिठा इति ख्याते । देशान्तरे खड़खड़ीति यत् प्रसिद्धम् । आरुह्यते अनेन आरोहणं अनट् । उपपूर्व्वादणितेर्भावे अल् अनेकार्थत्वादुपानं ऊर्द्ध्वगमनं तेन सह वर्त्तते सोपानम् । सोपानसिद्धसाध्याः संवाधसम्मूढ़सन्नाशीति इत्याद्याद्युश्वविवेकः । इति भरतः ॥ किञ्च ।

"आरोहणञ्च सोपानं पैठा इति समाकथे ।
सोपाने काष्ठघटिते निःश्रेणिस्त्वधिरोहिणी ॥
निःश्रेणी स्यान्निःश्रयणी तथा निःश्रेयिणी-
त्यपि ॥"

इति शब्दरत्नावली ॥

(यथा, कुमारे । १ । ३९ ।

"मध्येन सा वेदिविलग्नमध्या
बलित्रयं चारु बभार बाला ।
आरोहणार्थं नवयौवनेन
कामस्य सोपानमिव प्रयुक्तम् ॥")

सोभाञ्जनः, पुं, शोभाञ्जनः । इत्यमरटीकायां भरतः । २ । ४ । ३१ ॥

सोमं, क्ली, (सु प्रसवैश्वर्य्ययोः + मन् ।) काञ्जिकम् । स्वर्गः । इति केचित् ॥

सोमः, पुं, (सौति अमृतमिति । सु प्रसवे + "अर्त्तिस्तुसुहुस्रिति ।" उणा० १ । १३९ । इति मन् ।) चन्द्रः । इत्यमरः । १ । ३ । १४ ॥ (यथा, हरिवंशे । ४ । २ ।

"द्विजानां वीरुधाञ्चैव नक्षत्रग्रहयोस्तथा ।
यज्ञानां तपसाञ्चैव सोमं राज्येऽभ्यषेचयत् ॥")

कर्पूरः । इति चामरः । २।६।१३० ॥ वानरः । कुवेरः । यमः । वायुः । वसुभेदः । (यथा, मात्स्ये । ५ । २१ ।

"आपो ध्रुवश्च सोमश्च धरश्चैवानिलोऽनलः ।
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्त्तिताः ॥")

जलम् । सोमलतौषधिः । इति मेदिनी ॥ (अस्य विवरणं यथा, —

"ब्रह्मादयोऽसृजन् पूर्व्वममृतं सोमसंज्ञितम् ।
जरामृत्युविनाशाय विधानं तस्य वक्ष्यते ॥
एक एव खलु भगवान् सोमः स्थाननामाकृतिवीर्य्यविशेषैश्चतुर्व्विंशतिधा भिद्यते । तद्यथा,
अंशुमान् मुञ्जवांश्चैव चन्द्रमा रजतप्रभः ।
दूर्व्वासोमः कनीयांश्च श्वेताक्षः कनकप्रभः ॥
प्रतानवांस्तालवृन्तः करवीरोंऽशवानपि ।
स्वयम्प्रभो महासोमो यश्चापि गरुड़ाहृतः ॥
गायत्र्यस्त्रैष्टुभः पाङ्क्तो जागतः शाङ्करस्तथा ।
अग्निष्टोमो रैवतश्च यथोक्त इति संज्ञितः ॥
गायत्र्या त्रिपदा युक्तो यश्चोडुपतिरुच्यते ।
एते सोमाः समाख्याता वेदोक्तैर्नामभिः शुभैः ॥
सर्व्वेषामेव चैतेषामेको विधिरुपासने ।
सर्व्वे तुल्यगुणाश्चैव विधानं तेषु वक्ष्यते ॥

अतोऽन्यतमं सोममुपयुयुक्षुः सर्व्वोपकरणपरिचारकोपेतः प्रशस्तदेशे त्रिवृतमागारं कारयित्वा हृतदोषः प्रतिसंसृष्टभक्तः प्रशस्तेषु तिथिकरणमुहूर्त्तनक्षत्रेषु अंशुमन्तमादायाध्वरकल्पेनाहृतमभिषुतमभिहुतं चान्तरागारे कृतमङ्गलः सोमकन्दं सुवर्णसूच्या विदार्य्य पयो गृह्णीयात् सौवर्णे पात्रेऽञ्जलिमात्रं ततः सकृदेवोपयुञ्जीत नास्वादयंस्तत उपस्पृश्य शेषमप्स्ववसाद्य यमनियमाभ्यामात्मानं संयोज्य वाग्यतोऽभ्यन्तरतः सुहृद्भिरुपास्यमानो विहरेत् ॥

रसायनं पीतवांस्तु निवाते तन्मनाः शुचिः ।
आसीत तिष्ठेत् क्रामेच्च न कथञ्चन संविशेत् ॥

सायं वा भुक्तवान् स्मृतशान्तिः कुशशय्यायां कृष्णाजिनोत्तरायां सुहृद्भिरुपास्यमानः शयीत क्षुधितो वा शीतोदकमात्रां पिबेत्ततः प्रातरुत्थायोपस्मृतशान्तिः कृतमङ्गलो गां स्पृष्ट्वा तथैवासीत । तस्य जीर्णे सोमे छर्द्दिरुपपद्यते ततः शोणिताक्तं कृमिव्यामिश्रं छर्द्दितवतः सायं सृतशीतं क्षीरं वितरेत् । ततस्तृतीयेऽहनि कृमिव्यामिश्रमतिसार्य्यते स तेनानिष्टप्रतिग्रहभुक्तप्रभृतिभिर्विशेषैर्मुक्तः शुद्धतनुर्भवति ततः सायं स्नातस्य पूर्व्ववदेव क्षीरं वितरेत् । क्षौमवस्त्रास्तृतायां चैनं शय्यायां शाययेत ततश्चतुर्थेऽहनि तस्य श्वयथुरुत्पद्यते । ततः सर्व्वाङ्गेभ्यः कृमयो निष्क्रामन्ति तदहश्च शय्यायां पांशुभिरवकीर्य्यमाणः शयीत । ततः सायं पूर्व्ववदेव क्षीरं वितरेत् । एवं पञ्चमषष्ठयोर्दिवसयोर्व्वर्त्तेत केवलमुभयकालमस्मै क्षीरं वितरेत्ततः सप्तमेऽहनि निर्म्मांसस्त्वगस्थिभूतः केवलं सोमपरिग्रहादेवोच्छ्वसिति । तदहश्च क्षीरेण सुखोष्णेन परिषिच्य तिलमधुकचन्दनानुलिप्तदेहं पयः पाययेत् । ततोऽष्टमेऽहनि प्रातरेव क्षीरपरिषिक्तं चन्दनप्रदिग्धगात्रं पयः पाययित्वा पांशुशय्यां व्युत्सृज्य क्षौमास्तृतायां शाययेत्ततो मांसमाप्याय्यते त्वक् चावदलति । दन्तनखरोमाणि चास्य पतन्ति । तस्य नवमदिवसात् प्रभृत्यणुतैलाभ्यङ्गः सोमवल्ककषायपरिषेकः । ततो दशमेऽहन्येतदेव वितरेत्ततोऽस्य त्वक् स्थिरतामुपैति । एवमेकादशद्वादशयोर्व्वर्त्तेत । तत्र त्रयोदशात् प्रभृति सोमवल्ककषायपरिषेकः । एवमाषोड़शाद्वर्त्तेत ततः सप्तदशाष्टादशयोर्द्दिवसयोर्द्दशना जायन्ते शिखरिणः स्निग्धवज्रवैदूर्य्यस्फटिकमणिकाशाः समाः स्थिराः सहिष्णवः । तदा प्रभृति चानवैः शालितण्डुलैः क्षीरयवागूमुपसेवेत यावत् पञ्चविंशतिरिति । ततोऽस्मै दद्याच्छाल्योदनं मृदूभयकालं पयसा ततोऽस्य नखा जायन्ते विद्रुमेन्द्रगोपकतरुणादित्यप्रकाशाः स्थिराः स्निग्धा लक्षणसम्पन्नाः केशाश्च जायन्ते त्वक् च नीलोत्पलातसीपुष्पवैदूर्य्यप्रकाशा । ऊर्द्ध्वञ्च मासान् केशान् वापयेत् वापयित्वा चोशीरचन्दनकृष्णतिलकल्कैः शिरः प्रदिह्यात् पयसा वा स्नापयेत् ॥

ततोऽस्यानन्तरं सप्तरात्रात् केशा जायन्ते भ्रमराञ्जननिभाः कुञ्चिताः स्निग्धास्ततस्त्रिरात्रात् प्रथमपरिसरान्निष्क्रम्य मुहूर्त्तं स्थित्वा पुनरेवान्तः प्रविशेत् । ततोऽस्य बलातैलमभ्यङ्गार्थेऽवचार्य्यम् । यवपिष्टमुद्वर्त्तनार्थे । सुखोष्णञ्च पयः परिषेकार्थे । अजकर्णकषायमुत्सादनार्थे । सोशीरं कूपोदकं स्नानार्थे । चन्दनमनुलेपनार्थे । आमलकरसविमिश्रश्चास्य यूषसूपविकल्पाः । क्षीरमधुकसिद्धञ्च कृष्णतिलमवचारणार्थे । एवं दशरात्रं ततोऽन्यद्दशरात्रं द्वितीये परिसरे वर्त्तेत । ततस्तृतीये परिसरे स्थिरीकुर्व्वन्नात्मानमन्यद्दशरात्रमासीत । किञ्चिदातपपवनान् वा सेवेत पुनश्चान्तः प्रविशेत् । न चात्मानमादर्शेषु वा निरीक्षेत रूपशालित्वात् ततोऽन्यद्दशरात्रं क्रोधादीन् परिहरेदेवं सर्व्वेषामुपयोगः । विशेषतस्तु वल्लीप्रतानञ्चुपादय सोमा भक्षयितव्याः । तेषान्तु प्रमाणमर्द्धचतुर्थमुष्टयः ।

अंशुवन्तं सौवर्णे पात्रेऽभिषुणुयात् । चन्द्रमसं राजते चोपयुञ्ज्यादणुमैश्वर्य्यमवाप्येशानन्देवमनुप्रविशति । शेषांस्तु ताम्रमये मृन्मये वा रोहिते वा चर्म्मणि वितते मृद्रवर्ण्ण त्रिभिर्वर्णैः सोमा उपयोक्तव्याः । ततश्चतुर्थे मासे पौर्णमास्यां शुचौ देशे ब्राह्मणानर्च्चयित्वा कृतमङ्गलो निःक्रम्य यथोक्तं व्रजेदिति ॥

ओषधीनाम्पतिं सोममुपयुज्य विचक्षणः ।
दशवर्षसहस्राणि नवान् धारयते तनुम् ॥
नाग्निर्न तोयं न विषं न शस्त्रं नास्त्रमेव च ।
तस्यालमायुःक्षपणे समर्थास्तु भवन्ति हि ॥
भद्राणां षष्टिवर्षाणां प्रसूतानामनेकधा ।
कुञ्जराणां सहस्रस्य बलं समधिगच्छति ॥
क्षीरोदं शक्रसदनमुत्तरांश्च कुरूनपि ।
यत्रेच्छति स गन्तुं वा तत्राप्रतिहतागतिः ।
कन्दर्प इव रूपेण कान्त्या चन्द्र इवापरः ।
प्रह्लादयति भूतानां मनांसि स महाद्युतिः ॥
साङ्गोपाङ्गांश्च निखिलान् वेदान्विन्दति तत्त्वतः ।
चरत्यमोघसङ्कल्पो देववच्चाखिलं जगत् ॥
सर्व्वेषामेव सोमानां पत्राणि दश पञ्च च ।
तानि शुक्ले च कृष्णे च जायन्ते निपतन्ति च ॥
एकैकं जायते पत्रं सोमस्याहरहस्तदा ।
शुक्लस्य पौर्णमास्यान्तु भवेत् पञ्चदशच्छदः ॥
शीर्य्यते पत्रमेकैकं दिवसे दिवसे पुनः ।
कृष्णपक्षक्षये चापि लता भवति केवला ॥
अंशुमानाज्यगन्धस्तु कन्दवान् रजतप्रभः ।
कदल्याकारकन्दस्तु मुञ्जवांल्लशुनच्छदः ॥
चन्द्रमाः कनकाभासो जले चरति सर्व्वदा ।
गरुड़ाहृतनामा च श्वेताक्षश्चापि पाण्डुरौ ।

सर्पनिर्म्मोकसदृशौ तौ वृक्षाग्रावलम्बिनौ ।
तथान्यैर्मण्डलैश्चित्रैश्चित्रिता इव भान्ति ते ॥
सर्व्व एव तु विज्ञेयाः सोमाः पञ्चदशच्छदाः ।
क्षीरकन्दलतावन्तः पत्रैर्नानाविधैः स्मृताः ॥
हिमवत्यर्व्वुदे सह्ये महेन्द्रे मलये तथा ।
श्रीपर्व्वते देवगिरौ गिरौ देवसहे तथा ॥
पारियात्रे च विन्ध्ये च देवसुन्दे ह्रदे तथा ।
उत्तरेण वितस्तायाः प्रवृद्धा ये महीधराः ॥
पञ्च तेषामधो मध्ये सिन्धुनामा महानदः ।
प्लववत् प्लवते तत्र चन्द्रमाः सोमसत्तमः ॥
तस्योद्देशेषु चाप्यस्ति मुञ्जवानंशुमानपि ।
काश्मीरेषु सरो दिव्यं नाम्ना क्षुद्रकमानसम् ॥
गायत्र्यस्त्रैष्टुभः पाङ्क्तो जागतः शाङ्करस्तथा ।
अत्र सन्त्यपरे चापि सोमाः सोमसमप्रभाः ॥
न तान् पश्यन्त्यधर्म्मिष्ठाः कृतघ्नाश्चापि मानवाः ।
भेषजद्वेषिणश्चापि ब्राह्मणद्वेषिणस्तथा ॥” *

इति सुश्रुते चिकित्सितस्थाने एकोनत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ * ॥ “सोमनामौषधिराजः पञ्चदशपर्णः स सोम इव हीयते वर्द्धते च ।” इति चरके चिकित्सास्थाने प्रथमेऽध्याये ॥ * ॥ * ॥) शिवः । दीधितिः । इत्युणादिकोषः ॥ दिव्यौषधिः । सोमलतारसः । इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, मनुः । ३ । २५७ ।

“मुन्यन्नानि पयः सोमो मांसं यच्चानुपस्कृतम् ।
अक्षारलवणञ्चैव प्रकृत्या हविरुच्यते ॥”)

अमृतम् । पर्व्वतविशेषः । इति केचित् ॥ * ॥ चन्द्रस्य विवरणं यथा । स च वायुकोणस्थो वैश्यजातिसत्त्वगुणलवणरसम्वामिशरीनयनसमुद्राणामधिपतिः । इति ग्रहयागतत्त्वम् ॥ एकहस्तप्रमाणशरीरः । श्वेतवस्त्रपरिधानः । शुक्लवर्णः । दक्षिणहस्तवरदः । गदायुक्तवामहस्तः । दशाश्वः । श्वेतपद्मस्थः । उमाधिदैवतः । जलप्रत्यधिदैवतः । सूर्य्याभिमुखः । यथा,—

“सामुद्रं वैश्यमात्रेयं हस्तमात्रं सिताम्बरम् ।
श्वेतं द्विबाहुं वरदं दक्षिणं सगदेतरम् ॥
दशाश्वं श्वेतपद्मस्थं विचिन्त्योमाधिदैवतम् ।
जलप्रत्यधिदेवञ्च सूर्य्यास्यमाकयेत्तथा ॥”

इति ग्रहयागतत्त्वम् ॥ * ॥

तस्योत्पत्त्यादिर्यथा,—

ऋषय ऊचुः ।

“सोमः पितॄणामधिपः कथं शास्त्रविशारद ।
तद्वंशे के तु राजानो बभूवुः कीर्त्तिवर्द्धनाः ॥

सूत उवाच ।

आदिष्टो ब्रह्मणा पूर्व्वमत्रिः सर्गविधौ पुरा ।
अनुत्तमं नाम तपः सृष्ट्यर्थं तप्तवान् प्रभुः ॥
यदानन्दकरं ब्रह्म जगतः क्लेशनाशनम् ।
ब्रह्मविष्णुर्केन्द्राणामभ्यन्तरमतीन्द्रियम् ॥
शान्तिकृच्छान्तमनसस्तदन्तर्नयने स्थितम् ।
माहात्म्यात्तपसो विप्राः परमानन्दकारकम् ॥
यस्मादुमापतिः सार्द्धमुमया तमधिष्ठितः ।
तद्दृष्ट्वा अष्टमांशेन तस्मात् सोमोऽभवच्छिशुः ॥
अथ सुस्राव नेत्राभ्यां धाम तच्चाम्बुसम्भवम् ।
दीपयन् विश्वमखिलं ज्योत्स्नया सचराचरम् ॥
तद्दिशो जगृहुर्द्धाम स्त्रीरूपेण सुतेच्छया ।
गर्भो भूत्वोदरे तासामस्थितोऽब्दशतत्रयम् ॥
आशास्तमुत्सृजुश्चैनं गर्भमशक्ता धारणे ततः ।
समादायाथ तद्गर्भमेकीकृत्य चतुर्म्मुखः ॥
युवानमकरोद्ब्रह्मा सर्व्वायुधधरं वरम् ।
स्यन्दनेऽथ सहस्राश्वे वेदशक्तिमये प्रभुः ॥
आरोप्य लोकमनयदात्मीयं स पितामहः ।
ततो ब्रह्मर्षिभिः प्रोक्तमस्मत्स्वामी भवत्वयम् ॥
ऋषिभिर्देवगन्धर्व्वैरोषधीभिस्तथैव च ।
तुष्टुवुः सोमदैवत्यैर्ब्राह्म्या मन्त्रसंग्रहैः ॥
स्तूयमानस्य तस्याभूदधिको महसाञ्चयः ।
तेजोवितानादभवद्भुवि दिव्यौषधीगणः ॥
तद्दीप्तिरधिका तस्माद्रात्रौ भवति सर्व्वदा ।
तेनौषधीशः सोमोऽभूत् द्विजेशश्चाभिगद्यते ॥
वेदधामा रसश्चापि यदिदं चन्द्रमण्डलम् ।
क्षीयते वर्द्धते चैव शुक्ले कृष्णे च सर्व्वदा ॥
ततो विंशत्तथा सप्त दक्षः प्राचेतसो ददौ ।
रूपलावण्यसंयुक्तास्तस्मै कन्याः सुवर्च्चसः ॥”

इति मात्स्ये । २३ । १—१५ ॥ * ॥

अपि च ।

महातपा उवाच ।

“ब्रह्मणो मानसः पुत्त्रः अत्रिर्नाम महातपाः ।
तस्य पुत्त्रोऽभवत् सोमो दक्षजामाता मतः ॥
सप्तविंशतिर्याः कन्या दाक्षायण्यः प्रकीर्त्तिताः ।
सोमपत्न्योऽपि मान्यास्तास्तासां श्रेष्ठा तु रोहिणी ॥
तामेव रमते सोमः नेतरा इति शुश्रुम ।
इतराः प्रोचुरागत्य चन्द्रस्यासमतां पितुः ॥
दक्षोऽप्यसकृदागत्य तमुवाच स नाकरोत् ।
समतां सोऽपि तं दक्षः शशापान्तर्हितो भव ॥
एवमुक्तः क्षयं सोमो अगमद्दक्षशापतः ।
देवा मनुष्याः पशवो नष्टे सोमे सवीरुधः ।
क्षीणाभवंस्तदा सर्व्वा ओषध्यश्च विशेषतः ॥
क्षयं गच्छद्भिरत्यर्थमोषधीभिः सुरर्षभाः ।
मूलेषु वीरुधां सोमः स्थित इत्यूचुरातुराः ॥
तेषां चिन्ताभवत्तीव्रा विष्णुञ्च शरणं ययुः ।
भगवानाह तान् सर्व्वान् ब्रूत किं क्रियते मया ॥
ते चाहुर्देव दक्षेण शप्तः सोमो विनाशितः ।
तानुवाच तदा देवो मथ्यतां कलशोदधिः ॥
ओषध्यः सर्व्वतो देवाः प्रक्षिप्याम्बुषु संयतैः ।
एवमुक्त्वा ततो देवान् दध्यौ रुद्रं हरिः स्वयम् ॥
ब्रह्माणञ्च तथा दध्यौ वासुकिं नेत्रकारणात् ।
ते सर्व्वे तत्र सहिता ममन्थुर्वरुणालयम् ॥
तस्मिंस्तु मथिते जातः पुनः सोमो महीपते ।
योऽसौ क्षेत्रज्ञसंज्ञो वै देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥
स एव सोमो मन्तव्यो देहिनां जीवसंज्ञकः ।
परेच्छया स मूर्त्तिन्तु पृथक् सौम्यां प्रपेदिवान् ॥
तमेव देवमनुजाः षोडशैमाश्च देवताः ॥
उपजीवन्ति वृक्षाश्च तथैवौषधयः प्रभुम् ॥
रुद्रस्तमेव सकलं दधार शिरसा तदा ।
तदात्मिका भवन्त्यापो विश्वमूर्त्तिरसौ स्मृतः ॥
तस्य ब्रह्मा ददौ प्रीतः पौर्णमासीतिथिं प्रभुः ।
तस्यामुपोषयेद्राजन् तमर्थं प्रतिपादयेत् ॥
स चान्नाहारश्च भवेत् तस्य ज्ञानं प्रयच्छति ।
कान्तिं पुष्टिञ्च राजेन्द्र धनं धान्यञ्च केवलम् ॥”

इति वाराहे सोमोत्पत्तिरहस्यनामाध्यायः ॥ * ॥

तस्य क्षयवृद्धिकारणं यथा,—

ब्रह्मोवाच ।

“राका चानुमती चैव द्विविधा पूर्णिमा मता ।
सिनीवाली कुहूश्चैव अमावास्या द्विधैव तु ॥
अमा नाम रवे रश्मिश्चन्द्रलोके प्रतिष्ठिता ।
यस्मात् सोमो वसत्यस्याममावासी ततः स्मृता ॥
पूर्व्वोदितकलाभिन्नपौर्णमास्या निशाकरे ।
पूर्णिमानुमती ज्ञेया पश्चात् स्तमितभास्करे ॥
यस्मात्तामनुमन्यन्ते देवताः पितृभिः सह ।
तस्मादनुमती नाम पूर्णिमा प्रथमा स्मृता ॥
यदा चास्तमिते सूर्य्ये पूर्णचन्द्रस्य चोद्गमः ।
युगपत् सोत्तरारागस्तदानुमतिपूर्णिमा ॥
राकां तामनुमन्यन्ते देवताः पितृभिः सह ।
रञ्जनाच्चैव चन्द्रस्य राकेति कवयोऽब्रुवन् ॥
सिनीवाली प्रमाणन्तु क्षीणशेषो निशाकरः ।
अमावास्यां विशत्यर्कं सिनीवाली ततः स्मृता ॥
कुहेति कोकिलेनोक्तो यः कालस्तु समाप्यते ।
तत्कालसंज्ञा त्वेषा वै अमावास्या कुहूः स्मृता ॥
अनुमत्याः सराकायाः सिनीवाल्याः कुहूं विना ।
एतासां विरलः कालः कुमाचेति कुहूः स्मृता ॥”

विरलस्थाने द्विलवेति च पाठः ।

“कलाः षोडश सोमस्य शुक्ले वर्द्धयते रविः ।
अमृतेनामृतं कृष्णे पीयते दैवतैः क्रमात् ॥
प्रथमां पिबते वह्निर्द्वितीयां पवनः कलाम् ।
विश्वेदेवास्तृतीयान्तु चतुर्थीन्तु प्रजापतिः ॥
पञ्चमीं वरुणश्चापि षष्ठीं पिबति वासवः ।
सप्तमीमृषयो दिव्या वसवोऽष्टौ तथाष्टमीम् ॥
नवमीं कृष्णपक्षस्य पिबतीन्द्रः कलामपि ।
दशमीं मरुतश्चापि रुद्रा एकादशीं कलाम् ॥
द्वादशीन्तु कलां विष्णुर्धनदश्च त्रयोदशीम् ।
चतुर्द्दशीं पशुपतिः कलां पिबति विश्वशः ॥
ततः पञ्चदशीश्चैव पिबन्ति पितरः कलाम् ।
कलावशिष्टो निष्पीतः प्रविष्टः सूर्य्यमण्डलम् ॥
अमायां विशते रश्मौ अमावासी ततः स्मृता ॥
पूर्व्वाह्णे विशते चार्कं मध्याह्ने तु वनस्पतिम् ।
अपराह्णे विशत्यप्सु स्वयोनिं वारिसम्भवः ॥
आपः प्रविष्टः सोमश्च शेषया कलयैकया ।
तृणगुल्मलतावृक्षान्निष्पादयति चौषधीः ॥
तमोषधिं स्थितं गावश्चरन्त्यापः पिबन्ति च ।
तदङ्गानुगतं गोभ्यः क्षीरत्वमुपगच्छति ॥
तत् क्षीरममृतं भूत्वा मन्त्रभूतं द्विजालयः ।
स्वाहाकारवषट्कारैर्जुह्वत्याहुतयः क्रमात् ॥
हुतमग्निषु देवाय पुनः सोमं विवर्द्धयेत् ॥
एवं संक्षीयते सोमः क्षीणश्चाप्याय्यते पुनः ।
तस्मात् सूर्य्यः शशाङ्कस्य क्षयवृद्धिविधिर्विभुः ॥”

इत्याद्ये देवीपुराणे चन्द्रक्षयवृद्धिनामाध्यायः ॥ * ॥

तस्य राहुग्रासकारणं यथा,—

ब्रह्मोवाच ।

"यदयं वदते लोको वालिशत्वान्महामते ।
तदहं संप्रवक्ष्यामि चन्द्रसूर्य्योपरागिकम् ॥
यदि सत्यमयं ग्रस्तस्तेजोराशिर्दिवाकरः ।
तत् कथं नोदरस्थेन राहुणं भक्षणात् कृतः ॥
अथवा राहुणाक्रम्य शशुवक्त्रं प्रवेशितः ।
तत् कथं दशनैस्तीक्ष्णैः शतधा न विखण्डितः ॥
विमुक्तश्च पुनर्दृष्टस्तथैवाखण्डमण्डलः ।
न चास्यापहृतं तेजो न स्थानादपसारितः ॥
यदि वा क्षेप निष्पीतः कथं दीप्ततरोऽभवत् ।
तस्मान्न तेजसां राशी राहोर्भक्ष्यं गमिष्यति ॥
भक्ष्यार्थं सर्व्वदेवानां सोमः सृष्टः स्वयम्भुवा ।
अब्भक्ष्यममृतञ्चापि सम्भूतं सूर्य्यतेजसा ॥
पिबन्त्यम्बुमयं देवाः पितरश्च स्वधामृतम् ।
त्रयश्च त्रिंशतश्चैव त्रयस्त्रिंशत्तथैव च ।
त्रयश्च त्रिसहस्राश्च देवाः सोमं पिबन्ति ये ॥
राहोरप्यमृतं भागं पुरा सृष्टं स्वयम्भुवा ।
तस्मात्तद्राहुरागत्य पातुमिच्छति पर्व्वसु ॥
उद्धृत्य पार्थिवीं छायामभ्राकारां तमोमयः ।
पातुमिच्छन् ततश्चन्द्रमाच्छादयति छायया ॥
शुक्ले च चन्द्रमभ्येति कृष्णे पर्व्वणि भास्करम् ।
सूर्य्यमण्डलसंस्थस्तु चन्द्रमेव जिघांसति ॥
तस्मात् पिबति तं राहुस्तनुमस्याविनाशयन् ।
अविहिंसन् यथा पद्मं पिबति भ्रमरो मधु ।
चन्द्रस्यममृतं तद्वदभेदाद्राहुरश्नुते ॥
चन्द्रकान्तो मणिर्यद्वत्तुहिनं क्षरते सदा ।
क्षरन्नपि न क्षीयेत तेजसा नैव मुच्यते ॥
यथा सूर्य्यमणिः सूर्य्यादुत्पाद्य पावकं शुभम् ।
न भवत्यङ्गहीनोऽपि तेजसा नैव मुच्यते ॥
एवं चन्द्रश्च सूर्य्यश्च छादितावपि राहुणा ।
स्वतेजसा न मुच्येते नाङ्गहीनौ बभूवतुः ॥
पर्व्वस्थश्च च चन्द्रस्य माणिक्यकनकाकृतिः ।
सोमो देवतसंयोगात् छायायोगाच्च पार्थिवात् ।
राहोश्च वरलब्धाद्धि प्रचरेदमृतं शशी ॥
स्वदोहकाले सम्प्राप्ते वत्सं दृष्ट्वा च गौर्यथा ।
स्वाङ्गादेव क्षरेत् क्षीरं तथेन्दुः क्षरतेऽमृतम् ॥
पितेव सूर्य्यो देवानां सोमो मातेव लक्ष्यते ।
यथा मातुः स्तनं पीत्वा जीवन्ति सर्व्वजन्तवः ।
पीत्वामृतं तथा सोमात् तृप्यन्ति सर्व्वदेवताः ॥
सम्भृतं सर्व्वयागेषु तथा यं क्षरते शशी ।
तं क्षरन्तं यथाभागमुपजीवन्ति देवताः ॥
तस्मिन् काले समभ्येति राहुरप्यवकर्षति ।
सर्व्वमर्द्धं त्रिभागञ्च पादं पादार्द्धमेव च ॥
आक्रम्य पार्थिवीच्छायां यावन्तं चन्द्रमण्डलम् ।
स्मृतः स भागो राहोस्तु देवभागास्तु शेषकाः ॥
तृप्तिं विधाय देवानां राहोः पर्व्वगतस्य च ।
चन्द्रो न क्षयमायाति तेजसा नैव मुच्यते ॥
तिथिभागाश्च शावन्तः पुनस्त्यक्तं प्रमाणतः ।
सर्व्वच्छायास्थितः कालस्तावानेव प्रकीर्त्तितः ॥
अतो राहुभुजः सोमः सोमाद्वृद्धिं दिवाकरः ।
पर्व्वकाले स्थितिस्त्वेवं विपरीता पुनः पुनः ॥
अतश्छादयते राहुरभ्रवच्छशिभास्करौ ।
राहुरभ्रकसंस्थानः सोममाच्छाद्य तिष्ठति ॥
उद्धृत्य पार्थिवीं छायां धूममेघ इवोत्थितः ।
चन्द्रस्य यद्यदच्छन्नं राहुणा भास्करस्य च ॥
तन्नावखण्डितं तस्य केवलं श्यामलीकृतम् ।
कर्द्दमेन यथा वस्त्रं शुक्लमप्युपदृश्यते ॥
एकदेशेऽथ सर्व्वं वा राहुणा चन्द्रमास्तथा ।
प्रक्षालितं तदेवेह पुनः शुक्लतरं भवेत् ॥
राहुमुक्तं भवेत्तद्वत् निर्म्मलं चन्द्रमण्डलम् ।
राहुणाच्छादितौ वापि दृष्ट्वा चन्द्रदिवाकरौ ॥
विप्राः शान्तिपरा भूत्वा पुनराप्याययन्ति तम् ।
एवं न गृह्यते सूर्य्यश्चन्द्रमास्तत्र गृह्यते ॥
अबुधास्तं न पश्यन्ति मानुषा मांसचक्षुषः ।
अगम्योऽहमवैतत् ग्रहणं चन्द्रसूर्य्ययोः ॥"
इति देवीपुराणे ग्रहणविवेकनामाध्यायः ॥

सोमक्षयः, पुं, (सोमस्य चन्द्रस्य क्षयो यत्र ।) अमावास्या । इति महाभारते दानधर्म्मः ॥

सोमगर्भः, पुं, (सोमः अमृतं तद्वद्‌शोभ्यो गर्भो यस्य ।) विष्णुः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सोमजं, क्ली, (सोमवत् जायते इति । जन + डः ।) दुग्धम् । इति हेमचन्द्रः ॥ चन्द्रजाते, त्रि ॥

सोमतीर्थं, क्ली, (सोमेन कृतं तीर्थम् ।) प्रभासतीर्थम् । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ (यथा, महाभारते । ३ । ८३ । १९ ।
"ततो गमन्यां राजेन्द्र सोमतीर्थं समाविशेत् ।
स्नात्वा फलमवाप्नोति राजसूयस्य मानवः ॥")
तस्य विवरणं यथा,—
"यत्र तप्तं तपस्तेन सोमेन सुमहात्मना ।
पञ्चवर्षसहस्राणि एकपादेन तिष्ठति ॥
पञ्चवर्षसहस्राणि तथैवोर्द्धमुखः स्थितः ।
एवम्भूतः पुनः पञ्चपञ्चभोगव्रतस्तथा ॥
तथैवैकेन पादेन दश पञ्च च तिष्ठति ।
एवमुग्रं तपः कृत्वा कान्तिमानभवच्च सः ॥
ममापराधान्मुक्तश्च ब्राह्मणानां पतिस्तथा ।
प्राप्नोति यस्तदाभागे सोमतीर्थं कृतोदकः ॥
त्रिंशद्वर्षसहस्राणि त्रिंशद्वर्षशतानि च ।
जायते ब्राह्मणः शुभ्रु वेदवेदान्तपारगः ॥
द्रव्यवान् गुणवांश्चैव संविभागी यशस्विनि ।
मद्भक्तश्चैव जायेत अपराधविवर्जितः ॥
स एव ब्राह्मणो भूत्वा संसाराद्विप्रमुच्यते ।
तस्य किञ्चित् प्रवक्ष्यामि सोमतीर्थस्य सुन्दरि ॥
तत्तीर्थं येन विज्ञेयं मम मार्गानुसारिणा ।
वैशाखस्य तु मासस्य शुक्लपक्षस्य द्वादशीम् ॥
प्रवृत्ते चान्धकारे तु यत्र कश्चिन्न दृश्यते ।
सोमेन च विना भूमे दृश्यते चन्द्रमःप्रभा ॥
आलोकश्चैव दृश्येत सोमस्तत्र न दृश्यते ।
एवं त्वां वच्मि हे भद्रे एष वै विस्मयः परः ॥
एतच्चित्रं महाभागे पुण्ये सौकरवे मम ।
सोमतीर्थं विशालाक्षि येन मुच्यन्ति जन्तवः ॥
अन्यच्च ते प्रवक्ष्यामि तच्छृणुष्व वसुन्धरे ।
प्रभावमस्य क्षेत्रस्य विस्मयं परमं महत् ॥
अकामा तु मृता तीर्थे आत्मनः कर्म्मनिश्चयात् ।
मम क्षेत्रप्रभावेण शृगाली मानुषी भवेत् ।
रूपवती गुणवती चतुःषष्टिकलान्विता ॥"
इति वाराहे सौकरवतीर्थमाहात्म्यनामाध्यायः ॥

सोमधारा, स्त्री, (सोमस्य धारेव ।) आकाशम् । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सोमपः, पुं, (सोमं पिबतीति । पा + कः ।) यागे पीतसोमलतारसः । तत्पर्य्यायः । सोमपीती २ । इत्यमरः । २ । ७ । ८ ॥ सोमपाः ३ । इति तट्टीका ॥ (यथा, गीतायाम् । ९ । २० ।
"त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ॥")

सोमपत्रः, पुं, (सोमस्य पत्रमिव पत्रमस्य ।) तृणविशेषः । उलु खड़ इति भाषा । यथा,—
"दर्भः पुरञ्जरः शूलः सोमपत्रः परात्प्रियः ॥"
इति शब्दचन्द्रिका ॥
* दर्भशब्देऽस्य गुणादयो ज्ञातव्याः ॥

सोमपाः, पुं, (सोमं पिबतीति । पा + क्विप् ।) यज्ञे सोमलतारसपानकर्त्ता । इत्यमरटीकायां रामाश्रमः । २ । ७ । ८ ॥ (सोमरसपानशीले, त्रि । यथा, भागवते । ३ । ३२ । ३ ।
"तत्श्रद्धयाक्रान्तमतिः पितृदेवव्रतः पुमान् ।
गत्वा चान्द्रमसं लोकं सोमपाः पुनरेष्यति ॥")

सोमपीती, [न्] पुं, (सोमस्य पीतं पानमस्यास्तीति । इनिः ।) सोमपः । इत्यमरः । २ । ७ । ९ ॥ (वाच्यलिङ्गेऽपि दृश्यते । यथा, महाभारते । १ । २ । १६४ ।
"सौकन्यमपि चाख्यानं च्यवनो यत्र भार्गवः ।
शर्य्यातियज्ञे नासत्यौ कृतवान् सोमपीतिनौ ॥")
तस्य रूपान्तरं सोमपीथी । सोमपीवी । इति केचित् ॥

सोमबन्धुः, पुं, (सोमो बन्धुर्यस्य ।) कुमुदः । इति शब्दरत्नावली ॥ सूर्य्यः । बुधः । यथा,—
"मित्राणि सूर्य्याच्छशिभौमजीवाः
सूर्य्येन्दुजौ सूर्य्यशशाङ्कजीवाः ।
आदित्यशुक्रौ रविचन्द्रभौमा
बुधार्कजौ चन्द्रजभार्गवौ च ॥"
इति ज्योतिस्तत्त्वम् ॥

सोमभूः, पुं, (सोमात् भूरुत्पत्तिर्यस्य ।) जिनराजभेदः । इति हेमचन्द्रः ॥ बुधग्रहः । सोमपुत्रत्वात् । सोमवंशोद्भवे, त्रि ॥

सोमयागः पुं, (सोमात्मको यागः ।) सोमलतारसपानाङ्गकत्रैवार्षिकयज्ञविशेषः । यथा,—

नारद उवाच ।

"सोमयागविधानञ्च ब्रूहि मां मुनिसत्तम ।
कथं तं कारयामास गुरुश्च किं फलं परम् ॥

नारायण उवाच ।

ब्रह्महत्याप्रशमनं सोमयागफलं मुने ।
वर्षं सोमलतापानं यतमानः करोति च ॥
वर्षमेकं फलं भुङ्क्ते वर्षमेकं जलं सदा ।
त्रैवार्षिकमिदं यागं सर्व्वपापप्रणाशनम् ॥
यस्य त्रैवार्षिकं धान्यं निहितं भूतिवृद्धये ।
अधिकं वापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति ॥

महाराजश्च देवो वा यागं कर्तुमलं मुने ।
न सर्व्वसाध्यो यज्ञोऽयं बह्वर्थो बहुदक्षिणः ॥”
इति ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे ।६०।५४-५८ ॥

सोमयाजी, [न्] पुं, (सोमेन यजते इति । यज + णिनिः ।) सोमयागकर्त्ता ॥

सोमयोनि, क्ली, (सोमो योनिर्यस्य ।) चन्दनविशेषः । यथा,—
“सुशीतलं चन्दनं यत् तैलपर्णिकमुच्यते ।
उभौ तु तस्य पर्य्यायौ सोमयोनि शिलोद्भवम् ॥”
इति शब्दचन्द्रिका ॥

सोमराजिका, स्त्री, (सोमराजी एव । स्वार्थे कन् ।) सोमराजी । इति शब्दरत्नावली ॥

सोमराजी, [न्] पुं, (सोमेन सोमवद्वा राजते इति । राज + णिनिः ।) ओषधिविशेषः । सोमराज इति हाकुच इति च भाषा । तत्पर्य्यायः । अवल्गुजः २ सुवल्लिः ३ सोमवल्लिका ४ कालमेषी ५ कृष्णफला ६ वाकुची ७ पूतिफली ८ । इत्यमरः । २ । ४ । ९६ ॥ सोमराजी ९ सुवल्ली १० सोमवल्लिः ११ कालमेशी १२ । इति भरतः ॥ सोमवल्ली १३ वागुजी १४ वाकुजी १५ कालमेषिका १६ सोमराजिका १७ । इति शब्दरत्नावली ॥ अन्यच्च ।
“वागुजी चन्द्रलेखा स्यात् सोमराजी त्ववल्गुजा ।
कृष्णा पूतिफला कुष्ठनाशिनी सा सिता परा ॥”
इति रत्नमाला ॥
अस्य गुणाः । वातकफकुष्ठत्वग्दोषनाशित्वम् । इति राजवल्लभः ॥ अपि च ।
“अवल्गुजो वाकुची स्यात् सोमराजी सुपर्णिका ।
शशिलेखा कृष्णफला सोमा पूतिफलीति च ॥
सोमवल्ली कालमेषी कुष्ठघ्नी च प्रकीर्त्तिता ।
वाकुची मधुरा तिक्ता कटुपाका रसायनी ॥
विष्टम्भघ्नी हिमा रुच्या सरा श्लेष्मास्रपित्तनुत् ।
रूक्षा हृद्या श्वासकुष्ठमेहज्वरकृमिप्रणुत् ॥
तत्फलं पित्तलं कुष्ठकफानिलहरं कटु ।
केश्यं त्वच्यं कृमिश्वासकासशोथामपाण्डुहृत् ॥”
इति भावप्रकाशः ॥
राजनिर्घण्टोक्तगुणपर्य्यायौ वाकुचीशब्दे द्रष्टव्यौ ॥

सोमराजी, स्त्री, (सोमेन राजते इति । राज दीप्तौ + अच् । गौरादित्वात् ङीष् ।) वाकुची । इत्यमरटीकायां भरतः । २ । ४ । ९६ ॥ (यथा, बृहत्संहितायाम् । ४४ । १० ।
“श्वेता सपूर्णकोशा
कटम्भराचाप्यमास्सहदेवीः ।
नागकुसुमं स्वगुप्तां
शतावरीं सोमराजीञ्च ॥”)
वृत्तच्छन्दोविशेषः । यथा,—
“हरे सोमराजीसमा ते यशः श्रीः ।
जगन्मण्डलस्य च्छिनत्त्यन्धकारम् ॥”
इति छन्दोमञ्जरी ॥
चन्द्रश्रेणी च ॥

सोमरोगः, पुं, स्त्रीरोगविशेषः । यथा,—
अथ सोमरोगाधिकारः ।
तत्र सोमरोगस्य निदानपूर्व्विकां सम्प्राप्तिमाह ।
“स्त्रीणामतिप्रसङ्गेन शोकाच्चापि श्रमादपि ।
अतिसारकयोगाद्वा गरयोगात्तथैव च ॥
आपः सर्व्वशरीरस्थाः क्षुभ्यन्ति प्रस्रवन्ति च ।
तस्मात्ताः प्रच्युताः स्थानात् मूत्रमार्गं व्रजन्ति हि ॥”
अथ तस्य लक्षणमाह ।
“प्रसन्ना विमला शीता निर्गन्धा नीरुजः सिताः ।
स्रवन्ति चातिमात्रं ताः सा न शक्नोति दुर्ब्बला ॥
वेगं धारयितुं तासां न विन्दति सुखं क्वचित् ।
शिरःशिथिलता तस्या मुखं तालु च शुष्यति ॥
मूर्च्छा जृम्भा प्रलापश्च त्वग्रूक्षा चातिमात्रतः ।
भक्ष्यैर्भोज्यैश्च पेयैश्च न तृप्तिं लभते सदा ॥
सन्धारणाच्छरीरस्य ता आपः सोमसंज्ञिताः ।
ततः सोमक्षयात् स्त्रीणां सोमरोग इति स्मृतः ॥”
अथ सोमरोगस्य चिकित्सा ।
“कदलीनां फलं पक्वं धात्रीफलरसं मधु ।
शर्करासहितं खादेत् सोमधारणमुत्तमम् ॥ १ ॥
माषचूर्णं समधुकं विदारीं मधुशर्कराम् ।
पयसा पाययेत् प्रातः सोमधारणमुत्तमम् ॥ २ ॥
स एव सततः सोमः स्रवेन्मूत्रेण चेन्मुहुः ।
तदैलापत्रचूर्णेन पाययेत्तरुणीं सुराम् ॥ ३ ॥
जलेनामलकीबीजकल्कं समधुशर्करम् ।
पिबेद्दिनत्रयेणैव श्वेतप्रदरनाशनम् ॥ ४ ॥
तक्रोदनाहाररता संपिबेन्नागकेशरम् ।
त्र्यहं तक्रेण संपिष्टं श्वेतप्रदरनाशनम् ॥” ५ ॥
तत्रैव मूत्रातीसारस्य लक्षणं चिकित्साञ्चाह ।
“सोमरोगे चिरं जाते यदा मूत्रमतिस्रवेत् ।
मूत्रातिसारं तं प्राहुर्बलविध्वंसनं परम् ॥
तालकन्दञ्च खर्ज्जूरं मधुकञ्च विदारिकाम् ।
सितामधुयुतां खादेत् मूत्रातीसारनाशनम् ॥ १ ॥
चक्रमर्द्दकमूलन्तु संपिष्टं तण्डुलाम्बुना ।
प्रभातसमये पीतं जलप्रदरनाशनम् ॥” २ ॥
इति सोमरोगे मूत्रातिसाराधिकारः । इति भावप्रकाशः ॥ (तथाचास्य चिकित्सोपयोगिवटिकौषधं यथा,—
“कर्षं आरितलौहञ्च तदर्द्धं रसगन्धकम् ।
एलापत्रं निशायुग्मं अम्बुवीरणगोक्षुरम् ॥
विडङ्गं जीरकं पाठा धात्रीदाडिमटङ्कणम् ।
चन्दनं गुग्गुलुं लोध्रशालाञ्जुरसाञ्जनम् ॥
छागीदुग्धेन वटिकां कारयेद्रक्तिकाम् ।
निर्म्मितो नित्यनाथेन सोमनाथरसस्त्वयम् ॥
सोमरोगं बहुविधं प्रदरं हन्ति दुर्ज्जयम् ।
योनिशूलं मेढ्रशूलं सर्व्वजं चिरकालजम् ।
बहुमूत्रं विशेषेण दुर्ज्जयं हन्त्यसंशयः ॥”
इति सोमनाथरसः ॥
इति वैद्यकरसेन्द्रसारसंग्रहे सोमरोगाधिकारे ॥)

सोमलता, स्त्री, (सोम एव लता ।) स्वनामख्याता लता । तत्पर्य्यायगुणाः ।
“सोमवल्ली सोमलता सोमा क्षीरी द्विजप्रिया ।
सोमवल्ली त्रिदोषघ्नी कटुस्तिक्ता रसायनी ॥”
इति भावप्रकाशः ॥
अपि च ।
“सोमवल्ली महागुल्मा यज्ञश्रेष्ठा धनुर्लता ।
सोमार्हा गुल्मवल्ली च यज्ञवल्ली द्विजप्रिया ।
सोमक्षीरा च सोमा च वस्त्राङ्गा रुद्रसंख्यया ॥
सोमवल्ली कटुः शीता मधुरा पित्तदाहहृत् ।
तृष्णा विशोषशमनी पावनी यज्ञसाधनी ॥”
इति राजनिर्घण्टः ॥

सोमलतिका, स्त्री, (सोमलतेव । इवार्थे कन् ।) गुडूची । इति राजनिर्घण्टः ॥

सोमवंशः, पुं, (सोमस्य वंश उत्पत्तिस्थानत्वेनास्त्यस्य ।) युधिष्ठिरराजः । इति धरणिः ॥ (सोमस्य वंशः ।) चन्द्रसन्तानः । तद्विवरणं यथा, हरिरुवाच ।
“सूर्य्यस्य कथितो वंशः सोमवंशं शृणुष्व मे ।
नारायणसुतो ब्रह्मा ब्रह्मणोऽत्रिसमुद्भवः ॥
अत्रेः सोमस्तस्य भार्य्या तारा सुरगुरोः प्रिया ।
सोमात्तस्यां बुधो जज्ञे बुधपुत्त्रः पुरूरवाः ॥
बुधपुत्त्रादुर्व्वश्यां षट् पुत्त्रास्तु श्रुतायुषः ।
विश्वावसुः शतायुश्च आयुर्धीमानमावसुः ॥
अमावसोरभूद्भीमो भीमपुत्त्रश्च काञ्चनः ।
काञ्चनस्य सुहोत्रोऽभूत् जह्नुश्चाभूत् सुहोत्रतः ॥
जह्नोः सुमन्तुरभवत् सुमन्तो रूपराजकः ।”
रूपराजकस्थाने अपजापकोऽपि पाठः ।
“बलाकाश्वोऽस्य पुत्त्रोऽभूत् बलाकाश्वात् कुशः स्मृतः ॥
कुशाश्च कुशनाभश्चामूर्त्तरयो वसुः कुशात् ।
गाधिः कुशाश्वात् संजज्ञे विश्वामित्रस्तदात्मजः ॥
कन्या सत्यवती दत्ता ऋचीकाय द्विजाय सा ।
ऋचीकाद्यमदग्निश्च रामस्तस्याभवत् सुतः ॥
विश्वामित्राद्देवरातमधुच्छन्दादयः सुताः ।
आयुषो नहुषः पुत्त्रस्त्वनेनारजिरम्भकौ ॥
क्षत्रवृद्धः क्षत्रवृद्धात् सुहोत्रश्चाभवन्नृपः ।
काश्यकाशगृत्समदाः सुहोत्रादभवंस्त्रयः ॥
गृत्समदाच्छौनकोऽभूत् काश्याद्दीर्घतमस्तथा ।
वैद्यो धन्वन्तरिस्तस्मात् केतुमांश्च तदात्मजः ॥”
वैद्यस्थाने रेभ्य इत्यपि पाठः ।
“भीमरथः केतुमतो दिवोदासस्तदात्मजः ।
दिवोदासात् प्रतर्द्दनोऽभूच्छत्रुजित् सोऽत्र विश्रुतः ॥
ऋतध्वजस्तस्य पुत्त्रो ह्यलर्कश्च ऋतध्वजात् ।
अलर्कात् सन्नतिर्जज्ञे सुनीथः सन्नतेः सुतः ॥
सत्यकेतुः सुनीथस्य सत्यकेतोर्व्विभुः सुतः ।
विभोस्तु सुविभुः पुत्त्रः सुविभोः सुकुमारकः ॥”
खर्गमारकस्थाने सुकुमारकोऽपि पाठः ।
“सुकुमाराद्धृष्टकेतुर्व्वीतिहोत्रस्तदात्मजः ।
वीतिहोत्रस्य भार्गोऽभूत् भार्गभूमिस्तदात्मजः ॥”
भार्गभूमिस्थाने भार्गभूमिरिति च पाठः ।
“वाणवाः सुमहात्मान इत्येते काश्यपो नृपाः ॥ ॥
पञ्चपुत्त्रशतान्यासन् जेः शक्रेण संहृताः ।
प्रतिक्षत्रः क्षत्रवृद्धात् सञ्जयश्च तदात्मजः ॥

विजय: सञ्जयस्यापि विजयस्य कृत: सुत: ।
कृताद्धर्य्यवर्द्धनश्च सहदेवस्तदात्मज: ॥"
हर्य्यवर्द्धनस्थाने हृग्दृढ इति च पाठ: ।
"सहदेवाददीनोऽभूत् जयत्सेनोऽप्यदीनत: ॥
जयत्सेनात् संकृतिश्च चत्रधर्म्मा च संकृते: ।
यतिर्य्ययाति: संयातिरायातिर्विंयति: कृति: ॥
नहुषस्य सुता: ख्याता ययातेश्च पतिस्तथा ।
यदुश्च तुर्व्वसुश्चैव देवयानी व्यजायत ॥
द्रुह्युश्चानुश्च पूरुश्च शर्म्मिष्ठा वार्षपर्व्वणी ।
सहस्रजित् क्रोष्टुतमा रघुश्चैव यदो: सुत: ॥
सहस्रजित: शतजित्तस्माद्धैहयहैहयौ ।
सुतो वेणुहयपुत्रो धर्म्मो हैहयनोऽभवत् ॥
धर्म्मस्य धर्म्मनेत्रोऽभून् कुन्तिर्व्वै धर्म्मनेत्रत: ।
कुन्तेरभूव साहञ्जिर्म्महिष्मांश्च तदात्मज: ॥"
साहञ्जिस्थाने साहञ्जिरिति च पाठ: ।
"भद्रश्रेण्यस्तस्य पुत्रो भद्रश्रेण्यस्य दुर्म्मद: ॥"
दुर्म्मदस्थाने दुर्द्दम इति च पाठ: ।
"धनको दुर्म्मदाच्चैव कृतवीर्य्यश्च धानकि: ।
कृताग्नि: कृतकर्म्मा च कृतभोग्य: सुमहाबल: ॥"
कृतभोग्यस्थाने कृतौजा इति च पाठ: ।
"कृतवीर्य्यादर्ज्जुनोऽभूत् अर्ज्जुनाच्छूरसेनक: ।
जयध्वजो मधु: शूरो वृषण: पञ्च सुव्रता: ॥
जयध्वजात्तालजङ्घो भरतस्तालजङ्घत: ।
वृषणस्य मधु: पुत्रो मधोर्व्वृष्ण्यादिवंशक: ॥
क्रोष्टोर्व्विजिनवान् पुत्र आहिस्तस्य महात्मन: ।"
आहिस्थाने स्वाहिरिति च पाठ: ।
"आहेरुशङ्कु: संजज्ञे तस्य चित्ररथ: सुत: ॥
शशबिन्दुश्चित्ररथात् पत्नी लक्षञ्च तस्य ह ।
दशलक्षञ्च पुत्राणां पृथुकीर्त्त्यादयो वरा: ॥
पृथुकीर्त्ति: पृथुजय: पृथुदान: पृथुश्रवा: ।
पृथुश्रवसोऽभूत्तम उशना तमसोऽभवत् ॥
तत्पुत्र: शितयुर्नाम श्रीरुक्मकवचस्तत: ।"
शितयुर्नामस्थाने श्वेतकर्णायुरितिच पाठ: ।
"रुक्मेषु: पृथुरुक्मश्च ज्यामघ: पालितो हरि: ।
श्रीरुक्मकवचस्यैते विदर्भो ज्यामघात्तथा ।
भार्य्यायाश्चैव शैव्यायां विदर्भात् क्रथकौशिकौ ॥
रोमपादो रोमपादाद्बभ्रुर्बभ्रोर्धृतिस्तथा ।
कौशिकस्य चिदि: पुत्रस्तस्माच्चैद्यो नृप: किल: ॥
कुन्ति: किलस्य पुत्रोऽभूत् कुन्तेर्धृष्टि: सुत:
स्मृत: ।
वृष्णेश्च निर्वृति: पुत्रो दशार्हो निर्वृतेस्तथा ॥
दशार्हस्य सुतो व्योमो जीमूतश्च तदात्मज: ।"
व्योमस्थाने व्योमा इति च पाठ: ।
"जीमूताद्विकृतिर्जज्ञे ततो भीमरथोऽभवत् ।
ततो मधुरथो जज्ञे शकुनिस्तस्य चात्मज: ।
करम्भि: शकुने: पुत्रस्तस्य देवमत: सुत: ॥
देवक्षत्रो देवमताद्देवक्षत्रान्मधु: स्मृत: ।
कुरुवंशो मधो: पुत्रो ह्यनुश्च कुरुवंशत: ॥
पुरुहोत्रो ह्यनो: पुत्र: अंशुश्च पुरुहोत्रत: ।
सत्वश्रुत: सुतश्चांशोरेते वै सात्वता नृपा: ॥*॥
भजिनो भजमानश्च सात्वतादन्धक: सुत: ।
महाभोजो वृष्णिर्देवामन्यो देवावृधोऽभवत् ॥
निमिवृष्णी भजमानादश्वभाजिस्तथैव च ।"
अश्वभाजित्स्थाने अयुताजित् इति च पाठ: ।
"शतजिच्च सहस्राजित् बभ्रुर्देवो बृहस्पति: ॥
महाभोजात्तु भोजोऽभूत् वृष्णेश्चैव सुमित्रक: ।
सुधाजित् संज्ञकस्तस्मादनमित्रशिनी तथा ॥
अनमित्रस्य निघ्नोऽभून् निघ्नात् सत्राजितो-
ऽभवत् ।
प्रसेनश्चापर: ख्यातो ह्यनमित्राच्छिनिस्तथा ॥
शिनेस्तु सत्यक: पुत्र: सत्यकात् सात्यकिस्तथा ।
सात्यकि: सञ्जय: पुत्र: कुणिश्चैव तदात्मज: ॥
कुणेर्युगन्धर: पुत्रस्ते शैनेया: प्रकीर्त्तिता: ॥"
कुणिस्थाने कुलिरिति च पाठ: । * ।
"अनमित्रान्वयो वृष्णि: श्वफल्कश्चित्रकस्तथा ॥"
चित्रकस्थाने चित्रवत् इति च पाठ: ।
"श्वफल्काच्चैव गान्दिन्यामक्रूरो वैष्णवोऽभवत् ।
उपमद्गुरथाक्रूरान्मृदवाद्यास्तत: स्मृता: ॥
देववानुपदेवश्च अक्रूरस्य सुतौ स्मृतौ ।
पृथुर्विपृथुश्चित्रस्य चान्धकस्य शुचि: स्मृत: ॥
कुकुरो भजमानस्तु तथा कम्बलबर्हिष: ।
वृष्णस्तु कुकुराज्जज्ञे तस्मात् कापोतरोमक: ॥
तदात्मजो विलोमा च विलोमस्तुम्बुरु: स्मृत: ।
तस्माच्च दुन्दुभिर्ज्जज्ञे पुनर्व्वसुरत: सुत: ॥
तस्याहुकश्चाहुकी च कन्या चैवाहुकस्य च ।
देवकश्चोग्रसेनश्च देवकात् देवकी त्वभूत् ॥
वृकदेवोपदेवा च सहदेवा सुरक्षिता ।
श्रीदेवी शान्तिदेवी च वसुदेव उवाह ता: ॥
देववांश्चोपदेवश्च सहदेवासुतौ स्मृतौ ।
उग्रसेनस्य कंसोऽभूत् सुनामा च वटादय: ॥
विदूरथो भजमानाच्छूरश्चाभूद्विदूरथात् ।"
शूरस्थाने शिव इति च पाठ: ।
"विदूरथसुतस्याथ शूरस्यापि शमी सुत: ॥
प्रतिक्षत्रस्तु शमिन: स्वयम्भोजस्तदात्मज: ।
हृदिकश्च स्वयम्भोजात् कृतवर्म्मा तदात्मज: ॥
देव: शतधनुश्चैव शूरादे देवमीढुष: ।
दशपुत्रा मारिषायां वसुदेवादयोऽभवन् ॥
पृथा च श्रुतदेवी च श्रुतकीर्त्ति: श्रुतश्रवा: ।
राजाधिदेवी शूराच्च पृथां कुन्ते: सुतामदात् ॥
सा दत्ता कुन्तिना पाण्डोस्तस्यां धर्म्मा-
निलेन्द्रकै: ।
युधिष्ठिरो भीमपार्थौ नकुल: सहदेवक: ॥
माद्र्यां नासत्यदस्राभ्यां कुन्त्यां कर्ण: पुराभवत् ।
श्रुतदेव्यां दन्तवक्रो जज्ञे वै दनुधर्म्मिण: ॥
सन्तर्द्दनादय: पञ्च श्रुतकीर्त्त्याञ्च कैकयात् ।
राजाधिदेव्यां विन्दश्च अनुविन्दश्च जज्ञिरे ॥
श्रुतश्रवा दमघोषात् प्रजज्ञे शिशुपालक: ।
पौरवी रोहिणी भार्य्या मदिरानकदुन्दुभे: ॥
देवकीप्रमुखा भद्रा रोहिण्यां बलभद्रक: ।
सारणाद्या: शठश्चैव रेवत्यां बलभद्रत: ॥
निशठश्चोल्मुकौ जातौ देवक्यां षट् च जज्ञिरे ।
कीर्त्तिमांश्च सुषेणश्च उदार्य्यो भद्रसेनक: ॥
ऋतुदासो भद्रदेव: कंस एवावधीच्च तान् ।
सङ्कर्षण: सप्तमोऽभूदष्टम: कृष्ण एव च ॥
षोडश स्त्रीसहस्राणि भार्य्यास्त्वासन्नभवन् हरे: ।
रुक्मिणी सत्यभामा च लक्ष्मणा चारुहासिनी ।
श्रेष्ठा जाम्बवती चाष्टौ जज्ञिरे तान् बहून्
सुतान् ।
प्रद्युम्नचारुदेष्णाद्या प्रधाना: शाम्ब एव च ॥
प्रद्युम्नादनिरुद्धोऽभूत्ककुद्मिन्यां महाबल: ।"
ककुद्मिन्यां स्थाने ककुद्मिन्यामिति पाठ: ।
"अनिरुद्धात् सुभद्रायां वज्रो नाम सुतोऽभवत् ॥
प्रतिबाहुर्व्वज्रसुतश्चारुस्तस्य सुतोऽभवत् ।
वह्निश्चारो: सुतो जज्ञे वह्नेर्भार्गोऽभवत् सुत: ॥"
इत्यत्र वह्निस्तु तुर्व्वसोर्वंश: इत्याद्यपादे पाठ: ।
"भर्गाद्भानुरभूत् पुत्रो भानो: पुत्र: करन्धम: ।
करन्धमस्य मरुतो द्रुह्योर्व्वंशं निबोध मे ॥*॥
द्रुह्योस्तु तनय: सेतुरारब्धश्च तदात्मज: ।
आरब्धस्यैव गान्धारो धर्म्मो गान्धारतोऽभवत् ॥"
आरब्धस्थाने आरब्ध इति आवर इति च पाठ: ।
"धृतस्तु धर्म्मपुत्रोऽभूद्दुर्द्दमश्च धृतस्य तु ।
प्रचेता दुर्द्दमस्यैव अनोर्व्वंशं शृणुष्व मे ॥*॥
अनो: सभानव: पुत्रस्तस्मात् कालञ्जयोऽभवत् ।"
सभानवस्थाने स्वभानन इति सुतारण इति च
कालञ्जयस्थाने कालानल इत्यपि पाठ: ।
"कालञ्जयात् सृञ्जयोऽभूत् सृञ्जयात्तु पुरञ्जय: ।
जनमेजयस्ततश्चाभूत् महाशालस्तदात्मज: ।
महामना महाशालादुशीनर इति स्मृत: ॥
उशीनराच्छिविर्जज्ञे वृषदर्भ: शिवे: सुत: ।
महामनो जातिभिक्षो: पुत्रोऽभूत्तु जयद्रथ: ॥
हैमो जयद्रथाज्जज्ञे सुतपा हैमतोऽभवत् ।"
जयद्रथस्थाने दृषद्रथ इति च पाठ: ।
"बलि: सुतपसो जज्ञे अङ्गवङ्गकलिङ्गका: ॥
शुचपौण्ड्राश्च बालेया अनपानस्तथाङ्गत: ।
अनपानाद्दिविरथस्ततो धर्म्मरथोऽभवत् ॥
रोमपादो धर्म्मरथाच्चतुरङ्गस्तदात्मज: ।
पृथुलाक्ष: सुतस्तस्य चम्पोऽभूत् पृथुलाक्षत: ॥
चम्पपुत्रस्तु हर्य्यङ्गस्तस्य भद्ररथ: सुत: ।
बृहत्कर्म्मा सुतस्तस्य बृहद्भानुस्ततोऽभवत् ॥
बृहन्मना बृहद्भानोस्तस्य पुत्रो जयद्रथ: ।
जयद्रथस्य विजयो विजयस्य धृति: सुत: ॥
धृतेर्धृतव्रत: पुत्र: सत्यकर्म्मा धृतव्रतात् ।
तस्य पुत्रस्त्वधिरथ: कर्णस्तस्य सुतोऽभवत् ॥
वृषसेनस्तु कर्णस्य पूरुवंशं शृणुष्व मे ॥"
इत्यादि गारुडे १४३ अध्याय: ॥*॥
हरिवंशे च ।
"जनमेजयश्च पूरोश्च मनस्युर्जनमेजयात् ।
तस्य पुत्राश्चाभयद: सुद्युश्चाभूत्तदात्मज: ।"
सुद्युस्थाने स्वद्युरिति च पाठ: ।
"सुद्योर्ब्बहुगत: पुत्र: संयातिस्तस्य चात्मज: ।
वत्सजातिश्च संयाते रौद्राश्वश्च तदात्मज: ॥"
वत्सजातिस्थाने वर्गजातिरिति च पाठ: ।
"ऋतेयु: स्थण्डिलेयुश्च कक्षेयुश्च कृतेयुक: ।
जलेयु: सन्ततेयुश्च रौद्राश्वस्य सुता वरा: ॥
रतिनाव: कृतेयोश्च तस्य प्रतिरथ: सुत: ।
तस्य मेधातिथि: पुत्रस्तुंसोरीलिन: सुत: ॥

ऐलिलस्य तु दुष्मन्तो भरतस्तस्य चात्मजः ।
शकुन्तलायां संजज्ञे वितथो भरतादभूत् ॥
वितथस्य मन्युः पुत्त्रो मन्योश्चैव नरः सुतः ।
नरस्य संकृतिः पुत्त्रः सुसन्धिः संकृतेः सुतः ॥”
सुसन्धिस्थाने गर्गश्च इति पाठः ।
“गर्गादमन्युपुत्त्रो वै शिनिस्तस्य व्यजायत ।”
अमन्युस्थाने सुमन्युरिति च पाठः ।
“अमन्योश्च महावीर्य्यादुरुक्षयः सुतोऽभवत् ॥
उरुक्षयात् त्र्यारुणिश्च वृहत्क्षत्राच्च मन्युजात् ।
सुहोत्रस्तस्य हस्ती च अजमीढ्द्विमीढकौ ॥
हस्तिनः पुरुमीढश्च कण्वोऽभूदजमीढतः ।
कण्वान्मेधातिथिर्जज्ञे यतः काण्वायना द्विजाः ॥
अजमीढाद्बृहदिषुस्तत्पुत्त्रश्च बृहद्धनुः ।
बृहत्कर्म्मा तस्य पुत्त्रस्तस्य पुत्त्रो जयद्रथः ॥
जयद्रथाद्विश्वजिच्च सेनजिच्च तदात्मजः ।
रुचिराश्वः सेनजितः पृथुसेनस्तदात्मजः ॥
पारस्तु पृथुसेनस्य पारान्नीपोऽभवन्नृपः ।
नीपस्य समरः पुत्त्रः सुकृतिस्तु ततोऽभवत् ॥
विभ्राजः सुकृतेः पुत्त्रो विभ्राजादणुहोऽभवत् ।
शुक्यां तस्माद्ब्रह्मदत्तो विश्वक्सेनस्तदात्मजः ॥
यवीनरो द्विमीढस्य धृतिमांश्च यवीनरात् ।
धृतिमतः सत्यधृतिर्दृढनेमिस्तदात्मजः ॥
दृढनेमेः सुपार्श्वोऽभूत् सुपार्श्वात् सन्नतिस्तथा ।
कृतस्तु सन्नतेः पुत्त्रः कृतादुग्रायुधोऽभवत् ॥
उग्रायुधाच्च क्षेम्योऽभूदम्बरीषस्तदात्मजः ।
पुरञ्जयस्त्वम्बरीषात् तस्य पुत्त्रो विदूरथः ॥”
अम्बरीषस्थाने सुवीर इति च पाठः ।
“अजमीढान्नलिन्याञ्च नीलो नाम सुतोऽभवत् ।
नीलाच्छान्तिरभूत् पुत्त्रः सुशान्तिस्तस्य चात्मजः ॥
सुशान्तेश्च पुरुर्जातो ह्यर्कस्तस्य सुतोऽभवत् ।
अर्कस्य चैव हर्य्यश्वो हर्य्यश्वान्मुद्गलोऽभवत् ॥
यवीनरो बृहदिषुः कम्पिल्लः सृञ्जयस्तथा ।
पाञ्चालान्मुद्गलाज्जज्ञे शरद्वांस्तस्य चात्मजः ॥”
तस्य चात्मजस्थाने वैश्यवो महान् इति च पाठः ।
“दिवोदासो द्वितीयश्च अहल्यायां शरद्वतः ।
शतानन्दोऽभवत् पुत्त्रस्तस्य सत्यधृतिः सुतः ॥
कृपः कृपी सत्यधृतेरुर्व्वश्यां वीर्य्यहानितः ।
द्रोणपत्नी कृपी जज्ञे अश्वत्थामानमुत्तमम् ॥
दिवोदासान्मित्त्रयुश्च मित्त्रयोश्च्यवनोऽभवत् ।
सुदासश्च्यवनाज्जज्ञे सौदासस्तस्य चात्मजः ॥
सहदेवस्तस्य पुत्त्रः सहदेवात्तु सोमकः ।
जन्तुस्तु सोमकाज्जज्ञे पृषतश्चापरो महान् ॥
पृषतात् द्रुपदो जज्ञे धृष्टद्युम्नस्ततोऽभवत् ।
धृष्टद्युम्नात् धृष्टकेतुरृक्षोऽभूदजमीढतः ॥
ऋक्षात् संवरणो जज्ञे कुरुः संवरणादभूत् ।
सुधन्वश्च परिक्षित्तु जह्नुश्चैव कुरोः सुताः ॥
सुधनुषः सुहोत्रोऽभूत् च्यवनोऽभूत् सुहोत्रतः ।
च्यवनात् कृतको जज्ञे उपोपरिचरो वसुः ॥
बृहद्रथप्रत्यग्रः सत्याद्याश्च वसोः सुताः ।
बृहद्रथात् कुशाग्रश्च कुशाग्रात् ऋषभोऽभवत् ॥
ऋषभात् पुष्पवांस्तस्माज्जज्ञे सत्यहितो नृपः ।
सत्यहितात् सुधन्वाभूज्जह्नुश्चैव सुधन्वतः ॥”
जह्नुस्थाने जन्तुरिति च पाठः ।
“बृहद्रथाज्जरासन्धः सहदेवस्तदात्मजः ।
सहदेवाच्च सोमापिः सोमापेः श्रुतवान् सुतः ॥
भीमसेनप्रसेनौ च श्रुतसेनोऽपराजितः ।”
प्रसेनस्थाने उग्रसेन इति च पाठः ।
“जनमेजयश्चान्योऽभूज्जह्नोस्तु सुरथोऽभवत् ।
विदूरथस्तु सुरथात् सार्व्वभौमो विदूरथात् ॥
जयत्सेनः सार्व्वभौमादराधीतस्तदात्मजः ।
अयुतायुस्तस्य पुत्त्रस्तस्य चाक्रोधनः सुतः ॥
अक्रोधनस्यातिथिश्च ऋक्षोऽभूदतिथेः सुतः ।
ऋक्षाच्च भीमसेनोऽभूद्दिलीपो भीमसेनतः ॥
प्रतीपोऽभूद्दिलीपात्तु देवापिस्तु प्रतीपतः ।
शान्तनुश्चैव वाह्लीकस्त्रयस्ते भ्रातरो नृपाः ॥
वाह्लीकात् सोमदत्तोऽभूत् भूरिभूरिश्रवास्ततः ।
शलश्च शान्तनोर्भीष्मो गङ्गायां धार्म्मिको महान् ॥
चित्राङ्गदविचित्रौ तु सत्यवत्यां तु शान्तनोः ॥
विचित्रवीर्य्यभार्य्ये तु अम्बिकाम्बालिका तयोः ।
धृतराष्ट्रञ्च पाण्डुञ्च तद्दास्यां विदुरन्तथा ॥
व्यास उत्पादयामास गान्धार्य्यां धृतराष्ट्रतः ।
शतं पुत्त्रं दुर्य्योधनाद्यं पाण्डोः पञ्च प्रजज्ञिरे ॥
प्रतिविन्ध्यः सुतः सोमः श्रुतकीर्त्तिस्तु चार्ज्जुनात् ।
शतानीकः श्रुतकर्म्मा द्रौपद्यां पञ्च वै क्रमात् ॥
यौधेयी च हिडिम्बा च काशी चैव शुभद्रिका ।
विजया वै वेणुमती पञ्चभ्यस्तु सुताः क्रमात् ॥
देवको घटोत्कचश्च अभिमन्युश्च सर्व्वशः ।
सुहोत्री निरमित्रश्च परिक्षिदभिमन्युजः ॥”
अत्र अहोत्री निरपत्रश्चेति तृतीयचरणे पाठः ।
“जनमेजयश्च ततो भविष्यांश्च नृपाञ्छृणु ॥”
इति गारुडे १४४ अध्यायः ॥

सोमवल्कः, पुं, (सोमस्येव वल्को यस्य ।) श्वेतखदिरः । इत्यमरः । २।४।५० ॥ (अस्य पर्य्यायो यथा,—
“सोमवल्को ब्रह्मशल्यः कदरः खदिरोपमः ॥”
इति वैद्यकरत्नमालायाम् ॥)
कट्फलः । इति मेदिनी ॥ (अस्य पर्य्यायो यथा,
“कट्फलः सोमवल्कश्च कैटर्य्यः कुम्भिकापि च ।
श्रीपर्णिका कुमुदिका भद्रा भद्रवतीति च ॥”
इति भावप्रकाशे पूर्व्वखण्डे प्रथमे भागे ॥)
करञ्जः । इति जटाधरः । (अस्य पर्य्यायो यथा,
“स चोक्तः पूतिकरञ्जः सोमवल्कश्च स स्मृतः ।”
इति भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे प्रथमे भागे ॥)
रीठाकरञ्जः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सोमवल्लरिः, सोमवल्लरी, स्त्री, (सोमस्य वल्लरिः । वा ङीष् ।) सोमलता । तत्पर्य्यायः । ब्राह्मी २ मत्स्याक्षी ३ वयस्था ४ । इत्यमरः । २ । ४ । १३७ ॥ चत्वारि सोमलतायाम् । ब्राह्मीशाक इति केचित् । अतिपवित्रत्वेन ब्रह्मणः प्रियत्वात् ब्रह्मणो ब्राह्मणस्य वा इयं ब्राह्मी ष्यः नजा निर्द्दिष्टं अभिचरतीति मन्वर्ण्णेनिति निविधाभावे नोर्योपौ ताविति नस्य लोपः किते विरिति वृद्धिः षिलादीप् अनितभूतकर्णित्वाभावविवक्षया वृद्ध्यभावे ब्रह्मी च ।
“ब्राह्मी वयःस्था मत्स्याक्षी ब्रह्मी च सोमवल्लरी ।”
इति वाचस्पतिः ॥
मत्स्याक्षितुल्यपुष्पत्वात् मत्स्याक्षी । वयो यौवनं तिष्ठत्यनया वयःस्था भिदादित्वात् ङः मध्यविसर्गा मनीषादित्वात् विसर्गलोपे निर्व्विसर्गा च । सोमेन यागार्थमुपात्तेति सोमवल्लरी अर्थपरत्वात् इन्दुवल्लरी चन्द्रवल्लरी इत्याद्यपि । वल्लर्य्या लतार्थपरत्वात् सोमवल्ली सोमलता सोमवल्लिका इत्याद्यपि पाठः । इति भरतः ॥

सोमवल्लिका, स्त्री, (सोमवल्लीव । इवार्थे कन् ।) सोमराजी । इत्यमरः । २ । ४ । ९५ ॥ (सोमस्य वल्लिका ।) सोमलता । इति भरतः ॥

सोमवल्ली, स्त्री, (सोमस्य वल्लीव ।) गुडूची । इत्यमरः । २ । ४ । ८३ ॥ सोमलता इति तट्टीकायां भरतः ॥ सोमराजी । इति शब्दरत्नावली ॥ पातालगरुडी । ब्राह्मी । सुदर्शना । इति राजनिर्घण्टः ॥ (यथा, बृहत्संहितायाम् । ५४ । १०८ ।
“या सोमवल्ल्यास्य समानरूपा
साप्याशु तोयं कुरुतेऽक्षयञ्च ॥”)

सोमवारः, पुं, (सोमस्य वारः ।) सोमस्य भोग्यदिनम् । चन्द्रवासरम् । यथा,—
“सोमवारेऽप्यमावास्या आदित्याहे च सप्तमी ।
चतुर्थी भौमवारे च अक्षयादपि चाक्षया ॥”
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥ * ॥
तद्दिवसीयवारवेला यथा,—
“रवौ वर्ज्यं चतुः पञ्च सोमे सप्त द्वयं तथा ।”
इति ज्योतिःसारसारः ॥
तद्रात्रौ कालवेला यथा,— *
“रवौ षष्ठं विधौ वेदं कुजवारे द्वितीयकम् ।
बुधे सप्त गुरौ पञ्च भृगुवारे तृतीयकम् ।
शनावाद्यं तथा चान्त्यं रात्रौ कालं विवर्ज्जयेत् ॥”
इति ज्योतिःसारः ॥

सोमवारव्रतं, क्ली, (सोमवारकर्त्तव्यं व्रतम् ।) प्रतिसोमवारोपवासपूर्व्वकसायंकालकर्त्तव्यशिवदुर्गापूजारूपव्रतविशेषः । तद्विवरणं यथा,—
“सोमवारे विशेषेण प्रदोषादिगुणैर्युते ।
केवलं वापि ये कुर्य्युः सोमवारे शिवार्च्चनम् ।
न तेषां विद्यते किञ्चिदिहामुत्र च दुर्लभम् ॥
उपोषितः शुचिर्भूत्वा सोमवारे जितेन्द्रियः ।
वैदिकैर्लौकिकैर्व्वापि विधिवत्पूजयेच्छिवम् ॥
ब्रह्मचारी गृहस्थो वा कन्या वापि सभर्तृका ।
विभर्तृका वा संपूज्य लभते वरमीप्सितम् ॥ * ॥
तत्राहं कथयिष्यामि कथां श्रोत्रमनोरमाम् ।
श्रुत्वा श्रुतधियः शम्भौ भक्तिं कुर्व्वन्तु निश्चलाम् ॥
आर्य्यावर्त्ते नृपः कश्चिदासीद्धर्म्मभृतां वरः ।
चित्रवर्म्मेति विख्यातो धर्म्मराजो दुरात्मनाम् ॥
सोऽनुकूलः स्वपत्नीषु पुत्त्रमेकं न लब्धवान् । *
चिरेण प्रार्थितां लेभे कन्यामेकां मनोहराम् ॥

स एकदा जातकलग्नयत्ना-
माहूय सर्व्वान् द्विजमुख्यवर्गान् ।
कुतूहलेनापि निविष्टचेताः
पप्रच्छ तस्या जनने विचारम् ॥ * ॥
अथ तं प्रावदत् कोऽपि वहुज्ञो द्विजसत्तमः ।
एका सीमन्तिनी मान्या कन्या तव महीपते ॥
अथान्योऽपि द्विजः प्राह धैर्य्यवानविशङ्कितः ।
एषा चतुर्द्दशे वर्षे वैधव्यं प्रतिपत्स्यति ॥
इत्याकर्ण्य वचस्तस्य वज्रनिर्घातनिष्ठुरम् ।
मुहूर्त्तमभवद्राजा चिन्ताव्याकुलमानसः ॥
सापि सीमन्तिनी बाला क्रमेण प्राप्तयौवना ।
वैधव्यमात्मनो भावि सा शुश्राव सखीमुखात् ॥
परं निर्व्वेदमापन्ना तदाकर्ण्य शुचिस्मिता ।
याज्ञवल्क्यमुनेः पत्नीं मैत्रेयीं पर्य्यपृच्छत ॥
मातस्त्वच्चरणाम्भोजं प्रपन्नाहं भयाकुला ।
सौभाग्यवर्द्धनं कर्म्म मम संशितुमर्हसि ॥ * ॥
इति प्रपन्नां नृपतेः कन्यामाह मुनेः सती ।
शरणं व्रज तन्वङ्गि पार्व्वतीं शिवसंयुताम् ॥
सोमवारे शिवं गौरीं पूजयस्व समाहिता ।
उपोषिता वा सुस्नाता विरजाम्बरधारिणी ॥
यतवाङ्निश्चलमतिः पूजां कृत्वा यथोचिताम् ।
ब्राह्मणान् भोजयित्वा च शिवं सम्यक् प्रसादय ॥
पापक्षयोऽभिषेकेण साम्राज्यं पीठपूजनात् ।
सौभाग्यमखिलं सौख्यं गन्धमाल्याक्षतार्च्चनात् ॥
धूपदानेन सौगन्ध्यं कान्तिर्दीपप्रदानतः ।
नैवेद्येन महाभोगो लक्ष्मीस्ताम्बूलदानतः ॥
धर्म्मार्थकाममोक्षाणां नमस्कारः प्रसाधनम् ।
अष्टैश्वर्य्यादिसिद्धीनां जप एव हि साधनम् ॥
होमेन सर्व्वकामानां समृद्धिरपि जायते ।
सर्व्वेषामेव देवानां तुष्टिर्ब्राह्मणभोजनात् ॥
इत्थमाराधय शिवं सोमवारे शिवामपि ।
प्राप्ता विपद्भिर्बहुभिर्दुःखैर्व्वा न विहन्यसे ॥
घोरात् घोरं प्रपन्नापि महाक्लेशं भयानकम् ।
शिवपूजाप्रभावेण तरिष्यसि महद्भयम् ॥ * ॥
इत्थं सीमन्तिनी सम्यक् सन्निशम्य सतीमुखात् ।
ययौ सापि वरारोहा राजपुत्री तथापि च ॥"
इत्यादि स्कन्दपुराणे ब्रह्मोत्तरखण्डे सोमवार-
व्रतमाहात्म्यं ८ अध्यायः ॥

सोमविक्रयी, [न्] पुं, (सोमं विक्रीणातीति । वि + क्री + णिनिः ।) सोमलतारसविक्रयकर्त्ता । यथा, "पापो हि सोमविक्रयी ।" इति मलमासतत्त्वे आश्वलायनब्राह्मणम् ॥ (एतत्सम्प्रदानादेव दातुः प्रत्यवायो भवति । यथा, मनुः । ३ । १८० ।
"सोमविक्रयिणे विष्ठा भिषजे पूयशोणितम् ।
नष्टं देवलके दत्तमप्रतिष्ठन्तु वार्द्धुषौ ॥")

सोमवृक्षः, पुं, (सोमस्येव वृक्षो यस्य ।) कट्फलवृक्षः । इति रत्नमाला ॥ श्वेतखदिरः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सोमशकला, स्त्री, (सोमस्य शकलमिव यत्र ।) शशाङ्कुली । इति राजनिर्घण्टः । चन्द्रखण्डविशिष्टा च ॥

सोमसंज्ञं, क्ली, (सोमस्य चन्द्रस्य संज्ञा संज्ञा यस्य ।) कर्पूरम् । इति रत्नमाला ॥

सोमसारः, पुं, (सोमस्येव शुक्लः सारो यस्य ।) श्वेतखदिरः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सोमसिद्धान्तः, पुं, बुद्धभेदः । इति जटाधरः ॥ ज्योतिर्ग्रन्थविशेषश्च ॥ कापालिकवेशधारी । यथा, "ततः प्रविशति कापालिकवेशधारी खड्गहस्तः सोमसिद्धान्तः ।" इति श्रीकृष्णमिश्रकृतप्रबोधचन्द्रोदयनाटके ३ अङ्कः ॥ सोमसिद्धान्त इति उमया सह वर्त्तमानः सोमो महादेवस्तदाश्रितसिद्धान्त आगमशास्त्रम् । इति श्रीयुक्तहरिहरतर्कालङ्कारतनूजश्रीरुद्रविनिर्म्मिततट्टीका ॥

सोमसिद्धान्ती, [न्] पुं, सोमसिद्धान्तवेत्ता । सोमसिद्धान्तशब्दादिन्प्रत्ययेन निष्पन्नः ॥

सोमसिन्धुः, पुं, (सोमस्यामृतस्य तद्युतमोक्षस्य वा सिन्धुरिव ।) विष्णुः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सोमसुत्, त्रि, (सोमं सुनोतीति । सोम + सु अभिषवे + "सोमे सुञः ।" ३ । २ । ९० । इति क्विप् ।) यागे सोमलतारसक्षेपकर्त्ता । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥ (यथा, रघुः । १८ । २७ ।
"तस्यौरसः सोमसुतः सुतोऽभूत्
नेत्रोत्सवः सोम इव द्वितीयः ॥")

सोमसुता, स्त्री, (सोमस्य सुता ।) नर्म्मदानदी । इति राजनिर्घण्टः ॥ बुधे, पुं ॥ (यथा, मार्कण्डेये । १२३ । ११ ।
"अवैक्षतेमं देवानां गुरुः सोमसुतो बुधः ।
नावैक्षतैनमादित्यो नार्कसुनुर्न भूमिजः ॥")

सोमसूत्रं, क्ली, (सोमस्य जलस्य सूत्रं निर्गमप्रणालीव ।) प्रणालम् । तत्तु शिवलिङ्गस्य गौरीपट्टजलनिर्गमस्थानम् । यथा,—
"शिवप्रदक्षिणे मन्त्री अर्द्धचन्द्रक्रमेण तु ।
सव्यासव्यक्रमेणैव सोमसूत्रं न लङ्घयेत् ॥"
सोमसूत्रं जलनिःसरणस्थानम् । इति तन्त्रसारे सामान्यपूजापद्धतिः ॥

सोमाख्यं, क्ली, (सोमं सोमलतां आख्याति वर्णेनेति । आ + ख्या + कः ।) रक्तकैरवम् । इति रत्नमाला ॥

सोमाभा, स्त्री, (सोमस्य आभा इव आभा यस्याः ।) चन्द्रावली । इति भक्तिरसामृतसिन्धुः ॥

सोमालः, त्रि, (सोमाय अलति पर्य्याप्नोतीति । अल + अच् ।) कोमलः । इति हेमचन्द्रः ॥

सोमाहः, पुं, (सोमस्य अहः । समासे टच् ।) सोमवारः । इति ज्योतिषम् ॥

सोमेश्वरः, पुं, (सोमस्य ईश्वरः ।) काश्यां सोमकर्त्तृकप्रतिष्ठितशिवः । यथा,—
"शिवरूपाधिष्ठितस्तु शिवरूपो गिरिः स्मृतः ।
सोमेन तत्र संस्थाप्य स्वनाम्ना लिङ्गमुत्तमम् ॥
वर्षाणान्तु सहस्रं वै स्वशापस्य निवृत्तये ।
ततः क्षयादिनिर्म्मुक्तस्तेजसा च परिप्लुतः ॥
स्वकं तेजोबलं प्राप्य तुष्टाव गिरिजापतिम् ।
सोमेश्वराख्य वरदमाविर्भूतं नियामकम् ॥"
इति वाराहे सोमेश्वरादिलिङ्गमहिमावमुक्तिक्षेत्रनिवेशादिमहिमनामाध्यायः ॥ (पीठस्थानविशेषः । यथा, देवीभागवते । ७ । ३० । ७३ ।
"सोमेश्वरे वरारोहा प्रभासे पुष्करावती ॥")

सोमोद्भवा, स्त्री, (सोमादुद्भवो यस्याः ।) नर्म्मदानदी । इत्यमरः । १ । १० । ३२ ॥ (यथा, रघुः । ५ । ५९ ।
"तथेत्युपस्पृश्य पयः पवित्रं
सोमोद्भवायाः सरितो नृसोमः ।
उदङ्मुखः सोऽस्त्रविदस्त्रमन्त्रं
जग्राह तस्मान्निगृहीतशापात् ॥")

सौमजाति, त्रि ॥

सोल्लुण्ठः, पुं, (उल्लुण्ठेन सह वर्त्तमानः ।) सोल्लुण्ठनम् । इति हलायुधः ॥ (वाच्यलिङ्गोऽयमिति केचित् ॥)

सोल्लुण्ठनं, क्ली, (उल्लुण्ठनेन सह वर्त्तमानम् ।) स्तुतिपूर्व्वकदुर्व्वादः । यथा,—
"दुर्व्वादः स्यादुपालम्भस्तत्र यः स्तुतिपूर्व्वकः ।
सोल्लुण्ठनं सनिन्दस्तु यस्तत्र परिभाषणम् ॥"
इति जटाधरः ॥
(वाच्यलिङ्गोऽप्ययमिति केचित् ॥)

सोल्लुण्ठोक्तिः, स्त्री, (सोल्लुण्ठा उक्तिः ।) सव्यङ्गोक्तिः । यथा । उपनायकमानेतुं प्रेषितां तदुपभोगलुप्तचन्दनादीन् वापीस्नानव्याजेन गोपयन्तीं दूतीं प्रति सोल्लुण्ठोक्तिरियमिति निःशेषच्युतचन्दनं इति श्लोकव्याख्याने काव्यप्रकाशटीकायां महेश्वरन्यायालङ्कारः ॥

सौकरः, त्रि, (सूकरस्यायमिति । सूकर + अण् ।) सूकरसम्बन्धी । (यथा, किराते । १२ । ५३ ।
"स तमाससाद घननील-
मभिमुखमुपस्थितं मुनेः ।
पोत्रनिकषणविभिन्नभुवं
दनुजं दधानमथ सौकरं वपुः ॥")

सौकरिकः, पुं, (सूकरं हन्तीति । सूकर + ठण् ।) व्याधः । सिकारी इति भाषा । इति केचित् ॥ (यथा, वृहत्संहितायाम् । १५ । २२ ।
"वरुणेऽपि माशिकमत्स्यबन्ध-
जलजानि जलचराजीवाः ।
सौकरिकरजकशौण्डिक-
शाकुनिकाश्चापि वर्गेऽस्मिन् ॥")

सौकर्य्यं, क्ली, (सुकरस्य भावः कर्म्म वा । सुकर + ष्यञ् ।) अनायासः । (यथा, साहित्यदर्पणे । १० । ६८ ।
"सौकर्य्येण च कार्य्यस्य विशद्वं क्रियते यदि ।" *
सूकरस्य भावः कर्म्म वा । सूकर + ष्यञ् ।)
सूकरस्य क्रिया । इति विश्वः ॥

सौक्ष्म्यं, क्ली, सूक्ष्मता । सूक्ष्मस्य भावः इत्यर्थे ष्यञ्(ष्यञ्)प्रत्ययेन निष्पन्नम् ॥

सौखसुप्तिकः, त्रि, (सुखसुप्तिं सुखेन शयनं पृच्छतीति । सुखसुप्ति + ठञ् ।) वैतालिकः । यथा,
"वैतालिका बोधकरा अर्थिकाः सौखसुप्तिकाः ।"
इति हेमचन्द्रः ॥

सौखिकः, त्रि, (सुखेन जीवतीति । सुख + "वेतनादिभ्यो जीवति ।" ४ । ४ । १२ । इति ठक् ।) सुखार्थी । सौखीन इति भाषा ॥ (यथा, महाभारते । १२ । १८ । २३ ।
"अथा विहीनैरधनैस्त्यक्तमित्रैरकिञ्चनैः ।
सौखिकैः सम्भृतानर्थान् यः सन्त्यजति किन्नु तत् ॥")

सौख्यं, क्ली, (सुखमेव । स्वार्थे ष्यञ् ।) सुखम् । इति हेमचन्द्रः ॥ यथा, उत्तररामचरिते २ अङ्के ।
"अकिञ्चिदपि कुर्व्वाणः सौख्यैर्दुःखान्यपोहति ।
तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः ॥"
(सुखस्य भावः कर्म्म वा । सुख + ष्यञ् ।) सुखत्वम् । सुखस्य भावः इत्यर्थे ष्यञ्प्रत्ययेन निष्पन्नम् ॥

सौगतः, पुं, (सुगत एव । स्वार्थे अण् ।) बुद्धविशेषः । तत्पर्य्यायः । शून्यवादी २ । इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, माघे । २ । २८ ।
"सर्व्वकार्य्यशरीरेषु मुक्त्वाङ्गस्कन्धपञ्चकम् ।
सौगतानामिवात्मान्यो नास्ति मन्त्रो महीभृताम् ॥"
सुगतसम्बन्धिनि, सुगतमताध्यायिनि च त्रि ॥)

सौगतिकः, पुं, (सौगतं मतं वेत्तीति । ठक् ।) बुद्धविशेषः । इति केचित् ॥

सौगन्धं, क्ली, (सुष्ठु गन्धो यस्य । ततः स्वार्थे अण् ।) कत्तृणम् । यथा,—
"सौगन्धिकञ्च सौगन्धं रामकर्पूरके त्वथ ।"
इति शब्दरत्नावली ॥
(पुं, सङ्करजातिविशेषः । यथा, महाभारते । १३ । ४८ । २२ ।
"चतुरो मागधी सूते क्रूरान्मायोपजीविनः ।
मांसस्वादुकरं क्षौद्रं सौगन्धमिति विश्रुतम् ॥")
शोभनगन्धयुक्ते, त्रि ॥

सौगन्धिकं, क्ली, (सुगन्धोऽस्यस्येति । सुगन्ध + ठन् । ततः स्वार्थे अण् ।) कत्तृणम् । (अस्य पर्य्यायो यथा,—
"कत्तृणं रौहिषं देवजग्धं सौगन्धिकन्तथा ।
भूतिकं श्यामपौरञ्च ध्यामकं धूमगन्धिकम् ॥"
इति भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे प्रथमे भागे ॥) कह्लारम् । इत्यमरः । १ । १० । ३६ ॥ पद्मरागमणिः । इति मेदिनी ॥ नीलोत्पलम् । इति राजनिर्घण्टः ॥ (अस्य पर्य्यायो यथा,—
"इन्दीवरं कुवलयं पद्मं नीलोत्पलं स्मृतम् ।
सौगन्धिकं शतदलमब्जं कमलमुच्यते ॥"
इति गारुडे २०८ अध्यायः ॥
यथा, महाभारते । ३ । १५४ । २ ।
"अपश्यत्तच्च पाञ्चाली सौगन्धिकमनुत्तमम् ।
अनिलोद्धमितो नूनं सा बहूनि परीप्सति ॥")

सौगन्धिकः, पुं, (सौगन्धोऽस्यास्तीति । ठन् ।) गन्धकः । इत्यमरः । २ । ९ । १०२ ॥ सुगन्धव्यवहारी । इति मेदिनी ॥ गन्धीति हिन्दी भाषा ॥ (श्लेष्मनिमित्तकक्रिमिविशेषः । यथा, चरके विमानस्थाने ७ अध्याये । "तेषां त्रिविधानां श्लेष्मनिमित्तानां क्रिमीणां नामानि अन्त्रादा उदरादा हृदयादाश्चुरवो दर्भपुष्पाः सौगन्धिका महागुदाश्च इति ।")

सौगन्ध्यं, क्ली, सुगन्धत्वम् । सुगन्धस्य भाव इत्यर्थे सुगन्धशब्दात् ष्यञ् (ष्यञ्) प्रत्ययेन निष्पन्नम् ॥ (यथा, महाभारते । १ । ६३ । ७९ । ✽
"एवमुक्त्वा वरं वव्रे गात्रसौगन्ध्यमुत्तमम् ॥")

सौचिः, पुं, सौचिकः । इति शब्दरत्नावली ॥

सौचिकः, पुं, (सूच्या जीवतीति । सूची + ठक् ।) सूचीकर्म्मोपजीवी । दरजी इति भाषा । तत्पर्य्यायः । तुन्नवायः २ । इत्यमरः । २।१०।६ ॥ सूचिकः ३ सौचिः ४ सूत्रभित् ५ । इति शब्दरत्नावली ॥

सौजन्यं, क्ली, (सुजनस्य भावः कर्म्म वा । सुजन + ष्यञ् ।) सुजनता । यथा,—
"सौजन्यं वरवंशजन्म विभवो दीर्घायुरारोग्यता
विज्ञत्वं विनयित्वमिन्द्रियवशः सत्पात्रदाने रुचिः ।
सन्मन्त्री सुसुतः प्रिया प्रियतमा भक्तिश्च नारायणे
सत्पुण्येन विना त्रयोदश गुणाः संसारिणां दुर्लभाः ॥"
इत्युद्भटः ॥

सौण्डी, स्त्री, पिप्पली । इति शब्दचन्द्रिका ॥ (पिप्पलीशब्देऽस्या विशेषो विज्ञेयः ॥)

सौत्रः, पुं, (सूत्रं यज्ञसूत्रमर्हतीति । सूत्र + अण् ।) ब्राह्मणः । इति हेमचन्द्रः ॥ (सूत्रे पठितः पाणिन्यादिभिः कर्म्मविशेषायेति । अण् ।) नियतप्रयोगाभावधातुविशेषः । यथा,—
"धातूनामिह सौत्राणां द्विचत्वारिंशदीरिताः ॥"
इति कविकल्पद्रुमः ॥
(सूत्रस्येदमित्यण् ।) सूत्रसम्बन्धिनि, त्रि ॥

सौत्रामणी, स्त्री, (सुत्रामा इन्द्रो देवता अस्याः । सुत्रामन् + अण् । बहुलवचनात् न टिलोपः । ततः स्त्रियां ङीप् ।) यागविशेषः । यथा । अथ सौत्रामणी त्रिभिरध्यायैः प्रक्रियते । स एतं महाक्रतुमपश्यत् सौत्रामणीमिति श्रुतेः । तत्र सुरां सन्धीयते । तत्र मन्त्रः । स्वादीन्त्वा स्वादुना तीव्रां तीव्रेणामृताममृतेन । मधुमतीं मधुमता सृजामि स ५ सोमेन सोमोऽस्यश्विभ्यां पच्यस्व सरस्वत्यै पच्यस्वेन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्व ॥ सौत्रामण्याः ऋषिः प्रजापतिः । सुरा देवता । अनुष्टुप् छन्दः । इति यजुर्व्वेदस्य काण्वशाखायाम् २१ अध्यायः ॥ विस्तारस्तु तत्रैव २१ । २२ । २३ । अध्यायेषु द्रष्टव्यः । यागक्रमस्तु कात्यायनसूत्रभाष्ये द्रष्टव्यः ॥ (अत्र सुरां पित्वा ब्राह्मणः पतितो न भवति । यदुक्तम् ।
"सौत्रामण्यां कुलाचारे ब्राह्मणः प्रपिबेत् सुराम् ।
अन्यत्र कामतः पीत्वा पतितस्तु द्विजो भवेत् ॥")

सौदामनी, स्त्री, (सुदामा मेघः पर्व्वतो वा । तेन एकदिक् । "तेनैकदिक् ।" ४ । ३ । ११२ ॥ इति अण् ।) विद्युत् । इत्यमरः । १ । ३ । ९ ॥ सुदामा ऐरावतस्तस्य स्त्री सौदामनी प्रज्ञादीप् इत्यत्र मनीषादित्वात् । अतएव सुदामा चेति ऐरावतपर्य्याये त्रिकाण्डशेषः ॥
"खेऽभ्रं जगाम काञ्चन-
सरसमसौदामनीलताधामाक्तम् ।
कुवलयमयमिव सकृत्
सरसमसौदामनीलताधामाक्तम् ॥"
इति हरिप्रबोधयमकात् सौदामिनीत्यपपाठ इति मुकुटः । इति भरतः ॥✽॥ (यथा, महाभारते । १ । १७२ । ४२ ।
"ततो लालप्यमानस्य पार्थिवस्यायतेक्षणा ।
सौदामनीव चाभ्रेषु तत्रैवान्तरधीयत ॥")
अप्सरोभेदः । विद्युद्भेदः । इति मेदिनी ॥ (यथा, भागवते । १ । ६ । २८ ।
"एवं कृष्णमतेर्ब्रह्मन्नासक्तस्यामलात्मनः ।
कालः प्रादुरभूत् काले तडित् सौदामनी यथा ॥"
सुदामा माला तत्र भवा सौदामनी मालाकारा इत्यर्थः । सुदामा पर्व्वतः तेनैकदिगिति सूत्रेण अण् स्फटिकमयपर्व्वतप्रान्तभागभवा हि विद्युदतिस्फुटा भवति । इति तट्टीकायां श्रीधरस्वामी ॥)

सौदामिनी, स्त्री, विद्युत् । इत्यमरटीका ।१।३।९॥ (यथा, ऋतुसंहारे । ३ । १२ ।
"नष्टं धनुर्बलभिदो जलदोदरेषु
सौदामिनी स्फुरति नाद्य वियत्पताका ॥")
तडिद्भेदः । (यथा, महाभारते । ३।५३।१२ ।
"तत्र स्म राजते भैमी सर्व्वाभरणभूषिता ।
सखीमध्येऽनवद्याङ्गी विद्युत् सौदामिनी यथा ॥")
अप्सरोभेदः । इति हेमचन्द्रः ॥ देशविशेषः । इत्यजयः ॥

सौदाम्नी, स्त्री, सौदामनी । इति शब्दरत्नावली ॥

सौदायिकं, त्रि, (सुदायेभ्यः पितृमातृभर्तृकुलसम्बन्धिभ्य आगतमिति । सुदाय + ठञ् ।) पितृमातृभर्तृकुललब्धस्त्रीधनम् । यथा, कात्यायनः ।
"ऊढया कन्यया वापि पत्युः पितृगृहेऽथवा ।
भर्त्तुः सकाशात् पित्रोर्व्वा लब्धं सौदायिकं स्मृतम् ॥
सौदायिकं धनं प्राप्य स्त्रीणां स्वातन्त्र्यमिष्यते ।
यस्मात् तदानृशंस्यार्थं तैर्दत्तं तत्प्रजीवनम् ॥
सौदायिके सदा स्त्रीणां स्वातन्त्र्यं परिकीर्त्तितम् ।
विक्रये चैव दाने च यथेष्टं स्थावरेष्वपि ॥"
सुदायेभ्यः पितृमातृभर्तृकुलसम्बन्धिभ्यो लब्धं सौदायिकम् । आनृशंस्यमनैष्ठुर्य्यम् । इति दायतत्त्वम् ॥

सौदासः, पुं, इक्ष्वाकुवंशीयः अयोध्याधिपतिः । अस्य नामान्तरम् । कल्माषपादः १ मित्रसहः २ । इति पुराणम् ॥ (यथा, महाभारते । १ । १२२ । २१ ।
"सौदासेन च रम्भोरु नियुक्ता पुत्रजन्मनि ।
मदयन्ती जगामर्षिं वशिष्ठमिति नः श्रुतम् ॥"
अस्य विशेषविवरणन्तु कल्माषपादशब्दे द्रष्टव्यम् ॥")

सौधः, पुं, क्ली, (सुधा लेपोऽस्त्यस्येति। ज्योत्स्नादित्वादण्।) राजसदनम्। इत्यमरः। २।२।१०॥ (यथा, रघुः। ८। ६३।

"तस्य प्रसह्य हृदयं किल शोकशङ्कुः
प्लक्षप्ररोह इव सौधतलं बिभेद॥")

रौप्यम्। इति राजनिर्घण्टः॥ सुधासम्बन्धिनि, त्रि॥ (यथा, रामायणे। २। ८०। १९।

"प्रासादमालासंयुक्ताः सौधप्राकारसंवृताः॥"

तथाच सुश्रुते। १। ४४।

"विरेचनानां तीक्ष्णानां पयःसौधं परं मतम्॥")

सौधः, पुं, दुग्धपाषाणः। इति राजनिर्घण्टः॥

सौधारः, पुं, नाटकस्य चतुर्द्दशभागैकभागः। इति केचित्॥

सौधालं, क्ली, (सौधवत् अलति पर्य्याप्नोतीति। अल+अच्।) शिवमन्दिरम्। इति केचित्॥

सौनन्दं, क्ली, (सुनन्दमेव। स्वार्थे अण्।) बलदेवमुषलम्। इति हेमचन्द्रः॥ (यथा, हरिवंशे। ९। ६३।

"सौनन्दञ्च ततः श्रीमान्निरानन्दकरं द्विषाम्।
सत्त्वतां श्रेष्ठो जग्राह मुषलोत्तमम्॥")

सौनन्दी, [न्] पुं, (सौनन्दं मुषलमस्यास्तीति। इनिः।) बलदेवः। इति त्रिकाण्डशेषः॥

सौनिकः, पुं, (सूनया पश्वादिवधस्थानेन चरतीति। सूना+ठक्।) पशुपक्षिमांसविक्रयकर्त्ता। तत्पर्य्यायः। वैतंसिकः २ मांसिकः ३ कौटिकः ४। इति हेमचन्द्रः॥ (यथा मनुः। ४। ८६।

"दश सूनासहस्राणि यो वाहयति सौनिकः।
तेन तुल्यः स्मृतो राजा घोरस्तस्य प्रतिग्रहः॥")

तालव्यशकारादिरपि॥

सौन्दर्य्यं, क्ली, (सुन्दरस्य भावः। सुन्दर+ष्यञ्।) सुन्दरत्वम्। सुन्दरस्य भावः। तस्य लक्षणं यथा,

"अङ्गप्रत्यङ्गकानां यः सन्निवेशो यथोचितम्।
सुश्लिष्टः सन्धिबन्धः स्यात् तत् सौन्दर्य्यमुदाहृतम्॥"

इत्युज्ज्वलनीलमणिः॥

(यथा, कुमारे। १। ४९।

"सर्व्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन
यथाप्रदेशं विनिवेशितेन।
सा निर्म्मिता विश्वसृजा प्रयत्ना-
देकस्थसौन्दर्य्यदिदृक्षयेव॥")

सौपर्णं, क्ली, (सुपर्णं गरुडं तद्वर्णमित्यर्थः अर्हतीति। सुपर्ण+अण्।) मरकतम्। शुण्ठी। इति राजनिर्घण्टः॥ (गरुडपुराणम्। यथा, भागवते। १२। १३। ८।

"एकोनविंशं सौपर्णं ब्रह्माण्डं द्वादशैव तु॥"

गारुत्मतास्त्रम्। यथा, रघुः। १६। ८०।

"विभूषणप्रत्युपहारहस्त-
मुपस्थितं वीक्ष्य विशाम्पतिस्तम्।
सौपर्णमस्त्रं प्रतिसञ्जहार
प्रह्वेष्वनिर्बन्धरुषो हि सन्तः॥")

सुपर्णसम्बन्धिनि, त्रि॥ (यथा, महाभारते। ६। ८७। ६९।

"छाद्यमानस्तु नागैः स ध्यात्वा राक्षसपुङ्गवः।
सौपर्णं रूपमास्थाय भक्षयामास पन्नगान्॥")

सौपर्णी, स्त्री, पातालगरुडी लता। इति राजनिर्घण्टः॥

सौपर्णेयः, पुं, (सुपर्ण्या अपत्यं पुमानिति। "स्त्रीभ्यो ढक्।" ४। १। १२०। इति ढक्।) गरुडः। इति हेमचन्द्रः॥ गायत्र्यादिच्छन्दांसि। यथा,

"विनतायास्तु पुत्त्रौ द्वावरुणो गरुडस्तथा।
प्रभावन्तः ससारश्च यवीयांस्तयोः स्मृताः॥
गायत्र्यादीनि छन्दांसि सौपर्णेयानि पक्षिणः।
हव्यवाहानि सर्व्वाणि दिक्षु संनियतानि च॥"

इति वह्निपुराणे काश्यपीयवंशकथननामाध्यायः॥

सौप्तिकं, क्ली, (सुप्तौ सुप्तिकाले भवम्। सुप्ति+ठञ्।) रात्रियुद्धम्। तत्पर्य्यायः। निशारणम् २। इति जटाधरः॥ रात्रिमारणम् ३। इति त्रिकाण्डशेषः॥ (यथा, महाभारते। १०। ४। ३३।

"अहन्तु कदनं कृत्वा शत्रूणामद्य सौप्तिके।
ततो विश्रमिता चैव स्वप्ता च विगतज्वरः॥")

महाभारतीयपर्व्वविशेषः। यथा,—

"आदिः सभावनविराटमथोद्यमञ्च
भीष्मो गुरू रविजमद्रजसौप्तिकञ्च।
स्त्रीपर्व्व शान्तिरनुशासनमश्वमेध-
श्चाश्रमो मुषलयानदिवारोहः॥"

इति महाभारतटीका॥

सुप्तसम्बन्धिनि, त्रि॥

सौभं, क्ली, हरिश्चन्द्रपुरम्। इति त्रिकाण्डशेषः॥ तत्पर्य्यायः। कामचारिपुरम् २। इति जटाधरः॥ (शाल्वराजपुरम्। यथा, महाभारते। ३। १२। ३३।

"हतः सौभपतिः शाल्वस्तथा सौभञ्च पातितम्।"

अस्य विशेषविवरणन्तु तत्रैव १४ अध्यायमारभ्य विस्तरशो द्रष्टव्यम्॥)

सौभद्रः, पुं, (सुभद्राया अपत्यं पुमानिति। सुभद्रा+अण्।) सुभद्रापुत्त्रः। स चाभिमन्युः। यथा,—

"सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व्व एव महारथाः॥"

इति भगवद्गीतायां १ अध्यायः॥

(सुभद्रा प्रयोजनमस्य। "संग्रामे प्रयोजनयोद्धृभ्यः।" ४। २। ५६। इति अण्। संग्रामविशेषः। सुभद्रामधिकृत्य कृतो ग्रन्थः। "अधिकृत्य कृते ग्रन्थे।" ४। ४। ८७। इत्यण्। ग्रन्थविशेषः। इति काशिका॥) तीर्थविशेषे, क्ली। यथा, महाभारते। १। २१७। ३-४।

"अगस्त्यतीर्थं सौभद्रं पौलोमञ्च सुपावनम्।
कारन्धमं प्रसन्नञ्च हयमेधफलञ्च तत्॥
भारद्वाजस्य तीर्थन्तु पापप्रशमनं महत्।
एतानि पञ्च तीर्थानि ददर्श कुरुसत्तमः॥")

सुभद्रासम्बन्धिनि, त्रि॥

सौभद्रेयः, पुं, (सुभद्राया अपत्यं पुमानिति। सुभद्रा+"स्त्रीभ्यो ढक्।" ४। १। १२०। इति ढक्।) अभिमन्युः। सुभद्राया अपत्यत्वात्। विभीतकवृक्षः। इति शब्दचन्द्रिका॥

सौभरिः, पुं, मुनिविशेषः। यथा,—

"मीनान् सुदुःखितान् दृष्ट्वा दीनान् मीनपतौ हते।
कृपया सौभरिः प्राह तत्रत्यक्षेममाचरन्॥"

इति श्रीभागवते। १०। १७। १०॥

(अस्य विशेषविवरणन्तु विष्णुपुराणे ४ अंशस्य २ अध्यायमारभ्य द्रष्टव्यम्॥)

सौभागिनेयः, पुं, (सुभगाया अपत्यं पुमानिति। सुभगा+"कल्याण्यादीनामिनङ्।" ४।१।१२६। इति ढक् इनङादेशश्च। "हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्व्वपदस्य च।" ७। ३। १९। इति उभयपदवृद्धिः।) सुभगापुत्त्रः। तत्पर्य्यायः। सुभगासुतः २। इत्यमरः। २। ६। २४॥ सुभागिनेयसम्बन्धिनि, त्रि॥

सौभाग्यं, क्ली, (सुभगायै हितम्। सुभगा+ष्यञ्। "हृद्भगेति।" ७। ३। १९। इत्युभयपदवृद्धिः।) सिन्दूरम्। टङ्कणः। इति राजनिर्घण्टः॥ (अस्य पर्य्यायो यथा,—

"सौभाग्यं टङ्कणं क्षारो धातुद्रावकमुच्यते॥"

इति भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे प्रथमे भागे॥

सुभगायाः सुभगस्य वा भावः। ष्यञ्।) सुभगत्वम्। (यथा, कुमारे। ५। १।

"तथा समक्षं दहता मनोभवं
पिनाकिना भग्नमनोरथा सती।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्व्वती
प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता॥")

योगभेदः। इति मेदिनी॥ स च विष्कम्भादिसप्तविंशतियोगान्तर्गतचतुर्थयोगः। तत्र जातफलम्।

"सौभाग्यजन्मा सुभगो मनुष्यः
श्लाघ्यो जनानां धनवान् गुणज्ञः।
उदारचित्तो बलवान् विवेकी
महाभिमानी प्रियभाषणश्च॥"

इति कोष्ठीप्रदीपः॥ *॥

व्रतविशेषः। यथा,—

अगस्त्य उवाच।

"अतः परं महाराज सौभाग्यकरणं व्रतम्।
शृणु येनाशु सौभाग्यं स्त्रीपुंसोरुपजायते॥
फाल्गुनस्य तु मासस्य तृतीया शुक्लपक्षगा।
उपोषितया नक्तेन शुचिना सत्यवादिना॥
सश्रीकञ्च हरिं पूज्य रुद्रं वा चोमया सह।
या श्रीः सा गिरिजा प्रोक्ता यो हरिः स त्रिलोचनः॥
एवं सर्व्वेषु शास्त्रेषु पुराणेषु च पठ्यते।
एतस्मादन्यथा यस्तु ब्रूते शास्त्रं पृथक्तया॥
रुद्रो जनानां मर्त्यानां वाच्यं शास्त्रं न तद्भवेत्।
विष्णुं रुद्रकृतं ब्रूयात् श्रीगौरीति निगद्यते॥
एतयोरन्तरं यश्च ब्रूयात् सोऽधम उच्यते।
तं नास्तिकं विजानीयात् सर्व्वधर्म्मबहिष्कृतम्॥
एवं ज्ञात्वा सलक्ष्मीकं हरिं संपूज्य भक्तितः।

मन्त्रेणानेन राजेन्द्र ततस्तं परमेश्वरम् ।
गम्भीरायेति पादौ तु सुभगायेति वै कटिम् ।
उदरं देवदेवाय त्रिनेत्रायेति वै मुखम् ॥
वाचस्पतये च शिरो रुद्रायेति च सर्व्वत: ।
एवमभ्यर्च्य मेधावी विष्णुं लक्ष्म्या समन्वितम् ॥
हरं वा गौरीसंयुक्तं गन्धपुष्पादिभि: क्रमात् ।
ततस्तस्याग्रतो होमं कारयेत् मधुसर्पिषा ॥
तिलै: सह महाराज सौभाग्यपतयेति च ।
ततश्च क्षारविरसं निस्नेहं धरणीतले ॥
गोधूमान्नन्तु भुञ्जीत कृष्णेऽप्येवं विधि: स्मृत: ।
आषाढ़ादिद्वितीये तु पारणं तत्र भोजयेत् ॥
यवान्नन्तु तत: पश्चात् कार्त्तिकादिषु पार्थिव ।
श्यामाकं तत्र भुञ्जीत त्रीन् मासान् नियत:
शुचि: ॥
ततो माघे सिते पक्षे तृतीयायां नराधिप ।
सौवर्णं कारयेद्गौरीं रुद्रं चैकत्र बुद्धिमान् ॥
सलक्ष्मीकं हरिञ्चापि यथाशक्त्या प्रसन्नधी: ।
ततस्तां ब्राह्मणे दद्यात् पात्रभूते विचक्षणे ॥
अन्नेन हीने वेदानां पारगे साधुवर्त्तिनि ।
सदाचारेऽथवा दद्यात् विष्णुभक्ते विशेषत: ॥
षड्भि: पात्रैरुपेतन्तु ब्राह्मणाय निवेदयेत् ।
एकं मधुमयं पात्रं द्वितीयं घृतपूरितम् ॥
तृतीयं तिलतैलस्य चतुर्थं गुड़संयुतम् ।
पञ्चमं लवणै: पूर्णं षष्ठं गोक्षीरसंयुतम् ॥
एतानि दत्त्वा पात्राणि सप्तकल्पान्तरं भवेत् ।
सुभगो दर्शनीयश्च नारी वा पुरुषोऽपि वा ॥”
इति वाराहे सौभाग्यव्रतनामाध्याय: ॥

सौभाग्यचिन्तामणि:, पुं, (सौभाग्याय चिन्तामणिरिव ।) औषधविशेष: । यथा,—
“सौभाग्यामृतजीरपञ्चलवणव्योषाभयाचानला
निश्चन्द्राभ्रकशुल्वगन्धकरसानेकांशतान् भावयेत् ।
निर्गुण्डीयुगभृङ्गराजकटुकापामार्गपत्रोत्थसत्
प्रत्येकं स्वरसेन सिद्धवटिका शक्ति त्रिदोषोदयम् ॥
येषां शीतमतीव देहमखिलं स्विन्नवाङ्गीकृतं
निद्रा घोरतरा समस्तकरणव्यामोहमूढ़ं मन: ।
शूलश्वासबलाशकाससहितं मूर्च्छारुचिं हृट्
ज्वरं
तेषां वै परिहृत्य जीवितमसौ गृह्णाति मृत्योर्मुखात् ॥”
इति सारकौमुदी ॥

सौभाग्यतृतीया, स्त्री, (सौभाग्याय तृतीया ।) भाद्रशुक्लतृतीया । सा च मन्वन्तरा । इति स्मृति: ॥

सौभाञ्जन:, पुं, (सोभाञ्जन एव । स्वार्थे अण् ।) शोभाञ्जनवृक्ष: । इत्यमरटीका । २।४।३१ ॥

सौभिक:, पुं, (सौभं कामचारिपुरादिनिर्म्माणं शिल्पमस्य । ठक् ।) इन्द्रजालिक: । इति हारावली ।

सौमनसा, स्त्री, जातीपत्री । इति राजनिर्घण्ट: ॥

सौमनस्यं, क्ली, (सुमनसो भाव: । ष्यञ् ।) श्राद्धे पिण्डदानानन्तरं ब्राह्मणहस्ते पुष्पदानमन्त्र: । यथा शातातप: ।
“पिण्डनिर्व्वापरहितं यत्तु श्राद्धं विधीयते ।
स्वधावाचनलोपोऽत्र विकिरस्तु न लुप्यते ॥
अक्षय्यदक्षिणास्वस्तिसौमनस्यमथास्त्विति ॥”
छन्दोगपरिशिष्टम् ।
“अथाग्रभूमिमासिञ्चेत् सुसम्प्रोक्षितमस्त्विति ।
शिवा आप: सन्त्विति च युग्मानेवोदकेन च ॥
सौमनस्यमस्त्विति च पुष्पदानमनन्तरम् ।
अक्षतञ्चारिष्टञ्चास्त्विति च अक्षतानपि दापयेत् ॥”
अथ प्रकृतब्राह्मणाचमनानन्तरम् । ब्राह्मणाग्रभूमिं सुसम्प्रोक्षितमस्त्विति प्रोक्षयेत् । शिवा आप इत्यादिना उदकेन हस्ते सिञ्चेत् ॥ सौमनस्यमस्त्वित्यनेन हस्ते पुष्पदानं कुर्य्यात् । इति श्राद्धतत्त्वम् ॥ सुमनसो भाव: सौमनस्यं तदत्र श्राद्धे दत्तं पुष्पं सौमनस्यं मनस: प्रसादजनकं भवतु । इति गुणविष्णु: ॥ (सन्तुष्टचित्तता । यथा, माघे ।७।२८।
“रथचरणवराङ्गनाकराञ्च-
वतिकरसम्पदुपात्तसौमनस्या: ॥”
प्रसन्नचित्तार्हे, त्रि । यथा, भागवते ।४।१२।४४।
“धन्यं यशस्यमायुष्यं पुण्यं स्वस्त्ययनं महत् ।
स्वर्ग्यं ध्रौव्यं सौमनस्यं प्रशस्यमघमर्षणम् ॥”)

सौमनस्यायनी, स्त्री, (अयति प्राप्नोत्यनयेति । अय+ल्युट् । ङीप् । सौमनस्यस्य प्रसन्नचित्ततायाअयनी ।) मालतीपुष्पकलिका । इति त्रिकाण्डशेष: ॥ (यथा ।“सुमना: सौमनस्यायिनीहरिद्रादारुहरिद्राक्षीरपुष्पवामहासहाक्षुद्रसहाकषायेषु ।” इति चरके विमानस्थाने अष्टमेऽध्याये ॥)

सौमिकी, स्त्री, (सोमस्तद्दीक्षा प्रयोजनमस्या: । ठक् ।) दीक्षणीयेष्टि: । इति हेमचन्द्र: ॥

सौमित्र:, पुं, (सुमित्रायां भव: । सुमित्रा+अण् ।) लक्ष्मण: । इति शब्दरत्नावली ॥

सौमित्रि:, पुं, (सुमित्राया अपत्यं पुमानिति । बाह्वादित्वात् इञ् ।) लक्ष्मण: । इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, रामगीतायाम् । २ ।
“सौमित्रिणा पृष्ट उदारबुद्धिना
राम: कथा: प्राह पुरातनी: शुभा: ॥”)

सौमेधिक:, पुं, (सुमेधया निर्वृत्त: । सुमेधा+ठक् ।) सिद्ध: । इति हारावली ॥ शोभनमेधासम्बन्धिनि, त्रि ॥

सौमेरुकं, क्ली, सुवर्णम् । इति राजनिर्घण्ट: ॥ सुमेरुसम्बन्धिनि, त्रि ॥ (क्वचित् सौमेरवमिति पाठो दृश्यते ॥)

सौम्य:, पुं, (सोमस्यापत्यं पुमान् । सोम+ष्यञ् ।) बुधग्रह: । इत्यमर: । १ । ३ । २६ ॥ (यथा, बृहत्संहितायाम् । ५ । ६० ।
“पश्यन् ग्रस्तं सौम्यो घृतमधुतैलक्षयाय
राज्ञाञ्च ॥”
सोम इव सौम्य: । तत: प्रज्ञादण् ।) विप्र: । इति शब्दमाला ॥ उडुम्बरवृक्ष: । इति राजनिर्घण्ट: ॥ वृषकर्कटकन्यावृश्चिकमकरमीनराशय: । यथा,—
“क्रूरोऽथ सौम्य: पुरुषोऽङ्गना च
ओजोऽथ युग्मं विषम: समश्च ।
चरस्थिरद्व्यात्मकनामधेया
मेषादयोऽमी क्रमश: प्रदिष्टा: ॥”
इति ज्योतिस्तत्त्वम् ॥
भूखण्डविशेष: । यथा,—
“गन्धर्व्वो वरुण: सौम्यो वहस: कङ्क एव च ।
कुमुदश्च कसेरुश्च नागो भट्टारकस्तथा ॥
चन्द्रेन्द्रमलयाश्चैव वाङ्गकगभस्तिमान् ।
ताम्राकुश्च कुमारी च तत्र द्वीपदशाष्टभि: ॥”
इति शब्दमाला ॥
सौम्यकृच्छ्रव्रतम् । यथा,—
“प्राजापत्य: सान्तपन: शिशुकृच्छ्र: पराकक: ।
अतिकृच्छ्र: पर्णकृच्छ्र: सौम्य: कृच्छ्रातिकृच्छ्रक: ॥”
सौम्य: सौम्यकृच्छ्र: । इति प्रायश्चित्ततत्त्वम् ॥
(पितृगणविशेष: । यथा, मनु: । ३ । १९९ ।
“अग्निदग्धानग्निदग्धान् काव्यान् बर्हिषदस्तथा ।
अग्निष्वात्तांश्च सौम्यांश्च विप्राणामेव निर्द्दिशेत् ॥”)

सौम्य:, त्रि, (सोमो देवतास्य । सोम+“सोमात् ट्यण् ।” ४ । २ । ३० । इति ट्यण् ।) सोमदैवत: । अनुग्र: । मनोज्ञ: । इति मेदिनी ॥ (यथा, रघु: । १२ । ३६ ।
“संरम्भं मैथिलीहास: क्षणसौम्यां निनाय
ताम् ।
निवातस्तिमितां वेलां चन्द्रोदय इवोदधे: ॥”
भक्त: । यथा, भागवते । २ । ४ । २३ ।
“नमस्तस्मै भगवते वासुदेवाय वेधसे ।
पपुर्ज्ञानमयं सौम्या यन्मुखाम्बुरुहासवम् ॥”)
भास्वर: । इति धरणि: ॥

सौम्यकृच्छ्र:, पुं, (सौम्य: अनुग्र: कृच्छ्र: ।) व्रतविशेष: । यथा, गारुड़े । १०५ । ६८ ।
“पिण्याकाचामतक्राम्बुशक्तूनां प्रतिवासरम् ।
एकैकमुपवासश्च कृच्छ्र: सौम्योऽयमुच्यते ॥”

सौम्यगन्धी, स्त्री, (सौम्यो गन्धो यस्या: । ङीष् ।) शतपत्री । इति राजनिर्घण्ट: ॥

सौम्यग्रह:, पुं, (सौम्यो ग्रह: ।) शुभग्रह: । स च पूर्णचन्द्र: पापग्रहायुक्तबुध: बृहस्पति: शुक्रश्च । यथा, ज्योतिस्तत्त्वे ।
“अक्षीणेन्द्वर्कभौमारा: पापा: सौम्यास्तथापरे ।
पापयुक्तो बुध: पापो राहुकेतू च पापदौ ॥”

सौम्यधातु:, स्त्री, (सौम्यो धातु: ।) कफ: । इति राजनिर्घण्ट: ॥

सौम्या, स्त्री, (सोम इव सौम्य: । शाखादित्वात् य: । तत: प्रज्ञाद्यण् । स्त्रियां टाप् ।) दुर्गा । यथा,—
“सौम्या सौम्यतराशेषसौम्येभ्यस्त्वतिसुन्दरी ॥”
इति देवीमाहात्म्यम् ॥

महेन्द्रवारुणी। रुद्रजटा। महाज्योतिष्मती। मण्डूकपर्णी। गुञ्जा। शालपर्णी। ब्राह्मी। शटी। मल्लिका। इति राजनिर्घण्टः॥

सौम्याः, स्त्री, (सोमो देवता यासाम्। सोम + अण्।) इल्वलाः। तास्तु मृगशिरोनक्षत्र-शिरःस्थाः पञ्च ताराः। इति विश्वहेमचन्द्रौ॥

सौरः, पुं, (सूरस्य सूर्य्यस्यायमिति। सूर + अण्।) शनैश्चरः। इत्यमरटीकायां भरतः। १। ३। २६॥ (यथा, बृहत्संहितायाम्। १०। ४।
"बहुलाख्ये पीड्यन्ते सौरेऽश्मुपजीविन-श्चलूपाश्च॥")
तुम्बुरुवृक्षः। इति राजनिर्घण्टः॥ सूर्य्यैक-राशिभोगावच्छिन्नमासादिः। यथा, विष्णु-धर्म्मोत्तरम्।
"आदित्यराशिभोगेन सौरो मासः प्रकीर्त्तितः॥"
विवाहादिकर्म्मसु सौरमासस्योल्लेखः कर्त्तव्यः। यथा, पितामहः।
"आब्दिके पितृकृत्ये च मासश्चान्द्रमसः स्मृतः।
विवाहादौ स्मृतः सौरो यज्ञादौ सावनो मतः॥"
विवाहादावित्यत्रादिपदं यात्राग्रहचारपरम्। यत्कर्म्म सूर्य्यभोग्यराश्युल्लेखेन विहितं यच्च विशेष्योदगयनादिविच्छिन्नं तत्परञ्च। अयनस्य सौरमासघटितत्वेन वक्ष्यमाणत्वात्। तच्च चूड़ोप-नयनादि। विष्णुधर्म्मोत्तरम्।
"अध्ययनञ्च ग्रहचारकर्म्म
सौरेण मानेन सदाध्यवस्येत्।
सत्रायुपास्त्यान्यथ सावनेन
लोकश्च यत् स्याद्व्यवहारकर्म्म॥"
अध्ययनं अध्वगमनं यात्रेति यावत्। इति ज्योतिस्तत्त्वम्॥ *॥ सूर्य्योपासकः। (यथा, महानिर्व्वाणतन्त्रे। ३। १४२।
"शाक्ताः शैवा वैष्णवाश्च सौरा गाणपतास्तथा।
विप्रा विप्रेतराश्चैव सर्व्वेऽप्यत्राधिकारिणः॥")
गुरुविशेषः। यथा,—
"गौड़ाः शाल्वोद्भवाः सौरा मागधाः केरला-स्तथा।
कोशलाश्च दशार्णाश्च गुरवः सप्त मध्यमाः॥"
इति तन्त्रसारे १ परिच्छेदः॥
(उपपुराणविशेषे, क्ली। यथा, देवीभागवते। १। ३। १५।
"सौरं पराशरप्रोक्तमादित्यञ्चातिविस्तरम्॥"
सूर्य्यसम्बन्धिनि, त्रि। यथा,—
"शैवानि गाणपत्यानि शाक्तानि वैष्णवानि च।
साधनानि च सौराणि चान्यानि यानि कानि च।
श्रुतानि तानि देवेश त्वद्वक्त्रान्निःसृतानि च॥"
इति तन्त्रसारे ३ परिच्छेदः॥ *॥
यथा च हरिवंशे भविष्यपर्व्वणि। ४६। ५२।
"यदा सौरं वपुरिति स्मर्त्ता त्वां जगतीपते।
तदा तद्भावनायोगात् सूर्य्य एव विराजसे॥")

सौरजः, पुं, (सौरात् तेजसः जायते इति। जन + डः।) तुम्बुरुवृक्षः। इति राजनिर्घण्टः॥ सौरजाते, त्रि॥

सौरदिवसः, पुं, (सौरो दिवसः।) सूर्य्यसम्बन्धि-दिनम्। तत्तु रविभुक्तांशाधिकषष्टिदण्डैर्भवति। यथा, "सावनं दण्डाः षष्टिरहः स्वस्वसगुणां-शाढ्यास्तैर्भवेत॥" इति मलमासतत्त्वम्॥
"त्रिंशता सौरदिवसैः सावनः परिकीर्त्तितः॥"
इति शब्दरत्नावली॥

सौरनक्तं, क्ली, व्रतविशेषः। यथा,—
"हस्तयुक्ते अर्कदिने सौरनक्तं समाचरेत्।
स्नात्वा चार्कं समभ्यर्च्य नीरोगी चिरजीवति॥
आत्मनो द्विगुणच्छायं यदा सन्तिष्ठते रविः।
सौरनक्तं विजानीयात् नक्तञ्च निशिभोजनम्॥"
इति नारसिंहे ६४ अध्यायः॥

सौरभं, क्ली, (सौरभमस्यास्तीति। अच्।) कुङ्कुमम्। इति त्रिकाण्डशेषः॥ बोलम्। इति राजनिर्घण्टः॥ सद्गन्धः। सुरभेर्भाव इत्यर्थे ष्य(अण्)प्रत्ययेन निष्पन्नम्॥ (यथा, नैषधे। २। ६२।
"समभेकमदेर्यशायशो
तुलयन् सौरभलोभनिश्चलम्।
पथिता न जनारवैरवै-
रपि गुञ्जन्तमलिं मलीमसम्॥"
तद्विशिष्टे, त्रि। यथा, भागवते। ८। २। ८।
"सरित्सरोभिरच्छोदैः पुलिनैर्मणिवालुकैः।
देवस्त्रीमज्जनामोदसौरभाम्बुनिलैर्युतः॥")

सौरभेयः, पुं, (सुरभेरपत्यमिति। सुरभि + ढक्।) वृषः। इत्यमरः। २। ९। ६०॥ (यथा, भाग-वते। १। १७। ९।
"मा सौरभेयात्र शुचो व्येतु ते वृषलाद्भयम्॥")
सुरभिसम्बन्धिनि, त्रि॥

सौरभेयी, स्त्री, (सुरभेरपत्यं स्त्री। सुरभि + ढक्। ङीप्।) गौः। इत्यमरः। २। ९। ६६॥ (यथा, रघुः। २। ३।
"निवर्त्य राजा दयितां दयालु-
स्तां सौरभेयीं सुरभिर्यशोभिः।
पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां
जुगोप गोरूपधरामिवोर्व्वीम्॥"
अप्सरोविशेषः। यथा, महाभारते। २। १०। ११।
"विश्वाची सहजन्या च प्रम्लोचा उर्व्वशी इरा।
वर्गा च सौरभेयी च समीची बुद्बुदा लता॥")

सौरभ्यं, क्ली, (सुरभेर्भावः। सुरभि + ष्यञ्।) मनोज्ञत्वम्। सौगन्ध्यम्। (यथा, आर्य्यासप्त-शत्याम्। २१३।
"गुणविहिता सखि तिष्ठसि तथैव देहेन किन्तु हृदयं ते।
हृतमसुना मालायाः समीरणेनेव सौरभ्यम्॥")
गुणगौरवम्। इति मेदिनी॥

सौरभ्यः, पुं, (सौरभ्यं गुणगौरवमस्यास्तीति। अच्।) कुबेरः। इति शब्दरत्नावली॥

सौरमासः, पुं, (सौरो मासः।) सूर्य्यैकराशि-भोगावच्छिन्नकालः। यथा, ब्रह्मसिद्धान्ते।
"एकराशौ रविर्यावत् कालं मासः स भास्करः॥"
इति मलमासतत्त्वम्॥
अपि च।
"अथ षड्भिः सौरमासैरयनं परिकीर्त्तितम्॥"
इति शब्दरत्नावली॥
अस्यान्यद्विवरणं सौरशब्दे द्रष्टव्यम्॥

सौरसंवत्सरः, पुं, (सौरः संवत्सरः।) सूर्य्यस्य द्वादशराशिभोगावच्छिन्नकालः। यथा,—
"सौरसंवत्सरस्यान्ते मानेन शशिजेन तु।
एकादशातिरिच्यन्ते दिनानि भृगुनन्दन॥"
अपि च।
"सौरेणाब्दस्तु मानेन यदा भवति भार्गव।
सावनेन तथा मासि दिनषट्कं प्रपूर्य्यते॥"
इति मलमासतत्त्वम्॥

सौरसेयः, पुं, स्कन्दः। इति शब्दमाला॥ सुर-साया अपत्यञ्च॥ (सुरसमर्हतीति। सुरस + "छेदादिभ्यो नित्यम्।" इति? "वृक्षणकटजिति।" ४। २। ८०। इति सख्यादित्वात् ढञ्। सुरसार्हे, त्रि॥)

सौरसैन्धवः, त्रि, (सुरसिन्धोरयम्। सुरसिन्धु + अण्।) गङ्गासम्बन्धीयः। स च भीष्मादिः। (सौरः सूर्य्यसम्बन्धी सैन्धवः घोटकः।) सूर्य्य-घोटके, पुं॥

सौराष्ट्रः, पुं, (सुराष्ट्र एव। अण्।) देशविशेषः। इति जटाधरः॥ सुरट् इति भाषा॥ कुन्दुरुकः। इति राजनिर्घण्टः॥ कांस्ये, क्ली। इति केचित्॥

सौराष्ट्रकं, क्ली, (सुराष्ट्रे भवम्। अण्। ततः कन्।) पञ्चलौहम्। इति हेमचन्द्रः॥

सौराष्ट्रा, स्त्री, (सुराष्ट्रे भवा। अण्।) तुवरी। इति राजनिर्घण्टः॥

सौराष्ट्रिकं, क्ली, (सुराष्ट्रे देशे भवम्। अध्या-त्मादित्वात् ठञ्।) विषभेदः। इति शब्दरत्ना-वली भरतश्च॥ (अस्य पर्य्यायो लक्षणञ्च। यथा,—
"विषन्तु गरलं श्वेड़स्तस्य भेदानुदाहरे।
वत्सनाभः स हारिद्रः सक्तुकश्च प्रदीपनः॥
सौराष्ट्रिकः शृङ्गिकश्च कालकूटस्तथैव च।
हालाहलो ब्रह्मपुत्त्रो विषभेदा अमी नव॥"
"सुराष्ट्रविषयेष्वयः स्यात् स सौराष्ट्रिक उच्यते॥"
इति भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे प्रथमे भागे॥)
सौराष्ट्रदेशसम्बन्धिनि, त्रि॥

सौराष्ट्री, स्त्री, (सुराष्ट्रे भवा। अण्। ङीष्।) सौराष्ट्रदेशीयसुगन्धिमृत्तिका। तत्पर्य्यायः। पार्व्वती २ काशी ३ मृत्स्ना ४ काच्ची ५ पर्पटी ६। इति रत्नमाला॥ कालिका ७ सती ८। इति हेमचन्द्रः॥ अस्या गुणाः। कफपित्तवीसर्पव्रणनाशित्वम्। इति राजवल्लभः॥ राजनिर्घण्टोक्तगुणपर्य्यायौ तुवरीशब्दे द्रष्टव्यौ॥

सौरिः, पुं, (सूरस्यापत्यमिति। सूर + इञ्।) शनिः। इत्यमरः। १। ३। २६॥ (यथा, बृहत्संहितायाम्। १०४। ४७।
"कृष्णद्रव्यैः सौरिः सौम्यो मणिरजततिलक-कुसुमैर्गुरुः परिपीतकैः॥")
असनवृक्षः। आदित्यभक्ता। इति राज-निर्घण्टः॥

सौरिकः, पुं, (सुरेभ्यो हितः । सुर+ठक् ।) स्वर्गः । इति शब्दरत्नावली ॥ (सुरया चरतीति । सुरा+ठक् ।) सुराविक्रयकर्त्ता । इति केचित् ॥ स्वार्थे कप्रत्यये शनैश्चरः ॥ (सुराया अयमिति । सुरासम्बन्धिनि, त्रि । यथा, मनुः । ८ । १५९ ।
"प्रातिभाव्यं वृथादानमाक्षिकं सौरिकञ्च यत् ।
दण्डशुल्कावशेषञ्च न पुत्त्रो दातुमर्हति ॥")

सौरिरत्नं, क्ली, (सौरेः शनैश्चरस्य रत्नम् ।) नीलमणिः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सौरी, स्त्री, (सूर्य्य+अण् । ङीप् । "सूर्य्यतिष्येति ।" ६ । ४ । १४९ । इति यलोपः ।) सूर्य्यस्यापत्यं स्त्री । इति मुग्धबोधव्याकरणम् ॥

सौरीयं, त्रि, (सूर्य्य+छः । "सूर्य्यागस्त्ययोश्छे च ङ्याञ्च ।" ६ । ४ । १४९ । इत्यस्य वार्त्तिकोक्त्या यलोपः ।) सूर्य्याय हितम् । इति मुग्धबोधव्याकरणम् ॥ सौर्य्ये भवः । यथा । सूर्य्यस्येदं इत्यर्थे ष्णः सौर्य्यं तेजः पुनः सौर्य्ये भव इत्यर्थे ईयप्रत्यये अनेन यलोपे सौरीयः । इति मुग्धबोधटीकायां दुर्गादासः ॥

सौरेयः, } सौरेयकः, } पुं, शुक्लझिण्टीवृक्षः । यथा,—
"सौरेयकः श्वेतपुष्पः सौरेयः कटसारिका ।
सहाचरः सहचरः स च भिण्ट्यपि कथ्यते ॥
कुरण्टकोऽत्र पीते स्याद्रक्तः कुरवकः स्मृतः ।
नीलो बाणो द्वयोर्दासो दासी आर्त्तगलश्च सः ॥
सौरेयः कुष्ठवातास्रकफकण्डूविषापहः ।
तिक्तोष्णो मधुरो दन्त्यः सुस्निग्धः केशरञ्जनः ॥"
इति भावप्रकाशः ॥

सौल्विकः, पुं, (सुल्वं ताम्रपात्रादिनिर्म्माणं शिल्पमस्य । सुल्व+ठक् ।) ताम्रकुट्टकः । इत्यमरटीका ॥

सौवं, त्रि, स्वस्य इदम् । (स्व+अण् ।) स्वसम्बन्धि । स्वर्गे भवम् । इति मुग्धबोधव्याकरणम् ॥ (स्वःसम्बन्धि । तथा, वाजसनेयसंहितायाम् । १३ । ५७ ।
"तस्य श्रोत्रं सौवम् ॥"
"तस्य स्वर्गस्य सम्बन्धि श्रोत्रं कीदृशं सौवं स्वः इदं सौवं तस्येदमिति अण् । द्वारादित्वादैजागमः । अव्ययानां भमात्रे टिलोपः ।" इति तद्भाष्यम् ॥) शासनम् । इति केचित् ॥

सौवग्रामिकं, त्रि, (स्वग्रामे भवम् । स्वग्राम+ठक् ।) स्वग्रामभववस्तु । इति मुग्धबोधव्याकरणम् ॥

सौवरं, त्रि, (स्वरस्येदमिति । स्वर+अण् । "द्वारादीनाञ्च ।" ७।३।४ । इति ऐजागमः ।) स्वरसम्बन्धि । स्वरशब्दात् ष्णप्रत्यये उमागमेन निष्पन्नम् । इति मुग्धबोधव्याकरणम् ॥

सौवर्च्चलं, क्ली, (सुवर्च्चले देशे भवम् । सुवर्च्चल+अण् ।) सुवर्च्चलदेशभवलवणम् । सचलवण इति भाषा । तत्पर्य्यायः । अक्षम् २ रुचकम् ३ । इत्यमरः । २ । ९ । ४२ ॥ कृष्णलवणम् ४ । इति रत्नमाला ॥ तिलकम् ५ हृद्यगन्धकम् ६ रुच्यम् ७ कौन्नविकम् ८ । इति राजनिर्घण्टः ॥ अस्य गुणाः । रुचिकारित्वम् । उष्णवीर्य्यत्वम् । निर्म्मलत्वम् । कटुत्वम् । गुल्मशूलविबन्धनाशित्वम् । किञ्चित्पित्तकरत्वम् । लघुत्वञ्च । इति राजवल्लभः ॥ अपि च ।
"सौवर्च्चलं लघु क्षारं कटूष्णं गुल्मशूलनुत् ।
ऊर्द्ध्ववातामशूलार्त्तिविबन्धारोचकान् जयेत् ॥"
इति राजनिर्घण्टः ॥
अन्यच्च ।
"सौवर्च्चलं स्याद्रुचकमक्षं पाक्यञ्च तन्मतम् ।
रुचकं रोचनं भेदि दीपनं पाचनं परम् ॥
सस्नेहवातशूलातिपित्तलं विशदं लघु ।
उद्गारशुद्धिदं सूक्ष्मं विबन्धानाहशूलहृत् ॥"
इति भावप्रकाशः ॥
सर्जिकाक्षारः । इत्यमरः । २ । ९ । १०९ ॥
सुवर्च्चलासम्बन्धिनि, त्रि ॥

सौवर्णं, त्रि, (सुवर्णस्येदम् । सुवर्ण+अण् ।) सुवर्णसम्बन्धि । कर्षमितहेमसम्बन्धि । यथा, मत्स्यपुराणम् ।
"सौवर्णी राजती वापि ताम्री रत्नमयी तथा ।"
इत्युपक्रम्य ॥
"शुभदारुमयी वापि देवतार्च्चा प्रशस्यते ॥"
इति देवप्रतिष्ठातत्त्वम् ॥

सौवर्णभेदिनी, स्त्री, (सौवर्णमिव वर्णं भिनत्ति प्रकाशयतीति । भिद्+णिनिः । ङीप् ।) प्रियङ्गुः । इति शब्दमाला ॥

सौवस्तिकः, पुं, (स्वस्ति सत्करणे साधुः । स्वस्ति+ठक् ।) पुरोहितः । इति हेमचन्द्रः ॥ स्वस्तिसम्बन्धिनि, त्रि । इति व्याकरणम् ॥

सौवास्तवः, त्रि, (सुवास्तोरिदम् । सुवास्तु+"सुवास्त्वादिभ्योऽण् ।" ४ । २ । ७७ । इत्यण् ।) सुन्दरवास्तुसम्बन्धी । सुशब्दपूर्व्वकवास्तुशब्दात् ष्णप्रत्ययेन निष्पन्नः ॥ (सुवास्तोरदूरभवः । इति काशिका ॥)

सौविदः, पुं, (सुष्ठु वेत्तीति । सु+विद्+कः । ततः प्रज्ञाद्यण् ।) अन्तःपुररक्षकः । इत्यमरः । २ । ८ । ८ ॥

सौविदल्लः, पुं, (सुष्ठु विदन्तं विज्ञमपि लाति वशवर्त्तिनं करोतीति । सुविदत्+ला+कः । ततः स्वार्थे अण् ।) अन्तःपुररक्षकः । (यथा, कथासरित्सागरे । ३९ । २८ ।
"तदन्तस्य न लाभोऽस्ति सौविदल्लाभिरक्षिते ।
अन्तःपुरेऽत्र पुंसो यदतोऽसौ तेन संगता ॥")
तत्पर्य्यायः । कञ्चुकी २ स्थापत्यः ३ सौविदः ४ । इत्यमरः । २ । ८ । ८ ॥ स्थपतिः ५ सुविदः ६ । इति तट्टीका ॥ चत्वारि महल्लरक्षके । बहिः सञ्चरन्तीनां पुरस्त्रीणां प्रेक्षकपुरुषान्तरवारणाय राज्ञा स्त्र्यागारे ये वेत्रधरा नियुक्तास्ते वहिर्महल्लकाः सौविदल्लादिशब्दवाच्याः । शोभनं विदन्ति सुविदः पण्डिताः क्विप् तान् अतति सत्येन गच्छति, सुविदत् भूपालः तं लाति सुविदल्लं अन्तःपुरं ष्वनजनादिति डः वे सत्तोरिति लः तत्र नियुक्ता इति ढ्ये कादिति ष्णे सौविदल्लाः । इति भरतः ॥

सौविदल्लकः, पुं, (सौविदल्ल एव । स्वार्थे कन् ।) सौविदल्लः । इति शब्दरत्नावली ॥

सौवीरं, क्ली, बदरम् । काञ्जिकम् । स्रोतोऽञ्जनम् । इत्यमरः । २ । ४ । ३७ ; २ । ९ । ३९ ; २ । ९ । १०० ॥ एतेषां विशेषा यथा,—
"————सौवीरं बदरं महत् ।"
इति रत्नमाला ॥
"सौवीरन्तु यवैरामैः पक्वैर्वा निस्तुषैः कृतम् ।
गोधूमैरपि सौवीरमाचार्य्याः केचिदूचिरे ॥
सौवीरन्तु ग्रहण्यर्शःकफघ्नं भेदि दीपनम् ।
उदावर्त्ताङ्गमर्दास्थिशूलानाहेषु शस्यते ॥"
इति भावप्रकाशः ॥
सौवीराञ्जनम् । यथा,—
"सुवीरकं पार्व्वतेयं सौवीरं नीलमञ्जनम् ।"
इति रत्नमाला ॥

सौवीरः, पुं, (सुष्ठु वीरा यत्र । ततः स्वार्थे अण् ।) देशविशेषः । इति मेदिनी ॥ (यथा, हरिवंशे । ९० । १९ ।
"सौवीरराजः शैव्यश्च माद्राज्ञ बलिनां वरः ॥")

सौवीरकं, क्ली, (सौवीरमेव । स्वार्थे कन् ।) काञ्जिकविशेषः । तत्पर्य्यायः । सुवीराम्लम् २ गोधूमसम्भवम् ३ यवाम्लजम् ४ यवोत्थम् ५ तुषोत्थम् ६ तुषोदकम् ७ । अस्य गुणाः । अम्लरसत्वम् । केश्यत्वम् । मस्तकदोषजराशैथिल्यनाशित्वम् । बलकारित्वम् । सन्तर्पणत्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥

सौवीरकः, पुं, (सौवीर+संज्ञायां कन् ।) बदरवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

सौवीरसारं, क्ली, स्रोतोऽञ्जनम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

सौवीराञ्जनं, क्ली, (सौवीरनामकमञ्जनम् ।) अञ्जनप्रभेदः । तत्पर्य्यायः । अञ्जनम् २ यामुनम् ३ कृष्णम् ४ नादेयम् ५ मेचकम् ६ स्रोतोजम् ७ दृगञ्जनम् ८ नीलम् ९ सुवीरजम् १० नीलाञ्जनम् ११ चक्षुष्यम् १२ वारिसम्भवम् १३ कपोतकम् १४ कापोतम् १५ । अस्य गुणाः । शीतलत्वम् । कटुत्वम् । तिक्तत्वम् । कषायत्वम् । चक्षुष्यत्वम् । कफवातविषनाशित्वम् । रसायनत्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥

सौष्ठवं, क्ली, (सुष्ठु भावः । सुष्ठु+"प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ् ।" ५ । १ । १२९ । इत्यञ् ।) आतिशय्यम् । (यथा, महाभारते । १ । १३४ । १४ ।
"तुलेष्वस्त्रप्रयोगेषु लाघवे सौष्ठवेषु च ।
सर्व्वेषामेव शिष्याणां बभूवाभ्यधिकोऽर्ज्जुनः ॥")
प्रशंसनत्वम् । इति सुष्ठुशब्दार्थदर्शनात् ॥ (यथा, हरिवंशे । ४० । ३४ ।
"आयुःसैन्यास्पपयो लक्षयं रूपसौष्ठवम् ॥")
नाटकाङ्गविशेषः । इति केचित् ॥

सौहार्द्दं, क्ली, (सुहृदः सुहृदयस्य वा भावः कर्म्म वा । सुहृत् सुहृदय वा + "हायनान्तयुवादिभ्योऽण् ।" ५ । १ । १३० । इत्यण् । हृदयस्य हृदादेशः । "हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्व्वपदस्य च ।" ७ । ३ । १९ । इति उभयपदवृद्धिः ।) सुहृदो भावः । तत्पर्य्यायः । सख्यम् २ सौहृदम् ३ साप्तपदीनम् ४ मैत्री ५ अजर्य्यम् ६ सङ्गतम् ७ । इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, महाभारते । १ । ७७ । ११ ।
"सौहार्द्दे चानुरागे च वेत्थ मे भक्तिमुत्तमाम् ।
न मामर्हसि धर्म्मज्ञ त्यक्तुं भक्तामनागसम् ॥")

सौहार्द्दः, पुं, (सुहृदोऽपत्यमिति । सुहृद् + अण् ।) सुहृत्पुत्त्रः । इति केचित् ॥

सौहार्द्द्यं, क्ली, (सुहृदयस्य भावः । सुहृदय + ष्यञ् । "वा शोकष्यञ्रोगेषु ।" ६ । ३ । ५१ । इति हृदयस्य हृदादेशः ।) सौहार्द्दम् । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥

सौहित्यं, क्ली, (सुहितस्य भावः कर्म्म वा । सुहित + "पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् ।" ५ । १ । १२८ । इति यक् ।) तृप्तिः । इत्यमरः । ३ । ६ । ५६ ॥ (यथा, महाभारते । १२ । २४४ । १३ ।
"अहेरिव गणाद्भीतः सौहित्यान्नरकादिव ।
कुणपादिव च स्त्रीभ्यस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥")

सौहृदं, क्ली, (सुहृदः कर्म्म भावो वा । सुहृत् + अण् ।) सख्यम् । सौहार्द्दम् । इति हेमचन्द्रः ॥ तस्य प्राशस्त्यं यथा,—
"तद्भुज्यते यद्द्विजभुक्तशेषं
स बुद्धिमान् यो न करोति पापम् ।
तत् सौहृदं यत् क्रियते परोक्षे
दम्भैर्विना यः क्रियते स धर्म्मः ॥"
इति गारुडे ११५ अध्यायः ॥

स्कद, इ ङ आप्लवे । उद्धृतौ । उत्प्लुत्य गत्याम् । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-आत्म०-अक०-सक० च-सेट् ।) आद्यस्वरी । इ, स्कन्द्यते । ङ, स्कन्दते चिस्कन्दिषते । पञ्चमस्वरीति धातुप्रदीपरामौ । स्कन्दते स्कुन्दते चापि षड़ाप्लवनवाचिनः । इति भट्टमल्लोऽपि । चुस्कुन्दिषते । इति दुर्गादासः ॥

स्कन्द, इर् औ शोषणे । गत्याम् । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-अनिट् ।) इर्, अस्कदत् । अस्कान्त्सीत् । औ, स्कन्ता चस्कन्द । इति दुर्गादासः ॥

स्कन्द, त् क समाहृतौ । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (अदन्तचुरा०-पर०-सक०-सेट् ।) दन्त्यवर्गतृतीयोपधोऽयम् । तच्चतुर्थोपध इति केचित् । स्कन्दयति स्कन्दापयति अचस्कन्दत् । इति दुर्गादासः ॥

स्कन्दः, पुं, (स्कन्दते उत्प्लुत्य गच्छति स्कन्दति शोषयति दैत्यान् वा । स्कन्द + अच् ।) कार्त्तिकेयः । इत्यमरः । १ । १ । ४२ ॥ तस्य उत्पत्तिषड़ाननपञ्चनामचतुर्म्मूर्त्त्यभिषेकगणवाहनास्त्रादि यथा,—

नारद उवाच ।
"किमर्थमेषकः क्रौञ्चो भिन्नः स्कन्देन सुव्रत ।
एतन्मे विस्तराद्ब्रह्मन् कथयस्वामितद्युते ॥
पुलस्त्य उवाच ।
शृणु ते कथयिष्यामि कथां पुण्यां पुरातनीम् ।
यशोवृद्धिं कुमारस्य कार्त्तिकेयस्य नारद ॥
यत् पीतं वीतिहोत्रेण वीर्य्यं त्यक्तं पिनाकिनः ।
तेनाक्रान्तोऽभवद्ब्रह्मन् मन्दतेजा हुताशनः ॥
ततो जगाम देवानां सकाशममितद्युतिः ।
दैवतैः प्रहितस्तूर्णं ब्रह्मलोकं जगाम ह ॥
स गच्छन् कुटिलां देवीं ददर्श पथि पावकः ।
तां दृष्ट्वा प्राह चाधत्स्व तेजो यन्मम दुर्द्धरम् ॥
महेश्वरेण सन्त्यक्तं निर्द्दहेत् भुवनान्यपि ।
तद्धारयाख कुटिले पुत्रो धन्यो भविष्यति ॥
इत्युक्ता सा कुटिला श्रुत्वा सुतमनुत्तमम् ।
शम्भुतमार्म जग्राह तेज शैवं महापगा ॥
ततश्चधारयद्देवी शार्व्वं तेजः स्वयूथपत् ।
हुताशनोऽपि च भयात् यत्र तत्र परिभ्रमन् ॥
पञ्चवर्षसहस्राणि ह्यध्यास्ते हव्यभुक् ततः ।
मांसमस्थीनि रक्तानि मेदोमज्जस्तथा ॥
रोमाणि चाक्षिकेशाद्याः सर्व्वे जाता हिरण्मयाः ।
हिरण्यरेता लोकेऽस्मिन् विख्यातः पावकस्तदा ॥
पञ्चवर्षसहस्राणि कुटिला ज्वलनोपमम् ।
धारयन्ती तदा गर्भं ब्रह्मणः स्थानमागता ॥
पितामहस्तां निःशाङ्गीं सन्तप्यन्तीं महापगाम् ।
दृष्ट्वा पप्रच्छ केनायं तव गर्भः समाहितः ॥
सा चाह शाङ्करं तेजः पावकेन समर्पितम् ।
अप्यशक्तेन तेनाद्य निक्षिप्तं मयि सत्तम ॥
पञ्चवर्षसहस्राणि धारयन्त्याः पितामह ।
अन्नपानादिकमपि न मेऽपच्यत कर्हिचित् ॥
तच्छ्रुत्वा भगवानाह गच्छ त्वमुदयं गिरिम् ।
तत्रास्ति योजनशतं विस्तीर्णं सुरसेवितम् ॥
तमनुप्राप्य सुश्रोणि विस्तीर्णे गिरिसानुनि ।
दशवर्षसहस्रान्ते ततो बालो भविष्यति ॥
ब्रह्मणो वचनं श्रुत्वा कुटिला गिरिमागता ।
आगत्य गर्भं तत्याज सुखेनैवाग्निनन्दिनी ॥
सा तु संत्यज्य तं बालं ब्रह्माणं सहसागमत् ।
आपोमयी मन्त्रवशात् संयता कुटिला सती ॥
तेजसा चापि शार्व्वेण रौक्मः शरवणोऽभवत् ।
तन्निवासरतश्चाग्नेः पादपा रुक्मपक्षिणः ॥
ततो दशसु पूर्णेषु शरद्शतेष्वथ ।
बालार्कदीप्तिः संजातो बालः कमललोचनः ॥
उत्तानशायी भगवान् दिव्ये शरवणे स्थितः ।
सुखेऽङ्गुष्ठं समाक्षिप्य रुरोद घनराड़िव ॥
एतस्मिन्नन्तरे देव्यः कृत्तिकाः षट् सुतेजसः ।
ददृशुः स्वेच्छया यान्त्यो बालं शरवणे स्थितम् ॥
कृपायुक्ताः समाजग्मुर्यत्र स्कन्दः स्थितोऽभवत् ।
अहं पूर्व्वमहं पूर्व्वं तस्मै स्तन्यं हि चुक्रुशुः ॥
विवदन्तीः स ता दृष्ट्वा षण्मुखः समजायत ।
अबीभरंस्तकाः सर्व्वाः शिशुं स्नेहाच्च कृत्तिकाः ॥
ध्रियमाणः सतीभिस्तु बालो वृद्धिमगात्क्षणे ।
कार्त्तिकेय इति ख्यातो जातः स बलिनांवरः ॥
एतस्मिन्नन्तरे ब्रह्मन् पावकं प्राह पद्मभूः ।
कियत्प्रमाणः पुत्त्रस्ते वर्त्तते साम्प्रतं गुहः ॥
स तद्वचनमाकर्ण्य अजानन् तं हरात्मजम् ।
प्रोवाच पुत्त्रं देवेश न वेद्मि कतमो गुहः ॥
तं प्राह भगवान् युक्तं तेजः पीतं पुरा त्वया ।
त्रैयम्बकं त्रिलोकेशं जातः शरवणे शिशुः ॥
श्रुत्वा पितामहवचः पावकस्त्वरितोऽभ्यगात् ।
उदयाद्रिंच कुटिला तं ददर्श हिते रता ॥
पप्रच्छ कुटिला देवी क्व शीघ्रं ब्रजसे कवे ।
सोऽब्रवीत् पुत्रदृष्ट्यर्थं जातं शरवणे शिशुम् ॥
साब्रवीत्तनयो मह्यं ममेत्याह च पावकः ।
विवदन्तौ ददर्शाथ स्वेच्छाचारी जनार्द्दनः ॥
तौ पप्रच्छ किमर्थं वा विवादमिह चक्रतुः ।
तावूचतुः पुत्त्रहेतो रुद्रशुक्रोद्भवादिति ॥
तावुवाच हरिर्देवो गच्छतं त्रिपुरान्तकम् ।
स यद्वक्ष्यति देवेशः कुरुतं तदसंशयम् ॥
इत्युक्तौ वासुदेवेन कुटिलाग्नी हरान्तिकम् ।
समभ्येत्योचतुस्तथ्यं कस्य पुत्त्रो भवेद्गुहः ॥
रुद्रस्तद्वाक्यमाकर्ण्य हर्षनिर्भरमानसः ।
दिष्ट्या दिष्ट्येति गिरिजां प्रोद्भूतपुलकोऽब्रवीत् ॥
ततोऽम्बिका प्राह हरं देव गच्छाव तं शिशुम् ।
दृष्ट्वा समागमेद्यां स तस्याः पुत्त्रो भविष्यति ॥
वाढ़मित्येव भगवान् समुत्तस्थौ वृषध्वजः ।
सहोमया कुटिलया पावकेन च धीमता ॥
सम्प्राप्तास्ते शरवणं हरोमाकुटिलाग्नयः ।
ददृशुः शिशुकं तत्र कृत्तिकोत्सङ्गशायिनम् ॥
ततः स बालकस्तेषां मत्वा चिन्तितमादरात् ।
योगी चतुर्म्मूर्त्तिरभूत् षण्मुखः स शिशुः पितुः ॥
कुमारः शङ्करमगात् विशाखो गिरिजामगात् ।
कुटिलामगमच्छाखो नैगमेयोऽग्निमभ्यगात् ॥
ततः प्रीतियुतो रुद्रः उमा च कुटिला तथा ।
पावकश्चापि देवेशः परां मुदमवाप च ॥
ततोऽब्रुवन् कृत्तिकास्ताः षण्मुखः किं हरात्मजः ।
ता अब्रवीत् हरः प्रीत्या विवेश वचनं शुभे ॥
नाम्ना तु कार्त्तिकेयेति युष्माकञ्च भवत्वसौ ।
कुटिलायाः कुमारेति पुत्त्रोऽयं भविताव्ययः ॥
स्कन्द इत्येव विख्यातो गौरीपुत्त्रो भवत्वसौ ।
गुह इत्येव नाम्ना च ममासौ तनयः स्मृतः ॥
महासेन इति ख्यातो हुताशस्यास्तु पुत्त्रकः ।
सारस्वत इति ख्यातः सुतः शरवणस्य च ॥
एवमेष महायोगी पृथिव्यां ख्यातिमेष्यति ।
षड़ास्यत्वान्महाबाहुः षण्मुखो नाम गीयते ॥
इत्येवमुक्त्वा भगवान् शूलपाणिः पितामहम् ।
सस्मार दैवतैः सार्द्धं तेऽप्याजग्मुस्त्वरान्विताः ॥
प्रणिपत्य च कामारिं उमाञ्च गिरिनन्दिनीम् ।
दृष्ट्वा हुताशनं प्रीत्या कुटिलां कृत्तिकास्तथा ॥
ददृशुस्ते शिखमतुलं षण्मुखं सूर्य्यसन्निभम् ।
मुष्णन्तमिव चक्षूंषि देवानां स्वेन तेजसा ॥
कौतुकाभिहताः सर्व्वे एवमूचुः सुरोत्तमाः ।

देवकार्य्यं त्वया देव कृतं देवाग्निना तथा ॥
तदुत्तिष्ठ व्रजामोऽन्य तीर्थमोजसमव्ययम् ।
कुरुक्षेत्रे सरस्वत्यामभिषिञ्चाम षण्मुखम् ॥
सेनायाः पतिरत्वेन देवगन्धर्व्वकिन्नरः ।
महिषं घातयत्वेष तारकञ्च सुदारुणम् ॥
बाढ़मित्यब्रवीत् सर्व्वे समुत्तस्थुः सुरास्ततः ।
कुमारसहिता जग्मुः कुरुक्षेत्रं महाफलम् ॥
तत्रैव देवताः सेन्द्रा रुद्रब्रह्मजनार्द्दनाः ।
यत्नमस्याभिषेकार्थं चक्रुर्म्मुनिगणैः सह ॥
ततोऽम्बुना सप्तसमुद्रवाहिनी-
नदीजलेनापि महाफलेन ।
वनौषधीभिश्च सहस्रमूर्त्तिभि-
स्तदाभ्यषिञ्चन्त हराच्युताद्याः ॥
अभिषिञ्चति सेनान्यां कुमारे दिव्यरूपिणि ।
जगुर्गन्धर्व्वपतयो ननृतुश्चाप्सरोगणाः ॥
अभिषिक्तं कुमारञ्च गिरिपुत्त्री निरीक्ष्य हि ।
स्नेहात्तदुत्सङ्गगं स्कन्दं मूर्द्ध्न्याजिघ्रन्मुहुर्मुहुः ॥
जिघ्रती कार्त्तिकेयस्य अभिषेकार्द्रमाननम् ।
भात्यद्रिजा यथेन्द्रस्य देवमाताऽदितिः पुरा ॥
तदाभिषिक्तं तनयं दृष्ट्वा शर्व्वो मुदं ययौ ।
पावकः कृत्तिकाश्चैव कुटिला च यशस्विनी ॥
ततोऽभिषिक्तस्य हरः सैनापत्ये गुहस्य तु ।
प्रमथांश्चतुरः प्रादाच्छक्रतुल्यपराक्रमान् ॥
घण्टाकर्णं लोहिताक्षं नन्दिषेणं सुदारुणम् ।
चतुर्थं बलिनां मुख्यं ख्यातं कुमुदमालिनम् ॥
हरदत्तान् गणान् दृष्ट्वा देवाः स्कन्दस्य नारद ।
प्रददुः प्रमथानन्यान् सर्व्वे ब्रह्मपुरोगमाः ॥
स्थाणुं ब्रह्मा गणं प्रादाद्विष्णुः प्रादाद्गणत्रयम् ।
संक्रमं विक्रमञ्चैव तृतीयञ्च पराक्रमम् ॥
उत्क्षेपं पङ्कजं शक्रो रविर्दण्डकपिङ्गलौ ।
चन्द्रो मणिं वसुमणिं अश्विनौ नन्दिनन्दिनौ ॥
ज्योतिर्हुताशनः प्रादात् ज्वालाजिह्वं तथा-
परम् ।
कुन्दनिष्कुन्दकुमुदान् धाता चानुचरान् ददौ ॥
चक्रानुचक्रौ त्वष्टा च वेधातिस्थिरदुस्थिरौ ।
पाणित्यजं कालकञ्च प्रादात् पूषा महाबलौ ॥
स्वर्णमालं घनाकञ्च हिमवान् प्रमथोत्तमौ ।
प्रादाद्दीप्तोच्छ्रितो विन्ध्यस्त्वतिशृङ्गञ्च पार्षदम् ॥
सुवर्च्चसञ्च वरुणः प्रददौ चातिवर्च्चसम् ।
संग्रहं विग्रहञ्चैव नागाभिजयसंजये ॥
उन्मादं शङ्कुकर्णञ्च पुष्पदन्तं तथाम्बिका ।
दुर्गस्यातिबलञ्चैव श्रेष्ठौ चानुचरावुभौ ॥
परिघं चटकं भीमं दाहाभिदहनौ तथा ।
प्रददावंशुमाली च प्रमथान् षण्मुखाय हि ॥
यमः प्रमाथमुन्माथं कालसेनमजीमुखम् ।
तालपत्रं नाड़िजञ्च षड़ेवानुचरान् ददौ ॥
सुप्रभं शुभकर्म्माणं विघ्नौ दानवेश्वरौ ।
सुघ्नत्यं सन्नमित्रं सुप्रजञ्च द्विजोत्तम ॥
अत्रुणः शङ्कुपीठञ्च निकुम्भकुमुदावपि ।
एकाक्षं कुनटीचक्रः किचीटः कलशोदरः ॥"
किचीटस्थाने किरीटः इति च पाठः ।
"सूचीवक्त्रः कोकनदः प्रहासः सिद्धकोऽव्ययः ।

गणाः पञ्चदशैते वै यक्षैर्दत्ता गुहस्य च ॥
कालिन्द्याः कलकन्दश्च नर्म्मदाया रणोत्कटः ।
गोदावर्य्याः सिद्धपात्रस्तमसायास्तु पङ्कजः ॥
सहस्रबाहुः सीताया वञ्जुलायाः सितोदरः ।
मन्दाकिन्याः सुबाहुश्च विपाशायाः प्रियङ्करः ॥
ऐरावत्याश्चतुर्दंष्ट्रः षोड़शाक्षोऽपरस्तथा ।
मार्जारं कौशिकी प्रादात् क्रथक्रौञ्चौ च
गोमती ॥
बाहुदा शतशीर्षञ्च वाहा गोनन्दनन्दिनौ ।
भीमं भीमरथी प्रादात् दुर्गारिं सरयूर्ददौ ॥
अष्टबाहुं ददौ काशी सुबाहुमपि गण्डकी ।
महानदी चित्रदेवं चित्रा चित्ररथं ददौ ॥
कुहुः कुवलयं प्रादात् मधुवर्णं मधूदका ।
जम्बूकं धूतपापा च वेणा पेटाननं ददौ ॥
स्तुता प्रथमपर्णञ्च रेवा सागरवेगिनम् ।
प्रभावा पाशजं प्रादात् काञ्चनी कनकप्रभम् ॥
धूतपत्रञ्च विमला चारुवक्त्रं मनोहरा ॥
अपापा च महाराममं वेणा विद्रुमसुप्रभम् ॥
सुप्रसादं सुवेणा च जिष्णुं ओघवती ददौ ।
यज्ञबाहुं विशाला च सरस्वत्या दुर्गमान् ॥
कुटिलासनयस्थादात् दशशक्रबलाङ्गणान् ।
करालं शितकेशञ्च कृष्णकेशं जटाधरम् ॥
मेघनादं चतुर्दंष्ट्रं विद्युज्जिह्वं दशाननम् ।
सोमाप्यायनमेवोग्रं देवयाजिनमेव च ॥
हंसास्यं कुण्डजठरं बहुग्रीवं हयाननम् ।
कूर्म्मग्रीवञ्च पञ्चैतान् ददुः पुत्राय कृत्तिकाः ॥
स्थूलजङ्घं कुण्डवक्त्रं लोहजङ्घं महाननम् ।
पिण्डारकञ्च पञ्चैतान् ददुः स्कन्दाय चर्षयः ॥
नागजिह्वं चन्द्रभासं पाणिकूर्म्मं शशिच्छरम् ।
वासवक्त्रं सजम्बूकं ददौ तीर्थः पृथूदकः ॥
चक्रतीर्थं सुचक्राक्षं मकराक्षं गयाशिरः ।
गणं पञ्चशिखं नाम ददौ कनखलः स्वयम् ॥
बन्धुदत्तं वालिशिरो बालुसारञ्च पुष्करम् ।
सर्व्वौजसं माहिषकं मानसं पिङ्गलं तथा ॥
रुद्रमोशनसः प्रादात् ततोऽन्या मातरो ददुः ।
वसुदामां शोणतीर्थः प्रभासो नन्दिनीमपि ॥
इन्द्रतीर्थं विशोकाञ्च उदपानं घनस्वनाम् ।
सप्तसारस्वतः प्रादात् मातरश्चतुरोऽद्भुताः ॥
जितप्रियां माधवीञ्च तीर्थनेमिं सितासनाम् ।
एकचूतां नागतीर्थः कुरुक्षेत्रं पलाशदाम् ॥
ब्रह्मात्मनः खण्डशिलां भद्रकालीं त्रिविष्टपः ।
चण्डीं भेण्डीं योगभेण्डीं प्रादाद्दुरपावनः ॥
सोपानीयां महान् प्रादात्कालिकां मानसो ह्रदः ।
शतघण्टां शतानन्दां तथोलूखलमेखलाम् ॥
पद्मावतीं माधवीञ्च ददौ बदरिकाश्रमः ।
सुखसामेकचूलाञ्च देवीं धर्म्मधरां तथा ॥
उत्क्राथनीं वेदमित्रां केदारो मातरो ददौ ।
सुनक्षत्राञ्च कद्रूकां सुप्रभातां सुमङ्गलीम् ॥
देवमित्रां चित्रसेनां ददौ रुद्रो महाबलः ।
कोटराक्षीं संयताक्षामसतीं बहुपुत्त्रिकाम् ।
पलितां कमलाक्षीञ्च प्रयासां मानसो ददौ ॥
सूपर्णीं मधुकुम्भाञ्च ख्यातिं दहदहां पराम् ।

प्रादाद्दै कार्त्तिकेयाय सर्व्वपापविमोचनः ॥
साल्मालिकां विकलिकां कृमुकां खरवासिनीं ।
जलेश्वरी कुक्कुटिका सुदामा लोहमेखला ॥
वपुष्मत्युल्मुकाक्षी च कोकनामा महाशनी ।
रौद्रा भूर्भुविका तुण्डा श्वेततीर्थो ददौ त्विमाः ॥
एतानि भूतानि गणाश्च मातरो
दृष्ट्वा महात्मा विनतातनूजः ।
ददौ मयूरं स्वसुतं महाजवं
तथारुणश्चाङ्कुतरत्नसुत्तमम् ॥
शक्तिं हुताशोऽद्रिसुता च वस्त्रं
दण्डं गुरुः सा कुटिला कमण्डलुम् ।
मालां हरिः शूलधरः पताकां
कण्ठे च हारं मघवाग्रतस्तः ॥
गणैर्वृतो मातृभिरन्वितश्च
मयूरसंस्थो वरशक्तिपाणिः ।
सैन्याधिपत्ये स कृतो भवेन
रराज सूर्य्येव महावपुष्मान् ॥"
इति वामनपुराणे कार्त्तिकेयोत्पत्तौ ५४ अध्यायः ॥
देवा द्वारपालविशेषः । तस्य बलिर्यथा,—
"महानवम्यां शरदि रात्रौ स्कन्दविशाखयोः ।
यवचूर्णमयं कृत्वा रिपुं स्वयमेव वा ॥
शिरश्छित्त्वा बलिं दद्यात् कृत्वा तस्य तु मन्त्रतः ।
अनेनैव तु मन्त्रेण खड्गमामन्त्र्य यत्नतः ॥
रक्तं किलकिली घोरघोरा धारविहिंसकः ।
महाशिख्याम्बिकाशिख्यमसुकं चारिसत्तमम् ॥
सान्तो विसर्गसहितः स च बिन्दुयुतोऽपरः ।
महाग्नियोगचन्द्रेण बिन्दुना च समन्वितः ॥
शिरश्छित्त्वा बलिं दद्यात् कृत्वा तस्य तु
मन्त्रतः ।
अनेनैव तु मन्त्रेण बिन्दुना च समन्वितः ॥
फड़न्तो बलिषु प्रोक्तः खड्गे स्कन्दविशाखयोः ।
रक्तद्रव्यैः सेचयित्वा कृत्रिमं तं रिपुं बलिम् ॥
कुचन्दनस्य तिलकं ललाटेऽभिनिवेशयेत् ।
रक्तमाल्यधरं कृत्वा रक्तवस्त्रधरं तथा ॥
कण्ठे बद्धा रक्तसूत्रैर्नाभौ मालाञ्च कृत्रिमाम् ।
दत्तोत्तरशिरःस्कन्धं कृत्वा खड्गेन च्छेदयेत् ॥
शिरस्तस्य ततो दद्यात् स्कन्दाय तेन मन्त्रतः ।
चतुर्दशस्वराग्निभ्यां संयुक्तः स परः समम् ॥
परतः परतः पूर्व्वं चन्द्रबिन्दुसमन्वितः ।
स्कन्दस्य मूलमन्त्रोऽयं तेन तस्मै बलिं हरेत् ॥
चतुर्द्दशस्वराग्निभ्यां पञ्चलीयन्तु पूर्व्ववत् ।
प्रोक्तो विशाखमन्त्रोऽयं तेन तस्मै बलिं हरेत् ॥
कुटिलाक्षौ कृष्णपिङ्गवर्णौ रक्तांशुधारिणौ ।
त्रिशूलं करवालञ्च पाणिभ्यां दक्षिणे तथा ॥
बिभ्रतौ नृकपालञ्च कर्त्तृकञ्चापि वामतः ।
शिवेन्नौ नरमुण्डानां मालामुरसि बिभ्रतौ ॥
विकटौ दशनैर्भीमैर्गम्भीरौ द्वारपालकौ ।
ध्यानेन चिन्तयेद्देव्याः पुरतः संस्थितौ सदा ॥"
इति कालिकापुराणे ६६ अध्यायः ॥ * ॥
(महादेवः । इति महाभारतम् । १३।१७।१०३ ॥)
नृपतिः । इति जटाधरः ॥ शरीरम् । इति
त्रिकाण्डशेषः ॥ पारदः । इति राजनिर्घण्टः ॥

नदीतटम्। पण्डितः। इति केचित्॥ बालकस्य ग्रहविशेषः। (यथा,—
"स्कन्दो विशाखो मेषाख्यः श्वग्रहः पितृसंज्ञितः।
शकुनिः पूतना शीतपूतना दृष्टिपूतना॥
मुखमण्डिका तद्वद्रेवती शुष्करेवती।
तेषां ग्रहीष्यतां रूपं प्रततं रोदनं ज्वरः॥
सामान्यं रूपमुत्त्रासजृम्भाभ्रूक्षेपदीनताः।
फेनस्रावोर्द्ध्वदृष्ट्योष्ठदन्तदंशप्रजागराः॥
रोदनं कूजनं स्तन्यविद्वेषस्वरवैकृतम्।
नखैरकस्मात् परितः स्वधात्र्यङ्गविलेखनम्॥
तत्रैकनयनस्रावी शिरो विक्षिपते मुहुः।
हतैकपक्षः स्तब्धाङ्गः सस्वेदो नतकन्धरः॥
दन्तखादी स्तनद्वेषी त्रस्यन् रोदिति विस्वरः।
वक्रवक्त्रो वमेल्लालां भृशमूर्द्ध्वं निरीक्षते॥
वसासृग्गन्धिरुद्विग्नो बद्धमुष्टिशकृच्छिशुः।
चलितैकाक्षिगण्डभ्रूः संरक्तो भयलोचनः॥
स्कन्दार्त्तस्तेन वैकल्यं मरणं वा भवेद्ध्रुवम्॥"
इत्युत्तरस्थाने तृतीयेऽध्याये वाभटेनोक्तम्॥)
तस्य चिकित्सा बालग्रहशब्दे द्रष्टव्या॥

स्कन्दनं, क्ली, (स्कन्द + ल्युट्।) रेचनम्। इति त्रिकाण्डशेषः॥ (यथा, सुश्रुते। १। १४।
"चतुर्व्विधं यदेतद्धि रुधिरस्य निवारणम्।
सन्धानं स्कन्दनञ्चैव पाचनं दहनन्तथा॥")
गमनम्। शोषणम्। इति स्कन्दधात्वर्थदर्शनात्॥

स्कन्दषष्ठी, स्त्री, (स्कन्दप्रिया षष्ठी।) चैत्रमासीयशुक्लषष्ठी। तत्प्रमाणादि षष्ठीशब्दे द्रष्टव्यम्॥ अन्यच्च।
"अमावस्यासमुत्पन्नः स्कन्दः पूर्व्वं हुताशनात्।
ततः षष्ठ्यान्तु शुक्लायां मासे तु चैत्रनामनि।
सैनापत्येऽभिषिक्तस्तु देवानां ब्रह्मणा स्वयम्॥"
इति संवत्सरकौमुदीधृतब्रह्मपुराणवचनम्॥

स्कन्दांशकः, पुं, (स्कन्दस्य अंश इव अंशो यत्र। शिववीर्य्योद्भवत्वात्। ततः कन्।) पारदः। इति राजनिर्घण्टः॥

स्कन्धः, [स्] क्ली, (स्कन्दते इति। स्कन्द + "स्कन्देश्च स्वाङ्गे।" उणा० ४। २०६। इति असुन् धश्चान्तादेशः।) अंसः। प्रकाण्डः। यथा "स्कन्धः सान्तं नपुंसकमिति केचित्।" इत्यमरटीकायां भरतः॥ (यथा, ऋग्वेदे। १।३२।५।
"स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृक्णा॥")

स्कन्धः, पुं, (स्कन्द्यतेऽसौ इति। स्कन्द + घञ्। पृषोदरादित्वात् साधुः। स्कन्द + असुन्। धश्चान्तादेशः। सर्व्वे सान्ता अदन्ताश्च इति न्यायात् अकारान्तो वा।) अवयवविशेषः। काँध इति भाषा॥ तत्पर्य्यायः। भुजशिरः २ अंसः ३। इत्यमरः। २। ६। ७८॥ स्कन्धः ४। इति शब्दरत्नावली॥ दोःशिखरम् ५। इति राजनिर्घण्टः॥ (यथा, भागवते। ४। २६। ३३।
"यथा हि पुरुषो भारं शिरसा गुरुमुद्वहन्।
तं स्कन्धेन स आधत्ते तथा सर्व्वाः प्रतिक्रियाः॥")
तरोर्मूलादिशाखापर्य्यन्तम्। गुँड़ी इति भाषा॥ तत्पर्य्यायः। प्रकाण्डः २। इत्यमरः॥ काण्डम् ३। इति शब्दरत्नावली॥ दण्डः ४। इति जटाधरः॥ (यथा, रघुः। ४। ५७।
"खर्ज्जूरीस्कन्धनद्धानां मदोद्गारसुगन्धिषु।
कटेषु करिणां पेतुः पुन्नागेभ्यः शिलीमुखाः॥")
नृपतिः। सम्परायः। समूहः। कायः। (यथा, महाभारते। १२। १५। २६।
"सूक्ष्मयोनीनि भूतानि तर्कगम्यानि कानिचित्।
पक्ष्मणोऽपि निपातेन येषां स्यात् स्कन्धपर्य्ययः॥")
भद्रादिः। छन्दोभेदः। इति मेदिनी॥ विज्ञानादिपञ्च। (यथा, शिशुपालवधे। २। २८।
"सर्व्वकार्य्यशरीरेषु मुक्त्वाङ्गस्कन्धपञ्चकम्।
सौगतानामिवात्मान्यो नास्ति मन्त्रो महीभृताम्॥"
"रूपवेदनाविज्ञानसंज्ञासंस्काराः पञ्च स्कन्धाः। तत्र विषयप्रपञ्चो रूपस्कन्धः। तज्ज्ञानप्रपञ्चो वेदनास्कन्धः। आलयविज्ञानसन्तानो विज्ञानस्कन्धः। नामप्रपञ्चः संज्ञास्कन्धः। वासनाप्रपञ्चः संस्कारस्कन्धः। एवं पञ्चधा परिवर्त्तमानो ज्ञानसन्तान एवात्मा इति बौद्धाः।" इति तट्टीकायां मल्लिनाथः॥) व्यूहः। इति हेमचन्द्रः॥ (यथा, रघुः। ४। ३०।
"प्रतापोऽग्रे ततः शब्दः परागस्तदनन्तरम्।
ययौ पश्चाद्रथादीति चतुःस्कन्धेव सा चमूः॥")
पन्थाः। इति शब्दरत्नावली॥ (यथा, महाभारते। ३। २३०। ५५।
"तथाब्रवीत् महासेनं महादेवो वृषध्वजः।
सप्तमं मारुतस्कन्धं रक्ष नित्यमतन्द्रितः॥")
ग्रन्थपरिच्छेदः। यथा,—
श्रीपार्व्वत्युवाच।
"स्कन्धैर्द्वादशभिः प्रोक्तं श्रीमद्भागवतं प्रभो।
शुकस्तच्छ्रावयाच महाराजं परीक्षितम्॥"
इति पाद्मे पातालखण्डे ७१ अध्यायः॥

स्कन्धचापः, पुं, (स्कन्धे चाप इव।) वंशादिनिर्म्मितशिक्याधारम्। तत्पर्य्यायः। विहङ्गिका २। इति हारावली॥

स्कन्धजः, पुं, (स्कन्धात् जायते इति। जन + डः।) शल्लक्यादिः। यथा, हेमचन्द्रे।
"पर्व्वयोनय इक्ष्वाद्याः स्कन्धजाः शल्लकीमुखाः॥"
मुद्राङ्कितहेमचन्द्रे कन्दज इति पाठः॥ (वटः। अस्य पर्य्यायो यथा,—
"वटो रक्तफलः शृङ्गी न्यग्रोधः स्कन्धजो ध्रुवः।
क्षीरी वैश्रवणावासो बहुपादो वनस्पतिः॥"
इति भावप्रकाशस्य पूर्व्वखण्डे प्रथमे भागे॥)

स्कन्धतरुः, पुं, (स्कन्धप्रधानस्तरुः।) नारिकेलवृक्षः। इति राजनिर्घण्टः॥

स्कन्धदेशः, पुं, (स्कन्धस्य देशः।) गजस्य स्कन्धः। यत्र हस्तिपक उपविशति। तत्पर्य्यायः। आसनम् २। इत्यमरः॥ स्कन्धभागम्। यथा,—
"त्रिपुरारिः स्कन्धदेशे कण्ठे कामाङ्गनाशनः॥"
इति भृगुभरतसंवादे माहेश्वरकवचम्॥

स्कन्धफलः, पुं, (स्कन्धे फलमस्य।) नारिकेलवृक्षः। इति राजनिर्घण्टः॥ उडुम्बरवृक्षः। इति शब्दचन्द्रिका॥

स्कन्धबन्धना, स्त्री, (स्कन्धे बन्धनमिवास्याः।) मधुरिका। इति शब्दचन्द्रिका॥

स्कन्धमल्लकः, पुं, (स्कन्धेन मल्ल इव। कन्।) कङ्कपक्षी। इति हेमचन्द्रः॥

स्कन्धरुहः, पुं, (स्कन्धात् रोहतीति। रुह + कः।) वटवृक्षः। इति राजनिर्घण्टः॥

स्कन्धवाहः, पुं, (स्कन्धेन वाहयतीति। वह + णिच् + अच्।) शकटादिवाहकवृषः। यथा,
"स्कन्धवाहस्तु शक्वरः षण्डो गौरवधूर्णितः॥"
इति हारावली॥

स्कन्धवाहकः, पुं, (स्कन्धेन वहतीति। वह + ण्वुल्।) शकटादिवाहकवृषः। तत्पर्य्यायः। स्कन्धिकः २। इति हेमचन्द्रः॥ स्कन्धेन वहनकर्त्तरि, त्रि॥

स्कन्धशाखा, स्त्री, (स्कन्धस्य शाखा।) वृक्षस्य मुख्यशाखा। तत्पर्य्यायः। शाला २। इत्यमरः। २। ४। ११॥ (यथा, भागवते। ८। ५। ४९।
"यथा हि स्कन्धशाखानां तरोर्मूलावसेचनम्।
एवमाराधनं विष्णोः सर्व्वेषामात्मनश्च हि॥")

स्कन्धशृङ्गः, पुं, (स्कन्धपर्य्यन्तं शृङ्गमस्य।) महिषः। इति केचित्॥

स्कन्धा, स्त्री, शाखा। लता। इति केचित्॥

स्कन्धाग्निः, पुं, (स्कन्धस्य काण्डस्य अग्निरिव।) वृहत्काष्ठाग्निः। इति त्रिकाण्डशेषः॥

स्कन्धानलः, पुं, (स्कन्धस्य काण्डस्य अनल इव।) वृहत्काष्ठाग्निः। तत्पर्य्यायः। स्थूलकाष्ठधक् २। इति जटाधरः॥

स्कन्धावारः, पुं, (स्कन्धेन सैन्यसमूहेन व्यूहेन नृपतिना वा आव्रियते इति। आ + वृ + घञ्।) सैन्यस्थितिः। (यथा, रामायणे। ६। ९२। २२।
"एतस्मिन्नन्तरे चक्रुः स्कन्धावारनिवेशनम्॥")
राजधानी। इति हेमचन्द्रः॥ (यथा, महाभारते। १। १९५। ६।
"ते तु दृष्ट्वा पुरं तच्च स्कन्धावारञ्च पाण्डवाः।
कुम्भकारस्य शालायां निवासं चक्रिरे तदा॥")
कटकः। इति भूरिप्रयोगः॥

स्कन्धिकः, पुं, (स्कन्धेन वहतीति। स्कन्ध + ठक्।) स्कन्धवाहकवृषः। इति हेमचन्द्रः॥

स्कन्धी, [न्] पुं, (स्कन्धोऽस्यास्तीति। इनिः।) वृक्षः। इति रत्नमाला॥ स्कन्धयुक्ते, त्रि। (काण्डविशिष्टे, च त्रि। यथा, महाभारते। १२। १५४। ५।
"हिमवन्तं समासाद्य महानासीद्वनस्पतिः।
वर्षपूगाभिसंवृद्धः शाखी स्कन्धी पलाशवान्॥")

स्कन्नं, त्रि, (स्कन्द + क्तः।) च्युतम्। इत्यमरः। ३। १। १०४॥ (यथा, महाभारते। १। ६३। ६९।
"स्कन्नमात्रञ्च तद्रेतो वृक्षपत्रेण भूमिपः।
प्रतिजग्राह मिथ्या मे न पतेद्रेत इत्युत॥")
शुष्कम्। गतम्। इति स्कन्दधात्वर्थदर्शनात्॥

स्कभ, इ ङ स्तम्भे। इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-आत्म०-सक०-सेट्।) स्तम्भ इह दृढीकरणम्। इ, स्कम्भ्यते। ङ, स्कम्भते कवाटेन द्वारं लोकः। चस्कम्भे। इति दुर्गादासः ॥

स्कान्दं, क्ली, (स्कन्दस्येदमिति। स्कन्द+अण्।) स्कन्दपुराणम्। यथा,—

"वाराहञ्च तथा स्कान्दं वामनं कौर्म्मसंज्ञकम्।"

इत्यादि नारदीयपुराणम् ॥

अस्य विवरणं पुराणशब्दे द्रष्टव्यम् ॥

स्कु, ञ न ञ उद्धृतौ। आप्लवने। इति कविकल्पद्रुमः ॥ (क्र्या०-स्वा० च-उभ०-सक०-सेट्।) ञ ञ, स्कुनाति स्कुनीते। न ञ, स्कुनोति स्कुनुते। चुस्काव। उद्धृतिरुद्धरणम्। आप्लवने। इति प्राञ्चः।

"स्कुनाति च स्कुनीते च स्कुनोत्याप्लवतेऽपि च।
स्कन्दते स्कुन्दते चापि षड़ाप्लवनवाचिनः ॥"

इति भट्टमल्लः।

आवरणे इति पाणिनीयाः। स्कुनाति शत्रुं बाणेन भटः आच्छादयतीत्यर्थः। इति रमानाथः। इति दुर्गादासः ॥

स्कुद, इ ङ आप्लवे। उद्धृतौ। उत्प्लुत्य गत्याम्। इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-आत्म०-सक०-अक० च-सेट्।) "पञ्चमस्वरीति धातुप्रदीपरामौ। 'स्कन्दते स्कुन्दते चापि षड़ाप्लवनवाचिनः।' इति भट्टमल्लोऽपि। चुस्कुन्दिषते ॥" इति दुर्गादासः ॥

स्कुभ, ञ न उ रोधने। इति कविकल्पद्रुमः ॥ (क्र्या०-स्वा० च-पर०-सक०-सेट्। क्त्वावेट्।) इत्यादिः। पञ्चमस्वरी। ञ, स्कुभ्नाति। न, स्कुभ्नोति। उ, स्कुभित्वा स्कुब्ध्वा। रोधनमावरणम्। इति दुर्गादासः ॥ सौत्रधातुरयम् ॥

स्कोटिका, स्त्री, पक्षिविशेषः। यथा,—

अथ सर्षपी।

"छापुत्रिका खञ्जनिका तुत्थिकास्कोटिके समे ॥"

इति त्रिकाण्डशेषः ॥

स्खद, ष घ ङ विदारे। इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-आत्म०-सक०-सेट्।) ष, स्खदयति। उपसर्गात् परस्य तु वा शम यम मथ इत्यादिना वा ह्रस्वः। प्रस्खदति प्रस्खादयति। अवपरिवर्ज्जादुपसर्गात् परस्य घटादित्वं नास्ति इति कातन्त्राद्याः। तन्नैव अवस्थाने अप इति भीमः। प्रस्खादयति अवस्खदयति परिस्खदयति। अपपरिभ्यां परस्य घटादित्वं नास्तीति जौमराद्याः। अपस्खादयति परिस्खादयति प्रस्खदयति। स्खद स्खदने इति प्राञ्चः। स्खदनं स्थैर्य्यमिति त्रिलोचनरामौ। पाटनमिति गोविन्दः। कम्पोत्पादनमिति गोयीचन्द्रः। हिंसेति रमानाथः। इति दुर्गादासः ॥

स्खदनं, क्ली, (स्खद+ल्युट्।) विदारणम्। इति स्खदधात्वर्थदर्शनात् ॥ स्थैर्य्यम्। पाटनम्। कम्पोत्पादनम्। हिंसा। इति कविकल्पद्रुमटीकायां दुर्गादासः ॥

स्खल, मि चये। चले। इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-चले अक०-सेट्।) मि, स्खलयति चपलं ते सर्व्वथा सुभ्रु खेदमिति मालत्याम्। स्खालयति चस्खाल। चयः सञ्चयः। स्खलति पुष्पं मालिकः सञ्चिनोतीत्यर्थः। चलः स्खलनम्। स्खलति पत्रं वृक्षस्य।

"दृढ़ः प्रेमा मम सरसिरिव सन्धिं न लभते
लभेतापि प्रायः स्खलति खलु यत्नैरपि धृतः।"

इति दुर्गादासः ॥

स्खलनं, क्ली, (स्खल+ल्युट्।) पतनम्। तत्पर्य्यायः। रिङ्गणम् २। इत्यमरः। १।७।३६ ॥ रिङ्खणम् ३। इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, सुश्रुते। ४। २४।

"श्रमस्खलनदोषघ्नं स्थविरे च प्रशस्यते।
सत्त्वोत्साहबलस्थैर्य्यधैर्य्यवीर्य्यविवर्द्धनम् ॥"

अभिघातः। इति मल्लिनाथः ॥ यथा, माघे। ६। ५२।

"निजपाणिपल्लवतटस्खलना-
दभिनासिकाविवरमुत्पतितैः।
अपरा परीक्ष्य शनकैर्मुमुदे
मुखवासमास्यकमलश्वसनैः ॥"

उच्चारणम्। यथा, साहित्यदर्पणे। ३।२१६।

"उत्स्वप्नायितभीमाक्षरोक्तस्खलनसम्भवा ॥"

तथाच भागवते। ५। ३। १२।

"अथ कथञ्चित् स्खलनक्षुत्पतनजृम्भनदुरवस्थानादिषु विवशानां नः स्मरणाय ज्वरमरणदशायामपि सकलकश्मलनिरसनानि तव गुणकृतनामधेयानि वचनगोचराणि भवन्तु ॥")

स्खलितं, क्ली, (स्खल+क्तः।) कूटयुद्धादिना युद्धमर्य्यादाया: स्खलनम्। तत्पर्य्यायः। छलम् २। इत्यमरः। २। ८। १०८ ॥ भ्रंशः। त्रि, चलितम्। इति मेदिनी। ते, १६४ ॥ (यथा, आर्य्यासप्तशत्याम्। ६७२।

"सौधगवाक्षगतापि क्षिपति दृशं स्थितिकृतप्रयत्नमपि।
हिमगिरिशिखरस्खलिता गङ्गैरावतं हरति ॥")

स्तक, म प्रतीघाते। इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट्।) म, तिष्टकयिषति तिस्तकयिषति। इति दुर्गादासः ॥

स्तन, चु क अभ्रशब्दे। इति कविकल्पद्रुमः ॥ (अदन्तचुरा०-पर०-अक०-सेट्।) स्तनयति मेघः। इति दुर्गादासः ॥

स्तन, मि शब्दे। इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर० सक० सेट्।) मि, स्तनयति स्तानयति। अतिस्तनत्। इति दुर्गादासः ॥

स्तनः, पुं, (स्तन्यते शब्द्यते कामुकैः स्तनयति कथयति वक्षःशोभामिति वा। स्तन शब्दे+घञ्।) अवयवविशेषः। माइ इति चुँची इति च भाषा ॥ तत्पर्य्यायः। कुचः २। इत्यमरः। २। ६। ७७ ॥ कूचः ३ उरोजः ४ वक्षोजः ५ पयोधरः ६ वक्षोरुहः ७ उरसिजः ८। वक्षाग्रचूचुकम्। इति शब्दरत्नावली। तस्य शुभलक्षणं यथा, गारुड़े। ६५। ६५।

"अरोमशौ स्तनौ पीनौ घनावविषमौ शुभौ।
कठिनावरोमसुरी मृदुग्रीवा च कम्बुभा ॥"

तस्य मनोहरत्वकारकौषधं यथा, तत्रैव। १६४। ४।

"कुष्ठनागबलाचूर्णं नवनीतसमन्वितम्।
तल्लेपो युवतीनाञ्च कुर्य्यान्मनोहरं स्तनम् ॥"

अथ स्तनरोगस्य संप्राप्तिमाह।

"सक्षीरौ वाप्यदुग्धौ वा दोषः प्राप्य स्तनौ स्त्रियः।
रक्तं मांसञ्च संदूष्य स्तनरोगाय कल्प्यते ॥"

अदुग्धावपि स्तनौ प्रसूताया गर्भिण्याश्च स्त्रिया बोद्धव्यौ। यत आह सुश्रुतः।

"धमन्यः संवृतद्वाराः कन्यानां स्तनसंश्रिताः।
दोषाविसरणात्तासां न भवन्ति स्तनामयाः ॥"

दोषाविसरणात् संवृतद्वारत्वेन दोषाणामविसरणमसञ्चारो यासु ताः।

"तासामेव प्रसूतानां गर्भिणीनाञ्च ताः पुनः।
स्वभावादेव विवृता जायन्ते सम्भवन्त्यतः ॥" * ॥

स्तनरोगाणामतिदेशेन लक्षणान्याह।

"पञ्चानामपि तेषान्तु हित्वा शोणितविद्रधिम्।
लक्षणानि समानानि बाह्यविद्रधिलक्षणैः ॥"

पञ्चानां वातपित्तकफसन्निपातागन्तुजानाम्। आगन्तुजस्तनरोगाभिघातेन शल्येन च बोद्धव्यः। रक्तजस्यासम्भवः। स्वभावात् ॥ * ॥

अथ स्तनरोगस्य चिकित्सा।

"शोथं स्तनोत्थितमवेक्ष्य भिषग्विदध्यात्
यद्विद्रधावभिहितं बहुधा विधानम्।
आमे विदाहिनि तथैव च तस्य पाके
तस्याः स्तनौ सततमेव च निर्द्दुहीतौ ॥
पित्तघ्नानि तु शीतानि द्रव्याण्यत्र प्रयोजयेत्।
जलौकाभिर्हरेद्रक्तं न स्तनावुपनाहयेत् ॥"

उपनाहयेत् स्वेदयेत्।

"लेपो विशालामूलेन हन्ति पीड़ां स्तनोत्थिताम्।
निशाकनककल्काभ्यां लेपः प्रोक्तः स्तनार्त्तिहा ॥"

विशाला इन्द्रवारुणी। कनकस्य धस्तूरस्य पत्रं ग्राह्यम्।

"लेपाद्धन्ति मूलं स्तनरोगं वन्ध्यकर्कोट्याः।
निर्वाप्य तप्तलौहं सलिले तद्वा पिबेत्तच्च ॥"

इति भावप्रकाशः ॥

स्तननं, क्ली, (स्तन शब्दे+ल्युट्।) ध्वनिमात्रम्। मेघशब्दः। कुन्थितम्। इति मेदिनी ॥

स्तनन्धयः, पुं, स्त्री, (स्तनं धयति पिबतीति। स्तन+धेट् पाने+"नासिकास्तनयोर्ध्माधेटोः।" ३। २। २९। इति खश्। अरुर्द्विषदिति मुम्।) अतिशिशुः। तत्पर्य्यायः। उत्तानशयः २ उत्तानशया ३ डिम्भः ४ डिम्भा ५ स्तनपः ६ स्तनपा ७ स्तनन्धयी ८ स्तनन्धया ९। इत्यमरभरतौ ॥ (यथा, रघुः। १४। ७८।

"पयोधरैराश्रमबालवृक्षकान्
संवर्द्धयन्तौ स्वबलानुरूपैः।
असंशयं प्राक् तनयोपपत्तेः
स्तनन्धयप्रीतिमवाप्स्यसि त्वम् ॥")

स्तनन्धया, स्त्री, (स्तनन्धय+टाप् ।) अतिबालिका । इत्यमरटीकायां भरतः । २।६।४१ ॥

स्तनन्धयी, स्त्री, (स्तनन्धय+टित्वात् ङीप् ।) अतिबालिका । इत्यमरः । २ । ६ । ४१ ॥

स्तनपः, पुं, (स्तनं पिबतीति । पा+कः ।) अतिशिशुः । इति भरतः ॥ स्तनपानकर्त्तरि, त्रि ॥

स्तनपा, स्त्री, (स्तनं पिबति या । पा+कः । टाप् ।) अतिबालिका । इत्यमरः ।२।६।४१॥

स्तनपायिका, स्त्री, अतिबालिका । दुग्धपोष्या । स्तनशब्दपूर्व्वकपाधातोर्णक(ण्वुल्) प्रत्यये आप्-प्रत्ययेन निष्पन्नम् ॥

स्तनभरः, पुं, (स्तनयोर्भरः ।) स्थूलस्तनभारः । तत्पर्य्यायः । स्तनाभोगः २ इति त्रिकाण्ड-शेषः ॥

स्तनभवः, पुं, (स्तनाभ्यां भव उत्पत्तिर्यस्य ।) रति-बन्धविशेषः । यथा,—
"स्वजङ्घाद्वयमध्ये तु कृत्वा योषित्पदद्वयम् ।
स्तनौ धृत्वा रमेत् कामी बन्धः स्तनभवः स्मृतः ॥"
इति स्मरदीपिका ॥

स्तनजाति, त्रि॰॥

स्तनमुखः, पुं, (स्तनयोर्मुखम् । अभिधानात् पुंस्त्वम् ।) स्तनाग्रभागः । यथा । चूचुकन्तु स्तना-द्वृन्तशिखामुखाः । इति हेमचन्द्रः ।३।२६७॥

स्तनयित्नुः, पुं, (स्तनयतीति । स्तन त्वाश्रशब्दे+ "स्तनिहृषिपुषीति ।" उणा० ३ । २९ । इति इत्नुच् । "अयामन्तेति ।" ६ । ४ । ५५ । इति अयादेशः ।) मेघः । इत्यमरः । १ । ३ । ६ ॥ (यथा, उत्तररामचरिते ३ अङ्के ।
"किमर्थक्तोऽसि निनदे कुतस्थेऽपि त्वमीदृशी ।
स्तनयित्नोर्मयूरीव चकितोत्कण्ठिता स्थिता ॥")
मुस्तकः । इति चामरः ।२।४।१५९॥ मेघध्वनिः । इति मेदिनी ॥ विद्युत् । इति शब्दरत्नावली ॥ मृत्युः । रोगः । इति हेमचन्द्रः ॥

स्तनवृन्तः, पुं, (स्तनयोर्वृन्तम् । अभिधानात् पुंस्त्वम् ।) स्तनमुखम् । इति हेमचन्द्रः ।३।२६७॥ स्तनेर बोँटा इति भाषा ॥

स्तनशिखा, स्त्री, (स्तनयोः शिखा ।) स्तनवृन्तः । इति हेमचन्द्रः । ३ । २६७ ॥

स्तनाग्रं, क्ली, (स्तनयोरग्रम् ।) स्तनवृन्तम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्तनान्तरं, क्ली, (स्तनयोरन्तरम् ।) हृदयम् । इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, रघुः । १० । ६२ ।
"बिभ्रत्या कौस्तुभन्यासं स्तनान्तरविलम्बिनम् ।
पर्य्युपास्यन्त लक्ष्म्या च पद्मव्यजनहस्तया ॥")
स्त्रीवैधव्यलक्षणविशेषः । इति केचित् ॥

स्तनाभोगः, पुं, (स्तनयोराभोगः ।) स्तनभरः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ स्तनस्य परिपूर्णता च ॥

स्तनितं, क्ली, (स्तन+क्तः ।) मेघनिर्घोषः । इत्यमरः । १ । ३ । ८ ॥ (यथा, मनुः । ४ । १०३ ।
"विद्युत्स्तनितवर्षेषु महोल्कानाञ्च संप्लवे ।
आकालिकमनध्यायमेतेषु मनुरब्रवीत् ॥")
करतालिशब्दः । इति केचित् ॥ (शब्दमात्रम् । यथा, हरिवंशे । ९९ । ४८ ।
"आर्त्तस्तनितसंनादे रुधिराम्बुह्रदाकुले ॥")
शब्दिते, त्रि ॥

स्तनितफलः, पुं, (स्तनितानि फलानि यस्य ।) विकङ्कतवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्तन्यं, क्ली, (स्तने भवम् । स्तन+"शरीरावय-वाच्च ।" ४ । ३ । ५५ । इति यत् ।) दुग्धम् । इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, रघुः । २ । ६९ ।
"स नन्दिनीस्तन्यमनिन्दितात्मा
सद्वत्सलो वत्सहुतावशेषम् ।
पपौ वशिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः
शुभ्रं यशो मूर्त्तमिवातितृष्णः ॥"
स्तनाय हितमिति । "शरीरावयवात् यत् ।" ५ । १ । ६ । इति यत् । स्तनहिते, त्रि ॥)

स्तब्धः, त्रि, स्तम्भितः । जडीकृतः । स्तम्भधातोः क्तप्रत्ययेन निष्पन्नः ॥ (यथा, कथासरित्-सागरे । २० । ९६ ।
"स्वयमुत्क्षिप्तकलसस्तब्धबाहुरभूत्तदा ॥")

स्तब्धरोमा, [न्] पुं, (स्तब्धानि रोमाणि यस्य ।) शूकरः । इत्यमरः । २ । ५ । २ ॥ स्तम्भित-लोमयुक्ते, त्रि ॥ (यथा, आर्य्यासप्तशत्याम् ।५३२।
"विमुखे चतुर्मुखेऽपि श्रितवति चानीशभावमीशेऽपि ।
मग्नमहीनिस्तारे हरिः परं स्तब्धरोमाभूत् ॥")

स्तभ, इ ङ स्तम्भे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-आत्म०-अक०-सक०-सेट् ।) इत्यादिः । इ, स्तम्भते । ङ, स्तम्भते । तिष्टम्भयिषति । तिस्त-म्भयिषति । स्तम्भो जडीभावस्तत्करणञ्च । स्तम्भः स्थूणाजडीभावावित्यमरोक्तेः । प्रीति-नावस्तब्धो जडीकृतः इत्यर्थ इति क्रमदीश्वरो-क्तेश्च । स्तम्भ इह क्रियानिरोधः इति भीमः । रोधवृद्धिरिति गोविन्दभट्टः । स्तम्भो रुद्धीकर-णञ्च । स्तम्भते कवाटेन द्वारं लोकः । इति दुर्गादासः ॥

स्तभः, पुं, छागः । इति शब्दरत्नावली ॥

स्तम्बः, पुं, (तिष्ठतीति । स्था+"स्थः स्तोऽम्बज-बकौ ।" उणा० ४ । ९६ । इति अम्बच् । स्तादे-शश्च ।) प्रकाण्डरहितवृक्षः । स तु झिण्टि-कादिः । तत्पर्य्यायः । गुल्मः २ । इत्यमरः । २ । ४ । ९ ॥ तृणादिः । तत्पर्य्यायः । गुच्छः २ । इति चामरः ॥ गुत्सः ३ । इति तट्टीका ॥ विटपः ४ । इति जटाधरः ॥

स्तम्बकरिः, पुं, (स्तम्बं करोतीति । स्तम्ब+कृ+ "स्तम्बशकृतोरिन् ।" ३ । २ । २४ । इति इन् ।) धान्यम् । इत्यमरः । २ । ९ । २१ ॥ अपि च ।
"पुंसि स्तम्बकरिर्धान्यं व्रीहिर्वा धान्यमात्रके ।"
इति शब्दरत्नावली ॥

स्तम्बकारः, त्रि, (स्तम्बं करोतीति । कृ+अण् ।) गुच्छकारकः । स्तम्बशब्दात् कृञ्धातोः घञ्-प्रत्ययेन निष्पन्नः ॥

स्तम्बघनः, त्रि, (स्तम्बः हन्यतेऽनेनेति । स्तम्ब+ हन्+"स्तम्बे क च ।"३।३।८३। इति चकारात् अप् घनादेशश्च ।) तृणाद्युन्मूलनकारिखनि-त्रादिः । तत्पर्य्यायः । स्तम्बघ्नः २ । इत्यमरः । ३।२।३५ ॥ स्तम्बहननः ३ । इति सारसुन्दरी ॥

स्तम्बघ्नः, त्रि, (स्तम्बो हन्यते येनेति । स्तम्ब+ हन्+"स्तम्बे क च ।"३ । ३ । ८३ । इति कः ।) स्तम्बघनः । इत्यमरः । ३ । २ । ३५ ॥

स्तम्बपूः, [र्] स्त्री, (स्तम्बानां पूरिव ।) पुरीभेदः । तत्पर्य्यायः ।
"ताम्रलिप्तं दामलिप्तं ताम्रलिप्ती तमालिनी ।
स्तम्बपूर्व्विष्णुगृहञ्च स्याद्विदर्भा तु कुण्डिनम् ॥"
इति हेमचन्द्रः ॥

स्तम्बहननः, त्रि, (स्तम्बो हन्यतेऽनेनेति । हन+ करणे ल्युट् ।) स्तम्बघनः । इत्यमरटीकासार-सुन्दरी । ३ । २ । ३५ ॥

स्तम्बेरमः, पुं, (स्तम्बे रमते इति । स्तम्ब+रम+ "स्तम्बकर्णयो रमिजपोः ।"३ । २ । १३ । इत्यच् । "तत्पुरुषे कृति बहुलम् ।"६ । ३ । १४ । इति सप्तम्या अलुक् ।) हस्ती । इत्यमरः ।२।८।३५॥ (यथा, रघुः । ५ । ७२ ।
"शय्यां जहात्युभयपक्षविनीतनिद्राः
स्तम्बेरमा मुखरशृङ्खलकर्षिणस्ते ॥")

स्तम्भ, ग न उ रोधने । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (क्र्या०-स्वा०-च-पर०-सक०-सेट् । क्त्वावेट् ।) ग, स्तभ्नाति । न, स्तभ्नोति । उ, स्तम्भित्वा स्तब्ध्वा । रोधनमावरणम् । इति दुर्गादासः । सौत्रधातुरयम् ॥

स्तम्भः, पुं, (स्तभ्नातीति । स्तम्भ+पचाद्यच् ।) स्थूणा । थाम इति खुँटी इति च भाषा । जडीभावः । स तु निष्प्रतिभता । इत्यमर-भरतौ । ३ । ३ । १३४ ॥ (यथा, माघः ।५।४८।
"स्तम्भं महान्तमुचितं सहसा मुमोच
दानं ददत्यतितरां सरसाग्रहस्तः ।
बद्धापराणि परितो निगडान्यलावीत्
स्वातन्त्र्यमुज्ज्वलमवाप करेणुराजः ॥"
"महान्तं स्तम्भं आलानं जाड्यञ्च सहसा मुमोच । स्तम्भः स्थूणाजडत्वयोरिति विश्वः ।" इति तट्टीका ॥ काण्डम् । यथा, रघुः ।५।१५।
"आरण्यकोपात्तफलप्रसूतिः
स्तम्बेन नीवार इवावशिष्टः ॥")

स्तम्भकरः, पुं, (करोतीति । कृ+अच् । स्तम्भस्य करः ।) वेष्टनम् । इति केचित् ॥ स्थूणाकारके जाड्यकारके च त्रि ॥

स्तम्भकी, [न्] पुं, वाद्यविशेषः । इति केचित् ॥

स्तम्भनं, क्ली, (स्तम्भ+ल्युट् ।) जडीकरणम् । यथा, वगलास्तोत्रे ।
"दुष्टस्तम्भनमुग्रविघ्नशमनं दारिद्रविद्रावणम् ॥"
षट्कर्म्मान्तर्गताभिचारकर्म्मविशेषः । यथा,—

"उलूककाकयोः पक्षौ गृहीत्वा मन्त्रवित्तमः।
आलिख्य वै शरावे निशायाञ्च साध्याक्षर-
संपुटितम् ॥
मन्त्रं स्थापितपवनं सहस्रजप्तं चतुष्पथे निखनेत्।
स्तम्भनमेतदवश्यं भविता जगतामु नात्र
सन्देहः ॥"
स्थापितपवनं कृतप्राणप्रतिष्ठम्।
"कृत्वा प्रतिकृतिमथवा
श्मशानाङ्गारकैश्चश्ववसनजाम्।
सम्यगधिष्ठितपवनां
कृतनाम्नीं समन्त्रललाटाम् ॥
वसनाधिष्ठितपवनां
सहस्रजप्तां तदुक्तया वसनाम्।
दग्धां कृत्वा निखनेत्
श्मशानदेशे सपदि वाक्स्तम्भः ॥
आलिख्य चेष्टकायुगले मन्त्रं सनामपुटितम्।
निशया निशीथकाले सहस्रजप्तं प्रतिष्ठित-
प्राणम् ॥
बन्धनमतितीक्ष्णतरं स्तम्भनमतितीक्ष्णाशु-
भिःक्षिप्रम्।
लिखितमन्त्रचितामयकीलकं
सहितकर्म्म सनाम समावृतम् ॥
कृतजपं त्रिसहस्रकसंख्यया
पथि खनेदथ यानविवारणम्।
विहितनिम्बतरौ रिपुनामयुतं
ध्रुवमिमं निशया कृतनामकम्।
नवसहस्रजपादिकसाधितं
पथि खनेदथ सैन्यनिरोधनम् ॥"
इति स्तम्भनम् ॥
इति फेत्कारिणीतन्त्रे ५ पटलः ॥ * ॥
अथाग्निस्तम्भनम्।
"मालूरस्य रसं गृह्य जलौका तत्र पेषयेत्।
हस्तौ तु लेपयेत्तेन अग्निस्तम्भनमुत्तमम् ॥
शाल्मलीरसमादाय खरमूत्रे निधाय तम्।
अग्न्यागारे क्षिपेत्तेन अग्निस्तम्भनमुत्तमम् ॥
वायसी उदरं गृह्य मण्डूकवसया सह।
गुडिकां कारयेत्तेन ततोऽग्नौ प्रक्षिपेद्बुधी ॥
एवमेतत्प्रयोगेण चाग्निस्तम्भनमुत्तमम् ॥
रक्तपाटलमूलन्तु चर्वयेच्च मनुजैः।
दिव्यं स्तम्भयते क्षिप्रं पयः पिष्टं जलान्तकम् ॥
सुश्वेतकवचाकुष्ठं मरीचं नागरं तथा।
चर्व्वित्वा च इमं सद्यो जिह्वया ज्वलनं लिहेत्।
गोरोचनां भृङ्गराजं चूर्णीकृत्य घृतं समम्।
दिव्यस्तम्भश्च पीत्वा स्यात् मन्त्रध्यानेन वै तथा ॥
ॐ ह्रां अग्निस्तम्भनं कुरु ॥ ॐ नमो भगवते
जलं स्तम्भय स्तम्भय सं सं सं कं कं कचर।
जलस्तम्भनमन्त्रोऽयं जलं स्तम्भयते शिव ॥"
इति गारुडे पूर्व्वखण्डे। १८६। ११—१८ ॥
प्रकारान्तरं षट्कर्म्मशब्दे द्रष्टव्यम् ॥
स्तम्भनः, पुं, (स्तम्भयतीति। स्तम्भ+णिच्+ल्युः।)
कामदेवस्य पञ्चबाणान्तर्गत-बाण-विशेषः।
यथा,—
"उन्मादनः शोषणश्च तापनस्तम्भनस्तथा।
सम्मोहनश्च पञ्चैते विख्याताः कामशायकाः ॥"
इति जटाधरः ॥
(स्तम्भके, त्रि। यथा, सुश्रुते। १। ४२।
"कषायः संग्राहको रोपणः स्तम्भनः शोधनो
लेखनः शोषणः पीडनः क्लेदोपशोषणश्चेति ॥")
स्तम्भितः, त्रि, जडीभूतः। जडीकृतः। इति स्तम्भ-
शब्दात् इतोऽस्य जाते इतप्रत्ययेन स्तम्भधातोः
क्तप्रत्ययेन वा निष्पन्नः ॥
स्तरिमा, [न्] पुं, (स्तृणोति आच्छादयतीति।
स्तृ+"हृभृधृक्षृस्तृभ्य इमनिच्।" उणा० ४।
१४७। इति इमनिच्।) तल्पम्। इत्युणादि-
कोषः ॥
स्तरी, स्त्री, (स्तृणोति आच्छादयतीति। स्तृ+
"अवितृस्तृतन्त्रिभ्य ईः।" उणा० ७। १५८।
इति ईः।) धूमः। इति हेमचन्द्रः ॥
स्तवः, पुं, (स्तूयतेऽनेनेति। स्तु+अप्।) प्रशंसा।
तत्पर्य्यायः। स्तोत्रम् २ नुतिः ३ स्तुतिः ४।
इत्यमरः। १। ६। ११ ॥ स्तवनम् ५। इति
शब्दरत्नावली ॥ वर्णः ६। इति जटाधरः ॥
(यथा, हरिवंशे। १२६। २८।
"तुष्टाव च तमीशानं मारीचः कश्यपस्तदा।
वेदोक्तैः स्तवतैश्चैव स्तवैस्तुत्यं जगद्गुरुम् ॥")
स्तवकः, पुं, (तिष्ठतीति। स्था+"स्थः स्तोऽम्ब-
जवकौ।" उणा० ४। ६६। इति अवकः
धातोश्च स्तादेशः।) गुच्छकः। इत्यमरः।
२। ४। १६ ॥ "द्वे स्तवके यस्तो इति ख्याते
बहुभिः पुष्पैः फलैर्व्वा संबाधः पल्लवग्रन्थिः
गुच्छः। गूयते ध्वन्यते भ्रमरैरत्र गुच्छः। गु चु
ड ड ध्वनौ नाम्नीति छक्
'पुष्पादिस्तवके गुच्छो मुक्ताहारकलापयोः।'
इति चवर्गान्तेषु रन्तिदेवः ॥
'स्यात् गुच्छः स्तवके स्तम्बे हारभेदकलापयोः॥'
इति चवर्गद्वितीयान्ते मेदिनी ॥
स्वार्थे के गुच्छकः गुत्सकः इति च पठन्ति। तदा
गुध्यति वेष्टते इति गोधन्ते क्रीड़न्ति भ्रमरा
अत्रेति वा गुत्सः। गुध वेष्टे गुध ड क्रीड़े
इत्यस्माद्वा नाम्नीति सः। स्वार्थे कः गुत्सकः।
'स्तवके हारभेदे च गुत्सः स्तम्बे च कीर्त्तितः ॥'
इति दन्त्यान्तेषु रुद्रः।
'गुत्सः स्यात् स्तवके स्तम्बे हारभिद्ग्रन्थि-
पर्णयोः।'
इति दन्त्यसान्तेषु मेदिनी।
'गुच्छः कुट्मलश्चापि स्तवको गुत्सकाविति ॥'
इति हट्टः।
स्तूयते इति स्तवकः। ष्टु ञ ल स्तुतौ अल् स्तवः
स्वार्थे अभिधानात् नित्यं कः।" इति भरतः ॥ * ॥
स्तुतिः। इति विश्वः ॥ ग्रन्थपरिच्छेदः। समूहः।
इति केचित् ॥ स्तवकारके, त्रि ॥
स्तवरकः, पुं, आवरकः। इति केचित् ॥
स्तावः, पुं, स्तवः। स्तुधातोर्भावे घञ्प्रत्ययेन
निष्पन्नः ॥
स्तावकः, त्रि, (स्तौतीति। स्तु+ण्वुल्।) स्तव-
कर्त्ता। स्तुधातोर्ण्वकप्रत्ययेन निष्पन्नः ॥ (यथा
भागवते। ४। १५। २१।
"स्तावकान् तानभिप्रेत्य पृथुर्वैण्यः प्रतापवान्।
मेघनिर्ह्रादया वाचा प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥")
स्तिमितः, त्रि, (स्तिम+क्तः।) अचञ्चलः। (यथा,
रघुः। १३। ४८।
"एषा प्रसन्नस्तिमितप्रवाहा
सरिद्विदूरान्तरभावतन्वी।
मन्दाकिनी भाति नगोपकण्ठे
मुक्तावली कण्ठगतेव भूमेः ॥")
आर्द्रः। यथा, "स्तिमितोऽचञ्चलार्द्रयोः।" इति
मेदिनी ॥
स्तिम्भिः, पुं, (स्तभ्नातीति। स्तम्भ+"क्रमितमि-
शतिस्तम्भामत इच्।" उणा० ४। १२१। इति
इन् अत इच्।) समुद्रः। बाधा। इत्युणादि-
कोषः ॥
स्तीर्व्विः, पुं, (स्तृणातीति। स्तृ+"स्तृजृशृस्तृजा-
गृभ्यः क्विन्।" उणा० ४। ५४। इति क्विन्।) नभः।
रुधिरम्। तृणजातिः। अध्वर्युः। पयः। शक्रः।
इति संक्षिप्तसारोणादिवृत्तिः ॥
स्तुतः, त्रि, (स्तु+क्तः।) स्तुतिविषयः। तत्-
पर्य्यायः। ईलितः २ शस्तः ३ पणायितः ४
पनायितः ५ प्रणुतः ६ पणितः ७ पनितः ८
अपिगीर्णः ९ वर्णितः १० अभिष्टुतः ११। इत्य-
मरः। ३। २। ११० ॥ गीर्णः १२ ईड़ितः १३। इति
शब्दरत्नावली ॥ नुतः १४। इति जटाधरः ॥
(यथा, महाभारते। १२। २८४। १८।
"नमः स्तुताय स्तुत्याय स्तूयमानाय वै नमः ॥")
स्तुतिः, स्त्री, (स्तु+क्तिन्।) स्तवः। इत्यमरः।
१। ६। ११ ॥ (यथा, नैषधे। ३। ११६।
"इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया
यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ॥")
दुर्गा। यथा,—
"स्तुतिः सिद्धिरिति ख्याता श्रियाः संश्रयणाच्च
सा।
लक्ष्मीर्वा ललना वापि क्रमात् सा कान्तिरुच्यते॥"
इति देवीपुराणे ४५ अध्यायः ॥
स्तुतिपाठकः, पुं, (स्तुतिं पठतीति। पठ+ण्वुल्।)
राजादेर्य्यात्रादौ वीर्य्यस्तुतिकर्त्ता। तत्पर्य्यायः।
बन्दी २। इत्यमरः। २। ८। ९७ ॥ सूतः ३
स्तुतिव्रतः ४ सूतः ५ मागधः ६ मधुकः ७।
इति जटाधरः ॥ प्रातर्गेयः ८। इति त्रिकाण्ड-
शेषः ॥
स्तुतिव्रतः, पुं, (स्तुतिरेव व्रतं यस्य।) स्तुति-
पाठकः। इति जटाधरः ॥
स्तुत्यः, त्रि, स्तवनीयः। स्तुधातोः क्यप्प्रत्ययेन
निष्पन्नः। इति मुग्धबोधव्याकरणम् ॥ (यथा,
रघुः। ४। ६।
"परिकल्पितसान्निध्या काले काले च बन्दिषु।
स्तुत्यं स्तुतिभिरर्थ्याभिरुपतस्थे सरस्वती ॥")
स्तुनकः, पुं, छागः। इति शब्दचन्द्रिका ॥

स्तृभ, ग न उ रोधने। सौत्रधातुरयम्। इति कविकल्पद्रुमः॥ (क्र्या०-स्वा०-च-पर० सक०-सेट्। क्त्वावेट्।) दन्त्यादिः। पञ्चमस्वरी। ग, स्तृभ्नाति। न, स्तृभ्नोति। उ, स्तृभित्वा स्तब्ध्वा। रोधनमावरणम्। इति दुर्गादासः॥

स्तुभः, पुं, छागः। इत्यमरटीकायां भरतः। २। ९। ७६॥ (अग्निविशेषः। यथा, महाभारते। ३। २२०। १४।
"चातुर्मास्येषु नित्यानां हविषां योनिरग्रजः।
चतुर्भिः सहितः पुत्त्रैर्भानोरेवान्वयः स्तुभः॥")

स्तुवेय्यः, पुं, (स्तूयते इति। स्तु+"स्तुवः केय्यश्छन्दसि।" उणा० ३। ९९। इति केय्यः। कित्त्वाद्‌गुणाभावे सत्युवङादेशः।) इन्द्रः। इत्युणादिकोषः॥

स्तुवेष्ठः, त्रि, श्रेष्ठः। उत्तमः। वैदिकशब्दोऽयम्। स्तुधातोरौणादिकसेष्ठप्रत्ययेन निष्पन्नम्। इति सिद्धान्तकौमुद्यामुणादिवृत्तिः॥

स्तूप, क उच्छ्राये। इति कविकल्पद्रुमः॥ (चुरा०-पर०-सक०-सेट्।) षष्ठस्वरी। उच्छ्रायो राशीकरणम्। क, स्तूपयति धान्यं कृषकः। तुष्टूपयिषति। इति दुर्गादासः॥

स्तूप, य इर् उच्छ्राये। इति कविकल्पद्रुमः॥ (दिवा०-पर०-सक०-सेट्।) षष्ठस्वरी। य, स्तूप्यति। इर्, अस्तूपत् अस्तूपीत्। अस्मात् पुषादित्वान्नित्यं ङ इत्यन्ये। अतुस्तूपत्। इति दुर्गादासः॥

स्तूपः, पुं, (स्तूयते इति। स्तु+"स्तुवो दीर्घश्च।" उणा० ३। २५। इति पः दीर्घश्च।) म्रदादिकूटः। राशीकृतमृत्तिकादिः। इति पुंलिङ्गसंग्रहे अमरः। ३। ५। १९॥ संघातः। निष्प्रयोजनम्। बलम्। इति संक्षिप्तसारोणादिवृत्तिः॥

स्तृ, न प्रीतिरक्षाप्राणने। इति कविकल्पद्रुमः॥ (स्वा०-पर०-सक०-अक०च-अनिट्।) न, स्तृणोति। इति दुर्गादासः॥

स्तृ, न ञ स्तृतौ। इति कविकल्पद्रुमः॥ (स्वा०-उभ०-सक०-अनिट्।) न ञ, स्तृणोति स्तृणुते। स्तृतिराच्छादनम्। इति दुर्गादासः॥

स्तृच, गत्याम्। इति कविकल्पद्रुमः॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट्।) सप्तमस्वरयुक्तमध्यः। स्तृचति। तरीस्तृचते। इति दुर्गादासः॥

स्तृह, ऊ श वधे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (तुदा०-पर०-सक०-वेट्।) ऊ, अस्तर्हीत् अस्तृक्षत्। श, स्तृहति। तिस्तर्हयिषति। इति दुर्गादासः॥

स्तॄ, ञ गि छादने। इति कविकल्पद्रुमः॥ (क्र्या०-उभ०-सक०-अनिट्।) ञ गि, स्तृणाति स्तृणीते। स्तीर्णः स्तीर्णिः। इति दुर्गादासः॥

स्तृह, ऊ श वधे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (तुदा०-पर०-सक०-वेट्।) ऊ, अस्तृहीत् अस्तृक्षत्। श, स्तृहती स्तृहन्ती। तिस्तृहयिषति। इति दुर्गादासः॥

स्तेन, त् क चौर्ये। इति कविकल्पद्रुमः॥ (अदन्त-चुरा०-पर०-सक०-सेट्।) अतिस्तेनत् धनं चौरः। इति दुर्गादासः॥

स्तेनं, क्ली, (स्तेनत् क चौर्ये+भावे अच्।) स्तेयम्। इत्यमरटीकायां भरतः। २। १०। २४॥

स्तेनः, पुं, (स्तेनयतीति। स्तेन+पचाद्यच्।) चौरः। इत्यमरः। २। १०। २४॥ तस्य दण्डनिर्णयो यथा,—
"स्तेनस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं दण्डविनिर्णये।
परमं यत्नमातिष्ठेत् स्तेनानां निग्रहे नृपः।
स्तेनानां निग्रहादस्य यशो राष्ट्रञ्च वर्द्धते॥
अमादे भ्रूणहा मार्ष्टि पत्यौ भार्य्यापचारिणी।
गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च स्तेनो राजनि
किल्बिषम्॥
यस्तु तान्युपक्लृप्तानि द्रव्याणि स्तेनयेन्नरः।
तमाद्यं दण्डयेद्राजा यश्चाग्निं चोरयेद्‌गृहात्॥
येन येन यथाङ्गेन स्तेनो नृषु विचेष्टते।
तत्तदेव हरेदस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः॥"
इति मानवे ८ अध्यायः॥

तद्वैदिकपर्य्यायः। तृपुः १ तका २ रिभ्वा ३ रिपुः ४ रिक्वा ५ रिहायाः ६ तायुः ७ तस्करः ८ वनर्गुः ९ हुरश्चित् १० मुषीवान् ११ मलिम्लुचः १२ अघशंसः १३ वृकः १४। इति चतुर्द्दशैव स्तेननामानि। इति वेदनिघण्टौ। ३। २४॥ *॥ देवायानिवेद्यान्नादिभोक्ता। यथा, श्रीभगवद्‌गीतायाम्। ३। १२।
"इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्द्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥"

स्तेप, क क्षेपे। इति कविकल्पद्रुमः॥ (चुरा०-पर०-सक०-सेट्।) एकादशस्वरी। क, स्तेपयति। तिस्तेपयिषति। इति दुर्गादासः॥

स्तेमः, पुं, (स्तिम आर्द्रे+घञ्।) आर्द्रीभावः। इत्यमरः। ३। २। २९॥

स्तेयं, क्ली, (स्तेनस्य भावः कर्म्म वा। स्तेन+"स्तेनाद्यन्नलोपश्च।" ५। १। १२५। इति यत्। नलोपश्च।) चौर्य्यम्। तत्तु चौरस्य भावः तस्य कर्म्म च। इत्यमरभरतौ। २। १०। २५॥ तस्य लक्षणं यथा, प्रायश्चित्तविवेके।
"प्रत्यक्षं वा परोक्षं वा रात्रौ वा यदि वा दिवा।
यत् परद्रव्यहरणं स्तेयं तत् परिकीर्त्तितम्॥"
तत्करणे नरकं प्रतिप्रसवश्च यथा,—
व्यास उवाच।
"न हिंस्यात् सर्व्वभूतानि नानृतञ्च वदेत् क्वचित्।
नाहितं नाप्रियं वाक्यं न स्तेनः स्यात् कदाचन॥
तृणं वा यदि वा शाकं मृदं वा जलमेव वा।
परस्यापहरन् जन्तुर्नरकं प्रतिपद्यते॥
न राज्ञां प्रतिगृह्णीयान्न शूद्रपतितादपि।
न चान्यस्मादशक्तश्च निन्दितान् वर्जयेद्बुधः॥
नित्यं याचनको न स्यान्न पुनस्तत् प्रयाचयेत्॥
न विषं विषमित्याहुर्ब्रह्मस्वं विषमुच्यते।
देवस्वञ्चापि यत्नेन सदा परिहरेत्ततः॥
पुष्पे शाकोदके काष्ठे तथा मूले फले तृणे।
अदत्तादानमस्तेयं मनुराह प्रजापतिः॥
ग्रहीतव्यानि पुष्पाणि देवार्च्चनविधौ द्विजैः।
नैकस्मादेव नियतमननुज्ञाय केवलम्॥
तृणं काष्ठं फलं पुष्पं प्रकाशं वै हरेद्बुधः।
धर्म्मार्थं केवलं ग्राह्यमन्यथा पतितो भवेत॥
तिलमुद्गयवादीनां मुष्टिर्ग्राह्या पथि स्थितैः।
क्षुधार्त्तैर्नान्यथा विप्र विधिविद्भिरिति स्थितिः॥"
इति कौर्म्मे उपविभागे। १६। १—१०॥

स्तेयप्रायश्चित्तं यथा,—
"एतैर्व्रतैरपोह्यं स्यादेनो हिंसासमुद्भवम्।
स्तेयदोषापहर्त्तॄणां व्रतानां श्रूयतां विधिः॥
धान्यान्नधनचौर्य्याणि कृत्वा कामात् द्विजोत्तम।
स्वजातीयगृहादेव कृच्छ्रार्द्धेन विशुध्यति॥
मनुष्याणान्तु हरणे स्त्रीणां क्षेत्रगृहस्य च।
कूपवापीजलानाञ्च शुद्धिश्चान्द्रायणं स्मृतम्॥
द्रव्याणामल्पसाराणां स्तेयं कृत्वान्यवेश्मनः।
चरेत् सान्तपनं कृच्छ्रं तत्पापपरिशुद्धये॥
भक्ष्यभोज्यापहरणे यानशय्यासनस्य तु।
पुष्पमूलफलानाञ्च पञ्चगव्यं विशोधनम्॥
तृणकाष्ठद्रुमाणान्तु पक्वान्नस्य गुडस्य तु।
तैलचर्म्मामिषाणान्तु त्रिरात्रं स्यादभोजनम्॥
मणिमुक्ताप्रवालानां ताम्रस्य रजतस्य तु।
अयस्कांस्योपलानाञ्च द्वादशाहं कणान्नभुक्॥
कार्पासकीटकोर्णानां द्विशफैकशफस्य च।
पक्षिगन्धौषधीनाञ्च रज्ज्वाश्चैव त्र्यहं पयः॥
एतैर्व्रतैर्व्यपोहेत पापं स्तेयकृतं बुधः॥"
इति मात्स्ये २०१ अध्यायः॥ *॥
स्तेयस्य दण्डविधिर्दण्डशब्दे द्रष्टव्यः। सुवर्णस्तेयप्रायश्चित्तं प्रायश्चित्तशब्दे द्रष्टव्यम्॥ *॥

स्तेयी, [न्] पुं, (स्तेयमस्यास्तीति। इनिः।) चौरः। यथा। सुमन्तुः। सुवर्णस्तेयी मासं सावित्र्यष्टसहस्रं आज्याहुतीर्जुहुयात् त्रिरात्रमुपवसेत् तप्तकृच्छ्रेण वा पूतो भवति। इति प्रायश्चित्तविवेकः॥ स्वर्णकारः। इति केचित्॥

स्तैनं, क्ली, (स्तेनस्य चौरस्य भावः कर्म्म वा) स्तेन+अण्।) चौर्य्यम्। इत्यमरटीकायां भरतः। २। १०। २५॥

स्तैन्यं, क्ली, (स्तेनस्य भावः कर्म्म वा। स्तेन+ष्यञ्।) चौर्य्यम्। इत्यमरभरतौ। २। १०। २५॥ (यथा, महाभारते। ३। २७२। ७।
"इमां हि पत्नीमस्माकं धर्म्मज्ञां धर्म्मचारिणीम्।
संस्पृशेदीदृशो भावः शुचिं स्तैन्यमिवाम्लतम्॥")

स्तैन्यः, पुं, (स्तेन एव। स्वार्थे ष्यञ्।) चौरः। इति शब्दरत्नावली॥

स्तैमित्यं, क्ली, (स्तिमितस्य भावः। स्तिमित+ष्यञ्।) जड़ता। इति राजनिर्घण्टः॥ (आर्द्रत्वम्। यथा, "स्तैमित्यं स्तिमितो वेगः।" इति वैद्यमाधवकर-संगृहीतरुग्विनिश्चयस्य ज्वराधिकारे॥ "स्तैमित्यमङ्गस्यार्द्रपटावगुण्ठितत्वमिव।" इत्यस्य व्याख्याने विजयेनोक्तम्।)

स्तोकः, पुं, (स्तुच्यते इति । स्तुच प्रसादे + घञ् ।) चातकः । इति मेदिनी ॥ बिन्दुः । कणा । इति केचित् ॥ (यथा, मार्कण्डेये । ४९ । ५९ ।
"वृष्ट्यावरुद्धैरभवत् स्रोतःखातानि निम्नगाः ।
वृष्टे पुरस्तादपां स्तोका आपन्नाः पृथिवीतले ॥"
तथा च भागवते । ६ । ६ । ४८ ।
"एवं गृहेष्वभिरतो विषयान् विविधैः सुखैः ।
सेवमानो न चातुष्यदाप्यस्तोकैरिवानलः ॥")

स्तोकः, त्रि, (स्तुच् + घञ् ।) अल्पः । इत्यमरः । ३ । १ । ६१ ॥ (यथा, महाभारते । १ । १ । २१८ ।
"सञ्जयैवंगते प्राणांस्त्यक्तुमिच्छामि माचिरम् ।
स्तोकं ह्यपि न पश्यामि फलं जीवितधारणे ॥")

स्तोककः, पुं, (स्तोक एव । स्वार्थे कन् ।) चातकपक्षी । इत्यमरः ॥ (यथा, मनुः । १२ । ६७ ।
"रक्तानि हृत्वा वासांसि जायते जीवंजीवकः ।
वृको मृगेभं व्याघ्रोऽश्वं फलमूलन्तु मर्कटः ।
स्त्रीमृक्षः स्तोकको वारि यानान्युष्ट्रः पशूनजः ॥")

स्तोता, [ऋ] त्रि, (स्तौतीति । स्तु + तृच् ।) स्तवकर्त्ता । तृचा लोस्तृच्प्रत्ययेन निष्पन्नः ॥ (यथा, ऋग्वेदे । ८ । ४४ । १८ ।
"स्तोता स्यां तव शर्म्मणि ॥")
तद्वैदिकपर्य्यायः । रेभः १ जरिता २ कारुः ३ नदः ४ स्तामुः ५ कीरिः ६ गौः ७ सूरिः ८ नादः ९ छन्दः १० स्तुप् ११ रुद्रः १२ कृपण्युः १३ । इति त्रयोदश स्तोतृनामानि । इति वेदनिघण्टौ । ३ । १६ ॥ (विष्णुः । इति महाभारतम् । १३ । १४९ । ८६ ॥)

स्तोत्रं, क्ली, (स्तूयतेऽनेनेति । स्तु + "दाम्नीशसयुयुजेति ।" ३ । २ । १८२ । इति ष्ट्रन् ।) स्तवः । इत्यमरः । १ । ६ । ११ ॥ तच्चतुर्व्विधं यथा, मात्स्ये १२१ अध्याये ।
"अत्र वो वर्णयिष्यामि विधिं मन्वन्तरस्य तु ।
ऋचः यजूंषि सामानि यथावत् प्रति दैवतम् ।
विधिहोत्रं तथा स्तोत्रं पूर्व्ववत् संप्रवर्त्तते ॥
द्रव्यस्तोत्रं कर्म्मस्तोत्रं विधिस्तोत्रं तथैव च ।
तथैवाभिजनस्तोत्रं स्तोत्रमेतच्चतुष्टयम् ॥
मन्वन्तरेषु सर्व्वेषु यथा भेदा भवन्ति ये ।
प्रवर्त्तयन्ति तेषां वै ब्रह्मस्तोत्रं पुनः पुनः ॥"

स्तोभः, पुं, (स्तुभ + घञ् ।) सामावयवविशेषः । स तु गीतालापपूरणाक्षरः । स च त्रयोदशविधो यथा । अयं वा लोको हाउकारो १ वायुर्हाइकारः २ चन्द्रमा अथकारः ३ । आत्मेहकारो ४ ऽग्निरीकारः ५ आदित्य ऊकारः ६ । निहव एकारो ७ विश्वेदेवा औहोइकारः ८ प्रजापतिर्हिंकारः ९ । प्राणः स्वरो १० ऽन्नं या ११ वाग्विराड्निरुक्त १२ स्त्रयोदशः स्तोभः सञ्चरो हुंकारः १३ । दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति य एतामेवं साम्नामुपनिषदं वेदोपनिषदं वेद । इति छान्दोग्योपनिषद्भाष्ये प्रथमप्रपाठकः समाप्तः ॥ * ॥

अस्य भाष्यम् । भक्तिविषयोपासनं सामावयवसम्बन्धमित्यतः सामावयवान्तरस्तोभाक्षरविषयाण्युपासनान्तराणि संहतान्युपदिश्यन्ते । अनन्तरं सामावयवसम्बन्धत्वाविशेषादयं वावायमेव लोको हाउकारः स्तोभो रथन्तरे साम्नि प्रसिद्ध इयं वै रथन्तरमित्यस्मात् सम्बन्धसामान्याद्धाउकारः स्तोभोऽयं लोक इत्येवमुपासीत । १ ।

वायुर्हाइकारो वामदेव्ये सामनि हाइकारः प्रसिद्धो वायुसम्बन्धश्च वामदेव्यस्य साम्नो योनिरित्यस्मात् सामान्याद्धाइकारं वायुदृष्ट्योपासीत । २ ।

चन्द्रमा अथकारः चन्द्रदृष्ट्या अथकारमुपासीत अन्ने हीदं स्थितमन्नात्मा चन्द्रः थकाराकारसामान्याच्च । ३ ।

आत्मा इहकार इहेति स्तोभः प्रत्यक्षो ह्यात्मा इहेति व्यपदिश्यते इहेति च स्तोभः । ४ ।

तत्सामान्यादग्निरीकार इति । ई निधनानि चाग्नेयानि सर्व्वाणि सामानीत्यतः । ५ ।

तत्सामान्यादादित्य ऊकारः । उच्चैरूर्द्ध्वं सन्तं आदित्यं गायन्त्यूकारश्चायं स्तोभ आदित्यदैवत्ये साम्नि स्तोभ इत्यादित्य ऊकारः । ६ ।

निहव इत्याह्वानमेकारस्तोभः एहीति चाह्वयन्तीति । ७ ।

तत्सामान्याद्विश्वेदेवा औहोइकारो वैश्वदेवे साम्नि स्तोभस्य दर्शनात् । ८ ।

प्रजापतिर्हिंकारः अनिरुक्ताद्धिंकारस्य चाव्यक्तत्वात् । ९ ।

प्राणः स्वरः स्वर इति स्तोभः प्राणस्य च स्वरहेतुत्वसामान्यात् । १० ।

अन्नं या या इति स्तोभोऽन्नं अन्नेन हीदं यातीत्यतः । ११ ।

तत्सामान्यात् वागिति स्तोभो विराडन्नं देवताविशेषो वा वैराजे साम्नि स्तोभदर्शनात् अनिरुक्तोऽव्यक्तत्वात् इदमिदञ्चेति निर्व्वक्तुं न शक्यत इत्यतः । १२ ।

सञ्चरो विकल्प्यमानस्वरूप इत्यर्थः कोऽसाविव्याह हुंकारोऽव्यक्तो ह्ययमतोऽनिरुक्तविशेष एवोपास्य इत्यभिप्रायः ॥ १३ ॥

स्तोभाक्षरोपासनाफलमाह । दुग्धेऽस्मै वाग्दोहमित्युक्तार्थं य एतामेवं यथोक्तलक्षणां साम्नां सामावयवस्तोभाक्षरविषयामुपनिषदं दर्शनं वेद तस्यैतत् यथोक्तं फलमित्यर्थः । द्विरभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्त्यर्थः सामावयवविषयोपासनाविशेषः परिसमाप्त्यर्थो वेति ॥ * ॥ इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्य्यस्य श्रीमच्छङ्करभगवत्पादस्य कृतौ छान्दोग्योपनिषद्विवरणे प्रथमः प्रपाठकः समाप्तः ॥ * ॥ * ॥ हेलनम् । स्तम्भनम् । इति हेमचन्द्रः ॥ अपि च ।
"साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा ।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः ॥"
इति श्रीभागवते । ६ । २ । १४ ॥
"साङ्केत्यं पुत्रादौ साङ्केतितम् । पारिहास्यं परिहासेन कृतम् । स्तोभं गीतालापपूरणार्थं कृतम् । हेलनं किं विष्णुनेति सावज्ञमपि च वैकुण्ठनामोच्चारणम् ।" इति तट्टीकायां श्रीधरस्वामी ॥

स्तोम, त क श्लाघने । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (अदन्तचुरा०-पर०-सक०-सेट् ।) अतुस्तोमत् । इति दुर्गादासः ॥

स्तोमं, क्ली, (स्तूयते इति । स्तु + "अर्त्तिस्तुसुहु-स्रिति ।" उणा० १ । १३९ । इति मन् ।) मस्तकम् । धनम् । शस्यम् । लौहाग्रदण्डः । वक्रे, त्रि । इति केचित् ॥

स्तोमः, पुं, (स्तु + मन् ।) समूहः । इत्यमरः । २ । ५ । ३९ ॥ (यथा, उत्तररामचरिते । १ अङ्के ।
"ऋषीणामुग्रतपसां यमुनातीरवासिनाम् ।
लवणत्रासितः स्तोमस्त्रातारं त्वामुपस्थितः ॥")
यज्ञः । इति हेमचन्द्रः ॥ स्तवः । इति चामरः । ३ । ३ । १४१ ॥

स्तौपिकं, क्ली, बुद्धद्रव्यविशेषः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ ओघा इति हिन्दी भाषा ॥

स्त्यानं, क्ली, (स्त्यै + क्तः ।) स्निग्धम् । प्रतिध्वानम् । घनत्वम् । (यथा, उत्तररामचरिते । २ अङ्के ।
"दधति कुहरभाजामत्र भल्लूकयूनामनुरसितगुरूणि स्त्यानमम्बूकृतानि ॥")
आलस्यम् । इति विश्वमेदिन्यौ ॥

स्त्यानः, त्रि, संहतिकर्त्ता । ध्वनिकर्त्ता । इति स्त्यैधातोः कर्त्तरि क्तप्रत्ययेन निष्पन्नः । इति मुग्धबोधव्याकरणम् ॥

स्त्येनः, पुं, (स्त्यायतीति । स्त्यै + "श्यास्त्याहृञविभ्य इनच् ।" उणा० २ । ४६ । इति इनच् ।) चौरः । अमृतम् । इत्युणादिकोषः ॥

स्त्यै, संहतौ । ध्वनौ । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-अक०-अनिट् ।) दन्त्यादिरन्तःस्थाद्युक्ततमध्यः । स्त्यायति तिस्त्यासति । इति दुर्गादासः ॥

स्त्री, स्त्री, (स्त्यायति गर्भो यस्यामिति । स्त्यै + "स्त्यायतेः ड्रट् ।" उणा० ४ । १६५ । ड्रट् । डित्वात् टिलोपः । टित्वात् ङीप् ।) स्तनयोन्यादिमती । तत्पर्य्यायः । योषित् २ अबला ३ योषा ४ नारी ५ सीमन्तिनी ६ वधूः ७ प्रतीपदर्शिनी ८ वामा ९ वनिता १० महिला ११ । इत्यमरः । २ । ६ । २ ॥ प्रिया १२ रामा १३ जनिः १४ जनी १५ योषिता १६ जोषित् १७ जोषा १८ जोषिता १९ वनिका २० महेलिका २१ महेला २२ । इति शब्दरत्नावली ॥ शर्व्वरी २३ सिन्दूरतिलका २४ सुभ्रूः २५ । इति जटाधरः ॥ सुनयना २६ वामदृक् २७ अङ्गना २८ ललना २९ कान्ता ३० पुरन्ध्री ३१ वरवर्णिनी ३२ सुतनुः ३३ तन्वी ३४ तनुः ३५ कामिनी ३६ तन्वङ्गी ३७ रमणी ३८ कुरङ्गनयना ३९ भीरुः ४० भाविनी ४१ विलासिनी ४२ नितम्बिनी ४३ मत्तकाशिनी ४४ सुगन्धा ४५ प्रमदा

४६ सुन्दरी ४७ अञ्चितभ्रूः ४८ ललिता ४९ वासिता ५० भामिनी ५१ वरारोहा ५२ नताङ्गी ५३ विनता ५४ वरा ५५ श्यामा ५६ चारुवर्द्धना ५७। इति राजनिर्घण्टः ॥ * ॥ सा चतुर्विधा। पद्मिनी १ चित्रिणी २ शङ्खिनी ३ हस्तिनी ४। तासां लक्षणानि यथा,—

"भवति कमलनेत्रा नासिकाक्षुद्ररन्ध्रा
अविरलकुचयुग्मा दीर्घकेशी कृशाङ्गी।
मृदुवचनसुशीला नृत्यगीतानुरक्ता
सकलतनुसुवेशा पद्मिनी पद्मगन्धा ॥ १ ॥
भवति रतिरसज्ञा नातिदीर्घा न खर्व्वा
तिलकुसुमसुनासा स्निग्धदेहोत्पलाक्षी।
कठिनघनकुचाढ्या सुन्दरी या सुशीला
सकलगुणविचित्रा चित्रिणी चित्रवक्त्रा ॥ २ ॥
दीर्घा सुदीर्घनयना वरसुन्दरी या
कामोपभोगरसिका गुणशीलयुक्ता।
रेखात्रयेण च विभूषितकण्ठदेशा
सम्भोगकेलिरसिका किल शङ्खिनी सा ॥ ३ ॥
स्थूलाधरा स्थूलनितम्बभागा
स्थूलाङ्गुली स्थूलकुचा सुशीला।
कामोत्सुका गाढ़रतिप्रिया च
नितम्बखर्व्वा खलु हस्तिनी सा ॥ ४ ॥
पद्मिनी पद्मगन्धा च मीनगन्धा च चित्रिणी।
शङ्खिनी क्षारगन्धा च मदगन्धा च हस्तिनी ॥
शशके पद्मिनी तुष्टा मृगे तुष्टा च चित्रिणी।
वृषभे शङ्खिनी तुष्टा हये तुष्टा च हस्तिनी ॥
पद्मिनी शशयोर्योनिमेढ्रकौ चतुरङ्गुलौ।
चित्रिणीमृगयोर्योनिमेढ्रकौ च तथाविधौ ॥
शङ्खिनीवृषयोरष्टाङ्गुलौ तावेव सम्मतौ।
हस्तिनीवाजिनोरेव तावेव द्वादशाङ्गुलौ ॥" * ॥

तस्या अवस्था यथा,—

"आ षोड़शात् भवेद्बाला तरुणी त्रिंशता मता।
पञ्चपञ्चाशतं यावत् प्रौढ़ा वृद्धा ततः परम् ॥"
इति रतिमञ्जरी ॥ * ॥

"बाला तु प्राणदा प्रोक्ता युवती प्राणधारिणी।
प्रौढ़ा करोति वृद्धत्वं वृद्धा मरणमादिशेत् ॥
निदाघशरदोर्बाला प्रौढ़ा वर्षावसन्तयोः।
हेमन्ते शिशिरे योग्या न वृद्धा क्वापि शस्यते ॥
नार्त्तवे षोड़शादर्वाक् सम्भवाः परतो न च।
आयुःकामो नरः स्त्रीभिः संयोगं कर्त्तुमर्हति ॥
त्रिभिस्त्रिभिरहोभिश्च सेवेत प्रमदां नरः।
सर्व्वेष्वृतुषु ग्रीष्मेषु पक्षात् पक्षाद्व्रजेद्बुधः ॥
पञ्चपञ्चाशतो नारी सप्तसप्ततितः पुमान्।
द्वावेतौ न प्रसूयेते प्रसूयेते विपर्य्ययात् ॥"
इति राजवल्लभे रात्रिकृत्यम् ॥ * ॥

स्त्रियाः शुभाशुभलक्षणानि यथा,—
श्रीहरिरुवाच।

"यस्यास्तु कुञ्चिताः केशा मुखञ्च परिमण्डलम्।
नाभिश्च दक्षिणावर्त्ता सा कन्या कुलवर्द्धिनी ॥
या च काञ्चनवर्णाभा रक्तहस्तसरोरुहा।
सहस्राणान्तु नारीणां भवेत् सापि पतिव्रता ॥
वक्रकेशा च या कन्या मण्डलाक्षी च या भवेत्।
भर्त्ता च म्रियते तस्या नियतं दुःखभागिनी ॥
पूर्णचन्द्रमुखी कन्या बालसूर्य्यसमप्रभा।
विशालनेत्रा बिम्बौष्ठी सा कन्या लभते सुखम् ॥
रेखाभिर्ब्बहुभिः क्लेशं स्वल्पाभिर्धनहीनताम्।
रक्ताभिः सुखमाप्नोति कृष्णाभिः प्रेष्यतां व्रजेत् ॥
कार्य्येऽपि मन्त्री पत्नी स्यात् सखी स्यात् करणेषु च।
स्नेहेषु भार्य्या माता स्यात् वेश्या च शयने शुभा ॥
अङ्कुशं कुण्डलं चक्रं यस्याः पाणितले भवेत्।"
पुस्तकान्तरे चक्रं स्थाने छत्रमिति च पाठः।
"पुत्त्रं प्रसूयते नारी नरेन्द्रं लभते पतिम् ॥
यस्यास्तु रोमशौ पार्श्वौ रोमशौ च पयोधरौ।
उन्नतौ चाधरौष्ठौ च क्षिप्रं मारयते पतिम् ॥
यस्याः पाणितले रेखा प्राकारं तोरणं भवेत्।
अपि दासकुले जाता राज्ञीत्वमुपगच्छति ॥
उद्वृत्तकपिला यस्या रोमराजी निरन्तरम्।
अपि राजकुले जाता दासीत्वमुपजायते ॥
यस्या अनामिकाङ्गुष्ठौ पृथिव्यां नैव तिष्ठतः।
पतिं मारयते क्षिप्रं स्वातन्त्र्येण वर्त्तते ॥
यस्या गमनमात्रेण भूमिकम्पः प्रजायते।
पतिं मारयते क्षिप्रं म्लेच्छाचारेण वर्त्तते ॥
चक्षुःस्नेहेन सौभाग्यं दन्तस्नेहेन भोजनम्।
त्वचः स्नेहेन शय्याञ्च पादस्नेहेन वाहनम् ॥
स्निग्धोन्नतौ ताम्रनखौ नार्य्याश्च चरणौ शुभौ।
मत्स्याङ्कुशाब्जचिह्नौ च चक्रलाङ्गललक्षितौ ॥
अस्वेदिनौ मृदुतलौ प्रशस्तौ चरणौ स्त्रियाः।
शुभे जङ्घे विरोमे च ऊरू हस्तिकरोपमौ ॥
अश्वत्थपत्रसदृशं विपुलं गुह्यमुत्तमम्।
नाभिः प्रशस्ता गम्भीरा दक्षिणावर्त्तिका शुभा।
अरोमा त्रिवली नार्य्या हृत्स्तनौ रोमवर्ज्जितौ।"
इति गारुड़े नरस्त्रीलक्षणम् ६४ अध्यायः ॥

तस्याश्चरित्रं यथा,—

"विषकुम्भाकाररूपामन्तःतस्याश्च सन्ततम्।
हृदये क्षुरधाराभां शश्वन्मधुरभाषिणीम् ॥
स्वकार्य्यपरिनिष्पन्नतत्परां सततं सदा।
स्वान्तर्मलिनरूपाञ्च प्रसन्नवदनेक्षणाम् ॥
श्रुतौ पुराणे यासाञ्च चरित्रमनिरूपितम्।
तासु को विश्वसेत् प्राज्ञः अप्राज्ञाश्च दुराशयाम् ॥
तासां को वा रिपुर्मित्रं प्रार्थयन्ती नवं नवम्।
दृष्ट्वा सुवेशं पुरुषमिच्छन्ती हृदये सदा ॥
बाह्ये स्वात्मसतीत्वञ्च प्रापयन्ती प्रयत्नतः।
शश्वत्कामाञ्च वामाञ्च कामाधारां मनोहराम् ॥
बाह्ये भावं छादयन्तीं स्वान्तर्मैथुनमानसाम्।
कान्तं ग्रसन्तीं रहसि बाह्येऽतीव सुलज्जिताम् ॥
मानिनीं मैथुनाभावे कोपनां कलहाङ्कुराम्।
सुप्रीतां भूरिसंयोगात् स्वल्पमैथुनदुःखिताम् ॥
सुमिष्टान्नात् शीततोयादाकाङ्क्षीञ्च मानसे।
सुन्दरं रसिकं कान्तं युवानं गुणिनं सदा ॥
सुतात् परमपि स्नेहं कुर्व्वतीं रतिकर्त्तरि।
प्राणाधिकं प्रियतमं सम्भोगकुशलं प्रियम् ॥
पश्यन्तीं रिपुतुल्यञ्च वृद्धं वा मैथुनाक्षमम्।
कलहं कुर्व्वतीं शश्वत् तेन सार्द्धं सुकोपनाम् ॥
वचसा भक्षयन्तीं तं कौनाश इव गोजरम्।
दुःसाहसस्वरूपाञ्च सर्व्वदोषाश्रयां सदा ॥
शश्वत् कपटरूपाञ्च दुःसाध्यमप्रतीतकाम्।
ब्रह्मविष्णुशिवादीनां दुस्त्याज्यां मोहकारि-
णीम् ॥
तपोमार्गार्गलां शश्वत् मुक्तिमार्गकपाटिकाम्।
हरेर्भक्तिव्यवहितां सर्व्वमायाकरण्डिकाम् ॥
संसारकारागारे च शश्वन्निगड़रूपिणीम्।
इन्द्रजालस्वरूपाञ्च मिथ्यातिस्वप्नरूपिणीम् ॥
बिभ्रतीं बाह्यसौन्दर्य्यमधोऽङ्गमतिकुत्सितम्।
नानाविण्मूत्रपूयानामाधारं मलसंयुतम्।
दुर्गन्धिदोषसंयुक्तं रक्ताक्तकमसंस्कृतम् ॥
मायारूपां मायिनाञ्च विधिना निर्म्मितां पुरा।
विषरूपां मुमुक्षूणामदृश्यामप्यवाञ्छिताम् ॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते प्रकृतिखण्डे १६ अध्यायः ॥ * ॥

तस्या निन्दा यथा,—

"दुर्निवार्य्यञ्च सर्व्वेषां स्त्रीस्वभावश्च चापलः।
दुस्त्याज्यं योगिभिः सिद्धैरस्माभिश्च तपस्विभिः ॥
जितेन्द्रियैर्जितक्रोधैः स्त्रीरूपं मोहकारणम्।
सर्व्वमायाकरण्डञ्च कामवर्द्धनकारणम् ॥
ब्रह्मास्त्रं कामदेवस्य दुर्भेद्यं जयकारणम्।
सुनिर्म्मितञ्च विधिना सर्व्वाद्यं ब्रह्मपूर्व्वजम् ॥
मोक्षद्वारकवाटञ्च हरिभक्तिविरोधनम्।
संसारबन्धनस्तम्भरज्जुरूपमकृन्तनम् ॥
वैराग्यनाशबीजञ्च शश्वद्रागविवर्द्धनम् ॥
परञ्च साहसानाञ्च दोषाणामालयं सदा ॥
अप्रत्ययानां क्षेत्रञ्च स्वयं कपटमूर्त्तिमत्।
अहङ्काराश्रयं शश्वद्विषकुम्भं सुधामुखम् ॥
सर्व्वैराराध्यमानञ्च दुराराध्यञ्च सर्व्वदा।
स्वकार्य्यसाध्यं चाराध्यं कलहाङ्कुरकारणम् ॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते गणपतिखण्डे। ६। ५५—६१ ॥

स्त्रीसंसर्गयुक्तपुंदर्शननिषेधो यथा,—

"रहःस्थलनियुक्तस्य न द्रष्टव्यः स्त्रीयुतः पुमान्।
स्त्रीसंसक्तञ्च पुरुषं यः पश्यति नराधमः ॥
करोति रसभङ्गं वा कालसूत्रं व्रजेत् ध्रुवम्।
तत्र तिष्ठति पापीयान् यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥
विशेषतश्च पितरं गुरुं वा भूमिपं द्विज।
रहःसु रतिसंसक्तं नहि पश्येद्विचक्षणः ॥
कामतः कोपतो वापि यः पश्येत् सुरतोन्मुखम्।
स्त्रीविच्छेदो भवेत्तस्य ध्रुवं सप्तसु जन्मसु ॥
श्रोणीं वक्षःस्थलं वक्त्रं यः पश्यति परस्त्रियाः।
कामतो वापि मूढ़श्च पण्डो भवति निश्चितम् ॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते गणपतिखण्डे। ४२। १०—१४ ॥

सा च त्रिभी रक्षणीया यथा,—

"स्त्रीजातिरबला शश्वद्रक्षणीया स्वबन्धुभिः।
जनकस्वामिपुत्त्रैश्च गर्हितान्यैश्च निश्चितम् ॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे। ४। १६। * ॥

अपि च।

"पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने।
पुत्त्रश्च स्थाविरे रक्षेत् न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥"
इति दायतत्त्वम् ॥ * ॥

अन्यच्च ।
"कौमारे रक्षिता तातो दत्त्वा पात्राय सत्कृती ।
सर्व्वदा रक्षिता कान्तस्तदभावे च तत्सुतः ॥
त्रिष्ववस्थासु नारीणां रक्षितारस्त्रयः सदा ।
याः स्वतन्त्रास्तु ता नष्टाः सर्व्वधर्म्मबहिष्कृताः ॥
असत्कुलप्रसूतास्ताः कुलटा दुष्टमानसाः ।
शतजन्मकृतं पुण्यं तासां नश्यति पद्मज ! ॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे ।१७।८२-८४॥
अपरञ्च ।
"रक्षेत् कन्यां पिता बाल्ये यौवने पतिरेव ताम् ।
वार्द्धके रक्षते पुत्त्रो ह्यनाथां भ्रातरस्तथा ॥
पतिं विना न तिष्ठेत दिवा वा यदि वा निशि ॥"
इति गारुडे । ६५ । ३१--३२ ॥*॥
सा सूर्य्यैरपि अदृश्या कर्त्तव्या । यथा,—
"परस्पृष्टा च या नारी या स्पृहां कुरुते परम् ।
सापि दुष्टा परित्याज्या चेत्याह कमलोद्भवः ॥
तस्मान्नारी परैर्यत्नाददृष्टा कृतिभिः कृता ।
असूर्य्यम्पश्या या रामाः शुद्धास्ताश्च पतिव्रताः ॥
स्वच्छन्दगामिनी या च स्वतन्त्रः शूकरीसमा ।
अन्तर्दुष्टा सदा सैव निश्चितं परगामिनी ॥
स्वामिसाध्वी च या नारी कुलधर्म्मभिया स्थिता ।
कान्तेन सार्द्धं सा कान्ता वैकुण्ठं याति निश्चितम् ॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे ।१८।११६-११६॥
तस्या मानावमानयोर्गुणदोषौ यथा,—
"पदे पदे शुभं तस्य यः स्त्रीमानञ्च रक्षति ।
अवमन्य स्त्रियं मूढो यो याति पुरुषाधमः ।
पदे पदे तदशुभं करोति पार्व्वती सती ॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे ३२ अध्यायः॥
उपयाचिकास्त्रीत्यागे दोषो यथा,—
मोहिन्युवाच ।
"इङ्गितेनैव नारीणां सद्यो मत्तो भवेत् पुमान् ।
करोत्याकृष्य सम्भोगं यः स एवोत्तमो विभो ॥
ज्ञात्वा स्फुटमभिप्रायं नार्य्या संप्रेरितो हि यः ।
पश्चात् करोति शृङ्गारं पुरुषः स च मध्यमः ॥
पुनः पुनः प्रेरितश्च स्त्रिया कामार्त्तया च यः ।
तया न लिप्तो रहसि स क्लीवो न पुमानहो ॥
गृही तपस्वी कामी वा त्यजेत् स्त्रियमुपस्थिताम् ।
व्रजेत् परत्र नरकमपूज्यश्च भवेदिह ॥
भ्रष्टश्रीर्भ्रष्टरूपश्च भ्रष्टदर्पो भवेद्ध्रुवम् ।
स सद्यः क्लीवतां याति ब्रह्मन् शापेन योषितः ॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे ।३३।३—७ ॥
परस्त्रीसङ्गदोषो यथा,—
"सदापकीर्त्तिर्व्वसति परस्त्रीषु च वस्तुषु ।
तस्मात्ते नैव गच्छन्ति सन्तः स्वक्लेशकारिणि ॥
स्मर मामन्तरे बाह्ये मदीयं विषयं कुरु ।
अतस्तेन मनो लोलं भविता परवस्तुषु ॥
योषिद्रूपा च मे माया सर्व्वेषां मोहकारिणी ।
लीलया कुरुते मोहं स्वात्मारामस्य सन्ततम् ॥
वृथा मूत्राश्रये देशे रागिणां सन्ततं रतिः ।
स्तनाभिधे मांसपिण्डेऽधरे लालालयेऽशुचौ ॥
श्रोणी वक्त्रं स्तनं तासां कामदेवालयं सदा ।
तस्मात्ता न हि पश्यन्ति सन्तो हि धर्म्मभीरवः॥
को धर्म्मः किं यशस्तेषां का प्रतिष्ठा च किन्तपः ।
किं बुद्धिर्विद्या ज्ञानञ्च परस्त्रीषु च यन्मनः ॥
इहाप्ययशो दुःखं नरकेषु परत्र च ।
वासः प्रहारस्तेषाञ्च ताडनैः कृमिभक्षणैः ॥
दुःखबीजं सुखं मत्वा मूढाश्च देवदोषतः ।
परस्त्रीसेवनं प्रीत्या कुर्व्वन्ति सततं सुदा ॥
उत्तमा मत्पदाम्भोजं मत्कर्म्म मध्यमाः सदा ।
स्मरन्ति शश्वदधमाः परस्त्रीसेवनं सुदा ॥
विपत्तिः सन्ततं तस्य परवस्तुषु यन्मनः ।
विशेषतः परस्त्रीषु सुवर्णेषु च भूमिषु ॥
दैवात् परस्त्रियं दृष्ट्वा विरमेद्यो हरिं स्मरन् ।
स्पृष्ट्वा परसुवर्णञ्च हस्तप्रक्षालनाच्छुचिः ॥
सन्ततं नातिसंसक्ताः सन्तः स्त्रीषु च कामतः ।
यत्नात्त्वाधिज्ञानहानिलोकनिन्दाभयेन च ॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे ।३५।७८-८६॥
सभर्त्तृकायास्तु व्रतोपवासादिः पृथङ्निषिद्धो मनुना यथा,—
"नास्ति स्त्रीणां पृथक् यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम् ।
पतिं शुश्रूषते यत्तु तेन स्वर्गे महीयते ॥"
विष्णुनापि भर्त्तुः समानव्रतचारित्वमित्युक्तम् ।
समानव्रतचारित्वं भर्त्तृव्रताचरणे तदानुकूल्यकारित्वम् । यत्र तु सावित्रीव्रतादौ विशेषविधिस्तत्र भर्त्तुराज्ञया पृथगपि । यथा शङ्खः ।
कामं भर्त्तुरनुज्ञया व्रतोपवासनियमेज्यादीनामभ्यासः स्त्रीधर्म्म इति । यत्तु ।
"पत्यौ जीवति या नारी उपोष्य व्रतमाचरेत् ।
आयुः संहरते पत्युः सा नारी नरकं व्रजेत् ॥"
इति विष्णूक्तं तदननुज्ञातविषयम् । इत्येकादशीतत्त्वम् ॥ * ॥ स्त्रीधर्म्मादि यथा,—
"या स्त्री भर्त्तुरसौभाग्या सासौभाग्या च सर्व्वतः ।
शयने भोजने तस्या न सुखं जीवनं वृथा ॥
यस्या नास्ति प्रियप्रेम तस्या जन्म निरर्थकम् ।
सत् किं पुत्त्रे धने रूपे सम्पत्तौ यौवनेऽथवा ॥
यद्भक्तिर्नास्ति कान्ते च सर्व्वप्रियतमे परे ।
साशुचिर्धर्म्महीना च सर्व्वकर्म्मविवर्ज्जिता ॥
पतिर्बन्धुर्गतिर्भर्त्ता दैवतं गुरुरेव च ।
सर्व्वस्माच्च गुरुः स्वामी न गुरुः स्वामिनः परः ॥
पिता माता सुतो भ्राता क्लिष्टो दातुमिदं धनम् ।
सर्व्वस्वदाता स्वामी च मूढानां योषितां सुराः ॥
काचिदेव हि जानाति महासाध्वी च स्वामिनम् ।
अतिसद्वंशजाता च सुशीला कुलपालिका ॥
असद्वंशप्रसूता या दुःशीला धर्म्मवर्ज्जिता ।
सुखदुष्टा योनिदुष्टा पतिं निन्दति कोपतः ॥
या स्त्री द्वेष्टि सर्व्वपरं पतिं विष्णुसमं गुरुम् ।
कुम्भीपाके पतति सा यावदिन्द्राश्चतुर्द्दश ॥
व्रतं चानशनं दानं सत्यं पुण्यं तपश्चिरम् ।
पतिभक्तिविहीनाया भस्मीभूतं निरर्थकम् ॥
अतः किञ्चिन्न वक्ष्यामि निष्ठुरं पतिमीश्वरम् ।
कृत्वापराधं दैवेन प्राणांस्त्यक्ष्यामि निश्चितम् ॥
पतिदोषे महासाध्वी पतिं न निष्ठुरं वदेत् ।
यदि सोढुमशक्ता च प्राणांस्त्यजति धर्म्मतः ॥
पतिसेवा व्रतं स्त्रीणां पतिसेवा परं तपः ।
पतिसेवा परो धर्म्मः पतिसेवा सुरार्च्चनम् ।
पतिसेवा परं सत्यं दानतीर्थानुतीर्थकम् ॥
सर्व्वदेवमयः स्वामी सर्व्वदेवमयः शुचिः ।
सर्व्वपुण्यस्वरूपश्च पतिरूपी जनार्द्दनः ॥
या सती भर्त्तुरुच्छिष्टं भुङ्क्ते पादोदकं सदा ।
तस्या दर्शनस्पर्शं नित्यं वाञ्छन्ति देवताः ॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे । ४७ । ७-२० ॥
अपि च ।
"भर्त्ता हि दैवतं स्त्रीणां भर्त्ता च गतिरुच्यते ।
जीवपत्न्याः स्त्रियो भर्त्ता दैवतं प्रभुरेव च ॥
या धर्म्मचारिणी नारी पतिव्रतपरायणा ।
नानुवर्त्तेत भर्त्तारं सा सद्भिर्न प्रशस्यते ॥
पतिव्रता भर्त्तृपरा नारी भर्त्तृपरायणा ।
इह कीर्त्तिं परां प्राप्य प्रेत्य स्वर्गे महीयते ॥
भर्त्तुश्चित्तानुगामिन्या देवाराधनशीलया ।
गार्हस्थ्यधर्म्मरतया भर्त्ता सेव्यस्त्विह त्वया ॥"
इति वह्निपुराणम् ॥ * ॥
गृहिणीधर्म्मा यथा,—
"गृहिणीनां सदाचारं श्रूयतां यत् श्रुतौ श्रुतम् ।
गृहिणी पतिभक्ता च देवब्राह्मणपूजिता ॥
सा शुद्धा प्रातरुत्थाय नमस्कृत्य पतिं सुरम् ।
प्राङ्गणे मङ्गलं दद्यात् गोमयेन जलेन च ॥
गृहकृत्यञ्च कृत्वा च स्नात्वागत्य गृहं सती ।
सुरं विप्रं पतिं नत्वा पूजयेत् गृहदेवताम् ॥
गृहकृत्यं सुनिर्व्वृत्य भोजयित्वा पतिं सती ।
अतिथिं पूजयित्वा च स्वयं भुङ्क्ते सुखं सती ॥"
इति ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे ।८४।१३—१६॥
स्त्रीणां त्रैविध्यं यथा,—
"उत्तमा पतिभक्ता या किञ्चिद्धर्म्मसमन्विता ।
प्राणान्तेऽपि न कुरुते तं जारमयशस्करम् ॥
पूजयेत् सा यथा कान्तं तथा देवद्विजातिथिम् ।
व्रतानि चोपवासांश्च कुरुते सर्व्वपूजनम् ॥
गुरुणा रक्षिता यत्नात् जारञ्च न भजेत् भयात् ।
सा कृत्रिमा मध्यमा च यथाकिञ्चित् पतिं भजेत् ॥
स्थानं नास्ति क्षणं नास्ति नास्ति प्रार्थयिता नरः ।
तेन हे नन्द तासाञ्च सतीत्वमुपजायते ॥
अधमा परमा दुष्टात्यन्तासद्वंशजा तथा ।
अधर्म्मशीला दुःशीला दुर्म्मुखा कलहप्रिया ॥
पतिं भर्त्सयते नित्यं जारञ्च सेवयेत् सदा ।
दुःखं ददाति कान्ताय विषतुल्यञ्च पश्यति ॥
जारद्वारमुपायेन हन्ति कान्तं मनोहरम् ॥"
जारद्वारं स्थाने आयद्वारमिति पाठः ।
"ददाति भर्त्त्रे नाहारं विषोक्तिं वक्ति सन्ततम् ।
धर्म्मिष्ठञ्च वरिष्ठञ्च गरिष्ठञ्च महीतले ॥
कामदेवसमञ्चापि जारं पश्यति कामतः ।
शुभदृष्टा कटाक्षेण शश्वत्पापीयसी सदा ॥
सुवेशं पुरुषं दृष्ट्वा युवानं रतिशूरकम् ।
योनिः क्लिद्यति नारीणां कामुकीनां निरन्तरम्॥
अधर्म्मं चिन्तयेत् शश्वत् जारञ्च परमं सदा ॥

गुरुभिर्भर्त्सिता सा च रक्षिता च प्रतेन च ।
तथापि जारं कुरुते नापि साध्वी नृपैरपि ॥
नास्ति तस्याः प्रियं किञ्चित् सर्व्वं कार्य्यवशेन च ।
नावस्तृणमिवारण्ये प्रार्थयन्ती नवं नवम् ॥
विद्युद्भासा जले रेखा तस्याः प्रीतिस्तथैव च ।
अधर्म्मयुक्ता सततं कपटं वक्ति निश्चितम् ॥
व्रते तपसि धर्म्मे च न मनो गृहकर्म्मणि ।
न गुरौ न च देवेषु जारे चिन्ता च चञ्चलम् ॥
स्त्रीजातिस्त्रिविधा नाथ कथा च कथिता मया ॥”
इति ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे ।८४।२६-४० ॥
स्त्रीसंसर्गे दोषो यथा,—
सनत्कुमार उवाच ।
“अयि भ्रातः किं करोषि कुशलं युवतीपते ।
स्त्रीपुंसोर्व्वर्द्धते प्रेम नित्यं तन्नित्यनूतनम् ॥
अर्गलं ज्ञानमार्गस्य भक्तिद्वारकपाटकम् ।
मोक्षमार्गव्यवहितं चिरं बन्धनकारणम् ॥
गर्भवासस्य बीजञ्च परं नरककारणम् ।
पीयूषबुद्ध्या गरलं भुङ्क्ते पापी नराधमः ॥”
इति च तत्रैव । १३० । ३१—३३ ॥ * ॥
स्त्रीणां स्वभावो यथा,—
“स्त्रीस्वभावं चरित्रञ्च आश्चर्य्यं पापकारकम् ॥
क्षणं नास्ति रहो नास्ति नास्ति तस्य विभावना ।
तेन नारद नारीणां सतीत्वमुपजायते ॥
एकवासा तथा गौरी श्यामा वा वरवर्णिनी ।
मध्यमस्था प्रगल्भा च वयोऽतीतास्तथा स्त्रियः ॥
सुरूपं पुरुषं दृष्ट्वा चरन्ति मुनिसत्तम ।
स्वभाव एष नारीणां शास्त्रस्य शृणु कारणम् ॥”
इति वाराहे सूर्य्यप्रतिष्ठानामाध्यायः ॥ * ॥
अपि च ।
“विद्याघातो ह्यनभ्यासः स्त्रीणां घातः कुचेलता ।
व्याधीनां भोजनं जीर्णं शत्रोर्घातः प्रगल्भता ॥
तस्करस्य वधो दण्डः कुमित्रस्याप्यभाषणम् ।
पृथक् शय्या तु नारीणां ब्राह्मणस्यानिमन्त्रणा ॥
दुर्ज्जनाः शिल्पिनो दासा दुष्टाश्च पटहाः
स्त्रियः ।
ताड़िता मार्दवं यान्ति न ते सत्कारभाजनाः ॥
जानीयात् प्रेषणे भृत्यान् बान्धवान् व्यसनागमे ।
मित्रञ्चापदि काले च भार्य्याञ्च विभवक्षये ॥
स्त्रीणां द्विगुण आहारः प्रज्ञा चैव चतुर्गुणा ।
षड्गुणो व्यवसायश्च कामाश्चाष्टगुणाः स्मृताः ॥
न स्वप्नेन जयेन्निद्रां न कामेन स्त्रियं जयेत् ।
न चेन्धनैर्ज्जयेद्वह्निं न मद्येन तृषां जयेत् ॥
समांसभोजनैः स्निग्धैर्म्मद्यैः सीधुसुरासवैः ।
वस्त्रैर्म्मनोहरैर्म्माल्यैः कामः स्त्रीषु विजृम्भते ॥
ब्रह्मचार्य्येव वक्तव्यः प्राप्तं मन्मथचेष्टितम् ।
हृद्यं हि पुरुषं दृष्ट्वा योनिः प्रस्नुयते स्त्रियाः ॥
सुवेशं पुरुषं दृष्ट्वा भ्रातरं यदि वा सुतम् ।
गुरुं वा भिक्षुकं वाढ़मिच्छन्ति सततं स्त्रियः ॥
नद्यश्च नार्य्यश्च समस्वभावाः
स्वतन्त्रता वेगबलाधिकाश्च ।
तोयैश्च दोषैश्च निपातयन्ति
नद्यो हि कूलानि कुलानि नार्य्यः ॥
नदी पातयते कूलं नारी पातयते कुलम् ।
नारीणाञ्च नदीनाञ्च स्वच्छन्दललिता गतिः ॥
नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः ।
नान्तकः सर्व्वभूतानां न पुंसां वामलोचना ॥
मनोऽनुकूलाः प्रमदा रूपवत्यः स्वलङ्कृताः ।
वासः प्रासादपृष्ठेषु स्वर्गः स्याच्छुभकर्म्मणः ॥
न दानेन न मानेन नार्ज्जवेन न सेवया ।
न शस्त्रेण न शास्त्रेण सर्व्वदा विषमाः स्त्रियः ॥”
इति गारुड़े १०९ अध्यायः ॥ * ॥
स्त्रीवधनिषेधो यथा,—
“अवध्याञ्च स्त्रियं प्राहुस्तिर्य्यग्योनिगतेष्वपि ।
स त्वं पृथिवीपाल न धर्म्मं त्यक्तुमर्हसि ॥”
इति वह्निपुराणे पृथोरुपाख्याननामाध्यायः ॥
स्त्रीणामात्मदाने अस्वातन्त्र्यं यथा,—
“ततोऽब्रवीच्चाप्यबला नाहं त्वां पार्थिवात्मज ।
दातुं शक्ता तथात्मानं स्वतन्त्रा नहि योषितः ॥”
इत्युपक्रम्य ॥
“विश्वकर्म्मसुता साध्वी नाम्ना चित्राङ्गदाभवत् ।
सा कदाचिन्महारण्यं सखीभिः परिवारिता ।
जगाम नैमिषं नाम स्नातुं कमललोचना ।
सा स्नातुमवतीर्णा च अथाभ्यागान्नरेश्वरः ॥
सुदेवतनयो धीमान् सुरथो नाम नामतः ।
तां ददर्श च तन्वङ्गीं शुभाङ्गीं मदनातुरः ॥
संदृष्टः सा सखीं प्राह वचनं सत्यसंयुता ।
असौ नराधिपसुतो मदनेन कदर्थ्यते ।
मदर्थेऽयमं मेऽस्य स्वप्रदानं सुरूपिणः ॥
सख्यस्तामब्रुवन् बाले न प्रगल्भासि सुन्दरि ।
न स्वातन्त्र्यं तवास्तीह प्रदाने स्वात्मनोऽनघे ॥
पिता तवास्ति धर्म्मिष्ठः सर्व्वशास्त्रविशारदः ।
न वै युक्तमिहात्मानं दातुं नरपतेः स्वयम् ॥”
इति वामनपुराणे ६० अध्यायः ॥ * ॥
स्त्रीणां मध्ये गुरवो यथा,—
“मातामही मातुलानी तथा मातुश्च सोदरा ।
श्वश्रूः पितामही ज्येष्ठा धात्री च गुरवः स्त्रीषु ॥
इत्युक्तो गुरुवर्गोऽयं मातृतः पितृतो द्विजाः ।
अनुवर्त्तनमेतासां मनोवाक्कायकर्म्मभिः ॥”
इत्यादि ॥
“गुरूणामपि सर्व्वेषां पूज्याः पञ्च विशेषतः ।
तेषामाद्यास्त्रयः श्रेष्ठास्तेषां माता सुपूजिता ॥
यावत् पिता च माता च द्वावेतौ निर्व्वि-
कारिणौ ।
तावत् सर्व्वं परित्यज्य पुत्त्रः स्यात्तत्परायणः ॥
माता पिता च सुप्रीतौ स्यातां पुत्त्रगुणैर्यदि ।
स पुत्त्रः सकलं धर्म्मं प्राप्नुयात्तेन कर्म्मणा ॥
नास्ति मातृसमं दैवं नास्ति मातृसमो गुरुः ।
तयोः प्रत्युपकारोऽपि न कथञ्चन विद्यते ॥
तयोर्नित्यं प्रियं कुर्य्यात् कर्म्मणा मनसा गिरा ।
न ताभ्यामननुज्ञातो धर्म्ममन्यं समाश्रयेत् ॥”
इति कौर्म्मे उपविभागे ।११।२७,३१,३४-३७॥
व्यभिचारिण्याः स्त्रिया निर्व्वासनं यथा,—
“हृताधिकारां मलिनां पिण्डमात्रोपसेविनीम् ।
परिभूतामधःशय्यां वासयेद्व्यभिचारिणीम् ॥”
स्त्रीणां मेध्यत्वं त्याज्यत्वञ्च यथा,—
“सोमः शौचं ददौ तासां गन्धर्व्वाश्च शुभां
गिरम् ।
पावकः सर्व्वभक्षित्वं मेध्या वै योषितो ह्यतः ॥
व्यभिचाराहृतौ शुद्धिर्गर्भे त्यागो विधीयते ।
गर्भभर्त्तृवधे तासां तथा महति पातके ॥
सुरापी व्याधिता द्वेष्ट्री विहर्त्त्या प्रियंवदा ।
भर्त्त्रा चान्यथा ज्ञेन क्षयो हि भवेन्महत् ॥”
तस्याः प्रशंसा यथा,—
“यत्राविरुद्धं दम्पत्योस्त्रिवर्गस्तत्र वर्द्धते ।
मृते जीवति वा पत्यौ या नान्यमुपगच्छति ॥
सेह कीर्त्तिमवाप्नोति मोदते चोमया सह ।
शुभां त्यजंस्तृतीयांशं दाप्यो ह्याभरणं स्त्रियाः ।
स्त्रीभिर्भर्त्तृवचः कार्य्यं एष धर्म्मः परः स्त्रियाः ॥”
स्त्रीगमनार्हकालो यथा,—
“षोड़शर्त्तुनिशाः स्त्रीणां तासु युग्मासु
संविशेत् ।
ब्रह्मचार्य्येव पर्व्वण्याद्याश्चतस्रस्तु वर्ज्जयेत् ॥
एवं गच्छेत् स्त्रियं क्षामां मघां मूलञ्च वर्ज्जयेत् ।
लक्षण्यं जनयेदेव पुत्त्रं रोगविवर्ज्जितम् ॥
यदा कामी भवेद्वापि स्त्रीणाम्बरमनुस्मरन् ।
स्वदारनिरतश्चैव स्त्रियो रक्ष्या यतस्ततः ॥” * ॥
भूषणादिना भर्त्त्रादिभिः स्त्रियः पूज्या यथा,—
“भर्त्तृभ्रातृपितृज्ञातिश्वश्रूश्वशुरदेवरैः ।
बन्धुभिश्च स्त्रियः पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ॥”
स्त्रीभिः श्वश्रूश्वशुरयोः पादवन्दनं सदा कार्य्यम् ।
यथा,—
“संयतोपस्करा दक्षा हृष्टा व्ययपराङ्मुखी ।
श्वश्रूश्वशुरयोः कुर्य्यात् पादयोर्वन्दनं सदा ॥”
प्रोषितभर्त्तृकया क्रीड़ादिकं वर्ज्जनीयं यथा,—
“क्रीड़ां शरीरसंस्कारं समाजोत्सवदर्शनम् ।
हास्यं परगृहे यानं त्यजेत् प्रोषितभर्त्तृका ॥”
ज्येष्ठया स्त्रिया सह धर्म्मकर्म्मानुष्ठानं कर्त्तव्यम् ।
यथा,—
“ज्येष्ठां धर्म्मविधौ कुर्य्यान्न कनिष्ठां कदाचन ।
दाहयित्वाग्निहोत्रेण स्त्रियं वृत्तवतीं पतिः ॥
आहरेद्विधिवद्दारानग्निंश्चैवाविलम्बितः ।
हित्वा भर्त्तुर्द्दिवं गच्छेदिह कीर्त्तिमवाप्य च ॥”
इति गारुड़े । ६५ । ३२—३३ ।
चञ्चलस्त्रीणां कुलनाशकत्वं यथा,—
“लवणजलान्ता नद्यः स्त्रीभेदान्तञ्च मैथुनम् ।
पैशुन्यं जनवार्त्तान्तं वित्तं दुःखत्रयान्तकम् ॥
राज्यश्रीर्ब्रह्मशापान्ता दानान्तं ब्रह्मवर्च्चसम् ।
आचारं घोषवासान्तं कुलस्यान्तं स्त्रियश्चलाः ॥
सर्व्वं क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समु-
च्छ्रिताः ॥”
स्त्रीनायके वासनिषेधादि यथा,—
“अनायके न वस्तव्यं वस्तव्यं बहुनायके ।
स्त्रीनायके न वस्तव्यं वस्तव्यं बालनायके ॥
त्यजेद्वन्ध्यामष्टमाब्दे नवमे तु मृतप्रजाम् ।
एकादशे स्त्रीजननीं सद्यश्चाप्रियवादिनीम् ॥
अनर्थित्वान्मनुष्याणां भिया परिजनस्य च ।

अर्थादपेतमर्य्यादाः स्त्रियस्तिष्ठन्ति भर्त्तृषु ॥"
इति गारुडे ।११५। ५८—५९ ; ६२—६५ ॥
स्त्रियो धन्या यथा,—
"योषितः साधु धन्यास्ताभ्यो धन्यतरोऽस्ति कः ॥"
इत्युपक्रम्य ।
"कलिः साध्विति यत् प्रोक्तं शूद्रः साध्विति योषितः ।
यच्चाह भगवान् साधुर्धन्याश्चेति पुनः पुनः ॥
तत् सर्व्वं श्रोतुमिच्छामो न चेद्गुह्यं महामुने ।
इत्युक्तो मुनिभिर्व्यासः प्रहस्येदमथाब्रवीत् ॥
योषिच्छुश्रूषणं भर्त्तुः कर्म्मणा मनसा गिरा ।
कुर्व्वती समवाप्नोति तत्सालोक्यं ततो द्विजाः ॥
नातिक्लेशेन महता तामेव पुरुषो यथा ।
तृतीयं व्याहृतं तेन मया साध्विति योषिताम् ॥"
इति विष्णुपुराणे । ६ । २ । ८२—८३ ॥
वेश्यास्त्रीणां धर्म्मा यथा,—
स्त्रीकृष्णमहिष्य ऊचुः ।
"वेश्यानामपि यो धर्म्मस्तन्नो ब्रूहि तपोधन ।
दाल्भ्य उवाच ।
यः कश्चित् शुल्कमादाय गृहमेष्यति वः सदा ।
निश्छद्मनैवोपचर्य्यः स तदान्यत्र दाम्भिकात् ॥
देवतानां पितॄणाञ्च पुण्याहे समुपस्थिते ।
गोभूहिरण्यदानानि प्रदेयानि च शक्तितः ॥
ब्राह्मणेभ्यो वरारोहाः कार्य्याणि वचनानि च ।
यच्चाप्यन्यद्व्रतं सम्यगुपदेक्ष्यामि तत्त्वतः ॥
अविचारेण सर्व्वाभिरनुष्ठेयन्तु तत् पुनः ।
संसारोत्तारणायालमेतद्वेदविदो विदुः ॥
यदा सूर्य्यदिने हस्तः पुष्यो वाथ पुनर्व्वसुः ।
भवेत् सर्व्वौषधिस्नानं सम्यङ्नारी समाचरेत् ।
तदा पञ्चशरस्यास्य सन्निधानमिष्यते ॥
अर्च्चयेत् पुण्डरीकाक्षमनङ्गस्यानुकीर्त्तनैः ।
कामाय पादौ संपूज्य जङ्घे वै मोहकारिणे ॥
मेढ्रं कन्दर्पनिधये कटिं प्रीतिमते नमः ।
नाभिं सौख्यसमुद्राय रामाय च तथोदरम् ॥
हृदयं हृदयेशाय स्तनावाह्लादकारिणे ।
उत्कण्ठायेति वै कण्ठमास्यमानन्दकारिणे ॥
वामांसं पुष्पचापाय पुष्पबाणाय दक्षिणम् ।
नमोऽनङ्गाय वै मौलिं विलोलायेति च ध्वजम् ॥
सर्व्वात्मने शिरस्तद्वद्देवदेवस्य पूजयेत् ।
नमः शिवाय शान्ताय पाशाङ्कुशधराय च ॥
गदिने पीतवस्त्राय शङ्खचक्रधराय च ।
नमो नारायणायेति कामदेवात्मने नमः ॥
नमः शान्त्यै नमः प्रीत्यै नमो रत्यै श्रियै नमः ।
नमः पुष्ट्यै नमस्तुष्ट्यै नमः सर्व्वार्थसम्पदे ॥
एवं संपूज्य गोविन्दमनङ्गात्मानमीश्वरम् ।
गन्धैर्म्माल्यैस्तथा धूपैर्नैवेद्येन च भामिनी ॥
तत आहूय धर्म्मज्ञं ब्राह्मणं वेदपारगम् ।
अव्यङ्गावयवं पूज्य गन्धधूपार्च्चनादिभिः ॥
शालेयतण्डुलप्रस्थं घृतपात्रेण संयुतम् ।
तस्मै विप्राय सा दद्यान्माधवः प्रीयतामिति ॥
यथेष्टाहारयुक्तं वै तमेव द्विजसत्तमम् ।
रत्यर्थं कामदेवोऽयमिति चित्तेन धार्य्यताम् ॥
यद्यदिच्छति विप्रेन्द्रस्तत्तत् कुर्य्यात् विलासिनी ।
एवमादित्यवारेण सदा तद्व्रतमाचरेत् ।
तण्डुलप्रस्थदानञ्च यावन्मासास्त्रयोदश ॥
ततस्त्रयोदशे मासि सम्प्राप्ते तस्य भाविनी ।
विप्रस्योपस्करैर्युक्तां शय्यां दद्याद्विलक्षणाम् ।
सोपधानकविश्रामां स्वास्तरावरणां शुभाम् ॥
दीपिकोपानच्छत्रं पादुकासनसंयुताम् ।
सपत्नीकमलङ्कृत्य हेमसूत्राङ्गुलीयकैः ॥
सूक्ष्मवस्त्रैः सकटकैर्धूपमाल्यानुलेपनैः ।
कामदेवं सपत्नीकं गुडकुम्भोपरिस्थितम् ॥
ताम्रपात्रासनगतं हैमं नेत्रपटावृतम् ।
सकांस्यभाजनोपेतमिक्षुदण्डसमन्वितम् ।
दद्यादेतेन मन्त्रेण तथैकां गां पयस्विनीम् ॥
यथान्तरं न पश्यामि कामकेशवयोः सदा ।
तथैव सर्व्वकामाप्तिरस्तु विष्णो सदा मम ॥
यथा न कामिनी देहात् प्रयाति तव केशव ।
तथा ममापि देवेश शरीरे त्वं कुरु प्रभो ॥
तथा च काञ्चनं देवं प्रतिगृह्य द्विजोत्तमः ।
कोऽदात् कस्मा अदादिति वैदिकं मन्त्रमी-
रयेत् ॥
ततः प्रदक्षिणीकृत्य विसर्ज्ज्य द्विजसत्तमम् ।
शय्यासनादिकं सर्व्वं ब्राह्मणस्य गृहं नयेत् ॥
ततः प्रभृति योऽन्योऽपि रत्यर्थं गेहमागतः ।
सामान्यं सूर्य्यवारे च स संपूज्यो भवेत्तदा ॥
एवं त्रयोदशं यावत् मासमेकं द्विजोत्तमम् ।
तर्पयीत यथाकामं प्रोषितेऽन्यं समाचरेत् ॥
तदनुज्ञारूपवन्तं यावदस्यागमो भवेत् ।
आत्मनोऽपि तथा विघ्नं गर्भस्तकराजसम् ॥
दैवं वा मानुषं वा स्यादुपरागेण वा ततः ।
साचारानिश्चयशसो यथाशक्त्या समाचरेत् ॥
एतद्वः कथितं सम्यग्भवतीनां विशेषतः ।
स्वधर्म्मोऽयं यतो भाव्यो वेश्यानामिह सर्व्वदा ॥
पुरुहूतेन यत् प्रोक्तं दानवीषु पुरा मया ।
तदिदं साम्प्रतं सर्व्वं भवतीष्वपि युज्यते ॥
सर्व्वपापप्रशमनमनन्तफलदायकम् ।
कल्याणिनीनां कथितं कुरुध्वञ्च वराननाः ॥
करोति याशेषमखण्डमेतत्
कल्याणिनी माधवलोकसंस्था ।
सा पूजिता देवगणैरशेषै-
रानन्दकृत् स्थानमुपैति विष्णोः ॥
तपोधनः सोऽप्यभिधाय चेत-
दनङ्गदानव्रतमङ्गनानाम् ।
स्वस्थानमेष्यत्यनु ताः समस्त-
मित्थं करिष्यन्ति च वेदयोने ॥"
इति मत्स्यपुराणेऽनङ्गदानव्रतम् ।७०।३०—६४॥
स्त्रीरोगनाशकाद्यौषधं यथा,—
हरिरुवाच ।
"एकं पुनर्नवामूलं अपामार्गस्य वा शिव ।
सरसं योनिविच्छिन्नं वराङ्गस्य व्यथां हरेत् ॥
प्रसूतिवेदनाश्चैव तरुणीनां व्यथां हरेत् ॥
भूमिकुष्माण्डमूलं वै शालितण्डुलवारिणा ।
सप्ताहं दुग्धपीतं स्यात् स्त्रीणां बहुपयस्करम् ॥
रुद्रेन्द्रवारुणीमूललेपात् स्त्रीस्तनवेदना ।
नश्येत् घृतविपक्वा च कार्य्यावल्लन्तु पालिका ।
भक्षिता सा महेशान योनिशूलं विनाशयेत् ॥
प्रक्षेपिता कारवेल्लमूलेनैव विनिर्गता ।
योनिः प्रवेशमायाति नात्र कार्य्या विचारणा ॥
नीलीपटोलमूलानि साध्यानि तिलवारिणा ।
पिष्टान्येषां प्रक्षेपो वै ज्वालागर्दभरोगनुत् ॥
पाठामूलं रुद्र पीतं पिष्टं तण्डुलवारिणा ।
पापरोगहरं स्याच्च कुष्ठपानन्तथैव च ॥
वाप्योदकञ्च समधु पीतमन्तर्गतस्य वै ।
पापरोगस्य सन्तापनिवृत्तिं कुरुते शिव ॥
कदलीलिङ्गकं पीतं पिष्ट्वा तण्डुलवारिणा ।
स्त्रीणाञ्चैव महादेव रक्तस्रावं हि वारयेत् ॥
घृततुल्या रुद्र लाक्षा पीता क्षीरेण वै सह ।
प्रदरं हरते रोगं नात्र कार्य्या विचारणा ॥
द्विजयष्टीत्रिकटुकं चूर्णं पीतं हरेच्छिव ।
तिलक्वाथेन संयुक्तं रक्तगुल्मं स्त्रिया हर ॥
कुसुमस्य निवृत्तञ्च तरुणीनां महेश्वर ।
रक्तोत्पलस्य वै कन्दं शर्करातिलसंयुतम् ॥
पीतं सशर्करं स्त्रीणां धारयेत् गर्भपातनम् ।
रक्तस्रावस्य नाशः स्यात् शीतोदकनिषेवणात् ॥
पीतन्तु काञ्जिकं रुद्र क्वथितं शरपुङ्खया ।
हिङ्गु सैन्धवसंयुक्तं शीघ्रं स्त्रीणां प्रसूतिकृत् ॥
मातुलुङ्गस्य वै मूलं कटिबद्धं प्रसूतिकृत् ।
अपामार्गस्य वै मूलं योनिस्थञ्च प्रसूतिकृत् ॥
अपामार्गस्य वै मूले गर्भवत्यास्तु नामतः ।
उत्पाट्यमाने सकले पुत्रः स्यादन्यथा सुता ॥
अपामार्गस्य वै मूले नारीणां शिरसि स्थिते ।
गर्भशूलं विनश्येत नात्र कार्य्या विचारणा ॥
कर्पूरमदनफलं मधुकैः पूरितः शिव ।
योनिः शुभः स्याद्वृद्धाया युवत्याः किं पुन-
र्हर ॥
माषस्य विदलान्येव विलुषाणि महेश्वर ।
घृतभावितशुष्काणि पयसा साधितानि वै ॥
समध्वाज्यपयोभिश्च भक्षयित्वा च कामयेत् ।
स्त्रीणां शतं महादेव तत्क्षणान्नात्र संशयः ॥
रससेरकतैलेन गन्धकेन शुभो भवेत् ।
त्रिफलोदकसंघृष्टो बलकृच्छ्रणाद्भवेत् ॥
दुग्धं वितुषमाषेण शिम्बीबीजेन साधितम् ।
अपामार्गस्य तैलेन पीतं स्त्रीशतकामकृत् ॥"
इति गारुडे १९६ अध्यायः ॥
(स्त्रीसम्भूतेः कारणं यथा,—
"स्त्रीरेतसोऽधिकत्वेन हीनशुक्रेन्द्रियादपि ।
रजसोऽप्यधिकत्वेन स्त्रीसम्भूतिः प्रजायते ॥
सप्तधातुवशेनापि प्रकृत्या विकृतैः समैः ।
ऋतुस्नानरजःस्त्रीणां या या भवति भावना ॥
सात्त्विकी राजसी वापि तामसी वापि सत्तम ।
तादृशं जनयेद्बालं गुणैर्वा तादृशैरपि ॥"
इति हारीते शारीरस्थाने प्रथमेऽध्याये ॥
द्व्यक्षरच्छन्दोविशेषः । यथा, छन्दोमञ्जर्य्याम् ।
"गौ स्त्री । गोपस्त्रीभिः कृष्णो रेमे ॥")

स्त्रीगवी, स्त्री, (स्त्री चासौ गौश्चेति। समासे षच्। स्त्रीयां ङीप्।) धेनुः। गाइ इति भाषा। तत्पर्य्यायः। तुम्बा २ निलिम्पा ३ रोहिणी ४। इति त्रिकाण्डशेषः॥ (यथा, काशिकायाम्। ३। ३। ७१। "स्त्रीगवीषु पुङ्गवानां गर्भाधानाय प्रथमसुपसरणमुच्यते॥")

स्त्रीगुरुः, पुं, (स्त्री चासौ गुरुश्चेति।) दीक्षाकर्त्री। मन्त्रमात्रोपदेष्ट्री। तल्लक्षणं यथा,—
"साध्वी चैव सदाचारा गुरुभक्ता जितेन्द्रिया।
सर्व्वमन्त्रार्थतत्त्वज्ञा सुशीला पूजने रता॥
सर्व्वलक्षणसम्पन्ना रूपिका पद्मलोचना।
रत्नालङ्कारसंयुक्ता स्वर्णाभरणभूषिता॥
शान्ता कुलीना कुलजा चन्द्रास्या सर्व्व-
वृद्धिगा।
अनन्तगुणसम्पन्ना रुद्रत्वदायिनी प्रिया॥
गुरुरूपा शक्तिदात्री शिवज्ञानविरूपिणी।
गुरुयोग्या भवेत् सा हि विधवापरिवर्ज्जिता॥*
स्त्रियो दीक्षा शुभा प्रोक्ता मातुश्चाष्टगुणा
स्मृता।
पुत्त्रिणी विधवा ग्राह्या केवलानन्दकारिणी॥
सिद्धमन्त्रं यदि तदा गृह्णीयाद्विधवासुखे।
केवलं सुफलं तत्र मातुरष्टगुणं स्मृतम्॥
स्वयं वा स्वप्नविलये ददाति यदि मन्त्रकम्।
तत्राष्टगुणमाप्नोति यदि सा पुत्त्रिणी सती॥
यदि माता स्वीयमन्त्रं ददाति तनुजाय च।
तदाष्टसिद्धिमाप्नोति भक्तिमार्गे न संशयः॥
तदैव दुर्लभं देव यदि माता प्रदीयते॥
आदौ भक्तिं ततो मुक्तिं सम्प्राप्य वामरूप-
धृक्।
सहस्रकोटिविद्यार्थं जानाति नात्र संशयः॥
स्वप्ने वा यदि वा माता ददाति च स्वमन्त्रकम्।
पुनर्दीक्षां सोऽपि कृत्वा दानवत्त्वमवाप्नुयात्॥
यदि भाग्यवशेनैव जननीच्छानुवर्त्तिनी।
सदा सिद्धिमवाप्नोति तत्र मन्त्रं विचारयेत्॥
स्वीयमन्त्रोपदेशेन न कुर्य्याद्गुरुचिन्तनम्॥"
इति स्त्रीगुरुकथनम्॥

इति रुद्रयामले उत्तरखण्डे २ पटलः पूर्व्वखण्डे १५ पटलश्च॥ * ॥ तद्ध्यानं गुप्तसाधनतन्त्रे २ पटले तत्पूजनं इन्द्रनीलतन्त्रे २ पटले तत्स्तोत्रं कवचञ्च मातृकाभेदतन्त्रे ७ पटले द्रष्टव्यम्। तद्गीता च कङ्कालमालिनीतन्त्रे २ पटले वेदितव्या॥

स्त्रीघोषः, पुं, (स्त्रीणां घोषो यत्र।) प्रत्यूषः। इति केचित्॥

स्त्रीचित्तहारी, [न्] पुं, (स्त्रीणां चित्तं हरतीति। हृ + णिनिः।) शोभाञ्जनः। इति त्रिकाण्डशेषः॥ नारीमनोहारिणि, त्रि॥

स्त्रीचिह्नं, क्ली, (स्त्रियश्चिह्नम्।) योनिः। इति जटाधरः॥ नारीलक्षणञ्च॥

स्त्रीचौरः, पुं, (स्त्रियाश्चौरः।) कामुकः। तत्पर्य्यायः। रतहिण्डकः २। इति त्रिकाण्डशेषः॥ नारीहर्त्तरि, त्रि॥

स्त्रीजितः, पुं, (स्त्रिया जितः।) स्त्रीवशीभूतः। यथा, ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे। ४२। १५।
"स्त्रीजितस्पर्शमात्रेण सर्व्वं पुण्यं प्रणश्यति।
न भूमौ पातकी पापात् पापिनां स्त्रीजितात्
परः॥"

स्त्रीता, स्त्री, स्त्रीत्वम्। स्त्रिया भावः इत्यर्थे तल्प्रत्ययटाप्प्रत्ययाभ्यां निष्पन्नम्॥

स्त्रीधनं, क्ली, (स्त्रिया धनम्।) स्त्रीस्वत्वास्पदीभूतधनम्। तत् षड्विधम्। यथा,—
"अध्यग्न्यध्यावाहनिकं भर्त्तृदायं तथैव च।
भ्रातृदत्तं पितृभ्याञ्च षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम्॥"
इति दायभागधृतकात्यायनवचनम्॥ * ॥

अथ स्त्रीधनम्। तत्र कात्यायनः।
"प्राप्तं शिल्पैस्तु यद्वित्तं प्रीत्या चैव यदन्यतः।
भर्त्तुः स्वाम्यं भवेत्तत्र शेषन्तु स्त्रीधनं स्मृतम्॥"
अन्यतः पितृमातृभर्त्तृकुलव्यतिरिक्तात् यल्लब्धं शिल्पेन वा यदर्ज्जितं तत्र भर्त्तुः स्वातन्त्र्यं तेन स्त्रिया अपि धनं न स्त्रीधनं अस्वातन्त्र्यात् एतद्व्यतिरिक्तधने स्वत्वं स्त्रिया एव दानाद्यधिकारात्। मनुविष्णू।
"पत्यौ जीवति यः कश्चिदलङ्कारो धृतो भवेत्।
न तं भजेरन् दायादा भजमानाः पतन्ति ते॥"
पत्युरदत्तोऽपि तदनुज्ञया परिहितोऽलङ्कारस्तावता एव भार्य्यायाः स्त्रीयो भवतीति मेधातिथिः॥ कात्यायनः।
"ऊढ़या कन्यया वापि पत्युः पितृगृहेऽथवा।
भर्त्तुः सकाशात् पित्रोर्व्वा लब्धं सौदायिकं
स्मृतम्॥
सौदायिकं धनं प्राप्य स्त्रीणां स्वातन्त्र्यमिष्यते।
यस्मात्तदानृशंस्यार्थं तैर्द्दत्तं तत् प्रजीवनम्॥
सौदायिके सदा स्त्रीणां स्वातन्त्र्यं परिकीर्त्तितम्।
विक्रये चैव दाने च यथेष्टं स्थावरेष्वपि॥"
सुदायेभ्यः पितृमातृभर्त्तृकुलसम्बन्धिभ्यो लब्धं सौदायिकम्। आनृशंस्यमनैष्ठुर्य्यम्। नारदः।
"भर्त्रा प्रीतेन यद्दत्तं स्त्रियै तस्मिन् मृतेऽपि तत्।
सा यथाकाममश्नीयाद्दद्याद्वा स्थावरादृते॥"
भर्त्तृदत्तविशेषणात् भर्त्तृदत्तस्थावरादृतेऽन्यस्थावरं देयमेव। अन्यथा यथेष्टं स्थावरेष्वपि इति कात्यायनोक्तं विरुध्यते। कल्पतरुरत्नाकरयोः कात्यायनः।
"अपकारक्रियायुक्ता निर्लज्जा चार्थनाशिनी।
व्यभिचाररता या च स्त्रीधनं न च सार्हति॥"
याज्ञवल्क्यः।
"दुर्भिक्षे धर्म्मकार्य्ये वा व्याधौ संप्रतिरोधके।
गृहीतं स्त्रीधनं भर्त्ता नाकामो दातुमर्हति॥"
संप्रतिरोधके भोजनाद्यवरोधकारिण्युत्तमर्णादिके। अन्यत्र तु कात्यायनः।
"न भर्त्ता नैव च सुतो न पिता भ्रातरो न च।
आदाने वा विसर्गे वा स्त्रीधने प्रभविष्णवः॥" *
अथ स्त्रीधनाधिकारिणः। देवलः।
"सामान्यं पुत्त्रकन्यानां मृतायां स्त्रीधनं विदुः।
अप्रजायां हरेद्भर्त्ता माता भ्राता पितापि वा॥"
अत्र इन्द्वनिर्द्देशात् पुत्त्रकन्ययोस्तुल्याधिकारः। अन्यतराभावे अन्यतरस्य तद्गमनम्। एतयोरभावे ऊढ़ाया दुहितुः पुत्त्रवत्याः सम्भावितपुत्त्रायाश्च तुल्याधिकारः। स्वपुत्त्रद्वारेण पार्व्वणे।
"सपिण्डीकरणादूर्द्ध्वं यत् पितृभ्यः प्रदीयते।
सर्व्वेष्वंशहरा माता इति धर्म्मेषु निश्चयः॥"
इति शातातपोक्ततद्भोग्यपतिपिण्डदानसम्भवात्। तथा च नारदः।
"पुत्त्राभावे तु दुहिता तुल्यसन्तानदर्शनात्॥"
अतएव एतादृशदुहित्रभावे पौत्त्राधिकारः। तदभावे दौहित्त्राधिकारः।
"दौहित्रोऽपि ह्यमुत्रैनं सन्तारयति पौत्त्रवत्।"
इति मनुवचने दौहित्त्रे पौत्त्रधर्म्मातिदेशात्। पुत्त्रेण परिणीतदुहितुर्व्वाधाद्बाधकपुत्त्रेण वाध्यदुहितृपुत्त्रवाधस्य न्याय्यत्वात्। एवं तदभावे प्रपौत्त्रः तद्भोग्यपिण्डदातृत्वात्। तदभावे वन्ध्याविधवयोर्म्मातृधनाधिकारः तयोरपि तत्प्रजात्वात्। तदभावे तु भर्त्ता। तत्र न पितृमातृदत्तधनविषयं तत्र भ्रातुरधिकारात्। तथा च वृद्धकात्यायनः।
"पितृभ्याञ्चैव यद्दत्तं दुहितुः स्थावरं धनम्।
अप्रजायामतीतायां भ्रातृगामि तु सर्व्वदा॥"
मातुः परिणयनकाललब्धन्तु पुत्त्रसत्त्वेऽपि क्रमेणानूढ़ोढ़दुहित्रोरेवाधिकारः। मातुः पारिणाय्यं स्त्रियो भजेरन्निति वशिष्ठोक्तेः। स्त्रीधनं दुहितॄणामप्रत्तानामप्रतिष्ठितानाञ्चेति गौतमवचनेन प्रथममप्रत्तानामवाग्दत्तानां तदभावे त्वप्रतिष्ठितानां वाग्दत्तानां ईषदर्थे नञ् तदभावे चकारसमुच्चितानामूढ़ानां स्त्रीधनं दुहितॄणामिति सामान्यतः प्रागुक्तत्वात् अप्रत्तानामित्यादेस्तु क्रमार्थत्वेनोपसंहारार्थत्वात्। व्यक्तमाह मनुः।
"मातुश्च यौतुकं यत् स्यात् कुमारीभाग एव
सः॥"
यौतुकपदं यु मिश्रणे इत्यस्मात् सिद्धं मिश्रता च स्त्रीपुंसयोर्व्विवाहाद्भवति। यदेतत् हृदयन्तव तदस्तु हृदयं मम यदिदं हृदयं मम तदस्तु हृदयं तव इति मन्त्रलिङ्गात्। यौतुकं तदिति वाचस्पतिमिश्ररायमुकुटधृतात् यौतुकं यौतकमपि साधु। परिणयनकालः परिणयनपूर्व्वापरीभूतकालः स च वृद्ध्यारम्भपत्यभिवादनान्तो विवाहतत्त्वे विवृतः। यत्तु मनुवचनम्।
"स्त्रियास्तु यद्भवेद्वित्तं पित्रा दत्तं कथञ्चन।
ब्राह्मणी तद्धरेत् कन्या तदपत्यस्य वा भवेत्॥"
इति तत् पित्रा दत्तमिति विशेषणाद्विवाहसमयादन्यदपि पितृदत्तं कन्याया एवेत्येतदर्थम्। ब्राह्मणीपदन्तु कन्यामात्रपरम्। यद्वा क्षत्रियादिस्त्रीणामनपत्यानां पितृदत्तं धनं सपत्नीदुहिता ब्राह्मणीकन्या हरेत् न पुनरप्रजस्त्रीधनं भर्त्तुरिति वचनावकाशः। इति वचनार्थः। तदभावे पुत्त्राधिकारः।

"दुहितॄणामभावे तु रिक्थं पुत्त्रेषु तद्भवेत् ॥"
इति मनुवचनात् ॥
एवं पुत्त्राधिकारात् प्राक् दुहितृधिकारविधायकवचनान्तराण्येतद्विषयकाणि। पुत्त्राद्यभावे तु ब्राह्मादिपञ्चकविवाहकालीनं स्त्रीधनं भर्त्तुः। आसुरादित्रयविवाहकालीनन्तु मातुः तदभावे पितुः। यथा मनुः।
"ब्राह्मदैवार्षगान्धर्व्वप्राजापत्येषु यद्धनम्।
अतीतायामप्रजायां भर्त्तुरेव तदिष्यते ॥
यत्त्वस्याः स्यात् धनं दत्तं विवाहेष्वासुरादिषु।
अतीतायामप्रजायां मातापित्रोस्तदिष्यते ॥"
कन्याधनाधिकारे क्रममाह बौधायनः।
"रिक्थं मृतायाः कन्याया गृह्णीयुः सोदराः स्वयम्।
तदभावे भवेन्मातुस्तदभावे भवेत् पितुः ॥"
अत्र क्रमदर्शनात् पूर्व्ववचने मातापित्रोरित्यत्र पाठक्रमेणाधिकारो न तु द्वन्द्वनिर्द्देशात् समुच्चितेन। बृहस्पतिः।
"मातृष्वसा मातुलानी पितृव्यस्त्री पितृष्वसा।
श्वश्रूः पूर्व्वजपत्नी च मातृतुल्याः प्रकीर्त्तिताः ॥
यदासामौरसो न स्यात् सुतो दौहित्र एव वा।
तत्सुतो वा धनं तासां स्वस्त्रीयाद्याः समाप्नुयुः ॥"
औरसपदं कन्यापुत्त्रोभयपरम्। सुत इति सपत्नीपुत्त्रपरम्।
"सर्व्वासामेकपत्नीनामेका चेत् पुत्त्रिणी भवेत्।
सर्व्वास्तास्तेन पुत्त्रेण प्राह पुत्त्रवतीर्म्मनुः ॥"
इति मनुस्मृतेः।
एकपत्नीनामिति एकः पतिर्यासां ताः। न तु सुतपदमौरसविशेषणं वैयर्थ्यात्। सपत्नीपुत्त्रसद्भावे स्वस्त्रीयाद्यधिकारापत्तेश्च। तत्सुत इति पौत्त्रः सपत्नीपौत्त्रपरं न तु दौहित्रपुत्त्रपरं तस्य स्वभोग्यभर्त्तृपिण्डदानानधिकारात्। अत्र प्रागुक्तानुसारात् दौहित्रपर्य्यन्तानन्तरमेव सपत्नीपुत्त्रतत्पुत्त्रयोरधिकारः। न तु प्रागुक्तभर्त्रादिपितृपर्य्यन्ताभावेऽपीति वाच्यं भर्त्रादीनां धनिभोग्यपार्व्वणपिण्डदानानधिकारात्। तस्मादेतेषां सपत्नीपौत्त्रान्तानां तत्सुतो वेति वाशब्दसमुच्चितानाम्।
"सामान्यं पुत्त्रकन्यानां मृतायां स्त्रीधनं विदुः।
अप्रजायां हरेत् भर्त्ता माता भ्राता पितापि वा ॥"
इति देवलोक्तानां भर्त्रादिपितृपर्य्यन्तानामभाव एव सत्स्वपि श्वशुरभ्रातृश्वशुरादिषु स्वस्त्रीयाद्या इत्यनेन भगिनीसुतभर्त्तृभागिनेयभर्त्तृभ्रातृकनिष्ठोभयरूपभ्रातृसुत-स्वभ्रातृपुत्त्र-जामातृ-देवराणां मातृस्वस्रादिधने अधिकारः। अनन्यगतेर्व्वचनात्। अत्र।
"त्रयाणामुदकं कार्य्यं त्रिषु पिण्डः प्रवर्त्तते।
चतुर्थः सम्प्रदातैषां पञ्चमो नोपपद्यते ॥"
इति दायभागप्रकरणीयमनुस्मृतेः।

पिण्डदोंऽशहर इति याज्ञवल्क्यीयात्। मातृतुल्याः प्रकीर्त्तिता इत्यनेन स्वस्त्रीयादीनां पुत्त्रत्वज्ञापनेन एकप्रयोजनकत्वात्।
"मातुलो भागिनेयस्य स्वस्त्रीयो मातुलस्य च।
श्वशुरस्य गुरोश्चैव सख्युर्मातामहस्य च ॥
एतेषाञ्चैव भार्य्याभ्यः स्वसुर्मातुः पितुस्तथा।
पिण्डदानन्तु कर्त्तव्यमिति वेदविदां स्थितिः ॥"
इति शातातपवचनात्।
पिण्डदानविशेषेणैव चैषामेषामधिकारक्रमः प्रतिपत्तव्यः। पाठक्रमादर्थक्रमस्य बलवत्त्वात्। अन्यथा सर्व्वशेषे देवराधिकारे महाजनविरोधः स्यात्। तत्र प्रथमं देवरः तत्पिण्डतद्भर्त्तृपिण्डतद्भर्त्तृदेयपुरुषत्रय-पिण्डदत्वात् सपिण्डत्वाच्च भ्रातृस्त्रीधने अधिकारी। तदभावे भ्रातृश्वशुरदेवरयोः सुतौ तत्पिण्डतद्भर्त्तृपिण्डतद्भर्त्तृदेयपुरुषद्वयपिण्डदत्वात् सपिण्डत्वाच्च। तयोरभावे स्वसपिण्डोऽपि भगिनीपुत्त्रः तत्पिण्डतत्पुत्त्रदेयतत्पित्रादित्रयपिण्डदत्वात्। तदभावे भर्त्तृभागिनेयः पुत्त्राद्भर्त्तुर्दुर्ब्बलत्वेन तत्स्थानपातिनोरपि भगिनीपुत्त्रभर्त्तृभागिनेययोस्तथैव बलाबलस्य न्याय्यत्वेन तद्भर्त्तृदेयपुरुषत्रयपिण्डदत्वात् तत्पिण्डदत्वात् तद्भर्त्तृपिण्डदत्वाच्च मातुलानीधने अधिकारी। तदभावे भ्रातृपुत्त्रः तत्पिण्डतत्पुत्त्रदेयतत्पित्रादिपिण्डद्वयदत्वात् पितृस्वसृधने अधिकारी। तदभावे श्वशुरयोः पिण्डदानात् जामाता श्वश्रूधने अधिकारीति क्रमः। स्वस्त्रीयाद्या इति अधिकारिमात्रपरं न पाठिकक्रमपरं एषां यस्याः प्रातिस्विकोक्तानामभावे सपिण्डानन्तर्य्येण श्वशुरादिवदधिकारी। न च सपिण्डाभावे मातृस्वसेति वचनं वाच्यं अस्मिन्नधिकारिगणने देवरतत्सुतभ्रातृश्वशुरसुतानां अधिकारज्ञापनादासन्नतरश्वशुरभ्रातृश्वशुरादेः परित्यागादिति। इति दायतत्त्वम् ॥
स्त्रीधर्म्मः, पुं, (स्त्रिया धर्म्मः।) ऋतुः। तत्पर्य्यायः। पुष्पम् २ आर्त्तवम् ३ रजः ४। इति हेमचन्द्रः ॥ (मैथुनम्। यथा हरिवंशे। ८४। ६१।
"प्रहसन्ती कामजननीर्व्वाचः श्रोत्रसुखावहाः।
बर्हिणाञ्चैव विरुतं खगानाञ्च विकूजितम् ॥
अभीक्ष्णमभिप्रहसन्ती स्त्रीधर्म्मं सा व्यरोचयत् ॥"
स्त्रीणां शुभकर्म्मादिः। यथा, मनुः। १। ११४।
"स्त्रीधर्म्मयोगं तापस्यं मोक्षं सन्न्यासमेव च ॥")
स्त्रीधर्म्मिणी, स्त्री, (स्त्रीधर्म्मोऽस्या अस्तीति। इनिः। ङीप्।) ऋतुमती। इत्यमरः। २। ६। २०॥ (यथा, महाभारते। २।७७।१४।
"स्त्रीधर्म्मिणी वरारोहा शोणितेन परिप्लुता।
एकवस्त्राथ पाञ्चाली पाण्डवानन्ववैक्षत ॥")
अस्य विवरणं रजस्वलाशब्दे द्रष्टव्यम् ॥
स्त्रीधवः, पुं, (स्त्रीणां धवः प्रियः।) पुरुषः। इति जटाधरः ॥
स्त्रीपरः, पुं, (स्त्रीषु परः निरतः।) विट्पः। कामुकः। इति केचित् ॥

स्त्रीपण्योपजीवी, [न्] पुं, (स्त्रीपण्येन उपजीवतीति। उप+जीव+णिनिः।) सम्भोगार्थमन्यस्मै स्त्रियं दत्त्वा तद्धनोपजीवी। इति महाभारते दानधर्म्मः ॥
स्त्रीपुंधर्म्मः, पुं, (स्त्री च पुमांश्च स्त्रीपुंसौ। तयोर्धर्म्मः।) स्त्रीपुंसयोर्व्यवहारः। स च अष्टादशविवादपदान्तर्गतविवादविशेषः। यथा,—
"स्त्रीपुंधर्म्मो विभागश्च द्यूतमाह्वयमेव च।
पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह ॥"
इति मानवे ८ अध्यायः ॥
तद्विवरणं यथा,—
"पुरुषस्य स्त्रियाश्चैव धर्म्मे वर्त्मनि तिष्ठतोः।
संयोगे विप्रयोगे च धर्म्मान् वक्ष्यामि शाश्वतान् ॥
अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्य्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम्।
विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या आत्मनो वशे ॥
पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्त्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥
कालेऽदाता पिता वाच्यो वाच्यश्चानुपयन् पतिः।
मृते भर्त्तरि पुत्त्रस्तु वाच्यो मातुररक्षिता ॥
सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसङ्गेभ्यः स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः।
द्वयोर्हि कुलयोः शोकमावहेयुररक्षिताः ॥
इमं हि सर्व्ववर्णानां पश्यन्तो धर्म्ममुत्तमम्।
यतन्ते रक्षितुं भार्य्यां भर्त्तारो दुर्ब्बला अपि ॥
स्वां प्रसूतिं चरित्रञ्च कुलमात्मानमेव च।
स्वञ्च धर्म्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि रक्षति ॥
पतिर्भार्य्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ॥
यादृशं भजते हि स्त्री सुतं सूते तथाविधम्।
तस्मात् प्रजाविशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत् प्रयत्नतः ॥
न कश्चित् योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम्।
एतैरुपाययोगैस्तु शक्यास्ताः परिरक्षितुम् ॥
अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत्।
शौचे धर्म्मेऽन्नपक्त्याञ्च पारिणाह्यस्य वेक्षणे ॥
अरक्षिता गृहे रुद्धाः पुरुषैराप्तकारिभिः।
आत्मानमात्मना यास्तु रक्षेयुस्ताः सुरक्षिताः ॥
पानं दुर्ज्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम्।
स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसंदूषणानि षट् ॥
नैता रूपं परीक्षन्ते नासां वयसि संस्थितिः।
सुरूपं वा विरूपं वा पुमानित्येव भुञ्जते ॥
पौंश्चल्याच्चलचित्ताच्च नैःस्नेह्याच्च स्वभावतः।
रक्षिता यत्नतोऽपीह भर्त्तृष्वेता विकुर्व्वते ॥
एवं स्वभावं ज्ञात्वासां प्रजापतिनिसर्गजम्।
परमं यत्नमातिष्ठेत् पुरुषो रक्षणं प्रति ॥
शय्यासनमलङ्कारं कामं क्रोधमनार्ज्जवम्।
द्रोहभावं कुचर्य्याञ्च स्त्रीभ्यो मनुरकल्पयत् ॥
नास्ति स्त्रीणां क्रिया मन्त्रैरिति धर्म्मो व्यवस्थितः।
निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति स्थितिः ॥
तथा च श्रुतयो बह्व्यो निगीता निगमेष्वपि।
स्वालक्षण्यपरीक्षार्थं तासां शृणुत निष्कृतीः ॥
यन्मे माता प्रलुलुभे विचरन्त्यपतिव्रता।
तन्मे रेतः पिता वृङ्क्तामित्यस्यैतन्निदर्शनम् ॥
ध्यायत्यनिष्टं यत्किञ्चित् पाणिग्राहस्य चेतसा।

तस्यैव व्यभिचारस्य निह्नवः सम्यगुच्यते ॥
यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्री संयुज्येत यथाविधि ।
तादृग्गुणा सा भवति समुद्रेणेव निम्नगा ॥
अक्षमाला वशिष्ठेन संयुक्ताधमयोनिजा ।
शारङ्गी मन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम् ॥
एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतयः ।
उत्कर्षं योषितः प्राप्ताः स्वैः स्वैर्भर्तृगुणैः शुभैः ॥
एषोदिता लोकयात्रा नित्यं स्त्रीपुंसयोः शुभाः ।
प्रेत्येह च सुखोदर्कान् प्रजाधर्म्मान्निबोधत ॥*॥
प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हाः गृहदीप्तयः ।*
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥
उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम् ॥
अपत्यं धर्म्मकार्य्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह ॥
पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता ।
सा भर्तृलोकानाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥
व्यभिचारात्तु भर्त्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम् ।
शृगालयोनिञ्चाप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते ॥
पुत्त्रं प्रत्युदितं सद्भिः पूर्व्वजैश्च महर्षिभिः ।
विश्वजन्यमिमं पुण्यमुपन्यासं निबोधत ॥
भर्त्तुः पुत्त्रं विजानन्ति श्रुतिद्वैधन्तु भर्त्तरि ।
आहुरुत्पादकं केचिदपरे क्षेत्रिणं विदुः ॥
क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान् ।
क्षेत्रबीजसमायोगात् सम्भवः सर्व्वदेहिनाम् ॥
विशिष्टं कुत्रचिद्बीजं स्त्रीयोनिस्त्वेव कुत्रचित् ।
उभयन्तु समं यत्र सा प्रसूतिः प्रशस्यते ॥
बीजस्य चैव योन्याश्च बीजमुत्कृष्टमुच्यते ।
सर्व्वभूतप्रसूतिर्हि बीजलक्षणलक्षिता ॥
यादृशं तूप्यते बीजं क्षेत्रे कालोपपादिते ।
तादृग्रोहति तत्तस्मिन् बीजं स्वैर्व्यञ्जितं गुणैः ॥
इयं भूमिर्हि भूतानां शाश्वती योनिरुच्यते ।
न च योनिगुणान् कांश्चिद्बीजं पुष्यति पुष्टिषु ॥
भूमावप्येककेदारे कालोप्तानि कृषीबलैः ।
नानारूपाणि जायन्ते बीजानीह स्वभावतः ॥
व्रीहयः शालयो मुद्गास्तिला माषास्तथा यवाः ।
यथाबीजं प्ररोहन्ति लशुनानीक्षवस्तथा ॥
अन्यदुप्तं जातमन्यदित्येतन्नोपपद्यते ।
उप्यते यद्धि यद्बीजं तत्तदेव प्ररोहति ॥
तत् प्राज्ञेन विनीतेन ज्ञानविज्ञानवेदिना ।
आयुष्कामेन वप्तव्यं न जातु परयोषिति ॥
अत्र गाथा वायुगीताः कीर्त्तयन्ति पुराविदः ।
यथा बीजं न वप्तव्यं पुंसा परपरिग्रहे ॥
नश्यतीषुर्यथा विद्धः खे विद्धमनुविध्यतः ।
तथा नश्यति वै क्षिप्रं बीजं परपरिग्रहे ॥
पृथोरपीमां पृथिवीं भार्य्यां पूर्व्वविदो विदुः ।
स्थाणुच्छेदस्य केदारमाहुः शल्यवतो मृगम् ॥
एतावानेव पुरुषो यज्जायात्मा प्रजेति ह ।
विप्राः प्राहुस्तथा चैतद्यो भर्त्ता सा स्मृताङ्गना ॥
न निष्क्रयविसर्गाभ्यां भर्त्तुर्भार्य्या विमुच्यते ।
एवं धर्म्मं विजानीमः प्राक् प्रजापतिनिर्म्मितम् ।
सकृदंशो निपतति सकृत् कन्या प्रदीयते ।
सकृदाह ददामीति त्रीण्येतानि सतां सकृत् ॥
यथा गोऽश्वोष्ट्रदासीषु महिष्यजाविकासु च ।
नोत्पादकः प्रजाभागी तथैवान्याङ्गनास्वपि ॥
ये क्षेत्रिणो बीजवन्तः परक्षेत्रप्रवापिणः ।
ते वै शस्यस्य जातस्य न लभन्ते फलं क्वचित् ॥
यदन्यगोषु वृषभो वत्सानां जनयेच्छतम् ।
गोमिनामेव ते वत्सा मोघं स्कन्दितमार्षभम् ॥
तथैवाक्षेत्रिणो बीजं परक्षेत्रप्रवापिणः ।
कुर्व्वन्ति क्षेत्रिणामर्थं न बीजी लभते फलम् ॥
फलन्त्वनभिसन्धाय क्षेत्रिणां बीजिनां तथा ।
प्रत्यक्षं क्षेत्रिणामर्थो बीजाद्योनिर्गरीयसी ॥
क्रियाभ्युपगमात्त्वेतद्बीजार्थं यत् प्रदीयते ।
तस्येह भागिनौ दृष्टौ बीजी क्षेत्रिक एव च ॥
ओघवाताहृतं बीजं यस्य क्षेत्रे प्ररोहति ।
क्षैत्रिकस्यैव तद्बीजं न वप्ता लभते फलम् ॥
एष धर्म्मो गवाश्वस्य दास्युष्ट्राजाविकस्य च ।
विहङ्गमहिषीणाञ्च विज्ञेयः प्रसवं प्रति ॥
एतद्वः सारफल्गुत्वं बीजयोन्योः प्रकीर्त्तितम् ।
अतःपरं प्रवक्ष्यामि योषितां धर्म्ममापदि ॥*॥
भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भार्य्या या गुरुपत्न्यनुजस्य सा ।
यवीयसस्तु या भार्य्या स्नुषा ज्येष्ठस्य सा स्मृता ॥
ज्येष्ठो यवीयसो भार्य्यां यवीयान् वाग्रजस्त्रियम् ।
पतितौ भवतो गत्वा नियुक्तावप्यनापदि ॥
देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया ।
प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ॥
विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि ।
एकमुत्पादयेत् पुत्त्रं न द्वितीयं कथञ्चन ॥
द्वितीयमेके प्रजनं मन्यन्ते स्त्रीषु तद्विदः ।
अनिर्वृत्तं नियोगार्थं पश्यन्तो धर्म्मतस्तयोः ॥
विधवायां नियोगार्थे निर्वृत्ते तु यथाविधि ।
गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्त्तेयातां परस्परम् ॥
नियुक्तौ यौ विधिं हित्वा वर्त्तेयातान्तु कामतः ।
तावुभौ पतितौ स्यातां स्नुषागगुरुतल्पगौ ॥
नान्यस्मिन् विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः ।
अन्यस्मिन् हि नियुञ्जाना धर्म्मं हन्युः सनातनम् ॥
नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्त्यते क्वचित् ।
न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः ॥
अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्म्मो विगर्हितः ।
मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेणे राज्यं प्रशासति ॥
स महीमखिलां भुञ्जन् राजर्षिप्रवरः पुरा ।
वर्णानां सङ्करं चक्रे कामोपहतचेतनः ॥
ततः प्रभृति यो मोहात् प्रमीतपतिकां स्त्रियम् ।
नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधवः ॥
यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः ।
तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥
यथाविध्यभिगम्यैनां शुक्लवस्त्रां शुचिव्रताम् ।
मिथो भजेदाप्रसवात् सकृत् सकृदृतावृतौ ॥
न दत्त्वा कस्यचित् कन्यां पुनर्द्दद्यात् विचक्षणः ।
दत्त्वा पुनः प्रयच्छन् हि प्राप्नोति पुरुषानृतम् ॥
विधिवत् प्रतिगृह्यापि त्यजेत् कन्यां विगर्हिताम् ।
व्याधितां विप्रदुष्टां वा छद्मना चोपपादिताम् ॥
यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्यायोपपादयेत् ।
तस्य तद्वितथं कुर्य्यात् कन्यादातुर्दुरात्मनः ॥
विधाय वृत्तिं भार्य्यायाः प्रवसेत् कार्य्यवान्नरः ।
अवृत्तिकर्षिता हि स्त्री प्रदुष्येत् स्थितिमत्यपि ॥
विधाय प्रोषिते वृत्तिं जीवेन्नियममास्थिता ।
प्रोषिते त्वविधायैव जीवेच्छिल्पैरगर्हितैः ॥
प्रोषितो धर्म्मकार्य्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः ।
विद्यार्थं षट् यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान् ॥
संवत्सरं प्रतीक्षेत द्विषन्तीं योषितं पतिः ।
ऊर्द्ध्वं संवत्सरात्त्वेनां दायं हृत्वा न संवसेत् ॥
अतिक्रामेत् प्रमत्तं या मत्तं रोगार्त्तमेव वा ।
सा त्रीन् मासान् परित्याज्या विभूषणपरिच्छदा ॥
उन्मत्तं पतितं क्लीवमबीजं पापरोगिणम् ।
न त्यागोऽस्ति द्विषन्त्याश्च न च दायापवर्त्तनम् ॥
मद्यपासाधुवृत्ता च प्रतिकूला च या भवेत् ।
व्याधिता साधिवेत्तव्या हिंसार्थघ्नी च सर्व्वदा ॥
वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजा ।
एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी ॥
या रोगिणी स्यात्तु हिता सम्पन्ना चैव शीलतः ।
सानुज्ञाप्याधिवेत्तव्या नावमान्या च कर्हिचित् ॥
अधिविन्ना तु या नारी निर्गच्छेद्रुषिता गृहात् ।
सा सद्यः सन्निरोद्धव्या त्याज्या वा कुलसन्निधौ ॥
प्रतिषिद्धापि चेद्या तु मद्यमभ्युदयेष्वपि ।
प्रेक्षासमाजं गच्छेद्वा सा दण्ड्या कृष्णलानि षट् ॥
यदि स्वाश्चापराश्चैव विन्देरन् योषितो द्विजाः ।
तासां वर्णक्रमेणैव ज्यैष्ठ्यं पूजा च वेश्म च ॥
भर्त्तुः शरीरशुश्रूषां धर्म्मकार्य्यञ्च नैत्यिकम् ।
स्वा चैव कुर्य्यात् सर्व्वेषां नान्यजातिः कथञ्चन ॥
यस्तु तत् कारयेन्मोहात् सजात्या स्थितयान्यया ।
यथा ब्राह्मणचाण्डालः पूर्व्वदृष्टस्तथैव सः ॥
उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च ।
अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्यथाविधि ॥
काममामरणात्तिष्ठेद्गृहे कन्यर्त्तुमत्यपि ।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥
त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्य्यृतुमती सती ।
ऊर्द्ध्वन्तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम् ॥
अदीयमाना भर्त्तारमधिगच्छेद्यदि स्वयम् ।
नैनः किञ्चिदवाप्नोति न च यं साधिगच्छति ॥
अलङ्कारं नाददीत पित्र्यं कन्या स्वयंवरा ।
मातृकं भ्रातृदत्तं वा स्तेना स्यात् यदि तं हरेत् ॥
पित्रे न दद्याच्छुल्कन्तु कन्यामृतुमतीं हरन् ।
स हि स्वाम्यादतिक्रामेदृतूनां प्रतिरोधनात् ॥
त्रिंशद्वर्षो वहेत् कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम् ।
त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्म्मे सीदति सत्वरः ॥
देवदत्तां पतिर्भार्य्यां विन्दते नेच्छयात्मनः ।
तां साध्वीं बिभृयान्नित्यं देवानां प्रियमाचरन् ॥

प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः सन्तानार्थञ्च मानवाः ।
तस्मात् साधारणो धर्म्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः ॥
कन्यायां दत्तशुल्कायां म्रियेत यदि शुल्कदः ।
देवराय प्रदातव्या यदि कन्यानुमन्यते ॥
आददीत न शूद्रोऽपि शुल्कं दुहितरं ददत् ।
शुल्कं हि गृह्णन् कुरुते छन्नं दुहितृविक्रयम् ॥
एतत्तु न परे चक्रुर्नापरे जातु साधवः ।
यदन्यस्य प्रतिज्ञाय पुनरन्यस्य दीयते ॥
नानुशुश्रुम जात्वेतत् पूर्व्वेष्वपि हि जन्मसु ।
शुल्कसंज्ञेन मूल्येन छन्नं दुहितृविक्रयम् ॥
अन्योन्यस्याव्यभिचारो भवेदामरणान्तिकः ।
एष धर्म्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः ॥
तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ ।
यथा नाभिचरेतां तौ वियुक्तावितरेतरम् ॥
एष स्त्रीपुंसयोरुक्तो धर्म्मो वो रतिसंहितः ।
आपद्यपत्यप्राप्तिश्च दायभागं निबोधत ॥"
इति मानवे ९ अध्यायः ॥

स्त्रीपुंसलक्षणा, स्त्री, स्त्रीपुंसयोर्लक्षणं चिह्नं स्तनश्मश्र्वादिरूपं यस्यां सा । इति भरतः ॥ तत्पर्य्यायः । पोटा २ । इत्यमरः ॥

स्त्रीपुंसौ, पुं, (स्त्री च पुमांश्च । "अचतुरविचतु-रेति ।" ५ । ४ । ७७ । इति अच्प्रत्ययेन साधुः ।) स्त्रीपुंसयोर्युग्मम् । तत्पर्य्यायः । मिथुनम् २ द्वन्द्वम् ३ । इत्यमरः । २ । ५ । ३८ ॥ द्विवचनान्तोयम् ॥ (यथा, मनुः । ९ । २५ ।
"एषोदिता लोकयात्रा नित्यं स्त्रीपुंसयोः शुभा ॥")

स्त्रीपूर्व्वः, पुं, (स्त्री पूर्व्वे प्रधानतया सर्व्वकार्य्येषु अग्रगामिनीव यस्य ।) स्त्रीजितः । इति महाभारते दानधर्म्मः ॥

स्त्रीप्रियः, पुं, (स्त्रियाः प्रियः ।) आम्रवृक्षः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ नारीप्रियद्वये त्रि ॥

स्त्रीसुखपः, पुं, (स्त्रीसुखं पातीति । पा + कः ।) दोहलः । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्त्रीरञ्जनं, क्ली, (स्त्रियमपि रञ्जयति रागेणेति । रञ्ज + ल्युः ।) ताम्बूलम् । इति केचित् ॥

स्त्रीरोगः, पुं, (स्त्रिया रोगः ।) नारीणामामयः । तस्य चिकित्सा यथा,—

धन्वन्तरिरुवाच ।
"स्त्रीरोगादिचिकित्सान्तु वक्ष्ये सुश्रुत तां शृणु ।
योनिव्यापत्सु भूयिष्ठं शस्यते कर्म्म वातजित् ॥
वचोपकुञ्चिकाजातीकृष्णावृषकसैन्धवम् ।
अजमोदा यवक्षारं चित्रकं शर्कराम्वितम् ॥
पिष्ट्वालोड्य जलाद्येन खादयेद्घृतभर्ज्जितम् ।
योनिपार्श्वार्त्तिहृद्रोगगुल्मार्शोविनिवृत्तये ॥
वदरीपत्रसंलेपात् योनिर्भिन्ना प्रशाम्यति ।
लोध्रं तुम्बीफलालेपो योनिदार्ढ्यं करोति च ॥
पञ्चपल्लवशाल्यर्कमालतीकुसुमैर्घृतम्
रविपक्वमलर्कधारा योनिगन्धविनाशनम् ॥"
अलर्कधारास्थाने अर्कगाधा इति च पाठः ।
"सकाञ्जिकं जवापुष्पं भृष्टं ज्योतिष्मतीदलम् ।
दूर्व्वापिष्टञ्च संप्राश्य वनिता नार्त्तवं लभेत् ॥
धात्र्यञ्जनाभयाचूर्णं तोयपीतं यदा भवेत् ।"
यदा भवेदित्यत्र रजो हरेदिति च पाठः ।
"सदुग्धा लक्ष्मणा पीता न स्याद्वा पुत्रदा ध्रुवौ ॥
दुग्धस्याढकं चाश्वगन्धा च पुत्रदा ।
वन्ध्या पुत्रं लभेत् पीत्वा घृतेन योषकेशरम् ॥
कुशकाशोरुवूकाणां मूलैर्गोक्षुरकस्य च ।
दुग्धेनैव सिताशुक्तं गर्भिण्याः शूलनुत्परम् ॥
पाठालाङ्गलिसिंहास्यमयूरकुटजैः पृथक् ।
नाभिवस्तिभगालेपात् सुखं नारी प्रसूयते ॥
सूताया हृच्छिरोवस्तिशूलं वै मक्कल्लसंज्ञितम् ।
यवक्षारं पिबेत्तत्र मस्तुनोष्णोदकेन वा ॥
कुशमूलीकृतः क्वाथः साज्यः सूतिरुजापहः ।
शालितण्डुलचूर्णन्तु सदुग्धं दुग्धकृद्भवेत् ॥
विदारिकुसुमरसं मूलं कार्पासजं तथा ।
धात्री स्तन्यविशुद्ध्यर्थं मुद्गयूषरसायनी ॥
कुष्ठा वचाभया ब्राह्मी मधुरी क्षौद्रसर्पिषी ।
वर्णायुःकान्तिजननं लेहं बाले प्रदापयेत् ॥
स्तन्याभावे पयश्छाग्यं गव्यं वा तद्गुणं भवेत् ।
मुस्तशुण्ठीविषा बाला कुटजा चातिसारनुत् ॥
व्योषं मधु मातुलुङ्गं हिक्काच्छर्द्दिनिवारणम् ।
कुष्ठेन्द्रयवसिद्धार्थनिशा दूर्व्वा च कुष्ठजित् ॥
सप्तच्छदामयनिशाचन्दनैश्चानुलेपनम् ।
शङ्खाब्जबीजरुद्राक्षवचालोहादिधारणम् ॥"
इति गारुडे । १७६ । १—१९ ॥

स्त्रीसभं, क्ली, (स्त्रीणां सभा । अशालाचेति नपुंसकत्वम् ।) नारीणां सभा । इति केचित् ॥

स्त्रीस्वभावः, पुं, (स्त्रीणां स्वभाव इव स्वभावो यस्य ।) महल्लकः । इति शब्दमाला ॥ नारीणां शीलञ्च ॥ (यथा, महाभारते । ३ । ७१ । ६ ।
"स्त्रीस्वभावश्चलो लोके मम दोषश्च दारुणः ।
स्यादेवमपि कुर्य्यात् सा विवशा गतसौहृदा ॥")

स्त्रैणं, क्ली, (स्त्रिया इदम् । स्त्री + नञ् ।) स्त्रीस्वभावः । यथा, भट्टिः ।
"कर्म्मजपैराहितराज्यलोभा
स्त्रैणेन नीता विकृतिं लघिम्ना ।
रामप्रवासे व्यमृशन्न दोषं
जनापवादं सनरेन्द्रमृत्युम् ॥"
(यथा, च भागवते । ४ । ४ । ३ ।
"प्रिचोरगात् स्त्रैणविमूढधीर्गृहान्
प्रेम्णात्मनो योऽर्द्धमदात् सतां प्रियः ॥"
स्त्रीणां समूहः । स्त्री + नञ् । स्त्रीसमूहः । इति काशिका ।४।२।८७॥ यथा, शान्तिशतके ।
"तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्तु दिवसाः
क्वचित् पुण्येऽरण्ये शिव शिव शिवेति प्रलपतः ॥")

स्त्रैणः, त्रि, (स्त्रीषु भवः । स्त्रीभ्य आगतः । स्त्रीभ्यो हितो वा । स्त्री + "स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात् ।" ४ । १ । ८७ । इति नञ् ।) स्त्रीसम्बन्धी । इति मुग्धबोधव्याकरणम् ॥ स्त्रिया अपत्यं स्त्रैणः । स्त्रिया इदं स्त्रीणां समूहो वा स्त्रैणम् । इति तट्टीकायां दुर्गादासः ॥ (रमणीरतः । यथा, भागवते । १ । ११ । ३० ।
"तं मेनिरेऽबला मौढ्यात् स्त्रैणं चानुव्रतं रहः ।
अप्रमाणविदो भर्त्तुरीश्वरं मतयो यथा ॥")

स्थः, त्रि, (तिष्ठत्यस्मिन्निति । स्था + घञर्थे कः ।) स्थलम् । यथा,—
"स्थली देवकर्तृकेऽन्यत् स्थलं क्लीवे स्थ इत्यपि ।"
इति शब्दरत्नावली ॥
(सुबन्तोपपदे तु "सुपि स्थः ।" ३ । २ । ४ । इति कप्रत्ययः । स्थितिशीलः । यथा, रघुः । १२ । १५ ।
"चित्रकूटवनस्थञ्च कथितस्वर्गतिर्गुरोः ।
लक्ष्म्या निमन्त्रयाञ्चक्रे तमनुच्छिष्टसम्पदा ॥")

स्थग, ऋ ए संवृतौ । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-सक०-सेट् ।) दन्त्यादिरयमध्यः । ऋ, सिस्थगयिषति । ए, अस्थगीत् । इति दुर्गादासः ॥

स्थगः, त्रि, (स्थगति संवृणोति आत्मानमिति स्थग + अच् ।) धूर्त्तः । यथा,—
"धूर्त्ते स्थगश्च निर्लज्जः पटुः पाटविकोऽपि च ॥"
इति शब्दरत्नावली त्रिकाण्डशेषश्च ॥

स्थगनं, क्ली, (स्थग + ल्युट् ।) अपवारणम् । यथा,—
"व्यवधानं तिरोधानमन्तर्द्धिरपवारणम् ।
छदनं व्यवधान्तर्द्धापिधानस्थगनानि च ॥"
इति हेमचन्द्रः ॥

स्थगितं, त्रि, (स्थग + क्तः ।) तिरोहितम् । तत्पर्य्यायः । संवीतम् २ रुद्धम् ३ आवृतम् ४ संवृतम् ५ पिहितम् ६ छन्नम् ७ अपवारितम् ८ अन्तर्हितम् ९ तिरोधानम् १० । इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, किराते । १४ । ३१ ।
"उदूढवक्षाः स्थगितैकदिङ्मुखो
विकृष्टविस्फारितचापमण्डलः ॥")

स्थगी, स्त्री, (स्थग्यतेऽनयेति । स्थग + घञर्थे कः । गौरादित्वात् ङीष् ।) ताम्बूलपात्रम् । पानेर डाटा इति भाषा । तत्पर्य्यायः । ताम्बूलकरङ्कः २ । इति हेमचन्द्रः ॥

स्थगु, क्ली, गडुः । कुज् इति भाषा । यथा,—
"हृदये ते निविष्टास्ता भूयस्यान्याः सहस्रशः ।
तदेव स्थगु यद्दीर्घं रथघोणमिवायतम् ॥
लब्धार्थ्या च प्रतीता च लेपयिष्यामि ते स्थगु ।
मुखे च तिलकं चित्रं जातरूपमयं शुभम् ॥"
इति रामायणे अयोध्याकाण्डे ९ सर्गः ॥

स्थण्डिलं, क्ली, (तिष्ठत्यस्मिन्निति । स्था + भिधिला-दयश्चेति इलच्प्रत्ययेन निपातनात् साधुः ।) चत्वरम् । इत्यमरः । २ । ७ । १८ ॥ द्वे वेदीरभितोऽन्यत्र वा यज्ञार्थं परिष्कृतायामनिम्नोन्नतायां विस्तृतायां भूमौ । असंबाधेन तिष्ठन्त्यत्र स्थण्डिलं नाम्नीति डण्डिलः चत्यते निवासाय याच्यते चत्वरं क्विप् च याचे पूर्व्वेण वरः । इति भरतः ॥ यथाच ।
"यज्ञे परिष्कृतस्थाने स्यातां स्थण्डिलचत्वरे ।"
इति शब्दरत्नावली ॥ * ॥
होमनिमित्ताग्निस्थापनार्थं स्थण्डिलविधिर्यथा, वशिष्ठसंहितायाम् ।
"तस्मात् सम्यक् परिच्छेदं कर्त्तव्यं शुभवेदिकम् ।
हस्तमात्रं स्थण्डिलं वा संक्षिप्ते होमकर्म्मणि ॥"

क्रियासारेऽपि ।
"कुण्डमेवंविधं न स्यात् स्थण्डिलं वा समा-
श्रयेत् ॥"
शारदातिलकेऽपि ।
"नित्यं नैमित्तिकं काम्यं स्थण्डिले वा समाचरेत् ।
हस्तमात्रन्तु तत् कुर्य्यात् चतुरस्रं समन्ततः ॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥ * ॥
अपि च । गोभिलः । असुगुप्ता अथ चाद्भुत प्रागुदक्प्रवणं देशं समं वा परिसमूह्य उपलिप्य मध्यतः प्राचीं रेखामुल्लिख्य उदीचीञ्च संहतां पश्चान्मध्ये प्राचीन्तिस्र उल्लिख्याभ्युक्षयेत् तत्राग्न्यादेशो सर्व्वत्रेति । असुगुप्ता आच्छादिताः । पतितादिभिरदृष्टा इति यावत् ॥ प्राङ्नीचादिफलमाह गृह्यासंग्रहे गोभिलपुत्त्रः ।
"प्राङ्नीचं ब्रह्मवर्च्चस्यमुदङ्नीचं यशोत्तमम् ।
पित्र्यं दक्षिणतो नीचं प्रतिष्ठालम्भकं समम् ॥"
यशोत्तममित्यत्र साम्ना अध्वर्य्या इत्युत्तर-स्तोऽपि यशःशब्दः मयाशिरः इतिवत् । परिसमूह्य सर्व्वतः कुशैः पांश्वादिकमपसार्य्य उत्तरस्यां दिशि सार्द्धहस्तोपरि क्षिपेत् । परिसमूह्य वितस्तित्रये उत्तरत उत्करं करोतीति हरिशर्म्मधृतवचनात् । तत उपलेपनम् ॥ * ॥ तत्र कारणमाह गृह्यासंग्रहः ।
"इन्द्रेण वज्राभिहतः पुरा वृत्रो महासुरः ।
मेदसा तस्य संक्लिन्ना तदर्थमुपलेपयेत् ॥" इति ।
मध्यतः स्थण्डिलाभ्यन्तरे दक्षिणांशे न तु मध्यांशे उदग्गतैकविंशत्यङ्गुलरेखानुरोधात् । अन्यथा ।
"कुशैः संमार्ज्जयेद्भूमिं शुद्धामादौ शुचिस्ततः ।
हस्तमात्रां चतुरस्रां गोमयेनोपलेपयेत् ॥" ।
इति भारद्वाजीयहस्तप्रमाणस्थण्डिले तदनुपपत्तेः । प्राचीं प्राग्गताम् । उदीचीञ्च संहतां पश्चादिति । प्राग्गतायाः पश्चिमे भागे संलग्नामुदग्गताम् । मध्ये उदग्गतायाः प्राचीः प्राग्गास्तिस्रो रेखा उल्लिख्याभ्युक्षयेदिति । रेखाश्च उद्धृतक्तिकोद्धरणपूर्व्वकमभ्युक्षयेत् । उल्लिख्य उद्धृत्याभ्युक्षयेदिति कात्यायनसूत्रात् ॥ * ॥
उत्करप्रक्षेपदेशमाह गृह्यासंग्रहः ।
"उत्करं यस्य रेखाभ्योऽरत्निमात्रे निधापयेत् ।
द्वारमेतत् पदार्थानां प्रागुदीच्यां दिशि स्मृतम् ॥"
इति ॥
परिसमूहनादिपरिषेकान्तं कर्म्म लक्षणसंज्ञकं तस्य लक्षणत्वात् प्रक्रिया सर्व्वत्र यत्र यत्राग्निप्रणयनं तत्र बोध्या ॥ * ॥ रेखाप्रमाणमाह छन्दोगपरिशिष्टे कात्यायनः ।
"दक्षिणं प्राग्गतायास्तु प्रमाणं द्वादशाङ्गुलम् ।
तन्मूललग्ना योदीची तस्या एवं नवोत्तरम् ॥ ·
उदग्गतायाः संलग्नाः शेषाः प्रादेशमात्रिकाः ।
सप्त सप्ताङ्गुलांस्त्यक्त्वा कुशेनैव समुल्लिखेत् ॥"
नवोत्तरं नवाधिकं द्वादशाङ्गुलमेकविंशत्यङ्गुलमित्यर्थः । शेषाः उक्तरेखयोरवशिष्टास्तिस्रः । कुशेन इति सर्व्वत्राभिसम्बध्यते । एवकारेण शाखान्तरोक्तस्य व्यावृत्तिः ॥ * ॥ रेखाणां देवता वर्णाश्चाह स्मृतिः ।
"प्राग्गता पार्थिवी ज्ञेया चाग्नेयी चाप्युदग्गता ।
प्राजापत्या तथा चैन्द्री सौमी च प्राक्कृता स्मृता ॥
पार्थिवी पीतवर्णा स्यादाग्नेयी लोहिता भवेत् ।
प्राजापत्या भवेत् कृष्णा नीला चैन्द्री प्रकीर्त्तिता ॥
श्वेतवर्णेन सौमी स्यात् रेखाणां वर्णलक्षणम् ॥"
अग्निस्थापनपर्य्यन्तं सप्तहस्तप्रादेशस्य विधानमाह । गृह्यासंग्रहः ।
"सव्यं भूमौ प्रतिष्ठाप्य प्रोल्लिखेद्दक्षिणेन तु ।
तावन्नोत्थापयेत् पाणिं यावदग्निं निधापयेत् ॥"
मानकर्त्तारमाह छन्दोगपरिशिष्टे कात्यायनः ।
"मानक्रियायामुक्तायामनुक्ते मानकर्त्तरि ।
मानकृद्यजमानः स्यादिदुषामेष निश्चयः ॥"
अङ्गुलाङ्गुलिमानमाह स एव ।
"अङ्गुलाङ्गुलिमानन्तु यत्र यत्रोपदिश्यते ।
तत्र तत्र बृहत्पर्व्वग्रन्थिभिर्म्मिनुयात् सदा ॥"
यजमानासन्निधौ होमे तु साधारणाङ्गुलिमानम् । यथा कपिलपञ्चरात्रम् ।
"अष्टभिस्तैर्भवेज्ज्येष्ठं मध्यमं सप्तभिर्यवैः ।
कन्यसं षड्भिरुद्दिष्टमङ्गुलं मुनिसत्तमैः ॥"
तैः प्रकृतमाणयवैः । कन्यसं कनिष्ठम् । मानन्तु पार्श्वेन । षड्यवाः पार्श्वसंमिताः । इति कात्यायनवचनात् । इति संस्कारतत्त्वम् ॥

स्थण्डिलशायी, [न्] पुं, (स्थण्डिले शेते इति । शी + "व्रते ।" ३ । २ । ८० । इति इनिः ।) यो व्रतवशात् स्थण्डिले शेते सः । तत्पर्य्यायः । स्थाण्डिलः २ । इत्यमरः ।२ । ७ । ४४ ॥ स्थण्डिलेशयः ३ । इति शब्दरत्नावली ॥ (वाच्यलिङ्गेऽपि वर्त्तते । यथा, भट्टिः । ३ ।४१ ।
"वाचंयमान् स्थण्डिलशायिनश्च
युयुक्षमाणाननिशं मुमुक्षून् ।
अध्यापयन्तं विनयात् प्रणेमुः
पद्गा भरद्वाजमुनिं सशिष्यम् ॥")

स्थण्डिलसितकं, क्ली, (स्थण्डिले सिकता यत्र ।) वेदिः । इति हारावली ॥

स्थण्डिलेशयः, पुं, (स्थण्डिले शेते इति । शी + अच् । अलुक्समासः ।) स्थण्डिलशायी । इति शब्दरत्नावली ॥ (वाच्यलिङ्गोऽप्ययमिति केचित् ॥ यथा, भागवते । ४ । २३ । ६ ।
"आकण्ठमग्नः शिशिरे उदके स्थण्डिलेशयः ॥")

स्थपतिः, पुं, (तिष्ठन्त्यस्मिन्निति । स्था + कः । स्थः स्थानम् । तं पातीति । पा + बाहुलकात् अतिः । इत्युणादिवृत्तौ उज्ज्वलः ।४।५६ ।) गीष्पतीष्टियज्वा । बृहस्पतिसवननामकयागकर्त्ता । कारुभेदः । राज इति भाषा । इत्यमरः ।३।३।६० ॥ कारुः शिल्पी तक्षादे यह इति ख्याते । स्थपतिः कारुभेदो मुख्यतक्षेति स्वामी । बृहस्पतियाजिनि कञ्चुकिनि च । इति भरतः ॥ * ॥ तस्य लक्षणं यथा,—
"वास्तुविद्याविधानज्ञो लघुहस्तो जितश्रमः ।
दीर्घदर्शी च शूरश्च स्थपतिः परिकीर्त्तितः ॥"
इति मात्स्ये । २१५ । ३६ ॥
कञ्चुकी । इति मेदिनी ॥ कुवेरः । इत्यजयपालः ॥ अधीशः । इति हेमचन्द्रः ॥ (यथा, रामायणे । २ । ५२ । ५ ।
"स तु रामस्य वचनं निशम्य प्रतिगृह्य च ।
स्थपतिस्तूर्णमाहूय सचिवानिदमब्रवीत् ॥")

स्थपतिः, त्रि, (तिष्ठन्ति स्वधर्म्मे इति स्थाः सन्तस्तेषां पतिः ।) सत्तमः । इति मेदिनी ॥

स्थपुटः, त्रि, विषमसञ्चारजीवी । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ विषमोन्नतम् । इति हेमचन्द्रः ॥

स्थल, ज स्थाने । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (भ्वा०-पर०-अक०-सेट् ।) ज, स्थालः स्थलः । तिस्थालयिषति । अयं नास्तीति केचित् । इति दुर्गादासः ॥

स्थलं, क्ली स्त्री, (स्थल + अच् ।) जलशून्याकृत्रिमभूभागः । तत्पर्य्यायः । स्थली २ । इत्यमरः । २ । १ । ५ ॥ स्थल्यते स्थीयतेऽत्र स्थलं स्थल ज स्थाने अल । एवं स्थली नारी सखी इत्यादिना अकृत्रिमत्वे ङीपि स्थली निपात्यते । कृत्रिमत्वे तु आवेव स्थला । कृत्रिमाकृत्रिमसामान्ये तु स्थलं प्रयुज्यते । इति वृद्धाः । स्थलशब्दः क्लीनपुंसकलिङ्गः । इति भरतः ॥ (यथा, मनुः । ७ । १९२ ।
"स्यन्दनाश्वैः समे युध्येदनूपे नौद्विपैस्तथा ।
वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्म्मायुधैः स्थले ॥"
यथा च तैत्तिरीयसंहितायाम् । १।६।१०।१ ।
"यज्ञो यजमानाय वर्षति स्थलयोदकं परिगृह्णन्ति ॥")

स्थलं, क्ली, (स्थल + अच् ।) जलशून्यकृत्रिमाकृत्रिमभूभागः । इत्यमरटीकायां भरतः । २ । १ । ५ ॥ (स्थानमात्रम् । यथा, रघुः ।५।५२।
"उवाच वाग्मी दशनप्रभाभिः
संवर्द्धितोरःस्थलतारहारः ॥")
वस्त्रगृहम् । यथा,—
"पटवासः पटमयं दूष्यं वस्त्रगृहं स्थलम् ॥"
इति त्रिकाण्डशेषः ॥

स्थलकन्दः, पुं, (स्थलजातः कन्दः ।) अग्राम्यकन्दः । इति रत्नमाला ॥ वनओल इति भाषा ॥

स्थलकमलं, क्ली, (स्थलस्य कमलम् ।) स्थलपद्मम् । (यथा, गीतगोविन्दे । १० । ७ ।
"स्थलकमलगञ्जनं मम हृदयरञ्जनं
जनितरतिरङ्गपरभागम् ॥")
तत्पर्य्यायः । पद्मचारिणी २ अतिचरा ३ अव्यथा ४ पद्मा ५ चारटी ६ । अस्य गुणाः । अनुष्णत्वम् । कटुत्वम् । तिक्तत्वम् । कषायत्वम् । कफवातमूत्रकृच्छ्राश्मशूलश्वासकासविषापहत्वञ्च । इति भावप्रकाशः ॥

स्थलकुमुदः, पुं, (स्थलस्य कुमुदः ।) करवीरः । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्थलपद्मं, क्ली, (स्थलस्य पद्मम् ।) स्वनामख्यात-पुष्पविशेषः । (यथा, भट्टिः । २ । ३ ।

"विभ्राजितस्तीरवनैः सस्क्तिं
निजां विलोक्यापहृतां पयोभिः ।
कूलानि सामर्षतयेव तेनुः
सरोजलक्ष्मीं स्थलपद्महासैः ॥")

तत्पर्य्यायः । कृमिपत्त्रम् २ तमालकम् ३ । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ तच्चतुर्व्विधं यथा,—
"चतुर्धा स्थलपद्मानि सेवन्ती गुलदावदी ।
नेपाली च गुलाबश्च वकुलश्च कदम्बकः ॥"
इति रावणकृतार्कप्रकाशः ॥

स्थलपद्मः, पुं, (स्थलजातः पद्म इव ।) मानकः । इति रत्नमाला ॥ मानकचु इति भाषा ॥ (यथा,—
"स्थलपद्ममयं कल्कं पयसा लोड्य पाययेत् ।
शोथामयहरश्चैव सर्व्वाङ्गैकाङ्गशोथजित् ॥"
इति वैद्यकचक्रपाणिसंग्रहे शोथाधिकारे ॥)

स्थलपद्मिनी, स्त्री, (स्थलस्य पद्मिनी ।) स्थल-पद्मम् । वेटतामर इति हिन्दी भाषा । तत्-पर्य्यायः । पद्माह्वा २ चारटी ३ पद्मचारिणी ४ सुगन्धमूला ५ अम्बुरुहा ६ लक्ष्मीः ७ श्रेष्ठा ८ सुपुष्करा ९ रम्या १० पद्मावती ११ अति-चरा १२ स्थलरुहा १३ पुष्करिणी १४ पुष्कर-पर्णिका १५ पुष्करनाडी १६ । अस्या गुणाः । शैत्यत्वम् । तिक्तत्वम् । शीतलत्वम् । वान्तिरक्त-पित्तमेहभूतातीसारनाशित्वञ्च । इति राज-निर्घण्टः ॥

स्थलमञ्जरी, स्त्री, (स्थलस्य मञ्जरी ।) अपामार्गः । इति रत्नमाला ॥

स्थलशृङ्गाटः, पुं, (स्थलजातः शृङ्गाटः ।) गोक्षुर-वृक्षः । इति रत्नमाला ॥

स्थलशृङ्गाटकः, पुं, (स्थलशृङ्गाट एव । स्वार्थे कन् ।) गोक्षुरकः । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्थलसीमा, [न्] पुं, (स्थलस्य सीमा ।) स्थण्डिलः । इति भूरिप्रयोगः ॥

स्थला, स्त्री, (स्थल + टाप् ।) जलशून्याकृत्रिम-भूमिः । इत्यमरटीकायां भरतः । २ । १ । ५ ॥ (अस्याः प्रमाणं स्थलशब्दे द्रष्टव्यम् ॥)

स्थली, स्त्री, (स्थल + ङीष् ।) जलशून्याकृत्रिमा भूमिः । इत्यमरटीकायां भरतः । २ । १ । ५ ॥ (यथा, साहित्यदर्पणे ।

"सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां
भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्व्याम् ।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्द-
विश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम् ॥")

स्थलीदेवता, स्त्री, (स्थल्या देवता ।) ग्राम्यदेवता । इति केचित् ॥

स्थलेरुहा, स्त्री, (स्थले रोहतीति । रुह + कः ।) गृहकुमारी । दग्धारुहः । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्थलजाते, त्रि ॥

स्थलेशयः, पुं, (स्थले शेते इति । शी + अच् ।) क्रोडरुरुकुरङ्गादयः । इति राजनिर्घण्टः ॥ स्थलशायिनि, त्रि ॥

स्थविः, पुं, (तिष्ठतीति । स्था + "क्रविष्ठ्यौति ।" उणा० ४ । ५६ । इति क्विन्प्रत्ययेन साधुः ।) तन्तुवायः । स्वर्गः । जङ्गमः । इति संक्षिप्त-सारोणादिवृत्तिः ॥

स्थविरं, क्ली, (स्था + "अजिरशिशिरेति ।" उणा० १ । ५४ । किरच्प्रत्ययेन साधुः ।) शैलेयम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्थविरः, पुं, (स्था + किरच् ।) ब्रह्मा । इति हेमचन्द्रः ॥

स्थविरः, त्रि, (तिष्ठतीति । स्था + "अजिर-शिशिरेति ।" उणा० १ । ५४ । इति किरच्-प्रत्ययेन साधुः ।) वृद्धः । इत्यमरः । २ । ६ । ४२ ॥ (यथा, मनुः । २ । १२० ।
"ऊर्द्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति ।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते ॥"
भिक्षुः । इत्युणादिवृत्तौ उज्ज्वलदत्तः ॥ १।४५॥) अचलः । इत्युणादिकोषः ॥

स्थविरा, स्त्री, (स्था + किरच् । टाप् ।) महा-श्रावणी । इति राजनिर्घण्टः ॥ वृद्धा च ॥

स्थविष्ठः, त्रि, (अयमेषामतिशयेन स्थूलः । स्थूल + इष्ठन् । "स्थूलदूरेति ।" ६ । ४ । १५६ । इति साधुः ।) अतिशयस्थूलः । इत्यमरः । ३ । १ । १११ ॥ (यथा, भागवते । २ । १ । २४ ।
"विशेषस्तस्य देहोऽयं स्थविष्ठश्च स्थवीयसाम् ॥")

स्थाणुः, पुं, (तिष्ठतीति । स्था + "स्थो णुः ।" उणा० ३ । ३७ । इति णुः ।) शिवः । इत्यमरः । १ । १ । ३६ ॥ (यथा, रघुः । ११ । १३ ।

"स्थाणुदग्धवपुषस्तपोवनं
प्राप्य दाशरथिरात्तकार्म्मुकः ।
विग्रहेण मदनस्य चारुणा
सोऽभवत् प्रतिनिधिर्न कर्म्मणा ॥")

तन्नामकारणं यथा,—
"समुत्तिष्ठन् जलात्तस्मात् प्रजास्ताः स्रष्टवानहम् ।
ततोऽहं ताः प्रजा दृष्ट्वा रहिता एव तेजसा ॥
क्रोधेन महता युक्तो लिङ्गमुत्पाद्य चाक्षिपम् ।
उत्क्षिप्तं सरसो मध्ये ऊर्द्ध्वमेव यदा स्थितम् ।
तदा प्रभृति लोकेषु स्थाणुरित्येव विश्रुतम् ॥"
इति वामने ४६ अध्यायः ॥

(ब्रह्मा । यथा, महाभारते । १ । १ । ३२ ।
"यस्मात् पितामहो जज्ञे प्रभुरेकः प्रजापतिः ।
ब्रह्मा सुरगुरुः स्थाणुर्म्मनुः कः परमेष्ठ्यथ ॥")
कीलः । इति मेदिनी ॥ जीवकगन्धद्रव्यम् । यथा,
"जीवके जीवनो जीवो निधिः स्थाणुः प्रकी-र्त्तितः ॥"
इति शब्दचन्द्रिका ॥

स्थाणुः, पुं क्ली, (स्था + णुः ।) निःशाखवृक्षः । मुड़ा गाछ इति भाषा ॥ (यथा, देवीभाग-वते । १ । १७ । ५३ ।
"छायायामातपे चैव संमदर्शी महातपाः ।
ध्यानं कृत्वा तथैकान्ते स्थितः स्थाणुरिवा-चलः ॥")

तत्पर्य्यायः । ध्रुवः २ शङ्कुः ३ । इत्यमरः ।२।४।८॥ अशाखवृक्षः ४ । इति जटाधरः ॥ अश्वभेदः । इति नीलकण्ठः ॥

स्थाणुः, त्रि, (स्था + णुः ।) स्थिरः । इति धरणिः ॥ (यथा, विष्णुपुराणे । १ । ५ । ५८ ।
"अव्ययश्च व्ययश्चैव यदिदं स्थाणुजङ्गमम् ।
तत् सवर्ज्जं तदा ब्रह्मा भगवानादिकृत् विभुः ॥")

स्थाणुतीर्थं, क्ली, (स्थाणोस्तीर्थम् ।) तीर्थविशेषः । यथा, वामने ४३ अध्याये ।
"स प्रोवाच महादेवो ब्रह्माणं प्रणतस्थितम् ।
पुण्यप्रदं कृणाश्चैव तीर्थमाहात्म्यमुत्तमम् ॥
एतत् सन्निहितं प्रोक्तं सरः पुण्यप्रदं महत् ।
स्थाणुलिङ्गस्य माहात्म्यं ब्रह्मन् मेऽवहितः शृणु ॥
अचेतनः सचेता वा अज्ञो वा प्राज्ञ एव वा ।
लिङ्गस्य दर्शनादेव मुच्यते सर्व्वपातकैः ॥
पुष्करादीनि तीर्थानि समुद्रसरणानि च ।
स्थाणुतीर्थं समेष्यन्ति मध्यं प्राप्ते दिवाकरे ॥
तत्र स्तास्यति यो ब्रह्मन् माघ स्तोष्यति भक्तितः ।
तस्याहं सुलभो नित्यं भविष्यामि न संशयः ॥
इत्येवमुक्त्वा वचनं देवदेवो गतः प्रभुः ।
देवाश्च ऋषयः सर्व्वे स्वानि स्थानानि भेजिरे ॥
ततः प्रभृति लोकेऽस्मिन् स्थाणुतीर्थं वदन्ति हि ॥"

स्थाण्डिलः, पुं, (स्थण्डिले शयितुं व्रतमस्य । स्थण्डिल + "स्थण्डिलात् शयितरि व्रते ।" ४ । २ । १५ । इति अण् ।) स्थण्डिलशायी । इत्य-मरः ।२।७।४५॥ (वाच्यलिङ्गोऽयमिति केचित् ॥)

स्थाण्वीश्वरः, पुं, (स्थाणुरीश्वरश्च ।) शिवलिङ्ग-विशेषः । यथा,—
"स्थाणुर्नाम्ना हि लोकेषु पूजनीयो दिवौकसाम् ।
स्थाणुरीश्वरः स्थितो यस्मात् स्थाण्वीश्वरस्ततः स्मृतः ॥
ये स्मरन्ति सदा स्थाणुं ते मुक्ताः सर्व्व-किल्बिषैः ।
भविष्यन्ति शुद्धदेहा दर्शनान्मोक्षगामिनः ॥
इत्येवमुक्ता देवेन ऋषयो ब्रह्मणा सह ।
तस्माद्दारुवनं लिङ्गं नेतुं समुपचक्रमुः ॥"
इति वामने ४२ अध्यायः ॥

स्थातव्यं, त्रि, (स्था + तव्य ।) स्थेयम् । स्थानीयम् । यथा, कालिदासकृतशृङ्गारतिलके ।
"वाणिज्येन गतः स मे गृहपतिर्वार्त्तापि न श्रूयते
प्रातस्तज्जननी प्रसूततनया जामातृगेहं गता ।
बालाहं नवयौवना निशि कथं स्थातव्यमस्मद्-गृहे
सायं सम्प्रति वर्त्तते पथिक हे स्थानान्तरे गम्यताम् ॥"

स्थानं, क्ली, (स्था + ल्युट् ।) नीतिवेदिनां त्रिव-र्गान्तर्गतवर्गविशेषः । इत्यमरः । २ । ८ । १९ ॥

नीतिवेदिनां नीतिशास्त्रज्ञानां क्षयादिभिस्त्रिवर्गः। अन्येषान्तु धर्म्मकामार्थैः पूर्व्वमुक्तः। अष्टवर्गस्यापचयः क्षयः। तस्यैवोपचयो वृद्धिः। तस्य नोपचयो नाप्यपचयः स्थानम्। अष्टवर्गो यथा,—

"कृषिर्व्वणिक्‌पथो दुर्गं सेतुकुञ्जरबन्धनम्।
कन्याकरबलादानं सैन्यानाञ्च निवेशनम्॥
अष्टवर्गः स्मृतो राज्ञामिति————॥"

इति भरतः॥*॥

सादृश्यम्। अवकाशः। स्थितिः। इति मेदिनी। (यथा, मनुः। ६। २२।

"स्थानासनाभ्यां विहरेत् सवनेषूपयन्नपः॥")

सन्निवेशः। इति हेमचन्द्रः॥ वसतिः। इति चतुर्थकाण्डे हेमचन्द्रः॥ (यथाह कश्चित्।

"स्थानं प्रधानं न बलं प्रधानं
स्थानस्थितः कापुरुषोऽपि सिंहः॥")

ग्रन्थसन्धिः। इति त्रिकाण्डशेषः॥ भाजनम्। इति हलायुधः॥ निकटम्। यथा,—

"त्वमत्र कृत्तिकास्थाने कथयामासुरीश्वर।
सर्व्वे धर्म्मादयो देवा धर्म्माधर्म्मस्य साक्षिकः॥"

इति ब्रह्मवैवर्त्ते गणपतिखण्डे। १५। १६॥

अपि च।

"एते ह्यपत्यास्तस्यैव धारयन्ति चराचरम्।
पुरा मङ्कणकः सिद्धस्तत्स्थाने इति मे श्रुतम्॥"

इति वामने ३७ अध्यायः॥*॥

स्वधर्म्मानुष्ठायिनां असम्यग्वर्त्तिनाञ्च स्थानविशेषप्राप्तिर्यथा,—

"वर्णानामाश्रमाणाञ्च सम्यग्धर्म्मानुपालिनाम्।
असम्यग्वर्त्तिनां लोकान् ब्रह्मा चक्रे यथा च यत्॥
प्राजापत्यं ब्राह्मणानां स्मृतं स्थानं क्रियावताम्।
क्षत्रियाणां तथा चैन्द्रं संग्रामेष्वनुवर्त्तिनाम्॥
वैश्यानां मारुतं स्थानं स्वधर्म्ममनुवर्त्तिनाम्।
गान्धर्व्वं शूद्रजातीनां परिचर्य्यानुकारिणाम्॥
अष्टाशीतिसहस्राणां यतीनामूर्द्ध्वरेतसाम्।
स्मृतं तेषान्तु यत् स्थानं तदेव गुरुवासिनाम्॥
सप्तर्षीणाञ्च यत् स्थानं स्मृतं तद्वत् वनौकसाम्।
प्राजापत्यं गृहस्थानां गृहधर्म्मानुवर्त्तिनाम्॥
न्यासिनान्तु परं ब्रह्म योगिनाममृतं स्मृतम्।
एकान्तवासिनां ब्रह्मध्यायिनां परमं पदम्॥
तामिस्रमन्धतामिस्रं महारौरवरौरवम्।
असिपत्रवनं घोरं कालसूत्रमवीचिमत्॥
वेदस्य निन्दकानान्तु यज्ञव्याघातकारिणाम्।
स्थानमेतत् समाख्यातं स्वधर्म्मविनिवर्त्तिनाम्॥"

इति वह्निपुराणे सर्गकथननामाध्यायः॥

स्थानकं, क्ली, (स्थानमिव। कन्। स्थाने कं जलं यत्रेति वा।) आलवालम्। इति हेमचन्द्रः॥ नगरम्। फेनम्। इति केचित्॥ (स्थानमेव। स्वार्थे कन्। स्थानशब्दार्थोऽप्यत्र। यथा, महाभारते। १३। २६। ६४।

"तत् स्थानकं ब्राह्मभभीप्समाने-
र्गङ्गा सदैवात्मवशैरुपास्या॥")

स्थानचञ्चला, स्त्री, (स्थाने चञ्चला।) वर्व्वरीदृक्षः। इति शब्दचन्द्रिका॥

स्थानच्युतः, त्रि, (स्थानात् च्युतः।) स्थानभ्रष्टः। यथा, गारुडे। ११५। ७१।

"स्थानस्थितस्य पद्मस्य मित्रौ वरुणभास्करौ।
स्थानच्युतस्य तस्यैव क्लेदशोषणकारकौ॥"

स्थानपालः, पुं, स्थानं पालयति यः। (स्थान + पालि + अण।) स्थानरक्षकः। (यथा, याज्ञवल्क्ये। २। १७६।

"शौल्किकैः स्थानपालैर्व्वा नष्टापहृतमाहृतम्।
अर्व्वाक् संवत्सरात् स्वामी हरेत परतो नृपः॥")

स्थानभ्रष्टः, त्रि, (स्थानात् भ्रष्टः।) पदच्युतः। यथा,—

"स्थानस्थितानि पूज्यन्ते पूज्यन्ते च पदस्थिताः।
स्थानभ्रष्टा न पूज्यन्ते केशा दन्ता नखा नराः॥"

इति गारुडे। ११५। ७३॥

स्थानाध्यक्षः, पुं, (स्थानस्य अध्यक्षः।) स्थानरक्षकः। तत्पर्य्यायः। स्थानिकः २। इति हेमचन्द्रः॥

स्थानिकः, पुं, (स्थानमस्यास्तीति। ठन्।) स्थानाध्यक्षः। इति हेमचन्द्रः॥

स्थानी, [न्] त्रि, स्थानविशिष्टः। स्थानं विद्यतेऽस्य इत्यर्थे इन्प्रत्ययेन निष्पन्नः। यथा, स्थानिवदादेशः। इति मुग्धबोधव्याकरणम्॥

स्थानीयं, क्ली, (स्थानाय हितमिति। स्थान + छः।) नगरम्। इत्यमरः। २। २। १॥ स्थानसम्बन्धिनि, त्रि॥

स्थाने, व्य, योग्यम्। (यथा, रघुः। ५। १६।

"स्थाने भवानेकनराधिपः स-
न्नकिञ्चनत्वं मखजं व्यनक्ति॥")

कारणार्थः। सादृश्यम्। सत्यम्। इति शब्दरत्नावली॥

स्थापकः, त्रि, (स्थापयतीति। स्था + णिच् + ण्वुल्।) स्थापनकर्त्ता। आन्तस्थाधातोर्णकप्रत्ययेन निष्पन्नः॥

स्थापत्यः, पुं, (स्थपतिरेव। स्थपति + ष्यञ्।) अन्तःपुररक्षकः। इत्यमरः। २। ८। ८॥ स्थपतेर्भावे, क्ली॥

स्थापनं, क्ली, (स्था + णिच् + ल्युट्।) रोपणम्। पुंसवनम्। इति मेदिनी॥ समाधिः। इति विश्वः॥ (पादादिपिण्डीकरणम्। इति श्रीधरस्वामी॥ यथा, भागवते। १०। ४४। ५।

"उत्थापनैरुन्नयनैश्चालनैः स्थापनैरपि।
परस्परं जिगीषन्तावपचक्रतुरात्मनः॥")

स्थापना, स्त्री, (स्था + णिच् + युच् + टाप्।) स्थापनम्। निवेशनम्। (यथा, महाभारते। १२। ८१। २४।

"स्थापना वै सुमहती त्वया देव प्रवर्त्तिता॥"

विचाराङ्गविशेषः। तद्यथा,—

"अथ स्थापना। स्थापना नाम तस्या एव प्रतिज्ञाया हेतुभिर्दृष्टान्तोपनयनिगमैः स्थापना पूर्व्वं हि प्रतिज्ञा पश्चात् स्थापना किंह्यप्रतिज्ञातं स्थापयिष्यति यथा नित्यः पुरुष इति प्रतिज्ञा हेतुरकृतकत्वात् इति। दृष्टान्तः यथा, अकृतकमाकाशं तच्च नित्यम्। उपनयो यथा चाकृतकमाकाशन्तथा पुरुषः। निगमनन्तस्मान्नित्य इति।" इति चरके विमानस्थाने ८ अध्याये॥)

स्थापनी, स्त्री, (स्थाप्यतेऽनयेति। स्था + णिच् + ल्युट्। ङीप्।) पाठा। इति मेदिनी अमरश्च। २। ४। ८४॥

स्थापितं, त्रि, (स्था + णिच् + क्तः।) निश्चितम्। न्यस्तम्। इति मेदिनी॥ (यथा, देवीभागवते। २। ६। ४३।

"मणिमन्त्रधराः शूराः स्थापितास्तत्र रक्षणे॥")

स्थाम, [न्] क्ली, (तिष्ठत्यनेनेति। स्था + "सर्व्वधातुभ्यो मनिन्।" उणा० ४। १४४। इति मनिन्।) सामर्थ्यम्। इत्यमरः। २। ८। १०२॥ (नादः। यथा, महाभारते। १। १३१। २४।

"अश्वस्येवास्य यत् स्थाम नदतः प्रदिशो गतम्।
अश्वत्थामैव बालोऽयं तस्मान्नाम्ना भविष्यति॥")

स्थायिभावः, पुं, (स्थायी भावः।) रसस्य त्रिधाभावान्तर्गतभावविशेषः। यथा,—

"सञ्चारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः।
उद्बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते॥
न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्ज्जितः।
परस्परकृता सिद्धिरनयो रसभावयोः॥"

इत्युक्तदिशा परमालोचनया परमविश्रान्तिस्थानेन रसेन सहैव वर्त्तमाना अपि राजानुगतविवाहप्रवृत्तभृत्यवत् आपाततो यत्र प्राधान्येनाभिव्यक्ता व्यभिचारिणः देवमुनिगुरुनृपादिविषया रतिः उद्बुद्धमात्रा विभावादिभिरपरिपुष्टतया रसतामनापाद्यमानाश्च स्थायिनो भावा भावशब्दवाच्याः। उद्बुद्धमात्रस्थायी भावो यथा,—

"हरस्तु किञ्चित् परिवृत्त धैर्य्य-
श्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे
व्यापारयामास विलोचनानि॥"

अत्र पार्व्वतीविषया भगवतो रतिः। इति साहित्यदर्पणे रसभावादिनिरूपणो नाम ३ परिच्छेदः॥

स्थायी, [न्] पुं, (तिष्ठतीति। स्था + णिनिः।) भावभेदः। यथा,—

"स्थायिसात्त्विकसञ्चारिप्रभेदैः स्यात्त्रिधा पुनः॥"

इति हेमचन्द्रः॥

(यथा, साहित्यदर्पणे। ३। २०५—२०७।

"अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः।
आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति सम्मतः॥
यदुक्तम्।
सक्‌सूत्रवृत्त्या भावानामन्येषामनुगामुकः।
न तिरोधीयते स्थायी तैरसौ पुष्यते परम्॥
तद्भेदानाह।
रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेत्यमष्टौ प्रोक्ताः शमोऽपि च॥

तत्र।

रतिर्म्मनोऽनुकूलेऽर्थे मनस: प्रवणायितम्।
वागादिवैकृताच्चेतोविकासो हास इष्यते॥
इष्टनाशादिभिश्चेतोवैक्लव्यं शोकशब्दभाक्।
प्रतिकूलेषु तैक्ष्ण्यस्यावबोध: क्रोध इष्यते॥
कार्य्यारम्भेषु संरम्भ: स्थेयानुत्साह उच्यते।
रौद्रशक्त्या तु जनितं चित्तवैक्लव्यदं भयम्॥
दोषेक्षणादिभिर्गर्हा जुगुप्सा विषयोद्भवा।
विविधेषु पदार्थेषु लोकसीमातिवर्त्तिषु॥
विस्फारश्चेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृत:।
शमो निरीहावस्थायामात्मविश्रामजं सुखम्॥

यथा मालतीमाधवे रति:। लटकमेलके हास:। रामायणे शोक:। महाभारते शम:। एवमन्येऽपि। एते हि एतेष्वन्तरा उत्पद्यमानैस्तैस्तैर्विरुद्धैरविरुद्धैश्च भावैरनुच्छिन्ना: प्रत्युत परिपुष्टा एव सहृदयानुभवसिद्धा:॥"*॥) स्थितिविशिष्टे, त्रि॥ (तथा, महाभारते।६।३।२६।

"संवत्सरस्थायिनौ च ग्रहौ प्रज्वलितावुभौ॥")

स्थायुक:, पुं, (स्थातुं शीलमस्य। स्था+"लषपतपदेति।"३।२।१५४। इति उकञ्।) एकग्रामाधिकृत: एकस्मिन् ग्रामे नियोजित:। इत्यमर:।२।८।७॥ (स्थितिशीले, त्रि। यथा, भट्टि:।२।२२।

"आयोधने स्थायुकमस्त्रजात-
ममोघमभ्यर्णमहाहवाय।
ददौ वधाय क्षणदाचराणां
तस्मै मुनि: श्रेयस आगरूक:॥")

स्थालं, क्ली, (तिष्ठत्यस्मिन् अन्नादिकमिति। स्था+"स्थाचतिमृजेरिति।" उणा०१।११५। इति आलच्।) हेमादिकृतभोजनपात्रम्। थाल इति भाषा। इत्यमर:।३।५।३२॥ स्थलति तिष्ठति अन्नादिकमत्र स्थालं स्थल ञ स्थाने घञ्। इति भरत:॥ (अस्थिविशेष:। यथा, याज्ञवल्क्य:।३।८५।

"स्थाले: सह चतु:षष्टिर्दन्ता वै विंशतिर्नखा:॥"
"स्थालानि दन्तमूलप्रदेशस्थान्यस्थीनि।" इति तत्र मिताक्षरा॥)

स्थाली, स्त्री, (तिष्ठन्त्यत्रान्नादीनीति। स्था+आलच्। गौरादित्वात् ङीष्। इत्युणादिवृत्तौ उज्ज्वल:।१।११५।) पाकपात्रविशेष:। हाँडी इति थाली इति च भाषा। तत्पर्य्याय:। पिठर: २ उखा ३ कुण्डम् ४। इत्यमर:।२।९।३१॥ पिठरी ५ स्थालम् ६ उषा ७ कुण्डी ८। इति तट्टीका॥ कुण्डा ९ कुण्डका १०। इति शब्दरत्नावली॥ पाक: ११ पातिली १२। इति जटाधर:॥ (यथा, हरिवंशे।२६।४०।

"पूरयित्वाग्निना स्थालीं गन्धर्व्वाश्च तमब्रुवन्।
अनेनेष्ट्वा च लोकांस्त्वं प्राप्स्यसि त्वं नराधिप॥")

पाटलाद्रुम:। इत्यमरटीका।२।४।५४॥ मेदिनी च॥

स्थालीपक्वं, त्रि (स्थाल्यां पक्वम्।) स्थाल्यां पक्वान्नादि॥

स्थालीपाक:, त्रि, (स्थाल्यां पाको यस्य।) भाजनपक्वान्नादि:। यथा, चातुर्म्मास्यव्रते मात्स्ये।

"लभते सन्ततिं दीर्घां स्थालीपाकमभक्षयन्॥"
इति तिथ्यादितत्त्वम्॥

(स्थाल्यां पच्यते इति। पच्+घञ्। स्थालीकृतपाकविशेषे, चरुविशेषे च पुं। यथा, महाभारते।३।२३२।३२।

"ये च धर्म्मा: कुटुम्बेषु श्वश्र्वा मे कथिता: पुरा।
भिक्षाबलिश्राद्धमिति स्थालीपाकाश्च पर्व्वसु॥
मान्यानां मानसत्कारा ये चान्ये विदिता मम।
तान् सर्व्वाननुवर्त्तामि दिवारात्रमतन्द्रिता॥")

मांसाष्टकाश्राद्धे स्थालीपाकस्य मांसप्रतिनिधित्वं यथा, "पश्वभावे स्थालीपाकेन यथा गोभिल:। 'अपि वा स्थालीपाकं कुर्व्वीत इति।' तद्विधानन्तु।

'स्थालीपाकं पशुस्थाने कुर्य्याद्यद्यानुकल्पिकम्।
श्रपयेत्तं सवत्सायास्तरुण्या गो: पयस्यनु॥"

इति छन्दोगपरिशिष्टोक्तं ग्राह्यम्। अन्विति ओदनचरो: पश्चात्।" इति तिथ्यादितत्त्वम्॥

(वैद्यकोक्तस्थालीपाकविधिर्यथा,—

अथ स्थालीपाकविधि:।

"इत्यमादिव्यपाकान्ते स्थाल्यां पाकमुपाचरेत्।
स्थालीपाके फलत्र्याद्यमयसस्त्रिगुणीकृतम्॥
तस्य षोड़शिकं तोयमष्टभागावशेषितम्।
मृदुमध्यकठोराणामन्येषामयसा समम्॥
क्वथनीयं समादाय चतुरष्टौ च षोड़श।
गुणानां स्थाप्यते तोयं शोषयेदयसा समम्॥
स्वरसस्यापि लौहेन स्थालीपाके समानता।
स्थाल्यां क्वाथादिकं दत्त्वा यथाविधिविनिर्म्मितम्॥
पाकेन चीयते यस्मात् स्थालीपाक इति स्मृत:।
हस्तिकर्णपलाशस्य मूलञ्च शतमूलिका॥
भृङ्गराजाख्यराजानामेषां निजरसै: सह॥
मिलित्वा वा विधातव्यं स्थालीपाके फलादृशु।
यथा दोषौषधेनापि स्थालीपाको विधीयते॥"

इति वैद्यकरसेन्द्रसारसंग्रहे जारणमारणाधिकारे॥)

स्थालीपुलाक:, पुं, (स्थालीस्थ: पुलाको भक्तगुलिका यत्र।) न्यायविशेष:। यथा,—

"स्थालीस्थास्तण्डुला एते सर्व्वे सिद्धित्वभागिन:।
समकालाग्निसंयोगभागित्वात् प्रतिपन्नवत्॥"

इति स्थालीपुलाकन्यायेन वैदिकलिङ्गत्वावच्छेदेनापूर्व्वशक्तिकल्पनात्। प्रतिपन्नं हस्तमर्द्दनादिना स्फुटितत्वेन ज्ञातम्। इति मलमासतत्त्वम्॥

स्थालीबिलं, क्ली, (स्थाल्या बिलम्।) पाकपात्रस्याभ्यन्तरम्। स्थाल्या: शून्यभाग:। इति सिद्धान्तकौमुदी॥

स्थालीबिलीय:, } त्रि, (स्थालीबिलमर्हतीति।
स्थालीबिल्य:, } "स्थालीबिलात्।" ५।१।७०। इति छ: यच्च।) पाकयोग्यतण्डुलादि:। यथा, स्थालीबिलीयास्तण्डुला:। स्थालीबिल्या: पाकयोग्या इत्यर्थ:। इति सिद्धान्तकौमुदी॥

स्थालीवृक्ष:, पुं, (स्थालीवत् वृक्ष:।) तरुप्रभेद:। वेलियापीपर इति हिन्दी भाषा। तत्पर्य्याय:। नन्दीवृक्ष: २ अश्वत्थभेद: ३ प्ररोही ४ गजपादप: ५ क्षयतरु: ६ क्षीरी ७ वनस्पति: ८। अस्य गुणा:। लघुत्वम्। स्वादुत्वम्। तिक्तत्वम्। तुवरत्वत्। उष्णत्वम्। कटुपाकरसत्वम्। ग्राहित्वम्। विषपित्तकफास्रनाशित्वञ्च। इति भावप्रकाश:॥

स्थावरं, क्ली, (तिष्ठति धनुषीति। स्था+वरच्।) धनुर्गुण:। इति त्रिकाण्डशेष:॥

स्थावर:, पुं, (तिष्ठतीति। स्था+वरच्।) पर्व्वत:। इति शब्दरत्नावली त्रिकाण्डशेषश्च॥

स्थावर:, त्रि, (तिष्ठतीति। स्था+"स्थेशभासपिसकसो वरच्।" ३।२।१७५। इति वरच्।) जङ्गमेतर:। अचलवस्तु। इत्यमर:।३।१।७३॥ जङ्गमा गोमहिष्यादय: ततोऽन्यो वृक्षादि: स्थावर:। इति भरत:॥*॥ स च ब्रह्मण: सप्तम: सर्ग: षड्विधश्च। यथा,—

"सप्तमो मुख्यसर्गस्तु षड्विधस्तस्थुषाञ्च य:।
वनस्पत्योषधिलता त्वक्सारो वीरुधो द्रुमा:॥"

तेषां लक्षणं यथा,—

"उत्स्रोतसस्तम:प्राया अन्त:स्पर्शा विशेषिण:॥"
इति श्रीभागवतम्॥

"ये पुष्पं विना फलन्ति ते वनस्पतय:। ओषधय: फलपाकान्ता:। लता आरोहणापेक्षा:। त्वक्सारो वेण्वादय:। लता एव काठिन्येन आरोहणानपेक्षा वीरुध:। ये पुष्पै: फलन्ति ते द्रुमा:। ऊर्द्धं स्रोत आहारसञ्चारो येषां ते। तम:प्राया: अव्यक्तचैतन्या:। अन्त:स्पर्शा: स्पर्शमेव जानन्ति नान्यत् तदपि अन्तरेव न बहि:। विशेषिण: अव्यवस्थितपरिणामाद्यनेकभेदवन्त:।"

इति तट्टीकायां श्रीधरस्वामी॥*॥ स्थावरधनं सान्निध्येतरेभ्यो न विक्रेतव्यम्। यथा,—

"स्थावरं धनमन्यस्मै स्थिते सान्निध्यवर्त्तिनि।
योग्ये क्रेतरि विक्रेतुं न शक्त: स्थावराधिप:॥
सान्निध्यवर्त्तिनां ज्ञाति: सवर्णो वा विशिष्यते।
तयोरभावे सुहृदो विक्रेतिच्छा गरीयसी॥
निर्णीतमूल्ये पण्येन स्थावरस्य क्रयोद्यमे।
तन्मूल्यञ्चेत् समीपस्थो ददाति क्रेता न चापर:॥
मूल्यं दातुमशक्तश्चेत् सम्मतो विक्रयेऽपि वा।
सन्निधिस्थस्तदान्यस्मै गृही शक्नोति विक्रये॥
क्रीतञ्चेत् स्थावरं देवि! परोक्षे प्रतिवासिन:।
श्रवणादेव तन्मूल्यं दत्त्वासौ प्राप्नुमर्हति॥
क्रेता तत्र गृहारामान् विनिर्म्माति भुनक्ति वा।
मूल्यं दत्त्वापि नाप्नोति स्थावरं सन्निधिस्थित:॥"
इति महानिर्व्वाणतन्त्रे द्वादशोल्लास:॥

स्थावरे विशेषो यथा, याज्ञवल्क्य:।

"मणिमुक्ताप्रवालानां सर्व्वस्यैव पिता प्रभु:।
स्थावरस्य तु सर्व्वस्य न पिता न पितामह:॥"

अपि च।

"स्थावरं द्विपदञ्चैव यद्यपि स्वयमर्ज्जितम्।
असम्भूय सुतान् सर्व्वान् न दानं न च विक्रय:॥"

किञ्च ।
"पितुः प्रसादात् भुज्यन्ते वस्त्राण्याभरणानि च ।
स्थावरन्तु न भुञ्जीत प्रसादे सति पैतृके ॥"
इति मिताक्षराधृतवचनमपि पितामहधनपरम् । पित्रा च स्वोपार्जितं स्थावरं दत्तं भुज्यत एव इति ॥
"स्थावरे विक्रयो नास्ति कुर्य्यादाधिमनुज्ञया ॥"
इति स्थावरस्य केवलविक्रयप्रतिषेधात् विक्रयेऽपि कर्त्तव्ये सहिरण्यमुदकं दत्त्वा दानरूपेण स्थावरविक्रय इति विज्ञानेश्वरः । वस्तुतस्तु स्थावरविक्रयनिषेधोऽविभक्तस्थावरविषयः ॥ * ॥ पूर्व्वपुरुषार्जितनष्टोद्धारे विशेषयति मिताक्षरायाम् ।
"स्थावरं द्विपदञ्चैव यद्यपि स्वयमर्जितम् ।
असम्भूय सुतान् सर्व्वान् न दानं न च विक्रयः ॥"
अस्याप्यपवादमाह ।
"एकोऽपि स्थावरे कुर्य्यात् दानाधमनविक्रयम् ।
आपत्काले कुटुम्बार्थे धर्म्मार्थे च विशेषतः ॥"
अनुपभोगे तु सर्व्वस्य क्रीतादेर्हानिर्यथा बृहस्पतिः ।
"संविभागक्रयप्राप्तं पित्र्यं लब्धञ्च राजतः ।
स्थावरं सिद्धिमाप्नोति भुक्त्या हानिरुपेक्षया ॥ *
सौदायिके सदा स्त्रीणां स्वातन्त्र्यं परिकीर्त्तितम् ।
विक्रये चैव दाने च यथेष्टं स्थावरेष्वपि ॥"
नारदः ।
"भर्त्रा प्रीतेन यद्दत्तं स्त्रियै तस्मिन् मृतेऽपि तत् ।
सा यथाकाममश्नीयात् दद्याद्वा स्थावरादृते ॥"
यमः ।
"अविभक्तं स्थावरं यत् सर्व्वेषामेव तद्भवेत् ।
विभक्तं स्थावरं प्राप्तं नान्योदर्य्यैः कदाचन ॥"
सर्व्वेषां सोदरासोदराणाम् । स्थावरातिरिक्तन्तु विभक्ताविभक्तसोदराणामेवेत्यर्थतः सिद्धम् । तेषां तत्पिण्डदातृत्वेन तत्कालभोग्यपार्व्वणपिण्डदातृत्वेन चाधिकारात् । इति दायतत्त्वम् ॥ * ॥ (अथातः स्थावरविषविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
"स्थावरं जङ्गमञ्चैव द्विविधं विषमुच्यते ।
दशाधिष्ठानमाद्यन्तु द्वितीयं षोडशाश्रयम् ॥
मूलं पत्रं फलं पुष्पं त्वक् क्षीरं सार एव च ।
निर्य्यासो धातवश्चैव कन्दश्च दशमः स्मृतः ॥
तत्र क्लीतकाश्वमारगुञ्जासुगन्धगर्गरककरघाटविद्युच्छिखाविजयानीत्यष्टौ मूलविषाणि । विषपत्रिका-लम्बावरदारुकरम्भ-महाकरम्भाणि पञ्च पत्रविषाणि । कुमुद्वतीवेणुकाकरम्भमहाकरम्भकर्कोटकरेणुकखद्योतकचर्म्मरीभगन्धासर्पघातिनन्दनसारपाकानीति द्वादश फलविषाणि । वेत्रकादम्बवल्लीजकरम्भमहाकरम्भाणि पञ्च पुष्पविषाणि । अन्त्रपाचककर्त्तरीयसौरीयककरघाटकरम्भनन्दनवराटकानि सप्त त्वक्सारनिर्य्यासविषाणि । कुमुदघ्नीस्नुहीजालक्षीर्य्याणि त्रीणि क्षीरविषाणि । फेनाश्मभस्महरितालञ्च द्वे धातुविषे । कालकूटवत्सनाभसर्षपकपालककर्द्दमकवैराटकमुस्तकशृङ्गीविषप्रपौण्डरिकमूलकहालाहलमहाविषकर्कटकानीति त्रयोदश कन्दविषाणि । इत्येवं पञ्चपञ्चाशत् स्थावरविषाणि भवन्ति ॥
चत्वारि वत्सनाभानि मुस्तके द्वे प्रकीर्त्तिते ।
षट् चैव सर्षपाण्याहुः शेषाण्येकैकमेव तु ॥
उद्वेष्टनं मूलविषैः प्रलापो मोह एव च ।
जृम्भाङ्गोद्वेष्टनश्वासा ज्ञेयाः पत्रविषेण तु ॥
मुष्कशोफः फलविषैर्दाहोऽन्नद्वेष एव च ।
भवेत् पुष्पविषैश्छर्द्दिराध्मानं मोह एव च ॥
त्वक्सारनिर्य्यासविषैरुपयुक्तैर्भवन्ति हि ।
आस्यदौर्गन्ध्यपारुष्यशिरोरुक्कफसंस्रवाः ॥
फेनागमः क्षीरविषे विड्भेदो जिह्मजिह्वता ।
हृत्पीडनं धातुविषैर्मूर्च्छा दाहश्च तालुनि ॥
प्रायेण कालघातीनि विषाण्येतानि निर्द्दिशेत् ।
कन्दजानि तु तीक्ष्णानि तेषां वक्ष्यामि विस्तरम् ॥
स्पर्शाज्ञानं कालकूटे वेपथुः स्तम्भ एव च ।
ग्रीवास्तम्भो वत्सनाभे पीतविण्मूत्रनेत्रता ॥
सर्षपे वातवैगुण्यमानाहो ग्रन्थिजन्म च ।
ग्रीवा दौर्ब्बल्यवाक्सङ्गौ पालकेऽनुमताविह ॥
प्रसेकः कर्द्दमाख्ये तु विड्भेदो नेत्रपीतता ।
वैराटकेनाङ्गदुःखं शिरोरोगश्च जायते ॥
गात्रस्तम्भो वेपथुश्च जायते मुस्तकेन तु ।
शृङ्गीविषेणाङ्गसाददाहोदरविवृद्धयः ॥
पुण्डरीकेन रक्तत्वमक्ष्णोर्वृद्धिस्तथोदरे ।
वैवर्ण्यं मूलकेश्छर्द्दिर्हिक्काशोफप्रमूढताः ॥
चिरेणोच्छ्वसिति श्यावो नरो हालाहलेन वै ।
महाविषेण हृदये ग्रन्थिशूलोद्गमौ भृशम् ॥
कर्कटेनोत्पतत्यूर्द्ध्वं हसन् दन्तान् दशत्यपि ।
कन्दजान्युग्रवीर्य्याणि प्रयुक्तानि त्रयोदश ॥
सर्व्वाणि कुशलैर्ज्ञेयान्येतानि दशभिर्गुणैः ।
रूक्षमुष्णं तथा तीक्ष्णं सूक्ष्ममाशु व्यवायि च ॥
विकाशि विशदञ्चैव लघ्वपाकि च तत् स्मृतम् ।
तद्रौक्ष्यात् कोपयेद्वायुमौष्ण्यात् पित्तं सशोणितम् ॥
मानसं मोहयेत्तैक्ष्ण्यादङ्गबन्धान् छिनत्त्यपि ।
शरीरावयवान् सौक्ष्म्यात् प्रविशेद्विकरोति च ॥
आशुत्वादाशु तद्धन्ति व्यवायात् प्रकृतिं भजेत् ।
क्षपयेच्च विकाशित्वाद्दोषान् धातुमलानपि ॥
वैशद्यादतिरिच्येत दुश्चिकित्स्यञ्च लाघवात् ।
दुर्ज्जरञ्चाविपाकित्वात्तस्मात् क्लेशयते चिरम् ॥
स्थावरं जङ्गमं यच्च कृत्रिमं चापि यद्विषम् ।
सद्यो व्यापादयेत्तत्तु ज्ञेयं दशगुणान्वितम् ॥
यत् स्थावरं जङ्गमकृत्रिमं वा
देहादशेषं यदनिर्गतं तत् ।
जीर्णं विषघ्नौषधिभिर्हतं वा
दावाग्निवातातपशोषितं वा ॥
स्वभावतो वा गुणविप्रहीनं
विषं हि दूषीविषतामुपैति ।
वीर्य्याल्पभावान्न निपातयेत्तत्
कफावृतं वर्षगणानुबन्धि ॥
तेनार्द्दितो भिन्नपुरीषवर्णो
विगन्धवैरस्ययुतः पिपासी ।
मूर्च्छन् वमन् गद्गदवाग्विषण्णो
भवेच्च दूष्योदरलिङ्गजुष्टः ॥
आमाशयस्थे कफवातरोगी
पित्ताशयस्थेऽनिलपित्तरोगी ।
भवेन्नरो ध्वस्तशिरोरुहाङ्गो
विलूनपक्षस्तु यथा विहङ्गः ॥
स्थितं रसादिष्वथ वा यथोक्तान्
करोति धातुप्रभवान् विकारान् ।
कोपञ्च शीतानिलदुर्द्दिनेषु
यात्याशु पूर्व्वं शृणु तत्र रूपम् ॥
निद्रा गुरुत्वञ्च विजृम्भणञ्च
विश्लेषहर्षावथवाङ्गमर्दः ।
ततः करोत्यन्नमदाविपाका-
वरोचकं मण्डलकोठमोहान् ॥
धातुक्षयं पादकरास्यशोफं
दकोदरं छर्द्दिमथातिसारम् ।
वैवर्ण्यमूर्च्छाविषमज्वरान् वा
कुर्य्यात् प्रवृद्धां प्रबलां तृषां वा ॥
उन्मादमन्यज्जनयेत्तथाऽन्य-
दानाहमन्यत् क्षपयेच्च शुक्रम् ।
गाद्गद्यमन्यज्जनयेच्च कुष्ठं
तांस्तान् विकारांश्च बहुप्रकारान् ॥
दूषितं देशकालान्नदिवास्वप्नैरभीक्ष्णशः ।
यस्माद्दूषयते धातून् तस्माद्दूषीविषं स्मृतम् ॥
स्थावरस्योपयुक्तस्य वेगे तु प्रथमे नृणाम् ।
श्यावा जिह्वा भवेत् स्तब्धा मूर्च्छा श्वासश्च जायते ॥
द्वितीये वेपथुः स्वेदो दाहः कण्डूरुजस्तथा ।
विषमामाशयप्राप्तं कुरुते हृदि वेदनाम् ॥
तालुशोषं तृतीये तु शूलं चामाशये भृशम् ।
दुर्व्वर्णे हरिते शूने जायेते चास्य लोचने ॥
पक्वाशयगते तोदो हिक्काकासोऽन्त्रकूजनम् ।
चतुर्थे जायते वेगे शिरसश्चातिगौरवम् ॥
कफप्रसेको वैवर्ण्यं पर्व्वभेदश्च पञ्चमे ।
सर्व्वदोषप्रकोपश्च पक्वाधाने च वेदना ॥
षष्ठे प्रज्ञाप्रणाशश्च भृशं वाप्यतिसार्य्यते ।
स्कन्धपृष्ठकटीभङ्गः सन्निरोधश्च सप्तमे ॥
प्रथमे विषवेगे तु वान्तं शीताम्बुसेवितम् ।
अगदं मधुसर्पिर्भ्यां पाययेत समायुतम् ॥
द्वितीये पूर्व्ववद्वान्तं पाययेत् विरेचनम् ।
तृतीयेऽगदपानन्तु हितं नस्यं तथाञ्जनम् ॥
चतुर्थे स्नेहसंमिश्रं पाययेतागदं भिषक् ।
पञ्चमे क्षौद्रमधुककाथयुक्तं प्रदापयेत् ॥
षष्ठेऽतिसारवत्सिद्धिरवपीडश्च सप्तमे ।
मूर्द्ध्नि काकपदं कृत्वा सासृग्वापि शितं क्षिपेत् ॥
वेगान्तरे त्वन्यतमे कृते कर्म्मणि शीतलाम् ।
यवागूं सघृतक्षौद्रमिमां दद्याद्विचक्षणः ॥
कोषातक्योऽग्निकः पाठासूर्य्यवल्ल्यमृताभयाः ।
शिरीषः किणिहीशेलुगिर्य्याह्वा रजनीद्वयम् ॥
पुनर्णवे हरेणुश्च त्रिकटुः सारिवे बला ।
एषां यवागूर्निक्काथे कृता हन्ति विषद्वयम् ॥
मधुकं तगरं कुष्ठं भद्रदारु हरेणवः ।
पुन्नागैलैलवालूनि नागपुष्पोत्पलं सिता ॥

विड़ङ्गं चन्दनं पत्रं प्रियङ्गु ध्यामकं तथा।
हरिद्रे द्वे बृहत्यौ च सारिवे च स्थिरासहा ॥
कल्केरेषां घृतं सिद्धमजेयमिति विश्रुतम्।
विषाणि हन्ति सर्व्वाणि शीघ्रमेवाजितं क्वचित् ॥
दूषीविषार्त्तं सुस्विन्नमूर्द्ध्वञ्चाधश्च शोधितम्।
पाययेतागदं नित्यमिमं दूषीविषापहम् ॥
पिप्पल्यो ध्यामकं मांसी सावरः परिपेलवम्।
सुवर्च्चिका सकृष्णैला तोयं कनकगैरिकम् ॥
क्षौद्रयुक्तोऽगदो ह्येष दूषीविषमपोहति।
एष नाम्ना विषारिस्तु न चान्यत्रापि वार्य्यते ॥
ज्वरे दाहे च हिक्कायामानाहे शुक्रसंक्षये।
शोफेऽतिसारे मूर्च्छायां हृद्रोगे जठरेऽपि वा ॥
उन्मादे वेपथौ चैव ये चान्ये स्युरुपद्रवाः।
यथास्वं तेषु कुर्व्वीत विषघ्नै रौषधैः क्रियाम् ॥
साध्यमात्मवतः सद्यो याप्यं संवत्सरोत्थितम्।
दूषीविषमसाध्यन्तु क्षीणस्याहितसेविनः ॥”
इति सुश्रुते कल्पस्थाने २ अध्यायः ॥)

स्थावरादि, क्ली, (स्थावरं आदिः कारणं यस्य।) वत्सनाभविषम्। इति राजनिर्घण्टः ॥

स्थाविरं, क्ली, (स्थविरस्य भावः कर्म्म वा। स्थविर + “हायनान्तयुवादिभ्योऽण्।” ५। १। १३०। इत्यण्।) स्थविरत्वम्। वृद्धत्वम्। इत्यमरः। २। ६। ४०॥ (यथा, महाभारते। २। १६६। ३।
“गार्हस्थ्येऽप्यथवा बाल्ये यौवने स्थाविरेऽपि वा।
यथाफलं समश्नाति तथा त्वं कथयस्व मे ॥”)
तत्तु सप्ततिवर्षात् परम्। यथा,—
“आ षोड़शाद्भवेद्बालस्तरुणस्तत उच्यते।
वृद्धः स्यात् सप्ततेरूर्द्ध्वं वर्षीयान् नवतेः परम् ॥”
इति भरतधृतस्मृतिवचनम् ॥

स्थासकः, पुं, चार्च्चिक्यम्। इत्यमरः। २।६।१२२॥ जलादेर्बुद्बुदम्। इति मेदिनी ॥

स्थासु, क्ली, शारीरबलम्। स्थाधातोः सुप्रत्ययेन निष्पन्नम्। इति केचित् ॥

स्थाणुः, त्रि, (तिष्ठतीति। स्था + “ग्लाजिस्थश्च क्स्नुः।” ३। २। १३९। इति क्स्नुः।) स्थिरतरः। इत्यमरः। ३। १। ७३॥ (यथा, भट्टिः। २। ४७।
“हिरण्मयी शाललतेव जङ्गमा
च्युता दिवः स्थास्नुरिवाचिरप्रभा।
शशाङ्ककान्तेरधिदेवताकृतिः
सुता ददे तस्य सुताय मैथिली ॥”)
शाश्वतः। इति भरतः ॥ (यथा, किराते। २। १९।
“अभिमानधनस्य गत्वरै-
रसुभिः स्थास्नु यशश्चिचीषतः।
अचिरांशुविलासचञ्चला
ननु लक्ष्मीः फलमानुषङ्गिकम् ॥”)
स्थावरः। इति श्रीभागवतटीकायां श्रीधरस्वामी। २। ६। ४०॥ (यथा, मनुः। १। ५६।
“यदाणुमात्रिको भूत्वा बीजं स्थास्नु चरिष्णु च।
समाविशति संसृष्टस्तदा मूर्त्तिं विमुञ्चति ॥”)

कः, पुं, कटिप्रोथः। यथा, शब्दरत्नावल्याम्।
“कटिप्रोथः कटिप्रोथः पुलः स्फिकः स्त्रियां
स्फिचा ॥”

स्थितः, त्रि, (स्था + क्तः।) प्रतिज्ञातवान्। (यथा, हरिवंशे। २५५। ६५।
“पक्षीन्द्रवचनं श्रुत्वा दानवेन्द्रोऽब्रवीदिदम्।
स्थितोऽस्मि समये तस्य अनन्तस्य महात्मनः ॥”)
ऊर्द्धः। निश्चलः। इति मेदिनी ॥ (वर्त्तमानः। गतिनिवृत्तिविशिष्टः। यथा, रघुः। २। ६।
“स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां
निषेदुषीमासनबन्धधीरः।
जलाभिलाषी जलमाददानां
छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत् ॥”) ॥
क्ली, स्था + भावे क्तः। अवस्थानम्। कुलमर्य्यादा। यथा, रामायणे। २। ३९। २४।
“साध्वीनान्तु स्थितानान्तु शीले सत्ये श्रुते स्थिते।
स्त्रीणां पवित्रं परमं पतिरेको विशिष्यते ॥”)

स्थितप्रज्ञः, त्रि, (स्थिता प्रतिष्ठिता आत्मानात्मविवेकजा प्रज्ञा यस्य।) मनोगतसर्व्ववासनारहितः। यथा, श्रीभगवद्गीतायाम् २। ५५—५६।
“प्रजहाति यदा कामान् सर्व्वान् पार्थ ! मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्म्मुनिरुच्यते ॥”

स्थितप्रेमा, [न्] पुं, (स्थितं प्रेम यस्य।) स्थिरतरबन्धुः। इति केचित् ॥

स्थितिः, स्त्री, (स्था + क्तिन्।) न्याय्यपथस्थितिः। तत्पर्य्यायः। संस्था २ मर्य्यादा ३ धारणा ४। इति क्षत्रियवर्गे अमरः। २। ८। २६॥ संस्थितिः ५। इति शब्दरत्नावली ॥ (यथा, कुमारे। १। १८।
“स मानसीं मेरुसखः पितॄणां
कन्यां कुलस्य स्थितये स्थितिज्ञः।
मेनां मुनीनामपि माननीया-
मात्मानुरूपां विधिनोपयेमे ॥”)
अवस्थानम्। तत्पर्य्यायः। आस्था २ आसना ३। इति सङ्कीर्णवर्गे अमरः। ३। २। २१॥ (यथा, रघुः। १। ८९।
“प्रस्थितायां प्रतिष्ठेथाः स्थितायां स्थितिमाचरेः ॥”)
सीमा। इति मेदिनी ॥ * ॥ (नियमः। यथा, महाभारते। ३। १३१। २०।
“श्येनः कपोतानत्तीति स्थितिरेषा सनातनी।
मा राजन् सारमज्ञात्वा कदलीस्कन्धमाश्रयः ॥”)
द्रव्यविशेषे स्थितिनिषेधो यथा,—
“नास्थिभस्मकपालानि न केशान् वा कथञ्चन।
तुषाङ्गारकविष्ठानामधितिष्ठेत् कदाचन ॥”
इति कौर्म्मे उपविभागे। १६। ७९॥

स्थिरः, पुं, (तिष्ठतीति। स्था + “अजिरशिशिरेति।” उणा० १। ५४। इति किरच्प्रत्ययेन साधुः।) देवः। पर्व्वतः। कार्त्तिकेयः। वृषः। इति शब्दरत्नावली ॥ शनिः। मोक्षः। इति मेदिनी ॥ अनड्वान्। इति राजनिर्घण्टः ॥ धववृक्षः। इति भावप्रकाशः ॥ वृषसिंहवृश्चिककुम्भराशयः। यथा,—
“क्रूरोऽथ सौम्यः पुरुषोऽङ्गना च
ओजोऽथ युग्मं विषमः समश्च।
चरस्थिरद्व्यात्मकनामधेया
मेषादयोऽमी क्रमशः प्रदिष्टाः ॥”
इति ज्योतिस्तत्त्वम् ॥
तत्र जातफलं यथा,—
“अस्थिरविभूतिमित्रं चलमटनं स्खलितनियममपि चरभे।
स्थिरभे तद्विपरीतं क्षेमान्वितं दीर्घसूत्रञ्च ॥
द्विशरीरे त्यागयुक्तं कृतज्ञमुत्साहिनं विविधचेष्टम् ॥”
इति दीपिका ॥ * ॥
स्थिरवस्तूनि यथा। युद्धे प्रधानभटः १ साध्वी २ धर्म्मः ३ अधर्म्मः ४ सज्जनः ५। अस्थिरवस्तूनि यथा। अबला १ दोला २ अपाङ्गः ३ यौवनम् ४ दुर्जनः ५ स्वामिप्रसादः ६ हस्तिकर्णः ७ स्वर्णम् ८ मत्स्यः ९ कपिः १० श्रीः ११। इति कविकल्पलता ॥

स्थिरः, त्रि, (स्था + किरच्।) कठिनः। निश्चलः। इति धरणिः ॥ यथा,—
“अभ्रच्छाया खलैः प्रीतिः परनारीषु सङ्गतिः।
पञ्चैते अस्थिरा भावा यौवनानि धनानि च ॥
अस्थिरं जीवितं लोके अस्थिरं धनयौवनम्।
अस्थिरं पुत्त्रदाराद्यं धर्म्मः कीर्त्तिर्यशः स्थिरम् ॥”
इति गारुड़े। ११५। २५—२६॥

स्थिरगन्धः, पुं, (स्थिरो गन्धो यस्य।) चम्पकवृक्षः। इति राजनिर्घण्टः ॥ चिरस्थायिसौरभयुक्ते, त्रि ॥

स्थिरगन्धा, स्त्री, (स्थिरो गन्धो यस्याः।) पाटला। केतकी। इति राजनिर्घण्टः ॥

स्थिरचक्रः, पुं, (स्थिरं चक्रं यस्य।) जिनविशेषः। तत्पर्य्यायः। मञ्जुश्रीः २ ज्ञानदर्पणः ३ मञ्जुभद्रः ४ मञ्जुघोषः ५ कुमारः ६ अष्टारचक्रवान् ७ वज्रधरः ८ प्रज्ञाकायः ९ वादिराट् १० नीलोत्पली ११ महाराजः १२ नीलः १३ शार्दूलवाहनः १४ धियाम्पतिः १५ पूर्व्वजिनः १६ खड्गी १७ दण्डी १८ विभूषणः १९ बालव्रतः २० पञ्चचीरः २१ सिंहकेलिः २२ शिखाधरः २३ वागीश्वरः २४। इति त्रिकाण्डशेषः ॥

स्थिरच्छदः, पुं, (स्थिराश्छदा यस्य।) भूर्ज्जपत्रः। इति रत्नमाला ॥

स्थिरच्छायः, पुं, (स्थिरा निश्चला छाया यस्य।) वृक्षमात्रम्। इति शब्दमाला ॥ छायातरुः। इति त्रिकाण्डशेषः ॥ (निश्चलच्छायायुक्ते, त्रि। यथा, महानिर्व्वाणे। १। ३।
“स्थिरच्छायद्रुमच्छायाच्छादिते स्निग्धमञ्जुले ॥”)

स्थिरजिह्वः, पुं, (स्थिरा जिह्वा यस्य।) मत्स्यः। इति हेमचन्द्रः ॥

स्थिरजीविता, स्त्री, (स्थिरं बहुकालस्थायि जीवितं यस्याः।) शाल्मलिवृक्षः। इति शब्दमाला ॥

स्थिरतरः, त्रि, (अयमनयोरतिशयेन स्थिरः । स्थिर + तरप् ।) अतिशयस्थिरः । तत्पर्य्यायः । स्थास्नुः २ स्थेयान् ३ । इत्यमरः । ३ । १ । ७३ ॥ दृढ़तरः ४ । इति शब्दरत्नावली ॥ स्थेयः ५ । अतिस्थिरः ६ स्थेष्ठः ७ । इति हेमचन्द्रः ॥

स्थिरदंष्ट्रः, पुं, (स्थिरा दंष्ट्रा यस्य ।) भुजङ्गः । वराहाकृतिविष्णुः । इति मेदिनी ॥ ध्वनिः । इत्यजयः ॥

स्थिरपत्रः, पुं, (स्थिराणि पत्राणि यस्य ।) हिन्तालः । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्थिरपुष्पः, पुं, (स्थिराणि पुष्पाणि यस्य ।) चम्पकवृक्षः । वकुलः । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्थिरपुष्पी, [न्] पुं, (स्थिरपुष्पमस्यास्तीति । इनिः ।) तिलकवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्थिरफला, स्त्री, (स्थिरं फलं यस्याः ।) कुष्माण्डी । इति केचित् ॥

स्थिरमतिः, स्त्री, (स्थिरा मतिः ।) निश्चला बुद्धिः । यथा,—

"स्थिरमतिं सुमतिं कमनीयतां
कुशलतां हि कृपासुपभोगिताम् ।
दृषगतो हिमगुश्चेशमादिशेत्
सुकृतिनः कृतिनश्च सुखान्यपि ॥"

इति कोष्ठीप्रदीपः ॥

तद्युक्ते, त्रि । स्थिरा मतिर्यस्येति बहुव्रीहिसमासः ॥

स्थिरयोनिः, पुं, (स्थिरा योनिरुत्पत्तिर्यस्य ।) छायातरुः । इति भूरिप्रयोगः ॥

स्थिरयौवनः, पुं, (स्थिरं यौवनं यस्य ।) विद्याधरः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ (स्थिरं यौवनमिति । निश्चलयौवने, क्ली । यथा, मार्कण्डेये, ६० । ३ ।

"तस्य ते वै फलरसं पिवन्तः पुरुषाः सदा ।
स्थिरयौवनसम्पन्नाः स्त्रियश्चोत्पलगन्धिकाः ॥")

चिरस्थायितरुणावस्थे, त्रि । (यथा, विष्णुपुराणे । १२१ । ६२ ।

"सत्यभामोत्तमा स्त्रीणां सुभगा स्थिरयौवना ।
जरां न यास्यति वधूर्यावत्त्वं क्षमा मानुषः ॥")

स्थिररङ्गा, स्त्री, (स्थिरो रङ्गो रागो यस्याः ।) नीली । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्थिररागा, स्त्री, (स्थिरो रागो यस्याः ।) दारुहरिद्रा । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्थिरश्रीः, त्रि, स्थिरा श्रीर्लक्ष्मीर्यस्य । स्थिरलक्ष्मीकः । यथा, तिथ्यादितत्त्वे मत्स्यपुराणम् ।

"स्थिरोपायौ हि पुरुषः स्थिरश्रीरेव जायते ।
रक्षितुं नैव शक्नोति चपलश्चपलां श्रियम् ॥"

स्थिरसाधनकः, पुं, (स्थिरं साधयतीति । साधि + ल्युः । ततः कन् ।) सिन्दुवारवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्थिरसारः, पुं, (स्थिरः सारो यस्य ।) शाकवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्थिरा, स्त्री, (स्था + किरच् । टाप् ।) पृथिवी । शालपर्णी । इत्यमरः । २ । १ । २ ; २।४।११५॥ काकोली । इति जटाधरः ॥ शाल्मलिवृक्षः । इति शब्दचन्द्रिका ॥ स्थैर्य्ययुक्ता स्त्री च ॥

स्थिराङ्घ्रिपः, पुं, (स्थिरः अङ्घ्रिपो वृक्षः ।) हिन्तालवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्थिरायुः, [स्] पुं, (स्थिरं आयुर्यस्य ।) शाल्मलिवृक्षः । इत्यमरः । २।४।४६॥ चिरजीविनि, त्रि ॥

स्थुड, शि इत्याम् । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (तुदा०-कुटा०-पर०-सक०-सेट् ।) दन्त्यादिः । शि, स्थुड़ति अस्थुड़ीत् तुस्थोड़ । इत्यां वरणे । इति दुर्गादासः ॥

स्थुरी, [न्] पुं, स्थौरी । इत्यमरटीकायां रायमुकुटः ॥

स्थूणा, स्त्री, (तिष्ठतीति । स्था + "रास्नासास्नास्थूणावीणाः ।" उणा० ३ । १५ । इति नप्रत्ययेन साधुः ।) गृहस्तम्भः । खुँटी इति भाषा ॥ (यथा, साहित्यदर्पणे । ३ । १७२ ।

"वृद्धोऽन्धः पतिरेष मञ्चकगतः स्थूणावशेषं गृहं
कालोऽभ्यर्णजलागमः कुशलिनी वत्सस्य
वार्त्तापि नो ।
यत्नात् सञ्चिततैलबिन्दुघटिका भग्नेति पर्य्याकुला
दृष्ट्वा गर्भभरालसां निजवधूं श्वश्रूश्चिरं
रोदिति ॥")

सूर्म्मी । लौहप्रतिमा । इत्यमरः । ३ । ३ । ५० ॥

स्थूमः, पुं, दीप्तिः । चन्द्रः । इति केचित् ॥

स्थूरः, पुं, (तिष्ठतीति । स्था + "स्थः किच्च ।" उणा० ५ । ४ । इति उरन् ।) वृषः । इति संक्षिप्तसारोणादिवृत्तिः । मनुष्यः । इति सिद्धान्तकौमुदी ॥

स्थूरी, [न्] पुं, (बाहुल्येन स्थूरो वृषोऽस्यास्तीति । इनिः ।) खरतुरगभवत् पृष्ठेन भारवाहकोऽश्वः । पृष्ठेन वहति पृष्ठ्यमपि बाह्यसुपचारात् पृष्ठं तद्वहति वा पृष्ठः ढ्ये कादिति यः स्थूल्यति संश्रियते पृष्ठमनया स्थूरा । स्थूल तृ क ड वृंहणे सेमन्तात् सरोरिति अः निपातनात् तस्य रत्वं स्थूरा पर्य्ययनं तस्या इदमिति वी स्थौरं पृष्ठारोपितभारादिकं तदस्यस्येति इनि स्थौरी स्थूरी च स्थौरीति स्वामी । इत्यमरटीकायां भरतः ॥

स्थूल, तृ क ड वृंहणे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (अदन्तचुरा०-आत्म० अक०-सेट् ।) दीर्घी, ड, अतुस्थूलत् । वृंहणं वृद्धिः । इति दुर्गादासः ॥

स्थूलं, त्रि, (स्थूलयतीति । स्थूल + अच् ।) उपचितावयवम् । मोटा इति भाषा । तत्पर्य्यायः । पीनम् २ पीवम् ३ पीवरम् ४ । (यथा, कुमारे । २ । ११ ।

"द्रवः सङ्घातकठिनः स्थूलः सूक्ष्मो लघुर्गुरुः ।
व्यक्तो व्यक्तेतरश्चासि प्राकाम्यं ते विभूतिषु ॥")

जड़ः । इत्यमरः । ३ । ३ । २०३ ॥ (यथा, महाभारते । १२ । ३०५ । १६ ।

"न यः संसत्सु कथयेत् ग्रन्थार्थं स्थूलबुद्धिमान् ।
स कथं मन्दविज्ञानी ग्रन्थं वक्ष्यति निर्णयात् ॥")

स्थूलं, क्ली, (स्थूल + अच् ।) कूटम् । समूहः । इति मेदिनी ॥

स्थूलः, पुं, (स्थूलत् क ड वृंहणे + अच् ।) पनसः । इति राजनिर्घण्टः ॥ (विष्णुः । इति महाभारतम् । १३ । १४९ । १०३ ॥ कन्दविशेषः । रक्तलशुनः । इति केचित् ॥ यथा, सुश्रुते । १ । ४६ । "स्थूलशूरणमाणकप्रभृतयः कन्दा ईषत्कषायाः कटुका रूक्षा विष्टम्भिनो गुरवः कफवातलाः पित्तहराश्च ।

माणकं स्वादु शीतञ्च गुरु चापि प्रकीर्त्तितम् ।
स्थूलकन्दस्तु नात्युष्णः शूरणो गुदकीलहा ॥")

स्थूलकः, पुं, (स्थूल एव । कन् ।) तृणविशेषः । उलु इति भाषा । यथा, रत्नमालायाम् ।

"तृण्यः स्थूलको दर्भो तृणाख्यस्तु खरच्छदः ॥"

स्थूलकः, त्रि, (स्थूल + स्वार्थे कन् । यद्वा, स्थूलप्रकार इति । "स्थूलादिभ्यः प्रकारवचने कन् ।" ५ । ४ । ३ । इति कन् ।) स्थूलः । स्थूलशब्दात् स्वार्थे कप्रयेन निष्पन्नः ॥

स्थूलकङ्गुः, पुं, (स्थूलः कङ्गुः ।) वरकधान्यम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्थूलकणा, स्त्री, (स्थूला कणा यस्याः ।) स्थूलजीरकः । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्थूलकण्टकः, पुं, (स्थूलाः कण्टका यस्य ।) जालवर्व्वूरः । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्थूलकण्टकिका, स्त्री, (स्थूलाः कण्टका यस्याः । ततः कापि अत इत्वम् ।) शाल्मलिवृक्षः । इति शब्दचन्द्रिका ॥

स्थूलकण्टा, स्त्री, (स्थूलः कण्टो यस्याः ।) वृहती । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्थूलकन्दः, पुं, (स्थूलः कन्दः ।) रक्तलशुनः । (यथा, सुश्रुते । १ । ४६ ।

"स्थूलकन्दस्तु नात्युष्णः शूरणो गुदकीलहा ॥")

शूरणः । हस्तिकन्दः । माणकन्दः । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्थूलकाष्ठधक्, [ह्] पुं, (स्थूलकाष्ठं दहतीति । दह + क्विप् । स्थूलकाष्ठस्य धक् इति वा ।) वृहत्काष्ठाग्निः । तत्पर्य्यायः । स्कन्धानलः २ । इति जटाधरः ॥

स्थूलकाष्ठाग्निः, पुं, (स्थूलकाष्ठस्य अग्निः ।) वृहत्काष्ठानलः । तत्पर्य्यायः । स्कन्धाग्निः २ । इति हारावली ॥

स्थूलचेड़ः, पुं, (स्थूलः चेड़ः ।) वाणः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥

स्थूलचञ्चुः, पुं, (स्थूला चञ्चुरिव शिखा यस्य ।) महाचञ्चुशाकः । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्थूलचापः, पुं, (स्थूलश्चापः ।) तूलपरिष्कारार्थधनुः । इति शब्दरत्नावली ॥ तूलचाप इति साधुपाठः ॥

स्थूलजीरकः, पुं, (स्थूलो जीरकः ।) जीरकभेदः । काल जिरा इति वङ्गभाषा । मगरेला इति कलौञ्जी इति च हिन्दी भाषा । तत्पर्य्यायः । दिशा २ उपकुञ्चिका ३ काला ४ पृथ्वी ५

स्थूलकणा ६ पृथुः ७ मनोज्ञा ८ जारणी ९ जीर्णा १० तरुणः ११ सुषवी १२ कारवी १३ पृथ्वीका १४ । अस्य गुणाः । कटुत्वम् । तिक्तत्वम् । उष्णत्वम् । वातगुल्मामदोषश्लेष्माध्मानजन्तुनाशित्वम् । जीर्णत्वम् । दीपनत्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥ * ॥ त्रिविधजीरकनामगुणाः ।

"जीरको जरणोऽजाजी कणा स्याद्दीर्घजीरकः ।
कृष्णजीरः सुगन्धश्च तथैवोद्गारशोधनः ॥
कणाजाजी तु सुषवी कालिका चोपकालिका ।
पृथ्वीका कारवी पृथ्वी पृथुः कृष्णोपकुञ्चिका ।
उपकुञ्ची च कुञ्ची च बृहज्जीरक इत्यपि ॥
जीरकत्रितयं रूक्षं कटुकं दीपनं लघु ।
संग्राहि पित्तलं मेध्यं गर्भाशयविशुद्धिकृत् ॥
ज्वरघ्नं पाचनं वल्यं वृष्यं रुच्यं कफापहम् ।
चक्षुष्यं पवनाध्मानगुल्मच्छर्द्यतिसारहृत् ॥"

इति भावप्रकाशः ॥

स्थूलतालः, पुं, (स्थूलस्तालः ।) हिन्तालः । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्थूलत्वचा, स्त्री, (स्थूला त्वक् यस्याः ।) काश्मरी । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्थूलदण्डः, पुं, (स्थूलो दण्डो यस्य ।) देवनलः । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्थूलदर्भः, पुं, (स्थूलो दर्भो यस्य ।) मुञ्जः । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्थूलदला, स्त्री, (स्थूलं दलं यस्याः ।) गृहकन्या । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्थूलनालः, पुं, (स्थूलो नालः ।) देवनलः । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्थूलनासः, पुं, (स्थूला नासा यस्य ।) शूकरः । इति हेमचन्द्रः ॥

स्थूलनासिकः, पुं, (स्थूला नासिका यस्य । "अस्नासिकायाः संज्ञायां नसं चास्थूलात् ।" ५ । ४ । ११८ । इत्यत्र स्थूलवर्ज्जनात् न नसादेशः ।) शूकरः । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ पीननासायुक्ते, त्रि ॥

स्थूलपटः, त्रि, (स्थूलः पटो यस्य ।) पीवरवस्त्रयुक्तः । यथा,—

"कृषिगृहाः स्थूलपटा यवगोधूमशालिनः ।
प्रलयेऽपि न सीदन्ति यदि कन्या न विद्यते ॥"

इति पुराणम् ॥

(स्थूलवस्त्रे, पुं क्ली ॥)

स्थूलपट्टः, पुं, (स्थूलः पट्टः कौषेय इव ।) कार्पासः । इति शब्दरत्नावली ॥

स्थूलपट्टाकः, पुं, (स्थूलपट्टं कार्पासं अकति प्राप्नोति कारणत्वेनेति । अक गतौ + अण् ।) स्थूलवस्त्रम् । इति शब्दरत्नावली ॥

स्थूलपादः, पुं, (स्थूलः पादो यस्य ।) हस्ती । इति शब्दमाला ॥ श्लीपदी च ॥

स्थूलपुष्पः, पुं, (स्थूलं पुष्पमस्य ।) वकवृक्षः । इति रत्नमाला ॥ झण्टुकः । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्थूलपुष्पा, स्त्री, (स्थूलं पुष्पं यस्याः ।) पर्व्वतजातापराजिता । इति रत्नमाला ॥

स्थूलपुष्पी, स्त्री, (स्थूलं पुष्पं यस्याः । ङीष् ।) यवतिक्ता । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्थूलफलः, पुं, (स्थूलं फलं यस्य ।) शाल्मलिवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्थूलफला, स्त्री, (स्थूलं फलं यस्याः ।) शणपुष्पी । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्थूलभद्रः, पुं, (स्थूलं प्रचुरमित्यर्थः भद्रं शुभं यस्य ।) श्रुतकेवलिनामजैनभेदः । इति हेमचन्द्रः ॥

स्थूलभूतं, क्ली, (स्थूलं भूतम् ।) पञ्चीकृताकाशादिभूतम् । इति वेदान्तसारः ॥

स्थूलमरिचं, क्ली, (स्थूलं मरिचम् ।) कक्कोलम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्थूलमूलं, क्ली, (स्थूलं मूलमस्य ।) चाणक्यमूलम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्थूललक्षः, त्रि, (स्थूलं प्रचुरं लक्षयति दानार्थमिति । लक्ष + अण् ।) बहुप्रदः । इत्यमरटीकायां रायमुकुटः । ३ । १ । ६ ॥ (यथा, याज्ञवल्क्ये । १ । ३०८ ।

"महोत्साहः स्थूललक्षः कृतज्ञो वृद्धसेवकः ।
विनीतः सत्त्वसम्पन्नः कुलीनः सत्यवाक्
शुचिः ॥")

स्थूललक्ष्यः, त्रि, (स्थूलं प्रचुरं वस्तु लक्ष्यमस्य ।) बहुप्रदः । इत्यमरः । ३ । १ । ६ ॥ (यथा, महाभारते । ३ । ४५ । ११ ।

"अकत्थनो मानयिता स्थूललक्ष्यः प्रियंवदः ।
सुहृदश्चान्नपानेन विविधेनाभिवर्षति ॥")

स्थूलवर्त्मकृत्, पुं, (स्थूलस्य वर्त्मनः कृत् कारकः ।) आस्फोटयष्टिका । इति शब्दचन्द्रिका ॥

स्थूलवल्कलः, पुं, (स्थूलं वल्कलं यस्य ।) रक्तलोध्रः । इति जटाधरः ॥

स्थूलवृत्तफलः, पुं, (स्थूलं वृत्तफलं यस्य ।) स्निग्धपिण्डीतकः । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्थूलवैदेही, स्त्री, (स्थूला वैदेही विदेहभवा च ।) गजपिप्पली । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्थूलशरः, पुं, (स्थूलः शरः ।) शरविशेषः । मोटा शर इति भाषा । तत्पर्य्यायः । महाशरः २ स्थूलशायकः ३ इक्षुरकः ४ क्षुरपत्रः ५ बहुमूलः ६ दीर्घमूलकः ७ । अस्य गुणाः । मधुरत्वम् । सुतिक्तत्वम् । कोष्णत्वम् । कफश्रान्तिमदापहरत्वम् । बलवीर्य्यकारित्वम् । नित्यं सेवितश्चेत् किञ्चिद्वातकरत्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्थूलशाटकः, पुं, (स्थूलः शाटकः ।) पीनवस्त्रम् । मोटा कापड़ इति भाषा । तत्पर्य्यायः । वराशिः २ । इत्यमरः । २ । ६ । ११६ ॥ वरासिः ३ । इति जटाधरः ॥

स्थूलशाटका, स्त्री, स्थूलवस्त्रम् । इत्यमरटीका । २ । ६ । ११६ ॥

स्थूलशाटिका, स्त्री, (स्थूला शाटिका ।) स्थूलवस्त्रम् । इत्यमरटीका । २ । ६ । ११६ ॥

स्थूलशाटिः, पुं, (स्थूलः शाटिः ।) वराशिः । इति हेमचन्द्रः ॥

स्थूलशालिः, पुं, (स्थूलः शालिः ।) शालिधान्यभेदः । तत्पर्य्यायः । महाशालिः २ स्थूलाङ्गः ३ स्थूलतण्डुलः ४ । अस्य गुणाः । स्वादुत्वम् । मधुरत्वम् । शिशिरत्वम् । पित्तशमनत्वम् । जीर्णज्वर-दाह-जठररुजा-शोष-शमनत्वम् । शिशूनां यूनां जरतां च हितकरत्वम् । सदा सेवनेनाबलबलवीर्य्यकारित्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्थूलशिरः, [स्] क्ली, (स्थूलं शिरः ।) बृहन्मस्तकम् । (स्थूलं शिरो यस्य । मुनिविशेषः । यथा, महाभारते । २ । ४ । ११ ।

"बको दाल्भ्यः स्थूलशिराः कृष्णद्वैपायनः
शुकः ॥")

स्थूलमस्तकयुक्ते, त्रि । इति केचित् ॥

स्थूलशीर्षिका, स्त्री, शरीरापेक्षया स्थूलं शीर्षमस्याः स्थूलशीर्षा स्वार्थे के स्थूलशीर्षिका ॥ क्षुद्रपिपीलिका । इति हेमचन्द्रः ॥ बृहन्मस्तके, त्रि ॥

स्थूलषट्पदः, पुं, (स्थूलः षट्पदः ।) वरेलः । इति भूरिप्रयोगः ॥ बोलता इति भाषा ॥

स्थूलस्कन्धः, पुं, (स्थूलः स्कन्धो यस्य ।) लकुचः । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्थूलहस्तः, पुं, (स्थूलो हस्तः ।) हस्तिशुण्डम् । इति त्रिकाण्डशेषः ॥ (यथा, मेघदूते । १४ ।

"स्थानादस्मात् सरसनिचुलादुत्पतोदङ्मुखः खं
दिङ्नागानां पथि परिहरन् स्थूलहस्तावलेपान् ॥"

स्थूलौ हस्तौ यस्येति ।) पीनभुजे, त्रि ॥

स्थूला, स्त्री, (स्थूल + टाप् ।) गजपिप्पली । इति शब्दचन्द्रिका ॥ एर्व्वारुः । इति राजनिर्घण्टः ॥ बृहदेला । इति रत्नमाला ॥

स्थूलांशा, स्त्री, (स्थूलोऽंशो यस्याः ।) गन्धपत्रा । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्थूलाम्रः, पुं, (स्थूलः आम्रः ।) महाराजचूतः । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्थूलास्यः, पुं, (स्थूलं आस्यं यस्य ।) सर्पः । इति शब्दचन्द्रिका ॥ बृहन्मुखे, त्रि ॥

स्थूली, [न्] पुं, (स्थूलं शरीरमस्यास्तीति । इनिः ।) उष्ट्रः । इति केचित् ॥

स्थूलैरण्डः, पुं, (स्थूल एरण्डः ।) बृहदेरण्डवृक्षः । तत्पर्य्यायः । महैरण्डः २ महापञ्चाङ्गुलः ३ । अस्य गुणाः ।

"स्थूलैरण्डो गुणाढ्यः स्याद्रसवीर्य्यविपाकिषु ॥"

इति राजनिर्घण्टः ॥

स्थूलैला, स्त्री, (स्थूला एला ।) एलाविशेषः । बड़ एलाचि इति भाषा । तत्पर्य्यायः । बृहदेला २ त्रिपुटा ३ त्रिदिवोद्भवा ४ सुरभीत्वक् ५ महेला ६ पृथ्वी ७ कन्या ८ कुमारिका ९ कार्य्यस्था १० गोपुटा ११ भद्रैला १२ कान्ता १३ घृताचीगर्भसम्भवा १४ इन्द्राणी १५ दिव्यगन्धा १६ ऐन्द्री १७ । एलाद्वयगुणाः । शीतलत्वम् । तिक्तत्वम् । उष्णत्वम् । सुगन्धित्वम् ।

पित्तार्त्तिकफापहत्वम् । हृद्रोगमलार्त्तिवस्ति-कारित्वम् । पुंस्त्वनाशित्वम् । अत्र स्थविराया गुणाढ्यत्वञ्च ॥ स्थूलैलागुणाः । रोचनत्वम् । तीक्ष्णत्वम् । लघुत्वम् । उष्णत्वम् । कफपित्त-कृच्छ्रासविषवस्थ्यास्यशिरोरुग्वमिकासनाशि-त्वञ्च । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्थलोच्चयः, पुं, (स्थूलानामुच्चयो यत्र ।) गण्डो-पलः । गजानां मध्यमगतिः । (यथा, माघे । १२ । १६ ।

"स्थलोच्चयेनागमदन्तिकागतां
गजोऽन्ययातामकरः करेणुकाम् ॥")

असाकल्यम् । वरण्डः । इति मेदिनी ॥ हस्ति-दन्तरन्ध्रम् । इति शब्दमाला ॥

स्थेयः, पुं, (तिष्ठति विवादनिर्णयार्थमस्मिन्निति । स्था + यत् ।) विवादपक्षस्य निर्णेता । (यथा, राजतरङ्गिण्याम् । ६ । १३ ।

"कार्त्तान्तिको भिषक् सभ्यो गुरुर्मन्त्री पुरोहितः ।
दूतः स्थेयो लेखको वा न तदाभूदपण्डितः ॥")

पुरोहितः । इति मेदिनी ॥ स्थिरतरे, त्रि । इति हेमचन्द्रः ॥ (क्ली, स्था + भावे यत् । स्थात-व्यम् । यथा, हरिवंशे । ६५ । ७ ।

"बलिनः सन्निकर्षे तु न स्थेयं पण्डितेन वै ।
अपक्रामेद्धि कालज्ञः समर्थो युद्धमावहेत् ॥")

स्थेयान्, [स्] त्रि, (अयमनयोरतिशयेन स्थिरः । स्थिर + इयसुन् । "प्रियस्थिरेति ।" ६ । ४ । १५७ । इति स्थादेशः ।) स्थिरतरः । इत्यमरः । ३ । १ । ७३ ॥ (यथा, महागणपतिस्तोत्रे । १५ ।

"श्रियः स्थेयः स देयान् मम विमलदृशो बन्धुरं सिन्धुरास्यः ॥")

शाश्वतः । इति भरतः ॥

स्थेष्ठः, त्रि, (अयमेषामतिशयेन स्थिरः । स्थिर + इष्ठन् । "प्रियस्थिरेति ।" ६ । ४ । १५७ । इति स्थादेशः ।) अतिस्थिरः । इति हेमचन्द्रः ॥

स्थैर्य्यं, क्ली, (स्थिरस्य भावः । स्थिर + ष्यञ् ।) स्थिरत्वम् । गर्भस्थस्याङ्गानां स्थैर्य्यं चतुर्थे मासि भवति । इति सुखबोधः ॥ (यथा, याज्ञवल्क्ये । ३ । ८० ।

"स्थैर्य्यं चतुर्थे त्वङ्गानां पञ्चमे शोणितोद्भवः ।
षष्ठे बलस्य वर्णस्य नखरोम्णाञ्च सम्भवः ॥" ॥

दृढ़ता । यथा, महाभारते । ६ । १३ । ८ ।

"महेन्द्रसदृशः शौर्य्ये स्थैर्य्ये च हिमवानिव ।
समुद्र इव गाम्भीर्य्ये सहिष्णुत्वे धरासमः ॥")

स्थोरी, [न्] पुं, भारवाहकाश्वः । इति भरत-द्विरूपकोषः ॥

स्थौणेयं, क्ली, (स्थूणायां भवम् । स्थूणा + ढक् ।) ग्रन्थिपर्णनामकगन्धद्रव्यम् । इत्यमरः । २ । ४ । १३२ ॥ गँठियाला इति भाषा ॥ अथ ग्रन्थि-पर्णस्यैव भेदः । ईषत्सुगन्धि स्थौणेयं थुनेर इति लोके ।

"स्थौणेयकं बर्हिबर्हं शुकबर्हञ्च कुकुरम् ।
शीर्षं रोम शुकं चापि शुकपुष्पं शुकच्छदम् ॥
स्थौणेयकं कटु स्वादु तिक्तं स्निग्धं त्रिदोषनुत् ।
मेधाशुक्रकरं रुच्यं रक्षोऽश्रीज्वरजन्तुजित् ॥
हन्ति कुष्ठास्रतृड्दाहदौर्गन्ध्यतिलकालकान् ॥"

अथ ग्रन्थिपर्णस्यैव भेदो भण्डिउर इति नेपाल-देशे भवति ।

"निशाचरो धनहरः कितवो गणहासकः ।
रोचको मधुरस्तिक्तः कटुः पाके कटुर्लघुः ॥
तीक्ष्णो हृद्यो हिमो हन्ति कुष्ठकण्डूकफा-निलान् ।
रक्षोऽश्रीस्वेदमेदोऽसृग्ज्वरगन्धविषव्रणान् ॥"
इति भावप्रकाशः ॥

स्थौणेयकं, क्ली, (स्थौणेयमेव । स्वार्थे कन् ।) सुगन्धद्रव्यभेदः । थुनिरा इति हिन्दी भाषा । तत्पर्य्यायः । बर्हिशिखम् २ शुकच्छदम् ३ मयूरचूड़म् ४ शुकपुच्छकम् ५ विकीर्णरोम ६ कौरवर्णकम् ७ विकीर्णसंज्ञम् ८ हरितम् ९ । अस्य गुणाः । कफवातनाशित्वम् । सुगन्धि-त्वम् । कटुत्वम् । तिक्तत्वम् । पित्तप्रकोपशम-नत्वम् । बलपुष्टिविवर्द्धनत्वञ्च । इति राज-निर्घण्टः । भावप्रकाशोक्तगुणपर्य्यायौ पूर्व्वोक्त-शब्दे द्रष्टव्यौ ॥

स्थौरी, [न्] पुं, खरवृषभवत् पृष्ठेन भारवाहकोऽश्वः । तत्पर्य्यायः । पृष्ठ्यः २ । इत्यमरः । २ । ८ । ४६ ॥ ई खरवृषभवत् पृष्ठेन भारवाहकोऽश्वः । पृष्ठेन वहति पृष्ठस्थमपि वाह्यमुपचारात् तद्व-हति वा पृष्ठ्यः ढघे कादिति यः । स्थूल्यते संव्रियते पृष्ठमनया स्थूरा स्थूल तृ क ड इंहर्णे सेमक्तात् सरीरिति अः निपातनात् लस्य रत्वं स्थूरा पर्य्ययणं तस्या इदमिति अण् स्थौरं पृष्ठा-रोपितभारादिकं तदस्यस्येति इनि स्थौरी स्थूरी च स्थौरीति स्वामी । इति भरतः ॥

स्थौलशीर्षं, त्रि, (स्थूलशिरस इदमिति । स्थूल-शिरस् + अण् । "अचि शीर्षः ।" ६ । १ । ६२ । इति शीर्षादेशः ।) स्थूलमस्तकसम्बन्धि । इति काशिका ॥

स्थौल्यं, त्रि, (स्थूलस्य भावः । स्थूल + ष्यञ् ।) स्थूलता । (यथा, भागवते । ३ । ११ । ३ ।

"एवं कालोऽप्यनुमितः सौक्ष्म्ये स्थौल्ये च सत्तम ॥")

स्नपनं, क्ली, (स्ना + णिच् + ल्युट् ।) स्नानम् । यथा, दुर्गोत्सवप्रकरणे तिथ्यादितत्त्वे ।

"पूजनात् स्नपनं श्रेष्ठं स्नपनात्तर्पणं स्मृतम् ।
तर्पणान्मांसदानन्तु महिषाजनिपातनम् ॥"

स्नपितः, त्रि, (स्ना + णिच् + क्तः ।) कृतस्नानः । (यथा, गीतगोविन्दे । १२ । १ ।

"गतवति सखीवृन्दे मन्दत्रपाभरनिर्भर-
स्मरशरवशाकूतस्फीतस्मितस्नपिताधराम् ॥")

स्नवः, पुं, (स्नु प्रस्रवणे + "ऋदोरप् ।" इत्यप् ।) स्रवणम् । क्षरणम् । इत्यमरः । ३ । २ । ९ ॥

स्नसा, स्त्री, स्नायुः । इति हेमचन्द्रः ॥

स्नातः, त्रि, (स्ना + क्तः ।) कृतस्नानः । यथा,—

"स्नातोऽधिकारी भवति दैवे पैत्रे च कर्म्मणि ।
अस्नातस्य क्रियाः सर्व्वा भवन्ति हि यतोऽफलाः ।
प्रातः समाचरेत् स्नानमतो नित्यमतन्द्रितः ॥"
इति प्रायश्चित्ततत्त्वम् ॥

स्नातकः, पुं, (स्नात एव । स्ना + "यावादिभ्यः कन् ।" ५ । ४ । २९ । इति स्वार्थे कन् ।) आप्लुतव्रती । इत्यमरः । २ । ७ । ४३ ॥ हे समाप्तवेदाध्ययने स्नानशीले स्नातं स्नानं शील-मस्य । स्नातकः विकारसंघेति कः । आप्लुतं स्नानं तत्र व्रती नित्यस्नायी । स्ना प्लुत्वा भावे क्तः आप्लवव्रतीति क्वचित् पाठः । ब्रह्मचर्य्यं त्यक्त्वा यो गृहाश्रमं गतः स स्नातकः । समाप्त-वेदाध्ययनो यः स्नानशीलः आश्रमान्तरं न गतः सोऽपि स्नातकः । स्नातकस्त्रिविधः । ब्रह्मचर्य्या-चरणस्य यः शास्त्रबोधितोऽवधिः तावद्वेद-सुपास्यासमाप्तवेद एवाश्रमान्तरं गतो यः स व्रतस्नातकः । वेदमधीत्य गुरुसन्निधौ वेदाभ्यासं यः करोति स विद्यास्नातकः । पालितसम्यग्-व्रतः प्राप्तवेदो यो द्वितीयाश्रमं गतः स उभय-स्नातकः । इति टीकान्तरे । इति भरतः ॥

स्नानं, क्ली, (स्ना + ल्युट् ।) मज्जनम् । अव-गाहनम् । तत्पर्य्यायः । आप्लावः २ आप्लवः ३ । इत्यमरः । २ । ६ । १२१ ॥ अभिषेकः ४ । इति शब्दरत्नावली ॥ उपस्पर्शनम् ५ सवनम् ६ सर्व्व-नम् ७ । इति जटाधरः ॥ तदनुकल्पः सप्त-विधः । मान्त्रम् १ भौमम् २ आग्नेयम् ३ वाय-व्यम् ४ दिव्यम् ५ वारुणम् ६ मानसम् ७ । एतेषां विवरणं पश्चात् स्फुटीभविष्यति ॥ * ॥ अस्य गुणाः ।

"स्नानं पवित्रमायुष्यं श्रम[illegible]
शरीरबलसन्धानं कण्ड्वमो[illegible]
उष्णाम्बुनाधःकायस्य परि[illegible]
तेनैव तूत्तमाङ्गस्य बलकृत् [illegible]
विनिहन्ति शिरः स्नानं [illegible]

मलोष्णपीड़काकण्डू शिरो[illegible]
मधुकामलकैः स्नानं पित्त[illegible]
स्नानं वचाघनैरिष्टं श्लेष्म[illegible]
स्नानं कणातिलैश्चापि चक्षु[illegible]
अस्नातस्य शरीरस्य उष्म[illegible]
स्नानेनैकत्वमायाति तेन दी[illegible]
स्नानमर्हितनेत्रास्यकर्णरो[illegible]
आध्मानपीनसाजीर्णभुक्त[illegible]
दौर्गन्ध्यं गौरवं कण्डूं क[illegible]
स्वेदं वीभत्सतां हन्ति शरीरपरि[illegible]
इति राजव[illegible]

अथ स्नानविधिः । दक्षः ।

"चतुर्थे च तथा भागे स्नानार्थं [illegible]
तिलपुष्पकुशादीनि स्नानञ्चाकृत्रिमे [illegible]
कुर्य्यादिति शेषः । तथा च ।

"अस्नात्वा चाप्यहुत्वा च भुङ्क्तेऽदत्[illegible]
[illegible]
देवादीनामृणी भूत्वा नरकं प्रतिपद्यते ॥" *

अथ स्नानम्। दक्षः।
"अस्नात्वा नाचरेत् कर्म्म जपहोमादि किञ्चन।
लालास्वेदसमाकीर्णः शयनादुत्थितः पुमान्॥
अत्यन्तमलिनः कायो नवच्छिद्रसमन्वितः।
स्रवत्येव दिवारात्रौ प्रातःस्नानं विशोधनम्॥
प्रातःस्नानं प्रशंसन्ति दृष्टादृष्टफलं हि तत्।
सर्व्वमर्हति पूतात्मा प्रातःस्नायी जपादिकम्॥
अज्ञानात् यदि वा मोहात् रात्रौ दुश्चरितं कृतम्।
प्रातःस्नानेन तत् सर्व्वं शोधयन्ति द्विजातयः॥"
दृष्टं मलापकर्षादि अदृष्टं प्रत्यवायपरीहारादि। प्रातः सूर्य्योदयात् प्राक्‌कालः। प्रातःस्नान्यरुण-किरणग्रस्तां प्राचीमवलोक्य स्नानात्। इति विष्णुः॥ *॥ प्रातःस्नाने मध्याह्नस्नान-धर्म्मातिदेशमाह कात्यायनः।
"यथाहनि तथा प्रातर्नित्यं स्नायादनातुरः।
दन्तान् प्रक्षाल्य नद्यादौ गेहे चेत्तदमन्त्रवत्॥"
यथा तथेतिकर्त्तव्यतया। सा च।
"आचरेदुषसि स्नानं तर्पयेत् देवमानुषान्।"
इति जावाल्युक्ता॥
वैदिके कर्म्मणि वामहस्ते बहुतरकुशान् दक्षिणेन पवित्रं धारयेत्। मार्कण्डेयः।
"सर्व्वकालं तिलैः स्नानं पुण्यं व्यासोऽब्रवीन्मुनिः।
श्रीकामः सर्व्वदा स्नानं कुर्व्वीतामलकैर्नरः।
सप्तमीं नवमीञ्चैव पर्व्वकालञ्च वर्ज्जयेत्॥"*॥
विष्णुधर्म्मोत्तरे।
"त्वराक्रोधौ तथा वर्ज्यौ देवकर्म्मणि पण्डितैः।
इक्षुरापः पयश्चैव ताम्बूलं फलमौषधम्।
भक्षयित्वा तु कर्त्तव्याः स्नानदानादिकाः क्रियाः॥"
भविष्योत्तरे।
"स्नातुस्तु वरुणस्तेजो जुहृतोऽग्निः श्रियं हरेत्।
भुञ्जानस्य यमस्त्वायुस्तस्मान्न व्याहरेत्त्रिषु॥"
स्नातुः स्नानं कुर्व्वतः। न व्याहरेत् न कथयेत्॥*॥
अशुचेरवगाहनानन्तरं स्नानमाह योगियाज्ञवल्क्यः।
"तूष्णीमेवावगाहेत यदा स्यादशुचिर्नरः।
आचम्य तु ततः पश्चात् स्नानं विधिवदाचरेत्॥"
वामनपुराणम्।
"नाभिमात्रजले गत्वा कृत्वा केशान् द्विधा द्विजः।
पिधाय कर्णौ नासाञ्च त्रिःकृत्वो मज्जनं ततः॥"
तत्रैव वृद्धयाज्ञवल्क्यः।
"स्रोतसां संमुखो मज्जेत् यत्रापः प्रवहन्ति वै।
स्थावरेषु गृहे चैव सूर्य्यसंमुख आप्लवेत्॥"
हारीतः। नातुरो न भुक्ता न जीर्णवासा न बहुवासा न नग्नो नाम्भन् नावधक्‌थिकः नालङ्कृतो नाजस्रं नाज्ञाते जले नाकुले नाशुचौ न अमृतजले न नाभिरज्जले न चत्वरे नोपद्वारे नो सन्ध्यायोर्न निशायां स्नायादिति। चत्वरे काकादिवलिस्थले इति श्रीदत्तः॥ उपद्वारे द्वारसमीपे। अत्रैकेन मुनिना नग्नबहुवाससोर्निषेधविधानात् स्नाने द्विवाससः एवाधिकारः प्रतीयते॥*॥ एकवस्त्रस्नाने दोषमाह समुद्रकरकृतभाष्ये गोतमः।
"एकवस्त्रेण यत् स्नानं रूथ्या विह्नेन चैव हि।
स्नातस्तु न भवेत् शुद्धः श्रिया च परिहीयते॥"
अतएव।
"स्नानं तर्पणपर्य्यन्तं कुर्य्यादेकेन वाससा।"
इति॥
यदि समूलं तदा प्रेततर्पणपरमिति। अत्रैकवस्त्रा स्नातय इत्यादिना एकवस्त्रत्वविधानात्। एकेन एकजातीयेन इति वाचस्पतिमिश्रः॥ येन वाससा स्नानं कृतं जलस्थस्य तेनैव तर्पणम्। इति कृत्यतत्त्वार्णवः॥ न च।
"स्नानशाट्यास्तु दातव्या मृदस्तिस्रो विशुद्धये।
जलमध्ये तु यः कश्चित् द्विजातिर्ज्ञानदुर्ब्बलः।
निष्पीडयति तद्वस्त्रं स्नानं तस्य वृथा भवेत्॥"
स्नानशाट्यामिति तद्वस्त्रमिति एकवचननिर्द्देशेन च स्नानेऽप्येकवस्त्रत्वमिति वाच्यं अत्र विशुद्धये इत्यभिधानेनाधोधृतवस्त्रस्यैव मृत्त्रयेण प्रक्षालनं न तूत्तरीयस्य एतदर्थमेकवचनम्। अत एव मृत्त्रयेणाधरीयवस्त्रं प्रक्षाल्य इत्याह्निकचिन्तामणिः॥ वशिष्ठवचनस्यैकवाक्यतया स्नातो नाङ्गानि निर्मृज्यात् स्नानशाट्या न पाणिना। इति विष्णुपुराणीयेनाधरीयवस्त्रेणैव गात्रमार्ज्जनं निषिध्यते। एतेन निष्पीड्य स्नानवस्त्रमिति कात्यायनवचने एकत्वमविवक्षितमिति निरस्तम्। अतएव सर्व्वत्रैकत्वनिर्द्देशः। शिष्टानामाचारोऽपि तथेति॥ * ॥ नाजस्रमिति पुनः पुनः स्नाननिषेधः रागप्राप्तस्नानविषयो दृष्टार्थकत्वात्। एवञ्चैकस्मिन् दिने नानातीर्थादिनिमित्तप्राप्तस्नानावृत्तिर्भवत्येव वैधत्वात्। अत्रापि तन्त्रप्रसङ्गयोः सत्त्वे सकृदेवेति॥ *॥ आतुरं प्रति जावालः।
"अशिरस्कं भवेत् स्नानं स्नानाशक्तौ तु कर्म्मिणाम्।
आर्द्रेण वाससा वापि देहिकं मार्ज्जनं स्मृतम्॥"
कर्म्मिणाम्।
"शिरःस्नातस्तु कुर्व्वीत दैवं पैत्रमथापि वा।"
इति मार्कण्डेयपुराणोक्तकर्म्मचिकीर्षूणां मार्ज्जनमिह प्रोञ्छनम्। योगियाज्ञवल्क्यः।
"असामर्थ्याच्छरीरस्य कालशक्त्याद्यपेक्षया।
मन्त्रस्नानादितः सप्त केचिदिच्छन्ति सूरयः॥
मान्त्रं भौमं तथाग्नेयं वायव्यं दिव्यमेव च।
वारुणं मानसञ्चैव सप्तस्नानं प्रकीर्त्तितम्॥
आपोहिष्ठेति वै मान्त्रं मृदालम्भस्तु पार्थिवम्।
आग्नेयं भस्मना स्नानं वायव्यं गोरजः स्मृतम्॥
यत्तु सातपवर्षेण स्नानं तद्दिव्यमुच्यते।
वारुणञ्चावगाह्यञ्च मानसं विष्णुचिन्तनम्॥
समस्तं स्नानमुद्दिष्टं मन्त्रस्नानक्रमेण तु।
कालदोषादसामर्थ्यात् सर्व्वं तस्य फलं स्मृतम्॥"
आपोहिष्ठेति आपोहिष्ठादि ऋक्‌त्रयमत्र विवक्षितम्। एवञ्च।
'कालदोषादसामर्थ्यात् न शक्नोति यदाम्भसि।
तदा स्नात्वा तु ऋषिभिर्मन्त्रैर्जुहन्तु मार्ज्जनम्॥
शन्न आपस्तु द्रुपदा आपोहिष्ठाघमर्षणम्।
एभिश्चतुर्भिर्ऋङ्मन्त्रैर्मन्त्रस्नानमुदाहृतम्॥"
इति योगियाज्ञवल्कीयं यन्मन्त्रस्नानान्तरं तत् प्राधान्यख्यापनाय अतएव पितृदयितायां सन्ध्यातः पूर्व्वं तल्लिखितम्। मृदालम्भस्तु गङ्गादिमृत्तिकातिलकरूपः। भस्मना संस्कृतभस्मना इति छन्दोगाह्निकः। अवगाह्यं मन्त्राद्यङ्गशून्यावगाहनमात्रं विवक्षितं अतो मुख्यावगाहनरूपस्नानानुकल्पत्वमप्युक्तम्। कालदोषोऽतिवृष्ट्यादिः। असामर्थ्यं शरीरापाटवहेतुः। जलस्य स्वल्पत्वेन सम्पूर्णवारुणस्नानविधि कालायोग्यत्वं वेति। एतन्मूलकं गेहे चेत्तदमन्त्रवदिति छन्दोगपरिशिष्टीयं पूर्व्वोक्तं अन्यथा मूलभूतश्रुत्यन्तरकल्पनापत्तेः॥* सामर्थ्ये तूद्धृतजलेनापि समन्त्रकस्नानमाह पराशरभाष्ये व्यासः।
"शीतास्त्वपो निषिच्योष्णा मन्त्रसम्भारसंस्कृताः।
गेहेऽपि शस्यते स्नानं तद्धीनमफलं स्मृतम्॥"
पद्मपुराणम्।
"नैर्म्मल्यं भावशुद्धिश्च विना स्नानं न जायते।
तस्मान्मनोविशुद्ध्यर्थं स्नानमादौ विधीयते।
अनुद्धृतैरुद्धृतैर्व्वा जलैः स्नानं सदाचरेत्।
तीर्थं प्रकल्पयेद्विद्वान् मूलमन्त्रेण मन्त्रवित्॥
नमो नारायणायेति मूलमन्त्र उदाहृतः।
दर्भपाणिस्तु विधिना आचान्तः प्रयतः शुचिः॥
चतुर्हस्तसमायुक्तं चतुरस्रं समन्ततः।
प्रकल्प्यावाहयेद्गङ्गां एभिर्मन्त्रैर्विचक्षणः॥
विष्णोः पादप्रसूतासि वैष्णवी विष्णुपूजिता।
पाहि नस्त्वेनसस्तस्मादाजन्ममरणान्तिकात्॥
तिस्रः कोट्योऽर्द्धकोटी च तीर्थानां वायुरब्रवीत्।
दिवि भुव्यन्तरीक्षे च तानि ते सन्ति जाह्नवि॥
नन्दिनीत्येव ते नाम देवेषु नलिनीति च।
वृन्दा पृथ्वी च सुभगा विश्वकाया शिवा सिता॥
विद्याधरी सुप्रसन्ना तथा लोकप्रसादिनी।
क्षमा च जाह्नवी चैव शान्ता शान्तिप्रदायिनी॥
एतानि पुण्यनामानि स्नानकाले प्रकीर्त्तयेत्।
भवेत् सन्निहिता तत्र गङ्गा त्रिपथगामिनी॥
सप्तवाराभिजप्तेन करसंपुटयोजितम्।
मूर्द्ध्नि दद्यात् जलं भूयश्चिस्तुः पञ्च सप्त वा।
स्नानं कुर्य्यान्मृदा तद्वत् आमन्त्र्य च विचक्षणः॥
अश्वक्रान्ते रथक्रान्ते विष्णुक्रान्ते वसुन्धरे।
मृत्तिके हर मे पापं यन्मया दुष्कृतं कृतम्॥
उद्धृतासि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना।
आरुह्य मम गात्राणि सर्व्वं पापं प्रमोचय।
नमस्ते सर्व्वभूतानां प्रभवारिणि सुव्रते॥" *॥
नमो नारायणाय इत्यष्टाक्षररूपमूलमन्त्रेण चतुरस्रं चतुष्कोणरूपं समन्ततः सर्व्वदिक्षु चतुर्हस्तं जलं प्रतिदिक्षु हस्तमात्रेण अवच्छिद्य तीर्थं प्रकल्पयेत्। विततं नद्यादिजले स्नानस्थानं परिच्छिन्द्यात्। तत्र विष्णोः पादे इत्यादिना

शान्तिप्रदायिनीत्यन्तेन मन्त्रेण गङ्गामावाहयेत्। सप्तवाराभिजप्तेनेति सप्तवाराभिजप्तेन नमो नारायणायेति मन्त्रेणाभिमन्त्रेति शेषः। एकवचननिर्देशात् तस्य मूलमन्त्रतोक्ता च अत्रापि विनियोगोऽवगम्यते। ततश्च सप्तवारपठितनारायणमन्त्रेण जलमभिमन्त्र्य करयुगेन त्रिवारादि मूर्द्ध्नि क्षिपेत्। ततश्चाश्वक्रान्ते इति मन्त्राभ्यां तद्वदिति जपाभ्याम्।
"मृत्तिकाः सप्त न ग्राह्या वल्मीके मूषिकोत्करे।
अन्तर्जले श्मशाने च वृक्षमूले सुरालये।
परस्नानावशिष्टे च श्रेयस्कामैः सदा नरैः॥"
इति दक्षप्रतिषिद्धेतरां मृदमामन्त्र्य तया मृदा शिरःप्रभृत्यालभ्याशुद्धतेर्व्वा जलैः शिरःप्रभृत्यङ्गक्षालनमवगाहनरूपप्रधानं वारुणस्नानं समाचरेदिति पूर्व्वोक्तेनान्वयः। मृद्ग्रहणमन्त्रे प्रभवारिणि इति प्रभवस्तुत्पत्तिमर्त्तुं प्रापयितुं शीलमस्यास्तत्सम्बोधनमिदम्। अवगाहनन्तु चक्षुःकर्णनासिकामङ्गुलीभिराच्छाद्य कुर्य्यात्।
"अङ्गुलीभिः पिधायैवं श्रोत्रदृङ्नासिकामुखम्।
निमज्जेत प्रतिस्रोतस्त्रिः पठेदघमर्षणम्॥"
इति समुद्रकरधृतात्।
अत्राशुद्धौ वारत्रयमेवावगाहनं प्रागुक्तवामनपुराणात्। एष विधिः पौराणिकत्वात् सर्व्वशाखिसाधारणः। वेदमन्त्ररहितत्वादनधीतवेदानामपि सर्व्वथादरणीयः॥ * ॥ मत्स्यपुराणम्।
"नद्यां प्रत्येकशः स्नाने भवेद्गोदानजं फलम्।
गोप्रदानैश्च दशभिस्तासां पुण्यन्तु सङ्गमे॥"
वशिष्ठः।
"योऽनेन विधिना स्नाति यत्र तत्राम्भसि द्विज।
स तीर्थफलमाप्नोति तीर्थे तु द्विगुणं फलम्॥"
अनेन तीर्थावाहनादिना। अतो गङ्गायामप्यावाहनं कुर्व्वन्ति शिष्टाः। अत्र च। माघसप्तम्यादिनिमित्तकतीर्थविशेषनिमित्तक-मन्त्रपाठस्तु मृदालम्भनानन्तरं कार्य्यः। आगन्तुकानामन्तेऽभिनिवेश इति न्यायात्। एवं गङ्गायां विशेषमन्त्रानन्तरमेव दशहरादिमन्त्राः पाठ्याः। तत्र गङ्गायां विशेषमन्त्रौ विद्याकरधृतौ।
"विष्णुपादार्घ्यसम्भूते गङ्गे त्रिपथगामिनि।
धर्म्मद्रवीति विख्याते पापं मे हर जाह्नवि॥
श्रद्धया भक्तिसम्पन्ने श्रीमातर्देवि जाह्नवि।
अमृतेनाम्बुना देवि भागीरथि पुनीहि माम्॥"
गोविन्दद्वादश्यां स्नाने गङ्गायां पद्मपुराणीयो मन्त्रः।
"महापातकसंज्ञानि यानि पापानि सन्ति मे।
गोविन्दद्वादशीं प्राप्य तानि मे हर जाह्नवि!॥"
गङ्गासागरसङ्गमे मन्त्रः।
"त्वं देव सरितां नाथ त्वं देवि सरितांवरे।
उभयोः सङ्गमे स्नात्वा मुञ्चामि दुरितानि वै॥"
लौहित्यस्नाने तु मन्त्रः।
"ब्रह्मपुत्त्र महाभाग शान्तनोः कुलनन्दन।
अमोघागर्भसंभूत पापं लौहित्य मे हर॥" * ॥

करतोयास्नानमन्त्रः।
"करतोये सदानीरे सरिच्छ्रेष्ठे सुविश्रुते।
पौण्ड्रान् प्लावयसे नित्यं पापं हर करोद्भवे॥" *
विष्णुः। स्नातः शिरो नावधुनेत् नाङ्गेभ्यस्तोयमुद्धरेत्। न तैलं वा संस्पृशेत् नाप्रोच्छितं पूर्व्वधृतं वासो विभृयात्। स्नात एव सोष्णीषो धौते वाससी विभृयात् न म्लेच्छान्त्यजपतितैः सह सम्भाषणं कुर्य्यात् इति। नाङ्गेभ्यस्तोयमुद्धरेदिति स्नानशाटीपाणिभ्यां पूरणीयम्।
"स्नातो नाङ्गानि निर्मृज्यात् स्नानशाट्या न पाणिना॥"
इति विष्णुवचनात्।
अत्र वासोऽन्तरधारणात् प्राक्कृततैलस्पर्शनिषेधः प्रतीयते।
"शिरःस्नातस्तु तैलेन नाङ्गं किञ्चिदुपस्पृशेत्॥"
इति मनुवचनमेतत्परम्॥ * ॥
याज्ञवल्क्यः।
"ब्रह्मक्षत्त्रविशामेव मन्त्रवत् स्नानमिष्यते।
तूष्णीमेव हि शूद्रस्य सनमस्कारकं मतम्॥
अगम्यागमनात् स्तेयात् पापिभ्यश्च प्रतिग्रहात्।
रहस्याचरितात् पापात् मुच्यते स्नानमाचरन्॥
प्रकर्त्तुमसमर्थश्चेत् जुहोति यजति क्रियाः।
स्नानध्यानजपैर्दानैरात्मानं शोधयेद्बुधः॥"
ब्रह्मपुराणम्।
"नद्यां प्रत्येकशः स्नाने भवेत् गोदानजं फलम्।
गोप्रदानैस्तु दशभिस्तासां पुण्यन्तु सङ्गमे॥" * ॥
मनुः।
"न स्नानमाचरेत् भुक्त्वा नातुरो न महानिशि।
न वासोभिः सहाजस्रं नाविज्ञाते जलाशये॥"
न स्नानमाचरेद्भुक्त्वेति रागप्राप्तस्नाननिषेधः। नित्यस्याप्राप्तत्वात्। नैमित्तिकस्य च निषेद्धुमशक्यत्वात्। आतुरः स्नानसम्बद्धकरोगवान्।
"महानिशा तु विज्ञेया मध्यमं प्रहरद्वयम्।
तस्यां स्नानं न कर्त्तव्यं काम्यनैमित्तिकादृते॥"
न वासोभिः सह इत्यनेन बहुवासोनिषेधात् स्नाने द्विवासस्त्वं प्रतीयते। अजस्रं पुनः पुनः। तेन वारुण्यादिसंक्रान्त्यादि-निमित्तभेद-प्राप्तमेकदा नानास्नानं निषिध्यते। किन्तु तन्त्रेण प्रसङ्गेन चैकं स्नानम्। तथा च निगमः।
"नावर्त्तयेत् पुनः कर्म्म तर्पणादिकमन्वहम्।
काम्यनैमित्तिके हित्वा एकं ह्येकत्र वासरे॥
विषुवद्दिवसे प्राप्ते पञ्चतीर्थौ विधानतः।
स्नात्वा सङ्कर्षणं कृष्णं दृष्ट्वा भद्राञ्च भो द्विजाः।
नरः समस्तयज्ञानां फलं प्राप्नोति दुर्लभम्॥"
इति ब्रह्मपुराणोक्तमार्कण्डेयह्रदे प्रद्युम्नसरोवरे समुद्रकूपादितीर्थादौ तन्त्रप्रसङ्गयोरभावात् पुनः पुनरेकदिनेऽपि नानास्नानमिति॥ * ॥
"परकीयनिपानेषु स्नायान्नैव कदाचन।
निपानकर्त्तुः स्नात्वा हि दुष्कृतांशेन लिप्यते॥"
निपानं जलाधारमात्रम्। तथा च याज्ञवल्क्यः।
"पञ्च पिण्डाननुद्धृत्य न स्नायात् परवारिणि॥"
योगियाज्ञवल्क्यः।

"अनुद्धृत्य तु यः स्नायात् परकीयजलाशये।
वृथा तस्य भवेत् स्नानं कर्त्तुः पापेन लिप्यते॥
स्नानं दानं तपो ध्यानं पितृदेवार्च्चनं तथा।
पावनानि मनुष्याणां दुष्कृतस्येह कर्म्मणः॥"
छन्दोगपरिशिष्टम्।
"यथाहयं श्रावणादि सर्व्वा नद्यो रजस्वलाः।
तासु स्नानं न कुर्व्वीत वर्जयित्वा समुद्रगाः॥
उपाकर्म्मणि चोत्सर्गे प्रेतस्नाने तथैव च।
चन्द्रसूर्य्यग्रहे चैव रजोदोषो न विद्यते॥"
निगमः। न दुष्येत्तीरवासिनाम्। व्याघ्रपादः।
"अभावे कूपवापीनामन्येनापि समुद्धृते।
रजोदुष्टेऽपि पयसि ग्रामभोगो न दुष्यति॥"
अन्येन कुम्भादिना।
"अन्त्यैरपि कृते कूपे सेतौ वाप्यादिके तथा।
तत्र स्नात्वा च पीत्वा च प्रायश्चित्तं समाचरेत्॥"
तथा।
"प्रभूते विद्यमाने तु उदके सुमनोहरे।
नाल्पोदके द्विजः स्नायात् नदीञ्चोत्सृज्य
कृत्रिमे॥"
इति बहुभिर्धृतम्॥
ब्रह्मपुराणे।
"नित्यं नैमित्तिकं काम्यं त्रिविधं स्नानमिष्यते।
तर्पणन्तु भवेत्तस्य अङ्गत्वेन व्यवस्थितम्॥
श्मश्रुकर्म्माश्रुपातश्च मैथुनं छर्द्दनं तथा।
अस्पृश्यस्पर्शनं कृत्वा स्नायाद्वर्ज्यं जलक्रिया॥"
यत्र तु रोगादिना स्नानं न कृतं तत्रापि गात्रमार्ज्जनादिना शौचमुत्पाद्य पितृयज्ञसिद्धये तर्पयेत्। तदाह शातातपः।
"तर्पणन्तु शुचिः कुर्य्यात् प्रत्यहं स्नातको द्विजः।
देवेभ्यश्च ऋषिभ्यश्च पितृभ्यश्च यथाक्रमम्॥" * ॥
पुष्ये वा जन्मनक्षत्रे व्यतीपाते च वैधृतौ।
अमावास्यां नदीस्नानं दहत्याजन्मदुष्कृतम्॥"
वराहपुराणम्।
"दक्षिणावर्त्तशङ्खे च पात्रेऽप्यौडुम्बरे स्थितम्।
उदकं यः प्रतीच्छेत शिरसा हृष्टमानसः।
तस्य जन्मकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति॥
अच्छिन्नपद्मपत्रेण सर्व्वरत्नोदकेन च।
स्रोतसा वै नरः स्नात्वा सर्व्वपापैः प्रमुच्यते॥"
विष्णुधर्म्मोत्तरे।
"तथा दर्भोदकैः स्नानं सर्व्वपापप्रणाशनम्।
गोमूत्रेण च यत् स्नानं सर्व्वाघविनिसूदनम्॥
तथा पुष्पोदकस्नानं भवेदारोग्यकारकम्।
केवलैर्व्वा तिलैः स्नानं अथवा गौरसर्षपैः।
स्नानं प्रियङ्गुणा प्रोक्तं तथा सौभाग्यवर्द्धनम्।
आयुष्यञ्च यशस्यञ्च धर्म्म्यं मेधाविवर्द्धनम्।
स्नानं पवित्रं माङ्गल्यं तथा काञ्चनवारिणा॥"
शङ्खः।
"स्नातस्य वह्नितोयेन तथा च परवारिणा।
कायशुद्धिं विजानीयात् न तु स्नानफलं लभेत्॥"
स्नानफलं वैधम्। आयुर्वेदीयन्तु भवत्येव। यमः।
"नित्यं नैमित्तिकञ्चैव क्रियाङ्गमलकर्षणम्।
तीर्थाभावे च कर्त्तव्यमुष्णोदकपरोदकैः॥"

विष्णुपुराणम् ।
"स्नानार्थी धरणीश्चैव दूरतः परिवर्ज्जयेत् ।"
इत्याह्निकतत्त्वम् ॥ * ॥
तान्त्रिकस्नानविधिर्यथा । तत्र नद्यादौ वैदिकस्नानं कृत्वा तान्त्रिकस्नानमाचरेत् । तथा च गौतमीये ।
"अथ स्नानं तथा कुर्य्यात् यथाशास्त्रविधानवित् ।
मलप्रक्षालनं स्नानं स्वशाखोक्तं समाचरन् ।
मन्त्रस्नानं ततः कुर्य्यात् कर्म्मणां सिद्धिहेतवे ॥"
तद्यथा । अद्येत्यादि अमुकदेवताप्रीतये मन्त्रस्नानमहं करिष्ये इति सङ्कल्पं कुर्य्यात् । तथा च कुलचूड़ामणौ ।
"ताम्रपात्रं समूलञ्च सतिलं सजलं ततः ।
गृहीत्वामुकदेवस्य प्रीतये स्नानमाचरेत् ॥"
ततः षडङ्गन्यासप्राणायामौ कृत्वा गङ्गे च इत्यनेनाङ्कुशमुद्रया सूर्य्यमण्डलात्तीर्थमावाह्य वमिति धेनुमुद्रयामृतीकृत्य कवचेनावगुण्ठ्यास्त्रेण संरक्ष्य मूलेन एकादशधाभिमन्त्र्य सूर्य्याभिमुखं द्वादशधारा विनिःक्षिप्य तस्मिन्निष्टदेवताचरणारविन्दनिःसृतजले निमज्ज्य देवतां ध्यायन् मूलमन्त्रं यथाशक्ति जपन् उन्मज्ज्य उदकेन त्रिवारञ्जलिन कलसमुद्रया त्रिवारमात्मानमभिषिच्य वैदिकसन्ध्यादिकं कृत्वा सूर्य्यार्घ्यं दत्त्वा तान्त्रिकाघमर्षणादिवारिधारान्तं कर्म्म कुर्य्यात् । इति तन्त्रसारः ॥ * ॥ अन्यच्च ।
"जन्मान्तरसहस्रेषु यत् पापं कुरुते नरः ।
मुच्यते सर्व्वपापेभ्यः स्नात्वा क्षारार्णवे सकृत् ॥
याम्यं हि यातनादुःखं नित्यस्नायी न पश्यति ।
स्नानं मध्यंदिने कुर्य्यात् जीर्णेऽन्ने तु निरामयः ॥
नद्यामस्तमिते स्नानं न कुर्व्वीत सदा बुधः ।
नद्यां स्नात्वा नदीं चान्यां न प्रशंसेत पण्डितः ॥
अप्रशस्तं निशि स्नानं राहोरन्यत्र दर्शनात् ।
स्नानं दानं तपः श्राद्धमनन्तं राहुदर्शने ।
आसुरी रात्रिरन्यत्र तस्मात्तां परिवर्जयेत् ॥
नदीदेवनिखातेषु तड़ागेषु सरःसु च ।
स्नानं समाचरेन्नित्यं गर्त्तप्रस्रवणेषु च ॥
निपानादुद्धृतं पुण्यं ततः प्रस्रवणादिकम् ।
ततोऽपि सारसं पुण्यं ततो नादेयमुच्यते ।
तीर्थतोयं ततः पुण्यं गाङ्गतोयं ततोऽधिकम् ॥"
इति वह्निपुराणे आह्निकतपोनामाध्यायः ॥
किञ्च ।
"नित्यं नैमित्तिकं काम्यं क्रियाङ्गं मलकर्षणम् ।
क्रियास्नानं तथा षष्ठं षोढ़ास्नानं प्रकीर्त्तितम् ॥
अस्नातस्तु पुमान्नार्हो जप्यादिहवनादिषु ।
प्रातःस्नानं तदर्थन्तु नित्यस्नानं प्रकीर्त्तितम् ॥
चाण्डालशवविष्ठाद्यैः स्पृष्टा स्नानं रजस्वलाम् ।
स्नानार्हस्तु यदा स्नाति स्नानं नैमित्तिकं हि तत् ॥
पुष्यस्नानादिकं स्नानं दैवज्ञविधिचोदितम् ।
तद्धि काम्यं समुद्दिष्टं नाकामस्तत् प्रयोजयेत् ॥
जप्तुकामः पवित्राणि अर्च्चिष्यन् देवतातिथीन् ।
स्नानं समाचरेद्यस्तु क्रियाङ्गं तत् प्रकीर्त्तितम् ॥
मलापकर्षणं नाम्ना स्नानमभ्यङ्गपूर्व्वकम् ।
मलापकर्षणार्थाय प्रवृत्तिस्तत्र नान्यथा ॥
सर्व्वेषु देवखातेषु तीर्थेषु च नदीषु च ।
स्नानमेव क्रिया यस्मात् क्रियास्नानमतः स्मृतम् ॥"
इति गारुड़े २०५ अध्यायः ॥ * ॥
कुशहस्तस्य वैष्णवविप्रस्य स्नानादिनिषेधो मानसस्नानप्रशंसा च यथा,—
"सर्व्वकर्म्मफलत्यागी हरेः संकल्पवर्ज्जितः ।
यो द्विजः कुशहस्तः स्यात् स्नानपूजाजपादिषु ॥
कदाचिद्दर्भहस्तो न व्यक्तकामस्तु वैष्णवः ।
स्नानादिषु च कृत्येषु गोविन्दस्यार्च्चनादिषु ॥
रुद्रासनः कुशकरो वैष्णवो न भवेद्द्विज ।
हरेः कुर्य्यात् प्रयत्नेन सर्व्वसेवाजपादिषु ॥
अस्नातो न जपेन्मन्त्रं गोविन्दस्य महात्मनः ।
कदाचिदशुचिर्भूत्वाप्यस्नातोऽपि च मानवः ॥
मानसस्नातको लोको मुकुन्दस्यार्च्चनादिषु ।
पूतात्मा यदि मन्त्रस्य शुद्धो भवति जापकः ॥
भवेत्तु मानसस्नायी यो वाह्याभ्यन्तरः शुचिः ।
जपाधिकारी स भवेत् कृष्णमन्त्रस्य मानवः ॥
ऐन्द्रस्नानादरं काम्यं काम्यादाग्नेयमेव च ।
आग्नेयादाशुचं श्रेष्ठं वारुणञ्चाशुचादपि ॥
अवगाहं वारुणात्तु वैदिकञ्चावगाहनात् ।
वैदिकादपि नैमित्तं तस्मादे मार्ज्जनं वरम् ॥
मार्ज्जनान्मान्त्रिकं श्रेष्ठं भौमं स्यान्मान्त्रिकाधिकम् ।
भौमस्नानादरं ब्राह्मं ब्राह्मतः पौष्णमेव च ॥
पौष्णतो नैर्मलं स्नानं वायव्यञ्च ततोऽधिकम् ।
वायव्यान्मानसञ्चेह सर्व्वस्नानात् परं वरम् ॥
मर्त्त्यश्चेत् मानसस्नातः सर्व्वत्र विजयी भवेत् ।
गोविन्दसर्व्वसेवासु चार्हतामेति धारणा ॥
स जापको वैष्णवः स्यात् हरेर्भजनतत्त्ववित् ।
मानसस्नानवान् यो वा भक्तश्चात्र सदा सुखी ॥"
इति पाद्मोत्तरखण्डे १०८ अध्यायः ॥ * ॥
अन्यच्च ।
"मानसं वैदिकं चैव मान्त्रिकं मार्जनं तथा ।
अवगाहनञ्च नैमित्तमाशुचं पुण्यमेव च ॥
नैर्म्मलं वारुणं ब्राह्मं मैत्रं काम्यञ्च नारद ।
वायव्यं भौममाग्नेयं षोड़शस्नानमीरितम् ॥
गोविन्दमन्त्रग्रहणं दीक्षया तु गुरोर्नृणाम् ।
यदाभिषिक्तं चित्तं स्यात्तत् स्नानं मानसं शुभम् ॥
मर्त्त्यस्य नामग्रहणं यदा कार्णाध्वरे गुरोः ।
स्नातदेहेन्द्रियमनस्तत् स्नानं मानसं भवेत् ॥
नामसंकीर्त्तनं विष्णोर्नरः कुर्य्यादकैतवात् ।
सदैव चेन्महास्नानं शरीरसुखकारणम् ॥
कया कथ्या स्वस्ति नश्येत् यदि वैदेश वैदिकम् ।
दर्भशान्त्युदकैः स्नानं यज्ञान्ते अभिषेचनम् ॥
सहस्रशीर्षा तद्विष्णोरिति मन्त्रादिभिर्द्विज ।
चेत् पयोऽभ्युक्षणं स्नानं मान्त्रिकं समुदाहृतम् ॥
ॐ शन्न आपो हि ष्ठेति ऋतञ्चेत्यादिभिर्यदि ।
पाठे कुर्य्यात् कुशस्नानं मार्ज्जनं द्विज ईरितम् ॥
जलेषु मज्जतां नृणां मज्जनन्तु यदा शिरः ।
तदा सर्व्ववपुश्च स्यादवगाहनमुच्यते ॥
गोविन्दद्वादशीमाघीवारुण्यर्द्धोदयादिषु ।
स्नानं यत्तच्च नैमित्तं ग्रहणे चन्द्रसूर्य्ययोः ॥
मैथुने वमने रेतःस्खलने स्मृतके तथा ।
विण्मूत्रादिशवस्पर्शे शवानुगमनेऽपि च ॥
निद्रान्ते जातके नृणामस्पृश्यस्पर्शनादिषु ।
रजस्वलाचतुर्थाहे यत् स्नानं स्यात्तदाशुचम् ॥
गङ्गादिसर्व्वतीर्थेषु विष्णुपादोदकैस्तथा ।
यत् स्नानमभिषेकश्च पुण्यं तत् परिकीर्त्तितम् ॥
हेलया श्रद्धया नृणां भक्त्या यत्नेन नारद ।
गङ्गाम्भोयष्टिवत् स्नानं महापापादिनाशनम् ॥
गङ्गास्नानं मनुष्याणां सर्व्वकल्मषनाशनम् ।
स्तम्भवच्चापि काष्ठस्य भवेन्मूषलवत् यदि ॥
स्नानं स्यात् सर्व्वतीर्थेषु नानायज्ञफलप्रदम् ।
शालग्रामशिलावारि योऽभिषेकं समाचरेत् ॥
अकालमृत्युहरणं सर्व्वव्याधिविनाशनम् ।
विष्णोः पादोदकं पीत्वा शिरसा धारयेद्यदि ॥
यदि सर्व्वमनुष्याणां वाह्यान्तर्मलशोधनम् ।
तदेव नैर्मलस्नानं शरीराणां भवेत् ध्रुवम् ॥
स्वेदाश्रुमज्जाविण्मूत्रचिकुराः क्षतजा वसा ।
दूषिका कर्णविट् श्लेष्मा नृणां वाह्यमलाः स्मृताः ॥
मलैस्तु मलिनो देहो नवच्छिद्रैश्च छिद्रितः ।
सवत्यविरतं पूर्णो दिवारात्रौ मलानतः ॥
अङ्गैश्च गोमयैश्चापि मलानामपमार्जनम् ।
सर्व्वत्र क्षालनं कृत्वा सर्व्वात्मप्रयतो मुनिः ॥
अष्टाङ्गयोगाभ्यासैश्च देहप्रक्षालनं ततः ।
नरोऽस्त्रमज्जनं कुर्व्वन् स्नानं भवति नैर्म्मलम् ॥"
इति पाद्मे उत्तरखण्डे ११३ अध्यायः ॥ * ॥
किञ्च ।
"तुलामकरमेषेषु प्रातःस्नानं विधीयते ।
हविष्यं ब्रह्मचर्य्यञ्च महापातकनाशनम् ॥
अमास्नानं गयाश्राद्धं दक्षिणामुखभोजनम् ।
न जीवत्पितृकः कुर्य्यात् कृते च पितृहा भवेत् ॥
करेण मार्ज्जयेद्गात्रं स्नानवस्त्रेण वा यदि ।
शुना स्पृष्टं भवेद्गात्रं पुनः स्नानेन शुध्यति ॥
अप्रक्षाल्य तु पादौ यः स्नात्वा गच्छति मन्दिरम् ।
संवत्सरकृतं पुण्यं तत्क्षणादेव नश्यति ॥
स्नानं रजकतीर्थेषु भोजनं गणिकालये ।
शयनं पूर्व्वपादे च ब्रह्महत्या दिने दिने ॥"
इति कर्म्मलोचनः ॥
अन्यत् मत्स्यसूक्ततन्त्रे ३६ पटले द्रष्टव्यम् ॥
स्नानतृणं, क्ली, (स्नानाय तृणम् ।) कुशः । इति शब्दमाला ॥
स्नानयात्रा, स्त्री, (स्नानस्य यात्रा उत्सवः ।) ज्यैष्ठपौर्णमास्यां श्रीविष्णोर्महास्नानरूपोत्सवः । यथा, ब्रह्मपुराणम् ।
"मासि ज्यैष्ठे तु संप्राप्ते नक्षत्रे शक्रदैवते ।
पौर्णमास्यां तदा स्नानं सर्व्वपापं हरेद्द्विजाः ॥
तस्मिन् काले तु ये मर्त्त्याः पश्यन्ति पुरुषोत्तमम् ।
बलभद्रं सुभद्राञ्च ते यान्ति परमव्ययम् ॥"
स्कन्दपुराणविष्णुधर्म्मोत्तरयोः ।
"ज्यैष्ठामहश्चावतीर्णञ्चतुष्पुण्यं संवत्सरम् ।

तस्यां मे स्नपनं कुर्य्यान्महास्नानविधानतः ॥
ज्येष्ठां प्रातःस्नानकाले ब्रह्मणा सहितश्च माम् ।
रामं सुभद्रां संस्नाप्य मम लोकमवाप्नुयात् ॥”
इति तिथ्यादितत्त्वम् ॥

अन्यत् यात्राशब्दे द्रष्टव्यम् ॥

स्नानीयं, त्रि, (स्नात्यनेनेति । स्ना + करणे अनीयर् । यद्वा, स्नानाय हितम् । स्नान + छः ।) स्नानयोग्यम् । स्नानसम्पादकद्रव्यम् । यथा,—
“गङ्गादीनाञ्च तीर्थानां वारि कुम्भप्रपूरितम् ।
स्नानीयं ते प्रयच्छामि स्नानं कुरु त्रिलोचने ॥”
इति दुर्गोत्सवपद्धतिः ॥

स्नायी, [न्] त्रि, (स्नातीति । स्ना + णिनिः ।) स्नानकर्त्ता । यथा, तिथ्यादितत्त्वे ।
“प्रातःस्नायी भवेन्नित्यं द्वौ मासौ माघफाल्गुनौ ।”

स्नायुः, स्त्री, (स्ना + बाहुलकात् उण् । “आतो युक् चिण्कृतोः ।” ७ । ३ । ३३ । इति युक् । इत्युणादिवृत्तौ उज्ज्वलः । १ । १ ।) वायुवाहिनी नाडी । मडुर इति ख्याता । इति भरतः ॥ तत्पर्य्यायः । वस्नसा २ । इत्यमरः । २।६।६६ ॥ स्नसा ३ नसा ४ । इति राजनिर्घण्टः ॥ स तु गर्भस्थस्य सप्तभिर्मासैर्भवति । इति सुखबोधः ॥ (यथा, याज्ञवल्क्ये । ३ । १०० ।
“शिराः शतानि सप्तैव नवस्नायुशतानि च ॥”
“नवस्नायुशतानि तासां शाखासु षट्शतानि । द्वे शते त्रिंशच्च कोष्ठे । ग्रीवां प्रत्यूर्द्ध सप्ततिः ॥ एकैकस्यान्तु पादाङ्गुल्यां षट् निचितास्ताश्त्रिंशत् । तावत्य एव तलकूर्च्चगुल्फेषु । तावत्य एव जङ्घायाम् । दश जानुनि । चत्वारिंशदूरौ । दश वङ्क्षणे । शतमध्यर्द्धमेवमेकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति । एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ । षष्टिः कट्याम् । अशीतिः पृष्ठे । पार्श्वयोः षष्टिः । उरसि त्रिंशत् ॥ षट्त्रिंशद्ग्रीवायाम् । मूर्द्ध्नि चतुस्त्रिंशत् । एवं नव स्नायुशतानि व्याख्यातानि । भवन्ति चात्र ।
स्नायुश्चतुर्व्विधा विद्यात्तास्तु सर्व्वा निबोध मे ।
प्रतानवत्यो वृत्ताश्च पृथ्व्यश्च सुषिरास्तथा ॥
प्रतानवत्यः शाखासु सर्व्वसन्धिषु चाप्यथ ।
वृत्तास्तु कण्डराः सर्व्वा विज्ञेया कुशलैरिह ॥
आमपक्वाशयान्तेषु वस्तौ च सुषिराः खलु ।
पार्श्वोरसि तथा पृष्ठे पृथुलाश्च शिरस्यथ ॥
नौर्य्यथा फलकास्तीर्णा बन्धनैर्बहुभिर्युता ।
भारक्षमा भवेदप्सु नृयुक्ता सुसमाहिता ।
एवमेव शरीरेऽस्मिन् यावन्तः सन्धयः स्मृताः ॥
स्नायुभिर्बहुभिर्बद्धास्तेन भारसहा नराः ।
न ह्यस्थीनि न वा पेश्यो न सिरा न च सन्धयः ॥
व्यापादितास्तथा हन्युर्यथा स्नायुः शरीरिणम् ।
यः स्नायूः प्रविजानाति बाह्याश्चाभ्यन्तरास्तथा ।
स गूढं शल्यमाहर्त्तुं देहाच्छक्नोति देहिनाम् ॥”
इति सुश्रुते शरीरस्थाने पञ्चमेऽध्याये ॥)

स्नायर्म्म, [न्] क्ली, नेत्ररोगभेदः । तस्य लक्षणं यथा,
“स्थिरं प्रस्तारि मांसाढ्यं शुष्कं स्नायर्म्म पञ्चमम् ॥”
इति माधवकरः ॥ अन्यत् नेत्ररोगशब्दे द्रष्टव्यम् ॥

स्नावा, [न्] पुं, (स्ना + “स्नामदिपद्यर्त्तिपॄशकिभ्यो वनिप् ।” उणा० ४ । ११२ । इति वनिप् ।) स्नायुः । इति केचित् ॥ (यथा, वाजसनेयसंहितायाम् । ३९।१०।
“मांसेभ्यः स्वाहा स्नावभ्यः स्वाहा ॥”
“स्नवभ्यः स्नावानः स्नायवो नसाः ।” इति तद्भाष्यम् ॥ ॥ त्रि, रसिकः । इत्युणादिवृत्तौ उज्ज्वलदत्तः ॥)

स्निग्धं, क्ली, (स्निह + क्तः ।) सिक्थकम् । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्निग्धः, पुं, (स्निह्यति स्नेहति । ष्णिह + अकर्म्मकत्वात् कर्त्तरि क्तः ।) वयस्यः । इत्यमरः । २ । ८ । १२ ॥ रक्तैरण्डः । सरलवृक्षः । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्निग्धः, त्रि, (ष्णिह + क्तः ।) स्नेहयुक्तः । अरूक्षः । (यथा, महाभारते । १ । १५३ । ६ ।
“अष्टौ दंष्ट्राः सुतीक्ष्णाग्राश्चिरस्यापातदुःसहाः ।
देहेषु मज्जयिष्यामि स्निग्धेषु पिशितेषु च ॥”)
तत्पर्य्यायः । चिक्कणम् २ मसृणम् ३ । इत्यमरः । २ । ९ । ४६ ॥ आम्रेडम् ४ चिक्कम् ५ चक्कणम् ६ । इति वैश्यवर्गे शब्दरत्नावली ॥
“स्निग्धस्तु वत्सलो वत्सः स्नेहयुक्तजने भवेत् ।”
इति च विशेष्यनिघ्नवर्गे शब्दरत्नावली ॥

स्निग्धतण्डुलः, पुं, (स्निग्धस्तण्डुलः ।) षष्टिशालिः । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्निग्धता, स्त्री, (स्निग्धस्य भावः । तल् ।) प्रियता । यथा,—
“हार्द्दं प्रियत्वं प्रियता स्निग्धतायां निगद्यते ।”
इति शब्दरत्नावली ॥
स्नेहः । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्निग्धदारुः, पुं, (स्निग्धं चिक्कणं दारु काष्ठं यस्य ।) सरलवृक्षः । इति जटाधरः । देवदारुः । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्निग्धपत्रकः, पुं, (स्निग्धानि पत्राणि यस्य । कप् ।) गजरङ्गणम् । घृतकरञ्जः । गुच्छकरञ्जः । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्निग्धपत्रा, स्त्री, पुं, (स्निग्धं पत्रं यस्याः ।) बदरी । इति जटाधरः ॥ पालक्यम् । काश्मरी । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्निग्धपिण्डीतकः, पुं, (स्निग्धः पिण्डीतकः ।) मदनवृक्षविशेषः । यथा,—
“वाराहोऽन्यः कृष्णवर्णो महापिण्डीतको महान् ।
स्निग्धपिण्डीतकस्त्वन्यः स्थूलवृक्षफलस्तथा ॥
अन्यौ च मदनौ श्रेष्ठौ कटुतिक्तरसान्वितौ ।
छर्द्दनौ कफहृद्रोगपक्वामाशयशोधनौ ॥”
इति राजनिर्घण्टः ॥

स्निग्धफला, स्त्री, (स्निग्धं फलं यस्याः ।) नाकुली । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्निग्धा, स्त्री, (स्निग्ध + टाप् ।) मेदा । इति राजनिर्घण्टः ॥

स्निट, क स्नेहे । इति कविकल्पद्रुमः ॥ (चुरा०-पर०-अक०-सेट् ।) क, स्नेटयति । इति दुर्गादासः ॥

स्नुः, पुं, (ष्णु प्रस्रवणे + मितद्र्वादित्वात् डुः ।) सानुः । पर्व्वतस्य समभूभागः । इत्यमरः । २ । ३ । ५ ॥

स्नुः, स्त्री, (स्नु + डुः ।) स्नायुः । यथा,—
“त्रिष्टुप् मांसात् स्नुतोऽनुष्टुप् जगत्यस्थः प्रजापतेः ।
मज्ज्ञोष्णिगात्मनोऽस्थिभ्यो गायत्री च त्वचो विभोः ॥”
इति श्रीभागवते । ३ । १२ । ४५ ॥

स्नुक्, [ह्] स्त्री, (ष्णुह + क्विप् ।) स्नुहीवृक्षः । इत्यमरः । २ । ४ । ५ ॥

स्नुक्छदः, पुं, चोरकक्षुकीवृक्षः । इति रत्नमाला ॥

स्नुतः, त्रि, (स्नु + क्तः ।) क्षरितजलादिः । इत्यमरः । ३ । १ । ९२ ॥ (सिक्तः । यथा, भागवते । १ । ११ । ३० ।
“ताः पुत्रमङ्कमारोप्य स्नेहस्नुतपयोधराः ।
हर्षविह्वलितात्मानः सिषिचुर्नेत्रजैर्जलैः ॥”)

स्नुषा, स्त्री, (स्नौति मनो यस्यामिति । ष्णु प्रस्रवणे + “स्नुव्रश्चिकृत्यृषिभ्यः कित् ।” उणा० ३ । ६६ । इति सः । स च कित् ।) पुत्त्रवधूः । इत्यमरः । २ । ६ । ९ ॥ (यथा, रघुः । ८ । १४ ।
“स किलाश्रममन्त्यमाश्रितो
निवसन्नावसथे पुराद्बहिः ।
समुपास्यत पुत्त्रभोग्यया
स्नुषयेवाविकृतेन्द्रियः श्रिया ॥”)
स्वश्रा सह तस्या विरोधकारणं श्वश्रूशब्दे द्रष्टव्यम् ॥ स्नुहीवृक्षः । इति शब्दचन्द्रिका ॥

स्नुहा, स्त्री, (ष्णुह + भिदादित्वात् अङ् । ततष्टाप् ।) स्नुहीवृक्षः । इत्यमरटीकायां भरतः । २ । ४ । १०५ ॥

स्नुहिः, स्त्री, (स्नुह + इन् ।) स्नुही । इत्यमरटीका । २ । ४ । १०५ ॥

स्नुही, स्त्री, (स्नुहि + कृदिकारादक्तिनः इति ङीष् ।) वृक्षविशेषः । मनसासिज इति भाषा । तत्पर्य्यायः । सीहुण्डः २ वज्रद्रुः ३ स्नुक् ४ गुडा ५ समन्तदुग्धा ६ । इत्यमरः । २।४।१०५ ॥ सिहुण्डः ७ शीहुण्डः ८ वज्रः ९ स्नुहा १० स्नुहिः ११ गुडी १२ गुडः १३ । इति तट्टीका ॥ यवी १४ इति शब्दरत्नावली ॥ सुधा १५ वज्रकण्टकः १६ क्षीरसारः १७ । इति जटाधरः ॥ अस्या दुग्धगुणाः ।
“बहुदोषे प्रयोक्तव्यमथितुण्डं सुधापयः ।”
इति राजवल्लभः ॥
राजनिर्घण्टोक्तपर्य्यायगुणौ सेहुण्डशब्दे द्रष्टव्यौ ॥ तत्र मनसा पूज्या । यथा,—
“सुप्ते जनार्द्दने कृष्णे पञ्चम्यां भवनाङ्गने ।
पूजयेन्मनसादेवीं स्नुहीविटपसंस्थिताम् ॥
पद्मनाभे गते शय्यां देवैः सर्व्वैरनन्तरम् ।
पञ्चम्यामसिते पक्षे समुत्तिष्ठति पन्नगी ॥”
इति तिथ्यादितत्त्वे देवीपुराणम् ॥

स्नेहः, पुं, (ष्णिह + घञ् ।) प्रेम । इत्यमरः । १ । ७ । २७ ॥ (तल्लक्षणं यथा,—
“दर्शने स्पर्शने वापि श्रवणे भाषणेऽपि वा ।
यत्र द्रवत्यन्तरङ्गं स स्नेह इति कथ्यते ॥”)

Digitized with financial assistance from

Hemendra Kothari

on 06 November, 2019